Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

# हिंदी साहित्य का इतिहास

संपादक

डॉ. नगेन्द्र • डॉ. हरदयाल

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जाली पुस्तक से सावधान
प्रामाणिक
संस्करण
जाली पुस्तक से सावधान

मयूर बुक्स
4226/1, अंसारी रोड, दरिया गंज
नयी दिल्ली 110002

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

# हिंदी साहित्य का इतिहास

प्रधान संपादक
**डॉ नगेन्द्र**

संपादक
**डॉ हरदयाल**

34478

जाली पुस्तक से सावधान
प्रामाणिक संस्करण
जाली पुस्तक से सावधान

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण वर्ष 1973 में नेशनल पब्लिशिंग हाउस द्वारा प्रकाशित हुआ था। उसके बाद से वर्ष 2000 तक इस पुस्तक के पुनर्मुद्रण संस्करण नेशनल पब्लिशिंग हाउस द्वारा प्रकाशित हुए। तत्पश्चात् 'नेशनल' की सहयोगी संस्था मयूर पेपरबैक्स के अंतर्गत 58 पेपरबैक संस्करण निरंतर प्रकाशित। अब नयी व्यवस्था के अंतर्गत वर्ष 2018 से मयूर बुक्स द्वारा यह पुस्तक प्रकाशित की जा रही है।

All rights reserved. No part of this book, including its style and presentation, may be reproduced, stored in a retrieval system, or transmitted in any form or by any means—electronic, mechanical, photo-copying, recording or otherwise, nor translated into any language for publication or transmission in any form, without the prior written consent of the author.

*प्रकाशक*

**मयूर बुक्स**

4226/1 अंसारी रोड

दरिया गंज, नयी दिल्ली 110002

●

| | | |
|---|---|---|
| प्रथम संस्करण | : | 1973 |
| 59-60-61-62वां संस्करण | : | 2018 |
| 63-64-65-66वां संस्करण | : | 2018 |
| 67-68-69-70वां संस्करण | : | 2019 |
| 71-72-73वां संस्करण | : | 2020 |
| 74-75-76-77-78वां संस्करण | : | 2021 |
| 79-80वां संस्करण | : | 2022 |
| 81-82वां संस्करण | : | 2022 |
| 83-84वां संस्करण | : | 2023 |
| 85-86वां संस्करण | : | 2023 |
| 87वां संस्करण | : | 2024 |

●

© डॉ. सुषमा प्रियदर्शिनी एवं श्रीमती हरदयाल

●

**मूल्य : ₹ 450**

●

*मुद्रक*

एवन प्रिंटर्स

लोनी रोड, दिल्ली

●

ISBN: 978-81-938718-1-2

*e-mail* : mayurbooks2018@gmail.com

दूरभाष : (011) 40074869, मो. : 7838677607

202642

जाली पुस्तक से सावधान
प्रामाणिक संस्करण
जाली पुस्तक से सावधान

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

# तीसरे संशोधित संस्करण की भूमिका

यह 'हिंदी साहित्य के इतिहास' का नया संशोधित-परिवर्धित संस्करण है। इसके पूर्व प्रकाशित अंश में जहां-जहां आवश्यकता अनुभव हुई है, संशोधन-परिवर्धन किया गया है, किंतु मुख्यतः तथ्यों के स्तर पर; क्योंकि विभिन्न लेखकों की स्थापनाओं और निष्कर्षों में परिवर्तन करना न तो संभव था और न ही उचित। लेकिन इस नये संस्करण में जो नयी चीज़ की गयी है, वह है इसे अद्यतनतम बनाना। यह इतिहास हिंदी साहित्य के विकास को 2005-06 तक ले आता है, जिस सीमा को हिंदी साहित्य का दूसरा कोई भी इतिहास छूता तक नहीं है। इसका कारण पत्र-पत्रिकाओं तथा अन्य स्रोतों से विगत पचीस-छब्बीस वर्षों में हुए हिंदी साहित्य के विकास की सूचनाएं जुटाने, उनका विश्लेषण करने और निष्कर्ष निकालने के कष्टसाध्य कार्य से बचना है। इससे बचने का एक रास्ता यह निकाल लिया गया है कि यह घोषित कर दिया जाये कि 'यह इतिहास तो है ही नहीं'। हमें भी सूचनाएं जुटाने में बड़ी धूल छाननी पड़ी है। इसमें विभिन्न पत्रिकाओं की फाइलों— विशेषतः 'प्रकर' और 'समीक्षा' की फाइलों तथा सर्वश्री गोपाल राय, रामचन्द्र तिवारी और मधुरेश के कथा-साहित्य एवं गद्य की विभिन्न विधाओं से संबंधित कार्य से विशेष सहायता मिली है। इनके प्रति हम आभारी हैं। इस इतिहास को अद्यतन बनाने के प्रयत्न का सुफल 1980 के बाद हिंदी साहित्य में उदित होने वाली और प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाली नयी पीढ़ी को उसका देय प्रदान करने के रूप में सामने आया है। हमने तथ्यों की प्रामाणिकता का यथासंभव ध्यान रखा है। लेकिन इस समय हिंदी में शोधकार्य की जो स्थिति है, उससे कुछ त्रुटियां रह जाना संभव है, जिसके लिए हम क्षम्य हैं।

हमें पूर्ण विश्वास है कि 'हिंदी साहित्य के इतिहास' के इस नये संशोधित-परिवर्धित संस्करण से प्राध्यापक, शोधार्थी और छात्र लाभान्वित होंगे और हमारा श्रम सार्थक होगा।

1 जनवरी, 2009 —हरदयाल

34478

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

# प्रकाशकीय

'हिंदी साहित्य का इतिहास' का पूर्णतय परिशोधित-परिवर्धित तीसरा संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें व्यावसायिक से कहीं अधिक बौद्धिक एवं नैतिक संतोष का अनुभव हो रहा है। पुस्तक का पहली बार संशोधन 1991 में हुआ था। कई वर्षों से यह महसूस किया जा रहा था कि पुस्तक में एक और संशोधन की नितांत आवश्यकता है। किंतु पुस्तक के प्रधान संपादक डॉ. नगेन्द्र के निधन के कारण यह संशोधन कार्य संभव न हो सका। हमारे अनुरोध पर डॉ. हरदयाल ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का सह-संपादक बनना स्वीकार किया तथा पुस्तक को संशोधित करने के कठिन कार्य को करने का भी निश्चय किया। हम इनके प्रति हृदय से आभार व्यक्त करते हैं।

हमें खेद है कि पुस्तक के वर्तमान नये संस्करण के प्रकाशन में किन्हीं आकस्मिक कारणों से काफी विलंब हुआ है। वास्तव में यह संस्करण वर्ष 2008 के अंत तक प्रकाशित हो जाना था। अनेक प्राध्यापकों तथा पाठकों को इस नये संस्करण की गत कई महीनों मे उत्सुकता से प्रतीक्षा थी। हम इन सभी के प्रति क्षमा-पार्थी हैं।

हमें विश्वास है कि यह परिवर्धित संस्करण प्राध्यापकों एवं सुधी पाठकों के लिए और भी अधिक लोकप्रिय और उपयोगी सिद्ध होगा। हम आश्वस्त हैं कि डॉ. हरदयाल के कुशल संपादन में यह पुस्तक निरंतर और अधिक प्रतिष्ठा पा सकेगी।

—प्रकाशक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

# प्रथम संस्करण की भूमिका

प्रस्तुत इतिहास एक संपादित ग्रंथ है, जिसका संकलन अनेक लेखकों के सहयोग से हुआ है—और ये लेखक भी समान साहित्य-दृष्टि से अनुप्रेरित किसी एक संघ के सदस्य न होंकर अपने अपने विषय के विशेषज्ञ, स्वतंत्र समीक्षक हैं। आज के जीवन में लेखकों का समुदाय ही बन सकता है, संघ नहीं। ऐसी स्थिति में संपादक का दायित्व अत्यंत कठिन हो जाता है। सभी लेखक अपने विषय के अधिकारी विद्वान हैं। उन्होंने नवीन शोध-परिणामों का विवेकपूर्वक उपयोग करते हुए विभिन्न कालखंडों, प्रवृत्तियों एवं विधाओं का ऐतिहासिक विवेचन किया है। इस अनेकता में एकता स्थापित करने का प्रयत्न एक सीमा तक ही सफल हो सकता है—और सहयोगी लेखकों के उदार सहयोग से यह प्रयास हमने यथासंभव किया है। विभिन्न लेखकों की सामग्री में स्वभावतः विद्यमान मतभेदों और तज्जन्य अंतर्विरोधों का निराकरण तथा अपनी रूपरेखा के अनुसार यथास्थान परिवर्तन-संशोधन किया है। नामपरिगणन को विशेष महत्त्व न देते हुए भी यह ध्यान रखा है कि महत्त्वपूर्ण नाम छूट न जायें और वर्तनी में भी एकरूपता बनी रहे। इससे आगे जाना न संपादक के लिए संभव था और न उचित ही। इस कार्य में हमारे सहयोगी संपादक डॉ. सुरेशचन्द्र गुप्त ने अमूल्य सहयोग दिया है—जिसके लिए हम हृदय से आभारी हैं।

गुण और परिमाण में समृद्ध, निरंतर विकासशील हिंदी साहित्य का परिपूर्ण इतिहास तो कोई एक कृति लेखक ही लिख सकता है, परंतु उसके अभाव में यह संकलन-ग्रंथ भी शायद, कुछ सीमा तक, रिक्तिपूर्ति कर सके, ऐसी आशा करना बहुत अनुचित न होगा।

15 अगस्त, 1973 —डॉ. नगेन्द्र

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

# लेखक-मंडल

**डॉ. नगेन्द्र**
भूमिका (हिंदी-साहित्य का इतिहास : पुनर्लेखन की समस्याएं), काल-विभाजन और नामकरण, रीतिकाल की उपलब्धियां, उपसंहार

**डॉ. भोलानाथ तिवारी**
हिंदी भाषा : उद्भव, विकास और स्वरूप

**डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त**
पूर्वपीठिका, प्रेमाख्यान-काव्य

**डॉ. रामगोपाल शर्मा दिनेश**
आदिकाल

**आचार्य परशुराम चतुर्वेदी**
भक्तिकाल : पूर्वपीठिका

**डॉ. तारकनाथ बाली**
निर्गुण भक्ति का स्वरूप, छायावाद युग : काव्यधारा

**डॉ. त्रिलोकीनाथ दीक्षित**
संत काव्य

**डॉ. विजयेन्द्र स्नातक**
सगुण भक्तिकाव्य, भक्तिकाल की उपलब्धियां

**डॉ. मनमोहन गौतम**
भक्तिकाल की अन्य काव्य-प्रवृत्तियां

**डॉ. महेन्द्रकुमार**
भक्तिकाल की अन्य काव्य-प्रवृत्तियां : रीतिकाव्य, उत्तर मध्यकाल अथवा रीतिकाल

**डॉ. प्रेमप्रकाश गौतम**
भक्तिकाल का गद्य साहित्य, रीतिकाल का गद्य साहित्य

**डॉ. भगीरथ मिश्र**
रीतिबद्ध काव्य

**डॉ. मनोहरलाल गौड़**
रीतिमुक्त काव्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**डॉ. अम्बाप्रसाद 'सुमन'**
रीतिकाल की अन्य काव्य प्रवृत्तियां

**डॉ. बच्चन सिंह**
आधुनिक काल : पूर्वपीठिका, छायावादोत्तर काल : गद्य साहित्य

**डॉ. सुरेशचन्द्र गुप्त**
भारतेंदु-युग : काव्यधारा

**डॉ. रामचन्द्र तिवारी**
भारतेंदु-युग : गद्य-साहित्य, द्विवेदी युग : गद्य साहित्य

**डॉ. ओम्प्रकाश सिंहल**
भारतेंदु युग : गद्य साहित्य की अन्य विधाएं, द्विवेदी युग : गद्य साहित्य की अन्य विधाएं, छायावाद-युग : गद्य साहित्य की अन्य विधाएं, छायावादोत्तर काल : गद्य साहित्य की अन्य विधाएं

**डॉ. उमाकान्त गोयल**
द्विवेदी युग : काव्यधारा

**डॉ. गोपाल राय**
छायावाद युग : गद्य साहित्य

**डॉ. रामदरश मिश्र**
छायावादोत्तर काल : काव्यधारा

**डॉ. बाबूलाल गोस्वामी**
छायावादोत्तर काल : ब्रजभाषा-काव्य

**श्री महेन्द्र चतुर्वेदी/श्री प्रेमचन्द चंदोला**
छायावादोत्तर काल : ज्ञान का साहित्य तथा पत्र-पत्रिकाएं

**डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल**
अद्यतन गद्य साहित्य

**डॉ. हरदयाल**
उत्तर आधुनिक विमर्श, अद्यतन हिंदी कविता— दो, अद्यतन हिंदी गद्य साहित्य—दो (1980 के बाद)

□□

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

# विषयानुक्रम

*भूमिका*

1. हिंदी साहित्य का इतिहास : पुनर्लेखन की समस्याएं 1–5
2. हिंदी भाषा : उद्भव, विकास और स्वरूप 6–16

*प्रथम खंड*
**पूर्वपीठिका तथा आदिकाल**

**अध्याय 1 : पूर्वपीठिका** 19–42

1. इतिहास : अर्थ एवं स्वरूप 19
2. इतिहास-दर्शन की रूपरेखा 20
   इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण, इतिहास के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण
3. साहित्य का इतिहास-दर्शन 22
4. साहित्येतिहास और साहित्यालोचन 25
5. हिंदी-साहित्येतिहास की परंपरा 26
6. हिंदी-साहित्येतिहास के आधार 34
7. काल-विभाजन और नामकरण 34

**अध्याय 2 : आदिकाल** 43–78

1. हिंदी साहित्य का आरंभ 43
   प्रथम कवि, प्रथम रचना
2. सीमांकन 47
3. नामकरण की समस्या 48
4. परिवेश 50
   राजनीतिक स्थिति, धार्मिक स्थिति, सामाजिक स्थिति,
   सांस्कृतिक परिस्थिति, साहित्यिक वातावरण
5. अपभ्रंश-साहित्य : पृष्ठभूमि और प्रभाव 55
6. आदिकाल की उपलब्ध सामग्री 57
   प्रामाणिकता, ग्रहण और त्याग का प्रश्न
7. वर्गीकरण 58
   **सिद्ध साहित्य :** सरहपा, शबरपा, लुइपा, डोम्मिपा, कण्हपा, कुक्कुरिपा
   **जैन साहित्य :** श्रावकाचार, मरतेश्वर-बाहुबली रास, चन्दनबालारास, स्थूलिभद्ररास,
   रेवंतगिरिरास, नेमिनाथरास

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**नाथ साहित्य :** गोरखनाथ, अन्य कवि
**रासो साहित्य :** खुमाण रासो, बीसलदेव रासो, हम्मीर रासो, परमाल रासो, पृथ्वीराज रासो
**लौकिक साहित्य :** ढोला-मारू रा दूहा, जयचन्द-प्रकाश और जयमयंक-जसचन्द्रिका
वसन्त-विलास, खुसरो की पहेलियां
**गद्य साहित्य :** राउलवेल, उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण, वर्ण-रत्नाकर

8. आदिकाल की उपलब्धियां 74
भाषा-रूप और संप्रेषण-क्षमता, कथ्य और शिल्प

## *द्वितीय खंड*
## पूर्व-मध्यकाल अथवा भक्तिकाल

**अध्याय 3 : भक्तिकाल : पूर्वपीठिका** 81-106

1. सीमांकन 82
2. परिवेश 83
राजनीतिक स्थिति, सामाजिक स्थिति, सांस्कृतिक स्थिति
3. भक्ति-आंदोलन 94
4. ललित कलाएं 96
वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला
5. साहित्य और असाहित्य का प्रश्न 98
6. उपलब्ध सामग्री 100
7. वर्गीकरण 101
8. भक्तिकाव्य और लौकिक काव्य 102
भक्तिकाव्य की प्रमुख प्रवृत्तियां : प्रवृत्तिगत पृष्ठभूमि, प्रवृत्तिगत विशेषताएं

**अध्याय 4 : निर्गुण भक्तिकाव्य** 107-161

1. निर्गुण भक्ति का स्वरूप 107
2. संत-काव्य 114
उपलब्ध सामग्री : साहित्य-असाहित्य का निर्णय, वर्गीकरण एवं प्रवृत्ति-विश्लेषण
3. निर्गुण भक्तिधारा के प्रमुख कवि 117
रामानन्द, कबीरदास, रैदास, नानकदेव, जम्भनाथ, हरिदास निरंजनी, सींगा, लालदास, दादूदयाल, मलूकदास, बाबा लाल, सुन्दरदास, अन्य संत कवि
4. संत-काव्य : सामान्य प्रवृत्तियां 132
रस, भाषा, अलंकार, छंद, युगबोध
5. प्रेमाख्यान-काव्य 135
उद्गम-स्रोत तथा पूर्व-परंपरा
6. हिंदी प्रेमाख्यान-काव्य : प्रवृत्ति-विश्लेषण 141
काव्य-प्रेरणा एवं प्रयोजन, कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, वस्तु-वर्णन, भाव एवं रस-व्यंजना, विचार एवं सिद्धांत, काव्य-रूप, शैली

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

7. प्रेमाख्यान-परंपरा का हिंदी में प्रवर्तन व विकास 152
चान्दायन, लखमसेन पद्मावती कथा, सत्यवती कथा, मृगावती, माधवानल कामकंदला (गणपति), पद्मावत, मधुमालती, ढोला मारू रा दूहा, माधवानल कामकंदला चौपाई, रूपमंजरी, प्रेमविलास प्रेमलता की कथा, छिताई वार्ता, माधवानल कामकंदला, चित्रावली, रसरतन, ज्ञानदीप, जन कवि के प्रेमाख्यान-काव्य, नल-दमयंती-संबंधी प्रेमाख्यान-काव्य
8. मूल्यांकन 160

**अध्याय 5 : सगुण भक्तिकाव्य 162-224**
1. वैष्णव भक्ति का उदय 162
2. वैष्णव धर्म के विविध रूप और वैष्णव भक्ति 164
3. वैष्णव भक्ति के प्रतिष्ठापक आचार्य 165
श्री रामानुजाचार्य, श्री मध्वाचार्य, श्री विष्णुस्वामी, श्री निम्बार्काचार्य, श्री वल्लभाचार्य
4. वैष्णव भक्ति का वैशिष्ट्य 168
5. रामभक्ति-काव्य 168
बौद्ध एवं जैन-ग्रंथों में रामकथा, दक्षिण के आलवारों में रामभक्ति, संस्कृत-पालि-प्राकृत एवं अपभ्रंश-साहित्य में रामकथा, आधुनिक भारतीय भाषाओं में रामकाव्य
6. हिंदी-रामकाव्य 173
स्वामी रामानन्द, अग्रदास, ईश्वरदास, गोस्वामी तुलसीदास, नाभादास, केशवदास, सेनापति, अन्य रामभक्त कवि, कृष्णभक्त कवियों द्वारा प्रणीत रामकाव्य
7. कृष्णभक्ति-काव्य 180
वैदिक ऋषि कृष्ण, 'महाभारत', 'गीता' और 'पुराणों' में कृष्ण, संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश-काव्य में कृष्ण, विद्यापति का कृष्ण-काव्य, मध्ययुगीन भक्ति-संप्रदायों में कृष्ण
8. कृष्णभक्त कवि 187
**वल्लभ संप्रदाय :** सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, नन्ददास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुज दास
**निम्बार्क-संप्रदाय :** श्रीभट्ट, हरिव्यासदेव, परशुरामदेव
**राधावल्लभ-संप्रदाय :** हितहरिवंश, दामोदरदास (सेवक जी), हरिराम व्यास, चतुर्भुजदास, ध्रुवदास, नेही नागरीदास
**हरिदासी संप्रदाय (सखी-संप्रदाय) :** स्वामी हरिदास, जगन्नाथ गोस्वामी, बीठल बिपुल, बिहारिनदास, अन्य भक्त-कवि
**चैतन्य (गौड़ीय) संप्रदाय :** रामराय, सूरदास मदनमोहन, गदाधर भट्ट, चंद्रगोपाल, भगवानदास, माधवदास 'माधुरी', भगवतमुदित
**संप्रदाय-निरपेक्ष कृष्ण काव्य :** मीराबाई, रसखान

**अध्याय 6 : भक्तिकाल की अन्य काव्य-प्रवृत्तियां 225-240**
1. अन्य काव्य-प्रवृत्तियां 225
वीरकाव्य, प्रबंधात्मक चरितकाव्य, नीतिकाव्य, अकबरी दरबार का काव्य, रीतिकाव्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**अध्याय 7 : भक्तिकाल का गद्य-साहित्य** 241-249

ब्रजभाषा-गद्य, खड़ीबोली-गद्य, दक्खिनी-गद्य, राजस्थानी-गद्य

**अध्याय 8 : भक्तिकाल की उपलब्धियां** 250-254

## तृतीय खंड
## उत्तर-मध्यकाल अथवा रीतिकाल

**अध्याय 9 : उत्तर-मध्यकाल अथवा रीतिकाल** 257-343

1. नामकरण 257
2. सीमांकन 260
3. परिस्थितियां 261

   राजनीतिक अवस्था, सामाजिक अवस्था, सांस्कृतिक अवस्था, साहित्य एवं कलाओं की स्थिति
4. उपलब्ध सामग्री 266

   मूलस्रोत, वर्गीकरण
5. प्रवृत्ति-विश्लेषण 271
6. रीतिकाव्य 273

   'रीति' शब्द की व्याख्या और रीतिकाव्य का लक्षण, शास्त्रीय और साहित्यिक पृष्ठाधार, रीतिकाव्य की मूल प्रवृत्तियां
7. रीतिकवियों के वर्ग 286

   **सर्वांग निरूपक कवि :** चिंतामणि, कुलपति मिश्र, कुमारमणि, देव, सोमनाथ, भिखारीदास, रसिकगोविंद, प्रतापसाहि, अमीरदास, ग्वाल

   **सर्वरस-निरूपक रीतिकवि :** तोष, रसलीन, पद्माकर, बेनी 'प्रवीन', अन्य रीतिकवि

   **शृंगाररस-निरूपक रीतिकवि :** मतिराम, कृष्णभट्टदेव ऋषि

   **नायक-नायिकाभेद-निरूपक रीतिकवि :** कालिदास त्रिवेदी

   **अलंकार-निरूपक रीतिकवि :** जसवंतसिंह, मतिराम, भूषण, पद्माकर, अलंकार-विवेचक अन्य रीतिकवि

   **छन्दोनिरूपक रीतिकवि :** मुरलीधर 'भूषण', सुखदेव मिश्र, मतिराम, रामसहाय, अन्य छंदोनिरूपक कवि
8. रीतिबद्ध काव्य 321

   सेनापति, बिहारी, रसनिधि, वृंद, नृप शंभु, नेवाज, कृष्ण कवि, हठी जी, विक्रमादित्य, रामसहाय, पजनेस, बेनी वाजपेयी
9. रीतिमुक्त काव्य 332

   प्रवृत्ति का नाम, परिभाषा और परिधि, घनानन्द, आलम, ठाकुर, बोधा, द्विजदेव, रीतिमुक्त काव्य की सामान्य विशेषताएं

**अध्याय 10 : रीतिकाल की अन्य काव्य-प्रवृत्तियां** 344-374

1. अन्य काव्य-प्रवृत्तियां 344

   भक्तिकाव्य, सूफी-काव्य अथवा प्रेमाख्यानकाव्य, राम-काव्य, कृष्ण-काव्य, नीतिकाव्य, वीरकाव्य, स्फुट काव्य-प्रवृत्तियां, रीतिकालीन काव्य की अन्य प्रवृत्तियों का मूल्यांकन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**अध्याय 11 : रीतिकाल का गद्य-साहित्य** 375-388

ब्रजभाषा-गद्य, खड़ीबोली-गद्य, दक्खिनी-गद्य, राजस्थानी-गद्य, भोजपुरी और अवधी की गद्य रचनाएं

**अध्याय 12 : रीतिकाल की उपलब्धियां** 389-395

## चतुर्थ खंड
## आधुनिक काल

**अध्याय 13 : आधुनिक काल : पूर्वपीठिका** 399-436

1. नामकरण 399
2. उपविभाग 400
3. परिस्थितियां 401

राजनीतिक स्थिति, नया आर्थिक ढांचा : नये संबंध, शिक्षा का पश्चिमीकरण, यातायात के साधन, प्रेस और जनमत, भारतीय जागरण (रेनेसां) : पश्चिम को चुनौती, मध्यकालीनता से आधुनिकता की ओर, संगीत, चित्र और साहित्य की नयी स्थिति

4. आधुनिकता 416
5. उत्तर आधुनिक विमर्श 417

संरचनावाद, उत्तरसंरचनावाद, विखंडन या विरचना, उत्तरआधुनिकतावाद, नारी-विमर्श

**अध्याय 14 : भारतेंदु-युग (पुनर्जागरण काल)** 437-474

1. भारतेंदु-पूर्व काव्यधारा 437
2. भारतेंदु-युग का नवीन परिवेश 439
3. काव्यधारा 439

राष्ट्रीयता, सामाजिक चेतना, भक्ति-भावना, श्रृंगारिकता, प्रकृति-चित्रण, हास्य-व्यंग्य, रीति-निरूपण, समस्यापूर्ति, काव्यानुवाद, कलापक्ष

4. भारतेंदु-युग के प्रमुख कवि 451

भारतेंदु हरिश्चंद्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, जगन्मोहनसिंह, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास, अन्य कवि

5. मूल्यांकन 455
6. गद्य-साहित्य 456

नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना, गद्य-साहित्य की अन्य विधाएं (जीवनी-साहित्य, यात्रावृत्त) ज्ञान का साहित्य, पत्र-पत्रिकाएं, गद्य-शैली का विकास, मूल्यांकन

**अध्याय 15 : द्विवेदी-युग** (जागरण-सुधार-काल) 475-513

1. काव्यधारा 475
2. द्विवेदीकालीन कविता की मुख्य प्रवृत्तियां 477

राष्ट्रीयता, सामान्य मानवता, नीति और आदर्श, वर्ण्य विषय का क्षेत्र-विस्तार, हास्य-व्यंग्य-काव्य, सभी काव्य-रूपों का प्रयोग, भाषा-परिवर्तन, छंद-वैविध्य

3. प्रमुख कवि 482

श्रीधर पाठक, महावीरप्रसाद द्विवेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', रामचरित उपाध्याय, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, अन्य कवि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

4. ब्रजभाषा-काव्य 491
5. गद्य-साहित्य 495
नाट्य साहित्य, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना, गद्य-साहित्य की अन्य विधाएं (जीवनी-साहित्य, यात्रावृत्त, संस्मरण, पत्र-साहित्य), ज्ञान का साहित्य, पत्र-पत्रिकाएं, मूल्यांकन

**अध्याय 16 : छायावाद-युग** **514-591**
1. सीमांकन, नामकरण तथा परिवेश 514
2. काव्यधारा 519
**राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता के प्रमुख कवि :** माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान, अन्य कवि
**छायावाद :** सामान्य विशेषताएं
**छायावाद कवि :** जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, छायावाद के अन्य कवि
**प्रेम और मस्ती का काव्य** 541
**हास्य-व्यंग्यात्मक काव्य** 545
**ब्रजभाषा-काव्य** 546
3. गद्य-साहित्य 549
नाटक, एकांकी नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, समालोचना, गद्य-साहित्य की अन्य विधाएं (जीवनी-साहित्य, आत्मकथा, यात्रावृत्त, संस्मरण तथा रेखाचित्र, गद्यकाव्य, पत्र-साहित्य, अभिनंदन एवं स्मृति-ग्रंथ), ज्ञान का साहित्य, पत्र-पत्रिकाएं, मूल्यांकन

**अध्याय 17 : छायावादोत्तर काल** **592-866**
1. काव्यधारा 592
उत्तर-छायावाद, व्यक्तिवादी गीतिकविता, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता, कुछ विशिष्ट प्रबंधकाव्य, कुछ विशिष्ट युद्ध-प्रबंध , नये गीत, आज की कविता, हास्य-व्यंग्यात्मक कविता, ब्रजभाषा-काव्य, मूल्यांकन, अद्यतन हिंदी कविता-1 (सन् 1975-1980), अद्यतन हिंदी कविता-2 (1981-2005)
2. गद्य-साहित्य 657
अद्यतन हिंदी गद्य-साहित्य : **नाटक**, अद्यतन हिंदी नाटक-1 (1975-80), अद्यतन हिंदी नाटक-2 (1981-2005), **एकांकी नाटक**, अद्यतन एकांकी नाटक (1981-2005), **उपन्यास**, अद्यतन हिंदी उपन्यास-1 (1975-80), अद्यतन हिंदी उपन्यास-2 (1981-2005), **कहानी**, अद्यतन हिंदी कहानी-1 (1975-80), अद्यतन हिंदी कहानी-2 (1981-2005), **निबंध**, अद्यतन हिंदी निबंध-1 (1975-80), अद्यतन हिंदी निबंध-2 (1981-2005), **समालोचना**, अद्यतन हिंदी समालोचना-1 (1975-80), अद्यतन हिंदी समालोचना-2 (1981-2005), **गद्य-साहित्य की अन्य विधाएं** (जीवनी-साहित्य, आत्मकथा, यात्रा वृत्त, संस्मरण तथा रेखाचित्र, गद्य-काव्य, रिपोर्ताज, इंटरव्यू, पत्र साहित्य, अभिनंदन एवं स्मृति-ग्रंथ), अद्यतन ज्ञान साहित्य की अन्य विधाएं (1981-2005), ज्ञान का साहित्य, अद्यतन ज्ञान का साहित्य (1981-2005), पत्र-पत्रिकाएं, मूल्यांकन

**उपसंहार** **867-870**

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## भूमिका : 1

# हिंदी साहित्य का इतिहास पुनर्लेखन की समस्याएं

**आवश्यकता :** हिंदी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। इसके दो स्पष्ट कारण हैं—साहित्यचेतना का विकास और नवीन शोधपरिणाम। प्रत्येक युग में साहित्यचेतना में निरंतर परिवर्तन या विकास होता रहा है। वर्तमान युग का साहित्य चिंतन वैसा नहीं है, जैसा आचार्य शुक्ल के समय में, आज से चालीस वर्ष पूर्व था। यद्यपि साहित्य के मौलिक प्रतिमान अधिक नहीं बदलते, फिर भी बदलते हुए युगबोध के कारण परिप्रेक्ष्य, प्रविधि प्रक्रिया आदि में परिवर्तन निश्चय ही होता है। दूसरा प्रमुख कारण यह है कि पिछले दशकों में हुए निरंतर अनुसंधान के फलस्वरूप प्रचुर नवीन सामग्री प्रकाश में आयी है और अनेक स्वीकृत तथ्यों का संशोधन हुआ है, जिनसे पूर्ववर्ती निर्णय और निष्कर्ष अनिवार्यतः बदल गये हैं। इनके अतिरिक्त एक सूक्ष्मतर कारण और भी है। जैसा कि इलियट ने कहा है, ''केवल अतीत ही वर्तमान को प्रभावित नहीं करता, वर्तमान भी अतीत को प्रभावित करता है।'' इस तर्क से प्रत्येक युग में साहित्य के नये विकास रूप उसके पूर्वरूपों के मूल्यांकन को प्रभावित करते रहते हैं। उदाहरण के लिए, मिश्रबंधुओं के समय श्रेष्ठ कवियों की जो परंपरा थी, उसमें मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, पंत आदि के आविर्भाव के बाद निश्चय ही परिवर्तन हो गया। हिंदी महाकाव्य-परंपरा में 'रामचरितमानस' और 'रामचंद्रिका' आदि का स्थान निर्धारण करने के लिए 'प्रियप्रवास', 'साकेत' और 'कामायनी' की रचना के बाद आज फिर से विचार करना पड़ेगा। किसी शृंखला में जब नयी कड़ियां जुड़ती हैं तो स्वभावतः पुरानी कड़ियों की स्थिति पूर्ववत् नहीं रह जाती। अतः नवीन शोधपरिणामों के आधार पर, विकासशील साहित्य चेतना के आलोक में, संपूर्ण परिदृश्य का पुनरावलोकन सर्वथा आवश्यक है।

**दो मौलिक प्रश्न :** हिंदी साहित्य के इतिहास के संदर्भ में दो मौलिक प्रश्नों का समाधान कर लेना आवश्यक है—(1) हिंदी का स्वरूपविस्तार कहां तक है? (2) साहित्य की सीमा क्या है? हिंदी के स्वरूपविस्तार का प्रश्न कुछ राजनीतिक कारणों से उलझ गया है। हिंदी के विद्वान और अन्य भाषाविद् आरंभ से ही यह स्वीकार करते आये हैं कि भारतवर्ष के जितने भूभाग में वर्तमान हिंदी या खड़ी बोली, हिंदी सामाजिक व्यवहार, अर्थात पत्राचार, शिक्षा-दीक्षा, सार्वजनिक आयोजन, विचार-विनिमय तथा साहित्यिक अभिव्यक्ति आदि की माध्यम भाषा है, वह सब का सब हिंदी प्रदेश है और उसके अंतर्गत बोली जाने वाली सभी भाषाएं हिंदी की उपभाषाएं हैं। इस दृष्टि से वर्तमान बिहार, झारखंड, उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश तथा दिल्ली का इलाक़ा हिंदी-क्षेत्र में आते हैं और मैथिली, मगही, भोजपुरी, पूर्वी अवधी, पश्चिमी अवधी, बघेलखंडी, ब्रज, कन्नौजी, बुंदेलखंडी, राजस्थानी के विभिन्न रूप, कुमाऊंनी आदि पहाड़ी बोलियां हिंदी की शाखा-प्रशाखाएं हैं। यह परिभाषा नयी नहीं है, इसका स्वरूप उस समय निर्धारित हो गया था जब भाषाई राज्यों और उनके प्रलोभनों की कल्पना भी किसी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

को नहीं थी। हिंदी का यह 'बृहत्तर' या 'विशाल', यानी राजनीतिक उद्देश्यों से विस्तारित रूप नहीं है, स्वाभाविक तर्कसम्मत रूप है, जिसके विषय में अभी कुछ समय पूर्व तक कोई विवाद नहीं था। लेकिन इधर यह विवाद ज़ोर पकड़ रहा है। एक मत यह है कि हिंदी का अर्थ वर्तमान हिंदी या खड़ी बोली हिंदी ही है। मैथिली और राजस्थानी तो स्वतंत्र भाषाएं हैं ही, भाषाविज्ञान के आधार पर उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति हिंदी से अत्यंत भिन्न है; अवधी और ब्रज का भी अपना पृथक अस्तित्व है, ये दोनों एक-दूसरे से भी भिन्न हैं और वर्तमान हिंदी से भी। यह नारा हिंदी-विरोधी शिविर से उठाया गया है और हिंदी के भी कुछेक अधिक प्रगतिशील लेखक इसमें शामिल हो गये हैं। मैथिली को तो साहित्य अकादमी जैसी संस्था ने मान्यता दे ही दी है और उसके साहित्य के स्वतंत्र प्रकाशन तथा अध्ययन-अध्यापन का क्रम चलने लगा है। अब राजस्थानी को भी साहित्य अकादमी ने स्वतंत्र भाषा की मान्यता दे दी है। ब्रज तथा अवधी, जिनका साहित्य कहीं अधिक समृद्ध है, और भी औचित्यपूर्वक यह दावा कर सकती हैं। दूसरा मत विस्तारवादी है, जिसके अनुसार उर्दू भी हिंदी की ही उपभाषा है और ब्रजभाषा आदि की तरह उर्दू का साहित्य भी हिंदी साहित्य का ही अंग है। नागरी प्रचारिणी सभा तथा भारतीय हिंदी परिषद के इतिहासों में उर्दू साहित्य के विकास का भी निरूपण किया गया है।

इस विषय में हमें संतुलित दृष्टि से विचार करना चाहिए। एक बात तो यह साफ़ है कि उर्दू का हिंदी साहित्य के इतिहास में अंतर्भाव करना उचित नहीं है, प्रसाद और इक़बाल को भी एक ही भाषा के कवि मानना संगत नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि दोनों में कुछ तत्व समान हैं, परंतु असमान तत्त्व कहीं अधिक हैं। अत: हिंदी साहित्य के इतिहास में उर्दू के समावेश का बरबस प्रयास करना व्यर्थ है। मैथिली और राजस्थानी साहित्य का इतिहास आदिकाल से ही हिंदी साहित्य के साथ संबद्ध रहा है और विद्यापति, चंद, नरपति नाल्ह, पृथ्वीराज आदि कवियों को हिंदी साहित्य के इतिहास में निरंतर महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता रहा है। परंतु भाषा की कठिनाई के कारण, साथ ही पर्याप्त शोधसामग्री का प्रकाशन न होने से, इन भाषाओं के कवि, लेखकों तथा उनकी कृतियों के साथ उचित न्याय नहीं हुआ। परवर्ती शोध के परिणामस्वरूप इन दोनों भाषाओं का समृद्ध साहित्य प्रकाश में आया है। राजस्थानी में रासो, मुक्तक वीरकाव्य तथा नीतिकाव्य की समृद्ध परंपरा तथा गद्य के विविध रूपों के पुष्ट उदाहरण मिलते हैं और इधर मैथिली के गीतिकाव्य का माधुर्य भी अपूर्व है। इसी प्रकार गुरुमुखी में लिपिबद्ध हिंदी गद्य-पद्य का प्रचुर साहित्य भी आज उपलब्ध है, जिससे हिंदी साहित्य का इतिहासकार या तो अनभिज्ञ रहा है या पंजाबी की रचनाएं समझ कर उनकी उपेक्षा करता रहा है। इस संपूर्ण वाङ्मय का हिंदी साहित्य के इतिहास में विवेकपूर्ण उपयोग करना चाहिए, क्योंकि हिंदी की सही परिभाषा के अनुसार यह सब हिंदी साहित्य का ही अंग है।

कुछ ऐसी ही शंका आदिकाल की हिंदी के विषय में भी उठती है। उस समय की हिंदी का स्वरूप अपभ्रंश, डिंगल-पिंगल और सीमांतवर्ती क्षेत्रों में गुजराती, पंजाबी आदि भाषाओं के साथ इस प्रकार उलझा हुआ है कि इतिहासकार भी भ्रम में पड़ जाता है। वह वस्तुत: भारतीय भाषाओं का उद्भवकाल है, जिसमें प्राय: सभी के स्वरूप अनिश्चित और अस्थिर हैं। इसीलिए हिंदी में भी कुछेक पूर्ववर्ती निकटवर्ती भाषारूपों का अंतर्भाव हो जाना स्वाभाविक है। अत: इस विषय में अधिक शुद्धतावादी दृष्टिकोण अपनाना ठीक नहीं होगा। व्यावहारिक दृष्टिकोण यही है कि ऐसी सभी रचनाओं को, जिनके अधिकांश भाषिक रूप हिंदी की उपभाषाओं के भाषिक रूपों से अभिन्न हैं, हिंदी के अंतर्गत मान लेना चाहिए।

दूसरा प्रश्न यह है कि इतिहास के संदर्भ में साहित्य की सीमा कहां तक मानी जाये। सत्य तो

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यह है कि इस विषय में भी हमारा दृष्टिकोण व्यापक ही होना चाहिए और रस के साहित्य के अतिरिक्त ज्ञान के साहित्य का भी इसमें अंतर्भाव करना चाहिए। यह ठीक है कि साहित्य का अर्थ मूलतः यहां भी सर्जनात्मक साहित्य ही है और एक सीमा से आगे संपूर्ण वाङ्मय को उसके साथ समेटना संभव नहीं है। मध्ययुग में आयुर्वेद, ज्योतिष आदि-शास्त्र तथा सांप्रदायिक साहित्य आदि सभी कुछ पद्य में ही लिखित हैं और गद्य में भी अनेक कच्ची-पक्की टीकाएं, वचनिकाएं, वार्त्ताएं, ख्यातें और बातें मिलती हैं। इधर आधुनिक युग में ज्ञान-विज्ञान के असंख्य ग्रंथों की रचना निरंतर हो रही है। यह सब साहित्य के अंतर्गत तो नहीं आ सकता, लेकिन इस प्रकार के समस्त वाङ्मय का नियमतः त्याग करना भी उचित नहीं है। उदाहरण के लिए, आदिकाल में रचित गोरखनाथ आदि की बानी या परवर्ती युग का वार्त्ता-साहित्य शुद्ध साहित्य की परिधि में नहीं आता; किंतु क्या इतिहासकार उनकी उपेक्षा कर सकता है? उनके अभाव में विकास परंपरा की कुछ आवश्यक कड़ियां लुप्त हो जायेंगी। आधुनिक काल के आरंभ में रचित स्वामी दयानंद का 'सत्यार्थप्रकाश' निश्चय ही ललित साहित्य का अंग नहीं है, परंतु क्या आलोचना की भाषा के विकास का अध्ययन उसके बिना संभव है? इसी प्रकार वर्तमान युग में भी ज्ञान के साहित्य के ऐसे अनेक गौरव ग्रंथ हैं, जिनका उल्लेख इतिहास में करना अनिवार्य है। एक ओर भाषाविज्ञान, पाठविज्ञान, कोशविज्ञान, पत्रकारिता आदि और दूसरी ओर दर्शन, इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्र आदि के क्षेत्रों की उपलब्धियां कथ्य की दृष्टि से साहित्य के अंतर्गत भले ही नहीं आतीं, किंतु वे प्रकारांतर से गद्यशैली के विकास में योगदान करती हैं; इसका निषेध नहीं किया जा सकता। अतः इतिहासकार को यहां भी विवेकपूर्वक प्रमुख और गौण का भेद करते हुए वाङ्मय के दोनों रूपों को स्वीकार करके चलना चाहिए, अर्थात रस के साहित्य को प्रधान विषय बना कर उसके पोषक रूप में ज्ञान के साहित्य का आकलन करना चाहिए।

**आधार स्रोत :** पिछले चार दशकों में निरंतर अनुसंधान के फलस्वरूप अनेक नवीन आधार स्रोतों का उद्घाटन हुआ है और प्रचुर सामग्री प्रकाश में आयी है। वर्तमान शती के प्रथम चरण तक इस प्रकार के साधन अत्यंत सीमित थे और इतिहासकार को प्रायः सभा की खोज रिपोर्टों या विद्वानों के व्यक्तिगत प्रयासों पर ही निर्भर करना पड़ता था। परंतु आज सभी क्षेत्रों में अनेक संस्थाएं व्यवस्थित रूप से कार्य कर रही हैं और नित्य नवीन सामग्री का प्रकाशन हो रहा है। स्वभावतः इन शोध-परिणामों का उपयोग करना इतिहासकार के लिए आवश्यक हो गया है। परंतु इस विषय में काफ़ी सावधान हो कर कार्य करना चाहिए। इतिहास में ऐसी सामग्री का ही उपयोग करना चाहिए, जिसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। संदिग्ध सामग्री का भी, यदि वह साहित्य के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, उल्लेख करना आवश्यक हो सकता है; परंतु उस पर प्रश्नवाचक चिह्न अवश्य रहना चाहिए। हमारे साहित्य की काफ़ी महत्त्वपूर्ण सामग्री ऐसी है, जिसकी अप्रामाणिकता सिद्ध हो चुकी है। उसके प्रति मोह अनुचित है और इतिहासकार के सामने वस्तुस्थिति को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है। किंतु प्रामाणिकता के प्रश्न पर भी अत्यंत सतर्कता की आवश्यकता है। प्रत्येक नवीन शोध-परिणाम प्रामाणिक नहीं होता, प्रमाणसिद्ध स्थापनाओं को भी समयसिद्ध होने में देर लगती है; अतः नवीनतम के प्रति आग्रह भी इतिहास का गुण नहीं है। जिस प्रकार अप्रामाणिक मान्यताओं से चिपके रहना ग़लत है, उसी प्रकार हर नयी कच्ची-पक्की स्थापना के आधार पर समयसिद्ध धारणाओं को नकारना भी ख़तरनाक है।

**मौलिकता का प्रश्न :** इतिहास के क्षेत्र में मौलिकता का केंद्रबिंदु है—परिकल्पना अर्थात विकास-परंपरा का परिवर्तन। वास्तव में इतिहास-लेखन ऐतिहासिक अनुसंधान का पर्याय ही है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ऐतिहासिक अनुसंधाता जहां नवीन तथ्यों के अन्वेषण और उपलब्ध तथ्यों के नवीन आख्यान पर बल देता है, वहीं इतिहास-लेखक इन दोनों दिशाओं में एक सीमा से आगे नहीं बढ़ सकता। उसके लिए नवीन की अपेक्षा प्रामाणिक और समयसिद्ध का अधिक महत्त्व है। नये तथ्यों और नये शोध-निष्कर्षों का वह आदर करता है, किंतु उसके लिए वे तब तक ग्राह्य नहीं होते, जब तक कि समय का प्रमाण-पत्र उन्हें प्राप्त न हो जाये। इसी प्रकार कृतियों तथा कृतिकारों की समीक्षा एवं मूल्यांकन में उसका अपना मौलिक दृष्टिकोण हो सकता है, जो आलोचना के क्षेत्र में निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है, परंतु इतिहास में एक सीमा से आगे उसका आग्रह करने से संतुलन भंग हो सकता है। इतिहास में तो समन्वयात्मक दृष्टिकोण और संतुलित विवेचन ही अधिक काम्य है।

उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष इस प्रकार हैं :

1. नवीन शोधपरिणामों और विकसित साहित्यचेतना को ध्यान में रखते हुए हिंदी साहित्य के इतिहास का पुनर्लेखन आवश्यक है।
2. ऐतिहासिक दृष्टि और आलोचनाशक्ति से युक्त एक लेखक यदि यह कार्य संपन्न कर सके तो उत्तम होगा। किंतु यदि यह संभव न हो, तो निश्चित परियोजना के अंतर्गत, निदेशक सिद्धांतों का निर्धारण कर कुछ लेखकों का समुदाय, घनिष्ठ संपर्क सहयोग के आधार पर, यह अनुष्ठान पूरा कर सकता है। शैलीभेद होने पर भी ऐतिहासिक परिदर्शन की एकता इस प्रकार के समवेत प्रयास में एकान्विति स्थापित कर सकती है।
3. युगचेतना और साहित्यचेतना के समन्वय पर आधृत साहित्य के इतिहास के संश्लिष्ट स्वरूप को ही हमें स्वीकार करना चाहिए और इसी के आधार पर एक समंजस रूपरेखा का निर्माण करना चाहिए अर्थात हिंदी भाषी भूभाग के सांस्कृतिक इतिहास के परिवेश में (जिसके अंतर्गत राजनीतिक सामाजिक तत्त्व भी स्वतः अंतर्भुक्त रहते हैं) उसके प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव में विकसित और हिंदी के विविध रूपों के माध्यम से अभिव्यक्त, साहित्य-चेतना के विकासक्रम का, साहित्यिक प्रतिमानों के आधार पर, आकलन ही हिंदी साहित्य के नये इतिहास का लक्ष्य होना चाहिए।
4. नवीन शोधसामग्री का उपयोग आवश्यक है, किंतु इस विषय में सतर्कता भी उतनी ही आवश्यक है। प्रत्येक नवीन स्थापना यथावत् ग्राह्य एवं मान्य नहीं हो सकती, अतः प्रामाणिक लेखकों के मतों का संक्षेप में उल्लेख करते हुए बहुमान्य और समयसिद्ध निष्कर्षों को ही इतिहास में ग्रहण करना अधिक विवेकसम्मत है।
5. विषय-प्रतिपादन में समन्वयात्मक पद्धति का अवलंबन करना ही उचित है। बल तो साहित्य-परंपरा, अर्थात साहित्यिक कृतियों के परस्पर संबंध के निरूपण पर ही रहना चाहिए, किंतु प्रकृति विश्लेषण तथा प्रमुख कवि, लेखकों और कृतियों के योगदान एवं स्थान-निर्धारण का भी साहित्य के इतिहास में उतना ही महत्त्व है।
6. जीवनवृत्त तथा ग्रंथ-विवरण साहित्यिक विवेचन से पूर्व देना ही अधिक संगत है। कुछ इतिहासग्रंथों में (जैसे लिगुइ और कैजामियां के अंगरेज़ी साहित्य के इतिहास में) इस प्रकार का विवरण पाद टिप्पणी के रूप में देने की व्यवस्था है, जो विवेचन की स्वच्छता की दृष्टि से ग्राह्य हो सकती है।
7. समानुपात की रक्षा और उचित मूल्यांकन के लिए इतिहास के समग्र रूप की कल्पना और उसके अनुसार पूर्व योजना तथा रूपरेखा की रचना अनिवार्य है। विषय-विवेचन का कलेवर विषय के महत्त्व के अनुरूप ही होना चाहिए, अन्यथा संतुलन और परिदर्शन में व्याघात

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उत्पन्न हो सकता है।

8. विक्रम संवत् तथा अन्य सन्-संवत् से आज के पाठक का जीवंत संपर्क न होने के कारण ईसवी सन् का ही प्रयोग करना उचित है।

साहित्य के इतिहास लेखन की दिशा में हिंदी में अभी उचित प्रगति नहीं हुई है। अन्य भाषाओं में तो स्थिति और भी ख़राब है। इसका कारण यह है कि इतिहासविधा की हमारे देश में विकसित परंपरा नहीं रही है और आज भी हम इस दिशा में विशेष उन्नति नहीं कर पाये हैं। परिणाम यह है कि सौ से ऊपर इतिहासग्रंथों के प्रकाशन के बाद भी हिंदी में सर्वाधिक प्रामाणिक इतिहास आचार्य शुक्ल का ही है, जिसकी रचना सन् 1929 में हुई थी। यह स्थिति हिंदी के गौरव के अनुकूल नहीं है, विशेषत: तब, जबकि हिंदी का आलोचना-साहित्य इतना समृद्ध हो चुका है। नागरी प्रचारिणी सभा ने बृहत् इतिहास की योजना द्वारा एक महान अनुष्ठान का उपक्रम किया है। इस प्रकार के सार्वजनिक कार्य की अपनी सीमाएं होती हैं, फिर भी इस महत्प्रयास के फलस्वरूप साहित्य-सामग्री की एक विशाल राशि भावी इतिहासकार के लिए एकत्र हो गयी है और हमारा विश्वास है कि शीघ्र ही साहित्य के कुछ प्रामाणिक इतिहास हमें हिंदी में उपलब्ध हो सकेंगे।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## भूमिका : 2

# हिंदी भाषा : उद्भव, विकास और स्वरूप

'हिंदी' जिस भाषा-धारा के विशिष्ट दैशिक और कालिक रूप का नाम है, भारत में उसका प्राचीनतम रूप संस्कृत है। संस्कृत का काल मोटे रूप से 1500 ई. पू. से 500 ई.पू. तक माना जाता है। इस काल में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। उस बोलचाल की भाषा का ही शिष्ट और मानक रूप संस्कृत वाङ्मय में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत भाषा के भी दो रूप मिलते हैं, एक भाषा वैदिक संस्कृत है, जिसमें वैदिक वाङ्मय की रचना हुई है, और दूसरी लौकिक या क्लासिकल संस्कृत है, जिसमें वाल्मीकि, व्यास, भास, अश्वघोष, कालिदास, माघ आदि की रचनाएं हैं। इस संस्कृत-काल के अंत तक मानक या परिनिष्ठित भाषा तो एक थी, किंतु तीन क्षेत्रीय बोलियां विकसित हो चली थीं, जिन्हें पश्चिमोत्तरी, मध्यदेशी तथा पूर्वी नाम से अभिहित किया जा सकता है।

संस्कृतकालीन बोलचाल की भाषा विकसित होते-होते 500 ई.पू. के बाद प्रवृत्तितः काफ़ी बदल गयी, जिसे 'पालि' की संज्ञा दी गयी है। इसका काल 500 ई.पू. से पहली ईसवी तक है। बौद्ध ग्रंथों में पालि का जो रूप मिलता है वह इस बोलचाल की भाषा का ही शिष्ट और मानक रूप था। इस काल में क्षेत्रीय बोलियों की संख्या चार हो गयी थी : पश्चिमोत्तरी, मध्यदेशी, पूर्वी और दक्षिणी।

पहली ईसवी तक आते-आते यह बोलचाल की भाषा और परिवर्तित हुई तथा पहली ई.से 500 ई. तक का इसका रूप 'प्राकृत' नाम से अभिहित किया गया। इस काल में क्षेत्रीय बोलियां कई थीं, जिनमें मुख्य शौरसेनी, पैशाची, व्राचड़, महाराष्ट्री, मागधी और अर्धमागधी प्रमुख थीं।

प्राकृतों से ही विभिन्न क्षेत्रीय अपभ्रंशों का विकास हुआ। अपभ्रंश भाषा का काल मोटे रूप से 500 ई. से 1000 ई. तक है। आज के प्राप्त अपभ्रंश साहित्य में मुख्यतः पश्चिमी और पूर्वी दो ही भाषा रूप मिलते हैं, किंतु प्राकृत के मुख्यतः पांच क्षेत्रीय रूपों तथा आज की नौ (लहंदा, पंजाबी, सिंधी, गुजराती, मराठी, हिंदी, उड़िया, बांग्ला, असमिया) आर्यभाषाओं के बीच की अपभ्रंश रूप में प्राप्त कड़ी के क्षेत्रीय रूपों की संख्या छह और दस के बीच में ही होगी; इससे कम नहीं हो सकती। इससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि अपभ्रंश के सभी क्षेत्रीय रूपों का अपभ्रंश साहित्य में प्रयोग नहीं हुआ। यदि विभिन्न प्राकृतों से विकसित अपभ्रंशों को किसी अन्य नाम के अभाव में प्राकृत नामों से ही अभिहित करें तो आधुनिक आर्यभाषाओं का जन्म अपभ्रंश के विभिन्न क्षेत्रीय रूपों से इस प्रकार माना जा सकता है :

| अपभ्रंश | आधुनिक भाषाएं तथा उपभाषाएं |
|---|---|
| शौरसेनी | पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, पहाड़ी, गुजराती |
| पैशाची | लहंदा, पंजाबी |
| व्राचड़ | सिंधी |

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

| | |
|---|---|
| महाराष्ट्री | मराठी |
| मागधी | बिहारी, बांग्ला, उड़िया, असमिया |
| अर्धमागधी | पूर्वी हिंदी |

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि हिंदी भाषा का उद्भव अपभ्रंश के शौरसेनी, अर्धमागधी और मागधी रूपों से हुआ है।

## हिंदी प्रदेश, उपभाषाएं तथा बोलियां

हिंदी भाषा का क्षेत्र हिमाचल प्रदेश, पंजाब का कुछ भाग, हरियाणा, राजस्थान, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, छत्तीसगढ़, झारखंड, मध्य प्रदेश तथा बिहार है, जिसे हिंदी (भाषी) प्रदेश कहते हैं। इस पूरे क्षेत्र में हिंदी की पांच उपभाषाएं हैं, जिनके अंतर्गत मुख्यत: 10 बोलियां हैं

| *भाषा* | *उपभाषाएं* | *बोलियां* |
|---|---|---|
| हिंदी | 1. पश्चिमी हिंदी | 1. खड़ी बोली या कौरवी, 2. ब्रजभाषा 3. हरियाणी, 4. बुंदेली, 5. कन्नौजी |
| | 2. पूर्वी हिंदी | 1. अवधी, 2. बघेली, 3. छत्तीसगढ़ी |
| | 3. राजस्थानी | 1. पश्चिमी राजस्थानी (मारवाड़ी), 2. पूर्वी राजस्थानी (जयपुरी), 3. उत्तरी राजस्थानी (मेवाती), 4. दक्षिणी राजस्थानी (मालवी) |
| | 4. पहाड़ी | 1. पश्चिमी पहाड़ी, 2. मध्यवर्ती पहाड़ी (कुमाऊंनी-गढ़वाली) |
| | 5. बिहारी | 1. भोजपुरी, 2. मगही, 3. मैथिली |

**खड़ी बोली :** 'खड़ी बोली' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है : एक तो साहित्यिक हिंदी खड़ी बोली के अर्थ में और दूसरे, दिल्ली-मेरठ के आसपास की लोक बोली के अर्थ में। यहां दूसरे अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। इसी अर्थ में 'कौरवी' का भी प्रयोग कुछ लोग करते हैं। 'खड़ी बोली' में 'खड़ी' शब्द का अर्थ विवादास्पद है। कुछ लोगों ने 'खड़ी' का अर्थ 'खरी' (Pure) अर्थात शुद्ध माना है, तो दूसरों ने 'खड़ी' (Standing)। कुछ अन्य लोगों ने इसका संबंध खड़ी बोली में अधिकता से प्रयुक्त खड़ी पायी 'ा' (गया, बड़ा, का) तथा उसके ध्वन्यात्मक प्रभाव कर्कशता से जोड़ा है। यों, अभी तक यह प्रश्न अनिश्चित है। खड़ी बोली या कौरवी का उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश के उत्तरी रूप से हुआ है तथा इसका क्षेत्र देहरादून का मैदानी भाग, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, दिल्ली का कुछ भाग, बिजनौर, रामपुर तथा मुरादाबाद है। लोक-साहित्य की दृष्टि से खड़ी बोली बहुत संपन्न है और इसमें पवाड़ा, नाटक, लोककथा, लोकगीत आदि पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इनका काफ़ी अंश प्रकाशित भी हो चुका है। हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी तथा दक्खिनी एक सीमा तक खड़ी बोली पर आधारित हैं।

**ब्रजभाषा :** ब्रज का पुराना अर्थ 'पशुओं' या 'गौओं का समूह' या 'चरागाह' आदि है। पशुपालन के प्राधान्य के कारण यह क्षेत्र ब्रज कहलाया, और इसी आधार पर इसकी बोली ब्रजभाषा कहलायी। इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश के मध्यवर्ती रूप से हुआ है। ब्रजभाषा आगरा, मथुरा, अलीगढ़, धौलपुर, मैनपुरी, एटा, बदायूं, बरेली तथा आसपास के क्षेत्रों में बोली जाती है। साहित्य और लोकसाहित्य दोनों ही दृष्टियों से ब्रजभाषा बहुत संपन्न है। हिंदी प्रदेश के बाहर भी भारत के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अनेक क्षेत्रों में ब्रजभाषा में साहित्य-रचना होती रही है। सूरदास, तुलसीदास, नंददास, रहीम, रसखान, बिहारी, देव, रत्नाकर आदि इसके प्रमुख कवि हैं।

**हरियाणी :** 'हरियाना' शब्द की व्युत्पत्ति विवादास्पद है। हरि + यान (कृष्ण का यान इधर से ही द्वारका गया था), हरि + अरण्य (हरा वन) तथा अहीर+आना (राजपूताना, तिलंगाना की तरह) आदि कई मत दिये गये हैं, किंतु कोई भी सर्वमान्य नहीं है। हरियाणी का विकास उत्तरी शौरसेनी अपभ्रंश के पश्चिमी रूप से हुआ है। खड़ी बोली, अहीरवाटी, मारवाड़ी, पंजाबी से घिरी इस बोली को कुछ लोग खड़ी बोली का पंजाबी से प्रभावित रूप मानते हैं। इसका क्षेत्र मोटे रूप से हरियाणा तथा दिल्ली का देहाती भाग है। हरियाणी में केवल लोकसाहित्य है, जिसका कुछ अंश मुद्रित भी है।

**बुंदेली :** बुंदेले राजपूतों के कारण मध्यप्रदेश तथा उत्तरप्रदेश की सीमारेखा के झांसी, छतरपुर, सागर आदि तथा आसपास के भाग को बुंदेलखंड कहते हैं। वहीं की बोली बुंदेली या बुंदेलखंडी है। इसका क्षेत्र झांसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, ओरछा, सागर, नृसिंहपुर, सिवनी, होशंगाबाद तथा आसपास का क्षेत्र है। बुंदेली का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। बुंदेली में लोकसाहित्य काफ़ी है, जिसमें ईसुरी के फाग बड़े प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि हिंदी प्रदेश की प्रसिद्ध लोकगाथा 'आल्हा', जिसे हिंदी साहित्य में भी स्थान मिला है, मूलतः बुंदेली की एक उपबोली बनाफरी में लिखी गयी थी।

**कन्नौजी :** कन्नौज (संस्कृत कान्यकुब्ज) इस बोली का केंद्र है, अतः इसका नाम कन्नौजी पड़ा है। यह इटावा, फ़र्रूखाबाद, शाहजहांपुर, कानपुर, हरदोई, पीलीभीत आदि में बोली जाती है। कन्नौजी भी शौरसेनी अपभ्रंश से ही निकली है। यह ब्रजभाषा से इतनी अधिक समान है कि कुछ लोग इसे ब्रजभाषा की ही एक उपबोली मानते हैं। कन्नौजी में केवल लोकसाहित्य मिलता है, जिसमें से कुछ अंश प्रकाशित भी हो चुका है।

**अवधी :** इस बोली का केंद्र अयोध्या है। 'अयोध्या' का ही विकसित रूप 'अवध' है, जिससे 'अवधी' शब्द बना है। इसके उद्भव के संबंध में विवाद है। अधिकांश विद्वान इसका संबंध अर्धमागधी अपभ्रंश से मानते हैं, किंतु कुछ लोग इससे पालि की समानता के आधार पर इस मत को नहीं मानते। अवधी का क्षेत्र लखनऊ, इलाहाबाद, फतेहपुर, मिर्जापुर (अंशतः), उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, फ़ैजाबाद, गोंडा, बस्ती, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी आदि है। अवधी में साहित्य तथा लोकसाहित्य दोनों ही पर्याप्त मात्रा में हैं। इसके प्रसिद्ध कवि मुल्ला दाऊद, कुतुबन, जायसी, तुलसीदास, उस्मान, सबलसिंह आदि हैं।

**बघेली :** बघेले राजपूतों के आधार पर रीवा तथा आसपास का इलाक़ा बघेलखंड कहलाता है, और वहां की बोली को बघेलखंडी या बघेली कहते हैं। बघेली का उद्भव अर्धमागधी अपभ्रंश के ही एक क्षेत्रीय रूप से हुआ है। यद्यपि जनमत इसे अलग बोली मानता है, किंतु भाषावैज्ञानिक स्तर पर यह अवधी की ही एक उपबोली ज्ञात होती है और इसे दक्षिणी अवधी कह सकते हैं। इसका क्षेत्र रीवां, नागौद, शहडोल, सतना, महर तथा आसपास का क्षेत्र है। कुछ अपवादों को छोड़ कर बघेली में केवल लोकसाहित्य है।

**छत्तीसगढ़ी :** मुख्य क्षेत्र छत्तीसगढ़ होने के कारण इसका नाम छत्तीसगढ़ी पड़ा है। अर्धमागधी अपभ्रंश के दक्षिणी रूप से इसका विकास हुआ है। इसका क्षेत्र सरगुजा, कौरिया, बिलासपुर, रायगढ़, खैरागढ़, रायपुर, दुर्ग, नंदगांव, काकेर आदि है। छत्तीसगढ़ी में भी लोकसाहित्य है।

**पश्चिमी राजस्थानी :** राजस्थानी का यह रूप पश्चिमी राजस्थान अर्थात जोधपुर, अजमेर, किशनगढ़, मेवाड़, सिरोही, जैसलमेर, बीकानेर आदि में बोला जाता है। इसे मारवाड़ी भी कहते हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शौरसेनी अपभ्रंश से इसका विकास हुआ है। मारवाड़ी में साहित्य तथा लोकसाहित्य दोनों ही पर्याप्त मात्रा में हैं। मीरा के पद इसी भाषा में हैं।

**उत्तरी राजस्थानी :** उत्तरी राजस्थान में इसका क्षेत्र अलवर, गुड़गांव, भरतपुर तथा आसपास है। मेओ जाति के इलाक़े मेवात के नाम पर इसे 'मेवाती' भी कहते हैं। इसकी एक मिश्रित बोली अहीरवाटी है, जो गुड़गांव, दिल्ली तथा करनाल के पश्चिमी क्षेत्रों में बोली जाती है। इस पर हरियाणी का बहुत प्रभाव है। मेवाती में केवल लोकसाहित्य है। उत्तरी राजस्थानी का उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है।

**पूर्वी राजस्थानी :** राजस्थान के पूर्वी भाग में जयपुर, अजमेर, किशनगढ़ आदि में यह बोली जाती है। इसकी प्रतिनिधि बोली जयपुरी है, जिसका केंद्र जयपुर है। जयपुरी को 'ढूंढाणी' भी कहते हैं, क्योंकि इस क्षेत्र का नाम ढूंढाण है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली में केवल लोक-साहित्य है।

**दक्षिणी राजस्थानी :** इंदौर, उज्जैन, देवास, रतलाम, भोपाल, होशंगाबाद तथा इनके आसपास इसका क्षेत्र है। इसकी प्रतिनिधि बोली मालवी है, जिसका मुख्य क्षेत्र मालवा है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली में कुछ साहित्य तथा पर्याप्त लोकसाहित्य है।

**पश्चिमी पहाड़ी :** जौनसार, सिरमौर, शिमला, मंडी, चंबा तथा आसपास इसका क्षेत्र है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली में केवल लोक साहित्य है।

**मध्यवर्ती पहाड़ी :** शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली का क्षेत्र गढ़वाल, कुमाऊं तथा आसपास का कुछ क्षेत्र है। वस्तुतः यह गढ़वाली और कुमाऊंनी, इन दो बोलियों का ही सामूहिक नाम है। इन बोलियों में लोकसाहित्य तो पर्याप्त मात्रा में है, साथ ही कुछ साहित्य भी है।

**भोजपुरी :** बिहार के शाहाबाद ज़िले के भोजपुर गांव के नाम के आधार पर इस बोली का नाम 'भोजपुरी' पड़ा है। मागधी अपभ्रंश के पश्चिमी रूप से विकसित इस बोली का क्षेत्र बनारस, जौनपुर, मिर्जापुर, गाजीपुर, बलिया, गोरखपुर, देवरिया, आज़मगढ़, बस्ती, शाहाबाद, चंपारन, सारन तथा आसपास का कुछ क्षेत्र है। हिंदी प्रदेश की बोलियों में भोजपुरी बोलने वाले सबसे अधिक हैं। भोजपुरी में मुख्यतः लोकसाहित्य ही मिलता है, शिष्ट साहित्य बहुत कम है। भारतेंदु, प्रेमचंद, प्रसाद आदि इसी क्षेत्र के रहे हैं, किंतु साहित्य में इन्होंने इसका प्रयोग नहीं किया।

**मगही :** संस्कृत 'मगध' से विकसित शब्द 'मगह' पर इसका नाम आधारित है। मागधी अपभ्रंश से विकसित यह बोली पटना, गया, पलामू, हज़ारीबाग, मुंगेर, भागलपुर तथा इनके आसपास बोली जाती है। इसमें लोकसाहित्य काफ़ी है। कुछ ललित साहित्य भी है।

**मैथिली :** मागधी अपभ्रंश के मध्यवर्ती रूप से विकसित यह बोली हिंदी और बांग्ला क्षेत्र की संधि पर मिथिला में बोली जाती है। दरभंगा, मुजफ्फरपुर, पूर्णिया तथा मुंगेर आदि में इसका क्षेत्र है। लोकसाहित्य की दृष्टि से मैथिली बहुत संपन्न है, साथ ही इसमें साहित्य-रचना अत्यंत प्राचीन काल से होती चली आयी है। हिंदी साहित्य को विद्यापति जैसे रससिद्ध कवि देने का श्रेय मैथिली को ही है। इनके अतिरिक्त गोविंददास, रणजीतलाल, हरिमोहन झा आदि भी इनके अच्छे साहित्यकार हैं।

## हिंदी, हिंदुई, हिंदुस्तानी, उर्दू

पीछे यह संकेत किया गया है कि 'खड़ी बोली' नाम का एक प्रयोग साहित्यिक हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी आदि की आधार भाषा या आज की साहित्यिक हिंदी के लिए भी होता है। वस्तुतः आज

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी नामों का प्रयोग जिन भाषा रूपों के लिए होता है, व्याकरणिक स्तर पर वे प्राय: एक ही हैं और उनकी आधार भाषा वह मिश्रित बोली है, जो मूलत: कौरवी, पंजाबी, ब्रज आदि के योग से बनी होगी। आज इस खड़ी बोली में जब बोलचाल के शब्दों (आधारभूत शब्दावली, बहुप्रचलित तद्भव शब्द, सरल बहुप्रचलित संस्कृत शब्द तथा सरल बहुप्रचलित अरबी, फ़ारसी, तुर्की शब्द) का ही प्रयोग होता है, तो उसे बोलचाल की हिंदी या हिंदुस्तानी कहते हैं; उन शब्दों के साथ ही जब संस्कृत के अल्प प्रचलित अर्थात कठिन तत्सम शब्दों का भी काफ़ी प्रयोग होता है, तो उसे हिंदी या साहित्यिक हिंदी कहते हैं, और जब उन शब्दों के साथ अरबी, फारसी, तुर्की के अल्पप्रचलित, अर्थात कठिन शब्दों का बहुत प्रयोग होने लगता है, तो उसे उर्दू कहते हैं। इस तरह खड़ी बोली की या सामान्य हिंदी की ये तीन शैलियां हैं।

'हिंदुई' शब्द 'हिंदु + ई' से बना है। हिंदी, हिंदुई या हिंदवी का प्रयोग प्राचीन हिंदी के लिए काफ़ी पहले से मिलता है। तेरहवीं सदी में औफी और अमीर खुसरो ने इसका प्रयोग किया है। 'खालिक बारी' में 'हिंदी' और 'हिंदवी' दोनों का प्रयोग एक ही भाषा के लिए हुआ है, किंतु हिंदी का प्रयोग केवल पांच बार है, जबकि हिंदवी का तीस बार। इसका अर्थ यह हुआ कि पहले 'हिंदी' की तुलना में 'हिंदवी' नाम ज़्यादा प्रचलित था, धीरे-धीरे 'हिंदवी' नाम उस भाषा के लिए सीमित हो गया, जिसमें संस्कृत के शब्द अपेक्षाकृत अधिक थे; और 'हिंदुस्तानी' उस भाषा को कहने लगे जिसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द ज़्यादा थे। 'गार्सां द तासी' के इतिहास में 'हिंदुई' तथा 'हिंदुस्तानी' नाम ठीक इसी अर्थ में आये हैं। अब प्राय: लोग केवल 'दक्खिनी' या दक्खिनी तथा उसके पहले के उत्तर भारत के मसऊद, खुसरो तथा शकरगंजी आदि के साहित्य की भाषा के लिए ही हिंदुई या हिंदवी नाम का प्रयोग करते हैं।

'हिंदुस्तानी' शब्द 'हिंदुस्तान + ई' से बना है। ग्रियर्सन, धीरेंद्र वर्मा आदि कई लोगों का मत है कि यह नाम अंगरेज़ों का दिया हुआ है, किंतु वास्तविकता यह है कि 'तुजके बाबरी' में भाषा के अर्थ में 'हिंदुस्तानी' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रारंभ में यह शब्द 'हिंदी' या 'हिंदवी' का समानार्थी था, किंतु आगे चल कर इसका वह अर्थ हो गया, जो आज उर्दू का है, अर्थात हिंदी का वह रूप, जिसमें अरबी, फ़ारसी, तुर्की शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। जैसा कि ऊपर संकेत है, तासी के प्रसिद्ध इतिहास 'इस्तवार द ल लित्रेत्यूर ऐंदुई ए ऐंदुस्तानी' में ऐंदुस्तानी (हिंदुस्तानी) का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है और आगे चल कर जब हिंदी और उर्दू नामों का प्रयोग एक ही भाषा की ऐसी शैलियों के लिए होना लगा, जिनमें क्रमश: संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के शब्दों का बाहुल्य था, तो 'हिंदुस्तानी' हिंदी-उर्दू के बीच की उस भाषा को कहने लगे, जिसमें न तो संस्कृत के कठिन शब्द होते हैं और न अरबी-फ़ारसी के। इसमें तद्भव तथा बहुप्रचलित संस्कृत तत्सम और अरबी-फ़ारसी के वे शब्द होते हैं, जो बोलचाल में भी प्रयुक्त होते हैं। गांधी जी ने 'हिंदुस्तानी' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है।

'उर्दू' शब्द मूलत: तुर्की भाषा का है तथा इसका अर्थ है 'शाही शिविर' या 'खेमा'। तुर्कों के साथ ही यह शब्द भारत में आया और इसका यहां प्रारंभिक अर्थ 'खेमा' या 'फ़ौजी पड़ाव' था। इस अर्थ में उत्तरी भारत के अनेक नगरों में 'उर्दू बाज़ार' (फ़ौजी पड़ाव का बाज़ार) नाम आज भी मिलता है। मुग़ल बादशाह के इन फ़ौजी पड़ावों में धीरे-धीरे पूर्वी पंजाबी, हरियाणी, कौरवी तथा ब्रज मिश्रित एक ऐसी बोली विकसित हुई, जिसमें अरबी, फ़ारसी, तुर्की के शब्द काफ़ी थे। बोलियों का मिश्रण स्थानीय प्रभाव तथा इन खेमों के सिपाहियों के कारण था, तो तुर्की शब्द मुग़लों की अपनी भाषा तुर्की और उनकी दरबारी भाषा फ़ारसी के कारण थे। शाहजहां ने दिल्ली में लालक़िला

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बनवाया। यह भी एक प्रकार से 'उर्दू' (शाही और फ़ौजी पड़ाव) था, किंतु बहुत बड़ा था। अतः इसे उर्दू न कह कर 'उर्दू-ए-मुअल्ला' कहा गया तथा यहां बोली जाने वाली भाषा 'ज़बान-ए-उर्दू ए-मुअल्ला' (श्रेष्ठ शाही पड़ाव की भाषा) कहलायी। भाषा विशेष के अर्थ में 'उर्दू' शब्द इस 'ज़बान-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला' का संक्षेप है। भाषा के अर्थ में 'उर्दू' शब्द का प्रयोग सबसे पहले कब हुआ, यह कहना कठिन है, किंतु मोटे रूप में अठारहवीं सदी के मध्य में इसका प्रयोग चल पड़ा था; यद्यपि इसे ज़्यादातर 'हिंदी' या 'रेख्ता' (मिश्रित भाषा) कहते थे। इसके साथ ही इसे 'हिंदुस्तानी' नाम से भी अभिहित किया गया है। 1850 ई. तक आते-आते इस भाषा के लिए अन्य नामों का प्रचलन बंद हो गया और केवल 'उर्दू' नाम चलने लगा।

हिंदवी के मुख्यतः दो रूप प्राचीनकाल से आ रहे थे। एक तो बोली रूप, जो ब्रज, अवधी आदि का था और दूसरा उसका एक प्रकार से मिश्रित रूप था, जो किसी क्षेत्र से संबद्ध न हो कर पूरे हिंदी प्रदेश में उभर रहा था। गोरखनाथ, खुसरो, कबीर आदि में इसके प्रारंभिक रूप मिलते हैं। लगभग ऐसी ही मिश्रित भाषा (अरबी, फ़ारसी, तुर्की शब्दों से युक्त) उर्दू भी थी। आगे चल कर दोनों के मूलाधार एक हो गये तथा फ़ारसी, अरबी, तुर्की शब्दों से युक्त भाषा उर्दू कहलायी, तो संस्कृत से युक्त हिंदी।

## 'हिंदी' नाम और उसके विभिन्न रूप

'हिंदी' शब्द का संबंध संस्कृत शब्द 'सिंधु' से माना जाता है। 'सिंधु' सिंध नदी को कहते थे और उसी आधार पर उसके आसपास की भूमि को 'सिंधु' कहने लगे। यह 'सिंधु' शब्द ईरानी में जा कर 'हिंदू' और फिर 'हिंद' हो गया और इसका अर्थ हुआ 'सिंध प्रदेश'। बाद में ईरानी धीरे-धीरे भारत के अधिक भागों से परिचित होते गये और इस शब्द के अर्थ में विस्तार होता गया तथा 'हिंद' शब्द धीरे-धीरे पूरे भारत का वाचक हो गया। इसी में ईरानी का 'ईक' प्रत्यय लगने से 'हिंदीक' बना, जिसका अर्थ है 'हिंद का'। यूनानी शब्द 'इंदिका' या अंगरेज़ी शब्द 'इंडिया' आदि इस 'हिंदीक' के ही विकसित रूप हैं। 'हिंदी' भी 'हिंदीक' का ही परिवर्तित रूप है और इसका मूल अर्थ है 'हिंद का'। इस प्रकार यह विशेषण है, किंतु भाषा के अर्थ में संज्ञा हो गया है। हिंदी भाषा के लिए इस शब्द का प्राचीनतम प्रयोग शरफुद्दीन यज्दी के 'जफ़रनामा' (1424) में मिलता है।

वस्तुतः शब्दों में अरबी, फ़ारसी तथा संस्कृत के आधिक्य की बात छोड़ दें तो हिंदी और उर्दू में कोई ख़ास अंतर नहीं है। दोनों ही एक ही भाषा की दो शैलियां हैं। इसलिए प्रारंभ में 'हिंदी' शब्द का प्रयोग हिंदी और उर्दू दोनों के लिए होता था। 'तजकिरा-मखजन-उल-गरायब' में आता है : 'दर ज़बाने हिंदी कि मुराद उर्दू अस्त'। यहां 'हिंदी' शब्द उर्दू का समानार्थी है, तो दूसरी तरफ़ हिंदी के सूफी कवि नूर मुहम्मद ने कहा है, "हिंदू मग पर पांव न राख्यौ, का बहुतै जो हिंदी भाख्यौ।" यहां इस शब्द का प्रयोग हिंदी के लिए है। मुल्ला वजही, सौदा, मीर आदि ने अपने शेरों को हिंदी शेर कहा है। ग़ालिब ने भी अपने पत्रों में कई स्थानों पर हिंदी और उर्दू को समानार्थी रूप में प्रयुक्त किया है। अनुमान है कि उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में अंगरेज़ों की विशेष भाषानीति के कारण ही इन दोनों को अलग-अलग भाषाएं माना जाने लगा। उर्दू को मुसलमानों से जोड़ दिया गया तो हिंदी को हिंदुओं से। यदि अंगरेज़ बीच में न पड़े होते तो आज ये दोनों भाषाएं एक होतीं।

'हिंदी' शब्द का प्रयोग आज मुख्य रूप से तीन अर्थों में हो रहा है :

(क) 'हिंदी' शब्द अपने विस्तृततम अर्थ में हिंदी प्रदेश में बोली जाने वाली सत्रह बोलियों का द्योतक है। हिंदी साहित्य के इतिहास में 'हिंदी' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में होता है, इसीलिए इसके

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अंतर्गत ब्रज, अवधी, डिंगल, मैथिली, खड़ी बोली आदि प्राय: सभी में लिखित साहित्य का विवेचन किया जाता है।

(*ख*) भाषाविज्ञान में प्राय: 'पश्चिमी हिंदी' और 'पूर्वी हिंदी' को ही हिंदी मानते रहे हैं। ग्रियर्सन ने इसी आधार पर हिंदी प्रदेश की अन्य उपभाषाओं को राजस्थानी, पहाड़ी, बिहारी कहा था, जिनमें 'हिंदी' शब्द का प्रयोग नहीं है, किंतु अन्य दो को हिंदी मानने के कारण 'पश्चिमी हिंदी' तथा 'पूर्वी हिंदी' नाम दिया था। इस प्रकार इस अर्थ में 'हिंदी' आठ बोलियों (ब्रज, खड़ी बोली, बुंदेली, हरियाणी, कन्नौजी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी) का सामूहिक नाम है।

(*ग*) 'हिंदी' शब्द का संकुचिततम अर्थ है : खड़ी बोली साहित्यिक हिंदी, जो आज हिंदी प्रदेशों की सरकारी भाषा है, पूरे भारत की राजभाषा है, समाचारपत्रों और फ़िल्मों में जिसका प्रयोग होता है, जो हिंदी प्रदेश में शिक्षा का माध्यम है और जिसे 'परिनिष्ठित हिंदी', 'मानक हिंदी' आदि नामों से भी अभिहित करते हैं।

## हिंदी का विकास

हम देख चुके हैं कि खड़ी बोली हिंदी का उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है, किंतु यदि हिंदी को पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी की आठ बोलियों का प्रतिनिधि मानें तो उसका उद्भव शौरसेनी तथा अर्धमागधी अपभ्रंश से हुआ है। विस्तार में जा कर यदि उसे सत्रह बोलियों का प्रतिनिधि मानें तो हिंदी का उद्भव शौरसेनी, अर्धमागधी तथा मागधी अपभ्रंश से हुआ है।

यों तो हिंदी भाषा के कुछ व्याकरणिक रूप पालि में ही मिलने लगते हैं, प्राकृत काल में उनकी संख्या और भी बढ़ गयी है तथा अपभ्रंश काल में ये रूप प्राय: चालीस प्रतिशत से भी ऊपर हो गये हैं, किंतु हिंदी भाषा का वास्तविक आरंभ 1000 ई. से माना जाता है।[1] इस तरह हिंदी के विकास का इतिहास आज तक कुल लगभग दस सौ वर्षों (1000-2000) में फैला है। भाषा के विकास की दृष्टि से इस पूरे समय को तीन कालों में बांटा जा सकता है—आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल।

### आदिकाल (1000-1500)

हिंदी भाषा अपने आदिकाल में सभी बातों में अपभ्रंश के बहुत अधिक निकट थी, क्योंकि उसी से हिंदी का उद्भव हुआ था। आदिकालीन हिंदी में मुख्यत: उन्हीं ध्वनियों (स्वरों-व्यंजनों) का प्रयोग मिलता है, जो अपभ्रंश में प्रयुक्त होती थीं। मुख्य अंतर ये हैं :

1. अपभ्रंश में केवल आठ स्वर थे : अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ। ये आठों ही स्वर मूल स्वर थे। आदिकालीन हिंदी में दो नये स्वर ऐ, औ विकसित हो गये, जो संस्कृत स्वर थे तथा जिनका उच्चारण क्रमश:, अएँ, अओं था।

2. च, छ, ज, झ संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में स्पर्श व्यंजन थे, किंतु आदिकालीन हिंदी में आ कर ये स्पर्श-संघर्षी हो गये और तब से अब तक ये स्पर्श-संघर्षी ही हैं।

3. न, र, ल, स संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में दंत्य (ध्वनियां) थे। आदिकाल में ये वर्त्स्य हो गये।

4. अपभ्रंश में ड़, ढ़ व्यंजन नहीं थे। आदिकालीन हिंदी में इनका विकास हुआ।

5. न्ह, म्ह, ल्ह पहले संयुक्त व्यंजन थे, अब वे क्रमश: न, म, ल के महाप्राण रूप हो गये, अर्थात संयुक्त व्यंजन न रह कर मूल व्यंजन हो गये।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

6. संस्कृत, फ़ारसी आदि से कुछ शब्दों के आ जाने के कारण कुछ नये संयुक्त व्यंजन हिंदी में आ गये, जो अपभ्रंश में नहीं थे। कुछ अपभ्रंश शब्दों के लोप के कारण कुछ ऐसे संयुक्त व्यंजनों, स्वरानुक्रमों तथा व्यंजनानुक्रमों के लोप की भी संभावना हो सकती है, जो अपभ्रंश में थे।

आदिकालीन हिंदी का व्याकरण 1000 या 1100 ई. के आसपास तक अपभ्रंश के बहुत अधिक निकट था। भाषा में काफ़ी रूप ऐसे थे जो अपभ्रंश के थे, किंतु धीरे-धीरे अपभ्रंश के व्याकरणिक रूप कम होते गये और हिंदी के अपने रूप विकसित होते गये। धीरे-धीरे 1500 ई. तक आते-आते हिंदी अपने पैरों पर खड़ी हो गयी और अपभ्रंश के रूप प्राय: प्रयोग से निकल गये। आदिकालीन हिंदी का व्याकरण समवेतत: अपभ्रंश व्याकरण से इन बातों में भिन्न है :

1. अपभ्रंश काफ़ी हद तक संयोगात्मक भाषा थी। क्रिया तथा कारकीय रूप संयोगात्मक होते थे, किंतु आदिकालीन हिंदी में वियोगात्मक रूपों का प्राधान्य हो चला। सहायक क्रियाओं तथा परसर्गों (कारकचिह्नों) का प्रयोग काफ़ी होने लगा और धीरे-धीरे संयोगात्मक रूप कम होते गये और उनका स्थान वियोगात्मक रूप लेते गये।

2. नपुंसक लिंग एक सीमा तक अपभ्रंश में था यद्यपि संस्कृत, प्राकृत की तुलना में उसकी स्थिति अस्पष्ट-सी होती जा रही थी। आदिकालीन हिंदी प्रयोगों में नपुंसक लिंग का प्रयोग प्राय: पूर्णत: समाप्त हो गया। गोरखनाथ की रचनाओं में प्रयुक्त कुछ प्रयोगों को कुछ लोगों ने नपुसंक लिंग का माना है, किंतु यह मान्यता पूर्णत: असंदिग्ध नहीं कही जा सकती।

3. हिंदी वाक्यरचना में शब्दक्रम धीरे-धीरे निश्चित होने लगा था।

आदिकालीन हिंदी का शब्द भांडार अपने प्रारंभिक चरण में अपभ्रंश का ही था, किंतु धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन आते गये, जिनमें उल्लेख्य दो-तीन हैं :

1. भक्ति आंदोलन का प्रारंभ हो गया था, अत: अपभ्रंश की तुलना में तत्सम शब्दावली कुछ बढ़ने लगी थी।

2. मुसलमानों के आगमन से कुछ शब्द पश्तो, फ़ारसी तथा तुर्की भाषाओं से हिंदी में आये।

3. भक्तिआंदोलन तथा मुसलमानी शासन का प्रभाव समाज पर भी पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप इस बात की भी संभावना हो सकती है कि कुछ ऐसे पुराने शब्द, जो अपभ्रंश में प्रचलित थे, इस काल में अनावश्यक या अल्पावश्यक होने के कारण या तो हिंदी शब्द-भंडार से निकल गये या फिर उनका प्रयोग बहुत कम हो गया।

इस काल के साहित्य में प्रमुखत: डिंगल, मैथिली, दक्खिनी, अवधी, ब्रज तथा मिश्रित रूपों का प्रयोग मिलता है। इस युग के प्रमुख हिंदी साहित्यकार गोरखनाथ, विद्यापति, नरपति नाल्ह, चंदबरदाई, कबीर आदि हैं।

### मध्यकाल : (1500-1800)

इस काल में ध्वनि, व्याकरण तथा शब्द-भंडार के क्षेत्र में मुख्यत: आगे दिये गये परिवर्तन हुए। ध्वनि के क्षेत्र में दो-तीन बातें उल्लेख्य हैं :

1. फ़ारसी की शिक्षा की कुछ व्यवस्था तथा दरबार में फ़ारसी का प्रयोग होने से उच्च वर्ग में फ़ारसी का प्रचार हुआ, जिसके कारण उच्च वर्ग के लोगों की हिंदी में क़, ख़, ग़, ज़, फ़ ये पांच नये व्यंजन आ गये।
2. शब्दांत का 'अ' कम-से-कम मूल व्यंजन के बाद आने पर लुप्त हो गया अर्थात 'राम' का उच्चारण 'राम्' होने लगा। किंतु 'भक्त' जैसे शब्दों में, जहां अ के पूर्व संयुक्त व्यंजन था,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'अ' बना रहा। कुछ स्थितियों में अक्षरांत 'अ' का भी लोप होने लगा। उदाहरण के लिए, आदिकालीन 'जपता' का अब उच्चारण 'जप्ता' हो गया।

3. 'ह' के पहले का 'अ' कुछ स्थितियों में 'ए' जैसा उच्चरित होने लगा था (अहमद —एहमद)।

व्याकरण के क्षेत्र में भी मुख्यत: तीन ही बातें उल्लेख्य हैं :

1. इस काल में हिंदी भाषा व्याकरण के क्षेत्र में पूरी तरह अपने पैरों पर खड़ी हो गयी। अपभ्रंश के रूप प्राय: हिंदी से निकल गये। जो कुछ बचे थे, वे ऐसे थे, जिन्हें हिंदी ने आत्मसात् कर लिया था।

2. भाषा आदिकालीन भाषा की तुलना में और भी वियोगात्मक हो गयी। संयोगात्मक रूप और भी कम हो गये। परसर्गों तथा सहायक क्रियाओं का प्रयोग और भी बढ़ गया।

3. उच्च वर्ग में फ़ारसी का प्रचार होने के कारण हिंदी वाक्यरचना फ़ारसी से प्रभावित होने लगी थी।

शब्दभंडार की दृष्टि से ये बातें मुख्य हैं :

1. इस काल में आते-आते काफ़ी शब्द फ़ारसी (लगभग 3500), अरबी (लगभग 2500), पश्तो (लगभग 50) तथा तुर्की (लगभग 125) से हिंदी में आ गये और उनकी संख्या लगभग 600 हो गयी।

2. भक्तिआंदोलन के चरम बिंदु पर पहुंचने के कारण तत्सम शब्दों का अनुपात भाषा में और भी बढ़ गया।

3. यूरोप से संपर्क होने के कारण कुछ पुर्तगाली, स्पेनी, फ्रांसीसी तथा अंगरेज़ी शब्द भी हिंदी में आ गये।

इस काल में धर्म की प्रधानता के कारण राम-जन्मस्थान की भाषा अवधी तथा कृष्ण-जन्मस्थान की भाषा ब्रज में ही विशेष रूप से साहित्य रच गया। यों दक्खिनी, उर्दू, डिंगल, मैथिली और खड़ी बोली में भी साहित्य रचना हुई। इस काल के प्रमुख साहित्यकार जायसी, सूर, मीरा, तुलसी, केशव, बिहारी, भूषण, देव हैं।

## आधुनिक काल : (1800 से अब तक)

आधुनिक कालीन हिंदी में ध्वनि के क्षेत्र में चार-पांच बातें उल्लेख्य हैं :

1. आधुनिक काल में शिक्षा के व्यवस्थित प्रचार के कारण तथा प्रारंभ में हिंदी प्रदेश में अनेक क्षेत्रों में कचहरियों की भाषा उर्दू होने के कारण क़, ख़, ग़, ज़, फ़, जो मध्यकाल में केवल उच्च वर्गों के फ़ारसी पढ़े-लिखे लोगों तक प्रचलित थे, इस काल में प्राय: 1947 ई. तक सुशिक्षित लोगों में भी ख़ूब प्रचलित हो गये। किंतु स्वतंत्रता के बाद स्थिति बदली है और अंगरेज़ी में प्रयुक्त होने के कारण ज़, फ़ तो एक सीमा तक अब भी प्रयोग में हैं, किंतु क़, ख़, ग़, के ठीक प्रयोग में कमी आयी है। नयी पीढ़ी, कुछ अपवादों को छोड़ कर, इनके स्थान पर प्राय: क, ख, ग बोलने लगी है।
2. अंगरेज़ी शिक्षा के प्रचार के कारण कुछ बहुशिक्षित लोगों द्वारा ऑ (कॉलेज, डॉक्टर, ऑफ़िस, कॉफ़ी आदि में) ध्वनि भी हिंदी में प्रयुक्त हो रही है।
3. अंगरेज़ी शब्दों के प्रचार के कारण कुछ नये संयुक्त व्यंजन (जैसे ड्र) भी हिंदी में प्रयुक्त होने लगे हैं।
4. स्वरों में ऐ, औ हिंदी में आदिकाल में आये थे। इनका उच्चारण अएं, अओं था अर्थात ये

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संयुक्त स्वर थे। आधुनिक काल में, मुख्यत: 1940 ई. के बाद ऐ, औ की स्थिति कुछ भिन्न हो गयी है। इस संबंध में तीन बातें उल्लेख्य हैं—(*क*) पश्चिमी हिंदी क्षेत्र में ये स्वर सामान्यत: मूल स्वर रूप में उच्चरित होते हैं, (*ख*) पूर्वी हिंदी क्षेत्र में अब भी ये अएं, अओं, रूप में संयुक्त स्वर के रूप में ही प्रयुक्त हो रहे हैं, (*ग*) नैया, वैयाकरण, कौआ जैसे शब्दों में, पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों ही क्षेत्रों में ऐ, औ का उच्चारण क्रमश: संयुक्त स्वर अइ, अउ रूप में होता है।

5. मध्यकाल में 'अ' का लोप शब्दांत तथा कुछ स्थितियों में अक्षरांत में होना आरंभ हुआ था। आधुनिक काल तक आते-आते यह प्रक्रिया पूरी हो गयी। अब हिंदी में, उच्चारण में कोई भी शब्द अकारांत नहीं है।

6. 'व' ध्वनि आदिकाल तथा मध्यकाल में कुछ अपवादों को छोड़ कर प्राय: द्वयोष्ठ्य रूप में उच्चरित होती थी, अब वह कुछ अपवादों को छोड़ कर हिंदी के काफ़ी शब्दों में कम-से-कम पश्चिमी क्षेत्र में दंतोष्ठ्य रूप में उच्चरित होती है।

व्याकरण की दृष्टि से अधोलिखित बातें कही जा सकती हैं :

1. आदिकाल में हिंदी की विभिन्न बोलियों के व्याकरणिक अस्तित्व का प्रारंभ हो गया था, किंतु काफ़ी व्याकरणिक रूप ऐसे थे, जो आसपास के क्षेत्रों में समान थे। मध्यकाल में उनमें इस प्रकार के मिश्रण में काफ़ी कमी हो गयी थी। सूर, बिहारी, देव आदि की ब्रजभाषा तथा जायसी, तुलसी आदि की अवधी इस बात का प्रमाण है। आधुनिक काल तक आते-आते ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि कई बोलियों का व्याकरणिक अस्तित्व इतना स्वतंत्र हो गया है कि उन्हें बड़ी सरलता से भाषा की संज्ञा दी जा सकती है।

2. हिंदी प्राय: पूर्णत: एक वियोगात्मक भाषा हो गयी है।

3. प्रेस, रेडियो, शिक्षा तथा व्याकरणिक विश्लेषण आदि के प्रभाव से हिंदी व्याकरण का रूप काफ़ी स्थिर हो गया है। कुछ अपवादों को छोड़ कर हिंदी व्याकरण का मानक रूप सुनिश्चित हो चुका है। व्याकरण के इस स्थिरीकरण में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का मुख्य हाथ रहा है।

4. कहा जा चुका है कि मध्यकाल में हिंदी वाक्यरचना एक सीमा तक फ़ारसी से प्रभावित हुई थी। आधुनिक काल में अंगरेज़ी शिक्षा का प्रचार फ़ारसी की तुलना में कहीं अधिक हुआ है। साथ ही समाचार पत्रों, रेडियो तथा सरकारी कामों में प्रयोग के कारण भी अंगरेज़ी हमारे अधिक निकट आयी है। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदी भाषा वाक्यरचना, मुहावरों तथा लोकोक्ति आदि के क्षेत्र में अंगरेज़ी से बहुत अधिक प्रभावित हुई है। उदाहरण के लिए, 'मैं सोने जा रहा हूं,' 'आई ऐम गोइंग टु स्लीप' का अनुवाद है, तो 'वह आदमी, जो कल बीमार पड़ा था, आज मर गया' 'द मैन हू फेल इल येस्टरडे एक्सपायरड टु डे' का। इसी तरह 'प्रकाश डालना' मुहावरा 'टु थ्रो लाइट ऑन' का अनुवाद है, तो 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' लोकोक्ति 'नेसेसिटी इज द मदर ऑफ़ इन्वेन्शन' का। अंगरेज़ी ने विरामचिह्नों के माध्यम से भी हिंदी वाक्यरचना को प्रभावित किया है।

5. इधर कुछ वर्षों से 'कीजिए' के लिए 'करिए', 'मुझे' के लिए 'मेरे को', 'मुझको' के लिए 'मेरे से', 'तुझ में' के लिए 'तेरे में', 'नहीं जाता है' के स्थान पर 'नहीं जाता', 'नहीं जा रहा है' के स्थान पर 'नहीं जा रहा' जैसे नये रूपों तथा नयी वाक्यरचना का प्रचार कुछ क्षेत्रों में बढ़ता जा रहा है। अर्थात हिंदी भाषा की रूपरचना तथा वाक्यरचना में परिवर्तन हो रहा है।

शब्दभंडार की दृष्टि से 1800 ई. से अब तक के आधुनिक काल को सामान्यत: छहसात उपकालों में विभाजित किया जा सकता है। 1800 से 1850 ई. तक का हिंदी शब्द भंडार मोटे रूप से वही था, जो मध्यकाल के अंतिम चरण में था। अंतर केवल यह था कि धीरे-धीरे अंगरेज़ी के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अधिकाधिक शब्द हिंदी भाषा में आते जा रहे थे। 1850 से 1900 ई. तक अंगरेज़ी के और शब्दों के आने के अतिरिक्त आर्यसमाज के प्रचार प्रसार के कारण तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ा और कुछ पुराने तद्भव शब्द परिनिष्ठित हिंदी से निकल गये। 1900 ई. के बाद द्विवेदी काल तथा छायावाद काल में अनेक कारणों से तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ना प्रारंभ हो गया। प्रसाद, पंत और महादेवी वर्मा का पूरा साहित्य इस दृष्टि से दर्शनीय है। इसके बाद प्रगतिवादी आंदोलन के कारण तद्भव शब्दों के प्रयोग में पुनः वृद्धि हुई तथा तत्सम शब्दों के प्रयोग में काफ़ी कमी हुई। सन् 1947 तक लगभग यही स्थिति रही। इसके बाद के शब्दभंडार में कई बातें उल्लेख्य हैं :

1. अनेक पुराने शब्द नये अर्थों में प्रचलित हो गये हैं। उदाहरण के लिए, 'सदन' राज्यसभा और लोकसभा के लिए (दोनों सदनों में) प्रयुक्त हो रहा है।

2. नयी आवश्यकता की पूर्ति के लिए क्षणिका, फ़िल्माना, घुसपैठिया जैसे बहुत से नये शब्द हिंदी में आ गये हैं।

3. साहित्य में नाटक, उपन्यास, कहानी और कविता की भाषा बोलचाल के बहुत निकट है; उसमें अरबी, फ़ारसी तथा अंगरेज़ी के जनप्रचलित शब्दों का काफ़ी प्रयोग हो रहा है, किंतु आलोचना की भाषा अब भी एक सीमा तक तत्सम शब्दों से काफ़ी लदी हुई है।

4. इधर हिंदी को पारिभाषिक शब्दों की बहुत आवश्यकता पड़ी है, क्योंकि वह अब विज्ञान, वाणिज्य, विधि आदि की भी भाषा है। इसकी पूर्ति के लिए अनेक शब्द अंगरेज़ी, संस्कृत आदि से लिये गये हैं तथा अनेक नये शब्द बनाये गये हैं। स्वतंत्रता के पूर्व हिंदी में मुश्किल से पांच-छह हज़ार पारिभाषिक शब्द थे, किंतु अब उनकी संख्या लगभग एक लाख है और दिनोंदिन उसमें वृद्धि होती जा रही है। हिंदी शब्दभंडार अनेक प्रभावों को ग्रहण करते हुए तथा नये शब्दों से समृद्ध होते हुए दिनोंदिन अधिक व्यापक होता जा रहा है, जिसके परिणामस्वरूप हिंदी अपनी अभिव्यंजना में अधिक सटीक, निश्चित, गहरी तथा समर्थ होती जा रही है।

किसी भाषा के प्रचारक्षेत्र में जैसे-जैसे विस्तार होता है, उसके एकाधिक रूप विकसित होने लगते हैं। आज इंग्लैंड, अमरीका, ऑस्ट्रेलिया की अंगरेज़ी ध्वनि-व्यवस्था, रूपरचना, वाक्यगठन तथा शब्दभंडार किसी भी दृष्टि से पूर्णतः एक नहीं है। हिंदी के साथ भी वही स्थिति होती जा रही है। संविधान के 351वें अनुच्छेद के अनुसार संपर्क भाषा के रूप में जिस हिंदी का विकास होना है, वह कम-से-कम शब्दभंडार के क्षेत्र में भारत की प्रायः सभी भाषाओं से कुछ-न-कुछ ग्रहण करेगी। इस प्रकार राष्ट्रभाषा के बारे में उसका स्वरूप एक प्रकार से सार्वदेशिक होगा। नागपुर में हुए विश्व हिंदी सम्मेलन (1975) में इस दिशा में स्वदेश-विदेश के हिंदी विद्वानों ने यथेष्ट विचार- विमर्श के उपरांत उपर्युक्त निष्कर्ष से ही सहमति प्रकट की और हिंदी को राष्ट्रभाषा के साथ ही विश्व की एक प्रमुख भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का संकल्प व्यक्त किया।

## संदर्भ

1. हिंदी साहित्य का आरंभ इस इतिहास में तथा कुछ अन्य इतिहासों में भी सातवीं सदी के मध्य से माना गया है। वस्तुतः साहित्य के विद्वान हिंदी भाषा का आरंभ इसी के आसपास मानते हैं, जबकि भाषा के विद्वानों के अनुसार हिंदी का आभास भले ही इस समय या इससे भी कुछ पूर्व मिलता हो, भाषा के रूप में हिंदी के वास्तविक अस्तित्व में आने का समय 1000 ई. ही माना जाना चाहिए। सातवीं सदी के मध्य से 1000 ई. तक की रचनाएं मुख्यतः अपभ्रंश में विरचित हैं, यदि कहीं हिंदी के प्रयोग मिलते हैं तो उन्हें हिंदी भाषा के विकास की पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण करना ही उचित होगा।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

# प्रथम खंड

# पूर्वपीठिका तथा आदिकाल

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

# अध्याय : 1

# पूर्वपीठिका

## इतिहास : अर्थ एवं स्वरूप

शाब्दिक दृष्टि से 'इतिहास' का अर्थ है : 'ऐसा ही था' या 'ऐसा ही हुआ'। इससे दो बातें स्पष्ट हैं—एक तो यह कि इतिहास का संबंध अतीत से है, दूसरे यह कि उसके अंतर्गत केवल वास्तविक या यथार्थ घटनाओं का ही समावेश किया जाता है। उसमें उन सभी लिखित या मौखिक वृत्तों को सम्मिलित किया जाता है, जिनका संबंध अतीत की यथार्थ परिस्थितियों व घटनाओं से है और साथ ही, उसका संबंध केवल 'प्रसिद्ध घटनाओं' से ही नहीं, अपितु उन घटनाओं से भी है, जो प्रसिद्ध न होते हुए भी यथार्थ में घटित हुई हों। वस्तुतः आज 'इतिहास' शब्द को इतने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है कि उसके अंतर्गत, अतीत की प्रत्येक स्थिति, परिस्थिति, घटना, प्रक्रिया एवं प्रवृत्ति की व्याख्या का समावेश हो जाता है। अतः संक्षेप में, अतीत के किसी भी तथ्य, तत्त्व एवं प्रवृत्ति के वर्णन, विवरण, विवेचन व विश्लेषण को, जो कि कालविशेष या कालक्रम की दृष्टि से किया गया हो, इतिहास कहा जा सकता है। लाक्षणिक अर्थ में 'इतिहास' का प्रयोग अतीत की घटनाओं के विवरण के स्थान पर स्वयं अतीतकालीन घटनाओं और व्यक्तियों के लिए भी होता है, जैसे : 'महात्मा गांधी ने भारत के नये इतिहास का निर्माण किया' या 'सम्राट अशोक भारत के इतिहास निर्माता थे' आदि वाक्यों में; किंतु शास्त्रीय या वैज्ञानिक विवेचन में लाक्षणिक प्रयोग अग्राह्य या त्याज्य ही समझे जाते हैं।

प्राचीनकाल से ही इतिहास को अध्ययन के एक स्वतंत्र विषय के रूप में मान्यता प्राप्त है, किंतु अध्येताओं के दृष्टिकोण एवं पद्धति के अनुसार उसका स्वरूप बदलता रहा है, इसलिए कभी उसे कला के क्षेत्र में और कभी विज्ञान के क्षेत्र में स्थान दिया जाता रहा। वस्तुतः इतिहास कला है या विज्ञान, यह प्रश्न आज भी विवाद का विषय बना हुआ है। इस विवाद के मूल में यह भ्रांति विद्यमान है कि कोई भी वस्तु या विषय अपने आप में कला या विज्ञान की कोटि में आ सकता है, जबकि वास्तविकता यह है कि कला या विज्ञान का निर्णय विषयवस्तु के आधार पर नहीं, अपितु उसकी अध्ययनपद्धति या रचनापद्धति पर निर्भर है। इतिहास हमें अतीत का इतिवृत्त प्रदान करता है, किंतु यह हम पर निर्भर है कि हम उस इतिवृत्त का उपयोग किस प्रकार करते हैं। यदि अतीत के इतिवृत्त को हम आत्मपरक दृष्टिकोण, वैयक्तिक अनुभूति एवं ललित शैली में प्रस्तुत करते हैं तो वह 'कला' की संज्ञा से विभूषित हो सकता है, जबकि वस्तुपरक दृष्टिकोण, तर्कपूर्ण शैली एवं गवेषणात्मक पद्धति से प्रस्तुत किया गया अतीत का विवरण 'विज्ञान' की विशेषताओं से युक्त माना जा सकता है। वस्तुतः इतिहास से कवि, साहित्यकार, उपदेशक, शोधकर्त्ता आदि विभिन्न वर्गों के लोग प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं तथा उनकी दृष्टि व पद्धति के अनुसार उसका स्वरूप भी बदलता रहा है, ऐसी स्थिति में इतिहास के भी विभिन्न रूप उपलब्ध हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

फिर भी, आधुनिक युग में इतिहास को कला की अपेक्षा विज्ञान के ही अधिक निकट माना जाता है। अतः प्रत्येक इतिहासकार से दृष्टिकोण की तटस्थता या वस्तुपरकता, तथ्यों की यथार्थता और निष्कर्षों की प्रामाणिकता की अपेक्षा की जाती है, यह दूसरी बात है कि विषयवस्तु की अविद्यमानता व अप्रत्यक्षता के कारण 'भौतिक विज्ञान' की-सी वैज्ञानिकता का आविर्भाव उसमें शायद ही संभव हो। वास्तव में, विषय-भेद से स्वयं विज्ञान भी अनेक श्रेणियों एवं कोटियों में विभक्त हो जाता है, उदाहरण के लिए, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान व भाषाविज्ञान को हम विज्ञान की उसी श्रेणी में स्थान नहीं दे सकते, जिस श्रेणी में भौतिकविज्ञान, रसायनशास्त्र और जीवविज्ञान को देते हैं। अतः इतिहास को भी हम उसी श्रेणी के विज्ञान में स्थान दे सकते हैं, जिस श्रेणी में भाषाविज्ञान व समाजविज्ञान (Sociology) को देते हैं।

## 'इतिहासदर्शन' की रूपरेखा

जैसा कि पीछे संकेत दिया जा चुका है, इतिहास के अध्ययन में विभिन्न विद्वान विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों का प्रयोग करते रहे हैं तथा ये दृष्टिकोण भी समय-समय पर बदलते रहे हैं, इसी तथ्य के आधार पर 'इतिहासदर्शन' विषय की स्थापना हुई है, जिसमें इतिहास के संबंध में प्रयुक्त व प्रचलित विभिन्न दृष्टिकोणों, धारणाओं व विचारों का अध्ययन किया जाता है। अस्तु, इतिहास संबंधी इन्हीं विचारों या धारणाओं को समूहरूप में 'इतिहासदर्शन' की संज्ञा दी जाती है।

वैसे, पश्चिम के कुछ विद्वानों ने 'इतिहासदर्शन' (Philosophy of History) का प्रयोग संकीर्ण व सीमित अर्थ में करते हुए अपने-अपने दृष्टिकोणों को ही उस पर आरोपित करने का प्रयास किया है। सर्वप्रथम वोल्तेर ने इस संज्ञा का प्रयोग करते हुए इसके अर्थ को केवल 'आलोचनात्मक या वैज्ञानिक इतिहास' तक सीमित रखने का प्रयास किया। हीगल ने इसका प्रयोग विश्वइतिहास के अर्थ में तथा परवर्ती युग के कुछ विद्वानों ने केवल परीक्षणात्मक यथार्थवादी दृष्टिकोण के लिए किया। किंतु, आज 'इतिहासदर्शन' के नाम से उपलब्ध पुस्तकों में पूर्व से पश्चिम तक तथा प्राचीनकाल से ले कर आधुनिक काल तक के उन सभी दृष्टिकोणों व विचारों का प्रतिपादन किया जाता है जो इतिहास के अध्ययन में प्रयुक्त हुए हैं। ऐसी स्थिति में, यदि हम एकांगी और एकपक्षीय धारणाओं से बचते हुए 'इतिहासदर्शन' का सर्वांगीण व सर्वपक्षीय बोध प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें उसे उसी व्यापक एवं समन्वित अर्थ में ग्रहण करना होगा, जिसके अनुसार 'इतिहासदर्शन' उन दृष्टिकोणों, विचारों व अध्ययनपद्धतियों के समूह का सूचक है, जिनका प्रयोग इतिहास के अध्ययन से संभव है।

**इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण :** इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण प्रायः आदर्शमूलक एवं अध्यात्मवादी रहा है, इसीलिए उसमें भौतिक जगत की स्थूल घटनाओं में भी आध्यात्मिक तत्त्वों व प्रवृत्तियों के अनुसंधान की प्रवृत्ति रही है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में प्रायः सामयिक तत्त्वों की अपेक्षा चिरंतन मूल्यों को अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है, अतः यहां के प्राचीन इतिहासकारों ने अतीत की व्याख्या भी इसी दृष्टिकोण से की; अर्थात वे परिवर्तनशील अतीत में से भी उन प्रवृत्तियों का अनुसंधान करते रहे, जो मनुष्य को स्थायी एवं अमर बनाती हैं। उन्होंने घटनाओं एवं क्रियाकलापों की व्यवस्था भौतिक उपलब्धियों एवं वैयक्तिक सफलताओं की दृष्टि से कम करके समष्टिहित की दृष्टि से अधिक की। इसीलिए महाभारतकार[1] ने जहां इतिहास को एक ऐसा पूर्ववृत्त माना, जिसके माध्यम से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश दिया जा सके, तो पौराणिकों[2] ने ऋषियों एवं महापुरुषों के चरितगान को 'इतिहास' के रूप में स्वीकार करते हुए घटना की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्त्व प्रदान किया।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यद्यपि आगे चल कर बाण, कल्हण आदि इतिहासकारों ने इससे भिन्न दृष्टि को अपनाते हुए आध्यात्मिक, नैतिक एवं चारित्रिक तत्त्वों की अपेक्षा यथार्थपरक वस्तु एवं तथ्यों को अधिक महत्त्व प्रदान किया, किंतु काव्यात्मकता एवं अलंकृति का मोह वे भी न त्याग सके। इसीलिए जहां प्राचीन युग में भारतीय इतिहासकारों की रचनाएं चारित्रिक मूल्यों, नैतिक उपदेशों व आध्यात्मिक रूपकों से युक्त हो कर पौराणिक रूप में परिणत हो गयीं, वहां परवर्ती इतिहासकारों की रचनाएं शुद्ध इतिहास की अपेक्षा 'काव्यात्मक इतिहास' या 'ऐतिहासिक काव्य' के रूप में विकसित हुईं। वस्तुतः भारत का प्राचीन इतिहासकार सत्य-शोधन तक ही सीमित नहीं रहा, वह 'शिवं' और 'सुन्दरम्' के समन्वय के लिए भी बराबर सचेष्ट रहा। इसे व्यावहारिक दृष्टि से जहां उसका 'गुण' कहा जा सकता है, वहां सैद्धांतिक दृष्टि से यह उसका सबसे बड़ा 'दोष' भी माना जा सकता है, क्योंकि उसने इतिहास के कलेवर में कला और नीति को स्थान दे कर उसे शुद्ध ऐतिहासिकता से वंचित रखा। फिर भी, यदि इतिहास के कलात्मक या काव्यात्मक रूप का किसी भी दृष्टि से कोई महत्त्व है तो उस दृष्टि से भारतीय इतिहासकार को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया जा सकता है। वास्तव में, भारतीय इतिहासकार ने अपनी संस्कृति एवं जीवन के आदर्शों के अनुरूप ही इतिहास के क्षेत्र में भी संश्लेषणात्मक व समन्वयात्मक दृष्टिकोण का परिचय देते हुए उसमें सत्यं, शिवं व सुन्दरम् के समन्वय का प्रयास किया, जो उसकी परंपराओं को देखते हुए उचित व स्वाभाविक कहा जा सकता है।

**इतिहास के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण :** जहां भारतीय इतिहासकारों के दृष्टिकोण में आदर्शवादिता की प्रमुखता रही, वहीं पाश्चात्य इतिहासकार प्रायः यथार्थवादी दृष्टिकोण से अनुप्राणित रहे हैं। 'इतिहास' (History) के प्रथम व्याख्याता यूनानी विद्वान हिरोदोतस (456-545 ई.पू.) ने इसे 'खोज', 'गवेषणा' या 'अनुसंधान' के अर्थ में ग्रहण करते हुए इसके चार लक्षण निर्धारित किये थे। एक तो यह कि इतिहास वैज्ञानिक विद्या है, अतः इसकी पद्धति आलोचनात्मक होती है। दूसरे, यह मानव-जाति से संबंधित होने के कारण मानवीय विद्या (मानविकी) है। तीसरे, यह तर्कसंगत विद्या है, अतः इसमें तथ्य और निष्कर्ष प्रमाण पर आधारित होते हैं। चौथे, यह अतीत के आलोक में भविष्य पर प्रकाश डालता है, अतः यह शिक्षाप्रद विद्या है। इसके अतिरिक्त हिरोदोतस ने यह भी स्पष्ट किया कि इतिहास का लक्ष्य प्राकृतिक या भौतिक परिवर्तन की प्रक्रिया की व्याख्या करना है।

प्राचीन युग में सामान्यतः हिरोदोतस का ही दृष्टिकोण मान्य रहा, किंतु आधुनिक युग के विभिन्न विद्वानों ने इसके संबंध में नये दृष्टिकोण से विचार किया। इटैलियन विद्वान विको (1668-1744) ने इतिहास का संबंध न केवल अतीत से, अपितु वर्तमान से भी स्थापित करते हुए प्रतिपादित किया कि इतिहास का निर्माता स्वयं मनुष्य है और मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्तियां सदा समान रहती हैं, अतः विभिन्न युगों के इतिहास में भी समान प्रवृत्तियों का मिलना स्वाभाविक है। इतिहास लेखन की पद्धति के संबंध में भी विको ने अनेक सुझाव देते हुए इतिहासकारों को अतिरंजना व अतिशयोक्ति से बचने और अतीत को अधिक महत्त्व न देने की बात कही।

जर्मन दार्शनिक कान्त (1724-1804) ने इतिहास की नयी व्याख्या करते हुए प्रतिपादित किया कि सृष्टि का बाह्य विकास प्रकृति की आंतरिक विकास-प्रक्रिया का प्रतिबिंब मात्र है, अतः इतिहास को भी इसी रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए अर्थात ऐतिहासिक घटनाओं के पीछे प्राकृतिक नियमों की प्रवृत्ति को समझने का प्रयास किया जाना चाहिए। हीगल (1770-1831) ने कान्त की विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए स्पष्ट किया कि इतिहास केवल घटनाओं का अन्वेषण एवं संकलन मात्र नहीं है, अपितु उसके भीतर कारण-कार्य की शृंखला विद्यमान है। हीगल के मतानुसार, विश्व-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इतिहास की प्रक्रिया का मूल लक्ष्य मानव-चेतना का विकास है, जो द्वंद्वात्मक पद्धति पर आधारित है। इस द्वंद्वात्मक पद्धति या प्रक्रिया के अनुसार वाद (thesis) एवं प्रतिवाद (anti-thesis) के द्वंद्व से समवाद (synthesis) का विकास होता है। इतिहास की व्याख्या भी इसी द्वंद्वात्मक पद्धति के आधार पर होनी चाहिए।

उन्नीसवीं शती में डारविन ने अपने विकासवादी सिद्धांत की स्थापना के द्वारा इतिहास को एक नूतन दृष्टि, शक्ति व गति प्रदान की। डारविन परवर्ती युग में विभिन्न चिंतकों ने आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में विभिन्न विकासवादी सिद्धांतों की स्थापना करते हुए प्रमाणित किया कि सृष्टि का कोई अंग या तत्त्व एकाएक घटित या रचित न हो कर क्रमशः विकसित है। अतः वैज्ञानिक दृष्टि से 'इतिहास' का अर्थ 'घटना-समूह' का संकलन न हो कर 'विकास-क्रम' का विवेचन है। कार्ल मार्क्स, एंजिल्स, मारगन, हक्सले प्रभृति अनेक विद्वानों ने विकासवाद के विभिन्न पक्षों की व्याख्या अपनी-अपनी दृष्टि से करते हुए उसे विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। बीसवीं शती के अनेक इतिहासकारों—स्पेंगलर, ट्वायनबी, टर्नर आदि ने विश्व-संस्कृति और सभ्यता के इतिहास की व्याख्या विकासवादी नियमों व प्रवृत्तियों के आधार पर करने की चेष्टा की है।

अस्तु, आज पाश्चात्य इतिहासदर्शन के सर्वप्रमुख एवं सर्वाधिक विकसित दृष्टिकोण के रूप में विकासवादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया जा सकता है, किंतु अनेक दृष्टियों से यह दृष्टिकोण भी अभी तक पूर्ण विकसित नहीं कहा जा सकता। एक तो अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, संस्कृति आदि विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले विकासवादी चिंतकों के सिद्धांतों में भी परस्पर अन्विति एवं एकरूपता का अभाव है, जहां डारविन का विकासवाद प्राणिशास्त्र में लागू होता है, वहीं मार्क्स का अर्थशास्त्र में, स्पेन्सर का भौतिकविज्ञान में या बर्गसॉ का मनोविज्ञान में लागू होता है। दूसरे, विकासवादी सिद्धांतों के विरोध में भी प्रतिक्रिया हो रही है, विद्वानों का एक वर्ग इन्हें 'विधेयवादी' कह कर ठुकराने का प्रयास कर रहा है। सार्त्र आदि के वे अनुयायी, जो कि नियमबद्धता, पूर्वनिश्चितता एवं पूर्वनिर्धारण के विरोधी हैं, इतिहास को भी किसी नियम से आबद्ध करना कैसे स्वीकार कर सकते हैं! अस्तित्ववादियों के अनुसार, जब प्रकृति एवं मनुष्य ही नियमों से मुक्त हैं तो उनके इतिहास को नियमबद्ध कैसे किया जा सकता है! किंतु हमारे विचार में नियम और अनुशासन का यह विरोध अवैज्ञानिकता एवं अराजकता का ही पोषक है। कदाचित हीगल के शब्दों में यह भी वाद का प्रतिवाद मात्र है, जो संभवतः हमें किसी नये 'समवाद' की ओर अग्रसर करने में सहायक सिद्ध हो सके।

## साहित्य का इतिहासदर्शन

सामान्यतः 'इतिहास' शब्द से राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास का ही बोध होता है, किंतु वास्तविकता यह है कि सृष्टि की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसका इतिहास से संबंध न हो। अतः साहित्य भी इतिहास से असंबद्ध नहीं है। साहित्य के इतिहास में हम प्राकृतिक घटनाओं व मानवीय क्रियाकलापों के स्थान पर साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से करते हैं। वैसे, देखा जाये तो साहित्यिक रचनाएं भी मानवीय क्रियाकलापों से भिन्न नहीं हैं, अपितु वे विशेष वर्ग के मनुष्यों की विशिष्ट क्रियाओं की सूचक हैं। दूसरे शब्दों में, साहित्यिक रचनाएं साहित्यकारों की सर्जनात्मक क्रियाओं और प्रवृत्तियों की सूचक होती हैं, अतः उनके इतिहास को समझने के लिए उनके रचयिताओं तथा उनसे संबंधित स्थितियों, परिस्थितियों और परंपराओं को समझना भी आवश्यक है। प्रारंभ में जिस प्रकार राजनीतिक इतिहास में राजाओं के जीवनचरित्र एवं राजनीतिक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

घटनाओं को संकलित कर देना पर्याप्त समझा जाता था, उसी प्रकार साहित्य के इतिहास में भी रचनाओं व रचयिताओं का स्थूल परिचय ही पर्याप्त होता था, किंतु ज्यों-ज्यों इतिहास के सामान्य दृष्टिकोण का विकास होता गया, त्यों-त्यों साहित्येतिहास के दृष्टिकोण में भी तदनुसार सूक्ष्मता व गंभीरता आती गयी। यद्यपि इतिहास के अन्य क्षेत्रों की तुलना में साहित्य का इतिहासदर्शन एवं उसकी पद्धति अब भी बहुत पिछड़ी हुई है, किंतु फिर भी समय-समय पर इस प्रकार के अनेक प्रयास हुए हैं, जिनका लक्ष्य साहित्येतिहास को भी सामान्य इतिहास के स्तर पर पहुंचाने का रहा है।

यद्यपि अंगरेज़ी साहित्य के विभिन्न इतिहासकारों द्वारा यह धारणा बहुत पहले प्रचलित हो चुकी थी कि किसी भी जाति के साहित्य का इतिहास उस जाति के सामाजिक एवं राजनीतिक वातावरण को ही प्रतिबिंबित करता है या साहित्य की प्रवृत्तियां संबंधित समाज की प्रवृत्तियों की सूचक होती हैं, फिर भी इस धारणा को एक सुव्यवस्थित सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय फ्रेंच विद्वान तेन (Taine) को है जिन्होंने अपने अंगरेज़ी साहित्य के इतिहास में प्रतिपादित किया कि साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के मूल में मुख्यत: तीन प्रकार के तत्त्व सक्रिय रहते हैं : जाति (race), वातावरण (Milieu), क्षण विशेष (moment)। तेन ने अपनी व्याख्या के द्वारा यह भलीभांति स्पष्ट किया कि किसी भी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए उससे संबंधित जातीय परंपराओं, राष्ट्रीय और सामाजिक वातावरण एवं सामयिक परिस्थितियों का अध्ययन विश्लेषण आवश्यक है। तेन के इस सिद्धांत की आलोचना करते हुए हडसन ने आक्षेप किया कि उन्होंने साहित्य की विकास-प्रक्रिया का सारा महत्त्व उपर्युक्त तीन तत्त्वों को ही दे दिया, जबकि साहित्यकार या काव्यरचयिता के व्यक्तित्व एवं उसकी प्रतिभा की सर्वथा उपेक्षा कर दी। निश्चय ही, हडसन का यह आक्षेप तेन के सिद्धांत की एक महत्त्वपूर्ण न्यूनता या त्रुटि की ओर संकेत करता है, किंतु फिर भी हम इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि पूर्ववर्ती इतिहासकारों की तुलना में तेन ने अपेक्षाकृत अधिक व्यापक, स्पष्ट एवं विकसित सिद्धांत प्रस्तुत किया था, जिसके आधार पर साहित्य की विकास-प्रक्रिया को बहुत कुछ स्पष्ट किया जा सकता है।

साहित्येतिहास की व्यवस्था में जर्मन चिंतकों का भी कम योगदान नहीं है। वैसे तो उनके द्वारा कई सिद्धांत स्थापित हुए, किंतु उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'युगचेतना' (Spirit of age) का सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार साहित्य के इतिहास की व्याख्या तद्युगीन चेतना के आधार पर की जानी चाहिए। ए.एच. कॉफे ने महान कवि गेटे की साहित्यिक प्रवृत्तियों की व्याख्या युगीन चेतना के आधार पर करके इस सिद्धांत की महत्ता को प्रमाणित किया है। किंतु, हमारे विचार में यह सिद्धांत भी एकांगी ही है, क्योंकि साहित्य के विकास में युगीन चेतना का ही नहीं, पूर्ववर्ती परंपराओं का भी न्यूनाधिक योगदान रहता है, अत: उनकी उपेक्षा करके सारा श्रेय युगीन चेतना को ही दे देना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

इधर मार्क्सवाद से प्रभावित आलोचकों ने द्वंद्वात्मक भौतिक विकासवाद, वर्ग-संघर्ष और आर्थिक परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्य की विकास-प्रक्रिया को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए, सैक्युलिन ने रूसी साहित्य के इतिहास की व्याख्या करते हुए साहित्य की विभिन्न प्रक्रियाओं व प्रवृत्तियों का संबंध आर्थिक परिस्थितियों एवं वर्ग-संघर्ष की प्रतिक्रिया से स्थापित किया है। किंतु कई बार मार्क्सवादी आलोचक साहित्य की सभी प्रवृत्तियों के मूल में अर्थ को ही स्थापित करके एक ऐसा अनर्थ कर देते हैं, जो एकांतिक व अतिवादिता का प्रमाण होता है।

मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण और अर्थविज्ञान के आधार पर भी साहित्य के विभिन्न पक्षों के, विशेषत: शैलीपक्ष के विकास की व्याख्या विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों द्वारा हुई है, जिनमें आई.ए. रिचर्ड्स,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विलियम एम्पसन, सी.एस. लेविस, डब्ल्यू.पी. कर, एफ.डब्ल्यू. बैटसन प्रभृति विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों द्वारा विभिन्न दृष्टियों से शैलीगत प्रवृत्तियों के विश्लेषणों एवं उनके आधारभूत कारणों को खोजने का प्रयास हुआ है, जिससे आंशिक रूप में साहित्येतिहास को भी समझने में सहायता मिल सकती है। किंतु, इनके निष्कर्षों में पारस्परिक सामंजस्य, एकरूपता एवं अन्विति का अभाव होने के कारण वे अध्येता के मार्ग को प्रशस्त कम और कंटकाकीर्ण अधिक करते हैं।

अस्तु, साहित्येतिहास की व्याख्या के लिए विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न प्रयास होते रहे हैं, जो हमें किसी निश्चित, स्पष्ट एवं समन्वित निष्कर्ष तक नहीं पहुंचाते, फिर भी इनसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि आज साहित्य का अध्ययन-विश्लेषण केवल साहित्य तक सीमित रह कर नहीं किया जा सकता; उसकी विषयगत प्रवृत्तियों व शैलीगत प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण के लिए उससे संबंधित राष्ट्रीय परंपराओं, सामाजिक वातावरण, आर्थिक परिस्थितियों, युगीन चेतना एवं साहित्यकार की वैयक्तिक प्रवृत्तियों का विवेचन-विश्लेषण आवश्यक है। अतः कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त सिद्धांत साहित्य की विकास-प्रक्रिया के विभिन्न अंगों, पक्षों व तत्वों के सूचक हैं। यद्यपि इनमें कोई भी सिद्धांत परिपूर्ण नहीं है, किंतु आंशिक सत्य से भी ये सर्वथा शून्य नहीं हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए किसी भी साहित्य की विकास-प्रक्रिया के अध्ययन के लिए उससे संबंधित इन पांच तत्वों पर विचार किया जाना चाहिए—(1) सर्जनशक्ति (साहित्यकार की प्रतिभा और उसका व्यक्तित्व), (2) परंपरा (साहित्यिक व सांस्कृतिक परंपराएं), (3) वातावरण, (4) द्वंद्व और (5) संतुलन। वस्तुतः यह सिद्धांत सृष्टि की सामान्य विकास-प्रक्रिया की दृष्टि से प्रतिपादित है, जिसे साहित्य पर लागू करते हुए संक्षेप में कहा जा सकता है—साहित्य के क्षेत्र में भी प्राकृतिक सर्जन-शक्ति अर्थात साहित्यकार की नैसर्गिक प्रतिभा, परंपरा (सांस्कृतिक तथा साहित्यिक परंपरा) और वातावरण (युगीन परिस्थितियों, प्रवृत्तियों तथा चेतना) के द्वंद्व से प्रेरित हो कर गतिशील होती है, जिसका चरम लक्ष्य द्वंद्व के दोनों पक्षों में संतुलन स्थापन होता है। वस्तुतः यह द्वंद्व ही साहित्यकार की मूल प्रेरणा होता है, किंतु स्थितिविशेष व व्यक्तिविशेष के अंतर से द्वंद्व का क्षेत्र परिवर्तित होता रहता है; अतः कोई साहित्यकार अपने ही आंतरिक या मानसिक द्वंद्व से परिचालित होता है तो कोई पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक या अंतरराष्ट्रीय द्वंद्व से। एक क्षेत्र का द्वंद्व संतुलित या शांत हो जाने पर साहित्यकार या साहित्यकारों की सर्जन-शक्ति किसी अन्य क्षेत्र के द्वंद्व की ओर उन्मुख होती है। वस्तुतः परंपरा और युगीन वातावरण के अंतर्विरोध से उत्पन्न द्वंद्व ही साहित्य के विभिन्न आंदोलनों, उसकी धाराओं और प्रवृत्तियों को गति देता हुआ साहित्य की विकास-प्रक्रिया को संचालित करता है। अतः साहित्येतिहास की विकासवादी व्याख्या के लिए उन सभी तथ्यों पर विचार करना आवश्यक है, जो साहित्यकार के व्यक्तित्व एवं उससे संबंधित पूर्व परंपरा, युगीन वातावरण, द्वंद्व के स्रोत व अभीष्ट लक्ष्य आदि पर प्रकाश डालते हैं।

साहित्य-विकास के उपर्युक्त सामान्य सिद्धांत के अतिरिक्त कुछ ऐसे सिद्धांत भी प्रतिपादित किये गये हैं जिनमें साहित्य के रूपात्मक, प्रवृत्यात्मक तथा गुणात्मक विकास के अध्ययन में सहायता मिल सकती है।[3] किंतु यहां इनका विस्तृत परिचय न दे कर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिस प्रकार सामान्य इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन विकासवाद के आधार पर ही संभव है, उसी प्रकार साहित्य के इतिहास की भी वैज्ञानिक व्याख्या के लिए विकासवादी सिद्धांतों का आधार ग्रहण करना आवश्यक है, यह दूसरी बात है कि जो लोग इतिहास को भी कल्पना-विकास और भाव-सौंदर्य का क्षेत्र मानते हुए उसे कला की श्रेणी में स्थान देते हैं, वे विकासवादी दृष्टिकोण और वैज्ञानिक पद्धति दोनों को ही व्यर्थ समझते हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## साहित्येतिहास और साहित्यालोचन

सामान्यत: साहित्य के इतिहास में आलोचनात्मक दृष्टिकोण का तथा साहित्यालोचन में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उपयोग किया जाता है तथा इस दृष्टि से ये दोनों एक-दूसरे के पूरक व सहयोगी सिद्ध होते हैं, किंतु फिर भी हमें इस भ्रांति से बचना चाहिए कि दोनों मूलत: एक ही हैं। इतिहास का लक्ष्य सदा अतीत की व्याख्या करते हुए विवेच्य वस्तु के विकासक्रम को स्पष्ट करने का होता है, जबकि आलोचना का लक्ष्य वस्तु के गुण-दोषों का अन्वेषण करते हुए उसका मूल्य निर्धारित करना होता है। इतिहासकार भी कृति के गुण-दोषों पर विचार कर सकता है, किंतु वहां भी उसका लक्ष्य उन्हें युगीन प्रवृत्तियों के संदर्भ में देखने का रहता है; स्वतंत्र रूप से मूल्यांकन का नहीं। दूसरे, देश (Space) और काल (Time) के महत्त्वपूर्ण आयामों में से जहां आलोचक देश या स्थान को दृष्टिगत रखते हुए उसके स्थिर या शाश्वत् तत्त्वों के अनुसंधान पर बल देता हैं, वहीं इतिहासकार काल-क्रम और युगीन संदर्भ को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए परिवर्तनशील तत्त्वों के विश्लेषण में प्रवृत्त होता है। तीसरे, आलोचक व्यक्ति विशेष या कृति विशेष का मूल्यांकन स्वतंत्र रूप में भी कर सकता है, जबकि इतिहासकार व्यक्ति और कृति को सदा पूर्व परंपरा और युगीन वातावरण के संदर्भ में रख कर ही उसके योगदान को स्पष्ट करता है। चौथे, आलोचक के लिए महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों एवं रचनाओं का चयन भी पर्याप्त सिद्ध हो सकता है, किंतु इतिहासकार के लिए ऐसा संभव नहीं। इतिहास की संपूर्ण धारा को समझने के लिए सम्राट् अकबर जितना महत्त्वपूर्ण है, हेमू वणिक भी उससे कम नहीं है; या महाकवि तुलसीदास का सर्वगुण-संपन्न महाकाव्य उसके लिए जितना महत्त्वपूर्ण है, अनेक दोषों से ग्रस्त केशव की 'रामचंद्रिका' भी उसके लिए उतनी ही उपयोगी है; वह इनमें से किसी एक को भी ठुकरा कर इतिहास की विकास-प्रक्रिया के विश्लेषण में सफल नहीं हो सकता।

अस्तु, संक्षेप में कहा जा सकता है कि साहित्य का इतिहासकार जहां अतीत के सर्जन-कार्य को विभिन्न परंपराओं और धाराओं के रूप में ग्रहण करते हुए युगविशेष के संदर्भ में उनका विश्लेषण करता है, वहीं आलोचक किन्हीं स्थापित मूल्यों के आधार पर या नये मूल्यों की स्थापना के उद्देश्य से विभिन्न कृतियों के मूल्यपरक तत्त्वों का उद्घाटन करता है। एक के द्वारा जहां 'ऐसा क्यों हुआ' का उत्तर दिया जाता है, वहीं दूसरा 'इसमें क्या विशेषता है' की व्याख्या करता है। फिर भी, अनेक कारणों से आज साहित्येतिहास और साहित्यालोचन की सीमाएं घुलमिल-सी गयी हैं जिसके अनेक कारण हैं। एक तो साहित्य क्षेत्र में, विशेषत: हिंदी साहित्य में, इतिहासकार और आलोचक का कार्य कई बार एक ही व्यक्ति द्वारा संपन्न होता रहता है। इतना ही नहीं, अनेक बार 'इतिहास' संज्ञक रचनाओं में ऐतिहासिक विवेचन की अपेक्षा आलोचनात्मक अनुशीलन अधिक रहता है और आलोचनात्मक पुस्तकों में मूल्यांकन की अपेक्षा ऐतिहासिक व्याख्या अधिक उपलब्ध होती है। कदाचित् इसी से इस धारणा का प्रचार हुआ कि अच्छे आलोचक के लिए अच्छा इतिहासकार या इसके विपरीत अच्छे इतिहासकार के लिए अच्छा आलोचक होना आवश्यक है। आंशिक रूप में अवश्य यह बात सही है, किंतु अंतत: दोनों के लिए दो भिन्न प्रकार की प्रतिभाएं, दृष्टियां और पद्धतियां अपेक्षित हैं, इसे प्राय: भुला दिया गया है। इसके अतिरिक्त अधुनातन लेखन में कुछ वर्गों द्वारा आलोचना और इतिहास के भी मूल स्वरूप को विकृत करने की चेष्टा की जा रही है। आलोचना में जहां मूल्य और मूल्यांकन के स्थान पर आत्मप्रशंसा, वैयक्तिक प्रतिक्रिया, एकपक्षीय विवरण, समाचारपत्रीय परिचय को प्रस्तुत किया जा रहा है, वहीं इतिहास में परंपराओं, धाराओं व युगीन प्रवृत्तियों के तटस्थ विश्लेषण के स्थान पर वर्गविशेष, वादविशेष या व्यक्तिविशेष की प्रतिष्ठा का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रयास हो रहा है। ऐसी स्थिति में, यदि दोनों का पारस्परिक अंतर अस्पष्ट या लुप्त हो जाये तो कोई आश्चर्य नहीं!

## हिंदी साहित्येतिहास की परंपरा

यद्यपि उन्नीसवीं शती से पूर्व विभिन्न कवियों और लेखकों द्वारा अनेक ऐसे ग्रंथों की रचना हो चुकी थी जिनमें हिंदी के विभिन्न कवियों के जीवनवृत्त एवं कृतित्व का परिचय दिया गया है, जैसे : 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', 'भक्तमाल', 'कविमाला', 'कालिदास हजारा' आदि; किंतु इनमें कालक्रम, सन्-सवंत् आदि का अभाव होने के कारण इन्हें 'इतिहास' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। वस्तुतः अब तक की जानकारी के अनुसार हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखन का सबसे पहला प्रयास एक फ्रेंच विद्वान गार्सा द तॉसौ का ही समझा जाता है, जिन्होंने फ्रेंच भाषा में 'इस्त्वार द ला लितरेत्युर ऐन्दुई ऐ ऐन्दुस्तानी' ग्रंथ लिखा, जिसमें हिंदी और उर्दू के अनेक कवियों का विवरण वर्णक्रमानुसार दिया गया है। इसका प्रथम भाग 1839 में तथा द्वितीय 1847 ई. में प्रकाशित हुआ था।[4] 1871 ई. में इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसमें इसे तीन खंडों में विभक्त करते हुए पर्याप्त संशोधन परिवर्तन किया गया। इस ग्रंथ का महत्त्व केवल इसी दृष्टि से है कि इसमें हिंदी-काव्य का सर्वप्रथम इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है तथा कवियों के रचनाकाल का भी निर्देश किया गया है, अन्यथा कवियों को कालक्रम के स्थान पर अंगरेज़ी वर्णक्रम से प्रस्तुत करना, काल-विभाजन एवं युगीन प्रवृत्तियों के विवेचन का कोई प्रयास न करना, हिंदी के कवियों में इतर भाषाओं को घुलामिला देना आदि ऐसी त्रुटियां हैं, जिनके कारण इसे 'इतिहास' मानने में संकोच होता है। फिर भी, भारत से दूर बैठ कर विदेशी भाषा में सर्वप्रथम इस प्रकार का प्रयास करना भी अपने आपमें कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वस्तुतः किसी भी क्षेत्र में किये गये प्रारंभिक एवं प्राथमिक प्रयास का महत्त्व प्रायः उसकी उपलब्धियों की दृष्टि से नहीं, अपितु नयी दिशा की ओर अग्रसर होने की दृष्टि से ही माना जाता है, यह बात तॉसी के प्रयास पर भी लागू होती है। अस्तु, उनके ग्रंथ में अनेक त्रुटियों व न्यूनताओं के होते हुए भी हम उन्हें हिंदी साहित्येतिहास-लेखन की परंपरा में, उसके प्रवर्त्तक के रूप में, गौरवपूर्ण स्थान देना उचित समझते हैं।

तॉसी की परंपरा को आगे बढ़ाने का श्रेय **शिवसिंह सेंगर** को है, जिन्होंने 'शिवसिंह सरोज' (1883) में लगभग एक सहस्र भाषा-कवियों का जीवनचरित उनकी कविताओं के उदाहरण सहित प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कवियों के जन्मकाल, रचनाकाल आदि के संकेत भी दिये गये हैं, यह दूसरी बात है कि वे संकेत बहुत विश्वसनीय नहीं हैं। इतिहास के रूप में इस ग्रंथ का भी महत्त्व अधिक नहीं है, किंतु फिर भी इसमें उस समय तक उपलब्ध हिंदी कविता संबंधी ज्ञान को संकलित कर दिया गया है, जिससे परवर्ती इतिहासकार लाभ उठा सकते हैं, इसी दृष्टि से इसका महत्त्व है।

सन् 1888 में एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल की पत्रिका के विशेषांक के रूप में जार्ज ग्रियर्सन द्वारा रचित 'द मॉडर्न वर्नेक्युलर लिटरेचर ऑफ़ हिंदुस्तान' का प्रकाशन हुआ, जो नाम से 'इतिहास' न होते हुए भी सच्चे अर्थ में हिंदी साहित्य का पहला इतिहास कहा जा सकता है।[5] इसमें लेखक ने कवियों और लेखकों का कालक्रमानुसार वर्गीकरण करते हुए उनकी प्रवृत्तियों को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनके काल-विभाजन संबंधी प्रयास के गुण-दोषों पर आगे अलग रूप में विचार किया जायेगा, किंतु यहां इतना अवश्य कहा जा सकता है कि हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य के स्वरूप एवं विकास के संबंध में जिस दृष्टिकोण का परिचय ग्रियर्सन ने दिया है, वह

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परवर्ती इतिहासकारों के लिए भी पथप्रदर्शक सिद्ध हुआ। मुख्य बात यह है कि उन्होंने हिंदी साहित्य का भाषा की दृष्टि से क्षेत्र निर्धारित करते हुए स्पष्ट किया कि इसमें न तो संस्कृत-प्राकृत को सम्मिलित किया जा सकता है और न ही अरबी-फ़ारसी मिश्रित उर्दू को। उन्होंने अपनी भाषा-नीति को स्पष्ट करते हुए भूमिका में लिखा है : ''...मैं आधुनिक भाषा-साहित्य का ही विवरण प्रस्तुत करने जा रहा हूं। अंत: मैं संस्कृत में ग्रंथ-रचना करने वाले लेखकों का विवरण नहीं दे रहा हूं। प्राकृत में लिखी पुस्तकों को भी विचार के बाहर रख रहा हूं। भले ही प्राकृत कभी बोलचाल की भाषा रही हो, पर आधुनिक भाषा के अंतर्गत नहीं आती। मैं न तो अरबी-फ़ारसी के भारतीय लेखकों का उल्लेख कर रहा हूं और न ही विदेश से लायी गयी साहित्यिक उर्दू के लेखकों का ही—मैंने इन अंतिम को, उर्दू वालों को, अपने इस विचार से जानबूझ कर बहिष्कृत कर दिया है, क्योंकि इन पर पहले ही गासां द तासी ने पूर्ण रूप से विचार कर लिया है।''[6] इस प्रकार हिंदी भाषा के संबंध में जिस स्पष्ट एवं निर्भ्रांत दृष्टि का परिचय ग्रियर्सन ने दिया, वह निश्चय ही उस युग की भूमिका में महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है तथा यह भी कहा जा सकता है कि दृष्टि की इसी स्वच्छता के कारण वे अपने लक्ष्य में सफल हो सके। ग्रियर्सन की दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने ग्रंथ के आधार स्रोत के रूप में तासी एवं शिवसिंह सेंगर के ग्रंथों के अतिरिक्त भक्तमाल, गोसाईंचरित्र, हज़ारा, काव्य-संग्रह आदि सत्रह रचनाओं का उल्लेख करते हुए स्थान-स्थान पर मूलाधारों के संदर्भ-संकेत भी दिये हैं, जिससे उनकी उस तटस्थता, प्रामाणिकता और ईमानदारी का बोध होता है, जो किसी भी इतिहासकार के लिए आवश्यक है। यह दुर्भाग्य की बात है कि परवर्ती हिंदी साहित्यकारों द्वारा इस परंपरा का निर्वाह सम्यक् रूप में नहीं हो सका।

अपनी दृष्टि एवं पद्धति पर प्रकाश डालते हुए ग्रियर्सन ने लिखा है कि उन्होंने सामग्री को यथासंभव कालक्रमानुसार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। ग्रंथ को कालखंडों में विभक्त किया गया है तथा प्रत्येक अध्याय काल विशेष का सूचक है। प्रत्येक काल के गौण कवियों का अध्याय विशेष के अंत में उल्लेख किया गया है। विभिन्न युगों की काव्य-प्रवृत्तियों की व्याख्या करते हुए उनसे संबंधित सांस्कृतिक परिस्थितियों और प्रेरणा-स्रोतों के भी उद्घाटन का प्रयास उनके द्वारा हुआ है। इसके अतिरिक्त हिंदी साहित्य के विकासक्रम का निर्धारण चारण-काव्य, धार्मिक काव्य, प्रेम-काव्य, दरबारी काव्य के रूप में करना तथा सोलहवीं-सत्रहवीं शती के युग को (भक्तिकाल को) हिंदी काव्य का स्वर्ण युग मानना, ग्रियर्सन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां हैं, जिन्हें किंचित् संशोधित एवं नूतन शब्दों में प्रस्तुत करके परवर्ती इतिहासकारों ने भारी श्रेय प्राप्त किया है। वस्तुत: उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण में, जबकि हिंदी साहित्य-क्षेत्र में आलोचना एवं अनुसंधान की परंपराओं का श्रीगणेश भी न हुआ था, हिंदी भाषा एवं उसके काव्य की ऐसी स्पष्ट, सूक्ष्म एवं प्रामाणिक ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत कर देना, ग्रियर्सन की अद्भुत प्रतिभा-शक्ति एवं गहन अध्ययनशीलता को प्रमाणित करता है; यह दूसरी बात है कि उनका ग्रंथ अंगरेज़ी में रचित होने के कारण हिंदी के अध्येताओं की दृष्टि का केंद्र नहीं बन सका, जिससे परवर्ती युग के अनेक इतिहासकार, जो उनकी धारणाओं और स्थापनाओं को पल्लवित करके हिंदी माध्यम से प्रस्तुत कर सके और उस यश के भागी बने, जो वस्तुत: ग्रियर्सन का दाय था।

**मिश्रबंधुओं** द्वारा रचित 'मिश्रबंधु-विनोद' चार भागों में विभक्त है, जिसके प्रथम तीन भाग 1913 ई. में प्रकाशित हुए तथा चतुर्थ भाग 1934 ई. में प्रकाशित हुआ। मिश्रबंधुओं ने अपने ग्रंथ को 'इतिहास' की संज्ञा न देते हुए भी भरसक इस बात का यत्न किया कि यह एक आदर्श इतिहास सिद्ध हो। इसे परिपूर्ण एवं सुव्यवस्थित बनाने के लिए उन्होंने एक ओर तो इसमें लगभग पांच हज़ार

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कवियों को स्थान दिया है तथा दूसरी ओर इसे आठ से भी अधिक काल-खंडों में विभक्त किया है। इस क्षेत्र में उन्हें पूर्ववर्ती इतिहासकारों से अधिक सफलता मिली है। इतिहास के रूप में इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें कवियों के विवरणों के साथ साथ साहित्य के विविध अंगों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है तथा अनेक अज्ञात कवियों को प्रकाश में लाते हुए उनके साहित्यिक महत्त्व को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। कवियों का सापेक्षित महत्त्व निर्धारित करने के लिए उनकी श्रेणियां भी बनायी गयी हैं। किंतु काव्य-समीक्षा में परंपरागत सिद्धांतों और पद्धति का ही अनुसरण मिलता है। अत: आधुनिक समीक्षा-दृष्टि से यह ग्रंथ भले ही बहुत संतोषजनक न कहा जा सके, किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि इतिहास-लेखन की पूर्व परंपरा को आगे बढ़ाने में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है, जैसा कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने स्वयं स्वीकार किया है : ''कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्राय: 'मिश्रबंधु-विनोद' से ही लिये हैं।'' परवर्ती इतिहासकारों के लिए भी यह आधार ग्रंथ रहा है।

हिंदी साहित्येतिहास की परंपरा में सर्वोच्च स्थान **आचार्य रामचंद्र शुक्ल** द्वारा रचित 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (1929) को प्राप्त है, जो मूलत: नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिंदी-शब्द-सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था तथा जिसे आगे परिवर्द्धित एवं विस्तृत करके स्वतंत्र पुस्तक का रूप दे दिया गया। इसके आरंभ में ही आचार्य शुक्ल ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए उद्घोषित किया है : ''जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत-कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।'' इस उदाहरण से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने साहित्येतिहास के प्रति एक निश्चित व सुस्पष्ट दृष्टिकोण का परिचय देते हुए युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्य के विकास-क्रम की व्याख्या करने का प्रयास किया। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि उन्होंने साहित्येतिहास को साहित्यालोचन से पृथक् रूप में ग्रहण करते हुए विकासवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचय दिया। साथ ही, उन्होंने इतिहास के मूल विषय को आरंभ करने से पूर्व ही 'काल-विभाग' के अंतर्गत हिंदी साहित्य के 900 वर्षों के इतिहास को चार सुस्पष्ट काल-खंडों में विभक्त करके अपनी योजना को एक ऐसे निश्चित रूप में प्रस्तुत कर दिया जिससे पाठक के मन में शंका और संदेह के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। यह दूसरी बात है कि उन्होंने काल-विभाजन का आधार न दे कर केवल तत्संबंधी निष्कर्षों की ही सूचना दी है। किंतु, इससे उस युग के उन पाठकों को अवश्य लाभ हुआ, जो काल-विभाजन की सूक्ष्मताओं के पचड़े में पड़े बिना ही संपूर्ण हिंदी साहित्य को एक दृष्टि से देख लेना चाहते थे। नवोपलब्ध तथ्यों और निष्कर्षों के अनुसार अब यह काल-विभाजन भी त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो गया है, किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि अपनी अतिसरलता व स्पष्टता के कारण यह आज भी बहुप्रचलित और बहुमान्य है।

आचार्य शुक्ल के इतिहास की एक अन्य विशेषता है—पूरे भक्तिकाल को चार भागों या शाखाओं में बांट कर उसे शुद्ध दार्शनिक एवं धार्मिक आधार पर प्रतिष्ठित कर देना। उन्होंने इस काल के समस्त साहित्य को पहले निर्गुण धारा और सगुण धारा में और फिर प्रत्येक को दो-दो शाखाओं—ज्ञानाश्रयी शाखा व प्रेमाश्रयी शाखा तथा रामभक्तिशाखा व कृष्णभक्तिशाखा में विभक्त करके न केवल साहित्यिक आलोचकों के लिए, अपितु दार्शनिक तथा धार्मिक दृष्टि से साहित्यानुसंधान करने वालों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के लिए भी एक अत्यंत सरल एवं सीधा मार्ग तैयार कर दिया।

इतिहासकार के रूप में आचार्य शुक्ल की सबसे बड़ी विशेषता है कवियों और साहित्यकारों के जीवनचरित संबंधी इतिवृत्त के स्थान पर उनकी रचनाओं के साहित्यिक मूल्यांकन को प्रमुखता देना। इस क्षेत्र में उन्होंने एक तो चुने हुए कवियों को ही लिया—जहां 'मिश्रबंधु विनोद' में कवि-संख्या पांच हज़ार तक पहुंच चुकी थी, वहां उन्होंने उनमें से लगभग एक हज़ार को ही अपने इतिहास में स्थान दिया; फिर उनके विवेचन में उनकी साहित्यिक महत्ता व लघुता का ध्यान रखते हुए उन्हें तदनुसार ही स्थान दिया। वस्तुतः इतिहास के इतने संक्षिप्त कलेवर में भी इतने कवियों का जैसा प्रामाणिक, सारगर्भित एवं सोदाहरण विवेचन वे प्रस्तुत कर पाये हैं, उससे इतिहासकार शुक्ल की महानता प्रमाणित होती है। इसी प्रकार विभिन्न काव्यधाराओं और युगों की साहित्यिक प्रवृत्तियों के निर्धारण में भी उन्हें असाधारण सफलता प्राप्त हुई है। रीतिग्रंथकारों के आचार्यत्व एवं कवित्व का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए उनकी उपलब्धियों तथा सीमाओं के संबंध में जो निर्णय आचार्य शुक्ल ने दिये, वे बहुत-कुछ अंशों में आज भी मान्य हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखन की परंपरा में आचार्य शुक्ल का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उनका इतिहास ही कदाचित अपने विषय का ऐसा पहला ग्रंथ है जिसमें अत्यंत सूक्ष्म एवं व्यापक दृष्टि, विकसित दृष्टिकोण, स्पष्ट विवेचन-विश्लेषण और प्रामाणिक निष्कर्षों का सन्निवेश मिलता है। किंतु, फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उनके द्वारा इतिहास की रचना उस समय हुई थी, जबकि हिंदी का अधिकांश प्राचीन साहित्य अज्ञात, लुप्त एवं अप्रकाशित अवस्था में पड़ा था तथा उसका प्रामाणिक अध्ययन, विश्लेषण नहीं हो पाया था। वस्तुतः इतिहासकार से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह इतिहास की सहस्राधिक रचनाओं का स्वयं ही अनुसंधान, अध्ययन, विश्लेषण करके उपलब्ध निष्कर्षों के आधार पर इतिहास की रचना करे, अपितु वह अन्य अनुसंधानकर्त्ताओं द्वारा उपलब्ध तथ्यों और निष्कर्षों के आलोक में अपना कार्य-संपादन करता है; यह दूसरी बात है कि उन तथ्यों और निष्कर्षों की ऐतिहासिक व्याख्या वह अपने ढंग से, स्वतंत्र रूप में करता है। किंतु आचार्य शुक्ल के इतिहास-लेखन के समय तो हिंदी-अनुसंधान का आरंभ मात्र ही हो पाया था। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से होती है कि सन् 1929 तक सारे हिंदी-जगत में लिखे गये शोधप्रबंधों की संख्या तीन-चार से अधिक नहीं थी। ऐसी स्थिति में इतिहास के जिस पक्ष का संबंध उनकी स्वतंत्र चिंतना एवं विवेचना-शक्ति से था, उसमें तो उन्हें स्थायी सफलता मिली, किंतु जो पक्ष इतिहास की आधारभूत सामग्री से संबद्ध था, उसमें उन्हें अनुमान और कल्पना से काम लेना पड़ा, जिसका परिणाम यह हुआ कि इस पक्ष से संबंधित उनके अनेक निष्कर्ष अब अप्रामाणिक सिद्ध हो गये हैं। इससे उनके इतिहास में अनेक ऐसी त्रुटियों तथा असंगतियों का प्रादुर्भाव हो गया है, जो आज की स्थिति में उनके इतिहास के दुर्बल पक्ष को सूचित करती हैं। इसी प्रकार वीरगाथा काल में उल्लिखित रचनाओं के अस्तित्वहीन, अप्रामाणिक, परवर्ती या अन्य भाषा में रचित सिद्ध हो जाने के कारण भी यह काल आज अत्यंत विवादग्रस्त हो गया है। भक्तिकाल के नामकरण और वर्गीकरण में एक कठिनाई यह हो सकती है कि धर्म-निरपेक्ष दृष्टि से राजाश्रय एवं लोकाश्रय में काव्य-रचना करने वाले कवियों के लिए या राम-कृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य अवतार या देवी-देवता की उपासना करने वाले भक्त कवि के लिए उसमें समुचित स्थान नहीं है। फिर भी यह नामकरण और वर्गीकरण व्यावहारिक दृष्टि से सरल, सुगम एवं मान्य सिद्ध हुआ।

भक्तिकाल की ही भांति रीतिकाल में भी नामकरण, सीमा-निर्धारण, परंपराओं व काव्यधाराओं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का वर्गीकरण वर्गविशेष के एकपक्षीय बोध का सूचक है, जिससे इस काल के रीतिमुक्त प्रेममार्गी कवियों, वीररसात्मक काव्यों के रचयिताओं तथा राजनीति एवं वैराग्य संबंधी मुक्तकों के रचयिता कवियों के साथ न्याय नहीं हो पाता। केशवदास जैसे आचार्य कवि को 'अलंकारवादी' तथा परवर्ती रीतिकवियों को 'रसवादी' घोषित करते हुए उन्हें रीति-परंपरा के प्रवर्तक के पद से वंचित करना भी संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जहां एक ओर केशव ने 'रसिकप्रिया' में रससिद्धांत का सांगोपांग निरूपण किया है, वहीं दूसरी ओर रीतिकवियों ने प्राय: अलंकारों पर भी ग्रंथ लिखे हैं। वास्तविकता यह है कि रीति-प्रतिपादन के क्षेत्र में इस काल के प्राय: सभी रीतिबद्ध कवियों ने न केवल केशवदास द्वारा प्रस्तुत विषयों का, अपितु उनकी प्रतिपादन-शैली का भी पूरी तरह अनुसरण किया है। ऐसी स्थिति में तथाकथित 'रीतिकाल' (या रीति-परंपरा) का प्रवर्तन केशव से ही मानना ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक होगा।

विभिन्न काव्यधाराओं तथा परंपराओं के मूल उत्सों और स्रोतों के यथार्थ अनुसंधान में शुक्ल जी का युगवादी दृष्टिकोण भी बाधक सिद्ध हुआ। उन्होंने साहित्यिक परंपराओं और प्रवृत्तियों को युगविशेष की चित्तवृत्ति के प्रतिबिंब के रूप में ही ग्रहण किया, उन तत्त्वों तथा स्रोतों की उपेक्षा की, जिनका संबंध पूर्व परंपरा से है। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने पूरे मध्यकाल की विभिन्न धाराओं और प्रवृत्तियों को तद्युगीन मुस्लिम प्रभाव की देन के रूप में स्वीकार कर लिया, जैसे भक्ति-आंदोलन तद्युगीन निराशा की देन है, संतमत इस्लाम के एकेश्वरवाद के प्रभाव का सूचक है, प्रेमाख्यान परंपरा सूफी मसनवियों से अनुकृत है, आदि। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन सब पर तद्युगीन वातावरण का भी आंशिक प्रभाव है, किंतु यही सब कुछ नहीं है, इनके विकास को सम्यक् रूप से स्पष्ट करने के लिए संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश की उन परंपराओं पर भी विचार करना आवश्यक था, जो हिंदी की विभिन्न मध्यकालीन काव्यधाराओं के मूल में आधारभूत तत्त्व की भांति विद्यमान हैं। वस्तुत: संस्कृत साहित्य की पौराणिक परंपराओं, प्राकृत-अपभ्रंश के प्रेमाख्यानों व मुक्तकों की धाराओं, सिद्धों व नाथपंथियों की गुह्य वाणियों की उपेक्षा करके मध्यकालीन हिंदी काव्य की विभिन्न काव्यधाराओं के वर्तमान स्वरूप की आलोचना भले ही की जा सके, किंतु उसके आधार-स्रोतों का अनुसंधान और उनके विकासक्रम की ऐतिहासिक व्याख्या संभव नहीं है।

आचार्य शुक्ल की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा एवं प्रौढ़ विवेचना-शक्ति के महत्त्व के समक्ष नतमस्तक होते हुए भी हमें यह कटु सत्य स्वीकार करना पड़ता है कि इतिहासकार शुक्ल की उपलब्धियां उसी सीमा तक ग्राह्य हैं, जहां तक वे उनके आलोचक रूप से संबद्ध हैं; किंतु जहां वे आलोचक से पृथक हो कर शुद्ध इतिहासकार के रूप में अवतरित होते हैं, वहीं उनकी अनेक सीमाएं स्पष्ट होने लगती हैं। अवश्य ही ये उनकी अपनी सीमाएं न हो कर इतिहास की सीमाएं हैं, अर्थात जिस काल-सीमा में उन्होंने कार्य किया था, उसमें कदाचित यह संभव नहीं था कि इतिहास को वह रूप दिया जा सकता, जो परवर्ती अनुसंधान से उपलब्ध नूतन तथ्यों और निष्कर्षों के आलोक में संभव है। वस्तुत: उस युग की सीमित ज्ञानराशि को ले कर भी उन्होंने उसे जैसा रूप दिया, वह निश्चय ही उनके जैसे व्यक्तित्व के लिए ही संभव था। इतिहास-लेखन की परंपरा में आचार्य शुक्ल का महत्त्व सदा अक्षुण्ण रहेगा, इसमें कोई संदेह नहीं।

आचार्य शुक्ल के इतिहास लेखन के लगभग एक दशाब्दी बाद **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी** इस क्षेत्र में अवतरित हुए। उनकी 'हिंदी साहित्य की भूमिका' क्रम और पद्धति की दृष्टि से इतिहास के रूप में प्रस्तुत नहीं है, किंतु उसमें प्रस्तुत विभिन्न स्वतंत्र लेखों में कुछ ऐसे तथ्यों और निष्कर्षों का प्रतिपादन किया गया है, जो हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन के लिए नयी दृष्टि, नयी सामग्री

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और नयी व्याख्या प्रदान करते हैं। जहां आचार्य शुक्ल की ऐतिहासिक दृष्टि 'युग की परिस्थितियों, को प्रमुखता प्रदान करती थी, वहीं आचार्य द्विवेदी ने परंपरा का महत्त्व प्रतिष्ठित करते हुए उन धारणाओं को खंडित किया, जो युगीन प्रभाव के एकांगी दृष्टिकोण पर आधारित थीं। उन्होंने अत्यंत सशक्त स्वरों में उद्घोषित किया कि भक्ति-आंदोलन न तो तद्युगीन पराजित हिंदू जाति की निराशा से उद्वेलित है और न ही इस्लाम की प्रतिक्रिया है; इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि सातवीं-आठवीं शती में, जबकि भारत की धरती पर इस्लाम की छाया भी नहीं पड़ी थी, दक्षिण के वैष्णव भक्तों में भक्ति अपने पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान थी। इस प्रसंग में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस्लाम के प्रभाव का खंडन करते हुए लिखा है : ...''मैं इस्लाम के महत्त्व को भूल नहीं रहा हूं, लेकिन जोर दे कर कहना चाहता हूं कि अगर इस्लाम न आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता, जैसा आज है।''

इसी प्रकार उन्होंने संतकाव्य-परंपरा के स्रोतों का अनुसंधान करते हुए सिद्धों और नाथपंथियों की वाणियों, विचार-सरणियों, पद्धतियों व काव्यशैलियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह स्पष्ट किया कि किस प्रकार कबीर आदि इनसे प्रभावित हैं। वस्तुतः भाव, विचार, तर्कपद्धति, भाषा, शैली आदि के आधार पर उन्होंने सिद्ध किया कि हिंदी का संतकाव्य पूर्ववर्ती सिद्धों व नाथपंथियों के साहित्य का सहज विकसित रूप है, अतः उसे केवल इस्लाम पर आधारित मानने की आवश्यकता नहीं। हिंदी के प्रेमाख्यानों के भी मूल स्रोतों का अनुसंधान करते हुए उन्होंने प्रतिपादित किया है कि इनकी कथावस्तु, कथानक-रूढ़ियां, रचना-शैली, छंद-योजना आदि संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश की काव्य परंपराओं पर आश्रित हैं।

मध्यकालीन हिंदी काव्य के विविध स्रोतों के अनुसंधान के अतिरिक्त आचार्य द्विवेदी ने संत-साहित्य और वैष्णव भक्तिकाव्य के ऐतिहासिक मूल्यांकन के लिए नया दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया। शास्त्रीय परंपरा के संरक्षक महाकवि तुलसीदास के महत्त्व पर बल देते हुए प्रायः अनेक इतिहासकार संतों को अशिक्षित, असंस्कृत व अविकसित घोषित करके उनकी अवमानना करने का प्रयास करते हैं, जबकि आचार्य द्विवेदी ने वस्तुस्थिति की गहराई घोषित करते हुए लिखा है : ''कभी-कभी हास्यास्पद भाव से कबीरदास को शास्त्रज्ञानहीन, सुनी-सुनायी बातों का गढ़ने वाला आदि कह दिया जाता है, मानो उस युग में जुलाहे, मोची, धुनिये और अन्यान्य नीची कही जाने वाली जातियों के लिए शास्त्र और वेद का दरवाज़ा खुला था और कबीरदास आदि ने जानबूझ कर उसकी अवहेलना की थी। सच पूछा जाये तो शास्त्रज्ञान तत्त्वज्ञान के मार्ग में सब समय सहायक ही नहीं होता; और कभी-कभी तो युग की तथोक्त नीच जातियों में से आये हुए महापुरुषों का शास्त्रीय तर्कजाल से मुक्त होना श्रेयस्कर जान पड़ता है।''

'हिंदी साहित्य की भूमिका' के अनंतर आचार्य द्विवेदी की इतिहास संबंधी कुछ और रचनाएं भी प्रकाशित हुई हैं—'हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास', 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' आदि। इनमें उन्होंने अपने तद्विषयक विचारों को और अधिक व्यवस्थित एवं पुष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी साहित्य के इतिहास की—विशेषतः मध्यकालीन काव्य के स्रोतों व पूर्व परंपराओं के अनुसंधान तथा उनकी अधिक सहानुभूतिपूर्ण व यथातथ्य व्याख्या करने की—दृष्टि से आचार्य द्विवेदी का योगदान अप्रतिम है। वस्तुतः वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने आचार्य शुक्ल की अनेक धारणाओं और स्थापनाओं को चुनौती देते हुए उन्हें सबल प्रमाणों के आधार पर खंडित किया। साथ ही, उनके युग-रुचिवादी एकांगी दृष्टिकोण के समानांतर अपने परंपरापरक दृष्टिकोण को स्थापित करके उन्होंने हिंदी साहित्य के अध्येताओं के लिए एक व्यापक एवं संतुलित इतिहास-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दर्शन की भूमिका तैयार की। वैसे, वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाये तो किसी भी घटना, रचना या धारा की शुद्ध विकासवादी व्याख्या करने के लिए परंपरा और युग-स्थिति, दोनों पक्ष ही विचारणीय हैं। आचार्य द्विवेदी ने जहां परंपरा पर बल दिया, वहीं आचार्य शुक्ल ने युग-स्थिति पर, अतः कहा जा सकता है कि दोनों के मत इस दृष्टि से एक दूसरे के पूरक हैं।

जहां तक ऐतिहासिक चेतना व पूर्व परंपरा के बोध की बात है, निश्चय ही आचार्य द्विवेदी हिंदी के सबसे अधिक सशक्त इतिहासकार हैं: पूर्ववर्ती सांस्कृतिक धाराओं, सरणियों और पद्धतियों का जैसा गंभीर अनुशीलन उन्होंने किया तथा मध्यकालीन जनमानस की भाव-धाराओं में जैसी गहरी डुबकी उन्होंने लगायी है, वह किसी और के लिए संभव नहीं। किंतु फिर भी, उन्होंने अपना लक्ष्य आचार्य शुक्ल द्वारा स्थापित इतिहास के स्थूल ढांचे में ही अपनी धारणाओं को समेट देने तक का रखा है, जबकि उसे आमूलचूल परिवर्तित कर देने की शक्ति का भी उनमें अभाव नहीं था। शुक्ल जी द्वारा स्थापित प्रथम तीन कालखंडों को बाह्य रूप व भीतरी आधारों की दृष्टि से पूर्णतः झकझोर देने के बाद भी उन्होंने उसे उन्मूलित कर देने का कार्य अपने हाथों से संपादित नहीं किया। शायद यह उनकी अहिंसक दृष्टि का परिणाम है कि वे पूर्व व्यवस्था के सारे दोषों व अवगुणों का उद्घाटन करने के बाद भी अपनी ओर से उसमें परिवर्तन का कोई प्रयास नहीं करते। कदाचित यही कारण है कि उनके इतिहास की रूपरेखा, काल-विभाजन-पद्धति व काव्यधारा की नियोजना बहुत-कुछ आचार्य शुक्ल के इतिहास के ही अनुरूप हैं।

आचार्य द्विवेदी के साथ-साथ इस क्षेत्र में अवतरित होने वाले एक अन्य विद्वान **डॉ. रामकुमार वर्मा** ने 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (1938) में 693 ई. से 1693 ई. तक की कालावधि को ही लिया है। संपूर्ण ग्रंथ को सात प्रकरणों में विभक्त करते हुए सामान्यतः रामचंद्र शुक्ल के ही वर्गीकरण का अनुसरण किया गया है।[7] इतना अवश्य है कि युगों व धाराओं के नामकरण में किंचित् परिवर्तन कर उन्हें सरल रूप दे दिया गया है, यथा—'निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा', 'निर्गुण प्रेममार्गी (सूफ़ी) शाखा' जैसे लंबे-लंबे नामों के स्थान पर 'संतकाव्य', 'प्रेमकाव्य' आदि का प्रयोग किया गया है, जो अधिक सुविधाजनक है। 'वीरगाथा-काल' को 'चारणकाल' की संज्ञा देने के अतिरिक्त उससे पूर्व एक 'संधिकाल' और जोड़ दिया गया है। यद्यपि इस समय तक अपभ्रंश और हिंदी का भेद भलीभांति स्पष्ट हो चुका था तथा स्वयं डॉ. वर्मा ने भी दोनों को भिन्न-भिन्न माना है, फिर भी अपभ्रंश के सिद्ध, जैन व नाथपंथी कवियों की वाणी को हिंदी साहित्य में स्थान देने का वे भी लोभ संवरण नहीं कर पाये। इतना ही नहीं, उन्होंने स्वयंभू को, जो कि अपभ्रंश के सबसे पहले कवि हैं, हिंदी का पहला कवि मानते हुए हिंदी साहित्य का आरंभ 693 ई. से स्वीकार किया है। ऐतिहासिक व्याख्या की दृष्टि से यह इतिहास आचार्य शुक्ल के गुण-दोषों का ही विस्तार है, कवियों के मूल्यांकन में अवश्य लेखक ने अधिक सहृदयता और कलात्मकता का परिचय दिया है। अनेक कवियों के काव्य-सौंदर्य का आख्यान करते समय लेखक की लेखनी काव्यमय हो उठी है, जो कि डॉ. वर्मा के कवि पक्ष का संकेत देती है। शैली की इसी सरसता और प्रवाहपूर्णता के कारण उनका इतिहास पर्याप्त लोकप्रिय हुआ है तथा पाठकों को इस बात का अभाव प्रायः खलता रहा है कि यह भक्तिकाल तक ही सीमित है, इसका शेष भाग अलिखित रहा।

**नागरीप्रचारिणी सभा** द्वारा भी 'हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास' प्रकाशित करने की विशाल योजना क्रियान्वित हुई है, जिसके अंतर्गत समस्त हिंदी साहित्य को सोलह भागों में प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इस ग्रंथ के लेखन के लिए कुछ सामान्य सिद्धांतों और पद्धतियों का निर्धारण कर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लिया गया है, फिर भी प्रत्येक खंड अलग-अलग विद्वानों के संपादन में तथा विभिन्न लेखकों के सहयोग से निर्मित हुआ है तथा संपूर्ण ग्रंथ के लेखन में शताधिक लेखकों का सहयोग लिया गया है; ऐसी स्थिति में इसकी उपलब्धियों और सीमाओं के बारे में सामान्य रूप में कुछ कहना कठिन है। वस्तुतः प्रत्येक खंड की सफलता-असफलता बहुत-कुछ उसके संपादक व सहयोगी-मंडल पर निर्भर है। समग्र रूप में यह योजना हिंदी साहित्येतिहास की बिखरी हुई सामग्री को सूत्रबद्ध कर सकी है, इसमें संदेह नहीं। इतिहास के स्थूल ढांचे के रूप में इसमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास को ही किंचित् संशोधित करके अपनाया गया है। अतः मूल ढांचे के गुण-दोष इसमें भी अधिक व्यापक, विस्तृत एवं सबल रूप में विद्यमान हैं। यदि सभी क्षेत्रों के शताधिक लेखकों के स्वतंत्र सहयोग की अपेक्षा कुछ चुने हुए अधिकारी विद्वानों के सामूहिक योग से इसका निर्माण होता तो निस्संदेह इसमें अपेक्षाकृत अधिक एकरूपता, अन्विति एवं सजीवता आ पाती।

विभिन्न विद्वानों के सामूहिक सहयोग के आधार पर लिखित इतिहास ग्रंथों में 'हिंदी साहित्य' भी उल्लेखनीय है, जिसका संपादन **डॉ. धीरेन्द्र वर्मा** ने किया है। इसमें संपूर्ण हिंदी साहित्य को तीन कालों—आदिकाल, मध्यकाल एवं आधुनिक काल में विभक्त करते हुए प्रत्येक काल की काव्य-परंपराओं का विवरण अविच्छिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। जहां नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा नियोजित इतिहास में आचार्य शुक्ल के इतिहास की रूपरेखा को अधिक ध्यान में रखा गया है, वहीं इसमें यत्रतत्र अधिक स्वतंत्रता से काम लिया गया है। यही कारण है कि इसमें हम 'रासोकाव्य-परंपरा' जैसी नयी काव्य-परंपराओं को भी स्थापित देखते हैं। पर साथ ही इसमें कुछ दोष भी हैं, जैसे विभिन्न अध्यायों में विभिन्न लेखकों ने इतिहास-लेखन की विभिन्न दृष्टियों और पद्धतियों का उपयोग किया है, जिससे इसमें एकरूपता, अन्विति एवं संश्लेषण का अभाव परिलक्षित होता है। फिर भी, हिंदी साहित्य की इतिहास-लेखन की परंपरा में इसका विशिष्ट स्थान है।

उपर्युक्त इतिहास-ग्रंथों के अतिरिक्त भी अनेक शोध-प्रबंध और समीक्षात्मक ग्रंथ लिखे गये हैं, जो हिंदी साहित्य के संपूर्ण इतिहास को तो नहीं, किंतु उसके किसी एक पक्ष, अंग या काल को नूतन ऐतिहासिक दृष्टि और नयी वस्तु प्रदान करते हैं। इन सबका विवेचन तो यहां संभव नहीं, किंतु इनका संकेत अवश्य किया जा सकता है, यथा—डॉ. भगीरथ मिश्र का 'हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास', डॉ. नगेन्द्र की 'रीतिकाव्य की भूमिका', श्री परशुराम चतुर्वेदी का 'उत्तरी भारत की संत-परंपरा', श्री प्रभुदयाल मीतल का 'चैतन्य संप्रदाय और उसका साहित्य', डॉ. विजयेन्द्र स्नातक का 'राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य', श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र का 'हिंदी साहित्य का अतीत', श्री चंद्रकांत बाली का 'पंजाब प्रांतीय हिंदी साहित्य का इतिहास', डॉ. टीकमसिंह तोमर का 'हिंदी वीरकाव्य', डॉ. मोतीलाल मेनारिया-कृत 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' व 'राजस्थानी पिंगल साहित्य', डॉ. केसरीनारायण शुक्ल, डॉ. श्रीकृष्णलाल और डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के आधुनिक काल संबंधी विभिन्न शोधप्रबंध, डॉ. नलिनविलोचन शर्मा का 'साहित्य का इतिहास दर्शन', डॉ. सियाराम तिवारी का 'मध्यकालीन खंडकाव्य', डॉ. सरला शुक्ल, डॉ. हरिकांत श्रीवास्तव, डॉ. ओमप्रकाश शर्मा प्रभृति विद्वानों के प्रेमाख्यानक काव्य संबंधी शोधप्रबंध आदि ऐसे शताधिक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, जिनके द्वारा हिंदी साहित्य के विभिन्न कालखंडों, काव्यरूपों, काव्य-धाराओं, उपभाषाओं के साहित्य आदि पर प्रकाश पड़ता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इन शोध-प्रबंधों में उपलब्ध नूतन निष्कर्षों के आधार पर, अद्यतन सामग्री का उपयोग करते हुए नये सिरे से हिंदी साहित्य का इतिहास लिखा जाये। ऐसा करने के लिए आचार्य शुक्ल द्वारा स्थापित ढांचे

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में आमूलचूल परिवर्तन करना पड़ेगा, क्योंकि वह उस सामग्री पर आधारित है, जो आज से 40-50 वर्ष पूर्व उपलब्ध थी, जबकि इस बीच बहुत-सी नयी सामग्री प्रकाश में आ गयी है। इस लक्ष्य की पूर्ति का एक प्रयास 'हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में हुआ है, जिसमें साहित्येतिहास के विकासवादी सिद्धांतों की प्रतिष्ठा करते हुए, उसके आलोक में हिंदी साहित्य की नूतन व्याख्या प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है।

इस प्रकार गार्सां द तासी से ले कर अब तक की परंपरा के संक्षिप्त सर्वेक्षण से यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि लगभग एक शताब्दी की ही अवधि में हिंदी साहित्य का इतिहास-लेखन अनेक दृष्टियों, रूपों और पद्धतियों का आकलन और समन्वय करता हुआ संतोषजनक प्रगति कर गया है। इतना ही नहीं, हमारे लेखकों ने न केवल विश्वइतिहास-दर्शन के बहुमान्य सिद्धांतों और प्रयोगों को अंगीकृत किया है, अपितु उन्होंने ऐसे नये सिद्धांत भी प्रस्तुत किये हैं, जिनका सम्यक् मूल्यांकन होने पर अन्य भाषाओं के इतिहासकार भी उनका अनुसरण कर सकते हैं।

### हिंदी साहित्येतिहास के आधार

अंत में प्रस्तुत अध्याय की समाप्ति के पूर्व हमें उन स्रोतों व आधारों पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए, जिनसे हिंदी साहित्येतिहास के लेखन में सहायता ली जाती है। इन्हें हम पांच वर्गों में विभक्त कर सकते हैं : (1) साहित्यकारों की प्रकाशित व अप्रकाशित रचनाएं; (2) साहित्यकारों व साहित्यिक रचनाओं का परिचय प्रस्तुत करने वाली कृतियां; (3) साहित्य के विभिन्न अंगों, रूपों, धाराओं व प्रवृत्तियों की व्याख्या से संबंधित आलोचनात्मक व अनुसंधानपरक ग्रंथ; (4) प्राचीन साहित्यकारों के काल-निर्धारण व रचनाकाल के निर्णय में योग देने वाली ऐतिहासिक सामग्री, जैसे, शिलालेख, वंशावलियां, प्रामाणिक उल्लेख आदि; (5) विभिन्न युगों की आंतरिक और बाह्य परिस्थितियों व स्थितियों पर प्रकाश डालने वाली सामग्री।

उपर्युक्त वर्गों पर यहां क्रमशः विचार किया जा सकता है। प्रथम वर्ग के अंतर्गत आने वाली प्रकाशित रचनाओं की उपलब्धि तो विशेष कठिन नहीं है, किंतु अप्रकाशित सामग्री की उपलब्धि अवश्य दुष्कर है। नागरीप्रचारिणी सभा तथा अन्य कई साहित्यिक संस्थाएं इस कार्य में वर्षों से लगी हुई हैं और उनके द्वारा उपलब्ध रचनाओं का विवरण खोजरिपोर्टों में प्रकाशित होता है। दुर्भाग्य से इस प्रकार की सहस्राधिक रचनाएं अभी तक अप्रकाशित पड़ी हैं। द्वितीय वर्ग की प्राचीन रचनाओं में 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'भक्तमाल', 'गुरुग्रंथ साहब', 'भक्तनामावली', 'कविमाला', 'कालिदासहजारा', 'सत्कवि गिरा-विलास', 'कवि-नामावली', 'रागसागरोद्भव—रागकल्पद्रुम', 'शृंगार-संग्रह' आदि उल्लेखनीय हैं। इनका रचनाकाल सत्रहवीं शती से ले कर उन्नीसवीं शती के अंत तक का है तथा इनसे प्राचीन और मध्यकालीन कवियों और काव्यों के संबंध में विभिन्न तथ्यों का पता चलता है। जहां तक आधुनिक काल के साहित्य का परिचय देने वाले ग्रंथों की बात है, डॉ. माताप्रसाद गुप्त, डॉ. प्रेमनारायण टंडन व अन्य कई लेखकों द्वारा समकालीन लेखकों और उनकी रचनाओं के वृत्तसंग्रह निर्देशिकाओं के रूप में प्रकाशित हुए हैं, जो इतिहास-लेखक के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

## काल-विभाजन और नामकरण

काल-विभाजन और विभाजित कालों का नामकरण साहित्य के इतिहास की महत्त्वपूर्ण समस्याएं हैं। इनके आधार सामान्यतः काल-विभाजन, और उनके नामकरण इस प्रकार माने गये हैं :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

1. ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार : आदिकाल, मध्यकाल, संक्रांतिकाल, आधुनिककाल आदि।
2. शासक और उसके शासनकाल के अनुसार : एलिजाबेथ युग, विक्टोरिया युग, मराठाकाल आदि।
3. लोकनायक और उसके प्रभावकाल के अनुसार : चैतन्यकाल (बांग्ला), गांधीयुग (गुजराती) आदि।
4. साहित्य-नेता एवं उसकी प्रभाव-परिधि के आधार पर : रवींद्रयुग, भारतेंदुयुग आदि।
5. राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक घटना या आंदोलन के आधार पर : भक्तिकाल, पुनर्जागरणकाल, सुधारकाल, युद्धोत्तरकाल (प्रथम महायुद्ध के बाद का कालखंड), स्वातंत्र्योत्तर काल आदि।
6. साहित्यिक प्रवृत्ति के नाम पर : रोमानीयुग, रीतिकाल, छायावादयुग आदि।

इस प्रसंग में पहला प्रश्न तो यही है कि इस प्रकार के विभाजन की आवश्यकता क्या है? इसका उत्तर स्पष्ट है, और वह यह कि वस्तु के समग्र रूप का दर्शन करने के लिए भी उसके अंगों का ही निरीक्षण करना पड़ता है, हमारी दृष्टि शरीर के विभिन्न अवयवों का अवलोकन करती हुई संपूर्ण व्यक्तित्व का दर्शन करती है। अवयवों को पृथक मान कर उनका निरीक्षण करना खंडदर्शन है, किंतु उनको व्यक्तित्व के अंग मान कर देखना समग्रदर्शन है और यही सहज विधि है, क्योंकि निरवयव रूप का दर्शन अपने आप में कठिन है। इसके अतिरिक्त जीवन या साहित्य को अखंड प्रवाह-रूप मानने पर भी इस बात से तो इनकार नहीं किया जा सकता कि उसमें समय-समय पर दिशा-परिवर्तन और रूप परिवर्तन होता रहता है। दृष्टि की अपनी सीमाएं होती हैं। वह सभी कुछ एक साथ नहीं देख सकती, इसलिए अंगों पर होती हुई ही अंगी का अवलोकन करती है। अतः यह बात बराबर ध्यान में रखते हुए कि साहित्य की अखंड परंपरा का निरूपण ही इतिहास का लक्ष्य है, समय-समय पर उपस्थित दिशा परिवर्तनों और रूप-परिवर्तनों के अनुसार विकासक्रम का अध्ययन करना न सिर्फ़ उचित है, बल्कि ज़रूरी भी है।

यहां दूसरा विचारणीय प्रश्न यह है कि काल-विभाजन का सही आधार क्या हो सकता है? वर्ग-विभाजन प्रायः समान प्रकृति और प्रवृत्ति के आधार पर किया जाता है। समान प्रकृति के अनेक पदार्थ मिल कर एक वर्ग बनाते हैं और इस प्रकार समप्रकृति के आधार पर अनेक वर्गों में विभक्त हो कर अस्तव्यस्त समूह व्यवस्थित रूप धारण कर लेता है। जिस प्रकार प्रवाह के अंदर अनेक धाराएं होती हैं, उसी प्रकार साहित्य में भी अनेक प्रवृत्तियां होती हैं; और इन प्रवृत्तियों का आदि, अंत या उतार-चढ़ाव ही इतिहास का काल-विभाजन अर्थात विभिन्न युगों की सीमाओं का निर्धारण करता है। यह वर्ग-विभाजन परिपूर्ण नहीं हो सकता, इसका रूप प्रायः स्थूल और आनुमानिक होता है, फिर भी समूह का पर्यवेक्षण करने में इससे बड़ी सहायता मिलती है। काल-विभाजन का आधार भी समान प्रकृति और प्रवृत्ति ही होती है। जनजीवन की प्रवृत्तियों व रीति-आदर्शों की समानता के आधार पर सामाजिक इतिहास का काल-विभाजन होता है और राजनीतिक परिस्थितियों की समानता राजनीतिक इतिहास के काल-विभाजन का आधार बनती है। इसी प्रकार साहित्यिक प्रवृत्तियों और रीति-आदर्शों का साम्य-वैषम्य ही साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन का आधार हो सकता है। समान प्रकृति और प्रवृत्तियों की रचनाओं का कालक्रम से, वर्गीकृत अध्ययन कर साहित्य का इतिहासकार संपूर्ण साहित्य-सृष्टि का समवेत अध्ययन करने का प्रयत्न करता है।

इसी प्रकार नामकरण के पीछे भी कुछ-न-कुछ तर्क अवश्य रहता है अथवा रहना चाहिए।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नाम की सार्थकता इसमें है कि वह पदार्थ के गुण अथवा धर्म का मुख्यतया द्योतन कर सके। इस तर्क से किसी भी कालखंड का नाम ऐसा होना चाहिए, जो उसकी मूल साहित्य-चेतना को प्रतिबिंबित कर सके। शासक के नाम पर भी कालखंड का नामकरण तभी मान्य हो सकता है या हुआ है, जब उस शासक विशेष के व्यक्तित्व ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से साहित्य की गतिविधि को प्रभावित किया है। उदाहरण के लिए, एलिजाबेथ और विक्टोरिया, दोनों के राजनीतिक एवं सामाजिक व्यक्तित्व एवं शासनतंत्र ने अपने युग-जीवन को प्रभावित करते हुए साहित्य की गतिविधि पर भी गहरा प्रभाव डाला था। यही तर्क लोकनायक के विषय में है। चैतन्य या गांधी का अपने युग के सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव था, जो साहित्य में व्यापक रूप से मुखरित होता रहा। उधर साहित्यिक नेता भी युग विशेष की साहित्यिक चेतना का प्रतिनिधि होने पर ही इस गौरव का अधिकारी होता है। शेक्सपियर, रवींद्रनाथ या भारतेंदु व्यक्ति न हो कर एक संस्था थे, युग-निर्माता थे, जिनके कृतित्व ने अपने अपने युग की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियों को प्रभावित किया था। राष्ट्रीय महत्त्व की घटना, जैसे महायुद्ध, भारतीय स्वतंत्रता की घोषणा अथवा किसी व्यापक आंदोलन या प्रवृत्ति के अनुसार नाम की सार्थकता और भी अधिक स्पष्ट है : भक्ति, पुनर्जागरण अथवा राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव जितना समाज पर था, उतना साहित्य पर भी। और अंत में साहित्यिक प्रवृत्ति के विषय में तो कहना ही क्या? उसके अनुसार नामकरण की सार्थकता स्वत:सिद्ध है। कहने का अभिप्राय यह है कि साहित्य के इतिहास में नामकरण का मूल आधार है— काल विशेष की साहित्यिक चेतना का प्रतिफलन, जिसका माध्यम सामान्यत: उस युग की सर्वप्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति ही हो सकती है। लेकिन यह अनिवार्य नहीं है, और इस प्रसंग में एक सीमा से आगे एकरूपता का प्रयत्न करना भी अधिक संगत नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक कालखंड में कोई एक प्रवृत्ति समग्र साहित्य-चेतना का प्रतिनधित्व कर सके। जहां ऐसा होता है, वहां नामकरण का प्रश्न आसानी से हल हो जाता है, जैसे रीतिकाल में या रोमानीयुग में या छायावादयुग में। लेकिन ऐसा सदा नहीं होता। कभी-कभी कोई राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रवृत्ति इतनी बलवती होती है कि वह समाज और साहित्य को एक साथ और समान रूप से प्रभावित करती है— जैसे भक्ति, पुनर्जागरण या सुधार-आंदोलन। ऐसी स्थिति में नामकरण का आधार सांस्कृतिक प्रवृत्ति ही होगी, क्योंकि साहित्य-चेतना की प्रेरक वही है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी किसी लोकनायक या साहित्यनेता का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली होता है कि वह संपूर्ण युग की चेतना को व्याप्त कर लेता है, चैतन्य महाप्रभु, गांधी और रवींद्रनाथ का व्यक्तित्व ऐसा ही था। अत: यहां भी साहित्यिक प्रवृत्ति के अनुसार नामकरण उचित नहीं होगा। किसी-किसी युग में ऐसा भी होता है कि किसी एक प्रवृत्ति को प्रमुख या प्रतिनिधि प्रवृत्ति मानना संभव नहीं होता। वहां सायास किसी प्रवृत्ति को आधार मान कर नामकरण करना अनुचित होता है : 'वीरगाथाकाल' नाम इसका प्रमाण है, अत: ऐसी स्थिति में 'आदिकाल' जैसा निर्विशेष नाम ही अधिक उपयोगी होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि काल-विभाजन और नामकरण में एकरूपता अनिवार्य नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि काल-विभाजन विवेक-सम्मत हो, जो साहित्य की परंपरा को सही रूप में समझने में सहायक हो। साथ ही, नाम भी ऐसा होना चाहिए, जो युग की साहित्य-चेतना का सही ढंग से प्रतिफलन करता हो, यदि साहित्यिक नामकरण से भ्रांति उत्पन्न होती हो, तो अन्य उचित आधार ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए : नाम के लिए रूप का बलिदान नहीं करना चाहिए।

रैने वैलक ने अपने निबंध में इस मिश्रित पद्धति की आलोचना की है : ''फिर भी, प्रचलित नामों का यह मिश्रित आधार कुछ-न-कुछ परेशानी अवश्य पैदा करता है। 'सुधारवाद' चर्च के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इतिहास से आया है, 'मानववाद' मुख्यत: प्राचीन मानविकी विधाओं के इतिहास से, 'पुनर्जागरण' कला के इतिहास से, 'प्रजाधिपत्य'[8] और 'पुन:स्थापन'[9] का संबंध विशेष राजनीतिक घटनाओं के साथ है। 'अठारहवीं शती' पुराना संख्यावाचक पद है जिससे 'ऑमस्टन', 'नव्यशास्त्रवाद', 'पूर्व-स्वच्छंदतावाद' आदि साहित्यिक शब्दों का अर्थ बोध होने लगा है। 'पूर्वस्वच्छंदतावाद' और 'स्वच्छंदतावाद' मुख्यत: साहित्यिक शब्द हैं, जबकि 'विक्टोरियायुग', 'एडवर्डयुग' और 'जार्जयुग' नाम व पद राजाओं के शासनकाल से ग्रहण किये गये हैं। इसका अनिवार्य निष्कर्ष यह है कि नामावली राजनीति, साहित्य और कला के शब्दों का गोरखधंधा मात्र है, जिसका औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।''[10] हमारे विचार से यह मंतव्य एक सीमा से आगे मान्य नहीं हो सकता। कम-से-कम व्यवहार में अभी तक, केवल साहित्यचेतना के आधार पर, काल-विभाजन तथा नामकरण के आधार की एकरूपता का निर्वाह संभव नहीं हुआ है और उसको सायास सिद्ध कर देने से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो सकती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अंगरेज़ी साहित्य के सभी कालखंडों के नाम ठीक हैं। एडवर्ड, जॉर्ज आदि राजाओं अथवा प्रजाधिपत्य, पुन:स्थापन आदि राजनीतिक घटनाओं के नाम पर साहित्य के इतिहास का नामकरण तो एकदम असंगत है, क्योंकि ये नाम व पद किसी प्रकार की साहित्यचेतना की व्यंजना नहीं करते। किंतु 'विक्टोरियन' शब्द व्यक्तिवाचक न रह कर एक विशेष जीवनदृष्टि और साहित्यचेतना का वाचक बन गया है, और अब वह इतना अधिक अर्थगर्भित हो गया है कि उसके स्थान पर किसी दूसरे शब्द का प्रयोग करने से अनावश्यक भ्रांति ही हो सकती है। इसी प्रकार सांस्कृतिक नाम व पदों की भी अपनी सार्थकता है। वैलक द्वारा साहित्य-चेतना पर बल दिया जाना ठीक है। नामकरण के लिए प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति का आधार ग्रहण करना अधिक संगत हैं, किंतु प्रत्येक स्थिति में किसी युग की साहित्यचेतना का द्योतन केवल साहित्यिक प्रवृत्ति के द्वारा ही संभव है, यह मानना कम-से-कम व्यवहार में कठिन हो सकता है, और है। इसलिए इस आधार को लचीला रखना होगा और यह मान कर चलना होगा कि कोई नाम पदार्थ के संपूर्ण व्यक्तित्व का वाचक नहीं हो सकता। सामान्यत: नाम संकेत मात्र होता है, विशेष परिस्थिति में प्रतीक हो सकता है, किंतु पूर्ण बिंब तो वह नहीं हो सकता। इतिहास में नाम का प्रयोग प्रतीक के रूप में करना ही अधिक संगत है, और जहां यह संभावना न हो, वहां संकेत मात्र से काम चल सकता है : नाम में अशुद्ध या अस्पष्ट प्रतीकार्थ भरने या उसे बिंब का रूप प्रदान करने की चेष्टा व्यर्थ है।

उक्त विवेचन का सारांश यह है :

1. काल-विभाजन साहित्यिक प्रवृत्तियों और रीति-आदर्शों की समानता के आधार पर होना चाहिए।
2. युगों का नामकरण यथासंभव मूल साहित्य-चेतना को आधार मान कर साहित्यिक प्रवृत्ति के अनुसार करना चाहिए, किंतु जहां ऐसा नहीं हो सकता, वहां राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृत्ति को आधार बनाया जा सकता है या फिर कभी-कभी विकल्प न होने पर निर्विशेष कालवाचक नाम को भी स्वीकार किया जा सकता है। नामकरण में एकरूपता काम्य है, किंतु उसे सायास सिद्ध करने के लिए भ्रांतिपूर्ण नामकरण उचित नहीं है।
3. युगों का सीमांकन मूल प्रवृत्तियों के आरंभ और अवसान के अनुसार होना चाहिए। जहां साहित्य के मूल स्वर अथवा उसकी मूल चेतना में परिवर्तन लक्षित हो और नये स्वर एवं चेतना का उदय हो, वहां युग की पूर्व सीमा और जहां वह समाप्त होने लगे, वहां उत्तर सीमा माननी चाहिए।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## नामकरण की समस्याएं

इस संदर्भ में अंतिम प्रश्न है युगों के नामकरण का। आचार्य शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभक्त कर उनका नामकरण क्रमशः इस प्रकार किया है—(1) वीरगाथाकाल, (2) भक्तिकाल, (3) रीतिकाल और (4) आधुनिककाल। उन्होंने जॉर्ज ग्रियर्सन और मिश्रबंधुओं से कुछ संकेत अवश्य ग्रहण किये हैं, परंतु काल-विभाजन और नामकरण की अंतिम तर्कपुष्ट व्याख्या उनकी अपनी है। इनमें से भक्तिकाल और आधुनिककाल को तो यथावत् स्वीकार कर लिया गया है, परंतु वीरगाथाकाल और रीतिकाल के विषय में विवाद रहा है। 'वीरगाथाकाल' नाम के विरुद्ध अनेक आपत्तियां की गयी हैं, जिनमें प्रमुख यह है कि जिन वीरगाथाओं के आधार पर शुक्ल जी ने यह नामकरण किया है, उनमें से कुछ तो अप्राप्य हैं और कुछ परवर्ती काल की रचनाएं हैं। इनके अतिरिक्त जो साहित्य इस कालावधि में लिखा गया है, उसमें सामंतीय और धार्मिक तत्त्वों का प्राधान्य होने पर भी कथ्य और माध्यम के रूपों की ऐसी विविधता और अव्यवस्था है कि किसी एक प्रवृत्ति के आधार पर उसका सही नामकरण नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में आदिकाल जैसा निर्विशेष नाम, जो भाषा और साहित्य की आरंभिक अवस्था मात्र का द्योतन करता है, विद्वानों को अधिक मान्य है, और मैं समझता हूं कि इसका कोई विकल्प नहीं है। 'रीतिकाल' के विषय में मतभेद की परिधि सीमित है। वहां विवाद का विषय इतना ही है कि उस युग के साहित्य में रीति तत्त्व प्रमुख है या शृंगार तत्त्व? प्राचुर्य दोनों का ही है, पर इन दोनों में भी अधिक महत्त्व किसका है? हमारा विचार है कि जिस युग में रीति तत्त्व का समावेश केवल शृंगार में ही नहीं, भक्तिकाव्य और वीरकाव्य में भी हो गया था, अथवा यह कहें कि जीवन का स्वरूप ही बहुत कुछ रीतिबद्ध हो गया था, उसका नाम 'रीतिकाल' ही अधिक समीचीन है। इसके विकल्प 'शृंगारकाल' में अतिव्याप्ति है, क्योंकि शृंगार का प्राधान्य तो प्रायः सभी युगों में रहा है। वह काव्य का एक प्रकार से सार्वभौम तत्त्व है, अतः उसके आधार पर नामकरण अधिक संगत नहीं होगा। इस युग का शृंगार रीतिबद्ध था, अतः रीति ही यहां प्रमुख है।

आधुनिक काल को शुक्ल जी ने तीन चरणों में विभक्त किया है और उन्हें प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय उत्थान कहा है। प्रथम और द्वितीय उत्थान के विषय में उन्होंने यह संकेत भी कर दिया है कि इन्हें क्रमशः 'भारतेंदुकाल' और 'द्विवेदीकाल' भी कहा जा सकता है।[12] तीसरे उत्थान को, कदाचित् उसके प्रवाहमय रूप के कारण, उन्होंने कोई नाम नहीं दिया। पहला कालखंड जीवन और साहित्य में पुनर्जागरण का युग था, जब अतीत की गौरव-भावना के परिप्रेक्ष्य में नवजागरण की चेतना विकसित हो रही थी; अतः इसे 'पुनर्जागरणकाल' नाम दिया जा सकता है, और चूंकि भारतेंदु के व्यक्तित्व और कृतित्व में, जिन्होंने अपने जीवनकाल में इस युग का नेतृत्व किया और जिनका प्रभाव मरणोपरांत भी बना रहा, यह चेतना सम्यक् प्रतिफलित हो रही थी, इसलिए इसका नामकरण उनके नाम पर भी करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। प्रायः इसी पद्धति और युक्ति से द्वितीय उत्थान का नामकरण भी किया जा सकता है : उसे हम औचित्यपूर्वक 'जागरण-सुधार-काल' या विकल्पतः 'द्विवेदीयुग' कह सकते हैं। तीसरे चरण की सर्वप्रमुख साहित्य प्रवृत्ति है—छायावाद, अतः उसका उचित नाम 'छायावादकाल' ही हो सकता है। उसका परवर्ती काल हमारे अत्यंत निकट है और उसकी मूल चेतना इतनी जल्दी-जल्दी बदल रही है कि किसी एक स्थिर आधार को ले कर इसका नामकरण नहीं किया जा सकता। आरंभ में प्रगतिवाद का दौर था, जो कुछ ही वर्षों में समाप्त हो गया। इसके कुछ समय बाद प्रयोगवाद का आविर्भाव हुआ, जो थोड़े

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समय तक इसके समानांतर चल कर 1953 के आसपास नवलेखन में परिणत हो गया। अत्याधुनिक लेखन का दावा है कि नवलेखन का युग भी सन् 1960 के बाद खत्म हो गया है और इसके बाद की साहित्य-चेतना यथार्थबोध की प्रखरता के कारण अपनी पूर्ववर्ती साहित्य-चेतना से भिन्न है। अतः इस अस्थिर और त्वरित गति से बढ़ते हुए, साहित्य-प्रवाह को किसी एक नाम में बांधा जाये या नहीं?—यह प्रश्न है। कुछ आलोचक पूर्वार्द्ध को 'प्रगति-प्रयोगकाल' और उत्तरार्द्ध को 'नवलेखनकाल' कहना चाहते हैं और कुछ इस पूरे कालखंड को 'छायावादोत्तर-काल' के नाम से अभिहित करते हैं। इनमें से पहले दोनों नाम कुछ अधिक निश्चित और भावात्मक और तीसरा नाम उतना ही अनिश्चित तथा अभावात्मक लगता है। पहले दोनों नामों में प्रमुख प्रवृत्तियों को रेखांकित किया गया है; जबकि दूसरा छायावाद के अवशिष्ट प्रभाव, विस्तार तथा विरोधी प्रतिक्रिया को अधिक महत्त्व देता है। स्वतंत्रता की प्राप्ति इसी युग की घटना है, पर यह साहित्यिक चेतना को कोई नया मोड़ नहीं दे सकी, इसलिए नामकरण में उसकी कोई विशेष संगति नहीं है। अतः निर्णय उक्त दोनों विकल्पों के बीच ही करना है। सन् 1938-39 से आरंभ होने वाले वर्तमान युग का उपविभाजन किया जाये या नहीं? यदि इस तर्क के आधार पर कि इतिहास को बहुत छोटे-छोटे खंडों में विभक्त करने से समग्र दर्शन में बाधा आती है अथवा यह मान कर कि समसामयिक साहित्य का स्वरूप स्थिर होने में कुछ देर लगती है, वर्तमान युग को एक नाम ही देना है तो 'छायावादोत्तरकाल' नाम अभावात्मक होते हुए भी असंगत नहीं है।

इस लक्ष्य को आधार मान कर हिंदी साहित्य का कालविभाजन तथा नामकरण सामान्यतः इस प्रकार किया जा सकता है :

**आदिकाल** : सातवीं शती के मध्य से चौदहवीं शती के मध्य तक।
**भक्तिकाल** : चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक।
**रीतिकाल** : सत्रहवीं शती के मध्य से उन्नीसवीं शती के मध्य तक।
**आधुनिक काल** : उन्नीसवीं शती के मध्य से अब तक :

1. पुनर्जागरणकाल (भारतेंदुकाल) 1857-1900 ई.
2. जागरणसुधारकाल (द्विवेदीकाल) 1900-1918 ई.
3. छायावादकाल 1918-1938 ई.
4. छायावादोत्तरकाल
   (*क*) प्रगति-प्रयोगकाल 1938-1953 ई.
   (*ख*) नवलेखनकाल 1953 ई. से अब तक

## संदर्भ

1. धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
   पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥—*महाभारत*
2. आर्व्यादिबहुव्याख्यानैदेवर्षिचरिताश्रयम्।
   इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्भुतधर्मयुक्॥—*विष्णुपुराण*
3. देखिए, 'हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त, पृ. 47-60
4. इसके हिंदी संबंधी अंश का अनुवाद डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा प्रस्तुत हो चुका है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

5. इस ग्रंथ का हिंदी अनुवाद 'हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास' शीर्षक से डॉ. किशोरीलाल गुप्त द्वारा प्रस्तुत हुआ है।
6. हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास, डॉ. किशोरीलाल गुप्त, पृ. 41
7. डॉ. वर्मा ने अपने इतिहास को इन सात प्रकरणों में विभक्त किया है—संधिकाल, चारणकाल, भक्तिकाल की अनुक्रमणिका, भक्तिकाल, प्रेमकाव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य।
8. कामनवैल्थ
9. रेस्टोरेशन
10. थिअरी ऑफ़ लिट्रेचर : पैंगुइन बुक्स, 1966, पृ. 243-244
11. देखिए, 'हिंदी-साहित्य', भाग 3, संपादक : डॉ. धीरेंद्र वर्मा, पृ. 650
12. शुक्ल जी का सीमांकन कुछ भिन्न है—उन्होंने पच्चीसी का हिंसाब रखा है, पर वह यथार्थ स्थिति के अनुकूल नहीं है, उसमें थोड़ा-बहुत संशोधन कर लेना अनुचित न होगा।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

# अध्याय : 2

# आदिकाल

## हिंदी साहित्य का आरंभ

हिंदी साहित्य के आंरभ का प्रश्न हिंदी भाषा के आरंभ से जुड़ा हुआ है। इस भाषा का विकास एक जनभाषा के रूप में हुआ है। कोई भी जनभाषा अपने प्रवाह की अक्षुण्णता में सदा एक रूप नहीं रह सकती। स्थान और काल के भेद से उसमें रूप-भेद भी स्वत: उत्पन्न हो जाता है, किंतु जब तक उन रूपों की तात्त्विक समानता सुरक्षित रहती है तब तक वे एक ही भाषा का बोध कराते हैं। हिंदी भाषा ने भी स्थान और काल के भेद से अपनी दीर्घ यात्रा में अनेक रूप धारण किये हैं। मगही, मैथिली, भोजपुरी, अवधी, कन्नौजी, बघेलखंड़ी बुंदेलखंडी, ब्रज, खड़ी बोली, बांगरू, मेवाती, हाड़ौती, मारवाड़ी, मेवाड़ी, ढूंढारी, मालवी, भीली, खानदेशी, पहाड़ी आदि उसके अनेक रूप-भेद पाये जाते हैं, किंतु इन सबमें तात्त्विक समानता विद्यमान है। आजकल इन भाषारूपों को स्थान-भेद से स्मरण किया जाता है, किंतु कालभेद से ही इन रूपों में अंतर है। कुछ शताब्दियों पूर्व का ब्रज या मैथिली का रूप आज यथावत् नहीं मिलता; किंतु तात्त्विक समानता के आधार पर पूर्व काल के वे रूप भी ब्रज या मैथिली रूप ही के माने जाते हैं और उन सब रूपों में रचित साहित्य भी हिंदी का ही साहित्य कहा जाता है।

अत: भाषा के रूप-भेद को भुला कर तात्त्विक परिवर्तन के आधार पर ही एक भाषा के अंत और दूसरी भाषा के आरंभ का इतिहास स्वीकार करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इसी दृष्टि से अपभ्रंश को एक अलग भाषा मान कर, उसके समानांतर तात्विक आधार पर भिन्न रूप में विकसित भाषा को पृथक् नाम देने की आवश्यकता है। यद्यपि अपभ्रंश अपने मूल रूप में ही पंद्रहवीं शताब्दी तक साहित्य की भाषा बनी रही, तथापि आठवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा पृथक हो कर उसके समानांतर साहित्य-रचना का माध्यम बन गयी थी। इसी भाषा को कुछ विद्वानों ने 'उत्तर-अपभ्रंश' या 'पुरानी हिंदी' कहा है और कुछ विद्वानों ने 'अवहट्ठ' नाम दिया है। परंतु वास्तविकता यह है कि वह भाषा 'हिंदी' है, उसे 'उत्तरअपभ्रंश' या 'अवहट्ठ' नाम देना भ्रम उत्पन्न करना है। जिन विद्वानों ने ये नाम दिये हैं, वे भी अपने मत के अंतर्गत प्राय: उक्त तथ्य का समर्थन करते रहे हैं। चंद्रधर शर्मा गुलेरी पहले विद्वान हैं, जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की थी कि 'उत्तर अपभ्रंश' ही पुरानी हिंदी है।[1] यहां 'उत्तर' शब्द काल का बोधक न हो कर साहित्यिक अपभ्रंश से इतर बोलचाल की उस भाषा का बोधक है, जो साहित्यिक अपभ्रंश के एक रूप की स्वीकृति के पश्चात उसके बाद के रूप में स्थापित होती जा रही थी।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने गुलेरी जी के लेख के आधार पर अपने इतिहास में आदिकाल के अंतर्गत 'उत्तरअपभ्रंश' की रचनाओं को यह मानते हुए भी स्थान दिया कि उनके आधार पर उस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं की जा सकती।[2] राहुल सांकृत्यायन ने भी 'उत्तरअपभ्रंश' की रचनाओं को हिंदी की रचनाएं माना है। 'हिंदी के प्राचीन कवि और उनकी कविताएं' लेख में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उन्होंने हिंदी कविता का आदि रूप नालंदा और विक्रमशिला के सिद्धों द्वारा बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्त्व के प्रचार की भाषा में सिद्ध किया है।[3] इसी प्रकार डॉ. रामकुमार वर्मा ने भी 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में गुलेरी जी और राहुल जी के मतों को स्वीकार करते हुए 'उत्तर-अपभ्रंश' के कवियों को स्थान दिया है।

शुक्ल जी के साथ-साथ कुछ-कुछ सहमत होते हुए भी डॉ. श्यामसुंदरदास तथा डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी अपभ्रंशकाव्य का विवेचन आदिकाल के भीतर करते रहे हैं। द्विवेदी जी ने अपभ्रंश और हिंदी के संबंध में यह मत व्यक्त किया है : ''इस प्रकार दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल, जिसे हिंदी का आदिकाल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव है। इसी अपभ्रंश के बढ़ाव को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिंदी। बारहवीं शताब्दी तक निश्चित रूप से अपभ्रंश भाषा ही पुरानी हिंदी के रूप में चलती थी, यद्यपि उसमें नये तत्सम शब्दों का आगमन शुरू हो गया था।''[4] इस प्रकार वे अपभ्रंश को हिंदी से अलग रखना चाहते हैं, फिर भी उन्होंने अपभ्रंश के उत्तरकालीन साहित्य को आदिकाल की सामग्री मान कर उसका विवेचन किया है। उनके वक्तव्य से यह सिद्ध हो जाता है कि 'उत्तरअपभ्रंश' हिंदी का ही आरंभिक रूप है। उनके अनुसार अपभ्रंश में शब्दों के तद्भव रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति थी, किंतु जब उसमें तत्सम रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति विकसित होने लगी, तब एक नयी भाषा का रूप उभरा, जिसे हिंदी कहना चाहिए। वस्तुतः, जनभाषा होते हुए भी, हिंदी की यही एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो अपभ्रंश के बाद भी अब तक निरंतर बढ़ती रही है। अतः जिन विद्वानों ने अपभ्रंश के अतिरिक्त 'अवहट्ठ' का झगड़ा खड़ा किया है, वे हिंदी के आरंभिक विकास को, उसके आगे की धारा से काट देना चाहते हैं। यह ठीक है कि वे 'उत्तरअपभ्रंश' को शुद्ध अपभ्रंश नहीं मानते, किंतु उसे आरंभिक हिंदी न मानना एक भ्रम है। अधिकांश विद्वान 'अवहट्ठ' को पृथक् भाषा मानने के पक्ष में नहीं हैं। डॉ. भोलाशंकर व्यास ने हिंदी के आरंभिक रूप को ही 'अवहट्ठ' कहा है[5], और यही अधिक समीचीन है, क्योंकि जिसे कुछ विद्वान 'अवहट्ठ' कहना चाहते हैं, वही अपभ्रंश का ऐसा रूप है, जिसमें हिंदी की सभी आरंभिक प्रवृत्तियां एक साथ मिलती हैं तथा साहित्यिक अपभ्रंश से जिसका गहरा विद्रोह भी झलकता है।

अतः हिंदी साहित्य के आदिकाल की सामग्री में 'उत्तरअपभ्रंश' की सभी रचनाएं आ जाती हैं। उन्हें हिंदी साहित्य से निकाल कर अपभ्रंश के साहित्य में स्थान देना या 'अवहट्ठ' का नया इतिहास खड़ा करना उचित नहीं है। इस दृष्टि से सिद्धों की रचनाओं से ही हिंदी साहित्य का आरंभ मानना युक्तिसंगत है। उनके साहित्य की भाषा अपभ्रंश के 'उत्तरभाषा-रूप' की सूचना देती है तथा साहित्यिक अपभ्रंश से खुल कर विद्रोह कर रही है।

साहित्य के आरंभ का निर्णय भाषा के आधार पर तो किया ही जा सकता है, इसके अतिरिक्त एक दूसरा तत्त्व भी है, जिसे हम साहित्य की चेतना कह सकते हैं। सिद्धों की रचनाओं में यह तत्त्व नये रूप में विकसित होता हुआ दिखायी देता है तथा अपभ्रंश के साहित्य से उसका खुला विद्रोह भी झलकता है। सिद्धों की वस्तु-दृष्टि जिस धार्मिक चेतना पर आधारित है, उसका सीधा संबंध 'नाथसाहित्य' से होता हुआ हिंदी के भक्तिकालीन कवियों से जुड़ता है। अगर हम 'सिद्धनाथ-साहित्य' को हिंदी साहित्य से हटा कर अपभ्रंश साहित्य में रख दें तो फिर हिंदी का समस्त भक्ति-साहित्य 'जड़' और 'तने से' कटे वृक्ष की तरह निराधार हो जायेगा।

अतः भाषा के विकास की आरंभिक स्थिति तथा उत्तरवर्ती धार्मिक चेतना के मूल रूप को ध्यान में रख कर सिद्ध साहित्य से हिंदी साहित्य का आरंभ मानना पूर्णतः युक्तिसंगत है। साथ ही, यह

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भी आवश्यक है कि उसके समानांतर लिखे गये साहित्यिक अपभ्रंश के ग्रंथों से उसे सावधानीपूर्वक पृथक रखा जाये, क्योंकि कई विद्वानों ने दोनों को एक मानने की भी भूल की है। यहां यह भी स्मरणीय है कि कई सिद्धों ने एक साथ अपभ्रंश और 'आरंभिक हिंदी' में रचनाएं प्रस्तुत की हैं। अत: ऐसे कवियों की रचनाएं दो वर्गों में विभाजित हो जाती है, और उसी आधार पर उनकी गणना यदि एक ओर अपभ्रंश साहित्य के इतिहास में की गयी है, तो दूसरी ओर 'आरंभिक हिंदी' में भी साहित्य लिखने के कारण उनका नाम हिंदी साहित्य के इतिहास में आ जाता है। दो या अधिक भाषाओं में रचना करने की यह प्रवृत्ति बहुत समय तक चलती रही। विद्यापति का साहित्य इसका प्रमाण है। अत: एक ही कवि को अपभ्रंश का कवि मान लेने के पश्चात उसकी कुछ रचनाओं में प्रारंभिक हिंदी का प्रयोग देख कर उसे हिंदी का आरंभिक कवि भी मानने से इंकार नहीं किया जा सकता।

## प्रथम कवि

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हिंदी का प्रथम कवि किसे माना जाये? डॉ. शिवसिंह सेंगर ने सातवीं शताब्दी में उत्पन्न 'पुष्य' या 'पुण्ड' नामक किसी कवि को हिंदी का प्रथम कवि माना था। किंतु इस कवि का उल्लेख मात्र मिलता है, अभी तक उसकी कोई रचना उपलब्ध नहीं हुई है। राहुल जी ने सातवीं शताब्दी ईसवी के 'सरहपाद' को हिंदी का प्रथम कवि माना है। वे 84 सिद्धों में से एक थे। उनकी कविता में अपभ्रंश का साहित्यिक रूप छूट गया है तथा बोलचाल की भाषा, जो आरंभिक हिंदी है, प्रयुक्त हुई है। वर्ण्य विषय और चेतना की दृष्टि से भी उनका काव्य हिंदी साहित्य के भक्तिकाल का बीजांकुर है। 84 सिद्धों की काव्य-चेतना के अनेक तत्त्व नाथ संप्रदाय की काव्य-चेतना में विलीन हो कर एक नयी प्रेरणा बने और फिर दोनों ने भक्तिकाव्य की आधारभूमि तैयार की। सिद्धसाहित्य से नाथसाहित्य का विकास हुआ और नाथसाहित्य की प्रेरणा से भक्तिकालीन संत साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके प्रथम कवि कबीर माने जाते हैं। सरहपाद की काव्यपरंपरा में विकसित नाथपंथ का हठयोग कबीर के काव्य में इतना अधिक पल्लवित हुआ है कि सरहपाद के काव्य की आदि स्थिति को नकारा नहीं जा सकता। साहित्यिक अपभ्रंश में जो साहित्य विकिसत हुआ, उस पर सरहपाद का उतना प्रभाव नहीं है, जितना नाथसाहित्य और संत-साहित्य पर है। एक तीसरा आधार और है, जिस पर हम सरहपाद को प्रथम हिंदी कवि के रूप में प्रतिष्ठित कर सकते हैं, और वह है शैली की परंपरा का। सरहपाद ने दोहा और पदों की शैली अपनी कविता में प्रयुक्त की है। यह शैली उनके बाद के सभी हिंदी कवियों ने परंपरा के रूप में अपनायी है। हिंदी मुक्तक काव्य में दोहा सबसे अधिक प्रिय छंद रहा है। अत: सभी दृष्टियों से सरहपाद को हिंदी का प्रथम कवि माना जा सकता है।

जो विद्वान सरहपाद को हिंदी का प्रथम कवि नहीं मानना चाहते, उनके पास अपने मत के समर्थन के लिए केवल दो तर्क हैं : प्रथम तर्क वे यह प्रस्तुत करते हैं कि सरहपाद की रचनाएं अपभ्रंश साहित्य का अंग हैं और दूसरा तर्क यह है कि सरहपाद के समय से ग्यारहवीं शताब्दी तक हिंदी की रचना-परंपरा नहीं मिलती। ये दोनों तर्क निराधार हैं। सत्य यह है कि हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वाले विद्वानों में कोई भी ऐसा नहीं है जिसने कबीरदास से हिंदी साहित्य का आरंभ व्यावहारिक रूप में स्वीकार किया हो। यों डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त प्रभृति एक-दो विद्वानों ने अपभ्रंश और हिंदी के मध्य निर्णायक रेखा खींचना कठिन मान कर यह इच्छा प्रकट की है कि भक्तिकाल से ही हिंदी साहित्य का आरंभ माना जाये, किंतु वे भी अपनी इस इच्छा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का अनौचित्य समझते रहे हैं, और इसी कारण उन रचनाओं का आदिकाल के अंतर्गत विवेचन करने को बाध्य हुए है, जिन्हें वे अपभ्रंश की रचनाएं कहते हैं। डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त ने इस संदर्भ में अपने 'हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में 'भरतेश्वर बाहुबलीरास' के रचयिता शालिभद्र सूरि को हिंदी का प्रथम कवि माना है, जो तर्कसम्मत नहीं है। इस प्रश्न का यह उत्तर हो सकता है कि सरहपाद की भाषा हिंदी का प्रारंभिक रूप है या शालिभद्र सूरि की भाषा? दोनों के उदाहरणों से स्वतः ही इसका उत्तर मिल जाता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि सरहपाद की भाषा अपेक्षाकृत हिंदी के अधिक निकट है :

**सरहपाद :**

(अ) *घोर अंधारे चन्दमणि जिमि उज्जोअ करेई।*
*परम महासुह ऐखु कण, दुरिअ अशेष हरेई॥*

(आ) *पण्डिअ सअल संत बक्खाणइ, देहहि रुद्र बसन्त न जाणइ।*
*अमणागमण ण तेन विखण्डिअ, तोवि णिलज्ज भणइ हउं पण्डिअ॥*

***शालिभद्र सूरि :***

(अ) *तं जि पहिय पिक्खेविणु पिअ उक्कखिरिय।*
*मन्थर गय सरलाइवि उत्तावलि चलिय।*
*तुह मणहर चल्लंतिय चंचल रमण भरि।*
*छुड़वि खिसिय रसणाबलि किकिंण रव पसरि॥*

(आ) *उपनूं ए केवल नाण तउ विरहइ रिसहे सिउ ए।*
*आविउ ए भरह नरिन्द सिउं अवधापुरि ए॥*

रही परंपरा की बात, तो उसके लिए ग्रंथों का उतना महत्त्व नहीं; जितना चेतना, भावना और विचारणा का है, क्योंकि इन्हीं से साहित्य का अस्तित्व माना जाता है, न कि मात्र ग्रंथ संख्या से। इस दृष्टि से सरहपाद की देन अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसकी भावधारा सिद्धों और नाथों से होती हुई कबीर तक अपनी परंपरा बनाती है, जबकि शालिभद्र सूरि की देन इस संदर्भ में नगण्य है। अतः सरहपाद को ही हिंदी का प्रथम कवि मानना तर्कसंगत है।

## प्रथम रचना

हिंदी के प्रथम कवि सरहपाद की जो रचनाएं मिली हैं, वे सभी मुक्तक है; अतः प्रथम रचना के नाम पर किसी एक पुस्तक को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने 'हिंदी काव्यधारा' में सरहपाद की कुछ रचनाओं का संग्रह किया है, उसी के आधार पर उनकी हिंदी रचना का एक अंश यहां उद्धृत किया जाता है :

*जह मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाह पवेश।*
*तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश॥*
*पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ।*
*देहहि बुद्ध बसन्त न जाणइ॥*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यद्यपि इस उद्धरण में अपभ्रंश भाषा के व्याकरण की प्रवृत्तियां भी मिलती हैं, तथापि हिंदी के रूप की झलक ही अधिक स्पष्ट है, साथ ही डॉ. द्विवेदी ने तत्समता की जिस प्रवृत्ति को हिंदी भाषा का मूल रहस्य माना है, वह भी 'पवन', 'रवि', 'वट', 'चित्त' आदि शब्दों में स्पष्टतः देखी जा सकती है। अन्य सिद्ध कवियों ने भी सरहपाद की इस भाषाप्रवृत्ति का अनुकरण किया है। राहुल ने सरहपाद का समय 769 ई. माना है तथा डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने 633 ई. बताया है। डॉ. रामकुमार वर्मा इसी आधार पर लिखते हैं : "सातवीं शताब्दी से ही हम सिद्धों की रचनाओं को अपनी भाषा के प्रारंभिक रूप में पाते हैं। इन रचनाओं के वर्ण्य विषय हठयोग, मंत्र, मद्य और स्त्री हैं, जो वज्रयान के मुख्य रूप हैं। भाषा अपभ्रंश मिश्रित है, जिसमें सिद्धांतों के मिश्रण के कारण काव्योत्कर्ष हो नहीं सकता।"[6] वस्तुतः डॉ. वर्मा ने काव्योत्कर्ष का जो अभाव देखा है, वह सिद्धांतों के मिश्रण के कारण तो है ही, इन सिद्धांतों के प्रतिपादनार्थ अपभ्रंश भाषा का मिश्रण भी इसके लिए उत्तरदायी रहा है। अतः आरंभिक रचना की दृष्टि से काव्योत्कर्ष का उतना महत्त्व नहीं है, जितनी महत्त्वपूर्ण बात है काव्य भाषा के रूप में किसी रचना में हिंदी का प्रयोग; और यह प्रयोग सरहपाद की रचनाओं में ही प्रथम बार मिलता है।

यदि एक ग्रंथ के रूप में हिंदी की प्रथम रचना का निर्धारण करना हो तो सरहपाद आदि सिद्धों की मुक्तक कविताओं के पश्चात जैन आचार्य देवसेनकृत 'श्रावकाचार' ग्रंथ का नाम लिया जा सकता है। इसमें सरहपाद की दोहा-शैली का विकसित रूप मिलता है। देवसेन ने इस ग्रंथ में 250 दोहों में श्रावक धर्म का वर्णन किया है। गृहस्थ धर्म उस वर्णन का केंद्र है, अतः इसमें साहित्यिक तत्त्वों का अभाव नहीं है। इस दृष्टि से ग्रंथ रूप में यह हिंदी की प्रथम साहित्यिक रचना है।

## सीमांकन

सरहपाद को हिंदी का प्रथम कवि मान लेने से हिंदी साहित्य के आरंभ की सीमा आठवीं शताब्दी ईसवी (769 ई.) निश्चित हो जाती है, यह सीमा राहुल सांकृत्यायन के मत पर आधारित है। ग्रियर्सन, शिवसिंह, मिश्रबंधु, गुलेरी, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डॉ. रामकुमार वर्मा इससे बहुत दूर तक सहमत हैं। दूसरा पक्ष उन विद्वानों का है, जो हिंदी साहित्य का आरंभ ईसा की दसवीं शताब्दी के अंतिम सात वर्षों से मानते हैं। इन विद्वानों का नेतृत्व आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने किया है, उनके मत से मुंज और भोज के समय 993 ई. से पुरानी हिंदी का प्रयोग शुद्ध साहित्य में हुआ। किंतु शुक्ल जी ने पुरानी हिंदी को ही 'प्राकृताभास हिंदी' या 'अपभ्रंश' भी कहा है तथा जिन बारह कृतियों के आधार पर वीरगाथाकाल का नामकरण किया है, उनमें भी वे अपभ्रंश की चार कृतियां बतलाते हैं। आगे चल कर वीरगाथाकाल को अपभ्रंशकाल एवं देशभाषा काव्य में विभाजित करके सरहपाद, देवसेन आदि कवियों का परिचय देते हैं। अतः अप्रत्यक्षतः वे स्वयं भी वीरगाथा-काल से संबोधित 'आदिकाल' की सीमा सरहपाद तक पीछे लौटाते हैं।

जिस प्रकार हिंदी साहित्य के आदिकाल की आरंभिक सीमा विवादग्रस्त रही है, किंतु इस सत्य से अप्रत्यक्षतः ही सही, आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे विद्वान भी सहमत रहे हैं कि सिद्धों और जैन कवियों की कई रचनाओं को उसके बाहर नहीं रखा जा सकता उसी प्रकार उसकी अंतिम सीमा भी विवादग्रस्त अवश्य है। हिंदी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन करने वाले प्रथम इतिहासकार डॉ. ग्रियर्सन हैं। उन्होंने आदिकाल की अंतिम सीमा 1400 ई. तक मानी है। मिश्रबंधुओं ने एतदर्थ 1389 ई. का वर्ष स्वीकार किया है। रामचंद्र शुक्ल आदिकाल की अंतिम सीमा 1318 ई. तक मानते हैं। डॉ. रामशंकर शुक्ल 'रसाल' उसे 1343 ई. तक ले गये हैं, किंतु डॉ. रामकुमार वर्मा शुक्ल जी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

से सहमत हैं। अन्य इतिहासकार भी अधिकांशतः शुक्ल जी से ही सहमत हैं। यह ठीक है कि शुक्ल जी ने विद्यापति को आदिकाल के अंतर्गत रखा है; और विद्यापति का रचनाकाल 1375 ई. से 1418 ई. के मध्य माना जाता है; और इस दृष्टि से आदिकाल की अंतिम सीमा 1418 ई. निर्धारित की जा सकती है; किंतु इसमें भी संदेह नहीं है कि भक्तिकाल में जिन प्रवृत्तियों का विकस हुआ, उनकी भूमिका विद्यापति के पूर्व ही पूर्ण हो चुकी थी। अतः विद्यापति को भक्तिकाल में रख कर चौदहवीं शताब्दी के मध्य को आदिकाल की अंतिम सीमा मानना ही समीचीन होगा। दूसरे शब्दों में, शुक्ल जी द्वारा निधारित 1318 ई. के बाद भी दो-तीन दशाब्द तक आदिकालीन साहित्य सामग्री का प्रसार माना जा सकता है।

## नामकरण की समस्या

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने वीरगाथाकाल का समय 993 ई. से 1318 ई. तक माना था, क्योंकि वे इस कालावधि में वीरगाथाओं की रचनाप्रवृत्ति को प्रधान मान कर चले थे। लेकिन हमने जिन आधारों पर चल कर 769 ई. से चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक आदिकाल माना है, उनसे वीरगाथा-प्रवृत्ति की प्रधानता अस्वीकृत हो जाती है। अतः शुक्ल जी द्वारा दिया गया 'वीरगाथा-काल' नाम भी उचित नहीं रह जाता। अन्य कई विद्वानों ने पहले भी इस नाम पर आपत्ति की है। अतः अब प्रश्न यह है कि आदिकाल को किस नाम से पुकारा जाये? जहां तक अन्य विद्वानों के मतों का प्रश्न है, वे उसे चारण-काल (ग्रियर्सन), प्रारंभिक काल (मिश्रबंधु), आदिकाल (डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. रसाल) संधि-काल एवं चारण-काल (डॉ. रामकुमार वर्मा), सिद्ध-सामंत-काल (राहुल), वीरकाल (विश्वनाथप्रसाद मिश्र) आदि कई नामों से पुकारते रहे हैं।

ग्रियर्सन से पूर्व 'भक्तमाल', 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' आदि कतिपय कविवृत्तसंग्रह लिखे गये थे, जिनमें काल-विभाजन और नामकरण की ओर कोई दृष्टि नहीं गयी थी। आधुनिक-काल में फ्रांस के विद्वान गार्सा द तासी ने 'इस्त्वार द ला लितरेत्युर एन्दुई ऐ ऐन्दुस्तानी' लिखा, जिसमें हिंदी-उर्दू के 738 कवियों का वृत्त संगृहित है। इसमें भी काल-विभाजन और नामकरण की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया था। 'तासी' के पश्चात मौलवी करीमुद्दीन ने 'तजकिरा-ई-शुअराई-हिंदी' नामक एक इतिहास लिखा, जिसमें प्रथम बार कालक्रम का तो ध्यान रखा गया, किंतु काल-विभाजन और नामकरण की कोई चेष्टा नहीं की गयी। हिंदी के सबसे अधिक कवियों का परिचय प्रथम बार ठाकुर शिवसिंह ने अपने 'शिवसिंह-सरोज' ग्रंथ में प्रस्तुत किया, जिसमें अकारादि क्रम अपनाया गया, इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव के कारण काल-विभाजन एवं नामकरण की समस्या उसमें भी नहीं आ सकी। वस्तुतः काल-विभाजन करके नामकरण करने वाले प्रथम इतिहासकार डॉ. ग्रियर्सन ही हैं, किंतु उनका दिया हुआ 'चारण-काल' नाम नितांत अनुपयुक्त है। इस काल का समय तो वे 643 ई. तक पीछे ले गये हैं, किंतु उस समय की किसी चारण-रचना या चारण-प्रवृत्ति की रचना का वे उल्लेख नहीं कर सके। वस्तुतः इस प्रकार की रचनाएं 1000 ई. तक मिलती ही नहीं। ग्रियर्सन के पश्चात मिश्रबंधुओं ने अपने 'मिश्रबंधु-विनोद' में 643 ई. से 1387 ई. तक के आदिकाल को 'प्रारंभिक काल' नाम दिया, जो एक सामान्य संज्ञा है; उसके पीछे किसी प्रवृत्ति आदि का आधार नहीं है। उन्होंने अपने 'विनोद' में प्रारंभिक काल के पीछे 'हिंदी भाषा' को अवश्य ध्यान में रखा है, इसलिए अध्यायों के अंतर्गत 'पूर्व प्रारंभिक हिंदी' (643ई.-1290ई.), 'चंद-पूर्व की हिंदी' (643ई.-1143 ई.), 'रासो-काल' (1143 ई.-1290 ई.), 'उत्तरआरंभिक हिंदी', (1291 ई.-1387 ई.) आदि नाम दिये हैं। किंतु इन नामों से भी आदिकाल

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की कोई उपयुक्त संज्ञा नहीं बनती।

मिश्रबंधुओं के इतिहास के पश्चात शुक्ल जी का इतिहास आदिकाल के लिए निम्नांकित आधार पर 'वीरगाथाकाल' नाम ले कर उपस्थित हुआ :

''प्राकृत की अंतिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिंदी साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है। अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की सांप्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण से लगता है। मुंज और भोज के समय (संवत् 1050 के लगभग) में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिंदी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य-रचनाओं में भी पाया जाता है। अत: हिंदी साहित्य का आदिकाल संवत् 1050 से ले कर 1375 तक, अर्थात महाराजा भोज के समय से ले कर हम्मीरदेव के समय के कुछ पीछे तक, माना जा सकता है। आदिकाल की इस दीर्घ परंपरा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है। धर्म, नीति, शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएं दोहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति के उपरांत जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरंभ होता है, तब से हम हिंदी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बंधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि...अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन करते थे। यही प्रबंध-परंपरा रासो के नाम से पायी जाती है, जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने 'वीरगाथा-काल' कहा है।''[7]

निस्संदेह शुक्ल जी ने जनता की चित्तवृत्तियों के साथ कवि की मनोवृत्तियों के परिवर्तन को आधार बना कर वीरगाथा-काल नाम दिया है, जिसको तर्कसंगत कहा जा सकता है; किंतु उसकी परिधि बहुत संकीर्ण हो जाती है। आठवीं शताब्दी ईसवी से आरंभ होने वाला वह साहित्य उससे छूट जाता है, जिसे भले ही शुक्ल जी ने सांप्रदायिक काव्य कह कर छोड़ दिया हो, किंतु जो हिंदी साहित्य का अनिवार्य अंग है। साथ ही, खुसरो और विद्यापति तक भी वीरगाथा की प्रवृत्ति का विस्तार नहीं हो पाता। एक दूसरी बात यह भी है कि जिन रासोकाव्यों को वीरगाथाकाव्य माना जाता है, उनका वर्तमान रूप तो अप्रामाणिक है ही, कुछ आलोचक उन्हें सर्वांश में भी परवर्ती काल की रचनाएं सिद्ध करते हैं। अत: रचनाओं की संख्या गिना कर 'वीरगाथा-काल' नाम सिद्ध नहीं किया जा सकता। शुक्ल जी ने यह तथ्य स्वयं भी स्वीकार किया है : ''इस काल की जो साहित्यिक सामग्री प्राप्त है, उसमें कुछ तो असंदिग्ध है और कुछ संदिग्ध। असंदिग्ध सामग्री जो कुछ प्राप्त है, उसकी भाषा अपभ्रंश अर्थात प्राकृताभास (प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ बद्ध) हिंदी है।''[8] इससे स्पष्ट है कि वे स्वयं भी रासो ग्रंथों को संदिग्ध सामग्री मानते थे। उसी संदिग्ध सामग्री में प्राप्त चित्तवृत्ति को आधार मान कर उन्होंने वीरगाथा-काल नाम दिया, जिसे तर्कसम्मत कैसे कहा जा सकता है?

डॉ. श्यामसुंदरदास ने शुक्ल जी के मत का समर्थन किया है, किंतु उसके अनुसार उन्होंने ग्रंथ में विषय का वर्णन नहीं किया, अपितु प्रत्येक प्रवृत्ति का आदिकाल से आधुनिक-काल तक का विकास दिखलाया है। फलत: वे आदिकाल के नामकरण की समस्या से बच गये हैं। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी शुक्ल जी द्वारा दिये गये नाम से सहमत नहीं हैं। वे धार्मिक रचनाओं को भी साहित्य का अंग मानने का तर्क देते हैं। अत: जिन रचनाओं को शुक्ल जी ने सांप्रदायिक रचनाएं कह कर छोड़ दिया है, उन्हें द्विवेदी जी महत्त्वपूर्ण घोषित करते हैं। वस्तुत: शुक्ल जी का तर्क निराधार है, क्योंकि धार्मिक रचनाओं में यदि साहित्य का तत्त्व नहीं हो सकता, तब तो समस्त भक्तिकालीन साहित्य को धार्मिक काव्य होने के कारण हिंदी साहित्य के इतिहास से निकाल देना पड़ेगा। अस्तु, वीरगाथाओं से इतर काव्य भी जनता की चित्तवृत्ति का ही प्रतीक है तथा आदिकाल

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का नामकरण करते समय उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

डॉ. रामकुमार वर्मा ने आदिकाल को संधिकाल और चारणकाल—इन दो खंडों में विभाजित कर दिया है। प्रथम काल भाषा की ओर संकेत करता है और द्वितीय नाम एक वर्ग का बोध कराता है। स्पष्ट है कि ये दो नाम मिल कर भी किसी प्रवृत्ति को आधार नहीं बनाते। अतः नामकरण के संबंध में उनका मत निराधार है। राहुल जी द्वारा दिया गया 'सिद्ध सामंत काल' नाम केवल दो वर्गों की ओर संकेत करता है। सिद्ध स्वयं रचनाकार थे, जबकि सामंत रचना प्रेरक थे। यह संयोग भी तर्कसम्मत तो है ही नहीं, साथ ही कई महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों की रचनाओं की भी उपेक्षा करता है। नाथपंथी और हठयोगी कवियों तथा खुसरो आदि की काव्य प्रवृत्तियों का इस नाम में समावेश नहीं होता। विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा दिया गया, 'वीरकाल' नाम केवल शुक्ल जी के नाम का रूपांतर है, जो नवीनता से चौंकाता तो है, परंतु कोई तथ्य नहीं प्रस्तुत करता।

वास्तव में 'आदिकाल' ही ऐसा नाम है, जिसे किसी न किसी रूप में सभी इतिहासकारों ने स्वीकार किया है तथा जिससे हिंदी साहित्य के इतिहास की भाषा, भाव, विचारणा, शिल्प—भेद आदि से संबंद्ध सभी गुत्थियां सुलझ जाती हैं। इस नाम से उस व्यापक पृष्ठभूमि का बोध होता है, जिस पर आगे का साहित्य खड़ा है। भाषा की दृष्टि से हम इस काल के साहित्य में हिंदी के आदि रूप का बोध पा सकते हैं, तो भाव की दृष्टि से इसमें भक्तिकाल से आधुनिक काल तक की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के आदिम बीज खोज सकते हैं। जहां तक रचना शैलियों का प्रश्न है, उनके भी वे सभी रूप, जो परवर्ती काव्य में प्रयुक्त हुए, अपने आदि रूप में मिल जाते हैं। इस काल की आध्यात्मिक, श्रृंगारिक तथा वीरता की प्रवृत्तियों का ही विकसित रूप परवर्ती साहित्य में मिलता है। अतः 'आदिकाल' ही सबसे अधिक उपयुक्त एवं व्यापक नाम है।

## परिवेश

साहित्य मानव समाज की भावात्मक स्थिति और गतिशील चेतना की अभिव्यक्ति है। अतः उसके प्रेरक तत्त्व के रूप में मनुष्य के परिवेश का बहुत महत्त्व है। किसी भी काल के साहित्येतिहास को समझने के लिए उस परिवेश को ठीक प्रकार से समझना अत्यंत आवश्यक होता है। इसी दृष्टि से आदिकालीन साहित्य के इतिहास के साथ तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों को जानना अपेक्षित है।

**राजनीति स्थिति :** राजनीतिक स्थिति जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आदिकाल की अवधि 769 ई. से 1418 ई. तक है। इस काल की राजनीतिक परिस्थिति वर्द्धन साम्राज्य के पतन से आरंभ होती है। अंतिम वर्द्धन सम्राट हर्षवर्द्धन के समय से ही उत्तरी भारत पर यवन आक्रमण आरंभ हो गये थे। हर्षवर्द्धन ने दृढ़ता से उनका सामना किया, किंतु आक्रमणों की उस आंधी को वह रोक न सका। उसकी समस्त शक्ति उस प्रतिरोध में ही समाप्त हो गयी। उसके साथ ही वर्द्धन साम्राज्य भी लड़खड़ा उठा। हर्षवर्द्धन की मृत्यु ने भारत की संगठित सत्ता के खंड खंड हो जाने की सूचना दी तथा वे राजपूत राज्य सामने आये, जो निरंतर युद्धों की आग में जलते जलते अंततः विशाल इस्लाम साम्राज्य की नींव में समा गये। आठवीं शताब्दी से पंद्रहवीं शताब्दी ईसवी तक के भारतीय इतिहास की राजनीतिक परिस्थिति हिंदू-सत्ता के धीरे धीरे क्षय होने तथा इस्लाम-सत्ता के धीरे धीरे उदय होने की करुण कहानी है। इसी ने उस मनःस्थिति को जन्म दिया था, जिसमें कोई भी एक प्रवृत्ति साहित्य में प्रधान न हो सकी।

यवन शक्तियों के आक्रमण का प्रभाव मुख्यतः पश्चिम एवं मध्य प्रदेश पर ही पड़ा था। इन्हीं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

क्षेत्रों की जनता युद्धों तथा अत्याचारों से विशेषत: आक्रांत हुई थी। यही वह क्षेत्र था, जहां हिंदी भाषा का विकास हो रहा था। अत: इस काल का समस्त हिंदी साहित्य आक्रमण और युद्ध के प्रभावों की मन:स्थितियों का प्रतिफलन है।

आदिकाल के इस युद्धप्रभावित जीवन में कहीं भी संतुलन नहीं था। जनता पर विदेशी आक्रांताओं के अत्याचारों के साथ-साथ युद्धकामी देशी राजाओं के अत्याचारों का क्रम भी बढ़ता चला गया। वे परस्पर लड़ने लगे और प्रजा पीड़ित होने लगी। पृथ्वीराज चौहान, जयचंद, परमर्दिदेव आदि की पारस्परिक लड़ाइयां अंतहीन कथाएं बनती गयीं। फलत: यदि जनता में एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ, जो साहस और वीरता के साथ लड़ते हुए जीना चाहता था, तो एक दूसरा ऐसा वर्ग भी पनपा, जो विनाशलीला देख-देख कर संसारेतर बातें सोचने को बाध्य था। अराजकता, गृहकलह, विद्रोह, आक्रमण और युद्ध के वातावरण में यदि एक कवि आध्यात्मिक जीवन की बातें करता था, तो दूसरा मरते-मरते भी जीवन का रस भोग लेना चाहता था। एक तीसरा ऐसा भी कवि था, जो तलवार के गीत गा कर गौरव के साथ जीना चाहता था। यही इस काल की राजनीतिक परिस्थितियों की एक विचित्र देन है, जिसके फलस्वरूप यदि स्त्री-भोग, हठयोग से ले कर आध्यात्मिक पलायन और उपदेशों तक का साहित्य एक ओर लिखा गया, तो दूसरी ओर ईश्वर की लोककल्याणकारी सत्ता में विश्वास करने, लड़ते-लड़ते जीने और संसार को सरस बनाने की भावना भी साहित्य-रचना के मूल में सन्निहित हुई।

सम्राट हर्षवर्द्धन का दरबार संस्कृत के कवियों और पंडितों से भरा रहता था। अपभ्रंश और जन-भाषा (भाषा) के कवियों को उस समय कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता था। किंतु राजपूतों की राजधानियां स्थापित हो जाने के पश्चात लोकभाषा का आदर बढ़ने लगा। मध्यप्रदेश में फिर भी स्थिति विपरीत ही बनी रही। वहां प्रतिहार और गाहड़वार राजा वैदिक भावना के समर्थक बने रहे। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "वे बाहर से बुला-बुला कर अनेक ब्राह्मण वंशों को दान दे कर काशी में बसा रहे थे। संस्कृत को उन्होंने बहुत प्रोत्साहन दिया।"[9] इस प्रकार उचित प्रोत्साहन के अभाव में लोकभाषा के कवियों को काव्यरचना के अनुकूल वातावरण नहीं मिलता था। जो कवि धार्मिक भावना से अनुप्राणित थे, वे ही किसी की परवाह किये बिना काव्य-साधना करते थे। किंतु जो कवि राजाश्रित हो जाते थे, उन्हें अपने राजा को प्रसन्न करने के लिए काव्य-रचना करनी पड़ती थी। धर्म और राजाश्रय से मुक्त रह कर कविता करने वाले कवियों की प्रतिभा के विकास के लिए उचित वातावरण नहीं था।

**धार्मिक स्थिति :** ईसा की छठी शताब्दी तक देश का धार्मिक वातावरण शांत था। विभिन्न धार्मिक संप्रदायों में परस्पर मेलजोल बढ़ने लगा था। वैदिक यज्ञ, मूर्तिपूजा तथा जैन एवं बौद्ध उपासना-पद्धतियां एक साथ चल रही थीं। किंतु सातवीं शताब्दी के साथ देश की धार्मिक परिस्थितियों में परिवर्तन आरंभ हुआ। इस समय आलंबार और नायंबार संत दक्षिण भारत से उत्तर भारत की ओर एक धार्मिक आंदोलन लाये। 642 ई.में जब ह्वेनसांग ने दक्षिण भारत की यात्रा की, तो वहां बौद्ध धर्म के पतन की झलक पा कर वह बहुत दु:खी हुआ था। उत्तर भारत में भी इस समय तक यह प्रभाव आ रहा था। वैष्णव मत इस समय अधिक प्रतिष्ठित नहीं था, अत: जनता में या तो जैन मत सम्मान पा रहा था या शैव मत। परिणाम यह हुआ कि शैव और जैन मत आगे बढ़ने की होड़ में परस्पर टकराने लगे थे। बारहवीं शताब्दी तक वैष्णव आंदोलन तीव्र होने लगा था और शैव आंदोलन ने भी नया रूप ले लिया था। फलत: जैन मत के प्रचारकों की शक्ति घटने लगी थी। राजपूत अहिंसामूलक मतों में विश्वास नहीं करते थे। [illegible] प्रभाव अधिक था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मध्य-देश के गाहड़वार राजा स्मार्त थे तथा मालवा के राजा वैदिक धर्म के समर्थक थे। गंगा और नर्मदा के अंतराल में कलचुरि वंश शैव मत के प्रचार में लगा हुआ था। इसी वंश के प्रतापी राजा कर्ण के प्रभाव से काशी शैव-साधना का केंद्र बनी हुई थी। धीरे-धीरे स्मार्त मतानुयायी जनता भी शैवी होती जा रही थी। वस्तुतः समस्त उत्तर भारत में धीरे-धीरे शैव मत बौद्ध एवं स्मार्त प्रभावों को स्वीकार करता हुआ एक नया रूप लेने लगा था। नाथ मत का उदय इसी रूप में हुआ। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार, ''हिमालय के पाद देश में प्रचलित नाथ-पूजा बौद्ध धर्म को प्रभावित करके वज्रयान शाखा के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी थी।''[10]

डॉ. ईश्वरीप्रसाद के विचार से इस समय राजपूत शौर्य के उदय के कारण ब्राह्मण धर्म की विजय पताका सर्वत्र फहरा रही थी।[11] किंतु साथ ही यह भी सत्य है कि बौद्ध धर्म भी रूप बदल-बदल कर अपनी जड़ें गहरी करने के लिए सर्वत्र प्रयत्नशील था। उसकी महायान शाखा के मंत्र-तंत्र, जादू टोने, ध्यान-धारणा आदि के अनेक प्रभाव निम्न स्तर के हृदयों पर छाये हुए थे। जनता हिंदू साधुओं की जितनी प्रतिष्ठा करती थी, उतनी ही प्रतिष्ठा बौद्ध संन्यासियों की भी थी। इनके प्रभाव से मनुष्यों में आत्मविश्वास की कमी होती जा रही थी। शैव साधकों का बढ़ता हुआ प्रभाव इस दिशा में और अधिक सहायक हुआ। वे जनता को चौरासी लाख योनियों में भटकने का भय दिखा कर निरुत्साहित करने लगे थे। धार्मिक स्थानों की दुर्दशा हो चली थी। व्यभिचार, आडंबर, अर्थ-लोभ आदि जिन दोषों का बौद्ध विहारों में प्राधान्य हो गया था, उन्हीं से हिंदू मंदिर भी ग्रस्त हो चले थे। पुजारी एवं महंत धर्म के सच्चे स्वरूप से अपरिचित होते जा रहे थे तथा अधिकार एवं धन का प्रलोभन प्रबल हो चला था। सोमनाथ मंदिर पर किये गये आक्रमण में महमूद की सफलता से जहां एक ओर शैव एवं जैन-संघर्ष की सूचना मिलती है, वहीं उससे मंदिरों में बढ़े हुए विलास एवं धन-संग्रह का भी परदा खुलता है।

देशव्यापी धार्मिक अशांति के इस काल में एक बाहरी धर्म इस्लाम का प्रवेश भी कम महत्त्व नहीं रखता है। अशिक्षित जनता के सामने अनेक धार्मिक राहें बनती जा रही थीं, किंतु राह दिखाने वाले लोग ईमानदार नहीं थे। बौद्ध संन्यासी यौगिक चमत्कारों का प्रभाव दिखा रहे थे। वैदिक एवं पौराणिक मतों के समर्थक खंडन-मंडन की भूलभुलैयों में पड़े थे। उधर जैन धर्म पौराणिक आख्यानों को नये ढंग से गढ़ कर जनता की आस्थाओं पर नया प्रभाव जमा रहा था। वैष्णवों की धार्मिक कथाएं जैन-कथाएं बनती जा रही थीं। इस प्रकार नास्तिकता आस्तिकता का अवरण ओढ़ कर जनता में भ्रांत वातावरण बना रही थी। वैष्णवों के राम और कृष्ण, जिन्होंने पौरुष में विश्वास करके युद्ध को भी धर्म का अंग सिद्ध किया था, जैन धर्म की दीक्षा लेते हुए दिखाये जाने लगे थे। उधर बौद्धों का वामाचार जैन आश्रमों में प्रविष्ट हो चला था। कुल मिला कर विभिन्न धर्मों के मूल रूप लुप्त हो चले थे तथा यह कहना कठिन हो गया था कि किसी धर्म की निश्चित साधना-पद्धति का स्वरूप क्या है! हां, मति-भ्रम का अंत करने वाली एक दार्शनिक लहर दक्षिण भारत से अवश्य आ रही थी, जिसके प्रचारक शंकराचार्य थे। उनके अद्वैतवाद का प्रचार उत्तर भारत को एक नयी प्राणवायु दे रहा था। यह वायु बढ़ती ही गयी। रामानुज, निम्बार्क आदि आचार्यों ने ज्ञान और भक्तिप्रधान आध्यात्मिकता का प्रसार किया, किंतु जनजीवन पर पंद्रहवीं शताब्दी के अंत से पूर्व उसका प्रभाव अधिक गहरा रंग नहीं ला सका। तात्पर्य यह कि आदिकाल की धार्मिक परिस्थितियां अत्यंत विषम तथा असंतुलित थीं। जनमानस पर गहरा असंतोष, क्षोभ तथा भ्रम छाया हुआ था। कवियों ने इसी मानसिक स्थिति के अनुरूप खंडन-मंडन, हठयोग, वीरता एवं शृंगार का साहित्य लिखा।

**सामाजिक स्थिति :** पूर्वोक्त राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का देश की सामाजिक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिस्थितियों पर भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ रहा था। जनता शासन तथा धर्म दोनों ओर से निराश्रित होती जा रही थी। युद्धों के समय उसे बुरी तरह पीसा जाता था। वह ईश्वर की ओर दौड़ती थी, तो सर्वत्र भ्रम और असहायता की स्थिति मिलती थी। जाति-पांति के बंधन कड़े होते जा रहे थे। उच्च वर्ण के लोग भोग करने के लिए थे तथा निर्धन वर्ण के लोग मानो श्रम करने के लिए ही पैदा हुए थे। नारी भी भोग्या मात्र रह गयी थी। वह क्रय-विक्रय एवं अपहरण की वस्तु बनती जा रही थी। सामान्य जन के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। सांप्रदायिक तनाव बढ़ने के कारण साहित्य और शास्त्र का ज्ञान सामान्य जाति की नारियों व पुरुषों के लिए अप्राप्य बना दिया गया था। सती प्रथा भी इस समय के समाज का एक भयंकर अभिशाप थी। फलतः सामान्य जाति की नारी के लिए पुरुष का जीवन और मृत्यु दोनों ही भयंकर घटना बन जाते थे। अनेक प्रकार के अंधविश्वास बढ़ते जा रहे थे। साधु-संन्यासियों के शापों और वरदानों की ओर लोगों की दृष्टि रहने लगी थी। योगियों का गृहस्थों पर भयंकर आतंक छाया हुआ था। जीवनयापन के साधन दुर्लभ होते जा रहे थे तथा निर्धनता सदा घेरे रहती थी। भांति-भांति के पूजा-पाठ, तंत्र-मंत्र, तथा जप-तप करके भी लोग दुर्भिक्ष, युद्ध तथा महामारियों के संकट नहीं टाल पाते थे। सामाजिक परिस्थिति की इस विषमता में जीने वाली जनता भाव के स्तर पर निरंतर ऐसे विचारों की प्यासी रहती थी, जो उसे सांत्वना दे कर मानसिक शांति की ओर बढ़ा सकें। हिंदी के कवियों को जनता की इस स्थिति के अनुसार काव्य-रचना की सामग्री जुटानी पड़ी।

**सांस्कृतिक परिस्थिति :** हिंदी साहित्य का आदिकाल उस समय आरंभ हुआ, जब भारतीय संस्कृति उत्कर्ष के चरम शिखर पर आरूढ़ हो चुकी थी; और जब उसने भक्तिकाल को अपना दायित्व सौंपा, उस समय भारत में मुस्लिम संस्कृति के स्वर्ण शिखर स्थापित होने लगे थे। इस प्रकार आदिकाल को दो संस्कृतियों के संक्रमण एवं ह्रास-विकास की गाथा कहा जा सकता है।

भारत में मुस्लिम संस्कृति के परिवेश के समय यहां की विभिन्न जातियों, मतों, आचारों-विचारों आदि में दीर्घ काल से चली आ रही, समन्वय की एक व्यापक प्रक्रिया पूर्णता को पहुंच रही थी। हर्षवर्द्धन के विशाल साम्राज्य ने हिंदू धर्म और संस्कृति को राष्ट्रव्यापी एकता का आधार दिया था। इस आधार पर छोटे-मोटे भेदभाव अस्त हो गये थे तथा स्वाधीनता एवं देशभक्ति के भाव दृढ़ होने लगे थे। संगीत, चित्र, मूर्ति, स्थापत्य आदि कलाओं में जातीय गौरव की भावना अभिव्यक्त हो रही थी। स्थापत्य के क्षेत्र में, विशेषतः मंदिरों का निर्माण धार्मिक सद्भाव का द्योतक था। भुवनेश्वर, खजुराहो, पुरी, सोमनाथपुर, बेलोर, कांची, तंजौर आदि स्थानों पर अनेक भव्य मंदिर आदिकाल के आरंभ के समय ही बनाये गये थे। आबू का जैन मंदिर, जो भारतीय स्थापत्य का बेजोड़ नमूना है, ग्यारहवीं शताब्दी की महत्त्वपूर्ण देन है। इस शताब्दी तक हर हिंदू के लिए उसका समस्त जीवन धार्मिक कर्तव्यों का प्रतिरूप था। उसका समस्त चरित्र धर्म-भावना से प्रेरित रहता था। संगीत, मूर्ति, चित्र आदि कलाओं में भी वह अपनी धार्मिकता की ही अभिव्यंजना करता था। अरब इतिहासकार अलबरूनी भारतीय कलाओं में धार्मिक भावनाओं की ऐसी व्यापक अभिव्यक्ति देख कर चकित रह गया था। उसने लिखा था : "वे (हिंदू) कला के अत्यंत उच्च सोपान पर आरोहण कर चुके हैं। हमारे लोग (मुसलमान) जब उन्हें (मंदिर आदि को) देखते हैं, तो आश्चर्यचकित रह जाते हैं। वे न तो उनका वर्णन ही कर सकते हैं, न वैसा निर्माण कर सकते हैं।"[12] महमूद गजनवी भी भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता पर मुग्ध हुआ था। शास्त्रों एवं कलाओं के अनुशीलन में तल्लीन तत्कालीन जन-जीवन उसके लिए ईर्ष्या का विषय बन गया था। किंतु, देश के भाग्य की विडंबना यह रही कि शताब्दियों से श्रेष्ठता की साधना में तल्लीन वह जीवन महमूद जैसे आक्रांताओं की विजयाकांक्षा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का कोपभाजन बन गया और शताब्दियों तक उस कोप से मुक्ति न मिली। राजपूत राजाओं ने प्रतिरोध के लिए युद्ध तो किये, किंतु अपनी रक्षा का ध्येय बहुत कम समय तक प्रधान रहा; उनके लिए राज्य एवं व्यक्तिगत गौरव की रक्षा का नशा अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया।

यद्यपि फारस और अरब के आठवीं-नवीं शताब्दी से ही तसव्वुफ का प्रचार हो रहा था, किंतु आदिकाल के अंत तक भी भारत में उसका पूर्ण प्रभाव न आ सका। यहां जो आक्रांता आये, वे तसव्वुफ़ की उदार भावनाओं के समर्थक नहीं थे। इसलिए इस्लाम का वह तत्त्व, जो संघर्षरत दो जातियों में उदारता पैदा करता, भारतीय संस्कृति का पोषक तत्त्व न बन सका। स्पष्टतः दो संस्कृतियां एक-दूसरे के सामने मानसिक तनाव की स्थिति में खड़ी एक-दूसरे को शंका की दृष्टि से देखती रहीं। आदिकाल में भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप मिलता है, वह परंपरागत गौरव से विच्छिन्न तथा मुस्लिम संस्कृति के गहरे प्रभाव से निर्मित है। तत्कालीन जनजीवन के हर स्वरूप पर इस संस्कृति की व्यापक छाप मिलती है। उत्सव, मेले, परिधान, आहार, विवाह, मनोरंजन आदि सब में मुस्लिम रंग मिल गया है। संगीत, चित्र, वास्तु एवं मूर्ति-कलाओं पर एक ऐसा परदा मिलता है, जिसके भीतर भारतीय परंपरा धीरे-धीरे क्षय होती गयी है। इस काल में संगीत के क्षेत्र में नये प्रयासों का प्रतीक सन् 1237 ई. में रचित 'संगीतरत्नाकर' नामक ग्रंथ है। यह अवश्य है कि इस्लामी संगीत के माध्यम से इस काल में कुछ नये वाद्ययंत्रों से भारतीय संगीत का परिचय हुआ, जिनमें सारंगी, तबला एवं अलगोजा मुख्य हैं। गायन, वादन और नृत्य पर तो स्पष्टतः मुस्लिम प्रभाव की गहरी छाप मिलती है, किंतु ये कलाएं भी युद्धों के कारण विशेष आदर नहीं पा सकीं। इन्हें राजदरबारों में प्रतिष्ठा तब मिली, जब मुस्लिम शासन की नींव सुदृढ़ होने लगी और तभी मुस्लिम बादशाहों का अनुकरण करके हिंदू राजाओं ने भी अपने दरबारों में इन कलाओं को प्रवेश दिया। स्थापत्य के क्षेत्र में इस काल में ऊंची मीनारें (यथा—कुतुबमीनार) तथा ऊंचे दरवाज़े, जो मस्जिदों में मिलते हैं, बनाये गये, जिन पर स्पष्टतः मुस्लिम कला का गहरा प्रभाव है।

चित्रकला के क्षेत्र में इस काल के अंत में जो थोड़ा-बहुत कार्य हुआ, उस पर भी मुस्लिम प्रभाव पाया जाता है। हिंदू कलाकार अजंता की शैली को भूलते जा रहे थे। वे मुस्लिम विचारों और भावनाओं को भारतीय रेखाओं में अटपटे रंगों में भर रहे थे। राजपूत राजाओं के दरबार में मुस्लिम प्रभाव से चित्रकला की जो शैली आरंभ हुई, उसका विकास आदिकाल के पश्चात ही अधिक हो सका।

जहां तक मूर्तिकला का प्रश्न है, मुस्लिम शासक मूर्तिपूजा के विरोधी थे। आदिकाल के आरंभ तक निर्मित अधिकांश मूर्तियां धर्म से प्रभावित थीं। अतः इस्लामी शासन की स्थापना से मूर्तिकला को दुहरा धक्का लगा। एक तो पुरानी मूर्तियां नष्ट-भ्रष्ट की गयीं, दूसरे नयी मूर्तियों के निर्माण की संभावना कम हुई। राजपूत राजाओं को भी मूर्तिकला के विकास के लिए न तो अवसर मिलता था, न उनमें उतनी रुचि ही शेष रह गयी थी।

इस प्रकार आदिकाल की भारतीय संस्कृति, उत्कर्षता प्राप्त निजी परंपरा के ह्रास तथा इस्लाम के सम्मिश्रण की एक ऐसी कहानी है, जिसमें कलात्मक चेतना का मुक्त और जीवंत स्वरूप बहुत कम मिलता है।

**साहित्यिक वातावरण :** इस काल में साहित्य रचना की तीन धाराएं बह रही थीं। प्रथम धारा संस्कृत साहित्य की थी, जो एक परंपरा के साथ विकसित होती जा रही थी। दूसरी धारा का साहित्य प्राकृत एवं अपभ्रंश में लिखा जा रहा था। तीसरी धारा हिंदी भाषा में लिखे जाने वाले साहित्य की थी। नवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक कन्नौज एवं कश्मीर संस्कृत-साहित्य-रचना के केंद्र रहे और इस

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बीच अनेक आचार्य, कवि, नाटककार तथा गद्य लेखक उत्पन्न हुए। आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त, कुंतक, क्षेमेन्द्र, भोजदेव, मम्मट, राजशेखर, विश्वनाथ, भवभूति, श्रीहर्ष तथा जयदेव इसी युग की देन हैं। इसी काल में शंकर, कुमारिलभट्ट, भास्कर, रामानुज आदि आचार्य हुए। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत एवं अपभ्रंश का श्रेष्ठ साहित्य भी प्रभूत मात्रा में इसी युग में लिखा गया। जैन आचार्यों ने मध्यप्रदेश के पश्चिमी सीमांत क्षेत्र में रह कर संस्कृत के पुराणों को नये रूपों में प्रस्तुत किया। उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए प्राकृत, अपभ्रंश के साथ पुरानी हिंदी को भी माध्यम बनाया। इसी प्रकार पूर्वी सीमांत पर सिद्धों ने अपभ्रंश के साथ लोकभाषा हिंदी को रचनाओं में प्रयुक्त किया। इस काल का साहित्य स्पष्टतः राजा, धर्म और लोक के तीन आश्रमों में विभाजित हो चुका था। इनकी भाषाएं भी प्रायः निश्चित हो चुकी थीं। संस्कृत प्रधानतः राजप्रवृत्ति को सूचित करती थी, अपभ्रंश धर्म की भाषा बन गयी थी तथा 'हिंदी' जनता की मानसिक स्थितियों एवं भावनाओं का प्रतिनिधित्व कर रही थी। संस्कृत के कवियों एवं लेखकों को तत्कालीन परिस्थितियां अधिक प्रभावित नहीं करती थीं। वे काव्य और शास्त्र के विनोद में ही अपनी रचनात्मक प्रतिभा का उपयोग कर रहे थे। प्राकृत तथा अपभ्रंश के कवि एवं लेखक धर्मप्रचार में लगे हुए थे, साहित्यतत्त्व उनकी रचनाओं का सहायक अंग था। केवल हिंदी ही इस काल की ऐसी भाषा थी, जिसमें तत्कालीन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में मुखर हो रही थी।

## अपभ्रंश-साहित्य : पृष्ठभूमि और प्रभाव

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आदिकाल में हिंदी साहित्य के समानांतर संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य की भी रचना हो रही थी। इनमें से संस्कृत-साहित्य का तो सामान्य जनता तथा हिंदी कवियों पर उतना प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ रहा था, किंतु अपभ्रंश-साहित्य भाषा की निकटता के कारण हिंदी साहित्य के लिए निरंतर साथ चलने वाली पृष्ठभूमि का काम कर रहा था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'अपभ्रंशकाल' के अंतर्गत अपभ्रंश और आरंभिक हिंदी—दोनों की रचनाएं सम्मिलित कर ली हैं, किंतु नवीन खोजों से यह सिद्ध हो चुका है कि उनमें से कुछ रचनाएं आरंभिक हिंदी साहित्य के अंतर्गत आती हैं और अन्य को अपभ्रंश-साहित्य में रखा जाना ही उचित है। डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन-स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल, घाहिल, कनकामर, अब्दुलरहमान, जिनदत्त सूरि, जोइन्दु, रामसिंह, लक्ष्मीचंद या देवसेन, लुई या सिद्ध कवि भुसुक, किलपाद, दीपंकर, श्रीज्ञान, कृष्णाचार्य, धर्मपाद, टेंटया, महीधर तथा कंबलांवरपाद को अपभ्रंश के कवि मानते हैं।[13]

कवि स्वयंभू 783 ई. के आसपास विद्यमान थे। उनके जन्म एवं मृत्युकाल, जन्म-स्थान आदि के संबंध में कुछ भी विदित नहीं हो सका है। डॉ. जैन के मतानुसार वे कर्नाटक प्रदेश के निवासी थे। 'पउमचरिउ', 'रिट्ठणेमिचरिउ' तथा 'स्वयंभूछंद' नामक तीन ग्रंथ उन्होंने लिखे थे। 'पउमचरिउ' अपूर्ण है, फिर भी इसमें राम का चरित्र विस्तार से वर्णित है। कथा के अंत में राम निर्वाण प्राप्त करते हैं और मुनीन्द्र उपदेश देते हैं कि राग से दूर रह कर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि स्वयंभू ने प्रचलित रामकथा के सत्यों से पलायन नहीं किया है, तथापि राग-विराग की दार्शनिक स्थितियां सर्वत्र प्रधान रही हैं।

अपभ्रंश के दूसरे कवि **पुष्पदंत** दसवीं शताब्दी में हुए थे। वे शैव थे, किंतु बाद में अपने आश्रयदाता के अनुरोध से जैन हो गये थे। उनकी भी तीन रचनाएं मिलती हैं—महापुराण, णयकुमार-चरिउ तथा जसहर-चरिउ। इनकी रचना धार्मिक उद्देश्य से हुई है, फलस्वरूप साहित्यिक शिल्प तथा तात्विक दृष्टि से इन पर 'जिनभक्ति' का प्रभाव सर्वत्र मिलता है। 'महापुराण' में अनेक घटनाएं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और चरित्र हैं—कवि ने 63 महापुरुषों की जीवन-घटनाओं को वर्णन का विषय बनाया है। प्रसंगवश इसमें रामकथा को भी स्थान मिला है। धार्मिक ग्रंथ होने पर भी इसके काव्यत्व में किसी प्रकार की कमी नहीं है। पुष्पदंत ने प्राकृतिक सरस सौंदर्य का अत्यंत निकट से साक्षात्कार किया है। इस ग्रंथ की भाषा में स्पष्टतः हिंदी भाषा के अंकुर दबे हुए दिखायी देते हैं। एक उदाहरण देखिए :

*पडु तडि-वडण पडिय बियडायल, रुज्जिय सीह दाउणो।*
*णच्चिय मत्त मोर कल-कल-रव, पूरिय सयल काणणो॥ (2/13)*

पुष्पदंत की साहित्यरचना शुद्ध धार्मिक भाव से हुई है। महापुराण के प्रथम अध्याय में उन्होंने स्पष्ट लिखा है : ''भैरव राजा की स्तुति में काव्य बनाने से जिस 'मिथ्या' ने जन्म लिया था, उसे दूर करने के लिए ही मैंने महापुराण की रचना की है।'' राजस्तुति से दूर रह कर शुद्ध धार्मिक भाव से साहित्य-रचना की यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से हिंदी में भी आयी। फलतः पूर्वपीठिका में धार्मिक साहित्य की एक पृथक् धारा बहती रही, जिसका विकास मध्यकाल में भक्तिकाव्य के रूप में हुआ। कवि स्वयंभू का इस धारा के आविर्भाव में महत्त्वपूर्ण योगदान था तथा पुष्पदंत ने उसको आगे बढ़ाने के लिए अपनी प्रतिभा की शक्ति दी।

अपभ्रंश के तीसरे प्रमुख कवि **धनपाल** ने दसवीं शती में 'भविसयत्तकहा' की रचना की, जो मनुष्य-हृदय की अत्यंत मार्मिक अभिव्यक्ति है। यद्यपि धर्म-भावना इसकी भी रूढ़ है, तथापि प्रत्यक्षतः लोकहृदय की विभिन्न स्थितियों से इसका संबंध है। इसमें एक वणिक की कथा को स्वाभाविक घटनाओं के संयोजन द्वारा हृदय के विभिन्न घात-प्रतिघातों की अभिव्यक्ति में पूर्ण सफल बनाया गया है। धनपाल की यह रचना चरितकाव्यों की एक नयी कड़ी है, जिसका प्रभाव आदिकालीन हिंदी रचनाओं पर भी पड़ा।

अपभ्रंश साहित्य के समर्थ कवियों में **अब्दुल रहमान** का नाम आता है, जिसने 'संदेशरासक' लिख कर हिंदी-काव्य के लिए एक स्थायी प्रेरणा का काम किया। विद्वानों ने उसका समय बारहवीं शती का उत्तरार्द्ध और तेरहवीं शती का आरंभ माना है। 'संदेशरासक' एक खंडकाव्य है, जिसमें विक्रमपुर की एक वियोगिन के विरह की कथा है। कवि ने उसका नख-शिख वर्णन तथा पति के लिए संदेश अत्यंत सहज भावभूमि पर चित्रित करके काव्य को मार्मिक बना दिया है। आदिकालीन हिंदी साहित्य में शृंगार रस की एक धारा इसी प्रकार की अपभ्रंश कृतियों के अनुकरण पर बह निकली, जो भक्तिकाल में होती हुई रीतिकाल में जा कर प्रधानता प्राप्त कर सकी।

अपभ्रंश में चरितकाव्यों की परंपरा से भिन्न एक रासकाव्य-परंपरा भी आरंभ हुई थी। बारहवीं शताब्दी के **जिनदत्त सूरि** का 'उपदेशरसायनरास' इस दृष्टि से उल्लेख्य है। 80 पद्यों का यह नृत्य-गीतकाव्य रासलीला के उस मूल रूप की ओर ले जाता है, जिसमें हिंदी के आदिकालीन रासोकाव्य लिखे गये होंगे और बाद में वे विकसित हो कर अगेय बन गये। कृष्ण की रासलीला के नृत्यगीत-काव्यों की भक्तिकालीन कड़ी अपभ्रंश की इसी काव्य-परंपरा से जुड़ती है।

अपभ्रंश में दोहा-काव्य की परंपरा भी चल रही थी। कुछ कवि कोश के रूप में दोहा-काव्य लिखते थे और कुछ फुटकर रूप में। **जोइन्दु** नामक कवि की छठी शताब्दी की 'परमात्मप्रकाश' तथा 'योगसार' नामक रचनाओं से अपभ्रंश में दोहा-काव्य आरंभ होता है, और उसकी परंपरा पंद्रहवीं शती तक चलती है। इसी परंपरा में ग्यारहवीं शती में **रामसिंह** ने 'पाहुड दोहा' नामक ग्रंथ लिखा, इसमें इंद्रिय-सुख और अन्य सांसारिक सुखों की निंदा की गयी है तथा त्याग, आत्मज्ञान और आत्मानुभूति को महत्त्व दिया गया है। निश्चय ही जोइन्दु से आरंभ होने वाली परंपरा में लिखित

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'पाहुड दोहा' दार्शनिक काव्य-रचना की एक ऐसी कड़ी है, जो हिंदी साहित्य में आदिकाल से रीतिकाल तक निरंतर जुड़ती चली गयी है। अपभ्रंश के दोहों में ही उपदेशों के साथ-साथ श्रृंगार और वीर रसों की अभिव्यक्ति करने वाले दोहे भी मिलने लगे थे, जिनकी परंपरा में हिंदी दोहा-काव्य का विकास हुआ।

## आदिकाल की उपलब्ध सामग्री

आदिकालीन हिंदी साहित्य की उपलब्ध सामग्री के दो रूप हैं—प्रथम वर्ग में वे रचनाएं आती हैं, जिनकी भाषा तो हिंदी है, परंतु वह अपभ्रंश के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त नहीं हैं, और द्वितीय प्रकार की रचनाएं वे हैं, जिनको अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त हिंदी की रचनाएं कहा जा सकता है।

अपभ्रंश-प्रभावित हिंदी रचनाएं इस प्रकार हैं—(1) सिद्ध-साहित्य, (2) श्रावकाचार, (3) नाथ-साहित्य, (4) राउलवेल (गद्य-पद्य), (5) उक्तिव्यक्तिप्रकरण (गद्य), (6) भरतेश्वर-बाहुबलीरास, (7) हम्मीररासो, (8) वर्णरत्नाकर (गद्य)।

निम्नांकित रचनाएं अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त हिंदी की रचनाएं मानी जा सकती हैं :

(1) खुमाणरासो, (2) ढोलामारू रा दूहा, (3) बीसलदेवरासो, (4) पृथ्वीराजरासो, (5) परमालरासो, (6) जयचंद्रप्रकाश, (7) जयमयंक-जसचंद्रिका, (8) चंदनबालारास, (9) स्थूलिभद्ररास, (10) रेवंतगिरिरास, (11) नेमिनाथरास, (12) वसंत विलास, (13) खुसरो की पहेलियां।

(*क*) **प्रामाणिकता :** उपर्युक्त रचनाओं में से निम्नांकित रचनाओं की प्रामाणिकता संदिग्ध रही है : हम्मीररासो, खुमाणरासो, बीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो, परमालरासो। इनमें से 'हम्मीररासो' अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है, केवल 'प्राकृतपैंगलम्' में प्राप्त आठ छंदों के आधार पर ही उसकी कल्पना चली आ रही है। शेष रासो ग्रंथों के आकार में धीरे-धीरे विकास होता रहा है। अतः उनका मूल रूप क्या था, यह कहना कठिन है। 'बीसलदेवरासो' तथा 'परमालरासो' गेय काव्य रहे हैं, इसलिए उनका आकार ही नहीं, भाषा भी बदलती रही है। 'पृथ्वीराजरासो' के जो संस्करण हस्तलिखित रूप में मिलते रहे हैं, उनके आकार में पर्याप्त असमानता है। अतः इस काव्य के मूल रूप का भी अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं चल सका है। 'खुमाणरासो' के आकार में भी समय-समय पर वृद्धि होती रही है तथा क्षेपक जुड़ते चले गये हैं। अतः रासो-ग्रंथों के वर्तमान रूप पर हम अप्रामाणिकता का आरोप लगा सकते हैं, यह आरोप प्रायः लगाया भी जाता रहा है; किंतु यह स्वीकार करना भी अनुचित नहीं है कि ये सभी रासो ग्रंथ सर्वांश में न तो उत्तरकालीन रचनाएं हैं और न अप्रामाणिक ही। निश्चय ही इन सबकी रचना आदिकाल में हुई थी। धीरे-धीरे इनके आकार एवं रूप में परिवर्तन होता गया। किंतु इस परिवर्तन के कारण आदिकाल में इनके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

(*ख*) **ग्रहण और त्याग का प्रश्न :** हमने आदिकाल की सामग्री के अंतर्गत जिन रचनाओं को सम्मिलित किया है, उनके विषय में हमारी दृष्टि बहुत स्पष्ट है। हम न तो शुद्ध अपभ्रंश की पउमचरिउ, स्वयंभूछंद, महापुराण, जसहरचरिउ, भविसयत्तकहा, संदेशरासक आदि को हिंदी की रचनाएं स्वीकार करना उचित समझते हैं, और न हिंदी के सिद्धकाव्य, नाथसाहित्य, श्रावकाचार, राउलवेल, भरतेश्वरबाहुबलीरास आदि उन ग्रंथों को हिंदी साहित्य के बाहर रखना ही न्यायोचित मानते हैं, जिनमें अपभ्रंश भाषा मात्र एक प्रभावी तत्त्व है, और जो मूलतः हिंदी भाषा में लिखे गये हैं। इसी प्रकार हमारी दृष्टि में पृथ्वीराजरासो, परमालरासो आदि वे रासो ग्रंथ भी आदिकाल की सीमा से त्याज्य नहीं हैं, जो मूलतः पूर्वपीठिका में लिखे गये थे और बाद में जिनका आकार बदला। यदि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आकार वृद्धि या परिवर्तन को निर्णायक तत्त्व मानने लग जायें, तब तो कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, बिहारी आदि की कृतियों की प्रामाणिकता भी विशुद्ध नहीं रह सकती। एक अन्य तर्क यह भी दिया जाता रहा है कि जो रचनाएं जैन और बौद्ध धर्मों के विषय में लिखी गयी हैं, वे साहित्यिक रचनाएं नहीं हैं, अतः उनको साहित्य के इतिहास में स्थान नहीं मिलना चाहिए। आचार्य रामचंद्र शुक्ल इस मत के पोषक हैं, किंतु डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी इस निर्णय से सहमत नहीं हैं। उन्होंने इस संबंध में जो मत व्यक्त किया है, वही अधिक तर्कसंगत है। वे लिखते हैं : ''कई रचनाएं, जो मूलतः जैन धर्म-भावना से प्रेरित हो कर लिखी गयी हैं, निस्संदेह उत्तम काव्य हैं और...'हम्मीररासो' की भांति ही साहित्यिक इतिहास के लिए स्वीकार्य हो सकती हैं। यही बात बौद्ध-सिद्धों की कुछ रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती है।''[14] अतः पूर्वोक्त समस्त सामग्री को आदिकाल के इतिहास की सामग्री मानना ही न्यायसंगत है।

### वर्गीकरण

आदिकाल की पूर्वोक्त सामग्री को अध्ययन की सुविधा के लिए निम्नांकित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(1) सिद्ध-साहित्य, (2) जैन-साहित्य, (3) नाथ-साहित्य, (4) रासो-साहित्य, (5) लौकिक साहित्य, (6) गद्यरचनाएं। सिद्ध-साहित्य के अंतर्गत चौरासी सिद्धों की वे साहित्यिक रचनाएं आती हैं, जो तत्कालीन लोकभाषा हिंदी में लिखी गयी हैं। सरहपा, लुइपा, विरूपा, कण्हपा, कुक्कुरिपा, तांतिपा आदि सिद्धों की कई रचनाएं इस कोटि में आती हैं। जैन-साहित्य में वे हिंदी रचनाएं सम्मिलित हैं, जिनमें जैन-धर्म की कथाओं, दार्शनिक मंतव्यों या उपदेशों को आधार बनाया गया है। श्रावकाचार, भरतेश्वर बाहुबलीरास, चंदनबालारास, स्थूलिभद्ररास, रेवंतगिरिरास तथा नेमिनाथरास इसी वर्ग की रचनाएं हैं। नाथ साहित्य के अंतर्गत गोरखनाथ, चौरंगीनाथ, गोपीचंद, चुणकरनाथ, भरथरी, जलन्धरीनाथ आदि हठयोगी कवियों की रचनाएं सम्मिलित हैं।

रासो और रास नामों वाली सभी पुस्तकें रासो-साहित्य का अंग नहीं हैं। हमने 'रासो-साहित्य' के अंतर्गत उन्हीं रचनाओं को लिया है, जिनमें राजाओं की ऐतिहासिक वीरगाथाएं मिलती हैं। इस वर्ग में हम्मीररासो, खुमाणरासो, बीसलदेवरासो तथा पृथ्वीराजरासो सम्मिलित हैं। कुछ ऐसी रचनाएं भी इसी काल में लिखी गयी थीं, जो उपर्युक्त किसी भी वर्ग में नहीं आतीं। उन रचनाओं में लौकिक विषयों को मुख्य आधार बनाया गया है। अतः हम उन्हें 'लौकिक-साहित्य' वर्ग में रख सकते हैं। ढोला-मारू रा दूहा, जयचंदप्रकाश, जयमयंकजसचंद्रिका, वसंतविलास और खुसरो की पहेलियां आदि इसी कोटि की रचनाएं हैं।

## सिद्ध-साहित्य

सिद्धों ने बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्त्व का प्रचार करने के लिए जो साहित्य जनभाषा में लिखा, वह हिंदी के सिद्ध-साहित्य की सीमा में आता है। राहुल सांकृत्यायन ने चौरासी सिद्धों के नामों का उल्लेख किया है, जिनमें सिद्ध सरहपा से यह साहित्य आरंभ होता है। इन सिद्धों में सरहपा, शबरपा, लुइपा, डोंभिपा, कण्हपा एवं कुक्कुरिपा हिंदी के मुख्य सिद्ध कवि हैं। यहां संक्षेप में इनके व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय दे कर हम साहित्य के विकास में इनकी भूमिका को स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे।

**सरहपा :** ये सरहपाद, सरोजवज्र, राहुलभद्र आदि कई नामों से प्रख्यात हैं। जाति से ये ब्राह्मण थे। इनके रचनाकाल के विषय में सभी विद्वान एकमत नहीं हैं। राहुल जी ने इनका समय 769 ई. माना है, जिससे अधिकांश विद्वान सहमत हैं। इनके द्वारा रचित बत्तीस ग्रंथ बताये जाते हैं, जिनमें

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की थी। इनके लिखे चौहत्तर ग्रंथ बताये जाते हैं, जिनमें अधिकांश दार्शनिक विषयों पर हैं। रहस्यात्मक भावनाओं से परिपूर्ण गीतों की रचना करके ये हिंदी के कवियों में प्रसिद्ध हुए। इन्होंने शास्त्रीय रूढ़ियों का भी खंडन किया है। इनकी कविता का एक उदाहरण देखिए :

*आगम वेअ पुराणे, पण्डित मान बहंति।*
*पक्क सिरिफल अलिअ, जिम वाहेरित भ्रमयंति॥*

**कुक्कुरिपा :** इनका जन्म कपिलवस्तु के एक ब्राह्मणवंश में माना जाता है। इनके जन्मकाल का पता नहीं चल सका है। चर्पटीया इनके गुरु थे। इनके द्वारा रचित सोलह ग्रंथ माने जाते हैं। ये भी सहज जीवन के समर्थक थे। इनकी कविता का एक उदाहरण इस प्रकार है :

*हांउ निवासी खमण भतारे, मोहोर विगोआ कहण न जाइ।*
*फेटलिउ गो माए अन्त उड़ि चाहि, जा एथु बाहाम सो एथु नाहिं।*

इन प्रमुख सिद्ध कवियों के अतिरिक्त अन्य सिद्ध कवि भी जन-भाषा में अपनी वाणी का प्रचार पद्य में करते थे; किंतु उसमें कवित्व का उतना अंश नहीं, जिसके आधार पर उसे साहित्य के विकास में योगदाता माना जा सके। जिन कवियों की पहले चर्चा की गयी है, उनका साहित्य ही हिंदी के सिद्ध-साहित्य के लिए गौरव का विषय है। इन कवियों ने हिंदी साहित्य में कविता की जो प्रवृत्तियां आरंभ कीं, उनका प्रभाव भक्तिकाल तक चलता रहा। रूढ़ियों के विरोध का अक्खड़पन, जो कबीर आदि की कविता में मिलता है, इन सिद्ध कवियों की देन है। योगसाधना के क्षेत्र में भी इनका प्रभाव पहुंचा। सामाजिक जीवन के जो चित्र इन्होंने उभारे, वे भक्तिकालीन काव्य के लिए सामाजिक चेतना की पीठिका बन गये। कृष्ण-भक्ति के मूल में जो प्रवृत्ति मार्ग हैं, उसकी प्रेरणा के सूत्र भी हमें इनके साहित्य में मिलते हैं।

## जैन साहित्य

जिस प्रकार हिंदी के पूर्वी क्षेत्र में सिद्धों ने बौद्ध धर्म के वज्रयान मत का प्रचार हिंदी कविता के माध्यम से किया, उसी प्रकार पश्चिमी क्षेत्र में जैन साधुओं ने अपने मत का प्रचार हिंदी कविता के माध्यम से किया। इन कवियों की रचनाएं आचार, रास, फागु, चरित आदि विभिन्न शैलियों में मिलती हैं। आचार-शैली के जैन-काव्यों में घटनाओं के स्थान पर उपदेशात्मकता को प्रधानता दी गयी है। फागु और चरितकाव्य शैली की सामान्यता के लिए प्रसिद्ध हैं। 'रास' शब्द संस्कृत साहित्य में क्रीड़ा और नृत्य से संबंधित था। भरत मुनि ने इसे 'क्रीडनीयक' कहा है। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' के रचनाकाल तक 'रास' में गायन का भी समावेश हो गया था। अभिनवगुप्त ने 'रास' को एक प्रकार का रूपक माना है। लोक-जीवन में भी श्रीकृष्ण की लीलाओं के लिए 'रास' शब्द रूढ़ हो गया था और आज भी सामान्य जनता उसी अर्थ में इसका प्रयोग करती है। जैन साधुओं ने 'रास' को एक प्रभावशाली रचनाशैली का रूप दिया। जैन तीर्थंकरों के जीवनचरित तथा वैष्णव अवतारों की कथाएं जैन आदर्शों के आवरण में 'रास' नाम से पद्यबद्ध की गयीं। जैन मंदिरों में श्रावक लोग रात्रि के समय ताल दे कर 'रास' का गायन करते थे। चौदहवीं शताब्दी तक इस पद्धति का प्रचार रहा। अत: जैन साहित्य का सबसे अधिक लोकप्रिय रूप 'रास' ग्रंथ बन गये। वीरगाथाओं में 'रास' को ही 'रासो' कहा गया है, किंतु उनकी विषय-भूमि जैन-रासग्रंथों से भिन्न हो गयी है।

पूर्वोक्त प्रमुख शैलयों में लिखित आदिकालीन हिंदी जैन-साहित्य का संक्षिप्त परिचय यहां

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रस्तुत किया जा रहा है :

**श्रावकाचार :** देवसेन नामक प्रसिद्ध जैन आचार्य ने 933 ई. में इस काव्य की रचना की थी। ये एक अच्छे कवि तथा उच्च कोटि के चिंतक थे। इन्होंने अपभ्रंश में भी 'दब्ब-सहाव-पयास' नामक काव्य लिखा था। हिंदी में लिखित इनकी अन्य रचनाएं 'लघुनयचक्र' तथा 'दर्शनसार' हैं, जो काव्य की सीमा में नहीं आतीं। 'श्रावकाचार' में 250 दोहों में श्रावक-धर्म का प्रतिपादन किया गया है। कवि ने गृहस्थ के कर्तव्यों पर भी विस्तार से विचार किया है। इसकी रचना दोहा छंद में हुई है। एक उदाहरण इस प्रकार है :

*जो जिण सासण भाषियउ, सो मइ कहियउ सारु।*
*जो पालइ सइ भाउ करि, सो सरि पावइ पारु॥*

**भरतेश्वर-बाहुबली रास :** मुनि जिनविजय ने इस ग्रंथ को जैन-साहित्य की रास-परंपरा का प्रथम ग्रंथ माना है।[15] इसकी रचना 1184 ई. में शालिभद्र सूरि ने की थी। ये अपने समय के प्रसिद्ध जैन आचार्य तथा अच्छे कवि थे। इस ग्रंथ में भरतेश्वर तथा बाहुबली का चरित-वर्णन है। ये दोनों चरित-नायक संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में भी काव्य-रचना का विषय रहे हैं। प्रस्तुत कृति में इनकी जो कथा वर्णित है, उसमें इन्हें अयोध्यावासी ऋषभ जिनेश्वर के यहां सुनंदा और सुमंगला से उत्पन्न बताया गया है। भरत आयु में बड़े थे एवं पराक्रमी भी अधिक थे। वे अयोध्या के राजा बनाये गये और बाहुबली को तक्षशिला का राज्य मिला। कवि ने दोनों राजाओं की वीरता, युद्धों आदि का विस्तार से वर्णन किया है, किंतु हिंसा और वीरता के पश्चात विरक्ति और मोक्ष के भाव प्रतिपादित करना कवि का मुख्य लक्ष्य रहा है। अतः वीर और शृंगार रसों का निर्वेद में अंत हुआ है। 205 छंदों में रचित यह एक सुंदर खंडकाव्य है। इसकी भाषा में नाटकीयता, उक्तिवैचित्र्य तथा रसात्मकता के सर्वत्र दर्शन होते हैं। आगे की 'रास' या 'रासो' रचनाओं को इस ग्रंथ ने अनेक रूपों में प्रभावित किया है। इसकी कविता का एक उदाहरण यहां प्रस्तुत है :

*बोलह बाहुबली बलवन्त। लोह खण्डि तउ गरवीउ हंत।*
*चक्र सरीसउ चूनउ करिउं। सयलहं गोत्रह कुल संहरउं॥*

**चंदनबालारास :** यह पैंतीस छंदों का एक लघु खंडकाव्य है, जिसकी रचना 1200 ई. के लगभग आसगु नामक कवि ने जालौर में की थी। इसकी कथा-नायिका चंदनबाला चंपा नगरी के राजा दधिवाहन की पुत्री थी। एक बार कौशांबी के राजा शतानीक ने चंपा नगरी पर आक्रमण किया, जिसमें उसका सेनापति चंदनबाला का अपहरण कर ले गया और एक सेठ को बेच दिया। सेठ की स्त्री ने उसे अपार कष्ट दिया। चंदनबाला अपने सतीत्व पर अटल रह कर सब दुःख सहती रही और अंत में महावीर से दीक्षा ले कर मोक्ष को प्राप्त हुई। इस लघु कथानक पर आधारित यह जैन-रचना करुण रस की गंभीर व्यंजना करती है। भाव-सौंदर्य के जितने चित्र इसके रचयिता ने अंकित किये हैं, सभी में उसकी काव्य-निष्ठा व्यंजित है।

**स्थूलिभद्ररास :** 1209 ई. में रचित इस काव्य को जिनधर्मसूरि की कृति माना जाता है। स्थूलिभद्र और कोशा वेश्या के विषय में अन्य रचनाएं भी मिलती हैं, किंतु इस कृति की सभी घटनाओं से उनका प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। अवांतर घटनाओं के माध्यम से लौहघट के रूप में स्थूलिभद्र का संयम चित्रित करके कवि ने काव्य को विशिष्ट बना दिया है। कोशा वेश्या के पास भोगलिप्त रहने वाले स्थूलिभद्र को कवि ने जैनधर्म की दीक्षा लेने के बाद मोक्ष का अधिकारी सिद्ध किया है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

काव्य की भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव अधिक है, फिर भी इसकी भाषा का मूल रूप हिंदी है। धार्मिक दृष्टि से प्रेरित होने पर भी इसकी भावभूमि और अभिव्यंजना काव्यानुकूल है।

**रेवंतगिरिरास :** यह विजयसेन सूरि की काव्यकृति है। 1231 ई. के लगभग लिखित इस काव्य में तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिमा तथा रेवंतगिरि तीर्थ का वर्णन है। यात्रा तथा मूर्ति-स्थापना की घटनाओं पर आधारित यह 'रास' वास्तुकलात्मक सौंदर्य का भी आकर्षण प्रस्तुत करता है। प्रकृति के रमणीक चित्र इस काव्य के भाव तथा कला पक्ष का शृंगार करते हैं। एक उदाहरण देखिए :

*कोयल कलयलो मोर केकारओ*
*सम्मए महुयर महुर गुंजारवो।*
*जलद जाल बंबाले रीझरणि रमाउलु रेहइ,*
*उज्जिल सिहरू अलि कज्जल सामलु॥*

**नेमिनाथरास :** इस काव्य की रचना सुमति गणि ने 1213 ई. में की थी। अट्ठावन छंदों की इस रचना में कवि ने नेमिनाथ का चरित्र सरस शैली में प्रस्तुत किया है। नेमिनाथ के प्रसंग में श्रीकृष्ण का वर्णन इस काव्य का विषय है और इन दोनों के माध्यम से विभिन्न भावों की व्यंजना हुई है। रचना की भाषा अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थानी हिंदी है।

## नाथ साहित्य

सिद्धों की वाममार्गी भोगप्रधान योग-साधना की प्रतिक्रिया के रूप में आदिकाल में नाथपंथियों की हठयोग साधना आरंभ हुई। राहुल जी ने नाथपंथ को सिद्धों की परंपरा का ही विकसित रूप माना है। इस पंथ के चलाने वाले मत्येंद्रनाथ (मछंदरनाथ) तथा गोरखनाथ माने गये हैं। डॉ. रामकुमार वर्मा ने नाथपंथ के चरमोत्कर्ष का समय बारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के अंत तक माना है। उनका मत है कि नाथपंथ से ही भक्तिकाल के संतमत का विकास हुआ था, जिसके प्रथम कवि कबीर थे। इस मंतव्य का समर्थन कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से हो जाता है, नाथपंथी रचनाओं की अनेक विशेषताएं संत-काव्य में यथावत् विद्यमान हैं।

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार, ''नाथपंथ या नाथ-संप्रदाय के सिद्धमत, सिद्धमार्ग, योग-मार्ग, योगसंप्रदाय, अवधूतमत एवं अवधूत-संप्रदाय नाम भी प्रसिद्ध हैं।''[16] उनके इस कथन का यह अर्थ नहीं कि सिद्धमत और नाथमत एक ही हैं। उन्होंने तो नाम ख्याति की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जिसका आशय इतना ही है कि इन दोनों मार्गों को एक ही नाम से पुकारा जाता था और उसका कारण यह था कि मत्येंद्रनाथ (मछंदरनाथ) तथा गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) सिद्धों में भी गिने जाते थे। यह प्रसिद्ध है कि मत्येंद्रनाथ नारी-साहचर्य के आचार में जा फंसे थे, जिससे उनके शिष्य गोरक्षनाथ ने उद्धार किया था। वस्तुतः इस लोकचर्चा के मूल में ही सिद्धमत एवं नाथमत का अंतर छिपा हुआ है। सिद्धगण नारी-भोग में विश्वास करते थे, किंतु नाथपंथी उसके विरोधी थे। सिद्धों की रचनाओं पर पीछे विचार किया जा चुका है, यहां हम नाथ-साहित्य पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे :

**गोरखनाथ :** गोरखनाथ-नाथ साहित्य के आरंभकर्ता माने जाते हैं। वे सिद्ध मत्येंद्रनाथ के शिष्य थे, किंतु उन्होंने सिद्धों के मार्ग का विरोध किया था। गोरखपंथी साहित्य के अनुसार आदिनाथ स्वयं शिव थे। उनके पश्चात मत्येंद्रनाथ हुए, जिनके आचरण का विरोध उनके शिष्य गोरखनाथ ने किया। राहुल सांकृत्यायन ने गोरखनाथ का समय 845 ई. माना है, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी उन्हें नवीं शती का मानते हैं, आचार्य रामचंद्र शुक्ल उन्हें तेरहवीं शती का बतलाते हैं, डॉ. पीतांबरदत्त बड़थ्वाल इन्हें

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ग्यारहवीं शती का मानते हैं तथा डॉ. रामकुमार वर्मा शुक्ल जी के मत से सहमत हैं। नवीन खोजों के अनुसार यही धारणा अधिक प्रबल हुई है कि गोरखनाथ ने ईसा की तेरहवीं शती के आरंभ में अपना साहित्य लिखा था। उनके ग्रंथों की संख्या चालीस मानी जाती है, किंतु डॉ. बड़थ्वाल ने केवल चौदह रचनाएं ही उनके द्वारा रचित मानी हैं, जिनके नाम हैं : सबदी, पद, प्राण संकली, सिष्यादरसन, नरवैबोध, अभैमात्राजोग, आतम-बोध, पंद्रह तिथि, सप्तवार, मछींद्र-गोरखबोध, रोमावली, ग्यानतिलक, ग्यानचौंतीसा एवं पंचमात्रा। डॉ. बड़थ्वाल ने 'गोरखबानी' नाम से उनकी रचनाओं का एक संकलन भी संपादित किया है, जिसकी कई रचनाएं साहित्य की सीमा में आती हैं।

गोरखनाथ से पहले अनेक संप्रदाय थे, जिन सबका उनके नाथपंथ में विलय हो गया था। शैवों एवं शाक्तों के अतिरिक्त बौद्ध, जैन तथा वैष्णव योगमार्गी भी उनके संप्रदाय में आ मिले थे। गोरखनाथ ने उनकी रचनाओं में गुरु-महिमा, इंद्रिय-निग्रह, प्राण-साधना, वैराग्य, मन:साधना कुंडलिनी-जागरण, शून्यसमाधि आदि का वर्णन किया है। इन विषयों में नीति और साधना की व्यापकता मिलती है। यही कारण है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इन रचनाओं को साहित्य में सम्मिलित नहीं किया था। किंतु डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी इस पक्ष में नहीं हैं। पूर्वोक्त विषयों के साथ जीवन की अनुभूतियों का सघन चित्रण होने के कारण इन रचनाओं को साहित्य में सम्मिलित करना ही उचित है। इसी साहित्य का विकास भक्तिकाल में ज्ञानमार्गी संत-काव्य के रूप में हुआ। अत: उसकी साहित्यिकता स्वीकार करना ही अधिक न्यायसंगत है।

गोरखनाथ ने हठयोग का उपदेश दिया था। हठयोगियों के 'सिद्ध-सिद्धांत-पद्धति' ग्रंथ के अनुसार 'ह' का अर्थ है सूर्य तथा 'ठ' का अर्थ है चंद्र। इन दोनों के योग को ही 'हठयोग' कहते हैं।[17] गोरखनाथ ने ही षट्चक्रों वाला योगमार्ग हिंदी साहित्य में चलाया था। इस मार्ग में विश्वास करने वाला हठयोगी साधना द्वारा शरीर और मन को शुद्ध करके शून्य में समाधि लगाता था और वहीं ब्रह्म का साक्षात्कार करता था। गोरखनाथ ने लिखा है कि धीर वह है, जिसका चित्त विकार-साधन होने पर भी विकृत नहीं होता :

*नौ लख पातरि आगे नाचैं, पीछे सहज अखाड़ा।*
*ऐसे मन लै जोगी खेलै, तब अंतरि बसै भंडारा॥*[18]

मूर्त जगत में अमूर्त के स्पर्श को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं :

*अंजन मांहि निरंजन भेट्या, तिल मुख भेट्या तेलं।*
*मूरति मांहि अमूरति परस्या, भया निरंतरि खेलं॥*[19]

गोरखनाथ की कविताओं से स्पष्ट है कि भक्तिकालीन संतमार्ग के भावपक्ष पर ही उनका प्रभाव नहीं पड़ा, बल्कि भाषा और छंद भी प्रभावित हुए हैं। इस प्रकार उनकी रचनाओं में हमें आदिकाल की वह शक्ति छिपी मिलती है, जिसने भक्तिकाल की कई प्रवृत्तियों को जन्म दिया।

**अन्य कवि :** नाथ-साहित्य के विकास में जिन अन्य कवियों ने योग दिया, उनमें चौरंगीनाथ, गोपीचंद, चुणकरनाथ, भरथरी, जलंध्रीपाव आदि प्रसिद्ध हैं। इन कवियों की रचनाओं में उपदेशात्मकता तथा खंडन-मंडन का प्राधान्य है। तेरहवीं शती में इन सभी ने अपनी वाणी का प्रचार किया था। ये सभी हठयोगी प्राय: गोरखनाथ के भावों का अनुकरण करते थे, अत: इनकी रचनाओं में कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं मिलती। गोरखनाथ की हठयोग-साधना में ईश्वरवाद व्याप्त था। इन हठयोगियों ने भी उसका प्रचार किया, जो रहस्यवाद के रूप में प्रतिफलित हुआ और जिसका

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भक्तिकाल में कबीर आदि ने अनुकरण किया।

## रासो-साहित्य

जैन-साहित्य के संदर्भ में यह संकेत किया जा चुका है कि हिंदी साहित्य के आदिकाल में रचित जैन 'रासकाव्य' वीरगाथाओं के रूप में लिखित रासोकाव्यों से भिन्न है। दोनों की रचना-शैलियों का अलग-अलग भूमियों पर विकास हुआ है। जैन-रासकाव्यों में धार्मिक दृष्टि के प्रधान होने से वर्णन की वह पद्धति प्रयुक्त नहीं हुई, जो वीरगाथापरक रासो-ग्रंथों में मिलती है। इन काव्यों की विषयवस्तु का मूल संबंध राजाओं के चरित तथा प्रशंसा से है। फलतः इनका आकार रचनाकारों की मृत्यु के पश्चात भी बढ़ता रहा है। रासोकाव्यों को देखने से पता चलता है कि उनके रचयिता जिस राजा के चरित का वर्णन करते थे, उसके उत्तराधिकारी राजागण अपने आश्रित अन्य कवियों से उसमें अपने चरित भी सम्मिलित करा देते थे। यही कारण है कि इन ग्रंथों में मध्यकालीन राजाओं का भी वर्णन मिलता है तथा भाषा में भी उत्तरवर्ती भाषा रूपों की झलक भी पायी जाती है। राजस्थान के कतिपय वृत्तसंग्रहकर्ताओं ने अधिकांश रासोकाव्यों को इन्हीं बातों के कारण अप्रामाणिक रचनाएं माना है। भाषावैज्ञानिकों से उन्हें समर्थन भी मिल गया है। परंतु इतिहास के मर्म को समझने वाले विद्वान उन वृत्तसंग्राहकों के कथनों पर विश्वास नहीं करते। सत्य यही है कि रासोकाव्यों की रचना आदिकाल में ही हुई थी। उनमें जो अंश उत्तरवर्ती राजाओं से संबंधित हैं, वे प्रक्षिप्त हैं। इसी मान्यता के आधार पर हम रासोग्रंथों को आदिकाल का साहित्य स्वीकार करके यहां उनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे :

**खुमाणरासो :** आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसको नवीं शताब्दी की रचना माना है, क्योंकि इसमें नवीं शती के चित्तौड़-नरेश खुमाण के युद्धों का चित्रण है। राजस्थान के वृत्तसंग्राहकों ने इसको सत्रहवीं शताब्दी की रचना बताया है, क्योंकि इसमें सत्रहवीं शताब्दी के चित्तौड़-नरेश राजसिंह तक के राजाओं का वर्णन मिलता है और इसी आधार पर वे इसको आदिकाल की रचना नहीं मानना चाहते। वास्तविकता यह है कि इस काव्य का मूल रूप नवीं शताब्दी में ही लिखा गया था। तत्कालीन राजाओं के सजीव वर्णन, उस समय की परिस्थितियों के यथार्थ ज्ञान तथा भाषा के 'आरंभिक हिंदी-रूप' के प्रयोग से इसी तथ्य के प्रमाण मिलते हैं।

वृत्तसंग्राहकों के पास इतिहास को समझने की पैनी दृष्टि नहीं थी, इसलिए राजस्थान में रहते हुए भी वे आदिकाल की संपत्ति को भक्तिकाल और रीतिकाल के भंडार में डालने का दुराग्रह करके यश अर्जित करते रहे हैं, जबकि वह संपत्ति उन कालों की प्रवृत्तियों से किसी भी रूप में मेल नहीं खाती। इन लोगों ने रचनाकारों के नामों के संबंध में भी भ्रम पैदा किया है। अधिकांश विद्वानों ने नवीं शती के खुमाण नरेश के समकालीन दलपतविजय को 'खुमाणरासो' का रचयिता माना है, जबकि वृत्तसंग्रहकर्त्ताओं ने यह सिद्ध करने की असफल चेष्टा की है कि उसका रचयिता सत्रहवीं शती ईसवी का दलपलविजय नाम का कोई जैन साधु था। रचना-शैली तथा विषयवस्तु से सिद्ध है कि यह काव्य किसी जैन साधु की रचना नहीं हो सकता। यदि जैन साधु ने इसे लिखा होता तो निश्चय ही इसमें धर्म-भावना किसी-न-किसी रूप में व्याप्त मिलती।

इस ग्रंथ की प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति पूना के संग्रहालय में सुरक्षित है। यह पांच हज़ार छंदों का विशाल काव्यग्रंथ है। राजाओं के युद्धों और विवाहों के सरल वर्णनों से इस काव्य की भावभूमि का विस्तार हुआ है। संदर्भानुसार नायिकाभेद, षट्ऋतु आदि के चित्रण भी मिलते हैं। राजाओं की प्रशंसा काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। वीर रस के साथ साथ श्रृंगार की धारा भी आदि से अंत तक चली है। वस्तुवर्णनों में पर्याप्त रमणीयता है। इसमें दोहा, सवैया, कवित्त आदि छंद प्रयुक्त हुए हैं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तथा इसकी भाषा राजस्थानी हिंदी है। राजाओं के वर्णनों पर आधारित होने पर भी इसमें काव्यात्मक सरस वर्णनों का प्राचुर्य है। एक उदाहरण देखिए :

*पिउ चित्तौड़ न आविऊ, सावण पहिली तीज।*
*जोवै बाट बिरहिणी खिण-खिण अणवै खीज॥*
*सन्देसो पिण साहिबा, पाछो फिरिय न देह।*
*पंछी घाल्या पिंज्जरे, छूटण रो संदेह॥*

प्राचीनकाल में मुद्रण के अभाव के कारण लिपिकर्त्ता जैसा लिखते थे, वैसा ही ग्रंथ की भाषा का रूप हो जाता था। धार्मिक साहित्य में धार्मिक भावना के कारण शब्दों के मूल रूप की रक्षा का प्रयत्न किया जाता था, किंतु रासोकाव्यों के प्रति वैसा कोई आग्रह नहीं होता था। अत: उनकी भाषा पर लिपिकर्ताओं की भाषा के रूपों के प्रभाव पड़ते रहते थे। इस काव्य की भाषा के साथ भी यही हुआ है। वस्तुत: इस ग्रंथ के मूल रूप तक पहुंचने के लिए प्रामाणिक पाठ संपादन की आवश्यकता है।

**बीसलदेवरासो :** इस ग्रंथ की रचना नरपति नाल्ह कवि ने 1155 ई. में की थी, जैसा कि निम्नांकित उद्धरण से स्पष्ट है :

*बारह सै बहोत्तराहां मंझारि। जेठ वदी नवमी बुधिवारि।*
*नाल्ह रसायण आरम्भई। सारदा तूठी ब्रह्मकुमारि।*
*कासमीरां मुख मण्डनी। रास प्रसागों वीसलदेराइ।*

प्रथम पंक्ति से संवत् 1272 वर्ष भी माना गया है, किंतु अधिकांश विद्वान 1212 वि. ही स्वीकार करते हैं। कुछ वृत्तसंग्रहकर्त्ताओं ने इस ग्रंथ को भी आदिकाल की रचना नहीं माना। यह संभव है कि इसमें भी कुछ परिवर्तन होते रहे हों, किंतु उससे इसकी प्राचीनता समाप्त नहीं हो जाती। डॉ. मोतीलाल मेनारिया सोलहवीं शताब्दी के नरपति नामक एक गुजराती कवि को इसका रचयिता बतलाते हैं, किंतु डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने कई प्राचीन प्रतियों के आधार पर सिद्ध किया है कि यह कृति चौदहवीं शताब्दी ईसवी में लिखी गयी थी। नवीन खोजों में एक प्राचीन प्रति मिली है, जिससे इस काव्य का रचनाकाल 1016 ई. सिद्ध होता है। उसमें यह पंक्ति मिलती है, ''संवत् सहस तिहत्तर जानि, नाल्ह कबीसर सरसीय वाणि।''

'बीसलदेवरासो' मूलत: गेय काव्य था, अत: इसके रूप में परिवर्तन होता रहा है। डॉ. मेनारिया का मत है कि यह काव्य गेय नहीं था। शायद वे गेयता का अर्थ 'लोकगीतों की तरह गाया जाना' लगाते हैं और इसी आधार पर यह कहते हैं कि राजस्थान में कभी भी यह गेय नहीं रहा। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने 128 छंदों की एक प्रति का संपादन किया है। यह पाठ 'बीसलदेवरासो' का मूल रूप बताया जाता है। इसकी भाषा आदिकालीन आरंभिक हिंदी का सहज स्वरूप सिद्ध होती है।

'बीसलदेवरासो' हिंदी के आदिकाल की एक श्रेष्ठ काव्य कृति है। इसमें भोज परमार की पुत्री राजमती और अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव तृतीय के विवाह, वियोग एवं पुनर्मिलन की कथा सरस शैली में प्रस्तुत की गयी है। राजमती की बातों से रुष्ट हो कर स्वाभिमानी राजा उड़ीसा चला जाता है। बारह वर्ष तक राजमती उसके विरह में दु:खी रहती है। वह राजभवन की दीवारों को कोसती हुई वन में रहने की कामना करती है। सामंती जीवन के प्रति गहरी अरुचि का सजीव चित्र इस काव्य में मिलता है। 'संदेशरासक' के समान ही 'बीसलदेवरासो' की भावभूमि प्रेम की निश्छल अभिव्यक्ति से सरस है। 'मेघदूत' और 'संदेशरासक' की संदेश परंपरा भी इसमें मिलती है। राजमती

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

एक पंडित के द्वारा अपने पति के पास संदेश भेजती है। जब वह लौट आता है, तब राजमती शृंगार करके उससे मिलती है। शृंगार के वियोग और संयोग पक्षों के अत्यंत मार्मिक चित्र कवि ने प्रस्तुत किये हैं। राजमती में एक कुलीना गृहिणी का स्वाभिमान है, जो विरह के चित्रों को कांतिमय बनाता है। संयोग के समय भी यही कांति काव्यसौंदर्य की वृद्धि करती है। राजमती की वाणी व्यंग्यमयी हो उठती है, जिससे उसके पति का हृदय हिल जाता है। पति के हृदय को बेधने वाला राजमती का वह कुलीनता संस्कार ही उसकी समस्त विरहवेदना का आधार है, वही उसे इस विवशता तक पहुंचाता है :

*अस्त्रीय जनम काईं दीधउ महेस।*
*अवर जनम थारई घणा रे नटेस।*
*राणि न सिरजीय धउलीय गाइ।*
*वणषण्ड काली कोइली।*
*हउं बइसती अंबा नइ चंपा की डाल।*
*भषती दाष बीजोरड़ी।*
*इणि दुष झूरइ अवलाजी बाल।*

इस प्रकार इस काव्य के वर्णनों में एक संस्कार दृष्टि मिलती है, जो नारी-गरिमा की स्थापना करती है। कवि ने प्रकृति के रमणीय चित्रों से भी भाव-चित्रण को सौंदर्य दिया है। बारह मासों तथा ऋतुओं के प्राकृतिक चित्र संयोग और वियोग में उद्दीपन का काम करते हैं। विरह की विभिन्न दशाओं के वर्णन में समस्त प्रकृति सहायक हुई है तथा अनुभूतियों की भी उसने सुकुमारता प्रदान की है।

'बीसलदेवरासो' की शृंगार-परंपरा का आदिकाल में ही अंत नहीं हो जाता। विद्यापति से होती हुई यही परंपरा भक्तिकाल में प्रेमाख्यानक काव्यों तक पहुंची, कृष्णभक्तों को भी उसने प्रभावित किया तथा रीतिकाल में जा कर उसका सरस शृंगारकाव्य के रूप में चरम विकास हुआ।

**हम्मीररासो :** 'प्राकृतपैंगलम' में इस काव्य के कुछ छंद मिले थे और उन्हीं के आधार पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसके अस्तित्व की कल्पना की थी। उनका अनुमान था कि इसमें हम्मीर और अलाउद्दीन के युद्धों का वर्णन तथा हम्मीर की प्रशंसा चित्रित होगी। किंतु राहुल जी ने उन पद्यों को जज्जल नामक किसी कवि की रचना घोषित किया है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि 'हम्मीर' शब्द अमीर का विकृत रूप है, जो किसी पात्र का नाम न हो कर एक विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। अत: शार्ङ्गधरकृत 'हम्मीररासो' का अस्तिव संकट में पड़ा हुआ है। अभी तक इसकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी है।

**परमालरासो :** उत्तरप्रदेश में 'आल्हखंड' के नाम से जो काव्य प्रचलित है, वही 'परमालरासो' के मूल रूप का विकसित रूप माना जाता है। यह रासो लोकगेयकाव्य था, अत: इसके मूल की सुरक्षा नहीं हो सकी। इसमें अनेक अंश बाद में जोड़े गये हैं तथा अनेक अंशों में वर्णन और भाषा संबंधी परिवर्तन किये गये हैं। धीरे-धीरे 'आल्हा' लोकगीत की एक शैली ही बन गया है। अत: आधुनिक विषयों पर 'आल्हा' लिखे जाने लगे हैं।

प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के अभाव में मौखिक रूप में उपलब्ध 'आल्हखंड' के आधार पर 'परमालरासो' के साहित्यिक स्वरूप के विषय में कुछ भी कहना कठिन है। 1865 ई. में चार्ल्स इलियट ने जिस 'आल्हखंड' का प्रकाशन कराया था, वह मौखिक परंपरा पर ही आधारित है। इसी प्रति के आधार पर डॉ. श्यामसुंदरदास ने 'परमालरासो' का पाठ निर्धारित किया और उसे नागरी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रचारिणी सभा से प्रकाशित कराया। इस नये रूप में उपलब्ध 'परमालरासो' यद्यपि सर्वथा प्रामाणिक कृति तो नहीं है, तथापि आदिकाल में रचित मूल 'परमालरासो' के ऐतिहासिक अस्तित्व को समझने में सहायक अवश्य है।

'परमालरासो' का रचयिता जगनिक नामक कवि माना जाता है, जो महोबा के राजा परमर्दिदेव का आश्रित था। उसने इस काव्य में आल्हा और ऊदल नामक दो वीर सरदारों की वीरतापूर्ण लड़ाइयों का वर्णन किया है। इसी आधार पर इसका रचनाकाल तेरहवीं शती का आरंभ माना जाता है। इसमें वीर-भावना का जितना प्रौढ़ रूप मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। आज भी जब इसे गायक संगीत के साथ गाते हैं, तब दुर्बलों में भी तलवार चलाने की स्फूर्ति आ जाती है। विवाह और शत्रु-प्रतिशोध वीरता के प्रदर्शन का आधार रहे हैं। युद्धों के अत्यंत प्रभावशाली वर्णनों की इस काव्य में भरमार है। भावों के अनुसार ही भाषा भी चली है और उसमें एक विशेष शब्द-ध्वनि सर्वत्र व्याप्त हो गयी है। गेयता का गुण इस काव्य को विकसनशील लोकगाथाकाव्य की श्रेणी में ले जाता है, किंतु इसकी रचना लोकगाथा के रूप में न हो कर शुद्ध काव्य के रूप में ही हुई है।

भाषा की दृष्टि से इस काव्य का मूल्यांकन कर पाना संभव नहीं, क्योंकि मूल रूप का कोई भी अंश अब शुद्ध रूप में सुरक्षित नहीं है। उसमें अनेक प्रकार के परिवर्तन होते रहे हैं। छंद-विधान की दृष्टि से इस काव्य की एक विशेष शैली है, जिसे आल्हा-शैली कहना ही उचित है। इसकी वर्णन-शक्ति और प्रभावोत्पादकता को समझाने में निम्नांकित पंक्तियां कुछ सहायक हो सकती हैं :

*बारह बरस लौ कूकर जीवै, अरु तेरह लौ जियै सियार।*
*बरस अठारह क्षत्रिय जीवै, आगे जीवन कौ धिक्कार॥*

**पृथ्वीराजरासो** : आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि "(चंद) हिंदी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं और इनका 'पृथ्वीराजरासो' हिंदी का प्रथम महाकाव्य है।"[20] उन्होंने चंदबरदाई को दिल्ली-नरेश पृथ्वीराज चौहान का सामंत और राजकवि माना है। महामहोपाध्याय पं. हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार चंदबरदाई का जन्म लाहौर में हुआ था। इनके जन्मकाल के संबंध में कई धारणाएं हैं। शुक्ल जी ने इनका जन्म वर्ष 1168 ई. माना है तथा लिखा है कि "रासो के अनुसार ये भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। इनके पूर्वजों की भूमि पंजाब थी, जहां लाहौर में इनका जन्म हुआ था। इनका और महाराज पृथ्वीराज का जन्म एक ही दिन हुआ था और दोनों ने एक ही दिन यह संसार भी छोड़ा था।"[21] शुक्ल जी ने हरप्रसाद शास्त्री जी द्वारा प्राप्त चंद का एक वंशवृक्ष भी प्रस्तुत किया है। वह वंशवृक्ष शास्त्री जी को नानूराम भाट से प्राप्त हुआ था, जो स्वयं को चंद का वंशज मानता था। उसके कथनानुसार चंद के चार पुत्र थे, जिनमें से चतुर्थ पुत्र जल्ल था। जिस समय पृथ्वीराज को मुहम्मद गौरी बंदी बना कर अपने देश ले जा रहा था, उस समय चंद जी महाराज के साथ गया था तथा अपने पुत्र जल्ल को 'पृथ्वीराजरासो' सौंप गया था। इस संबंध में यह उक्ति प्रसिद्ध हैं : "पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज।" कहा जाता है कि जल्ल ने चंद के अधूरे महाकाव्य को पूर्ण किया था :

*रघुनाथ चरित हनुमन्त कृत, भूप भोज उद्धरिय जिमि।*
*प्रथिराज सुजस कवि चन्दकृत, चन्द नन्द उद्धरिय तिमि॥*

यह प्रसिद्ध है कि चंद ने स्वामी के हितार्थ अपना बलिदान किया था। वह बहुत प्रतिभाशाली, दूरदर्शी, वीर तथा स्वामिभक्त कवि था। पृथ्वीराज उसे सदा अपने सखा के समान साथ रखते थे एवं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उसकी हर बात मानते थे।

*पृथ्वीराजरासो के संस्करण* : 'पृथ्वीराजरासो' के चार संस्करण प्रसिद्ध हैं। सबसे बड़ा संस्करण वह है, जिसका प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से हुआ है तथा जिसकी हस्तलिखित प्रतियां उदयपुर के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। सभा ने 1585 ई. में लिखित प्रति के आधार पर 'रासो' का संपादन कराया था। इस संस्करण में 69 समय (खंड) तथा 16306 छंद हैं। द्वितीय रूप में उपलब्ध 'पृथ्वीराजरासो' 7000 छंदों का काव्य माना जाता है। इसका प्रकाशन नहीं हुआ, किंतु अबोहर एवं बीकानेर में इसकी प्रतियां सुरक्षित हैं, जो सत्रहवीं शताब्दी ईसवी में लिखी गयी हैं। तीसरा लघु संस्करण 3500 छंदों का है, जिसमें केवल 19 समय हैं। इस संस्करण की हस्तलिखित प्रतियां भी बीकानेर में सुरक्षित हैं। चौथा संस्करण सबसे छोटा है, जिसमें केवल 1300 छंद हैं। इसी को डॉ. दशरथ शर्मा आदि कुछ विद्वान मूल रासो मानते हैं।

*प्रामाणिकता :* इन चारों संस्करणों को देख कर यह प्रश्न सहज रूप में उत्पन्न होता है कि इनमें से प्रामाणिक संस्करण कौन-सा है? और इसी से लगा हुआ वह विवाद भी बढ़ जाता है, जिसके अनुसार 'पृथ्वीराजरासो' को एक जाली ग्रंथ माना गया है। हिंदी साहित्य के इतिहास में यह ग्रंथ इस दृष्टि से सर्वाधिक विवादास्पद रहा है। विद्वानों में कई वर्ग बन गये हैं। डॉ. श्यामसुंदरदास, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, मिश्रबंधु, कर्नल टॉड आदि विद्वानों ने यह माना है कि 'पृथ्वीराज-रासो' का जो संस्करण सभा से प्रकाशित हुआ है, वही प्रामाणिक है। दूसरा वर्ग रामचंद्र शुक्ल, कविराजा श्यामलदान, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, डॉ. बूलर, मुंशी देवीप्रसाद आदि विद्वानों का है, जो 'रासो' को सर्वथा अप्रामाणिक ग्रंथ घोषित करते हैं। आश्चर्य है कि शुक्ल जी अप्रामाणिक मानते हुए भी उसे अपने इतिहास में आदिकाल के अंतर्गत स्थान देते हैं। तृतीय वर्ग के विद्वान मुनि जिनविजय, डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि हैं। वे मानते हैं कि पृथ्वीराज चौहान के दरबारी कवि चंदबरदाई ने ही 'पृथ्वीराज रासो' लिखा था, किंतु उसका मूल रूप आजकल उपलब्ध नहीं है। चौथा मत नरोत्तमदास स्वामी का है। उन्होंने सबसे अलग यह बात कही है कि चंद ने पृथ्वीराज के दरबार में रह कर मुक्तक रूप में 'रासो' की रचना की थी। उनके इस मत से कि 'रासो' मूलतः प्रबंधकाव्य नहीं था, अन्य कोई विद्वान सहमत नहीं है।

वस्तुतः आरंभ में यह ग्रंथ विवादास्पद नहीं था। कर्नल टॉड ने इसकी वर्णन-शैली तथा काव्य-सौंदर्य पर रीझ कर इसके लगभग 30 हजार छंदों का अंगरेज़ी में अनुवाद भी किया था। तासी भी इसकी प्रामाणिकता में संदेह नहीं करते थे। बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने इस ग्रंथ का मुद्रण भी आरंभ कराया था। सन् 1875 ई. में डॉ. बूलर ने 'पृथ्वीराजविजय' ग्रंथ के आधार पर इसे अप्रामाणिक रचना घोषित किया। फलतः राजस्थान के कुछ इतिवृत्तखोजियों—कविराजा मुरारिदान, श्यामलदान, गौरीशंकर हीराचंद ओझा आदि ने इस काव्य को अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिए सायास तर्क जुटाये। इन विद्वानों के तर्कों को निराधार सिद्ध करने का प्रयत्न किया डॉ. दशरथ शर्मा ने। वस्तुतः यह विवाद इतना उलझ गया है कि अब तक कुछ विद्वान इसे अप्रामाणिक कृति सिद्ध करने में जुटे हुए हैं। वे एतदर्थ नये-नये तर्क खोजते रहते हैं। कुछ विद्वान ऐसे भी हैं, जो उनके द्वारा खोजे गये तर्कों को निराधार सिद्ध करने के लिए सामग्री जुटाते रहते हैं।

*अप्रामाणिकता के लिए तर्क :* जो लोग 'रासो' को अप्रामाणिक रचना मानते हैं, उनके तर्क निम्नलिखित हैं :

1. 'रासो' में उल्लिखित घटनाएं और नाम इतिहास से मेल नहीं खाते। इसमें परमार, चालुक्य और चौहान क्षत्रियों को अग्निवंशी माना गया है, जबकि वे सूर्यवंशी प्रमाणित

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हुए हैं।

2. पृथ्वीराज का दिल्ली गोद जाना, संयोगिता-स्वयंवर आदि घटनाएं इतिहास से मेल नहीं खातीं।
3. अनंगपाल, पृथ्वीराज तथा बीसलदेव के राज्यों के संदर्भ भी अशुद्ध हैं।
4. पृथ्वीराज की मां का नाम कर्पूरी था, जो 'रासो' में कमला बताया गया है।
5. पृथ्वीराज की बहन पृथा का विवाह मेवाड़ के राणा समरसिंह के साथ बताया गया है, जो अशुद्ध है।
6. पृथ्वीराज द्वारा गुजरात के राजा भीमसिंह का वध भी इतिहासम्मत नहीं है।
7. 'रासो' में पृथ्वीराज के चौदह विवाहों का वर्णन हैं, जो इतिहास से मेल नहीं खाता।
8. पृथ्वीराज के हाथों गौरी की मृत्यु की सूचना भी इतिहाससम्मत नहीं है।
9. पृथ्वीराज द्वारा सोमेश्वर का वध भी इतिहाससम्मत नहीं है।
10. 'रासो' में दी गयीं तिथियां अशुद्ध हैं। सभी तिथियों में इतिहास की तिथियों से प्रायः 90-100 वर्षों का अंतर है।

यदि उपर्युक्त तथ्यों को ही अंतिम प्रमाण मान लिया जाये, तब तो 'पृथ्वीराजरासो' को अप्रामाणिक रचना कहा ही जा सकता है। किंतु दूसरे पक्ष के तर्क भी इस संबंध में विचारणीय हैं :

1. डॉ. दशरथ शर्मा का मत है कि इसका मूल रूप प्रक्षेपों में छिपा हुआ है। इधर जो लघुतम प्रतियां मिली हैं, उनमें इतिहास संबंधी अशुद्धियां नहीं हैं।
2. घटनाओं में 90-100 वर्षों का जो अंतर है, वह संवत् की भिन्नता के कारण है। मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने 'अनंद संवत्' की कल्पना की है और उसके अनुसार तिथियां भी शुद्ध सिद्ध होती हैं।
3. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि 'पृथ्वीराज रासो' में बारहवीं शताब्दी की भाषा की संयुक्ताक्षरमयी अनुस्वारांत प्रवृत्ति मिलती है, जिससे यह बारहवीं शताब्दी का ग्रंथ सिद्ध होता है।
4. 'रासो' इतिहासग्रंथ न हो कर काव्यरचना है, अतः उसमें इतिहास का सत्य खोजना और उसके न मिलने पर उसे अप्रामाणिक घोषित करना अनुचित है।
5. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह मत भी है कि 'पृथ्वीराजरासो' की रचना शुक-शुकी संवाद के रूप में हुई थी। अतः जिन सर्गों में यह शैली नहीं मिलती, उन्हें प्रक्षिप्त मानना चाहिए। यदि यह तर्क मान लिया जाये, तो वे ही अंश प्रायः प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं, जिनमें इतिहासविरुद्ध तथ्य हैं।
6. जिन लोगों ने 'रासो' में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग देख कर उसे जाली ग्रंथ माना है, उनके विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि चंद लाहौर का निवासी था। वहां उस समय मुसलमानों का प्रभाव आ चुका था, अतः उसकी भाषा में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का मिश्रण होना सहज है।

वस्तुतः विद्वानों ने बाल की खाल खींचने की चेष्टा में अनेक ऐसे तर्क प्रस्तुत किये हैं, जो इस काव्य की प्रामाणिकता के लिए उचित कसौटी नहीं बन सकते। 'पृथ्वीराजरासो' ही नहीं, 'रामचरितमानस', 'सूरसागर', 'बीजक' आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों पर भी यदि अनेक प्रकार के तर्क दिये जायें तो उनकी प्रामाणिकता भी किसी-न-किसी सीमा तक संदेह का विषय बन सकती है। 'रामचरितमानस' में तो प्रक्षिप्त अंश स्वीकार किये भी जाते हैं। कई ऐसे पद भी मिलते हैं, जो

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सूर और मीरा दोनों के नाम से प्रसिद्ध हैं। अतः प्रक्षिप्तांशों या इतिहासविरोधी कथनों के आधार पर 'पृथ्वीराजरासो' को अप्रामाणिक मानना उचित नहीं है। चंद ने पृथ्वीराज के जीवन की घटनाओं का जैसा सजीव वर्णन किया है, उसे देख कर यही कहा जा सकता है कि वह पृथ्वीराज का समकालीन कवि था। अतः 'रासो' को अप्रामाणिक मानना उचित नहीं है। यदि इस विवाद में कोई सत्यांश झलकता भी है, तो वह इतना ही कि 'पृथ्वीराजरासो' में पर्याप्त प्रक्षिप्त अंशों का भी समावेश हुआ है।

**काव्योत्कर्ष :** चंदबरदाई ने इस ग्रंथ में अनेक घटनाओं का समावेश किया है तथा कुछ घटनाएं बाद में भी चारणों ने जोड़ी हैं, जिससे ऐसा लगता है कि यह काव्य एक घटनाकोश है; परंतु समस्त घटनाचक्र के भीतर कवि ने अपनी रसदृष्टि का नियोजित रूप में विस्तार किया है। अतः इसे 'महाभारत' की तरह एक विशाल महाकाव्य मान सकते हैं। इस काव्य में दो रस प्रमुख हैं—शृंगार और वीर। ये दोनों रस पृथ्वीराज चौहान के चरित्र के दो पार्श्व उन्मुक्त करते हैं। वह जितना वीर है, उतना ही शृंगारप्रेमी भी है। कवि ने एक ओर तो युद्धों के वर्णन में वीरता और पराक्रम की अद्भुत सृष्टि की है, दूसरी ओर रूप-सौंदर्य और प्रेम के भी सरस चित्र उतारे हैं। नारी दोनों रसों के केंद्र में है। उसे पाने के लिए युद्ध होते हैं और पा लेने पर जीवन का विलासपक्ष अपनी पूरी रमणीयता के साथ उभरता है। ध्यान देने की बात यह है कि प्रेम और शौर्य के सभी चित्रों में कवि ने कुछ नैतिक मर्यादाओं का निर्वाह किया है, जिसके कारण रस की सात्त्विकता सुरक्षित रही है।

'पृथ्वीराजरासो' में वस्तुवर्णन का भी आधिक्य है। कवि ने बड़ी तन्मयता के साथ नगरों, वनों, सरोवरों, क़िलों आदि का वर्णन किया है। युद्धक्षेत्र के दृश्य तो अद्भुत प्रतिभा का परिचय देते ही हैं, कवि ने समय और क्रिया को एक साथ बिंबों में बांध कर रंग और ध्वनियों को भी रूपायित कर दिया है। भाव, वस्तु और ध्वनि की सम्मिलित प्रभावान्विति के उदाहरण 'पृथ्वीराजरासो' में भरे पड़े हैं। एक उदाहरण देखिए :

*बज्जिय घोर निसांन रान चौहान चहूं दिसि।*
*सकल सूर सामंत समर बल जंत्र मंत्र तिसि।*
*उट्ठि राज प्रथिराज बाग लग्ग मनहु वीर नट।*
*कढ़त तेग मन बेग लगत मनहु बीजु झट्ठ घट्ट।*

नारी-सौंदर्य का भी एक चित्र देखिए :

*मनहुं कला ससिभान कला सोलह सो बन्निय।*
*बाल बैस ससि ता समीप अमृत रस पिन्निय।*
*बिगसि कमल स्त्रिग भ्रमर नैनु खंजन म्रिग लुट्टिय।*
*हीर कीर अरु बिंब मोती नख सिख अहिघुट्टिय।*
*छत्रपति गयंद हरि हंस गति बिह बनाय संचै सचिय।*
*पद्मिनी रूप पद्मवतिय, मनहुं काम कामिनी रचिय॥*

वीर और शृंगार रसों के पोषण के लिए आवश्यकतानुसार अन्य रसों की भी योजना की गयी है और उनके वर्णन में भी कवि ने उतनी ही तन्मयता दिखलायी है।

'पृथ्वीराजरासो' की भाषा के संबंध में भी विवाद रहा है। वस्तुतः यह काव्य पिंगल शैली में लिखा गया है, जो ब्रजभाषा का वह रूप है जिसमें राजस्थानी बोलियों का मिश्रण है। कवि ने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तत्कालीन सभी प्रचलित शब्दों का स्वतंत्रता से प्रयोग किया है। शब्दचयन रसानुकूल है, अतः वीर रस के चित्रणों में प्राकृत और अपभ्रंश के शब्द भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं। जहां तक भाषा की शक्ति का प्रश्न है, कवि ने अभिधेय भाषा को भी पर्याप्त प्रभावशाली रूप दिया है। लाक्षणिक तथा ध्वन्यात्मक शब्दावली ने भी प्रायः भाषा-सौंदर्य की वृद्धि की है। अलंकारों का चंद ने सहज प्रयोग किया है। शायद ही कोई अलंकार ऐसा हो, जिसे उन्होंने छोड़ा हो। लगभग अड़सठ प्रकार के छंदों में लिखा गया यह महाकाव्य, सभी दृष्टियों से आदिकाल की एक श्रेष्ठ कृति सिद्ध होता है।

## लौकिक साहित्य

आदिकाल में पूर्वोक्त प्रमुख प्रवृत्तियों के अतिरिक्त स्वच्छंद रूप में लौकिक विषयों पर ग्रंथ लिखने की प्रवृत्ति भी मिलती है। यहां हम आदिकाल में उपलब्ध सभी लौकिक काव्यों का परिचय दे कर इस स्वच्छंद धारा की प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे :

**ढोला-मारू रा दूहा :** ग्यारहवीं शताब्दी में रचित यह एक लोकभाषाकाव्य है। 'दूहा घणां पुराणां अछइ' पंक्ति इसकी प्राचीनता की ओर ही संकेत करती है। पश्चिमी हिंदी प्रदेश (राजस्थान) में यह काव्य अत्यंत लोकप्रिय रहा है। इस संबंध में यह कथन प्रसिद्ध है :

*सोरठियो दूहो भलो, भलि मरवण री बात।*
*जोबन छाई धण भली, तारां छाई रात॥*

मूलतः दोहों में रचित इस लोककाव्य को सत्रहवीं शताब्दी में कुशलराय वाचक ने कुछ चौपाइयां जोड़ कर विस्तार दिया। इसमें ढोला नामक राजकुमार और मारवणी नामक राजकुमारी की प्रेमकथा का वर्णन है। कछवाहा वंश के राजा नल का पुत्र ढोला जिस समय तीन वर्ष का था तथा पूगल के राजा पिंगल की कन्या मारवणी केवल डेढ़ वर्ष की थी, तभी दोनों का विवाह कर दिया गया था। कहा जाता है कि पूगल में अकाल पड़ने पर राजा पिंगल विवश हो कर नल के राज्य में चले गये थे। तभी पिंगल की रानी ढोला पर रीझ गयी थी और उसने मारवणी से उसका विवाह कर दिया था। जब ढोला बड़ा हुआ, तब उसका दूसरा विवाह मालवा की राजकुमारी मालवणी से हो गया। इस पर मारवणी दुःखी रहने लगी। उसने ढाढ़ियों के माध्यम से ढोला के पास अपना विरह-संदेश भेजा। मालवणी के प्रयत्न से बहुत समय तक ढोला को वह संदेश न मिल सका। किंतु अंत में मारवणी अपने उद्देश्य में सफल हुई और दोनों के पुनर्मिलन का समय आया।

यह लोकप्रसिद्ध प्रेमगाथा आदिकालीन श्रृंगार-काव्य परंपरा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। 'राउलवेल' के कवि रोडा ने प्रेम-वर्णन की जो परंपरा हिंदी में आरंभ की थी, उसको 'ढोला-मारू रा दूहा' की रचना से विकास की एक नयी दिशा प्राप्त हुई। वीर रस की कृतियों में भी श्रृंगार एक प्रभावी तत्त्व बन कर समा गया। इस काव्य में नारी-हृदय की अत्यंत मार्मिक व्यंजना मिलती है। प्रेम का सात्त्विक, किंतु सरस पक्ष इसमें विस्तार से प्रस्तुत हुआ है। कवि ने मारवणी के भावों की व्यंजना में संस्कृत के प्रेमकाव्यों की परंपरा का प्रभाव भी ग्रहण किया है। ऋतुओं की सरसता के संदर्भ में मालवणी और मारवणी के विरह-वर्णन हृदय पर स्थायी प्रभाव डालते हैं।

'ढोला-मारू रा दूहा' का मूल रूप दोहों में मिलता है। ये दोहे श्रृंगार रस की जो परंपरा आरंभ करते हैं, वह आगे जा कर बिहारी के काव्य में प्रतिफलित हुई। मारवणी के वियोग और संयोग के चित्र इन दोहों में अधिक भावपूर्ण बन पड़े हैं, जबकि बिहारी के दोहों की नायिका के संयोग एवं वियोग-चित्रों में कलापक्ष की प्रधानता है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, नरोत्तमदास स्वामी, विश्वनाथ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रसाद मिश्र आदि विद्वानों ने इस काव्य के भाव-गांभीर्य को परिष्कृत लोकरुचि का प्रतीक माना है।

**जयचंद-प्रकाश और जयमयंक-जसचंद्रिका :** इन कृतियों का 'राठौड़ां री ख्यात' में उल्लेख मिलता है, किंतु अभी तक ये उपलब्ध नहीं हुई हैं। कहा जाता है कि प्रथम कृति की रचना भट्ट केदार नामक कवि ने की थी। रामचंद्र शुक्ल के अनुसार यह एक महाकाव्य था, ''जिसमें महाराज जयचंद के प्रताप और पराक्रम का वर्णन था।''[22] इसी प्रकार की दूसरी कृति 'जयमंयक-जसचंद्रिका' की रचना मधुकर कवि ने 1186 ई. में की थी। ये दोनों ही ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। किंतु 'राठौड़ां री ख्यात' में यह उल्लेख मिलता है कि दयालदास ने इन्हीं ग्रंथों के आधार पर कन्नौज तक का वृत्तांत लिखा था। अत: इन कृतियों की रचना तो अवश्य हुई होगी, किंतु ये सुरक्षित नहीं रह सकीं।

**वसंत-विलास :** डॉ. माताप्रसाद गुप्त के शब्दों में, ''यह एक अत्यधिक सरस साहित्यिक कृति है और आधुनिक भारतीय आर्यभाषा साहित्य के आदिकाल के इतिहास में बेजोड़ हैं।''[23] सर्वप्रथम यह रचना 'हाजी मुहम्मद-स्मारकग्रंथ' में सन् 1952 ई. में प्रकाशित हुई थी। श्री केशवलाल हर्षादराय ध्रुव इसके प्रथम संपादक थे। उन्होंने 1451 ई. की एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर इसका संपादन किया था। इससे इस कृति की रचना का काल 1451 ई. से पूर्व होना चाहिए। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने विभिन्न प्रमाण दे कर यह मत निर्धारित किया है कि ''यह रचना अधिक-से-अधिक विक्रमीय चौदहवीं शती के मध्य, ईसवी तेरहवीं शती की होनी चाहिए।''[24]

इस कृति के रचयिता का पता नहीं चल सका है। इसमें चौरासी दोहों में वसंत और स्त्रियों पर उसके विलासपूर्ण प्रभाव का मनोहारी चित्रण किया गया है। इस काव्य में प्रकृति और नारी दोनों का मदोन्मत्त स्वरूप शृंगार रस की तीव्र धारा प्रवाहित करता है। आदिकाल को विद्वानों ने अब तक वीरगाथाओं और धार्मिक उपदेशों का ही युग माना था, 'वसंत-विलास' ने 'राउलवेल' की शृंगार-भावना को चरम सीमा पर पहुंचा दिया है। इस काव्य के सरस वर्णनों को पढ़ कर सूर की शृंगार-भावना या उसके पश्चात रीतिकालीन कवियों की शृंगारिकता साहित्य में अचानक आ जाने वाली प्रवृत्ति नहीं रह जाती और न उसके लिए संस्कृत साहित्य में परंपरा की खोज करना ही आवश्यक प्रतीत होता है। इस कृति में आदिकाल के जनजीवन का वह सरस पक्ष उभरता है, जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल शायद तलवारों की झनझनाहट के आधिक्य के कारण नहीं सुन पाये थे। स्त्री-पुरुष-प्रकृति—तीनों में अजस्र बहती मदोन्मत्तता का इस काव्य में जैसा चित्रण मिलता है, वैसा रीतिकालीन हिंदी कवि भी नहीं कर सके। एक ओर कोकिल-कुंजन, दूसरी ओर पतियुक्ता युवतियों का विलास, जिसे देख कर विधुर जन तथा वियोगिनी नारियां किशोर मदन का मदिर कुंजन मन में अनुभव करती हुई कांपने लगती हैं! कवि लिखता है :

*इणि परि कोइलि कूजइ, पूजइं युवति मणोर।*
*विधुर वियोगिनि धूजइं, कूजइ मयण किसोर॥*

इस काव्य की भाषा से ही पिंगल सरस ब्रजभाषा का रूप लेती प्रतीत होती है। उस पर उस आलंकारिता की गहरी छाया भी यहीं से मिलने लगती है, जिसका रीतिकाल तक पूर्ण विकास हुआ।

**खुसरो की पहेलियां :** आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार खुसरो (1255-1324) ने 1283 ई. के लगभग रचना आरंभ की थी। उनका जन्म एटा के पटियाली गांव में हुआ था। कहा जाता है कि वे बड़े विनोदी और सहृदय व्यक्ति थे। जनजीवन के साथ घुलमिल कर काव्यरचना करने वाले कवियों में खुसरो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने जनता के मनोरंजन के लिए पहेलियां और मुकरियां

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लिखी थीं। आदिकाल में खड़ी बोली को काव्य की भाषा बनाने वाले वे पहले कवि हैं। उनके द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या सौ बतायी जाती है, जिनमें अब बीस-इक्कीस ही उपलब्ध हैं। 'खालिकबारी', 'पहेलियां', 'मुकरियां', 'दो सुखने', 'ग़ज़ल' आदि उनमें अधिक प्रसिद्ध हैं। कुछ लोग कहते हैं कि अमीर खुसरो नामक कई व्यक्ति हुए हैं, अतः इन सब रचनाओं को पहेलीकार अमीर खुसरो की रचनाएं मानना एक भ्रम है। कुछ भी हो, आदिकाल में जो अमीर खुसरो हुए थे, उनकी पहेलियां और मुकरियां ही प्रसिद्ध हैं, जिनमें मनोरंजन और जीवन पर गहरे व्यंग्य एक साथ देखने को मिलते हैं। अमीर खुसरो को भाव की गहराई की दृष्टि से भले ही महत्त्व न दिया जाये, किंतु भाषा की दृष्टि से उनकी पहेलियां साहित्य के इतिहास का सदा एक महत्त्वपूर्ण अंग रहेंगी। वस्तुतः उनके काव्य में खड़ी बोली काव्यभाषा बनने का सफल प्रयास कर रही थी। उनकी भाषा के ऐतिहासिक महत्त्व को समझने के लिए एक पहेली यहां प्रस्तुत है :

*तरवर से इक तिरिया उतरी, उनने बहुत रिझाया।*
*बाप का उसने नाम जो पूछा, आधा नाम बताया॥*
*आधा नाम पिता पर प्यारा, बूझ पहेली गोरी।*
*अमीर खुसरो यों कहे, अपने नाम न बोली—'निबोरी'॥*

पहेली रचना की इस शैली का हिंदी काव्य में आगे विस्तार नहीं हुआ, किंतु रहस्य-प्रवृत्ति के विकास पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ा। चमत्कार और कुतूहल की प्रवृत्तियां भी खुसरो की प्रेरणा से हिंदी काव्य में विशेष स्थान पाने लगीं। फलतः रीतिकाल में कुतूहल-काव्यों की एक लंबी परंपरा चली, जिसका अभी तक किसी ने अध्ययन नहीं किया है।

## गद्य साहित्य

आदिकाल में काव्य-रचना के साथ-साथ गद्य-रचना की दिशा में भी कुछ स्फुट प्रयास लक्षित होते हैं। 'राउलवेल' (चंपू), 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' और 'वर्णरत्नाकर' इस संदर्भ में उल्लेखनीय रचनाएं हैं।

**राउलवेल :** यह एक शिलांकित कृति है, जिसका पाठ बंबई के प्रिंस ऑफ़ वेल्स संग्रहालय से उपलब्ध कर प्रकाशित कराया गया है। विद्वानों ने इसका रचनाकाल दसवीं शताब्दी माना है। यह गद्य-पद्यमिश्रित चंपूकाव्य की प्राचीनतम हिंदी कृति है। इसकी रचना 'राउल' नायिका के नख-शिख वर्णन के प्रसंग में हुई है। आरंभ में कवि ने राउल के सौंदर्य का वर्णन पद्य में किया है और फिर गद्य का प्रयोग किया गया है। इस कृति का रचयिता रोडा नामक कवि माना जाता है। 'राउलवेल' से हिंदी में नख-शिख-वर्णन की शृंगार-परंपरा आरंभ होती है। इसकी भाषा में हिंदी की सात बोलियों के शब्द मिलते हैं, जिनमें राजस्थानी प्रधान है। कवि ने विषय-वर्णन बड़ी तन्मयता से किया है। नायिका राउल का शृंगार आकर्षण से भरा हुआ है। वह सहज रूप में जितनी सुंदर है, उतनी ही सहज सुंदर उसकी सज्जा भी है। इस सौंदर्य के अनुकूल ही उसकी भावदशा भी है। रोडा ने उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग करके उसके रूपवर्णन को प्रभावशाली बना दिया है। कवि ने गद्य में भी आलंकारिक भाषा का कितनी सफलता से प्रयोग किया है, इसका एक उदाहरण देखिए :

*''एहु गौड़ तुहुं एकु को पनु अउर वर...को...तइं सहुं या बालइ। जणुणु मालवीय देसुहि आवंतु आम्बदेउ जाउं (जानूं) आपणा हथिआरहु भूलइ। इहां अम्हारइ दुभगी खौंप हरिउ भइ।''*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण :** महाराज गोविंदचंद्र के सभा-पंडित दामोदर शर्मा ने बारहवीं शताब्दी में इस पुस्तक की रचना की थी। गोविंदचंद्र का शासनकाल 1154 ई. माना गया है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, " 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इससे बनारस और आसपास के प्रदेशों की संस्कृति और भाषा आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और उस युग के काव्य-रूपों के संबंध में भी थोड़ी-बहुत जानकरी प्राप्त होती है।"[25] डॉ. मोतीचंद भी डॉ. द्विवेदी के मत का समर्थन करते हैं। इस ग्रंथ की भाषा का एक उदाहरण इस प्रकार है : "वेद पढ़ब, स्मृति अभ्यासिब, पुराण देखब, धर्म करब।" इससे गद्य और पद्य दोनों शैलियों की हिंदी भाषा में तत्सम शब्दावली के प्रयोग की बढ़ती हुई प्रवृत्ति का पता चलता है। हिंदी-व्याकरण की ओर उस समय ध्यान दिया जाने लगा था, यह भी इस पुस्तक से सिद्ध होता है।

**वर्णरत्नाकर :** मैथिली हिंदी में रचित गद्य की यह पुस्तक डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी और पंडित बबुआ मिश्र के संपादन में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित हो चुकी है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार इसकी रचना चौदहवीं शताब्दी में हुई होगी। इसका लेखक ज्योतिरीश्वर ठाकुर नामक मैथिल कवि था। इसकी भाषा में कवित्व, आलंकारिकता तथा शब्दों की तत्समता की प्रवृत्तियां मिलती हैं। गद्य में नायिका का वर्णन करते हुए ज्योतिरीश्वर लिखते हैं :

> *"उज्ज्वल कोमल लोहित सम सुंतल सालंकार पंचगुण संपूर्ण चरण अकठिन सुकुमार गज हस्त प्राय जानु युगल पीन मांसले कूर्म्म पृष्ठाकार श्रोणी गंभीर दक्षिणावर्त मण्डलाकृति नाभि क्षीण सुकुमार वलित तिनि गुण समन्वित पुष्टि-ग्राह वेकण्य स्याम सदृश सुकुमार सूक्ष्म सुवेष दीर्घ छह गुणे सम्पूर्ण कोमलता।*
> *पुनु कयिसनि नायिका। कामदेवक नगर अइसन शरीर। निष्कलंक चाँद अइसन मुह। कंदल खंजीरीर अइसन लोचन। यमुना का तरंग अइसन भुजइ।"*

इन पंक्तियों से 'वर्णरत्नाकर' एक शब्दकोश-सा प्रतीत होता है, किंतु सौंदर्यग्राहिणी प्रतिभा भी साथ-ही-साथ स्पष्ट प्रभाव दिखा रही है। हिंदी-गद्य के विकास में 'राउलदेव' के पश्चात 'वर्णरत्नाकर' का योगदान भी कम नहीं कहा जा सकता। निश्चय ही इन कृतियों के बीच के समय में भी गद्य-रचनाएं लिखी गयी होंगी, परंतु विभिन्न कारणों से अब वे उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी, ये कृतियां गद्यधारा के प्रवाह की अखंडता तो सिद्ध करती ही हैं।

## आदिकाल की उपलब्धियां

हिंदी साहित्य के इतिहास का यह काल, जिसका हमने 'आदिकाल' के नाम से विवेचन किया है, भाषा और साहित्य की दृष्टि से पर्याप्त संपन्न है। उसकी समस्त देन का अभी तक सम्यक् मूल्यांकन नहीं हो पाया है, क्योंकि विद्वान प्रामाणिकता एवं भाषा के विवादों में उलझे रहे हैं। कई ऐसी उपलब्धियां सामने आती हैं, जिनका परवर्ती साहित्य पर अपार ऋण है। यहां हम उन पर भाषा तथा साहित्य की दृष्टि से अलग-अलग विचार करेंगे :

**भाषारूप और संप्रेषणक्षमता :** जैसा कि हम आरंभ में संकेत कर चुके हैं, आदिकाल में हिंदी भाषा साहित्यिक अपभ्रंश के साथ साथ चलती हुई क्रमशः जनभाषा के रूप में साहित्य-रचना का माध्यम बन रही थी। समस्त आदिकाल में दो भाषाओं की यह समानांतर रचना-प्रक्रिया चलती रहने से अधिकांश विद्वान गंभीरतापूर्वक विचार करके दोनों भाषाओं के साहित्यों को अलग-अलग करने का अवसर नहीं पा सके। फल यह हुआ कि कभी अपभ्रंश के नाम पर भी हिंदी का आरंभिक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

साहित्य छोड़ दिया गया है और कभी पुरानी हिंदी के नाम पर अपभ्रंश का परवर्ती साहित्य भी हिंदी साहित्य में सम्मिलित कर लिया गया है। जब भाषा का रूप और साहित्य ही अपनी सीमाएं नहीं बना सका था, तब उसकी संप्रेषणक्षमता की जांच कैसे होती? किंतु नयी खोजों से अब यह धारणा स्पष्ट हो चुकी है कि जनभाषा के रूप में हिंदी आठवीं शताब्दी में ही साहित्य का माध्यम बन चुकी थी तथा वह अपभ्रंश भाषा के साथ अपनी भूमि पर आगे भी बढ़ने लगी थी। फलतः अपभ्रंश में साहित्य लिखने वाले कवि अवसर पा कर हिंदी में भी कविता किया करते थे। दोनों भाषओं में यह स्पर्धा भक्तिकाल के आरंभ तक चलती रही और अंत में एक दिन ऐसा भी आया, जब अपभ्रंश का खेमा छोड़ कर सभी कवि हिंदी के मार्ग पर अग्रसर हो गये। आदिकालीन साहित्य में प्रयुक्त हिंदी की यह बहुत बड़ी शक्ति है, जो उसकी संप्रेषण-क्षमता की सूचना देती है। एक विशाल क्षेत्र की अनेक बोलियों से उसका एक सामान्य रूप विकसित हो रहा था। वह मिथिला से मेवाड़ तक की व्यापक जनभाषा बन कर जनमानस को प्रभावित कर रही थी। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के शब्द भी यदि अपनी सीमा छोड़ कर हिंदी का दामन पकड़ना चाहते थे, तो कविगण बड़े प्रेम से उनके सामने अपना हृदय खोल देते थे। जनभाषा के प्रयोग की यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे जनजीवन के सभी रूपों को प्रस्तुत करने में समर्थ होती जा रही थी। आदिकालीन साहित्य की भाषा कठिनता से सरलता की ओर जाती हुई भी एक व्याप्क रूप ग्रहण करने की ओर बढ़ रही थी। दूर-दूर रहते हुए भी तथा भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों में रमते हुए भी सभी हिंदी कवियों की प्रतिभा एकत्व का आभास दे रही थी। अनजाने ही उन सबका एक ऐसा प्रयास चल रहा था, जिसके फलस्वरूप समस्त हिंदी क्षेत्र की बोलियां अपनी सांस्कृतिक एकता की स्थापना कर सकें। संभवतः इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कविगण संस्कृत से तत्सम शब्द ले कर अपनी भाषा में प्रयुक्त करने लगे थे। यद्यपि आदिकाल में भाषा की यह प्रवृत्ति पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पायी थी, किंतु प्रयास की सघनता अपना चमत्कार दिखाने लगी थी। इसी चमत्कार के फलस्वरूप पंद्रहवीं शताब्दी का अंत होते-होते हिंदी का वह रूप उभरा, जो समस्त देश की प्रमुख सांस्कृतिक भाषा बन गया।

आदिकालीन हिंदी का संस्कृत और संस्कृति की ओर जाने वाला व्यापक जनभाषायी स्वरूप अभिधेय रूप में भी पर्याप्त संप्रेषणीय था। कवियों ने उन शब्दों को छोड़ दिया था, जो घिसेपिटे धार्मिक अर्थों को ढोते थे। तत्कलीन जीवन की भावभूमि का साथ देने वाली शब्दावली सरल रूप में भी सशक्त होती जा रही थी। उसमें नये पुरुषार्थों तथा नये अनुभवों को व्यंजित करने की शक्ति बड़ी स्फूर्ति के साथ जन्म ले रही थी। सिद्धों की जीवनदृष्टि तथा स्पष्टवादिता, नाथपंथियों का हठयोग, जैनों की अहिंसा, चारणों-भाटों की प्रशस्तियां, खुसरो की लोकानुरंजनता—सबको एक साथ अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य जुटाने में तल्लीन हिंदी भाषा न अलंकार की परवाह करती थी, न लक्षणा-व्यंजना आदि की। ये सब साधन सहज ही उसके अनुवर्ती होते जा रहे थे। यही कारण है कि आदिकालीन साहित्य की भाषा एक ओर तो रूप-भेद होने पर अभेद है, और दूसरी ओर संप्रेषण-क्षमता में भी वह बेजोड़ है। कोई भी अलंकार ऐसा नहीं, जो उसमें न फबता हो, कोई भी छंद ऐसा नहीं, जो उसका साथ न देता हो। उसमें कवियों ने जीवन के जिस किसी भी पार्श्व को चित्रित किया है, वह सजीव हो उठा है। आदिकालीन कवियों का हिंदी भाषा की रूपात्मक एकता का प्रयास, जो पंद्रहवीं शताब्दी तक पहुंचते-पहुंचते पूर्ण सफल हो चुका था, इतिहास से मिटाया नहीं जा सकता।

**कथ्य और शिल्प :** आदिकालीन साहित्य जनजीवन की जिन अनुभूतियों से प्रकट हुआ था, उनमें पर्याप्त विविधता थी। अतः वह एक भीड़ का सायास लिखित साहित्य नहीं है, अपितु एक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सचेतन समाज की सहज स्थितियों से उत्पन्न साहित्य है। यही कारण है कि उसमें जीवन की विभिन्न दशाओं और स्वच्छंद प्रवृत्तियों के विविध चित्र मिलते हैं। कथ्य की दृष्टि से आदिकालीन साहित्य में एक साथ कई परंपराओं का उदय दिखायी देता है। अपभ्रंश और संस्कृत की रचनाओं में इनमें से कुछ परंपराओं के स्रोत अवश्य है, किंतु उनकी शक्ति और गंभीरता हिंदी की अपनी देन है। समाज की विभिन्न स्थितियों पर दृष्टिपात करके सहज जीवन का मार्ग सुझाने से ले कर हठयोग की साधना तक आदिकाल में मुक्तक काव्यरूप का जो विस्तार हुआ, निश्चय ही उसका पर्याप्त ऐतिहासिक महत्त्व है। अगर आदिकालीन सिद्धों और नाथपंथियों के काव्यरूपों को हिंदी क्षेत्र से निकाल दिया जाये, तो फिर भक्तिकालीन निर्गुणपंथियों की काव्यगंगा का उद्‌गम बताना कठिन हो जायेगा। और जो लोग मैदान से ही गंगा को गंगा मानते हैं, जिस पर्वत से वह निकली है, उसे ऊबड़-खाबड़ भूमि समझ कर छोड़ देना चाहते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि तब उनकी गंगा को जीवन कौन देगा?

हमें तो स्पष्टतः आदिकालीन हिंदी साहित्य में धार्मिक कथाओं और ऐतिहासिक चरितों की उन प्रवृत्तियों का विकास होता दिखायी देता है, जो भक्तिकाल में 'रामचरितमानस' एवं 'पद्मावत' जैसे महाकाव्यों में नये रूपों में समृद्ध हुई। आदिकालीन जैन-साहित्य, रासो-साहित्य तथा लोककाव्यों की वे प्रवृत्तियां ही, जो नारी और युद्ध पर आधारित थीं, भक्ति का आवरण ओढ़ कर आगे बढ़ीं और अब तक उनका विकास नहीं रुका है। प्राकृत और अपभ्रंश से 'राउलवेल' तक शृंगार की जो परंपरा आयी थी, वह भक्तिकाल को प्रभावित करती हुई रीतिकाल तक चली गयी। नारी के सहज शृंगार से ले कर उसके मानसिक सौंदर्य तक पहुंचने की प्रवृत्ति भी आदिकाल में पूर्ण वेग से उभरी। नख-शिख-वर्णन, विरह के विभिन्न रूप, विरहिणी नायिका द्वारा प्रियतम के पास संदेश-प्रेषण, स्वकीया और परकीया के प्रेम की सीमाएं, ये सब आदिकालीन साहित्य के कथ्य में अंतर्निहित हैं तथा इनके कारण अनेक काव्यरूपों एवं आलंकारिक वर्णनों की परंपराओं का विकास हुआ है। यही वह युग है, जब नाथों का दुरूह हठयोग काव्य भी यदि रचा और सुना जा सकता था, तो खुसरो की मनोरंजक पहेलियों जगनिक की वीररसपूर्ण कविता में भी लोग बड़ी रुचि में रम सकते थे। संयोगिनी के सुखद पर्यंक से ले कर क्षत्राणी के वीर पति की बलि तक कवियों की प्रतिभा का विस्तार था। प्रकृति के अनेकविध रूपों के साथ मनुष्य-जीवन के विभिन्न स्वरूपों को चित्रित करने में भी इस युग के कवि पूर्ण सक्षम थे। उनके पास प्रकृति के सौंदर्य को ग्रहण करने की ही नहीं, उससे अपनी अभिव्यंजना को समर्थ बनाने की भी प्रतिभा थी। तात्पर्य यह कि इस युग में एक साथ धार्मिक मनोवृत्तियों का सात्त्विक चित्रण मिलता है, शृंगार की सहज सरसता दिखायी देती है, वीर रस के भुजाएं फड़काने वाले दृश्य मिलते हैं तथा ऐसे चित्र सामने आते हैं, जिनसे एक स्वतंत्र जाति के अहंकार का पूरा बिंब उसकी समस्त टूटन के साथ उभरता है।

आदिकालीन साहित्य में कथ्य की विविधता के साथ छंद-प्रयोग की विविधता भी रही है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने छंद की दृष्टि से कुछ सीमाएं बनायी हैं। उन्होंने श्लोक को लौकिक संस्कृत का, गाथा को प्राकृत का तथा दोहे को अपभ्रंश का मुख्य छंद स्वीकार किया है। वस्तुतः दोहा छंद अपभ्रंश में जनभाषा से ही गया था, इसलिए इस छंद को हिंदी का मुख्य छंद मानना चाहिए। 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक से डॉ. द्विवेदी ने अपभ्रंश के नाम पर यह दोहा उद्‌धृत किया है :

*महं जाणिअं मिअलोअणी णिसअरु कोइ हरेइ।*
*जाव णु णवतलिसामल धाराहरु वरिसेइ॥*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आरंभिक हिंदी और अपभ्रंश को एक भाषा मानने वाले विद्वान ही इस दोहे को अपभ्रंश का उदाहरण मान सकते हैं, अन्यथा इसमें आरंभिक हिंदी की प्रवृत्तियां ही प्रधान हैं। आदिकालीन हिंदी साहित्य में दोहा-छंद इस प्रकार की हिंदी भाषा का सबसे प्रबल माध्यम रहा है। स्वच्छंद अनुभूतियों के चित्रण के लिए अधिकांश हिंदी कवियों ने इसी छंद को चुना है। इस छंद की परंपरा भक्तिकाल और रीतिकाल से होती हुई आधुनिक काल तक चली आयी है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार संस्कृत और प्राकृत में तुक मिलाने की प्रथा नहीं थी, दोहा छंद से ही तुक की प्रवृत्ति आरंभ हुई। वे इसे अपभ्रंश की प्रवृत्ति बताते हैं। वस्तुतः यह जनभाषा की प्रवृत्ति थी, जो उसके साहित्यिक भाषा बनने पर रचना का मुख्य अंग बन गयी। अपभ्रंश ने भी जनकंठ से ही इस प्रवृत्ति को ग्रहण किया था। अतः अपभ्रंश और हिंदी दोनों में दोहा-शैली का प्रयोग एक ही स्रोत से आरंभ हुआ। यह कथन सत्य प्रतीत नहीं होता कि अपभ्रंश ने हिंदी को दोहा शैली दी थी। अपभ्रंश के बहुप्रचलित छंद तो पज्झटिका, अरिल्ल और उनसे बने कडवक आदि थे; जो हिंदी के आदिकालीन साहित्य में दोहे के समान लोकप्रिय नहीं हुए। अरिल्ल के स्थान पर हिंदी में चौपाई का प्रयोग बढ़ा। कथाकाव्यों में इसकी प्रतिष्ठा देखी जा सकती है। इसकी लोकप्रियता को देख कर ही भक्तिकाल में जायसी और महाकवि तुलसी ने आदिकाल का ऋण स्वीकार किया है। चौपाई के साथ दोहा रख कर कडवक बनाने की जो प्रथा सिद्धों ने अपनी हिंदी रचनाओं में आरंभ की, उसी को आगे चल कर उक्त दोनों महाकवियों ने अपने काव्यों की मुख्य शैली बना लिया।

आदिकालीन रासोकाव्यों में वीर रस की व्यंजना के लिए छप्पय, तोटक, तोमर, पद्धरि और नाराच का प्रयोग अधिक किया गया। इनमें से कुछ छंद अपभ्रंश में भी प्रयुक्त हो रहे थे। अतः कुछ विद्वान शैली की समानता के कारण रासो-काव्यों को भी अपभ्रंश का काव्य समझ बैठे हैं। आल्हा या वीर छंद आदिकाल में दोहा के समान ही लोकप्रिय रहा होगा। जगनिक ने उसी लोकप्रियता को देख कर 'परमालरासो' में उसे काव्य की एक विशेष शैली बना कर प्रयुक्त किया है।

छंद के अतिरिक्त कथा कहने के ढंग की भी कुछ शिल्प-पद्धतियां इस काल में प्रचलित रहीं। इनमें कथानक-रूढ़ियों का महत्त्व है। रासो-ग्रंथों में इस प्रकार की रूढ़ियों का विशेष प्रयोग मिलता है। शुक, दूती, दैवी शक्तियां आदि इन रूढ़ियों के साधन रहे हैं। ये रूढ़ियां अपभ्रंश-साहित्य में भी मिलती हैं। संस्कृत-साहित्य भी इनसे अछूता नहीं रहा। अतः हिंदी के आदिकालीन साहित्य में इनका प्रयोग काव्यरचना की एक संस्कृति का द्योतक है, जिसका आगे भी विकास होता रहा। इन्हीं रूढ़ियों में से एक महत्त्वपूर्ण रूढ़ि थी संवाद-शैली, जिसे आगे चल कर तुलसी जैसे महाकवि ने भी अपनाया था।

काव्यरचना की दो अन्य महत्त्वपूर्ण शैलियों का भी आदिकाल में विकास हुआ था, जिन्हें कुछ विद्वानों ने भाषा के नाम से ही अभिहित कर एक भ्रम पैदा कर दिया है। ये शैलियां हैं : डिंगल तथा पिंगल। आदिकालीन हिंदी साहित्य में वीर रस की रचनाओं में डिंगल-शैली का प्रयोग होता था तथा कोमल भावों की अभिव्यंजना पिंगल-शैली में की जाती थी। जब कवि डिंगल-शैली का प्रयोग करता था तो वह हिंदी बोलियों के कर्कश शब्दों को अपनाता था। किंतु पिंगल-शैली के प्रयोग में धीरे-धीरे कोमल शब्दावली का विकास हो रहा था। डिंगल की कर्कश शब्दावली सीमित थी, अतः इस शैली के साहित्य का अधिक विस्तार न हो सका। पिंगल-शैली लोकप्रिय होती चली गयी और उसका ब्रजभाषा में विगलन हो गया। जो लोग 'डिंगल' को राजस्थानी भाषा का पर्याय मानते हैं, वे भूल करते हैं।

वस्तुतः राजस्थान के आदिकालीन साहित्य की भाषा 'हिंदी' की ये दोनों ही शैलियां चारणों,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भाटों द्वारा प्रयुक्त होती थीं तथा भक्तिकाल और रीतिकाल में भी उनके प्रयोग की वह क्षीण परंपरा चलती रही। आज भी राजस्थान की काव्यरचनाओं में इन दोनों शैलियों की उस परंपरा के अवशेष मिल जाते हैं।

सारांश यह है कि आदिकालीन हिंदी साहित्य अपभ्रंश-साहित्य के समानांतर विकसित हुआ है। इस युग में हिंदी भाषा जनजीवन से रस ले कर आगे बढ़ी है। उसने अपनी अनेक बोलियों को एकरूपता की ओर बढ़ा कर एक सूत्र में बांधा है। जीवन के विविध पक्षों का उसके साहित्य में चित्रण हुआ है। परवर्ती कालों के लिए उसने अनेक परंपराएं डाली हैं। अनेक काव्यरूप तथा शैली-शिल्प आदिकालीन साहित्य में प्रकट और पुष्ट हुए हैं। अतः आदिकाल को हिंदी साहित्य का एक समृद्ध युग माना जा सकता है।

## संदर्भ


1. देखिए, 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका', नवीन संस्करण, भाग 2
2. देखिए, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', वक्तव्य, पृ. 3
3. देखिए, '*गंगा*' पत्रिका, जनवरी, 1933 के अंक में राहुल जी का लेख
4. हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ. 21
5. देखिए, 'हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास', प्रथम भाग, पृ. 365
6. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 28
7. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 4-5
8. वही, पृ. 8
9. हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ. 37
10. वही, पृ. 40
11. देखिए, 'हिस्ट्री ऑफ़ मेडिकल इंडिया' (1945), पृ. 30
12. हिस्ट्री ऑफ़ मुस्लिम रूल इन इंडिया, डॉ. ईश्वरीप्रसाद, पृ. 22
13. देखिए, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृ. 59-84
14. हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ. 11
15. देखिए, 'भारतीय विद्या', भाग 2, अंक 1, 1997 वि.
16. नाथ-संप्रदाय, पृ. 60
17. देखिए, 'नाथ-संप्रदाय', डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 135
18. गोरखबानी, पृ. 227, 217
19. वही
20. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 30
21. वही
22. वही, पृ. 50
23. वसंत-विलास और उसकी भाषा, भूमिका, पृ. 1, 5
24. वही
25. हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ. 8

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

# द्वितीय खंड

# पूर्व-मध्यकाल
# अथवा
# भक्तिकाल

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अध्याय : 3

# भक्तिकाल : पूर्वपीठिका

हिंदी साहित्य के संदर्भ में भक्तिकाल से तात्पर्य उस काल से है, जिसमें मुख्यत: भागवत धर्म के प्रचार तथा प्रसार के परिणामस्वरूप भक्ति-आंदोलन का सूत्रपात हुआ था और उसकी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण धीरे-धीरे लोक-प्रचलित भाषाएं भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती गयीं और कालांतर में भक्तिविषयक विपुल साहित्य की बाढ़-सी आ गयी। परंतु यह भावना वैष्णव धर्म तक ही सीमित न थी अपितु शैव, शाक्त आदि धर्मों के अतिरिक्त बौद्ध और जैन-संप्रदाय तक इस प्रवाह से प्रभावित हुए बिना न रह सके। भक्तिकाल का विवेचन करने के पूर्व भक्ति-भावना की परंपरा और परिवेश का संक्षिप्त परिचय पा लेना विषय को बोधगम्य बनाने में सहायक होगा।

भारतीय धर्मसाधना के इतिहास में भक्तिमार्ग का विशिष्ट स्थान है, यद्यपि संहिता भाग के रचनाकाल तक उसके अस्तित्व का कोई परिचय नहीं मिलता। वैदिक युग में यज्ञ अथवा कर्मकांड के माध्यम से धर्मानुष्ठान हुआ करते थे। आगे लोग प्राय: प्राकृतिक वस्तुओं अथवा घटनाओं के मूल में किसी देवता की कल्पना कर लेते थे और उसे प्रसन्न रखने के लिए यज्ञादि का आयोजन करते थे। विनय अथवा प्रार्थना भी उनके दैनिक जीवन की उल्लासमयी अभिव्यक्ति थी। उनका ध्यान मुख्यत: ऐहिक सुखों की प्राप्ति पर केंद्रित था और वे अंत:करण की साधना की अपेक्षा बाह्य विधानों का अनुसरण करने की ओर अधिक प्रवृत्त रहते थे। फिर भी, शुभाशुभ परिणामों में उनका विश्वास था, जिस कारण उनके यज्ञादि कर्मकांड श्रद्धा से अनुप्राणित रहते थे। श्रद्धाविहीन यज्ञ का कोई अर्थ न था। इसी से श्रद्धामूलक भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और आगे चल कर बहुदेववाद भी एकदेववाद में परिणत हो चला। भक्त के लिए यह स्वाभाविक हो गया कि वह बिखरी हुई शक्तियों में सामंजस्य ला कर अपनी दृष्टि किसी एक में निविष्ट करे। फलस्वरूप बहुदेवों की कल्पना सिमट कर धीरे-धीरे एक में ही समाहित होने लगी, और कहा जाने लगा कि विद्वान लोग उसी (सत्)को इंद्र, मित्र, वरुण या अग्नि के नाम से पुकारते हैं।[1] इस प्रकार सार्वभौम मौलिक एकता के प्रतिपादन द्वारा परमात्म-तत्त्व की प्रतिष्ठा हो गयी। प्राकृतिक शक्तियों के दैवीकरण के बाद देवताओं का मानवीकरण होने लगा, जिसकी परिणति अवतारवाद में हुई। हिंस्र तथा कठोर वृत्तियों का स्थान क्रमश: कोमल वृत्तियां लेने लगीं, जिसका प्रभाव भक्तिसाधना की विधियों पर पड़ना स्वाभाविक था। श्रमणसंस्कृति द्वारा इस प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिला।

आर्यों की अनेक सभाएं तथा परिषदें हुआ करती थीं, जिनमें उपस्थित किये गये तर्क-वितर्क एवं दार्शनिक विवेचन के परिणामस्वरूप 'ब्राह्मण', 'आरण्यक' तथा 'उपनिषद्' नामक भागों की रचना हुई। जीवात्मा तथा अव्यक्त प्रकृति की भावना का उदय संभवत: इसी अवधि में हुआ। कर्मफल तथा जन्मांतरवाद की कल्पना के आधार पर कर्म-बंधन से जीवात्मा को उन्मुक्त करने के उपाय सोचे जाने लगे। कर्मजाल से पृथक रह कर परमात्म चिंतन में तल्लीन रहने के लिए तपादि की व्याख्या की गयी। वैदिकोपासना ध्यान-योग के रूप में परिणत हो चली, जिससे श्रद्धा-भक्ति

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का द्वार उन्मुक्त हो गया। मोनियर विलियम्स के अनुसार 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति 'भज्' से की जा सकती है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भक्तिभावना आर्यों के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारों के फलस्वरूप क्रमशः श्रद्धा-उपासना से विकसित हो कर उपास्य भगवान के ऐश्वर्य में भाग लेना (भज् = भाग लेना) जैसे व्यापक भाव में परिणत हुई। वैसे 'भक्ति' का सर्वप्रथम उल्लेख 'श्वेताश्वेतर उपनिषद्' (6/33) में मिलता है। यह भी उल्लेखनीय है कि आर्यों के भारत आने पर उन्हें यहां की यक्ष, किन्नर, गंधर्व, असुर, व्रात्य, विद्याधर आदि जातियों की नागर संस्कृति का परिचय मिला था। आर्य लोग मुख्यतः सैनिक जीवन के अभ्यासी थे और उनका जातीय जीवन ग्रामीण संस्कृति पर आधारित था। इन दोनों के मिलन और पारस्परिक आदान-प्रदान से भारतीय संस्कृति का विकास हुआ, जिसकी छत्रच्छाया में भक्ति-परंपरा का बीज विकसित हुआ।

वैदिक भक्ति-परंपरा के समानांतर दक्षिण भारत में द्रविड़-संस्कृतिगर्भित पृथक् भक्ति-परंपरा का सूत्रपात हो चुका था। यह परंपरा ईसा पूर्व कई शताब्दियों से चली आ रही थी, जिसमें शरणागति और समर्पण की भावना प्रबल रूप में पायी जाती थी, जो कालांतर में दाक्षिणात्य आचार्यों द्वारा उत्तर भारत में भी लोकप्रिय बनी। वास्तव में ईसवी सन् के प्रारंभिक काल में ही उत्तर और दक्षिण की दोनों परंपराओं का मिलन हो गया था, जिसका निदर्शन आडयारों तथा अडियारों के भक्तिसाहित्य में सुलभ है। इसके अंतर्गत 'पूजा' को भक्ति का मुख्य साधन माना गया है, जिसे 'शिव' की भांति तमिल भाषा का शब्द ठहराया गया है। 'मायोन' तथा 'तिरुमाल' को भी विष्णु का पर्याय बतलाया जाता है। स्वयं 'भागवत' को भी कन्नड़ प्रदेश में रचित कहा गया है। यह ग्रंथ मध्यकालीन भक्ति-परंपरा का मुख्य प्रेरणा-स्रोत बना।

भक्ति-भावना के संदर्भ में पांचरात्र भी कम उल्लेखनीय नहीं हैं। इनका मुख्य उद्देश्य भक्तिमार्ग के साधन का निरूपण करना रहा है। संहिताओं ने देवालयों के निर्माण, उनमें आराध्य देव की प्रतिष्ठा और विधिवत पूजन-अर्चन की व्यवस्था दी थी। इससे अवतारवाद को प्रचुर प्रश्रय मिला। ईसाई मत और इस्लाम धर्म की देन के रूप में भक्ति की स्थापना बहुत पहले ही अप्रमाणित हो चुकी है। इधर श्रमण-संस्कृति और साहित्य के आधुनिक विद्वानों ने भी परंपरा से अपना प्राचीन संबधं-सूत्र दिखलाने के यत्न किये हैं, जिन्हें किसी एक ही उत्स के भिन्न-भिन्न स्रोत समझा जा सकता है। फिर भी, इनमें रागात्मक शरणागति और समर्पण के वैसे विविधतापूर्ण भाव विकसित नहीं हो पाये जिनके दर्शन एतद् विषयक साहित्य में अन्यत्र सुलभ हैं।

## सीमांकन

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने समय तक के साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर भक्ति-काल का निर्धारण 1318 से 1643 ई. तक किया है। न तो आदिकाल में परिगणित सिद्ध, नाथ और जैन-साहित्य में विद्यमान भक्ति तत्त्व के आधार पर इस अवधि का विस्तार उचित है और न रीतिकाल में स्फुट रूप में रचित भक्तिपरक छंदों के आधार पर कालविस्तार तर्कसंगत। शुक्ल जी की स्थापना में हेर-फेर की अधिक गुंजाइश तब तक नहीं दिखायी देती, जब तक वैसी सामग्री क्रमबद्ध रूप में न्यूनाधिक मात्रा में उपलब्ध न हो जाये। फिर भी, भक्ति-साहित्य में उन वैष्णवेतर रचनाओं को सम्मिलित करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, जो विषयवस्तु की दृष्टि से भी उक्त सीमा के अनुकूल पड़ती हैं। भक्ति-काव्य की परंपरा परवर्ती काल तक प्रवाहित रही है, किंतु उसमें जितनी मात्रा अनुकरण की रहती आयी है, उतनी भावना के नवोन्मेष की नहीं। इसलिए जब तक ऐसी सामग्री उपलब्ध न हो कि पुनर्विचार की आवश्यकता पड़े, तब तक सामान्यतः शुक्ल जी की स्थापना

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

को चलते रहने देना चाहिए। फिर भी, अध्ययन की सुविधा के लिए भक्तिकाल को चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक मानना उचित होगा, क्योंकि आदिकाल की रचना-प्रवृत्तियां चौदहवीं शती के मध्य तक पर्याप्त बलवती रही थीं।

## परिवेश

**राजनीतिक स्थिति :** पूर्व-मध्यकाल का आरंभ दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक (1325-1351) के राज्यकाल में हुआ। उत्तर से दक्षिण तक के अपने राज्य-विस्तार को ध्यान में रख कर उसने दिल्ली की अपेक्षा देवगिरि को अपनी राजधानी बनाने का यत्न किया और उसका नाम दौलताबाद रखना चाहा। इस प्रयास में दिल्ली-प्रदेश एकदम उजाड़ हो गया। उसने एक बार तांबे के सिक्के चलाये और कई बार सुदूर चीन पर आक्रमण की योजना बनायी। मिस्र के खलीफ़ा से उसने अपनी राज्यसत्ता के लिए धार्मिक स्वीकृति भी प्राप्त की। इन जैसी बातों के अतिरिक्त उसके अपने विशिष्ट गुण भी थे, जिनके कारण वह कवि, विद्याव्यसनी तथा पक्षपातरहित सुल्तान बन सका। उसके यहां विद्वानों को संरक्षण भी मिलता रहता था। हिंदू प्रजा के प्रति वह उदारमना था, किंतु उसके उत्तराधिकारी फिरोज तुगलक में धार्मिक सहिष्णुता का अभाव था, इसलिए वह हिंदुओं के प्रति पक्षपातरहित नहीं रह सका। उसमें वैसी योग्यता भी न थी। फलस्वरूप अवसर पा कर कई सूबेदारों ने विद्रोह कर दिया और दिल्ली-सल्तनत में बिखराव उत्पन्न हो गया। उसका उत्तराधिकारी 'जौनासाहि' (जूनाशाह) था, जिसका उल्लेख मुल्ला दाऊद ने 'चन्दायन' में किया है। परवर्ती सुल्तानों में से कोई बिगड़ती हुई स्थिति को संभाल न सका और सुल्तान महमूद शाह की मृत्यु के उपरांत 1412 ई. में तुगलक वंश का आधिपत्य समाप्त हो गया। इसके बाद खिज़्र ख़ां ने दिल्ली पर अधिकार कर सैयद वंश का शासन स्थापित किया, जो 1451 ई. तक चलता रहा। इस वंश के चार सुल्तानों में से किसी का भी नाम उल्लेखनीय नहीं है। इनसे अधिक योग्य लोदी-वंश के सुल्तान सिद्ध हुए, जिनमें से कई ने भीषण युद्धों में भाग लिया। अंतिम सुल्तान इब्राहिम लोदी (1487-1526) को शक्तिशाली मुग़लों का सामना करना पड़ा और अंततः लोदी-वंश की सल्तनत जाती रही। लोदी-वंश के शासनकाल में ही केंद्रीय शासन शिथिल पड़ चुका था और मालवा आदि स्वतंत्र सूबे बनने लगे थे।

**मालवा :** मालवा विक्रम की दसवीं शताब्दी के लगभग प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था, जबकि यह परमार राजपूतों के अधीन आया था। राजा भोज के समय इसकी ख़्याति और अधिक बढ़ गयी। सुल्तान इल्तुतमिश द्वारा 1235 ई. में आक्रमण किये जाने पर महाकाल के मंदिर के ध्वस्त हो जाने के बाद यह श्रीहत हो चला। सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने 1310 ई. में इसे अपने शासन में ले लिया। 1401 ई. में मुहम्मद गौरी के वंशज दिलावर ख़ां ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर धार नगरी को अपनी राजधानी बना लिया, परंतु उसके उत्तराधिकारी पुत्र अलप ख़ां (हुशंगशाह) ने अपनी राजधानी मांडू में स्थापित की। उसकी मृत्यु के पश्चात उसका वजीर महमूद खिलजी यहां का स्वामी बना। अपनी योग्यता से उसने अपने कई पड़ोसी राज्यों को पराजित कर दिया, परंतु उसके उत्तराधिकारी अपनी दुर्बलता के कारण मालवा की रक्षा करने में असमर्थ रहे। अंततोगत्वा गुजरात के बहादुरशाह ने मालवा को अपने अधीन कर लिया। बाद में मालवा दिल्ली केंद्र के अधीन चला गया और शेरशाह ने शुजात ख़ां को यहां का शासक नियुक्त कर दिया। इसी का पुत्र मलिक बायाजीद 'बाज बहादुर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसकी प्रेमिका रूपमती बतलायी जाती है। 1562 ई. में सम्राट अकबर ने इसे अपने राज्य में मिला लिया।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**गुजरात :** अपनी समृद्धि और सोमनाथ मंदिर के लिए गुजरात सुप्रसिद्ध रहता आया है। महमूद गजनवी ने संभवतः इसी से आकृष्ट हो कर 1025 ई. में अफ़गानिस्तान से आ कर यहां लूटपाट मचा दी थी। परंतु बहुत समय तक इस पर किसी का स्थायी आधिपत्य बना न रह सका। 1297 ई. में अलाउद्दीन खिलजी द्वारा इसे अपने शासनांतर्गत लिये जाने पर यहां दिल्ली द्वारा नियुक्त शासकों का शासन चलने लगा था। 1401 ई. में सूबेदार जफ़र ख़ां ने तैमूरलंग द्वारा आक्रमण किये जाने पर अपने को स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। परंतु यहां का वास्तविक शासक पहले-पहल अहमदशाह बना, जिसने अहमदाबाद नगर की स्थापना की। वह कट्टर धर्मांध था, उसने हिंदुओं का धर्म-परिवर्तन तक कराया। फिर भी, उसकी प्रसिद्धि न्यायप्रिय शासक के रूप में रही है। उसके उत्तराधिकारियों में उसका पोता अहमदशाह (महमूद बघर्रा) बड़ा प्रसिद्ध हुआ। कहा जाता है कि वह बड़ा पेटू था। जलपान के नाम पर वह एक प्याला शहद, एक प्याला घी और सौ-डेढ़ सौ केले ले लिया करता था। उसने 1507 ई. में तुर्कों की सहायता से पुर्तगालियों के विरुद्ध एक सेना समुद्र के पश्चिमी तट पर भेजी थी। गुजरात के शासकों में बहादुरशाह (1526-1537) भी प्रसिद्ध है, जिसने कई युद्धों में वीरता प्रदर्शित की। कालांतर में आपसी वैमनस्य बहुत बढ़ गया और अंततोगत्वा अकबर ने गुजरात को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

**जौनपुर :** जौनपुर को फीरोज़शाह तुग़लक ने अपने चचेरे भाई जूनाशाह के स्मारकस्वरूप गोमती नदी के किनारे बसाया था। फीरोज़शाह की मृत्यु होने पर ख्वाज़ाजहां वहां का शासक नियुक्त हुआ। महमूद तुग़लक ने उसे 'मलिकुश्शर्क' की पदवी प्रदान की। इससे प्रोत्साहन पा कर उसने कई प्रमुख केंद्रों पर आक्रमण कर दिया। अंत में उसने विद्रोह कर अपने को 'अलावक-ए-आज़म' कहना आरंभ कर दिया। शम्सुद्दीन इब्राहीम शाह शर्की उससे भी अधिक सफल शासक सिद्ध हुआ। महमूद तुग़लक तक ने उससे सहायता की याचना की थी। वह कला और साहित्य का बड़ा अनुरागी था। हुसेन शाह शर्की भी यहां का एक शासक हुआ, जिसने दिल्ली सल्तनत के विरुद्ध परास्त हो कर बिहार में आश्रय ग्रहण किया और फिर बंगाल जा कर सुल्तान हुसैन शाह की शरण ली। 'मृगावती' के सूफ़ी कवि कुतुबन का वह आश्रयदाता भी रहा। इसके बाद जौनपुर के कई सूफ़ी आश्रयविहीन हो कर मालवा से बंगाल तक फैल गये। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में जौनपुर का रोचक वर्णन किया है।

**बंगाल :** दिल्ली से दूर होने के कारण कई बार आक्रमण करके भी मुस्लिम आक्रमणकारी बंगाल में टिक न सके थे। समय-समय पर केंद्र के प्रति यहां विद्रोहाग्नि भड़कती रहती थी। शासकों द्वारा अपने को स्वतंत्र घोषित किये जाने की दशा में उनका प्रजा से मिल कर रहना आवश्यक हो जाता है; फलस्वरूप इस प्रदेश में हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य फैलने के अवसर कम ही आ पाते थे। सुल्तान मुहम्मद बिन तुग़लक के शासनकाल में कभी-कभी भेंट भेज दिये जाने पर भी अपने यहां स्वतंत्र सुल्तान जैसा व्यवहार करते थे। अलाउद्दीन हुसेन शाह (1493-1519) अपने शासनकाल में इतना लोकप्रिय हुआ कि भावी आधिपत्य जमाने में उसके वंशजों को कोई कठिनाई नहीं हुई। संगठनकर्त्ता के रूप में वह बहुत सफल रहा, जनता के लिए उसने कई संस्थाएं स्थापित कीं तथा विद्वानों और धार्मिक पुरुषों को सहायता देनी आरंभ की। 'सत्यपीर'संप्रदाय चलाने का भी श्रेय उसे प्राप्त हुआ, जिसका प्रधान उद्देश्य हिंदू-मुस्लिम एकता स्थापित करना था। उसका पुत्र नसरत शाह भी सफल शासक रहा, किंतु हुसेनशाही शासकों के बाद बंगाल में कोई टिक न सका। मुग़लों पर विजय प्राप्त करने के बाद शेरशाह ने इस प्रदेश पर भी अपना प्रभुत्व जमा लिया।

**बहमनी राज्य :** मुहम्मद बिन तुग़लक के शासनकाल में भड़की दक्षिण की विद्रोहाग्नि का एक परिणाम इस्माइल मख्र के सुल्तान बनने में लक्षित हुआ। शांत प्रकृति का होने के कारण उसने हसन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गंगू के पक्ष में पद त्याग कर दिया। हसन गंगू ने 'जफ़र ख़ां' की पदवी ग्रहण कर राज्य की गद्दी संभाली और अब्दुल मुजफ्फर अलाउद्दीन बहमनशाह कहला कर दौलताबाद का सुल्तान बन बैठा। उसने अपनी राजधानी दौलताबाद से हटा कर गुलबर्गा में स्थापित की। उसके उत्तराधिकारियों में फीरोज़शाह सबसे योग्य प्रमाणित हुआ। उसने साहित्य और विद्वानों को संरक्षण दे कर कीर्तिलाभ किया। उसके बाद उसके भाई अहमदशाह ने बीदर नगर की नींव डाल कर 'वली' की उपाधि ग्रहण की और तदनंतर अपने पुत्र जाफ़र ख़ां को राज्य का दायित्व सौंप दिया, जो अलाउद्दीन अहमदशाह के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके बाद हुमायूं और निजामशह गद्दीनशीन हुए। 'क़दम राव व पदम' प्रेमगाथा के अनुसार अहमदशाह वहां 'बहमन वली' हो गये हैं। निजामशाह की अवस्था राज्यारोहण के अवसर पर केवल आठ वर्ष की थी। उसके अभिभावकों में महमूद गावां का नाम भी लिया जाता है। उसकी मृत्यु के बाद उसका भाई मुहम्मदशाह शासक बना और उसने शत्रुओं का दमन कर राज्य को समृद्ध बनाने में योग दिया। कालांतर में उसे षड्यंत्र द्वारा मार डाला गया। 1518 ई. में यह राज्य बिखर कर नष्ट हो गया और पांच स्वतंत्र मुस्लिम राज्यों की स्थापना हुई—बरार का इमादशाही, बीजापुर का आदिलशाही, अहमदनगर का निजामशाही, गोलकुंडा का कुतुबशाही और बीदर का वरीदशाही। अंत में ये सभी मुग़ल-साम्राज्य में अंतर्भुक्त हो गये। आदिलशाही और कुतुबशाही सुल्तान साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्यों में रुचि ले कर यश के भागी बने।

**सूरवंश :** शेरशाह द्वारा स्थापित सूरवंश का अपना पृथक महत्त्व है। बचपन में शेरशाह का नाम फरीद था। उसके पिता सासाराम (बिहार) के जागीरदार थे, किंतु उसकी शिक्षा-दीक्षा जौनपुर में हुई। उसे एक बार शेर मारने के कारण 'शेर ख़ां' की पदवी मिल गयी। फिर बाबर के संपर्क में आ कर उसने बंगाल जीतने में उसे बड़ी सहायता पहुंचायी। बाबर की मृत्यु के बाद उसने गौड़ देश को अधीन कर लिया, पठानों की सहायता से चौसा के पास हुमायूं को हराया और 'शेरशाह' की उपाधि ग्रहण कर ली। बाद में कन्नौज के युद्ध में उसने हुमायूं को फिर से हरा दिया, जिससे हुमायूं को अनेक वर्ष तक फारस में पनाह लेनी पड़ी। शेरशाह ने शासन-सुधार की व्यवस्था इस रीति से की कि उसने सम्राट अकबर तक का पथ-प्रदर्शन किया। शेरशाह की मृत्यु 1545 ई. में हुई। उसके बाद उसका पुत्र जलाल ख़ां (सलीमशाह) उसका उत्तराधिकारी बना। उसे कई विद्रोहों का सामना करना पड़ा और 1554 ई. में उसका देहावसान हो गया। हुमायूं ने बिगड़ती हुई दशा का लाभ उठा कर उसी वर्ष भारत पर आक्रमण कर लाहौर को हस्तगत कर लिया। सूरवंश के अंतिम सुल्तान सिकंदरशाह के सरहिंद में हार जाने पर हुमायूं बादशाह बन बैठा।

**मुगलवंश :** तैमूरलंग की पांचवीं पीढ़ी में उत्पन्न जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर वास्तव में तुर्कवंशी था, मुग़ल नहीं। मातृकुल के नाते वह चंगेज़ ख़ां का सगा संबंधी हो सकता था, परंतु मुग़लों के प्रति उसमें सद्भाव का अभाव-सा था। संयोगवश वह उन सम्राटों का पूर्व-पुरुष बन गया, जिन्हें 'मुग़ल' कह कर स्मरण किया जाता है। उसके पिता फरगाना (रूसी तुर्किस्तान) के एक छोटे-से राज्य के अधिपति थे। उनकी मृत्यु के समय बाबर बारह वर्ष का बालक था। इसी अवस्था में वह उत्तराधिकारी बना। अपने शत्रुओं का वह दृढ़तापूर्वक सामना करता रहा और इसी बीच उसने समरकंद को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। उजबेग अमीरों द्वारा अपदस्थ किये जाने पर वह भारत की ओर उन्मुख हुआ और काबुल को जीत कर समरकंद को भी फिर अधिकृत करने की कोशिश की, किंतु असफलता ही उसके हाथ लगी। छोटे-मोटे आक्रमणों द्वारा वह भारत की स्थिति का अध्ययन करता रहा। दिलावर ख़ां का आमंत्रण पा कर उसने 1526 ई. में पानीपत-युद्ध में विजय प्राप्त कर ली। प्रसिद्ध है कि सैयदपुर वाली लड़ाई के अवसर पर गुरु नानकदेव पकड़े जाने पर उसके

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सम्मुख उपस्थित किये गये थे। दूसरे ही वर्ष राणा सांगा को पराजित कर उसने अपनी स्थिति सुदृढ़ बना ली और चंदेरी दुर्ग पर कब्ज़ा कर लिया। इसके बाद घाघरा वाली लड़ाई में पठानों को पराजित कर उसने अपनी विजयपताका फहरायी। उसने राज्यव्यवस्था को सुधारने की योजना भी बनानी चाही, किंतु शाहजादे हुमायूं की रुग्णता के कारण उसकी मनोकामना अधूरी रह गयी। कहते हैं कि वह रोगशैया की तीन बार परिक्रमा कर स्वयं रोगी बन गया और शाहजादा तीन दिनों के भीतर ही नीरोग होने लगा। फिर बाबर उठ न सका। उसकी मृत्यु के तीसरे दिन हुमायूं 1530 ई. में बादशाह बन गया। बाबर ने 'बाबरनामा' लिख कर अपनी कुशल लेखनी का परिचय दिया है। यह मात्र आत्मचरित ही नहीं, तत्कालीन परिस्थिति और वातावरण का परिचायक ग्रंथ भी है। बाबर द्वारा लिखित एक दीवान का भी पता चलता हैं, जिसमें उसकी काव्यप्रतिभा की चमक है।

कहते हैं कि बाबर ने हुमायूं से वचन ले लिया था कि वह अपने परिवार के प्रति सद्भावनापूर्ण निष्ठा रखेगा, जिसका पालन वह आजीवन करता रहा। परंतु इसका अनुकूल परिणाम नहीं हुआ। सेना के सिपाहियों में भी कलह रहने लगी। इस स्थिति का लाभ बाहरी शत्रुओं ने उठाया। गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह ने उसे युद्ध में घसीट लिया और बाद में शेरशाह द्वारा कन्नौज की लड़ाई में पराजित हो कर वह फ़ारस भाग गया। शेरशाह की मृत्यु के पश्चात उसने अपने राज्य को पुनः अधिकार में ले लिया। 1566 ई. में पुस्तकालय की सीढ़ियों से उतरते समय अचानक उसके कानों में अजान की आवाज़ पड़ी। झुकते ही उसके पांव फिसल गये और वह नीचे गिर पड़ा। यह आघात प्राणांतक सिद्ध हुआ। हुमायूं की मृत्यु के सत्रहवें दिन उसके पुत्र जलालुद्दीन के नाम 'खुतबा' पढ़ दिया गया। हुमायूं न केवल साहित्यकारों का सम्मान करता था, अपितु स्वयं भी काव्यरचना करता था। फिर भी, वह उतना व्यवहारकुशल न था।

राज्य-भार ग्रहण करते समय अकबर तेरह वर्ष का बालक था। उसका बचपन बैरम ख़ां के संरक्षण में व्यतीत हुआ, जिसके समक्ष जौनपुर ही नहीं, विद्रोही पठानों तक को झुकना पड़ा। कुछ ही दिनों में अकबर ने बैरम ख़ां को दायित्व-मुक्त कर दिया और शासन की बागडोर स्वयं संभाल ली। बंगाल, बिहार और गुजरात के विद्रोह को दबा कर उसने कश्मीर पर भी अपना झंडा फहरा दिया। साथ ही चित्तौड़, कालिंजर और गोंडवाना को सफल नहीं होने दिया। फतेहपुर सीकरी के क़िले का निर्माण भी इसी काल में हुआ। राज्य-विस्तार और आंतरिक शांति और सुव्यवस्था के लिए वह सदा सचेष्ट रहा। देश को समृद्ध बनाने के साथ ही वह सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिए भी यत्नशील रहा। उसके प्रमुख दरबारी 'नवरत्न' के रूप में प्रसिद्ध थे, जिनमें फैजी, अबुलफजल, बीरबल, बदायूंनी, तानसेन, रहीम आदि के नाम लिये जाते हैं। इनके सहयोग से उसके राज्य की ख़्याति दूर-दूर तक फैली। वह शिक्षित न हो कर भी उदार, सहृदय और व्यवहारकुशल था। उसने कला, संगीत, साहित्य और संस्कृति को यथेष्ट प्रश्रय तथा संरक्षण दिया। उसका राज्यकाल 1605 ई. तक रहा।

अकबर का उत्तराधिकारी जहांगीर बना, जिसका बचपन का नाम सलीम था। उसने युवराजकाल में पिता के विरुद्ध विद्रोह करना चाहा था, किंतु सफल न हो सका। वह न्यायप्रिय था और प्रजा के दुःख-सुख में उसकी रुचि थी। आगरा के क़िले की शाहबुर्ज और यमुनातट पर स्थित किसी प्रस्तरस्तंभ के बीच उसने 'इंसाफ की जंज़ीर' बंधवा दी थी, जिसे बजा कर प्रजा बादशाह का ध्यान आकर्षित कर फ़रियाद कर सकती थी। जहांगीर ने शेर अफगन की हत्या कराके उसकी पत्नी मेहरुन्निसा को अपने हरम में रख लिया, जो आगे चल कर नूरजहां के नाम से विख्यात हुई। वह शासन-व्यवस्था में भी भाग लेती थी। जहांगीर को बंगाल, मेवाड़ और दक्षिण की ओर युद्ध का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अभियान करना पड़ा तथा कांगड़ा पर विजय प्राप्त करने में उसे सफलता मिली। 1627 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। नूरजहां अपने जामाता शहरयार को राज्य का उत्तराधिकारी बनाना चाहती थी, किंतु बादशाह के मरने का समाचार पा कर शाहजहां दक्षिण् से राजधानी की ओर चल पड़ा और अपने सभी शत्रुओं को परासत कर 1628 ई. में गद्दीनशीन हो गया।

शासनसूत्र संभालने के बाद ही शाहजहां को बुंदेलों का सामना करना पड़ा और खांजहां लोधी को राजमार्ग से हटाना पड़ा। उसने दक्षिण की कई सल्तनतों को जीत कर अपने अधीन किया, जिसमें उसे औरंगजेब से भरपूर सहायता मिली। परंतु कंधार तक आधिपत्य स्थापित करने में उसे सफलता न मिल सकी और दाराशिकोह तथा उसकी सेना अपने अभियान में विफल रही। दक्षिण में सफलता प्राप्ति से उत्साहित हो कर औरंगजेब दाराशिकोह के प्रति द्वेषभाव रखने लगा था। दारा का हिंदुओं के प्रति सद्भाव भी उसे पसंद न था। अपने मार्ग की बाधा समझ कर महत्त्वाकांक्षी औरंगजेब ने क्रमशः अपने सभी भाइयों का अंत कर डाला और 1658 ई. में शाहजहां को बंदी बना लिया। अपनी प्यारी बेगम मुमताज महल की मृत्यु के बाद शाहजहां ने यमुना के किनारे 'ताजमहल' का निर्माण करवाया था। दारा की मृत्यु के उपरांत वह खिन्न रहने लगा था और पुत्री जहांनारा ही उसके स्नेहाकर्षण का केंद्र रह गयी थी। उसका कला और साहित्य-प्रेम प्रसिद्ध है, साथ ही वह शूरवीर और कार्यकुशल भी कम न था।

*निष्कर्ष :* इस प्रकार भारत के राजनीतिक क्षेत्र में सन् 1343 से 1643 तक की अवधि में दो प्रमुख मुस्लिम वंशों—पठान वंश और मुग़ल वंश का आधिपत्य बना रहा। इनमें लोदी, सैयद और तुगलक वंशों के सुल्तान विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इस काल में ऐसे वंशों के व्यक्ति भी समय समय पर होते आये, जिन्हें किसी-न-किसी विद्रोह के फलस्वरूप अधिकार प्राप्त करने के न्यूनाधिक अवसर प्राप्त होते रहे। मुहम्मद बिन तुग़लक को राज्यविस्तार के कारण अपनी राजधानी उत्तर से दक्षिण की ओर ले जाने की आवश्यकता अनुभव हुई और योग्य कर्मचारियों के अभाव में उसे यदा-कदा विदेशियों तक से सहयोग एवं सहायता लेनी पड़ी। फिर भी, वह अपने उद्देश्य में अधिक सफल नहीं हो पाया। फीरोजशाह ने सुव्यवस्था को ध्यान में रख कर जागीरप्रथा को पुनः प्रचलित किया। अपने साम्राज्य का क्षेत्रीय विभाजन कर उसने प्रत्येक क्षेत्र में कई ज़िले स्थापित किये और उन्हें राज्यकर्मचारियों को सौंप दिया। परंतु न्याय-व्यवस्था 'कुरान' और 'हदीस' पर ही अवलंबित रही। इन दोनों सुल्तानों ने सैन्य शक्ति की वृद्धि पर ध्यान रखते हुए उसका संचालन-सूत्र अपने हाथ में रखा।

मुग़ल बादशाहों ने पूर्ववर्ती सुल्तानों की शासकीय कमियों से सजग हो कर उनसे अपना बचाव किया और शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाया। बाबर की योग्यता और सजगता ने सफल बनने में उसे पर्याप्त सहायता पहुंचायी। वैसे मुग़लों में अकबर का राज्यकाल सभी दृष्टियों से सर्वोपरि रहा और उसे अभीष्ट को पाने में बहुत-कुछ सफलता भी मिली। उसने भरसक पक्षपातरहित बने रहने का प्रयत्न किया। उसके शासनकाल में नागरिकों को सेना की मनसबदारी पाने तक की छूट सुलभ थी। फ़ौजदारी मुक़दमों का फ़ैसला काज़ी लोग किया करते थे, किंतु न्याय का सर्वोच्च अधिकार स्वयं उसकी सत्ता में निहित था। उसकी सेना तत्कालीन सभी उपकरणों से युक्त थी। सम्राट अपने अधिकार का दुरुपयोग कभी नहीं करता था। उसने शेरशाह की योजनाओं से भी लाभ उठाया था। जहांगीर और शाहजहां ने भी बहुत-कुछ अकबर का अनुसरण किया। अलाउद्दीन खिलजी द्वारा प्रस्तुत की गयी और शेरशाह द्वारा पुष्ट की गयी सैन्य योजना तथा यातायात की सुव्यवस्था को अकबर ने भी किसी-न-किसी रूप में अपना लिया।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मुहम्मद बिन तुगलक ने अपने राज्यकाल में दोआबा-क्षेत्र में कर-वृद्धि लागू करके जनता पर अतिरिक्त भार लाद दिया था। नये सिक्के चला कर उसने जनता के प्रति उदार भाव का प्रदर्शन करना चाहा, किंतु राजकोष पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ा और असफलता ही हाथ लगी। फिरोजशाह ने कर-नीति में कुछ संशोधन अवश्य किया, किंतु उसकी धार्मिक कट्टरता ने उसे अधिक सफल नहीं होने दिया। शेरशाह द्वारा खेतों को नाप कर युक्तिसंगत नियमों द्वारा मालगुजारी का निर्धारण किया जाना, कर लगाते समय सावधानी बरतना और पक्षपातरहित हो, कर की ही वसूली करना उसकी सफलता में सहायक बने। अकबर ने टोडरमल की सहायता से भू-व्यवस्था में आवश्यक संशोधन किये और ऐसी व्यवस्था लागू की कि वह नयी लगने के साथ ही लोकप्रिय भी बन गयी। राज्य- कर के रूप में पूरी आय का तृतीयांश लिया जाने लगा और दसवर्षीय योजना के अनुसार लगान की सालाना वसूली की जाने लगी। जजिया और तीर्थकर उठा दिये गये, जिसका ग़ैर मुस्लिम-जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा। अकबर के शासनकाल में तांबे, चांदी और सोने के सिक्कों का प्रचलन हुआ। चांदी वाला सिक्का शेरशाह के समय से ही 'रुपया' कहा जाने लगा था। टकसालों का सुधार अकबर के शासनकाल में ही संभव हुआ और नामादि का अंकन सुरुचिपूर्ण व कलात्मक ढंग से किया जाने लगा। कहा जाता है कि 1630 ई. में अकाल पड़ने पर शाहजहां ने अहमदाबाद और बुरहानपुर जैसे कई नगरों में लंगर की व्यवस्था कर दी थी और प्रत्येक सोमवार को वह दीन-दुखियों में पांच हज़ार रुपये का वितरण किया करता था। बिना समझे-बूझे लगान की रकम बढ़ा देने के कारण उसने दीवान सादुल्ला ख़ां को बुरी तरह फटकारा था और कर वसूल करने वाले फ़ौजदार को पदच्युत कर दिया था।

## सामाजिक स्थिति

भारतीय समाज जिन तत्त्वों के ताने-बाने से निर्मित हुआ है, उनमें वर्णों और जातियों का विशिष्ट स्थान है। समय-समय पर कितनी ही मानव-मंडलियां इस देश में आती रहीं, जिनमें अपने-अपने धर्म-विश्वासों, रीति-रस्मों और आचार-विचार-पद्धतियों के संस्कार तथा अभ्यास थे। फलस्वरूप विजित और विजेता में किसी-न-किसी कारण संघर्ष विद्यमान रहता था। परंतु कालांतर में उनमें सामंजस्य की भावना और समन्वय की चेतना लक्षित होने लगी। इतिहास के लिए यह कोई नयी बात नहीं है। प्राचीनकाल में व्रात्य, आर्य, नाग, यक्ष, देव, दैत्य, असुर, किन्नर, गंधर्व, विद्याधर आदि मानव-मंडलियां समय पा कर देव-योनि तक में समाहित कर ली गयीं। परवर्ती काल में यही प्रक्रिया शक, हूण, यवन, कम्बोज, तुर्क, पारसी, पठान, मंगोल आदि जातियों के साथ घटित हुई। परंतु पैगंबरी धर्म के अनुयायियों में आस्था-विश्वास, आचार-विचार और जीवन प्रणाली की कुछ ऐसी विशेषताएं थीं, जिनसे आपसी मेलमिलाप में वह गति और तीव्रता न आ सकी, जो अन्यत्र लक्षित हुई थी। विजातीय तत्त्वों को पचा लेना सरल न था, फलस्वरूप दोनों पक्षों के बीच परस्पर संदेह, जुगुप्सा और पवित्रता-अपवित्रता-जनित भेदभाव बलवान हो उठा। इतिहास साक्षी है कि ऐसी विषम परिस्थितियों में भारतीय मनीषा द्वारा संघर्ष का अंत करने के लिए समय-समय पर ऐसे समाधान ढूंढ़ने के यत्न होते आये हैं, जिनका प्रभाव दीर्घकाल तक रहता आया है। इन मौलिक सिद्धांतों के मूल में सार्वभौम सत्य की प्रेरणा प्रबल रही है। ऋग्वेदकाल से ही ऐसे विचारों के बीज मिल जाते हैं, जिनका विकास उपनिषदकाल में पाया जाता है। इस समुचित विचारधारा को अद्वैत सिद्धांत द्वारा अभिहित किया गया है। परवर्ती मनीषा को भी यह इसी रूप में मिला।

मुसलमानों ने व्यावहारिक संबंधों के भेद को प्रकट करने के लिए यहां के निवासियों को 'हिंदू' कहा। इस शब्द का प्रथम उल्लेख विजयनगर के राजाओं के पंद्रहवीं शताब्दी वाले शिलालेख में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उपलब्ध है। इसके पूर्व कदाचित इस़ शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, ईरान के आकेमिनियन बादशाहों के अभिलेखों में 'इंद' शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है, जो 'हिंदू' (सिंधु) का ईरानी रूप जान पड़ता है। इस्लाम भ्रातृभाव का संदेश ले कर चला था, उसका द्वार कुछ शर्तों पर सबके लिए खुला था। परंतु हिंदुओं के यहां धर्म-परिवर्तन की शास्त्रीय व्यवस्था न थी, इसलिए उनके संस्कार इसके विपरीत पड़ते थे। इस बीच धर्म-परिवर्तन के जो उदाहरण मिलते हैं, वे धर्मप्रेरित न होकर स्वार्थ या बलात्कार के परिणाम थे। यद्यपि इसके पूर्व श्रमण-संस्कृति के प्रचार-प्रसारकाल में भी ऐसे प्रश्न उपस्थित हुए थे, किंतु उसके उन्नायकों का विरोध क़र्मकांडादि व्यावहारिक बातों से अधिक था, सैद्धांतिक प्रश्नों पर कम-से-कम वे विजातीय नहीं लगते थे। कर्मवाद और जन्मांतरवाद में उनकी भी आस्था लगभग वैसी ही थी। अपनी कुलीनता की रक्षा की चिंता तत्कालीन हिंदुओं को अधिक सताने लगी थी और उसकी रक्षा के निमित्त वे स्मृतियों और टीकाओं का सहारा लेने लगे थे। कभी-कभी विधर्मी तथा विजातीय शासकों द्वारा हिंदू-प्रजा के प्रति क्रूर दुर्व्यवहार तक हो जाया करते थे, जिससे आतंकित हो कर उन्हें अपने को मुस्लिम प्रजा से भिन्न मानने को बाध्य होना पड़ता था। फलस्वरूप इस्लाम का भ्रातृभाव संदेश यहां उतना प्रभावकारी सिद्ध न हो सका।

हिंदू-समाज में भी वर्णाश्रम धर्म का उचित पालन नहीं हो पाता था, फलस्वरूप जातियों-उपजातियों की संख्या वृद्धि हो गयी थी और उनके पारस्परिक व्यवहार में आत्मीयता नहीं रह गयी थी। वर्ण-व्यवस्था में आस्था न रखने वालों में भी किसी-न-किसी प्रकार का आपसी भेदभाव बना हुआ था। इब्नबतूता के अनुसार, इन दिनों दासप्रथा भी प्रचलित थी। हिंदू-कन्याओं को संपन्न मुसलमान अधिकाधिक संख्या में क्रय करके अपने घरों में रख लिया करते थे। कुलीन नारियों का अपहरण कराके अमीर लोग अपना मनोरंजन किया करते थे। मुहम्मद बिन तुगलक ने चीन के सम्राट के पास भारतीय काफिरों में से एक-एक सौ स्त्री-पुरुषों को सौगात के रूप में भेजा था। इसके साथ ही ऐसे हिंदू राजाओं का भी अभाव न था, जो मुस्लिम महिलाओं, विशेषत: सैयद स्त्रियों को दासी रूप में अपने यहां ला कर नृत्य-गीत की शिक्षा दिलवाया करते थे। तत्कालीन स्मृतियों के अनुसार दासों की चार कोटियां थीं : जन्मजात, क्रीत, अपहृत या कहीं से प्राप्त, अपने यहां उत्पन्न। समाज में बहुविवाह या पुनर्विवाह की प्रथाएं भी प्रचलित थीं। विदेशी पर्यटकों ने तत्कालीन सतीप्रथा का भी विवरण दिया है। ओडरिक (1321-1322) नामक पादरी ने दक्षिण भारत में प्रचलित सती-प्रथा का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार पुत्रवती विधवा को 'सती' बनने का अधिकार नहीं था। इब्नबतूता ने लिखा है कि सती होने के लिए सुल्तान की पूर्व-स्वीकृति अनिवार्य थी। स्त्रियों को पुरुषों जैसा स्तर तथा सम्मान प्राप्त न था। परदा-प्रथा उन दिनों की आवश्यकता बन गयी थी। फिर भी स्त्री-शिक्षा की व्यवस्था थी और कला-साहित्य के निर्माण में स्त्रियों का योगदान रहा करता था। हिंदुओं में संयुक्त परिवार पाये जाते थे, जो सामाजिक जीवन के मूलाधार थे। छुआछूत के नियम इतने कठोर थे कि शूद्रादि जातियों तक में परस्पर भेदभाव बरता जाने लगा था।

भारतीय मुस्लिम समाज की अवस्था हिंदुओं से अधिक भिन्न न थी। धर्मांतरित मुसलमानों के हिंदू-संस्कार धर्म-परिवर्तन के साथ ही धुल नहीं गये थे, विशेषत: तब, जबकि वे बलात् अथवा स्वार्थवश धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य हुए थे। आक्रमणकारी मुसलमानों के वंशजों में भी कालांतर में सद्भाव और सहिष्णुता के भाव उदित होने लगा। इस प्रवृत्ति को सूफ़ी साधकों का प्रश्रय प्राप्त था। उन दिनों इस्लाम प्रचार की यह विशेषता बन गयी थी कि तलवार द्वारा आतंक उत्पन्न करने के बाद प्रेम की पट्टी बांध दी जाये। उस समय सुल्तान का पद सर्वोपरि था और उलेमा तथा उमरा का स्थान बाद में आता था। इनमें से द्वितीय वर्ग के अंतर्गत ईरान, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान तथा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अरब के मूल निवासियों के नाम लिये जा सकते हैं, जिन्हें क्रमशः शेख, मुग़ल, पठान और सैयद की संज्ञा दी जाने लगी थी। इन्हें अपने से बाहर वालों से संबंध स्थापित करना स्वीकार न था। शेख अपने पांडित्य और सुसंस्कृति के लिए प्रसिद्ध थे और अधिकतर शिया संप्रदाय की ओर उन्मुख थे। परंतु तुर्किस्तान वाले मुग़ल सुन्नी संप्रदाय से संबद्ध थे। इनमें से ही कुछ सुल्तान के पद पर प्रतिष्ठित होते रहते थे। अफगानी पठान अपने शौर्य, साहस, स्वाभिमान और सीधेपन के लिए प्रसिद्ध थे। फिर भी, कभी-कभी इनमें दिल्ली शासन के प्रति विद्रोह की भावना जाग्रत हो जाया करती थी, क्योंकि ये अपने को सर्वप्रथम मुस्लिम विजेता मानते थे। सैयद अल्पसंख्यक होने के साथ ही उतने वीर और साहसी न थे। दिल्ली पर अधिकार करके भी वे अधिक समय तक टिक न सके। शेखों और सैयदों में से ही उलेमा हुआ करते थे। खेतिहर, मज़दूर, व्यापारी और नौकरीपेशा मुसलमानों में भी परस्पर भेद-भाव की कमी न थी। मुस्लिम महिलाओं की स्थिति हिंदू स्त्रियों से अधिक भिन्न न थी। बहुविवाह प्रथा के कारण हरमों में इनकी दुर्गति हुआ करती थी। मुस्लिम समाज अपने मूल रूप में न रह गया था और उसका एक प्रकार से भारतीयकरण हो गया था। परंतु इस काल तक भारत में उपस्थित ईसाइयों का समाज पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ सका और पारसी तथा यहूदी अपनी-अपनी सीमाओं में ही सीमित रहे।

दैनिक जीवन, रीति-रस्म, रहन-सहन, पर्व-त्यौहार आदि की दृष्टि से तत्कालीन भारतीय समाज सुविधा-संपन्न और असुविधा-ग्रस्त इन दो वर्गों में विभक्त था। प्रथम वर्ग में राजा-महाराजा, सुल्तान, अमीर, सामंत और सेठ-साहूकार आते थे, जिनमें मनमाने ढंग से वैभव-प्रदर्शन की उल्लासपूर्ण प्रवृत्ति पायी जाती थी। द्वितीय वर्ग में किसान, मज़दूर, सैनिक, राज्यकर्मचारी और घरेलू उद्योगधंधों में लगी सामान्य जनता थी, जो प्रथा, परंपरा का पालन कर संतोष की सांस ले लिया करती थी। अमीर और सामंत सूती, रेशमी अथवा कार्मिक (कढ़े हुए) वस्त्र पहनते थे एवं बहुमूल्य नगीनों से जड़ी सुनहली अंगूठियां धारण करते थे। उनकी पत्नियां रत्नजटित सुनहले कंगन तथा मूंगाजटित केयूर धारण करती थीं। समाज में सुव्यवस्था लाने के यत्न होते रहते थे। रूसी व्यापारी अफनेसियन निकितिन (1470 ई.) के अनुसार बहमनी राज्य के सुयोग्य वजीर महमूद गावां (1405-1481) के समय शासकीय व्यवस्था प्रशंसनीय थी। भूमि की पैदावार प्रचुर थी, सड़कें लुटेरों के आतंक से रहित थीं तथा राजधानी भव्यनगर के रूप में खुशहाल दिखायी देती थी। पुर्तगाली वारवांसा (1500-1516) के अनुसार जहां उमरा और बादशाह महलों में निवास करते थे, वहां कुछ लोग गलियों में निर्मित मकानों में रहते थे; जिनके सामने थोड़ी खुली जगह भी रहती थी। शेष जनता के भाग्य में झोंपड़ियों में रहना बदा था। मुग़लों के शासनकाल के विषय में पेलसपार्ट नामक लेखक ने लिखा है कि उस समय समाज के भीतर तीन ऐसे वर्ग—श्रमिक, नौकर और दुकानदार थे, जिन्हें न तो कोई स्वेच्छापूर्वक कार्य करने का अवकाश था, और न यथेष्ट पारिश्रमिक ही मिला करता था। दुकानदारों को अपनी चीज़ें छिपा कर रखनी पड़ती थीं कि कहीं क्रूर कर्मचारियों की दृष्टि न पड़ जाये। तत्कालीन साधु-समाज पर भी पाखंड की काली छाया मंडराने लगी थी। गोस्वामी तुलसीदासकृत 'कवितावली' की निम्नलिखित पंक्तियों से तत्कालीन स्थिति का स्पष्ट परिचय मिलता है :

*खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि*
*बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।*
*जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोच-बस,*
*कहैं एक एकन सो 'कहां जाई, का करी?'॥*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## सांस्कृतिक स्थिति

सांस्कृतिक चेतना की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति सार्वभौम सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित धार्मिक भावना और दार्शनिक चिंताधारा के माध्यम से हुई है। कला, शिल्प, साहित्य और संगीत इन्हीं की आनुषंगिक उपलब्धियां हैं। इन सबका क्षेत्र विशाल मानवसमाज है, जिसकी प्रेरणा और प्रसाद से मनुष्य जीवनयापन करता है। भारतीय जीवन में समय-समय पर विदेशी विजातीय तत्त्वों के आते रहने के कारण परस्पर संघात होते रहे हैं। परंतु इन्हीं से हो कर ऐसी जीवनीशक्ति का संचार भी होता रहा है कि हम डूबते-डूबते भी उबरते चले आये हैं, निष्प्रभ या निस्तेज न हो कर नवजीवन की अरुणिमा से महिमामंडित होते रहे हैं। इन सबके मूल में हमारी समन्वय-साधना की प्रवृत्ति उजागर रही है, जो ब्राह्मणयुग (ई.पू. 800 से ई.पू. 600 तक) से ही उत्तर भारत में व्यक्त हो चुकी थी। दक्षिण भारत में यह प्रवृत्ति बाद में उभरी। वैदिक देवी-देवताओं के बाह्य विधानों से बिदक कर श्रमण-संस्कृति के उन्नायकों ने जीवन का नया पथ खोज निकालने का यत्न आरंभ किया, परंतु गुप्तसाम्राज्य की स्थापना के अनंतर दोनों ही क्षयमान हो गये। मौर्यसाम्राज्य के बिखराव के पश्चात ब्राह्मणवाद का नये ओज और तेज के साथ अभ्युत्थान हुआ। पुष्यमित्र के शासनकाल में समाज को सुव्यवस्थित करने के लिए सूत्रों-स्मृतियों की व्याख्या तथा रचना होने लगी और गौ तथा ब्राह्मणों की सुरक्षा की व्यवस्था की गयी।

परवर्ती गुप्तकाल में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ और देवी-देवताओं तथा देवालयों की स्थापना द्वारा लुप्तप्राय: धर्म-व्यवस्था को पुनर्जीवित किया गया। उन दिनों वैष्णवधर्म को विशेष प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिला और स्मृति-ग्रंथों में लोकप्रचलित विश्वासों तथा मान्यताओं को भी स्थान दिया गया। ब्राह्मणेतर श्रमणादि तत्त्वों से समन्वित ब्राह्मणवाद को विद्वानों ने नवब्राह्मणवाद कहा, जिसका स्वरूप वैदिक परंपरा से विच्छिन्न न हो कर भी भिन्न अवश्य था। सत्य तो यह है कि ब्राह्मणवाद का भी अमिश्रित रूप में पुनरुत्थान नहीं हुआ था। दूसरों के अनेक मत-विश्वास उसमें समाहित थे। इसी प्रकार नवब्राह्मणवाद में भी ब्राह्मणवाद के अतिरिक्त श्रमण, द्रविड़ तथा अन्य आदिवासियों के मत और मान्यताएं परस्पर एकीभूत हो गयी थीं। इसकी कुछ सामान्य विशेषताएं इस प्रकार थीं—(1) धर्मविशेष का लौकिकीकरण, (2) अवतारवाद की स्वीकृति, (3) देवालयों में देव-प्रतीकों की पूजा, (4) तीर्थादि की स्थापना, (5) धर्म के भारतीय स्वरूप का संरक्षण। अधिकांश पुराणों की रचना का भी यही हाल है। मध्यकालीन हिंदू जीवन-प्रणाली पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। पुराणकारों ने समन्वय-साधना की प्रवृत्ति को पुनर्जाग्रत किया। परंपरा, दृष्टिभेद, रुचिवैविध्य, देशकाल तथा तत्कालीन समाज से प्रेरणा ग्रहण कर उन्होंने तदनुरूप पूजा-उपासना तथा कर्मकांडीय पद्धतियों को अपना कर उनमें दार्शनिकता का पुट दे दिया। मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, अवतारवाद, गौ व ब्राह्मण-रक्षा, धर्मशास्त्रों का सम्मान और कर्म-फल में विश्वास पौराणिक धर्म की प्रमुख विशेषताएं थीं, जिनमें लोक-विश्वास का भी योगदान रहा। साधु-संन्यासियों का सम्मान और स्वर्ग-नरक, श्राद्ध-पिंडदान आदि इस युग की अन्य उल्लेखनीय विशेषताएं हैं, जिनकी धुरी पर हिंदू-जीवनचक्र चलता रहा और इस्लाम के भारत-प्रवेश के पूर्व तक अविकृत रूप में प्रचलित रहा।

मध्यकालीन हिंदू-समाज के दो पक्ष हमारे सामने आते हैं : एक, वह जो शास्त्रों का समर्थक है; दूसरा वह, जो परंपरागत विश्वासों तथा मान्यताओं अथवा स्वानुभूति का पक्षधर है। यह दूसरा पक्ष ही पौराणिक पक्ष है। परंतु हम बहुधा यह पाते हैं कि दोनों पक्षों में परस्पर अंतरावलंबन है। कभी जनघोषित विश्वास शास्त्रसम्मत बन जाते हैं, तो कभी शास्त्रविहित मान्यताएं जनता द्वारा अस्वीकृत हो जाती हैं। शास्त्र की दुहाई देने की अपेक्षा स्वानुभूति पर निर्भर करना अधिक श्रेयस्कर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है। इसी आस्था के कारण विपक्षी अथवा विरोधी के प्रति सहिष्णुताभाव का प्रादुर्भाव होता है और न्यायोचित उदार व्यवहार का शुभारंभ होता है। हमारे यहां आध्यात्मिक उपलब्धि को जीवन का परिष्कार माना गया है, जिसके कारण धर्मानुभूति और दार्शनिक चिंतन का अन्योन्याश्रय संबंध जुड़ गया है। उपनिषद् भारतीय दर्शन के उपजीव्य हैं और इसी आधार पर वेदांत भी विकसित हुआ है। औपनिषदिक विचारों में भी सर्वत्र मतैक्य नहीं है। इनमें समन्वय की स्थापना के लिए बादरायण (300 ई.) ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की, जिस पर शंकराचार्य (788-820 ई.) ने 'शारीरिक भाष्य' लिखा। इस भाष्य में निरूपित व्याख्या का इतना महत्त्व हो गया कि सर्वसाधारण में वेदांत का अर्थ केवल शांकर-वेदांत समझा जाने लगा। इसमें शब्दप्रमाण को मुख्य मान कर उसे तर्क द्वारा पुष्ट करने का यत्न किया गया है। शंकराचार्य की ही भांति कुमारिल भट्ट ने भी हमारी चिंताधारा को दूर तक प्रभावित किया है। परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं मतों की व्याख्या-प्रतिव्याख्या के रूप में विशिष्टाद्वैत, केवलाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि मतों की स्थापना की। इन सभी में ईश्वर को निरपेक्ष मान कर उसकी भक्ति का प्रतिपादन किया गया है, परंतु आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि के सिद्धांत प्रायः ज्यों-के-त्यों रह गये हैं।

ईश्वर और मनुष्य के बीच संबंध स्थापित करने का एक माध्यम धर्म है। जाति, कुल, देशकाल और परिस्थितियों से निरपेक्ष हो कर नैतिक दायित्व का निर्वाह करना 'धर्म' है। धर्माचार अथवा नैतिकता समाजपरक है और धर्मसाधना व्यक्तिनिष्ठ। साध्य और साधक का एकीकरण साधना के माध्यम से होता है। साधना का विकास रुचि, शिक्षा और संस्कार के अनुसार कई रूपों में होता है। स्थूल रूप में साधना के तीन अंग हैं : देवाराधन, संस्कारमूलक क्रिया और नित्य-नैमित्तिक कर्म। देवाराधन के भी दो रूप हैं—आत्मविश्वासमूलक योग और आराध्यानुग्रहमूलक भक्ति। आत्मरक्षा की वृत्ति ने मनुष्य को देवाराधन की ओर प्रवृत्त किया, फलस्वरूप कल्याणकारी शक्तियों को व्यक्तित्व प्रदान करके उन्हें मानवीय इच्छाओं, उद्देश्यों, विचारों तथा संवेदनाओं से संपन्न तथा भावापन्न मान लिया गया। भगवान के सगुण और साकार रूप का इसी प्रकार विकास हुआ।

शक्ति-संपन्न समर्थ व्यक्तियों की मरणोत्तरकालीन आत्माओं को अलौकिकता प्रदान कर उन्हें कल्याणप्रद शक्तियों से संबद्ध कर देने की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। कुलदेवता और ग्रामदेवता इन्हीं की उपज हैं, जिनके प्रतीक पिंड तथा पदार्थ बने। इसी प्रकार सशक्त तथा सहायक पशु-पक्षियों की आत्माओं से टोटेमवाद और फिटिशवाद का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्हें भौतिक आपदाओं का कारण मान लिया गया और उनकी तुष्टि के लिए यातुविद्या तथा जटिल साधना-विधान का विस्तार हुआ।[2] संस्कारग्रस्त जनता में आज भी भूत-प्रेत, पिशाच, चुड़ैल, डाकिनी-शाकिनी तथा उनसे त्राण दिलाने वाले ओझा आदि के झाड़-फूंक, गंडा-तावीज और मंत्र-तंत्र की मान्यता पायी जाती है। साध्य की अपेक्षा साधना पर अधिक बल दिया जाने लगा है, जो कभी-कभी जड़ता को जन्म देती है। इसीलिए साधना के विकृत और विस्तृत रूप (कर्मकांडादि) की आलोचना उपनिषदकाल से ले कर श्रमण-युग तक होती रही, जिसे हम संतवाणियों में मुखर पाते हैं।

मध्यकाल में हिंदू-समाज की बृहत्तर इकाई गांव था और लघुतर इकाई परिवार, जो जीविका के सम्मिलित साधनों से युक्त था। अयोग्य पति की पत्नी हो कर भी नारी संबंध-निर्वाह करने को बाध्य थी। सतीत्व के यथार्थ गौरव से अनभिज्ञ नारी और उसकी संतान से बना हिंदू-समाज मध्यकाल की विडंबना रहा।

उपर्युक्त विकासक्रम को ध्यान में रखे बिना मध्यकालीन संस्कृति की प्रवृत्ति और परिवेश को ठीक-ठीक समझ पाना प्रायः असंभव है। इस काल में धर्म-साधनों की बाढ़-सी आ गयी और गुह्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

साधनाओं के अंतर्गत कृच्छ साधनाएं भी प्रवेश पा गयीं। धर्माचार के नाम पर अनाचार, मिथ्याचार और व्यभिचार तक पलने लग गया। फलस्वरूप ज्ञानचर्चा की आड़ में पाखंड को प्रश्रय मिलने लगा और समाज में एक प्रकार की अराजकता फैल गयी। बाह्याडंबर तथा कर्मकांडादि बाह्यविधान के प्रति व्यंग्य किये जाने लगे। ऐसी परिस्थिति में गुरु गोरखनाथ ने बाह्य साधनों को गौण ठहरा कर मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता पर अधिक बल देना उचित समझा : ''अवधू मन चंगा तो कटौती में गंगा, बांध्या मेल्हा तो जगत्र चेला।'' कबीरादि संतों की चेतना भी प्रकारांतर से मन की महत्ता को स्वीकार करती जान पड़ती है :

*कहे कबीर कृपा भई, गुरु ज्ञान कहा समझाई।*
*हृदय श्री हरि भेटिये, जो मन अनतै नहिं जाई॥*

मध्यकालीन धर्मसाधना में प्राय: सभी पूर्ववर्ती प्रमुख धर्मसाधनाएं किसी-न-किसी रूप में पायी जाती हैं—अपने मूल रूप में अथवा किंचित् परिवर्तन के साथ। बृहदारण्यकोपनिषद् (2/4/11) के वेदमार्गी 'एकायन' धर्म तथा लोकधर्मी 'लोकायन' धर्म जैसी कुछ अन्य धर्मसाधनाएं भी अवश्य रही होंगी, जिनके नाम लोग भूलने लगे होंगे। फिर भी शैव, शाक्त, भागवत (वैष्णव), सौर, गाणपत्य जैसे प्रमुख धर्मों के न्यूनाधिक अनुयायी पाये जाते थे, जिनमें ज्ञान, योगतंत्र अथवा भक्ति की प्रवृत्तियां प्रचलित थीं। ज्ञान में तप और चिंतन-मनन की प्रधानता थी और योग-तंत्र में क्रियात्मक विशेषताएं पायी जाती थीं। शिव आदि योगी माने जाते थे और पूर्व-मध्यकाल में शैव धर्म भारतव्यापी बन गया था, जिसे राजाश्रय के अतिरिक्त लोकाश्रय भी प्राप्त था। इसके प्रमाण शिलालेखों द्वारा भी सुलभ हैं। योग का किसी समय इतना प्रबल प्रभाव था कि ज्ञान और भक्ति के साथ 'योग' शब्द का जोड़ा जाना आवश्यक समझा जाने लगा था। भक्ति और ज्ञान साधना में योग का कोई-न-कोई तत्त्व ढूंढ़ निकालना कठिन नहीं है। यहां तक कि बौद्ध व जैन तक इससे अप्रभावित न रह सके थे। भक्ति मुख्यत: भावनामूलक थी। अन्य धर्मों में भी इसका एक-न-एक रूप पाया जा सकता था। परंतु इसका जितना बहुविध विकसित रूप वैष्णवधर्म, विशेषत: भागवतसंप्रदाय में लक्षित हुआ, उतना कदाचित् अन्यत्र संभव न हुआ। विभिन्न धर्मों अथवा संप्रदायों के बीच भी अनेक धर्मों या उपसंप्रदायों का बनना, मध्यकालीन युग की विशेषता बन गयी थी।

मध्यकाल में अरुचि और संस्कार का प्राधान्य था। इस कारण बहुधा सामंजस्य बिगड़ जाता था और संतुलन बनाये रखने के लिए बार-बार समन्वय की ओर उन्मुख होना पड़ता था। समन्वय हमारे संस्कार में था, इसलिए उसे लाने में विघ्न-बाधाओं के रहते भी दुर्लंघ्य कठिनाई नहीं होती थी। वैदिक वाङ्मय में इसके बीज मिलते हैं। 'तंत्रालोक' में भी इसका उल्लेख है : 'एष रामो व्यापकोऽत्र शिव: परम कारणम्' (88/1)। 'शक्ति-संगम-तंत्र' का यह उद्धरण भी ध्यातव्य है :

*कदाचिद्वात्म ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा।*
*लोकसम्मोहनार्थाय स्वरूपं विभ्रती परा॥*

'दुर्गासप्तशती' (11/5) में भी भगवती दुर्गा और वैष्णवी को अभिन्न ठहराया गया है। 'अध्यात्मरामायण' में राम तथा शिव के बीच परस्पर भक्ति प्रदर्शित की गयी है। यही भावना 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में शिव और श्रीकृष्ण के मध्य व्यक्त हुई है। परवर्ती रचनाओं में ऐसे कई उदाहरण उपलब्ध हैं। 'साधनमाला' में वर्णित बौद्ध देवता पद्मनृत्तेश्वर भी शिव का रूपांतर ही जान पड़ता है। इसी प्रकार उड़ीसा के पंचसखाओं का 'शून्यपुरुष' ब्राह्मण-श्रमण संस्कृतियों के मिलन की ओर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संकेत करता है। मध्यदेश के नाग राजाओं द्वारा अवलोकितेश्वर की पूजा शिव-पूजन की भांति हुआ करती थी। एलोरा के समीपस्थ वेरूल के कैलास मंदिर में शिव की मूर्ति के शीर्ष स्थान पर बोधिवृक्ष स्थित है। चंबा-नरेश अजयपाल के राज्यकाल में उत्कीर्ण ब्रह्म, वरुण और शिव के साथ बुद्ध भी हैं। खजुराहो से उपलब्ध कोक्कल के वैद्यनाथ मंदिर वाले शिलालेख में ब्रह्म, जिन, बुद्ध तथा वामन को शिव का स्वरूप कहा गया है। इसी प्रकार हरिहर-पूजन में भी शैव व वैष्णवधारा का संगम लक्षित होता है। संक्षेप में, ऐसे अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनसे समन्वयात्मक प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। भक्ति-आंदोलन का विकास इसी पृष्ठभूमि में हुआ था।

## भक्ति आंदोलन

मध्यकालीन धर्मों में हिंदू, जैन, बौद्ध, पारसी, यहूदी, ईसाई प्रमुख थे, जिनका संपर्क-द्वार उन्मुक्त था। लोकविश्वासों पर आधारित लोकधर्म की निष्ठा किसी धर्मविशेष के प्रति न थी। उसका धर्माचार परंपरागत और चमत्कार-प्रभावित था। आदिवासियों का धर्म अधिकतर उन्हीं तक सीमित था, परंतु संपर्क द्वारा वे परस्पर न्यूनाधिक रूप में अनुप्राणित होते रहते थे और जाने-अनजाने एक-दूसरे का अनुकरण करने में भी हिचकते न थे। फिर भी, उन दिनों हिंदू-इस्लाम दो ही प्रधान धर्म थे। सिक्खों के देवी-देवता प्राय: हिंदुओं के ही थे, पर उनकी आचार-पद्धति पर आगे चल कर सैनिक वृत्ति की छाप पड़ी। जैनधर्म का प्रचार जहां पश्चिम-दक्षिण के क्षेत्रों में अधिक था, वहां बौद्धधर्म पूर्वी प्रांतों में ही सिमट कर रह गया था। पारसीमत 721 ई. में भारत में अपना पहला क़दम रख चुका था। लगभग इसी समय इस्लाम धर्म व्यापारियों के माध्यम से मालाबार पहुंचा था। यहूदी ईसाइयों से पहले ही आ गये थे और ईसाई धर्म फादर टॉमस द्वारा दक्षिण में प्रवेश पा चुका था, जिसका प्रचार-कार्य परवर्ती काल में प्रारंभ हुआ। हिंदू धर्म इस्लाम के संपर्क से मात्र व्यक्तिगत साधना का केंद्र न रह कर सामूहिक साधना का रूप धारण करने लगा था और उसमें आंदोलनकारी प्रवृत्तियां उभरने लगी थीं। फलस्वरूप प्राय: सभी धर्मों में युगानुरूप परिस्थिति के अनुसार पंथों, संप्रदायों और उपसंप्रदायों तक की सृष्टि होने लगी, जिनका मुख्य उद्देश्य आत्मनिरीक्षण और परिस्थितिपरीक्षण द्वारा आवश्यक सुधार करके परंपरागत आचार-विचारों को किसी-न-किसी रूप में प्रश्रय दे कर उन्हें जीवित रखना था। इस प्रयास में वैष्णवधर्म ने भागवतसंप्रदाय के रूप में नेतृत्व किया और व्यापक प्रभाव डाला, जिसके माध्यम से भक्ति-आंदोलन का सूत्रपात हुआ। उसके अनुकरण में अन्य धर्मों ने भी अपनी-अपनी सीमाओं में आवश्यक संशोधन-परिवर्द्धन किये। हिंदू धर्म के अंतर्गत शैव, शाक्त, सौर, स्मार्त और गाणपत्य की गणना की जाती थी। पंचदेवोपासना के परिणामस्वरूप इनमें से सौर और गाणपत्य वैष्णवधर्म में अंतर्लीन हो चले। शेष तीनों में से शैव और शाक्त धर्म कदाचित वैष्णवधर्म से अधिक प्राचीन थे।

शैवधर्म के अंतर्गत मध्यकाल में पाशुपत, वीरशैव, लिंगायत और कश्मीरी शैव-संप्रदाय विख्यात थे और इनके उपसंप्रदायों तक का गठन होने लगा था। शिव योगसाधना के प्रवर्त्तक तथा आदि गुरु माने जाते हैं। ऐसे ही उपसंप्रदायों में 'नाथ-योगी-संप्रदाय' की गणना भी की जाती है। इसके उन्नायकों ने अपने प्रचार का माध्यम देशी भाषाओं को बनाया और यह इन्हीं की एकांत विशेषता न थी। वैष्णव धर्मानुयायी स्वामी रामानंद और उनके अनुयायियों ने भी लोकप्रचलित भाषाओं का आश्रय ले कर उन्हें प्रश्रय दिया। इसी प्रकार अन्य संप्रदायों ने भी अपने-अपने मतों के प्रचार के लिए क्षेत्रीय भाषाओं को ही अपनाया। परंतु इस प्रवृत्ति के मूल में एक ओर जहां श्रमण-संस्कृति की प्रेरणा थी, वहां दूसरी ओर यह जनसंपर्क का परिणाम भी था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वैष्णवधर्म मूलतः भक्तिप्रधान है, जो योगसाधना का परवर्ती होने के कारण उससे यत्किंचित् प्रभावित भी कहला सकता है। पांचरात्र के माध्यम से तंत्रसाधना के तत्त्व भी किसी-न-किसी रूप में इससे समाविष्ट हैं। पांचरात्र मत पर ही मूर्तिविधान और मंदिरनिर्माण की व्यवस्था मुख्यतः आधारित थी। वैष्णवधर्म संप्रदायों और उपसंप्रदायों की सृष्टि प्रधानतः इनके आचार्यों अथवा प्रवर्त्तकों द्वारा दार्शनिक सिद्धांतों की व्याख्या करने के कारण हुई थी। द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, भेदाभेद, शुद्धाद्वैत आदि इन्हीं के परिणाम थे। इनके द्वारा अपनानी गयी भक्ति किसी-न-किसी दर्शन पर आधारित थी, फलतः ये स्वयं को एक-दूसरे से पृथक् मानने लगे थे। परंतु दूसरी ओर ऐसे वैष्णव मतावलंबी उपसंप्रदायों का भी अस्तित्व था, जो किसी दार्शनिक सिद्धांत पर उतना बल देना अनिवार्य नहीं समझते थे। रामावत, सहजिया, वारकरी, महानुभाव, पंचसखा आदि ऐसे ही उपसंप्रदाय थे।

शाक्तधर्म में भी दक्षिणमार्गी और वाममार्गी नामक दो श्रेणियां बन गयीं। कबीर ने वाममार्गी शाक्तों के प्रति विरति और अनास्था प्रकट की है, जो बहुधा अनाचार तक में लिप्त हो जाया करते थे। हिंदू धर्म को सुव्यवस्थित करने के लिए शंकराचार्य ने स्मार्त संप्रदाय की स्थापना की, जिससे पंचदेवोपासना की व्यवस्था की गयी। आगे चल कर इसमें अंधविश्वास ने स्थान पा लिया, जिसमें भक्ति का मूल रूप धूमिल पड़ गया। पारलौकिक फल की आशा में लौकिक मर्यादाओं के बंधन कसते गये। तीर्थ और मंदिर व्यापारकेंद्र से लगने लगे और पंडों-पुरोहितों के आचार-व्यवहार मर्यादा का उल्लंघन कर उच्छृंखलता की कोटि तक पहुंच गये।

श्रमणधर्म के अंतर्गत बौद्ध और जैन मतों की गणना की जाती है, जिनका लोकधर्मी होने के कारण निर्गुण भक्ति पर न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा। जैनियों की तपोनिष्ठ नैतिक आचारपद्धति और बौद्धों के निर्वाण, शून्य तत्त्व, मध्यम मार्ग आदि का प्रभाव उन पर पड़े बिना न रह सका। मध्यकाल में उक्त दोनों धर्मों में पुरानपंथी परंपराओं के प्रति असंतोष बढ़ने लगा। फलस्वरूप ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों की बाढ़ को रोकने के लिए सुधारवादी आंदोलनों का तांता-सा लग गया। उदाहरणार्थ, बौद्ध धर्म की महायान शाखा में विभिन्न यानों की वृद्धि होती गयी। मंत्रयान, वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान जैसे उपसंप्रदाय इसी के परिणाम हैं। संतों ने कदाचित इसी कारण सभी को फटकारा है कि इन्होंने मूल प्रश्न को छोड़ कर बाह्य विधानों का वितंडा खड़ा कर दिया है। मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन ऐसी बातों के विरोध में ज़ोर पकड़ता जा रहा था, जिसमें सूफ़ी साधकों ने भी महत्त्वपूर्ण योग दिया।

इस्लाम धर्म में शरा और बेशरा दो प्रकार की कोटियां हैं। इनमें से शरा सनातनी हैं और बेशरा मस्तमौला फकीर, जो कभी-कभी पीर-पैग़म्बर के चमत्कारपूर्ण करिश्मों का आश्रय लिया करते हैं। ये अपने क्रियाकलापों में इस्लाम के मूल सिद्धांतों की उपेक्षा तक कर दिया करते हैं। इनका एक समुदाय 'मजजूब' नाम से प्रसिद्ध है, जिसके अनुयायी न तो रोजा-नमाज को मानते हैं और न पैगबर के प्रति आस्थावान हैं। बेशरा साधक 'मलामती' कहलाते हैं, जो ख़ुदा के कृपापात्र समझे जाते हैं। बेशरा संप्रदाय के अंतर्गत मदारी, मलंग, कलंदरी, रसूलशाही, लाल शाहबाजिया, मूसा सुहागिया आदि कई उपसंप्रदाय हैं। इनकी अपनी-अपनी विशेषताएं हैं।

भारतीय सूफ़ी मुख्यतः बेशरा संप्रदाय के हैं, जो इस्लाम के अनुयायी हो कर भी सनातनपंथी मुसलमानों से सब समय सर्वत्र मेल नहीं खाते। ऐसे संप्रदायों में पांच मुख्य हैं : चिश्ती, कादिरी, सुहरवर्दी, नक्शबंदी और शत्तारी। चिश्ती संप्रदाय के दो उपसंप्रदाय हैं—साबिरी और निजामी। फिर निजामी की दो शाखाएं हैं—हिशामी और हाजशाही। इसी प्रकार कादिरी संप्रदाय की दो शाखाएं हैं—वहाबिया और रजाकिया। इनकी भी प्रशाखाएं हैं—मुकीमशाही और नौशाही। नौशाही के प्रवर्त्तक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हाजी मुहम्मद बतलाये जाते हैं। इनके चार शिष्यों में से दो के नाम पर शाखाएं 'पाक रहमानी' और 'सचयारी' के रूप में प्रसिद्ध हुईं। इसी प्रकार केसरशाही और बेनवा जैसे दो अन्य संप्रदाय भी हैं। पंजाब के ऐसे ही संप्रदायों में हुसेनशाही और मियांखेल संप्रदायों के नाम लिये जाते हैं। सुहरवर्दी संप्रदाय के अंतर्गत जलाली, मखदूमी, मीरनशही, दीलाशाही, इस्माइलशाही आदि कई शाखाएं हैं। नक्शबंदी सूफ़ियों को सनातनी मुसलमानों में बहुत सम्मान प्राप्त हैं। औरंगजेब इन्हीं का मुरीद था। इन्हें संगीत व नृत्य के अतिरिक्त पीरपूजा, समाधिपूजा और दीपदान जैसी पद्धति स्वीकार्य नहीं हैं। शत्तारी संप्रदाय वाले कादिरी संप्रदाय वालों की तरह वस्त्र धारण करते हैं। इनमें कुछ ऐसे भी हैं, जो बाल नहीं रखते और धार्मिक पाबंदियों के प्रति उदासीन रहते हैं। जो हो, सूफी-संप्रदाय भी भक्ति-आंदोलन के प्रभाव से अछूता न रह सका और उसकी भक्ति प्रेमाभक्ति के सांचे में ढलने लगी थी।

केरल का शास्तापूजक संप्रदाय बंगाल के धर्म-ठाकुर, सहजिया, बाउल, सत्यपीर, कर्त्ताभाजा आदि संप्रदाय; उड़ीसा का पंचसखा संप्रदाय; महाराष्ट्र के वारकरी और महानुभाव-संप्रदाय भक्ति-आंदोलन की ही उपज हैं, जिनके अनुयायियों द्वारा भक्तिकाव्य की रचना हुई और इस प्रकार भक्ति-साहित्य का विपुल भंडार समृद्ध हुआ।

## ललित कलाएं

भक्ति-आंदोलन की लोकप्रियता इतनी अधिक बढ़ी कि कला क्षेत्र में भी उसकी स्पष्ट छाप लक्षित होने लगी। मोटे तौर पर काव्येत्तर कलाक्षेत्र चार वर्गों में विभक्त है : वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्र-कला और संगीतकला। कला-सर्जन के मूल में बाह्य वातावरण और परिस्थितियों के बीच उद्भूत मनुष्य की सूक्ष्म तथा कोमल अंतर्वृत्तियों की चेष्टाओं का निदर्शन मिलता है; और कला धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति तक का माध्यम बन जाती है। कला का स्तर तब और भी अधिक उजागर हो जाता है, जब वह चामत्कारिक बोध से ऊपर उठ कर मिथ और इतिहास का भी आश्रय ग्रहण कर लेती है।

**वास्तुकला :** मध्यकालीन वास्तुकला में हिंदू-मुस्लिम संपर्क का एक परिणाम उसके नये मोड़ों में लक्षित हुआ। इस्लाम ने अपने अभियान में जिन देशों को अधिकृत किया, उनसे लक्ष्यगत भेद के कारण भारत की स्थिति कदाचित् अधिक भिन्न थी। आदर्शवादी और यथार्थवादी मतों का द्वंद्व था। एक यदि अधिक कल्पनाशील था, तो दूसरा भौतिकतापरायण; और दोनों परस्पर विरोधी लगते थे। इसका प्रभाव इनकी कलाओं पर भी पड़ना स्वाभाविक था, जिसका प्रमाण इनके देवालयों तथा मस्जिदों में लक्षित होता है। मस्जिदों का खुलापन देवालयों के घिरेपन से सर्वथा भिन्न है। देवालयों की भांति मस्जिदों में विग्रह-स्थान नियत नहीं रहता, अपितु मक्का की ओर उन्मुख होना ही पर्याप्त समझा जाता है। वास्तुकला की दृष्टि से देवालय की अपेक्षा मस्जिद का स्वरूप सरल एवं बोधगम्य है। देवालय की दीवारों पर देवी-लीलाओं तथा साजसज्जा का अंकन-टंकण हो सकता है, किंतु मस्जिदों में इसके लिए अवकाश नहीं है। फिर भी, रंग-बिरंगे पत्थरों के प्रयोग द्वारा मस्जिदों को भी अलंकृत करने का प्रयास पाया जाता है। इस प्रकार इस क्षेत्र में दोनों के सामंजस्य में प्रर्याप्त कठिनाई का सामना करना पड़ा। हिंदुओं की लयात्मक प्रवृत्ति से भिन्न मुसलमानों की औपचारिकता थी। फिर भी, कालांतर में सहवास के कारण दोनों में परस्पर वैचारिक आदान-प्रदान संभव हुआ, मतभेदों पर मानवीय भावनाओं की विजय हुई और वास्तुकला भी इससे प्रभावित हुए बिना न रह सकी।

भारतीय राजगीर शताब्दियों से पत्थरों के विशाल देवालय तैयार करने के अभ्यस्त थे, किंतु

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मध्यकाल में इसके आगे वे विकास न कर सके। वे भवन-निर्माण में कड़ियों से काम लेते थे, जबकि मुस्लिम राजगीर इसके विपरीत मेहराबों की सहायता लेते थे। भारतीय राजगीरों ने भी मुस्लिम प्रभाव ग्रहण कर मेहराब बनाना आरंभ किया। शिखर का स्थान मीनारों से पृथक बना रहा। मुस्लिम आदेशों पर भारतीय राजगीरों द्वारा निर्मित भवनों में भारतीयता की छाप स्पष्ट है। मुस्लिम वास्तु-कला कई रूपों में विकसित हुई, किंतु भारतीय वास्तुकला अधिकतर देवालयों और हिंदू महलों तक ही सीमित रही। इस प्रकार उन दिनों की वास्तुकला दो रूपों में विभक्त थी—धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष। वास्तु कला के तत्कालीन उदाहरणों में हम दिल्ली की 'कुतुबमीनार' और अजमेर के 'अढ़ाई दिन का झोंपड़ा' का नाम ले सकते हैं, जिनमें किसी एक परंपरा का अनुकरण नहीं पाया जाता। मकबरों का निर्माण उस युग की अपनी विशेषता है। मुस्लिम वास्तुकला का विकासक्रम तीन रूपों में पाया जाता है—(1) दिल्ली सल्तनतकालीन, (2) सूबेदारी अथवा प्रांतीय शासन व्यवस्थाकालीन, (3) मुग़लकालीन। तैमूरलंग के आक्रमण से दिल्ली सल्तनत को आघात पहुंचा और वास्तुकला को भी एक झटका लगा। परंतु मुग़लकाल इस कला के लिए स्वर्णयुग सिद्ध हुआ। ताजमहल का निर्माण इस युग की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है।

**मूर्तिकला :** मध्यकालीन देव मूर्तियां प्राय: परंपरागत हुआ करती थीं, किंतु भक्ति-आंदोलन के प्रभाव से इनमें वैविध्य आया और क्रमश: करुण, कोमल तथा सरस अभिव्यक्तियों को विस्तार मिलता गया। लोकोन्मुखी भावनाओं तथा अनुभूतियों को भी उनमें स्थान मिलने लगा। मूर्तिकला का क्षेत्र अधिकतर हिंदुओं तक ही सीमित रहा। बौद्ध और जैन मूर्तिकला के विकास में प्रचलित रूढ़ियों के कारण अधिक विकास की गुंजाइश न थी। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियां भी मूर्तिकला के विकास में अधिक सहायक नहीं हो सकती थीं। इसके विपरीत वे कहीं-कहीं बाधक ही बनीं। इस्लाम में मूर्तिपूजा का कोई स्थान एवं महत्त्व न था। पारसी और यहूदी धर्मों में लीलातत्त्व का स्थान न होने के कारण मूर्तिकला के विकास की संभावनाएं अधिक न थीं और ईसाई धर्म कदाचित् भारतीय मूर्तिकला में तब तक कोई उल्लेखनीय स्थान नहीं बना सका था। फिर भी हिंदू जनता में मूर्तियों का सम्मान विघ्न-बाधाओं के बीच भी बढ़ता ही गया और भगवान के लीलाविस्तार के साथ-साथ मूर्तियों की परिकल्पनाएं तथा भंगिमाएं भी रूपायित होती गयीं।

**चित्रकला :** चित्र के प्रारंभिक नमूने गुफ़ाओं में मिलते हैं, जिनसे पुराकालीन भारतीय चित्रकारों की निरीक्षण-प्रतिभा और कलाकौशल का आभास मिलता है। भारतीय चित्रकला में दर्शन और अनुभूति दोनों का स्थान एवं महत्त्व है। चित्रकला के तीन पक्ष हैं—चित्र, अर्द्धचित्र और चित्राभास। इस कला में षडंग की महत्ता है—रूपविधान, रूपभेद, प्रमाण, भावयोजना, सादृश्य और वर्णिका भंग। इस विषय का प्राचीन ग्रंथ 'विष्णुधर्मोत्तर' है। 'विद्धशालभंजिका' नाटक में भी पूरे मानवीय चित्र का उल्लेख मिलता है, जहां सशक्त रेखाचित्र का उदाहरण उपलब्ध है। प्राकृतिक चित्रों के अतिरिक्त मानवीय चित्रों के क़ई नमूने भी उपलब्ध हैं, जो दो प्रकार के हैं—विद्ध और अविद्ध। ऐसे चित्रों में 'बुद्ध का परिनिर्वाण' प्रमुख है। मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में भी भित्तिचित्र की चर्चा है।

परवर्ती, विशेषत: मध्यकालीन चित्रों में विभिन्न रसों को अभिव्यक्ति मिली है, न केवल मानवीय चित्रों में, अपितु प्राकृतिक चित्रों में भी। प्राकृतिक चित्रों की एक अन्य विशेषता बारहमासा, रागमाला आदि के लेखांकन में पायी जाती है। मानवीय चेष्टाओं द्वारा भी इस उद्देश्य की पूर्ति की गयी है। नायक-नायिकाओं का चित्रांकन मध्यकालीन चित्रों की एक प्रमुख विशेषता है। राजस्थानी शैली मध्यकाल में लोकप्रिय रही, जिसका ईरानी चित्रकला के मेलजोल से मुग़लशैली में विकास हुआ। यह शैली बहुत सफल तथा लोकप्रिय सिद्ध हुई। हुमायूं के साथ ईरान के दो चित्रकार—मीर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सैयद अली और अब्दुस्समद ईरान से भारत आये थे। जंगली जंतुओं के शिकार, युद्धक्षेत्र की वीरता, दरबारी जीवन के दृश्य, जलविहार, वाटिकामनोरंजन और धार्मिक जीवन के विविध प्रसंग मध्यकालीन चित्रों की मुख्य विशेषताएं हैं। इनमें रंग, रूप और रेखाओं के सुंदर विन्यास मिलते हैं। इसके साथ ही ग्रंथों के अलंकरण और सजावट की वह परंपरा भी प्रचलित रही, जो अपभ्रंशकाल से ही चल पड़ी थी। इनमें संदर्भगत विवरणों के चित्र भी पाये जाते हैं। परंतु मध्यकालीन चित्रकला जितनी राजघरानों और अमीरों की रुचि का विषय रही है, उतनी जनसामान्य की नहीं। अधिकतर राजाश्रित पेशेवर कलाकार ही इसके संवर्द्धक रहे। केंद्रीय राजसत्ता के बिखराव के बाद देश छोटे-मोटे राज्यों में विभक्त हो चुका था, जिसका प्रभाव कला के क्षेत्र पर भी पड़ा और राजाश्रित चित्रकारों द्वारा चित्रशैली की पृथक्-पृथक् 'क़लमें' चल पड़ीं। इनके बीच लोककला भी पलती रही, जो व्रतोत्सवों अथवा मांगलिक कार्यों के अवसरों पर अभिव्यक्ति पाती रही है।

**संगीतकला :** मध्यकालीन भारतीय संगीत का इतिहास अधिकतर संगीतघरानों का इतिहास है। इस काल में भारतीय संगीत और ईरानी संगीत के मेलजोल से एक नया मोड़ आया। देवालयीय संगीत की एक धारा दरबारों में पल कर शास्त्रीयता का रूप ले रही थी और इसकी एक अन्य धारा बढ़ते हुए लोकप्रभाव के कारण लोकसंगीत से कंधा मिला रही थी। ईरानी प्रभावों से ध्रुपद के मुक़ाबले में ख़याल-पद्धति का प्रचलन हुआ और विविध राग-रागिनियों के जोड़-तोड़ से नयी-नयी राग-रागिनियों का विस्तार हुआ। इस काल में नये-नये वाद्यों के भी आविष्कार हुए। राजाश्रय पा कर पृथक्-पृथक् राज्यों में नये-नये उस्तादों के घराने चल पड़े। उत्तर और दक्षिण भारत के संगीत का भेद जितना घरानों और पद्धतियों का भेद है, उतना भारतीय संगीत का नहीं। भारतीय संगीत की मूल प्रेरणा योगधर्मी स्वरसाधना की है, परंतु इस्लाम में इसे रागात्मक वृत्तियों से गर्भित माना जाता है जिसके कारण खुदा के 'ज़िक्र' और उसकी 'इबादत' में बाधा उपस्थित होने की आशंका बनी रहती है। फिर भी, सूफ़ियों के यहां संगीत प्रायः वर्जित नहीं रहा और इसके द्वारा सूफ़ीमत के प्रचार-प्रसार में भी सहायता मिली। सूफ़ियों की कव्वालियां प्रसिद्ध हैं।

गायन-पद्धति की भांति नृत्य-पद्धति भी विस्तार पाती रही और देवालयीय पद्धति क्षीण हो कर दरबारी पद्धतियों का सहारा लेने लगी। देवालयीय पद्धति के संगीतज्ञों में स्वामी हरिदास अग्रगण्य थे और दरबारी संगीत का प्रमुख उन्नायक उनका शिष्य तानसेन बना। ध्रुपद-शैली को ग्वालियर के राजा मानसिंह द्वारा दरबारी संस्कार, प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिला। इस संदर्भ में बैजू बावरा और गोपाल नायक को भी भुलाया नहीं जा सकता, वे इस युग के मूर्धन्य संगीतज्ञों में थे।

अन्यान्य क्षेत्रों की भांति मध्यकालीन कलाक्षेत्र में भी समन्वय की प्रवृत्ति जाने-अनजाने काम कर रही थी और इस प्रकार भारतीय कला में एक नया मोड़ आ गया था, जिस पर अग्रसर हो कर वह अधिक समृद्ध तथा संपन्न होती गयी। संगीत के प्रभाव से काव्यरचनाएं भी राग-रागिनियों के भेदों का अनुसरण करने लगीं। 'आदिग्रंथ' जैसे धार्मिक ग्रंथ भी प्रचलित राग-रागिनियों के शीर्षकों से युक्त हो गये। इस कोटि का कदाचित यह पहला ग्रंथ है, जिसमें संकलित पद विभिन्न राग-रागिनियों में बांटे गये हैं।

## साहित्य और असाहित्य का प्रश्न

मध्यकालीन भक्तिसाहित्य प्रायः पद्यमय है और वहां साहित्य 'काव्य' का पर्याय है। इसलिए काव्य-रसिकों अथवा साहित्य-पारखियों का ध्यान यथावसर उन मानदंडों की ओर आकर्षित हो जाता है, जिन्हें उत्कृष्ट काव्य की कसौटी मान लिया गया है, और जो किसी-न-किसी काव्यशास्त्रीय

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परंपरा का अनुसरण करते हैं। जहां तक विदित है, काव्यशास्त्रीय परंपरा का सूत्रपात ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में भरत के 'नाट्यशास्त्र' से हुआ था, जबकि विभिन्न अभिनयों के संदर्भ में शृंगारादि रसों को महत्त्व प्रदान किया जाने लगा था। आगे चल कर क्रमशः भामह के अलंकारवाद, वामन के रीतिवाद, आनंदवर्द्धन के ध्वनिवाद, कुंतक के वक्रोक्तिवाद और क्षेमेन्द्र के औचित्यवाद का प्रचार-प्रसार हुआ तथा काव्यपरीक्षा करते समय इनके द्वारा निर्धारित नियमों की अनुरूपता को मानदंड स्वीकार कर लिया गया। परंतु 'काव्य' शब्द का अभिप्राय वहीं तक सीमित न रह सका और उसके उस मूल अर्थ की ओर ध्यान जाने लगा, जिसका प्रयोग कभी पहले किया जाता रहा था। 'कवि' के आधार पर निर्मित 'काव्य' शब्द का अर्थ प्रायः 'कवि-कर्म' किया जाता है और इसके अंतर्गत 'कवि' शब्द के मूल अर्थ का समावेश स्वभावतः हो जाता है। 'कवि' शब्द 'कुङ', 'कवृ' द्वारा निर्मित है, जिसका तात्पर्य 'जानने वाला' अथवा 'वर्णन करने वाला' है। 'अथर्ववेद' (कांड 19, सूत्र 53, मंडल 1) में इसका प्रयोग क्रांतदर्शी अथवा प्रज्ञावान के अर्थ में किया गया है। 'ऋग्वेद' (9/72/6) में भी 'मनीषिणः कवयः' का प्रयोग पाया जाता है। 'यजुर्वेद' (40/8) में तो 'कवि' शब्द का प्रयोग मनीषी और स्वयंभू तक के लिए हुआ है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' (4/16) के अंतर्गत कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय के प्रसंग में, कवियों तक में भ्रम पैदा होने का उल्लेख है। 'प्रश्नोपनिषद्' में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के आधार पर लोक विशेष की प्राप्ति की जानकारी कवियों द्वारा सुलभ बतलायी गयी है। फिर भी, ऐसे कवियों की कृतियों को कहीं 'काव्य' की संज्ञा नहीं दी गयी। केवल 'कवि' के पर्याय परमात्मा की सृष्टि को 'श्रुति' में 'देवस्यकाव्यम्' कहा गया है, जिससे 'कविता' के अर्थ का बोध नहीं होता। इस अर्थ में वेदरचयिता ब्रह्मा को 'श्रीमद्भगवत' में 'आदिकवि' अवश्य कहा गया है : 'तेने ब्रह्महृदाय आदिकवये।' परंतु जो ध्वनि वाल्मीकि को 'आदिकवि' कहने में व्यंजित होती है, यह इसमें नहीं है। इस आधार पर काव्य के दो प्रमुख लक्षण प्रकट होते हैं—पहला, काव्य में स्वतः स्फूर्त अथवा अल्पायासजन्य अभिव्यक्ति का होना और दूसरा, मार्मिक अनुभूति के भावघ-संचार द्वारा श्रोता या पाठक के मानस में उसे ठीक उसी प्रकार आंदोलित करने में समर्थ होना, जिस प्रकार कवि को उससे प्रेरित हो कर अपने मनोरम भावों को अभिव्यक्ति देनी पड़ी थी। यदि ऐसा कवि अपनी क्रांतदर्शिता के कारण परोक्ष ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कर दिखाने में सक्षम और समर्थ हो, तो उसका काव्य आदर्श काव्य तक कहला सकता है। यही कारण है कि 'श्रीमद्भगवद्गीता' और 'श्रीमद्भागवत' दोनों ने अपने-अपने ढंग से भक्ति-साहित्य के संवर्द्धन में महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय योग दिया है।

इस प्रकार उत्कृष्ट काव्यरचना के लिए जहां भाव या वर्ण्य विषय का यथेष्ट मनोरम रहना अनिवार्य है, वहीं उसकी व्यंजनाशैली का सशक्त एवं प्रभावशाली होना भी आवश्यक है। परंतु सब समय व सर्वत्र यह संभव नहीं हो पाता कि भव्य भाव सशक्त भाषा तथा सुंदर रचनाशैली से मन्वित हो; फलस्वरूप कोई कृति भावप्रधान बन जाती है, तो दूसरी शैलीप्रधान। भावप्रधान रचना में जहां वर्ण्य विषय पर ध्यान केंद्रित रहता है तथा रचना-प्रक्रिया गौण तक बन जाती है वहीं शैलीप्रधान रचना में शब्दसौंदर्य अथवा चमत्कारसृष्टि द्वारा रचनाकौशल प्रदर्शित करने की धुन सवार हो जाती है। इसका एक परिणाम यह होता है कि जहां प्रथम कोटि के कवियों में काव्यशास्त्रीय परंपरा की उपेक्षा तक पायी जाती है, वहीं दूसरे वर्ग के कवियों में यशोलिप्सा अथवा धन-प्राप्ति जैसी प्रवृत्ति अनेक रूपों में मिलती है, जिसे मानवीय मूल्यों की दृष्टि से हम स्पृहणीय आदर्श नहीं ठहरा सकते। उन्हें अधिक-से-अधिक युगानुरूप लोकप्रियता उगाहने वाला कह सकते हैं। पहली कोटि वाले कवि ब्रह्मानुभूति (विश्वव्यापी अनुभूति) द्वारा आनंदोपलब्धि किया करते हैं, जिसे 'एकनाथी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भागवत' में संत एकनाथ ने 'ब्रह्मरस' की संज्ञा प्रदान की है। उसे प्राप्त करने के साथ-साथ जहां वे 'जनहिताय' उपदेश दान करते हैं, वहीं दूसरे वर्ग के कवि अधिकतर राजाश्रय में अभीष्ट की सिद्धि में संलग्न पाये जाते हैं।

प्रथम कोटि के 'काव्य' और कवियों की स्थिति प्राचीन काल की एकांत विशेषता नहीं है, अपितु मध्यकाल में भी ऐसे बहुसंख्यक कवियों का पता चलता है, जिनकी काव्य-विषयक मान्यता उन्हें काव्यशास्त्रीय परंपरा से पृथक कर देती है। ऐसे ही तथाकथित कवियों को लक्ष्य कर कबीर ने कहा है कि ''जिनको हम (साधारणतः) 'कवि' कह दिया करते हैं, वे भी उसी प्रकार मर जाया करते हैं, जिस प्रकार कोई कापड़ी साधु व्यर्थ की केदारयात्रा करके मर जाया करता है अथवा व्रती कहलाने वाले जैन मुनि लुंचन-क्रिया द्वारा अपने बाल नोंच-नोंच कर मर जाया करते हैं। इनमें से किसी को भी वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं हो पाता।''[3] संत रैदास ने भी प्रकारांतर से इसी मत की पुष्टि की है।[4] कबीर ने अपनी रचनाओं के बारे में कहा है कि इन्हें मात्र गीत न समझा जाये, इनमें ब्रह्म-विचार हैं।[5] सिंध के संत कवि शाह अब्दुल लतीफ भी इसी उक्ति को अपने ढंग से दुहराते हैं।[6] मराठी संतों में भी यही प्रवृत्ति पायी जाती है। परंतु केवल इसी आधार पर किसी रचना को उत्कृष्ट-निकृष्ट अथवा साहित्यिक-असाहित्यिक नहीं ठहराया जा सकता। इस प्रकार के प्रश्न बहुधा ऐसे लोगों द्वारा उठाये जाते हैं, जिन्होंने परंपरा विशेष को ही 'इति' अथवा शाश्वत स्वीकार कर लिया है। वास्तव में, स्वानुभूति की सहज अभिव्यक्ति ही वह कसौटी हो सकती है जो किसी रचना को साहित्यिक अथवा असाहित्यिक ठहरा सके। इसके अभाव में कोरी काव्यशास्त्रीय परंपरा के अभ्यासगत निर्वाह द्वारा शैलीगत प्रभाव उत्पन्न कर वह श्रोता अथवा पाठक को भले ही चमत्कृत कर दे, किंतु सच्चे अर्थों में उसे काव्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि किसी आध्यात्मिक स्तर अथवा धरातल पर पहुंच कर साहित्य-सर्जन करने पर ही 'कवि' कहलाने की योग्यता प्राप्त की जा सकती है, अपितु स्वानुभूति की सहज अभिव्यक्ति द्वारा दूसरों को भी इसमें भागीदार बनाया जा सकता है; और यह तभी संभव है, जब कवि द्वारा अपनी संवेदनशीलता का आयाम तथा परिवेश विस्तृत एवं परिष्कृत बनाया जा सके। इस प्रकार किसी रचना के साहित्यिक-असाहित्यिक होने का प्रश्न जितना स्तर-भेद के कारण है, उतना शैलीगत नहीं। ऐसी दशा में मध्यकालीन भक्तिसाहित्य की साहित्यिकता को परखते समय किसी काव्यशास्त्रीय शैलीगत विशेषता मात्र को ही कसौटी नहीं मान लेना चहिए, अपितु उसे संदर्भगत विशेषताओं सहित व्यापक अर्थों में ग्रहण करना चाहिए। सगुण भक्त कवियों की रचनाओं में रचना-प्रक्रिया के क्षेत्र में काव्यशास्त्रीय परंपरा का जो अनुसरण दिखायी देता है, वह मुख्यतः तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक संबंधसूत्रों के प्रभाव का परिणाम है।

## उपलब्ध सामग्री

मध्यकालीन भक्तिसाहित्य की उपलब्ध सामग्री कई रूपों, स्तरों और वर्गों में पायी जाती है। अधिकांश पूर्ववर्ती इतिहास-लेखकों की यह सामान्य धारणा रहती आयी है कि भक्ति-साहित्य मात्र वैष्णव धर्म की उपज है, जिसे उसकी भागवत शाखा से विशेष प्रेरणा, प्रश्रय और प्रोत्साहन मिला है। परंतु यह सर्वांशतः सत्य नहीं है। इसके पूर्ववर्ती तथा पार्श्ववर्ती अन्य अनेक वैष्णवेत्तर भक्तिमार्गी साधक हैं, जिनकी रचनाएं न्यूनाधिक मात्रा में उपलब्ध हैं। ऐसे भक्त साधकों में शैव, शाक्त और श्रमण भक्तों की गणना की जा सकती है। फिर भी, इनमें 'प्रपत्ति' तत्त्व सर्वत्र समान रूप से सुलभ नहीं है; जो भागवत-संप्रदाय द्वारा प्रेरित मध्यकालीन भक्तिमार्ग की एक विशेषता बन गयी थी।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उनका यह 'प्रेमोपहार' कदाचित उन्हें दक्षिण भारत से मिला था, इसमें न तो वैदिक यज्ञानुष्ठान या वैसे विधि-विधान का स्थान है, न श्रमण-भक्ति के मात्र गुणानुवाद का महत्त्व। गुण अपने आप में प्रकृति सापेक्ष है, जो मानवीय वृत्तियों को अपने से बांध लेता है; जिससे मोक्ष की भावना कल्पनामात्र कहला सकती है। इसके विपरीत लीलावतार की सभी क्रियाएं अधिकतर भावलोक की घटनाओं तक सीमित रह कर लोकमानस के परिष्कार में सहायता पहुंचाती हैं, जिससे मनुष्य विकाररहित हो कर शुद्ध चिदात्मा रह जाये। इसीलिए भक्तों ने शरणागति और समर्पण का पथ ग्रहण किया है; जहां मान तो चल सकता है, अभिमान नहीं। भोग की भांति त्याग का भी अभिमान होता है, जिसके रहते समर्पण की प्रक्रिया पूरी नहीं हो पाती। परंतु यही बात हम उन भक्तों की भक्ति के विषय में नहीं दुहरा सकते, जो अनुभवाश्रित सत्य के प्रति निष्ठावान हैं। जो शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हैं, उनकी भक्ति स्वयं अपने आप के प्रति होती है। ऐसी भक्ति आत्मपरक हो कर भी व्यक्तिनिष्ठ नहीं होती। जिस प्रकार शिशु अपने आप को आरसी में नाना रूपों में देख कर पुलकित एवं आनंदित हो लिया करता है, उसी प्रकार ऐसा भक्त भी माया-जगत में अपने भक्तिपरायण कृत्यों द्वारा मग्न हो लेता है। इन कृत्यों के विविध रूप और प्रकार हो सकते हैं, पर भक्ति वास्तव में रुचि, प्रवृत्ति और संस्कार पर निर्भर है: पूजन-पद्धति अथवा उपासना के भेद तो हो सकते हैं, किंतु भक्ति अपने आपमें अविभाज्य है।

## वर्गीकरण

भक्तिसाहित्य किसी क्षणिक भावावेग अथवा इंद्रियजन्य भावोन्माद की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है, अपितु यह ठोस तथा उर्वर धरातल की उपज है। इसके साधन लौकिक अवश्य है, किंतु इसका साध्य एक ऐसी लोकोत्तर अनुभूति है, जिससे भक्त के चित्त को अनुपम शांति और आनंद की उपलब्धि होती है। विद्वानों ने भक्तिसाहित्य को प्रवृत्यनुसार दो वर्गों में विभक्त किया है—ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी। परंतु ज्ञान अपने आप में एक उपलब्धि है, क्रिया नहीं, जिसका आश्रय ले कर मनुष्य मुक्ति-लाभ कर सके। फिर, ज्ञान द्वारा सत्य के स्वरूप का साक्षात्कार होने की संभावना में अज्ञानवादी वर्ग के लोग संदेह प्रकट करने लगे थे। ऐसा भक्त, वास्तव में, ज्ञानमार्गी न हो कर अनुभवाश्रयी होता है; और अनुभव क्रिया की आनुषंगिक प्रक्रिया है। फिर भी अधिकतर लीला-लोभी प्रेमपरायण भक्तों को प्रेममार्गी कहते समय हमें किसी वैसी आपत्ति का अवसर नहीं मिलता, क्योंकि प्रेमभावना के अंतर्गत वे सभी रागात्मक विशेषताएं समाहित हो जाती हैं, जो ऐसी भक्ति के लिए आवश्यक तथा अनिवार्य समझी जा सकती हैं।

इसी प्रकार उपासना-भेद का आश्रय ले कर प्राय: भक्तिविषयक सगुण और निर्गुण जैसे दो वर्गों की कल्पना कर ली जाती है। सगुण भक्ति में जहां लीलावतार को आराध्य स्वीकार किया गया है, वहीं निर्गुण भक्ति में ब्रह्मानुभूति को स्थान दिया गया है। सगुण भक्ति में जहां भगवद्नुग्रह का भरोसा होता है, वहीं निर्गुण भक्ति में आत्मविश्वास का बल रहता है। सगुण भक्ति जहां बाह्य लालित्य की महिमा से मंडित है, वहीं निर्गुण भक्ति अंत:सौंदर्य की गरिमा से दीप्त। सगुण भक्ति जहां साकार तथा सविशेष के प्रति होती है, वहीं निर्गुण भक्ति निराकार और निर्विशेष के प्रति। सगुण भक्ति में जहां स्वकीया तथा परकीया दोनों भावों का समावेश है, वहीं निर्गुण भक्ति में शक्तिरूपा नारी के प्रति निष्ठावान रहते हुए भी उसके रमणी रूप अथवा परकीया भाव के प्रति आकर्षण का अभाव है। सगुण भक्ति में जहां किसी देवलोक की कल्पना की गयी है, वहीं निर्गुण भक्ति में विश्वात्मा प्रभु के विश्वव्यापी अस्तित्व में आस्था प्रकट की गयी है। सगुण भक्त के लिए जहां भगवान का उपयुक्त धाम भक्त का हृदय है, वहीं निर्गुण भक्त के लिए अभेदमूलक दृष्टि द्वारा आत्म-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

साक्षात्कार का महत्त्व है। निर्गुण भक्त सत्य के शोधक हैं, भक्ति अथवा ऐश्वर्य के आराधक नहीं। मोक्षकामी निर्गुण भक्त संसार को ही सत्कर्मों द्वारा स्वर्ग बनाना चाहते हैं, वे किसी काल्पनिक 'परलोक' के अभिलाषी नहीं। सगुण और निर्गुण भक्त दोनों ही उपासना-भेद से वैष्णव हैं। निर्गुण-भक्त जहां नारायण की उपासना करता है, वहीं सगुण भक्त विष्णु के लीलावतारों की भक्ति। सगुण भक्ति में लीला का माहात्म्य है और निर्गुण भक्ति में लय का महत्त्व। सगुण भक्त जहां वर्णव्यवस्था के आलोचक नहीं, वहीं निर्गुण भक्त उसके तीव्र विरोधी तक जान पड़ते हैं। परंतु प्रेमा भक्ति दोनों को स्वीकार्य है। सगुण भक्ति-परंपरा का मूल कदाचित दक्षिण में है और निर्गुण भक्ति का आदि स्रोत 'श्वेताश्वेतर' (3/11) जैसे उपनिषद् हैं। स्वयं 'श्रीमद्भागवत' -माहात्म्य का प्रथम श्लोक[7] निर्गुण भक्ति का समर्थक प्रतीत होता है, जिसके विशेषणों द्वारा वासुदेव कृष्ण के वपुधारी कृत्यों का परिचय नहीं मिलता। प्रस्तुत संदर्भ में इसी प्रकार गजेन्द्र-स्तुति भी उल्लेखनीय है, जहां भगवान को 'निर्विशेष' सूचित किया गया है। 'श्रीमद्भागवत' सगुण भक्ति का आकर ग्रंथ माना जाता है, जिसके कारण उपर्युक्त संकेत विशिष्ट महत्त्व के बन गये हैं। वास्तव में सगुण-निर्गुण का भेद जितना स्तरजन्य है, उतना वर्गगत नहीं।

कुछ लोगों ने निर्गुण भक्तों को, कदाचित भ्रांतिवश, वैरागी बतला कर उन्हें कार्यकारी जीवन से विरत रहने वाला कहा है, जबकि उन भक्तों ने आजीवन श्रमसाधना में लगे रह कर सच्चे भक्त का जीवन व्यतीत किया है। इसलिए उन्हें हम रूढ़ अर्थ में वैरागी नहीं ठहरा सकते। उनका वैराग्य, वास्तव में, विषयासक्ति से विरत चित्तवृत्ति का है, कर्म से निवृत्ति का नहीं। इस आधार पर उन्हें हम प्रवृत्तिमार्गी तक ठहरा सकते हैं।

भक्ति-साहित्य के वर्गीकरण का एक अन्य आधार सांप्रदायिक भेद को भी मान लिया जाता है, किंतु कभी-कभी संप्रदाय विशेष के अंतर्गत भी सभी भक्त साधकों को उनकी रचनाओं में हम ठीक एक ही प्रकार की अभिव्यक्ति करते नहीं पाते, जिससे सबको किसी एक वर्ग में बिठलाने में कठिनाई उपस्थित होती है। फिर मीरा और रसखान जैसे भक्तों का भी अभाव नहीं, जिन्हें संप्रदाय निरपेक्ष तक ठहराया जा सकता है। इसलिए संप्रदाय-भेद के आधार पर भक्ति-साहित्य का वर्गीकरण समीचीन नहीं जान पड़ता। भक्ति-साहित्य के वैज्ञानिक वर्गीकरण का एक आधार जैविक, दैहिक और मानसिक भक्ति भी हो सकता है, जिसकी परिणति भक्त के आध्यात्मिक अभ्युदय में संभव है।

## भक्तिकाव्य तथा लौकिक काव्य

भक्तिकाव्य की रचना किसी परमतत्त्व, देवी-देवता अथवा दैवीगुण संपन्न महामानव को लक्ष्य कर आरंभ हुई थी। इस प्रकार का विपुल साहित्य प्रायः सभी जीवंत भाषाओं में उपलब्ध है। इसे ले कर कदाचित कभी भी शास्त्रीयता का प्रश्न नहीं उठाया गया, परंतु इधर कुछ शास्त्रानुरागी समीक्षक पूर्वमध्यकालीन भक्तिकाव्य में शास्त्रीयता की छाप न देख कर उसे भक्तिकाव्य से भिन्न लौकिक काव्य की कोटि में रख कर उसे शुद्ध साहित्य के 'गौरव' से वंचित रखना चाहते हैं। परंतु वे कदाचित यह भूल जाते हैं कि शास्त्रीयता का भी मूलाधार लोक ही है। फिर, भक्ति अथवा साहित्य का लक्ष्य शास्त्रविशेष का अनुकरण अथवा अनुसरण मात्र नहीं है। इसके विपरीत-भक्ति भावना और साहित्य-रचना के आधार पर ही तद्विषयक शास्त्रों का सर्जन हुआ है, जिनका उद्देश्य नियमन अथवा नियंत्रण द्वारा परंपरा विशेष को सुरक्षित रखना है; स्थिरीकरण द्वारा उनके विकासमार्ग को अवरुद्ध करना नहीं। यदि ऐसा होता तो नये-नये शास्त्रों का निर्माण कदापि संभव न होता।

लौकिक काव्य की अपनी विशेषताएं हैं, जिनके फलस्वरूप इसकी अपनी भिन्न कोटि है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लौकिक काव्य में प्राय: क्षणिक उमंग, उल्लास और विषाद की सरल अभिव्यक्ति रहती है। इसमें किसी वैचारिक वैशिष्ट्य अथवा शास्त्रीय नियमों के अनुसरण की प्रतिबद्धता के स्थान पर अधिकतर परंपरा निर्वाह की प्रवृत्ति पायी जाती है—यद्यपि देशकाल के अनुसार नये-नये संपर्कों तथा संदर्भों द्वारा नयी नयी परंपराएं भी उद्भूत होती रहती हैं। इसके विपरीत भक्तिकाव्य में किसी-न-किसी वैचारिक वैशिष्ट्य तथा तारतम्य का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है और इसकी व्यंजनाशैली में किसी शास्त्रीय अथवा लौकिक परंपरा विशेष के पालन का वैसा आग्रह नहीं पाया जाता, जैसा कि इसके प्रति अन्यत्र अतिरिक्त उत्साह देखा जाता है। इसमें पाये जाने वाले प्रभाव आनुषंगिक हैं, आयोजित नहीं। इसलिए पूर्वमध्यकालीन भक्तिकाव्य को लौकिक काव्य की कोटि में रखे जाने का कोई न्यायसंगत कारण अथवा औचित्य नहीं है। इसकी शैलीगत अभिव्यक्तियों के लोकपरक होने का कारण रचयिताओं का अपना जीवन-परिवेश है, जिससे उन्होंने वैसा संस्कार ग्रहण किया है। ये विशेषताएं उतनी आयासजन्य नहीं हैं, जितनी अनायास ही उन्हें सुलभ हो गयी हैं।

## भक्तिकाव्य की प्रमुख प्रवृत्तियां

**प्रवृत्तिगत पृष्ठभूमि :** पूर्व मध्यकालीन भक्तिकाव्य का आरंभ होने से पहले से ही प्रांतीय भाषाएं अपने-अपने अपभ्रंशों का अनुसरण करते हुए हिंदी के समानांतर साहित्यरचना में प्रवृत्त थीं। इनमें वर्ण्य विषयों, काव्यरूपों तथा रचनाशैलियों की विविध परंपराएं प्रचलित थीं, जो अनगढ़, अटपटी और ऊटपटांग लगती थीं। इनमें नवीन संस्कार और निखार का आना समय सापेक्ष था। इनमें वर्ण्य विषय या तो प्रचलित धर्मों से संबद्ध थे या लोकोन्मुखी साहित्य-सर्जन की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक मुखर थी। परंतु भक्तिकाव्य की रचना होते-होते इनमें नवीन प्रवृत्तियां प्रवेश पाने लगीं और सुधार के साथ-साथ परिष्कार के भी लक्षण प्रकट होने लगे। तदनुसार सिद्धों, मुनियों, नाथों तथा सूफियों की प्रचलित परंपराओं का विकास हाने लगा और साहित्य-निर्माण की नवीन पद्धतियों तथा प्रवृत्तियों के रूप उभरने लगे। इस प्रकार की प्रवृत्तियों को अग्रसर करने में, मध्यदेशीय भाषा होने के कारण, हिंदी स्वभावत: आगे रही। प्रस्तुत संदर्भ में हिंदी-पूर्व-परंपराओं का भी सामान्य परिचय पा लेना तत्कालीन प्रवृत्तियों को समझने में सहायक हो सकता है।

पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाएं जहां क्षीणत्तर पड़ती गयीं, वहां संस्कृत का प्रयोग वेद-विरोधी वर्गों द्वारा भी मान्य समझा जाने लगा; और उसका न्यूनाधिक प्रयोग प्राय: सभी शिक्षित वर्गों द्वारा अनिवार्य-सा हो गया। तदनुसार संस्कृत भाषा के प्रयोग व प्रचार के साथ-साथ उसकी प्रचलित विधाओं का भी उपयोग होने लगा। बौद्ध धर्म के ह्रास के साथ-साथ जैसे पालि प्रवासित हुई, वैसे ही प्राकृत भाषा भी ऐतिहासिक अवांतर भेदों के कारण अपने मूल रूप की रक्षा न कर सकी और अपभ्रंश भाषाओं के संपर्क तथा सान्निध्य में प्रांतीय भाषाओं का रूप ग्रहण करने लगी।

प्राकृत-साहित्य की रचना अपेक्षाकृत लोकोन्मुखी वातावरण में हुई। प्राकृत जहां बोलचाल की भाषा थी, वहीं जैन मतावलंबियों के धार्मिक प्रचार-प्रसार का साधन भी बन चुकी थी। जैनधर्मियों ने प्राकृत को अपने मत-प्रचार का साधन बनाया और श्रृंगारपरक आख्यानों तथा काम-कथाओं का उपयोग शील व वैराग्य भावना के प्रचार में किया जाने लगा। यह परंपरा बहुत-कुछ सूफियों जैसी थी। परंतु शास्त्रीय साहित्य तथा चरितकाव्यों में अधिकतर संस्कृत की प्रचलित परंपराओं का ही प्रभाव ग्रहण किया गया। प्राकृत साहित्य में प्रचलित सूक्तियों के ही अनुकरण में कदाचित 'दूहा' छंद का प्रचलन हुआ, जिसे बाद में 'साखियों' के लिए अपनाया गया।

अपभ्रंश-साहित्य में पूर्ववर्ती परंपराओं के विकास के साथ-साथ लोकप्रचलित अन्यान्य परंपराओं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का भी प्रवेश हुआ। जैन कवियों द्वारा रचित प्रबंधकाव्यों के अंतर्गत 'कहा', 'चरिउ', 'पुराण' आदि मिलते हैं और बौद्ध कवियों की रचनाओं में दोहे और 'चर्यापद' प्रसिद्ध हैं। मुक्तक काव्यों के अनेक उदाहरण हमें जैन-साहित्य में भी प्राप्त होते हैं, जिनमें 'चूनड़ी' उल्लेखनीय है। बौद्ध-सिद्धों द्वारा अपनायी गयी शैली पर कदाचित् जैन कवियों की मंगोलियन शैली का भी यत्किंचित प्रभाव है। यह शैली अनुभवाश्रयी निर्गुण कवियों तक में लोकप्रिय हुई—मुख्यत: गुरु-शिष्य-संवादशैली उनकी अपनी विशेषता रहती आयी है। जिस प्रकार दोहों ने साखियों का रूप ग्रहण कर लिया, उसी प्रकार चर्यागीतों ने बानियों तथा सबदों का बाना धारण कर लिया। लोक-प्रचलित गीतों की परंपरा भी तत्कालीन फाग, चर्चरी, बारहमासा आदि के रूप में साहित्य-रचना में पायी जाती है। इनका प्रयोग 'संदेशरासक' जैसी रचनाओं के अतिरिक्त संतकाव्य में भी हुआ है।

अपभ्रंश साहित्य की रचना सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक होती रही और उसकी कई विशेषताएं राजस्थानी तथा गुजराती-साहित्य को विरासत में मिल गयीं। पुरानी हिंदी की रचनाएं भी उससे प्रभावित रहीं। इसी काल के आसपास गुरु गोरखनाथ ने भी रचनाएं प्रस्तुत कीं, जिनका स्पष्ट प्रभाव परवर्ती संत-साहित्य पर लक्षित हुआ। नाथ-साहित्य में जहां योगसाधना को विशेष महत्त्व मिला और निवृत्तिमार्ग का पक्ष प्रबल पड़ता दिखायी दिया, वहीं संत-साहित्य में भक्ति-भावना का स्वर मुखर हुआ और आत्मनिर्भरता के निमित्त प्रवृत्तिपथ को भी प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिला। इन कवियों ने अपने मत-प्रचार में जैन कवियों की भांति पौराणिक आख्यानों का उपयोग नहीं किया, पर सूफी कवियों ने लोकप्रिय आख्यानों का भी आश्रय ले कर लाभ उठाया और अपने मत के प्रचार में उनका प्रेमाख्यानों के रूप में यथेष्ट प्रयोग किया। संतों ने बौद्ध-सिद्धों और नाथ-योगियों द्वारा स्वीकृत शैलियों को अपनाया। पदरचना का प्रयोग तमिल 'पदम्' के अनुकरण में हुआ। अन्य कई दक्षिणात्य काव्यशैलियां भक्तिकाव्य के माध्यम से हिंदी भक्तिकाव्य का अंग बन गयीं। सूफी कवियों द्वारा गृहीत अरबी-फ़ारसी शैलियों का प्रभाव भी हिंदी रचनाओं पर पड़ा। अरबी-साहित्य के अनुकरण से इस्लाम की अनेक बातें हिंदी में आने लगीं और उनका यत्किंचित प्रभाव भी हिंदी साहित्य में लक्षित हुआ।

फ़ारसी-साहित्य पर जहां इस्लाम की छाप पड़ी, वहीं अपनी विशेषताओं को भी सुरक्षित रखने का सजग प्रयास पाया गया। ईरानी संस्कृति में शिया संप्रदाय का विशेष योगदान रहा है, जिसके फलस्वरूप उनकी अपनी विशेषताओं का प्रभाव फ़ारसी-साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक था। सूफी मत के आदर्शों के अनुकूल विषयों और रचना-शैलियों को प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिलने लगा। इस प्रकार एक नयी साहित्यिक परंपरा का सूत्रपात हुआ, जिसे मुस्लिम सुल्तानों और शासकों द्वारा भी पर्याप्त संरक्षण मिला। फ़ारसी-साहित्य की लोकप्रियता भारत में इतनी बढ़ी कि यहां के निवासियों ने भी उसकी अभिवृद्धि में रुचि लेना आरंभ कर दिया और भारतीय ग्रंथों तक के अनुवाद फ़ारसी में होने लगे। फ़ारसी-साहित्य में भारतीय विषयों का समावेश करने वालों में अमीर खुसरो और फैज़ी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनका अनुसरण कई परवर्ती कवियों ने किया। अब्दुल कुद्दूस गंगोही (मृत्यु 1537 ई.) ने तो कतिपय हिंदी-मुक्तकों की शैली तक को अपनाया। फ़ारसी-साहित्य के अनुकरण में मसनवी शैली भी हिंदी में लोकप्रिय हुई। अपनी प्रवृत्तियों और परंपराओं के कारण फ़ारसी-साहित्य भारतीयों को अरबी-साहित्य से अधिक अनुकूल लगा और तदनुसार उसका प्रभाव भी पड़ा।

**प्रवृत्तिगत विशेषताएं :** उपर्युक्त बहुरंगी साहित्यिक प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में पूर्वमध्यकाल में भक्तिकाव्य की रचना आरंभ हुई और इसे लोकजागृति का योगदान सुलभ रहा। अनुभवाश्रयी निर्गुण-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

साहित्य की मूल प्रेरणा प्राचीनकाल से ही विद्यमान रही है, जिसे श्रमण-संस्कृति की ओर से बल और बढ़ावा मिला। उसका मूल उद्देश्य व्यक्तिगत उत्कर्ष के निमित्त आध्यात्मिक दृष्टि का सहारा लेना था, पर कालांतर में महायानियों द्वारा उसे 'बहुजनहिताय' का नया मोड़ दे दिया गया, जिसमें वैदिक आदर्श 'सर्वे भवंतु सुखिन:' की ध्वनि प्रतिध्वनित थी। इसकी सफलता के लिए सदाचार तथा नैतिक भावना पर यथेष्ट बल दिया जाने लगा और आगे चल कर यह भक्तिकाव्य की एक प्रमुख विशेषता बन गयी। विदेशी तथा विजातीय मुस्लिम आक्रमणकारियों के फलस्वरूप प्रबुद्ध लोगों का ध्यान आत्मनिरीक्षण और परिस्थिति-परीक्षण की ओर भी आकृष्ट हुआ और तदनुसार आत्मरक्षार्थ उपाय करना आवश्यक प्रतीत होने लगा। हिंदू जनता मुस्लिम आक्रमणों से भयभीत होने की अपेक्षा अधिक सजग और सचेत हो गयी। फलस्वरूप काशी और मथुरा जैसे धार्मिक स्थानों में बड़े-बड़े मंदिरों को ध्वस्त किये जाने पर छोटे-छोटे मंदिरों की बाढ़-सी आ गयी तथा घर-घर में देवी-देवताओं की प्रतिमाएं प्रतिष्ठित हो गयीं। यह अपने ढंग की सामूहिक जागृति थी, जिसमें व्यक्तिगत साधना की अपेक्षा सामूहिक पूजन-अर्चन और भजन-कीर्तन की प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ने लगी। यह प्रवृत्ति सगुण भक्ति के अनुकूल पड़ी। इस प्रकार सामूहिक चिंतन और व्यवहार का एक सुयोग मिला। आपसी भेदभाव को कम करने के लिए सुगम मार्ग ढूंढ़े जाने लगे और परस्पर टकराव के प्रति सावधानी बरती जाने लगी। समन्वय की भावना से इस दिशा में बड़ा बल और प्रोत्साहन मिला।

लोकचेतना का एक परिणाम लोकभाषाओं के बढ़ते महत्त्व में लक्षित हुआ और वे मनोभावों तथा हृदयोद्गारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनने लगीं। मौखिक परंपरा की स्तरीय रचनाओं को भी लिपिबद्ध कर उन्हें सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। वर्ण्य विषयों के लोकप्रिय होने के कारण उनकी भाषा और शैली की सादगी तथा अनगढ़पन से कोई उल्लेखनीय बाधा नहीं पहुंची। फिर भी, शास्त्रीय परंपरा के समर्थकों द्वारा उनमें 'ग्राम्य दोष' ढूंढ़ा जाने लगा; पर बढ़ती हुई लोकचेतना के कारण इसका कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ सका। एक ओर जहां महाकाव्यों के माध्यम से शास्त्रीय शैली में राजपुरुषों तथा दिव्य नायकों को महत्त्व दिया जा रहा था, वहीं दूसरी ओर जनजीवन की उपेक्षित अनुभूतियों को भी अभिव्यक्ति मिलने लगी थी, जिससे लौकिक वर्ण्य विषयों का स्वर मुखर होने लगा था। इस काल में लोकगीतों और लोककथाओं को यथेष्ट सम्मान मिलने लगा और लोक-प्रचलित एवं परिचित दृष्टांतों, रूपकों, प्रतीकों तथा लोकोक्तियों को भी यथायोग्य स्थान दिया जाने लगा। ऐसी रचनाएं लोकरुचि के अनुकूल पड़ने लगीं और उनकी लोकप्रियता बढ़ने लगी। अपनी अपनी अनुभूतियों को लोकप्रचलित भाषाशैली में जनसाधारण तक पहुंचाना उनके रचयिताओं का उद्देश्य रहा करता था।

इन बातों से जनता में आत्मविश्वास बढ़ने लगा और पारस्परिक सहयोग के लिए समन्वयात्मक दृष्टि से काम लिया जाने लगा। संतों की समन्वयात्मक प्रवृत्ति को सूफी मत से भी प्रश्रय मिला। फिर भी, भारतीय परंपरा में इष्टदेव को जहां प्रियतम के रूप में स्वीकार किया गया है; वहीं सूफी-परंपरा में उसे प्रियतमा ठहराया गया है। उपास्य के निर्गुण होने के कारण ऐसा करने में कोई बाधा न थी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कटु और मधुर 'बानियों' तक का उपयोग किया गया। उनकी कड़वाहट चित्त-विकार की उपज न थी, अपितु वातावरण तथा परिस्थिति की असंगतियों की देन थी; जिनके कारण उन्हें मर्मांतक पीड़ा होती थी और आंतरिक क्षोभ के कारण कटूक्तियां तक कहनी पड़ जाती थीं। इसमें उनकी सदाशयता की तीव्रता का ही बलावेग था।

फलस्वरूप इस क्रम में जो रचनाएं प्रस्तुत की गयीं, उनमें धार्मिक सांप्रदायिकता का स्वर क्षीणप्राय हो गया। ऐसी रचनाओं में बहुधा उनके रचयिताओं के नामोल्लेख का पाया जाना भी एक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अन्य विशेषता है, जिसका मूल बौद्ध व सिद्धों की रचनाओं में पाया जा सकता है। संभव है, यह मंगोलियन प्रभाव के कारण हो अथवा प्रभावशाली केंद्र के अभाव में व्यक्तिगत मतों का महत्त्व बढ़ गया हो। इस प्रकार पूर्व मध्यकालीन भक्तिकाव्य परंपरागत लोकोन्मुखी प्रवृत्तियों का आश्रय ग्रहण कर अपने निर्भ्रांत लक्ष्य की ओर अग्रसर होता गया और परवर्ती काव्य के लिए उपयुक्त भूमिका तैयार हो गयी।

## संदर्भ

1. देखिए, ऋग्वेद, 1/164/43; 5/3/1-2
2. देखिए, 'कम्पेरेटिव रिलिजन', कार्पेंटर, पृ. 134
3. ''कविकवीनैं कविता मूए, कापड़ी केदारौ जांइ।
   केस लूंचि लूंचि मुए, वरतिया, इनमें किनहू न पाइ॥''
4. ''हम बड़ कुलीन हम पंडित, हम जोगी संन्यासी।
   ज्ञानी, गुणी, सूर हम दाता, याहु कहै मति नासी॥''
5. ''तुम्ह जिनि जानौ गीत हैं, यहु निज ब्रह्म विचार।''
6. ''जे तूं बैंत भाई, से आये तूं आहिनि,
   लियो मनु लाईनिपिरियां संदे पारडे।''
   अर्थात जिन्हें तुम बैत्त (गीत) समझते हो, वे कुरान की आयतों के समान हैं।
7. ''ओउम् नमो भगवते वासुदेवाय। सच्चिदानंदरूपाय विश्वात्पात्यादिहेतवे''...आदि ॥1/1॥

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अध्याय : 4

# निर्गुण भक्तिकाव्य

## निर्गुण भक्ति का स्वरूप

ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग दो रूप हैं, जो विरोधी न हो कर परस्पर संबद्ध हैं। ज्ञान की अनुभूति ही भक्ति है। ज्ञानमार्ग पर चलने वाले आचार्यों ने भी ज्ञान के अनुभूति-पक्ष पर बल दिया है। बिना अनुभूति का ज्ञान मात्र वाक्यज्ञान है, जिससे कुछ भी सिद्ध नहीं होता। भक्ति को मिथ्या-माया मानने वाले तथा ज्ञानमार्ग को ही एकमात्र सच्ची साधना के रूप में स्वीकार करने वाले आचार्य शंकर ने भी ज्ञान के अनुभूति पक्ष पर बल दिया है। 'अहम् ब्रह्मास्मि' का ज्ञान मात्र तो निष्फल ही रहता है, सिद्धि तो तब होती है, जब यह ज्ञान अनुभव में पर्यवसित हो जाता है : 'अनुभवावसानत्वात् ब्रह्मज्ञानस्य'। आचार्य शंकर का यह स्पष्ट मत है कि जब तक ज्ञान का अनुभव में अवसान नहीं होता तब तक वह निस्सार है। ज्ञानमार्ग में अनुभूति की इस स्वीकृति के आलोक में निर्गुण भक्ति के स्वरूप पर विचार किया जाये तो उसका संतुलित विवेचन और मूल्यांकन आसानी से किया जा सकता है।

अवतारवाद को स्वीकार कर लेने के फलस्वरूप सगुण भक्ति को एक साकार आलंबन मिल जाता है, जिसके कारण उसे सामान्य अशिक्षित व्यक्ति भी सहज ही स्वीकार कर सकता है। निर्गुण भक्ति का आलंबन निराकार है, फलस्वरूप वह जनसाधारण के लिए ग्राह्य नहीं हो सकती। सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से सगुण भक्ति, निर्गुण भक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, किंतु इसी आधार पर निर्गुण भक्ति की सत्ता या महत्त्व के विषय में संदेह नहीं किया जाना चाहिए। यह सत्य है कि सगुण भक्ति पर आस्था रखने वाले साधकों ने निर्गुण भक्ति को ले कर तरह-तरह की शंकाएं उठायी हैं। उनका मूल तर्क यह है कि निर्गुण ब्रह्मज्ञान का विषय तो हो सकता है, किंतु भक्ति का नहीं; क्योंकि भक्ति तो किसी साकार, मूर्त और विशिष्ट के प्रति ही उन्मुख हो सकती है। सामान्य जनता का विश्वास और आचरण भी इसी तर्क की पुष्टि करता दिखायी देता है। इस समस्या पर विचार करते हुए पहले यह स्पष्ट कर लेना चाहिए कि भक्ति का तात्त्विक स्वरूप क्या है? इस संबंध में यह माना जाता है कि 'स्नेहपूर्वक ध्यान ही भक्ति है'। प्रश्न यह है कि यदि स्नेहपूर्वक ध्यान ही भक्ति है, तो फिर निर्गुण की भक्ति या स्नेहपूर्वक ध्यान क्यों नहीं किया जा सकता? सामान्य रूप से यह माना जाता है कि निर्गुण ब्रह्म का संबंध ज्ञानमार्ग के साथ है और सगुण ब्रह्म का भक्ति के साथ। इसलिए जब कभी कोई निर्गुण ब्रह्म की बात करता है, तो श्रोता का ध्यान नैसर्गिक रूप से ज्ञानमार्ग की ओर ही जाता है, भक्तिमार्ग की ओर नहीं। और इसी प्रकार सगुण ब्रह्म का उल्लेख करते ही भक्तिमार्ग अपनी समग्र पूजाविधि के साथ उपस्थित हो जाता है। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि भक्ति और पूजा या अर्चना में अभेद माना जाने लगा। मंदिरों में जाना, भगवान पर दीप, अर्घ्य आदि चढ़ाना, मूर्ति की सेवा करना और उसकी आरती आदि उतारना भक्ति के अभिन्न अंग माने जाने लगे। परंतु क्रमशः कबीर और तुलसी (विनयपत्रिका) के अग्रलिखित

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि भक्तों की दृष्टि में सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति में कितनी समानता है :

*(अ) ऐसी आरती त्रिभुवन तारै, तेज पुंज तहां प्रान उतारै।*
*पाती पंच पुहुप करि पूजा, देव निरंजन और न दूजा।*
*तनमन सीस समरपन कीन्हां, प्रकट ज्योति तहां आतम लीना।*
*दीपक ग्यान सबद धुनि घंटा, परम पुरिख तहां देव अनंता।*
*परम परकास सकल उजियारा, कहै कबीर मैं दास तुम्हारा॥*

*(आ) ऐसी आरती राम रघुवीर की करहि मन।*
*हरन दुःख द्वंद्व गोविंद आनंद घन॥*
*अचरचर रूप हरि सर्वगत सर्वदा बसत, इति वासना धूप दीजै।*
*दीप निज बोध गत कोह-मद-मोह तम प्रौढ़ अभिमान चित्तवृत्ति छीजै॥*
*भाव अतिसय बिसद प्रवर-नैवेद्य सुभ श्री रमन परम संतोषकारी।*
*प्रेम तांबूल, गतसूल संसय सकल, विपुल-भव-वासना-बीज हारी॥*
*असुभ-सुभ कर्म घृत-पूर्ण दस वर्तिका, त्याग पावक सतोगुण प्रकासं।*
*भगति-वैराग्य-विज्ञान-दीपावली अर्पि नीराजनं जगनिवासं॥*
*विमल-हृदि-भवन कृत संगति-पर्यंक सुभ सयन बिस्राम श्रीराम राया।*
*छमा करुना प्रमुख तज परिचारिका, यत्त हरि तत्र नहिं भेद माया॥*
*यहै आरती निरत सनकादि स्रुति सेष सिव देवरिषि तत्वदरसी।*
*करै सोह तरै, परिहरै कामादि मल बदति इति अमलमति दास तुलसी॥*

ऊपर के दोनों उदाहरणों में भक्ति के अनुभूति-पक्ष को ही प्रधान रूप से चित्रित किया गया है। सच्ची भक्ति का संबंध हृदय से है, बाहरी पूजा विधान से नहीं। यह बात पांडित्य और शास्त्राभ्यास से रहित कबीरदास के लिए भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी कि विद्वान और शास्त्रों के ज्ञाता भक्त तुलसीदास के लिए। दोनों ने ही आराध्य देव के उन गुणों 'तेजपुंज', 'निरंजन', 'परम पुरिख', 'अचरचर रूप', 'सर्वगत', 'सर्वदा बसत' आदि का उल्लेख किया है, जो निर्गुण की व्याख्या में दिये जाते हैं। कबीरदास ने 'दीपक ज्ञान' का उल्लेख किया है, तो तुलसीदास ने 'भगति बैराग्य विज्ञान दीपावली' का उल्लेख किया है। उक्त उदाहरणों में 'निर्गुन राम जपहु रे भाई' कहने वाले कबीरदास में और दशरथनंदन भगवान रामचंद्र के उपासक तुलसीदास में अद्भुत समानता पायी जाती है। चाहे 'दशरथसुत' आराध्य हों और चाहे 'राम नाम का मरम हो आना', दोनों ही स्थितियों में भक्ति की अनुभूति में बुनियादी समानता पायी जाती है। यदि ब्रह्म के साकार और निराकार रूपों में गुणों की समानता है और भक्तिपद्धति में इन समान गुणों की स्वीकृति भी हो जाती है तो निर्गुण की भक्ति को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

सगुणोपासक तुलसीदास के लिए भी निर्गुण की सत्ता अमान्य नहीं है। इतना ही नहीं, वे तो भक्ति के लिए दोनों रूपों के ध्यान को अनिवार्य मानते हैं। आराध्य देव के निर्गुण रूप को समझे बिना सगुणभक्ति भी संभव नहीं है :

*हिय निर्गुन, नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम।*
*मनहुं परट-संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम॥* **(दोहावली)**

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इसका कारण स्पष्ट है; यहां आराध्य गोचर राम ही नहीं हैं। भक्त के लिए आवश्यक है कि वह अवताररूप राम के उन गुणों का भी ध्यान करे, जो उनके सहज और नैसर्गिक गुण हैं। इसलिए तुलसीदास ने 'विनयपत्रिका' में राम के उन गुणों का उल्लेख किया है, जो वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म के गुण है :

*(अ) ब्रह्म व्यापक अकल सकल पर परमहित, ग्यान-गोतीत गुन-वृत्ति-हर्त्ता।*
*सिंधु-सुत-गर्व-गिरि-वज्र, गौरीस, भव दच्छ-मख-अखिल विध्वंस-कर्त्ता॥*

*(आ) दुष्ट-बिबुधारि-संघात-अपहरन महि-भार, अवतार कारन अनूपं।*
*अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुन सगुन ब्रह्म सुमिरनि नरभूप-रूपं॥*

'व्यापक', 'अकल', 'सकल', 'ग्यान-गोतीत', 'अद्वैत', 'निर्गुन' आदि विशेषणों के प्रयोग से तुलसीदास ब्रह्म के, दशरथपुत्र राम के उन गुणों का उल्लेख कर रहे हैं, जिनको हृदय में स्थान दिये बिना, जिनका ध्यान किये बिना, भक्ति संभव ही नहीं है।

जिस प्रकार सगुण भक्ति के लिए निर्गुण की स्वीकृति आवश्यक है, उसी प्रकार निर्गुण भक्ति के लिए भी सगुण की आंशिक स्वीकृति अनिवार्य है। कबीर के राम 'दशरथ-सुत' नहीं हैं, पर वे अपने निर्गुण आराध्य की भक्ति के पदों में उसके सगुण या मूर्त पक्ष की ओर भी इंगित करते हैं, उन प्रसंगों का, उन संबंधों का उल्लेख भी करते हैं, जिनका वर्णन सगुण भक्तों ने भी किया है :

*निरगुन राम निरगुन राम जपहु रे भाई, अबिगत की गति लखी न जाई।*
*चारि बेद जाकै सुमृत पुरांनां, नौ व्याकरनां मरम न जानां।*
*सेस नाग जाकै गरड़ समांनां, चरन कंवल कंवला नहीं जांनां।*
*कहै कबीर जाकै भेदै नांहीं, निज जन बैठे हरि की छांहीं॥*

यहां 'शेषनाग', 'गरुड़', 'कमला' आदि के उल्लेख में कबीरदास सगुण रूप के प्रसंगों की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं। सगुण भक्ति में निर्गुण ब्रह्म के विशेषणों—'अद्वैत', 'अकल', 'ग्यान-गोतीत' आदि का उल्लेख और निर्गुण भक्ति में 'शेषनाग', 'गरुड़', 'कमला' प्रभृति सगुण के प्रसंगों का उल्लेख आकस्मिक नहीं है, वरन् इससे निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति की तथा ज्ञान-मार्ग और भक्तिमार्ग के बीच की मूलभूत समानता प्रकाशित होती है। जिस प्रकार भक्ति या राग के मार्ग पर चलने वाले के लिए सत्य ज्ञान का महत्त्व है, उसी प्रकार ज्ञान के मार्ग पर चलने वाले को 'राग' या आराध्य से तादात्म्य की अनुभूति महत्त्वपूर्ण है। दोनों मार्ग परस्पर घनिष्ठ रूप से संबद्ध हैं। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के शब्दों में : "राग-मार्ग में वैराग्य, ज्ञान प्रभृति संपदाएं भगवद्विषयक राग से सदैव यथासमय उत्पन्न होती रहती हैं। इस अंश में भक्ति के राग तथा वैराग्य मार्ग में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है। वैष्णवों के भीतर सब भक्त रसिक या रागमार्गी नहीं हैं। शैव भक्तों में भी इस प्रकार का भेद लक्षित होता है। शैवसाधना में ज्ञान का प्राधान्य रहने पर भी भक्ति को ऊंचा स्थान दिया गया है।"[1]

निर्गुण भक्ति की मान्यता के बारे में जो संदेह व्यक्त किया जाता है, उसका प्रधान कारण है—मध्यकालीन साधना का एकांगी या एकपक्षीय विवेचन। प्रायः साधना के विविध मार्गों या रूपों, जैसे निवृत्तिमार्ग और प्रवृत्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग, निर्गुणभक्ति और सगुणभक्ति, भक्ति और रहस्यवाद आदि का विवेचन करते हुए यह सहज ही स्वीकार कर लिया जाता है कि ये मार्ग या

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रूप परस्पर भिन्न और विरोधी हैं। इस तरह की मान्यता के ऐतिहासिक कारण हैं। शंकराचार्य ने ज्ञान और भक्ति तथा निर्गुण और सगुण के विरोध की स्थापना करते हुए निर्गुण से ज्ञान को संबद्ध किया है और निर्गुण ब्रह्म और ज्ञान साधना को ही परम सत्य के रूप में स्वीकार किया है। उनके मतानुसार सगुण अर्थात ईश्वर और भक्ति दोनों ही माया के अंतर्गत आते हैं। उन्होंने भक्ति को विद्या-माया मान कर उसके आंशिक महत्त्व को तो स्वीकार किया है, किंतु सगुणभक्ति की यह स्वीकृति परम सत्य नहीं है और स्पष्ट ही जो साधक परम सत्य—निर्गुण अद्वैत ब्रह्म की अनुभूति करना चाहता है, उसे भक्ति को अस्वीकार करना होगा। शंकराचार्य के विरोध में आचार्य रामानुज, आचार्य वल्लभ आदि ने प्रस्थानत्रयी की गंभीर व्याख्याएं करते हुए भक्ति को ही परम सत्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इन वैष्णव आचार्यों ने भक्ति को प्रतिष्ठित करने के लिए सगुण रूपों—राम, कृष्ण आदि की भी प्रतिष्ठा की। शंकराचार्य और इन वैष्णव आचार्यों की इस परस्पर विरोधी दृष्टि और सत्य संबंधी मान्यता का प्रभाव यह हुआ कि ब्रह्म के निर्गुण रूप और सगुण रूप में विरोध माना जाने लगा, जो न केवल ज्ञान (वैराग्य, निवृत्ति) और भक्ति (राग, प्रवृत्ति) के विरोध के रूप में समझा जाने लगा, अपितु निर्गुणभक्ति और सगुणभक्ति के विरोध के रूप में भी माना गया।

यहां ध्यान देने की बात यह है कि ज्ञानमार्ग को तो आचार्य शंकर जैसे मेधावी आचार्यों ने प्रतिष्ठित किया था और इसका आरंभिक रूप उपनिषदों में भी मिल जाता है, इसलिए ज्ञानमार्ग की सत्ता के बारे में किसी को संदेह नहीं हुआ; किंतु निर्गुणभक्ति की स्थापना में किसी ऐसे मेधावी आचार्य का योगदान नहीं रहा और निर्गुण को ज्ञानमार्ग से संबद्ध रूप में समझने के कारण निर्गुणभक्ति की सत्ता को ही संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा। सामान्यत: यह समझा जाता था कि भक्ति का संबंध तो ब्रह्म के सगुण रूप के साथ है और निर्गुण मात्र ज्ञान का विषय है, इसीलिए निर्गुण भक्ति को स्वीकार करने में भी कठिनाई हुई। सगुण भक्ति की धारा इतनी शक्ति और व्यापकता के साथ उमड़ी कि यह तथ्य विस्मृत सा ही हो गया कि भक्ति के विविध संप्रदायों के मूल में गूढ़ दार्शनिक सिद्धांत हैं। उदाहरण के लिए, आचार्य रामानुज ने प्रस्थानत्रयी की विशद व्याख्याओं में चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म की स्थापना की, जिसके अनुसार आत्मा और पदार्थ ब्रह्म से उस प्रकार संयुक्त हैं, जैसे विशेषण विशेष्य के साथ होते हैं। रामभक्ति के आकर्षण ने जनता को सहज ही अपने में अनुरक्त कर लिया और इस प्रक्रिया में रामभक्ति का दार्शनिक आधार पिछड़ गया। ऐसी ही दशा वल्लभ, निम्बार्क आदि आचार्यों के संप्रदायों की भी हुई। परंतु यहां यह भी स्मरण रखना चाहिए कि शास्त्रज्ञ भक्तों एवं दार्शनिकों की रचनाओं में ज्ञान एवं भक्ति तथा निर्गुण एवं सगुण भक्ति की समानता के संकेत भी मिलते हैं। इसका कारण यह है कि इन सभी साधना पद्धतियों का स्रोत तो प्रस्थानत्रयी ही है। उदाहरण के लिए, उपनिषदों में जहां ध्यान एवं उपासना के महत्त्व का वर्णन है तथा निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को 'नेति-नेति' की प्रक्रिया से स्पष्ट करने का प्रयास है, वहीं निर्गुण ब्रह्म की भक्तवत्सलता का संकेत भी 'मुंडकोपनिषद्' के इस प्रसिद्ध श्लोक में मिलता है :

*नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।*
*यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुस्वाम्॥*

अर्थात "यह आत्मा न तो प्रवचन से प्राप्त हो सकती है, न शुद्ध बुद्धि से और न विशेष श्रवण से। जिसको यह वरण करता है, उसी को यह प्राप्त हो सकता है और उसी के प्रति यह अपने आपको व्यक्त करता है।" वल्लभाचार्य की पुष्टिमार्गीय सगुणभक्ति का बीज भी निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करने वाला यह श्लोक ही है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

निर्गुणभक्ति एवं सगुणभक्ति के आलंबन के स्वरूप में स्थूल अंतर तो यह है कि निर्गुणभक्ति का आलंबन निराकार और अगोचर है तथा सगुणभक्ति का आलंबन साकार एवं गोचर है। किंतु यह साकार एवं गोचर आलंबन अपने आकार के अतिरिक्त अन्य गुणों में निराकार से समानता रखता है। कबीर एवं तुलसी से उदाहरण दे कर पहले यह बात स्पष्ट की जा चुकी है। भक्ति की इन दोनों पद्धतियों में और भी कई समान गुण दिखायी देते हैं। निर्गुणभक्ति में गुरु को वही महत्त्व प्राप्त है, जो साधना के अन्य रूपों—ज्ञानमार्ग, सगुणभक्ति या रहस्यवाद में प्राप्त है। सद्गुरु की कृपा के बिना साधक एक पग भी नहीं चल सकता। निर्गुणभक्ति में नाम स्मरण को भी विशेष महत्त्व दिया गया है। सगुणभक्त तुलसीदास नाम की महिमा का वर्णन करते हुए उसे राम से भी अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं और कबीर की दृष्टि में भी पंडित वही है जिसने प्रेम के 'ढाई अक्षर' पढ़ लिये हैं। निर्गुणभक्ति में तो जप की अवस्था से ऊपर 'अजपा जाप' की अवस्था स्वीकार की गयी है, जिसमें सिद्धपुरुष 'अनहत' शब्द के समान बिना किसी प्रयास के निरंतर नाम स्मरण करते रहते हैं। निर्गुणभक्ति में दैन्य की भावना को भी वही महत्त्व प्राप्त है, जो सगुणभक्ति में दिखायी देता है। कबीर और तुलसी (विनयपत्रिका) के दो पदों का अनुशीलन इस दृष्टि से पर्याप्त होगा :

(अ) *माधो मैं ऐसा अपराधी, तेरी भगति होत नहीं साधी॥*
*कारनि कवन आइ जग जनम्यां, जनमि कवन सचु पाया।*
*भौजल तिरण चरण च्यंतामणि, ता चित घड़ी न लाया॥*
*पर निंद्या, पर धन, पर दारा, पर अपवादैं सूरा।*
*ताथैं आवागमन होइ फुनि फुनि, ता पर संग न चूरा॥*
*काम क्रोध माया मद मंछर, ए सन्तति हम मांहीं।*
*दया धरम ग्यांन गुर सेवा, ए प्रभु सुपिनैं नांहीं॥*
*तुम कृपाल दयाल दमोदर, भगत-बछल भौ-हारी।*
*कहै कबीर धीर मति राखहु, सासति करौ हमारी॥*

(आ) *लाभ कहा मानुष-तनु पाये।*
*काम वचन मन सपनेहुं कबहुंक घटत न काज पराये॥*
*जो सुख सुरपुर-नरक गेह बन आवत बिनहिं बुलाये।*
*तेहि सुख कहं बहु जतन करत मन, समुझत नहिं समुझाये॥*
*पर दारा, पर द्रोह मोहबस किये मूढ़ मन भाये।*
*गरभवास दुखरासि जातना तीव्र बिपति बिसराये॥*
*भय निद्रा मैथुन अहार सबके समान जग जाये।*
*सुर दुरलभ तनु धरि न भजे हरि, मद अभिमान गंवाये॥*

तटस्थ भाव से इन दोनों पदों का अनुशीलन करने पर दोनों की अनुभूति में मूलभूत समानता दिखायी देती है। इन दोनों पदों में भक्तों ने उस मायात्मक संसार में उलझे हुए अपने मन की दशा का करुण चित्र व्यंजित किया है। यदि यह ज्ञात न हो कि पहला पद कबीर का है और दूसरा तुलसी का, तो यह कह पाना असंभव है कि एक में निर्गुण भक्ति है और दूसरे में सगुण भक्ति।। यहां इस समानता का कारण कवियों का दैन्य है। दोनों पदों में कवि कहते हैं कि इंद्रियां, मन और विषय-वासनाएं मनुष्य को भक्ति की ओर नहीं बढ़ने देतीं; उसके पांवों में एक ऐसी ज़ंजीर डाल देती हैं कि वह उसे तोड़ कर मुक्त नहीं हो पाता। जब भक्त मन में उठे वासनाओं के बवंडर में अपने आपको

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

असमर्थ पाता है, तब वह विवश हो कर भगवान को कृपा के लिए पुकार उठता है। चाहे निर्गुण भक्त हो या सगुण भक्त, दोनों को ही अपने मन से युद्ध करना पड़ता है और यह युद्ध दीर्घ काल तक चलता रहता है। वासना द्वारा पराजित भक्त की पुकार ही दीनता के पदों में प्रकट होती है। अत: दैन्य की भावना निर्गुणभक्ति की भी अनिवार्य विशेषता है।

कबीरदास के पद में निर्गुण ब्रह्म के लिए 'कृपालु', 'भक्तबछल', 'भौहारी' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसका कारण यह है कि कबीर का निर्गुण शंकराचार्य का विशुद्ध चैतन्य नहीं है। भक्ति का आलंबन बनाने के लिए निर्गुण में भी कृपालु आदि गुणों को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। भक्ति चाहे निर्गुण की हो, चाहे सगुण की, उसमें आराध्य की भक्तवत्सलता का गुण तो मानना ही पड़ेगा। पीछे 'मुंडकोपनिषद्' के श्लोक में भी ब्रह्म द्वारा आराधक के वरण की बात कही गयी है। जिस प्रकार सगुणभक्ति में इष्टदेव में निर्गुण ब्रह्म के गुणों का आरोप स्वाभाविक और आवश्यक है, उसी प्रकार निर्गुणभक्ति में आराध्य में सगुण ब्रह्म के गुणों का आरोप भी स्वाभाविक ही है।

भक्तिकाल में निर्गुण को आराध्य मान कर चलने वाली एक और साधना पद्धति भी दिखायी देती है और वह है सूफियों की प्रेमपद्धति। इसकी अपनी एक विशिष्ट परंपरा रही है और इसीलिए इसे स्वीकार करने में कोई दुविधा नहीं रही। इस बात को ले कर तो ज़रूर विवाद है कि रहस्यवाद भारतीय मत है या भारत में उसका प्रादुर्भाव जायसी जैसे मुसलमान रहस्यवादी कवियों की रचनाओं से हुआ, किंतु उसके स्वरूप आदि के विषय में कोई विशेष विवाद दिखायी नहीं देता।

रहस्यवाद भी निर्गुण ब्रह्म पर ही आश्रित है। निर्गुणभक्ति के आलोक में रहस्यवाद का अध्ययन करने पर उसका स्वरूप सहज ही स्पष्ट हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि जब निर्गुणभक्ति में माधुर्य भाव का समावेश होता है, तब रहस्यवाद का उदय होता है। रहस्यवाद माधुर्य भाव की निर्गुण भक्ति ही है। लेकिन रहस्यवाद का निर्गुण ब्रह्म, निर्गुणभक्ति के निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा कम सूक्ष्म है। काव्य के धरातल पर माधुर्य भाव की अभिव्यक्ति करने के लिए नायक और नायिका के रूप में साधक और साध्य की परिकल्पना अनिवार्य हो जाती है। यहां महत्त्व इस बात का नहीं है कि ब्रह्म नायक है या नायिका। मूल बात तो यह है कि रहस्यवाद में ब्रह्म और आत्मा के संबंध को प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। ये प्रतीक इसी लोक के नर और नारी के रूपों में होते हैं। रहस्यवाद और सगुणभक्ति में मूलभूत अंतर यह है कि सगुणभक्ति का आलंबन राम या कृष्ण आदि के रूप में एक अक्षर एवं निर्दिष्ट आलंबन है, जिसकी आराधना के लिए उसकी प्रतिमा आदि का निर्माण किया जा सकता है, किंतु रहस्यवाद में प्रयुक्त प्रतीक—नर और नारी का रूप सर्वत्र और सर्वदा एक ही नहीं रहता। रहस्यवाद में ब्रह्म और आत्मा की भावना किसी भी नर और नारी के रूप में की जा सकती है। कबीर ने रहस्यानुभूति को एक सामान्य 'दुलहिन' के माध्यम से व्यक्त किया है—'दुलहिन गावहु मंगलचार' और जायसी आदि रहस्यवादी कवियों ने विशिष्ट नायक-नायिका के प्रतीकों के माध्यम से अपनी प्रेमपद्धति का प्रकाशन किया है। निर्गुणभक्ति में निर्गुण ही भक्ति का प्रत्यक्ष आलंबन बन कर आता है, मगर रहस्यवाद में निर्गुण ब्रह्म को प्रिया या प्रिय के रूप में व्यक्त किया जाता है। लेकिन यहां मूल उद्देश्य होता है—उन गोचर और स्थूल प्रतीकों के माध्यम से ही, उनसे ऊपर उठ कर निर्गुण ब्रह्म से मिलन के आनंद का भोग।

सूफी-साधना-पद्धति में भी गुरु का वही महत्त्व है, जो साधना की अन्य पद्धतियों में है। साधना का मूल रूप भी वैसा ही है—सांसारिक प्रपंच से ऊपर उठ कर अलौकिक सत्ता की प्राप्ति के लिए साधना करना। इस साधना के विघ्न भी संतों एवं भक्तों के चिरपरिचित शत्रु—काम, क्रोध आदि हैं,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जिन पर विजय पाये बिना साधक सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। 'पद्मावत' में जायसी ने हीरामन तोते के रूप में गुरु का संकेत किया है; रत्नसेन द्वारा राज्य, पत्नी आदि का त्याग संसार से विरक्ति का सूचक है और पद्मावती के रूप-वर्णन में व्यापक और विराट परम शक्ति का संकेत मिलता है। जिस प्रकार निर्गुणभक्ति में भगवान की भक्तवत्सलता की स्वीकृति है, उसी प्रकार रहस्यवाद में साध्य भी साधक की साधना से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। जब रत्नसेन पद्मावती से मिलने के लिए सिंहलद्वीप जाता है, तब जायसी ने पद्मावती की विचित्र मनोदशा का जो चित्रण किया है, वह साधक की साधना के प्रभाव का ही सूचक है।

हिंदी में तसव्वुफ से प्रभावित प्रेमाख्यानों की परंपरा दिखायी देती है, किंतु परवर्ती उर्दू शायरी में जहां रहस्यवाद—इश्के हक़ीक़ी को ग़ज़ल में पेश किया गया है, वहां आराध्य का संकेत किसी विशिष्ट व्यक्तित्व से संपन्न नायिका के रूप में नहीं मिलता। इन ग़ज़लों में शायर प्रत्यक्ष रूप से अपनी माशूक के प्रति प्रेम की पीड़ा को व्यक्त करता है। यह पद्धति कबीर की रहस्यवादी रचनाओं के अनुकूल पड़ती है। आधुनिक युग में महादेवी का रहस्यवाद भी एक अनाम अरूप प्रिय को ही आलंबन बना कर चलता है। परंतु यह स्पष्ट है कि इश्क़ का आलंबन चाहे विशिष्ट नायिका हो, चाहे एक सामान्य अनाम प्रिया, आराध्य निर्गुण ही रहता है।

ज्ञानमार्गी निर्गुणभक्ति की अपेक्षा रहस्यवाद की अभिव्यक्ति अधिक स्थूल है, क्योंकि वह स्थूल गोचर विशिष्ट प्रतीकों के माध्यम से हुई है। इस दृष्टि से तसव्वुफ की स्थिति निर्गुणभक्ति और सगुणभक्ति की मध्यवर्ती है। किंतु भारतीय परंपरा में पले व्यक्ति के लिए रहस्यवादी पद्धति के प्रेम—इश्क़े हक़ीक़ी की अपेक्षा निर्गुणभक्ति अधिक ग्राह्य है। इसका कारण स्पष्ट है—निर्गुण-भक्ति श्रुतिकालीन साधना की परंपरा से जुड़ी हुई है और उपासना एवं ध्यान की परंपरा में देखी जा सकती है। इसके विपरीत तसव्वुफ को व्यक्त करने वाली प्रेमकथाओं के काव्य अपने विशिष्ट गोचर पात्रों के प्रेम-चित्रण के कारण सामान्य सहृदय की दृष्टि में प्रधान रूप से प्रेमकाव्य ही बने रहते हैं। उनके लोकोत्तर संकेतों को वह मुख्य रूप से ज्ञान के धरातल पर ही ग्रहण कर पाता है। एक प्रकार से इन काव्यों की अनुभूति के आस्वाद की समस्या माधुर्यभाव के पदों की अनुभूति के आस्वाद की समस्या से समानता रखती है।

कबीर आदि संत कवियों और जायसी आदि सूफ़ी कवियों को निर्गुणभक्तिधारा में स्वीकार करने के दो कारण माने जाते हैं। पहला कारण है इष्टदेव की अगोचर, अक्षर और सर्वशक्तिमान सत्ता के रूप में स्वीकृति; और दूसरा कारण है इष्टदेव के किसी गोचर विशिष्ट और अक्षर रूप की स्वीकृति का अभाव।

निर्गुणभक्ति और रहरूयवादी प्रेमपद्धति की सीमा भी वही है, जो ज्ञानमार्ग की है। निर्गुण को ही आराध्य के रूप में स्वीकार करने का परिणाम यह हुआ कि साधना की इन दोनों पद्धतियों की स्वीकृति सीमित क्षेत्र के भीतर ही रही। जब सगुणभक्ति या प्रेम को आलंबन के रूप में ग्रहण किया जा सकता है तो फिर निर्गुण की ओर आकर्षित होने की संभावना अत्यंत सीमित हो जाती है। जिस प्रकार अधिकांश व्यक्ति ज्ञानमार्ग पर नहीं चल सकते, उसी प्रकार वे निर्गुणभक्ति और रहस्यवादी प्रेमसाधना को भी स्वीकार नहीं कर सकते। लेकिन यह निर्विवाद है कि जिस प्रकार ज्ञानमार्ग साधना का एक विशिष्ट रूप है, उसी प्रकार निर्गुणभक्ति और रहस्यवादी प्रेमपद्धति भी साधना के विशिष्ट रूप हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## संत काव्य

संत काव्यधारा के दार्शनिक-सांस्कृतिक आधार अनेक हैं, जिनमें से प्रमुखरूपेण उल्लेखनीय हैं : उपनिषद्, शंकराचार्य का अद्वैतदर्शन, नाथपंथ, इस्लाम धर्म तथा सूफीदर्शन। संतों के चिंतन, जीवन दर्शन और काव्यधारा पर उपनिषदों का व्यापक प्रभाव है। उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म, जीव, जगत और माया संबंधी विचारधारा के साथ ही ब्रह्म के स्वरूप-वर्णन से संबद्ध उपमानों और अप्रस्तुत योजनाओं को संतकवियों द्वारा प्राय: उसी रूप में ग्रहण कर लिया गया है। उपनिषदों के अनंतर संतकाव्यधारा और संतदर्शन का मुख्य आधार है—शंकर का अद्वैतदर्शन। संतों की विवर्त भावना, प्रतिबिंब-भावना, प्रणव-भावना, साधनापक्ष और भक्तिपद्धति पर आचार्य शंकर की विचारधारा का व्यापक प्रभाव है। आचार्य शंकर और निर्गुण संत कवि, दोनों इस विषय में एकमत हैं कि जीव विशुद्ध ब्रह्म तत्त्व है और जो भिन्नता की उपलब्धि होती है, वह माया अथवा अविद्याजनित उपाधि है। संतों ने आत्मा की सर्वरूपता, सर्वात्मभावना एवं सर्वशक्तिमत्ता प्रतिपादित की है। ये भावनाएं भी शंकर के सिद्धांत के अनुकूल हैं। संतपरंपरा में आत्मा की अखंडता, एकरसता, अद्वैतरूपता एवं अकथनीयता का प्रतिपादन भी शंकर-सिद्धांत के अनुरूप है। संतकाव्य और संतदर्शन पर नाथपंथ का भी प्रचुर प्रभाव है। नाथपंथी कवियों एवं विचारकों के शून्यवाद, उनके द्वारा गुरु की प्रतिष्ठा और सृष्टिक्रम; आत्मा, जीव आदि के विषय में उनकी मान्यताओं से संत कवि अनेकश: प्रभावित रहे हैं। संतसाधना में योगप्रक्रिया की जो प्रधानता है, उसका मूल स्रोत नाथपंथी साधनापद्धति ही है। तंत्र साधना का भी संतमत पर प्रभाव रहा है। यद्यपि कबीरदास ने स्पष्टतया कहा है : ''तंत्र न जानूं, मंत्र न जानूं, जानूं सुंदर काया'' तथापि कबीर के अनंतर उनकी परंपरा में अवतरित और विकसित संप्रदायों में तंत्र-साधना का स्वरूप प्रमुख रहा। मलूक-पंथ और निरंजनी संप्रदाय में इस प्रभाव को सहज ही लक्षित किया जा सकता है।

इस्लाम के संपर्क और प्रभाव के कारण संतों की विचारधारा एकेश्वरवाद से प्रभावित हुई। इस्लाम की देन निषेधात्मक अधिक रही, विधेयात्मक कम। मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद के बहिष्कार का मूलाधार इस्लाम धर्म में ही है। इस्लम ने सामाजिक असमानता को दूर करने की भी चेष्टा की। सत्य यह है कि एकेश्वरवाद उस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता थी। अत: कबीर प्रभृति संत कवियों ने हिंदू-मुसलमान दोनों को एकेश्वरवाद का संदेश सुनाया, जिसके परिणामस्वरूप जनता को बहुदेवोपासना के अभिशाप से छुटकारा मिला। इस संदर्भ में दार्शनिक व सांस्कृतिक धरातल पर सूफी मत से प्राप्त प्रेरणा भी उल्लेखनीय है। संतकाव्य में दांपत्य प्रतीकों की उपलब्धि सूफीदर्शन के प्रभाव का ही परिणाम है। सूफीमत ने संतों की विचारधारा को ही नहीं, अभिव्यंजनाशैली को भी प्रभावित किया। इस संप्रदाय के साधनात्मक एवं भावनात्मक आदर्श संतकवियों को निरंतर प्रभावित करते रहे। सूफीमत ने देशव्यापी धार्मिक कटुता को समाप्त करके प्रेम, सहिष्णुता, औदार्य एवं मधुरता की भावना का प्रसार किया। यह कार्य ज्ञानमार्गी संतों के साहचर्य व सहयोग से ही संभव हुआ। उस युग में ज्ञानमार्गी संतकवियों ने धार्मिक सांस्कृतिक क्षेत्र की रूढ़ियों की उपेक्षा एवं आलोचना की है। उन्होंने निगम, आगम, पुराण आदि को महत्त्वहीन प्रमाणित किया। किंतु बौद्धों का दु:खवाद एवं शून्यवाद, वज्रयानियों की तांत्रिक साधना, सिद्धों की गूढ़ोक्तियों के रूप में उलटबांसियां, नाथ संप्रदाय की योगसाधना तथा काव्यसाधना किसी-न-किसी रूप में संतकाव्य में समाहित हुईं। संत कवियों ने वैदिक साहित्य, वैदिक परंपराओं एवं बाह्याचारों की जो आलोचना आद्योपांत की है, वह सब बौद्ध धर्म का ही प्रभाव है। यह भी उल्लेखनीय है कि मध्ययुग में निर्गुणभक्ति के मुख्य संस्थापक स्वामी रामानंद ने साधना एवं भक्ति के द्वार शूद्रों तथा निम्न वर्गों के लिए भी खोल दिये। भक्ति में प्रेमतत्त्व

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का समावेश कर उन्होंने उसे और भी सुसाध्य एवं स्पृहणीय स्वरूप प्रदान किया।

निर्गुणभक्ति का मूल तत्त्व है—निर्गुण-सगुण से परे अनादि, अनंत, अनाम, अज्ञात ब्रह्म का नाम-जप। संतों ने नाम-जप को साधना का आधार माना है। 'नाम' समस्त संशयों और बंधनों को विच्छिन्न कर देता है। 'नाम' ही भक्ति और मुक्ति का दाता है। निर्गुणभक्ति का द्वितीय मूल तत्त्व है—मानसिक भक्ति। संतमत के अनुसार भक्ति आडंबरविहीन होती है; इसीलिए संतकाव्य में वैष्णवों की नवधा भक्ति (पादसेवन, अर्चन, वंदना आदि) का कर्मकांड-सम्मत तथा परंपरा-समर्थित रूप नहीं मिलता। साधनामार्ग को व्यावहारिक एवं सरल स्वरूप प्रदान करने में ही संतमत की सार्थकता है। इस भक्तिपद्धति का तृतीय मूल तत्त्व है—प्रेम के माध्यम से कर्मकांड की अनपेक्षित दुरूहताओं को दूर करना। प्रेममयी भक्ति का अनुभव व्यक्त करते हुए कबीर ने लिखा है :

*हरि रस पीया जानिए, जे कबहूं न जाय खुमार।*
*मैमंता घूमत फिरै, नाहीं तन की सार॥*

निर्गुणभक्ति का चतुर्थ एवं सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है—मानव को एक ऐसे विश्वव्यापी धर्म के सूत्रों में निबद्ध करना, जहां जाति, वर्ग और वर्ण संबंधी भेद न हों। साधना का यह द्वार सबके लिए उन्मुक्त था। इस क्षेत्र में हिंदू-मुसलमान का भेद भी विलुप्त हो गया और भक्ति के क्षेत्र में सब समान प्रमाणित हुए। निर्गुणभक्ति का पंचम तत्त्व है—सहज साधना। संतों की भक्तिपद्धति आनंद और शांति से संयुक्त शुद्ध अंत:करण की वह स्वाभाविक शक्ति है, जहां कृत्रिमता स्वत: विलीन हो जाती है। सहज साधना का यह मार्ग सर्वथा अभिनव और क्रांतिकारी था तथा इसने धार्मिक जीवन की दुरूहताओं को सदैव के लिए हटा दिया।

संतसंप्रदाय विश्वसंप्रदाय है और उसका धर्म विश्वधर्म है। इस विश्वधर्म का मूलाधार है—हृदय की पवित्रता। पवित्रता-सम्मत स्वाभाविक और सात्त्विक आचरण ने ही यहां धर्म का बृहत् रूप ग्रहण किया। समस्त वासनाओं, इच्छाओं एवं द्वेषों से रहित हृदय की नि:सीम सीमाओं में विशाल धर्म का प्रवेश और समावेश संभव है। यह सब सद्गुरु की कृपा से ही संभव है। वह भक्ति और मुक्ति का दाता तथा ज्ञानचक्षुओं का उद्घाटक है। संतसंप्रदाय ने गुरु को ब्रह्म से भी महान माना है। स्वयं कबीर ने कहा है :

*गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूं पांय।*
*बलिहारी गुरु आपने जिन गोविंद दियो बताय॥*

## उपलब्ध सामग्री : साहित्य-असाहित्य का निर्णय

संतसाहित्य भावात्मक एवं अनुभूतिप्रवण है, उसमें किसी शास्त्र अथवा सिद्धांत के प्रति आग्रह व्यक्त नहीं हुआ है। यह बात साधनाक्षेत्र और साहित्यजगत दोनों ही में समान रूप से लक्षित होती है। निर्गुण काव्यधारा के संत कवि सामान्यतया समाज के निम्न वर्गों में आविर्भूत हुए थे। समाज ने उन्हें आदरणीय नहीं समझा। वे साधनविहीन वातावरण में उत्पन्न हुए तथा साहित्य, भाषा, व्याकरण आदि के अनुशीलन से वंचित रहे। इसीलिए उनकी काव्यभाषा में परिष्कार, परिमार्जन, परिनिष्ठता और साहित्यिकता नहीं है। संतों का भाषादर्श सहजता और सरलता की ओर उन्मुख है। सत्य का निरूपण, सत्य का विवेचन एवं सत्य का प्रचार-प्रसार, उनकी कविता का मूल लक्ष्य था। उनका ध्यान न काव्य-सौष्ठव की ओर था और न भाषा के परिमार्जन की ओर था, यहां तक कि कवि और कवि-कर्म की उन्होंने स्वत: आलोचना की है। संतकाव्य में साधारणीकरण भी है और वस्तुस्थिति का सौंदर्यबोध

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भी; परंतु इसकी रचना भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की दृष्टि से रसनिष्पत्ति के निमित्त नहीं की गयी। वस्तुतः इस ओर इन कवियों की प्रवृत्ति भी नहीं थी। वस्तुतः भक्तिरस का पान करके ये ऐसी आत्मविस्मृत अवस्था में पहुंच गये थे कि काव्यरस या लौकिक रसों का इन्हें ध्यान भी नहीं रहा था।

संतकवियों का लक्ष्य काव्यरचना नहीं था, उनकी रचनाओं में जन-जन के हित और उनके उद्‌बोधन की भावना सन्निहित है। भावों के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने प्रतीकों, उपमाओं, रूपकों की योजना अवश्य की है, किंतु इसमें संदेह नहीं कि काव्योत्कर्ष अथवा काव्यसौष्ठव उनका साध्य नहीं था। उनकी भाषा का रूप भी स्थिर नहीं है। शब्द-विन्यास की दृष्टि से उसमें उस कोटि की साहित्यिकता नहीं मिलती, जैसी रामकाव्य, कृष्णकव्य और किसी सीमा तक प्रेमाख्यानकाव्य में सुलभ है। इन काव्यधाराओं के प्रमुख कवियों की भाषा में प्रायः जो परिमार्जन, प्रवाह, परिनिष्ठता और सौष्ठव विद्यमान है, वह निर्गुणकाव्यधारा में दुर्लभ है। फिर भी, संतकाव्य की यह विशेषता है कि उसमें भाषा का सहज, सरल एवं कृत्रिमताविहीन रूप उपलब्ध होता है। संतकवि पर्यटनशील थे, अतः उनकी भाषा में विभिन्न प्रदेशों की शब्दावली का सम्मिश्रण है। किंतु जहां यह भाषा जनसाधारण तक भावों को पहुंचाने में विशेष सहायक हुई, वहीं विविध भाषाओं और बोलियों के शब्दों के सम्मिश्रण के कारण इसमें साहित्यिकता का समावेश नहीं हो पाया।

संतों की उस परंपरा में, जिसका प्रवर्तन कबीर ने किया था, शतशः कवि आविर्भूत हुए। परंतु न वे सब सच्चे अर्थों में कवि कहे जा सकते हैं, न उन सबका काव्य साहित्य क्षेत्र में उल्लेख है। निर्गुणकाव्यधारा में, विशेषतः कबीर, दादू, सुंदरदास और हरिदास निरंजनी की साखियों एवं पदों म सशक्त अभिव्यंजना, गंभीर रहस्यात्मक उक्तियां, प्रभावशाली प्रतीक और भाषा का स्वाभाविक प्रवाह विद्यमान है। इनके काव्य में गंभीर अनुभूतियों की कलात्मक व्यंजना दुर्लभ नहीं है। वैसे, संतकाव्य जनसाहित्य है, जिसमें जनभावनाओं को जाग्रत करने के लिए अथक परिश्रम किया गया है। इस प्रयास में संतकवियों को आशातीत सफलता मिली है। उनके अनुयायियों ने पंथों एवं संप्रदायों का गठन भी किया। इनमें सामान्यतः जनता का निम्न वर्ग ही सम्मिलित हुआ। इस पृष्ठभूमि में यह कहना उचित होगा कि संतकाव्यधारा का जो महत्त्व सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक दृष्टि से है, वह साहित्यिक दृष्टि से नहीं है। साहित्य की जो लौकिक सीमाएं तथा काव्यशास्त्रीय एवं भाषावैज्ञानिक स्वीकृतियां हैं, उनमें इस काव्यधारा को नहीं बांधा जा सकता, परंतु पारमार्थिक, अलौकिक एवं दार्शनिक जगत की झांकियों को प्रस्तुत करने वाले संतसाहित्य का अपना महत्त्व है।

## वर्गीकरण एवं प्रवृत्ति-विश्लेषण

संतकाव्य का वर्गीकरण दो दृष्टियों से संभावित है—एक तो शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से और दूसरे, संत कवियों द्वारा गृहीत साधनाप्रणाली की दृष्टि से। दार्शनिक विचारधाराओं की पृष्ठभूमि में निर्गुण काव्य को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—कबीर, दादू, मलूकदास आदि पूर्णतया अद्वैतवादी हैं, जबकि नानक भेदाभेदवादी हैं। कबीर तथा उनकी परंपरा में उल्लिखित अद्वैतवादियों के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा पूर्णरूपेण एक हैं। इसके विपरीत नानक तथा उनके अनुयायियों का अभिमत है कि परमात्मा और आत्मा में बड़े और छोटे का अंतर है। इस प्रकार इन संतों की विचारधारा औपनिषदिक सिद्धांतों से साम्य रखती है। संतकवियों के वर्गीकरण का द्वितीय आधार है—उनकी साधना प्रणाली। संतसाधकों में एक वर्ग ऐसा है, जो योगसाधना से पूर्णतया प्रभावित है। सोऽहं,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हंस, इंगला, पिंगला, सुषुम्णा, सुरति, निरति आदि का उल्लेख तो सभी ने किया है, परंतु हठयोगी साधना की सूक्ष्मताओं का ज्ञान और अनुभव कबीरदास, सुंदरदास तथा हरिदास निरंजनी को विशेष रूप से था। इन्होंने सामान्य जनता के लिए सहजसाधना का विधान किया है तथा विशिष्ट साधकों को कुंडलिनी की साधना के मार्ग पर अग्रसर होने का उपदेश दिया है। इनके काव्य में वर्णित योग-प्रक्रिया अनुभव-समर्थित है। वैसे हठयोग, ध्यानयोग, प्रेमयोग आदि योगविधियों का जितना पुस्तकीय एवं अनुभूतिमूलक ज्ञान सुंदरदास को था, उतना अन्य किसी संत कवि को नहीं। दादू, नानक, रैदास, जम्भनाथ, सींगा, भीषण, रज्जब, बावरी साहब, मलूकदास, बाबा लाल आदि की साधना पद्धति में योगतत्त्व की प्रधानता नहीं है। इन्होंने कहीं-कहीं सुरत-योग, शब्द योग आदि का उल्लेख तो किया है, परंतु उतनी अंतरंगता और आग्रह के साथ नहीं।

सभी संत मूर्तिपूजा एवं अवतारवाद के विरोधी थे, परंतु जाने-अनजाने रूप से इनमें से कुछ की रचनाओं में सगुण तत्त्वों का समावेश हो गया है। कबीर जैसे अद्वैतवादी और निर्गुणदर्शन के सबल प्रतिपादक कवि के काव्य में भी कहीं कहीं सगुण तत्त्व के दर्शन होते हैं। रैदास, मलूकदास आदि की रचनाओं में भी यह तत्त्व बहुलता से पाया जाता है। सगुण की ओर उनकी यत्किंचित प्रवृत्ति अन्य प्रकार से भी प्रमाणित होती है। उदाहरणार्थ, प्रत्येक संप्रदाय में सद्गुरु को अवतार माना गया; इस संदर्भ में सद्गुरु के चित्र की उपासना में सगुण तत्त्व का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। इसी प्रकार माला, तिलक, छाप आदि जिन उपकरणों की आरंभ में निर्गुणियों ने बड़ी निंदा की, वही कालांतर में उनकी साधना के अंग बन गये। संप्रदायों के केंद्र स्थानों में सद्गुरु तथा उनकी परंपरा में अवतरित अन्य संतों की आरती भी होने लगी। तात्पर्य यह है कि निर्गुण संत-मत के अनुयायी कालांतर में किसी सीमा तक सगुण तत्त्व की ओर भी उन्मुख हो गये।

## निर्गुण भक्तिधारा के प्रमुख कवि

निर्गुण संतों की विचारधारा के बीज सिद्ध व नाथ कवियों की रचनाओं में तो मिलते ही हैं, आदिकाल में नामदेव ने भी इस दिशा में योग दिया था। भक्तिकालीन निर्गुण भक्त कवियों में कबीर, दादू, नानक, रैदास, सुंदरदास, मलूकदास प्रभृति संतों ने भक्तिभावना के प्रसार और भक्तिकाव्य की रचना में न केवल स्वयं उल्लेखनीय योग दिया, अपितु इनकी शिष्य-परंपरा में बाद में भी निर्गुण भक्तिकाव्य की रचना होती रही। यहां प्रमुख संतकवियों और उनके अनुयायियों का संक्षिप्त परिचय देना समीचीन होगा :

**रामानंद :** रामानंद अपने गुरु के सर्वाधिक यशस्वी साधक एवं प्रगतिशील विचारक थे। संत मत के प्रचार एवं प्रसार का श्रेय इन्हीं को है। नाभादास ने 'भक्तमाल' में लिखा है कि इनके अनेक शिष्य-प्रशिष्य थे, जिनमें अनंतदास, कबीर, पीपा, धन्ना आदि विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। रामानंद को दीर्घ, पवित्र एवं साधनात्मक जीवन प्राप्त हुआ था, किंतु इनके आविर्भावकाल, निधनकाल तथा जीवनचरित्र के संबंध में कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती। 'भक्तमाल' के अनुसार ये रामानुजाचार्य की शिष्यपरंपरा में चतुर्थ शिष्य थे। इनका आविर्भाव-काल चौदहवीं शताब्दी का अंतिम चरण माना जा सकता है, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि ये कबीर और पीपा के गुरु थे और इन दोनों का आविर्भाव-काल क्रमशः 1399 ई. तथा 1425 ई. स्वीकार किया जाता है। रामानंद के निधन काल के संबंध में दो मत प्रचलित हैं—कुछ विद्वानों का मत है कि इनकी मृत्यु 1463 ई. में हुई थी, और कुछ का मत है कि इन्होंने 1448 ई. में शरीर का विसर्जन किया। उपलब्ध तथ्यों एवं उल्लेखों के आधार पर यह निश्चित किया जा सकता है कि इनका आविर्भाव-काल लगभग 1368 ई.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तथा निधन-काल लगभग 1468 ई. था। 'श्रीभक्तमाल सटीक' के अनुसार इनका जन्म प्रयाग में कान्यकुब्ज ब्राह्मणकुल में हुआ था। इनकी शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई और स्वामी राघवानंद इनके दीक्षा गुरु थे।

रामानंद द्वारा संस्कृत में विरचित ग्रंथों की प्रामाणिकता निश्चित नहीं है। उनके गुरु राघवानंद की 'सिद्धांतपंचमात्रा' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रामनंद की साधना-पद्धति में नाम स्मरण का बहुत अधिक महत्त्व है। नाभादास के मत से रामानंद दशधा भक्ति के आगार थे। दशधा भक्ति के प्रचार के साथ-ही-साथ उन्होंने ज्ञानवृत्तिप्रेमियों को ज्ञानमार्ग का उपदेश दिया। रामानंद से ही प्रेरणा ग्रहण कर कबीर ने साधना एवं भक्ति को सभी वर्णों तथा सभी वर्गों के लिए सुलभ कर दिया था। रामानंद बड़े उदारचेता मनस्वी थे। उन्होंने सामाजिक हीनता और असमर्थता की भावना को समूल नष्ट कर साधना का ऐसा भव्य एवं विशाल मंदिर निर्मित किया, जिसके द्वार सबके लिए उन्मुक्त थे। रामानंद की हिंदी-रचनाओं में उनका प्रगतिशील, आध्यात्मिक एवं साधनात्मक दृष्टिकोण उपलब्ध होता है। तीर्थयात्रा, मूर्तिपूजा, वेदादि धर्मग्रंथों एवं उपासना के बाह्य साधनों की आलोचना करते हुए उन्होंने अंतस्साधना का मार्ग प्रदर्शित किया है। उनकी रचनाओं में ब्रह्म की प्रेमाभक्ति का उपदेश है तथा उनकी काव्यभाषा पर्याप्त स्वच्छ है। अपने गुरु राघवानंद से प्राप्त भक्ति और ज्ञान की पृष्ठभूमि में उन्होंने 'रामावतसंप्रदाय' का प्रवर्तन किया। उनके बाद सोलहवीं शताब्दी में इस संप्रदाय का संपर्क 'श्रीसंप्रदाय' के साथ इतना बढ़ गया कि दोनों में जो भेद था, वह भावुक जनता के समक्ष अदृष्ट हो गया। परंतु वस्तुतः दोनों में भेद विद्यमान था। श्रीसंप्रदाय के आराध्य नारायण हैं और रामावतसंप्रदाय के राम। रामावतसंप्रदाय में साधनात्मक प्रक्रियाओं के साथ ही व्यावहारिक जीवन की उदारता, सहृदयता तथा सहिष्णुता की भावनाएं प्रचुर थीं। इस संप्रदाय का मूल मंत्र 'राम' या 'सीताराम' है और आराध्य देव श्रीराम हैं। वे निर्गुण, निराकार, अगम, अगोचर होते हुए भी संतों, भक्तों और आर्त जनों के परित्राणार्थ अवतार धारण कर लेते हैं।

**कबीरदास :** भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में कबीरदास ऐसे महान विचारक एवं प्रतिभाशाली महाकवि हैं, जिन्होंने शताब्दियों की सीमा का उल्लंघन कर दीर्घ काल तक भारतीय जनता का पथ आलोकित किया और सच्चे अर्थों में जनजीवन का नायकत्व किया। उनके आविर्भाव-काल का निर्णय करने के लिए उपलब्ध सामगग्री को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—अंतस्साक्ष्य, सांप्रदायिक सामग्री, प्राचीन ग्रंथों एवं विद्वानों के अभिमत। अंतस्साक्ष्य की दृष्टि से उन्होंने केवल दो प्रसंगों—काजी द्वारा हाथी चलवाने तथा लोहे की ज़ंजीरों में बंधवा कर गंगा में डुबोने के प्रयत्न का वर्णन किया है। सिकंदर लोदी (1488-1517) द्वारा किये गये अत्याचारों का जो वर्णन अनंतदासकृत 'कबीरपरिचई' में है, उससे इन उल्लेखों का पूर्ण साम्य है। तात्पर्य यह है कि कबीर सिकंदर लोदी के समकालीन थे। कबीर का दूसरा अंतस्साक्ष्य है उनके द्वारा जयदेव और नामदेव की महत्ता का वर्णन। यथा—''गुर प्रसादी जैदेव नामां, भगति के प्रेमी इनही है जाना।'' कबीर द्वारा बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के इन दोनों संतों का उल्लेख इस बात का द्योतक है कि उनका आविर्भाव तेरहवीं शताब्दी के अंत अथवा चौदहवीं शताब्दी के आरंभ में हुआ था।

कबीर की जीवनी से संबंधित मुख्य सांप्रदायिक सामग्री निम्नलिखित है—श्री पीपा की वाणी, भवतारण (धर्मदास), कबीर-गोरष-गुष्ट, कबीर-चरित्रबोध, भक्तमाल, कबीरपरिचई। पीपा ने कबीर की आध्यात्मिक उपलब्धियों की सराहना की है तथा 'भवतारण' में उनके द्वारा विभिन्न युगों में अवतरित होने का श्रद्धापूर्ण वर्णन है। 'कबीर-गोरष-गुष्ट' में गोरखनाथ और कबीरदास के मध्य तत्त्व सिद्धांत पर विवेचना को वाणी दी गयी है। 'कबीरचरित्रबोध' प्रथम सांप्रदायिक ग्रंथ है, जिसमें

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कबीर के आविर्भाव-काल (1455 वि.) का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख है। नाभादास विरचित 'भक्तमाल' (1585) में कबीर के संबंध में यह उल्लेख मिलता है :

*भक्ति विमुख जो धरम ताहि अधरम करि गायो।*
*जोग जग्य व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो।*
*हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी।*
*पच्छपात नहिं बचन सबहिं के हित की भाखी।*
*आरूढ़ दसा है जगत पर, मुख देखी नाहिन भनी।*
*कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षट् दरसनी॥*

'कबीरपरिचई' में अनंतदास ने कबीरदास के व्यक्तित्व और जीवनी से संबंधित कुछ तथ्यों का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया है। उनके अनुसार वे जन्म से जुलाहे थे, उनका निवास-स्थान काशी था, उनके गुरु रामानंद थे, सिकंदर लोदी ने उन्हें अनेक प्रकार से यातना दी थी तथा उन्होंने 120 वर्ष का पवित्र जीवन पाया।

उपर्युक्त सामग्री के साथ ही वर्तमान लेखकों के अभिमतों का उल्लेख भी आवश्यक है। बील के मतानुसार कबीर का समय 1490 ई., फर्कुहर के अनुसार 1400-1518 ई., हंटर की दृष्टि में 1300-1420 ई., मेकालिफ के अनुसार 1398-1518 ई. और वेसकट, स्मिथ तथा भंडारकर के मत से 1440-1518 ई. है। अंतस्साक्ष्य और 'कबीरचरित्रबोध' के प्रमाण से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि कबीर का आविर्भाव 1398 ई. में हुआ था। आविर्भाव-काल के समान ही उनका अवसान-काल भी अनिश्चित और रहस्यमय बना हुआ है। 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादास के अनुसार उनका देहावसान मगहर में 1492 ई. में हुआ। इस संबंध में एक जनश्रुति भी प्रचलित है :

*संवत पंद्रह सै पछत्तरा, कियो मगहर को गौन।*
*माघ सुदी एकादशी, रो पौन में पौन॥*

तात्पर्य यह कि कबीर का निधन 1518 ई. (1575 वि.) में हुआ। इस मंतव्य का समर्थन 'कबीरपरिचई' के इस उल्लेख से भी हो जाता है कि कबीर को 120 वर्ष का पवित्र जीवन प्राप्त हुआ था अर्थात वे 1398-1518 ई. तक विद्यमान थे।

प्रसिद्ध है कि कबीर स्वामी रामानंद के शिष्य थे। 'भक्तमाल' में रामानंद के प्रमुख शिष्यों का उल्लेख करते हुए कबीर को विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है। 'दबिस्तान' (1670) के लेखक मोहसिन फानी और पैशाची भाषा की कृति 'प्रसंगपारिजात' (1460) के लेखक चेतनदास के अनुसार भी कबीर के गुरु रामानंद थे। यहां उनके जीवनवृत्त के कुछ अन्य पक्षों का उल्लेख भी अपेक्षित है। 'जाति जुलाहा नाम कबीरा' जैसें उल्लेखों से स्पष्ट है कि जाति-पांति के कटु आलोचक कबीर ने अपने को जुलाहा जाति का होना स्वीकार किया है। यह अंतस्साक्ष्य सर्वथा विश्वसनीय और प्रामाणिक है। किंतु कबीरपंथ में कबीरदास के माता-पिता के विषय में किसी प्रकार का मत उपलब्ध नहीं होता। कारण यह है कि कबीरपंथियों की दृष्टि में कबीरदास महापुरुष हैं। किंवदंती है कि नीरू जुलाहा और उसकी पत्नी नीमा ने बालक के रूप में विद्यमान सत्पुरुष को अपने घर ला कर पालन-पोषण किया। इस प्रकार जुलाहा परिवार में परिपालित सत्पुरुष ने युग के शोषण और बंधनों को शिथिल करके सामाजिक जीवन का एक नया परिच्छेद उद्घाटित किया। जनश्रुतियों में प्रसिद्ध है कि कबीर की पत्नी का नाम लोई था। उनकी संतान के रूप में पुत्र कमाल और पुत्री कमाली

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का उल्लेख मिलता है।

अक्षर ब्रह्म के परम साधक कबीरदास सामान्य अक्षरज्ञान से रहित थे। उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा : ''मसि कागद छुयौ नहीं, क़लम गह्यौ नहिं हाथ।'' अत: यह बात निर्विवाद है कि उन्होंने स्वत: किसी ग्रंथ को लिपिबद्ध नहीं किया। उनकी रचनाओं का अध्ययन करने से पूर्व यह भी जान लेना आवश्यक है कि उनकी एक-एक रचना की कई-कई प्रतियां समुपलब्ध हैं और इन सभी में भाषा तथा शब्द-चयन के रूप-स्वरूप में बड़ा वैभिन्नय है। खोज-रिपोर्टों, संदर्भ-ग्रंथों, पुस्तकालयों के विवरणों आदि में उनके द्वारा विरचित तिरसठ ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। ये हैं : अगाधमंगल, अनुरागसागर, अमरमूल, अक्षरखंड की रमैनी, अक्षरभेद की रमैनी, उग्रगीता, कबीर की बानी, कबीर-गोरख की गोष्ठी, कबीर की साखी, बीजक, ब्रह्मनिरूपण, मुहम्मदबोध, रेखता, विचारमाला, विवेकसागर, शब्दावली, हंसमुक्तावली, ज्ञानसागर आदि। ये कृतियां कबीर की प्रतिभा की रश्मियां हैं, परंतु इनमें से कुछ की प्रामाणिकता इनके शीर्षक स्वत:संदिग्ध कर देते हैं। उदाहरणार्थ, 'मुहम्मदबोध' और 'कबीर गोरख की गोष्ठी' को ले सकते हैं। कबीरदास न तो गोरखनाथ के समकालीन थे, न मुहम्मद साहब के। फिर ये ग्रंथ कहां से साकार हो उठे?

संतमत के समस्त कवियों में कवि कबीर सबसे अधिक प्रतिभाशाली एवं मौलिक थे। उन्होंने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके कहीं पर कुछ नहीं लिखा है, न उन्हें पिंगल और अलंकारों का ज्ञान था तथापि उनमें काव्यानुभूति इतनी प्रबल एवं उत्कृष्ट थी कि वे सरलता के साथ महाकवि कहलाने के अधिकारी हैं। सत्य यह है कि उनकी कविता में छंद, अलंकार, शब्दशक्ति आदि गौण हैं और संदेश देने की प्रवृत्ति प्रधान है। इन संदेशों में आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा, पथप्रदर्शन तथा संवेदना की भावना सन्निहित है। अलंकारों से सुसज्जित न होते हुए भी उनके संदेश काव्यमय हैं। कबीर भावना की अनुभूति से युक्त, उत्कृष्ट रहस्यवादी, जीवन का संवेदनशील संस्पर्श करने वाले और मर्यादा के रक्षक कवि थे। उन्होंने स्वत: कहा है : ''तुम जिन जानो गीत है, यह निज ब्रह्म विचार।'' पथभ्रष्ट समाज को उचित मार्ग पर लाना ही उनका प्रधान लक्ष्य है।

कवि के रूप में कबीर जीवन के अत्यंत निकट हैं। सहजता उनकी रचनाओं की सबसे बड़ी शोभा और कला की सबसे बड़ी विशेषता है। उनके काव्य का आधार स्वानुभूति या यथार्थ है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है : ''मैं कहता हूं आंखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी।'' वे जन्म से विद्रोही, प्रकृति से समाज-सुधारक, कारणों से प्रेरित हो कर धर्म-सुधारक, प्रगतिशील दार्शनिक और आवश्यकतानुसार कवि थे। उनके व्यक्तित्व का पूरा-पूरा प्रतिबिंब उनके साहित्य में विद्यमान है। कबीर का प्रतिपाद्य स्थूल रूप से दो भागों में विभाजनीय है—इनमें से प्रथम रचनात्मक है तथा द्वितीय आलोचनात्मक। रचनात्मक विषयों के अंतर्गत सतगुरु, नाम, विश्वास, धैर्य, दया, विचार, औदार्य, क्षमा, संतोष आदि विषयों पर व्यावहारिक शैली में भाव व्यक्त किये गये हैं। यहां उनकी आलोचनात्मक प्रतिभा के दर्शन नहीं होते, अर्थात यहां मानव की हीनताओं का दिग्दर्शन नहीं कराया गया। प्रतिपाद्य के दूसरे पक्ष में कबीर की आलोचनात्मक प्रतिभा प्रकट हुई है। यहां वे आलोचक, सुधारक, पथप्रदर्शक और समन्वयकर्त्ता के रूप में दृष्टिगत होते हैं। इस पक्ष में उल्लेखनीय विषय हैं : चेतावनी, भेष, कुसंग, माया, मन, कपट, कनक, कामिनी आदि।

कबीर की अभिव्यंजनाशैली बड़ी शक्तिशाली है। प्रतिपाद्य के एक-एक अंग को ले कर इस निरक्षर कवि ने सैकड़ों साखियों की रचना की है; और प्रत्येक साखी में अभिनवता है। उन्होंने ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, योग, हठयोग आदि विषयों को बड़े सुबोध रूप में व्यक्त कर दिया है। उनकी अभिव्यंजना शक्ति उनके व्यक्तित्व के अनुरूप है। जिस प्रकार उनकी दृष्टि में तीक्ष्णता तथा तीव्रता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

थी, उसी प्रकार उनकी अभिव्यंजक प्रतिभा भी प्रखर थी। उनके काव्य में बुद्धि तत्त्व की प्रधानता है, किंतु वह शुष्क या नीरस नहीं है। आत्मा, परमात्मा, जीव, जगत आदि का विवेचन नीरस विषय हैं, परंतु कबीर ने इनके समाधान के लिए सरल भाषा, भावमयी, अनुभूतियों तथा कल्पना आदि का सहारा लिया है। कबीर के काव्य में भावनातत्त्व की भी प्रचुरता है। यदि वे कोरे बुद्धिवादी होते, तो उनकी रचनाओं में भावनापक्ष का अभाव होता, किंतु सत्य यह है कि भावात्मक स्थलों पर उनके काव्य में रसात्मकता भी है। एक ओर रहस्यवाद के भावात्मक पक्ष को उद्घाटित करने वाले पदों में शृंगार रस की निर्मल धारा है, तो दूसरी ओर सत्य की अनुभूति और ज्ञान की गंभीरता भी है। 'दुलहिन गावहु मंगलचार' इसी कोटि का पद है। सबकी आलोचना करने वाला कबीर इतना रससिक्त होगा, यह आश्चर्य की बात प्रतीत होती है। उनकी कविता में कल्पना या कवित्व या प्रतिभा के दर्शन सर्वत्र होते हैं, किंतु व्यर्थ की कल्पनाओं के पीछे भटकना उनका लक्ष्य नहीं था। उनकी कल्पनाशक्ति में व्यावहारिकता तथा कलात्मकता का सुंदर समन्वय है। उन्होंने भावों की अभिव्यक्ति के लिए जिन उपकरणों को स्वीकार किया है, वे सब अत्यंत स्वाभाविक एवं सहज हैं। 'सतगुर को अंग', 'माया को अंग', 'चेतावनी को अंग' आदि प्रसंगों में कवि की कल्पनाशक्ति का वैभव दर्शनीय है। कल्पना के चुनाव में उन्होंने औचित्य पर भी ध्यान दिया है, जो उनकी मनोवैज्ञानिकता का परिचायक है।

कबीर के काव्य में दांपत्य एवं वात्सल्य के द्योतक प्रतीकों का सुंदर प्रयोग हुआ है। उनकी रचनाओं में सांकेतिक प्रतीक, पारिभाषिक प्रतीक, संख्यामूलक प्रतीक, रूपात्मक प्रतीक तथा प्रतोकात्मक उलटबांसियों के सुंदर उदाहरण मिलते हैं। कबीर-साहित्य प्रतीक-योजना से भरा पड़ा है। रहस्यवाद से संबंद्ध पदों में अकथनीय अनुभव को व्यक्त करने के लिए उन्होंने पग-पग पर प्रतीकों का आश्रय लिया है। प्रभावसाम्य के कारण उनके प्रतीकों से तादृशी भावना जाग्रत होती है। इसमें संदेह नहीं कि कबीर की दूरदर्शिता, रसज्ञता, सहृदयता तथा संवेदनशीलता ने उनके काव्य में विभाव-पक्ष को सुंदर और प्रभावशाली बना दिया है। फिर भी, उनमें वह सतर्कता एवं सावधानी नहीं मिलती, जो लिखित साहित्य के लिए अपेक्षित है। काव्यसौंदर्य की अभिवृद्धि के साधनों—छंद, अलंकार आदि के प्रति उनके मन में कोई पूर्वनिष्ठा नहीं है। उनके रूपक तथा उपमाएं दैनिक जीवन से संबद्ध हैं। सत्य तो यह है कि काव्यरचना उनका साध्य या लक्ष्य नहीं था, फिर भी अपने महान संदेशों की अभिव्यक्ति के लिए उन्हें काव्य को माध्यम बनाना पड़ा। इस प्रकार रहस्यवादी संत और धर्मगुरु होने के साथ-साथ वे भावप्रवण कवि भी थे।

**रैदास :** मध्ययुगीन साधकों में रैदास अथवा रविदास का विशिष्ट स्थान है। निम्नवर्ग में समुत्पन्न हो कर भी उत्तम जीवन शैली, उत्कृष्ट साधना-पद्धति तथा उल्लेखनीय आचरण के कारण वे आज भी भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में सादर स्मरण किये जाते हैं। रैदास का जन्म काशी में हुआ था तथा काशी को ही उनका निवास-स्थान माना गया है। कबीर की भांति उनके जीवन-काल के विषय में भी बड़ा मतभेद है। 'रैदास की परिचई' में जन्मकाल का उल्लेख नहीं है। 'भक्तमाल' और डॉ. भंडारकर के अनुसार उनका जन्म 1299 ई. में हुआ था। डॉ. भगवतव्रत मिश्र ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि कवि का जन्मकाल 1398 ई. तथा मृत्युकाल 1448 ई. के मध्य होना चाहिए।[2] यह भी प्रसिद्ध है कि वे मीराबाई (1498-1546) के गुरु थे; इस स्थिति में 1530 ई. के पूर्व उनका देहावसान नहीं माना जा सकता। अस्तु, इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। रैदास चमार दंपत्ति से उत्पन्न हुए थे। इस विषय में अनेक अंतस्साक्ष्य उपलब्ध हैं। यथा : 'ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार', 'चरन सरन रैदास चमइया' आदि। अनंतदास द्वारा लिखित 'परिचई' और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रियादास के 'सटीक भक्तमाल' के अनुसार रैदास को स्वामी रामानंद ने दीक्षा दी थी, किंतु रैदास की रचनाओं में कहीं भी रामानंद का उल्लेख न होने से इस विषय में शंका होती है। रैदास विवाहित थे, उनकी पत्नी का नाम लोना था। अपनी संत-प्रवृत्ति के अनुरूप उन्होंने प्रयाग, मथुरा, वृंदावन, भरतपुर, जयपुर, पुष्कर, चित्तौड़ आदि स्थानों का भ्रमण किया था। प्रसिद्ध है कि सिकंदर लोदी के निमंत्रण पर वे दिल्ली भी गये थे। उनका मोक्ष-स्थान काशी का गंगा घाट था।

रैदास मूलतः संत थे, फलस्वरूप कबीर की भांति उनका बल भी कलापक्ष की अपेक्षा प्रतिपाद्य पर अधिक रहा है। अन्य ब्रह्ममार्गी कवियों की भांति उनके लिए भी निर्गुण ब्रह्म अनुभूति और जिज्ञासा का विषय है। कभी वे उनकी सत्ता और स्वरूप की अभिव्यक्ति में अपनी असमर्थता स्वीकार करते हैं, तो अन्यत्र उसे एक सुनिश्चित रूप देने के लिए उन्होंने ईश्वर के समस्त रूपों में ऐक्य और अभिन्नता के दर्शन भी किये हैं। मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा आदि बाह्य विधानों का विरोध कर उन्होंने आभ्यंतरिक साधना पर बल दिया है। अपने भावों और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने सरल व्यावहारिक ब्रजभाषा को अपनाया है, जिसमें अवधी, राजस्थानी, खड़ीबोली और उर्दू-फ़ारसी के शब्दों का भी मिश्रण है। उपमा तथा रूपक अलंकार कवि को विशेष प्रिय रहे हैं। उनकी काव्य-शैली के परिचयार्थ निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य है :

*अब कैसे छूटै राम, नाम रट लागी।*
*प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी, जाकी अंग अंग बास समानी।*
*प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा, जैसे चितवत चन्द-चकोरा।*
*प्रभु जी तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति बरै दिन राती।*
*प्रभु जी तुम मोती हम धागा, जैसे सोने मिलत सुहागा।*
*प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करै रैदासा।*

**नानकदेव :** नानक-पंथ के प्रवर्त्तक गुरु नानकदेव (1469-1538) इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। उनके द्वारा संस्थापित संप्रदाय ने उन्हीं के जीवनकाल में एक व्यापक संगठन का रूप धारण कर लिया था। राजनीतिक परिस्थितियों के कारण उनका संप्रदाय और भी व्यापक, सुदृढ़ और सुव्यवस्थित होता गया। नानक-पंथ की स्थापना राजनीतिक परिस्थितियों के कारण हुई, किंतु उसका स्वरूप धार्मिक तत्त्वों के रंग से अनुरंजित है। नानकदेव समन्वयशील और उदार प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। उनमें अद्भुत संगठनशक्ति, क्षमाशीलता और दूरदर्शिता विद्यमान थी। उनका आविर्भाव लाहौर के निकटस्थ राइभाई की तलवंडी ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम कालूचंद एवं माता का नाम तृप्ता था। उनका जन्मस्थान अब ननकाना साहब नाम से प्रख्यात है। बाल्यावस्था में उन्हें संस्कृत, फ़ारसी, पंजाबी एवं हिंदी की शिक्षा प्राप्त हुई। वे आरंभ से ही आत्मचिंतन, ईश्वर-भक्ति और संत-सेवा की ओर उन्मुख रहे। कुछ समय तक उन्होंने गृहस्थी भी चलायी। उनके दो पुत्र हुए, जिनके नाम थे : श्रीचंद और लक्ष्मीचंद। पिता की भांति श्रीचंद भी विख्यात साधु हुए और उन्होंने 'उदासी संप्रदाय' का प्रवर्तन किया। गुरु नानक भ्रमणशील साधु थे। उन्होंने सभी दिशाओं में यात्राएं की थीं। इस संदर्भ में सभी धर्मों और मतों के अनुयायी संतों से उनकी भेंट होती रहती थी। फलस्वरूप समाज और धर्म के संबंध में उनकी विचारधारा अनुभूति तथा समन्वय पर आधारित है। धार्मिक रूढ़िवाद, जाति के संकीर्ण बंधनों तथा अनाचारों के प्रति उन्होंने सदैव विरोध का स्वर उठाया। उनके काव्य में निर्गुण ब्रह्म के प्रति उच्च कोटि की भक्ति-भावना विद्यमान है, किंतु इसके साथ ही अन्य धार्मिक विचारधाराओं के लिए भी उनके मन में श्रद्धा थी। सत्य के प्रति आस्था के फलस्वरूप उनकी वाणी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में स्पष्टता और उद्‌बोधन की प्रखरता मिलती है। कबीर की भांति उनके काव्य में भी शांत रस की निर्बाध धारा प्रवाहित हुई है, यद्यपि कहीं-कहीं करुण, अद्‌भुत आदि कुछ अन्य रसों के अनुकूल साम्रगी भी प्राप्त होती है। नानक के अनुसार ईश्वर-कृपा से तत्त्वदर्शन तो हो जाता है, किंतु उस अनुभव की अभिव्यक्ति सदैव नहीं हो पाती। यथा :

*आपे जाणै आपे देई, आखहि सि भि केई केइ।*
*जिसनौ बखसे सिफति सालाह, नानक पातिसाही पातिसाहु॥*

नानक ने अनेक पदों की रचना की, जो 'ग्रंथ साहिब' में संकलित हैं। 'जपुजी' नानक-दर्शन का सारतत्त्व है। 'असा दी वार', 'रहिरास' तथा 'सोहिला' उनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं। नानकदेव की काव्यभाषा के तीन रूप हैं : हिंदी, फ़ारसी बहुल पंजाबी और पंजाबी। 'नसीहतनामा' की भाषा में खड़ी बोली का रूप व्यक्त है। नानक का अधिकांश साहित्य पंजाबी में है, किंतु उन्होंने ब्रजभाषा की शब्दावली का भी प्रयोग किया है। उनकी भाषा में प्रवाह और सहजता है। नानक-वाणी में अलंकारों का सहज प्रयोग हुआ है। उपमा, रूपक, प्रतीक और अनुप्रास कवि के प्रिय अलंकार हैं। छंदों का प्रयोग उन्होंने नहीं किया, उनके पद राग-रागिनियों में रचित हैं। शांत रस की निर्बाध धारा उनके काव्य में प्रवाहित हुई है। ऐतिहासिक वर्णनों में करुण रस एवं शृंगार के पद भी विरचित हैं।

**जम्भनाथ :** संत जम्भनाथ का जन्म 1451 ई. में जोधपुर राज्य के नागौर प्रदेश के पीपासर (अथवा पयासर) ग्राम में राजपूत परिवार में हुआ। जनश्रुति है कि चौंतीस वर्ष की अवस्था तक इन्होंने एक भी शब्द उच्चरित नहीं किया और चमत्कारित कृत्यों के प्रदर्शन के कारण जनता ने इन्हें 'जम्भ जी' कहना प्रारंभ किया। सिद्धि प्राप्त हो जाने के अनंतर ये मुनींद्र जम्भ ऋषि के नाम से विख्यात हुए। इनकी शिक्षा-दीक्षा, विवाह, परिवार व आजीविका आदि के विषय में कोई विशेष विवरण नहीं मिलता। किंवदंती है कि ये आजीवन ब्रह्मचारी रहे। यह भी प्रसिद्ध है कि किन्हीं बाबा गोरखनाथ ने इन्हें दीक्षा प्रदान की थी। स्वभाव से ये बड़े विनयशील एवं विनम्र थे। काव्य-रचना में इनकी अच्छी गति थी, परंतु दुर्भाग्य से अभी तक इनकी कोई कृति नहीं मिली है। कतिपय संग्रहों में इनकी स्फुट रचनाएं संकलित हैं। अभिव्यंजनाशैली के परिचयार्थ इनके दो दोहे द्रष्टव्य हैं :

*गगन हमारा बाजा बाजे, मतर फल हाथी।*
*संसै का बल गुरुमुख तोड़ा, पांच पुरुष मेरे साथी।*
*जुगति हमारी छत्र सिंघासन, महासक्ति में बांसे।*
*जम्भनाथ वह पुरुष विलच्छन, जिन मन्दिर रचा अकासे॥*

जम्भनाथ ने अपने आदर्शों या मत के प्रचारार्थ 'विश्नुई संप्रदाय' की स्थापना की। अपने जीवन में इन्होंने चार प्रमुख शिष्यों को मान्यता प्रदान की, जिनके नाम हैं : हावली पावजी, लोहा पागल, दत्तनाथ तथा मालदेव[1] नाम से ये शिष्य नाथपंथी प्रतीत होते हैं। संभव है, विश्नुई संप्रदाय किसी अंश तक नाथपंथ के आदर्शों से प्रभावित रहा हो। जम्भनाथ की उपलब्ध रचनाओं में भी अधिकतर देहभेद और योगाभ्यास जैसे विषय ही मिलते हैं, जिससे यह कहा जा सकता है कि ये नाथपंथ से विशेष प्रभावित थे। इनकी रचनाओं में ओंकार जप, निरंजन की उपासना, अजपा जप, गगनमंडल, पंचपुरुष, सतगुरु-महिमा, सोऽहं जप, जरा-मरण से मुक्ति, अनन्य भक्ति आदि का बारंबार उल्लेख हुआ है। अजपा जप और निरंजन की उपासना का इन्होंने विशेष रूप से उपदेश दिया है। प्रसिद्ध है कि जम्भनाथ ने 1523 ई. के लगभग तालबा (बीकानेर) में समाधि ले कर अपनी जीवनलीला समाप्त

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की, किंतु इनके अनुयायी इस घटना को 1536 ई. में तालासर गांव के निकट होना बतलाते हैं। इनका समाधि-स्थल सम्भराथल नाम से विख्यात है।

**हरिदास निरंजनी :** संत हरिदास निरंजनी संप्रदाय के कवि थे, जिसका मूल स्रोत नाथपंथ है। साधना-क्षेत्र में इस संप्रदाय को नाथपंथ एवं संत-मत की मध्यवर्ती कड़ी कहा जा सकता है। यह एक प्राचीन धर्म-संप्रदाय है, जिसका प्रभाव उड़ीसा प्रांत में किसी-न-किसी रूप में आज तक विद्यमान है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपने ग्रंथ 'मेडिवियल मिस्टिसिज्म' में यह प्रतिपादित किया है कि सर्वप्रथम इस मत का प्रचार उड़ीसा से ही प्रारंभ हुआ था, तदनंतर यह संप्रदाय अपने जनप्रिय और सच्चे आदर्शों के कारण पूर्व की ओर भी प्रसारित हुआ। इस संप्रदाय का इतिहास पूर्णरूपेण ज्ञात नहीं है। प्रचलित है कि इस संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी निरंजन थे, जो ब्रह्म के निर्गुण रूप के उपासक थे। स्वामी निरंजन की जीवनी और सिद्धांतों की स्पष्ट रूपरेखा प्राप्त नहीं है। निरंजनी संप्रदाय के संस्थापक और संस्थापन के इतिहास का उल्लेख करते हुए दादूपंथी राघोदास ने अपने 'भक्तमाल' में लिखा है कि इसके प्रवर्तक जगन थे। यह मत भी प्रचलत है कि इस संप्रदाय का प्रवर्तन हरिदास निरंजनी ने किया था। राघोदास के अनुसार हरिदास डीडवाणा-निवासी थे। पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने 'सुंदर ग्रंथावली' की भूमिका में हरिदास के संबंध में यह लिखा है कि पहले वे प्रागदास के शिष्य हुए, फिर दादू के, फिर कबीरपंथ और गोरखपंथ में दीक्षित हुए और अंततः उन्होंने अपना निराला पंथ चलाया। परशुराम चतुर्वेदी का भी अनुमान है कि हरिदास जी ने 1599 ई. में दादूपंथी प्रागदास से दीक्षा ली थी। परंतु इधर कुछ नवीन सामग्रियों के क्रमशः प्रकाश में आते जाने के कारण संत हरिदास के आविर्भाव-काल का कुछ पहले निश्चित होना भी अनुमानित है। कुछ लेखक अब इस बात को असंभव नहीं समझते कि इनका जन्म 1455 ई. में और मृत्यु 1543 ई. में हुई। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में विद्यमान हरिराम जी की 'हरिदास जी की परिचई' में भी इसी मंतव्य का प्रतिपादन हुआ है। उनके अनुसार 1499 ई. की वसंत पंचमी के दिन स्वयं हरि ने गुरु गोरखनाथ का रूप धारण करके इन्हें ब्रह्मज्ञान की दीक्षा दी थी। हरिदास निरंजनी कदाचित सोलहवीं शती के मध्य तक विद्यमान थे। कुछ लोग इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार करना चाहते हैं कि एक की जगह दो हरिदास मान लिये जायें, किंतु प्रमाण के अभाव में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

'श्री हरिपुरुष की वाणी' में उल्लेख है कि 45 वर्ष की अवस्था तक हरिदास जी ने गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत किया था। परिचई-लेखक का ध्यान संभवतः इधर नहीं गया। हरिदास जी भ्रमणशील व्यक्ति थे। वे झंगूर, डीडपुर, नागपुर, अजमेर, नाथवाडा, नैडे, तोडा, अंबेर, जयपुर, सिधौरा आदि स्थानों का भ्रमण कर आये थे। 'श्री हरिपुरुष की वाणी' में उनके शिष्यों का भी उल्लेख मिलता है। उनके शिष्य-प्रशिष्यों में नारायणदास, हरिराम, रूपदास, सीतलदास, लक्ष्मणदास, गंगादास आदि का उल्लेख किया जाता है। मारवाड़ में हरिदास के नाम पर कई मठ और गद्दियां हैं। इस संप्रदाय का प्रमुख मठ डीडवाणा में है। हरिदास-कृत 'अष्टपदी जोग ग्रंथ', 'ब्रह्मस्तुति', 'हंसप्रबोध ग्रंथ', 'निरपखमूल ग्रंथ', 'पूजाजोग ग्रंथ', 'समाधिजोग ग्रंथ', 'संग्रामजोग ग्रंथ' आदि में निर्गुण ब्रह्म के अलौकिकत्व पर विशेष बल दिया गया है। उनके अनुसार ब्रह्म-कृपा से ही साधक को आनंद प्राप्ति होती है। माया और लौकिक बंधनों के प्रति उन्हें अरुचि है तथा मोक्ष-लाभ ही उनका अभीष्ट है, ''गुणग्राही गोविंद गुण गावा,भजि भजि राम परमपद पावा।'' ब्रह्म विषयक अतींद्रिय अनुभूति में रसमग्न हो कर उन्हें अन्य विषय निस्सार प्रतीत होते हैं। संतों को वे ईश्वर के समान पूज्य मानते हैं। हरिदास की भाषा सरल ब्रजभाषा है, अन्य संतों की भांति कलापक्ष के अलंकरण का आग्रह उनमें

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भी नहीं मिलता।

**सींगा :** संत सींगा (1519-1659) का जन्म मध्य भारत की रियासत बडवानी के खजूर गांव में एक ग्वाल परिवार में हुआ था। बाल्यावस्था से ही वे संसार से विरक्त रहा करते थे। एक बार वे हरसूद से भामगढ़ मार्ग पर जा रहे थे, मार्ग में महाराज ब्रह्मगीर के शिष्य मनरंगीर यह भजन गा रहे थे :

*समुझि ले औरे मना भाई, अंत न होय कोई अपणा।*
*यही माया के फंदे में, तर आन भुलाणा ॥*

इन पंक्तियों ने संसार की नि:सारता को उनके हृदय में प्रत्यक्ष रूप से अंकित कर दिया और उन्होंने मनरंगीर को अपना आध्यात्मिक पथप्रदर्शक स्वीकार कर लिया। पिपल्या के जंगलों में उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की साधना की और अनहद नाद संबंधी भजन लिखे। वे उच्चकोटि के विचारक थे। उनके अनुसार परम तत्त्व की खोज में मंदिर, मस्जिद और तीर्थों में जाने की आवश्यकता नहीं है; उसके दर्शन गंगा, यमुना आदि में स्नान करने से नहीं होते; वरन वह तो हृदय में ही विद्यमान है। यथा :

*जल विच कमल, कमल विच कलियां, जंहै वासुदेव अविनाशी।*
*घर में गंगा, घर में जमुना, नहीं द्वारिका कासी॥*
*घर वस्तु बाहर क्यों ढूंढ़े, बन बन फिरा उदासी।*
*कहैं जन सिंगा, सुनो भाई साधो, अमरपुर के वासी॥*

सींगा की निर्गुण ब्रह्म संबंधी धारणा संत कबीर की ब्रह्मविषयक कल्पना से बहुत-कुछ साम्य रखती है। उनकी उक्तियों में अप्रस्तुतयोजना बड़ी यथार्थ और स्वाभाविक है। उनके द्वारा विरचित पदों की संख्या 800 बतायी जाती है, किंतु वे सभी अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। उनकी काव्यभाषा निमाड़ी है। कहा जाता है कि उन्होंने ग्यारह रचनाओं का निर्माण किया था, जिनके नाम क्रमशः ये हैं—'सिंगा जी का दृढ़ उपदेश', 'सिंगा जी का आत्मध्यान', 'सिंगा जी का दोषबोध', 'सिंगा जी का नरद', 'सिंगा जी का शरद', 'सिंगा जी की वाणी', 'सिंगा जी की वाणावली', 'सिंगा जी का सातवार', 'सिंगा जी की पंद्रह तिथि', 'सिंगा जी की बारहमासी' तथा 'सिंगा जी के भजन'। इनमें से अंतिम के अंतर्गत उनके समाधि-भजन एवं निर्गुणमार्ग के भजन आते हैं, जिन्हें आज भी गाया जाता है। संप्रति, उनके काव्य का एक छोटा-सा संग्रह 'संत सिंगा जी' शीर्षक से उपलब्ध है।

**लालदास :** लाल पंथ के प्रवर्तक संत लालदास (1540-1648) का आविर्भाव अलवर राज्य के ग्राम धौलीधूप में एक ऐसे मुसलमान परिवार में हुआ था, जहां भरण-पोषण तथा जीविका के साधनों के लिए इतना संघर्ष करना पड़ता था कि बालकों की शिक्षा-दीक्षा का कोई प्रबंध न हो पाता था। भगवद्भक्ति का अंकुर लालदास के हृदय में बाल्यावस्था में ही अंकुरित हो गया था। वे साधुओं का सत्संग करते रहते और नाम-जप में संलग्न रहते थे। वय एवं समय के साथ उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैलने लगी। कुछ समय बाद वे अपने स्थान को त्याग कर रामगढ़ परगने में स्थित बादोनी में निवास करने लगे और जनता की सेवा में अनुरक्त हो गये। उत्तरोत्तर उनके शिष्यों की संख्या में वृद्धि होती गयी। प्रचलित है कि अयोग्य शिष्यों के कारण उन्हें अनेक बार कष्ट भी झेलने पड़े। दुष्टों द्वारा अत्यंत पीड़ित किये जाने पर उन्होंने बादोनी का परित्याग कर दिया और नारोली ग्राम में निवास करने लगे। बाद में उन्होंने रसगांव को अपना निवास-स्थान बनाया। लालदास ने गृहस्थाश्रम

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में रह कर साधना की। उनकी समाधि नगला (भरतपुर राज्य) में आज भी विद्यमान है।

संत लालदास सिद्ध महापुरुष थे। उनकी विचारधारा कबीर मत से प्रभावित है। वे अच्छे कवि तथा उपदेशक थे। उनकी रचनाएं 'लालदास की चेतावणी'[3] में संकलित हैं, जिनसे उनकी सुष्ठु अभिव्यंजनाशक्ति और गंभीर रहस्यानुभूति का ज्ञान होता है। सत्यानुभूति, अंत:करण की शुद्धता और समदृष्टि पर उन्होंने बारंबार बल दिया है। इस प्रकार उनकी रचनाओं में नीतिपरक दृष्टिकोण की प्रधानता है। यथा :

*लालजी भगत भीख न माँगिये, माँगत आये शरम।*
*घर घर टांडत दु:ख है, क्या बादशाह, क्या हरम॥*
*लालजी साधु ऐसा चाहिए, धन कमाकर खाय।*
*हिरदे हर की चाकरी, पर घर कभूं न जाय॥*

लालदास जन्म से मेव थे, परंतु उनकी जीवन-शैली और रहन-सहन हिंदुओं जैसा था। वे निरामिषभोजी थे। उनके पंथ में 'राम' ही सर्वश्रेष्ठ शक्ति है, वही आराध्य है, वही ब्रह्म है। लालपंथ की आचार-संहिता बड़ी आकर्षक है। इस पंथ में विनम्रता समस्त साधना का मूल है। लालदास के पंथ का प्रचार और प्रसार बहुत सीमित रहा। अलवर की सीमाओं में ही इस पंथ का विकास हो पाया। इस पंथ के अनुयायी हिंदू-मुसलमान दोनों ही हैं, परंतु उनमें मेवों की संख्या अधिक है।

**दादूदयाल :** दादू-पंथ के प्रवर्तक संत दादूदयाल धर्म-सुधारक, समाज-सुधारक और रहस्यवादी कवि थे। मध्यकालीन साधकों में उनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली है। उनका जन्म अहमदाबाद में हुआ था, किंतु उनके आविर्भावकाल के संबंध में मतभेद है। डॉ. बड़थ्वाल, आचार्य रामचंद्र शुक्ल और परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार उनका जन्म 1544 ई. में हुआ था, जबकि डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार वे 1601 ई. में आविर्भूत हुए थे। दादू की जाति के संबंध में भी मतभेद हैं। सुधाकर द्विवेदी के मत से वे धुनिया थे। क्षितिमोहन सेन ने अपने ग्रंथ 'दादू' में उल्लेख किया है कि वे एक ब्राह्मण के पालित पुत्र थे, डॉ. बड़थ्वाल ने भी उन्हें गुजराती ब्राह्मण कहा है। इन सब मतों के अनंतर दादू के शिष्य रज्जब का यह मत भी विचारणीय है : ''धुनि ग्रभे उत्पन्नो, दादू योगेन्द्रा महामुनि।'' स्पष्ट है कि दादू धुनिया परिवार में समुत्पन्न हुए थे और जाति के मुसलमान थे। दादू के गुरु वृद्ध भगवान थे, जनगोपाल ने 'जनमलीलापरची' में इस मत का समर्थन किया है। दादू-पंथ में प्रचलित है कि वे विवाहित थे और गरीबदास तथा मिस्कीनदास नामक उनके दो पुत्र थे। परची के अनुसार दादू का महाप्रस्थान 1603 ई. में हुआ।

देश-भ्रमण के बाद दादू सन् 1573 ई. में सांभर में निवास करने लगे। इसी समय उन्होंने पंथ की स्थापना के संबंध में विचार प्रकट किया। फलत: नियमित रूप से श्रद्धालु, आस्थावान नर-नारियों तथा अनुयायियों का सत्संग होने लगा। सत्संग का स्थल 'अलख दरीबा' नाम से प्रसिद्ध हुआ। क्रमश: 'ब्रह्म संप्रदाय' रूपरेखा ग्रहण करने लगा, भविष्य में यही 'परब्रह्म संप्रदाय' के रूप में प्रख्यात हुआ और कालांतर में इसी को 'दादू-पंथ'-संज्ञा प्राप्त हुई। दादू के जीवनकाल में यह पंथ बहुत लोकप्रिय हुआ और इसके अंतर्गत रज्जब, सुंदरदास, प्रागदास, जनगोपाल, जगजीवन प्रभृति प्रसिद्ध साधकों का आविर्भाव हुआ। राघोदास ने अपने 'भक्तमाल' में दादू के प्रमुख बावन शिष्यों का उल्लेख किया है, जिनमें रज्जब और सुंदरदास सर्वप्रमुख थे। दादू के महाप्रयाण के अनंतर क्रमश: उनके ज्येष्ठ पुत्र गरीबदास और कनिष्ठ पुत्र मिस्कीनदास उत्तराधिकारी हुए। प्राय: सौ वर्ष तक संप्रदाय सुचारु रूप से चलता रहा, किंतु दादू-पंथ के लिए स्तंभ स्वरूप रज्जब, सुंदरदास, प्रागदास

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आदि प्रधान अनुयायियों का निधन होने पर धीरे-धीरे क्षेत्रीय गद्दियों पर अपरिपक्व साधकों का अधिकार हो गया, जिन्होंने दादू के उच्च आदर्शों को भुला दिया, फलस्वरूप दादू-पंथ का स्थान उपसंप्रदायों ने ले लिया।

दादू प्रतिभाशाली कवि थे। प्रसिद्ध है कि उन्होंने बीस सहस्र पदों और सखियों की रचना की थी, किंतु अब इनमें से बहुत कम उपलब्ध हैं। उनके शिष्यों संतदास एवं जगन्नाथदास ने 'हरडे वाणी' शीर्षक से उनकी रचनाओं का संग्रह प्रस्तुत किया था। 'अंगवधू' भी उनका प्रसिद्ध काव्य-संग्रह है। वैसे उनकी रचनाओं का प्रामाणिक संकलन परशुराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित 'दादूदयाल' में सुलभ है। संत दादू की विचारधारा कबीर से प्रभावित है। निर्गुण भक्त कवि होने पर भी उन्होंने ईश्वर के सगुण स्वरूप को मान्यता दी है। इसी प्रकार भक्ति को उन्होंने सहज भाव से अंगीकार किया है; किसी मतवाद की उलझन में वे नहीं पड़े हैं। उनकी काव्यभाषा ब्रजभाषा है, जिसमें राजस्थानी और खड़ी बोली के शब्दों का मिश्रण भी मिलता है। उनकी भाषा कबीर की अपेक्षा सरल और बोधगम्य है। उनकी वाणी में ओज तथा गांभीर्य दोनों के दर्शन हो जाते हैं। कुछ साखियां द्रष्टव्य हैं :

*दादू पद जोड़े क्या पाईये, साषी कहें का होइ।*
*सति सिरोमनि साईयां, तत न चीन्हां सोइ॥*
*पोथी अपणा प्यंड करि, हरि जस मांहै लेष*
*पंडित अपणां प्रांण करि, दादू कथौ अलेष॥*
*असत मिलइ अंतर पडइ, भाव भगति रस जाइ।*
*साध मिलइ सुख ऊपजई, आनंद अंग नवाइ॥*

**मलूकदास :** मलूकदास (1574-1682) का आविर्भाव उस समय हुआ, जब भारतवर्ष में अकबर के साम्राज्य का दीपक हिंदुओं के स्निग्ध स्नेह से जगमगा रहा था। उनका महाप्रस्थान औरंगजेब के राज्यकाल में हुआ। उनके पिता का नाम सुंदरदास खत्री था। संसार से विरक्ति का जो बीज मलूकदास के हृदय में आगे चल कर पल्लवित और पुष्पित हुआ, उसका बीजारोपण उनकी बाल्यावस्था में ही हो चुका था। उनके दीक्षा-गुरु के संबंध में हिंदी के इतिहासकारों में बड़ा मतभेद-है; कुछ उन्हें कील का शिष्य मानते हैं और कुछ द्राविड़ विट्ठल को उनका गुरु बताते हैं। किंतु मलूकदास ने 'सुखसागर' में गुरु देवनाथ के पुत्र पुरुषोत्तम का गुरु-रूप में स्मरण किया है। मलूकदास-के विवाह, पत्नी और एक कन्या का भी उल्लेख 'परिचई' में हुआ है। वे जीवन-पर्यंत अपने पैतृक व्यवसाय द्वारा गृहस्थी का परिपालन करते रहे।

मलूकदास के प्रामाणिक ग्रंथ ये हैं : ज्ञानबोध, रतनखान, भक्तवच्छावली, भक्तिविवेक, ज्ञानपरोछि, बारहखड़ी, रामअवतारलीला, ब्रजलीला, ध्रुवचरित, विभवविभूति, सुखसागर तथा स्फुट पद। इन ग्रंथों का विषयानुसार विभाजन चार प्रकार से हो सकता है। 'ज्ञानबोध', 'ज्ञानपरोछि', 'विभवविभूति' तथा 'रतनखान' में कवि ने योग, ज्ञान, निर्गुण भक्ति, वैराग्य आदि गहन विषयों पर प्रकाश डाला है। द्वितीय वर्ग की रचनाएं वे हैं, जिनमें कवि ने कथानकों के आधार पर दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति की है। 'भक्तिविवेक' और 'सुखसागर' इसी प्रकार की रचनाएं हैं। तृतीय वर्ग की रचनाओं में अवतारों और चरित्रों का वर्णन है—'रामअवतारलीला', 'ब्रजलीला' तथा 'ध्रुवचरित' ऐसी ही कृतियां हैं। चतुर्थ श्रेणी में 'भक्तवच्छावली', 'बारहखड़ी', 'स्फुट पद' एवं 'सबद' शीर्षक स्फुट रचनाएं आती हैं, जिनमें कवि की उपदेशात्मक प्रवृत्ति झलकती है। मलूकदास की रचनाओं में 'ज्ञानबोध' सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसमें निर्गुण ब्रह्म की अंतस्साधना, भक्ति, ज्ञान,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वैराग्य, निवृत्ति, प्रवृत्ति आदि का पांच खंडों में वर्णन है। 'रतनखान' के दस परिच्छेदों में वैराग्य, नश्वरता, निष्काम जीवन, मनन, मुक्ति आदि का स्वरूप वर्णित है। 'भक्तिविवेक' में काशी नृप की कथा, पंडित तथा नागकन्या की कथा, नृप तथा बढ़ई की कथा, सिंह तथा शृंगाल की कथा आदि के माध्यम से ब्रह्मोपासना, माया के त्याग, इंद्रियों के शमन तथा मन के दमन में ही जीवन की सार्थकता मानी गयी है। 'रामअवतारलीला', 'ब्रजलीला' और 'ध्रुवलीला' की रचना उस समय हुई, जब मलूकदास सगुण ब्रह्म की आराधना में तत्पर थे। वैसे, उनका ब्रह्म निर्गुण और गुणातीत है। वह समस्त सृष्टि का पालक और संहारक है, भेदभाव आदि भावनाओं से परे और ऊपर है तथा संसार के अणु-अणु में रमा हुआ है।

मलूकदास ने अवधी और ब्रजभाषा में काव्य-रचना की है। 'ज्ञानबोध', 'रतनखान', 'ज्ञानपरोछि' आदि की रचना अवधी भाषा में हुई है तथा कृष्णचरित्र से संबंद्ध ग्रंथों की भाषा ब्रजभाषा है। कवि ने संस्कृत, फ़ारसी तथा अन्य बोलियों के शब्दों का भी प्रयोग किया है। उनकी विचारधारा और शैली के परिचय के लिए निम्नलिखित उद्धरण देखिए :

*कहत मलूक जो बिन सिर खेवै, सो यह रूप बखानै।*
*या नैया के अजब कथा, कोइ बिरला केवट जानै॥*
*कहत मलूका निरगुन के गुन, कोइ बड़भागी गावै।*
*क्या गिरही औ क्या बैरागी, जेहि हरि देयं सो पावै॥*

**बाबा लाल :** बाबा लाल नामक चार साधकों का आविर्भाव पंजाब प्रांत में हुआ। इनमें से एक पिंड दादान ख़ां के निवासी थे, दूसरे पश्चिमी प्रांत के मेरा या थेरा नगर में रहते थे, तीसरे संत बाबा लाल का मठ गुरुदासपुर में स्थित है और चौथे संत कवि बाबा लाल शहज़ादा दारा शिकोह के संपर्क में आये थे, और उन दोनों में धार्मिक संलाप हुआ था। आचार्य क्षितिमोहन सेन के अनुसार इन बाबा लाल का आविर्भाव 1590 ई. में मालवा प्रदेश के एक खत्री परिवार में हुआ था। किंतु, बाबालाली संप्रदाय के आस्थावान भक्तों के अनुसार उनका जन्म 1355 ई. में और देहावसान 1655 ई. में हुआ। संप्रदाय के अनुयायियों के अनुसार उनका जन्मस्थान पंजाब प्रांत का कुसूर या कुशपुर नामक गांव था। उनके पिता का नाम भोलानाथ और माता का नाम कृष्णादेवी था। प्रसिद्ध है कि आठ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने प्रमुख धर्मग्रंथों का अध्ययन कर लिया था। दस वर्ष की अवस्था में उनके हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो गया, फलतः वे सत्य और सद्गुरु की खोज में निकल पड़े। चेतन बाबा या चैतन्य स्वामी से भेंट होने पर उन्होंने उनसे दीक्षा ले ली। कालांतर में चेतन स्वामी की आज्ञा पा कर वे अपने बाईस प्रमुख शिष्यों को ले कर पंजाब, काबुल, पेशावर, गजनी, कंधार, दिल्ली, सूरत आदि स्थानों में भ्रमण करते हुए सत्य और धर्म के उच्चादर्शों का प्रचार करते रहे। आज भी उनके अनुयायी बड़ौदा, गुरुदासपुर आदि स्थानों में पाये जाते हैं। बड़ौदा में उनका एक मठ है, जिसे 'बाबा लाल का शैल' कहते हैं। वैसे, इस संप्रदाय का प्रधान स्थान गुरुदासपुर का श्रीध्यानपुर गांव है।

बाबा लाल तथा दारा का वार्त्तालाप 'असरारे मार्फत' में संगृहीत है। 'नादिरून्निकात' नामक ग्रंथ में भी उनके विचारों का संग्रह हुआ है। उनके कुछ दोहे और पद भी प्रकाशित हुए हैं, किंतु उनकी रचनाओं का कोई प्रामाणिक संग्रह अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। उनकी विचारधारा पर वेदांत और सूफी मत का प्रभाव है। वे विशुद्ध एकेश्वरवादी थे। उनके मत से ब्रह्म एक अपूर्व आनंदसागर है, जिसका प्रत्येक जीव एक बिंदु के समान है। अहं भावना जीव और ब्रह्म के भेद अथवा वियोग का कारण है, यह 'अहं' माया का पर्याय है। संत बाबा लाल की साधना बड़ी प्रभावशाली और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मर्मस्पर्शी है। निम्नलिखित पंक्तियों में उनकी साधना का रूप स्पष्ट हो जाता है :

*आशा विषय विकार की, बंध्या जा संसार।*
*लख चौरासी फेर में, भरमत बारंबार॥*
*जिहं की आशा कछु नहीं, आतम राखे शून्य।*
*तिहं को नहि कछु भर्मणा, लागे पाप न पून्य॥*
*देहा भीतर श्वास है, श्वासे भीतर जीव।*
*जीवे भीतर वासना, किस विधि पाइये पीव॥*

बाबा लाल की कविता उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही सरल और प्रभावशाली है। गूढ़ तथा रहस्यपूर्ण तथ्यों की अभिव्यंजना भी उन्होंने बड़े सरल शब्दों में की है।

**सुंदरदास :** संत दादूदयाल के शिष्य सुंदरदास (1596-1689) बड़े ही प्रतिभा-संपन्न कवि और साधक थे। जयपुर राज्य की प्राचीन राजधानी धौंसा के परमानंद खंडेलवाल के यहां उनका जन्म हुआ था। छह वर्ष की अल्पायु में वे संत दादू के शिष्य हुए और ग्यारह वर्ष की अवस्था में संत जगजीवन तथा संत रज्जब के साथ काशी की यात्रा की। वहां उन्होंने दीर्घकाल तक निवास किया और संस्कृत-व्याकरण, साहित्य तथा दर्शन का गंभीर अध्ययन कर, समस्त विद्याओं में पारंगत हो कर, 1625 ई. में शेखावटी लौट आये। तदनंतर फतहपुर में किसी गुफ़ा में निवास कर बारह वर्ष तक उन्होंने योगसाधना की। देशाटन उन्हें बहुत प्रिय था। भ्रमण करते हुए वे दादू के सिद्धांतों का प्रचार करते थे और साथ-ही-साथ काव्यरचना भी करते थे। रज्जब से उनका विशेष स्नेह था।

सुंदरदास ने बयालीस ग्रंथों की रचना की थी, जिनमें 'ज्ञानसमुद्र' और 'सुंदरविलास' अधिक प्रसिद्ध है। पुरोहित हरिनारायण शर्मा द्वारा संपादित 'सुंदर-ग्रंथावली' (दो भाग) उनकी सभी रचनाओं का प्रामाणिक संकलन है। उनकी रचनाओं में भक्ति, योग-साधना और नीति को प्रधान स्थान प्राप्त हुआ है। शृंगार रस की रचनाओं के वे कट्टर विरोधी थे। केशव की 'रसिकप्रिया', नंददास की 'रसमंजरी' और सुंदर कविराय-कृत 'सुंदरशृंगार' की निंदा में उनका यह छंद देखिए :

*रसिकप्रिया रसमंजरी और सिंगारहिं जानि।*
*चतुराई करि बहुत बिधि बिषैं बनाई आंनि॥*
*बिषै बनाई आंनि लगत विषयिन कौं प्यारी ।*
*जागै मदन प्रचंड, सराहैं नख शिख नारी॥*
*ज्यौं रोगी मिष्टान पाइ रोगहि बिस्तारै।*
*सुन्दर यह गति होइ जुतो रसिकप्रिया धारै॥*

इसके विपरीत भक्तिजनित आनंद अतुलनीय है, जिसे उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में भावपूर्ण अभिव्यक्ति दी है :

*है यह अति गम्भीर, उठति लहरि आनन्द की।*
*मिष्ट सु याकौ नीर, सकल पदारथ मध्य हैं॥*

संत सुंदरदास ने परिष्कृत ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। अलंकारों का सुनियोजन और छंदों का शुद्ध तथा विविधतापूर्ण प्रयोग उनकी उल्लेखनीय विशेषताएं हैं, जो उन्हें अन्य संत-कवियों से पृथक् एवं विशिष्ट स्थान प्रदान करती हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**अन्य संत कवि :** भक्तिकाल में संत-काव्यधारा के विकास में शताधिक कवियों का योगदान रहा, जिनमें उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त कुछ अन्य को भी पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई। इनमें धर्मदास, रज्जब, बावरी साहिबा, सदना, बेनी पीपा, सेन, धन्ना, अंगद प्रभृति सिक्ख गुरु, शेख फरीद, भीषन, वीरभान और निपट निरंजन स्वामी उल्लेखनीय हैं। संत **धर्मदास** कबीर के प्रमुख शिष्य थे। कबीर-वाणी को 'बीजक' में संकलित करने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। कबीर की मृत्यु के अनंतर उनकी गद्दी का उत्तराधिकार भी इन्हीं को मिला था। इनकी भक्ति-भावना और विचारधारा कबीर से भिन्न नहीं है, किंतु खंडन-मंडन की कटुता इनके यहां नहीं मिलती। लौकिक प्रपंच और माया के प्रभाव को नष्ट करने में ये ब्रह्म की साधना को अनिवार्य मानते थे। यथा : ''बरनौं मैं साहेब तुम्हरे चरना, संतन सुख लायक दायक प्रभु दुख हरना।'' कबीर की तुलना में इनकी प्रतिपादन-शैली सरल और सुस्पष्ट है। इनकी रचनाएं 'धनी धरमदास की बानी' में संकलित हैं। **संत रज्जब** (1567-1689) की गणना दादूदयाल के प्रमुख शिष्यों में की जाती है। इनका पूरा नाम रज्जब अली खां था। गुरु के प्रति इनकी अनन्य श्रद्धा थी : दादूदयाल की समग्र रचनाओं को 'अंगवधू' शीर्षक कृति में इन्होंने ही संकलित किया था। एक अन्य रचना 'सब्बंगी' में इन्होंने अपनी रचनाओं के साथ अन्य प्रसिद्ध निर्गुण संत कवियों की वाणी का भी संकलन किया है। वैसे इनकी रचनाएं 'रज्जबबानी' में संगृहीत हैं। साधना-पद्धति और विचार-निरूपण में इन पर दादूदयाल का व्यापक प्रभाव है। अपने मंतव्यों को स्पष्ट करने के लिए इन्होंने दृष्टांत-शैली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। भाषा की व्यावहारिकता और छंद संबंधी विविधता इनकी अन्य उल्लेखनीय विशेषताएं हैं। इनकी विचारधारा का अनुमान निम्नलिखित साखियों से सहज ही हो जाता है :

*बारी बुद्धि माहैं उदै, सफरी सबद समान।*
*इह प्रकार बाणी बिबिध, समुझै साधु सुजान॥*
*निर्मल पीबै प्रेम रस, पल पल पोसै प्राण।*
*जन रज्जब छाक्या रहै, साधू सन्त सुजान॥*

संत-संप्रदायों में बावरी-पंथ का विशेष महत्त्व है। **बावरी साहिबा** इसी पंथ की प्रमुख संत थीं। किंवदंती है कि ये उच्च कुल की महिला थीं। सत्यानुभूति और ब्रह्म की साधना में इन्हें यत्र-तत्र बहुत भटकना पड़ा। बावरी साहिबा सम्राट अकबर की समसामयिक थीं। इनका समय 1542-1605 ई. के लगभग माना जाना चाहिए। इनकी साधना-पद्धति, व्यक्तिगत जीवनी और काव्य के विषय में कोई विशेष सूचना प्राप्त नहीं होती, तथापि इनके काव्य के जो दो-एक उदाहरण उपलब्ध हैं, उनसे इनकी भावुकता और कवित्व-प्रतिभा में संदेह नहीं रह जाता। एक सवैया देखिए :

*बावरी रावरी का कहिये, मन ह्वै के पतंग भरै नित भांवरी।*
*भांवरी जानहि सन्त सुजान, जिन्हें हरिरूप हिये दरसावरी॥*
*सांवरी सूरत मोहनी मूरत, दै करि ज्ञान अनन्त लखावरी।*
*खांवरी सोह तेहारी प्रभु, गति रावरी देखि भई मति बावरी॥*

**संत सदना** निष्ठावान भक्त और साधक थे तथा चौदहवीं शताब्दी के मध्य में विद्यमान थे। इनकी पदावली काल-प्रवाह में लुप्त हो चुकी है। 'आदिग्रंथ' में संकलित इनके एक पद के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि साध्य के प्रति इनके मन में अनन्य समर्पण भावना थी। सदना की भांति **संत बेनी** का जीवन-विवरण भी अप्राप्य है। अनुमान है कि ये पंद्रहवीं शताब्दी में विद्यमान

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रहे होंगे। 'आदिग्रंथ' में इनके तीन पद संकलित हैं, जिनसे स्पष्ट है कि ये साधना-मार्ग की दुरूहता, अध्यात्म की सूक्ष्मता और हठयोग की प्रक्रियाओं से भलीभांति परिचित थे। मूर्तिपूजा, बाह्याचार और आडंबरों की इन्होंने कटु आलोचना की है। **संत पीपा** का जन्म मृत्यु-काल भी अनिर्णीत है तथापि यह निश्चित है कि ये पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे। ये खीची वंश के राजपूत गृहस्थ थे और इन्होंने स्वामी रामानंद से दीक्षा ली थी। सदना और बेनी की भांति इनकी रचनाएं भी प्रायः अनुपलब्ध हैं। **संत सेन** जाति के नाई थे। प्रो. रानाडे ने उनका समय 1450 ई. के लगभग निर्धारित किया है। ये स्वामी रामानंद के शिष्य थे। नाभादास ने 'भक्तमाल' में इनकी निष्ठा और साधना की प्रशंसा की है, किंतु अधिकांश संतों की भांति इनकी रचनाएं भी सुलभ नहीं हैं। 'आदिग्रंथ' में इनका केवल एक पद संकलित है। **संत धन्ना** का आविर्भाव-काल 1415 ई. निर्धारित किया गया है। 'भक्तमाल' में इनका उल्लेख उच्चकोटि के साधक के रूप में हुआ है। ये जाति के जाट थे और बाल्यावस्था से ही भगवान में अनुरक्त थे। इन्होंने भी स्वामी आत्मानंद से दीक्षा ली थी। 'आदिग्रंथ' में इनके चार पद संकलित हैं, जिनमें निर्गुण साधना पर बल देते हुए बाह्याचारों की निंदा की गयी है।

गुरु नानक की भांति पंजाब के कुछ अन्य सिक्ख गुरुओं ने भी संत-काव्य की रचना की है। ये हैं—अंगद, अमरदास, रामदास और अर्जुनदेव। **गुरु अंगद** (1504-1552) ने मध्यकालीन पंजाबी भाषा में काव्य-रचना की है, किंतु उनकी भाषा ब्रजभाषा के निकट है। उनकी विचारधारा और रचना- शैली गुरु नानक से प्रभावित है। वैसे भी, उन्हें नानकदेव की रचनाओं को एकत्र करने का श्रेय प्राप्त है। अंगद ने सरल, सरस और परिमार्जित भाषा में गेय पदों की रचना की है और यथास्थान अलंकारों का सहज सन्निवेश किया है। **गुरु अमरदास** (1479-1574) की रचनाएं 'ग्रंथ साहिब' में संगृहीत हैं। वे भ्रमणशील साधक थे और उन्होंने भक्तिभाव और जनकल्याण की प्रेरणा से पद-रचना की थी। मार्मिक भाव-योजना, शैलीगत मधुरता, भाषा की सरलता और आलंकारिकता उनकी मुख्य रचना-प्रवृत्तियां हैं। **गुरु रामदास** की रचनाएं 'ग्रंथ साहिब' में संकलित हैं। इनके पदों में सरसता, काव्यात्मकता और कांताभाव की भक्ति का अच्छा निदर्शन मिलता है। उनके पद सरल हिंदी और पंजाबी में रचित हैं तथा रूपक, विरोधाभास और उपमेयोपमा अलंकारों के प्रयोग में उनकी अधिक प्रवृत्ति रही है। **गुरु अर्जुनदेव** (1563-1606) निष्ठावान साधक और सफल धर्मप्रचारक होने के साथ ही अच्छे कवि भी थे। उनकी रचनाओं में 'सुखमनी', 'बावन अखरी' और 'बारहमासा' विशेष प्रसिद्ध हैं। 'ग्रंथ साहिब' में उनके 6,000 पद संकलित हैं, जिनकी रचना विभिन्न राग-रागिनियों में हुई है। उनकी रचनाओं में शांत रस की प्रधानता है तथा उन्होंने ब्रजभाषा में अपने भावों को कुशलतापूर्वक आलंकारिक अभिव्यक्ति प्रदान की है।

पंजाब के संतकवियों में **शेख फरीद** का नाम भी उल्लेखनीय है। इनका जीवनकाल अनुमानतः 1472-1552 ई. निर्धारित किया गया है। ये गुरु नानक के समकालीन थे और इनके जीवन-दर्शन, साधनात्मक आदर्शों तथा साधनापद्धति का प्रभाव संपूर्ण पंजाब पर पड़ा। अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को इन्होंने पंजाबी, हिंदी तथा फ़ारसी भाषाओं में व्यक्त किया। 'आदिग्रंथ' में इनके चार पद संकलित हैं। **संत भीषन** के आविर्भावकाल, शिक्षा-दीक्षा आदि के विषय में प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। 'आदिग्रंथ' में उनके दो पद संगृहीत हैं, जिससे उनका सोलहवीं शताब्दी में विद्यमान होना सिद्ध होता है। इन पदों में कवि के दैन्य, आत्मसमर्पण और भक्ति-भावना के दर्शन होते हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित काव्यांश देखिए :

*हरि का नामु अमृत जलु निरमल इहु अउखध जगि सारा।*
*गुरु परसादि कहै जनु भीखनु पावउ मोख दुवारा॥*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**संत वीरभान :** इनकी जीवनी के संबंध में कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। अनुमानतः ये 1530-1560 के मध्य अवश्य विद्यमान थे। ये उदयदास के शिष्य थे और साध-संप्रदाय में दीक्षित थे। इनकी उपदेशात्मक रचनाएं 'बानी' शीर्षक ग्रंथ में समुपलब्ध हैं। साध-संप्रदाय के प्रसिद्ध ग्रंथ 'निर्वान-ग्यान' में संप्रदाय के अन्य संतों के साथ वीरभान की रचनाएं भी संगृहीत हैं। इसी प्रकार प्रिथीलाल साध के संग्रह-ग्रंथ 'साधु-पंथ' में भी इनकी रचनाओं को स्थान दिया गया है। वीरभान की साधना-पद्धति कबीर दर्शन से बहुत अंशों में प्रभावित है। इन्होंने नाम व जप पर बल दिया है, इन्द्रिय-संयम को साधना का अंग माना है और मूर्तिपूजा आदि बाह्याचारों का निषेध किया है।

प्रस्तुत संदर्भ में निरंजनी संप्रदाय के संत **निपट निरंजन स्वामी** का उल्लेख भी अपेक्षित है। शिवसिंह सेंगर के मत से निपट निरंजन स्वामी गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन थे और इन्होंने 'शांत सरसी' तथा 'निरंजन-संग्रह' नामक ग्रंथों की रचना की थी। डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार इनका जन्म 1539 ई. में हुआ था। कहा जाता है कि ये गौड़ ब्राह्मण थे ओर दौलताबाद के निवासी थे। ये अधिकतर काशी में रहते थे और निर्भीक तथा स्पष्टवादी व्यक्ति थे। निपट निरंजन न केवल उच्चकोटि के विचारक थे, वरन अच्छे कवि भी थे। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। इनकी काव्याभिव्यक्ति का रूप इनके व्यक्तित्व के अनुकूल ही बड़ा सरल और सुंदर है।

## संतकाव्य : सामान्य प्रवृत्तियां

संतकाव्य देश की राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के फलस्वरूप विरचित भावनात्मक एवं अनुभूतिप्रवण जनकाव्य है। इसका प्रेरणास्रोत था—सामान्य मानव का हितसाधन। फलस्वरूप समाज में लिप्त न हो कर भी संत कवियों ने समाज-कल्याण का मार्ग अपनाया और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में शोषित और प्रताड़ित मानव की समस्त प्रवृत्तियों, परिस्थितियों तथा भावनाओं का गंभीर विचारयुक्त यथातथ्य चित्रण किया। इस प्रकार संतसाहित्य आध्यात्मिक अनुभूतियों का लेखा-जोखा मात्र नहीं है, उसमें तत्कालीन जनजीवन का प्रतिबिंब भी विद्यमान है। धार्मिक रूढ़ियों और सामाजिक-सांस्कृतिक परंपराओं का अंधानुसरण न कर इन्होंने वर्णाश्रम-व्यवस्था के विरोध, क्रोध-लोभ-मोह-हिंसा आदि की निंदा, सदाचारादि गुणों की प्रतिष्ठा, शास्त्रीय ज्ञान की अनिवार्यता के निषेध, आत्मानुभूति की प्रामाणिकता आदि पर बल दिया। इस प्रकार संत काव्य साधना में तत्पर एवं सर्वजन में मंगलकामना करने वाले भक्तों के सरल हृदयों की सहज अनुभूति का चित्रण मात्र है। यह वह प्रकाशस्तंभ है, जो निराशा, वासना, प्रतिशोध और प्रतिहिंसा के अंधकार में भटकते हुए मानव-समाज को शताब्दियों से प्रकाश दे रहा है और भविष्य में भी इसका मार्ग प्रशस्त करता रहेगा। यह साहित्य अपनी सरलता, जीवन-दर्शन की गंभीरता और तत्त्वबोध के कारण अत्यंत प्रभावशाली। इसकी रचना समाज के निम्न अथवा सामान्य वर्ग के कवियों ने की है, जो साहित्य के अध्ययन के स्थान पर आत्मानुभव को प्रधानता देते थे। संतकाव्य का लक्ष्य था—सामान्य अशिक्षित जनता में सत्य का निरूपण करना, करनी-कथनी में तारतम्य पर बल देना तथा 'नाम' के माधुर्य को जनता तक पहुंचाना। संतकवि दरिया साहब के कथन : 'सकल कवित का अर्थ है सकल बात की बात, दरिया सुमिरन राम का कर लीजे दिन रात' तथा कबीर के अभिमत : 'पंडित और मसालची दोनों सूझे नाहिं, औरन को करै चांदना आप अंधेरे मांहि' पर गंभीरतापूर्वक विचार कर लेने के अनंतर इस काव्य के संबंध में कहने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता। उदात्त अनुभूति की सरल एवं हृदयस्पर्शी अभिव्यक्ति इस काव्य की अनन्य विशेषता है। कबीरदास से ले कर संतकाव्यधारा के अंतिम कवि तक की काव्य-दृष्टि, समाज-दृष्टि और चिंतन-दृष्टि में अद्भुत साम्य है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**रस :** निर्गुणोपासक संतकवियों ने काव्य और उसके अवयवों को काव्यशास्त्रीय दृष्टि से नहीं देखा; और यदि इस संबंध में उनके यहां कुछ विचार-संकेत मिलते भी हैं[4], तो भी काव्य की आत्मा, साधारणीकरण, रसनिष्पत्ति आदि की न तो उन्होंने चिंता की है और न ही स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की समन्वित अनुभूति के प्रति वे सचेत रहे हैं। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके काव्य का रस की दृष्टि से अनुशीलन ही नहीं किया जा सकता। वस्तुतः काव्य के माध्यम से उन्होंने अपनी अनुभूति को जनता तक पहुंचाने का प्रयास किया है, फलस्वरूप रस की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता 'साधारणीकरण' संत-काव्य में विद्यमान है। संतों ने अधिकतर साखियों, सवैयों एवं गेय पदों की रचना की है। इस कोटि के मुक्तकों में जिस सीमा तक रससृष्टि संभव हो सकती है, वह निर्गुण काव्यधारा में विद्यमान है। कबीरदास, दादूदयाल और सुंदरदास की अनेक रचनाओं में रस की सम्यक सृष्टि हुई है। दांपत्य प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त भावनाओं में संयोग एवं वियोग श्रृंगार के सुंदर उदाहरण मिलते हैं। इसी प्रकार शांत रस का परिपाक 'चेतावनी' एवं 'उपदेश-प्रकरण' में उपलब्ध होता है। ब्रह्म की विराट कल्पना के वर्णन में अद्‌भुत रस का अच्छा परिपाक हुआ है। वीर रस का वर्णन 'सूरमा कौ अंग' में हुआ है। व्यंग्य एवं हास्य रस के सुंदर उदाहरण कर्मकांड और परंपराओं की आलोचना में सुलभ हैं। प्रेतादि के वर्णन तथा शरीर की क्षणभंगुरता के निरूपण में वीभत्स रस के अच्छे उदाहरण उपलब्ध होते हैं। उपर्युक्त समस्त प्रसंगों में संतों की तीव्रानुभूति दर्शनीय है। समन्वित रूप में यह कहा जा सकता है कि संतकाव्य में मुख्य रूप से तो शांत रस की अबाध धारा प्रवाहित है और उसके अनंतर श्रृंगार रस की स्थिति उल्लेखनीय है।

**भाषा :** संत-काव्य की भाषा जनसामान्य की भाषा है। वस्तुतः तत्कालीन परिवेश के अनुरूप संत-वाणी की रचना मुख्यतः जनता के अशिक्षित, उपेक्षित और पिछड़े हुए वर्गों के लिए हुई थी। अतः सतों की भाषा आवश्यकतानुसार सरल, कृत्रिमता-विहीन और सहज है। संतजन भ्रमणशील प्राणी थे, अतः उनकी रचनाओं में उन विभिन्न प्रदेशों की बोलियों के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं, जहां उन्होंने भ्रमण किया था। सामान्यतया संतमत का विकास उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा राजस्थान में हुआ, फलतः संत-काव्य में ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, पंजाबी तथा राजस्थानी का अधिक प्रयोग मिलता है।

**अलंकार :** संतों ने अपनी वाणी को काव्यांगों के प्रति सचेत हो कर व्यक्त नहीं किया, फलस्वरूप उनकी रचनाओं में अलंकारों का सप्रयोजन प्रयोग लक्षित नहीं होता। फिर भी, आत्माभिव्यक्ति तथा विचार-निरूपण के संदर्भ में उनकी कविता में निम्नलिखित अलंकारों का प्रयोग हुआ है : रूपक, उपमा, दृष्टांत, तद्‌गुण, अतद्‌गुण, स्वाभावोक्ति, सहोक्ति, अत्युक्ति, विशेषोक्ति, समासोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, अन्योक्ति, विनोक्ति, वक्रोक्ति; लोकोक्ति, उल्लास, उल्लेख, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, तुल्ययोगिता, अनन्वय, उदात्त, विरोधाभास, उदाहरण, विभावना, असंगति, अवज्ञा, पर्याय, सम, विषम, विचित्र, काव्यलिंग, एकावली, सार, श्लेष, यमक, अनुप्रास, वीप्सा, आद्याक्षरी, मध्याक्षरी, अंतर्लापिका, बहिर्लापिका आदि। अलंकारों का प्रयोग संत-काव्यधारा में बारंबार हुआ है, परंतु संतों की चित्तवृत्ति रूपक, उपमा, दृष्टांत, उत्प्रेक्षा, श्लेष, यमक और अनुप्रास में अधिक रमी है। संतों के रूपक जीवन की सामान्य प्रवृत्तियों एवं घटनाओं पर आधारित हैं। इन रूपकों की रचना का उद्‌देश्य है—आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में विशिष्ट परिस्थितियों की गूढ़ व्यंजना। संतों के रूपक बड़े यथार्थ और प्रभावशाली हैं। उनकी प्रतीक-योजना भी परंपरागत प्रतीकों से पृथक है। ये प्रतीक जनसामान्य में प्रचलित और परिचित हैं तथा ये दो प्रकार के हैं। प्रथम कोटि में वे प्रतीक आते हैं, जो विशिष्ट शब्दों की विशिष्ट व्यंजना के अर्थ में प्रयुक्त हुए है—इस वर्ग के अर्थ-रूपक बड़े ही तत्त्वपूर्ण हैं। दूसरे प्रकार के प्रतीक हैं—उलटबासियां अथवा अर्थ-विपर्यय रूपक। संतकवियों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ने उलटवांसियों की रचना अनेक दृष्टिकोणों से प्रेरित हो कर की है। इनके माध्यम से उनका प्रमुख लक्ष्य था—अपनी आध्यात्मिक मान्यताओं की प्रस्थापना करना। इसके अतिरिक्त विशिष्ट चिंतन के आधार पर प्राप्त तत्त्वज्ञान को विशिष्ट अधिकारी व्यक्तियों तक पहुंचाने के लिए भी संतों ने अर्थ-विपर्यय रूपकों का प्रयोग किया। जनसामान्य के कौतूहल और जिज्ञासा को जाग्रत करने के लिए भी उलटबासियों की रचना संतकाव्य में हुई है।

**छंद :** संतों में सुंदरदास के अतिरिक्त प्रायः सभी कवि छंदों के स्वरूप और महत्त्व से सर्वथा अपरिचित थे। इन कवियों में जन्मजात अथवा प्रकृति प्रदत्त काव्यप्रतिभा थी। अपनी अनुभूति, ज्ञान तथा परंपरा से प्राप्त तत्त्व को चिरस्मरणीय तथा प्रेषणीय बनाने के लिए ही इन्होंने अपनी भावनाओं को छंदोबद्ध किया। इस प्रकार छंद इनके लिए साधन हैं, साध्य नहीं। अपने विचारों की अभिव्यक्ति इन्होंने मुख्यतः साखी और 'सबद' के माध्यम से की है—साखियों की रचना दोहा छंद में हुई है और 'सबद' से तात्पर्य गेय पदों से है। सुंदरदास सवैया की रचना करने में सिद्धहस्त थे। चौपाई, कवित्त, हंसपद आदि छंदों का भी संतकाव्य में प्रयोग हुआ है। वैसे, संत कवियों का ध्यान छंदों की ओर कम गया है; इसीलिए छंदों की शुद्धता कहीं-कहीं पर संदिग्ध है। परंतु संत सुंदरदास इस निष्कर्ष के अपवाद हैं।

**युगबोध :** संतों का व्यक्तित्व सच्चे अर्थों में संवेदनशील था। उनका मानस स्वच्छ और उदार था। इसलिए उनका साहित्य जनभावनाओं की सहज प्रवृत्तियों, परिस्थितियों, विकृतियों और विडंबनाओं का विशाल शब्दचित्र है। दूसरे शब्दों में, उन्होंने तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र अंकित किया है। संतकाव्य आत्मविश्वास, आशावाद और आस्था की भावना संस्थापित करने में सहायक साहित्य है। यह जीवनशक्ति का अजस्र स्रोत है। इस काव्य का प्रमुख प्रयोजन है—त्रस्त, संतप्त, उपेक्षित, उत्पीड़ित मानव को परिज्ञान प्रदान करना। इसमें जीवन का स्वरूप-विश्लेषण और व्याख्या उपलब्ध होती है। संक्षेप में, निर्गुण काव्य आचरण की पवित्रता का संदेश ले कर जनता के समक्ष आया। उसमें युगबोध एवं युगचेतना का व्यापक स्वरूप प्रतिफलित है। मध्य युग की सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं का संतकाव्य में स्वाभाविक चित्रण हुआ है। वस्तुतः संतों ने अपने समय के मानवसमाज को दोषमुक्त कर परिष्कृत बनाने की चेष्टा की है। उनकी रचनाओं में मानव की क्षुद्रता, सीमाओं, स्वार्थपरता, असत्यप्रियता, संकीर्णता, अर्थलोलुपता, कामुकता आदि का चित्रण, विवेचन और विश्लेषण हुआ है। इसी प्रकार सामाजिक असंगतियों, धार्मिक विडंबनाओं, बहुदेवोपासना, मूर्तिभंजन आदि समस्याओं की अभिव्यक्ति और उनका निदान भी संतकाव्य में मिलता है। इसमें संदेह नहीं है कि संत कवि अपने समय के समाज के सच्चे प्रहरी थे। नानक की रचनाओं में तो बाबर के आक्रमणकाल में भारत की राजनीतिक अस्थिरता का वर्णन भी मिलता है। संत कवियों ने जीवनदायिनी शक्तियों की ओर जनसामान्य का ध्यान आकर्षित किया और समाज को सशक्त, निर्दोष एवं कल्याणकारी मार्ग पर अग्रसर करने की चेष्टा की।

जनमानस के संताप को दूर करने वाली संतों की पीयूषवर्षी वाणी का मध्यकालीन समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इतिहास में ऐसे उदाहरण विद्यमान हैं जबकि संत विशेष के कृतित्व, व्यक्तित्व और उपदेशों से प्रभावित हो कर शासकवर्ग स्वयं उनके दर्शनार्थ उपस्थित हुआ अथवा उन्हें ससम्मान आमंत्रित किया गया। कबीरदास और नानक—जैसे प्रमुख संतों ने ही नहीं, उनके अनुयायियों ने भी अपने-अपने समय की जनता को प्रभावित किया। संतों के व्यक्तित्व का प्रभाव हिंदुओं तथा मुसलमानों पर समान रूप से पड़ा और उन्होंने अपनी 'बानियों' से आने वाली पीढ़ियों को अजस्र प्रेरणा प्रदान की। यहां तक कि अनास्था से पीड़ित इस बीसवीं शताब्दी के सबसे महान नेता युगपुरुष

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

महात्मा गांधी भी कबीरदास के जीवन-सिद्धांतों और आध्यात्मिक मान्यताओं से प्रभावित हैं। संतों के व्यक्तित्व, कृतित्व और साधना के प्रभाव का इससे बड़ा प्रमाण और क्या होगा?

## प्रेमाख्यान-काव्य

हिंदी साहित्य के मध्यकाल के आरंभ से पूर्व ही एक ऐसी काव्य-परंपरा का प्रवर्तन हो चुका था, जिसे विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न नामों से पुकारा है, यथा : 'प्रेममार्गी (सूफी) शाखा', 'प्रेमकाव्य', 'प्रेमकथानककाव्य', 'प्रेमाख्यानकाव्य', 'सूफीकाव्य' आदि। वस्तुतः ये नाम इस तथ्य के द्योतक हैं कि इस परंपरा के काव्यग्रंथों में प्रेम-तत्त्व की प्रमुखता है, किंतु इनका 'प्रेम-तत्त्व' परंपरागत भारतीय शृंगार-भावना से थोड़ा भिन्न है। जहां सामान्यतः शृंगार रसात्मक काव्यों में विवाह, दांपत्य एवं सामाजिक जीवन की मर्यादाओं को स्वीकार करके चलने वाले गार्हस्थिक प्रेम का निरूपण होता रहा है, वहीं इनमें शुद्ध स्वच्छंदतापूर्ण दृष्टिकोण, सौंदर्य-भावना, साहसपूर्ण क्रियाकलाप एवं समाज-विमुख प्रणय-भावना का चित्रण हुआ है। इसीलिए इस विशिष्टता को प्रारंभ में फ़ारसी-प्रभाव या सूफी-प्रभाव की देन के रूप में स्वीकार करते हुए इनकी प्रेमपद्धति को अभारतीय घोषित कर दिया गया। किंतु अब ज्यों ज्यों हिंदी में शोधकार्य की प्रगति होती जा रही है, त्यों-त्यों यह स्पष्ट होता जा रहा है कि स्वच्छंदता, सौंदर्य, साहस, कल्पना आदि से मिश्रित प्रणय-भावना किसी भाषा-विशेष, देश विशेष या संप्रदाय विशेष की विशेषता न हो कर एक ऐसी सार्वजनीन प्रवृत्ति है, जो हर भाषा और हर देश के साहित्य में समय-समय पर परिस्थितियों के प्रभाव से उन्मीलित होती रही है। इस प्रवृत्ति को विश्व साहित्य के संदर्भ में 'रोमांस' अर्थात स्वच्छंद प्रेम कहा गया है। जब कोई भी समाज परंपराओं, रूढ़ियों व मर्यादाओं से अत्यधिक जकड़ जाता है, तो उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप स्वच्छंदता व उच्छृंखलता का उन्मीलित होना स्वाभाविक है। इसी के प्रतिबिंब-स्वरूप विभिन्न भाषाओं के साहित्य में समय-समय पर स्वच्छंद प्रेम की प्रवृत्तियों का चित्रण होता रहा है, यह दूसरी बात है कि देशकाल की परिस्थितियों के भेद से इसकी विषयवस्तु एवं शैली में थोड़ा-बहुत अंतर यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो। हिंदी के मध्यकालीन प्रेमाख्यानों को भी विश्व के इसी रोमांस-साहित्य की एक धारा या शाखा के रूप में ग्रहण करना चाहिए।

### प्रेमाख्यानकाव्य : उद्गमस्रोत तथा पूर्वपरंपरा

हिंदी साहित्य के प्रारंभिक इतिहासकारों व आलोचकों ने प्रेमाख्यानों के प्रेमतत्त्व एवं काव्यरूप को भारतीय महाकाव्यों में चित्रित गार्हस्थिक प्रेम की कसौटी पर कसते हुए इन्हें विदेशी परंपराओं पर आधारित घोषित किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के मतानुसार भारतीय प्रेमपद्धति का आदर्श राम-सीता के विवाहोत्तर प्रेम में ही मिलता है; जबकि प्रेमाख्यानों में विवाहपूर्व समाज-निरपेक्ष स्वच्छंद प्रेम का निरूपण हुआ है; अतः इसे भारतीय प्रेमपद्धति के अनुकूल स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि हम 'रामायण' में चित्रित दांपत्य भावना के अतिरिक्त अन्य भारतीय काव्यों में वर्णित प्रेम के स्वरूप पर विचार करें तो ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे, जिनमें स्वच्छंद प्रेम या रोमांस का चित्रण स्पष्ट रूप में हुआ है, यथा—'ऋग्वेद' के उर्वशी-पुरुरवा प्रेमाख्यान में, 'महाभारत' के नल-दमयंती, तप्ता-संवरण प्रकरणों में तथा पौराणिक साहित्य के उषा-अनिरुद्ध, प्रभावती-प्रद्युम्न, कृष्ण-राधा आदि आख्यानों में ऐसे ही प्रेम का निरूपण हुआ है, जो विवाह की मर्यादाओं की अपेक्षा चित्रदर्शन या स्वप्नदर्शनजन्य सौंदर्यानुभूति से अधिक प्रेरित है तथा जिसमें नायिका की प्राप्ति के लिए नायक को भारी संघर्ष या युद्ध करना पड़ता है। वस्तुतः स्वच्छंद प्रेम की यही परंपरा संस्कृत के गद्यात्मक रोमांस

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

काव्य (वासवदत्ता, कादंबरी, दशकुमारचरित आदि) तथा प्राकृत-अपभ्रंश के कथाकाव्य में विकसित होती हुई आधुनिक भारतीय भाषाओं तक पहुंची है। नवीं शती में रुद्रट ने तो 'कथाकाव्य' का लक्षण ही यह निर्धारित कर दिया है कि उसमें नायिका की प्राप्ति के लिए संघर्ष एवं प्रेम का ही चित्रण मुख्यतः होता है तथा वह पद्य एवं गद्य में से किसी में भी लिखा जा सकता है। अस्तु, इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय संस्कृति एवं साहित्य में जहां सीता-राम के गार्हस्थिक दांपत्यभाव की परंपरा मिलती है, वहीं उसके साथ-साथ स्वच्छंद व साहसिक प्रेम (रोमांस) की भी एक अन्य परंपरा 'ऋग्वेद' से ले कर मध्ययुगीन साहित्य तक बराबर मिलती है—राम यदि भारतीय आदर्शवाद की चरम सीमा के प्रतिनिधि हैं, तो कृष्ण उस स्वच्छंदतावाद के प्रवर्तक हैं, जो परंपरा और रूढ़ि की अपेक्षा भावना को अधिक महत्त्व प्रदान करता है। ऐसी स्थिति में हमें दोनों ही परंपराओं को भारतीय संस्कृति की दो भिन्न स्थितियों व अवस्थाओं की द्योतक मानना होगा, जबकि आचार्य शुक्ल के अनुसार भारतीयता का प्रतिनिधित्व एकमात्र राम की ही परंपरा करती है। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण वे न केवल प्रेमाख्यान परंपरा को विदेशी घोषित कर देते हैं, अपितु कृष्णचरित से ले कर नल-दमयंती तक के प्रेम-निरूपण को भी अभारतीय सिद्ध कर देते हैं। इस संबंध में उन्होंने जो तर्क दिया है, वह भी विचित्र है। उन्होंने लिखा है : ''राम के समुद्र में पुल बांधने और रावण जैसे प्रचंड शत्रु को मार गिराने को हम केवल एक प्रेमी के प्रयत्न के रूप में नहीं देखते, वीरधर्मानुसार पृथ्वी का भार उतारने के प्रयत्न के रूप में देखते हैं। पीछे कृष्णचरित, कादंबरी, नैषधचरित, माधवानल-कामकंदला आदि ऐकांतिक प्रेमकहानियों का भी भारतीय साहित्य में प्रचुर प्रचार हुआ है। ये कहानियां अरब-फ़ारस की प्रेमपद्धति के अधिक मेल में थीं। नल-दमयंती की प्रेम कहानी का अनुवाद बहुत पहले फ़ारसी क्या, अरबी तक में हुआ।''[5] वस्तुतः नल-दमयंती के उपाख्यान का फ़ारसी में अनुवाद फ़ारसी-साहित्य पर नल-दमयंती का प्रभाव सूचित करता है, न कि भारतीय साहित्य पर फ़ारसी का।

हिंदी की प्रेमाख्यान परंपरा को फ़ारसी मसनवियों से प्रेरित एवं उन्हीं के आदर्शों से अनुप्राणित सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त तर्क के अतिरिक्त और भी कई युक्तियां आचार्य शुक्ल के द्वारा प्रस्तुत की गयी हैं, जो संक्षेप में निम्नलिखित हैं :

(*क*) फ़ारसी-मसनवियों की भांति हिंदी-प्रेमाख्यानों में भी प्रेम का चित्रण ऐकांतिक लोकबाह्य और आदर्शात्मक है तथा नायिका की अपेक्षा नायक के विरह को अधिक विस्तार दिया गया है।

(*ख*) मसनवियों में कथा सर्गों या अध्यायों में विभक्त नहीं होती, सारा काव्य एक ही छंद में होता है। कथा का आरंभ ईश्वर-स्तुति, पैगंबर की वंदना और उस समय के राजा की प्रंशसा के साथ होता है।

(*ग*) ये प्रेम-कहानियां (प्रेमाख्यान) मुसलमानों के द्वारा ही लिखी गयी हैं।

उपर्युक्त युक्तियों पर क्रमशः विचार करते हुए कहा जा सकता है कि ऐकांतिक लोकबाह्य आदर्श प्रेम के निरूपण की एक सशक्त परंपरा भारतीय साहित्य में भी प्राचीन काल से मिलती है। जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, 'ऋग्वेद' के उर्वशी-पुरुरवा आख्यान से ले कर अपभ्रंश के चरित काव्यों तक स्वच्छंद प्रेम-निरूपण की एक अविच्छिन्न धारा बराबर मिलती है। प्राकृत की 'बृहत्कथा' से उद्धृत प्रेम-कहानियों तक क्षेमेन्द्र के 'कथासरित्सागर' की शताधिक प्रेम-कथाओं में सर्वत्र उसी ऐकांतिक व लोकबाह्य प्रेम का चित्रण उपलब्ध होता है, जो प्राकृत, अपभ्रंश और हिंदी के प्रेमाख्यानों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में उपलब्ध है। उनमें प्राय: प्रेम की उत्पति सौंदर्य-प्रेरणा से होती है तथा वह वर्ण, जाति, कुल और समाज की मर्यादाओं का उल्लंघन करते हुए एवं नायिका के पिता, भाई या संरक्षक के विरोध का सामना करते हुए दांपत्य में परिणत होता है। रही बात भारतीय नायकों में नायिका से अधिक विरह व्याप्त न होने की—सो, यह भ्रांति कदाचित रीतिकालीन काव्य के अध्ययन से ही उत्पन्न हुई होगी, अन्यथा भारतीय प्रेमकाव्यों की परंपरा में सदा से ही नायक नायिका से अधिक भावुक रहा है। 'ऋग्वेद' का पुरुरवा उर्वशी के विरह में पागलों की भांति प्रलाप करते हुए उससे प्रेमयाचना करता है, जबकि उर्वशी निष्ठुरतापूर्वक उसे ठुकरा कर चली जाती है, कालिदास का विरही यक्ष आषाढ़ की प्रथम बौछार में ही उन्मत्त हो कर प्रकृत-अप्रकृत का विवेक भूल जाता है, 'कादंबरी' का नायक विरह की प्रथम आंच में ही पिघल कर अपने प्राण त्याग देता है, जबकि उसकी नायिका उसके तीन जन्मों तक जीवित रहती है; तथा यही बात 'दशकुमारचरित', 'कथासरित्सागर' एवं प्राकृत व अपभ्रंश के कथाकाव्यों के शताधिक नायकों पर लागू होती है वे निश्चय ही नायिका से अधिक विरह-कातर हैं। अस्तु, लगता है, यहां भी शुक्ल जी ने भारतीय नायक-नायिका की कसौटी के रूप में एकमात्र मर्यादा पुरुषोत्तम राम को ही ग्रहण किया है, किंतु यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो 'रामायण' में भी सीता की अपेक्षा राम का ही विरह अधिक व्यापक दृष्टिगोचर होगा। ऐसी स्थिति में भारतीय नायकों को 'विरह-प्रूफ' घोषित करना कहां तक उचित है?

यदि सूक्ष्मता से देखा जाये तो स्पष्ट होगा कि हिंदी के प्रेमाख्यानों की प्रेम-संबंधी प्रवृत्तियों में फ़ारसी-मसनवियों में चित्रित प्रेम के स्वरूप से गहरा अंतर है। फ़ारसी के प्रेमाख्यानों में नायक-नायिका बचपन से ही एक-दूसरे से परिचित होते हैं, उनमें प्रेम का उद्‌भव प्रथम दर्शन से नहीं, और न ही स्वप्न-दर्शन और चित्र-दर्शन से होता है; अपितु बाल्यकाल के साहचर्य के कारण क्रमश: होता है। यथा—लैला मजनू की सहपाठिनी थी तथा शीरीं भी फरहाद को अपने पिता के शिल्पी के रूप में बाल्यकाल से जानती थी। दूसरे, फ़ारसी की मसनवियों में नायक-नायिका के प्रणय के मध्य प्रतिनायक बाधा बनता है, जबकि भारतीय प्रेमाख्यानों में नायिका का पिता, भाई या संरक्षक बाधा डालता है। तीसरे, फ़ारसी मसनवियों में नायिका का विवाह प्रतिनायक से हो जाता है और नायक आत्महत्या कर लेता है, जबकि भारतीय प्रेमाख्यानों में किसी दैवीशक्ति की सहायता से नायक-नायिका की प्राप्ति में सफल हो जाता है। संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश के प्रेमाख्यानों की और भी कई प्रवृत्तियां हिंदी के प्रेमाख्यानों में ज्यों-की-त्यों मिलती हैं, जैसे नायक-नायिका के बीच शुक, हंस आदि के द्वारा संदेशों का आदान-प्रदान, नायिका का अनार्य, राक्षस, असुर, नाग आदि हीन वंश से संबंधित होना; नायिका की प्राप्ति के लिए नायिका के पिता से नायक का संघर्ष; शिव-पार्वती की या अन्य किसी प्रकार की दैवी सहायता से नायक को सफलता प्राप्त होना। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि हिंदी के प्रेमाख्यानों में चित्रित प्रेम का स्वरूप, पद्धति एवं उसकी प्रवृत्तियां फ़ारसी मसनवियों के प्रतिकूल तथा पूर्व-रचित भारतीय प्रेमाख्यानों के अनुकूल है।

जहां तक शैलीगत प्रवृत्तियों की बात है, कथा का सर्गों या अध्यायों में विभक्त न होना, कथा के आरंभ में ईश्वरस्तुति एवं गुरुवंदना, कवि द्वारा आत्मपरिचय देना आदि प्रवृत्तियों का उल्लेख भामह एवं रुद्रट द्वारा 'कथाकाव्य' के लक्षणों के रूप में उस समय हो चुका था, जबकि फ़ारसी में अभी तक पहली मसनवी की भी रचना नहीं हुई थी। इन लक्षणों का पालन कौतूहल कवि के 'लीलावती' प्रेमाख्यान में तथा अपभ्रंश के आख्यानों में पूरी तरह हुआ है। अपभ्रंश के 'सुदर्शनचरित' तथा अन्य आख्यानों में कवि ने समकालीन राजा की भी प्रशंसा की है। जहां तक छंद-योजना की बात है, हिंदी के प्रेमाख्यानों में मसनवियों की भांति सर्वत्र एक ही छंद का प्रयोग नहीं मिलता, अपितु

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कम-से-कम दो छंदों, दोहा और चौपाई का प्रयोग मिलता है। वस्तुतः चौपाइयों के बीच-बीच में दोहा जैसे दो पंक्तियों के छंद का धत्ता दे कर प्रबंध लिखने की परंपरा का सूत्रपात अपभ्रंश के प्रथम प्रबंधकार स्वयंभू द्वारा हुआ था, जिसका निर्वाह आगे चल कर पुष्पदंत, धनपाल, नयनंदी, कनकामर आदि आख्यान-रचयिताओं द्वारा हुआ है; अतः दोहा-चौपाई-शैली को एक ही छंद में रचित मसनवियों की देन बताना सर्वथा असंगत है। कदाचित इस असंगति का बोध स्वयं आचार्य शुक्ल को भी बाद मे हो गया था, जिससे वे अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के नये संस्करण में अपभ्रंश के जैन-चरितकाव्यों के प्रसंग में लिखते हैं : ''चौपाई-दोहे की यह परंपरा हम आगे चल कर सूफियों की प्रेमकहानियों में, तुलसी के रामचरितमानस में तथा छत्रप्रकाश, ब्रजविलास, सबलसिंह चौहान के महाभारत इत्यादि अनेक आख्यानकाव्यों में पाते हैं।'' ईश्वरदास की 'सत्यवतीकथा' के प्रसंग में भी वे इसी मत की पुनः पुष्टि करते हुए लिखते हैं, ''यही अवधी भाषा, चौपाई-दोहे का क्रम और कहानी का रूप-रंग सूफी कवियों ने ग्रहण किया।'' अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदी प्रेमाख्यानों की शैली को फ़ारसी-मसनवियों से अनुकृत बताना उतना ही असंगत है, जितना कि उनकी प्रेमपद्धति और विषयगत प्रवृत्तियों को अभारतीय बताना!

आचार्य शुक्ल के युग तक इस परंपरा के आठ आख्यान ही उपलब्ध हुए थे, जिनमें से छह के रचयिता मुस्लिम थे, जबकि अब इस परंपरा से संबंधित तिरपन कवियों के प्रेमाख्यान उपलब्ध हो चुके हैं, जिनमें से छत्तीस हिंदू हैं तथा आरंभिक ग्यारह कवियों में से भी आठ हिंदू हैं अतः सांप्रदायिक आधार पर भी इन्हें फ़ारसी-मसनवियों की देन बताना निरर्थक है। इसके अतिरिक्त अंतः साक्ष्य से भी हिंदी के प्रेमाख्यान पूर्ववर्ती संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश कथा काव्य से प्रेरित सिद्ध होते हैं, एक तो दामोदर, जायसी, मंझन, उसमान, आलम प्रभृति कवियों ने अपने काव्य को 'कथा' विशेषण से भूषित किया है[6], दूसरे उन्होंने अपनी कथा के आधार स्रोतों का संकेत देते हुए संस्कृत-प्राकृत के काव्यों का ही निर्देश किया है। इसके अतिरिक्त अठारहवीं शती के पूर्व रचित प्रेमाख्यानों में आदर्श प्रेमियों के रूप में नल-दमयंती, उदयन-वासवदत्ता, शकुन्तला-दुष्यन्त, भर्तृहरि-पिंगला, विक्रम-सपनावती आदि भारतीय युगलों का ही निर्देश मिलता है; उनमें कहीं उमपान रूप में भी फ़ारसी काव्य के नायक-नायिकाओं का नामोल्लेख नहीं है। अतः प्रत्येक दृष्टि से यह परंपरा पूर्ववर्ती भारतीय प्रेमाख्यान-परंपरा की ही एक अटूट कड़ी के रूप में दिखायी पड़ती है।

वैसे तो भारतीय साहित्य में 'ऋग्वेद' से ही अनेक सुंदर प्रेमाख्यान उपलब्ध होने लगते हैं, किंतु इनकी अखंड परंपरा का सूत्रपात 'महाभारत' से होता है। इसका मूल कारण कदाचित यह है कि महाभारतकाल से पूर्व जहां भारतीय समाज में अतिमर्यादावादी दृष्टिकोण की प्रमुखता दिखायी पड़ती है, वहीं महाभारतीय समाज में हम स्वच्छंद प्रणयभावना का उन्मीलन व विकास देखते हैं। 'महाभारत' में वर्णित विभिन्न प्रसंगों से स्पष्ट है कि उस युग के प्रणय के क्षेत्र में जाति, कुल, वर्ण और लोकमर्यादा का विचार बहुत-कुछ शिथिल हो गया था तथा सौंदर्य की प्रेरणा से ही प्रेम और विवाह संबंध स्थापित होने लगे थे। प्रेम और विवाह के क्षेत्र में आर्य-अनार्य का भेद भी लुप्त हो गया था। इसीलिए भीम असुरकन्या हिडिंबा से, अर्जुन नाग-कन्या चित्रांगदा से, कृष्ण ऋक्ष-कन्या जाम्बवती से विवाह कर लेते हैं। प्रणय, स्वप्नों की पूर्ति के लिए सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन नायिका का बलात अपहरण व नायिका के संरक्षकों से युद्ध भी अनुचित नहीं माना जाता था। कृष्ण के द्वारा रुक्मिणी का तथा अर्जुन के द्वारा सुभद्रा का अपहरण तथा भीम-हिडिम्बा, प्रद्युम्न-प्रभावती, अनिरुद्ध-उषा प्रसंगों में नायिका के संरक्षकों से युद्ध इसी तथ्य को प्रमाणित करता है। ऐसी स्थिति में यदि 'महाभारत' से ही स्वच्छंद प्रेमाख्यानों या रोमांस-साहित्य का प्रवर्तन माना जाये तो अनुचित

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

न होगा। 'महाभारत' के प्रासंगिक उपाख्यानों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'नल-दमयंती' (वन-पर्व, अध्याय 53-79) उपाख्यान है, जिसमें प्रेम की वे सभी प्रमुख प्रवृत्तियां विद्यमान हैं, जो परवर्ती भारतीय प्रेमाख्यानों में भी बराबर प्रचलित रही हैं, यथा : नायक-नायिका के अप्रत्यक्ष परिचय से ही प्रेम की उत्पत्ति, हंस के द्वारा संदेशों का आदान-प्रदान, नायक-नायिका के मिलन में अनेक बाधाओं की उपस्थिति, परिस्थितिवश नायक-नायिका का विच्छेद एवं पुनर्मिलन। इसमें सौंदर्य, प्रेम और विरह का चित्रण सर्वत्र रोमानी शैली में हुआ है, कदाचित इसीलिए संस्कृत और हिंदी के अनेक परवर्ती कवियों ने इससे प्रेरणा ग्रहण करके विभिन्न प्रेमाख्यानों की रचना की है। अस्तु, हमारे विचार में 'महाभारत' यदि भारतीय प्रेमाख्यानों की आधारभूमि है, तो 'नल-दमयंती' उपाख्यान उसका सर्वाधिक आकर्षक केंद्रबिंदु है।

'महाभारत' के अनंतर 'हरिवंशपुराण' में अनेक ऐसे प्रेमाख्यान उपलब्ध होते हैं, जो पूर्ववर्ती परंपरा को आगे बढ़ाने में योग देते हैं। इनमें कृष्ण-रुक्मिणी (अध्याय 59-60), प्रद्युम्न-प्रभावती (अध्याय 163-167) और उषा-अनिरुद्ध (अध्याय 265-277) के आख्यान विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें अनेक ऐसी नूतन प्रवृत्तियों का उन्मीलन हुआ है, जिन्हें परवर्ती प्रेमाख्यान रचयिताओं ने कथानकरूढ़ि के रूप में ग्रहण किया है; जैसे देवमंदिर में पूजा के निमित्त आयी हुई नायिका से नायक की गुप्त भेंट, स्वप्न और चित्र के माध्यम से दर्शन, नायक को सोते हुए महल से उठा ले जाना, नायक का वेश बदल कर नायिका के पिता के दरबार में उपस्थित होना, नायक का बंदी हो जाना तथा अप्रत्याशित सहायता से उसे अपने लक्ष्य में सफलता मिलना आदि। 'हरिवंश-पुराण' के इन्हीं आख्यानों की पुनरावृत्ति 'विष्णुपुराण', 'भागवतपुराण', और 'ब्रह्मवैवर्त्तपुराण' में भी न्यूनाधिक परिवर्तन सहित हुई है।

बौद्ध युग में जबकि भारत का व्यापारिक संबंध दूर-दूर के देशों से स्थापित हो गया था तथा भारतीय व्यापारी एवं धर्मप्रचारक विभिन्न द्वीपों और महाद्वीपों की यात्रा करने लगे थे, तो इससे भारतीय प्रेमाख्यान-रचयिताओं की कल्पना को नूतन प्रेरणा एवं नया क्षेत्र प्राप्त हुआ। अब तक मुख्यतः महाभारतीय या पौराणिक पात्रों के ही स्वच्छंद प्रेम का चित्रण किया जाता था, जो भारतीय भूमि एवं स्वदेशीय परिवेश तक सीमित रहता था, जबकि उन राजकुमारों, सेठपुत्रों व पर्यटकों से, जो यव, मलय, स्वर्ण आदि द्वीपों की यात्रा से लौटते समय अपने उन राजकुमरों, सेठपुत्रों व पर्यटकों से नवल सुंदरियां ले कर आते थे, हमारे कवियों की कल्पनाशक्ति को एक अत्यंत उर्वर एवं नूतन क्षेत्र प्राप्त हुआ, जिसका परिणाम 'बृहत्कथा' की शताधिक मौलिक एवं नूतन प्रेमकथाओं के रूप में देखा जा सकता है। दुर्भाग्य से प्राकृत में रचित यह मूल ग्रंथ अनुपलब्ध है, किंतु इसकी विषयवस्तु का आंशिक ज्ञान इसी के आधार पर रचित 'बृहत्कथामंजरी' और 'कथासरित्सागर' से प्राप्त किया जा सकता है। इनसे ज्ञात होता है कि 'बृहत्कथा' का नायक उदयनपुत्र नरवाहनदत्त था, जिसके साहस, प्रेम एवं शौर्य की ही अनेक कहानियां इसमें गुंफित थीं, किंतु प्रासंगिक कहानियों में मृगांकवती, अलंकारवती, शशांकवती, पद्मावती, लावण्यवती, रत्नवती, धनवती, हिरण्यवती, मंदारवती, मदिरावती, मलयवती आदि सुंदरियों एवं उनके प्रेमियों के रोमांस का भी चित्रण अत्यंत स्वच्छंद एवं कल्पनापूर्ण रूप में किया गया था। वस्तुतः इन कथाओं ने भारतीय प्रेमाख्यान-परंपरा को अनेक ऐसे नूतन कथा सूत्र प्रदान किये, जिनका उपयोग परवर्ती युग में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिंदी के प्रेमाख्यानों में कथानकरूढ़ि के रूप में बारंबार किया गया है। यहां इस प्रकार के कथासूत्रों का संकेत मात्र दिया जाता है :

(*क*) नायिका का नाम 'वती' प्रत्ययवाला होना, जैसे मृगांकवती, पद्मावती।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(ख) नायक या नायिका का जन्म दैवी अनुष्ठान से होना।

(ग) नायिका का किसी-न-किसी द्वीप की वासिनी होना, जैसे मलयद्वीप, सिंहलद्वीप, रत्न-द्वीप, स्वर्णद्वीप, यवद्वीप आदि।

(घ) स्वप्नदर्शन, चित्रदर्शन आदि के माध्यम से नायक-नायिका की प्रेमोत्पत्ति।

(ङ) नायक का पंडित, ब्राह्मण, भिक्षु, तपस्वी, आदि के वेश में नायिका की खोज में निकलना।

(च) मंदिर या फुलवारी में नायक-नायिका की प्रथम भेंट।

(छ) नायिका के संरक्षक से नायक का द्वंद्व।

(ज) नायक का एक से अधिक सुंदरियों से प्रेम व विवाह।

(झ) नायक को किसी मित्र, सिद्ध, योगी, बैताल या देवता की सहायता से सफलता मिलना।

उपर्युक्त कथाओं में घटनाओं की ही बहुलता है, भावव्यंजना की ओर इनके रचयिताओं का ध्यान कम गया है। परवर्ती युग में संस्कृत के गद्यकाव्य-रचयिताओं ने अपने आख्यानों में इस अभाव की पूर्ति करने की चेष्टा की है। सुबंधु की 'वासवदत्ता', बाण की 'कादंबरी' एवं दंडी के 'दशकुमारचरित' में उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियों को सुरक्षित रखते हुए भी दो नये तत्त्वों का सम्मिश्रण किया गया है—एक है, भावव्यंजना की प्रमुखता और दूसरा है, अत्यधिक अलंकृत शैली।

इन प्रेमाख्यानों की लोकप्रियता से प्रभावित हो कर प्राकृत एवं अपभ्रंश के जैन कवियों ने भी अनेक प्रेमकथाओं की रचना की, जिननें 'समरादित्य-कथा', 'सुर-सुंदरीचरित्र', 'भुवनसुंदरी', 'मलय-सुंदरी', 'लीलावती', 'नागकुमार-चरित', 'भविष्यदत्तकथा', 'यशोधरचरित' आदि उल्लेखनीय है। वस्तुतः जैन कवियों द्वारा यह परंपरा आठवीं शती से ले कर चौदहवीं शती तक अखंडित रूप में प्रचलित रही। इन कवियों ने पूर्ववर्ती प्रेमाख्यान-परंपरा के प्रमुख तत्त्वों को सुरक्षित रखते हुए उनमें कई नूतन प्रवृत्तियों का भी विकास किया—एक तो उन्होंने गद्य के स्थान पर दोहा-चौपाई से मिलती-जुलती पद्यात्मक शैली का प्रयोग किया; दूसरे, नायक की सफलता किसी जैन तीर्थंकर, जैन मुनि या जैन धर्म के व्रत-उपवास के प्रभाव से दिखा कर अप्रत्यक्ष रूप में स्वधर्म के महत्त्व को स्थापित करने का प्रयास किया; और तीसरे, कथा की परिणति शांत रस में करने के लिए नायक-नायिका को अंत में जैन धर्म में दीक्षित करते हुए उन्हें संन्यास की ओर अग्रसर कर दिया। इस प्रकार इस परंपरा को उन्होंने अपने सांप्रदायिक उद्देश्य की पूर्ति का साधन बनाने का प्रयत्न किया, किंतु फिर भी सौंदर्य, प्रेम और विरह की व्यंजना में उन्होंने पूर्णतः धर्म-निरपेक्ष दृष्टि का परिचय दिया है।

अस्तु, यह परंपरा 'महाभारत' के प्रेमाख्यानों से ले कर अपभ्रंश के कवियों तक अनेक रूपों, तत्त्वों और प्रवृत्तियों को ग्रहण करती हुई तथा गुजरात, राजस्थान एवं अवध प्रदेश में होती हुई आधुनिक भाषाओं में पहुंची। ध्यान रहे, अवधी से पूर्व गुजराती व राजस्थानी में इस परंपरा का प्रचलन हो गया था तथा अवधी के अनंतर बंगला भाषा में भी इसका प्रसार हुआ। यहां स्थानाभाव से इन सबका विवरण देना संभव नहीं, किंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह भारतीय साहित्य की एक सर्वाधिक सशक्त, दीर्घ एवं व्यापक परंपरा है, जिसका प्रसार उत्तर भारत की सभी पमुख भाषाओं में हुआ है। इतना ही नहीं, बेनफी (Benfy), कीलर (Keller) और हर्टेल (Hertell) प्रभृति यूरापीय विद्वानों ने तो अपने अनुसंधान से यह भी प्रमाणित किया है कि भारतीय प्रेमाख्यानों की ही एक शाखा सिकंदर के साथ यूनान में पहुंची थी, जो क्रमशः रोम, इटली, जर्मनी, स्पेन एवं इंग्लैंड की विभिन्न भाषाओं में विकसित होती हुई समस्त यूरोप में फैल गयी। इसी शाखा या परंपरा को विश्व-साहित्य में 'रोमांस-काव्य की धारा' (Cycle of romances) कहा जाता है। अतः भले ही

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कुछ विद्वान भ्रांतिवश इस परंपरा को विदेशी घोषित करें, किंतु हमारे विचार से यह शुद्ध भारतीय परंपरा है, जिसमें भारतीय संस्कृति के विकासक्रम की रूपरेखा यथार्थ रूप में निहित है।

## हिंदी प्रेमाख्यानकाव्य : प्रवृत्ति-विश्लेषण

भक्तिकाल की प्रेमाख्यान-परंपरा के विभिन्न काव्य ग्रंथों—मृगावती, पद्मावत, मधुमालती, चित्रावली, रसरतन आदि का पृथक-पृथक परिचय देने से पहले इस परंपरा की प्रमुख प्रवृत्तियों का कतिपय शीर्षकों के अंतर्गत विश्लेषण करना उचित होगा।

**काव्यप्रेरणा एवं प्रयोजन :** इन काव्यों की मूल चेतना को समझने के लिए सर्वप्रथम इनके प्रेरणा-स्रोत एवं प्रयोजन पर विचार किया जाना चाहिए। जैसा कि अन्यत्र संकेत किया जा चुका है, इस काव्य-परंपरा के संबंध में यह भ्रांति प्रचलित है कि इससे संबंधित कवि सूफी मतानुयायी थे तथा उनका लक्ष्य सूफीमत का प्रतिपादन या प्रचार करना था। यह बात प्रारंभ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उस समय कही थी, जबकि इस परंपरा के छह-सात काव्य ही उपलब्ध थे तथा उनमें से अधिकांश मुस्लिम कवियों द्वारा रचित थे, किंतु अब स्थिति वह नहीं रही। अब इस परंपरा में पचास से अधिक कवियों के अस्तित्व का पता चला है, जिनमें से बहुसंख्यक हिंदू थे। इन हिंदू कवियों ने काव्यारंभ में गणेश, सरस्वती, कृष्ण, ब्रह्म आदि हिंदू देवी-देवताओं की स्तुति करते हुए अपने धर्म पर पूर्ण आस्था व्यक्त की है। इतना ही नहीं, इस बात के भी अकाट्य प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि इनमें से अनेक कवि निर्गुण संतमत तथा सगुण कृष्णभक्ति-संप्रदायों से घनिष्ठ रूप में संबंधित थे। इन कवियों को तो सूफीमत में दीक्षित या उसके प्रतिपादक मानने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता, सभी मुस्लिम कवियों को भी केवल मुस्लिम होने के कारण सूफी मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता। अवश्य ही मुस्लिम कवियों में कुछ कवि सूफी मतानुयायी रहे होंगे, किंतु इसी से उनके काव्य का प्रयोजन सूफीमत का प्रचार मान लेना वैसा ही होगा, जैसा कि 'बिहारी-सतसई' को राधावल्लभसंप्रदाय का प्रचार करने वाली रचना मान लेना, क्योंकि बिहारी को राधावल्लभसंप्रदाय का अनुयायी सिद्ध किया जा सकता है। वस्तुतः अनेक मुस्लिम कवियों ने अपने प्रेरणास्रोत एवं काव्य प्रयोजन का निर्देश स्पष्ट रूप में किया है, जिससे उपर्युक्त भ्रांति का निराकरण होता है। देखिए :

*औ मन जानि कबित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महं चीन्हा॥*

—जायसी ( पद्मावत )

*प्रीतिवंत है सुनै सो कोई। बाढ़ै प्रीति हिएं सुख होई॥*
*कामी पुरिष रसिक जे सुनहीं। ते या कथा रैनि दिन गुनहीं॥*

—आलम ( माधवानल-कामकंदला )

विभिन्न कवियों के अंतःसाक्ष्य से यह प्रमाणित होता है कि इनका प्रयोजन यश-प्राप्ति, अपनी काव्य-कला का प्रदर्शन, युवकों का मनोरंजन या जीवन की दुःखपूर्ण घटना को भुलाना ही था। ऐसी स्थिति में इन्हें संप्रदायविशेष से प्रेरित या उसके प्रचारक मानना उचित नहीं कहा जा सकता।

**कथावस्तु :** इस परंपरा के काव्य प्रबंधात्मक शैली में रचित है, अतः उनमें कथात्मक तत्त्वों की प्रमुखता का होना स्वाभाविक है। वस्तुतः इस परंपरा का सूत्रपात ही उपाख्यानों एवं कथाओं के रूप में हुआ था। 'बृहत्कथा', 'कथासरित्सागर' आदि में घटनाप्रधान कथानकों की ही प्रमुखता थी। किंतु अपभ्रंश एवं हिंदी के प्रेमाख्यानों में कथावस्तु के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों का भी सन्निवेश सम्यक्

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रूप में हुआ है। जहां तक इनकी कथावस्तु के स्रोतों की बात हैं, वे मुख्यतः चार हैं—(1) 'महाभारत', 'हरिवंशपुराण', 'विष्णुपुराण' आदि पौराणिक ग्रंथ, (2) प्राकृत-संस्कृत की परंपरागत कथानक रूढ़ियां, (3) उदयन, विक्रम, रत्नसेन आदि ऐतिहासिक व अर्द्धऐतिहासिक पात्रों की गाथाएं, (4) विभिन्न प्रेमी-प्रेमिकाओं की लोकप्रचलित प्रेमकथाएं। हिंदी के प्रेमाख्यानों में इन चारों ही स्रोतों से प्राप्त सामग्री का उपयोग मिश्रित रूप में हुआ है, किंतु साथ ही रचयिताओं की कल्पना-शक्ति का भी योग न्यूनाधिक रूप में रहा है। इसीलिए किसी भी प्रेमाख्यान को शुद्ध पौराणिक या शुद्ध ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता। परंपरागत पौराणिक कथानकों में सर्वाधिक प्रिय नल-दमयंती का आख्यान रहा है, जिस पर विभिन्न हिंदू एवं मुस्लिम कवियों द्वारा रचित छह हिंदी-काव्य उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त उषा-अनिरुद्ध, कृष्ण-रुक्मिणी आदि के प्रेमाख्यानों की भी आवृत्ति बार-बार हुई है। यह सौभाग्य की बात है कि इन कवियों ने पौराणिक आख्यानों के रोमांटिक तत्त्वों को विस्तार देते हुए भी उनकी आधारभूत भावना एवं धार्मिक मर्यादा को सुरक्षित रखा है। किंतु पौराणिक कथानकों से भी अधिक उपयोग प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के कथासाहित्य से प्राप्त कथानक-रूढ़ियों का हुआ है। जैसे नायक या नायिका का जन्म माता-पिता के विशेष प्रयत्न से किसी देवी-देवता की आराधना के फलस्वरूप होना; नायक-नायिका का पारस्परिक परिचय स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन या तोते द्वारा गुण-कथन से अप्रत्यक्ष रूप में होना; शिव-मंदिर या फुलवारी में नायक-नायिका की गुप्त भेंट; नायक का किसी अन्य सुंदरी को राक्षस से बचा कर विवाह कर लेना आदि। वस्तुतः इन कथानकरूढ़ियों का मूल स्रोत पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य ही है। 'महाभारत' के नल-दमयंती आख्यान तथा 'हरिवंशपुराण' के उषा-अनिरुद्ध व कृष्ण-रुक्मिणी के प्रणय प्रसंगों में अनेक कथानक रूढ़ियां मूल रूप में उपलब्ध होती हैं, जिनका विकास एवं विस्तार क्रमशः प्राकृत-संस्कृत की कथाओं तथा अपभ्रंश के चरितकाव्यों में हुआ है। यहां यह उल्लेखनीय है कि ये कथानक-रूढ़ियां फ़ारसी-प्रेमाख्यानों में उपलब्ध नहीं होतीं, अतः इनका आधार भारतीय साहित्य को ही मानना चाहिए।

हिंदी के जिन कवियों ने अर्द्धऐतिहासिक या मौलिक कथानकों को आधार बनाया है, उन्होंने भी उपर्युक्त रूढ़ियों का प्रयोग प्रायः किया है। अतः कहना चाहिए कि अधिकांश हिंदी-प्रेमाख्यानों का कथातत्त्व पूर्ववर्ती भारतीय कथानकरूढ़ियों का ही विभिन्न रूपों में संयोजित रूप है। दूसरे शब्दों में, उनकी मौलिकता परंपरागत कथानकरूढ़ियों को नये-नये रूपों में संयोजित व संगठित कर देने में है, नयी कथानकरूढ़ियों (घटनाओं) के आयोजन में नहीं! ऐतिहासिक या अर्द्धऐतिहासिक कथानकों में ऐतिहासिकता को सुरक्षित रखने की भावना का भी अभाव है, अपितु उनमें कथानक-रूढ़ियों का सम्मिश्रण खुल कर किया गया है, जिनसे उनकी ऐतिहासिकता धूमिल हो गयी है।

काव्यत्व की दृष्टि से इनकी कथावस्तु में स्वाभाविकता की अपेक्षा वैचित्र्य की ही प्रमुखता है। कथावस्तु अपने लक्ष्य की ओर द्रुत गति से अग्रसर होने के स्थान पर चक्कर काटती हुई तथा पाठकों के औत्सुक्य एवं कौतूहल को अधिकाधिक गंभीर बनाती हुई धीरे-धीरे आगे बढ़ती है, जो कदाचित मध्यकालीन रुचि के अनुकूल था। वस्तुतः जो कार्य आज के सामान्य पाठक के लिए रोमानी व जासूसी उपन्यास करते हैं, वही कार्य मध्ययुगीन पाठक के लिए ये आख्यान करते थे, अतः इनकी कथावस्तु में असाधारण, विचित्र एवं रोमांचक घटनाओं की अधिकता का होना स्वाभाविक ही है।

**चरित्र-चित्रण :** हिंदी प्रेमाख्यानों में विभिन्न पात्र मुख्यतः दो श्रेणियों के हैं—(1) मानवीय श्रेणी के, (2) मानवेत्तर श्रेणी के। प्रथम श्रेणी में प्रायः राजकुमार (नायक), राजकुमारी (नायिका) एवं उनसे संबंधित विभिन्न व्यक्ति आते हैं। राजकुमार को प्रायः सहृदय, परदुःखकातर, साहसी, प्रेमी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

एवं त्यागी दिखाया गया है; जबकि राजकुमारी या नायिका अत्यंत सुंदरी, रूपगर्विता, किंतु नायक की प्राप्ति के लिए अपेक्षित बुद्धिबल से युक्त दिखायी गयी है। कई बार नायिकाएं राक्षसकन्या, अप्सरा, नर्तकी या वेश्यापुत्री भी होती हैं, किंतु इससे उनके व्यक्तित्व में विशेष अंतर नहीं पड़ता। प्रेम के क्षेत्र में वे नायक की अपेक्षा अधिक धैर्यशाली दिखायी गयी हैं। नायक की अपेक्षा उनकी स्थिति भी प्राय: उच्च है, क्योंकि उन्हीं की प्राप्ति के लिए वह अपना सर्वस्व अर्पित कर देता है।

प्रेमाख्यान-रचयिताओं ने, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान, भारतीय वातावरण एवं हिंदू-समाज की मर्यादाओं के अनुरूप ही नायक-नायिका का चित्रण किया है। भारतीय समाज में पुरुष के लिए बहुविवाह की अनुमति थी, अत: इनके नायक भी प्राय: एक से अधिक विवाह करते हैं; जबकि नायिकाएं, भारतीय परंपरा के अनुसार पातिव्रत्य का पालन करती हुई अंत में सती हो जाती हैं। नायिकाओं के लिए सबसे बड़ा आदर्श उनका सतीत्व ही है, यह दूसरी बात है कि नायक को आकर्षित करने में उनके रूप-सौंदर्य का ही योग अधिक रहता है। कुछ नायिकाएं अपनी नृत्यकला या संगीतकला के बल पर भी नायक के हृदय पर अधिकार प्राप्त करती हैं। फ़ारसी-प्रेमाख्यानों में उपर्युक्त परंपराओं के स्थान पर प्राय: नायक एकपत्नीव्रतधारी तथा नायिका प्रेमी के अनंतर पति को स्वीकार करने वाली दिखायी जाती है। हिंदी-प्रेमाख्यानों में नायक के प्रतिद्वंद्वी के रूप में प्रतिनायक का अस्तित्व प्राय: नहीं है। नायक का विरोध प्राय: नायिका के पिता या संरक्षक के द्वारा ही होता है, अत: फ़ारसी-मसनवियों की भांति इनमें प्रेम का त्रिकोण उपस्थित नहीं होता। वस्तुत: भारतीय प्रेमाख्यानों में पात्रों का चरित्र-चित्रण भारतीय परंपराओं और सामाजिक मर्यादाओं के अनुरूप होना कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है। ऐसा होना स्वाभाविक ही था; किंतु जो विद्वान यह मानते हैं कि ये कवि फ़ारसी-मसनवियों से प्रेरित थे तथा इन्होंने चेष्टापूर्वक अपने आख्यानों को भारतीय रूप दिया है, उनके लिए अवश्य ही यह महत्त्व की बात है।

पात्रों की दूसरी श्रेणी में मानवेत्तर प्राणी आते हैं, जैसे नायिका के संरक्षक के रूप में असुर या राक्षस; नायक के सहयोगी के रूप में कोई बैताल, हंस, तोता आदि या नायक को सोते हुए उठा ले जाने वाली अप्सराएं, परियां आदि। वस्तुत: ये पात्र स्थिति विशेष में कथानक को आगे बढ़ाने में योग देते हैं तथा उसी के अनुरूप इनमें प्रवृत्ति विशेष का विकास दिखाया गया है, किंतु इनके संपूर्ण व्यक्तित्व का निरूपण प्राय: इनमें नहीं हुआ है। यथा : असुर या राक्षस को अत्यधिक क्रूर, तोते या हंस को अधिक विद्वान और अप्सरा या परी को अत्यंत सहृदय दिखाया गया है; जो कथानक की मूल आवश्यकता के अनुरूप है। समग्र रूप से कहा जा सकता है कि सभी आख्यानों में पात्रों का चरित्र-चित्रण रूढ़िबद्ध एवं स्थिर है, उनमें स्वतंत्र या मौलिक व्यक्तित्व का निरूपण प्राय: न के बराबर है। वस्तुत: इन कवियों का ध्यान चरित्र-चित्रण की अपेक्षा कथावैचित्र्य एवं वर्णनविस्तार की ओर ही अधिक रहा है।

**वस्तु-वर्णन :** भारतीय साहित्य में चौथी-पांचवीं शताब्दी से ही एक नूतन प्रवृत्ति का उन्मीलन दृष्टिगोचर होता है। यह प्रवृत्ति है, स्वभावोक्ति की अपेक्षा अतिशयोक्ति को प्रमुखता देने की। इसी की प्रमुखता के कारण एक ओर भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार, रीति और वक्रोक्ति जैसे सिद्धांतों की स्थापना हुई तो दूसरी ओर बाणभट्ट, दंडी, श्रीहर्ष प्रभृति द्वारा गद्य और पद्य में ऐसे ग्रंथों की रचना हुई, जिनमें वर्णन-विस्तार एवं चमत्कार को ही काव्यत्व का आधार मान लिया गया। बाण और दंडी के प्रेमाख्यानों में नायिका के अंग-प्रत्यंग का वर्णन शत-शत उपमानों के साथ अत्यंत विस्तार से हुआ है, यहां तक कि उसके एक तिल के वर्णन में भी कई पृष्ठ रंग दिये गये हैं। आगे चल कर न केवल नायक-नायिका के सौंदर्य-निरूपण को, अपितु प्रत्येक वस्तु, घटना, दृश्य, कार्य,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पर्व, उत्सव आदि को भी अत्यधिक विस्तार से वर्णित किया गया है। प्रकृति के विभिन्न दृश्यों—वन, वाटिका, समुद्र, पर्वत, सरिता आदि तथा विभिन्न ऋतुओं का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि पाठक उनके विवरण में उलझ कर मूल कथानक को ही भूल जाता है। दुर्भाग्य से परवर्ती प्रेमाख्यानों में इस प्रवृत्ति का विकास और भी अधिक सबल रूप में हुआ। अपभ्रंश के चरितकाव्यों तथा हिंदी के प्रेमाख्यानों में यह प्रवृत्ति समान रूप में मिलती है। इसी के कारण कविगण अपने मूल लक्ष्य को भूल कर मार्ग में पड़ने वाली प्रत्येक वस्तु, दृश्य एवं घटना का विवरण अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में प्रस्तुत करने लगते हैं। ऐसा करते समय वे स्वाभाविकता, रोचकता या भावात्मकता से बहुत दूर चले जाते हैं। हिंदी कवियों ने परंपरागत विषयों के अतिरिक्त पनघट, सरोवर, वाटिका, बारहमासा, बरात, युद्ध, ज्योनार आदि का वर्णन विशेष रूप से किया है। इन कवियों के वस्तु-वर्णन की समीक्षा करते हुए डॉ. सरला शुक्ल ने ठीक लिखा है : "इन वस्तु-वर्णनों में कवि को अवसर प्राप्त होता है कि वह अपनी नवीन कल्पना और परिस्थिति से लाभ उठा कर सजीव वर्णन करें, किंतु अधिकांश कवियों ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है। कहीं-कहीं वर्णन इतना विस्तृत है कि उससे कवियों के वस्तु ज्ञान (के प्रदर्शन) के अतिरिक्त कौतूहल, आकर्षण या प्रभावशीलता में किंचित भी वृद्धि नहीं हो पाती।"[7] वस्तुतः इन कवियों का वस्तु-वर्णन काव्य की मौलिक आवश्यकता की पूर्ति के निमित्त कम है, अपने ज्ञान-प्रदर्शन की भावना से अधिक प्रेरित है, अतः यह इनके काव्य के दुर्बल पक्ष का ही सूचक कहा जा सकता है।

**भाव एवं रस-व्यंजना :** प्रेमाख्यान-काव्यों की मूल भावना प्रणय या रति है, अतः शास्त्रीय दृष्टि से इन्हें शृंगाररसप्रधान कहा जा सकता है; किंतु यहां इस तथ्य को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि इनका शृंगारनिरूपण मूल चेतना एवं पद्धति की दृष्टि से संस्कृत-महाकाव्यों में निरूपित गार्हस्थ्य शृंगार से भिन्न कोटि का है। इनकी प्रणय-भावना साहस एवं संघर्ष की भावना से अनुप्राणित है, जो सामाजिक मर्यादाओं और परंपराओं को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देती। रसशास्त्रीय दृष्टि से इनका मूल प्रेरक तो 'रति-भाव' या प्रणय को ही माना जायेगा, किंतु उसके सहचारी या संचारी के रूप में उत्साह, क्रोध, विस्मय आदि को स्वीकार किया जा सकता है। सामान्यतः संचारी भाव को क्षणजीवी ही माना जाता है, किंतु व्यक्ति विशेष या परिस्थिति विशेष में वे दीर्घकालीन हो कर स्थायी भाव के अंग भी बन जाते हैं। अतः इनके काव्य में शृंगार रस को अंगी तथा वीर, रौद्र, अद्भुत आदि को अंग रूप में स्वीकार किया जा सकता है। वैसे, प्रसंगानुसार करुण व वात्सल्यादि का भी निरूपण मिलता है, किंतु उन्हें गौण ही मानना चाहिए।

प्रणय-भावना या शृंगार रस निरूपण की दृष्टि से इनके पक्ष में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन्होंने प्रेम को जीवन का सर्वोपरि तत्त्व मानते हुए उसके प्रति अत्यंत उच्च एवं उदात्त दृष्टि का परिचय दिया है, जिससे इनका प्रणय सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक आदि सभी बाधाओं, सीमाओं व कुंठाओं से मुक्त हो कर अपने सहज स्वाभाविक तथा पूर्ण विकसित रूप में प्रस्फुटित होता है। प्रणय का आरंभ प्रायः इन्होंने सौंदर्यजन्य आकर्षण की सहज प्रेरणा से दिखाया है तथा उसमें परिस्थितियों की स्वाभाविक प्रतिक्रिया से उत्तरोत्तर गंभीरता का संचार किया है। सौंदर्य-निरूपण में इन्होंने नायिका के नख-शिख, रूप-रंग, हाव-भाव आदि के अतिरिक्त उसके सूक्ष्म गुणों—कला विशारदता, विदग्धता आदि का भी समावेश किया है। जैसा कि इनके वस्तुवर्णन पर विचार करते समय स्पष्ट किया जा चुका है, वर्णन-विस्तार की प्रवृत्ति के कारण इनका सौंदर्य-निरूपण भी कहीं-कहीं इतना अत्युक्तिपूर्ण हो जाता है कि वह स्वाभाविकता व लौकिकता से परे चला जाता है, इससे कई बार आध्यात्मिकता का भी भ्रम उत्पन्न हो जाता है। वर्णन-विस्तार की प्रवृत्ति के कारण वे कई

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बार यह भी नहीं देखते कि जिस सुंदरी के सौंदर्य का निरूपण वे कर रहे हैं, वह संपूर्ण काव्य में क्या स्थान रखती है? यहां तक कि जायसी जैसे महान कवि भी इस प्रवृत्ति से मुक्त दिखायी नहीं पड़ते। वह जिस गंभीरता से पद्मावती के सौंदर्य का निरूपण करते हैं, उसी गंभीरता से सिंहल की वेश्याओं का, बादल की नववधू का या युद्धस्थल की मदमाती नारी-रूपी तोपों के सौंदर्य का भी आख्यान करते हैं। पद्मावती के सौंदर्य की अलौकिकता को तो ईश्वरीय सौंदर्य की व्यंजना कह कर दोषमुक्त कर दिया गया, किंतु उन सिंहल की वेश्याओं के लिए क्या कहा जायेगा, जिनके दर्शनमात्र से द्रष्टा बेसुध हो कर गिर पड़ता है। बादल की नववधू का तो तिलक ही अनेक युवकों का प्राणांत कर देने की क्षमता रखता है। अस्तु, सौंदर्य का यह अस्वाभाविक एवं अत्युक्तिपूर्ण वर्णन आज के पाठक की रसानुभूति में बाधा उपस्थित करता है; किंतु जहां वह कल्पनाशक्ति की सबलता और अनुभूति की सजीवता से अनुप्राणित है, वहां अवश्य ही प्रभावोत्पादक एवं आह्लादकारी सिद्ध होता है।

प्रेमाख्यानों के नायक अपने प्रणय-स्वप्नों की पूर्ति के लिए प्रायः अनेक बाधाओं, विपत्तियों एवं संकटों का सामना करते हुए आगे बढ़ते हैं, जिससे उनके प्रणय में अधिकाधिक गांभीर्य, औदार्य एवं औदात्य का संचार होता जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह तथ्य है कि काम-प्रवृत्ति बाधाओं एवं संघर्षों के योग से भावना के रूप में विकसित होती है। जहां प्रणय के मार्ग में कोई अवरोध उपस्थित नहीं होता, वहां वह शारीरिकता के स्तर पर उतर कर शुद्ध भोग-विलास या कामुकता का रूप धारण कर लेता है। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इन आख्यानों के नायकों की प्रणय-भावना साहस, संघर्ष, शौर्य, आत्मत्याग आदि से युक्त हो कर एक ऐसा रूप प्राप्त कर लेती है, जिसमें वासना, स्वार्थ एवं अहंकार का लोप हो जाता है। भावना के ऐसे ही सूक्ष्म, गंभीर एवं पवित्र रूप को भारतीय शब्दावली में 'उज्ज्वल रस' एवं पाश्चात्य शब्दावली में 'औदात्य का चरमोत्कर्ष' कहा जा सकता है। वैसे, मध्यकालीन आचार्यों ने 'उज्ज्वल रस' का क्षेत्र केवल राधा-कृष्ण की शृंगारी क्रीड़ाओं तक ही सीमित कर दिया है, जो सांप्रदायिक या धार्मिक दृष्टि से ही मान्य कहा जा सकता है, अन्यथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तो रत्नसेन-पद्मावती के आत्मत्यागपूर्ण प्रेम में राधा-कृष्ण के संभोग-व्यापार की अपेक्षा अधिक स्वच्छता, सूक्ष्मता, पवित्रता एवं उज्ज्वलता दृष्टिगोचर होती है। अस्तु, हमारे विचार में इनके काव्य में सामान्यतः प्रेम का अत्यंत उज्ज्वल एवं उदात्त स्वरूप उपलब्ध होता है, जिसे रसराज शृंगार का सर्वोत्कृष्ट रूप भी कहा जा सकता है।

उपर्युक्त निष्कर्ष के विपरीत कुछ ऐसे अपवाद भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें प्रेम और काम को एक ही मान लिया गया है। प्रायः उन सभी आख्यानों में, जिनमें कवि का लक्ष्य सतीत्व की व्यंजना करना नहीं है, नायक की अपेक्षा नायिका में वासना का आवेग अधिक दिखाया गया है। उदाहरणार्थ, जायसी का रत्नसेन जहां प्रारंभ से ही शुद्ध प्रणय-भाव से अनुप्राणित दिखायी पड़ता है, वहीं नायिका-पद्मावती प्रारंभ में यौन ज्वर और कामुकता की बाढ़ में बहती हुई दृष्टिगोचर होती है; इसीलिए वह अपने अंतरंग मित्र तोते से कोई उपयुक्त वर खोज देने की याचना करती है :

*सुनु हीरामनि कहौं बुझाई। दिन-दिन मदन सतावै आई।*
*जोबन मोर भयउ जस गंगा। देह-देह हम्ह लाग अनंगा।*
*कंवल भंवर ओही बन पावै। को मिलाइ तन तप बुझावै।*

यहां 'तन-तपनि', यौवन-भार एवं कामोन्माद का जैसा निरूपण किया गया है, वह प्रणय-भावना की अपेक्षा कामवासना का ही अधिक परिचायक है; यह दूसरी बात है कि आगे चल कर परिस्थिति विशेष के प्रभाव से यह वासना निखर कर भावना में परिणत हो जाती है। जायसी के अतिरिक्त अन्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कवियों में भी प्रसंगानुसार वासना के आवेग, संभोग-लालसा, कोकशास्त्र के अनुसार रतिक्रीड़ा, विपरीत रति आदि का चित्रण अत्यंत स्थूल एवं नग्न रूप में उपलब्ध होता है। अनेक कवियों ने तो अपने नायक को कामदेव का एवं अपनी नायिका को रति का अवतार घोषित किया है, तो कुछ ने स्पष्ट रूप से अपने काव्य का लक्ष्य ही कामकला की शिक्षा देना स्वीकार किया है। इस दृष्टि से 'माधवानल-कामकंदला', 'मधुमालती', 'रसरतन', 'चित्रावली' आदि उल्लेखनीय हैं। फिर भी, समग्र रूप में इनमें काम-तत्त्व की अपेक्षा प्रणय-भावना की ही प्रमुखता है। वस्तुतः इनके काव्य की मार्मिकता का सर्वोत्तम उदाहरण इनकी विरह-व्यंजना में उपलब्ध होता है। विरह के क्षेत्र में इन्होंने शुष्क आलंकारिकता और चमत्कार के स्थान पर भावात्मकता एवं अनुभूति का सहारा लिया है, जिससे उसमें पर्याप्त गंभीरता तथा मार्मिकता का संचार हो गया है। यों, इनके विरह-वर्णन में कहीं-कहीं अत्युक्ति के कारण वीभत्स दृश्यों का भी आयोजन हो गया है, जैसे रक्त के आंसुओं का गिरना, मांस का गल गल कर गिरना या प्राणांत हो जाना। वैसे संस्कृत के प्रेमाख्यानों में भी विरह की अतिशयता के कारण नायक-नायिका के व्याधिग्रस्त हो कर प्राण त्याग देने के अनेक उदाहरण मिलते हैं तथा आचार्यों ने विरह की दस दशाओं में उन्माद, व्याधि, जड़ता, मरण आदि को भी स्वीकार किया है, किंतु इनके निरूपण में बीभत्स दृश्यों का आयोजन आवश्यक नहीं है। आचार्य शुक्ल ने इसे फ़ारसी-काव्य का प्रभाव माना है, जिसे कुछ मुस्लिम कवियों के प्रसंग में ठीक कहा जा सकता है; किंतु इसी आधार पर विरह-विस्तार की प्रवृत्ति को ही अभारतीय मान लेना अनुचित होगा।

## विचार एवं सिद्धांत

इस परंपरा के कवियों ने अपनी रचनाओं में प्रणय के गंभीर रूप का चित्रण करने के साथ-साथ उनमें परंपरागत ज्ञान-विज्ञान को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया, जिसके कारण उनमें प्रसंगानुसार भारतीय दर्शन, पुराण, ज्योतिष, शकुनशास्त्र, कामशास्त्र, वैद्यक, संगीतशास्त्र, युद्धकला, पाकशास्त्र, रीतिशास्त्र आदि के विभिन्न तत्त्वों का विवरण विस्तार से उपलब्ध होता है। कई बार तो इन्होंने विभिन्न प्रकार के पकवानों, पुष्पों, घोड़ों, शस्त्रास्त्रों की लंबी सूचियां इस प्रकार प्रस्तुत की हैं कि उनसे सामान्य पाठक ऊबने लगता है, फिर भी मध्यकालीन परिस्थितियों को ध्यान में रख कर विचार किया जाये तो यह स्पष्ट होगा कि उस युग में, जबकि ज्ञान-विज्ञान की मुद्रित पुस्तकें उपलब्ध नहीं थीं तथा परंपरागत ज्ञान संस्कृत की हस्तलिखित पुस्तकों तक ही सीमित रह गया था, इनका भारी उपयोग था। वे पाठक, जो इन काव्य-रचनाओं से मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञानवृद्धि भी करना चाहते थे, इस प्रकार की तालिकाओं से अवश्य लाभान्वित होते थे। इसीलिए अनेक कवियों ने स्वयं भी यह दावा किया है कि उनकी रचनाओं को यदि बालक, युवक एवं वृद्ध पढ़ेंगे तो उनका ज्ञान बढ़ेगा। ऐसी स्थिति में इन शास्त्रीय तत्त्वों को शुद्ध काव्यत्व की दृष्टि से गौण मानते हुए भी रचयिताओं के ज्ञानप्रदर्शन की वृत्ति एवं पाठकों की ज्ञानपिपासा की तुष्टि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए। किंतु, दुर्भाग्य से हमारे आलोचकों एवं शोधकर्त्ताओं ने समग्र रूप में इस स्थिति का अवलोकन न करके केवल उनके दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धांतों पर दृष्टिपात करते हुए उन्हें धर्म- साधक एवं सूफीप्रचारक घोषित कर दिया, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि इस परंपरा के कवियों में जायसी को छोड़ कर शेष के धर्मसाधक या मतप्रचारक होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। वस्तुतः आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने युग में उपलब्ध कुछ प्रेमाख्यानों के प्रतिनिधि के रूप में जायसी के 'पद्मावत' का अध्ययन किया और इस अध्ययन से उपलब्ध निष्कर्षों को ही समूची परंपरा पर आरोपित कर दिया।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परवर्ती शोधकर्त्ताओं ने भी शुक्ल जी के आप्त वाक्य को प्रमाण मान कर इस परंपरा के सभी प्रेमाख्यानों को बलात 'सूफी' विशेषण से विभूषित कर दिया; फिर भी जो लोग तटस्थ रूप में पूर्वोक्त धारणा ( या भ्रांति) पर पुनर्विचार करने के लिए प्रस्तुत हैं, उनके लिए हम यहां कुछ प्रमाण अवश्य प्रस्तुत करना चाहते हैं।

स्वयं आचार्य शुक्ल ने 'पद्मावत' की प्रेमपद्धति को अभारतीय मान लेने के कारण रत्नसेन-पद्मावती के प्रेम को आत्मा-परमात्मा का प्रेम बताते हुए उसे सूफी रहस्यवाद से अनुप्राणित सिद्ध करने की चेष्टा की। यद्यपि इससे वे 'पद्मावत' के रूपकतत्त्व की व्याख्या करने में असफल रहे, क्योंकि स्वयं कवि के अनुसार पद्मावती परमात्मा की प्रतीक न हो कर सात्त्विक बुद्धि व ज्ञान की प्रतीक है। फिर भी उन्होंने अपनी पूर्वधारणा का परित्याग नहीं किया। किंतु आगे चल कर जब उन्होंने जायसी के दार्शनिक विचारों का अध्ययन किया तो उनके समक्ष स्पष्ट हो गया था कि उनके काव्य में भारतीय अद्वैतदर्शन, वेदांत एवं हठयोग के ही तत्त्व अधिक हैं, सूफीतत्त्व कम[8]; यहां तक कि अंत में उन्होंने यह भी स्वीकार कर लिया था कि जायसी सूफीमत से आगे बढ़ कर भारतीय वेदांत की ओर झुक गये थे, ''जायसी सूफियों के अद्वैतवाद तक ही नहीं रहे हैं, वेदांत के अद्वैतवाद तक भी पहुंचे हैं। भारतीय मत-मतांतरों की उनमें अधिक झलक है।''

अस्तु, न तो सभी प्रेमाख्यानक हिंदी कवियों के सिद्धांत ही सूफीमत के आधारभूत सिद्धांतों से मेल खाते हैं और न उनके नायकों के कार्यव्यापार, साधनापद्धति एवं सिद्धि से ही सूफीमत का कोई संबंध स्थापित होता है, जबकि भारतीय अद्वैत मत एवं योगसाधना से उनका गहरा संबंध है। ऐसी स्थिति में उन सबको बलात सूफी घोषित करने का कोई औचित्य दिखायी नहीं पड़ता।

इस परंपरा के बहुसंख्यक कवि हिंदू हैं, जिन्होंने अपने धर्म के प्रति गहरी आस्था व्यक्त की है, किंतु उन्हें भी सूफी मतप्रचारक सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। उदाहरणस्वरूप, डॉ. हरिकांत श्रीवास्तव ने अपने शोधप्रबंध में शुद्ध सनातनधर्मी कुंवर मुकुंदसिंह के 'नलचरित्र' (1641) में भी सूफीमत की खोज करते हुए प्रमाणस्वरूप निम्नांकित पंक्तियों को उद्धृत किया है :

*तकिए भूप-भ्रमर सुखदाए। काम बान सम सोभा पाए।*
*बानउ के रव होत अपारा। तिहि विध जानहु भ्रमर गुंजारा।*
*हुऊं के हहै शिलीमुख नामा। विरही तन कह दोउ दुःखधामा।*

यहां कवि ने स्पष्ट ही विरही हृदय पर वसंतऋतु के उद्दीपक प्रभाव की व्यंजना करते हुए 'काम-बाण' के आघात से उत्पन्न पीड़ा का प्रतिपादन किया है, जिसमें सूफीमत की कोई बात नहीं है, पर डॉ. हरिकांत श्रीवास्तव इसमें सूफीमत की अवस्थाओं का दिग्दर्शन करवाते हुए लिखते हैं : ''नल-दमयंती के रूप का बखान सुन करके 'तरीकत' की अवस्था में पहुंच जाते हैं। '...तकिए... दुःखभामा'—यह शरीअत की अवस्था नल के दूतत्व तक बनी रहती है। दमयंती के मंदिर में नाना स्त्रियों के कामोद्दीपक प्रभाव से बचने के उपरांत नल मवारिफ अवस्था में पहुंचते हैं।'' यद्यपि कवि ने सारे काव्य में कहीं भी सूफीमत का कोई संकेत नहीं दिया है, किंतु शोधकर्त्ता महोदय की कृपा से नल की विरहदशा में सूफीमत की चारों अवस्थाएं इस तरह मिल जाती हैं, मानो राजा नल ने सूफीमत की दीक्षा ले कर ही दमयंती से प्रेम करना आरंभ किया हो!

इस प्रसंग को और विस्तार न दे कर हम इतना ही निवेदन करना चाहते हैं कि यदि इसी प्रकार सूफीमत का आरोपण करना हो, तो 'ऋग्वेद' के पुरुरवा-उर्वशी से ले कर धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया' तक सभी भारतीय एवं अभारतीय प्रेमाख्यानों में सूफीमत सिद्ध किया जा सकता है,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

क्योंकि हर प्रेमकहानी में नायक, नायिका, सौंदर्य, प्रेम, विरह और मिलन अवश्य होगा, जिन्हें क्रमशः आत्मा, परमात्मा, शरीअत, तरीकत, मवारिफ आदि का प्रतीक बता कर सूफीसाधना के विभिन्न अंगों की स्थापना की जा सकती है। अन्यथा, यदि हम स्वकल्पित धारणाओं एवं रूढ़ भ्रांतियों के प्रभाव से मुक्त हो कर इन आख्यानों में उपलब्ध सामग्री एवं अंतस्साक्ष्य के आधार पर तटस्थ दृष्टि से विचार करें तो यह भली भांति स्पष्ट होगा कि जिस प्रकार इन कवियों ने भारतीय नायक-नायिकाओं की प्रणयगाथाओं की रचना विशुद्ध भारतीय स्रोतों के आधर पर की है, उसी प्रकार इन्होंने दर्शन, धर्म, ज्योतिष, शकुनशास्त्र, कामशास्त्र, रीतिशास्त्र आदि के भारतीय तत्त्वों का उपयोग संप्रदायमुक्त दृष्टि से किया है। नाथपंथ और हठयोग का भी अत्यधिक उल्लेख किसी सांप्रदायिक दृष्टि का सूचक न हो कर तद्युगीन वातावरण एवं पूर्वपरंपरा का व्यंजक है, क्योंकि उस युग में हठयोगियों के चमत्कार का प्रभाव अत्यधिक व्याप्त था तथा पूर्ववर्ती आख्यानों में भी नायक का योगी या सन्यासी के वेश में घर से निकलना दिखाया जाता था। वस्तुतः हमारे विचार में अधिकांश कवि निजी जीवन में धर्मसाधक या मतप्रचारक न हो कर सद्गृहस्थ थे, जिन्होंने उन सभी धार्मिक, नैतिक और शास्त्रीय तत्त्वों को अपने काव्यग्रंथों में गुंफित कर दिया, जो उस युग में लोकरुचि एवं लोकरंजन के अनुकूल थे। जायसी इसके अपवाद थे, क्योंकि वे व्यक्तिगत जीवन में भी साधक थे।

## काव्यरूप

आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा उनके अनुयायी विद्वानों ने इस परंपरा के सभी काव्यों को फ़ारसी-मसनवियों से अनुकृत मानते हुए इन्हें 'मसनवी' सिद्ध करने का प्रयास किया है, किंतु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। आचार्य शुक्ल के मतानुसार इन काव्यों के आरंभ में ईश्वरस्तुति, तत्कालीन शासक का उल्लेख, कथा का सर्गों में विभक्त न होना, पूरे काव्य में एक ही छंद का प्रयोग होना आदि बातें इन्हें मसनवी सिद्ध करती हैं। किंतु, सत्य यह है कि कुछ रचनाओं के स्तुतिखंड में ही इस प्रभाव को स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा मसनवीकाव्य के अनेक लक्षण जैसे, पूरे काव्य का एक ही छंद में लिखा जाना, कथा का सर्गों या खंडों में विभक्त न होना आदि इन प्रेमाख्यानों में नहीं मिलते; अतः इन्हें काव्यरूप की दृष्टि से 'मसनवी' कहना कठिन है। दूसरी ओर संस्कृत आचार्यों द्वारा निरूपित कथाकाव्य के लक्षण इनमें पूरी तरह मिलते हैं तथा स्वयं कवियों ने भी अपनी अपनी रचना को 'कथा' के रूप में उल्लिखित किया है, अतः इन पर कथाकाव्य की दृष्टि से ही विचार किया जाना चाहिए।

आचार्य भामह ने 'कथा' के लक्षणें का निरूपण करते हुए लिखा है : ''वह कवि के साभिप्राय कथनों से युक्त होती है। उसका विषय कन्याहरण (कन्या या प्रेयसी की प्रप्ति), युद्ध, वियोग होता है।'' यहां 'कन्याहरण' का तात्पर्य यह है कि इसमें कन्या या प्रेयसी की प्राप्ति सहज ही नहीं हो जाती, अपितु उसके लिए संघर्ष तथा युद्ध करना पड़ता है। वैसे देखा जाये तो भामह के द्वारा निरूपित लक्षण में पाश्चात्य रोमांसकाव्य के तीन तत्त्वों—प्रेम, साहस एवं युद्ध का समाहार हो जाता है। दंडी ने इन लक्षणों के अतिरिक्त उसका सर्गबद्ध होना भी आवश्यक माना है, जबकि आचार्य रुद्रट ने अपने युग (नवीं शती) तक विकसित प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए कथाकाव्य के अनेक नूतन लक्षणों का निर्देश किया है। उनके मतानुसार 'कथा' के प्रमुख लक्षण ये हैं—(1) कथा के आरंभ में देवता या गुरु की वंदना होनी चाहिए और फिर ग्रंथकार को अपना और अपने कुल का परिचय देना चाहिए, (2) तदुपरांत कथा लिखने का उद्देश्य बताना चाहिए, (3) आरंभ में कथांतर होना चाहिए, जो प्रधान कहानी का प्रस्ताव कर सके, (4) उसका प्रतिपाद्य सफल प्रेम से युक्त कन्या (प्रेयसी) प्राप्ति

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

होनी चाहिए, (5) यह संस्कृत में गद्य में तथा अन्य भाषाओं में पद्य में लिखी जाती है।[9] आगे चल कर अग्निपुराणकार व साहित्यदर्पणकार ने भी इन लक्षणों की पुनरावृत्ति की है। वस्तुतः ज्यों-ज्यों संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश में कथाकाव्य का विकास होता गया, त्यों-त्यों उसके लक्षणों में भी संशोधन एवं परिवर्द्धन होता गया। अतः कहा जा सकता है कि हिंदी में कथाकाव्य की परंपरा के प्रवर्तन से पूर्व अपभ्रंश तक इसमें जिन-जिन लक्षणों का विकास हो गया था, वे सब हिंदी के सभी आख्यानों में मिलते हैं। उदाहरणार्थ, समकालीन शासक का उल्लेख करना, बीच-बीच में धार्मिक एवं नैतिक तत्त्वों को समन्वित करना, कथा का अंत शांत रस में करना, चौपाइयों के बीच-बीच में दोहों का प्रयोग करना, कथा को खंडों में विभक्त करना आदि प्रवृत्तियां अपभ्रंश के कथाकाव्यों से हिंदी में आयी हैं। इसके अतिरिक्त स्वयं कवियों ने भी अपनी रचना को 'कथा' संज्ञा से विभूषित किया है, जिसके कतिपय उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं :

(*क*) रचना के नामकरण में 'कथा' शब्द का प्रयोग :

लखनसेन-पद्मावतीकथा (दामोदर); सत्यवतीकथा (ईश्वरदास); कथा रत्नावती, कथा कामलता, तथा कनकावती (जान कवि); नल-दमयंतीकथा (व्यास)।

(*ख*) कुछ कवियों ने शीर्षक में 'कथा' शब्द का प्रयोग नहीं किया, किंतु काव्य के अंतर्गत ऐसा किया है :

जायसी : *प्रेमकथा एहि भांति बिचारहु।*
मंझन : *कथा जगत जेती कबि आंई।*
उसमान : *जाकी बुद्धि होई अधिकाई। आन कथा एक कहै बनाई॥*
आलम : *कहौं बात सुनो सब लोग। कथा कथा सिंगार वियोग॥*

वैसे, यह कहा जा सकता है कि इन्होंने 'कथा' शब्द का प्रयोग सामान्य रूप में ही किया होगा, किसी विशेष अभिप्राय से नहीं; किंतु उस स्थिति में वे 'कथा' के अन्य पर्यायवाची शब्दों—कहानी, वार्त्ता, आख्यान आदि का भी प्रयोग कर सकते थे, केवल 'कथा' शब्द पर ही बल नहीं देते।

अस्तु, काव्यरूप की दृष्टि से इन्हें परंपरागत कथाकाव्य के अंतर्गत ही लिया जाना उचित होगा। कुछ विद्वानों ने कथाकाव्य एवं महाकाव्य का अंतर न समझते हुए इन्हें महाकाव्य की कसौटी पर भी कसने का असफल प्रयास किया है। कथाकाव्य एवं महाकाव्य दोनों ही प्रबंधात्मक होते हैं तथा उनके अनेक बाह्य लक्षणों में समानता भी संभव है, किंतु दोनों की आधारभूत चेतना, उनके लक्ष्य व प्रयोजन में इतना गहरा अंतर है कि एक को दूसरे की कसौटी पर परखना अनुचित होगा। महाकाव्य के मूल में आदर्शवादी या आदर्शपरक (मर्यादावादी) चेताना होती है, जो किसी महत् पात्र या महान पुरुष के चरित्र का अवतरण करती हुई उदात्त संदेश की व्यंजना करती है; जबकि कथा काव्य की मूल चेतना स्वच्छंदतापरक (रोमांटिक) होती है, उसमें आदर्श की स्थापना की अपेक्षा सौंदर्य प्रेम की अभिव्यंजना का तथा लोकमंगल की अपेक्षा लोकरंजन का लक्ष्य अधिक रहता है। महाकाव्य में परंपराओं एवं मर्यादाओं की रक्षा के लिए प्रणय-स्वप्नों की बलि दी जा सकती है, जबकि कथा-काव्य में प्रणय-स्वप्नों की पूर्ति के लिए परंपराओं व मर्यादाओं का अतिक्रमण सहज ही संभव है। महाकाव्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह शृंगार रस प्रधान हो; वीर, करुण, भयानक, रौद्र की भी प्रमुखता उसमें संभव है, किंतु कथा के लिए प्रणय, रोमानी प्रेम की प्रधानता अनिवार्य है। इस विषयगत भेद के कारण दोनों की शैली में भी अंतर आ जाता है। महाकाव्यकार घटनाओं की अपेक्षा पात्रों को और चमत्कार की अपेक्षा सरसता को अधिक महत्त्व प्रदान करता है, जबकि कथा-काव्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में स्थिति इसके विपरीत रहती है। अस्तु, कथाकाव्य या प्रेमाख्यान अपने आंतरिक या बाह्य गुणों के कारण, 'महान् काव्य' तो बन सकता है, किंतु शिल्पशास्त्रीय दृष्टि से उसे महाकाव्य मानना या उसमें महाकाव्य के लक्षणों और गुणों का अनुसंधान करना वैसा ही होगा, जैसा कि आम्रफल में द्राक्षा की विशेषताएं खोजना। किंतु, फिर भी यह विचित्र स्थिति है कि इस परंपरा से संबंधित सभी हिंदी शोधप्रबंधों में इन्हें मसनवी और महाकाव्य, दोनों के लक्षणों व गुणों से संपन्न सिद्ध करने की चेष्टा पूरी शक्ति से की गयी है। और, कदाचित् इसी स्थिति का परिणाम है कि आचार्य शुक्ल जैसे विद्वान ने भी 'पद्मावत' में पद्मावती के सती होने के अतिरिक्त किसी और 'महत्कार्य' का प्रयोजन न होने के कारण बड़ी निराशा व्यक्त की है। वस्तुतः इस परंपरा की मूल चेतना का उद्घाटन एवं उसका सम्यक् मूल्यांकन तब तक संभव नहीं, जब तक कि इन्हें मसनवी एवं महाकाव्य, दोनों से भिन्न स्वतंत्र कथाकाव्य या रोमांटिक आख्यान के रूप में स्वीकार नहीं कर लेते। किसी भी काव्य का बाह्य रूप अंततः उसकी आंतरिक चेतना का व्यक्त रूप होता है, अतः उसके बाह्य रूप का अध्ययन विश्लेषण उसकी आधारभूत चेतना के आधार पर ही संभव है इस तथ्य को ध्यान में रख कर ही हिंदी प्रेमाख्यान परंपरा के साथ न्याय किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

## शैली

हिंदी प्रेमाख्यानों की शैली के संबंध में कोई सामान्य निर्णय देना कठिन है, क्योंकि विभिन्न कवियों की शैली में स्तर की दृष्टि से परस्पर गहरा अंतर है। एक ओर जायसी जैसे कवि हैं जिनकी शैली में सर्वत्र गंभीरता एवं प्रौढ़ता विद्यमान है। तो दूसरी ओर ऐसे कवि भी हैं, जिनकी शैली की अपरिपक्वता एवं अशक्तता दृष्टिगोचर होती है। फिर भी, एक बात सामान्य रूप में कही जा सकती है कि इनकी रचनाओं में कथातत्त्व की प्रधानता होने के कारण इन्होंने प्रायः इतिवृत्तात्मक शैली का प्रयोग किया है, जिसमें लक्षणा एवं व्यंजना की अपेक्षा अभिधा शक्ति की ही प्रमुखता है। किंतु समर्थ कवियों ने अन्योक्ति, समासोक्ति, रूपक, प्रतीक आदि के आयोजन द्वारा अपनी शैली में व्यंजना का वैभव भी सहज स्वाभाविक रूप में संचरित कर दिया है। 'पद्मावत' से कुछ पंक्तियां उद्धृत हैं :

*ए रानी मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी।*
*जब लगि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जौं खेलहु आजू।*
*पुनि सासुर हम गौनब काली। कित हम कित एह सरवर पाली।*

यहां कवि ने अन्योक्ति के माध्यम से प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत अर्थ की भी व्यंजना प्रभावोत्पादक रूप में कर दी है, जिससे उसमें ध्वनि का सौंदर्य स्फुटित हो गया है।

अन्योक्ति व समासोक्ति के अतिरिक्त प्रतीक-योजना के कारण भी इनके काव्य की व्यंजना शक्ति के वैभव में अभिवृद्धि हुई है। 'पद्मावत', 'चित्रावली', 'ज्ञानदीप' आदि काव्यों में तो प्रमुख पात्र ही विभिन्न दार्शनिक तत्त्वों के प्रतीक हैं, जिससे संपूर्ण काव्य में ध्वनि (व्यंजना) का सौंदर्य संचरित हो गया है। ध्यान रहे; अन्योक्ति, समासोक्ति, प्रतीक—इन तीनों में ही अभिधात्मक अर्थ के साथ-साथ व्यंग्यार्थ की भी सत्ता रहती है, जिसके कारण उक्ति में सौंदर्य का संचार होता है, अतः हम इन्हें ध्वनिकाव्य के क्षेत्र में स्थान देना अधिक उचित समझते हैं। इन काव्यों की प्रतीक-योजना पर प्रायः यह आक्षेप लगाया जाता है कि इनमें प्रतीकों का निर्वाह सम्यक् रूप में नहीं हुआ। इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि इनमें प्रतीक भारतीय दर्शन एवं धर्म साधना से संबंधित हैं, जबकि अध्येताओं ने उन्हें सूफीमत से संबंधित सिद्ध करने का प्रयास किया है; इसी से उनमें संगति नहीं दिखायी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पड़ती। अन्यथा 'पद्मावत' में प्रयुक्त तन, मन, सांसारिक आकर्षण, सात्त्विक बुद्धि, गुरु, मोक्षप्राप्ति आदि के सूचक प्रतीकों को यथार्थ रूप में ग्रहण किया जाये तो वे संगत सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार 'चित्रावली' में शिव का अवतार सुजान, विद्या और अविद्या की प्रतीक क्रमशः चित्रावली एवं कंवलावती आदि पात्र भारतीय साधनापद्धति के ही सूचक हैं; अतः यदि हम इसी दृष्टि से उन पर विचार करें तो वे प्रतीकार्थों की अभिव्यक्ति में समर्थ, संगत एवं उपयुक्त सिद्ध होते हैं। साथ ही, प्रतीक-योजना से इनकी काव्यशैली में गंभीरता के साथ कहीं-कहीं चमत्कार-प्रवृत्ति भी आ गयी है।

शैली की दृष्टि से इनकी दूसरी विशेषता अतिशयोक्ति है, जिस पर प्रायः इनका अधिक बल रहा है। अतिशयोक्ति को हम यहां अत्यंत स्थूल एवं व्यापक रूप में भी ग्रहण कर सकते हैं। इन कवियों का कदाचित यह विश्वास था कि एक बात को जितना अधिक कहा जाये, उतना ही उसका अधिक प्रभाव उत्पन्न होगा। संभवतः इसीलिए इन्होंने अनेक स्थलों पर एक ही तथ्य की पुनरावृत्ति की है अथवा उससे संबंधित विभिन्न पक्षों, अंगों और उपमानों की आवृत्ति विस्तार से की है। इसी कारण इनका इतिवृत्तकथन, वर्णनविस्तार और एक ही तथ्य की आवृत्तियां इस सीमा तक पहुंच जाती हैं कि वे पाठक को अरुचिकर प्रतीत होने लगती हैं। वैसे, इनकी अतिशयोक्तियों में भी प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत में से एक पक्ष का संबंध वास्तविकता से होने के कारण उनमें वैसी कष्ट कल्पना और ऊहात्मकता नहीं मिलती, जैसी कि बिहारी जैसे कवियों में मिलती हैं; और जिसके कारण अलंकार भावशून्य चमत्कार में परिणत हो जाता है।

यों तो प्रेमाख्यानों में सभी अलंकारों के उदाहरण उपलब्ध हो जाते हैं, फिर भी उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और अतिशयोक्ति के विभिन्न भेदोपभेदों की ही इनके काव्य में प्रमुखता दृष्टिगोचर होती है। इन कवियों के हृदय में भावना एवं अनुभूति का स्रोत था, अतः इनकी अलंकार-योजना में भावप्रवणता अधिक है, चमत्कारप्रदर्शन की प्रवृत्ति कम। यही कारण है कि शब्दालंकारों का भी प्रयोग इनके द्वारा स्थिति विशेष या अनुभूति विशेष की प्रेरणा से ही हुआ है, उनके पीछे विशेष चेष्टा या यत्न परिलक्षित नहीं होता।

शैली के आधुनिक मानदंडों में बिंब-योजना का विशेष स्थान है, अतः इस दृष्टि से भी इन काव्यों पर विचार किया जा सकता है, किंतु इससे पूर्व बिंब-योजना का स्वरूप स्पष्ट कर लेना उचित होगा। अपने मूल अर्थ में बिंब-योजना से अभिप्राय इस प्रकार के चित्रण से है, जिसमें वक्तव्य वस्तु या प्रस्तुत को यथार्थ रूप-रंग में प्रस्तुत किया जाता है। अलंकार और बिंब-योजना की विभाजकरेखा यह है कि जहां अलंकार में उपमेय की विशेषताओं को बोधगम्य रूप देने के लिए उपमान का माध्यम ग्रहण किया जाता है, वहां बिंब-योजना में स्वयं उपमेय के ही रूप को इंद्रियग्राह्य रूप में प्रस्तुत किया जाता है; किंतु बिंबवादियों ने इस विभाजक रेखा को भुला कर बिंब-योजना को एक ऐसा व्यापक रूप दे दिया है, जिसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अन्योक्ति आदि सभी का समावेश हो जाता है। हमारे विचार में यह व्यापक रूप बिंब-योजना के मूल स्वरूप को तिरोहित कर देता है, जो हमें अग्राह्य है। यदि यथार्थ रूप में बिंब-योजना को ग्रहण करते हुए विचार किया जाये, तो यह स्पष्ट होगा कि प्रेमाख्यानक कवियों का अतिशयोक्ति व अलंकरण के प्रति अत्यधिक मोह होने के कारण वे प्रतिपाद्य वस्तु के सहज सौंदर्य को बिंब-रूप में बहुत कम प्रस्तुत कर पाते हैं; उनकी उक्तियां बिंब-योजना से आरंभ होती हैं, किंतु वे तुरंत ही उपमा या उत्प्रेक्षा में परिणत हो जाती हैं।

छंद-योजना की दृष्टि से सामान्यतः इन्होंने चौपाइयों या अर्द्धालियों के बीच-बीच में दोहा देने की पद्धति अपनायी है, किंतु इसके अपवाद भी हैं। अनेक कवियों ने दोहे के अतिरिक्त सोरठा, बरवै, कवित्त, सवैया, कुंडलिया, झूलना आदि का भी प्रयोग किया है। गणपति ने 'माधवानल-कामकंदला'



34478

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में केवल दोहे का प्रयोग किया है, किंतु इस प्रकार के अपवाद प्रस्तुत करने वाले आख्यानों की कुल संख्या आठ-दस से अधिक नहीं है।

भक्तिकालीन प्रेमाख्यान-काव्यों की भाषा के संबंध में पहले यह समझा गया था कि सभी प्रेमाख्यान अवधी भाषा में रचित हैं, किंतु अब यह स्पष्ट हो गया है कि अवधी के अतिरिक्त राजस्थानी एवं ब्रजभाषा में भी कई आख्यान लिखे गये थे। वस्तुतः यह परंपरा गुजरात एवं राजस्थानी से होती हुई अवध प्रदेश में पहुंची है, अतः प्रारंभिक आख्यानों में से अनेक में राजस्थानी, जो कहीं-कहीं गुजराती से भी यथेष्ट प्रभावित है, का ही प्रयोग मिलता है, जैसे कि 'हंसावली' (असाइत), 'लखनसेन-पद्मावतीकथा' (दामोदर), 'माधवानल-कामकंदला' (गणपति), 'ढोला-मारू रा दूहा', 'माधवानल-कामकंदला' (कुशललाभ), 'प्रेमविलास-प्रेमलता की कथा' (जटमल) आदि की भाषा राजस्थानी है। ब्रजभाषा में रचित प्रेमाख्यानों में नंददासरचित 'रूपमंजरी' तथा जान कवि के प्रेमाख्यान उल्लेखनीय हैं। वैसे, प्रायः सभी प्रेमाख्यानकारों ने लोकप्रचलित शब्दों, मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग किया है। हिंदू एवं मुस्लिम सभी कवियों ने अरबी-फ़ारसी के तत्सम शब्दों की अपेक्षा संस्कृत के तत्सम शब्दों एवं उनके तद्भव रूपों को अधिक महत्त्व दिया है, कहीं-कहीं मुस्लिम कवियों के काव्य में भी संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता देख कर आश्चर्य होता है। वस्तुतः प्रेमाख्यान-रचयिता कवियों ने अवधी, राजस्थानी एवं ब्रज जैसी लोकभाषाओं के साहित्यिक रूप के विकास में भी पर्याप्त योग दिया है—इसमें कोई संदेह नहीं।

## प्रेमाख्यान-परंपरा का हिंदी में प्रवर्तन व विकास

हिंदी में इस परंपरा का प्रवर्तन किस कवि द्वारा हुआ, इस प्रश्न का असंदिग्ध उत्तर उपलब्ध नहीं है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'मृगावती' (1501) के रचयिता कुतुबन को इस परंपरा का प्रथम कवि माना है, जबकि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ईश्वरदास की 'सत्यवतीकथा' (1500) को इस परंपरा की प्रथम कृति के रूप में उल्लिखित किया है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने मुल्ला दाऊद के 'चंदायन' (1379) से इस परंपरा का प्रवर्तन माना है, किंतु इन सभी विद्वानों का ध्यान इन सबसे प्राचीन प्रेमाख्यान 'हंसावली' की ओर नहीं गया, जिसकी रचना असाइत द्वारा 1370 ई. में हुई थी। इससे पूर्व का कोई प्रेमाख्यान काव्य हिंदी में उपलब्ध नहीं है, अतः हमारे विचार से जब तक कोई अन्य प्राचीन हिंदी प्रेमाख्यान उपलब्ध नहीं हो जाता तब तक इसी को इस परंपरा के प्रवर्तक काव्य के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

**हंसावली**[10] : इस प्रेमाख्यान में राजस्थानी भाषा के प्राचीन रूप का प्रयोग हुआ है। उस समय तक गुजराती भाषा राजस्थानी से पृथक् नहीं हो पायी थी, अतः गुजराती के विद्वान इसे पुरानी गुजराती का ग्रंथ भी मानते हैं। किंतु, जैसा डॉ. मोतीलाल मेनारिया ने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में स्पष्ट किया है, भाषा की दृष्टि से इसे निस्संकोच राजस्थानी (हिंदी) में स्थान दिया जा सकता है। कवि असाइत ने इस कृति का रचनास्रोत विक्रम एवं बैताल की कथा को माना है : ''बावन वीर कथा रस लीउ, ऐह पवाडु असाइत कहिउ।'' प्रेमाख्यानों में चित्रित प्रेम साहस और शौर्य से मिश्रित है, अतः हिंदी के आरंभिक प्रेमाख्यानकारों ने अपने काव्य का उल्लेख 'वीरकथा' एवं 'प्रेमकथा' दोनों रूपों में किया है और यह बात असाइत पर भी लागू होती है।

'हंसावली' में अनेक कथाएं गुंफित हैं, जिनमें से प्रमुख कथा का संबंध पाटण की राजकुमारी हंसावली से है। राजकुमारी अद्वितीय सुंदरी थी, किंतु पूर्व जन्म के किसी संस्कारवश उसने पखवाड़े में पांच पुरुषों की हत्या का भी नियम ले रखा था। इसका नायक राजकुमार स्वप्न में राजकुमारी के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दर्शन करके मुग्ध हो जाता है, उसके प्रेम में विह्वल हो कर योगीवेश में अपने मंत्री के साथ उसकी खोज में निकल पड़ता है तथा भारी संकटों का सामना करते हुए अंत में न केवल राजकुमारी को प्राप्त कर लेता है, अपितु उस पाषाण-हृदया को प्रत्येक पखवाड़े में पांच पुरुषों की हत्या के नियम से विरक्त करने में भी सफल हो जाता है। वस्तुतः इस नियम के पीछे पूर्व जन्म की एक घटना थी—उस जन्म में राजकुमारी पक्षिणी थी; जब उसने अंडे दे रखे थे, तब एकाएक जंगल में आग लग जाने पर नर-पक्षी उसे तथा उसके अंडों को बचाने का कोई प्रयास करने के स्थान पर उसे जलती हुई छोड़ कर भाग गया था। इसी घटना के संस्कार के कारण वह अगले जन्म में पुरुष-द्रोहिणी हो गयी थी। जब इस घटना को चित्रित करके उसे दिखाया गया तो उसे पूर्व जन्म की सारी घटनाएं स्मरण हो आयीं, फलस्वरूप वह ग्रंथि से मुक्त हो कर स्वस्थ आचरण करने लगी। ग्रंथि (Complex)-मोक्ष की यह सारी घटना आधुनिक मनोविश्लेषण की दृष्टि से भी स्वाभाविक कही जा सकती है।

विषयवस्तु एवं शैली की दृष्टि से इसमें वे सभी प्रवृत्तियां उपलब्ध हैं, जो भारतीय प्रेमाख्यानों की विशेषता के रूप में ग्रहण की जाती हैं, यथा—स्वप्नदर्शन द्वारा प्रेमोत्पत्ति, योगी वेश में नायक का घर से निकलना, साहसपूर्ण यात्रा, पूर्व जन्म की स्मृति, कन्यापक्ष द्वारा नायक के मार्ग में अवरोध, दैवी शक्ति की सहायता से नायक-नायिका का मिलन आदि। इन विषयगत प्रवृत्तियों के अतिरिक्त शैली की दृष्टि से भी यह काव्य हिंदी प्रेमाख्यान-परंपरा का प्रथम प्रतिनिधि काव्य कहा जा सकता है। कवि ने आरंभ में शक्ति, शंभु और सरस्वती की वंदना करते हुए आत्मपरिचय दिया है तथा अपनी रचना के स्रोतादि का निर्देश किया है। छंद-योजना में चौपाइयों के बीच-बीच में दोहों का प्रयोग किया गया है। भावसौंदर्य एवं काव्यसौष्ठव की दृष्टि से यह रचना साधारण कोटि की है। इसकी शैली का एक नमूना द्रष्टव्य है :

*देवि अव्रधारू मुझ विनती। पेलि भवि हूं पंखिणी हती।*
*इड़ां मेहला सेवन कीउ। दव बलतउ तेणि बनि आविउ।*
*मुझ भरतार साहस नवि कीउ। अपति मेहलीनि उड़ि गयु।*
*इस्यं करम ते निष्ठुर तणां। मूकी ग्यु बालक आपणां।*

वस्तुतः इस परंपरा की आदि रचना होने के कारण शैली की परिष्कृति, प्रांजलता तथा भाषा-सौष्ठव की इससे अधिक आशा भी नहीं की जा सकती।

**चांदायन :** यह प्रेमाख्यान-परंपरा का दूसरा काव्य है, जिसकी रचना मुल्ला दाऊद द्वारा 1379 ई. में हुई थी। इसके विभिन्न पाठ उपलब्ध हुए हैं—डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने इस ग्रंथ का मूल नाम 'लोरकहा' या 'लोरकथा' माना है, किंतु वे इसकी प्रसिद्धि 'चांदायन' के रूप में भी स्वीकार करते हैं। डॉ. परमेश्वरीलाल गुप्त ने इसका एक पाठ 'चंदायन' नाम से प्रस्तुत किया है। अतः अब 'चंदायन' या 'चांदायन' नाम ही मान्य है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने विभिन्न दृष्टियों से सूक्ष्मतापूर्वक विचार करते हुए इसे भारतीय परंपरा का आख्यान सिद्ध किया है, "यदि दाऊद की रचना को देखा जाये तो उसका प्रारंभिक अंश दोनों परंपराओं में खप सकता है...किंतु जहां तक प्रयुक्त छंद-विधान तथा प्रबंधव्यवस्था की बात है, वह पूर्ण रूप से भारतीय है, उसमें न तो फ़ारसी मसनवियों के छंद प्रयुक्त हुए हैं और न उसमें उनकी छंद-विषयक एकरूपता है। उसकी रचना प्राकृत-अपभ्रंश साहित्यों की परंपरा में कडवकों में की गयी है और प्रत्येक कडवक चौपाई की पांच अर्द्धालियों तथा एक दोहे या मिलते-जुलते छंद का है। फलतः मेरा मत है कि यह भारतीय परंपरा का कथाकाव्य है।"[11] विषयवस्तु की दृष्टि से भी इसमें भारतीय प्रेमाख्यानों की विभिन्न प्रवृत्तियों की व्यंजना

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सफलतापूर्वक हुई है, जैसे—नायक लोर (लोरिक) एवं नायिका चंदा का उन्मुक्त प्रणय, प्रथम दर्शन में ही प्रेमोत्पत्ति, विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उनके प्रेम में बाधा, नायक का योगी हो कर घर से निकलना, नाग द्वारा नायिका को डसा जाना, गारुड़ी द्वारा उसका ठीक हो जाना आदि। इसकी भाषा अवधी है तथा शैली भावानुकूल और सरस है।

**लखमसेन-पद्मावतीकथा :** इसकी रचना दामो या दामोदर कवि ने 1459 ई. में की थी। स्वयं कवि ने इसे 'वीरकथा' कहा है, किंतु वास्तव में इसमें राजा लक्ष्मणसेन एवं राजकुमारी पद्मावती के प्रथम दर्शनजन्य प्रेम का चित्रण रोमानी शैली में किया गया है। कथा के आरंभ में मंगलाचरण, गणेशस्तुति, आत्मपरिचय, रचनाकाल एवं रचना के उद्देश्य का निर्देश किया गया है। नायक द्वारा योगी वेश में घर से निकलने और नायिका के पिता से संघर्ष करके उसे प्राप्त करने की कथा-प्रवृत्तियों का निरूपण पूर्व परंपरा के अनुसार ही हुआ है। छंद-योजना में चौपाई के अतिरिक्त दोहा, सोरठा आदि का भी प्रयोग किया गया है। इसकी भाषा राजस्थानी है तथा शैली में इतिवृत्तात्मकता अधिक एवं भावात्मकता कम है, अतः इस रचना का महत्त्व परंपरा को आगे बढ़ाने की दृष्टि से ही अधिक है। दामो कवि सुपठित थे, इसका प्रमाण यह है कि एक तो उन्होंने बीच-बीच में संस्कृत की उक्तियां भी प्रस्तुत की हैं, और दूसरे, कामशास्त्र एवं नायिकाभेद के शास्त्रीय तत्त्वों का भी समन्वय यत्र-तत्र किया है। काव्य में उनका दृष्टिकोण 'सरस विलास कामरस भाव' से प्रेरित था, सांप्रदायिकता, धार्मिकता या आध्यात्मिकता का आरोप उन पर संभव नहीं।

**सत्यवतीकथा :** 'सत्यवतीकथा' (1501) के रचयिता ईश्वरदास सगुणोपासक भक्त थे, जिन पर सूफीमत का आरोपण संभव नहीं हुआ, कदाचित इसी कारण आचार्य शुक्ल ने इन्हें भक्तिकाल की किसी भी धारा में स्थान देना उचित नहीं समझा; जबकि सौंदर्य, प्रेम और विरह के निरूपण एवं अवधी भाषा, दोहा-चौपाई-शैली आदि की दृष्टि से ये हिंदी प्रेमाख्यान-परंपरा के उच्चकोटि के कवियों में से एक माने जा सकते हैं। कवि ने आत्मपरिचय देने एवं कथा के रचनाकाल का निर्देश करने के साथ-साथ तत्कालीन बादशाह का भी उल्लेख किया है। कथानक का संबंध राजकुमारी सत्यवती एवं राजकुमार ऋतुपर्ण के प्रथम दृष्टिजन्य प्रेमप्रसंग से है; प्रारंभ में राजकुमार को नायिका के शाप से कोढ़ी होना पड़ता है, पर अंत में उसका नायिका से विवाह एवं शाप से मुक्ति हो जाती है। पौराणिक भावना से प्रभावित होने के कारण इसमें सतीत्व के महत्त्व को दिग्दर्शित कराने की चेष्टा की गयी है। किंतु, इसी से इसे प्रेमाख्यान की श्रेणी से वंचित करना अनुचित होगा।

**मृगावती :** कुतुबनकृत 'मृगावती' (1503) में नायक राजकुमार तथा नायिका मृगावती के प्रथम दर्शनजन्य प्रेम का निरूपण अत्यंत भावात्मक शैली में हुआ है। परंपरागत प्रेमाख्यानों की विभिन्न प्रवृत्तियों का भी समन्वय इसमें कुशलतापूर्वक हुआ है। मृगावती की प्राप्ति के लिए नायक योगी-वेश में घर से निकल जाता है तथा मार्ग में एक अन्य सुंदरी को किसी राक्षस के चंगुल से निकाल कर उससे विवाह करता हुआ, अंत में मृगावती को पाने में सफल हो जाता है। कथा की परिणति अपभ्रंश के जैनकाव्यों की परंपरा के अनुसार शांत रस में होती है, क्योंकि नायक की मृत्यु के अनंतर नायिकाओं का सती होना दिखाया गया है। इसकी भाषा अवधी है तथा दोहा-चौपाई छंदों का प्रयोग किया गया है। शैली में प्रायः सरलता, प्रवाह एवं सरसता मिलती है।

**माधवानल-कामकंदला :** 'माधवानल-कामकंदला' (1527) के रचयिता गणपति ने नायक माधव एवं नृत्यविशारद कामकंदला के प्रेम का निरूपण अत्यंत रोमांचक शैली में किया है। नायक कामकंदला की नृत्यकला पर मुग्ध हो कर उससे प्रेम करने लगता है तथा अनेक कठिनाइयों का सामना करने के अनंतर उसे प्राप्त कर पाता है। इसकी भाषा राजस्थानी है। काव्य के प्रारंभ में कवि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ने अपना परिचय देने से पूर्व कामदेव की स्तुति की है। भारतीय कथाकाव्यों की प्राय: सभी प्रवृत्तियों का समन्वय इसमें हुआ है। छंद-योजना की दृष्टि से इसकी विशिष्टता यह है कि इसमें केवल दोहे का प्रयोग किया गया है। सौंदर्य, प्रेम और शौर्य के अतिरिक्त इसमें धार्मिक तत्त्वों और नैतिक उपदेशों के भी समन्वय का प्रयास किया गया है। कवित्व की दृष्टि से भी रचना उच्च स्तर की है।

**पद्मावत :** मलिक मुहम्मद जायसीकृत 'पद्मावत' (1540) को इस परंपरा का प्रौढ़तम काव्य माना जाता है। इसमें चित्तौड़ के राजा रत्नसेन एवं सिंहल की राजकुमारी पद्मावती के प्रेमविवाह एवं विवाहोत्तर जीवन का चित्रण मार्मिक रूप में हुआ है। इसकी कथावस्तु को आलोचकों ने दो खंडों रत्नसेन-पद्मावती के विवाह तक पूर्वार्द्ध भाग एवं शेष उत्तरार्द्ध भाग में विभाजित करते हुए पूर्वार्द्ध को कल्पनाप्रसूत एवं उत्तरार्द्ध को ऐतिहासिक माना है, किंतु अब ये दोनों ही निष्कर्ष विवादास्पद हो गये हैं। जहां तक पूर्वार्द्ध की बात है, यह जायसी से पूर्व भी विभिन्न रूपों में मिलता है; अत: इसे स्वयं उनकी अपनी कल्पना पर आधारित नहीं माना जा सकता। उत्तरार्द्ध के पूर्णत: ऐतिहासिक होने के विपक्ष में भी अनेक अकाट्य प्रमाण भी इंद्रचंद्र नारंग और डॉ. शिवसहाय पाठक द्वारा प्रस्तुत किये जा चुके हैं। स्वयं कवि का कथन है : "आदि अंत जसि कथ्था अहै, लिखि भाषा चौपाई कहै।" इससे भी यही प्रमाणित होता है कि आदि से ले कर अंत तक जैसी गाथा थी, उसे कवि ने हिंदी चौपाइयों में लिख दिया। संभवत: जायसी को यह कहानी किसी हिंदीतर भाषा में उपलब्ध हुई थी। डॉ. हरदेव बाहरी ने 'प्राकृत-साहित्य का इतिहास' में जायसी से बहुत पूर्व प्राकृत में रचित 'रत्नशेखरकथा' का परिचय दिया है, जिसकी कथावस्तु 'पद्मावत' की कथा से गहरा साम्य रखती है। ऐसी स्थिति में यह भी कहा जा सकता है कि 'रत्नशेखरकथा' या इससे मिलती-जुलती कोई अन्य कथा पद्मावतकार के समक्ष रही थी, जिसे उन्होंने पल्लवित करके हिंदी रूप दे दिया। किंतु, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि 'पद्मावत' के कथा-सौंदर्य की अभिवृद्धि में इसके रचयिता का कोई योगदान नहीं है। वस्तुत: परंपरागत स्थूल ढांचे को सुविकसित करके उसे जैसा सुरम्य रूप दिया गया है, वह निश्चय ही कवि की अपनी प्रतिभा व कल्पनाशक्ति की सबलता को प्रमाणित करता है।

'पद्मावत' मूलत: रोमांचक शैली का कथा-काव्य है, किंतु आलोचकों ने इसे आदर्शपरक महाकाव्यों की कसौटी पर कसने का प्रयास किया; फलस्वरूप उन्हें निराशा का सामना करना पड़ा। कुछ विद्वानों ने कथा-काव्य और महाकाव्यों की मूल चेतना एवं पद्धति के सूक्ष्म अंतर को समझे बिना ही, बलात इसे महाकाव्य सिद्ध करने का प्रयास भी किया है। इसके अतिरिक्त उन विद्वानों ने, जिनके लिए भारतीयता का आदर्श एकमात्र राम का एकपत्नीत्व एवं सीता का पातिव्रत्य है, इसकी प्रेमपद्धति को सर्वथा विदेशी एवं इसके प्रतिपाद्य को सूफीमत घोषित कर दिया। यह आश्चर्य की बात है कि जिस काव्य का नायक हिंदू है, जो नाथपंथी वेश में घर से निकलता है तथा जो शिव-पार्वती की सहायता से अपने लक्ष्य में सफल होता है, वह सूफीमत का संदेश किस प्रकार विज्ञापित कर पाता है! यदि पद्मावतकार के दृष्टिकोण में कहीं भी सांप्रदायिकता या मतप्रचार की भावना होती तो वह अपने ही धर्म-भ्राता अलाउद्दीन को शैतान का प्रतिनिधि नहीं बनाता। वस्तुत: कवि ने अपना प्रयोजन स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हुए लिखा है : "औ मन जानि कबित अस कीन्हा, मकु यह रहै जगत महं चीन्हा।" अर्थात जगत में अपना चिह्न छोड़ जाने के लिए यह काव्य लिखा गया है, किंतु फिर भी यह भ्रांत धारणा प्रचलित है कि इसकी रचना सूफीमत के प्रचार के उद्देश्य से हुई थी।

'पद्मावत' के विभिन्न पात्र विभिन्न दार्शनिक तत्त्वों के भी प्रतीक हैं। इस दृष्टि से इसे रूपक-काव्य (allegory) भी कहा जा सकता है। प्रतीकार्थों का संकेत कवि ने अत्यंत स्पष्ट रूप में अपने काव्य के अंत में इस प्रकार दे दिया है :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*मैं ऐहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछू और न सूझा।*
*तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुद्धि पद्मिनी चीन्हा।*

× × ×

*गुरु सुवा जेहि पन्थ देखावा। बिन गुरु जगत को निरगुण पावा।*
*नागमती यह दुनिया धंधा। बांचा सोइ न एहि चित बंधा।*

उपर्युक्त रूपक स्पष्टतः भारतीय निर्गुणसाधना का द्योतक है, जिसमें साधक का मन (रत्नसेन) शरीर-सुख (चित्तौड़) का त्याग करके गुरु के निर्देश से उपलब्ध सात्त्विक ज्ञान (पद्मावती) की सहायता से अंत में मोक्ष प्राप्त करता है। किंतु, आचार्य शुक्ल ने जायसी के प्रतीकार्थों को तोड़-मरोड़ कर उन्हें ऐसा रूप देने की चेष्टा की, जिससे कि इस रूपक से भारतीय निर्गुणसाधना के स्थान पर सूफीसाधना की व्यंजना हो सके। जायसी ने रत्नसेन को मन का प्रतीक माना था, शुक्ल जी ने उसे आत्मा का प्रतीक बना दिया; कवि के अनुसार पद्मावती केवल सात्त्विक बुद्धि (श्रद्धायुक्त ज्ञान) की प्रतीक थी, जबकि शुक्ल जी ने उसे 'बुद्धि अर्थात परमात्मा' की प्रतीक बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि रत्नसेन-पद्मावती अर्थात आत्मा-परमात्मा के मिलन के बाद रूपक आगे नहीं बढ़ पाता। इसका समाधान यह खोजा गया कि रूपक 'पद्मावत' के पूर्वार्द्ध पर ही लागू होता है, उत्तरार्द्ध पर नहीं। किंतु जायसी ने तो राघवचेतन और अलाउद्दीन को भी क्रमशः शैतान और माया का प्रतीक मान कर उत्तरार्द्ध को भी रूपक से संबंधित माना है, क्योंकि ये पात्र काव्य के उत्तरार्द्ध में ही आते हैं। इस तरह जब आलोचक प्रवर को पूरे काव्य पर सूफीमत आरोपित करने में सफलता न मिली तो उन्होंने रूपक को ही असंगत घोषित कर दिया। परवर्ती संपादकों ने इस असंगत रूपक को ही प्रक्षिप्त घोषित करके शोधकर्त्ताओं को इसका वास्तविक अर्थ खोजने के कष्ट से सदा के लिए मुक्त कर दिया। फिर भी, शुक्ल जी का यह कथन कि रत्नसेन-पद्मावती आत्मा-परमात्मा के प्रतीक हैं—आज भी हमारे लिए 'वेदवाक्य' है। जायसी पर अनेक विद्वानों ने अपनी अपनी दृष्टि से शोध-कार्य किया है, किंतु 'पद्मावत' की रूपक संबंधी उपर्युक्त लक्ष्मणरेखा के उल्लंघन का साहस उनमें से कोई भी नहीं कर पाया है जबकि कवि की पंक्तियां आज भी चुनौती दे रही हैं :

*प्रेम कथा एहि भांति विचारहु।*
*बूझि लेउ जौ बूझै पारहु॥*

अस्तु, यदि जायसी के संकेतों को यथार्थ रूप में ग्रहण करते हुए उनका अनुगमन किया जाये तो 'पद्मावत' का समस्त रूपकत्व सर्वथा संगत एवं निर्दोष सिद्ध होता है, किंतु उस स्थिति में वह सूफी-साधना का प्रतिपादक न हो कर, भारतीय मोक्षसाधना का ही व्यंजक सिद्ध होता है। 'पद्मावत' के रूपक तत्त्व का भारतीय साधना-पद्धति से कितना गहरा संबंध है, यह देखने के लिए 'कामायनी' के रूपक से भी इसकी तुलना की जा सकती है। दोनों के पात्रों के प्रतीकार्थों में गहरा साम्य है :

| *पद्मावत* | *कामायनी* | *प्रतीकार्थ* |
|---|---|---|
| 1. रत्नसेन | मनु | मन |
| 2. पद्मावती | श्रद्धा | 'हृदयनिवासिनी बुद्धि' या श्रद्धा |

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

| | | |
|---|---|---|
| 3. नागमती | इड़ा | 'दुनिया धंधा' या 'सांसारिकता की ओर ले जाने वाली बुद्धि' |
| 4. राघव-चेतन और अलाउद्दीन | किलात-आकुलि | आसुरी शक्तियां |

'पद्मावती' और 'कामायनी' दोनों में ही साधक सात्त्विक बुद्धि या श्रद्धा की सहायता से बंधनों से मोक्ष या अलौकिक आनंद प्राप्त करते हैं। अत: 'पद्मावत' के रूपकतत्त्व का संबंध सूफीमत से न हो कर भारतीय साधना-पद्धति से ही सिद्ध होता है—इसमें कोई संदेह नहीं।

कवितत्व एवं भावव्यंजना की दृष्टि से 'पद्मावत' अत्यंत उच्चकोटि का काव्य है। पद्मावती के सौंदर्य, नागमती के विरह, रत्नसेन के साहस, त्याग एवं शौर्य की व्यंजना इसमें अत्यंत प्रभावोत्पादक शैली में हुई है। भारतीय कथाकाव्य की प्राय: सभी रूढ़ियों एवं प्रवृत्तियों का नियोजन इसमें सफलतापूर्वक हुआ है। काव्य की शैली में सर्वत्र प्रौढ़ता एवं गंभीरता परिलक्षित होती है। प्रतीकात्मक या रूपकतत्त्व के कारण इसमें व्यंग्यप्रधान ध्वनि का प्रादुर्भाव सहज ही हो गया है। इसकी भाषा अवधी है तथा छंद-योजना में नियमित रूप में चौपाई व दोहे का प्रयोग हुआ है। मध्यकालीन आख्यानों में विभिन्न शास्त्रों के ज्ञान को गुंफित करने की भी प्रवृत्ति रही है। 'पद्मावत' में यह अपने चरमोत्कर्ष रूप में दृष्टिगोचर होती है। भारतीय दर्शन, ज्योतिष, कामशास्त्र, पाकशास्त्र, बागवानी, शस्त्रविद्या आदि के परंपरागत ज्ञान का गुंफन इसमें चेष्टापूर्वक किया गया है, जिससे कहीं-कहीं अनावश्यक विस्तार एवं अरुचिकर इतिवृत्तात्मकता का दोष भी इसमें आ गया है। फिर भी, समग्र रूप में यह अत्यंत उच्चकोटि का प्रबंधकाव्य है, जिसकी तुलना में 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' जैसे कुछ काव्य ही रखे जा सकते हैं।

'पद्मावत' के अतिरिक्त जायसी द्वारा रचित और भी अनेक काव्य उपलब्ध हुए हैं, जिनमें 'अखरावट', 'आख़िरी क़लाम', 'चित्ररेखा', 'कहरानामा', 'मसलानामा' आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें 'चित्ररेखा' एक लघु प्रेमाख्यान है, जबकि शेष अत्यंत छोटी-छोटी रचनाएं हैं, जो कवि की विचारधारा के विभिन्न पक्षों तथा नये-नये प्रयोगों के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

**मधुमालती :** मंझनकृत 'मधुमालती' (1545) में नायक-नायिका के प्रथम दर्शनजन्य प्रेम के साथ-साथ पूर्व जन्म के प्रणय-संस्कारों की भी महत्ता दिखायी गयी है। नायक के प्रेम की गंभीरता एवं एकोन्मुखता का परिचय इस बात से मिलता है कि वह एक ओर तो मधुमालती की प्राप्ति के लिए भांति-भांति के कष्टों को सहन कर लेता है तथा दूसरी ओर महासुंदरी प्रेमा के प्रणय-प्रस्ताव को ठुकरा देता है। सामान्यत: हिंदी प्रेमाख्यानों में नायक को बहुपत्नीवादी दिखाया गया है, किंतु यह प्रेमाख्यान इसका अपवाद है। प्रेमाख्यानों की परंपरागत रूढ़ियों में से नायक के योगी हो कर घर से निकलने, किसी अन्य राजकुमारी को राक्षस से बचाने, मां के शाप के कारण नायिका के पक्षी हो जाने आदि का निर्वाह इसमें मिलता है। कवि का लक्ष्य प्राय: प्रेम के उच्च एवं उदात्त स्वरूप की व्यंजना करना रहा है, जिसमें वह सफल हुआ है। इसमें अवधी भाषा एवं दोहा-चौपाई का प्रयोग हुआ है तथा इसकी शैली में सरलता व सरसता दृष्टिगोचर होती है।

**ढोला-मारू रा दूहा :** कल्लोल कवि द्वारा रचित 'ढोला-मारू रा दूहा' राजस्थानी प्रेमाख्यान है, जिसका रचनाकाल श्री नरोत्तमदास स्वामी ने 1393 ई. के पूर्व माना है, जबकि डॉ. मोतीलाल मेनारिया के अंत:साक्ष्य के आधार पर इसे 1473 ई. में रचित सिद्ध किया गया है। इस काव्य में नरवर देश के राजकुमार ढोला (दूल्हा) और पूंगल देश की राजगुमारी मारवणी के विवाहोत्तर प्रेम

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और विरह का निरूपण अत्यंत मार्मिक रूप में किया गया है, किंतु फिर भी यह शुद्ध प्रेमाख्यान या रोमांस काव्य की श्रेणी में नहीं आता, क्योंकि रोमांस में विवाह-पूर्व प्रेम एवं नायिका की प्राप्ति के लिए किये गये शौर्य की व्यंजना आवश्यक होती है; जबकि इसमें इनका अभाव है। कदाचित गार्हस्थिक दांपत्य भाव एवं शुद्ध रोमांस के अंतर को न समझ पाने के कारण ही इसे प्रेमाख्यानों में स्थान देने की परंपरा चल पड़ी है। फिर भी, प्रेम और विरह की मार्मिकता की दृष्टि से यह अत्यंत उच्चकोटि का काव्य है। मारवणी के संदेश में प्रणय-भाव की गंभीरता दिखायी पड़ती है :

*कागल नहीं क मसि नहिं, क लिखतां आलस थाई।*
*कई उण देस संदेसड़ा, मोलई बडई बिकाई॥*

× × ×

*तू ही सज्जण मित्त तूं प्रीतम तूं परिवांण।*
*हियड़ई भीतर तूं बसई, भावई जांण न जाण॥*

काव्य-शैली की दृष्टि से भी यह परंपरागत प्रेमाख्यानों से भिन्न है। इसमें केवल दोहों का प्रयोग है, भाषा पुरानी राजस्थानी है। अतः विषयप्रतिपादन एवं शैली दोनों ही दृष्टियों से इसे रोमानी आख्यान के स्थान पर विशेष प्रकार का शृंगारकाव्य मानना उचित होगा।

**माधवानल-कामकंदला चौपाई :** यह इसी नाम के पूर्व रचित प्रेमाख्यान पर आधारित काव्य है, जिसकी रचना 1556 ई. में कुशललाभ द्वारा हुई। इसमें नायक-नायिका के अनेक जन्मों की कथा का प्रतिपादन अत्यंत विस्तार से किया गया है। इसमें चौपाइयों के बीच-बीच में दोहा, सोरठा, गाथा आदि का प्रयोग हुआ है तथा इसकी भाषा राजस्थानी है।

**रूपमंजरी :** अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नंनदास द्वारा रचित 'रूपमंजरी' (1568) में प्रेमाख्यान-परंपरा की विभिन्न प्रवृत्तियों का समन्वय करते हुए रूपमंजरी और कृष्ण के प्रेम का चित्रण अत्यंत स्वच्छंद रूप में किया गया है। रूपमंजरी विवाहिता है, किंतु वह स्वप्न में कृष्ण को देख कर उनसे प्रेम करने लगती है। अपने प्रणय-स्वप्नों की पूर्ति के लिए वह दांपत्य, परिवार एवं समाज की मर्यादाओं के अतिक्रमण में भी कोई संकोच नहीं करती। वस्तुतः कवि का लक्ष्य भी वैवाहिक बंधनों का विरोध करते हुए परकीया भाव या उपपत्ति रस की स्थापना करना है, जिसका समर्थन उन्होंने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में किया है। नायिका के रूप-सौंदर्य, प्रणय-वेदना, विरह आदि के निरूपण में भी कवि ने अतिशयोक्तिपूर्ण शैली का प्रयोग किया है। कदाचित कवि के उन्मुक्त प्रेम-निरूपण का भक्त-मंडली द्वारा विरोध हो सकता है, इसी संभावना का निराकरण करने के लिए कवि ने आरंभ में ही ऐसे व्यक्तियों को 'नीरस' घोषित करके उनका मुंह बंद कर दिया है :

*पुनि कवि अपने मन मैं गुनै। मो कबित कोउ निरस न सुनै॥*

× × ×

*बाला-स्मित कटाच्छ अरु लाजा। अंधेरे बालम कै किहि काजा॥*

काव्य के आरंभ में कवि ने ईशस्तुति, रचना के उद्देश्य, आत्मपरिचय आदि का निरूपण प्रेमाख्यानों की परंपरा के अनुसार ही किया है तथा इसमें दोहा-चौपाई शैली का भी प्रयोग हुआ है, किंतु इसकी भाषा ब्रजभाषा है। काव्यत्व की दृष्टि से भी यह रचना अत्यंत प्रौढ़ एवं मार्मिक है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**प्रेमविलास-प्रेमलता की कथा :** इसकी रचना जैन श्रावक जटमल ने 1556 ई. में लाहौर में की थी। कवि ने इसका आरंभ 'जैनाय नमः' से करते हुए अपना परिचय एवं तत्कालीन शासक का नाम भी दिया है। इसकी कथावस्तु मौलिक है, जिसमें लोकोत्तर घटनाओं की प्रधानता है। नायक-नायिका का प्रेम प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा उत्पन्न होता है तथा वे गुप्त विवाह करके घर से भाग जाते हैं। कथा की परिणति शांत रस में की गयी है। इसमें दोहा-चौपाई छंदों का प्रयोग हुआ है, शैली में परिपक्वता का अभाव है।

**छिताई वार्ता :** 'छिताई वार्ता' (1590) के रचयिता नारायणदास थे, जिन्होंने इतिहास और कल्पना के बल पर अपनी कथा का निर्माण किया। इसकी नायिका छिताई देवगिरि के राजा रामदेव यादव की कन्या थी, जो ढोल समुद्रगढ़ के राजकुमार से प्रेम करती थी। नायक-नायिका के विवाह के अनंतर अलाउद्दीन खिलजी द्वारा उनके प्रणय में व्यवधान उस्थित किया जाता है, किंतु अंत में उनका पुनर्मिलन हो जाता है। 'पद्मावत' का राघव चेतन इस काव्य में भी दौत्य कर्म का पालन करता है। अनेक अन्य दृष्टियों से भी इसका कथानक 'पद्मावत' से प्रभावित सिद्ध होता है। इसकी भाषा राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा है तथा इसमें दोहा-चौपाई शैली का प्रयोग किया गया है। कवि ने बीच-बीच में लोकनीति संबंधी तत्त्वों का भी निर्देश किया है। काव्यत्व की दृष्टि से रचना साधारण है।

**माधवानल-कामकंदला :** इस प्रेमकथा को ले कर अनेक आख्यान इससे पूर्व भी लिखे जा चुके थे, किंतु आलम कवि ने प्रस्तुत 'माधवानल-कामकंदला' (1584) को और अधिक मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया है। पूर्ववर्ती कवियों ने नायक-नायिका के अनेक जन्मों की घटनाओं का वर्णन किया है, जबकि आलम ने एक ही जन्म की घटनाओं का निरूपण स्वाभाविक रूप में किया है। इसकी भाषा अवधी है और चौपाइयों की पांच-पांच अर्द्धालियों के बीच दोहे या सोरठे का प्रयोग किया गया है। काव्यात्मकता की दृष्टि से यह रचना अत्यंत सरस एवं मार्मिक है।

**चित्रावली :** 'चित्रावली' (1613) के रचयिता उस्मान गाजीपुर के निवासी थे। अपनी रचना का उद्देश्य उन्होंने अमर होने की इच्छा की पूर्ति करना बताया है। साथ ही उन्होंने अन्य कवियों को 'चित्रावली' से बढ़ कर प्रेमकथा लिखने की चुनौती भी दी है : ''जाकी बुद्धि होइ अधिकाई, आन कथा एक कहै बनाई।'' इसमें कथाकाव्य की प्रायः सभी प्रवृत्तियों—ईश्वरस्तुति, आत्मपरिचय, समकालीन शासक का उल्लेख आदि का निर्वाह करते हुए सुजान और चित्रावली के चित्रदर्शनजन्य प्रेम का निरूपण किया गया है। शिव के आशीर्वाद से नायक की उत्पत्ति, देव द्वारा सोते हुए नायक को नायिका के रंगमहल में पहुंचा देना, शिवमंदिर में नायक-नायिका का प्रथम साक्षात्कार, नायक द्वारा नायिका के अतिरिक्त किसी अन्य सुंदरी का उद्धार और उससे विवाह, नायिका के पिता द्वारा नायक का विरोध, समुद्री तूफ़ान, आदि परंपरागत कथानकरूढ़ियों का सन्निवेश इसमें सफलतापूर्वक हुआ है। सौंदर्य, प्रेम और विरह की व्यंजना में कवि ने सहृदयता एवं भावप्रवणता का परिचय दिया है। इसमें चौपाई की सात-सात उर्द्धालियों के पश्चात एक-एक दोहे का प्रयोग किया गया है। इस काव्य की भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण अवधी है।

**रसरतन :** इसके रचयिता पुहकर अकबर के दरबारी दुर्गादास के प्रपौत्र थे। पुहकर सुशिक्षित एवं सुपठित थे, जिसकी झलक उनके काव्य में भी मिलती है। 'रसरतन' (1618) में राजकुमारी रंभा और सोम के प्रेम का निरूपण किया गया है। रंभा का जन्म चंडी की उपासना से होना, नायक-नायिका के प्रेम का उद्भव स्वप्नदर्शन द्वारा होना, अप्सराओं द्वारा सोते हुए राजकुमार को उठा ले जाना, नायक का योगी के वेश में घर से निकलना, शिवमंदिर में नायक-नायिका की भेंट, तोते के द्वारा संदेशों का आदान-प्रदान आदि कथारूढ़ियों का प्रयोग परंपरा के अनुसार ही किया गया है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नारीसौंदर्य, नायिका की संभोगकालीन चेष्टाओं, विरह वेदना आदि के निरूपण में कवि ने विशेष रुचि प्रदर्शित की है। विरह-दशाओं के निरूपण में रीतितत्त्वों का भी उपयोग किया गया है। इसकी भाषा अवधी है तथा छंद-योजना में दोहा-चौपाई प्रयुक्त है।

**ज्ञानदीप :** 'ज्ञानदीप' (1619) की रचना शेख नबी द्वारा हुई थी। उन्होंने अपने प्रतिपाद्य विषयों में वीर, शृंगार, विरह और योग का उल्लेख करते हुए परंपरागत कथाओं में भी सहायता लेने की बात स्वीकार की है। कुछ कथानकरूढ़ियों में मौलिकता लाने का भी प्रयास किया गया है, जैसे कि इसमें नायक के स्थान पर नायिका की सखी योगी का वेश धारण करती है। 'नलोपाख्यान' की भांति इसमें भी नायक की खोज के लिए स्वयंवर का आयोजन होता है। इसकी भाषा अवधी है तथा इसमें दोहा-चौपाई शैली का प्रयोग किया गया है। कवि के ज्ञानप्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण संगीत की राग-रागिनियों, वैवाहिक संस्कारों, शकुनों आदि का विवरण प्रस्तुत किया है, जिससे भाव-व्यंजना शिथिल एवं प्रभावशून्य हो गयी है। शेख नबी ने मुसलमान होते हुए भी वेद-मार्ग की प्रशंसा जी खोल कर की है। काव्यत्व की दृष्टि से रचना साधारण है।

**जान कवि के प्रेमाख्यानकाव्य :** सत्रहवीं शती के मध्य संख्या की दृष्टि से सर्वाधिक प्रेमाख्यानों की रचना करने का श्रेय जान कवि को है, जिनका रचनाकाल 1612-1664 ई. माना जाता है। उन्होंने 78 काव्यग्रंथों की रचना की थी, जिनमें 29 प्रेमाख्यान हैं। इनमें से प्रमुख ये हैं : कथा रतनावती, कथा कनकावती, कथा कंवलावती, कथा मोहिनी, कथा नल-दमयन्ती, कथा कलावंती, कथा रूपमंजरी, कथा पिजरषां साहिजादै वा देवलदे, कथा कलंदर आदि। इनमें प्राय: कथा-काव्य के लक्षणों का निर्वाह किया गया है। इनमें सभी में प्रेम और विरह की प्रमुखता है। संख्या-विस्तार की प्रवृत्ति के कारण ही जान कवि ने अनेक प्राचीन व समसामयिक भारतीय प्रेम-कथाओं का पुनर्लेखन करने के साथ-साथ फ़ारसी-प्रेमाख्यानों की ओर भी ध्यान दिया है। कदाचित वे पहले हिंदी-कवि हैं, जिन्होंने फ़ारसी के लैला-मजनूं आख्यान को ले कर 'ग्रन्थ लैलै मजनूं' काव्य की रचना की है। काव्यत्व की दृष्टि से उनकी रचनाएं साधारण कोटि की हैं तथा उनकी भाषा राजस्थानी प्रभावित ब्रजभाषा है। छंद-योजना में दोहा-चौपाई के अतिरिक्त कवित्त, सवैया आदि का भी प्रयोग किया गया है।

**नल-दमयंती संबंधी प्रेमाख्यान-काव्य :** इस प्रसिद्ध आख्यान को ले कर अनेक हिंदी कवियों ने प्रेमकथाओं की रचना की है, जिनमें नरपति व्यास और मुकुंद सिंह उल्लेखनीय हैं। इनकी रचनाओं के नाम क्रमश: इस प्रकार हैं : 'नल-दमयंती' (1625), 'नलचरित्र' (1641)। ये दोहा-चौपाई शैली में रचित हैं और काव्यत्व की दृष्टि से इनका रचना-स्तर साधारण है।

## मूल्यांकन

अंत में हम इस युग की अन्य काव्यधाराओं के परिप्रेक्ष्य में प्रेमाख्यान काव्य के महत्त्व पर विचार करते हुए कह सकते हैं कि हिंदी की यही एक ऐसी काव्य-परंपरा है जिसका प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश की कथाकाव्य-परंपरा से सीधा संबंध स्थापित होता है तथा जिसमें भारतीय साहित्य-परंपरा की विभिन्न कथानक-रूढ़ियों व काव्य-प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व विद्यमान है। साथ ही यह मध्यकालीन हिंदी साहित्य की भी सबसे दीर्घ एवं व्यापक परंपरा कही जा सकती है। धर्माश्रय एवं राजाश्रय से दूर लोकाश्रय में मुक्त रूप में पोषित होने वाली यही एक परंपरा है, जिसने मध्ययुगीन जनता की काव्यरुचि एवं मनोरंजन की अभिलाषा को रोमांचक आख्यानों द्वारा तुष्ट किया। जैसा कि सोलहवीं शती के कवि बनारसीदास ने अपनी आत्मकथा 'अर्द्धकथानक' में बताया है, उस युग के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

युवक इन आख्यानों को पढ़ने के लिए सदा लालायित रहते थे, जिससे इनकी लोकप्रियता का प्रमाण मिलता है।

इसके अतिरिक्त इनके द्वारा जनसाधारण के ज्ञानकोश में भी अभिवृद्धि हुई, क्योंकि अनेक कवियों ने अपनी रचनाओं में विभिन्न शास्त्रीय तत्त्वों—दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक, कामशास्त्रीय, ज्योतिष, वैद्यक आदि का भी समन्वय किया है। मध्यकालीन संस्कृति एवं लोकजीवन के नाना पक्षों का भी चित्रण इनमें सहज स्वाभाविक रूप में हुआ है। अतः पूर्वपरंपरा के निर्वाह एवं युगीन वातावरण के चित्रण की दृष्टि से तो इनका महत्त्व निर्विवाद रूप में है, साथ ही शुद्ध काव्यत्व की दृष्टि से भी यह परंपरा कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। रसराज शृंगार के तीन प्रमुख पक्षों—सौंदर्य, प्रणय एवं विरह का चित्रण इनमें अतिशय रोमांचक रूप में हुआ है। यद्यपि भक्तिकाल और रीतिकाल की अन्य काव्यधाराओं में भी प्रेम और शृंगार के विभिन्न रूप उपलब्ध होते हैं, किंतु इनकी प्रणयभावना की विशेषता यह है कि वह न तो अपना औचित्य सिद्ध करने के लिए किसी पौराणिक अवतार का आश्रय ग्रहण करती है और न ही दूत-दूतिकाओं के माध्यम से आयोजित होने वाली संभोगक्रीड़ा तक सीमित रह जाती है; अपितु वह साहस, त्याग एवं आत्मबलिदान की भावना से पुष्ट होकर शुद्ध, परिष्कृत एवं उदात्त रूप में परिणत होती है। इन आख्यानों के नायक अपने प्रणयस्वप्नों की पूर्ति के लिए प्रायः अपने प्राणों को भी समर्पित करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं, अतः निश्चय ही उनकी गाथा पाठक को कामोद्रेक एवं भोगलालसा से ऊपर उठा कर सौंदर्य, शौर्य एवं औदात्य की उच्च भूमि की ओर अग्रसर करती है। अवश्य ही यह बात सभी प्रेमाख्यानों पर लागू नहीं होती, किंतु फिर भी समग्र रूप में इन आख्यानों को स्वच्छंद प्रेम की स्वच्छ, गंभीर, भव्य एवं उदात्त व्यंजना के रूप में ग्रहण करते हुए मध्यकालीन हिंदी काव्य में अत्यंत उच्च स्थान प्रदान किया जा सकता है।

## संदर्भ


1. भारतीय संस्कृति और साधना, द्वितीय खंड, पृ. 80-81
2. देखिए, 'संत रैदास और उनका पंथ' (अप्रकाशित), पृ. 116
3. यह ग्रंथ पुरोहित हरिनारायण शर्मा के संग्रहालय में विद्यमान है।
4. देखिए, 'भक्तिकालीन कवियों के काव्यसिद्धांत', डॉ. सुरेशचंद्र गुप्त, पृ. 32-90
5. जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृ. 29-30
6. ''कथा संस्कृत सुनि कछु थोरी, भाषा बांधि चौपई जोरी।'' —आलम (माधवानल कामकंदला)
7. जायसी के परवर्ती हिंदी सूफी कवि और काव्य, पृ. 283
8. देखिए, 'जायसी-ग्रंथावली', भूमिका, पृ. 151-155
9. देखिए, 'काव्यालंकार', रुद्रट, 16/20-23
10. गुजराती के प्रसिद्ध विद्वान श्री केशवराम काशीराम शास्त्री द्वारा संपादित तथा प्रकाशित।
11. चांदायन, भूमिका, पृ. 16

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अध्याय : 5

# सगुण भक्तिकाव्य

## वैष्णव भक्ति का उदय

भक्ति के उद्भव और विकास के संबंध में पर्याप्त मतभेद होने पर भी यह प्रामाणिक रूप से कहा जा सकता है कि आस्तिक भाव से ईश्वरोपासना करने वाले आर्यों में भक्ति के मूल बीज विद्यमान थे और भक्ति के विविध प्रकारों को उन्होंने वैदिक काल में ही किसी-न-किसी रूप में ग्रहण कर लिया था। मध्ययुगीन सगुण भक्ति में उपलब्ध अनुरागसूचक भक्ति की अभिव्यक्तियों को पाश्चात्य विद्वान अभारतीय मान कर विदेशी प्रभाव सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं। वेबर, कीथ, ग्रियर्सन, विल्सन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने कृष्ण को क्राइस्ट और कृष्णभक्ति को ईसामसीह की प्रेमोपासना का रूप सिद्ध करने का प्रयास किया है। वेबर महोदय ने तो कृष्ण जन्माष्टमी-पर्व और 'महाभारत' में वर्णित श्वेत द्वीप को भी ईसाईधर्म की देन बताया है। किंतु, जिन कल्पित तथ्यों के आधार पर सगुण भक्ति को अभारतीय सिद्ध करने का प्रयास किया गया, उन सभी तथ्यों को अनुसंधान द्वारा अनेक विद्वानों ने निर्मूल एवं भ्रामक ठहरा दिया है। सगुण भक्ति में रागतत्त्व की प्रधानता देख कर जिन पाश्चात्य विद्वानों को इसके उद्भव के संबंध में भ्रम हुआ, निश्चय ही उन्होंने न तो वैदिक वाङ्मय का अध्ययन किया था और न ही उन्होंने भारतीय उपासनामार्ग की परंपरा को समझा था। भारतीय भक्तिभावना का जितना व्यापक विस्तार वैदिक काल से मध्ययुग तक हुआ, यदि उसका शतांश भी इन विद्वानों को विदित होता तो इस सगुण भक्ति को अभारतीय या विदेशी तत्त्व कहने की भूल ये विद्वान कदापि न करते।

वस्तुतः वैष्णव भक्ति के क्रमिक विकास का यदि अनुसंधान किया जाये तो उसका बीज वैदिक धर्म में लक्षित होगा। वैदिक विष्णु देवता को यदि सगुण भक्ति का अवतारी देवता माना जाये तब तो इसका क्रमिक विकास सहज ही स्थित हो जाता है, किंतु वैदिक विष्णु और भागवत धर्म के स्वीकृत विष्णु देवता में भेद माना जाता है। भागवत धर्म का उदय ईसा से चार-पांच शती पूर्व हो गया था, अतः मध्ययुगीन भक्ति के मूलाधार विष्णु (राम और कृष्ण) देवता न तो पाश्चात्य प्रभाव की उपज हैं और न रागानुरागी प्रेमाभक्ति किसी अभारतीय तत्त्व से प्रभावित है। भागवत, पांचरात्र और सात्वत मतों का उल्लेख 'महाभारत' में बड़े विस्तार से उपलब्ध है, और इन्हीं मतों का विकास मध्ययुग में हुआ है। पाश्चात्य विद्वानों को विदित होना चाहिए कि वैदिक विष्णु देवता को यदि वे मध्ययुगीन विष्णु का रूप नहीं मानते, तब भी भागवत धर्म में स्वीकृत विष्णु तो ईसामसीह से पांच हज़ार वर्ष प्राचीन हैं। भागवत धर्म का पुनर्गठन ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में हुआ था, जिसके फलस्वरूप यूनान देश के निवासी हेलियोडोरस ने अपने को 'भागवत' कहने में गौरव का अनुभव किया और अपने गरुड़स्तंभ में वासुदेव के रूप में विष्णु का उल्लेख किया। गुप्त सम्राट भी अपने को 'परम भागवत' कहने में गौरव मानते थे। गुप्तकाल में विष्णु के अवतारों की केवल चर्चा ही नहीं, पूजा-अर्चना भी होती थी। इसी समय के अभिलेखों में विष्णु के वासुदेव, नारायण आदि नामों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का उल्लेख इस तथ्य का प्रमाण है कि उनकी उपासना-पूजा के लिए अनेक नाम प्रचलित हो चुके थे। इन प्रमाणों की ओर पाश्चात्य विद्वानों ने ध्यान न दे कर सगुण भक्ति को अभारतीय सिद्ध करने का मिथ्या प्रयास किया है।

सगुण-भक्ति साहित्य में अनुरागपरक माधुर्यभाव-मंडित अभिव्यक्तियों को देख कर एक दूसरे प्रकार का भ्रम भी फैला है। प्रेम, राग और श्रृंगार के साथ दैन्य एवं कार्पण्य की उक्तियां यह भ्रम उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध हुई हैं कि निर्गुण-निराकार-ब्रह्मोपासना से दूर हट कर सगुणोपासक भक्त कवि तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से खिन्न और उद्विग्न हो कर भगवान की शरण में जाने को लालायित हुए थे। राजनीतिक दासता अर्थात मुग़ल शासकों की साम्राज्य-स्थापना के बाद हिंदू जनता एक प्रकार की लाचारी, परवशता और निराशा में लीन हो कर ईश्वर की शरण में जाने के सिवा त्राण का और कोई उपाय ढूंढ़ नहीं पाती थी। फलतः राम और कृष्ण की सगुण भक्ति द्वारा वह ऐसे अवतारी भगवान को अपने पास रखना चाहती थी, जो निस्संबल, त्रस्त, पीड़ित और विषण्ण हिंदू जनता की रक्षा कर सके। इन सगुणोपासक भक्त कवियों ने नाथपंथ या अन्य निर्गुणपंथी कवियों का अनुसरण न करते हुए अवतारी विष्णु भगवान को अपना आराध्य बनाया और उसके रूप, शील, गुण, सौंदर्य आदि के मनोहारी चित्र अपनी कविता में अंकित किये। इस प्रकार के वर्णनों में परोक्ष रूप से उनकी यह धारणा रही कि राजनीतिक दासत्व से पीड़ित होने पर भी भक्त को शांत और आत्मनिर्भर होने का मार्ग सगुण भक्ति के माध्यम से सुलभ हो सकता है। हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वाले विद्वानों ने इन भक्त कवियों की भक्तिभावना के पीछे राजनीतिक परिस्थिति का प्रच्छन्न प्रभाव स्वीकार किया है। किंतु सगुण भक्ति की परंपरा का अनुशीलन करने से यह विदित होता है कि हिंदी के भक्त कवियों की सगुण भक्ति साधना समग्रतः या अंशतः राजनीतिक परिस्थिति या परिवेश का परिणाम न हो कर वैदिक काल से प्रवहमान भक्ति का ही एक रूप था। अवतारवाद की कल्पना के साथ ही इस देश में सगुण भक्ति के इस व्यापक भक्ति-भाव को स्थान मिल गया था और इसके विभिन्न रूप और प्रकार भी विकसित होने लगे थे। यदि राजनीतिक दासत्व का दुःखद प्रसंग न भी आता, तब भी सगुण भक्ति अपने स्वाभाविक रूप में विकसित होती।

सगुण भक्ति के प्रबल प्रवाह का एक अन्य कारण और भी निर्दिष्ट किया जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि बौद्ध और जैन धर्मों को नास्तिक ठहरा देने के बाद अद्वैतवाद का प्रचार हुआ और शंकराचार्य इस सिद्धांत के प्रबल पोषक बने। 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के आधार पर संसार को मिथ्या और क्षणभंगुर मानने वाले ब्रह्मज्ञानी आचार्यों के साथ कुछ अज्ञानी और निरक्षर ब्रह्मवादी भी पैदा हो गये। निर्गुण ब्रह्म की बात करने वाले ये तथाकथित अज्ञानी साधु संन्यासी न तो ब्रह्म विद्या से परिचित थे और न किसी यथार्थ तत्त्वज्ञान का ही इन्हें बोध था। वैराग्य और मायावाद का ढोंग करने वाले इन साधुओं ने समाज में ऐसी लहर अवश्य पैदा कर दी थी, जो संसार को क्षणभंगुर बता कर विरक्त बनने का प्रोत्साहन देने वाली थी। ऐसे निरगुनिये दंभी साधकों से बचने और संसार को सारयुक्त मान कर भगवद्भक्ति के पथ पर जनमानस को लाने के लिए सगुण साकार अवतारी विष्णु की भक्ति का रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभाचार्य आदि दाक्षिणात्य आचार्यों द्वारा पुनः प्रवर्तन किया गया। इन आचार्यों ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद का विरोध करते हुए भक्तिमार्गीय उपासना को प्रश्रय दिया और अपनी सांप्रदायिक दृष्टि के साथ नवीन अद्वैत-दर्शन स्थापित किया। तुलसी, सूर आदि कवियों ने इन आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित सगुण भक्तिमार्ग को प्रशस्त करने में योग दिया।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## वैष्णवधर्म के विविध रूप और वैष्णवभक्ति

वैष्णव धर्म का व्यवस्थित रूप हमें विष्णुपूजा के रूप में भागवत धर्म के प्रतिपादक पांचरात्र, सात्वत एवं नारायणी धर्म की शाखाओं में दृष्टिगत होता है। इन संप्रदायों में भक्तिमार्ग का स्पष्ट उल्लेख होने से वैष्णवभक्ति का इन्हीं से प्रवर्तन मानना चाहिए। काल-निर्धारण के लिए हम प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डॉ. बूलर का अभिमत स्वीकार कर सकते हैं, जिसमें उन्होंने भागवत, सात्वत और पांचरात्र संप्रदायों को नारायण-उपासना या देवकी-पुरुष कृष्ण की उपासना के संप्रदाय कहा है और जिनका समय जैन धर्म के प्रादुर्भाव से बहुत पहले ईसा-पूर्व आठवीं शताब्दी ठहराया है।[1] पालिसाहित्य के प्रसिद्ध विद्वान सेनार्ट ने भी यह मत प्रकट किया है कि विष्णुभक्ति के तत्त्वों तथा कथानकों को बौद्ध साहित्य में ग्रहण किया गया है। भागवत धर्म की स्थापना बुद्धि-जन्म के बहुत पूर्व हो चुकी थी।[2] विष्णुपूजा के संबंध में अंग्रेज विद्वान बार्थ का भी मत है कि यह बहुत प्राचीन है।[3] वृक्ष, सर्प आदि की पूजा से पहले विष्णुभक्ति प्रचारित हो चुकी थी, इसलिए विष्णुपूजा का कोई विदेशी या सीथियन मूल उद्भव स्वीकार करना सर्वथा भ्रममूलक है।

विष्णु और वासुदेव की एकता स्थापित करने वाले भक्तिसंप्रदायों में भागवतसंप्रदाय के बाद सात्वत धर्म माना जाता है। वासुदेव को ही इसका प्रवर्तक भी स्वीकार किया जाता है। 'वासुदेव' और 'सात्वत' शब्द पर्याय के रूप में भी उपलब्ध हैं। सात्वत धर्म के बाद पांचरात्र धर्म का स्थान आता है, जो अपेक्षाकृत अधिक व्यापक शास्त्रीय आधार ले कर चला है। विभिन्न संहिताओं और तंत्रों के आधार पर इसकी स्थापना की गयी है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि 'पांचरात्र' शब्द से जो पांचरात्र धर्म परवर्ती काल में प्रसारित हुआ, वह बौद्ध और जैन जैसे नास्तिक धर्मों के खंडन के लिए था। किंतु, मूल पांचरात्र तो प्राचीन काल से ही चला आ रहा था। 'पांचरात्र' में 'रात्र' शब्द का अर्थ ज्ञान है। पंचविध ज्ञान-वचन को 'पांचरात्र' माना जाता है। परमतत्त्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (संसार)—इन पांच विषयों के समवेत ग्रहण को 'पांचरात्र धर्म' कहते हैं। शंकराचार्य आदि विद्वानों ने भी पांचरात्र धर्म की प्रतिष्ठा की है और उसके संबंध में अपने विचार व्यक्त किये हैं।

इन सांप्रदायिक मतों के साथ वैष्णव भक्ति मार्ग का वर्णन हमें महाभारत, गीता और पुराणग्रंथों में भी मिलता है। 'महाभारत' के अनेक प्रकरण वैष्णवधर्म में स्वीकृत भक्ति का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। गीता 'महाभारत' का एक अंश ही है, किंतु भक्तिक्षेत्र में उसका स्वतंत्र स्थान बन गया है। सांप्रदायिक भक्तिमार्गों के प्रवर्तन से पूर्व गीता और पुराण-साहित्य को ही कृष्णभक्ति का आधार समझा जाता था। गीता में भक्ति का निरूपण प्रत्यक्ष रूप से हुआ है। ऐकांतिक कृष्णभक्ति का जैसा स्वच्छ और स्पष्ट रूप गीता में है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। डॉ. बरुआ ने गीता को 'विश्वास-तत्त्व' की प्रमुखता की दृष्टि से भक्तिग्रंथ स्वीकार किया है।[4] गीता को कर्मयोग नाम देने वाले बालगंगाधर तिलक भी उसे भक्तितत्त्व से परिपूर्ण मानते हैं। 'गीतारहस्य' में उन्होंने स्पष्ट लिखा है, ''यह नहीं समझना चाहिए कि 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः' इत्यादि नवधा भक्ति गीता को मान्य नहीं।''

वैष्णवभक्ति के स्वरूप को स्पष्ट और स्वच्छ रूप से उद्घाटित करने में मुनिवर शांडिल्य और देवर्षि नारद के भक्तिसूत्रों का प्रमुख स्थान है। भक्तिक्षेत्र में शांडिल्य ने जब भक्तिसूत्रों का निर्माण किया, तब भक्ति का व्याख्यात्मक स्तर पर प्रतिपादन अवश्य हो चुका था। महाभारत, गीता, पुराण आदि इसके प्रमाण हैं। इन ग्रंथों के सारतत्त्व को सूत्रों में समाविष्ट करने के निमित्त यह सूत्र-पद्धति स्वीकार की गयी। किंतु, सूत्रों की रचना करते समय कुछ नवीन विचार भी सामने आये। शांडिल्य ने सबसे मौलिक बात यह बतायी कि भक्तिपथ सभी भक्तों के लिए समान रूप से उन्मुक्त है। द्विजेतर भक्त भी भक्तिमार्ग का अनुसरण कर भगवान की भक्ति कर सकता है। उन्होंने दूसरी बात

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यह कही है कि जब तक भक्ति का उदय नहीं होता, आत्मा जन्म-मरण के चक्र में बनी रहती है। भक्तिभाव आने पर ही भव-चक्र का बंधन कटता है। शांडिल्य के अनुसार भक्ति शुद्ध रागात्मिका वृत्ति है। 'परा' और 'अपरा' नाम से भक्ति के दो भेद भी शांडिल्य-सूत्रों में मिलते हैं।

नारद ने अपने भक्तिसूत्रों में भक्ति की उत्कृष्टता बड़े आग्रह के साथ स्थापित की है। हार्दिक पक्ष की प्रधानता और प्रेम पर आश्रित होने से इस भक्ति को प्रेमाभक्ति की संज्ञा दी जाती है। दक्षिण भारत के आलवार भक्तों की भक्तिपद्धति से नारद की भक्ति में बहुत-कुछ साम्य लक्षित होता है। संभवतः इसी कारण कुछ विद्वानों ने रागानुगा भक्ति का उत्स दक्षिण में स्वीकार किया है। नारद ईश्वरीय प्रेम को ही भक्ति की संज्ञा देते हैं। इस प्रेम को प्राप्त कर लेने पर भक्त न तो कुछ चाहता है, न चिंता करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न विषयभोगादि में उत्साही होता है। इस प्रेमरूपा भक्ति को पा कर भक्त सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है। संक्षेप में, भक्तिसूत्रों ने वैष्णवी भक्ति-भावना को एक ऐसा धरातल दिया, जिसे शास्त्रीय भी कहा जा सकता है और व्यावहारिक साधना के लिए सुगम मार्ग भी!

वैष्णवभक्ति के लिए उपर्युक्त ग्रंथों का आधार मिल जाने पर यदि उसे लोकमानस ने बड़े आह्लाद के साथ ग्रहण किया तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। तदनंतर पुराणों ने वैष्णवभक्ति के लिए अवतारी राम और कृष्ण के चरित्र एवं लीलाओं का विस्तार प्रस्तुत कर एक नये आयाम के लिए अवसर प्रदान किया। राम का मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप तो उतने विस्तार से पुराणों में स्थान न पा सका, किंतु कृष्ण की अपार लीलाओं से पुराणों का कलेवर भरा पड़ा है। कृष्ण के ऐश्वर्यपरक कृत्यों में असुरों के विनाश और धर्म-संस्थापन के साथ ही माधुर्यलीलापरक वर्णनों से भी पुराण-साहित्य आपूर्ण है। यह कहना असंगत न होगा कि वैष्णवधर्म का वर्तमान रूप पुराणों द्वारा प्रतिपादित और समर्थित हो कर ही सार्वजनीन बना है। पुराणों में भी 'भागवत पुराण' ने कृष्णावतार को जिस विशद विस्तार के साथ ग्रहण किया, वह मध्ययुगीन कृष्णभक्त कवियों के लिए उपजीव्य बन गया और भागवत के आधार पर कृष्णभक्ति को कवियों ने ब्रजभाषा में उपन्यस्त किया। पुराणों के व्यापक प्रभाव का परिणाम यह हुआ कि प्रस्थानत्रयी के बाद प्रस्थानचतुष्टयी की कल्पना की गयी और 'भागवत पुराण' को उसमें समाविष्ट किया गया। वैष्णवधर्म के प्रवर्तक श्री, ब्रह्म, रुद्र, सनकादि संप्रदायों के अनुयायी आचार्यों ने 'भागवत पुराण' पर टीका, भाष्य, टिप्पणी, वृत्ति आदि लिख कर अपनी पुराण-निष्ठा का परिचय दिया।

## वैष्णवभक्ति के प्रतिष्ठापक आचार्य

वैष्णवभक्ति को विविध रूपों में स्थापित करने वाले आचार्यों का युग ग्यारहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक स्वीकार किया जाता है। श्री रामानुजाचार्य (1017-1127) से यदि आचार्य युग का प्रारंभ माना जाये तो इसमें निंबार्काचार्य, विष्णुस्वामी, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य तक का काल आता है। इन आचार्यों के अतिरिक्त विष्णु (राम और कृष्ण) के उपासक अन्य आचार्य एवं महात्मा भी इसमें समाविष्ट हो जाते हैं; जिनमें कृष्ण चैतन्य, गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास तथा अष्टछाप के कवि, गोस्वामी हितहरिवंश तथा उनके संप्रदाय के कवि, स्वामी हरिदास और उनके संप्रदाय के कवि आते हैं। वैष्णवभक्ति तत्त्व को समझने के लिए हम यहां प्रमुख आचार्यों के सिद्धांतों की संक्षेप में चर्चा करना आवश्यक समझते हैं।

उपर्युक्त वैष्णवाचार्यों ने अपने सिद्धांतों की स्थापना संस्कृत भाषा के माध्यम से की थी। इनके अपने मौलिक ग्रंथ भी उपलब्ध होते हैं, किंतु उनसे भी अधिक महत्त्व इनके भाष्यों, टीकाओं और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वृत्तियों का है। प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र) पर भाष्य लिख कर अपनी दार्शनिक मान्यताओं की स्थापना प्रायः सभी आचार्यों ने की है। यदि पूरा भाष्य या टीका नहीं लिखी है, तो भी आंशिक रूप से इस दिशा में सभी आचार्य प्रयत्नशील रहे हैं। वस्तुतः इन भाष्यों या टीकाओं द्वारा आज उनके मंतव्यों का बोध होता है। शंकराचार्य ने भी प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिख कर अपने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था। अतः परवर्ती वैष्णवाचार्यों को भी इस मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक प्रतीत हुआ।

**श्री रामानुजाचार्य :** आचार्य रामानुज ने अवतारी राम को अपनी विष्णुभक्ति का उपास्य देव स्वीकार कर विशिष्टाद्वैत-सिद्धांत की स्थापना की। उनके मत में पुरुषोत्तम ब्रह्म सगुण और सविशेष हैं। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए वे पांच रूप धारण करते हैं। इन्हीं में अर्चावतार राम की गणना होती है। भक्ति ही मुक्ति का साधन है। 'तत्त्वमसि' सूत्र का अर्थ भी उन्होंने सगुणोपासना के दास्य भाव के आधार पर 'तत् = उनका, त्वं = तू, असि = सेवक है' ऐसा किया है। उन्होंने जीव और ब्रह्म का शेष-शेषी अर्सबंध स्थापित किया है। जीव शेष (दास) और ब्रह्म शेषी (स्वामी) है। भगवान की शरण में कैंकर्य भाव से प्रस्तुत हो कर ही जीवात्मा अपना कल्याण कर सकती है। दार्शनिक स्तर पर यह सिद्धांत 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है और इस संप्रदाय को 'श्रीसंप्रदाय' कहते हैं। इस संप्रदाय का प्रबल प्रभाव रामानंद स्वामी पर देखा जा सकता है। हिंदी के वैष्णव कवियों में गोस्वामी तुलसीदास भी इससे अत्यधिक प्रभावित हैं।

**श्री मध्वाचार्य :** आचार्य मध्व (1199) का जन्म दक्षिण भारत के बेलिग्राम नामक स्थान में हुआ था। वेदांत में पारंगत होने पर भी संन्यास लेने पर इनका नाम आनंदतीर्थ रखा गया। उत्तर भारत की यात्रा पर आने पर ये बदरिकाश्रम गये और वहां वेदव्यास से शालिग्राम की तीन मूर्तियां प्राप्त कीं। यहीं अपने शिष्यों की सुविधा के लिए इन्होंने आठ मंदिरों का निर्माण किया और वैष्णवभक्ति के प्रचार में योग दिया। मध्वाचार्य ने अद्वैतवाद का घोर विरोध किया। इनका दार्शनिक मत द्वैतवाद है। इनके मत में भगवान विष्णु आठ गुणों से उपेत और सर्वोच्च तत्त्व हैं। जगत सत्य है; ईश्वर और जीव का भेद, जीव का जीव से भेद, जड़ का जीव से भेद वास्तविक है। समस्त जीव हरि के अनुचर हैं। जीव स्वभावतः अल्पशक्ति और अल्पज्ञान संपन्न है। अल्पज्ञ जीव सर्वज्ञ विष्णु के अधीन रह कर ही कार्य करता है। जीवों में तारतम्य रहता है। संसारिक दशा में ही नहीं, मोक्षदशा में भी यह तारतम्य विद्यमान रहता है। अपने वास्तविक सुख की अनुभूति ही मुक्ति है। मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन अमला भक्ति है। वेद का समस्त तात्पर्य विष्णु ही है। मध्वाचार्य का संप्रदाय ब्रह्मसंप्रदाय के नाम से विख्यात है।

**श्री विष्णुस्वामी :** विष्णुस्वामी के नाम से तीन आचार्यों का इतिहास-ग्रंथों में उल्लेख मिलता है। रुद्र-संप्रदाय के अंतर्गत किसको आचार्य का स्थान दिया जाये, यह अद्यावधि अनिर्णीत है। 'सर्वज्ञसूक्त' नामक ग्रंथ के रचयिता को प्रायः विद्वान लोग रुद्र-संप्रदाय का आचार्य विष्णुस्वामी मानते हैं, अतः कालनिर्णय कठिन है। डॉ. भण्डारकर के अनुमान से इनका उदय तेरहवीं शताब्दी में हुआ था। विष्णुस्वामी (1300) के मत में ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप हैं तथा वे अपनी आह्लदिनी संवित् के द्वारा आश्लिष्ट हैं। माया उन्हीं के अधीन रहती है। इनके मत में ईश्वर का प्रधान अवतार नृसिंह है। कुछ विद्वान नृसिंह और गोपाल दोनों का इन्हें उपासक मानते हैं। इस संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत ग्रंथरूप में उपलब्ध नहीं हैं। इनकी शिष्य-परंपरा में वल्लभाचार्य का स्थान है और उन्हीं के सिद्धांतों को विष्णुस्वामी-संप्रदाय में स्थान दिया जाता है, अतः वल्लाभाचार्य के सिद्धांतों के निरूपण में ही इस विषय पर विस्तार से विचार किया जायेगा।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**श्री निम्बार्काचार्य :** श्री निम्बार्काचार्य का समय अद्यावधि अनिर्णीत है। निम्बार्क-संप्रदाय में इनको सृष्टि के आदि में उत्पन्न माना जाता है, किंतु डॉ. भंडारकर ने इनका समय 1162 ई. के आसपास स्थिर किया है। कुछ विद्वान इस संप्रदाय को वैष्णवभक्ति का प्राचीनतम संप्रदाय मानते हैं। श्री निम्बार्क का संप्रदाय सनकादि संप्रदाय के अंतर्गत है। इस संप्रदाय का दार्शनिक सिद्धांत 'भेदाभेदवाद' या 'द्वैताद्वैतवाद' है। जीव अवस्था-भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है तथा अभिन्न भी है। जीव ब्रह्म का अंश है, ब्रह्म अंशी है। जीव अणु, अल्पज्ञ है। भक्ति ही मुक्ति का साधन है। विष्णु के अवताररूप कृष्ण ही उपास्य हैं। राधा-कृष्ण की युगलोपासना का विधान इस संप्रदाय में है। ब्रजमंडल में इसका प्रचार है और इसके अंतर्गत श्रीकृष्ण की अनेक लीलाओं के द्वारा भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति की जाती है। निम्बार्क-संप्रदाय के अनेक कवियों ने ब्रजभाषा में सुंदर पदरचना की है। स्वामी हरिदास का सखी-संप्रदाय इसी की शाखा है।

**श्री वल्लभाचार्य :** श्री वल्लभाचार्य (1479) का जन्म रायपुर ज़िले के चंपारन नामक स्थान में हुआ। इनके माता-पिता तैलंग ब्राह्मण थे। किंतु, वल्लभाचार्य का समस्त जीवन उत्तर भारत (काशी, प्रयाग और ब्रजमंडल) में व्यतीत हुआ। ये अपने समय के तेजस्वी, प्रतिभासंपन्न महात्मा थे। सम्राट अकबर भी इनकी विद्धत्ता से प्रभावित थे। वल्लभाचार्य का संप्रदाय आज स्वतंत्र संप्रदाय के रूप में विख्यात है, किंतु मूलतः इसका संबंध विष्णुस्वामी-संप्रदाय से ही स्थिर किया जाता है। दार्शनिक दृष्टि से इस संप्रदाय का सिद्धांत 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है। ब्रह्म माया से सर्वथा अलिप्त अर्थात शुद्ध है, जिस प्रकार स्वर्ण अनेक रूपों में परिवर्तित होने पर भी शुद्ध स्वर्ण रहता है, इसी प्रकार ब्रह्म शुद्ध ही है। ब्रह्म अपनी संधिनी शक्ति द्वारा सत् का, संवित् शक्ति द्वारा चित् का आह्लादिनी शक्ति के द्वारा आनंद का आविर्भाव करता है। जीव सत्य और नित्य है। उसकी उत्पत्ति नहीं होती। जीव अणु है। वह तीन प्रकार का है, शुद्ध जीव, संसारी जीव और मुक्त जीव। जड़ जगत न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट; वरन इसका आविर्भाव और तिरोभाव मात्र होता है। भगवत्-प्राप्ति का साधन भक्ति है। भगवान के पोषण (अनुग्रह) को ही भक्ति का संबल मानना चाहिए, इसीलिए इनके मत को 'पुष्टिमार्ग' कहा जाता है। भक्ति का विवेचन करते हुए वल्लभाचार्य ने मर्यादा-भक्ति और पुष्टि-भक्ति का विधान किया। साधन-सापेक्ष भक्ति को मर्यादा-भक्ति के अंतर्गत रखते हुए निम्न स्थान दिया गया और भगवान के अनुग्रह मात्र पर निर्भर भक्ति को साधन-निरपेक्ष पुष्टि-भक्ति कह कर श्रेष्ठ समझा गया। इस पुष्टि-भक्ति को मानने वाले भक्त 'पुष्टिमार्गी' कहलाते हैं।

शुद्धाद्वैत-दर्शन के अनुसार भगवान को जब रमण करने की इच्छा होती है, तब वह अपने आनंद आदि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीवरूप ग्रहण करते हैं। इस व्यापार में केवल भगवान की इच्छा ही कारण है, माया का इससे किसी प्रकार का संबंध नहीं है। आविर्भूत जीव नित्य होता है। सच्चिदानंद भगवान के अविकृत सत् अंश से जड़ का निर्गमन होता है तथा अविकृत चित् अंश से जीव का आविर्भाव! अविकृत परिणामवाद को मानने के कारण सच्चिदानंद ब्रह्म ही अविकृत भाव से जगत-रूप में परिणत हो जाता है। वल्लभाचार्य ने जगत और संसार में भी भेद-निरूपण किया है। अपने सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिए आचार्य ने 'अणुभाष्य', 'सुबोधिनी टीका', 'तत्त्वदीपनिबंध', 'शृंगारसमंडन', 'विद्वन्मंडन' प्रभृति अमर ग्रंथों का प्रणयन किया।

वल्लभ-संप्रदाय के प्रचार-प्रसार में वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ का योगदान उल्लेखनीय है। वे अपने पिता के समान तेजस्वी और प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उनका प्रभाव तत्कालीन मुग़ल शासकों पर भी था। ब्रजमंडल में वैष्णव धर्म की रक्षा के लिए उन्होंने अनेक सराहनीय कार्य किये थे। वल्लभ-संप्रदाय को सुव्यवस्थित रूप से उत्तर भारत से दूर, गुजरात,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

राजस्थान आदि में प्रचारित करने का श्रेय भी उन्हीं को है। इस संप्रदाय की सेवापद्धति इतनी व्यवस्थित है कि उसका अनुसरण समकालीन अन्य संप्रदायों में भी हुआ। गो. विट्ठलनाथ जी ने अपने सातों पुत्रों को सात नगरों में सेवा-पूजा का अधिकार दे कर पुष्टिमार्गीय भक्तिपद्धति को देशव्यापी बनाया। हिंदी के वल्लभ-संप्रदायी कवियों को दीक्षा दे कर उन्होंने अष्टछाप की स्थापना की। 'अष्टछाप' के आठ कवियों में चार गो. वल्लभाचार्य के शिष्य थे और चार गो. विट्ठलनाथ के। इस संप्रदाय में और भी अनेक कवि हुए, जिन्होंने हिंदी साहित्य को पर्याप्त समृद्ध किया।

आचार्यों की इस परंपरा द्वारा वैष्णवभक्ति का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से उन्नयन हुआ और वैष्णवभक्ति के माध्यम से राम और कृष्ण की उपासना का सर्वत्र प्रचार हो गया। सगुण भक्ति के उत्कर्ष का यह युग हिंदी साहित्य में भी स्वर्ण युग कहा जाता है।

### वैष्णवभक्ति का वैशिष्ट्य

वैष्णवभक्ति का वैशिष्ट्य अनेक रूपों में समाज में प्रतिबिंबित हुआ। प्राणिमात्र के प्रति प्रेम और उदार दृष्टि इस भक्ति का आधार है। भक्ति का संबंध हृदय से है और समस्त मानवजाति के हृदय में भक्तिभाव जाग्रत करना इसका लक्ष्य रहा है। गरुड़ध्वज की स्थापना करने वाले ग्रीक शासक का दूत हेलियोडोरस इसी उदार दृष्टि से वैष्णवभक्त बना था। वेसनगर के शिलालेख द्वारा यह तथ्य पुष्ट होता है। अहिंसा वैष्णवधर्म का दूसरा तत्त्व है। अहिंसा को जीवदया के रूप में बौद्ध और जैनाचार्यों ने वैष्णवों से ही ग्रहण किया था। वैष्णवधर्म कला और संस्कृति का उन्नायक रहा है। देवविग्रह को सुंदर रूप देने और उसके द्वारा जनमानस को कलाप्रेम से पूर्ण करने का दायित्व वैष्णव-भक्ति ने निभाया है। वैष्णवों की मूर्तिकला आज भारत-भर में प्रसिद्ध है। चित्रकला पर भी वैष्णव-धर्म का प्रभाव परिलक्षित होता है।

वैष्णवधर्म के आचार्यों तथा रसिक कवियों ने 'भक्ति रस' की स्थापना में सर्वाधिक योग दिया है। यदि वैष्णवभक्ति का उदय न हुआ होता तो भक्ति को रस के रूप में स्वीकृति मिलना असंभव था। वैष्णव भक्तकवियों द्वारा भक्ति, शृंगार, वीर, करुण आदि रसों के श्रेष्ठ साहित्य की रचना हुई। यदि वैष्णवभक्ति का प्रचार न हुआ होता तो इतना विपुल और श्रेष्ठ साहित्य अस्तित्व में न आता। राम और कृष्ण के रूप, गुण, शील का जैसा साहित्यिक वर्णन वैष्णव भक्तकवियों द्वारा हुआ; वैसा न तो पहले हुआ था और न ही बाद में हो सका। भारतीय साहित्य में सौंदर्य और माधुर्य का मणिकांचन-संयोग इसी वैष्णवभक्तिसाहित्य में दृष्टिगोचर होता है। फलतः इस साहित्य को हम भारतीय वाङ्मय की एक श्रेष्ठ निधि के रूप में गौरवास्पद धरोहर समझते हैं।

## रामभक्ति-काव्य

प्रागैतिहासिक युग से लेकर आधुनिक युग तक मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचंद्र के शील, शक्ति एवं सौंदर्य से मंडित अलौकिक व्यक्तित्व के विविध रूपों ने जनमानस को आकृष्ट किया है। रामकाव्य-परंपरा के उद्भव और विकास का अनुशीलन करने वाले विद्वानों के मतानुसार राम उत्तरवैदिक काल के दिव्य महापुरुष हैं; वेदों में कुछ स्थलों पर 'राम' शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है, किंतु उसका अर्थ दशरथपुत्र राम नहीं, अपितु अन्यान्य व्यक्तियों से है।[5] उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर 'वाल्मीकि रामायण' को आदिकाव्य मान कर रामकथा का मूल स्रोत स्वीकार किया जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसका रचना काल ग्यारहवीं शती ई. पूर्व से ले कर तीसरी शती ई. पूर्व के मध्य स्वीकार किया है। जर्मन विद्वान श्लेगल इसका रचनाकाल ई. पूर्व ग्यारहवीं शताब्दी,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

डॉ. याकोबी छठी और आठवीं शताब्दी ईसापूर्व के बीच, डॉ. कीथ चौथी शताब्दी ईसापूर्व तथा डॉ. विंटरग्रिन तीसरी शताब्दी ईसापूर्व स्वीकार करते हैं। इसके रचना-काल के बारे में मत-वैभिन्नय होते हुए भी अधिकांश विद्वानों के अनुसार इसकी रचना महात्मा बुद्ध के अवतार से पूर्व हो चुकी थी, क्योंकि इसमें गौतम बुद्ध के अवतार का उल्लेख नहीं है। 'वाल्मीकि रामायण' के दाक्षिणात्य, गौड़ीय और पश्चिमोत्तरीय—ये तीन पाठ उपलब्ध होते हैं और इनमें देशकाल के व्यवधान के कारण पर्याप्त विभिन्नता है। इस आदिकाव्य में राम का चित्रण उदात्त और असाधारण गुणों से संपन्न दिव्य महापुरुष के रूप में हुआ है।

'वाल्मीकि रामायण' की कथा 'महाभारत' में भी अनेक स्थलों पर विविध प्रसंगों में 'आरण्यक', 'द्रोण' एवं 'शान्तपर्व' में वर्णित है। युधिष्ठिर के शोकाकुल होने पर ऋषि मार्कण्डेय द्वारा उन्हें सुनाया गया रामोपाख्यान अन्य पर्वों में उपलब्ध रामकथा की अपेक्षा सर्वाधिक विस्तृत है। सीता की अग्निपरीक्षा आदि कुछ प्रसंग इसमें भी नहीं हैं। कतिपय प्रसंगों के न होने अथवा किंचित परिवर्तित रूप में होने के कारण ही यह माना जाता है कि 'महाभारत' में उपलब्ध रामकथा 'वाल्मीकि रामायण' से प्रभावित होने के साथ-साथ रामकथा के लोकप्रचलित मौखिक रूपों पर भी आधृत है। 'वाल्मीकि रामायण' में राम अलौकिक महापुरुष हैं, किंतु 'महाभारत' में उनका अवतारी स्वरूप है।

रामकथा का अनुरागमयी भक्तिभावना की दृष्टि से आख्यान अगस्त्य संहिता, राघवीय संहिता, रामपूर्व तापनीय उपनिषद, रामोत्तर तापनीय उपनिषद, रामरहस्योपनिषद् प्रभृति धार्मिक ग्रंथों में उपलब्ध होता है। अध्यात्मरामायण, आनंदरामायण, अद्भुतरामायण, भुशुण्डिरामायण, हनुमत्-संहिता, राघवोल्लास आदि ग्रंथों में भी रामकथा की धार्मिक एवं दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। विष्णुपुराण, वायुपुराण, भागवतपुराण और कूर्मपुराण में रामकथा सर्वाधिक वैविध्य-संपन्न है। वराह, अग्नि, लिंग, वामन, ब्रह्म, गरुड़, स्कंद, पद्म, ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में भी रामकथा के अनेक प्रसंग दृष्टिगत होते हैं। इनमें परंब्रह्म स्वरूप में राम की प्रतिष्ठा हुई है।

## बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में रामकथा

संस्कृत-ग्रंथों के साथ-साथ रामकथा बौद्ध एवं जैन-ग्रंथों में भी मिलती है, किंतु इनमें रामकथा के अनेक घटना-प्रसंगों को पूर्वाग्रह से प्रेरित हो कर विकृत एवं परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया गया है। बौद्ध एवं जैन-ग्रंथों का उद्देश्य मर्यादा पुरुषोत्तम राम के औदात्य को अभिव्यक्त करने की अपेक्षा अपने अपने धर्मों की सैद्धांतिक मान्यताओं के अनुकूल रामकथा को नयी भावभूमि प्रदान करना रहा है। बौद्ध जातक-कथाओं में रामकथा 'दशरथजातक', 'अनामर्कजातक' तथा चीनी 'त्रिपिटिक' के अंतर्गत 'दशरथकथानक' में उपलब्ध होती है।

बौद्ध-ग्रंथों की अपेक्षा जैन-ग्रंथों में रामकथा का वर्णन अपेक्षाकृत विस्तारपूर्वक हुआ है। विमलसूरि-रचित 'पउमचरियम्' भाव एवं शैली दोनों दृष्टियों से अत्यंत परिष्कृत रचना है। रामकथा के उद्भव और विकास के संदर्भ में ही नहीं, समसामयिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण के अध्ययन एवं भाषाशास्त्रीय अनुशीलन की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है। गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' के अनुकरण पर संघदास गणिवाचय एवं धर्मसेन गणिमहत्तर द्वारा रचित 'वसुदेव हिंडी' में कृष्ण-कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन है और इसी ग्रंथ के प्रारंभिक पृष्ठों में रामकथा का संक्षेपण भी प्रस्तुत किया गया है। जैन-ग्रंथों की इस परंपरा में भुवनतुंग सूरि-प्रणीत 'सियाचरियम्' तथा 'रामचरियम्', रविषेण-कृत 'पद्मचरित' तथा गुणभद्र-रचित 'उत्तरपुराण' भी उल्लेख्य हैं। हरिषेण के 'कथाकोष' (दसवीं शती) में भी 'रामायणकथानकम्' तथा 'सीताकथानकम्' प्राप्त होते हैं। आचार्य हेमचन्द्र-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रचित 'त्रिष्टिशलाका पुरुषचरितम्' तथा 'योगशास्त्र' की टीका में भी रामकथा के अनेक प्रसंग हैं।

उपर्युक्त सभी ग्रंथों की रचना जैन धर्म की दार्शनिक एवं धार्मिक मान्यताओं की पृष्ठभूमि में हुई, इसलिए इनमें राम को सर्वत्र परंब्रह्म के रूप में ग्रहण न कर, उनका चित्रण असाधारण शक्तियों से संपन्न महापुरुष के रूप में ही हुआ है। पुराण-ग्रंथों में उपलब्ध अवतारवाद की भावना भी इन ग्रंथों में नहीं है। रामकथा के अनेक प्रसंग भी इन ग्रंथों में जैन-धर्म की परिपुष्टि के लिए परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किये गये हैं; जैसे कि इन ग्रंथों में राम के वनगमन के उपरांत पुत्रवियोग से राजा दशरथ की मृत्यु का वर्णन नहीं है, अपितु उनके द्वारा जैन-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर संन्यास ग्रहण कर लेने का वर्णन इनमें मिलता है। राम के द्वारा भी समय-समय पर जैन-मुनियों से सहायता प्राप्त करने का वर्णन इन ग्रंथों में हुआ है। आठवीं-नवीं शताब्दी के मध्य स्वयंभू-प्रणीत 'पउमचरिउ' तथा दसवीं शताब्दी के लगभग पुष्पदंत-रचित 'महापुराण' में भी तुलनात्मक दृष्टि से रामकथा के अनेक प्रसंग परस्पर भिन्न हैं। स्वयंभू के अनुसार राम की माता का नाम 'अपराजिता' और पुष्पदंत के अनुसार 'सुबला' था। स्वयंभू ने राम के एक ही विवाह का वर्णन किया है और पुष्पदंत के अनुसार राम के आठ विवाह हुए थे। पुष्पदंत आदि जैन-कवियों ने राम-वन-गमन, सीता की अग्निपरीक्षा सदृश मार्मिक प्रसंगों का भी वर्णन नहीं किया है।

बौद्ध एवं जैन-ग्रंथों में उपलब्ध रामकथा के संदर्भ में भारतीय अवतारवाद एवं वैष्णव भक्ति-भावना के उद्भव और विकास के क्रमबद्ध विश्लेषण से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम की परंब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठा होने से पूर्व वीरपूजा के रूप में उनकी उपासना बहुत पहले जन साधारण में प्रचलित हो चुकी थी। वैदिक युग से ले कर पौराणिक युग तक जैसे-जैसे ज्ञान एवं कर्म की अपेक्षा भक्ति का विकास होता गया, वैसे-वैसे विष्णु के अवतार के रूप में उनकी प्रतिष्ठा दृढ़ होती चली गयी। वैष्णवभक्ति के उद्भव और विकास की इस परंपरा में रामानुज, रामानंद आदि आचार्यों ने रामकथा को दर्शन एवं भक्ति की सहजग्राह्य मनोवैज्ञानिक भावभूमि प्रदान की।

## दक्षिण के आलवारों में रामभक्ति

वैष्णवभक्ति के इस विकासक्रम में रामभक्ति सर्वप्रथम दक्षिण के आलवार संतों की वाणी के माध्यम से प्रस्फुटित हुई और तदुपरांत उत्तरी भारत में उसका विकास हुआ। ये आलवार संख्या में बारह थे। इनमें से काठकोप अथवा नम्मालवार राम की पादुका के अवतार माने जाते हैं। सर्वप्रथम इनकी रचना 'तिरुवायमोलि' में अनन्य रामभक्ति का वर्णन मिलता है। इनकी अन्य तीन प्रसिद्ध रचनाएं हैं—'तिरुविरुतम', 'तिरुवर्गशरियेम' तथा 'पेरिय तिरुवन्दादि'। सातवें आलवार केरल के चेरवंशी राजा कुलशेखर भी अनन्य रामभक्त थे। एक बार रामकथा के अंतर्गत सीताहरण का प्रसंग सुनते ही भावावेश में इन्होंने तुरंत लंका पर चढ़ाई करने की आज्ञा दे दी थी। 'प्रेरु माल तिरुभोवि' में इनके रामभक्ति विषयक सरस गीत संकलित हैं। शठकोप एवं कुलशेखर के अतिरिक्त अन्य आलवार संतों के गीतों में भी ऊंच-नीच के भाव से विनिर्मुक्त रामभक्ति के विविध रूपों का प्रतिपादन हुआ है। सैद्धांतिक दृष्टि से श्री, मनक, ब्रह्म और रुद्र—इन चार वैष्णव-संप्रदायों में से श्री एवं ब्रह्म संप्रदाय के आचार्यों ने रामभक्ति को विशेष परिपुष्टि प्रदान की। श्रीसंप्रदाय के प्रथम आचार्य श्री रंगनाथ मुनि (824-924) ने आलवार संतों के लोकप्रचलित पदों को 'प्रबंधम्' शीर्षक से चार भागों में संकलित किया। नाथ मुनि के परवर्ती श्रीसंप्रदाय के पुंडरीकाक्ष, राम मिश्र, यामुनाचार्य आदि आचार्यों ने भी अपनी वाणी के द्वारा रामभक्ति को अधिकाधिक पल्लवित किया। आचार्य रामानुज का स्थान इस आचार्यपरंपरा में अप्रतिम है। ये शेष अथवा लक्ष्मण के अवतार माने जाते हैं। ब्रह्म

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संप्रदाय की भक्ति-परंपरा में मध्वाचार्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उत्तरी भारत में रामभक्ति का प्रवर्तन आचार्य रामानुज की परंपरा में राघवानंद द्वारा प्रारंभ हुआ और उनके शिष्य रामानंद ने उसे युगानुकूल भावभूमि प्रदान की। आचार्य रामानंद ने ही सर्वप्रथम संकुचित रूढ़ियों में आबद्ध और बाह्य आक्रमणों से संत्रस्त, समसामयिक हिंदू समाज को रामभक्ति का अभेद्य कवच प्रदान किया। धनुषबाणधारी राम के लोकरक्षक रूप की उपासना प्रारंभ कर उन्होंने एक ओर हिंदू समाज की पराजित मनोवृत्ति को उद्‌बुद्ध किया और दूसरी ओर बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये हिंदुओं को रामतारक मंत्र दे कर पुनः हिंदू धर्म में दीक्षित करने की नयी व्यवस्था भी स्थापित की।[6] भक्तिभावना को ऊंच-नीच एवं बाह्य आडंबरों से मुक्त करने का श्रेय भी आचार्य रामानंद को ही प्राप्त है। इनकी शिष्य-परंपरा में निर्गुणोपासक एवं सगुणोपासक दोनों ही थे। हिंदी का भक्तिकालीन रामकाव्य मुख्यतः इन्हीं के सिद्धांतों से अनुप्रेरित है।

## संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य में रामकथा

संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश में रामकाव्य की सुदीर्घ परंपरा वैविध्य-संपन्न प्रबंधकाव्यों, उद्देश्यप्रधान नाटकों एवं भावसंवलित गीतिकाव्यों के रूप में अभिलक्षित होती है। रामकथा के मार्मिक प्रसंगों पर आधृत संस्कृत नाटकों में कालक्रमानुसार सर्वप्रथम स्थान भास-रचित 'प्रतिमा' एवं 'अभिषेक' नाटकों का है। 'प्रतिमा' नाटक की रचना सात अंकों में हुई है, जिनमें राम के वनगमन से ले कर रावणवध तक की कथा सुविन्यस्त है। 'अभिषेक' में बालिवध से ले कर राम के राज्याभिषेक तक के घटना-प्रसंग वर्णित हैं। इन दोनों ही नाटकों में अवतारवाद की भावना सहज दृष्टिगत होती है। 'प्रतिमा' नाटक में सीता को लक्ष्मी का अवतार माना गया है और 'अभिषेक' में राम में विष्णुत्व की सांकेतिक अभिव्यक्ति हुई है। कालिदास-प्रणीत 'रघुवंश' में दसवें से पंद्रहवें सर्ग तक रामकथा वर्णित है। कविकुलगुरु कालिदास की उपमाओं का सौंदर्य इन सर्गों में लक्षित किया जा सकता है।

छठी शताब्दी के लगभग रचित प्रवरसेन का 'रावणवध' महाकाव्य राम-रावण-युद्ध के प्रमुख प्रसंग पर आधृत है। 'वाल्मीकिरामायण' से प्रभावित प्राकृत भाषा के इस महाकाव्य में पंद्रह सर्ग हैं। संस्कृत-रामकाव्य की परंपरा में छठीं-सातवीं शताब्दी के लगभग 'महिकाव्य' अथवा 'रावणवध' शीर्षक से एक ऐसी रचना भी उपलब्ध होती है, जिसमें कवि ने रामकथा के माध्यम से व्याकरण के जटिल तथा क्लिष्ट नियमों को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। इसके बाईस सर्गों में 'वाल्मीकिरामायण' के उत्तरकांड के अतिरिक्त अन्य कांडों की कथा वर्णित है। शैव मत से प्रभावित होते हुए भी कवि ने राम के परंब्रह्म स्वरूप में किसी प्रकार से परिवर्तन का प्रयास नहीं किया है।

आठवीं शताब्दी में भवभूति-प्रणीत 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित' नाटकों में से 'महावीरचरित' में विवाह से ले कर राम के राज्याभिषेक तक की कथा सात अंकों में विभाजित है। 'उत्तररामचरित' की रचना सीतावनवास के मार्मिक घटनाप्रसंग पर आधृत है। इस प्रकार कथानक की दृष्टि से ये दोनों नाटक एक-दूसरे के संपूरक हैं। नाटकीय दृष्टि से 'उत्तररामचरित' की यह विशेषता है कि वह करुण रस से आप्लावित होते हुए भी दुःखांत नहीं है। अनंग हर्ष मातृराज द्वारा रचित 'उदात्तराघव' नाटक (आठवीं शती) के छह अंकों में वनवास से ले कर अयोध्या वापस आने तक की रामकथा का नाटकीय विस्तार दृष्टिगत होता है। राक्षस-राक्षसियों की मायावी शक्तियों का चित्रण इसमें नाटकीय औत्सुक्य एवं चमत्कार की सृष्टि करता है।

कुमारदास-प्रणीत 'जानकीहरण' रामायण के प्रथम छह कांडों पर आधृत पच्चीस सर्गों का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

महाकाव्य है। भक्ति-भावना की अपेक्षा इसमें शृंगारिकता की प्रवृत्ति अधिक है। क्षेमेन्द्र ने विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 5386 श्लोकों में 'वाल्मीकिरामायण' का संक्षेपण 'रामायणमंजरी' के नाम से प्रस्तुत किया और 'दशावतारचरितम्' शीर्षक एक स्वतंत्र ग्रंथ की भी रचना की, जिसमें स्थान-स्थान पर रामकथा के चिराचरित वर्णनों में उन्होंने नूतनता के संचार का सहज प्रयास किया।

ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व दिङ्नाग-रचित 'कुंदमाला' नाटक भवभूति-कृत 'उत्तररामचरित' से प्रभावित है। इस नाटक में सीता-वनवास से ले कर राम-सीता-पुनर्मिलन तक की कथा को ग्रहण किया गया है। अनेक दृश्य इसमें नूतन और चमत्कारपूर्ण हैं। राम एवं उनकी सेना के वाल्मीकि-आश्रम पहुंचने पर आश्रमवासियों के अदृश्य हो जाने तथा जल में सीता की छाया देख कर राम के मूर्च्छित हो जाने का दृश्य नूतन एवं आकर्षक है।

उपर्युक्त प्रमुख रामकाव्यों के अतिरिक्त साकल्यमल-रचित 'उदार राघव', वामन भट्टणवाण (अभिनव बाणभट्ट)-रचित 'रघुनाथचरित', चक्र कवि-कृत 'जानकीपरिणय' और अद्वैत कवि द्वारा रचित 'राघवोल्लास' प्रमुख महाकाव्य हैं। इसी प्रकार मुरारि-कृत 'अनर्घराघव', राजशेखर-रचित 'बालरामायण' और शक्तिप्रद-रचित 'आश्चर्यचूड़ामणि' दसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध नाटक हैं। बारहवीं-तेरहवीं शती में जयदेव-रचित 'प्रसन्नराघव' और सोमेश्वर-कृत 'उल्लासराघव' नाटकों की कथा भी सीता-राम के परिणय-प्रसंग पर आधृत है।

संस्कृत में चमत्कारिक आह्लाद की सृष्टि के लिए ऐसे द्वयर्थक (चित्र) काव्यों की भी रचना हुई है जिनमें रामकथा के साथ-साथ अन्य पौराणिक कथाओं को भी श्लेष अथवा यमक के प्रयोग द्वारा एक साथ अभिव्यक्त किया गया है। धनंजय-रचित 'राघव-पांडवीय', कविराज माधव भट्ट-रचित 'राघव-पांडवीय', हरिदत्त सूरि-प्रणीत 'राघव-नैषधीय', चिदंबर-रचित 'राघव-पांडव-यादवीय' इसी प्रकार की रचनाएं हैं।

## आधुनिक भारतीय भाषाओं में रामकाव्य

हिंदी के साथ-साथ अन्य सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी मर्यादापुरुषोत्तम राम के जीवन-प्रसंगों को ले कर विविध काव्यों की पुष्कल रचना हुई है। बंगला भाषा में कृतिवासी-कृत 'रामायण', तमिल के महाकवि कंब की 'कंब-रामायण' तथा तेलुगु की 'रंग-रामायण' एवं 'भास्कर-रामायण' ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पर्याप्त सीमा तक हिंदी रामकाव्य-परंपरा को भी प्रभावित किया है। कृत्तिवासी रामायण वाल्मीकिरामायण के गौड़ीय पाठ से तथा 'कंबरामायण', 'रंगरामायण' एवं 'भास्कररामायण' उसके दाक्षिणात्य पाठ से उपकृत हैं। कृतिवासी रामायण पर समसामयिक शैव एवं शाक्त संप्रदायों का प्रभाव भी लक्षित किया जा सकता है। मराठी के सुप्रसिद्ध संत एकनाथ द्वारा प्रणीत 'भावार्थरामायण' ने भी परवर्ती भक्तकवियों को व्यापक प्रेरणा प्रदान की है। स्वामी रामदास की शिष्या वेणाबाई देशपांडे द्वारा रचित 'रामायण', तथा स्वामी रामदास के ही एक अन्य शिष्य गिरिधर स्वामी की 'अर्द्धरामायण', 'मंगलरामायण', 'सुंदररामायण', 'संकेतरामायण' आदि लगभग छह रामायणों से भी मराठी साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है। असमिया में रामकाव्य की शैली की दृष्टि से पदरामायण, गीतिरामायण, कथारामायण, कीर्तनियारामायण आदि विभिन्न रूपों में साहित्य उपलब्ध होता है और रामकाव्य के प्रणेताओं में माधव कंदली, शंकरदेव, माधवदेव, अनंत कंदली, रघुनाथ महंत, अनंत ठाकुर प्रभृति भक्तकवि अत्यधिक सुप्रसिद्ध हैं। गुजराती में यद्यपि रामकाव्य की अपेक्षा कृष्णकाव्य का प्रणयन अधिक हुआ है, किंतु रामकाव्य की अविरल धारा इस

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भाषा में भी विद्यमान है और कवि भालण, विष्णुदास, मधुसूदन, श्रीधर आदि गुजराती रामकाव्य के उल्लेख्य प्रणेता हैं।

## हिंदी रामकाव्य

हिंदी साहित्य का आदिकाल समसामयिक राजनीतिक एवं सामाजिक वातावरण की दृष्टि से रामकाव्य की रचना के लिए सर्वाधिक उपयुक्त काल था। इस युग में कविगण मर्यादापुरुषोत्तम राम की शौर्य शक्ति से समन्वित लीलाओं का गान करके बाह्य शक्तियों के आक्रमणों के विरुद्ध राष्ट्र की सोयी हुई ऊर्जा को उद्‌बुद्ध कर सकते थे, किंतु उन्हें अपने आश्रयदाताओं की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करने से इतना भी अवकाश नहीं था कि वे राम के लोकरक्षक पावन चरित्र की ओर आकर्षित हो पाते। इस युग की कृतियों में मंगलाचरण अथवा स्तुति के रूप में कहीं-कहीं रामकथा के कुछ प्रसंग दृष्टिगत हो जाते हैं। 'पृथ्वीराजरासो' में दशावतार वर्णन वस्तुतः मंगलाचरण के रूप में ही है। इस प्रसंग के अंतर्गत कवि ने मुक्ति प्रदान करने वाले परंब्रह्म के विविध अवतारों का वर्णन किया है। रामावतार से संबद्ध अड़तालीस छंदों में परशुराम द्वारा क्षत्रियों के संहार; राजा दशरथ के घर राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न के जन्म; राम-वनगमन; राम-रावण-युद्ध; सीता-उद्धार आदि रामकथा के प्रमुख प्रसंग वर्णित हैं। समसामयिक युग-प्रवृत्ति के अनुकूल इन प्रसंगों के अंतर्गत हनुमान, मेघनाद और लक्ष्मण की वीरता का वर्णन विस्तृत एवं सजीव है।

रामकथा के ओज एवं माधुर्य को जनमानस की भावभूमि पर अधिष्ठित करने का श्रेय भक्तिकालीन भक्तकवियों को ही प्राप्त है; रीतिकालीन रामकाव्य के प्रणेताओं की दृष्टि तो अपने समसामयिक कृष्णकाव्य-प्रणेताओं की भांति राजदरबारों के ऐश्वर्य से इतनी अधिक अभिभूत हो चुकी थी कि उन्हें राम के लोकरक्षक रूप की अपेक्षा उनके रसिक रूप में ही अधिक आकर्षण प्रतीत हुआ और अपने पूर्ववर्ती भक्तकवियों की मर्यादा को वे विस्मृत करते चले गये। भक्तिकाल का राजनीतिक एवं सामाजिक वातावरण भी राम के लोकरक्षक रूप की अभिव्यक्ति के सर्वाधिक अनुकूल था। विदेशी शक्तियों से आक्रांत, सामाजिक दृष्टि से वैषम्य-पीड़ित, धार्मिक धरातल पर सिद्धों एवं तांत्रिकों के विविध मत-मतांतरों से ग्रस्त नैराश्यमुक्त हिंदू जनता को राम के असुर-संहारक, शरणागत-प्रतिपालक अलौकिक रूप ने मधुमय संबल प्रदान किया। उत्तरी भारत में रामभक्ति के प्रवर्तन का प्रमुख श्रेय आचार्य रामानंद को प्राप्त है। रामकाव्य-परंपरा के अंतर्गत 'रामरक्षास्तोत्र' उनकी प्रसिद्ध रचना है। उनके शिष्यों ने राम के निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार रूप की उपासना के आधार पर रामभक्ति को दो पृथक भावधाराओं के रूप में पल्लवित किया। निगुर्णमार्गी कबीर ने कहा : ''दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना, राम नाम को मरम न आना।'' और राम के सगुण-साकार रूप के उपासक तुलसी ने कहा :

*जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।*
*सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान॥*

तुलसीदास से पूर्व के रामभक्त कवियों में विष्णुदास का नाम उल्लेख्य है। नागरीप्रचारिणी सभा की विभिन्न खोज-रिपोर्टों में इनके द्वारा रचित पांच ग्रंथों का उल्लेख मिलता है : महाभारतकथा, रुक्मिणीमंगल, स्वर्गारोहण, स्वर्गारोहण-पर्व और स्नेहलीला। सभा के 1941-43 ई. के विवरण में 'वाल्मीकिरामायण' के हिंदी रूपांतरकर्ता के रूप में भी इसका उल्लेख मिलता है। ईश्वरदास-प्रणीत 'भरत-मिलाप' तथा 'अंगद-पैज' भी ईसापूर्व रामकाव्य-परंपरा की प्रमुख रचनाएं हैं। रामकाव्य-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परंपरा में कुछ जैन कवियों की रचनाएं भी उल्लेख्य हैं, जिनमें से मुनि लावण्य-प्रणीत 'रावण-मन्दोदरी संवाद', ब्रह्मजिनदास-रचित 'रामचरित या रामरास' और 'हनुमन्तरास' तथा ब्रह्मराममल्ल और सुंदरदास-प्रणीत क्रमशः 'हनुवन्तगामीकथा' तथा 'हनुमानचरित' प्रमुख हैं।

हिंदी की रामकाव्य-परंपरा का विकास यदि स्वामी रामानंद से स्वीकार किया जाये तो कोई अनौचित्य नहीं होगा। वस्तुतः रामावत संप्रदाय में रामभक्ति को जो गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है, वह किसी अन्य संप्रदाय में नहीं है। रामावत संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी रामानंद ने भक्ति के क्षेत्र में अनेक क्रांतिकारी परिवर्तन किये और राम की मर्यादाभक्ति को आदर्श और आचरण की पवित्रता से मंडित रखते हुए जनसाधारण के लिए सुगम बनाया। निर्गुण राम की भक्ति, जिसे किसी रूप में कबीर आदि ने स्वीकार किया था, रामानंद की भक्ति-पद्धति में सगुण रूप में परिणत हुई। सगुण और निर्गुण का यह समन्वय रामावत संप्रदाय की उदार दृष्टि का ही परिणाम है।

**स्वामी रामानंद :** स्वामी रामानंद जी की जन्मतिथि और जन्मस्थान अभी तक विवादास्पद हैं। अंग्रेज़ लेखक फ़र्कुहर ने इनका समय 1400 से 1470 ई. तक स्थिर किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में पंद्रहवीं शती के द्वितीय चरण (1450) से सोलहवीं शती के प्रथम चरण के बीच (1525) इनका समय माना है। रामानंद का जन्म काशी में हुआ था और श्री वैष्णव संप्रदाय के आचार्य राघवानंद से इन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। वर्णाश्रम धर्म में आस्था रखते हुए भी इन्होंने भक्तिमार्ग का सभी को समान भाव से अधिकारी माना और निम्नवर्ग के भक्तों को अपना शिष्यत्व प्रदान किया। कबीर, रैदास, धन्ना, पीपा आदि इनके शिष्य थे।

स्वामी रामानंद संस्कृत के पंडित थे। 'वैष्णव मताब्द-भास्कर' और 'श्रीरामार्जुन-पद्धति' इनके सुप्रसिद्ध ग्रंथ हैं। रामानंदी संप्रदाय को रामानुज संप्रदाय से पृथक सिद्ध करने के लिए 'ब्रह्मसूत्र' और 'गीता' पर इनके नाम से भाष्यों का प्रचार किया गया है, किंतु उनकी प्रामाणिकता अद्यावधि संदिग्ध बनी हुई है। इन्होंने अपने दार्शनिक सिद्धांत रामानुज संप्रदाय के अनुकूल ही रखे हैं, किंतु 'रहस्यत्रय' द्वारा अपने मूलमंत्र, द्वयमंत्र और चरममंत्र को नवीन रूप दिया है। ध्यान के लिए सीता तथा लक्ष्मण सहित रामचंद्र जी के ध्यान का आदेश है। सीता जी प्रकृतिस्थानीय, लक्ष्मण जीवस्थानीय और भगवान रामचंद्र ईश्वर तत्त्व के द्योतक हैं। मुक्ति का साधन एक ही परम पदार्थ 'भक्ति' है। भगवान रामचंद्र ही समस्त संशयों के छेदक और परम प्राप्य हैं। रामानंद जी की भक्तिपद्धति का प्रभाव रामभक्ति-परंपरा पर प्रत्यक्ष लक्षित होता है। गोस्वामी तुलसीदास भी इनकी विचारधारा से परिचित ही नहीं, पूर्णतया प्रभावित थे।

रामानंदी वैष्णवों की एक शाखा योग-साधना में विश्वास रखने के कारण, अपना वैशिष्टय बनाये रखने के लिए, सगुणोपासना से कुछ हट कर 'तपसी शाखा' के नाम से योगपरक सिद्धियों का प्रचार करती है। कील्हदास आदि इसी शाखा के साधक हैं।

रामानंद के हिंदी में रचित कुछ पद सुप्रसिद्ध हैं। इन पदों के विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ कहना कठिन है, केवल परंपरागत प्रसिद्धि के कारण ही इन्हें उनके द्वारा रचित मानना उचित है। हनुमान की स्तुति का पद इस प्रकार है :

*आरति कीजैं हनुमान लला की, दुष्ट दलन रघुनाथ कला की।*
*जाके बल भरते महि कांपैं, रोग सोग जाकी सिया न ज्यांपैं।*
*अंजनिसुत महाबलदायक, साधु सन्त पर सदा सहायक॥*
*गाढ़ परैं कवि सुमिरौं तोहीं, होउ दयाल देहु जस मोंही॥*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इनके द्वारा रचित 'रामरक्षास्तोत्र' की सूचना काशी नागरीप्रचारिणी सभा के खोज-विवरण में दी गयी हैं, उसके प्रकाशित होने पर इनका हिंदी काव्य सामने आ सकता है।

**अग्रदास :** स्वामी रामानंद की शिष्य-परंपरा में ही रामभक्त कवि अग्रदास हुए। इन्होंने कृष्णदास पयहारी से दीक्षा ले कर शिष्यत्व स्वीकार किया था। कृष्णदास पयहारी ने जयपुर के समीप गलता नामक स्थान में अपनी गद्दी स्थापित की थी। गलता की गद्दी पर परवर्ती काल में जो शिष्य बैठे, उन्होंने भी भक्ति-साहित्य की विपुल मात्रा में रचना की। अग्रदास 1556 ई. के लगभग विद्यमान थे। इनके अनेक ग्रंथों की चर्चा गलता की गद्दी-परंपरा में आज भी होती है। मुख्य ग्रंथों में 'ध्यानमंजरी', 'अष्टयाम', 'रामभजनमंजरी', 'उपासना-बावनी' और 'पदावली' हैं। 'हितोपदेश भाषा' भी इनके द्वारा प्रणीत है। इनकी भाषा ब्रजभाषा है और उसमें प्रवाह के साथ परिष्कार भी है। सुंदर पदरचना और अलंकारों के यथास्थान प्रयोग से यह प्रमाणित है कि इनको शास्त्रीय साहित्य ज्ञान था। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

*कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा,*
*तिनको निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा।*
*मेचक कुटिल विसाल सरोरुह नैन सुहाये,*
*मुख पंकज के निकट मनौ अलि छौना छाये॥*

'अग्रअली' नाम से अग्रदास स्वयं को जानकी जी की सखी मान कर काव्यरचना किया करते थे। रामभक्ति-परंपरा में रसिक भावना के समावेश का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। गोस्वामी तुलसीदास के समय तक तो रसिकता की यह भावना प्रच्छन्न रही, किंतु उनके बाद अग्रदास जी की रचनाओं से प्रेरणा प्राप्त करके यह तीव्र गति के साथ पल्लवित हुई, जिसका चरमोत्कर्ष रीतिकालीन रामकाव्य में सहज अभिलक्षित किया जा सकता है। 'अष्टयाम' अथवा 'रामाष्टयाम' इनकी सर्वप्रमुख रचना है। इसमें सीतावल्लभ राम की दैनिक लीलाओं का चित्रण है। राम के ऐश्वर्य रूप की झांकी इन लीलाओं में स्पष्ट दिखायी देती है। नाभादास-प्रणीत 'अष्टयाम' भी अग्रअली जी की इस रचना से प्रभावित है।

**ईश्वरदास :** ईश्वरदास की जन्मतिथि उनकी सुप्रसिद्ध कृति 'सत्यवतीकथा' के रचनाकाल (1501) के आधार पर अनुमित की जाती है। 'सत्यवतीकथा' की रचना यदि कवि ईश्वरदास ने युवावस्था में की होगी, तो उनका जन्म 1480 ई. के आसपास माना जा सकता है। ईश्वरदास की रामकथा से संबद्ध रचना 'भरतमिलाप' है, जिसका उल्लेख काशी नागरीप्रचारिणी सभा के खोज-विवरण में हुआ है। रामवनवास के समय भरत अयोध्या में नहीं थे। अपनी ननिहाल से आने पर राम के वनगमन के समाचार से खिन्न हो कर वे विलाप करने लगे और सारी प्रजा उनके साथ दु:खकातर हो उठी। राम से मिलने के लिए व्याकुल हो कर भरत उनके पास गये। इसी करुण-कोमल प्रसंग को इस काव्यकृति में पद्यबद्ध किया गया है। ईश्वरदास की एक अन्य रचना 'अंगदपैज' भी मिलती है, जिसमें रावण की सभा में अंगद के पैर जमा कर हट जाने का वीररसपूर्ण वर्णन मिलता है। इन रचनाओं के आधार पर ही ईश्वरदास को रामभक्ति-परंपरा में स्थान दिया जाता है।

**गोस्वामी तुलसीदास :** गोस्वामी तुलसीदास के जीवनवृत्त के बारे में अंत:साक्ष्य एवं बहि:साक्ष्य के आधार पर विद्वानों ने विविध मत प्रस्तुत किये हैं। बेनीमाधवदास-प्रणीत 'मूल गोसाईं-चरित' तथा महात्मा रघुबरदास-रचित 'तुलसीचरित' में गोस्वामी जी का जन्म संवत 1554 दिया हुआ है। बेनीमाधवदास जी की रचना में गोस्वामी जी की जन्मतिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी का भी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उल्लेख है। इस संवत के अनुसार इनकी आयु 126-127 वर्ष की ठहरती है। 'शिवसिंहसरोज' में इनका जन्म संवत 1583 स्वीकार किया गया है। मिरजापुर के प्रसिद्ध रामभक्त पं. रामगुलाम द्विवेदी ने जनश्रुति के आधार पर इनका जन्म संवत 1589 स्वीकार किया है। सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने भी इसी जन्मसंवत को मान्यता दी है। अंत:साक्ष्य के आधार पर भी इनकी जन्मतिथि सं. 1589 (सन् 1532) अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होती है। इसी प्रकार इनके जन्मस्थान के बारे में भी विद्वानों में भारी मतभेद है। 'मूल गोसाईंचरित' और 'तुलसीचरित' में इनका जन्मस्थान राजापुर बताया गया है। शिवसिंह सेंगर और रामगुलाम द्विवेदी भी राजापुर को गोस्वामी जी का जन्मस्थान मानते हैं। लाला सीताराम, गौरीशंकर द्विवेदी, रामनरेश त्रिपाठी तथा डॉ. रामदत्त भारद्वाज सोरों को तुलसीदास जी का जन्मस्थान मानते हैं। ''मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत''—गोस्वामी जी की इस उक्ति को ये विद्वान प्रामाणिक मानते हुए सूकरखेत का अभिप्राय 'सोरों' मानते हैं। आचार्य शुक्ल का अभिमत है कि 'सूकरखेत' को भ्रम से सोरों समझ लिया गया। 'सूकरछेत्र' गोंडा ज़िले में सरयू के किनारे एक पवित्र तीर्थ है, जहां आसपास के कई ज़िलों के लोग स्नान करने जाते हैं और मेला लगता है।[7] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'सोरों' के पक्ष में दिये जाने वाले प्रमाणों को बहुत महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी काफ़ी वज़नदार माना है; वे इन प्रमाणों को यों ही टाल देने के पक्ष में नहीं हैं।[8]

जनश्रुति के अनुसार गोस्वामी जी के पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम हुलसी था और वे पत्यौंजा के दूबे थे : ''तुलसी परासर गोत दूबे पति औजा के।'' मिश्रबंधुओं ने इन्हें कान्यकुब्ज माना है। 'मूल गोसाईंचरित' और 'तुलसीचरित' के आधार पर आचार्य शुक्ल आदि ने इन्हें सरयूपारीण ब्राह्मण माना है। ''मातु पिता जग जाइ तज्यो जनमि, करम बिनु विधिहु सृज्यो अवडेरे'' (विनयपत्रिका) आदि अंत:साक्ष्यों के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि गोस्वामी जी का बाल्यकाल अत्यंत विषम परिस्थितियों में व्यतीत हुआ था। माता-पिता के द्वारा छोड़ दिये जाने पर बाबा नरहरिदास ने इनका पालन-पोषण किया और ज्ञान-भक्ति की शिक्षा-दीक्षा भी दी। गोस्वामी जी का विवाह दीनबंधु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ था। अत्यधिक आसक्ति के कारण जब एक बार इन्हें अपनी पत्नी से मधुर भर्त्सना ''लाज न आई आपको दौरे आएहुं साथ'' मिली तब इनकी भावधारा सहसा लौकिक विषयों से विमुख हो कर प्रभु-प्रेम की ओर उन्मुख हो गयी।

इनके द्वारा विरचित अनेक ग्रंथ विविध सूत्रों से उपलब्ध हुए हैं। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में इनके छोटे-बड़े बारह ग्रंथों का उल्लेख किया। दोहावली, कवित्त रामायण, गीतावली, रामचरित- मानस, रामाज्ञा प्रश्नावली और विनयपत्रिका बड़े ग्रंथ हैं तथा रामललानहछू, पार्वतीमंगल, जानकी- मंगल, बरवैरामायण, वैराग्यसंदीपनी और कृष्णगीतावली छोटे ग्रंथ हैं। 'शिवसिंहसरोज' में दस और ग्रंथों के नाम भी गिनाये गये हैं—''रामसतसई, संकटमोचन, हनुमद्बाहुक, रामशलाका, छंदावली, छप्पयरामायण, कड़खारामायण, रोलारामायण, झूलनारामायण और कुंडलियारामायण।

इन सभी रचनाओं में भाववैविध्य गोस्वामी जी की सबसे बड़ी विशेषता है। एक ओर तो उन्होंने नाथपंथियों के प्रभाव से नष्ट होती हुई जनमानस की विश्वासमयी रागात्मिका वृत्तियों को रामभक्ति के माध्यम से पुन: पल्लवित किया और दूसरी ओर रामकथा के विविध प्रसंगों के माध्यम से राजनीतिक, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के आदर्शों को जनता के सामने प्रस्तुत कर विशृंखलित हिंदू समाज को केंद्रित किया। उनकी भक्तिभावना कबीर आदि निर्गुण भक्तों की ज्ञानयोगमयी भावना की भांति रहस्यमयी नहीं है। वह सीधी, सरल एवं सहजसाध्य है। उनके राम सृष्टि के कण-कण में व्याप्त हैं, वे सभी के लिए उसी प्रकार सुलभ हैं, जिस प्रकार अन्न और जल :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*निगम अगम, साहब सुगम राम सांचिली चाह।*
*अंबु असन अवलोकियत सुलभ सबहि जग मांह॥*

गोस्वामी जी की यह भक्तिभावना मूलतः लोकसंग्रह की भावना से अभिप्रेरित है। जिस समय समसामयिक निर्गुण भक्त संसार की असारता का आख्यान कर रहे थे और कृष्णभक्त कवि अपने आराध्य के मधुर रूप का आलंबन ग्रहण कर जीवन और जगत में व्याप्त नैराश्य को दूर करने का प्रयास कर रहे थे, उस समय गोस्वामी जी ने मर्यादापुरुषोत्तम राम के शील, शक्ति और सौंदर्य से संवलित अद्भुत रूप का गुणगान करते हुए लोकमंगल की साधनावस्था के पथ को प्रशस्त किया। तुलसी का समन्वयवाद उनकी भक्तिभावना में भी दिखायी देता है। 'रामचरितमानस' में उन्होंने राम और शिव दोनों को एक-दूसरे का भक्त अंकित करके वैष्णव एवं शैव संप्रदायों को एक ही सामान्य भावभूमि प्रदान की है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार, ''भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय करने का अपार धैर्य ले कर आया हो। भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियां, साधनाएं, जातियां, आचार, विचार और पद्धतियां प्रचलित हैं। तुलसीदास स्वयं नाना प्रकार के सामाजिक स्तरों में रह चुके थे। उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। उसमें केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है अपितु गार्हस्थ्य और वैराग्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्त चिंता का समन्वय 'रामचरितमानस' के आदि से अंत तक दो छोरों पर जाने वाली पराकोटियों को मिलाने का प्रयत्न है।''[9]

भाव-वैविध्य के अनुरूप शैली-वैविध्य भी गोस्वामी जी की विशेषता है। अपने समय में प्रचलित वीरगाथा की छप्पय-पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीति-पद्धति, गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति, नीतिकाव्यों की सूक्ति-पद्धति, प्रेमाख्यानों की दोहा-चौपाई की प्रबंध-पद्धति आदि सभी काव्यशैलियों का सफल प्रयोग उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है। प्रबंधसौष्ठव, चरित्र-चित्रण, प्रकृतिवर्णन, अलंकारविधान, भाषा और छंदप्रयोग की दृष्टि से भी वे अद्वितीय कलाकार हैं। उक्ति-वैचित्र्य उनकी प्रमुख विशेषता है। वनगमन के समय राम विविध युक्तियों के द्वारा सीता को साथ न चलने के लिए समझाते हैं, किंतु सीता अपनी एक उक्ति के द्वारा ही राम को निरुत्तर कर देती है : ''मैं सुकुमारि नाथ वन जोगू, तुमहि उचित तप मो कहं भोगू।'' अवधी और ब्रज दोनों ही भाषाओं का प्रयोग गोस्वामी जी ने अपनी रचनाओं में किया है, किंतु अधिकांश रचनाओं की भाषा अवधी ही है, जिसमें प्रसंगानुकूल संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है।

**नाभादास** : गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन रामभक्त कवियों में नाभादास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने हिंदी में भक्तमाल-परंपरा का सूत्रपात ही नहीं किया, वरन् अद्यावधि उपलब्ध भक्तमालों में सर्वश्रेष्ठ भक्तमाल हिंदी को दिया। उनके 'भक्तमाल' का रचनाकाल 1596 ई. स्थिर किया जाता है। इसके आधार पर उनका जन्मकाल 1570 ई. के आसपास ठहरता है। नाभादास के 'भक्तमाल' के अनुशीलन से यह स्पष्ट विदित होता है कि उनको संस्कृत-काव्यशास्त्र, छंदशास्त्र आदि का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने भक्तों के परिचय में जिस समासशैली का परिचय दिया है, वह उनके गंभीर चिंतन-मनन का परिणाम है, जिन भक्तों का परिचय उन्होंने लिखा, उनकी रचनाशैली, काव्यकला, उपासनापद्धति, विशिष्टता आदि को एक ही छप्पय में कूट-कूट कर समाविष्ट कर दिया है। नाभादास जी अग्रदास जी के शिष्य थे। उनकी रचनाओं में 'अष्टयाम' तथा रामभक्ति विषयक पद उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर उन्हें रामभक्त स्वीकार

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

किया जाता है। 'अष्टयाम' की रचना शृंगारभक्ति अथवा रसिकभावना को ले कर की गयी है। इसमें कवि की शैली परमार्जित, प्रांजल और भावपूर्ण है।

**केशवदास :** केशवदास का जन्म 1555 ई. में और मृत्यु 1617 ई. के आसपास हुई थी। ओरछा-नरेश महाराज रामसिंह के भाई इंद्रजीत सिंह की सभा में इनका अपने पांडित्य के कारण अत्यधिक सम्मान था। इनके द्वारा लिखे गये सात ग्रंथ मिलते हैं : कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंहचरित, विज्ञानगीता, रतनबावनी और जहांगीरजसचन्द्रिका। इनमें से 'रामचन्द्रिका' (1601) हिंदी रामकथा-परंपरा के अंतर्गत एक विशिष्ट कृति है। यह प्रबंधकाव्य 39 प्रकाशों में विभाजित है। अनेक प्रसंग स्पष्टतः 'प्रसन्नराघव', 'हनुमन्नाटक', 'अनर्घराघव', 'कादंबरी' और 'नैषध' से प्रभावित प्रतीत होते हैं। प्रबंधात्मकता की दृष्टि से इसमें अनेक कथा-प्रसंग विशृंखलित हैं, उनमें परस्पर क्रमबद्धता भी नहीं है। प्रबंधकौशल के लिए आवश्यक मार्मिक प्रसंगों की पहचान का भी केशव में अभाव है। वन जाते समय राम का माता कौशल्या को पतिव्रत धर्म का उपदेश आदि स्थल तो सर्वथा अप्रासंगिक हैं। केशव की अलंकारप्रियता एवं शब्दचमत्कार की प्रवृत्ति इस कृति में भी स्पष्ट दिखायी देती है। वाग्वैदग्ध्य के कारण कहीं-कहीं तो संवाद अत्यंत प्रवाहपूर्ण, तीव्र एवं नाटकीय बन पड़े हैं। रावण-अंगद-संवाद का यह अंश द्रष्टव्य है :

*राम को कहा? रिपु जीतहिं, कौन कबै रिपु जीत्यौ कहाँ।*
*बालि बली, छल सों, भृगुनन्दन गर्व हर्‌यौ, द्विज दीन महा।*
*दीन सु क्यों छिति छत्र हत्यो, बिन प्राणन हैहयराज कियो।*
*हैहय कौन? वहै बिसर्‌यो? जिन खेलत ही तोहि बाँध लियो।*

**सेनापति :** इनका जन्मकाल 1589 ई. के लगभग माना जाता है। ये गंगाधर के पुत्र, परशुराम के पौत्र और हीरामणि दीक्षित के शिष्य थे। 'कवित्तरत्नाकर' इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है, जिसकी रचना इन्होंने संवत 1706 में की थी :

*संवत सत्रह सै छह में, सेइ सियापति पाय।*
*सेनापति कविता तजी, सज्जन सजौ सहाय॥*

इस ग्रंथ की चौथी और पांचवीं तरंगों में रामायण के विविध मधुर प्रसंगों का वर्णन सुसंस्कृत अर्थगर्भित भाषा में किया गया है। अनुप्रास और यमक अलंकारों का सेनापति की भाषा में अत्यधिक प्राचुर्य है। हिंदी में भावानुकूल ऋतुवर्णन के लिए भी ये प्रसिद्ध हैं।

## अन्य रामभक्त कवि

भक्तिकाल के रामभक्त कवियों में प्राणचंद चौहान, माधवदास, हृदयराम, नरहरि बारहट, लालदास और कपूरचंद त्रिखा का उल्लेख भी अभीष्ट है। **प्राणचंद चौहान** ने 1610 ई. में 'रामायण महानाटक' की रचना की थी, जो शैली की दृष्टि से नाटक न हो कर वस्तुतः संवादात्मक प्रबंधकाव्य है। दोहा-चौपाई की शैली का इसमें प्राधान्य है और वर्णनात्मकता का प्राचुर्य है। संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' का प्रभाव इस रचना पर अनेक स्थलों पर स्पष्ट दिखायी देता है। **माधवदास चारण** की दो रचनाएं—'रामरासो' और 'अध्यात्मरामायण'—प्रसिद्ध हैं। 'रामरासो' (1618) की विशेषता है रामकथा के संपूर्ण विस्तार में न जा कर कवि द्वारा मुख्य घटनाओं, जीवनप्रसंगों और चारित्रिक विशेषताओं का संक्षेप में कथन। 'अध्यात्मरामायण' (1624) पर संस्कृत की 'अध्यात्मरामायण'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का प्रभाव अत्यंत स्पष्ट है। **हृदयराम** पंजाब के रहने वाले थे और इनके पिता का नाम कृष्णदास था। हिंदी रामकाव्य-परंपरा के अंतर्गत 'हनुमन्नाटक' (1623) इनकी प्रसिद्ध कृति है। इसके प्रणयन की प्रेरणा इन्हें स्वयं हनुमान जी से प्राप्त हुई थी, इसलिए अपनी इस कृति का नाम इन्होंने 'हनुमन्नाटक' रखा। कहीं-कहीं 'रामगीत' शीर्षक से भी इसका उल्लेख मिलता है। इसमें सीता स्वयंवर से ले कर राज्याभिषेक तक की कथा संवाद-शैली में वर्णित है। संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' का इस पर प्रत्यक्ष प्रभाव है, किंतु मूलतः यह कृति मौलिक है और कवित्त, सवैया आदि अनेक छंदों का इसमें प्रयोग हुआ है।

**नरहरि बारहट**-कृत 'पौरुषेय रामायण' रामकाव्य-परंपरा की एक प्रौढ़ कृति है, जिसका रचनाकाल 'रामचरितमानस' के कुछ ही बाद का है। यह एक बृहदाकार ग्रंथ है। कवि ने इसे 'पौरुषेय रामायण' इसलिए कहा है, क्योंकि 'वाल्मीकिरामायण' आर्ष ग्रंथ है, जबकि यह ग्रंथ एक सामान्य पुरुष की कृति है। 'पौरुषेय रामायण' वस्तुतः नरहरि-कृत 'चतुर्विंशतिअवतारचरित्र' नामक विशाल ग्रंथ का एक अंश है, जिसमें इक्कीसवें अवतार के अंतर्गत रामचरित्र का वर्णन है। कवि ने प्रमुखतः 'वाल्मीकिरामायण' को आधार रूप में ग्रहण किया है। रचनाशैली कुछ-कुछ रासो-ग्रंथों जैसी है। प्रमुखतः दोहा-चौपाई-पद्धति का अनुसरण करते हुए भी कवि ने कवित्त, सवैया, छप्पय, पद्धरि, भुजंगप्रयात आदि अनेक छंद अपनाए हैं। भाषा राजस्थानी और ब्रजमिश्रित अवधी है। ग्रंथ का वैशिष्टय यह है कि इसमें युगीन परिवेश की छाप स्पष्ट झलकती है। **लालदास** का 'अवधविलास' (1643) भी इस युग का प्रसिद्ध काव्य है। छाप के रूप में 'लाल' का प्रयोग हुआ है। यह ग्रंथ 18 विश्रामों में विभक्त है। रामजन्म से ले कर उनके वनगमन तक की कथा को इसमें ग्रहण किया गया है। प्रसंगानुकूल अनेक स्थलों पर कवि ने भक्ति के विविध रूपों एवं ध्यानयोग की क्रियाओं का भी वर्णन किया है। इसकी रचना अवधी भाषा में हुई है और इसमें दोहा-चौपाई-शैली का प्रयोग हुआ है। **कपूरचंद त्रिखा** द्वारा गुरुमुखी लिपि में लिखित 'रामायण' (1646) का उल्लेख भी यहां प्रासंगिक होगा। यह 145 छंदों की लघु कृति है, जिसमें रामकथा को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। इसकी भाषा सरल स्वच्छ ब्रजभाषा है।

## कृष्णभक्त कवियों द्वारा प्रणीत रामकाव्य

मध्यकालीन भक्त-आचार्यों ने अपनी-अपनी सैद्धांतिक मान्यताओं के अनुकूल विष्णु के किसी अवतार विशेष के प्रति अनन्य निष्ठा प्रकट करते हुए अन्य अवतारों के प्रति भी अपेक्षित श्रद्धा अभिव्यक्त की है। मध्वाचार्य कृष्णभक्त होते हुए भी राम तथा उनके सेवक हनुमान में अत्यधिक श्रद्धा रखते थे। इसी भांति कृष्णभक्ति के विविध रूपों के प्रचारक वल्लभाचार्य ने अपने शुद्धाद्वैत-सिद्धांत में भगवान राम को भी महत्ता दी है।[10] पुष्टिमार्गीय मंदिरों के वर्षोत्सवों में 'रामनवमी' तथा राममंदिरों में आचार्य रामानंद आदि आचार्यों के निर्देशानुसार जन्माष्टमी उत्सव मनाने की पृष्ठभूमि में वैष्णवभक्ति की यही समन्वयात्मक उदार दृष्टि विद्यमान रही है। हृदय की इसी अनुरक्त उदार भावना से प्रेरित हो कर अनेक कृष्णभक्त कवियों ने भी अपने आराध्य की लीलाओं के साथ-साथ मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की मधुमयी लीलाओं का गान किया है। रामकथा-विषयक विद्यापति के अभी तक जितने भी चार-पांच पद उपलब्ध हुए हैं, उनसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उन्होंने शिव और शक्ति, राधा और कृष्ण के साथ-साथ सीता और राम के प्रति भी भक्तिभावना से द्रवित हो कर अनेक पदों की रचना की होगी। रामकथा संबंधी इन उपलब्ध पदों में शिव के आराध्य शरणागत प्रतिपालक राम की स्तुति तथा सीता के साथ उनके परिणय-प्रसंग का वर्णन है।[11] **मीराबाई** ने भी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अनेक पदों में राम के प्रति अपनी अनुरक्ति प्रकट की है। किंतु, मीरा के राम तुलसीदास के 'दशरथ-सुत' राम नहीं, कबीर आदि संत कवियों के आराध्य निर्गुण निराकार राम हैं। अपने अनेक पदों में मीरा ने प्रभु के भक्तजनरक्षक रूप की अभिव्यंजना के लिए अहल्योद्धार आदि घटनाओं की ओर भी संकेत किया है। पुष्टिमार्ग में दीक्षित अष्टछाप के कवियों ने भी रामकथा के प्रति अपने अनुरागमय आकर्षण को विविध पदों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। **सूरसागर** के प्रथम एवं नवम स्कंधों में रामकथा से संबंधित अनेक पद प्राप्त होते हैं। इन पदों में राम के भक्तजनप्रतिपालक रूप की वंदना के साथ-साथ उनकी विविध लीलाओं का भी वर्णन किया गया है। नवम स्कंध में संपूर्ण रामकथा लगभग 158 पदों में वर्णित है। 'रामचरितमानस' की भांति ये पद भी सात कांडों में संयोजित हैं। राधा-कृष्ण की रासलीलाओं का विस्तृत चित्रण करने वाले सूर, रामकथा के इन सभी पदों में, राम के भक्तजनरंजक रूप की अपेक्षा उनके लोकरक्षक रूप के प्रति अधिक आकृष्ट रहे हैं। प्रबंधात्मकता की दृष्टि से नवम स्कंध के इन सभी पदों के मध्य कथासूत्र आद्यंत विद्यमान है। दशरथविलाप, सीता-हनुमान-संवाद आदि प्रसंग अत्यधिक मार्मिक हैं। हनुमान से लक्ष्मण की मूर्च्छा का वृत्तांत जान कर अयोध्यावासियों की चिंता और कौशल्या एवं सुमित्रा की व्याकुलता का वर्णन मार्मिक होने के साथ-साथ मौलिक भी है। कौशल्या राम के पास संदेश भेजती है कि वे अपने भाई के बिना अकेले अयोध्या न आयें, किंतु सुमित्रा अपनी ओर से आग्रहपूर्वक संदेश भेजती है कि वे वनवास की अवधि के पूर्ण होते ही अवश्य लौट आयें, क्योंकि रण में सेवक के वीरगति को प्राप्त हो जाने के बाद भी स्वामी विजयी हो कर अपने घर अवश्य लौटता है।[12]

पुष्टिमार्गीय वार्ता-साहित्य में **नंददास** का जो जीवनवृत्त प्राप्त होता है, उसके अनुसार ये भी प्रारंभ में रामभक्त थे।[13] इसीलिए पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के बाद भी राम और उनके अनन्य सेवक हनुमान के प्रति इनके मन में निष्ठा बनी रही और उसी के फलस्वरूप इन्होंने कृष्णलीलाओं के गान के साथ-साथ रामकथा संबंधी पदों की भी रचना की। रामकथा संबंधी इनके अभी तक तीन-चार पद ही उपलब्ध हुए हैं, जिनमें धनुष यज्ञ तथा हनुमान द्वारा समुद्र लांघ कर सीता की खोज का वर्णन है।[14] **परमानंददास, गोविंदस्वामी** आदि के द्वारा रचित रामकथा संबंधी इस प्रकार के अनेक पद मिलते हैं, जिनके द्वारा राम की लीलाओं के प्रति कृष्णभक्त कवियों की प्रवृत्ति स्पष्ट व्यंजित होती है।

निम्बार्क-संप्रदाय के अंतर्गत रसिकशाखा के प्रवर्तक **परशुरामदेव** तो राम के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों के प्रति अनुरक्त रहे हैं। 'रघुनाथचरित' तथा 'दशावतारचरित' में इन्होंने राम के सगुण लीला-रूप का विस्तृत वर्णन किया है। 'दशावतारचरित' में विष्णु के अन्य अवतारों का भी वर्णन है। कृष्णभक्त कवियों द्वारा प्रणीत रामकाव्य की इस परंपरा में राधावल्लभ-संप्रदाय के संस्थापक **हितहरिवंश** के भी कुछ पद मिलते हैं। इसी प्रकार सखीसंप्रदाय के संस्थापक हरिराम व्यास के पिता **माधवदास जगन्नाथी** द्वारा रचित 'रघुनाथलीला' शीर्षक रचना भी प्राप्त हुई है।

रामकाव्य की यह परंपरा, जो प्रारंभ में राम के मर्यादापुरुषोत्तम रूप को ले कर लोकमंगल की भावना से विकसित हुई थी, भक्तिकाल के पर्यवसान तक पहुंचते-पहुंचते समसामयिक कृष्णभक्ति के रसिकसंप्रदायों से प्रभावित हो कर राम के लीलारसिक रूप की ओर उन्मुख हुई, जिसका विस्तार रीतिकाल के रसिक प्रवृत्ति वाले अनेक रामभक्त कवियों में लक्षित होता है।

## कृष्णभक्ति काव्य

मध्यकालीन सगुण भक्ति के आराध्य देवताओं में भगवान श्रीकृष्ण का स्थान सर्वोपरि है। कृष्ण भारतीय पुराण और इतिहास दोनों में सर्वाधिक वर्णित भी हुए हैं। जो विद्वान महाभारत को इतिहास की घटना

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मानते हैं, वे भारतीय इतिहास का सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति कृष्ण को ही ठहराते हैं। महाभारत-युद्ध के सूत्रधार के रूप में उनका बुद्धि-कौशल, पराक्रम, पुरुषार्थ और तेजस्वी व्यक्तित्व सर्वत्र व्याप्त है। जो विद्वान कृष्ण को केवल अध्यात्म क्षेत्र से संबद्ध ब्रह्म, परंब्रह्म, नारायण, ईश्वर, विष्णु आदि के रूप में स्वीकार करते हैं, वे श्रीकृष्ण को पूर्णावतार होने के कारण सर्वोच्च देवता मानते हैं। उनके अनुसार कृष्ण वैदिककालीन देवता हैं और महाभारतकाल तक उनका निरंतर विकास हुआ है।

## वैदिक ऋषि कृष्ण

कृष्ण के दैवत्व रूप का विकासक्रम खोजते समय वैदिक ऋचाओं में कृष्ण के नाम और अस्तित्व का संधान स्वाभाविक है। 'ऋग्वेद' के अष्टम तथा दशम मंडल के कुछ सूक्तों के रचयिता ऋषि कृष्ण हैं। इसी वेद के प्रथम मंडल में भी कृष्ण का उल्लेख है। इसी प्रकार 'कौशीतकी ब्राह्मण' में आंगिरस ऋषि के शिष्य कृष्ण का वर्णन है, 'कृष्णोहतदांगिरसौ ब्राह्मणान् छंदसीयं तृतीयं सवनं ददर्श।' छांदोग्योपनिषद में भी आंगिरस के शिष्य कृष्ण का संकेत है, जिसे देवकी का पुत्र कहा गया है। इन समस्त वर्णनों के आधार पर वैदिक वाङ्मय में कृष्ण का अस्तित्व स्वीकार करने वाले विद्वानों ने एक समस्या उत्पन्न कर दी है कि वैदिक कृष्ण और महाभारतकालीन कृष्ण दो व्यक्ति हैं या एक ही कृष्ण को उपासना के क्षेत्र में विविध रूपों में स्वीकृति मिलती गयी है। भारतीय विद्या के विख्यात पंडित डॉ. भंडारकर ने यह सिद्ध किया है कि वैदिक ऋषि कृष्ण का 'महाभारत' के कृष्ण से कोई संबंध नहीं है। ये दोनों पृथक व्यक्तित्व रखने वाले हैं। उनका कथन है कि 'महाभारत' के कृष्ण को वैदिक ऋचाओं में वर्णित ऋषि कृष्ण के साथ गुण-माहात्म्य के कारण जोड़ दिया गया है। लोकमान्य तिलक भी आंगिरस कृष्ण और गीता के उपदेष्टा महाभारतकालीन कृष्ण को पृथक्-पृथक् मानते हैं।

## 'महाभारत', 'गीता' और 'पुराणों' में कृष्ण

'महाभारत' में वर्णित कृष्ण का प्रारंभिक रूप सामान्य मानव का रूप है, किंतु बाद में यह ग्रंथ परिवर्तित और परिवर्द्धित होता रहा तथा कृष्ण परंब्रह्म, विष्णु, नारायण आदि के प्रतिरूप परम देव के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। 'महाभारत' में कृष्ण वृष्णि, सात्वत यदुवंशीय क्षत्रिय के रूप में अंकित हैं। 'गीता' में वे स्वयं कहते हैं कि मैं वृष्णियों में वासुदेव हूं। सभापर्व में राजसूययज्ञ के प्रसंग में भीष्म द्वारा कृष्ण को सर्वश्रेष्ठ और पूज्य ठहराना उनके गौरव का संकेत देने वाला है। कृष्णचरित का केंद्रबिंदु उनकी धर्मपरायणता माना गया है। युधिष्ठिर धर्मवृक्ष हैं और उसका मूल हैं—श्रीकृष्ण। जो अपने चरित्र की पावनता से धर्म का मूल है, उसे पाश्चात्य विद्वानों ने पाखंडी और धूर्त कह कर अपनी अज्ञानता का परिचय दिया है। वस्तुतः धर्मस्थापन उनके अवतार का प्रमुख और एकमात्र उद्देश्य है। यदि 'गीता' के आधार पर कृष्णचरित्र का आकलन किया जाये तो उनके दार्शनिक व्यक्तित्व का पूरी तरह उद्घाटन होता है। वेद-वेदांग-ज्ञाता कृष्ण ने व्यावहारिक स्तर पर दर्शन को 'गीता' में पहली बार प्रतिष्ठित किया है, जिसके अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस रूप में कृष्ण यहां वर्णित हैं, वह उनके परम देवत्व का परिचायक रूप है।

'महाभारत' और 'गीता' के बाद पुराणों में कृष्ण का जो रूप विकसित हुआ है, उसके संबंध में विद्वानों ने प्रमाणों के अभाव में अटकलों से काम लिया है। ये सारी कल्पनाएं किसी तर्क-प्रमाण पर प्रतिष्ठित न होने के कारण मान्य नहीं हो सकतीं। गोपाल कृष्ण के संबंध में पाश्चात्य विद्वानों के अनुकरण पर भारतीय विद्वानों ने भी यह लिखा है कि 'वासुदेव धर्म' ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

से ही दक्षिण तक पहुंच गया था, वहां उसका सम्मिश्रण आभीरों की प्रेममयी बालगोपाल उपासना से हुआ। फलतः 'गीता' के वासुदेव तथा आभीरों के बालगोपाल की अभिन्नता स्थापित हुई; और यहीं से पुराणों में गोपाल कृष्ण की कथाओं के प्रवेश का सूत्रपात होता है। इस प्रकार की कल्पनाओं का न तो कोई पुष्ट आधार है और न ही कोई ऐतिहासिक प्रमाण! गोपाल कृष्ण की कल्पना के संबंध में पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान गया है और ग्रियर्सन, केनेडी, वेबर आदि विद्वानों ने कृष्ण की बाल लीलाओं को क्राइस्ट के बालचरित का अनुकरण कहा है। कृष्णलीलाओं में भक्त के लिए प्रसाद की प्राप्ति परम ध्येय है। उसे पाश्चात्य विद्वान 'लवफीस्ट' कहते हैं। ये समस्त दूरारूढ़ कल्पनाएं गोपाल कृष्ण के स्वरूप-संधान में सहायक सिद्ध नहीं हो सकी हैं। कुछ विद्वानों का ऐसा विचार है कि संभवतः गोपाल कृष्ण मूलतः शूरसेन प्रदेश के सात्वत वृष्णिवंशी पशुपालक क्षत्रियों के कुलदेव थे। उनके क्रीड़ा-कौतुक की मनोहारी कथाएं उस प्रदेश में प्रचलित थीं। इन मौखिक कथाओं को कालांतर में शिलालेखों और प्रस्तरों में चित्रों के रूप में उत्कीर्ण करा दिया गया। इसके प्रमाण पुरातत्व संग्रहालयों में सुरक्षित मूर्तियों और शिलालेखों में प्राप्त होते हैं। मथुरा के संग्रहालय में कालियदमन के दृश्य से अंकित एक शिलालेख है, जो इस तथ्य का पोषक है। राजस्थान में कई स्थानों पर कृष्णलीला विषयक शिलालेख, द्वारपट्ट आदि मिले हैं। बंगाल प्रदेश में कुछ मिट्टी की मूर्तियां मिली हैं, जिनमें धेनुकासुरवध, यमलार्जुनउद्धार, मुष्टिक-चाणूर से मल्ल युद्ध आदि दिखाये गये हैं। ये सब प्रमाण इस तथ्य को पुष्ट करते हैं कि गोपाल कृष्ण की लीलाओं का क्राइस्ट के बालचरित से किसी प्रकार का कोई संबंध नहीं है। किंतु इतना अवश्य मानना होगा कि गोपाल कृष्ण तथा व्रजनंदन कृष्ण की लीलाओं का प्रारंभ पुराणों से हुआ और पुराण-साहित्य में स्वीकृत श्रीकृष्ण संबंधी किसी प्रचलित परंपरा ने इसे प्रभावित किया होगा।

पुराण-ग्रंथों में श्रीकृष्ण का आध्यात्मिक रूप भी पूर्णरूपेण व्यंजित हुआ है। अन्य अवतारों को अंशावतार तथा श्रीकृष्ण को पूर्णावतार पहली बार पुराणों में भी कहा गया है। 'भागवतपुराण' में कृष्ण की महिमा का गान करते हुए कहा गया है कि समस्त वेद भगवान श्रीकृष्ण की आराधना करते हैं, योग-साधना से श्रीकृष्ण की प्राप्ति होती है, समस्त तपस्याओं का प्राप्तव्य फल कृष्ण हैं और संपूर्ण गतियों के लक्ष्य भी वे ही भगवान श्रीकृष्ण हैं। पुराणों में ही श्रीकृष्ण को योगेश्वर, सच्चिदानंद, अच्युत, अविनाशी, स्वजातीय-विजातीय तथा स्वगतभेदशून्य आदि कहा गया है। भागवतपुराण, हरिवंशपुराण, विष्णुपुराण, पद्मपुराण और ब्रह्मवैवर्तपुराण में श्रीकृष्ण की महिमा का गान बड़े विस्तार से हुआ है। देवाधिदेव कृष्ण इन्हीं पुराणों में प्रतिष्ठित हुए हैं, भक्तों के आराध्य होने के साथ वे भक्तवत्सल भी हैं, लोकरक्षक होने के साथ लोकरंजक भी हैं।

पुराणों में नरावतार भगवान श्रीकृष्ण के दो रूप माने गये हैं—ऐश्वर्यमय कृष्ण और माधुर्यमय कृष्ण। ऐश्वर्य रूप के अंतर्गत उनकी लोकरक्षण संबंधी लीलाएं आती हैं, जिनके द्वारा वे राक्षसों और दानवों का संहार करते हैं। लोकरंजक रूप उनकी माधुर्य भावना का द्योतक है, जिसके अंतर्गत वे अपने भक्तों के अनुरंजन के लिए नाना प्रकार की लीलायें करते हैं। ऐश्वर्यमय रूप षड्गुण्ययुक्त है अर्थात ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज—ये छह गुण जिसमें संपूर्णतः विद्यमान हों, वह भगवान है। कृष्ण में नरत्व का पूर्ण समावेश उनकी लोकरंजक लीलाओं द्वारा हो जाता है। बाल लीलाओं से किशोरावस्था तक की लीलाएं इसी स्वरूप को उद्घाटित करती हैं। इन लीलाओं का अपना विशिष्ट स्वरूप है और वल्लभाचार्य आदि विद्वानों ने इनमें आध्यात्मिक दृष्टि का संधान किया है। ऐसा आध्यात्मिक स्वरूप 'महाभारत' में उपलब्ध नहीं होता। वस्तुतः माधुर्यपरक लीलाएं पुराणों से प्रारंभ होती हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'महाभारत' में कृष्ण के पारिवारिक परिवेश और परिवारिक कृत्यों का वर्णन नहीं मिलता। पुराणकारों ने इस अभाव की पूर्ति अपने कल्पना माध्यम से की है। कृष्ण का शैशव में विद्याध्ययन, विवाह, संतति आदि सभी प्रसंगों को पुराणकारों ने प्रस्तुत किया है। यदि पुराण के आधार पर कृष्ण के जीवन पर दृष्टिपात किया जाये तो हम देखते हैं कि एक कृष्ण ब्रजवासी कृष्ण हैं और दूसरे द्वारकाधीश हैं। इन दोनों रूपों के मध्य 'महाभारत' के कृष्ण हैं। पुराणों में न तो महाभारतीय कृष्ण को प्रमुख स्थान दिया है और न द्वारकाधीश कृष्ण का ही विस्तार से वर्णन किया। उनके वर्ण्य विषय तो ब्रजवासी लीलापरायण कृष्ण ही रहे हैं। पुराणों द्वारा वर्णित कृष्ण के स्वरूप का अनुशीलन करते समय एक बात का ध्यान विशेष रूप में रखना चाहिए कि श्रीकृष्ण की रुक्मिणी, सत्यभामा आदि पटरानियों के साथ सोलह सहस्र रानियों का वर्णन तथा हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में राधा का वर्णन भी यहीं से प्रारंभ होता है। यह आश्चर्य का विषय है कि राधा को जो महत्त्व मध्ययुग में प्राप्त हुआ, वह श्रीकृष्ण विषयक प्रमुख पुराण 'भागवत' में नहीं है। अन्य पुराणों में राधा का विशद वर्णन है और संभवत: इसी का परिणाम है कि राधा नायिका का स्थान ग्रहण कर सकीं। 'रासपंचाध्यायी' में गोपियों के साथ कृष्ण की रासलीला का मोहक वर्णन होने पर भी राधा का नामोल्लेखपूर्वक कहीं कोई संकेत नहीं है। फिर भी, राधा का नाम शनै: शनै: मध्ययुग में कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित होता गया और 'राधाकृष्ण' शब्द परंब्रह्म की शक्ति का द्योतक बन गया।

## संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश-काव्य में कृष्ण

कृष्ण-लीलाओं का संस्कृत-काव्यों में सबसे पहले उल्लेख अश्वघोष के 'ब्रह्मचरित' काव्य में मिलता है। इस उल्लेख को प्रासंगिक मान कर विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं समझा गया, किंतु इससे यह अवश्य प्रमाणित होता है कि श्रीकृष्ण को 'महाभारत' के बाद एक विशेष रूप में अंकित किया जाने लगा था। इसके बाद हाल-रचित 'गाहासतसई' (गाथासप्तशती) में कृष्ण, राधा, गोपी, यशोदा आदि का नामोल्लेखपूर्वक वर्णन है। इन लीलाओं को पढ़ने से कृष्ण का लगभग वैसा ही चित्र उभरता है, जैसा मध्ययुगीन हिंदी-काव्य के नटखट श्रीकृष्ण का है। यह ग्रंथ शृंगारभावना से ओतप्रोत है। अत: भक्तिभावना की आशा तो इससे नहीं की जा सकती, किंतु प्रणयकेलिलीलाओं के साथ कृष्ण को इसमें देखा जा सकता है। राधा के केलिकुपित हो कर रासलीला से विमुख होने पर श्रीकृष्ण के अनुनय मनुहार का चित्र भट्ट नारायण ने अपने 'वेणीसंहार' नामक नाटक में अंकित किया है। यह इस तथ्य का प्रमाण है कि आठवीं शताब्दी में रासलीला-प्रसंग में राधा-कृष्ण का वर्णन प्रारंभ हो गया था। संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में उद्धृत एक श्लोक में भी कृष्ण का उल्लेख है। हेमचंद्र ने अपने 'प्राकृत-व्याकरण' में दो पद्य उद्धृत किये हैं, जिनमें कृष्ण का वर्णन है। 'द्वाश्रय काव्य' में तो सीधे गोपगीत का उल्लेख मिलता है। इसके बाद नाट्यदर्पण, अलंकार-कौस्तुभ, कंदर्पमंजरी, कृष्णकर्णामृत, श्रीकृष्णलीलामृत आदि संस्कृत-ग्रंथ कृष्ण के विविध प्रसंगों से भरे हुए हैं। जयदेव-रचित 'गीतगोविन्द' कृष्ण की सरस केलि-क्रीड़ाओं का वर्णन करने वाला उत्कृष्ट और प्रख्यात गीतिकाव्य है।

कृष्णविषयक काव्य का प्राचुर्य हमें बारहवीं शताब्दी के बाद देखने को मिलता है। बोपदेव की 'हरिलीला' और वेदांतदेशिक की 'यादवाभ्युदय' कृष्णविषयक प्रसिद्ध रचनाएं हैं। हरिचरितकाव्य, गोपलीला, कंसनिधन महाकाव्य, ब्रजबिहारी, गोपालचरित, मुरारिविजय नाटक और हरिविलास काव्य तेरहवीं से पंद्रहवीं शती के मध्य की प्रख्यात कृतियां हैं। सोलहवीं शताब्दी में कृष्ण चैतन्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के विद्वान शिष्य रूपगोस्वामी, सनातनगोस्वामी और जीवगोस्वामी ने कृष्णभक्ति को शास्त्रीय आधार प्रदान करने का स्तुत्य प्रयत्न किया। रूपगोस्वामी-कृत 'उज्ज्वल नीलमणि' और 'हरिभक्तिरसामृतसिंधु' तथा सनातनगोस्वामी-कृत 'षट्संदर्भ' कृष्णभक्ति को साहित्यशास्त्र की रस-परिपाटी पर स्थापित करने में सफल हुए। मध्ययुगीन कृष्णभक्त कवियों ने इन ग्रंथों से कृष्णभक्ति की सामग्री संकलित की है। कृष्णभक्ति के इस प्रबल आंदोलन में संस्कृत के इन शास्त्रीय एवं साहित्यिक ग्रंथों ने अमित योगदान किया, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

आधुनिक भारतीय भाषाओं में कृष्ण-काव्य का प्रारंभ मैथिल-कोकिल विद्यापति से स्वीकार किया जाता है। राधाकृष्ण की प्रेमलीलाओं का वर्णन करने के लिए विद्यापति ने 'पदावली' की रचना की। इस पदावली का स्थान कृष्णभक्ति-शृंगार में अप्रतिम है। महाराष्ट के वारकरी, महानुभाव अथवा जयकृष्णी संप्रदायों में भी कृष्णभक्ति-साहित्य की रचना हुई है। इनमें कुछ कवियों ने अपभ्रंशमिश्रित हिंदी के पद लिखे हैं। इनमें निर्गुण और सगुण भावना का मिश्रण है। नामदेव के कुछ पदों में कृष्ण का सगुणभक्तिपरक रूप उपलब्ध होता है। बंगाल के वैष्णव सहजिया संप्रदाय में भी राधा-कृष्ण-भक्ति का वर्णन मिलता है। रस और रति नाम से कृष्ण और राधा का उल्लेख इस संप्रदाय की विशेषता है। इसी संप्रदाय में परकीया भाव से राधा की आराधना का सविस्तार उल्लेख पाया जाता है।

## विद्यापति का कृष्णकाव्य

विद्यापति मिथिला-निवासी थे। जयेदव (उड़ीसा) और चंडीदास (बंगाल) की परंपरा में उन्होंने चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में राधाकृष्ण-प्रेम की जैसी सरस कोमल अवतारणा की, उसी का परिणाम है कि मूलतः शैव होने पर भी उन्हें कृष्णभक्तों की पंक्ति में स्थान दिया जाता है। उनके द्वारा रचित 'पदावली' की सरसता को लक्षित कर लोकहृदय और पंडितसमाज ने उन्हें अभिनव जयदेव, मैथिल-कोकिल, नवकविशेखर आदि उपाधियों से विभूषित किया। विद्यापति को बिहार और बंगाल में ही नहीं, संपूर्ण हिंदी-क्षेत्र में असाधारण लोकप्रियता प्राप्त हुई, किंतु दुर्भाग्यवश उनके जीवन-मरण-काल के संबंध में विद्वज्जन एकमत नहीं हैं। डॉ. जयकांत मिश्र ने उनका जन्म 1350 ई. में, डॉ. सुभद्र झा ने 1352 में, पं. हरप्रसाद शास्त्री ने 1357 ई. में, श्री नागेन्द्रनाथ गुप्त ने 1358 ई. में, डॉ. बाबूराम सक्सेना ने अनुमानतः 1360 ई. में, डॉ. उमेश मिश्र ने 1368 ई. में और डॉ. विमानबिहारी मजूमदार ने 1380 ई. में माना है। डॉ. सुभद्र झा ने उनका मरणकाल 1448 ई., डॉ. जयकांत मिश्र ने 1450 ई., डॉ. विमानविहारी मजूमदार ने 1460 ई. के लगभग और डॉ. उमेश मिश्र ने 1475 ई. माना है। अतः यह कहा जा सकता है कि विद्यापति 1350 ई. से 1460 ई. के मध्य विद्यमान थे।

विद्यापति का जन्म ज़िला दरभंगा (बिहार) के विसपी ग्राम में एक विद्यानुरागी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता गणपति ठाकुर संस्कृत के उच्चकोटि के विद्वान और राजाश्रित कवि थे। फलस्वरूप विद्याध्ययन और लेखन के संस्कार उन्हें कुल-परंपरा से प्राप्त हुए। पिता की भांति विद्यापति ने भी राजाश्रय में काव्यरचना की। तिरहुत के राजदरबार में उन्हें अपार सम्मान प्राप्त हुआ। उनके द्वारा रचित कृतियों को भाषा के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—उन्होंने एक ओर 'शैवसर्वस्वसार', 'गंगावाक्यावली', 'भूपरिक्रमा', 'पुरुषपरीक्षा' आदि संस्कृत-ग्रंथों की रचना की; दूसरी ओर अवहट्ठ में रचित 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' में क्रमशः राजा कीर्तिसिंह और राजा शिवसिंह की वीरता, उनके द्वारा किये गये युद्धों और उदारता का वर्णन किया और तीसरी ओर देशभाषा मैथिली में 'पदावली' का गान किया। विद्यापति के पद लोककंठ में सुरक्षित रहे,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

फलस्वरूप इनके भाषारूप में गायकों की सुविधानुसार यत्किंचित परिवर्तन होते रहे। यही कारण है कि मैथिली हिंदी में रचित होने पर भी 'पदावली' में बंगला प्रभाव विद्यमान है और बंगला-साहित्य में भी उसे उतना ही सत्कार प्राप्त है।

विद्यापति की पदावली में यों तो राजस्तुतिपरकपद भी मिलते हैं, किंतु इसमें मुख्य रूप से भक्ति और शृंगार का समन्वय मिलता है। यद्यपि शिव, दुर्गा और गंगा के प्रति अनन्य आस्था से प्रेरित हो कर उन्होंने जिन पदों की रचना की, उनकी संख्या अधिक नहीं है तथापि जिन पदों में राधा-कृष्ण को नायक-नायिका के रूप में ग्रहण कर शृंगार-वर्णन किया गया है, उनमें भी भावुक जन भक्ति की अंत:सलिला का प्रवाह पाते हैं। जनश्रुति है कि महाप्रभु चैतन्यदेव इन पदों को गाते-गाते भावविभोर हो कर मूर्च्छित हो जाया करते थे। इस आधार पर बाबू ब्रजनंदन सहाय और डॉ. श्यामसुंदर दास ने विद्यापति को परम वैष्णव भक्त स्वीकार किया है। एक अन्य परंपरा उन विद्वानों की भी है, जो 'पदावली' में रहस्यवाद की व्याप्ति मानते हैं—इनमें डॉ. ग्रियर्सन, नागेन्द्रनाथ गुप्त और जनार्दन मिश्र के नाम लिये जा सकते हैं। किंतु सत्य यह है कि इन पदों में रूप, अभिसार और मिलन का बहुरंगी चित्रण है। कवि ने राधा-कृष्ण का नाम्ना उल्लेख अवश्य किया है, किंतु उनकी क्रियाएं सामान्य ऐंद्रिय आसक्ति से युक्त हैं। कवि ने न केवल उनके मांसल सौंदर्य की अभिव्यक्ति की है, अपितु उन्हें एक-दूसरे के प्रति वासनानिमग्न भी दिखाया है। इसी आधार पर हरप्रसाद शास्त्री, रामचंद्र शुक्ल, सुभद्र झा, रामकुमार वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी प्रभृति विद्वानों ने विद्यापति को शुद्ध शृंगारी कवि माना है। नख-शिख-सौंदर्य, मिलन की आकांक्षा, कामकेलि और पूर्वघटित प्रेमलीलाओं की वियोगकाल में स्मृति 'पदावली' के मुख्य वर्ण्य विषय हैं; अत: विद्यापति को वैष्णव भक्तकवि मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

'पदावली' में भाव-वर्णन अत्यधिक मार्मिक, प्रौढ़ तथा सशक्त है। संयोग शृंगार के मादक चित्र हों, चाहे वियोग-व्यथा का मार्मिक वर्णन—हृदय की तरलता और गहराई का सम्मिश्रण दोनों अवस्थाओं में समान रूप से विद्यमान हैं। वस्तुत: विद्यापति के प्रेमवर्णन में न तो मनोवैज्ञानिकता का अभाव है और न ही उसे सामाजिक अस्वस्थता का प्रतीक कहा जा सकता है। सौंदर्य के प्रति आसक्ति और प्रेमानुभूति मानव-मन की ऐसी सहज प्रवृत्तियां हैं, जिन्हें झुठलाया नहीं जा सकता। नायिका के नखशिख-सौंदर्य को विद्यापति ने जिस ढंग से अंकित किया है, वह अपूर्व है। एक चित्र देखिए :

*खने खने नयन कोन अनुसरई। खने खने वसन धूलि तनु भरई।*
*खने खने दसन छटा छुट हास। खने खने अधर आगे करु वास।*
*चउकि चलए खने खने भलु मंद। मनमथ पाठ पहिल अनुबंध।*
*हिरदय मुकुल हेरि हेरि थोर। खने आंचर दए खने होय भोर।*
*बाला सैसव तारुन भेट। लखए न पारिअ जेठ कनेठ।*
*विद्यापति कह सुन वर कान। तरूनिम सैसव चिन्हर न जान।*

विद्यापति की पदावली में विरह-दशाओं का चित्रण भी अत्यंत मार्मिक बन पड़ा है। इसी भांति कवि का अभिव्यंजनापक्ष भी पर्याप्त समृद्ध है। भाषा-लालित्य तो उनके काव्य की अप्रतिम विशेषता है ही, आलंकारिक वर्णन में भी वे दक्ष हैं। इसमें संदेह नहीं कि उनकी पदशैली ने न केवल सामान्य जनमानस को मुग्ध किया, अपितु राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाओं का गान करने वाले परवर्ती कवि भी उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सके।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## मध्ययुगीन भक्ति-संप्रदायों में कृष्ण

मध्ययुग में कृष्णभक्ति का प्रचार ब्रजमंडल में बड़े उत्साह और भावना के साथ हुआ। इस संदर्भ में वल्लभ, निम्बार्क, राधावल्लभ, हरिदासी और चैतन्य (गौड़ीय) संप्रदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन संप्रदायों के अंतर्गत श्रीकृष्ण का क्या स्वरूप और स्थान है, यह जानना आवश्यक है।

**आचार्य वल्लभ** के अनुसार श्रीकृष्ण ही पूर्णानंद स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम परंब्रह्म हैं। वे सत्, चित् और आनंदस्वरूप हैं। वे व्यापक, नाशरहित, सर्वशक्तिमान, स्वतंत्र, सर्वज्ञ, स्वजातीय-विजातीय-भेद रहित हैं और उनके अनंत रूप हैं। इस जगत के वही निमित्त कारण हैं और वे संपूर्ण विरुद्ध धर्मों के आश्रय हैं। वे श्रीकृष्ण अपनी आनंदप्रदायिनी शक्तियों को अपने में प्रसारित करके अनेक अप्राकृतिक लीलाएं किया करते हैं, उन्हीं के समान उनकी लीलाएं भी नित्य हैं। उनकी लीलाओं का कोई प्रयोजन नहीं है—स्वयं लीला ही उनका प्रयोजन है।

**निम्बार्क संप्रदाय** में कृष्ण के वामांग में सुशोभित राधा के साथ कृष्ण की उपासना का विधान है। समस्त वस्तुओं के मूल स्रोत कृष्ण ब्रह्म ही हैं। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए कृष्ण अवतार धारण करते हैं। ब्रह्म और शिव भी कृष्ण की वंदना करते हैं। उनके चरणारविंद को छोड़ कर जीवों के लिए अन्य गति नहीं है। दैन्य भाव से उनकी कृपा प्राप्त होती है और फिर प्रेममूला भक्ति द्वारा जीव का कल्याण होता है।

**राधावल्लभ संप्रदाय** में श्रीकृष्ण का प्रमुख स्थान नहीं है, राधा ही प्रमुख है। श्रीकृष्ण आनुवंशिक रूप से वर्णित हैं, किंतु इस वर्णन में कृष्ण के भीतर सभी शक्तियों का समाहार अवश्य लक्षित होता है। वृंदावनविहारी कृष्ण ही रसिककिशोर रूप में एकमात्र नित्यबिहारी पुरुष हैं। उनकी पराप्रकृति श्रीराधा हैं, जो चित्-अचित्-विशिष्ट आह्लादिनी निजशक्ति रूपा हैं। सारा चराचर जगत इन्हीं रसिक युगलकिशोर का प्रतिबिंब हैं। भगवान कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम परात्पर ब्रह्म के भी आदि कारण और ईश्वरों के भी ईश्वर हैं। श्रीकृष्ण का वृंदावनविहारी, मथुरावासी और द्वारकावासी के रूप में वर्णन मिलता है। ऐश्वर्य, ज्ञान, शक्ति और पराक्रम को अंतर्लीन कर, प्रेम और माधुर्य की साक्षात मूर्ति बन कर वे गोप-गोपियों के साथ लीलारत रहते हैं। वे राधापति हो कर रसराज शृंगार के सौंदर्यमंडित रूप का विस्तार करने वाले हैं। इस संप्रदाय में श्रीकृष्ण का उपास्य नाम 'राधावल्लभ' है।

**हरिदासी संप्रदाय** (सखी-संप्रदाय) में भी श्रीकृष्ण का स्वरूप लगभग इसी प्रकार वर्णित है। स्वामी हरिदास ने नित्यबिहारी कृष्ण की निकुंज-लीलाओं का गान किया है। इस संप्रदाय में निकुंजबिहारी कृष्ण सर्वोपरि हैं। ये कृष्ण न तो सृष्टि-रचना-प्रक्रिया में पड़ते हैं, न प्रभुता धारण कर संसार के क्रियाकलाप के प्रति दायित्व रखते हैं। अन्य अवतारों की भांति दुष्टदलन, राक्षसविध्वंस आदि कार्य वे नहीं करते है। सृष्टिरचना, लय, स्थिति आदि के समस्त कर्म उन्होंनें ईश्वर पर छोड़े हैं, जो कृष्ण से लघु माने गये हैं। ठकुराई से दूर रह कर निकुंजलीला में रत रहना ही कृष्ण का स्वभाव है। सहज शृंगार रस में लीन हो कर निकुंजलीलापरायण कृष्ण की उपासना और नित्यविहार दर्शन ही सहचरी या सखी का काम्य है।

**गौड़ीय संप्रदाय** के प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु ने श्रीकृष्ण को ब्रजेन्द्रकुमार कहा है और यह माना है कि वे ब्रज में गोलोक की लीलाओं-सहित विहार करते हैं। वे परम तत्त्व, पूर्णज्ञान तथा पूर्ण आनंद रूप हैं। श्रीकृष्ण की अनंत शक्तियां हैं, उनमें एक आह्लादिनी शक्ति है। राधा इसी शक्ति का रूप है। 'चैतन्यचरितामृत' में राधा और कृष्ण के स्वरूप तथा शक्तियों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन मिलता है, जो गौड़ीय संप्रदाय को स्पष्ट करने में समर्थ हैं। इसमें ब्रजेन्द्रकुमार कृष्ण और गोलोकवासी कृष्ण में अभिन्नता स्वीकार की गयी है और कृष्ण की किशोरावस्था का ही वर्णन है, अतः लीलाओं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का आधार कांता-भाव या माधुर्य-भाव है।

## वल्लभ-संप्रदाय के कृष्णभक्त कवि

श्री वल्लभाचार्य ने ब्रजमंडल में जिस कृष्णभक्ति को प्रतिष्ठित किया, उसका दार्शनिक आधार शुद्धाद्वैत दर्शन है। साधना और व्यवहार-क्षेत्र में शुद्धाद्वैत दर्शन के साथ जिस भक्ति को स्थान दिया गया, उसका आधार उन्होंने 'पुष्टिमार्ग' को बनाया। 'पुष्टिमार्ग' सगुण भक्ति में सर्वथा नवीन प्रयोग न होने पर भी शब्द और व्यवहार के क्षेत्र में नया ही माना जायेगा। भगवद् अनुग्रह या कृपा को 'पुष्टि' कहा जाता है : ''पुष्टि किं मे? पोषणम्। पोषणं किम्। तद् अनुग्रहः। भगवत्कृपा।'' पुष्टि किसे कहते हैं? भगवान के अनुग्रह या कृपा का नाम ही पोषण है, यही पुष्टि है; और इसी पुष्टि पर पुष्टिमार्ग की भक्तिपद्धति अवलंबित है। रामानुजाचार्य ने भी ईश्वरकृपा को भक्ति का मेरुदंड स्थिर किया है और मर्कट-शावक तथा मार्जार-शावक के उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि जिस प्रकार बंदर का बच्चा अथवा बिल्ली का बच्चा स्वयं को अपनी मां के ऊपर छोड़ देता है, उसी प्रकार जो भक्त अपने को भगवान के आश्रय में सर्वथा छोड़ दे, वह सच्चा भक्त है। पुष्टिमार्ग का ऐसा ही संकेत 'गीता' में है। स्वयं भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा है : ''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।'' श्री वल्लभाचार्य ने भक्ति-विवेचन करते हुए यद्यपि तीन मार्गों—मर्यादामार्ग, प्रवाहमार्ग और पुष्टिमार्ग का उल्लेख किया है, किंतु उनका बल पुष्टिमार्ग पर ही है। आगम-निगम द्वारा प्रतिपादित कर्तव्यकर्म का विधिपूर्वक अनुसरण 'मर्यादामार्ग' है। इस मार्ग के पथिक लोकसंग्रह और लोकरक्षण की भावना को अवश्य साथ रखते हैं। इस मार्ग के द्वारा जीवनयापन करने वालों को बार-बार भवबंधन सहना पड़ता है। साधारण जन इसी मार्ग में भटक कर जीवनयापन करते रहते हैं। 'पुष्टिमार्ग' भगवान के अनुग्रह का मार्ग है, इस मार्ग के पथिक किसी लौकिक या बाह्य साधन का आश्रय नहीं लेते। वल्लभाचार्य के अनुसार यही सर्वश्रेष्ठ भक्तिमार्ग है। भगवान के अनुग्रह पर निर्भर हो कर भी जो मर्यादानुसार कर्म करते हैं, वे 'मर्यादापुष्ट' भक्त कहलाते हैं और जो केवल अनुग्रह (कृपा) का अवलंबन लेते हैं, वे 'शुद्ध पुष्ट' भक्त हैं। वल्लभाचार्य ने भक्तों के चार भेद किये हैं—प्रवाही पुष्ट भक्त, मर्यादा पुष्टभक्त, पुष्टिपुष्ट भक्त, शुद्ध पुष्ट भक्त। पुष्टिमार्ग अनुग्रह पर ही निर्भर करता है : ''पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैक साध्यः; कृष्णानुग्रह रूपा हि पुष्टिः; अनुग्रहःपुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः।''

**पुष्टिमार्गीय भक्ति** रागानुगा भक्ति है। इस भक्ति में किसी प्रकार के साधन या कर्मकांड की अपेक्षा नहीं होती। पुष्टिमार्गीय भक्त के प्रारब्ध और संचित कर्मों का शमन ईश्वरकृपा से स्वयं हो जाता है : पुष्टिभक्ति का लाभ यह है कि इसके द्वारा सद्योमुक्ति प्राप्त होती है। पुष्टिमार्गीय भक्ति के तीन फल हैं—रसरूप पुरुषोत्तम के स्वरूपानंद की शक्ति प्राप्त कर उसकी लीला में प्रविष्ट होना; दूसरा, पूर्ण पुरुषोत्तम के श्रीअंग अथवा आभूषणादि का अंग बनना और तीसरा, प्राकृत देहेंन्द्रियादि से मुक्त हो कर अप्राकृत शरीर में भगवान के बैकुंठ आदि लोकों में आनंद-भोग की स्थिति प्राप्त करना। इस प्रकार मोक्ष की दृष्टि से भी पुष्टिमार्ग को अधिक सुकर बताया गया है। पुष्टिमार्गीय कृष्णभक्त हिंदी कवियों ने इसी आधार को ग्रहण कर कृष्ण के रूप-सौंदर्य को शृंगारमंडित किया और उस भगवान के अनुग्रह की प्राप्ति के लिए काव्यरचना की। कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन भी इसी पुष्टिभक्ति को ध्यान में रख कर किया गया है।

श्री वल्लभाचार्य ने जिस पुष्टिमार्गीय भक्ति-संप्रदाय की स्थापना की थी, उसका जिन हिंदी भक्त कवियों द्वारा पल्लवन किया गया, उन्हें **अष्टछाप** के कवि कहा जाता है। यों तो पुष्टिमार्ग

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

को स्वीकार करने वाले अनेक भक्त उस समय विद्यमान थे, किंतु जिन आठ भक्त कवियों पर गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने आशीर्वाद की छाप लगायी थी, वे 'अष्टसखा' या 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन आठ भक्त कवियों में चार वल्लभाचार्य के शिष्य थे—कुम्भनदास, सूरदास, परमानंददास और कृष्णदास। अन्य चार गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे—गोविन्दस्वामी, नन्ददास, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास। ये आठों भक्त श्रीनाथ जी की नित्य लीला में अंतरंग सखाओं के रूप में सदैव उनके साथ रहते थे, इसी मान्यता के आधार पर इन्हें 'अष्टसखा' कहते हैं। गोवर्धन में श्रीनाथ जी की प्रतिष्ठा के बाद ये आठों सखा वहां सेवा के लिए प्रस्तुत हो गये। अष्टछाप के ये आठों भक्त कवि पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि में भी पूर्ण सहयोग देते थे। वल्लभ-संप्रदाय में सेवाविधि का बहुत ही सांगोपांग वर्णन है और अष्टयाम की सेवा—मंगलाचरण, शृंगार, ग्वाल, राजयोग, उत्थापन, भोग, संध्या-आरती और शयन को इस संप्रदाय में बड़े समारोह में स्वीकार किया गया है। अष्टछाप की स्थापना 1565 ई. में हुई थी। 'अष्टसखान की वार्ता' पर श्री हरिराय की 'भावप्रकाश' नामक टिप्पणी में आठों सखाओं के लीलात्मक स्वरूप, लीलासक्ति और अविकृत स्वभाव का पूर्ण विस्तार से उल्लेख है। सांप्रदायिक दृष्टि से अष्टछाप के ये आठ भक्त सामान्य मानव से उच्च स्थान रखते हैं और इनका लीला की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है।

**सूरदास :** हिंदी-साहित्य में कृष्णभक्ति की अजस्र धारा को प्रवाहित करने वाले भक्त कवियों में सूरदास का स्थान मूर्द्धन्य है। उनका जीवनवृत्त उनकी अपनी कृतियों से आंशिक रूप में और बाह्य साक्ष्य के आधार पर अधिक उपलब्ध होता है। इसके लिए 'भक्तमाल' (नाभादास), 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' (गोकुलनाथ), 'वल्लभदिग्विजय' (यदुनाथ) तथा 'निजवार्ता' का आधार लिया जाता है। श्री हरिरायकृत भावप्रकाशवाली 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में लिखा है कि सूरदास का जन्म दिल्ली के निकट ब्रज की ओर स्थित 'सीही' नामक गांव में सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इसके अतिरिक्त सूर के जन्मस्थान के विषय में और कोई संकेत नहीं मिलता। इस वार्ता में सूर का चरित गऊघाट से आरंभ होता है, जहां वे वैराग्य लेने के बाद निवास करते हैं। यहीं श्री वल्लभाचार्य से उनका साक्षात्कार हुआ था। अधिकांश विद्वानों ने सीही गांव को ही सूरदास का जन्मस्थान माना है।

सूरदास का जन्मकाल 1478 ई. स्थिर किया जाता है। उनके जन्मांध होने या बाद में अंधत्व प्राप्त करने के विषय में अनेक किंवदंतियां एवं प्रवाद फैले हुए हैं। वार्ता-ग्रंथों के अनुसार 1509-10 ई. के आसपास उनकी भेंट महाप्रभु वल्लभाचार्य से हुई और तभी उन्होंने शिष्यत्व ग्रहण किया। अकबर से भी उनकी भेंट का उल्लेख मिलता है। वल्लभाचार्य के शिष्य बनने के बाद वे चंद्रसरोवर के समीप पारसोली गांव में रहने लगे थे; वहीं 1583 ई. में उनका देहावसान हुआ। उनकी मृत्यु पर गो. विट्ठलनाथ ने शोकार्त्त हो कर कहा था : "पुष्टिमारग को जहाज जात है सो जाको कछु लेना होय सो लेउ।"

सूरदास की शिक्षा आदि के विषय में किसी ग्रंथ में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता; केवल इतना ही हरिराय जी ने लिखा है कि वे गांव से चार कोस दूर रह कर पद-रचना में लीन रहते थे और गानविद्या में प्रवीण थे। भक्त-मंडली उनके पद सुनने एकत्र हो जाती थी। उनके पद विनय और दैन्य भाव के होते थे, किंतु श्री वल्लभाचार्य के संपर्क में आने पर उन्हीं की प्रेरणा से सूरदास ने दास्य भाव और विनय के पद लिखना बंद कर दिया तथा सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव की पद रचना करने लगे। डॉ. दीनदयालु गुप्त ने उनके द्वारा रचित पच्चीस पुस्तकों की सूचना दी है, जिनमें सूरसागर, सूरसारावली, साहित्यलहरी, सूरपचीसी, सूररामायण, सूरसाठी और राधारसकेलि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रकाशित हो चुकी हैं। वस्तुतः 'सूरसागर' और 'साहित्यलहरी' ही उनकी श्रेष्ठ कृतियां हैं। 'सूरसारावली' को अनेक विद्वान अप्रामाणिक मानते हैं, किंतु ऐसे विद्वान भी हैं, जो इसे 'सूरसागर' का सार अथवा उसकी विषयसूची मान कर इसकी प्रामाणिकता के पक्ष में हैं। 'सूरसागर' की रचना 'भागवत' की पद्धति पर द्वादश स्कंधों में हुई है। 'साहित्यलहरी' सूरदास के सुप्रसिद्ध दृष्टकूट पदों का संग्रह है। इसमें अर्थगोपन-शैली में राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है, साथ ही अलंकार-निरूपण की दृष्टि से भी इस ग्रंथ का महत्त्व है।

सूर-काव्य का मुख्य विषय कृष्णभक्ति है। 'भागवत' पुराण को उपजीव्य मान कर उन्होंने राधा-कृष्ण की अनेक लीलाओं का वर्णन 'सूरसागर' में किया है। 'भागवत' के द्वादश स्कंधों से अनुरूपता के कारण कुछ विद्वान इसे 'भागवत' का अनुवाद समझने की भूल कर बैठते हैं, किंतु वस्तुतः सूर के पदों का क्रम स्वतंत्र है। वैसे, उनके मन में 'भागवत' पुराण की पूर्ण प्रतिष्ठा है। उन्होंने कृष्ण-चरित्र के उन भावात्मक स्थलों को चुना है, जिनमें उनकी अंतरात्मा की गहरी अनुभूति पैठ सकी है। उन्होंने श्रीकृष्ण के शैशव और कैशोर वय की विविध लीलाओं का चयन किया है, संभवतः यह सांप्रदायिक दृष्टि से किया गया हो। सूर की दृष्टि कृष्ण के लोकरंजक रूप पर ही अधिक रही है, उनके द्वारा दुष्ट-दलन आदि का वर्णन सामान्य रूप से ही किया गया है। लीला-वर्णन में कवि का ध्यान मुख्यतः भाव-चित्रण पर रहा है। विनय और दैन्य-प्रदर्शन के प्रसंग में जो पद सूर ने लिखे हैं, उनमें भी उच्चकोटि के भावों का समावेश है।

सूर के भाव-चित्रण में वात्सल्य भाव को श्रेष्ठतम कहा जाता है। बाल-भाव और वात्सल्य से सने मातृहृदय के प्रेम-भावों के चित्रण में सूर अपना सानी नहीं रखते। बालक की विविध चेष्टाओं और विनोदों के क्रीड़ास्थल मातृहृदय की अभिलाषाओं, उत्कंठाओं और भावनाओं के वर्णन में सूरदास हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवि ठहरते हैं। वात्सल्य भाव के पदों की विशेषता यह है कि उनको पढ़ कर पाठक जीवन की नीरस और जटिल समस्याओं को भूल कर उनमें मग्न हो जाता है। दूसरी ओर भक्ति के साथ शृंगार को जोड़ कर उसके संयोग एवं वियोग पक्षों का जैसा मार्मिक वर्णन सूर ने किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्रवासजनित वियोग के संदर्भ में भ्रमरगीत-प्रसंग तो सूर की काव्य-कला का उत्कृष्ट निदर्शन है। इस अन्योक्ति एवं उपालंभकाव्य में गोपी-उद्धव-संवाद को पढ़ कर सूर की प्रतिभा और मेधा का परिचय प्राप्त होता है। सूरदास के भ्रमरगीत में केवल दार्शनिकता और आध्यात्मिक मार्ग का ही उल्लेख नहीं है, वरन् उसमें काव्य के सभी श्रेष्ठ उपकरण उपलब्ध होते हैं। सगुण भक्ति का ऐसा सबल प्रतिपादन अन्यत्र देखने में नहीं आता। इस प्रकार सूर-काव्य में प्रकृति-सौंदर्य, जीवन के विविध पक्षों, बालचरित्र के विविध प्रसंगों, क्रीड़ाओं, गोचारण, रास आदि का वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलता है। रूपचित्रण के लिए नख-शिख-वर्णन को सूर ने अनेक बार स्वीकार किया है। ब्रज के पर्वों, त्योहारों, वर्षोत्सवों आदि का भी वर्णन उनकी रचनाओं में है।

सूर की समस्त रचना को पदरचना कहना ही समीचीन है। ब्रजभाषा के अग्रदूत सूरदास ने इस भाषा को जो गौरव-गरिमा प्रदान की, उसके परिणामस्वरूप ब्रजभाषा अपने युग में काव्यभाषा के राजसिंहासन पर आसीन हो सकी। सूर की ब्रजभाषा में चित्रात्मकता, आलंकारिकता, भावात्मकता, सजीवता, प्रतीकात्मकता तथा बिंबात्मकता पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। ब्रजभाषा को ग्रामीण जनपद से हटा कर उन्होंने नगर और ग्राम के संधिस्थल पर ला बिठाया था। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग करने पर भी उनकी मूल प्रवृत्ति ब्रजभाषा को सुंदर और सुगम बनाये रखने की ओर ही थी। ब्रजभाषा की ठेठ माधुरी यदि संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के शब्दों के साथ सजीव शैली में जीवित रही है, तो वह केवल सूर की भाषा में ही है। अवधी और पूरबी हिंदी के भी शब्द उनकी भाषा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में हैं। कतिपय विदेशी शब्द भी यत्र-तत्र उपलब्ध हो जाते हैं। भाषा की सजीवता के लिए मुहावरों और लोकोक्तियों का पुट उनकी भाषा का सौंदर्य है। भ्रमरगीत के पदों में तो अनेक लोकोक्तियां मणिकांचन-संयोग की तरह अनुस्यूत हैं। भाषा में प्रवाह बनाये रखने के लिए लय और संगीत पर कवि का सतत ध्यान रहा है। राग-रागिनियों के स्वर-ताल में बंधी हुई शब्दावली जैसी सरस भाव-व्यंजना करती है, वैसी सामान्य पदावली नहीं कर सकती। वर्णमैत्री और संगीतात्मकता सूर की ब्रजभाषा के अलंकरण हैं।

सूर की **भक्तिपद्धति** का मेरुदंड पुष्टिमार्गीय भक्ति है। भगवान की भक्त पर कृपा का नाम ही पोषण है : 'पोषणं तदनुग्रहः'। पोषण के भाव को स्पष्ट करने के लिए भक्ति के दो रूप बताये गये हैं—साधन-रूप और साध्य-रूप। साधन-भक्ति में भक्त को प्रयत्न करना होता है, किंतु साध्य-रूप में भक्त सब-कुछ विसर्जित करके भगवान की शरण में अपने को छोड़ देता है। पुष्टिमार्गीय भक्ति को अपनाने के बाद प्रभु स्वयं अपने भक्त का ध्यान रखते हैं, भक्त तो अनुग्रह पर भरोसा करके शांत बैठ जाता है। इस मार्ग में भगवान के अनुग्रह पर ही सर्वाधिक बल दिया जाता है। भगवान का अनुग्रह ही भक्त का कल्याण करके उसे इस लोक से मुक्त करने में सफल होता है :

*जा पर दीनानाथ ढरै।*
*सोइ कुलीन बड़ौ सुन्दर सोइ जा पर कृपा करै।*
*सूर पतित तरि जाय तनक में जो प्रभु नेक ढरै॥*

भगवत्कृपा की प्राप्ति के लिए सूर की भक्तिपद्धति में अनुग्रह का ही प्राधान्य है—ज्ञान, योग, कर्म, यहां तक कि उपासना भी निरर्थक समझी जाती है। उन्होंने भगवदासक्ति के एकादश रूपों का वर्णन किया है। 'नारदभक्तिसूत्र' के अनुसार आसक्ति के एकादश रूप इस प्रकार हैं : गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति और परम विरहासक्ति। यद्यपि सूर ने इन सभी का वर्णन किया है, किंतु उनका मन सख्य, वात्सल्य, रूप, कांत और तन्मयासक्ति में अधिक रमा है। तन्मयासक्ति का उदाहरण देखिए :

*उर में माखन चोर गड़े।*
*अब कैसेहूँ निकसत नहिं ऊधौ, तिरछै ह्वै जु अड़े॥*

परम विरहासक्ति भ्रमरगीत के पदों में बड़ी समीचीन शैली में व्यक्त हुई है। अष्टछाप के अन्य कवियों में परमानंददास तथा कुम्भनदास ने भी इस विषय पर पद लिखे हैं। प्रेमासक्ति में विरह की स्वीकृति इस संप्रदाय में प्रारंभ से मिलती है।

भक्ति के दार्शनिक स्वरूप की ओर भी सूर का ध्यान बराबर बना रहा। सिद्धांत-पक्ष की स्थापना में उन्होंने वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत का ध्यान रखा और ब्रह्म, जीव आदि का वर्णन करते समय सूक्ष्म बातों का भी यथास्थान उल्लेख किया। इतना ही नहीं, ईश्वर, माया, जीव, काल और सृष्टि-रचना का विशद वर्णन करके उन्होंने अपने भक्ति-सिद्धांतों को इतना पुष्ट और परिपूर्ण बना दिया कि उसमें एक ओर जहां गहन दार्शनिकता आ गयी है, वहां दूसरी ओर जीवन की कोमल भावनाओं के कारण सुकुमारता, भावुकता और तल्लीनता की भी कमी नहीं है। उनके भक्तिकाव्य के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात करके यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि उनकी भक्ति-पद्धति का प्रमुख आधार पुष्टिमार्गीय सिद्धांत 'भगवदनुग्रह' ही था और इसी को केंद्रबिंदु मान कर वे वात्सल्य-प्रेम

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आदि की व्यंजना करने में लीन रहे। भक्ति में कृपा की प्राप्ति का साधन उन्होंने प्रेम को माना। बाद में प्रेमाभक्ति को अपना कर उन्होंने भगवत्प्रेम को ही भक्ति का मेरुदंड मान लिया और प्रेम की परिपूर्णता के लिए विरह को आवश्यक मान कर विरह के महत्त्व को इन शब्दों में प्रकट किया :

*ऊधौ विरहौ प्रेम करै।*
*ज्यों बिनु पुट पर गहत न रंग को रंग न रसै परै।*
*ज्यों घर दहै बीज अंकुर गिरि तो सत फरनि फरै।*

सूरदास ने प्रेम और विरह के द्वारा सगुण मार्ग से कृष्ण को साध्य माना है। उनके कृष्ण सखा रूप में भी सर्वशक्तिमान परमेश्वर है। विष्णु, हरि, राम आदि सब कृष्ण ही के नाम हैं। निर्गुण ब्रह्म के ये सगुण नाम हैं और इनमें भेद-बुद्धि सूरदास को अभीष्ट नहीं। उन्होंने जहां रामकथा का उल्लेख किया है, वहां यही आशय है कि दोनों ही कृष्ण के रूप है; इनमें कोई भेदभाव नहीं है। राधा को कृष्ण की शक्ति का प्रतीक माना गया है, अतः कवि ने उन्हें शेष, महेश, शंभु, नारद आदि की स्वामिनी कहा है। निर्गुणसिंधु में अवगाहन को साधारण जन के लिए कठिन मान कर सूरदास ने सगुण कृष्णभक्ति का पथ प्रशस्त किया : ''कौन काज या निर्गुण सो चिरजीवहु कान्ह हमारे।'' पुष्टि-मार्ग में स्वीकृत रागानुगा भक्ति ही उन्हें इष्ट रही है और उसके दोनों भेदों—कामरूपा और संबंधरूपा का उन्होंने वर्णन किया है।

सख्यभक्ति का 'सूरसागर' में दो रूपों में प्रस्फुटन हुआ है। पहले रूप के अंतर्गत गोप व ग्वालों के साथ कृष्ण का सखा-रूप में विचरण करना और कृष्ण के अतिरिक्त किसी और में ध्यान न रखना वर्णित है। गोप व ग्वालों का कृष्ण के साथ ऐसा अटूट प्रेम-संबंध है, जिसमें न तो ऊंच-नीच का भेदभाव है और न किसी प्रकार का दुराव छिपाव! दूसरा रूप है—गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम-भाव! उसमें विरहजन्य वेदना के कारण सूरदास ने तल्लीनता की मात्रा अधिक व्यक्त की है। विरह में विभोर गोपियों की व्यथा का सजीव वर्णन भ्रमरगीत संबंधी पदों में देखने को मिलता है। भ्रमरगीत के पदों में गोपियों की मार्मिक विरह-भावना, सगुण-निर्गुण-विवेचन, ज्ञान और भक्ति के तारतम्य तथा भक्ति की सीमाओं का जैसा सुंदर चित्रण हुआ है, वह सूरदास की भक्तिपद्धति के दार्शनिक एवं भावुक, दोनों रूप सामने लाने में समर्थ है।

सख्यभक्ति के साथ सूरदास ने भक्ति को सुगम और सर्वजन-सुलभ बनाने के लिए वात्सल्य-भाव द्वारा भी भगवान की आराधना व उपासना की है। सख्यभाव की अपेक्षा वात्सल्यभाव में भक्त को इष्टदेव का सामीप्य अधिक प्राप्त होता है। बाललीला की रसमग्नता इतनी अधिक होती है कि कृष्ण का वैभव और उनकी असीम शक्ति का ज्ञान कुछ समय के लिए तिरोहित-सा हो जाता है और भक्त भगवान के निकट उसी रूप में पहुंच जाता है, जैसे बालक के पास उसके माता-पिता, बंधु, सखा आदि। यशोदा और नंद के द्वारा जिस वात्सल्यभाव का चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमें श्रीकृष्ण के अतिमानवीय कृत्यों के प्रति अधिक आतंकपूर्ण प्रभाव तथा अति महत्त्व न होने से भक्त को भगवान के समीप जाने का पूरा-पूरा अवसर मिलता है।

वैष्णव-संप्रदायों में माधुर्य-भाव की भक्ति को अन्य प्रकार की भक्ति-पद्धतियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ है। कारण यह है कि व्यक्तिगत संबंध की निकटता और अनन्यता की दृष्टि से माधुर्य-भाव में जो उत्कर्ष है, वह अन्य प्रकार की भक्ति में परिलक्षित नहीं होता। विभिन्न लीलाओं के प्रसंग माधुर्य-भाव को स्पष्ट करने वाले मनोरम प्रसंग हैं, जिनमें भगवान की असीम शक्ति को पति रूप में वरण करके गोपियां सुखी होती हैं। दानलीला आदि में असंदिग्ध शब्दों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में सूर ने गोपियों के द्वारा माधुर्य के अवलंबन के अतिरिक्त कृष्ण के अन्य सभी रूपों की अवहेलना करके यह प्रदर्शित किया है कि अनन्य भाव की चरम परिणति गोपियों के माधुर्य भाव में ही हो सकती है, गोपियों के द्वारा कृष्ण की प्राकृत और अति प्राकृत दोनों प्रकार की गौरव-गरिमा का उपहास कराके यह दिखाया गया है कि उनका प्रेम उनकी इंद्रियों और मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर निर्भर है, जिसका आधार कृष्ण का मनोहर रूप तथा उनकी प्रेम-प्रवण लीलाएं हैं। माधुर्य-भाव की भक्ति के संबंध में अतिशृंगारिक और वासनाप्रधान होने का जो भ्रम फैला हुआ है, उसका निवारण भी सूर की माधुर्य-भक्ति वाले पदों से हो जाता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सूर की भक्तिपद्धति में जिस माधुर्य-भाव को स्थान मिला है, वह मुख्य रूप से लीलाओं पर आधारित है। किंतु इसी कारण उसे केवल ऐंद्रिय नहीं कहा जा सकता। भ्रमरगीत में गोपियों की उक्तियां केवल ऐंद्रिक सुख को व्यक्त नहीं करतीं, वरन् वे उनके हृदय की पवित्रता, निश्छलता, अनन्यता और उदारता का परिचय देती हैं। ज्ञानमार्ग के पथिक उद्धव द्वारा सगुण-प्रेम की भक्ति को स्वीकार करना इस बात का प्रमाण है कि यह भक्तिपद्धति वासना या शृंगार की अश्लीलता से सर्वथा रहित थी और इसमें माधुर्य भाव की प्रधानता होने पर भी तन्मयता की चरम उपलब्धि भक्तों को हुई थी।

**कुम्भनदास :** कुम्भनदास (1468-1583) का चरित 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार संकलित किया जाता है, क्योंकि उन्होंने अपने संबंध में कहीं कुछ नहीं लिखा। 'भक्तमाल' की टीकाओं में भी उनका चरित्र पल्लवित नहीं किया गया। हरिराय-कृत 'भावप्रकाश' में केवल इतना ही संकेत है कि कुम्भनदास ब्रज में गोवर्धन पर्वत से कुछ दूर 'जमुनावती' नामक गांव में रहा करते थे। उनके घर में खेती-बाड़ी होती थी। अपने गांव से वे पारसोली चंद्रसरोवर हो कर श्रीनाथ जी के मंदिर में कीर्तन करने जाते थे। उनका जन्म गौरवा क्षत्रिय कुल में हुआ था। कुम्भनदास जी विवाहित थे और उनका विशाल परिवार था। सात पुत्र थे, जिनमें सबसे छोटे चतुर्भुजदास को छोड़ कर अन्य सभी कृषि-कर्म में लगे रहते थे। गृहस्थ होते हुए भी वे अनासक्त थे और कृष्ण-भजन में लीन रहने वाले साधुवृत्ति के पुरुष थे। उन्होंने 1492 ई. में महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा ग्रहण की थी। उनके कंठ-स्वर से प्रसन्न हो कर उन्हें कीर्तन-गान का दायित्व सौंपा गया था। किंवदंती है कि किसी गायक ने एक बार उनका कोई सुंदर पद बादशाह अकबर को सुनाया, जिसे सुन कर वे इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने इस पद के रचयिता से ही पद सुनना चाहा और कुम्भनदास जी को सीकरी आने का निमंत्रण दिया। कुम्भनदास विरक्त भाव से सीकरी चले तो गये, लेकिन उन्होंने सम्राट के समक्ष जो पद गा कर सुनाया, वह उनके अनासक्त भाव का सूचक है :

*भक्तन को कहा सीकरी सों काम।*
*आवत जात पन्हैया टूटी बिसरि गयो हरिनाम।।*
*जाको देखे दुःख लागै ताकौं करन परी परनाम।*
*कुम्भनदास लाल गिरिधर बिन यह सब झूठो धाम॥*

अकबर उनकी भगवद्भक्ति से प्रसन्न हुआ और उनसे अनुरोध किया कि वे कुछ मांग लें। उन्होंने सबसे पहले यही इच्छा प्रकट की कि भविष्य में मुझे सीकरी मत बुलाना। श्रीनाथ जी के अनन्य भक्त होने के कारण उन्हें ब्रज से बाहर रहने पर अपार कष्ट की अनुभूति होती थी। एक बार गोस्वामी विट्ठलनाथ जी उन्हें अपने साथ ब्रज से बाहर यात्रा पर ले गये थे। वहां भी उन्हें श्रीनाथ जी के दर्शन के अभाव में मार्मिक पीड़ा का अनुभव हुआ और वे बीच ही में यात्रा से वापस लौट आये।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कुम्भनदास जी की शिक्षा के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनकी रचनाओं में भी पांडित्य की झलक नहीं है। सांप्रदायिक सिद्धांतों का बोध उन्होंने वल्लभाचार्य की संगति में रह कर प्राप्त कर लिया था, क्योंकि वे वल्लभाचार्य के अष्टछापी शिष्यों में प्रथम शिष्य थे और सिद्धांतों के ज्ञान के बिना पदरचना कठिन थी। उनके द्वारा रचित किसी स्वतंत्र ग्रंथ का उल्लेख नहीं मिलता— कुछ पद 'रागकंल्पद्रुम', 'रागरत्नाकर', 'वर्षोत्सवकीर्तन', 'वसंतधमारकीर्तन' आदि में संकलित हैं। कांकरोली विद्या-विभाग से प्रकाशित पदसंग्रह में उनके 186 पद हैं, जबकि एक दूसरा संकलन नाथद्वारा के पुस्तकालय में बताया जाता है, जिसमें 367 पद हैं। कुम्भनदास की पदरचना में साहित्यिक सौष्ठव उतना नहीं है, जितना संगीत और लय का सौंदर्य है। उनके पदों में श्रीनाथ जी की सांप्रदायिक भक्ति की छाप स्पष्ट लक्षित होती है। कुम्भनदास की काव्यभाषा साधारण ब्रजभाषा है, जो उस समय, गोवर्धन के समीप बोलचाल की भाषा रही होगी। संस्कृत अथवा अन्य भाषाओं का प्रभाव भी न्यून मात्रा में है।

**परमानंददास :** परमानंददास अष्टछाप के कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। इनका जन्म कन्नौज (उत्तर प्रदेश) में एक निर्धन कान्यकुब्ज ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इन्होंने भी अपनी रचनाओं में अपने विषय में कुछ नहीं लिखा है। सांप्रदायिक अनुश्रुतियों के आधार पर इन्हें वल्लभाचार्य से पंद्रह वर्ष छोटा कहा जाता है, अतः इनका जन्म काल 1493 ई. स्थिर होता है। काव्य-रचना में इनकी शैशव से ही प्रवृत्ति थी और संगीत का भी इन्हें ज्ञान था। अतः भक्तिविषयक पदरचना की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था। इन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं किया और न धनार्जन के लिए कोई व्यवसाय ही किया। वल्लभाचार्य से इन्होंने अरैल (प्रयाग) में दीक्षा ग्रहण की और तभी से बाललीला संबंधी पदरचना आरंभ की।

परमानंद की रचनाओं का प्रकाशन 'परमानंदसागर', 'परमानंद के पद' और 'वल्लभसंप्रदायी कीर्तन-पदसंग्रह' के नाम से हुआ है। इनके अतिरिक्त 'दानलीला' और 'ध्रुवचरित' भी इनके द्वारा लिखे बताये जाते हैं, किंतु इस विषय में कोई प्रामाणिक जानकारी अद्यावधि प्राप्त नहीं हो सकी है। इनके पदों में 'सूरसागर' की भांति 'भागवत' की कथा का वर्णन नहीं है, अपितु इन्होंने कृष्ण के मथुरा-गमन से भंवरगीत तक के प्रसंग का ही मुख्यतः वर्णन किया है। कुछ पद अक्षयतृतीया, दीपमालिका, रामजन्म, नृसिंह, वामन आदि अवतारों से भी संबद्ध हैं। परमानंददास जी के सर्वाधिक पद बाललीला विषयक हैं। लीला-वर्णन में रसवती भावात्मक लीलाओं पर इनका ध्यान अधिक रहा है। इनके पदों में प्रबंधात्मकता नहीं है, शुद्ध मुक्तक की भांति उनका रसास्वादन किया जा सकता है। कृष्ण के ईश्वरीय पक्ष का वर्णन न करके इन्होंने केवल माधुर्य पक्ष की लीलाओं का गान किया है। इनकी प्रेमानुभूति लौकिक न हो कर कृष्णविषयक है। बालमनोविज्ञान के सुंदर चित्र इनके काव्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। पूर्वराग-अवस्था की वियोगवेदना और मिलन की उत्कट कामना की व्यंजना भी इनके पदों में अत्यंत प्रभावपूर्ण है। प्रेम-पीर से व्यथित एक गोपी की उक्ति द्रष्टव्य है :

*जब ते प्रीति श्याम ते कीनी।*
*ता दिन ते मेरे इन नैननि नेंकहु नींद न लीनी॥*
*सदा रहत चितचाक चख्यो सो और कछू न सुहाय।*
*मन में रहे उपाय मिलन को इहै विचारत जाय॥*
*परमानन्द पीर प्रेम की काहु सों न कहिए।*
*जैसे विथा मूक बालक की अपने तन मन सहिए॥*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वियोग-श्रृंगार के वर्णन में परमानंददास ने अद्भुत सफलता प्राप्त की है। मान की अवस्थाओं का वर्णन भी गोपियों के माध्यम से सफलतापूर्वक किया गया है। राधा-कृष्ण के नखशिख-वर्णन में भी इन्होंने रुचि ली है। भाषा की दृष्टि से ब्रजभाषा का माधुर्य, दीप्ति, कांति और छटा इनके पदों में सर्वत्र व्याप्त है। चित्रात्मकता, आलंकारिकता और प्रांजलता इनकी भाषा के विशेष गुण हैं। गेय पदों में रचना करने के साथ-साथ दोहा-चौपाई शैली का भी यत्रतत्र प्रयोग लक्षित होता है। अष्टछाप के कवियों में काव्यसौष्ठव की दृष्टि से सूरदास और नंददास के बाद इन्हीं का स्थान है।

**कृष्णदास :** कृष्णदास अधिकारी के नाम से विख्यात अष्टछापी भक्तकवि के संबंध में अभी तक प्रामाणिक जानकारी प्राप्त नहीं हुई है। डॉ. दीनदयालु गुप्त ने 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय' ग्रंथ में इनका परिचय लिखते हुए 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' को ही प्रमाण माना है। उनके लेखानुसार कृष्णदास 'कुनबी' जाति के थे, जो शूद्र जातियों में परिगणित की जाती है। इनका जन्म गुजरात में राजनगर राज्य (अहमदाबाद) के चिलोतरा गांव में 1496 ई. में हुआ था। इनके पिता गांव के मुखिया थे। कृष्णदास बाल्यावस्था में घर छोड़ कर ब्रज में आ गये थे। अपनी बुद्धि और भक्ति के कारण ये श्रीनाथ जी के मंदिर में 'अधिकारी' पद पर आसीन हुए। इनके गुजराती होने का एक प्रमाण यह है कि इनका लेखन-व्यापार गुजराती भाषा में ही होता था। धीरे-धीरे ब्रजभाषा का इन्होंने अभ्यास किया और उसमें काव्यरचना भी करने लगे। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी इनकी कुशाग्र बुद्धि और प्रतिभा के बड़े प्रशंसक थे। इनकी प्रबंधपटुता के कारण इन्हें मंदिर के प्रबंध का दायित्व ही सौंपा गया था, सेवा और कीर्तन से इनका प्रारंभ में कोई संबंध नहीं था।

'वल्लभदिग्विजय' के वर्णन से यह प्रमाणित होता है कि वल्लभाचार्य जी ने मथुरा के विश्राम-घाट पर निवास करते हुए कृष्णदास को 1510 ई. में अपनी शरण में लिया और दीक्षा दे कर पुष्टिमार्गीय भक्तों तथा अष्टसखाओं में शामिल किया। मंदिर की प्रबंध-व्यवस्था को दृढ़ता से चलाने के कारण इनके विपक्षी या निंदक भी पैदा हो गये थे। वल्लभाचार्य जी की मृत्यु के बाद गद्दी के प्रश्न को ले कर परिवार में जो विवाद चला, उसमें कृष्णदास ने गोपीनाथ जी के ज्येष्ठ पुत्र पुरुषोत्तम को गद्दी पर बिठाने में उनकी विधवा का साथ दिया; जिसके कारण गो. विट्ठलनाथ जी से इनका मनमुटाव भी हो गया था। कृष्णदास के देहावसानकाल के विषय में भी किंवदंतियां हैं। कहते हैं, ये एक कुआं बनवा रहे थे। उसी में गिर कर 1578 ई. के आसपास इनकी मृत्यु हुई।

कृष्णदास काव्य और संगीत के मर्मज्ञ होने के साथ सुकवि और गायक भी थे। इन्होंने बाललीला, राधाकृष्ण-प्रेम-प्रसंग, रूपसौंदर्य आदि का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। इनका कोई ग्रंथ नहीं मिलता, शताधिक फुटकर पद ही उपलब्ध हैं। कृष्णदास का एक पद एक जनश्रुति के साथ संप्रदाय में प्रसिद्ध है—कहते हैं कि एक सुंदर वेश्या बड़े सुरीले कंठ से गान करती थी। कृष्णदास उसे आगरा से गोवर्धन ले आये और श्रीनाथ जी के चरणों में समर्पित कर दिया। वह वेश्या एक दिन भावविभोर हो कर कृष्णदास-रचित एक पद का गायन कर रही थी। पद-गायन समाप्त होते ही उसने प्राण-विसर्जित कर दिये। पद इस प्रकार है :

*मो मन गिरधर छवि पर अटक्यौ।*
*ललित त्रिभंगी अंगन पर चलि, गयो तहांई ठटक्यौ।*
*सजल स्याम घन चरननील ह्वै, फिर चित अनत न भटक्यौ।*
*'कृष्णदास' कियो प्रान निछावर, यह तन जग सिर पटक्यौ॥*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कृष्णदास के पदों की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। यद्यपि उनकी मातृभाषा गुजराती थी, किंतु उन्होंने अध्यवसायपूर्वक ब्रजभाषा पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर लिया था। उनके श्रृंगारपूर्ण पदों में भाषा की प्रांजलता द्रष्टव्य है। सुंदर तत्सम ललित पदावली से संयुक्त पदों को पढ़ कर कोई यह नहीं कह सकता कि इस भक्त-कवि की मातृभाषा ब्रज के अतिरिक्त कोई दूसरी रही होगी।

**नन्ददास :** अष्टछाप के कवियों में नन्ददास का स्थान काव्यसौष्ठव और भाषा की प्रांजलता की दृष्टि से सूरदास के बाद समझना चाहिए। नन्ददास बहुमुखी प्रतिभा के भक्तकवि थे। इनके जीवनवृत्त के विषय में भी बहुत अधिक मतभेद पाया जाता है। इनका कुछ परिचय 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' और 'अष्टसखान की वार्ता' में उपलब्ध होता है। इन वार्ताओं के आधार पर यह प्रतीत होता है कि नन्ददास गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य बनने से पूर्व लौकिक वृत्ति के व्यक्ति थे। इनका निवास-स्थान रामपुर लिखा है। इन्हीं वार्ताओं में नन्ददास को तुलसीदास का भाई बताया गया है।

नन्ददास का जन्म 1533 ई. में उत्तर प्रदेश के सूकरक्षेत्र (सोरों) के रामपुर गांव में हुआ था। ये सनाढ्य परिवार थे। सोरों से उपलब्ध सामग्री के अनुसार इनके पिता का नाम जीवनराम था और चाचा का आत्माराम। इन्हीं आत्माराम के पुत्र तुलसीदास थे। तुलसीदास और नन्ददास ने शैशव में सोरों में रह कर ही नृसिंह पंडित से संस्कृत भाषा का ज्ञान अर्जित किया था। नृसिंह पंडित रामानन्दीय संप्रदाय के रामोपासक थे। अतः नन्ददास ने भी प्रारंभ में रामभक्ति को ही स्वीकार किया। ऐसी मान्यता है कि सोरों से नन्ददास भी तुलसीदास जी के साथ काशी चले गये और वहां रह कर अनेक शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। वहीं रहते हुए उन्होंने एक यात्रीदल के साथ द्वारका की यात्रा के लिए प्रस्थान किया, किंतु मार्ग में भटक गये और एक स्त्री के प्रति अनुरक्त हो कर गोकुल पहुंचे। गोकुल में उनकी भेंट गो. विट्ठलनाथ से हुई और वहीं पुष्टिमार्ग की दीक्षा ग्रहण की। इसके बाद नन्ददास की जीवन-दिशा ही बदल गयी। लौकिक रागात्मक संबंधों से दूर हट कर वे सच्चे कृष्णभक्त हो गये। गोस्वामी विट्ठलनाथ के साथ कथावार्ता में उनका समय व्यतीत होने लगा। इन्हीं दिनों वे गोवर्धन में सूरदास के संपर्क में आये और सूर की भक्तिभावना को देख कर उनका शास्त्र-मोहभंग हुआ। कहते हैं कि सूरदास के आग्रह से ही वे पुनः अपने गांव रामपुर गये थे और कमला नामक कन्या से विवाह कर सद्गृहस्थ के रूप में जीवन व्यतीत करने लगे थे। अपने गांव में उन्होंने 'श्यामसर' नाम से एक तालाब का निर्माण कराया। जीवन के अंतिम दिनों में वे पुनः गोवर्धन आ गये और 1583 ई. के लगभग मानसी गंगा के तट पर उनका देहावसान हुआ।

नन्ददास जी ने विधिवत शास्त्रानुशीलन किया था। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनके द्वारा रचित पंद्रह ग्रंथों को देख कर उनका रचना-वैविध्य स्पष्ट हो जाता है। इन ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं—अनेकार्थमंजरी, मानमंजरी, रसमंजरी, रूपमंजरी, विरहमंजरी, प्रेम-बारहखड़ी, श्यामसगाई, सुदामाचरित, रुक्मिणीमंगल, भंवरगीत, रासपंचाध्यायी, सिद्धांतपंचाध्यायी, दशमस्कन्धभाषा, गोवर्धनलीला, नन्ददास- पदावली। 'अनेकार्थमंजरी' एक प्रकार का पर्याय कोशग्रंथ है। इसके मंगलाचरण में शुद्धाद्वैत संबंधी दार्शनिक विचारों को प्रकट किया गया है। 'मानमंजरी' में भी 'अमरकोश' के आधार पर शब्दों के पर्यायवाची ही लिखे गये हैं। चमत्कार यह है कि छंद की प्रथम पंक्ति में पर्यायवाची है और दूसरी में कवि ने उस शब्द का प्रयोग कर दूती द्वारा राधा के श्रृंगार का वर्णन किया है। यह ग्रंथ नन्ददास के भाषाविषयक प्रौढ़ ज्ञान और पांडित्य का द्योतक है।

'विरहमंजरी' भावात्मक काव्य है। इसमें कृष्ण के वियोग में एक ब्रजवासी की विरह-दशा का वर्णन है। किसी कथानक के बिना केवल काल्पनिक वियोग को ही भावात्मक शैली से वर्णित किया

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गया है। इसमें बारहमासा शैली भी है। 'रूपमंजरी' नन्ददास का लघु आख्यानकाव्य है। इसमें रूपमंजरी के प्रति कृष्ण-प्रेम को जार भाव से निरूपित करते हुए दूती इन्दुमती के साहाय्य का वर्णन किया गया है। कुछ विद्वानों का कथन है कि यह रूपमंजरी वही है, जिसके प्रति नन्ददास स्वयं अनुरक्त थे। 'सुदामाचरित' की कथा 'श्रीमद्भागवत' से गृहीत है। इस लोकप्रिय कथानक को कवि ने कृष्णभक्ति के फलक पर अवस्थित कर सख्य भाव को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। काव्य की दृष्टि से रचना साधारण है।

'रासपंचाध्यायी' नन्ददास की श्रेष्ठ कृतियों में गिनी जाती है। इसमें लौकिक एवं पारलौकिक प्रेम को समन्वित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास है। बाह्य रूप में यह काव्य लौकिक गोपी-प्रेम को ही ले कर चलता है, किंतु प्रच्छन्न रूप से आध्यात्मिक कृष्ण-प्रेम भी इसमें अनुस्यूत है, जिसे भक्तगण सहज ही पा लेते हैं। वियुक्त आत्मा (गोपी) रासलीला के माध्यम से रस-रूप परमात्मा (कृष्ण) से मिलने के लिए प्रयत्नशील है। 'रासपंचाध्यायी' भाषा, विषय-प्रतिपादन-शैली, कवि-कल्पना, काव्य-सौंदर्य और मौलिक उद्भावनाओं की दृष्टि से नन्ददास की 'जड़िया' उपाधि को सार्थक बनाती है।

'भंवरगीत' नन्ददास के परिपक्व दर्शनज्ञान, विवेकबुद्धि, तार्किकशैली और कृष्णभक्ति का परिचायक काव्य है। इसके पूर्वार्द्ध में गोपी-उद्धव-संवाद है और उत्तरार्ध में कृष्ण-प्रेम में गोपियों की विरहदशा का वर्णन है। इस रचना का मूल उद्देश्य निर्गुण-निराकार ब्रह्म की उपासना का खंडन करते हुए सगुण साकार कृष्ण की भक्ति की स्थापना करना है। पूर्वार्द्ध कवि की विचार वृत्ति का द्योतक है और उत्तरार्द्ध रागात्मिका सरस वृत्ति का परिचय देता है। दार्शनिक सिद्धांतों के प्रतिपादन में भी काव्यात्मक भाषा का प्रयोग किया गया है। 'भागवतपुराण' में वर्णित भाव भी कवि की वाणी से नवीन एवं मोहक रूप धारण करके ही आये हैं। यह रचना नन्ददास के पांडित्य का भी निदर्शन है।

'सिद्धांतपंचाध्यायी' कृष्ण की रासलीला से संबंध रखने वाली रचना है। इसमें कृष्ण, वृंदावन, वेणु, गोपी, रास आदि शब्दों की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। रासलीला के आध्यात्मिक पक्ष के उद्घाटन में इस ग्रंथ से अच्छा प्रकाश पड़ता है। रासलीला के लौकिक शृंगार-भाव को कवि ने पारलौकिक ध्येय की ओर उन्मुख रखा है। इस ग्रंथ का सांप्रदायिक महत्त्व है। 'नन्ददास-पदावली' में बारह प्रकरणों के पद संकलित हैं, जिनमें काव्यसौष्ठव का उत्कर्ष देखा जा सकता है।

नन्ददास के संपूर्ण ग्रंथ परिमार्जित ब्रजभाषा में हैं। मधुर और परिचित शब्दों का चयन कवि की विशेषता है। नन्ददास को 'जड़िया' कहा जाता है, जिसका कारण उनका सुंदर एवं उपयुक्त शब्द-चयन ही है। बानक, लुनाई, रावरे, नीकी, आनि आदि प्रचलित शब्दों का सुष्ठु प्रयोग 'जड़िया' नन्ददास में भरा पड़ा है। लोकोक्ति-मुहावरों पर भी कवि का पूर्णाधिकार था। संगीत-प्रवीण होने के कारण शब्दों के चयन में लय, स्वर आदि का ध्यान रखने से उनके काव्य में प्रांजलता और प्रवाह की सृष्टि हुई है। सरस एवं मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना में जैसी ललित एवं मोहक पदावली नन्ददास के काव्य में मिलती है, अष्टछाप के कवियों में सूर के अतिरिक्त कहीं और नहीं मिलती।

**गोविन्दस्वामी :** गोविन्दस्वामी का जन्म राजस्थान के भरतपुर राज्य के अंतर्गत आंतरी गांव में 1505 ई. में हुआ था। इनके परिवार के विषय में प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है, किंतु इनकी रचनाओं तथा प्रवृत्तियों से यह स्पष्ट है कि ये गृहस्थ थे और इनकी एक पुत्री भी थी। संसार से वैराग्य होने के बाद ये ब्रजमंडल के महावन नामक स्थान में आ कर बस गये थे और वहीं रह कर भजन कीर्तन में लीन रहते थे। वार्त्ताग्रंथों से विदित होता है कि ये शिक्षित थे और संगीतशास्त्र का भी इन्हें ज्ञान था। पद-रचना करके ये स्वयं उन्हें गाते थे और अन्य भक्तों को भी पद-गायन सिखाते थे। किसी गायक के मुख से इनका बनाया पद सुन कर गोस्वामी विट्ठलनाथ जी बहुत प्रभावित

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हुए थे। 1535 ई. में इन्होंने गोस्वामी विट्ठलनाथ से विधिवत पुष्टिमार्ग की दीक्षा ग्रहण की और अष्टछाप में सम्मिलित हो गये। पुष्टि-संप्रदाय की दीक्षा के उपरांत ये महावन छोड़ कर गोवर्धन चले आये और वहीं स्थायी रूप से बस गये। जहां ये रहते थे, वह स्थान 'गोविंदस्वामी की कदमखंडी' के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। यह भी किंवदंती है कि अकबरी दरबार का प्रसिद्ध गायक तानसेन इनके पास आया करता था और इनसे पद-गायन की शिक्षा भी उसने ग्रहण की। गोवर्धन में रहते हुए ही इनका 1585 ई. में देहावसान हुआ।

गोविन्दस्वामी ने किसी स्वतंत्र ग्रंथ का प्रणयन नहीं किया। भजन-कीर्तन के लिए जो पद समय-समय पर ये लिखते थे, उन्हीं का संकलन 'गोविन्दस्वामी के पद' के नाम से प्रसिद्ध है। इनके द्वारा रचित 600 पद बताये जाते हैं, किंतु 252 पद पुष्टि-संप्रदाय में अधिक प्रसिद्ध हैं। मुख्यत: इन्होंने राधा-कृष्ण की शृंगार-लीला विषयक पद रचना की है, किंतु कुछ पद बाललीला के भी लिखे हैं। इनके काव्य की भाषा ब्रज है, किंतु उसमें लालित्य और सौष्ठव वैसा नहीं है, जैसा सूरदास, नन्ददास आदि की रचनाओं में मिलता है। हां, संगीत के लय स्वर की ओर इनका ध्यान अवश्य रहा है।

**छीतस्वामी :** छीतस्वामी (1515-1585) मथुरा के चतुर्वेदी ब्राह्मण थे, घर में जजमानी और पंडागिरी होती थी। प्रसिद्ध है कि ये बीरबल के पुरोहित थे। यौवनावस्था में उद्दंड प्रकृति के कारण ये लड़ाई-झगड़े के लिए बदनाम थे और छीतू चौबे के नाम से मथुरा के उद्दंड लोगों में इनका स्थान अग्रणी था। कहते हैं कि गोस्वामी विट्ठलनाथ को चिढ़ाने के लिए एक दिन ये खोटा रुपया और थोथा नारियल ले कर भेंट करने पहुंचे। गोस्वामी जी ने अपनी दिव्यशक्ति से खोटे रुपये और थोथे नारियल को शुद्ध तथा परिपूर्ण बना कर छीतू चौबे को चमत्कृत कर दिया। फलत: चौबे जी को अपनी शरारत पर आत्मग्लानि का अनुभव हुआ और उन्होंने गोस्वामी जी के पैर पकड़ कर क्षमायाचना की तथा तत्काल पुष्टिमार्ग में दीक्षित हो गये। कालांतर में इनकी पद-रचना को देख कर इन्हें अष्टछाप में सम्मिलित कर लिया गया। यौवनावस्था में छीतस्वामी जितने उद्दंड और वाचाल थे, प्रौढ़ावस्था प्राप्त होने पर उतने ही गंभीर और विरक्त हो गये। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के बाद ये गोवर्धन के निकट पूंछरी नामक स्थान में एक तमाल वृक्ष की छाया में रहने लगे थे। काव्य और संगीत में इनकी विशेष रुचि थी, अत: सारा समय इन्हीं कार्यों में व्यतीत करते थे। छीतस्वामी का कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिलता। कीर्तन के लिए इन्होंने जो स्फुट पद रचना की, वही 'पदावली' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें लगभग 200 पद संकलित हैं। इनके पदों और कवित्तों में ब्रजभाषा का पर्याप्त लालित्य है। यद्यपि इनकी कविता साधारण कोटि की है, फिर भी भक्तिभाव से परिपूर्ण है। उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित पद में ब्रजधाम के प्रति आस्था द्रष्टव्य है :

*अहो विधना! तो पै अंचरा पसार मांगौं*
*जनम जनम दीजो मोहि याही ब्रज वसिनौं।*

**चतुर्भुजदास :** चतुर्भुजदास नाम से चार भक्तकवियों का उल्लेख हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में मिलता है। कहीं-कहीं इनके जीवनचरित और काव्यविषयक विवेचन में उलटफेर और भ्रम भी उत्पन्न हो गया है, किंतु अष्टछापी चतुर्भुजदास को अन्य व्यक्तियों से पृथक करने के लिए पुष्कल प्रमाण उपलब्ध हैं। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि कुम्भनदास के ये सबसे छोटे पुत्र थे, अत: इनका चरित प्रामाणिक रूप से जाना जा सकता है। इनका जन्म 1530 ई. में गोवर्धन के समीप जमुनावती गांव में हुआ था तथा इनका देहावसान 1585 ई. में हुआ। वंश-परंपरागत खेतीबाड़ी से विमुख रह कर इनका ध्यान भजन-कीर्तन की ओर अधिक रहता था। अत: इनके पिता कुम्भनदास इनसे बहुत प्रसन्न

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रहते थे। उन्होंने इन्हें स्वयं गानविद्या की शिक्षा दे कर पुष्टिमार्ग की दीक्षा दिलायी थी। शैशवकाल में ही चतुर्भुजदास काव्य-रचना करने लगे थे। इनका कोई स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं है, स्फुट पदों को ही 'चतुर्भुज-कीर्तन-संग्रह', 'कीर्तनावली' और 'दानलीला' शीर्षकों से प्रकाशित किया गया है। 'द्वादशयश', 'मधुमालती' और 'भक्तिप्रताप' नाम से इनके जो अन्य ग्रंथ बताये जाते हैं, वे इनके न हो कर राधावल्लभीय तथा अन्य चतुर्भुजदास के हैं। अष्टछाप के कवि चतुर्भुजदास की रचना में शृंगार की छटा विद्यमान है। कृष्ण-जन्म से ले कर गोपी-विरह तक ब्रजलीला-गान इन्होंने किया है, किंतु किसी मौलिक प्रसंग की उद्‌भावना इनके पदों में नहीं मिलती। साधारण ब्रजभाषा को ही इन्होंने अपनाया है। श्रीनाथ जी के मंदिर में जिस प्रकार के पद गाये जाते थे, उन्हीं के अनुकरण पर इन्होंने पद लिखे हैं।

## निम्बार्क-संप्रदाय

निम्बार्क-संप्रदाय कृष्णभक्ति से संबंध रखने वाला ब्रजमंडल का प्रमुख वैष्णव-संप्रदाय है। इस संप्रदाय के आदि उपदेष्टा श्री हंस भगवान हैं। उनसे सनत् सनकादि को उपदेश मिला। नारद मुनि ने इस उपदेश को ग्रहण कर इसे आचार्य निम्बार्क को दिया। निम्बार्काचार्य के जन्म-स्थान, जन्मतिथि तथा नाम के संबंध में विद्वानों में बहुत मतभेद पाया जाता है। सांप्रदायिक आचार्यों के अनुसार ये भक्तिसूत्र-प्रणेता नारद मुनि के शिष्य थे और इनका प्रारंभ का नाम आरुणि था। ब्रह्मसूत्रों के व्याख्याता बादरायण व्यास निम्बार्क के समकालीन थे, ऐसा भी कहा जाता है। डॉ. भंडारकर उक्त मत को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने निम्बार्क का समय 1162 ई. के आसपास माना है। वर्तमान मैसूर प्रदेश के वेल्लारी ज़िले के निम्बापुर नामक नगर में इनका जन्म हुआ था। इनका शैशवावस्था का नाम नियमानन्द था। ऐसी दंतकथा प्रसिद्ध है कि मथुरा के समीप ध्रुवक्षेत्र में जब नियमानन्द जी रहते थे, तब कोई जैन साधु इनके पास आध्यात्मिक चर्चा करने आये और दोनों व्यक्ति शास्त्र-चर्चा में इतने लीन हो गये कि इन्हें सूर्यास्त होने का बोध नहीं हुआ। रात्रि का अंधकार फैलने लगा और अतिथि जैन साधु के भोजन की वेला नहीं रही। नियमानन्द जी का मन पश्चात्ताप से भरने लगा। उन्हें यह देख कर बड़ी वेदना हुई कि अतिथि साधु को रातभर निराहार रहना पड़ेगा। इस वेदना में म्लानमन हो कर शांत भाव से बैठे हुए नियमानन्द जी क्या देखते हैं कि आश्रम के नीम के वृक्ष के ऊपर सूर्य अपनी किरणों का प्रकाश फेंक रहे हैं! चमकते हुए सूर्य को देख कर तुरंत नियमानन्द ने अपने अतिथि को भोजन कराया। भोजन समाप्त होते ही फिर घनांधकार सर्वत्र व्याप्त हो गया। इस विचित्र चमत्कार के कारण ही उसी दिन से नियमानन्द जी का नाम निम्बार्क (नीम पर सूर्य के दर्शन कराने वाला) हो गया।

निम्बार्काचार्य का जन्म यद्यपि दक्षिण में हुआ था, किंतु उनकी कर्मभूमि ब्रजमंडल ही है। वृंदावन, गोवर्धन, नीमगांव आदि स्थानों में घूम-घूम कर वे अपने सिद्धांतों का प्रचार करते रहे। उनके चार प्रधान शिष्य बताये जाते हैं, जिनमें श्रीनिवासाचार्य प्रसिद्ध हैं, जिनका लिखा 'वेदांत-कौस्तुभ' ग्रंथ है। श्री औदुम्बराचार्य, श्री गौरमुखाचार्य और श्री लक्ष्मण भट्ट इनके अन्य शिष्यों में हैं। निम्बार्क को भगवान कृष्ण के सुदर्शनचक्र का अवतार माना जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि अत्यंत सुंदर होने के कारण इनको शैशवकाल में 'सुदर्शन' कहते थे।

निम्बार्काचार्य ने अपने सिद्धांतों की स्थापना के लिए पांच ग्रंथों का प्रणयन किया; जिनमें 'वेदांत-पारिजात-सौरभ' ब्रह्मसूत्र पर स्वल्पकाय वृत्ति है, 'दशश्लोकी' भक्ति-सिद्धांत प्रतिपादक दस श्लोकों की सुप्रसिद्ध रचना है तथा 'श्रीकृष्णस्तवराज', 'मंत्ररहस्यषोडशी' और 'प्रपन्नकल्पवल्ली' इनकी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अन्य कृतियां हैं। निम्बार्क का दार्शनिक सिद्धांत 'द्वैताद्वैतवाद' है। इस सिद्धांत को विद्वन्मंडली में प्राचीनतम माना जाता है, निम्बार्क ने इसे पुनरुज्जीवित मात्र किया है। प्राचीन भेदाभेदवाद का ही यह नवीन रूप माना जाता है। 'दशश्लोकी' में निम्बार्क ने ईश्वर, जीव, प्रकृति आदि का सरल भाषा में निरूपण प्रस्तुत किया है। 'वेदांत-पारिजात-सौरभ' में उनकी द्वैताद्वैतवादी विचारधारा का दार्शनिक धरातल पर वर्णन है। उनके अनुसार जीव परब्रह्म का अंश है। जहां ईश्वर समग्र का नियंता है, वहां जीव अणु का द्रष्टा है, उसकी दृष्टि बद्ध है, सीमित है। भक्ति द्वारा जीव ब्रह्म या ईश्वर को प्राप्त करता है। ईश्वर को सगुण अवतारी श्रीकृष्ण के रूप में स्वीकार किया जाता है। कृष्ण-पदारविंद की सेवा, पूजा, अर्चना करनी चाहिए; उनके बिना अन्य कोई गति नहीं है। कृष्णभक्ति में राधा-कृष्ण का युगल भाव स्वीकृत है, वाम भाग में वृषभानुजा सधा के साथ विराजमान श्रीकृष्ण ही उपास्य है। कृष्ण लीलावतारी हैं, अतः श्री तथा लक्ष्मी दोनों रूपों में वे कृष्ण के साथ प्रकट होती है। निम्बार्क संप्रदाय में राधा का स्वकीया रूप स्वीकार किया गया है और भक्ति के पांच रूपों में उज्ज्वल भक्ति या दांपत्य भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। प्रेमलक्षणा अनुरागात्मिका पराभक्ति ही साधनामार्ग में वरेण्य है।

निम्बार्क संप्रदाय के अनेक मंदिर आज भी उत्तर भारत में विद्यमान हैं। राजस्थान के सलेमाबाद स्थान में इस संप्रदाय की सबसे बड़ी गद्दी है। वृंदावन में भी 'श्री जी की बड़ी कुंज' स्थान निम्बार्क-संप्रदाय का है। मथुरा, राधाकुंड, गोवर्धन तथा नीमगांव में निम्बार्कीय मंदिर हैं। इस संप्रदाय के प्रमुख कवियों का संक्षेप में परिचय इस प्रकार है :

**श्रीभट्ट :** श्री नारायणदास जी 'नाभा' ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'भक्तमाल' में श्रीभट्ट जी को कृष्ण की ललित लीलाओं का वर्णन करने वाला, सुकवि, हरिभक्ति का प्रचारक और अज्ञान का हर्त्ता बताया है, जिन्होंने आनंदकंद श्रीकृष्ण और श्रीराधा का भजन किया तथा जो रसिकों के मन को मुदित करने वाले अघट रस के घन थे :

*आनन्दकन्द श्रीनन्द सुवन, श्री वृषभानु सुता भजन*
*श्रीभट सुघट प्रगटे, अघट, रस रसिकन मन मोद घन ॥76॥*

'हरिव्यास यशामृत' नामक ग्रंथ के अनुसार श्रीभट्ट जी का जन्म ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। संप्रदाय की किंवदंती के अनुसार इन्हें गौड़ ब्राह्मण माना जाता है। इनके पूर्वज हिसार ज़िले के निवासी थे, जो कालांतर में मथुरा आ गये थे। मथुरा में ध्रुवटीला इनका जन्मस्थान कहा जाता है, जो निम्बार्क-संप्रदाय के भक्तों के लिए अत्यंत पूज्य है। इनके समय के संबंध में विवाद है। इस विषय में इनकी रचना 'युगलशतक' या 'जुगलसत' की पुष्पिका का संवत-सूचक निम्नलिखित दोहा द्रष्टव्य है :

*नयन बान पुनि राग ससि, गनां अंक गति बाम।*
*युगल शतक पूरन भयौ, संवत अति अभिराम॥*

उक्त संकेत के अनुसार ग्रंथ का रचनाकाल सं. 1652 स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है। परंतु नागरी प्रचारिणी सभा की एक खोज-रिपोर्ट के लेखक ने दोहे में आये 'राग' शब्द को 'राम' पढ़ा। 'राग' का संकेत छह होता है, 'राम' का अर्थ तीन; अतः उनके अनुसार इस ग्रंथ की रचना संवत 1352 में हुई। यह अशुद्धि शीघ्र ही पकड़ ली गयी, परंतु कुछ सज्जन, जो श्रीभट्ट जी को सूर-पूर्ववर्ती सिद्ध करना चाहते थे, उन्होंने मतवाद के रूप में सं. 1352 को ग्रहण कर लिया। सं. 1352 को

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यदि श्रीभट्ट जी का उपस्थिति-काल मान लिया जाये, तो इससे अनेक भ्रांतियां उत्पन्न होती हैं। श्रीभट्ट जी के गुरु केशव काश्मीरी भट्ट थे, जो स्वयं निम्बार्क मतानुयायियों के अनुसार चैतन्य महाप्रभु के समकालीन थे। चैतन्य महाप्रभु का समय सं. 1542-1590 निश्चित है, अतः श्रीभट्ट जी इससे पूर्व के नहीं हो सकते। यदि 'युगलशतक' की रचना-शैली पर दृष्टिपात किया जाये, तब भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी भाषा चौदहवीं शताब्दी की किसी भी रूप में नहीं हो सकती। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास-ग्रंथ में श्रीभट्ट जी का जन्म संवत 1595 अनुमित किया है और उनका 'कविता-काल' सं. 1625 या उसके कुछ आगे तक माना है। रचना-काल को सं. 1625 से बढ़ा कर सं. 1652 तक किया जा सकता है, इसी को श्रीभट्ट जी का उपस्थिति-काल मान सकते हैं।

श्रीभट्ट जी का ब्रजभाषा में लिखा एक ही ग्रंथ है—युगलशतक। इसमें लगभग 100 पद हैं और प्रत्येक पद के पूर्व उसके मूल भाव को व्यक्त करने वाला एक एक दोहा है। 'युगलशतक' के शुद्ध पाठ की समस्या आरंभ से ही रही है। शुक्ल जी ने लिखा है कि इनकी एक और पुस्तक 'आदिबानी' भी है, किंतु वस्तुतः 'आदिबानी' अलग कृति न हो कर 'युगलशतक' का ही दूसरा नाम है। राधा-कृष्ण की युगल लीलाओं के अनेक मनोरम चित्र इसमें भरे पड़े हैं। युगल-उपासना में श्रीराधा का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है। कवि ने राधा-कृष्ण-प्रेम की मधुर अभिव्यंजना की है। राधा और कृष्ण पल-भर को भी विलग नहीं होते। वे एक-दूसरे के इतने निकट हैं, जैसे दर्पण में नेत्र और नेत्रों में दर्पण झलकता है। निस्संदेह भाव और कल्पना, दोनों में ही परम उदात्तता यहां प्राप्त होती है। इस ग्रंथ में भक्त का भाव गोपी-भाव या सखी-भाव है। श्रीभट्ट जी को संप्रदाय में 'हितू सखी' का अवतार माना जाता है। उन्होंने अनेक पदों में स्वयं सखी रूप में रह कर दंपत्ति की लीलाओं को देखने की इच्छा प्रकट की है। यथा :

*रस की रेलि बेलि अति बाढ़ी।*
*दंपत्ति की हित बाबरि बिहरनि, रहो सदा मेरे चित चाढ़ी।*
*निरखत रहों निपट हितकारिनि, पिय प्यारिनि की गुन गति माढ़ी।*
*जै 'श्रीभट' उतकट संघट सुख, केलि सहेलि निरन्तर ठाढ़ी॥*

'युगलशतक' का कलापक्ष भी उच्चकोटि का है। इस ग्रंथ की भाषा ललित और भावानुरंजिनी है। भाषा में संस्कृत के सुकोमल तत्सम शब्दों का बाहुल्य है, इसलिए संगीतात्मकता श्रीभट्ट जी के काव्य का सहज गुण है। इनके पद कीर्तनों में गाये जाते हैं।

**हरिव्यासदेव :** हरिव्यासदेव जी निम्बार्क-संप्रदाय के उन महात्माओं में से हैं, जिन्होंने संप्रदाय का संगठन नये सिरे से किया और इस संप्रदाय की अनेक विच्छिन्न परंपराओं को पुनः स्थापित किया। इनके बारह प्रमुख शिष्य माने जाते हैं, जिन्होंने अनेक अखाड़ों की स्थापना की और संप्रदाय के गौरव को बढ़ाया। नाभादास जी ने 'भक्तमाल' में इन्हें श्रीभट्ट जी का शिष्य बताया है और इनके अलौकिक चमत्कारों का परिचय दिया है। कहा जाता है कि इन्होंने शाक्तों को भी वैष्णव बनाया और उनमें भक्ति का प्रचार किया। परंपरानुसार हरिव्यासदेव जी को गौड़ ब्राह्मण माना जाता है। इससे अधिक उनके ऐतिह्य के संबंध में और कुछ ज्ञात नहीं है।

हरिव्यासदेव जी द्वारा लिखित पांच ग्रंथ बताये जाते हैं, जिनमें से प्रथम चार संस्कृत के हैं और अंतिम ब्रजभाषा का है—सिद्धांतरत्नांजलि, निम्बार्काष्टोत्तरशतनाम, तत्त्वार्थपंचक, पंचसंस्कारनिरूपण, महावाणी। इनमें से 'तत्त्वार्थपंचक' और 'पंचसंस्कारनिरूपण' तो अप्राप्त हैं, 'सिद्धांतरत्नांजलि' और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'निम्बार्काष्टोत्तरशतनाम' के संबंध में भी इधर विद्वानों ने इनके द्वारा रचित होने में शंका प्रकट की है। 'निम्बार्काष्टोत्तरशतनाम' नामक ग्रंथ बहुत-कुछ 'सर्वोत्तम स्तोत्र' की छाया पर ही लिखा गया है, जो श्री वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ जी की एक प्रामाणिक कृति है। 'महावाणी' निम्बार्क-संप्रदाय की रसिक-परंपरा का आधार-ग्रंथ है। इधर 'महावाणी' के रचयिता के संबंध में भी विवाद उठ खड़ा हुआ है। 'किशोरी अलि जी की वाणी' में हरिव्यासदेव जी के शिष्य रूपरसिक जी को 'महावाणी' का कर्त्ता बताया गया है।[15] निम्बार्क-संप्रदाय द्वारा प्रकाशित 'हरिव्यास यशामृत' नामक ग्रंथ में भी रूपरसिकदेव जी का परिचय देते हुए उन्हीं के द्वारा महावाणी के प्रचार का कथन किया गया है। रतनदास जी ने भी 'महावाणी' का एक दोहा रूपरसिक जी के नाम से ही अपने ग्रंथ में उद्धृत किया है। यह संभव है कि भेंट की परंपरा के अनुसार यह ग्रंथ 'हरिप्रिया' जी (श्री हरिव्यासदेव) के नाम से प्रचलित हुआ हो।

महावाणी पांच सुखों अर्थात अध्यायों में विभाजित है, जिनके शीर्षक हैं : सेवा-सुख, उत्साह-सुख, सूरत-सुख, सहज सुख और सिद्धांत-सुख। 'युगलशतक' के ही अनुकरण पर इस ग्रंथ में भी एक दोहा और एक पद की शैली रखी गयी है। कहीं-कहीं यह क्रम टूट भी गया है। 'महावाणी' में राधा-कृष्ण के दार्शनिक रूप की व्याख्या भी मिलती है। इसमें श्रीकृष्ण को परमब्रह्म और श्रीराधा को उनकी आह्लादिनी शक्ति माना गया है, सखियां युगल की इच्छारूपा हैं। श्रीकृष्ण के माता-पिता, गाय-ग्वालों और ब्रजलीलाओं का वर्णन इसमें नहीं है। राधा-कृष्ण की रासलीलाओं से ही यह ग्रंथ ओतप्रोत है। इसमें निकुंजों में विभिन्न उत्सवों का आयोजन कवि ने विराट भव्यता के साथ किया है। श्यामा-श्याम की क्रीड़ाओं की विहार-भूमि नित्यधाम वृंदावन है, जो दिव्य शोभा से सहज मंडित है। वृंदावन स्वयं वृंदा सखी के रूप में सज्जित हो कर राधा-कृष्ण की केलि को रसवती बनाने में संलग्न है। राधा-कृष्ण की सरस लीला का एक चित्र नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है :

*और कामना मोहिं न कोई।*
*मानवचक्र करि रहौं निरन्तर, तुम पदपंकज मधुकर होई।*
*अरु बलि जाउं बिहारिनि मेरी जीवन निज जिय जानउ जोई।*
*श्री हरिप्रिया सहज सब ही के अंतर गति की समझति सोई॥*

'महावाणी' की भाषा ब्रजभाषा है! उसमें भी तत्सम शब्दों की बहुलता है। शब्दविन्यास कोमल और संगीतमय है, जिसमें अनुरणनता अधिक है। इसमें गेय पद ही अधिक हैं। अलंकारों का ध्यान भी कवि ने रखा है।

**परशुरामदेव :** हरिव्यासदेव जी के प्रमुख शिष्य थे—परशुरामदेव। ये ही निम्बार्क-संप्रदाय की गद्दी को ब्रज से सलेमाबाद ले गये। राजस्थान में निम्बार्क-संप्रदाय का प्रचार करने का श्रेय इन्हीं-को है। इनका जन्म जयपुर राज्यांतर्गत नारनौल के समीप गौड़ ब्राह्मण परिवार में हुआ। बड़े होने पर इनका भगवद्भक्ति की ओर झुकाव हुआ और ये हरिव्यासदेव जी के शिष्य हुए। कुछ समय इन्होंने मथुरा में 'नारद-टीला' पर रह कर भजन साधन किया। उन दिनों पुष्कर में कुछ मुसलमान सिद्ध अपनी चमत्कारी विद्या से हिंदू-यात्रियों को कष्ट दिया करते थे। गुरु की आज्ञा से ये वहां गये और अपने योगबल से उन्हें परास्त किया। परशुराम जी के और भी अनेक चमत्कार भक्तमालों में लिखे गये हैं।

परशुराम जी का प्रसिद्ध ग्रंथ 'परशुरामसागर' है, जो एक बड़ा संग्रह-ग्रंथ है। श्री मोतीलाल मेनारिया के अनुसार इनके ग्रंथों की संख्या इक्कीस है। इनका काव्य-विषय अत्यंत विशद और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कदाचित परस्पर विरोधी भी प्रतीत होता है। कहीं-कहीं ये निर्गुण-भक्ति का प्रचार करते प्रतीत होते हैं, पर अधिकांश में इनके ग्रंथ वैष्णवभक्ति से संबंधित हैं। यदि गुरु-परंपरा के साथ इनके ग्रंथों को मिला कर देखा जाये, तो निर्गुण-भक्ति का काव्य इन्होंने कम ही लिखा है। इनकी भाषा भी कहीं-कहीं राजस्थानीप्रधान सधुक्कड़ी हो गयी है। इनकी रचनाओं (साखियों) के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं :

*सतगुरु मार्‌यो बान भरि, घर बन कछु न सुहाय।*
*तन मन विकल सु पीड़ ते, 'परसा' कहिये काय॥*
*पिय सों प्रीति लगाय कै, सुमरो तजि अभिमान।*
*क्षन भर पलक न बीसरौ, 'परसा' प्यारौ स्याम॥*
*लागी प्रीति अपार सों, अब मन अनत न जाय।*
*'परसा' बोले आन सों, तो फिर स्याम रिसाय॥*

## राधावल्लभ-संप्रदाय

मध्यकालीन वैष्णवभक्ति-संप्रदायों में राधावल्लभ-संप्रदाय कृष्णभक्ति का एक प्रमुख संप्रदाय है। इस संप्रदाय का प्रवर्तन आचार्य हितहरिवंश गोस्वामी ने 1534 ई. में वृंदावन में किया। वैष्णवभक्ति के चतु:संप्रदाय को मानने वाले इस संप्रदाय को ब्रह्म-संप्रदाय अथवा माध्व संप्रदाय के अंतर्गत बताते हैं और तदनुसार गुरु-परंपरा भी स्थिर करते हैं। किंतु भक्ति-सिद्धांत एवं भक्ति-पद्धति के अनुशीलन से यह सर्वथा स्वतंत्र संप्रदाय ही प्रतीत होता है। इसके सिद्धांत द्वैत या अद्वैतपरक किसी विशिष्ट दर्शनमार्ग का अनुसरण नहीं करते। इसमें प्रेम को ही भक्ति तथा संप्रदाय का मूलाधार माना जाता है। भक्ति-सिद्धांतों में प्रेम-हित, प्रेम-काम, प्रेम-नेम, मान-विरह, मिलन-अर्चना-पूजा आदि का वर्णन किसी शास्त्रीय विधि-निषेध पर आधारित नहीं हैं। अनंत भावों और अनंत रूपों में नित्य क्रीड़ा करने वाला प्रेम ही परात्पर तत्त्व है। रसरूप भगवान कृष्ण और राधा तथा परात्पर प्रेमतत्त्व में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। इस संप्रदाय में न तो मुक्ति की कामना है और न मुक्ति का कोई स्थान है। साधनापरक कर्मकांडमयी भक्ति भी स्वीकृत नहीं है। मुख्य रूप से नित्यविहार-दर्शन ही सहचरी (जीवात्मा) का उपास्य भाव है, जिसकी प्राप्ति केवल प्रेम से होती है। नित्यविहार के विधायक चार तत्त्व हैं : कृष्ण, राधा, सहचरी और वृंदावन। राधा और कृष्ण नित्यविहारी हैं और जीवात्मा सखी भाव से उनके विहार-दर्शन को परम सुख मानता है। प्रेम में नित्यमिलन और विरह दोनों का इस संप्रदाय में विचित्र शैली से समाहार किया गया है। अपने इस विलक्षण प्रेम तत्त्व को हितहरिवंश जी ने सारस तथा चकवा-चकवी के प्रणय द्वारा स्पष्ट किया है। प्रेम में 'तत्सुखीभाव' को स्थान देने की जैसी सफल चेष्टा इस संप्रदाय में लक्षित होती है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं है।

इस संप्रदाय में उपासना का आधार रस माना जाता है, अत: बाह्य विधि-निषेध को स्थान नहीं दिया जाता। राधा को कृष्ण से भी उच्च स्थान पर रख कर उपास्य माना जाता है। कृष्ण की उपासना आनुषंगिक रूप से होती है। राधा स्वयं आनंदरूपा नित्यभाव है, इसीलिए इस उपासना को 'रसोपासना' कहा जाता है। इस संप्रदाय के मंदिरों में राधा का विग्रह कृष्ण के साथ नहीं होता। श्रीकृष्ण के वाम भाग में वस्त्रनिर्मित एक गद्दी होती है, जिसके ऊपर स्वर्णपत्र पर 'श्री राधा' शब्द अंकित रहता है। इसे 'गद्दीसेवा' कहते हैं। नामसेवा, समाज, अष्टयामसेवा, नैमित्तिकउत्सव आदि संप्रदाय में स्वीकृत हैं। इस संप्रदाय का तिलक भालप्रदेश के नासिका भाग से ऊर्ध्व भाग तक अर्थात

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

त्रिकुटी तक रहता है। बीच में काली बिंदी रहती है। तिलक की सीधी रेखाओं को कृष्ण और काली बिंदी को राधा माना जाता है। 'निजमंत्र' ग्रहण करने पर दो लड़ी कंठी, जिसमें तुलसी के मनके रहते हैं, पहनना अनिवार्य है। इस संप्रदाय का प्रमुख मंदिर वृंदावन में है। गुजरात, राजस्थान, बुंदेलखंड और मध्यप्रदेश में भी राधावल्लभ-संप्रदाय के अनुयायी हैं।

**हितहरिवंश :** उत्तरप्रदेश के सहारनपुर ज़िले के देवबंद (प्राचीन देववन) नामक क़स्बे में यजुर्वेदीय माध्यंदिनी शाखावर्ती कश्यप श्रोत्रिय एक संभ्रांत गौड़ ब्राह्मण-परिवार चिरकाल से निवास करता था। इस परिवार में श्री व्यास मिश्र नाम के महानुभाव के धनधान्य एवं वैभव संपन्न होने का वर्णन तथा तत्कालीन राजदरबार में सम्मानपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित होने का उल्लेख परवर्ती सांप्रदायिक वाणीग्रंथों में प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होता है; किंतु कोई ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता, जिसे इस परिवार की वंशपरंपरा तथा ख्याति का प्रामाणिक आधार माना जाये। किंवदंती है कि श्री व्यास मिश्र पत्नी-सहित ब्रजयात्रा के लिए गये हुए थे, वहीं मथुरा से चार मील पर बसे हुए बाद नामक गांव में 1502 ई. में हरिवंश जी का जन्म हुआ। इनके जन्मकाल का प्राचीन वाणियों में अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है, किंतु बीच में कुछ विद्वानों ने इनका जन्म 1473 ई. में ठहराने का प्रयत्न किया, जो प्रमाणों से असिद्ध हो चुका है।

सोलह वर्ष की आयु में हरिवंश जी का विवाह रुक्मिनी देवी के साथ संपन्न हुआ। गृहस्थाश्रम के समस्त कर्त्तव्यों का पालन करते हुए ये सच्चे रूप में भक्त और संत बने रहे। माता-पिता के निकुंजगमन के बाद 1533 ई. में किसी आभ्यंतर प्रेरणा से इन्होंने ब्रजभूमि आने का निश्चय किया और वहीं वृंदावन में निवास करने लगे। हरिवंश जी के गुरु-रूप में श्री राधा जी को स्वीकार किया जाता है। श्री नागरीदास, चाचा वृंदावनदास, सेवक जी, ध्रुवदास तथा व्यास जी ने यही उल्लेख किया है। प्राचीन वाणियों के आधार पर इनके निकुंजगमन की तिथि 1552 ई. ठहरती है। श्री हरिराम व्यास ने इनकी मृत्यु पर बहुत ही मार्मिक पद लिखा है : ''बड़ौ अभाग्य अनन्य सभा को उठि गयौ ठाठ सिंगार।''

गोस्वामी हितहरिवंश के दो हिंदी-ग्रंथ (हित-चौरासी, स्फुट वाणी), दो संस्कृत-ग्रंथ (राधासुधानिधि, यमुनाष्टक) तथा विट्ठलदास जी को लिखे गये दो गद्य-पत्र अद्यावधि उपलब्ध हुए हैं। हितहरिवंश जी के चौरासी पदों के संग्रह का नाम 'हित-चौरासी' है। इसी ग्रंथ के आधार पर परवर्ती भक्त-महात्माओं ने राधावल्लभीय तत्त्व को हृदयंगम किया है। इस संप्रदाय में इस ग्रंथ को मूलाधार मान कर सबसे अधिक सम्मान दिया जाता है। इसमें हरिवंश जी ने ब्रजभाषा का समस्त माधुर्य उड़ेल दिया है। शृंगार रस की पृष्ठभूमि में इसमें उन विषयों को प्रस्तुत किया गया है, जो राधावल्लभ-संप्रदाय के मेरुदंड हैं अर्थात राधा-कृष्ण का अनन्य प्रेम, नित्यविहार, रासलीला, भक्ति-भावना, प्रेम में मान-विरह की स्थिति, राधावल्लभ का यथार्थ स्वरूप, नित्यविहार के चतुर्व्यूहात्मक अवयव आदि इस ग्रंथ के प्रमुख वर्ण्य हैं। जहां 'हित-चौरासी' में परोक्ष रूप से यत्रतत्र सिद्धांत-वर्णित हुए हैं, वहीं 'स्फुट वाणी' में प्रेम, अनन्यता, राधाभक्ति, जीवानोद्देश्य आदि विषयों का प्रत्यक्ष रूप से प्रतिपादन हुआ है। हितहरिवंश जी की रचनाओं में 'हित-चौरासी' के बाद इसी वाणी का स्थान है। परिष्कृत ब्रजभाषा की रचना होने के कारण इसका प्रचार पर्याप्त हुआ। 'स्फुट वाणी' से हितहरिवंश जी के औदार्य, प्रेम, ममता, सहानुभूति, दृढ़ता और अनन्य निष्ठा के परिचायक कुछ दोहे देखिए :

*सबसों हित निष्काम मति, वृन्दावन विश्राम।*
*राधावल्लभ लाल कौ, हृदय ध्यान, मुख नाम॥*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*निकसि कुंज ठाढ़े भये, भुजा परस्पर अंस।*
*राधावल्लभ मुख कमल, निरखि नैन हरिवंश॥*
*रसना कटौ जु अनरटौं, निरखि अनफुटौ नैन।*
*श्रवण फुटौ जु अनसुनौ, बिन राधा यस बैन॥*

हितहरिवंश जी की वाणी भक्ति रस से आप्लावित है। काव्योत्कर्ष के समस्त अलंकृत उपकरण भी उसमें अनायास आ गये हैं। भक्तकवि की उक्ति का प्रभाव केवल उसके मंगल-विधान के कारण नहीं होता, अपितु उक्ति-सौंदर्य के कारण भी होता है। हितहरिवंश जी तो माधुर्य-भक्ति के उन्नायकों में थे, अतः उनकी वाणी से यदि काव्यसौंदर्य की निर्झरिणी प्रवाहित हो तो इसमें आश्चर्य भी क्या है? उनकी वाणी का मूलाधार 'रस' है, जो रसिक भक्तों को प्रेम-विह्वल करके आनंद-विभोर बना देता है। वंशी के अवतार हितहरिवंश जी की यह विशेषता है कि उनकी वाणी रूपी वंशी का निस्वन राधा के गुणानुवाद के लिए इतना कोमल और स्निग्ध रूप ले कर सरस पदों के माध्यम से गूंजा कि उसमें वर्णित राधा नख से शिख तक सौंदर्य और प्रेम की मंजुल मूर्ति बन कर भक्तजन के लिए आराधना का विषय बन गयीं। कविता का आश्रय उन्होंने केवल साधन-रूप में लिया था, साध्य तो राधा-भक्ति द्वारा आत्मतृप्ति था। राधा का गुणगान जिन पदों का महत उद्देश्य हो, उनमें दीप्ति, कांति, ओज और माधुर्य का अभाव कैसे हो सकता है?

ब्रजभाषा का जैसा समृद्ध और प्रांजल रूप हितहरिवंश जी की वाणी में प्रस्फुटित हुआ है, वैसा किसी अन्य भक्तकवि की रचना में नहीं हुआ। इस कथन को कदाचित पक्षपातपूर्ण समझा जाये और सूरदास तथा नन्ददास जैसे सुप्रसिद्ध कवियों की ब्रजभाषा को उनसे बढ़ कर बताया जाये, किंतु समीक्षा की कसौटी पर हमारा कथन खरा उतरेगा। सूरदास की भाषा में ब्रजभाषा का आंचलिक पुट है, लोकभाषा के अधिक समीप होने के कारण मसृण और परिष्कृत शब्दों की ओर उनका झुकाव नहीं है। नन्ददास ने अवश्य शब्द-चयन में परिष्कार पर बल दिया है और शब्द मैत्री तथा ध्वन्यात्मक नादसौंदर्य को अपना कर 'नन्ददास जड़िया' का पद पाया है, किंतु उनकी भाषा में हितहरिवंश के समान समृद्धता नहीं है, संस्कृत की तत्सम पदावली को ब्रजभाषा के प्रवाह में ढालने की कला में हरिवंश जी को अद्भुत क्षमता प्राप्त है। जयदेव की पदावली से विद्यापति ने प्रभाव ग्रहण किया था, हरिवंश जी ने जयदेव और विद्यापति दोनों की पदावली से प्रभाव ले कर उसे ब्रजभाशा के कलेवर में अभिनव रूप दिया। शब्दमैत्री, समीचीन वर्णविन्यास, नादसौंदर्य, चित्रात्मकता, संगीतात्मकता और प्रांजलता उनकी ब्रजभाषा के उल्लेख्य गुण हैं।

**दामोदरदास ( सेवक जी ) :** सेवक जी के जीवनवृत्त के संबंध में ऐतिहासिक प्रमाणों के द्वारा समर्थित विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। राधावल्लभ-संप्रदाय के अनेक भक्तकवियों की वाणियों में उनका स्मरण और नामोल्लेख मिलता है। प्रियादास जी ने तो 'सेवकचरित्र' में विस्तारपूर्वक इनका चरित्र लिखा है। यह इतिवृत्तात्मक जीवनचरित्र न हो कर यह भावात्मक शैली में लिखा हुआ सांप्रदायिक भक्तचरित्र है, जिसमें जीवन की घटनाएं अंकित न हो कर केवल उन प्रमुख घटनाओं का वर्णन है, जिनका सेवक जी के चरित्र पर युगांतरकारी प्रभाव पड़ा, और जिनसे प्रभावित हो कर सब कुछ त्याग कर वे श्री हित महाप्रभु के मन-वचन-कर्म से अनुयायी हो गये। भगवतमुदित के अनुसार इनका जन्म गोंडवाना प्रदेश (वर्तमान जबलपुर) के गढ़ा नामक ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। राधावल्लभ-संप्रदाय में सेवक-वाणी का धार्मिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह वाणी आज 'हितचौरासी' की पूरक वाणी मानी जाती है और इन दोनों का अभिन्न संबंध

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जुड़ गया है : 'चौरासी अरु सेवक वाणी, इक संग लिखत पढ़त सुखदानी।' सेवक वाणी के इस महत्त्व और महात्म्य के तीन प्रमुख कारण हैं—एक तो यह कि 'हितचौरासी' का मर्मोद्घाटन करने वाली यह सर्वप्रथम वाणी है, दूसरा यह है कि संप्रदाय की मूल भावना को व्यक्त करना ही कवि का चरम लक्ष्य रहा है, और तीसरा कारण है—सहज अभिव्यक्ति। इतनी सीधी सरल भाषाशैली में पदरचना करने वाले बहुत-कम रसिक भक्त दृष्टिगोचर होते हैं।

**हरिराम व्यास :** ओरछाधीश महाराज मधुकरशाह के राजगुरु श्री हरिराम व्यास ब्रजमंडल के प्रसिद्ध रसिक भक्तों में हैं। वृंदावन में हरित्रयी नाम से जो तीन महात्मा विख्यात हैं, उनमें एक व्यास जी भी हैं। इनके जन्मकाल, जन्मस्थान, दीक्षागुरु, संप्रदाय, कविताकाल आदि के संबंध में प्रारंभ से ही अनेक मतवाद प्रचलित रहे हैं। इन मतवादों के मूल में एक ओर यदि अज्ञान रहा है तो दूसरी ओर सांप्रदायिक दुराग्रह ने भी तथ्यों पर परदा डाला है। अज्ञानवश तो हरिव्यास और हरिराम व्यास को एक समझ बैठने की भूल हुई तथा जानबूझ कर हरिराम व्यास के दीक्षागुरु, वृंदावनआगमन, संप्रदाय आदि के विषय में कतिपय मिथ्या प्रवाद प्रचार में आये। व्यास जी का जन्म ओरछा (टीकमगढ़) राज्य में हुआ था, किंतु उनके जन्मकाल के संबंध में दो मत हैं। कुछ विद्वान उनका जन्म 1510 ई. में मानते हैं, किंतु भगवतमुदित के 'रसिक अनन्यमाल' के साक्ष्य पर उनका आविर्भाव 1492 ई. में माना जायेगा, क्योंकि वे 1534 ई. में बयालीस वर्ष की आयु में वृंदावन आये थे। कविता की ओर उनकी प्रवृत्ति वृन्दावन आने पर ही हुई। अपने परिवार की परंपरा के अनुकूल उन्होंने शैशव में ही संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। बाद में उन्हें पुराण और दर्शनशास्त्र के प्रति अनुराग हुआ। यह उल्लेखनीय है कि अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में वे विरक्त साधु न हो कर सच्चे आस्तिक भाव के सद्गृहस्थ थे।

व्यास जी के दीक्षागुरु कौन थे और वे किस संप्रदाय के अनुयायी थे, यह खींचातानी वृंदावन में संप्रदायवाद के दंभ और मिथ्य मोह के बढ़ने पर प्रारंभ हुई। व्यासवंशी गोस्वामियों ने अपना संबंध माध्व-संप्रदाय से स्थापित कर लिया है, अतः वे हरिराम व्यास को भी उसी संप्रदाय में दीक्षित सिद्ध करने में सचेष्ट देखे जाते हैं। वैष्णव भक्तों में व्यास जी विशाखा सखी के अवतार माने जाते हैं। विशाखा राधा-माधव-मिलन में सहयोग दे कर राधा का अनुगमन करती है। उसका स्वभाव प्रेम, ममता, दया और वात्सल्य से परिपूर्ण है। ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट उसे छू भी नहीं गये। व्यास जी का जीवन भी इसी प्रकार के उदात्त गुणों की खान है।

व्यास जी की रचनाओं के संबंध में अभी तक अंतिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। हस्तलिखित ग्रंथों की खोज करने पर व्यासरचित पद, दोहे, साखी उपलब्ध होते रहते हैं। फिर भी उनके ग्रंथों को हम इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं :

1. व्यास-वाणी—758 पद और 148 दोहे।
2. रागमाला (अप्रकाशित)—604 दोहे, संगीतशास्त्र।
3. 'नवरत्न' और 'स्वधर्मपद्धति' (संस्कृत, अप्राप्य)।

'व्यास-वाणी' में माधुर्य भक्ति और राधा-कृष्ण की निकुंजलीला का वर्णन है। इस मुख्य विषय की स्थापना के लिए भक्ति के अंतराय, भक्ति के साधन-अंग, भक्तिपथ के आकर्षण-विकर्षण, भक्तों की मनःस्थिति और विविध कोटियों का वर्णन भी किया गया है। माधुर्य भक्ति का सार है—राधा-कृष्ण के नित्यविहार का शृंगारमयी पद्धति से सांगोपांग वर्णन! राधा, कृष्ण, वृंदावन और सहचरी—इन चारों को प्रेम द्वारा एक ही सूत्र में अनुस्यूत करके निकुंजलीला का वर्णन विधेय माना जाता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

राधावल्लभीय संप्रदाय में तो इसी को प्रधान समझा जाता है, यही 'वृंदावनरस' है। प्रेमलक्षणा भक्ति का चरम लक्ष्य यही है। 'व्यास-वाणी' में इसी को प्रमुख रूप से माना गया है। जैसा कि सर्वविदित है, माधुर्य भक्ति के क्षेत्र में राधा-कृष्ण की कुंजलीलाओं को संयोग और वियोग दोनों रूपों में स्वीकृत किया गया है। चैतन्य संप्रदाय की उपासना वियोगपक्ष को प्रबल मान कर चली है, जबकि निम्बार्क और राधावल्लभ संप्रदायों में संयोगपक्ष ही स्वीकृत है। व्यास जी ने संयोग को कुंजकेलि का प्राण माना है और विरहपक्ष की भक्ति को सीठी ठहराया है :

*कुंजकेलि मीठी है, विरह भक्ति सीठी ज्यों आग।*
*व्यास विलास रासरस पीवत, मिटै हृदय के दाग॥*

राधावल्लभ-संप्रदाय के सिद्धांतों के अनुरूप व्यास जी ने अपने पदों में नित्यकिशोरी राधा और नित्यकिशोर कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया है। राधा के रूपचित्रण में उनकी पदावली अत्यधिक अलंकृत हो गयी है। 'व्यास-वाणी' श्रृंगाररसपूर्ण माधुर्य भक्ति का उन्मेष करने वाली प्रौढ़ रचना है। शांत रस का भी अनेक पदों में सुंदर वर्णन हुआ है। यथार्थ में ये दो रस ही उनकी कविता के प्राण हैं। शेष रसों की खोज करना 'व्यास-वाणी' की भावना के अधिक अनुकूल प्रतीत नहीं होता।

व्यास जी का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उनकी भाषा में भावानुकूल पदयोजना के साथ मृदुल, कठोर और व्यंग्यपूर्ण होने की शक्ति पायी जाती है। शब्दों के चयन में किसी प्रकार के आयास का पता नहीं चलता। ऐसा प्रतीत होता है कि भावों के उद्बोधन के साथ-ही-साथ शब्दों का जन्म होता गया है। प्रत्येक भाव के लिए शब्दों की नियोजना अपूर्व है। श्रृंगार के पदों में भाषा अत्यंत वैभवपूर्ण और सुकुमार हो गयी है। माधुर्य भाव की अभिव्यक्ति के लिए शब्द भी माधुर्य गुण से परिपूर्ण हैं।

**चतुर्भुजदास :** हिंदी-साहित्य के इतिहासग्रंथों में भी चतुर्भुजदास का जीवनवृत्त बड़े भ्रामक रूप में अंकित होता है। अष्टछाप के चतुर्भुजदास को राधावल्लभ-संप्रदाय के चतुर्भुजदास के साथ मिला कर एक कर दिया गया है। यह भ्रम प्रारंभ में मिश्रबंधुओं की लेखनी से हुआ। उन्होंने 'मिश्रबंधु-विनोद' में राधावल्लभीय चतुर्भुजदास की 'भक्तिप्रताप', 'द्वाद्वशयश' और 'हित जू को मंगल' जैसी विख्यात रचनाओं को अष्टछापी भक्त चतुर्भुजदास की कृतियां बताया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और डॉ. रामकुमार वर्मा के इतिहासों में भी यह भ्रम विद्यमान है। इसके निराकरण का श्रेय डॉ. दीनदयालु गुप्त को है।[16] चतुर्भुजदास का 'द्वाद्वश यश' ग्रंथ प्रसिद्ध है, जिसमें भक्ति का माहात्म्य बताने के उद्देश्य से बारह पृथक-पृथक यश गाये गये हैं। इनमें से तृतीय 'भक्ति प्रताप यश' है, जो प्राचीन हस्तलिखित पोथियों में अलग भी लिखा मिलता है। इसी प्रकार 'मंगलसार यश' एकादश यश है, जो 'हितजू को मंगल' नाम से लिखा मिलता है। हिंदी साहित्य के इतिहास लेखकों ने 'द्वाद्वश यश' के अतिरिक्त उक्त दोनों ग्रंथों को भी पृथक गिनाया है। यथार्थ में ये 'द्वाद्वशयश' के अंतर्गत ही हैं। चतुर्भुजदास के कुछ फुटकर पद भी मिले हैं। ब्रजभाषा का मधु माधुर्य ही इनकी रचना का प्राण है। 'द्वाद्वशयश' की टीका इन्होंने संस्कृत भाषा में लिखी, जो मूल कृति की भांति सरल और प्रवाहपूर्ण है।

**ध्रुवदास :** हिंदी-साहित्य के इतिहासग्रंथों में इनके जन्मकाल के विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं लिखा गया। जनश्रुतियों के अतिरिक्त श्री भगवतमुदित, गोस्वामी जतनलाल और चाचा वृंदावनदास द्वारा उल्लिखित सामग्री के आधार पर इनके जीवनवृत्त की रूपरेखा तैयार की जा सकती है। इनका जन्म देवबंद (सहारनपुर) में एक कायस्थकुल में 1573 ई. के लगभग हुआ था। इनके वंश में पहले ही से वैष्णवपद्धति की अनन्य उपासना प्रवर्तित थी, अतः ये शैशव से ही भक्तिपथ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की ओर उन्मुख रहे। जन्मकाल की भांति इनकी निधनतिथि भी विवादास्पद है। इनकी अंतिम कृति का रचनाकाल 1641 ई. है, अतः इनकी मृत्यु 1643 ई. के आसपास ही माननी चाहिए।

ध्रुवदास जी का लक्ष्य राधावल्लभ-संप्रदाय का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत करना है। इस संप्रदाय में निकुंजलीला (नित्यविहार) का वर्णन आवश्यक होता है। ध्रुवदास जी ने अपनी मुक्तक रचना में इस बात का निरंतर ध्यान रखा है कि प्रेमलक्षणा मधुरा भक्ति का जैसा रूप राधावल्लभीय मत में गृहीत हुआ है, उसका ही सांगोपांग विवेचन-विश्लेषण अपनी वाणी द्वारा किया जाये। इसी कारण सैद्धांतिक दृष्टिकोण को हृदयंगम करने के लिए इनकी वाणी से अधिक स्पष्ट और गंभीर किसी अन्य महानुभाव की वाणी नहीं है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि व्याख्यापरक दृष्टि से तत्त्वबोध का इतना व्यापक प्रयत्न अद्यावधि इस संप्रदाय में किसी और ने नहीं किया। जटिल और दुर्बोध तत्त्वों को समझाने के लिए इन्होंने वचनिका (गद्यवार्ता) का भी प्रयोग किया है और अनेक दुरूह प्रश्नों को उसमें बड़ी सरल और सुबोध शैली से सुलझाया है।

ध्रुवदास जी के ग्रंथों की संख्या बयालीस है, किंतु कुछ समय पहले इस संबंध में थोड़ा-सा विवाद था। वियोगीहरि ने 'ब्रजमाधुरीसार' में इनके चालीस ग्रंथों की सूची दी है, आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में सैंतीस ग्रंथ गिनाये हैं तथा 'मिश्रबंधु-विनोद' में बयालीस ग्रंथों के अतिरिक्त 'बानी' नामक इनके एक स्वतंत्र ग्रंथ का उल्लेख है।[17] इनके संपूर्ण ग्रंथों की तालिका निम्नलिखित है :

1. जीवदशा लीला, 2. वैदकज्ञान लीला, 3. मनशिक्षा लीला, 4. वृंदावनसतलीला, 5. ख्यालहुलास लीला, 6. भक्तनामावली लीला, 7. बृहद्बावनपुराण की भाषालीला, 8. सिद्धांतविचार लीला (गद्यवार्ता), 9. प्रीतिचौवनी लीला, 10. आनंदाष्टक लीला, 11. भजनाष्टक लीला, 12. भजन-कुंडलियां लीला, 13. भजनसत लीला, 14. भजन-शृंगारसत लीला, 15. मनशृंगार लीला, 16. हितशृंगार लीला, 17. सभामंडल लीला, 18. रस मुक्तावली लीला, 19. रस हीरावली लीला, 20. रस रत्नावली लीला, 21. प्रेमावली लीला, 22. प्रियाजी नामावली लीला, 23. रहस्यमंजरी लीला, 24. सुखमंजरी लीला, 25. रतिमंजरी लीला, 26. नेहमंजरी लीला, 27. वनविहार लीला, 28. रंगविहार लीला, 29. रसविहार लीला, 30. रंगहुलास लीला, 31. रंग विनोद लीला, 32. आनंद-दशाविनोद लीला, 33. रहस्यलता लीला, 34. आनंदलता लीला, 35. अनुरागलता लीला, 36. प्रेमदशा लीला, 37. रसानंद लीला, 38.ब्रजलीला, 39. जुगलध्यान लीला, 40. नित्यविलास लीला, 41. मानलीला, 42. दानलीला।

ध्रुवदास जी के ग्रंथों का पर्यालोचन करने के बाद संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इनकी वाणी राधावल्लभ-संप्रदाय के सिद्धांतों का उद्घाटन करने वाली सबसे समर्थ और व्यापक वाणी है। परवर्ती महानुभावों ने इनकी वाणी के अनुशीलन के द्वारा ही सैद्धांतिक मर्म को हृदयंगम किया। हितहरिवंश के भाष्यकार और व्याख्याकार के रूप में इनका स्थान मूर्धा पर है। नित्यविहार के मर्म को विशद विस्तार के साथ सर्वप्रथम इन्होंने ही प्रस्फुटित किया। निकुंजलीला का अन्य लीलाओं से भेद करने वाले भी ये ही हैं। इनकी वाणी में काव्यसौष्ठव इतनी प्रचुर मात्रा में है कि कहीं-कहीं रीतिकालीन शृंगारी कवियों से साम्य परिलक्षित होता है। 'हितशृंगार लीला' आदि ग्रंथों में जो कवित्त और सवैये लिखे गये हैं, उनका बाह्य अभिधेयार्थ रीतिकाल के कवियों के समकक्ष ही है। शब्द शक्ति, अलंकार, काव्यगुण और भाषा का प्रवाह यह बताता है कि इन्होंने साहित्यशास्त्र का विधिवत पारायण किया था। काव्यरूढ़ियों का भी इनकी वाणी में निर्वाह है। नायिकाभेद, नख- शिख, ऋतु-वर्णन आदि में भी परंपरा-पालन हुआ है। दोहा, कवित्त, सवैया, अरिल्ल, कुंडलियां आदि छंदों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और गेय पद रचना पर इनका असाधारण अधिकार परिलक्षित होता है। इनकी गद्यवार्ता (वचनिका) तो अपूर्व रचना है। इसमें जहां एक ओर सैद्धांतिक गूढ़ तत्त्वों पर सरल भाषा में प्रकाश डाला गया है, वहीं दूसरी ओर गद्य-साहित्य का प्राचीन रूप भी देखने में आता है। माधुर्य भक्ति की तल्लीनता और रसव्यंजक पदावली की रोचकता जैसी ध्रुवदास में है, वैसी मध्ययुगीन भक्तों में कम ही देखी जाती है। यदि छंद, भाषा और शैली वैविध्य की दृष्टि से इनकी रचना पर विचार किया जाये तो निस्संदेह ये रीतिकाल और भक्तिकाल के कवियों की शृंखला जोड़ने वाले रससिद्ध कवि माने जायेंगे।

**नेही नागरीदास :** नागरीदास नाम से हिंदी साहित्य में कई भक्तकवि विख्यात हैं, किंतु राधावल्लभ-संप्रदाय के नागरीदास का नाम 'नेही' उपाधि के कारण सबसे अलग हो जाता है। भगवतमुदित-कृत 'अनन्यरसिकमाल' में इनको पंवार क्षत्रिय कुलोद्भव तथा बेरछा गांव (बुंदेलखंड) का निवासी बताया गया है। शैशव से ही हरिभक्ति की ओर इनकी विशेष रुचि थी। भक्तजनों से मिलने पर ये बड़े प्रमुदित होते थे। एक बार सौभाग्य से स्वामी चतुर्भुजदास जी के साथ इनका मिलना हुआ। उनकी कथावार्त्ता सुन कर ये बड़े प्रभावित हुए और उनकी सत्संगति का लाभ उठा कर उन्हीं के साथ घर-बार छोड़ वृंदावन चले आये। वहां गोस्वामी वनचंद्र जी से दीक्षा ले कर इन्होंने रसभक्ति को स्वीकार किया। इनके जन्मकाल का निर्णय स्वामी चतुर्भुजदास से इनके मिलने की घटना के आधार पर किया जा सकता है। चतुर्भुजदास जी 1558 ई. के आसपास बेरछा पहुंचे थे और नागरीदास की उस समय पच्चीस चर्प की आयु की कल्पना की जाये तो उनका जन्म 1533 ई. के आसपास माना जा सकता है। इतना तो निश्चित ही है कि ईसा की सोलहवीं शती के उत्तरार्द्ध तक वे जीवित थे।

नेही नागरीदास जी की 'हितवाणी' और 'नित्यविहार' में अनन्य निष्ठा थी। भागवतकथा और नवधा भक्ति के मार्मिक प्रसंगों का वर्णन भी उनको 'हितवाणी' के आगे फीका लगता था। उनकी भक्तिभावना का प्रमाण देने के लिए ये पंक्तियां पर्याप्त हैं :

*रसिक हरिवंश सरवंश श्री राधिका, सरवंश हरवंश वंशी।*
*हरिवंश गुरु शिष्य हरिवंश प्रभावली, हरिवंश धन धर्म राधा प्रशंसी॥*
*राधिका देह हरिवंश मन, राधिका हरिवंश श्रुतावतंशी।*
*रसिक जन मननि आभरन हरिवंश, हितहरिवंश आभरन कलहंस हंसी॥*

यहां राधा और हरिवंश के अतिरिक्त किसी और को कुछ भी स्वीकार नहीं किया गया है। यह 'राधाष्टक' इनकी अनन्य निष्ठा का प्रतीक है और राधावल्लभ-संप्रदाय में इसका बहुत मान है।

## हरिदासी संप्रदाय
(सखी-संप्रदाय)

स्वामी हरिदास जी द्वारा प्रवर्तित सखी-संप्रदाय को बहुत समय तक निम्बार्क-संप्रदाय की एक शाखा के रूप में ही स्वीकार किया जाता रहा। कुछ तो सिद्धांत संबंधी भ्रांति के कारण ऐसे उल्लेख होते रहे और कुछ इस संप्रदाय की शिष्य-परंपरा में पीतांबरदास, किशोरदास आदि ऐसे महानुभाव हुए, जिन्होंने अपने संप्रदाय को निम्बार्क-संप्रदाय के साथ मिलाने का प्रयत्न किया, अतः भ्रम को प्रश्रय भी प्राप्त होता रहा। आज भी वह शाखा अपना संबंध निम्बार्क-संप्रदाय से जोड़ती है। जहां तक स्वामी हरिदास जी के संप्रदाय का प्रश्न है, उसका अपना स्वरूप इतना स्पष्ट है और उसके सिद्धांत अन्य संप्रदायों से इतने अनमिल रहे हैं कि बिना उसे संप्रदाय का रूप दिये, उसके रस-साहित्य को

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भलीभांति हृदयंगम नहीं किया जा सकता। सखी-संप्रदाय की शिष्य-परंपरा में बिहारिनदास, नागरीदास, सरसदास आदि ने अपने संप्रदाय को किसी अन्य पूर्ववर्ती संप्रदाय से न जोड़ कर स्वामी हरिदास से ही संबंधित माना है। हरिदासी संप्रदाय के एक श्रेष्ठ वाणीकार एवं सिद्धांत-व्याख्याता रीतिकालीन कवि भगवतरसिक ने अपने संप्रदाय को 'द्वैताद्वैत' (निम्बार्क-सिद्धांत), 'विशिष्टाद्वैत' आदि से मुक्त बताया है :

*नाहीं द्वैताद्वैत हरि, नहीं विशिष्टाद्वैत।*
*बँधे नहीं मतवाद में, ईश्वर इच्छाद्वैत॥*

भगवतरसिक जी ने अपने संप्रदाय के स्वतंत्र रूप का परिचय निम्नलिखित छंद में बड़ी तेजस्विता से दिया है :

*आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप।*
*नित्य किशोर उपासना, युगल मन्त्र कौ जाप।*
*युगल मन्त्र कौ जाप, वेद रसिकनि की बानी।*
*श्री वृन्दावन धाम, इष्ट स्यामा महारानी।*
*प्रेम देवता मिले बिना, सिद्ध होय न कारज।*
*भावत सब सुखदानि, प्रगट भये रसिकाचारज॥*

संप्रदाय के लिए आचार्य, छाप, उपासना, मंत्र, वेद, धाम, देवता आदि जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, उन सबका यहां स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

उक्त संप्रदाय के नाम के संबंध में एक और भ्रांति साहित्यक्षेत्र में रही है—इसे टट्टी-संप्रदाय कहने की! एक बार मिश्रबंधुओं ने इसका प्रयोग कर दिया तो साहित्य में चल पड़ा। वस्तुतः स्वामी हरिदास जी से लगभग 200 वर्ष पश्चात होने वाले श्री ललितमोहिनी जी ने वृंदावन में एक स्थान बनाया, जिसके चारों ओर उन्होंने बांसों की टट्टियां लगायीं। इसीलिए यह स्थान टट्टी-स्थान के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस टट्टी-स्थान के नाम से ही न जाने कैसे 'टट्टी-संप्रदाय' प्रचलित हो गया और टट्टी-संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदास जी कहे जाने लगे, यह स्पष्ट होना आवश्यक है कि यह संप्रदाय का नाम नहीं है, यह तो स्थानमात्र है—संप्रदाय का स्वीकृत नाम तो 'सखी-संप्रदाय' या 'हरिदासी संप्रदाय' ही है।

**स्वामी हरिदास :** स्वामी हरिदास जी के जीवनवृत्त की आधारभूत सामग्री का प्रायः अभाव है। इस संप्रदाय के इतिहास का परिचय देने वाला ग्रंथ 'निजमत-सिद्धांत' (किशोरदास) सांप्रदायिक रंग में रंगा है और विसंगतियों के कारण उसने अनेक स्थानों पर तो आधारभूत विकृतियां ही उत्पन्न कर दी हैं। इसके अनुसार स्वामी हरिदास का जन्म वृंदावन के निकट राजपुर नामक गांव में हुआ था। इनके पिता गंगाधर और माता चित्रा बतायी गयी हैं। इनकी जाति सनाढ्य कही गयी है और इनको आसुधीर जी का शिष्य बताया गया है। किंतु, इसी ग्रंथ में परपक्ष के रूप में इनका एक और जीवनवृत्त दिया गया है। उसके अनुसार इनको पंजाब से आने वाले सारस्वत ब्राह्मण आसुधीर जी का पुत्र और शिष्य, दोनों बताया गया है। वस्तुतः जिस परंपरा का खंडन 'निजमत-सिद्धांत ने किया है, नाभादास के 'भक्तमाल' के साक्ष्य और अनेक अन्य प्रमाणों के आधार पर वही बहुत-कुछ प्रामणिक ज्ञात होती है। वस्तुतः आसुधीर जी विरक्त हो कर वृंदावन चले आये थे। अचानक दीपक से जल जाने के कारण पत्नी का देहावसान हो जाने पर स्वामी हरिदास भी विरक्त हो कर वृंदावन चले आये। यहां आ कर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उन्होंने अपने पिता से ही दीक्षा ली और निधिवन में रह कर उपासना करने लगे। उपासना के फलस्वरूप 'श्री बांकेबिहारी' जी की मूर्ति का प्राकट्य हुआ, जो आज भी वृंदावन में विराजमान है।

हरिदास जी अपने समय के महान संगीतज्ञ थे। अकबरी दरबार के गायक तानसेन को इन्हीं का शिष्य कहा जाता है। यह भी प्रसिद्ध है कि सम्राट अकबर स्वामी जी के दर्शन करने वृंदावन आये थे। हरिदास जी के समय के संबंध में मतभेद है। 'भक्तसिंधु' के अनुसार इनका जन्म संवत 1441 वि., 'वृंदावनधामानुरागावली' के अनुसार 1509 वि., बलदेव कवि के अनुसार 1515 वि., सहचरिशरण के अनुसार 1535 वि., 'निजमत-सिद्धांत' के अनुसार 1537 वि. तथा सुदर्शन सिंह 'चक्र' के अनुसार 1569 वि. है। एक प्राचीन काग़ज़ के अनुसार 1605 वि. में स्वामी जी की उपस्थिति का प्रमाण मिलता है। अकबर और स्वामी जी के मिलन की घटना का समय विद्वानों ने 1627 वि. के आसपास माना है। यह भी निश्चित है कि वे हरिराम व्यास जी की निकुंज-प्राप्ति (1655 वि.) से पूर्व ही अपनी इहलीला समाप्त कर चुके थे। उनकी आयु सभी जगह 95 वर्ष बतायी गयी है, अतः 1478 ई. (1535 वि.) को उनका जन्म काल तथा 1573 या 1578 ई. (1630-1635 वि.) को निकुंजगमनकाल माना जा सकता है।

स्वामी हरिदास ने किसी दार्शनिक मतवाद का प्रतिपादन या समर्थन अपने ग्रंथों में नहीं किया है। उनका संप्रदाय दर्शन का विचार सिद्धांततः नहीं करता, वे तो रस-मार्ग के पथिक हैं। भक्ति के साधारण सिद्धांतों का कथन उन्होंने अपनी कृति 'सिद्धांत के पद' में किया है। इन पदों में हरि को स्वतंत्र और जीव को भगवदाधीन माना गया है। जीव का स्वभाव चपल है, अतः संसार-सागर को पार करने के लिए हरिनाम की नौका ही एकमात्र आधार है। सच्चे मीत तो श्री बिहारी ही हैं। उनका स्मरण जीव को इस प्रकार करना चाहिए, जैसे ग्वालिन सिर पर रखी दूध की दोहिनी का ध्यान रखती है कि वह छलक न जाये; जीव को प्रेमसमुद्र का घाट खोजना चाहिए। हरिदास जी के प्रेम-सिद्धांत अपने युग की भक्तिभावना को एक नया मोड़ देने वाला है। उस युग में श्रीकृष्णचरित्र का मधुर पक्ष ही भक्तों का आलंबन बन गया, सखा भावोपासना युगधर्म बन गयी। कोई ऐसा वैष्णवसंप्रदाय न बचा, जिसने इस विशिष्ट दृष्टि को न अपनाया हो इस रसोपासना के कारण स्वामी जी की तो छाप ही 'रसिक' हो गयी। सखी-संप्रदाय का उपास्य 'प्रेम' नामक तत्त्व है। यह प्रेम नित्य है और अपनी क्रीड़ा के लिए राधा-हरि इन दो रूपों में नित्य प्रकटित है। प्रेम का तीसरा रूप सखीजन है, जो इस प्रेमलीला की प्रयोजिका और भोक्ता भी हैं। नित्यधाम वृंदावन उसी प्रेम का चिद्घनरूप है।

अन्य संप्रदायों में वर्णित कृष्णलीला और स्वामी हरिदास जी की निकुंजलीला में तारतम्य का भारी भेद है। अन्यत्र अवताररूप श्रीकृष्ण की आराधना की जाती है, परंतु स्वामी हरिदास जी के निकुंजबिहारी कृष्ण द्वापर के अवताररूप कृष्ण नहीं हैं। स्वामी जी की राधा वृषभानुकुमारी नहीं हैं। उनकी लीला का ब्रज, गाय, ग्वाल, गोपी आदि से कोई संबंध नहीं है। ब्रज की लीला नैमित्तिकी लीला है, क्योंकि अवतार किसी-न-किसी निमित्त से ही होता है। अवतारकाल में श्रीकृष्ण के अनेक कर्त्तव्यकर्म भी रहे हैं। माता यशोदा का वात्सल्य वे कैसे दूर कर सकते हैं; ग्वालों की मैत्री कैसे छोड़ सकते हैं; और भी उनके अनेक लोकचरित्र है, इसलिए उनके नित्यविहार में बाधा पड़ती है। स्वामी हरिदास के उपास्य तो प्रेम के मूल स्वरूप नित्य निकुंजविहारी हैं, जिनको सृष्टिनिर्माण आदि से कोई मतलब नहीं है; वह कार्य तो उनकी पदनख-छटा के अंश ज्योतिरूप नारायण करते रहते हैं। वृंदावन की नित्यलीला सदा एकरस और अखंड रहने वाली है। उस रसलीला में नारायण का प्रवेश भी नहीं है। देव-पितर की तो कौन कहे, ब्रज के राधाकृष्ण भी उस रस के लिए ललचाते रहते हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सखी-संप्रदाय का 'रूप और प्रेम का सिद्धांत' प्रेमदर्शन अथवा सौंदर्यशास्त्र के अति निकट है। काव्य के लिए यह एक मनचाहा विषय था और भाव को पूर्ण तीव्रता देने की भी पूर्ण शक्ति इसमें विद्यमान थी। विदेशी शासन से त्रस्त जनता को इस सिद्धांत की रसमयता सहज जान पड़ी और कवि तथा भक्त, दोनों इसकी ओर आकर्षित हुए। इस सौंदर्य-सिद्धांत ने भक्तों को कवि और कवियों को भक्त बना दिया। इस सिद्धांत ने तत्कालीन भारतीय जीवन को अपूर्व रूप से दृढ़ सांस्कृतिक पृष्ठभूमि प्रदान की थी। सखी-भाव की व्यापकता में हमें इन कारणों को भी ध्यान में रखना चाहिए।

स्वामी हरिदास ने बहुत थोड़ा लिख कर भी अपार यश अर्जित किया है। उनके द्वारा लिखित केवल दो रचनाएं प्राप्त हैं—'सिद्धांत के पद' और 'केलिमाल'। सिद्धांत के पदों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। 'केलिमाल' स्वामी जी की रसमयी रचना है, जिसमें 110 पदों में श्री श्यामा-कुंजविहारी की लीलाओं के अनेक मृदु चित्र अंकित हैं। ग्रंथ के नाम 'केलिमाल' से भी स्पष्ट है कि यह परमरसरूप श्यामा-श्याम की 'केलि' की 'माला' है। रस की दृष्टि से स्वामी हरिदास जी की रचनाएं उज्ज्वल रस (शृंगार रस) के अंतर्गत आती हैं। उसमें भी केवल संयोग ही यहां प्राप्तव्य है। उनके पदों में कहीं राधा का स्वच्छ रूप-वर्णन है, कहीं श्याम की उनके प्रति तन्मयता वर्णित है, कहीं वृंदावन के सघन रमणीय निकुंज-गृहों में उनके विहार का वर्णन है और कहीं उनके बार-बार मुग्ध हो कर, परस्पर रीझ कर प्रेमालाप के नवीन-नवीन प्रसंग हैं। राधा-बिहारी और सखियों के अतिरिक्त यहां और कोई नहीं है और स्वामी जी के सब प्रेम-रूप भावोल्लास में मत्त हैं। वस्तुतः स्वामी हरिदास के पदों में एक प्रत्यक्ष अनुभूति के चित्र हैं, फलस्वरूप उनकी अभिव्यंजना-शैली में प्रत्यक्षता या ऋजुता है। लगता है कि वे अपने सामने एक एक दृश्य देख रहे हैं, प्रिय-प्रिया का वार्त्तालाप सुन रहे हैं और बीच-बीच में उनसे स्वयं भी कुछ कह रहे हैं। उनके काव्य की यही शैली वार्त्तालाप की शैली है, जिसमें स्वाभाविकता और जीवन की संपूर्ण मिठास है। उनके पदों की प्रायः प्रत्येक पंक्ति इसी प्रकार किसी-न-किसी का 'कथन' है। उदाहरणस्वरूप श्रीकृष्ण का यह कथन देखिए, जिसमें कवि के हृदय की तरलता साकार होती दिखायी देती है :

*भूले भूले हू मान न करि, री प्यारी!*
*तेरी भौंहे मैली देखन, प्रान न रहत तन!*
*ज्यौं न्योछावर करौं प्यारी री तो पर*
*काहे मैं तूँ मूकी, कहत स्यामघन।*

हरिदास जी ने अलंकारों का यत्नज प्रयोग कहीं नहीं किया है। उनकी वाणी ऋजु है, पर स्वभावतः अनेक अलंकारों ने उनके कथनों को सजाया है। उनकी कल्पना सहज है, अतः अलंकार भी सहज ही हैं। स्वामी जी की भाषा के संबंध में भ्रांति रही है। उनके पदों को समीक्षकों ने एक ही दृष्टि में ऊबड़-खाबड़ लिख दिया है, किंतु सत्य यह है कि उनकी भाषा तद्भवप्रधान है, बोलचाल के अत्यधिक निकट है और 'ध्रुवपद' की विशेषता के अनुरूप उनकी कुछ पंक्तियां छोटी और कुछ बड़ी हो गयी हैं। समीक्षकों ने इसे दोष मान लिया है, अन्यथा स्वामी जी की भाषा निश्चित रूप से अत्यंत अर्थवती है और कोमल भावों के प्रकाशन में समर्थ है। लक्षणा-व्यंजना का चमत्कार, उनकी भाषा में दर्शनीय है। घनानंद की भाषा की जिस लाक्षणिकता की सराहना की जाती है, वह स्वामी हरिदास के पदों में भी अपने पूर्ण सौंदर्य के साथ प्राप्त है। उनकी भाषा में तत्कालीन अरबी-फ़ारसी-शब्दों का प्रयोग भी कहीं कहीं-हुआ है। पंजाबी शब्दों का प्रयोग भी है, जिससे उसका पंचनदवासी होना ही सिद्ध होता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**जगन्नाथ गोस्वामी :** इनके विषय में प्रसिद्ध है कि ये स्वामी हरिदास के भाई थे और स्वामी जी के वृंदावन-आगमन के कुछ समय उपरांत ही वृंदावन आ गये थे। स्वामी हरिदास ने श्री बांकेबिहारी जी की सेवा-पूजा इनको ही सौंपी थी। महात्मा संतदास ने 'विहार-रसामृत' नामक ग्रंथ के मंगलाचरण में आराध्य श्री बिहारी जी और स्वामी हरिदास जी के पश्चात जगन्नाथ जी की भी विनती की है। इनके द्वारा रचित 'अनन्य सेवानिधि' नामक ग्रंथ बताया जाता है। इनके अनेक स्फुट पद भी प्राप्त हैं, जो कीर्तन-संग्रहों में सम्मिलित हैं और संप्रदाय में भी पाये जाते हैं।

**बीठल बिपुल :** 'निजमत-सिद्धांत' के अनुसार श्री बीठल बिपुल स्वामी हरिदास के ममेरे भाई थे और आयु में उनसे पांच वर्ष बड़े थे। एक अन्य मतानुसार ये स्वामी जी के सबसे कनिष्ठ भ्राता गोविन्द जी के पुत्र थे। 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादास जी के अनुसार इनकी गुरुनिष्ठा अपूर्व थी। जब स्वामी हरिदास का निकुंज-गमन हो गया, तो ये उनके वियोग में व्याकुल हो उठे और गुरु के दर्शन न होने के कारण इन्होंने अपने नेत्रों पर पट्टी बांध ली। रसिकों ने इन्हें रासलीला देखने के लिए बुलाया। वहां जा कर जब इन्होंने अपने नेत्रों की पट्टी खोली, तब वहां भी स्वामी जी के दर्शन प्राप्त न हुए तो तत्काल इन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया और निकुंजवासी हो गये। इनकी वाणी में केवल 40 पद ही प्राप्त हैं, परंतु नाभा जी द्वारा इन्हें दी गयी 'रससागर' उपाधि को प्रमाणित करने के लिए ये पर्याप्त हैं। इन्होंने भी नित्य-वृंदावन की रसलीला के अनुपम चित्रों को अपने काव्य में संजोया है। प्रिया के रूप को देख कर प्रिय अपनी सुधबुध खो बैठते हैं। प्रिया जी का सहज सौंदर्य, ललाट पर बिखर आयी एक अलक, फिर कुछ विचित्र प्रकार से उनका देखना; ये सब मोहन की पलक न लगने देने के लिए पर्याप्त हैं :

*रसबस होत लाल, प्यारी, तेरी बदन झलक।*
*अपने सुभाव की सहज माधुरी, बनी है लिलाट पर पतरी अलक।*
*कौन हूँ भाँति चितवनी चितयौ, तब तैं मोहन जू की लागैं न पलक।*
*श्री बीठल बिपुल बिहारी सों हिलिमिल, जैसे बाढ़ें छिन-छिन-मदन-ललक॥*

बीठल जी ने भी स्वामी जी की भांति वार्त्तालापशैली को ही अपनाया है, परंतु इनकी भाषा अधिक तत्समप्रधान और छंदोबद्ध है। भाषा में सजीवता है और अलंकार स्वतः उद्भूत हैं।

**बिहारिनदास :** बिहारीदास या बिहारिनदास इस संप्रदाय के श्रेष्ठ कवि और सिद्धांत-व्याख्याता हुए हैं। संप्रदाय में ये 'गुरुदेव' नाम से प्रसिद्ध हैं और हरिदासी उपासना के लिए प्रमाण-कोटि में गृहीत हैं। इनका मूल नाम क्या था, यह ज्ञात नहीं है—'बिहारिनदास' नाम स्वामी हरिदास ने दिया था। एक अन्य मत के अनुसार ये जगन्नाथ जी के प्रपौत्र और गोपीनाथ जी के पुत्र थे। इनका गृहस्थ-नाम हरिराम था, बाद में इनका नाम बिहारिनदास हुआ। इनमें स्वामी हरिदास के समस्त गुण अवतरित हुए थे। ये सर्वदा उपासना के भाव में डूबे रहते थे। पूर्णतया अपरिग्रही रह कर ही इन्होंने अपना जीवन व्यतीत किया था। मिट्टी के एक करुए और एक कमली के अतिरिक्त ये कुछ भी धारण नहीं करते थे। ये संसार से उदास रहते थे और निरंतर महामाधुरी में छके रहते थे।

बिहारिनदास जी बीठल बिपुल जी के शिष्य थे। इनकी रचनाएं 'बिहारिनदास जी की वाणी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी वाणी में एक भाग साधारण सिद्धांत का है, दूसरा रस सिद्धांत का। साधारण सिद्धांत-कथन के अंतर्गत भक्ति की महत्ता को प्रस्तुत किया गया है और रस-सिद्धांत में सखी-भाव की उपासना के तत्त्वों का उद्घाटन कर प्रेमरस की परिपाटी पर प्रकाश डाला गया है। अपने सिद्धांतों के प्रतिपादन में भी ये फक्कड़ रहे हैं। जो बात इन्हें ठीक जंची, उसे कहने में ये

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कभी नहीं चूके। इनका रास्ता इनके अनुभव ने स्वयं बनाया है। इसलिए उस पर इनका अडिग विश्वास है। इन्होंने अपने मत को वैदिक सिद्ध करते हुए कहा है कि वास्तव में वेदों ने जो कुछ कहा है, वही हमने किया है :

*वेदन कह्यौ सो हम कियौ, औरन को मत छोरि।*
*कहत बिहारिनदास यह, अनन्य सभा में डोरि॥*

'नित्यविहार' को इन्होंने सर्वोपरि स्थान दिया है और अपने को उसी का उपासक घोषित किया है। किंतु, इनकी अभिव्यंजनाशैली में पूर्ण निबद्धता नहीं है। उसमें वस्तु को प्रकट करने का आग्रह अधिक है, नियम-पालन का कम। इन्होंने मात्रानुसार छंदोबद्ध पद भी लिखे हैं, परंतु ध्रुवपद का प्रभाव इन पर अधिक है। इनकी भाषा तत्समप्रधान होते हुए भी विन्यास की दृष्टि से निराली है। कहीं-कहीं उसमें कुछ अक्खड़पन भी आ जाता है, परंतु भाषा भावों के समक्ष सदा ही सिर झुकाये रहती है। भाषा में लक्षणा-व्यंजना-शक्तियों का प्राचुर्य है। भाषा का अलंकरण सहज और स्वाभाविक है, प्रयत्न उसमें कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। बिहारिनदास जी रससिद्ध कवि हैं। भाषा आदि के वैचित्र्य के साथ इनकी रससिद्धता उत्कर्ष को ही अधिक प्राप्त हुई है।

**अन्य भक्तकवि :** सखी-संप्रदाय के अन्य भक्तकवियों में नागरीदास और सरसदास मुख्य हैं। नागरीदास नाम के कई महात्मा ब्रजवाणीकार हुए हैं—राधावल्लभीय नागरीदास की भांति हरिदासी महात्मा नागरीदास भी प्रसिद्ध हैं। ये बिहारिनदास जी के प्रमुख शिष्य थे। 'निजमत-सिद्धांत' के अनुसार ये कामरूप के मंत्री कमलापति के पुत्र थे, परंतु यह कथन पूर्ण विश्वसनीय नहीं है। ध्रुवदास जी ने इनकी प्रशंसा में निम्नलिखित दोहा लिखा है :

*कहा कहौं मृदुल सुभाव अति, सरस नागरीदास।*
*बिहारी बिहारिन कौ सुयश, गायौ हरषि हुलास॥*

नागरीदास जी की 20 साखियां, 42 चौबोले, 39 कवित्त-सवैये तथा 70 पद प्राप्त हैं। इनकी रचनाशैली पर स्वामी हरिदास के पदों की छाप स्पष्ट है। **सरसदास** नागरीदास जी के छोटे भाई थे। बिहारिनदास जी की गद्दी के अधिकारी ये ही हुए थे। इनकी रचना कुल 66 छंदों की है और 'अष्टाचार्यों की वाणी' में सम्मिलित है। एक उद्धरण देखिए :

*गोरै तन में प्रतिबिम्बित फूल वीनत लालबिहारी।*
*जब जब हाथ न परत तब ही हंसि जात प्यारी।*
*अरबराइ अंकौ भरत करत हैं छिन छिन मनुहारी।*
*सुरति बिबस बिहरत दोऊ प्रीतम सरस सदा बलिहारी॥*

## चैतन्य (गौड़ीय)-संप्रदाय

गौड़ीय अथवा चैतन्य-मत के प्रवर्तक कृष्ण चैतन्य महाप्रभु (1486-1533) का जन्म बंगाल के नवद्वीप नामक स्थान में हुआ था। इनका बचपन का नाम विश्वंभर था, घर में निमाई नाम से भी इन्हें पुकारते थे और रूप-सौंदर्य के आतिशय के कारण 'गौर' या 'गौरांग' नाम भी प्रचलित हो गये थे। नवद्वीप उन दिनों बंगाल में ही नहीं, समस्त भारतवर्ष में विद्याकेंद्र के रूप में विख्यात था। विश्वंभर को नवद्वीप की सुप्रसिद्ध न्याय-पाठशाला में विद्यार्जन के लिए प्रविष्ट कराया गया, जहां उन्होंने न्याय, वेदांत, व्याकरण और साहित्यशास्त्र का अध्ययन किया। 'चैतन्यचरितामृत' में विश्वंभर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के संन्यास का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि उनके मन में स्वयं यह भाव जाग्रत हुआ कि जब तक मैं गृहस्थाश्रम में रह कर भक्ति का उपदेश करूंगा, तब तक साधारण जन के मन में स्वाभाविक श्रद्धा उत्पन्न नहीं होगी। अत: भक्ति-प्रचार के उद्देश्य से उन्होंने चौबीस वर्ष की आयु में, 1510 ई. में संन्यास की दीक्षा ग्रहण की। दीक्षागुरु केशवभारती ने उनका नाम बदल कर कृष्ण चैतन्य रखा। संन्यासी चैतन्य ने कठोर कष्ट-सहिष्णुता के परंपरा-अनुमोदित मार्ग का अवलंबन नहीं किया। उनका भक्तिपथ त्याग और वैराग्य का हठयोगी मार्ग नहीं था, अपितु उनकी भक्तिभावना के आधार बिंदु थे—प्रेम, ममता और भावुकता। उन्होंने अपने नाम से किसी मत, पंथ या संप्रदाय का प्रवर्तन नहीं किया। यदि उनके जीवन के समस्त कार्यों पर दृष्टिपात किया जाये तो यह स्पष्ट लक्षित होता है कि उनका जीवनप्रवाह इतना दुर्धर्ष था कि जो कोई उनके संपर्क में आया, उसमें बह गया। फलत: उनके चारों ओर संप्रदाय-जैसी गरिमा इकट्ठी होती गयी और अनजाने ही चैतन्यमत का उदय हो गया।

चैतन्यमत का दार्शनिक सिद्धांत 'अचिन्त्य भेदाभेद' कहलाता है। जीवगोस्वामी ने 'भगवत्संदर्भ' नामक ग्रंथ में इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि भगवान में स्वरूपा आदि शक्तियों के अभिन्न होने के कारण विचार करना शक्य न होने से भेद (प्रतीत होता) है और भिन्न होने से विचार करना शक्य न होने से अभेद प्रतीत होता है, इसलिए इनमें भेदाभेद स्वीकार है व दोनों 'अचिन्त्य' हैं, इसलिए इस मत को अचिन्त्य भेदाभेद का नाम दिया गया है। अचिन्त्य भेदाभेद को दार्शनिक रूप देते समय रूपगोस्वामी या जीवगोस्वामी के समक्ष माध्व संप्रदाय की कोई दार्शनिक मान्यता नहीं थी। द्वैतवाद को दृष्टि में रख कर इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया गया।

इस सिद्धांत की व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठा बलदेव विद्याभूषण ने 'गोविन्दभाष्य' में की है। उन्होंने ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म—ये पांच तत्त्व स्थिर करते हुए ईश्वर को विभुचैतन्य, सर्वज्ञ, स्वतंत्र, मुक्तिदाता और विज्ञानरूप कहा है। ईश्वर जगत का निमित्त और उपादान कारण है, जो स्वरूप से अविकृत रहता है। ईश्वर विमुख होने से जीव बंधन में पड़ता है, ईश्वरकृपा से ही जीव की मुक्ति होती है। मुक्ति से ईश्वर के समान आनंद तो प्राप्त होता है, किंतु ईश्वर से पृथकत्व बना रहता है। प्रकृति नित्य है और ब्रह्म की शक्तिरूपा है। काल परिवर्तनशील जड़ द्रव्य है। प्रलय सृष्टि का निमित्त रूप है। कर्म अनादि, नश्वर और जड़ है। वह ईश्वर की शक्ति का रूप है। मुक्ति का मुख्य साधन है—भक्ति, जिसके पांच भेद हैं : शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर।

**रामराय :** श्री रामराय का उल्लेख 'भक्तमाल' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में हुआ है। वे सारस्वत ब्राह्मण थे और गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे। वल्लभ-संप्रदायी कीर्तन-संग्रहों में 'श्री भगवान हित रामराय' की छाप से प्राप्त होने वाले पदों की प्रचुर संख्या है; और ये पद इन्हीं रामराय जी के माने जाते हैं। इधर वृंदावन के गोस्वामी यमुनावल्लभ जी ने इनकी वंश-परंपरा के संबंध में कुछ विशिष्ट ग्रंथों का प्रकाशन किया है। उनके अनुसार ये गीतगोविन्दकार जयदेव की पन्द्रहवीं पीढ़ी में विद्यमान थे। इनका जन्मस्थान लाहौर और पिता का नाम गौर गोपाल बताया गया है। आशुधीर जी के साथ ये पंजाब से ब्रज चले आये थे। ब्रज में आ कर ये चैतन्यमत से प्रभावित हुए, अत: चैतन्यदेव के दर्शनों के लिए सीधे जगन्नाथपुरी चले गये। वहीं इन्होंने श्री नित्यानंद से दीक्षा ग्रहण की। बाद में ये वृंदावन आ कर रहने लगे और आजीवन ब्रजभक्ति का प्रचार करते रहे। इनके द्वारा रचित साहित्य का अवलोकन करने से भी इनके संप्रदाय का निर्णय नहीं होता। वल्लभ-संप्रदाय के कीर्तन-संग्रहों में सम्मिलित पदों से ये वल्लभमतानुयायी जान पड़ते हैं, तो अपनी कृति 'आदिवाणी' से विशुद्ध गौड़ीय ज्ञात होते हैं। 'आदिवाणी' तथा 'गीतगोविन्द भाषा' में इन्होंने अनेक स्थलों पर श्री चैतन्य एवं उनके अन्य अनुयायी महानुभावों की वंदना गुरुरूप में की है। विभिन्न

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रमाणों एवं रामराय जी के प्राप्त साहित्य से ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों संप्रदायों से ही किसी-न-किसी रूप में संबंधित रहे थे। हो सकता है कि ये जीवन के आरंभिक भाग में वल्लभसंप्रदायी रहे हों और अंत में चैतन्यमत से प्रभावित हो कर गौर किशोर की उपासना में अनुरक्त हुए हों।

रामराय जी संस्कृत एवं ब्रजभाषा दोनों के ही पंडित थे। संस्कृत में इन्होंने ब्रह्मसूत्रों के कुछ अंश पर 'गौरविनोदिनी' वृत्ति की रचना की तथा गीता पर 'गौर भाष्य', 'स्तवपंचकम्' और 'गोविन्द-तत्त्वदीपिका' का प्रणयन किया। ब्रजभाषा में इनकी 'आदिवाणी' तथा 'गीतगोविन्द भाषा'—ये दो रचनाएं प्राप्त हैं। 'आदिवाणी' में कुल एक सौ पद हैं, जिनमें राधा-कृष्ण की लीला का सरस गायन हुआ है। सखी-भाव से राधा-कृष्ण की उपासना ही कवि का प्रतिपाद्य है। प्रिया-प्रिय की केलि-उमंगों को इन्होंने अपने भावचित्रों में भलीभांति उतारा है। हावभाव के चित्रण की दृष्टि से भी इनकी रचनाएं उत्कृष्ट हैं। इनके पदों में अभिव्यक्ति की सहजता विशेष रूप से द्रष्टव्य है। कोमलकांत पदावली के चयन में ये विशेष रूप से सिद्धहस्त हैं। भाव-प्रतिपादन में जहां ये स्वामी हरिदास जी के अति निकट हैं, वहीं इनकी भाषा-शैली पर हितहरिवंश जी का प्रभाव स्पष्ट है। 'आदिवाणी' के अनेक पदों की रचना उक्त दोनों महानुभावों के पदों की छाया पर हुई है। 'गीतगोविंद भाषा' गीतगोविंद के श्लोकों का ब्रजभाषा के पदों में किया गया सफल अनुवाद है। 'आदिवाणी' से एक उदाहरण प्रस्तुत है :

*मुकुट मनि चन्द्रिका, स्याम स्यामा बनी।*
*पलक अलकन लुकीं, तिलक झलकन झुकीं,*
*कमल कुंडल रुकीं, ललक भृकुटी तनी।*
*अधर दर कंद री, सुधर वर सुन्दरी,*
*जुगल गल चन्द री, धवल हीरन खनी॥*
*चटक पट केसरी, नील नव वेस री,*
*कनक नक वेसरी, मनिक मुक्ता मनी,*
*जटित कंकन करन, पगन नूपुर धरन,*
*मदन मन हर, 'रामराय' कटि करधनी॥*

**सूरदास मदनमोहन :** 'भक्तमाल' में नाभा जी ने सूरदास मदनमोहन की काव्यरचना की प्रशंसा की है और उन्हें राधा-कृष्ण-भक्ति का एकांत अधिकारी बताया है। ये श्री सनातन गोस्वामी के शिष्य थे। इनका मूल नाम सूरदास था, परंतु अपने उपास्यदेव 'मदनमोहन' जी के अंगीकार के कारण इनकी नाम शृंखला सूरदास मदनमोहन के रूप में अटलता से जुड़ गयी। इनका जन्म अनुमातन: 1513 ई. के लगभग हुआ था। ये अकबर के अमीन या दीवान थे और संडीले में नियुक्त थे। प्रसिद्ध है कि एक बार ख़ज़ाने में तेरह लाख मुद्राएं आयीं। इन्होंने उस राज्यद्रव्य को साधुओं की सेवा में लगा दिया और स्वयं चुपचाप वृंदावन चले गये। ख़ज़ाने के विवरण में इन्होंने लिख दिया :

*तेरह लाख संडीले उपजे, सब साधुन मिलि गटके।*
*सूरदास मदनमोहन, वृन्दावन को सटके॥*

सम्राट अकबर को इनकी इस भावना पर प्रसन्नता ही हुई, परंतु टोडरमल ने इन्हें वृंदावन से पकड़वा मंगाया और कारागार में डाल दिया। पुन: अकबर ने ही इन्हें मुक्त कराया।

सूरदास मदनमोहन की रचनाओं का कोई प्रामाणिक प्राचीन संग्रह अभी तक प्राप्त नहीं हुआ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है। बाबा कृष्णदास ने 'सुहृद् बानी' में इनके 105 पदों का संग्रह किया था। श्री प्रभुदयाल मीतल ने भी किसी प्राचीन अशुद्ध और संदिग्ध प्रति में से चुन कर इनके पदों का संकलन प्रकाशित किया है। उस प्रति के 126 पदों में से मीतल जी ने केवल 83 पद ही अपने संग्रह में लिये हैं, परंतु ये संकलित पद भी पूर्ण प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। नाभा जी और नागरीदास जी के अनुसार सूरदास मदनमोहन केवल शृंगार रस की पदरचना करते थे, जबकि इस संग्रह में अनेक पद वत्सल रस संबंधी भी हैं। इनकी वाणी में अनेक पद वल्लभ-संप्रदायी सूरदास जी के मिल गये हैं और उसी प्रकार इनके पद 'सूरसागर' में प्राप्त हैं। इनके पदों में अभिसारिका नायिका का विरह, खंडिता, नायक का विरह, मान, मुरली, वर्षा-विनोद आदि शीर्षकों के अंतर्गत राधा-कृष्ण की शृंगार-लीलाओं और कृष्ण-केलि का वर्णन हुआ है। इनकी कविता भावपूर्ण है। एक ही लीला को उमंगपूर्वक अनेक बार गाया गया है। इनकी उपासना में 'राधा' की प्रधानता है और सखियों का लीलानुगत्य भी सर्वत्र दर्शित है। इनके काव्य का कला-विधान भी उत्कृष्ट कोटि का है। भाषा सरल और श्रुति-सुखद है। वर्णनगत सजीवता और कहीं-कहीं संवादों में सहज नाटकीयता भी इनके काव्यगुण हैं। प्रसाद गुण के साथ ही माधुर्य की अभिव्यंजना इनमें श्रेष्ठ है। वास्तव में भाव और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से इनकी रचनाएं उत्तम हैं। एक पद प्रस्तुत है :

*ब्रज की खोर सांकरी।*
*जब-जब भेंट अचानक होवै, हौं सकुचित उर, उल्टयो चाह री।*
*जित-जित ह्वै, मग रोकत टोकत, डगर तजति पग गड़ति कांकरी।*
*ज्यों-ज्यों हौं सब अंग दुरावौं, त्यों-त्यों चिबुक गहि आवै धांकरी।*
*'सूरदास मदनमोहन' केतौ करौं बोलिवे को, मैं तबहूं न 'हां' करी॥*

**गदाधर भट्ट :** श्री गदाधर भट्ट ब्रजभाषा के सुप्रसिद्ध कवि थे। उनके विषय में हिंदी साहित्य के इतिहासग्रंथों में आरंभ से लिखा जाता रहा है, परंतु यह भ्रांति बराबर चली आ रही है कि वे चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे और उनको भागवत सुनाया करते थे। वास्तव में चैतन्यदेव ने किसी को भी अपना शिष्य नहीं बनाया था। जो सज्जन उन्हें 'श्रीमद्भागवत' की कथा सुनाया करते थे, वे गदाधर पंडित थे, गदाधर भट्ट नहीं। अतः आचार्य शुक्ल द्वारा इसी आधार पर गदाधर भटट को सूर-पूर्व मान लेना समीचीन नहीं है। यों गदाधर भट्ट भी 'भागवत' के श्रेष्ठ प्रवक्ता थे, परंतु इनके और चैतन्य के समय में पर्याप्त अंतर है। नाभा जी ने इनको सुहृद, सुशील, वचन-प्रतिपालक, निर्मत्सर, निष्काम, करुणाशील, अनन्य भजनीक, भक्तसेवी तथा 'भागवत' के अद्वितीय वक्ता के रूप में चित्रित किया है। ध्रुवदास, नागरीदास, भगवतरसिक आदि भक्तों ने भी इनकी भागवतकथा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। प्रियादास ने 'भक्तमाल' की टीका में इनसे संबंधित कुछ घटनाओं का वर्णन किया है। उनके अनुसार एक बार गदाधर भट्ट द्वारा रचित कृष्ण-प्रेम संबंधी एक पद किसी साधु के मुख से जीवगोस्वामी ने सुना और वे मुग्ध हो गये। उन्होंने गदाधर भट्ट को वृंदावन आने का निमंत्रण दिया। यहां आ कर उन्होंने जीवगोस्वामी के दर्शन किये और उनकी प्रेरणा से रघुनाथ भट्ट गोस्वामी की शिष्यता ग्रहण की।

शुक्ल जी के अनुसार गदाधर भट्ट दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। इनके जन्मकाल और रचनाकाल के संबंध में एकमत्य नहीं है। मिश्रबंधुओं और आचार्य शुक्ल के मंतव्यों का समन्वय कर लेने पर इनका जन्मकाल 1513-1523 ई. के मध्य और रचनाकाल 1540-1565 ई. मानना ठीक होगा। ये संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे, ब्रजभाषा पर भी इनका आरंभ से ही अधिकार था, परंतु खेद है कि इनका कोई

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भी स्वतंत्र ग्रंथ अब तक प्राप्त नहीं हो सका है, मिश्रबंधुओं ने इनकी एक 'बानी' और 'ध्यानमाला' ग्रंथ का उल्लेख किया है, किंतु वियोगीहरि जी ने कुछ फुटकर पदों की ही चर्चा की है। गदाधर भट्ट की वाणी का जो प्रकाशित संस्करण इस समय उपलब्ध है, उसमें केवल 85 पद हैं, जिनका संकलन विशेष रूप से वल्लभ-संप्रदायी कीर्तन-संग्रहों से किया गया है। गदाधर नाम के अनेक कवि होने से इस संग्रह को पूर्ण प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनेक पदों में शैली-भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

भट्ट जी ने मूलतः कृष्णलीला-वर्णन किया है, किंतु अनेक पद स्तोत्र रूप में भी प्राप्त होते हैं। राधाकृष्ण की छवि, उनकी विविध लीलाएं, विवाह, त्योहार, आदि इनके पदों में सुंदर ढंग से वर्णित हैं। चैतन्य-संप्रदाय के बंगाली भक्तों में जिस प्रकार राधा को परकीया माना जाता है, वैसी मान्यता इस संप्रदाय के ब्रजभक्त कवियों की नहीं ज्ञात होगी। गदाधर भट्ट जी ने राधा को स्वकीया मान कर ही उनके विवाह का वर्णन किया है। राधाकृष्ण के लीला-विलासों का सखी-भाव से विस्तृत वर्णन भी इनके अनेक पदों में प्राप्त है। श्री गदाधर भट्ट प्रमुख रूप से राधा-कृष्ण की कैशोर लीलाओं के ही गायक हैं। इनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ होते हुए भी प्रवाहपूर्ण है। माधुर्य उसका विशेष गुण है। इस प्रकार अनुभूति तथा अभिव्यंजना दोनों ही दृष्टियों से ये हिंदी के भक्तिकालीन कवियों में उच्च स्थान पाने के अधिकारी हैं। इनका एक पद यहां उद्धृत किया जा रहा है :

*जयति श्री राधिके, सकल-सुख साधिके,*
*तरुन मनि, नित्य नव तन किसोरी।*
*कृष्ण-तन-लीन-मन रूप की चातकी,*
*कृष्ण-मुख-हिम-किरन की चकोरी॥*
*कृष्ण-दृंग-भृंग विश्राम हित पद्मिनी,*
*कृष्ण-दृग-मृगज-बंधन सु डोरी।*
*कृष्ण-अनुराग-मकरन्द की मधुकरी,*
*कृष्ण-गुण-गान रससिन्धु बोरी॥*

**चंद्रगोपाल :** ये रामराय जी के अनुज थे और आयु में उनसे बारह वर्ष छोटे थे। रामराय जी का जन्म 1503 ई. के लगभग अनुमानित किया गया है, अतः इनका जन्म 1515 ई. के आसपास मानना चाहिए। कहा जाता है कि जब रामराय जी स्थायी रूप से वृंदावन में बस गये, तब ये भी अपने बड़े भाई के सान्निध्य में आ गये। तदुपरांत इनकी वंश-परंपरा वृंदावन में ही चली। रामराय जी की कृपा से इन्होंने चैतन्यमार्ग का अवलंबन किया और संस्कृत एवं ब्रजभाषा दोनों में ही रचना की। संस्कृत में इनके ग्रंथ हैं : 'श्रीराधामाधव भाष्य', 'गायत्री भाष्य' तथा 'श्रीराधामाधवाष्टक'। ब्रजभाषा रचनाओं में 'चंद्र चौरासी', 'अष्टयाम सेवासुधा', 'गौरांग अष्टयाम', 'ऋतुविहार' तथा राधाविरह' प्रसिद्ध हैं। 'चंद्र चौरासी' हितहरिवंश जी की 'हित चौरासी' की प्रेरणा से लिखी गयी ज्ञात होती है। इन्होंने प्रमुख रूप से राधाकृष्ण की माधुर्य-लीलाओं का ही वर्णन किया है। 'गौरांग अष्टयाम' में चैतन्य महाप्रभु की अष्टयाम-सेवा का वर्णन है। इसी कृति से एक पद उद्धृत किया जा रहा है :

*करहु हे गौर-चन्द स्नान।*
*सीतल जल निर्मल सों सुन्दर सर्बस कृपानिधान।*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*अतर गुलाब आव सो सुखकर परम रम्य सुरमान।*
*श्री नित्यानन्द महाप्रभु संग मिलि, मुदित प्रेम धीमान।*
*श्री प्रभुचन्द्र गोपाल, सची-सुत, निज जन-जीवन-प्रान॥*

**भगवानदास :** 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार भगवानदास जी आगरा के सूबेदार के दीवान थे और गौड़ीय संप्रदाय के किन्हीं गोविंददेवजी के सेवक थे। रामराय जी उनके पुरोहित थे और उन्होंने ही भगवानदास को गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का शिष्य कराया था। यमुनावल्लभ जी के अनुसार भगवानदास जी आमेर के राजा थे। इन्होंने गोवर्धन में हरिदेव जी के मंदिर का निर्माण कराया था। आमेर के राजा भगवानदास के जीवन के ऐतिहासिक घटनाक्रम को देखने से ज्ञात होता है कि ये सम्राट अकबर के प्रमुख सेनापतियों में से थे और इनका समस्त जीवन प्राय: युद्धों में ही व्यतीत हुआ। अत: आमेर-नरेश को भक्तकवि भगवानदास जी से सर्वथा भिन्न व्यक्ति माना जा सकता है। हो सकता है, ये कोई साधारण दीवान अथवा 'राजा' उपाधिकारी सामंत रहे हों, जिन्होंने अपने जीवन का उत्तरार्द्ध वृंदावन में व्यतीत किया।

भगवानदास जी के कुछ पदों का संग्रह रामराय जी के पदों के साथ उन्हीं के नाम से कर दिया गया है। वस्तुत: ये सभी रचनाएं भगवानदास की हैं, परंतु इनमें उन्होंने श्रद्धापूर्वक अपने गुरु का नाम भी सम्मिलित कर लिया है। उनके पदों में मिलने वाली 'भगवान हित रामराय' छाप से इस मंतव्य की पुष्टि होती है। अभी तक उनके लिखे लगभग एक सौ पद ही उपलब्ध हैं। इनमें कुछ तो वर्णन की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि के हैं, परंतु कुछ शिथिल भी हैं। एक उदाहरण देखिए :

*बन्यौ मौर मुकुट, नटवर वपु, स्यामसुन्दर, कमल नयन,*
*बांकी भौंहें, ललित भाल, घूंघरि वारी अलकैं।*
*पीत वसन, मुक्तामाल, हियैं पदक कंठ लाल,*
*हंसन, बोलन, गावन, गंडन स्रवन कुंडल झलकैं।*
*कर पद भूषन अनूप, कोटि मदन मोहन रूप,*
*अद्‌भुत बदनचन्द देखि गोपी भूली पलकैं।*
*कहि भगवान हित रामराय प्रभु ठाड़े रासमंडल में,*
*राधा सों बाँह जोरि, किये हिये प्रेम ललकैं॥*

**माधवदास 'माधुरी' :** माधवदास जी वृंदावनवासी खत्री थे, संभवत: इनके पूर्वज या ये स्वयं पंजाब से आ कर यहां बस गये होंगे। 'माधुरी' जी ने अपने ग्रंथों में चैतन्य महाप्रभु एवं उनके परिवार की वंदना की है। रूपगोस्वामी को एक स्थान पर गुरु-रूप में स्मरण करने के कारण ऐसा भ्रम होता है कि ये उनके साक्षात शिष्य थे, परंतु कालक्रम की दृष्टि से यह संभव नहीं है। 'माधुरी' जी निश्चय ही उनसे परवर्ती सिद्ध होते हैं। इनकी रचनाओं—केलि माधुरी (1630 ई.), वंशीवट माधुरी (1642 ई.) तथा वृंदावन माधुरी (1642 ई.) के आधार पर इनका कविताकाल 1618 से 1653 ई. तक माना जा सकता है। 'श्री माधुरी वाणी' में इन तीन कृतियों के अतिरिक्त उत्कंठा माधुरी, दान माधुरी, मान माधुरी, होरी माधुरी तथा प्रिया जी की बधाई भी संकलित हैं। इनके काव्य में विचार पक्ष की प्रौढ़ता तथा अनुभूति की प्रबलता है। इनकी भाषा लालित्यपूर्ण एवं सहज-सरल है। इनके छंदों में भी वैविध्य है। दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, सोरठा आदि इनके प्रिय छंद हैं। 'वंशीवट माधुरी' से एक उदाहरण देखिए :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*कमल से लोइन ललित अति सोभा देत,*
*कुँवर के संग तो बिराजें कोटि कामिनी।*
*अपने अपने कर जोरि जुरि जुरि ठाड़ी भईं,*
*चहुँ ओर मानों घन घेरौ आय दामिनी।*
*रूप गुन गान रस एक एक तें सरस,*
*निरखत सकल नाना भाइन सों भामिनी।*
*रस सीम रास सीम, परम बिलास सीम,*
*राजै रासमंडल में 'माधुरी' की स्वामिनी॥*

**भगवतमुदित :** भगवतमुदित आगरा के सूबेदार शुजा के दीवान थे। ये भक्तवर माधवमुदित के पुत्र थे, जिनकी भक्तिभावना की प्रशंसा प्रियादास जी ने 'भक्तिरसबोधिनी' में की है। ध्रुवदास जी के साक्ष्य से उनका कवि होना भी सिद्ध है, परंतु आज तक उनके केवल एक पद के अतिरिक्त अन्य कोई रचना प्राप्त नहीं है, और वह भी इन्हीं भगवतमुदित की है, इसका निश्चय नहीं है। भगवतमुदित जी ने अपने ग्रंथ 'वृंदावन शत' (1650) में स्वयं को गौड़ीय संप्रदाय के हरिदास जी का शिष्य बताया है, किंतु हिंदी साहित्य के कुछ इतिहासग्रंथों में इन्हें राधावल्लभीय लिखा गया है। इसका कारण यह है कि इनका संग-साथ प्राय: राधावल्लभीय वैष्णवों के साथ रहता था तथा ये उनके साथ अपनत्व भी मानते थे। इसीलिए अपने ग्रंथ 'रसिक अनन्यमाल' में इन्होंने राधावल्लभीय भक्तों की कथाएं लिखी हैं, परंतु कृति के आरंभ में चैतन्यवंदना से स्पष्ट है कि ये गौड़ीय संप्रदाय के ही अनुयायी थे। उक्त दोनों ग्रंथों के अतिरिक्त भगवतमुदित जी के कुछ स्फुट पद भी प्राप्त हैं। कुछ ग्रंथों में 'हितचरित्र' तथा 'सेवकचरित्र' भी इन्हीं के लिखे बताये गये हैं। वस्तुत: 'हितचरित्र' उत्तमदास जी की रचना है, जिसे 'रसिक अनन्यमाल' के आरंभ में इस भावना से स्थान दे दिया गया है कि राधावल्लभीय भक्तों के पूर्व उनके आचार्य का चरितवर्णन भी रहना चाहिए। 'सेवकचरित्र' तो 'रसिक अनन्यमाल' का ही एक अंश है।

'वृंदावन शत' श्री प्रबोधानन्द सरस्वती के 'वृंदावनमहिमामृत' नामक सरस संस्कृत-ग्रंथ के एक शतक का ब्रजभाषा में किया गया अनुवाद है। नि:संदेह भाव, भाषा एवं प्रौढ़ि की दृष्टि से यह अत्युत्तम रचना है। इस कृति से एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

*अति स्निग्ध घनस्याम काम, कोटिकन कोटि छवि पावैं।*
*गौर माधुरी निरखि दीठि, उपमा नैकहुं नहिं आवैं।*
*ए किसोर चित चोर मत्त जो बन, जोबन रंग भीने।*
*घूमत झूमत नैन बैन मन, मैनहु आनन्द दीने॥*
*श्री भगवत केलि अनुराग में, मत्त मगन दोऊ रहत बन।*
*नहिं बरनि सकति कोऊ सारदा, आस्वादन करि रहसि मन॥*

## संप्रदाय-निरपेक्ष कृष्णकाव्य

भक्तिकाल में कुछ ऐसे कवि भी हुए, जिन्होंने संप्रदाय विशेष में न बंध कर राधा-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का स्वतंत्र भाव से वर्णन किया। इनमें मीराबाई और रसखान प्रमुख हैं।

**मीराबाई :** मीराबाई के संबंध में बाह्य एवं अंत:साक्ष्य उतना मौन अथवा अनिश्चित नहीं, जितना अन्य मध्ययुगीन महाकवियों के संबंध में है। उनके स्वरचित विविध पद उनके जीवन पर पड़ने वाले

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विभिन्न प्रभावों तथा उनके अन्य परिणामों के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। उनके भक्तिपदों की सर्वजनमनोहारिणी रसवत्ता ने उन्हें अल्पकाल में ही इतना लोकप्रिय बना दिया कि विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न वर्गों के संतों, भक्तों, कवियों तथा रचनाकारों ने अपनी कृतियों में उनकी चर्चा कई रूपों में की है। विभिन्न भक्तमालों एवं वार्ताग्रंथों में भी मीरा संबंधी अनेक साक्ष्य प्राप्त हैं। राजपूताना के कतिपय प्रशस्तिपत्रों, अभिलेखों, दानपत्रों और कुछ प्राचीन चित्रों में भी उनके जीवन से संबंधित कई तथ्य उपलब्ध हैं। उनकी जन्मतिथि के संबंध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है, जिसका अंतराल 1403 ई. से 1516 ई. तक फैला हुआ है। किंतु नवीन अनुसंधानों और देर से प्राप्त कतिपय अकाट्य प्राचीन प्रमाणों के आधार पर, अब यह प्राय: निश्चित है कि उनका जन्म 1504 ई. में और मृत्यु 1558 से 1563 ई. के मध्य हुई। मीरांबाई के मूल नाम के संबंध में भी समालोचकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है। कुछ विद्वान 'मीरां' का संबंध फ़ारसी-शब्द 'मीर' से जोड़ते हैं, जिसका अर्थ 'परम पुरुष' है। 'बाई' गुजरात में प्रचलित अर्थानुसार 'पत्नी' के लिए प्रयुक्त होता है। ये विद्वान 'मीरांबाई' का अर्थ 'ईश्वर की पत्नी' करते हैं और इसे परवर्ती संत कवियों द्वारा दिया गया नाम मानते हैं। यह मत संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यदि 'मीरांबाई' का अर्थ 'ईश्वर की पत्नी' लिया जाये तो मीरां के पदों में सर्वत्र प्रयुक्त 'मीरां के प्रभु गिरधर गोपाल' पद का अर्थ 'ईश्वर की पत्नी के ईश्वर...' आदि लेना होगा, जो संगत नहीं। विद्वानों के दूसरे वर्ग के मतानुसार 'मीरा' शब्द संस्कृत के 'मीर:' शब्द का स्त्रीलिंग रूप है, जो पृथ्वी, सरस्वती, सरिता आदि अर्थों का बोधक है। 'मीरा' का 'मीरां' रूप में उच्चारण पश्चिमोत्तर भारतीयों की प्रकृति अनुसार है। यहां आकारांत स्त्रीलिंग शब्दों का उच्चारण अनुस्वारांत होने का प्रचलन है। 'बाई' शब्द का प्रयोग गुजरात में स्त्रियों के लिए सम्मानार्थ होता है। अत: 'मीरांबाई' नाम माता-पिता-द्वारा ही दिया गया मूल नाम मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

मीरां के जन्मस्थान और वंश के संबंध में कोई मतभेद नहीं है। यह मान्यता सर्वसम्मत है कि उनका जन्म 'मेड़ता' के समीपवर्ती गांव 'कुड़की' में राठौर वंश की मेड़तिया शाखा में हुआ था। इस शाखा के प्रवर्तक राव दूदा थे। मीरां उन्हीं के पुत्र राव रत्नसिंह के घर पैदा हुई। कर्नल टॉड ने भ्रमवश मीरां को राव दूदा की पुत्री लिखा है, जिसका अनुकरण अनेक परवर्ती विद्वानों ने भी किया। अब यह भ्रांति निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। मीरां के पिता रत्नसिंह को कुड़की समेत बारह गांवों की जागीर प्राप्त थी। किंतु वे अधिक समय तक कुड़की में न रह पायीं, क्योंकि उनकी दो वर्ष की अवस्था में ही उनकी माता का देहांत हो गया। राव रत्नसिंह सदैव युद्धरत रहने के कारण पुत्री के लालन-पालन में असमर्थ थे, अत: राव दूदा नन्ही मीरां को अपने पास मेड़ता ले आये। राव दूदा तलवार के धनी होने के साथ-साथ परम वैष्णव भक्त भी थे। उन्हीं की छत्रच्छाया में रह कर बालिका मीरां के हृदय में गिरधर गोपाल के प्रति अनन्य आस्था उत्पन्न हुई। मीरां का चचेरा भाई जयमल भी भक्त-प्रकृति का राजकुमार था। निरंतर युद्ध और मृत्यु से होली खेलने वाली राजपूतों के यहां उन दिनों शिक्षा-दीक्षा का कोई विशेष प्रबंध नहीं था। अत: पारिवारिक वातावरण, समाज में प्रचलित लोकगीत एवं यदा-कदा राजमहलों में आने वाले सिद्ध संन्यासियों या रमते जोगियों के भक्तिमय उपदेश ही मीरां की पाठशाला बने। लोकगीतों की मधुरता एवं राजसी कलाप्रियता ने उन्हें अनायास संगीतप्रेमी बना दिया, तो साधु-संगति के प्रभाववश उनका हृदय भक्ति एवं वैराग्य की ओर आकृष्ट हुआ, जिसकी अनुगूंज उनकी रचनाओं में सर्वत्र विद्यमान है।

मीरांबाई का विवाह चित्तौड़ के राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से 1516 ई. में हुआ। दु:संयोगवश विवाह के सात वर्ष पश्चात ही भोजराज का स्वर्गवास हो गया, जिससे मीरां के अंतर्मन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में विद्यमान अब तक अप्रकट अंत:संघर्ष प्रकट रूप से उनके जीवन का अंग बन गया। मीरां तत्कालीन प्रथा के अनुसार सती नहीं हुईं, क्योंकि वे स्वयं को अजर अमर स्वामी की चिरसुहागिनी मानती थीं :

*जग सुहाग मिथ्या री सजनी हांवा हो मिट जासी।*
*वरन् कर्‌यां हरि अविनाशी म्हारो काल-व्याल न खासी॥*

राजरानी मीरां का यह निश्चय मेवाड़ के राजघराने के लिए सर्वथा अप्रत्याशित था। परंतु मीरां अब तथाकथित लौकिक बंधनों से पूर्णत: मुक्त हो कर निश्चिंत भाव से साधु-संगति एवं भक्ति-पूजा में अपना समय व्यतीत करने लगीं। राणा सांगा की मृत्यु के पश्चात उनके उत्तराधिकारी विक्रमसिंह को मीरां का यह आचरण असह्य लगा। उसने मीरां को अनेक यातनाएं दीं, पर मीरां का प्रभु प्रेम अचल रहा।

कहते हैं कि कुछ समय पश्चात जयमल और उसके पिता वीरमदेव ने मीरां को मेड़ता बुला लिया, किंतु जोधपुर-नरेश मालदेव के आक्रमण के कारण वीरमदेव की स्थिति अस्थिर हो गयी। इस बीच मीरांबाई पुष्करयात्रा से लौटती हुई वृंदावन चली गयीं। वहीं इनकी भक्तिधारा माधुर्योपासना के रस में समाहित हुई। वहां इनकी भेंट प्रसिद्ध कृष्णभक्त जीवगोस्वामी से हुई, जो इनकी प्रेमनिष्ठा से बड़े प्रभावित हुए। वृंदावन में गिरधर गोपाल के गीत गाते-गाते न जाने मीरां को कब और कैसे यह आभास हुआ कि उनके नटवर नागर तो कभी के वृंदावन छोड़ कर द्वारका जा विराजे हैं। यह आभास होते ही मीरां वहां से द्वारका चली गयीं। वहीं रणछोड़ जी के मंदिर में भगवान की मूर्ति के सम्मुख एकाग्र भाव से भजन-कीर्तन करते हुए मीरां ने शेष जीवन व्यतीत किया।

मीरांबाई द्वारा रचित कही जाने वाली जो पूर्ण या अपूर्ण रचनाएं प्राप्त हैं अथवा जिनका उल्लेख यत्रतत्र मिलता है, उनकी कुल संख्या ग्यारह है : गीतगोविंद की टीका, नरसी जी का मायरा (अथवा माहेरो), राग सोरठ का पद, मलार राग, राग गोविंद, सत्यभामानु रूसणं, मीरां के गरबी, रुक्मणीमंगल, नरसी मेहता की हुंडी, चरीत (चरित्र), स्फुट पद। इनमें से केवल 'स्फुट पद' ही मीरां की प्रामाणिक रचना हैं, अन्य रचनाओं में से कुछ तो किसी अन्य कृतिकार द्वारा रचित हैं तथा कुछ लोकप्रचलित जनश्रुतियों अथवा किंवदंतियों के आधार पर मीरां के नाम से संबद्ध हो गयी हैं। मीरां के स्फुट पद आजकल 'मीरांबाई की पदावली' के नाम से प्रकाशित रूप में प्राप्त हैं।

मीरांबाई का काव्य उनके हृदय से निकले सहज प्रेमोच्छ्वास का साकार रूप है। उनकी वृत्ति एकांतत: और समग्रत: प्रेम-माधुरी में ही रमी है। अपने आराध्य 'गिरधर गोपाल' की विलक्षण रूप छटा के प्रति उनकी अनन्य आसक्ति अनेकत्र शब्दधारा बन कर फूट पड़ी है। कृष्णप्रेम में मतवाली मीरा ने मन-ही-मन उनके मधुर मिलन के स्वप्न संजो कर तज्जन्य आनंद की अनेकविध व्यंजना की है, किंतु उनकी कविता का प्रमुख रस विप्रलंभ श्रृंगार है। उनकी विरह-भावना का कोई ओर-छोर नहीं। प्रेमोन्मादिनी मीरां का एक-एक पद उनके हृदय की इस आकुलता का परिचायक है। यथा :

*बिरहनी बावरी सी भई।*
*ऊंची चढ़ि अपने भवन में टेरत हाय दई।*
*ले अंचरा मुख अंसुवन पोंछत उघरे गात सही।*
*मीरां के प्रभु गिरधर नागर बिछुरत कछु न कही॥*

वियोग श्रृंगार के अतिरिक्त मीरां काव्य में शांत रस की भी व्यंजना हुई है। सांसारिक धन-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वैभव की क्षणभंगुरता का बारंबार उल्लेख करते हुए उन्होंने निर्वेद भाव की अभिव्यक्ति की है। उनकी भक्ति-भाव-पद्धति और शास्त्रीय पद्धति दोनों दृष्टियों से सारयुक्त है, किंतु उसमें शास्त्रदृष्टि स्पष्टतः सीमित और भावपक्ष सबल है। वास्तव में माधुर्य और दैन्य भाव उनके काव्य में घुलमिल कर एक हो गये हैं।

मीरांबाई के काव्य की भाषा सामान्यतः राजस्थानी मिश्रित ब्रज है। उनके पदों में गुजराती भाषा का विशेष पुट है। खड़ीबोली और पंजाबी का भी उनकी कविता में पर्याप्त प्रभाव दिखायी देता है। संगीत एवं छंद-विधान की दृष्टि से मीरां का काव्य उच्चकोटि का है। उनके पद विभिन्न राग रागिनियों में बद्ध हैं। इन पदों में यत्रतत्र विभिन्न छंदों का भी उपयुक्त निर्वाह हुआ है। भावनाप्रधान होने के कारण उनके काव्य में अलंकारों की सायास योजना कहीं दिखायी नहीं देती। अनुभूति के सहज मार्मिक प्रवाह में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार स्वतः उनकी वाणी का अनुसरण करते चले हैं।

**रसखान :** रसखान के जन्म-समय, शिक्षा-दीक्षा, कार्य-व्यवसाय, निधन-काल आदि के संबंध में कोई प्रामाणिक साक्ष्य अभी तक उपलब्ध नहीं है। फिर भी, विद्वानों ने उनकी रचनाओं से कतिपय संकेत सूत्र ग्रहण कर के उनके जीवनवृत्त के संबंध में महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। उदाहरणार्थ, रसखान कृत 'प्रेमवाटिका' की ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं :

*देखि गदर हित साहबी, दिल्ली नगर मसान।*
*छिनहिं बादसा-वंश की, ठसक छोरि रसखान॥*
*प्रेमनिकेतन श्रीबनहिं, आइ गोबर्धन धाम।*
*लह्यो सरन चित चाहिके, जुगलसरूप ललाम॥*

इन पंक्तियों में उल्लिखित 'गदर' और 'दिल्ली के श्मशान बन जाने' का समय विद्वानों ने 1555 ई. में अनुमानित किया है, क्योंकि इसी वर्ष मुगल-सम्राट हुमायूं ने दिल्ली के सूरवंशीय पठान शासकों से अपना खोया हुआ शासनाधिकार पुनः हस्तगत किया था। इस अवसर पर भयंकर नरसंहार और विध्वंस होना स्वाभाविक था और कवि-प्रकृति के कोमलहृदय रसखान द्वारा उस 'गदर' के तांडव रूप को देख कर विरक्त हो जाना भी अस्वाभाविक नहीं। कवि ने जिस 'बादशाह-वंश' की 'ठसक' का त्याग किया, वह वही पठान (सूर)-वंश प्रतीत होता है जिसके शासन का उदय शेरशाह सूरी के साथ 1528 ई. में हुआ और अंत इब्राहीम खां तथा अहमद खां के पारस्परिक कलह के कारण 1555 ई. में हुआ। इस 'गदर' के समय रसखान की आयु यदि बीस-बाईस वर्ष मान ली जाये तो उनका जन्म 1533 ई. के आसपास स्वीकार किया जा सकता है। कुछ समय पहले तक यह माना जाता रहा कि 'रसखान' पिहानी के सैयद इब्राहीम का ही उपनाम है, किंतु परवर्ती अनुसंधानों के आधार पर यह धारणा मिथ्या सिद्ध हो चुकी है। 'प्रेमवाटिका' में स्वयं कवि द्वारा दिल्ली छोड़ कर गोवर्धन धाम जाने के उल्लेख से उनका जन्म-स्थान एवं प्रारंभिक निवास दिल्ली अथवा उसके आसपास ही मानना उपयुक्त है।

प्रसिद्ध है कि रसखान ने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से वल्लभ-संप्रदाय के अंतर्गत दीक्षा ली थी। उनके काव्य में अन्य वल्लभानुयायी कृष्णभक्त कवियों जैसी प्रेम-माधुरी एवं भक्ति-शैली से इस बात की पुष्टि होती है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में भी उन्हें वल्लभसंप्रदायानुयायी बताया गया है। 'मूल गुसाईं-चरित' में गोस्वामी तुलसीदास द्वारा स्वरचित 'रामचरितमानस' की कथा सर्वप्रथम रसखान को सुनाने का उल्लेख है : "जमुना तट पै त्रय वत्सर लौं, रसखानहिं जाई सुनावत

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भौ।' रसखान-काव्य के प्राय: सभी समीक्षक इस बात पर सहमत हैं कि 'प्रेमवाटिका' (1614) उनकी अंतिम काव्यकृति है। संभवत: इसकी रचना के कुछ ही वर्ष पश्चात 1618 ई. के लगभग उनका देहावसान हो गया होगा।

रसखान का संपूर्ण कृतित्व अभी तक प्राप्त नहीं है। 'प्रेमवाटिका' और 'दानलीला' नामक विशिष्ट आकारबद्ध कृतियों के अतिरिक्त उनकी संपूर्ण वाणी मुक्तक सवैयों में आबद्ध है, जिन्हें विभिन्न संग्रहकर्त्ताओं ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार संकलित किया है। वर्तमान समय में सर्वाधिक प्रचलित संकलन 'सुजान रसखान' है। 'कल्याण' के संतवाणी अंक (1955) में रसखान की एक अन्य लघु कृति 'अष्टयाम' प्रकाशित हुई है। इस प्रकार रसखान की प्रमुखत: चार रचनाएं प्रामाणिक मानी जा सकती हैं—सुजान रसखान, प्रेमवाटिका, दानलीला, अष्टयाम। 'सुजान रसखान' स्फुट छंदों का संग्रह है, जिसमें 181 सवैये, 17 कवित्त, 12 दोहे तथा 4 सोरठे हैं। इन छंदों का प्रतिपाद्य भक्ति, प्रेम, राधा-कृष्ण की रूप-माधुरी, वंशी-मोहिनी एवं कृष्ण-लीला संबंधी अन्य सरस प्रसंग हैं। 'प्रेमवाटिका' के अंतर्गत कवि ने राधा-कृष्ण को प्रेमोद्यान के मालिन-माली मान कर प्रेम के गूढ़ तत्त्व का सूक्ष्म निरूपण किया है। यह 53 दोहों की लघु कृति है। 'दानलीला' केवल 11 छंदों का छोटा-सा पद्यप्रबंध है, जिसमें कवि ने प्रसिद्ध पौराणिक प्रसंग को राधा कृष्ण संवाद के रूप में चित्रित किया है। 'अष्टयाम' में संकलित कई दोहों के अंतर्गत श्रीकृष्ण के प्रात: जागरण से रात्रिशयन-पर्यंत उनकी दिनचर्या एवं विभिन्न क्रीड़ाओं का वर्णन है।

रसखान की गणना भक्त-कवियों में की जाती है। वस्तुत: वे 'भक्त' और 'कवि' से भी पहले एक सहृदय भावुक व्यक्ति हैं। उनका अंतर प्रेमताप की उष्णता से विगलित हो कर मानो विविध भाव सरणियों के रूप में उमड़ पड़ा है। उनकी इस ऐकांतिक प्रेममयी उमंग ने उनके काव्य को सचमुच 'रस की खान' बना दिया है। बादशाह-वंश के जन्मजात मुसलमान रसखान ने स्वयं को राज्यलिप्साजन्य द्वंद्व से मुक्त कर जिस श्रद्धा, प्रेम और भक्तिमय रससागर में निमज्जित किया, उसी में उनके वास्तविक काव्य व्यक्तित्व का मधुर रूप ढला। काव्यरचना उनका साध्य नहीं था और न ही उनकी वाणी का विलास यश-धन-प्राप्ति के निमित्त था। उन्होंने तो अनंत अलौकिक रस के आगार श्रीकृष्ण के लीलागान के रसास्वादन में ही स्वयं को कृतकृत्य समझा : ''त्यों रसखानि वही रसखानि जु है रसखानि, सो है रसखानी।'' प्रेमतत्त्व के निरूपण में रसखान को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। उनका प्रेम-वर्णन बड़ा सूक्ष्म, व्यापक एवं विशद है। उनके काव्य का प्रमुख रस शृंगार है, जिसके आलंबन हैं—श्रीकृष्ण। उनके रूप पर मुग्ध राधा एवं गोपिकाओं की मन:स्थिति के चित्रण के माध्यम से रसखान ने शृंगार की मधुर अभिव्यंजना की है। शृंगार के उपरांत रसखान-काव्य में चित्रित दूसरा प्रमुख रस वात्सल्य है। श्रीकृष्ण के बाल-रूप की माधुरी का वर्णन उन्होंने यद्यपि गिने-चुने छंदों में ही किया है, पर उनकी काव्यात्मक गरिमा सूर और तुलसी के बाल-वर्णन की समता करने में भलीभांति सक्षम है :

*धूरि भरे अति सोभित स्याम जू वैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।*
*खेलत खात फिरैं अंगना पग पैंजनि बाजति पीरी कछोटी।।*
*या छवि को रसखानि विलोकत वारत काम कलानिधि कोटी॥*
*काग के भाग बड़े सजनी हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी॥*

रसखान की काव्यभाषा शुद्ध, परिमार्जित एवं साहित्यिक ब्रज है। माधुर्य एवं प्रसाद गुण के सहज समावेश ने उनकी काव्य भाषा को अत्यंत सरस और सजीव बना दिया है। विभिन्न लाक्षणिक प्रयोगों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के कारण इसमें जो चुटीलापन आ गया है, उससे इसकी अर्थवत्ता और बढ़ गयी है। शब्द-चमत्कार से मुक्त रह कर रसखान ने सिद्ध कर दिया है कि सरल और स्वाभाविक भाषा में रचित काव्य सहृदयों के हृदय को अधिक आनंद प्रदान कर सकता है। अलंकार-मोह का उनके काव्य में सर्वथा अभाव है। वे प्रेम और शृंगार के कवि हैं, अतः उन्होंने अपने विषय के अनुरूप सवैया, कवित्त एवं दोहा छंद को काव्य रचना के माध्यम के रूप में चुना है। अपने युग में संपर्ण कृष्णभक्ति-काव्य के गेय पदों में रचे जाने की परंपरा होते हुए भी रसखान द्वारा कवित्त और सवैया छंद को अपनाना उनकी स्वच्छंद वृत्ति का सूचक है। वे किसी परंपरा के बंधन में नहीं बंधे। उनकी भक्ति किसी सांप्रदायिक सिद्धांत में आबद्ध नहीं है। उनका प्रेम-निरूपण सूफियों की प्रेम-पद्धति का अनुकरण न हो कर स्वच्छंद है। उनका शृंगार-चित्रण किसी 'रीति' विशेष में सीमित नहीं है। उनकी भक्ति हृदय की मुक्त साधना है और उनका शृंगार वर्णन भावुक हृदय की उन्मुक्त अभिव्यक्ति है। उनके काव्य में उनके स्वच्छंद मन के सहज उद्‌गार हैं। इसीलिए उन्हें स्वच्छंद काव्यधारा का प्रवर्त्तक कहा जाता है।

## संदर्भ


1. देखिए, 'Indian Antiquary, Vol. XXIII, 1894, page 248
2. देखिए, 'The Indian Interpreter, Oct. 1909—Jan. 1910, pages 117-178
3. देखिए, 'The Religions of India', A. Barth, page 290
4. देखिए, 'The Bhakti Doctrine in Shandilya Sutra', B.M. Barua, page 437
5. देखिए, 'रामकथा : उत्पत्ति और विकास', डॉ. कामिल वुल्के, पृ. 4 5
6. देखिए, 'भविष्यपुराण' 3/4/21
7. देखिए, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. 129
8. देखिए, 'हिंदी साहित्य', पृ. 238
9. हिंदी साहित्य, पृ. 233, 235
10. देखिए, 'सुबोधिनी', 1/52/22/, 2/7/23
11. देखिए, 'विद्यापति' (वि.वि. मजूमदार), पद-संख्या 880-883
12. देखिए, 'सूरसागर' 9/154
13. देखिए, 'वार्ता-साहित्य', पृ. 292
14. देखिए, 'नन्ददास-ग्रंथावली' पृ. 184-285
15. रूपरसिक से हम रसिकवर।
    दिव्य महाबानी रससांनी प्रगट करने, प्रगटे अवनी पर।
    अति रहस्य रस की परिपाटी लखिबे इनकी, कोउ न सरबर।
    उमड़ि-घुमड़ि हिय भाव घटा सों, बरसत नित प्रति आनंद को झर॥
16. देखिए, 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', पृ. 278 280
17. देखिए, 'मिश्रबंधु-विनोद', द्वितीय भाग, पृ. 399

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अध्याय : 6

# भक्तिकाल की अन्य काव्य-प्रवृत्तियां

भक्तिकाल में निर्गुण-सगुण भक्ति की प्रमुख प्रवृत्तियों के अतिरिक्त कुछ गौण काव्य-प्रवृत्तियां भी लक्षित होती हैं, जिनका उल्लेख साहित्य के इतिहास में आवश्यक है। ये हैं : वीरकाव्य, प्रबंधात्मक चरितकाव्य, नीतिकाव्य, अकबरी दरबार का काव्य और रीतिकाव्य।

## वीरकाव्य

धार्मिक काव्य की प्रमुखता के कारण भक्तिकाल में वीरकाव्य-धारा अपेक्षाकृत कृश हो गयी, फिर भी उसका नैरंतर्य चलता रहा। वैसे तो 'रामचरितमानस', 'रामचंद्रिका' प्रभृति रचनाओं में भी वीर रस का प्रसंगवश समावेश हुआ है, किंतु आदिकाल की भांति इस युग में वीरकाव्यों की स्वतंत्र रचना भी हुई। यहां उन्हीं का अध्ययन अपेक्षित है। ऐसे काव्य प्राय: राजाश्रय में लिखे गये। इनमें प्रमुखतया आश्रयदाताओं की यशोगाथा, युद्ध-सज्जा, अतिशयोक्तिपूर्ण विरुदावली, दान एवं शौर्य संबंधी स्तुति, शत्रु के उपहास, युद्धों की भयानकता आदि को स्थान प्राप्त हुआ है। इस काल में वीरकाव्य की रचना करने वाले प्रमुख कवि निम्नलिखित हैं : श्रीधर, नल्हसिंह, राउ जैतसी रासोकार, दुरसा जी आढ़ा, दयाराम (दयाल), कुंभकर्ण, न्यामत ख़ां जान।

कवि **श्रीधर** ने ईडर के राजा रणमल्ल राठौर के आश्रय में रह कर 1400 ई. के लगभग 'रणमल्लछंद' की रचना की थी। संप्रति, इस काव्य के 70 छंद उपलब्ध हैं, जो डॉ. दशरथ शर्मा द्वारा संपादित 'रास और रासान्वयी काव्य' में संकलित हैं। रणमल्ल ने 1390 ई. में पाटण के सूबेदार जफ़र ख़ां को युद्ध में पराजित किया था। 'रणमल्लछंद' की भाषाशैली ओजपूर्ण है और इसमें वीर रस का सुंदर परिपाक मिलता है। नल्हसिंह द्वारा रचित **विजयपालरासो** प्रसिद्ध तो है, किंतु इसका रचनाकाल संदिग्ध है। मिश्रबंधुओं के अनुसार इसकी रचना 1298 ई. में हुई थी, किंतु परवर्ती विद्वान इसका रचनाकाल 1543 ई. मानते हैं।[1] इस काव्य के केवल 42 छंद ही उपलब्ध हैं। इसमें विजयगढ़ (करौली राज्य) के राजा विजयपाल और पंग राजा के युद्ध का वर्णन है। इसकी भाषा पर उत्तरकालीन भाषाप्रभाव पड़ते रहे हैं, अत: जब तक इनकी पूर्ण और प्रामाणिक प्रति न मिल जाये, तब तक इसके संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत संदर्भ में तीसरी उल्लेखनीय कृति **'राउ जैतसी रासो'** है, जिसके रचयिता और रचनाकाल के विषय में कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। इसमें बीकानेर-नरेश राव जैतसी तथा सम्राट हुमायूं के भाई कामरान के युद्ध का वर्णन है, जिसमें राव जैतसी की विजय हुई थी। यह घटना 1543 ई. के लगभग की है, अत: इस ग्रंथ का रचना-काल भी इसी के आसपास माना जाता है। डिंगल भाषा में रचित प्रस्तुत कृति में सानुप्रासिक शब्दावली का प्रयोग हुआ है। इसमें दोहा, मोतियदाम और छप्पय नामक छंद प्रयुक्त हैं और कुल छंद-संख्या 90 है। इस धारा के चौथे उल्लेखनीय कवि हैं **दुरसा जी आढ़ा**। इनका जन्म मारवाड़ के धूंदला गांव में एक निर्धन चारणकुल में 1535 ई. में हुआ था। ये डिंगल भाषा के बड़े प्रतिभावान

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कवि थे। अकबर के अतिरिक्त बीकानेर, जयपुर तथा सिरोही के राजवंशों की ओर से भी इनका सम्मान हुआ था। इनकी रचनाओं में 'विरुद छिहत्तरी' सर्वप्रसिद्ध है। इसमें महाराणा प्रताप का यशोगान हुआ है। इसकी रचना दोहा छंद में हुई है और शैलीगत उद्बोधन की दृष्टि से यह रचना अप्रतिम है।

भक्तिकाल के एक अन्य वीरगाथाकार **दयाराम** (अथवा **दयाल कवि**) ने सीसोदिया वंश के राणा कर्णसिंह के आश्रय में रह कर 1618 ई. के लगभग 'राणारासो' नामक ग्रंथ की रचना की थी। इसमें सीसोदिया कुल के प्रमुख राजाओं : कुंभा, उदयसिंह, प्रतापसिंह और अमरसिंह के युद्धों और वीरतापूर्ण क्रियाकलापों का वर्णन है। डिंगल भाषा में रचित इस कृति में 875 छंद हैं और भाषा प्रवाह के साथ छंद-वैविध्य की ओर भी कवि का ध्यान रहा है। कुंभकर्ण-कृत 'रतनरासो' में रतलाम के महाराज रतनसिंह का प्रशस्ति वर्णन है। इसकी रचना अनुमानतः 1618-1624 ई. के मध्य हुई थी। इसकी रचना प्रवाहपूर्ण डिंगल भाषा में हुई है। इस धारा की अंतिम उल्लेखनीय कृति '**क्याम ख़ां रासो**' (1634) है, जिसके रचयिता **न्यामत ख़ा जान** फतेहपुर (शेखावटी) के शासक अलिफ़ ख़ां के पुत्र थे। इस ग्रंथ में क्याम ख़ां चौहान तथा उनके वंशजों के युद्धादि का वर्णन है। क्याम ख़ां के वंश में अलिफ ख़ां अधिक प्रसिद्ध हुए थे। इन्हीं का प्रमुख वर्णन इस ग्रंथ में मिलता है। इस वंश के पूर्वजों ने धर्म-परिवर्तन करने पर भी अपनी 'चौहान' पदवी नहीं बदली। इसी प्रकार इस वंश के राजाओं में क्षत्रियों की संस्कृति भी अक्षुण्ण बनी रही। यह ग्रंथ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वर्णन-शैली की दृष्टि से यह ग्रंथ इतिवृत्तात्मक है और ब्रजभाषा का सरल स्वरूप इसकी अन्य उल्लेखनीय विशेषता है।

## प्रबंधात्मक चरितकाव्य

भक्तिकाल में सधारु अग्रवाल, शालिभट्ट सूरि, गौतमरासकार, जाखू मणियार, देवप्रभ और पद्मनाभ ने कुछ ऐसे चरितमूलक प्रबंधकाव्यों की रचना की थी, जो या तो आदिकाल के जैन-काव्य की परंपरा में विचरित हैं या पौराणिक संदर्भ विशेष पर आधारित हैं अथवा जैन-काव्य प्रवृत्तियों एवं रासोकाव्य-शैली की मध्यवर्ती कड़ी के रूप में ध्यान आकृष्ट करते हैं। प्रथम वर्ग की रचनाओं में **सधारु अग्रवाल** का 'प्रद्युम्नचरित' (1354) ब्रजभाषा के अद्यावधि प्राप्त ग्रंथों में सबसे प्राचीन माना गया है।[2] इसमें चौबीस तीर्थंकरों की वंदना के पश्चात प्रद्युम्न की कथा का वर्णन किया गया है। नारद का सत्यभामा पर क्रोध, कृष्ण-रुक्मिणी का विवाह, प्रद्युम्न का दैत्य द्वारा अपहरण, शिला के नीचे कालसंवर को उसकी प्राप्ति, प्रद्युम्न के लिए रुक्मिणी का विलाप, जिनेन्द्र पद्मनाभ के पास नारद का गमन, प्रद्युम्न द्वारा कालसंवर के शत्रुओं का विनाश, द्वारका-आगमन, विवाह आदि घटनाएं इस काव्य की विषय-वस्तु का निर्माण करती हैं। अंत में प्रद्युम्न जिनेन्द्र से दीक्षा लेता है और कठिन तपस्या करके मोक्ष पाता है। इस प्रकार यह काव्य जैन-कथाग्रंथों की श्रेणी में आता है। काव्यतत्त्व की दृष्टि से इसमें विभिन्न रसों के सरस चित्र मिलते हैं। प्रद्युम्न-वियोग का एक चित्र देखिए :

*नित-नित सीजइ विलखी खरी, काहे दुखी विधाता करी।*
*इकु धाजइ अरु रोवइ वयण, आँसू बहत न थाके नयण।*
*की मइ पुरिप बिछोही नारि, की दव घाली वणह मझारि।*
*की मइ लोग तेल धृत हरउँ, पूत सन्ताप कवण गुण परउँ॥*

शालिभद्र सूरि कृत 'पंचपांडवचरितरास' पांडवों की पौराणिक कथा पर आधारित जैन-काव्य है। इसका प्रणयन ईसा की चौदहवीं शताब्दी के अंत में किया गया था। पंद्रह सर्गों में विभाजित इस काव्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में पांडवों की कथा को अहिंसा पर आधारित रखा गया है। युद्ध और अहिंसा में से अहिंसा का चयन ही कथा का मुख्य लक्ष्य है। इस काव्य की भाषा अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थानी हिंदी है। चौदहवीं शताब्दी के अंत में किसी **अज्ञात जैन-कवि** ने 'गौतमरास' की रचना की थी। इसके रचयिता का नाम कुछ विद्वानों ने भूल से उदयवंत या विजयभद्र समझ लिया, किंतु श्री अगरचंद नाहटा इस मत से सहमत नहीं हैं। जैन तीर्थंकर महावीर के प्रथम गणधर गौतम इस काव्य के चरितनायक हैं। घटना और भाव के समन्वय से युक्त यह एक सरस खंडकाव्य है, जिसकी भाषा अपभ्रंश प्रभावित राजस्थानी हिंदी है।

जैन-काव्य-परंपरा से भिन्न रचनाओं में **जाखू मणियार**-कृत **'हरिचंद पुराण'** (1396) ब्रजभाषा की महत्त्वपूर्ण काव्यकृति है। इसमें राजा हरिश्चंद्र की पौराणिक कथा का चित्रण है। घटनाओं का नियोजन प्रबंधकाव्य की शैली में किया गया है तथा समस्त वर्णनों में भावों की मार्मिकता मिलती है। इसकी भाषा पर अपभ्रंश के प्रभाव की एक हलकी झलक शेष है। कथ्य, अभिव्यंजना तथा भाव-गांभीर्य की दृष्टि से यह काव्य भक्तिकाल में रचित ब्रजभाषा-काव्य का आरंभिक निदर्शन कराता है।

चौदहवीं शताब्दी के अंत में **देवप्रभ** द्वारा रचित **'कुमारपालरासो'** भिन्न शैली की रचना है। यह कृति जैन-रासकाव्यों तथा वीर प्रशस्तिपरक 'रासो' काव्यों की प्रवृत्तियों का समन्वय प्रस्तुत करती है। इसमें राजा कुमारपाल की वीरता, उदारता, अहिंसा-प्रेम तथा नैतिकता-प्रचार का वर्णन है। एक ओर तो यह काव्य जैन-धर्म की प्रवृत्तियों का काव्य की सरस भावभूमि पर अप्रत्यक्ष रूप में प्रसार करता है, और दूसरी ओर राजा के व्यक्तित्व तथा लोकमंगलकारी प्रभाव को भी व्यापक बनाता है। समस्त रचना में धार्मिकता कहीं पर भी उभर कर काव्य की सरसता में बाधक नहीं बनी। कुमारपाल के राज्य का तपोवनानुकूल प्रभाव काव्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसकी भाषा सरल राजस्थानी हिंदी है। इसी प्रकार की एक रचना **'कान्हड़ दे प्रबंध'** है, जिसे **पद्मनाभ** ने ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ में लिखा था। इसकी रचना-पद्धति रासो-काव्यों की शैली से भिन्न है। इसमें महाराजा कान्हड दे का चरित वर्णित है। कवि ने आलंकारिक शैली में घटनाओं का सुनियोजित चित्रण किया है। सभी वर्णनों में काव्य-कला का पूर्ण विकास पाया जाता है। पद्य के साथ इसमें गद्य का प्रयोग भी मिलता है।

## नीतिकाव्य

आदिकाल से ही भारतीय चिंताधारा ऐहिकता की अपेक्षा पारमार्थिक तत्त्वों को महत्त्व देती रही है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, अहंकार आदि से बचने तथा उपकार, दान, दया और ईश्वर-चिंतन की ओर उन्मुख होने की प्रवृत्ति प्राचीनतम ग्रंथ से ही प्राप्त होने लगती है। समस्त वेदों, पुराणों, रामायण, महाभारत आदि में नीति के तथ्य और उपदेश प्राप्त होते हैं। संस्कृत काव्य और नाटकों में प्रसंगानुसार यत्रतत्र नीति-पदावली मिलती है। संस्कृत में अनेक नीतिग्रंथ भी मिलते हैं, जैसे : चाणक्यनीति, विदुरनीति तथा भर्तृहरिनीतिशतक। अनेक सुभाषितों के जो संग्रह मिलते हैं, उनमें नीति-वचनावली का आधिक्य मिलता है। पालि-साहित्य में नीतिकाव्य का बाहुल्य है, क्योंकि उसमें उपदेश अधिक हैं। प्राकृत और अपभ्रंश में बौद्ध-सिद्धों तथा जैन-संतों की रचनाओं में परलोक, मोक्ष, आत्मसाक्षात्कार आदि पर बल देने के साथ ही त्याग, संयम, दया, क्षमा, सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि को विशेष महत्त्व दिया गया है। नाथपंथियों और वज्रयानी सिद्धों की रचनाओं में भी उपदेशों की ही प्राथमिकता है। तात्पर्य यह कि नीतिकाव्य की एक पुष्ट परंपरा पहले से विद्यमान थी, अतः भक्तिकाल में इसका विकसित होना स्वाभाविक था।

भक्तिकाल में नीतकाव्य के तीन रूप प्राप्त होते हैं : (*अ*) कबीर, नानक, दादू आदि संतों की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रचनाओं में नीति संबंधी पद धर्मोपदेशों के अंग-रूप कहे गये थे, (*आ*) 'रामचरितमानस', 'पद्मावत' प्रभृति प्रबंधकाव्यों में यत्र-तत्र नीति संबंधी उपदेश कथा-क्रम में आनुषंगिक रूप में मिलते हैं, (*इ*) कुछ कवि ऐसे भी हैं, जिन्होंने नीतिकाव्य की ही रचना की है। यहां इनमें से तृतीय वर्ग के कवियों का विवेचन अभीष्ट है। इस वर्ग के प्रमुख कवि जैन-मतावलंबी है; यद्यपि छीहल, रत्नावली, जमाल प्रभृति अनेक अन्य कवियों ने भी नीतिकाव्य की रचना की है। इस धारा की प्रथम उल्लेखनीय रचना जैन-कवि **पद्मनाभ** की 'डूंगर-बावनी' (1486) है, जिसका नामकरण कवि ने अपने आश्रयदाता डूंगर सेठ के नाम पर किया है। इसमें 53 छप्पय हैं, जिनमें दया, दान, कर्म-फल, नम्रता आदि में ही जीवन-साफल्य माना गया है तथा सप्त व्यसन (जुआ, मांस-भक्षण, सुरापान, वेश्यागमन, आखेट, चोरी, परनारी-रमण) से बचने का परामर्श दिया गया है। जैन-कवि **ठाकुर सी** (रचनाकाल = 1523-1526)की रचनाओं—कृपण-चरित्र और पंचेंद्रीवेलि की हस्तलिखित प्रतियां बंबई के दिगंबर मंदिर और जयपुर के वधीचंद मंदिर में सुरक्षित हैं। 'कृपण-चरित्र' में एक कृपण सेठ और उसकी उदार पत्नी की कथा है तथा 'पंचेंद्रीवेलि' में इंद्रिय-निग्रह संबंधी छप्पय हैं, जिनमें गज, मीन, भ्रमर, पतंग, मृग आदि के माध्यम से स्पर्श, रस, रूप, गंध आदि से बचने के सुझाव हैं। कवित्व की दृष्टि से ये दोनों कृतियां साधारण स्तर की हैं।

अग्रवाल कुल में समुत्पन्न **छीहल** कवि की 'छीहल बावनी' (1527) भक्तिकालीन नीतिकाव्यों में विशेष प्रसिद्ध है। इसमें 53 छप्पय हैं, जिनमें अनेक व्यावहारिक विषयों पर सुंदर कथन मिलते हैं। वैसे इन्होंने 'पंच सहेली की बात', 'पंथी गीत' आदि कुछ अन्य कृतियों की भी रचना की है। इनके समकालीनों में गोस्वामी तुलसीदास की पत्नी **रत्नावली** ने भी उद्बोधनात्मक नीतिकाव्य की रचना की है। इन्हीं के प्रभाव से गोस्वामी तुलसीदास विरक्त हो कर चले गये थे। 'रत्नावली-दोहा-संग्रह' में 111 दोहे हैं, जिनमें विविध विषयों का प्रतिपादन हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

*घी को घट है कामिनी, पुरुष तपत अंगार।*
*रत्नावलि घी अगिन को, उचित न संग विचार॥*

सोलहवीं शती के मध्य में विद्यमान कवि **देवीदास**-कृत 'राजनीति के कवित्त' की हस्तलिखित प्रति नागरीप्रचारिणी सभा, काशी में सुरक्षित है। ये शेखावटी के राव लूणकरण के मंत्री थे और जाति के वैश्य थे। इनके कवित्तों की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से भी इनके कवित्त सुंदर बन पड़े हैं, उनमें राजनीति के अतिरिक्त अन्य सामान्य विषयों का भी प्रभावशाली निरूपण मिलता है। इनके समकालिक कवि **जमाल** की गणना भी राजस्थान के लोकप्रिय नीतिकारों में की जाती है। 1570 ई. के लगभग रचित 'जमाल-दोहावली' के कुछ दोहे पठनीय हैं :

*रंग ज चोल मजीठ का, सन्त बचन प्रतिपाल।*
*पाहण रेख रु करम गत, ए किमि मिटे जमाल॥*
*पूनम चाँद कुसुम्भ रंग, नदी तीर द्रुम डाल।*
*रेत भीत भुस लीपणो, ए थिर नहीं जमाल॥*

बीकानेर-नरेश महाराज राजसिंह के राजकवि **उदैराज** की 'उदैराज को दूहा' (1603) और 'गुणबावनी' शीर्षक रचनाएं बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में सुरक्षित हैं। इनकी भाषा राजस्थानी है तथा इन्होंने नीति संबंधी विविध विषयों का अनूठा कथन किया है। इनके समसामयिक कवि **बांन** का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'कलिचरित्र' अनूप पुस्तकालय, बीकानेर में हस्तलिखित रूप में उपलब्ध है। ये मथुरा-निवासी रमई पाठक के पुत्र थे और महाराज महासिंह के यहां प्रतिष्ठित थे। इन्होंने अपने ग्रंथ में जहांगीर की प्रशंसा भी की है। 'कलिचरित्र' में 45 पद्य हैं, जिनमें प्रवाहपूर्ण ब्रजभाषा तथा हास्यरसपूर्ण व्यंग्यात्मक शैली में कलिकाल की विडंबनाओं का वर्णन किया गया है। इस अवधि के अन्य कवियों में दादूदयाल के शिष्य **वाजिद** भी प्रसिद्ध नीतिकार हुए हैं। एक बार ये शिकार के लिए गये थे। वहीं पर हिरणी का शिकार करते हुए इनमें विराग-भाव जगा और ये साधु हो गये। इनकी पूरी 'वाणी' प्राप्त नहीं होती, केवल 14 ग्रंथों का उल्लेख मिलता है, जिनमें प्रमुख हैं—ग्रंथ गुण उत्पत्तिनामा, ग्रंथ प्रेमनामा, ग्रंथ गरजनामा, साखी वाजिद। इन्होंने दोहा, चौपाई और अरिल्ल छंदों का प्रयोग किया है तथा इनकी रचनाओं में दया, दान, साधु-संगति, इंद्रिय-निग्रह, मनोयोग आदि विषयों की प्रधानता मिलती है।

भक्तिकालीन नीतिकवियों में जैन कवि **बनारसीदास** का मुख्य स्थान है। इनका जन्म 1586 ई. में जौनपुर में हुआ था। ये सम्राट अकबर के प्रशंसक थे, जहांगीर के दरबार में भी गये थे और शाहजहां के दरबार में तो इन्हें विशेष मान प्राप्त था। 'नवरस पद्यावलि', 'समयसार नाटक', 'बनारसीविलास', 'अर्द्ध कथानक', 'भाषा सूक्तिमुक्तावली' आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं। इनमें कंचन और कामिनी के त्याग तथा सत्य, क्षमा, शील, अपरिग्रह, नम्रता, निर्लोभ, अहिंसा आदि गुणों के निर्वाह पर बल दिया गया है। नीतिकाव्य के साथ ही इन्होंने अध्यात्मपरक काव्य की भी रचना की है। ये समस्त प्राणियों में एक ही परमेश्वर का अंश मानते थे, अतः हिंदू-मुसलमान, हिंदू-जैन, ब्राह्मण-शूद्र आदि में भेद इन्हें स्वीकार नहीं था। इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

*माया छाया एक है, घटै बढ़े छिन मांहिं।*
*इनकी संगत जे लगें, तिनहिं कहीं सुख नाहिं॥*
*एक रूप हिन्दू तुरुक, दूजी दशा न कोय।*
*मन की द्विविधा मान कर, भए एक सौं दोय॥*

जैन नीतिकारों में राजसमुद्र और कुशलबीर भी उल्लेखनीय हैं। **राजसमुद्र** का जन्म 1590 ई. में बीकानेर में हुआ था। इनका बचपन का नाम खेतसी था, 1599 ई. में जिनसिंह सूरि से दीक्षा लेने पर इनका नाम राजसमुद्र हो गया। इनकी रचनाओं का मुख्य विषय नीति है और भाषा राजस्थानी है। 'शालिभद्र चौपाई', 'गजसुकमाल चौपाई', 'प्रश्नोत्तर रत्नमाला', 'कर्मबत्तीसी', 'शीलबत्तीसी' और 'बालावबोध' इनकी प्रमुख रचनाएं हैं। **कुशलबीर** सोजत नगर के निवासी थे। ये कल्याणलाभ के शिष्य थे और इनका रचनाकाल 1637 से 1672 ई. है। इनके नीतिग्रंथ हैं—भोज चौपाई, सीलवती रास, कर्म चौपाई, वर्णन संपुट तथा उद्दिम-कर्म-संवाद। इनकी भाषा राजस्थानी है और शैली उपदेशात्मक है।

## अकबरी दरबार का काव्य

सम्राट अकबर को हिंदी भाषा से अनुराग था। राजभाषा यद्यपि फ़ारसी थी, तथापि नित्य के व्यवहार में हिंदी ही प्रयुक्त होती थी। वे न केवल हिंदी कवियों का अपने दरबार में सम्मान करते थे, वरन स्वयं भी हिंदी और फ़ारसी में काव्यरचना करते थे। अकबरी दरबार में जिन हिंदी कवियों को विशेष सम्मान प्राप्त था, वे हैं : चतुर्भुजदास, आसकरण, पृथ्वीराज, मनोहर, टोडरमल, नरहरि, बीरबल 'ब्रह्म', गंग, तानसेन और रहीम। **चतुर्भुजदास** विद्वान और विद्यानुरागी थे तथा बीरबल के माध्यम से अकबरी दरबार में सम्मानित हुए थे। बाद में ये राधावल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित हुए और जीवनपर्यंत वृंदावन में रहे। 'द्वादश यश' (1503) इनकी कृष्ण-भक्ति संबंधी प्रसिद्ध रचना है। राजा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**आसकरण** नरवरगढ़ के राजा भीमसिंह के पुत्र थे। 'आईने अकबरी' में इनका उल्लेख हुआ है। कालांतर में ये गुसाईं विट्ठलनाथ जी के सेवक हो गये और सेवाविधि सीख कर कृष्णलीला-गान में निरत रहने लगे। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' और 'कीर्तन-संग्रह' में इनके पद मिलते हैं। **कवि पृथ्वीराज** बीकानेर राज्य के संस्थापक राव बीका जी के वंशज थे। इनका जन्म 1549 ई. में हुआ था। ये दर्शन, ज्योतिष और संगीत के ज्ञाता तथा अच्छे कवि थे। 'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री पृथ्वीराज कथी', 'श्यामलता', 'दशरथ रावउत', 'वसुदेव रावउत' और 'गंगालहरी' के अतिरिक्त इनके स्फुट गीत भी उपलब्ध हैं। 'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री' भक्ति-शृंगार का अनुपम ग्रंथ है। इसकी भाषा सरस और अलंकृत डिंगल है। कवि पृथ्वीराज जी वल्लभसंप्रदाय में दीक्षित थे। इनके हृदय में भगवान कृष्ण और ब्रजभूमि के प्रति बड़ी आस्था थी। राजभक्ति, देशभक्ति और ईश्वरभक्ति तीनों इनमें विद्यमान थीं। ये कृष्णभक्त तो थे ही, अकबर के प्रति इनमें राजभक्ति भी थी और देशभक्ति के कारण ये महाराणा प्रतापसिंह के प्रति अपार श्रद्धा-भाव रखते थे। अकबर के दरबारी कवि होते हुए भी इन्होंने महाराणा प्रताप का यशोगान किया है। यथा :

*अकबर समद अथाह, सूरापण भरियो सजल।*
*मेवाड़ो तिण मांह, पोयण फूल प्रतापसी॥*
*बाही राण प्रतापसी, बगतर में बच्छीह।*
*जावण भीतर जाल में मुँह काढ़यो मच्छीह॥*

**मनोहर** कवि फ़ारसी, संस्कृत और हिंदी में काव्यरचना करते थे। मिश्रबंधुओं ने इनका रचनाकाल 1563 ई. माना है। ये युवावस्था में अकबरी दरबार में थे और वृद्धावस्था में जहांगीरी दरबार में। अकबर ने इन्हें 'राय' की उपाधि दी थी। इनके द्वारा रचित 'शत प्रश्नोत्तरी' ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं है। इसमें नीति और शृंगार के दोहे थे। इनके काव्यगुणों की प्रशंसा शिवसिंह सेंगर, मिश्रबंधु तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने की है। फ़ारसी के कवि होने के कारण इनकी भाषा और काव्यकला में फ़ारसी का पुट हुआ करता था। अकबरी दरबार में भूमिकर-विभाग के मंत्री **राजा टोडरमल** भी काव्यानुरागी थे। नीति संबंधी उपदेशों के अतिरिक्त इन्होंने कुछ छंदों में आत्माभिव्यक्ति भी की है। हुंडी, व्यापारी, आढ़तिया, साहूकार, सराफा और बहीखाता जैसे विषयों पर भी इन्होंने दोहे लिखे थे।

महापात्र **नरहरि** (1505-1607) अकबर के राजकवि थे। ये संस्कृत, फ़ारसी और हिंदी के विद्वान थे। 'मिश्रबंधु विनोद' में इनके तीन ग्रंथों का उल्लेख मिलता है—रुक्मिणीमंगल, छप्पय-नीति और कवित्त-संग्रह। वर्ण्य विषय की दृष्टि से इन्होंने भक्ति, नीति और राजप्रशास्तिपरक रचनाएं लिखी हैं। इन्होंने वैष्णव और शैव संप्रदायों के भेदभाव से विरत रह कर दोनों के प्रति समान श्रद्धा रखी है। साथ ही इन्होंने कृष्णभक्ति संबंधी पद भी लिखे हैं। नीति संबंधी तथ्यों का प्रतिपादन भी इनकी उल्लेखनीय प्रवृत्ति है। हुमायूं, अकबर, रीवा-नरेश वीरभान, उनके पुत्र रामचंद्र, शेरशाह और जगन्नाथपुरी के राजा मुकुंददेव की प्रशस्ति में भी इन्होंने कवित्त-रचना की है। इन कविताओं में ऐतिहासिक तथ्यों का उद्घाटन तो है, किंतु अन्य गुणों की दृष्टि से ये साधारण हैं।

**बीरबल 'ब्रह्म'** (1528-1583) सम्राट अकबर के दरबार में विनोदी और कवि के रूप में समादृत थे। इनका मूल नाम महेशदास भट्ट था और ये तिकवांपुर, ज़िला कानपुर में उत्पन्न हुए थे। 'राजा बीरबल' उपाधि इन्हें अकबर से प्राप्त हुई थी। अकबरी दरबार में आने से पूर्व ये कालपी, कालिंजर और रीवा के राजाओं के यहां रह चुके थे। अकबर ने इनको नगरकोट (ज़िला कांगड़ा) की तहसील दी थी और न्यायाधीश भी बनाया था। कविताओं से अधिक इनके चुटकुले लोकप्रिय हैं, किंतु ये इनके द्वारा रचित नहीं हैं। इनके लगभग दो सौ स्फुट पद्य प्राप्त होते हैं, जिनमें शृंगारप्रधान-कृष्ण

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लीलाओं, भक्ति और नीति का समावेश है। इनकी भाषा सरस और अनुप्रासयुक्त है।

अकबरी दरबार के कवियों में **गंग** (1538-1617) का विशेष सम्मान था। इनका पूरा नाम गंगाप्रसाद था। इनके छंदों में जिस कोटि का काव्य-चमत्कार, वाग्वैदग्ध्य और भाषा-सौष्ठव मिलता है, उसके फलस्वरूप इनके विषय में यह कथन प्रसिद्ध हैं : ''तुलसी गंग दुऔ भये सुकविन के सरदार।'' ये बीरबल के बालसखा थे। आगे चल कर ये मानसिंह, टोडरमल और अब्दुल रहीम खानखाना के संपर्क में आये। अकबर के दरबार में कविगण समस्यापूर्ति करते थे। गंग की रचनाएं विशेष सम्मानित होती थीं। कहा जाता है कि रहीम ने इनके एक छप्पय पर छत्तीस लाख रुपये पारितोषिक में दिये थे। गंग स्वयं भी दानी थे। दैववश वृद्धावस्था में जहांगीर के शासनकाल में इनकी आर्थिक स्थिति दयनीय हो गयी। उन दिनों शासन नूरजहां के हाथ में था। गंग ने शहजादा खुर्रम (भावी शाहजहां) की प्रशंसा में छंद लिखा। यह जान कर नूरजहां इनकी जानी दुश्मन बन गयी और अवसर पा कर उसने इन्हें हाथी से कुचलवा डाला। मरने से पूर्व गंग ने यह दोहा कहा :

*कबहुं न भहुंआ रन चढ़ै, कबहुं न बाजी बंब।*
*सरस सभाहि प्रनाम करि, विदा होत कवि गंग॥*

गंग की तीन रचनाएं प्रसिद्ध हैं : गंग-पदावली, गंग-पच्चीसी और गंग-रत्नावली। ये कृतियां संपूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं हैं। अभी तक इनके प्राय: 400 छंद उपलब्ध हुए हैं, जो 'गंग-कवित्त' शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं। इनमें मुख्य रूप से शृंगार और भक्ति को तथा गौण रूप से नीति और राजप्रशस्ति को स्थान प्राप्त हुआ है।

अकबरी दरबार के कवियों में संगीतज्ञ **तानसेन** (1531-1563) विशेष गणनीय हैं। इनका जन्म ग्वालियर निवासी मकरंद पांडे के यहां हुआ था और इनका बचपन का नाम 'तन्नू' था। पहले ये रीवा-नरेश रामचंद्र के दरबार में थे। मुसलमान होने पर ये प्रसिद्ध सूफी गौस मुहम्मद के शिष्य हुए। किंवदंती के अनुसार इन्होंने किसी शहजादी के प्रेम के कारण धर्म-परिवर्तन किया था। मुसलमान होने के उपरांत भी ये गोसाईं विट्ठलनाथ, सूरदास, हरिदास और गोविंदस्वामी के प्रभव में रह कर वैष्णव भक्त बने रहे। 'मिश्रबंधुविनोद' के अनुसार इन्होंने 'संगीतसार', 'रागमाला' और 'गणेशस्तोत्र' की रचना की थी। इनके स्फुट पद भी प्राप्त हैं। आरंभ में इन्होंने रीवा-नरेश रामचंद्र, अकबर और मानसिंह का यशोगान किया था, पर इनका परवर्ती काव्य भक्तहृदय की अनुभूतियों से संपन्न है। ईश्वर की व्यापकता, अल्लाह और मुहम्मद का गुणगान, सरस्वती, गणेश, महादेव और सूर्य की स्तुति तथा मन:प्रबोध इनके प्रमुख वर्ण्य विषय हैं। वल्लभसंप्रदाय के संपर्क में आने पर ये पूर्ण कृष्णभक्त हो गये। इन्होंने कृष्ण की बाललीला, मुरलीलीला, राधा के रूपसौंदर्य, गोपी विरह आदि का मार्मिक वर्णन किया है। इनकी ब्रजभाषा में फ़ारसी शब्द भी प्रयुक्त हैं। भाषा आलंकारिक, सरस और संगीतमयी है। तानसेन ध्रुपद शैली के श्रेष्ठ गायक थे, फलस्वरूप इनके पदों में काव्य और संगीत की गंगा-यमुना का प्रवाह मिलता है।

अकबरी दरबार के कवियों में **रहीम** (1556-1638) का मूर्द्धन्य स्थान है। ये बैरम ख़ां ख़ानख़ाना के पुत्र थे और इनकी मां हुमायूं की पत्नी की छोटी बहन थीं। अल्पायु में ही पिता की मृत्यु हो जाने के कारण अकबर ने ही इनका पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा अपनी देखरेख में करवायी थी। बड़े होने पर पहले इन्हें पाटन की जागीर दी गयी और फिर अजमेर की सूबेदारी और रणथंभौर का क़िला दिया गया। अकबर ने इन्हें अपने नवरत्नों में स्थान दिया था। जहांगीर के शासनकाल में भी इनका सम्मान बना रहा, किंतु अंतिम दिनों में शहजादा खुर्रम का समर्थन करने के कारण इन्हें नूरजहां का कोपभाजन बनना पड़ा। वह अपने दामाद शहजादा शहरयार को भावी शासक बनाने का स्वप्न

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

देख रही थी। उसके आदेश से इन्हें क़ैद कर लिया गया। बाद में जहांगीर ने इन्हें क्षमा कर दिया। फिर भी, इनके जीवन के अंतिम दिन कुशलता के साथ व्यतीत नहीं हुए।

रहीम अरबी, फ़ारसी और संस्कृत के अच्छे ज्ञाता और हिंदी के सुकवि थे। इन्होंने ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही काव्य-रचना आरंभ कर दी थी। इनकी रचनाओं में दोहावली, नगरशोभा, बरवै नायिकाभेद और मदनाष्टक प्रमुख हैं। कहा जाता है कि इन्होंने सतसई की रचना की थी, किंतु संप्रति इनके नीति संबंधी प्राय: तीन सौ दोहे ही मिलते हैं। एक अनुमान के अनुसार कदाचित इन्होंने शृंगार रस के दोहे भी लिखे होंगे, जिनके योग से 'सतसई' बनती। जो भी हो, इनके नीति संबंधी दोहे सर्वप्रसिद्ध हैं और उनमें जीवन की विविध अनुभूतियों का मार्मिक चित्रण हुआ है। यथा :

*जो रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।*
*बारे उजियारे लगे, बढ़े अँधेरो होय॥*
*रहिमन अँसुआ नैन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ।*
*जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कहि देइ॥*

'नगरशोभा' में जौहरिन, रंगरेज़िन, तुरकिन, कैथिन, गूजरी आदि विविध जातियों की स्त्रियों का चित्रण मिलता है। अकबरी दरबार की शृंगारिक भावनाओं और 'मीना बाज़ार' की झलक इस ग्रंथ में सुलभ है। 'बरवै नायिकाभेद' में काव्यशास्त्र में प्राप्त अनेक प्रकार की नायिकाओं का वर्णन हुआ है। इसमें नायिका के लक्षण नहीं दिये गये, किंतु उदाहरण इतने सरस हैं कि पाठक भाव विभोर हो जाता है। 'मदनाष्टक' में कृष्णलीला संबंधी आठ सुंदर पद हैं, जिनमें गोपियों की प्रेमविह्वलता, मुरलीलीला तथा गोपीविरह का शृंगार-रसात्मक वर्णन है। इनका एक ज्योतिषग्रंथ 'खेटकौतुक जातकम्' भी उपलब्ध है। इसकी रचना फ़ारसी मिश्रित संस्कृत भाषा में हुई है और इसमें मनुष्य-जीवन पर ग्रह-नक्षत्रों के प्रभाव का संक्षिप्त चित्रण है।

## रीतिकाव्य

भक्तिकाल में तथा इससे पूर्व भी, यद्यपि हिंदी साहित्य गुण और परिमाण की दृष्टि से पर्याप्त प्रतिष्ठित हो चुका था तथा इसे विरासत के रूप में संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की अक्षुण्ण परंपरा भी प्राप्त थी तथापि इसमें काव्यांग-निरूपण की प्रवृत्ति का आविर्भाव जिस कारण से नहीं हो सका, वह यही था कि तत्कालीन कवियों को इस दिशा में या तो सोचने का अवकाश नहीं मिला या फिर उन्होंने प्रयत्न ही नहीं किया। आदिकाल के चारण कवियों को यदि युद्धों से अशांत वातावरण में काव्यशास्त्र के लिए अपेक्षित एकांत चिंतन का अवसर नहीं मिला, तो संत और सूफी कवि एतद्विषयक ज्ञान की तुलना में आध्यात्मिक ज्ञान को कहीं अधिक श्रेष्ठ एवं श्रेष्यकर मान कर आत्मचिंतन में ही जानबूझ कर उलझे रहे। इन लोगों के लिए कविता अपनी बात को कहने का साधनमात्र रही, कला की वह सिद्धि नहीं रही, जिसमें अनुभूति के समान अभिव्यक्ति के विभिन्न उपकरणों का सौंदर्य भी महत्त्व रखता है। ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने पुष्प या पुढ्य कवि द्वारा 713 ई. में रचित 'अलंकाररत्नाकर' नामक अलंकार-विवेचन संबंधी जिस हिंदी ग्रंथ का उल्लेख कर हिंदी भाषा के बहुत पहले आविर्भूत होने, आठवीं शताब्दी तक उसके स्वरूप और साहित्य के प्रौढ़ और प्रतिष्ठित हो जाने और उसमें रीति-निरूपण की परंपरा का आरंभ कई शताब्दी पूर्व होने आदि, जिन संभावनाओं के लिए स्थान छोड़ा है, उनसे उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना अधिक संगत प्रतीत होता है, कारण, एक तो वह आज किसी भी रूप में उपलब्ध नहीं है, दूसरे, इस समय के पर्याप्त बाद तक हिंदी इतने प्रौढ़ रूप को प्राप्त नहीं हो सकी थी कि उसमें इस प्रकार का प्रयत्न संभव हो पाता।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वस्तुतः हिंदी-रीति निरूपण-परंपरा का आरंभ कृपाराम की 'हिततरंगिनी' से ही माना जाना चाहिए, क्योंकि इसकी रचना के समय तक हिंदी भाषा और उसके साहित्य में इस विषय के लिए अपेक्षित प्रौढ़ता ही नहीं आ गयी थी, अपितु उसके उपयुक्त वातावरण भी उपस्थित हो गया था। इस समय तक वैष्णवधर्म के व्यापक प्रभाव और प्रसार के परिणामस्वरूप निर्गुणब्रह्मवादियों द्वारा निरूपित जटिल दार्शनिक सिद्धांतों तथा कठोर साधना की अपेक्षा भक्ति की सरल पद्धति के प्रति लोग अधिक आकृष्ट होने लगे थे और इसे समझने-समझाने का प्रयत्न बराबर हो रहा था। यही कारण है कि वैष्णव भक्त रूपगोस्वामी ने भक्ति के स्वरूप और माहात्म्य को स्थापित करने के लिए संस्कृत में 'भक्तिरसामृतसिंधु' जैसे मौलिक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ की तथा माधुर्य भक्ति के अंगरूप शृंगार रस और नायक-नायिका-भेद समेत उसके विभिन्न पक्षों की व्याख्या के निमित्त 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक एक और ग्रंथ की रचना की। बाद में जब लोकभाषा—ब्रजभाषा के माध्यम से इस विषय को समझाये जाने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी, तो कृपाराम, सूर और नंददास जैसे भक्तों ने प्रयत्न आरंभ कर दिया। हमारी धारणा है कि कृपाराम ने 'हिततरंगिनी' की रचना मुख्य रूप से भक्तों द्वारा प्रयुक्त स्वकीया-परकीया-भाव को स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही की होगी, यही कारण है कि उन्होंने इसमें सामान्या का वर्णन बहुत ही चलते ढंग से किया है, इसके भेदों का यथास्थान वर्णन करते हुए भी मनोयोग प्रदर्शित नहीं किया।

काव्यशास्त्र के साथ इस प्रकार से संपर्क होने के परिणामस्वरूप ये लोग संभवतः इतर काव्यांगों से भी परिचित हुए और अब तक मात्र भक्ति का माध्यम समझी जाने वाली कविता का इन्हें साहित्यिक महत्त्व भी ज्ञात हुआ। फलतः कविता के स्वरूपविधायक विभिन्न पक्षों के प्रति सचेष्ट हो कर रचना करने का प्रयत्न ही नहीं हुआ, उनके विषय में चर्चा भी होने लगी। गोस्वामी तुलसीदास द्वारा 'मानस' के प्रथम सोपान में विभिन्न रूपकों तथा विनम्रता-प्रदर्शन के व्याज से यह सहज ही प्रकट कर दिया गया है कि काव्यशास्त्र का उन्हें केवल ज्ञान ही नहीं था, उसके विभिन्न पक्षों के प्रति उनका निश्चित दृष्टिकोण भी था। सूरदास द्वारा 'साहित्यलहरी' में शृंगार रस की सामग्री के अतिरिक्त क्रमशः विभिन्न अलंकारों का निर्वाह भी इसी ओर इंगित करता है।

इस काल के अंतिम चरण में कविता का प्रवेश राजदरबारों में भी दृष्टिगत होता है, जहां इसे साहित्य से ऊपर उठ कर कला के रूप में ग्रहण किया गया। अतएव, अब कवियों का कर्म कविता करने की अपेक्षा आश्रयदाताओं और उनके सामंतों आदि के लिए अभिव्यक्ति के सौंदर्यवर्द्धक उपकरणों का ज्ञान उपलब्ध कराना अधिक आवश्यक हो गया, जिससे कि वे लोग दरबारों में होने वाली काव्य-गोष्ठियों में पढ़ी जाने वाली कविताओं के गुण-दोषों की चर्चा कर अपने काव्यकला ज्ञान का अथवा कतिपय छंदों की रचना कर अपनी सहृदयता का परिचय दे सकें।

इस प्रकार रीतिनिरूपण की यह प्रवृत्ति यद्यपि भक्ति के प्रखर प्रवाह की तुलना में अत्यंत क्षीण रही तथा भक्ति की पूरक हो कर ही आविर्भूत हुई और उसके सहारे से ही आगे बढ़ती रही, तथापि शनैः-शनैः राजदरबारों में प्रवेश करते ही यह भक्ति के अवलंबन को छोड़ कर स्वतंत्र प्रवृत्ति का रूप धारण कर उत्तरोत्तर पुष्ट भी होती गयी। रीतिकाल में इसी का पुष्ट रूप दृष्टिगत होता है। यहां हम भक्तिकाल के कतिपय कवियों के रीति-निरूपण-कर्म की चर्चा करते हैं, जिससे सहज ही इस प्रवृत्ति के विकास का आभास मिल सकेगा।

**कृपाराम :** हिंदी रीतिपरंपरा के आदि आचार्यों में कृपाराम का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है। इनके विषय में, सिवाय इसके कि इन्होंने 1541 ई. में 'हिततरंगिनी' नामक ग्रंथ लिखा था और कोई भी तथ्य उपलब्ध नहीं है। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि ये ओड़छा में रहने वाले पंजाबी वैष्णव ब्राह्मण रहे होंगे, किंतु इसकी पुष्टि के लिए सबल प्रमाणों का अपेक्षा है। 'हिततरंगिनी' कुल

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मिला कर 400 छंदों का ग्रंथ है तथा पांच तरंगों में विभक्त है। प्रथम तरंग में शृंगार के आलंबन नायिका और नायक के विभिन्न भेदोपभेदों का उल्लेखमात्र है। द्वितीय तरंग में सखी और उसके कर्मों तथा दूती, उसके उत्तमादि भेदों एवं कर्मों के उपरांत स्वकीया के सामान्य भेदों का लक्षण उदाहरण-सहित निरूपण है, जबकि तृतीय और चतुर्थ तरंगों में क्रमशः परकीया और सामान्या के भेदों का वर्णन किया गया है। अंतिम तरंग में व्यवहार के आधार पर उत्तमादि का तथा मान और गर्व के आधार पर क्रमशः धीरादि और रूपगर्वितादि भेदों के उपरांत अवस्थानुसार दश नायिकाओं का वर्णन किया गया है। प्रथम तरंग में पति, उपपति और वैशिक नामक तीनों भेदों का उल्लेख तो हुआ है, किंतु नायिकाभेद के समान यहां एतद्विषयक लक्षण व उदाहरण देने का प्रयत्न नहीं किया गया। इसी प्रकार आरंभ में ग्रंथकार की प्रतिज्ञा शृंगार-विवेचन संबंधी ग्रंथ प्रस्तुत करने की रही है, किंतु आलंबन और उद्दीपन के संक्षिप्त विवेचन के अतिरिक्त इस रस के इतर अंगों तथा भेदों की चर्चा तक नहीं की गयी। अतएव, कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ मूलतः नायिकाभेद-विवेचन के उद्देश्य से ही लिखा गया है और नायक-भेद, मान, मानमोचन-उपायों, कामदशाओं तथा सखी और दूती के भेदों एवं उनके कर्मों का उल्लेख अथवा वर्णन इस विषय से किसी-न-किसी रूप में संबद्ध होने के कारण ही कर दिया गया है। किंतु, संक्षेप के आग्रह के रहते हुए भी कृपाराम का विवेचन पर्याप्त व्यवस्थित, सुबोध एवं सरस है। विवेचन का आधार, स्थान-स्थान पर दिये गये भरत के साक्ष्यों से, यद्यपि 'नाट्यशास्त्र' प्रतीत होता है, तथापि भानुदत्त की 'रसमंजरी' का प्रभाव भी इस पर कम स्पष्ट नहीं है। विवेचन-व्यवस्था ग्रंथकार की अपनी है। इतना ही नहीं, मुग्धा के ललिता, वयःसंधि और उदितयौवना तथ सामान्य के मुग्धा और मध्या नामक नवीन भेदों के अतिरिक्त अवस्थानुसार नायिकाओं में स्वाधीनपतिका की। तथा गर्विता के नवीन भेद सरलोक्तिगर्विता की। उद्भावना सर्वथा मौलिक है। लक्षण और उदाहरण दोहा आदि छोटे छंदों में होते हुए भी इतने सुगठित हैं कि विषय सहज ही स्पष्ट होता चला जाता है। रीतिनिरूपण के समान ही कृपाराम को कविकर्म में भी अत्यंत सफल कहा जा सकता है। विभिन्न नायिकाओं संबंधी जो छंद इसमें दिये गये हैं, उनमें अधिकांश इतने कवित्वपूर्ण हैं कि परवर्ती कवि भी उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। इनकी काव्यशैली का एक उदाहरण देखिए :

*अति प्रवीन वह सुन्दरी, मोहन को हित आँकि।*
*सबकी दीठि बचाइके, गई झरोखनि झाँकि॥*

**सूरदास :** कृपाराम के बाद इस काल के दूसरे महत्त्वपूर्ण रीतिकवि सूरदास कहे जा सकते हैं। इन्होंने कृपाराम अथवा अपने परवर्तियों के समान लक्षणों की रचना न कर सीधे लक्ष्य पदों की रचना द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से यह प्रमाणित कर दिया है कि इस युग में भी रीतिकाल के समान रीतिबद्ध काव्य की रचना हुई; इनके 'सूरसागर' के अनेक पद जहां नायिका-भेद और शृंगार रस की सामग्री के शास्त्रीय परिवेश में लिखे हुए प्रतीत होते हैं, वहीं इनकी 'साहित्यलहरी' के पद इन विषयों के अतिरिक्त विविध अलंकारों के उदाहरणों के रूप में प्रत्यक्ष रूप से लिखे हुए कहे जा सकते हैं। रस-सामग्री और अलंकार के साथ-साथ निरूपण की शैली का सर्वप्रथम प्रयोग इसी ग्रंथ में हुआ है। रीतिकाल में याकूब ख़ां और राय शिवप्रसाद ने अपने 'रसभूषण' नामक ग्रंथों की इस प्रकार की संक्षेप शैली के लिए इसी से संकेत ग्रहण किया होगा। अंतर केवल इतना ही है कि इनमें जहां विवेच्य रससामग्री और अलंकार के लक्षण भी लक्षणपरक छंदों में एक साथ दे कर तथा कठिन स्थलों की गद्य में व्याख्या करके विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, वहीं इसमें पद के अंतिम चरण में उनके नाम निर्देश के द्वारा अपने कर्म की इतिश्री समझ ली गयी है। वैसे, इतना अवश्य है कि लक्षणों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के न होते हुए भी निर्दिष्ट रसांग और अलंकार विशेष का इसमें अन्वेषण किया जा सकता है। लक्षणों के न होने के कारण यह पता लगाना कठिन है कि सूर पर किसका प्रभाव रहा है, पर अलकारों के विवेचनक्रम को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानंद' में गृहीत एतद्विषयक क्रम को ही इसका आधार बनाया गया है। कवित्व की दृष्टि से यदि इस ग्रंथ की परीक्षा की जाये, तो कहना होगा कि दृष्टकूट-शैली का प्रयोग होने के कारण यह चित्रकाव्य की कोटि की रचना है। किंतु, संस्कृत की तत्मस शब्दावली का प्रयोग करते हुए भी कवि ने ब्रजभाषा के सहज माधुर्य तथा श्रृंगार और भक्ति का जिस सफलता के साथ सहज निर्वाह किया है, वह निश्चय ही इसके रचयिता की प्रतिभा और भाषा पर उसके सहज अधिकार का परिचायक है।

**नन्ददास :** हिंदी साहित्य के अंतर्गत नन्ददास यद्यपि भक्तकवि के रूप में ही प्रसिद्ध हैं, तथापि इस काल में रीतिनिरूपण की जो धारा कृपाराम से आरंभ हुई थी, उसको आगे बढ़ाने वालों में इनका महत्त्व भी असंदिग्ध है। रीतिनिरूपण संबंधी इनके एकमात्र ग्रंथ 'रसमंजरी' की रचना 1550 ई. के आसपास हुई थी। इसमें दोहा-चौपाई की शैली में नायक-नायिकाओं तथा भाव, हाव, हेला और रतिभाव का परिचय दिया गया है। भानुदत्त की 'रसमंजरी' के आधार पर इसमें स्वकीया और परकीया के भेदोपभेदों तथा आवश्यकतानुसार नायिकाओं के नौ भेदों के साथ धृष्ट, शठ, दक्षिण और अनुकूल नामक नायक के चार भेदों एवं हावादिक के स्वरूप को समझाया गया है। सामान्या का मात्र उल्लेख किया गया है तथा शेष विषयों को छोड़ दिया गया है; अतएव, विवेचनक्षेत्र और मौलिकता की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं है। इसकी विशेषता इसी बात में निहित है कि लक्षण-उदाहरणों का चक्कर छोड़ कर विभिन्न नायिकाओं के गुण, स्वभाव, चेष्टा आदि के द्वारा उनके स्वरूप को सहज बोधगम्य बना दिया गया है। ग्रंथोद्देश्य के रूप में ग्रंथकार का यह कथन कि एक मित्र की जिज्ञासा शांत करने के लिए मैं नायिका-भेद का वर्णन कर रहा हूं, इस ओर सहज ही संकेत करता है कि इस काल के अंतर्गत भक्ति के सिद्धांतों के निरूपण के प्रसंग में प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करने के उद्देश्य से नायिका-भेद की जो चर्चा वैष्णवभक्तों के बीच में सामान्यतः हुआ करती थी, उसी के परिणामस्वरूप भक्तकवियों का संपर्क काव्यशास्त्र के साथ बढ़ा और क्रमशः इतर काव्यांगों के विषय में उनका ज्ञानवर्द्धन ही नहीं हुआ, आगे चल कर कुछ कवियों ने तत्संबंधी ग्रंथों का सृजन भी किया।

**केशवदास :** भक्तिकाल के इतर रीतिनिरूपकों की तुलना में व्यापक विवेचन क्षेत्र को ग्रहण करते हुए प्रखर पांडित्य, आचार्यत्व के गांभीर्य, स्वतंत्र चिंतन एवं असाधारण प्रतिभा द्वारा परवर्ती कवियों को प्रभावित करने तथा उनसे उचित सम्मान प्राप्त करने के कारण आचार्य केशव 'रीतिकाल का प्रवर्तक' कहलाने के सहज अधिकारी कहे जा सकते हैं। इनके विषय में ज्ञातव्य है कि ये राजा प्रतापरुद्र के आश्रित सनाढ्य ब्राह्मण पं. कृष्णदत्त के पौत्र और राजा मधुकरशाह से सम्मानित पं. काशीनाथ मिश्र के पुत्र थे तथा ओड़छा-नरेश महाराजा इंद्रजीतसिंह इन्हें अपने गुरु के रूप में सम्मान देते थे। इंद्रजीतसिंह के बड़े भाई महाराज रामसिंह इन्हें मंत्री और मित्र के रूप में मानते थे। विद्वानों का अनुमान है कि इनका जन्म 1560 ई. के आसपास और मृत्यु 1601 ई. के लगभग हुई थी। इनके द्वारा रचित ग्रंथ हैं : रसिकप्रिया (1591), रामचंद्रिका (1601), कविप्रिया (1601), रतनबावनी (1607 ई. के लगभग), वीरसिंहदेवचरित (1607), विज्ञानगीता (1610), जहांगीरजसचंद्रिका (1612), नखशिख और छंदमाला। इनमें 'रसिकप्रिया', 'कविप्रिया' और 'छंदमाला' रीतिग्रंथ हैं, जिनमें क्रमशः नवरस, अलंकारों और छंदों का निरूपण किया गया है। 'रामचंद्रिका' में रामकथा का प्रबंधात्मक वर्णन है; 'रतनबावनी', 'वीरसिंहदेवचरित' और 'जहांगीरजसचंद्रिका' आश्रयदाताओं की प्रशस्तिविषयक हैं; 'विज्ञानगीता' में प्रतीक-शैली में आध्यात्मिक विषय को प्रस्तुत किया गया है तथा 'नखशिख' में परंपरागत उपमानों की सहायता से राधा के विभिन्न अंगों का वर्णन हुआ है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'रसिकप्रिया' में सोलह प्रकाश हैं, जिनमें से प्रथम तेरह में क्रमशः शृंगार रस के भेदों, नायक-नायिका के भेदों, दर्शन के विविध प्रकारों, मिलनस्थलों, भावहावों, अवस्थानुसार अष्ट नायिकाओं, विप्रलंभ शृंगार के भेदों, कामदशाओं, मान के भेदों, मानमोचन के उपायों, करुण और प्रवास-विप्रलंभ, सखी के भेदों और उसके विविध कर्मों का निरूपण किया गया है, जबकि शेष तीन में क्रमशः शृंगारेतर रसों, वृत्तियों तथा पंचविध रसदोषों का विवेचन है। 'रसिकप्रिया' के समान 'कविप्रिया' भी सोलह प्रभावों में विभक्त है। इनमें प्रथम चार के अंतर्गत आश्रयदातावंश, कविवंश, काव्यदूषण और कविभेद का वर्णन है, जबकि पांचवें से आठवें तक के प्रभावों में विभिन्न उपशीर्षकों से सामान्यालंकारों का तथा शेष में विशेष अलंकारों का विवेचन किया गया है। 'छंदमाला' दो भागों में विभक्त है : प्रथम भाग में 77 वर्णवृत्तों तथा द्वितीय में 26 मात्रावृत्तों को लक्षण-उदाहरण-सहित प्रस्तुत किया गया है। अतएव, कहा जा सकता है कि इस काल के कवियों द्वारा गृहीत नायक- नायिकाभेद-निरूपण की साधारण परिपाटी से आगे बढ़ कर केशव ने रस, अलंकार, दोष और वृत्ति के विवेचन द्वारा रीतिनिरूपणक्षेत्र के फलक को अधिक विस्तार प्रदान किया। दूसरे, इनके पूर्ववर्तियों ने जहां केवल भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतंरगिणी' का आश्रय ले कर अपनी दृष्टि सीमित रखी, वहीं इन्होंने 'रसिकप्रिया' में इनके अतिरिक्त रुद्रट के 'शृंगारतिलक', विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण', रूपगोस्वामी-कृत 'उज्ज्वलनीलमणि', वात्स्यायन के 'कामसूत्र' आदि का तथा 'कविप्रिया' में दंडी के 'काव्यादर्श', केशव मिश्र के 'अलंकारशेखर' आदि का आश्रय ले कर अपने दृष्टिकोण को कहीं अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न किया। इसके साथ ही इन्होंने स्वतंत्र चिंतन भी किया, जिसके परिणामस्वरूप शृंगार में इतर रसों का अंतर्भाव कर उसकी श्रेष्ठता को तथा काव्य में अलंकारों के महत्त्व को प्रबल शब्दों में प्रतिपादित करने का इनका प्रयत्न रहा। किंतु, इतना होते हुए भी ये कोई मौलिक योगदान नहीं कर सके। स्वतंत्र चिंतन और सबल प्रतिपादन के कारण इनकी रचनाओं में जो मौलिक उद्भावनाएं प्रतीत होती होती हैं, वे या तो अशास्त्रीय रह गयी हैं या फिर किसी-न-किसी रूप में संस्कृत काव्यशास्त्र में विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए 'रसिकप्रिया' में वर्णित अनुकूलादि चार प्रकार के नायकों के प्रकाश और प्रच्छन्न नामक उपभेद तथा मुग्धा नायिका के नवलवधू, नवल अनंगा और लज्जाप्रहाररति नामक भेद भिन्न प्रसंगों में क्रमशः भोज के 'शृंगारप्रकाश' तथा शिंगभूपाल के 'रसार्णवसुधाकर' में देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार 'कविप्रिया' में निरूपित अंध, वधिर और पंगु नामक दोष मम्मट द्वारा निरूपित प्रसिद्धविरुद्ध, असमर्थ और हतवृत्तता से पृथक् नहीं कहे जा सकते। अलंकार-निरूपण के लिए ये केशव मिश्र और दंडी के ऋणी हैं। उधर शृंगार के रसराजत्व और उसमें अन्य रसों के अंतर्भाव का संकेत भोज के 'शृंगारप्रकाश' में मिलने से इनकी इस प्रकार की मान्यताओं में कोई अद्भुत बात है ही नहीं, साथ में इन्होंने उदाहरणों द्वारा उनको अंतर्भुक्त करने का जो प्रयत्न किया है, वह अशास्त्रीय ही नहीं; अपने आप में हास्यास्पद भी बन गया है। इन सीमाओं के रहते हुए भी इनमें अपनी बात को प्रबल शब्दों में कहने का साहस और उसे प्रमाणित करने का सामर्थ्य, दोनों ही विद्यमान हैं—यह बात दूसरी है कि अतिवाद अथवा मनोवैज्ञानिकता के अभाव में इनकी बात किसी को मान्य न हो अथवा अशास्त्रीय समझी जाये। कदाचित इसी गुण के कारण रीतिकाल के अनेक कवि इनके सिद्धांतों का अनुसरण न करते हुए भी इन्हें सम्मान की दृष्टि से देखते रहे।

आचार्यत्व के समान कवित्व की दृष्टि से भी केशव का अत्यंत गौरवपूर्ण स्थान है। भक्तिकालीन कवियों में संभवतः ये पहले कवि हैं, जिन्होंने ब्रजभाषा में मुक्तकों के साथ-साथ प्रबंधकाव्य की रचना का सूत्रपात किया। विज्ञानगीता, वीरसिंहदेवचरित, जहांगीरजसचंद्रिका, रतनबावनी और रामचंद्रिका—ये पांच ग्रंथ इनकी प्रबंधरचनाएं कही जा सकती हैं। इनमें 'रामचंद्रिका' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसमें महाकाव्य की शैली अपनायी गयी है। किंतु, अनेक ऐसे विद्वान हैं, जो इसके

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

महाकाव्यत्व को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। उनका कहना है कि इस ग्रंथ में न तो वह कथाक्रम है जो महाकाव्य के लिए अपेक्षित है और न समुचित कथाप्रवाह का ही इसमें सम्यक निर्वाह किया गया है। विभिन्न प्रसंगों को भी इसके रचयिता ने अपनी रुचि के अनुसार विस्तार और संकोच प्रदान कर दिया है। दूसरी ओर चरित्रचित्रण और भाषाशैली की दृष्टि से भी यह ग्रंथ अपने आप में अव्यवस्थित ही है। किंतु फिर भी, इसके महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्थान-स्थान पर छंद-परिवर्तन भले ही इसके प्रवाह में व्याघात उत्पन्न कर देता हो, पर शैली की दृष्टि से तो यह नया प्रयोग है ही। इसी प्रकार विषयवस्तु में वर्णन का अनुपात न होना भी इस बात का द्योतक है कि ग्रंथकार जीवन के सरस प्रसंगों को ही मनोयोग के साथ ग्रहण करना उचित समझता रहा है। इधर राजकीय वर्णनों और संवादों की दृष्टि से तो यह काव्य अपने आपमें इतना अनूठा है कि इस सीमा तक हिंदी साहित्य का कोई भी कवि नहीं पहुंच पाया। वस्तुतः 'रामचंद्रिका' केशव का असाधारण महाकाव्य है, जिसमें परंपरा-पालन के स्थान पर वैशिष्ट्य-सन्निवेश का ध्यान अधिक रखा गया है।

'रामचंद्रिका' के अतिरिक्त जहां तक शेष चार प्रबंधकाव्यों का प्रश्न है, उनमें प्रथम का महत्त्व जहां तत्त्व-चिंतन तक ही सीमित रहा है, वहीं शेष तीन ऐतिहासिक सामग्री के लिए प्रामाणिक स्रोत हो सकते हैं। कवित्व की दृष्टि से इनमें 'रतनबावनी' को थोड़ा आदर दिया जा सकता है, जिसमें वीर रस का उत्कृष्ट रूप दृष्टिगोचर हो सकता है—जबकि अन्य दो में आध्यात्मिकता का अच्छा निर्वाह हुआ है, पर ये कवित्व की दृष्टि से उतने ऊंचे नहीं उठ सके; वीर रस के सम्यक परिपाक के स्थान पर इनमें अधिकांशतः राजविषयक रति का निर्वाह ही रह गया है।

मुक्तक काव्यों में केशव के रसिकप्रिया, कविप्रिया और नखशिख—ये तीन ग्रंथ ही आते हैं। इनका वर्ण्य विषय मुख्यतः शृंगार ही है, यद्यपि 'रसिकप्रिया' के अंतर्गत इतर रसों का संक्षिप्त वर्णन भी हुआ है तथा 'कविप्रिया' में कवि के आश्रयदाता इंद्रजीतसिंह की प्रशस्ति संबंधी अनेक छंद समाविष्ट हैं। यहां यह कह देना असंगत न होगा कि इनका रचयिता रसिक होते हुए भी रस का समुचित परिपाक करने में पूर्ण रीति से समर्थ नहीं हो पाया। इसका मुख्य कारण यही है कि उसने रस-परिपाक को अनुभावों के वर्णन तक ही सीमित समझा है—संचारियों का वर्णन उसकी कविता में खोजने पर ही मिलता है। दूसरी ओर, इस व्यक्ति ने प्रतिभा होने पर भी उसका समुचित उपयोग नहीं किया। किसी भी विषय को रसात्मक बनाने के लिए कल्पना के उचित प्रयोग द्वारा जिस भव्य चित्र-योजना की अपेक्षा होती है, उसको वह प्रायः उपेक्षित ही कर गया है। इसका कारण वस्तुतः यही मानना चाहिए कि इस प्रकार के वर्णनों में उसका मन नहीं रमा तथा बुद्धि के सहारे ही सब- कुछ किया गया है, क्योंकि दूसरी ओर राजसी ठाटबाट के वर्णनों में उसका काव्य अत्यंत निखरा हुआ प्रतीत होता है। अभिव्यंजना की दृष्टि से भी केशव का समग्र साहित्यि शिथिल कहा जायेगा। उसमें न तो भावों के अनुकूल गुण और रीति का उपयोग किया गया है और न शब्दों का ही यथार्थ प्रयोग हुआ है। वस्तुओं के रूप, रंग, आकार आदि को स्पष्ट करने के लिए जिन उपमानों की अपेक्षा होती है, उनको प्रस्तुत करने पर भी विषयों को अस्पष्ट अथवा हास्यास्पद बना दिया गया है। इसके अतिरिक्त छंदों में भी कहीं-कहीं अनगढ़पन है। न्यूनपदत्व और अधिकपदत्व के कारण इनमें और भी भोंडापन आ गया है। भावों की मौलिकता की भी इनमें न्यूनता है तथा अधिकांश विदग्ध उक्तियां संस्कृत की उक्तियों का ब्रजभाषा में रूपांतरमात्र हैं। फिर भी, यह मानना होगा कि यदि केशव का आविर्भाव न हुआ होता, तो रीतिकालीन कवि अपने युग की कविता को कलाशिल्प की दृष्टि से मूल्यवान बना सकते, इसमें संदेह है। इनकी कविता से एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*केशोदास लाख लाख भाँतिन के अभिलाष,*
*बारि दे री बावरी न बारि हिए होरी सी।*
*राधा हरि के री प्रीति सबते अधिक जानि,*
*रति रतिनाह हू में देखो रति थोरी सी॥*
*तिनहूँ में भेद न भवानि हूँ पै पार्‌यो जाइ,*
*भारती की भारती है कहिबे को भोरी सी।*
*एकै गति एकै मति एकै प्राण एकै मन,*
*देखिवे को देह द्वै हैं नैनन की जोरी सी॥*

**रहीम :** हिंदी में केशव के बाद रीतिनिरूपणकर्म में रीतिकाल के अनेक कवियों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने वाले अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना को भक्तिकाल और रीतिकाल को जोड़ने वाले कवियों की श्रेणी में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। रीतिकवि के रूप में इनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं : 'नायिकाभेद' और 'नगरशोभा'। नायिकाभेद में नायक-नायिकाभेद का तथा 'नगरशोभा' में विभिन्न वर्णों के अनुसार विभिन्न नायिकाओं का वर्णन किया गया है। 'नायिकाभेद' की रचना भानुदत्त की 'रसमंजरी' के आधार पर की गयी है और इसमें नायक-नायिका के अतिरिक्त सखी और उसके कर्मों तथा चतुर्विध दर्शन का वर्णन बरवै छंद में किया गया है। इस ग्रंथ में एक-दो लक्षणपरक छंदों को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें संकलित जो बरवै छंद आज मिलते हैं, वे मूल ग्रंथ के उदाहरणमात्र हैं तथा लक्षणपरक छंदों में से अधिकांश लुप्त हो गये हैं। जो हो, इस ग्रंथ के आधार पर यह सहज ही कहा जा सकता है कि ग्रंथकार ने अत्यंत मनोयोग के साथ अपने विषय का विवेचन किया है। मौलिकता की दृष्टि से इसका भले ही महत्त्व न हो, किंतु स्वच्छ, सुबोध, सरस एवं संक्षिप्त विवेचन की दृष्टि से यह अपने आप में अद्वितीय रचना है। अवधी भाषा में लिखे गये रीति- निरूपण संबंधी ग्रंथों में संभवत: यह प्रथम है। यही बात 'नगरशोभा' के विषय में कही जा सकती है। इसका आधार यद्यपि कोई काव्यशास्त्रीय ग्रंथ नहीं रहा, तथापि इसमें भी कोई नयी बात नहीं है। वर्णव्यवसाय के आधार पर दस प्रकार की सखियों का वर्णन केशव की 'रसिकप्रिया' में भी हुआ है। हो सकता है कि वहीं से संकेत ग्रहण कर इन्होंने नायिकाभेद का यह आधार बना लिया हो। वैसे भी, शास्त्रीय दृष्टि से इस प्रकार की उद्‌भावना का महत्त्व नहीं है, कारण, नायिकाभेद का मूल आधार स्त्री का पुरुष के प्रति अथवा पुरुष का स्त्री के प्रति रतिभाव है, जिसका इन भेदों के मूल में कोई स्थान नहीं है। पर चूंकि देव आदि रीतिकाल के कतिपय कवियों ने इस प्रकार का वर्णन किया है, अतएव, इस दिशा में ये उनके प्रेरक तो कहे ही जा सकते हैं। जहां तक इनके कवित्व का प्रश्न है, इनकी रचनाएं सरस हैं। भक्ति और नीति जैसे शुष्क विषयों को भी इन्होंने कांतासम्मत उपदेश का सरस रूप दे दिया है। ये सीधी-सादी बात को सीधे-सादे शब्दों में कुछ इस प्रकार से व्यक्त करते हैं कि तद्‌गत बिंब की स्वच्छ रेखाएं सहृदय के मन:पट पर उभर कर गहरा प्रभाव छोड़ जाती हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि कवि ने अपनी रचनाओं में वैयक्तिक एवं लोक के अनुभवों को ही स्थान दिया है, दूरारूढ़ कल्पना का आश्रय ले कर विचित्र अनुभूतियों का सन्निवेश करने का प्रयत्न नहीं किया।

**सुंदर कविराय :** लक्षण-उदाहरण की रीतिनिरूपणशैली में शृंगार रस को रसराज मान कर उसके आलंबन नायक-नायिकाभेद का विशेष तथा इतर अंगों का सामान्य विवेचन कर सुंदर कविराय ने इस युग के केशव, सेनापति आदि रीतिकारों और रीतिकाल के इन विषयों के विवेचक कवियों के बीच की कड़ी को जोड़ने का कार्य किया है। ये जाति के ब्राह्मण और ग्वालियर के रहने वाले थे तथा इन्हें शाहजहां का आश्रय प्राप्त था। 'सुंदर-शृंगार' (1631) इनका नायक-नायिकाभेद और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शृंगाररस-निरूपण संबंधी प्रसिद्ध ग्रंथ है। इनके साथ ही इसमें सखी-कर्म और दूती-भेद, नायक-भेद और नर्मसचिव, दर्शन-भेद, संयोग शृंगार और हावभाव, विप्रलंभ शृंगार और दश कामदशाओं तथा उद्दीपन विभावों का वर्णन किया गया है। लक्षण सामान्यतः दोहों में हैं और उदाहरण कवित्त, सवैया, दोहा आदि छंदों में। विवेचन का आधार मुख्य रूप से भानुदत्त की 'रसमंजरी' प्रतीत होती है। अंतर केवल इतना ही है कि नायिकाभेद में मध्या के अतिविश्रब्ध नवोढ़ा, परकीया के कन्यका तथा नायक के प्रोषितपति और प्रोषितवैशिक भेदों को जहां इन्होंने स्वीकार नहीं किया है, वहां रूप और प्रेम के आधार पर मानी नायक के दो उपभेदों की उद्भावना की है तथा कामशास्त्र के आधार पर पद्मिनी आदि चार प्रकार की नायिकाओं का सन्निवेश केशव के समान किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि मौलिकता की दृष्टि से इस ग्रंथ का विशेष महत्त्व नहीं है, पर सुबोध लक्षणों और तदनुरूप उदाहरणों ने इसे अत्यंत उपयोगी बना दिया है। इसके अतिरिक्त भाव, भाषा आदि की दृष्टि से भी यह अपने आपमें पर्याप्त कवित्वपूर्ण है। स्वच्छ, गंभीर भावों की प्रसादगुण संपन्न स्वच्छ भाषा में अभिव्यक्ति से इनकी कविता सामान्यतः सरस बन गयी है।[3]

**न्यामत ख़ां जान :** केशव और चिंतामणि के बीच विविधांग-निरूपण-शृंखला की कड़ी के रूप में न्यामत ख़ां जान का नाम भी लिया जा सकता है।[4] अधिकांशतः प्रेममार्गी ग्रंथों की रचना करने के कारण ये यद्यपि मुख्य रूप से प्रेममार्गी कवि के रूप में ही प्रसिद्ध हैं, तथापि काव्यांग-निरूपण संबंधी ग्रंथों की रचना में मनोयोग प्रदर्शित करने के कारण इन्हें भक्तिकाल के अंतिम चरण के उन रीतिनिरूपकों की श्रेणी में भी सहज ही परिगणित किया जा सकता है, जिन्होंने रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति के प्रसार के लिए उपयुक्त वातावरण उपस्थित किया। संप्रति इनके रीतिनिरूपण संबंधी चार ग्रंथ : रसकोश (1619), कविवल्लभ (1647), सिंगारतिलक (1652) तथा रसमंजरी (1652) ही उपलब्ध हैं। इनमें 'रसकोश' जहां नवरस और नायक-नायिकाभेद विवेचन संबंधी हैं, वहीं 'कविवल्लभ' में दोष, गुण, अलंकार और छंद का विवेचन किया गया है। शेष दो क्रमशः रुद्रभट्ट के 'शृंगारतिलक' और भानुदत्त की 'रसमंजरी' के अनुवाद हैं। इन ग्रंथों में इन्होंने यद्यपि अपने विवेचन के आधार को स्पष्ट नहीं किया, तथापि लक्षणों को देखने से सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ग्रंथकार ने भानुदत्त, रुद्रभट्ट और दंडी के ग्रंथों का आश्रय ग्रहण किया है। छंदोविवेचन के लिए 'प्राकृतपैंगलम्' और भट्ट केदार के 'वृत्तरत्नाकर' जैसे प्रचलित आधार-ग्रंथों के स्थान पर ब्रजभाषा के किसी छंदोविवेचन विषयक ग्रंथ को आधार बनाया गया है। कतिपय लक्षण ऐसे भी हैं, जिन पर मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का प्रभाव स्पष्ट है। अतएव कह सकते हैं कि लक्षणों की रचना में इन्होंने यथारुचि संस्कृत के अनेक ग्रंथों को आधार बनाया है, जो इनके दृष्टिकोण की व्यापकता का परिचायक है। मौलिकता की दृष्टि से इनमें कोई नवीन बात देखने को नहीं मिलती। सामान्यतः प्रकारांतर से वही बातें विवेच्य विषयों संबंधी लक्षणों में कही गयी हैं, जो पूर्ववर्ती संस्कृताचार्यों तथा केशव आदि हिंदी-रीतिनिरूपकों द्वारा कही गयी है। हां, भाषा के व्यास और समास नामक परंपराप्रचलित दो भेद बताते हुए अपने लक्ष्य ग्रंथों में इन्होंने काव्यभाषा के विषय में जो यह कहा है :

*अच्छर सरल सरल ही भाव, समझत ही बाढ़ै चित्त चाव।*
*अच्छर सरल होइ सुध भाषा, ताकी सब करिहैं अभिलाषा॥*
*ऊकति विसेष साँचु कैं जानहु, भाषा जो आवै सो जानहु।*
*ऊकति भली भाषा मैं आवै, तौ यहु सोना सुगन्ध कहावै॥*

उसके आधार पर यह सहज ही स्थापित किया जा सकता है कि इनके समय तक आते-आते कविता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

को कविजन कला के रूप में ग्रहण करने के अतिरिक्त तद्विषयक निमित्त दृष्टिकोण भी रखने लगे थे। जान ने कदाचित इसीलिए केवल उन्हीं काव्यांगों का विवेचन किया है, जिनकी उपस्थिति अथवा बहिष्कार काव्योक्ति को सुंदर बनाने के लिए अनिवार्य है। विवेच्य काव्यांगों के विषय में इनके ये विचार द्रष्टव्य हैं :

*(अ) भोजन नीरस लागिहै, लौन बिना कहि जान।*
*त्यौं नौ रस बिनु ग्रन्थ है, ताते करौं बखान॥*
*(आ) गुननि सहित दूषन रहित, कवित नारि आकार।*
*अलंकार, बिनु यौं लगत, ज्यौं तिय बिनु शृंगार॥*

कहना न होगा कि ये विचार मौलिक न होते हुए भी इनके निर्भ्रांत दृष्टिकोण के परिचायक होने के कारण इनके आत्मविश्वास को भी प्रकट करते हैं। यही कारण है कि इनके लक्षण सामान्यतः स्वच्छ एवं सुबोध बन पड़े हैं। इनके दृष्टिकोण से भले ही कोई सहमत न हो, पर उसमें किसी प्रकार का कलुष नहीं देख सकता। किंतु, दुर्भाग्य की बात है कि इतने स्पष्ट विचार रखते हुए एवं 71 ग्रंथों की रचना करने पर भी इनका कवित्व अत्यंत साधारण स्तर पर ही रह गया है। वास्तव में इन्होंने अपनी प्रतिभा का प्रयोग कविता के स्थान पर यदि काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के प्रणयन में ही किया होता, तो संभव है कि ये कुछ अधिक स्थायी योगदान कर गये होते।

**अन्य रीतिकार :** रीतिनिरूपण में प्रत्यक्ष रूप में भाग लेने वाले कवियों के साथ ही भक्तिकाल के अंत में कुछ ऐसे कवि भी हुए, जिन्होंने रीतिप्रभावित काव्य की रचना कर रीतिकाल के लिए उस क्षेत्र में भी पृष्ठभूमि का निर्माण किया। इनमें प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं—बलभद्र मिश्र और मुबारक। ओरछा-निवासी कवि **बलभद्र** (रचनाकाल-1580 ई.) हिंदी के ख्यातनामा कवि केशवदास के अग्रज थे। इनके द्वारा लिखित पांच ग्रंथों का उल्लेख मिलता है : शिखनख बलभद्री व्याकरण, गोवर्द्धन सतसई टीका, हनुमन्नाटक तथा दूषण-विचार। इस समय इनमें से प्रथम कृति ही उपलब्ध है। इसमें नायिका की अंग-छवि का नखशिख पर्यंत स्वच्छ आलंकारिक वर्णन मिलता है। रूप-वर्णन में तन्मयता के साथ ही कवि ने भाषा पर अपने अधिकार का भी असंदिग्ध प्रमाण दिया है। इनके परवर्ती कवियों में **मोहनलाल मिश्र** (रचनाकाल 1589 ई.) के 'शृंगारसागर' का भी उल्लेख किया जाता है, किंतु यह कृति संप्रति उपलब्ध नहीं है। **मुबारक** (रचनाकाल 1623 ई.) की 'तिलशतक' और 'अलकशतक' नखशिख वर्णन संबंधी संक्षिप्त कृतियां हैं, जिनमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के माध्यम से सरस कल्पनामूलक रूपचित्रण मिलता है। भक्तिकालीन रीतिकाव्य में ये अपने ढंग की एकमात्र कृतियां हैं।

## संदर्भ

1. देखिए, 'हिंदी-साहित्य', द्वितीय खंड, संपादक : डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 128
2. देखिए, 'सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य', डॉ. शिवप्रसाद सिंह, पृ. 143
3. काव्य के विविध अंगों का विवेचन संबंधी इनका 'काव्यकल्पद्रुम' नामक ग्रंथ कहा जाता है। अभी तक यह उपलब्ध नहीं है।
4. विशेष अध्ययन के लिए देखिए, 'भक्तिकालीन कवियों के काव्यसिद्धांत', डॉ. सुरेशचंद्र गुप्त, पृ. 378-419

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अध्याय : 7

# भक्तिकाल का गद्य-साहित्य

हिंदी का प्राचीन गद्य भाषा, शैली, विषय, सांस्कृतिक अध्ययन आदि अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में वह आधुनिक गद्य की भूमिका है। आधुनिक गद्य की अनेक भाषा-प्रवृत्तियों, विधाओं और शैलियों के पूर्व रूपों का दर्शन भारतेंदु-पूर्व गद्य में होता है। आधुनिक युग के पूर्व मौलिक ललित गद्य का निर्माण कम हुआ था। विशुद्ध (तुकरहित) ललित गद्य का परिमाण तो और भी विरल है। अधिकतर सानुप्रास (तुकमय) गद्य लिखा गया है। वस्तुतः रीतिकाल तक शुद्ध साहित्यिक गद्य की प्रवृत्ति बहुत मंद रही, अललित (असाहित्यिक) गद्य अधिक लिखा गया। वह भी स्वतंत्र (मौलिक) रूप में कम है, टीका-टिप्पणी और अनुवाद के रूप में अधिक है।

हिंदी-परिवार की भाषाओं में गद्य का उन्मेष कालक्रम से सर्वप्रथम राजस्थानी में प्राप्त होता है। राजस्थानी में गद्य-परंपरा निश्चित रूप से ईसा की तेरहवीं शताब्दी से प्रारंभ होती है। बनारसी (अवधी) बोली की बारहवीं शती में निर्मित 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' (दामोदर) कृति उपलब्ध है, जिसमें अपभ्रंश-प्रभावित अवधी बोली के प्रयोगों को स्पष्ट करने के लिए उनके संस्कृत रूपांतर दिये गये हैं। परंतु इसके पश्चात बनारसी अथवा अवधी में अठारहवीं शती तक गद्य-परंपरा प्राप्त न होने से बनारसी या अवधी को गद्य की दृष्टि से अग्रणी नहीं माना जा सकता। ब्रजभाषा और दक्खिनी में गद्य का प्रारंभ यों तो चौदहवीं शती के पूर्व माना जाता है, परंतु प्रामाणिक रूप में इन भाषाओं का गद्य सोलहवीं शताब्दी से उपलब्ध होता है।

भक्तिकाल में अवधी के अतिरिक्त हिंदी की शेष सभी विभाषाओं में गद्य-निर्माण हुआ है। गद्य-रूप भी अनेक (कथा, वात, वर्णन, चरित्र, वचनिका—ये ललित गद्य-रूप और गुर्वावली, पट्टावली, वंशावली, प्रश्नोत्तर, वचनामृत, पत्र, गोसट—ये अललित गद्य रूप) विकसित हुए हैं। अमौलिक (व्याख्यात्मक-अनूदित) गद्य भी बालावबोध, वृत्ति, अवचूरि, टबा, टिप्पण, टीका, तर्जुमा, तफ़सीर आदि शीर्षकों से अनेक रूपों में प्राप्त होता है। पद्य-ग्रंथों में भी यत्रतत्र वचनिका, वात-चर्चा अथवा किसी अन्य शीर्षक से टिप्पणीपरक गद्य लिखा गया। भक्तिकाल के गद्य में प्रतिपादित प्रमुख विषय हैं : धर्म, दर्शन, अध्यात्म, चिकित्सा, ज्योतिष, भूगोल (पौराणिक भूगोल), शकुनशास्त्र, व्याकरण, गणित। टीका-टिप्पणियों और अनूदित रचनाओं की भी संख्या काफ़ी बड़ी है। धार्मिक व दार्शनिक ग्रंथों, काव्यग्रंथों और व्याकरण, कोकशास्त्र, ज्योतिष आदि उपयोगी विषयों की टीकाओं और टिप्पणों के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत और फ़ारसी-अरबी के ग्रंथों के अनुवाद भी राजस्थानी, ब्रजभाषा और दक्खिनी में हुए।

## ब्रजभाषा गद्य

प्राचीन ब्रजभाषा-गद्य प्राचीन खड़ीबोली-गद्य की अपेक्षा अधिक विकसित और वैविध्यपूर्ण है। धार्मिक और आध्यात्मिक विषयों के साथ वैद्यक, ज्योतिष, इतिहास, भूगोल, प्रश्न, शकुन, सामुद्रिक, गणित, धनुर्वेद आदि विषयों का भी प्रतिपादन ब्रजभाषा-गद्य में हुआ है। ब्रजभाषा-गद्य-साहित्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्थूलतः चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—मौलिक, टीकात्मक, अनूदित और पद्यप्रधान रचनाओं में यत्रतत्र प्रयुक्त टिप्पणीपरक गद्य। मौलिक (स्वतंत्र) गद्य वल्लभसंप्रदाय के वचनामृतों, वार्त्ताग्रंथों, इस संप्रदाय के अन्य ग्रंथों, अन्य धार्मिक संप्रदायों की सैद्धांतिक रचनाओं, कथापुस्तकों, दर्शनविषयक ग्रंथों, वैद्यक, ज्योतिष आदि उपयोगी विषयों की रचनाओं और पत्रों, शिलालेखों तथा काग़ज़-पत्रों के रूप में उपलब्ध होता है। टीका, टिप्पण, तिलक और भावना शीर्षक से व्याख्यात्मक गद्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार अनुवाद अथवा छायानुवाद रूप में लिखित ग्रंथ भी प्राप्त हैं।

पद्य-ग्रंथों में टिप्पणीपरक गद्य चर्चा, वात, वार्त्ता, तिलक या वचनिका शीर्षक से लिखा गया। ब्रजभाषा-गद्य के प्रमुख रूप हैं : कथा, प्रबंध (धार्मिक-सैद्धांतिक-निरूपण), गोसट (गोष्ठी—धार्मिक दार्शनिक संवाद), वचनिका, प्रश्नोत्तर, वर्णन, वचनामृत, (प्रवचन), पत्र, वार्त्ता तथा जीवनी। इनमें से प्रथम आठ भक्तिकाल में भी निर्मित हुए हैं। मौलिक, टीकात्मक, अनूदित, टिप्पणीपरक—चारों प्रकार का गद्य भक्तिकाल में लिखा गया। जहां तक विषयों का प्रश्न है, भक्तिकाल में धर्म, दर्शन और आत्मविषयक ग्रंथों के अतिरिक्त ज्योतिष और चिकित्साविषयक पुस्तकें भी लिखी गयीं।

ब्रजभाषा-गद्य-परंपरा में सर्वप्रथम गोरखपंथी ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है। परंतु गोरखपंथ से संबद्ध 'गोरखसार', 'शिष्टपुराण', 'गोरक्षोपनिषद्', 'महादेवगोरषगुष्टि' आदि ग्रंथ जिस रूप में प्राप्त हैं, गोरखनाथरचित अथवा तेरहवीं-चौदहवीं शती के नहीं हैं, बल्कि काफ़ी परवर्ती हैं। इन गोरखपंथी रचनाओं की सत्रहवीं शती से पूर्व की प्रतियां प्राप्त नहीं हैं। प्राप्त प्रतियों की भाषा में प्राचीन शब्दरूपों के साथ परवर्ती मध्यकालीन भाषा-प्रवृत्तियां (अर्वाचीन रूप और प्रयोग) पर्याप्त हैं।[1] अतः इन्हें गोरखकृत अथवा तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी का मानना कठिन है। गोरखनाथ के नाम से प्रसिद्ध रचनाओं में कुछ उनके संस्कृत-ग्रंथों के अनुवाद और कुछ उनके अनुयायियों द्वारा उनके सिद्धांतों के अनुसार निर्मित प्रतीत होती हैं।

आचार्य वल्लभ और गो. विट्ठलनाथ जी के नाम से भी हिंदी में ऐसी अनेक गद्यरचनाएं प्रसिद्ध हैं, जो या तो उनकी संस्कृत-पुस्तकों के अनुवाद हैं या उनके संस्कृत-ग्रंथों की संस्कृत-टीकाओं के हिंदी रूपांतर। वल्लभाचार्य के नाम से प्रसिद्ध 'चौरासी अपराध' (मार्ग-सिद्धांत) उनके किसी अनुयायी की रचना है और विट्ठलनाथ जी के नाम से उल्लिखित 'शृंगाररस-मंडन' उनकी संस्कृत पुस्तक का अठारहवीं शती में किया गया ब्रजभाषा रूपांतर है। विट्ठलनाथ जी ने ब्रजभाषा-गद्य में किसी ग्रंथ का निर्माण नहीं किया था। 'यमुनाष्टक' और 'नवरत्न सटीक' भी बहुत परवर्ती (अठारहवीं शताब्दी की) रचनाएं हैं। अष्टछाप के कवि नन्ददास के नाम से प्रसिद्ध 'नासिकेतपुराणभाषा' अठारहवीं शताब्दी के स्वामी नन्ददास की रचना है और चतुर्भुजदास-कृत बतायी जाने वाली 'षटऋतु वार्ता' हरिराय-रचित है। गो. गोकुलनाथ जी के नाम से प्रसिद्ध 'वनयात्रा' शीर्षक रचना भी उनकी कथित है, लिखित नहीं।[2]

इस समय की प्रमुख ब्रजभाषा-गद्य रचनाएं हैं : ध्रुवदास-कृत 'सिद्धांतविचार' (1595 ई. के आसपास की राधावल्लभ-संप्रदाय की सिद्धांत-प्रतिपादक रचना)[3], नाभादास-कृत 'अष्टयाम' (1603)[4], वैकुंठमणि शुक्ल-कृत 'वैसाख महातम', 'अगहन महातम', (1623 ई. के आसपास की धार्मिक कथात्मक रचनाएं)[5], गो. श्री विट्ठलनाथ और श्री गोकुलनाथ के शिष्यों द्वारा, लिखित 'वचनामृत', किसी अज्ञातनाम रचनाकार की 'सिंगार सुतुक' (पौराणिक कथात्मक रचना), 'शालिहोत्र' (रचनाकार अज्ञात, अश्वचिकित्साविषयक पुस्तक, 'नकुल पांडव' के नाम से प्रसिद्ध संस्कृत-ग्रंथ के आधार पर राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा में लिखित)।

ब्रजभाषा-गद्य के पुराने नमूनों में 1513 ई. का एक शाही इश्तिहार तथा इसी वर्ष का एक सती-समाधि लेख[6] और बनारसीदास जैन की 'परमार्थवचनिका', 'मिथ्यात्वनिषेधन' तथा उपादान निमित्त

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की चिट्ठी भी उल्लेखनीय है। इनमें क्रमशः जैन धर्म के अनुसार आत्मा के स्वरूप का वर्णन, मिथ्यात्व का निषेध और आत्मा तथा 'बाह्य साधन' का निरूपण है।[7]

वल्लभ-संप्रदाय अपने वार्त्ता-साहित्य के लिए प्रसिद्ध है। वार्त्ता-साहित्य में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' वर्णित घटनाओं और भाषा की दृष्टि से प्राचीनतर (भक्तिकाल के अंतिम चरण में लिखित) प्रतीत होती है।[8] 'चौरासी वार्ता' की प्राचीनतम (सन 1640 की) प्रति कांकरोली-विद्या-विभाग में सुरक्षित है, परंतु इस प्रति की प्रामाणिकता के संबंध में कुछ कहना कठिन है। पुष्टि-संप्रदाय के प्राचीन संग्रहालयों में आचार्य विट्ठलेश्वर और गो. गोकुलनाथ के, उनके अनुयायियों द्वारा लिपिबद्ध, 'वचनामृत' (प्रवचन) सुरक्षित हैं।[9] इन वचनामृतों में सेवकों की चर्चा के साथ यत्रतत्र लेखनकाल और स्थान का भी संकेत प्राप्त होता है। इनसे तत्कालीन इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। गो. गोकुलनाथ जी के नाम से वचनामृतों के साथ लगभग बीस वार्त्ता-ग्रंथ भी प्रसिद्ध हैं।[10] परंतु ये उनके द्वारा लिखित न हो कर उनके प्रवचनों के विस्तार हैं, जो उनके शिष्यों द्वारा किये गये हैं। रीतिकाल से पूर्व की गद्य-टीकाएं हैं : 'भुवनदीपिका टीका' (प्रति 1614 ई. राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा की ज्योतिष विषयक रचना), चतुरदास-कृत 'भागवत'—एकादशस्कंध टीका। राधावल्लभ संप्रदाय की भी रीतिकाल से पूर्व की कुछ टीकाएं प्राप्त हैं। इनमे उल्लेखनीय हैं : 'हितचौरासी' पर रसिकलाल की 'हितसंवर्धिनी टीका' (पद्य-गद्य, सत्रहवीं शती उत्तरार्ध), धरनीधरदास की टीका और लोकनाथ की गद्य-पद्यमयी टीका।

'पृथ्वीराजरासो' की कुछ प्रतियों में, जो प्रायः सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी की हैं, 'वार्ता' या 'वचनिका' नाम से राजस्थानीपरक ब्रजभाषा-गद्य प्राप्त होता है। भाषा को देखते हुए यह गद्य सत्रहवीं शती का प्रतीत होता है। अपभ्रंश-शैली के उद्वृत्त रूप और खड़ीबोली शब्द-रूप भी इन गद्यांशों में प्रयुक्त हैं। 'रासो' के अतिरिक्त केशव की 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' में भी टिप्पणीपरक गद्यांश प्राप्त होते हैं।

भक्तिकाल के कुछ पत्र भी प्राप्त हैं। इस समय के पत्रों में राधावल्लभ-संप्रदाय के संस्थापक श्री हितहरिवंश जी द्वारा जूनागढ़ के दीवान वीठलदास को लिखित दो पत्र हिंदी-जगत में प्रसिद्ध हैं। इन पत्रों मे राधा-कृष्ण-भक्ति का संदेश दिया गया है। प्रथम पत्र तो कुशल-नमस्कार का ही पत्र है, परंतु दूसरे में हितहरिवंश जी द्वारा राधा को गुरु-रूप में देखने की भावना व्यक्त है : "श्री राधे तिहारे स्थापे गुरुमार्ग विषै अविश्वास अज्ञानी को होत है।" इन पत्रों की भाषा, जैसी कि वह 'हितामृत-सिंधु' में प्रकाशित है, सोलहवीं शती की प्रतीत नहीं होती। इनमें प्रयुक्त आधुनिक शैली के कुछ वाक्य और रूप द्रष्टव्य हैं : सुख अमृत स्वरूप है, इतनी शक्ति नहीं, श्री स्वामिनी जी तुम पर बहुत प्रसन्न हैं, हमारी भेंट यही है, आवैंगे, रहे हैं, ले आएं, वीठलदास मेरे प्राण हैं, शास्त्रमर्यादा सत्य है और गुरुमहिमा ऐसे ही सत्य है।[11]

बंबई के गट्टूलाल जी के मंदिर में श्री विट्ठलेश्वर से संबद्ध बताया जाने वाला सन् 1563 का एक पत्र सुरक्षित है।[12] इसमें ब्रजभाषा की भी चार पंक्तियां हैं, जिनमें तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। धौलपुर-नरेश के पुस्तकालय से भी कुछ प्राचीन पत्र प्राप्त हुए हैं। पत्रों में 'श्री मुख पत्रियां' अधिक हैं।[13] 1605 ई. का एक ताम्रपत्र (काशी के सेठ गोकुलदास के यहां सुरक्षित) भी प्राप्त है जिसका उल्लेख श्री द्वारिकाप्रसाद पारीख ने स्वसंपादित 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' की भूमिका में किया है। वल्लभकुल से संबद्ध 1650 ई. का एक इक़रारनामा भी प्राप्त है।

## खड़ीबोली-गद्य

रीतिकाल से पूर्व की खड़ीबोली-गद्य रचनाओं को (उत्तर की खड़ीबोली की और दक्खिनी की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रचनाओं को) साहित्यिक(ललित) और असाहित्यिक (अललित) के भेद से दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। ललित गद्य 'वात' शीर्षक से कथा-कहानी के रूप में और अन्योक्ति-कथा के रूप में प्राप्त होता है। अललित गद्य धर्म, दर्शन, पौराणिक भूगोल और शकुन—इन विषयों पर उपलब्ध होता है। अमौलिक (व्याख्यात्मक अनूदित) गद्य के रूप हैं : टीका, टिप्पण, तर्जुमा, तफसीर। सानुप्रास और अनुप्रासरहित की दृष्टि से भी प्राचीन खड़ीबोली-गद्य को वर्गीकृत किया जा सकता है। मध्यकाल में तुकमय गद्य की प्रवृत्ति राजस्थानी, मैथिली, दक्खिनी, उर्दू, खड़ीबोली, आदि प्राय: सभी भाषाओं में रही है। गद्य-पद्य के समावेश की दृष्टि से खड़ीबोली और दक्खिनी की प्राचीन गद्य-रचनाएं स्थूलत: त्रिविध हैं—पूर्णत: गद्य-रचनाएं, गद्य-पद्यमय-रचनाएं, यत्रतत्र पद्योद्धरण वाली गद्यप्रधान रचनाएं।

उत्तर भारत में खड़ीबोली में निर्मित गद्य-रचनाएं सत्रहवीं शताब्दी से प्रामाणिक रूप में प्राप्त होती हैं। गंग कवि द्वारा रचित बतायी जाने वाली 'चंद छंद बरनन की महिमा' की प्रामाणिकता संदिग्ध है।[14] 'योगाभ्यास मुद्राटिप्पण', जिसे काशी नागरीप्रचारिणी सभा के खोज-विभाग ने सिद्ध कुमरिपा (कुमुटीपा)-कृत प्राचीन खड़ीबोली-रचना घोषित किया है, परवर्ती रचना है। मूल संस्कृत की रचना सिद्ध कुमरिपा द्वारा रचित प्राचीन रचना है; उसका टिप्पण बहुत परवर्ती है। इस टिप्पण में खड़ीबोली के शब्द न्यून हैं। 1623 ई. में जटमल द्वारा रचित 'गोरा बादल की कथा' को इस संदर्भ में सर्वप्रथम उल्लेख-योग्य रचना माना जा सकता है। यह गद्य और पद्य दोनों रूपों में मिलती है। बाबू श्यामसुंदरदास ने हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों के 1901 ई. के खोज-विवरण में एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता में सुरक्षित गद्य में लिखित प्रति का उल्लेख किया है, किंतु राजस्थान में इसकी जितनी हस्तलिखित प्रतियां मिली हैं, वे सभी पद्य में हैं। विद्वानों का अनुमान है कि गद्य-कृति पद्य- रचना का रूपांतर है। मिश्रबंधुओं ने इसकी गद्यशैली में खड़ीबोली का प्राधान्य माना है तथा आचार्य शुक्ल के अनुसार इसकी भाषा 'राजस्थानीपन लिये खड़ीबोली' है।

रीतिकाल से पूर्व की चार अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं : 'कुतुबशत' (प्रति 1613 ई.), 'भोगलु पुरान' (प्रति 1705 ई.), 'गेणेस गोसठ' (प्रति 1658 ई.), 'पोथी सचुषंडु' (1640 ई. के पूर्व)। प्रथम तीन रचनाएं जिस रूप में उपलब्ध हैं, सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व की प्रतीत होती हैं। परंतु इनके समय के संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। 'नवबोली छंद', 'नवभाषा', 'सकुनावली', 'महादेव-गोरखगुष्टि', 'गोरक्षशतम टिप्पण'—इन पांच रचनाओं में भी (प्रथम दो में अन्य भाषाओं के साथ, शेष में अन्य भाषाओं से प्रभावित) खड़ीबोली का प्रयोग हुआ है। ये रचनाएं, और पीछे उल्लिखित, 'भोगलु पुरान' तथा 'गेणेस गोसठ' साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। धार्मिक, आध्यात्मिक चिंतन और भाषा के अध्ययन की दृष्टि से ही इनका कुछ महत्त्व माना जा सकता है। इन रचनाओं में खड़ीबोली का प्रयोग ब्रजभाषा और राजस्थानी अथवा पूर्वी हिंदी या पंजाबी के मिश्रण के साथ हुआ है। इनमें 'नवबोली छंद', 'नवभाषा', 'सकुनावली'—इन तीन के संबंध में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ये रीतिकाल से पूर्व की हैं।

उल्लिखित रचनाओं में 'कुतुबशत' ('कुतुबुद्दीन री वात'—कथानात्मक-वर्णनात्मक रचना) 'भोगलु पुरान' (भूगोल पुराण) तथा 'पोथी सचुषंड' (नानक की जीवनी और व्याख्या) में खड़ी बोली-शैली के शब्दरूप अपेक्षाकृत अधिक हैं। तत्कालीन जनभाषा के रूप की दृष्टि से 'कुतुबशत' अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रयुक्त खड़ीबोली राजस्थानी तथा ब्रजभाषा से प्रभावित है। 'पोथी सचुषंड' की भाषा पर पंजाबी का प्रभाव है। 'गेणेस गोसठ' (गोरख-गणेश-गोष्ठी—पंचतत्त्व आदि पर प्रश्नोत्तर) की भाषा तत्समनिष्ठ है। इसमें और 'भोगलु पुरान' में अर्वाचीन शब्दरूपों के साथ प्राचीन शब्दरूप भी पर्याप्त हैं।[15]

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## दक्खिनी गद्य

दक्खिनी की प्राचीनतम प्राप्त रचना गेसूदराज-कृत 'मेराजुल आशिकीन' है, परंतु वह जिस रूप में प्राप्त है, उससे पंद्रहवीं शती की प्रतीत नहीं होती; उसकी भाषा पर्याप्त परवर्ती है।[16] 'मेराजुल आशिकीन' के अतिरिक्त गेसूदराज बंदानवाज के नाम से प्रसिद्ध अन्य प्रमुख रचनाएं हैं : 'हिदायतनामा', 'शिकारनामा' और 'तर्जुमावजूदुल आरिफ़ीन'। भक्तिकालीन दक्खिनी गद्य की अन्य प्रसिद्ध रचनाएं हैं : बुरहानुद्दीन जानम-कृत 'कल्मितुल हक़ायक़' (1580 ई. के लगभग), मौला अब्दुल्ला-कृत 'अहकामुस्सलात' (1623), मुल्ला वजही का 'सबरस' (1636) और अदुस्समद-लिखित 'तफ़सीर बहावी' (1640 ई. के लगभग)। इनमें प्रथम रचना प्रश्नोत्तर-शैली में लिखित सूफी-सिद्धांत विषयक, द्वितीय रचना इस्लामविषयक, तृतीय (सबरस) अन्योक्ति-पद्धति की सूफी-प्रेमकथा और चौथी 'कुरान' की व्याख्या है।[17] पुराना दक्खिनी गद्य अधिकतर सूफी और इस्लामी संतों द्वारा लिखा गया है और अधिकांश में अललित, धार्मिक तथा उपदेशात्मक है। उल्लिखित रचनाओं में 'सबरस' में ललित गद्य प्रयुक्त है। अनेक स्थलों पर इस ग्रंथ का गद्य सानुप्रास है।[18]

## राजस्थानी गद्य

राजस्थानी की विभाषाओं में केवल मारवाड़ी में समृद्ध गद्य-परंपरा प्राप्त होती है। जयपुरी (ढूंढाहड़ी) पश्चिमी हिंदी (ब्रजभाषा-खड़ीबोली) से प्रायः अभिन्न हैं। उसमें गद्य-परंपरा अठारहवीं शताब्दी से प्रारंभ होती है। मेवाड़ी और मालवी में गद्य की प्रवृत्ति नगण्य है।[19] मारवाड़ी में गद्य ईसा की तेरहवीं शताब्दी से ही उपलब्ध होता है। ललित (वर्णनात्मक- कथात्मक) और धार्मिक गद्य के साथ राजस्थानी में इतिहासविषयक, व्यावहारिक (काग़ज़-पत्र आदि) और चिकित्सा, गणित, ज्योतिष, व्याकरण, कामशास्त्र, काव्यशास्त्र, जंत्र-तंत्र आदि विषयों पर लिखित गद्य भी प्राप्त होता है। इस समय के प्रमुख गद्य रूप हैं : चरित्र, वर्णन, वचनिका, कथा (मौलिक ललित); गुर्वावली, वंशावली, पत्र (अललित, कहीं-कहीं इनमें लालित्य भी है); बालावबोध, टबा, वृत्ति, अवचूरि (अमौलिक)।

राजस्थानी की प्राचीनतम प्राप्त गद्य-रचनाएं हैं : 'आराधना' (1273 ई. के लगभग दो पृष्ठों में जैन-आराधना-क्रिया का प्रतिपादन)[20], 'बालशिक्षाटीका' (1279 ई., एक संस्कृत-व्याकरण की टीका), 'जगत सुंदरी प्रयोगमाला' (तेरहवीं शती, पद्य-गद्यमय वैद्यक रचना, गद्यांश अत्यल्प), 'अतिचार' (1283), 'नवकार व्याख्यान टीका' (1301), 'सर्वतीर्थ नमस्कार स्तवन' (1302), 'अतिचार' (इस शीर्षक की दूसरी रचना, 1312 ई.)। इनमें प्रथम और अंतिम चार रचनाएं जैनधर्म विषयक हैं। इन सभी पर अपभ्रंश का प्रभाव है और इनमें संस्कृत के तत्सम तथा समस्त शब्द भी प्रयुक्त हैं। ये रचनाएं आदिकाल की सीमा में आती हैं।

भक्तिकालीन गद्य-रचनाओं में उल्लेखनीय हैं : 'तत्त्वविचार प्रकरण' (चौदहवीं शती), 'षडावश्यक बालावबोध' (1354), 'पृथ्वीचंद्रचरित्र' (1421), 'धनपालकथा' (पंद्रहवीं शती), 'तपोगच्छ गुर्वावली' (1425), 'अचलदास खीची री वचनिका' (1428, गद्य-पद्य), 'अंजनासुंदरी-कथा' (सोलहवीं शताब्दी)। इनमें प्रथम, द्वितीय तथा पंचम जैन धर्म संबंधिनी और शेष चार ललित गद्य की कथात्मक-वर्णनात्मक रचनाएं हैं। इन चारों रचनाओं में प्रायः तुकमय और यत्रतत्र काव्यात्मक, गद्य व्यवहृत है। 'वचनिका' संज्ञक रचना में, जिसका रचयिता शिवदास चारण है, अचलदास खीची की वीरता का वर्णन है। इन चार में भी वचनिका के अतिरिक्त शेष तीन रचनाएं जैन धर्म से किसी-न-किसी रूप में संबद्ध हैं। राजस्थानी गद्य के निर्माण में जैन लेखकों का विशेष योग रहा है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'षडावश्यक बालावबोध' में, जो तरुणप्रभ सूरि-कृत अनूदित व्याख्यात्मक ग्रंथ है, जैन धर्म संबंधी शिक्षात्मक कथाएं हैं। 'तपोगच्छ गुर्वावली' में तपोगच्छीय जैन आचार्यों की नामावली और उनका वर्णन है। इसका गद्य यत्रतत्र अलंकृत और सानुप्रास है।

'षडावश्यक' के अतिरिक्त भक्तिकाल में 'उपदेशमाला', 'शीलोपदेशमाला', 'योगशास्त्र', 'षष्टिशतक' आदि और भी बहुत से ग्रंथों पर 'बालावबोध' शीर्षक कथात्मक व्याख्याएं लिखी गयीं। 'टबा', 'वृत्ति' और 'अवचूरि' नामक टिप्पणियां भी लिखी गयीं। टीकाएं भी प्राप्त हैं। चरित्र-ग्रंथों और कथा-ग्रंथों के अतिरिक्त वातों, वार्त्ताओं, दवावैतों, वचनिकाओं, ख्यातों, वंशावलियों, पीढ़ियों, पत्रों, गुर्वावलियों, जैन-पट्टावलियों और दफ़्तर-बहियों के रूप में मध्यकाल में राजस्थानी में ललित अललित दोनों प्रकार का गद्य प्रचुर परिमाण में लिखा गया। वात-साहित्य भक्तिकाल तक प्राय: मौखिक रूप में रहा। 'वार्ता' संज्ञक कथात्मक रचनाएं, 'दवावैत' संज्ञक रचनाएं, ख्यात और पीढ़ियां भक्तिकाल के बाद की हैं।

उल्लिखित रचनाओं में साहित्यिक दृष्टि से 'पृथ्वीचंद्रचरित्र' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। माणिक्यसुंदर सूरि की इस रचना में राजा पृथ्वीचंद्र के चरित्र, रत्नमंजरी से उसके प्रेम और द्वीप, नदी, पर्वत, नगर, राजसभा, सेना आदि का वर्णन है। इनमें प्रयुक्त गद्य शुद्ध और तुकमय दोनों प्रकार का है।[21] 'अचलदास खीची री वचनिका' में भी गद्य अधिकांश में तुकमय है।[22]

उल्लिखित रचनाओं के अतिरिक्त भक्तिकाल की अन्य राजस्थानी रचनाएं हैं : 'आदिनाथ चरित्र', 'कालिकाचार्यकथा' (रचनाकार अज्ञात), 'श्रावकव्रतादि अतिचार'[23] (रचनाकार अज्ञात), 'वस्तुपाल तेजपाल रास' (हीरानंद सूरि-कृत गद्य-पद्यमय रचना), 'सिद्धांतसारोद्धार' (कमलमयंककृत खंडन-मंडनात्मक रचना, जिसमें मूर्तिपूजा का समर्थन है), सोमप्रभ सूरि-कृत 'औक्तिक', मेरुसुंदरोपाध्याय-रचित 'प्रश्नोत्तर ग्रंथ', किसी अज्ञात नाम लेखक का 'सम्यक्त्व के दस भेद', 'कल्याण मंदिर स्तोत्र' की अवचूरि, 'दशवैकालिक सूत्र' की अवचूरि (ये दोनों व्याख्यात्मक हैं), 'गणितसार' 1392 ई., राजकीर्ति मिश्र की संस्कृत-रचना का श्रीधर-कृत अनुवाद; मापों, बाटों और सिक्कों की चर्चा, 'मुग्धावबोध मौक्तिक टीका' (1393 ई., एक संस्कृत-व्याकरण की टीका), 'कोकशास्त्र बालावबोध' कोकशास्त्रविषयक रचना की टीका', 'गणितपंचविंशतिका बालावबोध' (शंभूदास मंत्री), 'उक्तिसंग्रह भाष्य' (तिलक पंडित, व्याकरण)।

मारवाड़ी की भक्तिकालीन स्वतंत्र (मौलिक) गद्यमय और गद्य-पद्यमय रचनाओं में वंशावली, पट्टावली, गुर्वावली और पीढ़ियावली नामक रचनाएं भी उल्लेखनीय हैं। ये रचनाएं इतिहास के अनेक सूत्र प्रस्तुत करती हैं। सोलहवीं शती की 'राठोड़ां री वंशावली' प्रसिद्ध है। जैन गुर्वावलियां और जैन पट्टावलियां भी प्राप्त हैं। ख़्यातों की अपेक्षा वंशावलियां, पट्टावलियां और पीढ़ियावलियां प्राचीनतर हैं। वंशावलियों में राजाओं के राज्य-लाभ और जन्म-मरण के संवतों का निर्देश तथा महत्त्वपूर्ण घटनाओं की चर्चा है।

प्राचीन राजस्थानी के कुछ आज्ञापत्र, सनदपत्र और ताम्रपत्र भी प्राप्त हैं। पंड्या जी द्वारा प्रकाशित पृथ्वीराज और राज समरसी संबंधी पत्रों के अतिरिक्त 1272 ई. ( ?) की एक मेवाड़ी सनद, 1475 तथा 1532 ई. के दो ताम्रपत्र और 1536 ई. की एक भित्ति-प्रशस्ति प्राप्त है।

भक्तिकाल में प्राकृत-संस्कृत के 'षडावश्यककरण', 'उपदेशमाला', 'शीलोपदेशमाला', 'गौतम पृच्छा', 'कल्याण मंदिर स्तोत्र', 'भक्तामरस्तोत्र', 'सूयगडांगसुत्त', 'दशवैकालिक सूत्र' आदि ग्रंथों की गुजराती-मारवाड़ी व्याख्याएं बालावबोध, टबा, वृत्ति और अवचूरि नाम से लिखी गयीं। सिद्धांत-ग्रंथों और आगमों की भी व्याख्याएं मिलती हैं। कुछ टीका-ग्रंथ भी प्राप्त हैं। इस समय के प्रमुख बालावबोधकार हैं : तरुणप्रभ सूरि, सोमसुंदर सूरि, पार्श्वचंद्र सूरि, मेरुसुंदर, जयशेखर सूरि,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हेमहंसगणि, शिवसुंदर पर्वतधर्मार्थी। टीकाकारों में 'समयसार कलश टीका' के निर्माता पांडे राजमल्ल का नाम उल्लेख-योग्य है। कुशलधीर-कृत 'वेलि क्रिसन रुषमणी री टीका' भक्तिकाल के अंत की टीका है।

संक्षेप में, भक्तिकाल में साहित्यिक (ललित) गद्य बहुत कम परिमाण में रचा गया। इस समय की ललित गद्य रचनाओं की संख्या बीस से अधिक नहीं है। भक्तिकाल के सामान्य गद्य का परिमाण विशाल नहीं है। बौद्धिक-व्यावहारिक जीवन के अपेक्षाकृत कम विकसित होने, तत्कालीन जनमानस के आज की अपेक्षा अधिक भावुक, काव्यप्रिय और धर्मनिष्ठ होने; भक्ति आंदोलन की तीव्रता; संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की पद्य-प्रश्रय-प्रवृत्ति; प्रेस के अभाव, काग़ज़ की कमी; साहित्य को कंठस्थ करने की परंपरा और राजस्थानेतर विभाषाओं में व्याख्यानुवाद की प्रवृत्ति प्रबल न होने के कारण गद्य का विकास भक्तिकाल में न हो सका। साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए पद्य ही इस समय तक प्रमुख और विशिष्ट माध्यम था। गद्य का उपयोग अधिकतर सिद्धांत-निरूपण, धार्मिक-दार्शनिक चर्चा, गूढ़ विषयों के स्पष्टीकरण और व्याख्या के लिए होता था। यों विधाओं और विषयों की संख्या सरल नहीं है, परंतु आधुनिक गद्य के विधा-विषय-वैविध्य की तुलना में वे नगण्य प्रतीत होते हैं।

भक्तिकाल का खड़ीबोली गद्य प्राय: मिश्रित रूप है। वह ब्रजभाषा से और पंजाबी अथवा राजस्थानी से पर्याप्त रूप में प्रभावित है। दक्खिनी गद्य के अतिरिक्त, जिस पर फ़ारसी-अरबी का विशेष प्रभाव है, संस्कृत की तत्सम शब्दावली का आग्रह थोड़ा-बहुत सर्वत्र मिलता है। दक्खिनी की भी अनेक रचनाओं मे संस्कृत के तत्सम व अर्धतत्सम शब्द प्रयुक्त हैं। अपभ्रंश-शैली के उद्वृत्त शब्दरूप भी कुछ रचनाओं में प्रयुक्त हुए हैं।

गद्यात्मकता की दृष्टि से भक्तिकाल का गद्य स्थूलत: द्विविध है—तुकमय पद्याभास गद्य और तुकरहित शुद्ध गद्य। तुकमय गद्य की प्रवृत्ति राजस्थानी, दक्खिनी, खड़ीबोली आदि प्राय: सभी विभाषाओं में रही है। गद्य के साथ-साथ और पद्य के बीच गद्य रखने की परिपाटी भी प्रचलित थी। गद्य-पद्य के समावेश की दृष्टि से इस समय की रचनाएं सामान्य रूप से तीन प्रकार की हैं : (*अ*) पूर्णत: गद्य की रचनाएं, (*आ*) गद्यप्रधान रचनाएं, जिनमें पद्य भी यत्रतत्र प्रयुक्त है, (*इ*) पद्यप्रधान रचनाएं, जिनमें गद्य यत्रतत्र लिखा गया है। आकार की दृष्टि से देखें तो कुछ रचनाएं काफ़ी बड़ी हैं, कुछ संक्षिप्त और कुछ बहुत छोटी अर्थात दो-तीन पृष्ठों की हैं।

## संदर्भ

1. 'गोरखसार' आदि ग्रंथों में प्रयुक्त 'वह', 'करि चुकौ', 'जा मनुष्य कौ मन', 'तिनको दंडवत है', 'होतु है' आदि रूप और प्रयोग इन रचनाओं को परवर्ती सिद्ध करते हैं।
   डॉ. बड़थ्वाल द्वारा 'गोरखबानी' के परिशिष्ट में प्रकाशित 'महादेव गोरषगुष्टि' और 'शिष्ट पुराण' भी भक्तिकाल की रचनाएं प्रतीत होती हैं। 'महादेव गोरषगुष्टि' में अनेक प्राचीन रूप प्रयुक्त हैं, यथा : उतपते, कथंति, अनुसरै, भोगवै, कथितं, भ्रमते। साथ ही कुछ अर्वाचीन रूप भी हैं, यथा : आपकी, ये, दाहिणे, पांच, से।
2. 'मूल स्थान की वार्ता' शीर्षक रचना की प्रामाणिकता भी अनिश्चित है।
3. इसमें प्रश्नोत्तर-शैली में प्रेम-नेम के लक्षणों, राधावल्लभीय प्रेम-दर्शन, प्रेम, विरह, काम, मान, रसिक और अनन्यता की व्याख्या करते हुए, ऐश्वर्य, ज्ञान, माहात्म्य आदि आवरणों से दूर रहने की शिक्षा देते हुए विधि-निषेध के प्रपंचाचार का निर्णय और विवेक-विवेकी की विवेचना की गयी है। भाषा तत्समनिष्ठ है, साथ ही प्रवाहपूर्ण, अकृत्रिम और सरल; यथा—'प्रेम को निज रूप चाह, चटपटी, अधीनता, उज्ज्वलता, कोमलता,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्निग्धता, सरसता, नूतनता, सदा एकरस। रुचितरंग बढ़त रहैं। सहज, सुछंद, मधुरता,मादकता जाकौ आदि अंत नाहीं, छिनछिन नूतनता, स्वाद अरु नेमं अनेक भांति हैं।...जहां संयोग में देखत-देखत विरह रहे तहां या सूक्ष्म विरह की समाई नहीं। सब रस, सब सिंगार, सबके प्रेम, सब नेम मूरति धरै श्री किशोर-किशोरी जू कौ सदा सेवत रहत हैं।'

4. 'अष्टयाम' में राम की दिनचर्या का वर्णन है। इस रचना में 'करत भए', 'बैठए भए', ऐसी पंडिताऊ क्रियाएं और 'छुइ' तथा 'करिकै' ऐसे पूर्वकालिक कृदंत प्रयुक्त हैं। इस रचना की 56 पृष्ठों की एक प्रति छतरपुर-नरेश के पुस्तकालय में सुरक्षित है।
5. बुंदेलखंडवासी श्री बैकुंठमणि शुक्ल द्वारा 1623 ई. के आसपास लिखित 'वैसाख महातम' (वैशाख माहात्म्य) और 'अगहन महातम' (अगहन माहात्म्य) शीर्षक धार्मिक कथा-पुस्तकों का निर्माण ओड़छा-नरेश जसवंतसिंह की प्रेरणा से रानी चंद्रावती के 'धरम पढ़िवे के अरथ' किया गया था। भाषा इन ग्रंथों में भी पंडिताऊ 'करत भए' शैली की है। 'पृथ्वी विषै', 'नजीक आए की', 'उताइल कै', 'सभा तै उठि आगे होइ लये' जैसे पुराने प्रयोग पर्याप्त हैं, जो इन रचनाओं को प्राचीन सिद्ध करते हैं। बुंदेली प्रवृत्तियां भी हैं। यत्रतत्र खड़ीबोली के भी रूप हैं : 'ब्रह्मा की सभा से उठि कै सुमेर पर्वत को गये।'
6. डॉ., हीरालाल द्वारा नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग 6, सं. 1982 में उल्लिखित और प्रकाशित। इनमें भाषा इस प्रकार की है :

   '...तत्समये दामविजाई व मंडवा वा ढाई व दरजी ऐ रकमौ...जु कोई इस बरिस व इस देश थी इन्ह मह लेहि दमड़ा पैसा मांगे लेई सु अपण दीण थी बेजाट होइ मुसलमान होइ दमड़ा लेइ तिसहि सुवर की सौंहा हिंदू होइ लेइ तिसहिं गाई की सौहा।'—(शाही इश्तिहार) '...पं. देवब्रह्म रोचिया के जेठोहो पुत्र परोखी भौ ते की महासती। तेको गातो लिख्यते तेकी दिसा कौ यह महेस की स्थापणा तथा अमराई ठर्रक...' (सती लेख)।
7. इनकी भाषा के नमूने के रूप में ये अवतरण द्रष्टव्य हैं :

   (अ) ''इनबातन को ब्यौरो कहां तांई लखिए कहां तांई कहिए। वचनातीत इंद्रियातीत ज्ञानातीत तातैं यह विचार बहुत कहा लिखहिं' जो ज्ञाता होइगो सो थोरी ही लिख्यो बहुत करि समुझैगो जो अज्ञानी होयगो सो यह चिट्ठी सुनैगो सही परंतु समुझेगा नाहीं।''—परमार्थ वचनिका

   (आ) ''इहां कोऊ उटंकना करतु है कि तुम कह्यो जु ज्ञान को जाणपनौ अरु चरित्र की विशुद्धता दुहुरयो निर्जरा हे सुज्ञान के जाणपनौ सो निर्जरा यह मानी। चरित्र की विशुद्धता सौं निर्जरा कैसे।''—उपादान निमित्त की चिट्ठी।
8. डॉ. हरिहरनाथ टंडन ने इन वार्त्ता-ग्रंथों के तीन रूपों की चर्चा की है : प्रसंगात्मक वार्त्ताएं, संख्यात्मक वार्त्ताएं, और भावनात्मक वार्त्ताएं। उनके अनुसार प्रसंगात्मक सबसे पहले की, संख्यात्मक उसके बाद की और भावनात्मक सबसे बाद की है।—वार्त्ता साहित्य, पृ. 124
9. प्रभुदयाल मीतल—सूरदास की वार्त्ता, परिशिष्ट, पृ. 74
10. इनके नाम से प्रसिद्ध वार्त्ता ग्रंथों में प्रमुख हैं : 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता', 'षटऋतु वार्त्ता', 'भावसिंधु वार्त्ता', 'नित्यसेवा प्रकार', 'रहस्य भावना', 'उत्सव भावना' और 'श्रीनाथ जी के स्वरूप की भावना'।
11. देखिए, 'हितामृतसिंधु', संपादक—श्री हित गोवरधनदास, पृ. 1-2
12. चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता (तीन जन्मवाली), ग्रंथ-परिचय, पृ. 23
13. देखिए, 'हिंदी अनुशीलन', वर्ष 9, अंक 1-4
14. इस रचना के प्रकाशित पाठ में अपभ्रंश की प्रवृत्तियों का सर्वथा अभाव है। दूसरी ओर 'ऊपर विराजमान हो रहे', 'भरने लगा है', 'करके', 'बैठ जाया करें', 'जिनकी बैठक नहीं', 'पकड़-पकड़ के', 'इतना सुनके', 'चारण को दिया', 'हो गया', 'हुआ' ऐसे अर्वाचीन प्रयोगों और रूपों का समावेश इसे परवर्ती सिद्ध करता है। 'करके', 'सुनके' ऐसे पूर्वकालिक कृदंत अठारहवीं शती की भी खड़ीबोली-रचनाओं में बहुत कम प्राप्त होते हैं। श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या द्वारा प्रकाशित इस लेख की प्रति इस समय अप्राप्त है।
15. कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं :

   (अ) ''ऐसा कुतुबदी साहजादा दिल्ली बीच पिरोसाह पातस्याह का साहजादा भया। दांवलदांन फकीर की लड़की साहिबा से आसिक रहया। बहुत दिनां प्रीत लागी। दुखपीड आपदा सहुभागी। पीरोसाहि का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तख़्त पाया। साहजादा साह कहाया। यह सिफ्त कुतुबुद्दीन साहजादे की पढ़ै। बहुत ही वज़न सुख से बढ़ै। यह बात शाह जुग से रही। ढढणी ने जोड़ कर कही।''—कुतुबशत

(आ) ''सूरजू उद्यचल ऊपरि उदै होता है। अस्ताचल ऊपरि अस्तु होता है। सूरज चलते ही सिख्या दोह सहस्र जोजन एक निमिष महि सूरज चलता है। देवते रछिया करते हैं। शब्द सुनते हैं। परु अखों देखते न हैं। अमीजल अंचवते हैं।''—भोगलु पुरान

(इ) ''गेणेस बुज गोरष कहै। स्वामी जी तूम काहां त आया। काहा तुमाहारा नाव। अवधू हम निरत्रतं आया। जोगी है मारा नाव। स्वामी जी जोगी ते तो कून बोलिवे। स्वामी पृथ्वी का कोंण बरण, आपका कोंण बरण, तेज का कोंण बरण, बाई का कोंणबरण, आकास का कोंण बरण।''—गोरषगणेस गुष्टि

(ई) ''तब राजे जनक कहिआ। जि सुनिए जी राम जनहु। राज महि जोगु इव होता है। जिव दाई पूत कउ पिलावती है। चुंघावती है। नहवावती है। नाभ चटती है। भाव करती है। वेलावती है। बसत्र पहिरावती है। नीके करि राषती है। माता कउ चिंता उसके राषने षिलावने की काई नाहीं होती। चिंता बालक की दाई ही कउ होती है। दाई बालक को महा हेत करि-करि राषती है पण जी जाणती है कि पूतु मेरा नाहीं। मुझ कउ षिलावणा राषणा मिलिआ है। तिउ साध पुरुष ग्रसत राज महि ऐसे ही रहते हैं।''—मिहिरवानु, पोथी सचुषंड

16. 'मेराजुल आशिकीन' की प्रामाणिकता पर इधर संदेह किया जाने लगा है। प्राचीन दक्खिनी गद्य की अनेक रचनाओं की प्रामाणिकता संदिग्ध है। उत्तर भारत के सूफ़ी संत जहांगीर अशरफ़ समनांनी की उर्दू-रचना 'अखलाको तसव्वुफ़' और दक्खिनी के शेख ऐनुद्दीन गंजुलइज्म और शाह मीरां जी शम्सुल उश्शाक के नाम से प्रसिद्ध दक्खिनी पुस्तकों की भी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

17. दक्खिनी की इन रचनाओं की भाषा अनेक दृष्टियों से भिन्न होने पर भी उत्तर भारत की खड़ीबोली के अत्यंत निकट है :

(अ) ''इसका माना तहक़ीक़ ख़ुदा मिन्नत किया है मुसलमानां होर मुसलमानां की औरतां को तुमारे तनां में मुहम्मद का नूर रखिया हूं सो तुर्मी बूझो होर जानो हरेक पराई पछांत करना वाजियब है, ये बड़ी न्यामत है।''—मेराजुल आशिकीन

(आ) ''दुवा मांगने का तरीका यों है के हातां दोनों दराज करे। खांदयां के मुकाबिल होर दोनों हातां के दरमियानी खड्डा अछे होर दुआ मांगे बाद अज मू पर सूं हातां उतारे यो सब सुन्नत है।'' अहकामुस्सलात

18. ''न आफत देखे न जलजला, अपे भले ता आलम भला, किसी कूं बुरा बोलना यो बिसवास है, भलाई बुराई सब अपने पास है। आपे चल नीं जानते, दुसयां पर बुरा मानते, अव्वल अपनी ख़बर में आपे रहना, पीछे दुसयां कूं बुरा कहना, जिनें अपसकूं पछान्या, उने सब जान्या, जिधर ढलना है, उधर अक्ल के उजाले में चलना है।'' सबरस

19. मेवाड़ी का प्रयोग राणा कुंभा के नाटकों में यत्रतत्र और 'वेलि' की वल्लया टीका में हुआ है। मालवी में भी कुछ पट्टे, परवाने प्राप्त होते हैं।

20. कुछ व्यक्ति 'राउल वेल' या रोड-कृत शिलालेख को राजस्थानी की प्राचीनतम गद्य-रचना मानते हैं। परंतु यह अपभ्रंश की रचना है।

21. उद्धरण—''मधुर ध्वनि मेघ गाजइ। दुभिक्ष तणा भय भाजइ। जाणे सुभिक्ष भूपति आवतां जयढक्का बाजह। चहुं दिशि बीज झल हलइ, पंथी गरभणी पुलह। विरीत आकाश, सूर्य चंद्र परिपास राति अंधारी लबइ तिमिरी। उत्तर नउ ऊनयण, छायउ गयण। दिसि घोर नाचइं मोर। सधर बरसई धराधर। पाणी तणा प्रवाह खलहलइं, वाड़ि ऊपर वेल वलइं।''

22. उद्धरण—''महाराज मांगियों सो पायों। बाचा बंधोसुरताण पातसाह आयो। रावजी खत्री धरम रो क्रितारथ कीजै। लंका प्रमाण गढ़ि गागुरण लीजै। मीर मुग़ल साके आण धमधमो उठायो। गढ़ि प्रमाण मोरचो बणायो। धारा पनड़ा बखड़ा उजड़ा पमाय तेल ले हाम पड्या। इग्यारे हजार नर खलहाण, हिंदू मुसलमांण।''

23. 'श्रावक बृहदतिचार' शीर्षक एक रचना जयशेखर सूरि के नाम से प्राप्त है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अध्याय : 8

# भक्तिकाल की उपलब्धियां

मध्ययुगीन हिंदी साहित्य का पूर्व मध्ययुग भक्तिकाल के नाम से अभिहित किया जाता है। 'भक्तिकाल' शब्द ही अपने प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने वाला है अर्थात इस काल में भक्तिपरक रचनाओं की प्रधानता रही है। कुछ विद्वानों ने इस काल को हिंदी साहित्य का 'स्वर्णयुग' कहा है। उनकी दृष्टि में हिंदी काव्य का श्रेष्ठतम अंश इसी काल में उपलब्ध होता है। वस्तुतः निर्गुण और सगुण धाराओं में प्रवाहित होने वाला यह काव्य गुणवत्ता और परिमाण दोनों दृष्टियों से अत्यंत समृद्ध है। काव्य-विधाओं के आधार पर भी इस काल को हम अन्य कालों के काव्य से अधिक समृद्ध पाते हैं। जिस समय इस काल के लिए 'स्वर्णयुग' शब्द का प्रयोग किया गया था, तब उन विद्वानों के समक्ष वर्तमान युग का प्रचुर साहित्य नहीं था अर्थात यह शब्द आज से लगभग अर्द्धशताब्दी पूर्व प्रयोग में आया था और तत्कालीन सीमाओं में भक्तिकाल से श्रेष्ठ काव्य की कल्पना करना संभव नहीं था।

**निर्गुण संतकाव्य :** भक्तिकाल का प्रारंभ निर्गुण संत-काव्य से होता है। इस धारा के कवियों में उन संत-कवियों का स्थान है, जिन्होंने एकेश्वरवाद में आस्था व्यक्त करते हुए निर्गुण-निराकार ईश्वर की भक्ति का संदेश दिया। भक्ति के क्षेत्र में ये संतकवि भारतीय निर्गुण-भावना के समीप होते हुए अद्वैत दर्शन के प्रतिपादक थे, किंतु दर्शन की मात्र पीठिका ही उन्हें स्वीकार्य थी, दार्शनिक मतवाद या भेदाभेद के प्रपंच से उनका साक्षात कोई संबंध नहीं था। सामाजिक स्तर पर इन संतों ने पाखंड एवं अंधविश्वासों का पूरी दृढ़ता के साथ खंडन किया। मिथ्या आडंबरों के प्रति जैसी अनास्था इन संत कवियों ने व्यक्त की, वैसी न तो पहले कभी कोई समाजसुधारक कर सका था और न ही परवर्ती युग में ही किसी का वैसा साहस हो सका। इन संत-कवियों का एक बड़ा भाग निम्नवर्ग से संबंध रखता था, किंतु आचरण की पवित्रता और आचरित सत्य की प्रतिष्ठा के कारण इनकी वाणी का प्रभाव समाज के उच्चवर्ग पर भी पड़ा था। निर्गुण-संतों के द्वारा तत्कालीन समाज में एक प्रकार की वैचारिक क्रांति का उदय हुआ और परंपरागत रूढ़िवादिता पर इन्होंने गहरा प्रहार किया। विद्वान दार्शनिक पंडितों का प्रभाव एक सीमित शिक्षितवर्ग तक था, किंतु इन कवियों की वाणी का प्रभाव सामान्य जनता पर भी पड़ा और समाज के सभी वर्गों के व्यक्ति इनसे प्रभावित हुए।

संत-कवियों के पास धर्म, दर्शन, भक्ति और चरित्रनिर्माण के लिए अपना निजी संदेश था। धर्म के क्षेत्र में संकीर्णता के ये घोर विरोधी थे, दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतदृष्टि से एकेश्वरवाद के समर्थक थे; भक्ति के क्षेत्र में ये कर्मकांडरहित निष्ठा और समर्थन में विश्वास रखते थे और चरित्र विकास के लिए आचरित सत्य को जीवन-निर्माण की कसौटी मानते थे।

इसके साथ ही संतों में समन्वयदृष्टि का स्वस्थ रूप से विकास हुआ था। कबीर, नानक, दादू, हरिदास निरंजनी आदि संतों ने जिस रूप में अपने विचार व्यक्त किये है, उनका आधार कोई एक विचारधारा या मतवाद नहीं है। अद्वैतवाद, वैष्णवों की भक्तिभावना, सिद्धों, नाथों की सहज, सरल

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

साधना आदि का जिस पद्धति से इन्होंने समन्वय किया था, वह सर्वजनसुलभ थी, फलतः सामाजिक स्तर पर इनका समन्वय ग्राह्य बन गया था। संतों ने शास्त्रवचन को प्रमाण नहीं माना। शास्त्र की अवहेलना एक कठोर चुनौती थी, लेकिन अनुभूति को प्रमाण मानने से शास्त्रमर्यादा भी शिथिल हो गयी। मानव को परंपरागत रूढ़ शास्त्रपरंपरा से मुक्ति केवल इन निर्गुण संत-कवियों की आत्मानुभमयी दृढ़ वाणी से ही मिली थी। वस्तुतः ये कवि अपने युग के मिथ्याडंबरों और धार्मिक रूढ़ियों के खोखलेपन से परिचित हो कर ही सत्य उद्घाटन का साहस कर सके थे। जिसे एक के बार सत्य का बोध हो जाता है, वह किसी मिथ्या या अननुभूत तथ्य को प्रमाण नहीं मानता।

इस युग के संत-कवि ईश्वर की सत्ता और सर्वशक्तिमत्ता में अटूट विश्वास रखने के कारण अत्यंत निर्भीक, स्पष्टवादी, साहसी और सत्यवादी थे। किसी भी धर्म की मिथ्या धारणाओं का खंडन करते समय इनके मन में भय का संचार नहीं होता था। कबीर ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा था कि मैं चौराहे पर सिर पर कफ़न बांध कर खड़ा हूं, सत्य को प्रकट करते समय मुझे किसी का भय नहीं है; जिसमें सत्य को प्रकट करने का साहस हो, वह मेरे साथ आये। ऐसे क्रांतिकारी विचारों का उद्बोध करना, उस युग में संभव हो सका, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है।

यह ठीक है कि इन कवियों ने काव्यशास्त्र का अध्ययन नहीं किया था, जीवन के विद्यालय में सत्य और अनुभूत सत्य का पाठ ही पहले पढ़ते रहे, किंतु कविता के माध्यम से इन्होंने जो कुछ लिखा, वह काव्यहीन भी नहीं है। जिस साधारण और सहज भाषा को इन्होंने अपनाया था, वह जनभाषा थी और साधारण जनता के अधिक निकट होने के कारण लोकप्रिय थी। इस भाषा की लोकप्रियता का यही प्रमाण है कि इनकी रचनाएं जनता के दैनिक व्यवहार और बोलचाल में सूक्तियों के रूप में स्थान पा गयी हैं। आज भी इन संतों की उक्तियों का प्रयोग हम व्यावहारिक भाषा में करते हैं।

एक बात और ध्यातव्य है। इन संतों ने अपने युग में जिन धारणाओं और मान्यताओं का खंडन किया, उन्हीं को इनके नाम पर परवर्ती युग में पंथ या मत के रूप में स्थान मिला। कबीरपंथ, नानक पंथ, मलूकदासी, शिवनारायणी आदि पंथों का उदय इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि संतों की साधना उनके बाद पुनः पूजा का विषय बन गयी। गुरुपूजा तो इन पंथों में अनिवार्य ही हो गयी। नानक के नाम से सिखमत का उदय हुआ, तो कबीर के नाम से कबीरपंथ चल पड़ा। वस्तुतः जनता की मनोवृत्ति अंधानुकरण की होती है। वीरपूजा की भावना भी उसे पंथ बनाने में प्रेरक होती है। इसी मताग्रह के कारण परवर्ती शिष्य-परंपरा मूल उद्देश्य से दूर जा पड़ती है। यदि निर्गुण-संत काव्यपरंपरा के भक्तकवियों की वाणी के मूल उद्देश्य पर विचार किया जाये, तो वह मानव-समाज के सामूहिक कल्याण की वाणी है। दूसरे शब्दों में, उसे धर्मनिरपेक्ष सत्योन्मुखी वाणी कह सकते हैं। संतों ने तथाकथित जाति या वर्णव्यवस्था को स्वीकार न कर मानवमात्र को एक धरातल पर खड़ा किया था। उनकी दृष्टि में मानववाद ही एक ऐसा स्तर था, जिस पर समाज की व्यवस्था संभव थी। जिस लक्ष्य को ये संतकवि प्राप्त करना चाहते थे, वह सार्वजनिक हित से समन्वित सर्वजनसुलभ ध्येय था। अतः अपने युग में इन्होंने एक व्यापक वैचारिक क्रांति को जन्म दे कर भारतीय जनता के समक्ष एकेश्वरवाद, सदाचार, सत्य, ममता और शाश्वत धर्म का आदर्श प्रस्तुत किया था। अवतारवाद, पूजा-सेवा, रोजा, नमाज, मंदिर-मस्जिद, तीर्थ-व्रत आदि को इन्होंने स्वीकार नहीं किया।

**प्रेमाख्यानक काव्य :** निर्गुण संतकवियों के साथ ही उस युग में एक दूसरी काव्यधारा भी प्रवाहित हो रही थी, जिसे हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में 'प्रेमाख्यानक काव्य' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस धारा के कवियों का विस्तारपूर्वक पहले वर्णन किया गया है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भक्तिकाल को 'स्वर्णयुग' बनाने में इस धारा के कवियों का योगदान भी किसी से कम नहीं है। प्रेमाख्यानक काव्य की दो धाराएं प्राप्त होती हैं : एक धारा के कवि आध्यात्मिक प्रेम अर्थात ईश्वरीय प्रेम का वर्णन करने में अपने कविकर्म की सार्थकता समझते हैं, दूसरी धारा के कवि लौकिक प्रेम के आख्यानों को कविता के माध्यम से अंकित करते हुए उसे किसी अन्य लोक की अथवा अध्यात्म की कथा नहीं बनाते। इस दूसरी धारा के कवियों को हिंदी साहित्य में वह श्रेष्ठ स्थान प्राप्त नहीं हो सका, जो पहली धारा के कवियों को प्राप्त है।

आध्यात्मिक दृष्टि से संपन्न प्रेमाख्यानकारों में सूफ़ीसंप्रदाय से संबंध रखने वाले संतों का बाहुल्य है। इन संतों ने भारतीय हिंदू जनता में प्रचलित कथाओं के आधार पर प्रबंधकाव्यों की रचना की और हिंदू धर्म में स्वीकृत देवी-देवताओं का भी अपने काव्यों में उल्लेख किया। भारतीय जन मानस में व्याप्त प्रेमकथाओं का स्वीकार करने का संभवतः यही प्रमुख कारण था कि हिंदू जनता भी सूफ़ी-प्रेमाख्यानकाव्यों से कथा के स्तर पर तादात्म्य कर सके। कुछ विद्वानों ने एक अन्य प्रच्छन्न कारण की कल्पना की है। उसके मतानुसार सूफ़ी संत कवि इस्लाम धर्म के प्रचार के लिए काव्य प्रणयन में लीन हुए थे। किंतु, इन प्रबंधकाव्यों के अनुशीलन से ऐसा कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। हां, एकेश्वरवाद की भूमि पर इस्लाम की भावना की प्रतिष्ठा अवश्य होती है। मुल्ला दाऊद, जायसी, कुतुबन, मंझन, उस्मान, शेख नबी आदि सूफ़ी-कवियों के काव्य तथा हिंदू कवियों में नन्ददास, नारायणदास, पुहकर आदि की रचनाएं आध्यात्मिक प्रेमाख्यानककाव्यपरंपरा में प्रमुख हैं। दक्खिनी हिंदी में भी प्रेमाख्यानक परंपरा में लिखे आख्यानकाव्य उपलब्ध होते हैं। निजामी मुल्ला वज़ही, गवासी, तवई आदि दक्खिनी हिंदी के प्रसिद्ध कवि हैं।

सूफ़ी प्रेमाख्यानकपरंपरा के कवि निर्गुणोपासक थे, किंतु ईश्वर विषयक वर्णनों में प्रतीकात्मक शैली को स्वीकार करने के कारण सगुण का आभास भी उनके काव्य में प्राप्त होता है। सूफ़ी-संप्रदाय में आत्मा सदैव परमात्मा की प्राप्ति के लिए व्याकुल रहती है। इस व्याकुलता में ईश्वर का प्रेम ही उसका एकमात्र संबल है। यह प्रिय-वर्णन काव्य में नायक-नायिका के प्रेम-वर्णन के सदृश ही है।

सूफ़ी कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय का प्रयास किया है। यह प्रयास प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में देखा जा सकता है। इतना अवश्य है कि इस्लामी दर्शन और मुस्लिम संस्कृति की श्रेष्ठता पर इन कवियों का ध्यान सतत रहा है। कबीर को यह श्रेय प्रदान किया गया है, किंतु वास्तविकता यह है कि कबीर ने हिंदू मुस्लिम ऐक्य का कोई प्रयास नहीं किया था। यदि यह प्रयास कहीं काव्य के माध्यम से लक्षित होता है, तो इन्हीं प्रेमाख्यानों में ही। काव्य के माध्यम से भावात्मक एकता का यह प्रयास हिंदी भक्ति-साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सूफ़ी कवि जायसी के 'पद्मावत' की समीक्षा करते हुए उसके प्रेम और मानवतावादी प्रभाव को इस प्रकार स्पष्ट किया है : "अपनी कहानियों द्वारा इन्होंने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रखा, जिनका मनुष्यमात्र के हृदय पर एक सामान्य प्रभाव दिखायी पड़ता है। इन्होंने मुसलमान हो कर हिंदुओं की कहानियां, हिंदुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कह कर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखलाया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था, प्रत्यक्ष जीवन की एकता का आभास उन्होंने नहीं दिया। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी रही, वह जायसी द्वारा पूरी हुई।"

संक्षेप में, सूफ़ी संतकाव्य-परंपरा का समस्त काव्य सांस्कृतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक स्तर पर अपने पूर्ववर्ती काव्य से सर्वथा भिन्न, किंतु जनमानस के अति निकट है और समाज को आडंबर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

से मुक्त करने वाला है। उसका संदेश ईश्वरप्रेम के साथ मानवतावाद से भी परिपूर्ण है। भाव और भाषा के धरातल पर यह काव्य सर्वजनसुलभ और संवेद्य है, इसलिए इस काल को 'स्वर्ण काल' कहा गया है।

**सगुण भक्तिकाव्य :** भक्तिकाल का श्रेष्ठतम काव्य सगुण भक्तिकाव्य ही है। सगुण भक्ति का विवेचन करते हुए हमने राम और कृष्ण की भक्ति-परंपरा का विस्तार से वर्णन किया है। उन भक्तकवियों का विवरण भी हमने दिया है, जो किसी संप्रदाय विशेष से संबद्ध न हो कर स्वतंत्र रूप से ईश्वर-भक्तिपरक काव्य लिखने में लीन रहे। यह समस्त वर्णन जनमानस को भक्ति के उस उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित करने वाला है, जहां वह भगवान को अपने अति निकट सगुण रूप में देख सकता है। रूप, गुण, शील और सौंदर्य की मूर्ति भगवान को अपने समीप देख पाने की लालसा भक्त की सहज इच्छा है। इस इच्छा की पूर्ति पहली बार इसी काव्य के माध्यम से हुई।

सगुण भक्तिकाव्य ने मध्ययुगीन हिंदू जनता में जिस रूप में ईश्वर-विश्वास पैदा किया, वह अद्‌भुत और अभूतपूर्व था। हिंदू जाति नैराश्यपूर्ण मनोदशा में जीवित थी, उसके लिए काव्यरूपी संजीवनी का प्रयोग इन भक्तकवियों द्वारा किया गया और वह चमत्कारी सिद्ध हुआ। अवसाद, कुंठा, निराशा और दैन्यभावना से मुक्त हो कर हिंदू जाति ईश्वर के सगुण अवतारी रूप में आश्रय पा सकी, यह भक्तिकाव्य की सबसे बड़ी देन कही जायेगी।

इस काल के भक्तकवियों ने लोकमानस को आश्वस्त करने में माता-पिता, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, पति-पत्नी, भाई-बहन, राजा-प्रजा आदि पारिवारिक एवं सामाजिक संबंधों का वर्णन किया और उनको आदर्श की भित्ति पर प्रतिष्ठित करने में सफलता प्राप्त की। तुलसीदास का 'रामचरितमानस' इस दिशा में सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। लोकमर्यादा की स्थापना के लिए इससे उत्तम ग्रंथ न तो हिंदी में पहले लिखा गया था और न इसके बाद लिखा गया। तुलसी के अन्य ग्रंथ भी भक्ति, प्रेम और समन्वय की दृष्टि से उच्च कोटि के हैं। उन्होंने अपने प्रकार के समन्वय पर बल दे कर समाज को विश्रृंखल होने से बचाया था। शैव, वैष्णव, शाक्त आदि संप्रदायों के आभ्यंतर वैमनस्य को दूर करने का जैसा स्वस्थ एवं संयत प्रयास तुलसी ने काव्य के माध्यम से किया, वैसा हिंदी साहित्य के इतिहास में कभी नहीं हुआ। काव्यरूपों की दृष्टि से भी उन्होंने अपनी प्रतिभा और मेधा का परिचय दिया। उस समय हिंदी कविता में जो काव्यविधाएं प्रचलित थीं, प्रायः सभी का तुलसी ने अपनी रचनाओं में प्रयोग किया। महाकाव्य, मुक्तक, पदशैली, दोहाशैली, कवित्त- सवैयाशैली आदि काव्यरूपों में जैसी सफलता तुलसी को प्राप्त हुई, वैसी किसी अन्य कवि को प्राप्त नहीं हो सकी।

इसी युग में कृष्णभक्त-कवियों की विशाल परंपरा हिंदी साहित्य में उदित हुई। अष्टछाप के कवियों में सूरदास, नन्ददास और परमानन्ददास ने अपनी अद्‌भुत प्रतिभा द्वारा जो काव्यसर्जना की, वह अप्रतिम है। अष्टछाप के कवियों ने मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति को परिष्कृत करने के लिए जो भाव-सपंदा अपने काव्य में प्रस्तुत की, वह अनेक दृष्टियों से समृद्ध और सुंदर है। कुछ आलोचकों ने सूरदास आदि कवियों को सिद्धावस्था का कवि कह कर वह स्थान नहीं दिया है, जो प्रयत्नदशा का वर्णन करने वाले कवि तुलसी को दिया है। सूरदास की भक्ति का आधार पुष्टि अर्थात भगवत्कृपा है। इसी कृपा के सहारे मनुष्य अपने दुःख-दैन्य से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। अनुग्रह और प्रपत्ति का यह मार्ग मानव का सबसे बड़ा संबल है। इस संबल को खोज निकालने का श्रेय इन्हीं कृष्णभक्त कवियों को है।

वैष्णव कृष्णभक्त कवियों की एक बड़ी देन है—सांप्रदायिक स्तर पर कृष्णभक्ति का विविध

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रूपों में पल्लवन। इस काल में वल्लभसंप्रदाय, राधावल्लभसंप्रदाय, निम्बार्कसंप्रदाय, हरिदासी-(सखी) संप्रदाय, गौड़ीयसंप्रदाय आदि अनेक संप्रदायों का प्रवर्त्तन हुआ और इन संप्रदायों के शताधिक कवियों ने राधाकृष्ण की विविध लीलाओं का बड़ी मनोहारी शैली में वर्णन प्रस्तुत किया। इन वर्णनों में भाषा और भाव का सौंदर्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंचा और भक्तजन को उसे पढ़ कर हार्दिक परितोष हुआ।

काव्यशिल्प की दृष्टि से भक्तिकाल का काव्य बहुत ही समृद्ध है। यह ठीक है कि भक्त होने के कारण इन कवियों की मूल प्रेरणा का स्रोत काव्यशास्त्र न हो कर भक्तिभाव ही था, किंतु कुछ संत-कवियों को छोड़ कर रामकृष्ण-परंपरा के सभी कवि उच्च कोटि के कवि थे। काव्यशास्त्र का उन्हें सम्यक् ज्ञान था और उसका प्रयोग भी उनकी रचनाओं में हुआ है। इन कवियों ने छंद और अलंकार का ध्यान रीतिकवियों के समान नहीं रखा, किंतु इस काव्य को छंद-अलंकारविहीन भी नहीं कहा जा सकता। तुलसी और सूर के काव्य में तो अप्रस्तुतविधान का सौंदर्य अपने पूर्ण निखार पर है। शायद ही कोई ऐसा अलंकार हो, जिसका सुष्ठ प्रयोग इन कवियों ने न किया हो। काव्य और संगीत का समन्वित सम्मिश्रण यदि कहीं अपने आकर्षक रूप में हुआ है, तो भक्तिकालीन काव्य में ही। लय, स्वर, ताल, यति, गति आदि की साधना के बाद पदशैली में जो काव्य इन कवियों ने रचा, वह परवर्ती कवियों के लिए अनुकरणीय बन गया। वस्तुतः कृष्णभक्तिकाव्य भगवान को रिझाने के लिए गेय शैली में ही लिखा गया था। संकीर्तन के लिए इन पदों का प्रतिदिन मंदिरों में प्रयोग होता था, अतः संगीत का सन्निवेश इस काव्य में स्वाभाविक था।

काव्यशास्त्र की कसौटी पर यदि इस काल के काव्य की समीक्षा की जाये तो हम देखेंगे कि सौंदर्यविधायक सभी तत्त्व इस युग के काव्य में भरपूर मात्रा में उपलब्ध हैं। रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार, गुण, वृत्ति आदि का प्रयोग इन कवियों ने जिस सहजता के साथ किया है, वैसी सहजता के साथ रीतिकालीन कवि भी नहीं कर सके। रीतिकालीन कवियों का काव्य प्रयत्नसापेक्ष होने से सहज नहीं रह गया है।

भक्ति-भावना को संप्रदाय या मत-पंथों से असंपृक्त रखते हुए काव्यरचना करने वाले श्रेष्ठ कवि भी इस काल में उत्पन्न हुए। मीरा, रहीम, रसखान, सेनापति आदि कवियों का काव्य सांप्रदायिक नहीं है; किंतु भक्ति, ईश्वरप्रेम और प्रकृतिप्रेम जिस उदात्त भूमि पर इनकी रचनाओं में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। मीरा का कृष्णप्रेम अथवा कृष्णभक्ति, समर्पित व्यक्तित्व की सुंदरतम झांकी है। रसखान का कृष्ण और ब्रज के प्रति प्रेम हिंदी साहित्य में अप्रतिम है। रहीम की नीतिविषयक रचनाएं व्यवहार के स्तर पर आदर्श हैं। सेनापति का प्रकृतिवर्णन शुद्ध आलंबन का प्रकृतिवर्णन है, जिसमें प्राकृतिक उपादान सजीव हो उठे हैं। इस प्रकार के सुंदर और संश्लिष्ट प्रकृतिवर्णन रीतिकाल में भी उपलब्ध नहीं हैं।

इस प्रकार गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से कथ्य तथा कथन को पूर्ण उत्कर्ष प्रदान कर आनंद और कल्याण, निःश्रेयस् और अभ्युदय के समन्वय द्वारा इस युग के कवियों ने जो कीर्तिमान स्थापित किये, वे परवर्ती युगों में प्रायः दुर्लभ ही रहे।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

# तृतीय खंड

# उत्तर-मध्यकाल
# अथवा
# रीतिकाल

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अध्याय : 9

# उत्तर-मध्यकाल अथवा रीतिकाल

## नामकरण

हिंदी साहित्य का उत्तर-मध्यकाल (लगभग सन् 1643 ई. से सन् 1843 ई. तक), जिसमें सामान्य रूप से शृंगारपरक लक्षणग्रंथों की रचना हुई, नामकरण की दृष्टि से विद्वानों में पर्याप्त मतभेद का विषय रहा है। मिश्रबंधुओं ने इसे 'अलंकृत काल' कहा है, जबकि आचार्य रामचंद्र शुक्ल इसे 'रीतिकाल' और पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र 'शृंगारकाल' संज्ञा देते हैं। इन अभिधानों में से प्रथम दो के लिए जहां रचना-पद्धति का आधार ग्रहण किया गया है, वहां अंतिम उस युग की रचनाओं के आधार पर है। किंतु इस युग के लिए 'अलंकृत' विशेषण अधिक समीचीन प्रतीत नहीं होता। कारण, मिश्र महोदयों ने इसके समर्थन में जो यह तर्क दिया है कि इस युग की कविता को अलंकृत करने की परिपाटी अधिक थी, वह इसलिए मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह कविता केवल अलंकृत ही नहीं है, इतर काव्यांगों को भी इसमें यथोचित स्थान प्राप्त रहा है। कवियों की प्रवृत्ति भी केवल अलंकारयुक्त रचनाएं करने की नहीं थी। उन्होंने इसकी अपेक्षा रस पर अधिक बल दिया है। हां, संस्कृत-काव्यशास्त्र में 'अलंकार' शब्द विविध काव्यांगों का बोधक अवश्य रहा है। अत: इस अर्थ में यदि 'अलंकार' विशेषण इस युग की काव्यांग-निरूपण-प्रवृत्ति के लिए ग्रहण किया जाये तो असंगत नहीं। पर चूंकि 'अलंकृत' शब्द (क्त प्रत्यय के कारण) इस युग की कविता का ही विशेषण हो सकता है, लक्षणग्रंथों का नहीं, जो प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होते हैं। इसलिए इस युग को किसी सीमा तक 'अलंकारकाल' कहना भी युक्त नहीं हो सकता है। इधर हिंदी में 'अलंकार' शब्द काव्यांगविशेष के लिए ही रूढ़ है, काव्यशास्त्र के लिए गृहीत नहीं होता। अत: व्यवहार, और इसलिए अव्याप्ति के कारण, इसको स्वीकार करना भी संगत प्रतीत नहीं होता।

जहां तक शेष दो विशेषणों—'रीति' और 'शृंगार' का प्रश्न है, वे दोनों ही अपने-अपने स्थानों पर महत्त्वपूर्ण हैं। इस युग के लिए 'रीति' विशेषण का प्रयोग करने वाले आचार्य रामचंद्र शुक्ल तक ने इसे 'शृंगारकाल' कहे जाने में आपत्ति प्रकट नहीं की। किंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि इस युग को 'शृंगारकाल' कहना सर्वथा समीचीन है। इस नाम के पक्ष में जो यह तर्क दिया जाता है कि इस युग के कवियों की व्यापक प्रवृत्ति शृंगार-वर्णन की थी, उसके स्वीकार किये जाने में आपत्ति की जा सकती है। इसमें संदेह नहीं कि इस युग में अधिकांश रचनाएं शृंगारिक ही हैं, तथापि ये आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए ही लिखी गयी हैं। इनका प्रेरक तत्त्व कवियों की कामवासना नहीं, 'अर्थ' है, जो विलासी आश्रयदाताओं से इस प्रकार के काव्य की रचना करके ही प्राप्त किया जा सकता था। वैसे, इस युग में अनेक ऐसे कवि भी हुए हैं जो इस प्रकार के वर्णन करने पर भी अपने कर्म से असंतुष्ट रहे हैं। यथा :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*नृपति नैन कमलनि वृथा, चितवत बासर जाहि।*
*हृदय कमल में हेरि लै, कमलमुखी कमलाहि ॥ 394 ॥* (मतिराम : सतसई)

इसी प्रकार भिखारीदास के इस कथन से कि :

*आगे के कवि रीझिहैं, तौ कबिताई, न तौ*
*राधिका कन्हाई सुमिरन कौ बहानौ है ॥ 1/8 ॥* (भिखारीदास : काव्यनिर्णय)

स्पष्टत: यह ध्वनि निकलती है कि इस प्रकार के शृंगारिक काव्य को वे 'काव्य' कहने में ही संकोच करते थे। गोप, रसरूप, सेवादास आदि कतिपय कवियों द्वारा अपने लक्षणग्रंथों में शृंगार का बहिष्कार भी इसी बात को प्रमाणित करता है कि इन कवियों की मूल प्रवृत्ति शृंगारिक नहीं थी; शृंगारवर्णन के स्थान पर वे अपने ग्रंथों का प्रणयन सामान्यत: काव्यांग-निरूपण के उद्देश्य से ही करते थे। अनेक कवियों ने अपने ग्रंथों में प्राय: यही कहा है कि वे इनका निर्माण दूसरों को काव्यरचना-पद्धति का ज्ञान कराने के लिए कर रहे हैं। उदाहरण के लिए देखिए :

(क) *भाषाभूषण ग्रंथ को, जो देखै चित लाय।*
*विविध अर्थ साहित्य रस, ताहि सकल दरसाय ॥ 212 ॥* (जसवंत सिंह : भाषाभूषण)

(ख) *जान्यौं चहै जु थोरे ही, रसकबित्त को बंस।*
*तिन्ह रसिकन के हेतु यह, कीन्हो रससारंस ॥ 5 ॥* (भिखारीदास : रससारांश)

(ग) *बांचि आदि तें अन्त लों, यह समुझै जौ कोइ।*
*ताहि और रस ग्रन्थ को, फेरि चाह नहिं होइ ॥* (रसलीन : रसप्रबोध)

वस्तुत: इस युग में कवि काव्यांग-चर्चा में उसी प्रकार गौरव का अनुभव करते थे, जिस प्रकार कि ब्रह्मज्ञान विषयक चर्चा भक्तिकाल में जन सामान्य के लिए गौरव की बात हुआ करती थी। ये लोग यद्यपि उस अर्थ में आचार्य नहीं थे, जिसमें कि संस्कृत के काव्यशास्त्रविवेचक आचार्य आते हैं, पर स्वच्छ और सुबोध निरूपण के कारण 'शिक्षक' के अर्थ में तो आचार्य कहे ही जा सकते हैं। इनमें चिंतामणि, कुलपति, दास, प्रतापसाहि आदि तो ऐसे हैं जिन्होंने इस कर्म को अत्यंत मनोयोग के साथ ग्रहण किया है। इनकी रचनाओं में यदि शृंगारिक छंदों का समावेश हुआ है, तो उसका मुख्य कारण इनकी शृंगारिक प्रवृत्ति के स्थान पर विलासी आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के अतिरिक्त शास्त्र के इस रुक्ष विषय को सरस बना कर सुकंठ करने का प्रयत्न ही कहा जाना चाहिए। यदि ये शृंगार-वर्णन को ही अपना उद्देश्य समझते, तो लक्षणों के बंधन में डाल कर अपनी रचनाओं को कहीं-कहीं दूषित अथवा कवित्वहीन न कर बैठते, अपितु स्वतंत्र ग्रंथ भी तो रचे जा सकते थे। बिहारी जैसे कवियों ने इस फेर में न पड़ कर स्वतंत्र रूप से शृंगारिक ग्रंथों की रचना की ही है। किंतु इसके मूल में भी उनकी अपनी शृंगारिक प्रवृत्ति थी, यह नहीं कहा जा सकता। कारण, ये भी विलासी आश्रयदाताओं के लिए ही लिख गये हैं। वैसे इन ग्रंथों की भलीभांति परीक्षा की जाये तो सहज ही स्पष्ट हो जायेगा कि इनके रचयिताओं पर भी काव्यशास्त्र की गहरी छाप है। इन्होंने लक्षण नहीं लिखे, पर उनके अनुरूप अपनी रचनाएं अवश्य की हैं। मतिराम, भूपति, चंदन आदि तो ऐसे हैं, जिन्होंने काव्यशास्त्र के किसी अंग पर कुछ-न-कुछ लिखा भी है। दूसरे, यदि यह स्वीकार कर भी लिया जाये कि इस युग के कवियों की व्यापक प्रवृत्ति शृंगारिक ही थी, तो भी इसे 'शृंगारकाल' कहने में अव्याप्ति दोष होगा, क्योंकि इस दशा में वीर, भक्ति आदि शृंगारेतर रसों में ही रचे गये

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तथा काव्यांग-विवेचन की दृष्टि से लिखित अनेक महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध लक्षणग्रंथ इसकी परिसीमा में न आ सकेंगे। इस संबंध में यद्यपि यह तर्क दिया जा सकता है कि चूंकि इनके रचयिताओं ने थोड़े-बहुत शृंगारिक छंद लिखे हैं, इसलिए ये भी शृंगारकाल की परिधि के भीतर आ ही जाते हैं। किंतु इसे इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि विशिष्ट परिस्थितियों में लिखे गये कतिपय छंद अथवा रचनाएं न तो उनकी शृंगारिक प्रवृत्ति की ही द्योतक हो सकती हैं और न इन ग्रंथों की विषय-भिन्नता के तथ्य से दृष्टि ही फेरी जा सकती है। अतः कह सकते हैं कि इस युग की मूल प्रवृत्ति शृंगारिक नहीं; और इसलिए इसे 'शृंगारकाल' कहना भी अपने आप में युक्तियुक्त नहीं।

जहां तक इस युग को 'रीति' विशेषण सहित प्रयोग में लाने का प्रश्न है, उसके विषय में यह सहज ही कहा जा सकता है कि 'शृंगारकाल' की अपेक्षा यह अधिक वैज्ञानिक और संगत है। कारण, इनमें रीति संबंधी ग्रंथ ही अधिकांशतः नहीं लिखे गये, अपितु इस युग के कवियों की प्रवृत्ति भी ऐसे ही ग्रंथ रचने की थी। इन कवियों ने यदि शृंगारिक छंद रचे भी, तो भी वे सामान्यतः स्वतंत्र रूप से रचित न हो कर शृंगार रस की सामग्री के लक्षणों के उदाहरण होने के कारण रीतिबद्ध ही थे। इतना ही नहीं, रीति-निरूपण की यह प्रवृत्ति अपनी विशिष्ट पृष्ठभूमि और परंपरा के साथ आयी थी। भक्तिकाल में ही काव्यशास्त्र लोगों की चर्चा का विषय बन चुका था। नन्ददास द्वारा 'रसमंजरी' जैसा नायिकाभेद संबंधी ग्रंथ लिखा जाना तथा तुलसी द्वारा 'धुनि अवरेब कबित गुन जाती, मीन मनोहर ते बहु भांती' आदि कहा जाना इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त है। इसके साथ-ही-साथ केशव, रहीम, सुंदर आदि अनेक कवियों ने कवि-चर्चा के इस विषय को अग्रसर किया, जो आगे चल कर साधारण कवियों तक का वर्ण्य विषय होने के कारण इस युग की प्रवृत्ति का द्योतक हो गया। दूसरे, इस अभिधान को स्वीकार कर लेने में सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसकी परिधि के भीतर केवल वे लक्षण और लक्ष्य ग्रंथ ही नहीं आ जाते जो शृंगारिक रचनाओं से युक्त हैं, अपितु वे ग्रंथ भी इसकी परिसीमा के बाहर नहीं पड़ते जो अन्य रसों में काव्यांग-विवेचन के निमित्त रचे गये।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि 'रीतिकाल' संज्ञा भी अपने आप में व्यापक नहीं, क्योंकि घनानन्द, आलम, बोधा, ठाकुर, सूदन आदि वे कवि भी तो इसके अंतर्गत नहीं आ पाते, जिन्होंने अपने काव्यग्रंथों की रचना न तो काव्यांगों के विवेचन के लिए की और न उन पर काव्यशास्त्र का प्रभाव ही रहा। किंतु इसके उत्तर में यह स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि इन कवियों में सूदन, जोधराज प्रभृति गिने-चुने वीर कवि वीरगाथाकाल (आदिकाल) की परंपरा में भी रखे जाने चाहिए; कारण इनकी रचनाशैली उस युग के ग्रंथों की शैली से दूर नहीं है। वर्तमान युग में ब्रजभाषा-काव्य तथा काव्यशास्त्र के अनेक ग्रंथों का प्रणयन हुआ है और अब भी हो रहा है, तो उनके सन्निविष्ट न हो सकने के कारण क्या 'आधुनिक काल' अथवा 'गद्यकाल' अभिधान को अमान्य ठहराया जा सकता है? पुरानी परंपरा के ग्रंथ तो प्रत्येक युग में मिल ही जाते हैं। इसी प्रकार इस युग में वृंद आदि नीति-कवियों की रचनाएं भी भक्तिकाल की मर्यादावादी विचारधारा की परंपरा की द्योतक हैं। उनसे भी 'रीतिकाल' संज्ञा पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़ना चाहिए। ऐसे ही घनानन्द, बोधा आदि कतिपय उत्कृष्ट कोटि के कवियों के विषय में भी कहा जा सकता है कि इन इने-गिने कवियों की पृथक् प्रवृत्ति को 'रीतिमुक्त' नाम दे देने में कोई हर्ज़ न होगा। यदि इनके वर्ण्य विषय को शृंगार कहते हुए इन्हें फुटकल खाते में न डाले जाने की दुहाई दे कर, इनको उचित स्थान दिलाने के लिए ही 'शृंगारकाल' संज्ञा पर बल दिया जाता है, तो इनके विषय में भी यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि इन कवियों का काव्य संस्कृत-काव्यशास्त्र की दृष्टि से विशुद्ध शृंगार की कोटि में नहीं रखा जा सकता। कारण, यह फ़ारसी की प्रेमाभिव्यक्ति की पद्धति का एक प्रकार से भारतीय रूप

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है, जिसे पृथक स्थान ही मिलना चाहिए। इसे न तो 'शृंगारकाल' की परिसीमा में लिया जा सकता है और न 'रीतिकाल' की में ही। इनका अपना पृथक वर्ग था और चूंकि इनकी काव्य-पद्धति का अधिक प्रचलन नहीं हो सका, इसलिए इस काल का नामकरण करने के लिए इन्हें फुटकल खाते में डाल देने से कोई हानि न होगी। यदि किसी आग्रह के कारण इन्हें सम्मिलित करने के लिए इस युग को 'शृंगारकाल' संज्ञा दे भी दें, तो भी भूषण जैसे राजप्रशस्तियों के रचयिता उत्कृष्ट कवि तथा जसवंतसिंह जैसे प्रसिद्ध कवि-शिक्षक आचार्य फुटकल खाते में डालने पड़ेंगे, और यह उतना ही बड़ा अन्याय होगा, जितना कि घनानन्द आदि को फुटकल खाते में डाले जाने की दुहाई दे कर कहा जाता है।

विषय-चयन के आधार पर भी इस काल को 'रीतिकाल' कहने में किसी प्रकार का अव्याप्तिदोष न होगा, क्योंकि प्रत्येक कवि द्वारा इसमें शृंगार को न्यूनाधिक रूप से ग्रहण किया जाना भी तो एक विशेष प्रकार की 'रीति' (पद्धति) ही है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने दबे स्वर में इसको 'शृंगारकाल' कहे जाने में जो आपत्ति प्रकट नहीं की, उसका कारण यही हो सकता है कि उनके समय तक सामान्य रूप से इस युग का शृंगारपरक साहित्य ही अधिक प्रकाश में आया था। इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि अनेक रीति-आचार्यों ने ऐसे भी ग्रंथ लिखे हैं, जो रीति-निरूपण संबंधी नहीं हैं। पर क्योंकि काव्यांग-निरूपण में उनका मनोयोग परिलक्षित होता है तथा लक्ष्य ग्रंथों में उनके काव्यशास्त्रीय संस्कार मुखर हो कर आये हैं, इसलिए उनकी सभी विषयों की रचनाएं इसी कोटि की मानी जायेंगी एवं उनको भी 'रीतिकवि' कहना ही अधिक युक्तियुक्त होगा, भले ही वे एक या एक से अधिक ग्रंथ ऐसे लिख गये हों, जिन पर काव्यशास्त्र की छाप स्पष्टतः परिलक्षित नहीं होती।

## सीमांकन

भाषा-साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन में कवियों की प्रवृत्ति का विवेचन करने के लिए जिस प्रकार वर्ण्य विषय के अनुसार रचनाओं का वर्ग-विभाजन तथा उस प्रवृत्ति के द्योतक प्रत्येक विभाग का नामकरण अनिवार्य होता है, उसी प्रकार उस प्रवृत्ति के प्रेरक तत्त्वों का विश्लेषण करने तथा तत्संबंधी रचनाओं के परिमाण को आंकने के निमित्त उसके प्रसार-काल की सीमाएं निर्धारित कर लेना भी आवश्यक हुआ करता है। किंतु यह सीमा-निर्धारण ऐतिहासिक घटनाओं के समान निश्चित नहीं हो सकता; न तो किसी साहित्यिक प्रवृत्ति के आरंभ की ही निश्चित तिथि बतायी जा सकती है और न समाप्ति की ही। उसकी प्रस्तावना और अविच्छिन्न विकास-परंपरा के तथा चरम सीमा और उपसंहृति के बीच कम-से-कम 25-30 वर्षों का अंतर तो रहता ही है। ऐसी दशा में संगत यही होना चाहिए कि प्रवृत्ति विशेष की अविच्छिन्न विकास-परंपरा के आरंभ तथा चरम सीमा की समाप्ति संबंधी तिथियों को निर्धारित करते समय उदारता से काम लिया जाये। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' लिखते समय उसे प्रवृत्तियों के अनुसार चार भागों में विभाजित किया है तथा परवर्ती विद्वानों ने उनके इस विभाजन की काल-सीमाओं को प्रायः अविकल रूप में ग्रहण भी कर लिया है, किंतु उनका सबसे बड़ा दोष यही है कि वे इस संबंध में उदार नहीं हो पाये तथा निश्चित संवत् से प्रवृत्ति विशेष का आरंभ और निश्चित संवत् पर उसका अंत निर्धारित कर बैठे हैं। जिस युग में रीति-निरूपण अथवा रीति-प्रभावित ग्रंथों के निर्माण का प्राचुर्य रहा, उसको 'रीतिकाल' संज्ञा देते हुए उसका समय भी उन्होंने संवत् 1700 (1643 ई.) से 1900 वि. (1843 ई.) तक निश्चित किया है। पर इन निश्चित संवतों को स्वीकार करने में सबसे बड़ी आपत्ति यह होती है कि उन रीति-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कवियों के कतिपय ग्रंथ इनसे आगे-पीछे रचे जाने के कारण 'रीतिकाल' की परिधि में नहीं आ पाते, जिन्हें वे स्वयं ही इस युग में परिगणित कर चुके हैं। उदाहरण के लिए, चिंतामणि-कृत 'रसविलास' तथा मतिराम-कृत 'रसराज' 1643 ई. से लगभग 10 वर्ष पूर्व की तथा ग्वाल कवि की 'रसरंग' आदि रचनाएं 1843 ई. से लगभग 10-15 वर्ष बाद की ही ठहरती हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय कवि ऐसे भी हैं जिनका जन्म भक्तिकाल में हुआ और उनकी रचनाएं 'रीतिकाल' में लिखी गयीं अथवा उनका जन्म 'रीतिकाल' में हुआ और रचनाएं वे इसकी समाप्ति के 10-20 वर्ष बाद तक करते रहे। अतएव, 'रीतिकाल' की सीमाएं हमें सामान्य रूप से सत्रहवीं शती के मध्य से उन्नीसवीं शती के मध्य तक मान लेनी चाहिए। इस काल के आदि और अंत के दोनों ओर लगभग 20-20 वर्ष का समय जो छोड़ा गया है, उसे यदि इसकी प्रस्तावना और उपसंहृत के नामों से अभिहित किया जाये तो भी कोई आपत्ति की बात न होगी। कारण, इससे कालविषयक सीमा-बंधन के परिणामस्वरूप एक ही परंपरा के कतिपय ग्रंथों को इस प्रकार की रचनाओं के वर्ग से निरसित न किया जा सकेगा।

## परिस्थितियां

भाषा-साहित्य के निर्माण में युगीन वातावरण का विशेष योग हुआ करता है। क्योंकि युगीन वातावरण राजनीति, समाज, संस्कृति, साहित्य और कला के मूल्यों द्वारा निर्मित होता है, अतएव युग विशेष के साहित्य के अध्ययन के लिए तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था का ज्ञान होना अपने आप में अनिवार्य हो जाता है। रीतिकालीन साहित्य के अध्ययन के प्रसंग में यह अनिवार्यता और अधिक बढ़ जाती है। कारण, इस साहित्य के निर्माण की दो-ढाई सौ वर्ष की दीर्घ अवधि में देश की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था में अनेक उतार-चढ़ाव आये तथा वर्ग विशेष की अभिरुचि द्वारा नियमित होने के कारण साहित्य और कला ने विशिष्ट दिशा प्राप्त की।

**राजनीतिक अवस्था :** राजनीतिक दृष्टि से यह काल मुग़लों के शासन के वैभव के चरमोत्कर्ष और उसके बाद उत्तरोत्तर ह्रास, पतन और विनाश का युग कहा जा सकता है। शाहजहां के शासन काल में मुग़ल-वैभव अपनी चरम सीमा पर रहा। जहांगीर ने अपने शासनकाल में राज्य का जो विस्तार किया था, शाहजहां ने उसकी वृद्धि इतनी की कि उत्तर-भारत के अतिरिक्त दक्षिण में अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुंडा राज्य तथा उत्तर पश्चिम में सिंध के लहरी बंदरगाह से ले कर आसाम में सिलहट और अफगान प्रदेश के बिस्त के क़िले से ले कर दक्षिण के औसा तक एकच्छत्र साम्राज्य की स्थापना हो गयी थी। राजपूतों ने भी विश्वासपात्र एवं स्वामीभक्त सेवक हो कर दिल्ली-शासन की अधीनता स्वीकार कर ली थी। देश में सामान्य रूप से शांति थी। राजकोष भरापूरा था। ताजमहल और मयूर-सिंहासन का भी निर्माण हो चुका था। किंतु, इसके पश्चात शाहजहां के रुग्ण होने और उसकी मृत्यु की अफवाह फैलने के कारण 1658 ई. में उसके पुत्रों में सत्ता के लिए संघर्ष आरंभ होते ही यह वैभवशाली साम्राज्य ह्रासोन्मुखी हो गया। उसका ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह अपनी धार्मिक सहिष्णुता और उदारता के लिए जितना लोकप्रिय था, उससे छोटा औरंगजेब अपनी धार्मिक अहिसष्णुता एवं अहम्मन्यता के कारण उतना ही अप्रिय था। दारा की हत्या कर औरंगजेब ने ज्यों ही शासन की बागडोर संभाली, त्यों ही जागीरदारों, राजाओं और हिंदुओं के धार्मिक उपद्रव आरंभ हो गये। परिणाम यह हुआ कि उसके शासनकाल का अधिकांश इन उपद्रवों के दमन में ही व्यतीत हुआ। वह शासन को सशक्त एवं इतने विस्तृत साम्राज्य को सुगठित न कर सका। दूसरे, क्योंकि वह अहंवादी था तथा उसके हुक्म का उल्लंघन अपराध होता था, इसलिए उसके पुत्रों में किसी के भीतर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रतिभा और व्यक्तित्व का ऐसा विकास न हो सका कि वह पुनः हिंदुओं में विश्वास उत्पन्न कर साम्राज्य को एक सूत्र में बांधता।

औरंगजेब के पश्चात 1707 ई. में उसके पुत्रों के बीच भी संघर्ष हुआ और उसका द्वितीय पुत्र मुअज्जम (शाह आलम प्रथम) गद्दी पर बैठा। वह यद्यपि कुछ उदार था, पर अधिक समय जीवित न रह सका। उसके बाद 1712 ई. से इस साम्राज्य का पतन आरंभ होता है। लगभग 50 वर्ष तक शासन एक प्रकार से स्थिर न हो सका। राजगद्दी पर अल्पकाल के लिए ही लोग आते रहे। जो कुछ अधिक समय के लिए आये, वे विलास में निमग्न रहने के कारण राज्य की देखभाल न कर सके। परिणामतः अव्यवस्था और अशांति इतनी बढ़ती गयी कि छोटे-छोटे जागीरदार भी अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर बैठे और धीरे-धीरे केंद्र की पकड़ इतनी ढीली हो गयी कि साम्राज्य अब दिल्ली और आगरा के क्षेत्र तक ही सीमित रह गया। इसी बीच 1738 ई. में नादिरशाह का आक्रमण हुआ। उसने इस शासन की नींव प्रायः हिला डाली। जो कुछ शेष रह गया था, उसकी कमी अहमदशाह अब्दाली के 1761 ई. के आक्रमण ने पूरी कर दी। इधर विदेशी व्यापारियों, विशेषतः अंगरेज़ों ने इस स्थिति का पूरा-पूरा लाभ उठाया और वे भीतर-ही-भीतर शक्ति का संचय करते हुए इस अवस्था तक पहुंच गये कि 1803 ई. तक लगभग समस्त उत्तरी भारत पर उनका आधिपत्य हो गया और मुग़ल सम्राट नाममात्र के लिए शासक रह गये तथा वास्तविक सत्ता अंगरेज़ों के हाथ में चली गयी। 1857 ई. की देशव्यापी राज्यक्रांति ने एक बार पुनः विलासी मुग़लों को प्रतिष्ठित करना चाहा, किंतु सब प्रयत्न असफल रहे। इस प्रकार दो-ढाई सौ वर्ष के विलास-वैभवपूर्ण साम्राज्य का कारुणिक अंत हुआ।

यह बात तो रही केंद्रीय शासन की। जहां तक प्रदेशों का प्रश्न है, रीतिकाव्य की रचना के क्षेत्रों—अवध, राजस्थान और बुंदेलखंड की कथा भी ऐसी ही है। अवध के विलासी शासकों का अंत भी मुग़ल-साम्राज्य के समान कारुणिक रहा। राजस्थान में भी विलास और बहुपत्नी-प्रथा इतनी बढ़ गयी थी कि औरंगज़ेब के बाद राजपुरुष कुचक्रों, षड्यंत्रों और आंतरिक कलह के शिकार हो कर इतने निर्वीर्य होते गये कि पतनोन्मुख अव्यवस्थित मुग़लों से अपने पुराने गौरव और राज्य को भी प्राप्त न कर सके। हां, बुंदेलों ने अवश्य ही मराठों के साथ लाभ उठाने का प्रयत्न किया, पर वे भी राजपूतों के थोथे अहंकार एवं पारस्परिक विद्वेष के कारण पूर्ण सफलता प्राप्त करने में असमर्थ रहे। इस प्रकार मुग़ल साम्राज्य के समान ही हिंदू रजवाड़ों और अवध के नवाबों को अंततः अपना कारुणिक अंत देखना पड़ा।

**सामाजिक अवस्था :** सामाजिक दृष्टि से भी इस काल को आदि से अंत तक घोर अधःपतन का युग ही कहा जाना चाहिए। इस काल में सामंतवाद का बोलबाला था और सामंतशाही के जितने भी दोष हुआ करते हैं, उनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव जनसामान्य के जीवन पर पड़ रहा था। सामाजिक व्यवस्था का केंद्रबिंदु बादशाह था और उसके अधीन थे मनसबदार अथवा अमीर-उमराव। इनके बाद ओहदों के अनुसार दूसरे कर्मचारी आते थे और सबका कर्तव्य-कर्म अपने से ऊपर वालों को प्रसन्न करना था, नीचे वालों को ये मात्र संपत्ति समझते थे, उनका अस्तित्व केवल अपने लिए मानते थे। ऊपर से नीचे तक यह शासकों का वर्ग था। शासित वर्ग में एक ओर श्रमजीवी और कृषक आते थे और दूसरी ओर सेठ, साहूकार, दुकानदार और व्यापारी। शासक वर्ग की आय दोनों, अर्थात श्रमजीवी कृषक तथा सेठ-साहूकारादि से कर के रूप में प्राप्त होती थी और सेठ-साहूकारादि कृषकों और श्रमजीवियों की कमाई को विभिन्न प्रकार से अपना कर अपनी जीविका कमाते थे। इस प्रकार कृषक-श्रमजीवियों का यह निम्न वर्ग सभी ओर से शोषित था। इस पर सेनाओं के प्रयाणों, युद्धों,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि के कारण इस वर्ग की आय के एकमात्र साधन कृषि की भी हानि होती रहती थी। श्रमजीवी वर्ग को किसी-न-किसी की बेगार करनी पड़ती थी और उसके बदले मिलती थी कोड़ों की मार। कहने का अभिप्राय यह है कि इस युग में ग़रीबों की आर्थिक स्थिति अत्यंत शोचनीय थी और शासक एवं संपन्न वर्ग श्रम किये बिना ही संपन्न था।

जनसाधारण की चिकित्सा, शिक्षा, संपत्ति-रक्षा आदि का भी इस काल में कोई प्रबंध न था। ऐसी शोचनीय अवस्था में यदि लोग भाग्यवादी अथवा नैतिक मूल्यों से रहित थे, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। कार्य-सिद्धि के लिए उत्कोच लेना-देना तो साधारण बात थी ही, विलासिता भी इसी कारण बढ़ गयी थी। नारी को अपनी संपत्ति मान कर ही उसका भोग इनके जीवन का मूल मंत्र हो गया था। विलास के उपकरणों की खोज और उनका संग्रह तथा सुरा-सुंदरी की आराधना अभिजात वर्ग का शगल था और मध्यम तथा निम्नवर्ग के लोगों में उसका बोलबाला उसके अनुकरण के कारण था। किसी की कन्या का अपहरण अभिजात वर्ग के लोगों के लिए साधारण बात थी। कदाचित् इसीलिए अल्पायु में लड़कियों का विवाह अधिक प्रचलित हो गया था। उधर बेगमों और रक्षिताओं की अगणित संख्या के होते हुए भी ये लोग वेश्याओं के यहां पड़े रहते थे, उनके इशारों पर लोगों के भाग्य का निर्णय तक हो जाया करता था। इस प्रकार विलास में डूबे हुए ये लोग अपनी संतान की देखभाल तक नहीं कर पाते थे। और शिक्षक ऐसे घटिया व्यक्ति होते थे कि कामकला की शिक्षा दे कर अपने कर्म की इतिश्री समझते थे। अतएव लड़कियों के साथ छेड़छाड़, तीतर-बटेर पालना और उन्हें लड़ाना शहजादों और राजकुमारों की दिनचर्या बन गयी थी। विलासिनी माताओं की देखरेख के अभाव में राजकुमारियां और शहजादियां अपने महलों और हरमों में कार्य करने वाले सामान्य कर्मचारियों अथवा भृत्यों के साथ प्रेम-व्यापार करने लग जाती थीं। अनेक सपत्नियों के कारण पति से पूर्ण प्रेम प्राप्त न कर सकने के कारण विवाहिताओं में भी अनेक ऐसी थीं, जो ऐसा ही करती थीं।

**सांस्कृतिक अवस्था :** सामाजिक अवस्था के समान इस युग में देश की सांस्कृतिक अवस्था भी अत्यंत शोचनीय थी। अकबर, जहांगीर और शाहजहां की उदारतावादी नीति तथा संतों और सूफियों के उपदेशों के परिणामस्वरूप हिंदू और इस्लाम संस्कृतियों के निकट आने का जो उपक्रम हुआ था, वह औरंगजेब की कट्टरता के कारण एक प्रकार से समाप्त हो चला था। किंतु विलास-वैभव के खुले प्रदर्शन के कारण अपनी अपनी धार्मिक आस्थाओं का दृढ़तापूर्वक पालन भी इनके लिए एक प्रकार से कठिन हो गया था। हिंदी-भाषी क्षेत्रों में जिन वैष्णव-संप्रदायों का प्रभाव था, उनके पीठाधीश लोभवश राजाओं और श्रीमानों को गुरुदीक्षा देने लगे थे। फलतः उनका संबंध तत्त्वचिंतन से छूट कर भौतिकता के साथ हो गया था। मंदिरों में भी अब ऐश्वर्य और विलास की लीला होने लगी थी। यह स्थिति यहां तक पहुंच गयी थी कि हिंदू अपने आराध्य राम-कृष्ण का अतिशय श्रृंगार ही नहीं करने लगे थे, उनकी लीलाओं में अपने विलासी जीवन की संगति खोजने लगे थे। अहिंदी प्रांतों में यद्यपि ऐसे संतों का प्रभाव था, जो इस धारा से अब भी दूर थे, किंतु इनका प्रभाव हिंदी प्रांतों तक न आ सका। दूसरी ओर, इस्लामधर्म पर इस विलास-वैभव का सीधा प्रभाव तो नहीं था, पर रूढ़िवादिता के अत्यधिक बढ़ जाने के कारण यह जीवन की वास्तविकता से हट गया था। कुरान को हिफ्ज करने अथवा नमाज-रोज़ा आदि के यथाविध पालन को ही धर्म समझने के कारण वह आध्यात्मिक प्रभाव नहीं पड़ रहा था, जिससे व्यक्ति के संस्कारों में उदारता आती है। इस प्रकार हिंदू और मुसलमान—दोनों ही धर्म के मूलभूत सिद्धांतों से दूर पड़ गये थे—केवल बाह्याचरण ही धर्मपालन रह गया था। ऐसी दशा में धर्म के साथ नैतिकता का जो संबंध जुड़ा हुआ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

था, उससे संपन्न वर्ग एकदम दूर हो गया था और उसे विलासिता के लिए खुली छूट मिल गयी थी। इधर विलास के साधनों से हीन वर्ग के बीच स्थिति यह हो चली थी कि कर्म और आचार के स्थान पर अंधविश्वास ने उसके भीतर इतना घर कर लिया था कि हिंदू मंदिरों में तथा मुसलमान पीरों के तकियों पर जा कर मनोरथ सिद्ध करने लगे थे। जनता के इस अंधविश्वास का अनुचित लाभ पुजारी और मुल्ला उठाते थे और ये धर्म-स्थान भ्रष्टाचार तथा पापाचार के केंद्र बन गये थे। यह ठीक है कि इस युग में पुरानी परंपरा के सूफी तथा संत अब भी विद्यमान थे, पर किसी में भी कबीर, नानक अथवा जायसी जैसा व्यक्तित्व और प्रतिभा नहीं थी, जो जनजीवन को प्रभावित कर सकती। ये लोग पूर्ववर्तियों की वाणी के मात्र प्रचारक थे और प्रचारकों का जैसा प्रभाव पड़ सकता है, वैसा ही इनका पड़ रहा था, कोई क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में ये असमर्थ थे। उधर रामलीलाओं तथा 'रामचरितमानस' के पाठ का प्रभाव मनोविनोद तक ही सीमित रह गया था, इसके नैतिक प्रभाव की कल्पना तक असंभव थी।

**साहित्य एवं कलाओं की स्थिति :** साहित्य और कला की दृष्टि से यह युग पर्याप्त समृद्ध कहा जा सकता है। इस काल के कवि और कलाकार यद्यपि साधारण वर्ग के व्यक्ति हुआ करते थे, तथापि अपने आश्रयदाता मुग़ल सम्राटों अथवा देशी राजा व नवाबों से उन्हें इतना सम्मान मिलता था कि समाज के प्रतिष्ठित लोगों में उनकी गणना होती थी। क्योंकि उचित सम्मान कवि अथवा कलाकार के सर्जन व्यापार को प्रोत्साहित करने में सबसे अधिक सहायक हुआ करता है, अतएव यह स्वाभाविक ही था। इन लोगों ने अपनी अपनी कला का गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टि से अधिकाधिक विकास किया। किंतु दुर्भाग्य की बात यह रही कि इन्हें वह स्वतंत्रता प्राप्त न हो सकी, जो सर्जन के लिए अनिवार्य है। इन्हें सामान्य रूप से आश्रयदाताओं की अभिरुचि का विशेष ध्यान रखना पड़ता था, जिसका परिणाम यह होता था कि प्रतिभावान होते हुए भी ये लोग अपने सर्जन का उत्तमोत्तम रूप प्रस्तुत करने में असमर्थ रहते थे। यह सब होते भी इस युग के साहित्य और कला का अपना महत्त्व है और दोनों की ऐसी विशेषताएं हैं, जो सहज ही दूसरे युगों की तत्संबंधी रचनाओं से पृथक् देखी जा सकती हैं।

फ़ारसी के राजकीय भाषा होने के कारण इसकी अलंकारप्रधान शैली का प्रभाव सामान्यतः इस युग की प्रत्येक भाषा पर पड़ा। ब्रजभाषा जनजीवन के निकट होते हुए भी इस प्रभाव से न बच सकी। परिणामतः इस युग के अधिकांश राजाश्रित कवि अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्तियां अतिरंजित शैली में लिखते रहे। विलासी आश्रयदाताओं की वासना को गुदगुदाने के लिए लिखी हुई शृंगारिक रचनाओं पर भी इस शैली का ऐसा ही प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है। परंतु संयोग कुछ ऐसा रहा कि ये कवि चमत्कार के उपकरणों के लिए फ़ारसी की ओर उन्मुख न हो कर संस्कृत की ओर उन्मुख हुए। संभवतः इसलिए कि भारतीय भाषा होने के कारण संस्कृत-काव्यशास्त्र में बताये गये सौंदर्य के उपकरण इनके अधिक अनुकूल पड़ते थे। इतना ही नहीं, इन लोगों ने इन उपकरणों का निरूपण भी इतने मनोयोगपूर्वक किया कि आज इस पद्धति अथवा रीति के कारण ही इस युग को 'रीतिकाल' संज्ञा दिया जाना अधिक उपयुक्त समझा जाता है। इस प्रकार के ग्रंथों की रचना के मूल में इन कवियों के संभवतः दो उद्देश्य थे—(1) अपने सामर्थ्य का प्रदर्शन और (2) उस युग के काव्य-रसिक समुदाय को इनका अनिवार्यतः ज्ञान कराना, जिससे कि वे काव्य-गोष्ठियों में शास्त्रीय सौंदर्य के उपकरणों पर दाद दे सकें। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस परंपरा के साहित्य की रचना शाहजहां के राजत्वकाल से ले कर आगामी दो-ढाई सौ वर्ष तक अविकल रूप से होती रही। औरंगजेब के रुक्ष स्वभाव के कारण यद्यपि मुग़ल दरबार से कवियों का संबंध कट गया था, किंतु इसका प्रभाव

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इसलिए विशेष रूप से न पड़ सका, क्योंकि राजा और नवाब उन्हें आश्रय देते ही रहे। इधर जन-समुदाय में ऐसे कवि भी विद्यमान थे, जो स्वतंत्र रूप से काव्य की रचना कर रहे थे। चूंकि वे राजकीय वातावरण से सर्वथा मुक्त और सर्जन-व्यापार में स्वतंत्र थे, अतएव उनकी रचनाएं काव्यशास्त्रीय उपकरणों के इस समावेश से सर्वथा अछूती रहीं। यही कारण है कि इनका काव्य उक्त कवियों के काव्य की तुलना में अधिक प्रभावी है। कुल मिला कर इस युग में राजाश्रित कवियों और जनकवियों द्वारा रचित साहित्य गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से इतना विशद है कि हिंदी भाषा उस पर सहज ही गर्व कर सकती है।

जहां तक ललित कलाओं का संबंध है, उनमें चित्रकला काव्य के समान ही इस युग में प्रचलित और समृद्ध हुई। जहांगीर का राजत्वकाल गुण और परिमाण के कारण यद्यपि इस कला का स्वर्णयुग कहा जाता है, तथापि उसके बाद भी इसकी समृद्धि में कमी न आयी। यहां तक कि औरंगजेब जैसे रुक्ष व्यक्ति ने भी अपने अनेक चित्र अंकित कराये। परंतु दुर्भाग्य की बात यह रही कि सम्राटों की अभिरुचि का अत्यधिक प्रभाव होने के कारण इसकी स्वाभाविकता और सजीवता में कमी आने से नूतनता की दृष्टि से इसमें एक प्रकार का ह्रास आता चला गया। शाहजहां की अलंकारप्रियता का परिणाम यह हुआ कि उसके विभिन्न राजकीय क्रियाकलापों, विशेषतः राजकीय ठाटबाट के चित्रों में चमक-दमक को अधिक स्थान मिलने लगा, रंगों में सुनहरी पानी को इतना महत्त्व दिया जाने लगा कि उनमें चित्रित व्यक्ति भी मूर्तिवत् जड़ प्रतीत होने लगे और उनमें सजीवता और गति के स्थान पर जड़ता आ गयी। व्यक्ति-चित्रों का भी उत्तरोत्तर अभाव होता चला गया। औरंगजेब के बाद भी परवर्ती मुग़ल शासकों के प्रश्रय में आलिखित चित्र इसी शैली का अनुकरण मात्र रहे। यदि कोई वैशिष्ट्य आया तो यहां तक कि उनमें विलास और वैभव कुछ अधिक अंकित हुआ। हिंदू रजवाड़ों—विशेषतः राजस्थान और पर्वतीय क्षेत्रों—में चित्रकला इससे भिन्न रूप से विकसित हुई। यह लोक-जीवन के अधिक निकट थी तथा आश्रयदाताओं की अभिरुचि से प्रभावित होती हुई भी स्थानीय प्रभावों से असंपृक्त न थी। इन दोनों क्षेत्रों की चित्र-शैलियां क्रमशः राजस्थानी और कांगड़ा-शैलियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। राजस्थानी शैली के चित्रों का मुख्य विषय रागमाला था। इनमें ऋतुओं का आश्रय ले कर शब्द को रेखाओं और रंगों में बद्ध किया गया है। इसके अतिरिक्त इस शैली के चित्रों का विषय कृष्णलीला, नायिकाभेद और बारहमासा भी रहा है। इस युग के अनेक कवियों की रचनाओं में भी इसी प्रकार के चित्र व्यंजित हुए हैं। कांगड़ा-शैली के चित्रों का विषय महाभारत, श्रीमद्भागवत, दुर्गासप्तशती, पुराण, इतिहास, लोकगाथाओं आदि के अतिरिक्त दैनिक जीवन से संबद्ध बातें रही हैं। इन चित्रों में भावात्मकता अधिक है तथा सामान्य रूप से इनका झुकाव रहस्यात्मकता की ओर है। संक्षेप में, इस युग की चित्रकला राजसी ठाटबाट तथा जनजीवन, दोनों को सम्यक् रूप से ले कर चली है। इस युग के कवियों द्वारा रचित राजप्रशस्तियां तथा शृंगारिक रचनाएं क्रमशः इन दोनों प्रवृत्तियों के चित्रों के समानांतर कही जा सकती हैं।

काव्य और चित्रकला के अतिरिक्त इस युग में स्थापत्य-कला और संगीत-कला का भी अपना विशिष्ट स्थान रहा। पर क्योंकि ये दोनों क्रमशः व्यय और अभ्यास-साध्य थीं, इस कारण जनजीवन से दूर हट गयीं और केवल राजाश्रयों तक सीमित रहीं। अकबर के राजत्वकाल में इन दोनों कलाओं को लगभग बराबर का स्थान प्राप्त था, किंतु शाहजहां के समय तक संगीत का प्रभाव कुछ कम होता गया। शाहजहां को यद्यपि संगीत का अच्छा ज्ञान था, तथापि उसकी रुचि स्थापत्य कला में अधिक रही। इसलिए यह कला अपने चरम ऐश्वर्य पर पहुंची। शाहजहां ने जितनी इमारतें बनवायीं, उन सबमें सूक्ष्म सौंदर्य के समावेश की ओर अधिक ध्यान दिया गया; और यही कारण है कि इनमें मूर्ति

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और चित्रकला का सामंजस्य करने का प्रयत्न दृष्टिगत होता है। आगरा का ताज और दिल्ली का दीवाने-ख़ास इसके सबल उदाहरण हैं। शाहजहां के पश्चात औरंगजेब और उसके पर्याप्त बाद तक इन दोनों कलाओं की स्थिति पर्याप्त शोचनीय रही। संगीत से औरंगजेब को विशेष अरुचि थी, इसलिए इसका अपकर्ष हुआ और स्थापत्य-कला को इसलिए उससे प्रश्रय न मिल सका, क्योंकि उसका ध्यान मंदिरों को मस्जिदों में परिवर्तित करने में लगा था और साथ ही इमारतों के निर्माण का कार्य व्यय-साध्य भी अधिक था। जिन दो मस्जिदों और एक मकबरे का निर्माण उसने कराया, वे भी साधारण ही हैं। इनके बाद इन दोनों कलाओं का पुनरुत्थान केवल अठारहवीं शताब्दी में ही हो सका। इस शताब्दी में मुहम्मदशाह ने यदि संगीत-कला को पुनः जीवित करने का प्रयत्न किया, तो शाह आलम द्वितीय तथा अन्य परवर्ती शासकों ने दिल्ली से हट कर गुजरात और लखनऊ में कुछ इमारतें बनवा कर स्थापत्य-कला में अपनी रुचि का परिचय दिया। परंतु दोनों ही क्षेत्रों में वैशिष्ट्य और मौलिकता का प्रायः अभाव रहा। संगीत-क्षेत्र में कतिपय मधुर ध्वनियों की सृष्टि होने पर भी यह अलंकरण और विलास के पूर्ववर्ती प्रभाव से बाहर न निकल सका और इमारतें पूर्ववर्ती मुग़ल शैलियों का मात्र पिष्टपेषण ही रहीं।

मुग़ल दरबार तथा अवध के नवाबों के अतिरिक्त इस काल में हिंदू राजाओं के आश्रय में भी इन दोनों कलाओं को प्रश्रय मिला; किंतु गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से इनकी विशेष उन्नति नहीं हुई। जयपुर में सवाई जयसिंह के राजमहल, दीग में सूरजमल के महल तथा संग्रामसिंह सूरजमल, छत्रसाल आदि की छतरियों को मुख्य रूप से इस काल के हिंदू राजाओं का स्थापत्य-कला में योगदान कहा जा सकता है। संगीत के क्षेत्र में राजस्थान और ग्वालियर का योगदान रहा। ग्वालियर में यदि शुद्ध शास्त्रीय संगीत का विकास हुआ, तो राजस्थान ने इसके भीतर स्थानीय प्रभावों में वैशिष्ट्य उत्पन्न कर इस दिशा में अपना योग दिया। किंतु कुल मिला कर इस कला का बहुत अधिक विकास यहां भी नहीं कहा जा सकता। हां, इस काल में संगीतशास्त्र पर कतिपय प्रामाणिक ग्रंथों का निर्माण अवश्य हुआ।

इस काल में कवियों और कलाकारों को राजाश्रयों में यथोचित सम्मान प्राप्त होने के कारण साहित्य और कला की स्थिति कुल मिला कर अच्छी ही रही। परिणाम की दृष्टि से इन दोनों का क्षेत्र सर्वाधिक समृद्ध कहा जा सकता है। किंतु अलंकारप्रिय, विलासी आश्रयदाताओं की अभिरुचि से अत्यधिक प्रभावित रहने के कारण इनमें से किसी का भी क्षेत्र गुण की दृष्टि से विशद न हो सका। कदाचित इसीलिए इस काल का स्थापत्य एकरूपता को प्रकट करने के कारण शिल्प व्यापार मात्र ही प्रतीत नहीं होता; चित्र, काव्य और संगीत जैसी सूक्ष्म कलाएं भी कल्पनाजन्य वैविध्य की न्यूनता के कारण कला की सीमाओं से दूर पड़ जाती हैं। इतना ही नहीं, अलंकरण और विलास की अभिव्यक्ति की ओर अधिक उन्मुख रहने की प्रवृत्ति के कारण ये चारों स्पष्ट रूप से एक-दूसरे के समानांतर दृष्टिगत होती हैं।

## उपलब्ध सामग्री

**मूल स्रोत :** प्राचीन भारतीय वाङ्मय के समान मध्यकालीन हिंदी साहित्य का भी यह दुर्भाग्य रहा है कि प्रकाशन और उचित देखरेख के अभाव में इसके अनेक ग्रंथ-रत्न लुप्त हो गये और आज भी, वैज्ञानिक साधनों के उपलब्ध होते हुए भी, यह कोई गारंटी नहीं कि भविष्य में ये इस अभिशाप से बच सकेंगे। रीतिकालीन ग्रंथ इस प्रकार के ग्रंथों में यद्यपि अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन हैं, तथापि इनमें से अधिकांश नष्ट हो गये, यह निश्चित है। इस दो-ढाई सौ वर्ष की दीर्घ कालावधि में कितने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ग्रंथ लिखे गये, प्रामाणिक आंकड़ों के अभाव में यह बताना तो असंभव है ही, इनमें से आज कितने और कहां उपलब्ध हैं, यह कहना भी अपने आप में कठिन है।

रीतिकालीन साहित्य आज जिन स्रोतों से उपलब्ध होता है, उन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है। इनमें पहला इस देश के विभिन्न पुस्तकालय हैं, जहां अनेक हस्तलिखित ग्रंथ सुरक्षित हैं। इन पुस्तकालयों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—काशी की नागरीप्रचारिणी सभा का आर्यभाषा पुस्तकालय, रामनगर (वाराणसी) स्थित काशीनरेश का पुस्तकालय, पटियाला-स्थित नेशनल आर्काइव्स का पुस्तकालय, बड़ौदा-स्थित गायकवाड़ ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, सयाजीराव विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग का पुस्तक संग्रह एवं राजस्थान में जयपुर, जोधपुर, बीकानेर और उदयपुर के तथा मध्यप्रदेश में दतिया, टीकमगढ़, बीजावर, छतरपुर और रीवा के महाराजाओं के व्यक्तिगत पुस्तकालय।[1] दूसरा वर्ग कतिपय उन लोगों का है, जिन्होंने अपने पास अनेक हस्तलिखित एवं प्रकाशित ग्रंथ एकत्र कर रखे हुए हैं। इनमें स्व. ठाकुर शिवसिंह सेंगर (कांथा, जि. उन्नाव), श्री गोविंद चतुर्वेदी (मथुरा), श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी (मथुरा), कैप्टेन शूरवीरसिंह (भू.पू. ज़िलाधिकारी, अलीगढ़), स्व. डॉ. भवानीशंकर याज्ञिक आदि के वैयक्तिक संग्रहों का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। तीसरा वर्ग पुरानी और नयी प्रकाशन-संस्थाओं का है। प्राचीन प्रकाशन-संस्थाओं में श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई; भारत जीवन प्रेस, काशी; नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ; इंडियन प्रेस, इलाहाबाद; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; तथा गंगा ग्रंथागार, लखनऊ का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। नागरी प्रचारिणी सभा आज भी इस दिशा में विशेष सक्रिय है। नवीन संस्थाओं में विभिन्न नगरों में अवस्थित व्यावसायिक एवं शोध-संस्थान हैं, जिन्होंने कतिपय ग्रंथावलियां एवं स्वतंत्र ग्रंथ प्रकाशित कराये हैं अथवा कराने की जिनकी योजना है। इस प्रकार प्रथम दो वर्गों के स्रोतों से उपलब्ध साहित्य जहां विशिष्ट लोगों की पहुंच तक सीमित है, वहीं तृतीय वर्ग ने इसे सर्वसाधारण के लिए उपलब्ध कर दिया है।

**वर्गीकरण :** उपर्युक्त तीनों स्रोतों से उपलब्ध सामग्री को रूप-विधानुसार तीन वर्गों में रखा जा सकता है। इनमें पहले के अंतर्गत मुक्तक रचनाएं ली जा सकती हैं। इसके भीतर काव्यांगों के निरूपण के लिए अथवा काव्यशास्त्र के नियमों को दृष्टि में रख कर लिखे गये ग्रंथों के अतिरिक्त वे ग्रंथ भी परिगणित होंगे, जिनमें काव्यशास्त्रीय नियमों को दृष्टि में न रख कर रचे हुए स्फुट छंदों का संकलन किया गया है। इस प्रकार के छंद परिमाण में सर्वाधिक हैं। दूसरे वर्ग में प्रबंधकाव्य आ सकते हैं। इनमें वे सभी रचनाएं ग्रहण की जायेंगी, जिनमें किसी प्रसिद्ध अथवा काल्पनिक कथा, घटना, प्रसंग या चरित्र को कथात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। तीसरा वर्ग नाटकों का है। इसमें संस्कृत के प्रसिद्ध नाटकों के पद्यबद्ध अनुवाद रखे जा सकते हैं। ये प्रबंधकाव्यों की तुलना में और भी कम हैं। यहां सूचनार्थ इन तीनों वर्गों के भीतर आने वाली कतिपय प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं का उल्लेख किया जा रहा है :

### 1. मुक्तक काव्य

| | | |
|---|---|---|
| 1. चिंतामणि | : | कविकुलकल्पतरु, रसविलास, काव्यविवेक, शृंगारमंजरी, काव्यप्रकाश, छंद-विचार। |
| 2. मतिराम | : | रसराज, ललितललाम, सतसई, अलंकार-पंचाशिका, वृत्तकौमुदी। |
| 3. भूषण | : | (i) शिवराज-भूषण, शिवाबावनी, छत्रसालदशक। |

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(ii) अलंकारप्रकाश, छंदोहृदयप्रकाश।

4. बिहारी : सतसई।
5. गोविन्दसिंह : सुनीतिप्रकाश, सर्वलोहप्रकाश, प्रेमसुमार्ग, बुद्धिसागर।
6. तोष : सुधानिधि, नखशिख, विनयशतक।
7. रसनिधि : रतनहजारा, विष्णुपदकीर्तन, कवित्त, बारहमासी, गीति-संग्रह, अरिल्ल, हिंडोला, सतसई।
8. जसवंतसिंह : अपरोक्ष सिद्धांत, अनुभवप्रकाश, आनंदविलास, सिद्धांतबोध, सिद्धांतसार, भाषाभूषण, स्फुट छंद।
9. कुलपति मिश्र : रसरहस्य, नखशिख, युक्तिरंगिणी, दुर्गाभक्तितरंगिणी (चंद्रिका)।
10. मंडन : रसरत्नावली, रसविलास, नखशिख, काव्यरत्न, नैनपचासा, जनकपचीसी।
11. आलम : आलमकेलि।
12. वृन्द : सतसई।
13. पदुमनदास : काव्यमंजरी।
14. करन कवि : साहित्यरस, रसकल्लोल।
15. कालिदास त्रिवेदी : कालिदास-हजारा, वरवधूविनोद, जंजीराबंद, राधामाधव-बुधमिलन-विनोद।
16. लाल कवि : विष्णुविलास।
17. माखन : श्रीनागपिंगल छंदविलास।
18. कुमारमणि : रसिकरसाल, रसिकरंजन
19. देव : भावविलास, भवानीविलास, कुशलविलास, प्रेमचंद्रिका, जातिविलास, रसविलास, सुजानविनोद, प्रेमतरंग, देवचरित्र, काव्यरसायन, सुखसागरतरंग, देवशतक, प्रेमदीपिका, सुमिलविनोद, राधिकाविलास, नीतिशतक।
20. सूरति मिश्र : अलंकारमाला, रसरत्नमाला, रससरस, रसग्राहकचंद्रिका, नखशिख, काव्यसिद्धांत, रसरत्नाकर, भक्तिविनोद, श्रृंगारसागर।
21. जोधराज : हम्मीररासो।
22. उदयनाथ कवीन्द्र : रसचंद्रोदय, विनोदचंद्रिका, जोगलीला।
23. नृप शंभू : नायिकाभेद, नखशिख।
24. कृष्णभट्टदेव ऋषि : श्रृंगाररसमाधुरी।
25. जयकृष्ण भुजंग : पिंगलरूपदीपभाषा।
26. श्रीपति : काव्यसरोज, कविकल्पद्रुम, रससागर, अनुप्रासविनोद, विक्रमविलास, सरोजकलिका, अलंकारगंगा।
27. गोप : रामालंकार, रामचंद्रभूषण, रामचंद्राभरण।
28. याकूब ख़ां : रसभूषण।
29. घनानंद : सुजानहितप्रबंध, कृपाकंदनिबंध, वियोगबेलि, इश्कलता, यमुनायश, प्रीतिपावस, पदावली, प्रकीर्णक छंद आदि।
30. रसलीन : अंगदर्पण, रसप्रबोध, स्फुट छंद।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

31. सोमनाथ : रसपीयूषनिधि, श्रृंगारविलास, प्रेमपचीसी।
32. दलपतिराय वंशीधर : अलंकाररत्नाकर।
33. रसिक सुमति : अलंकारचंद्रोदय।
34. भिखारीदास : काव्यनिर्णय, श्रृंगारनिर्णय, रससारांश, छंदार्णव पिंगल, छंदप्रकाश।
35. कृष्ण कवि : अलंकारकलानिधि, गोविंदविलास।
36. भूपति : सतसई, कंठाभूषण, रसरत्नाकर।
37. रघुनाथ : काव्यकलाधर, रसिकमोहन, रसरहस्य, इश्कमहोत्सव, सभासार।
38. दूलह : कविकुलकंठाभरण, स्फुट छंद।
39. हितवृंदावनदास : स्फुट पद (अब तक 20,000 पद उपलब्ध हुए हैं)।
40. गिरिधर कविराय : अनेक स्फुट छंद।
41. गुमान मिश्र : अलंकारदर्पण।
42. चंदन : श्रृंगारसागर, काव्याभरण, कल्लोलतरंगिणी, केशरीप्रकाश, सतसई, पथिकबोध, तत्त्वसंग्रह, नखशिख, प्राज्ञविलास, पत्रिकाबोध।
43. ब्रजवासीदास : ब्रजविलास।
44. बैरीसाल : भाषाभरण।
45. शिवनाथ : रसवृष्टि।
46. उजियारे : जुगलरसप्रकाश, रसचंद्रिका।
47. जनराज : कवितारसविनोद।
48. सेवादास : नखशिख, रसदर्पण, गीतामाहात्म्य, अलबेले लाल जू को नखशिख, राधासुधाशतक, रघुनाथअलंकार।
49. रामसिंह : अलंकारदर्पण, रसशिरोमणि, रसनिवास, रसविनोद।
50. रतन कवि : फतेप्रकाश, अलंकारदर्पण।
51. हठी जी : श्रीराधासुधाशतक।
52. बोधा : विरहवारीश, इश्कनामा।
53. रामसहाय : सतसई, वृत्ततरंगिणी, वाणीभूषण।
54. नंदकिशोर : पिंगलप्रकाश।
55. दशरथ : वृत्तविचार।
56. रसिकगोविंद : रसिकगोविंदानंदघन, पिंगल, रसिकगोविंद, युगलरसमाधुरी, समयप्रबंध, लछिमनचंद्रिका, अष्टदेशभाषा।
57. समनेस : काव्यभूषण, रसिकविलास, पिंगल।
58. जसवंतसिंह द्वितीय : श्रृंगारशिरोमणि।
59. पद्माकर : जगद्विनोद, पद्माभरण, गंगालहरी, प्रबोधपचासा, कलिपच्चीसी, प्रतापसिंह विरुदावली, स्फुट छंद।
60. पजनेस : स्फुट छंद।
61. प्रतापसाहि : व्यंग्यार्थकौमुदी, काव्यविलास, जयसिंहप्रकाश, श्रृंगारमंजरी, श्रृंगारशिरोमणि, अलंकारचिंतामणि, काव्यविनोद, जुगलनखशिख।
62. बेनीबंदीजन : टिकैतरायप्रकाश, भड़ौवासंग्रह, रसविलास।
63. बेनी 'प्रवीन' : नवरसतरंग, श्रृंगारभूषण, नानारावप्रकाश।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में श्रृंगार सर्वाधिक व्यापक विषय रहा है। वीर रस और भक्ति परिमाण की दृष्टि से इसके बाद आते हैं। नीति, प्रकृति आदि से संबद्ध रचनाएं अपने आप में अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। कुल मिला कर इन ग्रंथों में संकलित रचनाएं पर्याप्त सरस एवं वैविध्यपूर्ण होती हुई भी रीति-निरूपण के लिए रचित होने के कारण मूलतः रीतिपरक अथवा रीतिबद्ध ही हैं।

जहां तक इस काल में लिखे गये इतर ग्रंथों का प्रश्न है, वे सभी उपर्युक्त व्यापक प्रवृत्ति से सर्वथा असंपृक्त एवं स्वतंत्र कहे जा सकते हैं। इन ग्रंथों के काव्य-विषय यद्यपि पूर्वोक्त ग्रंथों के वर्ण्य विषयों की भांति मुख्य रूप से श्रृंगार, वीर रस, भक्ति और नीति संबंधी हैं, तथापि इन विषयों के मूल में रीतिग्रंथों के कामशास्त्रीय आधार के समान कोई सर्वसामान्य आधार न होने के कारण किसी ऐसी प्रवृत्ति का निर्देश नहीं किया जा सकता, जिसकी परिसीमा में इन्हें (ग्रंथों को) रखा जा सके। यह ठीक है कि काव्यशास्त्र के नियमों से मुक्त रहने के कारण इनकी एक प्रवृत्ति रीतिमुक्तता की कही जा सकती है। किंतु यह विश्लेषण अपने आप में वैज्ञानिक नहीं होगा, क्योंकि काव्यशास्त्र के नियमों से प्रभावित न हो कर काव्य-रचना करने की प्रवृत्ति की बात तो किसी भी युग के कवियों पर लागू हो सकती है। सामान्यतः कवि काव्यशास्त्र का अध्ययन करके काव्य की रचना नहीं करते, काव्यशास्त्रीय नियमों की रचना ही काव्यग्रंथों के अध्ययन के पश्चात हुआ करती है। दूसरे, चूंकि इन कवियों द्वारा गृहीत काव्य-विषयों की प्रेरणा के स्रोत भिन्न रहे हैं, इसलिए भी इनके मूल में एक प्रवृत्ति की खोज नहीं की जा सकती, अपितु प्रत्येक के अनुरूप भिन्न प्रवृत्ति ही देखनी होगी।

अस्तु, इनमें श्रृंगारिक छंदों की प्रेरणा का स्रोत वैयक्तिक प्रेमानुभूति होने के कारण उनका मूलाधार प्रेम की पीर है, जिसे भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित श्रृंगार रस की सामग्री में कहीं भी स्थान नहीं मिल सकता। इनमें फ़ारसी-काव्य के प्राणरूप व्यक्ति तत्त्व को जिस प्रकार से उभारा गया है, भारतीय परंपरा के विषयप्रधान श्रृंगारी काव्य में वह देखने को नहीं मिलता। दूसरे शब्दों में, इन रचनाओं में भारतीय काव्यशास्त्र में बताये गये श्रृंगार रस विषयक सिद्धांतों का नितांत बहिष्कार हुआ है। इधर इनके रचयिता भी रीतिकवियों की शास्त्रीय दृष्टि के विरोधी थे, यह 'लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है' उक्ति वाले ठाकुर के कवित्त से स्पष्टतः ध्वनित होता है। इस प्रकार व्यवहार और सिद्धांत—दोनों में विद्रोह का स्वर रहने के कारण इन रचनाओं के मूल में रीतिमुक्तता की प्रवृत्ति कही जा सकती है। इस प्रवृत्ति की परिचायक रचनाओं में घनानंद, आलम, ठाकुर, बोधा आदि प्रेमी कवियों द्वारा रचित श्रृंगारी मुक्तकों को विशेष रूप से रखा जा सकता है।

इस वर्ग की श्रृंगारिक रचनाओं के समान वीर रस, भक्ति, नीति आदि की रचनाओं में भी काव्यशास्त्रीयता के प्रति आग्रह का अभाव तो है, पर साथ ही विद्रोह का भाव भी नहीं है। वीररसात्मक रचनाओं का प्रेरक तत्त्व कवि का अपने आश्रयदाता अथवा किसी ऐतिहासिक चरित्र के महान कर्मों के साथ तादात्म्य एवं श्रद्धा का भाव रहा है, मात्र आलंकारिक प्रशस्तियां करने की इच्छा नहीं। यही कारण है कि ये रचनाएं वीररसात्मक अधिक हैं, रीतिकवियों द्वारा रचित इस प्रकार की रचनाओं के समान राजविषयक रतिपरक नहीं। भूषण के 'शिवाबावनी' और 'छत्रसालदशक'; लाल कवि के 'छत्रप्रकाश'; जोधराज के 'हम्मीररासो'; श्रीधर के 'जंगनामा'; सूदन के 'सुजानचरित'; पद्माकर के 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' और 'प्रताप-प्रशस्ति'; ग्वाल के 'हम्मीरहठ' और 'विजयविनोद'; चंद्रशेखर वाजपेयी के 'हम्मीरहठ' आदि ग्रंथों को इसी कोटि में रखा जा सकता है। भक्तिपरक रचनाओं के मूल में वैष्णव-संप्रदाय की आस्थाओं की प्रधानता तथा इष्ट के प्रति गहरी आस्था रहने के कारण इन्हें भक्तिकालीन परंपरा की रचनाएं कहा जा सकता है। वृंदावनदास, नागरीदास, ब्रजवासीदास आदि की रचनाएं इसी वर्ग में आयेंगी। इधर नीतिकाव्य के मूल में कवियों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के वैयक्तिक अनुभवों की अभिव्यक्ति रहने के कारण, ये यद्यपि रहीम आदि के नीति-काव्य की परंपरा में आती हैं, तथापि इनके मूल में भक्ति-भाव अपेक्षाकृत न्यून होने के कारण इन्हें अपने ही प्रकार की रचनाएं कहा जा सकता है। वृंद, दीनदयाल गिरि, गिरिधरदास आदि का काव्य इसी प्रकार का है। इसी प्रकार उक्त सभी प्रवृत्तियों के आधार पर इस युग के काव्य के मुख्यत: ये पांच प्रवृत्तिसूचक वर्ग कहे जा सकते हैं : रीतिकाव्य, रीतिमुक्त काव्य, भक्तिकाव्य, नीतिकाव्य और वीरकाव्य।

## रीतिकाव्य

### 'रीति' शब्द की व्याख्या और रीतिकाव्य का लक्षण

संस्कृत-काव्यशास्त्र के अंतर्गत 'रीति' शब्द उस काव्यांग विशेष के लिए ही रूढ़ है, जिसे काव्य की आत्मा के रूप में घोषित कर आचार्य वामन ने तत्संबंधी पृथक् संप्रदाय का प्रवर्तन किया। उनके अनुसार गुण विशिष्ट रचना, अर्थात पदसंघटना-पद्धति विशेष का नाम 'रीति' है। इधर व्याकरण के आधार पर गत्यर्थक 'रीङ्' धातु से 'क्तिच्' प्रत्यय करके इसकी जो व्युत्पत्ति कही जाती है, उससे यह 'मार्ग' का वाचक ठहरता है। इस प्रकार उक्त दोनों शास्त्रों में इस अकेले ही शब्द के दो पृथक् प्रयोग कहे जा सकते हैं। किंतु वास्तव में यह पार्थक्य किसी मौलिक विभेद का द्योतक न हो कर, व्यावहारिक विकास का ही परिणाम रहा है। बात यह है कि व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष अपने भावों की अभिव्यक्ति जिस विशिष्ट रूप में करता है, उसकी विशेषताएं जब दूसरों के लिए अपनी अभिव्यक्ति, व्यापारगत अनुकरण और अनुसरण का लक्ष्य हो जाती हैं तो उनकी विधात्री पद्धति विशेष लोकव्यवहार में 'मार्ग' शब्द से ही अभिहित होती है। दंडी का यह कथन कि काव्यरचना के तो ये दो मार्ग—वैदर्भ और गौड़ ही होते हैं, पर कवि में आश्रित होने के कारण इसके अनंत भेद हो जाते हैं। स्पष्टत: प्रदेश (अर्थात वर्ग विशेष) तथा व्यक्ति की अभिव्यक्ति पद्धति की 'मार्ग' संज्ञा द्वारा स्वीकृति है। वामन ने भी संभवत: रचनापद्धति के लिए 'मार्ग' के इस परंपरागत प्रयोग को दृष्टि में रख कर ही उसके पर्याय-रूप में 'रीति' शब्द को ग्रहण किया है। कारण, दंडी ने जिन दो मार्गों और उनके नियामक दश गुणों का उल्लेख किया है, वे वामन ने भी ग्रहण कर रखे हैं। आगे परवर्ती आचार्यों में भोज ने तो स्पष्ट शब्दों में 'रीति' की उपर्युक्त व्युत्पत्ति दर्शाते हुए उसे मार्ग का ही पर्याय माना है। ऐसी दशा में यह सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि संस्कृत-काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द काव्यरचना के मार्ग अथवा पद्धति विशेष के अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है। हिंदी के मध्ययुगीन कवियों में भी अनेक ऐसे हैं, जिन्होंने काव्यरचना-पद्धति को 'रीति' और उसके पर्याय 'पंथ' से ही अभिहित किया है। यथा :

1. **चिंतामणि**—*रीति सुभाषा कवित्त की बरनत बुध अनुसार।*

   (कविकुलकल्पतरु—प्रथम प्रकरण)

2. **मतिराम**—*सो विश्रब्ध नवौढ़ यों बरनत कवि रसरीति।* (रसराज)
3. **भूषण**—*सुकविन हूं की कछु कृपा समुझि कविन को पंथ।* (शिवराजभूषण)
4. **देव**—*(क) अपनी अपनी रीति के काव्य और कवि रीति।*
   *(ख) भाषा प्राकृत संस्कृत देखि महाकवि पंथ।*

   (शब्दरसायन—एकादश प्रकाश)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

5. **भिखारीदास**—*(क) काव्य की रीति सिख्यौ सुकवीन्ह सों।* (काव्यनिर्णय-एकादश प्रकाश)
*(ख) जातें कछु हौं हूं लह्यो कविताई को पंथ।* (शृंगार निर्णय)

इनके अतिरिक्त हिंदी के आधुनिक इतिहासकारों तथा आलोचकों ने भी इसी अर्थ में 'रीति' शब्द का प्रयोग किया है। मिश्रबंधुओं ने 'आचार्य के कर्तव्यकर्म को दर्शाते हुए इस शब्द का जो स्पष्टीकरण किया है, वह अपने आपमें पर्याप्त है : "आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखलाते हैं, मानो वह संसार से यह कहते हैं कि अमुकामुक विषयों के वर्णनों में अमुक प्रकार के कथन उपयोगी हैं और अमुक प्रकार के अनुपयोगी" (मिश्रबंधुविनोद, भाग 2)। अतएव व्युत्पत्ति, प्रयोग और परंपरा के आधार पर कहा जा सकता है कि 'रीति' शब्द संस्कृत के समान हिंदी में भी बहुत पहले से काव्यरचना-पद्धति के लिए रूढ़ है। रीति शब्द को इसी रूढ़ अर्थ में ग्रहण करते हुए कह सकते हैं कि 'रीतिकाव्य' वह काव्य है जिसकी रचना विशिष्ट पद्धति अथवा नियमों को दृष्टि में रख कर की गयी हो। हिंदी-भाषा-साहित्य के उत्तर-मध्यकाल में अनेक कवियों ने संस्कृत-काव्यशास्त्र के नियमों की बंधी-बंधायी परिपाटी पर अपने काव्य की रचना की। इसीलिए आज उन्हें रीतिकवि और उनके काव्य को 'रीतिकाव्य' संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

## शास्त्रीय और साहित्यिक पृष्ठाधार

कोई भी साहित्यिक प्रवृत्ति अचानक जन्म ले कर पुष्ट नहीं हो जाती। इसके लिए अनुकूल परिस्थितियों और पुष्ट परंपरा का होना अनिवार्य है। रीतिकाल में रीतिकाव्य के लिए अनुकूल परिस्थितियां तो थीं ही, इसके लिए अपेक्षित आधाररूप परंपराओं को भी संस्कृत के काव्यशास्त्र और साहित्य की दीर्घ सरणि में देखा जा सकता है।

काव्यशास्त्र का आरंभ कब हुआ, यह बता सकना तो कठिन है, पर इतना निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि वैदिक काल से ही इसके विभिन्न अंगों का विकास आरंभ हो गया था और भरत के समय तक इनका इतना विकास हो चुका था कि सबको एकत्र कर वे 'नाट्यशास्त्र' जैसे प्रामाणिक ग्रंथ की रचना कर सके। इनके पश्चात भामह तक मेधाविन आदि आचार्यों ने इस दिशा में और योगदान किया। बाद में स्थिति यहां तक पहुंची कि काव्य के भीतर विशिष्ट काव्यांगों के महत्त्व को ले कर संप्रदाय स्थापित होते गये और प्रत्येक का विकास सांप्रदायिक दृष्टि से हुआ। संस्कृत में काव्यशास्त्र के पांच संप्रदाय प्रसिद्ध हैं—रस संप्रदाय, अलंकार संप्रदाय, रीति संप्रदाय, ध्वनि संप्रदाय और वक्रोक्ति संप्रदाय। इनमें परंपरा से रस संप्रदाय सबसे प्राचीन माना जाता है। इसके उन्नायक आचार्यों में भरत और उनके सिद्धांत के व्याख्याकार लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनवगुप्त तथा भोज, मम्मट, विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों का नाम लिया जाता है। इन्होंने रस के स्वरूप, सामग्री तथा भेदादि की व्याख्या और विवेचन के साथ काव्य में उसके महत्त्व प्रतिपादन द्वारा रस-सिद्धांत की स्थापना की। इनके बाद ऐसे आचार्य भी हुए, जिन्होंने इस सिद्धांत की सूक्ष्मताओं को दृष्टि में रखते हुए काव्यांग के रूप में रस के स्वरूप, सामग्री तथा भेदोपभेदों का व्यवस्थित विवेचन कर सामान्य पाठक के लिए सहज ग्राह्य बना दिया। ऐसे आचार्यों में भानुदत्त मिश्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने अपने 'रसतरंगिणी' और 'रसमंजरी' नामक ग्रंथों में क्रमशः रस के स्वरूप और उसके भेदोपभेदों तथा शृंगार रस, विशेषतः इसके आलंबन नायक-नायिकाभेद, को जिस व्यवस्थित एवं सुबोध रूप में प्रस्तुत किया, वह पूर्ववर्ती ग्रंथों में दुर्लभ है। कदाचित इसीलिए ये दोनों ग्रंथ मध्यकाल में एक प्रकार से पाठ्यग्रंथ बन गये।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रस संप्रदाय के बाद अलंकार संप्रदाय आता है। यह रस संप्रदाय का सबसे बड़ा प्रतिद्वंद्वी रहा। इस संप्रदाय के सूत्र यद्यपि भरत द्वारा निरूपित उपमा, रूपक, दीपक और यमक नामक चार अलंकारों के कारण 'नाट्यशास्त्र' के रचनाकाल से ही मिल जाते हैं, तथापि यह सिद्धांत-रूप में एक प्रकार से भामह के समय से ही प्रतिष्ठित हुआ। भामह के बाद दंडी, उद्भट, रुद्रट, जयदेव आदि ने रसवादी अलंकारों की उद्भावना कर काव्य की आत्मा के रूप में रस का तिरस्कार ही नहीं किया, अपितु अलंकार और अलंकार्य का अभेद मानते हुए इसे काव्य का आधारभूत तत्व भी कहा। इसके साथ ही इन लोगों ने अलंकारों के अनेक भेदोपभेदों की परिकल्पना करते हुए उनका वर्गीकरण करने तथा मूलाधार बताने का प्रयत्न भी किया। बाद में मम्मट, विश्वनाथ आदि रसवादी आचार्यों ने यद्यपि इनका अस्तित्व शरीर को सुशोभित करने वाले कटक, कुंडलादि आभूषणों के समान ठहरा कर इनकी अनिवार्यता का विरोध किया, तथापि इनके व्याख्यान-विवेचन का लोभ-संवरण वे भी नहीं कर सके। इन्होंने पूर्ववर्तियों द्वारा प्रकल्पित अलंकारों की व्याख्या अत्यंत व्यवस्थित ढंग से की। इसके बाद भानुदत्त मिश्र के समान कतिपय ऐसे आचार्य भी हुए, जिन्होंने इस विषय को अत्यंत सुबोध रूप में प्रस्तुत किया। अप्पय दीक्षित ऐसे ही आचार्य हैं। इन्होंने अपने 'कुवलयानंद' में पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित अलंकारों के भेदोपभेदों को काट-छांट कर अत्यंत सुबोध एवं संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है। बाद के लोगों में अलंकार के अध्ययन के लिए जयदेव, मम्मट, विश्वनाथ और अप्पय दीक्षित के ग्रंथ ही अधिक लोकप्रिय रहे। इनमें भी जयदेव और अप्पय दीक्षित के ग्रंथ अलंकारों की बड़ी संख्या, संक्षिप्तता एवं सुबोधता के लिए और भी अधिक ग्राह्य हुए।

अलंकार संप्रदाय के बाद तीसरा संप्रदाय रीति संप्रदाय है। इसके प्रवर्तक यद्यपि आचार्य वामन हैं, तथापि इनसे पूर्व ही काव्यांग के रूप में 'रीति' तथा इसके प्राण रूप 'गुणों' की चर्चा होती थी। यह भामह द्वारा वैदर्भ और गौड़ नामक मार्गों के अंतर के निषेध तथा दंडी द्वारा इन दोनों के निर्देश से स्पष्ट है। गुणों का विवेचन भरत के 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है। दंडी और वामन का गुण-विवेचन किसी सीमा तक इनसे प्रभावित कहा जा सकता है। भामह ने भी तीन गुणों का विवेचन किया है। किंतु एक बात निश्चित है कि वामन ने शब्द और अर्थ के आधार पर गुणों का विवेचन कर उनके आधार पर वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली नामक तीन रीतियों की स्थापना तथा इससे पूर्व रीति के स्वरूप आदि की व्याख्या द्वारा अपने सिद्धांत को जिस प्रकार से प्रतिष्ठित किया, उस प्रकार से किसी पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती आचार्य ने इस दिशा में प्रयत्न नहीं किया। यही कारण है कि यह सिद्धांत आगे चल कर अधिक प्रचलित न हो सका। फिर भी, गुण और रीति को काव्यांग सभी ने माना और अपने-अपने अनुसार इन दोनों की व्याख्या की। रुद्रट ने समास के आधार पर रीति की व्याख्या कर यदि 'लाटी' नामक चौथी रीति की परिकल्पना की, तो इस आधार को मानते हुए राजशेखर और श्रीपाद ने मैथिली अथवा मागधी तथा भोज ने अवंती नामक दो रीतियां और जोड़ कर इनकी संख्या छह तक पहुंचा दी। इनसे पूर्व आनंदवर्द्धन ने रीति को काव्य के बाह्य रूप की शोभा का उपादान और इसलिए महत्त्व की दृष्टि से रस परिपाक की सहायक मान कर जहां वामन द्वारा बताये हुए वही तीन रूप स्वीकार किये, वहीं कुंतक ने काव्य को कवि-प्रतिभाजन्य तथा रीति को कविप्रस्थान-हेतु मानते हुए स्पष्ट शब्दों में इसके भेदीकरण का विरोध करते हुए कहा कि देश के अनुसार विभाजन करने पर रीतियों के असंख्य भेद हो जायेंगे। भोज के उपरांत मम्मट ने वामन की रीतियों में उद्भट की वृत्तियों का अंतर्भाव करते हुए उपनागरिका, परुषा और कोमला नामक वृत्तियों तथा वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली को क्रमशः एक ही मान लिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने इन तीनों रीतियों के अनुसार क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक गुणों को भी स्वीकार किया तथा दश गुणों की बात उन्हें

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मान्य नहीं हुई। विश्वनाथ ने रीति और गुणों की संख्या तो मम्मट के अनुसार ही मानी, किंतु रीति का संबंध रस और गुणों के साथ व्यवस्थित किया। पंडितराज जगन्नाथ की भी इस विषय में लगभग यही मान्यताएं रहीं और इस प्रकार यही तीन रीतियां तथा तीन गुण स्वीकार्य हो गये।

रीति संप्रदाय के पश्चात ध्वनि संप्रदाय आता है। इसके प्रवर्तक यद्यपि आनंदवर्द्धन हैं, तथापि इनसे पूर्व भी यह सिद्धांत प्रचलित था। यह स्वयं उन्हीं के कथन से स्पष्ट है : 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात पूर्वः।' स्वयं वैयाकरणों के स्फोट-विवेचन में इसके संकेत विद्यमान हैं। जो हो, आनंदवर्द्धन ने एक ओर जहां अपने सिद्धांत का निर्भ्रांत विवेचन और उसकी स्थापना की, वहीं दूसरी ओर पूर्ववर्ती रस, अलंकार और रीति सिद्धांतों की सम्यक् परीक्षा कर ध्वनि में रस, अलंकार, गुण, रीति और दोष का स्थान निर्धारित किया। इस सिद्धांत का विरोध यद्यपि कुंतक और महिम भट्ट ने प्रबल शब्दों में किया, किंतु अभिनवगुप्त ने ध्वनिविषयक भ्रांतियों का निराकरण करते हुए इसमें रस के महत्त्व को स्थापित कर एक प्रकार से इस सिद्धांत की व्यापकता को सिद्ध कर दिया। इनके उपरांत मम्मट ने पुनः प्रचलित विचारों का खंडन-मंडन करते हुए ध्वनि का विस्तृत विवेचन किया। मम्मट के पश्चात विश्वनाथ ने ध्वनि की अपेक्षा रस का महत्त्व प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया, किंतु पंडितराज जगन्नाथ ने प्रबल शब्दों में इसका खंडन किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने इस दिशा में एक योगदान यह भी किया कि आनंदवर्द्धन द्वारा निर्दिष्ट काव्य के तीन भेदों—उत्तम, मध्यम और अधम के साथ उत्तमोत्तम नामक चौथे भेद को स्वीकार किया। पंडितराज का प्रभाव परवर्ती लोगों पर कम पड़ा तथा सामान्यतः लोग मम्मट के एतद्विषयक विवेचन को ही महत्त्व देते रहे।

ध्वनि सिद्धांत के उपरांत वक्रोक्ति सिद्धांत का आविर्भाव हुआ। यह सिद्धांत अलंकार और रीति सिद्धांतों के समान देहवादी था, रस और ध्वनि सिद्धांतों के समान आत्मवादी नहीं था। इसके प्रवर्तक आचार्य कुंतक हैं। इन्होंने काव्य का जीवित 'वक्रोक्ति' को मानते हुए प्रतिभा पर आश्रित कविवैदग्ध्यभंगीभणिति (वैचित्र्य) के रूप में इसकी परिभाषा की। वस्तुतः यह सिद्धांत भामह द्वारा अलंकार के प्राणरूप में स्वीकृत अर्थ और शब्द के वैचित्र्य वाली वक्रोक्ति और भट्टतौत द्वारा निरूपित नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा पर आधारित है। कुंतक ने इसे वर्ण-विन्यास से ले कर घटना-विन्यास तक बता कर इसका विस्तार प्रायः काव्य के सभी रूपों में दर्शाया, किंतु यह सिद्धांत आगे चल कर लोकप्रिय न हो सका। मम्मट आदि ने वक्रोक्ति को अलंकार विशेष से अधिक महत्त्व नहीं दिया।

इन पांच संप्रदायों से संबद्ध सिद्धांतों के अतिरिक्त काव्यशास्त्र में एक छठा सिद्धांत और आविर्भूत हुआ, और वह था—औचित्य सिद्धांत। इसके प्रवर्तक थे आचार्य क्षेमेन्द्र। इस सिद्धांत के अंतर्गत औचित्य को काव्य का आधारभूत तत्त्व मानते हुए पूर्वोक्त सिद्धांतों में प्रतिपादित रस, अलंकार, गुण, रीति आदि के उचित प्रयोग की बात कह कर प्रकारांतर से इन सबके समन्वय का प्रयत्न किया गया। किंतु यह आगे किसी भी प्रकार से स्वीकार न हो सका। संभवतः इसलिए क्योंकि इसमें कोई ऐसी मौलिकता नहीं थी, जिसकी ओर परवर्ती आचार्यों का ध्यान आकृष्ट होता। जो बातें इसमें प्रतिपादित की गयी थीं, उनकी चर्चा आनंदवर्द्धन और कुंतक कर ही चुके थे।

काव्यशास्त्र के उक्त सिद्धांतों के साथ ही संस्कृत में छंदोविवेचन की धारा भी स्वतः रूप से चल रही थी। इसका सीधा संबंध यद्यपि काव्य के साथ ही था, तथापि उक्त आचार्यों में से किसी ने भी काव्यांग के रूप में इसका विवेचन करना इसलिए आवश्यक नहीं समझा, क्योंकि सामान्य रूप से सभी गद्य और पद्य—दोनों को काव्य मानते थे। अस्तु, यह धारा भी वैदिक काल से चली आ रही थी। इसका आरंभिक रूप वैदिक छंदों में सहज ही देखा जा सकता है। इन्हीं छंदों में आगे चल कर लौकिक संस्कृत के छंदों का विकास हुआ। इधर वर्णिक छंदों के साथ लोगों ने मात्रिक छंदों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का भी आविष्कार आरंभ कर दिया। इस प्रकार पिंगल के समय तक वैदिक छंदों के अतिरिक्त वर्णिक और मात्रिक—दो प्रकार के लौकिक छंद अस्तित्व में आ गये। आगे प्रस्तार-रीति के द्वारा इनकी संख्या ही निश्चित नहीं की गयी, अपितु दंडक, विशेषतः वर्णिक दंडकों का भी प्रचलन आरंभ हुआ। पिंगल के परवर्ती छंदशास्त्रकारों ने इनमें से सामान्यतः उन्हीं छंदों का विवेचन किया, जो साहित्य में प्रचलित हो गये थे, यद्यपि अपने विवेचन को पूर्ण करने के लिए उन्होंने कतिपय अप्रचलित छंदों को ग्रहण कर लिया था। कालिदास का 'श्रुतबोध', क्षेमेन्द्र का 'सुवृत्ततिलक', जयकीर्ति और हेमचंद्र के 'छंदोनुशासन' नामक ग्रंथ, भट्ट केदार का 'वृत्तरत्नाकर', गंगादास की 'छंदोमंजरी' आदि इसी प्रकार के ग्रंथ कहे जा सकते हैं। इनमें अंतिम दो अपेक्षाकृत अधिक सुबोध एवं व्यवस्थित हैं। दूसरी ओर प्राकृत भाषाओं की प्रकृति के अनुकूल पड़ने के कारण मात्रिक छंद अधिक लोकप्रिय होते जा रहे थे। परिणामतः अनेक प्रकार के नये मात्रिक छंदों का आविष्कार हुआ और धीरे-धीरे इन्हें भी शास्त्रीय मान्यता मिलने लगी। इस प्रकार के छंदों का सबसे प्रामाणिक ग्रंथ 'प्राकृत-पैंगलम्' कहा जा सकता है और यह अपने आपमें पूर्ण एवं व्यवस्थित है।

काव्यांगों तथा छंदों के विवेचन की उक्त दोनों धाराएं संस्कृत में ही नहीं रहीं, बल्कि हिंदी में भी इस प्रकार के ग्रंथ रीतिकाल से पूर्व लिखे गये। कृपाराम की 'हिततरंगिनी', सूरदास की 'साहित्यलहरी', नंददास की 'रसमंजरी', केशव की 'रसिकप्रिया', 'कविप्रिया', 'छंदमाला' और 'रामचंद्रिका', रहीम के 'बरवै नायिकाभेद' और 'नगरशोभा', सेनापति के 'काव्यकल्पद्रुम', सुंदरदास के 'सुंदर-शृंगार' आदि को हिंदी के रीतिग्रंथों की परंपरा की पहली कड़ी कहा जा सकता है। इन ग्रंथों का उद्देश्य किसी सिद्धांत का प्रतिपादन न हो कर काव्यशास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए हिंदी में सरस और सुबोध रूप में विशिष्ट काव्यांगों का विवेचन प्रस्तुत करना मात्र था। इसलिए संस्कृत के उक्त लक्षण ग्रंथों के आधार पर विवेचन करना इनके रचयिताओं ने श्रेयस्कर समझा। मौलिकता प्रदर्शित करने की न उनमें प्रतिभा थी और न इसकी अपेक्षा ही थी। यही कारण है कि संस्कृत के परवर्ती आचार्यों के समान इस दिशा में इन लोगों का कोई मौलिक योगदान नहीं रहा।

रीतिकालीन कवियों के समक्ष भी हिंदी के पूर्ववर्ती कवियों के समान काव्यांगों का सुबोध ज्ञान प्राप्त करने योग्य ग्रंथों को उपलब्ध कराने का लक्ष्य था। अतएव, उन्होंने भी रीति-निरूपण के लिए ध्वनि-परवर्ती आचार्यों में उन्हीं को अपना आधार बनाया, जिनके ग्रंथ सुबोध एवं विवेचन की दृष्टि से व्यवस्थित थे। इन ग्रंथों में शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद के लिए भानुदत्त की 'रसमंजरी' तथा 'रस-सामग्री' और रस के भेदोपभेदों के लिए उन्हीं की 'रसतरंगिणी' एवं अलंकारों के लिए जयदेव का 'चंद्रालोक' अथवा अप्पय दीक्षित का 'कुवलयानंद' इस युग के कवियों के बीच सर्वाधिक ग्राह्य रहे। जिन लोगों ने विशिष्ट अंगों के स्थान पर काव्य के सभी अंगों का एक साथ विवेचन करना चाहा, उन्होंने इन ग्रंथों के स्थान पर मम्मट के 'काव्यप्रकाश' अथवा विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' का आश्रय लिया। छंदोविवेचन के लिए प्रायः सभी छंदोनिरूपक कवि भट्ट केदार के 'वृत्तरत्नाकर' अथवा गंगादास की 'छंदोमंजरी' तथा 'प्राकृतपैंगलम्' के ऋणी रहे। इनसे आगे संभवतः किसी ने जाने का प्रयत्न नहीं किया। जिनकी इच्छा हुई थी, उन्होंने अधिक-से-अधिक केशव की 'कविप्रिया' के आधार पर लक्षणों की रचना कर ली। ऐसे ग्रंथों के आधार पर यह धारणा बना लेना अपने आप में भ्रामक होगा कि इनके रचयिता ध्वनि-पूर्ववर्ती आदि आचार्यों के सीधे रूप में ऋणी रहे हैं।

यह बात तो रही काव्यशास्त्रीय पृष्ठाधार की। इस काव्य की साहित्यिक पृष्ठभूमि भी कम पुष्ट नहीं कही जा सकती। ये कवि जिस परंपरा का अनुसरण कर रहे थे, वह थी मुक्तकों की, और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मुक्तकों की यह परंपरा हिंदी के जन्म से पूर्व संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के भीतर अविकल रूप से चली आ रही थी। प्राय: उन सभी विषयों से संबद्ध मुक्तक प्रचुर परिमाण में समय-समय पर लिखे जाते रहे थे, जिनको इन्होंने अपने काव्य के लिए ग्रहण किया। इनमें शृंगारिक मुक्तक सर्वाधिक लोकप्रिय होने के कारण सबसे अधिक परिमाण में लिखे गये। इनकी तीन धाराएं थीं, जो अपनी विशेषताओं के कारण स्वत: स्पष्ट थीं। इनमें पहली ऐसे मुक्तकों की थी, जिनमें ऐहिकता का स्वर एकदम मुखर था। हाल की 'गाथासप्तशती' इस धारा का आरंभिक रूप कही जा सकती है, जहां गार्हस्थिक परिवेश में यौन संबंधों के वर्णन की स्पष्टता और स्वाभाविकता से यह सहज ही अनुभव हो जाता है कि यह उस समय की रचना है, जबकि भारतीयों के मन में परलोक-साधना की अपेक्षा गृहस्थ जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा था। इसके पश्चात इस धारा ने क्रमश: नया मोड़ लिया और गार्हस्थिक जीवन की सरलता के स्थान पर इसमें नागर जीवन की कृत्रिमता आ गयी। परिणामस्वरूप अभिव्यक्ति में सहजता और स्वाभाविकता का स्थान अलंकरण तथा अतिशयता ने ले लिया। अमरूक ने 'अमरूकशतक' तथा गोवर्द्धनाचर्य की 'आर्यासप्तशती' से यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है। आगे चल कर सामंतीय प्रभाव के कारण यह धारा साधारण धरातल से हटती चली गयी और परिणाम यह हुआ कि कृत्रिमता के साथ इसमें आभिजात्य ने अपना घर कर लिया, वैयक्तिकता के सन्निवेश से वाणी में सहज माधुर्य आ गया। कालिदास के 'शृंगारतिलक' और 'घटकर्पर', भर्तृहरि का 'शृंगारशतक', विल्हण की 'चौरपंचाशिका' आदि इसके प्रमाण हैं। दूसरी धारा स्तोत्रों की थी, जो इस धारा के समानांतर चल रही थी। इसके भीतर शिव-पार्वती अथवा राधा-कृष्ण की लीलाओं के ब्याज से खुल कर शृंगार-वर्णन किया गया था। 'वक्रोक्तिपंचाशिका', 'कृष्णलीलामृत' आदि ग्रंथ इसी कोटि के कहे जा सकते हैं। तीसरी धारा कामशास्त्र के ग्रंथों की थी, जिसने उक्त दोनों धाराओं को प्रभावित किया। वात्स्यायन का 'कामसूत्र', कोक्कन का 'रतिरहस्य', जयदेव की 'रतिमंजरी', प्रौढ़देवदाय की 'रतिरत्नदीपिका', कल्याणमल्ल का 'अनंगरंग' और वीरभद्र का 'कंदर्पचिंतामणि' इस धारा की प्रमुख रचनाएं हैं।

हिंदी में ये धाराएं आरंभ से प्रचलित रहीं। इनमें 'पृथ्वीराजरासो' के शृंगार-वर्णन, कृपाराम की 'हिततरंगिनी', सूर की 'साहित्यलहरी' तथा 'सूरसागर' के वे शृंगारिक प्रसंग, जिनमें नायिकाभेद और संयोग-वियोग शृंगार की सामग्री पर शास्त्रीयता की छाप स्पष्ट है, तुलसी की 'बरवै रामायण', केशव की 'रसिकप्रिया', रहीम के 'बरवै नायिकाभेद' और 'नगरशोभा' आदि को अलंकरण के कारण प्रथम धारा की परंपरा में सहज ही रखा जा सकेगा, जबकि विद्यापति, सूर, नंददास आदि कृष्णभक्त कवियों द्वारा राधा-कृष्ण की लीलाओं के व्याज से शृंगार-वर्णन दूसरी धारा का सीधा अनुकरण कहे जा सकेंगे। कामशास्त्रीय ग्रंथों की प्रेरणा इन दोनों के मूल में रही, यह इनमें वर्णित संयोग शृंगार के प्रसंगों से सहज ही जाना जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आगे चल कर रीतिकाल में अपने अनुकूल वातावरण प्राप्त कर शृंगारिक मुक्तकों की यह त्रिमुखी परंपरा अधिक पुष्ट और समृद्ध हो गयी। रीतिकवियों ने हाल, गोवर्द्धन आदि के प्रभाव से सतसइयां ही नहीं लिखीं, बल्कि उनको अपनी रचनाओं की विषयवस्तु का स्रोत भी बनाया। 'अमरूकशतक' के आधार पर भी अनेक मुक्तकों की रचना हुई। इसी प्रकार दूसरी धारा कृष्णभक्तिकाव्य में जिस प्रकार मुखरित हो कर आयी थी, उससे प्रभावित हो कर इन कवियों ने राधा-कृष्ण को ही अपने नायक-नायिका बना कर उनके विभिन्न शृंगारिक व्यापारों के वर्णन में अपनी भक्तिभावना का आरोप कर लिया। भिखारीदास का यह कथन कि 'अबके सुकवि रीझिहैं तौ कविताई है, न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है', इसका प्रमाण है। इधर तीसरी धारा के प्रभाव के परिणामस्वरूप इन लोगों ने नायक-नायिकाओं की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रतिक्रीड़ाओं का विशद वर्णन ही नहीं किया, नायिकाओं के भेदों की उद्भावना में भी इससे प्रेरणा ली। पद्मिनी, शंखिनी, चित्रिणी और हस्तिनी नामक नायिकाओं की उद्भावना के मूल में उक्त कामशास्त्रीय ग्रंथों की यही धारणा कही जा सकती है।

शृंगार के समान वीरकाव्य की परंपरा भी हिंदी की पूर्ववर्ती भाषाओं में अत्यंत समृद्ध एवं विशद है। अंतर केवल इतना ही है कि इसमें मुक्तकों की अपेक्षा प्रबंधकाव्यों की रचना अधिक हुई है। इसका कारण यही कहा जा सकता है कि रस के परिपाक के लिए वीर रस के आलंबन-महत्कर्म और उसके प्रति आश्रय के उत्साह-भाव को दिखाने की दृष्टि से कर्मशृंखला को जिस प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है, प्रबंधकाव्य का विस्तार उसके सर्वाधिक अनुकूल पड़ता है जबकि मुक्तक के सीमित कलेवर के भीतर कभी-कभी समस्त कर्मशृंखला न समा सकने के कारण वीर रस का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाता और रचना मात्र प्रशस्ति रह जाती है। जो हो, इस परंपरा में चार धाराएं स्पष्टत: देखी जा सकती हैं। इनमें पहली तो उन काव्यों की है, जिनके नायक 'रामायण' अथवा 'महाभारत' के प्रसिद्ध वीर पात्र रहे हैं। कालिदास का 'रघुवंश', प्रवरसेन का 'सेतुबंध', कुमारदास भट्टि का 'रावणवध', अभिनंद का 'रामचरित', क्षेमेन्द्र का 'रामायणमंजरी', वामन भट्ट का 'रघुनाथचरित', भारवि का 'किरातार्जुनीय', माघ का 'शिशुपालवध', देवप्रभसूरि का 'पांडवचरित' आदि इसी धारा के प्रसिद्ध काव्य हैं। दूसरी धारा उन चरितकाव्यों की है, जिनमें कवियों ने अपने आश्रयदाता अथवा उसके किसी पूर्वज के चरित्र का सांगोपांग वर्णन करते हुए उसके महान कर्मों का बखान किया है। इनके भीतर बाण का 'हर्षचरित', कनकसेनवादिराज का 'यशोधराचरित', शंकुक का 'भुवनाभ्युदय' गंगादेवी का 'मथुराविजय', राजनाथ द्वितीय का 'सालुवाभ्युदय', राजनाथ तृतीय का 'अच्युतरायाभ्युदय' गंगाधर का 'गंगादासप्रतापविलास', जयानक का 'पृथ्वीराजविजय' आदि उल्लेखनीय हैं। तीसरी धारा उन मुक्तक रचनाओं की है, जो कवियों ने अपने श्रद्धापात्रों की प्रशस्ति में लिखी हैं। इनका संकेत मेरुतुंग की 'प्रबंधचिंतामणि' तथा राजशेखर के 'प्रबंधकोश' में संकलित मुक्तकों तथा विभिन्न आचार्यों के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में उद्धृत रचनाओं से मिलता है। चौथी धारा उन ग्रंथों की है, जो लिखे तो इतिहास-निर्माण की दृष्टि से गये, पर उनमें कतिपय राजाओं और सामंतों के महत्कर्मों का वर्णन कुछ इतने ओज और श्रद्धा के साथ हुआ है कि तत्संबंधी छंद सहज ही वीरकाव्य की कोटि में रखे जा सकते हैं। इनमें कल्हण की 'राजतंरगिणी' तथा संध्याकरनंदि का 'रामचरित' उल्लेखनीय हैं। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में भी वीरकाव्यों की परंपरा की ये धाराएं विद्यमान रहीं, पर जैनों तथा सिद्धों के प्रभाव के कारण इनका क्षेत्र धार्मिक महत्कर्मों के बखान के कारण सीमित ही नहीं रहा, रूढ़िबद्धता के कारण किसी सीमा तक स्फूर्तिहीन भी हो गया।

हिंदी में आदिकाल के अंतर्गत चरितकाव्यों की धारा ही मुख्य रूप से प्रचलित रही। इनमें यद्यपि अपभ्रंश के चरितकाव्यों की रूढ़ियों का पालन रहा है, किंतु तत्कालीन युद्ध के सामान्य वातावरण और चारणों तथा भाटों की अतिशयप्रधान उक्तियों के कारण इनमें ओज का जैसा सन्निवेश हुआ है, वह पूर्ववर्ती काव्य में दुर्लभ है। भक्तिकाल के अंतर्गत यह धारा तो क्षीण रूप में चलती ही रही, राम और कृष्ण के चरित विषयक ग्रंथों में यथावसर वीररसपरक प्रसंगों की योजना भी की गयी। भक्त कवियों ने इन दोनों महापुरुषों को यद्यपि विष्णु के अवतार रूप में प्रतिष्ठित किया, तथापि उनके महत्कर्मों के वर्णन इस भावना से इतने असंयुक्त रहे कि इनकी वीररसात्मकता पर किसी भी प्रकार से संदेह नहीं हो पाता। रीतिकाल में चरितकाव्यों की धारा तो अविच्छिन्न रही, पर रामकृष्ण आदि रामायण-महाभारत के प्रसिद्ध चरित्रों से संबद्ध काव्यों की धारा एकदम क्षीण हो गयी। इसके स्थान पर संस्कृत के प्रशस्तिपरक मुक्तकों की धारा अनेकमुखी हो कर इस प्रकार प्रवाहित होने लगी कि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उक्त सभी धाराएं अकेली अथवा संश्लिष्ट हो कर समाहित हो गयीं। इतिहास की वस्तुपरकता और प्रबंधकाव्यों की वर्णनात्मकता इस धारा के मुक्तकों में सहज ही समा गयीं। वास्तव में शृंगारिक मुक्तकों के इस युग में वीररसपरक रचनाओं के लिए भी कवियों ने इस काव्यरूप को अपनाने का यदि प्रयत्न किया, तो वह स्वाभाविक ही था। इधर छप्पय, दोहा, कवित्त और सवैया—ये चार छंद आरंभ में ही प्रकृतितः मुक्तक के अधिक अनुकूल थे। आदिकाल में 'पृथ्वीराजरासो', 'आल्हखंड' आदि तथा भक्तिकाल में 'वीरसिंहदेवचरित', 'जहांगीरजसचंद्रिका' आदि प्रबंधकाव्यों में इन छंदों की मुक्तक काव्यानुकूलता इतनी मुखर है कि उनसे पृथक् करके पढ़ने पर ये सामान्यतः मुक्तक रचना ही प्रतीत होते हैं। रीतिकाल के चरितकाव्यों में भी ये छंद इसी विशेषता से युक्त हैं। रीति-निरूपण संबंधी ग्रंथों के आरंभ अथवा अंत में कवियों के आश्रयदाताओं अथवा उनके पूर्वजों के महत्कर्मों की प्रशस्तियां तथा आश्रयदाताओं की राज्यश्री आदि का वर्णन मुक्तकों की इसी धारा के सूचक हैं। दूसरे, चूंकि प्रशस्तिपरक मुक्तकों के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किये जाने की परंपरा संस्कृत और प्राकृत के काव्यशास्त्रीय एवं छंदोनिरूपण विषयक ग्रंथों में विद्यमान थी, अतएव अलंकारों और छंदों के विवेचन में ही अधिकांशतः इन लोगों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्तियां ही उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत नहीं कीं, बल्कि अवसर मिलने पर वीर, रौद्र, बीभत्स और अद्भुत रसों के उदाहरणों के रूप में भी इस प्रकार के मुक्तक प्रस्तुत किये। पर चूंकि इन छंदों में, विशेषतः दोहे में, वीर रस के परिपाक के लिए अपेक्षित कर्म-शृंखला का पूर्णतः निर्वाह न हो सका, इसीलिए ये मुक्तक रसात्मक होने की अपेक्षा अधिकांशतः राजविषयक अथवा रीतिपरक ही अधिक रह गये।

शृंगार और राजप्रशस्तिपरक वीरकाव्य से इतर विषयों में भक्ति और नीतिपरक मुक्तकों की परंपरा इन दोनों विषयों के समानांतर चलती रही। इनमें भक्तिपरक मुक्तक संस्कृत में अनेक स्तोत्र-संग्रहों के रूप में लिखे गये। बाण का 'चंडीशतक' ऐसे मुक्तक-संग्रहों में सबसे प्राचीन कहा जा सकता है। इसके बाद सत्रहवीं शताब्दी पर्यंत विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति में अनेक स्तोत्र-ग्रंथ लिखे गये। इनमें मानतुंग के 'भक्तामरस्तोत्र', मयूर के 'सूर्यशतक', केरल-नरेश कुलशेखर के 'मुकुंदमाला', आनंदवर्द्धन के 'देवीशतक', उत्पलदेव के 'शिवस्तोत्रावलि', जयदेव के 'गंगास्तव', वेदांतदेशिक के 'पादुकासहस्र गरुड़दंडक' और 'अच्युतशतक', अप्पय दीक्षित के 'वरदराजस्तव', नीलकंठ दीक्षित के 'आनंदस्तव' और 'शिवोत्कर्षमंजरी' तथा पंडितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त पुराणों में दिये गये स्तोत्र भी जनसामान्य के बीच अपने माहात्म्य के कारण प्रचलित रहे होंगे। इनका प्रभाव उपर्युक्त स्तोत्रों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से रहा, यह इसी बात से प्रमाणित होता है कि इनमें से अधिकांश के भीतर देवी-देवताओं के उन्हीं गुणों का गायन है, जिनका पुराणकारों ने निर्देश किया है। हिंदी में भक्तिकाल के अंतर्गत भक्तिपरक मुक्तकों की जो धारा चली, उस पर यद्यपि पूर्वोक्त स्तोत्रों का प्रभाव रहा, किंतु उसका मूल उत्स पौराणिक स्तोत्र ही रहे। रीतिकालीन कवियों द्वारा रचित रीतिग्रंथों के मंगलाचरणों तथा विभिन्न अलंकारों, शांत और भक्ति रसों आदि के उदाहरणस्वरूप रचित एतद्विषयक स्फुट छंदों पर इन सबका सम्मिलित प्रभाव ही रहा। चूंकि ये लोग किसी विशिष्ट संप्रदाय में दीक्षित नहीं थे, इसलिए किसी भी देवी-देवता की स्तुति इनके लिए मात्र आस्था की बात थी। यही कारण है कि भक्तिकालीन कवियों की तुलना में इन कवियों की रचनाओं में इष्टविषयक वैविध्य अधिक है।

नीतिपरक मुक्तकों का क्षेत्र भक्तिपरक मुक्तकों की तुलना में आरंभ से ही अधिक विशद रहा। शृंगारिक मुक्तकों के समान इनकी भी तीन धाराएं पृथक् रूप से चलीं, किंतु इनका परिवेश जीवन के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण न हो कर संस्कृति ही है। कदाचित इसीलिए हिंदी के जन्म से पूर्व रचे

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गये नीतिकाव्य पर ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सांस्कृतिक सिद्धांतों का प्रभाव रहा। ब्राह्मण-संस्कृति के परिवेश में लिखे गये नीतिकाव्य ग्रंथों में चाणक्य के 'चाणक्यशतक', सुंदरपांड्य की 'नीतिद्विषष्टिका', शंकर वर्मा के 'वल्लालशतक', भर्तृहरि के 'नीतिशतक', क्षेमेन्द्र के 'चारुचर्चा', 'सेव्यसेवकोपदेश', 'दर्पदलन' आदि; जल्हण के 'मुग्धोपदेश', कुसुमदेव के 'दृष्टांतशतक', द्याद्विदेव की 'नीतिमंजरी', गुमान कवि के 'उपदेशशतक' आदि ग्रंथों का उल्लेख किया जा सकता है। जैनों द्वारा लिखे गये नीतिग्रंथों में अमितगति की 'धर्मपरीक्षा' तथा हेमचंद्र का 'योगशास्त्र' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। ये ग्रंथ अन्य जैन ग्रंथों के समान अपभ्रंश भाषा में हैं। इनके अतिरिक्त बौद्ध संघों के विघटन से आविर्भूत महायान और हीनयान शाखाओं तथा बाद में महायान की वज्रयान और सहजयान नामक उपशाखाओं से विकसित क्रमशः सिद्ध और नाथ-संप्रदायों के संतों ने अपने उपदेश भी इसी भाषा में लिखे। इन सब पर सांप्रदायिक प्रभाव स्पष्ट है। हिंदी की आरंभिक अवस्था में तो इस प्रकार का काव्य कम लिखा गया, किंतु भक्तिकाल में यही मूलतः पूर्ववर्ती धार्मिक परंपराओं के अनुरूप रचा जाने के परिणामस्वरूप बौद्ध और जैन प्रभावों से अछूता रहा। संतकाव्यधारा के कवियों ने जितनी भी नीतिपरक रचनाएं लिखीं, उन पर प्रायः नाथों का प्रभाव रहा। सगुणभक्त कवि इनके विपरीत संस्कृत में रचित नीतिग्रंथों के अनुगामी रहे। इस संबंध में यह कहना असंगत न होगा कि इस काल के कवियों की रचनाओं में नीति सामान्यतः भक्ति और साधना की अंगीभूत हो कर आयी, किंतु, इनके साथ ही एक अन्य धारा भी इसी काल में आरंभ हुई। उसमें वे कवि थे, जिन्होंने वैयक्तिक अनुभवों के आधार पर नीतिपरक मुक्तकों की रचना की। ऐसे कवियों में रहीम का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। इनके पश्चात तो नीतिकाव्य का प्रवाह इसी दिशा में चल पड़ा। रीतिकवियों ने इस विषय की जो रचनाएं कीं, उन पर निजी अनुभवों की छाप ही अधिक रही। यदि किसी रचना में पूर्ववर्ती नीतिकाव्य-धाराओं का प्रभाव आया भी तो वह समाज में प्रचलित नैतिक मूल्यों की वैयक्तिक अनुभवों के साथ संगति बैठ जाने के कारण ही आया, क्योंकि पूर्ववर्ती नीतिग्रंथों को पढ़ने का इस युग में न तो किसी को अवकाश था और न इच्छा ही।

## रीतिकाव्य की मूल प्रवृत्तियां

रीतिकाल के अंतर्गत राजाश्रित कवियों में से अधिकांश तथा जनकवियों में से कतिपय ऐसे थे, जिन्होंने आत्मप्रदर्शन की भावना अथवा काव्य-रसिक-समुदाय को काव्यांगों का सामान्य ज्ञान प्राप्त कराने के उद्देश्य से ब्रजभाषा में रीतिग्रंथों का प्रणयन किया। अतएव, इन कवियों की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति रीतिनिरूपण की ही थी। इसके साथ ही विलासी आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए चूंकि इन लोगों ने उनकी रुचि के अनुरूप सामान्यतः शृंगारिक रचनाएं कीं, अतः शृंगारिकता इन कवियों की मुख्य काव्यप्रवृत्ति कही जा सकती है। इधर आश्रयदाताओं के दान, पराक्रम आदि का आलंकारिक वर्णन करने से जहां इन्हें धन-सम्मान मिलता था, वहां प्रबल धार्मिक संस्कारों के कारण भक्तिपरक रचनाएं करने से भी आत्मलाभ होता था। ऐसी दशा में राजप्रशस्ति और भक्ति भी इनकी कविता का अंग बन कर गौण प्रवृत्तियों के रूप में आयीं। दूसरी ओर इन लोगों के कटु-मधुर वैयक्तिक अनुभव भी समय-समय पर नीतिपरक रचनाओं के रूप में व्यक्त होते रहते थे। अतः नीति भी इनकी कविता का अंग कही जा सकती है। इस प्रकार कुल मिला कर रीतिकवियों की प्रवृत्तियों को दो वर्गों में रखा जा सकता है :

1. मुख्य प्रवृत्तियां—(*क*) रीति-निरूपण और (*ख*) शृंगारिकता।
2. गौण प्रवृत्तियां—(*क*) राजप्रशस्ति (वीरकाव्य), (*ख*) भक्ति, और (*ग*) नीति।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**रीति-निरूपण :** रीति-निरूपण की इस व्यापक प्रवृत्ति का अध्ययन करने पर इसके भीतर कतिपय अंत:प्रवृत्तियां भी दृष्टिगत होती हैं। इनका विश्लेषण ग्रंथकार की दृष्टि, काव्यांग-विवेचन तथा निरूपण-शैली के आधार पर पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। इनमें ग्रंथकारों की दृष्टि के आधार पर यदि अंत:प्रवृत्तियों का अध्ययन करें तो कहना होगा कि इस युग में रीतिग्रंथों की रचना मुख्य रूप से तीन दृष्टियों से की गयी। इनमें प्रथम दृष्टि तो मात्र रीतिकर्म की है। इसके परिचायक वे ग्रंथ हैं, जिनमें सामान्य रूप से काव्यांग विशेष का परिचय कराना ही इनके रचयिताओं का उद्देश्य रहा है तथा अपने कवित्व का प्रदर्शन करना इनका उद्देश्य नहीं रहा। ऐसे ग्रंथों में लक्षण के साथ उदाहरण या तो अन्य लोगों के काव्य से दिया गया है या फिर वह इतना संक्षिप्त रहा है कि उसमें कवित्व जैसी बात नहीं रही। जसवंतसिंह का 'भाषाभूषण', याकूब ख़ां का 'रसभूषण', रसिक सुमति का 'अलंकारचंद्रोदय', दलपतिराय वंशीधर का 'अलंकाररत्नाकर', गोविंद का 'कर्णाभरण', दूलह का 'कविकुलकंठाभरण', रसरूप का 'तुलसीभूषण' आदि इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। द्वितीय प्रवृत्ति में रीतिकर्म और कविकर्म का समान महत्त्व रहा है। इसके अंतर्गत आने वाले ग्रंथों में लक्षण और उदाहरण—दोनों ही उनके रचयिताओं द्वारा रचित हैं तथा उदाहरणों में सरसता का विशेष ध्यान रखा गया है। चिंतामणि, मतिराम, भूषण, देव, दास, कुलपति, श्रीपति, पद्माकर, ग्वाल आदि के रीतिनिरूपण विषयक ग्रंथ इसी प्रकार के हैं। तृतीय प्रवृत्ति के अंतर्गत लक्षणों को महत्त्व नहीं दिया गया। ग्रंथकारों ने प्राय: सभी छंदों की रचना काव्यशास्त्र के नियमों में बद्ध हो कर करने पर भी लक्षणों के फेर में पड़ना उचित नहीं समझा। बिहारी, मतिराम, भूपति, चंदन आदि की सतसइयां, नखशिख-वर्णन संबंधी समस्त ग्रंथ तथा विभिन्न कवियों द्वारा रचित स्फुट छंद इस प्रवृत्ति के परिचायक हैं। इन ग्रंथों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि ये मुख्यत: शृंगारी हैं।

काव्यांग-विवेचन के आधार पर इस प्रवृत्ति की दो अंत:प्रवृत्तियां कही जा सकती हैं—(1) सर्वांग विवेचन की और (2) विशिष्टांग विवेचन की। इनमें सर्वांग-विवेचन की प्रवृत्ति के अंतर्गत आने वाले ग्रंथों में सामान्य रूप से काव्यलक्षण, काव्यहेतु, काव्यप्रयोजन, काव्यभेद, शब्दशक्ति, काव्य की आत्मा (रस, ध्वनि), काव्यगुण, काव्यदोष, काव्यरीति, अलंकार तथा छंद का निरूपण किया गया है। कतिपय लोगों ने काव्यांगों का विवेचन एक ग्रंथ में किया है और छंद का पृथक् रूप से करने का प्रयत्न किया है। चिंतामणि का 'कविकुलकल्पतरु', देव का 'शब्दरसायन', कुलपति का 'रसरहस्य', दास का 'काव्यनिर्णय', सोमाथ का 'रसपीयूषनिधि', अमीरदास का 'सभामंडन', जनराज का 'कविता-रसविनोद' आदि इसी प्रवृत्ति के परिचायक ग्रंथ हैं। विशिष्टांग-विवेचन की प्रवृत्ति के अंतर्गत वे ग्रंथ कहे जा सकते हैं, जिनमें उक्त काव्यांगों में से किसी एक अथवा दो या तीन को विवेचन का विषय बनाया गया है। ये विषय हैं—रस, अलंकार और छंद। इन तीनों के विवेचन में सामान्य प्रवृत्ति तो यह रही है कि तीनों का पृथक्-पृथक् विवेचन एक ग्रंथ में हो, किंतु देव के 'भावविलास' और याकूब ख़ां तथा राय शिवप्रसाद के 'रसभूषण' नामक ग्रंथों में रस और अलंकार का विवेचन साथ-साथ किये जाने का प्रयत्न भी रहा है। रस-निरूपक ग्रंथों में पुन: दो प्रवृत्तियां दृष्टिगत होती हैं। इनमें एक तो हैं रस की विभावादि सामग्री के निरूपण के उपरांत उसके समस्त भेदों का सामान्य रूप से तथा शृंगार और उसके आलंबन (नायक-नायिकाभेद) आदि का विशेष रूप से विवेचन करने की और दूसरी प्रवृत्ति है रसों में शिरोमणि शृंगार के विभावादि, विशेषत: नायक-नायिकाभेद के सविस्तार वर्णन के उपरांत उसके भेदोपभेदों के वर्णन की। चिंतामणि का 'रसविलास', तोष का 'सुधानिधि', सुखदेव मिश्र के 'रसरत्नाकर' और 'रसार्णव', रसलीन का 'रसप्रबोध', समनेस का 'रसिकविलास', उजियारे की 'रसचंद्रिका', बेनी प्रबीन की 'नवरसतरंग',

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पद्माकर का 'जगद्विनोद', नवीन का 'रंगतरंग', ग्वाल का 'रसरंग', चंद्रशेखर वाजपेयी का 'रसिकविनोद' आदि ग्रंथ रस-निरूपण की प्रथम प्रवृत्ति के कहे जा सकते हैं, जबकि मतिराम के 'रसराज', देव के 'रसविलास', 'भवानीविलास', 'कुशलविलास' आदि; कृष्णभट्टदेव ऋषि की 'शृंगार-रसमाधुरी', शिवनाथ की 'रसदृष्टि', दास के 'शृंगारनिर्णय' आदि को दूसरी प्रवृत्ति के भीतर रखा जा सकता है। अलंकार-निरूपण की प्रवृत्ति के परिचायक ग्रंथों में मतिराम के 'ललितललाम' और 'अलंकारपंचाशिका', भूषण का 'शिवराजभूषण', गोप के 'रामालंकार', 'रामचंद्रभूषण' और 'रामचंद्राभरण'; रसिक सुमति का 'अलंकारचंद्रोदय', दलपतिराय का 'अलंकाररत्नाकर', रघुनाथ का 'रसिकमोहन', गोविंद का 'कर्णाभरण', दूलह का ''कविकुलकंठाभरण', सेवादास का 'रघुनाथ-अलंकार', रसरूप का 'तुलसीभूषण', पद्माकर का 'पद्माभरण', ग्वाल का 'अलंकार भ्रमभंजन' आदि तथा छंदोविवेचन की प्रवृत्ति के ग्रंथों में मतिराम की 'वृत्तकौमुदी', भूषण का 'छंदोहृदयप्रकाश', सुखदेव मिश्र का 'वृत्तविचार', माखन का 'श्रीनाथपिंगल-छंदविलास', दास का 'छंदोर्णवपिंगल', दशरथ का 'वृत्तविचार', नंदकिशोर का 'पिंगलप्रकाश' आदि उल्लेखनीय हैं।

विवेचन-शैली के आधार पर यदि प्रवृत्ति-विश्लेषण किया जाये, तो कहना होगा कि इस काल में रीति-निरूपण की मुख्य रूप से तीन शैलियां प्रचलित थीं। इनमें प्रथम तो काव्यप्रकाश-साहित्यदर्पण की शैली है, जिसमें लक्षण-उदाहरणों के अतिरिक्त वृत्ति दे कर विषयों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। इसके अंतर्गत चिंतामणि के 'कविकुलकल्पतरु', देव के 'शब्दरसायन', कुलपति के 'रसरहस्य', दास के 'काव्यनिर्णय', प्रतापसाहि की 'व्यंग्यार्थकौमुदी' और 'काव्यविलास', ग्वाल के 'अलंकारभ्रमभंजन' आदि ग्रंथों को लिया जा सकता है। इन ग्रंथों के भीतर मम्मट व विश्वनाथ द्वारा दी गयी संस्कृत-गद्य की वृत्ति के समान ब्रजभाषा-गद्य की वृत्ति दे कर विषय को यथावश्यकता समझाने का प्रयत्न किया गया है। दूसरी शैली चंद्रालोक-कुवलयानंद की संक्षिप्त शैली है। जसवंतसिंह का 'भाषाभूषण', दूलह का 'कविकुलकंठाभरण', वैरीसाल का 'भाषाभरण', गोविंद का 'कर्णाभरण', याकूब ख़ां का 'रसभूषण', पद्माकर का 'पद्माभरण' आदि इसके परिचायक कहे जा सकते हैं। इनमें 'भाषाभूषण', 'कविकुलकंठाभरण' जैसे ग्रंथों में एक ही छंद में लक्षण और उदाहरण का एक साथ निर्वाह करने के कारण इस शैली का पूरा अनुकरण कहा जा सकता है, जबकि 'कर्णाभरण', 'रसभूषण', 'पद्माभरण' जैसे ग्रंथों में संक्षिप्तता के निर्वाह का प्रयत्न तो अवश्य रहा है, पर इस शैली का पूर्ण अनुकरण नहीं हो पाया—प्रायः लक्षण और उदाहरण दोनों में पृथक्-पृथक् दिये गये हैं। तीसरी शैली भानुदत्त की 'रसमंजरी' की है, जिसमें लक्षण और सरस उदाहरण दे कर विषय-निरूपण किया गया है। रीतिकवियों ने इसका निर्वाह केवल भानुदत्त के समान शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद विवेचन के लिए ही नहीं किया, बल्कि रस, अलंकार और छंदों के विवेचन में भी किया है। उक्त दोनों शैलियों में आने वाले ग्रंथों को छोड़ शेष सभी ग्रंथ इसी शैली में लिखे गये हैं।

रीति-निरूपण की समस्त अंतःप्रवृत्तियों का अध्ययन करने पर इन सबके विषय में कतिपय सामान्य बातें कही जा सकती हैं। इनमें सबसे पहली तो यही है कि इस युग के समस्त रीतिकवियों ने अपने ग्रंथों का निर्माण सामान्य पाठकों को काव्यशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कराने के लिए किया है। अतएव, सुबोधता, सुकंठता और सरसता का ध्यान रखते हुए ही इनमें संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रचलित विभिन्न शैलियों का अनुकरण किया गया है। इस संबंध में दूसरी ज्ञातव्य बात यह है कि रीति निरूपण के लिए इस काव्य में सामान्यतः ध्वनि-रवर्ती परंपराओं के उन्हीं संस्कृत-ग्रंथों को आधार बनाया गया है, जो विवेचन की व्यवस्था और सुबोधता के कारण एक प्रकार से पाठ्यग्रंथ बन चुके थे।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इनके भीतर दिये गये लक्षणों का ब्रजभाषा में अनुवाद करने का ही इन लोगों ने प्रयत्न किया है। इस प्रकार इन लोगों ने आचार्यकर्म की अपेक्षा कविशिक्षक के कर्म का ही निर्वाह किया है और सीमाओं के रहते हुए भी कुल मिला कर इस दिशा में इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। तीसरे, विभिन्न काव्यांगों का मनोयोगपूर्वक निरूपण करते हुए भी ये लोग मूलतः रसवादी थे। इसीलिए इनकी रचनाओं में सिद्धांत और व्यवहार, दोनों की दृष्टि से रसवाद की ही स्थापना देखने को मिलती है।

**शृंगारिकता :** शृंगारिकता की प्रवृत्ति रीतिकवियों की कविता का प्राण है। रीति-निरूपण की प्रवृत्ति के समान इस प्रवृत्ति के भीतर यद्यपि स्वतंत्र अंतःप्रवृत्तियां तो विद्यमान रहीं, तथापि एक ओर से काव्यशास्त्रीय बंधनों के निर्वाह और दूसरी ओर से नैतिक बंधनों की छूट तथा विलासी आश्रयदाताओं के प्रोत्साहन के कारण इस प्रवृत्ति ने जो स्वरूप प्राप्त किया, उसे इतर कवियों की शृंगारिक प्रवृत्ति से सहज ही पृथक् करके देखा जा सकता है। शास्त्रीय बंधनों ने तो इसे इतना रूढ़ बना दिया है कि शृंगार के विभाव पक्ष में नायक-नायिकाओं के प्रत्येक भेद तथा उद्दीपक सामग्री के प्रत्येक अंग, अनुभावों के विविध रूपों, प्रत्येक संचारी तथा संयोग के भीतर वर्णित हावादिकों और वियोग के भेदोपभेदों। सहित विभिन्न कामदशाओं संबंधी रचनाओं के पृथक्-पृथक् वर्ग बनाये जा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन विषयों में से प्रत्येक से संबद्ध बिंबों का एक सांचा है, जिसमें से ढाल कर उन्हें निकाला गया है, उनकी रेखाओं को विशिष्ट परिवेश से बाहर आने ही नहीं दिया गया। दूसरी ओर नैतिक बंधनों की छूट तथा आश्रयदाताओं के प्रोत्साहन के कारण ये लोग अपनी कल्पना के पंख उतने अवश्य फैला सके हैं कि काव्यशास्त्रीय घेरे के भीतर भी बिंबों की रेखाएं उभर कर अपने निर्माताओं की अभिरुचि और दृष्टि की व्यंजना के द्वारा उनकी इस प्रवृत्ति की सामान्य विशेषताओं को प्रकट कर गयी हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इन कवियों की शृंगार-भावना में दमन से उत्पन्न किसी प्रकार की मानसिक ग्रंथियां न हो कर, शरीर-सुख की वह साधना है, जिसमें विलास के समस्त उपकरणों के संग्रह की ओर ही व्यक्ति की दृष्टि केंद्रित रहती है तथा प्रेम को अतींद्रिय रूप देने अथवा वासना के उन्नयन का प्रयत्न नहीं होता। यही कारण है कि संयोग के नग्न चित्रों तथा नायकों की धृष्टताओं के विभिन्न रूपों को प्रस्तुत करते समय इन्होंने किसी प्रकार का संकोच नहीं किया, क्योंकि इस प्रवृत्ति में विलासिता का प्राधान्य है। अतएव प्रेम-भावना में एकोन्मुखता का स्थान अनेकोन्मुखता ने कुछ इस प्रकार से ले लिया है कि कुंठारहित प्रेम की उन्मुक्तता रसिकता का रूप धारण कर गयी है। इसीलिए अनेक पत्नियों के बीच अकेला नायक किसी मानसिक तनाव का शिकार हुआ दृष्टिगत नहीं होता। निर्द्वंद्व हो कर भोग करने में ही वह अपने जीवन की सार्थकता समझता है। उसकी निर्द्वंद्विता पत्नियों के आंसुओं से व्यक्त होने वाली निराशा और पीड़ा को ग्रहण ही नहीं कर पाती। वास्तव में नारी के प्रति इन कवियों की दृष्टि सामंतीय ही रही है। ये उसे पुरुष के समकक्ष समाज की चेतन इकाई अथवा पुरुष का अर्द्धांग न समझ कर भोग्य-संपत्ति के समान उसे भोग का मात्र उपकरण समझते हैं। इनके लिए उसकी समस्त चेष्टाएं चेतन प्राणी की काम-भावना की अभिव्यक्ति न हो कर पुरुष की उपभोग्य वस्तु की श्रीवृद्धि मात्र हैं। इतना ही नहीं, यह मानते हुए भी कि नारी में पुरुष की अपेक्षा काम की मात्रा अधिक होती है, काम की अतृप्ति के कारण हुए उसके विरह तथा तज्जन्य व्याधियों के प्रति मानव-सुलभ सहानुभूति के स्थान पर इनमें उपेक्षा अथवा कौतूहल का भाव ही अधिक रहा है। कदाचित इसीलिए इनकी विरहिणी नायिकाओं की कामदशाओं के बिंब या तो प्रभावहीन रहे हैं या फिर तमाशा बन कर रह गये हैं। इधर विलासिता की प्रधानता और सामंतीय प्रभाव के कारण ही इन लोगों की सौंदर्य-भावना भी विषयिगत न हो कर विषयगत रही है। नारी के बाह्य रूप के परिचायक अंगों की बनावट

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में ही इनकी दृष्टि उलझी रही है, उसके आंतरिक गुणों तक नहीं पहुंच पायी।

विलासितापूर्ण उन्मुक्त प्रेम की अभिव्यक्ति तथा नारी के प्रति सामंतीय दृष्टि के होते हुए भी इस प्रवृत्ति में गार्हस्थिक प्रेम की व्यापक स्वीकृति देखने को मिलती है। 'छोड़ि आपनो भौन तुम, भौन कौन के जात' अथवा 'ते धनि जे ब्रजराज लखें गृहकाज करें अरु लाज संभारें' (मतिराम) द्वारा स्वकीया प्रेम की जिस प्रकार स्थापना की गयी है, वह सामान्यत: इस प्रवृत्ति के प्रत्येक कवि की रचनाओं में देखने को मिलेगी। नायकों की रसिकता अपनी पत्नियों के साथ किये गये उचित-अनुचित प्रेम व्यवहार से प्राय: बाहर नहीं जा पायी। इसमें संदेह नहीं कि परकीया और सामान्या प्रेम का वर्णन भी इन लोगों ने किया है, किंतु ऐसा उन्हें अपने नायिकाभेद-विवेचन को पूर्ण बनाने के कारण ही करना पड़ा है। इसमें व्यापक रूप से इनकी प्रवृत्ति नहीं रही। 'पर रस चाहै परकिया, तजै आपु गुन गोत' तथा 'प्रेमहीन त्रिय वेश्या है शृंगाराभास' (देव) के द्वारा परकीया-प्रेम में मर्यादाहानि तथा सामान्या-प्रेम में अनौचित्य को जिस प्रकार से व्यक्त किया गया है, वह इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त है। इतना ही नहीं, सामान्या-प्रेम-विषयक जितने भी छंद इन लोगों ने रचे हैं, उनमें प्रभाव-शक्ति इसीलिए नहीं आ पायी, क्योंकि इसमें इनका मनोयोग नहीं रहा। परकीया-प्रेम-वर्णन में ये लोग यद्यपि औत्कट्य एवं मार्मिकता का सन्निवेश कर गये हैं, जिससे एतद्विषयक रचनाओं में मार्मिकता आ गयी है, तथापि उनका अंतिम निष्कर्षात्मक प्रभाव यही रहा है कि 'कोऊ कितेक उपाय करो, कहुं होत हैं आपुने पीव पराये' (मतिराम)। इस प्रकार कुल मिला कर कहा जा सकता है कि रीतिकवियों की शृंगारिकता में सामान्य रूप से इंद्रियदमनजन्य कुंठाहीनता, शारीरिक सुख की साधना, अनेकोन्मुख प्रेमजन्य विलासिता, रूपलिप्सा, भोगेच्छा, नारी के प्रति सामंतीय दृष्टि तथा गार्हस्थिकता के गुण-दोषों के रहते हुए भी ऐसी ताज़गी है, जो काव्यशास्त्रीय नियमों के घेरे में बंद रह कर भी साधारण पाठक को एक क्षण के लिए आत्मविभोर कर सकती है।

**इतर प्रवृत्तियां :** जहां तक रीतिकाव्य में विद्यमान इतर प्रवृत्तियों का प्रश्न है, उनमें राजप्रशस्ति अथवा वीरकाव्य की प्रवृत्ति मूलत: अलंकार और छंदोविवेचन के ग्रंथों में ही देखने को मिलती है। रस-विवेचन के ग्रंथों में यह ग्रंथ विशेष की भूमिका के रूप में अथवा वीर और रौद्र रसों के निरूपण के प्रसंग में ही देखी जा सकती है। इसका मुख्य विषय आश्रयदाताओं की दानवीरता अथवा युद्धवीरता ही रही है। किंतु इनकी अभिव्यक्ति उनके दान अथवा पराक्रम के परिचायक व्यापारों के स्थान पर सामान्य रूप से दान की सामग्री की विपुलता तथा आश्रयदाताओं के आतंक एवं निर्बल और क़ायर शत्रुओं पर उनके प्रभाव के विविध वर्णनों द्वारा होने के कारण वैसा रसात्मक प्रभाव नहीं डाल पाती, जो वीर रस की रचनाएं छोड़ कर जाती हैं। इनके अतिरिक्त आश्रयदाताओं में लोकमान्य गुणों का आरोप तथा उनके अत्यधिक वैभव का बखान भी अपने आप में झूठी प्रशस्ति का ही प्रभाव छोड़ता है, किसी प्रकार का श्रद्धा-भाव उत्पन्न करने में वह असमर्थ रहता है। अतएव, कहा जा सकता है कि इनकी वीरकाव्य की प्रवृत्ति में अलंकारनिबद्ध राजविषयक रति का ही प्राधान्य है, उत्साह का प्राय: अभाव ही रहा है।

भक्ति की प्रवृत्ति रीतिग्रंथों के मंगलाचरणों, ग्रंथों की परिसमाप्ति पर आशीर्वचनों, भक्ति और शांत रसों, निर्वेदादि संचारियों तथा अलंकार-विवेचन संबंधी ग्रंथों में दिये गये उदाहरणों में मिलती है। सामान्य रूप से विष्णु के राम और कृष्ण—इन दो अवतारी रूपों में विशेष आस्था रखते हुए भी ये लोग गणेश, शिव और शक्ति में भी वैसी ही श्रद्धा रखते थे। अत: कहा जा सकता है कि ये किसी विशिष्ट संप्रदाय के अनुयायी नहीं थे। ईश्वर की विभिन्न शक्तियों के रूप में आज साधारण आस्तिक हिंदुओं में देवी-देवताओं के प्रति जो श्रद्धा और भक्ति का भाव रहता है, वही इनमें था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वास्तव में इस युग में भक्ति धार्मिकता की ही परिचायक नहीं थी, अपितु विलास-जर्जर दरबारी वातावरण के बाहर विषय वासनाजन्य दु:खों से आकुल मन के लिए शरणभूमि भी थी। इसीलिए समय-समय पर रचित इन छंदों में से अधिकांश में भक्तकवियों की तन्मयता का आभास होता है।

भक्ति यदि इन कवियों के आकुल मन के लिए शरणभूमि थी, तो नीति संघर्षमय दरबारी जीवन के घात-प्रतिघातों से उत्पन्न मानसिक द्वंद्व के विरेचन के परिणामस्वरूप शांति का आधार थी। इसीलिए आत्मोपदेश और अन्योक्तिपरक छंदों में इनके वैयक्तिक अनुभवों की छाप प्राय: देखने को मिलती है। अलंकारों, निर्वेदादि संचारियों आदि के विवेचन के प्रसंगों में उद्धृत ये नीतिपरक रचनाएं यद्यपि परिमाण में बहुत अधिक नहीं हैं, तथापि ऐसी प्रवृत्ति की परिचायक तो हैं ही, जिसमें वैयक्तिक अनुभवों से उत्पन्न विवेक को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। इस प्रकार गौण प्रवृत्तियों में राजप्रशस्ति की प्रवृत्ति शृंगारी प्रवृत्ति के समान उस युग के दरबारी जीवन में 'प्रवृत्ति' की परिचायक है, जबकि भक्ति और नीति की प्रवृत्तियां, उससे निवृत्ति की। चूंकि प्रवृत्ति और निवृत्ति जीवन के परस्पर पूरक पक्ष हैं, अतएव इन प्रवृत्तियों को एक-दूसरे की पूरक कहा जा सकता है।

## रीतिकवियों के वर्ग

रीति-निरूपण के आधार पर रीतिकवियों के मुख्यत: दो वर्ग किये जा सकते हैं—(1) सर्वांग-निरूपक और (2) विशिष्टांग-निरूपक। इनमें सर्वांग-निरूपक वे हैं, जिन्होंने काव्य के समस्त अंगों—काव्य लक्षण, काव्यहेतु, काव्यप्रयोजन, काव्यभेद, काव्य की आत्मा (रस अथवा ध्वनि), शब्दशक्ति, गुण, दोष, रीति, अलंकार और छंद का विवेचन अपने ग्रंथों में किया है। चिंतामणि, कुलपति, सूरति मिश्र, श्रीपति, देव, दास, जनराज आदि ऐसे ही आचार्य हैं। इन्होंने एक अथवा अनेक ग्रंथों के भीतर इन सभी अंगों का विवेचन किया है। विशिष्टांग-निरूपक आचार्यों ने काव्य के सभी अंगों को अपने विवेचन का विषय न बना कर उसके तीन महत्त्वपूर्ण अंगों—रस, अलंकार और छंद में से एक, दो अथवा तीनों का निरूपण एक अथवा अनेक ग्रंथों में किया है। इनमें रस-निरूपण करने वालों के भी तीन वर्ग किये जा सकते हैं : (*क*) समस्त रसों के निरूपक, (*ख*) शृंगाररस निरूपक और (*ग*) शृंगार रस के आलंबन नायक-नायिकाओं के भेदोपभेदों के निरूपक। समस्त रसों का निरूपण करने वालों में तोष, याकूब ख़ां, रामसिंह, सेवादास, बेनी प्रबीन, पद्माकर आदि का; शृंगार रस का निरूपण करने वालों में मतिराम, उदयनाथ, कवींद्र, चंद्रदास, यशवंतसिंह, कृष्ण कवि आदि का; तथा नायक-नायिकाभेद-विवेचकों में कालिदास, यशोदानंदन, गिरिधरदास आदि का नाम लिया जा सकता है। अलंकार-निरूपक आचार्यों में मतिराम, भूषण, गोप, दलपतिराय, रघुनाथ, गोविंद, दूलह, बैरीसाल, सेवादास, पद्माकर आदि तथा छंदोनिरूपक आचार्यों में मतिराम, सुखदेव मिश्र, माखन, जयकृष्ण भुजंग, दास, दशरथ, नंदकिशोर, रामसहाय आदि उल्लेखनीय हैं। यदि इन तीनों अंगों को स्वतंत्र रूप में लें तो इन कवियों के मुख्यत: ये चार वर्ग होंगे—(1) सर्वांग-निरूपक, (2) रस-निरूपक, (3) अलंकार-निरूपक और (4) छंदोनिरूपक। यहां इन चारों वर्गों के कवियों के आचार्यत्व एवं कवित्व पर पृथक्-पृथक् विचार करना होगा।

## सर्वांग-निरूपक कवि

इस वर्ग में आने वाले कवियों की संख्या यद्यपि बहुत अधिक नहीं है, तथापि विषय की व्यापकता, विस्तृत शास्त्रीय आधार, गंभीर चिंतन, मौलिक उद्भावना-प्रवृत्ति, आलोचक के लिए अपेक्षित आत्मविश्वास और साहस, सुबोध एवं स्पष्ट निरूपण-शैली, सहृदयता आदि ऐसी अनेक विशेषताएं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हैं, जो इस काल के इतर वर्गों के रीतिनिरूपक कवियों की तुलना में इन्हें सहज ही ऊंचे स्थान पर प्रतिष्ठित कर देती हैं। इनके रीतिनिरूपण का उद्देश्य भी यद्यपि सामान्य पाठक को विभिन्न काव्यांगों का साधारण ज्ञान मात्र कराना था, तथापि प्रत्येक का विभिन्न काव्य-संप्रदायों के विषय में दृष्टिकोण अपने आप में स्पष्ट है। रस, ध्वनि अथवा रसध्वनि को ही इन्होंने काव्य के जीव रूप में स्वीकार किया है, शेष संप्रदायों में से किसी को भी ये प्रतिष्ठा नहीं दे पाये। यह सत्य है कि इसके मूल में मम्मट और विश्वनाथ का व्यापक प्रभाव कुछ अधिक सक्रिय रहा, किंतु यह कहना इनके प्रति अन्याय होगा कि इतर संप्रदायों की स्थापना का इन लोगों को ज्ञान नहीं था। इनमें अनेक ऐसे हैं, जिन्होंने ध्वनि-पूर्ववर्ती और ध्वनि-उत्तरवर्ती संस्कृताचार्यों के ग्रंथों के अतिरिक्त हिंदी में केशव आदि के ग्रंथों का गंभीर अध्ययन कर उनकी मान्यताओं पर विचार करते हुए अपना मत बिना किसी संकोच के व्यक्त किया है। परंतु इतना होते हुए भी ये लोग काव्यशास्त्र के क्षेत्र में विशेष योगदान नहीं कर पाये। छंद के क्षेत्र को छोड़, जो कुछ भी उद्भावनाएं इन्होंने नायिकाभेद, रस, शब्दशक्ति, गुण-दोष आदि के विषय में की हैं, वे या तो अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं या नितांत अशास्त्रीय हो कर इनकी भ्रांति की परिचायक हो गयी हैं। इसके विपरीत इन्होंने जो उदाहरण दिये हैं, वे वास्तव में लक्षणों के अनुरूप एवं स्वच्छ तो हैं ही, साथ में इतने कवित्वपूर्ण भी हैं कि सामान्य पाठक की दृष्टि विवेचन संबंधी उक्त दोषों की ओर नहीं जा पाती। विषयानुरूप सरस भाषा में शृंगार, राजप्रशस्ति अथवा भक्ति और नीतिपरक बिंब जिस प्रकार से इन लोगों ने कवित्त, सवैया और दोहा जैसे विषयानुकूल छंदों में रचित मुक्तकों में व्यक्त किये हैं, उनको देख कर इनकी सहृदयता पर किसी प्रकार का संदेह नहीं हो पाता। यह बात दूसरी है कि देव, दास, सोमनाथ, ग्वाल जैसे कतिपय कवियों को छोड़ इन सबके कवित्व का स्तर ऐसा नहीं कि इन्हें एकदम प्रथम श्रेणी के कवियों की श्रेणी में प्रतिष्ठित किया जा सके। फिर भी, स्वच्छ लक्षणों और तदनुरूप उदाहरणों एवं गद्य में इनकी व्याख्या और वृत्ति द्वारा जो सुबोध, स्पष्ट एवं सरस विवेचन इन्होंने प्रस्तुत किया है, उसके आधार पर ये आचार्य नहीं, तो कम-से-कम सफल कवि-शिक्षक कहलाने के अधिकारी तो हैं ही। प्रस्तुत प्रसंग में इनमें से कतिपय प्रसिद्ध कवियों का परिचय देना उचित होगा।

**चिंतामणि :** रीतिकालीन आचार्यों में चिंतामणि का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। एक जनश्रुति के आधार पर लोग अब तक इन्हें तिकवांपुर-निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र तथा मतिराम, भूषण और जटाशंकर नामक प्रसिद्ध कवियों के सहोदर के रूप में स्वीकार करते चले आ रहे हैं; किंतु अधुनातन शोधों द्वारा यह सब भ्रामक सिद्ध हो चुका है। वास्तव में ये उत्तरप्रदेश के ज़िला फतेहपुर में स्थित कोंड़ा-जहानाबाद के रहने वाले थे और राजा हम्मीर के कहने से भूषण और मतिराम के साथ तिकवांपुर में आ बसे थे। ये शाह जी भोंसला, शाहजहां और दाराशिकोह के आश्रय में रहे। इनका जन्म 1600 ई. के लगभग तथा मृत्युकाल 1680-85 के आसपास ठहरता है। इनके द्वारा रचे हुए ये नौ ग्रंथ बताये जाते हैं—रसविलास, छंदविचार पिंगल, शृंगारमंजरी, कविकुलकल्पतरु, कृष्णचरित, काव्यविवेक, काव्यप्रकाश, कवित्तविचार और रामायण। इनमें से इस समय प्रथम पांच ही उपलब्ध हैं। 'रसविलास' रस-विवेचन का ग्रंथ है। इसमें भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' के अतिरिक्त धनंजय के 'दशरूपक' तथा विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' का आश्रय लिया गया है। 'शृंगारमंजरी' आंध्र के संत अकबरशाह की 'शृंगारमंजरी' के संस्कृत-अनुवाद का ब्रजभाषा में अनुवाद है। यह नायक-नायिकाभेद का ग्रंथ है। 'कविकुलकल्पतरु' में मम्मट के 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण', धनंजय के 'दशरूपक', अकबरशाह की 'शृंगारमंजरी' तथा भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' के आधार पर काव्य के दशांगों का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विवेचन प्रस्तुत किया गया है। 'छंदविचारपिंगल' के अंतर्गत 'प्राकृतपैंगलम्' तथा भट्टकेदार के 'वृत्तरत्नाकर' के आधार पर कृष्ण का चरित्र वर्णन किया गया है।

चिंतामणि ने रीतिनिरूपण को अत्यंत गंभीरता एवं निष्ठा के साथ ग्रहण किया है। इनके विवेचन की विशेषता इस बात में निहित है कि लक्षण देने से पूर्व ये सभी आधार-ग्रंथों में दिये गये लक्षणों को तोल कर देखते हैं और उनमें जो इन्हें ठीक जंचता है, उसे ग्रहण कर लेते हैं। यदि आवश्यकता होती है तो उसमें फेरबदल भी कर लेते हैं। किंतु इतनी व्यापक दृष्टि होते हुए भी इस दिशा में ये कोई मौलिक योगदान नहीं कर पाये। सामान्यतः लक्षण संस्कृत-ग्रंथों के लक्षणों के ब्रजभाषा में अनुवाद ही रहे हैं। वैसे, इतना निश्चित है कि इनका विवेचन स्वच्छ है, जिसके लिए इन्होंने लक्षणों और उदाहरणों की रचना एक-दूसरे के अनुसार ही नहीं की, विषय को स्पष्ट करने के लिए कहीं-कहीं ब्रजभाषा की वृत्ति का भी प्रयोग किया है।

आचार्यत्व की दृष्टि से ही नहीं, कवित्व की दृष्टि से भी इनका स्थान अत्यंत गौरवपूर्ण है। सिद्धांततः रसवादी होने के कारण इनकी कविता में शृंगार, वीर, वात्सल्य एवं भक्ति-रसों का सम्यक् परिपाक देखने को मिलता है। किंतु इस संबंध में यह कहना असंगत न होगा कि इनकी कविता में भावों के आवेग तथा कल्पना की ऊंची उड़ान के स्थान पर सीधी-सादी शब्दावली में सच्ची अनुभूति की अभिव्यक्ति है। भाषा-शैली की दृष्टि से भी इनका काव्य परिष्कृत कहा जा सकता है। पूर्वी प्रदेश के निवासी होते हुए भी इन्होंने ब्रजभाषा का स्वच्छ प्रयोग किया है। वास्तव में केशव के पश्चात संभवतः ये ही प्रथम कवि हैं, जिन्होंने भाषा को नियमानुसार व्यवहृत किया है। पदावली में सामान्य रूप से लालित्य और अनुप्रास-योजना मिलती है। रसवादी होने के कारण इन्होंने अलंकारों का प्रयोग रसोत्कर्ष के लिए ही किया है। इनकी छंद-योजना भी सुंदर कही जा सकती है। कवित्त और सवैया का प्रयोग इन्होंने सर्वाधिक किया है। इनमें परवर्ती कवियों के समान यद्यपि स्वर और लय की अधिक संगति नहीं है, तथापि पूर्ववर्तियों का-सा अनगढ़पन भी नहीं है। एक उदाहरण देखिए :

*अवलोकनि में पलकैं न लगें, पलकौ अवलोकि बिना ललकै।*
*पति के परिपूरन प्रेम पगी, मन और सुभाव लगै न लकै॥*
*तिय की बिहंसौंही बिलोकनि में, 'मनि' आनन्द आँखिन यों झलकै।*
*रसवन्त कवित्तन को रस ज्यों, अखरान के ऊपर ह्वै छलकै॥*

**कुलपति मिश्र :** चिंतामणि की परंपरा में आने वाले इस युग के दूसरे महत्त्वपूर्ण आचार्य कुलपति मिश्र हैं। इनके अपने साक्ष्य के अनुसार ये आगरा-निवासी माथुर चौबे परशुराम के पुत्र थे तथा जयपुर के कूर्मवंशीय महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह के आश्रय में रहते थे। कहा जाता है कि प्रसिद्ध कवि बिहारी इनके मामा थे। इनका कविताकाल 1660-1700 ई. के बीच ठहरता है। इनके द्वारा 'रसरहस्य', 'संग्रामसार', 'दुर्गाभक्तिचंद्रिका', 'मुक्ततरंगिणी' तथा 'नखशिख'—ये पांच ग्रंथ रचे हुए कहे जाते हैं। किंतु आज इनमें प्रथम तीन ही प्राप्त हैं। इनमें 'संग्रामसार' महाभारत के द्रोणपर्व का तथा 'दुर्गाभक्तिचंद्रिका' 'दुर्गासप्तशती' का पद्यबद्ध अनुवाद है। 'रसरहस्य' (1670) मम्मट के 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' तथा केशव की 'रसिकप्रिया' के आधार पर रचा गया काव्यांग-विवेचन संबंधी अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें कुल मिला कर आठ वृत्तांत हैं, जिनमें क्रमशः काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यपुरुषरूपक और काव्यभेद, शब्दशक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, गुण, दोष, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार नायक-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नायिकाभेद और छंद के अतिरिक्त इन्होंने सभी काव्यांगों का विवेचन किया है। इसमें अलंकारों के विवेचन में 'साहित्यदर्पण' का तथा ध्वनि-विवेचन के प्रसंग में हुए रस-विवेचन में 'साहित्यदर्पण' और 'रसिकप्रिया' का आश्रय ग्रहण किया गया है, शेष काव्यांगों का विवेचन 'काव्यप्रकाश' के आधार पर हुआ है। इनके अतिरिक्त संस्कृत के अन्य आचार्यों से भी यथावश्यक प्रभाव ग्रहण किया गया है। इन्होंने अपने निष्कर्ष पर्याप्त चिंतन के बाद दिये हैं। यही कारण है कि इनमें कहीं तो पूर्ववर्तियों के मतों का समन्वय दृष्टिगत होता है और कहीं पर स्वतंत्र चिंतन के परिणामस्वरूप नवीन मत का आभास मिलता है। गंभीर चिंतन के समान इनकी विवेचन-शैली भी गंभीर है। अन्य कवियों की भांति ये मात्र लक्षण-उदाहण ही नहीं देते, एक विषय पर पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों को उद्धृत करते हुए जब अपना मत देते हैं तो उसकी व्याख्या ब्रजभाषा-गद्य के द्वारा करते चलते हैं। कहीं-कहीं लक्षणों एवं उदाहरणों को स्पष्ट करने के लिए भी गद्य का आश्रय लिया गया है।

जहां तक इनके कवित्व का प्रश्न है, इनका काव्य साधारण कोटि का ही कहा जायेगा। 'काव्यप्रकाश' के आधार पर इन्होंने यद्यपि रसध्वनि की स्थापना की है, तथापि ये अपनी रचनाओं में इसका सम्यक् निर्वाह नहीं कर पाये। यह ठीक है कि इनकी कविता नितांत नीरस नहीं है, तथापि इसके भीतर कल्पना-व्यापारजन्य रमणीक बिंबों के अभाव के कारण प्राविधिकता आ जाने से ये प्रथम श्रेणी के कवियों के वर्ग से बाहर पड़ जाते हैं। इधर व्याकरण एवं शब्दों के स्वच्छ प्रयोग के कारण इनकी भाषा यद्यपि आदर्श कही जा सकती है, तथापि उसमें विषयानुरूप सौष्ठव न आ सकने के कारण वह सौंदर्य नहीं आ पाया, जो सरस काव्य के लिए अपेक्षित होता है। वस्तुतः आचार्य-कर्म में ये जितने सफल हैं, कवि-कर्म में उतने ही असफल रहे हैं। ये आचार्य पहले हैं और कवि बाद में। उदाहरण के लिए 'रसरहस्य' का यह अंश देखिए :

*एक रूप ही अर्थ बहु, जहाँ कहैं कवि लोय।*
*नयो रूप लखिये नहीं, अनविकृत है सोय॥*

यथा :

*रूप की रासि भये तौ कहा रु कहा भयो जो गुन सागर गाह्यौ।*
*बंधु अनेक भये तो कहा रु कहा भयो जो अरि को उर दाह्यौ॥*
*हाथी तुरंग भये तौ कहा रु कहा भयो जग दान सराह्यौ।*
*लाखन साल जिये तौ कहा रु कहा भयो जो जग नेह निबाह्यौ॥*

**टीका :** यहां वांछित अर्थ का इन दृष्टांतों ने पोषण नहीं किया। इस कारण यहां पर यह कहना उचित है कि 'हरि सों जग जो नहिं नेह निबाह्यौ।'

**कुमारमणि :** कुमारमणि शास्त्री चिंतामणि, कुलपति आदि की परंपरा के ध्वनिरसवादी आचार्य हैं। इनका जन्म 1665 ई. के आसपास ठहरता है। इनके दो ग्रंथ मिलते हैं—रसिकरंजन (1708) और रसिकरसाल (1719)। 'रसिकरंजन' संस्कृत कवियों की सूक्तियों का संग्रह है और 'रसिकलाल' में क्रमशः काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यभेद, शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, नायिकाभेद, गुणीभूत व्यंग्य, शब्दालंकार, अर्थालंकार, गुण और दोष का विवेचन किया गया है। यह ग्रंथ किसी रामनरेश के आश्रय में लिखा गया है। इनके रीतिनिरूपण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि स्पष्ट और सीधी भाषा में विभिन्न विषयों का निरूपण गंभीरतापूर्वक किया गया है। इनका आधार यद्यपि 'काव्यप्रकाश' है, तथापि ये सर्वत्र मम्मट का अंधानुकरण करते प्रतीत नहीं होते।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विश्वनाथ और पंडितराज के ग्रंथों का आश्रय लेने में भी इन्होंने संकोच नहीं किया। नायिकाभेद-विवेचन में अकबरशाह की 'शृंगारमंजरी' इनका आदर्श रही है। इनके लक्षण और उदाहरण स्वच्छ एवं सुबोध होने के साथ ही इनके विवेचन की प्रौढ़ता के भी परिचायक रहे हैं। सीधी सरल भाषा में सीधे सरल विषयों को इन्होंने जिस कौशल के साथ प्रस्तुत किया है, वह इन्हें इस युग के अच्छे कवियों की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर देता है। इनके काव्यों को पढ़ कर भाषा-शैली आदि की दृष्टि से पूर्ववर्तियों में मतिराम की और परवर्तियों में पद्माकर की कविता का स्मरण हो आता है।

**देव :** रीतिकालीन रीतिकाव्य जिन कवियों के कृतित्व के कारण प्रतिष्ठित हुआ, उनमें कवि देव विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इन्होंने विभिन्न ग्रंथों में अपने विषय में जो कुछ लिखा है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि इनका जन्म इटावा (उत्तर प्रदेश) के द्योसरिया ब्राह्मण परिवार में 1673 ई. में हुआ था। अपने जीवनकाल में ये अनेक राजा, रईसों और नवाबों के आश्रय में रहे। इनमें से कुछ के नाम ये हैं—(1) आजमशाह, (2) चर्खापति राजा सीताराम के भतीजे भवानीदत्त वैश्य, (3) फफूंद रियासत के राजा कुशलसिंह, (4) किसी स्थान के राजा अथवा सेठ भोगीलाल, (5) इटावा के निकटवर्ती इयोड़िया खेरा के राजा उद्योतसिंह, (6) दिल्ली के रईस पातीराम के पुत्र सुजानमणि, (7) पिहानी के अधिपति अली अकबर ख़ां। इनकी मृत्यु अनुमानतः 1767 ई. के आसपास हुई।

कवि देव द्वारा रचित 72 ग्रंथ बताये जाते हैं, किंतु आज ये 15 ही उपलब्ध हैं—भावविलास, अष्टयाम, भवानीविलास, प्रेमतरंग, कुशलविलास, जातिविलास, देवचरित्र, रसविलास, प्रेम-चंद्रिका, सुजानविनोद, काव्यरसायन (शब्दरसायन), सुखसागरतरंग, रागरत्नाकर, देवशतक और देवमायाप्रपंच। इनमें 'प्रेमचंद्रिका' में विषय-वासना के तिरस्कार, प्रेम के माहात्म्य और उसके विभिन्न रूपों का वर्णन किया गया है। 'रागरत्नाकर' संगीतविषयक लक्षण-ग्रंथ है। 'देवशतक' अध्यात्म संबंधी ग्रंथ है, जिसमें जीवन और जगत की असारता, ब्रह्मतत्त्व तथा प्रेम के माहात्म्य का वर्णन है। 'देवचरित्र' कृष्ण के जीवन से संबद्ध प्रबंधकाव्य है। 'देवमायाप्रपंच' संस्कृत के 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक का पद्यबद्ध अनुवाद है। शेष ग्रंथ काव्यांग-विवेचन संबंधी हैं। इनमें 'भावविलास' (1689) के अंतर्गत रस-सामग्री और रस-भेदों, विशेषतः शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद तथा 39 अलंकारों के विवेचन में भानुदत्त मिश्र की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी', भामह के 'काव्यालंकार', दंडी के 'काव्यादर्श' तथा केशव की 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' का आश्रय लिया गया है। 'शब्दरसायन' में क्रमशः काव्यस्वरूप, शब्दशक्ति, नवरस, नायक-नायिकाभेद, रीति, गुण, वृत्ति, अलंकार और पिंगल का विवेचन 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण', 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' के आधार पर किया गया है। शेष ग्रंथों में नायक-नायिकाभेद और शृंगार रस से संबद्ध विवेचन है, जिसका मूल आधार भानुदत्त की 'रसमंजरी', केशव की 'रसिकप्रिया' और रहीम का 'बरवै नायिकाभेद' आदि ग्रंथ रहे हैं। 'सुखसागरतरंग' इन विषयों से संबद्ध कवित्त-सवैयों का संग्रह है तथा 'अष्टयाम' में दिन के आठ पहरों के बीच होने वाले नायक-नायिका के विविध विलासों का वर्णन है। इन ग्रंथों की रचना 1689-1767 ई. के बीच हुई। यहां यह कह देना असंगत न होगा कि इन सबकी सामग्री बहुत-कुछ समान है। एक के लक्षण-उदाहरण थोड़े हेरफेर के साथ अथवा ज्यों-के-त्यों दूसरे में सन्निविष्ट करके नवीन शीर्षक के साथ नवीन ग्रंथ की रचना का प्रयत्न अधिक रहा है।

रीतिनिरूपण की दृष्टि से कवि देव के विवेचन में गुण और दोष—दोनों ही स्पष्ट हैं। गुणों में लक्षणों की सुबोधता, स्पष्टता और संक्षिप्तता तथा उदाहरणों की तदनुरूपता एवं सरसता के अतिरिक्त सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि ये अपने मत को प्रबल शब्दों में एवं आत्मविश्वास के साथ व्यक्त करते

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हैं। 'दधि, घृत, मधु, पायस तजि वायसु चाम चबात' कह कर चित्रकाव्य का तथा 'प्रेमहीन त्रिय वेश्या है शृंगाराभास' के द्वारा सामान्या-प्रेम का तिरस्कार इन्होंने जिस प्रकार से किया है, वह इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त है। इसके साथ ही भेदीकरण तथा मौलिक उद्‌भावना की प्रवृत्ति इनके विवेचन का दूसरा गुण कही जा सकती है। इनके द्वारा निरस, उदास आदि सात रस-दोषों, वामन-सम्मत गुणों के आधार पर रीति के भेदों; करुण, बीभत्स और शांत रसों के भेदों आदि की परिकल्पना तथा कतिपय नवीन छंदों का आविष्कार इस प्रवृत्ति के सहज परिचायक हैं। जहां तक इनके विवेचन संबंधी दोषों का प्रश्न है, इनके लक्षणों और उदाहरणों में कहीं कहीं अस्पष्टता एवं भ्रांति तो है ही, साथ ही अव्यवस्था, अशास्त्रीयता एवं असामंजस्य भी कम नहीं है। उदाहरण के लिए, इनके रस-विवेचन में एक स्थान पर शृंगार, वीर और शांत को मुख्य तथा हास्य और भयानक, रौद्र और करुण तथा अद्‌भुत और बीभत्स को क्रमशः इनके आश्रित एवं दूसरे स्थान पर शृंगार, रौद्र और बीभत्स को मुख्य तथा क्रमशः हास्य, अद्‌भुत, करुण और भयानक को इनके आश्रित कहने में जहां असामंजस्य दिखायी देता है, वहीं अलंकार-विवेचन में कतिपय अलंकारों के लक्षणों में परस्पर भिन्नता अव्यवस्था की परिचायक है। सत्व, वातादि प्रकृतियों के आधार पर नायिकाओं के भेदों के आविष्कार में अशास्त्रीयता कही जा सकती है। इस प्रकार इनका रीतिनिरूपण न तो साधारण पाठक के लिए उपयोगी बन पाया है और न गंभीर अध्येता को अपनी ओर आकृष्ट करने में ही समर्थ है।

इसके विपरीत कवित्व की दृष्टि से इनकी रचनाएं कहीं अधिक आकर्षक एवं प्रभावी कही जा सकती हैं। इन्होंने यद्यपि तत्त्वचिंतन संबंधी रचनाएं भी की हैं, तथापि इनके काव्य का मूल विषय शृंगार ही है। इनमें जीवन का राग-पक्ष निखार के साथ आया है। अपने रीतिनिरूपण में सिद्धांत रूप से अपने रसवादी होने का परिचय इन्होंने जिस प्रकार से दिया है, काव्य में उसका निर्वाह अत्यंत मनोयोग के साथ कर दिखाया है। कल्पना की ऊंची उड़ान के परिणामस्वरूप रंग-वैभव और प्रसाधन-सामग्री ने इनकी बिंबयोजना में विशेष सौंदर्य की सृष्टि की है। रूप, अनुभाव, मिलन आदि से संबद्ध बिंब अपने लक्षित और उपलक्षित रूपों में इतने स्पष्ट और आकर्षक हैं कि इस युग के उत्कृष्ट कलाकारों के एतत् संबंधी बिंब ही इनके समक्ष ठहर पाते हैं। दूसरी ओर इनकी अभिव्यक्ति भी कम समर्थ नहीं है। प्रत्येक शब्द अपनी विषयानुरूपता का परिचय देता है। इसमें संदेह नहीं कि इनकी भाषा दूसरों की अपेक्षा कुछ अधिक सदोष है तथा उसमें शब्दों की तोड़-मरोड़ और व्याकरण-रूपों की अव्यवस्था कुछ अधिक देखने को मिलती है। किंतु ये दोष भी भाषा-सौष्ठव और छंदों की लय के आग्रह के कारण ही आये हैं। अतएव, कहा जा सकता है कि इनका काव्य कुल मिला कर सरस एवं ग्राह्य है। उदाहरणार्थ, यह छंद द्रष्टव्य है :

*देव मैं सीस बसायौ सनेह कै, भाल मृगम्मद बिंद के भाख्यौ।*
*कंचुकि मैं चुपर्‌यौ करि चोवा, लगाय लियो उर सों अभिलाख्यौ॥*
*लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत, सिंगार कै चाख्यौ।*
*सांवरे लाल को सांवरो रूप, मैं नैननि को कजरा करि राख्यौ॥*

**सोमनाथ :** सर्वांग-निरूपक रीतिकवियों में सोमनाथ अथवा शशिनाथ का स्थान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इनके अपने कथन के अनुसार यह ज्ञातव्य है कि ये माथुर ब्राह्मण नीलकंठ के पुत्र थे तथा भरतपुर के महाराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र महाराज प्रतापसिंह के आश्रय में रहते थे। इनका कविताकाल 1725-1760 ई. के बीच ठहरता है। इनके द्वारा रचित ये पांच ग्रंथ बताये जाते हैं— रसपीयूषनिधि, शृंगारविलास, कृष्णलीलावती, पंचाध्यायी, सुजानविलास और माधवविनोद।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इनमें 'कृष्णलीलावती' और 'सुजानविलास' को छोड़ सभी ग्रंथ उपलब्ध हैं। 'माधवविनोद' संस्कृत के 'मालतीमाधव' नाटक का पद्यबद्ध अनुवाद है तथा 'पंचाध्यायी' में कृष्णभक्त कवियों के समान रासलीला का वर्णन किया गया है। 'रसपीयूषनिधि' (1737) के अंतर्गत 'प्राकृतपैंगलम्' एवं भट्टकेदार के 'वृत्तरत्नाकर' के अतिरिक्त संस्कृत में भानुदत्त मिश्र, मम्मट और विश्वनाथ के ग्रंथों का तथा ब्रजभाषा में कुलपति के 'रसरहस्य' और जसवंतसिंह के 'भाषाभूषण' का आश्रय ले कर क्रमशः छंद, काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यशरीर की सामग्री, काव्यभेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, दोष, गुण, शब्दालंकार और अर्थालंकार का विवेचन किया गया है। 'शृंगारविलास' में शृंगार रस तथा नायक-नायिकाभेद का विवेचन किया गया है। वास्तव में यह 'रसपीयूषनिधि' की सामग्री को यत्किंचित् परिवर्तन के साथ प्रस्तुत कर पृथक् रूप से बनाया हुआ ग्रंथ है। अतएव, रीतिनिरूपण की दृष्टि से इसका पृथक् महत्त्व नहीं है।

'रसपीयूषनिधि' की रचना का उद्देश्य सुकुमार बुद्धि पाठकों के लिए काव्यशास्त्र की सामग्री उपलब्ध कराने का रहा है। अतएव विषय-प्रतिपादन में सुबोधता की ओर दृष्टि रहने के कारण इन्होंने केवल उन्हीं विषयों को ग्रहण किया है, जो सहज बोधगम्य हों, कठिन प्रसंगों को या तो ये छोड़ते चले गये हैं या फिर अत्यंत संक्षेप में उनकी चर्चा कर उन्हें समाप्त कर दिया है। उदाहरण के लिए, काव्यहेतुओं में केवल अभ्यास का, आर्थी व्यंजना के दस वैशिष्ट्यों में से केवल चार का, रससूत्र के व्याख्याताओं में केवल अभिनवगुप्त के सिद्धांत का तथा दोषों में मम्मट द्वारा गिनाये गये 90 दोषों में से केवल 19 की चर्चा और उनमें से केवल एक के परिहार का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार छंदों के निरूपण में गुरु, लघु, गण आदि पर सविस्तार विचार करने के उपरांत मात्रिक छंदों में केवल दो से बत्तीस मात्राओं तक के तथा वर्णिक छंदों में एक से ले कर बत्तीस वर्णों तक के प्रसिद्ध छंदों का ही निरूपण किया गया है। वास्तव में इस ग्रंथ में काव्यांगों को जिस उत्साह से ग्रहण किया गया है, उतने ही साहस से उनका विवेचन नहीं हुआ। इसकी विशेषता बस इसी बात में निहित है कि विषय-विवेचन अत्यंत सुबोध रूप में प्रस्तुत हुआ है।

अपने विवेचन में इन्होंने जिस ध्वनि-रसवाद की स्थापना की है, उसका निर्वाह अपने काव्य में अत्यंत मनोयोग के साथ कर दिखाया है। यह ठीक है कि इनकी कविता में अनुभूति का वह आवेग नहीं, जो सरस कवियों की रचनाओं में देखने को मिलता है, फिर भी स्वच्छता सर्वत्र विद्यमान है। यही कारण है कि इनका प्रत्येक शृंगारिक छंद पाठक के हृदय को रमाने में पूर्ण समर्थ रहा है। शृंगार के अतिरिक्त इन्होंने राजप्रशस्तिपरक रचनाएं भी की हैं। इनमें उत्साह और आश्रय की भावना की तीव्रता का समावेश एक साथ होने से वीर रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। यथा :

*प्रबल प्रताप दावानल सो विराजै वीर*
*अरिन के पारे रोरि धमकि निसाने की।*
*ठट्ट मरहट्टा के निघट्ट दारे बाननि सों*
*पेस करु लेता है प्रचंड तिलगाने की।*
*'सोमनाथ' कहैं सिंह सूरजकुमार जाको*
*क्रोध त्रिपुरारि को सों लाज बर बाने की।*
*चढ़िकै तुरंग जंग रंग करि सैलनि सों*
*तोरि डारी तीखी तरवार तुरकाने की ॥*

सोमनाथ की भाषा व्याकरण एवं शब्द-योजना की दृष्टि से सुसंगठित तथा सौष्ठव की दृष्टि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

से विषयानुरूप कही जा सकती है। विषय को सीधे-सादे ढंग से ये जिस कौशल के साथ प्रस्तुत करते हैं, वैसा इस युग के कवियों में बहुत कम देखने को मिलता है। छंद-योजना की दृष्टि से इनकी कविता कुछ अनगढ़ अवश्य लगती है, पर कुल मिला कर यह निर्बलता ऐसी नहीं कि इसके कारण उसे अग्राह्य कहा जा सके।

**भिखारीदास :** रीतिकाल के सर्वांग-विवेचक कवियों में आचार्य भिखारीदास का नाम सर्वाधिक सम्मान के साथ लिया जाता है। उत्तर प्रदेश के ज़िला प्रतापगढ़ स्थित ट्योंगा नामक ग्राम के कायस्थ कुल में इनका जन्म हुआ था। इनका कविताकाल 1725-1760 ई. के बीच ठहरता है। 1734 से 1750 ई. तक ये प्रतापगढ़ के अधिपति पृथ्वीसिंह के भाई हिंदूपति सिंह के आश्रय में रहे। इनके रचे हुए ये सात ग्रंथ उपलब्ध हैं—रससारांश, काव्यनिर्णय, शृंगारनिर्णय, छंदोर्णवपिंगल, शब्दनाम कोश, विष्णुपुराण भाषा और शतरंजशतिका। इनमें अंतिम तीन के नामों से ही स्पष्ट है कि ये क्रमशः शब्दकोश, विष्णुपुराण का भाषानुवाद तथा शतरंज के खेल से संबंधित हैं। शेष चारों का विषय काव्यांग-विवेचन है। इनमें 'रससारांश' और 'शृंगारनिर्णय' के अंतर्गत क्रमशः रस की सामग्री और उनके भेदों तथा नायक-नायिकाभेद का वर्णन किया गया है। इनका आधार भानुमिश्र की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' तथा रुद्रभट्ट के 'शृंगारतिलक' के अतिरिक्त केशव, चिंतामणि, तोष आदि के एतद्विषयक ग्रंथ रहे हैं। 'काव्यनिर्णय' में मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित, जयदेव तथा भानुमिश्र के अतिरिक्त हिंदी के केशव, चिंतामणि, तोष आदि अनेक पूर्ववर्ती रीतिकवियों का आश्रय ले कर क्रमशः काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यपुरुषस्वरूप, काव्यभाषा, उत्तम काव्य के रचयिता के गुण, शब्दशक्ति, रससामग्री, अपरांग (रसवदादि) ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, अलंकार, गुण, शब्दालंकार, चित्रालंकार, तुक और दोष का गंभीरतापूर्वक विवेचन किया गया है। 'छंदोर्णवपिंगल' में संस्कृत, प्राकृत तथा ब्रजभाषा में लिखे गये छंदोविवेचन विषयक ग्रंथों के आधार पर छंदोनिरूपण अत्यंत विस्तार के साथ किया गया है। इन चारों ग्रंथों की रचना 1737 और 1750 ई. के बीच हुई।

रीतिनिरूपण के क्षेत्र में आलोचक-दृष्टि एवं मौलिक चिंतन इनके विवेचन की महत्त्वपूर्ण विशेषताएं कही जा सकती हैं। रीतिकाल के अंतर्गत संभवतः ये ही सबसे पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रकाश में अपने पूर्ववर्ती हिंदी-काव्य का सम्यक् अध्ययन कर, उसमें से तदनुरूप उदाहरणों के चयन द्वारा अपनी आलोचक-दृष्टि का ही परिचय नहीं दिया, अपितु आधुनिक हिंदी-आलोचना का शिलान्यास भी एक प्रकार से किया। काव्य के प्रयोजनों के प्रसंग में प्रत्येक के भीतर आने वाली हिंदी की विशिष्ट रचनाओं के रचयिताओं का नामोल्लेख तथा विभिन्न काव्यदोषों के लिए हिंदी-कवियों की रचनाओं का उदाहरण-रूप में चयन इसका पुष्ट प्रमाण है। इसके अतिरिक्त 91 अर्थालंकारों का 12 मूल अलंकारों के आधार पर वर्गीकरण तथा वामन-सम्मत 10 गुणों का चार वर्गों में और अवस्थानुसार नायिकाओं के स्वाधीनपतिकादि आठ भेदों का दो वर्गों में विभाजन प्रस्तुत करके इन्होंने अपने मौलिक चिंतन का ही परिचय नहीं दिया है, बल्कि शृंगार के सम और मिश्रित, सामान्य और संयोग तथा नायकजन्य और नायिकाजन्य के नाम से नये ढंग से भेद प्रस्तुत कर यह भी प्रकट कर दिया है कि ये कितनी गहराई तक जा सकते थे। इधर ब्रजभाषा काव्य की सबसे बड़ी विशेषता 'तुक' को सर्वप्रथम काव्यांग के रूप में ग्रहण कर इन्होंने इसका विवेचन जिस प्रकार से किया है, वह यह सहज ही प्रकट कर देता है कि इनकी पकड़ कितनी पैनी थी। इसी भांति छंदोविवेचन में संस्कृत-प्राकृत ग्रंथों में प्रस्तुत छंदों के अतिरिक्त नवीन छंदों का निरूपण इनकी दृष्टि की व्यापकता का द्योतक है। इसमें संदेह नहीं कि इन्होंने जो कुछ कहा है, उसके साथ पूर्णतः सहमत नहीं हुआ जा सकता तथा परंपरा के उल्लंघन के साथ कतिपय स्थलों पर विवेचन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की अव्यवस्था एवं अपूर्णता के कारण इनका आचार्य-कर्म अपने आपमें पूर्ण एवं निर्दोष नहीं रह पाया, तथापि सरस एवं सुबोध लक्षण-उदाहरणों के साथ यथास्थान ब्रजभाषा-गद्य में तिलक दे कर इन्होंने अपने विषय को मनोयोग से स्पष्ट किया है।

जहां तक भिखारीदास के कवित्व का प्रश्न है, वह भी इन्हें प्रथम श्रेणी के कवियों में प्रतिष्ठित करता है। 'काव्यप्रकाश' के आधार पर इन्होंने जिस रस-ध्वनि-सिद्धांत की स्थापना की है, उसका समुचित निर्वाह इनकी रचनाओं में दृष्टिगत होता है। सबसे बड़ी विशेषता तो यह रही कि ध्वनिपरक होने पर भी इनमें किसी प्रकार की क्लिष्टता नहीं आ पायी, सीधे सरल बिंबों की अनुरंजकता से इन्होंने उन्हें मर्मस्पर्शी बनाया है। दूसरी ओर इनकी भाषा—व्याकरण और सौष्ठव—दोनों ही दृष्टियों से परिमार्जित है। विषयानुरूप संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का ही इन्होंने प्रयोग नहीं किया, अपितु अरबी और फ़ारसी की शब्दावली को भी बिना किसी संकोच के ग्रहण कर लिया है। वास्तव में, शब्द-चयन इनकी कविता में कुछ इस प्रकार से हुआ है कि प्रत्येक शब्द के अर्थ में निहित विशिष्ट व्यंग्य सूक्ष्म होता हुआ भी भाव को रस-कोटि तक पहुंचाता है। दूसरे शब्दों में, इनके काव्य में भाव और भाषा अथवा बिंब और उसकी अभिव्यक्ति का सहज एवं स्वाभाविक सामंजस्य हुआ है। उदाहरण के लिए एक छंद देखिए :

*अरबिन्द प्रफुल्लित देखि कै भौंर अचानक जाइ अरै पै अरै।*
*बनमाल थली लखि कै मृगसावक दौरि बिहार करै पै करै॥*
*सरसी ढिंग पाइकै व्याकुल मीन हुलास सों कूदि परै पै परै।*
*अवलोकि गुपाल को दास जू ये अँखियाँ तजि लाज ढरै पै ढरै॥*

**रसिकगोविंद :** रीतिकाल के अंतर्गत जिन भक्तों ने आचार्य-कर्म द्वारा रीति-साहित्य को समृद्ध किया, उनमें रसिकगोविंद का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका जन्म 1743 ई. के आसपास राजस्थान के जयपुर नगर में नाटाणीगोत्रीय खंडेलवाल वैश्य-परिवार में हुआ था। कहा जाता है कि दैवी प्रकोप अथवा राजप्रकोप के कारण संपत्ति के नष्ट हो जाने पर ये वृंदावन चले आये थे और निम्बार्क-संप्रदाय की हरिव्यासीय गद्दी की परंपरा के सर्वेश्वरशरण देवाचार्य के शिष्य बन कर रहने लगे थे। यहीं पर इनकी मृत्यु 1838 ई. में हुई। इनके द्वारा रचे हुए ये दस ग्रंथ कहे जाते हैं—रामायणसूचनिका, कलिजुगरासो, अष्टदेशभाषा, समयप्रबंध, युगलरसमाधुरी, पदावली, रसिकगोविंदानंदघन, पिंगल, लछिमनचंद्रिका और रसिकगोविंद। इनमें प्रथम आठ ही आज उपलब्ध हैं। अनुपलब्ध ग्रंथों के विषय में विद्वानों का कथन है कि 'लछिमनचंद्रिका' काशी के किन्हीं लछिमन नामक कान्यकुब्ज ब्राह्मण को शिक्षा देने के लिए 'गोविंदानंदघन' की सूचनिका के रूप में उसके समस्त लक्षणों का संग्रह मात्र है, जबकि 'रसिकगोविंद' 'भाषाभूषण' की शैली पर लिखा हुआ रस-निरूपण का ग्रंथ है। उपलब्ध ग्रंथों में केवल 'गोविंदानंदघन' और 'पिंगल' ही रीतिग्रंथ हैं, शेष भक्ति अथवा नीतिविषयक छोटी-बड़ी रचनाएं हैं।

'गोविंदानंदघन' (1801) चार प्रबंधों में विभक्त विशालकाय ग्रंथ है। प्रथम प्रबंध के अंतर्गत रस-लक्षण, रसों के भेदोपभेदों, प्रत्येक रस के विभाव-अनुभावों, सात्त्विक, संचारी और स्थायी भावों के लक्षण-उदाहरण दिये गये हैं। द्वितीय प्रबंध में नायक नायिकाभेद, नायक-सखा, दूती और उसके कर्मों का वर्णन मनोयोगपूर्वक किया गया है। तृतीय प्रबंध में दोष-लक्षण, दोष-भेद तथा दोष-समाधान का सविस्तार वर्णन किया गया है, जबकि चतुर्थ में माधुर्यादि तीन गुणों, उपनागरिकादि तीन वृत्तियों तथा 5 शब्दालंकारों और 123 अर्थालंकारों के क्रम से 128 अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

किया गया है। इसके साथ ही स्थान-स्थान पर काव्यलक्षण, काव्यभेद, शब्दशक्ति आदि के विषय में भी इसके रचयिता का दृष्टिकोण व्यक्त होता गया है। अतएव, कह सकते हैं कि यह ग्रंथ यद्यपि सर्वांग-विवेचन-विषयक नहीं है, तथापि इसमें किये गये विषय-निरूपण को देखते हुए इसे इस कोटि का कह लिया जाये तो बहुत अनुचित न होगा। इसका शास्त्रीय आधार अत्यंत व्यापक रहा है। भरत, अभिनव, जयदेव, मम्मट, विश्वनाथ, भानुदत्त, अप्पय दीक्षित आदि संस्कृताचार्यों के ग्रंथों का आश्रय ही इसमें ग्रहण नहीं किया गया, पूर्ववर्ती प्रसिद्ध ब्रजभाषा-रीतिविवेचकों के ग्रंथों के लक्षणों और उदाहरणों का प्रयोग भी बिना किसी रोक-टोक के कर लिया गया है। इनके अतिरिक्त अनेक पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं को भी इसमें उद्धृत किया गया है। इस प्रकार यह ऐसा संग्रह-ग्रंथ बन गया है, जिसमें विवेचन-व्यवस्था, गद्यमय लक्षणों और उनके उदाहरणों की गद्यमय टीकाओं तथा कतिपय छंदों के सिवाय सब-कुछ अन्य कवियों का ही है। परंतु फिर भी जिस स्वच्छता और आत्मविश्वास के साथ पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का उल्लेख अपने मत की पुष्टि में करते हुए विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि ग्रंथकार ने अपने समकालीनों के समान कवित्व-प्रदर्शन के मोह को छोड़ कर आचार्यकर्म का निर्वाह अत्यंत गंभीरता के साथ किया है। अनेक ग्रंथों का आश्रय लेने से इसमें यद्यपि मौलिक उद्भावनाओं की संभावना नहीं की जा सकती, तथापि अद्भुत रस के अत्युक्ति, चित्रोक्ति, भ्रमोक्ति और विरोधाभास नामक चार भेदों की परिकल्पना रस-विवेचन के क्षेत्र में ग्रंथकार का योगदान कही जायेगी। कुल मिला कर रीतिनिरूपण की दृष्टि से यह ग्रंथ उपादेय एवं महत्त्वपूर्ण है। किंतु कवित्व की दृष्टि से इसका अपना कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि ग्रंथकार के अपने छंद एक तो संख्या में बहुत कम हैं और उस पर भी उनमें कवित्व अत्यंत साधारण कोटि का ही है। वैसे भी, उसके अन्य ग्रंथ भी इस दृष्टि से साधारण ही हैं। 'गोविंदानंदघन' का यह अंश इनके आचार्यत्व और कवित्व की सामान्य जानकारी के लिए पर्याप्त होगा :

*उपमेय कौं जहाँ साधारण धर्म करिकैं अरु उपमान की सादृस्य कीजै, सो उपमा॥*
*जाकी सादृस्यता दीजै, सो उपमान। जाकौं सादृस्यता दीजै सो उपमेय॥ दोऊ*
*ओर की सादृस्यता दिखावै सो वाचक पद॥ दोऊनि की लक्ष्मी (लक्ष्य!)*
*की जो सादृस्यता सो साधारण धर्म। ये चारयौं जहाँ होइ सोइ पूर्णोपमा॥*
*इनमैं ते इक बिना, द्वै बिना, तीन बिना होइ सो लुप्तोपमा॥*

पूर्णोपमा उदाहरण :

*मद गजराज की सी चाल चलै मन्द मन्द*
*पद अरविन्द से सुछन्द सुकुमार है।*
*केहरि की कटि ऐसी खीन कटि पीन कुच*
*हेम कुम्भ से हैं कंठ कम्बु सौ सुढार है॥*
*धनुष सी बांकी भौंह बनी है 'गुबिन्द' दृग*
*मृग कैसे चख मुख चन्द ऐसो चारु है।*
*चतुर बिहारी एक प्यारी मैं निहारी जाके*
*अंगनि की सुषमा की उपमा अपार है॥*

**प्रतापसाहि :** रीतिकाल के अंतर्गत कवि, रीतिकार एवं टीकाकार के रूप में प्रतापसाहि का नाम विशेष रूप से स्मरणीय है। ये बुंदेलखंड निवासी रतनेस बंदीजन के पुत्र थे तथा चरखारी-नरेश

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

महाराज विक्रमसिंह के आश्रय में भी रहते थे। ठाकुर शिवसिंह सेंगर के अनुसार ये पन्ना के महाराज छत्रसाल के आश्रय में रहे थे। इनका रचनाकाल 1823 और 1843 ई. के बीच माना जाता है। इनके द्वारा रचे हुए ये आठ ग्रंथ बताये जाते हैं—जयसिंहप्रकाश, शृंगारमंजरी, व्यंग्यार्थकौमुदी, शृंगारशिरोमणि, अलंकारचिंतामणि, काव्यविनोद, जुगलनखशिख और रसचंद्रिका। इनके अतिरिक्त इन्होंने जसवंतसिंह के 'भाषाभूषण', मतिराम के 'रसराज', बलभद्र के 'नखशिख' और बिहारी की 'सतसई' की टीकाएं भी लिखीं। टीकाओं से इतर ग्रंथों में आज 'काव्यविलास' और 'व्यंग्यार्थकौमुदी' ही उपलब्ध हैं। इनमें 'व्यंग्यार्थकौमुदी' (1825) के अंतर्गत शब्द शक्ति, अलंकार स्वरूप तथा व्यंग्यार्थ महत्त्व को स्पष्ट करते हुए भानुदत्त मिश्र के आधार पर नायक नायिकाभेदों के लक्षण और स्वरचित उदाहरण दे कर उनके भीतर नायक नायिका, शब्द शक्ति और अलंकार विशेष का निर्देश किया गया है, जबकि 'काव्यविलास' (1829) में काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यभेद, शब्दशक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, गुण और दोष का निरूपण किया गया है। शेष ग्रंथों में 'जयसिंहप्रकाश' और 'बिहारी-सतसई की टीका' को छोड़ सभी काव्यांग-विवेचन अथवा रीति-ग्रंथों की टीका से संबद्ध हैं। यदि ये ग्रंथ उपलब्ध होते, तो संभव है, इनके संबंध में कुछ और बातें ज्ञात होतीं। फिर भी इतना तो ज्ञात हो ही जाता है कि काव्यशास्त्र में इनकी गहरी रुचि थी।

रीतिनिरूपण की दृष्टि से प्रतापसाहि के उक्त दो ग्रंथों की परीक्षा की जाये तो कहना होगा कि इन्होंने यद्यपि विश्वनाथ और पंडितराज जैसे आचार्यों के मतों को अनेक स्थलों पर उद्धृत कर अपने विवेचन का आधार पुष्ट एवं व्यापक बनाने की चेष्टा की है, किंतु उनको भली-भांति समझ न सकने के कारण ये कहीं-कहीं ठीक लक्षण नहीं दे पाये। कुलपति मिश्र यद्यपि सधे हुए आचार्य हैं, तथापि इन्होंने उनका जो आश्रय लिया है, वह इनके विवेचन की विशेषताओं को पुष्ट करने के स्थान पर इनमें आत्मविश्वास के अभाव तथा इनके अध्ययन और चिंतन की गहराई की न्यूनता को अधिक प्रकट करता है। हां, 'व्यंग्यार्थकौमुदी' में इन्होंने जो नायक-नायिकाभेद-विवेचन प्रस्तुत किया है, वह अपेक्षाकृत स्वच्छ अवश्य है। किंतु, इसमें भी भानुदत्त मिश्र की 'रसमंजरी' तथा हिंदी के पूर्ववर्ती विभिन्न रीतिकारों के एतद्विषयक विवेचन का अधिक आश्रय लिया गया है। इस ग्रंथ में गद्य द्वारा विषय को स्पष्ट करने तथा एक ही उदाहरण में नायिका, ध्वनि और अलंकार विशेष का उद्घाटन करने की शैली अपने आप में नवीन एवं गंभीर है, किंतु मौलिकता की दृष्टि से यह नगण्य ही है। वस्तुतः रीतिग्रंथों के निर्माण और उनकी व्याख्या में विशेष अभिरुचि रखते हुए भी ये अपने विवेच्य विषयों को सामान्यतः स्वच्छतापूर्वक प्रस्तुत नहीं कर पाये।

रीतिनिरूपण की दृष्टि से ये जितने शिथिल दृष्टिगत होते हैं, काव्यरचना में उतने ही समर्थ कहे जा सकते हैं। बात यह है कि इन्होंने जिस व्यंग्य को काव्य का जीवित कहा है, उसे अत्यंत ईमानदारी के साथ अपनी कविता में निरूपित कर दिखाया है। कहना न होगा कि व्यंग्य और रस-परिपाक की दृष्टि से इनका काव्य इतना स्वच्छ है कि इस युग के अनेक रस-ध्वनिवादी कवि भी इनके समकक्ष नहीं पहुंच पाते। इसमें संदेह नहीं कि कहीं-कहीं व्यंजना-व्यापार की क्लिष्टता के कारण रसास्वाद में व्याघात उत्पन्न हो जाता है, पर व्यंग्यार्थ के स्पष्ट हो जाने पर उसका आनंद द्विगुणित हो जाता है। इनकी भाषा भी व्याकरण, भाव-सामग्री एवं व्यंग्य के अनुरूप चलती है, उसमें किसी प्रकार की शिथिलता दृष्टिगत नहीं होती। इनके काव्य को देख कर यदि यह कहा जाये कि रीतिकाव्य में कवित्व का चरमोत्कर्ष इनके बाद समाप्त हो जाता है, तो असंगत न होगा। एक छंद देखिए :

*सीख सिखाई न मानति है बरहू बस संग सखीन के आवै।*
*खेलत खेल नये जल में बिन काम वृथा कत जाम बितावे॥*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*छोड़ि के साथ सहेलिन को रहिकै कहि कौन सवाद दिखावै।*
*कौन परी यह बानि अरी नित नीर भरी गगरी ढरकावै॥*

**अमीरदास :** इस काल में जिन भक्तों ने रीति-निरूपण किया, उनमें निर्गुणधारा का प्रतिनिधित्व करने वाले आचार्यों में अमीरदास का नाम विशेष सम्मान के साथ लिया जा सकता है। इनका जन्म 1783 ई. के आसपास पंजाब के एक वैष्णव-परिवार में हुआ था। ये गुरु रामदास के शिष्य थे और उदासी-संप्रदाय में दीक्षित हुए थे। बाद में इन्होंने अमृतसर के कटरा लोहगढ़ में अपनी गद्दी स्थापित की थी। पटियाला के राजदरबार से इनका घनिष्ठ संबंध था। इनके द्वारा रचित ये 12 ग्रंथ बताये जाते हैं—(1) सभामंडन (1827), (2) वृत्तचंद्रोदय (1830), (3) ब्रजविलास सतसई (1832), (4) श्रीकृष्ण-साहित्यसिंधु (1833), (5) शेरसिंहप्रकाश (1840), (6) फागपचीसी, (7) ग्रीष्मविलास, (8) भागवतरत्नाकर, (9) दूषणउल्लास, (10) अमीरप्रकाश, (11) वैद्यकल्पतरु (1850) तथा (12) अश्वसंहिताप्रकाश (1832)। इनमें से प्रथम पांच और अंतिम दो रचनाएं आज उपलब्ध हैं, शेष का उल्लेख या तो इन्होंने अपने ग्रंथों में किया है या फिर खोज-रिपोर्टों में हुआ है। इनकी मृत्यु सन् 1868 ई. के आसपास बतायी जाती है।

उपलब्ध ग्रंथों में 'वैद्यकल्पतरु' और 'अश्वसंहिताप्रकाश' क्रमशः मानव और पशु-चिकित्सा संबंधी हैं तथा 'ब्रजविलास सतसई' में शृंगार रस के विभिन्न अंगों के अतिरिक्त भक्ति, नीति आदि विषयों पर 701 दोहे संकलित हैं तथा शेष काव्यशास्त्र-निरूपण विषयक हैं। काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में 'सभामंडन' के पांच उल्लासों में क्रमशः काव्यप्रयोजन, काव्यकारण (हेतु), काव्यलक्षण, काव्य भेद, शब्दार्थावृत्ति, ध्वनि, भाव, रस, गुण, नायक-नायिकाभेद, काव्यदोषों और अलंकारों का तथा 'वृत्तचंद्रोदय' में लघु, गुरु, गण, दग्धाक्षर के सामान्य परिचय के साथ 40 मात्रिक छंदों और दंडकों सहित 61 वर्णिक छंदों का निरूपण है, जबकि 'श्रीकृष्ण साहित्यसिंधु' के अंतर्गत पांच तरंगों में क्रमशः काव्यलक्षण, काव्यभेद, शब्दशक्ति, ध्वनिभेद, रस और रस-सामग्री, गुण, नायक-नायिकाभेद, दोष और अलंकार को निरूपण का विषय बनाया गया है। 'शेरसिंहप्रकाश' में पांच शब्दालंकारों और 65 अर्थालंकारों के क्रम से 70 अलंकारों का विवेचन शेरसिंह के गुणगान के उद्देश्य से हुआ है। अमीरदास ने प्रायः काव्य के सभी अंगों का विवेचन किया है।

विषय-निरूपण की दृष्टि से आचार्य अमीरदास की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इनके विवेचन का आधार रसिकगोविंद के समान ही अत्यंत व्यापक रहा है। संस्कृत में भरत से ले कर पंडितराज जगन्नाथ तथा हिंदी में केशव से ले कर रसिकगोविंद तक के प्रायः सभी आचार्यों और रीतिनिरूपकों के ग्रंथ इनके समक्ष रहे हैं। यही कारण है कि इनके विवेचन में जहां विभिन्न मतों पर विचार-विमर्श है, वहीं दूसरी ओर पूर्ववर्तियों की रचनाओं को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही 'ननु' शैली में प्रायः प्रत्येक स्थान पर शंकाएं उठाते हुए उनके समाधान एवं समन्वयात्मक प्रतिपादन इन्होंने जिस प्रकार से किये हैं, वे अपने आपमें इतने सुलझे हुए हैं कि इस दृष्टि से इस काल का कोई भी रीतिनिरूपक इनके समकक्ष नहीं ठहरता। दूसरे, प्रांजल ब्रजभाषा-गद्य में इनके द्वारा प्रस्तुत लक्षण और लक्षणों तथा उनके उदाहरणों पर टीकाएं एवं व्याख्याएं एक ओर जहां इनके आलोचनात्मक दृष्टिकोण की परिचायक हैं, वहीं दूसरी ओर इनके मनोयोग, गंभीर अध्ययन और चिंतन एवं अपने कर्म के प्रति निष्ठा को प्रकट करती हैं। इस क्षेत्र में यह कवि की अपेक्षा आचार्य के रूप में अधिक मुखर हैं। इसमें संदेह नहीं कि समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण इन्होंने सामान्यतः वही बातें कहीं हैं, जो इनके पूर्ववर्ती संस्कृत अथवा हिंदी के आचार्य कह गये हैं, तथापि इनके द्वारा संचारियों के साथ रसाभास, भावोदयादि की संबंध-स्थापना, समस्त भावों की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सुखात्मकता का कथन; मूर्च्छा, छल, तुर्यावस्था, अपस्मार आदि के संचारी होने की संभावना पर विचार करते हुए अन्य संचारियों में उनका अंतर्भाव किया जाना, अन्योक्ति और यथासंख्य अलंकारों के उपभेदों की उद्भावना एवं 19 मात्रिक तथा 25 वर्णिक छंदों का आविष्कार—ये ऐसे विषय हैं, जिन्हें विचार किये बिना सहज ही उपेक्षित नहीं किया जा सकता। किंतु दूसरी ओर कारण बताये बिना वीर रस के भेदों में धर्मवीर की उपेक्षा, गुण में रीति के अंतर्भाव एवं दोष-विवेचन में प्रसिद्धिविरुद्ध और विद्याविरुद्ध को प्रसिद्धिविद्याविरुद्ध में और विधि-अयुक्त और अनुवाद-अयुक्त को अनुवाद-अयुक्त के रूप में प्रस्तुत किया जाना, ऐसी बातें हैं, जो खटकती ही नहीं, अपितु इनकी सजगता पर प्रश्नचिह्न भी छोड़ जाती हैं। फिर भी, इनका निरूपण कुल मिला कर इतना गुणवान है कि इस प्रकार के साधारण स्खलन इनके महत्त्व को कम नहीं कर सकते। इनकी विवेचन-शैली का स्वरूप निम्नोक्त अंश से देखा जा सकता है :

*जो शारीरिक धर्म है, ताको होइ गतिरोध।*
*तन संज्ञा कंपादि बिन, सो स्तम्भ इम बोध॥*

*टीका* : कोऊ कारण सो शरीर संज्ञा के होते ही चलना आदि का रोध होइ सो स्तंभ है।
*प्रश्न* : चाल आदि मिटी तो शरीर संज्ञा कहां रही?
*उत्तर* : शरीर संज्ञा सो नेत्र झपकना आदि गिरा श्रवण आदि रहे हैं। या ते स्तंभ है।

यथा

*हरि के देखत ही कहा, थकित भये तब गात।*
*रही गयी ते हाथ मैं दधि मथ्यो नहिं जात॥*

*टीका* : सखि कहै है—हरि को देख तेरा गात ऐसा थकित भया है जो दधि नहीं मथ्या जाता। ऐसे जहां गति रुके है तहां स्तंभ जानना।
*प्रश्न* : चेष्टारोध होने ते प्रलय सात्विक होइ?
*उत्तर* : प्रलय में शरीर संज्ञा नहीं रहती। कहना सुनना कछु नहीं रहता। स्तंभ में आंख झपकना आदि व्यवहार सब होता है। ऐतो भेद है।

जहां तक इनके कवित्व का प्रश्न है, सिद्धांतरूप में उत्कृष्ट काव्य के गुण जानते हुए तथा शृंगार, राजप्रशस्ति, भक्ति, नीति आदि विषयों की रचनाएं करने पर भी ये अपनी प्रतिभा की छाप नहीं छोड़ पाये। इनकी 'ब्रजविलास सतसई' के अधिकांश दोहे बिहारी के दोहों से प्रभावित हैं। इसी प्रकार 'शेरसिंहप्रकाश' में संगृहीत कवियों में भाषागत स्वच्छता तो है, पर उनमें ओज का वह सन्निवेश नहीं, जो भूषण आदि पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं में मिलता है। वास्तव में कवित्व की दृष्टि से ये अत्यंत साधारण श्रेणी के कवियों में ही परिगणित किये जा सकते हैं।

**ग्वाल** : कवित्व एवं आचार्यत्व का सम्यक् निर्वाह करने वाले इस युग के अंतिम चरण के सर्वांग-निरूपक कवियों में ग्वाल का स्थान अन्यतम कहा जा सकता है। इनका जन्म 1791 ई. में सेवाराय नामक ब्रह्मभट्ट (बंदीजन) के यहां वृंदावन में हुआ था तथा बाद में ये मथुरा में आ कर बस गये थे। इन्होंने आरंभिक शिक्षा राधावल्लभीय गोस्वामी दयालाल से ग्रहण की और काव्यशास्त्र का अध्ययन काशी में अपनी ननिहाल में रह कर किया। बरेली-निवासी कवि खुशहालराय इनके काव्य गुरु थे, ऐसा भी उल्लेख मिलता है। इनका स्वर्गवास 1868 ई. में रामपुर में हुआ। अपने जीवनकाल में ये लाहौर, नाभा, पटियाला, टोंक, अमृतसर और रामपुर के राजा-नवाबों के आश्रय

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में रहे। इनके द्वारा रचे हुए मुख्य रूप से ये सोलह ग्रंथ कहे जा सकते हैं—रसिकानंद, कविदर्पण, बलवीरविनोद, साहित्यानंद, गुरुपचासा, प्रस्तारप्रकाश, नेहनिर्वाह, बंसीबीसा, हम्मीरहठ, विजयविनोद, भक्तभावन, कुब्जाष्टक, गुरुपचासा, निम्बार्कस्वाम्यष्टक, इश्कलहरदरयाव और कविहृदयविनोद। इनमें प्रथम छह लक्षण-ग्रंथ हैं तथा शेष लक्ष्य अथवा अनुवाद हैं। लक्ष्य ग्रंथों में 'हम्मीरहठ' और 'विजयविनोद' वीररसात्मक प्रबंध-रचनाएं कही जा सकती हैं और शेष ('इश्कलहरदरयाव' को छोड़ कर) मुक्तक रचनाएं हैं। मुक्तक रचनाओं में 'भक्तभावन' सबसे बड़ा ग्रंथ है, जिसमें सन् 1860 से पूर्व ग्वाल द्वारा रची हुई सभी भक्ति, श्रृंगार, शांत रस और नीति संबंधी छोटी-बड़ी रचनाओं को संकलित कर दिया गया है। 'इश्कलहरदरयाव' मीर हसन दहलवी की 'सिहर-उल-बयान' नामक उर्दू मसनवी का ब्रजभाषा में अनुवाद है। लक्षण-ग्रंथों में 'रसिकानंद', 'बलवीरविनोद' और 'रसतरंग' नायक-नायिकाभेद और रस-विवेचन संबंधी हैं तथा 'कविदर्पण', 'प्रस्तारप्रकाश' और 'साहित्यानंद' क्रमशः काव्यदोष, छंद और सर्वांग निरूपण विषयक हैं। इनकी रचना 1822-1848 ई. के बीच हुई।

निरूपण-शैली एवं विवेचन की प्रौढ़ता की दृष्टि से यद्यपि उक्त सभी ग्रंथों का महत्त्व है, तथापि विषय की व्यापकता तथा इतर लक्षण ग्रंथों की मुख्य सामग्री को अपने भीतर समाहित कर लेने के कारण 'साहित्यानंद' को सर्वाधिक महत्त्व दिया जा सकता है। स्कंधों में विभक्त 2443 छंदों, 597 गद्य-टीकाओं और 382 मानचित्रों के इस विशालकाय ग्रंथ का शास्त्रीय आधार भी अत्यंत व्यापक है। इसके लिए नाट्यशास्त्र-ध्वन्यालोक, काव्यमीमांसा, चंद्रालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसमंजरी, रसतरंगिणी, भक्तिरसामृतसिंधु, उज्ज्वलनीलमणि, कुवलयानंद, कामसूत्र, रतिरहस्य आदि संस्कृत ग्रंथों का ही आश्रय ग्रहण नहीं किया गया, अपितु ब्रजभाषा के केशव, बिहारी, जसवंतसिंह, मतिराम, भूषण, कुलपति, दास, कवींद्र, पद्माकर आदि पूर्ववर्ती कवियों के लक्षण-लक्ष्य-ग्रंथों से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव ग्रहण करने में भी संकोच नहीं किया गया। इसमें क्रमशः छंद, भाव, रस, शब्दशक्ति, काव्यलक्षण, काव्यभेद, काव्यस्वरूप, काव्यहेतु, काव्यप्रयोजन, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, चित्रकाव्य, गुण, रीति, दोष और अलंकार का विवेचन अत्यंत विस्तार और पांडित्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। लक्षण सामान्यतः दोहों में हैं तथा उदाहरण विभिन्न छंदों में प्रस्तुत किये गये हैं। यथावश्यकता स्थान-स्थान पर ब्रजभाषा-गद्य में टीका दे कर अपनी बात को तर्कपूर्ण ढंग से समझाने का प्रयत्न किया गया है। विषय-निरूपण में ग्वाल की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि मम्मट को सामान्य रूप से अपना आधार बनाते हुए भी वे अन्य आचार्यों के मतों पर विचार किये बिना नहीं रहते तथा उनके मतों को यथास्थान उद्धृत करते हुए उन पर विमर्श प्रस्तुत करते हैं और अंत में समन्वयात्मक निष्कर्ष दे देते हैं। इनके अतिरिक्त वे इन आचार्यों, विशेषतः हिंदी के पूर्ववर्ती रीतिनिरूपक आचार्यों, के उदाहरणों में गुण-दोषों का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख ही नहीं करते, बल्कि दोषों का परिहार कर उन छंदों को निर्दोष रूप में प्रस्तुत भी कर देते हैं। अतएव, कह सकते हैं कि इनमें पूर्ववर्तियों की आलोचना करने का साहस और प्रतिभा दोनों ही विद्यमान हैं, पर क्योंकि इनकी दृष्टि सामान्यतः समन्वयात्मक अधिक रही है, इसलिए इस वर्ग के आचार्यों में सर्वाधिक सामग्री का उपयोग और विमर्शपूर्वक संकलन प्रस्तुत करते हुए भी ये ऐसी कोई बात नहीं कह पाये, जिसे भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में इनके मौलिक योगदान के रूप में स्वीकार किया जाये। इनके सभी निष्कर्ष प्रायः वही हैं, जो संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्यों ने दिये हैं। फिर भी गंभीर चिंतन, विवेचन की प्रौढ़ता और अधिक-से-अधिक सामग्री का उपयोग करने के कारण इनका महत्त्व कम नहीं है।

जहां तक कवित्व का संबंध है, लक्षणों के अनुरूप स्वच्छ छंदों की रचना करने पर भी ग्वाल

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का महत्त्व आचार्यत्व की तुलना में कम ही कहा जायेगा। इनकी भाषा में ओज और चमत्कार पर्याप्त हैं। संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, पंजाबी आदि की शब्दावली के स्वच्छ प्रयोग से इनकी अभिव्यक्ति सशक्त बन गयी है, फिर भी कल्पना-वैभव और बिंब-योजना का वैसा उत्कर्ष इनकी रचनाओं में उपलब्ध नहीं हो पाता, जैसा कि देव आदि सर्वांग निरूपक और पद्माकर जैसे रीतिकाल के अंतिम चरण के कवियों की रचनाओं में देखने को मिलता है। परंतु इसका यह अर्थ भी नहीं कि इनका समस्त काव्य हीन कोटि का है। रस का परिपाक इनकी रचनाओं में सम्यक् रूप से तो हुआ ही है, अभिव्यंजनाकौशल भी सर्वत्र देखने को मिलता है। षड्ऋतु-वर्णन तो इन्होंने इतने मनोयोग से किया है कि गुण और परिमाण की दृष्टि से इस युग के बहुत कम कवि उस सीमा तक पहुंच सके हैं। भक्ति, नीति और राजप्रशस्तिपरक रचनाओं में भी ये इस काल के कवियों से किसी भी प्रकार हेठे नहीं रहे। इनकी काव्य-कला के उदाहरण के रूप में नायिका का यह रूप वर्णन देखिए :

*धारी हैं इजार गुलबदन बहारवारी*
*प्यारी छबि झूलन इजारबन्द छोर की।*
*सेत कुरती सौं जालदार जुरती है अंग*
*रती हूँ न लागै उरवसी गहि जोर की॥*
*ग्वाल कवि जाने रूप आगे रूप रंक भयौ*
*बंक भृकुटी मैं भरी घात चित चोर की।*
*तीन ताल दै कै तान लेत है तिलोत्तमा सी*
*देत तन लाल इकलाई तार तार की॥*

## सर्वरस, शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद-निरूपक कवि

इस वर्ग के कवियों की संख्या दूसरे वर्गों के कवियों की तुलना में सबसे अधिक है। इसके अतिरिक्त ये लोग इस युग के साहित्य की प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं का प्रतिनिधित्व भी सर्वाधिक करते हैं। रीतिनिरूपण की दृष्टि से यदि इन्हें देखें तो कहना होगा कि इनमें चाहे सर्वरस विवेचक हों और चाहे शृंगार अथवा नायक-नायिकाभेद-निरूपक, सभी ने नायक-नायिकाभेद का विवेचन तो अत्यंत मनोयोग के साथ किया ही है। शृंगार रस का विवेचन भी थोड़े से नायक-नायिकाभेद के विवेचकों को छोड़ कर सबका प्रिय विषय रहा है। किंतु कहना न होगा कि शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद विवेचन की यह व्यापक प्रवृत्ति यद्यपि सर्वांग-विवेचकों तक में भी इन लोगों के समान ही सर्वाधिक प्रचलित रही है, किंतु कुल मिला कर इस दिशा में किसी प्रकार का मौलिक योगदान नहीं हो पाया। जो भी उद्भावनाएं अपने आपमें मौलिक प्रतीत होती हैं, उनमें या तो मौलिकता ही नहीं है या फिर वे इतनी अशास्त्रीय हैं कि उन्हें किसी प्रकार का महत्त्व देने में संकोच होता है। वर्ण, प्रदेश आदि के आधार पर नायिकाओं के विविध भेदों की परिकल्पना तथा शृंगार में इतर रसों का अंतर्भाव आदि इसके प्रमाण हैं कि इनमें न शास्त्रीयता है और न गणनीय मौलिकता ही। इनके विवेचन का आधार भी अत्यंत सीमित कहा जा सकता है। संस्कृत में भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' तथा हिंदी में कृपाराम की 'हिततरंगिणी', केशव की 'रसिकप्रिया' और रहीम-कृत 'बरवै नायिकाभेद' और 'नगरशोभा' ही इनके आश्रय रहे हैं। बहुत ही कम लोग ऐसे हैं, जिन्होंने भरत के 'नाट्यशास्त्र', धनंजय के 'दशरूपक' तथा रुद्रभट्ट के 'शृंगारतिलक' का आश्रय लिया हो। इधर विवेचन-शैली भी इन सबकी लगभग एक जैसी है। सामान्यतः लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्त, सवैया अथवा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दोहा छंद में दिये गये हैं। विवेचन की विशेषता अपने आप में यही रही है कि लक्षण स्वच्छ तथा उदाहरण तदनुरूप, सुबोध एवं सरल हैं।

जहां तक कवित्व का प्रश्न है, इसका निर्वाह प्राय: सभी कवियों ने अपनी रचनाओं में यथासंभव ईमानदारी से किया है। विवेच्य विषय के अनुरूप इनकी अधिकांश रचनाएं शृंगारिक ही हैं, इतर विषयों से संबंधित रचनाएं केवल शृंगारेतर रसों के उदाहरणों के रूप में ही देखने को मिलती हैं। काव्यशास्त्रीय नियमों में बद्ध होती हुई भी ये रचनाएं वैविध्यपूर्ण बिंबों के कारण पर्याप्त कलात्मक रही हैं। क्या लक्षित और क्या उपलक्षित, सभी प्रकार के बिबों की रेखाएं इतनी स्पष्ट एवं सधी हुई हैं कि काव्यशास्त्रीय नियमों में आबद्ध परिवेश की एकरूपता भी उन्हें एकरस नहीं बना पायी। दूसरी ओर इनकी अभिव्यक्ति भी कम प्रभावशाली एवं समर्थ नहीं रही। व्याकरणसम्मत ब्रजभाषा में संस्कृत, अपभ्रंश और प्राकृत जैसी प्राचीन भाषाओं, अरबी और फ़ारसी जैसी विदेशी भाषाओं तथा क्षेत्रीय बोलियों के शब्दों का यथावश्यकता प्रयोग कर जिस कसावट और बिंबानुरूप संगीत की सृष्टि की गयी है, वह इतर कालों में लिखे गये ब्रजभाषा-साहित्य में विरल है। कवित्त, सवैया तथा दोहा के व्यापक प्रयोग ने इस दिशा में अपना योग और दिया है। कुल मिला कर इन कवियों की रचनाएं कलापूर्ण कही जा सकती हैं। इनमें इन्हें अपने रीतिनिरूपण के समान ही सफलता मिली है। प्रस्तुत प्रसंग में सर्वरस, शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद-निरूपक कवियों में से कतिपय का परिचय देना असंगत न होगा।

## सर्वरस-निरूपक रीतिकवि

**तोष :** संस्कृत के आचार्यों का आश्रय लेते हुए भी अपने ढंग से रस-निरूपण करने वाले इस युग के आचार्यों में तोष का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। ये इलाहाबाद के निकट स्थित शृंगवेरपुर (सिंगरौर) नामक स्थान के निवासी थे तथा इनके पिता का नाम चतुर्भुज था। ये सरयूपारीण शुक्ल ब्राह्मण थे। इनके द्वारा रचित 'सुधानिधि', 'नखशिख' और 'विनयशतक'—ये तीन ग्रंथ कहे जाते हैं। इनमें आज केवल 'सुधानिधि' (1634) ही उपलब्ध है। कुछ लोग रचनाकाल संबंधी इनके दोहे के पाठभेद के आधार पर इसे 1734 ई. में रचित मानते हैं।

'सुधानिधि' में विषय का विवेचन नवरस-परिगणन तथा विभाव, अनुभाव और स्थायी भाव (प्रेम)के उल्लेख के साथ किया गया है। इसके पश्चात शृंगार के आलंबन विभाव के अंतर्गत क्रमश: नायिका और नायक के भेदोपभेदों, नायक के सखाओं, अनभिज्ञ नायक एवं दर्शन के चारों भेदों का तथा उद्दीपन विभाव के भीतर क्रमश: वर्ण-व्यवसाय के आधार पर विभिन्न प्रकार की दूतियों, चार प्रकार की सखियों तथा विभिन्न प्रकार के उद्दीपक पदार्थों का विवेचन किया गया है। विभाव के विवेचन के उपरांत संयोग, वियोग, सामान्य और मिश्रित नाम से शृंगार के चार भेदों का वर्णन है—संयोग शृंगार में स्थान और अवसरानुरूप संभोग का, वियोग शृंगार में विरह-पीड़ा का, सामान्य शृंगार में दस प्रसिद्ध और दस अपर हावों, नायिकाओं के औदार्य, माधुर्य, प्रगल्भता और धीरत्व नामक चार अलंकारों, आठ सात्त्विक भावों, विप्रलंभ के त्रिविध मान, पूर्वराग, प्रवास और करुण नामक चार भेदों और काम की दस दशाओं का, तथा मिश्रित शृंगार में संयोग में वियोग, वियोग में संयोग, जन्य और जनक इन चार रूपों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार शृंगार का सविस्तार विवेचन कर क्रमश: शेष आठ रसों, तैंतीस संचारी भावों, भावसंधि, भावोदय और भावशबलता के मात्र उदाहरण दे दिये गये हैं। अंत में क्रमश: कैशिकी आदि चार वृत्तियों में विद्यमान रहने वाले रसों के उल्लेख, स्थायी और संचारी भावों के अंतर, रसाभास और भावाभास, रसदोषों आदि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विवेचन समाप्त कर दिया गया है। लक्षणों और उदाहरणों के लिए कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा और छप्पय का प्रयोग सुविधानुसार कर लिया गया है। विवेचन में अधिकांश विषय ऐसे हैं, जो विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण', शिंगभूपाल के 'रसार्णवसुधाकर', भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी', कल्याणमल्ल के 'अनंगरंग', केशव की 'रसिकप्रिया', रहीम के 'बरवै नायिकाभेद' और 'नगरशोभा' जैसे ग्रंथों में आ चुके हैं; तथापि लक्षणों के स्वरूप और उनकी योजना को देख कर यह नहीं कहा जा सकता कि ग्रंथकार ने इनमें से कौन-सा, किसके लक्षण का अनुवाद अथवा रूपांतर किया है। अतएव, कहा जा सकता है कि उन्होंने न केवल अपने कर्म को गंभीरता के साथ ग्रहण किया, बल्कि उनमें अपने ढंग से विचार करने और अपनी मान्यताओं को व्यवस्थित रूप देने का सामर्थ्य भी है। चिंतन और दृष्टि में इस प्रकार की मौलिकता के परिणामस्वरूप ही वे परकीया की वैयक्तिक परिस्थितियों तथा मिलन-युक्तियों के आधार पर क्रमशः साध्या-असाध्या तथा उद्बुद्धा उद्बोधिता नामक नवीन भेदों की उद्भावना कर सके हैं। इसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था के आधार पर अंर्तवर्तिनी, विदग्धा, सहचरी और हितकारिणी नामक चार प्रकार की सखियों, उद्दीपक नामक हाव, सामान्य और मिश्रित नामक श्रृंगार के दो भेदों, धर्मवीर के स्थान पर सत्यवीर नामक भेद तथा कठिनता नामक संचारी संबंधी परिकल्पनाएं ऐसी हैं, जिनकी चर्चा पूर्ववर्ती किसी ग्रंथ में इस रूप में देखने को नहीं मिलती। इससे यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि रस-विवेचन में इनकी दृष्टि दूसरों की अपेक्षा अधिक व्यापक है। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वच्छ उदाहरणों के द्वारा ही विषय को स्पष्ट किया गया है। लक्षण केवल वहीं देने का प्रयत्न रहा है, जहां पर उदाहरणों से काम चलता हुआ नहीं देखा गया। विवेचन की इस शैली से यह सोचा जा सकता है कि ग्रंथकार की प्रवृत्ति आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व-प्रदर्शन की ओर अधिक रही है।

तोष का कवित्व भी कम सराहनीय नहीं है। कल्पना की ऊंची उड़ान के परिणामस्वरूप उनकी रचनाओं में एक से बढ़ कर एक आकर्षक एवं नवीन बिंबों की सृष्टि ही नहीं हुई है, अपितु विभिन्न अलंकारों द्वारा नियोजित विविध प्रकार की रेखाओं ने चेतना का स्पर्श कर आह्लादित करने की क्षमता भी उनमें उत्पन्न कर दी है। किसी भी रचना को उठा कर देंख जाइए, उसमें दूसरी की अपेक्षा अपना वैशिष्ट्य सहज ही अनुभव हो जायेगा। इधर अभिव्यक्ति भी अपने आपमें इतनी सहज, स्वच्छ एवं निश्छल रही है कि काव्यशास्त्रीय नियमों के घेरे में रची हुई उनकी कविता की अकृत्रिमता पर आश्चर्य होता है। भाषा और छंद-योजना का निर्दोष प्रयोग जिस प्रकार का स्वाभाविकता-संपृक्त प्रभाव छोड़ता है, वह चिंतामणि और मतिराम जैसे सरल कलाकार कवियों की श्रेणी में इन्हें प्रतिष्ठित कर देता है। काव्यशास्त्र को हृदयंगम कर तदनुरूप सरस काव्य की रचना करने वाले गिने-चुने रीतिकवियों में इनकी गणना बिना किसी संकोच के की जा सकती है। नमूने के रूप में लक्षण-सहित एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं :

*पिय को जिय जासों रमै, सोई ज्येष्ठा होइ।*
*आनि कनिष्ठा जानिये, कहैं सयाने लोइ॥*
*प्रेम जनायो मुरारि चहै बहु नारिनि मैं लखि प्यारी नवीनी।*
*खेल रच्यौ अंखि मूदने को, कहि 'तोष' कियो नंदलाल प्रवीनी॥*
*कै तेहि चोर मुदे अंखियां छतियां में लियो छतिया गहि पीनी।*
*बाल गई जब लौं लुकिबे कहं, लाल दई तब लों रति कीनी॥*

**रसलीन :** व्यवस्थित विवेचन और कवित्व का समान रूप से निर्वाह करते हुए रीतिनिरूपण करने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वाले इस युग के इने-गिने आचार्यों में सैयद गुलाम नबी 'रसलीन' (1699-1750) का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। ये उत्तरप्रदेश के ज़िला हरदोई के प्रसिद्ध साहित्यकेंद्र बिलग्राम के रहने वाले थे। इनके मामा मीर अब्दुल जमील और गुरु मीर तफैल अहमद अच्छे कवि थे, जिनसे इन्हें काव्य रचना-की प्रेरणा मिली। इनके पिता का नाम सैयद मुहम्मद बाकर था। ये अच्छे संगीतज्ञ होने के साथ-साथ सुयोग्य सैनिक, तीरंदाज और घुड़सवार भी थे तथा नवाब सफदरजंग की सेना में काम करते थे। रामचेतौनी के युद्ध में ये मारे गये थे। कवित्त सवैयों तथा कतिपय लोकगीतों के अतिरिक्त इनके द्वारा रचित 'रसप्रबोध' (1742) और 'अंगदर्पण' (1737) नामक दो रीतिग्रंथ उपलब्ध होते हैं, जिनमें क्रमशः रसविवेचन और नखशिखवर्णन मिलता है। लेकिन फ़ारसी भाषा में भी इन्होंने रचनाएं की हैं।

'रसप्रबोध' में यद्यपि सभी रसों का वर्णन हुआ है, तथापि इस वर्ग के अन्य ग्रंथों के समान ही इसका मूल विषय शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद-विवेचन ही है, अन्य रसों आदि का विवेचन इसकी तुलना में कहीं अधिक संक्षिप्त है। इसमें सबसे पहले रस का सामान्य परिचय देने के उद्देश्य से रस और उसके कारण भाव को स्पष्ट करते हुए क्रमशः स्थायी भाव, विभाव और अनुभाव को स्पष्ट किया गया है। इसी प्रसंग में 8 सात्त्विकों और 33 संचारियों को क्रमशः 'तन' और 'मन' संचारी के रूप में वर्गीकृत करते हुए 9 स्थायी भावों तथा 9 रसों के नामों का उल्लेख कर दिया गया है। इसके उपरांत शृंगार रस का विवेचन आरंभ किया गया है। इसमें 'रति' स्थायी के लक्षण-उदाहरण देने के बाद शृंगार के विभावों— आलंबन और उद्दीपन की चर्चा कर आलंबन में क्रमशः नायिका और नायक के लक्षणों के साथ उनके भेदों के अनेक अवांतर भेदोपभेदों की लक्षण-उदाहरण-सहित चर्चा की गयी है, जबकि उद्दीपन विभावों के अंतर्गत सखी, दूती और नायक सखा के भेदों और उनके कर्मों के अतिरिक्त षड्ऋतुओं तथा अन्य पदार्थों को प्रस्तुत किया गया है। विभाव-पक्ष के उपरांत अनुभावों, हावों आदि का वर्णन है। अंत में बारहमासा-सहित वियोग शृंगार का वर्णन कर शेष आठ रसों की विभावादि सामग्री एवं उनमें से कतिपय के भेदों का उल्लेख करते हुए प्रत्येक से संबद्ध उदाहरण दे कर ग्रंथ समाप्त कर दिया गया है। लक्षण और उदाहरण दोनों ही दोहों में हैं।

रस और नायक-नायिकाभेद-संबंधी इस विवेचन को देख कर यह सहज ही आभास हो जाता है कि इसका आधार अन्य विवेचकों की तुलना में पर्याप्त विस्तृत है, भरत, रुद्रभट्ट, भानुदत्त और वात्स्यायन के अतिरिक्त हिंदी के कृपाराम, केशव, तोष और कुमारमणि जैसे प्रौढ़ आचार्यों का आश्रय ग्रहण किया गया है। विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता क्रम-व्यवस्था, स्पष्टता और विस्तार में निहित है। विवेचन का क्रम कुछ इस प्रकार से रखा गया है कि न तो पुनरुक्ति हुई है और न कोई विषय छूट ही पाया है। स्वच्छ एवं सरस उदाहरणों ने इस दिशा में अपना विशेष योग दिया है। इधर पूर्ववर्ती समस्त ग्रंथों की नायिकाभेद-वर्णन-विषयक सामग्री का यथासंभव समन्वय कर विवेचन को पर्याप्त विस्तार ही प्रदान नहीं किया गया, बल्कि इसके अतिरिक्त नायिकाओं में त्रिविध पतिदुःखिता और सेवकवधू नामक परकीया, चतुर्विध सामान्या तथा अवस्थानुसार नायिकाओं में गमिष्यत् और आगमिष्यत्पतिका की एवं नायकों में नायिकाओं के आधार पर उपपति और वैशिक के भेदों की परिकल्पना द्वारा विषय का विकास भी किया गया है।

रीति-निरूपण के समान इनका कवित्व भी इस युग के कवियों में वैशिष्ट्यपूर्ण है। रसवादी होने के कारण अपनी रचनाओं में रस का सम्यक् परिपाक तो इन्होंने किया ही है, अभिव्यंजनाशिल्प भी इनके काव्य की अपनी विशेषता बन गयी है। सीधे-सादे बिंबों में नवीन उपमानों का प्रयोग ये जिस ख़ूबी के साथ करते हैं, वह इस काल के कवियों की रचनाओं में विरल है। कदाचित् इसीलिए इनके बिंब अधिक स्पष्ट और मार्मिक बन गये हैं। दूसरी ओर भाषा में विषयानुसार सरसता भी है। इनकी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कविता का सौंदर्य वास्तव में वक्रता की अपेक्षा स्वाभाविकता में अधिक निहित रहा है। उदाहरणस्वरूप ये दोहे देखिए :

*(अ) यौं तिय नैननि लाज मैं, लसत काम के भाइ।*
*मिले सलिल में नेह ज्यौं, ऊपर ही दरसाइ॥*
*(आ) अगिन रूप बनि रे बिरह, कत जारत है मोहि।*
*तिय तन पानिप पाइकै, बोरि मारिहौं तोहि॥*

**पद्माकर :** कवित्व का पूर्णतः निर्वाह करते हुए नवरसों का सफल निरूपण करने वाले गिने-चुने आचार्यों में पद्माकर का नाम लिया जा सकता है। ये तैलंग ब्राह्मण थे और इनका जन्म 1753 ई. में मध्यप्रदेश के सागर नामक स्थान में हुआ था। इनके पिता मोहनलाल भट्ट भी अच्छे कवि थे और सामान्यतः अनुष्ठान और मंत्रसाधना का कार्य करते थे। ये सागर नरेश रघुनाथराव अप्पा, महाराज जैतपुर, सुमरा निवासी नोने अर्जुनसिंह, दतिया-नरेश महाराज पारीक्षित, शुजाउद्दौला के जागीरदार गोसाईं अनूपगिरि (उपनाम हिम्मतबहादुर), सितारा-नरेश रघुनाथराव, जयपुर-नरेश प्रतापसिंह और उनके पुत्र जगतसिंह, उदयपुर-नरेश महाराज भीमसिंह तथा ग्वालियर-नरेश दौलतराव सिंधिया के आश्रय में रहे। 1833 ई. में कानपुर में इनकी मृत्यु हुई। इनके द्वारा रचित ये सात मौलिक ग्रंथ मिलते हैं—हिम्मतबहादुर-विरुदावली, पद्माभरण, जगद्विनोद, प्रबोधपचासा, गंगालहरी, प्रतापसिंह-विरुदावली और कलिपच्चीसी। इनके अतिरिक्त इनके अनेक स्फुट छंद भी मिलते हैं। कहते हैं कि वाल्मीकिरामायण, हितोपदेश आदि संस्कृत-ग्रंथों के अनुवाद भी इन्होंने किये थे। मौलिक ग्रंथों में 'पद्माभरण' और 'जगद्विनोद' ही रीतिग्रंथ हैं, शेष राजप्रशस्ति अथवा भक्ति और वैराग्य संबंधी हैं। इन रीतिग्रंथों में क्रमशः अलंकार और नवरस-विवेचन किया गया है। 'पद्माभरण' 1810 ई. में रचा गया बताया जाता है। 'जगद्विनोद' की रचना 1803 और 1821 ई. के बीच महाराज जगतसिंह के आश्रय में उनकी आज्ञा से हुई।

'जगद्विनोद' में छह प्रकरण और 731 छंद हैं। आरंभ में आलंबन विभाव के अंतर्गत नायक-नायिकाभेद और चार प्रकार के दर्शन का विवेचन करने के अनंतर उद्दीपन विभाव के अंतर्गत नायक के सखाओं, नायिका की सखी, तीन प्रकार की दूतियों तथा षड्ऋतुओं का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। तदनंतर श्रृंगार रस के अनुभावों के विवेचन के व्याज से आठ सात्त्विक भावों और बारह हावों का वर्णन करते हुए श्रृंगारादि नव रसों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। लक्षण सामान्यतः दोहों में हैं और उदाहरण कवित्त, सवैया, दोहा आदि में। लक्षणों को देखने से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि ग्रंथकार मूलतः 'रसमंजरी', 'रसतरंगिणी', 'साहित्यदर्पण', 'रसिकप्रिया', 'सुधानिधि' आदि ग्रंथों का ऋणी रहा है। अतएव, मौलिकता की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं। ग्रंथ की विशेषता यही है कि लक्षण सुबोध और स्पष्ट तथा उदाहरण तदनुरूप एवं सरस हैं। विषय को स्पष्ट करने के लिए कहीं-कहीं ब्रजभाषा-गद्य का आश्रय भी लिया गया है। किंतु फिर भी लक्षणों में वह सूक्ष्मता और शास्त्रीयता नहीं आ पायी, जो संस्कृत आचार्यों के लक्षणों में मिलती है।

कवित्व की दृष्टि से यदि पद्माकर की रचनाओं की परीक्षा की जाये, तो कहना होगा कि इनके द्वारा गृहीत तीनों विषयों—श्रृंगार, राजप्रशस्ति और भक्ति में इन्हें पूर्ण सफलता मिली है। इस दिशा में इनकी सबसे बड़ी विशेषता बिंब-योजना है, जिसमें रेखाएं और रंग ही अत्यंत स्पष्ट हो कर नहीं आये हैं, बल्कि उनमें यथावश्यकता भावात्मकता, गति और स्थैर्य का सन्निवेश भी कुछ ऐसे कौशल के साथ हुआ है कि वे सहृदय के मन पर आत्मविभोर कर देने वाला आह्लादक प्रभाव छोड़ जाते

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हैं। भाषा भी बिंबों और उनकी रेखाओं के अनुरूप इतनी सधी हुई एवं सौष्ठवसंपन्न है कि प्रत्येक शब्द की योजना देखते ही बनती है। इधर कवित्तों और सवैयों का प्रयोग भी विशेष प्रकार के गंभीर संगीत की सृष्टि कर रचनागत बिंब के अनुकूल वातावरण ही उत्पन्न नहीं करता, अपितु प्रत्येक रेखा के धर्म को भी व्यंजित करता चलता है। कहना न होगा कि इन्हीं विशेषताओं के कारण ये परवर्ती कवियों के लिए अनुकरणीय बन गये। एक छंद द्रष्टव्य है :

*सिन्धु के सपूत सुत सिन्धु तनया के बन्धु*
*मन्दिर अमन्द सुभ सुन्दर सुधाई के।*
*कहै 'पद्माकर' गिरीस के बसे हौ सीस*
*तारन के ईस कुलकारन कन्हाई के॥*
*हाल ही के बिरह बिचारी ब्रजबाल ही पै*
*जाल से जगावत जुआल सी जुन्हाई के।*
*ए रे मतिमन्द चन्द आवत न तोहैं लाज*
*ह्वै कै दुजराज काज करत कसाई के॥*

**बेनी 'प्रवीन'** : इस काल के नवरस-विवेचक आचार्यों में संक्षिप्त लक्षणों और सरस उदाहरणों की रचना के लिए बेनी 'प्रवीन' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये लखनऊ के रहने वाले वाजपेयी ब्राह्मण थे तथा वल्लभ-संप्रदाय के वंशीलाल के शिष्य थे। इनके रचे हुए शृंगारभूषण, नवरसतरंग और नानारावप्रकाश—ये तीन ग्रंथ कहे जाते हैं। किंतु, इनमें आज 'नवरसतरंग' (1817) ही उपलब्ध है। कहा जाता है कि 'प्रवीन' उपाधि इन्हें इनके समकालीन भंड़ौआकार बेनी ने दी थी। 'नवरसतरंग' में कुल मिला कर 543 छंद हैं, जिनमें नवरस-परिगणन, रसलक्षण तथा विभिन्न रसों के स्थायी भावों के उल्लेख के उपरांत क्रमशः शृंगार के आलंबन विभाव में नायक-नायिकाभेद और चतुर्विध दर्शन; उद्दीपन में सखी, त्रिविध दूतियों के अतिरिक्त वर्ण-व्यवसाय के आधार पर कतिपय अन्य दूतियों और उद्दीपक सामग्री, आठ सात्त्विक भावों, तैंतीस संचारियों और भावोदयादि भावाभास तथा नौ स्थायी भावों का; शृंगार के संयोग-पक्ष में दस हावों तथा विप्रलंभ शृंगार के करुण को छोड़ शेष तीन भेदों और मरण को छोड़ सभी कामदशाओं का एवं शेष आठ रसों का निरूपण किया गया है। लक्षण विषयवस्तु के अनुरूप बरवै, दोहा अथवा सोरठा में हैं; उदाहरण कवित्त, सवैया अथवा दोहों में। विवेचन में लक्षणों का आधार सामान्यतः भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' ही रही हैं। वर्ण-व्यवसाय के आधार पर दूती के भेदों के वर्णन के लिए तोष के 'सुधानिधि' और केशव की 'रसिकप्रिया' का आश्रय लिया गया प्रतीत होता है। ग्रंथकार ने अपने 'शृंगारभूषण' के अनेक छंदों को भी इसमें उद्धृत किया है। करुण, रौद्र और वीर के उदाहरण शृंगारमिश्रित हैं। समग्रतः लक्षण संक्षिप्त, स्वच्छ और सुबोध तथा उदाहरण लक्षणों के अनुरूप और सरस हैं। कवित्व की दृष्टि से इन्हें इस युग के तोष, मतिराम, देव आदि सरस कवियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। इनके बिंबों की रेखाएं स्वच्छ एवं सुनियोजित ही नहीं, पर्याप्त आकर्षक भी हैं। प्रत्येक बिंब मतिराम के बिंबों जैसा सरलताजन्य गंभीर प्रभाव छोड़ जाता है, उसमें न बिहारी जैसी नक्काशी मिलेगी और न देव और पद्माकर जैसी क्रमशः गति और मुखरता ही। भाषा भी विषय के अनुरूप अकृत्रिम, सरस एवं प्रसादगुण संपन्न है।

**अन्य रीतिकवि :** रीतिकाल के सर्वरस-विवेचक आचार्य कवियों में सुखदेव मिश्र, याकूब ख़ां, उजियारे, रामसिंह और चंद्रशेखर वाजपेयी भी उल्लेखनीय हैं। **सुखदेव मिश्र** (कविताकाल 1633

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

1703 ई.) द्वारा रचे हुए ये ग्रंथ बताये जाते हैं—वृत्तविचार, छंदविचार, फाजिलअलीप्रकाश, अध्यात्मप्रकाश, रसार्णव, रसरत्नाकर और शृंगारलता। इनमें 'वृत्तविचार' छंदोनिरूपण विषयक है, 'अध्यात्मप्रकाश' में जीव, जगत्, माया और ब्रह्मविषयक शंकर के विचारों को कविता में समझाया गया है, 'रसार्णव' और 'रसरत्नाकर' में नवरस-वर्णन है तथा अन्य ग्रंथ अनुपलब्ध हैं। 'रसार्णव' और 'रसरत्नाकर' में शृंगार रस के आलंबन नायक नायिकाभेद, त्रिविधदर्शन, सखी, दूती, नायक-सखा, उद्दीपक सामग्री, हावादिक एवं शृंगार के दोनों भेदों का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है और इतर रसों का वर्णन चलते ढंग से कर दिया गया है। अंत में रससामग्री के अंतर्गत आने वाले व्यभिचारी भाव आदि का विवेचन किया गया है। दोनों ही ग्रंथों के विवेचन का आधार भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' हैं। 'रसरत्नाकर' में जहां सुबोधता, स्पष्टता और संक्षेप की ओर ग्रंथकार का आग्रह रहा है, वहां 'रसार्णव' में संक्षेप के स्थान पर कवित्व-प्रदर्शन पर उसकी दृष्टि अधिक केंद्रित रही है। वैसे, कवित्व की दृष्टि से दोनों ही ग्रंथों का महत्त्व है। इनमें कल्पना की उड़ान भले ही न हो, किंतु सीधे-सादे बिंब कुछ इस प्रकार से अंकित किये गये हैं कि उनकी स्वाभाविकता देखते ही बनती है।

रस और अलंकार के समानांतर विवेचन द्वारा रीतिनिरूपण की संक्षेप शैली में अपने ढंग का अनूठा प्रयोग करने के कारण **याकूब ख़ां** इस युग के आचार्यों में विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते हैं। किंतु दुर्भाग्य की बात यह है कि 'रसभूषण' के सिवाय न तो इनका कोई और ग्रंथ मिलता है और न ही इनके जीवनवृत्त के विषय में किसी प्रकार की सामग्री ही उपलब्ध है। राय शिवप्रसाद द्वारा रचित 'रसभूषण' (1812) पर इनके प्रभाव को देख कर इतना ही अनुमान लग पाता है कि ये 1800 ई. से पूर्व हुए होंगे। याकूब ख़ां के 'रसभूषण' में रस-विवेचन के अंतर्गत नायक-नायिकाभेद, नायक सखा, त्रिविधमान, चतुर्विध दर्शन, त्रिविध दूती, सखी और उनके कर्मों, 18 हावों, 8 सात्त्विक भावों, 8 स्थायी भावों, शृंगार के भेदोपभेद सहित मरण के सिवाय सभी कामदशाओं तथा शांत रस समेत नवरस को प्रस्तुत किया गया है। इनमें नायक-नायिकाभेद संबंधी प्रकरण का विवेचन लगभग वैसा ही है, जैसा कि भानुदत्त की 'रसमंजरी' में देखने को मिलता है तथा शेष का निरूपण 'साहित्यदर्पण' के अधिक निकट है। संचारी भावों का विवेचन बिना कोई कारण बताये ही छोड़ दिया गया है। अलंकारों के विवेचन में कुवलयानंदकार द्वारा उपमा से हेतु तक गृहीत 100 मुख्य अलंकारों के अतिरिक्त रसभाव वर्ग के 8 रसवदादि अलंकार, प्रमाणाधृत 10 अलंकारों में से केवल 'प्रत्यक्ष' नामक अलंकार तथा शब्दालंकारों में से 'छेक' और 'वृत्ति' नामक दो भेदों सहित अनुप्रास और यमक के क्रम से कुल मिला कर 111 अलंकारों को भेदोपभेद सहित समझाया गया है। रस और अलंकारविषयक यह विवेचन क्रम और भेदोपभेद संबंधी सामग्री की दृष्टि से यद्यपि उक्त संस्कृत ग्रंथों के अनुरूप है, तथापि एतद्विषयक कोई भी लक्षण ऐसा नहीं है, जिसे इनके लक्षणों का अनुवाद अथवा रूपांतर कहा जा सके। ऐसा प्रतीत होता है कि लक्षणों की सामग्री के लिए इस काल के 'रसिकप्रिया', 'भाषाभूषण', 'रसराज' आदि ब्रजभाषा-रीतिग्रंथ ही आधार रहे हैं। अतः मौलिक उद्भावनाओं की दृष्टि से यह ग्रंथ नगण्य है। विषय-विवेचन के लिए लक्षण सोरठे में दिये गये हैं और उदाहरणों के लिए दोहे का प्रयोग किया गया है। ग्रंथकार ने सामान्यतः एक ही छंद के प्रथम दो चरणों में अलंकार विशेष का और बाद के दो में रस-सामग्री के अंश विशेष का लक्षण देने का प्रयत्न किया है, दोनों के उदाहरण भी उसने प्रायः एक ही छंद में घटा दिये हैं। कहीं-कहीं ब्रजभाषा-गद्य में वृत्ति दे कर भी विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। लक्षण, उदाहरण और वृत्ति, तीनों के समन्वित योग के कारण अलंकार और रस का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वालों के लिए यह ग्रंथ उपयोगी है, परंतु कवित्व अपने आपमें साधारण कोटि का ही है।

**उजियारे :** ये वृंदावन-निवासी सनाढ्य ब्राह्मण नवलशाह के पुत्र थे। इन्होंने 1780 ई. के आसपास 'जुगलरसप्रकाश' और 'रसचंद्रिका' की रचना की थी। 'रसचंद्रिका' के 16 और 'जुगलरसप्रकाश' के 12 प्रकाशों में रस-सामग्री और विभिन्न रसों का प्राय: एक जैसा विवेचन किया गया है, अंतर केवल इतना ही है कि 'रसचंद्रिका' के अंत में 'रसरोध' शीर्षक से रस-विरोधी बातों की चर्चा 'जुगलरसप्रकाश' की अपेक्षा अधिक है। विवेचन का आधार मूलत: भरत का 'नाट्यशास्त्र' रहा है। इनमें प्रश्नोत्तर की पद्धति द्वारा विषय संबंधी समस्याओं को उठाते हुए उनका समाधान करने का प्रयत्न किया गया है। यह बात दूसरी है कि भारतीय दृष्टि से इनमें कोई मौलिक बात नहीं कही गयी है। एक विशेषता यह है कि ग्रंथकार ने शृंगार का विवेचन सविस्तार करते हुए भी इतर रसों के विवेचन को अन्य रीति-निरूपकों के समान चलता नहीं कर दिया, बल्कि एक-एक प्रकाश में एक-एक रस का विवेचन करते हुए प्रत्येक रस के महत्त्व को अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिपादित किया गया है। लक्षण सामान्यत: स्वच्छ और स्पष्ट हैं तथा उदाहरण तदनुरूप एवं सरस कहे जा सकते हैं। कहना न होगा कि उजियारे इस काल के प्रतिष्ठित कवियों की श्रेणी में भले ही न आते हों, पर कवि और कवि-शिक्षक के रूप में वे पर्याप्त सफल हैं।

विषय को स्वच्छ, सरस, विस्तृत और व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने वाले रस-विवेचक आचार्यों में **महाराज रामसिंह** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये नरवरगढ़-नरेश छत्रसिंह के पुत्र थे। इन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे, जिनमें जुगलविलास, रसशिरोमणि, अलंकारदर्पण और रसनिवास प्रसिद्ध हैं। इनमें 'जुगलविलास' (1779) देव के 'अष्टयाम' के समान नायक-नायिका की विलासपूर्ण दिनचर्या के वर्णन का ग्रंथ है, 'अलंकारदर्पण' (1778) में 'कुवलयानंद' के आधार पर अलंकार विवेचन किया गया है, 'रसशिरोमणि' (1773) 'रसमंजरी' के आधार पर रचित नायक-नायिकाभेद और शृंगाररस-विवेचन संबंधी ग्रंथ है; जबकि 'रसनिवास' (1782) में रसतरंगिणी, रसमंजरी, साहित्यदर्पण, रसिकप्रिया आदि के आधार पर नायक-नायिकाभेद के अतिरिक्त रस-सामग्री और विभिन्न रसों के वर्णन के साथ रस-भाव-अलंकार-संबंध, रसविरोध, रसाभास, रसशबलता आदि का मनोयोगपूर्वक विवेचन किया गया है। उक्त दोनों ग्रंथों में 'रसनिवास' का महत्त्व विशेष है। इसमें ग्रंथकार ने भरती के शब्दों को बचाते हुए नपी-तुली भाषा में लक्षण और तदनुरूप सरस उदाहरण दे कर ही अपने विवेचन को पूर्ण नहीं समझा, इससे आगे रसविषयक विभिन्न पक्षों पर गंभीर चिंतन के बाद अपने ढंग से अनेक निष्कर्ष प्रस्तुत करने का भी प्रयत्न किया है। रस के आधार पर अभिमुख (रसप्रधान), विमुख (गुणभूत रस) और परमुख (रसहीन) नामक काव्य की तीन कोटियों की परिकल्पना भी इनके मौलिक चिंतन का परिणाम कही जा सकती है। संक्षेप में, यह ग्रंथ अपने रचयिता को उच्च कोटि के कवि-शिक्षकों की कोटि में सहज ही प्रतिष्ठित कर देता है। कवित्व की दृष्टि से भी ये इस काल के मतिराम जैसे प्रथम श्रेणी के कवियों में बिना किसी संकोच के परिगणित किये जा सकते हैं। कल्पना की ऊंची उड़ान ने इनके बिंबों को कुछ ऐसा वैशिष्ट्य प्रदान किया है कि उससे इनकी रसवादी दृष्टि सहज ही प्रमाणित हो जाती है।

लक्षण संबंधी दोषों से सावधान और लक्ष्य के लिए अनिवार्य गुणों के निर्वाह के निमित्त सचेष्ट रह कर शास्त्रनिष्ठ स्वच्छ विवेचन करने वाले इस युग के आचार्यों में **चंद्रशेखर वाजपेयी** (1798-1885) का नाम विशेष आदर के साथ लिया जा सकता है। इनके ग्रंथों में हम्मीरहठ, नखशिख, वृंदावनशतक, गुरुपंचाशिका, ताजक, माधवी वसंत, हरिमानसविलास, रसिकविनोद आदि प्रसिद्ध हैं। 'रसिकविनोद' (1846) में नवरस का विवेचन किया गया है। इसकी रचना पटियाला-नरेश महाराज

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नरेंद्रसिंह के आश्रय में हुई थी। इसमें शृंगार रस के आलंबन-रूप नायक-नायिकाभेद और चतुर्विध दर्शन, उद्दीपन विभाव, सात्त्विक भावों, संचारी भावों, स्थायी भावों, रस-लक्षण, शृंगार के भेदों में संभोग के अंतर्गत दस हावों, वियोग के अंतर्गत पूर्व अनुराग, प्रवास, ईर्ष्या, विरह और शाप के नाम से उसके पांच भेदों एवं शेष आठ रसों का निरूपण किया गया है। इन विषयों में नायक-नायिकाभेद विवेचन का आधार भानुदत्त की 'रसमंजरी' और शेष का उनकी 'रसतरंगिणी' रही है। लक्षण दोहों में हैं और सभी भानुदत्त के लक्षणों के अनुवाद अथवा छायानुवाद रहे हैं। उदाहरण कवित्त अथवा सवैयों में हैं तथा लक्षणों के अनुरूप एवं सरस हैं। विवेचन की स्वच्छता एवं सुबोधता ही इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता है। आचार्यत्व की दृष्टि से ही नहीं, कवित्व की दृष्टि से भी चंद्रशेखर वाजपेयी को सफल कहा जा सकता है। इनकी शृंगार और राजप्रशस्तिपरक—दोनों ही प्रकार की रचनाओं में व्यंग्य का निर्वाह दृष्टिगत होता है। शृंगारिक रचनाओं में कल्पना के स्वच्छ विनियोग ने जहां इनके बिंबों को सहज, आकर्षक एवं मधुर रूप प्रदान किया है, वहां राजप्रशस्तिपरक रचनाओं में आश्रयदाता के गुणों का बखान परंपरामुक्त होते हुए भी वाणी के ओज के कारण अत्यंत प्रभावी बन पड़ा है। भाषा व्याकरण की दृष्टि से स्वच्छ एवं सौष्ठवपूर्ण है।

## शृंगाररस-निरूपक रीतिकवि

**मतिराम :** शृंगार रस को रसशिरोमणि मान कर केवल उसी का सांगोपांग विवेचन करने वाले आचार्यों में मतिराम का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। इनका जन्म 1604 ई. के लगभग उत्तरप्रदेश के ज़िला फतेहपुर के बनपुर नामक स्थान में हुआ था तथा इनके पिता का नाम विश्वनाथ त्रिपाठी था। ये सम्राट जहांगीर, बूंदी-नरेश राव भावसिंह हाड़ा, कुमायूं-नरेश ज्ञानचंद, बुंदेलखंड स्थित श्रीनगर-नरेश स्वरूपसिंह बुंदेला आदि अनेक राजाओं के आश्रय में रहे। इनके द्वारा रचित ये आठ ग्रंथ कहे जाते हैं—फूलमंजरी, लक्षणशृंगार, साहित्यसार, रसराज, ललितललाम, सतसई, अलंकारपंचाशिका और वृत्तकौमुदी। इनमें 'लक्षणशृंगार' और 'साहित्यसार' आज उपलब्ध नहीं हैं। उपलब्ध ग्रंथों में 'फूलमंजरी' की रचना जहांगीर की आज्ञा से 1619 ई. में, 'ललितललाम' की रचना भावसिंह के आश्रय में सन् 1661-64 के बीच, 'सतसई' की रचना किन्हीं भोगनाथ के आश्रय में 1681 ई. के आसपास, 'अलंकारपंचाशिका' की रचना ज्ञानचंद के आश्रय में 1690 ई. में तथा 'वृत्तकौमुदी' की रचना स्वरूपसिंह बुंदेला के आश्रय में 1701 ई. में हुई। 'रसराज' का रचनाकाल 1633-43 ई. के बीच स्वीकार किया जा सकता है। यह किसी आश्रयदाता के आश्रय में नहीं लिखा गया। कतिपय विद्वान इन्हें एक किवदंती के आधार पर चिंतामणि और भूषण के सहोदर रूप में स्वीकार करते हुए 'अलंकारपंचाशिका' और 'वृत्तकौमुदी' को किन्हीं अन्य मतिराम की रचना कहते हैं, किंतु अधुनातन शोधों ने यह भ्रामक सिद्ध कर दिया है।

अस्तु, 'रसराज' में शृंगार रस और उसके आलंबन नायक-नायिकाभेद का विवेचन किया गया है। इसमें दोहों, कवित्तों और सवैयों में उक्त विषय को मनोयोगपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। ग्रंथकार ने आरंभ में नायिका और नायक को शृंगार के आलंबन-रूप में स्वीकार करते हुए क्रमशः दोनों का निरूपण भानुदत्त की 'रसमंजरी' और रहीम के 'बरवै नायिकाभेद' के आधार पर किया है। इसके पश्चात आलंबन के ही प्रसंग में दर्शन के स्वप्न, चित्रादि भेदों, उद्दीपनों, अनुभावों, सात्त्विक भावों तथा शृंगार के संयोग-वियोग नामक भेदों का वर्णन भी 'रसमंजरी' के आधार पर करते हुए संयोग के प्रसंग में दस हावों का वर्णन भानुदत्त की 'रसतंरगिणी' तथा विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' का आश्रय ले कर किया गया है। अंत में विप्रलंभ शृंगार के भेदों तथा काम की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दस अवस्थाओं का वर्णन पुनः रसमंजरीकार की सहायता से किया गया है। लक्षण दोहों में हैं, आधार-ग्रंथों के अनुवाद अथवा छायानुवाद हैं तथा विषय-निरूपण की दृष्टि से अपने आप में पर्याप्त स्वच्छ कहे जा सकते हैं। उदाहरण सरस कवित्तों, सवैयों अथवा दोहों में हैं तथा सभी प्रकार से लक्षणों के अनुरूप हैं। ग्रंथकार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह संस्कृत-ग्रंथों का आश्रय लेते हुए भी उनका अंधानुकरण नहीं करता। कदाचित् इसीलिए उसमें रसमंजरीकार द्वारा वर्णित 'गुप्ता' नायिका के तीन भेदों में वर्त्तिष्यमाण और वृत्तवर्त्तिष्यमाण नामक भेदों तथा 'करुण विप्रलंभ' और 'मरण' नामक कामदशा को एक ओर जहां छोड़ दिया है, वहां दूसरी ओर हिंदी-आचार्यों द्वारा परिगणित 'आगतपतिका' नामक नवीन नायिका का सफल निरूपण किया है। विवेचन के संबंध में केवल एक ही बात खटकती है कि शृंगार के सभी अंगों का मनोयोगपूर्वक निरूपण करते हुए भी रस-परिपाक के लिए अनिवार्य कहे गये संचारी भावों का कहीं उल्लेख तक नहीं किया गया।

'रसराज' के उदाहरणों का वर्ण्य विषय यद्यपि शृंगार ही हैं, तथापि अपने अन्य ग्रंथों में मतिराम ने राजप्रशस्ति को भी अपनी कविता का विषय बनाया है। कवित्व की दृष्टि से इन दोनों विषयों से संबद्ध रचनाएं अत्यंत सरस हैं। कल्पना के सहज व्यापार ने बिंबों को आकर्षक एवं भव्य ही नहीं बनाया है, अपितु अपनी अकृत्रिम सूक्ष्मता द्वारा उनके रचयिता को उत्कृष्ट कलाकारों की श्रेणी में भी ला खड़ा किया है। संयत वाणी में मर्यादित शृंगार तथा ओजमयी वाणी में राजप्रशस्तियों की अभिव्यक्ति स्वच्छ भाषा में जिस प्रकार से हुई है, वह अनेक कवियों के लिए आदर्श रही। यह परवर्ती कवियों में से अनेक ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। छंदों में विषयानुरूप संगीत की सृष्टि ने तद्गत बिंबों और उनकी अभिव्यक्ति को जिस रूप में ग्राह्य बना कर प्रस्तुत किया है, वह इस काल के गिने-चुने कवियों की रचनाओं में ही देखने को मिलती है। यथा :

*कुन्दन कौ रंग फीकौ लगै झलकै सब अँगन चारु गुराई।*
*आँखिन में अलसानि चितौनि में मंजु बिलासन की सरसाई॥*
*को बिन मोल बिकात नहीं 'मतिराम' लहै मुसकानि मिठाई।*
*ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई॥*

**कृष्णभट्टदेव ऋषि :** शृंगार को मूर्द्धन्य रस मान कर उसका सविस्तार विवेचन करने वाले गिने-चुने आचार्यों में कृष्णभट्टदेव ऋषि का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है, जिन्होंने इतर रसों का अंतर्भाव भी इसमें कर दिखाया है। दुर्भाग्य से इनके जीवनवृत्त के विषय में आज कुछ भी ज्ञात नहीं है। केवल इतना ही पता चलता है कि 1712 ई. में इन्होंने विंदवंती के राजा बुद्धसिंह जी देव की आज्ञा से 'शृंगाररसमाधुरी' नामक ग्रंथ की रचना की थी। इसके अतिरिक्त इनका 'अलंकारकलानिधि' नामक एक ग्रंथ और है, जो रस-अलंकार-विवेचन विषयक है। किंतु वह खंडित रूप में ही मिलता है। 'शृंगाररसमाधुरी' की विषयवस्तु सोलह अध्यायों में विभक्त है, जिन्हें 'स्वाद' संज्ञा दी गयी है। इनमें क्रमशः द्विविध शृंगार, नायक-भेद, नायिका-भेद, चतुर्विध दर्शन, दूती, मिलन-भेद आदि का वर्णन है। 'अलंकारकलानिधि' में भी रस-सामग्री, सखी-भेद, दूती-कर्म, विभिन्न रस और उनका शृंगारपरक वर्णन, रसों के अनुकूल वृत्तियों तथा रसदोषों का वर्णन किया गया है। इस विवेचन में 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' के अतिरिक्त 'हिततरंगिनी', 'रसिकप्रिया' और 'सुधानिधि' का आश्रय लिया गया प्रतीत होता है। विवेचन की व्यवस्था, लक्षणों की स्वच्छता और स्पष्टता तथा उदाहरणों की तदनुरूपता एवं सरसता इन कृत्तियों की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उल्लेखनीय विशेषताएं हैं। कवित्व की दृष्टि से भी ये रचनाएं अत्यंत मार्मिक कही जा सकती हैं।

## नायक-नायिकाभेद-निरूपक रीतिकवि

रीतिकाल में रस-विवेचन के संदर्भ में नायक-नायिकाभेद का विवेचन मतिराम, तोष, रसलीन प्रभृति अनेक कवियों ने किया है, किंतु इस दिशा में सर्वथा भिन्न शैली के उद्भावक होने के कारण इस युग के आचार्यों में **कालिदास त्रिवेदी** का विशिष्ट स्थान है। इनके विषय में यह ज्ञातव्य है कि ये अंतर्वेद के रहने वाले थे तथा औरंगजेब के साथ बीजापुर की लड़ाई में गये थे। प्रसिद्ध रीतिकवि उदयनाथ कवींद्र और दूलह इनके क्रमशः पुत्र और पौत्र थे। इन्होंने हजारा, राधामाधवबुधमिलन-विनोद, वारवधूविनोद आदि ग्रंथों की रचना की। इनमें 'वारवधूविनोद' नायिकाभेद-विवेचन विषयक है। इसकी रचना 1692 ई. के लगभग जंबूनगर के शासक किन्हीं जालिम जोगाजीत के आश्रय में हुई। यह पांच प्रभावों में विभक्त है। इनमें प्रथम प्रभाव के अंतर्गत मंगलाचरण, आश्रयदाता की प्रशस्ति एवं उसके वंश के संक्षिप्त परिचय के बाद विषय का विवेचन नाटकीय ढंग से एक कथाप्रसंग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कृष्ण से राधा का मिलन कराने के निमित्त ललिता दूती का कार्य करती है। राधा के आगमन में विलंब जान कर और कृष्ण का विरहाधिक्य देख कर वह उनके मन को बहलाने के उद्देश्य से नायिकाभेद की चर्चा आरंभ कर देती है और एक-एक करके प्रथम तीन प्रभावों में क्रमशः भेदोपभेदों-सहित स्वकीया और परकीया का तथा नखशिख और सुरतादि सहित सामान्या का वर्णन करती है। इसके पश्चात चतुर्थ में अन्यसंभोगदुःखितादि अष्टविध नायिकाओं का परिचय देती है। अंतिम प्रभाव में उत्तमादि त्रिविध नायिकाओं का उल्लेख कर वह नायिका की सखी के कर्मों का वर्णन जैसे ही समाप्त करती है, वैसे ही राधा पहुंच जाती है। यहीं पर दोनों के सुरत और सुरतांत का वर्णन कर कवि ग्रंथ को समाप्त कर देता है। इस प्रकार विषय-वैशद्य की दृष्टि से यह ग्रंथ साधारण कोटि का है। मौलिकता की दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व नहीं है। कारण, लक्षण अपने आपमें सामान्य एवं परंपरागत लक्षणों के आधार पर रचे गये हैं। उनमें किसी प्रकार की सूक्ष्मता का ध्यान नहीं रखा गया। इसकी विशेषता इसी बात में निहित है कि विवेचन कथा के प्रसंग के माध्यम से प्रस्तुत करने के अतिरिक्त उसके लिए ऐसे छंदों का भी प्रयोग किया गया है, जो इस काल के अन्य कवियों ने रीतिनिरूपण अथवा शृंगारवर्णनों के लिए प्रायः ग्रहण नहीं किये। ये छंद हैं—छप्पय, हरिगीतिका, त्रिभंगी, त्रोटक, भुजंगप्रयात, चौपाई, सरसी और कुंडलियां। इन छंदों का प्रयोग इतने कलात्मक ढंग से किया गया है कि कोई भी प्रकृतितः इस विषय के प्रतिकूल प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त सामान्या नायिका के प्रसंग में उसके नखशिख एवं सुरतादि का वर्णन इसमें जिस मनोयोग एवं आकर्षक ढंग से किया गया है, वैसा इस युग के समग्र शृंगारी-साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। बिंब, भाषा और छंद-योजना, तीनों ही अपने समन्वित रूप में यह सिद्ध कर देते हैं कि यदि कवि विषय में रुचि ले तो रसाभास की उत्पत्ति करने वाले इस प्रकार के विषय भी विशुद्ध रस का सा आनंद प्रदान कर सकते हैं।

## अलंकार-निरूपक रीतिकवि

रस और नायक-नायिकाभेद-विवेचकों के समान अलंकार-विवेचकों की संख्या भी पर्याप्त है और इनमें प्रत्येक इस युग की रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है। सभी ने कवित्व-प्रदर्शन के स्थान पर अलंकार का सामान्य ज्ञान कराने के उद्देश्य से ही एतद्विषयक ग्रंथों का निर्माण किया है तथा सामान्य रूप से सुबोधता और सुकंठता का ध्यान रखा है। शब्दालंकार और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अर्थालंकार दोनों ही प्राय: इन कवियों के विवेचन के विषय रहे हैं। किंतु इनमें कुछ ऐसे भी हैं, जिन्होंने अर्थालंकारों का ही विवेचन किया है। अलंकार-विवेचन के लिए सामान्यत: जयदेव के 'चंद्रालोक' अथवा अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानंद' का ही आधार लिया गया है, ध्वनिपूर्व के अलंकारवादी आचार्यों का आश्रय बहुत ही कम लोगों ने लिया है। इनके अतिरिक्त 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' का आश्रय भी कुछ लोगों ने लिया है, पर इनका प्रभाव बहुत अधिक दृष्टिगत नहीं होता। अलंकारों के विवेचन का क्रम प्राय: वही रहा है, जो आधार ग्रंथों—'चंद्रालोक' अथवा 'कुवलयानंद' में देखने को मिलता है। परंतु इन ग्रंथों, विशेषत: 'कुवलयानंद' में दिये गये सभी अलंकारों को इन्होंने ग्रहण नहीं किया, अप्पय दीक्षित द्वारा गृहीत रस-भाव पर आधृत रसवदादि नामक सात अलंकारों तथा प्रमाणाधृत प्रत्यक्ष, अनुमान आदि दस अलंकारों के अतिरिक्त संसृष्टि और पंचविध संकर को बहुत ही कम लोगों ने अपने ग्रंथों में स्थान दिया है, उपमा से हेतु तक दिये गये सौ अलंकार ही इनके ग्रंथों में प्राय: देखने को मिलते हैं। गंभीर चिंतन के अभाव तथा उक्त संस्कृत-ग्रंथों का आश्रय रहने के कारण इनमें मौलिक उद्‌भावनाओं के लिए कोई स्थान नहीं रहा। मौलिकता यदि इनमें कहीं है, तो विवेचन-शैली में अनेक प्रकार के नवीन प्रयोगों की है। जितनी विवेचन-शैलियां इस वर्ग के कवियों ने प्रस्तुत की हैं, उतनी अन्य वर्गों में देखने को नहीं मिलतीं। इनके अतिरिक्त उदाहरणों के वर्ण्य विषय भी पर्याप्त वैविध्यपूर्ण रहे हैं। शृंगार और राजप्रशस्ति के अतिरिक्त भक्ति और नीति संबंधी रचनाएं भी उदाहरण रूप में प्रस्तुत की गयी हैं। कहना न होगा कि इन सभी विषयों की रचनाएं पर्याप्त कवित्वपूर्ण हैं। अलंकारों के निरूपण पर दृष्टि रहते हुए भी तद्‌गत बिंबों के वैशद्य की हानि नहीं हो पायी है, अभिव्यक्ति भी अपने आपमें समर्थ रही है। हां, जहां कवित्व की ओर ध्यान नहीं दिया गया है तथा जहां संक्षिप्त लक्षण-उदाहरण अथवा मात्र लक्षण देना ही ग्रंथकार का अभीष्ट रहा है, वहां इन विशेषताओं का सर्वत्र अभाव रहा है। कुल मिला कर इस वर्ग के कवि अपने कर्म में सामान्य रूप से सफल रहे हैं। उदाहरण के लिए, कतिपय अलंकार-विवेचकों का परिचय अभीष्ट है।

**जसवंतसिंह :** रीतिकाल के अलंकार-निरूपक आचार्यों में महाराज जसवंतसिंह (1627-1729) का नाम विशेष आदर के साथ लिया जाता है। ये मारवाड़-नरेश महाराज गजसिंह के द्वितीय पुत्र थे तथा पिता की मृत्यु के उपरांत बारह वर्ष की अल्प आयु में ही इन्हें राज्यभार संभालना पड़ा था। शाहजहां और औरंगजेब के शासनकाल में मुग़ल दरबार और उसकी राजनीतिक गतिविधियों में ये विशेष रूप से सक्रिय रहे। शिवाजी के हाथों शायस्ता ख़ां की जो दुर्गति हुई थी, उसमें इन्हीं का हाथ था। ये तेजस्वी राजनीतिज्ञ एवं कुशल शासक ही नहीं थे, साहित्य और दर्शन के प्रति भी इनका विशेष अनुराग था। अनेक कवि और पंडित इनके आश्रय में रहते थे। इन्होंने स्वयं भी 'भाषाभूषण' नामक अलंकार-विषयक ग्रंथ के अतिरिक्त अपरोक्ष सिद्धांत, अनुभवप्रकाश, आनंदविलास, सिद्धांतबोध और सिद्धांतसार नामक पांच अध्यात्मविषयक ग्रंथों की रचना की। संस्कृत के 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक का ब्रजभाषा में पद्यानुवाद भी इन्होंने किया।

अस्तु, 'भाषाभूषण' चंद्रालोक-शैली में लिखा हुआ 212 दोहों का ग्रंथ है, जिसे पांच प्रकाशों में विभक्त कर प्रस्तुत किया गया है। इनमें क्रमश: नायक-नायिकाभेद, हावादि, अर्थालंकारों एवं छेक, लाट और तीनों वृत्तियों के अनुसार अनुप्रास के साथ यमक का वर्णन यमकानुप्रास नाम से किया गया है। अलंकारों के नामों तथा उनके क्रम और विवेचन को देख कर यह सहज ही कहा जा सकता है कि इसकी रचना के लिए ग्रंथकार ने 'कुवलयानंद' का ही आश्रय ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त 'चंद्रालोक', 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' से भी कहीं-कहीं प्रभाव ग्रहण किया गया है। लक्षण-उदाहरणों में कतिपय 'कुवलयानंद' के अनुवाद और शेष इसके तथा अन्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मूल ग्रंथों के छायानुवाद कहे जा सकते हैं। इसकी विशेषता ही यह है कि प्रत्येक लक्षण और उसके साथ दिया गया उदाहरण अपने आपमें सुबोध, सरस एवं आकर्षक है[2]। जहां पर उपभेदों का वर्णन किया गया है, वहां पहले एक साथ सभी लक्षण और फिर क्रमशः उनके उदाहरण दे दिये गये हैं। कुल मिला कर यह ग्रंथ सुबोध और सुकंठ्य कहा जा सकता है। बाद के लोगों में यह इन्हीं विशेषताओं के कारण अत्यंत लोकप्रिय रहा। अनेक कवियों ने अपने अलंकार-विवेचन में इसकी सहायता ही नहीं ली, अपितु कतिपय ने इसकी टीकाएं भी लिख डालीं। टीकाओं में दलपतिराय वंशीधर की 'अलंकाररत्नाकर' नामक टीका तो मूल के समान प्रतिष्ठा की भागी बनी, किंतु अलंकार-निरूपण में जसवंतसिंह जितने सफल हैं, कवित्व की दृष्टि से उतने ही साधारण कहे जा सकते हैं। 'भाषाभूषण' के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि संक्षिप्त लक्षण उदाहरणों के उद्देश्य से लिखा जाने के कारण इसमें उन्हें कवित्व-प्रदर्शन का अवसर नहीं मिला। किंतु इनके अन्य ग्रंथ भी ऐसे नहीं, जिनमें इसका दर्शन किया जा सके। इनमें भी ये सहृदय कवि के स्थान पर तत्त्वज्ञान-निरूपक आचार्य दृष्टिगत होते हैं।

**मतिराम :** जसवंतसिंह के समान परवर्ती टीकाकारों एवं पाठकों में प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाले दूसरे अलंकार-निरूपक आचार्य मतिराम हैं। 'ललितललाम' और 'अलंकारपंचाशिका' इनके एतद्विषयक दो ग्रंथ हैं। इनमें 'पंचाशिका' तो अलंकार-निरूपण की दृष्टि से अत्यंत सामान्य है। कारण, आश्रयदाता की प्रशस्ति संबंधी स्फुट रचनाओं पर लक्षण घटा कर इसे ग्रंथ का रूप दे दिया गया है, न तो इसके विवेचन में कोई व्यवस्था है और न औचित्य ही। वास्तव में इस दृष्टि से 'ललितललाम' का ही महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है। इसमें भेदोपभेदों सहित 100 अर्थालंकारों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। इन अलंकारों का क्रम और विवेचन 'कुवलयानंद' के आधार पर रहा है। सामान्यतः कुवलयानंदकार के लक्षणों का दोहों में अनुवाद अथवा छायानुवाद कर सुविधानुसार शृंगारिक सरस छंदों अथवा आश्रयदाता की प्रशस्तियों को उनके उदाहरण-रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है। किंतु इस संबंध में यह कह देना असंगत न होगा कि अप्पय दीक्षित से अत्यधिक प्रभावित होते हुए भी ग्रंथकार ने उनका अंधानुकरण नहीं किया, अपितु यथावश्यकता 'साहित्यदर्पण' और 'काव्यप्रकाश' का आश्रय लेते हुए कहीं-कहीं थोड़ी फेरबदल कर लेने में भी इन्होंने संकोच नहीं किया। यही कारण है कि मालोपमा और रशनोपमा नामक अलंकार कुवलयानंदकार द्वारा गृहीत न होने पर भी इन्होंने साहित्यदर्पणकार से ग्रहण कर लिये हैं। इसी प्रकार अप्पय दीक्षित द्वारा स्वीकृत हेतु और काव्यलिंग नामक दो पृथक् अलंकारों को मम्मट से संकेत ग्रहण कर इन्होंने एक कर दिया है, अंतर केवल इतना है कि मम्मट ने जहां काव्यलिंग में 'हेतु' का अंतर्भाव किया है, वहीं इन्होंने 'हेतु' के भीतर इसको अंतर्भूत कर दिया है। इतना ही नहीं, रसवादी होने के कारण इन्होंने कुवलयानंदकार द्वारा मान्य रसवदादि तथा प्रमाणाधृत अनुमानादि अलंकारों का स्पर्श भी इसलिए नहीं किया कि या तो ये इनके सिद्धांत के प्रतिकूल पड़ते हैं या फिर रसोत्कर्ष में सहायक नहीं कहे जा सकते। इधर अन्य रीतिकवियों द्वारा आग्रहपूर्वक गृहीत शब्दालंकारों को भी इन्होंने संभवतः इसलिए अपने विवेचन में स्थान नहीं दिया क्योंकि रस के साथ इनका सीधा संबंध नहीं है तथा भाषा के मात्र चमत्कारिक धर्म समझ कर मतिराम ने इन्हें छोड़ दिया है। कहने का अभिप्राय यही है कि इनका अलंकार-विवेचन मौलिक न होने पर भी सुचिंतित एवं तर्कसंगत है। इसके अतिरिक्त यह सुबोध एवं स्पष्ट ही नहीं, सरस भी है, लक्षण अपने आपमें गठे हुए तथा उदाहरण तदनुरूप एवं सरस हैं। संस्कृत और ब्रजभाषा की परस्पर प्रकृति भिन्नता के कारण पूर्ण अनुवाद न हो सकने से लक्षणों में यदि कहीं पर कोई न्यूनता आ गयी है, तो उसकी पूर्ति उदाहरणों ने कर दी है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**भूषण :** रीतिनिरूपण में शृंगारिक उदाहरण देने की सामान्य प्रवृत्ति का तिरस्कार कर केवल वीररसपरक राजप्रशस्तियों को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करने वाले इस युग के आचार्यों में भूषण का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। ये कानपुर के समीपवर्ती तिकवांपुर नामक स्थान के निवासी रत्नाकार त्रिपाठी के पुत्र थे तथा छत्रपति शिवाजी और उनके पौत्र शाहूजी, छत्रसाल बुंदेला आदि अनेक राजाओं के आश्रय में रहे थे। कहते हैं कि चित्रकूट के राजा रुद्रसाह सोलंकी ने इन्हें 'भूषण' की उपाधि से सम्मानित किया और इस उपनाम से ये इतने प्रसिद्ध हुए कि आज इनका वास्तविक नाम ही शोध का विषय बन गया है। शिवाजी के आश्रय में इन्होंने 'शिवराजभूषण' (1673), 'शिवाबावनी' तथा अनेक स्फुट छंदों की रचना की। छत्रसाल की प्रशस्ति में इन्होंने 'छत्रसालदशक' की रचना की। एक जनश्रुति के आधार पर कतिपय विद्वान अब तक इन्हें चिंतामणि, मतिराम और नीलकंठ नामक प्रसिद्ध कवियों के सहोदर रूप में स्वीकार कराते आ रहे हैं, किंतु अधुनातन शोधों ने इसे भ्रामक सिद्ध कर दिया है। इसके साथ ही विद्वानों का एक अन्य वर्ग 'अलंकारप्रकाश' और 'छंदोहृदयप्रकाश' के रचयिता मुरलीधर 'भूषण' नामक कवि को तथा इन्हें एक ही मानता है, किंतु इस मान्यता की पुष्टि के लिए अभी ठोस प्रमाणों की अपेक्षा है। कतिपय इतिहासकारों ने 'भूषण उल्लास', 'दूषण उल्लास' तथा 'भूषण हजारा' नामक इनके तीन ग्रंथों का और उल्लेख किया है, परंतु आज इनमें से कोई भी उपलब्ध नहीं है।

'शिवराजभूषण' में 105 अलंकारों का निरूपण हुआ है, जिनमें 99 अर्थालंकार, चार शब्दालंकार तथा शेष दो चित्र और संकर नामक अलंकार हैं। विवेचनक्रम एवं लक्षणों को देखने से प्रतीत होता है कि ग्रंथकार ने जयदेव के 'चंद्रालोक' और मतिराम के 'ललितललाम' का ही आश्रय लिया है, अर्थालंकारों में कम-से-कम एक-चौथाई लक्षण ऐसे हैं, जिनकी शब्दावली मतिराम के लक्षणों से ज्यों-की-त्यों मिलती है। उपमान-उपमेय, मालोपमा, भ्रांतापह्नुति, छेकापह्नुति, निदर्शना, संभावना, उल्लास, तद्गुण आदि के लक्षण इसके प्रमाण हैं। सहोक्ति, विचित्र, प्रत्यनीक, परिणाम, प्रतिवस्तूपमा आदि के लक्षण जयदेव के लक्षणों के अनुवादमात्र ही नहीं रहे, 'शिवराजभूषण' में वर्णित प्रतीपोपमा, ललितोपमा, भाविक छवि और अनुमान नामक अलंकार ऐसे हैं, जिनका विवेचन केवल 'चंद्रालोक' में मिलता है। विरोध और विरोधाभास को पृथक अलंकारों के रूप में भी चंद्रालोककार की मान्यता के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। शब्दालंकारों के विवेचन में चंद्रालोककार तथा साहित्यदर्पणकार का प्रभाव प्रतीत होता है। इन सभी अलंकारों के लक्षण दोहों में तथा उदाहरण कवित्त, सवैया, छप्पय अथवा दोहा छंद में दिये गये हैं। सभी उदाहरण महाराज शिवाजी की प्रशस्तिविषयक हैं। लक्षणों में सामान्य रूप से मतिराम आदि अन्य अलंकार-निरूपकों जैसी स्वच्छता का अभाव है। भरती के शब्दों के कारण जहां इनमें कसावट नहीं आ पायी, वहीं संस्कृत-ग्रंथों में प्रयुक्त सूक्ष्मताओं के निर्देशक शब्दों का पूरी तरह से निर्वाह नहीं हो पाया। फिर भी, कुल मिला कर इन्हें भ्रष्ट नहीं कहा जा सकता। इनके उदाहरण अवश्य ही ऐसे हैं जो प्रायः लक्षणों के अनुरूप नहीं रहे, शिवाजी की प्रशस्तियों में कवित्व की रक्षा के प्रयत्न के कारण उन विशेषताओं का सन्निवेश नहीं हो पाया, जो एक अलंकार को दूसरे से पृथक् करती हैं अथवा अलंकार विशेष के स्वरूप को खड़ा करती हैं।

आचार्यकर्म में भूषण जितने असफल रहे हैं, कविकर्म में उतने ही अधिक सफल कहे जा सकते हैं। प्रशस्तिपरक काव्य की रचना करने के कारण शृंगारिक कवियों के समान इन्हें कल्पना की ऊंची उड़ान भरने का अवकाश न मिलने से इनकी रचनाओं में एकदम नये बिंबों का यद्यपि किसी सीमा तक अभाव रहा है, तथापि विषय के अनुरूप जिस ओजपूर्ण वाणी की अपेक्षा होती है, वह इनमें सर्वत्र दृष्टिगत होती है। इसके निर्वाह के लिए संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अरबी,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

फ़ारसी तथा ब्रजभाषा और क्षेत्रीय बोलियों के ओजपूर्ण शब्दों की योजना ही इन्होंने नहीं की, बल्कि यथावश्यकता शब्दावली को तोड़-मरोड़ कर विकृत करने में भी इन्होंने संकोच नहीं किया। कहना न होगा कि वाणी के ओज पर पूर्ण दृष्टि रहने के कारण सामान्य रूप से ये उन तत्त्वों का सन्निवेश नहीं कर पाये, जिनसे वीर रस का परिपाक होता है। कर्म के प्रति आश्रय की ललक तथा अभीष्ट सिद्धि के लिए व्यापार शृंखला में उसकी उत्तरोत्तर आनंद-प्राप्ति की व्यंजना का अभाव इनकी अनुभाव-योजना को शिथिल कर रसपरिपाक को निर्बल कर गया है। साथ में इनके द्वारा आश्रय के गुणों का अत्यधिक संकीर्तन तथा उसके आतंक का विविध रूपों में वर्णन उत्साह के स्थान पर राजविषयक रति को ही अधिक व्यंजित करता है। फिर भी, इनकी वाणी का ओज अपने आपमें ऐसा है कि ये अभाव उसके भीतर दब जाते हैं और सहृदय पाठक आनंदविभोर हो कर वीररसजनित स्फूर्ति का अनुभव करता है। उदाहरणस्वरूप यह कवित्त द्रष्टव्य है :

*इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाड़व सुअम्भ पर*
*रावन सदम्भ पर रघुकुल राज है।*
*पौन वारिबाह पर, सम्भु रतिनाह पर*
*ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है॥*
*दावा द्रुमदण्ड पर चीता मृग झुण्ड पर*
*'भूषण' वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।*
*तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर*
*त्यों मलिच्छ बंस पर सेर सिवराज है॥*

**पद्माकर :** अलंकार-निरूपण में संक्षेप और सरसता का निर्वाह करने वाले इस काल के रीतिकवियों में 'पद्माकर' का नाम बिना किसी संकोच के लिया जा सकता है। इन्होंने 'पद्माभरण' (1810 ई. के लगभग रचित) में क्रमशः अलंकार-रीति, उपमा से हेतु तक 100 मुख्य अर्थालंकारों, रसवदादि, भावोदयादि तथा प्रमाणादि 15 अलंकारों तथा संसृष्टि और संकर के लक्षण उदाहरण दिये हैं। अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य और संभव—इन चार अलंकारों को छोड़ सबके लिए दोहे का प्रयोग किया गया है। इन चारों के लक्षण चौपाई में तथा उदाहरण दोहा अथवा चौपाई में दिये गये हैं। संकर और संसृष्टि के लक्षण ग्रंथकार द्वारा रचित हैं तथा इनके उदाहरणों में 6 दोहे बैरीसाल के 'भाषाभरण' के और 3 दोहे बिहारी की 'सतसई' के हैं, केवल एक दोहा इनका अपना है। ग्रंथकार के अपने कथन के अनुसार विवेचन का आधार यद्यपि 'भाषाभरण' ही रहा है, तथापि अलंकारों के क्रम तथा कतिपय लक्षणों को देख कर ऐसा प्रतीत अवश्य होता है कि इनके सामने 'कुवलयानंद' तथा 'भाषाभूषण' भी अवश्य रहे हैं। अलंकार-रीति के प्रसंग में यद्यपि अलंकार के तीन वर्गों—शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार की चर्चा की गयी है, तथापि ग्रंथ के भीतर कहीं भी शब्दालंकारों को विवेचन का विषय नहीं बनाया गया। विवेचन की दृष्टि से यह ग्रंथ अपने आपमें अत्यंत सुबोध कहा जा सकता है। लक्षणों की स्पष्टता तथा उदाहरणों की सरसता एवं तदनुरूपता ने ही ग्रंथकार को अपने कर्म में सफलता प्रदान की है। यदि कोई बात खटकती है, तो यही कि रसवादी हो कर इन्होंने रसवदादि को अलंकार रूप में क्यों ग्रहण किया तथा अनुप्रास और यमक-प्रिय होते हुए भी शब्दालंकारों, विशेषतः इन दोनों अलंकारों, का निरूपण क्यों नहीं किया!

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## अलंकार-विवेचक अन्य रीतिकवि

आलोच्य काल के अलंकार-विवेचकों में कालक्रम से गोप, रसिक सुमति, रघुनाथ, दूलह, रसरूप, सेवादास और गिरिधरदास भी उल्लेखनीय हैं। **गोप** (1716 ई. के आसपास विद्यमान) दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे तथा इनके पूर्वज गोकुल में आ कर बसे थे। इनके पिता यदुनाथ भगवद्भक्त कवि थे तथा उन्होंने 'रसविलास' नामक ग्रंथ की रचना की थी। ओड़छा-नरेश महाराज पृथ्वीसिंह इनके आश्रयदाता थे। 'रामालंकार', 'रामचंद्रभूषण' तथा 'रामचंद्राभरण' नामक तीन अलंकार-निरूपण विषयक ग्रंथ इनके द्वारा रचे हुए बताये जाते हैं। इनमें से आज केवल 'रामचंद्राभरण' ही उपलब्ध है[3]। इसमें अलंकार-लक्षण प्रायः दोहों में हैं तथा उदाहरण कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा, छप्पय आदि प्रसिद्ध छंदों में। उदाहरणों का वर्ण्य विषय केवल भगवान राम का चरित्र है। अर्थालंकारों में कुवलयानंदकार द्वारा निरूपित उपमा से हेतु तक के 100 अलंकारों में से 93 का विवेचन किया गया है, व्याजनिंदा, विषम, सम, अल्प, अतद्गुण, विवृतोक्ति और युक्ति इन सात अलंकारों को छोड़ दिया गया है। शब्दालंकारों में केवल अनुप्रास के छेक, वृत्ति और लाट नामक भेदों तथा यमक का विवेचन किया गया है। यद्यपि अलंकारों का क्रम वही है जो 'कुवलयानंद' में मिलता है, तथापि लक्षणों के लिए ग्रंथकार इसका पूर्णतः ऋणी नहीं रहा। 'चंद्रालोक', 'साहित्यदर्पण', 'भाषाभूषण', 'ललितललाम' आदि से भी सहायता ली गयी है। विवेचन अपने आपमें स्पष्ट एवं व्यवस्थित है तथा लक्षण और उदाहरण सामान्यतः एक-दूसरे के अनुरूप हैं। इसमें जाति, क्रिया और द्रव्य के आधार पर स्वभावोक्ति के चार भेदों की परिकल्पना यह संकेत करती है कि ग्रंथकार ने विषय पर मौलिक चिंतन करने का प्रयत्न किया है। कवित्व की दृष्टि से उदाहरणों में भक्त-कवियों जैसी तन्मयता तो नहीं है, पर रीतिकवियों का शिल्प उनमें सहज ही देखा जा सकता है।

'भाषाभूषण' की संक्षेप-शैली के अलंकार-निरूपकों में **रसिक सुमति** का विशेष स्थान है। इनके एकमात्र ग्रंथ 'अलंकारचंद्रोदय' (1729) में लक्षण-उदाहरण के क्रम से 180 दोहों में अर्थालंकारों का तथा 7 दोहों में शब्दालंकारों का विवेचन हुआ है। शब्दालंकारों में अनुप्रास के वृत्ति, छेक और लाट—इन तीनों भेदों की ही चर्चा है। विवेचन का आधार इनके अपने शब्दों में यद्यपि 'कुवलयानंद' ही है, तथापि शब्दालंकारों के अतिरिक्त इतर अलंकारों के विवेचन के लिए 'चंद्रालोक' और 'भाषाभूषण' की भी सहायता ली गयी है। इनके विवेचन की मुख्य विशेषता यह है कि प्रत्येक अलंकार अथवा उसके भेद के लिए लक्षण-उदाहरण स्वतंत्र दोहे में दिये हैं, 'भाषाभूषण' के समान उपभेदों के एकसाथ लक्षण और फिर क्रमशः एक साथ उदाहरण नहीं दिये गये हैं। 'कुवलयानंद' का आश्रय लेते हुए भी अलंकारों का चयन तथा उनका वर्णनक्रम ग्रंथकार का अपना रहा है। इसीलिए अप्पय दीक्षित द्वारा वर्णित न होते हुए भी रशनोपमा और मालोपमा को इन्होंने ग्रहण कर लिया है। ग्रंथ की भाषा सरल और सरस है तथा विवेचन स्वच्छ एवं सुबोध है। निश्चय ही रसिक सुमति अपने रीतिनिरूपण में जसवंतसिंह की टक्कर के आचार्य हैं।

अलंकार-निरूपण में प्रौढ़ता और कवित्व का निर्वाह करने वाले रीतिकवियों में **रघुनाथ बंदीजन** का भी विशेष स्थान है। ये काशीनरेश महाराज वरिवण्डसिंह के दरबार में रहते थे। इनके द्वारा रचित तीन रीतिग्रंथ—रसिकमोहन (1739), काव्यकलाधर (1745) और जगतमोहन (1750) उपलब्ध होते हैं। 'रसिकमोहन' के अंतर्गत अलंकार-निरूपण हुआ है तथा 'काव्यकलाधर' में रस और नायक-नायिकाभेद का विवेचन है। 'जगतमोहन' में देव के 'अष्टयाम' के समान नायक कृष्ण की दिनचर्या का वर्णन है। इनके अतिरिक्त 'इश्क-महोत्सव' नामक इनका एक और ग्रंथ है। इसमें रीतिमुक्त कवियों के समान प्रेम और उसके माहात्म्य पर सरल रचनाएं प्रस्तुत की गयी हैं। 'रसिकमोहन' में अलंकारों के विवेचन का क्रम लगभग वही है, जो 'कुवलयानंद' में देखने को

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मिलता है। लक्षण भी सामान्य रूप से 'कुवलयानंद' के छायानुवाद कहे जा सकते हैं। विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि प्रत्येक उदाहरण सरस ही नहीं है, उसके संपूर्ण कलेवर के भीतर तत्संबंधी अलंकार व्याप्त रहा है। इतर रीतिकारों के समान विशिष्ट चरणों में उसकी व्याप्ति दिखा कर उदाहरण को पूर्ण नहीं समझ लिया गया। कहीं-कहीं ब्रजभाषा-गद्य में टीका दे कर भी अपनी बात को समझाने का सफल प्रयत्न किया गया है। क्या शृंगारिक और क्या राजप्रशस्ति अथवा भक्ति-विषयक रचनाएं, सर्वत्र इन्होंने अपने सहृदय कवि होने का परिचय दिया है।

रीतिनिरूपण की संक्षेपशैली में नवीन प्रयोग करने के कारण **दूलह** का नाम इस काल के अलंकार-निरूपकों में भाषाभूषणकार के समान ही आदरपूर्वक लिया जाता है। ये प्रसिद्ध कवि कालिदास त्रिपाठी के पौत्र तथा रसचंद्रोदयकार उदयनाथ कवींद्र के पुत्र थे। इनकी रचनाओं में आज 'कविकुलकंठाभरण' नामक अलंकारग्रंथ तथा कतिपय स्फुट छंद ही उपलब्ध होते हैं। इनका कविताकाल 1743 1768 ई. के बीच माना जाता है। 'कविकुलकंठाभरण' में कुल मिला कर 85 छंद हैं, जिनमें 115 अलंकारों का निरूपण हुआ है। ग्रंथकार ने 'चंद्रालोक' और 'कुवलयानंद' का ऋण स्वीकार करते हुए शब्दालंकारों को छोड़ जिन अलंकारों को ग्रहण किया है, उनके नाम और विवेचन का क्रम वही है जो 'कुवलयानंद' में देखने को मिलता है—उपमा से हेतु तक 100 मुख्य अलंकारों के साथ क्रमशः 4 रसवदादि, 3 भावोदयादि तथा 8 प्रत्यक्ष, अनुमानादि। विवेचन में संक्षेप का अर्थ दोहे जैसे छोटे छंद का प्रयोग न ले कर संक्षेप कथन को लिया गया है। यही कारण है कि कवित्त और सवैया जैसे बड़े छंदों का प्रयोग करते हुए संक्षिप्त लक्षण-उदाहरण दे कर जहां तक भी हो सका है, भरती के शब्दों को बचाने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण सामान्य रूप से तत्संबंधी लक्षणों के साथ ही आये हैं, तथापि कतिपय स्थल ऐसे भी हैं जहां अनेक अलंकारों अथवा एक के अनेक भेदों से संबद्ध उदाहरण 'भाषाभूषण' के समान पूर्वोक्त लक्षण में अथवा विशेषता के क्रम में दिये गये हैं। इसमें संदेह नहीं कि अत्यधिक संक्षिप्तता के कारण यह ग्रंथ अपने आपमें नीरस हो गया है, तथापि स्पष्टता एवं सुबोधता की दृष्टि से यह संक्षेपशैली के ग्रंथों में अन्यतम कहा जा सकता है।

**रसरूप** का 'तुलसीभूषण' (1754) अलंकार-निरूपण संबंधी छोटा-सा ग्रंथ है, जिसमें 11 अलंकारों के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। लक्षण दोहों में ग्रंथकार के रचे हुए हैं और उदाहरण सामान्यतः तुलसीकृत 'रामचरितमानस', 'गीतावली' और 'बरवै रामायण' से छांट कर दिये गये हैं। लक्षणों का मूल आधार 'काव्यप्रकाश', 'चंद्रालोक', 'कुवलयानंद', 'कल्पलता' और 'चंद्रोदय' नामक ग्रंथ रहे हैं। इनमें शब्दालंकारों के लिए मुख्य रूप से मम्मट का आश्रय लिया गया प्रतीत होता है और अर्थालंकारों के लिए शेष ग्रंथों को आधार बनाया गया है। विवेच्य अलंकारों में शब्दालंकार पहले आये हैं और अर्थालंकार अकारादि क्रम से बाद में। शब्दालंकारों में क्रमशः अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास का वर्णन किया गया है, अनुप्रास के वृत्ति, छेक और लाट नामक प्रसिद्ध भेद ही बताये गये हैं तथा वृत्त्यनुप्रास के प्रसंग में तीनों वृत्तियों का परिचय भी दे दिया गया है। विवेचन में लक्षणों के व्यापक आधार, उनकी स्वच्छता और सुबोधता को देख कर उनके रचयिता के मनोयोग की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता।

रीतिकाल के अंतर्गत काव्यांग-निरूपण की व्यापक प्रवृत्ति केवल राजाश्रित कवियों में ही नहीं थी, बल्कि वैष्णव भक्त भी उससे नहीं बच सके थे। यह **सेवादास** की रचनाओं को देख कर सहज ही कहा जा सकता है। ये अलबेले लाल जू के शिष्य थे तथा इन्होंने 'गीतामाहात्म्य', 'अलबेले लाल जू को नखशिख', 'अलबेले लाल जू को छप्पय' आदि भक्तिपरक ग्रंथों के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अतिरिक्त 'रसदर्पण' और 'रघुनाथ-अलंकार' नामक रीतिग्रंथ भी लिखे थे। 'रसदर्पण' के अंतर्गत 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' के आधार पर शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद का विशेष रूप से तथा अन्य रसों का सामान्य रूप से विवेचन किया गया है। इस ग्रंथ के सभी उदाहरण सीता, राम, राधा तथा कृष्ण संबंधी हैं। नायिकाभेद के प्रसंग में सीता को स्वीकाया तथा राधा को परकीया नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'रघुनाथ-अलंकार' (1783) में 70 अर्थालंकारों का विवेचन हुआ है। ग्रंथकार के अनुसार उसके अलंकार-निरूपण का आधार केवल 'कुवलयानंद' तथा 'चंद्रालोक' है, किंतु लक्षणों को देख कर ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उन पर इनका किसी प्रकार का प्रभाव है, अलंकारों का क्रम तक उनका अपना है। लुप्तोपमा के सातों भेदों का मनोयोगपूर्वक वर्णन करना, प्रतीप, तुल्योगिता, निदर्शना, विभावना और असंगति जैसे महत्त्वपूर्ण अलंकारों के भेदों की चर्चा न कर उनका चलता विवेचन करना तथा दृष्टांत, स्वभावोक्ति, विरोधाभास और समासोक्ति जैसे महत्त्वपूर्ण अलंकारों को छोड़ कर अधिक, अल्प, संभावन जैसे सामान्य अलंकारों को विवेचन में स्थान देना, यह प्रकट करता है कि विवेच्य अलंकारों के चयन के मूल में कोई तर्क नहीं है। इनमें सामान्य रूप से भगवान राम को तथा कहीं-कहीं हनुमान को इष्ट के रूप में ग्रहण किया गया है। कवित्व की दृष्टि से यह ग्रंथ साधारण ही कहा जाना चाहिए। इसमें न तो भक्तिकालीन कवियों जैसी तन्मयता दृष्टिगत होती है और न रीतिकालीन कवियों जैसे सधे काव्यशिल्प का निर्वाह हो पाया है।

**गिरिधरदास** के 'भारतीभूषण' (1833) में 104 अलंकारों का निरूपण है, रसवदादि पंचदश अलंकारों को इसमें ग्रहण नहीं किया गया। उपमा से ले कर हेतु तक अर्थालंकारों का विवेचनक्रम तथा उनके लक्षण 'कुवलयानंद' के आधार पर हैं। अंतर केवल इतना ही है कि मालोपमा तथा रशनोपमा के लक्षण 'साहित्यदर्पण' के आधार पर और जोड़ दिये गये हैं तथा स्मरण, भ्रम और संदेह के लक्षण 'लच्छनलच्छित नाम' कह कर दिये नहीं गये। शब्दालंकारों में केवल अनुप्रास और यमक का विवेचन किया गया है। इनका आधार भी 'साहित्यदर्पण' रहा है। कुल मिला कर स्वच्छ एवं स्पष्ट लक्षणों तथा तदनुरूप सरस उदाहरणों के कारण यह ग्रंथ पर्याप्त उपयोगी बन पड़ा है।

## छंदोनिरूपक रीतिकवि

इस वर्ग के कवियों की संख्या सर्वांग-विवेचकों के समान सीमित ही है, तथापि विषय-विवेचन संबंधी गुणों की दृष्टि से इनमें कोई भी ऐसा नहीं, जिसका प्रयास किसी प्रकार से हीन अथवा असफल कहा जा सके। प्रत्येक ने छंद का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक पाठक की सीमाओं को दृष्टि में रखते हुए सुबोधता एवं स्पष्टता का ध्यान ही नहीं रखा है अपितु छंद:शास्त्र के नियमों का पूर्णत: पालन कर विषय की प्राविधिकता का भी विशेष ध्यान रखा है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि 'प्राकृतपैंगलम्' और भट्ट केदार के 'वृत्तरत्नाकर' से प्रभावित होते हुए भी विवेचन की व्यवस्था और शैली सबकी अपनी रही है। दोहादि छंदों में छंद विशेष का पूरा लक्षण और तदनुरूप उदाहरण की पद्धति ही सबमें प्रचलित रही है। आवश्यकता पड़ने पर कतिपय ने ब्रजभाषा-गद्य की वृत्ति का उपयोग भी कर लिया है। इन कवियों द्वारा प्रसिद्ध छंदों के निरूपण के अतिरिक्त नवीन छंदों का आविष्कार किया जाना, हिंदी छंद:शास्त्र के लिए विशेष योगदान रहा है। यद्यपि प्रस्तार-रीति की वैज्ञानिक पद्धति के कारण किसी भी छंद की अपूर्वता का दावा नहीं किया जा सकता, तथापि यति और लय की व्यवस्था तो इनकी अपनी है ही। एक-दो कवियों को छोड़ कर प्राय: सबने उदाहरण राजप्रशस्तिपरक ही दिये हैं। क्योंकि इनमें छंद का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

निर्वाह प्रधान रहा है, इसलिए कवित्व के निर्वाह का विशेष ध्यान नहीं रखा गया। कदाचित यही कारण है कि इनमें न तो इतर काव्यांगों के विवेचन के प्रसंग में दिये गये इस विषय के छंदों जैसे आकर्षक एवं वैविध्यपूर्ण बिंबों की योजना ही हो पायी है और न अभिव्यक्ति ही तदनुरूप आकर्षक हो सकी है। यहां इस वर्ग के कतिपय प्रसिद्ध कवियों का परिचय दिया जा रहा है।

**मुरलीधर 'भूषण'** : रीतिकाल के अंतर्गत विस्तृत एवं व्यवस्थित छंदोविवेचन करने वाले आचार्यों में मुरलीधर 'भूषण' संभवतः सबसे पहले व्यक्ति हैं। इनके एतद्विषयक ग्रंथ का नाम 'छंदोहृदयप्रकाश' (1666) है। इसकी रचना इन्होंने मार्तंडगढ़ के पौलस्त्यवंशी महाराज हृदयनारायण देव के आश्रय में की थी। इनका 'अलंकारप्रकाश' (1648) नामक एक अन्य ग्रंथ भी उपलब्ध होता है, जिसमें दोष, अलंकार, रस और शब्दशक्ति का विवेचन किया गया है। इनके पिता का नाम रामेश्वर त्रिपाठी था तथा चंदेरी के राजा देवीसिंह ने इन्हें 'कविभूषण' की उपाधि से विभूषित किया था। ये प्रसिद्ध कवि 'भूषण' ही हैं अथवा उनसे भिन्न, यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता। जो प्रमाण पक्ष अथवा विपक्ष में दिये जाते हैं, उनकी पूरी छानबीन अभी अपेक्षित है।

'छंदोहृदयप्रकाश' में तेरह प्रकरण हैं, जिन्हें 'उल्लास' संज्ञा दी गयी है। इनमें प्रथम के अंतर्गत मंगलाचरण और आश्रयदाता के वंश-परिचय के बाद द्वितीय से विवेचन आरंभ किया गया है। द्वितीय और तृतीय उल्लासों में क्रमशः वर्णिक और मात्रिक गणों के स्वरूप तथा उनके फलादि का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। चतुर्थ में 1 से 26 अक्षरों तक के 200 समवर्णिक छंदों का, पंचम में 10 अर्द्धसमवर्णिक छंदों का तथा षष्ठ में 3 विषम वर्णिक छंदों का निरूपण किया गया है। सप्तम उल्लास के अंतर्गत मात्रिक छंदों के लगभग 200 भेदों का उल्लेख है, जिनमें से 56 छंदों का लक्षण-उदाहरण-सहित निरूपण किया गया है। ये सम, अर्द्धसम और विषम—तीनों ही प्रकार के हैं। अष्टम और नवम उल्लासों में क्रमशः वर्ण और मात्रा-प्रस्तार-रीति का संक्षिप्त परिचय है और दशम में छंदों की विभिन्न जातियों का विवरण दिया गया है। एकादश उल्लास में सालूर, घनाक्षरी और रूपघनाक्षरी नामक प्रसिद्ध दंडकों का मुक्तक छंदों के नाम से तथा द्वादश में अन्य 13 दंडकों का परिचय दिया गया है। अंतिम उल्लास में 'गद्य-विवरण' शीर्षक से पूर्णक, उत्कलिकाप्राय और वृत्त-गंध नामक गद्य के तीन भेदों का परिचय दिया गया है। इस विवेचन का आधार 'प्राकृतपैंगलम्', 'वृत्तरत्नाकर', पिंगल का 'छंदशास्त्र' आदि ग्रंथ रहे हैं। विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विभिन्न जातियों के वर्णिक छंदों की संख्याओं के कथन के साथ प्रसिद्ध मात्रिक छंदों के विभिन्न भेदों का उल्लेख भी किया गया है। दूसरे, संस्कृत-शैली पर प्रत्येक छंद का लक्षण भी उसका उदाहरण रहा है। लक्षण-उदाहरण अपने आपमें स्वच्छ एवं सुबोध है। उदाहरण सामान्य रूप से आश्रयदाता की प्रशस्तियों से संबद्ध है, इनमें अनेक उदाहरण कवित्वपूर्ण भी हैं।

**सुखदेव मिश्र** : मुरलीधर 'भूषण' के बाद इस काल के दूसरे महत्त्वपूर्ण छंदोनिरूपक आचार्य सुखदेव मिश्र हैं। इनके 'वृत्तविचार' और 'छंदोविचार' नामक दो ग्रंथ कहे जाते हैं, जिनमें से प्रथम ही उपलब्ध है। इसकी रचना 1671 ई. में महाराज रामसिंह के आश्रय में हुई। यह चार परिच्छेदों में विभक्त है, जिनमें से प्रथम के अंतर्गत मंगलाचरण तथा कवि और उसके आश्रयदाता का परिचय है। द्वितीय में छंद के सामान्य नियमों अर्थात दग्धाक्षर, गुरु-लघु गण, प्रत्यय आदि का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। तृतीय परिच्छेद में 1 से 26 अक्षरों तक के वर्णिक छंदों का विवेचन है। इसमें ग्रंथकार ने उक्ता, अत्युक्ता, गायत्री आदि जातियों तथा उनके अंतर्गत आने वाले विभिन्न छंदों का उल्लेख करते हुए केवल प्रसिद्ध छंदों का निरूपण किया है। अर्द्धसम और विषम मात्रिक छंदों की भी चर्चा की गयी है, किंतु उनका निरूपण नहीं किया गया। तृतीय परिच्छेद में वर्णिक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दंडकों का सविस्तार विवेचन है। अंतिम परिच्छेद में मात्रिक प्रत्ययों और उनके दोषों तथा प्रसिद्ध सम, अर्द्धसम और विषम मात्रिक छंदों का मनोयोगपूर्वक विवेचन हुआ है। दोहे के भेदों का वर्णन भी किया गया है। ग्रंथ की परीक्षा करने पर यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि इस पर 'प्राकृतपैंगलम्' और 'वृत्तरत्नाकर' का प्रभाव है। विवेचन की दृष्टि से यह यद्यपि पर्याप्त सुबोध है, तथापि इसमें विवेचन-शैली की अनेकरूपता के कारण यथोचित व्यवस्था नहीं आ पायी। कहीं तो लक्षण दोहा आदि छंदों में दिये गये हैं और कहीं सूत्र-शैली से काम चलाया गया है। कदाचित इसीलिए एक जाति का छंद दूसरी जाति के छंदों के विवेचन में स्थान पा गया है। किंतु ये दोष अपने आपमें बहुत अधिक नहीं हैं। कुल मिला कर यह ग्रंथ पांडित्यपूर्ण कहा जा सकता है।

**मतिराम :** मुरलीधर 'भूषण' और सुखदेव मिश्र की कोटि के तीसरे गंभीर छंदोविवेचक आचार्य मतिराम हैं। इनका छंदोविवेचन संबंधी ग्रंथ 'छंदसारसंग्रह' अथवा 'वृत्तकौमुदी' (1701) है। कतिपय विद्वान इसे किन्हीं परवर्ती मतिराम की कृति मानते हैं, किंतु यह भ्रामक है। 'वृत्तकौमुदी' पांच अध्यायों में विभक्त है, जिन्हें 'प्रकाश' संज्ञा दी गयी है। इनमें क्रमशः गण, वर्णिक, छंद, मात्रिक छंद, प्रत्यय और दंडकों का विवेचन किया गया है। गणों के प्रसंग में एक ओर वर्णिक गणों के स्वरूप, क्रम, देवता, फल, ग्रह, गुण, पिता, रस, रंग, देश, पुरुषार्थ, दिशामुख, वाहन, तेज, जाति और प्रकृति का सविस्तार वर्णन किया गया है और दूसरी ओर देवनागरी वर्णमाला में प्रत्येक वर्ण के शुभाशुभ फल, लिंगभेद इत्यादि के साथ मात्रिक गणों का संक्षिप्त परिचय है। वर्णिक छंदों में 1 से ले कर 26 अक्षरों तक के 147 छंदों का वर्णन है। मात्रिक छंदों में कुल मिला कर 55 छंदों का वर्णन है, जिनमें 1 से 32 मात्राओं तक के 35 सममात्रिक और शेष अर्द्धसम, विषम और दंडक हैं। दंडक छंदों में अनंगशेखर, घनाक्षरी और रूपघनाक्षरी नामक प्रसिद्ध दंडकों का वर्णन किया गया है। प्रत्ययों के प्रसंग में प्रत्यय के समस्त भेदों का वर्णन मात्रा और वर्ण—दोनों की दृष्टि से पृथक्-पृथक् किया गया है। रीतिकाल के अन्य छंदोनिरूपकों के समान इनका आधार भी यद्यपि 'प्राकृतपैंगलम' तथा 'वृत्तरत्नाकर' का ही है तथापि इनके साथ इनकी टीकाओं एवं इतर ग्रंथों का आश्रय भी लिया गया है। विषय-विवेचन सुबोध एवं स्वच्छ है। 'अरिल्ल' के भ्रामक लक्षण को छोड़ कर सभी लक्षण-उदाहरण शास्त्रीय एवं स्पष्ट हैं। इस विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि विवेचन-प्रसंग में मूल आधार ग्रंथों का उल्लेख भी यथास्थान किया गया है। उदाहरण सामान्यतः बुंदेलखंड स्थित श्रीनगर के महाराज स्वरूपसिंह की प्रशस्ति संबंधी हैं। ग्रंथकार को जिन छंदों में कवित्व-प्रदर्शन के लिए अवकाश मिला है, वहां उसका पूर्ण निर्वाह किया गया है।

**रामसहाय :** छंदोनिरूपण के क्षेत्र में रामसहाय इस युग के सबसे प्रौढ़ आचार्य कहे जा सकते हैं। इनका 'वृत्ततरंगिणी' (1816) नामक ग्रंथ अनेक दृष्टियों से इस युग की महत्त्वपूर्ण रचना है। इसके अतिरिक्त इनके 'शृंगारसतसई' तथा 'वाणीभूषण' नामक दो ग्रंथ और उपलब्ध होते हैं—'सतसई', 'बिहारी-सतसई' के अनुकरण पर है और 'वाणीभूषण' में अलंकार-विवेचन प्रस्तुत किया गया है। ये काशी के महाराज उदितनारायणसिंह के आश्रय में रहते थे। 'वृत्ततरंगिणी' शास्त्रीय ढंग से चार अध्यायों में विभक्त है, जिन्हें 'तरंग' संज्ञा दी गयी है। प्रथम तरंग में लघु-गुरु-विषयक नियमों तथा गणों और उनके देवता, योग, फलादि के कथन के अतिरिक्त प्रत्यय आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। द्वितीय तरंग में 1 से 32 मात्राओं की विभिन्न जातियों के छंदों की सूची देते हुए उनमें से कतिपय का निरूपण किया गया है। ग्रंथकार ने सम, अर्द्धसम और विषम—इन तीन वर्गों में मात्रिक छंदों को विभक्त करते हुए सममात्रिक छंदों की संख्या बानवे लाख सत्ताईस हज़ार चार सौ तिरसठ बतायी है। यहीं पर मात्रिक दंडकों का भी विवेचन किया

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गया है। तृतीय तरंग में संस्कृत-आचार्यों के समान उक्तादि जातियों में प्रत्येक के छंदों की संख्या बताते हुए उनमें से अनेक समवर्णिक छंदों के साथ कतिपय अर्द्धसम वृत्तों तथा दंडकों का विवेचन भी किया गया है। चतुर्थ तरंग में तुक का विवेचन वैज्ञानिक ढंग से करते हुए उसके अनेक भेदों का परिचय दिया गया है। ग्रंथ का आधार 'प्राकृतपैंगलम्', 'वृत्तरत्नाकर' आदि के अतिरिक्त हिंदी के भी छंदोनिरूपण-विषयक ग्रंथ रहे हैं। विवेचन-शैली की दृष्टि से यह ग्रंथ अत्यंत प्रौढ़ कहा जा सकता है। इसमें लक्षण दोहों में ही नहीं दिये गये, कहीं-कहीं सूत्र-पद्धति और कूट-शैली को भी अपनाया गया है। इसके अतिरिक्त विषय को स्पष्ट करने के लिए ब्रजभाषा-गद्य का उपयोग भी किया गया है। दूसरे, इसमें उदाहरण ग्रंथकार के स्वरचित तो हैं ही, हिंदी-संस्कृत-कवियों की रचनाओं को भी यथास्थान उद्धृत किया गया है। सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि एक उदाहरण दे कर विवेचन को चलता नहीं कर दिया गया, बल्कि प्रत्येक विषय के लिए अधिक-से-अधिक उदाहरण देने का प्रयत्न किया गया है। ग्रंथकार द्वारा रचित उदाहरण सामान्यतः श्रृंगारिक हैं और अपने आपमें सरस कहे जा सकते हैं। जिन नवीन छंदों की इसमें उद्भावना की गयी है, वे ये हैं :

मात्रिक : माधुर्य, कलकंठ, इंदिरा और नागर।
वर्णिक : 7 वर्ण—कलिंदजा, पंचवर्ग, मृगाक्षी, ललित ललाम।
9 वर्ण—नवल, जमाल, मैत, धृति, सुखकंद।
10 वर्ण—नागरी, मधु, वानिनि, कपटी।
13 वर्ण—दीप्ति, मेनका, रति।
14 वर्ण—रंभामाला, केदार, दामिनी, खीनुकांता, चोलपी, तार।

## अन्य छंदोनिरूपक कवि

इस काल के अन्य महत्त्वपूर्ण छंदोनिरूपक आचार्य माखन और दशरथ हैं। **माखन** ने 'श्रीनागपिंगल अथवा छंदविलास' (1702) के अतिरिक्त 'भक्ति-चिंतामणि', 'रामप्रताप', 'जैमिनी अश्वमेघ', 'खूब तमाशा', 'सुदामाचरित' तथा 'विनोदशतक' नामक ग्रंथों की भी रचना की थी, जिनमें से अंतिम दो उपलब्ध नहीं हैं। 'श्रीनागपिंगल अथवा छंदविलास' तीन प्रकरणों में विभक्त हैं। प्रथम प्रकरण के अंतर्गत लघु-गुरु-संबंधी नियमों, वर्णिक और मात्रिक गणों तथा उनके देवता, फल और विभिन्न नामों के अतिरिक्त छंदःशास्त्र में व्यवहृत संख्याओं के द्योतक विशिष्ट शब्दों का उल्लेख किया गया है। द्वितीय प्रकरण में छप्पय और उसके 71 भेदों का सविस्तार विवेचन-विश्लेषण है तथा तृतीय में सम, अर्द्धसम और विषम मात्रिक छंदों का विवेचन किया गया है। प्रस्तार-रीति आदि गूढ़ विषयों का इसमें स्पर्श नहीं किया गया है। उदाहरण प्रायः सरस हैं तथा आश्रयदाताओं की प्रशस्ति के अतिरिक्त कृष्णलीलाओं से भी संबद्ध हैं। कुंभक, हरिमालिका, मदनमोहन, सुरस, तरलगति, सदागति, सुबल, प्रवाह और गंधार नामक मात्रिक छंदों का निरूपण सर्वप्रथम इन्होंने ही किया है। अतएव, ये इनकी उद्भावना कहे जा सकते हैं। इस ग्रंथ में विवेचन का आधार मुख्य रूप से 'प्राकृतपैंगलम्' रहा है।

माखन के समान नवीन छंदों के उद्भावक आचार्यों में **दशरथ** का नाम भी लिया जा सकता है। इनका ग्रंथ 'वृत्तविचार' (1799) चार अध्यायों में विभक्त है, जिन्हें 'विचार' संज्ञा दी गयी है। प्रथम विचार के अंतर्गत लघु-गुरु-संबंधी सामान्य नियमों, वर्णिक गणों तथा प्रस्तार-रीति के परिचय के अतिरिक्त मात्रावृत्त, वर्णवृत्त और उभयवृत्त नाम से छंदों के तीन वर्गों का उल्लेख किया गया है। सम, अर्द्धसम और विषम नामक वर्गों की किसी भी रूप में चर्चा नहीं की गयी है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

द्वितीय विचार में वर्णिक छंदों का तथा तृतीय में मात्रिक गणों का परिचय तथा मात्रिक छंदों का विवेचन किया गया है। गाहा, विग्गाहा आदि कतिपय छंदों का निरूपण यहां पर विषमपद छंदों के रूप में किया गया है। चतुर्थ विचार का शीर्षक यद्यपि 'वर्णवृत्तानि' दिया गया है, तथापि इसमें केवल घनाक्षरी और श्लोक (अनुष्टुप) का ही विवेचन हुआ है। ग्रंथ का आधार 'प्राकृतपैंगलम्' और 'वृत्तरत्नाकर' प्रतीत होते हैं। विवेचन साधारण कोटि का है, तथापि ग्रंथकार को कतिपय वर्णिक छंदों (महीप, विमला, दामिनी, सुभग, नग, लगन, गगन, छगन, अगन, मणिहारबंद, संवत, कुशल, सुधा, अभिनव, हरिहर, मतंग) और मद, सैनिक, मुक्तावली, सुमन और अह्न नामक मात्रिक छंदों की उद्भावना का श्रेय दिया जा सकता है।

## रीतिबद्ध काव्य

रीतिकालीन कविता के प्रसंग में विद्वानों ने तीन प्रकार के काव्य का विवरण दिया है—एक रीतिबद्ध, दूसरा रीतिसिद्ध और तीसरा रीतिमुक्त। 'रीतिमुक्त' के संबंध में कोई मतभेद नहीं है, परंतु 'रीतिबद्ध' शब्द के विषय में मतभेद प्राप्त होता है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार 'रीतिबद्ध' रचना लक्षणों और उदाहरणों से युक्त होती है, परंतु डॉ. नगेन्द्र इस प्रकार की रचनाओं को रीतिबद्ध कहने के पक्ष में नहीं हैं। ऐसे कवियों को वे रीतिकार या आचार्य कवि मानते हैं। रीतिकार आचार्य कवि उनके मत से वे कवि हैं, जिन्होंने काव्यशास्त्र की शिक्षा देने के लिए रीतिग्रंथों का प्रणयन किया। उनका प्रमुख उद्देश्य या तो काव्य की शिक्षा देना है या किसी काव्यशास्त्रीय विषय का सोदाहरण प्रतिपादन करना। उनकी दृष्टि में रीतिबद्ध कवि वे हैं, जिन्होंने रीतिग्रंथों की रचना न करके काव्य-सिद्धांतों या लक्षणों के अनुसार काव्य-रचना की है। अलंकार, रस, नायिकाभेद, ध्वनि आदि उनके ध्यान में तो रहे हैं, परंतु उनका प्रत्यक्षतः निरूपण इन कवियों ने नहीं किया है, वरन् उनके अनुसार उत्कृष्ट काव्य का सृजन किया है। ऐसी दशा में मूलतः वे कवि हैं, आचार्य नहीं। इसलिए उन्हें रीतिबद्ध कवि मानना चाहिए। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ऐसे कवियों को 'रीतिसिद्ध कवि' कहते हैं। अतः इस प्रसंग में यहां आचार्य विश्वनाथप्रसाद जी के अनुसार जो रीतिसिद्ध कवि हैं तथा डॉ. नगेन्द्र के अनुसार जो रीतिबद्ध कवि हैं, उन्हीं का विवेचनात्मक परिचय रीतिबद्ध कवियों के अंतर्गत दिया जा रहा है।

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, 'षष्ठ भाग' में रीतिबद्ध कवियों के प्रसंग में निम्नलिखित कवियों को सम्मिलित किया गया है—(1) बिहारी, (2) बेनी, (3) कृष्ण कवि, (4) रसनिधि, (5) नृपशंभु, (6) नेवाज, (7) हठी जी, (8) रामसहायदास, (9) पजनेस, (10) द्विजदेव। इन कवियों के अतिरिक्त इस परंपरा में सेनापति, वृंद तथा विक्रम को और सम्मिलत करना आवश्यक है, क्योंकि ये कवि भी उसी परंपरा के हैं।

**सेनापति :** कविवर सेनापति की जीवनी के संबंध में अधिक सामग्री नहीं मिलती। जो कुछ भी सूचना ज्ञात है, वह इनकी रचना के आधार पर ही है। सेनापति ने अपने ग्रंथ 'कवित्त-रत्नाकर' में अपना परिचय दिया है, जो इस प्रकार है :

*दीक्षित परसराम दादौ है विदित नाम,*
*जिन कीने जज्ञ जा की जग मैं बड़ाई है।*
*गंगाधर पिता गंगाधर के समान जाकौ,*
*गंगातीर बसति अनूप जिन पाई है।*
*महा जानिमनि विद्यादान हू को चिन्तामनि,*
*हीरामनि दीक्षित तैं पाई पंडिताई है।*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*सेनापति सोई सीतापति के प्रसाद जाकी,*
*सब कवि कान दै सुनत कविताई है॥*

इस छंद से स्पष्ट होता है कि इनके पितामह का नाम परशुराम दीक्षित था तथा इनके पिता गंगाधर दीक्षित गंगा के किनारे अनूप बस्ती में रहते थे। 'अनूप' का अर्थ गंगा के किनारे स्थित प्रसिद्ध नगर अनूपशहर भी हो सकता है, जो उत्तर प्रदेश के बुलंदशहर ज़िले में स्थित है। यद्यपि निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता, पर जब तक अन्य प्रमाण न मिलें, तब तक उन्हें अनूपशहर का निवासी मानने में कोई हानि नहीं है। कुछ लेखक सेनापति को संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान भट्ट नागेश दीक्षित से अभिन्न सिद्ध करते हैं। उनका भी यही कथन है कि भट्ट नागेश दीक्षित उसी समय के थे और वे भी गंगा के तट पर ही निवास करते थे। यह सत्य है कि सेनापति भी अपनी रचनाओं के आधार पर संस्कृत के प्रकांड विद्वान सिद्ध होते हैं, परंतु वे भट्ट नागेश दीक्षित ही हैं, यह कहना कठिन है; क्योंकि नागेश भट्ट के पिता का नाम शिव भट्ट था और वे श्रृंगवेरपुर के महाराज रामदत्त के आश्रय में रहते थे। वे प्रसिद्ध वैयाकरण थे और अधिकतर काशी में ही रहे। वे महाराष्ट्री ब्राह्मण थे और उन्होंने अनेक ग्रंथों की टीका की। नागेश भट्ट के गुरु हरि दीक्षित थे, परंतु नागेश भट्ट की किसी हिंदी रचना का पता नहीं लगता, और न नागेश भट्ट के 'सेनापति' उपनाम के संबंध में ही कोई सूचना प्राप्त होती है। परंतु दोनों में कुछ साम्य ऐसा है, जो इस अनुमान को पुष्ट करता है कि दोनों एक हो सकते हैं। सेनापति के पिता का नाम गंगाधर था, जो शिव का ही दूसरा नाम हो सकता है, और शिव भट्ट नागेश जी के पिता थे। इसी प्रकार सेनापति के गुरु हीरामनि दीक्षित थे, जबकि नागेश भट्ट के गुरु हरि दीक्षित थे। हरि और हीरा में ध्वन्यात्मक साम्य है। इसके अतिरिक्त सेनापति की प्रसिद्धि सीतापति के प्रसाद से हुई। नागेश जी भी महाराज राम के आश्रित थे तथा दोनों ही गंगा के किनारे रहने वाले थे। अनुमान के लिए थोड़ा आधार यद्यपि इन बातों से मिल जाता है, परंतु निश्चित रूप से प्रमाण के साथ यह कहना कठिन है कि सेनापति और नागेश भट्ट एक ही हैं।

सेनापति के संबंध में और कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। अभी तक इनकी एक ही कृति 'कवित्त-रत्नाकर' प्राप्त हुई है। कुछ इतिहासकारों ने इनकी दूसरी कृति 'काव्यकल्पद्रुम' भी मानी है, पर वह उपलब्ध नहीं है। कुछ लोग 'काव्यकल्पद्रुम' और 'कवित्तरत्नाकर' को एक ही ग्रंथ मानते हैं। 'कवित्तरत्नाकर' में पांच तरंगें और तीन सौ चौरानवे छंद हैं। इसके अंतर्गत सेनापति ने श्लेष अलंकार, श्रृंगार, षड्ऋतु, रामायण और रामरसायन का वर्णन किया है। प्रथम तीन तरंगों से स्पष्ट होता है कि इनका प्रणयन रीति-परंपरा का ध्यान रख कर किया गया है। छंदों की मूल चेतना रीतिकालीन है, इसलिए इन्हें रीतिबद्ध कवि मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। सेनापति का प्रिय अलंकार श्लेष है, इसीलिए इन्होंने पूरी-की-पूरी तरंग श्लेष अलंकार का चमत्कार दिखाने के लिए रची है। इनके ये श्लेष बड़े ही रोचक हैं। श्लेष की योजना में इनकी समता करने वाला केशव को छोड़ कर अन्य कोई कवि नहीं है। सभंगपद श्लेष और अभंगपद श्लेष दोनों का चमत्कार इसमें मिलता है। 'कवित्तरत्नाकर' की दूसरी तरंग में श्रृंगार-वर्णन है, जिसके अंतर्गत नखशिख-सौंदर्य, उद्दीपन भाव, वय:संधि आदि का मनोहारी चित्रण हुआ है। श्रृंगार के कहीं-कहीं बड़े सुंदर चित्र इसमें हैं, पर मूल प्रयत्न शब्द-चमत्कार-प्रदर्शन का है। भाव और गुण का विश्लेषण उतना नहीं है। एक छंद द्रष्टव्य है :

*नूपुर को झनकाइ भेदनी धरति पाइ,*
*ठाढ़ी आइ आंगन भई ही सांझी बार सी।*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*करता अनूप कीन्हीं रानी मैं न भूप की सी,*
*राजे रासि रूप की बिलास कों अधार सी।*
*'सेनापति' जाके दृगदूत ह्वै मिलत दौरि,*
*कहत अधीनता को होत है सिपारसी।*
*गेह को सिंगार सी सुरत सुख सार सी,*
*सो प्यारी मानो आरसी चुभी है चित आर सी॥*

सेनापति की अप्रतिम सफलता उनके उत्कृष्ट ऋतु-वर्णन में है, जिसमें यद्यपि शब्द और अर्थ का चमत्कार भरा पड़ा है, परंतु वर्णित ऋतु का सहज और यथार्थ स्वरूप उनके छंदों में बड़ा खरा उतरता है। प्रत्येक ऋतु में उठने वाले लोकमानस के सहज भाव भी ऋतु-वर्णन के छंदों में तरंगित हो उठते हैं। इनके ऋतु-वर्णन के छंद भी सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। यद्यपि सभी ऋतुओं का सुंदर वर्णन इन्होंने किया है, पर ग्रीष्म और वर्षा का वर्णन अत्यंत प्रभावशाली है। केवल एक ही छंद इसके लिए पर्याप्त होगा :

*दूरि जदुराई, सेनापति सुखदाई देखौ,*
*आई रितु पाउस, न पाई प्रेम पतियां।*
*धीर जलधर की, सुनत धुनि धरकी, हैं*
*दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियां।*
*आई सुधि बर की, हिये में आनि खरकी, तू*
*मेरी प्रानप्यारी यह पीतम की बतियां।*
*बीती औधि आवन की, लाल मन भावन की*
*द्रग भई बावन की, सावन की रतियां।*

चौथी और पांचवीं तरंगों में राम का चरित्र और रामभक्ति-भावना का संक्षिप्त सुंदर वर्णन है। इन तरंगों में शृंगार, वीर, शांत और भक्तिभाव प्रधान हैं। पांचवीं तरंग में भी आलंकारिक चमत्कार भरा पड़ा है, जिसमें यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, प्रश्नोत्तर आदि के चमत्कार की विशेषता है।

सेनापति की कविता में उनकी प्रतिभा फूटी पड़ती है। निश्चित एवं सुनियोजित लय में संतुलित गति से चलती हुई उनके छंदों की पंक्तियां नर्तकी के पद संचार का सौंदर्य बिखेरती हैं। उनके वर्णों और शब्दों का ध्वनि-सौंदर्य नृत्य के मनोहर लालित्य से युक्त है। इससे स्पष्ट होता है कि भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है। शब्द-चमत्कार के साथ साथ उनकी कविता में उक्ति वैचित्र्य भी है, जो उनकी प्रतिभा और सूझ का परिचायक है। इन सब विशेषताओं से युक्त सेनापति की कविता एक अपना परिमार्जित और विलक्षण व्यक्तित्व प्राप्त किये हुए है और उसे अन्य कवियों की रचनाओं के बीच सहज ही पहचाना जा सकता है। सेनापति का रचनाकाल 1650 ई. के लगभग है, जैसा कि 'कवित्तरत्नाकर' की पांचवीं तरंग के इस दोहे में देखा जा सकता है :

*संवत सत्रह सै छ में, सेइ सियापति पाइ।*
*सेनापति कविता सजी, सज्जन सजौ सहाइ॥*

**बिहारी :** बिहारी रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनका जन्म 1595 ई. में ग्वालियर में हुआ था। इनके पिता का नाम केशवराय था, परंतु ये केशवराय प्रसिद्ध आचार्य केशवदास से भिन्न थे। इनके पिता निंबार्क संप्रदाय के महंत नरहरिदास के शिष्य थे। बिहारी ने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उनके यहां संस्कृत-प्राकृत के काव्यग्रंथों का अध्ययन किया था। बाद में ये वृंदावन आ गये और वहीं मथुरा के किसी ब्राह्मण परिवार में इनका विवाह हुआ। तदुपरांत ये वहीं रहने लगे। उसी बीच इन्होंने फ़ारसी-काव्य का अभ्यास किया और बादशाह शाहजहां से भेंट की। शाहजहां के कृपापात्र बिहारी का संपर्क अन्य राजाओं से भी हुआ और अनेक राज्यों से इनके लिए वृत्ति बंध गयी। सन् 1645 के आसपास ये जब वृत्ति लेने जयपुर गये, तो इन्हें पता लगा कि वहां के महाराज जयसिंह अपनी नवविवाहिता रानी के प्रेम में मुग्ध हो कर महलों में ही पड़े रहते हैं और राजकाज देखना छोड़ दिया है। सामंतगण तथा प्रजा के लोग व्यथित थे। उसी समय बिहारी ने एक दोहा लिख कर महाराज के पास पहुंचाया, जो इस प्रकार है :

*नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।*
*अली कली ही सों बिंध्यो, आगे कौन हवाल॥*

बिहारी के इस दोहे का बड़ा अद्भुत प्रभाव पड़ा और महाराज जयसिंह तथा चौहानी रानी दोनों ही बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने इनको काली पहाड़ी नामक ग्राम दिया तथा प्रति छंद पर एक मुहर पुरस्कार में देने का संकल्प किया। तदुपरांत बिहारी जयपुर में ही रहने लगे और आमेर-दरबार के राजकवि के रूप में अपना जीवन सुखपूर्वक बिताने लगे। चौहानी रानी से कुमार रामसिंह का जन्म हुआ और तदनंतर राजकुमार के बड़े होने पर बिहारी ने ही उसका विद्यारंभ संस्कार कराया। कुमार के पढ़ने के लिए इन्होंने अपने दोहों का संग्रह किया, साथ-ही-साथ अनेक दोहे भी आवश्यकतानुसार संकलित किये। इस प्रकार बिहारी का जयपुर के राजपरिवार में विशिष्ट स्थान हो गया। बिहारी के कोई संतति नहीं थी। कहते हैं कि निरंजन कृष्ण को इन्होंने गोद लिया था। एक कृष्ण कवि 'बिहारी-सतसई' के टीकाकार हुए हैं। हो सकता है कि ये कृष्ण कवि निरंजन कृष्ण ही हों। परंपरा के अनुसार 'बिहारी-सतसई' का समाप्तिकाल सन् 1662 माना जाता है और यह भी कहा जाता है कि बिहारी का देहावसान सन् 1663 में हुआ।

बिहारी की ख्याति का मूल आधार उनका अन्यतम ग्रंथ 'सतसई' है। यह 'गाथासप्तशती', 'आर्यासप्तशती', 'अमरूकशतक' आदि ग्रंथों की प्रेरणा से निर्मित एक विविध रत्नमाला है, जिसकी आभा के सामने आज भी कोई मुक्तक काव्य ठहर नहीं पाता। मुक्तक-परंपरा में बिहारी का स्थान शीर्ष पर है। 'सतसई' में बिहारी ने अलंकार, रस, भाव, नायिकाभेद, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, गुण आदि का ध्यान रख कर सुंदर दोहे रचे हैं। यह सतसई-परंपरा की एक उज्ज्वल कड़ी है। 'सतसई' के अंतर्गत आलंकारिक चमत्कार और भाव-सौंदर्य दोनों ही हैं। इसमें ध्वनिकाव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। अतः बिहारी की रचना रीतिबद्ध है, इसमें संदेह नहीं।

'बिहारी-सतसई' की अनेक टीकाएं हो गयी हैं, जिनसे इसकी लोकप्रियता का पता चलता है। डॉ. ग्रियर्सन के अनुसार यूरोप में 'बिहारी-सतसई' के समकक्ष कोई रचना नहीं है। बिहारी ने प्रेम और कला दोनों का महत्त्व अंकित किया है। उन्होंने लिखा है :

*तन्त्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।*
*अनबूड़े बूड़े तिरे, जू बूड़े सब अंग॥*

बिहारी का समस्त जीवन काव्य-साधना में ही व्यतीत हुआ, इसलिए उनका एक एक दोहा मर्मस्पर्शी है और हमारे समक्ष सौंदर्य तथा प्रेमक्रीड़ा की मनोरम झांकियां प्रस्तुत करता है। बिहारी अपने संक्षिप्त वर्णन और नपे-तुले शब्दों में किसी वस्तु, व्यक्ति या भाव का जगमगाता रूप निखार कर प्रस्तुत करते हैं। उनके रूपवर्णन, वयःसंधि के चित्रण तथा मादक एवं गदरायी युवावस्था की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मधुर झलकें मन को मुग्ध कर लेती हैं और ये चित्रण केवल काल्पनिक न हो कर जीवन के यथार्थ रूप हैं। बिहारी ने अपनी पैनी दृष्टि से जीवन का निरीक्षण किया था, अतः उन्होंने युवा वृत्तियों का सजीव चित्रण किया है। शृंगार के संयोग-पक्ष के चित्रण में वे सिद्धहस्त हैं। आंतरिक भावना से प्रेरित शारीरिक चेष्टाओं तथा विभिन्न कार्यकलाप का चित्रण बिहारी इस प्रकार करते हैं कि वह मानस-पटल पर सदा के लिए अमिट हो जाता है। उन्होंने केवल भावुकतावश सौंदर्य-चित्रण ही नहीं किया, वरन जीवन के प्रौढ़ अनुभवों का भी उद्घाटन किया है। वे अपने भावों और विचारों को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करने की विलक्षण प्रतिभा से संपन्न थे। भक्ति एवं नीति के मार्मिक दोहे भी उन्होंने लिखे हैं। इस प्रकार 'बिहारी-सतसई' शृंगार, भक्ति और नीति की त्रिवेणी है।

ब्रजभाषा पर बिहारी का असाधारण अधिकार था। उनको शब्द और वर्ण के स्वभाव की परख थी। शब्द और वर्ण उनके दोहों में नगों के समान जड़े हैं और रत्नों की आभा बिखेरते हैं। शब्द को मांजने, चमकाने, मोड़ने और संवारने की कला में बिहारी सिद्धहस्त हैं। उनकी रचना में ब्रजभाषा अपनी प्रौढ़ता और भाव-संपन्नता में इठलाती हुई फलती है। वह लय और गति, संगीत और नर्तन की विशेषताओं से युक्त हैं। उनकी भाषा प्रांजल, प्रौढ़, मधुर और सरस है। निम्नलिखित उदाहरण इसके प्रमाण हैं :

*अंग अंग नग जगमगति, दीप सिखा सी देह।*
*दीया बुझाए हूँ रहै, बड़ो उजेरो गेह॥*
*रस सिंगार मंजन किये, कंजन भंजन दैन।*
*अंजन रंजन हूँ बिना, खंजन गंजन नैन॥*
*केसरि कै सरि क्यों सके, चम्पक कितक अनूप।*
*गात रूप लखि जात दुरि, जातरूप को रूप॥*

उपर्युक्त दोहों से स्पष्ट है कि भाव, अनुभूति और चेतना को बिहारी किस प्रकार मार्मिक शब्दों और प्रभावशाली बिंबों में प्रकट करने की क्षमता रखते हैं। बिहारी विदग्ध कवि होते हुए भी अत्यंत मौलिक हैं। केवल एक ग्रंथ की रचना करके भी कवियों की पंक्ति में बिहारी का उत्कृष्ट स्थान है। कवि के रूप में वे हिंदी साहित्य के गौरव हैं और उनकी 'सतसई' काव्य की अपूर्व निधि है।

**रसनिधि :** रसनिधि का वास्तविक नाम पृथ्वीसिंह था। 'रसनिधि' इनका उपनाम था। ये दतिया राज्य में बरौनी इलाके के जागीरदार थे। इनका संपर्क धामी-संप्रदाय के प्रवर्तक प्राणनाथ स्वामी से भी हुआ था। इनके जीवन के संबंध में विशेष सामग्री नहीं मिलती है। इनका रचनाकाल 1603 से 1660 ई. तक माना जाता है। इनके द्वारा रचित ग्रंथ अग्रलिखित हैं—रतनहजारा, विष्णुपदकीर्तन, कवित्त, बारहमासा, रसनिधि-सागर, हिंडोला, अरिल्ल आदि। इनकी ख्याति का मूल आधार 'रतनहजारा' नामक दोहा-संग्रह है, जो 'बिहारी-सतसई' के अनुकरण पर लिखित है। इससे स्पष्ट होता है कि ये प्रेम और शृंगार के कवि थे। इनकी रचनाओं पर वैष्णवभक्ति और सूफ़ी-परंपरा के फ़ारसी-काव्य का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। धार्मिक दृष्टि से ये बड़े उदार थे और इन्होंने हिंदू-मुसलमान का भेद स्वीकार नहीं किया था। इसका कारण स्वामी प्राणनाथ का संपर्क था। इसलिए इनके दोहों में आत्म तत्त्व की व्यापकता लक्षित होती है। फिर भी, रसनिधि की मूलवृत्ति प्रेम और शृंगार है, जिसको इन्होंने समकालीन रीतिपरंपरा का ध्यान रख कर प्रस्तुत किया है। ऐसे दोहों में रूप-वर्णन की रीतिबद्ध विशेषता, जिसमें अलंकृति और शृंगार-परंपरा विद्यमान है, प्राप्त होती है। इनके अनेक दोहे बिहारी और मतिराम से तुलनीय है। उदाहरण के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लिए देखिए :

*लाल भाल पै लसत है, सुन्दर बेंदी लाल।*
*कियो तिलक अनुराग ज्यों, लखि कै रूप रसाल॥*
*सबही को पोषन करै, अमृत कला सरसाइ।*
*ससि चकोर के दरद को, अज्यौं सकत नहिं पाइ॥*
*पल अंजुरिन सों पियत दृग, जल असुवां भरि साँस।*
*गनित रहित हैं अवधि कै, दिन पखवारे मास॥*

उपर्युक्त दोहों में रसनिधि की अलंकारप्रियता, नखशिख-सौंदर्य-चित्रण, सौंदर्यानुभूति और विरह-भावना के चित्रण की प्रवृत्तियां स्पष्ट हैं। इस प्रकार से इनके दोहों में रीतियुगीन प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।

**वृंद :** वृंद (1643-1723) कवि के पूर्वज बीकानेर के रहने वाले शाकद्वीपी भोजक ब्राह्मण थे, परंतु किन्हीं कारणों से इनके पिता श्री रूप जी मेड़ते में आ कर बसे। वहीं वृंद का जन्म हुआ। इनका पूरा नाम वृंदावन था। बचपन से ही ये सुशील, गंभीर और तीव्र बुद्धि थे। दस वर्ष की अवस्था में इनके पिता ने इन्हें विद्याध्ययन के लिए काशी भेजा। वहां तारा पंडित के पास रह कर इन्होंने व्याकरण, साहित्य, वेदांत, गणित, दर्शनशास्त्र आदि का ज्ञान प्राप्त किया और काव्य-रचना भी सीखी। काशी से लौटने पर मेड़ते में इनका बड़ा सम्मान हुआ और जोधपुर-नरेश महाराज जसवंतसिंह ने इन्हें कुछ भूमि प्रदान की। उन्हीं के द्वारा औरंगजेब के वज़ीर नवाब मुहम्मद ख़ां से इनका परिचय हुआ और इनका प्रवेश बादशाह के दरबार में हुआ। कहते हैं कि औरंगज़ेब ने इन्हें समस्या दी—'पयोनिधि पैर्‌यो चाहे मिसिरी की पुतरी।' वृंद ने उसकी उसी समय पूर्ति की, जिस पर प्रसन्न हो कर औरंगज़ेब के मुंह से 'ख़ूब-ख़ूब' प्रशंसात्मक शब्द निकले और उसने बहुत-सा धन दे कर इन्हें अपना दरबारी कवि बनाया। तदनंतर उसने इन्हें अपने ज्येष्ठ पुत्र शहज़ादा मुअज़्ज़म तथा पौत्र अज़ीमुस्सम्म का शिक्षक नियुक्त किया। वृंद उसके साथ उड़ीसा और बंगाल गये और उसके आग्रह से बहुत-सी रचनाएं लिखीं। सन् 1707 के लगभग किशनगढ़ के महाराज राजसिंह ने वृंद को मांग लिया और अच्छी जागीर दे कर इन्हें किशनगढ़ में बसाया।

वृंद की रचनाओं में सोलह अधिक प्रसिद्ध हैं, जो नीति, भक्ति, वार्त्ता तथा शृंगार से संबंधित हैं। इनमें से निम्नलिखित छह रचनाएं रीतिबद्ध कही जा सकती हैं—बारहमासा (1668), भावपंचाशिका (1686), नयनपचीसी (1686), पवनपचीसी (1691), शृंगार-शिक्षा (1691), यमक-सतसई (1706)। ये रचनाएं रीति-परंपरा की है, अतः यहां इन्हीं का परिचय अभीष्ट है। 'बारहमासा' में बारहों महीनों का सुंदर वर्णन है। 'भाव-पंचाशिका' में शृंगार के विविध भावों के अनुसार सरस छंद लिखे गये हैं। उदाहरण के लिए निम्नांकित छंद द्रष्टव्य हैं :

*आयो असन्त बसन्त समैं, निज कन्त विदेस दिगन्त लियो है।*
*बागनि बागनि कोकिल कूकि, बियोगिनि कौं दुख घोर दियो है।*
*तानि कमान की बाननि सौं, हनि कै तन व्याकुल काम कियो है।*
*चातुरि नागरि ह्वै, तब काहे मलैगिरि पौन पियो है?*

उपर्युक्त छंद में उद्दीपन के रूप में वसंत का चित्रण किया गया है। 'शृगार-शिक्षा' में नायिकाभेद के आधार पर आभूषण और शृंगार के साथ नायिकाओं का चित्रण है। इस ग्रंथ में लक्षण का आश्रय पूर्णतः स्पष्ट दीखता है। 'नयन-पचीसी' के अंतर्गत नेत्रों के महत्त्व तथा नेत्रों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

द्वारा प्रकट विभिन्न भावों का चित्रण है। इसमें कवि ने रीति का आश्रय ले कर नखशिख, राग-रंग, अंजन, रस और विरह का चित्रण किया है। कवित्व की दृष्टि से 'नयन-पचीसी' बहुत उत्कृष्ट तो नहीं है, पर युगीन परंपरा से जुड़ी हुई है। इसमें दोहा, सवैया और घनाक्षरी छंदों का प्रयोग है। 'पवन-पचीसी' वास्तव में षड्ऋतु-वर्णन का एक स्वरूप है। इसके अंतर्गत वृंद ने पवन के वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमंत और शिशिर ऋतुओं के अंतर्गत स्वरूप और प्रभाव का चित्रण किया है। इसमें पच्चीस छप्पय छंद हैं, जो बड़े ललित और प्रभावपूर्ण हैं। वृंद ने वसंत और हेमंत ऋतुओं का विशेष वर्णन किया है। अधिकांश छंद सुंदर हैं। इनमें कल्पना का चमत्कार उतना नहीं है, जितना अनुप्रास आदि का। फिर भी, भाषा बहुत सुगठित नहीं कही जा सकती। 'यमक-सतसई' में विविध प्रकार से यमक अलंकार का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इसके अंतर्गत 715 छंद हैं। यह रचना चमत्कारपूर्ण है। यमक का लक्षण दिये बिना उसके आधार पर रचित इस कृति का वर्ण्य विषय श्रृंगार और भक्ति है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

*मुरली मुरलीधर धरी, अरी परी धुनि कान।*
*जातन जात न बनत है, लाज करी कुल कान॥*
*देह दही बेचत दही, दई दई यह जाति।*
*गोरस मिस गोरसहिं, हरि, मग मंडराति डराति॥*

इस प्रकार वृंद कवि की रचनाएं रीतिबद्ध-परंपरा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इन्होंने सरल, सरस और विदग्ध सभी प्रकार की काव्य-रचना की है।

**नृप शंभु :** नृप शंभु के संबंध में हिंदी-साहित्य के विभिन्न इतिहासों में विभिन्न मत पाये जाते हैं। किन्हीं ने इन्हें सितारागढ़ वाले और किन्हीं ने शंभुनाथसिंह सोलंकी कहा है। नृप शंभु की रचनाओं में जो उपनाम प्रयुक्त हुए हैं, वे हैं—नृप शंभु, शंभुराज, शंभु-कृति, शंभु जू आदि। शंभुराज या नृप शंभु छत्रपति शिवाजी महाराज के पुत्र थे। इनका जन्म 1657 ई. में पुरंदर में हुआ था। दो वर्ष बाद ही माता का स्वर्गवास हो गया, अतः इनका पालन-पोषण इनकी दादी अर्थात शिवाजी की माता जीजाबाई ने किया। नृप शंभु की शिक्षा-दीक्षा तत्कालीन परंपरा के अनुसार हुई, जिसमें इन्होंने संस्कृत, फ़ारसी का ज्ञान प्राप्त किया। नृप शंभु ने संस्कृत में 'बुधभूषण' नामक ग्रंथ की रचना की, जिससे स्पष्ट है कि इन्होंने अलंकारशास्त्र, पुराण, संगीत और धनुर्विद्या में शिक्षा प्राप्त की थी। इनका विवाह सन् 1665 में येसूबाई से हुआ, जो बड़ी योग्य पत्नी थीं। वे राजनीति में बड़ी निपुण थीं और राजकाज में भी सहायता देती थीं।

शंभुराज को आठ वर्ष की अवस्था में औरंगज़ेब द्वारा 'पंचहज़ारी' पद प्रदान किया गया। 15 मई, 1666 को औरंगज़ेब की प्रार्थना और राजा जयसिंह के आश्वासन पर पंचहज़ारी शंभुराज तथा शिवाजी ने बादशाह औरंगज़ेब से भेंट की। वहीं छल करके बादशाह ने इन्हें क़ैद कर लिया। बड़ी कठिनता और चतुराई से ये दोनों बंदीगृह से मुक्त हुए। शंभुराज उस समय केवल नौ वर्ष के थे। इन्हें मथुरा छोड़ कर शिवाजी बनारस होते हुए महाराष्ट्र लौट आये। वहां रहने के कारण ही नृप शंभु पर ब्रजभाषा का प्रभाव पड़ा और इन्होंने उत्तम ब्रजभाषा-काव्य की रचना की। कुछ लोग इन्हें व्यसनी और विलासी मानते हैं, परंतु तथ्य यह नहीं जान पड़ता। ये वीरता तथा धर्म पर प्राण देने वाले व्यक्ति थे। शिवाजी की मृत्यु के उपरांत इन्होंने औरंगज़ेब का मुक़ाबला किया। अंत में ये क़ैद कर लिये गये, इनकी आंखें निकाल ली गयीं तथा शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर मृत्युदंड दिया गया।

नृप शंभु की तीन हिंदी-कृतियां प्राप्त होती हैं—'नायिकाभेद', 'नखशिख' और 'सात शतक'। प्रथम दो रचनाएं इनकी उत्कृष्टकाव्य प्रतिभा का प्रमाण हैं। इनके छंदों को देख कर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आश्चर्य होता है कि एक मराठी-भाषी व्यक्ति किस प्रकार ऐसी सुंदर ब्रजभाषा में रचना कर सका है। नृप शंभु की उपर्युक्त दोनों रचनाएं रीति-परंपरा पर आधारित हैं और उत्कृष्ट कोटि की हैं। इनमें कल्पना की नवीनता के साथ भाव और भाषा का लालित्य भी विद्यमान है। यथा :

*सासु कह्यो दधि बेंचन को,*
*सुदई सुखदाई कहाँ ते धौं हाँक री।*
*मोहि मिले 'नृपशंभु' गुपाल,*
*तमाल तरे वह गैल जो सांकरी॥*
*मो तन ताकि बड़ी अँखियान तें,*
*काँकरी लै घिरि मो तन धाँकरी।*
*काँकरी ओड़ि गयी कर तें पैं,*
*करेजे कहाँ धौं गयी गड़ि काँकरी॥*

उपर्युक्त छंद से स्पष्ट है कि नृप शंभु की रचना में भाव को समुचित रूप से उभारने वाली सुंदर कल्पना तथा सुंदर सार्थक शब्दयोजना विद्यमान रही है। यद्यपि इन्होंने रीति-परंपरा को आधार बना कर लिखा है, फिर भी सर्वत्र परंपरागत उपमानों का प्रयोग न कर नये उपमानों से अपने छंदों को अलंकृत किया है। इनके नखशिख संबंधी छंद विशेष रूप से प्रभावशाली हैं। उनसे स्पष्ट होता है कि नृप शंभु ब्रजभाषा काव्य-परंपरा में देव और मतिराम के समकक्ष ठहरते हैं।

**नेवाज :** नेवाज महाराज छत्रसाल के दरबारी कवि थे। इनका समय सन् 1680 के आसपास मानना चाहिए। मिश्रबंधुओं के अनुसार ये कान्यकुब्ज तिवारी थे। छत्रसाल से इनका संबंध भगवंत कवि के निम्नलिखित दोहे से प्रमाणित होता है :

*भली आजु कलि करत हौ, छत्रसाल महराज।*
*जहं भगवतगीता पढ़ी, तहं कवि पढ़त नेवाज॥*

इससे स्पष्ट होता है कि नेवाज छत्रसाल के दरबार में भगवंत कवि के पश्चात नियुक्त हुए। नेवाज कवि के संबंध में और विशेष जानकारी नहीं मिलती। इनका 'शकुंतला नाटक' नामक ग्रंथ मिलता है, जो वास्तव में नाटक न हो कर काव्यग्रंथ ही है। इसमें उत्तम छंद रचना है तथा भावों का मार्मिक चित्रण मिलता है। मिश्रबंधुओं ने इनकी भाषा की बड़ी प्रशंसा की है। संयोग-शृंगार का इन्होंने विशेष वर्णन किया है। इनकी रचनाशैली रीतिस्वच्छंद कवि ठाकुर की टक्कर की है। ऐसा लगता है कि इन्होंने शृंगार का व्यापक वर्णन करने वाला कोई ग्रंथ लिखा होगा, परंतु अब वह नहीं मिलता। इस संदर्भ में जो स्फुट छंद मिलते हैं, वे इस बात के द्योतक हैं कि इन्होंने सहज ढंग से प्रेम-व्यापार का वर्णन किया है। उदाहरण के लिए यह छंद देखिए :

*आगे तैं कीन्हीं लगा लगी लोयन, कैसे छिपे अजहूं जो छिपावति।*
*तू अनुराग की सौंध कियो ब्रज की बनिता सब यौं ठहरावति।*
*कौन संकोच रह्यौ है 'नेवाज', जो तू तरसै उनहूं तरसावति।*
*बावरि जो पै कलंक लग्यौ, तो निसंक ह्वै क्यों नहिं अंक लगावति॥*

**कृष्ण कवि :** कृष्ण कवि ने 'बिहारी-सतसई' के प्रत्येक दोहे पर सवैया बनाया था, इस कारण बिहारी की परंपरा में इन्हें रीतिबद्ध कवियों के अंतर्गत रखना उचित है। कृष्ण कवि के जीवनवृत्त के संबंध में विशेष सूचना नहीं है। ये 'बिहारी-सतसई' की सर्वप्रथम काव्यात्मक टीका करने वाले व्यक्ति के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। कुछ लोगों का विचार है कि ये जयपुर-नरेश महाराज

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जयशाह के मंत्री के आश्रित थे और उन्हीं के आग्रह से इन्होंने 'बिहारी-सतसई की टीका' लिखी। कुछ अन्य विद्वान कृष्ण कवि को बिहारी का पुत्र मानते हैं, परंतु इसका कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता। यदि ये बिहारी के पुत्र होते तो अपने ग्रंथ में कहीं-न-कहीं उल्लेख अवश्य करते। कृष्ण कवि के द्वारा लिखित दो ही ग्रंथ ज्ञात हुए हैं—'बिहारी-सतसई की टीका' और 'विदुर-प्रजागर'। इनसे इनका समय 1720 ई. के आसपास ठहरता है। इनकी कवित्त-सवैयाबद्ध टीका वास्तव में बड़ी रोचक है। उसके अंतर्गत 'सतसई' के दोहों में प्रकट किये गये भावों का पल्लवन हुआ है। इससे इनका कवि रूप उजागर होता है। टीका के छंदों से ऐसा ज्ञात होता है कि इन्होंने और रचनाएं भी की होंगी, जो अभी प्राप्त नहीं हैं। उदाहरण के लिए इनका एक छंद द्रष्टव्य है :

*छबि सो फबि सीस किरीट बन्यो रुचि साल हिये बनमाल लसै।*
*कर कंजहि मंजु रही मुरली कछनी कटि चारु प्रभा बरसै।*
*कवि कृष्ण कहै लखि सुन्दर मूरति यों अभिलाष हियै सरसै।*
*वह नंदकिशोर बिहारी सदा यहि बानिक मो हिय मांझि बसै॥*

**हठी जी :** हठी जी का समय 1780 ई. के आसपास निर्धारित किया गया है। ये राधावल्लभ संप्रदाय के कृष्णभक्त कवि थे। इस संप्रदाय के ग्रंथों में इनका जन्मस्थान चरखारी माना जाता है। यद्यपि ये कृष्णभक्ति परंपरा के कवि थे, फिर भी इनकी रचना रीति-चेतना से संपृक्त है, क्योंकि उसके अंतर्गत उक्तिवैचित्र्य, नखशिख सौंदर्यचित्रण और शृंगारवर्णन की रीतिपरंपरा का पूरा अनुगमन है। इसीलिए इनको रीतिबद्ध परंपरा में स्थान देना उचित है। इनका एक ही प्रसिद्ध ग्रंथ उपलब्ध होता है, जो 'श्रीराधासुधाशतक' नाम से है। इसके अंतर्गत 103 छंद हैं। यद्यपि भाव की मार्मिकता और नवीन उद्‌भावना इनकी रचना में विशेष नहीं मिलती, परंतु राधा के वर्णन में राजसी ठाटबाट और विलास का चित्रण भरपूर है। जिस प्रकार इनके छंदों में विलास और संपन्नता का वर्णन है, उसी प्रकार इनकी कविता में अलंकृति है और विशेष रूप से उपमा और उत्प्रेक्षा जैसे सादृश्यमूलक अलंकार विपुलता से मिलते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित छंद द्रष्टव्य हैं :

*केसर से अंग पट केसर के रंग जगे मोती गुहौ गंग है अनंग हूँ की बालिका।*
*रम्भा सी रमा सी मेनका सी मंजुघोषा सम सची सी उमा सी सुखमा सी जोति जालिका।*
*साँझ समै आन वृषभानु की कुमारी राधा ठाढ़ी दरवाजे 'हठी' प्रानन की पालिका।*
*भाग भरे नैनन निहारौ नन्दलाल चलि रैन गुजरी सी उजरी सी दीपमालिका॥*

उपर्युक्त छंद से हठी जी की अलंकारप्रियता और चमक-दमक में रुचि स्पष्ट होती है। भाषा पर इनका अद्‌भुत अधिकार भी स्पष्ट है।

**विक्रमादित्य :** विक्रमादित्य या विक्रमसिंह बुंदेलखंड-स्थित चरखारी के राजा थे। इनका राज्यकाल 1782 से 1829 ई. तक रहा। ये बड़े साहित्यप्रेमी, कवि और गुणग्राहक व्यक्ति थे। कवियों का ये बड़ा सम्मान करते थे। हिंदी के प्रसिद्ध आचार्य प्रतापसाहि इनके संरक्षण में रहे। इन्होंने काव्यशास्त्र संबंधी ग्रंथों का भी प्रणयन किया। 'बिहारी-सतसई' के समान इन्होंने 'विक्रम-सतसई' की रचना की। 'सतसई' के अतिरिक्त इन्होंने 'श्रीमद्‌भागवत' के दशम स्कंध का हिंदी में अनुवाद किया तथा 'ब्रजलीला' नामक ग्रंथ का प्रणयन किया। यद्यपि 'बिहारी-सतसई' के समकक्ष इनकी रचना नहीं पहुंच पाती, फिर भी कुछ छंद अच्छे बन पड़े हैं। अधिकांश छंदों से लगता है कि बिहारी के भावों को ही इन्होंने अपने शब्दों में रखा है। विक्रम कवि के कुछ दोहे इस प्रकार हैं :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*हरित पीत अंकुर बसन, नव लतानि के हार।*
*जनु अषाढ़ कीन्ही मही, दुलही की शृंगार॥*
*पंकज के धोखे मधुप, कियो केतकी संग।*
*अन्ध भयो कंटक बिंध्यो, भयो मनोरथ भंग॥*

**रामसहाय :** रामसहायदास चौबेपुर (बनारस) के निवासी थे। इनके पिता का नाम भवानीदास था। ये जाति के अस्थाना कायस्थ थे। रामसहायदास काशीनरेश महाराजा उदितनारायणसिंह के आश्रित कवि थे। अपनी कविताओं में इन्होंने 'भगत' उपनाम रखा है। इनका कविता-काल 1803 से 1823 ई. तक माना जाता है। इनके द्वारा रचित ग्रंथ हैं : 'रामसतसई', 'वाणीभूषण', 'वृत्ततरंगिणी' तथा 'ककहरा'। 'वाणीभूषण' में इन्होंने काव्यशास्त्र के विषयों का विवेचन किया है, 'वृत्ततरंगिणी' में छंदों का परिचय है और 'ककहरा', 'अखरावट' के ढंग का ग्रंथ है। 'राम-सतसई' रीतिकालीन शृंगार-परंपरा का उत्तम ग्रंथ है, जिसे 'बिहारी-सतसई' के समान उत्कृष्ट कहा जा सकता है। नखशिख, अलंकार, ध्वनि, रस आदि को ध्यान में रख कर उत्कृष्ट काव्यसौष्ठव का इसमें समावेश किया गया है। शब्दचमत्कार, वाग्वैदग्ध्य तथा विभिन्न अनुभावों और हाव-भावों के चित्रण में रामसहाय काफ़ी सफल हैं। भावों का भी मार्मिक वर्णन हुआ है। माधुर्य और प्रसाद गुणों से संपन्न 'राम-सतसई' बड़ी सुंदर रचना है। इसका प्रमाण निम्नलिखित छंदों से स्वतः मिल जायेगा :

*वृन्दावन विहरत फिरैं, राधा नन्दकिशोर।*
*नीरद दामिनि जानि संग, बोलै डोलै भोर॥*
*किहि बिधि जाउं बसन्त में, विकसित बेलि निकुंज।*
*मो मुख लखि चहुँ ओर तें, झुकत झंपत अलि पुंज।*
*सीस झरोखे डारिके, झाँकी घूँघट टारि।*
*कैंबर सी कसके हियैं, बाँकी चितवनि नारि॥*

**पजनेस :** पजनेस का समय 1815 ई. के आसपास है। इनका जन्म पन्ना में हुआ था। शिवसिंह सेंगर के अनुसार इन्होंने 'नखशिख' और 'मधुरप्रिया' नामक दो ग्रंथ लिखे थे, किंतु ये उपलब्ध नहीं हैं। भारतजीवन प्रेस से 'पजनेस-प्रकाश' नामक संग्रह अवश्य प्रकाशित हुआ है। इनके छंदों से यह स्पष्ट है कि इन्होंने रीति-परंपरा के अनुसार रचना की है। इनका नखशिख-वर्णन बड़ा ही सुंदर है। इस प्रसंग में मुख-वर्णन संबंधी यह छंद द्रष्टव्य है :

*चितवत जाकी ओर चख चकि चौंध कौंधे,*
*भनि पजनेस मातु किरन खरी सी है।*
*छबि प्रतिबिम्ब छूट्यो छिति ह्वै छपाकर तें,*
*छाजत छबीली राजै कनक छरी सी है।*
*कीनौं डर लुरक गुलाब को प्रसूत ग्रास,*
*झुकि झुकि झूमि झूमि झांकत परी सी है।*
*आनन अमल अरबिन्द ते अमल अति,*
*अद्भुत अमूल आभा उफनि परी सी है॥*

पजनेस की रचना में अनुप्रास का प्रयोग अधिक है, पर भाषा बहुत परिमार्जित नहीं है। अनेक स्थलों पर इन्होंने फ़ारसी के शब्दों का स्वच्छंदता के साथ प्रयोग किया है। कल्पना की नवीन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उद्भावना तथा अलंकारप्रियता ही इनके काव्यगुण कहे जा सकते हैं।

**बेनी वाजपेयी :** बेनी नाम से तीन कवि मिलते हैं—एक बेनी भंडौआकार, दूसरे बेनी प्रबीन और तीसरे बेनी वाजपेयी। प्रस्तुत बेनी कवि असनी के निवासी बेनी वाजपेयी थे। इनको कई इतिहासकारों ने बेनी बंदीजन कहा है, परंतु यह भ्रामक है। ये असनी के निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका समय सन् 1823 माना जाता है, जिसका प्रमाण लीलाजी-कृत 'अश्वनीचरित्र' में मिलता है। बेनी कवि के जीवन के संबंध में और अधिक सामग्री प्राप्त नहीं होती। इनके फुटकर छंद ही मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि इन पर रीति-परंपरा का प्रभाव था। नखशिख और षड्ऋतु संबंधी इनके अनेक छंद प्राप्त होते हैं। आलंकारिक चमत्कार इनकी विशेषता है। ये रसिक कवि थे और उक्तिवैचित्र्य इनकी रचना में प्रभूत रूप से प्राप्त होता है। राधा को चोर बनाने का एक उक्तिचमत्कारपूर्ण छंद निम्नलिखित है :

*करि की चुराई चाल सिंह की चुराई लंक,*
*ससि को चुरायो मुख नासा चोरी कीर की।*
*पिक को चुरायो बैन मृग को चुरायो नैन,*
*दसन अनार हाँसी गूजरी गम्भीर की॥*
*कहै कवि 'बेनी' बेनी व्याल की चुराइ लीनी,*
*रती रती सोभा सब रति के सरीर की।*
*अब तो कन्हैया जू को चित्त हू चुराइ लीनो,*
*चोरटी है गोरटी या छोरटी अहीर की॥*

उक्तिचमत्कार के साथ-साथ बेनी की रचना में मुहावरों का बड़ा सुंदर प्रयोग हुआ है। इनकी भाषा टकसाली है। छंद और गति का बड़ा सूक्ष्म विवेक इनके छंदों से स्पष्ट होता है। यमक की छटा वाले अनेक छंद इनकी रचनाओं में पाये जाते हैं। बेनी कवि ने गोस्वामी तुलसीदास की भी बड़ी प्रशंसा की है और अनेक छंदों में नीति की बातें भी कही हैं, पर इनके ऋतु-वर्णन के छंद विशेष प्रभावशाली हैं। वैसे इनकी मूल प्रकृति शृंगार-चित्रण की ही है। इसीलिए जो कुछ छंद भक्ति संबंधी मिलते हैं, उन पर भी शृंगार का प्रभाव लक्षित होता है। यद्यपि यह स्पष्ट पता नहीं चलता कि इनका संबंध किसी भक्ति-संप्रदाय से था, पर इन्होंने राधाकृष्ण की वंदना की है जिससे जान पड़ता है कि ये राधाकृष्ण के उपासक थे। राधाकृष्ण-विषयक इनके इस छंद को भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपनी संपादित रचना 'सुंदरी-तिलक' के मंगलाचरण के रूप में दिया है :

*छहरै सिर पै छबि मोरपखा उनकी नथ के मुकता थहरैं।*
*फहरै पियरो पट बेनी इतै उनकी चूनरी के झबा झलरैं।*
*रसरंग भिदें अभिदे हैं तमाल दोउऊ रसख्याल चहै लहरैं।*
*नित ऐसे सनेह सों राधिका श्याम हमारे हिये में सदा बिहरैं॥*

बेनी कवि का भाषा पर अच्छा अधिकार था और काव्यशास्त्र का समुचित प्रभाव भी इनकी रचनाओं में स्पष्ट है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

# रीतिमुक्त काव्य

## प्रवृत्ति का नाम

इस धारा का नामकरण कुछ लोगों ने तो 'रीतिमुक्त' और कुछ ने 'स्वच्छंद काव्यधारा' किया है। 'रीतिमुक्त' का सीधा अर्थ यही है कि यह धारा रीति-परंपरा के साहित्यिक बंधनों और रूढ़ियों से मुक्त है। यह शब्द स्पष्टतः इस धारा की दूसरी समसामयिक काव्यप्रवृत्ति से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। 'रीतिमुक्त' नामकरण विवाद-रहित और निरापद है। पर दूसरा नाम विवेचन की अपेक्षा रखता है, क्योंकि यही शब्द पश्चिमी साहित्य की एक प्रसिद्ध महती काव्यधारा के लिए रूढ़ है। तो क्या रीतिकाल की यह काव्यधारा किसी प्रकार यूरोप की स्वच्छंद काव्यधारा से संबद्ध है? लेकिन संबंध के लिए जो ऐतिहासिक आधार चाहिए, वे यहां नाम को भी नहीं हैं। फिर क्या इन दोनों में किसी प्रकार की उल्लेखनीय समानताएं हैं? यहां यह बताना अप्रासंगिक नहीं होगा कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आधुनिक काल की एक अन्य काव्यधारा को भी 'स्वच्छंद काव्यधारा' कहा है, जिसमें श्रीधर पाठक, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', हरिवंशराय 'बच्चन' आदि को गिनाया है। ये सभी अपने समय की प्रचलित साहित्यिक परंपराओं को त्याग कर भावनाओं के मुक्त क्षेत्र में विचरण करने वाले थे। किसी ने प्रकृति के मुक्त रूप को काव्य का विषय बनाया, तो दूसरों ने छायावादी संप्रदाय से अपनी काव्यकला को अप्रभावित रखा। इसलिए शुक्ल जी की दृष्टि में ये सभी कवि स्वच्छंदतावादी थे। इस सबसे यही सिद्ध होता है कि हिंदी-काव्य के संदर्भ में 'स्वच्छंदतावादी' शब्द परंपराओं और रूढ़ियों के त्याग के अर्थ में अधिक प्रयुक्त हुआ है, यूरोपीय काव्यधारा की समानता अथवा प्रभाव के अर्थ में नहीं। इसीलिए हम छायावादी साहित्य को भी 'स्वच्छंद काव्यधारा' कह सकते हैं, क्योंकि उसमें भी प्राचीन रूढ़ियों एवं परंपराओं का त्याग है। फलतः घनानंदवाली रीतिकालीन काव्यधारा को 'स्वच्छंद काव्यधारा' कहना अनुचित नहीं है।

## परिभाषा और परिधि

अंग्रेज़ी-साहित्य में रोमांटिक (स्वच्छंद) और क्लासिकल (शास्त्रीय) काव्यधाराएं अपने विशिष्ट इतिहास और परिस्थितियों के कारण विशिष्ट अर्थों में रूढ़ हो गयी हैं। विद्वानों ने बड़े विस्तार से विविध प्रकार के ऊहापोह उन पर किये हैं। हिंदी के समीक्षा-साहित्य में भी यह उसी चिंतनशैली का प्रभाव है, जो हम किसी काव्यधारा को नियमबद्ध और दूसरी को मुक्त समझते हैं। पश्चिम में 'स्वच्छंद काव्यधारा' श्रृंगारिकता, साहसिकता, काल्पनिकता, भावप्रधानता, अनगढ़पन, सहजता आदि गुणों के लिए प्रसिद्ध है। वस्तुतः ये उक्त धारा के गुण हैं, लक्षण नहीं। लक्षण तो, जैसा 'स्वच्छंद' शब्द से व्यक्त होता है, नियममुक्तता, रूढ़िमुक्तता आदि हैं। ज्ञान के अन्य क्षेत्रों की भांति कला के क्षेत्र भी नियमों के अनुसर्त्ता और स्वानुभूति के उन्मुक्त उद्गाता—दो प्रकार के मनीषी प्रवेश करते हैं। प्रथम वर्ग के मनीषी कला की बाह्य रूप-सज्जा, चयन और श्रेष्ठता पर अधिक बल देते हैं, तो दूसरे अनुभूति के आवेगमय रूप की सहज अभिव्यक्ति को महनीय मानते हैं। प्रथम पक्ष की कला-सृष्टि अभ्यास का फल होती है, तो दूसरों की हृदय-निस्सृत अकृत्रिम अभिव्यक्ति। प्रवृत्ति का यह भेद थोड़ी-बहुत मात्रा में सर्वत्र सर्वदा मिल जाता है। वस्तुतः नियमबद्ध (क्लासिकल) और स्वच्छंद (रोमांटिक) प्रवृत्तियों का यही मनोवैज्ञानिक मूल है।

अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्वच्छंदतावादी काव्य व्यंजनाप्रधान होता है। उसमें सांकेतिकता अधिक रहती है, इसलिए थोड़ी-बहुत मात्रा में रहस्यवाद की प्रवृत्ति भी उसमें आ जाती है। इस

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

काव्यधारा में रूप-सज्जा की प्रधानता नहीं होती, व्यक्तिगत अनुभूतियों की यथार्थ अभिव्यक्ति पर दृष्टि रहती है। श्लेमल का कथन है कि क्लासिकल काव्य अपने में पर्यवसित होता है; उसका उतना ही तात्पर्य रहता है जितना शब्द प्रकट करते हैं। पर स्वच्छंदतावादी काव्य में एक ऐसी विच्छित्ति रहती है जो तात्पर्य को पूर्णतया प्रकट भी नहीं होने देती और उसकी इयत्ता अधिकाधिक बढ़ा देती है। विक्टर ह्यूगो ने स्वच्छंदतावादी काव्य को रूढ़ियों से मुक्त बताया है, डंटन इसमें चमत्कार और अनुभूति की प्रधानता मानते हैं तथा डॉ. हेज ने प्रेरणा (जीवन से) को इसका प्राण कहा है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस संदर्भ में कल्पना और भावावेग पर बल दिया है : ''रोमांटिक साहित्य की उत्सभूमि वह मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से सघन-संश्लिष्ट निविड आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड आवेग ये दो निरंतर घनीभूत मानसिक वृत्तियां ही इस व्यक्तिप्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी हैं।''[4] आचार्य रामचंद्र शुक्ल प्रकृति के मुक्त रूप और जीवन के सहज प्रवाह को स्वच्छंदतावादी साहित्य का प्रमुख विषय समझते हैं। उनके अनुसार शिष्ट साहित्य के साथ-साथ लोकसाहित्य की धारा बहती रहती है, जिसमें जीवन की सहज और निश्छल अभिव्यक्ति होती है। जब शिष्ट साहित्य पंडितों और आचार्यों की रूढ़ियों में आबद्ध हो जाता है, तो भाव की सजीवता और स्फूर्ति जीवनगत दूसरी प्राकृतिक भावधारा से ही प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार के परिवर्तन को ही अनुभूति की सच्ची नैसर्गिक स्वच्छंदता (ट्रू रोमांटिसिज़्म) कहना चाहिए।[5]

क्लासिकल प्रवृत्ति के कलाकार की प्रशंसा इस बात में है कि वह जीवन और जगत को अपनी प्रतिभा से यथातथ्य ग्रहण करे और इन्हें प्रभविष्णु अभिव्यक्ति प्रदान करे। पर रोमांटिक प्रवृत्ति के कवि की श्रेष्ठता इसमें है कि उसकी आत्मा स्फुटित हो कर अपनी ऐसी अभिव्यक्ति दे कि वह जादू जैसा भाव उत्पन्न करे। वास्तव में स्वच्छंदतावाद का मूल कलाकार की एक विशेष प्रकार की मानसिक स्थिति में रहता है। इसका न काल से संबंध है और न देश से। नियमों की रूढ़ियों और अपरिवर्तन से ऊबे हुए उत्साही कलाकार क्रांति मचाने लगते हैं। इसी का साहित्यिक नाम 'स्वच्छंदधारा' हो जाता है। स्वच्छंदता की अति जब उच्छृंखलता में परिणत होने लगती है, तो उसकी सीमा बांधना आवश्यक हो जाता है। सीमाओं का बंधन और अनुवर्तन ही क्लासिकल मार्ग है। इस प्रकार क्लासिकल और रोमांटिक प्रवृत्तियें की क्रिया-प्रतिक्रिया साहित्यिक इतिहास में चलती रहती है।

स्वच्छंद प्रवृत्ति का कवि अंतर्मुखी होता है। उसे अपनी अनुभूति पर अधिक विश्वास रहता है, अनुभूति की इंद्रियानुभूति नहीं, हृदयानुभूति। संसार का अनुभव करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा अपना अनुभव करने वाला व्यक्ति उसकी दृष्टि से अधिक सच्चा और प्रामाणिक है। स्वच्छंदतावादी साहित्य में अभिनवत्व (ताज़गी) रहता है, क्योंकि उसकी प्रेरणा जीवन से मिलती है। जब साहित्य अपने समवर्ती जीवन से प्रेरणा न ले कर पूर्ववर्ती साहित्य से प्रेरणा लेने लगता है, तब वह क्लासिकल बन जाता है, उसकी अभिनवता क्षीण होने लगती है। संक्षेप में, स्वच्छंदतावादी साहित्य की प्रमुख विशेषताएं ये हैं :

1. यह आंतरिक अनुभूतियों का काव्य होता है, फलतः इसमें भावावेग का उच्छल प्रवाह बहता है।
2. यह मूलतः आत्मप्रधान और व्यक्तिपरक होता है, अर्थात कवि बाह्य जगत को उतना महत्त्व नहीं देता, जितना अपने को देता है।
3. यह सब प्रकार की रूढ़ियों से मुक्त होता है, इसलिए इसमें अभिनवत्व और अद्भुतता के तत्त्व निहित रहते हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

4. अभिव्यंजना में यह सांकेतिक और व्यंजनाप्रधान होता है, इसीलिए कहीं-कहीं रहस्यात्मकता का पुट भी इसमें आ जाता है।
5. इसमें कल्पना और असाधारणता का प्राचुर्य रहता है।
6. यह भावप्रधान अधिक और रूपप्रधान कम होता है। कवि की प्रवृत्ति अपने हृदय की पर्त खोलने की अधिक होती है, अपनी उक्ति को सजाने संवारने की कम।

रीतिमुक्त काव्यधारा के विकास में घनानंद, आलम, ठाकुर, बोधा और द्विजदेव का योगदान मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। यहां इन कवियों की काव्य-प्रवृत्तियों का पृथक्-पृथक् विवेचन अपेक्षित है।

**घनानंद :** घनानंद स्वच्छंद काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं। इस धारा के प्राय: सभी गुण इनकी शैली में मिल जाते हैं, जैसे भावात्मकता, वक्रता, लाक्षणिकता, भावों की वैयक्तिकता, रहस्यात्मकता, मार्मिकता, स्वच्छंदता आदि। इनकी दो प्रकार की रचनाएं उपलब्ध हैं, जिनका संबंध क्रमश: लौकिक शृंगार और भक्ति से है। प्रथम वर्ग की रचनाएं प्राय: कवित्त-सवैयों में रचित हैं और दूसरे वर्ग की पदों एवं दोहे-चौपाइयों में। अब तक प्राप्त कवित्त-सवैयों की संख्या 752, पदों की संख्या 1057 और दोहे-चौपाइयों की 2354 है। काव्य-सौंदर्य के अतिरिक्त रचना-विस्तार की दृष्टि से भी घनानंद महाकवियों में गिने जाने योग्य हैं। इनके काव्य में ऋजु और वक्र दोनों प्रकार की शैलियों का प्रयोग मिलता है, जो भाव के अनुरोध से कहीं संश्लिष्ट और कहीं विश्लिष्ट हो गयी है। इनके वर्ण्य विषय में विविधता और विस्तार नहीं है, अपितु कवि की अंतुर्मखी प्रवृत्ति के कारण विविधता भावों के सूक्ष्म भेद-प्रभेदों में मिलती है। भाव कवि के व्यक्तिगत, अतएव स्वच्छंद हैं, काव्य परंपरा के नहीं। विषय के समान भावों में भी कहीं-कहीं आवृत्ति के दर्शन होते हैं। भावों में विषाद और निराशा का प्राचुर्य है। कवि प्रेम की पराजय में भी अडिग है, अतएव उसे विजयी कहा जायेगा। यह विषाद उसके अभिलाषातिरेक का परिणाम है। प्रेम के हर्षावसरों पर बढ़ती हुई अभिलाषाएं उसे बेचैन बना देती हैं। उसके भाग्य में प्रेम का हर्ष बदा ही नहीं है। प्रेम की यह विषादमयी अनुभूति हिंदी-साहित्य की परंपरा के प्रतिकूल और फ़ारसी-परंपरा के अनुकूल है। घनानंद के समकक्ष फ़ारसी के अनेक कवियों में यही प्रवृत्ति पायी जाती है। तत्कालीन समाज की हीन दशा और उसमें व्यक्ति की परवशता के अनुभव का भी यह परिणाम हो सकता है।

काव्य-शैली में वर्ण्य का उपयोग दो प्रकार से हो सकता है—भाव-लपेटी वस्तु का स्वरूप खड़ा करके या फिर वस्तु से उठे भावों का सीधा वर्णन करके। रससिद्धों की भाषा में पहले को विभावप्रधान और दूसरे को भावप्रधान कह सकते हैं। हिंदी-संस्कृत की परंपरा विभावप्रधान रही है, पर घनानंद ने दूसरा मार्ग अपनाया है, अर्थात भावों का सीधा वर्णन अधिक किया है। इन भावों में रीझ, विषाद, उलझन, अभिलाषा, भूल, उपालंभ आदि प्रमुख हैं। इन भावों के आश्रय हैं—मन, प्राण, नेत्र तथा अन्य ज्ञानेंद्रियां। ज्ञानेंद्रियों को भावों का आश्रय बना कर कवि ने उनका मानवीकरण कर दिया है। इनका काव्य भावों की अंतर्भूमि पर ही अधिक खड़ा है, वस्तु पर कम। प्रिय के रूप पर रीझने में मन की क्या दशा होती है, इस पर नीचे लिखा सवैया देखिए :

*रावरे, रूप की रीति अनूप नयौ नयौ लागत ज्यौं ज्यौं निहारियै।*
*त्यौं इन आँखिन बानि अनौखी, अघानि कहूँ नहिं आन तिहारियै।*
*एक ही जीव हुतौ सुतौ वार्‌यौ, सुजान संकोच औ सोच सहारियै।*
*रोकी रहै न दहै घनआनन्द बाबरी रीझ के हाथनि हारियै॥*

इसी प्रकार वियोग-व्यथा की सैकड़ों अंतर्दशाओं के मार्मिक चित्र कवि ने खींचे हैं, जो हृदय

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

को सीधे छूते हैं। वियोग-शृंगार में प्रिय के रहने पर प्रेमी का भावमग्न हो जाना स्वाभाविक है, पर घनानंद संयोग में भी भावमग्न हैं। भावात्मकता के कारण ही अनुभूति का संबंध जब सशरीर प्रिय से हट कर अनुभूत्यात्मक हो जाता है, तो उसका संबंध परम सत्ता से बना प्रतीत होने लगता है। ऐसी उक्तियां अनेक हैं, जिनमें से निम्नलिखित सवैया द्रष्टव्य है :

*मन जैसे कछु तुम्हें चाहत हैं, सो बखानियै कैसें सुजान ही हौं।*
*इन प्राननि एक सदा गति रावरे, बावरे लौं लगिये नित लौं॥*
*बुधि औ सुधि नैननि बैननि में, करि बास निरन्तर अन्तर गौ।*
*उघरौ जग छाय रहे घनआनन्द, चातिक लौं तकियै अब तौ॥*

यहां प्रेम का विषय सांसारिक प्राणी भी हो सकता है और परमेश्वर भी। ऐसी उक्तियों में रहस्यात्मकता की स्पष्ट झलक मिलती है। घनानंद के प्रेम का उदय अवश्य सुजान के शरीर से हुआ था, पर उसकी परिणति सुजान (सु + ज्ञान) परमेश्वर में हुई थी। उनकी शैली उत्तम पुरुष-प्रधान आत्मनिवेदन की है, प्रेम की अनुभूतियों को इन्होंने अपनी बना कर प्रस्तुत किया है। अपनी रचनाप्रक्रिया का संकेत करते हुए कवि ने स्पष्ट कहा है कि उसे काव्य की प्रेरणा प्रेयसी सुजान के मादक रूप से मिलती है, उसी को वह काव्य के रूप में उपस्थित कर देता है।[6] इस प्रकार के संकेतों से अनुमान होता है कि कवि का काव्य उसकी स्वयं की प्रेमानुभूति है। रीतिकाल के लिए यह नवीन प्रणाली है, अन्य कवियों ने तो नायक-नायिकाओं अर्थात पात्रों की योजना द्वारा अपने भाव व्यक्त किये हैं। इसीलिए डॉ. नगेंद्र जैसे मनोवैज्ञानिक आलोचक रीतिकालीन कविता में दमित भावना की मनोग्रंथि का एहसास लें, तो वह अनुचित नहीं है। किंतु घनानंद ने तो अपने ही को निश्छल अभिव्यक्ति प्रदान की, अतः वह दोष इनकी कविता में नहीं है। सुजान का रूपवर्णन भी इन्होंने अपनी लालसा भरी आंखों से देख कर ही किया है। लौकिक शृंगार के क्षेत्र में यह साहस घनानंद ने ही किया। नीचे लिखे सवैये में प्रेमी कवि अपनी वियोग दशा बताता है :

*अंक भरौं चकि चौंकि परौं कबहूक लरौं छिन ही में मनाऊँ।*
*देखि रहौं अनदेखे दहौं सुख सोच सहौं, जु लहौं सुनि पाऊँ।*
*जान तिहारी सो मेरी दसा, यह को समझै अरु काहि सुनाऊँ।*
*यौं घनआनन्द रैनि दिना नहि बीतत, जानियै कैसे विहाऊँ।*

घनानंद के काव्य की एक विशेषता भावजन्य वक्रता है। कवि के भाव असाधारण हैं, उन्हें अभिव्यक्त करने के लिए असाधारण भाषा का प्रयोग ही एकमात्र उपाय है। ऐसा लगता है कि भावों का जन्म ही इस प्रकार की वक्र भाषा में हुआ है। इस प्रकार लाक्षणिक भाषा का प्रयोग करना उनकी शैली है, जिसके परिणामस्वरूप उसमें विरोध और वक्रता—ये दो गुण आ गये हैं। इनके कारण निःसंदेह शैली में सरलता नहीं रही है, पर मार्मिकता और चमत्कार पद-पद पर अनुभूत होते हैं। वस्तुतः प्रेम की पीड़ा को कवि ने सच्चे हृदय से अपनी पूर्णता में भोगा था, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति सटीक और मार्मिक हुई है। जहां कवि अपेक्षाकृत अधिक भावुक रहा है, वहां वह वक्र शैली को भूल गया है। फिर भी उनकी शैली का सर्वाधिक उल्लेखनीय गुण भाषा का लाक्षणिक प्रयोग है। भावों की जो सूक्ष्म अंतर्दशाएं कवि की अनुभूत हैं और रूप आदि के विषय में विलक्षण चिंतन उसे प्राप्त है, उसकी अभिव्यक्ति साहित्य में प्रचलित भाषा से नहीं हो सकती थी। इसलिए घनानंद ने लक्षणा का मार्ग अपनाया। मुहावरे भी प्रायः लक्षणा के रूढ़ प्रयोग होते हैं, अतः इनकी भाषा में उनका भी प्रचुर प्रयोग मिलता है। लक्षणा का ऐसा सफल

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रयोग रीतिकाल के लिए सर्वथा नया प्रयास है। उस समय के आचार्यों ने प्रसंगवश अभिधा आदि वृत्तियों का विवेचन किया है। संस्कृत में तो इस पर ग्रंथ के ग्रंथ लिखे पड़े हैं, पर लाक्षणिक भाषा का प्रयोग न संस्कृत भाषा में मिलता है और न हिंदी के पूर्ववर्ती काव्यों में, सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों की वाणी में अवश्य उसके कहीं-कहीं दर्शन होते हैं। इसका कारण अलंकार-परंपरा का प्रभाव है। काव्य की अभिव्यक्ति के लिए अलंकार-योजना ही एकमात्र आदर्श थी। दूसरी दिशाओं में बढ़ने का प्रयास कवि नहीं करते थे। ऐसी भाषा परंपराग्रस्त होने के कारण जीवन से हटी हुई और नवीनताहीन प्रतीत होती है। लक्षणा में शब्दों का ऐसा चातुर्यपूर्ण प्रयोग होता है कि वाक्य में एक का धर्म दूसरे में आरोपित हो जाता है। इससे भाषा की शक्ति दुहरी हो जाती है और चित्रात्मकता बढ़ जाती है। घनानंद ने इस दिशा में काव्यसौंदर्य ही नहीं, भाषा की क्षमता के भी नये आयाम खोले। पर यह परंपरा न बन सकी, और रीतिकाल की भाषा वहीं-की-वहीं रह गयी।

**आलम :** आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में दो आलम माने हैं—एक अकबर के समसामयिक और दूसरे औरंगज़ेब के पुत्र मुअज़्ज़म के आश्रित। प्रेमाख्यानक प्रबंधकाव्य 'माधवानल-कामकंदला' को उन्होंने पहले आलम की रचना माना है और 'आलमकेलि' को दूसरे आलम की रचना स्थिर किया है। अब 'स्याम-सनेही' और 'सुदामाचरित'—दो रचनाएं और प्रकाश में आ गयी हैं। इस प्रकार 'माधवानल-कामकंदला', 'स्याम-सनेही' और 'सुदामाचरित'—तीन प्रबंधकाव्य और एक मुक्तक संग्रह 'आलमकेलि' आलम के नाम से प्राप्त हैं। शुक्ल जी के अनुसार प्रबंधकार आलम और हैं तथा मुक्तककार आलम और। काव्यरूप और शैली की भिन्नता इस मान्यता के मूल में है। रंगरेज़िन प्रेयसी शेख का संबंध मुक्तककार आलम से माना गया है और उसी को शुक्ल जी ने स्वच्छंद प्रवृत्ति का कवि कहा है—प्रबंधकार आलम तो सूफ़ी प्रभाव से युक्त शुद्ध प्रेमाख्यानक काव्य-परंपरा के कवि हैं। इसके विपरीत पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र दोनों को एक ही व्यक्ति मानते हैं। इस विवाद के पक्ष-विपक्ष की परीक्षा करने का तो यहां अवकाश नहीं है, इतना अवश्य कथनीय है कि स्वच्छंदधारा की विशेषताओं के दर्शन 'आलमकेलि' में ही होते हैं, लौकिक प्रेम की भावात्मक और परंपरामुक्त अभिव्यक्ति जैसी 'आलमकेलि' के कवित्त-सवैयों में मिलती है, वैसी उपरिकथित अन्य रचनाओं में नहीं।

शेख कोई रंगरेज़िन थी और उसकी काव्य-कुशलता पर मुग्ध हो कर कोई ब्राह्मणदेवता मुसलमान 'आलम' बन गये, यह किंवदंती भी प्रचलित है। साथ ही यह भी कहा जाता है कि 'आलमकेलि' के 'आलम' छाप वाले पद्य पति आलम के और 'शेख' छाप वाले पद्य पत्नी शेख के हैं, पर परीक्षा करने पर उनमें शैली आदि का कोई विशेष अंतर नहीं प्रतीत होता। इसके अतिरिक्त 'शेख' नाम के साथ पुल्लिंग क्रिया के प्रयोग भी पद्यों में मिलते हैं। मुसलमानों में 'शेख' नाम स्त्रियों का होता भी नहीं। अतः अनुमान यह होता है कि 'शेख' आलम का ही जातीय नाम था। वही अपनी छाप यथावश्यक कभी 'आलम' और कभी 'शेख' रख देता था। रंगरेज़िन की कहानी या तो मनगढ़ंत है या फिर उसका कोई और नाम होगा।

आलम घनानंद की भांति सर्वथा स्वच्छंद नहीं हैं। इनके कवित्त-सवैयों में रीति-परंपरा के गुण भी कुछ-कुछ मिल जाते हैं, अर्थात कहीं-कहीं उन्हें नायिकाभेद, रस आदि के आधार पर खतियाया भी गया है। घनानंद जिस प्रकार अपनी अनुभूति की स्वच्छंदता और असाधारणता के प्रति जागरूक हैं, उस प्रकार आलम नहीं हैं। पर फिर भी इनके काव्य को रीतिबद्ध नहीं माना जा सकता। इनका काव्य स्थूल वस्तुप्रधान नहीं है, भावप्रधान है। संयोग हो या वियोग, कवि विषादमग्न रहता है। वियोग तो वैसा ही मार्मिक और आंतरिक है, जैसा घनानंद का। आलम वियोग में बिके से, थके से एवं जीवन का दांव हारे हुए से लगते हैं। इस प्रसंग में उनका यह

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सवैया बड़ा प्रसिद्ध है :

*जा थल कीन्हे विहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यौ करैं।*
*जा रसना सौं करीं बहु बात सु ता रसना सौं चरित्र गुन्यौ करैं।*
*'आलम' चैन से कुंजन में करी केलि वहाँ अब सीस धुन्यौ करैं।*
*नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं॥*

इनकी प्रेमानुभूति व्यक्तिगत है। अतएव, वह मार्मिक और सत्य प्रतीत होती है। उसमें अभिलाषा की प्रधानता है, इसलिए प्रिय को पा कर भी प्रेमी तृप्त नहीं होता। उसका प्रत्येक क्षण अंतर्द्वंद्व से पीड़ित रहता है। अभिलाषाओं का ही यह प्रभाव है कि प्रिय की छोटी-छोटी चेष्टाएं प्रेमी के अंतरतम को मथ डालती हैं। दूसरी ओर इस प्रेम में विषमता भी है। प्रेमी अपनी अभिलाषाओं में आकुल रहता है, पर प्रिय निष्ठुर और कठोर ही बना रहता है। कृष्ण निकट रहते हैं, फिर भी निष्ठुर हैं। ऐसी स्थिति प्रेमी के लिए गले की फांसी बन जाती है।

इस प्रकार विभाव, अनुभाव, नायिकाभेद आदि की रीतिबद्ध परंपरा से मुक्त हो कर मन की उलझन और व्यथा की अनेक ऐसी अंतर्दशाएं आलम ने चित्रित की हैं, जो रीतिबद्ध काव्य में देखने को नहीं मिलतीं। उनके द्वारा वर्णित प्रेम चेष्टाप्रधान बाह्य नहीं है, अनुभूतिप्रधान आंतरिक है, इसीलिए उनकी शैली मार्मिक है। उसमें अभिलाषा और वेदना की प्रधानता है, इसलिए वह आपाततः फ़ारसी की प्रेम-पद्धति की ओर अधिक झुका हुआ है। उसमें नैराश्य, मार्मिकता, व्यथा, मूकता आदि विशेषताएं बार-बार अभिव्यक्त हुई हैं। संभवतः इसीलिए आलम अपनी उक्तियों को सजाने और चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए कभी सावधान नहीं दिखायी पड़ते। उनकी चिंता भावों को अपनी समस्त पूर्णता और गंभीरता के साथ व्यक्त करने की रहती है, अतः वे शैली की आलंकारिकता के मोह से मुक्त हैं।

**ठाकुर :** ठाकुर का साहित्य मात्रा में अधिक नहीं है। उनके दो संग्रह उपलब्ध हैं—'ठाकुर-ठसक' और 'ठाकुर-शतक', जिनमें से 'शतक' के कुछ पद्य 'ठसक' में भी आ गये हैं। वैसे अपने काव्यमार्ग की विशेषताओं के प्रति घनानंद की भांति ठाकुर भी सजग हैं। केवल कवि-शिक्षा के बल पर काव्यरचना का उन्होंने उपहास किया है। ऐसे काव्य में जो कृत्रिमता और सीमितता रहती है, ठाकुर का काव्य उससे मुक्त है। अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों में ये सहज स्वाभाविक है। इनके भाव व्यक्तिगत हो कर भी सार्वजनीन हैं। हृदय-हृदय में उनका स्पंदन होता है। भाषा भी बोलचाल की, चलती और स्वच्छ है। उसमें प्रवाह तो है, पर अलंकार आदि का लदाव नहीं। निश्छल अनुभूति और अकृत्रिम अभिव्यक्ति ठाकुर को रीतिबद्ध कवियों से पृथक् कर देती है। अन्य स्वच्छंदमार्गियों की भांति ये भी प्रेम की स्थिरता और निर्वाह के प्रशंसक हैं। प्रिय के रुक्ष या चंचल होने पर भी प्रेमी अपने प्रेम का निर्वाह ही करता है :

*का करियै तुम्हरे मन कौ जिनकौ अब लौं न मिटी दगा दीबौ।*
*पै हम दूसरो रूप न देखिहैं आनन आन कौ नाम न लीबौ।*
*ठाकुर एक सौ भाव है तौ लगि जौ लगि देह धरे जग जीबौ।*
*प्यारे सनेह निबाहिबे को हम तौ अपनौ सौ कियौ अरु कीबौ॥*

ठाकुर के काव्य में भक्ति-भावना भी मिलती है। उसके अंतर्गत उन्होंने लीलावर्णन नहीं किया है, अपितु उनकी परमेश्वर संबंधी धारणा ऐसी सर्वसाधारण है, जो राम, कृष्ण आदि की सीमाओं से परे एक अप्रत्यक्ष शक्ति के रूप में लोकमानस में बैठी रहती है। सर्वसाधारण के मन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में ईश्वर की विलक्षण महिमा का ही विश्वास रहता है, ठाकुर इसी के कवि हैं। वर्ण्य की दृष्टि से एक अन्य विशेषता यह है कि इनकी काव्यानुभूति में वैयक्तिकता के साथ-साथ लोकजीवन के सहज सौंदर्य का संस्पर्श भी है। प्रकृति के मुक्त रूप के साथ ही इनके काव्य में तीज-त्योहारों का उल्लासमय रूप भी वर्णित है, जिससे इनका काव्य लोकधर्मी प्रतीत होता है। वस्तुतः ठाकुर की संपूर्ण काव्यकला लोकरुचि की ओर झुकी हुई है। इसी से वे रीतिमार्ग से हट कर स्वच्छंद और नवीन लगते हैं।

रीतिमार्गी कवि अपनी अभिव्यक्ति के लिए अलंकारों के अचल दलदल में आपादमस्तक मग्न थे। यह पद्धति घिसी-पिटी हो कर अपना आकर्षण खो चुकी थी। साथ ही यह साहित्यिक सीमा-बंधन भाषा को जीवन से काट देता था। ठाकुर ने इसके लिए लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग कर नया मार्ग अपनाया। मुहावरों की तुलना में उनके काव्य में लोकोक्तियां अधिक हैं। ठाकुर ने उन्हें भाषा का अलंकरण समझा है। लोकोक्तियों के द्वारा कवि शीघ्र ही लोकमानस को छू लेता है। लोकोक्तियों और मुहावरों से भाषा का सौंदर्य और बल तो बढ़ जाता है, पर उसमें अलंकारों जैसा भारीपन नहीं आता। ठाकुर की इस विशेषता को समकालीन काव्यप्रवृत्ति से प्रस्थान-भेद ही माना जायेगा।

**बोधा :** 'विरहवारीश' और 'इश्कनामा'—बोधा की ये दो कृतियां उपलब्ध हैं। इनमें पहली तो माधवानल-कामकंदला की प्रसिद्ध प्रेमकथा पर लिखी गयी प्रबंधरचना है, और दूसरी प्रेम पर लिखे मुक्तकों का संग्रह है। 'विरहवारीश' में घटनाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। सूफ़ी कवि आलम की रचना से यह आकार में बड़ी है, लेकिन आलम जैसी प्रांजलता और प्रौढ़ता इसमें नहीं है। संभोग आदि के कुछ वर्णन अश्लील भी हो गये हैं। 'इश्कनामा' अपेक्षाकृत साफ़-सुथरी रचना है। इसमें प्रेम के निर्वाह-पक्ष पर सहज भाषा में बड़े प्रभावकारी भाव दिये गये हैं। प्रेम-पंथ के विषय में बोधा का यह सवैया बड़ा प्रसिद्ध है :

*अति छीन मृनाल के तारहु ते तेहि ऊपर पाँव दै आवनौ है।*
*सुई बेह तेद्वार सकीन वहाँ परतीति को टाँड़ौ लदावनौ है।*
*कवि बोधा अनी घनी नेजहु ते चढ़ि तापै न चित्त डरावनौ है।*
*यह प्रेम को पन्थ कराल महा तरवारि की धार पै धावनौ है॥*

बोधा बड़े बेधड़क हो कर निःसंकोच बात कहते हैं। यह उनके व्यक्तित्व की विशेषता है। उन्होंने मनोवेगों को प्रायः प्राकृत रूप में व्यक्त किया है। उनमें परिष्कार और संयम का अभाव रहता है। इसीलिए कहीं-कहीं वे निर्मर्याद भी हो गये हैं। पर इस अनियंत्रित भाव-राशि में भी कवि की स्वच्छंद प्रकृति का आभास स्पष्ट मिलता है। इनके भाव व्यक्तिगत हैं। कवि ने जैसा अनुभव किया है, उसे वैसा ही कह दिया है। संवारने-सजाने की चिंता इन्हें नहीं रहती। अकृत्रिमता बोधा की कविता की सर्वप्रमुख विशेषता है।

भाषा की स्वाभाविकता स्वच्छंदमार्गी सभी कवियों की अपेक्षा बोधा में अधिक है। ठाकुर ने लोकोक्तियों द्वारा, घनानंद ने लक्षणाओं के बल से तथा आलम ने अलंकारों के प्रयोग से चमत्कार का आश्रयण किया है। केवल बोधा ही ऐसे हैं जो भाषा के स्वाभाविक रूप को ले कर चले हैं। उर्दू-फ़ारसी के शब्द अवश्य कहीं-कहीं बीच में आ जाते हैं। फ़ारसी के प्रभाव से ही भाव भी कहीं-कहीं अधिक खुले और बाज़ारू भी हो गये हैं, पर ऐसे स्थल कम हैं और वे कवि की स्वच्छंदता के ही द्योतक हैं।

**द्विजदेव :** द्विजदेव (1820-1861) की गणना रीतिबद्ध कवियों में भी की जाती है, किंतु

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्वच्छंद प्रकृति का प्रभाव उनके काव्य पर अधिक है। उन्होंने शृंगार के रीतिग्रस्त वर्णनों के साथ-साथ हृदय की अनेक अंतर्दशाओं का मार्मिक उद्घाटन किया है, जिससे वे घनानंद की दिशा में बढ़ते प्रतीत होते हैं। रोष, क्षोभ, दैन्य, अधैर्य, धृति, स्मृति, उद्वेग, जड़ता आदि कितने ही भावों की सफल व्यंजना उन्होंने की है। ऐसा वे वियोग के प्रसंग में ही कर पाये हैं, संयोग-वर्णन तो परंपराग्रस्त ही है। इससे भी अधिक उल्लेखनीय विशेषता--प्रकृति वर्णन की है। उनका प्रकृति-प्रेम स्वच्छंद है। प्रकृति का आलंबन-रूप में भी उन्होंने वर्णन किया है। उनके एकमात्र संग्रह-ग्रंथ 'शृंगारलतिका-सौरभ' में वसंत पर लिखे तैंतीस पद्य हैं। वसंत राजकुमार की भांति सबका सेव्य और प्रिय है; वृक्षावली उसका स्वागत करती है :

*डोलि रहे विकसे तरु एकैं,*
*सु एकैं रहे हैं नवाइकैं सीसहिं।*
*त्यौं द्विजदेव मरन्द के व्याजहिं,*
*एकैं अनन्द के आँसू बरीसहिं।*
*तैसेउ कैं अनुराग भरे,*
*कर पल्लव जोरि कैं एकैं असीसहिं॥*

द्विजदेव की भाषा एक ओर रीतियुग के समस्त काव्यसौंदर्य को आत्मसात् किये हुए हैं, तो दूसरी ओर लक्षणाओं, लोकोक्तियों और मुहावरों से उनकी अभिव्यंजनाशक्ति द्विगुणित हो गयी है। इस दिशा में वे घनानंद और ठाकुर के पथ पर अग्रसर रहे हैं।

## रीतिमुक्त काव्य की सामान्य विशेषताएं

रीतिमुक्त पद्धति के कवियों और इनकी काव्य-प्रवृत्तियों का जो परिचय यहां प्रस्तुत किया गया है उसके समन्वित आकलन से रीतिकालीन स्वच्छंद काव्यधारा का यह स्वरूप स्थिर होता है :

1. इस धारा के कवि अपनी काव्यगत विशेषताओं के प्रति विशेष रूप से सजग रहे हैं। उन्होने अपने काव्यादर्श व्यक्त किये हैं और उन्हें अपने समसामयिक रीतिबद्ध काव्यादर्शों से पृथक् समझा है। घनानंद ने विशेषरूप से अपने काव्यादर्शों का साग्रह उद्घोष किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे अपने काव्यमार्ग को परंपरामुक्त स्वच्छंद मानते थे। वास्तव में इनका काव्य-जगत भावावेगमय होने के कारण आंतरिक अधिक है, चेष्टामय बाह्य नहीं, जैसा कि बिहारी, मतिराम, पद्माकर आदि का है। इन कवियों का लक्ष्य हृदय के भावावेगों को मुक्त भाव से उंड़ेल देना है। आत्मविभोर हो कर काव्य-रचना करने वाले ये लोग बौद्धिकता को काव्य का अनुकूल गुण नहीं मानते। घनानंद और आलम के काव्य में भावों के पर्त, उनक भेद-प्रभेद एक के बाद एक उघड़ते जाते हैं। ये भाव अपनी भंगिमाओं के ऐसे आकर्षक बिंब ले कर आते हैं कि पाठक उनकी अरूपता का अनुभव नहीं कर पाता और एक अनोखे भावलोक में पहुंच जाता है।

2. इस धारा के काव्य में कवियों की प्रेमानुभूति को आत्माभिव्यक्ति की शैली में स्थान प्राप्त हुआ है। रीतिबद्ध कवियों ने प्रेमी-प्रेमिकाओं अथवा नायक-नायिकाओं की योजना कर प्रेमभाव की जैसी व्यंजना की है, वह यहां नहीं है। आत्माभिव्यक्ति की परंपरा यों तो भक्ति-साहित्य में ही प्रारंभ हो गयी थी, किंतु वहां भक्त जो दैन्य-निवेदन करता है, वह साधनात्मक और आध्यात्मिक है; जबकि रीतिमुक्त काव्य में वह लौकिक प्रेमव्यथा का मर्मोद्घाटन लिये हुए है। संक्षेप में, रीतिबद्ध काव्य वस्तुप्रधान है, तो रीतिमुक्त काव्य व्यक्तिप्रधान। इस धारा के कवि अपने व्यक्तिगत जीवन में किसी-न-किसी से प्रेमाहत हुए थे, अतः इन्हें अपनी प्रेमव्यथा का वर्णन करने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में मुक्ति जैसा अनुभव हुआ होगा। हिंदी की लौकिक काव्यपरंपरा में यह शैली नवीन है। फ़ारसी का प्रभाव इसमें कारण हो सकता है, क्योंकि वहां प्रेमव्यंजना प्राय: उत्तम पुरुष की भाषा में की जाती है।

3. रीतिमुक्त कवियों का प्रेम-वर्णन व्यथाप्रधान है। उसके अंतर्गत एक तो संयोग की मात्रा कम है और वह है भी तो उसमें भी पीड़ा की अनुभूति किसी-न-किसी प्रकार बनी रहती है : "यह कैसौ संयोग न सूझि परै, जो वियोग न क्यों हूं बिछोहतु है।" परंपरानुसारी शृंगारवर्णन संयोग के हर्ष और वियोग के विषाद के अंतर्गत हुआ है, अत: रीतिमुक्त काव्य की व्यथाप्रधानता उसे प्रचलित परंपरा से पृथक् प्रमाणित करती है। इसका एक कारण तो यह है कि फ़ारसी का प्रभाव इसके मूल में है। वहां भी प्रेमवेदनाप्रधान ही अधिक वर्णित हुआ है। दूसरे, तत्कालीन समाज की भी छाया इन कवियों के मन पर पड़ी थी। इस काल में व्यक्ति के मन में घुटन और अवसाद के भाव ही प्रमुख रूप से विद्यमान थे। सामंतशाही अपने चरम शिखर पर थी। व्यक्ति-स्वातंत्र्य पदाक्रांत था। पीड़ा की कहानी सुनने को कोई तैयार न था। इसीलिए इन लोगों ने व्यथा को भीतर-ही-भीतर पी लेने की, उसे प्रकट न करने की बात बार-बार कही है। यह असंतोष काव्य में प्रेम की भाषा में अभिव्यक्ति पाये, यह स्वाभाविक था। इस प्रकार इन कवियों की ऐकांतिक प्रेमानुभूति के अंतरतम में सामाजिक असंतोष का भी पुट था।

4. प्राचीन काव्यपरंपरा का त्याग इनकी सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता है। रीतिकाल का समूचा साहित्य या तो आलंकारिक चमत्कारों के प्रभाव से शोभा-संपन्न हुआ है या फिर नायिकाभेद अथवा भावभेद से। दोनों ही संदर्भ अपनी शास्त्रीय इयत्ता में सीमित बन गये थे। नायिकाभेद का बोध कवि को परंपरा से अधिक होता था, जीवन से कम। इसी प्रकार भावभेद नौ रसों के स्थायी, संचारी आदि भावों तक परिमित हो गया था। रीतिमुक्त कवियों ने अपनी काव्य-शैली पर जानबूझ कर अलंकारों के चमत्कार को आरोपित नहीं होने दिया है। ठाकुर ने प्राय: निरलंकृत सहज भाषा में अभिव्यक्तियां दी हैं। घनानंद ने अलंकारों का प्रयोग सबसे अधिक किया है, पर वे सप्रयास नहीं प्रयुक्त हुए, अपितु भाव के अंगरूप में प्रयुक्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त मुहावरों एवं लक्षणाओं द्वारा शैली में सामर्थ्य, चमत्कार आदि लाने का जो नया मार्ग घनानंद ने खोला, वह भी उनकी अलंकारनिरपेक्षशैली का परिचायक है। ठाकुर की शैली अलंकारसापेक्ष नहीं है, लोकोक्तियों का सफल प्रयोग उसकी विशेषता है। आलम और घनानंद के काव्य में सैकड़ों ऐसे पद्य मिलते हैं जिनमें एक भी अलंकार नहीं, पर कविता अपनी मार्मिकता से हृदय के अंतरतम को छू लेती है। इन कवियों की नायिकाएं व्यक्ति हैं, उनकी रूप-चेष्टाओं का उन्होंने आंखों देखा वर्णन किया है। सुजान का सो कर उठना, चिक में से झांकना, काली साड़ी पहनना, सज कर चलने को उद्यत होना, शराब पीना, नाचने को एड़ी उठाना आदि छोटी-छोटी शतश: चेष्टाएं घनानंद के काव्य में वर्णित हैं, जिनकी प्रेरणा नायिकाभेद से नहीं प्राप्त हो सकती। अत: रीतिमुक्त कवियों के वर्ण्य विषय और उनकी वर्णनशैली—दोनों काव्यपरंपरा से मुक्त हैं।

5. रीतिमुक्त कवियों की प्रेम-संबंधी धारणा रीतिबद्ध कवियों से भिन्न है। इनके प्रेम में उदात्तता है, रीतिबद्ध कवियों जैसी ऐंद्रिय वासना नहीं। प्रेमी वियोग की व्यथा सह कर भी प्रिय की कुशल-कामना करता है। उसके लिए त्याग करता है और अंतिम श्वास तक उसी का स्मरण करता रहता है। प्रिय नहीं प्राप्त होता तो भी प्रेमी के प्राण प्रिय का संदेश ले कर बाहर निकलना चाहते हैं। वेदना को प्रेमी अपना भाग्य समझता है, मौन हो कर उसे सह लेता है तथा किसी से कुछ कहता नहीं। घनानंद, आलम, बोधा, ठाकुर सभी इस विषय में एक सी धारणा लिये हुए हैं। प्रेम की अनन्यता के भाव इन कवियों ने बड़ी दृढ़ता और मार्मिकता के साथ बार-बार व्यक्त किये

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हैं। यह प्रेम भावनात्मक है। संयोग हो अथवा वियोग, प्रेमी सदा चाह में मग्न रहता है। संयोग के रूप-वर्णन में भी अभिलाषाओं का प्राधान्य रहता है। इसके विपरीत कविता स्थूल, चेष्टाप्रधान अथवा रूपप्रधान प्रेम को ले कर चली है, इसीलिए उसमें कहीं-कहीं अनौचित्य एवं अश्लीलता आ जाती है। इसमें वैसा कुछ नहीं है, क्योंकि इसकी उत्सभूमि और क्रीड़ाभूमि भाव ही हैं।

वियोग में अनुभूतियों का प्राधान्य और भी बढ़ जाता है। उपमानों और बिंबों के सहारे कवि अंतर्दशाओं का ऐसा अनुभव करता चलता है कि पाठक भावमग्न हो जाते हैं। घनानंद और आलम के काव्य में हमें भावों की अनेक सूक्ष्म अंतर्दशाओं का वर्णन मिलता है, जो न रुक्ष है और न अनास्वाद्य। भावात्मकता के कारण इन कवियों का प्रेम-वर्णन प्रारंभ में स्थूल शारीरिक है, पर बाद में परम सत्ता के प्रति उन्मुख हो कर ऊर्ध्वगामी बन गया है। इसीलिए इसमें कहीं-कहीं रहस्यात्मकता का सौरभ और बढ़ गया है। रीतिमुक्त प्रेम की एक और विशेषता उसकी विषमता है। उसका निर्वाह कर सकना सबके लिए सुगम नहीं है। प्रेमी प्रिय में आसक्त, उसके वियोग में व्यथापीड़ित, आतुर, सचिंत और सकाम है। वह अपने प्रेम का निर्वाह करने में प्राणपण से प्रस्तुत है, पर प्रिय इसके विपरीत उपेक्षक, अन्योन्मुख, सुख-चैन का ग्राहक, भुलक्कड़ और लापरवाह है। उसके संबंध में प्रेम के निर्वाह का प्रश्न ही नहीं उठता। यह विषमता वैसे तो चारों कवियों के काव्य में विद्यमान है, पर घनानंद में वह अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गयी है। प्रेम की विषम भावना के कारण ही घनानंद की शैली में विरोध की प्रधानता हो गयी है—उन्हें प्रेम की अनुभूति में पद-पद पर विषमता और विरोध के दर्शन होते हैं। इस प्रवृत्ति की प्रेरणा पर विचार करें तो इसके स्रोत पूर्ववर्ती साहित्य में मिल जाते हैं। फ़ारसी-काव्य में एकपक्षीय प्रेम का ही वर्णन है। मधुरा भक्ति में जब वियोग की अनुभूति होती है तो परमेश्वर रूपी प्रिय को निष्ठुर, कठोर और उपेक्षक कह कर उलाहना दिया जाता है। सूर का 'भ्रमरगीत' विषम भगवत्प्रेम का ही काव्य है। 'भागवत' में दशम स्कंध में भगवान श्रीकृष्ण ने गोपिकाओं को समझाया है कि 'मैं प्रेम करने वाले भक्तों से स्वयं प्रेम नहीं करता, इसी से उनका प्रेम परिपक्व होता है।'[7] अतः इन कवियों की प्रेमभावना में आध्यात्मिकता की गंध से यह गुण आ गया हो, यह बहुत संभव है। तीसरा कारण इन लोगों के व्यक्तिगत जीवन की परिस्थितियां भी हो सकती हैं। इन सभी के जीवन में असफल प्रेम का प्रसंग घटा था!

विचारणीय बात यह है कि इस विषमता से प्रेमानुभूति में पुष्टता और परिपक्वता और अधिक बढ़ती है। इससे प्रिय का स्वरूप सदोष किंवा लांछित नहीं होता, अपितु प्रेमी का स्वरूप इस बात से और भी अधिक उज्ज्वल हो उठता है कि वह दूसरी ओर से कुछ न पा कर भी अपने मार्ग पर अड़िग रहता है। अतः रीतिमुक्त कवियों के प्रेम की विषमता अनुभूति में दृढ़ता लाने के लिए नियोजित है, न कि उसे एकदेशीय किंवा अपूर्ण बनाने के लिए।

6. इस धारा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता भाषा का असाधारण प्रयोग है। जहां रीतिबद्ध कवियों की भाषा अलंकारों की सत्ता में जकड़ी हुई होने के कारण जीवन से कटी हुई है और एकरूपता के दोष से पीड़ित है, वहां रीतिमुक्त कवियों की भाषा इन अभावों से मुक्त है। सत्य तो यह है कि रीतिबद्ध कवि भाषा की उस जीवनीशक्ति से अपरिचित हैं, जो जायसी, सूर, तुलसी आदि के काव्य में सुलभ है। न उन्हें अपने लोकजीवन में सौंदर्य दिखायी पड़ता है और न भाषा के व्यावहारिक रूप में रमणीयता। रीतिमुक्त कवियों ने इस दिशा में नया मार्ग अपनाया है। सूरदास आदि की भांति उन्होंने लक्षणाओं, लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग से अपनी भाषाशक्ति बढ़ायी है और अभिव्यंजनाशिल्प के नये आयाम खोले हैं। लक्षणा के सहारे घनानंद अपनी सूक्ष्म अनुभूतियों को तो सफल अभिव्यक्ति दे ही सके हैं, वे उनमें अनेक प्रकार की चमत्कारयोजना भी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कर गये हैं। घनानंद का काव्यशिल्प अलंकारों का मुहताज नहीं है, सहज भाषा में बड़ी मार्मिक व्यंजनापूर्ण अभिव्यक्ति उन्होंने की है। ठाकुर ने भी लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रचुर प्रयोग किया है। उनकी संपूर्ण कला ही लोकजीवन की ओर विशेष झुकी हुई है।

7. रीतिमुक्त काव्यधारा का फ़ारसी की काव्यप्रवृत्तियों से प्रभावित होना भी ध्यान आकृष्ट करता है। सत्य तो यह है कि अकबर के शासनकाल से ही मुग़ल-दरबार में हिंदी और फ़ारसी के कवियों का साथ-साथ बैठना, एक-दूसरे की कविता को सुनना-समझना प्रारंभ हो गया था। फलस्वरूप दोनों ही एक-दूसरे से प्रभावित होने लगे। भक्तिकाल में यह प्रभाव प्रारंभिक अवस्था में रहा। भक्तकवियों की भाषा में जहां-तहां फ़ारसी के शब्द आने लगे और भगवत्प्रेम की अनुभूति में लौकिकता का हल्का रंग झलकने लगा, पर काव्य का स्वरूप और आत्मा उससे अछूते रहे। इस काल की काव्यकला का झुकाव या तो लोकजीवन की ओर है या फिर संस्कृत की काव्य-परंपरा की ओर। किंतु रीतिकाल तक आते-आते फ़ारसी उत्तर भारत के हिंदू-समाज में फैलने लगी थी। हिंदुओं में भी फ़ारसी के विद्वान और कवि होने लगे। घनानंद और आलम फ़ारसी के विद्वान थे। किंवदंती है कि घनानंद ने कोई मसनवी भी लिखी थी। इसलिए यह प्रभाव विषय, भाव और शैली सब पर आ गया। काव्य भक्तों के बजाय कविंदों के हाथ में आया, तो कविता भी भगवान के दरबार से उतर कर राजदरबारों में आ बैठी। राधा और कृष्ण नायक-नायिकाएं बन गये। उनके प्रेम में नागरिकता और मादकता का सन्निवेश रीतिकाल की देन है, जो दरबारी संस्कृति और उसमें छिपे फ़ारसी-प्रभाव का फल है। जो लोग संस्कृत की परंपरा का निर्वाह कर रहे थे, वे भी इस प्रभाव से अछूते न रह सके। मुक्तककला का सर्वव्यापी प्रसार, उपमानों और बिंबों में परिवर्तन, शृंगार में खंडिता के वचनों की प्रचुरता आदि को फ़ारसी-काव्य के प्रभाव का ही फल माना जाता है। इस काल के कवित्त-सवैयों में जो अंतिम पंक्ति अधिक सप्राण होती है, वह भी फ़ारसी का ही प्रभाव है; शेरों में भी प्रभाविष्णु अंश उनका अंतिम भाग रहता है।

रीतिमुक्त कवियों पर यह प्रभाव और भी अधिक पड़ा। विषम प्रेम का आश्रयण, आत्मकथन की शैली में भावात्मक काव्यप्रणयन और भाषा में अलंकारों की उपेक्षा इसी प्रभाव के परिचायक हैं। आत्मकथन की शैली का कारण कवियों का व्यक्तिगत प्रेमी जीवन भी हो सकता है, पर फ़ारसी का साहित्यिक प्रभाव भी अपनी भूमिका निभा रहा है। घनानंद तो मुहम्मदशाह के मीरमुंशी थे, साथ ही फ़ारसी के विद्वान थे। अतः इन पर उसका प्रभाव सर्वाधिक पड़ा। इनकी रचना 'इश्कलता' की भाषा में फ़ारसी के शब्दों की भरमार है। उसके भाव भी फ़ारसी की भांति अत्युक्तिपूर्ण और आशिकाना ढंग के हैं। घनानंदकृत 'वियोगवेलि' का छंद फ़ारसी का है। शराब, दिल के टुकड़े, प्राणों का घुट मरना, छाती में घाव या छाले पड़ना, छुरी, तलवार या भाले, बधिक आदि अप्रस्तुत इनके समस्त काव्य में प्रचुरता से प्रयुक्त हुए हैं। लक्षणा और मुहावरों के प्रयोग से भाषा की जैसी शक्ति इन्होंने बढ़ायी है, वह प्रभाव का बड़ा स्वस्थ और स्वतंत्र रूप है। उसमें ब्रजभाषा की निजी प्रकृति का दक्षतापूर्ण प्रयोग हुआ है, फ़ारसी की केवल प्रेरणा है। मुहावरे ब्रज के और लक्षणाएं कवि की निजी हैं। घनानंद का यह पक्ष सबसे अधिक अभिनंदनीय है। भावों में चमत्कार के स्थान पर मार्मिकता, सूक्ष्मता, वैयक्तिकता, विषाद, आंतरिकता आदि गुण भी फ़ारसी के प्रभाव के फलस्वरूप हैं। शैली में जो रहस्य का पुट कहीं-कहीं आ गया है, वह भी फ़ारसी के सूफ़ी-पक्ष का प्रभाव हो सकता है। सब मिला कर घनानंद ने फ़ारसी-प्रभाव का पचा कर प्रयोग किया है, उसका अंधानुकरण नहीं किया।

आलम की शैली में भी नैराश्य, विषम प्रेम, भावों की आंतरिकता आदि गुण फ़ारसी के प्रभाव से आये हैं। 'आलमकेलि' को ले कर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जो इनके संबंध में कहा है कि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'कहीं-कहीं फ़ारसीशैली के रसबाधक भाव भी इनमें मिलते हैं', वह ठीक ही है। बोधा की भाषा और भाव दोनों में फ़ारसी का प्रभाव खुल कर पड़ा। फ़ारसी की प्रचुर शब्दावली के मिश्रण से इनकी भाषा बोझिल और शैली असंयत हो गयी। बोधा के काव्य पर फ़ारसी का खुला प्रभाव सभी आलोचकों ने स्वीकार किया है। इस प्रकार रीतिमुक्त कवियों ने रीतिकालीन काव्यफलक पर जो नयी रेखा खींची थी, उसमें उनके व्यक्तित्व की विशिष्टता के साथ-साथ फ़ारसी के प्रभाव को भी प्रेरक कारण माना जा सकता है।

## संदर्भ

1. इनमें आज दतिया और बिजावर के पुस्तकालय नामशेष ही हैं और छतरपुर के पुस्तकालय में प्रकाशित ग्रंथ ही अधिकांशः रह गये हैं।
2. एक उदाहरण देखिए :
   प्रतिवस्तूपम समझिए, दोऊ वाक्य समान।
   आभा सूर प्रताप तें, सोभा सूर कमान॥
3. 'रामालंकार' का उल्लेख मिश्रबंधुओं ने किया है, किंतु उसका विवरण नहीं दिया। 'रामचंद्रभूषण' डॉ. भगीरथ मिश्र ने दतिया के राज-पुस्तकालय में देखा था। उन्होंने इसका जो संक्षिप्त विवरण दिया है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि इसमें दोहों में लक्षण-उदाहरण-शैली में विवेचन किया गया है तथा इसके समस्त लक्षण एवं कतिपय उदाहरण वही है, जो 'रामचंद्राभरण' में आये हैं।
4. डॉ. देवराज उपाध्याय-कृत 'रोमांटिक साहित्यशास्त्र' की भूमिका से।
5. देखिए, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. 553
6. तीछन ईंछन बान बखान सौं, पैनी दसाहि लै सान चढ़ावत।
   प्राननि प्यास भरे अतिपानिप, माइल धाइल चोंप चढ़ावत॥
   यौं घनआनंद छावत भावत, जान सजीवन और तें आवत।
   लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहि तो मेरे कवित्त बनावत॥
7. ''नाहं तु तेषां भजतोऽपि जन्तून भजाम्यमीषामनुवृत्तिसिद्धये।''

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अध्याय : 10

# रीतिकाल की अन्य काव्य-प्रवृत्तियां

रीतिकाल में जहां सामंतों और राजाओं का जीवन विलासिता से परिपूर्ण था, वहां सामान्य जनता, जो सच्ची-सीधी थी व खुशामदी बातों से दूर थी, प्राय: धार्मिक वृत्ति की बन गयी थी और पूर्ववर्ती भक्तिभावधारा के प्रवाह में योग दे रही थी। निर्गुणधारा के अंतर्गत संत और सूफ़ी-भावनाओं का समावेश था। उसके प्रभाव से जनसाधारण में से अनेक कवि काव्यसर्जना के माध्यम से अपनी भावनाओं को व्यक्त करने लगे, जिन्हें पहले कबीर, जायसी आदि व्यक्त कर चुके थे। इस युग में नीतिकाव्य की रचना भी इसी संदर्भ में की गयी। दूसरी ओर, राजा, सामंत तथा नवाब छोटी-छोटी बातों पर आत्मसम्मान का प्रश्न उठा कर युद्ध भी करते रहते थे। फलस्वरूप, उनके आश्रित दरबारी कवि युद्ध के समय आश्रयदाताओं का यशोगान भी करते थे। इस प्रकार विवेच्य काल में श्रृंगार-काव्य के अतिरिक्त भक्तिकाव्य, नीतिकाव्य और वीरकाव्य की रचना भी पर्याप्त मात्रा में हुई। इनके अतिरिक्त रीतिकाल के गद्य-साहित्य का अनुशीलन भी अभीष्ट है।

## भक्तिकाव्य

हिंदीभाषी प्रदेशों में चौदहवीं शती तक जिस साहित्य की सर्जना होती रही, उसमें प्रमुखरूपेण दो प्रकार का साहित्य मिलता है—एक तो पूर्वी प्रदेशों की सहजयानी तथा नाथपंथी रचनाएं और दूसरे, पश्चिमी प्रदेशों की नीतिपरक, श्रृंगारपरक तथा आख्यानयुक्त रचनाएं। इन दोनों प्रकार की रचनाओं के सम्मिश्रित प्रभाव से दक्षिण के आलवारों का भक्तिवाद उत्तर भारत की धर्मप्राण जनता की हृदय-भूमि में अवतार-भावना के रूप में पल्लवित हुआ। ईसा की बारहवीं शती से पंद्रहवीं शती तक सूफ़ी-संप्रदायों का प्रेमतत्त्व भी भारतीय धर्म जिज्ञासुओं को आकृष्ट कर चुका था। सूफ़ी-संतों ने भारत की प्रचलित लोककथाओं का सहारा ले कर अपने प्रेमतत्त्वपरक आध्यात्मिक विचार काव्य के माध्यम से सुनाने प्रारंभ कर दिये थे। साहित्य के क्षेत्र में इसका परिणाम यह हुआ कि भक्तिकाल के अनंतर रीतिकाल में भी संतकाव्य, सूफ़ीकाव्य, रामकाव्य और कृष्ण काव्य की रचना होती रही।

### संतकाव्य

रामानंद की शिष्य-परंपरा में दो भिन्न भक्ति-भावनाओं के भक्त हुए। निर्गुणमार्गी भक्तों में कबीर, दादू, रैदास आदि प्रसिद्ध संतकवि हुए, और सगुणमार्गी भक्तों में तुलसीदास जैसे विख्यात महाकवि। निर्गुणभाव के संतकवियों में नामदेव का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। ईसा की तेरहवीं शती में उन्होंने जिस निर्गुणभाव की काव्यधारा प्रवाहित की, वह शनै:-शनै: अग्रसर होती रही और ईसा की सत्रहवीं शती से आगे बढ़ कर उन्नीसवीं शती तक भी अपनी ज्ञान-योग-भावना की शांतिमयी शीतलता प्रदान करती रही। इस भावना को अग्रसर करने में रीतिकाल के कई संतकवियों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ने समय-समय पर योग दिया, जिनमें यारी साहब, दरिया साहब, जगजीवनदास, पलटू साहब, चरनदास, शिवनारायण और तुलसी साहब (हाथरस वाले) विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

**यारी साहब :** ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के अंत में यारी साहब नाम के एक मुस्लिम संत हुए, जिन्होंने योग, अध्यात्म, ज्ञान आदि से संबद्ध बातों का उपदेश अपनी रचनाओं के माध्यम से दिया। इनका पूरा नाम यारमुहम्मद था। इनका रचनाकाल 1700 ई. के लगभग ठहरता है। इन्होंने सूफ़ियों की संगति भी की थी। वैसे ये प्रमुख रूप से बावरी संप्रदाय के प्रसिद्ध संत थे। इनके शिष्यों में हिंदू और मुसलमान दोनों ही पाये जाते हैं। जीवात्मा को स्त्री-रूप में और परमात्मा को प्रियतम-रूप में संबोधित करते हुए इन्होंने शांत रस के बड़े अच्छे पद लिखे हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

*बिरहिनी मन्दिर दियना बार।*
*बिन बाती बिन तेल जुगुति सों, बिन दीपक उजियार।*
*प्रान पिया मेरे घर आयो, रचि पचि सेज संवार।*
*सुखमन सेज परम तत रहिया, पिय निरगुन निरंकार।*
*गावहु री मिलि आनन्द मंगल, यारी मिलिकै यार॥*

**दरिया साहब :** बिहार वाले दरिया साहब प्रसिद्ध संत हुए हैं। ये जाति के मुसलमान थे। इनका जन्म 1664 ई. में और स्वर्गवास 1780 ई. में बताया जाता है। इस तरह इनकी आयु 116 वर्ष की बैठती है। इतनी आयु एक संत के लिए संभव भी है। इनका विवाह तो नौ वर्ष की अवस्था में ही हो गया था, किंतु पंद्रह वर्ष की अवस्था से ही वैराग्य ले कर इन्होंने देशभ्रमण प्रारंभ कर दिया था। यद्यपि देशभ्रमण अधिक स्थानों में नहीं किया, फिर भी इनके छत्तीस शिष्य थे, जो बड़े प्रभावशाली थे और इनकी प्रतिष्ठा तथा यश के स्तंभ थे। दरिया साहब पर कबीर-पंथ, सूफ़ी-मत और सतनामी संप्रदाय का बहुत प्रभाव पड़ा था। इनके ग्रंथों की संख्या बीस बतायी जाती है। इनकी रचनाओं में आत्मशुद्धि पर बल दिया गया है। निराकार पूर्ण ब्रह्म की उपासना के विश्वासी होते हुए भी दरिया साहब प्रमुखता नाम स्मरण को ही देते हैं। इनकी एक प्रसिद्ध कृति 'ज्ञानदीपक' है। इनकी रचनाओं का एक संग्रह 'दरियासागर' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। निर्गुण और सगुण भक्ति की दृष्टि से हम इनका क्षेत्र निश्चित करना चाहें, तो ये निर्गुण भक्तिधारा के संतकवि ही अधिक सिद्ध होते हैं। नाम-स्मरण के माध्यम से निर्गुण ब्रह्म की उपासना करना ही इनका मुख्य सिद्धांत और आध्यात्मिक लक्ष्य था। निम्नलिखित पंक्तियों से इनकी विचारधारा का संकेत मिल जाता है और साथ में यह भी विदित हो जाता है कि ये कबीर से कितने प्रभावित थे :

*भीतर मैलि चहल कै लागी, ऊपर तन का धोवै है।*
*अवगति सुरति महल के भीतर, वाका पन्थ न जोवै है।*
*जुगति बिना कोई भेद न पावै, साधु संगति का गोवै है।*
*कह दरिया कुटने बे गोदो, सीस पटकि का रोवै है॥*

**जगजीवनदास :** जगजीवनदास अपने शिष्यों में जगजीवन साहब नाम से भी विख्यात थे। ये संत दादूदयाल की शिष्य-परंपरा में आते हैं, लेकिन इन्होंने अपना एक भिन्न संप्रदाय चलाया था, जिसे 'सत्यनामी' (सतनामी) संप्रदाय कहते हैं। इनकी शिष्य-परंपरा में आगे चल कर गोविंद साहब, भीखा साहब, पलटू साहब आदि संत हुए। जगजीवनदास का जन्म 1670 ई. में बाराबंकी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ज़िले के सरदहा ग्राम में हुआ था। यह गांव सरयू नदी के किनारे कोटवा से चार मील दूर है। इनका स्वर्गवास 1731 ई. में कोटवा में हुआ। वहां सत्यनामी संप्रदाय की गद्दी और जगजीवनदास की समाधि आज भी मौजूद है। इनकी कृतियों में 'प्रथम ग्रंथ', 'ज्ञानप्रकाश', 'शब्दसागर', 'आगमपद्धति', 'महाप्रलय', 'प्रेमपंथ' और 'अघविनाश' उल्लेखनीय हैं। निर्गुण भक्तिभावना के संतकवि होते हुए भी इनकी रचनाओं में कहीं-कहीं सगुण भक्ति का पुट भी दिखायी पड़ता है। इनकी रचनाओं में ब्रजभाषा तथा अवधी की शब्दावली का समन्वयात्मक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। इनकी काव्यशैली का उदाहरण यह है :

*ऐसे साई की मैं बलिहरिया री।*
*ए सखि संग रंग रस मातिउं देखि रहिउं अनुहरिया री।*
*गगन भवन मा मगन भइउं मैं, बिनु दीपक उंजियरिया री।*
*झलकि चमकि तहं रूप बिराजै, मिटी सकल अन्धियरिया री।*
*कहा कहौ कहिबे की नाहीं, लागि जाहि मन पहियाँ री।*
*जगजीवन वह जोती निरमल, मोती हीरा बरियाँ री॥*

**पलटू साहब :** पलटू साहब जाति के वैश्य थे। इनका जन्म फैज़ाबाद ज़िले के नगपुर जलालपुर गांव में हुआ था। ये आरंभ में गृहस्थ थे, किंतु बाद में विरक्त हो गये। इनका जन्म कब हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि ये जगजीवनदास के परवर्ती संत हैं। इनकी रचनाएं प्रायः दोहा, कुंडलियां, झूलना, अरिल्ल आदि छंदों में मिलती हैं। भाषा में सरलता के साथ-साथ प्रभाव भी है। चमत्कारपूर्ण भाषा के लिए इनकी वाणी प्रसिद्धि पा चुकी थी। इनकी अन्योक्तियों में उत्कृष्ट आध्यात्मिक उद्बोधन मिलता है। जीवात्मा को ज्ञान प्राप्त कराने के संकेत श्रोताओं तथा पाठकों पर एकदम सीधा प्रभाव डालते हैं। इनकी काव्यशैली का उदाहरण इस प्रकार है :

*क्या तू सोवै बावरी चाला जात बसन्त।*
*चाला जात बसन्त कंत ना घर में आये।*
*धृग जीवन है तोर कंत बिनु दिवस गंवाये।*
*गर्व गुमानी नारि फिरै जोवन मदमाती।*
*खसम रहा है रूठि नहीं तू पठवै पाती।*
*लगै न तेरो चित्त कंत को नाहि मनावै।*
*का पर करै सिंगार फूल की सेज बिछावै।*
*पलटू ऋतु भरि खेलि ले फिरि पछितैहै अन्त।*
*क्या सोवै तू बावरी चाला जात बसंत॥*

**चरनदास :** संत चरनदास (1703-1782) अलवर के पास मेवात क्षेत्र के निवासी थे। इनका जन्म अलवर के पास डेहरा गांव में मुरलीधर नाम के ढूसर वैश्य के यहां हुआ था। इनका विवाह छोटी अवस्था में ही हो गया था; किंतु इनमें विवाहोपरांत बहुत जल्दी वैराग्य-भाव उत्पन्न हो गया और उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करता गया। ये बहुत दिनों तक उपयुक्त गुरु की खोज में घूमते फिरे। जब कोई समर्थ गुरु न मिला, तब एक दिन श्री शुकदेव मुनि के दर्शन स्वप्न में प्राप्त करके इन्होंने उन्हें ही अपना गुरु मान लिया। ये 'भागवत' के नित्यपाठी थे। उसी के प्रभाव से ये सच्चे ज्ञानी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और विरागी बने। वर्षों योगाभ्यास भी किया। कहते हैं कि इनके बावन शिष्य थे, जो बड़े पंडित और वक्ता थे। इनके द्वारा प्रवर्तित 'चरनदासी संप्रदाय' की बावन शाखाएं इन्हीं शिष्यों ने स्थापित की थीं। कहा जाता है कि चरनदास ने इक्कीस ग्रंथों की रचना की थी, जिनमें इनके विचारों का पल्लवन बहुत स्पष्टता के साथ हुआ है। इनमें योग, भक्ति और सदाचार पर विशेष बल है। इनका स्वर्गवास दिल्ली में हुआ था, वहीं इनकी समाधि भी बनी हुई है। इनके प्रमुख ग्रंथ हैं—अमरलोक अखंड धाम वर्णन, अष्टांगयोग, ज्ञानस्वरोदय, धर्मजहाज, पंचोपनिषद्, ब्रजचरित्र, ब्रह्मज्ञानसागर शब्द, भक्तिसागर, मनविकृतकरण गुटकासार, योगसंदेहसागर, भक्तिपदार्थ। जीवात्मा को पत्नी और परमात्मा को पति मान कर इन्होंने शांत रस की सुंदर कविताएं लिखी हैं, जैसे :

*हिरदै मैं पावक जरै, हेली तपि नैना भये लाल।*
*आँसू पर आँसू गिरै, हेली यही हमारा हाल॥*
*प्रीतम बिन कल ना परै, हेली कलकल सब अकुलाहिं।*
*डिगी परूं सत ना रहो, हेली कब पिय पकरे बांहिं॥*
*गुरु सुकदेव दया करैं, हेली मोहि मिलावै काल।*
*चरनदास दुःख सब भजैं, हेली सदा रहूँ पति नाल॥*

**शिवनारायण :** शिवनारायणी संप्रदाय के प्रवर्तक संत शिवनारायण का जन्म बलिया ज़िले के चंदवार नामक स्थान में हुआ था। 'मूल-ग्रंथ' के अनुसार इनकी आयु 75 वर्ष की ठहरती है, क्योंकि जन्म सन् 1716 ई. में और देहावसान सन् 1791 में माना गया है। ये बाल्यकाल में ही विरक्त हो गये थे। संत दुखहरनदास के दर्शन इन्हें एक दिन जंगल में हुए थे, उसी क्षण इन्होंने उन्हें अनना गुरु मान लिया। गुरुदेव को ही परब्रह्म मान कर ये चिंतन और ध्यान किया करते थे। कहा जाता है कि इन्होंने योगाभ्यास के बल पर प्राणायाम द्वारा सुरति को स्थिर किया था और दिव्य ज्योति के दर्शन किये थे। प्रसिद्ध है कि इन्होंने ज्ञान, योग आदि से संबद्ध सोलह ग्रंथों की रचना की थी, जिनमें 'गुरु अन्यास' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसमें बारह खंडों के अंतर्गत इन्होंने जो विचारधारा व्यक्त की है, वह वस्तुतः स्वानुभूतिपरक ज्ञानोपदेश ही है। प्रतीकों के माध्यम से इन्होंने आध्यात्मिक जगत का सुंदर वर्णन किया है। पिंड के अंतर्गत हठयोग के द्वारा दिव्य ज्योति की प्राप्ति पर इन्होंने बहुत बल दिया है। इनके काव्य में परमात्मा से जीवात्मा का मिलन पति-पत्नी के मिलन की भांति रसमयी वाणी में चित्रित है। इनकी वाणी पर भोजपुरी का प्रभाव स्पष्टतः व्यक्त रहा है। यथा :

*फूल एक फुलेला बलम जी के देसवा सतगुरु दिहले लखाय हो।*
*नैन सनेहिया सोइ फुल निरखत मन मोरा रहले लोभाय हो।*
*नयन कंवल जल तीनों सुहावन भौंरा गुंजेला तेहि बीच हो।*
*वाके डार पात नहिं साखा नहीं कांदौं नहिं कीच हो॥*

**तुलसी साहब :** तुलसी साहब का कुल-नाम श्यामराव था। प्रसिद्ध है कि ये दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे और पूना के युवराज थे। आचार्य क्षितिमोहन सेन के मतानुसार इनका जन्म 1760 ई. में और देहावसान 1842 ई. में हुआ था। ये बचपन से ही विरक्त स्वभाव के थे। बारह वर्ष की अवस्था में इनका विवाह कर दिया गया था। ये पेशवा बाजीराव के बड़े भाई थे। जिस समय पूना की राजगद्दी देने का अवसर आया तो परंपरा के अनुसार जब इन्हें गद्दी दी गयी, तब ये चुपचाप घर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

से निकल पड़े और विरागी बने हुए यत्र-तत्र भ्रमण करते रहे। अंत में हाथरस (अलीगढ़) में आ कर स्थायी रूप से रहने लगे और इन्होंने संत-मत अपना लिया। तुलसी साहब अपने को तुलसीदास का अवतार मानते थे। इसीलिए ये 'तुलसी साहब' नाम से विख्यात हुए। इन्होंने एक पंथ भी चलाया था, जिसका नाम 'साहब पंथ' है। इनकी गद्दी आज भी हाथरस में है और वहीं समाधि भी बनी हुई है। इनकी कविताओं में संतमत, दर्शन, वैराग्य, साधना आदि से संबद्ध उपदेश भरे हुए हैं। 'घटरामायण' शीर्षक कृति में इन्होंने माया के संबंध में यह भाव व्यक्त किया है :

*नर से निकसी इक नारी, कोई बूझै साधु बिचारी।*
*हाथ न पाँव सीस नहिं काया, खाया सब जग झारी॥*
*माई न बाप आपसे उपजी, करी खसम की ख्वारी।*
*बारी न बूढ़ि तरुन तन नाहीं, सोवत सब जग मारी॥*
*आवै न जाय मरै ना जीवै, जुग जुग रहनि करारी।*
*ऋषी मुनी सब झारि बिगारे सब जग त्राहि पुकारी॥*

तुलसी साहब के चार ग्रंथ मिलते हैं, जो बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—घटरामायण, रत्नसागर, शब्दावली, पद्मसार(अपूर्ण)। इनकी रचनाओं से सिद्ध होता है कि इनके मतानुसार परब्रह्म राम घट-घटवासी हैं और जो कुछ ब्रह्मांड में है, वह सभी पिंड में समाविष्ट है।

**अन्य संतकवि :** रीतिकाल के अन्य प्रसिद्ध संतकवि अधिकतर सत्रहवीं शताब्दी में हुए। साहित्यिकता की दृष्टि से इनमें सर्वप्रथम **गुरु तेगबहादुर** (1622-1675) की रचनाएं उल्लेखनीय हैं। ये सिखों के नवें गुरु थे। इनकी रचनाओं की भाषा एक प्रकार से ब्रजभाषा ही है। 'आदिग्रंथ' के अंतर्गत गुरुमुखी लिपि में इनकी रचनाओं को देखा जा सकता है। इसी अवधि में **आनंदघन** नामक एक जैन संत की जैन धर्म संबंधी पुस्तकें मिलती हैं, जिनमें निर्गुणभाव के भजन हैं। इनकी 'आनंदघन चौबीसी' और 'आनंदघन बहोत्तरी' नामक कृतियां प्रसिद्ध हैं। सत्रहवीं शती के मध्य में दतिया राज्य के सेनुहरा गांव में **अक्षर अनन्य** नाम के प्रतिभाशाली संत हुए। इनका कहना था कि संसार रूपी समुद्र से तरने के लिए योग और ईशाराधन ही प्रमुख साधन हैं। योग और वेदांत दर्शन पर इनकी छह पुस्तकें बतायी जाती हैं—सिद्धांतबोध, ध्यानयोग, विज्ञानयोग, राजयोग, विवेकदीपिका और अनन्यप्रकाश।

सत्रहवीं शती के एक अन्य प्रसिद्ध संत **प्राणनाथ** (1618-1694) हैं। इनका जन्म जागनगर (काठियावाड़) में हुआ था, किंतु अधिकांश जीवन बुंदेलखंड में व्यतीत हुआ। ये उच्च कोटि के साधक और संत थे। भारतवर्ष के अनेक प्रांतों में भ्रमण करते हुए इन्होंने कई भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया था। हिंदी और संस्कृत के अतिरिक्त ये अरबी-फ़ारसी भी अच्छी तरह जानते थे। देश भ्रमण करते-करते ही ये बुंदेलखंड पहुंचे थे। वहां 1674 ई. में इन्होंने महाराज छत्रसाल को दीक्षा दी थी। इनकी कृतियों में उल्लेखनीय हैं—मारफत सागर, कयामतनामा, सिंधिभाषा, सागर सिंगार, किरतन, खुलास, संबंध, खेलबात, षट्ऋतु, कलस, रामग्रंथ, प्रकाशग्रंथ आदि। आध्यात्मिक उपदेशों के माध्यम से मानव-जीवन को उत्तम और उदात्त बनाने में प्राणनाथ की रचनाएं सफल सिद्ध हुई हैं। किसके बिना किसकी क्या स्थिति हो जाती है, उसे उन्हीं के शब्दों में देखिए :

*चन्द विन रजनी, सरोज बिन सरवर,*
*तेज बिन तुरंग, मतंग बिन मद को।*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*बिन सुत सदन, नितम्बिनी सुपति बिन,*
*धन बिन धरम, नृपति बिन पद को॥*
*बिन हरि भजन जगत साहै जग कौन,*
*नौन बिनु भोजन, बिटप बिना छद को।*
*प्राणनाथ सरस सभा न सोहै कवि बिन,*
*विद्या बिना बात, न नगर बिना नद को॥*

सत्रहवीं शताब्दी के अंत में बिहार में बाबा **धरणीदास** नामक संत हुए, जिन्होंने 'प्रेमप्रगास' और 'रत्नावली' नाम की पुस्तकें लिखीं। लगभग उसी समय गाजीपुर ज़िले के संत **बूला साहब** ने 'शब्दसागर' नामक पुस्तक लिखी। इसी संत-परंपरा में गाजीपुर ज़िले के **गुलाल साहब**, सतनामी संप्रदाय के दूलनदास और गरीबदासी संप्रदाय के गरीबदास प्रसिद्ध हैं।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चरणदास की शिष्या **दयाबाई** और **सहजोबाई** की निर्गुण भक्ति-भावना की रचनाओं को प्रसिद्धि प्राप्त हुई। ये दोनों चचेरी बहनें थीं। सहजोबाई दिल्ली के हरिप्रसाद वैश्य की पुत्री थीं। इनका जन्म 1743 ई. में हुआ था। इनकी रचनाएं 'सहजप्रकाश' में संगृहीत हैं। गुरु चरणदास के व्यक्तित्व और ज्ञान से प्रभावित सहजोबाई ने अपने गुरु के संबंध में बहुत लिखा है। गुरु के आभार को इन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है :

*चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, सरसों ना ठहराय।*
*सहजो कूं वा देस मैं, सतगुरु दई बसाय॥*
*सहजो गुरु रंगरेज सा, सब ही कूं रंग देत।*
*जैसा तैसा बसन है, जो कोई आवै सेत॥*

उन्नीसवीं शताब्दी के संतकवियों में स्वामी **शिवदयाल** का उल्लेख अपेक्षित है। ये जाति के खत्री थे और सन् 1818 में उत्पन्न हुए थे। आगरा के पास दयालबाग नाम की बस्ती इनके नाम पर ही बसायी गयी है। ये 'राधास्वामी सत्संग' के प्रवर्त्तक थे। राधास्वामी-संप्रदाय के भक्तजन इन्हें 'स्वामी जी महाराज' नाम से संबोधित करते हैं। शिवदयाल जी अर्थात 'स्वामी जी महाराज' की पत्नी को भक्त लोग 'राधा जी' कहते थे। इसलिए शिवदयाल जी को 'राधा-स्वामी' कहा गया। इनके दो ग्रंथ है—एक पद्य में और दूसरा गद्य में। इनमें योग, साधना और संतों से संबद्ध उपदेश हैं, किंतु साहित्यिक दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व नहीं है।

ईसा की सत्रहवीं शताब्दी से पहले का संतकाव्य व्यापक सदाचरण की मानवीय भावनाओं का क्रांतिकारी उद्घोष था। एक व्यापक भगवद्भक्ति की उदात्त भावना को बाह्याडंबररहित सच्चरित्र में आबद्ध करके जिस सहज वाणी से कबीर, नानक, दादू, रैदास आदि ने जनता को आकृष्ट किया था, वह वाणी अठारहवीं शताब्दी में आ कर शक्तिहीन हो गयी थी। अठारहवीं शती के अंत में तो संतों का अपना जीवन सांप्रदायिक प्रतिद्वंद्विता और बाह्याचार के ढोंग से परिपूर्ण हो गया था। अनेक संतों की पूजा चल पड़ी थी। सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के संतकाव्य में हमें अभिव्यंजना का शक्तिमय प्रकाश दृष्टिगोचर नहीं होता। उसमें अर्थहीन पहेलियां तथा व्यर्थ के शब्दजाल ही अधिक दिखायी पड़ते हैं। अपने-अपने संप्रदायों की प्रतिष्ठा, दिखावटी आडंबर और ख्याति में डूबे रहने वाले संत सच्ची भगवद्भक्ति से कोसों दूर हो गये। इसका परिणाम यह हुआ कि वे सत्य से हट गये और संप्रदाय की प्रतिष्ठा में साधन-शुद्धि को छोड़ बैठे। सत्य एवं सदाचरण का बल ही काव्य की वाणी में शक्ति का संचार किया करता है। उसके अभाव में संतकाव्य की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शक्ति क्षीण होती गयी और अंत में पहेलियों तथा बुझौवलों ने संतवाङ्मय को नितांत निर्जीव-सा बना दिया। परिणाम यह हुआ कि अठारहवीं शताब्दी के अंत तक वह प्राय: समाप्त-सा हो गया। वह काव्य वास्तव में भगवत्प्रेम और जगत से विरक्ति उत्पन्न न कर सका। दो-एक संतकवियों को छोड़ कर यही कहा जा सकता है कि रीतिकालीन संतकाव्य के स्रष्टा कवि न तो सुकवि है और न ही सूक्तिकार, वे केवल पद्यकार हैं। उनकी रचनाएं पाठक की केवल बोधवृत्ति जाग्रत करती हैं, रसात्मक प्रभाव उत्पन्न नहीं करतीं।

## सूफी-काव्य अथवा प्रेमाख्यान-काव्य

यद्यपि हिंदी में प्रेमाख्यानों की सूफी-काव्यधारा का पूर्ण उत्कर्ष भक्तिकाल में लक्षित होता है, किंतु वस्तुत: यह काव्यधारा उन्नीसवीं शती के अंत तक प्रवाहित होती रही। रीतिकाल में प्राय: दो प्रकार के प्रेमाख्यान-काव्य लिखे गये—आध्यात्मिक सिद्धांतपरक तथा लौकिक प्रेमपरक। इनमें से प्रथम वर्ग के अंतर्गत प्राय: कल्पित प्रेमाख्यान अधिक लिखे गये। इनके रचयिताओं में कुछ मुसलमान सूफीकवि थे और कुछ हिंदू संतकवि। मुसलमान सूफी-कवियों में कासिमशाह, नूर मुहम्मद और शेख निसार विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। हिंदू कवियों में सूरदास और दुखहरनदास अधिक प्रसिद्ध हैं। लौकिक प्रेमाख्यानकारों में बोधा, चतुर्भुजदास आदि का उल्लेख अभीष्ट है।

**कासिमशाह :** इनका जन्म बाराबंकी ज़िले के दरियाबाद नगर में श्री इमानुल्लाह के यहां हुआ था। ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के समकालीन थे। जिस प्रकार मलिक मुहम्मद जायसी के प्रेमकाव्य 'पद्मावत' में रत्नसेन और पद्मावती की प्रेमकथा है, उसी प्रकार कासिमशाह के 'हंस-जवाहर' (1736) काव्य में शहजादा हंस और शहजादी जवाहर की प्रेमकहानी है। हंस बलख के सुल्तान बुढ़ानशाह का पुत्र है और जवाहर चीन देश के आलमशाह की पुत्री है। दोनों एक-दूसरे को स्वप्न में देखते हैं और प्रेमाबद्ध हो जाते हैं। 'हंस-जवाहर' काव्य के कथानक का विस्तार कल्पना के आधार पर किया गया है। वर्णन में कासिमशाह ने जायसी के 'पद्मावत' की शैली को अपनाया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जायसी ने 'पद्मावत' में सात अर्द्धालियों के बाद एक दोहा लिखा है, ठीक उसी प्रकार 'हंस-जवाहर' में भी सात अर्द्धालियों के उपरांत एक दोहा लिखा गया है। 'पद्मावत' में तो जायसी का कुछ परिचय मिल जाता है, किंतु 'हंस-जवाहर' में कासिमशाह ने अपना कोई विशेष परिचय नहीं दिया है। भाषा की दृष्टि से यह शुद्ध अवधी भाषा की रचना नहीं है। इसमें ब्रजभाषा और अवधी का गंगा-जमुनी रूप प्रस्तुत किया गया है। ग्रंथ की भाषा में 'होना' क्रिया का भूतकालीन अवधी-रूप 'भा' भी है और ब्रजभाषा-रूप 'भयो' भी। जवाहर स्वप्न में हंस को देखती है और जागने पर अपनी विरह-व्यथा को इन शब्दों में व्यक्त करती है :

*कहं गइ रैनि सुहावनी, भोर भयो केहि काज।*
*मैं पापिन कस जागहूँ, बिछुड़ि गयो सरताज।*
*भा अति सोइ बिरह धुनि केरी। निरखे रूप मिले नहिं हेरी।*
*पिय आपुहि माँ अहै समाना। ओहट भयो आग दै प्राना।*
*सपने कंठ कन्त के लागी। बाउर भई सोय जब जागी।*

**नूर मुहम्मद :** नूर मुहम्मद के जन्म और देहावसान-काल के संबंध में निश्चयपूर्वक तो नहीं कहा जा सकता, किंतु अंत:साक्ष्य के आधार पर इतना अवश्य कह सकते हैं कि दिल्ली के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बादशाह मुहम्मदशाह के समय में नूर मुहम्मद विद्यमान थे। इनका रचनाकाल 1744 से 1764 ई. तक माना जाता है। इनका जन्म जौनपुर ज़िले के सबरहद नामक स्थान में हुआ था। विवाह के उपरांत ये अपनी ससुराल भादों (आजमगढ़) चले गये थे। नूर मुहम्मद अवधी भाषा के तो ज्ञाता थे ही, फ़ारसी के अच्छे आलिम भी थे। इन्होंने 'इंद्रावती' (1744) नामक प्रेमाख्यानकाव्य में कालिंजर के राजकुमार राजकुंवर और आगमपुर की राजकुमारी इंद्रावती की प्रेमकहानी सूफी सिद्धांतों को व्यक्त करने की दृष्टि से लिखी है। जायसी ने 'पद्मावत' में सात अर्द्धालियों के बाद एक दोहा लिखा है, लेकिन जायसी के पूर्ववर्ती सूफ़ी कवि पांच अर्द्धालियों के पश्चात एक दोहा लिखा करते थे। 'इंद्रावती' में भी पांच अर्द्धालियों के उपरांत ही एक दोहा लिखा गया है। इसकी भाषा जनपदीय अवधी है। शाहेवक़्त की तारीफ़ के बाद नूर मुहम्मद ने कथानक की भूमिका इन शब्दों में व्यक्त की है :

*मन दृग सों इक राति मझारा। सूझि परा मोहि सब संसारा।*
*देखेउं एक नीक फुलवारी। देखेउं तहाँ पुरुष औ नारी।*
*दोउ मुख सोभा बरनि न जाई। चंद सुरज उतरे भुइं आई।*
*तपी एक देखेउं तेहि ठाऊं। पूछेउं तासों तिन्हकर नाऊं।*
*कहा अहैं राजा औ रानी। इंद्रावति औ कुंवर गिआनी।*
*आगमपुर इंद्रावती, कुंवर कलिंजर राय।*
*प्रेम हुंते दोउन्ह कहं, दीन्हा अलख जगाय॥*

'इंद्रावती' के पश्चात नूर मुहम्मद ने 'अनुराग बांसुरी' (1764) की रचना की। इसमें पांडित्यपूर्ण शैली में तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। कवि ने इसमें शरीर, जीवात्मा तथा मन की वृत्तियों का रूपक बांध कर अध्यात्म को समझाया है। इसकी भाषा संस्कृत मिश्रित अवधी है, जिसमें यत्र-तत्र ब्रजभाषा की शब्दावली भी समाविष्ट है। इस ग्रंथ में कवि ने अर्द्धालियों के बाद दोहा न लिख कर एक बरवै छंद लिखा है। नूर मुहम्मद की भाषा-शैली सरस और मुहावरेदार है। शब्द-विन्यास सहज और प्रवाहमय है, जो श्रोता और पाठक पर सीधा प्रभाव डालता है। काव्यों के कथा-विन्यास से भी कवि की प्रतिभा का सुंदर आभास मिलता है।

**शेख निसार :** शेख निसार का वास्तविक नाम गुलाम अशरफ़ था। इनके पिता शेख गुलाम मुहम्मद फैज़ाबाद के पास के शेखपुर गांव के रहने वाले थे। ईसा की अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में नवाब शेख निसार ने 'यूसुफ-जुलेखा' (1790) की रचना की थी। कासिमशाह-कृत 'हंस-जवाहर' की पद्धति पर इन्होंने भी अपने प्रेमाख्यान का नाम 'यूसुफ-जुलेखा' रखा था, जिसमें प्रेमी यूसुफ का नाम पहले और प्रेमिका जुलेखा का नाम बाद में है। इस काव्य के नायक-नायिका काल्पनिक नहीं हैं। यूसुफ का वृत्तांत 'कुरान' में आया है, 'कुरान' का बारहवां सूरा 'सूरा यूसुफ' के नाम से पुकारा जाता है। 'कुरान शरीफ' के उसी यूसुफ नामक व्यक्ति की प्रेमकथा शेख निसार ने अपने काव्य 'यूसुफ-जुलेखा' में लिखी है। मसनवी शैली में लिखित इस कृति में आसफ़ुद्दौला की प्रशंसा भी की गयी है, क्योंकि उन दिनों वही शाहेवक़्त थे। 'यूसुफ-जुलेखा' की भाषा जनपदीय अवधी है और कथानक में अलौकितता की भरमार है। शीरीं-फरहाद और लैला-मजनूं की भांति 'यूसुफ-जुलेखा' का कथानक भी प्रेमपरक है। जुलेखा ने स्वप्न में यूसुफ को देखा था। इस पर उसकी जो दशा हुई, उसे कवि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*दिन भर मौन गहे रहै, भूख प्यास गई भूल।*
*पान खाइ न रस पियै, कांट भये बस फूल॥*

*भूषन रतन उतारि जो डारा। दुखदायक भई सभै सिंगारा।*
*मन महं सोच करै मुरझाई। लैगा प्रान सरूप देखाई।*
*नाउं ठाउं कछु जानौ नाहीं। कहां सो खोज करौं जग माहीं।*

यहां भी स्मरण रखना आवश्यक है कि शेख निसार ने अर्द्धालियों के बाद एक दोहा लिखने का क्रम अपना निजी ही रखा है। उन्होंने पांच अथवा सात अर्द्धालियों के बाद दोहा न लिख कर नौ अर्द्धालियों के बाद दोहा लिखा है। शेष वर्णन-पद्धति, मसनवी-शैली का ही अनुसरण करती है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के क्षेत्र में वे प्राय: बनी-बनायी सीधी पगडंडी पर ही चले हैं। जायसी की भांति नवीन उद्भावनाएं उनमें नहीं मिलतीं।

**सूरदास :** हिंदी-काव्य-क्षेत्र में सूरदास नाम के कई कवि हो गये हैं। पहले तो अष्टछापी भक्त कवि सूरदास हैं, दूसरे सूरदास संत थे, जो बनारस में रहा करते थे और तीसरे सूरदास सूफी थे। इनके पिता का नाम गोवर्धनदास था। वे ज़िला गुरदासपुर के कलानौर स्थान के निवासी थे, किंतु वहां से लखनऊ आ कर बस गये थे। यहीं सूरदास का जन्म हुआ था। सूरदास ने अपनी कृति 'नलदमन' (1657) में शाहेवक़्त शाहजहां की प्रशंसा लिखी है। नल-दमयन्ती की कथा मूलत: 'महाभारत' में मिलती है, उसी को कवि सूरदास ने सूफी कवियों की भांति मसनवी-शैली में पल्लवित किया है। इसमें जनपदीय अवधी के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। अभिव्यंजनाशैली की दृष्टि से कवि की रचना अलंकारों एवं साहित्यिकता से परिपूर्ण है। यत्र-तत्र कुछ अश्लीलता होने पर भी इस कृति में पर्याप्त कवित्व मिलता है। कवि की उत्प्रेक्षाएं परम सुंदर और आकर्षक हैं। शृंगाररस के साधनों से वीर रस का संकेत देते हुए कवि सूरदास दमयंती के विषय में लिखते हैं :

*नैन चपल हैं कोतल कांछै। कज्जल बाग लगै गुनि आछै।*
*पवन लागि अंचल फरहरा। सोई जान ध्वजा कै धरा॥*
*फेरि भंवर सुर राजहीं, नूपुर बजहिं निसान।*
*ऐसी सजि कामिनि चली, सेज जुद्ध मैदान॥*

**दुखहरनदास :** दुखहरनदास का मूल नाम मनमनोहर था। ये जाति के कायस्थ थे और गाजीपुर के रहने वाले थे। मलूकदास के शिष्यत्व में इन्होंने आध्यात्मिक ज्ञान की शिक्षा पायी थी। जायसी के 'पद्मावत' के आधार पर इन्होंने 'पुहुपावती' (1669) की रचना की। काव्य के आरंभ में निर्गुण राम की वंदना के उपरांत शाहेवक़्त औरंगजेब का गुणगान किया गया है। इसमें राजकुमार कुमार और राजकुमारी पुहुपावती की प्रेमकथा का वर्णन है। जिस प्रकार नारी (पद्मावती) की प्रधानता रखते हुए जायसी ने अपने काव्य का नाम 'पद्मावत' रखा, ठीक उसी प्रकार दुखहरनदास ने भी नारी (पुहुपावती) की प्रमुखता के कारण अपने काव्य का नाम 'पुहुपावती' रखा था। सूफी-सिद्धांतों के अनुसार बंदा जब शरीअत, तरीकत और हक़ीक़त नाम की मंज़िलें पार कर लेता है, तब मारफत (सिद्धावस्था) प्राप्त होती है। इसी की सम्पुष्टि के लिए 'पुहुपावती' काव्य की कथा में कुमार अनेक कठिनाइयां झेलता हुआ पुहुपावती के साथ विवाह का संयोग प्राप्त करता है। इस प्रकार यह प्रेमकाव्य मानव को सांसारिकता की निद्रा से जगा कर ईश्वरीय प्रेम का संदेश प्रदान

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

करता है। यही कवि का अपना दृष्टिकोण भी है :

*जागहिं खेलत जुआ जुआरी। जागहिं रसिक पुरुष औ नारी।*
*जागै कारन मैं चित जानी। हिअ उपजाई प्रेम कहानी।*

प्रबंधात्मकता तथा कवित्व की दृष्टि से दुखहरनदास की कृति महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है। सूफी-प्रेमाख्यान-काव्यों में पुहुपावती इस दृष्टि से भी नवीन और महत्त्वपूर्ण है कि इसमें चौपाइयों तथा दोहों के साथ कवित-सवैयों का भी प्रयोग है। भाषा की दृष्टि से इसमें जनपदीय अवधी के साथ-साथ ब्रजभाषा का भी पुट मिलता है।

उपर्युक्त आध्यात्मिक प्रेमगाथाओं में प्रेमअर्थमूलक शब्दावली प्रमुखतः उपमान या प्रतीक के रूप में ही प्रयुक्त हुई है। कवियों का अभीष्ट कथ्य पारलैकिक प्रेम ही है, लौकिक प्रेम को तो काव्य की अर्थबोधगम्यता और सरलता की दृष्टि से साधन रूप में ग्रहण किया गया है। इन काव्यों के अवलोकन से विदित होता है कि प्रेम पहले साधक के मन में उत्पन्न होता है। जब बंदा (भक्त या प्रेमी) प्रेम के सागर में पूरी डुबकी लगाने लगता है, तब खुदा या ईश्वर (प्रियतम) में भी बंदे (भक्त) के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है। इस तरह आध्यात्मिक प्रेमाख्यानों में उभयांगी प्रेम की अभिव्यक्ति स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। कवियों का संकेत यही है कि सच्चे प्रेमी भक्त की दृष्टि से यह दुनिया प्रेम का क्षेत्र है। जिस प्रेमी भक्त के मन में अलौकिक प्रेम-रस उत्पन्न हो गया, वह निश्चितरूपेण इहलोक तथा परलोक का राजा बन गया। प्रेम साधना में 'काम' भाव प्रधान रहा है, किंतु यह 'काम' परम पवित्र और समुज्ज्वल है। यह विषय-भोग से परे है और दिव्य है। इसे लौकिक 'काम' न समझने के लिए पाठकों को स्थल-स्थल पर सावधान भी किया गया है। वास्तव में इश्क़ मिज़ाजी को इश्क़ हक़ीकी तक पहुंचने के लिए सीढ़ी के रूप में ही स्वीकार किया गया है। इस साधना का मूल तत्त्व 'काम' (इश्क़) जीवित अवस्था में ही मुक्ति प्रदान करने वाला है। संत दुखहरनदास 'पुहुपावती' में लिखते हैं :

*दुखहरन यहि काम कहं, राखि सके जो कोइ।*
*जगत मांह सो सहज ही, मुक्ती जीअत होइ॥*

लौकिक प्रेमपरक आख्यानकाव्यों की भी रीतिकाल में प्रभूत रचना हुई। **केसि** का 'माधवानल नाटक' (1660) दोहा-चौपाई शैली में रचित है। अवधी भाषा के इस काव्य में माधवानल-कामकंदला की प्रसिद्ध कथा सामान्य ढंग से वर्णित है। **दामोदर** कवि की 'माधवानल कथा' (1680) भी इसी आख्यान पर आधारित है। **हंस** कवि की 'चंद्रकुंवर री बात' (1693) भी इसी काल की प्रसिद्ध प्रेमकथा है, जिसमें प्रचलित कथानक-रूढ़ियों का विपुल समावेश है। इसकी रचना राजस्थानी में हुई है और कहीं-कहीं इसमें गद्य का भी प्रयोग है। इसी शताब्दी के किसी अज्ञात कवि ने 'सारंगा सदैब्रछ रा दूहा' काव्य लिखा था। इसमें राजा शालिवाहन के पुत्र सदयवत्स और उनके मंत्री की पुत्री सारंगा की प्रेम कहानी है, जो राजस्थान में आज भी प्रचलित है। सत्रहवीं शती में ही अनेक 'बातें' (प्रेमकथाएं) राजस्थानी में लिखी गयीं, जो अठारहवीं शती तक चलती रहीं। इनमें निम्नांकित विशेषतः उल्लेख्य हैं—मोभल री बात, मलयगिरि री बात, रावल लषणसेन री बात, सोहणी री बात, बीझरै अहीर री बात आदि।

अठारहवीं शती के लौकिक प्रेमाख्यानों में **बोधा** का 'विरहवारीश' (1752-1758) विशेष प्रसिद्ध है। इसमें वियोग-अवस्था का मर्मस्पर्शी वर्णन मिलता है। अभिव्यंजनाशैली की नवीनता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भी इस कृति में प्राय: लक्षित होती है। इस काल के अन्य प्रेमाख्यानों में **जनकुंज** का 'उषाचरित्र' (1780), **चतुर्भुजदास** की 'मधुमालती' (1780) और **सेवाराम** का 'नल-दमयंती-चरित्र' (1796) उपलब्ध है। 'उषाचरित्र' भागवत की कथा पर आधारित है और अवधी में रचित है। 'मधुमालती' में अन्य अनेक भावों को स्थान प्राप्त रहने पर भी शृंगार-वर्णन की प्रमुखता है। छंद-वैविध्य भी इस काव्य की उल्लेखनीय प्रवृत्ति है। 'नल-दमयंती-चरित्र' की रचना 'महाभारत' के नल-दमयंती आख्यान के आधार पर हुई है। प्रेमवर्णन के अतिरिक्त इसमें स्थान-स्थान पर धर्म, दर्शन और नीति का भी प्रतिपादन हुआ है।

लौकिक प्रेमाख्यानों की रचना-परंपरा उन्नीसवीं शताब्दी में भी गतिशील रही। इस शती के रीतिकालीन प्रेमाख्यानकारों में **जीवनदास नागर** (उषा-अनिरुद्ध, 1829), **मुरलीदास** (उषा-अनिरुद्ध, 1831) और *रामदास* (उषा-अनिरुद्ध, 1837) का उल्लेख अभीष्ट है। इन तीनों ने उषा अनिरुद्ध के प्रसिद्ध आख्यान का दोहा-चौपाई-शैली में अवधी भाषा में वर्णन किया है। कवित्व और मौलिकता की दृष्टि से इनका अधिक महत्त्व नहीं है। इनके अतिरिक्त किसी अज्ञात कवि ने 'रमणशाह छबीली भटियारी की कथा' (1848 ई. के पूर्व) की रचना इसी काल में की थी। इसमें कहीं-कहीं गद्य का प्रयोग भी हुआ है।

उपर्युक्त लौकिक प्रेमकाव्य लोकप्रचलित कहानियों तथा पौराणिक कथाओं पर आधारित है, यद्यपि इनके कथानकों तथा पात्रों की जीवनचर्या में कहीं-कहीं सूफियों की प्रेम-पीर के प्रभाव को भी स्पष्टत: देखा जा सकता है।

इस प्रकार प्रेमाख्यानक-धारा ईसा की सत्रहवीं शती से उन्नीसवीं शती के मध्य साहित्य-धरा पर अबाध रूप में प्रवाहित होती रही। यह उल्लेखनीय है कि संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में प्रचुर प्रेमाख्यान लिखे गये थे। इन भाषाओं के साहित्य में प्रेममूलक आख्यान दो दृष्टियों से प्रविष्ट हुए थे—एक किसी आध्यात्मिक तत्त्व की व्याख्या करने के लिए, तथा दूसरे, प्रेमकथा-वर्णन के लिए। कालांतर में नयी सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियां उत्पन्न हुई। परिणामत: आख्यानों में नवीन तत्त्वों का भी समावेश हुआ। हिंदी के प्रेमाख्यानों में नयी प्रेमपीड़ा और नयी रंगत की तड़प पैदा हुई। भक्तिकालीन प्रेमाख्यानों में जिस उदात्त और उत्कृष्ट प्रेमपीड़ा या बुलंद दर्देइश्क़ की विशद अभिव्यक्ति हुई थी, वह रीतिकालीन प्रेमाख्यानों में कुछ संकीर्ण बन गयी। तात्पर्य यह है कि रीतिकाल के प्रेमपरक आख्यान जीवन की उस विस्तृत व्यापक परिधि का स्पर्श नहीं करते, जिसके दर्शन भक्तिकालीन प्रेमाख्यान-काव्यों में होते हैं। वास्तव में इन प्रेमाख्यानों का कथानक विशेषत: रागात्मक प्रतीकों में बंध कर चला है। वह ऊपरी तौर से ही ईश्वरोन्मुखी दृष्टिगत होता है, अन्यथा रीतिकालीन शृंगार भावना की बहुत झीनी-सी चादर उस पर पड़ी हुई है। यदि भक्तिकालीन प्रेमाख्यानों और रीतिकालीन प्रेमाख्यानों में सोदाहरण अंतर बताने का प्रयत्न किया जाये, तो मलिक मुहम्मद जायसी और नूर मुहम्मद की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके स्पष्ट बात कही जा सकती है। 'पद्मावत' में जिस लोकजीवनव्यापी भावना की प्रेम-ज्योति के दर्शन होते हैं, वैसी ज्योति नूर मुहम्मद की 'इंद्रावती' और 'अनुराग बांसुरी' में दिखायी नहीं देती। इंद्रावती में वह व्यापक, विशाल और परमोदात्त पारस रूप कहां, जो जायसी की पद्मावती में है। नूर मुहम्मद का दृष्टिकोण संकीर्ण और सांप्रदायिक है।

भक्तिकालीन प्रेमाख्यानों के रचयिता जायसी आदि कवि भाषा की जिस सरलता, स्वाभाविकता और अनलंकृति को ले कर चले हैं, वैसी स्वाभाविकता रीतिकालीन प्रेमाख्यानों में नहीं पायी जाती। उनमें अत्यधिक अलंकरण, पांडित्य-प्रदर्शन और नायक-नायिकाभेद की ओर झुकाव पाया

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जाता है। उनका नखशिख-वर्णन भी रीतिकाव्य-ग्रंथों के प्रभाव में आ कर नीरस, बोझिल और अकाव्योचित बन गया है। जायसी आदि ने विरह-वर्णन की लीक जैसी और जिस शैली के साथ बना दी थी, उसी पर प्राय: सभी रीतिकालीन प्रेमाख्यानकार चले हैं। संयोग का वर्णन इन्होंने नहीं के बराबर किया है। संसार में रहते हुए और सांसारिक जीवन बिताते हुए भी मानव को ईश्वरीय आनंद की प्राप्ति कराने में सूफी कवि सफल सिद्ध हुए हैं। संत-हिंदू-कवियों की प्रेमपरक रचनाएं भी सूफी अध्यात्मदर्शन से पर्याप्त प्रभावित हैं। रीतिकालीन शृंगारिक काव्यधारा से वासना को जो बल मिला था, उसे रीतिकालीन प्रेमाख्यानों ने बहुत-कुछ निर्बल और स्वच्छ बनाया। इन्होंने पवित्र आध्यात्मिक शृंगार की समुज्ज्वल छटा छिटकायी। काव्य की नायिकाओं को अलौकिक आभा और दिव्य सौंदर्य मिला। प्रेमी जब हाड़, मांस, मज्जा आदि को विरह की अग्नि में भस्म कर देता है, तब प्रियतम का संयोग प्राप्त होता है। शारीरिक शृंगार के समानांतर आध्यात्मिक शृंगार की जाह्नवी प्रवाहित करके रीतिकालीन प्रेमाख्यानों ने मानव-समाज का परम कल्याण किया था।

## राम-काव्य

रामानंद की शिष्य-परंपरा में सगुण धारा के भक्त कवियों ने भक्ति-भावना में राम को ब्रह्म माना और उनके प्रति अपनी भावनाओं की पुष्पांजलि श्रद्धा और प्रेम के साथ समर्पित की। तुलसीदास की परंपरा में आगे और भी कवि हुए। यद्यपि 1650 ई. के आसपास भक्ति की काव्यात्मक गंगा में शृंगार की यमुना और नीति की सरस्वती भी आ मिली थीं, किंतु फिर भी उस त्रिवेणी में भक्ति की गंगाधारा दिखायी देती है। ईसा की सत्रहवीं शती से उन्नीसवीं शती तक रामभक्ति से संबद्ध काव्यों की सृष्टि होती रही। उदाहरणार्थ, **सेनापति** के 'कवित्त-रत्नाकर' में रामकथा वर्णित है, जिसमें भक्ति और शृंगार का प्राधान्य है। **लालदास**-कृत 'अवधविलास' (1643) में सीता और राम की लीलाओं का वर्णन है। इसी प्रकार 1693 ई. में रचित 'बालभक्तिनेह-प्रकाश' (अज्ञात कवि) में सीता जी और रामचंद्र जी की कथा वर्णित है। इस युग के रामभक्ति-काव्य के प्रमुख कवियों का काव्य-परिचय यहां दिया जा रहा है।

**गुरु गोविंदसिंह :** गुरु गोविंदसिंह (1669-1708) वीर योद्धा और कुशल संगठनकर्त्ता थे। ये सिक्खों के दसवें गुरु के रूप में अधिक प्रसिद्ध और समादृत हैं। इन्होंने अपनी कृतियों से यह सिद्ध किया है कि ये कुशल कवि और काव्यमर्मज्ञ थे। अपनी वृत्ति और मन से ये शक्ति के उपासक थे, किंतु देव-कथाओं के वर्णन में भक्ति-भावना भी व्यक्त की गयी है। इनकी काव्य-कृति 'गोविंदरामायण' में राम की कथा का बड़ा सुंदर और तेजस्वी वर्णन विस्तार से मिलता है। 'गोविंदरामायण' की ब्रजभाषा कवित्वपूर्ण और सरस है। सवैया छंद में उदाहरण प्रस्तुत है :

*भेटि भुजा भर अंक भले भरि तैन दोऊ निरखें रघुराई।*
*गुंजत भृंग कपोलन ऊपर नाग लवंग रहे लव लाई।*
*कंज कुरंग कलानिधि केहरि कोकिल हेरि हिये हहराई।*
*बाल लखैं छवि खाट थरैं नहिं बाट चलैं निरखैं अधिकाई॥*

**जानकीरसिकशरण :** जानकीरसिकशरण प्रमोदवन अयोध्या के निवासी थे और 1700 ई. के आसपास विद्यमान थे। राम के जीवन से संबद्ध 'अवधसागर' नामक काव्य इनकी प्रसिद्ध रचना है। इन्होंने राम का जीवनवृत्त कुछ-कुछ कृष्णभक्ति कवियों की शैली पर लिखा है, इसीलिए इनके 'अष्टयाम-प्रसंग' में रास, नृत्य, भोजन, शयन आदि का वर्णन मिलता है। कवि की वस्तुवर्णनशैली

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सुंदर तो है, किंतु उनमें शृंगारिकता की झलक स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। केसरिया बाने में राम का सांवला शरीर रथ में कैसी शोभा पा रहा है, इसका चित्रण कवि ने इस प्रकार किया है :

*रथ पर राजत रघुवर राम।*
*क्रीट मुकुट सिर धनुषबान कर सोभा कोटिन काम॥*
*स्याम गात केसरिया बानो सिर पर मौर ललाम।*
*बैजंती बनमाल लसै उर फटिक मध्य अभिराम॥*
*मुख मयंक सरसीरुह लोचन हैं सबके सुखधाम।*
*कुटिल अलक अतरन मैं भीनी दुहुं दिसि छटी स्याम॥*
*कम्बु कंठ मोतिन की माला किंकिन कटि दुति दाम।*
*रस माला यह रूप रसिकवर करहु हिये अभिराम॥*

अवधी भाषाक्षेत्र के निवासी होते हुए भी जानकीरसिकशरण के काव्यग्रंथ में ब्रजभाषा का बड़ा सुंदर और सहज रूप पाया जाता है।

**भगवंतराय खीची :** भगवंतराय खीची असोथर (ज़िला फतेहपुर) के राजा थे। ये स्वयं अच्छे कवि थे और कवियों का बड़ा आदर सत्कार करते थे। 'शिवसिंह-सरोज' के अनुसार यह कहा जा सकता है कि इन्होंने सात कांडों में कवित्त छंद में 'रामायण' की रचना की थी। यह ग्रंथ तो मिलता नहीं, किंतु इनकी एक रचना 'हनुमत्पच्चीसी' (1760) मिलती है, जिसमें हनुमान जी के संबंध में पच्चीस कवित्त लिखे गये हैं। 'भगवंत' उपनाम से लिखी इनकी कविता निस्संदेह ओजस्विनी और उत्साहपूर्ण है। अनुप्रास की छटा से कविता में सौंदर्य और अधिक बढ़ गया है। यथा :

*बिदित बिसाल ढाल भालु कपि जाल की है,*
*ओट सुरपाल की है तेज के तमार की*
*जाही सों चपेटिकै गिराए गिरि गढ़ जासों,*
*कठिन कपाट तोरे, लंकिनी सों मार की॥*
*भनैं भगवंत जासों लागि लागि भेंटे प्रभु,*
*जाके त्रास लखन को छुभिता खुमार की।*
*ओढ़े ब्रह्म अस्त्र की अवाती महाताती वंदौं,*
*युद्ध मदमाती छाती पवनकुमार की॥*

**जनकराजकिशोरीशरण :** ये अयोध्या के महंत थे और श्री राघवदास के शिष्य थे। इन्होंने रामचरित से संबद्ध अनेक काव्यग्रंथों की रचना की, जिनकी भाषा प्रांजल ब्रजभाषा सिद्ध होती है। आवश्यकतानुसार बीच-बीच में संस्कृत-शब्दों का पुट भी पाया जाता है। इनका रचनाकाल 1800 ई. के आसपास माना जाता है। इनकी कृतियों की संख्या लगभग बीस है, जिनमें 'सीतारामसिद्धांत मुक्तावली', 'सीतारामसतरंगिणी', 'जानकीकरुणाभरण', 'रघुवरकरुणाभरण' आदि स्पष्टतया रामभक्ति काव्य के अंतर्गत गिनायी जा सकती हैं। इनके रामभक्ति-काव्य पर रसिक संप्रदाय का प्रभाव दिखायी पड़ता है। उदाहरण :

*फूले कुसुम द्रुम विविध रंग सुगंध के चहुं चाव।*
*गुंजत मधुप मदमत्त नाना रंग रज अंग फाव॥*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*सीरो सुगंध सुमंत वात विनोद कंत वहंत।*
*परसत अनंग उदोत हिय अभिलाख कामिनि कंत॥*

**नवलसिंह :** ये जाति के कायस्थ थे। इनका जीवन समरथ नरेश हिंदूपति की सेवा में व्यतीत हुआ था। कवि होने के साथ-साथ ये एक अच्छे चित्रकार भी थे। इन्होंने ब्रजभाषा में कई रामकाव्यों की सृष्टि की थी, जिनमें 'रामचंद्रविलास', 'आल्हारामायण', 'अध्यात्मरामायण', 'रूपक रामायण', 'सीतास्वयंवर', 'रामविवाहखंड', 'नामरामायण', 'रामायणसुमिरनी', 'मिथिलाखंड' आदि उल्लेखनीय हैं। अपने ग्रंथों में नवलसिंह ने यत्र-तत्र ब्रजभाषा-गद्य का भी प्रयोग किया है। इनके काव्यों का रचनाकाल 1816-1869 ई. माना जाता है। इनका शब्दविन्यास पुष्ट और अभ्यस्त है। इसमें आधुनिकता की भी झलक मिलती है। कविता में इनका उपनाम 'नवलेस' भी पाया जाता है। अनुप्रासमयी अलंकृत शैली में यह उद्धरण देखिए :

*अभव अनादि अनन्त अपारा। अमन अप्रान अमर अविकारा।*
*अग अनीह आतम अबिनासी। अगम अगोचर अबिरल वासी।*
*अकथनीय अद्वैत अरामा। अमल असेष अकर्म अकामा।*
*रहत अलिप्त ताहि उर ध्याऊं। अनुपम अमल सुजस मैं गाऊं।*

**विश्वनाथसिंह :** रीवा के विद्याप्रेमी एवं रामभक्त नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह का जन्म 1789 ई. में हुआ था। ये सन् 1854 ई. तक रीवा में राज्य करते रहे। इन्होंने निर्गुण संतमत की विचारधारा में भी अपनी रचनाओं द्वारा योगदान किया है। इसके प्रमाण में 'ककहरा', 'शब्द', 'रमैनी' आदि रचनाएं प्रस्तुत की जा सकती हैं। ये रचनाएं निश्चित रूप से संतकाव्य-परंपरा के अंतर्गत आती हैं, किंतु इनकी अनेक रचनाएं ऐसी भी हैं, जो इन्हें रामकाव्य धारा का मान्य कवि सिद्ध करती हैं। इनके ग्रंथों की संख्या 32 के लगभग है, जिनमें निम्नांकित छह रचनाएं रामोपासना से संबद्ध हैं—रामायण, गीता, रघुनंदन प्रामाणिक, रामचंद्र की सवारी, आनंदरघुनंदन नाटक (यह हिंदी का प्रथम नाटक माना जाता है), आनंदरामायण, संगीत रघुनंदन। इनके रामकाव्यों की भाषा ब्रजभाषा है, जो सरस और सानुप्रास है :

*बाजि गज सोर रथ सुतुर कतार जेते,*
*प्यादे ऐंड़वारे जे सबीह सरदार के।*
*कुंवर छबीले जे रसीले राजवंश वारे,*
*सूर अनियारे अति प्यारे सरकार के॥*
*केते जातिवारे, केते केते देसवारे जीव,*
*स्वान सिंह आदि सैलवारे जे सिकार के।*
*ढंका की धुकार द्वै सवार सबै एक बार,*
*राजवार पार कार कौसलकुमार के॥*

**अन्य रामभक्त कवि :** रीतिकाल में रामकाव्य की रचना करने वाले अन्य कवियों में जनकपुर (मिथिला) के महंत **रामप्रियाशरण** (1703 ई. में विद्यमान) का उल्लेख सर्वप्रथम अभीष्ट है। इनके पूर्ववर्ती कवियों ने प्राय: राम के वृत्त को ले कर ही काव्य-रचनाएं की थीं, किंतु इन्होंने सीता जी के वृत्त को प्रमुखता प्रदान करते हुए 'सीतायन' काव्य की सर्जना की। इसमें सीता तथा उनकी सखियों का चरितवर्णन विस्तार से किया गया है। 'सीतायन' की प्रसिद्धि 'सीतारामप्रिया' के नाम

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

से भी है। इसकी भाषा सरस ब्रजभाषा है। रोला छंद में कवि की वाणी का उदाहरण इस प्रकार है :

*पितु दरसन अभिलाष जुगुल कुंवरन मन भाई।*
*गुरु सनमुख कर जोरि भाँति बहु बिनय सुनाई॥*
*पुलके गुरु लखि सील राम कौ अति सुख पाये।*
*ताहि समै सब सखा संग लक्ष्मीनिधि आये॥*

अठारहवीं शताब्दी के मध्य में 1750 ई. के आसपास कवि **रसिकअली** ने चार काव्यकृतियों की रचना की—'षट्ऋतु पदावली', 'होरी', 'अष्टयाम' और 'मिथिलाविहार'। रामचंद्र जी जब जनकपुर पहुंचते हैं, तब मिथिला नगरी की शोभा का वर्णन 'मिथिलाविहार' में ब्रजभाषा के माध्यम से विविध छंदों में किया गया है। कविता में कविवर रसिकअली जी की रसिकता की झलक मिली है। राम और सीता का रूप-चित्रण बहुत-कुछ राधा-कृष्ण की भांति है, जो शृंगारी प्रवृत्ति का सूचक है। चंद्रिका-सहित सीता जी तथा किरीट-सहित रामचंद्र जी की शोभा का वर्णन कवि ने घनाक्षरी छंद में इस प्रकार किया है :

*सोहैं सीस प्यारी जू के चन्द्रिका जटित नग,*
*जगमग जोति भानु कोटि उजियारी है।*
*रतन किरीट राजै राघव सुजान सीस,*
*उदित विदित कोटि तरुन तमारी है॥*
*दामिनी सघन घन बरन बिराजैं दोऊ,*
*नील पीत बसननि जटित किनारी है।*
*रसिकअली जू प्यारे राजत सिंगार कुंज,*
*सुषमा अमित पुंज छवि मोदकारी है॥*

रसिकअली के समकालीन कवि **सरजूराम पंडित** ने 'रामचरितमानस' की शैली पर एक विशाल कथात्मक ग्रंथ 'जैमिनिपुराण भाषा' (1748) की रचना की थी। इसमें छत्तीस अध्याय हैं और दोहा, चौपाई के अतिरिक्त अन्य छंद भी हैं। इसमें 'महाभारत' तथा 'रामायण' से संबंधित अनेक कथाएं हैं, जिनमें सीता-त्याग और लव-कुश-युद्ध नामक कथाएं उल्लेखनीय हैं। इसी भाषा-पुराण में कवि ने 'संक्षिप्त रामायण' शीर्षक से संपूर्ण रामायण की कथा सार रूप में लिखी है। ग्रंथ की भाषा गंभीर और कवित्वमय है। अठारहवीं शती के अंतिम चरण में रामायत सखी-संप्रदाय के मूल प्रवर्तक **कृपानिवास** ने रामभक्ति-भावना से संबद्ध निम्नांकित चार ग्रंथों की रचना की थी—भावनापच्चीसी, समयप्रबंध (अष्टयाम लीला) माधुरी-प्रकाश (राम और सीता के अंग-प्रत्यंगों की शोभा का वर्णन) और जानकीसहस्रनाम। **मधुसूदन** का प्रबंधकाव्य 'रामाश्वमेध' (1782) भी इस काल की उल्लेखनीय रचना है। इसमें अड़सठ अध्याय हैं और यह 'पद्मपुराण' के पाताल-खंड का भावानुवाद है। चौपाइयों और दोहों में ब्रजावधी भाषा में यह ऐसी सुंदर शैली तथा शिल्पविधान के साथ अनूदित है कि इसे तुलसी के 'रामचरितमानस' की भाषा की तुलना में प्रस्तुत किया जा सकता है। अश्वमेघ-यज्ञ के लिए छोड़े गये घोड़े, लव-कुश के साथ हुए संग्राम आदि का वर्णन इसमें बहुत उत्तम और प्रभावशाली ढंग से हुआ है। ग्रंथ के तिरसठवें अध्याय से कुछ अंश यहां उद्धत हैं, जिसमें भरतपुत्र पुष्कल के साथ लव-कुश के घमासान युद्ध का सुष्ठ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पदविन्यास-युक्त भाषा में वर्णन हुआ है :

*पर्म बली लव बीरबर रिपुगन विपिन कृसान।*
*तिन कहं मुरछित निरखि रन, राम अनुज बलवान॥*
*बिजय पाइ उर हरखित भयेऊ। बहुरि एक रथ लव धरि लयेऊ।*
*सीसत्रान कवचादिक साजे। स्याम सुगात मदन छबि लाजे।*
*अवध चलन हित तब महिपाला। कीन्ह बिचार मुदित तिह काला।*
*तब सब मुनिसुत सुनि मुनिराई। भये महादुख बिबस बनाई।*

रामभक्तिकाव्य की परंपरा में उन्नीसवीं शताब्दी में **जानकीशरण** ने 'सियारामरसमंजरी' की और **बालअली** जू ने 'नेहप्रकाश' की रचना की। **गोकुलनाथ** द्वारा ब्रजभाषा में रचित प्रबंधकाव्य 'सीतारामगुणार्णव' भी प्रसिद्ध है। यह 'अध्यात्मरामायण' का अनुवाद है और इसकी रचना 1813 ई. के आसपास की गयी थी। रचना रसमयी और सालंकार है तथा भाषा प्रौढ़ और प्रांजल है। इनके समकालीन कवियों में **मनियारसिंह** ने 'हनुमतछब्बीसी', 'सौंदर्यलहरी' और 'सुंदरकांड' नामक रामकाव्यों की रचना की थी। इनकी भाषा परिष्कृत, प्रांजल तथा पांडित्यपूर्ण है। सालंकार सुष्ठु ब्रजभाषा लिखने में कवि पूर्णत: सिद्धहस्त है। लखनऊ-निवासी महंत **ललकदास** का 'सत्योपाख्यान' (1800--1825 के मध्य रचित) ग्रंथ भी सुप्रसिद्ध है, जिसमें राम की जीवनगाथा को दोहा, चौपाई तथा कुछ अन्य छंदों में लिखा गया है। इसमें रामचंद्र जी का चरित गार्हस्थ्य जीवन से अधिक संबद्ध है। ललकदास पर रामकाव्य के रसिक-संप्रदाय का प्रभाव अधिक मालूम पड़ता है, तभी तो राम के क्रियाकलापों में होली, जलक्रीड़ा आदि का वर्णन अधिक किया गया है। वर्णन-प्रधान होने के कारण इस कृति में उत्कृष्ट कला एवं उच्च कवित्व का अभाव सा पाया जाता है। वर्णन-शैली में कवि ने 'रामचरितमानस' का अनुसरण किया है। यथा :

*किसलय सुघर अधर छबि छाजैं। इन्द्रनील सम गंड विराजैं।*
*सुन्दर चिबुक नासिका सोहै। कुमकुम तिलक चिलक मन मोहै।*
*कामचाप सम भृकुटि बिराजै। अलक कलित मुख अति छबि छाजै।*
*यहि विधि सकल राम के अंगा। लखि चूमति जननी सुख संगा।*

गुलाब कवि के पुत्र तथा लाल कवि के पौत्र **गणेश** भी इसी शती के रामकाव्यकार थे। ये काशीनरेश महाराज उदितनारायण सिंह के दरबार में रहा करते थे। इनका रचनाकाल 1800 ई. के आसपास ठहरता है। इनकी दो रचनाएं उल्लेखनीय हैं—'वाल्मीकि रामायण श्लोकार्थ प्रकाश' तथा 'हनुमतपच्चीसी'। प्रथम ग्रंथ में कवि ने 'वाल्मीकि रामायण' के समग्र बालकांड और किष्किंधाकांड के पांच अध्यायों पर प्रकाश डाला है। इनके काव्यों की ब्रजभाषा प्रवाहपूर्ण और आलंकारिक है। इनके समकालीन कवि **प्रेमसखी** ने राम और कृष्ण दोनों के प्रति भक्तिभावमयी रचनाएं लिखी हैं। इनका मूल नाम बख्शी हंसराज श्रीवास्तव था। इनके द्वारा रचित 'श्रीराम तथा सीता जी का शिखनख' काव्य महत्त्वपूर्ण है। यह कवित्त-सवैयों में लिखित है और इसमें प्रयुक्त ब्रजभाषा ललित तथा सरस है। कवि ने रामचंद्र जी की चरण वंदना इन शब्दों में की है :

*कलपलता के सिद्धिदायक कलपतरु,*
*कामधेनु कामना के पूरन करन हैं।*
*तीन लोक चाहत कृपा कटाक्ष कमला की,*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*कमला सदाई जाकी सेवत सरन हैं।।*
*चिन्तामनि चिन्ता के हरनहारे 'प्रेमसखी'*
*तीरथ जनक बर बानिक वरन हैं।*
*नख विधु-पूषन समन सब दूषन ये,*
*रघुबंस भूषण के राजत चरन हैं॥*

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जहां भक्तिकालीन रामभक्ति-काव्य सामाजिक मर्यादा के रक्षण का साहित्य था और उसमें वैधी भक्ति की प्रधानता थी, वहीं रागानुगा भक्ति से अनुप्राणित कृष्णकाव्य के प्रभाव से ईसा की अठारहवीं शती के बाद रामकाव्य में भी माधुर्य भाव की उपासना का प्रवेश हुआ। 'रामचरितमानस' के प्रसिद्ध टीकाकार **रामचरणदास** ने रामभक्ति के क्षेत्र में 'स्वसुखी' शाखा का प्रवर्तन करके पति-पत्नी-भाव की उपासना को प्रश्रय दिया। इस शाखा के भक्तों की मान्यता है कि राम ने लीलारूप धारण करके 99 रामलीलाएं की थीं और अंतिम लीला के निमित्त उन्होंने ही कृष्ण के रूप में अवतार लिया था। राम की उपासना के लिए इस संप्रदाय के भक्त स्त्रीवेश धारण करके स्वयं को सीता की सपत्नी मानते थे। बाद में **जीवाराम** जी ने 'तत्सुखी शाखा' का प्रवर्तन करके पति-पत्नी-भाव की भक्ति के स्थान पर इसी परंपरा में सखी-भाव की भक्ति का प्रचार किया। उन्नीसवीं शताब्दी में इस शाखा के एक प्रसिद्ध भक्तकवि **युगलानन्यशरण** का नाम भी उल्लेखनीय है। रामभक्तिकाव्यों में मथुरा-भक्ति के समावेश का परिणाम यह हुआ कि रीतिकालीन रामभक्तिकाव्य श्रृंगारिकता तथा विलासिता से संपृक्त हो गया। अतः हम कह सकते हैं कि रामभक्तिकाव्यों में विशेषतः उन्नीसवीं शती के काव्य सरस श्रृंगार-भावना के काव्य हैं। उनकी भक्ति का मूल स्वर शुद्ध भक्तिमय न हो कर अधिकांश में लौकिक श्रृंगार की ओर झांकता हुआ-सा दिखायी देता है। रीतिकालीन कवियों की भांति रामकाव्यों के कवियों में भी कलामयी चमत्कारिता अधिक दृष्टिगत होती है। उनकी भाषा सहज न हो कर अलंकृत है। रीतिकालीन रामकाव्य के स्रष्टा कवि हमारे समक्ष भक्तकवि के रूप में तो बहुत कम, कलाविज्ञ पंडित के रूप में ही अधिक आते हैं। उनमें सहज अभिव्यक्ति का भक्तिभाव कम है, किंतु अलंकृत अभिव्यंजना का कवित्व अधिक है।

## कृष्ण-काव्य

चाहे रामकाव्य का अवलोकन किया जाये और चाहे कृष्णकाव्य का, रीतिकाल में दोनों प्रकार के काव्यग्रंथों में माधुर्य भाव का ही प्राधान्य पाया जाता है। प्रेमभावनापूर्ण भक्ति की जो धारा बहती चली आ रही थी, वह कृष्ण और राधा के नामों की आड़ में मानवी श्रृंगार में परिवर्तित हो कर 1850 ई. तक प्रवाहित होती रही। डॉ. नगेन्द्र के इस मंतव्य में बहुत-कुछ तथ्य है कि जीवन की अतिशय रसिकता से घबराने वाले धर्मभीरु रीतिकवियों को राधा-कृष्ण का अनुराग आश्वासन देता था। इस काल के कवियों ने कृष्णभक्ति से संबद्ध दो प्रकार के काव्यों की सृष्टि की—प्रबंधात्मक और मुक्तक। उक्त दोनों प्रकार के काव्यग्रंथों में मूलतः श्रृंगार भावना ही है, लेकिन वह राधा-कृष्ण की भक्ति के आवरण से आवृत है।

## प्रबंधात्मक कृष्ण-काव्य

प्रबंधात्मक कृष्णभक्तिकाव्य के रचयिताओं में गुमान मिश्र, ब्रजवासीदास, मंचित आदि के नाम विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। **गुमान मिश्र** महोबा के निवासी थे। कृष्ण की भक्ति में इन्होंने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'कृष्णचंद्रिका'(1781) नामक प्रबंधकाव्य की रचना की थी। इनकी कविता सीधे और सरल भावों की वाहिका है और भाषागठन की दृष्टि से मनोहारिणी है। वल्लभ-संप्रदाय के अनुयायी तथा वृंदावन-निवासी **ब्रजवासीदास** ने 'सूरसागर' के कथाक्रम के आधार पर दोहों, सोरठों और चौपाइयों में ब्रजभाषा-प्रबंधकाय 'ब्रजविलास' (1770) की रचना की थी। इसमें सीधी-सादी ब्रजभाषा-शब्दावली के माध्यम से कृष्ण के क्रीड़ामय जीवन का चित्रण किया गया है। सर्वसाधारण में इसका बहुत प्रचार है। कवि ने प्राय: 'सूरसागर' के पदों के भावानुसरण की पद्धति अपनायी है। बाललीला संबंधी एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

*कहति जसोदा कौन बिधि, समझाऊँ अब कान्ह।*
*भूलि दिखायो चन्द मैं, ताहि कहत हरि खान॥*
*यहै देत नित माखन मोकौं। छिन छिन देति तात सो तोकौं।*
*जो तुम स्याम चन्द को खैहो। बहुरो फिर माखन कहं पैहौ।*
*देखत रहौ खिलौना चन्दा। हठ नहिं कीजै बालगोविंदा।*

'ब्रजविलास' में श्रीकृष्णलीला से संबंधित कथाओं का विवरण ही विशेष रूप से दिया गया है। ब्रजवासीदास ने 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक का भी अनुवाद किया था। इस युग के तीसरे प्रबंध-काव्यकार **मंचित** जाति के ब्राह्मण थे और मऊ (बुंदेलखंड) के निवासी थे। ये 1779 ई. के लगभग वर्तमान थे। इन्होंने दो प्रबंधकाव्यों की सृष्टि की थी : 'सुरभी-दानलीला' और 'कृष्णायन'। 'सुरभी-दानलीला' में श्रीकृष्ण की बाललीला, यमलार्जुनमुक्ति और दानलीला का वर्णन सुंदर ब्रजभाषा में सार छंद के माध्यम से किया गया है। 'कृष्णायन' प्रबंधकाव्य की रचना चौपाइयों तथा दोहों में की गयी है। भाषा संस्कृतनिष्ठ ब्रजभाषा है। सरसता की दृष्टि में 'सुरभी-दानलीला' अधिक प्रभावित करती है। कृष्ण के नखशिख-वर्णन के संदर्भ में इस कृति से यह अंश देखिए :

*भृकुटी बंक नैन खंजन से, कंजन गंजनवारे।*
*मदभंजन खग मीन सदा जे, मनरंजन अनियारे॥*

मंचित कवि ने 'कृष्णायन' की रचना तुलसी के 'रामचरितमानस' की शैली में दोहों और चौपाइयों में की है। भाषा अनुप्रासमयी तथा संस्कृतगर्भित है। अंतर यह है कि 'रामचरितमानस' की भाषा तो अवधी है, लेकिन 'कृष्णायन' की भाषा ब्रजभाषा है। स्वाभाविक सरस पदावली में मनोहारिणी ब्रजभाषा के लिए मंचित कवि सदा स्मरण किये जाते रहेंगे। 'कृष्णायन' से एक उद्धरण देखिए :

*अचरज अमित भयो लखि सरिता।*
*दुतिय न उपमा कहि सम चरिता॥*
*कृष्णदेव कहं प्रिय जमुना सी।*
*जिमि गोकुल गोलोक प्रकासी॥*
*अति विस्तार पार पद पावन।*
*उभय करार घाट मनभावन॥*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## मुक्तक शैली में रचित कृष्ण-काव्य

आलोच्य युग में भक्तिभावप्रेरित कृष्णकाव्य की प्रभूत रचना हुई। मुक्तक पद्धति को अपनाने वाले कृष्णभक्त कवियों में रूपरसिकदेव, नागरीदास, अलबेली अलि, चाचा हितवृंदावनदास और भगवतरसिक विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त वृंदावनदेव, पीतांबरदास, सुंदरि कुंवरिबाई, प्रेमसखी, सहचरिसरन, मंजरीदास, कृष्णदास, रत्नकुंवरि, उरदाम और भोला भंडारी नामक कुछ अन्य कवियों ने भी इस काव्यधारा के विकास में योग दिया।

**रूपरसिकदेव :** ये भक्तिकाल के प्रसिद्ध निम्बार्कसंप्रदायी भक्तकवि श्री हरिव्यासदेव के शिष्य थे। किंवदंती के अनुसार इन्होंने श्री हरिव्यासदेव के निकुंजवास के अनंतर उनका शिष्यत्व ग्रहण किया था, फलस्वरूप गुरुदर्शन इन्हें नहीं हो पाये। इनके जीवनवृत्त के संबंध में विशेष सामग्री ज्ञात नहीं है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि इनका रचनाकाल अठारहवीं शती का पूर्वार्द्ध है। इनकी चार कृतियां उपलब्ध हुई हैं—'लीलाविंशति' (1730), हरिव्यास यशामृत, नित्यविहार पदावली, वृहदोत्सव मणिमाल। 'लीलाविंशति' निम्बार्क-संप्रदाय के रसोपासना-सिद्धांत का परिचायक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, तो 'नित्यविहार पदावली' में राधा-कृष्ण की रसलीलाओं का चित्रण है। 'हरिव्यास यशामृत' में सखी-भाव की उपासना की प्रशंसा की गयी है और 'वृहदोत्सव मणिमाल' में वर्ष भर के उत्सवों का वर्णन करने के अतिरिक्त राधा-कृष्ण के प्रति भक्तिभावना का निदर्शन है।

**नागरीदास :** 'नागरी' शब्द 'राधा' के लिए प्रयुक्त किया गया है। राधारानी के भक्त अर्थात 'नागरीदास' नाम के कई भक्तकवि ब्रज में हो गये हैं, लेकिन उन सब में कृष्णगढ़ के राजा श्री सावंतसिंह ही 'नागरीदास' के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म सन् 1699 में हुआ था। गृह-कलह के कारण ये घरबार छोड़ कर नागरी राधा के भक्त बन गये और वृंदावन में रहने लगे। वृंदावन में इनकी उपपत्नी 'बणीठणी जी' भी रहती थीं। नागरीदास भी कवि थे और **बणीठणी जी** भी कवयित्री थीं। भक्तप्रवर नागरीदास जी का कविताकाल 1723 से 1762 ई. तक माना जा सकता है। इन्होंने कृष्णभक्ति से संबद्ध कई पुस्तिकाओं की सृष्टि की थी, जिनमें से अधिक उलेखनीय हैं—जुगलरसमाधुरी, फागविलास, रासरसलता, इश्क़चमन, कृष्णजन्मोत्सव कवित्त, प्रियाजन्मोत्सव कवित्त, गोवर्द्धनधारन के कवित्त, फागविहार, भक्तिसार, रसिकरत्नावली आदि। नागरीदास की रचनाओं में विषय का पिष्टपेषण भी मिलता है, किंतु फिर भी भावों की अभिव्यक्ति में नवीनता और शैली में विशिष्टता के दर्शन होते हैं। इनकी कृष्णभक्ति के अंतर्गत यत्र-तत्र आशिक़ी और सूफियाना रंग-ढंग भी दृष्टिगोचर होता है। 'इश्क़चमन' की भाषा में फ़ारसी मिश्रित शैली की रंगीनी और ग़ज़ब की बहार पायी जाती है। 'वर्षा के कवित्त' नामक पुस्तिका में कवि ने राधा का रूपचित्र उपस्थित किया है। राधा के मुख की छवि के दर्शन मोहन के नेत्रों में पवन और दामिनी की दया के सहारे ही किये हैं। नागरीदास लिखते हैं :

*भादौं की कारी अंध्यारी निसा झुकि बादर मन्द फुही बरसावै।*
*स्यामा जू आपनी ऊँची अटा पै छकी रसरीति मलारहि गावै॥*
*ता समै मोहन के दृग दूरि तें आतुर रूप की भीख यों पावै।*
*पौन मया करि घूँघट टारै दया करि दामिनि दीप दिखावै॥*

ऐसी श्रृंगारमयी कृष्णभक्ति का कारण नागरीदास का सखी-संप्रदाय से प्रभावित होना है। सखी-संप्रदाय में रसरूप, 'युगलोपासना' गृहीत है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**अलबेली अलि :** विष्णुस्वामी-संप्रदाय के महात्मा श्री वंशीअलि के प्रसिद्ध शिष्य श्री अलबेली अलि राधा के उपासक थे। संस्कृत और ब्रजभाषा के पंडित होने के कारण इनकी कविता बड़ी परिष्कृत और प्रांजल है। सूरदास की भांति इनके पद बड़े सरस और उत्कृष्ट हैं। इनका कविताकाल ईसा की अठारहवीं शती का प्रथम चरण माना जा सकता है। आनुप्रासिक छटा के साथ सरस शब्दावली मनोहारिणी सिद्ध हुई है। जैसे :

*सरद रैन सुखदैन मैनमय जमुनातीर सुहायौ।*
*सकल कलापूरन ससि सीतल महिमंडल पर आयौ॥*

राधावल्लभ-संप्रदाय तथा सखी संप्रदाय में कुंजविहार और रासलीला का परम महत्त्व है। कुंजविहार के समय राधा और कृष्ण परस्पर गलबाहीं डाल कर सम्मोहनकेलि में निमग्न रहते हैं। इन संप्रदायों की रासलीला 'भागवत' की रासलीला से भिन्न है। उक्त मतों में रासलीला के अधिकारी केवल राधा और कृष्ण ही हैं। इनकी रासलीला भी कुंजविहार के निकट ही है। इन्हीं भाव-भावनाओं से प्रभावित हो कर अलबेली अलि ने अपना काव्य लिखा है।

**चाचा हितवृंदावनदास :** ये जाति के गौड़ ब्राह्मण थे और 1708 ई. में उत्पन्न हुए थे। ये राधावल्लभसंप्रदाय के भक्त थे, फलस्वरूप इन्होंने ब्रजवासी कृष्ण का गुणगान करने के अतिरिक्त राधा के प्रति दास्य भाव रखा है। इनकी दृष्टि में राधा स्वतंत्र विहार करने वाली पराशक्ति हैं। वे परमैश्वर्यवती और शोभाशालिनी हैं, अष्ट सिद्धियां और नव निधियां उनकी टहल करती हैं। यहां तक कि ब्रजचंद्र का महत्त्व भी ब्रजेश्वरी राधा की कृपा से ही है। राधा जहां एक ओर गरिमामयी हैं, वहीं दूसरी ओर लावण्य तथा मधुरिमामयी भी हैं। यही कारण है कि राधावल्लभसंप्रदाय के भक्तकवियों की वाणी में भक्तिभावना के साथ-साथ माधुर्यमय शृंगार की झलक भी मिल जाती है। इस संप्रदाय के कवियों में सामान्यतः नित्यलीला में कुंजविहार, रासलीला, अष्टयाम और छद्मलीला के प्रसंगों का विशद वर्णन मिलता है। इनकी रचनाओं में 'लाड़सागर', 'ब्रजप्रेमानंद-सागर', 'जुगलस्नेहपत्रिका', 'कृपाअभिलाष बेली', 'भ्रमरगीत' आदि प्रसिद्ध हैं। भाषा पर इनका अद्भुत अधिकार है। इनमें सर्वत्र काव्यप्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है। इनकी रचनाओं में सजीवता और स्वाभाविक मधुरता है। यथा:

*अतिसय सरस सुगन्ध मन्द गति बहत पवन रुचिकारी।*
*नव नव रूप नवल नव जोवन बने नवल पिय प्यारी॥*
*गौर स्याम छवि सदन बदन पर फबि रहे श्रमकन ऐसे।*
*नील कनक अंबुज अन्तर धरे ओपि जलज मनि जैसे॥*
*झलकत हार चलत कल कुंडल मुख मयंक ज्यौं सोहैं।*
*वारौं सरद निसा ससि केतिक मैन कटाच्छनि मोहैं॥*

**भगवतरसिक :** भगवतरसिक महात्मा ललितमोहनीदास के शिष्य थे। इनका रचनाकाल 1773 से 1793 ई. तक माना गया है। कुंडलिया छंद में लिखा हुआ इनका 'अनन्यनिश्चयात्मक ग्रंथ' बहुत प्रसिद्ध है। ये सखी-संप्रदाय के भक्त थे। इस संप्रदाय में रसरूप 'युगलोपासना' को स्वीकृत किया गया है। इसका प्रचार निम्बार्क और गौड़ीय वैष्णवों में भी था। 'राधाभाव' की तरह 'सखीभाव' भी एक भाव है, जिसमें भक्त स्वयं को भगवान की सखी मानता है। इस भाव में भक्त श्रीकृष्ण की किसी प्रिय गोपी के वेश, लीला, स्वभाव आदि के अनुसार आचरण करता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इस भाव की प्राप्ति रागात्मक स्मरण से होती है। कवि भगवतरसिक की रचनाओं में सखी भाव की अभिव्यक्ति अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होती है। जैसे :

*तुव मुख नैन कमल अलि मेरे।*
*पलक न पलक-पलक बिनु देखे, अरबरात अति फिरत न फेरे॥*
*पान करत मरकन्द रूप रस, भूलि नहीं फिर इत उत हेरे।*
*भगवतरसिक भये मतवारे, झूमत रहत छके मद तेरे॥*

भगवतरसिक प्रेमरसपूर्ण भक्तहृदय थे। इनकी लेखनी से प्रेमतत्त्व का निरूपण बहुत सुंदर शैली में हुआ है। इनकी रचनाएं 'भगवतरसिक की वाणी' में संकलित हैं।

**अन्य कवि :** निम्बार्क-संप्रदाय के भक्तकवि **वृंदावनदेव** घनानंद के गुरु थे। भक्तिकालीन कवि परशुरामदेव की शिष्य-परंपरा में इनका गौरवपूर्ण स्थान है और ये उनसे चौथी पीढ़ी में हुए थे। इनका आचार्यत्व-काल 1702-1743 ई. में स्वीकार किया जाता है और 'निम्बार्क-माधुरी' में इनकी एक रचना 'कृष्णामृत-गंगा' का उल्लेख मिलता है, जिसे 'गीतामृत-गंगा' भी कहा जाता है। इनकी पदावली यद्यपि भक्तितत्त्व से अनुप्राणित है, तथापि उसमें रीतिबद्धता की छाप भी स्पष्टतः लक्षित होती है। सखी-संप्रदाय के **पीतांबरदास** भी इन्हीं की भांति उल्लेखनीय भक्तकवि हैं। 'केलिमाल की टीका', 'समयप्रबंध', 'सिद्धांत और रस की साखी' तथा 'सिद्धांत और रस के पद' इनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं। स्वामी हरिदास की शिष्य-परंपरा में रसिकदास जी की गद्दी इन्हीं को मिली थी और ये 'निजमत सिद्धांत' के रचयिता किशोरदास के गुरु थे। रीतिकालीन कृष्णभक्त कवियों में भक्तवर नागरीदास की बहन **सुंदरी कुंवरिबाई** का भी विशेष स्थान है। इनका विवाह राघवगढ़ के कुंवर बलवंतसिंह के साथ हुआ था, किंतु पति से इनकी प्रायः अनबन रहती थी। कुंवरिबाई का मन कृष्णपूजा तथा काव्यसर्जना में ही सदा लगा रहता था। ये राधावल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित हुई थीं। इनके द्वारा रचित दस पुस्तकें उपलब्ध हैं—नेहनिधि, वृंदावन-गोपी-माहात्म्य, संकेतयुगल, रसपुंज, प्रेमसम्पुट, सारसंग्रह, रंगझर, भावनाप्रकाश, रासरहस्य। इनका रचनाकाल 1760 से 1796 ई. तक माना जाता है। राधा-कृष्ण की रूपमाधुरी एवं भक्ति-भावना के संबंध में इनके कुछ फुटकर कवित्त और पद भी मिलते हैं। इनकी कृतियों में भावों की सरस तथा कलामयी अभिव्यक्ति पायी जाती है। भाषा सुंदर तथा अलंकृत है। यथा :

*स्याम रूप सागर मैं नैन वार-पार थके,*
*नचत तरंग अंग-अंग रंगमगी है।*
*गाजन गहर धुनि बाजन मधुर बेनु,*
*नागिन अलक जुग सोधै सगबगी है॥*
*भंवर त्रिभंगताई पानिप लुनाइ तामैं,*
*मोती मनि जालन की ज्योति जगमगी है।*
*काम पौन प्रबल धुकाव लोपी पैज तामैं,*
*आज राधे लाज की जहाज डगमगी है॥*

**बख्शी हंसराज श्रीवास्तव 'प्रेमसखी'** भी इस काल के उल्लेख-योग्य कृष्णभक्त हैं। इनका जन्म 1732 ई. में पन्ना में हुआ था। ये सखी-संप्रदाय में दीक्षित हुए थे। विजयसखी वैष्णव इनके गुरु थे। 'प्रेमसखी' की रचनाओं में सनेहसागर, विरहविलास, कृष्ण जू की पाती, बारहमासा,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विरहपत्रिका, चुरिहारिनलीला और फागतरंगिनी अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी कृतियों में राधा-कृष्ण की लीलाएं वर्णित हैं, जो माधुर्य भाव से परिपूर्ण हैं। सखी-भाव का भक्त अपने को राधा की सखी मानता है, अतः कृष्ण उसके लिए आराध्य पति हैं और उनकी रूपमाधुरी ही उसके लिए परमानंददायिनी है, श्रीकृष्ण की अनियारी चित्तवन की चुभन का 'प्रेमसखी' ने इस प्रकार चित्रण किया है :

*लोचन ललित प्रीति रस पागे पुतरिन स्याम निहारे।*
*मानौं कमल दलन पर बैठे उड़त न अलि मतवारे॥*
*चुभति चारु चंचल नैननि की चितवनि अति अनियारी।*
*अति सनेहमय प्रेम सरस लखि को न होति मतवारी॥*

अठारहवीं शती के अंतिम चरण में विद्यमान **सहचरिसरन** सखी संप्रदाय के भक्तकवि थे। युगल उपासना की प्रधानता के कारण इन्होंने राधा और कृष्ण की विभिन्न छवियों के चित्र अपनी कविताओं में चित्रित किये हैं। यमुनातट पर नटवरलाल मुरली बजाते हुए अपनी निराली छवि से चटक-मटक के साथ चले आ रहे हैं। सहचरिसरन उस छवि-माधुरी को इन शब्दों में चित्रित करते हैं :

*मलयज तिलक लालट पटल पर*
*अटल सनेह सटक सों।*
*मदन विजय जनु करत पुरटमय*
*कटि किंकिनी कटक सों॥*
*सहचरिसरन तरनि तनया तट*
*नटवर मुकुट ल टक सों।*
*चित चुरली मुरली धुनि गावत*
*आवत चटक-मटक सों॥*

सानुप्रासमयी ललित शब्दावली के साथ रूपमाधुरी के चित्र खींचने में सहचरिसरन सदा ही अभिनंदन प्राप्त करते रहेंगे। इनकी दो पुस्तकें प्राप्त हैं—'ललितप्रकाश' तथा 'सरस मंत्रावली'। 'सरस मंत्रावली' में युगल-छवि की शोभा का निदर्शन है।

चैतन्य संप्रदाय के भक्तकवि **मंजरीदास** अठारहवीं शताब्दी के अंत में हुए थे। इन्होंने चैतन्य-संप्रदाय के सिद्धांतों का प्रचार अपनी कविता के माध्यम से किया था। इनकी भक्तिविषयक कविताएं बहुत लोकप्रिय हुईं। इनके समकालीन कवियों में **कृष्णदास** ने 'माधुर्यलहरी' (1796) में कृष्णचरित का गान किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'भागवत भाषा पद्य' और 'भागवत-माहात्म्य' नामक दो अन्य ग्रंथों की रचना भी की थी। कृष्णदास की रचनाओं की भाषा सरल और सीधी ब्रजभाषा है :

*कौन काज लाज ऐसी करै जो अकाज अहो,*
*बार-बार कहौ नर देह कहाँ पाइये।*
*दुर्लभ समाज मिलौ सकल सिधान्त जानि*
*लीला गुन नाम धाम रूप सेवा गाइये॥*

आलोच्यकाल की कृष्णभक्ति कवियत्रियों में **रत्नकुंवरि** अविस्मरणीय हैं। ये राजा शिवप्रसाद

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सितारेहिंद की दादी थीं। इनका जीवन योगियों की भांति व्यतीत हुआ। इन्होंने सत्तर वर्ष की आयु बड़े आनंद से भगवद्भक्ति में बितायी। 1800 ई. के आसपास इन्होंने 'प्रेमरत्न' नामक प्रबंधकाव्य की रचना दोहों और चौपाइयों में की थी। इसमें सरल ब्रजभाषा में कृष्ण का चरित बड़ी भक्ति-भावना से लिखा गया है। **दामोदर चौधरी 'उरदाम'** (1799–1853) मथुरा-निवासी चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। इनके कृष्णभक्ति-काव्यों में 'उरदामप्रकास', 'कुबरीकिलोल', 'कान्हा की बंसी', 'मनमौजसागर', 'कोरदारबतीसी' आदि उल्लेखनीय हैं। रीतिकाल के अंतिम चरण में **भोला भंडारी** की काव्यप्रतिभा भी ध्यान आकृष्ट करती है। इनके जन्मकाल के संबंध में तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किंतु इतना अवश्य पता लगता है कि ये ग्वाल कवि को अपना काव्य-गुरु मानते थे। अतः यह सिद्ध है कि यह ईसा की उन्नीसवीं शती में विद्यमान थे। इनकी कविता में कृष्णभक्ति, कृष्णप्रेम, ऋतुसौंदर्य आदि का अच्छा वर्णन मिलता है। इनकी ब्रजभाषा में ग्रामीण शैली तथा परिनिष्ठित शैली, दोनों के ही दर्शन होते हैं। युगल-छवि-वर्णन में कवि ने विशेष रुचि ली है। मोहन के साथ फाग खेलने की हौंस में एक सखी का कथन सुनिए और भंडारी जी के सिंहावलोकन का चमत्कार देखिए :

*फाग री आयौ सुहायौ चहूँ दिसि गावत सुन्दरी सुन्दर राग री।*
*राग री मेरौ गयौ हरि लै अब कासौं कहौं यह मेरौ अभाग री॥*
*भाग री हूँ सो छूटै ना सरीर रह्यौ इन बातन कौ उर दाग री।*
*दाग री मेरौ तबै मिटिहै जब मोहन के संग खेलिहौ फाग री॥*

पंद्रहवीं शती में भक्तिधारा में स्नात ब्रजभाषा के कवियों ने ब्रजभूमि में प्रेमभक्ति का जो अंकुर बो दिया था, वह शताब्दियों तक पुष्पित-पल्लवित और फलित होता रहा। प्रेमपूर्ण मधुरा-भक्ति शनैः-शनैः अग्रसर होती रही और फिर सत्रहवीं शती में कृष्णभक्ति-साहित्य में सखी-भाव की साधना प्रमुख हो गयी। सखी-भाव को सबल और व्यापक बनाने में निम्नांकित तीन संप्रदायों ने विशेष योग दिया : (1) गोस्वामी हितहरिवंश द्वारा संस्थापित राधावल्लभ-संप्रदाय, (2) गोस्वामी हरिदास द्वारा पोषित सखी-संप्रदाय, (3) महाप्रभु चैतन्य के शिष्यों द्वारा प्रवर्तित गौड़ीय वैष्णव-संप्रदाय। इन तीनों में ही आत्मसमर्पण-भाव की प्रबलता पर जोर दिया गया है। रीतिकाल के कृष्णभक्त कवियों ने इस आत्मसमर्पण को मुख्यतः नारी-भाव में संभव मान कर अपनी वाणी को सरस, सबल तथा मनोहारी शब्दों के माध्यम से व्यक्त किया। इनका प्रभाव रामभक्ति-काव्य पर भी पड़ा। वृंदावन की भांति अयोध्यानगरी भी सखी-संप्रदाय का केंद्र बन गयी। शनैः-शनैः आंतरिक प्रेमदर्शन की शक्ति क्षीण होती गयी और बाह्य उपकरणों सहित स्त्रीभाव प्रदर्शित करने की प्रणाली तथा अनुकरण प्रारंभ हो गया। परिणाम यह हुआ कि मूलतः जो भक्ति की सच्ची भाव धारा थी, वह वासना की गंध वाले शृंगार में परिवर्तित होती गयी। फिर भी, कुछ कृष्णभक्त कवियों में वह शृंगार बहुत ऊंचा न उठ सका तथा उनमें भक्ति की लहर ही प्रबल रही।

रीतिकाल के कृष्णभक्ति-काव्य के स्रष्टा कवियों में बहुत से संस्कारों से भक्तहृदय थे। वे संप्रदायों में दीक्षित भी थे। उनका कृष्णभक्ति-काव्य वास्तव में सामान्य मानव-मन की प्रबलतम भूख की शांति का उदात्त समाधान है। वह मनुष्य को शुष्क तत्त्ववादी और प्रेमहीन कथनी का उपासक नहीं बनाता, अपितु प्रेममयी सरस भक्ति-भावनाओं के साथ बाह्य मांसल शृंगार की आसक्ति से हटा कर उदात्त समुज्ज्वल प्रेमाभक्ति में रमण कराता है। किंतु मानव-जीवन को

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पूर्णांगी रूप में उत्तम बनाने के लिए केवल प्रेमनिष्ठा के साथ उसका रससिक्त रहना ही आवश्यक नहीं है, अपितु मानव को कर्तव्यपथ पर चालित करने के लिए भी कुछ विशिष्ट तत्त्वों की आवश्यकता है। उन तत्त्वों को कृष्णभक्तिकाव्य ने एकदम भुला दिया है। उसका परिणाम सर्वांगीण दृष्टि से अच्छा नहीं निकला। ऐकांतिक प्रेमनिष्ठा सच्चे भक्तों को तो कुछ सहारा देती थी, किंतु सर्वसाधारण को वह वासना तथा कामुकता का रास्ता भी दिखाने लगी। आगे चल कर कृष्णभक्ति-साहित्य सच्चे माधुर्य भाव के स्थान पर कामवासना की भावना को उद्दीप्त करने में सहायक सिद्ध हुआ। कुछ काल तक तो वह भक्तों के लिए प्रेरणा तथा सच्चे सुख का स्रोत बना रहा, किंतु कालांतर में एकांगी बन कर फिर से क्षीणता को प्राप्त हो गया। रीतिबद्ध शृंगारी कवियों में तो वह लौकिक वासना को जगाने में सफल भी हुआ है।

## नीतिकाव्य

हिंदी-साहित्य के रीतिकाल में नीतिकाव्य भी एक प्रमुख प्रवृत्ति है। इस काल की नीति-विषयक रचनाएं पुच्छल तारे की भांति अचानक टूट कर नहीं आयीं, संस्कृत-काव्यों से इनकी एक परंपरा प्रवाहित हो रही है। भर्तृहरि ने 'नीतिशतक' (650) नाम से संस्कृत भाषा में नीतिकाव्य की रचना की थी। हेमचंद्र के अपभ्रंश-व्याकरण में अनेक दोहे नीति से संबद्ध हैं। कबीर, तुलसी, रहीम, जमाल आदि कवियों ने भी नीतिविषयक रचनाएं दोहा छंद में की हैं। रीतिकाल में नीति-विषयक काव्यों के रचयिताओं में वृंद, गिरिधर कविराय, बैताल, सम्मन, रामसहायदास, दीनदयाल गिरि आदि के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। ये नीति-काव्याकार ईसा की अठारहवीं शती से उन्नीसवीं शती तक अपनी रचनाओं की सृष्टि करते रहे। अठारहवीं शती के प्रथम चरण में सन् 1704 के आसपास मेड़ता (जोधपुर)-निवासी वृंद ने अपनी 'सतसई' की रचना की थी। 'वृंद-सतसई' में सात सौ दोहे हैं। भाषा सरल, सरस और कलापूर्ण है। वृंद के दोहों में रसमय कवित्व तो नहीं है; हां, कलापूर्ण सूक्तियां उन्हें अवश्य कह सकते हैं। लोकप्रियता की दृष्टि से 'वृंद-सतसई' के अनेक दोहे आज भी लोकजीवन की वाणी के माध्यम से सुने जा सकते हैं। जैसे :

*फीकी पै नीके लगै, कहिए समय बिचारि।*
*सबकौ मन हरषित करै, ज्यौं बिवाह में गारि॥*
*भले बुरे सब एक सम, जौ लौं बोलत नाहिं।*
*जान परत हैं काग पिक, ऋतु बसंत के माहिं॥*

व्यवहार और नीति से संबद्ध कुंडलियां लिख कर **गिरिधर कविराय** ने जितनी अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है, उतनी प्रसिद्धि रीतिकाल का कोई अन्य नीतिकाव्यकार नहीं पा सका। नीतिविषयक कुंडलियां केवल दो कवियों की ही सुनी जाती हैं—एक गिरिधर कविराय की और दूसरे दीनदयाल की। इन दोनों में गिरिधर कविराय अधिक ख्यातनामा हैं। इनका कविताकाल 1743 ई. के बाद का माना जा सकता है। जाति, गांव, परिवार, घर-बार, राजदरबार आदि स्थानों पर मनुष्यों को क्या नीति अपनानी चाहिए और कैसा व्यवहार करना चाहिए, इन बातों को कवि ने ऐसी सीधी-सादी सरल भाषा में तथ्यपूर्ण ढंग से बता दिया है कि श्रोता पर शीघ्र प्रभाव पड़ता है, और वह सामाजिक व्यवहार के लिए उन बातों को गांठ बांध लेता है। गिरिधर तथ्यवक्ता पद्यकार हैं, जबकि वृंद अलंकार-विधान-प्रेमी सूक्तिकार हैं। गिरिधर की कुछ कुंडलियों में 'गिरिधर कविराय' नाम के साथ 'सांई' शब्द भी आता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि 'सांई' शब्द वाली

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कुंडलियां गिरिधर की पत्नी की रची हुई हैं। 'कविराय' नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि ये जाति के भाट थे, परंतु निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

नीति काव्यकार **बैताल** का समय 1782 ई. के बाद और 1829 ई. से पहले माना जा सकता है। ये जाति के बंदीजन थे और कहा जाता है कि चरखी वाले विक्रमसाह की सभा में रहा करते थे। बैताल ने अपनी कुंडलियां 'विक्रम' को संबोधित करते हुए लिखी हैं। इनकी भाषा सरल है तथा कथन-शैली अनूठी है। उदाहरण :

*बाम्हन सो मरि जाय, हाथ लै मदिरा प्यावै।*
*पूत वही मरि जाय, जो कुल में दाग लगावै॥*
*अरु बेनियाव राजा मरै, तबै नींद भर सोइए।*
*बैताल कहै विक्रम सुनो, एते मरै न रोइए॥*

**सम्मन** जाति से ब्राह्मण थे। इनका जन्म 1777 ई. में हुआ था और इनका निवासस्थान मल्लावां (ज़िला हरदोई) था। इनके नीति संबंधी दोहे ग्रामीण जनता में बहुप्रचलित है। भाषा सरल और सीधी होते हुए भी मर्म को स्पर्श करती है। मनुष्य का जीवन दिनों के फेर से अच्छा-बुरा बनता रहता है। इस भाव के दोहे बड़े मर्मस्पर्शी हैं और स्त्रियों की जिह्वा पर आज भी निवास करते हैं। मिष्ट भाषणा के संबंध में सम्मन कहते हैं :

*सम्मन मीठी बात सों, होत सबै सुख पूर।*
*जेहि नहिं सीखो बोलिवो, तेहि सीखो सब धूर॥*

**रामसहायदास** जाति के कायस्थ थे और चौबेपुर (ज़िला बनारस) के रहने वाले थे। कविता में इनका उपनाम 'राम' था। बिहारी की 'सतसई' की भांति इनकी 'राम-सतसई' भी शब्दों की कारीगरी और वाक्चातुर्य की दृष्टि से प्रसिद्ध है। इनका कविताकाल 1703 से 1823 ई. तक माना जा सकता है। जायसी के 'अखरावट' के ढंग पर इन्होंने 'ककहरा' की रचना की थी, जिसमें नीतिविषयक उपदेश हैं।

रीतिकालीन नीतिकारों में **दीनदयाल गिरि** सर्वप्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि ये मथुरा ज़िले के बरसावा गांव के महात्मा थे। बाबा दीनदयाल गिरि जाति के गोसाईं थे। आचार्य शुक्ल के मतानुसार इनका जन्म 1802 ई. में काशी के गायघाट नामक मुहल्ले में हुआ था। लौकिक विषयों पर गिरि जी की अन्योक्तियां नीति-साहित्य में मूर्धन्य स्थान रखती हैं। इनके ग्रंथ 'अन्योक्तिकल्पद्रुम' की भाषा बहुत स्वच्छ, सुव्यवस्थित और परिष्कृत है। इनकी कविता में सहृदयता एवं भावुकता स्पष्टतः लक्षित होती है। कलामयी भावात्मकता के साथ नीतिकाव्य की सर्जना में दीनदयाल गिरि गिरिधर कविराय से उच्च सिद्ध होते हैं। अन्योक्ति-आश्रित नीतिकाव्य के क्षेत्र में इनकी मार्मिकता और सौंदर्यानुभूति का विशिष्ट स्थान है। किसी क्रूर के संबंध में चंद्र को संबोधित करते हुए गिरि जी लिखते हैं :

*केतौ सोम कला करौ, करौ सुधा कौ दान।*
*नहीं चंद्रमणि जो द्रवै यह तेलिया परवान॥*
*यह तेलिया परवान बड़ी कठिनाई जाकी।*
*टूटीं याके सीस बीस बहु बांकी टांकी॥*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*बरनै दीनदयाल चन्द! तुम ही चित चेतौ।*
*कूर न कोमल होहिं कला जौ कीजै केतौ॥*

अंत में यह उल्लेखनीय है कि जहां भक्तिकाल में तुलसी और रहीम के दोहों में भक्ति और नीति दोनों को स्थान प्राप्त हुआ, वहीं रीतिकालीन नीतिकाव्य शुद्ध नीति की व्याख्या के लिए ही लिखा गया। समाज के कल्याण तथा सांसारिक व्यावहारिकता की ज्ञानप्राप्ति के दृष्टिकोण से नीतिविषयक काव्य परमोत्तम सिद्ध हुआ है। सामान्य जनता के लिए नीतिकाव्य सद्व्यवहार और चरित्रनिर्माण का मार्ग प्रस्तुत करता है, किंतु सरसता तथा मार्मिक भावुकता की दृष्टि से नीतिकाव्य बहुत उत्कृष्ट सिद्ध नहीं होता। यही कारण है कि रीतिकालीन नीतिकाव्य कविता की अपेक्षा पद्य की ओर ही अधिक झुका हुआ है।

## वीरकाव्य

हिंदी-साहित्य के आदिकाल में काव्य के अंतर्गत वीर भावनाओं की उत्ताल तरंगें दृष्टिगोचर होती हैं, किंतु वह वीर भावना प्राय: शृंगार के साहचर्य में व्यक्त हुई हैं जबकि रीतिकालीन वीरकाव्य स्वयं स्वतंत्र रूप में आगे आया है और राजाओं की कीर्ति-गाथाओं का अतिरंजित वर्णन होते हुए भी उसमें देशभक्ति की चिनगारियां अपनी अद्भुत चमक दिखा रही हैं। ऐतिहासिकता पर आधृत होने के कारण रीतिकालीन वीरकाव्य जनता को प्रेरणा प्रदान करने में भी अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। रीतिकाल के कवियों ने वीर भावों की अभिव्यक्ति दो प्रकार से की है : (1) प्रबंधकाव्यों द्वारा, (2) मुक्तक काव्यों द्वारा। प्रबंधात्मक वीरकाव्यों के रचयिताओं में लाल, पद्माकर, सूदन, खुमान, जोधराज आदि उल्लेखनीय हैं। मुक्तक वीरकाव्यों की रचना करने वालों में भूषण और बांकीदास प्रसिद्ध हैं।

### *प्रबंधात्मक वीरकाव्यों के कवि*

**लाल कवि :** गोरेलाल पुरोहित 'लालकवि' का समय ईसा की सोलहवीं शती के अंतिम चरण के आसपास माना जाता है। ये मऊ (बुंदेलखंड) के निवासी थे। इन्होंने 'छत्रप्रकाश' शीर्षक से महाराज छत्रसाल का जीवनचरित्र दोहों-चौपाइयों में विस्तार से लिखा है। इस प्रबंधात्मक वीरकाव्य में बुंदेलवंश की उत्पत्ति, चंपतराय के पराक्रम तथा छत्रसाल की युद्ध-वीरता का वर्णन विस्तार से किया गया है। वीरगाथाकालीन वीरकाव्यों में तो कवि-कल्पनाएं इतनी अधिक समाविष्ट हो गयी हैं कि घटना-तथ्य उनमें बहुत कुछ खो गया है, लेकिन 'छत्रपकाश' में ऐतिहासिक घटनाओं को सुरक्षित रखा गया है। कवि के विवरण इतिहास से ठीक-ठीक मेल खाते हैं। जहां छत्रसाल की वीरता का ओजस्वी वर्णन है, वहीं यथास्थान सुकुमार घटनाओं के मर्म को प्रस्तुत करने में भी कवि जागरूक है। छत्रसाल के वीरतापूर्ण व्यक्तित्व की झांकी देखिए :

*छत्रसाल हाड़ा तहं आयौ।*
*असन रंग आनन छबि छायौ॥*
*भयो हरोल बजाय नंगारो।*
*सार धार को पहिरनहारो॥*

**पद्माकर भट्ट :** रीतिकाल के कवियों में भाव और भाषा की दृष्टि से पद्माकर बिहारी की भांति ही पंडितप्रिय तथा जनप्रिय रहेंगे। ये तैलंग ब्राह्मण थे और इनका जन्म 1753 ई. में बांदा में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हुआ था। जयपुरनरेश महाराज प्रतापसिंह से इन्हें अच्छी जागीर मिली थी और 'कविराज शिरोमणि' की पदवी भी प्राप्त हुई थी। 1792 ई. में पद्माकर भट्ट गोसाईं अनूपगिरि उपमान 'हिम्मतबहादुर' के यहां चले गये थे। वहीं पर इन्होंने 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' नामक वीरकाव्य लिखा था। वीर-भावना का उद्रेक जिस कलामयी सबल भाषा में इस काव्य के अंतर्गत दृष्टिपात होता है, वह अपने ढंग का अनूठा है। जीवन के अंतिम चरण में पद्माकर भट्ट कानपुर में रहने लगे थे। वहीं गंगातट पर अस्सी वर्ष की आयु में इन्होंने अपनी जीवनलीला समाप्त की। वीररसोद्भाविनी ओजगुणपूर्ण समर्थ शब्द-संयोजना के लिए पद्माकर सदैवे प्रसिद्ध एवं श्लाघ्य रहेंगे।

**सूदन :** मथुरा के माथुर चौबे सूदन जी भरतपुर के राजा सुजानसिंह उपनाम 'सूरजमल' के यहां रहा करते थे। उनकी वीरता का विशद वर्णन कवि ने 'सुजानचरित' नामक प्रबंधात्मक वीरकाव्य में किया है। युद्ध में घटनाओं का वर्णन इसमें सर्वत्र इतिहाससम्मत है। किंतु वीरता के वर्णन में कवि ने जहां वस्तुओं की गिनती गिनाने का प्रयत्न किया है, वहीं कविता-स्थल कुछ नीरस हो गये हैं। 'सुजानचरित' में 1745 से 1753 ई. तक की घटनाओं का वर्णन है। इससे सिद्ध है कि सूदन की मृत्यु 1753 ई. के बाद ही हुई होगी। 'सुजानचरित' को सात जंगों में विभक्त करके लिखा गया है। प्रत्येक जंग अंकों में विभक्त है। सूदन की शब्दावली युद्ध का वातावरण उत्पन्न करने में सफल सिद्ध हुई है। किंतु नादात्मक ओजमय स्वरूप प्रस्तुत करने में कवि ने शब्दों में इतनी तोड़-मरोड़ की है कि भाषा के प्रति कुछ-कुछ अन्याय-सा लगने लगता है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि युद्ध के प्रभावशाली वातावरण के चित्रण में ये वीर रस के कवियों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। योद्धा के चित्त की उमंग के वर्णन में भी सूदन बेजोड़ हैं। सानुप्रास ब्रजभाषा की छटा छिटकाने में ये पाठकों की प्रशंसा के पात्र हैं। सूरजमल की धाक का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है :

*दलन दलैया दीह देसन दबैया उग्ग,*
*दुग्गन दरैया खल खंड रहै सूक्यौ सौ।*
*छिति के छितीसन की छाती छनि छार भई,*
*पेखत प्रताप तेरौ प्रबल भभूक्यौ सौ।*
*सूदन सकल सिंह सूरज तिहारै धाक,*
*धूमनु करत रहै दक्खिनी बिझूक्यौ सौ।*
*सहित अमीर पीर धीर न धरत उर,*
*चौंकि चौंकि चाहत चकत्ता चित चूक्यौ सौ॥*

सूदन को युद्ध की भीषण प्रचंडता की प्रत्यक्ष अनुभूति है। वह रणभूमि का कोरा दर्शक मात्र नहीं, अपितु युद्धभूमि रंगमंच का सक्रिय वीर पात्र है। इसीलिए युद्धभूमि के सचित्र एवं बिंबात्मक वर्णन सूदन की लेखनी से शक्तिशाली वाणी पा सके हैं।

**खुमान :** खुमान ने 'मान' उपनाम से काव्य-रचना की है। ये जाति के बंदीजन थे और चरखारी (बुंदेलखंड) के राजा विक्रमसाह के यहां रहा करते थे। इनका कविताकाल 1773 से 1823 ई. तक माना जाता है। 1812 ई. के आसपास खुमान ने 'नृसिंहचरित्र' की रचना की थी। इससे पहले 'लक्ष्मण शतक' में इन्होंने लक्ष्मण और मेघनाद का 'युद्धवर्णन' बड़े प्रभावशाली शब्दों में किया था।

**जोधराज :** अलवर ज़िले के नींवगढ़ के कवि जोधराज ने 'हम्मीररासो' (1818) में महाराणा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हम्मीर के चरित का वर्णन ऐतिहासिक घटनाओं की सुरक्षा करते हुए किया है। हम्मीरदेव राजा पृथ्वीराज के वंशज थे। उन्होंने दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन को कई बार युद्ध में परास्त किया था। 'हम्मीररासो' में भाषा और छंदोविधान प्रायः पुराने कवियों जैसा ही है। यह वास्तव में एक ओजस्वी प्रबंधकाव्य है। ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा करते हुए कवि ने कुछ स्थलों पर नवीन कल्पनाएं भी की हैं, ताकि प्रबंधात्मक वीरकाव्य की सृष्टि मनोरम बन सके।

*मुक्तक वीरकाव्यों के कवि*

**भूषण :** 'शिवराजभूषण' नामक अलंकारग्रंथ की रचना कर महाकवि भूषण ने रीतिग्रंथकारों में तो स्थान बनाया ही है, 'शिवाबावनी' और 'छत्रसालदशक' के रचयिता के रूप में उन्होंने मुक्तक वीरकाव्यकारों में भी प्रसिद्धि प्राप्त की है। इन दोनों कृतियों में रीतिरहित वीररसात्मक काव्य का सच्चा उत्कर्ष मिलता है। निस्संदेह 'शिवाबावनी' राष्ट्रीय भावोद्भाविनी राजस्तुति के गौरव से मंडित है। शिवाजी के पराक्रम और उनकी सेना का वर्णन करते हुए भूषण लिखते हैं :

*भूषन भनत तेरी हिम्मत कहाँ लौं कहौं,*
*किम्मति यहाँ लगि है जाकी भट जोट मैं।*
*ताव दै दै मूछन कंगूरन पै पाँव दै दै,*
*अरि-मुख घाव दै दै कूदि परैं कोट मैं॥*

भूषण राष्ट्रीय भावों के गायक हैं। उन्होंने राष्ट्रीयता की परिभाषा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से की है। उनकी वाणी प्रपीड़ित राजा के प्रति एक अपूर्व आश्वासन है। चाहे भूषण की कविता में उत्कृष्ट मर्मज्ञ कवि की सूक्ष्म कवित्वकला न हो, किंतु उनके काव्य में ओज का प्रभावी घोष अवश्य है, जो रग-रग में रक्त का संचार करने में समर्थ है। वीर रसानुकूल ब्रजभाषा लिखने में भूषण सिद्धहस्त हैं। छत्रसाल की तलवार की प्रशंसा में कवि का भाषा-प्रवाह और अलंकार-चमत्कार दर्शनीय है :

*पच्छी परछीने ऐसे परे परछीने बीर,*
*तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के।*

**बांकीदास :** कविराज बांकीदास का जन्म मारवाड़ राज्य के भांडियावास गांव में 1771 ई. में आसिया चारण वंश में हुआ था। जोधपुर के राजा मानसिंह बांकीदास की काव्य-प्रतिभा से बड़े प्रभावित थे और इन्हें अपना गुरु मानते थे। बासठ वर्ष की आयु में 1833 ई. में इनकी मृत्यु हुई। इनके सत्ताईस ग्रंथों में 'सूरछत्तीसी' और 'वीरविनोद' नामक वीरकाव्य बहुत प्रसिद्ध हैं। बांकीदास की भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और विषयानुकूल है। इनकी कविता में ओज और प्रसाद—दोनों गुणों का प्राधान्य है। शूरों को नमस्कार करते हुए कवि ने कितनी उद्बोधनात्मक बात कही है :

*नमस्कार सूरां नरां, पूरां सतपुरसांह।*
*भारथ गजथाटां भिड़ै, अड़ै भुजां उरसांह॥*

अर्थात उन पूर्ण वीर सत्पुरुषों को नमस्कार है, जो युद्ध में हाथियों के समूह से जा भिड़ते हैं और जिनकी भुजाएं आकाश से जा लगती हैं।

रीतिकालीन वीरकाव्य के मूल्यांकन के लिए आदिकालीन वीरकाव्य से उसकी तुलना

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समुचित होगी। आदिकाल में पर्याप्त वीरगाथाएं लिखी गयी थीं, किंतु उनमें शृंगार रस, कल्पना और अतिशयोक्ति की इतनी भरमार है कि ऐतिहासिक तथ्यों का कुछ पता नहीं लगता। भाषा भी अपभ्रंश मिश्रित पुरानी हिंदी अथवा डिंगल बहुला है। किंतु रीतिकालीन वीरकाव्य प्रायः ब्रजभाषा में ही लिखे गये और कवियों ने काव्य-सर्जना के क्षणों में ऐतिहासिक तथ्यों को भी सुरक्षित रखा। आदिकाल का वीरगाथाकाव्य प्रायः प्रबंधकाव्यों के रूप में लिखा गया था, किंतु रीतिकाल का वीरकाव्य प्रबंधकाव्यों के साथ-साथ मुक्तक काव्यों के रूप में भी लिखा गया। मुक्तक रूप में लिखे जाने का प्रमुख कारण रीति-परंपरा का अनुगमन है। रीतिकालीन वीरकाव्यकारों ने भी छंदों में परिवर्तन किया और वे इस दिशा में वैभिन्न्य लाये।

आदिकाल के वीरगाथाकाव्य प्रायः आश्रयदाता राजाओं की चाटुकारी को प्रकट करते हैं। वे आश्रयदाताओं के बखान मात्र हैं। उन राजाओं की वीरता का वर्णन बहुत-कुछ वैयक्तिक ही है। तत्कालीन समाज, धर्म तथा राष्ट्र से उनकी काव्यांतर्गत भावनाओं का कोई विशेष संबंध नहीं है। इसके विपरीत रीतिकालीन वीरकाव्य के रचयिता चारण या भाट नहीं थे। वे कवि पहले थे, आश्रित बाद में। उन्होंने स्वराष्ट्र तथा स्वधर्म की रक्षा करने वाले वीर पुरुषों की कर्तव्य-भावना को प्रेरणा देने के लिए ही वीरता की कविताएं लिखी थीं। रीतिकालीन वीरकाव्यों के रचयिता वीर भावनाओं के साथ एकाकार हो गये हैं। दूसरे शब्दों में, उन्होंने उस युग में देशभक्ति तथा हिंदुत्व के संदेश को जनसाधारण के हृदयतल तक पहुंचाया था। भावना-क्षेत्र में जो देशभक्ति भूषण के रूप में जाज्वल्यवती हुई, वही कर्म-क्षेत्र में शिवाजी के रूप में क्रांतिकारिणी सिद्ध हुई। देशभक्ति की जिस भावना के प्रथम दर्शन पृथ्वीराज राठौर की रचना में होते हैं, उसी का पल्लवित रूप भूषण, लाल, सूदन आदि की रचनाओं में देखा जा सकता है। निःसंदेह रीतिकालीन वीरकाव्यों में और उनके स्रष्टा कवियों के अंतस् में सच्ची वीरता और देशभक्ति के स्पष्ट दर्शन किये जा सकते हैं। काव्य के कलापक्ष की दृष्टि से भी रीतिकालीन वीरकाव्यकार बहुत ऊंचे सिद्ध होते हैं, शब्दों के रसानुकूल प्रयोगों में वे अप्रतिम हैं। भावों की उत्तम भूमिका निभाने में पद-संघटना का जो बेमिसाल कमाल उन्हें हासिल है, उसकी जितनी प्रशंसा की जाये, उतनी कम है।

## स्फुट काव्य-प्रवृत्तियां

उपर्युक्त काव्य-प्रवृत्तियों के अंतर्गत रचना करने वाले कवियों के अतिरिक्त रीतिकाल में कुछ ऐसे कवि भी हुए, जिन्होंने या तो राम और कृष्ण से भिन्न किसी देवी-देवता की उपासना की अथवा हास्यरसादि का आश्रय लिया। उदाहरणार्थ, 1783 ई. में कवि **रामचंद्र** ने 'चरणचंद्रिका' की रचना की थी। इसमें कवि ने पार्वती की भक्ति में अपने उद्गार परम सुषमा तथा शांति के साथ व्यक्त किये हैं। स्वभावतः ऐसे कवियों को उपरिलिखित किसी विशेष धारा या वर्ग में नहीं रखा जा सकता। इन कवियों में सबलसिंह चौहान, ब्रजनिधि, बेनी आदि उल्लेखनीय हैं।

**सबलसिंह चौहान :** सबलसिंह चौहान (1661-1724) इटावा के पास सबलगढ़ के राजा थे। इन्होंने दोहों-चौपाइयों में 'महाभारत' का अनुवाद किया था। इनकी भाषा सीधी-सरल है। उसमें कोई काव्यात्मक छटा नहीं है। इनके ग्रंथों में 'रूपविलास' प्रसिद्ध है। इन्होंने 'ऋतुसंहार' का भाषानुवाद भी किया था।

**ब्रजनिधि :** ब्रजनिधि का मूल नाम प्रतापसिंह जी देव था। ये जयपुर के नरेश थे। इनका जन्म 1764 ई. में हुआ था। ये आयुर्वेद और संगीत के अच्छे पंडित थे। इन्होंने तेईस ग्रंथों की रचना की थी, जिनमें से 'रास का रेखता' और 'रेखतासंग्रह' खड़ीबोली की रचनाएं हैं। शेष इक्कीस

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ब्रजभाषा-ग्रंथों में प्रीतिलता, फागरंग, स्नेहबहार, ब्रजनिधि, हरिपदसंग्रह, प्रेमपंथ आदि उल्लेखनीय हैं। इनकी ब्रजभाषा में यत्र-तत्र राजस्थानी के भी शब्द आ गये हैं।

**बेनी कवि :** रीतिकाल के अंतिम चरण के कवियों में 'भड़ौए' लिखने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। राजा-रईसों के मनोरंजन के लिए हास्योद्रेक का काव्य आवश्यक भी था। हास्यरसमयी सूक्तियों के लिए बेनी कवि (1840 के लगभग) का नाम बहुत प्रसिद्ध है। ये जाति के बंदीजन थे और बैंती (ज़िला रायबरेली) के रहने वाले थे। दयाराम नामक व्यक्ति ने कभी इन्हें छोटे-छोटे आम खिलाये होंगे। आम क्या खिलाये, बेचारे दयाराम की आफत ही आ गयी। कवि बेनी ने निम्नांकित 'भड़ौए' में उनकी अच्छी ख़बर ली है :

*चींटी की चलावै को मसा के मुख आपु जाय,*
*स्वास की पवन लागे कोसन भगतु है।*
*ऐनक लगाये मरु मरु कै निहारे जात*
*अनु परमानु कौ समानता लगतु है।।*
*बेनी कवि कहै हाल कहाँ लौं बखान करौं*
*मेरी जान ब्रह्म को बिचारिबो सुगतु है।*
*ऐसे आम दीन्हे दयाराम दया करि मोहि*
*जाके आगै सरसौं सुमेरु सौ लगतु है॥*

बेनी कवि का 'भड़ौवा-संग्रह' प्रकाशित हो चुका है। ऐसी कविताओं को उपहासकाव्य के अंतर्गत समाविष्ट किया जा सकता है।

## रीतिकालीन काव्य की अन्य प्रवृत्तियों का मूल्यांकन

रीतिकालीन काव्यों में जहां रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त स्वच्छंद प्रेमधारा के ग्रंथों की सृष्टि हुई; वहीं ज्ञान, प्रेम, भक्ति, नीति तथा वीर रस की काव्य- सरणियां भी समानांतर रूप में प्रवाहित होती रहीं। ये सभी पूर्ववर्ती काव्यधाराओं की विकसित अवस्थाएं थीं। आलोच्य युग में अभिव्यंजनाकला की दृष्टि से उत्कृष्ट प्रतिभा वाले कवि अधिक संख्या में उत्पन्न हुए। उनकी लेखनी से भाषा का संस्कार, परिष्कार तथा शृंगार हुआ। भक्तिकाल में कविता का भावलोक यदि उच्च और मनोहारी था, तो रीतिकाल में कविता का कलापक्ष सुंदर और चमत्कारी बना। रीतिकालीन आचार्यों तथा कवियों की लेखनी की जीवनीशक्ति पा कर ब्रजभाषा प्रौढ़ तथा सबल हुई। इस युग में अवधी भाषा में भी काव्यसृष्टि हुई, किंतु उसमें ब्रजभाषा की भांति विविध प्रयोग नहीं हुए। उसमें प्रेमाख्यान ही अधिक लिखे गये। छंद-क्षेत्र में कवियों ने दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया आदि अनेक छंदों के माध्यम से अपनी काव्यशक्ति का प्रदर्शन किया।

यद्यपि रीतिकाल में कृष्णभक्ति के उद्गार कवियों की वाणी के माध्यम से सुने जा सकते हैं, किंतु फिर भी लौकिक शृंगारमयी भोगात्मक प्रवृत्तियों की प्रधानता ही उनमें अधिक दिखायी पड़ती है। समाज में तथा कवियों में उस समय जनजीवन के लिए कोई ऐसा लक्ष्य विशेष नहीं था, जो व्यापक रूप में प्रेरणा जगा सकता और साधनापूर्ण जीवन का विकास करता। इसलिए तत्कालीन रीतिकाव्यों में किसी नवीन जीवनदर्शन का प्रतिबिंब दिखायी नहीं पड़ता। कोई सामाजिक या धार्मिक आंदोलन भी ऐसा नहीं हुआ, जो मानव-जीवन को सच्ची चेतना और प्रेरणा प्रदान करता। राजाओं की विलासिता के प्रभाव से जैसी आशा की जा सकती थी, वही दृश्य कविता में भी दिखायी दिया।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

क्योंकि इस युग में आत्मतेज का ह्रास हो चुका था, इसलिए काव्य का बाहरी स्वरूप ही परिष्कृत और प्रांजल बन सका। उक्तिचमत्कार और सौंदर्यचित्रण को छोड़ कर प्राय: सर्वत्र रूढ़ि और परंपरा की रेखाएं ही इस काल के साहित्यिक पटल पर दृष्टिगोचर होती हैं।

इस युग में सिक्खों, मराठों और राजपूतों के तेज का प्रकाश सीमित-सा ही था। उनमें देशव्यापी राष्ट्रीय भावना को जाग्रत करने का लक्ष्य न था। इसका एक मुख्य कारण यह भी था कि रीतिकाल को कबीर अथवा तुलसी जैसा सारस्वत नेता नहीं मिला। अत: काव्यरचना अपने रूढ़ ढंग पर शनै:-शनै: चल रही थी। लेकिन औसत साहित्यिक चेतना काफ़ी प्रबुद्ध थी। सामान्य जन भी काव्य-कृतियों का रसास्वादन किया करते थे। इस युग की साहित्यिप्रियता तथा कलारुचि का प्रमाण यह है कि मुद्रण यंत्रों का अभाव होने पर भी रचनाएं सहृदयों के निजी घरों तथा राजपुस्तकालयों में सुरक्षित रहीं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अध्याय : 11

# रीतिकाल का गद्य-साहित्य

रीतिकाल में गद्य-निर्माण भक्तिकाल की अपेक्षा अधिक हुआ। इस युग का ब्रजभाषा और राजस्थानी का गद्य निश्चय ही पर्याप्त समृद्ध, प्रौढ़, प्रचुर और बहुमुखी है। खड़ीबोली, दक्खिनी, मैथिली आदि अन्य विभाषाओं में भी इस काल में गद्य-लेखन की प्रवृत्ति भक्तिकाल की तुलना में अधिक सक्रिय रही। टीकात्मक अनूदित रचनाओं की संख्या इस काल में अधिक है, परंतु मौलिक ललित गद्य का भी परिमाण विरल नहीं है। इस समय की प्रमुख गद्य-विधाएं हैं—कथा-कहानी, वार्ता, वात, वर्णन, चरित्र, वचनिका, दवावैत, सलोका, वचनामृत (प्रवचन), गोस्ट, जनमसाखी, परचीओ, जीवनी, नाटक, ख्यात, पीढ़ी, विगत, वंशावली, पट्टावली, पत्र (मौलिक रूप) और बालावबोध, टीका, टिप्पण, भाषा, परमारथ, भाव, भावना, वार्तिक (व्याख्यानुवाद)। पुस्तक-परिचय, निबंधात्मक रचनाएं और जीवनीशैली की रचनाएं भी प्राप्त हैं। शिलालेखों, भित्ति-प्रशस्तियों और काग़ज़-पत्रों के रूप में भी गद्य के नमूने प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त उन्नीसवीं शती के प्रथम चरण से पाठ्य पुस्तकों और समाचारपत्रों का प्रारंभ हुआ। स्वतंत्र ग्रंथों के अतिरिक्त पद्यप्रधान रीतिग्रंथों और अन्य पद्यग्रंथों में वात, वचनिका, वारता (वार्ता), चर्चा, तिलक आदि शीर्षकों से जहां-तहां टिप्पणी रूप में गद्य का प्रयोग हुआ। इस समय के गद्य में प्रतिपादित विषय हैं—धर्म, दर्शन, अध्यात्म, इतिहास, भूगोल, चिकित्सा, ज्योतिष, काव्यशास्त्र, शकुनशास्त्र, प्रश्नशास्त्र, सामुद्रिक, गणित और व्याकरण। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से विज्ञानविषयक पाठ्य पुस्तकें भी लिखी जाने लगी थीं। धार्मिक ग्रंथों और काव्यग्रंथों की टीकाओं के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत और फ़ारसी की कथात्मक कृतियों तथा योग, वेदांत, वैद्यक, ज्योतिष आदि विषयों की रचनाओं के अनुवाद भी रीतिकाल में हुए।

## ब्रजभाषा-गद्य

रीतिकाल का ब्रजभाषा-गद्य इस समय के खड़ीबोली-गद्य की अपेक्षा अधिक विकसित और समृद्ध है। धार्मिक और उपयोगी गद्य के साथ ललित गद्य भी इस काल में ब्रजभाषा में पर्याप्त परिमाण में लिखा गया। ब्रजभाषा में टीकाएं भी काफ़ी संख्या में निर्मित हुईं। हिंदी परिवार की भाषाओं में काव्यग्रंथों पर टीका-टिप्पणी-लेखन ब्रजभाषा में ही सर्वाधिक हुआ है। इस समय के ब्रजभाषा-गद्य के रूप हैं—कथा, वार्ता, जीवनी, वर्णन, पत्र, आत्मचरित, संवाद, वचनिका (मौलिक) और टीका, टिप्पण, वातिक, भाव, भावना, अनुवाद, छायानुवाद। मौलिक-अमौलिक, ललित-अललित, सानुप्रास-अनुप्रास-रहित सभी प्रकार का गद्य इस काल में ब्रजभाषा में लिखा गया। गद्य-ग्रंथों में वात, वचनिका, चर्चा, वार्ता अथवा किसी अन्य शीर्षक से यत्र-तत्र टिप्पणीपरक गद्य भी इस युग में पर्याप्ततः लिखा गया। इस समय के ब्रजभाषा-गद्य में प्रतिपादित विषय हैं—धर्म, दर्शन, चिकित्सा, ज्योतिष, शकुनशास्त्र, सामुद्रिक, गणित, इतिहास, भूगोल,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अस्त्र, चित्रकारी, मल्लविद्या तथा काव्यशास्त्र।

रीतिकाल में वल्लभ-संप्रदाय में 'वार्ता' नाम से प्रचुर गद्यवाङ्मय की सर्जना हुई। वार्ताओं में वैष्णव जनों के पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने, उनके जीवन-प्रसंगों और आचार्य जी की महिमा के अतिरंजनात्मक विवरण हैं। प्रधानतः वार्ता-साहित्य धार्मिक-सांप्रदायिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण है। इतिहास संबंधी तथ्य भी इसमें प्राप्त होते हैं। वार्ता-साहित्य का दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक और भौगोलिक महत्त्व भी है। प्रमुखतः वार्ता-साहित्य का उद्देश्य वल्लभ-संप्रदाय के सिद्धांतों का प्रचार और आचार्यों का महिमा-स्थापन है। अब तक शताधिक वार्ताग्रंथ प्राप्त हो चुके हैं। इस साहित्य में कालक्रम और महत्त्व की दृष्टि से 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' अग्रणी हैं। 'चौरासी वार्ता' की 1640 ई. की प्रति कांकरौली विद्याविभाग में सुरक्षित है। 'चौरासी वार्ता' में वल्लभाचार्य जी के शिष्यों और 'दो सौ बावन वार्ता' में विट्ठलनाथ जी के शिष्यों के जीवनवृत हैं। साहित्येतिहास के लेखकों ने निरंतर इन दोनों वार्ता-ग्रंथों के रचयिता और इनकी प्रामाणिकता के संबंध में संदेह व्यक्त किया है। वस्तुतः ये वार्ताएं मूल रूप में गोकुलनाथ जी की कथित हैं, बाद में उनके अनुयायियों ने इनका विस्तार कर इन्हें ग्रंथ का रूप दिया।

वल्लभ-संप्रदाय का वार्ता-साहित्य गो. विट्ठलनाथ जी और गो. गोकुलनाथ जी के वचनामृतों पर आधृत है। इन वचनामृतों को लिपिबद्ध करने वालों में श्रीकृष्णभट्ट, कल्याणभट्ट और हरिराय के नाम प्रसिद्ध हैं। हरिराय रीतिकाल के ब्रजभाषा-गद्यकारों में अग्रणी हैं। उन्होंने वचनामृतों का संकलन, संपादन और संवर्धन किया तथा उन पर भाव-भावना संज्ञक टिप्पणियां जोड़ीं। कथात्मक और तथ्य-निरूपक दोनों प्रकार का गद्य हरिराय जी ने लिखा है। इनके नाम से भाव-भावना संज्ञक बहुत सी वार्ताएं प्राप्त हैं। इन वचनामृतों में लेखनकाल, स्थान और तत्कालीन इतिहास के भी संकेत प्राप्त होते हैं। कुछ मुख्य वचनामृतों के नाम हैं—'गुसाईं दामोदरदास संवाद', 'नित्यसेवा प्रकार', 'चौरासी बैठक चरित्र', 'वनयात्रा', 'अट्ठाईस बैठक चरित्र', 'श्री गिरिधरदास की बैठकन के चरित्र', 'घरू वार्ता'। हास्य-प्रसंग के भी वचनामृत प्राप्त हैं। कुछ वचनामृत भावना और भाव नाम से प्राप्त होते हैं—'भावना-वचनामृत', 'भाव-सिंधु', 'उत्सव-भावना', 'रहस्य-भावना', 'चरण-चिह्न-भावना'। इन वचनामृतों में कुछ गो. गोकुलनाथ के अवश्य हैं। गोकुलनाथ जी के नाम से लगभग बीस वार्ता-ग्रंथ भी प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः गो. गोकुलनाथ जी के नाम से प्रसिद्ध ब्रजभाषा-गद्य-पुस्तकें उनके प्रवचनों के विस्तार हैं, जो उनके अनुयायियों द्वारा बाद में (भक्तिकाल के बाद) किये गये हैं।

वार्ताओं में अधिकांश स्थलों पर साहित्यिक सौष्ठव से रहित सरल शैली है। शब्द-योजना चमत्कार रहित है। वैष्णवों की जीवनियों के प्रसंग में जो कथात्मक और चरित्रचित्रण है, उसी के कारण कुछ रोचकता उत्पन्न हुई है। वर्णित व्यक्ति जीवन के अनेक क्षेत्रों और अनेक प्रांतों के हैं। वार्ताओं में इतिवृत्त-कथन त्वरापूर्ण, वर्णन स्वाभाविक और वातावरण यथार्थ है। चरित्र-चित्रण चित्रात्मक और सजीव है। अंत में सुधार और धर्म की विजय दिखाने से ये आख्यान पर्यवसान में अस्वाभाविक और अरुचिकर हो गये हैं। वार्ता-साहित्य प्रायः प्रचारपरक, शिक्षात्मक और सोद्देश्य है; उसका गद्य प्रचार के उपयुक्त व्यावहारिक व्यास-शैली का गद्य है। वल्लभ-संप्रदाय के वार्ता-साहित्य की भाषा संबंधी कुछ विशेषताएं ये हैं—तत्सम, अर्धतत्सम शब्दों की बहुलता; प्रायः लघुगत्वर वाक्य; वाक्यारंभ में 'सो', 'तब', 'औरु' शब्दों का बारंबार आना; संज्ञोपवाक्यों के पूर्व बहुधा 'कि' अर्थक 'जो' शब्द; कहीं-कहीं टूटी हुई लय वाले असंबद्ध वाक्य; भूतकाल की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

क्रिया का कर्त्तरि प्रयोग (यथा : 'सो तब श्रीमदाचार्य आप श्री मुख तें सूरदास सों आज्ञा किये...तब श्री आचार्य जी आप प्रसन्न होय कै कहे'—सूरदास की वार्ता); कहीं-कहीं उर्दू-शैली का शब्दक्रम (यथा : 'यह देह दिन चार-पांच में छूटेगी') टीका-शैली के 'भगवत्दर्पण करयो है तन-मन-धन जिनमें...ऐसे धर्मन के' इस प्रकार के पंडिताऊ रूप और प्रयोग; कहीं-कहीं संज्ञा की आवृत्ति, अनेक स्थलों पर शैथिल्य; कहीं-कहीं प्रांतीय भाषाओं और बोलियों के ठेठ शब्दों के कारण अर्थ का आच्छन्न हो जाना; कृदंत और संयुक्त क्रियापदों के साथ तिडंत और नामधातु क्रियापद; 'दैन्यता' जैसे अशुद्ध शब्द, जहां-तहां खड़ीबोली के रूप और प्रयोग तथा फ़ारसी-अरबी के प्रचलित शब्द।

इनके अतिरिक्त रीतिकालीन ब्रजभाषा-गद्य की रचनाएं निम्नलिखित हैं :

**सत्रहवीं शताब्दी :** मीनराज प्रधान : 'हरतालिका-कथा' (1669); अक्षर अनन्य : 'अष्टांग योग' (1693); 'कोककथा' और 'कोकमंजरी' (रचनाकार अज्ञात); दादूपंथी दामोदरदास : 'मार्कण्डेयपुराण' अनुवाद (1648); मेघराज प्रधान : 'अध्यात्मरामायण' अनुवाद।

**अठारहवीं शताब्दी :** वल्लभ-संप्रदाय के श्री हरिराय के नाम से प्रसिद्ध 'भावना' संज्ञक टिप्पणियों वाले 'चौरासी वैष्णवन की भावना वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की भावना वार्ता', 'द्वादशनिकुंज की भावना', 'भावभावना', 'सात स्वरूपन की भावना', 'महाप्रभु जी की प्राकट्य भावना वार्ता', 'नित्यलीला भावना', 'सेवाभावना', 'निजवार्ता भावना', 'घरू वार्ता भावना' शीर्षक भावना ग्रंथ; हरिराय के नाम से प्रसिद्ध 'नित्य नृत्य', 'पुष्टिदृढ़ाव', 'श्रीकृष्ण प्रेमामृत', 'पुष्टि प्रवाह मर्यादा', 'बैठक चरित्र', 'मार्ग स्वरूप सिद्धांत'; इसी संप्रदाय के श्री ब्रजभूषण द्वारा लिखित 'श्री महाप्रभु जी तथा गुसाईं जी का चरित्र', 'श्री द्वारिकाधीश जी की प्राकट्य वार्ता', 'नित्यविनोद', 'नीतिविनोद', काका वल्लभ-कृत 'बावन वचनामृत'; राधावल्लभ-संप्रदाय के अनन्य अली का 'स्वप्न-प्रसंग' (आत्मजीवनी, ललित गद्य)[1]; इसी संप्रदाय के प्रियादास का 'सेवक जू कौ चरित्र' (ललित गद्य); दामोदर स्वामी-कृत 'भक्ति-विवेचन', प्राणनाथ कृत 'हस्तामलक'; लाडलीदास-कृत 'सुधर्मबोधिनी'; निम्बार्क-संप्रदाय के ललितकिशोरी ललितमोहिनी की 'श्री स्वामी जी महाराज की वचनिका' और अज्ञातनाम लेखकों की 'ब्रह्मजिज्ञासा', 'वेदांत निर्णय', 'ईश्वर-पार्वती-संवाद' (सृष्टि-प्रलयविषयक रचना), '1763 ई. का एक मुग़ल-इतिहास', 'वैष्णवलक्षण ग्रंथ', 'वैष्णवोपदेश', 'वैष्णवों के नित्य कर्म', 'दृष्टांत', 'मोहिनी-चरित्र', 'भूगोल पुरान', 'वसंतराज शकुन', 'घोरान की वैदगई', 'वैद्यक-संग्रह', 'अश्वचिकित्सा', 'वैद्य-जीवन' शीर्षक रचनाएं; रामहरि : 'विदग्ध माधव नाटक' (1767, रूपगोस्वामी के संस्कृत नाटक का छायानुवाद); सुरति मिश्र : 'वैताल पच्चीसी' (संस्कृत की 'वैतालपंचविंशतिका' का छायानुवाद); देवीचंद : 'हितोपदेश ग्रंथ महाप्रबोधिनी' ('हितोपदेश' का अनुवाद); वंशीधर : 'मित्र मनोहर' (1717, 'हितोपदेश' का अनुवाद); 'कथा-विलास' (हितोपदेश-भोजप्रबंध-अनुवाद), 'नासिकेतोपाख्यान' (1707); 'नासिकेत महापुराण' (नासिकेतपुराण-अनुवाद, 1831); 'गरुड़ पुराण'-भाषा (1754); 'गरुड़ पुराण' : अनुवाद (1769); 'पद्मपुराण' के एक भाग का नाजर आनंदराम-कृत अनुवाद, शिवचंद्र-कृत 'ग हारावल मूलराज वचनिका', गुमानी राय कायस्थ-कृत 'आईने अकबरी की भाषा वचनिका', 'चाणक्य-राजनीति'; दादूपंथी अनाथदास-कृत 'विचारमाला' (अनुवाद)। अठारहवीं शताब्दी के कुछ पत्र भी प्राप्त हैं।

**उन्नीसवीं शताब्दी :** वल्लभ-संप्रदाय के गन्नू जी की 'सप्त स्वरूपोत्सव वार्ता'; भट्टू जी की 'श्रीनाथ जी की सेवानिधि'[2]; लल्लूलाल : 'राजनीति' (हितोपदेश-अनुवाद, 1802)[3],

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'कीमिया शआदत' का अनुवाद (प्रति 1817), 'कालयवन कथा' ('महाभारत' के शुकदेव परीक्षित संवाद का अनुवाद); सेवाराम मिश्र : 'भागवत' (अनुवाद); श्रीपति : 'माधवनिदान'[4] (हिम्मतप्रकाश, प्रसिद्ध वैद्यक पुस्तक); 'हकीम फ़रासीसी' ('अंजुलिपुराण, रचनाकार अज्ञात'); 'वैद्यचंद्रिका' (रचनाकार अज्ञात); आलम : 'ग्रंथ संजीवन'; सिंवलाल : 'कर्मविपाक'; दुर्गाप्रसाद द्विवेदी : 'विवाह-पद्धति'; 'सिद्धसिद्धांत-पद्धति' (अनुवाद, अनुवादक अज्ञात); डुमराव नरेश शिवप्रकाश सिंह : 'सत्संगविलास' (रामकथा संबंधी शंकाओं का समाधान); नवलसिंह : 'महाभारत' वार्तिक; माणिकलाल ओझा : 'सोम वंसन की वंसावली'।

इस युग के प्रमुख ब्रजभाषा गद्यकार हैं—वल्लभ-संप्रदाय के श्री हरिराय, ब्रजभूषण तथा द्वारिकेश; राधावल्लभ-संप्रदाय के दामोदर स्वामी, अनन्य अली, प्राणनाथ, प्रियादास; अन्य संप्रदायों के रामहरि, अक्षर अनन्य, धार्मिक संप्रदायों से बाहर के मीनराज प्रधान, गुमानीराय कायस्थ, शिवचंद्र, सुरति मिश्र, लल्लूलाल। इन लेखकों का गद्य पर्याप्त परिष्कृत, पुष्ट और प्रौढ़ है। उसमें प्रवाह और भाव-व्यंजना की शक्ति है। संस्कृतनिष्ठता की प्रवृत्ति होने पर भी इन लेखकों की भाषा सजीव है। धार्मिक रचनाओं में भी यत्र-तत्र भावपूर्ण अलंकृत गद्य के सरस स्थल प्राप्त होते हैं। उपयोगी विषयों की रचनाओं में प्राय: व्यावहारिक भाषा प्रयुक्त हुई है।

रीतिकाल में काव्यशास्त्रीय ग्रंथों, धार्मिक-दार्शनिक रचनाओं, अन्य विषयों के ग्रंथों और काव्य ग्रंथों में यत्र-तत्र वात, वचनिका, चर्चा, वार्ता, तिलक, वार्तिक अथवा अन्य शीर्षकों से भी टिप्पणीपरक गद्य का प्रयोग हुआ है। ऐसे ग्रंथ हैं—चिंतामणि : 'शृंगारमंजरी', 'कविकुलकल्पतरु'; कुलपति : 'रसरहस्य', जयगोविंद वाजपेयी : 'कवि सर्वस्व', भिखारीदास : 'काव्यनिर्णय'; दलपतिराय वंशीधर : 'अलंकाररत्नाकर'; सोमनाथ : 'रसपीयूषनिधि'; बेनी कवि : 'अलंकारशिरोमणि'; रसिकगोविंद : 'रसिकगोविंदानंदघन' (1801), सुखदेव मिश्र : 'पिंगल', रामसहायदास : 'वृत्ततरंगिणी' (1816); करनेस : 'बलभद्र प्रकाश' (रसालंकार-विवेचन, 1823), बख्शी समनसिंह : 'पिंगल काव्य विभूषण' (1823), प्रतापसाहि : 'व्यंग्यार्थकौमुदी' (1825), 'काव्यविलास' (1829), बलवानसिंह : 'चित्रचंद्रिका'; ग्वाल : 'अलंकारभ्रमभंजन'; मनोहरदास निरंजनी : 'संत प्रश्नोत्तरी'; 'षटदर्शनी निर्णय'; नागरीदास : 'पदप्रसंगमाला', रामचरणदास : 'अणभौविलास'; जसवंतसिंह : 'प्रबोधचंद्रोदय'; हरिनाथ गुजराती : 'संग्रह कवित्त'; लल्लूलाल : 'माधोविलास'।[5] चिंतामणि, कुलपति, सोमनाथ आदि ने लक्षणों की व्याख्या के लिए गद्य का प्रयोग किया है। रसिकगोविंद ने गद्य-लक्षण का क्रम चलाया। इनके अतिरिक्त इस युग में वैद्यक, ज्योतिष, भूगोल, कोकशास्त्र, गणित आदि विषयों पर भी पद्य-गद्यमय पुस्तकें लिखी गयी हैं।

रीतिकराल में टीका-साहित्य भी पर्याप्त परिमाण में निर्मित हुआ। गद्य तथा पद्य-गद्य की बहुत-सी समीचीन व्याख्यायुक्त टीकाएं प्राप्त हैं। संस्कृत-टीका-प्रणाली के अनुकरण पर खंडान्वयी तथा पर्यायमयी होने पर भी रीतिकाल की अनेक टीकाओं में समुचित व्याख्या तथा स्वच्छ, सुबोध एवं सजीव भाषा मिलती है। गोपेश्वर, ईसवी ख़ां, सुरति मिश्र, हरिचरणदास, ठाकुर, प्रेमदास, प्रतापसाहि आदि अनेक टीकाकारों की टीकाएं संतोषजनक हैं। कालक्रम की दृष्टि से 'भागवत' की टीकाएं सर्वप्रथम उल्लेखनीय हैं। 'भागवत' की सत्रहवीं शती की टीकाएं हैं—चतुरदास कृत 'एकादश स्कंध टीका', वल्लभ (हरिवल्लभ?)-रचित 'भागवत भाषा टीका संदर्भ', माथुर कृष्णदेव-प्रणीत 'भागवत' (1683)। अठारहवीं शती की 'भागवत' टीकाओं में प्रियादास की 'सुलोचना टीका' और सेवाराम मिश्र का 'भागवतानुवाद' उल्लेखनीय हैं। उन्नीसवीं शती की टीकाओं में गो. सुंदरलाल मध्यगौडेश्वर की टीका उल्लेख योग्य है। इसमें कुछ ही

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

श्लोकों की व्याख्या है। 'भगवद्गीता' की भी टीकाएं ईसा की सत्रहवीं शताब्दी से ही मिलती हैं। 'गीता' के सत्रहवीं शती के टीका-ग्रंथ हैं—रामानुजी भगवानदास का 'गीताभाषामृत' (1698, खड़ीबोली मिश्रित), स्वामी नवरंग का 'गीताप्रश्न' (विवेचन-युक्त)। अठारहवीं शताब्दी की गीता व्याख्याएं हैं—नाजर आनंदराम-कृत 'परमानंद प्रबोध टीका' (1704, गद्य-पद्य), जनभुआल-कृत 'कृष्णार्जुन संवाद', किशोरदास की छह अध्यायों की टीका, कृष्णराय चक्रवर्ती की 'भगवतगीता भाषा', मंजु मिश्र की टीका, हरिवल्लभ की 'गीता' भाषा टीका (गद्य-पद्य), हरिवंश-कृत, 'पांडव गीता' टीका और मेघनाद की टीका।

तुलसी के काव्य पर भी अनेक टीकाएं लिखी गयीं। 'मानस' के पुराने टीका टिप्पणकार हैं—महंत रामचरणदास और हरिहरप्रसाद। इनकी भाषा प्रायः खड़ीबोली पूर्वी मिश्रित ब्रज है। तुलसी के अन्य ग्रंथों के टीकाकारों में राजा रतनसिंह ('विनयपत्रिका' टीका), डुमराव-नरेश शिवप्रकाश सिंह ('विनयपत्रिका' टीका), हरिहरप्रसाद ('गीतावली' टीका), गोपीनाथ पाठक बनारसी ('तुलसीसतसई' टीका) और पांडे रामबख्श, मानसीवंदन पाठक, गुरुसहाय लाल (पटनावासी) जानकीदास और रघुनाथदास वैष्णव के नाम उल्लेख योग्य हैं। इन टीकाकारों की भाषा ब्रज न हो कर प्रायः ब्रज, अवधी और खड़ीबोली का मिश्रित रूप है।

'बिहारी-सतसई' पर लिखित टीकाओं की संख्या काफ़ी बड़ी है।[6] सत्रहवीं शती की तो एक ही गद्य-टीका (मानसिंह-कृत) प्राप्त है, परंतु अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी की बहुत-सी टीकाएं प्राप्त हैं। अठारहवीं शती की प्रमुख टीकाएं हैं—शुभकरण कमलनयन-कृत 'अनवर-चंद्रिका', कृष्ण कवि की गद्य-पद्य टीका, पन्नावासी कर्ण कवि की टीका, यूसुफ़ ख़ां या ईसवी ख़ां की 'रसचंद्रिका टीका' (ब्रजभाषा और खड़ीबोली का मिश्रित रूप), हरिचरणदास-कृत 'हरिप्रकाश टीका', सुरति मिश्र-कृत 'अमरचंद्रिका टीका' (टीका गद्य में, अलंकार निर्देश पद्य में)। उन्नीसवीं शती की टीकाओं में हरजू कवि की टीका, असनीवासी ठाकुर द्वितीय की 'देवकीनंदन टीका' (सतसैया वरनार्थ, गद्य-पद्य), रणछोड़दास की टीका, माथुर ब्राह्मण बिहारीलाल की टीका, अमरसिंह की पद्य-गद्यमय टीका और प्रतापसाहि-प्रणीत 'रत्नचंद्रिका टीका' उल्लेखनीय हैं।

केशव के अठारहवीं शताब्दी के टीकाकारों में सुरति मिश्र ('रसिकप्रिया' पर 'रस-ग्राहक चंद्रिका टीका' और 'कविप्रिया' पर 'जोरावरप्रकाश' शीर्षक टीका), हरिचरणदास ('कविप्रिया' पर 'कविप्रियाभरण-तिलक' तथा 'रसिकप्रिया' पर तिलक) और ईसवी ख़ां अथवा यूसूफ़ ख़ां (रसिकप्रिया की टीका)[7] प्रसिद्ध हैं। उन्नीसवीं शती के टीकाकार हैं—धीर कवि ('रसिकप्रिया'-तिलक, गद्य-पद्य), नाज़िर सहजराम ('कविप्रिया' पर 'सहजराम-चंद्रिका टीका', गद्य-पद्य), जानकीप्रसाद ('रामचंद्रिका-टिप्पण', शब्दार्थ मात्र), लछिमन राव ('कविप्रिया' पर 'लछिमन-चंद्रिका' टीका), धनीराम ('रामचंद्रिका' टीका)।[8] किसी ने केशव-कृत 'वैराग्यशतक' की भी टीका की है।

अन्य उल्लेख योग्य टीकाएं हैं—हरिराय-कृत 'शिक्षापत्र' की उनके अनुज गोपेश्वर-कृत टीका ('इकतालीस शिक्षापत्र' टीका), आचार्य वल्लभ और विट्ठलनाथ जी के नाम से प्रसिद्ध 'सर्वोत्तम स्तोत्र', 'सिद्धांत-रहस्य', 'वल्लभाष्टक', 'मंगलपद', 'गुप्त रस', 'विज्ञप्ति' आदि बीस संस्कृत ग्रंथों की संस्कृत टीकाओं और श्रृंगाररसमंडन' आदि संस्कृत-ग्रंथों के हिंदी रूपांतर, राधावल्लभ-संप्रदाय के श्री हितहरिवंश के 'हितचौरासी' की रसिकलाल-रचित पद्य-गद्य टीका और धरनीधरदास, लोकनाथ, अतिवल्लभ, केलिदास, सुखलाल, प्रेमदास, रतनदास की टीकाएं, सुखलाल-कृत 'भागवत' टीका, प्रेमदास-कृत 'स्फुट पद टीका', रतनदास-कृत 'सेवकवाणी'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

टीका, 'हरिवंशाष्टक' टीका (अठारहवीं शती), 'चौरासी' पर मनोहरवल्लभ और चंद्रलाल-कृत टीकाएं, 'सेवकवाणी' की हरिलाल व्यास और गो. ब्रजगोपाल-कृत टीकाएं, 'वृंदावनशतक', 'कर्णामृत' पर चंद्रलाल की टीकाएं; 'मनप्रबोध', 'उत्सवबोध' पर रंगीलाल की टीकाएं, 'राधासुधानिधि' पर रंगीलाल और भोलानाथ की टीकाएं, 'स्फुट वाणी' पर ब्रजगोपाल, सर्वसुखदास और भोलानाथ की टीकाएं, 'भक्तमाल' की प्रियादासीय टीका पर अग्रनारायणदास वैष्णवदास-लिखित 'भक्ति-रसबोधिनी' शीर्षक गद्य-पद्य टीका (अठारहवीं शती उत्तरार्ध), 'भक्तमाल' पर लाल जी कायस्थ की 'भक्त उर्वशी टीका', 'भाषाभूषण' पर हरिचरणदास, रणीधीरसिंह ('भूषणकौमुदी' टीका), दलपतिराय वंशीधर तथा प्रतापसाहि की टीकाएं, मतिराम-कृत 'रसराज' पर बख्तेश और प्रतापसाहि की टीकाएं, 'शृंगारशतक' पर किशोरदास की अठारहवीं शती पूर्वार्द्ध की डॉ. वेनिस की खोजी हुई टीकाएं, बनारसवासी गिरधारीलाल गोस्वामी, उनके शिष्य बालकृष्णदास और पटनावासी हरिश्चंद्र की टीकाएं।

इस समय की कुछ अन्य टीकाएं हैं—रामसनेही पंथ के संस्थापक स्वामी रामचरण के शिष्य रामजन की 'दृष्टांत-सागर' और 'संजुगतिवचनिका' पर सन् 1788 के लगभग लिखित टीकाएं (खड़ीबोली-मिश्रित भाषा), मध्व-गौडेश्वर-संप्रदाय के गो. सुंदरलाल की 'पंचाध्यायी' टीका, 'गोपी-विरहवर्णन' टीका, 'इंद्रस्तुति' टीका, गोपाल बख्शी-कृत, 'शृंगार पच्चीसी तिलक', वासुदेव सनाढ्य-रचित 'मुहूर्त संचय टीका'[9] और अज्ञातनाम टीकाकारों की 'उत्सावली' टीका, 'बलभद्र-जन्म-चंपू'-टीका, 'नंदोत्सव'-टीका, 'जानकी-स्वयंवर'-टीका, 'रामचरित्र'-टीका।[10]

## खड़ीबोली-गद्य

रीतिकाल का खड़ीबोली-गद्य प्राय: मिश्रित भाषा में है। ब्रजभाषा के संपर्क से मुक्त शुद्ध खड़ीबोली-गद्य उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व नहीं मिलता। इस समय की अनेक रचनाओं पर ब्रजभाषा के साथ पूर्वी हिंदी, राजस्थानी अथवा पंजाबी का प्रभाव है। इस काल में भी ललित गद्य की अपेक्षा अललित गद्य (धर्म, दर्शन, चिकित्सा, ज्योतिष, इतिहास, भूगोल, सामुद्रिक, शकुन, गणित आदि विषयों पर लिखित शुष्क गद्य) का ही प्राधान्य रहा। उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व की ब्रजभाषा, फ़ारसी, पंजाबी आदि से प्रभावित खड़ीबोली-गद्य की महत्त्वपूर्ण मौलिक रचनाएं हैं—'एकादशी-महिमा', 'सीधा रास्ता', (इस्लामविषयक रचना), 'फर्सनामा' (पोथी सलोत्री की), 'बाजनामा', 'सकुनावली', 'हक़ीक़त', 'नरसिंहदास गौड़ की दवावैत', 'जिनसुखसूरि मजलस', 'लखपत दवावैत', 'मंडोवर का वर्णन', 'विश्वातीतविलास नाटक', 'सुरासुर निर्णय' (मुंशी सदासुखराय), 'गोसट गुरु मिहरिबानु' (हरि जी), 'चकत्ता की पातस्याही की परंपरा', 'मोक्षमार्गप्रकाश' (टोडरमल जैन), 'चिद्विलास' (द्वीपचंद जैन)।

इनमें प्रथम दो रचनाएं धार्मिक, तीसरी-चौथी चिकित्साविषयक, पंचम शकुनविषयक, 'हक़ीक़त' शीर्षक छठी रचना प्रणामी-संप्रदाय के 'मारफत सागर' ग्रंथ का परिचय, सातवीं-आठवीं-नवीं ललित सानुप्रास गद्य की कथात्मक-वर्णनात्मक रचनाएं, दसवीं वर्णनात्मक, ग्यारहवीं मराठा शासक शाह जी महाराज द्वारा लिखित नाटक, बारहवीं निबंधात्मक, तेरहवीं 'गोसट' शीर्षक रचना सिक्खगुरु मिहरबानु की जीवनी, चौदहवीं इतिहासविषयक (तैमूर से सूरजमल जाट तक का घटना-विवरण) और अंतिम दो जैन धर्म की दार्शनिक रचनाएं हैं।[11] उल्लिखित 'देवावैत' और 'मजलस' संज्ञक रचनाएं सानुप्रास गद्य की रचनाएं हैं और प्राय: राजस्थानी-मिश्रित खड़ीबोली में हैं। वर्णनात्मक, कथात्मक तथा निबंधात्मक रचनाएं विरल हैं। इस समय के पत्र भी प्राप्त हैं,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जिनमें से कुछ में ललित गद्य प्रयुक्त है। उल्लिखित रचनाओं में से अनेक में खड़ीबोली के शब्द-रूप पर्याप्ततः प्रयुक्त हैं। कुछ रचनाओं में ब्रजभाषा, राजस्थानी, पंजाबी या पूर्वी हिंदी से मिश्रित खड़ीबोली प्रयुक्त है। 'हक़ीक़त' और 'सीधा रास्ता' खड़ीबोली हिंदी की अपेक्षा हिंदुस्तानी के निकट हैं, 'सीधा रास्ता' पर पूर्वी हिंदी का प्रभाव है तथा 'गोसट' गुरु मिहरिबानु और 'फ़र्सनामा' पर पंजाबी का प्रभाव है।

इनके अतिरिक्त अन्य उल्लेख-योग्य रचनाएं हैं—'पोथी हरि जी' (सिक्ख-गुरु हरि जी की पुस्तक), 'जनमसाध कबीर भगति जी की' (कबीर की जीवनी और उनकी वाणी की व्याख्या), 'विवेकसार' (अड्डनशाह-कृत), 'जनम साषी गुरु नानक जी दी'(पैडा मोषाकृत), 'अषवार डेवड़ी का' (राजा रणजीतसिंह के दरबार की गुप्त सूचनाएं) तथा अमीरदास की कृतियां ('स्रीकृस्न साहित्य-सिंधु' शीर्षक पद्य-गद्यमय रीतिग्रंथ, 'पासा केवली', 'लीलावती अष्ट चंडिका', 'विवेक मार्तंड', 'दिल्ली की पातस्याही')। खड़ीबोली के विशिष्ट गद्यकार हैं—टोडरमल जैन, द्वीपचंद जैन, शाहजी महाराज, हरिजी, दयाल अनेमी, अड्डनशाह, रामप्रसाद निरंजनी, दौलतराम जैन, टेकचंद जैन और मुंशी सदासुखराय। मुंशी सदासुखराय निसार (नियाज नहीं), जिनके नाम से 'सुखसागर' शीर्षक ग्रंथ का उल्लेख प्रायः सभी इतिहास पुस्तकों में किया गया है, 'सुखसागर' शीर्षक किसी ग्रंथ के रचयिता नहीं हैं अपितु 'सुखसागर' उनका उपनाम था। 'विष्णुपुराण' या 'भागवत' का मुंशी जी ने पद्यानुवाद किया था। उनकी दो अन्य गद्य-रचनाएं अवश्य प्राप्त हैं—'सुरासुर-निर्णय' (निबंधात्मक रचना, सज्जन-दुर्जन का विवेचन) और 'वार्तिक' (बाबा दयालुदास के ध्रुवपदों का भाष्य)।

हम लिख चुके हैं कि रीतिकाल में निर्मित खड़ीबोली-गद्य अधिकांशतः टीकानुवादों के ही रूप में प्राप्त है। अठारहवीं शताब्दी के प्रमुख अनूदित ग्रंथ हैं : 'भाषा उपनिषद्', 'भाषा योगवासिष्ठ', 'भाषा पद्मपुराण', 'आदिपुराण वचनिका', 'मल्लीनाथ चरित्र वचनिका', 'सुदृष्टि तरंगिणी वचनिका' और 'हितोपदेश वचनिका'। 'भाषा उपनिषद्' (1719) तैत्तिरीयोपनिषद् आदि बाईस उपनिषदों के फ़ारसी-अनुवाद का हिंदी भाषांतर है। कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह में सुरक्षित इस उपनिषद्-अनुवाद की एक सौ सात बृहत् पत्रों की नागरी प्रति में भाषा ब्रजभाषा मिश्रित और प्रायः अपरिमार्जित है।[12] संस्कृत-तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। वाक्यरचना पूर्णान्वय पद्धति पर प्रायः सीधी और सुष्ठु हैं, परंतु कहीं-कहीं उस पर फ़ारसी अनुवाद का प्रभाव है। लंबे-वाक्यों में प्रायः गठन की कमी, शिथिलता और यत्र-तत्र अस्पष्टता है। रामप्रसाद निरंजनी के नाम से प्रसिद्ध 'भाषा योगवासिष्ठ' (जैसा कि इस ग्रंथ के नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित संस्करणों की भूमिका से, बंबई से 1865 ई. में प्रकाशित संस्करण से तथा इस ग्रंथ की उपलब्ध हस्तलिखित पोथियों से प्रकट है), यह मूलतः पंजाबी-ब्रजभाषा-मिश्रित खड़ीबोली में लिखा गया था। बाद में इसे भाषा सुधार कर प्रकाशित किया गया था। रामप्रसाद जी ने कथारूप में इसका प्रवचन किया था। पटियाला-नरेश साहिब सिंह द्वारा नियुक्त दो गुप्त लेखकों द्वारा यह लिपिबद्ध किया गया था। डॉ. गोविंदनाथ राजगुरु का मत है कि रामप्रसाद निरंजनी इस ग्रंथ के कर्त्ता (इसके प्रवचनकर्त्ता भी) नहीं हैं। यह ग्रंथ मूलतः गुरुमुखी लिपि में लिखा गया था और इसकी रचना पटियाला-राजवंश के अस्तित्व में आने के पूर्व (1674 ई.) तक हो चुकी थी। परंतु डॉ. राजगुरु अपनी इस मान्यता को स्थापित नहीं कर सके हैं।[13] रामप्रसाद निरंजनी के नाम से प्रसिद्ध 'भाषायोगवासिष्ठ' निश्चय ही मूलतः उनका रचित (कथित) है। यह हो सकता है कि उनके पूर्व भी पंडितजन पंजाब में और अन्यत्र पंजाबी, हिंदी आदि भाषाओं में इस ग्रंथ का व्याख्यान करते रहे

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हों। बसवावासी दौलतराम-जैन कृत 'भाषा पद्मपुराण' अथवा 'पद्मपुराण वचनिका' राजस्थानी ब्रजभाषा-प्रभावित खड़ीबोली में प्राकृत की जैन रामकथा का व्याख्यामय अनुवाद है। दौलतराम जी की दूसरी प्रख्यात वचनिका 'आदि पुराण वचनिका' है, जो भगवान् ऋषभदेव तथा राजा श्रेयांस के जन्मों की कथा से संबद्ध जैन प्राकृतग्रंथ 'आदिपुराण' का व्याख्यामय अनुवाद है। दौलतराम जी की अन्य गद्य रचनाएं हैं—'पुण्याश्रव कथाकोश वचनिका', 'वसुनंदिश्रावकाचार वचनिका', 'परमात्मप्रकाश वचनिका', 'श्रीपालचरित्र वचनिका' तथा 'हरिवंशपुराण वचनिका'। इस वर्ग की अन्य कृतियों में 'मल्लिनाथचरित्र वचनिका' इंदौरवासी दौलतराम की रचना है। 'सुदृष्टितरंगिणी वचनिका' के लेखक टेकचंद जैन हैं। 'हितोपदेश वचनिका' अभयचंद की रचना है। ये सभी वचनिकाएं जैन-रचनाएं हैं और राजस्थानी-ब्रजभाषा-प्रभावित खड़ीबोली में लिखित हैं। इनके अतिरिक्त खड़ीबोली में उपलब्ध कुछ और भी उल्लेखनीय अनूदित रचनाएं हैं—'पारस भाग' ('महमूद गजाली री वात'—फ़ारसी के 'कीमिया शआदत' का सेवापंथी अड्डनशाह और कृपाराम कृत अनुवाद', गीतानुवाद (बीरबल-कृत?, प्रति 1723), 'सूर्यसिद्धांत' (1782, पंडित कमोदानंद मिश्र द्वारा संस्कृत से अनूदित ज्योतिषग्रंथ) 'गोराबादल की वीरता' (1823 ई. के लगभग), 'सिंहासन-बत्तीसी' (छायानुवाद), 'विष्णुपुराण भाषा', 'श्रीमद्भागवत भाषा'।[14]

ब्रजभाषा-मिश्रित खड़ीबोली में अनेक टिप्पण-टीकाएं भी प्राप्त हैं। इस प्रकार के प्राप्त टिप्पण हैं—'गोरक्षशतम् टिप्पण' (इस पर पूर्वी हिंदी का भी प्रभाव है) तथा 'योगाभ्यास मुद्रा टिप्पण' (संस्कृतपरक भाषा)। शैली दोनों की खंडान्वयी और 'कथंभूती' है। सत्रहवीं शताब्दी-उत्तरार्ध और अठारहवीं शताब्दी की टीकाओं में उल्लेखनीय हैं—'प्रवचनसार टीका', 'पंचास्तिकाय टीका' (पांडेय हेमराज), 'विषापहरस्तोत्र टीका (अखयराज)', 'भर्तृहरि-वैराग्यशतक टीका' (जिनसमुद्र सूरि) 'भाषामृत गीता टीका' (भगवानदास), 'अष्टावक्र गीता भाषा' (दयाल अनेमी), 'गीताभाषा' (दयाल अनेमी), 'जपु टीका' (आनंदघन), 'गीताभाषा' (किसनदास-किसोरदास), 'गरब-गंजनी टीका' (भाई संतोष सिंह), 'आत्मपुराण टीका' (टीकाकार अज्ञात), 'अजीर्णमंजरी टीका' (काशीनाथ, प्रति लंदन के इंडिया ऑफ़िस में सुरक्षित), 'बिहारी-सतसई' की ईसवीं ख़ां कृत टीका, 'गोरखनाथ के सत्ताईस पदों का तिलक' (गोरखबानी में प्रकाशित), 'कबीर के 121 पदों की टीका' (अस्पष्ट खंडान्वयी व्याख्या), 'दृष्टांतसागर टीका' (रामसनेही पंथ के संस्थापक श्री रामचरणदास के ग्रंथ 'दृष्टांतसागर' की उनके अंतेवासी रामभजन द्वारा ब्रजभाषा-मिश्रित खड़ीबोली में लिखित टीका), 'सुषमनी सहंसर नाम परमारथ' (हरि जी-कृत व्याख्या ग्रंथ, जिसमें उन्होंने अपने पिता मिहरिबानु के ग्रंथ 'सुषमनी सहंसर नाम' की व्याख्या की है), 'मानस' की महंत रामचरणदास और संतसिंह पंजाबी-कृत टीकाएं। इन टीकाओं में प्रयुक्त भाषा ब्रजभाषा और यत्र-तत्र पंजाबी से प्रभावित है।[15]

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में **फ़ोर्ट विलियम कॉलेज** में खड़ीबोली-गद्य में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का निर्माण हुआ। इस कॉलेज से संबद्ध व्यक्तियों द्वारा लिखित ग्रंथ हैं— 'नासिकेतोपाख्यान', 'रामचरित्र', 'प्रेमसागर', 'लालचंद्रिका टीका', 'भाषा क़ायदा', 'सिंहासनबत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी', 'भक्तमाल टीका' और 'हातिमताई' का अनुवाद। 'यजुर्वेद' तथा 'कठोपनिषद्' की नचिकेत-कथा पर आधृत सदल मिश्र कृत 'नासिकेतोपाख्यान' में पूर्वी प्रयोगों, ब्रजभाषा-रूपों, पंडिताऊपन और अनेक स्थलों पर असंतुलित शिथिल वाक्यों के होने पर भी खड़ीबोली-गद्य का पर्याप्त स्वच्छ सुष्ठु रूप है। 'रामचरित्र' भी सदल मिश्र की रचना है। यह 'अध्यात्मरामायण' का रूपांतर है। भाषा स्थिति इसमें 'नासिकेतोपाख्यान' के समान है। शैली में त्वरा, सरलता और स्पष्टता है।[16]

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

श्री लल्लूलाल का 'प्रेमसागर' 'भागवत' के दशम स्कंध के चतुर्भुज मिश्र-कृत ब्रजभाषा अनुवाद का खड़ीबोली रूपांतर है। इसका गद्य अनेक स्थलों पर सानुप्रास और काव्याभास है। भाषा ब्रजभाषा से प्रभावित है। शब्द-रूपों में अनिश्चितता और विविधता, अनेक स्थलों पर ग्रामीण और अर्धनागरिक शब्द रूप और प्रयोग, कहीं-कहीं विचित्र अशुद्ध प्रयोग—'प्रेमसागर' की भाषा की अन्य प्रवृत्तियां हैं।[17] 'लालचंद्रिका टीका' ('बिहारीसतसई' की टीका), 'सिंहासन-बत्तीसी' (काज़िम अली की सहायता से लिखित, सुंदरदास के ब्रजभाषा अनुवाद का हिंदुस्तानी रूपांतर), 'बैताल-पच्चीसी' (शिवदासरचित संस्कृत-रचना के सुरति-मिश्र कृत ब्रजभाषानुवाद का मज़हर अली के साथ लिखित खड़ीबोली रूपांतर) तथा 'भाषा क़ायदा' (ब्रजभाषा-व्याकरण) लल्लूलाल जी के नाम से प्रसिद्ध अन्य रचनाएं हैं।[18]

इस काल की अन्य कृतियों में 'भक्तमाल टीका' (श्री तारिणीचरण मित्र द्वारा 'हिंदी एंड हिंदुस्तानी सलेक्शंस' में प्रकाशित) 'भक्तमाल' की विस्तृत व्याख्या है। 'हातिमताई' का अनुवाद पं. योगध्यान मिश्र ने 1838 ई. में किया था। अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं—शुद्ध हिंदवी की छटा दिखाने के लिए रचित इंशा अल्ला की दास्तान शैली की चपल तुकमय गद्य की 'रानी केतकी की कहानी' (1805 ई. के लगभग), रीवा-नरेश महाराज विश्वनाथसिंह का रामकथा-विषयक 'आनंदरघुनंदन नाटक', जिसमें ब्रजभाषा पद्य के साथ खड़ीबोली-गद्य भी प्रयुक्त है, 'स्त्री-शिक्षा विधायक' (निबंधात्मक रचना) तथा 'श्रीकृष्ण-चरितोपाख्यान नाटक' (1830, पद्य ब्रजभाषा और पूर्वी में तथा गद्य खड़ीबोली में), दयाशंकर जी के पुत्र हरिराम का राम-विवाह-विषयक 'जानकीरामचरित नाटक', तारिणीचरण मित्र द्वारा संस्कृत से अनूदित 'पुरुष परीच्छा संग्रह' (1813) और लल्लूलाल के अनुज दयाशंकर द्वारा अनूदित 'दाय भाग' (1832, भाषा संस्कृतनिष्ठ तथा ब्रजभाषा प्रभावित)।

## दक्खिनी गद्य

रीतिकाल में दक्खिनी में पूर्व परंपरा के अनुसार सूफ़ी तथा इस्लामी धर्म-ग्रंथों का भाष्य-अनुवाद और धर्म-दर्शन विषयक पुस्तकों का निर्माण अधिक हुआ। कुछ अनूदित कथा-पुस्तकें, इतिहास-विषयक और चिकित्साविषयक कुछ पुस्तकें और पत्रों, हुक्मनामों तथा अर्ज़ियों की एक-दो संग्रह पुस्तकें भी प्राप्त हैं। इस काल की प्रमुख धार्मिक दक्खिनी रचनाएं हैं—आबिदशाह अलहसन उलहुसेनी-कृत 'गुलज़ारुस्सालिकीन' तथा 'कंजुल मोमिनीन', मीरां याकूब-कृत 'शमायलुल अतकिया' और 'दलायलुल अतकिया' नामक ग्रंथों के अनुवाद; शाह बुरहानुद्दीन कादिरी-कृत 'रिसाले वजूदिया', मोहम्मद शरीफ़-रचित 'गंजमख़फी', मोहम्मद वलीउल्ला क़ादिरी का किया हुआ 'मारिफ़तुस्सुलूक' का अनुवाद, सैयद शाह मोहम्मद क़ादिरी का 'रिसाले वजूरिया', सैयद शाहमीर का 'असरारुतौहीद', अब्दुल हमीद का 'रिसाले तसव्वुफ़'। इनमें से अधिकतर पुस्तकें सूफ़ीमत विषयक हैं। इनके अतिरिक्त अज्ञातनामा लेखकों की 'तूतीनामा', 'अनवारे सुहेली', 'क़िस्सा ए गुलो हुरमुज़' शीर्षक अनूदित कथात्मक पुस्तकें, 'हैदरनामा', 'तारीख़ जापान', 'अम्दतुल तारीख़', 'तारीख़ श्रीरंगपट्टन', 'गुलदस्तए हिंद' शीर्षक इतिहासविषयक ग्रंथ और 'मुआलज़ात ख़्वाज़ा बंदानवाज़' तथा 'मज़मूआ नुस्खेज़ात, शीर्षक चिकित्साविषयक रचनाएं और विज्ञान संबंधी कुछ अनूदित पुस्तकें' (सित्तए शम्सिया, रिसाला ज़र्रे सकीन आदि) भी मिलती हैं। इन रचनाओं की भाषा प्रायः उर्दूशैली की है। शब्द-रूपों और वाक्यविन्यास की दृष्टि से दक्खिनी गद्य की भाषा आधुनिक खड़ीबोली के पर्याप्त निकट है।[19]

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## राजस्थानी-गद्य

रीतिकालीन राजस्थानी-गद्य इस समय के ब्रजभाषा-गद्य से भी अधिक समृद्ध है। वातों, 'वार्ता' शीर्षक कथात्मक रचनाओं और ख्यातों के अतिरिक्त इस समय के राजस्थानी (मारवाड़ी)-गद्य की प्रमुख विधाएं हैं—वचनिका (गद्य-पद्य में कथा और वर्णन), वर्णन, दवावैत (कथा और वर्णन), सलोका पत्र, वंशावली, पट्टावली, विगत, पीढ़ी। पिछले चार प्रायः अललित और ख्यात के समान इतिहासविषयक हैं। शेष विधाएं ललित हैं और उनमें (वातों, वार्ताओं को छोड़ कर) शुद्ध गद्य के साथ सानुप्रास (तुकमय) गद्य भी प्रचुरतः प्रयुक्त है। कुछ वातों और वार्ताओं में भी तुकमय गद्य का दर्शन होता है। इस समय के अमौलिक (व्याख्या-अनुवाद-रूपों) गद्य-रूपों में बालावबोध, टीका, टिप्पण और 'भाषा' प्रमुख हैं। इनके विषय हैं—इतिहास, धर्म, अध्यात्म, कोकशास्त्र, शकुन, सामुद्रिक, ज्योतिष, वैद्यक, यंत्र, तंत्र, नीति, गणित।

राजस्थानी का वात-साहित्य प्रसिद्ध है। यह आधुनिक कहानी के निकट की कथात्मक विद्या है। गद्यात्मक वातों के साथ पद्यमय और गद्य-पद्यमय वातें भी प्राप्त होती हैं। विषय की दृष्टि से वातें स्थूलतः छह प्रकार की हैं—प्रेमपरक, वीरतापूर्ण, हास्यमय, धार्मिक, शांतरसपरक, स्त्रीचातुर्यविषयक और अद्भुततत्त्वपूर्ण। ऐतिहासिकता की दृष्टि से वात-साहित्य तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—ऐतिहासिक, अर्ध-ऐतिहासिक, काल्पनिक। वातों को घटनाप्रधान, व्यक्तिपरक, वर्णनपरक, विचारपूर्ण—इन चारों वर्गों में भी विभक्त किया जा सकता है। कुछ प्रसिद्ध बातें हैं—'रतना हमीर री वात', 'राव अमरसिंह री बात', 'सिद्धराज जयसिंह दे री वात', 'राव रिणमल री वात', 'सयणी चारणी री वात', 'ढोला मारवाणी री वात', 'गोराबादल री वात', 'वात दूधै जोधावत री', 'राजा भोज खापरा चोर री वात', 'बीरबल री वात'। 'वारता' शीर्षक से भी इस प्रकार की रचनाएं प्राप्त होती हैं।

राजस्थानी में अन्यविध ललित गद्य-रचनाओं की संख्या विरल है। इस समय की 'वचनिका' संज्ञक (गद्य-पद्यमय सानुप्रास गद्य की) रचनाएं दो ही प्राप्त हैं—खिडिया जगाकृत 'राठौड़ रतनसिंह जी महेस दासौत री वचनिका' (गद्यांश अत्यल्प) और मेड़तावासी वृंद की 'वचनिका स्थान किशनगढ़', जिनमें क्रमशः राठौड़ रतनसिंह और राजा रूपसिंह की वीरता का वर्णन है।[20] वर्णनपरक रचनाएं भी पूर्णरूप में पांच ही उपलब्ध हैं—'खीची गंगेव नींबावत रो दोपहरो', 'राजान राउत रो वात वणाव', 'भोजन विच्छित्ति', 'रामदास वैरावत री आखड़ी री वात', 'मुत्कलानुप्रास'। इनमें चौथी 'वात' संज्ञक रचना में वर्णन की प्रवृत्ति कम है, रामदास राठौड़ के विरुदों और आखड़ियों (निषेधात्मक शपथों) का उल्लेख है और अंत में उनकी पराक्रम-कथा है। प्रथम में गंगेव (गंगा) खीची और उसके साथियों की दुपहरी का, उनकी दिनचर्या (आखेट, भोज आदि) का काव्यात्मक गद्य में वर्णन है। 'वात वणाव' संज्ञक दूसरी रचना में विविध अवसरों वाले वर्णन हैं। 'मुत्कलानुप्रास' में राजा, नगर, वनभूमि, सरोवर, राजसभा आदि के 71 वर्णन हैं। 'भोजन विच्छित्ति' में महावीर के जन्म के पश्चात कुटुंबी जनों को भोजन कराये जाने का वर्णन है। ये सभी रचनाएं ललित गद्य की रचनाएं हैं और इनमें प्रायः स्थल-स्थल पर तुकमय गद्य प्रयुक्त हैं।[21]

राजस्थानी की अन्य ललित गद्य रचनाएं हैं—'कुंवर जी श्री संग्रामसिंह री दवावैत', 'रामदेव महाराज रौ सिलौका', 'दलपति-विलास' (कुंवर दलपतिसिंह का जीवन-विवरण), राजरूपक ('वार्ता' नाम से यत्र-तत्र गद्य)।[22] 'ऐतिहासिक गद्य रचनाओं में 'नैणसी री ख्यात', 'बीकानेर री ख्यात', 'उदयपुर री ख्यात', 'बांकीदास री ख्यात', 'सोलंकियां री साख री विगत्', 'खीची वाडारां राठोड़ां री पीढ़ियां', 'कछवाहां री वंसावली', 'सीसोदियां री वंसावली', 'पीढ़ियां' आदि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बहुत-सी रचनाएं प्राप्त होती हैं। पट्टावली, हाल, अहवाल, हगीगत, हलकावनामा, तहक़ीकात, याददास्त-संज्ञक रचनाएं भी प्राप्त हैं। पत्र, पट्टे, परवाने और जन्मपत्रियां भी उपलब्ध हैं। 'ख्यात' संज्ञक रचनाएं द्विविध हैं—राजकीय और व्यक्तिगत। 'नैणसी री ख्यात' सुप्रसिद्ध व्यक्तिगत ख्यात है, जिसमें मुहणोत नैणसी ने राजस्थान के ग्रामों आदि के विवरण के साथ राजपूत जातियों का इतिहास दिया है।

इस समय के 'बालावबोध' (कथामय व्याख्या-ग्रंथ) निर्माताओं में विल कीर्ति, विमलरत्न, हंसराज, कुंवर, विजय, यशोविजय उपाध्याय, सुखसागर, रामविजय आदि कितने ही नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने सैकड़ों बालावबोध टीकाओं की रचना की। टीका-ग्रंथों में कुशलधीर-कृत 'रसिकप्रिया टीका' और 'भगवद्गीता टीका' (टीकाकार अज्ञात) उल्लेखनीय हैं। अनुवाद-कार्य भी इस काल में राजस्थानी में हुआ। 'भागवत', 'गरुड़पुराण', 'योगवासिष्ठ', 'पंचतंत्र', 'सिंहासनबत्तीसी', 'बैतालपच्चीसी' आदि कथात्मक रचनाओं के भी अनुवाद-छायानुवाद किये गये।

## भोजपुरी और अवधी की गद्य-रचनाएं

**भोजपुरी** में प्राचीन गद्य के नाम पर कुछ पत्र, दस्तावेज़, सनद, पंचनामे आदि 'अभिलेख' ही प्राप्त हैं, जो प्राय: अनलंकृत और शुष्क हैं। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के संग्रह में 1644 ई. का 'फणीन्द्र मिश्र का पंचायत का न्यायपत्र' नामक अवधी-मिश्रित भोजपुरी का एक अभिलेख सुरक्षित है। इस प्रकार के काग़ज़-पत्रों का गद्य तथ्यकथनात्मक और व्यावहारिक है। रीतिकाल में **अवधी-गद्य** (ब्रजभाषा खड़ीबोली मिश्रित अवधी-गद्य) की ये रचनाएं प्राप्त हैं—भानुमिश्र : 'रसविनोद' (पद्य-गद्य, 1793 ई. की प्रति), नित्यनाथ : 'उड्डील' (प्रति 1799 ई., जन्म-मंत्र) रामचरण दास : 'मानस' टीका, गौत्मरिषि : 'सगुनावती' (1822), प्रियादास : 'व्यवहारपाद' (दायभाग, 1843 ई. के लगभग), महाराज विश्वनाथसिंह : 'कबीर-बीजक' टीका तथा 'परमधर्म-निर्णय'।

हिंदी साहित्य के उत्तरमध्यकाल में भी बौद्धिक-व्यावहारिक जीवन के आज की भांति विकसित जटिल न होने, साहित्यिक प्रवृत्तियों में परंपरा के प्रति निष्ठा होने से परिवर्तन न हो पाने, राजाश्रित साहित्यकारों के सामने राजाओं और दरबारियों के मनोरंजन और उनकी स्तुति द्वारा आत्मभरण का प्रश्न होने और इस उद्देश्य की सिद्धि में पद्य के अधिक उपयोगी माध्यम होने, बहुत समय तक प्रेस के अभाव, क़ाग़ज़ की कमी और परंपरागत प्रवृत्ति के कारण साहित्य को कंठस्थ करने की आवश्यकता बनी रहने से, पद्य ही प्रधान साहित्य-माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित रहा; गद्य का समुचित विकास न हो सका। काव्यशास्त्र और उपयोगी साहित्य के क्षेत्र में भी संस्कृत के काव्यशास्त्रीय और अन्य विषयों के ग्रंथों की पद्यनिष्ठ रचना-प्रवृत्ति का अनुकरण होने और उल्लिखित अनेक कारणों से पद्य का ही प्राधान्य रहा। गद्य-रचना की प्रवृत्ति रीतिकाल में भी प्रबल न हो सकी। वस्तुत: गद्य-लेखन की विशेष आवश्यकता ही उस समय नहीं थी। अनेक शैलियां होने पर भी गद्य की कोई विशिष्ट पद्धति, कोई बहुस्वीकृत सामान्य शैली रीतिकाल में भी विकसित नहीं हुई। रीतिकाल के उत्तरार्ध में गद्य-क्षेत्र में खड़ीबोली की प्रतिष्ठा के साथ ब्रजभाषा की उपेक्षा की जाने लगी। ब्रजभाषा-गद्य का लेखन ब्रज-प्रदेश तक और उसमें भी प्राय: राधा-कृष्ण के उपासकों तक ही सीमित हो गया। वैसे खड़ीबोली का प्रचार-प्रसार बढ़ने के साथ ब्रजभाषा, अवधी और राजस्थानी भी खड़ीबोली से प्रभावित होने लगी थीं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## संदर्भ

1. इस काल की गद्य-शैली के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :
   *(अ)* ''तादिन कृष्णदास के घर कछू सीधो सामग्री न हतो और कृष्णदास घर न हते—सो वा गाम में एक बनियां हतो सो या स्त्री को सुंदर देखि कै वह बनियां कबहुं-कबहुं या स्त्री सों टोंक करे—तब वा स्त्री ने बिचारी जो वा बनियां के पास जाऊं सो वा बनियां की हाट पर आयी—तब वा बनियां प्रसन्न होयकै जो इन मांग्यो सो दियो। तब वह स्त्री सामग्री घर लायी। स्नान करि रसोई करि, श्री ठाकुर जी को भोग धरि सब वैष्णवन को महाप्रसाद लिवाये। बचो सो गायन को खवाय दियो। आप वामें ते कुछ न लियो।'' *(चौरासी वैष्णवन की वार्ता, भावनात्मक संस्करण)*
   *(आ)* ''तब भाई ने कही तू भीतर क्यों आयी। तब मैंने कही कि श्री लड़ैती जू नें बुलायो तब मैं आयो। तब लड़ैती जू ने कही कि यह हमारौ है। यूं कहि हंसि कै मेरे कंधा पै बैठि गई।'' *(अनन्य अली, स्वप्न-प्रसंग)*
   *(इ)* ''सो पुष्टि मार्ग में जितनी क्रिया है सो सब स्वामिनी जी भाव ते हैं। ताते मंगलाचरण गावे। प्रथम श्री स्वामिनी जी के चरण कमल-को नमस्कार करते हैं। जिनकी उपमा दैवे को मन दसो दिसा दौर्‌यो परंतु कहूं पायौ नहीं।'' *(हरिराय, भावभावना)*
2. इस संप्रदाय के अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ हैं : चतुरशिरोमणिलाल-कृत 'भावनासागर', गो. रंगीलाल-कृत 'ब्रजप्रेमानंदामृत'।
3. उद्धरण—''नरमदा नदी के तीर पर पर्वत। ताके तरै एक सेमल की रूख। वापै पंछी आपने घौंसुआ बनाय सुख सौं रह्यौ करै...कह्यौ है प्रीतम सो जो आपदा निवारै, संजीवक तिहारौ। सुखदेवा नहिं यह दुःख को मूल है याको शीघ्र ही नास करौ।'' *(राजनीति)*
4. इस शीर्षक का ग्रंथ चंद्रसेन मिश्र के नाम से भी प्रसिद्ध है।
5. कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं :
   *(अ)* ''चर्चा—इहां चंद्र पद प्रदीपादिक जे आह्लादक तेजस पदार्थ तिनके आगमन ते पहले ही जैसे दीप्ति, फैलति है तैसे उनके मुखादि अंगन की अरु रत्नन की दीप्ति फैलति है।'' *(चिंतामणि, कविकुलकल्पतरु)*
   *(आ)* ''इहां चारों तुकन में फिरत है, यह तुक है, जाते 'लाटिया' तुक कहाति है। जहां 'वाक्' वा शब्द और अर्थ में भेद न होय पै वाकी आवृत्ति होइ तो लाटिया है।'' *(भिखारीदास, काव्यनिर्णय)*
   *(इ)* ''यामें विंग्य है। मेरे मुष चंद देषे कमल सकुचत हैं। सो विकास मिटि जैहैं अरु कोकन के सोक हैं। ताते रूपगर्विता नायिका रूप कारन, कमल की सकुचिबो कारज ता संबंध ते सुद्ध सारोपा लक्षना है। नायका को रूप गुन, सरोजन को दुष होय। ताते उल्लास, अलंकार।'' *(प्रतापसाहि, व्यंग्यार्थकौमुदी)*
   *(ई)* ''या छबि सों वाहि देखि माधव काम के वस होय शास्त्र कौ भय भूलि लोक लाज बिसारि...लोगनि कौं बिदा करि आप अकेलौ वहीं ठाडौ रह्यो।'' *(लल्लूलाल, माधोविलास)*
6. 'रत्नाकर' जी ने बिहारी के 31 प्राचीन टीकाकारों की चर्चा 'कविवर बिहारी' शीर्षक ग्रंथ में की है।
7. 'रसिकप्रिया' पर याकूब ख़ां की भी टीका बतायी जाती है।
8. केशव-कृत 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' पर सरदार कवि की टीकाएं भी प्रसिद्ध हैं, किंतु इनका रचनाकाल रीतिकाल के कुछ बाद का है।
9. जैन धर्म के ग्रंथों और अन्य विषयों के ग्रंथों की भी टीकाएं प्राप्त हैं। वैद्यक का एक प्रसिद्ध टीका ग्रंथ है—सवाई प्रतापसिंह प्रणीत 'अमृतसागर टीका'।
10. उपरिलिखित कतिपय कृतियों से उदाहरणार्थ कुछ अंश द्रष्टव्य हैं :
    *(अ)* ''प्रथम गंगा ही सबतें अधिक तीर्थ होत भई। अब तो श्रीकृष्ण की कीरति रूप तीरथ ताहू तैं श्रेष्ठ हैं। इन तीर्थ नें गंगा रूप तीरथ अल्प कीयो है। कीरति रूपी तीरथ ही सब तीरथ भयो है।'' *(वल्लभ या हरिवल्लभ, भागवत भाषा-संदर्भ)*
    *(आ)* ''तुम या चराचर लोक के पिता हों, पूज्य परम गुरु हों, हे अचिंत्य प्रभाव या त्रलोकी में तुम समान कोऊ नांही, तुम तें अधिक कोंन होयगों।'' *(कृष्णराय संतोषी, भगवतगीता भाषा)*
    *(इ)* ''पार्‌यो इति। सौति की सखी कौ वचन ईर्सा सों काहू स्त्री सों। या नायिका ने पिय के नेह बिना सोहाग

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

को सोर पार्‌यो, सौभाग्य प्रसिद्ध कियौ, उनींदी आंखें करि करि आलसभरी देह करी कै, राति नायक के संग जागी है यातैं आंखि में नींद लगी है। पिय कौ नेह सोहाग प्रसिद्ध होने को कारन है सो नहीं है। विभावनालंकार—'होति छ भांति विभावना कारन बिन ही काज' किंवा सोहाग प्रसिद्ध होनौ इष्ट है ताकौं छल करि साध्यो, यातैं पर्य्यायोक्ति अलंकार। छल करि कारज साधियै जो कछु चितहिं सुहात। संदेह जहां अलंकार का होइ तहां संकर जानियै।'' *(हरिचरणदास, 'बिहारी सतसई' की 'हरिप्रकाश टीका')*

*(ई)* ''जोइ जोइ प्यारो करे सोइ सोइ मोहि भावै—इति प्यारो उचित-अनुचित करै जो सो सब भावै उचित अनुचित यह क्यौं लिखो, कोउ संदेह करै ताको उत्तर करिवे में दोउ इहै उचित कें अन उचित उचित तो प्यार विना हू करै...।'' *(प्रेमदास, हितचौरासी टीका)*

*(उ)* ''दंपत्ति कहियै नाइक नाइका, आपुस में देषत ही जहां अनुराग उपजि परै फेर बिन देषे दुष होई सो पूर्वानुराग विरह कहावै।'' *(सुरति मिश्र, रसिकप्रिया टीका)*

11. कुछ रचनाओं से गद्यांश उद्‌धृत किये जाते हैं :

*(अ)* एक ब्रह्मन था, नाम उसका अस्पत था, अकनबोत्री था, अकन बोतर सों धुअंकस के जो आंखों में पर्या था तिसते आंसू जो चलते थे दाहिनी जो अख ते आंसू चलते थे तिससे खोरा होत फया (भया) वावें अख ते जो आंसू चलते थे तिससे खोरी होत फई (भई) पुत्र जो इस ब्रह्मन का था उसका नाम सालूतर था तन पुत्र अपने नौखियां एक पोथी खोरियां की करो जिसते कोंओकन अर रोक अर इलाज जानिया जाय तिसने ओ पोथी करी, अपन मांहे नाम रखिया। *(पोथी सलोत्री की)*

*(आ)* ''मान विकार गया। विमल चरित्र का षेल भया। मम की ममत मिटी। स्वरूप में अैसो रलि मिली एकमेक हुआ। सो वह आनंद कैवलीगम्य है। जहां समाधि सुष की कल्लोल उठै है। दुष उपाधि मिटि गयी। आनंद घर को पहुच्या।'' *(दीपचंद, चिद्‌विलास)*

12. डॉ. गोविंदनाथ राजगुरु को इस ग्रंथ की 'पंचासत उपनिषद भाषा' शीर्षक 1840 ई. की गुरुमुखी लिपि की प्रति प्राप्त हुई है जिसमें 'छांदोग्य' आदि चौंतीस उपनिषदों का अनुवाद है। भाषा लगभग समान है।

13. देखिए, 'गुरुमुखी लिपि में हिंदी-गद्य', पृ. 53, 67

14. उपरिलिखित कृतियों से कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं :

*(अ)* ''तदयथा जब सूरज पूरब दिशा सों निकसता है। सम्पूरण मनुषादिक चैतनता की प्रापति हो करि उचार मों प्रवरतत है। अरु अंधकार जो भयानक है सो दूर होत है। जो कोऊ या भांति जानै मिरत लोक अर स्वरग लोक अरथ यह जु अरथ प्रमारथ इन दोनों को पावै।'' *(पंचासत उपनिषद भाषा)*

*(आ)* ''ताते मन विषे जो कछू कलना है तिस का त्याग करि मोक्ष की इच्छा का भी त्याग करि बंधन वृत्ति को भी त्याग करि हे राम जी वैराग्य अरु विवेक अभ्यास करिकें मन को निर्मल किये जब मन निर्मल हुआ तब मन का मननभाव नष्ट हो जावेगा। जब यह फुर्ना फुर्ता है जो मैं मुक्त होऊं तब मन जागि आता है अरु मन के जागे तें मनन भी हो जाता है। मनन हुआ तब अपणे साथ शरीर भी भासि आता है।''

*(भाषायोगवासिष्ठ)*

15. टीका गद्य का एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

''नायिका है तो पिय की सुहागिनि पै इसकी जो सखी है, सो इसके सुहाग को नज़र लगने के वास्ते छिपावै है। और कै यों अर्थ कीजिए कि नायिका कौं सौति के सुहाग का धोखा हुआ है सो सखी नायिका को समझावै है कि तेरी सौति ने उनींदी आंखें करि कैं और अलसौंही देह करि कै सुहाग को सोरु डार्‌यौ है पै सुहागिनि तू ही है। अलंकार पर्यायोक्ति, तिसका लक्षण। मिस कै कारज साधियै। सो यहां उनींदी आंखिनु अलसौंही देह मिस पिय के सुहाग कौ सोर पार्‌यौ। सो इहां नज़र न लगै। यह इष्ट साधन सखी करै है। यह हेत मिस। नेह तोही सों है इस ही में पर्यायोक्ति है।'' *(ईसवीं ख़ां-कृत 'रसचंद्रिका' शीर्षक 'बिहारी-सतसई' की टीका)*

16. *(अ)* ''धन्य हो पुत्र, कि इसी देह से यम की पुरी को देख ज्यों के त्यों फिर चले आये। जग में एक से एक सिद्ध हुए हैं, पर मैं जानता हूं कि तुम्हारे गुण वो तेज को कोई दशांश भी नहीं पा सकता है।'' *(नासिकेतोपाख्यान)*

*(आ)* ''यह समझ अपनी मूर्खता विचार वैर त्याग सीता को आगे कर कुल परिवार समेत तुम राम से जा मिलो...लगे हनुमान को सराहने कि शौ योजन सागर को लांघ शक्ता ओ किसका सामर्थ्य है कि राक्षसन से पालित लंका में जा अपनी प्रभुता जनावे।'' *(रामचरित्र)*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

17. ''इतनी कथा सुन राजा परीक्षित ने श्री शुकदेव जी से पूछा, महाराज रौनक दीप तौ भली ठोर थी, काली वहां से क्यों आया और किसलिए यमुना में रहा यह मुझे समझा कर कहो जो मेरे मन का संदेह जाय। श्री शुकदेव बोले, राजा! रौनकदीप में हरि का वाहन गरुड़ रहता है सो अति बलवंत है।'' *(प्रेमसागर)*
18. लल्लूलाल जी की ब्रजभाषा-गद्य की रचनाओं में 'राजनीति' ('हितोपदेश' का अनुवाद), 'ऑरिएंटल फ़ेब्यूलिस्ट' का अनुवाद तथा 'माधोविलास' (गद्य-पद्य में माधव-सुलोचना की प्रणय-कथा) प्रसिद्ध हैं। लल्लूलाल जी के नाम से प्रसिद्ध अन्य ग्रंथ हैं : 'नक्लियात' या 'लतायफ़े हिंदी' (लघु कहानियों का संग्रह, संपादित), 'माधोनल' (लल्लूलाल की सहायता से मज़हर अली द्वारा लिखित, उर्दू शैली की भाषा), 'मसादिरे भाषा', 'विद्यादर्पण' (रामकथा और भारतीय कला तथा विज्ञान का सार)।
19. इस काल के दक्खिनी गद्य के नमूने के रूप में यह अवतरण द्रष्टव्य है :
    ''सारा दिन रोज़ा रखना, सारी रात इबादत करना, अगर फ़ाका पेश आया तो खुशहाल होना और किसी के आगे ना बोलना।'' *(गंजमख़फ़ी)*
20. 'जिनसमुद्र सूरि' और 'शांतिसागर सूरि' संबंधी दो तुकमय गद्य की जैन रचनाएं भी प्राप्त हैं, जिन्हें डॉ. शिवस्वरूप शर्मा अचल ने 'वचनिका' कहा है। (राजस्थानी-गद्य-साहित्य : उद्भव और विकास, 1961, पृ. 58-59), परंतु इनमें पद्य का प्रयोग न होने से इन्हें 'वचनिका' कहना उचित नहीं।
21. इस संदर्भ में यह उद्धरण द्रष्टव्य है :
    ''तिणरा मुख री ओपमा तो पूरण चंद्रमा ही न पावै। कहां कण ताई दीठा हीज वण आवै। नैण जी के अमृतरा हीज नैण। वेण जि को कोयल रो हीन वैण। धनष ज्यूं ही मुहां रीखंच। नासिका जिका सुवा री चुंच। अधर प्रवाली जिसा वणियां। दात जाणे हीरा री कणियां। बांह तो चंपा री डाल। हाथ पग जिके कमल सूं ही सुकुमाल। जिका हालीती लजावै हंस री गति ने।'' *(रतना हमीर री वात)*
22. राजस्थानी की भी अनेक पद्यप्रधान रचनाओं में वार्ता, वार्तिक नाम से यत्र-तत्र तुकमय और तुकरहित गद्य प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार की रचनाएं हैं : 'केहरप्रकाश', 'ढोलामारू रा', 'गुणसार', 'रामकृष्ण जस', 'सूरजप्रकाश', 'रतनरासो', 'शिखरवंशोत्पत्ति काव्य'।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अध्याय : 12

# रीतिकाल की उपलब्धियां

**काव्यशास्त्र :** रीति-आचार्यों के दोष पहले सामने आते हैं और गुण बाद में। इनका पहला दोष है, सिद्धांत-प्रतिपादन में मौलिकता का अभाव। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में मौलिकता की दो कोटियां हैं—एक के अंतर्गत नवीन सिद्धांतों की उद्भावना और दूसरी के अंतर्गत प्राचीन सिद्धांतों का पुनराख्यान आता है। हिंदी के रीतिआचार्य निश्चय ही किसी नवीन सिद्धांत का आविष्कार नहीं कर सके। किसी ऐसे व्यापक आधारभूत सिद्धांत का प्रतिपादन, जो काव्यचिंतन को नवीन दिशा प्रदान करता, संपूर्ण रीतिकाल में संभव नहीं हुआ। इन कवियों ने काव्य के सूक्ष्म अवयवों के वर्णन में कहीं-कहीं नवीनता का प्रदर्शन किया, परंतु उन तथाकथित उद्भावनाओं का भी आधारस्रोत किसी-न-किसी संस्कृत-ग्रंथ में मिल जाता है। जहां ऐसा नहीं है, वहां भी यह कल्पना करना असंगत प्रतीत नहीं होता कि कदाचित् किसी लुप्तप्राय संस्कृत-ग्रंथ में इस प्रकार का वर्णन रहा होगा। इनके अतिरिक्त भी जो कुछ नवीन तथ्य शेष रह जाते हैं, उनके पीछे विवेक का पुष्ट आधार नहीं मिलता, अर्थात वहां नवीनता-प्रदर्शन केवल नवीनता या विस्तार-मोह के कारण किया गया है, काव्य के मर्म से उसका कोई संबंध नहीं है। कहीं-कहीं रीतिकवियों की उद्भावनाएं अकाव्योचित भी हो गयी हैं, जैसे खर, काक आदि के अंशों से युक्त नायिकाभेदों का विस्तार, अथवा प्रमाण आदि के भेदों के आधार पर कल्पित अलंकारों का प्रस्तार। वास्तव में हिंदी के रीतिकवियों ने आरंभ से ही ग़लत रास्ता अपनाया। उन्होंने मौलिकता का विकास विस्तार के द्वारा ही करने का प्रयास किया। परंतु संस्कृत के काव्यशास्त्र की प्रवृत्ति तो भेद-विस्तार की ओर पहले से ही इतनी अधिक थी कि अब उस क्षेत्र में कोई विशेष अवकाश नहीं रह गया था। जिन क्षेत्रों में अवकाश था, उनकी ओर रीतिकवियों ने उचित ध्यान नहीं दिया। उदाहरण के लिए, संस्कृत काव्यशास्त्र में कवि-कर्म के बाह्य रूप का जितना पूर्ण विवेचन है, उतना उसके आंतरिक रूप का नहीं है, अर्थात कवि-मानस की सृजनप्रक्रिया का विवेचन यहां व्यवस्थित रूप से नहीं मिलता। हिंदी का रीति आचार्य इस उपेक्षित अंग को ग्रहण कर सकता था। यहां मौलिक विवेचन के लिए बड़ा अवकाश था, परंतु परंपरा का अतिक्रमण करने का साहस वह नहीं कर सका। सामान्यत: उस युग में इतना साहस कोई कर भी नहीं सकता था। दूसरा क्षेत्र था व्यवस्था का। रीतिकाल तथा संस्कृत-काव्यशास्त्र का भेद-विस्तार इतना अधिक हो चुका था कि कई क्षेत्रों में एक प्रकार की अव्यवस्था-सी उत्पन्न हो गयी थी। उदाहरण के लिए, ध्वनि का भेद-विस्तार हज़ारों तक, नायिकाभेद की संख्या भी सैकड़ों तक पहुंच चुकी थी। अलंकार वर्णन-शैली को छोड़ वर्ण्य विषय के क्षेत्रों में प्रवेश करने लग गये थे, लक्षणा और दोषादि के सूक्ष्म भेद एक-दूसरे की सीमा का उल्लंघन कर रहे थे। परिणामत: भारतीय काव्यशास्त्र की वह स्वच्छ व्यवस्था, जो मम्मट के समय में स्थिर हो चुकी थी, अस्त-व्यस्त-सी हो गयी थी। पंडितराज जगन्नाथ जैसे मेधावी आचार्य ने उसे फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया, किंतु उस युग की प्रवृत्ति-विवेचन की अपेक्षा वर्णन की ओर ही अधिक थी, अत: शास्त्रार्थ की अपेक्षा कवि-शिक्षा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उसके अधिक अनुकूल पड़ती थी। हिंदी का आचार्य भी उसी प्रवाह में बह गया। अपने समसामयिक पंडितराज का मार्ग ग्रहण न कर वह भानुदत्त और केशव मिश्र की परिपाटी का ही अनुसरण करने लगा। हमारे कवि-आचार्य पर एक और बड़ा दायित्व था, और वह था हिंदी की विशाल काव्यराशि का अनुगम-विधि से विश्लेषण कर उसके आधार पर एक स्वतंत्र विधान की कल्पना करना। किंतु उसने हिंदी के साहित्य की तो लगभग उपेक्षा ही कर दी। लक्षणों के लिए उसने संस्कृत-काव्यशास्त्र का अवलंबन लिया और उदाहरणों का स्वयं ही नूतन निर्माण किया। इस प्रकार हिंदी के समृद्ध काव्य का उसके लिए जैसे कोई अस्तित्व ही नहीं रहा। वास्तव में इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती एवं समसामयिक काव्य की उपेक्षा कर लक्षणों का अनुवाद और नूतन उदाहरणों की सृष्टि करते रहना, आलोचक के मौलिक कर्तव्य-कर्म का निषेध करना था। आलोचनाशास्त्र मूलतः एक सापेक्षिक शास्त्र है। उसका आलोच्य साहित्य के साथ अत्यंत अंतरंग संबंध है। अतः न तो केवल हज़ारों वर्ष पुराने लक्षणों और उदाहरणों का अनुवाद अभीष्ट था और न नये उदाहरणों की सृष्टि से ही उद्देश्य की सिद्धि संभव थी। संस्कृत के आचार्यों ने जहां प्रायः आचार्यत्व और कवि-कर्म को पृथक् रखा था, वहां हिंदी के आचार्य-कवियों ने दोनों को मिला दिया। इसमें काव्य की वृद्धि तो निश्चय ही हुई, किंतु काव्यशास्त्र का विकास न हो सका।

रीति-आचार्यों का दूसरा प्रमुख दोष यह था कि उनका विवेचन अस्पष्ट और उलझा हुआ था, फलतः उनके ग्रंथों पर आधृत शास्त्रज्ञान कच्चा और अधूरा ही रहता है। इस अभाव के दो कारण थे—एक तो कुछ कवियों का शास्त्रज्ञान अपने आपमें निर्भ्रांत नहीं था, और दूसरे, पद्य में साहित्य के सूक्ष्म गंभीर प्रश्नों का समाधान संभव नहीं था। प्रतापसाहि जैसे प्रमुख आचार्य ने संस्कृत आचार्यों के मत सर्वथा अशुद्ध रूप में उद्धृत किये हैं। मम्मट और विश्वनाथ के काव्य-लक्षण उनके शब्दों में इस प्रकार हैं :

**साहित्यदर्पण मत काव्यलक्षण**

*रसयुत व्यंग्य प्रधान जहं, शब्द अर्थ शुचि होइ।*
*उक्त युक्ति भूषण सहित, काव्य कहावै सोइ॥*

**काव्यप्रकाश रसगंगाधर मत काव्यलक्षण**

*अलंकार अरु गुन सहित, दोष रहित पुनि कृत्य।*
*उक्त रीति मुद के सहित, रसयुत वचन प्रवृत्य॥*[1]

वास्तव में इस प्रकार का अज्ञान अक्षम्य है, परंतु इन कवियों की अपनी परिसीमाएं थीं।

उपर्युक्त दोषों के लिए अनेक परिस्थितियां उत्तरदायी थीं। एक तो संस्कृत-काव्यशास्त्र की परंपरा ही रीतिकाल तक आते-आते प्रायः निर्जीव हो चुकी थी। उस समय पंडितराज को छोड़ कोई आचार्य मौलिक चिंतन का प्रमाण नहीं दे सका। उस युग में कवि-शिक्षा का ही प्रचार अधिक रह गया था, जिसके लिए न मौलिक सिद्धांत-प्रतिपादन अपेक्षित था और न खंडन-मंडन अथवा पुनराख्यान। कवि-शिक्षा का लक्ष्य था, रसिकों को समान्य काव्यरीति की शिक्षा देना, जिज्ञासु मर्मज्ञ के लिए कवि कर्म अथवा काव्यास्वाद के रहस्यों का व्याख्यान करना नहीं। रीतिकाव्य जिस वातावरण में विकसित हो रहा था, उसमें रसिकता का ही प्राधान्य था। इन रसिक श्रीमंतों को अपने व्यक्तित्व के परिष्कार के लिए केवल सामान्य कलाज्ञान अपेक्षित था, गहन प्रश्नों पर विचार करने की न उनमें शक्ति थी और न धैर्य ही। अतः उनके आश्रित कवि लक्षणादि की रचना द्वारा उनका शिक्षण और सरस शृंगारिक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उदाहरणों की सृष्टि द्वारा मनोरंजन करते रहे। सूक्ष्म शास्त्रचिंतन न उनके लिए ग्राह्य था और न इनके लिए आवश्यक। इसके अतिरिक्त हिंदी में गद्य का अभाव भी एक बहुत बड़ी परिसीमा थी। तर्क और विचार-विश्लेषण का माध्यम गद्य ही हो सकता था, छंद के बंधन में बंधा हुआ पद्य नहीं। हिंदी के सर्वांग-निरूपक आचार्यों ने, जो अपने शास्त्रकर्म के प्रति जागरूक थे, वृत्तियों में गद्य का सहारा लिया है। किंतु ब्रजभाषा का यह असमर्थ गद्य उनके मंतव्य को सुलझाने की अपेक्षा अधिक उलझाने में ही सफल हुआ है।

अत: रीतिआचार्यों के योगदान का मूल्यांकन उपर्युक्त पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर ही करना चाहिए। ये कवि वस्तुत: शास्त्रकार नहीं थे, रीतिकार थे और उसी रूप में इनका विचार होना चाहिए। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्यों के सामान्यत: तीन वर्ग हैं :

1. उद्भावक आचार्य, जिन्हें मौलिक सिद्धांत-प्रतिपादन का श्रेय प्राप्त है जैसे, भरत, वामन, आनंदवर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, कुंतक आदि। ये शास्त्रकारों की कोटि में आते हैं।
2. व्याख्याता आचार्य, जो नवीन सिद्धांतों की उद्भावना न कर प्राचीन सिद्धांतों का आख्यान करते हैं। इनका कर्तव्य-कर्म होता है—मूल सिद्धांतों को स्पष्ट और विशद करना। मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ प्रतिभा-भेद से इसी वर्ग के अंतर्गत आयेंगे।
3. तीसरा वर्ग है कवि-शिक्षकों का, जिनका लक्ष्य अपने स्वच्छ व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर सरस, सुबोध पाठ्यग्रंथ प्रस्तुत करना होता है। इस प्रकार के आचार्यों को मौलिक उद्भावना करने अथवा शास्त्र की गहन गुत्थियों को खंडन-मंडन द्वारा सुलझाने की कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं होती। जयदेव, अप्पय दीक्षित, केशव मिश्र, भानुदत्त आदि की गणना इसी वर्ग के अंतर्गत की जाती है।

हिंदी के रीति-आचार्य स्पष्टत: प्रथम श्रेणी में नहीं आते। उन्होंने किसी व्यापक आधारभूत काव्य-सिद्धांत का प्रवर्तन नहीं किया, उनमें से किसी में इतनी प्रतिभा नहीं थी। दूसरी श्रेणी में सर्वांग-निरूपक आचार्यों की गणना की जा सकती थी, किंतु खंडन-मंडन तथा स्पष्ट और विशद व्याख्यान के अभाव में, केवल प्रमुख काव्यांगों के संक्षिप्त निरूपण के आधार पर, वे इस स्थान के अधिकारी भी नहीं हो सकते। अंतत: वे तृतीय वर्ग के अंतर्गत ही स्थान प्राप्त कर सकते हैं। वे न शास्त्रकार थे और न शास्त्र के भाष्यकार। उनका काम तो शास्त्र की परंपरा को सरस रूप में हिंदी में अवतरित करना था और इसमें वे निश्चय ही कृतकार्य हुए। उनके कृतित्व का मूल्यांकन इसी आधार पर होना चाहिए।

अतएव, हिंदी के रीति-आचार्यों का प्रमुख योगदान यह है कि उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा को हिंदी में सरस रूप में अवतरित किया। इस प्रकार हिंदी-काव्य को शास्त्र-चिंतन की प्रौढ़ि प्राप्ति हुई और शास्त्रीय विचार सरस रूप में प्रस्तुत हुए। भारतीय भाषाओं में हिंदी को छोड़ अन्यत्र कहीं भी यह प्रवृत्ति नहीं मिलती। इसके अपने दोष हो सकते हैं, परंतु वर्तमान हिंदी-आलोचना पर इसका सत्प्रभाव भी स्पष्ट है। अन्य भाषाओं में जहां संस्कृत-आलोचना से वर्तमान आलोचना का संबंध उच्छिन्न हो गया है, वहां हिंदी और मराठी में यह अंत:सूत्र टूटा नहीं है। फलत: हमारी वर्तमान आलोचना की समृद्धि में इन रीतिकारों का स्पष्ट योगदान है। बौद्धिक ह्रास के उस अंधकार युग में काव्य के बुद्धि पक्ष को जाने-अनजाने पोषण दे कर इन्होंने अपने ढंग से बड़ा काम किया।

भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में व्यापक रूप से इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि इन्होंने रस को ध्वनि के प्रभुत्व से मुक्त कर रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की। इतिहास साक्षी है कि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संस्कृत-काव्यशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धांत ध्वनिवाद ही रहा है। रस का स्थान मूर्धन्य होते हुए भी उसका विवेचन प्रायः असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि के अंतर्गत अंग-रूप में ही होता रहा है। हिंदी के रीतिकार आचार्यों ने रस को परतंत्रता से मुक्त किया और पूरी दो शताब्दियों तक रसराज शृंगार की ऐसी अविच्छिन्न धारा प्रवाहित की कि यहां 'शृंगारवाद' एक प्रकार से स्वतंत्र सिद्धांत के रूप में ही प्रतिष्ठित हो गया। मधुरा भक्ति से संप्रेरित शृगार-भाव में जीवन के समस्त कटु भावों को निमग्न कर इन आचार्यों ने भारतीय काव्यशास्त्र के प्राणतत्त्व आनंद की पुनः प्रतिष्ठा का अभूतपूर्व प्रयत्न किया। रीति-युग के अधिकांश आचार्यों द्वारा ध्वनि की उपेक्षा और नायकिाभेद के प्रति उत्कट आग्रह इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। देव जैसे कवियों ने अत्यंत प्रबल शब्दों में रसकुटिल, अधम व्यंजना पर आश्रित ध्वनि का तिरस्कार कर रसवाद का पोषण किया और रामसिंह ने रस के आधार पर काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम भेद करते हुए रस-सिद्धांत के सार्वभौम प्रभुत्व का प्रतिपादन किया। 'संयोग', 'शास्त्र का अपरिपक्व ज्ञान', 'युग की दूषित प्रवृत्ति' आदि कह कर इन स्थापनाओं की उपेक्षा करना न्याय नहीं है, इनके पीछे गहरी आस्था का बल था।

**रीतिकाव्य :** भारतीय इतिहास में 'रीतिकाल' की भांति हिंदी-साहित्य के इतिहास में 'रीतिकाव्य' भी अत्यंत अभिशप्त काव्य है। आलोचना के आरंभ से ही इस पर आलोचकों की वक्रदृष्टि रही है। द्विवेदी-युग ने सदाचार-विरोधी कह कर नैतिक आधार पर इसका तिरस्कार किया, छायावाद की सूक्ष्म सौंदर्यदृष्टि रीतिकाव्य के स्थूल सौंदर्यबोध के प्रति हीन भाव रखती थी, प्रगतिवाद ने इस पर समाजविरोधी और प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाया और प्रयोगवाद ने इसकी रूढ़ विषयवस्तु एवं अभिव्यंजनाप्रणाली को एकदम 'बासी' घोषित कर दिया। इस प्रकार की आलोचनाएं निश्चय ही पूर्वाग्रह से दूषित हैं। इनमें बाह्य मूल्यों का रीतिकाव्य पर आरोप करते हुए काव्यालोचन के इस आधारभूत सिद्धांत का निषेध किया गया है कि आलोचक को आलोच्य काव्य में से ही दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए। इस पद्धति को ग्रहण करने से रीतिकाव्य के साथ अन्याय होने की आशंका नहीं रह जायेगी।

व्यापक स्तर पर विचार करने से काव्य की दो प्रतिनिधि परिभाषाएं प्राप्त होती हैं, जो काव्य के प्रति दो भिन्न दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त करती हैं—एक 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्', और दूसरी 'काव्य जीवन की समीक्षा है'। इसमें से पहली शुक्ल जी की शब्दावली में 'आनंद की सिद्धावस्था' और दूसरी 'साधनावस्था' को महत्त्व देती है। केवल भारतीय वाङ्मय में ही नहीं, विश्वभर के वाङ्मय में काव्य के ये दो पृथक् रूप स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। इसमें संदेह नहीं कि इस भेद के मूल में आंतरिक अभेद की सत्ता भी उतनी ही स्पष्ट है, फिर भी ये दोनों और इनका आख्यान करने वाली उपर्युक्त दोनों परिभाषाएं दो विभिन्न दृष्टिकोणों की द्योतक तो हैं ही। किसी भी काव्य की समीक्षा करते समय इस दृष्टि भेद को सामने रख लेना आवश्यक है—एक ही मानक से दोनों को तोलने से किसी-न-किसी के प्रति भारी अन्याय होने की आशंका रहती है। उदाहरण के लिए, वाल्मीकि और जयदेव अथवा तुलसी और सूर की काव्य-दृष्टि में, तथा पाश्चात्य साहित्य से उदाहरण लें तो होमर या शेक्सपियर और शेली की काव्य-दृष्टि में उपयुक्त भेद स्पष्ट हैं, फिर भी आचार्य शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड जैसे प्रौढ़ आलोचक उसे भूल बैठे। इसका उल्टा भी हो सकता है। बिहारी की आलोचना करते हुए पंडित पद्मसिंह शर्मा ने यही किया और बिहारी की प्रतिभा से 'सूर और चांद को भी गहन लगने' की आशंका होने लगी। यद्यपि कवित्व और रस में मौलिक अखंडता है, किंतु यह अखंडता तो अंतिम स्थिति में ही प्राप्त होती है, उससे पहले बहुत दूर तक उपर्युक्त भेद की सत्ता स्पष्ट विद्यमान रहती है। रीतिकाल का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उचित मूल्यांकन करने के लिए इसका ध्यान रखना आवश्यक होगा।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' या 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' की कसौटी पर परखने से रीतिकाव्य का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। इसमें संदेह नहीं कि जीवन की उदात्त साधना और कदाचित् सिद्धियों का भी निरूपण इस काव्य में उपलब्ध नहीं होता। किंतु जीवन में सरसता का मूल्य नगण्य नहीं है। जीवन के मार्ग में धीर और प्रबुद्ध गति से निरंतर आगे बढ़ना तो श्रेयस्कर है ही, किंतु कुछ क्षणों के लिए किनारे पर लगे वृक्षों की शीतल छांह में विश्राम करने का भी अपना मूल्य है। कला अथवा काव्य के कम-से-कम एक रूप का आविष्कार मनुष्य ने इसी मधुर आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया था और वह आवश्यकता अभी निश्शेष नहीं हुई, और कभी हो भी नहीं सकती। रीतिकाव्य मानव-मन की इसी वृत्ति का परितोष करता है, और इस दृष्टि से इन रससिद्ध कवियों और इनके सरस काव्य का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता।

व्यापक सामाजिक स्तर पर भी रीतिकाव्य का यह योगदान इतना ही मान्य है। घोर पराभव के उस युग में समाज के अभिशप्त जीवन में सरसता का संचार कर इन कवियों ने अपने ढंग से समाज का उपकार किया था। इनमें संदेह नहीं कि इनके काव्य का विषय उदात्त नहीं था, उसमें जीवन के भव्य मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं थी, अतः उसके द्वारा प्राप्त आनंद भी उतना उदात्त नहीं था। काव्यवस्तु के नैतिक मूल्य का काव्य-रस के नैतिक मूल्य पर प्रभाव निश्चय ही पड़ता है; और इस दृष्टि से रीतिकाव्य का नैतिक मूल्य निश्चय ही कम है। फिर भी, अपने युग की आत्मघाती निराशा को उच्छिन्न करने में उसने स्तुत्य योगदान किया, इसमें संदेह नहीं। इस सत्य को अस्वीकार करना कृतघ्नता होगी। यहां इस सत्य का फिर से उद्घाटन आवश्यक है कि कला का एक अतर्क्य उद्देश्य मनोरंजन भी है। यह मनोरंजन मानव-जीवन की जितनी अपरिहार्य आवश्यकता है, इसकी पूर्ति करने वाली कला या काव्य-कला का अपना मूल्य भी निश्चय ही उतना ही असंदिग्ध है। रीतिकाव्य का मूल्यांकन कला के इसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर करना चाहिए। उसकी मूलवर्ती प्रेरणा यही थी और इसी की पूर्ति में उसकी सिद्धि निहित है। शुद्ध नैतिक दृष्टि से भी यह सिद्धि निर्मूल नहीं है, क्योंकि कवि-शिक्षा से संयुक्त यह मनोरंजन तत्कालीन सहृदय समाज की रुचि-परिष्कार का भी अत्यंत उपादेय साधन था।

कला की दृष्टि से भी रीतिकाव्य का महत्त्व असंदिग्ध है। वास्तव में हिंदी-साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम रीतिकवियों ने ही काव्यों को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया। अपने शुद्ध रूप में रीति-कविता न तो राजाओं और सैनिकों को उत्साहित करने का साधन थी, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी और सामाजिक सुधार अथवा राजनीतिक सुधार की परिचायिका ही। काव्यकला का अपना स्वतंत्र महत्त्व था। उसकी साधना उसी के अपने निमित्त की जाती थी, वह अपना साध्य आप थी।

कला के क्षेत्र में व्यावहारिक रूप से भी रीतिकवियों की उपलब्धि कम नहीं है। ब्रजभाषा के काव्य-रूप का पूर्ण विकास इन्होंने ही किया। वह कांति, माधुर्य और मसृणता आदि गुणों से जगमग हो उठी, शब्दों को जैसे खराद पर उतार कर कोमल और चिक्कण रूप प्रदान किया गया। सवैया और कवित्त की रेशमी ज़मीन पर रंग-बिरंगे शब्द माणिक-मोती की तरह ढुलकने लगे। इन दोनों छंदों की लय में अभूतपूर्व मार्दव और लोच आ गया। स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि रीतिकवियों का छंद-विधान एक बंधी लीक पर ही चलता है। उसमें स्वर और लय की सूक्ष्म संयोजनाओं के लिए अवकाश नहीं है। परंतु यह दृष्टि-दोष है। सवैया और कवित्त के विधान के अंतर्गत अनेक प्रकार के सूक्ष्म लय-परिवर्तन कर रीतिकवियों ने अपनी कोमल संगीत-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रुचि का परिचय दिया है। रीतिपूर्व-युग के तुलसी और गंग जैसे समर्थ कवियों और उधर रीतिमुक्त कवियों में घनानंद जैसे प्रवीण कलाकारों के छंद-विधान के साथ तुलना करने पर स्वतः स्पष्ट हो जाता है। ये कवि अपने संपूर्ण काव्य-वैभव के होते हुए भी रीतिकवियों के छंद-संगीत की सृष्टि करने में नितांत असफल रहे हैं। इसी प्रकार अभिव्यंजना की साज-सज्जा और अलंकृति की दृष्टि से रीतिकाव्य का वैभव अपूर्व है। यह ठीक है कि उसमें अलंकरण-सामग्री का वैसा वैविध्य नहीं है, जैसा सूर और तुलसी में मिलता है। वैसा सूक्ष्म संयोजन भी नहीं है, जैसा कि पंत में मिलता है। परंतु विलास-युग के रंगोज्ज्वल उपमानों और प्रतीकों के प्रचुर प्रयोग से रीतिकाव्य की अभिव्यंजना दीपावली की तरह जगमगाती है। अतः इस कविता का कलात्मक रूप अपने आपमें विशेष मूल्यवान है और इसी रूप में इसके महत्त्व का आकलन होना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि रीतिकाव्य में सूर, मीरा और घनानंद जैसी आत्मा की पुकार नहीं मिलेगी, और न जायसी, तुलसी अथवा आधुनिक युग के विशिष्ट महाकाव्यों के समान व्यापक जीवन-समीक्षा और छायावादी कवियों का सूक्ष्म सौंदर्य-बोध ही यहां उपलब्ध होगा। परंतु मुक्तक-परंपरा की गोष्ठीमंडन-कविता का जैसा उत्कर्ष रीतिकाव्य में हुआ, वैसा न उसके पूर्ववर्ती काव्य में और न परवर्ती काव्य में ही संभव हो सका।

इस प्रकार हिंदी साहित्य के इतिहास में रीतिकाव्य का अपना विशिष्ट स्थान है। सैद्धांतिक दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा को हिंदी में अवतरित करते हुए विवेचन एवं प्रयोग दोनों के द्वारा रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा कर और उधर सर्जना के क्षेत्र में कविता के कला रूप की सिद्धि करते हुए भारतीय मुक्तक परंपरा का अपूर्व विकास कर ब्रजभाषा के कला प्रसाधनों के सम्यक् परिष्कार प्रसाधन द्वारा रीतिकवियों ने हिंदी काव्य की समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। एकांत वैशिष्ट्य की दृष्टि से भारतीय वाङमय में ही नहीं, संपूर्ण विश्व के वाङ्मय में आलोचना और सर्जना के संयोग से निर्मित यह काव्य विधा अपना उदाहरण आप ही है किसी भी भाषा में इस प्रकार का काव्य इतने प्रचुर परिमाण में नहीं रचा गया।

**रीतिमुक्त काव्य :** इस युग की तीसरी प्रवृत्ति है रीतिमुक्त काव्य। परिमाण में कम होने पर भी काव्यगुण की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है। जैसा कि आचार्य शुक्ल ने संकेत किया है, यह काव्य हिंदी में स्वच्छंदतावाद का पूर्वाभास है। इन कवियों ने काव्य के प्रति अत्यंत स्पष्ट शब्दों में आत्मपरक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा की और जीवन तथा काव्य में रीति-रूढ़ियों का तिरस्कार कर स्वच्छंद मार्ग को ग्रहण किया। कविता के लिए सायास शिल्पविधान का कोई महत्त्व नहीं है, वह आवेश—प्रेम के आवेग—का सहज उच्छलन है :

*समुझि समुझि बातैं छोलिबो न काम आवै*
*छावै घनआनन्द न जौ लौं नेह बौरई॥*

इस प्रकार काव्य में अतःप्रेरणा—'नेह बौरई' अथवा 'लोकोत्तर विक्षेप' की महत्त्व-प्रतिष्ठा हुई और उसी को कवित्व का उद्गम स्रोत माना गया। इन कवियों का भी मुख्य विषय प्रेम या शृंगार ही है। किंतु यह स्वच्छंद प्रेम है, जो एक ओर भक्ति की सांप्रदायिकता से मुक्त है और दूसरी ओर समाज के रीति-नियमों से। इसमें न रीतिशृंगार की रूढ़ियों—विभाव, अनुभाव, संचारी का प्रपंच है और न शास्त्र का कृत्रिम विधान। यह प्रेम प्रायः एकनिष्ठ और एकांगी है और फिर भी रसाभास के अंतर्गत नहीं आता। इन कवियों ने रीतिभाषा की उपेक्षा कर टकसाली ब्रजभाषा को अपने काव्य का माध्यम बनाया, जिसमें जनभाषा की ताज़गी है। उसमें आयाससिद्ध माधुर्य,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कोमलता, मसृणता, कांति आदि गुणों के स्थान पर भाव की मिठास से उत्पन्न माधुर्य और तीव्रता से उत्पन्न कांति मिलती है। यहां अलंकारों का प्रयोग सजावट के लिए नहीं किया गया अपितु भाव की दीप्ति से वाणी अनायास ही दीपित हो उठी है। इसीलिए रीतिमुक्त काव्य में लक्षणा और व्यंजना से चमत्कृत आलंकारिक उद्‌भावनाओं का प्राधान्य है। वक्रता का ऐसा वैभव अन्यत्र दुर्लभ है। हिंदी-साहित्य के इतिहास में 'शुद्ध कविता' की खोज का यह पहला सफल प्रयास था।

**अन्य काव्य-प्रवृत्तियां :** रीति और शृंगार के वृत्त से बाहर वीरकाव्य, भक्तिकाव्य, नीतिकाव्य तथा गद्य के क्षेत्रों में भी रीतिकाल का योगदान स्तुत्य है। वीरकाव्य के क्षेत्र में भूषण और लाल जैसे समर्थ कवि उत्पन्न हुए, जिन्होंने युगीन काव्य-प्रवृत्ति के प्रतिकूल लोकनायकों के शौर्य का ओजस्वी वाणी में वर्णन कर नये कीर्तिमान स्थापित किये। हिंदी में अब तक वीरकाव्य की जो परंपरा विद्यमान थी, उसमें या तो देवताओं के पराक्रम का वर्णन था या आश्रयदाताओं का यशोगान। भूषण और लाल ने राष्ट्रीय अथवा जातीय अभिमान के साथ वीर-भावना का संबंध स्थापित कर उसे एक नवीन आयाम प्रदान किया। उधर गुरु गोविंदसिंह ने इसी भावना को चंडी तथा महाकाल के प्रतीकों के द्वारा अत्यंत प्रबल स्वर में प्रबंधकाव्य के रूप में व्यक्त किया। भक्तिकाल की धारा भी इस युग में पूरे वेग से प्रवाहित थी। मधुरा भक्ति का विस्तार कृष्णकाव्य की सीमाओं को पार कर रामकाव्य तक हो चुका था और रामभक्ति में रसिक भावना का पूर्णतः सन्निवेश हो गया था। भक्तिकाव्य के क्षेत्र में गेय पदों और लीलाओं की रचना प्रभूत मात्रा में हुई। किंतु रसार्द्रता होने पर भी इन रचनाओं में प्रायः मौलिक प्रतिभा का अभाव है। अधिकांश कवियों ने प्रायः पूर्ववर्ती काव्य की पुनरावृत्ति ही की है। कविता के क्षेत्र में इस युग की एक विशेष घटना है 'महाभारत' का अनुवाद। सबलसिंह चौहान का अनुवाद तो प्रायः इतिवृत्तात्मक ही है, परंतु गोकुलनाथ, गोपीनाथ आदि के अनुवादों में काव्यगुण का भी पूर्ण सद्‌भाव है।

हिंदी-गद्य का आविर्भाव रीतिकाल की अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। खड़ीबोली-गद्य के आरंभिक निर्माता—इंशाअल्ला ख़ां, सदासुखलाल, सदल मिश्र और लल्लू जी लाल तथा उनके पूर्ववर्ती रामप्रसाद निरंजनी का आविर्भाव काल यही है, अर्थात इसी युग में आधुनिक हिंदी-गद्य के विविध रूपों का प्रस्फुटन हुआ।

इस प्रकार रीतिकाल हिंदी-साहित्य के बहुविध विकास, विस्तार का युग है। इसकी सर्जनात्मक प्रतिभा का उत्कर्ष-बिंदु देव, बिहारी, मतिराम के काव्य तक ही पहुंच पाया। तुलसी और सूर के कीर्तिमान अप्राप्य ही रहे। परंतु 'शुद्ध कविता' अथवा काव्य-कला के प्रतिमानों से आंकने पर इसका योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

## संदर्भ

1. काव्यविलास, हस्तलेख, पृ. 1

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

# चतुर्थ खंड

# आधुनिक काल

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अध्याय : 13

# आधुनिक काल : पूर्वपीठिका

साहित्य के इतिहास में काल का सीमांकन सबसे अधिक जटिल समस्या है। किसी कालखंड का आरंभ किस समय से होता है, इसे वैज्ञानिक सत्य के रूप में नहीं बताया जा सकता। एक कालखंड दूसरे कालखंड से अपने बदलाव के कारण अलग होता है। बदलाव की प्रक्रिया तो अरसे से चलती रहती है, पर नये कालखंड का निर्धारण तब होता है जब बदलाव के चित्र हमारी आर्थिक-सांस्कृतिक स्थितियों, काल-रूपों तथा भाषा में स्पष्टत: दिखायी देने लगते हैं। इसलिए साहित्येतिहास के लेखन में जो काल-निर्धारण किया जायेगा, वह लचीला होगा। हिंदी-साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल के विकास का क्रम एक शताब्दी पहले से ही प्रारंभ हो गया था, बदलाव के स्पष्ट चिह्न उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में दिखायी पड़ने लगे थे। संयोग है कि हिंदी-साहित्य में आधुनिक जीवनबोध के प्रवर्तक भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म उन्नीसवीं शती के ठीक मध्य में सन् 1850 में हुआ। अत: इतिहास-लेखकों ने इस वर्ष को ही आधुनिक हिंदी-साहित्य के आरंभ का वर्ष मान लिया। किंतु इतिहास की गतिमानता या बदलाव में यह वर्ष स्वयं किसी तरह की भूमिका नहीं अदा करता। इतिहास के काल-विभाजन की रेखा कम-से-कम दो विभिन्न प्रवृत्तियों को स्पष्टत: अलग करने वाली तथा इस अलगाव के लिए स्वयं भी बहुत-कुछ उत्तरदायी होनी चाहिए। यदि सन् 1857 को आधुनिक काल का प्रारंभिक बिंदु मान लिया जाये, तो उपर्युक्त दोनों शर्तें पूरी हो जाती हैं[1]। सन् सत्तावन दो विरोधी ताक़तों की टकराहट का काल था—सामंतवादी और पूंजीवादी। सामंतवादी शक्तियां अपनी सारी ताक़त लगा कर सदा के लिए समाप्त हो गयीं। सामंतवाद की संपूर्ण संभावनाएं ख़त्म होने के बाद देश के प्रबुद्ध वर्ग ने नये सिरे से सोचना शुरू किया और अंग्रेज़ शासकों ने भी इस देश की परंपरा को समझ कर आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का नवीनीकरण किया।

## नामकरण

'आधुनिक' शब्द दो अर्थों— मध्यकाल से भिन्नता और नवीन इहलौकिक दृष्टिकोण— की सूचना देता है। मध्यकाल अपने अवरोध, जड़ता और रूढ़िवादिता के कारण स्थिर और एकरस हो चुका था, एक विशिष्ट ऐतिहासिक प्रक्रिया ने उसे पुन: गत्यात्मक बनाया। मध्यकालीन जड़ता और आधुनिक गत्यात्मकता को साहित्य और कला के माध्यम से समझा जा सकता है। रीतिकाल में कला और साहित्य अपने-अपने कथ्य, अलंकृति और शैली में एकरूप हो गये थे। वे घोर श्रृंगारिकता के बंधे घाटों से बह रहे थे। न छंदों में वैविध्य था और न विन्यास (डिक्शन) में— एक ही प्रकार के छंद, एक ही प्रकार के ढंग। आधुनिक काल में बंधे हुए घाट टूट गये और जीवन की धारा विविध स्रोतों में फूट निकली। साहित्य मनुष्य के बृहत्तर सुख-दु:ख के साथ पहली बार जुड़ा।

'आधुनिक' शब्द में जो दूसरा अर्थ ध्वनित होता है, वह है— इहलौकिक दृष्टिकोण। धर्म, दर्शन, साहित्य, चित्र आदि सभी के प्रति नये दृष्टिकोण का आविर्भाव हुआ। मध्यकाल में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पारलौकिक दृष्टि से मनुष्य इतना अधिक आच्छन्न था कि उसे अपने परिवेश की सुध ही नहीं थी, पर आधुनिक युग में वह अपने पर्यावरण के प्रति अधिक सतर्क हो गया। आधुनिक युग की पीठिका के रूप में इस देश में जिन दार्शनिक चिंतकों और धार्मिक व्याख्याताओं का आविर्भाव हुआ, उनकी मूल चिंताधारा इहलौकिक ही है। सुधार, परिष्कार और अतीत का पुनराख्यान नवीन दृष्टिकोण की देन है। आधुनिक युग की ऐतिहासिक प्रक्रिया का ही परिणाम है कि साहित्य की भाषा ही बदल गयी— ब्रजभाषा की जगह खड़ीबोली ने ले ली।

## उपविभाजन

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आधुनिक काल का जो उप-विभाजन किया है, वह एकसूत्रता के अभाव में विसंगतिपूर्ण हो गया है। उन्होंने आधुनिक काल को दो खंडों में बांटा है— गद्य-खंड और काव्य खंड। ये दोनों खंड एक-दूसरे से इतने पृथक् हैं कि इनमें एकतानता नहीं आ पाती। दोनों खंडों को दो-दो प्रकरणों में बांटा गया है। गद्य के पहले प्रकरण में ब्रजभाषा गद्य और खड़ीबोली-गद्य का विवेचन है। दूसरे प्रकरण में गद्य-साहित्य का आविर्भाव विश्लेषित है। इसे फिर तीन उत्थानों में विभाजित किया गया है—प्रथम, द्वितीय और तृतीय। कालखंड में भी दो प्रकरण हैं— पुरानी काव्यधारा और नयी धारा। नयी धारा के भी तीन उत्थान हैं— प्रथम, द्वितीय और तृतीय। शुक्ल जी के गद्य-खंड और काव्य-खंड एक-दूसरे से सर्वथा अलग हैं, एक की प्रवृत्ति का दूसरे की प्रवृत्ति से कोई तालमेल नहीं है। ऐसा लगता है कि मानो गद्य-खंड में एक प्रवृत्ति क्रियाशील है, तो काव्य-खंड में दूसरी। उदाहरणार्थ, काव्य-खंड के दूसरे प्रकरण के तृतीय उत्थान (काव्य में जिसे 'छायावाद' के नाम से अभिहित किया जाता है) तथा गद्य-खंड के द्वितीय प्रकरण के तृतीय उत्थान में कोई एकरूपता निरूपित नहीं की जा सकी है। इस खंड-दृष्टि के कारण इतिहास का नैरंतर्य ओझल हो गया है। शुक्ल जी के परवर्ती इतिहासकारों ने प्रायः शुक्ल जी का अनुगमन किया।

आधुनिक हिंदी-साहित्य में छायावाद-युग सर्वमान्य हो गया है। इसको केंद्रवर्ती बिंदु मान कर इस काल का उप-विभाजन करना अधिक सुविधाजनक होगा। छायावाद-काल के पूर्व हिंदी-साहित्य परिष्कार की दो मंज़िलों से गुज़र चुका था—पुनर्जागरण और सुधार। राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन, दयानंद सरस्वती, विवेकानंद आदि के कारण जो पुनर्जागरण आया वह ऐतिहासिक तथ्य हो गया। इसका सीधा प्रभाव साहित्य पर पड़ा। साहित्य अपने नवीन पर्यावरण से जुड़ कर मध्यकालीन प्रवृत्तियों से पृथक् हो गया। अतः आधुनिक काल की पहली मंज़िल को 'पुनर्जागरण-काल' कहना समीचीन है। दूसरी मंज़िल पर साहित्यकार अपने कथ्य, रूपाकार और भाषा के सुधार परिष्कार में संलग्न दिखायी पड़ते हैं। अतः इसे 'सुधारकाल' की संज्ञा दी जानी चाहिए। स्थूल रूप से छायावाद का समय सन् 1918 से 1938 तक माना गया है। इसके अनंतर साहित्य में प्रगतिधर्मी और प्रयोगधर्मी आंदोलन एक साथ चले। इस काल को सन् 1938 से 1953 तक निर्धारित किया जा सकता है। 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन के साथ ही प्रयोगधर्मिता से छुट्टी पा कर बदले हुए परिवेश से आत्यंतिक संपृक्तता के कारण नये लेखन का जो प्रयत्न दिखायी पड़ता है, उसे 'नवलेखन-काल' की संज्ञा दी जा सकती है।

संक्षेप में, आधुनिक काल के उप-विभाजन का प्रारूप निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

1. **पुनर्जागरण-काल** (भारतेंदु काल) 1857-1900 ई.
2. **जागरण-सुधार-काल** (द्विवेदी काल) 1900-1918 ई.
3. **छायावाद-काल** 1918-1938 ई.
4. **छायावादोत्तर-काल**
   (*क*) प्रगति-प्रयोग-काल 1938-1953 ई.
   (*ख*) नवलेखन-काल 1953 ई. से...

कोई भी बदलाव यों ही नहीं आता, बल्कि उसके कुछ कारण होते हैं। दो संस्कृतियों का अंतरावलंबन परिवर्तन के लिए उतना कारगर नहीं होता जितने समाज के बुनियादी ढांचे को बदलने वाले आर्थिक कारण प्रभावशाली होते हैं। मुख्य कारण आर्थिक होता है, सांस्कृतिक कारण गौण होते हैं; पर इन दोनों को लाने का दायित्व जाने-अनजाने अंग्रेज़ों पर ही रहा। अतः आधुनिक काल की परिवर्तनमान प्रक्रिया को समझने के लिए इनका विवेचन आवश्यक है।

## परिस्थितियां

### राजनीतिक स्थिति

हिंदी-साहित्य के आधुनिक काल का आरंभ सन् 1857 में हुआ, पर भारतवर्ष के आधुनिक बनने की प्रक्रिया की शुरुआत एक शताब्दी पूर्व (1757 ई.) तभी हो गयी थी, जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने नवाब सिराज़ुद्दौला को प्लासी के युद्ध में हराया था। सिराज़ुद्दौला की हार के बाद संपूर्ण बंगाल पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया। 1764 ई. में बक्सर के युद्ध में मुग़ल-सम्राट शाहआलम भी पराजित हुआ, 1765 में कड़ा के युद्ध में उसकी रही-सही शक्ति भी समाप्त हो गयी। सम्राट ने अब बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अंग्रेज़ों को बख़्श दी। किंतु संपूर्ण देश पर आधिपत्य जमाने के लिए अंग्रेज़ों को दो अन्य शक्तियों को पराजित करना शेष था। वे शक्तियां थी— मराठे और सिक्ख। सिक्ख तो पंजाब की सीमा में थे, परंतु मराठों का प्रभाव बहुत व्यापक था। पारस्परिक फूट और संघर्ष के कारण असी (1803) और लासवारी (1803) के युद्धों में मराठे विजित हो गये और उनकी संघशक्ति समाप्त हो गयी। 1849 ई. में सिक्खों को पराजित करने के बाद संपूर्ण देश अंग्रेज़ों के अधीन हो गया। 1856 ई. में अवध भी अंग्रेज़ी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। इस विजय के कारण अंग्रेज़ों का मदोन्मत्त हो जाना स्वाभाविक था। उनकी नीतियों से असंतुष्ट देशी राजाओं ने एकजुट हो कर 1857 ई. में व्यापक स्तर पर विद्रोह किया। फलस्वरूप ईस्ट इंडिया कंपनी समाप्त कर दी गयी और भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश बन गया। अंग्रेज़ों ने अपनी आर्थिक, शैक्षणिक और प्रशासनिक नीतियों में परिवर्तन किया। इस देश के लोग भी नये संदर्भ में कुछ नया सोचने और करने के लिए बाध्य हुए। साहित्य मनुष्य के बृहत्तर सुख-दुःख के साथ पहली बार जुड़ा। यह प्रक्रिया भारतेंदु के समय में हुई, वह भी गद्य के माध्यम से। आधुनिक जीवन-चेतना की चिनगारियां जैसी गद्य में दिखायी पड़ीं, वैसी पद्य में नहीं। नया युग अपनी अभिव्यक्ति के लिए नयी भाषा की खोज कर रहा था। ब्रजभाषा इसके लिए उपयुक्त नहीं थी। इसलिए आधुनिक काल में ब्रजभाषा-काव्य के माध्यम से पुरानी संवेदनाएं ही अभिव्यक्ति पाती रहीं। खड़ीबोली का गद्य आधुनिक चेतना के फलस्वरूप ही सक्षम बन पड़ा।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## नया आर्थिक ढांचा

**नये संबंध :** साहित्य का इतिहास बदलती हुई अभिरुचियों और संवेदनाओं का इतिहास होता है, जिसका सीधा संबंध आर्थिक और चिंतनात्मक परिवर्तन से है। कुछ लोगों की दृष्टि में आर्थिक परिवर्तनों के साथ साहित्यिक परिवर्तनों का तालमेल बैठा देना ही साहित्य का इतिहास होता है—कुछ लोग संस्कृति के धरातल पर ही अभिरुचियों का विकास-क्रम निर्धारित करते हैं। वस्तुतः आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों में पेचीदा संबंध है। स्थूल रूप से दोनों में कारण-कार्य संबंध स्थापित करके सरलीकरण नहीं किया जा सकता। अतः साहित्येतिहास के संदर्भ में दोनों के संबंधों और योगदान का विवेचन अतिरिक्त अवधानता की अपेक्षा रखता है।

आधुनिक काल के पूर्व भारतीय गांवों का आर्थिक ढांचा प्रायः अपरिवर्तनशील और स्थिर रहा। गांव अपने आपमें स्वतःपूर्ण आर्थिक इकाई थे। इस अपरिवर्तनशीलता को लक्ष्य करते हुए सर चार्ल्स मेटकाफ़ ने लिखा है : "गांव छोटे-छोटे गणतंत्र थे। उनकी अपनी आवश्यकताएं गांव में पूरी हो जाती थीं। बाहरी दुनिया से उनका कोई संबंध नहीं था। एक के बाद दूसरा राजवंश आया, एक के बाद दूसरा उलटफेर हुआ। हिंदू, पठान, मुग़ल, सिक्ख, मराठों के राज्य बने और बिगड़े, पर गांव वैसे-के-वैसे ही बने रहे।" गांव की ज़मीन पर सबका समान अधिकार था। किसान खेती करता था; लुहार, बढ़ई, कुम्हार, नाई, धोबी, तेली आदि गांव की अन्य आवश्यकताएं पूरी करते थे। पेशा जाति के अनुसार निश्चित होता था। एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति का पेशा नहीं करता था, क्योंकि इसके लिए वह स्वतंत्र नहीं था। नगर और गांव अपनी-अपनी इकाइयों में पूर्ण और एक-दूसरे से असंबद्ध थे। नगर तीन तरह के थे—राजनीतिक महत्त्व के नगर, धार्मिक नगर और व्यापारिक नगर। नगरों में मूल्यवान वस्तुओं का निर्माण होता था। रत्नजटित आभूषणों, बारीक सूती-रेशमी वस्त्रों, हाथी दांत की मीनाकारी, वस्त्रों की रंगाई आदि के लिए इस देश की अंतर्राष्ट्रीय ख्याति थी। पर इन वस्तुओं की खपत धनी वर्ग में होती थी, विशेष रूप से राजाओं, सामंतों, श्रेष्ठियों आदि में। नगरों की औद्योगिक इकाइयां सामान्य वस्तुओं का निर्माण नहीं करती थीं। गांव का घरेलू उद्योग अलग था और नगरों का अलग। अंग्रेज़ व्यापारियों ने इस देश को अपना बाज़ार बनाने के लिए यहां के बारीक़ धंधों को बहुत-कुछ नष्ट कर दिया। जो कुछ बाक़ी बचे थे, वे नयी सामाजिक व्यवस्था के कारण नष्ट हो गये।

अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना के साथ-साथ इस देश की सामाजिक संघटना में विघटन और परिवर्तन लक्षित होने लगा, यों अंग्रेज़ों की विजय की ज़िम्मेदारी यहां की स्थिर आर्थिक व्यवस्था पर नहीं है। अनेक जातियों-उपजातियों में विभक्त इस देश में पारस्परिक एकता का सर्वदा अभाव रहा है। विदेशी मुसलमानों की विजय का कारण भी यही था और अंग्रेज़ों की विजय का भी। आज भी, जबकि एक सीमा तक देश का आधुनिकीकरण हो गया है, स्थिति यही है। पुरातन आर्थिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने पर जाति-प्रथा शिथिल तो हुई, पर मिट नहीं सकी। आधुनिक साहित्य में इस प्रथा पर करारी चोट की गयी है। जो आर्थिक परिवर्तन अंग्रेज़ों द्वारा ले आया गया, वह मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा संभव नहीं था। इनके आगमन से सामाजिक रीति-नीतियों में कहीं संकोच और कहीं विस्तार दिखायी पड़ा। मुसलमान यायावर थे और सामाजिक विकास की दृष्टि से वे पिछड़े हुए थे। उनकी स्थिति पूर्व-सामंतीय थी। इसलिए वे विजयी हो कर भी यहां की उच्चतर सभ्यता से विजित हो गये और समाज के ढांचे में कोई बुनियादी फ़र्क़ नहीं ला सके। आर्थिक इकाइयों में यथास्थिति बनी रही। अंग्रेज़ सामंतीय व्यवस्था से आगे बढ़ कर पूंजीवादी व्यवस्था अपना चुके थे। सामाजिक विकास की दृष्टि से वे यहां के लोगों से एक मंज़िल आगे थे। इसलिए आर्थिक व्यवस्था

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

को परिवर्तित करने में उन्हें सफलता प्राप्त हुई। किंतु इसे उनकी कृपा नहीं कहा जा सकता, इसमें उनका स्वार्थ था। गांव की ज़मीन का बंदोबस्त करने के कारण उन्हें थोड़े लोगों से ही मालगुज़ारी मिल जाती थी। ज़मींदारों और बड़े-बड़े जोतदारों का एक ऐसा तबका खड़ा हुआ, जो अंग्रेज़ों की आख़िरी विदाई के समय तक उनकी सहायता करता रहा। अंग्रेज़ों ने अपने स्वार्थ के लिए इस देश को लूटा और यहां के व्यापार को नष्ट किया।[2] लॉर्ड कॉर्नवालिस ने सन् 1793 में बंगाल, बिहार और उड़ीसा में ज़मींदारी प्रथा लागू की। बाद में बंबई, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश के कुछ इलाक़ों में भी यह व्यवस्था आरंभ की गयी। सन् 1820 में सर टॉमस मुनरो ने 'इस्तमरारी बंदोबस्त' लागू करके ज़मीन को व्यक्तिगत संपत्ति के रूप में बदल दिया। ज़मींदार और जोतदार दोनों ही ज़मीन का क्रय-विक्रय कर सकते थे। इसके पहले ज़मीन को न तो ख़रीदा जा सकता था और न बेचा जा सकता था, क्योंकि उस पर व्यक्ति का स्वामित्व नहीं था। खेत के व्यक्तिगत संपत्ति हो जाने पर खेती का व्यावसायिक हो जाना स्वाभाविक था। पहले कृषि का उत्पादन गांव में ही रह जाता था, किंतु अब बाज़ारों में भी आने लगा। यातायात की सुविधा बढ़ने पर उत्पादन की क़िस्म पर भी प्रभाव पड़ा। खेतों में उन वस्तुओं का उत्पादन अधिक किया जाने लगा जो व्यवसाय की दृष्टि से अधिक लाभप्रद थीं। रुपये के चलन से भी व्यावसायिकता में अभिवृद्धि हुई। पर किसानों की स्थिति नहीं सुधर सकी। उन्हें एक ओर सरकारी मालगुज़ारी अदा करने की चिंता रहती थी, दूसरी ओर महाजन की ऋण-अदायगी की। समय-समय पर मालगुज़ारी की दर बढ़ा दी जाती थी, फलस्वरूप वे महाजनों के चंगुल में बुरी तरह फंस जाते थे। महाजनी सभ्यता का जाल फैलाने का श्रेय अंग्रेज़ों को ही है। आये दिन अकाल भी पड़ते रहते थे, किंतु अकाल पीड़ितों की रक्षा करने में अंग्रेज़ अधिकारी असमर्थ थे। कर के बोझ, अकाल और महामारी आदि की भयंकरता का प्रचुर उल्लेख भारतेंदु तथा उनके समसामयिक लेखकों के साहित्य में मिलता है।

पहले की सरल ग्राम-व्यवस्था में पारस्परिक झगड़ों का निपटारा पंचायतों में हो जाता था। नयी अर्थव्यवस्था के कारण पारस्परिक संबंध जटिल हो गये। अब पंचायतों द्वारा उनका फ़ैसला नहीं हो सकता था। ऐसी स्थिति में नयी संस्थाओं का जन्म हुआ और पंचायतों के स्थान पर कचहरियां स्थापित की गयीं। अलगाव तो पुरानी व्यवस्था में भी था, किंतु नयी व्यवस्था में जो अलगाव आया, वह भिन्न प्रकार का था। पहले एक गांव दूसरे गांव से और गांव शहर से अलग थे। साहित्य-संस्कृति पर नागरिक संस्कृति की गहरी छाप थी। सबको एकसूत्रता प्रदान करने वाला तत्त्व धर्म था। यही कारण था कि भक्तिकालीन काव्य नगर और गांव को समान रूप से प्रभावित कर सका। रीतिकालीन काव्य में गांव को वैसा महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ। इसे प्रमाणित करने के लिए बिहारी के दोहे उद्धृत किये जा सकते हैं। आधुनिक काल में गांव की ओर साहित्यकारों की दृष्टि अवश्य गयी, पर तब तक किन्हीं अंशों में गांव बदल चुके थे।

अंग्रेज़ों की नयी व्यवस्था से जनता को घोर संकट का सामना करना पड़ा। खेत अनेकानेक टुकड़ों में बंट गये, किसान और सरकार के बीच बहुत से मध्यस्थ हो गये और पैदावार घटती गयी। ग्रामीण उद्योगधंधों के नष्ट होने पर अधिक-से-अधिक लोग खेती पर आश्रित हो गये। बहुत से शहरी उद्योग भी अंग्रेज़ों की कृपा से कालकवलित हो गये। फिर भी पुरानी अर्थव्यवस्था के स्थान पर जिस नयी अर्थव्यवस्था को लागू किया गया, उससे अनजाने ही ऐतिहासिक विकास की अनिवार्य प्रक्रिया के फलस्वरूप, भारतीय समाज विकास की ओर अग्रसर हुआ। गांवों की जड़ता टूटी, गांव दूसरे गांवों और शहरों के संपर्क में आने के लिए बाध्य हुए। घेरे में बंधी हुई अर्थव्यवस्था राष्ट्रोन्मुख हो चली। जो देश केवल धार्मिक एकता में बंधा हुआ था, वह राष्ट्रीय एकता के प्रति भी जागरूक होने लगा।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दूसरी ओर जातिप्रथा आर्थिक वर्गों में बदलने लगी, किंतु जातीय उच्चता की भावना विलीन नहीं हो सकी। अंग्रेज़ों ने जाने-अनजाने जो सुविधाएं दीं, उनका उपयोग उच्च जाति के लोगों ने ही किया। शासन में भी उन्हीं का प्राधान्य था; राष्ट्रीय आंदोलन भी उन्हीं के हाथ में था। साहित्य और कला पर भी उन्हीं का आधिपत्य बना रहा। इसलिए आज एक हो कर भी हम अनेक हैं। अंग्रेज़ों ने इस भेदभाव का लाभ उठाया, पर सारा दोष उनके कंधों पर लाद कर हम अपने को निर्दोष नहीं कह सकते। फिर भी जातिप्रथा शिथिल ज़रूर हुई, इसमें संदेह नहीं है। इसके साथ ही नये-नये आर्थिक वर्गों का जन्म हुआ। उच्चवर्ग और श्रमिकवर्ग के अतिरिक्त एक नये मध्यवर्ग का उदय हुआ। इस देश में इस वर्ग की भूमिका ही सबसे अधिक क्रांतिकारी कही जायेगी।

## शिक्षा का पश्चिमीकराण

ब्रिटिश राज्य की स्थापना और आर्थिक परिवर्तनों के संदर्भ में कुछ ऐसी नयी समस्याएं पैदा हुईं, जिनसे जूझने के लिए नये दृष्टिकोण की आवश्यकता पड़ी। कहना न होगा कि नयी शिक्षा-प्रणाली द्वारा जो ज्ञान-विज्ञान उपलब्ध हुआ, उससे इस दिशा में बहुत सहायता मिली। अठारहवीं शताब्दी के अंत में इस देश को जिस पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के संपर्क में आना पड़ा, वह भारत के ज्ञान-विज्ञान से प्रकृति में ही भिन्न था। भारतीय ज्ञान गतानुगतिक और परंपराभुक्त हो चला था, जबकि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान नये जीवन-संदर्भों की ताज़गी लिये था। भारतीय ज्ञान-विज्ञान का लक्ष्य आध्यात्मिक और पारलौकिक था, तो पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का भौतिक और इहलौकिक। इस देश की विद्या वर्ग या जाति विशेष तक सीमित थी, पर पाश्चात्य विद्या सर्वसुलभ थी। फिर भी, ज्ञान-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में इस देश ने अभूतपूर्व प्रगति की थी। दर्शन, ज्योतिष, गणित, औषधिविज्ञान, धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्र, व्याकरण आदि में इसका जोड़ कोई अन्य देश नहीं था। पर अब उन्हीं को दुहराया जा रहा था, नयी उद्‌भावनाओं का मार्ग अवरुद्ध हो चला था। कुछ लोग वेदादि की आप्तता, वर्णाश्रम धर्म की श्रेष्ठता, इहलौकिकता के प्रति अनासक्ति आदि को यथापूर्व बनाये रखने के पक्षधर थे। मुसलमानों में भी इसी प्रकार की गतानुगतिकता घर कर गयी थी। पर अब नयी परिस्थितियों में पहली रूढ़ियों की उपयोगिता के आगे प्रश्नचिह्न लग गया था।

हिंदुओं और मुसलमानों की शिक्षा-पद्धतियों पर टिप्पणी करते हुए ओ-मैले ने लिखा है : ''इनमें बहुत-कुछ समानता थी। वे उस भाषा में शिक्षा देते थे, जो जनता की भाषा नहीं थी। उनकी शिक्षा का मूल स्रोत धर्म था और उसकी आप्तता अपरिवर्तनीय थी। वे नये अभिनिवेश और परिवर्तन के विरुद्ध थे...।'' इस प्रकार की शिक्षा-पद्धति अपने-अपने धर्म के प्रति कट्टरता की भावना ही पैदा कर सकती थी—इसके द्वारा स्वतंत्र व्यक्तित्व और विवेकसम्मत (रेशनल) दृष्टिकोण का निर्माण संभव नहीं था। फलस्वरूप आधुनिक शिक्षा-पद्धति का समारंभ एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है। आधुनिक होने की दिशा में इसे एक गत्यात्मक प्रस्थान माना जायेगा। इसके प्रसार में मुख्यतः तीन शक्तियों का योगदान रहा : (1) ईसाई मिशन, (2) सरकार और (3) व्यक्तिगत प्रयत्न।

ब्रिटिश राज्य की स्थापना के पूर्व ईसाई मिशन दक्षिण भारत में धर्मप्रचार के कार्य में लगे हुए थे। प्लासी-युद्ध के बाद 1758 ई. में डैनिश मिशन कलकत्ता आया, परंतु उसका क्रियाकलाप भी सीमित रहा। 1793 ई. में मिशनरियों का दूसरा महत्त्वपूर्ण दल कलकत्ता पहुंचा। कैरे और उनके दो सहयोगियों ने, जो उस मिशन से संबद्ध थे, नये बंगाल के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। बंगला-गद्य की नींव डालने वाले लोगों में कैरे भी हैं। सन् 1813 में कंपनी ने एक नये चार्टर को स्वीकृति दी, जिसके अनुसार शिक्षा आदि उपयोगी कार्यों के लिए अनुदान देने की व्यवस्था की गयी।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इस चार्टर के बाद आने वाले मिशनरियों में अलेक्ज़ेंडर डफ़ का कार्य सर्वाधिक उल्लेखनीय है। कंपनी के अधिकारियों पर डफ़ का विशेष प्रभाव था। वह धर्मप्रचार का कार्य अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रचार द्वारा करना चाहता था। डफ़ को धर्मप्रचार में तो सफलता प्राय: नहीं ही मिली, पर इसी बहाने अंग्रेज़ी शिक्षा देने वाले बहुत से स्कूल-कॉलेज खुल गये। ईसाई मिशनरियों के कार्य के पीछे न तो कोई आध्यात्मिक प्रेरणा थी, न अनुग्रह की भावना। वे ईसाई-धर्म के प्रचार में लगे हुए थे, जिसके लिए उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों के धर्मों पर निस्संकोच आक्रमण किया और उनकी निंदा की। प्रत्येक स्कूल में ईसाई-धर्म की शिक्षा अनिवार्य थी। उनका विश्वास था कि प्रत्येक अध्यापक विज्ञान और गणित पढ़ाते हुए प्रकारांतर से भारतीय धर्मों को तोड़ने में मदद करता है। पर आंकड़ों से स्पष्ट है कि बहुत कम लोग ईसाई-धर्म की श्रेष्ठता से प्रभावित हो कर उसमें दीक्षित हुए। जिन लोगों ने उस धर्म को स्वीकार किया, उन्हें प्रेरणा देने वाली वस्तु धर्म की श्रेष्ठता नहीं, बल्कि अर्थ की श्रेष्ठता थी। फिर भी मिशनरियों के अपने काम ने भी भारतीय भाषाओं में गद्यशैली दी। हिंदी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि भारतीय भाषाओं में गद्यशैली अत्यंत आरंभिक स्थिति में थी। जनता में धर्म के प्रचारार्थ मिशनरियों को उसकी आवश्यकता प्रतीत हुई। कैरे, ब्राउन, नेवलिन, स्किनर, बैले आदि ने भारतीय भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद किया। स्कूलों में पढ़ाने के लिए उन्हें पाठ्य पुस्तकें भी लिखनी पड़ीं। भारतीय धर्म, पुराण आदि को उन्होंने विवरणात्मक गद्य में प्रस्तुत किया। स्त्री-शिक्षा के प्रसार में भी उनका महत्त्वपूर्ण योग है।

अंग्रेज़ी शिक्षा की उपयोगिता कई दृष्टियों से सिद्ध हो रही थी। इसके माध्यम से अंग्रेज़ व्यापारियों से विचार-विनिमय में सुविधा होती थी। अंग्रेज़ी जानने वालों के लिए विदेशी फ़र्मों और कंपनी के प्रशासन में नौकरी पाना भी सरल था। यद्यपि 1765 से 1813 ई. तक ईस्ट इंडिया कंपनी ने शिक्षा के क्षेत्र में विशेष कार्य नहीं किया, किंतु मुसलमानों के तुष्टीकरण के लिए वारेन हेस्टिंग्ज़ द्वारा 'कलकत्ता मदरसा' (1780) खोलना, बनारस के रेज़ीडेंट द्वारा 'बनारस संस्कृत कॉलेज' (1791) की नींव डालना और कंपनी के सिविल सर्वेयर को अंग्रेज़ी शिक्षा देने के लिए कलकत्ता में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज (1801) की स्थापना उल्लेखनीय घटनाएं हैं। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के अध्यापकों से देशभाषा में पाठ्य पुस्तकें, कोश और व्याकरण तैयार करने का काम भी लिया गया। इस कॉलेज़ की मुख्य देन यह है कि इसके द्वारा भारतीय भाषाओं में गद्य-लेखन को प्रोत्साहन मिला। कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कॉलेज की स्थापना से अंग्रेज़ विद्वान प्राच्य भाषा में अभिरुचि लेने लगे। सन् 1823 में कंपनी ने लोक-शिक्षा के संबंध में सुझाव देने के लिए कलकत्ता में एक शिक्षा-समिति संघटित की। इस समिति के सदस्यों में कुछ तो प्राच्य भाषाओं के समर्थक थे और कुछ अंग्रेज़ी शिक्षा के। प्रथम वर्ग के श्री एच.एच. विल्सन प्रभृति के प्रयत्न से कलकत्ता के मदरसे और बनारस के संस्कृत कॉलेज का पुनर्गठन किया गया और 1824 ई. में कलकत्ता एजूकेशन प्रेस की स्थापना हुई। इस प्रेस से संस्कृत और अरबी की पुस्तकें छपने लगीं। दूसरी ओर राजा राममोहन राय ने यह मत व्यक्त किया कि व्याकरण की बारीकियों और वेदांत, मीमांसा तथा न्याय को कंठस्थ करने में नवयुवकों के एक दर्जन वर्ष नष्ट करना उचित नहीं है। इससे वे समाज के अच्छे सदस्य नहीं बन सकते। इन विषयों के स्थान पर उन्हें प्राकृतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, गणित आदि की उपयोगी शिक्षा देनी चाहिए। सन् 1834 में जब मैकाले भारत पहुंचा, तो प्राच्य शिक्षा के विरोधियों को काफ़ी बल मिला।

मैकाले संस्कृत कॉलेज और अरबी-फ़ारसी मदरसों के विरुद्ध था। उसका सुझाव था कि इनको बंद कर दिया जाये। अंग्रेज़ी भाषा की प्रशंसा में उसने लिखा है : "हमारी भाषा पश्चिमी भाषाओं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में सर्वोत्तम है। जिसे इस भाषा का ज्ञान प्राप्त है, उसे संसार के अपार ज्ञान-भंडार की उपलब्धि हो सकती है। बहुत-कुछ संभावना है कि यह पूर्व के समुद्रों की वाणिज्य-भाषा बन जाये।'' लार्ड बेंटिक ने मैकाले का प्रतिवेदन स्वीकार कर लिया, पर संस्कृत और अरबी-फ़ारसी को दिये जाने वाले अनुदान बंद नहीं किये। फिर भी प्राच्य विद्या के विद्यार्थियों को जो छात्रवृत्ति मिलती थी, वह समाप्त कर दी गयी और संस्कृत-अरबी-फ़ारसी की पुस्तकों का छपना रोक दिया गया। ऑकलैंड को यह स्थिति स्वीकार्य नहीं हुई। उसने संस्कृत-अरबी-फ़ारसी का छपना जारी कर दिया, पर अंग्रेज़ी शिक्षा की संस्तुति उसे ज्यों-की-त्यों मान्य थी। इस समय दो प्रश्न प्रमुख रूप से सामने आये—शिक्षा का माध्यम क्या हो और जनता में शिक्षा का प्रचार-प्रसार कैसे हो? ये दोनों प्रश्न देश की संस्कृति, राजनीति और समाज के साथ व्यापक रूप से जुड़े हुए थे। शिक्षा के माध्यम के संबंध में तीन विकल्प थे—पहला यह कि माध्यमिक शिक्षा और विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी हो; दूसरा यह कि संस्कृत अथवा अरबी-फ़ारसी हो; और तीसरा यह कि बोलचाल की भाषा (बंगला, हिंदी, मराठी, गुजराती, उर्दू आदि) हो। चार्ल्स ग्रांट पहले मत के समर्थक थे। मैकाले ने बोलचाल की भाषा को माध्यम के रूप में असमर्थ घोषित किया, पर संस्कृत-अरबी के विषय में उसने जो कुछ कहा, उससे उसका अज्ञान प्रकट होता है। जो भी हो, अंग्रेज़ी भाषा माध्यम के रूप में स्वीकार कर ली गयी।

बोलचाल की भाषा को शिक्षा का माध्यम स्वीकार न करने का निर्णय अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण था। प्रायः दलील दी जाती है कि अंग्रेज़ी शिक्षा के फलस्वरूप देश में एकता की भावना पैदा हुई और जीवन की समस्याओं के संबंध में लोगों ने एक ढंग से सोचना आरंभ किया। राष्ट्रीय आकांक्षाओं को जाग्रत करने में इसे बहुत श्रेय दिया जाता है। प्रश्न यह है कि देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने से क्या इन उद्देश्यों की पूर्ति न होती? वस्तुतः यदि अंग्रेज़ अधिकारियों ने देशी भाषा का माध्यम अपनाया होता, तो राष्ट्रीयता की भावना और भी जल्दी उत्पन्न होती। शिक्षा के इतना अधिक फैल जाने पर भी इस देश का आधुनिकीकरण नहीं हो पाया। अधिकांश लोग आज भी निरक्षर हैं। पर उस समय इस शिक्षा के माध्यम से जिस बौद्धिक मध्यवर्ग का उदय हुआ, उसके आदर्श ऊंचे थे। आगे चल कर उन्होंने इसका उपयोग राष्ट्रीय-सांस्कृतिक विचारों के प्रसार में किया।

1853 ई. में कंपनी के आज्ञापत्र का नवीनीकरण होने वाला था। ब्रिटिश संसद ने भारत में स्थायी शिक्षा-नीति निर्धारित करने के उद्देश्य से एक संसदीय समिति बना दी। इसके फलस्वरूप 1853 ई. में वुड-घोषणापत्र प्रकाशित हुआ। कुछ लोगों का कहना है कि इस घोषणापत्र को जान स्टुअर्ट मिल ने तैयार किया था। इसके अनुसार जनसमूह को शिक्षित करने का प्रयत्न प्रारंभ हुआ, विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा को भी प्रोत्साहन मिला। प्रत्येक प्रांत में शिक्षा-विभाग की स्थापना की गयी, जिससे शिक्षा को एक सामान्य स्तर पर प्रतिष्ठित करने में सुविधा हुई।

अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार आरंभ में विशेषतः बंगाल में हुआ, उत्तर भारत में लोग इस ओर उन्मुख नहीं हुए। इसका एक कारण यह है कि पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध (आज का उत्तरप्रदेश) को बहुत बाद में ब्रिटिश राज्य में मिलाया गया। कलकत्ता विदेशी व्यापारियों का केंद्र था, फलतः अंग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त लोगों को व्यावसायिक फर्मों और प्रशासकीय दफ़्तरों में नौकरी पाने की सुविधा थी। बंगाल के बाहर ये सुविधाएं उपलब्ध नहीं थीं। ईसाई मिशनरियों के साथ संबद्ध होने के कारण यहां के लोग अंग्रेज़ी शिक्षा को शंका की दृष्टि से देखते थे। शिक्षा में पिछड़े रहने के कारण उत्तर भारत के सांस्कृतिक विकास में भी गत्यावरोध आया, जिसे दूर करने में समय लगा। नवीन शिक्षा-पद्धति

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का लेखा-जोखा लगाने पर इसमें कई अंतर्विरोध दिखायी पड़ते हैं। सच तो यह है कि अंग्रेज़ों को अपने दफ़्तरों के लिए देशी बाबुओं की आवश्यकता थी, जिससे उनका व्यवसाय और प्रशासन निर्बाध चल सके। ईसाई मिशनरी अंग्रेज़ी शिक्षा के माध्यम से लोगों को ईसाई बना कर पुण्य लूटने के चक्कर में थे। इस देश के उत्साही व्यक्तियों की दृष्टि में भी सामान्यतः रोज़ी-रोटी का सवाल ही प्रमुख था। अतः यह कहना कम भ्रांतिपूर्ण नहीं है कि इस शिक्षा-पद्धति के कारण ही राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने कौन-सी पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त की थी? कांग्रेस की स्थापना के पूर्व उनकी रचनाओं में देशकाल की अनेक समस्याएं मुखरित हुई हैं। इस शिक्षा-प्रणाली के कारण छोटा-सा बुद्धिजीवी मध्यवर्ग ज़रूर पैदा हुआ, पर अधिकांश लोग निरक्षर रह गये। फिर भी, इससे एक तरह का धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण बना, जो मध्यकालीन धार्मिक रूढ़ियों से मुक्त होने के कारण तर्कसम्मत और इहलौकिक हो सका। वैयक्तिक स्वतंत्रता इसकी दूसरी उल्लेखनीय देन है। आश्रमधर्मी घेरेबंदी से बाहर निकल कर व्यक्ति के अपने निर्णय को प्रमुखता मिली। मध्यकालीन धार्मिक कथाओं को विश्वसनीय बनाने और आधुनिक युग की समस्याओं से जोड़ने के मूल में भी यही प्रवृत्ति क्रियाशील थी।

## यातायात के साधन

उन्नीसवीं शताब्दी में दुनिया-भर में यातायात के साधनों में परिवर्तन हुआ। भारतवर्ष में भी रेल, बस, स्टीमशिप आदि ने लोगों में राष्ट्रीयता और वैचारिक एकता की भावना भरने में सहायता पहुंचायी। किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास पर ही यातायात का विकास निर्भर करता है। ब्रिटिशकाल के पूर्व भारत का आर्थिक ढांचा स्थिर और अविकसनशील था, इसलिए हम बैलगाड़ी के आगे नहीं जा सके। जितना आर्थिक विनिमय हो सकता था, उसके लिए बैलगाड़ी से अधिक की आवश्यकता भी नहीं थी। दूसरी ओर, इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति के कारण वहां के उद्योगपतियों के सामने यह समस्या आयी कि वे अपने उत्पादन की खपत कहां करें और कारख़ानों के लिए कच्चा माल कहां से लायें? भला उन्हें भारतवर्ष से अच्छा बाज़ार कहां मिल सकता था! फलस्वरूप उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार से भारत में रेलवे की स्थापना और सड़क-निर्माण के लिए अनुरोध किया। लॉर्ड डलहौजी ने रेल-निर्माण-योजना के मूल में निहित आर्थिक आवश्यकताओं का उल्लेख स्वयं किया है। आर्थिक लाभ के अतिरिक्त अंग्रेज़ों को बाहरी आक्रमणकारियों और आंतरिक विद्रोहों से अपनी रक्षा के लिए भी गमनागमन की ओर ध्यान देना पड़ा। रेलवे और अच्छी सड़कों की सहायता से फ़ौजों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचना सुगम हो गया। स्पष्ट है कि इस देश के सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक विकास के लिए इसका आयोजन नहीं हुआ, बल्कि अंग्रेज़ों के अपने स्वार्थ-साधन के लिए ही रेलवे का जाल बिछाया गया और अच्छी सड़कें निर्मित हुईं। वैसे इसमें संदेह नहीं कि रेलों और सड़कों ने कृषि को व्यावसायिक बनाने में मदद पहुंचायी, दुनिया सिमट कर कम हो गयी और विभिन्न क्षेत्रों के लोगों को एक-दूसरे से अल्प समय में सुविधानुसार मिलने का अवसर मिला। छुआछूत, भेदभाव आदि में कमी आयी। अकाल के समय एक स्थान से दूसरे स्थान पर अन्न, वस्त्र आदि भेजने की सुविधा प्राप्त हुई। किताबों, पत्र-पत्रिकाओं आदि को दूर-दूर तक सरलतापूर्वक पहुंचाया जाने लगा। इससे पुराने संकीर्ण विचारों को भंग करने में भी सहायता मिली।

## प्रेस और जनमत

नयी अर्थव्यवस्था और नवीन शिक्षा-पद्धति के कारण भारतीय जनता में एक ऐसी चेतना उत्पन्न हुई

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जिसके आधार पर लोग अपनी कठिनाइयों को समझने और उनको दूर करने की कोशिश करने लगे। इसके लिए प्रेस से बेहतर और कोई साधन नहीं हो सकता था। भारतवर्ष में मुद्रणयंत्र स्थापित करने का श्रेय पुर्तगालियों को है। सन् 1550 में उन्होंने दो मुद्रणयंत्र मंगवा कर धार्मिक पुस्तकें छापनी आरंभ कीं। 1674 ई. में ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा बंबई में मुद्रणकार्य आरंभ किया गया। अठारहवीं शताब्दी में मद्रास, कलकत्ता, हुगली, बंबई आदि स्थानों में छापेख़ाने स्थापित हुए। अंग्रेज़ों और मिशनरियों ने समाचारपत्र निकाले, किंतु अपने देश के संदर्भ में पत्र निकालने की पहल राजा राममोहन राय ने की। 1821 ई. में उनके सहयोग से 'संवाद-कौमुदी' नामक साप्ताहिक बंगला-पत्र का प्रकाशन आरंभ हुआ। इसमें सामाजिक समस्याओं के संबंध में लेख रहते थे। राजा राममोहन राय ने सतीप्रथा के विरुद्ध लगातार लिखना आरंभ किया, जिससे परंपरावादी हिंदू-समाज उनके विरुद्ध हो गया और इस पत्र को भी क्षति पहुंची। इसके पहले ही सीरामपुर मिशन के तत्त्वावधान में दो पत्र प्रकाशित हो रहे थे—'समाचार-दर्पण' और 'दिग्दर्शन'। इनके प्रत्युत्तर में उन्होंने 'ब्रमैनिकल मैगज़ीन' का प्रकाशन किया। फ़ारसी भाषा में भी उनकी प्रेरणा से दो पत्र निकले—'जाम-ए-जहां-नुमा' और 'मीरत-उल-अख़बार'। बंबई से गुजराती प्रेस के तत्त्वावधान में 1822 ई. में 'बॉम्बे समाचार' निकलना आरंभ हुआ। दैनिक पत्र के रूप में यह अब भी निकल रहा है। द्वारिकानाथ टैगोर, प्रसन्न-कुमार टैगोर, राजा राममोहन राय जैसे प्रगतिशील व्यक्तियों ने 1830 में 'बंगदूत' पत्र की नींव डाली। 1830 ई. के अंत तक कलकत्ता से तीन बंगला दैनिक, एक त्रिसाप्ताहिक, दो अर्ध-साप्ताहिक, सात साप्ताहिक और एक मासिक प्रकाशित हो रहे थे। हिंदी का पहला पत्र 'उद्‌त मार्तण्ड' 1826 में प्रकाशित हुआ। बाद में कलकत्ता से ही 'प्रजामित्र' (1834) का प्रकाशन होने लगा। हिंदी का दैनिक पत्र 'समाचार सुधावर्षण' (1854 ई.) श्याम सुंदर सेन के संपादकत्व में कलकत्ता से ही निकला। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन और भी अधिक संख्या में होने लगा। इससे नये विचारों के आदान-प्रदान में सुविधा हुई। विगलित सामाजिक-नैतिक रूढ़ियों के विरोध में पत्रों का अच्छा उपयोग किया गया। इनके माध्यम से अंग्रेज़ी हुकूमत की उन कार्यवाहियों का भी विरोध शुरू हुआ, जो देशहित के विरुद्ध पड़ती थीं। इनसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण और राष्ट्रीयता के प्रचार-प्रसार में भी पर्याप्त सहयोग मिला।

प्रेस की स्वतंत्रता को ले कर प्रारंभ से ही अंग्रेज़ों और भारतवासियों में टकराहट रही। इस संघर्ष में भी राजा राममोहन राय ने पहल की। एडम के समय में प्रेस की स्वतंत्रता पर जो आक्रमण हुआ, उसके विरोध में उन्होंने अपने अन्य राष्ट्रीयतावादी मित्रों के साथ कलकत्ता उच्च न्यायालय में आवेदन किया। उन्होंने सरकार की इस कार्यवाही को अप्रजातांत्रिक, अव्यावहारिक तथा प्रतिक्रियावादी बताया। रमेशचंद्र दत्त के अनुसार संवैधानिक ढंग से राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने के संघर्ष की यह शुरुआत थी। 1799 में बेलेजली ने प्रेस की स्वतंत्रता समाप्त कर दी, पर 1818 ई. में हेस्टिंग्ज ने प्रेस संबंधी प्रतिबंधों को हटा दिया। 1823 में प्रेस संबंधी अधिकारपत्र लेने का अधिनियम बना, जिसे 1835 में मेटकाफ़ ने समाप्त कर दिया। 1857 तक यही स्थिति बनी रही। इसमें संदेह नहीं कि समाचारपत्रों के माध्यम से विचारों का विनिमय सहज हो पाया। भारतीय पुनर्जागरण के लिए प्रेस का वरदान अत्यधिक मूल्यवान सिद्ध हुआ। पुनर्जागरण के नेताओं ने इस माध्यम का पूरा-पूरा उपयोग किया। मुद्रणालयों का प्रभाव साहित्य के लिए भी अत्यंत हितकर सिद्ध हुआ। भारतेंदु के समय में शायद ही कोई ऐसा साहित्यकार रहा हो, जिसका संबंध किसी-न-किसी पत्र-पत्रिका से न रहा हो। पत्र-पत्रिकाओं में साहित्यिक रचनाओं के प्रकाशन के साथ ही समसामयिक समस्याओं पर भी प्रकाश डाला जाता था। इस प्रकार उनके प्रकाशन का अर्थ था—दूसरों की समस्याओं में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

साझेदारी करना और उनको ले कर नयी-नयी वैचारिक भूमियां तैयार करना। ये पत्र-पत्रिकाएं एक ओर जनतांत्रिक भावनाओं का पोषण कर रही थीं और दूसरी ओर समाज की रूढ़ियों पर प्रहार करती हुई राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रही थीं। मुद्रणयंत्र के कारण साहित्य में वैयक्तिकता की भावना भी आयी। इसके पूर्व साहित्य सामान्यतः श्रुत हुआ करता था। उसके प्रशंसकों की संख्या सीमित होती थी। इसलिए साहित्यकारों के लिए आवश्यक था कि अपने श्रोताओं की रुचि का ध्यान रखते, पर छापेख़ाने ने सारी स्थित ही उलट दी। अब साहित्यकार और सामाजिक का सीधा संबंध नहीं रह गया, मुद्रण के माध्यम से ही वे एक-दूसरे से संबद्ध हो पाते थे। इस माध्यम ने साहित्यकार को अवसर दिया कि वह बहुत-कुछ व्यक्तिगत भी अभिव्यक्त कर सके। मुद्रणयंत्र के आविष्कार के पूर्व साहित्य में वैयक्तिकता का समावेश अत्यल्प था, पर बाद में भारतेंदु तथा उनके सहयोगियों के वैयक्तिक निबंधों में इस प्रवृत्ति का समावेश प्रचुर मात्रा में देखा जा सकता है।

आधुनिक युग का साहित्य मुद्रणकला के कारण अपने रूप-रंग, अभिव्यंजना, प्रभावान्विति आदि में मध्यकालीन साहित्य से पृथक् और स्वतंत्र रूप से अस्तित्ववान हो गया है। आधुनिक काल के साहित्य मे जो वैविध्य, वैयक्तिक कल्पना-छवियां, बौद्धिकता और प्रयोगात्मकता आयी है, उसका आंशिक दायित्व छापेख़ाने पर भी है। छापेख़ाने के अभाव में परिवर्तमान अभिरुचियों और संवेदनाओं का आकलन संभव नहीं था। साहित्य और कला संबंधी वादों, आंदोलनों आदि को रूपायित करने में इसका महत्त्वपूर्ण योग है।

## भारतीय जागरण (रेनासां) : पश्चिम की चुनौती

ब्रिटिश राज्य-स्थापना के कारण भारत की अर्थनीति, शिक्षापद्धति, यातायात के साधनों आदि में बुनियादी परिवर्तन हुए। इसके फलस्वरूप समाज का जो आधुनिकीकरण आरंभ हुआ, वह पुराने धार्मिक संस्कारों, रीति-नीतियां, संघटनों के मेल में नहीं था। नये यथार्थ और पुराने संस्कारों के बीच सामंजस्य की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इस सामंजस्य के साथ ही नये भारतीय समाज के निर्माण की प्रक्रिया आरंभ हुई। यह उल्लेखनीय है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था वैयक्तिक स्वतंत्रता पर आधारित होती है, जबकि पूर्व-पूंजीवादी समाज में व्यक्ति-स्वातंत्र्य के लिए कोई स्थान नहीं होता—वहां व्यक्ति जन्म और लिंग के आधार पर एक विशेष सामाजिक व्यवस्था का अंग हो जाता है। नया पूंजीवादी समाज जाति, संयुक्त परिवार आदि के बंधनों से मुक्त हो कर ही विकसित हो सकता है। कहना न होगा कि भारतीय पुनर्जागरण के मूल में व्यक्ति-स्वातंत्र्य का विशेष महत्त्व है।

आधुनिक युग में ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज और आर्यसमाज ने पुराने धर्म को नये समाज के अनुरूप ढालने का प्रयास किया। ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज ने तो नये परिवर्तनों को स्पष्ट रूप से अंगीकार कर लिया, पर आर्यसमाज वैदिक धर्म के मूल स्वरूप को बनाये रखना चाहता था। किंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि आर्यसमाजी वैदिक युग की रीति-नीतियों में लौट जाना चाहते थे। उस समय की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विचारधारा पर आर्यसमाज का विशेष प्रभाव पड़ा। मध्यकाल में नये परिवेश के फलस्वरूप जातिप्रथा, छुआछूत, बाह्याडंबर आदि के विरोध में भक्ति-आंदोलन उठ खड़ा हुआ था। मुसलमानों के प्रतिष्ठित हो जाने पर इस आंदोलन के माध्यम से सामंजस्य का प्रयास दिखायी पड़ा। किंतु नये युग में, नये प्रकार के सामंजस्य की आवश्यकता हुई। मध्यकाल का सामंजस्य भावनामूलक था, उस काल के बहुत से भक्त और संत अंतर्विरोधों के भी शिकार थे, पर अब भावना से काम नहीं चल सकता था। उसके स्थान पर तर्क, विवेक और बुद्धि से काम लेना अनिवार्य हो गया था। ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, रामकृष्णमिशन, आर्यसमाज और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

थियॉसॉफ़िकल सोसाइटी की मान्यताएं बहुत-कुछ बुद्धि-विवेक और तर्क पर ही आधारित हैं।

आधुनिक भारत की नींव पर पहला पत्थर राजा राममोहन राय ने रखा। आधुनिकीकरण के संदर्भ में ही उन्होंने 1828 में ब्राह्मसमाज की स्थापना की। अरबी और फ़ारसी का उन्हें बहुत गहरा ज्ञान था। अरबी-अनुवाद के माध्यम से ही वे अफ़लातून, अरस्तू, प्लॉटीनस आदि प्राचीन यूनानी विचारकों से परिचित हुए। बनारस जा कर उन्होंने कुछ वर्षों तक गीता, उपनिषद् आदि का भी गहन अध्ययन किया। उनकी विचारधारा पर इस्लामी एकेश्वरवाद का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। ईसाई धर्म से भी वे कम प्रभावित नहीं थे! ये समस्त विचारधाराएं उन्हें पुराने औपनिषदिक दर्शन में मिल गयीं, विशेषरूप से 'तैत्तिरीय' और 'कौशीतकी' में। कर्मकांड और अंधविश्वास का विरोध करने के लिए उन्होंने उपनिषदों का उपयोग किया और मूर्तिपूजा को धर्म का बाह्याडंबर माना। आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले वे अकेले व्यक्ति थे, जो अंधश्रद्धा और रूढ़ियों के विरुद्ध लड़ रहे थे। उनकी विचारधारा में तर्क की प्रधानता थी जो लॉक, ह्यूम और रूसो के अनुरूप थी। उनके नेतृत्व में ब्राह्मसमाज ने कई प्रकार की कुरीतियों पर प्रहार किया। जातिप्रथा को उन्होंने अमानवीय और राष्ट्रीयता-विरोधी कहा। सतीप्रथा के विरोध में उनका प्रयास सर्वदा स्मरणीय रहेगा। उन्होंने विधवा-विवाह तथा स्त्री-पुरुष के समानाधिकार का समर्थन किया और संदर्भ विशेष में पाश्चात्य संस्कृति को भी मूल्यवान समझा। इसीलिए उन्होंने अंग्रेज़ी शिक्षाप्रणाली के प्रसार में योग दिया और ब्रिटिश राज्य की अच्छाइयों की प्रशंसा की। वस्तुतः उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध तक अंग्रेज़ों ने जो-कुछ किया, उसे ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील ही कहा जायेगा। ब्राह्मसमाज को देवेन्द्रनाथ टैगोर (1817-1905) और केशवचंद्र सेन (1838-1884) ने आगे बढ़ाया। देवेन्द्रनाथ वेदों की अपौरुषेयता पर विश्वास नहीं करते थे, उनकी आस्था अंतःप्रज्ञा पर अधिक थी। केशवचंद्र सेन बहुत-कुछ प्रयोगवादी थे। उन्होंने ब्राह्म धर्म के प्रसार के लिए दूर-दूर तक यात्राएं कीं। उनकी प्रेरणा के फलस्वरूप मद्रास में वेदसमाज और बंबई में प्रार्थनासमाज की स्थापना हुई। राजा राममोहन राय की तार्किकता और बौद्धिकता तक ही अपने को सीमित न रख कर वे वैष्णवों के भजन-कीर्तन की ओर आकृष्ट हुए। ईसाई धर्म की ओर भी वे अधिकाधिक झुकते गये। उनके कारण ब्राह्मसमाज में दो बार फूट पड़ी और दोनों बार उन्होंने अलग-अलग संस्थाएं बनायीं—साधारण ब्राह्मसमाज और नववेदांत। केशवचंद्र सेन के बाद ब्राह्मसमाज में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ, जो शिक्षित समाज को प्रभावित करता।

1864 ई. में बंबई और पूना में केशवचंद्र सेन का आगमन हुआ। उनके प्रभाव से 1867 में **प्रार्थना समाज** की स्थापना हुई। इसके प्रमुख उन्नायक महादेव गोविंद रानाडे थे। वे उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख बुद्धिजीवी, विधिवेत्ता और मेधावी व्यक्ति थे। देश और समाज का कोई ऐसा पक्ष नहीं था, जिसकी ओर उनकी दृष्टि न गयी हो। सामाजिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों के विरुद्ध वे निरंतर संघर्ष करते रहे। उन्होंने धार्मिक और सामाजिक समस्याओं पर तर्कपूर्ण ढंग से विचार किया और भागवत-धर्म का अनुसरण करते हुए संकीर्ण विचारधारा को कभी भी प्रश्रय नहीं दिया। मध्यकालीन महाराष्ट्रीय संतों के प्रति उनकी गहरी आस्था थी, पर अपने विचारों में वे कहीं भी प्रतिक्रियावादी नहीं थे और न ही उनमें कोई पूर्वाग्रह था। अतीत के लिए उनके मन में आदर था, किंतु इसका अर्थ यह नहीं था कि वे अतीत को उसके उसी रूप में पुनः प्रतिष्ठित करना चाहते थे। पुराने आचार, विचार और संस्थाओं को उनके मूल रूप में पुनः स्थापित करने वाले पुनरुत्थानवादियों से उनका विरोध था। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि मृत अतीत को कभी भी जीवित नहीं किया जा सकता। उनके अनुसार समाज जीवित अवयवों का संघटन है, जिसमें परिवर्तन की प्रक्रिया बराबर चलती रहती है। इस प्रक्रिया के बंद हो जाने पर समाज मुर्दा हो जायेगा। रानाडे ने जिस एक सुधार

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पर बार-बार बल दिया है, वह है—मनुष्य की समानता। वे जाति-पांति की प्रथा के विरुद्ध थे और अंतर्जातीय विवाह के पक्षधर थे। स्त्री-शिक्षा पर उन्होंने बराबर बल दिया है। उनके वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण, तर्कपद्धति, सामाजिक परिष्कार के प्रति अभिरुचि आदि से स्पष्ट है कि वे पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित थे। किंतु पाश्चात्य मत को भी उन्होंने बिना तर्क के स्वीकार नहीं किया। दूसरे शब्दों में, वे भारतीय संस्कृति को नवीन वैज्ञानिक विचारप्रणाली के अनुरूप ढालने का यत्न कर रहे थे।

**रामकृष्ण मिशन** की स्थापना रामकृष्ण परमहंस के देहावसान के बाद विवेकानंद ने की थी। रामकृष्ण परमहंस अपने संपूर्ण व्यक्तित्व में परमहंस थे। उनके संबंध में कहा जाता है कि इस ग़रीब, अपढ़, गंवार, रोगी, अर्धमूर्तिपूजक, मित्रहीन हिंदू भक्त ने बंगाल को बुरी तरह हिला दिया। उनके योग्य शिष्य विवेकानंद ने उन्हें बाहर से भक्त और भीतर से ज्ञानी कहा है। स्वयं विवेकानंद के संबंध में ठीक इसका उलटा कहा जा सकता है। 1893 में विवेकानंद विश्वधर्म संसद में सम्मिलित होने के लिए शिकागो गये। उनकी वक्तृता से प्रभावित हो कर 'न्यूयॉर्क हेराल्ड ट्रिब्यून' ने लिखा था : ''विश्वधर्म संसद में विवेकानंद सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति थे। उनको सुनने के बाद ऐसा लगता था कि उस महान देश में धार्मिक मिशनों को भेजना कितनी बड़ी मूर्खता थी।'' विवेकानंद का मुख्य प्रयोजन रामकृष्ण परमहंस के उपदेशों का प्रचार करना था, फिर सामाजिक कार्यों में उनकी गहरी रुचि थी। मानवीय समता के विश्वासी होने के कारण उन्होंने जाति, संप्रदाय, छुआछूत आदि का विरोध किया। ग़रीबों के प्रति उनकी सहानुभूति अत्यंत प्रगाढ़ थी। शिक्षित समुदाय तथा उच्चवर्ग की भर्त्सना करते हुए उन्होंने लिखा है : ''जब तक देश के हज़ारों लोग भूखे हैं, अज्ञानी हैं, मैं प्रत्येक शिक्षित वर्ग को धोखेबाज़ कहूंगा। ग़रीबों के पैसे से पढ़ कर भी वे उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते...उच्चवर्ग शारीरिक और नैतिक दृष्टि से मर चुका है।'' उनके अनुसार धर्म वह है जो शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्ति दे, जो आत्मसम्मान और राष्ट्रीय गौरव प्रदान करने में सहायता करे। विवेकानंद ने हीनता की भावना से ग्रस्त देश को यह अनुभव कराया कि इस देश की संस्कृति अब भी अपनी श्रेष्ठता में अद्वितीय है, इस देश का आध्यात्मिक चिंतन असमानांतर है। आध्यात्मिक स्तर पर मनुष्य मनुष्य की समता, एकता, बंधुत्व और स्वतंत्रता की ओर भी उन्होंने हमारा ध्यान आकृष्ट किया। पश्चिम की भौतिकता से चमत्कृत देशवासियों को पहली बार यह एहसास हुआ कि हमारी अपनी परंपरा में भी कुछ ऐसी वस्तुएं हैं, जिन्हें संसार के समक्ष गौरवपूर्ण ढंग से रखा जा सकता है।

गुजरात, उत्तरप्रदेश और पंजाब में **आर्यसमाज** का प्रभाव था। इन प्रदेशों का स्वभाव बंगाल से भिन्न हैं। बंगाल की भावुकता के स्थान पर इन्हें पौरुष और अक्खड़ता अधिक प्रिय है। बंगाल और महाराष्ट्र के पुनर्जागरण में मध्यकालीन संतों की वाणी का भी योगदान है, पर आर्यसमाज में उनका कोई स्थान नहीं है। 1867 में दयानंद सरस्वती ने बंबई में आर्यसमाज की स्थापना की। दयानंद असाधारण व्यक्ति थे। वे संस्कृत के अनन्य विद्वान, वाग्मी और अत्यंत मेधावी थे। उनका व्यक्तित्व अतिशय दृढ़ और असमझौतावादी था। उनके विचारों में कहीं भी अस्पष्टता और रहस्यवादिता नहीं मिलेगी। उन्होंने आर्यसमाज के लिए वेदों को आधार माना। उनके अनुसार वेद अपौरुषेय हैं और वैदिक धर्म ही सत्य और सार्वभौम है। सामाजिक और नैतिक मूल्यों को देखते हुए आर्यसमाज ने एक आचार-संहिता बनायी थी। इसमें जाति-भेद और मनुष्य-मनुष्य या स्त्री-पुरुष में असमानता के लिए कोई स्थान नहीं था। निश्चय ही यह एक लोकतांत्रिक दृष्टि थी। वैदिक धर्म के व्याख्याता होने के बावजूद स्वामी दयानंद समाज की भौतिक उन्नति के लिए पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा को आवश्यक समझते थे। इसीलिए 1886 में दयानंद एंग्लो वैदिक कॉलेज की स्थापना हुई और आगे

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चल कर प्रत्येक महत्त्वपूर्ण स्थान पर दयानंद स्कूल-कॉलेज खोले गये। आर्यसमाज ने राष्ट्रीय विचारधारा को आगे बढ़ाने में आश्चर्यजनक योगदान किया। कुछ समय तक ब्रिटिश सरकार इसे दबाने के लिए भरपूर चेष्टा करती रही, किंतु उत्तर भारत के आचार-विचार, रहन-सहन और साहित्य-संस्कृति पर आर्यसमाज का गहरा प्रभाव पड़ा। गद्य की भाषा के परिष्कार में भी इस आंदोलन का अभूतपूर्व योग है। अस्पृश्यता पर जितना प्रबल आघात इस आंदोलन ने किया, उतना और किसी ने नहीं। आर्यसमाज का प्रसार मुख्यत: मध्यवर्ग के बीच हुआ, इसलिए इसका कार्य अधिक क्रांतिकारी सिद्ध हो सका। इसकी कार्यपद्धति प्रगतिशील थी। जहां तक मानवीय समता, अस्पृश्यता आदि का संबंध है, इसे अवश्य ही प्रगतिशील माना जायेगा।

**थियॉसॉफ़िकल सोसाइटी** की स्थापना 1875 में मदाम ब्लावस्तू और ओल्कार्ट द्वारा न्यूयॉर्क में हुई थी। यह आंदोलन भारतीय धार्मिक परंपरा पर आधारित था। सोसाइटी के संस्थापक 1879 में भारतवर्ष पहुंचे और 1882 में अड्यार (मद्रास) में इसकी शाखा खोल दी गयी। इस संस्था की इंग्लैंड की शाखा से संबद्ध श्रीमती एनी बेसेंट 1893 में भारत आयीं और सोसाइटी के विकास में तन-मन से जुट गयीं। अपने गतिशील व्यक्तित्व और असाधारण वक्तृत्व शक्ति के कारण उन्होंने अनेक शिक्षित भारतीयों को आकृष्ट किया। श्रीमती बेसेंट ने समस्त देश का दौरा किया और हिंदू धर्म की आध्यात्मिकता के पक्ष में ओजस्वी भाषण दिये। थियॉसॉफी में अपने आदर्शों को मूर्त रूप देने के लिए उन्होंने शिक्षा-संस्थाएं भी खोलीं। बनारस का सेंट्रल हिंदू कॉलेज इसी तरह की संस्था है।

बंगाल, महाराष्ट्र और उत्तर भारत में नये धार्मिक आंदोलनों के विरुद्ध **पुनरुत्थानवादी प्रतिक्रियाएं** आरंभ हुईं। बंगाल में राधाकांत देव ने राजा राममोहन राय के ब्राह्मसमाज के विरोध में धर्मसभा (1830) की स्थापना की, पर 1857 तक वह ब्राह्मसमाज का प्रभाव कम नहीं कर सकी। 1857 के विद्रोह के बाद सुधारवादी रेडिकल्स का ज़ोर कम हो गया और पुरातनवादी मनोवृत्तियां फिर से उभर कर सामने आयीं। इसके अनंतर बंगाल में दो प्रवृत्तियों का ज़्यादा ज़ोर रहा—राष्ट्रीयतावादी और स्वच्छंतावादी। दोनों के मूल में वैयक्तिकता, अतीत के प्रति गौरव का भाव, विदेशी सत्ता के विरुद्ध आक्रोश, गांव की बढ़ती हुई आबादी, ग़रीबी के प्रति सहानुभूति, स्वतंत्रता और समानता के प्रति आग्रह आदि प्रवृत्तियां क्रियाशील थीं। इनमें से अतीत के गौरव के प्रति जागृति फैलाने का श्रेय उन पुरातत्ववेत्ताओं और पुरालेखविदों को है, जिन्होंने विस्मृति के गर्भ में विलीन भारतीय साहित्य, कला, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, वास्तुकला आदि का पुनरुद्धार किया। इसके फलस्वरूप संसार में भारत का गौरव बढ़ा और इस देश के निवासियों में आत्मसम्मान का भाव जाग उठा। अब पाश्चात्य संस्कृति के सामने डट कर खड़ा हुआ जा सकता था। इसके फलस्वरूप नवीन हिंदूवाद का जन्म हुआ। इसमें मुख्यत: दो दल थे—एक, प्रत्येक प्रकार के सुधार का विरोधी था; दूसरा, यथास्थान नये विचारों के सन्निवेश का पक्षपाती तो था, पर मुख्य धारा में किसी प्रकार के मौलिक परिवर्तन का आकांक्षी नहीं था। बंकिमचंद्र चटर्जी ऐसे ही व्यक्ति थे। वे गीता के निष्काम कर्मयोग के हिमायती थे। उन्होंने धर्मतत्त्व पर ग्रंथ रचना के अतिरिक्त कृष्ण के संबंध में 'कृष्णचरित्र' की रचना की। धर्म-सुधारकों की भांति वे टुकड़ों-टुकड़ों में समाजसुधार के पक्षपाती नही थे। उनका विश्वास था कि धर्म और नैतिकता के समग्र पुनर्जागरण में ही समाजसुधार समाविष्ट हो जाता है। वंकिम के उपन्यासों में देशप्रेम का स्थान बहुत ऊंचा था। वे देशप्रेम को धर्म और धर्म को देशप्रेम कहते थे। महाराष्ट्र की स्थिति बंगाल से भिन्न थी। एक तो वह बंगाल से साठ वर्ष पीछे अंग्रेज़ों के अधिकार में आया और दूसरे, पेशवा राज्य की परिसमाप्ति का दर्द उसे बना हुआ था। अपनी परंपराओं के प्रति उसे अधिक अनुराग था। महाराष्ट्र ने देश की ग़रीबी, भुखमरी आदि का पूरा दायित्व

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अंग्रेज़ी राज्य पर डाल दिया—चिपलूणकर के निबंधों में देश के पराभव का एकमात्र ज़िम्मेवार विदेशी शासन को ठहराया गया है। तिलक ने रानाडे के सुधारों का विरोध किया। उनकी दृष्टि में ये सुधार समाज को विभक्त करने वाले और राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने में बाधा डालने वाले थे। जनता को एक करने के लिए उन्होंने गणेशपूजा की शुरूआत की। उत्तर भारत में भी आर्यसमाज के विरोध में सनातनधर्मावलंबियों ने अपना स्वर बुलंद किया। इन विरोधी स्वरों के कारण सुधार का कार्य मंद तो पड़ा, किंतु इससे राष्ट्रीयता को अधिक बल मिला।

## मध्यकालीनता से आधुनिकता की ओर

यद्यपि अंग्रेज़ों ने इस देश में नयी अर्थव्यवस्था, औद्योगिकता, संचार-सुविधा, प्रेस आदि को अपने निजी स्वार्थों के लिए स्थापित किया, फिर भी इससे भारत का हित हुआ। एक स्थिर व्यवस्था से छूट कर देश को नूतन गत्यात्मकता का अनुभव हुआ। परंपराएं टूटने लगीं। नये परिवेश में ऐतिहासिक मांग के फलस्वरूप लोग अपने को नये ढंग से ढालने लगे। आधुनिक काल में जिस पुनर्जागरण का उल्लेख किया जाता है, उसके मूल में भी ये बदली हुई परिस्थितियां ही थीं। इसके पूर्व धर्म मुख्यत: पारलौकिक आकांक्षाओं से संबद्ध था, किंतु आधुनिक काल में वह इहलौकिक आकांक्षाओं का भी वाहक बना। पूंजीवादी समाज की भौतिकता के फलस्वरूप धर्म-सुधारकों को इस तरह का बाना धारण करना पड़ा या यों कहिए कि उन्हें इसके लिए बाध्य होना पड़ा।

भारतीय धर्म और संस्कृति के संबंध में अंग्रेज़ प्रशासकों और ईसाई मिशनरियों के आक्रामक रुख के कारण धर्म-सुधारकों के लिए धारदार मार्ग से गुज़रना आवश्यक हो गया। एक ओर उन्हें विदेशियों के समक्ष अपने धर्म और संस्कृति की वकालत करनी पड़ी और दूसरी ओर देशवासियों के समक्ष धर्म का नया अर्थापन करना पड़ा। इस प्रकार हर बात को तर्कसंगत बनाने की दिशा में जो पहल की गयी, वह बहुत फलदायक सिद्ध हुई। इस संक्रांतिकाल में धर्म का पल्ला पकड़ना बहुत आवश्यक था, क्योंकि धर्म अनिवार्यत: समाज-सुधार के साथ जुड़ा हुआ था। पुराणपंथी और सुधारक दोनों ने अपने मत के प्रचारार्थ धर्मशास्त्रों की शरण ली। राजा राममोहन राय अकेले व्यक्ति थे, जिन्हें शुद्धबुद्धिवादी कहा जा सकता है। सतीप्रथा के उन्मूलन के लिए उन्हें धर्मशास्त्रों की गवाही की आवश्यकता हुई। विद्यासागर ने सिद्ध किया कि धर्मशास्त्रों में वैधव्य का कोई विधान नहीं है। दयानंद सरस्वती सामाजिक सुधारों को वैधता देने के लिए वेदों की ओर उन्मुख हुए और उन्होंने अपने मत के पुष्टार्थ वेदों का नया अर्थ भी किया। धीरे-धीरे तर्क की संगति पर विशेष बल दिया जाने लगा। इससे रूढ़ियों को उच्छिन्न करने में सुविधा हुई। फलत: परंपरावादी और धर्म-सुधारक दोनों ही अतीत के गौरव को जागृत करने में सफल हुए। इससे भारतीयों को आत्मसम्मान का बोध हुआ और बराबरी के स्तर पर पश्चिम का सामना करने तथा स्वतंत्रता की मांग करने का आत्मविश्वास मिला। यद्यपि परंपरावादी लोग धर्म-सुधार में आस्था नहीं रखते थे, फिर भी राष्ट्रीयता पर उन्होंने अत्यधिक बल दिया। उनका कहना था कि राष्ट्रीयता में सभी सुधार समाविष्ट हैं। वस्तुत: जिन्हें परंपरावादी कहा जाता है और जिस अर्थ में कहा जाता है, उस अर्थ में वे परंपरावादी नहीं थे। रेडिकल भी पूरे तौर पर रेडिकल नहीं थे। परंपरा के नैरंतर्य को देखते हुए समस्या केवल उचित चयन की है, क्योंकि परंपरा की निरंतरता में कुछ अंश नये युग के प्रसंग में सार्थक होते हैं और कुछ अर्थहीन। परंपरा की प्रासंगिकता किस तत्त्व में है और किसमें नहीं, इसका विवेचन और चयन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। तथाकथित परंपरावादी और रेडिकल दोनों के मूलभूत दृष्टिकोण में कोई अंतर नहीं था, फिर भी दोनों के अभिगम अलग-अलग थे। पाश्चात्य शिक्षाप्रणाली में दोनों ने विश्वास व्यक्त किया और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नयी शिक्षा-संस्थाएं खोलीं। शिक्षा-संस्थाएं तो पहले भी थीं, पर अब इनका रूप एकदम बदल गया। इनका उद्देश्य शिक्षार्थियों को पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराना था।

पश्चिमीकरण की प्रक्रिया नये अर्थतंत्र, शिक्षाप्रणाली, संचारजाल आदि के कारण आरंभ हुई। बहुत से लोग इसे पश्चिमीकरण न कह कर आधुनिकीकरण कहते हैं। 'पश्चिमीकरण' शब्द का प्रयोग बहुत संगत नहीं है, क्योंकि स्वयं पश्चिम को बहुत-सी बातें पूर्व से मालूम हुईं, जैसे मुद्रण-यंत्र का आविष्कार सबसे पहले चीन देश में हुआ। पश्चिमीकरण से पश्चिमी रीति-नीति, आचार-व्यवहार, वेशभूषा आदि के अंधानुकरण का भ्रम होता है। आधुनिकीकरण एक दृष्टिकोण है, जो वैज्ञानिक विचारधारा से बनता है और वह मूलतः इस लोक से ही संबद्ध होता है। एम.एन. श्रीनिवास ने 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' पुस्तक में ठीक ही लिखा है : "भारतीयों को केवल स्याहीसोख का दर्ज़ा देना स्पष्ट ही वाहियात है। यह कहना ठीक नहीं कि जिस किसी बात के संपर्क में वे आये, वह सब उन्होंने आत्मसात् किया, उसे दूसरों तक संप्रेषित कर दिया, यद्यपि कुछ व्यक्तियों के साथ निस्संदेह ऐसा हुआ। वास्तव में पश्चिम से कुछ बातें ग्रहण की गयीं और ग्रहण की गयी बातों में भी रूपांतरण हुआ।" रूपांतरण की इस प्रक्रिया में पश्चिमी विचारकों में मिल, बेंथम, काम्ते आदि से बहुत-कुछ प्रेरणा ग्रहण की गयी। किंतु इसके लिए शास्त्रों के साथ-साथ मध्यकालीन संतों की बानियों का भी सहारा लिया गया। छुआछूत, जातिप्रथा, स्त्री-पुरुष में भेद आदि का विरोध और स्वतंत्रता, समानता आदि का समर्थन इस तथ्य का सूचक है कि इस समय तक नवीन मानवतावाद का आविर्भाव हो चुका था। यों तो संस्कृत के शास्त्रग्रंथों और मध्यकालीन संतों-भक्तों की 'बानियों' में भी एक प्रकार का मानवतावाद मिलता है, पर वह सर्वत्र ईश्वरवाद से संदर्भित है। कबीर ने हिंदू-मुसलमान के भेद पर यह कह कर प्रहार किया कि वे सभी ईश्वर की संतान हैं। कर्मकांड की निंदा उन्होंने इसलिए की कि वह ईश्वर-प्राप्ति में बाधक है। भक्तों में तुलसी की स्पष्टोक्ति है, 'नाते सबै राम के मानियत।' पर आधुनिक युग में मनुष्य-मनुष्य की समता, स्वतंत्रता आदि का सामाजिक न्याय के आधार पर समर्थन किया गया।

आर्यसमाज प्रभृति उपर्युक्त आंदोलनों में से अधिकांश में अंतर्विरोध दिखायी पड़ता है। इनके आदर्शों और व्यवहारों में सर्वत्र एकरूपता नहीं मिलती। उदाहरणार्थ, टैगोर-परिवार ब्राह्म था। ब्राह्मसमाज में मूर्तिपूजा के लिए कोई स्थान नहीं है, पर टैगोर-परिवार ख़ूब धूमधाम के साथ दुर्गोत्सव मनाता था। आर्यसमाज में वर्ण-व्यवस्था जन्मना नहीं, कर्मणा मानी जाती है, पर आर्यसमाजियों में ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे, जो जाति के बाहर विवाह-संबंध स्थापित करने में संकोच का अनुभव न करते रहे हों। दूसरा अंतर्विरोध यह था कि राजा राममोहन राय, रानाडे आदि बहुत से लोग ब्रिटिश राज्य को देश के लिए वरदान समझते थे, लेकिन प्रजा के दोहन, शोषण आदि का विरोध करते थे। समाज में एक ओर संस्कृतीकरण बढ़ रहा था तो दूसरी ओर लौकिकीकरण।

## संगीत, चित्र और साहित्य की नयी स्थिति

नवीन परिस्थिति और परिवेश के कारण साहित्य, संगीत और कला को भी संकट का सामना करना पड़ा। उनको आश्रय देने वाले केंद्र तेज़ी से टूटने लगे थे। कला और संगीत का विशेष घरानों से संबंध हुआ करता था। ये घराने इनकी स्वरूप-रक्षा में पीढ़ी-दर-पीढ़ी संलग्न रहा करते थे, और इन घरानों के संरक्षण का दायित्व सामंतवर्ग पर था। मध्यकाल में भक्तकवियों के अतिरिक्त अकबर, जहांगीर, मानसिंह तोमर आदि ने संगीत को प्रश्रय दिया। उनके दरबारों में अनेक कलावंत रहते थे। तानसेन अकबरी दरबार का संगीतज्ञ था। मानसिंह ने गूजरी टोड़ी, मंगल गूजरी, ध्रुपद आदि का आविष्कार

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

किया। मुग़ल-सल्तनत के समाप्त होने पर संगीत की मौलिकता समाप्त हो गयी। वह छोटे-मोटे सामंतों के आश्रय में किसी प्रकार सांस लेता रहा। जो-कुछ शेष था, वह पाश्चात्य संस्कृति की आंधी में समाप्त हो गया। भारतीय पुनर्जागरण के फलस्वरूप रवि बाबू ने नये संगीत की कल्पना की, जिसमें पूर्व और पश्चिम के स्वरों का मिश्रण था। इसे रवींद्र-संगीत की संज्ञा दी गयी। 1919 में अखिल भारतीय संगीत परिषद् की स्थापना हुई। अब भारतीय संगीत के पुनरुद्धार का कार्य आरंभ हुआ, जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान विष्णुनारायण भातखंडे का है।

आधुनिक काल में कुछ दिनों तक भारतीय चित्रकला पश्चिम का अनुकरण करती रही पर पश्चिम के ढंग के जिन तैल चित्रों का निर्माण किया गया, वे अपनी अभिव्यक्ति में मध्यकालीन थे। ट्रावनकोर के राजा रवि वर्मा के चित्रों की विषयवस्तु पौराणिक और धार्मिक थी। उनके चित्रों की रूपरेखा सुनिर्मित, वर्णयोजनापरक और आकर्षक थी। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में रवि वर्मा के अनेक चित्रों को प्रकाशित किया। 1854 में कलकत्ता आर्ट स्कूल की स्थापना के साथ ही भारतीय चित्रकला में नया मोड़ आया। ई.बी. हैबेल इसके अध्यक्ष थे। आगे चल कर हैबेल, अवनींद्रनाथ ठाकुर तथा आनंदकुमार स्त्रामी ने भारतीय चित्रशैली को नया रूप दिया, जो मूलत: इस देश की होती हुई भी आधुनिक जीवनदृष्टि से अनुप्राणित थी। सन् 1907 में गगनेंद्रनाथ ठाकुर ने इंडियन सोसाइटी ऑफ़ ओरिएंटल आर्ट्स की स्थापना की। इन प्रयत्नों का फल यह हुआ कि भारतीय चित्रशैली का एक स्वतंत्र रूप निर्मित हुआ। चित्रशैली में भी बंगाल ने पहल की और अपनी चित्र-परंपरा को नये संदर्भों में पुन: जीवित करने का प्रयत्न किया। भारतीय नवजागरण की अभिव्यक्ति चित्रों के माध्यम से भी हुई।

नवजागरण का सबसे अधिक प्रभाव बंगला-साहित्य पर पड़ा। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' में लिखा है : ''संवत् 1922 में वे (भारतेंदु हरिश्चंद्र) अपने परिवार के साथ जगन्नाथ जी गये। उसी यात्रा में उनका परिचय बंगदेश की नवीन साहित्यिक प्रगति से हुआ। उन्होंने बंगाल में नये ढंग के सामाजिक, देश-देशांतर संबंधी ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक, उपन्यास आदि देखे और हिंदी में वैसी पुस्तकों के अभाव का अनुभव किया।'' संभव है, भारतेंदु बंगला-साहित्य से अनुप्रेरित हुए हों, किंतु दूसरे साहित्य के आदर्श पर अपने वास्तविक साहित्य का निर्माण नहीं होता। अपने युग की संवेदनाओं को आत्मसात् करके ही भारतेंदु ने नये ढंग की साहित्य-रचना का समारंभ किया।

नयी आर्थिक व्यवस्था, पाश्चात्य शिक्षा और नवागत जीवनपद्धति के कारण इस देश की अपनी पहचान खो गयी थी। पर इस अवरोध ने ही यहां के प्रबुद्ध वर्ग को नये सिरे से अपनी पहचान करने के लिए बाध्य किया। यह पहचान नवीन और प्राचीन के अंतर्विरोध में की गयी। इसे दूसरे शब्दों में पश्चिमीकरण और भारतीयकरण का विरोध भी कहा जा सकता है। इन दोनों की रस्साकशी काफ़ी दिनों तक चलती रही। अंतत: नवजागरण के अग्रदूतों ने पश्चिमीकरण के विवेकसम्मत परिवेश में अपनी संस्कृति को नये ढंग से संघटित करने का प्रयास किया। इसके फलस्वरूप साहित्यकारों ने अतीत को सामने रख कर अपने को पुन: गौरवान्वित अनुभव किया और देश में उभरती हुई राष्ट्रीय चेतना को ठोस रूप दिया। आधुनिक काल का अधिकांश साहित्य अपने को पहचानने तथा पाश्चात्य बंधनों से छुटकारा पाने का इतिहास है। अतीत के गौरव को इस देश की सभी भाषाओं में अभिव्यक्त किया गया। इस गौरव के मूल में पुनरुत्थानवाद (रिवाइवलिज़्म) न हो कर नवीन जागरण ही क्रियाशील था। यदि कहीं पर इस पुनरुत्थानवाद की ध्वनि सुनायी भी पड़ी तो कालांतर में समाप्त हो गयी। राष्ट्रीयता इस काल का दूसरा प्रमुख स्वर था। सन् 1947 तक इसमें कहीं भी शिथिलता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नहीं दिखायी पड़ती। स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात यह स्वर आत्मालोचन में बदल गया, किंतु सन् 1960 के आसपास आधुनिकता का जो प्रभाव हिंदी-साहित्य पर पड़ा, उससे साहित्यिक प्रगति की दिशा बदल गयी।

## आधुनिकता

हिंदी-साहित्य का सातवां दशक (1960-1970) आधुनिकता से विशेष रूप से प्रभावित है। इससे ध्वनित होता है कि यह 'आधुनिक' से कुछ अलग है। इसलिए यह आवश्यक है कि इन दोनों शब्दों का अर्थभेद कर लिया जाये। 'आधुनिक' शब्द की व्याख्या प्रारंभ में की जा चुकी है, अतः उसे दुहराना कोई अर्थ नहीं रखता। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और टेक्नॉलॉजी के फलस्वरूप उत्पन्न मानवीय स्थितियों का नया, ग़ैर-रोमेंटिक और अमिथकीय साक्षात्कार 'आधुनिकता' है। 'आधुनिकता' का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है कि उसके ऐतिहासिक संदर्भ और प्रवृत्ति को समझ लिया जाये। आधुनिक काल अपने ज्ञान-विज्ञान और प्रविधियों के कारण मध्यकाल से अलग हुआ। यह काल औद्योगीकरण, नगरीकरण और बौद्धिकता से संबद्ध है, जिससे नवीन आशाएं उभरीं और भविष्य का नया स्वप्न देखा जाने लगा। देश, धर्म, राष्ट्र, ईश्वर आदि की नयी-नयी व्याख्याएं की जाने लगीं।

एक समय तक इहलौकिक हो कर यह आधुनिक दृष्टि प्रगतिशील बनी रही। प्रत्येक देश में पुनर्जागरण (रेनासां) आया, बहुत से परतंत्र देश स्वतंत्र हुए, 'अपने-अपने सपने' ले कर उन्होंने अपने-अपने ढंग की सरकारें बनायीं। एक बिंदु पर खड़े हो कर मनुष्य ने पाया कि जिस औद्योगीकरण और प्रविधीकरण के सहारे उसने 'परी देश' का सपना देखा था, वह साकार नहीं हो सका। सरकारें स्थिर व्यवस्था में बदल गयीं। लोकतंत्र तथा साम्यवादी सरकारें समान रूप से निराशाजनक सिद्ध हुईं। व्यक्ति या तो व्यवस्था का पुर्ज़ा हो गया या प्रविधि का। उसका अपना व्यक्तित्व और पहचान खो गयी। इस खोये हुए व्यक्तित्व की खोज-प्रक्रिया का नाम 'आधुनिकता' है।

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान ने मनुष्य को बहुत-कुछ बुद्धि-सम्मत बना दिया था। नीत्शे की इस घोषणा से कि 'ईश्वर मर गया', बौद्धिक जगत में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आया। यथार्थ का स्वरूप ही बदल गया। पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, अच्छे-बुरे की जो कसौटियां धर्मग्रंथों में निर्धारित की गयीं थीं, उनकी प्रामाणिकता समाप्त हो गयी और पुराने मूल्य विघटित हो गये। मनुष्य ने पाया कि वर्तमान परिस्थिति (सिचुएशन) में वह असहाय, क्षुद्र और निरर्थक प्राणी है। विज्ञान की प्रगति ने भी निश्चयतावादी सिद्धांत को खोखला सिद्ध कर दिया। क्वांटम सिद्धांत और सापेक्षतावाद से सिद्ध हो गया कि न तो कोई सार्वभौम सत्य होता है और न शाश्वत नैतिकता। अणुओं की सत्ता के असिद्ध हो जाने के बाद अणु शक्ति (एनर्जी) में बदल जाता है और शक्ति अणु में। निश्चयात्मकता की समाप्ति की अंतिम घोषणा हो गयी। अस्तित्ववादी दर्शन ने इस पर अपनी मुहर लगा कर इसे और भी पुष्ट कर दिया।

अस्तित्ववादी दर्शन ने अपने पूर्ववर्ती दर्शन और विज्ञान की अमूर्तता पर आक्रमण किया। उसने अपने को ठोस अनुभवों तथा प्रत्येक व्यक्ति के बुनियादी सवालों के साथ जोड़ा। ये बुनियादी सवाल हैं—व्यक्ति की व्यग्रता, दुःख, निराशा, अकेलापन, मृत्युबोध, स्वतंत्रता, त्रास आदि। इसके साथ ही वह सामूहिकतावाद और निश्चयवाद के विरुद्ध भी खड़ा हुआ। वह उन समस्त विचारों के विरुद्ध है जो व्यक्ति को अ-मनुष्य और अस्तित्वहीन बनाते हैं। उसकी दृष्टि में मनुष्य स्वतंत्र है। वह न वस्तु है न मशीन है, वह क्रियात्मक शक्ति है। वह स्वतंत्र निर्णय लेने में समर्थ है और इसके लिए

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ख़ुद ज़िम्मेदार है। कीर्केगार्ड, सार्त्र आदि के अस्तित्ववादी विचारों का प्रभाव आधुनिक पश्चिमी साहित्य पर ख़ूब पड़ा है।

सातवें दशक के हिंदी-साहित्य में अकविता, अकहानी, अनाटक, अनुपन्यास की जो चर्चाएं हुईं ('चर्चाएं' कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इन्होंने आंदोलन का रूप नहीं लिया), उनके आधार पर लिखा गया साहित्य केवल परंपरागत रूपों को तोड़ने का प्रयास नहीं है, बल्कि इन रूपों में आज के अनिश्चय, व्यर्थता, अकेलेपन, अजनबीपन, आत्मनिर्वासन आदि को भी व्यक्त किया गया है। यह अभिव्यक्ति किस दर्जे की है, यह अलग बात है।

आधुनिकता का यह बोध एक वास्तविकता है, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हमारे देश में इस बोध को ले आने की बहुत-कुछ ज़िम्मेदारी हमारे भ्रष्टाचारी लोकतंत्र की भी है। पर आठवें दशक के आरंभ में हमारे साहित्यकारों में भी इससे छुटकारा पाने की बेचैनी दिखायी पड़ने लगी है। यों कामू और सार्त्र ने भी अलग-अलग ढंग से व्यर्थता से उबरने की, परिस्थितिजन्य बाधाओं में कर्म करने की चेतना उत्पन्न की है। सार्त्र का अस्तित्ववाद कर्म का ही दर्शन है। किंतु, सार्त्र और कामू का दर्शन हमें सचेत कर सकता है, अपनी दृष्टि नहीं दे सकता। बदलाव, संघर्ष और अर्थान्वेषण के लिए हमें स्वयं अपनी राह बनानी होगी। सार्त्र मार्क्सवाद का समर्थक होते हुए भी व्यक्तिवादी भी है। उसका अपना अस्तित्ववाद फ्रांसीसी परंपरा से सर्वथा अलग नहीं है। अत: हमारे भावी जीवन, चिंतन, कला, साहित्य आदि का भविष्य दो बातों पर निर्भर दिखायी दे रहा है : एक तो अर्थहीनता की स्वीकृति पर और दूसरे, उसके भीतर से गुज़रते हुए अपने से संदर्भित अर्थान्वेषण की प्रक्रिया पर।

## उत्तर-आधुनिक विमर्श

उन्नीसवीं शताब्दी से ही भारतीय बुद्धिजीवी पश्चिमी यूरोप और बाद में संयुक्त राज्य अमरीका की ओर मानसिक दासता की हद तक उन्मुख रहा है। फलत: वहां जो विचार-विमर्श चलता रहा है, हम उसका अनुसरण करते रहे हैं। हमारा आधुनिक काल का साहित्य इन विचार-विमर्शों से प्रभावित होता रहा है। यह प्रभाव कम होने के बजाय बढ़ता ही रहा है। स्वातंत्र्योत्तर काल में बीसवीं शताब्दी के छठे-सातवें दशकों में आधुनिकता ने हिंदी-साहित्य को प्रभावित किया। इन दशकों में हमने आधुनिकता, आधुनिकबोध, समकालीनता, समकालीनताबोध, परंपरा और आधुनिकता के पारस्परिक संबंध आदि को साहित्य के संदर्भ में समझने का प्रयत्न किया। उसे हम कितना समझ पाये, कहना मुश्किल है। पश्चिमी यूरोप और अमरीका में सातवें-आठवें दशक में विभिन्न उत्तर-आधुनिक विमर्शों ने जन्म लिया। हमारे यहां इन्हें पहुंचने में लगभग दो-ढाई दशक लग गये। हमारे यहां इनकी चर्चा बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में प्रारंभ हुई और अभी चल रही है। अभी तक इन्होंने हिंदी-साहित्य को उतना प्रभावित नहीं किया है, जितना आधुनिकता ने किया था। फिर भी इनका कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ना प्रारंभ हो गया है। अत: उत्तर-आधुनिक विमर्शों से परिचित होना हमारे लिए अनिवार्य हो गया है। इसी अनिवार्यता के तहत उनका परिचय प्रस्तुत है :

### संरचनावाद (स्ट्रक्चरलिज़्म)

संरचनावाद आधुनिक काल की विवादास्पद सैद्धांतिकी है। यह ऐसा बौद्धिक आंदोलन है, जिसने एक ओर विज्ञानों को नया सैद्धांतिक आधार प्रदान किया है, दूसरी ओर साहित्य को समझने की विशेष दृष्टि प्रदान की। इसने तमाम परंपरागत अवधारणाओं पर प्रश्नचिह्न लगाये। संरचनावाद इस बात को

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्वीकार नहीं करता कि साहित्य समाज का दर्पण है या साहित्य जीवन की आलोचना है या साहित्य रचनाकार की आत्माभिव्यक्ति है। इसके अनुसार 'सहज बुद्धि' (कॉमन सेंस) नाम की कोई चीज़ नहीं है। वह वस्तुतः विचारधारात्मक निर्मिति है। संरचनावाद यथार्थवाद, भाषा की पारदर्शिता, विचारधारा, समाज की सुगठित पारंपरिक अवधारणा, विचार और भाषा के पारंपरिक संबंध आदि पर प्रश्नचिह्न लगाता है।

एक साहित्यिक सैद्धांतिकी के रूप में संरचनावाद भाषिकी से आया है। स्विस भाषावैज्ञानिक फरदीनान्द द सॉस्युअर ने 1915 में प्रकाशित अपनी 'सामान्य भाषिकी का पाठ्यक्रम' नामक पुस्तक में भाषा का एक सिद्धांत प्रस्तुत किया। उसने मनुष्य की भाषिक क्रियाओं के तीन स्तर माने—(1) सामान्य भाषा : जिसमें मनुष्य की संपूर्ण भाषिक संभावनाएं निहित हैं। यह भाषा का व्यापकतम रूप है, जो किसी एक भाषा तक सीमित नहीं है। इसे उसने 'लांगेज़' (Langage) कहा है। (2) विशेष भाषा (लांग—Langue) : यह व्यवस्थाबद्ध विशेष भाषा होती है। सामान्यतः 'भाषा' शब्द का प्रयोग इसी के लिए किया जाता है। इसका प्रयोग जब एक व्यक्ति करता है तो इसका जानकार दूसरा व्यक्ति इसे समझ लेता है। (3) व्यक्ति-बोली (पैरोल—Parole) : यह व्यक्तियों के द्वारा दैनंदिन उपयोग में लायी जाने वाली भाषा का रूप है। सॉस्युअर के अनुसार भाषिक अध्ययन का विषय भाषातंत्र होना चाहिए; क्योंकि भाषातंत्र समाज की उत्पत्ति है, परंपरा-प्राप्त है। लेकिन वास्तव में कोई भाषा तंत्र पहले से ही बना बनाया सृष्टि में विद्यमान नहीं होता। व्यक्तियों के द्वारा बोली जाने वाली भाषा से हमें उसका निर्माण करना पड़ता है। भाषा विशेष के तंत्र या व्यवस्था से अपरिचित व्यक्ति के लिए वह भाषा अर्थहीन होती है। यदि मैं अंग्रेज़ी भाषा के तंत्र या व्यवस्था या पद्धति से अनभिज्ञ हूं तो अंग्रेज़ी मेरे लिए निरर्थक ध्वनियों से अधिक कुछ भी नहीं है। इसलिए महत्त्वपूर्ण भाषा विशेष नहीं है अपितु वह व्यापक अमूर्त तंत्र है, जिससे भाषा निर्मित होती है।

सॉस्युअर ने अपनी इसी विचार-पद्धति के आधार पर इस धारणा को निरस्त कर दिया कि भाषा शब्दों से निर्मित होती है, जिसका लक्ष्य वस्तुओं का नामकरण है। कोई शब्द किसी वस्तु विशेष का व्यंजक नहीं है। वह संकेत मात्र है। जिस वस्तु के लिए उसका प्रयोग किया जाता है, उसका वह संकेतक (सिग्नीफाइर) है, और वह वस्तु 'संकेतित' (सिग्नीफाइड) है। सॉस्युअर की इस स्थापना में 'वस्तु' का कोई महत्त्व नहीं है। शब्दों में अर्थ संकेतित वस्तुओं के कारण नहीं होता है, अपितु उनमें अर्थ इसलिए होता है कि वे संबंधों के एक विशाल तंत्र का अंग हैं। शब्द और अर्थ के बीच का संबंध यादृच्छिक है। इसलिए भाषा प्रतीकों या संकेतों की ऐसी व्यवस्था है, जो प्रत्ययों को अभिव्यक्त करती हैं। यह मान लेने पर कि भाषा एक व्यवस्था है, यह आवश्यक हो जाता है कि उसकी संरचना का विश्लेषण किया जाये। कोई भी व्यवस्था या तंत्र इकाइयों से मिल कर बनता है। ये इकाइयां एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। इकाइयों के अंतःविन्यास से एक विशिष्ट तंत्र बनता है। इकाइयों का यही अंतःविन्यास इसकी रचना का निर्माण करता है। इकाइयों के कुछ संयोजन ऐसे होते हैं जो अकसर व्यवहार में आते हैं, कुछ की कभी-कभी आवश्यकता पड़ती है और कुछ संभावना मात्र बने रहते हैं। भाषा के एक संरचना के रूप में अध्ययन ने संरचनात्मक भाषिकी को जन्म दिया। आगे चल कर अन्य भाषावैज्ञानिकों ने भाषा का एक संरचना के रूप में अध्ययन किया और 'सार्वभौमिक व्याकरण' (यूनिवर्सल ग्रामर—चोम्स्की) जैसी अवधारणाओं को प्रस्तुत किया।

संरचनात्मक भाषिकी के सिद्धांतों को जब साहित्य के अध्ययन में उपयोग में लाया गया तो साहित्यालोचन में संरचनावाद का जन्म हुआ। इस संरचनावाद के दो पूर्व रूप-रूसी रूपवाद (फ़ॉर्मलिज़्म) और जॉन क्रो रैंसम की 'नयी समीक्षा' के अंतर्गत प्रस्तुत की गयी स्थापनाओं के रूप

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में सामने आये। रूस में रूपवाद 1915-1930 के बीच फूला-फला। लेकिन यूरोप और अमरीका का ध्यान उसकी ओर 1955 के बाद गया, जब वहां संरचनावाद की चर्चा प्रारंभ हुई। कारण, संरचनावाद रूपवाद का ही स्वाभाविक विकास है। रूसी रूपवादियों ने रचना की वस्तु की अपेक्षा उसके रूप को तथा उसकी स्थिति सापेक्षता की अपेक्षा उसकी स्वायत्तता को अधिक महत्त्व दिया। इसीलिए मार्क्सवादियों ने उसका विरोध किया। रूपवादियों ने शैली के वस्तुपरक और 'वैज्ञानिक' परीक्षण की ऐसी प्रविधियों पर बल दिया, जो ठोस और विश्लेष्य हों। उन्होंने कविता के विश्लेषण में रूपक और बिंब के स्थान पर उसके भाषिक तत्त्वों को महत्त्व दिया। लेकिन ये भाषिक तत्त्व सामान्य भाषिक तत्त्व नहीं हैं। सामान्य भाषा साहित्यिक भाषा नहीं होती। उसे साहित्यिक भाषा 'बनाया' जाता है। साहित्यिक भाषा 'बनावटी' या 'कृत्रिम' होती है और चूंकि यह कृत्रिमता या बनावट सबसे अधिक कविता की भाषा में होती है, इसलिए कविता की भाषा साहित्यिक भाषा का श्रेष्ठतम रूप है। उन्होंने साहित्यिकता की खोज 'अपरिचयन' (डिफ़ेमीलियराज़ेशन) में की। हमारे रोज़मर्रा के अनुभवों में ताज़गी नहीं होती। एकधृष्ट आवृत्तियां उनमें बासीपन ला देती हैं। वे अनुभव हमारी आदत बन जाते हैं। साहित्य का लक्ष्य इन अनुभवों को इस रूप में प्रस्तुत करना होता है कि वे नये और ताज़े लगें। उन्हें दैनंदिन यथार्थ अनुभवों से भिन्न रूप में हम अनुभव करें, वे हमें अपरिचित अनुभव लगें। किसी साहित्यिक रचना में व्यक्त अनुभव में नवीनता, ताज़गी और अपरिचय, जीवन की अनुकृति से नहीं आता, अपितु कलात्मक सौंदर्यात्मक साहित्यिक तकनीक से आता है। इसीलिए वस्तु की अपेक्षा रूप अधिक महत्त्व की चीज़ है।

जब रूपवाद का प्रभाव अमरीका पहुंचा तो वहां 'नयी समीक्षा' सामने आयी। 1941 में जॉन क्रो रैंसम की पुस्तक 'द न्यू क्रिटिसिज़्म' प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने कविता की स्वायत्तता और वस्तुनिष्ठता को स्थापित किया। उन्होंने कहा कि कविता की अर्थवत्ता उसके होने में है, उसमें है, उसके बाहर नहीं। कविता की अपनी निजी संरचना होती है और उसके अपने अलग विशिष्ट नियम होते हैं। कविता दो चीज़ों से बनती है—एक चीज़ है उसकी संरचना (स्ट्रक्चर) या उसका अर्थ-विधान और दूसरी चीज़ है उसका तंतुविन्यास (टेक्सचर) या शब्द-विधान। कविता का अर्थ-विधान सुनिश्चित नहीं होता। वह बहुत-कुछ अनिश्चित होता है और शब्द-विधान पर निर्भर रहता है। इस दृष्टि से वह विज्ञान के अर्थ-विधान से भिन्न होता है। विज्ञान में अर्थ एक, और सुनिश्चित होता है, उसमें शब्द-विधान का कोई महत्त्व नहीं होता। विज्ञान में चाहे किन्हीं शब्दों का प्रयोग किया जाये, हर वैज्ञानिक उनसे एक ही अर्थ ग्रहण करेगा। लेकिन कविता में ऐसा नहीं होता। कविता में स्वर, लय, बिंब, प्रतीक, अलंकार आदि के द्वारा जिस कलात्मक सौंदर्य का निर्माण किया जाता है, सहृदय का काम उसको ग्रहण करना है। प्रत्येक कविता का शब्द-विधान विशिष्ट होता है। यह वैशिष्ट्य शब्द और अर्थ के जटिल और अतर्कित संबंध से उत्पन्न होता है। शब्द और अर्थ के इस जटिल और अतर्कित संबंध की संगति की खोज करना आलोचना का कार्य है। कविता के सौंदर्य का उद्घाटन उसके पाठ-विश्लेषण के द्वारा ही किया जा सकता है। कविता में प्रयुक्त शब्द बदले नहीं जा सकते और न ही हर पाठक/श्रोता के लिए उनका एक ही अर्थ होता है। अतः कविता शब्दों से लिखी जाती है।

रूसी रूपवाद से संबद्ध रहे रोमान यॉकोब्सन की गणना संरचनावादी काव्यशास्त्र के प्रवर्त्तकों में की जाती है। उनकी मान्यता थी कि काव्यशास्त्र भाषिकी का ही एक अंग है। उन्होंने सॉस्युअर की भाषिक अवधारणाओं को काव्यशास्त्र में व्यवहृत किया और संरचनावादी काव्यशास्त्र के सैद्धांतिक आधारों को स्पष्ट किया। उनके अनुसार सृजनात्मक भाषा चयन और विन्यास—दोनों का उपयोग

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

करती है। विन्यास के स्तर पर ही काव्य या साहित्य को उसकी प्रतीकात्मकता, सांकेतिकता, अर्थ की बहुस्तरीयता आदि की प्राप्ति होती है। यॉकोब्सन ने साहित्य की संप्रेषण-प्रक्रिया पर भी विचार किया है। उसके अनुसार संप्रेषण-प्रक्रिया इस प्रकार घटित होती है :

**संदर्भ**

संबोधनकर्ता ———————— पाठ ———————— संबोधित

संपर्क

भाषाई तंत्र

नि:संदेह 'पाठ' केंद्र में है, किंतु केवल उसी से अर्थ संप्रेषित नहीं होता; अपितु अर्थ के संप्रेषण में 'संदर्भ', 'संपर्क', 'भाषाई तंत्र' और संबोधनकर्ता की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अर्थ इन सबके सामूहिक योग से संप्रेषित होता है। स्पष्ट है कि कविता या किसी भी साहित्यिक कृति में अर्थ या कथ्य महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है उसकी संप्रेषण-प्रक्रिया। यह संप्रेषण-प्रक्रिया भाषिक संरचना के द्वारा घटित होती है। इसलिए कलाकृति संरचना है।

यॉकोब्सन की इन स्थापनाओं को अन्य संरचनावादियों—जोनायन कुलर, रोलां बार्थ, कूको, देरिदा, कोलिन, मैककाबे आदि ने और आगे बढ़ाया और नये आयाम जोड़े।

व्यावहारिक स्तर पर कविता के विश्लेषण में जब संरचनावाद को लागू किया गया, तब सभी प्रकार की भाषिक सम्मतियों—तुक से ले कर वाक्य-विन्यास की सूक्ष्मताओं, काल, वचन आदि तक—को रूपगत परिरूपों में पुनर्स्थापित कर उन्हें स्थिर, निर्वैयक्तिक, भाषा के सामान्य संप्रेषणकर्म से विच्छिन्न करके देखा गया। संरचनावादियों से असहमत साहित्य-विश्लेषकों ने साहित्यिक विवेचन में इसे भाषिकी का दुरुपयोग माना। संरचनावाद की तकनीक अविवेकपूर्वक लागू करके कृत्रिम 'काव्य-संरचनाएं' निर्मित की गयीं, जिन्हें काव्य के पाठक ग्रहण नहीं कर पाये, न अपना पाये। यह अतिवाद था। वैसे विवेकपूर्वक यदि संरचनावादी स्थापनाओं को उपयोग में लाया जाये तो कविता के विवेचन में वे सहायक और उपयोगी हो सकते हैं।

कविता की अपेक्षा कथा-संरचना के विवेचन में संरचनावाद को अधिक सफलता मिली। 1928 में व्लादीमीर प्रॉप ने 'लोककथाओं का रूपविधान' (मॉर्फ़ोलॉज़ी ऑफ़ फॉकटेल्स) में स्थापित किया कि रूसी कथाओं में पात्रों के व्यक्तित्व में बड़ा वैविध्य है, किंतु उनके 'कार्यों' के प्रकार सीमित हैं। उसने 31 प्रकार गिनाये, जिन्हें सात वर्गों में वर्गीकृत किया। इन प्रकारों और वर्गों के आधार पर पात्रों के क्रियाकलापों और संबद्ध प्रकार्यों के आधार पर किसी भी कथा के घटनाक्रम को विश्लेषित किया जा सकता है। यह वस्तुत: कथाओं का प्रजातिगत व्याकरण है। कथा का यह सीमित तंत्र असीमित कथा-शृंखलाओं को विवेचित कर सकता है। लेवी स्त्रास ने इसका भाषिक सादृश्य पकड़ा। उसके बाद ए.जे. ग्रीमास ने प्रॉप की स्थापनाओं की परिष्कृत अर्थवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। यह मानक स्थापना बन गयी कि कथा में घटना-विन्यास की संरचना वाक्य-विन्यास की संरचना के समान होती है। इसने कथा की संरचना की विवेचना के लिए वाक्य-भाषिकी पर आधारित अधिभाषा का विकास किया। इस अधिभाषा के विकास में रोलां बार्थ, तोदोरोव और जेरॉल्ड जेनेट ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। कथा-विश्लेषण का यह मॉडल कई पश्चिमी कथाकृतियों पर लागू किया गया। परिणाम मिले-जुले रहे। हिंदी में व्यावहारिक विवेचन में संरचनावादी स्थापनाओं का कोई उल्लेखनीय उदाहरण सामने नहीं आया है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## उत्तरसंरचनावाद (पोस्टस्ट्रक्चरलिज़्म)

यह पद बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में अस्तित्व में आया। उत्तरसंरचनावाद को ले कर प्रश्न उठता है कि यह संरचनावाद का विकास है अथवा उसका विरोधी है? इसका उपयोग इन दोनों रूपों में होता है। यह अपने आप में इतनी बातों को समेटे हुए है कि इसे स्पष्टता और निश्चयात्मकता से परिभाषित कर पाना लगभग असंभव है।

उत्तरसंरचनावाद का प्रारंभ देरिदा के विखंडन या विरचना (डिकांस्ट्रक्शन) की अवधारणा से हुआ। उसने कहा कि संरचना की अवधारणा कोई स्थिर अवधारणा नहीं है। वह परिवर्तनशील है। कारण, संपूर्ण भाषा रूपकात्मक या लाक्षणिक है। उत्तरसंरचनावाद इस भाषिक सिद्धांत पर आधारित है कि भाषा बाह्य जगत से संदर्भित नहीं होती है। वह स्वायत्त है। भाषा के बाहर कोई यथार्थ नहीं है। जिसे यथार्थ जगत कहा जाता है, वह वस्तुत: भाषा के द्वारा निर्मित है। जो संरचनाएं भाषा में विद्यमान हैं, उन्हें भाषा ने निर्मित किया है। यह भ्रांति है कि शब्द किसी वास्तविक यथार्थ को संदर्भित करते हैं। हमें यह इसलिए लगता है, क्योंकि इस तरह की कुछ परंपराएं, रूढ़ियां या कोड बन गये हैं। इसलिए साहित्यिक कृति का पाठ ही सब कुछ है, पाठ के बाहर कुछ भी नहीं और पाठ का कोई अर्थ भी स्थिर नहीं है। शब्द और उसका अर्थ परस्पर एक नहीं हैं। प्रत्येक शब्द अपने अर्थ के लिए दूसरे शब्दों पर निर्भर है। शब्दों की अपने अर्थ के लिए पारस्परिक निर्भरता की शृंखला अनंत है। उत्तरसंरचनावाद की मूल चिंता यह रही है कि शब्द किस प्रकार अर्थशृंखला उत्पन्न करते हैं और किस प्रकार यह अर्थशृंखला भाषा और साहित्य के जटिलतंत्र में क्रियाशील रहती है।

उत्तरसंरचनावाद को जन्म देने और विकसित करने में जिन विचारकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, उनमें रोलां बार्थ, लॉक देरिदा, जॉक लकां, जूलिया क्रिस्टीवा और मिशेल फूको प्रमुख हैं। देदिरा की देन विखंडनवाद (विरचनावाद) के रूप है,जिस पर आगे विचार किया जायेगा। **रोलां बार्थ** की 1970 में प्रकाशित कृति 'एस/जेड' (S/Z) में उसकी उत्तरसंरचनावादी स्थापनाएं सामने आयीं। उसने अपनी दो सौ पृष्ठों की इस पुस्तक में बालज़ाक की तीस पृष्ठों की उपन्यासिका 'सारासीन' (Sarrasine) की व्याख्या प्रस्तुत की। अपनी इस पुस्तक में वह संरचना के स्थान पर 'पाठ' को केंद्र में ले आया। उसने प्रारंभ में ही कहा कि विश्व की समस्त कहानियों की एक संरचना खोजना कष्टसाध्य भी है और अवांछित भी। उसके अनुसार कथात्मक कृतियों की घटना-प्रस्तुति की सामान्यताओं की खोज के स्थान पर विशिष्ट कथाकृति का अध्ययन अधिक सार्थक है। यहां भी उसका 'यथार्थवाद' का विरोध बरक़रार है। वह यथार्थवादी उपन्यास को 'बंद पाठ' कहता है, क्योंकि ऐसा उपन्यास पाठक को विशेष सीमित अर्थों और संदर्भों में बांध कर रखता है। वह उसे नये-नये अर्थ निकालने के लिए न उत्साहित करता है, न उसकी छूट देता है। उसने पाठ के दो प्रकार माने हैं—'लेखकीय पाठ' और 'पाठकीय पाठ'। लेखकीय पाठ सृजनशीलता का परिणाम होता है। यह 'आदर्श' या 'प्रत्यय' पाठ है, जिसे अनंत प्रकार से पढ़ा जा सकता है और कोई भी पाठक यह दावा नहीं कर सकता कि उसने जो पढ़ा है, वही अंतिम 'पाठ' है। दरअसल मूल पाठ को पढ़ने के लिए जितने 'कोड' उपयोग में लाये जायेंगे, उतने ही पाठकीय पाठ सामने आयेंगे और इन कोडों की कोई सीमा नहीं है। इसलिए किसी भी मूल या लेखकीय पाठ की एकता कल्पना मात्र है। किसी मूल पाठ को पढ़ने का हमारा दृष्टिकोण, चाहे वह किसी विचारधारा, दर्शन, संस्कृति, समाज-व्यवस्था, राजनैतिक तंत्र आदि में से किसी एक पर आधारित हो या एकाधिक पर, उसके अर्थ को बदलता है और मूल पाठ की अद्वितीयता समाप्त हो जाती है। बार्थ ने 'सारासीन' के विभिन्न पाठ विभिन्न दृष्टिकोणों या विभिन्न कोडों का उपयोग करते हुए प्रस्तुत किये हैं। वह इन निष्कर्षों पर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

एकाएक नहीं पहुंचा। अपने चिंतन-लेखन के प्रारंभिक दौर में इसने संकेतविज्ञान (सीमियोलॉजी) को अपनाया। अपनी पुस्तक 'संकेतविज्ञान के मूल तत्त्व' (एलीमेंट्स ऑफ़ सीमियोलॉजी-1965) में उसने अपनी यह स्थापना सामने रखी कि मानव-संस्कृति के समस्त संकेत-तंत्रों को संरचनावादी पद्धति से समझा जा सकता है। उसके अनुसार मानवीय संकेत-तंत्रों में भाषा या कोई कृति गौण तंत्र है। मूल तंत्र तो अधिभाषा (मेटालैंग्वेज़) है। एक अधिभाषा भी पूर्णतः स्वाधीन नहीं है। वह दूसरी अधिभाषाओं के प्रति उत्तरदायी है। अधिभाषाओं के पारस्परिक उत्तरदायित्व का क्रम भी अनंत है और अधिभाषाओं के उत्तरदायित्व की यह अनंतता वहां तक जाती है, जहां अधिभाषा भी निरर्थकता या शून्य में परिणत हो जाती है। इसलिए कोई भी कृति या उसकी आलोचना ऐसी नहीं हो सकती, जिस पर परवर्ती रचनाकार या अलोचक प्रश्नचिह्न न लगा सकें।

संरचनावादी भाषिकी की बड़ी प्रसिद्ध उक्ति है कि भाषा बोलती है, मनुष्य नहीं (लैंग्वेज स्पीक्स, नॉट मैन)। इसी के आधार पर बार्थ ने लेखक की मृत्यु की घोषणा की और अपने प्रसिद्ध आलेख 'द डैथ ऑफ़ द ऑथर' में सूक्ति गढ़ी, 'लेखन लिखता है, लेखक नहीं' (राइटिंग राइट्स, नॉट राइटर)। लेखक की मृत्यु से उसका तात्पर्य यह है कि कोई भी रचना शून्य में से जन्म नहीं लेती। वह सृजन-परंपरा की एक कड़ी मात्र होती है। कोई कृति न पहली होती है और न ही अंतिम। यदि पूर्ववर्तियों ने न लिखा होता तो परवर्ती भी नहीं लिख पाते। हर कृति एक विशेष समाज, संस्कृति, सोच, भाषा, साहित्यिक परंपरा आदि से पोषित होती है। अतः कोई भी रचनाकार अपनी परंपरा के प्रति कितना ही विद्रोह करे, वह उससे पूर्णतः मुक्त नहीं हो सकता। उसी अर्थ में रचना विशेष किसी विशेष रचनाकार की रचना न हो कर एक परंपरा की परिणति या रचना होती है। इसलिए किसी विशेष रचना के रूप में जो मूल पाठ हमें उपलब्ध होता है, उसका या उसके अर्थ का उत्स उसका लेखक नहीं है और न ही वह उसकी व्याख्या का एक मात्र अधिकारी है। इसलिए केंद्र में रचना स्थित होती है, रचनाकार नहीं। स्थूल रूप में बार्थ की यह स्थापना 'नयी समीक्षा' की उस स्थापना से मिलती-जुलती है कि विचार/विश्लेषण का केंद्र मुद्रित शब्द होना चाहिए; कोई और चीज़ नहीं। लेकिन बार्थ तो 'नयी समीक्षा' का विरोधी था। उसकी तो यह भी स्थापना थी कि "समस्त आलोचनात्मक दृष्टियां और निर्णय वस्तुतः जटिल राजनीतिक और विचारधारा के मुखौटे मात्र हैं। कोई भी आलोचनात्मक दृष्टि तटस्थ और विचारधारा-निरपेक्ष नहीं होती है।" उसकी यह स्थापना मार्क्सवादी विचारधारा के निकट प्रतीत होती है, लेकिन वह न तो मार्क्सवादी है और न ही नये समीक्षकों की तरह पूंजीवादी। वह आलोचक को महत्त्व देता है। रचना को आलोचक अर्थ देता है और जो अर्थ आलोचक देता है, वही रचना होती है। "आलोचक सक्रिय रूप से रचना का अर्थ निर्मित करता है। वही उसे अस्तित्ववान बनाता है।" (द क्रिटिक एक्टिवली कांस्ट्रक्ट्स द मीनिंग। ही मेक्स द वर्क एग्ज़िस्ट) और पाठक या आलोचक किसी पाठ का जो अर्थ निकालते हैं, वह भी अंतिम नहीं है। किसी भी रचना को जितनी बार पढ़ा जायेगा, उसमें उतनी ही बार नये अर्थ निकलेंगे।

बार्थ संरचनावादियों और उत्तरसंरचनावादियों के बीच की कड़ी है। उसकी स्थापनाओं में सत्यांश अवश्य है; लेकिन उसकी स्थापनाएं अतिवादी हैं, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

उत्तरसंरचनावादियों में **ज़ॉक लकां** का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह नवफ्रायडवादियों की श्रेणी में आता है। उसने फ्रायड के 'इड' (मूल कामतत्त्व) को केंद्रीय माना और अहं (ईगो) को विकेंद्रित किया। इस तरह उसने फ्रायड को नयी तरह से पढ़ा और यह स्थापना सामने रखी कि अवचेतन का अस्तित्व ही नहीं होता, उसकी संरचना भी होती है, जो मनुष्य की वृत्तियों और क्रियाओं को

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इतना और इस तरह प्रभावित करती है कि उसका विश्लेषण किया जा सकता है। उसकी स्थापनाओं ने साहित्यिक आलोचना में 'विषयी' (सब्जैक्ट) अर्थात व्यक्ति आलोचक को केंद्रीय महत्त्व प्रदान किया और आलोच्य 'विषय' (आब्जैक्ट) अर्थात कृति को गौण। वक्ता और उसके वक्तव्य के बीच जो अदृष्ट अंतराल है, उत्तरसंरचनावादियों ने उसी में प्रवेश किया। भाषा में संकेतकों का तंत्र पहले से विद्यमान रहता है किंतु वे अर्थवान तभी होते हैं जब कोई व्यक्ति उनसे जुड़ता है। स्त्री, लड़की, प्रेमिका, पत्नी, मां, छात्रा, परिचारिका आदि भाषिक संकेत पहले से विद्यमान हैं, किंतु ये अर्थवान तभी होते हैं जब ये किसी विशेष व्यक्ति और संदर्भ से जुड़ते हैं। किसी 'स्त्री' का अर्थ 'पत्नी' तभी होगा, जब वह किसी 'पुरुष' व्यक्ति से ब्याही जायेगी। 'स्त्री' का अर्थ भी 'पुरुष' के संदर्भ में ही निकलता है। यह अर्थ भी तभी निकलता है जब शिशु 'व्यक्ति' बनता है, उसका 'अहं' स्थापित होता है और वह 'मैं' और 'अन्य' के बीच अंतराल स्थापित करता है। इसका कारण यह है कि यथार्थ कल्पनात्मक और प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों में पूर्णतः अट नहीं पाता, वह इन दोनों के अंतराल में स्थित रहता है। व्यक्ति जब अपनी किसी प्रवृत्ति को तुष्ट करने का प्रयत्न करता है तो वह प्रवृत्ति पूर्णतः तुष्ट न हो कर नयी आकांक्षाओं को जन्म देती है और ये नयी आकांक्षाएं संकेतकों की एक शृंखला का रूप धारण कर लेती हैं। चूंकि व्यक्ति जब अपनी आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करता है, तब उसका अवचेतन दखलंदाज़ी करता रहता है, इसलिए भाषिक स्तर पर आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति संरूपकों और लाक्षणिक प्रयोगों के रूप में होती है। इस प्रकार भाषिकी मानव-मस्तिष्क और भाषा की संगति का नया मार्ग निर्मित करती है। लकां के अनुसार : "अचेतन मन की संरचना भाषा की संरचना जैसी है।" उसने फ्रायड के सिद्धांतों की नयी व्याख्या सॉस्युअर के शब्दबंधों के आधार पर की है। इसके कारण साहित्य भी मनोविश्लेषण के समान केंद्रीय महत्त्व की चीज़ बन गया है।

लकां की तरह **जूलिया क्रिस्टीवा** ने भी साहित्यिक अध्ययन के लिए मनोविश्लेषणशास्त्र का सहारा लिया। उसने साहित्यिक अर्थविज्ञान पर कार्य किया और यह स्थापना सामने रखी कि जिन चीज़ों को जीवन में औचित्यपूर्ण एवं सुसंगठित माना जाता है, उनके सामने अनौचित्य और विघटन का संकट बराबर बना रहता है। कारण, कोई भी व्यक्ति पूर्णतः सुसंगठित इकाई नहीं होता। व्यक्ति सुगठन को उसकी कामना या वासना बराबर विघटित करती रहती है। सुगठित व्यक्ति की पहचान है उसकी सुगठित वाक्य-रचना। लेकिन इस सुगठित वाक्य-रचना को काव्यभाषा बराबर विघटित करती रहती है। इसका दूरगामी परिणाम यह होता है कि सामाजिक/राजनीतिक तंत्र व्यक्ति को जितना नियंत्रित करता है, कामना-प्रेरित व्यक्ति सामाजिक/राजनीतिक तंत्र को अंदर-ही-अंदर उतना ही अस्थिर और विघटित करता रहता है। इसमें काव्यभाषा की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जब प्लेटो ने अपने आदर्श गणराज्य से कवियों को निकाल बाहर करने की बात कही थी, तब काव्यभाषा की इसी शक्ति को स्वीकार किया था। जूलिया क्रिस्टीवा तो यहां तक मानती हैं कि जब सामाजिक तंत्र अत्यधिक जटिल और संहिताबद्ध हो जायेगा, तब काव्यभाषा के द्वारा ही क्रांति संभव होगी। लेकिन इस क्रांति के संभव होने में सबसे बड़ी बाधा वह बुर्जुआ आचरण है, जो हर नयी और क्रांतिकारी चीज़ को अपना कर उसे निष्प्रभ और निष्प्रभावी बना देता है। उत्तरसंरचनावाद में जूलिया क्रिस्टीवा का योगदान इस रूप में है कि उसने मानव-मन, समाजतंत्र, वाक्यविज्ञान और काव्यभाषा के पारस्परिक संरचनात्मक संबंध और प्रभाव की सैद्धांतिकी निर्मित की है।

पेरिस के एक शिक्षा-संस्थान (कॉलिज़ द फ्रांस)में 'हिस्ट्री ऑफ़ सिस्टम्स ऑफ़ थॉट' (विचार-प्रणालियों का इतिहास) के प्रोफ़ेसर **मिशेल फूको** ने अपने उत्तरसंरचनावादी चिंतन के केंद्र

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में विमर्श को रखा है। विमर्श (डिसकोर्स) से उसका तात्पर्य विचार, अभिवृत्ति, दृष्टिकोण, धारणाएं आदि सब-कुछ है। उसका कहना है कि विमर्श वह हिंसा है, जो हम चीज़ों के प्रति बरतते हैं (डिस्कोर्स इज़ ए वॉयलेंस दैट वी डू टू थिंग्ज़)। उसकी मूल स्थापना नीत्शे के 'शक्ति-कामना' (विल टू पॉवर) के सिद्धांत पर आधारित है। नीत्शे की मान्यता थी कि हम चीज़ों को वस्तुपरक या तटस्थ दृष्टि से नहीं देखते, अपितु आत्मपरक दृष्टि से देखते हैं। फलतः चीज़ें जैसी हैं, वैसी हमें दिखायी नहीं देतीं, अपितु जैसी हम उन्हें देखना चाहते हैं, वैसी दिखायी देती हैं। हम तथ्यों को अपने लक्ष्यों के अनुरूप ढाल लेते हैं। विमर्श का लक्ष्य यही है। इसलिए विचारों या अवधारणाओं का कोई रैखिक विकासक्रम नहीं खोजा जा सकता। इस संदर्भ में दो 'एपिस्टीम' (ज्ञानधाराओं) की अवधारणा उसने प्रस्तुत की है। एक धारा सत्तरहवीं शताब्दी से प्रारंभ होने वाली नवशास्त्रवादी धारणाओं (न्यो-क्लासिकल थॉट) की है, जिसका आज मनुष्यों के लिए कोई अर्थ नहीं है। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी से चलने वाली 'आधुनिक ज्ञानधारा' (मॉडर्न एपिस्टीम) ने वस्तुतः विषय और विषयी (आब्जैक्ट एण्ड सब्जैक्ट) दोनों रूपों में 'मनुष्य' को जन्म दिया है। जैसे ही भाषा की पदार्थ से और प्रकृत की सामान्य से भिन्नता स्पष्ट हुई है, वैसे ही मानव-विज्ञानों की संभावनाएं उजागर हुई हैं। जैसे मानव-विज्ञानों का प्रारंभ खोजा जा सकता है, वैसे ही उनका अंत भी खोजा जा सकता है। फूको ने समाजशास्त्र और मनोविज्ञान की गंभीर सीमाओं का उद्घाटन किया है और स्थापित किया है कि जैसे इन मानव-विज्ञानों ने 'मानव' को निर्मित किया है वैसे ही मनोविश्लेषणशास्त्र जैसे मानव-विज्ञानों के द्वारा 'मानव' को विनिर्मित भी किया जा सकता है। उसने बलपूर्वक यह स्थापना प्रस्तुत की कि 'आधुनिक ज्ञानधारा' धराशायी हो रही है। इसलिए उसका विषय 'मानव' भी मर गया है। अपनी परवर्ती रचनाओं में उसने अपनी इस स्थापना को और स्पष्ट किया। उसने निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य सत्ता/शक्ति के हाथ की कठपुतलियां हैं। जैसे क़ैदी स्वयं जेल का निर्माण-कार्य करते हैं, वैसे ही हम भी समाज में स्वयं अपनी कारा निर्मित करते हैं। एक सचेत, सक्रिय, यहां तक कि एक विद्रोही के रूप में अब मनुष्य मर गया है। आधुनिकता के विमर्श में मनुष्य को पराधीन सिद्ध किया गया था, उत्तरआधुनिक-विमर्श में स्वतंत्रता की अति होगी। मनुष्य के सामने चुनने के लिए तमाम विकल्प होंगे। ऐसी स्थिति में उसकी सलाह है कि हम जो सकारात्मक और बहुल है, उसको चुनें। हम एकरूपता के स्थान पर बहुरूपता, स्थिरता के स्थान पर गतिशीलता, निश्चित पद्धतियों के स्थान पर गतिशील व्यवस्थाओं को वरीयता दें। उसने इस बात की ओर संकेत किया है कि आगे का रास्ता स्त्रीवाद, समलैंगिकता तथा इसी प्रकार के अन्य सामाजिक आंदोलनों का रास्ता है। इस प्रकार वह अब तक की सामाजिक व्यवस्थाओं, नैतिक मूल्यों और बौद्धिक उपलब्धियों को अस्वीकार करता है। उसकी मान्यता है कि सारा ज्ञान अनित्य है। इसका प्रमाण यह है कि इतिहास के एक कालखंड में जो ज्ञानार्जन होता है और उसके माध्यम से जो स्थापनाएं प्रस्तुत की जाती हैं, वे इतिहास के दूसरे कालखंड में न केवल बदल जाती हैं, अपितु निरर्थक भी हो जाती हैं। एक काल का सत्य दूसरे काल में मिथ्या बन जाता है, एक काल के नैतिक मूल्य दूसरे काल में निर्मूल्य बन जाते हैं, एक काल में सही मानी जाने वाली समाज-व्यवस्था दूसरे काल में ग़लत मानी जाने लगती है। इसलिए इतिहास विमर्शगत परिवर्तनों की एक श्रृंखला मात्र है, कोई स्थायी, अपरिवर्तनशील, शाश्वत सत्य नहीं।

इसी दृष्टि से उसने पाठात्मकता (टेक्स्ट्युलिटी) की तुलना में 'विमर्श' को ज़्यादा महत्त्व दिया है। संसार में राजनीतिक, सामाजिक और विचारधारात्मक शक्तियों का खेल चलता रहा है और ये शक्तियां विमर्श के द्वारा अपने प्रयोजन के अनुकूल, अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए विमर्श के द्वारा पाठ का अर्थ या व्याख्या करती रही हैं। इसलिए ऐसा कोई विमर्श भी नहीं है, जो पूर्ण या अंतिम सत्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हो। हर विमर्श कम या अधिक शक्तिशाली है, सत्य या असत्य नहीं। फूको की इसी स्थापना के संदर्भ में एडवर्ड सईद ने पाश्चात्य प्राच्यविद्याविशारदों की कटु आलोचना की। इन प्राच्यविद्याविशारदों ने पूर्व की वैचारिक, साहित्यिक आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक, उपलब्धियों और बौद्धिक प्रवृत्तियों की ग़लत व्याख्या करके पूर्व वालों को हीन सिद्ध किया और पश्चिम वालों को श्रेष्ठ।

इस प्रकार उत्तरसंरचनावादियों की मुख्य समस्या संकेतक और उसके अर्थ के द्वंद्व की है। इस द्वंद्व में संकेतक या पाठ उसके अर्थ की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। संकेतक और उसके अर्थ के बीच व्याघात उत्पन्न करने वाली अनेक चीज़ें हैं, साथ ही शक्ति का खेल भी है, जो उपलब्ध ज्ञान असिद्ध कर देता है। इसलिए उत्तरसंरचनावादी केवल प्रश्न उठाते हैं, उनका कोई समाधान प्रस्तुत नहीं करते। उनके प्रश्न उठाने के आधारों और प्रक्रियाओं में भी बड़ी विविधता है।

## विखंडन या विरचना (डिकांस्ट्रक्शन)

विखंडन या विरचना उत्तरसंरचनावाद का ही अंग है, किंतु इसके जन्मदाता **जाक़ देरीदा** की प्रखर प्रतिभा के कारण इसकी चर्चा-विवेचना अलग से की जाती है। विखंडन की चर्चा का प्रारंभ 1966 में जॉन हॉपकिंस विश्वविद्यालय में आयोजित एक संगोष्ठी से हुआ। संगोष्ठी संरचनावाद पर विचार-विमर्श के लिए आयोजित की गयी थी किंतु संगोष्ठी में देरीदा की उपस्थिति और उसके आलेख-पाठ का परिणाम यह हुआ कि यह संगोष्ठी विखंडन का प्रस्थानबिंदु बन गयी। 1967 में देरीदा की तीन पुस्तकें—ऑफ़ ग्रैमैटोलॉजी, राइटिंग एंड डिफरेंस तथा स्पीच एंड फेनोमेना एक साथ प्रकाशित हुईं और विखंडन फ्रांस में ही नहीं, अमेरिका में भी चर्चा का केंद्रीय विषय बन गया। अमेरिका में इसे लोकप्रिय बनाने में येल विश्वविद्यालय के साहित्यालोचकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। जिन अमेरिकी साहित्यालोचकों ने विखंडन की विवेचना और प्रचार में निर्णायक भूमिका निभायी, उनमें पॉल दी मॉन, जैफ़री हार्टमैन, जे. हिल्स मिलर, हेरल्ड ब्लूम और बारबरा जानसन के नाम उल्लेखनीय हैं। ये लोग 'नयी समीक्षा' की बंदिश से मुक्त होना चाहते थे। इन्होंने अनुभव किया था कि किसी कृति का अर्थ एक ही और अंतिम नहीं होता। भाषा की प्रतीकात्मक व्यवस्था कृति के अर्थ को उत्पन्न भी करती है और उसे निरस्त भी करती हैं। इसलिए ये अर्थ के खुलेपन के पक्षधर थे, किंतु अपनी सोच को ये कोई नाम नहीं दे पा रहे थे। तभी इन्हें देरीदा का 'विखंडन' मिला और इन्होंने उसे अपना कर अपने-अपने ढंग से उसे समझा और व्याख्यायित किया।

देरीदा ने सीधे-सीधे और बहुत सोच-विचार कर विखंडनवाद की स्थापना की हो, ऐसा नहीं है। असल में उसने विभिन्न पाठों को जिस तरह से पढ़ा और उनकी व्याख्या प्रस्तुत की, उसके दौरान उसने विभिन्न शब्द प्रस्तावित किये। इन शब्दों में 'डिकांस्ट्रक्शन' के अतिरिक्त 'डिफरेंस', 'स्पेसिंग', 'ट्रेस' आदि शब्द भी थे। प्रारंभ में इनमें से कोई भी एक शब्द केंद्रीय या मास्टर शब्द नहीं था। किसी रचना की व्याख्या करते समय या किसी पाठ (टैक्स्ट) को पढ़ते समय ऐतिहासिक, दार्शनिक, अवधारणात्मक या विमर्शात्मक संदर्भानुसार इनमें से जब जो शब्द उपयुक्त लगा, तब उस शब्द का उपयोग किया गया। किंतु इनमें से 'डिकांस्ट्रक्शन' (विखंडन) शब्द चल पड़ा और देरीदा तथा अन्यों ने इसे अपने-अपने ढंग से व्याख्यायित करना प्रारंभ कर दिया। विखंडन की व्याख्याओं का यह क्रम आज तक चल रहा है।

इसीलिए स्वयं देरीदा ने लिखा था कि "मुझे यह भरोसा नहीं है कि सामान्यतः विखंडन एक साहित्यिक पद्धति के रूप में कार्य कर सकता है। मैं पाठ-पद्धति के विचार के प्रति सतर्क हूं। पठन के नियम वह विशेष पाठ तय करता है, जिसे पढ़ा जा रहा है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पाठ के प्रति समर्पित हो जायें अथवा निष्क्रिय भाव से उसकी पुनर्प्रस्तुति करें या उसे मात्र दुहरायें। इसका अर्थ यह है कि हम पाठ के समादेश के प्रति निष्ठावान रहें, चाहे यह उसके प्रति हिंसा ही क्यों न हो। ये समादेश एक पाठ से दूसरे पाठ में भिन्न होंगे। इस पठन की कोई एक पद्धति निश्चित नहीं की जा सकती। इस अर्थ में विखंडन कोई पद्धति नहीं है।'' (उद्धृत : लिट्रेरी थियरीज़, सं. जूलियान वोलफ्रेज़, 1999, पृ. 271)

यदि विखंडन कोई पद्धति नहीं है तो क्या है? और यदि पद्धति है तो किस अर्थ में है? इन प्रश्नों का कोई सीधा-सादा उत्तर संभव नहीं है। इसे देरीदा के सोच के क्रमिक विकास और उस दौरान की गयी उसकी स्थापनाओं के द्वारा ही समझा जा सकता है।

देरीदा ने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों, भाषावैज्ञानिकों, मनोवैज्ञानिकों आदि की स्थापनाओं को संदेहवादी (नकारवादी नहीं) दृष्टि से देखना प्रारंभ किया और पाया कि निश्चितता, अस्मिता और सत्य की पारंपरिक कसौटियों के लिए आवश्यक है कि अवधारणाएं और सोपानिक क्रम तय कर दिये जायें। यह तभी संभव होता है, जब उन तत्त्वों को या तो दबा दिया जाता है या भुला दिया जाता है, जो अवधारणाओं और सोपानिक क्रमों की निश्चितता, पहचान और सचाई को अस्थिर कर सकते हैं। इसके कारण विचार अ-विचार (अन-थॉट) में, और कभी-कभी अविचारणीय में बदल जाते हैं। उसने नीत्शे और हाइडेगर का अनुसरण करते हुए पश्चिमी दर्शन की इस प्रवृत्ति को अनावृत्त किया और इस पक्षपात की व्याख्या की। इसे उसने 'शब्दकेंद्रितता' (लोगोसेंट्रिज़्म) कहा। शब्दकेंद्रितता के दो पक्ष हैं, एक केंद्रिता और दो, केंद्र के रूप में शब्द। 'लोगोस' (Logos) यूनानी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है 'शब्द', लेकिन इसकी व्यंजना तर्कसम्मतता और प्रज्ञा भी है। कभी-कभी यह ब्रह्मांड में व्याप्त बौद्धिक सारतत्त्व का भी द्योतन करता है। प्रारंभिक ईसाइयों ने पारंपरिक शास्त्रीय दर्शन के स्थानापन्न के रूप में 'ईश्वरीय शब्द' को अग्रसर किया और प्रज्ञा के सिद्धांत को विस्थापित कर सर्जक दिव्य उक्तियों को स्थापित कर दिया। उन्होंने कहा कि ईश्वर ही पूर्ण है, वही निरपेक्ष अस्तित्व है। उसका शब्द अर्थ का स्रोत भी है और उसकी प्रामाणिकता का प्रतिमान भी। इसलिए वही स्वत:पूर्ण विमर्श है। शब्द-ब्रह्म की कल्पना भारतीय परंपरा में भी विद्यमान है।

'शब्द' का प्रभाव बड़ा दूरगामी रहा है। उच्चरित शब्द को लिखित शब्द पर वरीयता प्रदान की गयी है। लिखित शब्द की प्रामाणिकता पर संदेह किया गया है। उच्चरित और लिखित शब्द का भेद यूनानी परंपरा में भी रहा है। मनुष्य की स्वत:पूर्णता और निरपेक्षता की आकांक्षा अर्थ के प्रति उसकी दृष्टि, पूर्ण ज्ञान और मूल सत्य की खोज, अस्तित्व के प्रति उसकी अभिवृत्ति, सुगठित इकाई के रूप में जीव या आत्मज्ञाता चेतना की खोज के रूप में दिखायी पड़ती है। वह ऐसे अस्तित्व की उपस्थिति चाहता है, जो स्वत: पूर्ण हो और स्वत: प्रमाणित हो। इस तरह 'उपस्थिति' या 'अस्तित्व' शब्दकेंद्रितता का परम मूल्य बन जाता है, जो प्रत्येक आदर्शवाद की धुरी है। इसका परिणाम यह होता है कि अर्थ की बहुलता और विविधता निर्विकल्प रूप से समाप्त हो जाती है।

इसके प्रति देरीदा संदेहशील है। उसने पहले से चली आ रही इन अवधारणाओं को उलट दिया है। उदाहरण के लिए, उच्चरित शब्द को लिखित शब्द पर वरीयता की स्थापना को अपने तीक्ष्ण तर्कों से बेध कर उसने सिद्ध किया कि उच्चरित शब्द में लिखित शब्द की कुछ विशेषताएं पहले से विद्यमान रहती हैं, इसलिए लेखन उच्चारण की प्रतिकृति है। शब्दकेंद्रितता विचार की ऐसी अवधारणात्मकता है जो केंद्र, उद्भव, सार आदि की खोज के प्रति सक्रियता को शांत कर देती है। देरीदा ने इस बात का उद्घाटन किया कि किसी केंद्र या सत्य के प्रति उन्मुख पद्धति, संरचना, रूप

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

या अवधारणा उन चीज़ों को दबा देती है, जो संरचना के तर्कसम्मत विधान के लिए अनिर्धारणीय होते हैं। लेकिन वही चीज़ें, जो अनिर्धारणीय हैं या जो किसी स्थापना की पहचान और तर्कसम्तता की विरोधी हैं, उसकी संरचना को मुखरित भी करती हैं। ये विरोधी दमित चीज़ें संरचना विशेष का ही अंग हैं। चे चीज़ें उस संरचना या अवधारणा में पहले से विद्यमान हैं, लेकिन इन्हें स्वीकार्य सत्य या औचित्य से अतिरिक्त और असुविधाजनक मान कर दबा दिया जाता है, लेकिन उस संरचना या अवधारणा में इनकी 'झलक' (ट्रेस) बराबर विद्यमान रहती है। यहीं से विखंडन की भूमिका प्रारंभ होती है और विखंडन का कार्य हो जाता है किसी संरचना या पाठ का विखंडन करके उन चीज़ों को उजागर करके सामने ला देना, जिन्हें दबा दिया गया था और सिद्ध कर देना कि कोई पाठ जो कुछ 'कहता' है, वही उसका ठीक-ठीक अर्थ नहीं है, उससे अधिक कुछ और भी है, जो अनकहा छोड़ दिया गया है।

यहां प्रश्न उठता है कि क्या विखंडन के द्वारा संपूर्ण अर्थ का उद्घाटन संभव है? अर्थ का केंद्र कहां हैं? देरीदा का उत्तर है कि यह संभव नहीं है, अर्थ का केंद्र कहीं नहीं है। उसका यह उत्तर सॉस्युअर की इस स्थापना से प्रेरित है कि संकेतक और संकेतित, शब्द और अर्थ का संबंध अभेदात्मक नहीं है, विभेदात्मक है। इसके कारण अस्थिरता आती है, अर्थ का कोई केंद्र नहीं बन पाता है और किसी प्रकार का पद्धतिकरण संभव नहीं है। इसके लिए देरीदा ने 'डिफरेंस' (Differance) शब्द का उपयोग किया है। इसके उसने दो अर्थ लिये हैं। एक—फ्रांसीसी उच्चारण Differer का—संकेतों में संकेतन के आधार पर अंतर, और दूसरा, डिफरमेंट (Deferment) का—किसी संकेतक के द्वारा संकेतित की उपस्थिति का स्थगन, क्योंकि संकेतक किसी वस्तु की ओर संकेत न करके किसी और संकेत को संकेतित करता है। इसलिए विभेद के द्वारा किसी केंद्र की प्राप्ति नहीं की जा सकती। केंद्र कोई शब्द, अवधारण या उद्गम नहीं हो सकता। यह अधिक से अधिक अर्थ की संभावना हो सकती है। इसलिए दृढ़तापूर्वक किसी अर्थ का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

यह समस्या स्वयं 'डिकांस्ट्रक्शन' शब्द के साथ है। देरीदा ने 10 जुलाई, 1983 को अपने जापानी मित्र इज़ुत्सु को लिखे एक पत्र में कहा कि इस शब्द को परिभाषित करने या इसका अनुवाद करने में जो कठिनाई उपस्थित होती है, वह इसलिए कि सारे विधेय, सारी परिभाषित अवधारणाएं, सारे शब्दकोशीय अर्थ, सारी वाक्यगत अभिव्यक्तियां, जो एक क्षण परिभाषा करने या अनुवाद करने में समर्थ लगती हैं, दूसरे क्षण स्वयं विखंडित हो जाती हैं या विखंडन के योग्य लगने लगती हैं। इसलिए विखंडन एक विमर्श मात्र है या ऐसा लेखन है जो शब्द की 'विचार' का पर्याय बनने की असमर्थता को व्यक्त करता है। इसलिए वे सब वाक्य ग़लत हैं, जो कहते हैं कि विखंडन यह है या विखंडन यह नहीं है। इसलिए देरीदा ने निम्नलिखित प्रश्नोत्तरों के रूप में विखंडन शब्द को ले कर जो कुछ कहा है, वह इस दुविधा को स्पष्ट कर देता है : "विखंडन क्या नहीं है? विखंडन सब कुछ है। विखंडन क्या है? विखंडन कुछ नहीं है।" (लिट्रेरी थियरीज़, सं. जूलियान वूलफ्रेज़, पृ. 286)

जब विखंडन का प्रस्तोता ही ऐसी बात कहता है तो औरों की तो क्या बिसात! इसलिए विखंडन के रूप में नया तर्कवाद सामने आया है, उसकी कृत्रिमता और अस्थिरता किसी संरचना को खोलने की अचूक चाबी नहीं हो सकती। विखंडनवादी लेखकों का नवतर्कवाद, श्लेष और शब्दव्युत्पत्तियों का उपयोग, उनकी निजी अपारदर्शी शैलियां पाठकों को एक साथ आकर्षित भी करती हैं और विकर्षित भी। देरीदा और उसके अनुयायियों ने सैद्धांतिक और व्यावारिक स्तर पर विखंडन का जो उपयोग किया है, उससे इतना ही सिद्ध हुआ है कि किसी भी रचना का कोई पाठ या उसको ले

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कर निकाला गया कोई आलोचनात्मक निष्कर्ष अंतिम नहीं है। हर रचना की पुनर्व्याख्या, पुनर्पाठ या पुनर्मूल्यांकन न केवल संभव है, अपितु आवश्यक भी है। विखंडन किस संदर्भ में किया जा रहा है, इसका महत्त्व इसी से स्पष्ट होता है और हमें संदर्भानुसार रचना को पढ़ने और मानसिक जड़ता से मुक्त होने के लिए प्रेरित करता है।

## उत्तरआधुनिकतावाद (पोस्टमॉडर्निज़्म)

हिंदी में 'उत्तरआधुनिकता', 'पोस्टमॉडर्निटी' और 'उत्तरआधुनिकतावाद', 'पोस्टमाडर्निज़्म' के पर्यायवाची के रूप में बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में प्रचलित हुआ। योरोप में 'पोस्टमॉडर्निटी', 'पोस्टमॉडर्निज़्म' और 'पोस्टमॉडर्न' शब्दों का प्रयोग कब शुरू हुआ, इस पर मतभेद है। बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में फेडरीको द ओनिस ने 'पोस्टमाडर्निज़्म' शब्द का प्रयोग 'आधुनिकवाद में पारंपरिकता के उतार' के लिए किया (मेरी एण्डर्सन : द ओरिजन्स ऑफ़ पोस्टमाडर्निटी, पृ. 3)। अंग्रेज़ी में बीसवीं शताब्दी के पांचवें दशक में इस शब्द का प्रचलन वास्तुकला की एक शैली की परिभाषा के रूप में हुआ। चार्ल्स जैन्क्स के अनुसार, 'पोस्टमाडर्निज़्म' शब्द का सबसे पहले प्रयोग शायद ऑर्नल्ड टॉयन्बी ने अपनी पुस्तक 'एक स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' में ऐतिहासिक कालखंडों के लिए किया। उनकी यह प्रसिद्ध पुस्तक 1938 ई. में लिखी जा चुकी थी, किंतु इसका प्रकाशन 1947 ई. में हुआ। स्पष्ट है कि उपर्युक्त तीनों शब्दों का प्रयोग अपनी प्रारंभिक अवस्था में बहुत सुचिंतित और सुनिश्चित ढंग से नहीं हुआ था। उनके प्रारंभिक प्रयोग का क्षेत्र भी अस्थिर रहा है। पहले इनका प्रयोग कला के क्षेत्र में हुआ। कलाओं में चित्रकला और वास्तुकला मुख्य थीं। उसके बाद समाजशास्त्रियों ने इनका प्रयोग करना प्रारंभ किया। बीसवीं शताब्दी के पांचवें दशक में इनका प्रयोग काव्यशास्त्र या आलोचना के क्षेत्र में लेसली फील्डर, फ्रैंक करमोड जैसे आलोचकों ने आधुनिकता के बाद के प्रयोगवादी कथा-साहित्य की आलोचना में पारिभाषिक शब्द के रूप में किया। बाद में इसका प्रयोग फ़िल्म आदि की आलोचना के क्षेत्र में होने लगा। 1980 के बाद उपर्युक्त शब्द यूरोप और अमेरिका में अत्यधिक प्रयोग में आने लगे और उपर्युक्त क्षेत्रों के अतिरिक्त इनका प्रयोग प्रबंधन, समाजकार्य, अध्यापन, क़ानून इत्यादि के क्षेत्रों में भी प्रचुरता से होने लगा।

उत्तरआधुनिक, उत्तरआधुनिकता और उत्तरआधुनिकतावाद शब्दों के अत्यधिक प्रयोग के बावजूद अभी तक इनका कोई सर्वसम्मत अर्थ या परिभाषा तय नहीं हो पायी है। आज भी इनके अर्थ को ले कर गरमागरम बहस चल रही है। शाब्दिक स्तर पर 'उत्तरआधुनिक' शब्द उत्तर + आधुनिक इन दो शब्दों से मिल कर बना है, जिसका अर्थ आधुनिक का विकसित परवर्ती रूप भी हो सकता है और आधुनिक के बाद का उसका विरोधी रूप भी हो सकता है। उत्तराआधुनिकता उत्तरआधुनिक विशेषण से बनी संज्ञा है। उत्तरआधुनिकता से जब उत्तरआधुनिकतावाद बनता है, तब उसका शब्दार्थ होगा—आधुनिकता की परवर्ती विचारपद्धति या विचारधारा या उसकी विरोधी विचारपद्धति या विचारधारा। लेकिन ऐसे मामलों में केवल शब्दार्थ से बात नहीं बनती। बात बनती है शब्दार्थ के साथ जुड़ी विचारपद्धति या विचारधारा के स्पष्टीकरण से।

एक विचारपद्धति या विचारधारा के रूप में उत्तरआधुनिकतावाद अत्यंत विवादास्पद है। लेकिन इतना निश्चित है कि जैसे आधुनिकतावाद पूंजीवादी व्यवस्था की उपज था, वैसे ही उत्तर-आधुनिकतावाद उत्तरपूंजीवादी व्यवस्था की उपज है। पूंजीवादी व्यवस्था के केंद्र में औद्योगीकरण और उत्पादन थे, उत्तरपूंजीवादी व्यवस्था के केंद्र में प्रौद्योगिकी और उपभोगवाद (बाज़ारवाद) है। यदि प्रौद्योगिकी के विकास ने ज्ञान के स्वरूप, उसके अर्जन और वितरण में क्रांति ला दी है तो

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उपभोगवाद ने बाज़ार को केंद्रस्थ कर दिया है, और ये दोनों परस्पर संबद्ध हैं। इनके कारण पूरा विश्व सूचना (मीडिया)-समाज बनता जा रहा है और हर व्यक्ति उपभोक्ता बनता जा रहा है। इन दोनों को नियंत्रित करता है बाज़ार। आज पूरा विश्व एक बाज़ार बनता जा रहा है। यही भूमंडलीकरण है। इस विश्वबाज़ार में मनुष्य विक्रय की वस्तु भी है, विक्रेता भी है और क्रेता भी। अब मनुष्य, मनुष्य नहीं रह गया है; एक 'वस्तु' बन गया है, एक संसाधन—'ह्यूमन रिसोर्स'—बन गया है। इसीलिए ल्योतार्द ने अपनी पुस्तक 'पोस्टमॉडर्न कंडीशन' में उत्तरआधुनिक समाज से जुड़ी तीन चीज़ों पर विचार करने का आग्रह किया है :

1. बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास में भाषिकी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। कंप्यूटर ने जिस कृत्रिम मस्तिष्क का विकास किया है, उसकी आवश्यकता के लिए भाषा का निर्माण, उस भाषा के माध्यम से सूचनाएं एकत्र करना, उन सूचनाओं को वितरित करने की पद्धति, विभिन्न प्रयोजनों की सिद्धि के लिए 'प्रोग्रैम' बनाना, उनका औद्योगिक उत्पादन, सूचनाओं के भंडारण, डाटा-बैंकों की स्थापना, यांत्रिक अनुवाद तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यों को संपन्न करने में भाषिकी केंद्रस्थ रही है।

2. प्रौद्योगिकी के विकास ने ज्ञान का स्वरूप और लक्ष्य बदल दिया है। अब ज्ञान साध्य न रह कर, साधन बन गया है। वह बाज़ार की वस्तु बन गया हैं। उसे ख़रीदा-बेचा जा सकता है। जिस ज्ञान को ख़रीदा-बेचा नहीं जा सकता, वह व्यर्थ है। अब ज्ञान सूचना का पर्याय बन गया है। इसलिए उसका थोक में उत्पादन और विक्रय होता है। वह ज्ञानार्जन करने वाले व्यक्ति के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग नहीं रह गया है। अब ज्ञान नियंत्रण नहीं करता है, नियंत्रित होता है। ज्ञानार्जन, ज्ञानसंचय और ज्ञानवितरण जितना लघु रूप धारण करते जा रहे हैं, उनका उतना ही महत्त्व और मूल्य बढ़ता जा रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में मानविकी, समाजविज्ञान और सैद्धांतिक भौतिक विज्ञानों की अपेक्षा प्रौद्योगिकी का बढ़ता महत्त्व इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। आज आइंस्टीन महत्त्वपूर्ण नहीं है, बिल गेट्स महत्त्वपूर्ण है।

3. उत्तरआधुनिक समाज में वही ज्ञान सार्थक है, जिसे वैद्युत मस्तिष्क में संचित किया जा सकता है और जिसे बाज़ार में बेच कर धनार्जन किया जा सकता है और जिसके माध्यम से शक्ति अर्जित की जा सकती है। जो ज्ञान मानव-व्यक्तित्व को संपन्न बनाने की दृष्टि से अर्जित या विकसित किया जाता है, वह उत्तरआधुनिकों के लिए निरर्थक है।

ज्ञान के इस स्वरूप-परिवर्तन ने विश्व का चित्र ही बदल दिया है। जिन कारख़ानों में उत्पादन करने के लिए शारीरिक श्रम करने वाले मज़दूर या तकनीशियन संलग्न होते थे, उन कारख़ानों में उनका स्थान कंप्यूटर, कंप्यूटरचालित यंत्र और कंप्यूटर-संचालित नियंत्रक ले रहे हैं। उत्पादन बढ़ रहा है, लेकिन रोज़गार घट रहा है। यह स्थिति उत्पादन के स्तर पर ही नहीं, वितरण के स्तर पर भी दिखायी दे रही है। बाज़ार में बैठे ख़ुदरा व्यापारी का स्थान वे बड़े-बड़े 'मॉल' ले रहे हैं, जिनमें बड़ी पूंजी लगी है, जिनमें एक ही स्थान पर दुनियाभर की हर चीज़ सुलभ है और जिनमें बिक्री करने में मनुष्यों की अपेक्षा यंत्रों की भूमिका ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। स्पष्टतः ज्ञान शक्ति का पर्याय बनने लगा है। इसका प्रभाव एक ही समाज के विभिन्न मानव-समुदायों पर ही नहीं पड़ रहा है, अपितु विभिन्न देशों की सापेक्ष शक्ति और संबंधों पर भी पड़ रहा है। जो देश ज्ञान के इस नये स्वरूप और उसके संचय-वितरण की प्रौद्योगिकी में जितने संपन्न होंगे, वे उतने ही शक्तिशाली होंगे। अब शक्तिशाली और दुर्बल राष्ट्र की कसौटी भौतिक क्षेत्र और संसाधन उतने नहीं होंगे जितने नया ज्ञान और प्रौद्योगिकी होंगे। अब देशों में पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा नये ज्ञान और प्रौद्योगिकी पर नियंत्रण को

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ले कर होगी। विश्व-व्यापार-संगठन (W.T.O.) की गतिविधियों ने इसे सिद्ध करना प्रारंभ भी कर दिया है। इसीलिए कहा जाता है कि "ज्ञान स्वाभाविक या तटस्थ नहीं है, अपितु सत्ता-संघर्ष की उपज है।" इसलिए अगला विश्वयुद्ध ज्ञान पर नियंत्रण के लिए लड़ा जायेगा और ज्ञान के द्वारा लड़ा जायेगा।

ज्ञान के स्वरूप की इस नवीनता को ध्यान में रख कर ही लियोतार्द ने ज्ञान के दो रूपों की चर्चा की है—ज्ञान या वैज्ञानिक ज्ञान और आख्यान। ये दोनों ज्ञानरूप परस्पर विरोधी और प्रतिस्पर्द्धी हैं। ज्ञान का अर्थ भौतिक विज्ञानों से संबद्ध तर्क और प्रमाणों से सिद्ध ज्ञान है। आख्यान (नैरेटिव) के अंतर्गत सांस्कृतिक परंपराएं, देवमालाएं, मिथक, दर्शन, दंतकथाएं, सामाजिक-नैतिक मूल्यबोध, सौंदर्यबोध आदि सम्मिलित हैं। सी.पी. स्नो ने जब दो संस्कृतियों की बात की थी, तब ज्ञान के इसी विभाजन को रेखांकित किया था। इनमें से वैज्ञानिक ज्ञान को यथार्थ माना गया था, जबकि आख्यान को अयथार्थ। आधुनिक काल में वैज्ञानिकों ने आख्यान या विज्ञानेतर ज्ञान को अर्धबर्बर, अर्धसभ्य, पुरातनपंथी, पिछड़ा, अंधविश्वासी, भ्रांत, अज्ञानग्रस्त आदि न जाने क्या-क्या नहीं सिद्ध किया। उन्होंने यह भी घोषणा की थी कि तर्क और प्रमाण तथा प्रयोगशालाओं में सिद्ध वैज्ञानिक ज्ञान के आ जाने के कारण आख्यान समाप्त हो जायेंगे, लेकिन ऐसा हुआ नहीं। कारण, समाज के अस्तित्व, उचित-अनुचित के निर्णय और मानव-मनीषा के निर्माण के लिए आख्यान का होना आवश्यक है। यही नहीं, वैज्ञानिक ज्ञान को भी अपने औचित्य-अनौचित्य की पुष्टि के लिए आख्यान की आवश्यकता है। वैज्ञानिक ज्ञान में भी किसी-न-किसी रूप और परिमाण में आख्यान विद्यमान है।

इसके कारण उत्तरआधुनिक में आख्यान (नैरेटिव) और महाख्यान (मेटानैरेटिव) के प्रति अविश्वास का भाव बना हुआ है। लियोतार्द ने उत्तरआधुनिक को इसी अविश्वास के आधार पर परिभाषित किया है। उसने लिखा है कि, "अतिसरलीकरण के रूप में मैं उत्तरआधुनिक को महाख्यान के प्रति अविश्वास के रूप में परिभाषित करता हूं" (द पोस्टमॉडर्न कंडीशन, मैनचेस्टर, 1984; पृ. 24)। लेकिन बीसवीं शताब्दी में यह अविश्वास तो भौतिक वैज्ञानिक ज्ञान के प्रति भी उत्पन्न हो गया है। वैज्ञानिक अनुशासन जैसे-जैसे अनेक उपअनुशासनों को जन्म दे रहे हैं, वैसे-वैसे यह मानना दुष्कर होता जा रहा है कि वे एक ही उद्यम के अंश हैं। अब वे मात्र भाषिक क्रीड़ा लगने लगे हैं और अंततः ऐसा लगने लगा है कि वैज्ञानिक ज्ञान की सारी प्रक्रिया अंततः व्यक्तिपरक है। वैज्ञानिक ज्ञान की वैधता पर तो उन्नीसवीं शताब्दी में ही नीत्शे ने प्रश्नचिह्न लगा दिया था, लेकिन बीसवीं शताब्दी के उत्तरकाल में कंप्यूटर तकनीकों ने तो इसे पुष्ट कर दिया। अब ज्ञान के मौलिक मूल्य या प्रयोजन का स्थान उसकी व्यावहारिकता, विभिन्न तन्त्रों की कार्यकुशलता और उत्पादनशीलता आदि ने ले लिया है। कंप्यूटर के द्वारा प्रस्तुत आंकड़े अब न केवल विश्वसनीयता का आधार बन गये हैं, अपितु अनुसंधान के शैली-निर्देशक भी बन गये हैं। लियोतार्द का कहना है कि अब ज्ञान का औचित्य और उपयोग तात्कालिकता का अतिक्रमण शायद ही कभी करता हो। ऐसी स्थिति में महाख्यानों की किसे आवश्यकता है, जबकि प्रबंधन से सबकुछ किया जा सकता है। 'प्रबंधन संस्थानों' (मैनेजमेंट इंस्टीट्यूट्स) का महत्त्व इसी उत्तरआधुनिकता का प्रमाण और परिणाम है। दूसरे महायुद्ध के बाद के उदार पूंजीवाद या उत्तरपूंजीवाद ने साम्यवादी महाख्यान को विस्थापित कर दिया और वस्तुओं एवं सेवाओं के वैयक्तिक उपभोग को गरिमामय बना दिया। इसकी ओर संकेत करते हुए लियोतार्द ने कहा है कि साम्यवादी विचारधारा और 1989 के बाद साम्यवादी राजनीतिक तंत्र के विघटन ने सामाजिक सामूहिकता के स्थान पर न केवल व्यक्ति की वैयक्तिकता को स्थापित किया, अपितु अभिरुचियों और फ़ैशनों के केंद्र भी स्थापित कर दिये। उसके लिए

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

साम्यवाद (मार्क्सवाद) का भविष्य उत्तरआधुनिकता के प्रश्न का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है, क्योंकि आधुनिक काल का इससे भव्य महाख्यान दूसरा नहीं है। वह मार्क्सवाद की सीमित व्याख्यात्मक उपयोगिता को स्वीकार करते हुए भी उसकी स्थापना है कि अब कंप्यूटरजनित सूचनाएं स्वयं एक पण्य पदार्थ बन गयी हैं और इसके कारण मार्क्सवाद की सार्वभौमिकता हमेशा के लिए समाप्त हो गयी है।

इस उत्तरआधुनिक परिस्थिति ने व्यक्ति को केंद्रस्थ तो कर दिया है, लेकिन वह इस स्थिति से उत्पन्न किन परिणामों को भुगत रहा है? फूको ने अपने अध्ययनों से निष्कर्ष निकाला कि मानव की मृत्यु हो गयी है। अब वह मात्र विषय है, विषयी नहीं है। सत्ता/शक्ति उसका उपयोग करती है। अब उसका सचेत, सक्रिय, विद्रोही मनुष्य वाला रूप नहीं रह गया है। फूको को लगता है कि स्वतंत्रता आधुनिकतावाद की कल्पना मात्र थी। उत्तरआधुनिक स्थिति का अंतर्विरोध अत्यधिक स्वतंत्रता और अत्यधिक पराधीनता का अंतर्विरोध है, जहां विकल्पों की भरमार है, लेकिन व्यक्ति वरण के लिए स्वाधीन नहीं है। ज्यां बोद्रीला उत्तरआधुनिकता के एक और पक्ष को सामने लाता है। यह पक्ष संप्रेषण की प्रकृति से संबंधित है। आधुनिक काल से पहले दो व्यक्ति आमने-सामने प्रतीकों के माध्यम से अपनी बात संप्रेषित करते थे। आधुनिक काल में इसका स्थान पहले मुद्रण-माध्यमों ने ले लिया और अब संप्रेषण इलैक्ट्रानीय जनसंचार-माध्यमों से बिंबों के द्वारा किया जाता है। दूर दूर तक फैले विषम विकसित समाजों तक फ़िल्म-संग्रथन (मोंटाज़) के माध्यम से विशेष प्रभाव उत्पन्न करने के लिए संप्रेषण किया जाता है। संप्रेषण की इस प्रक्रिया में क्रांतिकारी रूप से यथार्थ की समझ बदल जाती है। यथार्थ परंपरागत अर्थ में यथार्थ नहीं रह जाता। उत्तरआधुनिक यथार्थ परायथार्थ (हाइपररियल्टी) है, जिसमें पदार्थों और उनके प्रतीकों का अंतर समाप्त हो जाता है। हम तक संप्रेषित होता है संप्रेषणीय वस्तु या पदार्थ का प्रतिरूप या छलरूप (सिम्यूलेकरा)। ये प्रतिरूप स्वयं संदर्भित होते हैं। संप्रेषित प्रतीक संप्रेषणीय वस्तु से विच्छिन्न हो जाते हैं। टी.वी. पर दिखाये जाने वाले अनेक विज्ञापनों में वह वस्तु दिखायी नहीं जाती, जिसे विज्ञापित किया जाता है। यह अर्थहीनता की अभूतपूर्व स्थिति है। ऐसा लगता है, जैसे यथार्थ और अयथार्थ, सत्य और असत्य, नैतिक और अनैतिक के बीच कोई अंतर ही नहीं रह गया है। यथार्थ और आभासित यथार्थ (वर्चुअल रियल्टी) का अंतर समाप्त हो गया है। अर्थ माध्यमों (निगमों, सरकारों, बाज़ारों आदि की क्रियाओं) और संस्कृति (अर्थ व्यक्तिगत है) के बीच विभाजित हो कर बिखर गया है।

इस स्थापना में आंशिक सचाई है। पूरा समाज तो नहीं, लेकिन जितना समाज उत्तरआधुनिक स्थिति में पहुंच गया है, उसमें उल्लास का स्थान गहरे अवसाद ने और आशा का स्थान गहरी निराशा ने ले लिया है। इसीलिए उत्तरआधुनिक समाजों के अनेक बौद्धिकों का अतीतमोह (नस्तालिज़्या) प्रबल हो रहा है। लेकिन इस अतीतमोह का प्रतिफलन क्या होगा, यह किसी के सामने स्पष्ट नहीं है।

उत्तरआधुनिकता के अवसाद और हताशा का मुख्य कारण यह है कि आधुनिकता तक विकसित प्रायः सभी महाख्यान—द्वंद्वात्मक निरपेक्ष सत्य, मानव-स्वातंत्र्य, वर्गहीन, शोषणमुक्त समाज, विकास, संपन्नता, शांति और युद्धहीनता आदि—खंडित हो चुके हैं। एकीकृत विश्व-समाज की परिकल्पना भी खंडित हो चुकी है। इस समय जो विश्व-समाज अस्तित्व में आया है, वह विखंडित, बहुलतावादी, वैषम्यपूर्ण, साम्राज्यवादी तथा आतंकवादी हिंसा से परिपूर्ण है।

उत्तरआधुनिकता संबंधी चिंतन अभी न तो अपनी अंतिम परिणति तक पहुंचा है और न ही उसका कोई केंद्रीय एकीकृत रूप सामने आया है। उसने जितने प्रश्न पैदा किये हैं, उतने उत्तर प्रस्तुत

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नहीं किये हैं। उत्तरआधुनिकता संबंधी तमाम ऊहापोह के बावजूद यह मौलिक प्रश्न अनुत्तरित है कि यह मान लेने पर कि उत्तरआधुनिकता ने आधुनिकता की संभावनाओं को समाप्त कर दिया है, क्या हमारे सामने विभिन्न चीज़ों की 'मृत्यु' की घोषणा करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं बचा है? क्या मनुष्य की सारी शब्द-केंद्रित क्रियाएं ऊर्जाविहीन या मृत हो गयी हैं? क्या मानव-सभ्यता के सामने अवसाद और हताशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं बचा है? मनुष्य की हज़ारों वर्ष की सभ्यता और संस्कृति की यात्रा का इतिहास तो यही सिद्ध करता है कि उत्तरआधुनिकता के अवसाद और हताशा जैसे दुष्चक्रों में वह अनेक बार फंसा है। उसने खंड प्रलय और महाप्रलय का साक्षात्कार अनेक बार किया है, लेकिन वह पूरी तरह पराजित या मृत कभी नहीं हुआ है। उसने परिस्थितियों के सामने अपने को अनेक बार विवश और निरुपाय अनुभव किया है। इस बार भी वह उत्तरआधुनिक परिस्थिति के सकारात्मक पक्षों का दोहन करेगा और नकारात्मक पक्षों पर विजय प्राप्त करेगा।

## नारी-विमर्श

नारीवाद या नारी-विमर्श (फेमिनिज़्म/फ़ेमिनिस्ट डिस्कोर्स) का प्रारंभ कब हुआ, इसके संबंध में विद्वानों में सुनिश्चित एकमतता नहीं है। कुछ लोगों के अनुसार इसका प्रारंभ उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ, जब पश्चिम में स्त्रियों के मताधिकार और पाश्चात्य संस्कृति में स्त्रियों के योगदान पर चर्चा होने लगी थी। लेकिन वास्तविकता यह है कि स्त्री-विमर्श बीसवीं शताब्दी की देन है। बीसवीं शताब्दी में भी कुछ लोग इसका प्रारंभ फ्रांसीसी लेखक सिमोन द बुआ की पुस्तक 'द सेकंड सेक्स' (1949)के प्रकाशन-वर्ष से मानते हैं और कुछ मैरी एलमन की पुस्तक 'थिंकिंग एबाउट वीमन' (1968) के प्रकाशन-वर्ष से। लेकिन अधिकांश विद्वान इस तरह के किसी वर्ष-विशेष को स्त्री-विमर्श का प्रस्थान बिंदु मानना उचित नहीं समझते, क्योंकि बीसवीं शताब्दी में ही इससे पहले भी स्त्री की अलग पहचान, उसके स्वतंत्र अस्तित्व और उसके अधिकारों की समस्याओं को उठाया जाने लगा था। उदाहरण के लिए, वर्जीनिया वुल्फ ने अपनी पुस्तक 'ए रूम ऑफ़ वंस ओन' (अपना निजी कक्ष : 1929) में लिखा था : ''ह्वाइटहाल के पास से गुज़रते हुए किसी भी स्त्री को अपने स्त्रीत्व का बोध होते ही अपनी चेतना में अचानक उत्पन्न होने वाली दरार को ले कर आश्चर्य होता है कि मानव-सभ्यता की सहज उत्तराधिकारिणी होने पर वह इसके बाहर, इससे परकीय और इसकी आलोचक कैसे हो गयी है।'' वर्जीनिया वुल्फ़ की इस पुस्तक ने यूरोप और अमरीका के स्त्री-विमर्श को ही नहीं, भारतीय स्त्री-विमर्श को भी प्रभावित किया है। हिंदी की घोषित नारीवादी लेखिका प्रभा खेतान (उपनिवेश में स्त्री, 2003) भी इस पुस्तक से प्रभावित हुई हैं और सिमोन दि बुआ की पुस्तक 'द सेकंड सेक्स' से भी। यूरोप और अमरीका में नारीवाद ने बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में ख़ूब ज़ोर पकड़ा और मोनीक विटिंग, काटे मिलेट, जूलिया क्रिस्टीवा, हेलेन सिक्सस, एलीन मोअर्स, एलेन शोवाल्टर, एंजिला कार्टर, मैरी जैकोबर्स आदि अनेक नारीवादी लेखिकाओं की पुस्तकें प्रकाशित हुईं। हिंदी में नारी-विमर्श ने बीसवीं शताब्दी के लगभग अंत में ज़ोर पकड़ा है और अनेक लेखिकाएं उसमें शामिल हुई हैं। हिंदी में नारी-विमर्श की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें इस प्रकार हैं : बाधाओं के बावजूद नयी औरत (उषा महाजन, 2001), स्त्री-सरोकार (आशारानी व्होरा, 2002), हम सभ्य औरतें (मनीषा, 2002), स्त्रीत्व-विमर्श : समाज और साहित्य (क्षमा शर्मा, 2002), स्वागत है बेटी (विभा देवसरे; 2002), स्त्री-घोष (कुमुद शर्मा, 2002), औरत के लिए औरत (नासिरा शर्मा, 2003), खुली खिड़कियां (मैत्रेयी पुष्पा, 2003), उपनिवेश में स्त्री

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(प्रभा खेतान, 2003), हिंदी-साहित्य का आधा इतिहास (सुमन राजे, 2003) इत्यादि। इनके अतिरिक्त हिंदी की अनेक लेखिकाएं नारीवादी होने का दावा कर रही हैं और नारीवादी साहित्य के सृजन में संलग्न हैं।

असल में हुआ यह है कि आधुनिक काल में आर्थिक-राजनीतिक क्षेत्र में जो तीव्र परिवर्तन हुए हैं, उन्होंने समाज की स्थिरता को भंग किया है और पारंपरिक मूल्य-व्यवस्था विखंडित हुई है। इसके कारण बृहद् समाज के बदले छोटे-छोटे सामाजिक समूहों और व्यक्तियों का महत्त्व बढ़ा है और उन्होंने अपनी स्वतंत्रता, अलग पहचान और महत्त्व को मनवाने का प्रयत्न किया है। पश्चिम में नारीवाद के अतिरिक्त समलैंगिकों, अश्वेतों तथा हाशिये पर पड़े अन्य वर्गों ने अपनी अलग पहचान बनाने के प्रयत्न किये हैं, जिसके परिणामस्वरूप वहां अनेक नयी सैद्धांतिकियां अस्तित्व में आयी हैं। हिंदी में नारीवाद के अतिरिक्त दलित-विमर्श ने ही प्रमुखता पायी है।

नारी-विमर्श हो या दलित-विमर्श, सैद्धांतिकी के स्तर पर अभी ऊहापोह की ही अवस्था है। राजनीति, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, जीवविज्ञान आदि के क्षेत्रों में स्त्री-विमर्श संबंधी सैद्धांतिकी निर्माणावस्था में है। साहित्य के क्षेत्र में उसके मुख्य सरोकार पारंपरिक पाठ पद्धति के स्थान पर नयी पाठ-पद्धति की खोज और पाठ-पद्धति की राजनीति में हस्तक्षेप है। पाठ-पद्धति में परिवर्तन हमारी विश्वदृष्टि और हमारे अनुभव को बदल सकता है। स्त्री-विमर्श से संबद्ध साहित्यिक सैद्धांतिकी मोटे तौर पर निम्नलिखित स्थापनाओं को आधार बना कर चली है :

1. साहित्यिक शब्द और सांसारिक यथार्थ परस्पर संबद्ध हैं। साहित्य दैनंदिन जीवन के यथार्थ का अतिक्रमण नहीं करता है। वह यथार्थ का प्रतिबिंब होता है, वह यथार्थ का सृजन करता है और वह यथार्थ के विकल्प भी प्रस्तुत करता है। पाठ (टैक्स्ट) विशिष्ट यथार्थ में से रचा जाता है, इसलिए अपने समय, स्थान और उत्पादन-पद्धति को प्रतिबिंबित करता है। वह सृजन के समय के विशिष्ट इतिहास और भूगोल से संबद्ध होता है और अपने पठन (रीडिंग्ज़) के समय के विशिष्ट इतिहास और भूगोल से भी। यह स्थापना साहित्य के संबंध में इस अत्यधिक रूढ़ स्थापना का ही नया रूप है कि 'साहित्य समाज का दर्पण है'। यह स्थापना मार्क्सवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद से भी जा कर जुड़ जाती है।

2. स्त्री-विमर्श की दूसरी साहित्यिक स्थापना यह है कि कृति का पाठ और उसमें अभिव्यक्त विश्व के बीच के संबंध अनिवार्यतः राजनीतिक होते हैं, क्योंकि व्यापक अर्थ में वे सत्ता-शक्ति से संबद्ध होते हैं। पाठ मान्य व्यवहार और विश्वास अर्थात विशेष मूल्य-व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करने का दावा करता हुआ अवपीड़क हो सकता है। किसी विशिष्ट देशकाल के रहन-सहन, आचरण सोच आदि के विकल्प प्रस्तुत करके वह दमनकर्त्ता भी बन सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि साहित्य जीवन और जगत से संबद्ध है तथा उसका प्रतिबिंब है, तो वह जीवन और जगत को बदलने में भी समर्थ है। इसलिए स्त्री-विमर्शवादियों का कहना है कि पाठ और पठन की एक राजनीति है। इसलिए साहित्यिक कृति को एक विशिष्ट ढंग से पढ़ना चाहिए और पढ़ने के विशिष्ट ढंग को ध्यान में रख कर लिखना चाहिए। इससे बहुत फ़र्क़ पड़ता है। जिन कृतियों को पहले एक विशेष परिप्रेक्ष्य में और एक विशेष ढंग से पढ़ा गया है, यदि उन्हीं कृतियों को किसी अन्य परिप्रेक्ष्य में किसी अन्य ढंग से पढ़ा जाये तो पहले से भिन्न निष्कर्ष निकलेंगे।

3. इन्हीं चीज़ों को ध्यान में रख कर स्त्री-विमर्शवादी अपने को स्त्री पर केंद्रित करते हैं। यह स्त्री-केंद्रण बहुत अर्थपूर्ण है। जातिवाचक संज्ञा के रूप में जब 'स्त्री' शब्द का प्रयोग किया जाता है, तब उसमें बहुत-सी संभावनाएं अंतर्निहित होती हैं। हर स्त्री एक जैसी नहीं होती। हर स्त्री एक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

व्यक्ति के रूप में एक विशिष्ट इकाई होती है। फिर प्रत्येक स्त्री जीवन के विभिन्न मोड़ों पर और स्थितियों में अलग-अलग होती है। वह एक ही जीवन में अनेक स्त्री-जीवन जीती हैं। स्त्री के अनेक चेहरे हैं। फिर भी स्त्री पर अपने को केंद्रित करना स्त्री-विमर्शकों का मुख्य सरोकार है। मार्क्सवादियों की स्थापना है कि आर्थिक स्थितियां प्रतिस्पर्द्धा और मनुष्य के दमन/शोषण पर आधारित होती हैं। स्त्रीवादी मानते हैं कि स्त्री आर्थिक दमन/शोषण के साथ ही अन्य प्रकार के दमन/शोषण का भी शिकार होती है। सामाजिक संरचनाएं उसे शिक्षा और रोज़गार के उचित अवसर प्रदान नहीं करतीं। उसका शारीरिक स्तर पर दमन/शोषण किया जाता है। बच्चे जनना और उन्हें पालना 'स्त्री' का काम है। पुरुष की तुलना में शारीरिक रूप से दुर्बल होने के कारण उसे मारा-पीटा जाता है, उसके साथ बलात्कार किया जाता है। सांस्कृतिक स्तर पर उसे दमन/शोषण का शिकार बनाया जाता है। यौन शुद्धता या सतीत्व के मूल्य स्त्री से संबद्ध हैं। स्त्री को पतिव्रता होना चाहिए, पुरुष को पत्नीव्रती होने की ज़रूरत नहीं है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी स्त्री का दमन/शोषण किया जाता है। स्त्रियों के पास पुरुषों जैसे सबल तन, मन और मस्तिष्क नहीं! सुंदरता, कोमलता, समर्पण आदि उसके गुण हैं। शक्ति, कठोरता, शासन आदि पुरुष के गुण हैं, स्त्री के अवगुण। 'गोदान' के पंद्रहवें परिच्छेद में वीमेंस लीग़ में दिये गये अपने भाषण में प्रोफ़ेसर मेहता स्त्री और पुरुष के गुणों-अवगुणों का जो विवरण प्रस्तुत करते हैं, उसे स्त्री-विमर्शक आसानी से स्त्री के मनोवैज्ञानिक दमन/शोषण के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। स्त्री-पुरुष का मौलिक अंतर शताब्दियों से चली आ रही अवधारणा का ही यह सूत्रात्मक निष्कर्ष है कि पुरुष में स्त्री के गुण आ जाते हैं तो वह महात्मा बन जाता है, स्त्री में पुरुष के गुण आ जाते हैं तो वह कुलटा बन जाती है। सिमोन दि बुआ ने अपनी पुस्तक 'द सेकंड सेक्स' में इस अवधारणा का खंडन किया है। उनकी स्थापना है कि बचपन से ले कर युवावस्था तक उसे जिन स्थितियों में रखा जाता है, जो शिक्षा-दीक्षा दी जाती है, उसके कारण स्त्री पुरुष से भिन्न बनती है। स्त्री और पुरुष के जिन भिन्न और परस्पर विरोधी गुणों की बात की जाती है, वे मौलिक या प्राकृतिक गुण नहीं हैं, अपितु मानव-सभ्यता की देन हैं।

जिस मानव-सभ्यता ने स्त्री और पुरुष की गुणात्मक भिन्नता को जन्म दिया है, वह पितृसत्तात्मक मानव-सभ्यता है। इस मानव-सभ्यता में पिता शासक/नियंता होता है। नारीवादियों का कहना है कि पितृसत्ता घर, राज्य, धर्म-संस्थानों, क़ानून, शिक्षा-संस्थानों, कर्मस्थलों अन्य सांस्कृतिक संस्थानों आदि में सर्वत्र सक्रिय है। यहां तक कि वह स्वयं स्त्रियों में भी सक्रिय हैं, क्योंकि पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियां भी उन मूल्यों को आत्मसात कर लेती हैं, जो उपर्युक्त सत्ता-संस्थानों के द्वारा उनके सामने परोसे जाते हैं। इन पितृसत्तात्मक संरचनाओं की बात मार्क्सवादियों और मनोविश्लेषणवादियों ने भी की है। लेकिन नारीवादियों ने स्त्री पर पड़ने वाले इनके प्रभावों पर स्वयं को केंद्रित किया है। उनका मानना है कि कोई भी दमनकारी संरचना जितना स्त्री को प्रभावित करती है, उतना पुरुष को नहीं। वे इन दमनकारी संरचनाओं का यथार्थ रूप सामने लाना चाहते हैं और इन्हें बदलना चाहते हैं। नारीवादी साहित्य-सैद्धांतिकी का उपयोग भी इसके लिए करते हैं। उनके अनुसार पढ़ना-लिखना, चिंतन करना, आलोचना करना—इन सबका लक्ष्य एक ही है, अर्थात दमनकारी संरचनाओं के यथार्थ का उद्घाटन और उन्हें बदलना। इसलिए नारीवादी स्वयं को उन सैद्धांतिकियों के साथ जोड़ते हैं, जिन्होंने मनुष्य और मनुष्य के बीच की अनेक प्रकार की विषमताओं के उद्घाटन और रेखांकन को अपना लक्ष्य बनाया है, जैसे मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद, रंगभेद संबंधी सैद्धांतिकी, उत्तर-उपनिवेशवादी सैद्धांतिकी, समलैंगिकता संबंधी सैद्धांतिकी आदि। नारीवादियों का मानना है कि नारी और पुरुष के बीच की विषमता को पक्षधर और नारी का शोषण और दमन करने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वाली संरचनाओं को बदलने के लिए क्रांति की आवश्यकता है।

हिंदी में नारीवाद की जो सुगबुगाहट शुरू हुई है, वह निःसंदेह पश्चिम से प्रभावित है। इसलिए कई बार पश्चिमी नारीवादियों की स्थापनाओं की अनगूंज हमें उसमें सुनायी देती है। प्रभा खेतान ने अपनी पुस्तक 'उपनिवेश में स्त्री : मुक्ति कामना की दस वार्त्ताएं' में पश्चिम में नारीवाद को ले कर चलने वाली गतिविधियों का सविस्तार हवाला दिया और वहां से प्रेरित हो कर तथा अपने अनुभव के आधार पर नारी की स्वायत्तता और स्वतंत्रता की बात की है। 'स्त्री के सारतत्त्व' पर विचार करते हुए उन्होंने व्यक्तिगत रूप से स्त्री की विशिष्टता को स्थापित किया है : "प्रत्येक स्त्री अपने आप में एक विशिष्ट स्त्री है। अपने जीवन जीने और होने के तरीक़े से ही वह अपना स्त्री होना स्थापित करती है। अतः स्त्रीत्व के नाम पर समाज उसके स्त्री होने के आचरण को अच्छा या बुरा कहने का अधिकार नहीं रखता और न ही पूर्वनिर्धारित ढंग से किसी भी भूमिका को उस पर आरोपित कर सकता है" (पृ. 130)। प्रभा खेतान घोषित नारीवादी है और अपनी नारीवादी प्रतिबद्धता के कारण वे 'गे' और 'लेस्बियन' आंदोलनों का भी समर्थन करती हैं : "पितृसत्ता द्वारा पोषित आधारभूत मान्यताओं को 'गे' और 'लेस्बियन' आंदोलनों से भी तगड़ी चुनौती मिली है, विशेषकर 'लेस्बियन' स्त्रियों ने नारीवादी राजनीति को एक स्पष्ट दिशा-निर्देश तो ज़रूर दिया है। उनकी तरफ से सत्ता को चुनौती देना इसलिए भी संभव था, क्योंकि पुरुष पर उनकी भावात्मक और यौन निर्भरता न होने की वजह से एक बाहरी व्यक्ति की हैसियत से वे सत्ता की चालों को ज़्यादा समझ पाती हैं। प्रतिक्रिया में पितृसत्ता का अतीत-राग, पारिवारिक मूल्यों के विघटन का विधवा-विलाप तथा बार-बार राष्ट्रभक्ति की दुंदुभी के राजनीतिक छलावे की बौद्धिकता स्त्री ज़रूर समझती है" (पृष्ठ, 69-70)।

पश्चिम में जो नारीवाद चला, उसने यह अनुभव किया कि साहित्यिक/बौद्धिक क्षेत्रों में लेखिकाओं और उनकी रचनाओं की उपेक्षा की गयी है और साहित्यिक विमर्श में दृष्टि पुरुषवादी रही है। इसके प्रतिकार के लिए एक ओर तो उन्होंने उपेक्षित लेखिकाओं का पुनरुद्धार और पुनर्मूल्यांकन किया और दूसरी ओर नारीवादी साहित्यिक मूल्यों और कसौटियों के निर्माण का प्रयत्न किया। उदाहरण के लिए, टैरी कैसिल ने सिल्विया टाउनसैंड वार्नर के 1936 में प्रकाशित उपन्यास 'समर विल शो' का लेस्बियन कथा-साहित्य की दृष्टि से विवेचन किया है। उसने इस उपन्यास को ले कर प्रश्न उठाया है कि वह क्या चीज़ है, जो इसे 'लेस्बियन' उपन्यास बनाती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उसने लिखा है कि यह केवल इसलिए 'लेस्बियन' नहीं है कि यह दो स्त्रियों के बीच के काम-संबंध का चित्रण करता है, बल्कि यह इसलिए 'लेस्बियन' उपन्यास है, क्योंकि यह सचेत भाव से उस पुरुष-स्त्री-पुरुष के पारंपरिक काम-त्रिकोण को तोड़ता है। इस पारंपरिक काम-त्रिकोण का दमन अथवा विरोधी काम-त्रिकोण के सृजन का तथ्य ही सामान्यतः किसी उपन्यास को 'लेस्बियन' उपन्यास बनाता है। हिंदी में इस दिशा में छुटपुट प्रयत्न तो हुए हैं, लेकिन अभी तक कोई बड़ा उल्लेखनीय काम नहीं हुआ है। हिंदी में इस तरह की तमाम रचनाएं हैं, जिनका नारीवादी दृष्टि से विवेचन करके पुनर्मूल्यांकन किया जा सकता है। 'गोदान' में ही आदर्श और उसके विरोधी स्त्री-पात्रों का जिस रूप में चित्रण किया गया है, उसे इस नयी दृष्टि से विवेचित और मूल्यांकित किया जा सकता है। यदि 'त्यागपत्र' जैनेंद्र के द्वारा न लिखा जा कर किसी लेखिका के द्वारा लिखा जाता तो क्या मृणाल को इसी रूप में चित्रित किया जाता, जिस रूप में जैनेंद्र ने उसे चित्रित किया है? इस पर विचार-विमर्श किया जा सकता है।

जिस तरह पश्चिम में स्त्री-विमर्शकों ने नये साहित्यिक मूल्यों को विकसित करने का प्रयत्न

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

किया है, उस रूप में हिंदी में नहीं। हिंदी में संभवतः सुमन राजे की पुस्तक 'हिंदी-साहित्य का आधा इतिहास' एकमात्र ऐसी पुस्तक है, जिसमें सिद्धांत और व्यवहार—दोनों के स्तर पर स्त्री-विमर्श को सक्रिय देखा जा सकता है। उन्होंने अनुभव किया है कि ''पुरुष-इतिहासकारों ने महिला रचनाकारों के साथ बहुत अन्याय किया है। यह अन्याय उदासीनता के चलते हुआ हो, ऐसी बात नहीं, यह अन्याय विमुख रह कर किया गया है'' (पृष्ठ 11)। इसका प्रतिकार करने के लिए ही, स्त्रियों के साथ होने वाले अन्याय के विरुद्ध लड़ाई लड़ने के लिए ही उन्होंने यह साहित्येतिहास लिखा है। यह शिकायत अन्य लेखिकाओं को भी है (उपनिवेश में स्त्री, पृ. 41-43)। लेकिन विडंबना यह है कि सुमन राजे यह कहने के लिए तैयार नहीं हैं कि उनकी पुस्तक स्त्री-विमर्श की पुस्तक है : 'आधा' इतिहास 'स्त्री-विमर्श' की पुस्तक नहीं है। यह साहित्येतिहास ही है, परंतु आधा'' (हिंदी-साहित्य का आधा इतिहास, पृ. 11)। पश्चिम में भी नारीवादी साहित्यशास्त्र रचने की प्रेरणा पुरुषों से ही मिली है। फ्रांसीसी नारीवादी आलोचक संरचनावाद, उत्तरसंरचनावाद, विखंडन, लकां के द्वारा फ्रायड के सिद्धांतों की नयी व्याख्या, मार्क्स की स्थापनाओं की पुनर्व्याख्या आदि से प्रेरित हुए हैं। फ्रांसीसी तथा अमेरिकी नारीवादियों ने साहित्यिक भाषा का विशेष रूप से विवेचन किया है और अपने निष्कर्ष निकाले हैं, जिसका सार जूलिया क्रिस्टीवा के इस वाक्य में अंतर्निहित है : ''पितृसत्तात्मक भाषिक संरचना में 'स्त्रीत्व' ही वह सब-कुछ है, जिसे दबाया गया है।'' इस 'स्त्रीत्व' को उभारना, पितृसत्तात्मक भाषिक संरचना को बदलना और पठित पाठों का पुनर्पाठ तथा उपपाठों का पुनराविष्कार ही साहित्यिक क्षेत्र में स्त्री-विमर्श का मुख्य लक्ष्य है।

जीवन और साहित्य दोनों के क्षेत्र में स्त्री-विमर्श नयी उभरती हुई दृष्टि है। यह निःसंदेह विचोरोत्तक है। यह साहित्य-सृजन और उसके विवेचन-मूल्यांकन को किस सीमा तक और किस रूप में प्रभावित करती है या बदलती है, यह देखने के लिए प्रतीक्षा करनी होगी।

## संदर्भ

1. सामान्यतः रीतिकल के अंत (1843) से आधुनिक काल का आरंभ मानने की परंपरा रही है। नवीन सामाजिक-राजनीतिक चेतना के संवहन के फलस्वरूप सन् 1857 को भी यह गौरव दिया जाता है; किंतु साहित्य क्षेत्र में नयी विचारधारा का प्रवेश वरतुतः भारतेंदु के रचनाकाल (1868) से हुआ। इसके पूर्ववर्ती काव्यखंड (1843-1868) की गणना आधुनिक काल के अंतर्गत तो होगी, किंतु उसे भारतेंदु-युग की पूर्वपीठिका के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। —*संपादक*
2. देखिए 'कविवचनसुधा', मार्च, 1874 के अंक में भारतेंदु हरिश्चंद्र की टिप्पणी।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अध्याय : 14

# भारतेंदु-युग

**( पुनर्जागरण-काल )**

भारतेंदु-युग अथवा पुनर्जागरण-काल का उदय हिंदी-कविता के लिए नवीन जागरण के संदेशवाहक युग के रूप में हुआ था, किंतु इसके सीमांकन के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-1885)के रचनाकाल को दृष्टि में रख कर संवत् 1925 से 1950 की अवधि को 'नयी धारा' अथवा 'प्रथम उत्थान' की संज्ञा दी है और इस काल को भारतेंदु, हरिश्चंद्र तथा उनके सहयोगी लेखकों के कृतित्व से समृद्ध माना है। किंतु उनके द्वारा निर्धारित कालावधि से कुछ अन्य लेखकों का वैमत्य है। मिश्रबंधुओं ने 1926-1945 वि. तक, डॉ. रामकुमार वर्मा ने 1927-1957 वि. तक, डॉ. केसरी नारायण शुक्ल ने 1922-1957 वि. तक और डॉ. रामविलास शर्मा ने 1925-1957 वि. तक भारतेंदु-युग की व्याप्ति मानी है। यह उल्लेखनीय है कि भारतेंदु द्वारा संपादित मासिक पत्रिका 'कविवचनसुधा' का प्रकाशन 1868 ई. में आरंभ हुआ था। अतः भारतेंदु-युग का उदय 1868 ई. (1925 वि.) से मानना उचित है। इसी तर्क का अनुसरण करते हुए 'सरस्वती' के प्रकाशन-वर्ष (1900 ई.) को भारतेंदु-युग की परिसमाप्ति का सूचक माना जा सकता है। यह ठीक ही है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र के देहावसान के साथ ही भारतेंदु-युग की समाप्ति न मान कर उनके समकालीन कवियों द्वारा बाद में रचित कृतियों को ध्यान में रखते हुए इस काल की व्याप्ति 1900 ई. तक स्वीकार की जाये, क्योंकि इस समय तक साहित्य-क्षेत्र में अनेक नवीन प्रवृत्तियों का उदय लक्षित होने लगा था। किंतु यह जिज्ञासा प्रासंगिक होगी कि रीतिकाल के समापन से ले कर भारतेंदु-युग के पूर्वकाल (1843-1867) तक की रचनाओं का अनुशीलन किस संदर्भ में किया जाना चाहिए? वस्तुतः इतिहास का कोई भी काल सहसा समाप्त नहीं हो जाता और प्रायः अगले एक-दो दशक तक उसकी रचनाप्रवृत्तियां किसी-न-किसी रूप में व्यक्त होती रहती हैं। इसी भांति किसी नये युग का सभारंभ भी सहसा नहीं होता, उसके स्वरूप-निर्माण की प्रक्रिया के बीज दस-बीस वर्ष पहले तक के साहित्य में विद्यमान रहते हैं। 1843 से 1867 ई. तक का कृतित्व न तो पूर्णतः रीतिकाल के प्रभावक्षेत्र के अंतर्गत आता है और न इसमें भारतेंदु-युग की पुनर्जागरणमूलक प्रवृत्तियां विद्यमान हैं। अतः इसका अनुशीलन भारतेंदु-युग की पृष्ठभूमि के रूप में किया जाना चाहिए।

## भारतेंदु पूर्व काव्यधारा

भारतेंदु के पूर्ववर्ती कवियों की ब्रजभाषा-रचनाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है— भक्तिकाव्य, शृंगार रस का काव्य और रीति-निरूपण। **भक्तिकाव्य** के रचयिताओं में रीवा-नरेश रघुराज सिंह (1823-1879) का प्रमुख स्थान है। उन्होंने प्रबंध और मुक्तक दोनों शैलियों में लगभग अट्ठाईस कृतियों की रचना की थी, जिनमें कुछ भारतेंदु-युग की परिधि में भी आ जाती हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उदाहरणार्थ, 'सुंदर शतक', 'पत्रिका', 'रुक्मिणी-परिणय', 'आनंदाम्बुनिधि' और 'श्रीमद्भागवत माहात्म्य' भारतेंदु-पूर्व काल की कृतियां हैं; जबकि 'रामस्वयंवर', 'भक्तिविलास', 'रामरसिकावली' आदि की रचना सन् 1869 अथवा इसके बाद की गयी। वे मुख्यतः रामभक्त थे, किंतु कृष्ण-लीलाओं का गान भी उन्होंने मनोयोगपूर्वक किया। भक्ति के साथ शृंगारिकता भी उनके काव्य में विद्यमान है। सूर और तुलसी जैसी भक्ति-भावना, केशव जैसा प्रबंध-कौशल और ब्रजभाषा की रमणीयता उनके कृतित्व की उल्लेखनीय विशेषताएं हैं। इस काल के अन्य कवियों में अयोध्या-निवासी रघुनाथदास रामसनेही ने 'रामचरितमानस' के अनुकरण पर दोहा-चौपाई शैली में 'विश्रामसागर' (1854) की रचना की। इसमें राम और कृष्ण के अवतार-रूपों का वर्णन करने के साथ ही अनेक पौराणिक कथाओं को स्थान दिया गया है। सरदार कवि (रचनाकाल 1845-1884) द्वारा रचित 'रामलीला-प्रकाश' और 'राम-रत्नाकर' तथा देव कवि काष्ठजिह्व (जन्म 1831) के रामभक्ति संबंधी स्फुट पद भी उल्लेखनीय हैं। कृष्णभक्त कवियों में लखनऊ के वैश्य बंधुओं साह कुंदनलाल तथा साह फुंदनलाल का उल्लेख अपेक्षित है, जिन्होंने वृंदावन में निवास कर क्रमशः 'ललित किशोरी' तथा 'ललित माधुरी' नामों से माधुर्य भक्तिपरक पदों की रचना की। इनमें ललित किशोरी (रचनाकाल 1856-1873) का स्थान प्रमुख है। उनकी काव्यशैली भी अपेक्षतया अधिक प्रौढ़, मधुर और मार्मिक है। भारतेंदु हरिश्चंद्र के पिता गोपालचंद्र 'गिरिधरदास' (1833-1860) द्वारा लिखित 'राधास्तोत्र', 'गोपालस्तोत्र', 'जरासंधवध महाकाव्य' और 'बलराम-कथामृत' भी कृष्णकथा पर आधारित रचनाएं हैं, यों उन्होंने 'रामकथामृत' की भी रचना की है। भाषा-परिष्कार और अलंकार-नियोजन पर उनका विशेष बल रहा है।

रीतिकालीन **शृंगार-परंपरा** का निर्वाह कम-से-कम इस अवधि के कवियों के लिए नितांत स्वाभाविक था। कवि ठाकुर के पौत्र शंकर (जन्म 1812) ने शृंगार रस के अनेक मनोहारी छंदों की रचना की है। इनके अनुज सेवक (1815-1881) द्वारा बरवै छंद में प्रणीत 'नखशिख' और कुछ फुटकर सवैये भी पठनीय हैं। सरदार कवि ने काशीनरेश के आश्रय में रह कर रीतिबद्ध शैली में 'षड्ऋतु', 'साहित्य-सरसी' और 'शृंगार-संग्रह' की रचना की, जिनमें अंतिम ग्रंथ में अन्य कवियों के चुने हुए छंद संकलित हैं। चंद्रशेखर वाजपेयी (1798-1875) की 'नखशिख' भी शृंगार रस की अच्छी कृति है, यों उनके प्रसिद्ध वीर काव्य 'हम्मीरहठ' (1845) में भी प्रसंगवश शृंगार रस को स्थान प्राप्त हुआ है।

**काव्य-रीति-निरूपण** भी इस काल की परंपरासिद्ध उपलब्धि है। इस दिशा में सर्वप्रथम उल्लेखनीय रचना है—प्रयाग के निकटवर्ती ग्राम हरिपुर के निवासी रामदास (जिनका मूल नाम राजकुमार था) द्वारा रचित 'कविकल्पद्रुम' (1844)। यह मूलतः ध्वनि-सिद्धांत संबंधी ग्रंथ है, किंतु रस, अलंकार, छंद प्रभृति अधिकांश अन्य काव्यांगों का विवेचन भी इसमें मिलता है। इसकी रचना संस्कृत और हिंदी के प्रमुख काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के अध्ययन के उपरांत की गयी है, फलस्वरूप समन्वयात्मक काव्यदृष्टि इसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। चंद्रशेखर वाजपेयी-कृत 'रसिक-विनोद' (1846) पटियाला-नरेश नरेंद्र सिंह के आश्रय में लिखा गया रस और नायिकाभेद संबंधी सुबोध ग्रंथ है। रस-निरूपण में भरत और नायिकाभेद-वर्णन में भानुदत्त कवि के उपजीव्य रहे हैं। रीतिकाल के अंतिम चरण के कवि ग्वाल का 'रसरंग' (1847) भी इसी अवधि में रचित प्रसिद्ध रस-निरूपक ग्रंथ है। सेवक कृत 'वाग्विलास' रस, भाव और नायिकाभेद का ग्रंथ है, जिसमें विषय के स्पष्टीकरण के लिए कहीं-कहीं गद्य का प्रयोग भी मिलता है। बाबू गोपालचंद्र 'गिरिधरदास' इस काल के दूसरे उल्लेखनीय रीतिकवि हैं। 'भारती-भूषण' शीर्षक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अलंकार-ग्रंथ और 'छंदोवर्णन' शीर्षक पिंगल-ग्रंथ उनकी प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय रचनाएं हैं। जिला गया के अंतर्गत टेकारी-निवासी बैजनाथ द्विवेदी (1837-1877) का उल्लेख इस संदर्भ में विशेष रूप से अपेक्षित है। उनके द्वारा रचित 'सीतारामाभरण मंजरी' (1864) अलंकार-ग्रंथ है, 'राम-रहस्य' (1866) में शृंगार के रसराजत्व की स्थापना करते हुए अन्य रसों के लक्षण-उदाहरण भी दिये गये हैं, 'वृत्तनि दोष कदंब' (1866) काव्य-दोष संबंधी कूटशैली की कृति है, 'वामाविलास' (1866) नायक-नायिकाभेद संबंधी रचना है, कूटशैली में रचित 'उद्दीपन शृंगार' (1867) में शृंगार रस की उद्दीपन-सामग्री का वर्णन है, 'अनुभव उल्लास' (1867) अनुभावों, संचारी भावों और शृंगार रस के विवेचन से संबद्ध है तथा 'चित्राभरण' (1867) में चित्रालंकार का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। काव्यांग-विवेचन में उनके विशद योगदान को प्रमाणित करने के लिए ये कृतियां पर्याप्त हैं। आचार्य प्रतापसाहि के शिष्य सरदार कवि (रचनाकाल 1845-1883) का उल्लेख भी यहां आवश्यक है। उनकी ख़्याति विशेषत: 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' के टीकाकार के रूप में है। 'बिहारी-सतसई' और सूर की दृष्टकूट-पदावली के सटीक संस्करणों में भी उनका काव्यांग-विवेक परिलक्षित होता है।

### भारतेंदु-युग का नवीन परिवेश

आलोच्य युग में जनचेतना पुनर्जागरण की भावना से अनुप्राणित थी। फलस्वरूप सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्रों में न केवल अतिरिक्त सक्रियता थी, अपितु इन सबमें गहन अंत:संबंध विद्यमान था। भारतेंदुयुगीन कवि-कर्तृत्व पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इसकी परिणति विषय-चयन में व्यापकता और विविधता के रूप में हुई। शृंगारिक रसिकता, अलंकरण-मोह, रीति-निरूपण, प्रकृति का उद्दीपनात्मक चित्रण प्रभृति रीतिकालीन प्रवृत्तियों का महत्त्व क्रमश: कम होता गया और भक्ति और नीति को प्रमुख वर्ण्य विषयों के रूप में ग्रहण करने का आग्रह भी नहीं रह गया। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने जनता को उद्बोधन प्रदान करने के उद्देश्य से 'जातीय संगीत' अर्थात लोकगीत की शैली पर सामाजिक कविताओं की रचना पर बल दिया।[1] मातृभूमि-प्रेम, स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार, गोरक्षा, बालविवाह-निषेध, शिक्षा-प्रसार का महत्त्व, मद्य-निषेध, भ्रूण-हत्या की निंदा आदि विषयों को कविगण अधिकाधिक अपनाने लगे थे। राष्ट्रीय भावना का उदय भी इस काल की अनन्य विशेषता है। ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद के विचारों तथा थियॉसॉफिकल सोसाइटी के सिद्धांतों का प्रभाव भी जनजीवन पर पड़ रहा था। आर्थिक, औद्योगिक और धार्मिक क्षेत्रों में पुनर्जागरण की प्रक्रिया आरंभ होने लगी थी। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली ने शैक्षिक क्षेत्र में भी वैयक्तिक स्वतंत्रता की प्रेरणा प्रदान की। अंग्रेज़ी का प्रचार-प्रसार यद्यपि जनता से संपर्क-साधन और प्रशासकीय आवश्यकताओं के लिए किया जा रहा था, पर अंग्रेज़ी-साहित्य के अध्ययन ने अन्य देशों के साथ तुलना का अवसर भी प्रदान किया और इस तरह राष्ट्रीय भावना के विकास के लिए उचित वातावरण बन सका। मुद्रणयंत्रों के विस्तार और समाचारपत्रों के प्रकाशन ने भी जनजागरण में योग दिया। परिणामसवरूप तत्कालीन साहित्यचेतना मध्यकालीन रचना-प्रवृत्तियों तक ही सीमित न रह कर नवीन दिशाओं की ओर उन्मुख होने लगी।

## काव्यधारा

भारतेंदुयुगीन कवियों का काव्यफलक अत्यंत विस्तृत है। उनकी रचना-प्रवृत्तियां एक ओर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भक्तिकाल और रीतिकाल से अनुबद्ध हैं, तो दूसरी ओर समकालीन परिवेश के प्रति जागरूकता का भी उनमें अभाव नहीं है। प्रवृत्तिमूलक विश्लेषण के लिए उनके कर्तृत्व पर इन शीर्षकों के अंतर्गत विचार करना उचित होगा—राष्ट्रीयता, सामाजिक चेतना, भक्ति-भावना, शृंगारिकता, प्रकृति-चित्रण, हास्य-व्यंग्य, रीति-निरूपण, समस्यापूर्ति, काव्यानुवाद, कलापक्ष।

**राष्ट्रीयता :** भारतीय वीरों में प्रताप, छत्रसाल, शिवाजी आदि ने क्षेत्र विशेष (चित्तौड़, बुंदेलखंड और महाराष्ट्र) की रक्षा के लिए जिस तत्परता और वीरता का परिचय दिया था, उसका स्तवन करने वाले भूषण प्रभृति कवि क्षेत्रीय भावना अर्थात संकीर्ण राष्ट्रीयता से ऊपर नहीं उठ सके थे। भारतेंदुयगीन कवियों ने भारतीय इतिहास के गौरवशाली पृष्ठों की स्मृति तो अनेक बार दिलायी, पर उनकी राष्ट्रीय भावना केवल यहीं तक सीमित नहीं रही। अंग्रेज़ों की विचारधारा और उनकी देशभक्तिपूर्ण कविताओं से भी उन्होंने यथेष्ट प्रेरणा ली, जिसका फल यह हुआ कि क्षेत्रीयता से ऊपर उठ कर वे संपूर्ण राष्ट्र की नब्ज़ को टटोलने लगे। 'हमारो उत्तम भारत देस' (राधाचरण गोस्वामी) और 'धन्य भूमि भारत सब रतननि की उपजावनि' (प्रेमघन) आदि काव्य-पंक्तियां इसी तथ्य को प्रकट करती हैं। देश के उत्कर्ष-अपकर्ष के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों पर प्रकाश डाल कर इस युग के कवियों ने जनमानस में राष्ट्रीय भावना के बीज-वपन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। देशभक्ति की जो भावना बाद में मैथिलीशरण गुप्त-कृत 'भारत-भारती' में लक्षित हुई। उसकी प्रेरणा-भूमि भारतेंदु, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास आदि की कविताएं ही हैं। भारतेंदु की 'विजयिनी विजय वैजयंती', प्रेमघन की 'आनंद अरुणोदय', प्रतापनारायण मिश्र की 'महापर्व' और 'नया संवत' तथा राधाकृष्णदास की 'भारत बारहमासा' और 'विनय' शीर्षक कविताएं देशभक्ति की प्रेरणा से युक्त हैं। इस संदर्भ में उन्होंने अपने प्रतिपाद्य को कहीं व्यंग्योक्तियों के माध्यम से प्रकट किया हैं, तो कहीं अतीत के प्रेरणादायी प्रसंगों की चर्चा द्वारा नवयुवकों को पुनर्जागरण का मंत्र दिया है। अंग्रेज़ों की शोषण-नीति का भारतेंदु द्वारा प्रत्यक्ष उल्लेख इस भावना की चरम परिणति है :

*भीतर-भीतर सब रस चूसै, हँसि-हँसि के तन-मन-धन मूसै।*
*ज़ाहिर बातन में अति तेज़, क्यों सखि सज्जन! नहिं अंगरेज़॥*

प्रेमधन ने 'हार्दिक हर्षादर्श' कविता में इस स्वार्थपूर्ण शासनप्रक्रिया के लिए भी ईस्ट इंडिया कंपनी को दोषी ठहराया है, अन्यथा उससे शासनाधिकार लेने वाली रानी विक्टोरिया के विषय में तो उन्होंने यह मत व्यक्त किया है : "किय सनाथ भोली भारत की प्रजा अनाथन।" वास्तव में भारतेंदु-युग की राष्ट्रीयता-चिंतनधारा के दो पक्ष हैं—देभप्रेम और राजभक्ति। प्रथम पक्ष के अंतर्गत उन्होंने 'हिंदी-हिंदू-हिंदुस्तान' का गुणगान किया[2], तो दूसरे पक्ष में जज़िया जैसा कर न लगाने वाले अंग्रेज़ों के शासनकाल में प्रजा मात्र की सुख-समृद्धि की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। इन सुविधाओं से लाभ उठाने के लिए उन्होंने जनता से रूढ़िगत प्रभावों से मुक्त होने का आग्रह किया और शासन के प्रति सहयोगी रुख अपनाने की प्रेरणा दी। इस वर्ग की राजभक्तिपरक कविताओं में भारतेंदु की 'भारतभिक्षा', 'विजयवल्लरी' और 'रिपनाष्टक', प्रेमघन की 'हार्दिक हर्षादर्श' और 'स्वागत' तथा राधाकृष्णदास की 'मेक्डानल्ड पुष्पांजलि', 'जुबिली' और 'विजयिनी-विलाप' उल्लेखनीय हैं। प्रेमघन ने 'राजभक्ति भारत सरिस और ठौर कहुं नाहिं' कह कर विदेशी शासकों को आश्वस्त किया, तो अंबिकादत्त व्यास ने 'जयति राजराजेश्वरी जय जय परमेश' द्वारा रानी विक्टोरिया के सुशासन के प्रति आभार प्रकट किया। ड्यूक ऑफ़ एडिनबरा के स्वागत, रानी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विक्टोरिया के शासनकाल की प्रशंसा, उनकी मृत्यु पर शोक-संवेदना, लॉर्ड रिपन के प्रति श्रद्धांजलि आदि विषयों पर लिखित इन कविताओं को राष्ट्रद्रोही स्वर से युक्त न मान कर इन्हें नवीन राजनीतिक चेतना का प्रतीक माना जाना चाहिए।

**सामाजिक चेतना :** भारतेंदु-युग की मुख्य विशेषता यह है कि कवियों ने सामाजिक जीवन की उपेक्षा न कर जनता की समस्याओं के निरूपण की ओर पहली बार व्यापक रूप में ध्यान दिया। इसके पूर्व रीतिकाल में राजाओं और सामंतों के आश्रय में लिखित दरबारी काव्य में सामाजिक परिवेश के चित्रण की ओर नगण्य रूप में ध्यान दिया गया था। इसीलिए भारतेंदु-युग में नारी-शिक्षा, विधवाओं की दुर्दशा, अस्पृश्यता आदि को ले कर जो सहानुभूतिपूर्ण कविताएं लिखी गयीं, उनके प्रतिपाद्य की नवीनता ने सहृदय-समुदाय को विशेष रूप से आकृष्ट किया। इन समस्याओं को रूपायित करने के लिए कवियों ने एक ओर मध्यवर्गीय सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण किया, तो दूसरी ओर रूढ़ियों का विरोध करते हुए विकास-चेतना की आकांक्षा को भी अभिव्यक्ति दी। किंतु आर्यसमाज, ब्राह्मसमाज आदि के प्रभाव से इस युग में जो नवीन सामाजिक चेतना उभरने लगी थी और भारतेंदु, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र आदि की कविताओं में जिस सुधारवादी मनोवृत्ति की प्रमुखता रही, उसके प्रति सभी कवियों का दृष्टिकोण उदारता-समन्वित नहीं था। 'भारत-धर्म' कविता में अंबिकादत्त व्यास द्वारा वर्णाश्रम-धर्म का दृढ़तापूर्वक अनुमोदन और राधाचरण गोस्वामी द्वारा विभिन्न कविताओं में प्राचीन शास्त्र-नीतियों का समर्थन एवं विधवा-विवाह का विरोध ऐसे ही उदाहरण हैं। युगीन समस्याओं की जानकारी ऐसे कवियों को भी पूरी तरह थी, किंतु उनके समाधान के लिए वे परंपरागत धर्मशास्त्र को ही आधार बनाना चाहते थे। इसके विपरीत भारतेंदु ने 'भारत-दुर्दशा' नाटक में वर्णाश्रम धर्म की संकीर्णता का इन शब्दों में विरोध किया : ''बहुत हमने फैलाये धर्म, बढ़ाया छुआछूत का कर्म।'' 'मन की लहर' में प्रताप नारायण मिश्र की दृष्टि बाल-विधवाओं की करुण दशा की ओर गयी है : ''कौन करेजो नहि कसकत सुनि बिपति बालबिधवन की।'' अभिप्राय यह कि सामाजिक परिवेश के चित्रण में कुछ कवियों की दृष्टि सुधारवादी थी, तो कुछ प्रायः यथास्थितिवादी भी थे।

भारतीय अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने की कामना से इस युग के कवियों ने स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन देने और स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करने पर भी बल दिया। ''जीवन बिदेस की वस्तु लै ता बिन कछु नहि करि सकत'' के प्रतिपादक भारतेंदु ने 'प्रबोधिनी' शीर्षक कविता में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की प्रत्यक्ष रूप में प्रेरणा दी है। प्रेमघन की 'आर्याभिनंदन', प्रतापनारायण मिश्र की 'होली है' तथा अंबिकादत्त व्यास की 'भारतधर्म' शीर्षक कविताओं में भी विदेशी वस्त्रों और अन्य वस्तुओं के आयात को भारत की आर्थिक दुर्गति का मूल कारण माना गया है। यद्यपि प्रेमघन ने 'स्वागत' शीर्षक कविता में, अंबिकादत्त व्यास ने 'जटिल वणिक्' में और राधाकृष्णदास ने 'जुबिली' में बिजली, यातायात के सुगम साधनों, सिंचाई की सुविधाओं, शिक्षाप्रसार आदि अलभ्य लाभ प्रदान करने के लिए ब्रिटिश शासन की प्रशंसा की है, किंतु इसके साथ ही वे यह भी नहीं भूल सके हैं कि सामान्य जनता और किसानों की दरिद्रता घटने के स्थान पर बढ़ती गयी है। इसीलिए पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क में देश के सांस्कृतिक पुनरुत्थान की आवश्यकता का अनुभव करते हुए भी उन्होंने शासकवर्ग द्वारा देश के आर्थिक शोषण का विरोध किया है।[3] प्रतापनारायण मिश्र ने एक ग़ज़ल में देश की दुर्दशा पर गहरी चिंता प्रकट की है : ''अभी देखिए क्या दशा देश की हो, बदलता है रंग आसमां कैसे कैसे!'' कहां तो प्राचीन भारत की भौतिक और सांस्कृतिक समृद्धि और कहां अकाल, महंगाई, महामारी तथा करों के बोझ से त्रस्त जनजीवन!

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिवार, समाज और देश की क्रमशः बढ़ती हुई हीनावस्था के चित्रण में कवियों की वाणी अनायास करुणा से भीग उठी। भारतेंदु और प्रतापनारायण मिश्र ने समाज की पीड़ा को क्रमशः इन शब्दों में व्यक्त किया है :

(अ) *रोवहू सब मिलि, आवहु भारत भाई।*
*हा! हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥*

(आ) *तबहि लख्यो जहं रह्यो एक दिन कंचन बरसत।*
*तहं चौथाई जन रूखी रोटिहुं को तरसत॥*
*जहं आमन की गुठली अरु बिरछन की छालैं।*
*ज्वार चून महं मेलि लोग परिवारहिं पालैं॥*
*नौन तेल लकरी घासहु पर टिकस लगे जहं।*
*चना चिरौंजी मोल मिलैं जहं दीन प्रजा कहं॥*

**भक्ति-भावना :** भारतेंदु-युग में परंपरागत धार्मिकता और भक्ति-भावना को अपेक्षतया गौण स्थान प्राप्त हुआ, फिर भी इस काल के भक्तिकाव्य को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—निर्गुण भक्ति, वैष्णव भक्ति और स्वदेशानुराग-समन्वित ईश्वर-भक्ति। इनमें से प्रथम दो में किसी उल्लेखनीय नवीनता का परिचय न दे कर मध्ययुगीन परिपाटी का अनुसरण मात्र किया गया, किंतु भक्ति और देशप्रेम को एक ही समकोण पर प्रतिष्ठित करना, किसी सीमा तक संवेदना की मौलिकता का परिचायक है। **निर्गुण भक्ति** इस काल की मुख्य साधना-दिशा नहीं थी। फलस्वरूप कुछ कवियों ने परंपरा के प्रभावस्वरूप संसार की नश्वरता[4], माया-मोह की व्यर्थता[5], विषयासक्ति की निंदा[6] आदि विषयों पर तो उपदेशात्मक ढंग से विचार व्यक्त किये हैं, किंतु ब्रह्म-चिंतन और हठयोग जैसे विषयों पर काव्यरचना उन्हें अभीष्ट नहीं रही। इसके विपरीत वैष्णव भक्ति के अंतर्गत राम, कृष्ण और अन्य देवी-देवताओं का वर्णन अनेक कवियों का साध्य रहा। बिहार के अल्पज्ञात कवि हरिनाथ पाठक (1843-1904) की 'श्री ललित रामायण' (1893), वहीं के कवि अक्षय कुमार द्वारा प्रणीत 'रसिकविलास रामायण' (1896) और बाबू तोताराम (1848-1902) की 'राम-रामायण' रामभक्ति के संदर्भ में उल्लेखनीय रचनाएं हैं। इनमें से पहली दोनों कृतियां माधुर्य भक्ति और रीति-पद्धति से प्रभावित हैं। हरिनाथ पाठक की रचना से कृष्ण-काव्य की सुपरिचित श्रृंगार-पद्धति के अनुसरण में लिखित यह पद द्रष्टव्य है :

*मुरुगवा बोले बिपिन में भोरे।*
*सुखद सेज सोवत रघुनंदन, जनक लली संग कोरे।*
*प्रीतम अंक लगी महाराणी शापति सुनि खग सोरे॥*
*बन में अवरन जागे खग सब, शब्द करत झकझोरे।*
*जन हरिनाथ समय सुखदायक, नहि भावत मन मोरे॥*

राम-काव्य की तुलना में कृष्णभक्ति-काव्य की रचना इस युग में अधिक परिमाण में हुई। इस दिशा में सबसे अधिक योगदान भारतेंदु हरिश्चंद्र का है। "मेरे तो साधन एक ही हैं, जग नंदलला वृषभानु दुलारी" के गायक भारतेंदु राधा-कृष्ण के अनन्य भक्त थे। वे वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित थे और उनके अनेक पदों में "सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के" की भावना के अनुकूल सख्य और विनय भाव की भक्ति का निदर्शन मिलता है। वात्सल्य भक्ति के कुछ पद भी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उन्होंने लिखे हैं, किंतु मध्ययुगीन कृष्णभक्ति-काव्य की तन्मयता और सरसता से अनुप्राणित माधुर्य भक्ति उनका मुख्य क्षेत्र है। पुष्टिमार्गीय भक्त होने के कारण उनके भक्तिकाव्य में कहीं-कहीं सांप्रदायिक भावना का सन्निवेश भी हुआ है, किंतु यह उनकी प्रतिनिधि प्रवृत्ति नहीं है। अन्य धर्मों के प्रति उनका दृष्टिकोण उदारतायुक्त था, इसीलिए ''अपुनो अपुनो मत लै लै सब झगरत ज्यौं भठिहारे'' कह कर उन्होंने धार्मिक मतभेदियों की तीव्र भर्त्सना की है। इसी झोंक में उन्होंने अपनी भक्ति-भावना को उर्दू-पद-शैली में भी व्यक्त किया है :

*ढूँढ़ फिरा मैं इस दुनिया में पश्चिम से ले पूरब तक।*
*कहीं न पायी मेरे दिलदार प्रेम की तेरे झलक।*
*मसज़िद मन्दिर गिरजों में देखा मतवालों का जो दौर।*
*अपने अपने रंग में रंगा दिखाया सब का तौर।*
*सिवा झूठी बातों व बनावट के न नज़र आया कुछ और!*

'प्रेमघन' की 'अलौकिक लीला' शीर्षक आख्यानक कविता और अनेकानेक स्फुट भक्ति-पदों, अंबिकादत्त व्यास की 'कंसवध' शीर्षक प्रबंधरचना तथा राधाकृष्णदास की विनयभाव-युक्त कृष्ण-स्तुति का उल्लेख भी भारतेंदुयुगीन कृष्णभक्ति-काव्य के संदर्भ में आवश्यक है। राधाचरण गोस्वामी के पिता गुणमंजरीदास (1827-1890) द्वारा रचित 'श्रीयुगलछद्म' और 'रहस्य पद' भी अपनी सरसता और आलंकारिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। घनारंग दूबे (1819-1887) की 'कृष्ण रामायण' (प्रकाशन, 1894) भी इस धारा की महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें एक ओर 'रामचरितमानस' का अनुकरण मिलता है, तो दूसरी ओर रीतिकालीन कृष्णकाव्य की छाप भी लक्षित होती है।

राम और कृष्ण से इतर देवी-देवताओं, श्रेष्ठ भक्तों और धार्मिक पदों की महिमा का वर्णन भी कुछ कवियों को अभीष्ट रहा है। जगन्मोहन सिंह द्वारा अपनी कृतियों के आरंभ में दुर्गा की स्तुति, प्रेमघन-कृत 'सूर्यस्तोत्र', भारतेंदु-कृत 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' और 'कार्तिकस्नान', प्रतापनारायण मिश्र की 'नवरात्र के पद' और राधाचरण गोस्वामी की 'नवभक्तमाल' शीर्षक कृतियां भक्तिक्षेत्र की इसी व्यापकता की सूचना देती हैं।

आलोच्य युग के कवियों की तीसरी प्रवृत्ति है—**देशानुराग-व्यंजक भक्ति-भावना**। सांप्रदायिक मत-मतांतरों पर आधारित धार्मिकता के स्थान पर उन्होंने उदारता का परिचय दिया। प्रेमघन ने 'आनंद अरुणोदय' में धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय-भावना को इन शब्दों में प्रकट किया है : ''सभी धर्म के वही सत्य सिद्धांत न और बिचारो।'' भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी 'जैन-कुतूहल' में धार्मिक विद्वेष की व्यर्थता प्रतिपादित की है। यह प्रवृत्ति द्विवेदी-काल में और भी अधिक वर्द्धमान रही तथा कालांतर में धर्मनिरपेक्षता के आदर्श में परिणत हो गयी। जातीयता और देशहित की भावनाओं को भारतेंदु ने 'जागो अब तो खल बल दलन रक्षहु अपनो आर्य मग' द्वारा तथा प्रतापनारायण मिश्र ने 'विधवा विलपै नित धेनु कटै कोउ लागत हाय गोहार नहीं' कह कर भली भांति व्यक्त किया है। 'प्रबोधिनी' शीर्षक कविता की 'डूबत भारत नाथ बेगि जागो अब जागो' जैसी पंक्तियों द्वारा भारतेंदु ने जातीयता, राष्ट्रीयता और भक्ति-भावना को एक समरेखा प्रदान कर दी है। 'कहां करुणानिधि केसव सोये' में भी उन्होंने केवल भक्तिभाव का प्रतिपादन नहीं किया है, अपितु भारत की समकालीन विसंगतियां भी उनकी दृष्टि में रही हैं। इसी प्रकार प्रतापनारायण मिश्र ने 'हम आरत भारतवासिन पै अब दीनदयाल दया करिए' द्वारा और राधाकृष्णदास ने 'विनय' शीर्षक कविता में 'अपने या प्यारे भारत के पुनि दुख दारिदै हरिए' कह कर ईश्वर-भक्ति और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

देशभक्ति का ऐसा ही समन्वय प्रस्तुत किया है।

**शृंगारिकता :** भारतेंदु और उनके समकालीन कवियों ने रस को काव्य की आत्मा मान कर अपनी रचनाओं में विविध रसानुभूतियों का भावन किया है, जिनमें शृंगार रस सर्वप्रमुख है। प्रतापनारायण मिश्र के अतिरिक्त प्रायः सभी मुख्य कवि शृंगार-वर्णन की ओर उन्मुख रहे हैं। रीतिकालीन कवियों का अनुसरण करते हुए सामान्यतः उन्होंने कृष्णकथा के संदर्भ में प्रेम और सौंदर्य का वर्णन किया है; किंतु राधाकृष्णदास की 'राम-जानकी' कविता में मर्यादित शृंगार और हरिनाथ पाठक की 'श्री ललित रामायण' आदि में रामकथा की रसिकतायुक्त अवतारणा भी मिलती है। शृंगार-वर्णन के लिए इनके सामने चार विकल्प थे—भक्तिकालीन कृष्णकाव्य की परंपरा में माधुर्यभक्तिपरक शृंगार-चित्रण, रीतिकालीन पद्धति पर नखशिख, षड्ऋतु और नायिकाभेद का वर्णन, उर्दू-कविता से संपर्क के फलस्वरूप प्रेम की वेदनात्मक व्यंजना, और अंग्रेज़ी की प्रेम-कविताओं से प्रभाव-ग्रहण। इनमें से अंतिम को छोड़ कर शेष तीनों की परिव्याप्ति इस युग में मिलती है, विशेष रूप से भारतेंदु और प्रेमघन की रचनाओं में प्रायः ये तीनों विद्यमान हैं। भारतेंदु ने 'प्रेम-सरोवर', 'प्रेम-माधुरी', 'प्रेम तरंग', 'प्रेम-फुलवारी' आदि मे भक्ति-शृंगार और विशुद्ध शृंगार दोनों का समावेश किया है। प्रेमघन की 'युगलमंगल स्तोत्र' तथा 'वर्षा-बिंदु' भी इसी प्रकार की रचनाएं हैं। सौंदर्य, प्रेम और विरह की व्यंजना में कहीं-कहीं ये दोनों ही कवि उर्दू-काव्य-शैली से भी प्रभावित हुए हैं, किंतु नखशिख और नायिकाभेद पर परंपरित शैली में काव्यरचना इन्होंने नहीं की। वैसे, भारतेंदु के प्रेमदशा-वर्णन संबंधी अनेक सवैयों में घनानंद जैसी सरसता विद्यमान है। एक उदाहरण देखिए :

*आजु लौं न मिले तो कहा हम तो तुमरे सब भाँति कहावैं।*
*मेरौ उराहनौ है कछु नाहिं सबै फल आपुने भाग को पावैं॥*
*जो हरिचन्द भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं।*
*प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा की समैं सब कंठ लगावैं॥*

भारतेंदु-युग में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की जो लहर आयी थी, उसके फलस्वरूप प्रतापनारायण मिश्र और राधाकृष्णदास ने शृंगारिक मनोदशाओं को प्रायः अपने काव्य का विषय नहीं बनाया। भारतेंदु के बाद इस क्षेत्र में ठाकुर जगन्मोहन सिंह ही विशेषतः उल्लेखनीय हैं, यों बेनी द्विज, गोविंद गिल्लाभाई, हनुमान, गोप, दिवाकर भट्ट, रामकृष्ण वर्मा 'बलबीर' प्रभृति कुछ अन्य कवियों ने भी शृंगार रस के मनोहारी कवित्त-सवैयों की रचना की है। अंबिकादत्त व्यास की 'पावस पचासा' भी इसी युग की रचना है। किंतु प्रेम का जैसा निश्छल, सरस और रागात्मक वर्णन जगन्मोहन सिंह ने किया है, वैसा भारतेंदु के यहां भी सर्वत्र सुलभ नहीं है। उदाहरणस्वरूप, 'प्रेमसंपत्तिलता' से एक सवैया देखिए :

*अब यों उर आवत है सजनी, मिलि जाउँ गरे लगि कै छतियाँ।*
*मन की करि भाँति अनेकन औ मिलि कीजिय री रस की बतियाँ।*
*हम हारि अरी करि कोटि उपाय, लिखी बहु नेह भरी पतियाँ।*
*जगमोहन मोहनी मूरति के बिना कैसे कटें दुख की रतियाँ॥*

**प्रकृति-चित्रण :** प्राकृतिक सौंदर्य का स्वच्छंद वर्णन भारतेंदुयुगीन कविता की अंगभूत विशेषता है, किंतु अधिकतर कवियों ने परंपरा-निर्वाह ही किया है। भारतेंदु-कृत 'बसंत होली',

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अंबिकादत्त व्यास की 'पावस-पचासा', गोविंद गिल्लाभाई की 'षड्ऋतु' और 'पावस-पयोनिधि' आदि कृतियों में वसंत ऋतु और वर्षाकाल का आलंबनात्मक चित्रण विरल है। ऋतु-सौंदर्य के स्थान पर कवियों ने ऋतु विशेष में नायक-नायिका की मनोदशाओं के वर्णन में अधिक रुचि ली है। सौंदर्यबोध में सहायक स्वतंत्र प्रकृति-चित्रण का श्रेय किसी सीमा तक ठाकुर जगन्मोहनसिंह को ही दिया जा सकता है। भारतेंदु ने 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक में गंगा-वर्णन और 'चंद्रावली' नाटिका में यमुना-वर्णन किया तो है, किंतु अलंकार-भार के कारण इनमें उनकी स्वतंत्र अनुभूति की क्षमता बहुत-कुछ दब सी गयी है। उनकी 'प्रात-समीरन', प्रेमघन की 'मयंक-महिमा' और प्रतापनारायण मिश्र की 'प्रेम-पुष्पांजलि' शीर्षक कविताओं में विषय के स्वतंत्र उपस्थापन का यत्किंचित् प्रयास हुआ भी है, तो उसमें कवियों को उतनी सफलता नहीं मिली, क्योंकि प्रकृति को शृंगारिक मनोदशाओं, सामाजिक उद्बोधन, नीति-कथन आदि से संबद्ध करने की अनिवार्यता अभी उनके मन में बनी हुई थी। जगन्मोहनसिंह की कविताओं में इस प्रवृत्ति का अभाव तो नहीं है, पर इसके साथ ही प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण और नैसर्गिक दृश्यों के स्वाभाविक चित्रण में भी उनका मन रमा है। रीतिकाल के उद्दीपनात्मक प्रकृतिचित्रों को ही आदर्श न मान कर उन्होंने संस्कृत-काव्य में उपलब्ध होने वाले सूक्ष्म नैसर्गिक सौंदर्य से प्रेरणा ली है। विंध्य प्रदेश की प्राकृतिक सुषमा का सजीव और वैविध्यपूर्ण चित्रण उनके काव्य की अनन्य विशेषता है। उदाहरणस्वरूप, पर्वत-शृंखला की शोभा का चित्र-शैली में निम्नलिखित वर्णन द्रष्टव्य है :

*पहार अपार कैलास से कोटिन ऊँची शिखा लगि अम्बर चूम।*
*निहारत दीठि भ्रमै पगिया गिरि जात उतंगता ऊपर झूम॥*
*प्रकाश पतंग सों चोटिन के बिकसै अरविन्द मलिन्द सुझूम।*
*लसै कटि मेखला के जगमोहन कारी घटा घन घोरत धूम॥*

**हास्य-व्यंग्य :** भारतेंदु-युग में हास्य-व्यंग्यात्मक कविताओं की भी प्रचुर परिमाण में रचना हुई। पश्चिमी सभ्यता, विदेशी शासन, सामाजिक अंधविश्वासों, रूढ़ियों आदि पर व्यंग्य करने के लिए कवियों ने विषय और शैली की दृष्टि से अनेक नये प्रयोग किये। इस दिशा में भारतेंदु का योगदान सर्वाधिक है। अपने नाटकों के प्रगीतों में कहीं-कहीं शिष्ट हास्य को स्थान देने के अतिरिक्त उन्होंने व्यंग्यगीतियों और मुकरियों की भी रचना की है। उनकी व्यंग्यगीतियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—पैरोडी, स्यापा और गाली। 'बंदरसभा' के गीतों की रचना उन्होंने उर्दू-नाटक 'इंदरसभा' के गीतों की पैरोडी के रूप में की है। 'उर्दू का स्यापा' उर्दू-फ़ारसी के 'स्यापा' नामक काव्यरूप की शैली में लिखित है। 'है है उर्दू हाय हाय, कहां सिधारी हाय हाय' आदि पंक्तियों में उन्होंने 'बनारस अख़बार' के समाचार-शीर्षक 'उर्दू मारी गयी' पर व्यंग्य किया है। 'समधिन मधुमास' की रचना 'गाली' नामक व्यंग्यगीति की शैली में की गयी है। 'नये ज़माने की मुकरी' शीर्षक से उन्होंने समकालीन सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों को ले कर कुछ मनोहारिणी मुकरियों की भी रचना की है, जिन पर अमीर ख़ुसरो की शैली की स्पष्ट छाप है। मद्यपान के विषय में उनकी व्यंग्योक्ति देखिए :

*मुँह जब लागै तब नहिं छूटे, जाति मान धन सब कुछ लूटे।*
*पागल करि मोहिं करे खराब, क्यों सखि सज्जन? नहीं सराब॥*

इस काल के अन्य हास्य-व्यंग्यकारों में प्रेमघन और प्रतापनारायण मिश्र प्रमुख हैं। 'प्रेमघन-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सर्वस्व' का 'हास्य-बिंदु' शीर्षक प्रकरण समसामयिक स्थितियों के विनोदपूर्ण वर्णन और तज्जनित उद्बोधन की दृष्टि से ध्यान आकृष्ट करता है। प्रतापनारायण मिश्र की 'तृप्यन्ताम्', 'हरगंगा', 'बुढ़ापा' और 'ककाराष्टक' शीर्षक कविताएं भी अपनी नयी तर्ज़ के लिए प्रसिद्ध हैं।

अंग्रेज़ी-शिक्षा-प्राप्त नवयुवकों द्वारा भारतीय रीति-नीति को त्याग कर पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करने पर उन्होंने अत्यंत मार्मिक व्यंग्य किया है :

*जग जानैं इंगलिश हमैं, वाणी वस्त्रहिं जोय।*
*मिटै बदन कर श्याम रंग, जन्म सुफल तब होय॥*

**रीति निरूपण :** परंपरागत रीति-निरूपण-पद्धति के प्रति भारतेंदु-पूर्व काल के कवियों की क्रमशः क्षीण होती हुई अभिरुचि का परिणाम यह हुआ कि भारतेंदु-युग में केवल लछिराम, ब्रह्मभट्ट, कविराजा मुरारिदान और बालगोविंद मिश्र ने ही इस दिशा में यत्किंचित् योगदान किया। लछिराम (1841-1904) ने मुख्यतः अयोध्या-नरेश मानसिंह 'द्विजदेव' के आश्रय में काव्य-रचना की, किंतु कुछ अन्य राजाओं और ताल्लुकेदारों को प्रसन्न करने के लिए भी उन्होंने उनके नाम पर ग्रंथ-रचना की है। उनकी काव्यशास्त्रीय कृतियों में 'माहेश्वर विलास' में मुख्य रूप से नायिकाभेद और संक्षेप में नवरस का विवेचन है, 'रामचंद्र-भूषण' अलंकारशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है तथा 'रावणेश्वर-कल्पतरु' (1890) लगभग सर्व काव्यांग निरूपिणी कृति है। इसकी रचना गिद्धौर-नरेश रावणेश्वरप्रसाद सिंह को प्रसन्न करने के लिए की गयी थी। इसमें काव्य-प्रयोजन, काव्य-भेद, शब्दशक्ति, रस, अलंकार और काव्यदोष का सुसंबद्ध विवेचन मिलता है, जिसमें अध्ययन की गंभीरता और प्रतिपादन की स्वच्छता तो है, किंतु उद्भावक आचार्य की गरिमा नहीं। कविराजा मुरारिदान का 'जसवंत-जसोभूषण' (1893) भी महत्त्वपूर्ण बृहत् काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है। इसकी रचना मारवाड़नरेश जसवंतसिंह के आश्रय में रह कर की गयी थी। यह मूलतः अलंकार ग्रंथ है, किंतु काव्यस्वरूप, शब्दशक्ति, गुण और रीति का संक्षिप्त विवेचन भी इसमें मिलता है। इसकी विशेषता यह है कि पद्य में लक्षण-निरूपण करने के साथ ही ग्रंथकार ने प्रत्येक लक्षण की गद्य में व्याख्या भी की है। इसमें अलंकारों के नामों के आधार पर उनके लक्षण-निर्धारण की नवीन पद्धति अपनायी गयी है। उपमा को अलंकार मान कर सर्वप्रथम उसका विवेचन किया गया है और अतुल्ययोगिता, अप्रत्यनीक, अनवसर आदि कुछ नये अलंकारों की भी कल्पना की गयी है। किंतु कुल मिला कर इस ग्रंथ में अलंकारशास्त्र की परंपरा का सुनियोजन ही मिलता है, स्थायी महत्त्व की कोई मौलिक उद्भावना नहीं। इस काल के अंतिम उल्लेखनीय रीतिकवि बालगोविंद मिश्र हैं, जिन्होंने 'भाषा-छंद-प्रकाश' (1899) में अड़तालीस मात्रिक-वर्णिक छंदों के पद्यबद्ध लक्षण और प्रायः स्वरचित उदाहरण दिये हैं। काव्यांग-निरूपण की दिशा में यों तो अयोध्यानरेश प्रतापनारायणसिंह-कृत 'रसकुसुमाकर' (1894) और कन्हैयालाल पोद्दार-कृत 'अलंकारप्रकाश' (1896) भी इसी युग की कृतियां हैं, किंतु इनमें लक्षण-निर्धारण के लिए पद्य के स्थान पर गद्य का प्रयोग हुआ है। अतः भारतेंदु-युग के आचार्य कवियों में इनकी गणना नहीं की जा सकती। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि हिंदी-काव्यशास्त्र को पद्य की चिरपरिचित सीमाओं से मुक्ति दिला कर उसे नवीन आयाम प्रदान करने का श्रेय भारतेंदु-युग को ही प्राप्त है।

**समस्यापूर्ति :** भारतेंदु-युग में गृहीत रीतिकालीन, काव्यशैलियों में 'समस्यापूर्ति' पर्याप्त लोकप्रिय काव्यपद्धति थी। कवियों की प्रतिभा और रचनाकौशल को परखने के लिए कवि गोष्ठियों और कवि-समाजों में कठिन-से-कठिन विषयों पर समस्यापूर्ति करायी जाती थी। भारतेंदु द्वारा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

काशी में स्थापित कविता-वर्द्धिनी-सभा, कानपुर का रसिक-समाज, बाबा सुमेरसिंह द्वारा निज़ामाबाद (ज़िला आज़मगढ़) में स्थापित कवि-समाज आदि ऐसे मंच थे, जहां नियमित रूप से कवि-गोष्ठियां होती थीं और समस्यापूरण को प्रतियोगिता के रूप में प्रोत्साहन दिया जाता था। प्रतिष्ठित कवि इनमें भाग लेने में संकोच नहीं करते थे और नये कवियों का इससे यथेष्ट उत्साहवर्द्धन होता था। कानपुर के रसिक-समाज में 'पपीहा जब पूछिहै पीव कहां' की प्रतापनारायण मिश्र द्वारा की गयी पूर्ति कितनी हृदयस्पर्शी बन पड़ी है :

*बन बैठि है मान की मूरति-सी, मुख खोलत बोलै न 'नाहीं' न 'हां'।*
*तुम ही मनुहारि कै जारि परे, सखियान की कौन चलाई तहां॥*
*बरषा है प्रतापजू' धीर धरौ, अब लौं मन को समझायो जहां।*
*यह ब्यारि तबै बदलेगी कछू, पपीहा जब पूछिहै 'पीव कहां'?*

समस्यापूरण के लिए उस समय परंपरागत श्रृंगारिक विषयों का ही अधिक प्रचलन था। यह दूसरी बात है कि नवीन सामाजिक परिवेश में काव्य में जिन नये-नये विषयों को स्थान प्राप्त होने लगा था, कभी-कभी उनकी झलक समस्यापूर्तियों में भी दिखायी दे जाती थी। श्रृंगार रस की ललित समस्यापूर्ति के लिए प्रेमघन, लछिराम, विजयानंद त्रिपाठी, गोविंद गिल्लाभाई, रामकृष्ण वर्मा 'बलवीर', बेनी द्विज, ब्रजचंद वल्लभीय आदि कवियों को पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। 'चरचा चलिबे की चलाइए ना' की प्रेमघन द्वारा की गयी यह पूर्ति अपनी आनुप्रासिक छटा के कारण उन दिनों बहुचर्चित थी :

*बगियान बसन्त बसेरो कियो, बसिए तेहि त्यागि तपाइए ना।*
*दिन काम कुतूहल के जो बने, तिन बीच बियोग बुलाइए ना॥*
*'घन प्रेम' बढ़ाय कै प्रेम, अहो! बिथा बारि बृथा बरसाइए ना।*
*चित चैत की चाँदनी चाह भरी, चरचा चलिबे की चलाइए ना॥*

समस्यापूरण का वैशिष्ट्य कवियों की सूझ-बूझ, उक्ति-वैचित्र्य और आशुकवित्व में होता है। तत्कालीन कवि-समाज में समस्यापूर्ति के लिए वाहवाही प्राप्त करना गौरव की बात समझा जाता था। अंबिकादत्त व्यास ने अपने कवि-जीवन का आरंभ कविता-वर्द्धिनी-सभा में 'पूरी अमी की कटोरिया सी, चिरजीवी रहौ विक्टोरिया रानी' समस्या की पूर्ति करके किया था और इस पर उन्हें 'सुकवि' की उपाधि प्राप्त हुई थी। उनके पिता दुर्गादत्त व्यास भी ब्रजभाषा के रसिक कवि थे, उनके द्वारा संकलित 'समस्यापूर्ति-प्रकाश' उस काल की प्रसिद्ध रचना है। इस प्रकार के अन्य संग्रहों में अंबिकादत्त व्यास का 'समस्यापूर्ति-सर्वस्व', गोविंद गिल्लाभाई का 'समस्यापूर्ति-प्रदीप' और सीतापुर-निवासी गंगाधर 'द्विजगंग' का 'समस्या-प्रकाश' उल्लेखनीय हैं। नर्मदेश्वरप्रसाद सिंह के कविता-संग्रह 'पंचरत्न' में उनकी समस्यापूर्तियां भी संगृहीत हैं। इसी प्रकार 'भारतेंदु-ग्रंथावली' में भारतेंदु की समस्यापूर्तियों का भी संग्रह किया गया है। उदाहरणस्वरूप, 'पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अंखियां दुखियां नहिं मानती हैं' की भारतेंदुकृत पूर्ति देखिए :

*यह संग में लागिये डोलैं सदा बिन देखे न धीरज आनती हैं।*
*छिनहू जो बियोग परै 'हरिचन्द' तो चाल प्रलै की सु ठानती हैं॥*
*बसनी में थिरैं न झपैं उझपैं, पल में न समाइबौ जानती हैं।*
*पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं॥*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**काव्यानुदवाद :** मौलिक काव्य-रचना के साथ ही भारतेंदु-युग के कुछ कवियों का ध्यान संस्कृत और अंग्रेज़ी से काव्यानुवाद की ओर भी गया। इस दिशा में सर्वप्रथम उल्लेखनीय कृतियां है—राजा लक्ष्मण सिंह (1826-1896) द्वारा अनूदित 'रघुवंश' (1877) और 'मेघदूत' (1881-1883)। भावांतरण की सरसता, शैली-लालित्य, शुद्ध-स्वच्छ ब्रजभाषा और सवैया छंद का मनोहारी प्रयोग इन रचनाओं की मुख्य विशेषताएं हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 'नारद-भक्ति-सूत्र' और शांडिल्य के 'भक्ति-सूत्र' को 'तदीय सर्वस्व' (1874) और 'भक्तिसूत्र वैजयंती' शीर्षकों से अनूदित किया, किंतु इनमें भाषा-लालित्य के स्थान पर प्रतिपाद्य की प्रेषणीयता पर अधिक ध्यान दिया गया है। बाबू तोताराम (1848-1902) द्वारा वाल्मीकि-रामायण का 'राम-रामायण' शीर्षक से भाषांतरण भी काव्य-कला की दृष्टि से साधारण प्रयास है। किंतु ठाकुर जगन्मोहन सिंह द्वारा अनूदित 'ऋतुसंहार' (1876) और 'मेघदूत' (1883) इस काल की विशिष्ट कृतियां हैं। इनमें शब्दानुवाद के स्थान पर भाव-सौंदर्य के संरक्षण पर बल रहा है और कहीं-कहीं भाव-संक्षेपण तथा भाव-विस्तार की पद्धतियां भी अपनायी गयी हैं। तत्सम पदावली, भाषा-लालित्य और कवित्त-सवैयों की रमणीय छटा इन दोनों कृतियों की अन्यतम विशेषताएं हैं। पर यही बात लाला सीताराम 'भूप' (1858-1937) द्वारा अनूदित 'मेघदूत' (1883), 'कुमारसंभव' (1884), 'रघुवंश' (1885-1892) और 'ऋतुसंहार' (1893) के विषय में नहीं कही जा सकती। इन अनुवादों में दोहा, चौपाई, घनाक्षरी प्रभृति विभिन्न छंदों का प्रयोग हुआ है, किंतु इनकी भाषा में काव्योचित सरसता और स्वच्छता के स्थान पर सामान्य स्तर ही लक्षित होता है। अंग्रेज़ी की ललित काव्य-कृतियों के रूपांतरण की ओर ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय श्रीधर पाठक को है। गोल्ड स्मिथ-कृत 'हरमिट' और 'डेंज़र्टेड विलेज' को उन्होंने 'एकांतवासी योगी' (1886) तथा 'ऊजड़ ग्राम' (1889) के रूप में अनूदित किया है। इनकी रचना क्रमशः खड़ीबोली और ब्रजभाषा में हुई है तथा मूल कृतियों के भाव-सौरस्य को भाषांतरण में हानि नहीं पहुंचने दी गयी है। श्रीधर पाठक की कवि-प्रतिभा और अभिव्यंजन-सौष्ठव को इन कृतियों में अनेकशः लक्षित किया जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि काव्यानुवाद को व्यापक रूप में प्रोत्साहन देने, इस संदर्भ में ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली दोनों का ही ललित रूप में प्रयोग करने और अंग्रेज़ी की काव्य-कृतियों के भाषांतरण का समारंभ करने का श्रेय पूरी तरह भारतेंदु-युग को है।

**कलापक्ष :** भारतेंदु-युग के विषय में सामान्य धारणा यह है कि इस काल के कवियों ने काव्य-शिल्प की तुलना में काव्य-वर्ण्य पर अधिक ध्यान दिया है, जबकि सत्य यह है कि उनके काव्य-शिल्प पर बदलते हुए परिवेश का भी अनिवार्य रूप से प्रभाव पड़ा है। फलस्वरूप इस युग की रचनाओं में काव्य-रूप, भाषिक चेतना, अलंकरण-प्रवृत्ति और छंद-विधान की दृष्टि से प्रयोगधर्मिता को स्पष्टतः लक्षित किया जा सकता है।

**काव्य-रूप** की दृष्टि से भारतेंदुयुगीन कवियों ने प्रधानतः मुक्तक काव्य की रचना की है। हरिनाथ पाठक की 'श्री ललित रामायण', प्रेमघन-कृत 'जीर्ण जनपद' और 'मयंक-महिमा' (अपूर्ण) तथा अंबिकादत्त व्यास की प्रबंधात्मक कृति 'कंस-वध' (अपूर्ण) अपवादस्वरूप हैं। भारतेंदु की 'रानी छद्मलीला', 'देवी छद्मलीला' और 'तन्मय लीला' प्रबंधगीति का उदाहरण हैं। 'विजयिनी विजय वैजयंती' और 'हिंदी भाषा' की रचना उन्होंने निबंध-काव्यों के रूप में की है। भारतेंदु-युग के उत्तरार्द्ध में बालमुकुंद गुप्त और राधाकृष्णदास ने भी इस पद्धति का यत्किंचित् अनुसरण किया। हरिऔध-कृत 'कृष्ण-शतक' (1882) और अंबिकादत्त व्यास-कृत 'सुकवि सतसई' और शतक सतसई-परंपरा के अच्छे उदाहरण हैं। प्रगीत-मुक्तकों की रचना भी इसी काल

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में प्रभूत परिणाम में हुई। ठुमरी, मलार, दादरा, ईमन आदि राग-रागिनियों में प्राचीन पद-शैली की काव्य-रचना इसका प्रमाण है। लोकसंगीत की शैली भी काफ़ी लोकप्रिय थी। उदाहरणस्वरूप, प्रेमघन और प्रतापनारायण मिश्र की कजलियां तथा भारतेंदु (वर्षा-विनोद), प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी और जगन्मोहन सिंह द्वारा रचित लावनियां द्रष्टव्य हैं। 'उर्दू का स्यापा', 'बंदर-सभा' प्रभृति व्यंग्यगीतियों से भारतेंदु द्वारा प्रवर्तित एक नवीन शैली का परिचय मिलता है। उनकी मुकरियों से भी लोकरुचि-प्रेरित काव्य-रचना की प्रवृत्ति की झलक मिलती है। भारतेंदु द्वारा 'रसा' उपनाम से और प्रेमघन द्वारा 'अब्र' उपनाम से उर्दू में ग़ज़ल आदि की रचना भी उल्लेखनीय नवीन प्रयोग हैं। इसका एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि उर्दू-कविता के बांकपन का समावेश हिंदी-काव्य में भी होने लगा। प्रतापनारायण मिश्र की प्रवृत्ति कसीदा, शेर, मरसिया आदि लिखने की ओर भी थी। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस युग का कवि-कर्तृत्व परंपरागत छंदोबद्ध मुक्तक काव्य में ही बंध कर नहीं रह गया है, अपितु काव्यरूप के क्षेत्र में ये कवि यथासंभव नवीन प्रयोगों की ओर उन्मुख रहे हैं।

**भाषायी चेतना** का भारतेंदुयुगीन काव्यादर्श में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उर्दू को प्राप्त शासकीय संरक्षण के संदर्भ में हिंदी को उसका दाय दिलाने के लिए भारतेंदु द्वारा विरचित 'हिंदी भाषा' केवल राजनीतिक कारणों से प्रेरित रचना नहीं थी, अपितु तत्कालीन साहित्यिक भाषा में उर्दू-फ़ारसी की जटिल तत्सम पदावली का बहिष्कार भी इसी रचना की देन है। यों भारतेंदु उर्दू के एकांत विरोधी नहीं थे, 'फूलों का गुच्छा' में उन्होंने उर्दू-शब्दावली का प्रचुर प्रयोग किया है। प्रेमघन और प्रतापनारायण मिश्र की भाषा भी अनेकशः उर्दूमयी हो गयी है। मिश्रित भाषा के प्रयोग की यह प्रवृत्ति इतनी प्रचलित हुई कि प्रेमघन की भाषा पर मिर्जापुरी बोली का और प्रतापनारायण मिश्र की भाषा पर कन्नौजी का प्रभाव अनायास लक्षित किया जा सकता है। खड़ीबोली की कविताओं में व्यावहारिकता पर बल होने के फलस्वरूप ब्रजभाषा के कवि अन्य भाषाओं से शब्द चयन के विषय में क्रमशः अधिक उदार होते गये, अतः भोजपुरी, बुंदेलखंडी, अवधी आदि प्रांतीय भाषाओं के अतिरिक्त उर्दू और अंग्रेज़ी की प्रचलित शब्दावली को भी अपना लिया गया। इसके साथ ही बोलचाल के अर्थहीन शब्दों को त्याग कर नयी शब्दावली की खोज की ओर भी कुछ कवियों की यत्किंचित् प्रवृत्ति लक्षित होती है।

भाषा-संरचना के दृष्टिकोण से यद्यपि इस युग के किसी भी कवि की ब्रजभाषा पद्माकर और घनानंद की काव्यभाषा के समान परिष्कृत नहीं है, किंतु इसके साथ ही अनेक रीतिकालीन कवियों की भांति भाषा को 'कला कला के लिए' सिद्धांत के अनुरूप शब्दजाल का जामा पहनाना भी अभीष्ट नहीं रहा। इसके विपरीत, भाषा की रागात्मक स्वच्छंदता, व्यावहारिकता के वृत्त में उसकी प्रभाव-क्षमता, मुहावरों और लोकोक्तियों की प्रासंगिकता आदि विशेषताओं के महत्त्व को उन्होंने दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है। भक्तिकाव्य और श्रृंगारकाव्य में कोमलकांत पदावली तथा वीरकाव्य में ओजपूर्ण शब्दावली का प्रयोग इसका उदाहरण है। केवल इतिवृत्तात्मक अर्थात वर्णनप्रधान शैली उन्होंने नहीं अपनायी, अपितु चित्रभाषा और उद्बोधन-वैशिष्ट्य भी उनकी रचनात्मक विशेषताएं हैं। भारतेंदु और प्रतापनारायण मिश्र द्वारा होली-वर्णन में प्रतीक-शैली का उपयोग भी उल्लेखनीय है। व्याकरणिक भूलों के निराकरण की प्रवृत्ति भी कुछ कवियों—अंबिकादत्त व्यास, श्रीधर पाठक, बालमुकुंद गुप्त, राधाकृष्णदास में विशेषतः लक्षित होती है। संभवतः इसका कारण यह है कि जहां प्रथम दोनों कवि संस्कृतज्ञ थे, वहीं अन्य दोनों आलोचक भी थे और बालमुकुंद गुप्त की तो भाषाविज्ञान में भी गति थी।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भारतेंदु-युग के कुछ कवियों ने खड़ीबोली में भी काव्य-रचना की है, किंतु यह इस युग की प्रतिनिधि काव्यभाषा नहीं बन सकी। भारतेंदु (फूलों का गुच्छा), प्रेमघन (मयंक-महिमा) और प्रतापनारायण मिश्र की खड़ीबोली कविताएं तो परिमाण में बहुत ही कम हैं, किंतु श्रीधर पाठक (एकांतवासी योगी), बालमुकुंद गुप्त (स्फुट कविता) तथा राधाकृष्णदास को खड़ीबोली का सफल पक्षधर कहा जा सकता है। सत्य तो यह है कि द्विवेदी-युग में मैथिलीशरण गुप्त प्रभृति कवियों ने खड़ीबोली को जो काव्योचित गरिमा प्रदान की, उसकी पृष्ठभूमि का निर्माण भारतेंदु-युग में ही होने लगा था। काव्यक्षेत्र में ब्रजभाषा और खड़ीबोली के प्रयोग को ले कर इस युग में एक प्रकार के आंदोलन का ही सूत्रपात हो गया था, जिसका मूल कारण यह था कि अयोध्याप्रसाद खत्री-कृत 'खड़ीबोली का आंदोलन' (1888) में ब्रजभाषा और अवधी की रचनाओं को हिंदी साहित्य के अंतर्गत स्थान देने से ही इनकार कर दिया गया था। इसका फल यह हुआ कि प्रतापनारायण मिश्र जैसे कुछ कवियों ने प्रतिक्रियास्वरूप कुछ समय तक खड़ीबोली में काव्य-रचना का तीव्र विरोध किया, उनकी खड़ीबोली-कविताएं बाद की रचनाएं हैं। अयोध्याप्रसाद खत्री ने 'खड़ीबोली का पद्य' (1889) शीर्षक एक अन्य रचना में विभिन्न शैलियों में रचित उस समय की खड़ीबोली कविताओं का भी संकलन किया था, जिससे इस दिशा में कवियों की बढ़ती हुई अभिरुचि का प्रमाण मिलता है। कारण स्पष्ट है, खड़ीबोली-गद्य के समानांतर खड़ीबोली-कविता के विकास की संभावनाओं की खोज उनमें से बहुतों को अभीष्ट थी। उदाहरणस्वरूप भारतेंदु की निम्नलिखित काव्य-पंक्तियां देखिए :

*श्री राधामाधव युगलचरण रस का अपने को मस्त बना।*
*पी प्याला भर-भर कर कुछ इस मै का भी देख मजा॥*

खड़ीबोली की तत्कालीन कविताओं के दो पक्ष थे—ये कविताएं या तो उर्दू की काव्यशैली और उसके शब्दविन्यास की ओर झुकी हुई थीं अथवा इनमें ब्रजभाषा-शब्दावली और उसके क्रियारूपों का, कवियों के सहज अभ्यासवश, प्रयोग रहता था। यह उल्लेख भी अप्रासंगिक न होगा कि इस युग के कुछ कवियों की प्रवृत्ति हिंदीतर भाषाओं में स्फुट पद-रचना की ओर भी रही। भारतेंदु और प्रेमघन ने बंगला, गुजराती और मराठी में स्फुट कविताएं लिखी थीं, जिनमें से कुछ उनकी नाट्यकृतियों में समाविष्ट हैं।

भारतेंदु-युग में यद्यपि लछिराम जैसे अलंकारवादी कवि की रचनाएं भी उपलब्ध हैं, तथापि सामान्यतः कवियों ने रीतिकाल की **अलंकरण-प्रवृत्ति** का अनुकरण नहीं किया। आलोच्य काल की रीतिबद्ध शृंगारिक रचनाओं और भारतेंदु की 'यमुना-छवि' जैसी कुछ कविताओं में उत्प्रेक्षा, संदेह प्रभृति अर्थालंकारों की प्रमुखता भले ही लक्षित होती है और शब्दालंकारों के अंतर्गत अनुप्रास, यमक और श्लेष का चमत्कार उनके मन को भले ही बांधता है, किंतु सामान्यतः अलंकारों का सहज रूप में अभिनिवेष ही कवियों को अधिक अभीष्ट रहा है।

भारतेंदुयुगीन कविता का पर्याप्त भाग पदशैली में रचित है, तथापि परंपरित ढंग की **छंद-योजना** भी सभी कवियों की रचनाओं में मिलती है। दोहा, चौपाई, सोरठा, कुंडलिया, रोला, हरिगीतिका आदि मात्रिक छंद और कवित्त, सवैया, मंदाक्रांता, शिखरिणी, वंशस्थ, वसंततिलका आदि वर्णिक छंद कवि-समुदाय में विशेष प्रचलित रहे। भारतेंदु और राधाकृष्णदास द्वारा बिहारी और रहीम के कुछ दोहों का कुंडलियों में भाव-विस्तार किया जाना और अंबिकादत्त व्यास द्वारा 'बिहारी-विहार' में इस शैली को अपनाना भी उल्लेखनीय है। भारतेंदु ने उर्दू-छंदों में 'काव्य-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रचना'[7] के साथ ही 'प्रात-समीरन' कविता में बंगला के 'पयार' छंद का प्रयोग किया है। अंबिकादत्त व्यास ने भी बंगला के 'दीर्घललित' छंद में काव्य-रचना की है। 'कंस-वध' में अतुकांत काव्य-रचना की पद्धति अपना कर भी उन्होंने नया प्रयोग किया है। इसमें संदेह नहीं कि रीतिकाल की तुलना में इस युग के कवि विविधतापूर्ण छंद-विधान के प्रति अधिक जागरूक थे।

## प्रमुख कवि

आलोच्य युग में यों तो शताधिक कवियों ने विविध प्रवृत्तियों के अंतर्गत काव्य-रचना की है, किंतु उनमें भारतेंदु हरिश्चंद्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, जगन्मोहन सिंह, अंबिकादत्त व्यास और राधाकृष्णदास ही प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त श्रीधर, पाठक (1859-1928), बालमुकुंद गुप्त (1865-1907) और हरिऔध (1865-1945) की कविताओं का प्रकाशन भी इस युग में आरंभ हो गया था, किंतु इनके कृतित्व का बहुल अंश परवर्ती युग में ही सामने आया। यद्यपि इनकी एकाध रचना-प्रवृत्तियों का उल्लेख इसके पूर्व किया जा चुका है, किंतु इनके कृतित्व का स्वतंत्र मूल्यांकन द्विवेदी-युग में ही उचित होगा।

**भारतेंदु हरिश्चंद्र :** कविवर हरिश्चंद्र (1850-1885) इतिहासप्रसिद्ध सेठ अमीचंद की वंश-परंपरा में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता बाबू गोपालचंद्र 'गिरिधरदास' भी अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे। हरिश्चंद्र ने बाल्यावस्था में ही काव्य-रचना आरंभ कर दी थी और अल्पायु में कवित्व प्रतिभा और सर्वतोमुखी रचना-क्षमता का ऐसा परिचय दिया था कि उस समय के पत्रकारों तथा साहित्यकारों ने 1880 ई. में उन्हें 'भारतेंदु' की उपाधि से सम्मानित किया था। कवि होने के साथ ही भारतेंदु पत्रकार भी थे। 'कविवचनसुधा' और 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' उनके संपादन में प्रकाशित होने वाली प्रसिद्ध पत्रिकाएं थीं। नाटक, निबंध आदि की रचना द्वारा उन्होंने खड़ीबोली की गद्य-शैली के निर्धारण में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया था। उनकी कविताएं विविध-विषय-विभूषित हैं। भक्ति, शृंगारिकता, देशप्रेम, सामाजिक परिवेश और प्रकृति के विभिन्न संदर्भों को ले कर उन्होंने विपुल परिमाण में काव्य-रचना की, जो कहीं सरसता और लालित्य में अद्वितीय है और अन्यत्र स्थूल वर्णनात्मकता की परिधि को लांघने में असमर्थ है। उनकी काव्य-कृतियों की संख्या सत्तर है, जिनमें 'प्रेम-मालिका', 'प्रेम-सरोवर', 'गीत-गोविंदानंद', 'वर्षा-विनोद', 'विनय-प्रेम-पचासा', 'प्रेम-फुलवारी', 'वेणु-गीति' आदि विशेषतः उल्लेख-योग्य हैं। वैसे 'भारतेंदु-ग्रंथावली' के प्रथम भाग में उनकी सभी छोटी-बड़ी काव्यरचनाएं एक ज़िल्द में उपलब्ध हैं। उनकी प्रमुख विशेषता यह है कि अपनी अनेक रचनाओं में जहां वे प्राचीन काव्य-प्रवृत्तियों के अनुवर्ती रहे, वहीं नवीन काव्यधारा के प्रवर्तन का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। राजभक्त होते हुए भी वे देशभक्त थे, दास्य भाव की भक्ति के साथ ही उन्होंने माधुर्य भाव की भक्ति भी की है, नायक-नायिका के सौंदर्य वर्णन में ही न रम कर उन्होंने उनके लिए नवीन कर्तव्य क्षेत्रों का भी निर्देश किया है और इतिवृत्तात्मक काव्यशैली के साथ ही उनमें हास्य-व्यंग्य का पैनापन भी विद्यमान है। अभिव्यंजना-क्षेत्र में भी उन्होंने ऐसी ही परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली प्रवृत्तियों को अपनाया है, जो उनकी प्रयोगधर्मी मनोवृत्ति का प्रमाण है। 'हिंदी भाषा' में प्रबल हिंदीवादी के रूप में सामने आने पर भी उन्होंने उर्दू-शैली में कविताएं लिखी हैं और काव्य-रचना के लिए ब्रजभाषा को ही उपयुक्त मानने पर भी वे खड़ीबोली में 'दशरथविलाप' तथा 'फूलों का गुच्छा' कविताएं लिखते दिखायी देते हैं। काव्यरूपों की विविधता उनकी अनन्य विशेषता है। छंदोबद्ध कविताओं के साथ ही उन्होंने गेय पद-शैली में भी विदग्धता का परिचय दिया है। संक्षेप में यह

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कहा जा सकता है कि कविता के क्षेत्र में वे नवयुग के अग्रदूत थे। अपनी ओजस्विता, सरलता, भावमर्मज्ञता और प्रभविष्णुता से उनका काव्य इतना प्राणवान है कि उस युग का शायद ही कोई कवि उनसे अप्रभावित रहा हो। उनकी काव्यशैली के निदर्शनार्थ एक पद यहां उद्धृत किया जा रहा है :

*रहैं क्यों एक म्यान असि दोय।*
*जिन नैनन में हरि-रस छायो तेहि क्यौं भावै कोय॥*
*जा तन-मन में रमि रहे मोहन तहाँ ग्यान क्यौं आवै।*
*चाहे जितनी बात प्रबोधो ह्यां को जो पतिआवै।*
*अमृत खाइ अब देखि इनारुन को मूरख जो भूलै।*
*'हरीचन्द' ब्रज तो कदली-बन काटौ तौ फिरि फूलै॥*

**बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' :** भारतेंदु-मंडल के कवियों में प्रेमघन (1855-1923) का प्रमुख स्थान है। उनका जन्म उत्तरप्रदेश के ज़िला मिर्ज़ापुर के एक संपन्न ब्राह्मणकुल में हुआ था। भारतेंदु की भांति उन्होंने भी पद्य और गद्य दोनों में विपुल साहित्य-रचना की है। साप्ताहिक 'नगरी-नीरद' और मासिक 'आनंदकादंबिनी' के संपादन द्वारा उन्होंने तत्कालीन पत्रकारिता को भी नयी दिशा दी थी। 'अब्र' नाम से उन्होंने उर्दू में कुछ कविताएं लिखी हैं। 'जीर्ण जनपद', 'आनंद अरुणोदय', 'हार्दिक हर्षादर्श', 'मयंक-महिमा', 'अलौकिक लीला', 'वर्षा-बिंदु' आदि उनकी प्रसिद्ध काव्यकृतियां हैं, जो अन्य रचनाओं के साथ 'प्रेमघन-सर्वस्व' के प्रथम भाग में संकलित हैं। भारतेंदु के काव्य में प्राप्त होने वाली सभी प्रवृत्तियां प्रेमघन की रचनाओं में भी समुपलब्ध हैं। 'लालित्य-लहरी' के वंदना संबंधी दोहों और 'बृजचंद-पंचक' में उनकी भक्ति-भावना व्यक्त हुई है, तो उनकी श्रृंगारिक कविताएं भी रसिकता-संपन्न हैं। उनका मुख्य क्षेत्र जातीयता, समाजदशा और देशप्रेम की अभिव्यक्ति है। यद्यपि उन्होंने राजभक्ति संबंधी कविताओं की भी रचना की है, तथापि राष्ट्रीय भावना की नयी लहर से उनका अविच्छिन्न संबंध था। देश की दुरवस्था के कारणों और देशोन्नति के उपायों का जितना वर्णन उन्होंने किया है, उतना भारतेंदु की कविताओं में भी नहीं मिलता। इस संदर्भ में नयी-से-नयी घटना को भी वे कविता का विषय बना लेते थे। उदाहरणस्वरूप, पार्लियामेंट के सदस्य दादाभाई नौरोजी को जब विलायत में 'काला' कहा गया, तब उन्होंने इस पर यह क्षोभपूर्ण प्रतिक्रिया व्यक्त की थी :

*अचरज होत तुमहुँ सम गोरे बाजत कारे,*
*तासों कारे 'कारे' शब्दहु पर हैं वारे।*
*कारे कृष्ण, राम, जलधर जल-बरसनवारे,*
*कारे लागत ताहीं सों कारन कौं प्यारे।*
*यातें नीको है तुम 'कारे' जाहु पुकारे,*
*यहै असीस देत तुमको मिलि हम सब कारे—*
*सफल होहिं मन के सब ही संकल्प तुम्हारे।*

प्रेमघन ने मुख्यतः ब्रजभाषा में काव्यरचना की है, किंतु खड़ीबोली के लिए उनके काव्य में विरक्ति नहीं थी। वे कविता में भावगति के कायल थे। न तो उन्हें भाषा के शुद्ध प्रयोग की चिंता थी और न वे यतिभंग से विचलित होते थे। छंदोबद्ध रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने लोकसंगीत की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कजली और लावनी शैलियों में भी सरस कविताएं लिखी हैं।

**प्रतापनारायण मिश्र :** ब्राह्मण-संपादक प्रतापनारायण मिश्र (1856-1894) का जन्म बैजेगांव, ज़िला उन्नाव में हुआ था। पिता के कानपुर चले जाने के कारण उनकी शिक्षा-दीक्षा वहीं हुई। ज्योतिष का पैतृक व्यवसाय न अपना कर वे साहित्य-रचना की ओर प्रवृत्त हुए। कविता, निबंध और नाटक उनके मुख्य रचनाक्षेत्र हैं। कानपुर के रंगमंच और वहां की साहित्यिक संस्था 'रसिक-समाज' से उनका निकट का संबंध था। 'प्रेमपुष्पावली', 'मन की लहर', 'लोकोक्ति शतक', 'तृप्यन्ताम्' और 'शृंगार-विलास' उनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं। 'प्रताप-लहरी' उनकी प्रतिनिधि कविताओं का संकलन है। भारतेंदु की भांति उन्होंने भी विभिन्न विषयों को ले कर काव्य-रचना की है, किंतु भक्ति और प्रेम की तुलना में समसामयिक देश-दशा और राजनीतिक चेतना का वर्णन उन्होंने अधिक मनोयोग से किया है। इस संदर्भ में उनकी ये पंक्तियां कितनी सटीक और व्यंग्यात्मक हैं :

*पढ़ि कमाय कीन्हों कहा, हरे न देश कलेस।*
*जैसे कन्ता घर रहे, तैसे रहे विदेस॥*

हास्य-व्यंग्यात्मक कविताओं के क्षेत्र में प्रतापनारायण मिश्र का अग्रणी स्थान है। प्रेमघन की भांति उन्होंने भी लावनी-शैली में अनेक कविताएं लिखी हैं। वे भावुक कवि थे और अभिव्यंजना-पक्ष में उनका बल व्यावहारिकता पर अधिक था। काव्य-रचना के लिए उन्होंने मुख्यत: ब्रजभाषा को ही अपनाया है, खड़ीबोली से उन्हें उतना लगाव नहीं था।

**जगन्मोहन सिंह :** ठाकुर जगन्मोहन सिंह (1857-1899) मध्यप्रदेश की विजय राघवगढ़ रियासत के राजकुमार थे। उन्होंने काशी में संस्कृत और अंग्रेज़ी की शिक्षा प्राप्त की। वहां रहते हुए उनका भारतेंदु हरिश्चंद्र से संपर्क हुआ, किंतु भारतेंदु की रचनाशैली की उन पर वैसी छाप नहीं मिलती, जैसी प्रेमघन और प्रतापनारायण मिश्र के कृतित्व में लक्षित होती है। शृंगार-वर्णन और प्रकृति-सौंदर्य की अवतारणा उनकी मुख्य काव्य-प्रवृत्तियां हैं, जिन्हें उनकी काव्य-कृतियों—प्रेमसंपत्तिलता (1885), श्यामालता (1885), श्यामा-सरोजिनी (1886) और देवयानी (1886)—में सर्वत्र पाया जा सकता है। 'श्यामास्वप्न' शीर्षक उपन्यास में भी उन्होंने प्रसंगवश कुछ कविताओं का समावेश किया है। उनके द्वारा अनूदित 'ऋतुसंहार' और 'मेघदूत' भी ब्रजभाषा की सरस कृतियां हैं। जगन्मोहन सिंह में काव्य-रचना की स्वाभाविक प्रतिभा थी और वे भावुक मनोवृत्ति के कवि थे। कल्पना-लालित्य, भावुकता, चित्रशैली और सरस-मधुर ब्रजभाषा उनकी रचनाओं की अन्यतम विशेषताएं हैं। अलंकारों का स्वाभाविक नियोजन भी उनमें भारतेंदुयुगीन कवियों में सबसे अधिक दृष्टिगत होता है। उनकी कविता का एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

*कुलकानि तजी गुरु लोगन में बसिकै सब बैन-कुबैन सहा।*
*परलोक नसाय सबै बिधि सों उनमत्त को मारग जान गहा॥*
*'जगमोहन'धोय हया निज हाथन या तन पाल्यौ है प्रेम महा।*
*सब छोड़ि तुम्हैं हम पायो अहो तुम छोड़ि हमैं कहो पायो कहा॥*

**अंबिकादत्त व्यास :** कविवर दुर्गादत्त व्यास के पुत्र अंबिकादत्त व्यास (1858-1900) काशी-निवासी सुकवि थे। वे संस्कृत और हिंदी के अच्छे विद्वान थे और दोनों भाषाओं में साहित्य-रचना करते थे। 'पीयूष-प्रवाह' के संपादक के रूप में भी उन्होंने अपनी प्रतिभा का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिचय दिया है। उनकी काव्यकृतियों में 'पावस पचासा' (1886), 'सुकवि-सतसई' (1887) और 'हो हो होरी' (1891) उल्लेखनीय हैं। इनकी रचना ललित ब्रजभाषा में हुई है। उन्होंने खड़ीबोली में 'कंस-वध' (अपूर्ण) शीर्षक प्रबंधकाव्य की रचना भी आरंभ की थी, किंतु इसके केवल तीन सर्ग ही लिखे जा सके। 'बिहारी-विहार' उनकी एक अन्य प्रसिद्ध रचना है, जिसमें महाकवि बिहारी के दोहों का कुंडलिया छंद में भावविस्तार किया गया है। उनके द्वारा लिखित समस्यापूर्तियां भी उपलब्ध होती हैं। अपने नाटकों (भारत-सौभाग्य, गोसंकट नाटक) में भी उन्होंने कुछ गेय पदों का समावेश किया है। व्यास जी की प्राचीन भारतीय संस्कृति में गहन आस्था थी, जिसे प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त करने के अतिरिक्त उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता की कमियों पर व्यंग्य भी किये हैं। उन्होंने सरल और कोमलकांत पदावली के प्रयोग को वरीयता दी है। 'सुकवि-सतसई' के निम्नलिखित दोहों में स्वच्छ-सरस ब्रजभाषा में श्रीकृष्ण के प्रति भाव-निवेदन किया गया है :

*सुमिरत छवि नन्दनन्द की, बिसरत सब दुखदन्द।*
*होत अमन्द अनन्द हिय, मिलत मनहुं सुख कन्द॥*
*रसना हू बस ना रहत, बरनि उठत करि ज़ोर।*
*नन्दनन्द मुखचन्द पै, चितहू होत चकोर॥*

**राधाकृष्णदास :** भारतेंदु हरिश्चंद्र के फुफेरे भाई राधाकृष्णदास (1865-1907) बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। कविता के अतिरिक्त उन्होंने नाटक, उपन्यास और आलोचना के क्षेत्रों में भी उल्लेखनीय साहित्य-रचना की है। उनकी कविताओं में भक्ति, शृंगार और समकालीन सामाजिक-राजनीतिक चेतना को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। 'भारत-बारहमासा' और 'देश-दशा' समसामयिक भारत के विषय में उनकी प्रसिद्ध कविताएं हैं। कुछ कविताओं में प्रसंगवश प्रकृति के सुंदर चित्र भी उकेरे गये हैं। राधाकृष्ण-प्रेम के निरूपण में भक्तिकाल और रीतिकाल की वर्णन-परंपराओं का उन पर समान प्रभाव पड़ा है। एक सवैया देखिए :

*मोहन की यह मोहिनी मूरत, जीय सों भूलत नाहिं भुलाये।*
*छोरन चाहत नेह को नातो, कोऊ बिधि छूटत नाहिं छुराये॥*
*'दास जू' छोरि कै प्यारै हहा, हमैं और के रूप पै जाइ लुभाये।*
*भूलि सकै अब कौन जिया उन, तौ हंसि कै पहिले ही चुराये॥*

राधाकृष्णदास की कुछ कविताएं 'राधाकृष्ण-ग्रंथावली' में संकलित हैं, किंतु उनकी अनेक रचनाएं अभी भी अप्रकाशित हैं। अंबिकादत्त व्यास की परंपरा में उन्होंने भी रहीम के दोहों पर कुंडलियां रची हैं। ब्रजभाषा की कविताओं में मधुरता और खड़ीबोली की रचनाओं में प्रासादिकता की ओर उनकी सहज प्रवृत्ति रही है।

**अन्य कवि :** भारतेंदु-युग में समसामयिक सामाजिक-राजनीतिक परिवेश के प्रति जिस जागरूकता का उदय हुआ था, उसका निर्वाह उस काल के गौण कवियों में नहीं मिलता। उनकी रचनाओं में भक्तिभावना और शृंगार-वर्णन की प्रमुखता रही है। इस संदर्भ में सर्वप्रथम नवनीत चतुर्वेदी (1868-1919) का नाम आता है। इनकी प्रसिद्ध कृति 'कुब्जा-पचीसी' रीतिपद्धति की सरस रचना है। इनके शिष्यों में जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने आगे चल कर विशेष ख़्याति प्राप्त की। गोविंद गिल्लाभाई-कृत 'शृंगार-सरोजिनी', 'पावस-पयोनिधि', 'राधामुख-षोडसी' और 'षड्ऋतु'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भी भक्ति और प्रेमवर्णन संबंधी रचनाएं हैं, जिनमें राधा-कृष्ण के संदर्भ में प्रेम, सौंदर्य और भक्ति का भावन किया गया है। दिवाकर भट्ट-कृत 'नखशिख' (1884) और 'नवोढारत्न' (1888) भी रीतिपद्धति की रचनाएं हैं। रामकृष्ण वर्मा 'बलवीर'-कृत 'बलबीर-पचासा', सूर्यपुराधीश राजेश्वरीप्रसाद सिंह 'प्यारे'-कृत 'प्यारे-प्रमोद', गुलाब सिंह की 'प्रेम-सतसई' और राव कृष्णदेवशरण सिंह 'गोप' का 'प्रेम-सन्देशा' भी शृंगार रस की कृतियां हैं। इनके अनेक छंदों में नायक-नायिका की मनोदशाओं का सरस चित्रण हुआ है। शृंगारपरंपरा के कवियों में बेनी द्विज, हनुमान, ब्रजचंद्र वल्लभीय और नकछेदी त्रिपाठी का उल्लेख भी आवश्यक है। शृंगारेतर विषयों पर स्फुट छंदरचना भी प्रायः इन सभी कवियों ने की है। इस संदर्भ में राधाचरण गोस्वामी के 'नव भक्तमाल', गोविंद गिल्लाभाई-कृत 'नीति-विनोद' और दुर्गादत्त व्यास के 'अधमोद्धार शतक' (रचना 1872) का उल्लेख अपेक्षित है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ये कवि अभी भक्तिकाल और रीतिकाल के परिवेश में ही जी रहे थे, वैसा ही भाव-विन्यास और उसी ढंग की अभिव्यंजनाशैली! कभी समस्यापूर्तियों में और कभी दो-चार स्फुट छंदों में नवीन विषयों को ग्रहण करने पर भी ये ब्रजभाषा के परंपरागत काव्यवृत्त से ही संतुष्ट रहे। सत्य तो यह है कि विषय और भाषा के संबंध में इस कोटि के कवियों के पूर्वाग्रह का ही परिणाम यह हुआ कि कालांतर में काव्यक्षेत्र में ब्रजभाषा का स्थान खड़ीबोली ने ले लिया।

## मूल्यांकन

भारतेंदु-युग की मुख्य उपलब्धि यह है कि इसके पूर्व रीतिकाल में जिस वैयक्तिक शृंगारमयी काव्यधारा पर बल रहा था, उसके स्थान पर कविगण समाज और राष्ट्र को उद्बोधन देने वाली लोकमंगलकारी दृष्टि की ओर उन्मुख होने लगे थे, जिसकी पूर्ण परिणति आगे चल कर द्विवेदी-युग में लक्षित हुई। वैचारिक धरातल पर इस युग का चिंतन दो दिशाओं में विभक्त है—कुछ लेखक तो सनातनधर्म, रामकृष्णमिशन आदि के प्रभाववश अतीत के गुणगान से ही संतुष्ट रहे और कुछ ने आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज से प्रभावित हो कर तथा पाश्चात्य वाङ्मय से प्रेरणा पा कर देश की राजनीतिक-आर्थिक दासता और बाल-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध जैसी रूढ़िवादी सामाजिक प्रथाओं के विरुद्ध गहरा असंतोष प्रकट किया। किंतु ऐसे लेखकों का स्वर पूर्णतः विद्रोही स्वर नहीं है, उसमें समन्वय पर बल है।

भारतेंदु-युग पुरातन और नवीन के संधिस्थल पर स्थित है, फलस्वरूप कवियों के विचार-दर्शन में या तो एक प्रकार की उलझन है अथवा समकालीन परिवेश ने उन्हें परस्पर विरोधी दृष्टियां अपनाने के लिए विवश किया है। इसीलिए जहां उन्होंने रीतिकालीन प्रभाव परंपरा के अंतर्गत प्रवृत्तिमार्ग अर्थात शृंगाररसात्मक काव्य-रचना का अनुमोदन किया है, वहीं उसकी प्रतिक्रिया में भक्तिकालीन आदर्शवाद की ओर उन्मुख हो कर भक्तिकाव्य और नीतिकाव्य की रचना भी की है। इस प्रकार इस काल में तीन काव्य-प्रवृत्तियां लक्षित होती हैं—प्रवृत्तिमूलक प्रेमकाव्य, दास्य भक्ति और माधुर्य भक्ति से ओत-प्रोत रचनाएं तथा सुधारवादी जीवनदृष्टि को बिंबित करने वाली कविताएं। इसी प्रकार वे एक ओर तो राजभक्ति को नहीं छोड़ सके और दूसरी ओर जातीय गौरव की अनुभूति एवं समाज-विकास की आवश्यकता को समझने के कारण देशभक्ति की ओर भी उन्मुख हुए। परिणामस्वरूप यह स्थिति कहीं-कहीं द्वंद्वात्मक प्रतीत हो सकती है। ईस्ट इंडिया कंपनी के दमनकारी शासन के उपरांत विक्टोरिया की सुधारवादी शासन नीति उस समय काफ़ी लोकप्रिय थी, अतः शासकवर्ग की उदारता के गुणगान को राष्ट्रीयता-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विरोधी प्रवृत्ति समझना भूल होगी। तीसरी बात यह है कि जहां उन्होंने गद्यरचना के लिए ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली को माध्यम रूप में अपना कर युगानुरूप स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचय दिया और परिणामस्वरूप जहां वे नवीन विषयों की ओर भी अनायास प्रवृत्त हुए, वहीं कविता के लिए उन्हें प्रायः ब्रजभाषा ही उपयुक्त प्रतीत हुई। गद्य और पद्य की इस विभेदक रचना-दृष्टि का यह परिणाम हुआ कि अपने काव्य में वे नवीन विषयों को स्वतंत्र रूप में नहीं अपना सके।

इस युग की कविता का बहुत अंश वस्तुनिष्ठता, बुद्धिवादिता, वर्णनात्मकता और इतिवृत्तात्मकता से युक्त है, किंतु कुछ कवियों में सौंदर्यवादी जीवनदृष्टि का उन्मेष भी मिलता है। श्रीधर पाठक और जगन्मोहन सिंह की कविताएं इस संदर्भ में विशेषतः उल्लेखनीय हैं। सौंदर्य-चित्रण के रीतिकालीन स्वरूप की एकांगिता का तत्त्वबोध इस युग के साहित्यकार को भलीभांति हो चुका था। फलस्वरूप कवियों ने श्रृंगार और भक्ति के रोमानी परिवेश में ही न रह कर मानव को सर्वांगीण रूप में देखने का यत्न किया। यह दूसरी बात है कि इसकी सही परिणति विकास के विभिन्न चरणों से हो कर वर्तमान युग में ही हो पायी। किंतु यही बात इस युग के गद्य-साहित्य के विषय में नहीं कही जा सकती। अपने कृतित्व को मानवता के बृहत्तर आयाम के साथ जोड़ने की दिशा में कवियों की अपेक्षा गद्यकार अधिक सक्रिय रहे हैं। अंत में यह कहना समीचीन होगा कि भारतेंदु-युग के कवियों की सबसे बड़ी विशेषता प्राचीन और नवीन का समन्वय करने में है।[8] वर्ण्य विषयों के संदर्भ में तो इस कोटि का प्रयास प्रायः सर्वत्र ही लक्षित होता है, अभिव्यंजनापक्ष में भी उन्होंने अधिकतर व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया है।

## गद्य-साहित्य

भारतेंदु-युग हिंदी-गद्य के बहुमुखी विकास का युग है। इसके पूर्व जिन गद्य-लेखकों—राजा लक्ष्मणसिंह (1826-1896), राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद (1823-1895), नवीनचंद्र राय (1837-1890) और श्रद्धाराम फुल्लौरी—का उल्लेख इतिहासग्रंथों में किया गया है, उनकी कृतियों का साहित्यिक महत्त्व नहीं के बराबर है। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद ने छात्रों के लिए पाठ्य पुस्तकें तैयार कीं, नवीनचंद्र राय के साहित्य की मूल प्रेरणा धार्मिक है और श्रद्धाराम फुल्लौरी भी धार्मिक व्यक्ति थे। राजा लक्ष्मणसिंह का 'अभिज्ञानशाकुंतल' का अनुवाद (1863) अवश्य एक उत्तम अनुवाद-कृति है, किंतु इसका प्रचार इसकी शुद्ध भाषानीति के कारण ही हुआ। वस्तुतः उपर्युक्त लेखकों का महत्त्व खड़ीबोली-गद्य के स्वरूप-विकास के क्रम में अदा की गयी भूमिकाओं के कारण है।[9] इस युग में मुख्य संघर्ष हिंदी की स्वीकृति और प्रतिष्ठा को ले कर था, फ़ारसी के स्थान पर हिंदी को प्रतिष्ठा दिलाने के लिए किये गये प्रयत्न ही जागरण के आधार बने। इस युग के दो प्रसिद्ध लेखकों—राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह ने हिंदी के स्वरूप-निर्धारण के प्रश्न पर दो सीमांतों का अनुगमन किया। राजा लक्ष्मणसिंह ने विशुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिंदी का समर्थन किया और राजा शिवप्रसाद ने हिंदी का गंवारूपन दूर करते-करते उसे उर्दू-ए-मुअल्ला बना दिया। इन दोनों के बीच सर्वमान्य हिंदी-गद्य की प्रतिष्ठा कर गद्य-साहित्य की विविध विधाओं के विकास का ऐतिहासिक कार्य भारतेंदु-युग में पूरा हुआ।

भारतेंदु-युग में अर्थात उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण में पूरे देश में सांस्कृतिक जागरण की लहर दौड़ चुकी थी। सामंतीय सामाजिक ढांचा टूट चुका था। अंग्रेज़ी-शिक्षा के विकास की गति चाहे जितनी धीमी रही हो और उसके उद्देश्य चाहे जितने सीमित रहे हों, उसका व्यापक प्रभाव

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

देश के शिक्षित समाज पर पड़ रहा था। देश में एक सशक्त मध्यवर्ग तैयार हो गया था, जो अत्यधिक संवेदनशील था। यह वर्ग व्यापक राष्ट्रीय एवं सामाजिक हितों की दृष्टि से सोचने लगा था और यह अनुभव करने लगा था कि सभी दृष्टियों से हमारा देश अत्यंत हीनावस्था में है, जीवन के सभी क्षेत्रों—सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक—में परिवर्तन और सुधार की आवश्यकता है। भारतेंदु इसी प्रगतिशील चेतना के प्रतिनिधि थे। उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से ठीक समय पर उचित नेतृत्व प्रदान किया और अपने निबंधों, नाटकों तथा भाषणों में जागरण का संदेश दिया। उनके सहयोगियों और समर्थकों ने उनके द्वारा प्रशस्त पथ पर चल कर हिंदी की जो सेवा की, वह अविस्मरणीय है। भारतेंदुकालीन साहित्य सांस्कृतिक जागरण का साहित्य है। इस युग में रचित गद्य-साहित्य की प्रत्येक विधा—नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना—के समीक्षात्मक परिचय से विशेषतः इस सांस्कृतिक जागरण का स्वरूप ही स्पष्ट होता है।

## नाटक

हिंदी-नाटकों का आरंभ भारतेंदु हरिश्चंद्र से ही स्वीकार किया जाना चाहिए। इसके पूर्व जिन नाट्य कृतियों—प्राणचंद चौहान-कृत 'रामायण महानाटक' (1610), लछिराम-कृत 'करुणाभरण' (1657), नेवाज-कृत 'शकुंतला' (1680), महाराज विश्वनाथ सिंह-कृत 'आनंद रघुनंदन' (अनुमानतः 1700 ई.), रघुराय नागर-कृत 'सभासार' (1700), उदय-कृत 'रामकरुणाकर' एवं 'हनुमान नाटक' (1840)—का उल्लेख मिलता है, वे वस्तुतः नाटक नहीं हैं। ये पद्यात्मक प्रबंध हैं, जिनमें काव्यगुणों का भी अभाव है। इनमें 'आनंद रघुनंदन' ही ऐसी रचना है, जिसमें शास्त्रीय नियमों के अनुसार नान्दी, विष्कम्भक, भरतवाक्य आदि का प्रयोग किया गया है और रंग-निर्देश (संस्कृत भाषा में) भी दिये गये हैं। इसलिए विद्वानों ने इसे हिंदी का प्रथम नाटक माना है, किंतु इसमें नाट्यदृष्टि से अनेक दोष हैं। उदाहरणार्थ, पात्रों के लोकप्रचलित नामों को बदल कर दुर्बोध बना दिया गया है, काल-दोष का ध्यान न रख कर अंग्रेज़ी, फ़ारसी, बंगला, मैथिली आदि अनेक भाषाओं का प्रयोग किया गया है और कथानक भी शिथिल है। सब मिला कर यह न तो सुरुचिपूर्ण है और न ही अभिनेय। अन्य पूर्ववर्ती कृतियों में अमानतकृत 'इंदरसभा' (1853) को भी गीतिनाट्य (ऑपेरा) होने पर भी हिंदी के साहित्यिक नाटकों की परंपरा में नहीं जोड़ा जा सकता। यह नवाब की महफ़िल की नाटकीय योजना मात्र है, न इसमें कथा-तत्त्व है और न ही चरित्र-विकास। इसके गाने अत्यंत हीन स्तर के व्यक्तियों को ही प्रभावित कर सकते हैं। भारतेंदु के पिता गोपालचंद्र गिरिधरदास-कृत 'नहुष' (1857) भी 'विशुद्ध नाटक-रीति' से भले लिखा गया हो, पर वह अन्य ब्रजभाषा नाटकों से बहुत भिन्न नहीं है। गणेश कवि का 'प्रद्युम्न-विजय' नाटक (1863) एक तो समग्र रूप में पद्यबद्ध है, और दूसरे, यह किसी संस्कृत-नाटक का अनुवाद प्रतीत होता है। शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का 'जानकीमंगल' (1868) नाटक अवश्य अभिनय के लिए रचा गया था। यह नाट्यगुणों से युक्त है और इसकी भाषा परिमार्जित खड़ीबोली है। किंतु इस समय तक भारतेंदु का उदय हो चुका था और उनका 'विद्यासुंदर' नाटक प्रकाशित हो गया था। वस्तुतः गोस्वामी तुसलीदास द्वारा प्रवर्तित रामलीला की लोकप्रियता के साथ लीला-नाटकों की जो परंपरा आरंभ हुई, उसका श्रेष्ठ रूप 'जानकीमंगल' नाटक है। इसके अभिनय में भारतेंदु ने भी भाग लिया था। इसकी विषय-वस्तु 'रामचरितमानस' पर आधृत रामकथा ही है, किंतु ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली के प्रयोग तथा सभी प्रकार के आवश्यक रंग-निर्देश के कारण यह नाटक भारतेंदु द्वारा प्रवर्तित साहित्यिक नाटकों की परंपरा से जुड़ जाता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आलोच्य युग के सर्वश्रेष्ठ नाटककार भारतेंदु हरिश्चंद्र हैं। उन्होंने अनूदित और मौलिक सब मिला कर सत्रह नाटकों की रचना की, जिनकी सूची इस प्रकार है—(1) विद्यासुंदर (1868, संस्कृत 'चौरपंचाशिका' के बंगला-संस्करण का हिंदी रूपांतर), (2) रत्नावली (1868, संस्कृत से अनुवाद), (3) पाखंड-विडंबन (1872, कृष्ण मिश्र-कृत प्रबोध चंद्रोदय के तीसरे अंक का अनुवाद, (4) धनंजय विजय (1873, कांचन कवि-कृत संस्कृत नाटक के तीसरे अंक का अनुवाद),(5) कर्पूरमंजरी (1875, सट्टक, कांचन कवि-कृत संस्कृत नाटक का अनुवाद), (6) भारत जननी (1877, नाट्यगीत), (7) मुद्राराक्षस (1878, विशाखदत्त के संस्कृत नाटक का अनुवाद), (8) दुर्लभ बंधु (1880, शेक्सपियर के 'मरचेंट ऑफ़ वेनिस' का अनुवाद), (9) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873, प्रहसन), (10) सत्य हरिश्चंद्र (1875), (11) श्री चंद्रावली (1876, नाटिका), (12) विषस्य विषमौषधम् (1876, भाण), (13) भारत-दुर्दशा (1880, नाट्यरासक), (14) नीलदेवी (1881, गीतिरूपक), (15) अंधेर नगरी (1881, प्रहसन), (16) सती-प्रताप (1883, गीतिरूपक), (17) प्रेमजोगिनी (1875, नाटिका)।

भारतेंदु-काल में रचित नाटकों को विषय एवं प्रवृत्ति-भेद के आधार पर पौराणिक, ऐतिहासिक, रोमानी, सामयिक उपादानों के आधार पर रचित, प्रहसन और प्रतीकवादी—इन वर्गों में रखा जा सकता है। स्वयं भारतेंदु ने उपर्युक्त सभी वर्गों के नाटकों की रचना की है। सर्वाधिक संख्या पौराणिक नाटकों की है, जिनके विषय-भेद से तीन वर्ग किये जा सकते हैं—(1) कृष्ण एवं उनके परिवार के व्यक्तियों के चरित्र पर आधृत नाटक, (2) राम एवं उनसे संबंधित पात्रों के चरित्र पर आधृत नाटक, (3) अन्य पौराणिक आख्यानों पर आधृत नाटक। कृष्णचरित्र संबंधी नाटकों में भारतेंदु-कृत 'चंद्रावली', अंबिकादत्त व्यास-कृत 'ललिता' (1884), हरिहरदत्त दूबे-कृत 'महारास' (1884), खड्गबहादुर मल्ल-कृत 'महारास' (1885) और 'कल्पवृक्ष' (1886) तथा सूर्यनारायण सिंह-कृत 'श्यामानुराग नाटिका' (1899) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण-परिवार के व्यक्तियों के चरित्र से संबंधित नाटकों में चंद्र शर्मा-कृत 'उषाहरण' (1887), कार्तिकप्रसाद खत्री-कृत 'उषाहरण' (1892) और अयोध्यासिंह उपाध्याय-कृत 'प्रद्युम्न-विजय' (1893) तथा 'रुक्मिणी-परिणय' (1894) महत्त्वपूर्ण हैं। रामचरित्र संबंधी नाटकों में देवकीनंदन खत्री-कृत 'सीताहरण' (1876) और 'रामलीला' (1879), शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'रामचरितावली' (1887), ज्वालाप्रसाद मिश्र-कृत 'सीता-वनवास' (1895) और द्विजदास-कृत 'रामचरित्र नाटक' (1891) उल्लेखनीय हैं। अन्य पौराणिक आख्यानों पर आधृत नाटकों में भारतेंदु हरिश्चंद्र-कृत 'सत्य हरिश्चंद्र' और 'सती-प्रताप', गजराज सिंह-कृत 'द्रौपदी-हरण' (1885), श्रीनिवासदास-कृत 'प्रह्लाद चरित्र' (1888), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'नल-दमयंती-स्वयंवर' (1895) और शालिग्राम लाल-कृत 'अभिमन्यु' (1896) उल्लेखनीय हैं। पौराणिक नाटकों की ही परंपरा में वे नाटक भी रखे जा सकते हैं, जो ऐसे संतों और भक्तों के चरित्रों को आधार बना कर लिखे गये हैं, जिनकी प्रतिष्ठा लोकमानस में पौराणिक व्यक्तियों जैसी हो गयी है। इस परंपरा में गोपीचंद, मोरध्वज और भर्तृहरि संबंधी नाटक अधिक लिखे गये।

आलोच्य युग के ऐतिहासिक नाटकों में भारतेंदु-कृत 'नीलदेवी', श्रीनिवासदास-कृत 'संयोगिता-स्वयंवर' (1886), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'अमरसिंह राठौर' (1895) और राधाकृष्णदास-कृत 'महाराणा प्रताप' (1898) महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें सबसे अधिक लोकप्रियता 'महाराणा प्रताप' को प्राप्त हुई। संभवतः आलोच्य युग में रचित यही एक नाटक है, जिसे ऐतिहासिक नाटकों में स्थान

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दिया जा सकता है।

प्रेमप्रधान रोमानी नाटकों में श्रीनिवासदास-कृत 'रणधीर-प्रेममोहिनी' (1877) और 'तप्ता संवरण' (1883), खड्गबहादुर मल्ल-कृत 'रति-कुसुमायुध' (1885), किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'प्रणयिनी-परिणय' (1890) और 'मयंक मंजरी' (1891), शालिग्राम शुक्ल-कृत 'लावण्यवती सुदर्शन' (1892) तथा गोकुलानाथ शर्मा-कृत 'पुष्पवती' (1899) उल्लेखनीय हैं। इनमें 'रणधीर-प्रेममोहिनी' हिंदी का पहला दुःखांत नाटक है और इसी को विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई।

सामयिक उपादानों को ले कर लिखे गये नाटकों में भारतेंदु-कृत 'भारतदुर्दशा', बालकृष्ण भट्ट-कृत 'नयी रोशनी का विष' (1884), खड्गबहादुर मल्ल-कृत 'भारत आरत' (1885), अंबिकादत्त व्यास-कृत 'भारत-सौभाग्य' (1887), राधाकृष्णदास-कृत 'दुःखिनी बाला' (1880), गोपालराम गहमरी-कृत 'देश-दशा' (1892), काशीनाथ खत्री-कृत 'विधवा-विवाह' और देवकीनंदन त्रिपाठी-कृत 'भारतहरण' (1899) उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में देश की तत्कालीन दुर्दशा का चित्र खींचा गया है और समाज की समस्याओं को प्रत्यक्ष करके उनके मूल में काम करने वाली बुराइयों को दूर करने की प्रेरणा दी गयी है।

आलोच्य युग में अनेक सफल प्रहसनों की भी रचना की गयी। भारतेंदु-कृत 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'अंधेर नगरी', बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1877) और 'आचार विडंबन' (1899), विजयानंद त्रिपाठी-कृत 'महाअंधेर नगरी' (1893), प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'कलिकौतुक रूपक' (1886) और राधाचरण गोस्वामी-कृत 'बूढ़े मुंह मुंहासे' (1886) उल्लेखनीय प्रहसन हैं। इनमें हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैली में धार्मिक पाखंडों का खंडन हुआ है और सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किये गये हैं।

प्रतीकवादी नाटकों की रचना इस काल में अधिक नहीं हुई। कमलाचरण मिश्र-कृत 'अद्भुत नाटक' (1885), रतनचंद्र-कृत 'न्याय सभा' (1892) और शंकरानंद-कृत 'विज्ञान' (1897) इस दिशा में एकमात्र उल्लेखनीय कृतियां हैं। इन नाटकों में भावों एवं मनोवृत्तियों को ही पात्रों का रूप दिया गया है।

वस्तुतः भारतेंदु-काल में नाटकों की रचना का मूल उद्देश्य मनोरंजन के साथ ही जनमानस को जाग्रत करना और उसमें आत्मविश्वास उत्पन्न करना था। फलस्वरूप इनमें सत्य, न्याय, त्याग, उदारता आदि मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करने, प्राचीन संस्कृति के प्रति प्रेम जगाने, अनुकरणीय पौराणिक एवं ऐतिहासिक चरित्रों के प्रति समाज को आकृष्ट करने और नवीनता की आंधी से समाज को सुरक्षित रखते हुए उसका सुधार एवं परिष्कार करने पर अधिक बल दिया गया है। शास्त्रीय दृष्टि से भारतेंदुकालीन नाटक संस्कृत-नाट्यशास्त्र की मर्यादा की रक्षा करते हुए, युग और परिस्थिति के अनुसार उसमें थोड़ी छूट ले कर लिखे गये हैं। साथ ही पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के प्रभाव से भी वे अछूते नहीं हैं। पाश्चात्य ट्रैजेडी की पद्धति पर दुःखांत नाटक लिखने की परंपरा का श्रीगणेश स्वयं भारतेंदु ने ही किया था। इस समय तक पारसी थियेट्रिकल कंपनियां स्थापित हो चुकी थीं। इनका उद्देश्य व्यावसायिक था, फलस्वरूप इनमें अत्यंत हीन रुचि के दृश्यों तथा नाच-गानों की योजना की जाती थी। भारतेंदु ने इनका प्रबल विरोध किया और सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं उद्देश्यपूर्ण नाटकों को महत्त्व दिया। उनके बाद हिंदी में साहित्यिक नाटकों की परंपरा कुछ दब गयी और द्विवेदी-युग में पारसी-कंपनियों की परंपरा के नाटक जनता में विशेष लोकप्रिय हुए। स्पष्ट है कि उस समय तक हिंदी-प्रदेश की सामान्य जनता का मानसिक स्तर पर्याप्त नीचा था। क्रमशः उच्चशिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ जनरुचि में परिवर्तन हुआ। दूसरी ओर थियेटर-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कंपनियों का स्थान चित्रपट ने ले लिया। पारसी-कंपनियों के लिए लिखे जाने वाले नाटकों की परंपरा समाप्त हुई और प्रसाद जी के नाटकों से हिंदी में साहित्यिक नाटकों का द्वितीय उत्थान आरंभ हुआ।

प्रस्तुत संदर्भ में भारतेंदुयुगीन साहित्यकारों द्वारा अनूदित नाटकों पर विचार कर लेना भी उचित होगा। ये अनुवाद अथवा रूपांतरण मुख्यतः संस्कृत, बंगला और अंग्रेज़ी भाषाओं से किये गये। इस दिशा में स्वयं भारतेंदु ने मार्गदर्शन किया। अनुवादों से न केवल नाटक-साहित्य को नवीन दृष्टि प्राप्त हुई, वरन हिंदी साहित्यकारों के रचना-संस्कार को विस्तृत आयाम भी प्राप्त हुआ। संस्कृत भाषा से भवभूति और कालिदास के नाटकों के अनुवाद अधिक हुए। सन् 1862 में राजा लक्ष्मणसिंह ने 'अभिज्ञानशाकुंतल' का अनुवाद करके हिंदी-प्रेमियों का ध्यान आकृष्ट किया था। भारतेंदु द्वारा अनूदित नाटकों का उल्लेख इसके पूर्व किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त होने वाले प्रमुख अनुवादों की तालिका (मूल नाटककार, नाटक, अनुवादक) नीचे उद्धृत की जा रही है :

**भवभूति** : 1. उत्तररामचरित : देवदत्त तिवारी (1871), नंदलाल विश्वनाथ दूबे (1886), लाला सीताराम (1897), 2. मालती-माधव : लाला शालिग्राम (1881), लाला सीताराम (1898), 3. महावीरचरित : लाला सीताराम (1897)

**कालिदास** : 1. अभिज्ञानशाकुंतल : नंदलाल विश्वनाथ दूबे (1888)
2. मालविकाग्निमित्र : लाला सीताराम (1898)

**कृष्णमित्र** : प्रबोधचंद्रोदय : शीतलाप्रसाद (1879), अयोध्याप्रसाद चौधरी (1885)

**शूद्रक** : मृच्छकटिक : गदाधर भट्ट (1880), लाला सीताराम (1899)

**हर्ष** : रत्नावली : देवदत्त तिवारी (1872), बालमुकुंद सिंह (1898)

**भट्ट नारायण** : वेणीसंहार : ज्वालाप्रसाद सिंह (1897)

उपर्युक्त तालिका से प्रकट है कि संस्कृत नाटकों के अनुवाद की ओर सबसे अधिक रुचि लाला सीताराम ने दिखायी थी। बंगला से सर्वाधिक अनुवाद माइकेल मधुसूदन के नाटकों के हुए। कुछ महत्त्वपूर्ण अनूदित नाटकों की तालिका नीचे दी जा रही है :

**माइकेल मधुसूदन** : पद्मावती : बालकृष्ण भट्ट (1878), 2. शर्मिष्ठा : रामचरण शुक्ल (1880), 3. कृष्णमुरारी : रामकृष्ण वर्मा (1899)

**मनमोहन वसु** : सती : उदितनारायण लाल (1880)

**राजकिशोर दे** : पद्मावती : रामकृष्ण वर्मा (1889)

**द्वारिकानाथ गांगुली** : वीर नारी : रामकृष्ण वर्मा (1899)

इस युग में बंगला से हिंदी में अनुवाद करने वालों में रामकृष्ण वर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अंग्रेज़ी से सर्वाधिक अनुवाद शेक्सपियर के नाटकों के हुए। पारसी-कंपनियां शेक्सपियर के नाटकों का उर्दू-रूपांतर करके उनका अभिनय प्रस्तुत करती थीं, जिससे इन नाटकों के प्रचार-प्रसार में वृद्धि हुई। शेक्सपियर के कुछ प्रमुख अनूदित नाटक ये हैं—(1) मरचेंट ऑफ़ वेनिस (वेनिस का व्यापारी : आर्या 1888), (2) द कॉमेडी ऑफ़ एरर्स (भ्रमजालक : मुंशी इमदाद अली), भूलभुलैया : लाला सीताराम (1885), (3) ऐज़ यू लाइक इट (मनभावन : पुरोहित गोपीनाथ, 1896), (4) रोमियो-जूलियट (प्रेमलीला : पुरोहित गोपीनाथ, 1897),

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(5) मैकबेथ (साहसेंद्र साहस : मथुराप्रसाद उपाध्याय, 1893)। शेक्सपियर के नाटकों के इन अनुवादों के अतिरिक्त बाबू तोताराम ने जोजेफ़ एडीसन के नाटक 'केटो' का अनुवाद 'कृतांत' (1879) शीर्षक से किया था। इन अनुवादों का महत्त्व अंग्रेज़ी भाषा की आत्मा को हिंदी में अवतरित करने की दृष्टि से चाहे न हो, किंतु हिंदी-नाटकों को नयी दिशा देने की दृष्टि से ये अवश्य मान्य होने चाहिए। अंग्रेज़ी-नाटकों के संपर्क में आने का ही परिणाम था कि लाला श्रीनिवासदास ने 'रणधीर और प्रेममोहिनी' नामक दुःखांत नाटक की रचना की। इसके संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है : ''रणधीर और प्रेममोहिनी नाम ही 'रोमियो एंड जूलियट' की ओर ध्यान ले जाता है।'' यह संस्कार संक्रमण का महत्त्वपूर्ण कार्य संस्कृत, बंगला और अंग्रेज़ी अनुवादों के कारण ही हुआ।

## उपन्यास

भारतेंदु-युग में लेखकों को उपन्यास-रचना की प्रेरणा बंगला और अंग्रेज़ी के उपन्यासों से प्राप्त हुई। अंग्रेज़ी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु' (1882) माना जाता है। इसके पूर्व श्रद्धाराम फुल्लौरी ने 'भाग्यवती' (1877) शीर्षक लघु सामाजिक उपन्यास लिखा था। 'भाग्यवती' की रचना के पूर्व बंगला में सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों ही प्रकार के अच्छे उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। हिंदी में मौलिक उपन्यासों की रचना आरंभ होने के पूर्व बंगला उपन्यासों के अनुवादों को लोकप्रियता मिल चुकी थी। हिंदी के भारतेंदुयुगीन मौलिक उपन्यासों पर संस्कृत के कथा-साहित्य एवं परवर्ती नाटक-साहित्य के प्रभाव के साथ ही बंगला-उपन्यासों की छाप भी लक्षित की जा सकती है। इस युग के उपन्यासकारों में लाला श्रीनिवासदास (1851-1887), किशोरीलाल गोस्वामी (1865-1932), बालकृष्ण भट्ट (1844-1914), ठाकुर जगन्मोहन सिंह (1857-1899), राधाकृष्णदास (1865-1907), लज्जाराम शर्मा (1863-1931), देवकीनंदन खत्री (1861-1913) और गोपालराम गहमरी (1866-1946) उल्लेखनीय हैं।

भारतेंदु-काल में सामाजिक, ऐतिहासिक, तिलस्मी-ऐयारी, जासूसी तथा रोमानी उपन्यासों की रचना-परंपरा का सूत्रपात हुआ। यह परंपरा आगे चल कर द्विवेदी-युग में अधिक विकसित और पुष्ट हुई। आलोच्य युग के सामाजिक उपन्यासों में 'भाग्यवती' और 'परीक्षागुरु' के अतिरिक्त बालकृष्ण भट्ट-कृत 'रहस्यकथा' (1879), 'नूतन ब्रह्मचारी' (1886) और 'सौ अजान एक सुजान' (1892), राधाकृष्णदास कृत 'निस्सहाय हिंदू' (1890), लज्जाराम शर्मा-कृत 'धूर्त रसिकलाल' (1890) और 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' (1899), तथा किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'त्रिवेणी वा सौभाग्यश्री' (1890) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी उपन्यासों का लक्ष्य समाज की कुरीतियों को सामने ला कर उनका विरोध करना और आदर्श परिवार एवं समाज की रचना का संदेश देना है। ये सभी उपन्यास सोद्देश्य लिखे गये हैं और लेखकों ने प्रायः प्रारंभ में ही अपना उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है। सामाजिक उपन्यासों की तुलना में आलोच्य युग में ऐतिहासिक उपन्यास बहुत कम लिखे गये। इस क्षेत्र में किशोरीलाल गोस्वामी का नाम ही उल्लेख योग्य है, किंतु उनके 'लवंगलता' (1890) उपन्यास को ऐतिहासिक उपन्यास की मर्यादा देना उचित नहीं है। वस्तुतः इस युग में ऐतिहासिक उपन्यासों की आकांक्षा की पूर्ति बंकिम के ऐतिहासिक उपन्यासों के अनुवादों से हुई।

तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासों में देवकीनंदन खत्री-कृत 'चंद्रकांता' (1882), 'चंद्रकांता-संतति' (चौबीस भाग, 1896), 'नरेंद्र मोहिनी' (1893), 'वीरेंद्र वीर' (1895) और 'कुसुमकुमारी'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(1899) तथा हरेकृष्ण जौहर-कृत 'कुसुमलता' (1899) उल्लेखनीय हैं। तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास सामान्य जनता में ख़ूब लोकप्रिय हुए थे। इनसे रहस्य-रोमांचप्रिय सस्ती कल्पना को पुष्टि मिलती थी। प्राय: कोई सुंदरी राजकुमारी किसी रहस्यमयी तिलस्मी इमारत में क़ैद हो जाती थी। उसका प्रेमी राजकुमार अपने हरफ़नमौला ऐयार की सहायता से तिलस्म तोड़ कर उसका उद्धार करता था। तिलस्मी उपन्यासों में 'चंद्रकांता-संतति' की ऐसी धूम मची कि इसको पढ़ने के लिए न जाने कितने उर्दूजीवी लोगों ने हिंदी सीखी। इस युग के जासूसी उपन्यासों में गोपालराम गहमरी-कृत 'अद्भुत लाश' (1896) और 'गुप्तचर' (1899) उल्लेखनीय हैं। गहमरी जी ने भारतेंदु-युग के अंतिम चरण में लिखना आरंभ किया और लगभग 200 जासूसी उपन्यास लिखे, किंतु उनके बहुसंख्यक उपन्यास द्विवेदी-युग की सीमा में लिखे गये हैं। जासूसी उपन्यासों में भी घटनाएं रहस्य-रंजित होती थीं, किंतु उन्हें अधिक-से-अधिक विश्वसनीय बनाने की चेष्टा की जाती थी। रोमानी उपन्यासों में ठाकुर जगन्मोहन सिंह का 'श्यामास्वप्न' (1888) उल्लेखनीय है। इसमें श्यामा (ब्राह्मणकुमारी) और श्याम सुंदर (क्षत्रियकुमार) की प्रेमकथा का स्वच्छंद शैली में चित्रण हुआ है।

उपर्युक्त उपन्यासों में सबसे महत्त्वपूर्ण एवं सशक्त धारा उन सामाजिक उपन्यासों की है, जिनका श्रीगणेश 'परीक्षागुरु' से हुआ था। अन्य उपन्यासों का महत्त्व इतना ही है कि उनसे सामान्य जनता में हिंदी की लोकप्रियता बढ़ी। इस युग के सर्वप्रधान उपन्यास-लेखक किशोरीलाल गोस्वामी माने गये हैं। गोस्वामी जी ने मानवीय प्रेम के विविध पक्षों के उद्घाटन में ही अपनी शक्ति का अपव्यय किया। वस्तुत: जीवन के यथार्थ को कला में ढालने वाले उपन्यासों की रचना का वातावरण अभी नहीं बन पाया था। इस शैली का आरंभ आगे चल कर द्विवेदी-युग में हुआ।

आलोच्य युग में बंगला और अंग्रेज़ी से उपन्यासों के अनुवाद की ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया गया। सर्वाधिक अनुवाद बंगला भाषा से किये गये। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में बंगला-साहित्य में बंकिमचंद्र चटर्जी (1838-1894), रमेशचंद्र दत्त (1848-1909), तारकनाथ गांगुली (1845-1891) और दामोदर मुकर्जी (1853-1907) के उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुए थे। अत: हिंदी में भी प्राय: इन्हीं के उपन्यास अनूदित हुए। प्रमुख अनूदित उपन्यासों की तालिका निम्नांकित हैं :

**रमेशचंद्र दत्त** : बंग-विजेता—गदाधर सिंह (1886)
**बंकिमचंद्र** : दुर्गेशनंदिनी—गदाधर सिंह (1882); राजसिंह, इंदिरा, राधारानी, युगलांगुरीय—प्रतापनारायण मिश्र
**दामोदर मुकर्जी** : मृण्मयी—राधाचरण गोस्वामी
**स्वर्ण कुमारी** : दीप-निर्वाण—मुंशी हरितनारायण लाल

उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त रामकृष्ण वर्मा ने 'चित्तौर-चातकी' (1895), कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'इला' (1895), 'प्रमीला' (1896), 'जया' तथा 'मधुमालती' एवं गोपालराम गहमरी ने 'चतुर चंचला' (1893), 'भानमती' (1894) और 'नये बाबू' (1895) शीर्षक अनूदित उपन्यासों की रचना की, किंतु इन कृतियों के बंगला-लेखकों के नाम उल्लिखित नहीं हैं। गहमरी जी ने प्राय: भावानुवाद की पद्धति अपनायी है। वस्तुत: उपन्यास और नाटक इन दोनों क्षेत्रों में बंगला-साहित्य की श्रेष्ठता तत्कालीन हिंदी-लेखकों को मान्य थी और वे हिंदी-साहित्य के उत्थान के लिए बंगला-साहित्य का सहारा लेना आवश्यक समझते थे। इस संदर्भ में बालकृष्ण भट्ट और माधवप्रसाद मिश्र के कथन क्रमश: द्रष्टव्य हैं :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(*अ*) ''बंगभाषा में 'दुर्गेशनंदिनी' प्रभृति शतशः उपन्यास एक-से-एक बढ़-चढ़ कर हैं। बंगदेशी जैसे और-और बातों में उत्साह और तरक्की के ओर-छोर तक पहुंचे हैं, वैसे ही नाटक और उपन्यास लिखने में किसी से कम नहीं हैं।''[10]

(*आ*) ''जो हो, रिक्तहस्ता हिंदी ने बंगला के सद्यःपूर्ण भंडार से केवल 'उपन्यास' शब्द को ही ग्रहण नहीं किया, वरंच इसका बहुत-सा उपकरण भी इस लघीयसी को उसी महीयसी से मिला है।''

यह निर्विवाद है कि बंगला-उपन्यासों से हिंदी-लेखकों को रचना-संस्कार के साथ ही राष्ट्रीय जागरण का आलोक भी प्राप्त हुआ। अन्य भाषाओं में अंग्रेज़ी, मराठी और उर्दू से भी कुछ स्फुट अनुवाद हुए। अंग्रेज़ी के किसी गंभीर उपन्यास के अनुवाद की सूचना नहीं मिलती। पुरोहित गोपीनाथ ने 'वीरेंद्र' (1896) शीर्षक से एक वीररसयुक्त, किंतु शृंगाररसप्रधान उपन्यास को किसी अंग्रेज़ी उपन्यास के छायानुवाद के रूप में प्रस्तुत किया। इसी प्रकार गोपालराम गहमरी ने 'किसी विलायती कहानी का निचोड़' ले कर 'गुप्तचर' (1899) शीर्षक उपन्यास लिखा। मराठी से 'पूर्णप्रकाश-चंद्रप्रभा' नामक उपन्यास का अनुवाद स्वयं भारतेंदु ने किया था। उर्दू से अनूदित उपन्यासों में रामाकृष्ण वर्मा-कृत 'संसार-दर्पण' (1885), 'अमला वृत्तांतमाला' (1884), 'ठग वृत्तांतमाला' (1889) और 'पुलिस वृत्तांतमाला' (1890) उल्लेखनीय हैं। इन अनुवादों से तत्कालीन पाठकों के कुतूहल एवं रहस्यवृत्ति की तुष्टि हुई।

## कहानी

आलोच्य युग में आधुनिक कलात्मक कहानी का आरंभ नहीं हुआ। कहानियों के नाम पर जो प्रकाशित संग्रह प्राप्त हुए हैं, जैसे मुंशी नवलकिशोर द्वारा संपादित 'मनोहर कहानी' (1880) में संकलित एक सौ कहानियां, अंबिकादत्त व्यास-कृत 'कथा-कुसुम-कलिका' (1888), राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद-कृत 'वामा-मनोरंजन' (1886) और चंडीप्रसाद सिंह-कृत 'हास्य-रतन' (1886), वे लोकप्रचलित तथा इतिहास-पुराण-कथित शिक्षा, नीति या हास्यप्रधान कथाएं हैं, जिन्हें तत्कालीन लेखकों ने स्वयं लिख कर या लिखवा कर संपादन करके प्रकाशित करा दिया। कहानी के नाम पर जिन स्वप्न-कथाओं का उल्लेख किया गया है, वे वस्तुतः कथात्मक निबंध हैं। इनका आरंभ कथात्मक पद्धति पर हुआ है, किंतु आगे चल कर अवसर मिलते ही तत्कालीन समाज की विकृतियों का वर्णन आरंभ हो गया है। भारतेंदु हरिश्चंद्र और बालकृष्ण भट्ट की स्वप्नकथाएं कहानी और निबंध के बीच की रचनाएं हैं। कहानियों के अभाव में तत्कालीन पाठक लघु उपन्यासों, मध्यकालीन प्रेमकथाओं के गद्यात्मक रूपांतरों, 'बैताल-पच्चीसी' और 'सिंहासन-बत्तीसी' की कहानियों, रसात्मक लोककथाओं और इन्हीं स्वप्नकथाओं से अपनी मानसिक तुष्टि कर लेता था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है : ''अंग्रेज़ी की मासिक पत्रिकाओं में जैसी छोटी-छोटी आख्यायिकाएं या कहानियां निकला करती हैं, वैसी कहानियों की रचना 'गल्प' के नाम से बंगभाषा में चल पड़ी थीं। ये कहानियां जीवन के बड़े मार्मिक और भावव्यंजक खंडचित्रों के रूप में होती थीं। द्वितीय उत्थान की सारी प्रवृत्तियों का आभास ले कर प्रकट होने वाली 'सरस्वती' पत्रिका में इस प्रकार की छोटी कहानियों के दर्शन होने लगे।'' तात्पर्य यह कि 'सरस्वती' के प्रकाशन के पूर्व आधुनिक कलात्मक हिंदी-कहानियों का अस्तित्व नहीं था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## निबंध

भारतेंदु-युग में सबसे अधिक सफलता निबंध-लेखन में प्राप्त हुई। निबंधों का संबंध पत्र-पत्रिकाओं से सीधे जुड़ा हुआ था। लेखकों के सामने अनंत विषय थे। राजनीति, समाजसुधार, धर्म, अध्यात्म, आर्थिक दुर्दशा, अतीत का गौरव, महापुरुषों की जीवनियां आदि विषयों पर विचार प्रकट करते हुए भारतेंदु-युग के लेखकों ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से निबंध-साहित्य को खूब समृद्ध किया। वस्तुतः अन्य गद्य-विधाओं में विचारों को सीधे व्यक्त करने की छूट नहीं होती, जबकि निबंधों में शैली के आकर्षण एवं कथन की भंगिमा के वैशिष्ट्य को बनाये रख कर भी किसी विषय पर सीधे बात की जा सकती है। निबंधों का आरंभ भारतेंदु से ही मान्य होना चाहिए। बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र ने इस गद्यविधा को और भी विकसित तथा समृद्ध किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने तो इन्हें हिंदी का 'स्टील' और 'एडीसन' कहा है। इसमें संदेह नहीं कि भट्ट जी और मिश्र जी हिंदी के सच्चे आत्मव्यंजक निबंधकार थे। भारतेंदु-युग के प्रमुख निबंधकार थे—भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', लाला श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री (1849-1891)। उपर्युक्त सभी निबंधकारों का संबंध किसी-न-किसी पत्र-पत्रिका से था। भारतेंदु ने 'हरिश्चंद्र मैगज़ीन', प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण', बालकृष्ण भट्ट ने 'हिंदी-प्रदीप', बदरीनारायण चौधरी ने 'आनंदकादंबिनी', श्रीनिवासदास ने 'सदादर्श' (1874) और राधाचरण गोस्वामी ने 'भारतेंदु' का संपादन किया था। अतः भारतेंदु-युग के निबंध मुख्य रूप से मासिक और पाक्षिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। उनका उद्देश्य उपदेश, उद्बोधन, आह्वान, व्याख्या, व्यंग्य-हास्य आदि अनेक माध्यमों से जनता को शिक्षित और प्रबुद्ध करना था।

भारतेंदु ने पुरातत्त्व, इतिहास, धर्म, कला, समाजसुधार, जीवनी, यात्रावृत्तांत, भाषा, साहित्य आदि अनेक विषयों पर निबंध लिखे हैं, जिनमें से अनेक में व्यंग्य-शैली का अद्भुत आकर्षण विद्यमान है। उनके यात्रावृत्तांत और ऋतुवर्णन संबंधी निबंध अधिक सजीव हैं। प्रतापनानायण मिश्र के लिए विषय की कोई सीमा नहीं थी। 'धोखा', 'ख़ुशामद', 'आप', 'बात', 'दांत', 'भौं', 'नारी', 'पुच्छ', 'परीक्षा', 'ह', 'द', 'समझदार की मौत है', 'मनोयोग' आदि अनेक विषयों को ले कर उन्होंने अपनी मौज़ में सार्थक बातें कही हैं। भारतेंदु की भांति उनका उद्देश्य भी जनता को जाग्रत करना था, फलतः उन्होंने देश की दुर्दशा का चित्र खींच कर सभी क्षेत्रों में सुधार और नवनिर्माण की प्रेरणा दी। बालकृष्ण भट्ट भारतेंदु-युग के सर्वाधिक समर्थ निबंधकार हैं। उन्होंने सामयिक समस्याओं पर जम कर लिखा है। 'बाल-विवाह', 'स्त्रियां और उनकी शिक्षा', 'राजा और प्रजा', 'कृषकों की दुरवस्था', 'अंग्रेज़ी-शिक्षा और प्रकाश', 'हमारे नये सुशिक्षितों में परिवर्तन', 'देश-सेवा-महत्त्व', 'महिला-स्वातंत्र्य' आदि निबंध इसी प्रकार के हैं। इनके अतिरिक्त मनोभावों तथा भाषा और साहित्य संबंधी विषयों पर भी भट्ट जी ने विचार किया है। उनके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निबंध वे हैं, जिनमें विषय की उपेक्षा करके उन्होंने अपने को व्यक्त किया है। 'ईश्वर भी क्या ठठोल है', 'चली सो चली', 'देवताओं से हमारी बातचीत', 'नये तरह का ज़नून', 'खटका' आदि निबंध आत्मव्यंजना की प्रधानता के कारण अधिक आकर्षक बन पड़े हैं। 'प्रेमघन' के निबंध भी अधिकतर सामयिक विषयों पर टिप्पणी के रूप में हैं। वैसे प्राकृतिक उपकरणों पर भी उन्होंने काव्यात्मक शैली में निबंध लिखे हैं। अन्य निबंधकारों का महत्त्व इसी रूप में है कि उन्होंने भारतेंदु, बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र के पथ का अनुसरण करते हुए तत्कालीन सांस्कृतिक जागरण को व्यापक बनाया।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शैली की दृष्टि से देखा जाये तो यों तो प्रत्येक निबंधकार की शैली व्यक्तित्व-भेद से अलग-अलग है, किंतु सामान्यतः सुविधा की दृष्टि से विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक, विवरणात्मक, कथात्मक, इतिवृत्तात्मक, अनुसंधानात्मक एवं भाषण आदि सभी शैलियों के निबंध भारतेंदु-युग में लिखे गये हैं। अभिव्यक्ति की ऐसी कोई भंगिमा नहीं है, जिसका आरंभ इस युग में न हुआ हो। सत्य तो यह है कि आगे चल कर द्विवेदी-युग में निबंधों के क्षेत्र में किसी नवीन परंपरा का सूत्रपात नहीं हुआ। भारतेंदु-युग के निबंधों की सबसे बड़ी विशेषता उनके माध्यम से प्रकट होने वाला व्यापक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण है। यह साहित्यविधा तत्कालीन जीवन-चेतना से सीधे जुड़ी हुई है। वस्तुतः इस संदर्भ में भारतेंदु-युग का निबंधकार जितना सजग था, उतना उपन्यासकार या नाटककार नहीं। इस आधार पर इस युग के निबंध-साहित्य को एक विशिष्ट उपलब्धि के रूप में स्वीकार करना सर्वथा समीचीन होगा।

## आलोचना

भारतेंदु-युग में हिंदी-आलोचना का आरंभ पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ, किंतु आधुनिक आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण इस काल में नहीं मिलता। 'हिंदी-प्रदीप' (1877-1910) ही एक ऐसा पत्र था, जो अपेक्षाकृत गंभीर आलोचनाएं प्रकाशित करता था। पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तक समीक्षा के रूप में प्रकाशित होने वाली आलोचनाओं के अतिरिक्त इस युग में तीन प्रकार की आलोचनाओं का अस्तित्व भी स्वीकार किया जा सकता था—(1) रीतिकालीन लक्षणग्रंथों की परंपरा में लिखित सैद्धांतिक आलोचना, (2) ब्रजभाषा एवं खड़ीबोली-गद्य में लिखी गयी टीकाओं के रूप में प्रचलित आलोचना, (3) इतिहास-ग्रंथों में कवि-परिचय के रूप में लिखी गयी आलोचना।

प्रथम वर्ग के अंतर्गत पिंगल, अलंकार, रस, नाटक तथा संपूर्ण काव्यशास्त्र—इन सभी विषयों पर लक्षणग्रंथों की रचना की गयी। उदाहरणस्वरूप, ज्वालास्वरूप-कृत 'रुद्रपिंगल' (1869), उमरावसिंह-कृत 'छंदमहोदधि' (1878), जगन्नाथप्रसाद 'भानु' कृत 'छंदःप्रभाकर' (1894) और जगन्नाथदास 'रत्नाकर'-कृत 'घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर' (1897) इस युग में रचित उल्लेखनीय पिंगलग्रंथ हैं। इसी प्रकार लछिराम-कृत 'रावणेश्वर कल्पतरु' (1892), बिहारीलाल-कृत 'अलंकारादर्श' (1897) तथा मुरारिदान कविराज-कृत 'जसवंत-जसो-भूषण' (1897) आलोच्य युग के महत्त्वपूर्ण अलंकारग्रंथ हैं। रस-ग्रंथों में कृष्णलाल-कृत 'रससिंधुविलास' (1883), साहबप्रसादसिंह-कृत 'रसरहस्य' (1887) और प्रतापनारायण सिंह-कृत 'रसकुसुमाकर' (1894) उल्लेखनीय हैं। 'रसकुसुमाकर' में लक्षण स्वच्छ खड़ीबोली-गद्य में दिये गये हैं। इसलिए रसशास्त्र के स्पष्ट और सुबोध ज्ञान के लिए यह ग्रंथ महत्त्व का है। संपूर्ण काव्यशास्त्र को दृष्टि में रख कर लिखे गये लक्षण-ग्रंथों में जानकीप्रसाद का 'काव्यसुधाकर' (1886) उल्लेखनीय है। नाट्यशास्त्र संबंधी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति भारतेंदु का 'नाटक' (1883) है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें प्राचीन नाट्यशास्त्र की जानकारी कराने के साथ ही युग-प्रवृत्ति का ध्यान रख कर प्राचीन जटिल शास्त्रीय नियमों से छूट लेने की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है। इन लक्षणग्रंथों से दो महत्त्वपूर्ण बातें प्रकट होती हैं। एक तो ये इस बात के सूचक हैं कि किसी भी युग में शिक्षित जनता की मनोवृत्ति का प्रवाह समानांतर कई धाराओं में हो सकता है। आलोच्य युग में एक ओर जहां पत्र-पत्रिकाओं में व्यापक राष्ट्रीय हित एवं समाजकल्याण को दृष्टि में रख कर पुस्तकों की समीक्षा की जा रही थी, वहीं दूसरी ओर रीतिकालीन मूल्यों में विश्वास करने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वाले कुछ विद्वान पिंगल, नायिकाभेद, रस-निरूपण एवं अलंकार-विवेचन में प्रवृत्त थे। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह लक्षित करने की है कि मात्र समाज को प्रभावित करने वाली कुछ बुरी बातों का उल्लेख कर देने से काव्यसमीक्षा का स्तर ऊंचा नहीं उठता। जब तक शास्त्रीय सिद्धांतों का पुनराख्यान करके उनकी कसौटी पर नवीन कृतियों की गंभीर एवं मार्मिक परख नहीं की जाती, तब तक शास्त्रीय सिद्धांतों की पुरानी परंपरा अलग घिसटती रहती है और सामान्य समीक्षा अलग प्रसारित होती रहती है।

ब्रजभाषा-गद्य में लिखी जाने वाली टीकाओं की परंपरा को जहां आलोच्य युग के कुछ ही पूर्व सरदार कवि ने जीवित रखा तथा उनके द्वारा रचित 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' और 'बिहारी-सतसई' की टीकाएं अधिक लोकप्रिय हुई थीं, वहीं 'बिहारी-सतसई' पर लल्लूलाल जी की टीका 'लालचंद्रिका' (1819) का संशोधन करके दुर्गादत्त कवि ने सन् 1864 में और पुनः ग्रियर्सन ने 1896 ई. में प्रकाशित कराया। यह टीका ब्रजभाषा-प्रभावित खड़ीबोली-गद्य में थी। प्रभुदयाल पांडेय ने भी 1896 ई. में खड़ीबोली-गद्य में 'बिहारी-सतसई' की एक अच्छी टीका लिखी थी। इन टीकाओं में कहीं-कहीं उत्तम एवं सूक्ष्म काव्यगुणों का संकेत मिल जाता है। इसलिए टीका-पद्धति की व्याख्या को भी एक प्रकार की आलोचना कहा जा सकता है। आलोच्य युग में दो इतिहासग्रंथ भी लिखे गये—शिवसिंह सेंगर-कृत 'शिवसिंहसरोज' (1878) और जार्ज ग्रियर्सन-कृत 'द मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ़ नार्दर्न हिंदुस्तान' (1889)। इनमें से शिवसिंह सेंगर की आलोचना-पद्धति में प्रशंसात्मक उक्तियों की ही बहुलता है। उदाहरण के लिए, देव कवि के संबंध में सरोजकार ने लिखा है : "शब्दों में ऐसी समायी कहां कि उनमें इनकी प्रशंसा की जाये।" इस प्रकार के वाक्यों के अतिरिक्त जो कुछ कहा गया है, वह सब प्रायः सूचनामात्र है। ग्रियर्सन ने अवश्य कुछ कहने की चेष्टा की है, किंतु उनके कथन भी वैयक्तिक उद्गारमात्र हैं। अतः आलोच्य युग के इतिहासग्रंथों में दिये गये कवि-परिचयों में आलोचना के तत्त्व नहीं के बराबर हैं।

वस्तुतः भारतेंदु-युग में आधुनिक आलोचना का रूप यदि कहीं बीज रूप में सुरक्षित है, तो वह पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तक-समीक्षाओं में ही है। इस क्रम में सबसे पहला उल्लेखनीय नाम बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' का है। उन्होंने श्रीनिवासदास-कृत 'संयोगितास्वयंवर' और गदाधर सिंह-कृत 'बंगविजेता' के अनुवादों की विस्तृत आलोचना 'आनंदकादंबिनी' में की थी। इसके बाद बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुंद गुप्त ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया। भट्ट जी की 'नीलदेवी', 'परीक्षागुरु', 'संयोगितास्वयंवर' और 'एकांतवासी योगी' संबंधी आलोचनाएं तत्कालीन समीक्षा-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। बालमुकुंद गुप्त द्वारा लिखित आलोचनाएं भी इसी परंपरा को आगे बढ़ाने वाली हैं, किंतु उनका कृतित्व बहुत-कुछ द्विवेदी-युग की सीमा में आता है।

सब मिला कर कहा जा सकता है कि भारतेंदु-युग में आधुनिक हिंदी-आलोचना का सूत्रपात तो हो गया था, किंतु तत्कालीन समीक्षकों में न तो सूक्ष्म काव्यसौंदर्य-विधायक तत्त्वों को पहचानने की क्षमता थी और न ही रचना में निहित जीवनमूल्यों को सौंदर्य-तत्त्व से जोड़ कर व्याख्यायित करने की शक्ति।

## गद्य-साहित्य की अन्य विधाएं

हिंदी-गद्य-साहित्य की प्रमुख एवं प्रचलित विधाओं के विकास में ही नहीं, अपितु गौण समझी जाने वाली जीवनी, यात्रावृत्त सदृश विधाओं के विकास में भी भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा उनके समकालीन लेखकों का योगदान उल्लेखनीय है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## जीवनी-साहित्य

आधुनिक युग की अन्य अनेक विधाओं के समान जीवनी-साहित्य का आरंभ भी भारतेंदु-युग में ही हुआ। स्वयं भारतेंदु हरिश्चंद्र ने विक्रम, कालिदास, रामानुज, जयदेव, सूरदास, शंकराचार्य, वल्लभाचार्य, मुग़ल बादशाहों, मुसलमान महापुरुषों तथा लॉर्ड मेयो, रिपन प्रभृति अंग्रेज़-शासकों से संबद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण जीवनियां लिखीं, जो 'चरितावली', 'बादशाहदर्पण', 'उदयपुरोदय' और 'बूंदी का राजवंश' नामक ग्रंथों में संकलित हैं। विषयानुकूल तथा भावानुकूल भाषा-शैली के प्रयोग द्वारा व्यक्ति विशेष के जीवनवृत्त का सशक्त अंकन उनके जीवनी-साहित्य की प्रमुख विशेषता है। भारतेंदु-युग के जीवनी-लेखकों में कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'अहिल्याबाई का जीवनचरित्र' (1887), 'छत्रपति शिवाजी का जीवनचरित्र' (1890)और 'मीराबाई का जीवनचरित्र' (1893), नाम्नी जीवनियां लिखीं। काशीनाथ खत्री ने 'हिंदुस्तान की अनेक रानियों का जीवन चरित्र' (1879) और 'भारतवर्ष की विख्यात स्त्रियों के जीवनचरित्र' (1883) की रचना कर जीवनी-साहित्य की श्रीवृद्धि की। रमाशंकर व्यास की उल्लेखनीय कृति 'नेपोलियन बोनापार्ट का जीवनचरित्र' (1883) है। इस युग के सर्वप्रसिद्ध जीवनी-लेखक देवीप्रसाद मुंसिफ़ हैं। उन्होंने 'महाराज मानसिंह कच्छवाल वाले अमीर का जीवनचरित्र' (1889), 'राजा मालदेव का जीवनचरित्र' (1889), 'उदयसिंह महाराजा' (1893), 'अकबरनामा' (1893), 'राणा भीम' (1893), 'जसवंत सिंह' (1896) आदि ऐतिहासिक जीवनियां लिख कर जीवनी-साहित्य को समृद्ध किया। राधाकृष्णदास ने 'आर्यचरितामृत बाप्पा रावल' (1884) के अतिरिक्त 'श्रीनागरीदास जी का जीवनचरित्र' (1894), 'कविवर बिहारीलाल' (1895), 'सूरदास' (1900)आदि साहित्यकारों की जीवनियां लिखीं। गोपाल शर्मा शास्त्री, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त, गोकुलनाथ शर्मा, बलभद्र मिश्र तथा अंबिकादत्त व्यास ने क्रमशः 'दयानंद-दिग्विजय' (1881), 'आर्यचरितामृत' (1884), 'हरिदास गुरमानी' (1896), 'श्री देवीसहायचरित्र', (1897), 'स्वामी दयानंद महाराज का जीवनचरित्र' (1897) और स्वामी भास्करानंद से संबद्ध 'स्वामी चरितामृत' (1899) नामक जीवनीग्रंथ लिखे। इनमें से 'आर्यचरितामृत' बंगला से अनूदित है। हिंदी-जीवनी साहित्य के विकास में विदेशी मिशनरियों ने भी पर्याप्त योग दिया। 'विक्टोरिया महारानी का वृत्तांत' (1896), 'सिकंदर महान का वृत्तांत' (1899) आदि पुस्तकें ईसाई मिशनरियों के प्रयत्नस्वरूप ही प्रकाशित हुईं। विदेशी महापुरुषों की जीवनियों में रमाशंकर व्यास कृत 'नेपोलियन बोनापार्ट' (1883) भी महत्त्वपूर्ण है। किंतु भारतेंदुयुगीन जीवनी-साहित्य का समग्र रूपेण मूल्यांकन करने पर यह कहा जा सकता है कि परिमाण की दृष्टि से अत्यल्प न होने पर भी इस युग के जीवनी-साहित्य में प्रायः न तो परिमार्जित एवं प्रतिनिष्ठित भाषा-प्रयोग परिलक्षित होता है और न चित्ताकर्षक शैली ही मिलती है। वस्तुतः इस युग को जीवनी-साहित्य का बीजवपनकाल कहना ही उचित होगा।

## यात्रावृत्त

यात्रावृत्त-लेखन की दिशा में भी भारतेंदु-युग के अनेक लेखकों ने योग दिया। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने यात्रावृत्त विषयक अनेक रचनाएं लिखीं, जो 'कविवचनसुधा' के 1871 से 1879 तक के अंकों में समय-समय पर प्रकाशित होती रहीं। इनमें 'सरयू-पार की यात्रा', 'लखनऊ की यात्रा' और 'हरिद्वार की यात्रा' उल्लेखनीय हैं। बालकृष्ण भट्ट तथा प्रतापनारायण मिश्र ने भी क्रमशः 'गया-यात्रा' और 'विलायतयात्रा' नामक रचनाएं लिखीं, जो क्रमशः 'हिंदी-प्रदीप' के मार्च, 1894 तथा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नवंबर, 1897 के अंकों में प्रकाशित हुईं। इस युग में यात्रावृत्त संबंधी जो कृतियां पुस्तकाकार प्रकाशित हुईं, उनमें श्रीमती हरदेवी, भगवानदास वर्मा, दामोदर शास्त्री, तोताराम वर्मा, कल्याणचंद्र और विगू मिश्र द्वारा क्रमशः रचित 'लंदन-यात्रा' (1883), 'लंदन का यात्री' (1884), 'मेरी पूर्व-दिग्यात्रा' (1885) और 'मेरी दक्षिण-दिग्यात्रा' (1886), 'ब्रजविनोद' (1888), 'बदरी-केदार-यात्रा' (1890) तथा 'ब्रज-यात्रा' (1894) विशेष रूपेण उल्लेखनीय हैं। श्रीमती हरदेवी ने बंबई से लंदन तक की जहाज़ी यात्रा का विस्तृत विवरण दिया है, तो भगवानदास वर्मा ने तुलनात्मक शैली का आश्रय लेते हुए लखनऊ और लंदन की समानताएं प्रकट की हैं। दामोदर शास्त्री ने भारत के पूर्वी तथा दक्षिणी भागों में की गयी यात्राओं को अत्यंत रोचक शैली में प्रस्तुत किया है। 'मेरी दक्षिण-दिग्यात्रा' में यात्रा-वर्णनों को हिंदी में लिखने के बाद पुनः संस्कृत में लिखा गया है। कल्याणचंद्र तथा विगू मिश्र ने अपनी यात्राओं के वर्णन के लिए गद्य के स्थान पर पद्य का प्रयोग किया है। भारतेंदु-युग में लिखी गयी यात्रावृत्त-संबंधी रचनाओं के अध्ययन-अनुशीलन के अनंतर यह कहना उचित होगा कि विदेश-यात्रा संबंधी वर्णनों में लंदन को प्रमुखता मिली है, तो स्वदेश यात्रा संबंधी वर्णनों में तीर्थस्थानों को।

## ज्ञान का साहित्य

आलोच्य युग में लिखित 'ज्ञान का साहित्य' परिचयात्मक है, उसके पीछे किसी प्रकार की महत प्रेरणा या योजना नहीं है। इतिहास, भूगोल, व्याकरण, गणित, विज्ञान आदि विषयों पर सामान्यतः वर्नाक्युलर स्कूलों के छात्रों के लिए पुस्तकें लिखी गयीं। इसी प्रकार संगीत, धर्म और दर्शन संबंधी रचनाओं के पीछे भी सांप्रदायिक प्रचार की भावना प्रेरक रूप में लक्षित की जा सकती है।

**इतिहास :** इतिहास ग्रंथों में राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद का 'इतिहासतिमिरनाशक' (1873), पूरनचंद मुंशी का 'अवधसमाचार' (1876), भारतेंदु हरिश्चंद्र का 'बूंदी का राजवंश' (1882), देवीप्रसाद मुंसिफ़-कृत 'आमेर के राजे' (1893) और 'मारवाड़ के प्राचीन लेख' (1896), एवं महाराज सिंह का 'इतिहास-बुंदेलखंड' (1896)उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त लेखकों में देवीप्रसाद मुंसिफ़ में इतिहास-लेखन की वास्तविक प्रतिभा थी, किंतु वे इसका पूरा उपयोग नहीं कर सके। यह ध्यान देने की बात है कि विदेशों का इतिहास लिखने की प्रवृत्ति आगे चल कर द्विवेदी-युग में लक्षित होती है।

**राजनीति :** भारतेंदु-युग में राजनीति के संबंध में कोई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ नहीं लिखा गया। इस दिशा में केवल दो कृतियां—श्रीनिवासदास-कृत 'राजनीति' (1869), और देवीदास-कृत 'राजनीति' (1873) का उल्लेख किया जा सकता है, किंतु ये पुस्तकें भी प्राचीन पद्धति पर लिखी गयीं है।

**भूगोल :** आलोच्य काल में सामान्यतः भूगोल संबंधी कुछ अत्यंत प्रारंभिक स्तर की पुस्तकें ही लिखी गयीं। फिर भी, लक्ष्मीशंकर मिश्र की 'प्राकृतिक भूगोल चंद्रिका' (1876), राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद की 'भूगोल हस्तामलक' (1877), भगवानदास वर्मा की 'पश्चिमोत्तर तथा अवध का भूगोल' (1887) और ज्वालानाथ नागर की 'जगत-दर्शन' (1899) शीर्षक कृतियां उल्लेख योग्य हैं।

**ललित कला :** ललित कलाओं के संदर्भ में भारतेंदु-युग में मात्र संगीतशास्त्र संबंधी कुछ पुस्तकें उपलब्ध होती हैं। सौरींद्रमोहन ठाकुर की 'गीतावली' (1878), गोपालदास की 'संगीत सप्तार्णव-तरंग' (1882), भक्तराम की 'राग-रत्नाकर' (1885), मणिराम की 'सितार-चंद्रिका' (1893), और राजा फ़तेहसिंह वर्मा की 'राग प्रकाशिका' (1899) इस दिशा में उल्लेखनीय रचनाएं हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**भक्ति, धर्म और दर्शन :** इस क्षेत्र में वैज्ञानिक पद्धति पर विवेचन प्रस्तुत करने वाली रचनाएं भारतेंदुयुगीन लेखकों ने प्रस्तुत नहीं कीं। उनकी मूल प्रेरणा प्रायः सांप्रदायिक प्रचार तक सीमित रही। सर्वाधिक प्रचार स्वामी दयानंद के 'सत्यार्थप्रकाश' (1875) का हुआ। अन्य कृतियों में श्रद्धाराम फुल्लौरी-कृत 'आत्मचिकित्सा' (1867), गोपालदास-कृत 'वल्लभाख्यान' (1873), कृष्णचंद्र धर्माधिकारी-कृत 'ज्ञानप्रदीप' (1874), कृष्णदास-कृत 'ज्ञानप्रकाश' (1874), हरिदास-कृत 'परमार्थ चिंतन विधि' (1876), आत्माराम जी महामुनि-कृत 'जैन तत्त्वादर्श' (1884), और रमाकांतशरण-कृत 'प्रेम-सुधा-रत्नाकर' (1893) महत्त्वपूर्ण हैं।

**चिकित्साशास्त्र :** चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र में आलोच्य युग में आयुर्वेद, एलोपैथी और होमियोपैथी, तीनों के ही संबंध में सामान्य ज्ञान की पुस्तकें प्राप्त होती हैं। आयुर्वेद संबंधी ग्रंथों में जनार्दन भट्ट-कृत 'वैद्यक रत्न' (1882) और श्रीकृष्ण शास्त्री-कृत 'चिकित्सा धातुसार' (1885) उल्लेखनीय हैं। एलोपैथी के क्षेत्र में डॉ. ब्रजलाल-कृत 'शस्त्र चिकित्सा' (1887) एक अच्छी पुस्तक है। पशु चिकित्सा संबंधी डॉ. शिवचंद्र मैत्र की पुस्तक 'पशु-चिकित्सा' (1895) भी उस युग को देखते हुए महत्त्वपूर्ण कृति है। इसी प्रकार केदारनाथ चटर्जी की 'होमयोपैथिक सार' भी उपयोगी रचना है।

**विज्ञान :** विज्ञान के क्षेत्र में गणित संबंधी पुस्तकें अधिक लिखी गयीं। ज्योतिष और गणित के संस्कार पंडित-परंपरा में अभी तक विद्यमान थे। इसलिए इस क्षेत्र में कुछ अच्छे प्रयत्न हुए। आदित्य भट्टाचार्य-कृत 'बीजगणित' (1874), शिवचरणलाल-कृत 'क्षेत्रमितिप्रकाश' (1875), नवीनचंद्र राय-कृत 'स्थिति तत्त्व और गति तत्त्व' (1882) और सुधाकर द्विवेदी-कृत 'चलन-कलन' (1886) तथा 'समीकरण मीमांसा' (दो भाग) तत्कालीन परिवेश में लिखी गयी महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं। विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भौतिकशास्त्र पर भी कुछ पुस्तकें प्राप्त होती हैं। इस क्रम में महेंद्र भट्टाचार्य-कृत 'पदार्थ दर्शन' (1873) और लक्ष्मीशंकर मिश्र-कृत 'पदार्थविज्ञान विटप' (1875) उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः शिक्षा का माध्यम हाईस्कूल तक में अंग्रेज़ी होने के कारण विज्ञान के किसी भी क्षेत्र में हिंदी में उल्लेखनीय पुस्तकें नहीं लिखी गयीं। पत्र-पत्रिकाओं में भी विज्ञान संबंधी अच्छे लेख बहुत कम प्रकाशित होते थे। इस अभाव की पूर्ति आगे चल कर नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना और 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन से हुई।

## पत्र-पत्रिकाएं

भारतेंदु के उदय के पूर्व पत्र-पत्रिकाओं के विकास का प्रथम दौर पूरा हो चुका था। पत्र-पत्रिकाओं का संबंध सीधे जनजागरण से है। किसी प्रकार के अन्याय या पक्षपात का प्रतिकार करने के लिए जनता जब उठ खड़ी होती है तो उसे अपनी आवाज़ बुलंद करने के लिए पत्र-पत्रिकाओं का सहारा लेना पड़ता है। उन दिनों जनजागरण का केंद्र कलकत्ता नगर था। हिंदी-पत्रकारिता का आरंभ वहीं से हुआ। **प्रथम उत्थान** (1826-1867) में प्रकाशित कुछ प्रमुख पत्र-पत्रिकाएं निम्नांकित हैं—(1) उदंत मार्तंड, 1826 साप्ताहिक, कलकत्ता; (2) बंगदूत, 1829, साप्ताहिक, कलकत्ता; (3) प्रजामित्र, 1834, साप्ताहिक, कलकत्ता; (4) बनारस अख़बार, 1845, साप्ताहिक, बनारस; (5) मार्तंड, 1846, साप्ताहिक, कलकत्ता; (6) मालवा अख़बार, 1849, साप्ताहिक, मालवा; (7) सुधाकर, 1850, साप्ताहिक, काशी; (8) बुद्धिप्रकाश, 1852, साप्ताहिक, आगरा; (9) समाचार-सुधावर्षण, 1854, दैनिक, कलकत्ता; (10) प्रजाहितैषी, 1855, आगरा;

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(11) तत्त्वबोधिनी पत्रिका, 1865, बरेली; (12) ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका, 1866, मासिक, लाहौर; (13) वृत्तांत-विलास, 1867, मासिक, जम्मू।

इस प्रकार प्रथम उत्थान में अधिकतर साप्ताहिक पत्रों का ही प्रकाशन हुआ। इस काल में पत्र-पत्रिकाओं का उद्देश्य जनता में जागरण और सुधार की भावना उत्पन्न करना था। अन्याय का प्रतिकार भी, अपनी सीमाओं में, ये पत्र-पत्रिकाएं करती थीं। बहुसंख्यक पत्रिकाएं दो-दो या तीन-तीन भाषाओं में निकलती थीं। इनमें प्रयुक्त हिंदी-भाषा टूटी-फूटी और अपरिमार्जित होती थी।

भारतेंदु का स्थान हिंदी-पत्रकारिता के क्षेत्र में अन्यतम है। उन्होंने हिंदी के प्रत्येक अभाव को दूर करने की भरपूर चेष्टा की। 'कविवचनसुधा' के प्रकाशन से ले कर भारतेंदु के अस्त होने तक हिंदी-पत्रकारिता के विकास का **दूसरा उत्थान** (1868-1885) पूरा हो जाता है। इस अवधि में हिंदी-भाषा का रूप स्थिर और परिमार्जित हुआ, जागरण और सुधार की भावना का प्रसार हुआ तथा अनेक वर्णों और धर्मों में विभाजित भारतवासियों ने अपने जाति-वर्ग के उत्थान के लिए जातीय और धार्मिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरंभ किया। क्रमशः पत्र-पत्रिकाओं में गंभीर लेख निकलने लगे और कुछ शुद्ध साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रकाशन भी हुआ। इनके माध्यम से राष्ट्रीय चेतना भी अधिक प्रखर रूप में सामने आयी। भारतेंदु हरिश्चंद्र के जीवनकाल में प्रकाशित कुछ प्रमुख पत्र-पत्रिकाएं निम्नलिखित हैं—कविवचनसुधा (मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक), 1868, काशी; (2) जगत-समाचार, 1869, साप्ताहिक, आगरा; (3) सुलभ समाचार, 1871, साप्ताहिक-कलकत्ता; (4) बिहारबंधु, 1871, मासिक, बांकीपुर; (5) चरणाद्रिचंद्रिका, 1873, साप्ताहिक, बनारस; (6) हरिश्चद्र मैगज़ीन, 1873, मासिक, बनारस; (7) बालाबोधिनी, 1874, मासिक, बनारस; (8) भारतबंधु, 1874, साप्ताहिक, अलीगढ़; (9) काशी-पत्रिका, 1875, साप्ताहिक, काशी; (10) हिंदी-प्रदीप, 1877, मासिक, इलाहाबाद; (11) कायस्थ समाचार, 1878, मासिक, इलाहाबाद; (12) आर्यमित्र, 1878, मासिक, बनारस; (13) उचित वक़्ता, 1878, साप्ताहिक, कलकत्ता; (14) भारत-सुदशा-प्रवर्त्तक, 1879, फ़र्रुखाबाद; (15) सारसुधानिधि, 1879, साप्ताहिक, कलकत्ता; (16. क्षत्रिय पत्रिका, 1880, मासिक, बांकीपुर; (17) आनंदकादंबिनी, 1881, मासिक, मिर्ज़ापुर; (18) भारतेंदु, 1883, वृंदावन; (19) देवनागरी-प्रचारक, 1882, मेरठ; (20) ब्राह्मण, 1883, मासिक, कानपुर; (21) काशी-समाचार, 1883, साप्ताहिक, काशी; (22) इंदु, 1883, मासिक, लाहौर; (23) कान्यकुब्ज-प्रकाश, 1884, लखनऊ; (24) हिंदोस्थान, 1885, दैनिक, कालाकांकर; (25) भारतोदय, 1885, दैनिक, कानपुर।

हिंदी-पत्रकारिता के **तृतीय उत्थान** (1886-1900) में 200 से ऊपर छोटी-बड़ी हिंदी-पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं। इनसे हिंदी-भाषा की शक्ति एवं लोकप्रियता का बोध तो होता ही है, देशव्यापी जनजागरण की सूचना भी मिलती है। कुछ मुख्य पत्र-पत्रिकाएं निम्नलिखित हैं—(1) आर्यावर्त, 1887, साप्ताहिक, कलकत्ता; (2) रहस्य-चंद्रिका, 1888, पाक्षिक, बनारस; (3) हिंदी बंगवासी, 1890, साप्ताहिक, कलकत्ता; (4) नागरी-नीरद, 1893, साप्ताहिक, मिर्ज़ापुर; (5) साहित्य-सुधानिधि, 1894, मासिक, काशी; (6) श्री वेंकटश्वर समाचार, 1895 साप्ताहिक, बंबई; (7) विद्याविनोद, 1895, मासिक, बांकीपुर; (8) नागरीप्रचारिणी-पत्रिका, 1896, त्रैमासिक, काशी; (9) समस्यापूर्ति, 1897, बांकीपुर; (10) रसिक-पत्रिका, 1897, साप्ताहिक, कानपुर; (11) उपन्यास, 1898, मासिक, काशी; (12) पंडित-पत्रिका, 1898, मासिक, काशी; (13) सरस्वती, 1900, मासिक, इलाहाबाद।

तीसरे उत्थान तक राजनीतिक चेतना का केंद्र बंगाल ही था। हिंदी-प्रदेश में भारतेंदु के समय

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में जो राष्ट्रीय जागरण की लहर आयी थी, उसे 'हिंदी-प्रदीप' ने पूरी शक्ति से जीवित रखा। इस पूरी अवधि (1886-1900) में राष्ट्र का नेतृत्व कांग्रेस के नरम या उदार नेताओं के हाथ में था। इसलिए पत्र-पत्रिकाओं में भी सामान्यतः विद्रोही स्वर मुखरित नहीं हुआ। यह प्रवृत्ति लोकमान्य तिलक की प्रभाववृद्धि के बाद आगे चल कर व्यक्त हुई।

## गद्य-शैली का विकास

आलोच्ययुगीन गद्य-शैली पर तीन दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—(1) भाषा की मूल जातीय प्रकृति को परख कर उसका सामान्य स्वरूप स्थिर करने की दृष्टि से, (2) क्रमशः परिष्कृत, परिमार्जित, सशक्त और प्रौढ़ होने की दृष्टि से, (3) लेखकों की व्यक्तिगत रुचि, प्रवृत्ति, संस्कार एवं व्यक्तित्व-भेद के प्रभाव से उत्पन्न भंगिमा वैशिष्ट्य की दृष्टि से। जहां तक भाषा के सामान्य स्वरूप का प्रश्न है, यह निर्विवाद है कि उसे भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा स्थिर किया जा चुका था। इस संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा था : ''जब भारतेंदु अपनी मंजी हुई परिष्कृत भाषा सामने लाये, तब हिंदी बोलने वाली जनता को गद्य के लिए खड़ीबोली का प्रकृत साहित्यिक रूप मिल गया और भाषा के स्वरूप का प्रश्न न रह गया। प्रस्तावकाल समाप्त हुआ और भाषा का स्वरूप स्थिर हुआ।''[11] भारतेंदु द्वारा स्थिर किये गये खड़ीबोली-गद्य के स्वरूप-निर्माण के तीन आधार थे—(1) मुख्यतः हिंदी के तद्भव और प्रचलित शब्दों का प्रयोग, (2) उर्दू-फ़ारसी के लोक-व्यवहार में प्रचलित शब्दों का प्रयोग और (3) आवश्यकता पड़ने पर संस्कृत के मूल स्रोत से शब्दों को ग्रहण करने की नीति। इसी नीति का अनुसरण भारतेंदु के अनुयायियों ने भी किया। परिष्कार, शक्ति और प्रौढ़ता की दृष्टि से देखा जाये तो भारतेंदुकालीन गद्य पहले से बहुत-कुछ निखर कर भी पूर्णतः परिमार्जित नहीं हुआ था। भारतेंदु-युग के लेखक 'दिखाकर', 'खिलाकर' के स्थान पर 'दिखाय', 'खिलाय' लिखते थे। 'कैसे' के स्थान पर 'क्योंकर' और 'ले', 'दे', के स्थान पर 'लै', 'दै' का प्रयोग प्रचलित था, अर्थात उच्चारण के अनुसार शब्दरचना की जाती थी। इसीलिए 'इसके' और 'उसके' के स्थान पर क्रमशः 'इस्के' और 'उस्के' लिखा जाता था। कहीं-कहीं व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग भी हो जाते थे। यह अवश्य है कि क्रमशः हिंदी-गद्य मंज रहा था और उसकी अभिव्यक्ति क्षमता बढ़ रही थी। व्यक्तित्व-भेद से उत्पन्न भंगिमा वैशिष्ट्य की दृष्टि से देखा जाये तो प्रत्येक लेखक की निजी शैली रही है। भारतेंदु की शैली व्यवस्थित और सजीव है। वाक्य हृदय की अनुभूति-लड़ियों के प्रतीक से लगते हैं। उनमें विन्यास की जटिलता न हो कर प्रवाह है। शब्दप्रयोग सधा हुआ है। भारतेंदु का गद्य उनकी मनःप्रवृत्ति का परिचायक है। उसका क्षोभ-आक्रोश, हास-परिहास और व्यंग्य-विनोद उनके गद्य में अंकित होता चलता है। आचार्य शुक्ल ने उनकी गद्यशैली के दो रूप लक्षित किये है—(1) भावावेश-शैली, (2) तथ्यनिरूपण की शैली। इन दोनों शैलियों के अतिरिक्त विचारप्रधान शैली, व्यंग्य-विनोद-शैली, उद्बोधन-शैली आदि भी उनके गद्य में लक्षित होती हैं। वस्तुतः विषय और परिस्थिति के अनुसार भारतेंदु की गद्यशैली का ढलाव बदलता गया है। हिंदी-प्रदेश की मूल चेतना से जुड़ा होने के कारण ही उनका गद्य सर्वमान्य हुआ। परिचय के लिए उनकी भाषावेग की शैली और तथ्य-निरूपण-शैली का क्रमशः एक-एक उदाहरण देखिए :

(अ) *''झूठे झूठे झूठे! झूठे ही नहीं, विश्वासघातक! क्यों इतना छाती ठोंक कर और हाथ उठा उठा कर लोगों को विश्वास दिया? आप ही सब मरते, चाहे जहन्नुम में पड़ते। भला क्या काम था कि इतना पचड़ा किया? किसने उपद्रव और जाल करने को कहा*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*था? कुछ न होता, तुम्हीं तुम रहते, बस चैन था, केवल आनंद था।''*

(आ) *''ये जाति के ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम बाबा रामदास जी था, जो गाना बहुत अच्छा जानते थे और कुछ धुरब पद इत्यादि भी बनाते थे और देहली या आगरे या मथुरा इन्हीं शहरों में रहा करते थे और उस समय के नामों के नामी गुनियों में गिने जाते थे।''*

बालकृष्ण भट्ट की शैली में खरापन है। वे गंभीर प्रकृति के व्यक्ति थे और जीवन-भर उन्होंने सच्चाई के लिए संघर्ष किया, फलस्वरूप समाज की विकृतियों को देख कर वे खीज उठते थे। इसीलिए उनकी शैली में कहीं-कहीं खीज और चिड़चिड़ापन है। संस्कृत के पंडित होने पर भी उन्होंने हिंदी की प्रकृति को पहचाना था। उन्होंने अनेक विषयों पर लेख लिखे हैं, इसलिए उनमें शैली-वैविध्य भी औरों से अधिक है। उनकी शैली का एक नमूना देखिए :

*''दूर दूर के लोग यही समझते होंगे कि रौनक में इलाहाबाद, कलकत्ता, बंबई के टक्कर का होगा क्योंकि यह भी एक तरह पर प्रेसीडेंसी टौन है : पश्चिमोत्तर की राजधानी है। हाई कोर्ट यहां है और हर महकमे के आला दफ़्तर सब यहां मौजूद हैं। पर हम आंख फैलाय देखते हैं तो भगार लोट रहा है, सब ओर मसान छाया हुआ है।''*

दूसरी ओर, प्रतापनारायण मिश्र की शैली में एक प्रकार का मनमौजीपन है। उनमें कटुता नहीं है। विनोदपूर्ण वक्रता तथा बैसवाड़ी बोली की सहज ग्रामीण स्वच्छंदता ने उनकी शैली को अत्यंत सजीव बना दिया है। मिश्र जी गंभीर-से-गंभीर विषय को भी हास्यरंजित करके प्रस्तुत करने की कला में अद्वितीय थे। उन्होंने ग्राम्य कहावतों और मुहावरों का खुल कर प्रयोग किया है। वे बराबर अपने पाठक से तादात्म्य बनाये रखते हैं। यथा :

*''ले भला बताइये तो आप क्या हैं? आप कहते होंगे, वाह आप तो आप ही हैं। पर कहां की आपदा आयी? यह भी कोई पूछने का ढंग है? पूछा होता कि आप कौन हैं? तो बतला देते कि हम आपके पत्र के पाठक हैं और आप ब्राह्मण संपादक हैं, अथवा आप पंडित जी हैं, आप राजा जी हैं, आप सेठ जी हैं, आप लाला जी हैं, आप बाबू जी हैं, आप मियां साहब, आप निरे साहब हैं।''*

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की शैली उपर्युक्त सभी लेखकों से भिन्न है। उन्होंने अपने गद्य को कलात्मक बनाने की चेष्टा की है। उनके वाक्य लंबे हैं और भाषा सायास गढ़ी हुई है। उनमें कवित्व है, लेकिन सहज भावोच्छ्वास नहीं। सीधी-सी बात को भी वे कलात्मक विधान के साथ प्रस्तुत करते हैं। उनमें संस्कृत भाषा की पदरचना के संस्कार प्रबल हैं, जैसाकि निम्न उदाहरण से स्पष्ट है :

*''धन्य धन्य उस परब्रह्म सच्चिदानंद घन को कि जिस्की कृपा वारिविन्दु वर्षा से आनन्द प्रमत्त हो अचानक आज फिर यह मनमयूर उत्साह आलम्बन कर आनन्दकादम्बिनी के आनन्द विस्तार लालसा से थिरकने लगा और बिना किसी सोच-विचार के लेखनी चातक बन चहंकार चली कि मेरे प्यारे रसिको! आओ, आज के समागम चिर वियोग दुःख को भूलें और बहुत दिनों से मानवती बैठी वार्त्ता बधूड़ी के आरम्भ घूंघट को खोल उसके आनन्द मन्द स्मित का सारस्य अनुभव करें।''*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भारतेंदु-युग के अन्य लेखकों में ठाकुर जगन्मोहन सिंह की शैली में भावोच्छ्वास और काव्यमयता का आकर्षण है। उनका गद्य तत्समप्रधान एवं कलात्मक है। उनका प्रकृति-वर्णन तो प्राचीन संस्कृत-कवियों की स्मृति जगा देता है। कहीं-कहीं उनमें इतनी भावुकता है कि उनकी शैली प्रलाप-शैली बन गयी है। इनके अतिरिक्त श्रीनिवासदास, तोताराम, केशव भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, अंबिकादत्त व्यास, काशीनाथ खत्री और राधाकृष्णदास सभी ने गद्यशैली के विकास में—कम-से-कम उसे विविध विषयों की अभिव्यक्ति में सक्षम बनाने में—अपना महत्त्वपूर्ण योग दे कर तत्कालीन हिंदी-गद्य को समृद्ध किया है। शैली-विकास की दृष्टि में इतना वैविध्य और इतनी सजीवता परवर्ती युग में नहीं देखी गयी।

## मूल्यांकन

हिंदी-गद्य-साहित्य के विकासक्रम में भारतेंदु-युग के गद्य-साहित्य का महत्त्व और मूल्य असाधारण है। इसी युग में हिंदी-प्रदेश में आधुनिक जीवनचेतना का उन्मेष हुआ। मध्यवर्गीय सामाजिक परिवेश में साहित्यरचना का जो रूप उभरा, उसमें कहीं-कहीं सामंतीय संस्कारों का अवशेष लक्षित अवश्य होता है, किंतु वह टूटने के क्रम में है। रचनागत प्रतिपाद्य की दृष्टि से यह बहुत बड़ा परिवर्तन था। यह भी उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश-शासन-व्यवस्था की दृढ़ता के बावजूद उसके प्रति विरोध का भाव प्रत्येक साहित्यकार के मन में विद्यमान है। देश और समाज के हित की भावना से सभी भावित हैं। साहित्य-सर्जन की दृष्टि से हिंदी-गद्य की प्राय: सभी विधाओं का सूत्रपात इसी युग में हुआ, विशेषत: निबंध और नाटक—इन दो विधाओं में लेखकों को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। उपन्यासों में सामाजिक जीवन के स्पंदन का स्वर भी इसी युग में सुनायी पड़ने लगा। सब मिला कर भारतेंदु-काल का साहित्य व्यापक जागरण का संदेश ले कर आया और भाषा के स्वरूप विकास में भी अभूतपूर्व प्रगति हुई। इस युग में न केवल हिंदी-गद्य का स्वरूप स्थिर हुआ, वरन उसके शुद्ध साहित्योपयोगी और व्यवहारोपयोगी रूपों की पूर्ण प्रतिष्ठा भी हुई। इस प्रकार भाषा और साहित्य दोनों जीवन की गति के साथ जुड़ गये। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन और प्रचार की गति भी तीव्र हुई, जिससे जीवन के विविध क्षेत्रों में हिंदी के प्रयोग की परंपरा आगे बढ़ी। किसी भी भाषा के इतिहास में इतनी अल्प अवधि में होने वाली यह प्रगति गर्व की बात मानी जायेगी। यह सब कम नहीं है, किंतु यह भी ध्यान रखना होगा कि यह सारा मंथन सुप्त राष्ट्र के जागरण की भूमिका मात्र है। अभी हिंदी-गद्य-साहित्य में ऐसा कुछ भी नहीं था, जिसे ले कर हम संसार की उन्नत भाषाओं के सामने खड़े हो सकें। आधुनिक हिंदी-साहित्य का यह प्रथम उत्थान था। इस उत्थान में सबसे मूल्यवान तत्त्व था—साहित्यकारों का अदम्य उत्साह! उनमें हिंदी के प्रति, राष्ट्र और समाज के प्रति अटूट निष्ठा थी। उन्होंने हंसते-हंसते अपने को उत्सर्ग करके हिंदी के विशाल भवन का निर्माण किया, जिसको सजाने, संवारने और मूल्यवान उपकरणों से अलंकृत करने का कार्य द्विवेदी-युग के साहित्यकारों ने पूरा किया।

### संदर्भ

1. देखिए 'कविवचनसुधा', मई, 1879, भारतेंदु हरिश्चंद्र की विज्ञप्ति।
2. "*चहहु जु सांचहु निज कल्यान, तौ सब मिलि भारत सन्तान।*
   *जपो निरन्तर एक जवान, हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान॥*" —*प्रतापनारायण मिश्र*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

3. *''अंग्रेज़ राज सुख-साज सजे सब भारी।*
*पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख़्वारी॥''* —*भारतेंदु*
4. *''सांझ सवेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।*
*हम सब इक दिन उड़ जाएंगे यह दिन चार बसेरा है॥''* —*भारतेंदु हरिश्चंद्र*
5. *''साधो मनुवां अजब दिवाना।*
*माया मोह जनम के ठगिया, तिनके रूप भुलाना॥''* —*प्रतापनारायण मिश्र*
6. *''जो विषया सन्तन तजी, ताहि मूढ़ लपटात।*
*जो नर डारत वमन करि, स्वान स्वाद सों खात॥''* —*राधाकृष्णदास*
7. देखिए 'भारतेंदु-ग्रंथावली' भाग 2, पृ., 203, 209, 747, 853, 855, 857-860।
8. इस संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का यह कथन द्रष्टव्य है :
''उक्त संधिकाल के कवियों में ध्यान देने की बात यह है कि वे प्राचीन और नवीन का योग इस ढंग से करते थे कि कहीं से जोड़ नहीं जान पड़ता था, उनके हाथों में पड़ कर नवीन भी प्राचीनता का ही एक विकसित रूप जान पड़ता था'' (*प्रेमघन-सर्वस्व, प्रथम भाग, परिचय, पृ. 9*)।
9. इन लेखकों के अतिरिक्त भारतेंदु-पूर्वकाल में रतनलाल ओंकार भट्ट, दयाशंकर, मुंशी कालीराय, कुंजबिहारीलाल, लक्ष्मीशंकर मिश्र आदि ने इतिहास, भूगोल, व्याकरण, विज्ञान, हिंदू-संस्कृति आदि विषयों पर अनेक मौलिक अथवा अनूदित पाठ्यपुस्तकों की रचना की थी और 'बाइबल' के बाउले, कैरे, चेम्बरलेन आदि के अनुवाद भी प्रकाशित हुए थे किंतु गद्यशैली के स्वरूप-निर्माण में इनकी कोई विशेष भूमिका स्वीकार नहीं की जा सकती। —*संपादक*
10. हिंदी-प्रदीप, जनवरी, 1882
11. हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृ. 450

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अध्याय : 15

# द्विवेदी-युग

(जागरण-सुधारकाल)

हिंदी-कविता को श्रृंगारिकता से राष्ट्रीयता, जड़ता से प्रगति तथा रूढ़ि से स्वच्छंदता के द्वार पर ला खड़ा करने वाले बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों का समधिक महत्त्व है। इस कालखंड के पथ-प्रदर्शक, विचारक और सर्वस्वीकृत साहित्यनेता आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के नाम पर इसका नाम 'द्विवेदी-युग' उचित ही है। वैसे इसे 'जागरण-सुधारकाल' भी कहा जाता है। भारतीय इतिहास में यह समय ब्रिटिश शासन के दमनचक्र और कूटनीति का काल है। 1857 के विद्रोह के पश्चात 1958 में महारानी विक्टोरिया के सहृदयतापूर्ण घोषणापत्र से भारतीय जनता आशान्वित हो गयी थी। कुछ सुधार हुए भी, अतएव, भारतेंदुकालीन कवियों ने अंग्रेज़ों की प्रशस्तियां लिखीं और राजराजेश्वरी विक्टोरिया का जयजयकार किया। किंतु छोटे-मोटे सुधारों के अतिरिक्त कुछ नहीं हुआ। प्रजा ने जो बड़ी-बड़ी आशाएं लगायी थीं, अपूर्ण ही रहीं। अनेक प्रतिगामी एवं काले क़ानून पास हुए, जिनसे जनता पिसती चली गयी। फलतः जनता में असंतोष और क्षोभ की आग भड़कती चली गयी।

आर्थिक दृष्टि से भी अंग्रेज़ों की नीति भारत के लिए अहितकर थी। यहां से कच्चा माल बाहर जाता था और वहां के बने माल की खपत भारत में होती थी। देश का धन निरंतर बाहर जाने से भारत निर्धन हो गया। यहां उद्योगधंधों के विकास की ओर सरकार का ध्यान ही नहीं गया। ऊपर से एक-पर-एक पड़ने वाले दुर्भिक्षों ने तो देशवासियों की कमर ही तोड़ दी। अत्याचारों एवं सर्वतोमुखी विफलता का मुख्य कारण परतंत्रता ही समझ में आया। अतः जनता ने पूर्ण स्वतंत्रता की मांग की। सौभाग्य से गोपालकृष्ण गोखले तथा बालगंगाधर तिलक जैसे मेधावी एवं कर्मठ नेता मिल गये। 'स्वराज्य' एवं 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' की धूम मच गयी। भारतेंदुकालीन साहित्यकार जहां भारत-दुर्दशा पर दुःख प्रकट करके रह गया था, वहीं द्विवेदीकालीन कवि-मनीषियों ने देश की दुर्दशा के चित्रण के साथ-साथ देशवासियों को स्वतंत्रताप्राप्ति की प्रेरणा भी दी, उन्हें आत्मोत्सर्ग एवं बलिदान का मार्ग भी दिखाया।

अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए गौरांग प्रभुओं ने राजनीतिक एवं आर्थिक ही नहीं, शैक्षणिक, धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी कूटनीति से काम लिया था। भारतीयों को अंग्रेज़ी शिक्षा किसी सद्उद्देश्य से प्रेरित हो कर नहीं दी जा रही थी। उसका उद्देश्य था—देशवासियों का ऐसा वर्ग खड़ा करना, जो शरीर से भारतीय होते हुए भी मन से अंग्रेज़ों का ग़ुलाम हो और उनके शासनकार्य में सहायक सिद्ध हो सके। एक सीमा तक शासकवर्ग को इसमें सफलता भी मिली। दूसरी ओर अंग्रेज़ी शिक्षा के माध्यम से भारतवासी बर्क, मिल, स्पेंसर, रूसो आदि विचारकों की रचनाओं के संपर्क में भी आये, जिससे राष्ट्रीयता एवं स्वतंत्रताप्राप्ति की भावना को और बल मिला। वैसे उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आर्यसमाज, ब्राह्मसमाज, थियॉसोफ़िकल

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सोसाइटी तथा इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के फलस्वरूप भारतीय सभ्यता, संस्कृति, धर्म और समाज के पुनरुत्थान की प्रक्रिया आरंभ हो चुकी थी। आलोच्य काल में इसका और भी विकास और विवर्द्धन हुआ। बालगंगाधर तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानंद, मदनमोहन मालवीय आदि नेताओं और नि:स्वार्थ समाजसेवियों ने देशवासियों के स्वाभिमान को जगाने तथा अपनी गौरव-परंपराओं के प्रति उन्हें निष्ठावान बनाने का सफल प्रयास किया।

## काव्यधारा

द्विवेदी-युग से पूर्व कविता के क्षेत्र में मुख्यत: शृंगार, भगवद्भक्ति एवं देशभक्ति की धाराएं प्रवाहित थीं। समस्यापूर्तियों का भी ख़ूब ज़ोर था। इसके लिए अनेक कवि-गोष्ठियों की स्थापना हुई। गद्य की एकमात्र भाषा खड़ीबोली स्वीकार कर लेने पर भी भारतेंदुकाल के कविता के क्षेत्र में ब्रजभाषा का एकच्छत्र साम्राज्य बना रहा। यद्यपि खड़ीबोली में भी यत्किंचित् रचना हुई, किंतु उसे काव्योपयुक्त नहीं समझा गया। ब्रजभाषा की माधुरी पर रीझा हुआ इन लोगों का रसिक मन अंत तक खड़ीबोली की काव्योपयुक्तता में अविश्वास करता रहा। सब मिला कर भारतेंदुकालीन कविता के उपादान सीमित तथा अधिकांशत: पिष्टपेषित थे एवं इस युग की काव्यभाषा परंपरागत थी। भारतेंदु के बाद भी कुछ समय तक यही सिथति बनी रही।

उन्नीसवीं शताब्दी का अंत होते-होते हवा बदलने लगी। परिवर्तित जनरुचि को भक्ति एवं शृंगार का पिष्टपेषण बेस्वाद प्रतीत हुआ। समस्यापूर्तियों एवं नीरस तुकबंदियों से सहृदय ऊब गये। चिरव्यवहृत ब्रजभाषा का आकर्षण नि:शेष हो गया। सुयोग से इसी समय जनता की रुचि एवं आकांक्षाओं के पारखी तथा साहित्य के दिशा-निर्देशक आचार्य के रूप में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का प्रादुर्भाव हुआ। जून, 1900 की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'हे कविते' शीर्षक अपनी कविता में उन्होंने जनरुचि का प्रतिनिधित्व करते हुए ही सौरस्य एवं वैविध्य के अभाव तथा ब्रजभाषा के चिरप्रयोग पर क्षोभ प्रकट किया था। 1903 में आचार्य द्विवेदी 'सरस्वती' के संपादक बने। उन्होंने नायिकाभेद को छोड़ कर विविध विषयों पर कविता लिखने, सभी प्रकार के छंदों का व्यवहार करने, सभी काव्यरूपों को अपनाने तथा गद्य और पद्य भाषा के एकीकरण का परामर्श दिया। उनकी अमोघ प्रेरणा एवं वात्सल्यमय प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप अनेक कवि सामने आये, जो उन्हीं के आदर्शों को ले कर आगे बढ़े। इनमें मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह, गयाप्रसाद शुक्ल, 'सनेही', लोचनप्रसाद पाण्डेय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। समयानुसार चलने वाले कतिपय कवियों ने अपना रास्ता बदला। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', नाथूराम शर्मा 'शंकर' तथा राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' काव्य के चिरपरिचित उपादानों को छोड़ कर नये विषयों पर कविता लिखने लगे। इस युग की कविता में विषय की दृष्टि से अपार वैविध्य एवं नवीनता आयी। द्विवेदी जी के प्रयत्नों से खड़ीबोली काव्य की मुख्य भाषा बन गयी। गुप्त जी, ठाकुर गोपालशरण सिंह, सनेही, लोचनप्रसाद पांडेय आदि तो खड़ीबोली के कवियों के रूप में ही सामने आये, किंतु श्रीधर पाठक, हरिऔध तथा 'शंकर', जो ब्रजभाषा में अच्छी कविता लिख चुके थे, वे भी अब खड़ीबोली का व्यवहार करने लगे। 'पूर्ण' जी ने परंपरागत विषयों की कविता के लिए ब्रज तथा नये विषयों की कविता के लिए खड़ीबोली का प्रयोग किया। द्विवेदी जी भाषा की शुद्धि तथा वर्तनी की एकरूपता के प्रबल समर्थक थे। अतएव, इस युग की काव्यभाषा व्याकरण की दृष्टि से सामान्यत: शुद्ध है तथा वर्तनी की दृष्टि से उसमें भारतेंदु-युग जैसी अस्थिरता नहीं है। हिंदी के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सभी छंदों का ही नहीं, संस्कृत-वृत्तों तथा उर्दू-वृत्तों का भी प्रयोग हुआ। आचार्य द्विवेदी ने समस्यापूर्ति को छोड़ने तथा स्वतंत्र विषयों पर कविता लिखने का भी परामर्श दिया था। फलतः इस युग में समस्यापूर्तियों का भी रिवाज कम हो गया। जगन्नाथदास 'रत्नाकर', सत्यनारायण 'कविरत्न' प्रभृति दो-एक कवि अब भी ब्रजभाषा के परिचित मार्ग पर ही चलते रहे, परंतु नूतन प्रभाव से वे भी अछूते नहीं रहे।

## द्विवेदीकालीन कविता की मुख्य प्रवृत्तियां

**राष्ट्रीयता :** बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप राष्ट्रीयता द्विवेदी-युग की प्रधान भावधारा थी। अतः तत्कालीन कविता का मुख्य स्वर भी राष्ट्रीयता ही है।[1] इस युग के प्रायः सभी कवियों ने देशभक्तिपूर्ण कविताओं का प्रणयन किया। उन्होंने पराधीनता को सबसे बड़ा अभिशाप बताया तथा स्वतंत्रताप्राप्ति के लिए क्रांति एवं आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा दी। कविवर 'शंकर' ने 'बलिदान-गान' में कहा था :

*देशभक्त वीरो, मरने से नेक नहीं डरना होगा*
*प्राणों का बलिदान देश की वेदी पर करना होगा।* (शंकर-सर्वस्व)

मैथिलीशरण गुप्त की ओजस्वी हुंकार निम्नलिखित शब्दों में प्रकट हुई है :

*धरती हिल कर नींद भगा दे*
*वज्रनाद से व्योम जगा दे*
*दैव, और कुछ लाग लगा ऋदे।* (स्वदेश-संगीत)

रामनरेश त्रिपाठी अपने खंडकाव्यों में परोक्ष रूप से स्वतंत्रता के बंधन काटने का संदेश देते हैं। इसी प्रकार अनेक कविताओं में पशुबल की अवहेलना करते हुए निर्भयतापूर्वक स्वतंत्रता के मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा दी गयी है। वस्तुतः द्विवेदीयुगीन कवियों ने बड़ी श्रद्धा और भक्ति से अतीत के गौरव का गान करते हुए देश की वर्तमान दशा पर क्षोभ प्रकट किया है। इस प्रकार की रचनाओं में गुप्त जी की 'भारत-भारती' सर्वश्रेष्ठ और सशक्त रचना है। कितने विश्वास के साथ भारत-भारतीकार भारतवर्ष की श्रेष्ठता की घोषणा करता है :

*भू-लोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल कहाँ?*
*फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ।*
*सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है*
*उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन? भारतवर्ष है॥*

देश की हीन दशा—धैर्य, गांभीर्य, शौर्य तथा कला-कौशल के अभाव—पर भी कवियों ने क्षोभ व्यक्त किया। ठाकुर गोपालशरण सिंह की ये काव्य-पंक्तियां द्रष्टव्य हैं :

*वह धीरता कहाँ है गम्भीरता कहाँ है?*
*वह वीरता हमारी है वह कहाँ बड़ाई?*
*क्या हो गयीं कलाएँ कौशल सभी हमारे?*
*किसने शताब्दियों की ली छीन सब कमाई?*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आलस, फूट, ख़ुदग़र्ज़ी, मिथ्या कुलीनता आदि अभिशापों की ओर भी इस युग के कवि की दृष्टि गयी। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने इनका उल्लेख इनके निराकरण की कामना से ही किया है :

*भरतखंड का हाल ज़रा देखो है कैसा।*
*आलस का जंजाल ज़रा देखो है कैसा॥*
*ज़रा फूट की दशा खोल कर आँखें देखो।*
*ख़ुदग़र्ज़ी का नशा खोल कर आँखें देखो॥*
*है शेखी दौलत की कहीं, बल का कहीं गुमान है।*
*है खानदान का मद कहीं, कहीं नाम का ध्यान है॥*

देश की आर्थिक विपन्नता, सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ प्रथाओं तथा धार्मिक आडंबरों का द्विवेदीयुगीन कवियों ने स्पष्ट शब्दों में प्रत्याख्यान किया। स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग तथा विदेशी वस्तुओं के बहिस्कार पर उन्होंने निरंतर बल दिया। मातृभूमि की महिमा का गान भी देशभक्ति का ही अंग है, जिसकी ओर अनेक कवियों ने आग्रहपूर्वक ध्यान दिया है।

**सामान्य मानवता :** पूर्ववर्ती काव्य में असामान्य—ईश्वर, ईश्वरावतार, राजा, सामंत, योद्धा या फिर अनेकविध नायिकाओं आदि—को ही स्थान मिला था, किंतु आलोच्य काल में सामान्य मानव को यह गौरव प्राप्त हुआ। मानव मात्र के सुख-दु:ख और परिस्थितियों का वर्णन काव्य में बड़े ही सहज भाव से किया जाने लगा। महावीरप्रसाद द्विवेदी की कविता 'सरगौ नरक ठेकाना नाहि' में जहां कल्लू अल्हैत काव्य का विषय बना :

*भैंसि भवानी कै तब सेवा लागे करन पढ़व गा छूटि।*
*बटुवन दूध दुहा इन हाथन धार न कबहुँ दुहत माँ टूटि॥*
*मोटरिन कटिया भथुरा सानी कीन रोज़ हम बाँह चढ़ाय।*
*मस्त भयन तब आल्हा गावा उपर दुहत्था हाथु उठाय॥*

वहां 'अविद्यानंद के व्याख्यान' में विदेशीयता का रसिक शंकर जी के व्यंग्य का लक्ष्य बना :

*छड़ी धार छैला छबीले बनो, रंगीले, रसीले, फबीले बनो।*
*न चूको भले भोग भोगी बनो, किसी बेड़नी के वियोगी बनो॥*

दीन-हीन कृषक तथा विधवा के दु:खों का भी बड़ा कारुणिक वर्णन आलोच्य काल के कवियों ने किया। गुप्त जी की 'किसान' (1917), सियारामशरण जी की 'अनाथ' (1917) तथा 'सनेही' जी की 'कृषक-क्रंदन' कृषक जीवन संबंधी प्रभावी रचनाएं हैं। नाथूराम शर्मा 'शंकर'-कृत 'गर्भरंडा-रहस्य' में जन्म से पहले ही विधवा हो जाने वाली विधवाओं के कष्टमय जीवन का बड़ा मार्मिक चित्रण हुआ है। शिक्षाविहीन नारियों की दुर्दशा की ओर भी इस युग के कवियों ने संकेत किये हैं। वस्तुत: मानव-सुलभ सहानुभूति ही इस प्रकार की कविताओं की प्रेरक भावना है। इसी भावना से प्रेरित हो कर हरिऔध ने उच्चतर जातियों द्वारा निम्न जातियों के प्रति किये गये अन्याय और दुर्व्यवहार का उल्लेख किया है :

*आप आँखें खोल कर के देखिए,*
*आज जितनी जातियाँ हैं सिर-धरी।*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*पेट में उनके पड़ी दिखलाएँगी,*
*जातियाँ कितनी सिसकती या मरी॥*

इस प्रकार द्विवेदीयुगीन काव्य में जनसाधारण को काव्य-विषय के रूप में पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ।

**नीति और आदर्श :** द्विवेदीयुगीन काव्य आदर्शवादी और नीतिपरक है।[2] इतिहास-पुराण से गृहीत कथाप्रसंगों के आधार पर अथवा कल्पनाश्रित उज्ज्वल कथाएं ले कर आदर्श चरित्रों पर अनेक प्रबंधकाव्य लिखे गये। उन सभी में असत् पर सत् की विजय दिखायी गयी है। स्वार्थ-त्याग, कर्तव्यपालन, आत्मगौरव आदि उच्चादर्शों की प्रेरणा दी गयी है। हरिऔध-कृत 'प्रियप्रवास', मैथिलीशरण जी के 'साकेत' (इसका अधिकांश भाग आलोच्यकाल में ही रचा गया था), 'रंग में भंग', 'जयद्रथ-वध', 'विकट भट', गोकुलचंद्र शर्मा का 'गांधी-गौरव', रामनरेश त्रिपाठी-कृत 'मिलन' आदि आदर्शवादी रचनाएं ही हैं। अनेक लघु पद्यकथाएं भी इस उद्देश्य से लिखी गयीं, जो समय-समय पर 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुईं। आख्यानक कृतियों के अतिरिक्त इस काल में नीतिपरक एवं उपदेशप्रधान कविताओं की पुष्कल परिमाण में रचना की गयी। इस प्रकार के पद्य-लेखकों में महावीरप्रसाद द्विवेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय आदि प्रमुख हैं। कुसंग के विषय में पंडित रामचरित उपाध्याय के विचार नीचे दिये जाते हैं :

*अति खल की संगति करने से, जग में मान नहीं रहता है।*
*लोहे के संग में पड़ने से, घन की मार अनल सहता है॥*
*सबसे नीतिशास्त्र कहता है, दुष्ट-संग दुख का दाता है।*
*जिस पय में पानी रहता है, वही ख़ूब औटा जाता है॥*

आलोच्य काल के कवियों ने प्रेम के भी आदर्श स्वरूप को ग्रहण किया। 'प्रियप्रवास', 'साकेत', 'मिलन' आदि में उसका उदात्त स्वरूप देखा जा सकता है। राधा संपूर्ण विश्व में कृष्ण की कांति के दर्शन कर विश्वप्रेमिका और विश्वसेविका बन जाती है। उर्मिला अपने मन को 'प्रियपथ का विघ्न' बनने से रोकती है। प्रेम जीवन की अद्भुत शक्ति है तथा उसके बिना जीवन निस्सार है। रामनरेश त्रिपाठी के शब्दों में प्रेम की महिमा सुनिए :

*गन्ध-विहीन फूल हैं जैसे चन्द्र चन्द्रिका-हीन।*
*यों ही फीका है मनुष्य का जीवन प्रेम-विहीन॥*
*प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है, प्रेम अशंक अशोक।*
*ईश्वर का प्रतिबिम्ब प्रेम है, प्रेम हृदय-आलोक॥*

**वर्ण्य विषय का क्षेत्रविस्तार :** द्विवेदी-युग में वर्ण्य विषय का अद्भुत विस्तार हुआ। उसमें अपार वैविध्य और व्यापकत्व आया। नायिकाभेद को छोड़ कर सभी चिरपरिचित उपादान तो गृहीत हुए ही, साथ ही अनेक नूतन विषयों को भी काव्य में स्थान मिला। आचार्य द्विवेदी ने 'कवि-कर्तव्य' निबंध में लिखा था : "चींटी से ले कर हाथीपर्यंत पशु, भिक्षुक से ले कर राजापर्यंत मनुष्य, बिंदु से ले कर समुद्रपर्यंत जल, अनंत आकाश, अनंत पृथ्वी, अनंत पर्वत—सभी पर कविता हो सकती है।" परिणामतः जीवन और जगत के सभी दृश्य और पदार्थ कविता के विषय बनने लगे। अनेक छोटे-छोटे साधारण विषयों पर कविताएं लिखी गयीं। वस्तुतः ऐसे विषयों को ले कर इस युग में लिखी गयी छोटी-छोटी कविताओं की तो कोई सीमा ही नहीं है। स्थाली-पुलाक-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

न्याय से विषयगत वैविध्य और विस्तार का अनुमान लगाने के लिए तत्कालीन कविताओं के कुछ शीर्षक देखिए—परोपकार, मुरली, कृषक, सत्य, लड़कपन, ग्रंथ गुणगान, प्रणय, ईर्ष्या, निद्रा, कलियुगी साधु, पुस्तकप्रेम, ब्रह्मचर्य, हिंदी की अपील, बालक, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, मूढ़ मानव, मेहंदी, नैकटाई, मनोव्यथा, कामना, विद्या, कुलीनता, पौरुष, शिशुस्नेह, सुखमय जीवन, भारतीय छात्रों से नम्र निवेदन, लक्ष्मीलीला, सपूत, ग्राम-गौरव, सज्जनों का स्वभाव, समालोचक-लक्षण, दरिद्र, विद्यार्थी आदि। तात्पर्य यह है कि कोई क्षेत्र ऐसा नहीं रहा, जिधर इन कवियों की दृष्टि न गयी हो।

प्रकृति भी स्वतंत्र रूप में काव्य का विषय बनी। मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, रामचंद्र शुक्ल, रामनरेश त्रिपाठी, गोपालशरण सिंह, लोचनप्रसाद पांडेय, गिरिधर शर्मा आदि के काव्य में बड़ा मनोहारी प्रकृति-चित्रण मिलता है, जो नायक-नायिका के संदर्भ में किये गये रीतिकालीन ऋतु-वर्णन आदि के समान निर्जीव एवं परंपरा-पालन मात्र नहीं है। यद्यपि द्विवेदीयुगीन प्रकृति-चित्रण में भी पर्याप्त स्थूलता है, कल्पना-वैभव एवं सौरस्य का अभाव है, फिर भी उसमें यथार्थता एवं ताज़गी है। 'प्रियप्रवास' का तो आरंभ ही प्रकृति-वर्णन से हुआ है :

*दिवस का अवसान समीप था।*
*गगन था कुछ लोहित हो चला॥*
*तरु-शिखा पर थी अब राजती।*
*कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥*

इस युग में 'सरस्वती' में प्रकाशित राजा रवि वर्मा तथा बाबू ब्रजभूषण राय चौधरी के चित्रों पर भी कविताएं लिखी गयीं। कविताकारों में प्रमुख थे : महावीरप्रसाद द्विवेदी, गुप्त जी, नाथूराम शर्मा 'शंकर' तथा राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'।

**हास्य-व्यंग्य-काव्य :** भारतेंदु-युग जैसी ज़िंदादिली, चुहलबाज़ी और फक्कड़पन इस युग में नहीं रह गया था, अतः उस युग के समान हास्य-व्यंग्यपूर्ण कविता का प्राचुर्य द्विवेदी-युग में नहीं है। इस दिशा में जितना-कुछ लिखा भी गया है, वह द्विवेदी जी के व्यक्तित्व के प्रभावस्वरूप अपेक्षाकृत संयत और मर्यादित है। हास्य और व्यंग्य के विषय राजनीतिक शोषण, सामाजिक कुरीतियां, धर्माडंबर, लकीर की फ़कीरी, विदेशीयता का अंधानुकरण, फ़ैशनपरस्ती, व्यभिचार आदि हैं। आचार्य द्विवेदी ने 'सरगौ नरक ठेकाना नाहि' में कल्लू अल्हैत के माध्यम से गांव को छोड़ कर शहर जाने वाले तथा विदेशी सभ्यता का अंधानुकरण करने वाले लोगों की हास्यास्पद स्थिति का चित्रण इन शब्दों में किया है :

*अचकुन पहिरि बूट हम डाटा बाबू बनेन डेरात-डेरात।*
*लागेन आवै जाय सभन माँ कण्ठु फूट तब बना बतात॥*
*जब तक हमरे तन माँ तनिकौ रहा गाउं के रस का अंसु।*
*तब तक हम अख़बार किताबै लिखि-लिखि कीन उजागर बंसु॥*

बालमुकुंद गुप्त इस युग के बड़े सशक्त व्यंग्यकार हैं। इन्होंने तत्कालीन वायसराय लॉर्ड कर्ज़न को अपने व्यंग्य और हास्य का प्रमुख आलंबन बनाया। एक बार कर्ज़न ने भारतवासियों को 'झूठा' कहा था, उसी को लक्ष्य कर गुप्त जी ने कितना तीखा प्रहार किया है :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*हमसे सच की सुनो कहानी, जिससे मरे झूठ की नानी।*
*सच है सभ्य देश की चीज़, तुमको उसकी कहाँ तमीज़?*
*औरों को झूठा बतलाना, अपने सच की डींग उड़ाना।*
*ये ही पक्का सच्चापन है, सच कहना तो कच्चापन है॥*
*बोले और करे कुछ और, यही सभ्य सच्चे के तौर।*
*मन में कुछ मुँह पे कुछ और, यही सत्य है कर लो गौर॥*
*झूठ को जो सच कर दिखलावे, सो ही सच्चा साधु कहावे।*
*मुँह जिसका हो सके न बन्द, समझो उसे सच्चिदानन्द॥*

इसी प्रकार 'कर्ज़नाना' शीर्षक कविता में इन्होंने कर्ज़न को 'अपने मुंह मियां मिट्ठू' की उक्ति चरितार्थ करते हुए हास्य का पात्र बनाया है। एक अन्य कविता 'आजकल का सुख' में स्वार्थी, ख़ुशामदी और विलासियों की ख़बर ली गयी है। नाथूराम शर्मा 'शंकर' भी द्विवेदी-युग के विशिष्ट हास्य-व्यंग्यकार हैं। 'गर्भरंडा-रहस्य' इनकी सुप्रसिद्ध व्यंग्य-कविता है, जिसमें गर्भ में ही विधवा हो जाने वाली बालिका के माध्यम से सामाजिक कुरीति का पर्दाफ़ाश किया गया है। आर्यसमाज का इन पर गहरा प्रभाव था। अतः एक ओर तो ये सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों एवं आडंबरों पर फ़बतियां कसते हैं, तथा दूसरी ओर अपनी सभ्यता, संस्कृति और परंपरा को तिलांजलि देने वाले पाश्चात्य सभ्यता के अनुरागी को भी अपने परिहास और व्यंग्य का आलंबन बनाते हैं। ब्रजराज कृष्ण को पाश्चात्य वेशभूषा धारण करने का परामर्श दे कर इन्होंने वस्तुतः विदेशियों की नक़ल करने वाले भारतीयों का ही मज़ाक़ उड़ाया है :

*भड़क भुला दो भूतकाल की, सजिये वर्तमान के साज।*
*फैसन फेर इंडिया भर के, गोरे गॉड बनो ब्रजराज॥*
*गौर वर्ण वृषभानुसुता का, काले-काले तन पर तोप।*
*नाथ उतारो मोर मुकुट को, सिर पै सजो साहिबी टोप॥*
*पौडर चंदन पोंछ लपेटो, आनन की श्री ज्योति जगाय।*
*अंजन अंखियों में मत आंजो, आला ऐनक लेहु लगाय॥*
*रवधर कानों में लटका लो, कुंडल काढ़ मेकराफून।*
*तज पीताम्बर कम्बल काला, डाटो कोट और पतलून॥*

द्विवेदी-युग में हास्य-व्यंग्य की रचना करने वाले कवियों में ईश्वरीप्रसाद शर्मा तथा जगन्नाथ-प्रसाद चतुर्वेदी के नाम भी उल्लेखनीय हैं। वैसे यह प्रवृत्ति मैथिलीशरण जैसे कवियों में भी कहीं-कहीं शिष्ट और संयत हास्य के रूप में लक्षित होती है। 'साकेत' के मंगलाचरण में गणेश और षडानन की बालोचित क्रीड़ाओं के हास्य-विनोदपूर्ण वर्णन और प्रथम सर्ग में लक्ष्मण-उर्मिला के परिहास-प्रसंग का उल्लेख उदाहरणस्वरूप किया जा सकता है।

**सभी काव्यरूपों का प्रयोग :** आलोच्य काल में काव्यक्षेत्र में प्रचलित प्रबंध, मुक्तक, प्रगीत प्रभृति सभी काव्यरूपों में रचना हुई। कथाश्रित काव्यरचना कवियों को अधिक सुगम प्रतीत हुई। 'प्रियप्रवास', 'साकेत' (अधिकांश भाग) तथा 'रामचरितचिंतामणि' महाकाव्यों का प्रणयन इसी युग में हुआ। हिंदी के अनेक श्रेष्ठ खंडकाव्य भी इसी काल में लिखे गये. जिनमें से मैथिलीशरण-कृत 'रंग में भंग, 'जयद्रथ-वध', 'किसान'; प्रसाद जी का 'प्रेमपथिक (1913); सियारामशरण गुप्त का 'मौर्यविजय' (1914); रामनरेश त्रिपाठी का 'मिलन' (1917); तथा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गोकुलचंद्र शर्मा का 'गांधीगौरव' विशेषतः उल्लेखनीय हैं। 'विकट भट', 'केशों की कथा', 'शकुंतला-जन्म', 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं', 'रुक्मिणी-संदेश', 'सती सीता', 'वीर पंचरत्न' आदि अनेक पद्यकथाओं का भी इस काल में निर्माण हुआ। मुक्तक रचना की ओर इस युग के सभी कवि प्रवृत्त हुए हैं। छोटे-छोटे विषयों को ले कर स्वतंत्र पद्यों की रचना पुष्कल परिमाण में हुई। शंकर तथा हरिऔध ने समस्यापूर्तियों के रूप में भी अनेक सुंदर मुक्तक लिखे। रत्नाकर ने प्रबंधमुक्तक 'उद्धवशतक'[3] की रचना की। इसमें प्रबंध का पूर्वापर संबंध भी है तथा प्रत्येक पद्य मुक्तक के समान स्वतः पूर्ण भी है। द्विवेदी-युग में प्रगीतों का भी प्रणयन हुआ। यद्यपि इस विधा का वास्तविक विकास तो द्विवेदी-युग के बाद ही हुआ, किंतु इस युग के कवियों ने भी इसे अपना अवश्य लिया था। इस क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय तथा माखनलाल चतुर्वेदी के नाम उल्लेखनीय हैं।

**भाषा-परिवर्तन :** द्विवेदी-युग में काव्य की मुख्य भाषा ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली बन गयी। आज खड़ीबोली के भाष-सौंदर्य, मार्दव और अभिव्यंजना-क्षमता के दर्शन के पश्चात उसकी काव्योपयुक्तता विवादास्पद नहीं रह गयी है, किंतु द्विवेदी-काल से पूर्व ऐसी बात नहीं थी। जॉर्ज ग्रियर्सन जैसे भाषाविद्, भारतेंदु, प्रतापनारायण मिश्र आदि कवि तथा बाद में रत्नाकर सरीखे कवि-मनीषी खड़ीबोली की काव्योपयुक्तता के विषय में संदेहशील थे। द्विवेदीयुगीन काव्य ने इस शंका को निर्मूल कर दिया। यद्यपि आरंभ में खड़ीबोली काव्य नीरस तुकबंदी के अतिरिक्त कुछ नहीं था: किंतु उसमें उत्तरोत्तर निखार आया। 'जयद्रध-वध' की प्रसिद्धि ने ब्रजभाषा के मोह का वध कर दिया। 'भारत-भारती' की लोकप्रियता खड़ीबोली की विजय-भारती सिद्ध हुई। वस्तुतः द्विवेदीयुगीन काव्य का विकास इस बात का इतिहास है कि खड़ीबोली अपरिपक्वता, अव्यवस्था और अमार्दव से किस भांति परिपक्वता, व्यवस्था और मार्दव तक पहुंची। इसके अतिरिक्त इस युग की भाषा आचार्य द्विवेदी के आदर्शानुसार सुबोध, शुद्ध और रसानुरूप है।

**छंद-वैविध्य :** आलोच्य काल में वर्ण्य विषय के समान ही छंद के क्षेत्र में भी अद्भुत वैविध्य मिलता है। दोहा, कविता या सवैया के प्रयोग तक ही कवि सीमित नहीं रहे, वरन रोला, छप्पय, कुंडलियां, सार, सरसी, गीतिका, हरिगीतिका, ताटंक, लावनी, वीर आदि छंद भी कुशलतापूर्वक व्यवहृत हुए। हिंदी के ही नहीं, संस्कृत में वर्णिक छंदों और उर्दू-बह्रों को भी अपनाया गया। गुप्त जी, हरिऔध तथा शंकर ने छंद प्रयोग में अद्भुत कौशल का परिचय दिया। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने छंद के विशेषीकरण का भी परामर्श दिया था। परिणामतः गुप्त जी ने हरिगीतिका, हरिऔध ने वर्णिक छंदों तथा उर्दू शैली के चौपदों, शंकर के कवित्तों, पूर्ण जी ने कुंडलियां, गोपालशरण सिंह ने कवित्त-सवैया तथा गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और भगवानदीन जी 'दीन' ने उर्दू-बह्रों में अधिक वैशिष्ट्य प्राप्त किया।

## प्रमुख कवि

**नाथूराम शर्मा शंकर :** पंडित नाथूराम शर्मा शंकर (1859-1932) का जन्म हरदुआगंज, ज़िला अलीगढ़ में हुआ था। ये हिंदी, उर्दू, फ़ारसी तथा संस्कृत भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। आरंभ से ही शंकर जी बड़े साहित्यानुरागी थे। तेरह वर्ष की छोटी आयु में ही इन्होंने अपने एक साथी पर एक दोहा रचा था। कानपुर में ये भारतेंदु-मंडल के प्रसिद्ध कवि प्रतापनारायण मिश्र के संपर्क में आये तथा 'ब्राह्मण' में इनकी कविताएं छपने लगीं। बाद में इन्होंने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती' के मुख्य कवियों में स्थान पाया। प्रारंभ में ये ब्रजभाषा के कवि थे, किंतु शीघ्र

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ही खड़ीबोली की ओर झुक गये थे। ये उर्दू में भी अच्छी कविता लिखते थे। शंकर जी पर आर्य-समाज तथा तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलनों का गहरा प्रभाव पड़ा। देशप्रेम, स्वदेशी-प्रयोग, समाज-सुधार, हिंदी-अनुराग तथा विधवाओं और अछूतों का दारुण दु:ख इनकी कविता के प्रमुख विषय हैं। सामाजिक कुरीतियों, आडंबरों, अंधविश्वासों, बाल-विवाह आदि पर इन्होंने बड़े तीखे व्यंग्य किये हैं। रीतिकालीन पद्धति पर इन्होंने कुछ शृंगारमयी रचनाएं भी की हैं। राजा रवि वर्मा के चित्रों के आधार पर भी शंकर जी ने सुंदर कविताएं लिखीं। छंद:शास्त्र के ये बड़े मर्मज्ञ विद्वान थे। इनके काव्य में सभी प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है। ये समस्यापूर्ति में बड़े कुशल थे। तत्कालीन कवि-समाजों और सम्मेलनों में इनकी धूम थी तथा ये 'कविता-कामिनी-कांत', 'भारतेंदु-प्रज्ञेंदु', 'साहित्य सुधाकर' आदि उपाधियों से विभूषित किये गये। 'अनुरागरत्न', 'शंकर-सरोज', 'गर्भरंडा-रहस्य' तथा 'शंकर-सर्वस्व' (1951) इनके प्रमुख काव्यग्रंथ हैं। ये प्राय: अतिशयोक्तिपूर्ण कविता लिखते थे। इनकी अतिशयोक्तियां आकाश-पाताल को एक कर देने वाली हैं। यथा :

*शंकर नदी नद नदीसन के नीरन की,*
*भाप बन अम्बर तें ऊँची चढ़ जायेगी।*
*दोनों ध्रुव छोरन लौं पल में पिघल कर,*
*घूम-घूम धरनी धुरी सी बढ़ जायेगी॥*
*झारेंगे अंगारे ये तरनि तारे तारापति,*
*जारेंगे खमंडल में आग मढ़ जायेगी।*
*काहू विधि विधि की बनावट बचेगी नाहिं,*
*जौ पै वा वियोगिनि की आह कढ़ जायेगी॥*

**श्रीधर पाठक** (1859-1928) : इनका जन्म आगरा ज़िले के जोंधरी गांव में हुआ था। हिंदी के अतिरिक्त अंग्रेज़ी और संस्कृत का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। आजीविका के लिए पाठक जी ने सरकारी नौकरी की। नौकरी के प्रसंग में ही इन्हें काश्मीर और नैनीताल भी जाना पड़ा, जहां इन्हें प्रकृति के निरीक्षण का अच्छा अवसर मिला। इन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में अच्छी कविता की है। इनकी ब्रजभाषा सहज और निराडंबर है। परंपरागत रूढ़ शब्दावली का प्रयोग इन्होंने प्राय: नहीं किया है। खड़ीबोली के तो ये प्रथम समर्थ कवि भी कहे जा सकते हैं। यद्यपि इनकी खड़ीबोली में कहीं-कहीं ब्रजभाषा के क्रियापद भी प्रयुक्त हैं, किंतु यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा 'सरस्वती' का संपादन संभालने से पूर्व ही इन्होंने खड़ीबोली में कविता लिख कर अपनी स्वच्छंद वृत्ति का परिचय दिया। देशप्रेम, समाजसुधार तथा प्रकृतिचित्रण इनकी कविता के मुख्य विषय हैं। इन्होंने बड़े मनोयोग से देश का गौरव-गान किया है, किंतु देशभक्ति के साथ इनमें भारतेंदुकालीन कवियों के समान राजभक्ति भी मिलती है। एक ओर इन्होंने 'भारतोत्थान', 'भारतप्रशंसा' आदि देशभक्तिपूर्ण कविताएं लिखी हैं, तो दूसरी ओर 'जॉर्ज-वंदना' जैसी कविताओं में राजभक्ति का भी प्रदर्शन किया है। समाजसुधार की ओर भी इनकी दृष्टि बराबर रही है। 'बालविधवा' में इन्होंने विधवाओं की व्यथा का कारुणिक चित्रण किया है। परंतु इनको सर्वाधिक सफलता प्रकृतिचित्रण में प्राप्त हुई है। तत्कालीन कवियों में इन्होंने सबसे अधिक मात्रा में प्रकृति-वर्णन किया है। परिमाण की दृष्टि से ही नहीं, गुण की दृष्टि से भी वह सर्वश्रेष्ठ है। इन्होंने रूढ़ि का परित्याग कर प्रकृति का स्वतंत्र रूप में मनोहारी चित्रण किया है। मातृभाषा की उन्नति की भी ये कामना करते थे। यथा :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*निज भाषा बोलहु लिखहु पढ़हु गुनहु सब लोग।*
*करहु सकल विषयन विषैं निज भाषा उपजोग॥*

पाठक जी कुशल अनुवादक भी थे—कालिदास-कृत 'ऋतुसंहार' और गोल्डस्मिथ-कृत 'हरमिट', 'डेज़टेंड विलेज' तथा 'द ट्रैवेलर' का ये बहुत पहले ही 'एकांतवासी योगी' 'ऊजड़ ग्राम' और 'श्रांत पथिक' शीर्षक से काव्यानुवाद कर चुके थे। इनकी मौलिक कृतियों में 'वनाष्टक', 'काश्मीर-सुषमा' (1904), 'देहरादून' (1915) और 'भारतगीत' (1928) विशेषत: उल्लेखनीय हैं। पाठक जी की काव्यशैली के उदाहरणस्वरूप एक अवतरण नीचे दिया जाता है :

*चारु हिमाचल आंचल में एक साल बिसालन कौ बन है।*
*मृदु मर्मर शीत झरै जल-स्रोत हैं पर्वत-ओट है निर्जन है॥*
*लिपटे हैं लता द्रुम, गान में लीन प्रवीन विहंगन कौ गन है।*
*भटक्यौ तहां रावरौ मूल्यौ फिरै, मद बावरौ सौ अलि को मन है॥*

**महावीरप्रसाद द्विवेदी :** महावीरप्रसाद द्विवेदी (1864-1938) का जन्म ज़िला रायबरेली के दौलतपुर नामक ग्राम में हुआ था। गांव की पाठशाला में प्रारंभिक शिक्षा पाने के पश्चात ये अंग्रेज़ी पढ़ने के लिए रायबरेली के स्कूल में भर्ती हुए, बाद में रनजीतपुरवा (ज़िला उन्नाव) फतेहपुर तथा उन्नाव के स्कूलों में दाख़िल हुए। वहां से अपने पिता के पास बंबई चले गये। बंबई में इन्होंने संस्कृत, गुजराती, मराठी और अंग्रेज़ी का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। मिडिल कक्षाओं में इन्होंने वैकल्पिक विषय के रूप में फ़ारसी पढ़ी तथा इन्हें बंगला का भी अच्छा अभ्यास था। आजीविका के लिए द्विवेदी जी ने रेलवे की नौकरी की, किंतु उच्चाधिकारी से कुछ कहा-सुनी हो जाने के कारण इन्होंने त्यागपत्र दे दिया। साहित्य-साधना तो द्विवेदी जी नौकरी के दिनों में भी कर रहे थे, किंतु नौकरी छोड़ने के बाद तो ये पूर्णतया हिंदी भाषा और साहित्य की सेवा में जुट गये। सन् 1903 में ये 'सरस्वती' के संपादक बने और 1920 तक बड़े परिश्रम और लगन से यह कार्य करते रहे। 'सरस्वती' के संपादक के रूप में इन्होंने हिंदी भाषा और साहित्य के उत्थान के लिए जो कार्य किया, वह चिरस्मरणीय रहेगा। इनके प्रोत्साहन और मार्गदर्शन के परिणामस्वरूप कवियों और लेखकों की एक पीढ़ी का निर्माण हुआ। खड़ीबोली को परिष्कार तथा स्थिरता प्रदान करने वालों में ये अग्रगण्य हैं। ये कवि, आलोचक, निबंधकार, अनुवादक तथा संपादकाचार्य थे। इनके लिखे हुए मौलिक और अनूदित गद्य-पद्य ग्रंथों की संख्या लगभग 80 है। मौलिक काव्यरचना की ओर इनकी विशेष प्रवृत्ति नहीं थीं, इनकी अनूदित काव्य-कृतियां अधिक सरस हैं। गद्य-लेखन एवं संपादन के क्षेत्र में इन्हें विशेष सफलता मिली। 'काव्यमंजूषा', 'सुमन' (1923), 'कान्यकुब्ज अबला-विलाप' (मौलिक पद्य), 'गंगालहरी', 'ऋतु-तरंगिणी', 'कुमारसंभवसार' (अनूदित) आदि द्विवेदी जी की उल्लेखनीय रचनाएं हैं। इनकी कविता सहज, सरल और प्राय: उपदेशपूर्ण होती थी। इन्होंने अपनी कविता में दो प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है—एक तो तत्समप्रधान समस्त भाषा का तथा दूसरे, प्रचलित शब्दावली-युक्त सरल भाषा का। दोनों तरह का एक-एक उदाहरण नीचे दिया जाता है :

*(अ) पृथ्वी-समुद्र-सरित-नर-नाग-सृष्टि।*
*मांगल्य-मूल-मय वारिद-वारि-वृष्टि।।*
*कर्तार कौन इनका? किस हेतु नाना—*
*व्यापार-भार सहता रहता महाना?*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*(आ) तुम्हीं अन्नदाता भारत के सचमुच बैलराज! महाराज!*
*बिना तुम्हारे हो जाते हम दाना-दाना को मोहताज॥*
*तुम्हें षंड कर देते हैं जो महानिर्दयीजन-सिरताज॥*
*धिक उनको, उन पर हंसता है, बुरी तरह, यह सकल समाज॥*

**अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' :** 'हरिऔध' जी (1865-1947) द्विवेदी-युग के प्रख्यात कवि होने के साथ-साथ उपन्यासकार, आलोचक एवं इतिहासकार भी थे। पुरातन संस्कृति का पुनरुद्धार, देश के वर्तमान युवक का उचित मार्गप्रदर्शन तथा कविता में उपदेशात्मक वृत्ति को इन्होंने आरंभ से ही अपना ध्येय रखा। इनका जन्म निज़ामाबाद, ज़िला आज़मगढ़ में हुआ था। इन्होंने उर्दू, फ़ारसी एवं संस्कृत का ज्ञान घर पर ही प्राप्त किया। सर्वप्रथम ये निज़ामाबाद के मिडिल स्कूल में अध्यापक हुए, उसके पश्चात क़ानूनगो। इन्होंने सन् 1923 में सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण किया और शेष जीवन साहित्यसेवा में समर्पित कर दिया। कुछ समय तक इन्होंने काशी विश्वविद्यालय में अवैतनिक प्राध्यापक के रूप में भी कार्य किया। इनके काव्यग्रंथों में 'प्रियप्रवास' (1914), 'पद्यप्रसून' (1925), 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदे' (1932), 'बोलचाल', 'रसकलस' तथा 'वैदेही-वनवास' (1940) प्रसिद्ध हैं। इनमें से 'प्रियप्रवास' खड़ीबोली में लिखा गया प्रथम महाकाव्य है। इसमें राधा और कृष्ण को सामान्य नायक-नायिका के स्तर से ऊपर उठा कर विश्वसेवी तथा विश्वप्रेमी के रूप में चित्रित करने में 'हरिऔध' ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। महाकाव्यत्व की दृष्टि से भी यह एक सफल ग्रंथ है। इनकी दूसरी उल्लेख्य रचना है 'रसकलस'। यह एक रीतिग्रंथ है, जिसमें रस-स्वरूप और रस-प्रकारों का सूक्ष्म विवेचन है। नायिकाभेद-वर्णन और ऋतु-वर्णन के अंतर्गत इन्होंने कुछ मौलिक स्थापनाएं भी की हैं। इनके द्वारा नवनिर्धारित नायिकाओं में पति-प्रेमिका, परिवार-प्रेमिका, लोक-सेविका आदि प्रमुख हैं। द्विवेदी-युगोत्तरकाल में रचित 'वैदेही-वनवास' भी एक श्रेष्ठ महाकाव्य है। यद्यपि कथानक के अपेक्षाकृत संक्षिप्त होने के कारण इसमें राम का शक्ति, सौंदर्य और शील-समन्वित चरित्र नहीं उभर सका है, फिर भी इसका महत्त्व अक्षुण्ण है। अपनी करुण सरलता में यह काव्य अद्वितीय है।

'हरिऔध' जी ने ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में रचनाएं की हैं। ब्रजभाषा में 'रसकलस' की रचना हुई है, तो 'प्रियप्रवास' तथा 'वैदेही-वनवास' की खड़ीबोली में। इनके काव्य में एक ओर सरल और प्रांजल हिंदी का निरलंकार सौंदर्य है, तो दूसरी ओर संस्कृत की आलंकारिक समस्त पदावली की छटा भी विद्यमान है। एक स्थान पर मुहावरों और बोलचाल के शब्दों की झड़ी लगी हुई है, तो दूसरी जगह उन्हें तिलांजलि दे दी गयी है। कहीं वर्णनात्मक शैली का अजस्र प्रवाह है, तो कहीं चित्रात्मक शैली का चमत्कार। इन्होंने द्विवेदीयुगीन भाषा की कर्कशता में सरसता का संचार किया है। वास्तव में खड़ीबोली को काव्योपयुक्त बनाने वालों में ये अग्रगण्य हैं। इन्होंने दोहा, कवित्त, सवैया आदि के साथ ही संस्कृत के वर्णवृत्तों में काव्यरचना की है और इनको सभी में समान रूप से सफलता मिली है। छंदों और भावों के अनुरूप भाषा का प्रयोग करने की इनमें अद्भुत सामर्थ्य है। इनकी अपूर्व साहित्य-सेवा के कारण ही हिंदी-संसार इन्हें 'कवि सम्राट' के रूप में स्मरण करता है। दो बार हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति बना कर हिंदी जगत ने इनका यथोचित सम्मान किया। नागरीप्रचारिणी सभा, आरा ने अभिनंदनग्रंथ प्रदान कर इनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की थी। 'प्रियप्रवास' पर इन्हें हिंदी का सर्वोत्तम पुरस्कार 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' प्रदान किया गया था। इनकी काव्यशैली बड़ी मार्मिक और भावपूर्ण है। यशोदा का विरह कैसा सहृदय संवेद्य है :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*प्रिय पति, वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है।*
*दुख-जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है॥*
*लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ।*
*वह हृदय हमारा नैन-तारा कहाँ है॥*
*पल-पल जिसके मैं पन्थ को देखती थी।*
*निशिदिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती॥*
*उर पर जिसके है सोहती मुक्तमाला।*
*वह नवनलिनी से नैननवाला कहाँ है॥*

उपर्युक्त पद्यों में खड़ीबोली का सहज रूप मिलता है, किंतु 'प्रियप्रवास' में ही कहीं-कहीं उन्होंने संस्कृतनिष्ठ भाषा का भी प्रयोग किया है। इसी प्रकार 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदे और 'बोलचाल' मुहावरेदार भाषा में रचित सफल काव्य-कृतियां हैं।

**राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' :** राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' (1868-1915) का जन्म जबलपुर में हुआ था। वहीं पर बी.ए. तक शिक्षा प्राप्त कर इन्होंने कुछ दिन वकालत की और फिर कानपुर चले आये। वकालत के अतिरिक्त ये सार्वजनिक कार्यों में भी सोत्साह भाग लेते थे। ये संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे तथा वेदांत में इनकी विशेष रुचि थी। व्यावसायिक और सामाजिक कार्यकलाप में अत्यंत व्यस्त रहते हुए भी ये साहित्य के अध्ययन और प्रणयन में दत्तचित्त रहे। इनकी कविता बड़ी सरस एवं भावपूर्ण है। ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों पर इनका समानाधिकार था। इन्होंने शृंगारादि परंपरागत विषयों पर ब्रजभाषा में तथा देशभक्ति आदि नवीन विषयों पर खड़ीबोली में काव्यरचना की है। प्रकृति-सौंदर्य की ओर भी इनका ध्यान गया था। इनके प्रकृति-चित्र बड़े सरल और स्वाभाविक हैं। 'धाराधरधावन' (1902) शीर्षक से इन्होंने कालिदास के 'मेघदूत' का अत्यंत सरस पद्यबद्ध अनुवाद किया है। 'स्वदेशी कुंडल' (1910) में इनकी देशभक्तिपूर्ण 52 कुंडलियां संगृहीत हैं। 'मृत्युंजय' (1904), 'राम-रावण-विरोध' (1906) तथा 'वसंत-वियोग' (1912) इनकी अन्य उल्लेखनीय काव्य-कृतियां हैं। 'पूर्ण' जी की काव्यशैली के परिचय के लिए उनका एक उपदेशात्मक छंद उद्धृत किया जाता है :

*चींटी मक्खी शहद की, सभी खोज कर अन्न।*
*करते हैं लघु जन्तु तक, निज गृह को सम्पन्न॥*
*निज गृह को सम्पन्न करो स्वच्छन्छ मनुष्यो।*
*तजो तजो आलस्य अरे मतिमन्द मनुष्यो!!*
*चेत न अब तक हुआ मुसीबत इतनी चक्खी;*
*भारत की सन्तान! बने हो चींटी, मक्खी!*

**रामचरित उपाध्याय :** रामचरित उपाध्याय (1872-1938) गाजीपुर के रहने वाले थे। इनकी आरंभिक शिक्षा संस्कृत में हुई। बाद में इन्होंने ब्रजभाषा और खड़ीबोली पर भी अच्छा अधिकार प्राप्त किया। पहले ये प्राचीन विषयों पर ही कविताएं लिखते थे, किंतु आचार्य द्विवेदी के संपर्क में आने पर इन्होंने खड़ीबोली तथा नूतन विषयों को अपनाया। 'राष्ट्रभारती', 'देवदूत', 'देवसभा', 'विचित्र विवाह' आदि कृतियों के अतिरिक्त उपाध्याय जी ने 'रामचरितचिंतामणि' नामक प्रबंधकाव्य की भी रचना की है। कवित्व अथवा रामभक्ति की दृष्टि से विशेष महत्त्व की रचना न होने पर भी इसके रावण-अंगद-संवाद प्रभृति कतिपय स्थल बड़े मार्मिक बन पड़े हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उपाध्याय जी द्विवेदी-युग के प्रमुख सूक्तिकार हैं। नीतिविषयक इनके पद्य 'सूक्ति-मुक्तावली' में संगृहीत हैं, जो इनके व्यापक अनुभव एवं लोकव्यवहारज्ञान के परिचायक हैं। इनके कुछ दोहे नीचे दिये जाते हैं :

*उपजे यदपि सुवंस में, खल तउ दुखत कराल।*
*चन्दन हूँ की आग ले, जरे देह तत्काल॥*
*मानी दीन न हो सकैं, बरुक प्रान दें खोय।*
*बिना बुझे सपनेहुँ नहिं, पावक सीतल होय॥*
*अपने ते जो छुद्र अति, तिहिं पै करिउ न क्रोध।*
*किहूँ भाँति सोहत नहीं, केहरि-ससक विरोध॥*

**गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'** : कविवर 'सनेही' (1883-1972) का जन्म उन्नाव ज़िले के हड़हा ग्राम में हुआ था। ये उर्दू के भी अधिकारी विद्वान थे और हिंदी के साथ-साथ उर्दू में भी अच्छी कविता करते थे। हिंदी में इन्होंने प्राचीन और नवीन दोनों शैलियों की कविता लिखी है। खड़ीबोली में कवित्त और सवैया छंदों का प्रयोग करने में ये बड़े माहिर थे। उर्दू-बह्रों का भी इन्होंने कुशल प्रयोग किया है। शृंगार आदि परंपरागत विषयों पर जहां ये 'सनेही' उपनाम से लिखते थे, वहां राष्ट्रीय भावनाओं की कविता को इन्होंने 'त्रिशूल' उपनाम से लिखा है। तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलनों के लिए इन्होंने अनेक प्रणायगीत और बलिदानगीत लिखे। पराधीन देश की दुर्दशा, आर्थिक विषमता, अस्पृश्यता आदि विषयों पर भी इन्होंने बड़ी मार्मिक एवं प्रभावी कविताओं का प्रणयन किया। ये कवि-सम्मेलनों में उत्साहपूर्वक भाग लेते थे तथा 'सुकवि' नामक काव्यपत्रिका के संपादक भी थे। 'कृषक-क्रंदन', 'प्रेम-पचीसी', 'राष्ट्रीय-वीणा', 'त्रिशूल-तरंग', 'करुणा-कादंबिनी' आदि इनकी मुख्य काव्यरचनाएं हैं। इनकी रचनाओं में अपूर्व वाग्वैदग्ध्य, शब्द चमत्कार, उक्ति का अनूठापन तथा ऊहात्मकता मिलती है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

*तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ,*
*तू है महासागर अगम मैं एक धारा क्षुद्र हूँ।*
*तू है महानद तुल्य तो मैं एक बूँद समान हूँ,*
*तू है मनोहर गीत तो मैं एक उसकी तान हूँ॥*

**मैथिलीशरण गुप्त** : मैथिलीशरण गुप्त (1886-1964) का जन्म चिरगांव (झांसी) में हुआ था। ये द्विवेदी-काल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि थे। गुप्त जी की आरंभिक रचनाएं कलकत्ता से निकलने वाले 'वैश्योपकारक' में प्रकाशित होती थीं। बाद में इनका परिचय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से हुआ और इनकी कविताएं 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगीं। द्विवेदी जी के आदेश और उपदेश तथा स्नेहमय प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप इनकी काव्यकला में निखार आया। इनकी प्रथम पुस्तक 'रंग में भंग' का प्रकाशन सन् 1909 में हुआ, किंतु इनकी ख्याति का मूलाधार 'भारत-भारती' (1912) है। 'भारत-भारती' ने हिंदीभाषियों में जाति और देश के प्रति गर्व और गौरव की भावनाएं प्रबुद्ध कीं और तभी से ये राष्ट्रकवि के रूप में विख्यात हुए। गुप्त जी मातृभूमि को केवल भूमिखंड नहीं, अपितु 'सगुण मूर्ति सर्वेश की' मानते हैं :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,*
*सूर्य-चन्द्र युग मुकुट-मेखला रत्नाकर है।*
*नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल-तारे मण्डन हैं,*
*बन्दीजन खगवृन्द, शेष-फन सिंहासन हैं।*
*करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की,*
*हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की॥*

मैथिलीशरण गुप्त प्रसिद्ध रामभक्त कवि थे। इसके साथ ही इन्होंने भारतीय जीवन को समग्रता में समझने और प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया है। 'मानस' के पश्चात हिंदी में रामकाव्य का दूसरा स्तंभ मैथिलीशरण-कृत 'साकेत' ही है। वास्तव में आधुनिक युग में प्रबंधकाव्य की विलोपमान परंपरा के संरक्षक गुप्त जी ही हैं। इन्होंने दो महाकाव्यों और उन्नीस खंडकाव्यों का प्रणयन किया है। परंतु इस विपुलता में पिष्टपेषण नहीं है, वरन आधारभूत पृष्ठभूमि का समयोचित विस्तार है। इनका चरित्रचित्रण-कौशल भी उत्कृष्ट प्रबंधकला का प्रमाण है। गुप्त जी ने 'तिलोत्तमा', 'चंद्रहास' और 'अनघ' नामक तीन नाटक, प्राय: सभी प्रकार के प्रगीत और मुक्तक भी लिखे हैं। किंतु नाटकों, प्रगीतों और मुक्तकों में ये वैसी भाव-सृष्टि नहीं कर पाये, जैसी कि प्रबंधकाव्यों में। वस्तुत: ये मूलत: प्रबंधकार थे, अन्य साहित्यरूपों में इनकी प्रतिभा को उचित विकास नहीं मिला। खड़ीबोली के स्वरूप-निर्धारण और विकास में इनका अन्यतम योगदान है। वास्तव में उसे काव्योपयुक्त रूप प्रदान करने वालों में ये अग्रगण्य थे। यहां तक कि इनकी आरंभिक रचना 'जयद्रथवध' में भी खड़ीबोली का सरस-मधुर और प्रांजल रूप मिलता है। भारतीय संस्कृति के ये अनन्य प्रस्तोता थे। किंतु अंधानुकरण की प्रवृत्ति इनमें नहीं थी—कालांतर में आ जाने वाली विकृतियों से इनके साहित्य का सांस्कृतिक पृष्ठाधार एकदम मुक्त है। दूसरे, अपनी सांस्कृतिक परंपराओं में आस्था रखने पर भी इन्होंने युगधर्म की कभी उपेक्षा नहीं की। भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता होने के साथ-साथ ये नवीन भारत के राष्ट्रीय कवि भी थे। इनकी प्राय: सभी रचनाएं राष्ट्रीयता से ओतप्रोत हैं। उत्तर भारत में राष्ट्रीयता के प्रचार और प्रसार में 'भारत-भारती' के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। इनकी परवर्ती रचनाएं भी असंदिग्ध रूप से राष्ट्रभावना से परिपूर्ण हैं। गुप्त जी के प्रमुख काव्यग्रंथ हैं—जयद्रथ-वध (1910), भारत-भारती (1912), पंचवटी (1925), झंकार (1929), साकेत (1931), यशोधरा (1932), द्वापर (1936), जयभारत (1952), विष्णुप्रिया (1957) आदि। 'प्लासी का युद्ध', 'मेघनाद-वध', 'वृत्र-संहार' आदि इन्के द्वारा अनूदित काव्य हैं।

**रामनरेश त्रिपाठी :** रामनरेश त्रिपाठी (1889-1962) का जन्म ज़िला जौनपुर के अंतर्गत कोइरीपुर ग्राम में हुआ था। इन्होंने प्रारंभिक शिक्षा गांव की पाठशाला में ही पायी। अंग्रेज़ी पढ़ने के लिए ये जौनपुर के एक स्कूल में भर्ती हुए, किंतु अध्ययन का क्रम नवीं कक्षा से आगे नहीं चल सका। कविता के प्रति इनकी लड़कपन से ही रुचि थी। गांव की पाठशाला के प्रधानाचार्य ब्रजभाषा में कविता लिखते थे। ये भी समस्यापूर्तियां करने लगे। 'सरस्वती' पत्रिका के प्रभावस्वरूप ये खड़ीबोली की ओर उन्मुख हुए। त्रिपाठी जी के चार काव्यग्रंथ प्रकाशित हुए हैं—'मिलन' (1917), 'पथिक' (1920), 'मानसी' (1927) और 'स्वप्न' (1929)। इनमें से 'मानसी' इनकी फुटकर कविताओं का संग्रह है, जो मुख्यत: देशभक्ति, प्रकृतिचित्रण और नीति निरूपण से संबद्ध है। 'मिलन', 'पथिक' तथा 'स्वप्न' काल्पनिक कथाश्रित प्रेमाख्यानक खंडकाव्य हैं। तीनों में व्यक्तिगत सुख और स्वार्थ को त्याग कर देश के लिए सर्वस्व न्यौछावर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

करने की प्रेरणा दी गयी है। इन प्रबंधकाव्यों में यथास्थान प्रकृति के भी मनोरम चित्र मिलते हैं। कवि होने के साथ-साथ त्रिपाठी जी सहृदय संपादक भी थे। 'कविता-कौमुदी' के आठ भागों में इन्होंने बड़ी योग्यता से हिंदी, उर्दू, बंगला एवं संस्कृत की कविताओं का संकलन और संपादन किया है। लोकगीतों का संग्रह भी इन्होंने बड़ी लगन और परिश्रम से किया तथा इस कार्य के निमित्त इन्हें पर्याप्त पर्यटन करना पड़ा। इनकी काव्यरचना का एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

*सच्चा प्रेम वही है जिसकी,*
*तृप्ति आत्म-बलि पर हो निर्भर।*
*त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है,*
*करो प्रेम पर प्राण निछावर॥*
*देश-प्रेम वह पुण्य-क्षेत्र है,*
*अमल असीम त्याग से विलसित।*
*आत्मा के विकास से जिसमें,*
*मनुष्यता होती है विकसित॥*

**अन्य कवि :** द्विवेदी-युग की काव्यसमृद्धि में कुछ अन्य कवियों का योगदान भी उल्लेखनीय है। कालक्रमानुसार इनमें प्रमुख हैं—बालमुकुंद गुप्त, भगवानदीन, अमीर अली 'मीर', कामताप्रसाद गुरु, गिरिधर शर्मा 'नवरत्न', रूपनारायण पांडेय, लोचनप्रसाद पांडेय, गोपालशरण सिंह और मुकुटधर पांडेय। यहां इनकी काव्यकला का संक्षिप्त विवेचन अभीष्ट है। **बालमुकुंद गुप्त** (1865-1907) का जन्म हरियाणा प्रदेश के रोहतक ज़िले के ग्राम गुड़ियाना में हुआ था। ये भारतेंदु-युग और द्विवेदी-युग को जोड़ने वाली कड़ी हैं। ये अच्छे कवि, अनुवादक और अपने समय के बहुत कुशल संपादक थे। इनकी कविताएं 'स्फुट कविता' (1905) में संकलित हैं और परिमाण में थोड़ी होने पर भी बड़ी प्रभावी हैं। राष्ट्रीयता और हिंदी-प्रेम इनकी कविताओं के मुख्य विषय हैं। ये बड़े ज़िंदादिल तथा विनोदशील व्यक्ति थे। तत्कालीन लेखकों से प्राय: इनकी नोंक-झोंक चलती रहती थी। **लाला भगवानदीन** (1866-1930) ने खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनों में सफलतापूर्वक काव्य रचना की है। ये काव्यशास्त्र के पंडित और मध्यकालीन काव्य के मर्मज्ञ थे। इनका जन्म फतेहपुर ज़िले के बरबर ग्राम में हुआ था। ये हिंदी, उर्दू और फ़ारसी के अच्छे ज्ञाता थे तथा 'दीन' उपनाम से कविता करते थे। उर्दू-बह्रों के प्रयोग में ये बड़े निपुण थे। इनकी ब्रजभाषा की कविताएं तो चिराचरित विषयों पर परंपरागत शैली में लिखी गयी हैं, किंतु खड़ीबोली में इन्होंने बड़ी ओजस्वी भाषा में वीरों के चरित्र लिखे हैं। 'वीर क्षत्राणी', 'वीर बालक' तथा 'वीर पंचरत्न' इसी प्रकार की रचनाएं हैं। 'नवीन बीन' इनका एक अन्य कविता-संग्रह है। उर्दू की तर्ज़ पर लिखी इनकी नेत्र-संबंधी कुछ उक्तियां उद्धृत की जाती हैं :

*कहो तो आज कह दें आपकी आँखों को क्या समझे।*
*सिता सिन्दूर मृगमदयुक्त अद्भुत कुछ दवा समझे॥*
*अगर इसको न मानो तो बता दें दूसरी उपमा।*
*सहित हाला हलाहल मिश्रिता सुन्दर सुधा समझे॥*
*न हो सन्तोष इस पर भी तो उपमा तीसरी ले लो।*
*युगल पद धारिणी त्रिगुणात्मिका ऋग की ऋचा समझे॥*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**सैयद अमीर अली 'मीर'** (1873-1937) का जन्म सागर (मध्यप्रदेश) में हुआ था। शैशव में ही पिता की मृत्यु हो जाने के कारण ये अपने चाचा के पास ज़िला सागर के देवरी ग्राम में रहे। साहित्य के क्षेत्र में इनका प्रवेश समस्यापूर्ति के माध्यम से हुआ। इनके कारण देवरी में 'मीर-मंडल' कवि-समाज की स्थापना हुई। ये बड़े हिंदी-प्रेमी थे और उसे राष्ट्रभाषा बनाने के समर्थक थे। 'रामचरितमानस' के प्रति इनका विशेष अनुराग था। इनकी भाषा परिमार्जित खड़ीबोली है। ईश्वरभक्ति और देशप्रेम इनकी कविता के मुख्य विषय हैं। 'उलाहना-पंचक' और 'अन्योक्ति-शतक' इनकी मुख्य काव्यकृतियां हैं। **कामताप्रसाद गुरु** (1875-1947) का जन्म भी सागर (मध्यप्रदेश) में हुआ था। ये कई भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। इनकी कविता सरल और भावपूर्ण है। 'भौसासुर-वध' और 'विनय पचासा' इनके ब्रजभाषा में लिखे हुए पद्य ग्रंथ हैं। 'पद्य पुष्पावली' नाम से इनकी खड़ीबोली कविताओं का संग्रह प्रकाशित हुआ है। इनकी 'शिवाजी' और 'दासी रानी' शीर्षक कविताओं ने अच्छी प्रसिद्धि पायी। किंतु, इनकी ख्याति का विशेष कारण इनका व्याकरणग्रंथ है, जिसे आज भी हिंदी का आदर्श और प्रामाणिक व्याकरणग्रंथ स्वीकार किया जाता है। **गिरिधर शर्मा 'नवरत्न'** (1881-1961) का जन्म झालरामाटन (जयपुर) में हुआ था। इनकी अधिकांश शिक्षा काशी में हुई। 'सरस्वती' तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में इनकी कविताएं बराबर छपती रहती थीं। इनकी कविताओं का मुख्य विषय स्वदेश-प्रेम था। ये हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत के भी कवि थे। संस्कृत और बंगला से इन्होंने हिंदी में पद्यानुवाद भी किया है। इनकी मुख्य मौलिक काव्य-रचना 'मातृ-वंदना' है। **रूपनारायण पांडेय** (1884-1959) का जन्म लखनऊ में हुआ था। 'नागरी-प्रचारक', 'इंदु', 'माधुरी' आदि कई पत्रिकाओं का इन्होंने सफलतापूर्वक संपादन किया। आरंभ में ये ब्रजभाषा में कविता करते थे, किंतु द्विवेदी जी के प्रभाव से खड़ीबोली में काव्य-रचना करने लगे। इनका काव्य बड़ा सरस और भावुकतापूर्ण है। पशु-पक्षियों तक इनकी सहानुभूति का प्रसार है। इन्होंने संस्कृत तथा बंगला-काव्यों के हिंदी में सरस अनुवाद भी किये हैं। 'पराग' (1924) तथा 'वन-वैभव' इनकी मौलिक कविताओं के संकलन हैं।

द्विवेदीयुगीन कवियों में **लोचनप्रसाद पांडेय** (1886-1959) को विशेष ख्याति प्राप्त है। इनका जन्म मध्यप्रदेश के बिलासपुर ज़िले के बालपुर गांव में हुआ था। हिंदी, उड़िया, अंग्रेज़ी एवं संस्कृत भाषाओं के ये अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने प्रबंध तथा मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाएं लिखी हैं। नीति-उपदेश तथा चरित्रोत्थान इनकी कविता का प्रमुख विषय है। 'प्रवासी', 'मेवाड़गाथा', 'महानदी' तथा 'पद्य-पुष्पांजलि' इनकी मुख्य काव्य रचनाएं हैं। अपनी साहित्य-सेवाओं के कारण पांडेय जी को 'काव्य विनोद' तथा 'साहित्यवाचस्पति' की उपाधियां प्राप्त हुईं। **ठाकुर गोपालशरण सिंह** (1891-1960) नयी गढ़ी (रीवा राज्य) में उत्पन्न हुए थे। खड़ीबोली को परिमार्जित करने और उसे माधुर्यपूर्ण बनाने वालों में इनका नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने खड़ीबोली में ब्रजभाषा के समान सरस, मधुर कवित्त-सवैयों की रचना की है। इनकी कविता में जीवन की विविध दशाओं के भावपूर्ण चित्र मिलते हैं। 'माधवी', 'मानवी', 'संचिता' तथा 'ज्योतिष्मती' इनकी प्रमुख काव्य-कृतियां हैं। लोचनप्रसाद पांडेय के अनुज **मुकुटधर पांडेय** (जन्म 1895-1984) भी सुकवि थे। ये प्रकृति के उपासक थे। इनके काव्य में भावात्मकता, आंतरिक संवेदना और रहस्यात्मक अनुभूति के दर्शन होते हैं। ये द्विवेदी-युग के सर्वश्रेष्ठ प्रगीतकार माने जाते हैं। वस्तुतः इनके काव्य में छायावाद का पूर्वाभास मिलता है। 'पूजाफूल' तथा 'कानन-कुसुम' इनके प्रकाशित काव्य-संकलन हैं।

उपर्युक्त काव्य-निर्माताओं के अतिरिक्त और भी अनेक महानुभावों ने द्विवेदी-युग में हिंदी-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

काव्य की श्रीवृद्धि की है, जिनमें से लोकमणि, सत्यशरण रतूड़ी, मन्नन द्विवेदी, पदुमलाल पुन्नलाल बख्शी, शिवकुमार त्रिपाठी, पार्वतीदेवी, तोषकुमारी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सियारामशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, प्रसाद, पंत तथा निराला ने भी इसी युग में कविता लिखना प्रारंभ कर दिया था, किंतु इनकी काव्यकला का वास्तविक विकास आगे चल कर ही हुआ।

### ब्रजभाषा-काव्य

भारतेंदु-काल से खड़ीबोली और ब्रजभाषा का जो तीव्र विवाद चला आ रहा था, वह द्विवेदी-युग के आरंभ में लगभग समाप्त हो गया। गद्य की सर्व स्वीकृति भाषा खड़ीबोली कविता की भी मुख्य भाषा बन गयी। देशकाल के अनुसार चलने वाले कवियों ने खड़ीबोली और नव-नव भावनाओं को सहर्ष अपनाया। समय का रुख़ देख कर कुछ ऐसे कवि भी हुए जो आलोच्य काल से पूर्व ब्रजभाषा में अच्छी रचना कर चुके थे और अब खड़ीबोली में कविता लिखने लगे। ऐसे कवियों में श्रीधर पाठक, 'हरिऔध' तथा नाथूराम शर्मा 'शंकर' के नाम मुख्य हैं। श्रीधर पाठक कृत 'काश्मीर-सुषमा' और हरिऔध-कृत 'रसकलस' ब्रजभाषा की उल्लेखनीय रचनाएं हैं। इनके विपरीत कुछ कवि कालप्रवाह से निरपेक्ष रह कर प्राचीन परिपाटी की कविता ही लिखते रहे। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' विशेषत: और एक सीमा तक सत्यनारायण 'कविरत्न' ऐसे ही कवि हैं। उधर राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' तथा भगवानदीन 'दीन' नवीन शैली की ओर भी उन्मुख हुए और प्राचीन शैली की कविता भी लिखते रहे। द्विवेदीयुगीन ब्रजभाषाकाव्य प्राय: प्राचीनता का अनुवर्तनमात्र है। इस काव्यधारा में प्राय: परंपरागत उपादान ही गृहीत हैं—चिराचरित विषयों पर चिरभुक्त प्राचीन परिपाटी के अनुसार लिखा गया है। अधिकांशत: भक्ति-शृंगार तथा ऋतु-वर्णन से आगे प्रस्तुत धारा की काव्य भूमि नहीं बढ़ सकी। भाव, कल्पना और कला की दृष्टि से उस पर प्राचीनता की स्पष्ट छाप है—उसका वातावरण निश्चित रूप से मध्यकालीन है। उदाहरणस्वरूप, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', जिन्होंने खड़ीबोली में नवीन विषयों को अपनाया, जब ब्रजभाषा में कविता लिखते हैं तो पुराना राग अलापने लगते हैं :

*चन्द्रमुखी हीरन के भूषन अमन्द धारे,*
*मोतिन किनारी बारी सारी चारु धारी है।*
*जोबन की ज्योति तैसी रूप की है बेस बनी,*
*जाति ब्रजचन्द सों मिलन हेतु प्यारी है॥*
*'पूरन' जू जामिनी में कौतुक अनोखो भयो,*
*जावै कुंजबन ह्वै सिधारी सुकुमारी है।*
*भोर जानी चोरन ने, मोरन तड़ित जानी,*
*समुझी चकोरन ने चन्द उजियारी है॥*

इसी प्रकार खड़ीबोली में वीरों की उत्साहवर्द्धक कथाओं के प्रणेता 'दीन' का ब्रजभाषा में लिखा हुआ ताजमहल विषयक पद्य देखिए, जिसकी वस्तु और शैली सर्वथा रीतिकालीन है :

*कैंधौं बासुकी को अंड खंड ह्वै पर्‌यो है आय,*
*चारिहू मीनार सो संपोलन-समाज है।*
*चारि भुजा धारिकै बिराजौ किधौं भूत-नाथ,*
*जमुना निकट बहै सोई नागराज है॥*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*'दीन' कवि कैधौं चारि दन्त-जुत देखियत,*
*ब्रज-तट इन्द्रगज-मस्तक दराज है।*
*जग के समस्त सौध-सन्धन को सिर-ताज,*
*भारत में राजि रह्यो आगरे को ताज है॥*

सत्यनारायण 'कविरत्न' की कविता पर यत्किंचित् युग-चेतना का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। नारी-शिक्षा के विषय में 'भ्रमरदूत' की यशोदा कहती हैं :

*नारी-सिक्षा निरादरत जे लोग अनारी,*
*ते स्वदेस-अवनति-प्रचंड-पातक अधिकारी।*
*निरखि हाल मेरो प्रथम, लेउ समझि सब कोइ,*
*विद्या-बल लहि मति परम अबला सबला होइ॥*
*लखौ अजमाइ कै॥*

'सब मिलि पूजिय भारत माई', 'बन्दौं भारत भुवि महतारी' आदि पदों में उन्होंने राष्ट्रीय उद्गार प्रकट किये हैं तथा भक्तिपरक पदों में कहीं-कहीं देश की दुर्दशा का भी उल्लेख किया है। किंतु ऐसे स्थल विरल ही हैं, अन्य ब्रजभाषा कवियों की रचनाओं में तो ये और भी कम हैं। द्विवेदी-युग के सर्वश्रेष्ठ ब्रजभाषा कवि रत्नाकर तो युगीन भावनाओं से सर्वथा अप्रभावित ही रहे। श्रीधर पाठक आदि दो-एक कवियों ने प्रकृति का स्वतंत्र रूप से भी चित्रण किया है, किंतु, वे उसमें किसी मौलिक विशेषता का समावेश नहीं कर सके। रचनाशैली और भाषा-प्रयोग की दृष्टि से भी द्विवेदीयुगीन ब्रजभाषा-काव्य में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ। प्राय: परंपरागत काव्यरूपों, चिर व्यवहृत छंदों और रिक्थ रूपों में प्राप्त ब्रजभाषा का ही प्रयोग होता रहा।

काल-प्रवाह ही चिंता न कर आधुनिक युग में भी कथ्य और कथनशैली दोनों ही दृष्टियों से मध्यकालीन आदर्शों को स्वीकार करने वाले कवियों में **जगन्नाथदास 'रत्नाकर'** (1866-1932) प्रमुख थे। इनके पूर्वज हरियाणा के प्रसिद्ध नगर पानीपत के निकट सफ़ीदों नामक क़स्बे के निवासी थे, जो कई पीढ़ी पहले काशी में आ बसे थे। रत्नाकर जी ने बी.ए. तक शिक्षा पायी। आगे फ़ारसी में एम.ए. भी करना चाहते थे, किंतु कुछ कारणों से यह इच्छा पूरी न हो सकी। कुछ दिनों ये अवागढ़ रियासत में कोषाधिकारी रहे और फिर अयोध्यानरेश के निजी सचिव के रूप में कार्य किया। उनके स्वर्गस्थ होने पर इनकी कार्यकुशलता से प्रभावित महारानी अयोध्या ने इन्हें अपने निजी सचिव के रूप में नियुक्त किया।

रत्नाकर जी के पिता भारतेंदु हरिश्चंद्र के अंतरंग मित्र, हिंदी-कविता के प्रेमी तथा उर्दू-फ़ारसी के विद्वान थे। अत: इनके घर पर कविगोष्ठियां हुआ करती थीं। यहीं से इनमें साहित्यानुराग उत्पन्न हुआ और ये स्वयं भी कविता करने लगे। आरंभ में ये 'जकी' उपनाम से उर्दू में कविता करते थे, बाद में हिंदी में कविता लिखने लगे। साहित्य, संस्कृति, धर्म और दर्शन में रत्नाकर जी की विशेष रुचि थी। ब्रजभाषा-काव्य के ये आदर्श थे और संगीत, आयुर्वेद, ज्योतिष, पुरातत्त्व आदि की भी इन्हें अच्छी जानकारी थी। ये उर्दू, फ़ारसी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, मराठी, बंगला भाषाओं के ज्ञाता तथा ब्रजभाषा के मर्मज्ञ थे। आधुनिक ब्रजभाषा-कवियों में रत्नाकर जी को मूर्धन्य स्थान प्राप्त है। ब्रजभाषा के तत्कालीन अन्य कवियों ने जहां पूर्ववर्ती काव्य की प्राय: एक ही प्रवृत्ति को ग्रहण किया; वहीं इन्होंने भक्ति, नीति, शृंगार तथा वीरता संबंधी रीति-परिपाटी की कविताएं लिखीं। भावों की रमणीयता के साथ-साथ इनके काव्य में शैलीगत अलंकरण भी मिलता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है, किंतु यह अलंकरण कहीं भी रसास्वादन में व्याघात उपस्थित नहीं करता। रत्नाकर जैसी अनूठी सूझ, उक्तिवैचित्र्य तथा चित्रोपम शैली भी बहुत कम कवियों में मिलेगी। प्रौढ़ और चित्रमय ब्रजभाषा के प्रयोग में ये रीतिकाल के श्रेष्ठ कवियों के समकक्ष हैं। 'उद्धव-शतक' (1929), 'गंगावतरण' (1927), 'शृंगार-लहरी', 'हरिश्चंद्र', 'हिंडोला' (1894) आदि इनके प्रमुख काव्यग्रंथ हैं। इनके द्वारा संपादित 'बिहारी-रत्नाकर' बिहारी-कृत 'सतसई', का विद्वत्तापूर्ण टीका सहित प्रामाणिक संस्करण है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'कविकुलकंठाभरण', 'दीपप्रकाश', 'हम्मीरहठ' आदि का भी संपादन किया। रत्नाकर जी की काव्यशैली के निदर्शनार्थ 'उद्धव शतक' से एक कवित्त नीचे दिया जाता है :

*भेजे मनभावन के ऊधव के आवन की*
*सुधि ब्रज-गांवनि मैं पावन जबै लगीं।*
*कहै रतनाकर गुवालिनि की झौंरि-झौंरि*
*दौरि-दौरि नन्द-पौरि आवन तबै लगीं॥*
*उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै*
*पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगीं।*
*हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यो है कहा,*
*हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं॥*

**सत्यनारायण 'कविरत्न'** (1880-1918) का जन्म ज़िला अलीगढ़ के सराय नामक गांव में हुआ। बाल्यावस्था में ही ये माता-पिता के स्नेह से वंचित रह गये; ताजगंज (आगरा) के बाबा रघुवरदास ने इनका पालन-पोषण किया। 1910 ई. में इन्होंने सेंट जॉंस कॉलेज़, आगरा से बी.ए. की परीक्षा दी, किंतु असफल रहे। क्रमिक शिक्षा वहीं छूट गयी। 'कविरत्न' जी छात्रावस्था से ही ब्रजभाषा में कविताएं लिखने लगे थे। आरंभ में ये परंपरागत ढंग से विनयपद तथा समस्यापूर्तियां लिखते थे, बाद में प्रौढ़ रचनाओं में भक्त तथा देशप्रेमी कवि के रूप में सामने आये। इनकी कविता अत्यंत भावुकतापूर्ण एवं निराडंबर है। प्रकृति का भी इन्होंने बड़ा मनोहारी चित्रण किया है। इन्होंने सहज मधुर ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। इनके भक्तिपरक पद किसी भी भक्तकवि से कम द्रवणशील नहीं हैं, किंतु ये भक्ति के पदों में भी देश की दशा को विस्मृत नहीं करते। इसी भांति 'भ्रमरदूत' के परंपरागत प्रसंग में भी इन्होंने देशप्रेम का समावेश कर दिया है :

*जे तजि मातृभूमि सों ममता, होत प्रवासी।*
*तिन्हें बिदेसी तंग करत दै विपदा खासी॥*
*नहिं आये—निरदय दई, आये—गौरव जाय।*
*साँप-छछून्दर गति भई, मन ही मन अकुलाय॥*
*रहे सब के सबै॥*

'कविरत्न' जी की कविताओं का एक संग्रह 'हृदयतरंग' नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें संगृहीत 'प्रेमकली' एवं 'भ्रमरदूत' शीर्षक दो रचनाओं ने बड़ी प्रसिद्धि पायी। 'भ्रमरदूत' में राष्ट्रीय भावना की सशक्त व्यंजना हुई है। लॉर्ड मैकाले की प्रसिद्ध रचना 'होरेशस' का भी इन्होंने बहुत अच्छा अनुवाद किया है। वस्तुतः परिमाण में अल्प होने पर भी इनकी रचनाएं गुण की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उपर्युल्लिखित कवियों के अतिरिक्त शिवसंपत्ति, किशोरीलाल गोस्वामी, सुधाकर द्विवेदी तथा जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के नाम भी द्विवेदीकालीन ब्रजभाषा-कवियों के रूप में उल्लेखनीय हैं।

## मूल्यांकन

द्विवेदी-युग की कविता राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता है। इस युग की राष्ट्रीयता सांप्रदायिकता और प्रांतीयता से ऊपर अति उदार और व्यापक राष्ट्रीयता है। मातृभूमि के लिए सर्वस्व बलिदान, स्वार्थ-त्याग तथा पारस्परिक वैमनस्य को दूर करने की अमोघ प्रेरणा दे कर इन कवियों ने असंकीर्ण राष्ट्रीय भावना को विकसित किया तथा तत्कालीन राष्ट्रीय-आंदोलनों को बल प्रदान किया। द्विवेदीकालीन कवियों ने जातीय जीवन की बड़ी मार्मिक और रचनात्मक आलोचना की। उन्होंने उसके शुभ पक्ष को प्रोत्साहित और अशुभ पक्ष को तिरस्कृत किया। जहां उन्होंने सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक आडंबरों एवं निरर्थक रूढ़ियों पर ज़ोरदार प्रहार किये, वहीं अपनी परंपरा के उपयोगी तत्त्वों का सबल समर्थन और पोषण भी किया। वस्तुतः इस युग की कविता का सांस्कृतिक पक्ष अत्यंत सबल है, उसी में इसकी शक्ति निहित है। प्रस्तुत युग में एक नवीन मानवतावादी दृष्टिकोण गृहीत हुआ। सामान्य मानव के गौरव की प्रतिष्ठा पहली बार इसी युग में हुई। महिमामंडित ही नहीं, क्षुद्र और तुच्छ भी काव्य का विषय बना।

द्विवेदी-युग में काव्य-भूमि का अद्भुत विस्तार हुआ। 'सब विषय काव्योपयुक्त हो सकते हैं, अपना अपना मत प्रकाशन करने की सबको स्वतंत्रता है'—इस प्रकार के मत का प्रचार तो भारतेंदु-काल में ही हो गया था। परंतु फिर भी भारतेंदुकालीन कविता के विषय सीमित ही रहे। इस युग में आ कर ही उपर्युक्त मत व्यवहार में परिणत हुआ। महान कथाओं और आदर्श चरित्रों के साथ-साथ न जाने कितने छोटे-छोटे, नगण्य और काव्यक्षेत्र के लिए अपरिचित प्रसंग काव्य-विषय के रूप में गृहीत हुए। आचार्य द्विवेदी के अथक प्रयत्नों एवं सफल दिशा-निर्देशन के फलस्वरूप गद्य और पद्य की भाषा का एकीकरण भी इसी युग में हुआ। बोलचाल की भाषा अर्थात खड़ीबोली ही काव्य की मुख्य भाषा बन गयी। द्विवेदी-युग के आरंभ में खड़ीबोली अनगढ़, शुष्क और अस्थिर स्वरूप थी, किंतु शनैः-शनैः उसका स्वरूप निश्चित, सुघड़ और मधुर बनता चला गया। असल में, आलोच्य काल का इतिहास खड़ीबोली के तुतलाने से ले कर उसके स्फीत वाग्धारा तक पहुंचने का इतिहास है। द्विवेदीकालीन खड़ीबोली के कवियों ने विविध छंदों का भी कुशल प्रयोग किया है। इनके काव्य में हिंदी के ही नहीं, संस्कृत और उर्दू के भी अनेक छंद प्रयुक्त हैं। ब्रजभाषा के चिर व्यवहृत छंदों—कवित्त और सवैया—में भी सुष्ठु रचना हुई। भाव, भाषा और छंद में ही नहीं, काव्यरूप के क्षेत्र में भी एकरूपता मिलती है। प्रस्तुत काल में महाकाव्य, खंडकाव्य, लघु पद्यकथा, मुक्तक, प्रबंध मुक्तक आदि त्रिविध काव्य-विधाओं में प्रचुर रचना हुई।

सामान्यतः द्विवेदीयुगीन काव्य को नीरस, इतिवृत्तात्मक और उपदेशात्मक कहा जाता है। एक सीमा तक यह बात ठीक भी है। नये-नये काव्य-विषयों और अपरिमार्जित भाषा को स्वीकार करने के कारण आरंभ के कुछ वर्षों तक प्रयोग की स्थिति बनी रही। प्रयोगकालीन कविताओं में निश्चय ही भावप्रवणता का अभाव है। किंतु यह भी निश्चित है कि धीरे-धीरे इनमें मधुरता, सरसता और भावपूर्णता आती चली गयी। 'प्रियप्रवास', 'साकेत', 'जयद्रथ-वध', 'मिलन' आदि रम्य भावपूर्ण रचनाएं तथा 'भारत-भारती', 'वीर पंचरत्न' प्रभृति ओजपूर्ण कृतियां इसी युग की देन हैं। हां, काव्य में सदुपदेश और उच्चादर्शों का समावेश तो अंत तक ही बना रहा, क्योंकि वह द्विवेदीकालीन सिद्धांत—'उसमें उचित उपदेश का भी मर्म्म होना चाहिए'—के अनुरूप ही है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समग्रतः द्विवेदीयुगीन काव्य सांस्कृतिक पुनरुत्थान, उदार राष्ट्रीयता, जागरण, सुधार एवं उच्चादर्शों का काव्य है। इसमें विषयगत अपार वैविध्य एवं व्यापकत्व मिलता है। इस युग में सभी काव्यरूपों का सफल प्रयोग हुआ है। खड़ीबोली के स्वरूप-निर्धारण और विकास का श्रेय भी इसी कालखंड को है। छंद के क्षेत्र में जो वैविध्य इस युग में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यद्यपि इस युग की अधिकांश कविता में अपेक्षित गहराई नहीं है, कलात्मक समृद्धि भी नहीं है, किंतु राष्ट्र के उद्‌बोधन, जागरण, सुधार और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के अद्‌भुत सामर्थ्य एवं खड़ीबोली के स्वरूप-निर्माण और संस्कार के कारण हिंदी-काव्य के इतिहास में द्विवेदी-युग का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता।

## गद्य-साहित्य

द्विवेदी-युग में रचित गद्य-साहित्य के मूल में कार्य करने वाली सांस्कृतिक चेतना का महत्त्व कई दृष्टियों से मान्य है। इस समय विदेशी शासन के प्रति जनता के असंतोष में निरंतर वृद्धि हुई और हमारी राष्ट्रीय चेतना क्रमशः विकसित होती हुई एक निश्चित लक्ष्य—पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति की सिद्धि के संकल्प में परिणत हुई, जिसकी अभिव्यक्ति इस युग के साहित्य में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में ध्यान आकृष्ट करती है। राजनीतिक चेतना के साथ ही इस अवधि में भारत की आर्थिक चेतना भी विकसित हुई। 1906 ई. में कांग्रेस ने भारतीय जनता के आर्थिक हितों को दृष्टि में रख कर शासन का ख़र्च घटाने, विशेषतः सेना पर व्यय की जाने वाली राशि को घटाने, करों में कमी करने, सिंचाई का उचित प्रबंध करने, कृषि-बैंकों की स्थापना करने, प्राचीन उद्योगों को पुनः जीवित कर नये उद्योगों को स्थापित करने और गल्ले के निर्यात पर रोक लगाने का सुझाव दिया। विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और सामाजिक-धार्मिक चेतना के विकास की दृष्टि से भी आलोच्य काल का महत्त्व कम नहीं है। जहां 1892 ई. में ईसाई धर्मोपदेशकों के साथ लोकमान्य तिलक और न्यायमूर्ति रानाडे के मात्र चाय पी लेने पर समाज में तहलका मच गया था और इन नेताओं को गोमूत्र के प्राशन से प्रायश्चित करना पड़ा था, वहां 1918 ई. में महात्मा गांधी ने एक अछूत कन्या को अपने आश्रम में रख कर अपनी पुत्री की तरह उसका पालन-पोषण किया, सभी जातियों के लोगों को एक साथ एक ही पंक्ति में बैठा कर भोजन कराने की व्यवस्था की और अंतर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित किया। यद्यपि आलोच्य काल में आर्यसमाज और सनातन धर्म दोनों का द्वंद्व चलता रहा, किंतु यह निर्विवाद है कि धार्मिक-सामाजिक क्षेत्र में क्रमशः उदारता और सहिष्णुता की भावनाएं फैलती जा रही थीं। यह राजनीतिक जागरूकता, आर्थिक समझदारी, सामाजिक-धार्मिक उदारता तथा राष्ट्रप्रेम मुख्यतः शिक्षित मध्यवर्ग की जनता के जागरण का परिणाम था। समाज को सभी क्षेत्रों में नेतृत्व प्रदान करने वाला वर्ग यही था। साहित्य-रचना भी इसी शिक्षित मध्यवर्गीय समाज द्वारा की जा रही थी। यह वर्ग सर्वाधिक संवेदनशील था। साहित्यकारों के मन पर राष्ट्र की प्रत्येक महत्त्वपूर्ण घटना का प्रभाव पड़ता था और वह उनकी रचनाओं में प्रतिबिंबित होता था। यही कारण है कि आलोच्य काल के गद्य-साहित्य की प्रत्येक विधा में अंतर्निहित चेतना एक ही है और वह व्यापक राष्ट्रीय जागरण एवं सुधार की भावना से संबद्ध है।

### नाट्यसाहित्य

आलोच्य काल नाट्यसाहित्य की दृष्टि से सबसे कम समृद्ध है। जहां भारतेंदु ने सुरुचिपूर्ण साहित्यिक नाटकों को लोकप्रिय बनाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया था और उनके सहयोगी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

साहित्यकार नाटक-रचना को साहित्यिक प्रतिभा की कसौटी मानते थे, वहां भारतेंदु के बाद लगभग पच्चीस वर्षों की कालावधि में हिंदी-नाटक-साहित्य ह्रासोन्मुख रहा। संख्या की दृष्टि से आलोच्य काल में लिखे गये नाटक कम नहीं है, किंतु महत्त्व की दृष्टि से वे नगण्य हैं। सुविधा के लिए इस काल के नाटकों को छह वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : (*क*) पौराणिक नाटक, (*ख*) ऐतिहासिक नाटक, (*ग*) सामयिक उपादानों पर रचित नाटक, (*घ*) रोमांचकारी नाटक, (*ङ*) प्रहसन और (*च*) अनूदित नाटक।

द्विवेदी-युग में पौराणिक नाटकों के तीन वर्ग लक्षित होते हैं—कृष्णचरित-संबंधी, रामचरित संबंधी तथा अन्य पौराणिक पात्रों एवं घटनाओं से संबंधित हैं। कृष्णचरित संबंधी नाटकों में नाटकों में राधाचरण गोस्वामी-कृत 'श्रीदामा' (1904), शिवनंदन सहाय-कृत 'सुदामा' (1907), बनवारीलाल-कृत 'कृष्णकथा' व 'कंसवध' (1909), ब्रजनंदन सहाय-कृत 'उद्धव' (1909) और नारायण मिश्र-कृत 'कंसवध' (1910) उल्लेखनीय हैं। रामचरित-संबंधी नाटकों में रामनारायण मिश्र-कृत 'जनक बाड़ा' (1906), गंगाप्रसाद-कृत 'रामाभिषेक' (1910), गिरधरलाल-कृत 'राम-वनयात्रा' (1910), नारायणसहाय-कृत 'रामलीला' (1911) और रामगुलामलाल कृत 'धनुषयज्ञ लीला' (1912) महत्त्वपूर्ण हैं। अन्य पौराणिक पात्रों एवं घटनाओं को ले कर लिखे गये नाटकों में महावीर सिंह का 'नल-दमयंती' (1905), गौरचरण गोस्वामी का 'अभिमन्यु-वध' (1906), सुदर्शनाचार्य का 'अनर्घ नलचरित' (1906), बांकेबिहारीलाल का 'सावित्री नाटिका' (1908), बालकृष्ण भट्ट का 'वेणुसंहार' (1909), लक्ष्मीप्रसाद का 'उर्वशी' (1910), हनुमंतसिंह का 'सती-चरित्र' (1910), शिवनंदन मिश्र का 'शकुंतला' (1911), जयशंकर प्रसाद का 'करुणालय' (1912), बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवन-दहन' (1915), माधव शुक्ल का 'महाभारत पूर्वार्द्ध' (1916), हरिदास माणिक का 'पाण्डव-प्रताप' (1917) तथा माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध' (1918) उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त नाटकों में पौराणिक आख्यानों एवं चरित्रों के माध्यम से जनता को उपदेश देने की प्रवृत्ति ही प्रधान है। प्राय: नाट्यकला का उपयुक्त विकास इनमें नहीं मिलता और अभिनय तत्त्व भी गौण है। यहां तक कि बालकृष्ण भट्ट जैसे साहित्यकार ने भी भद्दी भूलें की हैं। 'वेणुसंहार' में महाराज वेणु के कर्मचारी अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग करते हुए दिखाये गये हैं और उनके राज्य के नागरिक उर्दू-ग़ज़लों में आधुनिक सामाजिक विकृतियों का चित्रण करते हैं। एकमात्र अपवाद 'कृष्णार्जुन-युद्ध' है, जिसे राष्ट्रीय चेतना और साहित्यिक गुणों से युक्त होने के फलस्वरूप पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई।

ऐतिहासिक नाटकों में गंगाप्रसाद गुप्त का 'वीर जयमल' (1903), वृंदावनलाल वर्मा का 'सेनापति ऊदल' (1909), बद्रीनाथ भट्ट का 'चंद्रगुप्त' (1915), कृष्णप्रकाश सिंह का 'पन्ना' (1915), हरिदास माणिक का 'संयोगिताहरण' (1915), जयशंकर प्रसाद का 'राज्यश्री' (1915) और परमेष्ठीदास जैन का 'वीर चूड़ावत सर्दार' (1918) उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण नहीं हो सका है। 'राज्यश्री' में प्रसाद ने इतिहासतत्त्व की रक्षा अवश्य की है। वस्तुत: हिंदी-साहित्य में ऐतिहासिक नाटकों का सूत्रपात प्रसाद से ही हुआ है।

सामयिक उपादानों पर आधृत नाटकों में प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'भारत-दुर्दशा' (1902), भगवतीप्रसाद-कृत 'वृद्ध-विवाह' (1905), जीवानंद शर्मा-कृत 'भारतविजय' (1906), कृष्णानंद जोशी-कृत 'उन्नति कहां से होगी' (1915) और मिश्रबंधु-कृत 'नेत्रोन्मीलन' (1915) उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में सामयिक सामाजिक-राजनीतिक जीवन की विकृतियों को उभारने की चेष्टा की गयी है, किंतु इनका लक्ष्य समाजसुधार ही है। नाट्यकला की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व नहीं है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रोमांचकारी नाटक मुख्यत: रोमांचकारी एवं अलौकिक घटनाओं को केंद्र में रख कर पारसी रंगमंच की दृष्टि से लिखे गये। इन्हें इतिहासकारों ने मंचीय नाटक भी कहा है। ये नाटक दो प्रकार के हैं—एक वे, जिनकी रचना फ़ारसी-प्रेमाख्यानों के आधार पर हुई है, और दूसरे वे, जिनकी रचना पौराणिक आख्यानों को ले कर की गयी है। ये नाटक व्यवसायी नाटक-मंडलियों के लिए लिखे गये हैं, इसलिए इनके आधार पर तत्कालीन जनसामान्य की रुचि का अनुमान लगाया जा सकता है। रोमांचकारी रंगमंचीय नाटककारों में मोहम्मद मियां 'रौनक', हुसैन मियां 'जरीफ़', मुंशी विनायकप्रसाद 'तालिब', सैयद मेहंदी हसन 'अहसान', नारायणप्रसाद 'बेताब', आगा मोहम्मद 'हश्र' और राधेश्याम कथावाचक उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अपने नाटकों को चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए पर्दों की तड़क-भड़क और वेश-भूषा की चमक-दमक के साथ दृश्यों में अद्भुत तत्त्वों का समावेश किया। आकाश में तारों का टूटना, मंच पर खंभों का टूटना और उनके भीतर से पात्रों का सहसा प्रकट होना, आकाश-मार्ग से देवताओं का जाना और वहीं से पुष्पवर्षा करना आदि विचित्र दृश्यों का विधान साधारण बात थी। इन नाटकों का प्रारंभ 'कोरस' से होता था। इनमें प्राय: प्रमुख कथा के समानांतर एक 'प्रहसन' भी चलता था, जो दर्शकों को हंसाने या मूल नाटक की भावधारा में परिवर्तन लाने के लिए प्रयुक्त होता था। आगे चल कर नाटककारों ने प्रमुख कथा के अंतर्गत ही हास्य तत्त्व का समावेश करना उचित समझा। रोमांचक रंगमंचीय नाटकों की भाषा में उर्दू-फ़ारसी की शब्दावली का प्राधान्य था। क्रमश: इसमें परिवर्तन हुआ और साधारण बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया जाने लगा। वस्तुत: व्यवसायी पारसी-कंपनियों का उद्देश्य सामान्य जनता का मनोरंजन करके धनोपार्जन करना था। इनकी प्रतिक्रिया में कुछ अव्यवसायी नाटक-मंडलियां भी सामने आयीं। इनमें श्रीरामलीला नाटक-मंडली (प्रयाग), काशी नागरी नाटक-मंडली, भारतेंदु नाटक-मंडली, हिंदी नाट्यपरिषद (कलकत्ता) आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाटक-मंडलियों ने अपेक्षाकृत साहित्यिक और सुरुचिपूर्ण नाटकों का अभिनय किया।

आलोच्य युग में नाटकों के अंतर्गत प्रमुख कथाधारा के समानांतर चलने वाले प्रहसनों के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से भी कुछ प्रहसनों की रचना की गयी। बद्रीनाथ भट्ट का 'चुंगी की उम्मीदवारी' (1912) एक अच्छा प्रहसन है। इसके विपरीत गंगाप्रसाद श्रीवास्तव-कृत 'उलटफेर' (1918) और 'नोक-झोंक' (1918) में छिछले हास्य की सृष्टि की गयी है।

द्विवेदी-युग में संस्कृत, अंग्रेज़ी और बंगला भाषा से कुछ नाटकों के अनुवाद भी हुए। संस्कृत से श्री सदानंद अवस्थी ने 'नागानंद' (1906), लाला सीताराम ने 'मृच्छकटिक' (1913) और कविरत्न सत्यनारायण ने 'उत्तररामचरित' का अनुवाद किया। अंग्रेज़ी से शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद लाला सीताराम और चतुर्भुज औदीच्य ने किया। फ्रांस के प्रसिद्ध नाटककार मोलियर के नाटकों को लल्लीप्रसाद पांडेय और गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ने अंग्रेज़ी के माध्यम से अनूदित किया। बंगला भाषा से कुछ नाटकों का अनुवाद ब्रजनंदन सहाय ने किया। किंतु प्राय: उपर्युक्त सभी अनूदित नाटकों में मूल नाटकों की आत्मा सुरक्षित नहीं रह सकी है।

सब मिला कर आलोच्य युग का नाट्यसाहित्य तत्कालीन हिंदी-साहित्य के गौरव के अनुकूल नहीं है। भारतेंदु और प्रसाद के बीच ऐसा एक भी नाटककार नहीं है जिसमें सच्ची नाट्य प्रतिभा हो। एकमात्र अपवाद बद्रीनाथ भट्ट हैं, किंतु उनके नाटक भी पारसी-कंपनियों के उस प्रभाव से अछूते नहीं हैं, जिसका उल्लेख बालकृष्ण भट्ट ने 1903 ई. में इन शब्दों में किया था : ''हिंदू जाति तथा हिंदुस्तान को जल्द गिरा देने का सुगम लटका यह पारसी-थियेटर है, जो दर्शकों को आशिक़ों-माशूक़ों का लुत्फ़ हासिल कराने का बड़ा उम्दा ज़रिया है।'' भट्ट जी की यह प्रतिक्रिया

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तत्कालीन शिष्ट जनसमुदाय की प्रतिक्रिया है। यह भावना रखते हुए भी भट्ट जी स्वयं पारसी-थियेटर के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके। 'वेणुसंहार' में उन्होंने भी उर्दू-ग़ज़ल की पद्धति पर गीत-रचना की है। पारसी-थियेटर का प्रभाव प्रसाद के प्रारंभिक नाटकों पर भी है। इस युग के नाटकों का महत्त्व न तो शिल्प की दृष्टि से मान्य हो सकता है और न संस्कार तथा सुरुचि की दृष्टि से। यह अवश्य है कि तत्कालीन समाज की विकृतियां सभी प्रकार के नाटकों में उभर कर सामने आयी हैं। कुछ नाटकों में विदेशी शासन के प्रति विरोध का भाव भी प्रत्यक्ष हो उठा है। इनमें देश की हीनावस्था का संकेत भी मिलता है। नाटक चाहे पौराणिक हों, चाहे ऐतिहासिक, उनमें तत्कालीन समाज का स्वरूप कहीं-न-कहीं अवश्य उभरा है। आगे चल कर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में भी यह प्रवृत्ति लक्षित होती है।

## उपन्यास

आलोच्य काल कथा-साहित्य की दृष्टि से अपेक्षाकृत समृद्ध है, किंतु इस क्षेत्र में लेखकों और पाठकों की प्रवृत्ति कुतूहल, रहस्य और रोमांच के माध्यम से मनोरंजन करने में अधिक रही है। सामाजिक जीवन की यथार्थ समस्याओं को ले कर गंभीर उपन्यासों की रचना इस युग में कम हुई। रहस्यमयी अद्भुत घटनाओं को शृंखलाबद्ध करके एक अपरिचित संसार में पाठकों को भटकाते रहना लेखकों का प्रधान लक्ष्य प्रतीत होता है। प्रवृत्ति-भेद के आधार पर द्विवेदीयुगीन उपन्यासों को पांच वर्गों में रखा जा सकता है—तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास, जासूसी उपन्यास, अद्भुत घटनाप्रधान उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास और सामाजिक उपन्यास।

तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासों की परंपरा **देवकीनंदन खत्री** (1861-1913) द्वारा भारतेंदु-युग में आरंभ की गयी। आलोच्य युग में यह परंपरा जीवित रही। खत्री जी के 'काजर की कोठरी' (1902), 'अनूठी बेगम' (1905), 'गुप्त गोदना' (1906), 'भूतनाथ'—प्रथम छह भाग—(1906) आदि उपन्यास इसी युग में प्रकाशित हुए। खत्री जी की परंपरा का निर्वाह हरेकृष्ण जौहर ने 'मयंकमोहिनी या मायामहल' (1901), 'कमलकुमारी' (1902), 'निराला नक़ाबपोश' (1902), 'भयानक ख़ून' (1903) आदि तिलस्मी उपन्यासों की रचना द्वारा किया। किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'तिलस्मी शीशमहल' (1905) और रामलाल वर्मा-कृत 'पुतली महल' (1908) भी इसी वर्ग की रचनाएं हैं। आगे चल कर देवकीनंदन खत्री के सुपुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने 'भूतनाथ' के शेष भागों को लिख कर इस परंपरा को आगे बढ़ाया।

जासूसी उपन्यासों का प्रवर्तन **गोपालराम गहमरी** (1866-1946) ने किया था। गहमरी जी अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध जासूसी उपन्यासकार आर्थर कानन डायल (1859-1930) से प्रभावित थे, उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'ए स्टडी इन स्कारलेट' (1887) को उन्होंने 'गोविंदराम' (1905) शीर्षक से हिंदी में रूपांतरित भी किया। गहमरी जी के जासूसी उपन्यास अत्यंत लोक[illegible] हुए। 'सरकटी लाश' (1900), 'चक्करदार चोरी' (1901), 'जासूस की भूल' (1901), 'जासूस पर जासूसी' (1904), 'जासूस चक्कर में' (1906), 'इंद्रजालिक जासूस' (1910), 'गुप्त भेद' (1913), 'जासूस की ऐयारी' (1914) आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। गहमरी जी के अतिरिक्त रामलाल वर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी और जयरामदास गुप्त ने भी इस क्षेत्र में कुछ प्रयोग किये, किंतु सर्वाधिक ख्याति गहमरी जी को ही प्राप्त हुई।

अद्भुत घटनाप्रधान उपन्यासों की रचना तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों से भिन्न तकनीक पर की जाती थी। इनमें इसी लोक के किसी रहस्यमय कोने का उद्घाटन किया जाता था। इनकी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रेरणा रेनाल्ड्स-कृत 'मिस्ट्रीज ऑफ़ द कोर्ट ऑफ़ लंदन' के अनुवाद 'लंदन-रहस्य' से प्राप्त हुई थी। विट्ठलदास नागर का 'क़िस्मत का खेल' (1905), बांकेलाल चतुर्वेदी का 'खौफ़नाक़ ख़ून' (1912), निहालचंद वर्मा का 'प्रेम का फल या मिस जौहरा' (1913), प्रेमविलास वर्मा का 'प्रेममाधुरी या अनंगकांता' (1915) और दुर्गाप्रसाद खत्री का 'अद्भुत भूत' (1916) इस शैली के मुख्य उपन्यास हैं।

प्रस्तुत युग के ऐतिहासिक उपन्यास प्राय: मुस्लिमकाल के इतिहास से सामग्री ले कर लिखे गये, किंतु उनमें इतिहास-तत्त्व की कमी है। लेखकों ने इतिहास की ऐसी घटनाओं का चयन किया है, जो पाठकों के कुतूहल एवं रहस्य-रोमांच-वृत्ति को पुष्ट कर सकें। किशोरीलाल गोस्वामी, गंगाप्रसाद गुप्त, जयरामदास गुप्त और मथुराप्रसाद शर्मा इस काल के उल्लेखनीय ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'तारा वा क्षात्रकुलकमलिनी' (1902), 'सुल्ताना रज़िया बेगम वा रंगमहल में हलाहल' (1904), 'मल्लिका देवी या बंग-सरोजिनी' (1905) और 'लखनऊ की क़ब्र व शाही महलसरा' (1917) आलोच्य युग के चर्चित ऐतिहासिक उपन्यास हैं। गंगाप्रसाद गुप्त के ऐतिहासिक उपन्यासों में 'नूरजहां' (1902), 'कुमारसिंह सेनापति' (1903) और 'हम्मीर' (1903) उल्लेखनीय हैं। जयरामदास गुप्त-कृत 'काश्मीर-पतन' (1907), 'नवाबी परिस्तान वा वाज़िद अली शाह' (1909), 'मल्का चांद बीबी' (1909) आदि उपन्यास किशोरीलाल गोस्वामी की परंपरा में रखे जा सकते हैं। इनमें भी इतिहास कम और रहस्य-सृष्टि करने वाली कल्पना अधिक है। मथुराप्रसाद शर्मा-कृत 'नूरजहां बेगम व जहांगीर' (1905) में इतिहास को सुरक्षित रखने की चेष्टा की गयी है। वस्तुत: आलोच्य युग में श्रेष्ठ कलात्मक ऐतिहासिक उपन्यासों की सृष्टि संभव ही नहीं थी। उस समय तक हिंदीभाषी जनता का मानसिक उन्नयन एवं परिष्कार नहीं हुआ था। इस युग के सबसे सशक्त उपन्यासकार **किशोरीलाल गोस्वामी** (1865-1932) हैं। उपन्यास-रचना में इनका उद्देश्य प्रेम का विज्ञान प्रस्तुत करना था। इसलिए इनके द्वारा रचित ऐतिहासिक उपन्यासों के कथानक भी प्रेम की विविधता एवं रहस्यमयता के इर्द-गिर्द घूमते रहते हैं। इनके ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास-सम्मत सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों का चित्रण नहीं हुआ है तथा अनेक स्थलों पर कालदोष भी आ गया है।

द्विवेदी-युग के सामाजिक उपन्यासकारों में लज्जाराम शर्मा (1863-1931), किशोरीलाल गोस्वामी (1865-1932), अयोध्या सिंह उपाध्याय (1865-1941), ब्रजनंदन सहाय, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह और मन्नन द्विवेदी (1884-1921) उल्लेखनीय हैं। लज्जाराम शर्मा के 'आदर्श दंपत्ति' (1904), 'बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखदेवी' (1907), और 'आदर्श हिंदू' (1914), उपन्यासों का विशेष महत्त्व है। किशोरीलाल गोस्वामी के 'लीलावती वा आदर्श सती' (1901), 'चपला वा नव्य समाज' (1903-1904), 'पुनर्जन्म वा सौतिया डाह' (1907), 'माधवी माधव वा मदन मोहिनी' (1903-1910) और 'अंगूठी का नगीना' (1918) उपन्यासों को विशेष ख्याति प्राप्त हुई थी। अयोध्यासिंह उपाध्याय में उपन्यास-लेखन की प्रतिभा नहीं थी। इनके 'अधखिला फूल' (1907) में धार्मिक अंधविश्वासों का कुपरिणाम दिखाया गया है। 'ठेठ हिंदी का ठाठ' (1899) इनकी अपेक्षाकृत प्रसिद्ध रचना है, किंतु इसमें कथाविन्यास की अपेक्षा भाषा के विशिष्ट प्रयोग पर ही लेखक की अधिक दृष्टि रही है। ब्रजनंदन सहाय के 'सौंदर्योपासक' (1911) और 'राधाकांत' (1912)—ये दो उपन्यास अधिक प्रसिद्ध हुए। इनके उपन्यास भावप्रधान हैं, जिसका कारण संभवत: यह है कि ये बंगला के भावुकतापूर्ण एवं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मर्मस्पर्शी प्रेमप्रधान उपन्यासों से प्रभावित थे। इस युग की अन्य रचनाओं में मन्नन द्विवेदीकृत 'रामलाल' (1917) में ग्रामीण जीवन का सजीव और यथार्थ चित्रण मिलता है तथा राधिकारमणप्रसाद सिंह का 'नवजीवन वा प्रेमलहरी' (1916) प्रेमाकुलतापूर्ण भावात्मक उपन्यास है।

आलोच्यकालीन सामाजिक उपन्यासों में सुधारवादी जीवनदृष्टि ही प्रधान है। किशोरीलाल गोस्वामी, लज्जाराम शर्मा और गंगाप्रसाद गुप्त सनातन धर्म के समर्थक थे। आर्यसमाज के नवीन सुधारवादी आंदोलन के विरुद्ध होते हुए भी ये लेखक नैतिक जीवनदृष्टि की प्रतिष्ठा चाहते थे। गोस्वामी जी ने सती-साध्वी देवियों के आदर्श प्रेम के साथ ही अवैध प्रेम, विधवाओं के व्यभिचार, वेश्याओं के कुत्सित जीवन और देवदासियों की विलासलीला का भी चित्रण किया है। उनका उद्देश्य नारकीय कुत्सित जीवन के दुष्परिणाम दिखा कर लोगों को उच्च नैतिक जीवन में प्रवृत्त करना था, यों निम्न कोटि के वासनापरक चटकीले प्रेम-प्रसंगों के प्रभाव से युवा पाठकों के पथभ्रष्ट होने का ख़तरा भी उनके उपन्यासों में कम नहीं है।

आलोच्य युग में अंग्रेज़ी और बंगला से बहुत से उपन्यास अनूदित हुए। उदाहरणार्थ, गंगाप्रसाद गुप्त ने रेनॉल्ड के 'लब्ज़ ऑफ़ द हेयर' का 'रंगमहल' (1904) नाम से, जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' ने डिफ़ो के 'राबिन्सन क्रूसो' का इसी नाम से, दुर्गाप्रसाद खत्री ने विक्टर ह्यूगो के 'लॉ मिजरेबुल' का 'अभागे का भाग्य' (1914-1915) नाम से, महावीरप्रसाद पोद्दार ने स्टो के 'अंकल टॉम्स केबिन' का 'टाम काका की कुटिया' (1916) नाम से और लाला चंद्रलाल ने स्कॉट के 'द एबट' का 'रानी मेरी' (1916) नाम से अनुवाद किया। बंगला भाषा से अधिक अनुवाद हुए। ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने दामोदर मुखोपाध्याय के, किशोरीलाल गोस्वामी ने बंकिमचंद्र के, गोपालराम गहमरी ने पंचकौड़ी दे के तथा जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' ने रवींद्रनाथ ठाकुर और रमेशचंद्र दत्त के कई उपन्यासों के अनुवाद प्रस्तुत किये। यहां पर ध्यान देने की बात यह है कि कुछ अपवादों को छोड़ कर प्रायः सभी अनुवाद कौतुक, रहस्य और रोमांचप्रधान उपन्यासों के ही हुए हैं। अंग्रेज़ी के गंभीर समस्याप्रधान उपन्यासों के अनुवाद नहीं किये गये। इससे तत्कालीन लोकरुचि का अनुमान लगाया जा सकता है।

आलोच्ययुगीन उपन्यासों की महत्त्वपूर्ण परंपरा, जिसने आगे चल कर प्रेमचंद की उपन्यास-रचना के लिए पृष्ठभूमि प्रस्तुत की, सामाजिक उपन्यासों की ही है। सामाजिक उपन्यासों का लक्ष्य समाज-सुधार था। प्रेमचंद भी इसी उद्देश्य से प्रेरित थे। उनके 'प्रेमा' (1907), 'रूठी रानी' (1907) और 'सेवासदन' (1918) उपन्यास आलोच्य युग में प्रकाशित हुए। इन तीनों में समाज-सुधार की प्रवृत्ति प्रधान है। प्रेमचंद का महत्त्व इस दृष्टि से है कि उन्होंने प्रेम-चुहल, राग-रंग और रहस्य-केलि के चटकीले चित्रों के स्थान पर सुरुचिपूर्ण प्रसंगों की उद्भावना पर बल दिया। उन्होंने घटना के स्थान पर चरित्र को उभारने की चेष्टा की, जीवन की वास्तविक समस्याओं को केंद्र में रखा और क्रमशः कथा-प्रसंगों को मध्यवर्ग के तत्कालीन जीवन-प्रवाह के साथ जोड़ दिया। प्रेमचंद अंग्रेज़ी उपन्यासकारों की रचनादृष्टि से परिचित थे और उन्होंने ठीक समय पर हिंदी उपन्यास को एक नया मोड़ दिया।

## कहानी

हिंदी-साहित्य में कहानियों का आरंभ कुछ बाद में हुआ। भारतेंदु-युग में कहानियां नहीं लिखी गयीं। कुछ कथात्मक शैली के निबंध अवश्य लिखे गये थे, जो पढ़ने में अत्यंत रोचक थे। कहानियों का विकास आलोच्य युग में हुआ। 'सरस्वती' (1900) पत्रिका के प्रकाशन के साथ ही

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हिंदी-कहानी का जन्म मान्य है। आरंभ में लिखी गयी कहानियों में कुछ शेक्सपियर के नाटकों के आधार पर, कुछ संस्कृत-नाटकों के आधार पर, कुछ बंगला-कहानियों को रूपांतरित करके, कुछ लोककथाओं से प्रेरणा ले कर और कुछ जीवन की वास्तविक घटनाओं को दृष्टि में रख कर प्रस्तुत की गयीं। आरंभिक कथा-लेखकों में किशोरीलाल गोस्वामी, माधवप्रसाद मिश्र, बंगमहिला, रामचंद्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, वृंदावनलाल वर्मा आदि उल्लेखनीय हैं। किशोरीलाल गोस्वामी की 'इंदुमती' कहानी 'सरस्वती' में 1900 ई. में प्रकाशित हुई। यह शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' नाटक के आधार पर लिखी गयी है। इसी वर्ष 'सुदर्शन' में माधवप्रसाद मिश्र की 'मन की चंचलता' कहानी प्रकाशित हुई। 1902 ई. में 'सरस्वती' में भगवानदीन, 'बी.ए.' की 'प्लेग की चुड़ैल' कहानी प्रकाशित हुई। यह वास्तविक परिस्थिति का चित्र प्रस्तुत करने वाली रचना है। 'सरस्वती' में ही रामचंद्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' (1903) और बंगमहिमा की 'दुलाईवाली' (1907) शीर्षक कहानियां प्रकाशित हुईं। हिंदी के आरंभिक मौलिक कहानीकारों में इन्हीं लेखकों के नाम आते हैं। आगे चल कर ये लेखक साहित्य की अन्य विधाओं की सृष्टि में प्रवृत्त हुए और कहानी को विकसित एवं प्रतिष्ठित करने का श्रेय अन्य कलाकारों को मिला। 1909 ई. में वृंदावनलाल वर्मा ने 'राखीबंद भाई' लिख कर ऐतिहासिक कहानियों की परंपरा को जन्म दिया। 1909 ई. में काशी से 'इंदु' का प्रकाशन आरंभ हुआ। इसमें जयशंकर प्रसाद की भावात्मक कहानियां प्रकाशित हुईं। इन कहानियों का संग्रह 'छाया' (1912) नाम से प्रकाशित हुआ। राधिकारमणप्रसाद सिंह की भावपूर्ण कहानी 'कानों में कंगना' 'इंदु' में ही 1913 ई. में प्रकाशित हुई थी। इस समय तक प्रेमचंद की कुछ कहानियां 'ज़माना' में प्रकाशित हो चुकी थीं। उर्दू में अधिक यश और धन की प्राप्ति की संभावना न देख कर वे हिंदी की ओर उन्मुख होने लगे थे। 'सरस्वती' में प्रकाशित उनकी कुछ कहानियों के शीर्षक हैं—'सौत' (1915), 'पंच-परमेश्वर' (1916), 'सज्जनता का दंड' (1916), 'ईश्वरीय न्याय' (1917), 'दुर्गा का मंदिर' (1917)। चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' (1883-1920) की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' 1915 ई. में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। पहले महायुद्ध की पृष्ठभूमि को ले कर लिखी गयी यह कहानी रचनाशिल्प की दृष्टि से अपने समय से बहुत आगे की रचना है। आधुनिक हिंदी-कहानी का आरंभ यहीं से मान्य होना चाहिए। इसमें निहित त्यागमय प्रेम का आदर्श भारतीय संस्कृति की उदात्तता के अनुकूल है। 1915-1917 ई. के बीच 'सरस्वती' में ज्वालादत्त शर्मा की 'मिलन', विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' (1891-1945) की 'रक्षाबंधन', पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'झलमला' आदि बहुचर्चित कहानियां प्रकाशित हुईं। सन् 1918 में काशी से 'हिंदी-गल्पमाला' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरंभ हुआ। इसमें जयशंकर प्रसाद की कहानियां नियमित रूप से प्रकाशित होती थीं। इसी पत्र में गंगाप्रसाद श्रीवास्तव और इलाचंद्र जोशी की कुछ प्रारंभिक कहानियां प्रकाशित हुईं।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि सन् 1900 के लगभग हिंदी-कहानी का जन्म हुआ और 1912 से 1918 ई. के बीच वह पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गयी। साहित्य में उसकी स्वतंत्र सत्ता तभी मान्य हुई और उसका मौलिक रूप निखरा। किसी भी साहित्यविधा के उद्भव और विकास के लिए यह समय बहुत कम है, किंतु भारतीय मानस में प्राचीन लघुकथाओं का संस्कार शेष था। पाश्चात्य कहानीकला से परिचित होते ही वह संस्कार जाग उठा और हिंदी में कलापूर्ण कहानियों की सृष्टि आरंभ हो गयी। इस क्षेत्र में प्रेमचंद और प्रसाद ने दो भिन्न प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व किया। प्रेमचंद जीवन की वास्तविक घटनाओं और समस्याओं को ले कर आदर्श की प्रतिष्ठा कर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रहे थे, जबकि प्रसाद मनुष्य के भीतरी भाव-द्वंद्व को व्यक्त करने में लीन थे। प्रेमचंद मुख्यतः वर्तमान के दुःख-दर्द, हार-जीत और न्याय-अन्याय की कहानी कह रहे थे, जबकि प्रसाद अतीत में कल्पना के सहारे रम रहे थे। प्रेमचंद उर्दू से हिंदी में आये थे, उनकी भाषा बोलचाल की मुहावरेदार, चुस्त और सजीव भाषा थी। इसके विपरीत प्रसाद काव्यमयी अलंकृत तत्समप्रधान भाषा लिखते थे। इन दोनों ने तत्कालीन लेखकों को पर्याप्त प्रभावित किया। आगे चल कर प्रसाद काव्य और नाटक के क्षेत्र में रम गये। कहानी के क्षेत्र में प्रेमचंद का स्थान अन्यतम रहा। कालांतर में हिंदी-कहानी में विकसित होने वाली सभी प्रवृत्तियों का उद्‌भवस्रोत यहीं लक्षित होता है। व्यक्ति को केंद्र में रख कर लिखी जाने वाली कहानियों का उद्‌भव प्रसाद से और समाज के व्यापक हितों को दृष्टि में रख कर लिखी जाने वाली कहानियों का उद्‌भवस्रोत प्रेमचंद से स्वीकार किया जाना चाहिए।

आलोच्य युग में कहानियों के अनुवाद भी हुए। अधिकतर बंगला भाषा से अनुवाद किये गये। अनुवादकों में गिरिजाकुमार घोष (पार्वतीनंदन) और बंगमहिला के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

## निबंध

भारतेंदु-युग में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से निबंध-साहित्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उसकी तुलना में द्विवेदी-युग में व्यक्तित्वव्यंजक निबंधों की परंपरा का ह्रास लक्षित होता है। लेखकों का ध्यान ज्ञान के विविध क्षेत्रों से सामग्री-संचय की ओर अधिक गया, आत्मव्यंजना की ओर कम। इस युग के निबंध-लेखकों में महावीरप्रसाद द्विवेदी (1864-1938), गोविंदनारायण मिश्र (1859-1926), बालमुकुंद गुप्त (1865-1907), माधवप्रसाद मिश्र (1871-1907), मिश्रबंधु—श्यामबिहारी मिश्र (1873-1947) और शुकदेवबिहारी मिश्र (1878-1951), सरदार पूर्णसिंह (1881-1939), चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' (1883-1920), जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी (1875-1939), श्यामसुंदरदास (1875-1945), पद्मसिंह शर्मा (1876-1932), रामचंद्र शुक्ल (1884-1940), कृष्णबिहारी मिश्र (1890-1963) आदि उल्लेखनीय हैं। **महावीरप्रसाद द्विवेदी** के बहुसंख्यक निबंध परिचयात्मक या आलोचनात्मक टिप्पणियों के रूप में हैं। उनमें आत्मव्यंजना का तत्त्व नगण्य है। कहीं-कहीं आक्रोश या क्षोभ में आ कर जब उन्होंने अनुचित कार्यों का प्रतिकार करना चाहा है, तब व्यंग्य-रूप में उनकी आंतरिक भावना प्रकट हो गयी है और उनकी न्यायनिष्ठ आत्मा की झलक मिल जाती है। 'म्युनिसिपैलिटी के कारनामे' निबंध में उनकी व्यंग्य शैली का रूप देखा जा सकता है। 'आत्मनिवेदन', 'प्रभात', 'सुतापराधे जनकस्य दंड' आदि निबंधों में व्यक्तित्वव्यंजना के तत्त्व भी मिलते हैं। **गोविंदनारायण मिश्र** अपनी पांडित्यपूर्ण, संस्कृनिष्ठ, तत्समप्रधान, समासबहुला, दीर्घ वाक्य-विन्यासपूर्ण गद्यशैली के लिए स्मरणीय हैं। उनके निबंध 'सारसुधानिधि' में प्रकाशित होते हैं। उनके गद्य विधान को आचार्य शुक्ल ने 'सायास अनुप्रास में गुंथे शब्दों-गुच्छों का अटाला' कहा है। **बालमुकुंद गुप्त** हिंदी-साहित्य में 'शिवशंभु का चिट्ठा' के लिए प्रसिद्ध हैं। ये चिट्ठे 'भारतमित्र' में 1904-1905 ई. में प्रकाशित हुए थे। ये तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड कर्ज़न को संबोधित करके लिखे गये हैं। लेखक ने कर्ज़न के भारत-विरोधी कारनामों पर ओजपूर्ण, तीखी एवं व्यंग्यात्मक शैली में प्रहार किया है। इन चिट्ठों के अतिरिक्त इन्होंने तत्कालीन साहित्यिक, राजनीतिक, भाषा-संबंधी तथा राष्ट्रीय महत्त्व के अन्य प्रश्नों पर भी निर्भीकतापूर्वक लेखनी चलायी है। गुप्त जी उर्दू से हिंदी में आये थे। इनकी गद्य-शैली तीखी,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रवाहपूर्ण, चुस्त, चुटीली, सजीव, व्यावहारिक एवं सर्वजनग्राह्य है। अनेक परवर्ती एवं समकालीन गद्य-लेखक इनकी शैली से प्रभावित हुए थे।

**माधवप्रसाद मिश्र** के निबंध 'सुदर्शन' में प्रकाशित हुए थे। इनके निबंधों का संग्रह 'माधव मिश्र निबंधमाला' नाम से प्रकाशित हुआ। इसमें सभी प्रकार के निबंध हैं। इनके द्वारा लिखित पर्वों, त्योहारों तथा भ्रमणवृत्तांतों से संबंधित निबंध अधिक सजीव, रोचक और आत्मव्यंजक हैं। मिश्रबंधुओं ने आलोचक रूप में ही प्रतिष्ठा प्राप्त की, किंतु कभी-कभी उन्होंने समाजसुधार-संबंधी विषयों पर भी लेखनी चलायी है। उनका महत्त्व खोजपूर्ण एवं सूचनापरक साहित्यिक निबंधों के कारण ही मान्य है। ये निबंध 'पुष्पांजलि' (1916) में संकलित हैं। **सरदार पूर्णसिंह** आलोच्य युग के श्रेष्ठ निबंधकार हैं। इन्होंने कुल छह निबंध लिख कर आलोचकों का ध्यान आकृष्ट कर लिया है। इनके निबंध नैतिक और सामाजिक विषयों से संबद्ध हैं। गद्य में आवेगशील और व्यक्तित्वव्यंजक लाक्षणिक शैली का प्रयोग इनकी विशेषता है। इनके निबंधों में व्यक्त भावनाएं इनकी मनोलहरियों से सीधे जुड़ी हुई हैं। विषय-प्रतिपादन स्वच्छंद पद्धति पर किया गया है, किंतु इन्होंने पाठकों से तादात्म्य बनाये रखने की चेष्टा की है। कहीं-कहीं इनकी शैली व्याख्यान-शैली बन गयी है। 'आचरण की सभ्यता', 'सच्ची वीरता', 'मज़दूरी और प्रेम', 'पवित्रता' और 'कन्यादान' इनके प्रसिद्ध निबंध हैं।

**चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी'** की साहित्य-क्षमता भी अप्रतिम थी। वे पुरातत्व के मान्य विद्वान थे, किंतु कहानी और निबंध के क्षेत्र में भी उनका स्थान अन्यतम है। उनके निबंधों में मार्मिक व्यंग्य, पांडित्य की छाप और व्यक्तित्व का आकर्षण है। अनेक पुरातात्त्विक एवं सांस्कृतिक संदर्भ इस प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं, जैसे वे घरेलू बातचीत के सामान्य विषय हों। गुलेरी जी की भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और विषयानुकूल है। 'कछुवा-धरम' और 'मारेसि मोहिं कुठांव' इनके बहुचर्चित निबंध हैं। **जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी** के निबंध 'गद्यमाला' (1909) और 'निबंध-निचय' में प्रकाशित हैं। चतुर्वेदी जी अपनी हास्य-विनोदपूर्ण शैली के लिए विख्यात हैं। 'ब की बहार', 'पिक्चर-पूजा', 'अनुप्रास का अन्वेषण' आदि उनके आकर्षक निबंध हैं। **पद्मसिंह शर्मा** तुलनात्मक आलोचना के लिए प्रसिद्ध हैं। निबंधों में भी उन्होंने प्रायः इसी पद्धति को अपनाया है। उनकी शैली प्रशंसात्मक और प्रभावपूर्ण है, साथ ही उनमें खंडन-मंडन की भी विशेष क्षमता थी। उनके चुस्त और चुभते हुए वाक्य विशिष्ट शैली की सृष्टि करने वाले हैं। **श्यामसुंदरदास** और **कृष्णबिहारी मिश्र** मूलतः आलोचक थे, इनके निबंध भाषा और साहित्य से ही संबंधित हैं। इन दोनों निबंधकारों की शैली सहज और परिमार्जित है, किंतु यह उल्लेखनीय है कि इनके अधिकांश श्रेष्ठ साहित्यिक निबंध आलोच्य युग के बाद लिखे गये।

**आचार्य रामचंद्र शुक्ल** के प्रारंभिक निबंधों में भाषा-संबंधी प्रश्नों और कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों के संबंध में विचार व्यक्त किये गये हैं। आरंभ में उन्होंने अंग्रेज़ी के कुछ विचारपूर्ण निबंधों का अनुवाद भी किया था। उनके श्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक निबंध 1912 ई. से 1919 ई. तक 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हुए थे। शुक्ल जी निश्चय ही हिंदी-निबंध-साहित्य के क्षेत्र में नवीन युग के प्रवर्तक हैं। गंभीर विचारसूत्रों को आदि से अंत तक अटूट रख कर भी उन्होंने व्यक्तित्वव्यंजना के लिए अवसर निकाल लिया है। सामान्यतः व्यक्तित्वव्यंजक निबंधों में वर्ण्य विषय या प्रतिपाद्य विषय की उपेक्षा हो जाती है, किंतु शुक्ल जी के निबंधों में ऐसा नहीं हुआ है। उन्होंने प्रतिपाद्य विषय से संबद्ध आनुषंगिक विषयों की चर्चा करके विचारों के कसाव को थोड़ा हलका कर दिया है और व्यक्तित्व की झलक दिखा दी है। उनके 'भय', 'क्रोध', 'ईर्ष्या',

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'घृणा', 'उत्साह', 'श्रद्धा-भक्ति', 'करुणा', 'लज्जा और ग्लानि' तथा 'लोभ और प्रीति' निबंध आलोच्य युग में ही प्रकाशित हुए थे।

उपर्युक्त निबंध-लेखकों के अतिरिक्त द्विवेदी-युग में गणेश शंकर विद्यार्थी, मन्नन द्विवेदी, यशोदानंदन अखौरी, केशवप्रसाद सिंह आदि कुछ अन्य निबंधकारों ने भी अपनी शैली और प्रतिभा से आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किया था।

द्विवेदी-युग में समाज की हीनावस्था, आर्थिक विषमता, धार्मिक पतन और व्यापक राष्ट्रीय समस्याओं को भी दृष्टि में रख कर निबंध लिखे गये, किंतु विषयप्रधानता के कारण वे सच्चे निबंधों की श्रेणी में नहीं आते। युग की व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना के अध्ययन की दृष्टि से उनका महत्त्व अवश्य मान्य है। शैली की दृष्टि से इस युग में वर्णनात्मक, भावात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक, कथात्मक, शोधपरक आदि सभी शैलियों में निबंध लिखे गये। सब मिला कर इस युग की उपलब्धियां नगण्य नहीं हैं, किंतु वह ताज़गी, वह उल्लास, वह निर्द्वंद्व भाव, व्यक्तित्व का उल्लसित उच्छ्वास तथा खड़ीबोली के भीतर से झांकती हुई अवधी, बैसवाड़ी या ब्रजी की वह चुलबुलाहट और मधुरता इस युग के निबंधों में उपलब्ध नहीं होती, जो भारतेंदुयुगीन निबंध-साहित्य की सहज निधि थी। परिष्कार और परिमार्जन की सायास चेष्टा ने अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति की संभावना को कम कर दिया था। इसीलिए श्रेष्ठ आत्मव्यंजक निबंध द्विवेदी-युग की समाप्ति के बाद लिखे गये।

## आलोचना

द्विवेदी-युग में हिंदी-आलोचना का गंभीर एवं तात्त्विक रूप तो नहीं निखरा, किंतु उनकी कई महत्त्वपूर्ण पद्धतियां अवश्य विकसित हुईं। सामान्यतः इस युग में हिंदी-आलोचना के पांच रूप लक्षित किये जा सकते है—शास्त्रीय आलोचना अर्थात लक्षणग्रंथों की परंपरा में काव्यांग-विवेचन, तुलनात्मक मूल्यांकन एवं निर्णय, अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना, परिचयात्मक आलोचना तथा व्याख्यात्मक आलोचना। संस्कृत-आचार्यों की पद्धति पर लक्षणग्रंथ प्रस्तुत करने की परंपरा रीतिकाल की एक प्रमुख प्रवृत्ति थी। आलोच्य युग में भी इस परंपरा में जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने 'काव्यप्रभाकर' (1910) तथा 'छंदसारावली' (1917) और लाला भगवानदीन ने 'अलंकार-मंजूषा' (1916) की रचना की। 'भानु' जी ने भूमिका अंग्रेज़ी में लिखी है और हिंदी के अनेक पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेज़ी पर्याय भी दिये हैं। दीन जी ने अलंकारों की समुचित जानकारी कराने के उद्देश्य से ही उपर्युक्त ग्रंथ की रचना की है। उन्होंने यथास्थल हिंदी-अलंकारों के समकक्ष फ़ारसी, अरबी और अंग्रेज़ी-अलंकारों का भी उल्लेख किया है। इससे प्रकट है कि अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे पाठकों का ध्यान दोनों ही लेखकों को रहा है।

तुलनात्मक मूल्यांकन आलोच्ययुगीन समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्ति कही जा सकती है। तुलनात्मक आलोचना का आरंभ 1907 ई. में पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी और सादी की तुलना द्वारा किया। 1908-1912 ई. तक वे 'सरस्वती' में संस्कृत और हिंदी-कविता के बिंब-प्रतिबिंब-भाव की परीक्षा करते रहे। 1910 ई. में मिश्रबंधुओं का 'हिंदी-नवरत्न' प्रकाशित हुआ। इसमें भी तुलनात्मक आलोचना को महत्त्व दिया गया था। आगे चल कर तुलनात्मक आलोचना की धूम मच गयी। लाला भगवानदीन और कृष्णबिहारी मिश्र ने देव और बिहारी की विशद तुलना करते हुए एक को दूसरे से बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न किया। अन्वेषण और अनुसंधानपरक आलोचना का विकास 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' (1897) के प्रकाशन से हुआ। 'मिश्रबंधु-विनोद' (1913) में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भी शोधपरक दृष्टि को महत्त्व दिया गया था और कवियों के वृत्तसंग्रह के साथ उनकी प्राप्य-अप्राप्य कृतियों की सूचना तथा उनके काव्य के संबंध में मत भी प्रकाशित किया गया था। मिश्रबंधुओं के अतिरिक्त शोधपरक आलोचना के उन्नायकों में श्यामसुंदरदास, राधाकृष्णदास, जगन्नाथदास रत्नाकर और सुधाकर द्विवेदी उल्लेखनीय हैं। इन सभी का संबंध 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' से रहा। 1902 ई. में चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने जयपुर से 'समालोचक' पत्र निकाला था। यह गंभीर आलोचना का पत्र था। अधिक दिनों तक इसका प्रकाशन नहीं हो सका, किंतु इससे आलोचना का स्तर निश्चित रूप से ऊंचा हुआ था।

परिचयात्मक आलोचना का आंरभ भारतेंदु-युग में ही हो गया था। आलोच्य युग में 'सरस्वती' के माध्यम से इस समीक्षा-पद्धति में स्थिरता और गंभीरता आयी तथा समीक्षा का आदर्श स्थिर हुआ। परिचयात्मक आलोचनाएं आलोच्य कृति के सामान्य परिचय, उसकी प्रशंसा या निंदा, आलोच्य विषय या कृति के संबंध में स्वतंत्र लेख, कृति विशेष को किसी परंपरा या ऐतिहासिक संदर्भ में रखने की प्रवृत्ति तथा आलोच्य विषय के प्रति भावात्मक लगाव व्यक्त करते हुए प्रभावाभिव्यंजन के रूप में लिखी गयीं। 'सरस्वती' में प्रकाशित परिचयात्मक आलोचनाएं प्रायः महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा ही लिखी गयी हैं। द्विवेदी जी समालोचना को पत्रकारिता से अलग करके नहीं देख सके। यही उनकी दुर्बलता या सीमा थी। उन्होंने समालोचक का कर्तव्य निर्धारित करते हुए कहा था : ''किसी पुस्तक या प्रबंध में क्या लिखा गया है, किस ढंग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को भी लाभ पहुंच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नयी बात लिखी है या नहीं, यही विचारणीय विषय हैं। समालोचक को प्रधानतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए।'' द्विवेदी जी ने विषय-विवेचन के साथ ही भाषा-संबंधी त्रुटियों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया। आलोचना के क्षेत्र में उनके महत्त्व को स्वीकार करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है : ''यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण-विरुद्ध और ऊटपटांग भाषा चारों ओर दिखायी पड़ी थी, उसकी परंपरा जल्दी न रुकती।''

व्याख्यात्मक आलोचना किसी रूढ़ि का अनुसरण न करके आलोच्य विषय की व्यापक उपयोगिता को दृष्टि में रख कर नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय एवं सौंदर्यपरक मूल्यों के आधार पर की जाती थी। कभी-कभी परिचयात्मक आलोचना विशद और गंभीर होने पर व्याख्यात्मक आलोचना का रूप ले लेती थी। इस प्रकार की आलोचना का सूत्रपात बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'आनंदकादंबिनी' में लाला श्रीनिवासदास के नाटक 'संयोगिता-स्वयंवर' की आलोचना से कर दिया था। बालकृष्ण भट्ट ने 'हिंदी-प्रदीप' में 'नीलदेवी', 'परीक्षागुरु' और 'संयोगिता-स्वयंवर' की गंभीर आलोचना करके इस पद्धति को पुष्ट किया था। बालमुकुंद गुप्त ने 'हिंदी बंगवासी' में 'अश्रुमती' नामक बंगला नाटक के हिंदी-अनुवाद (मुंशी उदितनारायण-कृत) की आलोचना द्वारा इस परंपरा को आगे बढ़ाया, किंतु ये प्रारंभिक प्रयास मात्र थे। आलोचना की इस शैली का विशद वैज्ञानिक स्वरूप आगे चल कर आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समालोचनाओं में प्रतिष्ठित हुआ।

वस्तुतः आलोच्य युग की उपर्युक्त सभी प्रकार की आलोचनाओं में प्रतिमान के रूप में दो दृष्टियां लक्षित होती हैं—एक तो परंपरागत शास्त्रीय दृष्टि, जिसके आधार पर आलोच्य कृति का गुण-दोष-विवेचन करके उसकी उत्कृष्टता या हीनता प्रमाणित की जाती थी; दूसरी नैतिक व सांस्कृतिक मूल्यों की दृष्टि जो आलोच्य कृति के व्यापक प्रभाव के परिणाम को दृष्टि में रख कर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उसकी श्रेष्ठता या हीनता घोषित करती थी। जिस तुलनात्मक आलोचना ने आलोच्य युग में सबसे अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, उसका मूल आधार शास्त्रीय दृष्टि से गुण-दोष-विवेचन ही था। इस आलोचना से प्राचीन कवियों की ओर सामान्य शिक्षित जनता का ध्यान आकृष्ट हुआ। तुलनात्मक समीक्षकों में पद्मसिंह शर्मा का महत्त्व शृंगार-वर्णन की दीर्घकालीन परंपरा का निदर्शन करते हुए उसके बीच बिहारी का मूल्यांकन करने के कारण है। कृष्णबिहारी मिश्र का महत्त्व प्राचीन शास्त्रीय समीक्षा को सच्चे रूप में प्रतिष्ठित करने के कारण है और लाला भगवानदीन का महत्त्व बिहारी की बारीकियों को लक्षित करने में है। इन सभी समीक्षकों ने आलोच्य कृतियों का गंभीर अध्ययन किया था। इसलिए इनके कथनों में तत्त्व और प्रभावोत्पादन की क्षमता है। यहां यह ध्यान देने की बात है कि चाहे द्विवेदी जी की कठोर नैतिक दृष्टि हो, चाहे पद्मसिंह शर्मा की उल्लसित भाव तरल दृष्टि; चाहे मिश्रबंधुओं की लचीली और अस्थिर सौंदर्यदृष्टि हो, चाहे लाला भगवानदीन और कृष्णबिहारी मिश्र की स्थिर शास्त्रीय दृष्टि—प्राचीन रसदृष्टि से किसी का कोई विरोध नहीं था। अपनी सीमाओं के बावजूद ये सभी आलोचक रसात्मक कविता को ही महत्त्व देते रहे।

आलोच्य युग में पाश्चात्य समीक्षकों की आलोचनात्मक कृतियों के कुछ अनुवाद भी प्रस्तुत किये गये। इस युग के आरंभ होने से कुछ वर्ष पूर्व जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'समालोचनादर्श' (1897) नाम से पोप के 'एस्से ऑन क्रिटिसिज़्म' का पद्यात्मक अनुवाद प्रस्तुत किया था। सन् 1905 में आचार्य शुक्ल ने एडिसन के 'एस्से ऑन इमेज़िनेशन' का 'कल्पना का आनंद' नाम से अनुवाद किया। महावीरप्रसाद द्विवदी ने अपने काव्य-सिद्धांत-प्रतिपादक कुछ निबंधों में कई अंग्रेज़-लेखकों का आधार लिया है। इन सारे प्रयत्नों ने एक ऐसी पृष्ठभूमि प्रस्तुत की, जिस पर आगे चल कर आचार्य शुक्ल और बाबू श्यामसुंदरदास ने हिंदी की वैज्ञानिक आलोचना का भव्य भवन निर्मित किया। भारत में समालोचना काव्य-सिद्धांत-निरूपण के रूप में भी प्रचलित थी। कवियों की निजी विशेषताओं को या तो सूक्तियों और प्रशस्तियों के माध्यम से प्रकट किया जाता था अथवा टीकाओं के अंतर्गत कभी-कभी काव्य-सौंदर्य-विधायक सूक्ष्म तत्त्वों का संकेत कर दिया जाता था। पाश्चात्य साहित्य से परिचित होने और उसका स्वस्थ प्रभाव ग्रहण करने का परिणाम यह हुआ कि आलोचना एक स्वतंत्र विषय के रूप में मान्य हुई। कवि विशेष के सामान्य गुण-दोष प्रकट करने के साथ ही उसके काव्य की मूल प्रवृत्तियों की छानबीन करके, उसमें निहित देशकाल सापेक्ष्य और शाश्वत तत्त्वों का उद्घाटन करने तथा व्यापक मानवीय मूल्यों की दृष्टि से, उसका महत्त्व प्रतिपादन करने की नयी परिपाटी का विकास आगे चल कर आचार्य शुक्ल की आलोचनाओं द्वारा हुआ।

## गद्य-साहित्य की अन्य विधाएं

द्विवेदी-युग में नाटक, उपन्यास प्रभृति मुख्य गद्य-विधाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य गद्य-रूपों—जीवनी, यात्रावृत्त, संस्मरण और पत्र-साहित्य—के विकास-परिष्कार की ओर भी ध्यान दिया गया। इनमें से अंतिम तीन का तो प्रवर्तन ही इस युग में हुआ। वैसे पत्रकारिता की बहुमुखी उन्नति के फलस्वरूप इन सभी साहित्यरूपों के विकास की गति भारतेंदु-युग की तुलना में कहीं अधिक व्यवस्थित और द्रुत रही।

**जीवनी-साहित्य :** जिस प्रकार भारतेंदु-युग में स्वयं भारतेंदु हरिश्चंद्र ने जीवनी-लेखन के क्षेत्र में अपने समकालीन लेखकों का मार्गदर्शन किया था, उसी भांति आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी इस गद्यविधा में यथासंभव रुचि ली। उनके द्वारा रचित जीवनियां 'प्राचीन पंडित और कवि' (1918), 'सुकवि-संकीर्तन' (1924), 'चरित-चर्चा' (1929) आदि ग्रंथों में संकलित हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उनके अतिरिक्त जिन अनेक लेखकों ने जीवनी साहित्य को समृद्ध किया, उन सबकी रचनाओं का अनुशीलन करने पर यह कहा जा सकता है कि इस काल में मुख्यतः पांच प्रकार का जीवनी-साहित्य लिखा गया—(*क*) आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानंद तथा अन्य महापुरुषों से संबंधित जीवनियां, (*ख*) राष्ट्रीय महापुरुषों से संबंधित जीवनियां, (*ग*) ऐतिहासिक महापुरुषों से संबंधित जीवनियां, (*घ*) विदेश के महापुरुषों से संबंधित जीवनियां, (*ङ*) महिलाओं से संबंधित जीवनियां। इनमें से महर्षि दयानंद का जीवनचरित्र अधिक परिमाण में लिखा गया, जिसका मुख्य कारण यह था कि इस युग में आर्यसमाज द्वारा किये गये कार्य अपनी पराकाष्ठा पर थे। सर्वश्री रामविलास सारदा, दयाराम, चिम्मनलाल वैश्य और अखिलानंद शर्मा ने विभिन्न दृष्टिकोणों से स्वामी दयानंद के जीवन के विविध पक्षों को उभारते हुए क्रमशः 'आर्य धर्मेंदु जीवन महर्षि' (1901), 'दयानंद चरितामृत' (1904), 'स्वामी दयानंद' (1907) और 'दयानंद दिग्विजय' (1910) शीर्षक कृतियों की रचना की। इन जीवनियों की सबसे बड़ी सीमा यह है कि आर्यधर्म के प्रचार-प्रसार को दृष्टिपथ में रख कर लिखे जाने के फलस्वरूप ये प्रचारात्मक अधिक हो गयी हैं। इस वर्ग की एक अन्य उल्लेखनीय कृति माधवप्रसाद मिश्र द्वारा लिखित 'विशुद्धानंद चरितावली' है, जिसमें महात्मा विशुद्धानंद का जीवनचरित्र दिया गया है।

आलोच्य युग राष्ट्रीय चेतना का युग था। इस काल में अंग्रेज़ी शासन को नष्ट करने के लिए जनता में अपूर्व संगठन-शक्ति पैदा हो गयी थी। फलस्वरूप कुछ लेखकों ने उन महापुरुषों की जीवनियां भी लिखीं, जो युग की विचारधारा का नेतृत्व कर रहे थे। महादेव भट्ट, पारसनाथ त्रिपाठी, मुकुंदीलाल वर्मा, संपूर्णानंद, नंदकुमार देव शर्मा, बद्रीप्रसाद गुप्त, बृजबिहारी शुक्ल, शीतलाचरण वाजपेयी, मातासेवक आदि साहित्यकारों ने क्रमशः 'लाजपत महिमा' (1907), 'तपोनिष्ठ महात्मा अरविंद घोष' (1909), 'कर्मवीर गांधी' (1913), 'धर्मवीर गांधी' (1914), 'महात्मा गोखले' (1914), 'दादाभाई नौरोजी' (1914), 'मदनमोहन मालवीय' (1916), 'रमेशचंद्र दत्त' (1917), 'लोकमान्य तिलक का चरित्र' (1918) आदि रचनाएं लिखीं। अपने युग के कर्मवीर महापुरुषों के प्रेरणाप्रद कार्यों का निरूपण करने वाली इन जीवनियों का मूल उद्देश्य तद्युगीन जनता के मन में देशप्रेम की भावना जाग्रत करना था।

राष्ट्रीय चेतना को बल प्रदान करने में पूर्ववर्ती प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों की जीवन-गाथाएं भी सहायक सिद्ध होती हैं। यही कारण है कि इस युग के लेखकों ने ऐतिहासिक जीवनियां पर्याप्त मात्रा में लिखी हैं। इस दृष्टि से कार्तिकप्रसाद, बलदेवप्रसाद मिश्र, देवीप्रसाद, ज्वालादत्त शर्मा, आनंदकिशोर मेहता, रघुनंदनप्रसाद मिश्र, संपूर्णानंद और लक्ष्मीधर वाजपेयी द्वारा क्रमशः लिखित 'छत्रपति शिवाजीका जीवनचरित्र' (1901), 'पृथ्वीराज चौहान' (1902), 'महाराणा प्रतापसिंह' (1903), 'सिक्खों के दस गुरु' (1909), 'गुरु गोविंदसिंह जी' (1914), 'शिवाजी और मराठा जाति' (1914), 'महाराज छत्रसाल' (1916) तथा 'छत्रपति शिवाजी' (1917) शीर्षक कृतियां विशेषतः पठनीय हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि अपने देश की महान विभूतियों के जीवनवृत्त ही नहीं, विदेशी महापुरुषों के जीवनचरित्र भी पर्याप्त प्रेरणाप्रद होते हैं। द्विवेदी-युग के लेखक इस तथ्य से अपरिचित न थे। उन्होंने विदेश के अनेक महामानवों के जीवनवृत्त लिखे हैं, जिन्होंने त्याग, बलिदान तथा कर्तव्य-भावना से प्रेरित हो कर अपने-अपने राष्ट्रों के उत्थान के लिए अनथक प्रयत्न किये। उदाहरणार्थ, सिद्धेश्वर वर्मा, उमापति दत्त शर्मा, नाथूराम प्रेमी, ब्रह्मानंद, लक्ष्मीधर वाजपेयी, कृष्णप्रसाद सिंह अखौरी, इंद्र वेदालंकार, द्वारकाप्रसाद शर्मा और चंद्रशेखर पाठक द्वारा क्रमशः रचित 'गैरीबाल्डी' (1901), 'नेपोलियन बोनापार्ट की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जीवनी' (1905), 'जान स्टुअर्ट मिल' (1912), 'जर्मनी के विधाता' (1914), 'गेसिफ़ मैज़िनी' (1914), 'नेलसन' (1914), 'प्रिंस बिस्मार्क' (1915), 'महात्मा साकृटीज़' (1915) एवं 'नेपोलियन बोनापार्ट' (1916), शीर्षक कृतियां अवलोकनीय हैं। विदेशी महापुरुषों से संबद्ध रचनाओं में नेपोलियन बोनापार्ट संबंधी जीवनियां ही सर्वाधिक मात्रा में लिखी गयी हैं। इनके अतिरिक्त राजस्थान के इतिहास-लेखन में महत्त्वपूर्ण योग देने वाले कर्नल जेम्स टॉड के संबंध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण जीवनी गौरीशंकर ओझा ने 'कर्नल टॉड' (1902) शीर्षक से लिखी।

आलोच्य युग में देश-विदेश की महान महिलाओं से संबंधित जीवनियां भी पर्याप्त मात्रा में लिखी गयीं। गंगाप्रसाद गुप्त, परमानंद, हनुमंत सिंह, पन्नालाल, यशोदादेवी, द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी, देवेंद्रप्रसाद जैन, ललिताप्रसाद शर्मा, रामजीलाल वर्मा, लालताप्रसाद वर्मा, सूर्यनारायण त्रिपाठी, रामानंद द्विवेदी तथा दत्तात्रेय बलवंत पारस ने क्रमशः 'रानी भवानी' (1904), 'पतिव्रता स्त्रियों के जीवनचरित्र' (1904), 'रमणीय रत्नमाला' (1907), 'वीर पत्नी संयोगिता' (1912), 'आदर्श महिलाएं' (1917), 'ऐतिहासिक स्त्रियां' (1912), 'विदुषी स्त्रियां'—भाग 1, 2 (1912), 'भारतीय विदुषी' (1912), 'भारतवर्ष की वीर माताएं' (1913), 'रानी दुर्गावती' (1914), 'नूरजहां' (1912), 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' (1918) शीर्षक जीवनियों की रचना कर इस दिशा में प्रशंसनीय योग दिया। जैसा कि इस विवरण से स्पष्ट है, इस युग में लेखकों का झुकाव भारतीय महिलाओं के गुण-स्तवन की ओर ही अधिक रहा। समग्रतः यह कहा जा सकता है कि द्विवेदीयुगीन जीवनी-साहित्य पर्याप्त समृद्ध एवं वैविध्यपूर्ण है।

**यात्रावृत्त :** यात्रावृत्त के विकास की दृष्टि से भी आलोच्य युग महत्त्वपूर्ण है। तत्कालीन पत्रिकाओं में अनेक यात्रावृत्तांत प्रकाशित हुए। उदाहरणस्वरूप, स्वामी मंगलानंद, श्रीधर पाठक, उमा नेहरू और लोचनप्रसाद पांडेय के द्वारा क्रमशः लिखी गयीं 'मॉरीशस यात्रा' (मर्यादा, जुलाई, 1912), 'देहरादून-शिमला यात्रा' (मर्यादा, जून-सितंबर, 1913), 'युद्ध-क्षेत्र की सैर' (गृहलक्ष्मी, 1914) और 'हमारी यात्रा' (इंदु, सितंबर, 1915) का उल्लेख किया जा सकता है। पुस्तकाकार रूप में भी यात्रावृत्त संबंधी अनेक ग्रंथ इस युग में प्रकाशित हुए। इस दृष्टि से देवीप्रसाद खत्री, गोपालराम गहमरी, गदाधर सिंह, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक आदि के द्वारा लिखी गयी रचनाएं विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। देवीप्रसाद खत्री की उल्लेखनीय कृति 'बद्रिकाश्रम-यात्रा' (1902) है। साहित्यिक दृष्टि से बहुत अधिक मूल्यवान न होने पर भी इसमें बद्रिकाश्रम की यात्रा करने वालों के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री जुटायी गयी है। गोपालराम गहमरी ने 'लंका-यात्रा का विवरण' (1916) की रचना करके यात्रावृत्त संबंधी साहित्य की श्रीवृद्धि की है। उन्होंने रेल तथा जहाज़ द्वारा की गयी अपनी लंका-यात्रा का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। ठाकुर गदाधर सिंह ने 'चीन में तेरह मास' (1902) तथा 'हमारी एडवर्ड-तिलक यात्रा' (1903-1904) के माध्यम से अपने यात्रावृत्त प्रस्तुत किये हैं। ठाकुर साहब को सन् 1900-1901 में सेना के साथ चीन के युद्ध में भाग लेने के लिए जाना पड़ा था। प्रथम कृति में उन्होंने इस युद्ध का आंखों देखा वर्णन करने के साथ-साथ चीनियों के रीति-रिवाजों, आचार-विचार आदि का भी अत्यंत रोचक विवरण दिया है। 'हमारी एडवर्ड-तिलक यात्रा' में सन् 1902 में हुए महाराज एडवर्ड के तिलकोत्सव के वर्णन के साथ-साथ इंग्लैंड के दर्शनीय स्थानों तथा समुद्रयात्रा का विस्तृत वर्णन है। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक इस युग के सर्वाधिक उल्लेखनीय यात्रावृत्त लेखक हैं। उनकी तीन कृतियां उपलब्ध होती हैं—'अमेरिका दिग्दर्शन' (1911), 'मेरी कैलासयात्रा' (1915) तथा 'अमरीका भ्रमण' (1916)। 'अमरीका दिग्दर्शन' तथा 'अमरीका भ्रमण' में लेखक ने अमरीका की सामाजिक,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

राजनीतिक और धार्मिक स्थिति तथा वहां के दर्शनीय स्थानों का औपन्यासिक शैली में वर्णन किया है। 'मेरी कैलास-यात्रा' में लेखक ने काठगोदाम से तिब्बत तक की यात्रा के विवरण प्रस्तुत किये हैं। कैलास, मानसरोवर तथा हिमालय के मनमोहक प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण इस कृति की उल्लेखनीय विशेषता है। समग्रतः यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी-युग में लिखी गयी यात्रावृत्त संबंधी रचनाओं ने न केवल पीछे से चली आती हुई परंपरा को जीवित बनाये रखा, अपितु भावी विकास की दिशा में भी मूल्यवान योग दिया।

**संस्मरण :** प्रायः प्रत्येक नयी विधा अपने आगमन की घोषणा पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही करती है। संस्मरण-साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। 'सरस्वती' इस युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पत्रिका थी और संस्मरण-साहित्य ने इसके माध्यम से ही अपने अस्तित्व की सूचना दी। इसके विभिन्न अंकों में समय-समय पर अनेक रोचक संस्मरण प्रकाशित होते रहे। स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'अनुमोदन का अंत' (फरवरी, 1905), 'सभा की सभ्यता' (अप्रैल, 1907), 'विज्ञानाचार्य बसु का विज्ञान-मंदिर' (जनवरी, 1918) आदि की रचना करके संस्मरण-साहित्य की श्रीवृद्धि की। 'सरस्वती' के विभिन्न अंकों में महावीरप्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त रामकुमार खेमका, जगद्बिहारी सेठ, पांडुरंग खानखोजे, प्यारेलाल मिश्र, काशीप्रसाद जायसवाल, जगन्नाथ खन्ना, भोलादत्त पांडेय आदि द्वारा क्रमशः लिखी गयीं 'इधर-उधर की बातें' (मई, 1918), 'मेरी बड़ी छुट्टियों का प्रथम सप्ताह' (जून, 1913), 'वाशिंगटन महाविद्यालय का संस्थापन दिनोत्सव' (अक्तूबर, 1913), 'लंदन का फाग या कुहरा' (फरवरी, 1908), 'इंग्लैंड के देहात में महाराज बनारस का कुआं' (जुलाई, 1907), 'अमेरिका आने वाले विद्यार्थियों को सूचना' (दिसंबर, 1911) और 'मेरी नयी दुनिया संबंधिनी रामकहानी' (दिसंबर, 1909) शीर्षक रचनाएं प्रकाशित हुईं। आलोच्य युग में प्रकाशित उपर्युक्त अधिकांश संस्मरण प्रवासी भारतीयों द्वारा लिखे गये और प्रायः सभी का अभीष्ट भारतीय पाठकों को पश्चिम की रीति-नीतियों, दर्शनीय स्थलों आदि से परिचित कराना था। यही कारण है कि इनकी शैली अनेक स्थलों पर निबंधात्मक हो गयी है। पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित संस्मरण-साहित्य की दृष्टि से 'हरिऔध जी के संस्मरण' ही इस युग की उल्लेखनीय कृति है। यद्यपि इस पुस्तक पर वेणीमाधव शर्मा का नामोल्लेख लेखक के रूप में किया गया है, किंतु कृति के 'निवेदन' से यह ज्ञात होता है कि इसके लेखक बालमुकुंद गुप्त हैं।

**पत्र-साहित्य :** आलोच्य युग में पत्र-साहित्य विषयक दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए। महात्मा मुंशीराम ने 1904 में स्वामी दयानंद सरस्वती संबंधी पत्रों का संकलन किया। यह आलोच्य युग का ही नहीं, समूचे हिंदी-साहित्य में पहला प्रकाशित पत्र-संग्रह है। तदनंतर पं. भगवद्दत्त ने पर्याप्त परिश्रम तथा अनुसंधान के बाद 'ऋषि दयानंद का पत्र-व्यवहार' (1909) शीर्षक पत्र-संग्रह संपादित किया। यह संग्रह स्वामी दयानंद सरस्वती के चिंतन-मनन तथा उनकी पैनी दृष्टि का परिचय देने के साथ-साथ तद्युगीन सामयिक परिस्थितियों का भी प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत करता है।

## ज्ञान का साहित्य

आलोच्य युग में ज्ञान के साहित्य की सृष्टि अधिक नहीं हुई। हिंदी-प्रदेश में शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी होने के कारण ज्ञान-विज्ञान की उच्चस्तरीय पुस्तकें हिंदी में नहीं लिखी जाती थीं। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान संबंधी साहित्य के प्रकाशन की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भी व्यवस्था की थी। 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' ने भी प्रारंभ से ही सभी प्रकार की उच्चस्तरीय ज्ञान-विज्ञान की सामग्री हिंदी में प्रकाशित करने का संकल्प लिया था। इन पत्रिकाओं में इतिहास, धर्म, दर्शन, राजनीति, कला, संस्कृति और विज्ञान संबंधी बहुत से स्फुट निबंध प्रकाशित हुए हैं। इन विषयों पर स्वतंत्र रूप से भी पुस्तकें लिखी गयीं। सबसे अधिक **इतिहास संबंधी ग्रंथ** लिखे गये, जिनमें उल्लेखनीय हैं—सोमेश्वरदत्त शुक्ल-कृत 'फ्रांस का इतिहास' (1908), 'जर्मनी का इतिहास' (1908), 'इंग्लैंड का इतिहास' (1911); मिश्रबंधु-कृत 'रूस का इतिहास' (1909), देवीप्रसाद मुंसिफ़-कृत 'हिंदुस्तान के मुसलमान बादशाह' (1909), 'पड़िहाड़-वंश-प्रकाश' (1911), गौरीशंकर हीराचंद ओझा-कृत 'सिरोही राज्य का इतिहास' (1911), लक्ष्मणनारायण गर्दे-कृत 'महाराष्ट्र रहस्य' (1912), रामप्रसाद त्रिपाठी-कृत, 'महाराष्ट्रोदय' (1913), कृष्णबिहारी मिश्र-कृत 'चीन का इतिहास' (1918) और संपूर्णानंद-कृत 'भारत के देशी राष्ट्र' (1918)। इन लेखकों में पूर्णतः वैज्ञानिक पद्धति पर इतिहास-लेखन केवल गौरीशंकर हीराचंद ओझा, देवीप्रसाद मुंसिफ़, रामप्रसाद त्रिपाठी और संपूर्णानंद ने किया है, अन्य लेखकों ने व्यापक राष्ट्रीय जागरण से उत्साहित हो कर लेखनी उठायी थी।

इतिहास के बाद राजनीति, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, शिक्षाशास्त्र आदि से संबद्ध रचनाओं का क्रम आता है। **राजनीति संबंधी कृतियों** में गदाधर सिंह-कृत 'जापानी राज्य-व्यवस्था' (1912), अंबिकाप्रसाद वाजपेयी-कृत 'हिंदुओं की राज्य-कल्पना' (1913) और 'भारतीय शासन पद्धति' (1915) तथा भगवानदास केला-कृत 'भारतीय शासन' (1915) का प्रमुख स्थान है। **अर्थशास्त्र संबंधी कृतियों** में राधामोहन गोकुल जी की 'देश का धन' (1910) और पारसनाथ द्विवेदी की 'देश की दशा' (1915) उल्लेखनीय हैं। **धर्मशास्त्र** के ग्रंथों में शीतलप्रसाद ब्रह्मचारी का 'जैन धर्म का महत्त्व' (1911), शिवानंद का 'आत्मदर्शन' (1917) और भीमसेन शर्मा-कृत 'पुनर्जन्म' (1914) उल्लेखनीय हैं। **नीतिशास्त्र** के ग्रंथों में राधामोहन गोकुल जी द्वारा लिखित 'नीतिदर्शन' (1913) महत्त्वपूर्ण है। **शिक्षाशास्त्र** के संबंध में एक ही ग्रंथ महावीरप्रसाद द्विवेदी-कृत 'शिक्षा' (1916) का उल्लेख किया जा सकता है।

आलोच्य युग में **विशुद्ध विज्ञान**—गणित, भौतिकी, जीवविज्ञान आदि से संबंधित रचनाएं प्रायः नहीं के बराबर लिखी गयीं। नागरीप्रचारिणी सभा के संस्थापकों ने 'हिंदी वैज्ञानिक कोश' (1906) का प्रकाशन करके इस क्षेत्र में एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की। गणित के क्षेत्र में माधवसिंह मेहता की 'माप-विद्या-प्रदर्शिनी' (1909), भौतिक विज्ञान के संबंध में प्रेमवल्लभ जोशी-कृत 'ताप' (1915) संपूर्णानंद-कृत 'ज्योतिर्विनोद' (1917) तथा जीवविज्ञान के संबंध में पी.ए.वी.जी. साठे-कृत 'विकासवाद' (1914) उल्लेखनीय पुस्तकें हैं।

**कोश-विज्ञान** की परंपरा का सूत्रपात भी आलोच्य युग में हुआ। हरिराम वर्मा ने 'कृषिकोश' (1910), ब्रजवल्लभ मिश्र ने 'पदार्थ संख्या कोश' (1911), ठाकुरप्रसाद खत्री ने 'जगत व्यापारिक पदार्थ कोश' (1918) और जीवाराम शर्मा ने 'सरस्वती कोश' (1918) शीर्षक संस्कृत-हिंदी कोश की रचना इसी अवधि में की।

**भाषा, व्याकरण और लिपि** के संबंध में विचार-विमर्श भी इस युग में आरंभ हो चुका था। महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुंद गुप्त और जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने इन विषयों पर अनेक विद्वत्तापूर्ण लेखो की रचना की। बालमुकुंद गुप्त-कृत 'हिंदी-भाषा' और शालिग्राम द्विवेदी-कृत 'विरामचिह्न' (1918) इसी वर्ग की रचनाएं हैं।

वस्तुतः आलोच्य युग में युगनिर्माता साहित्यकारों का ध्यान पहले भाषा के परिष्कार की ओर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गया और बाद में साहित्यिक अभावों की पूर्ति की ओर। ज्ञान-विज्ञान का साहित्य प्रस्तुत करना आसान नहीं था। हिंदी का साहित्यकार अपार उत्साह और अखंड निष्ठा के बावजूद ज्ञान के साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता था। इसके लिए ज्ञान-विज्ञान के मान्य विद्वानों को हिंदी में लिखने के लिए प्रेरित करना आवश्यक था। नागरीप्रचारिणी सभा ने इसके लिए कई प्रकार के पुरस्कारों की व्यवस्था की। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने भी इसी नीति का अनुसरण किया। इन प्रयत्नों का परिणाम परवर्ती युग में सामने आया।

## पत्र-पत्रिकाएं

हिंदी-पत्रकारिता का आरंभ हिंदी-प्रदेश से बाहर बंगाल के कलकत्ता महानगर में हुआ। समाचारपत्र सामाजिक चेतना के वाहक होते हैं। जिस नवीन सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना ने संपूर्ण आधुनिक हिंदी-साहित्य को नयी दिशा दी है, उसका उदय सर्वप्रथम बंगाल में ही हुआ था। फलस्वरूप उन्नीसवीं शती के अंत तक हिंदी-पत्रकारिता का केंद्र कलकत्ता ही रहा। बीसवीं शती के आरंभ से भारतीय राजनीति के क्षेत्र में बालगंगाधर तिलक का प्रभाव बढ़ने लगा था। उन्होंने 1908 ई. से अपने 'केसरी' पत्र का हिंदी-संस्करण 'हिंदी केसरी' नाम से प्रकाशित करना आरंभ किया। इसमें उनकी ओजस्वी और विद्वत्तापूर्ण संपादकीय टिप्पणियां प्रकाशित होती थीं। राजनीति में गणेशशंकर विद्यार्थी तिलक के समर्थक थे। हिंदी-प्रदेश के तत्कालीन राजनीतिक हिंदी-पत्रों को विद्यार्थी जी ने बहुत प्रभावित किया। यह प्रभाव प्रकारांतर से बालगंगाधर तिलक का ही था। कलकत्ता की पत्रकारिता को भी तिलक ने प्रभावित किया। वहां से निकलने वाले 'भारतमित्र', 'मारवाड़ी-बंधु' और 'नृसिंह'—ये तीन पत्र तिलक की प्रखर राजनीति के समर्थक थे। बीसवीं शती के प्रथम चरण में हिंदी प्रदेश में दो प्रकार की पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित होती थीं—(1) राजनीतिक, (2) साहित्यिक। 1900 से 1918 ई. तक प्रायः प्रत्येक वर्ष कोई-न-कोई पत्रिका अवश्य प्रकाशित हुई। इस अवधि में प्रकाशित होने वाली राजनीतिक पत्रिकाएं निम्नलिखित हैं :

1. हितवाणी, 1904, कलकत्ता, *सं.* रुद्रदत्त शर्मा और सखाराम गणेश देउस्कर।
2. नृसिंह, 1907, साप्ताहिक, *सं.* अंबिकाप्रसाद वाजपेयी।
3. अभ्युदय, 1907, साप्ताहिक, प्रयाग, *सं.* मदनमोहन मालवीय।
4. कर्मयोगी, 1909, साप्ताहिक, प्रयाग, *सं.* सुंदरलाल।
5. मर्यादा, 1909, मासिक, प्रयाग, *सं.* कृष्णकांत मालवीय।
6. प्रताप, 1913, साप्ताहिक, कानपुर, *सं.* गणेशशंकर विद्यार्थी।
7. प्रभा, 1913, मासिक, खंडवा, *सं.* कालूराम जी।

इस अवधि में कलकत्ता से दो दैनिक समाचार पत्र 'कलकत्ता-समाचार' (1914) और 'विश्वमित्र' (1918) भी प्रकाशित हुए।

आलोच्य युग में प्रकाशित होने वाली प्रमुख साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रिकाएं निम्नलिखित हैं :

1. सरस्वती, 1900, मासिक, इलाहाबाद, प्रारंभ में इसका संपादन काशी से होता था। 1903 ई. से महावीरप्रसाद द्विवेदी इसके संपादक नियुक्त हुए।
2. सुदर्शन, 1900, मासिक, काशी, *सं.* देवकीनंदन खत्री, माधवप्रसाद मिश्र।
3. समालोचक, 1902, मासिक, जयपुर, *सं.* चंद्रधर शर्मा गुलेरी।
4. देवनागर, 1907, मासिक, कलकत्ता, *सं.* उमापतिदत्त शर्मा और यशोदानंदन अखौरी।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

5. इंदु, 1909, मासिक, काशी, *सं.* अंबिकाप्रसाद गुप्त।
6. मनोरंजन, 1912, मासिक, शाहाबाद, *सं.* ईश्वरीप्रसाद शर्मा।
7. प्रभा, 1913, मासिक, खंडवा, मई, 1917 तक साहित्यिक पत्रिका थी, बाद में राजनीतिक हो गयी।
8. पाटलिपुत्र, 1914, मासिक, पटना, *सं.* काशीप्रसाद जायसवाल।

आलोच्य युग की कुछ साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रिकाओं में भी राजनीतिक प्रश्नों पर मत व्यक्त किये जाते थे। 'सरस्वती' और 'देवनागर' ऐसी पत्रिकाएं थीं जो सभी विषयों पर लेख प्रकाशित करती थीं। द्वितीय महायुद्ध के बाद भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी का प्रभाव बढ़ा। इसका प्रभाव हिंदी-पत्रकारिता पर भी पड़ा। बहुत-सी नयी पत्र-पत्रिकाएं प्रकाश में आयीं और उनके स्वर की उग्रता भी कुछ कम हुई। पत्रिकाएं भी अहिंसक आंदोलन का समर्थन करने लगीं।

आलोच्य युग की साहित्य-समृद्धि एवं भाषा-परिष्कार में पत्र-पत्रिकाओं का बहुत बड़ा योगदान है। भारतेंदु-युग में तो पत्रकारिता और साहित्य दोनों प्रायः एक ही स्तर पर विकसित हो रहे थे। आलोच्य-युग में इस स्थिति में कुछ अंतर आया। कुछ गंभीर साहित्यिक पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगीं, जो समाज-सुधार या राजनीतिक उथल-पुथल से प्रत्यक्ष संबंध नहीं रखती थीं। गद्य की विविध शैलियों एवं विधाओं के विकास में आलोच्य युग की पत्रिकाओं का स्थायी योगदान है। इस श्रेणी की पत्रिकाओं में 'सरस्वती' अन्यतम थी। इसमें संदेह नहीं कि 'सरस्वती' ने भाषा और साहित्य दोनों क्षेत्रों में नये युग का निर्माण किया। वह सचमुच आलोच्य युग की साहित्यिक उच्चता का निकष बन गयी थी।

## मूल्यांकन

आलोच्ययुगीन गद्य-साहित्य के विवेचनात्मक सर्वेक्षण के आधार पर कहा जा सकता है कि इस युग के साहित्य-सृजन का प्रेरक तत्त्व राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण ही था। भारतेंदु-युग में इस जागरण ने साहित्यधारा को नये पथ पर मोड़ दिया था और साहित्य तथा समाज के अंतराल को कम किया था। आलोच्य युग में यह जागरण प्रत्येक साहित्यविधा का अंतर्वर्ती प्रवाह बन गया। निबंध हो या आलोचना, कहानी हो या उपन्यास, उसके कलात्मक परिधान को हटा देने पर भीतर राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण की चेतना अवश्य लक्षित होती है। इस जागरण ने साहित्य के मूल्यों में परिवर्तन किया। शास्त्रीय रूढ़ियां टूटीं, साहित्य का उद्देश्य व्यापक जनसमुदाय को प्रभावित करना और उसे आदर्श जीवन की ओर मोड़ना माना गया। मुद्रण-व्यवस्था ने इस उद्देश्य की पूर्ति में योग दिया। साहित्य कुछ रसिकों की वस्तु न रह कर समस्त शिक्षित जनता की वस्तु बन गया। नयी जीवनदृष्टि ने नयी भाषा को माध्यम बनाया। खड़ीबोली पूर्णतः प्रतिष्ठित हुई। उसे पंडिताऊपन और ठेठ गंवारूपन से मुक्त करके मांजा-संवारा गया। वस्तुतः हिंदी-प्रदेश की जनता अपने सारे जीवन को नये ढंग से व्यवस्थित कर रही थी, अपने को नये युग के अनुकूल बना रही थी। इसलिए भाषा को भी युग की नयी चेतना की अभिव्यक्ति के लिए सक्षम बनाने की चेष्टा की गयी। लेखकों का ध्यान हिंदी के प्रचार-प्रसार और परिमार्जन के साथ ही उसके अभावों की ओर भी गया और अपने सीमित साधनों को संघटित करके उन्होंने योजनाबद्ध रूप में साहित्य के अभावों की पूर्ति का प्रयत्न किया। नागरीप्रचारिणी सभा और हिंदी-साहित्य-सम्मेलन इसी भावना के प्रतीक हैं। हिंदी-साहित्य के विकास में इनका योगदान अविस्मरणीय रहेगा। साहित्य के दुर्लभ ग्रंथों की खोज, हिंदी-साहित्येतिहास के निर्माण, प्राचीन ग्रंथों के प्रकाशन और ज्ञान-विज्ञान से

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संबद्ध उपयोगी साहित्य की सृष्टि को प्रोत्साहन दे कर इन संस्थाओं ने साहित्य-निर्माण में ऐतिहासिक भूमिका निभायी है। अभी तक हिंदी को विश्वविद्यालय में स्थान नहीं मिला था। इसलिए उसे ज्ञान के साहित्य का माध्यम बनाने की दिशा में जो कुछ किया गया, वह इन संस्थाओं और 'सरस्वती' जैसी कुछ पत्रिकाओं द्वारा ही किया गया। साहित्य सृजन की मूल प्रेरणा, समाज सुधार, चरित्रनिर्माण या व्यापक राष्ट्रीय हित होने के कारण इस काल की साहित्य-कृतियों में कलात्मक निखार तो नहीं आया, किंतु सभी प्रकार की गद्य-विधाओं की विकास परंपरा का आरंभ अवश्य हो गया। साहित्य का स्वर क्रमशः गंभीर हुआ और उसमें दायित्वबोध जागा। साहित्य को शिष्ट समाज में प्रवेश पाने के योग्य समझा जाने लगा और सब मिला कर हिंदी को व्यापक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

## संदर्भ

1. आत्माभिमान एवं देशाभिमान की प्रेरणा प्रदान करने में कवि-समुदाय पीछे नहीं था। इस संदर्भ में श्रीधर पाठक का मंतव्य पठनीय है :

   *''वन्दनीय वह देश जहाँ के देशी निज अभिमानी हों।*
   *बांधवता में बँधे परस्पर परता के अज्ञानी हों।''*

2. *केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए*
   *उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।*
   *क्यों आज 'रामचरितमानस' सब कहीं सम्मान्य है?*
   *सत्काव्य-युत उसमें परम आदर्श का प्राधान्य है। (भारत-भारती)*
3. 'उद्धवशतक' का प्रकाशन यद्यपि 1929 ई. में हुआ, किंतु इसके अधिकांश भाग का प्रणयन द्विवेदी-युग में ही हो चुका था। (देखिए, 'उद्धवशतक', कवि का निवेदन)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अध्याय : 16

# छायावाद-युग

जिस प्रकार साहित्य के पूर्ण इतिहास को विविध युगों में बांटा जा सकता है, उसी प्रकार काल विशेष के साहित्य को विविध धाराओं या कालखंडों में विभाजित किया जा सकता है। भक्तिकाल में भक्ति की विविध धाराएं एक ही परिवेश के विविध पक्षों से प्रेरणा ग्रहण करती हुईं प्राय: समानांतर रूप से प्रवाहित होती रहीं, किंतु आधुनिक काल का जीवन सिर्फ़ एक ही काल में अनेक मुखी प्रसार का जीवन नहीं है—वह समय की गति के साथ-साथ विकासशील है। विज्ञान के आविष्कारों और उनसे उत्पन्न होने वाले प्रभावों के कारण जीवन द्रुत गति से और निरंतर परिवर्तित होता रहा है। प्राचीन काल में जीवन की प्रगति पहले विचार के स्तर पर होती थी जो आध्यात्मिक आंदोलनों के रूप में दिखायी देती है, किंतु आज के जीवन का विकास पहले भौतिक आधार पर होता है और फिर यह भौतिक विकास युग को आध्यात्मिक विकास के लिए आंदोलित करता है। आज के विद्वानों के सामने सांस्कृतिक विकास—भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों के विकास—की समस्या एक गंभीर और जटिल समस्या है, जिसे प्राय: 'दो संस्कृतियों की समस्या' के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। विवेच्य युग में आधुनिक युग की इस सांस्कृतिक समस्या का आरंभिक रूप मिलता है। इस पर विचार करने से पहले इस काल की सीमा, नामकरण और परिवेश पर विचार किया जायेगा।

## सीमांकन, नामकरण तथा परिवेश

वर्ष विशेष से किसी साहित्यिक युग का आरंभ मानने के बारे में थोड़ा-बहुत मतभेद हो सकता है। इसलिए जब छायावाद का आरंभ सन् 1918 में और अंत 1938 में माना जाता है तो इन दोनों सीमाओं का आधार इन वर्षों की और इनके आसपास—दो-चार पहले या दो-चार साल बाद—की रचनाएं होती हैं और इसलिए दोनों छोरों को दो-चार साल इधर या उधर सरकाया जा सकता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आधुनिक कविता के तृतीय उत्थान की सीमा का आरंभ संवत् 1975 (सन् 1918) से माना है। सन् 1918 को ही छायावाद की आरंभिक सीमा मानने का कारण यह है कि छायावादी पद्धति की रचनाएं इसके आसपास प्रकाशित होने लगी थीं। निराला की 'जूही की कली' (1916) के अतिरिक्त पंत की 'पल्लव' की कुछ कविताओं की रचना भी 1920 ई. के आसपास हो चुकी थी। इसलिए यह स्पष्ट है कि इस काल के आसपास साहित्य में एक नये मोड़ का आरंभ हो गया था, जो पुरानी काव्य-पद्धति को छोड़ कर एक नयी पद्धति के निर्माण का सूचक था। सन् 1935 में छायावादी काव्य-चेतना को मूर्तिवान करने वाली कृति 'कामायनी' का प्रकाशन हुआ। उधर सन् 1936 में प्रांतों में कांग्रेस के मंत्रिमंडल स्थापित हुए, किंतु जब ब्रिटिश सरकार ने भारतीय प्रतिनिधि दलों से बातचीत किये बिना भारत के विश्वयुद्ध में शामिल होने की घोषणा कर दी तो सन् 1939 में मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिये। इससे स्पष्ट है कि सन् 1936 से

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

1939 तक का समय आधुनिक भारतीय इतिहास में एक नये मोड़ का सूचक है। कांग्रेस के मंत्रिमंडलों में शामिल होने की तरह-तरह की प्रतिक्रियाएं हुईं, जो जीवन में एक नयी चेतना के उदय की निशानी थी। इस काल के छायावादी कवि स्वयं भी अपने छायावादी भावबोध का अतिक्रमण करने का प्रयास कर रहे थे। पंत के 'युगांत' (1936) और निराला की 'अनामिका' (1938) में अनेक ऐसी रचनाएं संकलित हैं जो छायावादी संसार से आगे बढ़ कर एक नये ठोस यथार्थ के निकट आने का प्रयास कर रही थीं। यह साहित्यिक परिवर्तन कहां तक उक्त राजनीतिक परिवर्तन और उससे उत्पन्न सामूहिक चेतना के परिवर्तन से संबद्ध है, यह अध्ययन काफ़ी महत्त्वपूर्ण और रोचक होगा। वैसे यह स्पष्ट है कि सन् 1938 के आसपास छायावादी काव्यधारा क्षीण हो कर एक नये प्रकार के काव्य के आगमन की सूचना दे रही थी। इसलिए सन् 1938 को छायावाद-युग की आख़िरी सीमा माना जा सकता है।

सीमांकन की भांति विवेच्य युग के नामकरण की समस्या भी महत्त्वपूर्ण है। सन् 1918 से 1938 तक के बीस सालों में अत्यंत विपुल काव्यराशि का निर्माण हुआ। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन की सुविधा होने से तथा साहित्य के सामाजिक उद्देश्य की व्यापक स्वीकृति के कारण अनेक सजग और संवेदनशील व्यक्तियों ने काव्य-रचना की। एक ओर प्रसाद, निराला आदि कवि भी इसी युग में हुए, जिनका प्रधान लक्ष्य साहितय-साधना था, और दूसरी ओर माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि रचनाकार भी हुए, जो अपने युग के आंदोलनों में सक्रिय भाग लेते थे और साथ ही कविताएं भी लिखते थे। इस वर्ग के कवियों का एकमात्र लक्ष्य काव्य-रचना नहीं था। इनकी साधना जीवन को ही केंद्र बना कर चलती रही। ब्रजभाषा में भी ऐसे काव्यों का निर्माण हुआ जो नये जीवन की भावनाओं और आकांक्षाओं को व्यक्त करने में प्रयत्नशील दिखायी देते थे। इसके अतिरिक्त बच्चन, नरेंद्र शर्मा और अचंल की अनेक रचनाएं भी इस युग में रची गयीं, जिनका प्रधान स्वर प्रणय की लौकिक और मांसल अनुभूति है। इस प्रकार रचना-परिमाण की दृष्टि से यह काल अत्यंत समृद्ध है। यह भी स्वीकार किया जाता है कि परिमाण में छायावादी पद्धति की रचनाएं राष्ट्रीय-सांस्कृतिक-धारा की रचनाओं से अधिक नहीं हैं। इसलिए यह जिज्ञासा स्वाभाविक ही है कि फिर इस काल को 'छायावाद-काल' कहना कहां तक समीचीन है? यद्यपि परिमाण की दृष्टि से इन काव्यधाराओं में छायावादी रचनाएं सबसे अधिक नहीं हैं, फिर भी वे निश्चित रूप से इस युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हैं। इस मान्यता के तीन कारण हैं—पहला तो यह कि कवित्व की दृष्टि से, अर्थात अनुभूति की तीव्रता, सूक्ष्मता और अभिव्यंजनाशिल्प के उत्कर्ष की दृष्टि से यह काव्यराशि सर्वश्रेष्ठ है। दूसरी बात यह है कि छायावादी काव्य में प्राचीन भारतीय परंपरा के जीवंत तत्त्वों का ही समावेश नहीं हुआ, वरन् उसने परवर्ती काव्य के विकास को भी काफ़ी दूर तक प्रभावित किया है। छायावादोत्तर युग के कवियों के लिए छायावादी काव्य-राशि ही प्रतिस्पर्धा और प्रतिक्रिया का आधार बनी। और तीसरी बात यह है कि छायावादी काव्य में ही अपने युग के जनजीवन की समग्रता की अभिव्यक्ति मिलती है। यह काव्य पूर्ण और सर्वांगीण जीवन के उच्चतम आदर्श को व्यक्त करने का प्रयास करता है। 'कामायनी' को इस काव्यधारा की चरम परिणति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसलिए इस काल का 'छायावाद-काल' नाम ही युक्तियुक्त है।

किसी भी साहित्यधारा को समझने के लिए उसके युग का अध्ययन अनिवार्य होता है। युग की विषमताएं और आकांक्षाएं साहित्यकार के माध्यम से उसके काव्य को स्वरूप तथा आधार प्रदान करती हैं। साहित्यकार ही नहीं, चिंतक और विचारक भी अपने युग की सीमाओं के भीतर ही

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कार्यशील होते हैं, क्योंकि उनमें युग की चेतना ही पूंजीभूत और साकार हो उठती है। कोई साहित्यिकार तो अपने देश की प्राचीन संस्कृति के प्राणवान् मूल्यों का अन्वेषण कर उनका नये युग के निर्माण में प्रयोग करता है तथा कोई किसी विदेशी चिंतनधारा से प्रभावित हो कर नये युग के स्वप्न तराशने लगता है। छायावाद-युग की काव्यधारा को समझने के लिए उस युग के जीवन को भी समझना होगा और उन तत्त्वों और मूल्यों के स्रोत तथा स्वरूप पर भी प्रकाश डालना होगा, जो इस काव्यधारा के आदर्श बने। कुछ तत्त्व और मूल्य तो उस युग में ही प्राप्त होते हैं, जैसे—स्वाधीनता की भावना, राष्ट्रप्रेम, अहिंसा आदि; और कुछ मूल्यों का शोध करने के लिए हमें अतीत की ओर देखना होगा। यहां यह उल्लेखनीय है कि जीवन में परिवर्तन के तीन कारण हैं। पहला तो यह कि मनुष्य स्वभाव से ही परिवर्तनशील प्राणी है और उसकी सक्रिय चेतना उसे निरंतर एक स्थिति से दूसरी स्थिति की ओर परिचालित करती रहती है। दूसरा तत्त्व है—क्रिया-प्रतिक्रिया का। चिंतन या सर्जना की कोई नयी लहर पैदा होती है तो कुछ अर्से तक वह अपना विकास करती रहती है, फिर एक स्थिति ऐसी भी आती है, जब नये संचरण की क्षमता के अभाव में वह अपने आपको दोहराने लगती है। ऐसी अवस्था में आ जाने पर उस धारा की प्रतिक्रिया होती है और उसके विरोध में या उसके समकक्ष सर्जना की एक नयी पद्धति की उद्‌भावना की जाती है। सांस्कृतिक विकास का तीसरा तत्त्व है—नवीन स्थितियों का प्रभाव। नवीन स्थितियों का जन्म आंतरिक, भौतिक या राजनीतिक विकास पर आधारित हो सकता है या किसी बाह्य शक्ति अथवा सत्ता के आगमन या उसके संपर्क का परिणाम होता है। विवेच्य काल के परिवेश में इन तीनों तत्त्वों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है, किंतु इस युग का सबसे विराट और कटु सत्य था—बाहरी शक्ति अर्थात ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता का प्रभाव।

सबसे पहले छायावाद-युग की साहित्यिक विरासत पर विचार करना उचित होगा। इस युग से पूर्व का काव्य द्विवेदीयुगीन व्यापक नैतिकता से आक्रांत था। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने काव्य की सामाजिक उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए साहित्य में 'सरलता, असलियत और जोश' पर बल दिया। इनमें से 'असलियत' वाली बात सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने रीतिकालीन काव्यधारा का विरोध किये बिना साहित्य में सामाजिक जीवन के विविध रूपों और समस्याओं को चित्रित करने का प्रयास किया था। इसका प्रभाव यह हुआ कि साहित्य का पाट विस्तृत होने लगा। साहित्य में 'प्राकृत-जनों' के जीवन की स्वीकृति निश्चित रूप से युगांतर की सूचक थी। किंतु भारतेंदु-युग पर रीतिकालीन प्रभाव भी काफ़ी व्यापक था। इसका एक कारण तो यह है कि इस युग में ब्रजभाषा को ही काव्य-भाषा के रूप में स्वीकार किया गया था, इसलिए रीतिकालीन अभिव्यंजनापद्धति की विशेषताओं का उस पर गहरा असर दिखायी देता है। दूसरा कारण यह है कि उस युग में भक्ति और शृंगार की पुरानी परंपरा का प्रभाव भी विद्यमान था। किंतु उस प्राचीन रंग के साथ-साथ भारतेंदु के काव्य में एक नयी अदा भी दिखायी देती है, जो उसे अपने युगबोध की स्वीकृति से प्राप्त हुई। आधुनिक-काव्य के विकास की दृष्टि से यह एक क्रांतिकारी उपलब्धि थी, जो उत्तरोत्तर अधिक पुष्ट, व्यापक और अनेकरूप होती रही। 'कहां करुनानिधि केसव सोए' जैसी रचनाओं में भारतेंदु अपने युग-जीवन की दुर्दशा को देख कर सामाजिक सुधार के लिए केशव का स्मरण करते हैं। द्विवेदी-युग के हरिऔध और गुप्त कृष्ण और राम के चरित्र का सहारा ले कर देशोद्धार की साधना में तत्पर दिखायी देते हैं, और प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी शैव-दर्शन, अद्वैत और भक्ति, वेदांत और अरविंद-दर्शन अथवा निर्गुण-निराकार की प्रणयानुभूति का आधार ग्रहण कर सामाजिक चेतना को दिशा देने का प्रयास करते हैं। भारतेंदु

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के 'केसव' ही इन विविध दार्शनिक-आध्यात्मिक आस्थाओं के रूप में व्यक्त होते दिखायी देते हैं।

द्विवेदी-युग में रीतिकालीन संवेदना का तीव्र विरोध तथा ठोस यथार्थ के चित्रण का प्रबल आग्रह दिखायी देता है। काव्य के लिए नये माध्यम के रूप में खड़ीबोली की प्रतिष्ठा भी हो गयी थी। यह छायावाद-युग की निकटतम पूर्व स्थिति थी। हरिऔध और गुप्त की रचनाओं में द्विवेदीयुगीन चेतना पूर्णतः मुखर हो चुकी थी। 'साकेत' की चेतना तो द्विवेदीयुगीन भावबोध का अतिक्रमण करती दिखायी देती है। छायावादी काव्य में न केवल द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता का विरोध हुआ, बल्कि उसकी स्थूल और सरल पदावली की भी प्रतिक्रिया हुई और कविता अंतर्जगत की ओर उन्मुख हो कर सूक्ष्म, वक्र तथा सांकेतिक पदावली में अवतरित होने लगी। द्विवेदी-युग ने रीतिकालीन शृंगार-भावना का तीव्र विरोध किया, किंतु इसकी जो प्रतिक्रिया छायावाद-युग में लक्षित हुई, उसमें रीतिकालीन शृंगार-भावना के सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों रूपों की नवीन स्वीकृति दिखायी देती है, जो इस युग के यथार्थबोध के अनुकूल है। प्रणयानुभूति की अभिव्यक्ति न सिर्फ़ छायावादी कवियों ने की, बल्कि राष्ट्रीय भावना के कवियों ने भी की, और एक धारा में तो प्रणय और मस्ती के भाव ही प्रधान हो गये।

व्यापक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि छायावाद-युग भारत के लिए अस्मिता की खोज का युग है। सदियों की दासता के कारण भारतीय जनता आत्मकेंद्रित होती हुई रूढ़िग्रस्त हो गयी थी। पाश्चात्य साम्राज्यवादियों के आगमन ने देश में एक विराट तूफ़ान पैदा कर दिया था, जिसके कारण रूढ़ियों में सुप्त देश की आत्मा पूरी शक्ति और उद्वेलन के साथ जाग उठी। पाश्चात्य ढंग की शिक्षा ने, विशेषकर अंग्रेज़ी की शिक्षा ने, देश के बुद्धिजीवियों के सामने एक नये क्षितिज का उद्घाटन किया। परिणामस्वरूप भारतीय मनीषी अपने परिवेश की त्रासपूर्ण विघटनमयी स्थिति के प्रति सजग हुए और उसके व्यापक सुधार की आवश्यकता की ओर उनका ध्यान आकर्षित हुआ। इसका एक और कारण भी था, जिसका संबंध ईसाई-धर्म के प्रचार से है। सत्ता का संबल पा कर ईसाई-धर्म-प्रचारक पाश्चात्य जी वन-पद्धति की गरिमा और भारतीय सांस्कृतिक निस्सारता का प्रचार करने लगे। राजनीतिक दासता के साथ साथ इस सांस्कृतिक आक्रमण ने यहां के चिंतकों को और भी अधिक आंदोलित कर दिया। इसका परिणाम था—भारतीय पुनर्जागरण का व्यापक आंदोलन, जिसके जन्मदाता थे राजा राममोहन राय। स्वामी दयानंद, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, गोपालकृष्ण गोखले, बालगंगाधर तिलक, महात्मा गांधी आदि इसी विराट आंदोलन के नेता थे। इन सब महापुरुषों ने देश की अतीत परंपरा से मूल्यवान तत्त्वों को खोज कर उन्हें नये जीवन के अनुरूप ढालने का प्रयास किया। चाहे व्यक्तिगत रूप से कवियों की आस्था इनमें से किसी एक प्रचारक पर रही हो या न रही हो, यह स्पष्ट है कि ये कवि जिस वातावरण में सांस ले रहे थे, उसका निर्माण इन्हीं महापुरुषों के अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप हुआ था। इसलिए ज्ञात या अज्ञात भाव से छायावाद-युग के अधिकांश कवि इन लोकपुरुषों के सिद्धांतों से प्रभावित हुए। गांधीवाद से प्रभावित कवियों की तो पूरी एक क़तार ही उभर कर सामने आयी। सांस्कृतिक दृष्टि से छायावाद-युग में यथार्थ और संभावना के बीच गहरी खाई दिखायी देती है। सदियों से रूढ़िग्रस्त भारत ने जब एकाएक अपने आपको वैज्ञानिक समृद्धि से पूर्ण पाश्चात्य सभ्यता के सम्मुख खड़ा पाया, तो उसे अपने और युग के बीच उस गहरी खाई का एहसास हुआ। ध्यान देने की बात यह है कि भारत में विज्ञान और यंत्रों का विकास सहज स्वाभाविक रूप से उसके अपने प्रयासों के फलस्वरूप नहीं हुआ था, अपितु ये यहां साम्राज्यवाद के साथ आये और भारतीय

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विकास का साधन बन कर नहीं, वरन् शोषण का साधन बन कर आये। गांधीवाद में यांत्रिकता का जो विरोध मिलता है, उसका यह एक प्रधान कारण है। मगर जो भी हो, देश में संचार-व्यवस्था, यातायात, यांत्रिकता और नयी शिक्षापद्धति की स्थापना से राष्ट्रीय जीवन एक नयी आशा और साथ ही एक नये तनाव का अनुभव कर रहा था। यह नयी स्थिति मध्ययुगीन जीवन-मूल्यों और आदर्शों के लिए चुनौती बन कर आयी।

नवीन शिक्षा-पद्धति, अंग्रेज़ी के प्रभाव और अंग्रेज़ी से प्रभावित बंगला-साहित्य के संपर्क ने व्यक्तिवादी भावना को जगाया, जिससे व्यक्ति का अहं उद्दीप्त हो उठा। जो कुछ भी इस उद्दीप्त अहम् के विरोध में आया, उसे अस्वीकार करने की, उसका विरोध करने की कोशिश की गयी। इसीलिए एक ओर तो इस युग के काव्य में द्विवेदीयुगीन नैतिकता और स्थूलता की प्रतिक्रिया दिखायी देती है और दूसरी ओर विदेशी दासता के प्रति विद्रोह का स्वर सुनायी देता है। उदाहरणार्थ, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक-धारा के कवियों ने विदेशी शासन का विरोध किया और जनता में आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न की। यह विद्रोह छायावादी कवियों में भी व्यापक रूप में दिखायी देता है। उन्होंने विषय, भाव, भाषा, छंद आदि सभी क्षेत्रों में नये मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रयास किया, किंतु प्रेम और मस्ती के कवियों में यह विद्रोह-भावना सीमित रूप में दिखायी देती है। इस विद्रोह को केवल द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया में ही नहीं देखा जा सकता। इसके मूल में तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक कारण भी हैं। नयी शिक्षा ने अनंत संभावनाओं को उजागर तो किया, किंतु उनको साकार करने के अवसर नहीं के बराबर थे। फलस्वरूप असफलता और कुंठा से उत्पन्न विक्षोभ, क्रांति और कभी-कभी घोर व्यक्तिवादिता के स्वर निरंतर अधिक सशक्त और मुखर होते गये। सभी छायावादी कवियों की आरंभिक रचनाओं में निराशा और कुंठा का स्वर दिखायी देता है। यहां तक कि राष्ट्रीय-सांस्कृतिक आंदोलन में भाग लेने वाले 'नवीन' जैसे कवि भी इस स्वर के प्रभाव से अछूते नहीं रहे। किंतु छायावादी कवियों का क्षेत्र व्यापक था। वे पुनर्जागरण से गंभीर रूप में प्रभावित थे और इसलिए उनका क्षेत्र एकदम पलायन, मादकता और निराशा का नहीं था। उनके सामने जीवन का—व्यक्ति, जाति और मानव मात्र के जीवन का—भावात्मक पक्ष भी था और इसलिए उनके काव्य में मूल्यों की अभिवयक्ति व्यापक मानवीय स्तर पर ही हुई।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि छायावाद-युग ने भारतीय जीवन के विकास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। यह युग भारत के लिए आधुनिकीकरण का युग है, किंतु यह प्रक्रिया उसकी आंतरिक शक्ति से उद्भूत न हो कर विदेशी शासन के परिणामस्वरूप आयी। विदेशी शासन ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को अत्यंत जटिल बना दिया। वैसे उसका एक और आयाम भी है, जो देश के पुनर्जागरण से संबद्ध है और उसका अतीत साहित्यिक-धार्मिक-दार्शनिक आदि परंपराओं को रूपायित करता है। इस युग के कवियों ने द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध सूक्ष्म भावनाओं की प्रतिष्ठा की, तत्कालीन रूढ़ियों और ईसाई-धर्मप्रचारकों के आक्षेपों के विरुद्ध अतीत भारत के प्राणवान मूल्यों की प्रतिष्ठा की, आर्थिक-राजनीतिक दासता के विरुद्ध स्वाधीनता—केवल राष्ट्रीय ही नहीं, मानव मात्र की स्वाधीनता—के मूल्य की प्रतिष्ठा की। इस युग की किसी काव्यधारा में एक प्रयास प्रधान दिखायी देता है तो किसी में दूसरा, केवल छायावादी काव्य में तीनों का संयुक्त समन्वित रूप से निर्वाह हुआ है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

# काव्यधारा

## राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता

विवेच्य काल भारतीय जीवन के लिए विषम संघर्ष का समय था। देश ऐसे साम्राज्यवादियों के चंगुल में फंसा हुआ था, जिनकी शासन-पद्धति प्राचीन काल के विदेशियों से मुख्यतः भिन्न थी। अंग्रेज़ों से पहले जितने भी विदेशी आक्रमणकारी यहां आये, वे या तो लूटमार करके वापस चले गये या देश में देश के ही हो कर रह गये। निस्संदेह वे अपने वर्ग या धर्म पर आस्था रखने वालों को अधिक सुविधाएं देते थे और दूसरे धर्मों के लोगों को वैसी समानता का अधिकार नहीं मिल पाता था, फिर भी वे इस देश में रहते हुए किसी दूसरे देश के हित की बात नहीं सोचते थे। इसके विपरीत अंग्रेज़ शासक यहां रहते हुए भी यहां के निवासी नहीं बने। उनका उद्देश्य था—इस देश का शोषण कर अपने देश की श्रीवृद्धि करना। इसलिए उनके प्रति आक्रोश होना स्वाभाविक ही था। यह आक्रोश धीरे-धीरे बढ़ता हुआ स्वाधीनता-संग्राम के रूप में फूट पड़ा और महात्मा गांधी के नेतृत्व में आज़ादी का संघर्ष एक नये रूप में—अहिंसा और सत्य पर आधारित असहयोग के रूप में हमारे सामने आया। इस युग के राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य में दो भावनाएं पूरी शक्ति के साथ व्यक्त हुईं—एक ओर तो कवियों ने भारत की आंतरिक विसंगतियों और विषमताओं को दूर करने के लिए देश का आह्वान किया, और दूसरी ओर जनता को विदेशी शासन से मुक्ति पाने के लिए स्वाधीनता-संग्राम में कूद पड़ने की प्रेरणा दी। माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और सुभद्राकुमारी चौहान ने केवल राष्ट्रप्रेम को ही मुखरित नहीं किया, अपितु उन्होंने स्वयं देश की आज़ादी की लड़ाई में भाग भी लिया। फलस्वरूप उनकी देशप्रेम की कविताओं में अनुभूति की सच्चाई और आवेश दिखायी देता है। उदाहरणार्थ, माखनलाल चतुर्वेदी ने 'क़ैदी और कोकिला' शीर्षक कविता में अपनी अनुभूति को ही एक उच्चतर और लोकसामान्य भावभूमि के स्तर पर व्यक्त करने का प्रयास किया है :

*क्या? देख न सकती ज़ंजीरों का गहना?*
*हथकड़ियां क्यों? यह ब्रिटिश राज्य का गहना,*
*कोल्हू का चर्रक चूं? जीवन की तान,*
*गिट्टी पर लिक्खे अंगुलियों ने गान?*
*हूं मोट खींचता लगा पेट पर जूआ,*
*ख़ाली करता हूं ब्रिटिश अकड़ का कूआं।*

इन पंक्तियों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोधी किसी भी ऐसे व्यक्ति की आवाज़ सुनी जा सकती है, जिसे आज़ादी के लिए संघर्ष करने के ज़ुर्म में क़ैद किया गया हो। इस काल में देश के सर्वमान्य नेता थे—महात्मा गांधी। इसलिए स्वाभाविक ही है कि आज़ादी के भावों से भरी कविता में गांधीदर्शन का गंभीर प्रभाव दिखायी दे। स्वाधीनता-संग्राम के प्रेरक मूल्य थे—सत्य और अहिंसा। इनके साथ ही गांधीदर्शन में सामान्य जनता की समूह-शक्ति के उपयोग का प्रयास दिखायी देता है। युगों से शोषित भारतीय जनता को विज्ञान से प्राप्त नये साधनों से युक्त ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के साथ संघर्ष के लिए प्रेरित करना कोई आसान काम नहीं था। जनमानस में जागरण और संघर्ष के भावों का संचार करने के लिए कवियों ने जनता को मुख्य रूप से यह बताया कि प्रत्येक व्यक्ति असीम अक्षय शक्ति का स्रोत है, आवश्यकता इस बात की है कि वह इसे

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पहचाने और आत्मविश्वास के साथ संघर्ष के लिए तैयार हो जाये। 'नवीन' ने इन पंक्तियों में 'चिरदोहित' और 'भिखमंगे' भारत को जगाने का प्रयास किया है :

*ओ भिखमंगे, अरे पराजित, ओ मज़लूम, अरे चिरदोहित,*
*तू अखंड भंडार शक्ति का, जाग अरे निद्रा-सम्मोहित!*
*प्राणों को तड़पाने वाली हुंकारों से जल-थल भर दे,*
*अंगारों के अंबारों में अपना ज्वलित पलीता धर दे।*

जनता में आत्मविश्वास का संचार करने का दूसरा उपाय था—अतीत की गरिमा का सजीव चित्रण। आज का भारत इतना विकसित हो जाने पर भी अपनी प्राचीन वैदिक परंपरा से जुड़ा हुआ है। इसके अनेक कारण दिये जाते हैं, किंतु प्रधान कारण है—मूल भारतीय जीवनदृष्टि में दुराग्रह का अभाव, जिसके कारण वह युगानुरूप अपनी सांस्कृतिक परंपराओं का संशोधन परिवर्धन करती रही। आधुनिक काल में भी यह प्रयास बड़े व्यापक पैमाने पर हुआ। धर्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थनासमाज, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ, अरविंद, महात्मा गांधी आदि ने प्राचीन सिद्धांतों को ही ग्रहण किया और उनकी युगानुरूप नयी व्याख्याएं कीं। यह सारा प्रयास वास्तव में प्राचीन भारतीय परंपरा में उन मूल्यों की खोज का प्रयास है, जो आज के युग-जीवन के लिए भी सार्थक और उपयोगी हो सकें। छायावादी कवियों ने इन दिशा में एक व्यापक प्रक्रिया को अपनाया, जिसकी चर्चा आगे की जायेगी। राष्ट्रीय कवियों ने भी राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन, हरिश्चंद्र आदि प्राचीन युगपुरुषों के चरित्रों के उदाहरण दे कर जनता में विश्वास और आस्था पैदा करने का प्रयत्न किया। सियारामशरण गुप्त की 'बापू' कविता की ये पंक्तियां देखिए :

*प्राप्त इसे दूर के अतल से*
*सत्य हरिश्चन्द्र की अटलता,*
*लब्ध इसे ताराग्रह मंडल से*
*श्री प्रह्लाद की अनन्त भक्ति-समुज्ज्वलता,*
*क्रुद्ध कुरुक्षेत्र के समर में*
*साधा है अकाम ज्ञान कर्मयोग इसने*
*पुण्यरत पांचजन्य स्वर में*
*जीवन का पाया है अमर योग इसने।*

निराला ने भी 'दिल्ली' कविता में देश के अतीत गौरव के साथ वर्तमान दुर्दशा का चित्रण कर एक गंभीर प्रभाव की अभिव्यक्ति की है :

*क्या यह वही देश है—*
*भीमार्जुन आदि का कीर्तिक्षेत्र*
*चिरकुमार भीष्म की पताका ब्रह्मचर्य-दीप्त*
*उड़ती है आज भी जहाँ के वायुमण्डल में*
*उज्ज्वल अधीर और चिरनवीन?—*
*श्रीमुख से कृष्ण के सुना था जहाँ भारत ने*
*गीता गीत-सिंहनाद—*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*मर्मवाणी जीवन-संग्राम की—*
*सार्थक समन्वय ज्ञान-कर्म-भक्ति-योग का?*

इस प्रकार इन कवियों ने वर्तमान को अतीत से संबद्ध करके वर्तमान में उत्साह और महानता का उद्‌बोध करने का प्रयास किया। इस संदर्भ में कवियों का ध्यान उन्हीं कर्म, ज्ञान, निष्ठा, सत्य, साधना, सहिष्णुता आदि मूल्यों की ओर गया, जो समकालीन जीवन के लिए भी आदर्श बन सकते हैं। इस प्रकार यह 'जीवंत अतीत' की खोज का प्रयास था, जिसमें साधकों, चिंतकों और कवियों ने मिल कर योग दिया। किंतु ये कवि केवल अतीत में ही रम कर नहीं रह गये, अपने युग की विविध विषमताओं और आकांक्षाओं के प्रति भी ये सजग थे। यह तो ठीक है कि प्राचीन महापुरुषों के चरित्र का ज्ञान और अतीत के जीवंत शाश्वत मूल्यों की प्रतिष्ठा सामाजिक अभ्युदय में सहायक होती है, किंतु इतना ही पर्याप्त नहीं है। युग की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि व्यक्ति दीन-दुखियों की सेवा करे, उनके कल्याण के लिए, उन्हें सुखी बनाने के लिए अपना जीवन समर्पित कर दे। यह भाव भी व्यक्त किया गया कि ईश्वर दीन-दुखियों के हृदय में निवास करता है, इसलिए जो ईश्वर-भक्ति करना चाहता है, उसका प्रधान कर्तव्य यह है कि वह दलित और शोषित वर्ग के उद्धार के लिए साधना करे। जो प्रवृत्ति भारतेंदु की प्रसिद्ध पंक्ति 'कहां करुनानिधि केसव सोए' में मिलती है, वही विवेच्य काव्यधारा में भी दिखायी देती है। इस तरह के विचारों के मूल में भगवद्‌भक्ति और लोककल्याण की भावनाओं में समन्वय का प्रयास दिखायी देता है। ऐकांतिक लोकविमुख आध्यात्मिक साधना आधुनिक युग की आकांक्षाओं को तृप्त नहीं कर सकती, परंतु भक्ति या आध्यात्मिकता सर्वथा निरर्थक या उपेक्षणीय भी नहीं है। आध्यात्मिकता और सामाजिकता का समन्वय जीवन के चतुर्दिक् विकास के लिए अनिवार्य है। रामनरेश त्रिपाठी ने इस सत्य का बड़ी मार्मिकता के साथ प्रतिपादन किया है :

*मेरे लिए खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू*
*मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।*
*बन कर किसी के आंसू मेरे लिए बहा तू*
*मैं देखता तुझे था माशूक के बदन में।*

आलोच्य धारा की कई रचनाओं में प्रत्यक्ष रूप से देश की स्वाधीनता की मांग का, 'होमरूल' का समर्थन किया गया है। हमारा देश किसी और का अधिकार नहीं छीनना चाहता, हम तो केवल स्वराज्य—अपने देश के वर्तमान और भविष्य को बनाने का अधिकार—चाहते हैं। रामनरेश त्रिपाठी ने अपने युग की इस आकांक्षा को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है :

*करेंगे क्या ले कर अपवर्ग, हमारा भारत ही सुख-स्वर्ग।*
*नहीं है किसी लक्ष्य पर ध्यान, चाहिए केवल स्वत्व समान॥*
*इसे तज कर क्या तरु निर्मूल, करेंगे ले कर किंशुक फूल।*
*प्रकृत पुरुषों का जीवन-मूल, चाहिए केवल घर का रूल॥*

इस तरह की रचनाओं में कवित्व की अपेक्षा उपदेश का भाव ही अधिक है। वस्तुतः जब भी कविता किसी सामाजिक मांग को—चाहे वह स्वराज्य की मांग के समान महत्त्वपूर्ण ही क्यों न हो, ले कर चलती है, तो उसके कवित्व की प्रायः हानि होती है। एक तो यह खड़ीबोली-काव्य की आरंभिक अवस्था थी और तब तक भाषा का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था, और दूसरे, कवियों की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चेतना कविता या कविकर्म में केंद्रित न हो कर राष्ट्रीय आकांक्षा में केद्रित थी। इसलिए इस प्रकार की रचनाओं का महत्त्व केवल इनकी राष्ट्रीय चेतना के कारण ही है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि स्वाधीनता-आंदोलन के दो महत्त्वपूर्ण मूल्यों—असहयोग और आत्मबलिदान—के प्रभावस्वरूप इस धारा की अनेक रचनाओं में जनता को सरकार से असहयोग करने के लिए प्रेरित किया गया है। स्पष्ट है कि सरकार का विरोध करने पर, चाहे वह शांतिपूर्ण असहयोग ही क्यों न हो, लोगों में सरकार के दमनचक्र की निरंकुशता को सहने की शक्ति होनी चाहिए। इसलिए असहयोग के साथ-साथ सहिष्णुता पर भी विशेष बल दिया गया। यदि यह शांतिपूर्ण आंदोलन जीवन की बलि मांगता है, तो इसके लिए भी जनता को तैयार रहना चाहिए। सुभद्राकुमारी चौहान ने असहयोग और बलिदान की प्रेरणा देते हुए कहा है :

*विजयिनी माँ के वीर सुपुत्र, पाप से असहयोग ले ठान।*
*गुंजा डालें स्वराज्य की तान, और सब हो जावें बलिदान॥*

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने भी देश के युवकों को स्वतंत्रता की बलिवेदी पर मर-मिटने के लिए प्रेरित किया है :

*है बलिवेदी, सखे प्रज्वलित माँग रही ईंधन क्षण-क्षण,*
*आओ युवक, लगा दो तो तुम अपने यौवन का ईंधन।*
*भस्मसात हो जाने दो ये प्रबल उमंगें जीवन की,*
*अरे सुलगने दो बलिवेदी, चढ़ने दो बलि जीवन की॥*

कहीं-कहीं क्रांति और ध्वंस के स्वर भी सुनायी देते हैं। 'नवीन' जी की रचना 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये' इस विषय में प्रसिद्ध है। निराला की 'आवाहन' कविता में भी ध्वंस की बात कही गयी है :

*एक बार बस और नाच तू श्यामा!*
*सामान सभी तैयार,*
*कितने ही असुर, चाहिए कितने तुझको हार?*
*कर मेखला मुंड-मालाओं से बन-बन अभिरामा—*
*एक बार बस और नाच तू श्यामा!*
*भैरवी मेरी तेरी झंझा*
*तभी बजेगी मृत्यु लड़ाएगी जब तुझसे पंजा;*
*लेगी खड्ग और तू खप्पर,*
*उसमें रुधिर भरूंगा माँ*
*मैं अपनी अंजलि भर-भर...*

किंतु यह भाव विरल ही है; प्रधानता असहयोग और आत्मबलिदान के भावों की ही है। इस काव्यधारा की अनेक रचनाओं में मातृभूमि की महिमा का वर्णन करने के संदर्भ में उसे देवी के रूप में भी चित्रित किया गया है। निराला ने भारतमाता का चित्र इन पंक्तियों में व्यक्त किया है :

*भारति, जय विजय करे,*
*कनक, शस्य कमल धरे।*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*लंका पदतल शतदल,*
*गर्जितोर्मि सागर जल*
*धोता शुचि चरण धवल*
*स्तव कर बहु-अर्थ भरे।*

इस प्रकार की रचनाओं के द्वारा कवियों ने जनता में देश के प्रति प्रेम और भक्ति की भावनाएं उत्पन्न करने का प्रयास किया है। जिस देश ने हमें जीवन दिया है, जिसकी धूल में पल कर हम बड़े हुए हैं, क्या हम उसके दुःखों की उपेक्षा करके जीवन को सार्थक कर सकते हैं? स्पष्ट है कि स्वतंत्रता के संघर्ष-काल में प्रत्येक भारतवासी का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य था—देश की स्वाधीनता के लिए साधना करना। इस युग के प्रायः सभी कवियों ने देश के अतीत गौरव के प्रति अटूट श्रद्धा तो व्यक्त की ही है, साथ ही उनका यह दृढ़ विश्वास भी है कि शीघ्र ही देश पराधीनता और अत्याचार के दमनचक्र से मुक्त होगा और फिर से एक नयी, विराट और भव्य सामाजिक व्यवस्था का उदय होगा।

काव्य-मूल्यों की दृष्टि से राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य को स्पष्ट रूप से दो वर्गों में रखा जा सकता है। पहले वर्ग में तो वे रचनाएं आती हैं जो अपने युग-धर्म के साथ संबद्ध होने के कारण ही सार्थक हैं। ऐसी रचनाएं प्रायः वे हैं जो इस युग के विशिष्ट आंदोलनों या तात्कालिक उद्देश्यों को ध्यान में रख कर लिखी गयी थीं। दूसरे वर्ग में वे रचनाएं आती हैं जो अपने युग के लिए तो सार्थक हैं ही, साथ ही उनमें युग-निरपेक्ष उत्कर्ष की स्थिति भी दिखायी देती है। इन रचनाओं में केवल तात्कालिक सामाजिक-राजनीतिक उद्देश्य ही अभिव्यक्त नहीं हुए, अपितु इनमें मानव-जीवन को शक्ति प्रदान करने वाले साम्य, साधना, न्याय, स्वाधीनता आदि सामान्य मूल्यों की प्रतिष्ठा भी की गयी है।

## राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के प्रमुख कवि

**माखनलाल चतुर्वेदी :** माखनलाल चतुर्वेदी (1889-1968) का जन्म मध्यप्रदेश के ज़िला होशंगाबाद के गांव बाबई में हुआ था। इनके पिता गांव के स्कूल में अध्यापक थे, इसलिए इनकी आरंभिक शिक्षा वहीं हुई। ये एक सजग, संवेदनशील एवं उत्साही व्यक्ति थे और आरंभ से ही देश की दशा के प्रति जागरूक थे। इन पर सैयद अमीर अली 'मीर', स्वामी रामतीर्थ और माधवराव सप्रे का विशेष प्रभाव था। वैष्णव संस्कार तो इन्हें अपने परिवार से ही मिले थे। अपने जीवन का आरंभ इन्होंने एक अध्यापक के रूप में किया था, किंतु ये पत्रकारिता के क्षेत्र में भी कार्यशील रहे और इन्होंने 'प्रभा', 'प्रताप' तथा 'कर्मवीर' का संपादन किया। इनका उपनाम 'एक भारतीय आत्मा' था। आरंभ में ये क्रांति के दर्शन से प्रभावित हुए थे, किंतु बाद में इनकी आस्था गांधीवाद की ओर हुई। अपनी राजनीतिक सक्रियता के कारण इन्हें कई बार बंदी बनाया गया। जेल के जीवनकाल में इन्होंने अनेक कविताओं की रचना की। छायावाद-युग के इनके प्रमुख कविता संग्रह हैं—'हिमकिरीटिनी' और 'हिमतरंगिनी'। चतुर्वेदी जी की रचनाओं में देश के प्रति गंभीर प्रेम और देश-कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग की उत्कट भावना दिखायी देती है। इस मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को तभी सफलता मिल सकती है जब वह जीवन के सुख और वैभव को ठुकरा कर संघर्ष और साधना का मार्ग अपनाये। इन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा देशवासियों को इसी संघर्ष और साधना के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। इनकी कई रचनाओं में, विशेषकर आरंभिक रचनाओं में, आध्यात्मिक अनुभूति को भी वाणी मिली है। इनकी आध्यात्मिक भावना पर निर्गुण-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भक्ति, सगुण-भक्ति और रहस्य-भावना का प्रभाव दिखायी देता है, किंतु इनकी रचनाओं का प्रधान स्वर राष्ट्रप्रेम और आत्मोत्सर्ग का है।

**सियारामशरण गुप्त :** सियारामशरण गुप्त (1895-1963) का जन्म उत्तरप्रदेश के ज़िला झांसी के चिरगांव नामक ग्राम में हुआ था। ये मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई थे। रोग एवं पारिवारिक दुखों के कारण इनका जीवन अत्यंत दुःखमय रहा। वैसे ये सरसता एवं नम्रता की प्रतिमूर्ति थे। इनकी पहली रचना सन् 1910 में 'इंदु' पत्रिका में प्रकाशित हुई। इसके बाद 'सरस्वती' में कई रचनाएं छपीं। 'मौर्यविजय', 'अनाथ', 'दूर्वादल', 'विषाद', 'आर्द्रा', 'पाथेय', 'मृण्मयी', 'बापू', 'दैनिकी' आदि इनकी प्रसिद्ध काव्यकृतियां हैं। गांधीवाद में इनकी अटूट आस्था थी, इसलिए इनकी सभी रचनाओं पर अहिंसा, सत्य, करुणा, विश्वबंधुत्व, शांति आदि गांधीवादी मूल्यों का गहरा प्रभाव दिखायी देता है। जिन रचनाओं में इन्होंने प्राचीन भारतीय आख्यानों को आधार बनाया है, वहां भी ये इन्हीं मूल्यों की प्रतिष्ठा करते दिखायी देते हैं। विषय-प्रतिपादन और अभिव्यंजनाशैली की दृष्टि से जहां इन पर एक ओर द्विवेदीयुगीन रचना-पद्धति का प्रभाव लक्षित होता है, वहीं दूसरी ओर ये छायावादी शिल्प से भी प्रत्यक्षतः प्रभावित हैं। इनकी भाषा-शैली सरल और स्पष्ट है तथा इन्होंने बड़ी सफलता के साथ मुक्त छंद का प्रयोग किया है।

**बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' :** 'नवीन' जी (1897-1960) का जन्म ग्वालियर राज्य के भयाना गांव में हुआ था। ग्यारह वर्ष की आयु में इनकी शिक्षा का आरंभ हुआ। सन् 1917 में हाई स्कूल पास करने के बाद ये कानपुर पहुंचे, जहां गणेशशंकर विद्यार्थी ने इन्हे कॉलेज में दाख़िल करा दिया। किंतु सन् 1920 में ये गांधी जी के आह्वान पर कॉलेज छोड़ कर राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगे। अपने लंबे राजनीतिक जीवन के दौरान इन्हें कई बार जेल जाना पड़ा। देश के स्वाधीन होने पर ये पहले लोकसभा और फिर राज्यसभा के सदस्य रहे। कुछ समय तक इन्होंने 'प्रभा' और 'प्रताप' का भी संपादन किया था। इनकी रचनाएं सन् 1918 से ही पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी थीं, लेकिन इन्होंने उनको विधिवत् प्रकाशित कराने का कोई प्रयास नहीं किया। 'कुमकुम' (1939) इनका पहला कविता-संग्रह है। 'ऊर्मिला' काव्य को इन्होंने सन् 1934 में ही पूरा कर लिया था, किंतु उसका प्रकाशन 1975 ई. में हुआ। इसमें कवि ने उर्मिला के चरित्र के माध्यम से भारत की प्राचीन आर्यसंस्कृति के उज्ज्वल रूप को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कथानक को अपने परिवेश के यथार्थ से तथा भारतीय संस्कृति और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के संघर्ष से संबद्ध करने के लिए कवि ने कुछ प्रसंगों की अत्यंत कौशलपूर्वक संयोजना की है। इनके अन्य काव्यग्रंथ हैं—'अपलक', 'रश्मिरेखा', 'क्वासि' तथा 'हम विषपायी जनम के'।[1] 'नवीन' जी की रचनाओं में प्रणय और राष्ट्रप्रेम दोनों भावों की शक्तिशाली अभिव्यक्ति मिलती है। इनकी प्रणय-संबंधी रचनाओं में छायावादी प्रणय के समान स्वच्छंदता तथा प्रेम और मस्ती के काव्य जैसी मार्मिकता दिखायी देती है। इस रूप में 'नवीन' जी को परवर्ती प्रेम और मस्ती के काव्य के अग्रदूत के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इनकी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविताओं में अनुभूतियों का सीधा संबंध इनके जीवन के साथ है। देश की स्वतंत्रता तथा समाज की नयी रचना के लिए इन्होंने जो अथक साधना की थी, वही साधना निश्छल और सहज शक्ति के साथ इनकी राष्ट्रीय रचनाओं में भी दिखायी देती है। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के अन्य कवियों के समान ही इनके काव्य के प्रधान विषय हैं—अतीत की महिमा का गौरवगान, तत्कालीन भारतीय समाज की रुग्ण अवस्था के प्रति व्यथा और आक्रोश, भविष्य को अवतरित करने की कामना आदि। किंतु इनकी काव्यचेतना का एक पक्ष बिलकुल निजी और अनुभूति प्रधान है : "हम अनिकेतन, हम

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अनिकेतन, हम तो रमते राम हमारा क्या घर, क्या दर, कैसा वतन?'' कहीं तो ये अपने फक्कड़पन और मस्ती की अभिव्यक्ति करते हैं और कहीं नशे में गर्क हो जाना चाहते हैं : ''हो जाने दे ग़र्क नशे में, मत पड़ने दे फ़र्क नशे में।'' ये जिस ललक और उत्साह के साथ कर्म और साधना की ओर अग्रसर होते हैं, उसी आवेश और आसक्ति के साथ प्रणय में डूब जाना चाहते हैं। फलस्वरूप पहली दशा का संघर्ष और तनाव और दूसरी स्थिति की मदहोशी और मस्ती दोनों—कारण-कार्य-भाव से संबद्ध हो कर परस्पर पूरक से लगते हैं।

**सुभद्राकुमारी चौहान :** सुभद्रा जी (1905-1948) का जन्म प्रयाग ज़िले के निहालपुर गांव में हुआ था। इन्होंने प्रयाग में ही शिक्षा ग्रहण की। सन् 1921 में असहयोग-आंदोलन के प्रभाव से इन्होंने शिक्षा अधूरी ही छोड़ दी और ये राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगीं। अपने राजनीतिक कार्यों के कारण इन्हें कई बार जेल जाना पड़ा। काव्य-रचना की ओर इनकी प्रवृत्ति विद्यार्थी काल से ही थी। इनकी कविताएं 'त्रिधारा' और 'मुकुल' में संकलित हैं। भाव की दृष्टि से इनकी कविताओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में राष्ट्रप्रेम की कविताएं रखी जा सकती हैं, जिनमें इन्होंने असहयोग या आज़ादी की लड़ाई में भाग लेने वाले वीरों को अपना विषय बनाया है। इनकी 'झांसी की रानी' कविता तो सामान्य जनता में बहुत प्रसिद्ध हुई है। दूसरे वर्ग के अंतर्गत वे कविताएं रखी जा सकती हैं, जिनकी प्रेरणा इन्हें अपने पारिवारिक जीवन से प्राप्त हुई है। ऐसी कविताओं में कुछ तो पतिप्रेम की भावना से अनुप्राणित हैं और कुछ में संतान के प्रति वात्सल्य की सहज एवं मार्मिक अभिव्यक्ति मिलती है। इनकी भाषा-शैली भावों के अनुरूप सरलता और गति लिये हुए है।

**अन्य कवि :** छायावाद-युग में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा के विकास में जिन अन्य कवियों ने उल्लेखनीय योग दिया अथवा इस धारा के परवर्ती प्रमुख कवियों में से जिन कवियों की एक-दो कृतियां आलोच्य काल में प्रकाश में आयीं, उनमें रामनरेश त्रिपाठी, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथप्रसाद मिलिंद, दिनकर आदि का उल्लेख आवश्यक है। **रामनरेश त्रिपाठी** (1889-1960) ने 'मानसी' (1927)की कतिपय देशभक्तिपरक कविताओं के अतिरिक्त 'पथिक' (1920) और 'स्वप्न' (1929) शीर्षक खंडकाव्यों में काल्पनिक कथाओं के माध्यम से देश के उद्धार के लिए आत्मोत्सर्ग की भावना को व्यक्त किया है। दोनों काव्यों के नायक सामान्य जनता के प्रतिनिधि हैं। 'पथिक' का नायक जनजीवन के वैषम्य को दूर करने के उद्देश्य से राजतंत्र से लोहा लेता है और अंत में इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपना तथा अपने परिवार का बलिदान कर देता है। 'स्वप्न' में कवि ने एक ऐसे संवेदनशील नायक की कथा का वर्णन किया है, जो पहले तो स्वार्थ और लोकसेवा अथवा व्यक्तिगत सुख और समाज-कल्याण में विरोध देखता है, किंतु फिर उसे कर्तव्य का बोध होता है और वह देश के कल्याण के लिए पूरी शक्ति से कर्मलीन होता है। 'पथिक' के विपरीत इस काव्य का अंत सुखद है। इन दोनों काव्यों में कवि ने राष्ट्रसेवा के आदर्श की स्थापना की है तथा समाज-विरोधी शक्तियों के प्रति विद्रोह करने की प्रेरणा दी है। इस प्रकार ये कल्पित कथानक भी सहज ही कवि के सामाजिक यथार्थ से संबद्ध हो कर अधिक सार्थक बन गये हैं। **उदयशंकर भट्ट** (1898-1966) के आख्यान-काव्य 'तक्षशिला' (1929) की गणना भी प्रस्तुत काव्यधारा के अंतर्गत की जा सकती है। भारत की सांस्कृतिक गुण-गाथा की अभिव्यक्ति इस रचना का मुख्य अभीष्ट है। **जगन्नाथप्रसाद मिलिंद** (1907-1986) के 'जीवन संगीत' में भारत के सांस्कृतिक गौरव, राष्ट्रीय चेतना और बलिदान की भावना को व्यक्त करने वाली कविताएं संकलित हैं। इनकी रचना 1922 से 1936 के मध्य हुई थी। **दिनकर**-कृत

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तक पहुंच जाती है, जिससे आगे जाने की संभावना नहीं रहती। हां, कोई चाहे तो दिशा अवश्य बदल सकता है। महादेवी की 'दीपशिखा' की ये पंक्तियां देखिए :

*झर चुके तारक-कुसुम जब*
*रश्मियों के रजत-पल्लव,*
*सन्धि में आलोक-तम की*
*क्या नहीं नभ जानता तब,*
*पार से, अज्ञात वासन्ती*
*दिवस-रथ चल चुका है।*

इन पंक्तियों में अर्थ के तीन पक्षों का एक साथ निर्वाह किया गया है। यहां प्रतिपाद्य तो है जीवन की साधना का वह अंतिम क्षण, जब इस लौकिक जीवन की समाप्ति के बाद एक लोकोत्तर आनंदमय चेतना का आभास होने लगता है, किंतु इस अर्थ के लिए दोहरा अप्रस्तुत है या यों कहना चाहिए कि अप्रस्तुत-दर-अप्रस्तुत है। एक अप्रस्तुत तो है प्रातःकाल का; जब तारे तथा चंद्रमा की किरणें धूमिल होने लगती हैं और वासंती प्रकाश वाले सूर्य का रथ क्षितिज के उस ओर से आता दिखायी देता है तथा दूसरा अप्रस्तुत है पतझर की समाप्ति की बेला का, जब कुसुमों और पल्लवों के झर जाने के बाद वसंत के आगमन की सूचना मिलने लगती है। आलोक और तम की संधि का प्रयोग मृत्यु के लिए हुआ है और नभ का चेतना के लिए। ऐसी पंक्तियों को देख कर 'सनि-कज्जल चखु-झखु लगनु' जैसे बिहारी के दोहों का स्मरण हो आता है। किंतु अर्थ-गांभीर्य में समानता होने पर भी छायावादी रचनाओं की अभिव्यंजना की सूक्ष्मता का वैशिष्ट्य भी अनायास स्पष्ट हो जाता है।

छायावादी काव्य के मूल स्वरूप को समझने के लिए उसे ऐतिहासिक संदर्भ में रख कर देखना अनिवार्य है। द्विवेदीयुगीन काव्य विषयनिष्ठ, वर्णनप्रधान और स्थूल था। इसके विपरीत छायावादी काव्य व्यक्तिनिष्ठ और कल्पनाप्रधान है। प्रसाद, निराला आदि कवियों ने अधिकतर अपनी सुख-दुःखमयी अनुभूति को ही मुखर किया है। जिस प्रकार द्विवेदीयुगीन कविता में सृष्टि की व्यापकता और अनेकरूपता को समेटने का प्रयास है, उसी प्रकार छायावादी काव्य में मनोजगत की गहराई को वाणी में संजोने का प्रयत्न किया गया है। मनोजगत का सत्य सूक्ष्म होता है, जिसे सर्जना द्वारा साकार करने के लिए छायावादी कवियों ने उर्वरा कल्पना-शक्ति का उपयोग किया है। कल्पना का उपयोग अनुभूति के विविध पक्षों और प्रसंगों की उद्भावना में भी किया गया है और उन्हें व्यक्त करने वाले प्रतीकों तथा बिंबों की सर्जना में भी। इसीलिए छायावादी अभिव्यंजना-पद्धति विशिष्ट और सांकेतिक हो गयी है।

छायावादी कवियों ने प्रधान रूप से प्रणय की अनुभूति को व्यक्त किया है। उनकी कविताओं में प्रणय से संबद्ध विविध मानसिक अवस्थाओं का—आशा, आकुलता, आवेग, तल्लीनता, निराशा, पीड़ा, अतृप्ति, स्मृति, विषाद आदि का—अभिनव एवं मार्मिक चित्रण मिलता है। रीतिकालीन काव्य में शृंगार की अभिव्यक्ति नायक-नायिका आदि के माध्यम से हुई है, किंतु छायावादी कवियों की अनुभूति की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष है। यहां कवि और पाठक की चेतना के बीच अनुभूति के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता की स्थिति नहीं है। स्वानुभूति को इस भांति चित्रित किया गया है कि सामान्य पाठक सहज ही उसमें तल्लीन हो जाता है। स्वानुभूति के संप्रेषण के लिए यह आवश्यक है कि कवि उसे निजी संबंधों और प्रसंगों से मुक्त करके लोकसामान्य अनुभूति के रूप

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में प्रस्तुत करे। छायावादी कवि की प्रणयानुभूति की अभिव्यक्ति भी इसी लोक-सामान्य स्तर पर हुई है। छायावादी काव्य अनुभूति के स्तर पर मानव-मात्र की एकता की स्थापना करने में समर्थ हुआ है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि यही उसका उद्देश्य था। शृंगारपरक रचनाओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कवियों ने तो मूल रूप से स्वानुभूति में केंद्रित हो कर ही सर्जना की है। यह दूसरी बात है कि कल्पना के माध्यम से निजी अनुभूति का इस भांति संस्कार कर लिया गया है कि वह मानव-मात्र के हृदय को तल्लीन करने में समर्थ हो सके। छायावादी काव्य के स्वरूप के संबंध में यह सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि उसमें कवि की अनुभूति की प्रधानता है और यह अनुभूति कवि-प्रतिभा द्वारा परिष्कृत हो कर ऐसे सौंदर्यमय रूप में व्यक्त होती है, जो सभी सहृदयों को अपने में सहसा आसक्त कर लेती है। छायावादी काव्य में अनुभूति की इस प्रधानता के कारण ही उसे स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह माना गया है।

छायावादी काव्य की चेतना व्यक्तिनिष्ठ और सूक्ष्म होते हुए भी मूर्त उपकरणों द्वारा व्यंजित की गयी है। जैसे ही हम मूर्त उपकरणों का उल्लेख करते हैं, हमारा ध्यान छायावादी चेतना के सौंदर्य-पक्ष की ओर आकृट हो जाता है। जिस प्रकार प्रसाद ने 'संकल्पात्मक अनुभूति' की व्याख्या करते हुए 'मूल चारुत्व' की बात की है, उसी प्रकार महादेवी भी सत्य को काव्य का साध्य मानती हैं और सौंदर्य को उसका साधन। सौंदर्य के स्वरूप पर विचार करते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका प्रधान स्रोत प्रकृति है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि छायावादी कवियों ने मानव के सौंदर्य का चित्रण नहीं किया। नारी के शारीरिक सौंदर्य के अनेक मोहक चित्र प्रणय की कविताओं में बिखरे हुए मिलते हैं। यह सौंदर्य प्रत्यक्ष रूप से नायिका के रूप-वर्णन में भी दिखायी देता है, जैसे प्रसाद-कृत 'आंसू' तथा 'कामायनी' में प्रस्तुत किया गया नायिका का सौंदर्य या पंत-कृत 'भावी पत्नी के प्रति' में व्यक्त नायिका का सौंदर्य और परोक्ष तथा सांकेतिक रूप में भी लक्षित होता है निराला की 'जूही की कली' में। इन कवियों की सौंदर्य-भावना ने प्रकृति के विविध दृश्यों को अनेक कोमल-कठोर रूपों में साकार किया है। प्रथम पक्ष के अंतर्गत प्रसाद की 'बीती विभावरी जाग री', निराला की 'संध्या-सुंदरी', पंत की 'नौका-विहार' आदि कविताओं का उल्लेख किया जा सकता है, जबकि 'कामायनी' का प्रलय-वर्णन, निराला की 'बादल-राग' कविता तथा पंत की 'परिवर्तन' जैसी रचनाआं में प्रकृति के कठोर रूपों का चित्रण भी मिलता है। छायावादी काव्य में अनुभूति और सौंदर्य के स्तर पर प्राय: मानव और प्रकृति के भावों और रूपों का तादात्म्य दिखायी देता है।

छायावादी कविता अपनी आरंभिक अवस्था में व्यक्तिनिष्ठ, अनुभूतिप्राण और सौंदर्यमयी रही है, किंतु बाद में जब कवियों की दृष्टि जीवन के अन्य प्रसंगों की ओर गयी तो कवि व्यक्तिनिष्ठ परिधि से बाहर निकल आये, लेकिन अनुभूति और सौंदर्य की कल्पनामयी अभिव्यक्ति के कारण जीवन के बाह्य प्रसंगों को चित्रित करने वाली रचनाएं भी एक अपूर्व दीप्ति और शक्ति से अलंकृत हो गयीं। उदाहरण के लिए, प्रसाद की 'प्रलय की छाया', निराला की 'राम की शक्तिपूजा' और पंत की 'परिवर्तन' शीर्षक कविताएं जीवन के मूर्तस्थूल आख्यानों और प्रसंगों को या प्रकृति की परिवर्तनशीलता के तथ्य को चित्रित करती हुई भी तीव अनुभूति की अविच्छिन्न धारा के कारण तथा सौंदर्यमय सांकेतिक बिंब-विधान के कारण सहज ही छायावादी काव्य की मूल भावमूलक संवेदना से जुड़ जाती हैं। इस प्रकार छायावाद की अंतर्मुखी अनुभूतिप्रधान मूल चेतना ने,सृष्टि के बाह्य और स्थूल पक्ष के चित्रण में नयी स्फूर्ति और आवेग का संचार किया।

इसमें संदेह नहीं कि छायावादी भावबोध स्वानुभूति और सौंदर्यप्रधान कल्पना द्वारा ही निर्मित

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हुआ है। किंतु छायावादी काव्य की अनुभूति केवल मन के स्तर पर ही नहीं रुक जाती अपितु वह और भी गहरी उतरती हुई आत्मा के लोक में संचरण करने लगती है। छायावादी कवि की दृष्टि अंतर्मुखी होती हुई पहले तो मन के स्तर पर संचरण करती दिखायी देती है, किंतु वहां भी उसका पूर्ण परितोष नहीं होता और वह आत्मा तक पहुंच जाती है। पहले तो छायावादी काव्य भाव के स्तर पर अंत:सृष्टि और बाह्य सृष्टि की एकता की स्थापना करता है और फिर आध्यात्मिकता के स्तर पर इसी ऐक्य को मूल सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करता है। प्रसाद की अनुभूति शैव दर्शन में परिणत होती चली जाती है, निराला अद्वैत और भक्ति के क्षेत्र में साधना करते दिखायी देते हैं, पंत की काव्य-दृष्टि सृष्टि में व्याप्त मूल अक्षर सत्य का उद्घाटन करती हैं और महादेवी निराकार सर्वव्यापक प्रिय की भावना को ही काव्य का प्राण मानती हैं। इस प्रकार छायावादी चेतना की अंतर्मुखी दृष्टि में सृष्टि का निषेध नहीं है, वरन् आध्यात्मिकता के स्तर पर सृष्टि की साग्रह स्वीकृति के साथ वह कर्मवाद से जुड़ जाती है। आधुनिक युग के पुनर्जागरण के आंदोलन ने आध्यात्मिक सत्य का जो रूप स्वीकार किया था, वह छायावादी संवेदना का भी अंतरंग मूल्य बन गया है। आध्यात्मिकता सत्य को स्वीकार करते हुए लौकिक यथार्थ के स्थूल और व्यापक सत्य की स्वीकृति विचार की दृष्टि से छायावादी भावबोध की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसीलिए यह काव्य निराशा और अकर्मण्यता के स्थान पर आशा, आत्मविश्वास और कर्मवाद की प्रखरता से युक्त है।

काव्य-रूपों की दृष्टि से भी छायावादी काव्य अत्यंत समृद्ध है। एक ओर उसमें गीतों और मुक्त छंद की कविताओं की अधिकता है, तो दूसरी ओर 'आंसू' एवं 'तुलसीदास' जैसे खंडकाव्य भी मिलते हैं और 'कामायनी' महाकाव्य में तो छायावादी संवेदना अपनी समग्रता में मूर्तिमान दिखायी देते हैं। इनके अतिरिक्त 'प्रलय की छाया' (प्रसाद), 'राम की शक्तिपूजा' (निराला) और 'परिवर्तन' (पंत) जैसी लंबी कविताएं भी मिलती हैं, जिन्हें काव्यरूप की दृष्टि से किसी पारंपरिक सांचे में नहीं रखा जा सकता। अभिव्यंजना की सांकेतिकता और वक्रता भी छायावादी कवियों की उल्लेखनीय उपलब्धि है।

## छायावादी कवि

**जयशंकर प्रसाद :** कविवर जयशंकर प्रसाद (1890-1937) का जन्म काशी के एक संपन्न घराने में हुआ था, जो 'सुंघनी साहु' नाम से प्रसिद्ध था। इन्होंने आठवीं कक्षा तक शिक्षा पाने के बाद घर पर ही संस्कृत, हिंदी, उर्दू और अंग्रेज़ी सीखी। प्रारंभ में इन्होंने ब्रजभाषा में कविताएं लिखीं, किंतु बाद में खड़ीबोली में कविता करने लगे। इनकी काव्य-कृतियों में भाषा, छंद, भाव आदि की दृष्टि से अनेकरूपता दिखायी देती है। कवि होने के साथ-साथ ये गंभीर चिंतक भी थे। 'कामायनी' में इन्होंने यंत्र और तर्क पर आधारित समाज के चित्रण के साथ-साथ शैव दर्शन की अभिव्यक्ति भी की है। इस प्रकार आधुनिक होते हुए भी प्रसाद सहज ही प्राचीन गरिमाशाली परंपरा से जुड़ जाते हैं। इनकी काव्य-रचनाएं हैं—'उर्वशी' (1909), 'वनमिलन' (1909), 'प्रेमराज्य' (1909), 'अयोध्या का उद्धार' (1910), 'शोकोच्छ्वास' (1910), 'वभ्रुवाहन' (1911), 'कानन-कुसुम' (1913), 'प्रेम पथिक' (1913), 'करुणालय' (1913), 'महाराणा का महत्त्व' (1914), 'झरना' (1918), 'आंसू' (1925), 'लहर' (1933) और 'कामायनी' (1935)। 'प्रेम-पथिक' की रचना पहले ब्रजभाषा में की गयी थी, किंतु बाद में उसे खड़ीबोली में रूपांतरित कर दिया गया। यह भी उल्लेखनीय है कि 'कानन-कुसुम' और 'झरना' के परवर्ती संस्करणों में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कवि ने कुछ नयी कविताओं का समावेश किया तथा 'आंसू' में चौसठ छंद और जोड़ दिये। स्पष्ट है कि 'झरना' के पूर्व की सभी रचनाएं द्विवेदी-युग के अंतर्गत लिखी गयी थीं। प्रसाद जी की आरंभिक शैली बहुत-कुछ अयोध्यासिंह उपाध्याय की संस्कृतगर्भित शैली से मिलती-जुलती है, जो स्थूल और बहिर्मुखी है। छायावादी प्रवृत्तियों के दर्शन सबसे पहले 'झरना' में होते हैं। इनकी अनेक कविताओं में कवि ने अंतर्मुखी कल्पना द्वारा सूक्ष्म भावनाओं को व्यक्त करने का प्रयास किया है। बाह्य सौंदर्य का चित्रण करते हुए भी उन्होंने उसके सूक्ष्म और मानसिक पक्ष को व्यक्त करने की ओर ध्यान दिया है। 'आंसू' का आरंभ कवि की विरह-वेदना की अभिव्यक्ति से हुआ है :

*इस करुणा कलित हृदय में*
*अब विकल रागिनी बजती*
*क्यों हाहाकार स्वरों में*
*वेदना असीम गरजती?*

इसके अंत में यह छंद दिया गया है :

*सबका निचोड़ ले कर तुम*
*सुख से सूखे जीवन में*
*बरसो प्रभात हिमकन-सा*
*आँसू इस विश्व-सदन में।*

इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि कवि ने आरंभिक व्यक्तिगत वेदना को भूल कर अंत में 'आंसू' को विश्व-कल्याण की भावना के साथ संबद्ध कर दिया है। जिस प्रकार राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के कवियों में स्वार्थ का निषेध कर समाज (भारतीय समाज) के कल्याण के भाव की प्रतिष्ठा दिखायी देती है, उसी प्रकार छायावादी कवि भी व्यक्तिगत वेदना से ऊपर उठ कर करुणा या विश्व-कल्याण की भावना की अभिव्यक्ति करने लगते हैं। 'आंसू' काव्य की आत्मिक और अंतिम मनोभूमि में इतना व्यवधान दिखायी देता है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे मेधावी आलोचक ने उस पर आक्षेप करते हुए कहा है : "कहने का तात्पर्य यह है कि वेदना की कोई एक निर्दिष्ट भूमि न होने से सारी पुस्तक का कोई एक समन्वित प्रभाव नहीं निष्पन्न होता।"[3] किंतु ध्यान देने की बात यह है कि 'आंसू' एक स्मृति-काव्य है। कवि ने अतीत जीवन की अनुभूतियों को स्मृति के माध्यम से दर्द-भरी अभिव्यक्ति दी है। यही कारण है कि 'आंसू' की भावभूमि स्थायी नहीं, विकासशील है। उसमें कवि का अतीत (जो स्मृति-पथ पर आता है) ही नहीं, उसका वर्तमान भी संयुक्त है। इसलिए अंत तक आते-आते कवि अपने व्यक्ति जीवन के नैराश्य और अवसाद से ऊपर उठ कर अपनी वेदना को करुणा के रूप में, विश्व-प्रेम के रूप में रूपांतरित कर देता है। इसका कारण स्पष्ट है—छायावादी काव्य निराशावादी काव्य नहीं है, वह मानव-समाज के लिए कल्याण की कामना से अलंकृत है। इसलिए छायावादी कवियों की व्यक्तिगत निराशा ही करुणा और विश्व-प्रेम का रूप ग्रहण कर लेती है, जहां पहुंच कर कवि सारे संसार की वेदना को ख़ुद स्वीकार करके विश्व-जीवन को सुखमय बनाना चाहता है। इस दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि 'आंसू' में प्रसाद की अनुभूति व्यक्तिगत निराशा के गर्त्त से निकल कर विश्ववेदना के साथ तादात्म्य स्थापित करती हुई मानव-जीवन को सुखी बनाने के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लिए आकुल हो उठती है।

'लहर' में प्रसाद की गीतकला का उत्कृष्ट रूप दिखायी देता है। इन गीतों में कहीं तो प्रकृति के सौंदर्य का वर्णन है और कहीं प्रणय की तीव्र अनुभूति का, कहीं करुणा की अभिव्यक्ति है तो कहीं रहस्यवादी संकेत दिखायी देते हैं। 'शेरसिंह का शस्त्रसमर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'प्रलय की छाया' में कवि ने मुक्त छंद में ऐतिहासिक प्रसंगों की शक्तिशाली और मार्मिक अवतारणा की है। कल्पना की मनोरमता, भावुकता और भाषा-शैली में प्रौढ़ता को इनकी रचनाओं में सर्वत्र देखा जा सकता है।

'कामायनी' प्रसाद की अंतिम कृति है। इसके कथानक का आधार वह प्राचीन आख्यान है, जिसके अनुसार मनु के अतिरिक्त संपूर्ण-देव जाति प्रलय का शिकार हो जाती है और मनु तथा श्रद्धा या कामायनी के संयोग से मानव-सभ्यता का प्रवर्तन होता है। इसका कथानक बहुत संक्षिप्त है, लेकिन कवि ने इसमें जीवन के अनेक पक्षों को समन्वित करके मानव-जीवन के लिए एक व्यापक आदर्श व्यवस्था की स्थापना का प्रयास किया है। 'कामायनी' के एक संदर्भ का संबध मनु और श्रद्धा के व्यक्तिगत जीवन और प्रणय के साथ है। इड़ा के चरित्र का एक अंश भी इस प्रसंग से संबद्ध है। प्रसाद ने इन प्रमुख पात्रों के चरित्रांकन में मनुष्य की अनुभूतियों, कामनाओं और आकांक्षाओं की अनेकरूपता का वर्णन किया है। यह 'कामायनी' की चेतना का मनोवैज्ञानिक पक्ष है। कवि ने मनु आदि के माध्यम से मानव मात्र के मनोजगत के विविध पक्षों का चित्रण 'चिंता', 'आशा', 'वासना', 'ईर्ष्या', 'संघर्ष', 'आनंद' आदि सर्गों में किया है।

'कामायनी' केवल मनु आदि के व्यक्ति-जीवन की ऐतिहासिक कथा ही नहीं है, इन पात्रों की सांकेतिक व्यंजनाएं भी उसमें हैं, जिन्हें स्वयं कवि ने 'कामायनी' की भूमिका में स्वीकार किया है : ''यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का संबंध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।'' कवि की इस उक्ति के आधार पर 'कामायनी' में रूपकतत्त्व के विशद विवेचन का प्रयास भी किया जाता है। किंतु ध्यान देने की बात यह है कि प्रसाद ने 'रूपक' शब्द का प्रयोग 'इतिहास' के संदर्भ में किया है, 'कामायनी' के संदर्भ में नहीं। 'कामायनी' के संदर्भ में तो कवि ने मनु आदि पात्रों के ऐतिहासिक व्यक्तित्व को ही प्रधान माना है—हां, उनके 'सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति' में उन्हें 'कोई आपत्ति नहीं' है। इस दृष्टि से 'कामायनी' की समग्रता में ही समासोक्ति का विधान लक्षित होता है।

'कामायनी' में बुद्धिवाद के विरोध में हृदयतत्त्व की प्रतिष्ठा करते हुए कवि ने शैव दर्शन के आनंदवाद को जीवन के पूर्ण उत्कर्ष का साधन माना है। जहां उन्होंने काम को 'मंगल से मंडित श्रेय' माना है, वहां श्रद्धा की प्रेरणा से मनु को कामना के बंधनों से ऊपर उठ कर सामरस्य के आनंद की उपलब्धि में तत्पर दिखाया है। इसी क्रम में कवि ने सारस्वत प्रदेश की यंत्राश्रित सभ्यता के वर्णन में अपनी समकालीन सामाजिक व्यवस्था की विषमता का चित्रण भी किया है। इस प्रकार 'कामायनी' को उन्होंने अपने परिवेश से संबद्ध करने का प्रयास किया है, किंतु इस संदर्भ को ले कर इस कृति की आलोचना भी की गयी है। अनेक विद्वानों का कहना है कि लोकमंगल की भावना को मुखरित करते हुए भी 'कामायनी' की चेतना मूलतः व्यक्तिवादी-अध्यात्मवादी चेतना है, जो अपने युग के यथार्थ की समस्याओं का यथार्थ के धरातल पर समाधान करने में असमर्थ रही है। वास्तव में किसी भी काव्य को सभी दृष्टियों से पूर्ण और आदर्श काव्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

न तो माना गया है और न ही संभवत: माना जा सकेगा, क्योंकि व्यक्ति और समाज के स्तर पर जीवन के विकास की संभावनाएं असंख्य एवं असीम हैं। इसलिए 'कामायनी' अपनी सीमाओं के बावजूद हिंदी-साहित्य की एक गौरवशाली उपलब्धि है।

**सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'** : निराला जी (1897-1962) का जीवन अनेक अभावों एवं विपत्तियों से पीड़ित रहा, किंतु इन्होंने किसी विपत्ति के सामने झुकना नहीं सीखा। अभावों की तीव्र एवं मर्मांतक व्यथा को झेलते हुए ये भी साधना में तल्लीन रहे। मगर कब तक कोई इस तरह जी सकता है? निराला का मन और बुद्धि तो संघर्षों की उपेक्षा करते हुए अविचलित रहे, किंतु उनकी चेतना के भीतर जैसे कुछ टूट रहा था, घुल रहा था। उनके जीवन के अंतिम वर्ष जहां उनकी चेतना के अथक अविचल संघर्ष की कहानी कहते हैं, वहीं उनके जीवन की विपत्तियों और व्यथाओं की दुर्निवार शक्ति को भी व्यंजित करते हैं। सन् 1916 से 1958 तक निराला निरंतर काव्य-साधना में तल्लीन रहे। उनकी छायावादयुगीन रचनाएं हैं—'अनामिका' (1923), 'परिमल' (1930), 'गीतिका' (1936), 'तुलसीदास' (1938)। कुछ अर्से तक निराला ने 'मतवाला' और 'समन्वय' का संपादन भी किया।

निराला को केवल व्यक्ति के रूप में ही परिस्थितियों का तीव्र विरोध नहीं सहना पड़ा, वरन् कवि के रूप में भी उनका प्रबल विरोध हुआ। इसका प्रधान कारण तो उनकी मौलिकता है, जो कवि के दीप्त अहंकार की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। सन् 1916 में 'जूही की कली' का प्रकाशन उस युग के साहित्यचेताओं के लिए एक चुनौती बन कर सामने आया। उसमें व्यक्त प्रणय-केलि के चित्र और मुक्त छंद का शक्तिशाली शिल्प—दोनों ही तत्कालीन मान्यताओं से मेल नहीं खाते थे। किंतु निराला अपनी धुन के पक्के और फक्कड़ स्वभाव के व्यक्ति थे। इसलिए उन्होंने सबकी उपेक्षा की। उनके काव्य में आरंभ से ही विविधता के दर्शन होते हैं। यह विविधता भाषागत भी है और भावगत भी, विचारगत भी है और शिल्पगत भी। उदाहरणार्थ, 'परिमल' में गीत भी हैं और मुक्त छंद भी, मधुर भावों से अनुप्राणित प्रणयगीत भी हैं और ओजपूर्ण रचनाएं भी। उसमें 'अधिवास' और 'पंचवटी-प्रसंग' जैसी दर्शनप्रधान रचनाएं भी हैं और 'भिक्षुक' तथा 'विधवा' जैसी कविताएं भी, जिनमें यथार्थ का तीव्र दंश दिखायी देता है। निराला की एक ही समय की रचनाओं में दिखायी देने वाली यह अनेकरूपता संभवत: उनके अध्ययन के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण संकेत है। अन्य कवियों की, जैसे पंत की, अनेकरूपता काल में विस्तृत साधना की विशेषता है। जैसे-जैसे युग बदलता है, कवि यथार्थ के नये स्तरों और आयामों के प्रति सजग होता चलता है। किंतु निराला अद्वैतदर्शन से भिखारी के जीवन तक फैले युग सत्य के विविध स्तरों और आयामों को मानो एक साथ ही अपनी साधना में समेट लेना चाहते हैं। यह सूक्ष्म गवेषणा का विषय है कि उनके जीवन में जो बिखराव आया, उसे चेतना और शिल्प के उनके आरंभिक बिखराव (या विस्तार)से कहां तक संबद्ध किया जा सकता है?

निराला की रचनाओं पर दर्शन का प्रत्यक्ष और गंभीर प्रभाव है। 'अधिवास', 'पंचवटी-प्रसंग', 'तुम और मैं' आदि रचनाओं में कवि ने दार्शनिक सत्य को रूपायित करने का प्रयास किया है। 'परिमल' और 'गीतिका' में प्रार्थना और वंदना के गीत भी मिलते हैं, जो मध्यकालीन भक्ति-परंपरा से जोड़े जा सकते हैं। आध्यात्मिकता के प्रति निष्ठा होने के कारण कवि में कहीं-कहीं रहस्यवादी भावना के भी दर्शन होते हैं। यह आध्यात्मिकता सहज ही कवि की सांस्कृतिक चेतना से समन्वित हो जाती है। निराला में भी पुनर्जागरण के प्रभाव के फलस्वरूप प्राचीन भारतीय परंपरा के प्रति निष्ठा का भाव है और वे भी भारतीय संस्कृति के उन मूल्यों के संधान का प्रयास करते

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हैं, जो वर्तमान जीवन की प्रेरणा दे सकें।

'तुलसीदास' में कवि ने गोस्वामी तुलसीदास के माध्यम से भारतीय परंपरा के गौरवशाली मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। इस खंडकाव्य में उन्होंने लोक में प्रचलित उस कथा को आधार बनाया है, जिसके अनुसार यह माना जाता है कि जब तुलसीदास बिना बुलाये अपनी पत्नी रत्नावली से मिलने के लिए उसके नैहर पहुंचे, तब उसने उन्हें फटकारा, जिसका प्रभाव यह हुआ कि तुलसीदास गृहस्थ-जीवन को त्याग कर रामोपासना में लीन हो गये। काव्य के आरंभ में कवि ने मध्यकालीन भारत की पतित अवस्था का चित्रण किया है, जिसका कारण है भारत पर विदेशी शासन की स्थापना। इस संदर्भ में निराला ने जीवन के सभी पक्षों के विघटन और ह्रास का शक्तिशाली चित्रण किया है। इस भूमिका के द्वारा उन्होंने नायक के सामाजिक परिवेश को अंकित किया है, किंतु अभी तक तुलसीदास इस विषमता के प्रति सजग नहीं हैं। फिर वे अपने मित्रों के साथ घूमने के लिए चित्रकूट जाते हैं। वहां प्रकृति की निर्मल और सात्त्विक शोभा से उनका हृदय आंदोलित हो उठता है। उधर रत्नावली के रूप का सम्मोहन तुलसीदास की चेतना को ग्रस लेता है। जब वे बिना बुलाये पत्नी से मिलने उसके नैहर पहुंच जाते हैं, तो रत्नावली की कटूक्तियों से उनकी चेतना मुक्त होती है और ऊर्ध्व की ओर संचरण करने लगती है। इस प्रकार कवि ने व्यक्तिगत सुख और जीवन के महान एवं व्यापक मूल्यों के बीच संघर्ष दिखला कर अंत में उदात्त मूल्यों की विजय दिखायी है।

निराला युगीन यथार्थ के प्रति भी अत्यंत सजग थे। कुछ तो उनके निजी जीवन की पीड़ा ने और कुछ उनकी प्रखर मुक्त प्रतिभा ने उन्हें यथार्थ के विषम एवं निम्नतर पक्षों की ओर भी आकृष्ट किया। यह आकर्षण कहीं तो करुणा के रूप में व्यक्त हुआ है और कहीं व्यंग्य और उपहास के रूप में।

'राम की शक्तिपूजा' निराला की ही नहीं, संपूर्ण छायावादी काव्य की एक उत्कृष्ट उपलब्धि है। इसमें कवि ने एक ऐतिहासिक प्रसंग के द्वारा धर्म और अधर्म के शाश्वत संघर्ष का चित्रण किया है। राम धर्म के प्रतीक हैं और रावण अधर्म का। इस कविता में अधर्म का चित्रण एक प्रचंड शक्ति के रूप में हुआ है,जिसके सामने एक बार तो राम का साहस भी कुंठित होने लगता है। यह स्थिति एक ओर तो कवि के व्यक्तिगत जीवन के भयानक संघर्ष से संबद्ध हो जाती है और दूसरी ओर युगीन यथार्थ की विकरालता को भी व्यंजित करती है। अंत में राम शक्ति की 'मौलिक कल्पना' करते हैं, उसकी आराधना करते हैं और अधर्म के विनाश के लिए सक्षम होते हैं। शक्ति की उपासना में एक ओर तो परंपरागत सत्य की स्वीकृति का संकेत निहित है, और दूसरी ओर 'मौलिक कल्पना' इस बात पर बल देती है कि प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों का युगानुरूप संशोधन अनिवार्य है। इस कविता में विविध भावों और भाषा के विविध रूपों के दर्शन होते हैं, जो कवि की शक्ति के विविध पक्षों की अन्विति का परिणाम है।

निराला की अधिकांश रचनाओं की भाषा संस्कृतगर्भित है और उसमें समास की अधिकता है। पदों के प्रयोग में कवि ने गेयता का विशेष ध्यान रखा है, कहीं तो गेयता का गुण ही इतना प्रधान हो गया है कि अर्थ की संगति ही नहीं बैठ पाती। लेकिन प्राय: कवि ने समस्त पदावली के प्रयोग द्वारा उपयुक्त लय और अर्थ-गांभीर्य की अभिव्यक्ति की है। 'राम की शक्तिपूजा' में राम-रावण युद्ध का वर्णन करते हुए कवि कहता है :

*प्रतिपल-परिवर्तित-व्यूह, भेद-कौशल-समूह,*
*राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह, क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*विच्छुरित वह्नि—राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण,*
*लोहित लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान।*

कवि की भाषा-शैली का दूसरा रूप अत्यंत सरल और छोटे पदों के कुशल व्यवहार के रूप में दिखायी देता है। 'अनामिका' में संगृहीत रचना 'सच है' की ये पंक्तियां देखिए :

*यह सच है!*
*बार-बार हार-हार मैं गया,*
*खोजा जो हार क्षार में नया,*
*उड़ी धूल, तन सारा भर गया,*
*नहीं फूल, जीवन अविकच है—*
*यह सच है!*

'राम की शक्तिपूजा' की रचना सन् 1936 में हुई थी और 'सच है' की रचना 1935 में। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि भाषा के विविध रूपों पर निराला को कैसा पूर्ण अधिकार प्राप्त था!

**सुमित्रानंदन पंत :** कविवर पंत (1900-1970) का जन्म उत्तरांचल के ज़िला अल्मोड़ा के कौसानी ग्राम में हुआ था। जन्म के कुछ घंटे बाद ही मातृस्नेह से वंचित हो जाने के कारण अल्मोड़ा की प्राकृतिक सुषमा ने इन्हें बचपन से ही अपनी ओर आकृष्ट किया और प्रकृति के उस मनोरम वातावरण का इनके व्यक्तित्व पर गंभीर प्रभाव पड़ा। पंत में यथार्थ के विषम और दारुण रूप के अभाव का कारण भी कुछ सीमा तक प्रकृति के उस प्रभाव को माना जा सकता है। इनके मन में प्रकृति के प्रति इतना मोह पैदा हो गया था कि ये जीवन की नैसर्गिक व्यापकता और अनेकरूपता में पूर्ण रूप से आसक्त न हो सके :

*छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,*
*तोड़ प्रकृति से भी माया,*
*बाले, तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?*
*छोड़ अभी से इस जग को।*

इन पंक्तियों में सामान्य रूप से तो यह प्रतीत होता है कि कवि रमणी के सौंदर्य की अपेक्षा प्रकृति के सौंदर्य को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है, लेकिन रमणी के सौंदर्य की यह उपेक्षा क्या जीवन की उपेक्षा के भाव को व्यंजित नहीं करती? यह तो सच है कि बाद की रचनाओं में कवि ने प्रणय के महत्त्व को स्वीकार किया है, किंतु उपर्युक्त पंक्तियों में रमणी सौंदर्य के निषेध को प्रतीकात्मक अर्थ में जीवन-सौंदर्य की उपेक्षा के अर्थ में भी ग्रहण किया जा सकता है।

पंत जी की पहली कविता 'गिरजे का घंटा' सन् 1916 की रचना है। तब से वे निरंतर काव्य साधना में तल्लीन हैं। उनके आरंभिक काव्य-ग्रंथ हैं—'उच्छ्वास' (1920), 'ग्रंथि' (1920), 'वीणा' (1927), 'पल्लव' (1928) और 'गुंजन' (1932)। 'वीणा' की रचनाएं सन् 1918-1919 की लिखी हुई हैं। 'गुंजन' को उनका अंतिम छायावादी काव्य-संग्रह कहा जा सकता है। इसके बाद के कविता-संकलन पहले प्रगतिवाद चेतना से और फिर अरविंद-दर्शन से प्रभावित हैं।

पंत काव्य में प्रकृति के मनोरम रूपों का मधुर और सरस चित्रण मिलता है। 'आंसू की बालिका', 'पर्वत-प्रदेश में पावस' आदि कविताओं में प्रकृति के मनोहर चित्र विद्यमान हैं, जिनमें कवि की जन्मभूमि के प्राकृतिक सौंदर्य का वैभव दिखायी देता है। किंतु 'बादल' और 'छाया'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जैसी कविताओं में केवल एक अद्भुत या विलक्षण कल्पना के ही दर्शन होते हैं, जिससे चमत्कार की अनुभूति तो होती है, लेकिन किसी गंभीर भाव की नहीं। छाया को दमयंती के समान या 'रतिश्रांता ब्रजवनिता' के समान चित्रित करने में कवि किसी गंभीर अनुभूति से प्रेरित नहीं प्रतीत होता। दूसरी ओर कवि पंत आदर्श प्रेमी रहे हैं। उनकी अनेक कविताओं में प्रकृति-प्रेम और आदर्शवादिता संबद्ध रूप में मुखरित हैं। 'वीणा' से कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं :

*कुमुद कला बन कलहासिनी!*
*अमृत प्रकाशिनि, नभ-वासिनि,*
*तेरी आभा को पा कर माँ!*
*जग का तिमिर-त्रास हर दूँ—*
*नीरव रजनी में निर्भय।*

यहां कवि ने प्रकृति से चांदनी की आभा को पा कर जग के 'तिमिर-त्रास' को दूर करने की आकांक्षा व्यक्त की है। कवि की यह आदर्शवादी भावना निरंतर प्रबल होती गयी है। यह आदर्शवादी भावना ही 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में 'सर्ववाद' का रूप ग्रहण करती हुई अंत में अरविंद-दर्शन की ओर उन्मुख हो गयी। कवि 'तिमिर-त्रास' को दूर तो करना चाहता है, किंतु प्रकृति प्रेम को—जो एक तरह से ठोस यथार्थ जीवन के प्रति आसक्ति की सीमा बन जाता है, त्यागना भी नहीं चाहता। 'परिवर्तन', 'एक तारा', 'नौका-विहार' आदि कविताओं में जिस दार्शनिक सत्य को वाणी दी गयी है उसका आधार और साधन भी प्रकृति ही है। 'परिवर्तन' कविता में कवि की दार्शनिक चेतना उद्दीप्त दिखायी देती है, जो 'एक तारा' जैसी कविताओं में अधिक संयम और निखार के साथ व्यक्त हुई है। लेकिन कवि का यह दर्शन-प्रेम उसे अनुभूति से विमुख नहीं करता। वास्तव में बुद्धि और हृदय के विरोध की समस्या छायावाद-युग में कहीं इतनी गहराई से जुड़ी हुई थी कि उस युग के सभी कवियों ने उसके समन्वय की बात की है। पंत ने छायावादी कविताओं में तो इस आदर्श का निर्वाह विशेष सफलता के साथ किया है, लेकिन परवर्ती रचनाओं में कवि सत्य को सजीव रूप में चित्रित करने में असमर्थ रहा है। वह सत्य को केवल चित्रोपम रूप में प्रस्तुत कर सका है, वहां सत्य हृदय के रस से भीगा हुआ नहीं है। 'गुंजन' तक की रचनाओं में पंत ने विचार को सजीव-सरस रूप में ही प्रस्तुत किया है। उनमें रस की अभिव्यक्ति दो स्तरों पर हुई है—एक तो भाव-जगत के क्षेत्र में प्राय: प्रणय के स्तर पर, जैसे 'मधु स्मिति' या 'भावी पत्नी के प्रति' कविताओं में और दूसरे, विचार या दर्शन के स्तर पर। 'परिवर्तन', 'एक तारा', 'नौका-विहार' आदि कविताओं में कवि ने सत्य को ही सरस रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। वैसे यह उल्लेखनीय है कि पंत की सौंदर्य-भावना और कल्पना का प्रसार प्रकृति और जीवन के सुकुमार रूपों की ओर ही अधिक रहा है। 'परिवर्तन' में प्रकृति के कठोर रूप का चित्रण हुआ अवश्य है, किंतु कविता के अंत तक आते-आते कवि उस भयानकता को भी मूलभूत आनंदमय सत्य के साथ संबद्ध करके देखने लगता है और इस प्रकार फिर अपनी परिचित भूमि पर—सौंदर्य, आनंद और माधुर्य की भूमि पर लौट जाता है। प्रकृति के व्यक्त रूप में आसक्ति होने के कारण पंत-काव्य में रहस्यवादी भावनावाद के रूप में मुखर नहीं हो पायी—'मौन निमंत्रण' जैसी कविता अपवाद-स्वरूप ही है, और यहां भी अरूप-अज्ञात सत्ता के प्रति विस्मय और जिज्ञासा का भाव मिलता है, आसक्ति या प्रणय का नहीं।

'पल्लव' की भूमिका में पंत ने भाषा, अलंकार, छंद, शब्द और भाव के सामरस्य पर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विचार व्यक्त किये हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि कवि भाषा के प्रयोग के संबंध में कितना जागरूक है। पंत की शैली की प्रमुख विशेषताएं हैं—लाक्षणिक वैचित्र्य, विशेष-विपर्यय, विरोध-चमत्कार, मानवीकरण, प्रतीक-विधान, अन्योक्ति-विधान आदि। 'सुरभि पीड़ित मधुपों के बाल, तड़प बन जाते हैं गुंजार' (मौन निमंत्रण) का सौंदर्य लाक्षणिक वैचित्र्य के कारण है। 'उषा का था उर में आवास' (आंसू की बालिका) में 'उषा' का प्रयोग प्रतीक के रूप में हुआ है। 'गिरा हो जाती है सनयन, नयन करते नीरव भाषण' (स्नेह) में विरोध-चमत्कार का सौंदर्य है। इसी प्रकार अन्य असंख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं। 'वीणा' में भावों और विचारों की सरलता एवं स्पष्टता के अनुरूप ही शैली भी प्राय: प्रसाद गुण से युक्त है, किंतु 'ग्रंथि' में कवि भाषा के प्रति अधिक सजग हो उठा है। यह सजगता भाषा के मंथर गंभीर प्रभाव और अलंकार-विधान के रूप में दिखायी देती है। 'पल्लव' तक आते-आते कवि की भाषा शब्द और अर्थ के अपूर्व एवं सूक्ष्म सामंजस्य के रूप में व्यक्त हुई है। 'गुंजन' की कविताओं में ये सभी विशेषताएं हैं, किंतु वहां कवि अधिक संयत है। 'पल्लव' की रचनाओं में भाषा के एक नये रूप की बाढ़-सी दिखायी देती है। अनुभूति में जैसा प्रवाह और आवेग है, वैसा ही प्रवाह और आवेग भाषा में है। किंतु 'गुंजन' में कवि का व्यक्तित्व भी अधिक प्रौढ़ हो उठा है और संरचना भी।

'गुंजन' के बाद भी पंत जी की अनेक रचनाएं प्रकाशित हुई हैं। उनकी मुक्तक कविताएं 'युगांत', 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'उत्तरा', 'रजतशिखर', 'वाणी', 'पतझर' आदि में संगृहीत हैं। मुक्तक रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने 'लोकायतन' महाकाव्य की रचना भी की है। उनके छायावादोत्तर काव्य को प्रवृत्ति की दृष्टि से दो वर्गों में रखा जा सकता है—पहले वर्ग के अंतर्गत 'युगांत', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कविताएं आती हैं। उनकी भाषा-शैली और भावबोध प्रगतिवादी चेतना से प्रभावित हैं। इन रचनाओं में कवि की भाषावक्रता, सांकेतिकता आदि को छोड़ कर सरलता और सपाटबयानी की ओर अग्रसर रही है। वैसे इन रचनाओं में अनुभूति के स्थान पर विचार को अधिक महत्त्व मिला है :

*तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार,*
*वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार!*

'ग्राम्या' की इन पंक्तियों में कवि अलंकरण की प्रवृत्ति का त्याग नहीं करता, वरन् कविता में 'विचार' के संप्रेषण के महत्त्व को प्रतिष्ठित करते हुए उसे जनजीवन से संबद्ध करना चाहता है। यह उल्लेखनीय है कि इस संदर्भ में पंत जी ने अध्यात्म का विरोध नहीं किया। आध्यात्मिक सत्य पर कवि की आस्था बनी हुई है, किंतु वह भौतिक समृद्धि की अनिवार्यता को भी स्वीकार करता है :

*भूतवाद उस धरा-स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,*
*जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान।*

ये पंक्तियां पंत की प्रगतिशील चेतना के मूल स्वर को बड़े स्पष्ट रूप में व्यक्त करती हैं। किंतु प्रश्न यह उठता है कि भूतवाद और आत्मदर्शन के इस समन्वय का सैद्धांतिक रूप क्या हो? कवि को इस प्रश्न का उत्तर मिलता है अरविंद दर्शन में, जिसकी अभिव्यक्ति 'ग्राम्या' के बाद के स्वर्णकाव्य में हुई है। यहां उनकी शैली में फिर परिवर्तन आया है। इस नयी शैली में छायावादी कविता की सांकेतिकता और उपचारवक्रता के साथ ही 'युगवाणी' की बौद्धिकता भी समाविष्ट है। अपने स्वर्णकाल में पंत ने अनेक संदर्भ और स्थितियों के अंतर्गत अरविंद-दर्शन को अभिव्यक्त

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

किया है। कवि वर्तमान मानव-जीवन के विषम संकट को व्यक्त करते हुए एक नये आदर्श भविष्य का चित्रण करता है। यह प्रयास युगीन यथार्थ के अनेक पक्षों का स्पर्श करते हुए भी अध्यात्म पर आश्रित है और अध्यात्म द्वारा ही नियंत्रित है। इन रचनाओं की शक्ति और सीमा इसी तथ्य पर आधारित है।

**महादेवी वर्मा :** (1907-1987) महादेवी वर्मा का जन्म उत्तरप्रदेश में हुआ। इन्होंने आरंभिक शिक्षा घर पर ही ग्रहण की। इसके बाद इनकी शिक्षा विधिवत् प्रयाग में हुई, जहां इन्होंने सन् 1933 में दर्शनशास्त्र में एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। ये आरंभ में ब्रजभाषा में कविता लिखती थीं, बाद में खड़ीबोली में लिखने लगीं और शीघ्र ही इस क्षेत्र में इन्होंने महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। ये एक कुशल चित्रकार भी थीं। इसलिए इनकी कविताओं में चित्रों जैसी संरचना का आभास प्राय: मिला करता है। महादेवी का काव्यरचना कालप्रधान रूप से 1924 से 1942 तक है। छायावाद-युग में इनके ये काव्यसंग्रह प्रकाशित हुए—'नीहार' (1930), 'रश्मि' (1932), 'नीरजा' (1935), 'सांध्यगीत' (1936), 'यामा' (1940) 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' और 'सांध्यगीत' के सभी गीतों का संग्रह है।

महादेवी की कविताओं में आरंभ से ही विस्मय, जिज्ञासा, व्यथा और आध्यात्मिता के भाव मिलते हैं। ये भाव निरंतर अधिक प्रौढ़ और परिमार्जित होते गये हैं। किंतु उनमें वैसी अनेकरूपता नहीं मिलती, जैसी निराला और पंत में लक्षित होती है। प्रसाद के काव्य में भी अनुभूति और विचार निरंतर व्यापकता की ओर अग्रसर होते दिखायी देते हैं, किंतु महादेवी के सभी गीतों में अनुभूति और विचार के धरातल पर एकान्विति मिलती है। इनकी भावभूमि गीतिकाव्य के ही उपयुक्त है, क्योंकि ये स्वानुभूति की प्रत्यक्ष विवृत्ति करती हैं। इनके अनुसार गीत वही है, जिसमें संयमित भावातिरेक की व्यंजना होती है : ''सुख-दु:ख की भावावेशयी अवस्था विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।...वास्तव में गीत के कवि को आर्त्त क्रंदन के पीछे छिपे हुए भावातिरेक को दीर्घ नि:श्वास में छिपे हुए संयम से बांधना होगा, तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल होगा।'' इसमें संदेह नहीं कि महादेवी के गीत भावप्रधान हैं। उनके विविध गीतों में व्यथा,पीड़ा, आशा, अज्ञात प्रिय के प्रति प्रणय-निवेदन और साधना की विविध अनुभूतियों के स्वर मुखरित हुए हैं। उन्होंने अनुभूति को विचार से समन्वित करने का प्रयास किया है। अन्य छायावादी कवियों के समान वे भी हृदय और बुद्धि के विरोध का निराकरण कर काव्य में दोनों की अखंड स्थिति का समर्थन करती हैं।

महादेवी ने अज्ञात प्रियतम के प्रति प्रणय-निवेदन किया है, किंतु उनका प्रणय दु:खप्रधान है। वे प्रिय से मिलन की कामना नहीं करती, क्योंकि मिलन में तो व्यक्तित्व का ही नाश हो जाता है, ''मिलन का मत नाम लो, मैं विरह में चिर हूं।'' महादेवी का यह दु:खवाद निराशा या अकर्मण्यता का व्यंजक नहीं है। उनकी वेदना की तुलना प्रसाद के 'आंसू' काव्य के अंत में दिखायी देने वाली करुणा की अनुभूति से की जा सकती है। महादेवी ने दु:ख को केवल व्यक्तिगत जीवन के संदर्भ में स्वीकार किया है, सामाजिक जीवन के प्रसंग में तो वे अथक और अमर साधना में विश्वास करती हैं। उन्हें 'अमरों के लोक' की कामना नहीं है, वे तो 'मिटने के अधिकार' को ही बनाये रखना चाहती हैं। अपनी पीड़ा का वर्णन उन्होंने इन शब्दों में किया है : ''अमरता उसमें मनाती है मरण-त्योहार।'' उनका दु:खवाद किसी सीमा तक समाज-कल्याण की भावना में संपृक्त है। वे जब अपने जीवन की तुलना 'नीर-भरी दुख की बदली' या दीपशिखा से करती हैं तो वहां आध्यात्मिक साधना के साथ-साथ लोककल्याण की भावना भी विद्यमान रहती है। जिस प्रकार घटा स्वयं को गला कर सृष्टि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

को सुख और शीतलता प्रदान करती है या दीपक स्वयं जल कर राख हो जाता है, किंतु परिवेश को आलोकित करता है, उसी प्रकार महादेवी स्वयं साधना की आग में जल कर सामाजिक जीवन को अधिक सुखद और मंगलमय बनाना चाहती हैं :

*दुखव्रती निर्माण उन्मद*
*ये अमरता नापते पद*
*बाँध देंगे अंक-संसृति से तिमिर में स्वर्ण-बेला।*

महादेवी पर बौद्ध-दर्शन का प्रभाव केवल उनकी लोकमंगलविधायिनी पीड़ा की स्वीकृति तक ही सीमित है, अन्यथा जहां तक सत्य के पारमार्थिक स्वरूप का संबंध है, वे उपनिषदों की परंपरा को ही स्वीकार करती हैं। उन्होंने सर्ववादी-दर्शन को अपनाया है, फलस्वरूप उनकी आध्यात्मिक साधना और लोक-साधना में विशेष विरोध नहीं है। उनके अनुसार सृष्टि उस एक असीम सत्य की ही सौंदर्यमयी अभिव्यक्ति है, इसलिए सृष्टि के प्रति प्रेम और उस मूल सत्य के प्रति प्रेम में समानता है, ''मैं कण-कण में ढाल रही अलि, आंसू के मिस प्यार किसी का।'' दीपशिखा उनका प्रिय बिंब है, उसके विश्लेषण से भी यही सत्य व्यंजित होता है। यद्यपि दीपक की एक आध्यात्मिक उपयोगिता भी है—वह आराधना का अनिवार्य उपकरण है, किंतु वही दीपक संसार के लिए भी प्रकाश फैलाता है, जिसमें पथिक अपना मार्ग खोज पाता है।

महादेवी ने निर्गुण के प्रति जिस प्रणय-भाव की अभिव्यक्ति की है, उसकी वास्तविकता को ले कर प्राय: मतभेद व्यक्त किया जाता है। शुक्ल जी के शब्दों में : ''कहां तक वे वास्तविक अनुभूतियां हैं और कहां तक अनुभूति की रमणीय कल्पना है, यह नहीं कहा जा सकता।''[4] अनुभूति की वास्तविकता का प्रश्न एक टेढ़ा प्रश्न है। इसीलिए शुक्ल जी भी इस विषय में किसी निश्चित मत का प्रतिपादन नहीं करते। यदि रचनाकार को ही अनुभूति की वास्तविकता का प्रमाण माना जाये तो महादेवी की रहस्यानुभूति की वास्तविकता के बारे में कोई संदेह नहीं रह जाता और यदि पाठक की प्रतिक्रिया को या अनुभूति की संप्रेषणीयता को प्रामाणिकता का आधार बनाया जाये तो महादेवी के प्रसंग में यह स्वीकार करना होगा कि किसी भी लोकोत्तर सत्ता के प्रति और ख़ास कर जब वह लोकोत्तर सत्ता निर्गुण हो, व्यक्त अनुभूति की प्रामाणिकता के लिए उसकी संप्रेषणीयता को आधार बनाने से भी समस्या का सर्वमान्य समाधान नहीं होता। जायसी और कबीर की रहस्यानुभूति और निर्गुण-भक्ति तथा सूर द्वारा व्यंजित माधुर्य-भाव की भक्ति के विषय में भी यही शंका उठाई जा सकती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, महादेवी की अनुभूति केवल व्यक्तिपरक आध्यात्मिकता की अनुभूति ही नहीं है, उसमें लोककल्याण की भावना भी है, जो अडिग आस्था, अटूट साधना और आत्मबलिदान के रूप में गीतों में बिखरी हुई मिलती है। इस प्रकार महादेवी ने मध्यकालीन रहस्य-साधना की परंपरा को स्वीकार करके उसे लोककल्याण के साथ संयुक्त कर अपने युगबोध के अनुरूप ढालने की कोशिश की है। यह रहस्यवाद का एक नया आयाम है, जिसके उद्घाटन का श्रेय महादेवी को है। इसके लिए उन्होंने अभिव्यक्ति की सांकेतिकता और सूक्ष्मता के अतिरिक्त प्रतीक-विधान और आलंकारिता का भी सफल संयोजन किया है।

**छायावाद के अन्य कवि :** छायावादी काव्य के विकास में कुछ अन्य कवियों का भी योगदान रहा है। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं, जो मुख्य रूप से इस युग की किसी अन्य धारा के अंतर्गत आते हैं, किंतु युग और प्रधान साहित्यिक धारा के प्रभाव से छायावादी पद्धति की ओर भी आकृष्ट हुए

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हैं। उदाहरण के लिए, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा आदि प्रधान रूप से राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा या प्रेम और मस्ती की काव्यधारा के अंतर्गत आते हैं, किंतु उन पर छायावादी विशेषताओं का भी काफ़ी प्रभाव दिखायी देता है। दूसरे प्रकार के छायावादी कवि वे हैं, जिनकी संपूर्ण प्रतिभा छायावादी काव्य के निर्माण में ही तल्लीन रही है, किंतु जिनका काव्य परिमाण में अधिक नहीं है। रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, मोहनलाल महतो 'वियोगी', आरसीप्रसाद सिंह, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' आदि कवियों को इस कोटि में रखा जा सकता है।

प्रथम वर्ग के कवियों में रामनरेश त्रिपाठी, 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी आदि ने जिस राष्ट्रप्रेम और सांस्कृतिक गौरव का चित्रण किया है, उसकी अभिव्यंजनापद्धति पर छायावादी प्रवृत्तियों का गहरा प्रभाव है। इसका एक प्रधान कारण यह है कि छायावादी कविता में भी राष्ट्रप्रेम और सांस्कृतिक गरिमा का चित्रण हुआ है। माखनलाल चतुर्वेदी ने भारतीय प्राकृतिक सुषमा के जो सरस, सजीव और मूर्त चित्र खींचे हैं, वे उन्हें छायावादी कवियों के समीप ले आते हैं। 'नवीन' ने 'अपलक' में स्वानुभूति की आवेशमयी विवृत्ति की है :

*सिहर उठा मलयानिल, हम सिहरे बेकल-से*
*काँपा मन, उमड़ा हिय, नयन झरे झर-झर प्रिय*
*फिर गूँजे नव स्वर प्रिय।*

प्रणय की ऐसी उन्मुक्त एवं उच्छ्वासमयी अभिव्यक्तियां छायावादी काव्य की अंतरंग विशेषता के रूप में दिखायी देती हैं। 'क्वासि' में 'नवीन' जी ने आध्यात्मिक मूल्यों को रहस्यवादी अनुभूति के रूप में भी व्यक्त किया है। इसी प्रकार भगवतीचरण वर्मा-कृत 'मधुकण' (1931) की कुछ कविताओं में प्रणयानुभूति की स्वच्छंद अभिव्यक्ति मिलती है।

द्वितीय वर्ग के कवियों में डॉ. **रामकुमार वर्मा** (1905-1990) का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है। उनके 'रूपराशि', 'निशीथ', 'चित्ररेखा', 'आकाशगंगा' आदि काव्य-संग्रहों में छायावादी पद्धति की रचनाएं संकलित हैं। इन रचनाओं में सर्ववादी चेतना को व्यक्त करने का प्रयास दिखायी देता है। यह प्रयास कहीं तो प्रकृति के विविध रूपों के मानवीकरण के रूप में लक्षित होता है और कहीं रहस्यवादी संकेतों के रूप में। उन्होंने अपनी आरंभिक रचनाओं में कल्पना को प्रधानता दी है, किंतु परवर्ती कृतियों में अनुभूति को अधिक महत्त्व दिया गया है। उनकी अभिव्यंजनापद्धति अलंकृत और वक्र होते हुए भी अपेक्षाकृत सरल है और अनुभूति को प्रभावशाली रूप में मुखर करने में समर्थ है। **उदयशंकर भट्ट** (1898-1966) की अधिकांश काव्य-कृतियां भी छायावादी भावुकता से ओत-प्रोत हैं। उनके 'राका', 'मानसी', 'विसर्जन', 'युगदीप', 'अमृत और विष' प्रभृति कविता-संग्रहों में वैयक्तिक अनुभूति की सूक्ष्मता, सर्ववादी चेतना, प्रकृति के मानवीकरण, अभिव्यक्ति की सांकेतिकता आदि को प्रायः लक्षित किया जा सकता है।

**मोहनलाल महतो 'वियोगी'** (1899-1990) के छायावादी पद्धति के काव्य-संग्रह हैं— 'निर्माल्य (1926), 'एक तारा' और 'कल्पना' (1935)। इनकी रचनाओं में वेदना, रहस्यानुभूति और उपचारवक्रता की बहुलता दिखायी देती है। **लक्ष्मीनाराण मिश्र** (1903-1987) के 'अंतर्जगत' नामक कविता-संग्रह में वेदना और व्यथा की अभिव्यक्ति मिलती है, किंतु बाद में मिश्र जी की प्रतिभा नाटक-रचना में ही केंद्रित हो गयी। इस दृष्टि से **जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'** के कविता-संग्रह 'अनुभूति' और 'अंतर्ध्वनि' भी उल्लेखनीय हैं। इन संग्रहों के नामों से ही स्पष्ट है

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कि कवि की चेतना प्रधान रूप से व्यक्तिनिष्ठ और अंतर्मुखी है। इनमें वेदना के प्रति वैसी ही आसक्ति दिखायी देती है, जैसी कि महादेवी के गीतों में है, किंतु यह वेदना जीवन के व्यापक-विराट सत्य अथवा किसी महान उद्देश्य के साथ संबद्ध नहीं हो पायी है। इनके अतिरिक्त गोपालसिंह नेपाली (काव्य-संग्रह : 'पंछी' और 'रागिनी'), केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' (काव्य-संग्रह : 'चिरस्पर्श', 'सेतुबंध' आदि), आरसीप्रसाद सिंह (काव्य-संग्रह : 'कलापी') आदि भी छायावादी काव्यधारा के उल्लेखनीय कवि हैं।

## प्रेम और मस्ती का काव्य

प्रस्तुत काल के काव्य में छायावादी रचनाएं इतनी प्रौढ़ और शक्तिशाली हैं कि प्राय: इस काल का विवेचन करते हुए आलोचकों का ध्यान केवल छायावादी काव्यधारा में ही केंद्रित हो कर रह जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि इस काल के वे कवि, जो पूरी तरह से छायावाद के अंतर्गत नहीं आ पाते, उपेक्षित से हो जाते हैं। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, नरेंद्र शर्मा, अंचल आदि की प्रणयमूलक वैयक्तिक कविताओं का अध्ययन इसी संदर्भ में अपेक्षित है। यद्यपि प्रेम और यौवन की प्रखरता तथा आवेश को व्यक्त करने वाली इनकी अधिकांश रचनाएं छायावादोत्तर-काल में प्रकाशित हुईं, तथापि इस दिशा में इनका आरंभिक कृतित्व छायावाद-युग में ही प्रकाश में आया। फलस्वरूप आलोच्य युग की इस काव्यधारा पर यहां संक्षेप में विचार कर लेना युक्तियुक्त होगा। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य की रचना की है, किंतु उनकी प्रणय संबंधी रचनाएं भी महत्त्वपूर्ण हैं। यह कहा जा सकता है कि प्रणय और यौवन का चित्रण तो छायावादी काव्य में बड़ी तल्लीनता के साथ किया गया है, इसलिए इन कवियों को स्वतंत्र रूप से प्रेम और मस्ती की काव्यधारा के अंतर्गत रखने का क्या आधार है? उत्तर स्पष्ट है, छायावादी कवियों में प्रणय का महत्त्व सीमित है। प्रसाद, निराला और पंत की रचनाओं में रति के मांसल और आवेशमय रूप के विविध पक्षों की अभिव्यक्ति मिलती तो है, किंतु धीरे-धीरे इन कवियों ने स्थूल प्रणय-बंधन से ऊपर उठने का प्रयास करते हुए उसे एक व्यापक जीवन-चेतना के अंग-रूप में अर्थात जीवन के सर्वतोमुखी विकास के सोपान के रूप में ग्रहण किया है। इस दृष्टि से प्रसाद का 'आंसू' काव्य छायावादी प्रणयभावना के दोनों रूपों को—मांसल-वासनात्मक रूप को और उदात्त करुणा के रूप को—व्यक्त करता है। 'कामायनी' में श्रद्धा, जो कामगोत्रजा है और प्रेम का संदेश सुनाने के लिए अवतरित हुई है, एक सीमा तक ही लौकिक प्रणय की आलंबन रहती है और अंत में उसी की रागात्मिका वृत्ति का संबल पा कर मनु आनंदलोक तक पहुंचते हैं। निराला के 'तुलसीदास' में भी प्रणय के इस सामान्य लौकिक रूप का निषेध कर रागबोध को एक उदात्त, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक स्तर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास है। वह भी प्रणय को साध्य न मान कर साधन के रूप में ही स्वीकार करते हैं, किंतु प्रणय का यह रूपांतर उनके छायावादोत्तर काव्य में ही पूर्णता के साथ मुखर हुआ है। महादेवी ने तो आरंभ से ही प्रणय को आध्यात्मिक स्तर पर ग्रहण करने का प्रयास किया है। इस प्रकार छायावादी प्रणय धीरे-धीरे रूपांतरित और विकसित होते हुए एक व्यापक जीवनदर्शन से संबद्ध हो गया है।

इस संदर्भ में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि छायावादी चेतना भी प्रधान रूप से व्यक्तिवादी चेतना है और प्रेम और मस्ती के इन कवियों की साधना भी व्यक्तिनिष्ठ रही है, तथापि दोनों के व्यक्तिवाद में मूलभूत अंतर है। छायावादी व्यक्तिचेतना शरीर से ऊपर उठ कर मन और फिर आत्मा का स्पर्श करने लगती है, जबकि इन कवियों में व्यक्तिनिष्ठ चेतना प्रधान रूप से

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शरीर और मन के धरातल पर ही व्यक्त होती रही है। इन्होंने प्रणय को ही साध्य के रूप में स्वीकार करने का प्रयास किया है। छायावादी काव्य जहां प्रणय को जीवन की यथार्थ विषम व्यापकता में संजोने का प्रयास करता है, वहीं प्रेम और मस्ती का यह काव्य या तो यथार्थ से विमुख हो कर प्रणय में तल्लीन दिखायी देता है या फिर जीवन की व्यापकता को प्रणय की सीमाओं में ही खींच लाता है। 'नवीन' जी की 'साक़ी' शीर्षक कविता की ये पंक्तियां देखिए :

*हो जाने दे गर्क़ नशे में, मत पड़ने दे फ़र्क़ नशे में*
*ज्ञान ध्यान पूजा पोथी के फट जाने दे वर्क नशे में*
*ऐसी पिला के विश्व हो उठे एक बार तो मतवाला*
*साक़ी अब कैसा विलम्ब भर-भर ला तन्मयता-हाला।*

प्रेम और मस्ती के इस काव्य में जीवन के विषय में किसी व्यापक परिकल्पना या सिद्धांत का अभाव मिलता है। इसकी विशेषता तो मात्र प्रणय में तल्लीन हो जाने की कामना में है, यही इसका साध्य प्रतीत होता है, "वह मादकता ही क्या जिसमें बाक़ी रह जाये जग का भय!" (बच्चन)। इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि प्रणय का यह रूप छायावादी उदात्त प्रेम-भावना और अर्वाचीन नयी कविता की यौन-भावना के बीच की कड़ी है। यद्यपि प्रणय के ये कवि शारीरिक प्रेम के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहीं-कहीं जीवन की नैतिक मर्यादाओं का अतिक्रमण कर गये हैं, किंतु मुक्त निर्बंध भोग के समर्थक या प्रचारक ये भी नहीं हैं। यहां देखना यह है कि वे कौन-सी ऐसी नैतिक रूढ़ियां या 'जग का भय' है, जिसे ये आग्रहपूर्वक अस्वीकार कर देना चाहते हैं। दरअसल यह कविता भी उसी युग की उपज है, जिसने छायावाद को जन्म दिया। छायावादी कवियों ने भी नैतिकता के बोझ से आक्रांत प्रणय को मुक्त करने का प्रयास किया, किंतु वे उसे पूरी तरह मुक्त न कर सके और उनकी प्रणय-भावना आध्यात्मिकता से संपृक्त हो गयी। प्रणय के इन कवियों ने द्विवेदीयुगीन नैतिकता के कठोर बंधनों के प्रति विद्रोह किया। लौकिक स्तर पर प्रणय की तीव्रता की स्वीकृति का एक परिणाम यह हुआ कि प्रणय के साथ-साथ कविता में मादकता, शराब, साकी, मैखाने आदि का भरपूर वर्णन होने लगा। यह प्रवृत्ति बच्चन की 'मधुशाला' आदि कृतियों में पूरी शक्ति के साथ दिखायी देती है। प्रणय और मदिरा का यह नशा, साकी और मैखाने का यह वर्णन व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना की अभिव्यक्ति है। कवि न तो संसार से डरता है और न ही कोई लोकोत्तर आध्यात्मिक शक्ति उसे आतंकित करने में समर्थ है। इस प्रकार इन कवियों में व्यक्तिनिष्ठ यथार्थ की अधिक सशक्त अभिव्यक्ति दिखायी देती है।

यहां यह जिज्ञासा हो सकती है कि स्वाधीनता-आंदोलन के मध्य यह काव्यधारा किस प्रकार अपने आपको राष्ट्रीय यथार्थ से विमुख रख सकी? पहली बात तो यह है कि नवीन जैसे कवियों में राष्ट्रीय भावना भी पूरी प्रखरता के साथ दिखायी देती है, वे देश के व्यापक जीवन से जुड़े हुए हैं और स्वतंत्रता के गीत ही नहीं गाते, वरन् उसकी प्राप्ति के लिए साधना भी करते हैं। किंतु नवीन का 'व्यक्ति' जब प्रबल हो उठता है तो वे प्रणय की धारा में मुक्त हो कर बहने के लिए आकुल हो उठते हैं। दूसरी ओर भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, नरेंद्र शर्मा, अंचल आदि कवि भी हैं, जिनका प्रधान वर्ण्य विषय प्रणय ही है। वे परिवेश में व्याप्त संघर्ष से इतने उदासीन क्यों कर रह सके? इसके उत्तर में दो बातें कही जा सकती हैं—पहली तो यह कि विवेच्य काल में लिखित इनकी कविताएं इनके कवि-जीवन की आरंभिक रचनाएं हैं, और इसलिए उनमें प्रणय की वैसी ही आवेशमयी अभिव्यक्ति हुई है, जैसी आरंभिक छायावादी काव्य—'आंसू', 'पल्लव', 'अनामिका'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आदि—में मिलती है। प्रस्तुत काल की समाप्ति के बाद भी ये कवि रचना करते रहे और बच्चन, नरेंद्र शर्मा आदि में कुछ नयी प्रवृत्तियां भी उभर कर सामने आयीं। दूसरी बात यह है कि जैसे-जैसे स्वाधीनता का आंदोलन बल पकड़ता जा रहा था, वैसे-ही-वैसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का दमनचक्र और उसका आतंक बढ़ता जा रहा था। इसलिए जो कवि खुल कर दमनचक्र और आतंक का सामना नहीं कर सके, वे आत्मकेंद्रित हो कर प्रणय के गीत गाने लगे। यह उनके व्यक्तित्व की दुर्बलता या अपरिपक्वता का संकेत हो सकता है। एक बात और भी है—काव्य अपनी अंतरग शक्ति से भी नये स्तरों और सोपानों की ओर बढ़ता है। प्रणय के इस काव्य में छायावादी प्रणय का एक नया सोपान दिखायी देता है, जहां प्रणय को प्रणय के रूप में ही, सांसारिक रूप में स्वीकार करने का आग्रह स्पष्टत: व्यंजित है। इस विशेषता को यथार्थवादी दृष्टि के विकास के रूप में देखा जा सकता है। इन कवियों की अभिव्यंजना-पद्धति भी इस विकास की साक्षी है। इनकी भाषा छायावादी सूक्ष्मता और वक्रता से रहित है तथा सीधी-सरल पदावली द्वारा जीवन की नित्य की अनुभूतियों को व्यक्त करने का प्रयास करती है। द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक भाषा के बाद छायावादी अभिव्यंजना के चमत्कार का उदय और उसके बाद जनभाषा से निकटता रखने वाली प्रणय-काव्य की यह भाषा निश्चय ही काव्यभाषा खड़ीबोली की अंतर्निहित शक्ति के विकास की सूचक है। इसके मूल में कविता के संबंध में बदलते हुए दृष्टिकोण को भी लक्षित किया जा सकता है। यद्यपि यह काव्य छायावादी चेतना की छाया में ही उदित और पल्लवित हुआ, किंतु छायावाद के बाद—चाहे यह अंतर कितना ही कम क्यों न हो—काव्य होने के कारण इसमें छायावादी काव्यधारा की प्रतिक्रिया भी कार्यशील है। छायावादी अभिव्यंजना-पद्धति की सूक्ष्म सांकेतिकता तथा लोकोत्तर स्तर की अनुभूति की दुरूहता इन कवियों के लिए एक वस्तुगत सत्य था। ज्ञात या अज्ञात रूप से ये कवि आरंभ से ही छायावादी काव्य की इन सीमाओं के प्रति सजग रहे होंगे और इन्होंने सायास एक नयी भावभूमि और नयी काव्यशैली के निर्माण का प्रयास किया होगा। प्रेम और मस्ती का यह काव्य निस्संदेह अपनी सीधी-सच्ची अनुभूति और कला के कारण जनता में विशेष ख्याति पा सका। किंतु एक ही धरातल पर संरचरण के कारण यह काव्य एकांगी और सीमित होकर रह गया। जिस प्रकार छायावादी कवियों ने अपने प्रणय और अपनी व्यथा से ऊपर उठने का प्रयास किया, वैसा प्रयास इन कवियों में कम दिखायी देता है।

आलोच्य काव्यधारा के कवियों में **भगवतीचरण वर्मा** (1903-1981) की कविताएं 'प्रताप' में सन् 1917 से ही प्रकाशित होने लगी थीं। इनकी अनुभूति के दो रूप दिखायी देते हैं। एक रूप तो वह है, जहां ये मस्ती और फक्कड़पन को अभिव्यक्त करते हैं, 'हम दीवानों की क्या हस्ती, हैं आज यहां कल वहां चले।' इस प्रकार की अनुभूति इन्हें 'नवीन' के निकट ला खड़ा करती है, किंतु ऐसी रचनाएं परिमाण में बहुत कम हैं। प्रधान रूप से तो इन्होंने समाज की विषमताओं से पराजित और संघर्ष से विरत एकाकी व्यक्ति की अनुभूतियों को ही व्यक्त किया है :

*है इस जीवन का बोझ असह*
*मैं निर्बलता से चूर प्रिये।*
*उर शंकित है, पग डगमग है,*
*तुम मुझसे कितनी दूर प्रिये!*

× × ×

*यहाँ सफलता या असफलता, ये तो सिर्फ़ बहाने हैं,*
*केवल इतना सत्य कि निज को हम ही स्वयं अनजाने हैं।*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इस तरह की रचनाओं में जो बेबसी और कर्म से विमुखता लक्षित होती है, वह स्पष्ट ही महान काव्य की रचना में सहायक नहीं हो सकती। छायावादी कवियों में भी इस तरह के उद्गार मिलते हैं, जहां कवि यथार्थ के विषम संघर्ष से विमुख हो कर कहीं दूर चला जाना चाहता है, किंतु ऐसे उद्गार काव्य-साधना के किसी क्षण-विशेष में व्यक्त हों, तो एक बात है, और यदि वही संपूर्ण काव्य-साधना पर छाए हुए हों, तो निश्चय ही काव्य का व्यक्तित्व सीमित ही रह जाता है। वैसे वर्मा जी की भाषाशैली सरल और स्पष्ट है। उसमें छायावादी शैली की भांति तत्सम शब्दों की प्रधानता, सूक्ष्मता या वक्रता के दर्शन नहीं होते। काव्य-भाषा की दिशा में इनकी रचनाएं निश्चय ही खड़ीबोली-कविता के एक नये मोड़ की सूचना देती हैं।

**हरिवंशराय 'बच्चन'** (1907-2003) का आरंभिक जीवन कष्टों और अभावों में बीता। असहयोग आंदोलन में भाग लेने के कारण इन्हें जेल भी जाना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि इनकी कविता जीवन से पूरी तरह विमुख नहीं है। जहां ये 'मधुशाला' में पूरी तरह गर्क दिखायी देते हैं, वहां भी इन्हें यह भान रहा है कि मधुशाला धार्मिक-सांप्रदायिक अंतराल को दूर कर अनुभूति के धरातल पर, चाहे वह अनुभूति कर्महीन मस्ती की ही क्यों न हो, एकता की स्थापना करती है। इनके 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधुकलश' काव्य-संग्रहों में उमर ख़ैयाम की रुबाइयों का प्रभाव लक्षित होता है। किंतु मधुशाला में डूबा हुआ यह कवि सामाजिक विषमता से अनजान नहीं है। उसने एक ओर तो उद्दाम यौवन की लालसा को अपनाया है और दूसरी ओर उसी स्तर पर सामाजिक संवेदना को भी मुखर करने का प्रयास किया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कवि ठोस यथार्थ को पूरी तरह से ग्रहण नहीं कर पाया। हां, जीवन की विषमताओं को एक सामान्य अनुभूति के स्तर पर सुलझाने का प्रयास उसने अवश्य किया है। भाषा की दृष्टि से भी बच्चन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। सीधी और स्पष्ट अभिव्यक्ति का जो रूप भगवतीचरण वर्मा में मिलता है, उसी का विकसित रूप बच्चन में दिखायी देता है।

प्रस्तुत काव्यधारा के अन्य कवियों में **नरेंद्र शर्मा** (1913-1989) प्रेम और मस्ती के भावों से प्रभावित तो हुए, किंतु वे प्रणय के उच्छ्वास में लड़खड़ाये नहीं। इसका कारण संभवत: यह है कि उन्होंने देश के राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग लिया है और इसलिए वे प्रणय को अधिक सहजता के साथ खुल कर व्यक्त कर सके हैं। 'प्रभात फेरी' (1938), 'प्रवासी के गीत' (1938) और 'पलाश वन' (1939) में इसी प्रकार की भावप्रधान रचनाएं संकलित हैं, जिनमें प्रणय के संयोग और वियोगमूलक प्रसंगों का सरल और प्रवाहमयी भाषा में चित्रण हुआ है।

गोपालसिंह नेपाली (1913), हृदयनारायण 'हृदयेश' (1905), हरिकृष्ण 'प्रेमी' (1908-1974), रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' (1915-1996) आदि इस धारा के अन्य मुख्य कवि हैं। नेपाली के प्रथम काव्य-संग्रह 'उमंग' (1934) में प्रेम और यौवन की मधुर अनुभूतियों के अनेक मोहक और सरस चित्र मिलते हैं। कवि-सम्मेलनों में इनकी रचनाएं रंग जमा देती थीं। बाद में ये चलचित्रों के लिए गीत लिखने लगे। इनके गीत भाषा एवं भावभूमि की सरलता के कारण सामान्य जनता को तल्लीन और विभोर करने में समर्थ हैं। इसमें संदेह नहीं कि यदि ये अपने कृतित्व को सामान्य जनता के स्तर से मुक्त रख सकते तो इनकी कला अधिक निखार और उत्कर्ष प्राप्त करने में सफल होती। 'हृदयेश' की रचनाओं में अनेकरूपता दिखायी देती है। इनकी कविताओं में प्रणय के अतिरिक्त करुणा और हालावाद की अभिव्यक्ति भी मिलती है। हरिकृष्ण 'प्रेमी' की कविताओं में देशप्रेम के साथ-साथ प्रणय की तीव्रता और यौवन के उल्लास के दर्शन भी होते हैं। इनकी भाषा-शैली सरल होते हुए भी कहीं-कहीं छायावादी वक्रता की अदा दिखा जाती है। 'अंचल'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की रचनाओं में मांसल प्रणय की आवेशमयी अभिव्यक्ति मिलती है। इसलिए इनकी कविताओं में कोमल भावों की अनुभूति भी आवेशमयी और ओजपूर्ण हो उठी है। 'अंचल' के काव्य में छायावादी प्रणय के व्यापक और उदात्त रूप की कोई छाया नहीं दिखायी देती। वे प्रणय के उस छोर पर खड़े हैं, जो शारीरिक और वासना से आक्रांत है।

## हास्य-व्यंग्यात्मक काव्य

छायावाद-युग में हास्य-व्यंग्यात्मक काव्य की भी प्रभूत परिमाण में रचना की गयी—एक ओर तो ईश्वरीप्रसाद शर्मा, हरिशंकर शर्मा, उग्र, बेढब बनारसी प्रभृति कुछ कवियों ने इस काव्यधारा का प्रमुख रूप में अवलंबन लिया और दूसरी ओर ऐसे कवियों की संख्या भी कम नहीं है, जिन्होंने मुख्यतः अन्य विषयों पर काव्य-रचना करने पर भी प्रसंगवश हास्य-व्यंग्य को स्थान दिया है। 'मनोरंजन' के संपादक **ईश्वरीप्रसाद शर्मा** इस युग के प्रथम उल्लेखनीय व्यंग्यकार हैं। 'मतवाला', 'गोलमाल', 'भूत', 'मौजी', 'मनोरंजन' आदि पत्रिकाओं में इनकी अनेक हास्यरसात्मक कविताओं का प्रकाशन हुआ था। इनके कविता-संकलन 'चना चबेना' (1924) में खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनों की रचनाएं संकलित हैं। शर्मा जी ने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक परिवेश के छिद्रों की खोज कर सुरुचिपूर्ण हास्य की शैली अपनायी है। **हरिशंकर शर्मा** इस धारा के अन्य वरिष्ठ कवि हैं। यद्यपि छायावाद-युग में उनका कोई कविता-संकलन प्रकाशित नहीं हुआ, किंतु 'पिंजरापोल' और 'चिड़ियाघर' शीर्षक गद्य-रचनाओं में कुछ हास्य-व्यंग्यात्मक कविताओं और पैरोडियों का इन्होंने कहीं-कहीं समावेश किया है। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में व्याप्त पाखंड तथा भ्रष्टाचार पर इन्होंने तीखे व्यंग्य किये हैं।

छायावाद-युग के व्यंग्यकारों में **पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'** (1900-1967) का अलग ही स्थान है। इसकी व्यंग्य-कविताओं और पैरोडियों में जो ताज़गी और निर्भीकता मिलती है, वह आज भी उतना ही प्रभावित करती है। इसी कोटि के एक अन्य प्रसिद्ध हास्य-व्यंग्यकार थे—कृष्णदेवप्रसाद गौड़ **'बेढब बनारसी'** (1895-1968)। छायावाद-युग में ही नहीं, उसके बाद भी समसामयिक सामाजिक-धार्मिक आचार-व्यवहार को ले कर इन्होंने व्यंग्य-विनोद की जो धारा प्रवाहित की, वह अपनी व्यावहारिक भाषा-शैली के कारण और भी अधिक उल्लेखनीय है। हास्य की छटा बिखेरने के लिए इन्होंने अंग्रेज़ी और उर्दू की शब्दावली का भी खुल कर प्रयोग किया है। उपमा और वक्रोक्ति के प्रयोग द्वारा व्यंग्य को तीखा बनाने में भी ये सिद्धहस्त थे। इनकी काव्य-शैली का एक उदाहरण देखिए :

*बाद मरने के मेरे क़ब्र पर आलू बोना*
*हश्र तक यह मेरे ब्रेकफ़ास्ट के सामां होंगे,*
*उम्र सारी तो कटी घिसते क़लम ए बेढब*
*आख़िरी वक़्त में क्या ख़ाक पहलवां होंगे।*

आलोच्य युग में हास्य-व्यंग्य को प्रमुखता देने वाले अन्य समर्थ कवि हैं—अन्नपूर्णानंद (महाकवि चच्चा), कान्तानाथ पांडेय 'चोंच' और शिवरत्न शुक्ल। **अन्नपूर्णानंद** ने पश्चिम के अंधानुकरण, सामाजिक रूढ़ियों की दासता, मानव-स्वार्थ आदि विषयों पर उत्कृष्ट व्यंग्य-काव्य की रचना की है। **कान्तानाथ पांडेय 'चोंच'** की कृतियों में 'चोंच-चालीसा', 'पानी पांडे' और 'महाकवि सांड़' उल्लेखनीय हैं, जिनमें से अंतिम दो में इनकी कुछ हास्य-रसात्मक कहानियां भी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समाविष्ट हैं। समाज की कुरीतियों पर इन्होंने शिक्षात्मक व्यंग्य-लेखन की पद्धति अपनायी है। अंगरेज़ी शब्दों के प्रयोग द्वारा हास्य की सृष्टि करने में भी ये बेढब बनारसी की भांति सिद्धहस्त हैं। 'परिहास-प्रमोद' (1930) के रचयिता **शिवरत्न शुक्ल** की विनोदपूर्ण रचनाएं भी अनायास मन को मुग्ध कर लेती हैं। छायावाद-युगीन पत्रिकाओं में इनकी रचनाएं 'बलई' नाम से प्रकाशित हुआ करती थीं। समाज में व्याप्त अभिशापों पर व्यंग्य करने के साथ ही इन्होंने पथभ्रष्ट राजनीतिज्ञों पर भी मार्मिक वाक्प्रहार किये हैं।

छायावाद-युग की हास्य-व्यंग्यात्मक रचनाओं में हरिऔध-कृत 'चोखे चौपदे' और 'चुमते चौपदे', चतुर्भुज चतुरेश-कृत 'हंसी का फ़व्वारा' और ज्वालाराम नागर 'विलक्षण' द्वारा छायावाद पर व्यंग्य के निमित रचित 'छायापथ' का उल्लेख भी यहां आवश्यक है। जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, मोहनलाल गुप्त, श्रीनाथ सिंह प्रभृति कवियों द्वारा रचित स्फुट कविताएं भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आलोच्य काल में समाज, धर्म, राजनीति आदि विभिन्न क्षेत्रों से संबद्ध ऐसी अनेक हास-परिहासात्मक रचनाएं लिखी गयीं, जिनमें हास्य की मुखरता और व्यंग्य की तीव्रता स्वाभाविक रूप में विद्यमान हैं। किंतु इनमें छायावादी काव्य के तुल्य उत्कर्ष और लावण्य को ढूंढ़ना असंगत होगा, क्योंकि विषय की सामान्य सहजता के कारण ये रचनाएं शैली, विचार, संरचना आदि की दृष्टि से सामान्य स्तर की ही मानी जायेंगी।

## ब्रजभाषा-काव्य

आधुनिक युग को ब्रजभाषा-काव्य की एक दीर्घ-समुन्नत परंपरा प्राप्त हुई थी, इसलिए आधुनिक युग के आरंभिक कवियों के लिए यह स्वाभाविक था कि वे उस परंपरा से प्रभावित हों—प्रभावित ही न हों, उसे आगे भी बढ़ायें। भारतेंदु हरिश्चंद्र और ब्रजभाषा के परवर्ती कवियों की रचनाएं प्राचीन परंपरा से प्रभावित होते हुए भी नवीनता की ओर—नये विषयों और नयी अभिव्यंजना-पद्धति की ओर—अग्रसर हुईं। किंतु छायावाद-युग में ब्रजभाषा-काव्य की परंपरा एक गौण धारा के रूप में ही दिखायी देती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आधुनिक काल में गद्य-रचना की भांति काव्य-रचना के लिए भी खड़ीबोली को स्वीकार कर लिया गया। फिर भी काव्य की भाषा को ले कर काफ़ी दिनों तक तीव्र विवाद होता रहा। ब्रजभाषा के समर्थन में यह तर्क दिया जाता था कि यदि हम सूर, तुलसी, सेनापति, बिहारी और घनानंद जैसी समर्थ प्रतिभाओं की परंपरा को भूलना नहीं चाहते तो हमें ब्रजभाषा को साहित्य में जीवित रखना होगा और इसका उपाय यह है कि काव्य में ब्रजभाषा को ही स्वीकार किया जाये। साथ ही यह भी कहा जाता था कि ब्रजभाषा को अनेक महान प्रतिभाओं ने संवार कर काव्य के उत्तम माध्यम के रूप में ढाल दिया है, जबकि खड़ीबोली का रूप अव्यवस्थित, कर्कश और खुरदरा है और वह काव्य-भाषा के गुणों से रहित है। इसलिए कवियों और विद्वानों के एक वर्ग ने ब्रजभाषा का ज़ोरदार समर्थन किया। किंतु ऐतिहासिक परिस्थितियां इस वर्ग के विपक्ष में थीं। गद्य के लिए खड़ीबोली को स्वीकार किया जा चुका था और गद्य के सर्वतोमुखी महत्त्व के विकास के साथ-साथ खड़ीबोली का महत्त्व भी बढ़ता जा रहा था। ब्रजभाषा में गद्य-साहित्य की परंपरा के अभाव के कारण ब्रजभाषा के समर्थक भी गद्य के निर्माण के लिए खड़ीबोली का विरोध न कर सके। परिणाम यह हुआ कि एक ही साहित्यकार गद्य के लिए खड़ीबोली का उपयोग करता था और पद्य के लिए ब्रजभाषा का। स्पष्ट है कि इस प्रकार की असंगत स्थिति ज़्यादा देर तक नहीं चल सकती थी। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस स्थिति का, जो अपने आप में ही काफ़ी दुर्बल थी, विरोध किया और खड़ीबोली में काव्य-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रचना के लिए अनेक कवियों को प्रेरित किया। बाद में जब प्रसाद, निराला आदि छायावादी कवियों ने खड़ीबोली-कविता में भी सूक्ष्मतम अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यक्ति कर उसकी अंतरंग शक्ति को प्रत्यक्ष कर दिखाया, तब खड़ीबोली का विरोध शांत हो गया। इसके बावजूद अनेक कवि ब्रजभाषा में काव्य-रचना करते रहे। इनमें रामनाथ जोतिसी (1874), रामचंद्र शुक्ल (1884-1940), राय कृष्णदास (1892-1980), जगदंबाप्रसाद मिश्र 'हितैषी' (1895-1956), दुलारेलाल भार्गव (1995), वियोगी हरि (1896-1988), बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', अनूप शर्मा (1900-1966), रामेश्वर 'करुण' (1901), किशोरीदास वाजपेयी, उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' (1907-1957) आदि का उल्लेख मुख्य रूप से अपेक्षित है। **रामनाथ जोतिसी** की रचनाओं में 'रामचंद्रोदय काव्य' (1936) मुख्य हैं। इसमें राम के जन्म से लेकर उनके विवाह और अयोध्या-निवास तक की ही कथा का वर्णन मिलता है। इस काव्य में प्रधान रूप से कवि की भक्ति-भावना मुखर हुई है, किंतु उपदेश देने की प्रवृत्ति भी स्थान-स्थान पर दिखायी देती है। कवि ने परोक्ष रूप से अपने युग की दशा के वर्णन का प्रयास भी किया है। इनकी रचना-शैली पर केशव की 'रामचंद्रिका' का प्रभाव है और इसमें विविध छंदों का सफल प्रयोग लक्षित होता है। **रामचंद्र शुक्ल** इस युग के मेधावी आलोचक तो थे ही, उन्होंने एडविन आर्नल्ड के आख्यान-काव्य 'लाइट ऑफ़ एशिया' का 'बुद्धचरित' (1922) शीर्षक से ब्रजभाषा में अनुवाद भी किया, किंतु यह मूल का अक्षरशः अनुवाद नहीं है—कवि ने अनेक स्थलों पर उद्भावनाएं भी की हैं। शुक्ल जी की भाषा सरल और व्यावहारिक है, क्योंकि वे रीतिकालीन चमत्कारप्रधान भाषा के कायल नहीं थे।

**राय कृष्णदास**-कृत 'ब्रजरस' (1936), **जगदंबाप्रसाद 'हितैषी'** द्वारा रचित कवित्त-सवैये और **दुलारेलाल भार्गव** की 'दुलारे दोहावली' भी इस काल की उल्लेखनीय रचनाएं हैं। ब्रजभाषा की प्रचलित शैली के अनुरूप प्राचीन विषयों का प्रतिपादन करने के साथ-साथ इन कवियों ने नयी शैली द्वारा नयी स्थितियों के चित्रण का प्रयास भी किया है। **वियोगी हरि** की ब्रजभाषा-कृतियों में 'वीरसतसई' (1927) का प्रमुख स्थान है। यह राष्ट्रीय भावना की एक श्रेष्ठ कृति है, जिसमें इन्होंने कहीं प्राचीन भारतीय गरिमा का चित्रण किया है तो कहीं देश की वर्तमान दशा के मार्मिक चित्र खींचे हैं, कहीं वीरों का गौरवगान किया है तो कहीं युवकों को देशसेवा की प्रेरणा दी है। भाषा के नैसर्गिक सौंदर्य और अनुभूति की तीव्रता के कारण यह रचना अत्यंत प्रभावशाली बन पड़ी है। **बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'** ने ब्रजभाषा में अनेक स्फुट रचनाएं लिखी हैं, किंतु इनके कृतित्व का वैशिष्ट्य 'ऊर्म्मिला' महाकाव्य के पंचम सर्ग में लक्षित होता है। इसमें विरहिणी नायिका की मनोदशाओं का मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। यथा :

*वे स्वप्निल रतियां मधुर, वे बतियां चुपचाप।*
*ह्वै विलीन हिय में बनी आज विछोह विलाप।।*
*साजन संस्मृति नेह की, खटकि खटकि रहि जाय।*
*अटकि अटकि आँसू झरें, भरे हृदय निरुपाय।।*

छायावाद-युग में ब्रजभाषा काव्य के उन्नयन में **अनूप शर्मा** का योगदान अविस्मरणीय है। इनके चम्पू-काव्य 'फेरि मिलिबौ' (1938) में कुरुक्षेत्र में राधा-कृष्ण के पुनर्मिलन का वर्णन है, जो 'श्रीमद्भागवत पुराण' के संबद्ध प्रसंग पर आधारित हैं। इसका कथानक 75 प्रसंगों में विभाजित है तथा गद्य और पद्य दोनों में ब्रजभाषा को अपनाया गया है। कथा-प्रवाह, रस-व्यंजना, चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता और भाषा की सहज मधुरता इस कृति की सहज विशेषताएं हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**रामेश्वर 'करुण'** द्वारा रचित 'करुण-सतसई' (1930) में अनुभूति की तीव्रता, करुणा, समस्यामूलकता और व्यंग्य को अनेकशः देखा जा सकता है। सामयिक विषयों का कहीं भावप्रेरित और कहीं विचारपूर्ण निरूपण इस कृति की मुख्य उपलब्धि है। **किशोरीदास वाजपेयी** कृत 'तरंगिणी' (1936) के दोहों में भी प्राचीन और नवीन रचना-दृष्टियों का समन्वय मिलता है। इसमें संदेह नहीं कि आलोच्य युग के ब्रजभाषा कवियों में भी नवीनता के दर्शन होते हैं, चाहे वह कितने ही सीमित रूप से मुखर हुई हो। उदाहरण के लिए, **उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश'** की इन पंक्तियों में भाषा और संवेदना की दृष्टि से नवीनता दिखायी देती है :

*वह नील सिखर तें उतरी, अनुरागमयी निसिबाला।*
*स्वागत कौं अवनि खड़ी लै, सुठि साँझ सुमन की माला।*

भावबोध और शिल्प की दृष्टि से ये पंक्तियां छायावाद के इतने निकट हैं कि यदि ऐसी रचनाओं का परिमाण अधिक होता तो संभवतः ब्रजभाषा-काव्य में छायावादी धारा को स्वीकार करना पड़ता।

## मूल्यांकन

छायावादयुगीन काव्य का समन्वित अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग की कवि-प्रतिभा सर्जना के विविध क्षेत्रों में गतिशील रही है और उसने नयी दिशाओं का संकेत भी किया है। अभिव्यंजना की दृष्टि से इस काल के काव्य की छायावादी धारा में जहां सूक्ष्म वक्रता और जटिल संरचना दिखायी देती है, वहां राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता और प्रेमप्रधान स्वच्छंद वैयक्तिक काव्यधारा में शैली सरलता और आवेग से युक्त दिखायी देती है। इस काल के ब्रजभाषा काव्य में भी काव्य-शैली के दोनों रूपों—प्राचीन पद्धति का अलंकृत रूप तथा नवीन सूक्ष्म वक्र रूप—के दर्शन होते हैं। इस काव्य की, विशेषतः छायावादी काव्य की, प्रकृति-संबंधी दृष्टि में नवीनता और ताज़गी है। यहां आ कर जड़ और चेतन का द्वैत मिट गया है और कवियों ने जिस भांति चेतन सृष्टि के विविध रूपों के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है, उसी भांति प्रकृति-चित्रण में भी सूक्ष्म, संश्लिष्ट और नूतन उद्‌भावनाएं की हैं। अनुभूति की दृष्टि से इस युग का काव्य व्यक्तिनिष्ठ होने के साथ ही सामाजिकता से प्रतिबद्ध भी रहा है। इसमें संदेह नहीं कि अनेक कविताओं एवं गीतों में व्यक्तिनिष्ठ भावना ही प्रधान रूप से मुखर हुई है, किंतु महान काव्य में यह व्यक्तिनिष्ठ भावना व्यापक सामाजिक जीवन से संबद्ध होती हुई उदात्त आध्यात्मिक स्तर तक पहुंचने का प्रयास करती है। इस काव्य की व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि में विकास की संभावना स्पष्ट लक्षित होती है। प्रेम और मस्ती के काव्य को लोकोन्मुखी छायावादी व्यक्ति-चेतना और छायावादोत्तर नयी कविता की अहं-केंद्रित भावना के बीच की कड़ी के रूप में देखा जा सकता है।

छायावादी काव्य ने दो संस्कृतियों—भौतिक तथा आध्यात्मिक—के द्वैत और संघर्ष की ज्वलंत आधुनिक समस्या से जूझने का प्रयास किया है। इस धारा के कवियों ने अपने-अपने ढंग से इस द्वैत का निषेध कर दोनों संस्कृतियों के समन्वय का यत्न किया है। किंतु स्पष्टतः यह समन्वय आध्यात्मिक सत्ता की प्रमुखता पर आधारित है। इसलिए इस प्रयास की अपनी सीमाएं हैं। किंतु यह समस्या एक जटिल समस्या है और आज भी इसका कोई सर्वमान्य समाधान नहीं हो पाया। इस काल की काव्य-चेतना के दो छोर जिस प्रकार आध्यात्मिक और भौतिक सत्य हैं, उसी प्रकार वह व्यक्ति और सामाजिकता की स्थितियों का भी स्पर्श करती है और इन दोनों में समन्वय का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रयास करती है। इस स्थिति में विकास की दोनों संभावनाएं निहित हैं—समाजवादी चेतना के विकास की भी और व्यक्तिवादी चेतना के विकास की भी। पहली संभावना छायावादोत्तर काल में प्रगतिवादी काव्य में दिखायी देती है और दूसरी प्रयोगवादी कविता या नयी कविता में। सार-रूप में यह कहा जा सकता है कि छायावाद-युग का काव्य महान उपलब्धियों और अनेक संभावनाओं का काव्य है।

## गद्य-साहित्य

छायावादयुगीन गद्य-साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन के पूर्व इस युग की राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त सर्वेक्षण आवश्यक है, क्योंकि युगविशेष का साहित्य जहां पूर्ववर्ती साहित्य से जुड़ा होता है, वहीं समसामयिक वातावरण और रचना-प्रवृत्तियों का भी उस पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक दृष्टि से इस युग में महात्मा गांधी का नेतृत्व जनता को सत्य, अहिंसा और असहयोग के माध्यम से स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए निरंतर प्रेरणा एवं शक्ति प्रदान कर रहा था। 1919 ई. के प्रथम अवज्ञा-आंदोलन की असफलता, जलियांवाला कांड तथा भगतसिंह को प्रदत्त मृत्युदंड जैसी घटनाओं से जनता का मनोबल कम नहीं हुआ था, साइमन कमीशन के बहिष्कार तथा नमक-क़ानून-भंग सदृश जन-आंदोलनों से इसी तथ्य की पुष्टि होती है। पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृति के प्रभावस्वरूप इस युग के सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन आ गया था। युवा मन परंपरागत रीति-रिवाजों को तोड़ कर पश्चिमी राष्ट्रों के स्वतंत्र नागरिकों के समान जीवन-यापन के लिए लालायित था। सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों की जैसी स्पष्ट छाप छायावाद-युग के गद्य-साहित्य में लक्षित होती है, वैसी काव्य-साहित्य में नहीं होती। वस्तुतः आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से हिंदी-गद्य का व्याकरण सम्मत परिमार्जित रूप प्रायः स्थिर हो चुका था, फलस्वरूप समकालीन परिवेश के संदर्भ में विभिन्न गद्यविधाओं का यथार्थोन्मुख विकास-परिष्कार स्वाभाविक था। इसलिए छायावाद-युग का गद्य-साहित्य पूर्ववर्ती युगों की तुलना में अधिक विकासशील और समृद्ध है।

### नाटक

नामकरण की दृष्टि से विचार करें तो हिंदी-नाट्यसाहित्य के इस युग को 'प्रसाद-युग' कहना युक्तिसंगत होगा। यद्यपि प्रसाद जी ने सन् 1918 के पूर्व ही नाटकों की रचना आरंभ कर दी थी, पर उनकी आरंभिक रचनाएं : सज्जन, कल्याणी-परिणय, प्रायश्चित, करुणालय, राज्यश्री (प्र.सं.)—नाट्यकला की दृष्टि से अपरिपक्व हैं। इनके अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे अपने लिए माध्यम की खोज कर रहे थे। यह माध्यम उन्हें आलोच्य युग में प्राप्त हुआ—विशाख (1921), अजातशत्रु (1922), कामना (रचना 1923-24, प्रकाशन 1927), जनमेजय का नागयज्ञ (1926), स्कंदगुप्त (1928), एक घूंट (1930), चंद्रगुप्त (1931) और ध्रुवस्वामिनी (1933) शीर्षक नाट्यकृतियों के रूप में। इनके माध्यम से उन्होंने हिंदी-नाट्यसाहित्य को विशिष्ट स्तर और गरिमा प्रदान की। वस्तुतः हिंदी-उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में जो स्थान प्रेमचंद का है, नाटक के क्षेत्र में लगभग वही स्थान प्रसाद का है।

हिंदी-नाटक को साहित्यिक भूमिका प्रदान करने का प्रयास सर्वप्रथम भारतेंदु हरिश्चंद्र ने किया था। उनके पूर्व साहित्यिक नाटकों का अभाव था, पारसी-नाटक-कंपनियों द्वारा अभिनीत नाटक असाहित्यिक और कुरुचिपूर्ण हुआ करते थे। भारतेंदु ने स्वयं नाटक लिखने और अपने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

साहित्यिक सहयोगियों को इस ओर प्रवृत्त करने के साथ ही अव्यावसायिक रंगमंच की नींव भी डाली। उनके द्वारा स्थापित की गयी नाटक और रंगमंच की परंपरा को ही **जयशंकर प्रसाद** ने नया जीवन और नयी दिशा प्रदान की। प्रसाद की कठिनाई यह थी कि वे जिस प्रकार के नाटक लिखना चाहते थे, उनके अनुरूप रंगमंच हिंदी में नहीं था। पारसी-रंगमंच सस्ती जनरुचि का पोषक था, अतः प्रसाद के लिए उसे अपनाने का प्रश्न ही नहीं था। उधर हिंदी का शौक़िया रंगमंच नितांत अविकसित था। फलतः प्रसाद ने साहित्यिक रंगमंच की स्वयं कल्पना की और इस मानसिक रंगमंच की पृष्ठभूमि में ही अपने नाटक लिखे। यदि रवींद्रनाथ ठाकुर की तरह वे भी व्यावहारिक और बहिर्मुखी रहे होते, तो संभव था कि उनके हाथों हिंदी-रंगमंच का वैसा ही निर्माण हो गया होता, जैसा कि रवींद्रनाथ ठाकुर द्वारा बंगला-रंगमंच का हुआ। प्रसाद जी अपने काल्पनिक रंगमंच को व्यावहारिक रूप नहीं दे सके, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनके नाटक अन्य सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट होने पर भी अभिनय की दृष्टि से सफल न हो पाये। उन्होंने विवेच्य काल में नौ नाटकों की रचना की, जिनमें सात ऐतिहासिक, एक अन्यापदेशिक और एक एकांकी है। उनके ऐतिहासिक नाटक हैं—विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, राज्यश्री, स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी। 'राज्यश्री' की रचना सर्वप्रथम सन् 1915 में हुई थी, बाद में कतिपय नये दृश्यों तथा नये पात्रों के समावेश द्वारा उन्होंने 1937 में इसे नाटकीय पूर्णता प्रदान की।

प्रसाद जी मुख्यतः ऐतिहासिक नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। परतंत्र देश का लेखक यदि वर्तमान की क्षतिपूर्ति अपने गौरवमय अतीत में करता है, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। रोमानी प्रकृति के लेखक के लिए तो यह अनिवार्य-सा हो जाता है। प्रसाद जी रोमानी प्रकृति के कवि थे, अतः उन्होंने देश में गौरवमय अतीत को अपने नाटकों का विषय बनाया। उनके नाटकों में पौराणिक युग (जनमेजय का नागयज्ञ) से ले कर हर्षवर्धन-युग (राज्यश्री) तक के भारतीय इतिहास की गौरवमयी झांकी देखने को मिलती है। शायद ही हिंदी के किसी अन्य लेखक ने भारतीय संस्कृति, समृद्धि, शक्ति और औदात्य का ऐसा भास्वर चित्र प्रस्तुत किया हो। इन नाटकों में जो चरित्र उभरे हैं, वे शील, शक्ति और औदात्य के प्राणवंत विग्रह हैं। इतिहास के प्रसिद्ध पात्रों में नया जीवन भर दिया गया है। गौतमबुद्ध, चाणक्य, चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, राज्यश्री, ध्रुवस्वामिनी आदि ऐतिहासिक पात्र हैं, पर प्रसाद के नाटकों में इनका जो रूप उभरा है, वह इतिहास की उपलब्धि नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त प्रसाद ने इतने विविध प्रकार के पात्रों की सृष्टि की है कि उनके माध्यम से पूरा युग ही सजीव हो कर सामने उपस्थित हो गया है। पर यह समझना भूल होगी कि उन्होंने केवल भारतीय संस्कृति के गौरव-गान के लिए नाटकों की रचना की थी। वस्तुतः उन्होंने इतिहास की प्राचीन घटनाओं के माध्यम से व्यंग्य रूप में वर्तमान की समस्याओं का चित्रण और समाधान प्रस्तुत किया। 'इतिहास अपने को दुहराता है,' इस उक्ति का बड़ा सुंदर उपयोग उन्होंने अपने नाटकों में किया है। यों तो प्रायः उनके सभी नाटकों में युगीन समस्याओं का समावेश हुआ है, पर 'ध्रुवस्वामिनी' तो 'ऐतिहासिक नाटक' हो कर भी 'समस्या नाटक' बन गया है। इसलिए प्रसाद को 'अतीत के स्वर्णयुग में विचरण करने वाले' या 'गड़े मुर्दे उखाड़ने वाले' लेखक के रूप में देखना न्यायसंगत नहीं होगा। उनकी प्रवृत्ति रोमानी अवश्य थी, पर उनमें सामाजिक जागरूकता का अभाव नहीं था।

प्रसाद के नाटकों में शिल्प पर कई तरह के प्रभाव दिखायी पड़ते हैं। उनके सामने संस्कृत-नाट्यसाहित्य की गौरवमयी परंपरा तो थी ही, अंगरेज़ी के प्रसिद्ध नाटककार भी थे, जिनमें शेक्सपियर की कृतियां भी थीं। समकालीन बंगला-नाटककार, जिनमें द्विजेंद्रलाल राय प्रमुख थे,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शेक्सपियर के नाटकों से प्रभावित थे। प्रसाद पर इनका भी प्रभाव पड़ा था। यही नहीं, पारसी-नाटक-कंपनियों का, जिन्हें वे बिलकुल भी सहन नहीं करते थे, प्रभाव उन पर भी अप्रत्यक्ष रूप से पड़े बिना न रहा। उनके आरंभिक नाटकों में गद्यात्मक वार्तालापों के बीच तुकबंदी, पद्यात्मक संवाद तथा 'नर्तकियों का नाचते हुए प्रवेश' आदि पारसी-नाटकों के प्रभाव से ही आये जान पड़ते हैं। वस्तु-योजना, नायक-परिकल्पना तथा रस सृष्टि में जहां वे संस्कृत-नाटकों के निकट प्रतीत होते हैं, वहां कथावस्तु में संघर्ष का समायोजन, अंकों का दृश्यों में विभाजन, वस्तुसंघटन एवं पात्रों की सृष्टि में संस्कृत-काव्यशास्त्र की रूढ़ियों की अवहेलना उन्हें अंगरेज़ी—विशेष कर शेक्सपियर—के नाटकों के निकट ले जाती है। लगता है, बाद में उन्होंने इब्सन और बर्नार्ड शॉ से भी प्रभाव ग्रहण किया था—'ध्रुवस्वामिनी' में इस प्रभाव की कुछ झलक देखी जा सकती है।

कलात्मक उत्कर्ष की दृष्टि से प्रसाद के प्रमुख नाटक तीन हैं : 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी'। 'स्कंदगुप्त' में समृद्धि और ऐश्वर्य के शिखर पर आसीन गुप्त-साम्राज्य की उस स्थिति का चित्रण हुआ है, जहां आंतरिक कलह, पारिवारिक संघर्ष और विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप उसके भावी क्षय के लक्षण प्रकट होने लगे थे। विषय और रचनाशिल्प दोनों ही दृष्टियों से यह प्रसाद का सर्वश्रेष्ठ नाटक माना जाता है। भारतीय और पाश्चात्य नाटक-पद्धतियों का इतना सुंदर समन्वय उनके अन्य किसी नाटक में नहीं मिलता। स्कंदगुप्त और देवसेना के चरित्र पाठकों पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं। 'चंद्रगुप्त' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें विदेशियों से भारत के संघर्ष और उस संघर्ष में अंततः भारत की विजय की थीम उठायी गयी है। प्रसाद के मन में भारत की पराधीनता को ले कर गहरी व्यथा थी, और ऐसा लगता है जैसे उन्होंने इस ऐतिहासिक प्रसंग के माध्यम से अपने इच्छित विश्वास को वाणी दी हो। इस दृष्टि से 'चंद्रगुप्त' की कथावस्तु 'स्कंदगुप्त' से भी उदात्त है। चाणक्य, चंद्रगुप्त, मालविका, कार्नेलिया आदि के रूप में उन्होंने अनेक प्रभावशाली चरित्र हमें दिये हैं। पर शिल्प की दृष्टि से यह अपेक्षाकृत शिथिल कृति है। इसकी कथा में वह संगठन, संतुलन और एकतानता नहीं है, जो 'स्कंदगुप्त' में है। अंकों और दृश्यों का विभाजन भी असंगत है। नाटकीय अन्वितियों की अवहेलना 'चंद्रगुप्त' में सीमा अतिक्रमण कर गयी है। फिर भी, 'चंद्रगुप्त' हिंदी की एक श्रेष्ठ नाट्यकृति है, प्रसाद की प्रतिभा ने इसकी त्रुटियों को ढंक दिया है।

प्रसाद के नाटकों में 'ध्रुवस्वामिनी' का विशिष्ट स्थान है। यद्यपि यह भी मूलतः ऐतिहासिक नाटक है और इतिहास की एक अत्यंत नाजुक घड़ी का चित्रण इसमें हुआ है, पर इसका विशेष महत्त्व 'समस्यानाटक' के रूप में है। इसमें तलाक और पुनर्विवाह की समस्या को बड़े कौशल से उठाया गया है। प्रसाद के समय तक यूरोप में समस्यानाटकों का प्रचलन काफ़ी हो गया था और प्रसाद जी उनसे प्रभावित हुए हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस समय तक लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्यानाटक भी प्रकाश में आने लगे थे और 'ध्रुवस्वामिनी' से पता चलता है कि प्रसाद कितने युगधर्मी थे। 'कामना' और 'एक घूंट' भी उनके उल्लेखनीय नाटक हैं। 'कामना' संस्कृत के 'प्रबोधचंद्रोदय' की शैली का अन्योपदेशिक नाटक है। इसमें विभिन्न मनोविकारों को प्रतीक रूप में रंगमंच पर उपस्थित किया गया है और उनके कार्यकलापों द्वारा मानव-सभ्यता और संस्कृति के विकास की कथा प्रस्तुत की गयी है। यद्यपि नाट्यशिल्प की दृष्टि से इसे विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता, पर इससे प्रसाद की प्रयोगधर्मिता का तो पता चलता ही है। 'एक घूंट' भी विषय की दृष्टि से 'अन्योपदेशिक' नाटक है, पर इसका विशेष महत्त्व इसके एकांकी होने में है। समूचे नाटक में एक अंक और एक दृश्य है। यद्यपि आधुनिक एकांकी की एकलक्ष्यता, तीव्रता और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यथार्थबोध का इसमें नितांत अभाव है, पर नाट्यशिल्प की दिशा में प्रसाद जी का यह प्रयोग उपेक्षणीय नहीं माना जा सकता।

प्रसाद के नाटकों के अवलोकन से यह तथ्य बड़े स्पष्ट रूप से सामने आता है कि वे प्रत्येक श्रेष्ठ लेखक की तरह स्वयं भी प्रयोगधर्मी थे। उन्होंने कभी भी अपने आपको दुहराया नहीं। उनके आरंभिक नाटक, जिनका लेखनकाल 1910 से 1915 ई. है, उनकी प्रयोगधर्मिता के प्रमाण हैं। प्रसाद को जब इन नाटकों से संतोष नहीं हुआ तो उन्होंने अपने परवर्ती नाटकों में विषय और शिल्प दोनों क्षेत्रों में निरंतर प्रयोग किये। प्रसाद को रंगमंच नहीं मिला, इस कारण उनके शिल्पविषयक प्रयोग अंत तक पूर्णतः व्यावहारिक नहीं बन सके। फिर भी उन्होंने हिंदी-नाटक को उत्कर्ष प्रदान किया और रंगमंच को चुनौती दी। संभव है कि हिंदी का भावी रंगमंच प्रसाद के नाटकों के सफल और प्रभावशाली मंचन में समर्थ हो सके।

विवेच्य काल के परवर्ती नाटककारों में हरिकृष्ण 'प्रेमी' और लक्ष्मीनारायण मिश्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। **हरिकृष्ण 'प्रेमी'** ने इस अवधि में 'स्वर्णविहान' (1930), 'रक्षाबंधन' (1934), 'पाताल-विजय' (1936), 'प्रतिशोध' (1937), 'शिवासाधना' (1937) आदि नाटक लिखे। इनमें 'स्वर्णविहान' गीतिनाटक है, शेष गद्यनाटक हैं। प्रेमी जी के नाटक प्रसाद के नाटकों की तरह ही ऐतिहासिक हैं, यद्यपि दोनों के लक्ष्य और कालखंड के चुनाव में बहुत अंतर है। प्रेमी जी ने भारतीय इतिहास के मुस्लिमकाल को अपने नाटकों का आधार बनाया और हिंदू-मुस्लिम-एकता के प्रतिपादन पर उनका विशेष बल रहा। यह स्मरणीय है कि 1930 तक हिंदू-मुसलमानों के बीच सांप्रदायिक संघर्ष राष्ट्रीय जीवन की एक चिंताजनक समस्या बन चुका था और एक ओर राजनीतिक मंच से महात्मा गांधी तथा दूसरी ओर साहित्यिक मंच से प्रेमचंद आदि इस समस्या के समाधान में लगे हुए थे। प्रेमी जी ने हिंदू-मुसलमानों की सांस्कृतिक एकता पर बल दिया और उदार प्रकृति के हिंदू-मुसलमान ऐतिहासिक पात्रों के जीवन के मार्मिक प्रसंगों को जीवंत नाट्य-दृश्यों के रूप में प्रस्तुत कर हिंदू-मुसलमान-हृदयों को एक-दूसरे के निकट लाने का प्रयास किया। उनके नाटक राष्ट्रीयता और देशप्रेम के भावों से ओत-प्रोत हैं और इस रूप में अपने युग के सच्चे प्रतिनिधि हैं।

प्रेमी जी के समसामयिक नाटककारों में **लक्ष्मीनारायण मिश्र** ने इस अवधि में 'अशोक' (1927), 'संन्यासी' (1929), 'मुक्ति का रहस्य' (1932), 'राक्षस का मंदिर' (1932), 'राजयोग' (1934), 'सिंदूर की होली' (1934), 'आधी रात' (1934) आदि नाटकों की रचना की। प्रसाद से सर्वथा भिन्न मार्ग पर चल कर उन्होंने हिंदी-नाटक-साहित्य को नया मोड़ दिया। 'संन्यासी' की भूमिका में उन्होंने लिखा है : "इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने का काम इस युग के साहित्य में वांछनीय नहीं।" यह स्पष्टतः प्रसाद-साहित्य के प्रति प्रतिक्रिया थी। जब प्रतिक्रिया का यह दौर समाप्त हुआ तो मिश्र जी ने भी इतिहास पर आधृत नाटक लिखे, पर 1938 ई. तक उनका विद्रोही रूप ही प्रधान रहा। उनका पहला नाटक 'अशोक' द्विजेंद्रलाल राय और प्रसाद के नाटकों की परंपरा में लिखा गया था, किंतु परवर्ती नाटकों में उनकी शैली सर्वथा भिन्न है। सत्य तो यह है कि उनके 'संन्यासी' नाटक के साथ ही हिंदी-नाटक के विषय और शिल्प दोनों में बदलाव आया। 'संन्यासी' में राष्ट्र और अपनी संस्कृति के गौरवबोध की प्रेरणा मुख्य रही है—इसमें विदेशी शासकों की धोखाधड़ी, गांधी जी के असहयोग, रौलट एक्ट, पंजाब हत्याकांड आदि से उत्पन्न स्थितियों का चित्रण है। वैसे 'संन्यासी' से 'आधी रात' तक अपने सभी नाटकों में उन्होंने सामाजिक समस्याओं को—विशेष कर नारी-समस्याओं को—आधार बनाया है। अपने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नाटकों की विषयवस्तु के लिए उन्होंने इतिहास के पृष्ठों में नहीं, बल्कि समाज के विस्तृत आंगन में झांका और समसामयिक समाज में, विशेष रूप से नारी की स्थिति और उसकी समस्याओं को अपने दृष्टिकोण से चित्रित किया। स्त्री-शिक्षा के प्रचार, नारी-स्वातंत्र्य-आंदोलन तथा नवीन जीवन-दर्शन के फलस्वरूप आधुनिक नारी का ऐसा रूप सामने आया, जिससे हमारा समाज अब तक अपरिचित था। प्रेम और विवाह, प्रणय और दांपत्य, काम और नैतिकता विषयक अनेक समस्याएं समाज के समक्ष सहसा उपस्थित हो गयीं। मिश्र जी ने इन समस्याओं को उठाते समय सामाजिक वैषम्य की पृष्ठभूमि में नारी और पुरुष के संबंधों का चित्रण किया। उन्होंने प्रेम, विवाह और शिक्षा संबंधी समस्याओं के समाधान के लिए बुद्धिवादी दृष्टिकोण का आग्रह रखा। प्रसाद के नाटकों में जहां स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति का प्राधान्य था, वहां मिश्र जी के नाटकों में बौद्धिकता का समावेश हुआ। समकालीन और परवर्ती आलोचकों ने इसे इब्सन और शॉ के नाटकों के प्रभाव का परिणाम सिद्ध किया है, यद्यपि स्वयं मिश्र जी ने इस प्रभाव का बार-बार खंडन किया है। उन्होंने अपने नाटकों की मूल प्रेरणा प्राचीन संस्कृति के गौरवबोध व पूर्वजों के प्रति निष्ठा आदि में मानी है। इसलिए यद्यपि उनके नाटकों की नारियां अपने काम-संबंधों में पर्याप्त स्वतंत्रता बरतती हैं और इस कारण उनका चरित्र पहली दृष्टि में भारतीय मान्यताओं के प्रतिकूल दीख पड़ता है, पर गहराई में जा कर देखने से विदित होता है कि उनकी जीवन-दृष्टि मूलतः भारतीय है। 'मुक्ति का रहस्य' में पश्चिम के उन्मुक्त प्रेम पर भारतीय दांपत्य-विधान की विजय और 'सिंदूर की होली' में विधवा विवाह एवं नारी-उद्धार के प्रति मनोरमा के दृष्टिकोण से इस कथन की पुष्टि होती है। सहशिक्षा और आधुनिक शिक्षा का स्थान-स्थान पर विरोध भी मिश्र जी को परंपरावादी सिद्ध करता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कहीं-कहीं उनके विचारों में अंतर्विरोध पैदा हो गया है। डॉ. नगेंद्र ने ठीक ही लिखा है : ''कहीं व्यक्ति की स्वतंत्रता की सिफारिश है, कहीं व्यक्ति को विश्व में लय कर देने की।''

मिश्र जी ने नाट्यशास्त्र की दिशा में भी अनेक मौलिक एवं क्रांतिकारी प्रयोग किये हैं। उनके सभी नाटक तीन अंकों के हैं और अंकों का विभाजन दृश्यों में नहीं किया गया है। उस समय के हिंदी-नाटककार द्विजेंद्रलाल राय के माध्यम से, शेक्सपियर के प्रभाव से बुरी तरह आक्रांत थे, यद्यपि अंगरेज़ी में तब तक इब्सन, शॉ आदि के यथार्थवादी नाटकों का ख़ूब प्रचलन हो चुका था। मिश्र जी ने स्वयं पर पाश्चात्य प्रभाव को साग्रह अस्वीकार किया है, और संभव है, उनके विषय-प्रतिपादन पर पश्चिम का प्रभाव न भी हो, पर उनके नाटकों के शिल्पविधान पर अंगरेज़ी के यथार्थवादी नाटकों का प्रभाव प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में अवश्य पड़ा था। उनके नाटकों में उसी प्रकार विशुद्ध गद्य का प्रयोग हुआ है, जैसे बर्नार्ड शॉ के नाटकों में। नाटकीय अन्वितियों के निर्वाह में भी वे जयंशकर प्रसाद की अपेक्षा अधिक सतर्क हैं, जो संभवतः पश्चिमी प्रभाव ही है। मिश्र जी पर पश्चिमी प्रभाव के संबंध में तथ्य चाहे जो हो—प्रभाव हेय नहीं होता—किंतु इतना स्पष्ट है कि हिंदी-नाटक को नयी दिशा और नयी शक्ति देने वालों में प्रसाद के बाद उनका स्थान प्रमुख है।

उपर्युक्त प्रमुख नाटककारों के अतिरिक्त आलोच्य युग में जिन अन्य लेखकों ने नाट्यरचना की, उनका नाटक-साहित्य गुण की दृष्टि से बहुत समृद्ध न होने पर भी परिमाण की दृष्टि से ध्यान आकृष्ट करता हैं। सबसे अधिक संख्या धार्मिक-पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की है। प्रथम वर्ग के अंतर्गत अंबिकादत्त त्रिपाठी-कृत 'सीय-स्वयंवर नाटक' (1918), रामचरित उपाध्याय-कृत 'देवी द्रौपदी' (1921), रामनरेश त्रिपाठी-कृत 'सुभद्रा' (1924) तथा 'जयंत' (1934), गंगाप्रसाद अरोड़ा-कृत 'सावित्री-सत्यवान' (1925), गौरीशंकर प्रसाद-कृत

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हश्र काश्मीरी, मुंशी मेहंदीहसन लखनवी, राधेश्याम कथावाचक, शिवनाथ शर्मा, शिवरामदास गुप्त, श्रीकृष्ण हसरत, सुवर्ण सिंह वर्मा आदि प्रमुख थे। इन लेखकों ने सैकड़ों की संख्या में पौराणिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक नाटक लिखे, जिनमें से अनेक पारसी-रंगमंच तथा उससे प्रभावित व्यावसायिक नाटक-मंडलियों द्वारा खेले भी गये। इनकी विशेषता यह है कि रंगमंच से संबद्ध होने के कारण ये सर्वथा अभिनेय हैं, किंतु ये नाटक साहित्यिक गुणों से रहित हैं तथा तत्कालीन सस्ती जनरुचि के अनुगमन के कारण हिंदी-नाट्य-साहित्य की समृद्धि में इनका योगदान महत्त्वपूर्ण नहीं बन पाया है।

कुल मिला कर इस काल के नाट्य-साहित्य को अन्य विधाओं की तुलना में बहुत पिछड़ा हुआ नहीं माना जा सकता। जयशंकर प्रसाद और लक्ष्मीनारायण मिश्र की नाट्य-कृतियां निस्संदेह गौरवास्पद हैं। यदि हिंदी के पास अव्यावसायिक रंगमंच होता तो इस युग का नाट्यसाहित्य और भी अधिक समृद्ध होता, इसमें कोई संदेह नहीं।

## एकांकी नाटक

हिंदी में एकांकी नाटकों का प्रचलन विशेष रूप से विवेच्यकाल के अंतिम कुछ वर्षों में ही हुआ, यों आरंभ से ही एकांकी लिखने के छुटपुट प्रयास होने लगे थे। उदाहरणस्वरूप, महेशचंद्र प्रसाद के 'भारतेश्वर का संदेश' (1918) शीर्षक पद्यबद्ध एकांकी, देवीप्रसाद गुप्त के 'उपाधि और व्याधि' (1921) तथा रूपनारायण पांडेय द्वारा अमूल्यचरण नाग के बंगला-नाटक 'प्रायश्चित्त' के आधार पर लिखित 'प्रायश्चित्त प्रहसन' (1923) का उल्लेख किया जा सकता है। ब्रिजलाल शास्त्री-कृत 'वीरांगना' (1923) में 'पद्मिनी', 'तीन क्षत्राणियां', 'पन्ना', 'तारा', 'कमल', 'पद्मा', 'कोड़मदेवी', 'किरणदेव' प्रभृति एकांकी संगृहित हैं। बदरीनाथ भट्ट के एकांकी-संग्रह 'लबड़ धों धों' (1926) में मनोरंजक प्रहसन संकलित हैं। हनुमान शर्मा-कृत 'मान-विजय' (1926), बेचन शर्मा 'उग्र' के एकांकी-प्रहसनों का संग्रह 'चार बेचारे' (1929) और प्रसाद का 'एक घूंट' (1930) भी इस काल की उल्लेखनीय रचनाएं हैं। उग्र जी ने समसामयिक परिस्थितियों का व्यंग्यपूर्ण शैली में निर्मम विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि एकांकी-रूप में नाटकों की रचना बहुत पहले होने लगी थी। सच पूछें तो यह विधा हमारे लिए बिलकुल नयी नहीं थी। संस्कृत में 'अंक', 'व्यायोम', 'भाण', 'वीथी' आदि एक अंक वाले नाटकों का प्रचलन था, किंतु इस विधा को विशेष महत्त्व पश्चिम में मिला। संस्कृत में रूपक के इन भेदों को गौण माना गया और इनका विशेष साहित्य भी उपलब्ध नहीं है। पर पश्चिम में, संभवतः आधुनिक जीवन की व्यस्तता और संघर्षमयता के फलस्वरूप, एकांकी नाटक का पुनर्जन्म-सा हुआ। संकलनत्रय और संघर्षमय कार्य-व्यापार के योग से एकांकी नाटक नये युग के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुए। हिंदी में पश्चिमी ढंग के एकांकी नाटकों का प्रणयन 1930 ई. के बाद के दशक में हुआ। इस क्रम में **रामकुमार वर्मा** के 'बादल की मृत्यु' (1930) शीर्षक एकांकी के पश्चात **भुवनेश्वरप्रसाद** (जन्म 1910) का 'कारवां' (1935) नामक एकांकी-संग्रह उल्लेखनीय है, जिसमें 'श्यामा', 'एक साम्यहीन साम्यवादी', 'शैतान', 'प्रतिमा का विवाह', 'लॉटरी' आदि एकांकी संगृहीत थे। इनमें भुवनेश्वरप्रसाद ने अपने आसपास की ज़िंदगी की अनेक परतों को उघाड़ कर देखने का प्रयास किया। उनके नाटकों में भावुकता के दर्शन नहीं होते, वे निर्मम भाव से जीवन के प्रश्नों से जूझते हैं। तकनीक की दृष्टि से भी ये एकांकी पग-पग पर ध्यान आकृष्ट करते हैं। इनकी भाषा गहरी व्यंजना तथा वक्रोक्ति से, जो कभी-कभी बर्नार्ड शॉ के प्रभाव से

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आयी जान पड़ती है, युक्त है। इस प्रकार भुवनेश्वरप्रसाद ही हिंदी के पहले महत्त्वपूर्ण आधुनिक एकांकीकार माने जा सकते हैं, यद्यपि तिथिक्रम की दृष्टि से रामकुमार वर्मा का 'बादल की मृत्यु' पहला एकांकी ठहरता है।

आलोच्य युग के अन्य एकांकीकारों में गणेशप्रसाद द्विवेदी, जगदीशचंद्र माथुर, उदयशंकर भट्ट, उपेंद्रनाथ अश्क, सेठ गोविंददास आदि प्रमुख हैं। द्विवेदी जी के एकांकी-संग्रह 'सोहागबिंदी तथा अन्य नाटक' (1935) के अतिरिक्त उदयशंकर भट्ट के 'दुर्गा' (1934) और 'एक ही क़ब्र में' (1936) शीर्षक एकांकी, सेठ गोविंददास का 'स्पर्द्धा' (1935) शीर्षक एकांकी, जगदीशचंद्र माथुर के 'मेरी बांसुरी' (1936) और 'भोर का तारा' (1937) शीर्षक एकांकी और भगवतीचरण वर्मा का एकांकी 'सबसे बड़ा आदमी' (1936) विशेष लोकप्रिय हुए। 1938 में उदयशंकर भट्ट ने 'आधुनिक एकांकी नाटक' शीर्षक से और उपेंद्रनाथ अश्क ने 'छह एकांकी' शीर्षक से दो एकांकी-संकलन प्रकाशित किये। 'आधुनिक एकांकी नाटक' में 'राजपूत की हार' (सुदर्शन), 'दस मिनट' (रामकुमार वर्मा), 'स्ट्राइक' (भुवनेश्वरप्रसाद), 'लक्ष्मी का स्वागत' (अश्क), 'सबसे बड़ा आदमी' (भगवतीचरण वर्मा), 'दीबू' (धर्मप्रकाश आनंद) और 'दस हज़ार' (उदयशंकर भट्ट) शीर्षक एकांकी संकलित हैं तथा 'छह एकांकी' में 'लक्ष्मी का स्वागत' (अश्क), 'उस पार' (कमलकांत वर्मा), 'स्ट्राइक' (भुवनेश्वरप्रसाद), 'टकराहट' (जैनेंद्रकुमार), 'कामरेड' (गणेशप्रसाद द्विवेदी) आदि एकांकियों को स्थान प्राप्त हुआ है। इससे स्पष्ट है कि आलोच्य युग में उन कुछ प्रमुख एकांकी नाटकों की रचना हो चुकी थी, जिनमें से अधिकांश की गणना आज भी हिंदी के प्रतिनिधि एकांकियों में की जाती है। यह उल्लेखनीय है कि **उपेंद्रनाथ अश्क** (1910-1996) के एकांकी नाटकों में मध्यवर्गीय जीवन अपनी विशेष भंगिमा, समस्याओं और तल्लिखयों के साथ उभरा है। हास्य और व्यंग्य की छटा उनके एकांकियों में स्थान-स्थान पर बिखरी दिखायी देती है। रंगमंच से घनिष्ठ परिचय होने के कारण उनके एकांकी अभिनय की दृष्टि से बहुत सफल रहे हैं। **उदयशंकर भट्ट** (1898-1961) के एकांकी भी सामाजिक जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं। **जगदीशचंद्र माथुर** (1917-1987) की रचनाओं में कथन का बांकपन, विशिष्ट मन:स्थितियों की पकड़ और रंगमंचीय निष्ठा दिखायी पड़ती है। **गणेशप्रसाद द्विवेदी** के एकांकियों में स्त्री-पुरुष के भावुकतापूर्ण आकर्षण तथा वैवाहिक वैषम्य का मनोवैज्ञानिक धरातल पर चित्रण हुआ है। पुरुष और नारी-पात्रों के मनोविश्लेषण में उनकी रुचि विशेष रूप से दीख पड़ती है।

सन् 1930-1938 के गौण एकांकी नाटकों में राधाकृष्ण मिश्र का 'किरानी का स्वप्न' (1931), गंगाप्रसाद श्रीवास्तव का 'मिट्टी का शेर' (1934), केदारनाथ मिश्र 'इंदु' का 'तरुण भारत' (1934), कुंवर बहादुर का 'प्रजातंत्र की एक झलक' (1935), महमूद अली 'कमलेश' का 'सूर्योदय अर्थात अछूतोद्धार' (1935), सत्येंद्र का 'कुणाल' (1937), व्यथितहृदय का 'पुण्यफल' (1937) तथा 'प्राणदान' (1938), इंद्र बसावड़ा का 'बड़े म्यां' (1938) आदि भी उल्लेखनीय हैं।

इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विवेच्य काल के उत्तरार्द्ध में ही एकांकी नाटकों का सही अर्थों में उद्भव और विकास हुआ। वस्तुत: यह एकांकी का शैशवकाल था, परवर्ती युग के प्रसिद्ध एकांकीकार—रामकुमार वर्मा, उपेंद्रनाथ अश्क, भुवनेश्वरप्रसाद, जगदीशचंद्र माथुर आदि इसी काल में उभरे थे।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## उपन्यास

हिंदी-उपन्यास साहित्य के संदर्भ में आलोच्य युग को 'प्रेमचंद-युग' की संज्ञा लगभग निर्विवाद रूप में मिल चुकी है, क्योंकि 'सेवासदन' (1918) का प्रकाशन न केवल **प्रेमचंद** (1880-1936) के साहित्यिक जीवन की, वरन् हिंदी-उपन्यास की भी एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। 'सेवासदन' पूर्ववर्ती कथा-साहित्य का अभूतपूर्व विकास था—इससे पहले कथा-साहित्य में या तो अजीबोग़रीब घटनाओं के द्वारा कुतूहल और चमत्कार की सृष्टि रहती थी अथवा आर्यसमाज और तत्समान अन्य सामाजिक आंदोलनों से प्रभावित समाज-सुधारों का प्रचार ही उसकी उपलब्धि रह गयी थी। जीवन की सही अभिव्यक्ति का साधन वह नहीं बन पाया था। देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी, हरिकृष्ण जौहर आदि पहली कोटि के कथाकार थे तो गौरीदत्त, श्रद्धाराम, फिल्लौरी, श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, मेहता लज्जाराम शर्मा, ब्रजनंदन सहाय आदि दूसरी कोटि के कथाकार थे। किशोरीलाल गोस्वामी की स्थिति कुछ-कुछ बीच की थी, यद्यपि उनका झुकाव भी 'मनोरंजन' की ओर ही अधिक था। उस काल के केवल एक उपन्यासकार भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र की रचनादृष्टि अपने समकालीनों से भिन्न थी। 'मनोरंजन' और 'प्रचार' से ऊपर उठ कर उन्होंने उपन्यास को जीवन की अभिव्यक्ति के साधन के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। 'घराऊ घटना' (1893) और 'बलवंत भूमिहार' (1896) उनकी ऐसी ही कृतियां थीं। वैसे प्रेमचंद ने भी 1918 के पूर्व उर्दू में कई उपन्यासों की रचना की थी, जिनमें से 'प्रेमा अर्थात दो सखियों का विवाह' ('हसखुर्मा व हमसवाब' का रूपांतर) 1907 में हिंदी में प्रकाशित हो चुका था। उनके अन्य आरंभिक उपन्यास 'असरारे मआबिद उर्फ़ देवस्थान रहस्य', 'किसना', 'रूठी रानी', 'जलवए ईसार' आदि थे। इनमें प्रेमचंद ने भी उपन्यास को मनोरंजन से ऊपर उठा कर जीवन के सीधे संपर्क में लाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने आर्यसमाज् से प्रेरणा अवश्य ग्रहण की थी, पर उनकी अपनी विशिष्ट जीवनदृष्टि भी निर्मित हो चुकी थी, जो इन उपन्यासों में अभिव्यक्ति पाना चाह रही थी। किंतु हिंदी में 'उपन्यास' की कोई परंपरा न होने के कारण प्रेमचंद को उसका समुचित ढांचा (फार्म) नहीं मिल रहा था। संभवत: अपने लिए सही भाषा की तलाश भी वे नहीं कर पाये थे। परिणामत: इस काल में लिखित उनके सभी उपन्यास एक प्रतिभाशाली लेखक के 'बचकाने प्रयास' जैसे लगते हैं। 'सेवासदन' उनकी पहली प्रौढ़ कृति है जहां से उनके नये औपन्यासिक जीवन का ही नहीं, बल्कि हिंदी उपन्यास के एक नये युग का भी प्रादुर्भाव हुआ।

'सेवासदन' के बाद **प्रेमचंद** के 'प्रेमाश्रम' (1922), 'रंगभूमि' (1925), 'कायाकल्प' (1926), 'निर्मला' (1927), 'ग़बन' (1931), 'कर्मभूमि' (1933) और 'गोदान' (1935) शीर्षक सात मौलिक उपन्यास प्रकाशित हुए। इस बीच उन्होंने अपने दो पुराने उर्दू उपन्यासों को भी हिंदी में रूपातंरित और परिष्कृत करके प्रकाशित किया। 'जलवए ईसार' का रूपांतर 'वरदान' 1921 में प्रकाशित हुआ तथा 'हमखुर्मा व हमसवाब' के पूर्व प्रकाशित हिंदी-रूपांतर 'प्रेमा अर्थात दो सखियों का विवाह' को परिष्कृत कर उन्होंने 'प्रतिज्ञा' (1929) शीर्षक से उसे सर्वथा नये रूप में प्रकाशित कराया। एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि आरंभ में प्रेमचंद अपने उपन्यास पहले उर्दू में लिखते थे और फिर स्वयं उनका हिंदी-रूपांतर करते थे। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' क्रमश: 'बाज़ारे-हुस्न', 'गोशए-आफ़ियत' और 'चौगाने-हस्ती' नाम से उर्दू में लिखे गये थे, किंतु प्रकाशित पहले ये हिंदी में ही हुए। वैसे, मूल रूप से हिंदी में लिखित उनका पहला उपन्यास 'कायाकल्प' है। इसके बाद उन्होंने सभी उपन्यासों की रचना हिंदी में ही की, उर्दू की बैसाखी की ज़रूरत उन्हें अब नहीं रह गयी थी।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हिंदी-उपन्यास को प्रेमचंद की देन अनेकमुखी है। प्रथमतः उन्होंने हिंदी-कथासाहित्य को 'मनोरंजन' के स्तर से उठा कर जीवन के साथ सार्थक रूप में जोड़ने का काम किया। चारों ओर फैले हुए जीवन और अनेक सामयिक समस्याओं—पराधीनता, ज़मींदारों, पूंजीपतियों और सरकारी कर्मचारियों द्वारा किसानों का शोषण, निर्धनता, अशिक्षा, अंधविश्वास, दहेज की कुप्रथा, घर और समाज में नारी की स्थिति, वेश्याओं की ज़िंदगी, वृद्ध-विवाह, विधवा-समस्या, सांप्रदायिक वैमनस्य, अस्पृश्यता, मध्यमवर्ग की कुंठाएं आदि ने उन्हें उपन्यास-लेखन के लिए प्रेरित किया था। प्रेमचंद ने एक-एक कर बड़ी बेसब्री से इन समस्याओं और जीवन के विभिन्न पहलुओं को अपने उपन्यासों में स्थान दिया। 'सेवासदन' में उनका ध्यान मुख्यतः विवाह से जुड़ी समस्याओं—तिलक-दहेज की प्रथा, कुलीनता का प्रश्न, विवाह के बाद घर में पत्नी का स्थान और समाज में वेश्याओं की स्थिति पर रहा। 'निर्मला' में दहेजप्रथा और वृद्धविवाह से होने वाले पारिवारिक विघटन तथा विनाश का चित्रण है। कृषक-जीवन की समस्याओं के चित्रण का प्रथम प्रयास 'प्रेमाश्रम' में लक्षित हुआ और उसे पूर्णता प्राप्त हुई 'गोदान' में। वैसे प्रेमचंद ने मान्य रूप से अपने प्रायः सभी उपन्यासों में, और विशेषरूप से 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' में, ग्रामीणों की स्थिति का बेबाक चित्रण किया है, पर 'गोदान' को तो ग्रामीण जीवन और कृषि-संस्कृति का महाकाव्य ही कहा जा सकता है। ग्रामीण जीवन का इतना सच्चा, व्यापक और प्रभावशाली चित्रण हिंदी के किसी अन्य उपन्यास में नहीं हुआ है, संभवतः वह संसार के साहित्य में बेजोड़ है।

महात्मा गांधी से प्रभावित होने के कारण ही नहीं, बल्कि अपनी मानवतावादी दृष्टि के कारण भी देश की सांप्रदायिक समस्या प्रेमचंद की चिंता का मुख्य विषय थी। इस समस्या को 'सेवासदन' और विशेषरूप से 'कायाकल्प' में प्रस्तुत किया गया है। 'सेवासदन', 'रंगभूमि', 'प्रतिज्ञा', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' में अंतर्जातीय विवाह के प्रश्न को उठाया गया है। उच्चवर्गीय और मध्यमवर्गीय समाज में नारी की स्थिति तथा अपने अधिकारों के प्रति उसकी क्रमशः उभरती गयी जागरूकता तो प्रायः उनके सभी उपन्यासों में चित्रित है। विधवा-विवाह का प्रश्न 'प्रतिज्ञा' में उठाया गया है। मध्यमवर्ग की कुंठाओं का सबसे अच्छा चित्रण 'ग़बन' और 'निर्मला' में है, यद्यपि 'सेवासदन' और 'कर्मभूमि' में भी इसकी झलक देखी जा सकती है। समाज में हरिजनों की स्थिति और उनकी समस्याओं का चित्रण 'कर्मभूमि' में मिलता है। बड़े पैमाने पर फैलने वाले उद्योगधंधों के फलस्वरूप ग्रामीण जीवन और पुराने मूल्यों में विघटन तथा पूंजीवाद के बढ़ते हुए प्रभाव का चित्रण 'रंगभूमि' में देखा जा सकता है। देश की पराधीनता के अहसास से पैदा हुआ दर्द 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'ग़बन' और 'कर्मभूमि' में स्थान-स्थान पर व्यक्त हुआ है। सामान्य जीवन की धड़कन तो उनके सभी उपन्यासों में मिलती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने क़िस्सागोई से बिलकुल ही नाता तोड़ लिया था, बल्कि यह कहना ज़्यादा ठीक होगा कि वे अंत तक क़िस्सागोई से जुड़े रहे। यही कारण है कि उनके उपन्यासों को इतनी लोकप्रियता प्राप्त हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में देवकीनंदन खत्री ने कौतूहलोत्पादक चौंकाने वाली नयी-नयी घटनाओं की सृष्टि करके कथा में रोचकता पैदा की थी, जबकि प्रेमचंद ने सहज-सामान्य मानवीय व्यापारों को मनोवैज्ञानिक स्थितियों से जोड़ कर उनमें एक सहज तीव्र मानवीय रुचि पैदा कर दी। उनके आरंभिक उपन्यासों में 'घटनाओं ' की सृष्टि का भी प्रयास लक्षित होता है, पर धीरे-धीरे वे इस पुराने रोग से मुक्त होते गये और 'गोदान' में पहुंच कर उन्होंने क़िस्सागोई की उस कला को प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त की जो 'घटनाओं' पर नहीं, मनोवैज्ञानिक स्थितियों से दीप्त सहज-सामान्य मानवीय व्यापारों पर जीती है। उनका वैशिष्ट्य इस बात में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

निहित है कि उन्होंने सामयिक समस्याओं को अपने उपन्यासों का आधार बनाने के बावजूद जीवन की सहज-सामान्य धारा को उचित महत्त्व दिया। उनके उपन्यासों में समस्याओं और उनके आदर्शवादी समाधानों का महत्त्व उत्तरोत्तर कम होता गया और जीवनधारा की ताज़गी तथा यथार्थता क्रमशः प्रमुख तथा व्यापक होती गयी। अपने अंतिम उपन्यास 'गोदान' में भी वे आदर्शों से मुक्त नहीं हो सके हैं, पर 'गोदान' में सामान्य जीवनधारा की अत्यंत सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। अपने अन्य उपन्यासों में भी उन्होंने समाज के विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों की सामान्य ज़िंदगी को उसकी संपूर्ण मार्मिकता में प्रस्तुत किया है। विशेषता यह है कि सामान्य ज़िंदगी के ये ब्यौरे मनोवैज्ञानिक स्थितियों से संकलित हैं, जिनकी पृष्ठभूमि में जीवन का गहरा और व्यापक अनुभव तथा तीव्र संवेदना विद्यमान है।

प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में समाज के विभिन्न वर्गों का चित्रण किया है। इनमें सबसे प्रमुख वर्ग है—किसानों का, जो मुख्यतः गांवों में रहता था और जो देश की समूची आबादी का लगभग 85 प्रतिशत था। इसके बाद उन्होंने मध्यवर्ग को अपने उपन्यासों का विषय बनाया। अभिजातवर्ग और नागरिक जीवन का चित्रण उन्होंने बहुत कम किया है, और जहां ऐसे स्थल आये हैं, वहां उनका मन रमा नहीं है। 'गोदान' में नागरिक जीवन के चित्रण की संभावनाएं तो थीं, किंतु उसका प्रामाणिक और पर्याप्त चित्रण वहां भी नहीं है। उपन्यास में कुछ नागरिक पात्रों के दर्शन अवश्य होते हैं, पर वे किसी विशेष अर्थ में नागरिक जीवन का प्रतिनिधित्व नहीं करते। नगर-जीवन की विशेषताओं, जैसे—कोलाहल, दौड़-धूप, तंगी, भीड़, घुटन, गंदगी, बेकारी, होटल, रेस्तरां, शुष्क औपचारिकता, भयानक जीवन-संघर्ष आदि का बहुत प्रामाणिक चित्रण 'गोदान' में कहीं दिखायी नहीं देता। 'गोदान' की तथाकथित नगरकथा के पात्र प्रेमचंद के नारी-विषयक, प्रेम-विषयक और देशसेवा-विषयक आदर्शों के प्रतिपादन के निमित्त खड़े किये गये हैं, न कि वे नगर-जीवन के अंग हैं। लगभग यही बात उनके अन्य उपन्यासों में आये नागरिक पात्रों के विषय में भी कही जा सकती है। हां, उनके उपन्यासों में शोषक वर्ग—ज़मींदारों, साहूकारों, सरकारी कर्मचारियों (विशेषतः पुलिस-विभाग) तथा पुरोहितों का यथार्थ और प्रामाणिक चित्रण हुआ है। इनमें ज़मीदार-वर्ग के प्रति प्रेमचंद की सहानुभूति उन्हें उच्चकोटि का कलाकार ही नहीं, संतुलित दृष्टि-संपन्न सामाजिक आलोचक भी सिद्ध करती है। तत्कालीन ज़मींदार एक ओर किसानों का शोषण करता था, तो दूसरी ओर वह बैंकरों, दलालों और अंगरेज़-सरकार के शोषण का शिकार भी था। तत्कालीन सामंती ढांचा भव्य और डरावना दिखायी पड़ने पर भी भीतर से बिलकुल खोखला हो चुका था। प्रगतिवाद या साम्यवाद के प्रति दुराग्राही लेखकों की दृष्टि इस खोखलेपन की ओर नहीं जा सकती, किंतु प्रेमचंद ने अपनी सूक्ष्म अवलोकन-क्षमता से न केवल इसे लक्ष्य किया, अपितु सहानुभूति के साथ इसे अपने उपन्यासों में प्रस्तुत भी किया।

प्रेमचंद यद्यपि राष्ट्रप्रेमी और देशभक्त लेखक थे, पर अपने उपन्यासों में वे राष्ट्रीय भावना को सशक्त अभिव्यक्ति न दे सके। जगह-जगह ऐसा लगता है कि वे इस ओर बढ़ना तो चाहते हैं, पर उनकी व्यावहारिक बुद्धि जैसे रास्ता रोक देती है। वे सामाजिक सुधारों तथा प्राकृतिक विपत्तियों में सहायता-कार्य करने वाली 'सेवा-समितियों' के गठन और उनकी गतिविधियों का तो वर्णन करते हैं, पर सत्याग्रह-आंदोलन या स्वतंत्रताप्राप्ति के निमित्त किये गये आंदोलन के चित्रण से बचते हैं। यह बात 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'ग़बन' और 'कर्मभूमि' सब में देखी जा सकती है। इसी प्रकार कतिपय सामाजिक समस्याओं को सही संदर्भ में उठाने पर भी वे उन्हें उचित तर्कसंगत परिणति नहीं दे पाये हैं। कई उपन्यासों में अंतर्जातीय विवाह की समस्या उठायी गयी है। दो

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विभिन्न जातियों के युवक-युवतियों में प्रेम-संबंध स्थापित होता है, पर प्रेमचंद उस संबंध को विवाह में बदलने के पूर्व ही प्रेमी-प्रेमिका को मृत्यु या किसी अन्य बहाने से एक-दूसरे से अलग कर देते हैं। सोफ़िया-विनय, अमरकांत-सकीना, चक्रधर-मनोरमा आदि प्रेमी-युगलों की कहानी इसका प्रमाण है। इसी प्रकार 'प्रतिज्ञा' में विधवा-विवाह की समस्या को उठा कर भी वे अमृतराय और पूर्णा का विवाह संपन्न नहीं करा पाते। केवल 'गोदान' में मातादीन और सिलिया का विवाह दिखाने का साहस उन्होंने किया है। संभवतः सामाजिक आलोचना के भय से प्रेमचंद समाजसुधार की दिशा में क्रांतिकारी क़दम उठाने से रह गये थे।

शिल्प और भाषा की दृष्टि से भी प्रेमचंद ने हिंदी-उपन्यास को विशिष्ट स्तर प्रदान किया। यों सुघठित और चारों ओर से दुरुस्त कथानक गढ़ने का कौशल देवकीनंदन खत्री भी दिखा चुके थे, पर चित्रणीय विषय के अनुरूप शिल्प के अन्वेषण का प्रयोग हिंदी उपन्यास में पहली बार प्रेमचंद ने ही किया। उनकी विशेषता यह है कि उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये दृश्य अत्यंत सजीव, गतिमान और नाटकीय हैं। उनके उपन्यासों की भाषा की खूबी यह है कि शब्दों के चुनाव तथा वाक्य-योजना की दृष्टि उसे 'सरल' और 'बोलचाल की भाषा' कहा जा सकता है। पर भाषा की इस सरलता को निर्जीवता, एकरसता और अकाव्यात्मकता का पर्याय नहीं समझा जाना चाहिए। प्रेमचंद के उपन्यासों में, विशेषतः 'गोदान' में, भाषा का वैविध्य जितने स्तरों पर दिखायी पड़ता है, वह हिंदी के उपन्यास-साहित्य में अब तक दुर्लभ है। इतनी 'सरल' भाषा को एक साथ इतने स्तरों पर काम में लाना, प्रेमचंद जैसे उपन्यासकार द्वारा ही संभव था। भाषा के सटीक, सार्थक और व्यंजनापूर्ण प्रयोग में वे अपने समकालीन ही नहीं, बल्कि बाद के उपन्यासकारों को भी पीछे छोड़ जाते हैं। वस्तुतः प्रेमचंद ने ही हिंदी-उपन्यास को अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम प्रदान किया।

प्रेमचंद के समकालीन उपन्यासकारों की संख्या दो-ढाई सौ के लगभग है, किंतु सबका उल्लेख न यहां संभव है और न आवश्यक। फिर भी इस काल के कम-से-कम दस-बारह उपन्यासकार ऐसे अवश्य हैं, जिन्होंने किसी-न-किसी रूप में अपनी पहचान कायम की है। **विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'** (1891-1946) ने 'मां' और 'भिखारिणी' लिख कर प्रेमचंद का सफल अनुकरण किया था, पर संभवतः इसी कारण लिखने की योग्यता होते हुए भी वे अपनी अलग पहचान नहीं बना सके। प्रेमचंद के अन्य अनुकरणकर्ताओं में चतुरसेन शास्त्री और प्रतापनारायण श्रीवास्तव प्रमुख हैं। **चतुरसेन शास्त्री** ने आलोच्य अवधि में 'हृदय की परख' (1918), 'हृदय की प्यास' (1932), 'अमर अभिलाषा' (1932) और 'आत्मदाह' (1937) शीर्षक उपन्यासों की रचना की, किंतु प्रेमचंद की रचनाशैली से प्रभावित होने पर भी उन्होंने उसे कौशिक जी की भांति एकांततः ग्रहण नहीं किया है। यही कारण है कि परवर्ती युग में उनकी उपन्यासकला पर्याप्त रूप से भिन्न आयाम ग्रहण कर सकी। **प्रतापनारायण श्रीवास्तव**-कृत 'विदा' (1929) और 'विजय' (1937) आदर्शवादी उपन्यास हैं। 'विदा' में नागरिक उच्चवर्गीय समाज का चित्रण है और 'विजय' में अभिजातवर्गीय विधवा-जीवन की समस्याएं चित्रित हैं। रचनाशैली की दृष्टि से ये उपन्यास प्रेमचंद के कहीं अधिक समीप हैं। देवनारायण द्विवेदी (जन्म 1897) के 'कर्तव्याघात', 'प्रणय', 'पश्चात्ताप' और 'दहेज़' तथा अनूपलाल मंडल-कृत 'निर्वासिता' (1929) भी प्रेमचंद की परंपरा में लिखित औपन्यासिक रचनाएं हैं। वैसे, इस धारा के अन्य उपन्यासकारों में प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' और जगदीश झा 'विमल' का भी उल्लेख किया जा सकता है।

कालक्रम की दृष्टि से देखें तो विवेच्य काल में सबसे पहले **शिवपूजन सहाय** (1893-1963) ने हिंदी-उपन्यास को प्रेमचंद से भिन्न मार्ग पर ले जाने का प्रयास किया। उनका 'देहाती

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दुनिया' (1926) शीर्षक उपन्यास प्रचलित रूढ़ि को तोड़ने की दिशा में एक साहसिक क़दम था, किंतु शायद यह क़दम समय से पहले उठा लिया गया। इसीलिए इस उपन्यास का समुचित मूल्यांकन 1950 के लगभग आंचलिक उपन्यासों का आविर्भाव होने पर हुआ। प्रेमचंद-युग के सबसे अक्खड़ और इसीलिए सबसे बदनाम उपन्यासकार हुए **बेचन शर्मा 'उग्र'**, जिन्होंने 'चंद हसीनों के खुतूत' (1927), 'दिल्ली का दलाल' (1927), 'बुधुआ की बेटी' (1928), 'शराबी' (1930) आदि उपन्यासों में समाज की बुराइयों को, उसकी नंगी सचाई को, बिना किसी लाग-लपेट के बड़े ही साहस के साथ, किंतु सपाटबयानी के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने समाज के उस वर्ग को अपने उपन्यासों का विषय बनाया, जिसे दलित या पतित वर्ग कहते हैं, और उसके चित्रण में उन्होंने किसी प्रकार के 'शील' या 'अभिजात शिष्टता' का परिचय नहीं दिया। इस कारण उनके उपन्यासों में एक ओर सच्चाई अपने नग्न रूप में आयी है, तो दूसरी ओर वह 'परचेबाज़ी' के निकट पहुंच जाती है जो किसी कृति को कलारूप में परिणत नहीं होने देती। उग्र के सभी उपन्यास सुधारवादी दृष्टिकोण से लिखे गये हैं, इसलिए भी वे श्रेष्ठ कलारूप में परिणत नहीं हो पाये हैं। दूसरी ओर उनकी सपाटबयानी अधकचरे और कम उम्र पाठकों की रुचि को विकृत करने के ख़तरे से भी युक्त है, जिससे उनका सुधारवादी उद्देश्य भी पूरा नहीं हो पाता। वैसे यह उल्लेखनीय है कि 'चंद हसीनों के खुतूत' पत्रात्मक प्रविधि में लिखा गया हिंदी का पहला उपन्यास है। 'उग्र' के अनुकरणकर्ताओं में विषय की दृष्टि से ऋषभचरण जैन और शिल्प की दृष्टि से अनूपलाल मंडल उल्लेखनीय हैं। **ऋषभचरण जैन** ने उग्र की भांति तत्कालीन समाज के 'वर्जित विषयों' पर 'दिल्ली का कलंक', 'दिल्ली का व्यभिचार', 'वेश्यापुत्र', 'रहस्यमयी' आदि उपन्यासों की रचना की और **अनूपलाल मंडल** ने पत्रात्मक प्रविधि में 'समाज की वेदी पर' और 'रूपरेखा' शीर्षक उपन्यासों का प्रणयन किया।

प्रेमचंद के समकालीनों में **जयशंकर प्रसाद** इसलिए उल्लेखनीय हैं कि वे न केवल कविता और नाटक के क्षेत्र में, वरन् 'कंकाल' (1929) और 'तितली' (1934) की रचना द्वारा उपन्यासकार के रूप में भी चर्चा के विषय बने। इनमें से 'कंकाल' ही विशेष उल्लेखनीय है। 'तितली' में ग्रामीण और कृषक-जीवन का सामान्य औपन्यासिक फैलाव मात्र है। 'कंकाल' ही विशिष्टता यह है कि इसमें प्रसाद ने समाज की त्याज्य, अवैध और अज्ञात-कुलशील संतानों की कथा कही है। विषय के चुनाव की दृष्टि से वे घोर प्रकृतिवादी लगते हैं, पर पात्रों की रचना में उनका वही रोमांटिक रूप सामने आता है, जो उनके नाटकों और कविताओं में देखने को मिलता है। यद्यपि प्रसाद की भी दृष्टि प्रेमचंद, उग्र आदि की तरह सामाजिक थी, किंतु संयोगवश 'कंकाल' में कुछ व्यक्ति ही प्रधान बन गये हैं। ये व्यक्ति समाज में अकेले हैं, इनका कोई वर्ग नहीं है, इस प्रकार के कई पात्र मिल कर भी किसी वर्ग का निर्माण नहीं करते। स्वभावतः ऐसे पात्र असामान्य होते हैं और यदि प्रसाद ने असामान्य मनोविज्ञान के सिद्धांतों के अनुरूप अपने पात्रों को गढ़ा होता तो उन्हें बहुत दूर तक सफलता मिली होती। पर वे 'उग्र' की तरह समाज के इन उपेक्षित और लांछित व्यक्तियों के मसीहा बन कर उपस्थित होते हैं, और इनको केंद्र में रख कर ऐसी कहानी गढ़ते हैं, जो इनके प्रति पाठक की करुणा जगाने में एक हद तक समर्थ तो है, पर वह कहानी 'घटनाओं', संयोगों और 'चमत्कारों' पर आधृत होने के कारण कृत्रिम और अविश्वसनीय हो जाती है। उपन्यासकार के रूप में प्रसाद की असफलता का एक अन्य कारण यह है कि उनकी भाषा बिलकुल भी उपन्यासोचित नहीं है। भाषा को अलंकृत करने, उसे लक्षणा शक्ति और अलंकारों से सजाने का मोह उनमें इतना अधिक है कि वह विषय से सर्वथा अलग

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पड़ जाती है। इस प्रकार प्रसाद प्रतिभा-संपन्न लेखक होते हुए भी हिंदी-उपन्यास को कोई नया आयाम नहीं दे सके।

हिंदी-उपन्यास को प्रेमचंद-युग में ही नयी दिशा देने का सफल प्रयास किया **जैनेंद्र** (1905-1988) ने। विवेच्य काल में उनके तीन उपन्यास प्रकाशित हुए—'परख' (1929), 'सुनीता' (1935) और 'त्यागपत्र' (1937)। हिंदी-उपन्यास को उनसे जो पाना था, वह इन्हीं कृतियों में मिल गया। 'परख' में समकालीन सामाजिक उपन्यासों की परंपरा से (जिसके प्रेमचंद सर्वश्रेष्ठ लेखक थे)अलग लीक पर चलने का प्रयास किया गया है। लेखक ने व्यापक सामाजिक जीवन को अपने उपन्यासों का विषय न बना कर व्यक्ति-मानस की शंकाओं, उलझनों और गुत्थियों का चित्रण किया है। उनके उपन्यासों की कहानी अधिकतर एक परिवार की कहानी होती है और वे 'शहर की गली और कोठरी की सभ्यता' में ही सिमट कर व्यक्तिपात्रों की मानसिक गहराइयों में प्रवेश करने की कोशिश करते हैं। जैनेंद्र की अगर कोई त्रुटि है, तो केवल यह कि वे अपने पात्रों को पहेली बना कर छोड़ देते हैं और पाठक उस मनोवैज्ञानिक पहेली को सुलझाने के असफल प्रयत्न में उलझा रह जाता है। जो हो, उन्होंने हिंदी-उपन्यास को असंदिग्ध रूप से नयी दिशा प्रदान की और उपन्यास को सामाजिक यथार्थ ही नहीं, बल्कि मनोवैज्ञानिक यथार्थ के क्षेत्र में भी प्रवेश करने की राह सुझायी। इस प्रकार उन्हें हिंदी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की परंपरा का पुरस्कर्ता माना जा सकता है। वैसे उन्होंने हिंदी-उपन्यास को नये शिल्प और नयी भाषा से भी समृद्ध किया है। 'परख' में यद्यपि उन्होंने प्रेमचंद की दृश्यात्मक और परिदृश्यात्मक पद्धति को मिश्रित रूप में अपनाया है, पर सिलसिलेवार कहानी कहने की ज़रूरत जितनी प्रेमचंद समझते थे, उतनी जैनेंद्र ने नहीं समझी। 'परख' की भांति 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' भी वयस्क और संवेदनशील पाठकों के लिए लिखे गये उपन्यास हैं, विषय और शिल्प दोनों दृष्टियों से। 'त्यागपत्र' में समूची कथा एक पात्र विशेष के अवलोकनबिंदु से प्रस्तुत की गयी है, जो निश्चय ही नाटकीकरण की विकसित पद्धति है। कथ्य के अनुरूप उनकी भाषा में भी नवीनता है। 'सादगी' उनकी भाषा की भी विशेषता है, पर वह प्रेमचंद की भाषा की सादगी से भिन्न है। जैनेंद्र की भाषा स्वगतालाप अथवा ख़ुद से या बहुत हुआ तो किसी आत्मीय से चुप-चुप की जाने वाली बातचीत की भाषा है। इसलिए भाषा सरल होने पर भी आंतरिक मनोभावों को व्यक्त करने की उसमें अद्भुत क्षमता है। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी-उपन्यास को जैनेंद्र की देन महत्त्वपूर्ण है, प्रेमचंद के बाद उन्होंने ही हिंदी-उपन्यास को विशेष व्यक्तित्व प्रदान किया।

इस काल के अन्य प्रमुख उपन्यासकारों में भगवतीचरण वर्मा, राधिकारमणप्रसाद सिंह, सियारामशरण गुप्त, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, वृंदावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निरला' आदि उल्लेखनीय हैं। **भगवतीचरण वर्मा** ने 'चित्रलेखा' (1934) की रचना कर पाठकों के बीच पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त की थी, पर उपन्यास में जीवन की धड़कन न होने के कारण इसका कोई स्थायी मूल्य न हो सका। 1936 में इनका 'तीन वर्ष' नामक उपन्यास छपा, जो अपनी 'अश्रुपंकिल' भावुकता के कारण पाठकों में काफ़ी लोकप्रिय हुआ। **राधिकारमणप्रसाद सिंह** ने 'राम-रहीम' (1937) में कतिपय सामाजिक पहलुओं का उद्घाटन किया, पर उनका लगभग सारा ध्यान भाषा को 'चुलबुलाहट' से युक्त बनाने में ही लगा रहा। **सियारामशरण गुप्त**-कृत 'गोद' (1932), 'अंतिम आकांक्षा' (1934) और 'नारी' (1937) गांधी-दर्शन पर आधारित मनोवैज्ञानिक सामाजिक उपन्यास हैं, जिनमें क्रमशः लांछनाग्रस्त निरपराध व्यक्तियों की मनोव्यथा, घरेलू नौकरों की अनुकरणीय मर्यादा और नारी-समस्याओं के निराकरण के लिए नये-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पुराने मूल्यों के समन्वय पर बल दिया गया है। **भगवतीप्रसाद वाजपेयी** के उपन्यासों—'प्रेमपथ', 'मीठी चुटकी', 'अनाथ पत्नी', 'त्यागमयी', 'लालिमा' आदि—में मध्यवर्गीय पारिवारिक-सामाजिक जीवन का मनोविश्लेषणपरक चित्रण मिलता है। अपने पात्रों के संदर्भ में जीवन की उपलब्धि-अनुपलब्धियों का तटस्थ, व्यावहारिक और कहीं-कहीं भावुकतापूर्ण प्रस्तुतिकरण उनकी उल्लेखनीय विशेषताएं हैं। **वृंदावनलाल वर्मा** (1889-1969)-कृत 'संगम' (1928), 'लगन' (1929), 'प्रत्यागत' (1929) और 'कुंडलीचक्र' (1932) सामाजिक उपन्यास हैं तथा 'गढ़कुंडार' (1929) और 'विराटा की पद्मिनी' (1936) की रचना ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हुई है। जहां लेखक का अभीष्ट विभिन्न सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में जीवन का आदर्शात्मक यथार्थ-निरूपण प्रतीत होता है, वहां शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना-परंपरा को आरंभ करने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। **राहुल सांकृत्यायन** (19893-1963) ने इस काल में मौलिक उपन्यासों के स्थान पर 'शैतान की आंख' (1923), 'विस्मृति के गर्भ में' (1923), 'सोने की ढाल' (1923) प्रभृति अनूदित उपन्यासों की रचना की, जिनमें ऐतिहासिक-रोमानी कथानकों को स्थान प्राप्त हुआ है। इस काल में स्वच्छंदतावादी पद्धति के प्रेममूलक उपन्यासों की रचना का श्रेय **सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'** को है। उनके द्वारा रचित 'अप्सरा' (1931), 'अलका' (1933), 'प्रभावती' (1936) और 'निरुपमा' (1936) उपन्यास भले ही प्रसाद के कथा-साहित्य की भांति विषय-निरूपण और शैली दोनों की दृष्टि से उनकी कवि-चेतना से प्रभावित हैं, किंतु इनके उल्लेख के बिना इस काल के उपन्यास-साहित्य का विश्लेषण अधूरा रहेगा।

निष्कर्ष रूप में विवेच्य काल को हिंदी-उपन्यास का स्थापनाकाल कह सकते हैं। जहां प्रेमचंद ने हिंदी-उपन्यास को प्रथम बार साहित्य का दर्जा प्रदान किया और जैनेंद्र ने उसे 'आधुनिक' बनाया, वहीं प्रसाद, कौशिक, उग्र, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, निराला आदि ने भी अपने-अपने ढंग से उसे समृद्धि प्रदान कर परवर्ती उपन्यासकारों का मार्गदर्शन किया।

## कहानी

हिंदी-कहानी का प्रकार और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से वास्तविक विकास विवेच्य काल में ही हुआ, यह एक निर्विवाद तथ्य है। जिस प्रकार **प्रेमचंद** इस काल के उपन्यास-साहित्य के एकच्छत्र सम्राट् बने रहे, उसी प्रकार कहानी के क्षेत्र में भी उनका स्थान अद्वितीय रहा। इस अवधि में उन्होंने लगभग दो सौ कहानियां लिखीं। उनके कहानी-लेखन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि स्वयं उनकी ही कहानियों में हिंदी-कहानी के विकास की प्राय: सभी अवस्थाएं दृष्टिगोचर हो जाती हैं। उनकी आरंभिक कहानियों में क़िस्सागोई, आदर्शवाद और सोद्देश्यता की मात्रा अधिक है। यद्यपि व्यावहारिक मनोविज्ञान का पुट दे कर मानवचरित्र के सूक्ष्म उद्घाटन की क्षमता के फलस्वरूप प्रेमचंद ने अपनी कहानियों को विशिष्ट बना दिया है, पर उनकी आरंभिक कहानियों का कच्चापन और यथार्थ की उनकी कमज़ोर पकड़ अत्यंत स्पष्ट है। इन कहानियों में हम एक अत्यंत प्रबुद्ध कलाकार को कहानी के सही ढांचे या शिल्प की तलाश में संघर्षरत पाते हैं। 'बलिदान' (1918), 'आत्माराम' (1920), 'बूढ़ी काकी' (1921), 'विचित्र होली' (1921), 'गृहदाह' (1922), 'हार की जीत' (1922), 'परीक्षा' (1923), 'आपबीती' (1923), 'उद्धार' (1924), 'सवा सेर गेहूं' (1924), 'शतरंज के खिलाड़ी' (1925), 'माता का हृदय' (1925), 'कजाकी' (1926), 'सुजान भगत' (1927), 'इस्तीफा' (1928), 'अलग्योझा' (1929), 'पूस की रात' (1930), 'तावान' (1931), 'होली का उपहार' (1931), 'ठाकुर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का कुआं' (1932), 'बेटों वाली विधवा' (1932), 'ईदगाह' (1933), 'नशा' (1934), 'बड़े भाई साहब' (1934), 'कफ़न' (1936) आदि कहानियों में इस तलाश की रेखाएं स्पष्ट देखी जा सकती हैं।

प्रेमचंद को कहानियां अपने आसपास की ज़िंदगी से जुड़ी हुई हैं। वे ग्रामीण जीवन से अधिक संबद्ध थे, अतः उनकी अधिकतर कहानियों का विषय गांव की ज़िंदगी से निःसृत है। पर उनकी बहुतेरी कहानियां क़स्बाई, ज़िंदगी, सत्याग्रह-आंदोलन, स्कूल और कॉलेज के वातावरण तथा ज़मींदारों, साहूकारों, क्लर्कों एवं उच्च पदाधिकारियों की समस्याओं और परिवेश की उपज हैं। इससे उनके अनुभवक्षेत्र के वैविध्य और विस्तार का पता चलता है। यद्यपि कलात्मक विकास की दृष्टि से प्रेमचंद के कथा-रचनाकाल को उपखंडों में बांटना बहुत संगत प्रतीत नहीं होता, फिर भी 1930 को एक अस्पष्ट विभाजक-रेखा के रूप में रखा जा सकता है। इसके पूर्व की कहानियां अपने संदर्भों से गहरे रूप में जुड़ी रहने के बावजूद प्रभाव की दृष्टि से कमज़ोर हैं। बहुधा प्रेमचंद का आदर्शवादी दृष्टिकोण, परंपरागत मूल्यों में उनकी आस्था और उनका इच्छित विश्वास, यहां तक कि उनका अंधविश्वास, उनकी पूर्ववर्ती कहानियों पर हावी रहे हैं। पर प्रेमचंद अपनी कमज़ोरियों को आलोचकों द्वारा चेताये जाने के पूर्व ही समझ चुके थे और हर अगली कहानी में उन्हें दूर करने की कोशिश करते थे। इसका सबसे अच्छा उदाहरण 'बूढ़ी काकी', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'कजाकी' और 'इस्तीफ़ा' जैसी कहानियां मानी जा सकती हैं। इनमें आदर्शवादी समाधान, पुराने मूल्यों के प्रति आस्था की अभिव्यक्ति, समाज की आलोचना आदि कम है और कुछ मार्मिक स्थितियों को उनकी पूरी मनोवैज्ञानिकता और यथार्थता में उभारने की कोशिश अधिक। प्रेमचंद की 1930 के बाद की कहानियां उनकी पूर्ववर्ती कहानियों से नितांत भिन्न हैं। यद्यपि इनमें भी कुछ निहायत कमज़ोर कहानियां मिल जाती हैं, पर इस काल की अधिकतर कहानियों का स्वर और तेवर पहले से बदला हुआ प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए, 'पूस की रात', 'ईदगाह', 'बड़े भाई साहब', 'ठाकुर का कुआं', 'तावान', 'ज्योति', 'क़ायर', 'होली का उपहार' और 'कफ़न' का उल्लेख किया जा सकता है। प्रेमचंद की इस काल की कहानियों में सचाई को उसके नग्नतम रूप में ही देखने का प्रयास नहीं, उसके उस पहलू को भी पकड़ने की चेष्टा है, जिसकी ओर साधारणतः दृष्टि नहीं जाती। 'पूस की रात', 'तावान' और 'कफ़न' तो प्रेमचंद की ही नहीं, हिंदी की बेजोड़ कहानियां हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि आधुनिक हिंदी-कहानी को इन्हीं कहानियों से जोड़ने की चेष्टा आज हो रही है। इस अवधि की कहानियों में प्रेमचंद का आदर्शवादी दृष्टिकोण भी है, पर वह अधिकतर छिपा हुआ ही नहीं, कहानियों के साथ घुला हुआ भी है। प्रेमचंद की इस काल की कहानियां निस्संदेह हिंदी-कहानी को एक कसौटी देने में समर्थ हो सकी हैं।

इस काल के दूसरे प्रमुख कहानीकार हैं **जयशंकर प्रसाद**। यद्यपि उनकी पहली कहानी 'ग्राम' सन् 1911 में ही 'इंदु' में छप चुकी थी, तथापि उनके महत्त्वपूर्ण कहानी-संग्रह—'प्रतिध्वनि' (1926), 'आकाशदीप' (1929), 'आंधी' (1931), 'इंद्रजाल' (1936) आदि विवेच्य काल में ही प्रकाश में आये। कहानी-लेखक के रूप में उनकी प्रकृति प्रेमचंद से बिलकुल अलग है। जहां प्रेमचंद का रुझान जीवन के चारों ओर फैले यथार्थ में था, वहीं प्रसाद रूमानी स्वभाव के व्यक्ति थे। उनकी कहानियों में जीवन के सामान्य यथार्थ को कम और स्वर्णिम अतीत के गौरव, मसृण भावुकता, कल्पना की ऊंची उड़ान तथा काव्यात्मक चित्रण को अधिक महत्त्व मिला है। उनकी कुछ कहानियां तो आधुनिक कहानी की तुलना में संस्कृत-गद्यकाव्य के निकट हैं। 'चक्रवर्ती का स्तंभ', 'खंडहर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की लिपि', 'पत्थर की पुकार', 'उस पार का योगी', 'प्रतिमा' आदि कहानियों में यह बात देखी जा सकती है। यद्यपि प्रसाद की कहानियों में प्रेम और करुणा का, त्याग और बलिदान का, दार्शनिकता और काव्यात्मकता का, भावुकता और चित्रात्मकता का प्राधान्य है, तथापि उनकी परवर्ती कहानियों में भावुकता और चित्रमयता की प्रवृत्तियां थोड़ी छंटी हैं और इनका स्थान मनोविज्ञान ने लिया है। 'आकाशदीप', 'कला', 'देवदासी', 'आंधी', 'मधुवा', 'इंद्रजाल', 'सालवती' आदि कहानियों में उलझनपूर्ण मन:स्थितियों तथा मानसिक द्वंद्व के चित्रण में प्रसाद को पूरी सफलता मिली है। एक ख़ास प्रकार के नारी पात्रों की सृष्टि में प्रसाद जी अद्वितीय हैं, जो अपने निश्छल प्रेम, त्याग और बलिदान से पाठकों के मन पर अमिट प्रभाव छोड़ जाती हैं। 'आकाशदीप' की चंपा, 'देवरथ' की सुमाता, 'पुरस्कार' की मधूलिका आदि प्रसाद की अनुपम नारी सृष्टि है। नियति और समाज से एक साथ संघर्षरत नारी का ऐसा चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। इसके बावजूद प्रसाद की कहानियां आधुनिक कहानी से सही रूप में नहीं जुड़ पातीं। उनकी जीवनदृष्टि ही नहीं, भाषा भी आधुनिक कहानी की प्रकृति के प्रतिकूल है। यही कारण है कि जहां प्रेमचंद को आधुनिक हिंदी-कहानी का जनक माना जाता है, वहीं प्रसाद को यह श्रेय नहीं मिलता।

विवेच्य काल के अन्य कहानी लेखकों में विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' और सुदर्शन विशेष उल्लेखनीय हैं। ये दोनों ही प्रेमचंद की परंपरा के कहानीकार माने जाते हैं। कौशिक जी की 'रक्षाबंधन' कहानी यद्यपि 1912 में ही छप चुकी थी, पर उनकी कहानी-कला में विशेष निखार 1918 के बाद ही आया। 'गल्पमंदिर', 'चित्रशाला' (दो भाग), 'प्रेम-प्रतिमा', 'मणिमाला', 'कल्लोल' आदि में उनकी दो सौ से ऊपर कहानियां संगृहीत हैं। प्रेमचंद की भांति उन्होंने अपने आसपास की ज़िंदगी से कहानियों के विषय चुने हैं और पारिवारिक जीवन की अनेक समस्याओं—बाल-विवाह, परदा-प्रथा, दहेज़-प्रथा आदि का अंकन किया है। ग्रामीण जीवन की अपेक्षा उन्होंने नगर-जीवन का अधिक चित्रण किया है। **सुदर्शन** के कहानी-संग्रहों में 'सुदर्शन-सुधा', 'सुदर्शन-सुमन', 'तीर्थयात्रा', 'पुष्पलता', 'गल्पमंजरी', 'सुप्रभात', 'परिवर्तन', 'पनघट' आदि उल्लेखनीय हैं। विषय-चयन की दृष्टि से उन्होंने भी तत्कालीन जीवन की ज्वलंत समस्याओं को आधार बनाया है। कौशिक और सुदर्शन ने यद्यपि कुछ अच्छी कहानियां लिखी हैं, जैसे कौशिक की 'ताई' और 'पगली' तथा सुदर्शन की 'हार की जीत', 'कवि की स्त्री' आदि, पर उनमें प्रेमचंद की तरह विकास की संभावनाएं नहीं दीखतीं। फिर भी, प्रेमचंद की आरंभिक कहानियों तथा कौशिक और सुदर्शन की कहानियों में पर्याप्त समानता है वही संयोग के आधार पर कथानक की योजना, किसी आदर्श को केंद्र में रख कर कथा की बुनावट, हृदय-परिवर्तन के नुस्खे से सामाजिक समस्याओं का समाधान, हर जगह पुण्य की विजय और परंपरागत मूल्यों की स्थापना। विकास के दूसरे चरण में इनकी कहानियों में मनोविज्ञान का प्रवेश हुआ, संयोगाधृत कथानकों में कमी आयी और दोनों ने ही कुछ ऐसी कहानियों की रचना की, जो प्रेमचंद की समकक्षता करती हैं। किंतु अपने विकास के तीसरे चरण में प्रेमचंद ने जिस कोटि की विशुद्ध, यथार्थवादी कहानियां लिखीं, वैसी कहानियां कौशिक और सुदर्शन नहीं लिख पाये।

आलोच्य युग के कुछ कहानी लेखकों—चतुरसेन शास्त्री, राय कृष्णदास और विनोदशंकर व्यास—ने प्रसाद की कथालेखन-शैली को अपनाया। **चतुरसेन शास्त्री** ने विभिन्न युगों के ऐतिहासिक प्रसंगों पर आधारित अनेक मार्मिक कहानियां लिखीं, जिनमें 'दुखवा मैं कासों कहूं मोरी सजनी' अत्यंत प्रसिद्ध हुई, पर बाद में पता चला और अब यह सिद्ध हो चुका है कि यह कहानी बंगला-कथाकार हरिसाधन मुखोपाध्याय की 'सेलिना बेग़म' कहानी का रूपांतर है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उनकी अन्य कहानियों में 'अंबपालिका', 'प्रबुद्ध', 'भिक्षुराज', 'बावर्चिन', 'हल्दीघाटी में', 'बाणवधू' आदि उल्लेखनीय हैं, जिनमें भारतीय इतिहास के विभिन्न प्रसंगों का मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। **राय कृष्णदास** ने प्रसाद की तरह भावप्रधान कहानियों की रचना की। कवित्वपूर्ण वातावरण की सृष्टि और नाटकीय शिल्प-योजना में वे प्रसाद की भांति सिद्धहस्त हैं। 'अंत:पुर का आरंभ' और 'रमणी का रहस्य' जैसी कहानियों में यह बात स्पष्टत: देखी जा सकती है। **विनोदशंकर व्यास** की कहानियों में प्रसाद की करुणा, प्रेम आदि भावनाओं का प्राधान्य है। 'कल्पनाओं का राजा', 'विधाता', 'अपराध' आदि कहानियां इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

विवेच्यकाल के कहानीकारों में पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', जैनेंद्र और अज्ञेय अलग-अलग कारणों से उल्लेखनीय हैं। **उग्र** की कहानियां 'चिनगारियां' (1923), 'शैतान-मंडली' (1924),'इंद्रधनुष' (1927), 'बलात्कार' (1927), 'चॉकलेट' (1928), 'दोज़ख की आग' (1929), 'निर्लज्जा' (1929) आदि कृतियों में संकलित हैं। प्रेमचंद की तरह 'उग्र' भी सामाजिक चेतना के लेखक थे, और वे आदर्शवादी भी प्रेमचंद से कम न थे, पर समाज के नग्न यथार्थ को उन्होंने ऐसे कच्चे रूप में पेश किया कि तत्कालीन पाठकों और विशेषकर समीक्षकों ने उन्हें पश्चिमी प्रकृतिवाद का अनुगामी समझ लिया। उनकी कहानियों में अनुभूति की तीव्रता कुछ कम है और सामाजिक शोषण, अनाचार एवं कुप्रथाओं के प्रति आक्रोश तनिक ज़्यादा है। यही कारण है कि उनकी कहानियां उतना बेधती नहीं, जितना चौंकाती और झकझोरती हैं। 'चिनगारियां' में उन्होंने अपनी विद्रोहपूर्ण राष्ट्रीय चेतना को वाणी देने का प्रयास किया, जिसके फलस्वरूप यह कहानी-संग्रह सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया। अन्य कहानियों में उन्होंने समाज पर चौतरफ़ा प्रहार किया। व्यंग्य का जैसा पैनापन उनकी कहानियों में मिलता है, वैसा बहुत कम लेखकों में सुलभ होता है। 'उग्र' विशुद्ध समाजद्रोही थे, कला की उन्होंने कभी चिंता ही नहीं की, फलत: उनकी कहानियां कलात्मक दृष्टि से कभी भी शिखर पर न पहुंच सकीं। फिर भी अपने अक्खड़ व्यक्तित्व, बेलौस भाषा और पैनी दृष्टि के लिए वे सदैव स्मरण किये जायेंगे।

प्रेमचंद के बाद हिंदी-कहानी को नवीन आयाम देने वालों में **जैनेंद्र** प्रमुख हैं। उन्होंने प्रेमचंद के निकट संपर्क में रहने पर भी उनका अनुसरण नहीं किया, वरन् अपने लिए नयी दिशा की खोज की। उन्होंने कहानी को 'घटना' के स्तर से उठा कर 'चरित्र' और 'मनोवैज्ञानिक सत्य' पर लाने का प्रयास किया। यद्यपि स्वयं प्रेमचंद ने भी 1930 ई. तक इस उपलब्धि को पा लिया था, पर जैनेंद्र की एक और खूबी यह रही कि उन्होंने कथावस्तु को सामाजिक धरातल से समेट कर व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। उसकी 'हत्या' (1927) शीर्षक कहानी में इन प्रवृत्तियों की झलक देखी जा सकती है। बाद की कहानियों में—जैसे 'खेल', 'अपना-अपना भाग्य', 'बाहुबली', 'वातायन', 'नीलम देश की राजकन्या', 'दो चिड़ियां', 'ध्रुवयात्रा', 'पाजेब', 'एक दिन' आदि में—जैनेंद्र ने व्यक्ति-मन की शंकाओं, प्रश्नों तथा गुत्थियों का अंकन किया है। उनकी कहानियों का मुख्य विषय नारी है, ऐसी नारी जो घर ही नहीं, पातिव्रत्य की चारदीवारी से भी बाहर निकलकर मुक्ति की सांस लेना चाहती है। जैनेंद्र प्रेमचंद से इस अर्थ में विशिष्ट हैं कि वे कहानी कहने से भागते हैं। घटनाओं को प्राय: छोड़ते जाते हैं या उनकी जगह संकेतों से काम लेना पसंद करते हैं। अनुभूति की गहरी प्रेरणा उनकी कहानियों को वैशिष्ट्य प्रदान करती हैं, यहां तक कि कथानक, पात्र, परिस्थिति आदि की विरलता भी तीव्र अनुभूति के संस्पर्श से अत्यंत प्रभावोत्पादक हो जाती है।

हिंदी-कहानी के विकास में **अज्ञेय** (1911-1987) का स्थान लगभग वही है जो जैनेंद्र

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का। किंतु जहां जैनेंद्र मन:संसार को छोड़ कर वास्तविक दुनिया में आना पसंद नहीं करते और जहां उनके पात्र समाज से लड़ने का हौसला न रख कर अपने मन की दुर्बलताओं से ही उलझते रहते हैं, वहीं अज्ञेय के पात्र बहिर्मुखी हैं जो समाज तथा अपने आसपास की परिस्थितियों से जूझने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते हैं। भारतीय समाज की रूढ़िप्रियता शोषण, वर्तमान विश्व में व्याप्त संघर्ष आदि को ले कर उन्होंने अनेक मार्मिक कहानियां लिखी हैं। उनका प्रथम कहानी-संग्रह 'विपथगा' 1931 में प्रकाशित हुआ था। 'विपथगा' कहानी में आधुनिक विश्व में होने वाले युद्ध के कारणों की खोज की गयी है और नारी का चित्रण क्रांति की अग्रदूत के रूप में किया गया है। इसी प्रकार 'कड़ियां', 'अमर वल्लरी', 'मैना', 'सिगनेलर', 'रेल की सीटी', 'रोज', 'हरसिंगार' आदि कहानियों में आज की स्वीकृत शासन-व्यवस्था तथा परंपरागत मान-मूल्यों को नकारा गया है। एक ओर प्रेम और कर्तव्य तथा दूसरी ओर आदर्श और सहज वृत्ति के संघर्ष का मार्मिक चित्रण इन कहानियों में देखा जा सकता है। इनमें अज्ञेय ने व्यक्ति मन की ग्रंथियों, प्रेरणाओं तथा अंतर्द्वंद्वों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। अज्ञेय की कहानियां मनोवैज्ञानिक होने पर भी सामाजिक संघर्ष और विद्रोह के तीखेपन से युक्त हैं, जैनेंद्र के कथा-साहित्य की तुलना में वे अधिक ठोस और विश्वसनीय हैं।

विवेच्यकाल के कहानीकारों में कुछ और नाम गिनाये जा सकते हैं, जैसे राधिका-रमणप्रसादसिंह, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, निराला, सुमित्रानंदन पंत, राहुल सांकृत्यायन, सुभद्राकुमारी चौहान, शिवरानी देवी, उषादेवी मित्रा, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, विष्णु प्रभाकर आदि। **राधिकारमणप्रसाद सिंह** बहुत पहले 'कानों में कंगना' लिख कर प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। विवेच्यकाल में उन्होंने अपनी विशिष्ट चुभती शैली में 'दरिद्रनारायण', 'पैसे की घुघनी' आदि प्रसिद्ध कहानियों की रचना की, जो 'गांधी टोपी' (1938) में संकलित हैं। उनकी कहानियां अधिकतर समाज-सुधार और आदर्श-स्थापन की प्रेरणा से युक्त हैं। **भगवतीप्रसाद वाजपेयी** की 'मधुपर्क', 'दीपमालिका', 'हिलोर', 'मिठाईवाला', 'हृद्गति', 'तारा', 'स्वप्नमयी', 'शबनम' आदि कहानियां विवेच्य अवधि में प्रकाशित हुईं। इनकी सबसे प्रसिद्ध कहानी है—'निंदिया लागी', जिसमें मध्यवर्गीय समाज की विसंगतियों का बड़ा अच्छा चित्रण हुआ है। **भगवतीचरण वर्मा** ने भी विवेच्य काल में कुछ कहानियां लिखी थीं, जो 'इन्सटालमेंट' (1936) में संगृहीत हैं। उन्होंने जीवन की कुरूपताओं का पर्दाफ़ाश करते हुए वर्तमान सभ्यता और आधुनिक समाज के खोखलेपन का चित्रण किया है। आधुनिक युग में नारी-पुरुष के संबंधों के विघटन का यथार्थ अंकन भी उनकी कहानियों में मिलता है।

छायावाद के प्रसिद्ध कवि-द्वय—निराला और पंत—ने भी कहानियां लिखने का प्रयास किया था। **निराला** ने 'श्रीमती गजानंद शास्त्रिणी', 'पद्मा' और 'लिली' जैसी कहानियां लिखीं, जिनमें काव्यात्मक वातावरण की सृष्टि ही प्रमुख है। **पंत** की 'पानवाला' नामक कहानी इसी काल में लिखी गयी थी, जिसमें अनुभूति-पक्ष की ही प्रधानता है। पंत और निराला की कहानियों पर युगीन चिंतन की छाप नहीं मिलती। वस्तुत: ये दोनों रूमानी कवि थे और रूमानियत कहानी के लिए अनुकूल नहीं पड़ती। विवेच्य काल में **राहुल सांकृत्यायन** ने भी कुछ कहानियों की रचना की जो 'सतमी के बच्चे' (1935) में संकलित हैं। इनमें भारत की तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का यथार्थ अंकन हुआ है। आर्थिक विषमता की घुटन इन कहानियों में बहुत ही सशक्त रूप में अभिव्यक्त हुई है। ये कहानियां चरित्रप्रधान हैं, पर राहुल जी का झुकाव मनोविज्ञान की ओर उतना नहीं है जितना कि वर्ग-संघर्ष की ओर है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इस युग की नारी-लेखिकाओं में **सुभद्राकुमारी चौहान** की कहानियां सामाजिक-पारिवारिक जीवन के व्यावहारिक चित्रण के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। 'बिखरे मोती' (1932) और 'उन्मादिनी' (1934) में संगृहीत कहानियों में उन्होंने अधिकतर भारतीय नारी की परिस्थितियों, समस्याओं तथा भावनाओं का सजग चित्रण किया है। उनकी 'पापी पेट' शीर्षक प्रसिद्ध राष्ट्रीय कहानी भी इसी अवधि की रचना है। प्रेमचंद की अर्द्धांगिनी **शिवरानी देवी** ने भी प्राय: उन्हीं की शैली को अपनाते हुए कुछ सामाजिक कहानियों की रचना की थी, जो 'कौमुदी' (1937) में प्रकाशित हैं। **उषादेवी मित्रा** की भावुकता-भरी कल्पनामयी सामाजिक कहानियां भी 1933 के आसपास तत्कालीन पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी थीं—'पिउ कहां', 'मूर्त्त मृदंग', 'गोधूलि', 'देवदासी', 'मन का मोह' आदि की रचना उन्होंने इसी अवधि में की थी। चंद्रगुप्त विद्यालंकार और विष्णु प्रभाकर के कहानीकार-जीवन का आरंभ इसी काल के अंतिम चरण में हुआ। **चंद्रगुप्त विद्यालंकार** की इस अवधि की कहानियों में 'गोरा', 'बचपन', 'संदेह', 'आंसू', 'शराबी', 'भय का राज्य', 'पगली', 'ताड़ का पत्ता', 'मास्टर जी' आदि प्रमुख हैं। **विष्णु प्रभाकर** (जन्म 1912) की कुछ कहानियां 1931 और 1934 के बीच 'हंस' और 'अलंकार' में प्रकाशित हुई थीं। इन दोनों ही लेखकों ने परवर्ती युग में कहानी-लेखन के क्षेत्र में अपना विशेष स्थान बनाया।

कुल मिला कर हिंदी-कहानी के विकास की दृष्टि से विवेच्य काल का उल्लेखनीय महत्त्व है। प्रेमचंद ने हिंदी-कहानी को मज़बूत नींव ही नहीं दी, बल्कि उसे कलात्मक ऊंचाई भी प्रदान की। कौशिक, सुदर्शन, उग्र, राहुल आदि ने कहानी को सामाजिक पीड़ा की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बनाया। जैनेंद्र और अज्ञेय ने मनोविश्लेषण को आधार बना कर नवीन प्रयोग किये, जहां से हिंदी-कहानी की एक नवीन धारा का सूत्रपात हुआ। तात्पर्य यह है कि इस युग में हिंदी-कहानी अपने विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं को पार कर वहां पहुंच गयी, जहां से हमें इसके श्रेष्ठ रूप के दर्शन होने लगते हैं।

## निबंध

हिंदी में 'निबंध' शब्द का प्रयोग एक ओर तो 'एस्से' के पर्याय रूप में ललित या व्यक्तिगत निबंधों के लिए होता है, और दूसरी ओर उन रचनाओं के लिए भी होता है जिनमें किसी विषय का सुसंबद्ध विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। यहां इनमें से प्रथम वर्ग की रचनाओं, अर्थात विषय के स्थान पर 'व्यक्ति' और 'लालित्य' को प्रधानता देने वाले निबंधों का विवेचन ही अभीष्ट है। इस युग के सबसे प्रमुख निबंधकार आचार्य **रामचंद्र शुक्ल** हैं, पर इस मान्यता का आधार उनके वे सभी निबंध हैं, जो 'चिंतामणि' के दोनों खंडों में संकलित हैं। इन निबंधों में प्रौढ़ चिंतन, सूक्ष्म विश्लेषण और तर्कपूर्ण सुसंबद्ध विवेचन का चरम आदर्श लक्षित होता है और इस कसौटी पर शुक्ल जी को हिंदी का सर्वश्रेष्ठ निबंधकार मानना सर्वथा उचित भी है। किंतु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि 'चिंतामणि' के दूसरे भाग में संकलित 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', 'काव्य में रहस्यवाद' और 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' निबंध न हो कर विस्तृत आलोचनात्मक लेख हैं। प्रथम भाग में भी तीन प्रकार के निबंध हैं—मनोविकार विषयक, साहित्य-सिद्धांत विषयक और साहित्यालोचन विषयक। इनमें अंतिम दो प्रकार निश्चित रूप से साहित्यालोचन से संबद्ध हैं, अत: ये 'आलोचना' के अंतर्गत आयेंगे, 'निबंध' के अंतर्गत नहीं। शेष रह जाते हैं मनोविकार संबंधी निबंध, जिन्हें प्रस्तुत प्रसंग में विचारणीय होने पर भी शुद्ध 'ललित' या 'व्यक्तिगत' निबंध नहीं कहा जा सकता। इनमें अत्यंत गंभीर मुद्रा में उत्साह, श्रद्धा, भक्ति, करुणा, लज्जा, ग्लानि, लोभ,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रीति, ईर्ष्या, भय आदि भावों अथवा मनोविकारों का स्वरूप निर्धारण तथा इनका तुलनात्मक विवेचन किया गया है। इस संदर्भ में शुक्ल जी का विशद पांडित्य, प्रौढ़ चिंतन, सूक्ष्म विश्लेषण, व्यापक अनुभव सब कुछ अपने उत्कर्ष पर पहुंचा दिखायी देता है और वे एक आचार्य तथा दार्शनिक के रूप में हमारे सामने आते हैं। इन निबंधों में पर्यवेक्षण, विवेचन और निष्कर्ष तीनों की सुसंबद्ध शृंखला है। फिर भी ये दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान की संपत्ति न हो कर साहित्य की संपत्ति हैं, क्योंकि इनमें गंभीर मुद्रा त्याग कर शुक्ल जी बीच-बीच में सहज बातचीत, हास्य-व्यंग्य और मधुर संभाषण की अनौपचारिक मुद्रा अपनाते दीखते हैं, जिसके फलस्वरूप इनमें व्यक्तिगत तत्त्व का समावेश हो गया है। उदाहरणार्थ, 'लोभ और प्रीति' निबंध का यह अंश द्रष्टव्य है :

> *''लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान-अपमान में समान भाव रखते हैं...लोभियो, तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इंद्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है : तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो, तुम्हें धिक्कार है!''*

किसी विषय के वैज्ञानिक विवेचन में ऐसे भावोद्गार के लिए कोई स्थान नहीं होता। मनोविज्ञान के ग्रंथ में इस प्रकार का विषयांतर दोष माना जायेगा। इसी प्रकार अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए शुक्ल जी ने कहीं-कहीं अंतर्कथा की भी सहायता ली है, जो ललित निबंध का तो गुण है, पर वैज्ञानिक विवेचन में जिसका कोई महत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस तरह की 'ललित उड़ान' ही 'निबंध' को 'लेख' से भिन्न करती है, और शुक्ल जी के निबंधों में इस 'ललित उड़ान' के दर्शन यत्र-तत्र होते हैं।

शुक्ल जी के निबंधों की एक अन्य विशेषता है प्रांजल साहित्यिक भाषा का प्रयोग, जो इनको विषय के शुष्क विवेचन से भिन्न धरातल पर ला खड़ा करती है। वैज्ञानिक विवेचन की भाषा का सारा बल अर्थ की 'निश्चयात्मकता' पर होता है, जबकि शुक्ल जी ने अर्थ की निश्चयात्मकता का ध्यान रखने पर भी उसे अधिक बोधगम्य, व्यंजक और प्रतीतिपूर्ण बनाने के लिए भाषा की उन सभी शक्तियों का प्रयोग किया है, जिनके कारण ही कोई कथन 'काव्य' की संज्ञा प्राप्त करता है। शब्दचयन, वाक्यरचना, सादृश्य-विधान—सब में उन्होंने अपनी काव्यात्मक रुचि का परिचय दिया है। 'प्रथम पुरुष' की शैली का प्रयोग भी उनके निबंधों को 'ललित निबंध' के निकट पहुंचाने वाला तत्त्व है। इस प्रकार उनके मनोविकार विषयक निबंधों में भी ललित निबंधों की आत्मीयता, काव्य-गुण प्रभृति अनेक विशेषताएं विद्यमान हैं, फिर भी गंभीर चिंतन, सूक्ष्म विश्लेषण और तर्क की प्रधानता के कारण इन्हें सही अर्थों में 'ललित निबंध' नहीं कहा जा सकता।

'ललित निबंध' की दृष्टि से **गुलाबराय** (1888-1963) की कुछ रचनाएं उल्लेखनीय हैं। 'ठलुआ-क्लब', 'फिर निराशा क्यों', 'मेरी असफलताएं' आदि संग्रहों में उनके कुछ श्रेष्ठ व्यक्तिगत निबंध संकलित हैं। 'मेरा मकान', 'मेरे नापिताचार्य', 'मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ', 'प्रीतिभोज' आदि निबंध ललित निबंध की सभी विशेषताओं से युक्त हैं। इनमें उन्होंने अपनी गंभीर आलोचकीय पांडित्य वाली मुद्रा का त्याग कर सर्वथा अनौपचारिक बातचीत-शैली में अपने व्यक्तिगत जीवन तथा आसपास की तुच्छ दीख पड़ने वाली वस्तुओं के संबंध में भावपूर्ण उद्गार

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और चलती हुई प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं। इनमें 'विषय' को प्रधानता न दे कर लेखक के व्यक्तित्व, उसकी निजी प्रतिक्रियाओं और उल्लास तथा व्यंग्यपूर्ण क्षणों की अभिव्यक्ति मिलती है। लेखक की भाषा सरल, स्वच्छ, स्पष्ट और भावव्यंजक है। उदाहरणस्वरूप, 'मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ' की कुछ पंक्तियां देखिए :

> *''ख़ैर, आजकल उस (भैंस) का दूध कम हो जाने पर भी और अपने मित्रों को छाछ भी नहीं पिला सकने की विवशता की झूंझल के होते हुए भी (सुरराज इंद्र की तरह मुझे भी मट्ठा दुर्लभ हो जाता है—तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्) उसके लिए भुस लाना अनिवार्य हो जाता है। कहां साधारणीकरण और अभिव्यंजनावाद की चर्चा और कहां भुस का भाव। भुस ख़रीद कर मुझे भी गधे के पीछे ऐसे ही चलना पड़ता है, जैसे बहुत से लोग अक्ल के पीछे लाठी ले कर चलते हैं। कभी-कभी गधे के साथ क़दम मिला के रखना कठिन हो जाता है। लेकिन मुझे गधे के पीछे चलने में उतना ही आनंद आता है जितना कि पलायनवादी को जीवन से भागने में।''*

समीक्ष्य काल में **पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी** ने भी कतिपय व्यक्तिगत निबंध लिखे, जो 'पंचपात्र' में संगृहीत हैं। इसमें संकलित 'अतीत स्मृति', 'उत्सव', 'रामलाल पंडित', 'श्रद्धांजलि के दो फूल' आदि निबंधों में लेखक की भावुकता, आत्मीयता तथा व्यंग्यपूर्ण प्रतिक्रिया का सुंदर समन्वय मिलता है। कहीं-कहीं अंतर्कथाओं का प्रयोग भी उन्होंने सफलता के साथ किया है। बख्शी जी की भाषा में गति की सजीवता और चित्रात्मकता पर्याप्त मात्रा में दिखायी पड़ती है। इस काल के अन्य ललित निबंधकारों में शांतिप्रिय द्विवेदी, शिवपूजन सहाय, बेचन शर्मा 'उग्र', रघुवीर सिंह और माखनलाल चतुर्वेदी के भी नाम लिये जा सकते हैं। **शांतिप्रिय द्विवेदी** ने निजी जीवन और व्यक्तिगत समस्याओं पर निबंध लिखने के अतिरिक्त 'कवि और काव्य' (1936), 'साहित्यिकी' (1938) प्रभृति आलोचनात्मक निबंध-संग्रहों में भी भावुकता और आत्मीयता का परिचय दिया है। भाषा की काव्यमयता, सुकुमार शब्दयोजना और भावोच्छ्वासों की तरल अभिव्यक्ति उनके निबंधों की सहज विशेषताएं हैं। **शिवपूजन सहाय** 'भाषा के जादूगर' के रूप में ख्यात हैं। उनकी मस्ती और ज़िंदादिली अनेक व्यक्तिगत निबंधों में फूटी-सी पड़ती है। 'कुछ' शीर्षक निबंध-संग्रह में उन्होंने तुच्छ से तुच्छ विषय को अपनी रोचक रचना प्रणाली से मोहक बना दिया है। उनके निबंध संख्या में अधिक नहीं हैं, पर जो हैं, वे उनकी आत्माभिव्यंजना, शिष्ट हास्य, मार्मिक व्यंग्य और औपचारिक किंतु परिष्कृत-परिमार्जित शैली के कारण हिंदी-निबंध-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखते हैं।

**बेचन शर्मा 'उग्र'** के अधिकतर निबंध भावात्मक हैं। 'बुढ़ापा', 'गाली' आदि निबंधों में उन्होंने सामाजिक और आर्थिक विषमताओं का भावपूर्ण शैली में प्रतिपादन किया है, यत्र-तत्र व्यंग्य के समावेश में भी वे दक्ष हैं। उनके निबंधों की भाषा अत्यंत चित्रात्मक, गतिशील और नाटकीय तीव्रता से युक्त है। वे अपने पाठकों से बिना किसी औपचारिकता के बात करते हुए आगे बढ़ते हैं, पर उनके निबंधों में वह शालीनता, माधुर्य और आभिजात्य नहीं है, जो गुलाबराय अथवा शिवपूजन सहाय के निबंधों में है। फलतः उनके निबंध 'ललित' निबंध न बन कर जोशीले भाषण बन गये हैं। **रघुवीर सिंह** ने ऐतिहासिक प्रसंगों को आधार बना कर कुछ अच्छे भावात्मक निबंधों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की रचना की है। मुग़लकालीन इतिहास की घटनाओं और इमारतों पर उन्होंने अनेक ललित-निबंध लिखे हैं। उनकी भाषा में चित्रात्मकता, सांकेतिकता और अर्थसंपन्नता पूरे तौर पर दिखायी देती हैं। **माखनलाल चतुर्वेदी** ने भी आलोच्य-युग में कतिपय भावप्रधान निबंधों की रचना की थी। उनके निबंधों में भावुकता की प्रधानता है, पर वे चिंतन से बिलकुल शून्य नहीं हैं। उनके निबंधों की सबसे बड़ी शक्ति है—उनकी भाषा, जिसमें कथन का बांकपन, ओज; प्रतीकात्मकता, लाक्षणिकता और प्रवाह सब कुछ का अत्यंत सुंदर समन्वय हुआ है।

संक्षेप में, विवेच्य युग में निबंधों की रचना तो पर्याप्त मात्रा में हुई, किंतु ललित निबंधों के क्षेत्र में उल्लेखनीय उपलब्धियां अधिक नहीं हैं, इस दिशा में जिन लेखकों ने योगदान किया है, उन्होंने एक अभाव की पूर्ति भले ही की है, कोई मानदंड स्थापित नहीं किया। इस काल के निबंध-साहित्य के संबंध में शुक्ल जी का यह कथन सर्वथा उचित है : ''अर्थ-वैचित्र्य और भाषा-शैली का नूतन विकास जैसा कहानियों के भीतर प्रकट हुआ है वैसा निबंध के क्षेत्र में नहीं देखने में आ रहा है।''

## समालोचना

उपन्यास, कहानी, नाटक और कविता की भांति विवेच्यकाल में समालोचना-साहित्य भी एक नये युग में प्रवेश करता दिखायी देता है। द्विवेदी-युग में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा उनके समकालीन समीक्षकों ने समालोचना ग्रंथों की रचना आरंभ तो कर दी थी, पर उनके द्वारा आरंभ किये गये आलोचना-साहित्य को सम्यक् आकार देने का श्रेय विवेच्य काल के समालोचकों, विशेषकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है। इस काल तक आते-आते समालोचना हिंदी-साहित्य की अनिवार्य आवश्यकता बन गयी थी। विश्वविद्यालयों में हिंदी-साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के संदर्भ में एक ओर तो काव्यशास्त्र विषयक ग्रंथों की रचना की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था, और दूसरी ओर हिंदी में कतिपय ऐसी साहित्यविधाएं विकसित हो रही थीं, जिनके विवेचन-विश्लेषण में संस्कृत-काव्यशास्त्र से कोई सहायता नहीं मिल सकती थी, जैसे उपन्यास और कहानी। काव्य और नाट्यरचना में भी ऐसी नवीन काव्यप्रवृत्तियां दिखायी देने लगी थीं, जिनका संस्कृत-काव्यशास्त्र से कोई संबंध नहीं जुड़ता था। ये नवीन प्रवृत्तियां अंग्रेज़ी के माध्यम से पाश्चात्य साहित्य से आयी थीं, अतः पाश्चात्य काव्यशास्त्र की ओर भी लेखकों का ध्यान जाने लगा था। छायावाद के पक्ष-विपक्ष में पुस्तकों और अधिकतर निबंधों के रूप में आलोचना का एक ऐसा रूप विकसित हुआ, जो अपने युग के लिए नया तो था ही, वह भावी आलोचना की पीठिका भी बना।

इस काल के जिन लेखकों ने संस्कृत-काव्यशास्त्र का परिचय देने के लिए सिद्धांत या लक्षण-ग्रंथों की रचना की, उनमें जगन्नाथप्रसाद 'भानु' (रस-रत्नाकर, 1919, अलंकार-दर्पण, 1936), गुलाबराय (नवरस—1921), विश्वनाथप्रसाद मिश्र (काव्यांग-कौमुदी—1924), भगवानदीन (व्यंग्यार्थ-मंजूषा, 1927), रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (अलंकार-पीयूष, 1929, नाट्य-निर्णय, 1930), अर्जुनदास केडिया (भारतीभूषण, 1930), किशोरीदास वाजपेयी (रस और अलंकार, 1931), श्यामसुंदरदास (रूपक-रहस्य, 1932), कन्हैयालाल पोद्दार (रस-मंजरी, 1934, अलंकार-मंजरी, 1936) आदि प्रमुख हैं। हरिऔध-कृत 'रसकलस' (1935) की भूमिका में रस और नायिकाभेद का विवेचन भी इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र संबंधी पुस्तकों में कन्हैयालाल गुप्त-कृत 'चरित्रचित्रण' (1923), पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी-कृत 'विश्व-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

साहित्य' (1924) और 'विश्व-साहित्य-विमर्श' (1924), सेठ गोविंददास-कृत 'नाट्यकला-मीमांसा' (1936), पुरुषोत्तमलाल-कृत 'आदर्श और यथार्थ' (1937) तथा विनोदशंकर व्यास-कृत 'कहानीकला' (1938) के नाम लिये जा सकते हैं। यद्यपि इनमें कहीं-कहीं भारतीय समीक्षा-दृष्टि का समाहार भी है और उस समय तक पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र का जैसा विस्तार हो चुका था, उसकी पूरी झलक भी इनमें नहीं है, तथापि समालोचना के क्षेत्र में नवीन विषयों के प्रवर्तन और उनके सुसंबद्ध विवेचन का जैसा प्रयत्न इनमें किया गया, वह किसी सीमा तक सराहनीय है। सत्य तो यह है कि हिंदी की सैद्धांतिक आलोचना का सही और स्तरीय रूप निम्नलिखित आलोचकों द्वारा प्रस्तुत किया गया— गुलाबराय (नवरस, 1920), श्यामसुंदरदास (साहित्यालोचन, 1922), रामचंद्र शुक्ल (काव्य में रहस्यवाद, 1929), लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' (काव्य में अभिव्यंजनवाद, 1936), रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (आलोचनादर्श, 1938) तथा रामकुमार वर्मा (साहित्य-समालोचना, 1938)। भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का मंथन करके काव्यशास्त्र के विभिन्न अवयवों पर संतुलित विचार प्रस्तुत करने के कारण इन सभी को समन्वयवादी समालोचक माना जाता है। **श्यामसुंदरदास** (1875-1945)-कृत 'साहित्यालोचन' में पाश्चात्य और भारतीय काव्यशास्त्र के तत्त्वों को समन्वित रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है, पर एक ओर हडसन के प्रसिद्ध ग्रंथ 'एन इंट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ़ लिटरेचर' पर अत्यधिक अवलंबित रहने के कारण और दूसरी ओर भारतीय काव्यशास्त्र-विषयक विवेचन में भी कोई ख़ास मौलिकता न होने के कारण यह ग्रंथ हिंदी की सैद्धांतिक आलोचना के क्षेत्र में, विशेषत: अपने ऐतिहासिक महत्त्व के कारण ही परिगणनीय है।

आलोच्य युग में सैद्धांतिक आलोचना के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान **रामचंद्र शुक्ल** का है। यों तो उन्होंने 'कविता क्या है' (सरस्वती, 1908), 'साहित्य' (सरस्वती, 1914) आदि निबंध लिख कर इसके पूर्व ही अपनी काव्यशास्त्रीय मेधा और स्वतंत्रचिंतन शक्ति का परिचय दे दिया था, पर उनकी पहली सैद्धांतिक आलोचना-कृति 'काव्य में रहस्यवाद' इसी युग में प्रकाशित हुई थी। शुक्ल जी ने भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का गंभीर अध्ययन किया था। उन्होंने हिंदी में पहली बार रस-विवेचन को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया। यद्यपि इस दृष्टि से उनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'रस-मीमांसा' विवेच्य अवधि के बाद प्रकाशित हुआ, पर उनकी इस काल में प्रकाशित आलोचना-पुस्तकों में भी उनके व्यापक और गंभीर अध्ययन तथा गहरी मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है। 'चिंतामणि' में संकलित निबंध इस कथन के प्रमाण-रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। रस-सिद्धांत के विवेचन में शुक्ल जी ने मौलिकता का परिचय दिया है, भले ही आज उससे सहमत न हुआ जा सके। उन्होंने अपने दृष्टिकोण से भाव, विभाव, रस आदि की पुनर्व्याख्या की। विभिन्न भावों की व्याख्या में उनका पांडित्य, मौलिकता और सूक्ष्म पर्यवेक्षण पग-पग पर दिखायी पड़ता है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और कुंतक के वक्रोक्तिवाद का तुलनात्मक विवेचन कर अभिव्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्तिवाद का 'विलायती उत्थान' मानना भी उनके अध्ययन की गहराई का परिचायक है। हिंदी की सैद्धांतिक आलोचना को परिचय और सामान्य विवेचन के धरातल से ऊपर उठा कर गंभीर स्वरूप प्रदान करने का श्रेय शुक्ल जी को ही है।

विवेच्यकाल की सैद्धांतिक आलोचना को गति प्रदान करने वाले आलोचकों में **लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'** भी उल्लेखनीय हैं। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' में उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र में निहित अभिव्यंजनावाद के तत्त्वों की सावधानी के साथ छानबीन की है, किंतु क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की सम्यक् व्याख्या इस कृति में नहीं हो पायी। क्रोचे द्वारा प्रतिपादित 'सहजानुभूति' का भी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विस्तृत स्पष्टीकरण इसमें नहीं हो पाया। फिर भी इस ग्रंथ की उपयोगिता इस बात में है कि इसमें साहित्य-रचना की प्रमुख प्रवृत्तियों पर गहराई और मौलिक सूझ-बूझ के साथ विचार किया गया है। 'सुधांशु' जी ने काव्य की व्याख्या में 'कला के लिए कला' सिद्धांत को वरीयता दी है। **डॉ. रसाल** और **डॉ. रामकुमार वर्मा** द्वारा क्रमशः रचित 'आलोचनादर्श' और 'साहित्य-समालोचना' (1930) विषय के सरल, स्पष्ट और व्याख्यात्मक प्रतिपादन की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

प्रायोगिक आलोचना के क्षेत्र में इस युग की उपलब्धियां कहीं अधिक हैं। यद्यपि व्यावहारिक समीक्षा का उदय द्विवेदी-युग में भलीभांति हो चुका था, पर उसका सम्यक् विकास इस अवधि में ही हुआ। इस दृष्टि में सर्वप्रथम उल्लेखनीय आलोचक हैं—पद्मसिंह शर्मा (बिहारीसतसई की भूमिका), कृष्णबिहारी मिश्र (देव और बिहारी) और भगवानदीन (बिहारी और देव), जिन्होंने तुलनात्मक आलोचना-पद्धति अपना कर क्रमशः बिहारी, देव और बिहारी की श्रेष्ठता सिद्ध की। इस तुलनात्मक आलोचना-प्रत्यालोचना की सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि यह पूर्णतः परंपरागत काव्यशास्त्रीय मान्यताओं पर आधृत थी, अतः इसे भारतीय काव्यशास्त्र का प्रायोगिक रूप भी कह सकते हैं। इसके विपरीत पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय मान्यताओं के आधार पर समकालीन रचनाओं के विवेचन-मूल्यांकन का प्रयास विवेच्य काल में नहीं के बराबर हुआ। जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'-कृत 'प्रेमचंद की उपन्यासकला' (1933) का अपवादस्वरूप उल्लेख किया जा सकता है। इसमें वस्तु, चरित्र, कथोपकथन, देशकाल, भाषाशैली और उद्देश्य विषयक पाश्चात्य मान्यताओं के आधार पर प्रेमचंद के उपन्यास-साहित्य का अनुशीलन किया गया है। समकालीन पत्र-पत्रिकाओं में भी इस प्रकार के कुछ निबंध प्रकाशित हुए, पर व्यवस्थित प्रयास कहीं भी लक्षित नहीं होता। सच पूछें तो कहानी और उपन्यास जैसी नयी साहित्यविधाएं इस युग के आलोचकों द्वारा उपेक्षित ही रह गयीं। इसी भांति नये ढंग की कविता और नाटक को भी उचित महत्त्व नहीं मिल पाया।

विवेच्य काल के समालोचना-साहित्य को सबसे महत्त्वपूर्ण देन **आचार्य रामचंद्र शुक्ल** की है, जिन्होंने अपने व्यापक और गंभीर अध्ययन, काव्यगुणों को पहचानने की अद्भुत क्षमता और विश्लेषण-बुद्धि के द्वारा हिंदी-समालोचना को अभूतपूर्व उत्कर्ष प्रदान किया। उन्होंने अपने विवेचन के लिए हिंदी के तीन बड़े कवियों गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास और जायसी को चुना। तुलसीदास उनके प्रिय कवि थे, अतः सर्वप्रथम उन्होंने 'तुलसी-ग्रंथावली' (1923) का संपादन किया और उसकी भूमिका में 'रामचरितमानस' तथा तुलसी के अन्य ग्रंथों के काव्यसौंदर्य का विस्तारपूर्वक उद्घाटन किया। तुलसीदास यों तो समस्त भारत में महान भक्त और कवि के रूप में विख्यात थे, पर उनके काव्यगुणों का सम्यक् उद्घाटन शुक्ल जी के पूर्व किसी आलोचक के द्वारा नहीं हुआ था। उनकी यही भूमिका बाद में 'गोस्वामी तुलसीदास' (1933) शीर्षक से स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में प्रकाशित हुई। इसी भांति उन्होंने 'जायसी-ग्रंथावली' (1925) और 'भ्रमरगीतसार' (1926) का संपादन कर इनकी लंबी भूमिकाओं में जायसी और सूरदास की काव्योपलब्धियों का सूक्ष्म विवेचन किया। 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' (1929) उनके गंभीर अध्ययन और विश्लेषण-सामर्थ्य का अन्य प्रमाण है।

वैसे तो शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति वैज्ञानिक अध्ययन व चिंतन से पुष्ट और तर्कपूर्ण है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि वे पूर्वाग्रह और अनुदारता से बिलकुल मुक्त हैं। उनकी काव्य-मान्यताओं के निर्माण में वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत-कवियों तथा प्रधानतः गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' का प्रमुख हाथ है। काव्य-विधाओं में प्रबंधकाव्य को

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

श्रेष्ठ मानने का कारण भी इन कवियों का प्रभाव ही है। इसके अतिरिक्त शुक्ल जी रसवादी, नीतिवादी और लोकमंगलवादी भी हैं। इन मान्यताओं के प्रति स्पष्ट और अडिग आस्था के कारण जहां वे एक ओर तुलसी और जायसी जैसे प्रबंधकवियों के काव्यसौष्ठव का सम्यक् उद्घाटन कर सके, वहीं दूसरी ओर सूरदास, रीतिकवियों और आधुनिक कवियों के साथ पूरा न्याय नहीं कर पाये। कवि-रूप में सूरदास की श्रेष्ठता को स्वीकार करने पर भी वे उन्हें तुलसी के समकक्ष इसलिए नहीं रख सके, क्योंकि सूरदास ने 'लोकपक्ष' पर उतना ध्यान नहीं दिया, जितना तुलसीदास ने और कबीर को तो उन्होंने विवेचन के योग्य भी नहीं समझा। रीतिकालीन कवियों को भी शुक्ल जी अपने इसी पूर्वाग्रह के कारण पर्याप्त महत्त्व नहीं दे सके तथा समकालीन छायावादी कवियों की तो उन्होंने उपेक्षा ही नहीं, विरोध भी किया। वे छायावाद के विरोधी इसलिए थे कि उसका 'लोकपक्ष' अत्यंत दुर्बल था। बाद में जब छायावादी कवियों ने जीवन की सहज-सामान्य बातों को अपनी महानताओं का विषय बनाना आरंभ किया तो शुक्ल जी उनकी प्रशंसा करने में पीछे न रहे। पंत जी की प्रकृति-संबंधी कविताओं तथा निराला की सामाजिक और ऐतिहासिक प्रसंगों से जुड़ी कविताओं की उन्होंने प्रशंसा की है। फिर भी अपने कतिपय पूर्वाग्रहों के बावजूद शुक्ल जी उच्चकोटि के समालोचक के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

शुक्ल जी की आलोचना-सरणि पर अग्रसर होने वाले आलोचकों में **कृष्णशंकर शुक्ल** ने 'केशव की काव्यकला' (1934) और 'कविवर रत्नाकर' (1935) शीर्षक कृतियों में केशवदास और रत्नाकर की जीवनी तथा उनके काव्य के विभिन्न पक्षों पर अत्यंत सहृदयता तथा तत्त्वान्वेषिणी दृष्टि से विचार किया है। आचार्य शुक्ल ने कवि के रूप में केशव को कोई महत्त्व नहीं दिया था, पर कृष्णशंकर शुक्ल ने उनके काव्य से मार्मिक पंक्तियां उद्धृत कर उनकी भावपूर्ण व्याख्या की, और सिद्ध किया कि केशव में भी समर्थ कवि बनने की क्षामता थी। इसी प्रकार उन्होंने 'रत्नाकर' के पदों का काव्यविषय, अभिव्यंजनाशैली, भावचित्रण, अलंकार आदि की दृष्टि से सराहनीय विवेचन किया। इस पद्धति के एक अन्य उल्लेखनीय समीक्षक **विश्वनाथप्रसाद मिश्र** हैं। 'बिहारी की वाग्विभूति' (1936) में उन्होंने बिहारी के दोहों पर पूर्ववर्ती काव्य के प्रभाव का विवेचन करते हुए शास्त्रीय आलोचना की पद्धति अपनायी है। बिहारी के काव्यसौंदर्य का सम्यक् विवेचन करने वाली यह पहली आलोचनात्मक कृति है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'हिंदी-नाट्य साहित्य का विकास' (1930) नामक पुस्तक भी लिखी, जिसमें संस्कृत-नाट्यसाहित्य के आधार पर हिंदी-नाटकों का विवेचन किया गया है।

शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति से प्रभावित समीक्षकों में रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' (प्रसाद की नाट्यकला, 1929), ब्रजरत्नदास (हिंदी-नाट्यसाहित्य, 1930), रामकुमार वर्मा (कबीर का रहस्यवाद, 1931), जनार्दन मिश्र (विद्यापति, 1932), कृष्णानंद गुप्त (प्रसाद जी के दो नाटक, 1933), अखौरी गंगाप्रसाद (पद्माकर की काव्यसाधना, 1934), भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' (मीरा की प्रेम-साधना, 1934), गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' (महाकवि हरिऔध, 1934, गुप्त जी की काव्यधारा, 1937) तथा रामनाथ 'सुमन' (प्रसाद की काव्यकला, 1938) उल्लेखनीय हैं। किंतु इन सब आलोचनात्मक कृतियों में प्रायः वह गहराई और आलोच्य कृति के मर्मोद्घाटन की वह क्षमता नहीं है, जो आचार्य शुक्ल में मिलती है। इस काल के कुछ आलोचकों ने शुक्ल जी द्वारा मथे हुए विषय को भी स्पर्श करने का साहस दिखाया[6],पर इनमें दृष्टिकोण-विषयक मौलिकता के दर्शन नहीं होते। सामान्यतः इन आलोचकों ने शुक्ल जी के आधार पर संबद्ध कवि या युगीन काव्यधारा का सविस्तार विवेचनमात्र किया है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आचार्य शुक्ल और उनकी परंपरा तथा स्वभाव के अन्य आलोचकों ने हिंदी के प्राचीन कवियों के संबंध में काफ़ी लिखा, पर समकालीन छायावादी काव्य को उनकी सहानुभूति नहीं मिली। बदरीनाथ भट्ट, ललितकिशोर सिंह, बनारसीदास चतुर्वेदी, पद्मसिंह शर्मा, हेमचंद्र जोशी आदि ने गुट बना कर अत्यंत आक्रामक ढंग से छायावाद का विरोध किया। 'सरस्वती', 'विशाल भारत', 'सुंधा', 'प्रभा' आदि पत्रिकाएं प्रसाद, निराला और पंत की कविताओं की ही नहीं, उनके चरित्र की भी अत्यंत कुरुचिपूर्ण ढंग से आलोचना करती थीं। इधर 'मतवाला', 'जागरण', 'भारत' आदि पत्र छायावाद का समर्थन कर रहे थे। छायावाद के समर्थकों में नंददुलारे वाजपेयी, अवध उपाध्याय, कृष्णदेवप्रसाद गौड़, शांतिप्रिय द्विवेदी, रामनाथलाल 'सुमन', डॉ. नगेंद्र आदि उल्लेखनीय हैं। इस विरोध और समर्थन के क्रम में छायावादी कवियों पर जो लेख लिखे गये, उनमें कविताओं के गुण-दोष से अधिक संबद्ध कवियों और आलोचकों के चरित्र पर छींटाकशी की गयी है, पर इस सिलसिले में छायावादी कवियों ने अपनी कविता के बचाव या 'डिफेंस' में जो आलोचनाएं लिखीं, उनका ऐतिहासिक महत्त्व है। सर्वप्रथम सुमित्रानंदन पंत ने, संभवतः वड्र्सवर्थ-कृत 'लिरिकल बैलेड्स' और शैली-कृत 'डिफेंस ऑफ़ पोयट्री' से प्रेरणा ले कर 'पल्लव' (1927) और 'वीणा' (1929) की भूमिकाओं में रीतिकाल से द्विवेदी-युग तक की कविता की त्रुटियां दिखाते हुए छायावादी कविताओं की वकालत की, पर छायावादी कविता का सुदृढ़ दर्शन वे प्रस्तुत नहीं कर सके, क्योंकि उनमें कविसुलभ भावुकता और संवेदना जिस मात्रा में है उस मात्रा में विश्लेषण-क्षमता नहीं है।

'पल्लव' के प्रकाशन के तुरंत बाद निराला ने 'पंत और पल्लव' शीर्षक कृति में पंत की कविताओं के उद्धरण दे कर उनकी त्रुटियों का निर्देश किया। जहां-तहां उन्होंने पंत की कविताओं की तारीफ़ भी की, पर प्रधानता दोष-दर्शन की ही रही। उन्होंने जिस सूझ-बूझ और मर्मभेदिनी दृष्टि से पंत की कविताओं की आलोचना की है, वह एकांगी होने पर भी ध्यान आकृष्ट करती है। अपने स्फुट निबंधों में उन्होंने 'हरिऔध' के चौपदों और गुप्त जी की काव्यभाषा की भी प्रशंसा की है, जिससे यह सिद्ध होता है कि छायावादी कवियों में एकमात्र निराला ही आलोचकीय क्षमता से युक्त थे। उन्होंने काव्य के सैद्धांतिक विवेचन में भी रुचि ली। उदाहरणार्थ, छायावाद के संदर्भ में अपने विरोधियों को उत्तर देने के लिए उन्होंने समकालीन पत्र-पत्रिकाओं में अनेक लेख लिखे, जिनमें भाषा, छंद, तुक, लय, सार्वदेशिकता, समसामयिकता, स्थानीयता आदि के संदर्भ में ऐसे अनेक मौलिक प्रश्न उठाये गये हैं, जो भावी कविता और आलोचना के लिए मार्गदर्शक बने। इसी भांति पंत ने 'पल्लव' की भूमिका में काव्य-विषयक कुछ प्रश्नों पर किंचित् अस्पष्ट-से विचार व्यक्त किये हैं। प्रसाद ने 1936 में 'हंस' के कई अंकों में कतिपय काव्यालोचन-विषयक निबंध लिखे, जिनका संकलन बाद में 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' (1939) शीर्षक से हुआ। इन निबंधों में उन्होंने काव्य और कला, रहस्यवाद, रस, नाटकों में रस का स्थान, रंगमंच, यथार्थवाद, छायावाद आदि के संबंध में अपने विचार व्यक्त किये, पर पंत की भांति वे भी छायावाद की दार्शनिक पीठिका और उसकी पहचान के आधार-बिंदु प्रस्तुत नहीं कर पाये। 'सांध्यगीत' (1936) की भूमिका में महादेवी ने भी छायावाद की परिभाषा देने की कोशिश की, उन्होंने छायावाद और रहस्यवाद का भारतीय सूत्र ढूंढ़ा तथा वेदों से ढूंढ़ कर ऐसी पंक्तियां सामने रखीं, जिनसे छायावाद-रहस्यवाद का समर्थन होता है।

छायावाद को अपना समर्थ आलोचक **नंददुलारे वाजपेयी** के रूप में मिला था। उन्होंने बहुत ही तर्कपूर्ण और प्रामाणिक ढंग से छायावाद के सामाजिक संदर्भ में व्याख्या की तथा छायावादी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

काव्य की विशेषताओं का उद्घाटन किया। प्रसाद, निराला और पंत पर 1931 में पृथक्-पृथक् तीन निबंध लिख कर उन्होंने छायावाद की बृहत्त्रयी की घोषणा की। उनके अनुसार प्रसाद के काव्य में 'मानवीय भूमि', निराला के काव्य में 'बुद्धि तत्त्व' तथा पंत के काव्य में 'कल्पना' की प्रधानता है। वाजपेयी जी का महत्त्व इस बात में है कि जब पुराने खेमे के आलोचकों के प्रहार से छायावादी कवि कुंठित हो रहे थे, तब उन्हें वाजपेयी जी का समर्थन प्राप्त हुआ। उन्होंने शुद्ध सौंदर्यबोधात्मक मूल्यों की दृष्टि से छायावादी काव्य का मूल्यांकन किया है। उनके आलोचनात्मक निबंधों में उनकी काव्य-विषयक गहरी पकड़ तथा तीक्ष्ण विश्लेषण-क्षमता के दर्शन होते हैं। छायावादी कविता की सहानुभूतिपूर्ण व्याख्या और विवेचन करने वालों में **शांतिप्रिय द्विवेदी** और **डॉ. नगेंद्र** भी उल्लेखनीय हैं। द्विवेदी जी ने विवेच्य काल में तीन आलोचनात्मक ग्रंथों की रचना की— 'हमारे साहित्य-निर्माता' (1932), 'कवि और काव्य' (1937) तथा 'साहित्यिकी' (1938)। उन्होंने छायावादी काव्य के विकास के मूल में गांधीवाद और प्रथम विश्वयुद्ध के बाद की परिस्थितियों को कारणभूत बताया। पंत जी के काव्य से वे विशेष प्रभावित थे, वैसे उन्होंने प्रसाद और निराला की भी प्रशंसा की है। उनकी आलोचना-शैली में विश्लेषण और तर्कपूर्ण विवेचन के स्थान पर मन पर पड़े प्रभावों का मनोहर शैली में कथन अधिक मिलता है। इसके विपरीत डॉ. नगेंद्र ने 'सुमित्रानंदन पंत' (1938) नामक पुस्तक में सर्वप्रथम छायावाद की विशेषताओं का प्रामाणिक विवेचन किया और तदनंतर पंत जी की भावभूमि, विचारधारा, कला, भाषा तथा उन पर पड़े बाह्य प्रभावों की व्याख्या की। पंत की कविताओं की व्याख्या करके उन्होंने वहीं से आलोचना के सूत्र ढूंढ़े हैं, और उन्हीं के आधार पर पंत-काव्य का मूल्यांकन किया है। कहना नहीं होगा कि यही आलोचना की सर्वश्रेष्ठ पद्धति है।

हिंदी-आलोचना के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विवेच्यकाल में उसे स्तरीय बनाने का श्रेय एकमात्र आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है। आलोचना के सैद्धांतिक और प्रायोगिक—दोनों रूपों में शुक्ल जी दुर्लंघ्य है। पर उनका क्षेत्र सीमित रहा, उन्होंने प्राचीन कवियों, विशेषकर तुलसी, जायसी और सूर के विवेचन में तो उच्चकोटि की आलोचनात्मक क्षमता का परिचय दिया, पर आधुनिक कवियों के प्रति वे अनौचित्य की सीमा तक अनुदार हो गये। बाद में उन्होंने छायावादी काव्य में कुछ अच्छाइयां भी देखीं, पर उनका मूल स्वर विरोधी खेमे का ही रहा। छायावाद को समझने-समझाने का प्रयास इसी काल के अन्य आलोचकों—नंददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी, डॉ. नगेंद्र आदि ने किया। आगे चल कर इन्हीं आलोचकों ने हिंदी आलोचना को दिशा और गति भी प्रदान की।

## गद्य-साहित्य की अन्य विधाएं

छायावादयुगीन लेखकों ने गद्य-साहित्य की गौण तथा नवप्रवर्तित विधाओं को अंकुरित और पल्लवित करने में भी यथेष्ट योगदान किया। आलोच्य युग के पूर्व हिंदी में जीवनी, यात्रावृत्त, संस्मरण और पत्र-लेखन की परंपरा तो विद्यमान थी, किंतु आत्मकथा, रेखाचित्र, गद्यकाव्य तथा अभिनंदन एवं स्मृति-ग्रंथों की रचना प्रथम बार छायावाद-युग में ही हुई। गद्य-शैली के विकास के साथ-साथ अभिव्यक्ति के इन नये रूपों की खोज सर्वथा स्वाभाविक थी। इनमें से रेखाचित्र और गद्यकाव्य को इस युग की विशिष्ट उपलब्धि कहा जा सकता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## जीवनी-साहित्य

आलोच्य युग में जीवनी-लेखन की दिशा में पर्याप्त कार्य हुआ। तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभावस्वरूप स्वभावतः लेखकों की सर्वाधिक अभिरुचि राष्ट्रीय नेताओं से संबंधित जीवनियां लिखने की ओर रही। इसके साथ ही इतिहासप्रसिद्ध महापुरुषों और महान महिलाओं के जीवन-वृत्त प्रस्तुत करने की ओर भी ध्यान दिया गया। राष्ट्रीय नेताओं के संदर्भ में नवजादिकलाल श्रीवास्तव, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, रामदयाल तिवारी, रामनरेश त्रिपाठी, नरोत्तमदास व्यास, डॉ. राजेंद्रप्रसाद, नंदकुमारदेव शर्मा, व्यथितहृदय, गणेशशंकर विद्यार्थी, इंद्र वाचस्पति, जगपति चतुर्वेदी तथा मन्मथनाथ गुप्त ने क्रमशः 'देशभक्त लाला लाजपतराय' (1920), 'बाल गंगाधर तिलक' (1920), 'गांधी-मीमांसा' (1921), 'गांधी जी कौन हैं' (1921), 'गांधी-गौरव' (1921), 'चंपारन में महात्मा गांधी' (1922), 'लाजपत-महिमा' (1922), 'पं. जवाहरलाल नेहरू' (1926), 'श्री गांधी' (1931), 'जवाहरलाल नेहरू' (1933), 'लाला लाजपतराय' (1938), 'चंद्रशेखर आज़ाद' (1938) आदि रचनाओं के माध्यम से जीवनी-साहित्य को समृद्ध किया। गांधी जी इस युग के सर्वाधिक लोकप्रिय नेता थे। फलतः महात्मा गांधी-विषयक जीवनियां सर्वाधिक संख्या में लिखी गयीं। उनके अतिरिक्त लाला लाजपत राय, लोकमान्य तिलक तथा जवाहरलाल नेहरू के जीवनवृत्तों को भी अनेक लेखकों ने अपनी रचनाओं का आधार बनाया।

समसामयिक राष्ट्रीय विभूतियों के अतिरिक्त इस काल में भारतीय इतिहास के महापुरुषों से संबंधित जीवनियां भी पर्याप्त संख्या में लिखी गयीं। रामनरेश त्रिपाठी, संपूर्णानंद, चंद्रशेखर पाठक, सुखसंपतिराय भंडारी, रामवृक्ष शर्मा, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, गंगाप्रसाद मेहता, प्रेमचंद आदि ने क्रमशः 'पृथ्वीराज चौहान' (1919), 'सम्राट् हर्षवर्द्धन' (1920), 'राणा प्रतापसिंह' (1920), 'शिवाजी' (1925), 'महाराणा प्रतापसिंह' (1927), 'चंद्रगुप्त विक्रमादित्य' (1932), 'दुर्गादास' (1938) आदि कृतियों की रचना कर इस साहित्यविधा के विकास में योगदान किया। देश और समाज के विभिन्न कार्यक्षेत्रों में निष्ठावती महिलाओं के इतिहास-प्रसिद्ध जीवनचरित्र लिखने की ओर भी कुछ लेखकों का ध्यान गया। शिवव्रतलाल वर्मन, मनोरमाबाई, जहूरबख्श, जटाधरप्रसाद शर्मा विमल, जगन्नाथ शर्मा, भगवददत्त आदि ने क्रमशः 'सच्ची देवियां' (1921), 'विद्योत्तमा' (1924), 'आर्य महिलारत्न' (1924), 'अहिल्याबाई' (1926), 'रमणी नवरत्न' (1927) तथा 'भारतीय महिला' (1935) नाम्नी रचनाओं का प्रणयन कर एतद्विषयक साहित्य की अभिवृद्धि की। इस प्रकार आलोच्य युग के जीवनी-लेखकों की दृष्टि पाठकों को राष्ट्रप्रेम और जनसेवा की प्रेरणा देने की ओर रही है। फलस्वरूप उद्बोधनात्मकता, आदर्शवाद, ओजस्विता, सहज, स्पष्ट भाषा-शैली आदि का संयोजन सभी लेखकों को अभीष्ट रहा है, और ऐसी भी जीवनियां दुर्लभ नहीं हैं, जिनमें इतिवृत्तात्मकता मात्र न हो कर विषय का आत्मीयतापूर्ण प्रतिपादन मिलता है।

## आत्मकथा

जब कोई व्यक्ति अपनी जीवनी स्वयं लिखता है, तब उसे 'आत्मकथा' कहते हैं, किंतु अपने चरित्र का विश्लेषण करना सरल नहीं है, क्योंकि यदि लेखक अपने गुणों का वर्णन करता है तो आत्मप्रशंसक कहलाता है, यदि दोषों का उल्लेख करता है तो यह भय बना रहता है कि कहीं श्रद्धालुजनों की श्रद्धा ही न समाप्त हो जाये और यदि वह अपने दोषों का उल्लेख नहीं करता तो सच्चा आत्मकथा-लेखक होने का अधिकारी नहीं है। हिंदी में इस विधा का आरंभ बनारसीदास

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जैन की पद्यात्मक रचना 'अर्धकथानक' (1641) से होता है। किंतु गद्य-विधा के रूप में इसकी प्रतिष्ठा आधुनिक काल में हुई। सत्यानंद अग्निहोत्री-कृत 'मुझमें देव-जीवन का विकास' (1910) तथा स्वामी दयानंद-कृत 'जीवन-चरित्र' (1917) इस विधा की आरंभिक कृतियां हैं। छायावाद-युग में प्रकाशित आत्मकथा-साहित्य में भाई परमानंद, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी तथा नेता जी सुभाषचंद्र बोस द्वारा क्रमशः लिखी गयी 'आपबीती' (1921), 'आत्मकथा' (1923) तथा 'तरुण के स्वप्न' (1935) शीर्षक कृतियां उल्लेखनीय हैं। भाई परमानंद-कृत 'आपबीती' को छोड़ कर शेष दोनों रचनाएं अनूदित हैं। महात्मा गांधी की 'आत्मकथा' का अनुवाद श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने किया तथा उसका प्रकाशन 1927 में हुआ। नेता जी सुभाषचंद्र बोस की आत्मकथा का अनुवाद गिरीशचंद्र जोशी ने किया। ये दोनों ग्रंथ पर्याप्त प्रेरणाप्रद हैं और पाठकों को कर्मक्षेत्र में अग्रसर होने के लिए उत्साहित करते हैं।

### यात्रावृत्त

द्विवेदी-युग की भांति इस युग में भी यात्रावृत्त-लेखन का पर्याप्त प्रचलन रहा। सर्वश्री रामनारायण मिश्र (1876-1953), गणेशनारायण सोमानी (1878), स्वामी सत्यदेव परिव्राजक (1879), कन्हैयालाल मिश्र आर्योपदेशक (1880), शिवप्रसाद गुप्त (1883-1913), जवाहरलाल नेहरू (1889-1964), राहुल सांकृत्यायन (1893-1963), सेठ गोविंददास (1896), प्रो. मनोरंजन (1900) और केदाररूप राय (1902) ने इस विधा को आलोच्य काल में यथाशक्ति समृद्ध किया। रामनारायण मिश्र ने 'यूरोप-यात्रा में छह मास' (1932) में यूरोप के दर्शनीय स्थानों के रोचक वर्णन के साथ-साथ वहां की शिक्षा-पद्धति आदि का भी यथास्थान विवरण दिया है। गणेशनारायण सोमानी ने अपनी यूरोप-यात्रा का वर्णन पत्र शैली में किया है। 'मेरी यूरोप-यात्रा' (1932) में संकलित ये पत्र उन्होंने अपनी पुत्री को लिखे थे। वैसे सत्यदेव परिव्राजक इस युग के सर्वप्रमुख यात्रावृत्त-लेखक हैं। 'मेरी जर्मन-यात्रा' (1926), 'यात्री-मित्र' (1936), 'यूरोप की सुखद स्मृतियां' (1937), 'ज्ञान के उद्यान में' (1937), 'नयी दुनिया के मेरे अद्भुत संस्मरण' (1937) और 'अमेरिका-प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी' (1937) इनकी उल्लेखनीय कृतियां हैं। 'मेरी जर्मन-यात्रा' में जहां जर्मनी के प्राकृतिक सौंदर्य का निरूपण है, वहीं 'यूरोप की सुखद स्मृतियां' में संबद्ध यात्रावर्णन के साथ-साथ प्रकारांतर से भारत के स्वतंत्र होने की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है। 'यात्रीमित्र' में यात्रा में आने वाली कठिनाइयों का वर्णन करते हुए लेखक ने अपने यात्रा-अनुभवों को अत्यंत रोचक शैली में प्रस्तुत किया है। निबंधात्मक शैली में लिखित 'ज्ञान के उद्यान में' पुस्तक में लेखक ने ऐसे चालीस निबंध संकलित कर दिये हैं, जो उन्होंने अपनी यात्राओं के समय विभिन्न पत्रिकाओं के लिए लिखे थे। 'नयी दुनिया के मेरे अद्भुत संस्मरण' तथा 'अमेरिकी प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी' में स्वामी जी ने अमेरिका की शिक्षा-पद्धति, प्राकृतिक वैभव, सामाजिक-राजनीतिक जीवन तथा वहां के दर्शनीय स्थानों आदि का कथात्मक शैली में वर्णन किया है। कन्हैयालाल मिश्र 'आर्योपदेशक' ने 'हमारी जापान-यात्रा' (1931) में जापान की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक स्थितियों, दर्शनीय स्थानों आदि का वर्णन करने के साथ-साथ सुमात्रा, जावा, बाली, हांगकांग, शंघाई आदि पर पड़े भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रभाव का निरूपण किया है, तो शिवप्रसाद गुप्त ने 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' (1934) में अमेरिका, जापान, आयरलैंड, कोरिया, चीन, सिंगापुर, इंग्लैंड आदि के दर्शनीय स्थानों का रोचक वर्णन किया है। जवाहरलाल नेहरू द्वारा हिंदी में लिखित 'रूस की सैर' (1929) में यात्रा-वर्णन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के साथ-साथ रूस की रमणीय छटा का भी सजीव चित्रण मिलता है।

यात्रावृत्त लेखन में **राहुल सांकृत्यायन** का अन्यतम स्थान है। वे पक्के घुमक्कड़ थे और उनके जीवन का बहुत बड़ा भाग घूमने-फिरने में व्यतीत हुआ था। आलोच्य युग में उन्होंने 'तिब्बत में सवा वर्ष' (1933), 'मेरी यूरोप यात्रा' (1935) तथा 'मेरी तिब्बत-यात्रा' (1937) शीर्षक ग्रंथों की रचना की। 'तिब्बत में सवा वर्ष' में न केवल तिब्बत के जनजीवन की सशक्त झांकी उतारी गयी है, अपितु वहां रह कर खोजे गये ग्रंथों का भी विस्तृत वर्णन दिया गया है। 'मेरी यूरोप-यात्रा' में यूरोप के दर्शनीय स्थलों के अतिरिक्त कैम्ब्रिज तथा ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों के रोचक वृत्त भी प्रस्तुत किये गये हैं। अनेक चित्रों से अलंकृत तथा डायरी-शैली में लिखी गयी 'मेरी तिब्बत-यात्रा' में तिब्बत के प्राकृतिक सौंदर्य का मनमोहक निरूपण मिलता है। सेठ गोविंददास ने भी यात्रावृत्त-साहित्य के विकास में योग दिया है। उनके द्वारा रचित 'हमारा प्रधान उपनिवेश' (1938) में दक्षिण अफ्रीका की सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों का सम्यक् उद्घाटन हुआ है, किंतु इस कृति का शीर्षक कुछ भ्रामक है, क्योंकि भारत का न तो कोई उपनिवेश है और न वह उपनिवेशवाद में आस्था रखता है। प्रो. मनोरंजन ने 'उत्तराखंड के पथ पर' (1936) में अपनी बद्री-केदार-यात्रा का औपन्यासिक शैली में वर्णन किया है तथा केदाररूप राय ने 'हमारी विलायत यात्रा' (1926) में यूरोप के दर्शनीय स्थानों के साथ साथ वहां की पर्वतीय शोभा पर भी प्रकाश डाला है।

प्रवृत्त्यात्मक दृष्टि से आलोच्य युग की कृतियों का मूल्यांकन करने पर यह ज्ञात होता है कि इस युग में विदेश-यात्रा-संबंधी पुस्तकें ही अधिक संख्या में प्रकाशित हुईं। इनमें भी यूरोप-संबंधी पुस्तकों की संख्या अधिक है। विषयानुरूप सुबोध भाषा तथा पत्र, डायरी, निबंध आदि विविध शैलियों का प्रयोग इस युग के यात्रा-साहित्य की शिल्पगत विशेषताएं हैं।

## संस्मरण तथा रेखाचित्र

आलोच्य युग में संस्मरणों तथा रेखाचित्रों की पर्याप्त परिमाण में रचना की गयी। संस्मरण तो इस युग के पूर्व भी लिखे गये थे, किंतु रेखाचित्रों की रचना इसी काल में हुई। जहां तक संस्मरणों का संबंध है, पूर्ववर्ती युग के समान विवेच्य युग में भी पत्र-पत्रिकाओं ने ही इसकी श्रीवृद्धि में सर्वाधिक योग दिया। 'सरस्वती' में रामकुमार खेमका, कृपानाथ मिश्र, रामनरायण मिश्र, भगवानदीन दुबे, रामेश्वरी नेहरू, श्रीमन्नारायण अग्रवाल आदि के अनेक यात्रावृत्तमूलक संस्मरण प्रकाशित हुए, जिनसे देश-विदेश के जीवन के विविध पक्षों, दर्शनीय स्थानों, प्राकृतिक सौंदर्य आदि का वर्णन विवरणपरक भावात्मक शैली में रोचक ढंग से रूपायित किया गया है। 'विशाल भारत', 'सुधा' और 'माधुरी' में भी कतिपय उल्लेखनीय संस्मरण प्रकाशित हुए। आचार्य रामदेव, अमृतलाल चक्रवर्ती, बनारसीदास चतुर्वेदी, मंगलदेव शर्मा प्रभृति लेखकों ने इन पत्रिकाओं के लिए क्रमशः स्वामी श्रद्धानंद, बालमुकुंद गुप्त, श्रीधर पाठक और पद्मसिंह शर्मा से संबद्ध जीवनीपरक संस्मरणों की रचना की। 'सुधा' (1921) में प्रकाशित इलाचंद्र जोशी-कृत 'मेरे प्राथमिक जीवन की स्मृतियां' तथा वृंदावनलाल वर्मा-कृत 'कुछ संस्मरण' भी उल्लेखनीय रचनाएं हैं। पत्रिकाओं में प्रकाशित सामग्री के अतिरिक्त इस अवधि में संस्मरणों के कतिपय संकलन भी प्रकाशित हुए, जिनमें शिवराम पांडेय, श्रीराम शर्मा, मन्मथनाथ गुप्त तथा शिवनारायण टंडन द्वारा क्रमशः रचित 'मदनमोहन के संबंध की कुछ पुरानी स्मृतियां' (1932), 'शिकार' (1936), 'क्रांति-युग के संस्मरण' (1937) और 'झलक' (1938) उल्लेखनीय हैं। इनमें से अंतिम कृति में हरिऔध जी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के जीवन की कुछ स्मृतियां दी गयी हैं। बाबूराव विष्णुराव पराड़कर द्वारा संपादित 'हंस' का 'प्रेमचंद-स्मृति-अंक' (1937) तथा ज्योतिलाल भार्गव द्वारा संपादित 'साहित्यिकों के संस्मरण' भी इसी युग की उल्लेखनीय रचनाएं हैं।

आलोच्य युग में संस्मरणात्मक रेखाचित्रों की एक नयी विधा का भी प्रचलन हुआ, जिसके विकास में श्रीराम शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी तथा महोदवी वर्मा ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। इस संदर्भ में श्रीराम शर्मा-कृत 'बोलती प्रतिमा' (1937) विशेषरूपेण उल्लेखनीय है। लेखक ने अपनी भूमिका में इस कृति में संकलित रचनाओं को लेख, स्कैच और कहानियां माना है, किंतु यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि इस कृति की अधिकांश रचनाएं स्कैच यानी रेखाचित्र ही हैं। 'भाई जगन्नाथ' इस संकलन की सर्वश्रेष्ठ रचना है। ग्रामीण जीवन से अपने पात्रों का संकलन करते हुए उनके सुख-दु:ख, त्याग-तपस्या आदि का ओजस्वी शैली में जीवंत चित्र प्रस्तुत करने में शर्मा जी को कमाल हासिल है। बनारसीदास चतुर्वेदी तथा महादेवी वर्मा के संस्मरणात्मक रेखाचित्र केवल पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। चतुर्वेदी जी ने संतों, समाजसेवियों, देशसेवकों और साहित्यकारों से संबद्ध अनेक संस्मरणात्मक रेखाचित्र लिखे, जिनका प्रकाशन 'विशाल भारत' तथा अन्य समकालीन पत्रिकाओं में हुआ। उनका विशेष बल व्यक्ति के गुणों के उद्घाटन पर रहा, व्यक्तित्व के दुर्लभ पक्षों पर उनका ध्यान नहीं गया है। सामग्री की वैसी कल्पनामूलक कलात्मक अभिव्यक्ति भी उनके यहां नहीं मिलती, जो महादेवी वर्मा के प्रतिनिधि संस्मरणात्मक रेखाचित्रों—रामा (1930), बिंदा (1934), सबिया (1935), बिट्टो (1935), घीसा (1936) आदि में सुलभ हैं। ये सभी रचनाएं आगे चल कर पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हुईं। बनारसीदास चतुर्वेदी ने व्यंग्य का पुट देते हुए छोटे-छोटे वाक्यों तथा रोचक शैली के माध्यम से पाठक के मन पर अपनी अमिट छाप छोड़ देने वाली चित्रोपम रचनाओं का प्रणयन किया है, तो महोदवी वर्मा ने समाज के दीन-हीन तथा शोषित व्यक्तियों को कथ्य के रूप में चुन कर भारतीय समाज का जीवन-चित्र प्रस्तुत कर दिया है। महादेवी के रेखाचित्रों में संवेदनशीलता, भावुक कल्पना, कवि-हृदय और कलात्मक अभिव्यक्ति का अभूतपूर्व उत्कर्ष मिलता है।

समग्रत: आलोच्य युग में संस्मरणों और रेखाचित्रों में कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से पर्याप्त वैविध्य दृष्टिगत होता है। कथ्य की दृष्टि से संस्मरण-साहित्य में जहां समाजसेवी नेताओं, साहित्यकारों तथा प्रवासी भारतीयों के स्मृति-प्रसंगों को रोचक एवं प्रवाहपूर्ण शैली में प्रस्तुत करके पाठक को कर्मक्षेत्र में अग्रसर होने की प्रेरणा दी गयी है, वहीं रेखाचित्रों में समाज के उपेक्षित व्यक्तियों के चित्रण पर बल दिया गया है। शिल्प की दृष्टि से इस युग के साहित्य की सर्वप्रमुख उपलब्धि है—चित्रात्मकता। कथ्य को सशक्त रूप में रूपायित करने के लिए रेखाचित्रों की जिस शैली का इस युग में श्रीगणेश हुआ, वह परवर्ती युग के लेखकों के लिए दिशासूचक सिद्ध हुई।

## गद्यकाव्य

'गद्यकाव्य' से अभिप्राय उस रचना से है, जिसमें वैयक्तिक आशा-निराशा, सुख-दु:ख आदि घनीभूत भावनाओं को साधारण गद्य से भिन्न भावपूर्ण गद्य में व्यक्त किया जाता है—उसमें संवेदनशीलता एवं रसात्मकता तो छंदोबद्ध काव्य के समान होती है, किंतु माध्यम गद्य होता है। हिंदी में इस प्रकार की रचनाएं रवींद्रनाथ ठाकुर की प्रसिद्ध कृति 'गीतांजलि' के प्रभावस्वरूप लिखी गयीं। राय कृष्णदास (1892-1980), वियोगी हरि (1896-1988), चतुरसेन शास्त्री (1891-1960), दिनेशनंदिनी चौरड्या (1915-2006), माखनलाल चतुर्वेदी (1889-1968)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और डॉ. रघुवीर सिंह (1908-1991) इस विधा के मुख्य कृतिकार हैं। 'साधना' (1917), 'संलाप' (1927), 'प्रवाल' (1929), 'प्रवाह' (1931) और 'छायापथ' (1931) **राय कृष्णदास** के प्रमुख गद्यकाव्य-संग्रह हैं। रहस्योन्मुख, प्रकृतिपरक एवं भावात्मक रचनाओं का प्रणयन इनकी निजी विशेषता है, जिसके लिए इन्होंने परिमार्जित तथा प्रवाहपूर्ण भाषा का आश्रय लिया है। **वियोगी हरि** द्वारा प्रस्तुत युग में रचित मुख्य गद्यकाव्य हैं—'तरंगिणी' (1920), 'अंतर्नाद' (1926), 'भावना' (1928) और 'प्रार्थना' (1929)। इनकी रचनाएं मूलतः भक्तिपरक हैं, जिनमें अनेक स्थलों पर राष्ट्रप्रेम का स्वर समवेत् है। सामासिक तथा आनुप्रासिक शब्दावली का प्रयोग करते हुए भावात्मक एवं व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग, इनके लेखन की मुख्य विशेषता है। **आचार्य चतुरसेन शास्त्री** ने 'अंतस्तल' (1921) और 'तरलाग्नि' (1936) द्वारा गद्यकाव्य के भंडार को समृद्ध किया है। उन्होंने मानसिक भावों के विविध रूपों को शब्दबद्ध किया है। स्थानीय शब्दों तथा लोकप्रचलित मुहावरों से युक्त व्यावहारिक भाषा तथा उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग करते हुए वार्तालाप, स्वगत कथन, सूक्त्यामक आदि विषयानुरूप शैलियों का प्रयोग इनकी रचनाशैली की उल्लेखनीय विशेषता है।

हिंदी गद्यकाव्य के विकास में योग देने वाली महिलाओं में **दिनेशनंदिनी चौरड़िया** (डालमिया) सर्वोपरि हैं। 'शबनम' (1933) और 'मौक्तिकमाल' (1937) इनकी उल्लेखनीय कृतियां हैं, जिनमें प्रायः वैयक्तिक सुख-दुःख को कथ्य-रूप में संकलित किया गया है। यद्यपि इनकी रचनाओं में कहीं-कहीं आध्यात्मिकता का स्वर मुखरित होता हुआ दिखायी देता है, किंतु सामान्यतः पार्थिव प्रेम की व्यंजना ही इनका प्रतिपाद्य है। संस्कृत की सामासिक पदावली से ले कर उर्दू-फ़ारसी की शब्दावली से युक्त भाषा तथा भावानुरूप विविध शैलियों का प्रयोग इनकी शिल्पगत विशेषता है। डॉ. रघुवीरसिंह तथा माखनलाल चतुर्वेदी ने भी आलोच्य काल में कुछ स्फुट गद्यकाव्यात्मक रचनाएं लिखीं, किंतु उनका पुस्तकाकार, सुसंबद्ध प्रकाशन छायावादोत्तर काल में हुआ। इस काल के अन्य गद्यकाव्यकारों में शांतिप्रसाद वर्मा, तेजनारायण काक, भंवरलाल सिंधी और रावी उल्लेखनीय हैं। इन्होंने क्रमशः 'चित्रपट' (1932), 'मदिरा' (1935), 'वेदना' (1937) और 'पूजा' (1937) शीर्षक रचनाओं के माध्यम से हिंदी गद्यकाव्य की भावभूमि तथा रचनाशिल्प को समृद्ध किया है। शांतिप्रसाद वर्मा का मूल स्वर आध्यात्मिकता का है तथा उन्होंने अनेकशः प्रकृति में ईश्वर के दर्शन किये हैं। तेजनारायण काक ने अपने संवदेनशील मन के उद्‌गारों को खलील जिब्रान की दृष्टांत-शैली में व्यक्त किया है। भंवरलाल सिंधी की रचनाओं में अज्ञात सत्ता के सान्निध्य की ललक है तथा उसके विरह में प्रतिपल आकुल-व्याकुल रहने वाले मन के विरहोद्‌गारों को लाक्षणिक शब्दों एवं प्रसंगानुकूल, परिमार्जित भाषा-शैली में व्यक्त किया गया है तथा राधास्वामी संप्रदाय में दीक्षित रामप्रसाद विद्यार्थी 'रावी' ने सरल तथा बोधगम्य भाषा में निराकार के प्रति समर्पण के साथ-साथ विश्वकल्याण की कामना व्यक्त की है।

संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि छायावादयुगीन गद्यकाव्य का मूल स्वर प्रेम और प्रकृति से संबद्ध है। प्रेमव्यंजना कहीं रहस्योन्मुख है, तो कहीं मात्र लौकिक। प्रकृति के विविध रूप-सौंदर्य को आधार बना कर भी अनेक रचनाएं लिखी गयीं। सौंदर्यचेतना की यह अभिव्यक्ति इस युग की छायावादी काव्यपद्धति के सर्वथा अनुकूल थी, इसलिए भावुकता, कल्पना, प्रतीकात्मकता, शब्दलालित्य, चित्रात्मकता आदि प्रवृत्तियां काव्य-रचनाओं की भांति गद्यकाव्यों में भी सहज उपलब्ध हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

### पत्र-साहित्य

आलोच्य युग में पत्र-साहित्य के संदर्भ में जो संग्रह प्रकाशित हुए, उनमें 'पत्रांजलि', 'विवेकानंद-पत्रावलि', 'पत्रावलि' तथा 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। 'पत्रांजलि' (1922) का संपादन सतीशचंद्र द्वारा किया गया, तो 'विवेकानंद-पत्रावलि' का प्रकाशन श्री रामकृष्ण आश्रम, देहरादून से हुआ। 'पत्रावलि' नेता जी सुभाषचंद्र बोस द्वारा 1912-1920 के बीच लिखे गये लगभग 153 पत्रों का संग्रह है तथा 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' जवाहरलाल नेहरू द्वारा अंग्रेज़ी में लिखित पत्र-संग्रह का प्रेमचंद द्वारा किया गया हिंदी-अनुवाद है। इन पत्रों में नेहरू जी ने रोचक एवं मर्मस्पर्शिनी शैली में अपनी पुत्री को नानाविध विषयों पर महत्त्वपूर्ण शिक्षा प्रदान की है। शांतिप्रिय आत्माराम ने औरंगजेब के ऐतिहासिक पत्रों का 'आलमगीर के पत्र' (1931) शीर्षक से संपादन किया। पत्र-साहित्य की दिशा में ये प्रकाशन परिमाण में अल्प भले ही हैं, पर इनसे इस विधा के स्वरूप, महत्त्व और इसे प्रोत्साहन देने की आवश्यकता का अनुभव अवश्य होता है।

### अभिनंदन एवं स्मृति-ग्रंथ

व्यक्तिविशेष के गुणों से प्रभावित हो कर उसके प्रति अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करना, मानव-मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। साहित्य-क्षेत्र में इसके लिए जिन माध्यमों का उपयोग किया जाता है, उनमें अभिनंदन एवं स्मृति-ग्रंथों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस दृष्टि से आलोच्य युग में जो ग्रंथ प्रकाशित हुए, उनमें 'महावीरप्रसाद द्विवेदी अभिनंदन-ग्रंथ' (1933) तथा 'गौरीशंकर हीराचंद ओझा अभिनंदन-ग्रंथ' (1934) उल्लेखनीय हैं। इनमें एक ओर क्रमशः महावीरप्रसाद द्विवेदी और गौरीशंकर हीराचंद ओझा के व्यक्तित्व तथा सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्रों में उनकी उपलब्धियों का प्रामाणिक मूल्यांकन किया गया है, और दूसरी ओर इस संदर्भ में समकालीन वाङ्मय पर अधिकारी विद्वानों के लेख भी दिये गये हैं।

## ज्ञान का साहित्य

ज्ञान-साहित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक और विविधतापूर्ण है। यद्यपि विवेच्य काल में भारत में ज्ञान-विज्ञान की कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई, फिर भी विश्वविद्यालयों में प्राकृतिक विज्ञान, समाज-विज्ञान, इंजीनियरिंग, चिकित्सा, विधि आदि का अध्ययन-अध्यापन होने लगा था। दुर्भाग्यवश विश्वविद्यालयों में ही नहीं, स्कूलों में भी साहित्येतर विषयों का अध्ययन-अध्यापन अंग्रेज़ी के माध्यम से होता था, फलतः हिंदी में ज्ञान-साहित्य के निर्माण के मार्ग में अनेक बाधाएं थीं। किंतु स्वाधीनता-संग्राम के संदर्भ में क्षेत्रीय भाषाओं को, विशेषतः हिंदी को, उच्चशिक्षा का माध्यम बनाने के लिए आंदोलन आरंभ हो गया था, जिसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि हिंदी में ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें तैयार करने की ओर अनेक लेखकों का ध्यान गया।

### इतिहास-विषयक ग्रंथ

विवेच्यकाल में इतिहास-विषयक पुस्तकें सबसे अधिक लिखी गयीं, कारण संभवतः राष्ट्रीय चेतना रही हो। हमारा वर्तमान अंधकारमय था, पर अतीत उज्ज्वल था। अतीत का गौरवपूर्ण चित्र सामने रखने के उद्देश्य से इतिहास-ग्रंथों की रचना हुई। ये इतिहास-ग्रंथ कई प्रकार के हैं। कुछ सामान्य इतिहास-ग्रंथ हैं, जैसे मिश्रबंधुओं का 'भारतवर्ष का इतिहास' (1919) तथा जयचंद

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विद्यालंकार-कृत 'भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार' (1925), 'भारतभूमि और उसके निवासी' (1931), 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' (1934) तथा 'इतिहास-प्रवेश' (1938)। हिंदूयुग के इतिहास पर भी अनेक ग्रंथ लिखे गये, जैसे गौरीशंकर हीराचंद ओझा-कृत 'अशोक की धर्मलिपियां' (1923) तथा 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' (1928), आर्यमुनि-कृत 'वैदिक काल का इतिहास' (1925), जनार्दन भट्ट-कृत 'बुद्धकालीन भारत' (1926), बेनीप्रसाद-कृत 'हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता' (1931), महादेव शास्त्री दिवेकर-कृत 'आर्य संस्कृति का उत्कर्षापकर्ष' (1931), राहुल सांकृत्यायन-कृत 'पुरातत्त्व निबंधावली' (1937) आदि। मुस्लिम युग के प्रसिद्ध इतिहास-ग्रंथों में मन्नन द्विवेदी-कृत 'मुसलमानी राज्य का इतिहास' (1920), परमात्माशरण-कृत 'मध्यकालीन भारत' (1935), इंद्र विद्यावाचस्पति-कृत 'मुग़ल-साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' (1938) आदि उल्लेखनीय हैं। ब्रिटिशकाल के इतिहास पर भी कुछ पुस्तकें प्रकाश में आयीं, जिनमें गंगाप्रसाद मिश्र-कृत 'भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य' (1920), सूरजमल जैन-कृत 'मराठे और अंग्रेज़' (1922) तथा ईश्वरीप्रसाद शर्मा-कृत 'सन् सत्तावन का ग़दर' (1924) मुख्य हैं। ब्रिटिशकालीन स्वाधीनता-संग्राम से संबद्ध कुछ पुस्तकें भी लिखी गयीं, जिनमें नवजादिकलाल द्वारा लिखित 'पराधीनों की विजययात्रा' (1934) और मन्मथनाथ गुप्त द्वारा लिखित 'भारत में सशस्त्र क्रांति-चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास' (1937) प्रमुख हैं।

विवेच्य काल में कुछ ऐसे इतिहास-ग्रंथ भी लिखे गये, जिनका संबंध राजवंशों, जातियों, धर्मों तथा विशिष्ट स्थानों से है। ऐसे इतिहास-ग्रंथों में उल्लेखनीय हैं—विश्वेश्वरनाथ रेउ-कृत 'क्षत्रप वंश का इतिहास' (1919) तथा 'भारत में प्राचीन राजवंश' (1926), गोपाल दामोदर तामस्कर-कृत 'मराठों का उत्थान और पतन' (1931), अयोध्याप्रसाद गोयलीय द्वारा लिखित 'जैन वीरों का इतिहास' (1930), भदंत आनंद कौसल्यायन द्वारा लिखित 'बुद्ध और उनके अनुचर' (1937), देवीप्रसाद मुंशी-कृत 'सिंध का इतिहास' (1921), गौरीशंकर हीराचंद ओझा द्वारा लिखित 'राजपूताना का इतिहास' (1925), जगदीशचंद्र गहलोत-कृत 'मारवाड़ राज्य का इतिहास' (1925) आदि। विदेशी इतिहास से संबद्ध कुछ पुस्तकें भी लिखी गयीं, जैसे शंकरराव जोशी-कृत 'रोम-साम्राज्य' (1921), प्यारेलाल गुप्त-कृत 'ग्रीस का इतिहास' (1923), रमाशंकर अवस्थी-कृत 'रूस की राज्यक्रांति' (1920), संपूर्णानंद द्वारा लिखित 'चीन की राज्यक्रांति' आदि। किंतु विवेच्य काल में लिखित इतिहास-ग्रंथों की संख्या सैकड़ों में होने के बावजूद यह स्वीकार करना होगा कि देश के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ अंग्रेज़ी में ग्रंथों की रचना करते थे। हिंदी में लिखित इतिहास-ग्रंथ अधिकतर परिचयात्मक ढंग के हैं। केवल गौरीशंकर हीराचंद ओझा ही ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने इतिहास और प्राच्यविद्या के प्रकांड पंडित और अंग्रेज़ी के अच्छे ज्ञाता होते हुए भी, हिंदी में भी इतिहास-ग्रंथ लिखे।

## राजनीति एवं प्रशासन-विषयक ग्रंथ

इस काल में राजनीतिक चेतना पर्याप्त प्रबुद्ध थी, अतः राजनीतिक और प्रशासन-विषयक पुस्तकें भी प्रकाश में आयीं। यद्यपि परिमाण और स्तर दोनों ही दृष्टियों से इनका स्तर काफ़ी सामान्य था। विवेच्य काल में प्रकाशित कुछ पुस्तकों के नाम हैं—प्राणनाथ विद्यालंकार-कृत 'राजनीतिशास्त्र' (1922), सुखसंपतिराय भंडारी-कृत 'राजनीतिविज्ञान' (1929), गोपाल दामोदर तामस्कर-कृत 'राज्यविज्ञान' (1929), शेषमणि त्रिपाठी-कृत 'अकबर की राज्यव्यवस्था' (1921), रामप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'भारतीय शासन-विकास' (1936) आदि।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## भूगोल और देश-परिचय

शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी होने तथा कोई इतर प्रेरणा न होने के कारण हिंदी में भूगोल-विषयक पुस्तकें न के बराबर लिखी गयीं। इस संदर्भ में रामनारायण मिश्र-कृत 'भू-परिचय' (1930) तथा शंकरसहाय सक्सेना-कृत 'औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल' (1933) जैसी दो-एक पुस्तकें ही मिलती हैं। किंतु देश-विदेश का परिचय देने वाली पुस्तकों की रचना अधिक संख्या में हुई। इनमें लाला हरदयाल-कृत 'जर्मनी और तुर्की में 44 मास' (1921), बालमुकुंद गुप्त-कृत 'बनारस' (1924), पूरनचंद नाहर-कृत 'जैसलमेर' (1928), सीताराम लाल-कृत 'चित्रकूट की झांकी' (1930), श्रीगोपाल नेवटिया-कृत 'कश्मीर' (1934), प्रभुदयाल मेहरोत्रा-कृत 'आधुनिक रूस' (1934), राहुल सांकृत्यायन-कृत 'लंका' (1935), 'ईरान' (1937) और 'सोवियत भूमि' (1938) आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

## अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र आधुनिक युग का बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय है और आज इसकी अनेक शाखा-प्रशाखाएं विकसित हो चुकी हैं। पाश्चात्य देशों में अर्थशास्त्र का बहुमुखी और गंभीर अध्ययन हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप वहां का अर्थशास्त्र-साहित्य बहुत ही समृद्ध है। भारत इस दृष्टि से आज भी बहुत पिछड़ा हुआ है, विवेच्य काल की तो बात ही व्यर्थ है। फिर भी हिंदी में कुछ पुस्तकों की रचना हुई, जिनमें अमरनाथ बाली-कृत 'भारतीय अर्थशास्त्र' (1923), प्राणनाथ विद्यालंकार-कृत 'भारतीय संपत्तिशास्त्र' (1923), भगवानदास केला-कृत 'भारतीय अर्थशास्त्र' (1925), शंकरसहाय सक्सेना-कृत 'भारतीय सहकारिता का आंदोलन' (1925), ब्रजगोपाल भटनागर-कृत 'ग्रामीण अर्थशास्त्र' (1933) आदि उल्लेखनीय हैं। ध्यान देने की बात है कि अर्थशास्त्र के सिद्धांत-पक्ष पर एक भी पुस्तक इस काल में नहीं लिखी गयी।

## धर्म और दर्शन

विवेच्य काल में वेदांत, भक्ति, योग, विशिष्ट धर्म, नीति आदि विषयों से संबद्ध पुस्तकें भी थोड़ी-बहुत लिखी गयीं। गुलाबराय-कृत 'कर्तव्यशास्त्र' (1919), प्रसिद्धनारायण सिंह-कृत 'योगत्रयी' (1920) तथा 'हठयोग' (1923), गोवर्द्धनलाल-कृत 'नीतिविज्ञान' (1923), ज्वालाप्रसाद सिंघल-कृत 'कैवल्यशास्त्र' (1924), गंगाप्रसाद उपाध्याय-कृत 'अद्वैतवाद' (1928), वियोगी हरि-कृत 'प्रेमयोग' (1929), महामहोपाध्याय गंगानाथ झा-कृत 'धर्म कर्म रहस्य' (1929), शीतलप्रसाद ब्रह्मचारी-कृत 'जैन-बौद्ध तत्त्वज्ञान' (1934), रामदास गौड़-कृत 'हिंदुत्व' (1938) आदि इस काल की कुछ उल्लेखनीय पुस्तकें हैं।

## शिक्षा-विषयक ग्रंथ

द्विवेदी-युग में शिक्षा विषयक पुस्तकें न के बराबर लिखी गयी थीं, किंतु आलोच्य युग में शिक्षा-सिद्धांत, शिक्षा-मनोविज्ञान, विशिष्ट शिक्षा-विज्ञान और शिक्षा की समस्याओं पर कतिपय पुस्तकें प्रकाश में आयीं, जिनमें गोपाल दामोदर तामस्कर-कृत 'शिक्षा-मीमांसा' (1925), चंद्रशेखर शास्त्री-कृत 'कन्या-शिक्षा' (1928), कन्हैयालाल-कृत 'राष्ट्रीय शिक्षा का इतिहास और उसकी वर्तमान अवस्था' (1929), भैरवनाथ झा-कृत 'मनोविज्ञान और शिक्षाशास्त्र' (1932), चंद्रावती लखनपाल-कृत 'शिक्षा-मनोविज्ञान' (1934), लज्जाशंकर झा-कृत 'शिक्षा और स्वराज्य' (1934),

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गोपीलाल माथुर-कृत 'शिक्षा विधि', कालिदास कपूर-कृत 'शिक्षा-मीमांसा' (1937) आदि उल्लेखनीय हैं।

## विज्ञान-विषयक ग्रंथ

विज्ञान विषयक पुस्तकें इस काल में और भी कम संख्या में लिखी गयीं। इसका कारण भी भारत में वैज्ञानिक प्रगति का धीमापन और शिक्षा के माध्यम के रूप में हिंदी की उपेक्षा ही था। फिर भी गणित, भौतिकी, रसायनशास्त्र, ज्योतिष, वनस्पतिशास्त्र, जैविकी आदि विषयों पर कुछ पुस्तकें उपलब्ध हैं—तेजशंकर कोचक-कृत 'पैमाइश' (1919, गणित), सुखसंपतिराय-कृत 'ज्योतिर्विज्ञान' (1920), निहालकरण सेठी-कृत 'प्रारंभिक भौतिकी विज्ञान' (1930), सत्यप्रकाश-कृत 'बीज ज्यामिति' (1931), शुकदेव पांडेय-कृत 'त्रिकोणमिति' (1935), जगदानंद राय-कृत 'गृह-नक्षत्र' (1925), गोरखप्रसाद-कृत 'सौर परिवार' (1932), केशव अनंत पटवर्धन-कृत 'वनस्पति शास्त्र' (1928), प्रवासीलाल-कृत 'वृक्ष विज्ञान' (1929), मुकुटबिहारी वर्मा-कृत 'जीवन विकास' (1930), प्रभुदयाल मिश्र-कृत 'जीवनविज्ञान' (1933) आदि।

## भाषा, लिपि और व्याकरण संबंधी रचनाएं

इस काल में हिंदी-भाषा, लिपि और व्याकरण-संबंधी कुछ अच्छी पुस्तकें प्रकाश में आयीं। हिंदी-भाषा-संबंधी पुस्तकों में गौरीशंकर शुक्ल-कृत 'राष्ट्रभाषा हिंदी' (1920), रामनरेश त्रिपाठी-कृत 'हिंदी हिंदुस्तानी' (1922), श्यामसुंदरदास-कृत 'भाषाविज्ञान' (1924) और 'भाषारहस्य' (1936), मंगलदेव शास्त्री-कृत 'तुलनात्मक भाषाशास्त्र' (1926), पद्मसिंह शर्मा-कृत 'हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी' (1932) आदि उल्लेखनीय हैं। लिपि-विषयक पुस्तकों में नगेंद्रनाथ वसु-कृत 'भारतीय लिपि तत्त्व' (1924), गौरीशंकर हीराचंद ओझा-कृत 'नागरी अंक और अक्षर' (1926), गौरीशंकर भट्ट-कृत 'अक्षर तत्त्व' (1936) आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इसी भांति व्याकरण-ग्रंथों में कामताप्रसाद गुरु-कृत 'हिंदी-व्याकरण' (1920), धीरेंद्र वर्मा-कृत 'ब्रजभाषा-व्याकरण' (1937) और पारसमणि प्रधान-कृत 'नेपाली-हिंदी-व्याकरण' (1920) उल्लेख योग्य हैं।

## कोश-ग्रंथ

विवेच्य काल में विद्वानों का ध्यान कोश-ग्रंथों के निर्माण की ओर भी गया। श्यामसुंदरदास, बालकृष्ण भट्ट, रामचंद्र शुक्ल, रामचंद्र वर्मा आदि के संपादकत्व में हिंदी का महत्त्वपूर्ण शब्दकोश 'हिंदी-शब्दसागर' दस खंडों में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त रामनरेश त्रिपाठी-कृत 'हिंदी-शब्दकल्पद्रुम' (1925), मुकुंदीलाल श्रीवास्तव-कृत 'हिंदी-शब्द-संग्रह' (1930), रामचन्द्र प्रसाद त्रिपाठी द्वारा संपादित 'ज्ञानकोश' (1934), रामशंकर शुक्ल 'रसाल'-कृत 'भाषा-शब्दकोश' (1937), शिवन्न शास्त्री-कृत 'हिंदी-तेलुगुकोश' (1922), हरिहर शर्मा-कृत 'हिंदी-तमिल-कोश' (1925), नारायण तभना जी कहगरे-कृत 'हिन्दी-मराठी-कोश', (1929), रामनरेश त्रिपाठी का 'हिंदुस्तानी-कोश' (1931), जम्बुनाथन का 'उर्दू-हिंदी-कोश' (1936), श्रीकृष्ण शुक्ल-कृत 'हिंदी पर्यायवाची-कोश' (1935), हरगोविंददास सेठ का 'पाइअ सद्द महान्नवो' (1926) शीर्षक प्राकृत-कोश आदि इसी काल की उपलब्धियां हैं। मुहावरों और लोकोक्तियों के भी कतिपय कोश प्रकाशित हुए, जिनमें रामदहिन मिश्र का 'हिंदी-मुहावरे'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(1924), बहादुरचंद्र का 'लोकोक्तियां और मुहावरे' (1932), जम्बुनाथन का 'हिंदी-मुहावराकोश' (1935), आर.जे. सरहिंदी का 'हिंदी-मुहावराकोश' (1937), ब्रह्मस्वरूप 'दिनकर' का 'हिंदी-मुहावरे' (1938) आदि उल्लेखनीय हैं। कतिपय अन्य प्रकार के भी कोशग्रंथ प्रकाशित हुए, जैसे—केशवप्रसाद मिश्र-कृत 'वैद्युत शब्दावली' (1925), भगवानदास केला-कृत 'राजनीतिक शब्दावली' (1927), गुरुप्रसाद-कृत 'रत्नावली' (संस्कृत के धार्मिक तथा दार्शनिक शब्दों का कोश, 1927), गदाधरप्रसाद-कृत 'अर्थशास्त्र-शब्दावली' (1932) आदि।

ज्ञान-साहित्य के अंतर्गत उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त विवेच्य काल में संगीतकला, चित्रकला, वक्तृता, चित्रपट, कृषि, बाग़वानी, मधुमक्खी-पालन, वस्त्रशिल्प, मूर्तिकला, सिलाई, वास्तुशिल्प, व्यापारकला, युद्धकला, खेलकूद, आयुर्वेद, एलोपैथी, होमियोपैथी, प्राकृतिक चिकित्सा, पशु-चिकित्सा आदि पर भी पुस्तकें प्रकाशित हुईं।[7] कुल मिला कर यद्यपि इस युग का ज्ञान-साहित्य समृद्ध नहीं माना जा सकता, पर परिस्थितियों की प्रतिकूलता को देखते हुए इसे नितांत निराशाजनक भी नहीं कहा जा सकता। बिना किसी सरकारी संरक्षण और पोषण के या यों कहें कि सरकार द्वारा घोर उपेक्षा के बावजूद हिंदी में इतनी पुस्तकें प्रकाशित हुईं, यह हिंदी-भाषा के अनुरागियों के पुरुषार्थ का प्रतीक है।

## पत्र-पत्रिकाएं

साहित्य के इतिहास में पत्र-पत्रिकाओं का विशेष महत्त्व होता है। साहित्य की नयी प्रवृत्तियां, उसमें होने वाले प्रयोग और नूतन दृष्टिकोण सर्वप्रथम पत्रिकाओं के माध्यम से ही अभिव्यक्ति पाते हैं। समीक्ष्य काल में विविध प्रकार की पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित होती रहीं, जिनसे पाठकों की अभिरुचि को समझने में सहायता मिलती है। मासिक पत्रिकाओं में सरस्वती, मर्यादा और स्त्री-दर्पण का तो पहले की भांति ही इस काल में भी प्रकाशन होता रहा तथा चांद, प्रभा, माधुरी, सुधा, विशाल भारत, हंस आदि भी परिगणनीय पत्रिकाएं रहीं। 'सरस्वती' के इस अवधि में प्रकाशित अंकों में भी अधिकतर महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा निर्धारित पद्धति का ही निर्वाह हुआ, फलतः प्रायः सभी प्रमुख साहित्यकारों की रचनाओं से अलंकृत होने पर भी उसमें सच्चे अर्थों में नये युगबोध, विशेषतः छायावाद के साथ तालमेल नहीं मिलता। 'मर्यादा' का प्रकाशन 1923 तक हुआ। इसका संपादन पहले कृष्णकांत मालवीय ने, फिर बाबू संपूर्णानंद ने और कुछ समय के लिए प्रेमचंद ने किया था। इसमें साहित्य, समाजशास्त्र और राजनीति-विषयक विद्वत्तापूर्ण लेख ही नहीं, बल्कि कहानियां, कविताएं और उपन्यास भी प्रकाशित होते थे। रामेश्वरी नेहरू के संपादकत्व में प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'स्त्री-दर्पण' (प्रयाग) में नारी-समस्याओं पर लेखादि के अतिरिक्त महिलाओं की रचनाओं को प्राथमिकता प्राप्त रहती थी।

'चांद' (प्रयाग) का प्रकाशन आरंभ में 1920 में साप्ताहिक पत्र के रूप में हुआ था, किंतु 1923 से रामरख सहगल और चंडीप्रसाद 'हृदयेश' के संपादन में इसका प्रकाशन मासिक पत्रिका के रूप में हुआ। इसमें नारी-विषयक समस्याओं तथा लेखिकाओं को प्राथमिकता मिलती थी। इस काल की दूसरी प्रमुख पत्रिका 'प्रभा' (कानपुर) बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के संपादकत्व में निकलती थी। इसमें साहित्य की सभी विधाओं को स्थान प्राप्त रहता था। 'प्रभा' में ही 'भावों की भिड़ंत' नामक वह ऐतिहासिक लेख प्रकाशित हुआ, जिसमें यह सिद्ध किया गया था कि निराला की बहुत-सी कविताएं रवींद्रनाथ ठाकुर की कविताओं की नक़ल हैं। इस लेख ने तत्कालीन साहित्य-जगत में हलचल मचा दी थी। 'माधुरी' (लखनऊ) का प्रकाशन 1922 में आरंभ हुआ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जाहिरा तौर पर तो इसके संपादक दुलारेलाल भार्गव थे, पर वास्तविक संपादन रूपनारायण पांडेय और कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा किया जाता था। कुछ दिनों के लिए प्रेमचंद और शिवपूजन सहाय का आगमन भी इसके संपादकीय विभाग में हुआ, पर वे यहां टिक न पाये। 'माधुरी' उन कुछ थोड़ी-सी पत्रिकाओं में थी, जिनसे छायावाद को समर्थन मिला था। दूसरी ओर आरंभ में छायावाद पर आक्रमण करने वाली पत्रिकाओं में 'सुधा' (लखनऊ) संभवत: सबसे आगे थी, पर बाद में इसके संपादकीय विभाग में 'निराला' का प्रवेश हुआ, जिन्होंने इसके साहित्यिक स्वरूप को सर्वथा बदल दिया। इसने तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलन के समर्थन, अंग्रेज़ी के स्थान पर भारतीय भाषाओं की प्रतिष्ठा तथा हिंदी-साहित्य की चतुर्दिक उन्नति के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

हिंदी-जगत का सबसे लोकप्रिय मासिक 'कल्याण' सन् 1925 में प्रकाशित होना आरंभ हुआ। इसका उद्देश्य था—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार का उपदेश देना और आज भी इसके द्वारा यह कार्य संपन्न हो रहा है। इसके विशेषांक धार्मिक साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। विवेच्य काल की मासिक पत्रिकाओं में 'विशाल भारत' (कलकत्ता) भी उल्लेखनीय है। इसका प्रकाशन 1928 में बनारसीदास चतुर्वेदी के संपादन में आरंभ हुआ था, बाद में इसके संपादन-विभाग में कुछ समय के लिए 'अज्ञेय' ने भी कार्य किया। 'विशाल भारत' में उच्चकोटि की साहित्यिक रचनाएं प्रकाशित होती थीं। इसके 'कला अंक' को विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई। चतुर्वेदी जी के संपादन में 'विशाल भारत' अपने समय का एक बहुत ही तेजस्वी और जागरूक पत्र बन गया था। छायावाद और विशेष कर 'निराला' के संबंध में उनकी दृष्टि बहुत ही अनुदार थी। 'उग्र' के कथा-साहित्य को 'घासलेटी' संज्ञा दे कर उन्होंने उनके विरुद्ध बड़ा भारी साहित्यिक आंदोलन खड़ा किया था। इसी प्रकार प्रेमचंद द्वारा संपादित 'हंस' (बनारस, 1930) भी तत्कालीन साहित्यिक गतिविधियों का महत्त्वपूर्ण माध्यम बनने में समर्थ हुआ था। प्रकाशित होते ही 'हंस' समकालीन हिंदी-कथा-साहित्य का प्रतिनिधि पत्र बन गया। कथा-साहित्य के अतिरिक्त इसमें उच्चकोटि की कविताएं, एकांकी, निबंध और आलोचनाएं भी प्रकाशित होती थीं। प्रेमचंद की मृत्यु के बाद शिवदानसिंह चौहान, अमृतराय आदि ने 'हंस' का संपादन किया। यह इस युग का एक जागरूक मासिक पत्र था।

आलोच्य काल के अन्य मासिक पत्रों में 'आदर्श', 'मौजी', 'समन्वय', 'सरोज', 'साहित्य-संदेश' आदि भी उल्लेखनीय हैं। 'आदर्श' और 'मौजी' शिवपूजन सहाय के संपादकत्व में कलकत्ता से प्रकाशित हुए थे। इनमें हिंदू-मुस्लिम एकता, नारी-समस्या, राष्ट्रभाषा की समस्या आदि विषयों पर टिप्पणियां और लेख तथा निराला आदि की कविताएं प्रकाशित होती थीं। 'समन्वय' का प्रकाशन 1922 में रामकृष्ण मिशन के स्वामी माधवानंद के संपादन में आरंभ हुआ, बाद में निराला जी की नियुक्ति इसके संपादन-विभाग में हुई। इसमें धार्मिक, आध्यात्मिक और सामाजिक विषयों की प्रधानता होने पर भी उच्चकोटि की साहित्यिक सामग्री प्रकाशित हुआ करती थी। 'सरोज' (कलकत्ता) का प्रकाशन 1928 में नवजादिकलाल श्रीवास्तव के संपादकत्व में आरंभ हुआ। यह मुख्यत: साहित्यिक पत्र था जिसमें तत्कालीन प्रमुख लेखकों की विभिन्न विधाओं की रचनाएं रहती थीं। जुलाई, 1937 में गुलाबराय के संपादकत्व में 'साहित्य-संदेश' (आगरा) का प्रकाशन आरंभ हुआ। यह शुद्ध आलोचनात्मक पत्र था।

मासिक पत्रों के साथ-साथ विवेच्य काल में अनेक ऐसे साप्ताहिक और पाक्षिक पत्र निकले जिनका साहित्य के इतिहास में महत्त्पूर्ण स्थान है। इनमें 'मतवाला', 'जागरण' और 'भारत' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये तीनों ही पत्र नवीन काव्यचेतना को वाणी देने में अग्रसर रहे।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'मतवाला' 1923 ई. में कलकत्ता से निकला, उसके घोषित संपादक तो महादेवप्रसाद सेठ थे, पर इसके संपादन-विभाग में शिवपूजन सहाय, नवजादिकलाल श्रीवास्तव और निराला भी थे। यह हिंदी का पहला हास्य-व्यंग्यप्रधान साप्ताहिक था। यद्यपि यह प्रधानतः साहित्यिक पत्र था, पर सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं की भी इसने कभी उपेक्षा नहीं की। ब्रिटिश सरकार की नीतियों की इसमें तीखी आलोचना हुआ करती थी। शिवपूजन सहाय के संपादकत्व में प्रकाशित 'जागरण' (बनारस) इस काल का दूसरा प्रमुख साहित्यिक साप्ताहिक था। यह छायावाद का घोर पक्षधर था, फलतः इसमें अन्य रचनाओं के साथ-साथ छायावादी रचनाएं भी बहुसंख्या में प्रकाशित हुआ करती थीं। 1932 में इसे प्रेमचंद का संरक्षण प्राप्त हुआ, किंतु 1934 में इसका प्रकाशन बंद हो गया। इस बीच प्रेमचंद ने इसमें राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर जो टिप्पणियां लिखीं, वे बहुत ही पैनी और महत्त्वपूर्ण हैं। छायावाद का समर्थक इस अवधि का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पत्र था—अर्धसाप्ताहिक 'भारत' (इलाहाबाद)। यह नंददुलारे वाजपेयी के संपादकत्व में निकलता था। वाजपेयी जी छायावाद के विरोधियों की गिन-गिन कर ख़बर लेते थे। उन्होंने प्रसाद, निराला, पंत आदि की कविताओं के समर्थन में भी अनेक टिप्पणियां प्रकाशित की थीं।

विवेच्य काल के अन्य साप्ताहिकों में 'हिंदी नवजीवन', 'कर्मवीर', 'देश', 'सेनापति', 'हिंदू पंच' और 'श्रीकृष्ण-संदेश' मुख्य हैं। 'हिंदी नवजीवन' (अहमदाबाद, 1921) के संपादक महात्मा गांधी थे। इसने तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक चेतना को वाणी देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। 1920 में ही पटना से डॉ. राजेंद्रप्रसाद के संपादन में प्रकाशित 'देश' भी राजनीतिक पत्र था। 'कर्मवीर' (जबलपुर) माखनलाल चतुर्वेदी और माधवराव सप्रे के संरक्षण-संपादन में प्रकाशित हुआ। यह राजनीतिक के साथ-साथ साहित्यिक पत्र भी था। लक्ष्मणनारायण गर्दे द्वारा संपादित 'श्रीकृष्ण-संदेश' (कलकत्ता, 1925) भी इस युग का प्रसिद्ध पत्र था, जिसमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक आदि विषयों पर टिप्पणियों तथा समाचारों का संग्रह रहा करता था। 1926 में कलकत्ता से रामगोविंद त्रिवेदी के संपादकत्व में 'सेनापति' नामक साप्ताहिक निकला। इसमें प्रकाशित रचनाएं मूलतः राष्ट्रीयता से अनुप्राणित रहती थीं। 1926 में मुकुंदलाल वर्मा के संपादन में 'हिंदू पंच' का प्रकाशन हुआ। इसमें अछूतोद्धार-समाज-सुधार, हिंदी-प्रचार आदि विषयों पर टिप्पणियां और लेख प्रचुरतापूर्वक प्रकाशित हुआ करते थे। बाद में जब नवजादिकलाल श्रीवास्तव इसके संपादक नियुक्त हुए तो इसमें व्यंग्य-विनोदपूर्ण टिप्पणियां भी प्रकाशित होने लगीं।

साहित्यिक दृष्टि से यद्यपि दैनिक पत्रों का महत्त्व कम होता था, पर पत्र-पत्रिकाओं के इतिहास में उनकी चर्चा अप्रासंगिक नहीं होगी। विवेच्यकाल के पूर्व हिंदी में दैनिक-पत्र नहीं के बराबर थे, और जो थे, वे अनियमित होने के साथ-साथ अंग्रेज़ी पत्रों की तुलना में बहुत साधारण थे। द्विवेदी-युग में एकमात्र उल्लेखनीय दैनिक-पत्र 'भारतमित्र' था, जिसके संपादक अंबिकाप्रसाद वाजपेयी ने 1919 में उससे संबंध-विच्छेद कर लिया और लक्ष्मणनाराण गर्दे उसके संपादक नियुक्त हुए। 'भारतमित्र' का प्रकाशन 1935 तक हुआ। यह हिंदी का पहला सुसंगठित दैनिक था और अपनी सीमाओं के बावजूद इसे हिंदी में दैनिक-पत्रों की परंपरा का सूत्रपात करने का श्रेय प्राप्त है। विवेच्यकाल के सर्वाधिक तेजस्वी दैनिक 'दैनिक विश्वमित्र' और 'आज' थे। 'दैनिक विश्वमित्र' का प्रकाशन 1916 में आरंभ हुआ। इसके समाचारों में ताज़गी और मौलिकता का समावेश रहता था। इसमें समसामयिक समस्याओं पर स्वतंत्र लेख और टिप्पणियां भी प्रकाशित होती थीं। 'आज' 1920 में वाराणसी से निकला। यह कई दृष्टियों से हिंदी का सर्वश्रेष्ठ दैनिक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

था। श्रीप्रकाश, बाबूराव विष्णुराव पराड़कर, कमलापति त्रिपाठी जैसे व्यक्तियों के सक्रिय सहयोग के फलस्वरूप 'आज' ने स्वाधीनता-संग्राम के लिए जनमत तैयार करने के साथ-साथ साहित्यिक गतिविधियों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस युग के अन्य दैनिक-पत्रों में 'कलकत्ता-समाचार' और 'स्वतंत्र' का उल्लेख किया जा सकता है। 'कलकत्ता-समाचार' अमृतलाल चतुर्वेदी के संपादन में 1914 से ही प्रकाशित होता आ रहा था। उधर 'भारतमित्र' से संबंध-विच्छेद के उपरांत अंबिकाप्रसाद वाजपेयी ने 1920 में 'स्वतंत्र' (कलकत्ता) का प्रकाशन आरंभ किया, जो 1930 तक जीवित रहा। गांधी जी के असहयोग-आंदोलन का समर्थन करने वाले पत्रों में यह अग्रणी था।

## मूल्यांकन

छायावादयुगीन गद्य-साहित्य पर विहंगम दृष्टि-निक्षेप करने पर हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि इस युग में गद्य की विभिन्न विधाओं की अभूतपूर्व उन्नति हुई। प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद तथा रामचंद्र शुक्ल इस युग के ऐसे कृतिकार हैं, जिन्होंने एकाधिक गद्य-विधाओं को समृद्ध करने में उल्लेखनीय योग दिया। कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंद का आगमन क्रांतिकारी परिवर्तन का सूचक सिद्ध हुआ। 'सेवासदन' के प्रकाशन से कल्पनातिरंजित कथानक के परित्याग की जो प्रवृत्ति 1918 में आरंभ हुई, वह इस काल के अनेक लेखकों के लिए दिशा-निर्देशक सिद्ध हुई। इसलिए इस युग के लगभग सभी उपन्यासकारों और कहानी-लेखकों ने युग-जीवन को वाणी प्रदान करने का भरपूर प्रयत्न किया। नाट्यरचना के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद ने पाठकों के हृदय में आत्मगौरव, उत्साह एवं प्रेरणा का संचार करने के लिए देश के अतीतकालीन गौरवपूर्ण इतिहास को प्रतिपाद्य के रूप में अपनाया, तो लक्ष्मीनारायण मिश्र ने समस्यामूलकता और मानसिक अंतर्द्वंद्व का सफल अंकन किया। किंतु संपूर्ण नाटकों की तुलना में इस अवधि के एकांकी नाटक परिमाण और उपलब्धि—दोनों दृष्टियों से विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं, उनका महत्त्व परवर्ती एकांकीकारों के लिए पृष्ठभूमि उपस्थित करने की दृष्टि से ही मान्य हो सकता है। इसके विपरीत निबंध-रचना के क्षेत्र में पर्याप्त विषयवैविध्य, भाषागत प्रौढ़ता तथा शैलीगत विविधता-दृष्टिगत होती है। आचार्य शुक्ल ने मानव-मन की विभिन्न अवस्थाओं की मनोवैज्ञानिक विवेचना करने वाले निबंधों के साथ-साथ उत्कृष्ट कोटि के विचारात्मक निबंधों की भी रचना की। हिंदी-आलोचना के क्षेत्र में उनका योगदान और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने ही पहली बार कवियों की आंतरिक विशेषताओं के उद्घाटन और अन्वेषण का मार्ग अपनाया तथा पौर्वात्य काव्यसिद्धांतों के साथ-साथ पाश्चात्य आलोचनादृष्टि से भी प्रेरणा ग्रहण की। जीवनी, यात्रावृत्त, संस्मरण, गद्यकाव्य आदि गौण समझी जाने वाली विधाओं ने भी इस युग में नये आयाम प्राप्त किये। गद्यकाव्य तो सर्वथा इसी युग में अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित हुआ। समग्रतः यह कहा जा सकता है कि छायावाद-युग काव्य-क्षेत्र में ही नहीं, गद्य-साहित्य की दृष्टि से भी पर्याप्त समृद्ध है और यह समृद्धि तथा गुण दोनों ही रूपों में ध्यान आकृष्ट करता है।

## संदर्भ

1. यद्यपि इन कृतियों का प्रकाशन छायावादोत्तरकाल में हुआ, किंतु इनमें उनकी छायावादयुगीन कविताएं भी संकलित हैं। —संपादक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

2. हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृ. 603-604
3. वही, पृ. 681
4. वही, पृ. 720
5. आधुनिक हिंदी नाटक, पृ. 44
6. देखिए : श्यामसुंदर (हिंदी भाषा और साहित्य, 1930), रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (हिंदी-साहित्य का इतिहास, 1931), ब्रजरत्नदास (हिंदी-साहित्य का इतिहास, 1933), अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (हिंदी भाषा और उसके साहित्य का विकास, 1934), कृष्णशंकर शुक्ल (आधुनिक हिंदी-साहित्य का इतिहास, 1934), सूर्यकांत शास्त्री (हिंदी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास,1938) आदि के इतिहासग्रंथ तथा रामचंद्र द्विवेदी (तुलसी-साहित्य-रत्नाकर, 1929), श्यामसुंदरदास (गोस्वामी तुलसीदास, 1933), रामनरेश त्रिपाठी (तुलसी और उनकी कविता, 1938) आदि के गोस्वामी तुलसीदास विषयक ग्रंथ।
7. पुस्तकों की सूची के लिए देखिए 'हिंदी-पुस्तक-साहित्य', डॉ. माताप्रसाद गुप्त।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अध्याय : 17

# छायावादोत्तर काल

## काव्यधारा

छायावादोत्तर काल की रचनाओं की परीक्षा करने पर यह प्रतीत होता है कि प्रस्तुत कालावधि के काव्य-साहित्य की अनेक प्रवृत्तियां हैं। इस बीच का इतिहास कई वादों और धाराओं से हो कर गुजरा है। कई जीवन-दृष्टियां तथा काव्य की वस्तु और शिल्प-संबंधी मान्यताएं उभरी हैं। किसी धारा में व्यक्तिगत अनुभूति का घनत्व अधिक है, तो किसी में सामाजिक अनुभूति की स्फीति। किसी में रोमानी दृष्टि की प्रधानता है, तो किसी में बौद्धिक यथार्थवादी दृष्टि की। कृतियों के आधार पर यदि हम इन अनेक दृष्टियों, मान्यताओं और रचनारूपों का वर्गीकरण करें तो स्पष्ट रूप से पांच-छह काव्यधाराएं उभर कर आती लक्षित होती हैं। उन्हें राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, क्रमागत छायावादी काव्यधारा या उत्तर-छायावाद, वैयक्तिक गीतिकाव्य, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता कहा जा सकता है। इनमें से पहली दो धाराएं नयी नहीं हैं। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा भारतेंदु-काल से प्रारंभ हो कर द्विवेदी-काल, छायावाद-काल को पार करती हुई इस काल की कविताओं में समकालीन प्रश्नों, स्वरों से संयुक्त हो कर और भी उदार और वैविध्यपूर्ण हो गयी। छायावादी काव्यधारा छायावाद-काल में अपना पूर्ण उत्कर्ष प्राप्त कर चुकी थी और परंपरा के निर्वाह-सी इस काल में भी बहती हुई दिखायी पड़ती है। शेष धाराएं प्रस्तुत काल की ही उपज हैं। वे अपने-अपने ढंग से ऐतिहासिक अनिवार्यता के गर्भ से फूटी हैं।

प्रस्तुत युग में कुछ कृतियां ऐसी भी हैं, जिनमें एक ही साथ कई धाराएं दिखायी पड़ती हैं। इन्हें भले ही किसी एक वर्ग में न रखा जा सके, किंतु ये इस बीच उभरने वाली एकाधिक काव्य-प्रवृत्तियों का निर्देश तो करती ही हैं। किंतु इनके अतिरिक्त शेष कृतियां स्पष्ट रूप से किसी-न-किसी धारा या प्रवृत्ति का स्वरूप निर्धारित करती हैं। इनका वर्गीकरण करें तो चित्र कुछ इस प्रकार होगा—'नहुष', 'कुणालगीत', 'अजीत', 'जयभारत' (मैथिलीशरण गुप्त), 'माता', 'समर्पण', 'युगचरण' (माखनलाल चतुर्वेदी), 'अपलक', 'क्वासि', 'विनोबा-स्तवन', 'हम विषपायी जनम के' (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'), 'नकुल', 'नोआखाली', 'जयहिंद', 'आत्मोत्सर्ग', 'उन्मुक्त', 'गोपिका' (सियारामशरण गुप्त), 'हुंकार', 'द्वंद्वगीत', 'कुरुक्षेत्र', 'इतिहास के आंसू', 'रश्मिरथी', 'धूप और धुआं', 'दिल्ली' (दिनकर), 'वासवदत्ता', 'भैरवी', 'कुणाल', 'चित्रा', 'युगाधार' (सोहनलाल द्विवेदी), 'सूत की माला' (बच्चन), 'हल्दीघाटी', 'जौहर' (श्यामनारायण पांडेय),'विक्रमादित्य' (गुरुभक्तसिंह 'भक्त'), 'विसर्जन', 'मानसी', 'अमृत और विष', 'युगदीप', 'यथार्थ और कल्पना', 'एकला चलो रे', 'विजयपथ' (उदयशंकर भट्ट), 'काल-दहन', 'तप्तगृह', 'कैकेयी', 'दानवीर कर्ण' (केदारनाथ मिश्र प्रभात) **राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा** की कृतियां हैं। इनमें 'गोपिका', 'अपलक', 'क्वासि' और 'चित्रा' ऐसी कृतियां हैं, जिनमें राष्ट्रीय स्वर गौण है, प्रेम का स्वर प्रधान है। 'तुलसीदास', 'अणिमा', 'अर्चना', 'आराधना' (निराला), 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि',

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'मधुज्वाल', 'युगपथ', 'उत्तरा', 'रजतशिखर', 'शिल्पी', 'अतिमा', 'कला और बूढ़ा चांद', 'लोकायतन' (सुमित्रानंदन पंत), 'दीपशिखा' (महादेवी वर्मा), 'रूप-अरूप', 'शिप्रा', 'मेघगीत', 'अवन्तिका' (जानकीवल्लभ शास्त्री) **उत्तर-छायावाद** की कृतियां हैं। 'अणिमा' में कुछ कविताएं राष्ट्रीय और सांस्कृतिक व्यक्तित्वों पर भी हैं। पंत जी की इस काल की सभी उत्तर-छायावादी कृतियों में सांस्कृतिक स्वर सुनायी पड़ता है। भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के समन्वय की एक बेचैनी इनमें बराबर लक्षित होती है। इस तरह इन कृतियों का मूल स्वर तो छायावाद है, किंतु विषय की दृष्टि से इन्हें अन्यान्य धाराओं से भी जोड़ा जा सकता है।

रोमानी धारा में आने वाली, किंतु छायावाद से अलग, ऐसी अनेक कृतियां हैं, जो एक नयी प्रवृत्ति को सूचित करती हैं, जिसे **वैयक्तिक प्रगीत-कविता** कहा जा सकता है। इस प्रवृत्ति के अंतर्गत आने वाली कृतियां हैं—'निशा-निमंत्रण', 'आकुल अंतर', 'सतरंगिनी', 'मिलन-यामिनी' (हरिवंशराय बच्चन), 'रसवंती' (दिनकर), 'प्रभातफेरी', 'प्रवासी के गीत', 'पलाशवन', 'मिट्टी और फूल', 'कदलीवन' (नरेंद्र शर्मा), 'मधूलिका', 'अपराजिता', 'किरणवेला', 'लाल चूनर' (रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'), 'कलापी', 'संचयिता', 'जीवन और यौवन', 'पांचजन्य' (आरसीप्रसाद सिंह), 'रूपरश्मि', 'छायालोक', 'उदयाचल', 'मन्वंतर', 'दिवालोक' (शंभुनाथ सिंह), 'पंछी', 'पंचमी', 'रागिनी', 'नवीन' (गोपालसिंह नेपाली), 'नींद के बादल' (केदारनाथ अग्रवाल), 'मंजीर' (गिरिजाकुमार माथुर), 'छवि के बंधन' (भारतभूषण अग्रवाल)।

'युगवाणी', 'ग्राम्या' (पंत), 'कुकुरमुत्ता' (निराला), 'युग की गंगा' (केदारनाथ अग्रवाल), 'युगधारा' (नागार्जुन), 'धरती' (त्रिलोचन), 'जीवन के गान', 'प्रलय-सृजन' (शिवमंगलसिंह 'सुमन'), 'अजेय खंडहर', 'पिघलते पत्थर', 'मेधावी' (रांगेय राघव), 'मुक्तिमार्ग', 'जागते रहो' (भारतभूषण अग्रवाल) कृतियां **प्रगतिवादी धारा** की सृष्टि करती हैं। इन कृतियों के अतिरिक्त नरेंद्र शर्मा, अंचल, आरसीप्रसाद सिंह और शंभूनाथ सिंह की उपर्युक्त पुस्तकों की अनेक कविताएं ऐसी हैं, जो इस धारा के अंतर्गत आती हैं।

प्रगतिवाद और वैयक्तिक कविताधारा की कृतियों के साथ-साथ कुछ ऐसी कृतियां भी सामने आयीं, जिन्हें **प्रयोगवादी** कृतियां कहा गया। प्रगतिवादी और वैयक्तिक धारा की कविताएं 1935 के आसपास प्रारंभ हो गयी थीं, किंतु प्रयोगवादी धारा की कविताएं 1943 के आसपास उभरती हुई दीखती हैं, फिर सभी साथ-साथ चलती हैं। 'तार सप्तक' (सं. अज्ञेय), 'इत्यलम्', 'हरी घास पर क्षण-भर' (अज्ञेय), 'नाश और निर्माण' (गिरिजाकुमार माथुर), 'ठंडा लोहा' (धर्मवीर भारती) तथा 'दूसरा सप्तक' इस धारा की प्रमुख कृतियां हैं। प्रयोगवाद आगे चल कर नयी कविता में पर्यवसित हो गया। इसलिए नयी कविता में प्रयोगवाद के बहुत से तत्त्व मिलते हैं, फिर भी उसका स्वतंत्र विकास हुआ। बहुत से कवि ऐसे हैं, जो दोनों धाराओं में हैं, इसलिए उनकी कृतियों को ले कर बहुत साफ़ तौर पर यह कह पाना कठिन है कि कहां तक वे प्रयोगवादी हैं और कहां से वे नयी कविता के कवि हो जाते हैं। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि सन् 1950 के बाद नये भावबोध की जो कविताएं लिखी गयीं, वे **नयी कविता** हैं और प्रयोगवादियों की भी सन् पचास के बाद की कविताओं को नयी कविता कह सकते हैं। फिर भी, 1951 में प्रकाशित 'दूसरा सप्तक' की अधिकांश कविताएं अपने व्यक्तिवादी रूप के कारण प्रयोगवाद में ही शरीक़ की जाती हैं। इसलिए नयी कविता को प्रयोगवाद के ही क्रम में देखना चाहिए। यदि सन् 1950 को विभाजक रेखा माना जाये, तो 'दूसरा सप्तक' की कुछ कविताएं, 'तीसरा सप्तक', 'बावरा अहेरी', 'इंद्रधनु रौंदे हुए थे', 'अरी ओ करुणा प्रभामय', 'आंगन के पार द्वार', 'कितनी नावों में कितनी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बार', 'सागरमुद्रा', 'क्योंकि मैं उसे जानता हूं', 'पहले सन्नाटा बुनता हूं' (अज्ञेय), 'धूप के धान', 'शिलापंख चमकीले' (गिरिजाकुमार माथुर), 'अर्द्धशती' (बालकृष्ण राव), 'अनागता की आंखें', 'शून्य पुरुष और वस्तुएं' (वीरेंद्रकुमार जैन), 'माध्यम मैं', 'खंडित सेतु' (शंभुनाथ सिंह). 'कुछ कविताएं', 'कुछ और कविताएं', 'चुका भी नहीं हूं मैं' (शमशेर), 'गीतफ़रोश', 'चकित है दुःख', 'बुनी हुई रस्सी', 'ख़ुशबू के शिलालेख', (भवानीप्रसाद मिश्र), 'स्वप्न-भंग', 'अनुक्षण', 'मेपल' (प्रभाकर माचवे), 'चांद का मुंह टेढ़ा है' (मुक्तिबोध), 'ओ अप्रस्तुत मन' (भारतभूषण अग्रवाल), 'वनपाखी सुनो', 'संशय की एक रात' (नरेश मेहता), 'सात गीत वर्ष', 'कनुप्रिया', 'अंधा युग' (भारती), 'मृग और तृष्णा' (हरिनारायण व्यास), 'मछलीघर' (विजयदेवनारायण साही), 'काठ की घंटियां', 'बांस के पुल', 'एक सूनी नाव', 'कुआनो नदी' (सर्वेश्वरदयाल सक्सेना), 'चक्रव्यूह', 'परिवेश : हम-तुम', 'आत्मजयी' (कुंवर नारायण), 'सीढ़ियों पर धूप में', 'आत्महत्या के विरुद्ध', 'हंसो-हंसो जल्दी हंसो' (रघुवीर सहाय), 'वंशी और मादल' (ठाकुरप्रसाद सिंह), 'नाव के पांव', 'युग्म', 'हिमबिद्ध' (जगदीश गुप्त), 'इतिहास-पुरुष' (डॉ. देवराज), 'मायादर्पण' (श्रीकांत वर्मा), 'अंकित होने दो', 'अकेले कंठ की पुकार' (अजित कुमार), 'मुक्ति-प्रसंग' (राजकमल चौधरी), 'एक कंठ विषपायी', 'साये में धूप' (दुष्यंतकुमार), 'अतुकांत', 'तीसरा पक्ष' (लक्ष्मीकांत वर्मा), 'कविताएं' (कीर्ति चौधरी), 'आत्मनिर्वासन तथा अन्य कविताएं' (राजीव सक्सेना), 'अभी, बिलकुल अभी' (केदारनाथ सिंह), 'उजली कसौटी' (राजेंद्रप्रसाद सिंह), 'बैरंग-बेनाम चिट्ठियां', 'पक गयी है धूप' (रामदरश मिश्र), 'इतिहास का दर्द' (रणजीत), 'कल सुबह होने के बाद' (शलभ श्रीराम सिंह), 'संसद से सड़क तक' (धूमिल), 'नाटक जारी है' (लीलाधर जगूड़ी), 'दीवारों पर ख़ून से' (चद्रकांत देवताले), 'आकाश विभाजित है' (विष्णुचंद्र शर्मा), 'अंगीरस' (ऋतुराज), 'जो नितांत मेरी है' (बालस्वरूप राही), 'एक पुरुष और' (डॉ. विनय), 'इस हादसे में' (नरेंद्र मोहन), 'त्रास' (विजेंद्र) तथा वे सब कृतियां, जिनकी चर्चा सप्तकों के बाहर के कवियों के संदर्भ में की गयी है, नयी कविता की कृतियां हैं। इस संदर्भ में 'कल्पना', 'कृति', 'लहर', 'ज्ञानोदय', 'कवि' आदि मासिक पत्रिकाओं तथा नयी कविता से संबंधित निम्नलिखित त्रैमासिक या अर्द्धवार्षिक और वार्षिक पत्रिकाओं तथा संकलनों का अनुशीलन भी अभीष्ट है—प्रतीक (सं. अज्ञेय), 'कविता' (सं. भागीरथ भार्गव), 'निकष' (सं. धर्मवीर भारती), 'संकेत' (सं. उपेंद्रनाथ अश्क), 'आधुनिक कविताएं' (सं. रणधीर सिन्हा), 'नयी कविता' (सं. जगदीश गुप्त), 'कविताएं सन् 1954, 1963, 1964-1965 ' (अजितकुमार-देवीशंकर अवस्थी तथा अजित कुमार-विश्वनाथ त्रिपाठी), 'कविताएं 1957-58' (सं. सुरेंद्र चतुर्वेदी-रामबहादुर मुक्त), 'संचेतना' का विचार-कविता अंक (सं. महीपसिंह और नरेंद्र मोहन), 'निषेध' (सं. जगदीश चतुर्वेदी), 'पहचान' श्रृंखला के संकलन (सं. अशोक वाजपेयी)।

## उत्तर-छायावाद

वास्तव में इस अवधि के छायावाद का इतिहास मूलतः निराला और पंत के काव्य-विकास का इतिहास है। यों छायावाद की शैली में मिलने वाले और भी बहुत-से लोग आये, किंतु उनमें अपना कोई उन्मेष नहीं। वे इस धारा को स्फीति भले ही दे सके हों, लेकिन वे कोई वैशिष्ट्य नहीं प्रदान कर सके। इसलिए उनकी चर्चा अनपेक्षित है। महादेवी जी की 'दीपशिखा' उनकी रचनाओं के क्रम में ही अगली कड़ी के रूप में आयी, इसलिए उन्हें भी पहले की महादेवी से मूलतः

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अलग नहीं किया जा सकता और फिर उसके बाद तो वे मौन हो गयीं।

**निराला :** निराला के गीत छायावाद से अलग न हट कर उसकी संभावनाओं से निर्मित हैं। किंतु उनमें एक बहुत बड़ी शक्ति का विकास होता गया है, वह है लोकोन्मुखता। निराला की छायावादी कविताओं में निराला का लोकोन्मुख व्यक्तित्व प्रारंभ से ही झलकता रहा है। निराला का जीवन संघर्षमय तथा लोकसंपृक्त रहा है, इसलिए वे स्वभावतः प्रेम-सौंदर्य के बोध के साथ-साथ जीवन के अन्य अनुभवों को अपने में समेट लेते हैं और व्यक्तिगत प्रणय के ही गीत न गा कर, लोकजीवन के सुख-दुःख को, यातना और संघर्ष को भी गहराई से उभारते हैं और उनकी व्यक्तिगत प्रणयानुभूति भी एकांतवासिनी न रह कर प्रायः लोकगंध से उष्ण हो उठती है। निराला की यह विशेषता प्रस्तुत अवधि में अधिक विकसित होती गयी है। उनकी यह लोकोन्मुखता दो रूपों में आयी—(1) छायावाद से एकदम अलग हट कर कवि ने प्रगतिशील कविताएं लिखीं, (2) उनकी छायावादी काव्यधारा का स्तर अधिक लोकोन्मुख होता गया। प्रगतिवादी कविताओं में छंद, भाषा और भावभूमि सभी छायावाद के प्रभाव से मुक्त हैं। 'कुकुरमुत्ता', 'गर्म पकौड़ी', 'प्रेम-संगीत', 'रानी और कानी', 'खजोहरा', 'मास्को डायलाग्स', 'स्फटिक शिला' और 'नये पत्ते' की अधिकांश कविताएं इस प्रकार की कविताएं हैं। इनमें प्रगतिशीलता अपने दार्शनिक रूप में नहीं है, बल्कि लोकानुभूतियों के रूप में है। इन कविताओं की भाषा लोक की है, मुहावरे लोक के हैं, शैली लोक की है। इनमें लोककथात्मक तथा संवादात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार निराला इस बात को समझते थे कि लोकजीवन को केवल उसके भाव, दृश्य, व्यापार में नहीं लिया जा सकता, उसके लिए उसकी भाषा भी आवश्यक होती है, दूसरी ओर, पंत इस बात को समझते हुए भी इसे चरितार्थ नहीं कर सके।

'अणिमा', 'अर्चना', 'आराधना' आदि में संकलित इधर की छायावादी कविता में निराला ने एक ओर तो स्वानुभूतिपरक गीत लिखे हैं तथा दूसरी ओर विजयलक्ष्मी पंडित, प्रेमानंद जी, संत रविदास, प्रसाद जी, महात्मा बुद्ध आदि विविध क्षेत्रों के व्यक्तियों पर कविताएं लिखी हैं। ये गीत कई तरह के हैं—इनमें प्रेम की संवेदना भी है और प्रार्थनापरकता भी। अन्य प्रकार की मानवीय संवेदनाएं भी इनमें व्यक्त हुई हैं। ये सभी बातें निराला की 1938 से पहले की कविताओं में भी हैं, उनका अनुपात भले ही थोड़ा भिन्न हो। 'तुलसीदास' इस अवधि की इनकी विशिष्ट देन है। इसमें भारत को सांस्कृतिक और सामाजिक पराजय के गर्त से निकालने का संकल्प है। निराला की इस अवधि की नयी देन है—उनकी लोकवादी कविताएं, जो वास्तव में कविता की उपलब्धि के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकतीं, वरन् वस्तु और भाषा के एक नये प्रयोग के रूप में ही महत्त्व प्राप्त करती हैं। ये कविताएं एक ठहराव को तोड़ती हैं और कवि को पुनः समग्र भाव से जनजीवन से जोड़ती हैं। निराला की इस अवधि की कविताओं में उनकी जीवनानुभूति के जो स्वर उभरे, उनमें टूटन और पराजय भी थी। टूटन और पराजय की यह प्रवृत्ति कवि को भक्ति की ओर उन्मुख करती है। साथ ही कवि का असंतुलित मानस प्रेम, भक्ति, खुलेपन और उलझाव का कुछ ऐसा मिश्रित रूप प्रस्तुत करता है कि ये कविताएं उलझे प्रभाव से ग्रस्त हो गयी हैं।

**सुमित्रानंदन पंत :** पंत जी के इस काल के काव्य-साहित्य का विश्लेषण किया जाये तो ऐसा प्रतीत होगा कि ये अपने चिंतन और विषय में अधिक विकासशील रहे; और चूंकि ये अपने संस्कार और भाषा में मूलतः छायावादी ही रहे, अतः यह कहा जा सकता है कि पंत के माध्यम से छायावाद को इस अवधि में नया चिंतन और नया विषय जगत प्राप्त हुआ है। सन् 1936 में 'युगांत' की घोषणा कर पंत ने 1939 में 'युगवाणी' और 1940 में 'ग्राम्या' की रचना की।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इसलिए वे मार्क्सवाद के भौतिक दर्शन और जनजीवन के सत्यों की ओर उन्मुख हुए। यहां निराला और पंत के अंतर को समझा लेना चाहिए। निराला ने चिंतन के माध्यम से नहीं, बल्कि संवेदना और अनुभव के माध्यम से जनजीवन को ग्रहण किया। इसलिए उनकी कविताओं में मार्क्सवाद या समाजवाद का दर्शन कोई स्पष्ट स्वरूप नहीं पा सका, वहां जनजीवन अपने समस्त संवेदन के साथ उभरा। दूसरी ओर पंत ने मार्क्सवादी दर्शन को चिंतन के स्तर पर स्वीकार किया। वे प्राय: मार्क्सवादी सिद्धांतों को ही व्यक्त करते रहे हैं :

*कहता भौतिकवाद वस्तु जग का कर तत्त्वान्वेषण,*
*भौतिक भव ही एकमात्र मानव का अन्तर दर्पण,*
*स्थूल सत्य आधार सूक्ष्म आधेय, हमारा जो मन,*
*वाह्य विवर्तन से होता युगपत् अन्तर परिवर्तन।*

कहना न होगा कि कवि ने मार्क्सवादी दृष्टि के आलोक में गांव के जीवन की विविध यथार्थ छवियों का बड़ा सुंदर चित्र अंकित किया है। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि कुशल शिल्पी पंत ने गांव के जीवन-यथार्थ को जितना उसके रंग-रूप में पकड़ा है, उतना भीतर की चेतना में नहीं।

यह बात तब और भी स्पष्ट हो उठती है, जब पंत जी 'ग्राम्या' से आगे की यात्रा में अरविंद-दर्शन से प्रभावित हो उठते हैं। बीच में प्रगतिवाद के भौतिक दर्शन की ओर भटके हुए उनके विचार पुन: आध्यात्मिक लोक की ओर उठने लगते हैं। इस प्रकार विचार के स्तर पर छायावाद को एक नयी दिशा और समृद्ध आधार प्राप्त होता है। कवि मार्क्स के भौतिकवाद से संतुष्ट नहीं है, फिर भी उसे आवश्यक मानता है। कवि आरंभ से ही मनुष्य मात्र के सुख, प्रेम, शांति का स्वप्न देखता रहा है। इस वायवी स्वप्न को उसने रूप देना चाहा, तो मार्क्सवाद में उसे आलोक दिखायी पड़ा, किंतु पुन: उसे ऐसा लगा कि मार्क्सवाद एकांगी है, वह केवल भौतिक योगक्षेम की व्यवस्था कर सकता है। अत: कवि इसे आवश्यक मानते हुए भी पर्याप्त नहीं मानता और अरविंदवाद में भौतिकवाद तथा अध्यात्मकवाद का समन्वय ढूंढ़ता है। कवि ने 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'शिल्पी', 'लोकायतन' आदि परवर्ती कृतियों में इसी समन्वय को स्वर दिया है। इस विकास यात्रा में पंत का काव्यपक्ष आहत हो गया है, जबकि धारणापक्ष उठता गया है। कारण यही है कि वे मानव-समाज की समस्याओं, उनके समाधान और नये विचारों को धारणा और आकांक्षा के स्तर पर स्वीकार करते हैं, अनुभूति के स्तर पर नहीं। इसलिए चाहे मार्क्सवाद हो, चाहे अरविंदवाद, वह पंत-काव्य को समृद्ध बनाने में सहायक प्राय: नहीं हुआ है।

**महादेवी वर्मा :** महादेवी वर्मा की 'दीपशिखा' में उनकी क्रमागत भावधारा का ही उत्कर्ष दिखायी पड़ता है। प्रेम उनका मुख्य विषय है। कवयित्री ने संयोग और वियोग में उभरने वाले प्रेम के अनेक कोणों को अपने अनुभव के आलोक में देखा है। वेदना महादेवी की मूल संवेदना है। यह वेदना विरहजन्य है। करुण-वेदना और निराशा से आक्रांत इनका प्रारंभिक काव्य 'दीपशिखा' में कुछ आलोक पा सका है—आशा का, उल्लास का और मिलन का। यथा :

*(अ) सब बुझे दीपक जला लूँ।*
*घिर रहा तम आज दीपक रागिनी अपनी जगा लूँ।*
*(आ) हुए शूल अक्षत मुझे धूलि चन्दन*
*अगरु धूम सी साँस सुधिगन्ध सुरभित।*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

महादेवी में गीतिकाव्य के उत्कर्ष की सुंदर भावनाएं हैं, लेकिन यह रहस्यात्मकता का आवरण उनके प्रभाव की तीव्रता को कुछ कुंठित कर देता है। कवयित्री के पास सीमित संवेदनाएं हैं, इन्हें वह भिन्न-भिन्न प्रतीकों और रूपकों से व्यक्त करती हैं। ये प्रतीक और रूपक भी बहुत सीमित और अभिजात हैं। कवयित्री की लौकिक संवेदनाएं रहस्यवादी आभास से लिपट कर निश्चय ही नये अर्थ का विस्तार करती हैं, किंतु साथ ही अपनी लौकिक मूर्त्तता, प्रत्यक्षता और तीव्रता खो देती हैं। दीप, चंदन, मंदिर, क्षितिज, आकाश, करुण, धूल, मेघ, विद्युत, सागर आदि प्रतीक और शब्द बार-बार आते हैं और रहस्यात्मक संकेत में उलझ जाते हैं। इन निजी और छायावादी सीमाओं के बावजूद महादेवी जी छायावाद की विशिष्ट और समर्थ कवयित्री हैं और 'दीपशिखा' उनकी विशिष्ट कृति। रहस्य और संकोच के आवरण के बावजूद कवयित्री की अंतरंग निजता गीतों में बहती रहती है। जहां कहीं वह पारदर्शी हो जाती हैं या जहां समग्र दृश्य सिमट कर उसी की ओर संकेत करने लगते हैं, वहां वे बहुत उत्कृष्ट गीतों की रचना करती हैं। महादेवी की दूसरी विशेषता है—सूक्ष्म चित्रात्मकता। ये चित्र रूपजगत और भावजगत—दोनों के हैं, किंतु रूपजगत के चित्र भी कवयित्री के मानसिक संदर्भ में ही नियोजित होते हैं। लोकपरिवेश और लोकभाषा से दूर, सीमित आत्मानुभूति की परिधि में विचरण करने वाले, भाषा की अभिजात छवि से मंडित ये गीत शब्द-चयन, पद-संतुलन, बिंब-ग्रहण, प्रांजलता, कोमलता और स्वर-लय में बहुत विशिष्ट हैं।

**जानकीवल्लभ शास्त्री :** शास्त्री जी मूलतः गीतकार हैं, इनके गीतों में छायावादी गीतों के ही संस्कार शेष हैं। ये गीत छायवादी गीतों से अधिक खुले हुए अवश्य हैं, किंतु इनकी संवेदना और गूंज-अनुगूंज प्रायः वैसी ही है। परंपरागत दर्शन, संवेदन और भाषा से निर्मित ये गीत उत्तर-छायावाद-युग के गीतों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं और इनका अपना आकर्षण है। 'रूप-अरूप', 'शिप्रा', 'मेघगीत' और 'अवन्तिका' इनकी प्रमुख काव्य-कृतियां हैं।

इन कवियों के अतिरिक्त उत्तर-छायावाद के अन्य उल्लेख्य कवि हैं—रामकुमार वर्मा ('अंजलि', 'रूपराशि', 'चित्ररेखा', 'चंद्रकिरण' और 'एकलव्य'), सुमित्राकुमारी सिन्हा ('विहाग', 'पंथिनी') और विद्यावती कोकिल ('अंकुरिता' और 'सुहागिन')।

## व्यक्तिवादी गीतिकविता

इस धारा के कवियों तथा छायावादी कवियों में दृष्टि और विषय की बड़ी समानता है। इन कवियों की भी दृष्टि रोमानी है, वस्तुजगत के प्रति इनकी भी प्रतिक्रिया अत्यंत भावात्मक है। ये भी वस्तुजगत से नहीं, वस्तुजगत की प्रक्रिया से उत्पन्न अपने निजी सुख-दुःख के आवेग से संबद्ध थे, इसलिए इनकी कविताओं में भी भयंकर आत्मसंपृक्ति और उत्तेजना मिलती है। इनका भी विषय मूलतः सौंदर्य और प्रेम तथा तज्जन्य उल्लास और विषाद की अनुभूति है। इनकी भी अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम गीत ही है, क्योंकि इनके भी काव्यविषय की प्रकृति छायावादी काव्य की प्रकृति के समान गीतात्मक है। किंतु इन कृतियों में छायावादी कविता जैसा संकोच, रहस्यात्मकता और आदर्शवादिता नहीं है, बल्कि साहस के साथ सीधे साफ़ तौर पर अपने निजी प्रेम-संवेग तथा सुख-दुःख को कहने की आकुलता है। इनकी वेदना छायावाद की घिसती हुई वेदना की तरह सामान्य नहीं, वरन् निजी प्रतीत होती है। अतः उससे अनुभव का एक विशिष्ट बिंब उभरता लक्षित होता है। यह अवश्य है कि इनके ये अनुभव-बिंब छायावाद के सुंदर अनुभव-बिंबों के समान सूक्ष्म, संश्लिष्ट और गहरे नहीं हैं, किंतु जो कुछ है, वह छल नहीं ओढ़ता, उघड़े ही रूप में उभर कर, सहज प्रवाह का सुख देता है। छायावादी कविता भी प्रायः

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'मैं' के माध्यम से अपना अनुभव उभारती है और व्यक्तिवादी गीतिकविता भी। किंतु, छायावाद का 'मैं' संकोच या मर्यादा के आतंक का अनुभव करने के कारण तीव्रता से आलोकित होने के स्थान पर मंद-मंद दीप्त होता है, जबकि व्यक्तिवादी गीतिकविता का 'मैं' अपने समूचे राग-विराग के साथ निर्व्याज भाव से फूट चलता है।

यदि हम इस धारा में आने वाली कृतियों की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि लौकिक प्रेम इनकी केंद्रीय वृत्ति है। प्रेम के संयोग-वियोगजन्य उल्लास, पीड़ा, उदासी, टूटन, असंतोष आदि का सघन स्वर इन कविताओं में मुखर हुआ। परिस्थिति, अनुभव और संस्कार के अनुसार कवियों के स्वरों में भिन्नता अवश्य है, किंतु मूल वृत्ति में अंतर नहीं। इनका प्रेम किसी लौकिक सौंदर्य-आलंबन पर ठहरा होने के कारण अधिक मूर्त रूप धारण करता है। इनका हर्ष-विषाद न तो आदर्श का छल ओढ़ता है और न धरती-आकाश के बीच झुकता है, वह शुद्ध धरती पर यात्रा करता है, धरती के परिवेश के बीच और अपने अपने रूप में बहुत ही उघड़ा हुआ होता है। बच्चन के 'निशा-निमंत्रण' और 'एकांत संगीत' काव्य यदि प्रेम के अवसाद के घनत्व को मुखर करते हैं, तो मिलन-यामिनी' मिलन की मादकता और उमंग को। नरेंद्र शर्मा के 'प्रवासी के गीत' में यदि लौकिक विरह की व्यथा की प्रधानता है, तो अन्य कृतियों में प्रेयसी के सौंदर्य, भोग और संयोग की ऊष्मा के मादक चित्र भी हैं। यह स्थिति अंचल, नवीन, दिनकर आदि की इस धारा में आने वाली कृतियों में भी देखी जा सकती है।

वास्तव में इस धारा की कृतियों का मूल स्वर प्रेम है और प्रेमजन्य व्यथा तथा उदासी यहां से वहां तक व्याप्त है। इनकी स्वच्छंद वृत्ति सौंदर्य और प्रेम की भूख लिये उड़ती थी, वह भूख तृप्त नहीं हो पाती थी, स्वच्छंद उड़ान सामाजिक प्रतिबंधों से टकराती थी और टूट कर विरह की पीड़ा बन जाती थी। कवि अनुभव करता था कि संसार को उसके ये गान वासना के गान लग रहे हैं, इसलिए उसे स्वीकार्य नहीं हैं। किंतु कवि इन्हें अपने अनुभव का गान मानता था। इन अनुभव-सत्यों को उसका स्वच्छंद हृदय अनियंत्रित भाव से गाना चाहता था। बच्चन ने अपने और समाज के इस तनाव को स्पष्ट अनुभव करते हुए 'मधुकलश' में कहा है :

*(अ) कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा।*
*(आ) वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी?*
*(इ) शत्रु मेरा बन गया है छलरहित व्यवहार मेरा।*

इस धारा की कृतियों में निराशा और उदासी का जो स्वर है, वह केवल प्रेममूलक नहीं है, बल्कि वह जीवन के अन्य संदर्भों में भी मुखर हुआ है। देश की पराधीनता, सामाजिक रूढ़ियों, आर्थिक रिक्तता के भयंकर अहसास से गुज़रता हुआ अकेला, स्वच्छंद, संवेदनशील युवा मानस बार-बार अपने को टूटता हुआ पा रहा था। उसका व्यक्तिवादी आक्रोश स्वर सारी असुंदर वस्तुओं को अस्वीकार करता हुआ और स्वयं कहीं स्वीकृत न होता हुआ, अपने ही में लौट आता था। वह आत्मपीड़न, टूटन, कुंठा की एक नयी पर्त लपेट लेता था और उसे गाता चलता था। इनके पास जीवनदृष्टि नहीं थी, न तो पुरानी आध्यात्मिक जीवनदृष्टि और न नवीन समाजवादी दृष्टि। ये कवि अपने अनुभवों से परिचालित हो रहे थे, उनके अनुभव भावुक हृदय के अनुभव थे। उनकी दृष्टि रोमानी थी, अतः वे व्यक्ति को न तो सामाजिक शक्ति से जोड़ सके, न आध्यात्मिक आदर्शों से। जीवनदृष्टि के अभाव में ये व्यक्तिवादी अनुभव निराशा, मृत्यु की छाया और नियतिबोध से ग्रस्त हैं। ये अनुभव जहां अपनी तीव्रता में सूक्ष्म, परंतु खुले हुए बिंबों की रचना में एक नये साहित्यिक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सौंदर्य की सृष्टि करते हैं, वहां अपने आत्यंतिक अकेलेपन, उदासी और दुहराव में क्षयोन्मुख दिखने लगते हैं और जहां ये काव्यात्मक दृष्टि से सपाट हो जाते हैं वहां अपनी सार्थकता किसी भी प्रकार प्रमाणित नहीं कर पाते :

*कितना अकेला आज मैं*
*संघर्ष में टूटा हुआ*
*दुर्भाग्य से लूटा हुआ*
*परिवार से छूटा हुआ, कितना अकेला आज मैं।* (एकांत संगीत)

वह चारों ओर अवसाद देखता है। जो अवसाद है, वह खुला हुआ लौकिक अवसाद है। कवि के साथ ईश्वर नहीं है, देवता नहीं है, रूढ़ समाज नहीं है, संस्था नहीं है, इसलिए वह किसी प्रकार के आश्रय का आभास नहीं पाता, उसे यदि कोई सहारा नज़र आता है तो केवल प्रेयसी से मिलन का, किंतु वह भी कहां हो पाता है? इसलिए कवि अपनी नंगी पीड़ा, असफलता, निराशा को प्रत्यक्ष, बेलौस झेलता हुआ जीवन को असफल और निराधार अनुभव करता है।

इस प्रकार की व्यक्तिवादी अनुभवयात्रा के दो परिणाम दिखायी पड़ते हैं। एक तो यह विश्वास कि जीवन क्षणभंगुर है, इस अवसाद के विस्तार में यदि उल्लास के कुछ क्षण मिल जाते हैं, तो उन्हें मस्ती से भोगो, आगे-पीछे मत देखो। दूसरा यह कि कवि अपने ग़म को ग़लत करने के लिए मधु का सहारा लेता है और सारे सहारे तो छूट जाते हैं। इतना ही नहीं, वह अपनी मादकता, प्रेम या उल्लास की उत्तेजना को तीव्र करने के लिए भी मधु का पान करना चाहता है। यह मधु धीरे-धीरे इतना आत्मीय हो जाता है कि वह अन्य जीवन-सत्यों का प्रतीक बन जाता है, जैसा कि 'मधुशाला', 'मधुबाला' आदि में हुआ है।

इस धारा की प्रमुख कृतियों में कहीं-कहीं प्रगतिवादी कविता का सा विद्रोह ध्वनित हुआ है, जैसे बच्चन के 'बंगाल का काल', नरेंद्र शर्मा के 'अग्निशश्य', अंचल की 'किरणबेला', शंभुनाथ के 'मन्वंतर' आदि में। इन कवियों में लक्षित होने वाला विद्रोह का स्वर व्यक्तिगत अस्वीकृति तथा सामाजिक असंतोष दोनों रूपों में है। लेकिन इस धारा का समस्त विद्रोह-स्वर मूलतः समान है। उसमें व्यक्तिगत भावावेश अधिक है, सामाजिक दर्शन और रचनात्मक चिंतन कम।

वैयक्तिक गीतिकविता की अभिव्यक्तिमूलक सादगी उसकी एक बहुत बड़ी देन है। कवि सीधे-सादे शब्दों, परिचित चित्रों और सहज कथन-भंगिमा के द्वारा अपनी बात बड़ी सफ़ाई से कह देता है। इसलिए कवि की शक्तियां और अशक्तियां दोनों बड़ी स्पष्टता से उभरती हैं। शक्तियां अस्पष्ट बिंबों में उलझ कर अपनी तीव्रता और प्रभाव नहीं खोतीं और अशक्तियां रहस्यात्मकता का लाभ उठा कर महान होने का आभास नहीं दे पातीं। यद्यपि इन कवियों की संवेदना व्यक्तिवादी है, किंतु वे अपने को जिस माध्यम परिवेश, प्रकृतिचित्र, बिंब, उपमा, भाषा आदि के द्वारा व्यक्त करना चाहते हैं, वह हमारा अति परिचित होता है, लोक के निकट का होता है, अतएव, मांसल और मूर्त प्रतीत होता है। यद्यपि इस धारा की कविता की भी भाषा मूलतः संस्कृतनिष्ठ है, किंतु उसके शब्द या पद हमारे निकट के लगते हैं। बोलचाल के शब्द और मुहावरे भी इनमें पर्याप्त मात्रा में आये हैं। कुल मिला कर यह जीवंत भाषा प्रतीत होती है।

**हरिवंशराय 'बच्चन'** : बच्चन इस धारा के सर्वोत्तम कवि हैं। इस धारा की समस्त संभावनाएं और सीमाएं बच्चन में पुंजीभूत हैं। बच्चन मूलतः आत्मानुभूति के कवि हैं। इसलिए उनकी जिन कृतियों में आत्मानुभूति की सघनता है, वे अपने प्रभाव में तीव्र और मर्मस्पर्शी हैं। जिन कृतियों में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आत्मानुभूति के साथ अवधारणाओं का संयोग होता चला है, उनमें प्रभाव की अन्विति टूट-टूट गयी है। लगता है, कवि अपनी बात कहने के बाद उसे 'जर्नलाइज़्ड' करने लगता है। 'निशा-निमंत्रण', 'एकांत संगीत' और 'मिलन-यामिनी' के गीत इस दृष्टिकोण से जहां गीतिकाव्य की उपलब्धियां हैं, वहीं अवधारणाएं अनुभूतियों के रंग में भीग गयी हैं। कवि ने स्वानुभूतिजन्य सुख-दुःख, सौंदर्य और प्रेम के उन्मुक्त सहज गीत गाये हैं, किंतु उसका स्वर यहीं तक सीमित नहीं है। वह सामाजिक विसंगतियों का भी चित्रण करता है तथा उनके प्रति विद्रोह भी करता है :

*प्रार्थना मत कर मत कर मत कर*
*युद्धक्षेत्र में दिखला भुजबल*
*रह कर अविजित अविचल प्रतिपल*
*मनुज पराजय के स्मारक हैं*
*मठ, मस्जिद, गिरजाघर।* (एकांत संगीत)

किंतु ऐसा लगता है विद्रोह या सामाजिक सत्य-चित्रण बच्चन के स्वभाव में नहीं अंटते। इसके लिए जिस सामाजिक जीवन-भोग और बौद्धिक यथार्थवादी दृष्टि की आवश्यकता होती है, वह बच्चन या इस धारा के किसी कवि में नहीं है। बच्चन के गीत जहां अपनी सहज भाषा और अनुभूति की निश्छलता के कारण गीतिकाव्य को नयी गरिमा प्रदान करते हैं, वहां कहीं-कहीं उत्तेजना, भाषा के सपाटपन, शब्दों, बिंबों के अपव्यय तथा स्फीति के कारण बहुत प्रभावहीन भी सिद्ध होते हैं। जैसे 'जो बीत गयी सो बीत गयी' गीत का आरंभ एक अवधारणा से होता है और इस अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए कवि ने अनावश्यक रूप से तीन चित्र लिये हैं। कहा जा सकता है कि बच्चन के काव्यसौंदर्य का धरातल बहुत विषम है, कहीं काफ़ी ऊंचा, कहीं नीचा या सपाट। अपनी धारा के अन्य कवियों से बच्चन इस बात में अलग हैं कि जहां और लोगों ने बाद में अपने को दुहराया है, वहां बच्चन ने निर्मम भाव से अपनी जानी-पहचानी दुनिया को छोड़ कर यथार्थ की नयी दुनिया में प्रवेश किया है और उसके अनुकूल भाषा की तलाश की है।

**नरेंद्र शर्मा :** नरेंद्र शर्मा के गीतों का अपना वैशिष्ट्य है। उनमें बड़ी चित्रात्मकता और आत्मीयता है, उनके गीतों का सुख-दुःख सीधे-सीधे प्रेमपात्र को निवेदित है, बीच में न कोई अवधारणा आती है और न छल। इन गीतों का एक परिवेश होता है और वह परिवेश कवि का ही नहीं, हमारे भी निकट का परिचित होता है। वह कवि के अनुभवों को जीवंतता प्रदान करता है। कुल मिला कर नरेंद्र शर्मा के गीत अधिक अपने मालूम पड़ते हैं। प्रकृति का बहुत चटक और सुपरिचित परिवेश इन्हें घेरे रहता है। शर्मा जी के अपने आत्मीय क्षेत्र हैं—प्रकृति-सौंदर्य, मानव-सौंदर्य और उससे उत्पन्न विरह-मिलन की अनुभूतियां। यथा :

*फिर फिर रात और दिन आते*
*फिर फिर होता साँझ सवेरा,*
*मैंने भी चाहा फिर आये*
*बिछुड़ा जीवन साथी मेरा।*
*कच्चे धागे सा सुख सपना*
*टूट गया सो टूट गया* (पलाशवन)

नरेंद्र शर्मा में भी सामाजिक यथार्थ का चित्रण तथा विसंगतियों के विरुद्ध विद्रोही स्वर है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यद्यपि यहां भी कवि की रूमानी दृष्टि ही प्रधान है, तो भी उसका स्वर बच्चन की अपेक्षा अधिक वस्तुवादी और अनुभूतिप्रवण है तथा उसमें समाजवादी चिंतन का पुट भी है।

**रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'** (1915-1995) : अंचल का जन्म किशनपुर में हुआ था। एम.ए. तक शिक्षा प्राप्त करके पहले ये इंस्टीट्यूट ऑफ़ लैंग्वेजेज़ एंड रिसर्च (जबलपुर) में हिंदी-विभागाध्यक्ष रहे, फिर राजकीय कला एवं विज्ञान महाविद्यालय, रायगढ़ के आचार्य हुए। इन्होंने अपने तीव्र रूमानी संवेदन को ले कर अपने अंतर की यात्रा तो की ही है, साथ ही ये समाज में भी घूमे हैं। इसलिए इनके सामाजिक यथार्थ वाले काव्यों में रूमानी संवेदना की ही प्रधानता लक्षित होती है। रूप की उद्दाम आसक्ति, उद्दाम वासना, उद्दाम पीड़ा और उद्दाम जिजीविषा ने इनके काव्य की प्रकृति का निर्माण किया है। वासना की उद्दामता कविता को एक ओर सामाजिक संयम से काट देती है, दूसरी ओर रचनात्मक स्तर पर उसे अनुभूति की गहराई और संश्लिष्टता की अपेक्षा उत्तेजना अधिक देती है। उत्तेजना या स्नायविक तनाव 'अंचल' में इस प्रकार हावी है कि वे निरंतर किसी-न-किसी रूप में अपनी कविताओं में शृंगारिक प्रतिक्रियाएं व्यक्त करते रहे हैं।

**भगवतीचरण वर्मा** (1903-1981) : इनका जन्म शफ़ीपुर, ज़िला उन्नाव में हुआ। प्रयाग में शिक्षा प्राप्त कर पहले ये पत्रकार बने, फिर स्वतंत्र भारत में आकाशवाणी से संबद्ध हुए। वर्मा जी की कविताओं में कई प्रकार की प्रवृत्तियों का संगम मिलता है। इनमें परंपरा के साथ युगबोध, वैयक्तिक सुख-दुःख, हर्ष-विषाद और आशा-निराशा के साथ सामाजिक विद्रोह तथा निम्नवर्ग का पीड़ाबोध, अभिजात भाषा के साथ ऊर्जामयी सामान्य भाषा का अस्तित्व लक्षित होता है। फिर भी मस्ती, आवेश और अहं इनकी कविताओं के केंद्र में हैं। 'मधुकण', 'प्रेम-संगीत', 'मानव' और', 'एक दिन' इनकी काव्य-कृतियां हैं।

**गोपालसिंह नेपाली** (1913-1963) : नेपाली बेतिया (बिहार) में पैदा हुए थे। काफ़ी समय तक फ़िल्मी दुनिया से संबद्ध रहे। नेपाली के प्रारंभिक गीत प्रकृति के मार्मिक, किंतु सीधे-सादे चित्रों से संपन्न होने के कारण अन्य कवियों की कविताओं से अपने को साफ़ अलगा लेते हैं। इनके गीतों में चित्रित प्रेम-संवेग का भी अपना वैशिष्ट्य है। उनमें बड़ी सादगी, माधुर्य और प्रवाह है। 'पंछी', 'उमंग', 'रागिनी', 'पंचमी', 'रिमझिम', 'नवीन' आदि इनकी काव्य-कृतियां हैं।

**आरसीप्रसाद सिंह** (1911-1996) : आरसीप्रसाद सिंह में छायावादोत्तर व्यक्तिवादी गीतिकविता की सभी प्रवृत्तियां दिखायी पड़ती हैं। इनकी कविता के केंद्र में नारी है। नारी के रूपाकर्षण, प्रेम, प्रेमजन्य उत्सुकता, स्नायविक उत्तेजना, निराशा, वेदना आदि के स्वरों से निर्मित इनकी कविताएं अपनी धारा की कविताओं का ही रूप उजागर करती हैं। 'कलापी', 'संचयिता', 'जीवन और यौवन', 'पांचजन्य' और 'प्रेमगीत' इनकी काव्य-कृतियां हैं।

**शंभुनाथ सिंह** (1917-1991) : शंभुनाथ सिंह की काव्य-यात्रा अत्यंत विकासशील रही है। 'रूप-रश्मि', 'छायालोक', 'उदयाचल' और 'दिवालोक' में ये छायावादोत्तर व्यक्तिवादी गीतिकविता के कवि रहे हैं। 'मन्वंतर' प्रगतिवादी चेतना से प्रभावित है और बाद की कृतियों में 'नयी कविता' का स्वर स्पष्ट है। व्यक्तिवादी गीतिकविताधारा में आने के बावजूद शंभुनाथ सिंह के गीतों में अपना सौंदर्य निखर आया है, जो रूप-विधान, प्रणय-संवेदना, भाषा और छंद में लक्षित होता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता

'राष्ट्रीय' शब्द अपने वर्तमान अर्थ में आधुनिक है, जिसमें जाति, संप्रदाय, धर्म, सीमित भू-भाग आदि की संकीर्णता के स्थान पर क्रमशः एक समग्र देश और उसके भीतर निवास करने वाली समस्त जातियों, भिन्न-भिन्न भू-खंडों, संप्रदायों और रीति-रिवाजों के लोगों का संश्लिष्ट, सामूहिक रूप उभरता गया है। कहना न होगा कि अंग्रेज़ों के आने के समय तक अपनी सांस्कृतिक एकता के बावजूद भारत व्यावहारिक रूप से भिन्न-भिन्न राज्यों में बंटा हुआ था। वास्तव में पूरे भारतवर्ष की एकता के अर्थ में राष्ट्रीयता का विकास आधुनिक काल में हुआ। अंग्रेज़ों ने समूचे देश में एक शासन स्थापित किया, जिससे पूरे देश के लोग एक राजा की प्रजा हुए और पूरे देश को समान यातना का अनुभव हुआ। अपने-अपने में बंटे हुए लोगों को यह प्रतीत हुआ कि वे सब मिल कर एक हैं, वे चाहे किसी जाति या धर्म के हों, अंग्रेज़ों के ग़ुलाम हैं, और फिर जब अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध मुक्ति का अभियान आरंभ हुआ, तो मुक्ति की चेतना किसी धर्म या प्रदेश में सीमित न रह कर पूरे देश में व्याप्त हुई। इस प्रकार आधुनिक काल में जो राष्ट्रीयता का स्वरूप उभरा और विकसित हुआ, उसके तीन आधार हैं—पूरे देश में अंग्रेज़ी शासन की स्थापना, समग्र भारतीय प्रजा द्वारा अंग्रेज़ी शासन से उत्पन्न यातना का समान अनुभव तथा स्वाधीनता-आंदोलन और उसका देशव्यापी प्रसार।

राष्ट्रीयता का विकास सबसे पहले पश्चिम में हुआ, विशेषतया इंग्लेंड में। किंतु वहां पराधीनता की समस्या नहीं थी, इसलिए वहां राष्ट्रीयता के जो तत्त्व उभरे, वे भारत में उभरने वाले तत्त्वों से थोड़े भिन्न थे। भारतीय राष्ट्रीयता में स्व-रक्षा का भाव प्रधान था, जबकि स्वतंत्र पश्चिमी देशों में स्व-विकास का। भारत एक विशाल देश है, जहां अनेक संस्कृतियों, भाषाओं, रीति-रिवाजों के लोग रहते हैं। ऊपर-ऊपर से वे एक-दूसरे से अलग-अलग दीखते हैं, परंतु सबका मूलस्रोत एक ही है, जो आंतरिक रूप से सबको बांधता है। वह मूल स्रोत है अपनी प्राचीन संस्कृति और प्राचीन आध्यात्मिक सत्य। कहा जा सकता है कि हमारे यहां उभरने वाली राष्ट्रीयता में तीन मुख्य बातें लक्षित होती हैं—(1) भारतीय पराधीनता की यातना का अहसास और उससे मुक्ति पाने का प्रयास, (2) पश्चिमी सभ्यता और अलगाव की भावना से आक्रांत होती हुई भारतीय चेतना के उद्धार के लिए तथा उसमें एकता और स्वाभिमान का बल फूंकने के लिए अपनी प्राचीन संस्कृति के समुज्ज्वल रूप का प्रस्तुतिकरण, (3) उपयोगी आधुनिक मूल्यों के आलोक में राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का पुनर्विचार तथा पुनर्गठन। कहना न होगा कि स्वाधीनताप्राप्ति तक प्रथम दो तत्त्व बहुत प्रबल रहे, किंतु स्वाधीनताप्राप्ति के पश्चात तीसरे तत्त्व की ही सार्थकता शेष रह गयी। किंतु उससे बड़ी बात जो आयी, वह थी देश की राजनीतिक व्यवस्था की प्रतिष्ठा और विकास करने का प्रयास तथा नवीन राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण उत्पन्न समस्याओं से जूझने और उनका समाधान खोजने की चेष्टा। वर्तमान समस्याओं और प्रश्नों के संदर्भ में जब हम अपने अतीत गौरव को देखते हैं, तब उससे अभिभूत होने के स्थान पर उसका पुनर्मूल्यांकन करते हैं, और विचार के स्तर पर हम उससे अपने को जोड़ते या काटते हैं, उसके भीतर निहित द्वंद्वों, विसंगतियों और मानवीय संवेदना की तलाश करते हैं। जहां तक आधुनिक हिंदी-कविता में राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि वह भारतेंदुकालीन कविताओं से प्रारंभ होती है। किंतु राष्ट्रीयता का स्वरूप तब से ले कर आज तक विकसित होता रहा है। आरंभ में छोटे-मोटे दुःख-दर्दों, सहज भावात्मक प्रतिक्रियाओं तथा अतीत-स्मरण के रूप में लक्षित होने वाली राष्ट्रीयता धीरे-धीरे जटिल और संश्लिष्ट होती गयी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तथा अनेक मानवीय और सार्वभौम प्रश्नों तथा संवेदनों से संपन्न होती चली गयी। नयी-नयी राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों ने उसे जटिल रूप प्रदान किया। द्विवेदी-काल तक भारतीय राष्ट्रीयता बहुत-कुछ हिंदू-राष्ट्रवाद के रूप में दिखायी पड़ती है। इसका कारण सायास हिंदू-राष्ट्रवाद का प्रसार नहीं था, वरन् उस भारतीय दृष्टि का अभाव था, जो गांधी जी के व्यक्तित्व में उभर कर आयी।

प्रस्तुत कालावधि में आने वाली कृतियों पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि राष्ट्रीयता के सारे रूप कहीं खंडित रूप में, तो कहीं संश्लिष्ट रूप में इनमें दिखायी पड़ते हैं। राष्ट्रीयता का जो सबसे स्थूल रूप है, वह है विदेशी शासन के अत्याचारों, उनसे प्रसूत जन-यातनाओं और जनता के मन में उठती हुई क्रोध तथा असंतोष की ललकारों का चित्रण। यह क्रिया बहुत स्थूल रूप में भी हो सकती है और बहुत सूक्ष्म तथा संश्लिष्ट रूप में भी। इस प्रकार की राष्ट्रीय कविताओं का महत्त्वपूर्ण स्तर प्रस्तुत अवधि में दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी, नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी आदि की कृतियों में सुनायी पड़ता है। वास्तव में प्रेमचंद के उपन्यासों में तत्कालीन भारतीय जीवन को जकड़ती हुई विदेशी सत्ता, सामंतवाद और महाजनी सभ्यता के जिस जटिल और बुनियादी स्वरूप को उभारा गया है, उसे भावुकता से संचालित इस प्रकार की राष्ट्रवादी कविताएं मुखर नहीं कर सकी हैं। इनमें वस्तुस्थिति की सही व्याख्या के स्थान पर भावुक प्रतिक्रिया है। इस संदर्भ में एक बात अवश्य लक्षित करने की है कि 1938 के आसपास के राष्ट्रीय जीवन की यातना और आक्रोश के स्वर में एक नया उभार लक्षित होता है। छायावाद-काल में गांधी जी के प्रभाव में आत्मपीड़न तथा अहिंसाजन्य नरम प्रतिरोध दिखायी पड़ता है, किंतु वामपंथी दलों के उदय, समाजवादी सिद्धांतों के प्रचार तथा विदेशी शासन के झूठे वायदों और अधिकाधिक कठोर, विषम एवं जटिल होती परिस्थितियों के कारण साहित्य का स्वर अधिक उग्र, यथार्थवादी और लोकोन्मुख होता गया। दूसरी बात यह हुई कि प्रगतिवाद के प्रभाव से देश के भीतर बनते हुए शोषकों तथा शोषितों के अनेक वर्गों की पहचान होती गयी। लड़ाई केवल अंग्रेज़ी सत्ता से ही नहीं है, बल्कि सामंती, महाजनी सभ्यता और उनके प्रतिनिधि देशी शोषकों से भी है, जो अपने ही देश की जनता के लिए अपने-अपने ढंग से भयंकर शोषण के अस्त्र-शस्त्र बन रहे हैं। राष्ट्रीयता का यह नया स्वर दिनकर में अधिक उभर कर आया। कहा जा सकता है कि प्रगतिवाद ने भारतीय राष्ट्रीयता को अधिक प्रत्यक्ष किया, उसे आकाश से धरती पर उतारा तथा उसे जनजीवन से जोड़ा।

राष्ट्रीयता का संबंध देश के स्थूल सुख-दुःख और आक्रोश के चित्रण से ही नहीं होता, बल्कि राष्ट्र की आत्मा या चेतना की पहचान से होता है, वरन् उसी से अधिक होता है। यह चेतना स्थिर न हो कर गतिशील रहती है, अर्थात नव-नव परिस्थितियों में नये-नये कोण उभारती रहती है और पुराने कोण छोड़ती रहती है। संस्कृति का संबंध इसी आत्मा या चेतना से होता है। यह संस्कृति जहां इतिहास के रूप में हमारे लिए प्रेरणा और पृष्ठभूमि बनती है, वहां वर्तमान चेतना से स्पंदित हो कर हमारा जीवन बन जाती है। प्रतिभावान और नवदृष्टि-संपन्न कवियों ने संस्कृति के उदात्त अतीत रूप को वर्तमान जीवन-संदर्भों में पुनर्परीक्षित करके ही स्वीकार किया है। यह प्रयास प्रस्तुत अवधि के पूर्व रचित महत्त्वपूर्ण काव्य-कृतियों—'यशोधरा', 'पंचवटी', 'साकेत', 'प्रिय-प्रवास', 'कामायनी', 'राम की शक्तिपूजा' आदि में भी लक्षित होता है।

प्रस्तुत अवधि में प्रकाशित काव्य-कृतियों में प्रमुख हैं—'कुरुक्षेत्र', 'जयभारत', 'नकुल', 'उन्मुक्त', 'रश्मिरथी', 'विक्रमादित्य' आदि। इनके अतिरिक्त 'इतिहास के आंसू' की फुटकल कविताओं को भी इस संदर्भ में देखा जा सकता है। इन कृतियों में वर्तमान जीवन-प्रश्नों का प्रत्यक्ष

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

या परोक्ष अंकन-आकलन तो अवश्य है, किंतु उन्हें परिणति देने वाला स्वर भारतीय है अर्थात भारतीय संस्कृति के किसी उदात्त स्वर की तलाश ही इन प्रश्नों के बीच भटकती है।

**मैथिलीशरण गुप्त :** गुप्त जी इस धारा के श्रेष्ठ कवि हैं। कवि ने अपने समय की समस्त राष्ट्रचेतना को अपने शब्दों में स्वर दिया है। काव्यात्मक दृष्टि से यह स्वर बड़ा ही विषम है, कहीं गहन, कहीं एकदम विवरणात्मक। फिर भी, जहां तक अपने युग को उसके बहुरंगी रूप में पकड़ने का प्रश्न है, गुप्त जी बहुत जागरूक कवि रहे हैं।

**माखनलाल चतुर्वेदी और नवीन :** इन दोनों कवियों में बहुत साम्य है। यों नवीन जी सौंदर्य और प्रेम की कविताएं लिखने के कारण छायावादी कवियों के समीप पहुंच जाते हैं, किंतु जहां तक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता का प्रश्न है, इन दोनों की प्रवृत्तियां समान दिखायी पड़ती हैं। दोनों का संबंध मूलतः राष्ट्र की तत्कालीन अवस्था से है, दोनों ने पराधीन राष्ट्र की व्यथा, अंग्रेज़ी शासन के अत्याचारों, स्वाधीनता-सेनानियों के अदम्य उत्साह, कारागार-यात्रा और उनकी बेबसियों आदि के चित्रण में ही अपनी व्यस्तता दिखायी है, सांस्कृतिक पक्ष उनसे प्रायः छूट ही गया है। वर्तमान के संदर्भ में अतीत के पुनर्परीक्षण, संक्रांत मूल्यों के आकलन, बृहत्तर मानवीय प्रश्नों और संवेदनाओं के अनुभव में इनका मन उतना रम नहीं सका है।

**रामधारीसिंह 'दिनकर'** (1908-1974) : इस धारा के इस कालावधि के सबसे सशक्त कवि 'दिनकर' हैं। इनका जन्म सिमरिया (ज़िला मुंगेर) में हुआ था। इन्होंने बी.ए. तक शिक्षा प्राप्त की। ये क्रमशः एक हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक, बिहार-सरकार के अधीन सब-रजिस्ट्रार, बिहार-सरकार के प्रचार-विभाग के उपनिदेशक, मुज़फ़्फ़रपुर के कॉलेज में हिंदी-विभागाध्यक्ष, राज्यसभा के सदस्य, भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति तथा भारत-सरकार के हिंदी-सलाहकार रहे। दिनकर में संवेदना और विचार का बड़ा सुंदर समन्वय दिखायी पड़ता है। चाहे व्यक्तिगत प्रेम सौंदर्यमूलक कविताएं हों, चाहे राष्ट्रीय कविताएं, सभी कवि की संवेदना से स्पंदित हैं। दिनकर में आरंभ से ही अपने को अपने परिवेश से जोड़ने की तड़प दिखायी पड़ती है, इसलिए उनमें सर्वत्र एक खुलापन है, लोकोन्मुखता है, सहजता है—व्यक्तिगत प्रेम सौंदर्यमूलक कविताओं में भी। छायावाद या उत्तर-छायावादी वैयक्तिक कविता की कुंठा, अतिरिक्त अवसाद तथा निराशा के घिराव के स्थान पर प्रसन्नता और सर्वत्र सौंदर्य के प्रति स्वस्थ मानवीय प्रतिक्रिया दिखायी पड़ती है। दिनकर की सबसे बड़ी विशेषता है अपने देश और युग-सत्य के प्रति जागरूकता। कवि देश और काल के सत्य को अनुभूति और चिंतन दोनों स्तरों पर ग्रहण करने में समर्थ हुआ है। कवि ने राष्ट्र को उसकी तात्कालिक घटनाओं, यातनाओं, विषमताओं, समताओं आदि के ही रूप में नहीं, बल्कि उसकी संश्लिष्ट सांस्कृतिक परंपरा के रूप में भी पहचाना है, और उसके प्राचीन मूल्यों का नये जीवन-संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में आकलन कर एक ओर उन्हें जीवंतता प्रदान की है, वहीं दूसरी ओर वर्तमान की समस्याओं और आकांक्षाओं को महत्त्व देते हुए, उन्हें अपने प्राचीन किंतु जीवंत मूल्यों से जोड़ना चाहा है। दिनकर ने राष्ट्रीयता की पहचान को मात्र भावनात्मक प्रतिक्रिया से उबार कर चिंतन, परीक्षण तथा आत्मालोचन का स्वस्थ रूप देने का प्रयत्न किया, साथ ही इस राष्ट्रीयता को सार्वभौम मानवता के रूप में विकसित होने का स्वप्न देखा। यह विकास तभी संभव है, जब बुद्धि के ऊपर संवेदनशील हृदय का शासन हो। 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म के माध्यम से बुद्धि से वस्तुस्थिति की इन पक्तियों में तीखी पहचान और हृदय में सार्वभौम सुख-साम्राज्य की स्थापना की कामना का सुंदर समन्वय हुआ है :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*कर पाता यदि मुक्त हृदय को*
*मस्तक के शासन से*
*उतर पकड़ता बाँह दलित की*
*मन्त्री के आसन से*
*स्यात् सुयोधन भीत उठाता*
*पग कुछ और सँभल के*
*भरत भूमि पड़ती न स्यात्*
*संगर में आगे चल के।*

(कुरुक्षेत्र)

**सियारामशरण गुप्त** (1895-1963) : गुप्त जी और दिनकर के समान सियारामशरण गुप्त इस धारा के विशिष्ट कवि हैं। इनकी कृतियों में सर्वत्र गांधीवाद की अभिव्यक्ति दीखती है। देश की ज्वलंत घटनाओं और समस्याओं का इन्होंने बड़ा जीवंत चित्र प्रस्तुत किया है, किंतु संस्कृति के उदात्त तत्त्वों के प्रति गहरी आस्था रखने वाले सियारामशरण जी इन घटनाओं, अवस्थाओं और समस्याओं को तात्कालिक तथ्य के रूप में न देख कर उन्हें बृहत्तर मानवीय मूल्यों, संवेदनाओं और संदर्भों से जोड़ देते हैं। इसलिए इनके काव्यों की पृष्ठभूमि अतीत हो या कि वर्तमान, उनमें आधुनिक मानवता की करुणा, यातना और द्वंद्व का समन्वित रूप उभरा है। सियारामशरण ने भारत की जिस किसी तात्कालिक घटना को लिया है, उसे एकदेशीयता से ऊपर उठा कर बृहत्तर मानवीय मूल्य का स्तर प्रदान किया है, मात्र राष्ट्रीयता कवि को स्वीकार्य नहीं। 'उन्मुक्त' आधुनिक अंतरराष्ट्रीय संदर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण कृति हैं। इसमें अपने ढंग से युद्ध की अनिवार्यता, त्याग, बलिदान, यातना-विभीषिका और मानवीय करुणा का अद्भुत समन्वय हुआ है।

**उदयशकर भट्ट** (1898-1961) : इनका जन्म कर्णवास, ज़िला बुलंदशहर में हुआ था। ये सनातन धर्म कॉलेज, लाहौर में हिंदी के अध्यापक रहे और बाद में आकाशवाणी से संबद्ध हुए। भट्ट जी की काव्य-कृतियां हैं—'विसर्जन', 'मानसी', 'अमृत और विष', 'युगदीप', 'यथार्थ', 'एकला चलो रे' और 'विजयपथ'। इनके काव्य में भाव, विचार और भाषा-संबंधी बड़ा सुथरापन दीखता है। ये ठीक-ठीक किसी वाद के अंतर्गत नहीं आते। इनकी कविताओं में युग का स्वर सुनायी पड़ता है, और साथ-ही-साथ अपनी अतीत संस्कृति के प्रति आस्था भी। इनकी कविताओं में वेदना एवं निराशा की भी गूंज है और नवनिर्माण का उत्साह तथा शक्ति भी है।

**सोहनलाल द्विवेदी** (1906-1988) : इनका जन्म बिन्दकी, ज़िला फ़तेहपुर में हुआ। ये अत्यंत सरल भाषा में राष्ट्रीय चेतना का स्वर व्यक्त करने वाले कवि है। इनकी राष्ट्रीयता की चेतना अतीत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों ही काल आयामों को समेटती हैं। अभिव्यक्ति की सादगी और वर्णनात्मकता इनके भावों को अत्यंत सहजता से पाठकों तक प्रेषित कर देती है। द्विवेदी जी की काव्य-यात्रा प्रबंधकाव्य और गीतिकाव्य दोनों क्षेत्रों में हुई है। इनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं—'भैरवी', 'वासवदत्ता', 'कुणाल', 'चित्रा', 'प्रभाती', 'युगधारा' और 'पूजागीत'।

**श्यामनारायण पांडेय** (1907-1991) : पांडेय जी की काव्य-प्रवृत्ति मुख्यतः उनके प्रबंध-काव्यों में ही निखरी है। 'हल्दीघाटी' महाराणा प्रताप के जीवन पर तथा 'जौहर' पद्मिनी की जौहर-कथा पर आधारित काव्य है। इन काव्यों में अद्भुत प्रवाह, ओज और सादगी है। किंतु पांडेय जी की राष्ट्रीयता अपने समय की सामासिक भारतीय राष्ट्रीयता न हो कर हिंदू राष्ट्रीयता है। कवि ने अतीत की कथाओं को युगीन संदर्भों में नियोजित न कर, वर्णनात्मक पद्धति पर ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत कर दिया है। इसलिए इन काव्यों में प्रवाह तो है, किंतु भावात्मक और वैचारिक गांभीर्य नहीं है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## प्रगतिवाद

प्रगतिवादी काव्य की संज्ञा उस काव्य को दी गयी जो छायावाद के समाप्तिकाल में 1936 के आसपास से सामाजिक चेतना को ले कर निर्मित होना आरंभ हुआ। इसके शब्दार्थ से इसके स्वरूप को समझने में भ्रांति होती रही है। इसलिए यही समझना चाहिए कि यह नाम उस काव्यधारा का है, जो मार्क्सवादी दर्शन के आलोक में सामाजिक चेतना और भावबोध को अपना लक्ष्य बना कर चली। प्रगतिवादी काव्य के उद्‌भव और विकास में राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियां तो सहायक हुईं ही, साथ ही छायावाद की जीवनशून्य होती हुई व्यक्तिवादी वायवी काव्यधारा की प्रतिक्रिया भी उसमें निहित थी। एक ओर भारतीय समाज में उभरता हुआ जनसंकट था, तो दूसरी ओर रूस में मार्क्सवादी दर्शन के आधार पर स्थापित साम्यवाद था, जो वहां के विषम संकट और संघर्ष से गुज़रे जनजीवन को बल दे रहा था और जो सामंतवाद और पूंजीवाद की विभीषिकाओं को कुचल कर सर्वहारा का अधिनायकत्व स्थापित कर रहा था। भारतीय बुद्धिजीवी एक ओर अपने समाज में उत्पन्न अनेक सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक विसंगतियों और संकटों को देख रहा था, दूसरी ओर वह रूस के उस समाज को देख रहा था जो इन विसंगतियों और संकटों से गुज़र कर एक ऐसी व्यवस्था स्थापित कर रहा था, जिसमें सामान्य जनजीवन को महत्ता प्राप्त हो रही थी, जहां नये सुख-सुविधा की प्रतिष्ठा हो रही थी। रूस में प्रतिष्ठित साम्यवाद और पश्चिम के अन्य देशों में फैलता हुआ उसका मार्क्सवादी दर्शन भारतीय बुद्धिजीवियों के लिए प्रेरणा-केंद्र बन रहा था। इधर देश की परिस्थिति विषम हो रही थी और उस विषम परिस्थिति में युवकों का हृदय असंतोष और विद्रोह से कसमसा रहा था। देश की अवस्था प्रगतिवादी विश्वासों और स्वरों के लिए उपयुक्त भूमि बन रही थी।

हमारा राष्ट्रीय वातावरण नवीन परिस्थितियों के कारण एक नये प्रकार के युयुत्साभाव से आंदोलित हो रहा था। गांधी जी के नेतृत्व में जो स्वाधीनता-आंदोलन चल रहा था, उससे युवा हृदय की विद्रोही भावना को अभिव्यक्ति नहीं मिल पा रही थी। सन् 1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का जन्म हुआ। इससे विदित हुआ कि स्वयं कांग्रेस में गांधी जी के अहिंसावादी सिद्धांतों से असंतुष्ट लोग उभर रहे थे। वे अधिक उग्र विचारों के थे और उग्र आचरण में विश्वास करते थे। महात्मा गांधी ने हिंसा के भय से बार-बार जनता के आंदोलन को रोक दिया था। उमड़ता हुआ जनजीवन इसे सहज भाव से स्वीकार नहीं कर पाता था, अतः उग्र प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था। मज़दूरों का आंदोलन भी ज़ोर पकड़ रहा था। धीरे-धीरे राजनीति में वामपंथी शक्तियों का ज़ोर बढ़ता गया। इस वैचारिक उग्रता और समाजोन्मुखता को बल दे रही थीं तत्कालीन परिस्थितियां। राजनीतिक दासता देश में एक ओर पूंजीवाद और सामंतवाद की शोषक शक्तियों को प्रश्रय दे रही थी, दूसरी ओर जनसामान्य के लिए अपार भयावह ग़रीबी, अशिक्षा, असुविधा और अपमान की सृष्टि कर रही थी। इसके अतिरिक्त अकाल और युद्ध की भीषण विभीषिकाएं भी देश को खा रही थीं। द्वितीय महायुद्ध और बंगाल का अकाल देश को निगलने वाली भीषण घटनाएं थीं। युद्ध के दबाव में जनता और भी आक्रांत हो रही थी। जगती हुई उग्र जन-चेतना, रूस में स्थापित समाजवाद तथा पश्चिम के अन्य देशों में प्रचारित कम्युनिज़्म के सिद्धांतों से उभरते हुए विश्वव्यापी प्रभाव के कारण भारत में 1935 के आसपास साम्यवादी (या समाजवादी) आंदोलन उगने लगा था। साहित्य भी उससे प्रभावित हुआ और प्रगतिवादी साहित्य का आंदोलन आरंभ हुआ। सन् 1935 में ई. एम. फार्स्टर के सभापतित्व में पेरिस में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' नामक अंतरराष्ट्रीय संस्था का प्रथम अधिवेशन हुआ। सन् 1936 में सज्जाद जहीर और डॉ. मुल्कराज

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आनंद के प्रयत्नों से भारतवर्ष में भी इस संस्था की शाखा खुली और प्रेमचंद की अध्यक्षता में लखनऊ में इसका प्रथम अधिवेशन हुआ।

प्रगतिवाद रचना और आलोचना के क्षेत्र में सर्वथा नवीन दृष्टिकोण ले कर आया। यह सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति को ही रचना का उद्देश्य मानता है। 'सामाजिक यथार्थ' शब्द का भ्रांत अर्थ लेने वाले भी कम नहीं हैं। वे समाज की ऊपरी सतह पर दिखायी पड़ने वाली निर्जीव और पतनोन्मुख विकृतियों को ही सामाजिक यथार्थ मान बैठते हैं। बुनियादी सत्य क्या है? प्रत्येक युग में यथार्थ की दो शक्तियों का द्वंद्व चलता रहता है—मरणोन्मुख पुरानी शक्तियों और नवीन जीवंत शक्तियों का। सामाजिक स्तर पर पुरानी शक्तियों में शोषक लोग होते हैं और नवीन शक्तियों में शोषित, ग़रीब किसान-मज़दूर होते हैं। नवीन जीवंत शक्तियां पुरानी शक्तियों को नष्ट कर नवीन जनमंगलशाली समाज की स्थापना की कोशिश करती हैं। ऊपरी सतह पर तो पुरानी शक्तियों की विकृतियां उतराती रहती हैं, लेकिन उनके नीचे नवीन शक्तियां धीरे-धीरे उन्हें काटती रहती हैं। ये शक्तियां व्यक्ति की नहीं, बल्कि समाज की होती हैं, उनमें पीड़ा और अभाव के साथ ही ज़िंदगी का संघर्ष, अडिग विश्वास और भविष्य की सुंदर आकांक्षा होती है। इन अनेक बुनियादी तत्त्वों को ग्रहण करने वाला ही सच्चा यथार्थवादी है। ऐसा ही साहित्य अपने युग की वास्तविकता का सच्चा प्रतिनिधि होता है और भावी युगों के साहित्यों के लिए प्रेरणास्रोत होता है। प्रगतिवाद (जिसका दर्शन मार्क्सवादी है) भिन्न-भिन्न युगों के साहित्यों की उन युगों की वास्तविकताओं के आधार पर परीक्षा करता है। प्रगतिशील साहित्य समाज के युगीन संबंधों को छोड़ कर हवा में शाश्वत् का महल बनाने वाले साहित्य को नक़ली और निर्जीव मानता है। यदि कोई शाश्वत् वस्तु है तो यही कि नवीन सामाजिक मानवता सदैव पुरानी और जर्जर दानवी शक्तियों से युद्ध करती है। आज के युग में बुनियादी शक्तियां वे हैं, जो पूंजीवाद को नष्ट कर समाजवाद स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हैं। इन बुनियादी शक्तियों को पहचानने और उनका समर्थन करने वाला साहित्य अनिवार्य रूप से किसानों और मज़दूरों के संघर्ष को रूपायित कर उसे बल प्रदान करता है तथा पूंजीवादी (और सामंतवादी) शक्तियों की शोषक, स्वार्थी, स्वकेंद्रित, जर्जर, विसंगतिमय प्रवृत्तियों पर चोट करता है।

प्रगतिवाद ने सौंदर्य को नये दृष्टिकोण से देखा। वह वर्तमान जनजीवन में सौंदर्य खोजता है। सौंदर्य का संबंध हमारे हार्दिक आवेगों और मानसिक चेतना दोनों से होता है। इन दोनों का संबंध सामाजिक संबंधों से होता है। नये समाज में पलने वाला अथवा उसके साथ चलने का प्रयास करने वाला कवि नये उठते हुए समाज में सौंदर्य देखेगा, वह संघर्षों से भाग कर किसी अतीत लोक या कल्पना-लोक के निष्क्रिय सौंदर्य में मुंह नहीं छिपायेगा। प्रसिद्ध मार्क्सवादी दार्शनिक एन.जी. चरनीशवस्की के शब्दों में मनुष्य को जीवन सबसे प्यारा है, इसीलिए सौंदर्य की यह परिभाषा अत्यंत संतोषजनक मालूम पड़ती है : 'सौंदर्य जीवन है'।

प्रगतिवादी साहित्य को सोद्देश्य मानता है। सोद्देश्यता और प्रचार को एक नहीं कर देना चाहिए। 'सोद्देश्यता' का अर्थ है किसी विशेष अभिप्राय से, किसी विशेष दृष्टि से कला की रचना करना। 'प्रचार' का अर्थ है, बहुत स्पष्ट रूप से, किसी सिद्धांत की, दृष्टिकोण की या मान्यता की घोषणा करते फिरना। प्रगतिवाद का उद्देश्य स्पष्ट किया जा चुका है, अर्थात वह सामाजिक यथार्थ का इस प्रकार चित्रण करता है कि कुरूप, शोषक, सड़ी-गली, विसंगतिग्रस्त शक्तियों का पर्दाफाश हो और नयी सामाजिक शक्तियों के संघर्षों, युयुत्सा और आस्था को बल मिले। 'साहित्य जनता का जनता के लिए' चित्रण करता है। प्रचार साहित्य को हलका बनाता है

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और सिद्धांत के स्तर पर मार्क्सवादी दर्शन के मनीषियों और साहित्य-चिंतकों ने साहित्य में प्रचार का विरोध ही किया है। किंतु व्यवहार में यह देखा गया कि अधिकांश प्रगतिवादी साहित्य प्रचार बन कर रह गया। सामाजिक जीवन की संश्लिष्ट वास्तविकता से कट कर केवल सिद्धांत का प्रचार करने का परिणाम यह हुआ कि कवि अपने परिवेश से संबद्ध न रह कर पहले लाल सेना और लाल रूस का, फिर बाद में लाल चीन का गीत गाने लगा। प्रचार का एक दूसरा ख़तरा यह भी हुआ कि कवियों ने जनजीवन से अपने को संबद्ध किये बिना ही जनजीवन का गीत गाना शुरू किया। अनुभव के स्थान पर फॉर्मूला कविताओं की प्रेरणा बना।

कला का शिल्प उसके वक्तव्य विषय के अनुसार होता है। प्रगतिवादी कविता चूंकि सामाजिक जीवन की वास्तविकता को ले कर चली, जनता तक पहुंचना और जनता के जीवन की ही बात कहना, उसका लक्ष्य रहा। इसलिए वह छायावाद की वायवी, असामान्य, रेशमी परिधानशालिनी और सूक्ष्म भाषा को छोड़ कर सुस्पष्ट, सामान्य, प्रचलित भाषा को अपना कर चली, उसके प्रतीक, बिंब, शब्द, मुहावरे, चित्र सभी जनजीवन के बीच से लिये। इसलिए एक बहुत ही जीवंत भाषा का उदय हुआ, जैसे रंगीन कुहासे को तोड़ कर विषय यथार्थ धरातल उभर उठा हो। किंतु प्रगतिवाद के आरंभ में भाषाशैली की यह स्पष्टवादिता, अतिवादिता तक पहुंच कर व्याख्यान की भाषा की तरह सपाट हो गयी, उसमें अभिधा की प्रधानता हो गयी। शैली सांकेतिक और चित्रात्मक न हो कर उपदेशात्मक हो गयी। इस प्रकार काव्य का कलात्मक सौंदर्य निखर नहीं पाया। ज्यों-ज्यों आंदोलन का उफान मंद पड़ता गया या ज्यों-ज्यों लोग मार्क्सवादी दृष्टि को साहित्य के संदर्भ में ठीक ढंग से समझते गये, त्यों-त्यों काव्य प्रचारात्मक, अभिधात्मक, सपाट रूप को छोड़ कर अधिक चित्रात्मक, गहन और सांकेतिक होता गया।

प्रगतिवाद ने अपनी सीमाओं के बावजूद हिंदी-काव्यधारा के विकास में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ा। उसने काव्य को (साहित्य मात्र को) व्यक्तिवादी यथार्थ के बंद कमरे से निकाल कर जनजीवन के बीच प्रवाहित कर दिया। जीवन और साहित्य के मूल्य, सौंदर्यबोध और लक्ष्य को समाज के यथार्थ और उसकी रचना से जोड़ा, भाषा को कुहरे से निकाल कर धरातल पर प्रतिष्ठित किया। निराला, सुमित्रानंदन पंत, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा, नागार्जुन, शिवमंगलसिंह 'सुमन', त्रिलोचन और मुक्तिबोध इस धारा के प्रमुख कवि हैं। इनमें से निराला और पंत की प्रगतिवादी कविताओं की चर्चा छायावाद के प्रसंग में हो चुकी है।

**केदारनाथ अग्रवाल** (1911-2000) : इनका जन्म कमासिन, ज़िला बांदा में हुआ। ये बांदा में वकालत करते थे और प्रगतिवादी वर्ग के काफ़ी सशक्त कवि थे। इन्होंने उद्बोधनात्मक कविताएं भी काफ़ी लिखी हैं, किंतु सच्ची कविताओं की भी इनके यहां कमी नहीं है। केदार की कविताओं में मानव और प्रकृति के सौंदर्य का बड़ा सहज, वेगवान और उन्मुक्त रूप मिलता है। 'माझी न बजाओ वंशी', 'वसंती हवा' आदि कविताएं' (जो 'फूल नहीं, रंग बोलते हैं' में संगृहीत हैं) केदार की प्रगतिकालीन सहज सौंदर्यवादी कविताओं के रूप में देखी जा सकती हैं। एक प्रकृति-चित्र देखिए :

*आज नदी बिलकुल उदास थी*
*सोयी थी अपने पानी में*
*उसके दर्पण पर*
*बादल का वस्त्र पड़ा था*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*मैंने उसको नहीं जगाया*
*दबे पाँव वापस घर आया।*

(फूल नहीं, रंग बोलते हैं)

**रामविलास शर्मा** (1912-2000) : रामविलास शर्मा का जन्म झांसी में हुआ था। ये अंग्रेज़ी के पी-एच.डी. थे। दीर्घकाल तक ये बलवंत राजपूत कॉलेज, आगरा में अंग्रेज़ी के प्राध्यापक रहे और फिर के.एम. मुंशी हिंदी विद्यापीठ, आगरा के निदेशक रहे। ये प्रगतिशील लेखकसंघ के मंत्री तथा 'हंस' के संपादक भी रहे। ये प्रख्यात प्रगतिवादी समीक्षक हैं। इनकी कविताओं का सौंदर्य है—सादगी, वेग और सहजता। शर्मा जी की कविताओं में प्रचार और नारों की कमी नहीं, स्थूल व्यंग्यों की भी अधिकता है। किंतु जहां वे अतिवादिताओं से मुक्त हो कर केवल कवि के रूप में रहे, वहां वे सामाजिक संवेदना को आत्मसात् करके उसे सरल, वेगवती भाषा में अभिव्यक्त करते रहे।

**नागार्जुन** (1910-1998) : नागार्जुन का वास्तविक नाम वैद्यनाथ मिश्र है। इनका जन्म तरौनी (दरभंगा) में हुआ था। स्कूली शिक्षा के स्थान पर इन्होंने हिंदी-संस्कृत का स्वाध्याय किया। 'यात्री' नाम से ये मैथिली में भी कविताएं लिखते थे। कवि के साथ-साथ ये हिंदी के प्रमुख उपन्यासकार भी हैं। इनकी कविताएं मुख्यत: तीन तरह की हैं, कुछ कविताएं गंभीर, संवेदनात्मक और कलात्मक हैं, जिनमें कवि ने मानव-मन की रागात्मक और सौंदर्यमयी छवियों को अंकित किया है और साथ-ही-साथ मनुष्य की मानवीय संभावनाओं के प्रति आस्था व्यक्त की है। दूसरी कोटि की कविताएं वे हैं, जो सामाजिक कुरूपता, राजनीतिक अव्यवस्था और धार्मिक अंधविश्वास पर बढ़िया, चुभता हुआ व्यंग्य करती हैं। शिक्षा-पद्धति पर एक व्यंग्य द्रष्टव्य है :

*घुन खाये शहतीरों पर की बारहखड़ी विधाता बांचे,*
*फटी भीत है, छत चूती है, आले पर बिस्तुइया नाचे,*
*बरसा कर बेबस बच्चों पर मिनट-मिनट में पाँच तमाचे,*
*इसी तरह से दुखरन मास्टर गढ़ता है आदम के साँचे।*

(युगधारा)

नागार्जुन की तीसरी कोटि की रचनाएं उद्बोधनात्मक हैं, किंतु काव्य-तत्त्व की दृष्टि से ये रचनाएं हलकी हैं। 'बादल को घिरते देखा है', 'पाषाणी', 'चंदना', 'रवींद्र के प्रति', 'सिंदूर तिलकित भाल', 'तुम्हारी दंतुरित मुसकान' आदि कविताएं इनकी उत्तम प्रगतिवादी कविताएं हैं।

**रांगेय राघव** (1923-1962) : रांगेय राघव बहुमुखी प्रतिभा के प्रगतिवादी कवि थे। इन्होंने कविता के साथ-साथ कहानियां, उपन्यास और आलोचनाएं तो लिखी ही, कविता के क्षेत्र में भी ये प्रबंध और मुक्तक दोनों ही क्षेत्रों में सक्रिय रहे। 'अजेय खंडहर', 'मेधावी' और 'पांचाली' उनकी प्रबंधात्मक कृतियां हैं, जिनमें विषय की नवीन योजना के साथ-साथ नूतन प्रबंधविन्यास भी लक्षित होता है। रांगेय राघव की कविताओं में समाजवादी चिंतन और उससे अनुप्राणित सामाजिक संवेदना की शक्ति है। 'राह के दीपक' की कविताओं में युगीन यथार्थ के संदर्भ में प्रकृति-छवि का भी अंकन किया गया है।

**शिवमंगलसिंह सुमन** (1915-2002) : शिवमंगलसिंह सुमन की कविताएं भी दो तरह की हैं। एक तो वे, जो गीत हैं या छोटी-छोटी सुगठित कविताएं हैं। दूसरी वे, जो अधिक लंबी और उपदेशात्मक हैं। उनकी छोटी-छोटी कविताएं और गीत जहां कला और प्रभाव की दृष्टि से उत्तम दीखती हैं, वहीं बड़ी कविताएं अधिक स्थान घेरती हैं और उनका प्रभाव बिखर जाता है, क्योंकि वे ध्वन्यात्मक और चित्रात्मक न हो कर इतिवृत्तात्मक होती हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**त्रिलोचन** (1917-2007) : त्रिलोचन भी इस वर्ग के कवि हैं। 'मिट्टी की बरात' इनकी प्रमुख कृति है। इनकी कविताओं में बड़ी सादगी है और हर कविता में धरती की सोंधी गंध मिलती है। ये कविताएं प्राय: आकार में छोटी और प्रभाव में तीव्र होती हैं।

**मुक्तिबोध** (1917-1964) : अपने विश्वासों और संवेदनाओं से जनवादी हैं। प्रगतिशील कविता के अंतर्गत इनकी अनेक रचनाएं आसानी से रखी जा सकती हैं, किंतु कुल मिला कर इन्हें नयी कविता के अंतर्गत रखना ही समीचीन होगा। इन कवियों के अतिरिक्त अज्ञेय, भारतभूषण अग्रवाल, भवानीप्रसाद मिश्र, नरेश मेहता, शमशेर बहादुरसिंह, धर्मवीर भारती आदि में भी प्रगतिवाद किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है, किंतु मूलत: इन्हें प्रगतिवाद के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता।

## प्रयोगवाद और नयी कविता

### प्रयोगवाद

प्रयोग तो प्रत्येक युग में होते आये हैं, किंतु 'प्रयोगवाद' नाम उन कविताओं के लिए रूढ़ हो गया है, जो कुछ नये बोधों, संवेदनाओं तथा उन्हें प्रेषित करने वाले शिल्पगत चमत्कारों को ले कर शुरू-शुरू में 'तार सप्तक' के माध्यम से सन् 1943 में प्रकाशन-जगत में आयीं, और जो प्रगतिशील कविताओं के साथ विकसित होती गयीं तथा जिनका पर्यवसान नयी कविता में हो गया। 'प्रयोगवाद' नाम भ्रामक है, क्योंकि इस नाम से यह भाव टपकता है कि इन कवियों ने प्रयोग को साध्य मान कर एक नया वाद चला दिया। अज्ञेय जी ने 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में कवि-कर्म की व्याख्या करते हुए 'प्रयोग' शब्द को स्पष्ट किया था। उनकी दृष्टि में प्रयोग अपने-आप में इष्ट नहीं है, वरन् वह साधन है, दोहरा साधन है। एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है, जिसे कवि प्रेषित करता है और दूसरे वह उस प्रेषण-क्रिया और उसके साधनों को जानने का साधन है।

'तार सप्तक' और 'प्रतीक' पत्रिका को देखने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनमें संगृहीत या प्रकाशित कवियों के अनुभव के क्षेत्र, दृष्टिकोण और कथ्य एक ही प्रकार के नहीं हैं। कुछ ऐसे हैं, जो विचारों से समाजवादी हैं और संस्कारों से व्यक्तिवादी, जैसे—शमशेरबहादुर सिंह, नरेश मेहता और नेमिचंद्र जैन। कुछ ऐसे हैं, जो विचारों और क्रियाओं दोनों से समाजवादी हैं, जैसे—रामविलास शर्मा और गजानन माधव 'मुक्तिबोध'। कुछ ऐसे हैं, जो प्रगतिशील कविता के द्वारा व्यक्त होते हुए जीवन-मूल्यों और सामाजिक प्रश्नों को असत्य या सत्याभास मान कर अपने व्यक्तिगत जीवन में तड़पने वाली गहरी संवेदनाओं को ही रूपायित करना चाहते हैं। प्राय: ये सभी कवि मध्यवर्ग के हैं। जिन कवियों ने समाजवादी विश्वासों को अपने संस्कारों में ढाल कर कविताएं लिखी हैं, वे वास्तव में जनवादी कवि हैं। किंतु जो ऐसा नहीं कर सके हैं या करना चाहते हैं, वे अपने व्यक्तिगत सुख-दु:खों की संवेदनाओं को ही अपने काव्य का सत्य मान कर उन्हें नये-नये माध्यमों द्वारा व्यक्त कर रहे हैं। आलोचकों ने प्रयोगवाद की चर्चा करते समय मूलत: इन्हीं कवियों को ध्यान में रखा है। यह ठीक भी है, क्योंकि समाजवादी विश्वासों वाले कवि प्रगतिशील कविता के क्षेत्र में आ ही जाते हैं।

अत: प्रयोगवादी कविता ह्रासोन्मुख मध्यवर्गीय समाज के जीवन का चित्र है। प्रयोगवादी कवि ने जिस नये सत्य के शोध और प्रेषण के नये माध्यम की खोज की घोषणा की थी, वह सत्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इसी मध्यवर्गीय समाज के व्यक्ति का सत्य था। अत: प्रश्न यह उठाया गया कि क्यों न हम उसी यथार्थ को अभिव्यक्ति दें, जिसे हम भोगते हैं, अनुभव करते हैं, अर्थात जिसे हम आत्मसात् कर लेते हैं। व्यापक जीवन की बड़ी-बड़ी सैद्धांतिक बातें और नैतिकता के बड़े-बड़े फ़लसफ़े ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भले ही उपादेय हों, वे कला के क्षेत्र में, कलाकार के 'स्व' की आंच में तपे बिना न तो खप सकते हैं और न उपादेय ही हैं। प्रश्न यह नहीं कि हमने कला के जीवन के कितने व्यापक अंश को समेटा है, प्रश्न यह है कि हमने लिये हुए अंश को कितना जिया है, कितना भोगा है और कितनी ईमानदारी और सच्चाई के साथ उसे व्यक्त किया है। प्रयोगवादी कवि इसीलिए व्यापक जनजीवन के अंकन के फेर में न पड़ कर, अपने जिये हुए जीवन के ही विभिन्न दर्दों को अंकित करना पसंद करते हैं।

मध्यवर्गीय कवियों ने व्यक्ति-मन के सत्यों को उद्घाटित करने में ही नये सत्यों की प्रतीति और उनका संप्रेषण समझा। मध्यवर्ग आज ह्रासोन्मुख है। वह अपने चारों ओर के कठोर परिवेश के दबाव से टूट रहा है। उसकी आकांक्षाएं विराट हैं, सपने रंगीन हैं, संवेदनाएं कोमल हैं। वह अपने चारों ओर खड़ी कठोर सामाजिक बंधनों और आर्थिक वैषम्य की अभेद्य दीवारों से टकरा कर अपने में लौट आता है, और अपने को समाज से कटा हुआ, हारा हुआ, खंडित और कुंठित समझने लगता है तथा पीड़ा के अनेक स्तरों से उलझी हुई संवेदनाओं को मन का गहरा यथार्थ मान बैठता है। यह मध्यवर्गीय व्यक्ति या कवि जनजीवन के सामूहिक जागरण से असंपृक्त रहने के कारण अपनी सीमाओं को तोड़ने का कोई सक्रिय प्रयास न करके 'स्व' की गुफ़ा में पीड़ा के मणि खोजता रहता है। इस प्रकार वह जनजीवन के प्रवाह से कट कर उसी के बीच में नदी के द्वीप की तरह अपनी इकाई में अवस्थित रहता है। प्राय: सभी प्रयोगवादी कवियों में यह स्थिति देखी जा सकती है। यह पीड़ा-बोध इन कवियों में इतना गहरा और सजग है कि वे इसे दार्शनिक स्तर पर एक चिरंतन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं :

*दु:ख सब को माँजता है*
*और*
*चाहे स्वयं सब को मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु*
*जिनको माँजता है*
*उन्हें यह सीख देता है कि सब को मुक्त रखें।* **(अज्ञेय)**

प्रयोगवादी कवि यथार्थवादी हैं। वे भावुकता के स्थान पर ठोस बौद्धिकता को स्वीकार करते हैं। ये कवि मध्यवर्गीय व्यक्ति-जीवन की समस्त जड़ता, कुंठा, अनास्था, पराजय और मानसिक संघर्ष के सत्य को बड़ी बौद्धिकता के साथ उद्घाटित करते हैं। यों तो मध्यवर्गीय व्यक्ति-जीवन की पीड़ा के अनेक स्तर इन कविताओं में उभरे हैं, किंतु विशेषतया दमित कामवासना का ही प्राधान्य लक्षित होता है। इनकी काम-संवेदना जितनी ही तीव्र है, उतनी ही सामाजिक बंधनों की सीमाएं कठोर हैं। अतएव तीव्र संवेदनाओं वाले मध्यवर्गीय कवि की यौन-वासना उभर-उभर कर कुंठित होती गयी और कुंठित हो कर दर्द बनती गयी। छायावादी कवियों ने कल्पनालोक में नारी के साथ साहचर्य स्थापित कर अपनी प्यास मिटा ली, किंतु यथार्थ आग्रही कवियों के लिए यह संभव नहीं था। उन्होंने कल्पना का रंगीन आवरण हटा कर दमित यौन-वासनाओं के नग्न रूप को स्पष्ट कर दिया। फ्रायड का काम-सिद्धांत इनके लिए प्रधान जीवन-दर्शन बन गया। इन कवियों ने कहीं स्पष्ट रूप से और कहीं बारीक प्रतीकों तथा बिंबों के माध्यम से दमित काम-वासनाओं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और उलझी हुई संवेदनाओं को रूपायित किया। अज्ञेय, शमशेर, गिरिजाकुमार माथुर और भारती के नाम इस संदर्भ में लिये जा सकते हैं।

प्रयोगवाद ने बड़ी-बड़ी घटनाओं, बड़े-बड़े संघर्षों, बड़े-बड़े व्यक्तियों या समुदायों, बड़े-बड़े जीवन-प्रसंगों के विशाल फलक पर इतिवृत्तात्मक काव्य का निर्माण नहीं किया, बल्कि उसने व्यक्ति के अंत:संघर्षों, क्षणों की अनुभूतियों और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, छोटी-से-छोटी संवेदनाओं और मन की विभिन्न स्थितियों को ले कर छोटी-छोटी तीव्र प्रभावशाली कविताएं लिखीं, फ्लैश दिये। कला में मूल प्रश्न विषय की महत्ता या लघुता का नहीं है, मूल प्रश्न है उसे ईमानदारी के साथ जी कर व्यक्त करने का। लघु मानव को उसकी समस्त हीनता और महत्ता के संदर्भ में प्रस्तुत करके प्रयोगवादी कविता ने उसके प्रति सहानुभूतिमय दृष्टि से सोचने के लिए एक नया रास्ता खोला। मनुष्य अपनी समग्र दुर्बलताओं, हीनताओं, लघुताओं और महत्ताओं के बीच यथार्थ है। अत: यथार्थ मानव की सृष्टि के लिए उसके जटिल परिवेश को अंकित करना कलाकार का धर्म है।

## नयी कविता

'नयी कविता' भारतीय स्वतंत्रता के बाद लिखी गयी उन कविताओं को कहा गया, जिनमें परंपरागत कविता से आगे नये भावबोधों की अभिव्यक्ति के साथ ही नये मूल्यों और नये शिल्प-विधानों का अन्वेषण किया गया। यह अन्वेषण साहित्य में कोई नयी वस्तु नहीं है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो प्राय: सभी नये वाद या नयी-नयी धाराएं अपने पूर्ववर्ती वादों या धाराओं की तुलना में कुछ नवीन अन्वेषण की प्यास लिये दिखायी पड़ती हैं। साहित्य की यह नवीनता सदैव श्लाघ्य है, यदि वह अपना संबंध बदलते हुए सामाजिक जीवन के मूल सत्यों से बनाये रखे। इस प्रकार नित नवता की एक परंपरा गतिमान रही है। फिर भी 'नयी कविता' नाम स्वतंत्रता के बाद लिखी गयी उन कविताओं के लिए रूढ़ हो गया, जो अपनी वस्तु-छवि और रूप-छवि दोनों में पूर्ववर्ती प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का विकास हो कर भी विशिष्ट हैं।

नयी कविता की प्रवृत्तियों की परीक्षा करने पर उसकी सबसे पहली विशिष्टता जीवन के प्रति उसकी आस्था में दिखायी पड़ती है। आज की क्षणवादी और लघु मानववादी दृष्टि जीवनमूल्यों के प्रति नकारात्मक नहीं, स्वीकारात्मक दृष्टि है। नयी कविता में जीवन का पूर्ण स्वीकार करके उसे भोगने की लालसा है। मनोविज्ञान द्वारा उद्घाटित सत्यों ने यह प्रमाणित किया है कि हम क्षणों में जीते हैं। क्षणों की अनुभूतियां संपूर्ण जीवनानुभूति की बाधक नहीं, साधक हैं। क्षणों को सत्य मान लेने का अर्थ होता है, जीवन की एक-एक अनुभूति को, एक-एक व्यथा को, एक-एक सुख को, सत्य मान कर, जीवन को सघन रूप से स्वीकार करना। लघु मानवत्व की जो बात नयी कविता में उठायी गयी है, उसे भी जीवन की पूर्णता के ही संदर्भ में देखना होगा। लघु मानव का अर्थ है— वह सामान्य मनुष्य, जो अपनी सारी संवेदना, भूख-प्यास और मानसिक आंच को लिये-दिये उपेक्षित था। इस लघु मानव का अर्थ यदि मनुष्य की लघुता को खोज-खोज कर सत्य-रूप में उसकी प्रतिष्ठा करने से है, तो निश्चय ही यह अतिवादी, प्रतिक्रियावादी और असत्य जीवनदृष्टि है। स्वस्थ नयी कविता ने कभी भी इस अर्थ को स्वीकार नहीं किया।

नयी कविता ने जीवन को उपर्युक्त धाराओं की कविताओं की तरह न तो एकांगी रूप में देखा, न केवल महत् रूप में, बल्कि उसने जीवन को (वह चाहे किसी वर्ग का हो, चाहे व्यक्ति का हो, चाहे समाज का हो) जीवन के रूप में देखा, इसमें कोई सीमा नहीं निर्धारित की। मनुष्य किसी वर्गीय चेतना, सिद्धांत अथवा आदर्श की बैसाखी पर चलता हुआ इसके पास नहीं आया, वह

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अपने संपूर्ण दुःख-सुख, राग-विराग के परिवेश से संयुक्त शुद्ध मनुष्य के रूप में आया। अभिप्राय यह है कि नयी कविता कोई वाद नहीं है, जो अपने कथ्य और दृष्टि में सीमित हो। कथ्य की व्यापकता और सृष्टि की उन्मुक्तता नयी कविता की सबसे बड़ी विशेषता है। नयी कविता को हम नया बोध मानते हुए भी परंपरा से विच्छिन्न करके नहीं देख सकते। नयी कविता के रचयिताओं में से अधिकांश प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के खेमों में रह चुके हैं। उनकी सीमाओं से अवगत हो कर वे किसी खुले क्षेत्र में आने को आकुल थे, नयी कविता दोनों के लिए सामान्य भूमि के रूप में प्राप्त हुई। नयी कविता में दो तत्त्व प्रमुख हैं—अनुभूति की सच्चाई और बुद्धिमूलक यथार्थवादी दृष्टि। वह अनुभूति क्षण की हो या एक समूचे काल की, किसी सामान्य व्यक्ति की हो या विशिष्ट पुरुष की, आशा की हो या निराशा की, अपनी सच्चाई में कविता के लिए और जीवन के लिए भी अमूल्य है। नयी कविता में बुद्धिवाद नवीन यथार्थवादी दृष्टि के रूप में भी है और नवीन जीवन-चेतना की पहचान के रूप में भी। दृष्टि हमारे अनुभवों का मूल्यांकन करती है, उनसे तटस्थ बनाये रखने का प्रयत्न करती है और जीवन-चेतना की पहचान हमारी भावात्मक सत्ता को नयी समझ से संक्रांत बनाती है। संवेदना ज्ञानात्मक हो उठती है।

अनुभूति की सच्चाई की बात-बार बार कही जा रही है। अनुभूति किसकी? कवि की या समाज की? उत्तर है—कवि की। समाज की अनुभूति कवि की अनुभूति बन कर ही कविता में व्यक्त हो सकती है। उसका सर्जक व्यक्तित्व कोई यंत्र नहीं है। वह हर कच्चे माल को पहले अपने में आत्मसात् करता है, फिर व्यक्त करता है। जितना वह ले पाता है, उतना ही उसके काव्य के लिए सत्य है। इसलिए उसके व्यक्तित्व का संस्कार करने वाली युग-सत्यग्राही चेतना की आवश्यकता होती है। युगबोध से संस्कृत व्यक्तित्व अपने माध्यम से सबको देख लेता है, क्योंकि मनुष्य अपने मूल दर्द में एक है और कवि का व्यक्तित्व दर्द की संवेदना का जागरूक भोक्ता :

*चेहरे थे असंख्य*
*आँखें थीं*
*दर्द सभी में था*
*जीवन का दंश सभी ने जाना था*
*पर दो*
*केवल दो*
*मेरे मन में कौंध गयीं*
*मैं नहीं जानता किसकी वे आँखें थीं*
*नहीं समझता फिर उनको देखूँगा*
*परिचय मन ही मन चाहा तो उद्यम कोई नहीं किया*
*किन्तु उसी की कौंध*
*मुझे फिर फिर दिखलाती है।*

× × ×

*वही परिचित दो आँखें ही*
*चिर माध्यम हैं*
*सब आँखों से सब दर्दों से*
*मेरे चिर परिचय का।* (अज्ञेय)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नयी कविता जीवन के एक-एक क्षण को सत्य मानती है और उस सत्य को पूरी हार्दिकता और पूरी चेतना से भोगने का समर्थन करती है। क्षणबोध शाश्वत बोध का विरोधी नहीं, उसे प्राप्त करने की यथार्थ प्रक्रिया है। क्षणों में दिखायी पड़ने वाला जीवन-सौंदर्य, क्षणों में अनुभूत होने वाली जीवन की व्यथा या उल्लास, क्षणों में लक्षित होने वाली मन:स्थिति या बाह्य व्यापार, क्षणों की सीमा में स्फूर्जित हो जाने वाला कोई सत्य छोटा नहीं है। अनुभूति-शून्य, व्यथा-रिक्त इतिहास असत्य है, निरर्थक है। इसलिए नयी कविता अनुभूतिपूर्ण गहरे क्षण, प्रसंग, व्यापार या किसी भी सत्य को उसकी आंतरिक मार्मिकता के साथ पकड़ लेना चाहती है। इस प्रकार जीवन के सामान्य-से-सामान्य दीखने वाले व्यापार या प्रसंग नयी कविताओं में नया अर्थ पा जाते हैं।

नयी कविता में क्षणों की अनुभूतियों को ले कर बहुत-सी मर्मस्पर्शी और विचार-प्रेरक कविताएं लिखी गयी हैं। ये कविताएं कुछ क्षणों का, लघु प्रसंगों का, लघु दृश्यों का चित्रण नहीं करतीं, बल्कि कुछ संगत और असंगत बिंबों के माध्यम से क्षणों की परिधि में उफनते जीवन की संश्लिष्टता को मूर्तिमान कर देती हैं। ये कविताएं आकार में छोटी होती हैं और प्रभाव में अत्यंत तीव्र। कुछ आलोचकों ने यह आरोप लगाया है कि नयी कविता में चित्रित जीवन-बोध या सत्य विदेशी-दर्शन और कविता से उधार लिया गया है और यह कविता यहां के लोगों के जीवन-सत्यों को न ग्रहण कर परोक्ष भाव से पश्चिम के जीवन-सत्यों को ग्रहण करती है। इस आक्षेप में कुछ सत्य है, किंतु इसे नयी कविता की धारा का मूल स्वर हम नहीं मान सकते। इसे अपवाद रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। कहा जा चुका है कि नयी कविता जीवन को अनुभूति के क्षणों में पकड़ने की पक्षपातिनी है। अनुभूति प्राप्त करने वाला स्रष्टा अपने परिवेश की उपज होता है। अनुभूतियां उसे अपने परिवेश से ही प्राप्त होती हैं। अत: नयी कविता अपने परिवश के जीवन-सत्यों को छोड़ कर खड़ी ही कहां रह सकती है?

हां, जीवन-सत्य को हमें दो रूपों में देखना होगा। कुछ जीवन-सत्य किसी विशेष समय और स्थान के होते हैं, जो कविता में आ कर समय और स्थान के बंधनों को तोड़ बैठते हैं। कुछ सत्य ऐसे होते हैं, जो प्रकृति से ही देशकाल की दूरियों से परे होते हैं। कविता एक ऐसी संश्लिष्ट कृति है कि इसमें हम परिवेशगत और परिवेशमुक्त सत्य को अलग करके नहीं देख सकते। नयी कविता का स्वर अपने परिवेश की जीवनानुभूति से फूटा है। विभिन्न कविताओं के जीवनानुभव विभिन्न परिवेशों से संबद्ध हो सकते हैं। नयी कविता में शहरी जीवन और ग्रामीण जीवन इन दोनों परिवेशों को ले कर लिखने वाले कवि हैं। अज्ञेय एक ऐसे कवि हैं, जिनका अनुभवक्षेत्र बड़ा व्यापक है। शहरी जीवन और देहाती जीवन की तीव्र चेतना इनकी कविताओं को व्यापक रूप देती है। किंतु सभी कवियों का बोध अज्ञेय के समान व्यापक नहीं है। एक ओर बालकृष्ण राव, शमशेर बहादुर सिंह, गिरिजाकुमार माथुर, कुंवर नारायण, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, विजयदेवनारायण साही, रघुवीर सहाय आदि कवि हैं, जिनकी संवेदनाएं और अनुभूतियां मुख्यत: शहरी परिवेश की हैं। दूसरी ओर भवानीप्रसाद मिश्र, केदारनाथ सिंह, शंभुनाथ सिंह, ठाकुरप्रसाद सिंह, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल आदि ऐसे कवि हैं, जो मूलत: गांव के संस्कारों और अनुभूतियों से बने हैं। किंतु यह ऐकांतिक अलगाव नहीं है। दोनों प्रकार के क्षेत्रों में कवि संक्रमण करते हैं। इस परिवेश के प्रभाव को देखने के लिए एक ओर मदन वात्स्यायन की यांत्रिक परिवेश की कविताएं देखिए, दूसरी ओर ठाकुरप्रसाद सिंह के संथाली जीवन के वातावरण में सर्जित आर्द्र गीत देखिए। अज्ञेय एक ओर मध्यवर्गीय व्यक्ति-मन की कुंठा-निराशा को, औद्योगिक नगरों की असंगति-भरी सभ्यता को, उसकी तीव्रता में पकड़ते हैं, तो दूसरी ओर उन्मुक्त प्रकृति या ग्राम-जीवन की किसी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

छवि, विषमता या व्यथा को व्यंजित करते हैं या प्रकृति और ग्राम्य-जीवन के बिंब ले कर अनुभूति या सौंदर्य का कोई स्वर उभारते हैं।

नयी कविता का परिवेश अपने यहां का जीवन है। लेकिन लोगों का आक्षेप है कि नयी कविता में अतिरिक्त अनास्था, निराशा, व्यक्तिवादी कुंठा और मरणधर्मिता है। ये विशेषताएं पश्चिम की नक़ल से पैदा हुई हैं, अतः नयी कविता विदेशी परिवेश से प्रेरणा ग्रहण करती है। यह सत्य है कि नयी कविता में निराशा, कुंठा, मरणधर्मिता भी है, किंतु इन विशेषताओं को जन्म देने वाले कारण अपने समाज में ही हैं। समाज का परिवेश बड़ा विषम है। यदि सामाजिक स्थिति में तड़पते व्यक्ति को निराशा, कुंठा, लाचारी और मृत्यु की कामना प्राप्त होती है तो वह उधार में सुख, आशा और जीवन की प्रवंचना कहां से लायेगा? जीवन के हर क्षण को विश्वास के साथ भोगना, उसकी पीड़ा और निराशा को भी जीवन-सत्य मान कर, सच्चे रूप में भोगना ही जीवन का सच्चा उपभोग है और असल में वही जीवन की आस्था है। किंतु पीड़ा और निराशा को जीवन का मूल सत्य मान कर दिन-रात मरसिया पढ़ने का उपदेश देना सामाजिक जीवन के समस्त विकास के पीछे कार्य करने वाली मनुष्य की जिजीविषा, प्रेम और उल्लास को अस्वीकार करना है। नयी कविता में भी पीड़ा और निराशा को कहीं-कहीं जीवन का एक पक्ष न मान कर, समग्र जीवन-सत्य मान लिया गया है। वहां पीड़ा जीवन की सर्जनात्मक शक्ति न बन कर उसे गतिहीन करने वाली बाधा बन कर आयी है। ऐसी दृष्टि समाज या व्यक्ति-जीवन के अभाव पक्ष को ही उद्घाटित करने में रस लेती है। अभाव पक्ष के उद्घाटन की सार्थकता तभी है, जब कविता उपलब्धि-सी दीखने वाली किसी चीज़ के भीतर की रिक्तता को व्यंग्यात्मक ढंग से व्यक्त करे या वह अभाव पक्ष के भीतर से जीवन की ओर संकेत करे। नयी कविता जीवन-मूल्यों की पुनः परीक्षा करती है। ये मूल्य नवीन युग की आवश्यकताओं के परिवेश में कितने खरे उतरते हैं और अपने रूढ़ रूप में कितने असंगतिपूर्ण हो गये हैं, इनका कितना स्वरूप आज के लिए भी ग्राह्य है, जागरूक कवि और चिंतक को यह परीक्षा करनी पड़ती है।

नयी कविता ने जीवन-मूल्यों की फिर परीक्षा की है, जिसके ये परिणाम सामने आये हैं। कुछ मूल्य तो निश्चित ही सामयिक थे, जो आज सिद्धांत और व्यवहार दोनों ही रूपों में व्यर्थ हो गये हैं तथा कुछ मूल्य अपनी प्रकृति में मानव-जीवन की चिरंतन-निधि सिद्ध हैं, किंतु वे व्यवहार में बड़े निकम्मे तरीक़े से प्रयुक्त किये गये हैं। वे केवल नीतिवाक्यों के रूप में उच्चरित किये जाते हैं। नयी कविता की प्रश्नाकुल दृष्टि इन मूल्यों को उनकी विकसित असंगतियों के बीच देखती है। इसलिए जहां ये मूल्य अपनी असंगतियों के कारण तीखे व्यंग्य का भाजन बनते हैं, वहीं नये संदर्भों में भी सिद्ध होने वाली उपयोगिता के कारण आस्था का आधार। नये मूल्यों की पुनः परीक्षा का क्रम नया नहीं है। हर युग ने पुराने मूल्यों को अपने संदर्भ में कसा है, किंतु इन युगों की कविताओं के सामने समाधान के तौर पर कोई आदर्शवाद उतर आता रहा है और प्रश्नाकुलता का स्थान भावात्मक मानवतावादी आस्था लेती रही है। परंतु नयी कविता की यथार्थवादी दृष्टि काल्पनिक या आदर्शवादी या भावुकतामिश्रित मानववाद से संतुष्ट न हो कर जीवन का मूल्य, उसका सौंदर्य, उसका प्रकाश जीवन में ही खोजती है। वर्तमान की गहन निराशा और बिखराव के बीच भी वह अनागत ज्योति के लिए प्रतीक्ष्यमान है। नयी कविता द्विवेदीकालीन कविता, छायावाद या प्रगतिवाद की तरह अपने बने-बनाये मूल्यवादी नुस्खे नहीं पेश करती, वह तो उसे जीवन की सच्ची व्यथा के भीतर पाना चाहती है। इसलिए नयी कविता में व्यंग्य के रूप में कहीं पुराने मूल्यों की अस्वीकृति है, तो कहीं दर्द की सच्चाई के भीतर से उगते हुए नये मूल्यों की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संभावना के प्रति आस्था। नयी कविता ने धर्म, दर्शन, नीति, आचार सभी प्रकार के मूल्यों को चुनौती दी है, और जीवन की नवीन अनुभूति, नवीन चिंतन, नवीन गति के मार्ग में आने वाले फॉर्मूलों अथवा मूल्यों की विधातक असंगतियों को अनावृत्त करना सर्जनात्मकता से असंबद्ध नहीं है, वरन् सर्जन की आकुलता ही है।

लोक-संपृक्ति नयी कविता की एक ख़ास विशेषता है। वह सहज लोकजीवन के क़रीब पहुंचने का प्रयत्न कर रही है। लोकजीवन के प्रति उसकी उन्मुखता प्रगतिवाद का प्रभाव कही जा सकती है, किंतु प्रगतिवाद में एक आंदोलन का स्वर था, सहजता नहीं थी और उसने अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण लोकजीवन का एक विशिष्ट अर्थ लगा लिया था। प्रयोगवाद लोकजीवन से कट गया था। नयी कविता ने लोकजीवन की अनुभूति, सौंदर्यबोध, प्रकृति और उसके प्रश्नों को एक सहज और उदार मानवीय भूमि पर ग्रहण किया। साथ-ही-साथ लोकजीवन के बिंबों, प्रतीकों, शब्दों और उपमानों को लोकजीवन के बीच से चुन कर उसने अपने को अत्यधिक संवेदनापूर्ण और सजीव बनाया। प्रश्न यह उठता है कि लोकजीवन की संवेदना और बिंबों की सहज सुंदरता से पूर्ण हो कर भी नयी कविता क्यों लोकप्रिय नहीं हो पाती? कारण यह है कि वह लोकजीवन की सतही भावनाओं का इतिवृत्त नहीं पेश करती, अपितु लोकजीवन से लिये गये बिंबों के माध्यम से लोकजीवन की जटिल अनुभूतियों और प्रश्नों को ध्वनित करती है। कविता के ऊपरी आयोजन नयी कविता वहन नहीं कर सकती, वह अपनी अंतर्लय, बिंबात्मकता, नव-प्रतीक-योजना, नये विशेषणों के प्रयोग नव-उपमान संघटना में कविता के शिल्प की मान्य धारणाओं से काफ़ी अलग दीखती है, अर्थात वह बाह्य चमत्कारों से मुक्त हो कर कविता के लिए जो मूलभूत छवि होती है, उसी को संयोजित करना चाहती है। बिंब कविता की मूल छवि है, इसलिए आज की कविता बिंबबहुला हो गयी है। कच्ची अनुकृतियां करने वाले, पुस्तकों तथा सिद्धांतों से प्रेरणा लेने वाले कवियों के अपवादों को छोड़ कर शेष कवि इन बिंबों को जीवन के बीच से चुनते हैं। भाषा भी मुक्त भाव से ऐसे शब्दों को लेती है, जो अभिजात नहीं हैं, लेकिन सशक्त हैं, अपने बीच मिट्टी की गंध छिपाये हुए हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि नयी कविता जीवन के नये संदर्भों में उभरने वाली अनुभूतियों, सौंदर्य-प्रतीतियों और चिंतन-आयामों से संपृक्त बिंब ग्रहण करती है। शहरी कवि के बिंब विशेषतया नागरिक जीवन के और ग्रामीण जीवन संस्कारों से युक्त कवि के बिंब विशेषतया गांव के होते हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के बिंब नयी कविता में हैं। नयी कविता ने अपने बिंब और प्रतीक पुराण और इतिहास से भी चुने हैं, लेकिन उन्हें नये अर्थ और संदर्भ से संपन्न किया है। अनेकानेक फुटकल कविताओं के अतिरिक्त 'अंधा युग', 'कनुप्रिया' और 'आत्मजयी' इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं।

लोक-संपृक्ति के संदर्भ में लोकजीवन से लिये गये शब्दों की ओर भी एक दृष्टि डाल लें। छायावाद की शब्दावली विशेषतः संस्कृत की तत्सम शब्दावली थी और उसके आभिजात्य, माधुर्य और सुकुमारता की रक्षा का विशेष ध्यान रखा गया था। प्रगतिवाद में लोकशब्दों के प्रयोग की ओर विशेष ध्यान दिया गया। किंतु प्रयोगवाद ने फिर लोकजीवन से संबंध काट कर रोमानी या बोझिल पदावली का प्रयोग किया। नयी कविता ने प्रगतिवाद की राह को पकड़ा। प्रगतिवाद ने विशेष क्षेत्रों से विशेष विशेष संदर्भ में ही लोकशब्द लिये थे। परंतु नयी कविता ने सभी प्रकार के संदर्भों के लिए लोकशब्द चुने। अज्ञेय प्रयोगवादी भी रहे हैं और नये कवि भी। एक ओर इनकी प्रयोगवादी शब्दावली देखिए :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*वंचना है चाँदनी सित*
*झूठ वह आकाश का निरवधि*
*गहन विस्तार*
*शिशिर की राका निशा की*
*शान्ति है निस्सार।*

दूसरी ओर इनकी नयी कविता की शब्दावली द्रष्टव्य है :

*पहाड़ियों से घिरी हुई*
*इस छोटी-सी घाटी में*
*ये मुँहझौंसी चिमनियाँ बराबर*
*धुआँ उगलती जाती हैं।*

टोये, भभके-खिंचा, सीटी, ठिठुरन, चिड़चिड़ी, ठसकना, पूलें, ठूंठ, विरस, सिराया, ठार हुई, डाकती, फुनगियाना—जैसे अनेक शब्द नयी धारा की कविताओं और गीतों में धड़ल्ले से प्रयुक्त हो रहे हैं। इसलिए नयी कविता की भाषा में एक खुलापन और ताज़गी दिखायी देती है।

यहां नयी हिंदी कविता की सामान्य प्रवृत्तियों और उपलब्धियों की ओर संकेत करने का प्रयास किया गया है, किंतु काव्यात्मक स्तर पर हर कवि की अपनी-अपनी सीमा और उपलब्धि होती है। अलग-अलग कवियों के स्तर अलग-अलग हैं। किसी का संवेदन बहुत ही गत्यात्मक, व्यापक और गहरा है, तो किसी का अपेक्षाकृत संकीर्ण और उथला। किसी का सौंदर्यबोध अधिक सामाजिक है, तो किसी का अपेक्षाकृत व्यक्तिगत। किसी में जीवन का व्यथा-पक्ष प्रधान है, किसी में आनंद-पक्ष। किसी के शिल्प में अधिक सघनता है, तो किसी में अपेक्षाकृत कथन-प्रणाली की स्फीति। कोई खंडित बिंबों और मुक्त साहचर्य का प्रयोग कर कविता को जटिल बनाता है, कोई बिंबों की सघनता के बावजूद उसमें तारतम्य बनाये रखने के कारण अधिक संवेद्य प्रतीत होता है। अनुभूतिहीन, अस्वायत्त सत्य को कह चलने वाले ऐसे बहुतेरे कवि मिलेंगे, जो नयी कविता को एक फ़ैशन समझ बैठे हैं। अनुभूतिशून्यता को अभिव्यक्ति की अस्पष्टता, अटपटेपन, दुरूहता में छिपाने का फ़ैशन यहां तक बढ़ गया है कि ढेर सी नयी कविताओं के बीच में बहुत-से कवियों के व्यक्तित्व को पहचानना मुश्किल हो गया है। दूसरी ओर, कुछ ऐसे भी लोग उभर रहे हैं जिनके पास कुछ बातें कहने को तो है, किंतु उन्हें कह ही डालते हैं राई रात्ती—बिंब या प्रतीक से नहीं, सीधे-सीधे। जब कभी बिंब या प्रतीक उनके मन में उभरता भी है तो वे उसे रूपक के रूप में प्रयुक्त कर देते हैं और फिर बात तथ्यकथन प्रणाली पर ही आ कर रुक जाती है। ऐसा इसलिए होता है कि कोई ऐसा कथ्य उनकी अनुभूतियों को चीरता हुआ नहीं उभरता, जो अपनी तीव्रता में अपने से संबद्ध बिंब के माध्यम से ध्वनित हो उठे, बल्कि वे सतह पर फैले हुए तथ्यों को बटोरते हैं।

**अज्ञेय** (1911-1987) : इनका जन्म कसया (देवरिया) में हुआ था। बी.एस-सी. तक शिक्षा पाने के बाद इन्होंने अंग्रेज़ी तथा हिंदी-साहित्य का स्वाध्याय किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया। अज्ञेय का जीवन यायावरी और क्रांतिकारी रहा है। इसीलिए ये किसी व्यवस्था से बंध कर नहीं रह सके। 1943 से 1946 तक इन्होंने सेना में नौकरी की। कई बार ये सांस्कृतिक कार्यों के लिए अमेरिका गये। कुछ दिनों तक ये जोधपुर विश्वविद्यालय में भी कार्यरत रहे। कवि के साथ-साथ ये प्रख्यात कथाकार, समीक्षक और चिंतक-विचारक भी हैं। पत्रकारिता के क्षेत्र में इन्हें 'दिनमान' और 'प्रतीक' के संपादक-रूप में ख्याति प्राप्त हुई है। 'तार सप्तक', 'दूसरा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सप्तक', 'तीसरा सप्तक', 'चौथा सप्तक' और 'रूपांबरा' इनके द्वारा संपादित काव्य-संकलन हैं। 'भग्नदूत' और 'चिंता' की छायावादी कविताओं से अपनी काव्ययात्रा आरंभ करने वाले अज्ञेय प्रयोगवाद और नयी कविता के विशिष्ट कवि हैं। इस धारा के कवियों में उनका स्वर सबसे अधिक वैविध्यपूर्ण है। उनका स्वर अहं से ले कर समाज तक, प्रेम से ले कर दर्शन तक, आदिम गंध से ले कर विज्ञान की चेतना तक, यंत्र-सभ्यता से ले कर लोक-परिवेश तक, यातना-बोध से ले कर विद्रोह की ललकार तक, प्रकृति-सौंदर्य से ले कर मानव-सौंदर्य तक फैला हुआ है। यह बात और है कि इस व्याप्ति में सर्वत्र संवेदनशीलता या अनुभूति साथ नहीं देती, कहीं-कहीं कोरी बौद्धिकता या शुष्क बोध उभर आता है।

'तार सप्तक' की कविताओं के साथ अज्ञेय की नयी काव्य-यात्रा प्रारंभ होती है, जो बाद में 'इत्यलम्' में संगृहीत दिखायी पड़ती है। अज्ञेय में संवेदना के साथ एक सजग बौद्धिकता है। यह बौद्धिकता उनकी संवेदना को नियंत्रित तो करती ही है, साथ ही कभी नवीन सूक्तियों के रूप में (जैसे 'दुःख सब को मांजता है' या 'अच्छा खंडित सत्य सुघर नीरंध्र मृषा से' आदि कविताओं में), कभी व्यंग्य के रूप में (जैसे 'सांप'), कभी युग-चिंतन और बोध के बिंब-विधान के रूप में व्यक्त होती है जो संवेदना या अनुभूति से अंतरंग भाव से जुड़ी न होने के कारण बिंब-रचना के बावजूद बहुत दूर तक प्रभावहीन हो जाती है। अज्ञेय की कविताओं में जो स्वर-वैविध्य दिखायी पड़ता है, उसका कारण बहुत-कुछ उनकी बौद्धिकता है। संवेदना और बौद्धिकता की यह सहयात्रा जहां रूमानी परंपरा को तोड़ कर नये सौंदर्यबोध से संपन्न स्वस्थ काव्य की सृष्टि करती है, वहीं बौद्धिकता का अतिरेक शुष्क, दुरूह और नव-रहस्यवादी कविता को जन्म देता है। अज्ञेय की छोटी-छोटी कविताएं सौंदर्य और प्रभाव की सृष्टि की दृष्टि से विशिष्ट और सक्षम हैं, वे चाहे व्यंग्य करती हों, चाहे कोई सौंदर्य या अनुभव जगाती हों, चाहे रूप की अभिव्यक्ति करती हों। दो कविताएं देखें :

*(अ) उड़ गयी चिड़िया*
*कांपी फिर*
*थिर*
*हो गयी पत्ती।*

*(आ) बह चुकीं बहकी हवाएँ चैत की*
*कट गयीं पूलें हमारे खेत की*
*कोठरी में लौ बढ़ा कर दीप की*
*गिन रहा होगा महाजन सेंत की।*

**गिरिजाकुमार माथुर** (1919-1994) : इनका जन्म अशोकनगर (मध्यप्रदेश) में हुआ। एम.ए. (अंगरेज़ी), एल.एल.बी. तक शिक्षा पाने के बाद इन्होंने प्रारंभ में वकालत और फिर दिल्ली सेक्रेटेरिएट में नौकरी की। उसके बाद ये आकाशवाणी तथा दूरदर्शन में उपमहानिदेशक रहे। आप 'गगनांचल' के संपादक भी रहे। माथुर में प्रयोग और संवेदना का बहुत सुंदर सामंजस्य है, अर्थात प्रयोग कहीं भी बौद्धिक भंगिमा या फ़ैशन के वशीभूत हो कर नहीं आया है, वह उनकी अनुभूतियों और संवेदनाओं के सूक्ष्म कोणों, रंगों और प्रभावों को व्यक्त करने की आकुलता से जुड़ा हुआ है। कवि ने छंद, भाषा और बिंब-विधान सभी में प्रयोग किये हैं। छंद तो प्रायः सर्वत्र लययुक्त हैं, नवीनता इसमें है कि कवि ने कहीं-कहीं सवैया को तोड़ कर नया छंदरूप दिया है। उनके काव्य के दो स्वरूप हैं—'मंजीर' और 'तार सप्तक' में उनकी व्यक्तिगत अनुभूतियां हैं, किंतु 'नाश और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

निर्माण', 'धूप के धान' तथा 'शिलापंख चमकीले' में सामाजिक जीवन की अनुभूतियां और यथार्थ उभरते गये हैं। 'तार सप्तक' में जीवन-यथार्थ के नये आयाम उद्घाटित नहीं किये गये हैं। वे अपने परिवेश के जीवन-सत्यों से भी जुड़े नहीं प्रतीत होते, उनकी संवेदना अत्यंत रूमानी प्रतीत होती है। प्रकृति की रंगमयता, उसकी उदासी, सौंदर्य-प्यास, प्रेम-प्रसंगों की स्मृतियों का दंश, सुंदर वातावरण में साथीविहीन अकेलेपन का बोध आदि इनके अनुभव और संवेदना के अंग हैं। इनके रचना-लोक में विभिन्न रूप-रंगों में, ध्वनियों, गंधों और स्पर्शों में इन्हीं के दर्शन होते हैं।

*सेमल की गरमीली हल्की रुई समान*
*जाड़ों की धूप खिली नीले आसमान में*
*झाड़ी झुरमुटों से उठे लम्बे मैदान में*
*रूखे पतझर भरे जंगल के टीलों पर*
*काँप कर चलती समीर हेमन्त की*
*लम्बी लहर-सी।* **(तार सप्तक)**

इन सीमित जीवन-अनुभवों को ले कर भी माथुर एक विशिष्ट कवि हैं, क्योंकि वे इन अनुभवों की बहुत गहरी और सूक्ष्म छायाओं को पहचानते हैं।

'नाश और निर्माण' में 'तार सप्तक' वाली कविताएं तो संगृहीत हैं ही, साथ ही ऐसी कविताएं भी हैं, जो सामाजिक चेतना से अनुप्राणित हैं। इन तथा अन्य परवर्ती कविताओं में शक्ति, उल्लास और सामाजिक जीवन का स्पंदन है, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के रूप और विषम परिणामों का तीव्र अहसास तथा उनके विरुद्ध समाजवादी चेतना का प्रसार है।

**गजानन माधव मुक्तिबोध** (1917-1964) : मुक्तिबोध का जन्म ग्वालियर के एक क़स्बे में हुआ था। इन्होंने एम.ए. तक शिक्षा प्राप्त की और ये अध्यापक, पत्रकार, विशिष्ट विचारक कवि, कथाकार और समीक्षक के रूप में समादृत रहे। अपनी पूरी पीढ़ी में मुक्तिबोध का व्यक्तित्व विशिष्ट है। इस पीढ़ी और इसी से लगी हुई परवर्ती पीढ़ी के लगभग सारे महत्त्वपूर्ण कवि (अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, शमशेर, भारती आदि) रूमानी कविता से अलग हट कर नया प्रयोग करने का प्रयत्न करते हुए भी रूमानी संवेदना और भाषा से मुक्त नहीं हो सके, किंतु मुक्तिबोध एक ऐसे कवि हैं, जिनका अनुभव-जगत बहुत व्यापक है, जो अपने परिवेश के जीवन से बहुत गहन भाव से जुड़े हुए हैं। उनकी प्रगतिवादी दृष्टि परिवेशबोध, सामाजिक चिंतन और अनुभव-वैविध्य को और बल देती है। अतः कहा जा सकता है कि बाद में जीवन की बहुविध छवि को ले कर विकसित होने वाली नयी कविता के अग्रज कवि सच्चे अर्थों में मुक्तिबोध ही हैं। उनकी सबसे बड़ी शक्ति है—लोकपरिवेश से गहरी संपृक्ति तथा जनजीवन में विश्वास :

*मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में*
*चमकता हीरा है*
*हर एक छाती में आत्मा अधीरा है*
*प्रत्येक सुस्मित में विमल सदानीरा है*
*मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में*
*महाकाव्य-पीड़ा है*
*पल भर में सबसे गुज़रना चाहता हूँ*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*इस तरह ख़ुद ही को दिये फिरता हूँ*
*अजीब है ज़िन्दगी :* (चाँद का मुँह टेढ़ा है)

किंतु शिल्प के प्रति असावधानता उनके अनुभव-खंडों को एक में बांध नहीं पाती और समग्रतः बिंबों की रचना में संश्लिष्टता तथा सघनता नहीं भर पाती। मुक्तिबोध में फ़ैंटेसी है, अर्थात एक जादुई कथा में आधुनिक जीवन-अनुभवों की अभिव्यक्ति है। 'अँधेरे में', 'ब्रह्मराक्षस' कविताएं इस दृष्टि से अत्यधिक उल्लेखनीय हैं। उनकी अनुभूति केवल व्यक्तिगत संवेदन के स्तर की नहीं है, वह अपने परिवेश से गहरे जुड़ी है और अनेक आवर्तों से लिपटी है तथा कवि की आलोचक दृष्टि रचनात्मक संदर्भ में लक्षित होने वाली इनकी सार्थकता और निरर्थकता की जांच करती चलती है।

**भवानीप्रसाद मिश्र** (1914-1985) : बी.ए. तक शिक्षा पाने के बाद ये पहले 'कल्पना' में संपादक थे, फिर ऑल इंडिया रेडियो में नौकरी की और अवकाशप्राप्त करने तक संपूर्ण गांधी-वाङ्मय के संपादक-मंडल में रहे। ये सहज संवेदना के कवि हैं। कवि की संवेदना कहीं तो बहुत सूक्ष्म और आत्मगत है, जैसे 'कमल के फूल', 'वाणी की दीनता', 'टूटने का सुख' आदि में, और कहीं बहुत प्रत्यक्ष और परिवेश-संपृक्त है, जैसे 'सतपुड़ा के जंगल', 'सन्नाटा', 'गीतफ़रोश' आदि कविताओं में। कवि की सहजता सघन अनुभूति तथा संयत अभिव्यक्ति के क्षणों में जहां अत्यंत सुंदर काव्य की सृष्टि करती है, वहीं फार्मूलाबद्ध आदर्शवादिता अनुभूति के सतहीपन तथा अभिव्यक्ति के तुकांतवादी विस्तार की अवस्था में सामान्य काव्य की 'असाधारण' और 'स्नेह शपथ' जैसी उनकी काफ़ी कविताएं हैं, जो सामान्य हैं। उनकी भाषा और अभिव्यक्ति में भी लोक-जीवन का प्रभाव है।

**शमशेरबहादुर सिंह** (1911-1993) : इनका जन्म देहरादून में हुआ था। बी.ए. करने के बाद ये 'कहानी' और 'नया साहित्य' के संपादक-मंडल में रहे। बाद में दिल्ली विश्वविद्यालय के उर्दू-विभाग में कोश से संबंधित कार्य करते रहे। विचारों से मार्क्सवादी शमशेर संस्कारों से व्यक्तिवादी और अनुभवों से रूमानी हैं। उनकी अधिकांश कविताओं का स्वर कुंठित प्रेम का है। संवेदना और अभिव्यक्ति—दोनों में ये प्रयोगवाद की अतिशय व्यक्तिवादिता के प्रतीक हैं। इनकी अतिशय व्यक्तिवादिता केवल अपने प्रतिबद्ध होने के कारण पाठकों की समझ की उपेक्षा कर जाती है और ऐसे-ऐसे महीन जाल बुनती है तथा खंडित बिंबों की योजना करती है कि पूरी कविता अपने अभिप्रेत प्रभाव के साथ उभर नहीं पाती। शमशेर बहुत सूक्ष्म सौंदर्यबोध के कवि माने जाते हैं, किंतु कठिनाई यह है कि सौंदर्य यहां-वहां की कुछ पंक्तियों में अलग-अलग ढंग से उभर कर रह जाता है। मुक्त-आसंग, चेतना-प्रवाह, अमूर्त चित्रात्मकता, शब्द-संगीत आदि शमशेर के शिल्प को एक नया रूप अवश्य देते हैं, किंतु वे अनुभव-लोक को मूर्त करने के स्थान पर उलझा देते हैं।

**धर्मवीर भारती** (1926-1997) : भारती का जन्म इलाहाबाद में हुआ। वे हिंदी में एम.ए. पी-एच.डी. थे। प्रारंभ में ये इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक रहे, 1987 तक 'धर्मयुग' के संपादक रहे। कवि के साथ-साथ ये विशिष्ट कथाकार, नाटककार और समीक्षक भी थे। भारती की काव्योपलब्धियां वास्तव में उनकी परवर्ती कृतियों—'अंधा युग', 'कनुप्रिया' और 'सात गीत-वर्ष' में दिखायी पड़ती हैं। आरंभ की कविताएं बहुत-कुछ कैशोर भावुकता से युक्त हैं। भारती में आदिम गंध की तड़प और लोकजीवन की रूमानी छवि की पकड़ है। इसलिए इनकी कविताएं मूलतः गीतात्मक हैं। इन कविताओं में लोक-परिवेश की मस्ती और उल्लास के स्थान पर उदासी और सूनापन ही अधिक उभरता है :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*घास के रस्ते उस बंसवट से*
*इक पीली-सी चिड़िया*
*उसका कुछ अच्छा-सा नाम है*
*मुझे पुकारे ताना मारे*
*भर आयें आँखड़ियाँ*
*उन्मन यह फागुन की शाम है।* (ठंडा लोहा)

भारती के काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता है—उसकी मूर्तता और पारदर्शिता, जो उनके परवर्ती गंभीर और चिंतन-संवलित काव्यों में भी लक्षित होती है। 'सात गीत-वर्ष' की कविताओं में कवि की रूमानी भावुकता ने यथार्थ की गहराई पा ली है, बहुत-सी कविताएं यहां भी प्रेममूलक हैं, किंतु यहां प्रेम के बहुत सूक्ष्म संक्रांत अनुभवों को उभारा गया है। इसमें कुछ व्यंग्यात्मक कविताएं भी हैं, जो किसी सांस्कृतिक, सामाजिक या राजनीतिक विसंगति पर हलका-हलका आघात करती हैं। मूल्यों-संबंधी प्रश्न भी उभारे गये हैं, किंतु मानव-संवेदना की आंच में।

## कुछ विशिष्ट प्रबंधकाव्य

कहा जाता है कि आज का युग प्रबंधकाव्यों का युग नहीं है। शायद इसका कारण यह है कि प्रबंधकाव्य के पीछे जो मान्यताएं रही हैं, वे चुक गयी हैं, अर्थात प्रबंधकाव्य का पूर्वमान्य स्वरूप आज के युग को रूपायित करने में असमर्थ है। आज के मनोवैज्ञानिक युग में मानव-व्यक्तित्व की धारणा बदल गयी है। पूर्वमान्य प्रबंधों में जो पात्र गृहीत हुए हैं, वे कुछ स्वीकृत गुणों और दोषों या उनके मिश्रित रूपों के संपुंज प्रतीत होते हैं। दूसरी बात यह है कि वे पात्र समय के विस्तार में फैलते हैं, जहां कुछ हरियालियां हैं, कुछ शुष्क उपेक्षणीय ऊसर, कुछ मान्य महत्त्वपूर्ण घटनाएं हैं, प्रसंग हैं, मर्मस्पर्शी अवसर हैं और हैं महत्त्वहीन घड़ियां और स्थल। पात्र एक महत्त्वपूर्ण से दूसरे महत्त्वपूर्ण तक दौड़ते हैं। शेष समय और स्थान तो केवल दूरी भरने के लिए होते हैं। अतः देश और काल के विस्तार में दौड़ते हुए भी पात्र पूर्व-स्वीकृत जीवन-तीर्थों की ही यात्रा करते हैं। वे अपने भीतर की तन्मयता से हर क्षण और हर स्थल को तीर्थ नहीं बना सकते। कहना न होगा कि विगत युगों की जीवन-दृष्टियां, आदर्शवादी मान्यताएं, रसवादी रुचियां और व्यक्तित्व-संबंधी प्रतीतियां प्रबंधकाव्य के उपर्युक्त स्वरूप की रचना में सहायक होती रही हैं।

प्रबंधकाव्य-रचना आज की सर्जक रुचि के अनुकूल नहीं पड़ती। यदि प्रबंधकाव्य लिखा ही जाये तो उसे शिल्प और भावबोध में आज के अनुकूल होना पड़ेगा यानी वह स्थूल मांसल कथा, संपूर्ण व्यक्तित्व और विराट समय-प्रवाह की शृंखला में एकसूत्रित न हो कर मनःसत्यों की सूक्ष्म रेखाओं, चिंतन के द्वंद्वों, विघटित व्यक्तित्वों और क्षणानुभूतियों की प्रतीति को ले कर मुक्त साहचर्य के सूत्रों से अनुस्यूत होगा। स्वभावतः ऐसा प्रबंधकाव्य आकार से छोटा ही होगा। दूसरे, उसमें आज के मूल्यों, बोधों, संवेदनाओं, प्रश्नों और आकांक्षाओं की आंच होगी। इस प्रकार कथानक चाहे पुराण या इतिहास से लिया गया हो या वर्तमान से, उसकी सांस समकालीन होगी। इसीलिए आधुनिक काल में जितने अच्छे प्रबंधकाव्य लिखे गये हैं, उनमें अतीत में वर्तमान का प्रक्षेपण किया गया है। आधुनिक जीवन-मूल्यों की खोज अतीत में भी की गयी है और सर्जन के स्तर पर अतीत को अर्थवत्ता प्रदान करने के लिए वर्तमान का प्रक्षेपण उसमें करना ही होगा। स्वाधीनता के बाद लिखे गये प्रबंधकाव्यों में ये विशेषताएं कहीं कम और कहीं अधिक मात्रा में लक्षित होती हैं। वास्तव में परंपरावादी शिल्प और धारणाओं का अनुगमन कर प्रबंध लिख लेना बहुत आसान है और स्वाधीनता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के बाद भी ऐसे घ्राण-प्राण-रहित प्रबंधकाव्यों की कमी नहीं है।

सन् 1938 के बाद जो महत्त्वपूर्ण प्रबंधकृतियां सामने आयी हैं, उनमें मैथिलीशरण गुप्त की 'जयभारत' और 'विष्णुप्रिया', गुरुभक्त सिंह 'भक्त' की 'विक्रमादित्य', मोहनलाल महतो 'वियोगी' की 'आर्यावर्त', दिनकर की 'रश्मिरथी', 'कुरुक्षेत्र' तथा 'उर्वशी', सियारामशरण गुप्त की 'उन्मुक्त', सुमित्रानंदन पंत की 'लोकायतन', रामानंद तिवारी (भारतीनंदन) का 'पार्वती महाकाव्य', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' की 'ऋतंबरा', धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया', ठाकुरप्रसाद सिंह की 'महामानव', नरेंद्र शर्मा की 'द्रोपदी' तथा 'उत्तरजय', कुंवरनारायण की 'आत्मजयी', नरेश मेहता की 'संशय की एक रात' और डॉ. विनय की 'एक पुरुष और' उल्लेख्य हैं।

गुप्त जी और दिनकर जी दोनों ही पहले के मंजे हुए प्रबंधकार हैं। दोनों ही आधुनिक चिंतन की ऊष्मा का आरंभ से ही अनुभ्व करते आये हैं। ये दोनों आधुनिकता को आधुनिक मानवतावाद के रूप में स्वीकार करते हैं—उस मानवतावाद के रूप में, जिसमें समस्त उपेक्षित लघु या सामान्य को एक नयी दृष्टि से देखा गया है, उसकी अदृष्ट तिरस्कृत पीड़ा, यातना, कामना, त्याग और संघर्ष का मूल्य आंका गया है और पूर्वमान्य समादृत आभिजात्य के खोखलेपन को उद्घाटित किया गया है (यह कार्य गुप्त जी की अपेक्षा दिनकर ने अधिक किया है) या उस आभिजात्य को नवीन जीवन-संदर्भों से जोड़ कर एक नयी छवि दी गयी है। मानवतावादी दृष्टि ने उपेक्षित और आदर्शवादी पात्रों की ऊपरी लघुता और महानता को जगह-जगह से फाड़ कर भीतर उफनते मानवीय दर्दों को, संवेदनशील क्षणों को व्यंजित किया है, किंतु अंततोगत्वा वे मनोविज्ञान की विघटित व्यक्तित्व वाली धारणा को न मान कर अखंड व्यक्तित्व वाली मानवता को ही ले कर चले हैं। अतः वे अपने चिंतन-मनन में मानवीय सामाजिक प्रश्नों की पकड़ में नये हो कर भी दूर तक परंपरावादी ही रहे हैं।

गुप्त जी के **जयभारत** (1952) की कथा 'महाभारत' की कथा का हिंदी-रूपांतर है और 'विष्णुप्रिया' में चैतन्य महाप्रभु की धर्मपत्नी विष्णुप्रिया का चरित्र-गान किया गया है। गुप्त जी मूलतः वैष्णव-संस्कार के कवि हैं। वास्तव में उन्होंने इस संस्कार के ही माध्यम से आधुनिक युग को देखा है। 'जयभारत' में 'साकेत', 'पंचवटी' और 'यशोधरा' के समान प्रबंधत्व का नवीन उन्मेष लक्षित नहीं होता। इसमें कथा का नया आयोजन, भावभूतियों की नवीन सृष्टि और मूल्यों की नवीन कथा-संयोजना दिखायी नहीं पड़ती। गुप्त जी ने इतना ही किया है कि 'महाभारत' की व्यापक कथा को एक क्रम से सजा दिया है, कथा को आवश्यक स्फीति या संक्षिप्ति दे कर अभिप्रेत प्रभाव व्यक्त किया है और जहां मार्मिक प्रसंग आये हैं ('महाभारत' में मार्मिक प्रसंगों की क्या कमी!), उन्हें अपनी ओर से और भी उभार कर भावमय कर दिया है। कहीं-कहीं स्वीकृत कथा के ही प्रसंग में कवि ने छोटी-छोटी भावोद्भावनाएं कर काव्य को चमका देने का प्रयत्न किया है।

**विष्णुप्रिया** (1957): **विष्णुप्रिया** को भी 'जयभारत' की भांति गुप्त जी का गौरव-ग्रंथ नहीं कहा जा सकता—न तो प्रबंधात्मकता की दृष्टि से और न भावसौंदर्य की गरिमा की ही दृष्टि से। हां, 'विष्णुप्रिया' में एक बात ऐसी अवश्य है, जो इसे आधुनिक संवेदना की गहनता प्रदान करती है और वह है—शची (चैतन्य की मां) और विष्णुप्रिया का आधुनिक नारी-सुलभ असंतोष या ईषत् विद्रोही दृष्टि। मां और पत्नी दोनों अंततोगत्वा भारतीय मां और पत्नी ही हैं। अतः दोनों अपने पुत्र और पति की मंगल कामना में ही अपना सुख मानती हैं, किंतु दोनों (विशेषतया शची) मन से चैतन्य के गृह-त्याग के कार्य को न्यायसंगत नहीं मान पातीं। विष्णुप्रिया की यह उक्ति कितनी बड़ी चोट है हमारी व्यवस्था पर 'नारी निकले तो असती है, नर यती कहा कर चल निकले'।

गुप्त जी की भाषा में एक ऋजुता है। नयी भाषा की बिंबात्मकता, सांकेतिकता और प्रयोगशीलता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गुप्त जी की भाषा में नहीं है, फिर भी उनकी ऋजुता उसे लोकभाषा के समीप खींच लाती है।

**विक्रमादित्य** (1944) गुरुभक्तसिंह 'भक्त' का सुप्रसिद्ध प्रबंधकाव्य है, जो शिल्प की दृष्टि से उनकी पूर्ववर्ती कृति 'नूरजहां' (1935) से श्रेष्ठ है। इसका कथानक विशाखदत्त के 'देवी चंद्रगुप्त' नाटक के उपलब्ध अंश पर आधारित है, जिसे महाकाव्योचित गरिमा प्रदान करने के उद्देश्य से न केवल इतिहास का शोधपूर्वक अध्ययन किया गया है, अपितु उसे नवीन रूपांतर देने के लिए विधायक कल्पना का आश्रय भी लिया गया है। परिवेश की यथार्थता, जीवन-दर्शन की सूक्ष्मता, प्रतिपाद्य की सरसता और छायावाद के शिल्प-वैभव का इस कृति में समन्वित रूप में संयोजन हुआ है। अतः इस युग के प्रबंधकाव्यों में इसका विशिष्ट स्थान है।

**रश्मिरथी** (1952) दिनकर के इस प्रबंधकाव्य का कथानक महाभारत से लिया गया है, किंतु इसमें 'जयभारत' की तरह संपूर्ण 'महाभारत' को गाने का मोह न हो कर केवल कर्ण के चरित्र को आधुनिक मानवतावाद के प्रकाश में उद्घाटित किया गया है। कर्ण के जीवन में घटित प्रसंगों के संदर्भ में कवि ने आज के जीवन के अनेक प्रश्नों और संवेदनाओं को, दृष्टियों और चिंतन-पद्धतियों को, मूल्यों और आकांक्षाओं को उद्घाटित किया है :

*मैं उनका आदर्श कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे*
*पूछेगा जग किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे*
*जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा*
*श्रम से नहीं विमुख होंगे जो दुख से नहीं डरेंगे।* (रश्मिरथी)

कवि ने कुछ अन्य पात्रों (जैसे परशुराम और कुंती) को भी नवीन मनःसंघर्षों के बीच उपस्थित कर, या यों कहिए कि सामाजिक व्यक्तिगत संवेदना, कर्तव्य और राग, आस्था और अनास्था के द्वंद्व के भीतर से उभार कर—युगानुकूल नयी छवि दी है। 'रश्मिरथी' शिल्प की दृष्टि से परंपरावादी वर्णनात्मक प्रबंधकाव्य है। कवि ने पात्रों की सृष्टि में नवीन मानवतावादी दृष्टि का समावेश करते हुए भी अंततोगत्वा उन्हें व्यक्तित्व के प्राचीन अखंडतावादी धरातल पर ही प्रतिष्ठित किया है। इसलिए इस काव्य में मानसिक द्वंद्वों की मर्मछवियों के बावजूद घटना का—वर्णन का—रस अधिक है। बिंबों की सघनता के स्थान पर सीधे-सादे वर्णनों और सरल प्रवाहमयी भाषा का रूप ही इनमें अधिक दिखायी पड़ता है।

**उर्वशी** दिनकर जी की 1961 में प्रकाशित प्रबंधकृति है, जो ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित है। इसमें कवि ने उर्वशी और पुरुरवा के प्राचीन आख्यान को एक नये अर्थ से जोड़ना चाहा है। पुरुरवा और उर्वशी अलग-अलग तरह की प्यास ले कर एक-दूसरे के क़रीब आये हैं। पुरुरवा धरतीपुत्र है और उर्वशी देवलोक से उतरी हुई नारी है। पुरुरवा के भीतर देवत्व की तृषा है और उर्वशी सहज निश्चिंत भाव से पृथ्वी का सुख भोगना चाहती है। 'उर्वशी' का दर्शन-पक्ष है—प्रेम और ईश्वर, जैव और आत्म-धरातल को परस्पर मिलाना। वैसे तो यह एक शाश्वत् प्रश्न है, जो इस युग के मूलभूत प्रश्नों से जुड़ता नहीं दीखता। किंतु प्रकारांतर से कहा जा सकता है कि धरती और स्वर्ग, स्वर्ग और धरती के मिलने पर स्वर ऊंचा करना और उपेक्षित धरती की महत्ता स्थापित करना मुख्यतः आज की मानवता की प्रवृत्ति है। उर्वशी की चर्चा को दार्शनिक ऊहापोह से निकाल कर काव्य के धरातल पर प्रतिष्ठित किया जाये तो निश्चय ही कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां लक्षित होंगी। 'उर्वशी' प्रेम और सौंदर्य का काव्य है। प्रेम और सौंदर्य की मूलधारा में जीवन-दर्शन-संबंधी अन्य छोटी-छोटी धाराएं आ कर मिल जाती हैं। प्रेम और सुंदर का विधान कवि ने बहुत व्यापक धरातल पर किया है। समस्त

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिवेश इससे अनुप्राणित हो उठा है। कवि ने प्रेम की छवियों को मनोवैज्ञानिक धरातल पर पहचाना है। प्रेम भी निर्विकल्प की अवस्था नहीं है, उसमें भी अनेक स्फुलिंग उड़ा करते हैं और मन को शांत करने के स्थान पर बेचैनी से भर देते हैं।

'उर्वशी' में प्रेम के ही मान्य स्वरूप के भीतर प्रविष्ट हो कर उसकी आंतरिकता और सूक्ष्म संवेदनाओं को उभारा गया है और कहीं-कहीं उसे एक आध्यात्मिक भंगिमा भी देने का प्रयत्न किया गया है। इन अनुभूतियों और संवेदनाओं की व्यंजना के लिए जिन बिंबों का सहारा लिया गया है, वे कहीं तो बड़े ही पारम्परिक हैं जिन्हें सायास नयी खराद पर चढ़ाया गया है और कहीं बहुत नये और ताज़े हैं—नयी कविता के अच्छे बिंबों की श्रेणी के। यही बात रूप-सौंदर्य-व्यंजित करने वाले बिंबों के बारे में कही जा सकती है। दिनकर की भाषा में हमेशा एक प्रत्यक्षता और सादगी दिखी है, परंतु 'उर्वशी' में भाषा की सादगी अलंकृति और आभिजात्य की चमक पहन कर आयी है, शायद यह इस कृति की वस्तु की मांग रही हो।

**लोकायतन** (1964) सुमित्रानंदन पंत की प्रबंध-कृति है जिसमें कवि ने भारतीय जीवन की, स्वाधीनता के पहले और बाद की, कथा गायी है। यह दो खंडों में विभाजित है—बाह्य परिवेश और अंतश्चैतन्य में। इस प्रबंध की पटभूमि बहुत ही व्यापक है, जिसमें स्वाधीनता के पहले से ले कर उत्तर-स्वप्न तक का विशाल भारतीय जीवन अंतर्भुक्त हो उठा है। पंत जी युग-जीवन के यथार्थ के हर पहलू को समझते हैं, देश-विदेश के समस्त परिवर्तनों को, बदले मूल्यों को, पुरातन और नवीन के संघर्षों को, भौतिकता और आध्यात्मिकता के द्वंद्वों को उन्होंने परखा है। लेकिन ऐसा लगता है कि यथार्थ-दर्शन और आदर्श-कल्पना—ये दोनों अध्ययन और जानकारी के परिणाम के रूप में आये हैं, जीवन के संवेदनाओं के बीज नहीं उभर सके हैं। कथानक-रचना की शिथिलता, अनुपातहीनता और विवरण की प्रवृत्ति से इस प्रबंधकाव्य का प्रभाव आहत हुआ है। हां, प्रकृति-चित्रण में पंत जी आज भी बहुत ताज़े और आकर्षक हैं। 'लोकायतन' में जहां कहीं प्रकृति-चित्र आये हैं, कविता बिंबात्मक और रससिक्त हो उठी है।

**ऋतंवरा** (1957) के कवि केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' का जन्म 1907 में आरा में हुआ था। 'कैकेयी' (प्रबंधकाव्य), 'कर्ण' (खंडकाव्य), 'शुभ्रा' (गीतिकाव्य) और 'बैठो मेरे पास' (चतुष्पदियां) उनकी अन्य उल्लेखनीय रचनाएं हैं। 'ऋतंवरा' का आरंभ प्रलय-वर्णन से हुआ है और 'कामायनी' की भांति इसमें भी मानवता के आदर्श और मानव-सृष्टि के भविष्य को सांस्कृतिक तथा दार्शनिक धरातल पर उपस्थित किया गया है। 'ऋग्वेद', 'श्रीमद्भागवत' और 'विष्णुपुराण' कवि के मुख्य उपजीव्य ग्रंथ हैं। गरिमापूर्ण सोद्देश्यता, जीवन-दर्शन की गंभीरता, विषय के अनुरूप तत्समप्रधान शब्दावली और उदात्त शिल्प-योजना इस काव्य की प्रमुख विशेषताएं हैं। पंद्रह सर्गों में विभक्त इस रचना में कथा-तत्त्व विरल है, कवि का बल विशेषतः आध्यात्मिक-सांस्कृतिक गौरव की स्थापना और शाश्वत् सत्य की खोज पर ही रहा है।

**कनुप्रिया** (1959) राधा के प्रेम-संवेदन के माध्यम से धर्मवीर भारती ने जीवन को समझने का एक सफल प्रयत्न किया है। 'कनुप्रिया' पूर्वमान्य रूप में नहीं, एक नये अर्थ में प्रबंधकाव्य है। इसमें कृष्ण के साथ बीते राधा के तन्मय क्षणों की विभिन्न स्थितियों को रूप देना ही कवि को अभिप्रेत है, कोई कथा कहना नहीं। राधा ने कृष्ण के साहचर्य को उसके अनेक क्षणों में पूरी तन्मयता के साथ जिया था और जी कर एक सत्य पाया था। इसलिए वह सत्य उसका अपना है, कहीं से उधार लिया हुआ नहीं। इस सत्य के प्रति राधा को आशंका नहीं होती, यहां तक कि जब कृष्ण सेनानायक, महाराज और दुनिया की नज़रों में महान बन गये हैं तो भी राधा अपने सत्य को झुठलाती नहीं। उसे

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जिये हुए सत्य के अतिरिक्त ऐसा कोई सत्य नहीं दीखता, जो उसके अपने लिए सार्थक हो।

यह एक ऐसा प्रबंधकाव्य है, जो आधुनिक शिल्प और भावबोध दोनों को आत्मसात् कर सका है। 'कनुप्रिया' की भी मूल संवेदना प्रेम है, किंतु इस संवेदना को उसकी गहराइयों में उभारते हुए भी कवि मूल्यों से उसे असंपृक्त नहीं कर सका है। कृष्ण का युद्ध सत्य है या राधा के साथ उनके तन्मयता में बीते प्रेम क्षण? शायद प्रेम के क्षण ही सत्य हैं, क्योंकि वे दुविधाहीन मन की संकल्पनात्मक अनुभूति हैं और युद्ध दुविधा की उपज, अनजिये सत्य का आभास। 'कनुप्रिया' अपनी संवेदनात्मक गहराई और शिल्प की ताज़गी के कारण एक विशिष्ट उपलब्धि है।

ठाकुरप्रसाद सिंह का **महामानव** गांधी जी के जीवन पर आधारित प्रबंधकाव्य है, जिसमें गांधी-जीवन के माध्यम से भारतीय जनजीवन के जागरण की गाथा गायी गयी है। यह काव्य प्रबंधत्व की दृष्टि भले ही श्रेष्ठता उपलब्ध न कर सका हो, किंतु स्थान-स्थान पर इसमें भारतीय जनमानस की विभिन्न स्थितियों तथा संघर्षों का जो चित्रण हुआ है, वह बड़ा ही प्रभावशाली बन पड़ा है।

नरेंद्र शर्मा की **द्रोपदी** (1960) वैसे तो द्रोपदी को केंद्रित कर उसे जीवनशक्ति का प्रतीक मान कर लिखी गयी है, किंतु लगता है कि इस संक्षिप्त कलेवर में 'महाभारत' की पूरी मूल कथा को भर देने का मोह कवि में जाग गया है। कवि किसी विशिष्ट कथाप्रसंग और संवेदना पर बल न दे कर आंधी के पत्ते के समान समय और स्थान के विस्तार में उड़ता फिरा है। अत: किसी प्रकार की प्रभावान्विति काव्य को प्राप्त नहीं हो सकी है। द्रोपदी का प्रतीकात्मक या भावात्मक पहलू इस भाग-दौड़ में उभर नहीं पाया है और भाषा तो आज की भाषा लगती ही नहीं। **उत्तर जय** नरेंद्र शर्मा का दूसरा प्रबंधकाव्य है, जिसे कवि ने गाथा 'काव्य' कहा है। इसमें युधिष्ठिर और अश्वत्थामा को खंडित और पीड़ाभोगी बताया गया है और पीड़ाभोगी की नियति है—पीड़ा से बच भागने का प्रयत्न। अश्वत्थामा सर्वाधिक सामर्थ्यवान अतिरथी हो कर भी पीड़ाभीरु थे। युधिष्ठिर अपने स्वभाव (आकाश-पुरुषता) और नियति (पृथ्वी से प्रतिबद्धता) के द्वंद्व में बंटे हुए थे। यही द्वंद्व उनकी पीड़ा का कारण था। 'उत्तर जय' में केंद्रीभूत अर्थ का इतना बिखराव नहीं है, बिखराव है किंतु इसमें वह अपनी सत्ता बनाये हुए है। इसके भी पात्र प्रतीकात्मक है, किंतु यह छोटी-सी प्रबंध-कृति अनेक पात्रों के बिंदुओं को एक रेखा में अनुस्यूत करने के प्रयत्न में किसी पात्र की मनोकथा या अंतर्द्वंद्व को उतनी गहनता से उभारने का अवकाश नहीं पा सकी है, जितनी कि अपेक्षित थी। इसकी भाषा 'द्रोपदी' की भाषा की अपेक्षा अधिक जीवंत है और यह पूरा काव्य 'द्रोपदी' की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है।

कुंवरनारायण का **आत्मजयी** (1965) 'कठोपनिषद्' के नचिकेता प्रसंग पर आधारित प्रबंधकाव्य है। 'आत्मजयी' में नचिकेता का अपना पौराणिक व्यक्तित्व नहीं उभरता, वह कवि के आधुनिक चिंतन का प्रतीक मात्र बन कर रह गया है, अर्थात 'आत्मजयी' विचार-काव्य है, जिसमें आधुनिक संदर्भों में उभरे हुए जीवन-प्रश्नों को एक चिरंतन जीवनधारा के प्रश्नों से जोड़ने तथा उनका उत्तर पाने की शाश्वत अकुलाहट है। वाजश्रवा एक प्रकार से ठहरे हुए मूल्य की वाहक पीढ़ी का प्रतीक है, जो अपने सारे निर्णयों को आने वाली पीढ़ियों पर लादना चाहती है। और नचिकेता? वह इस सारे आप्त सत्य के उत्तराधिकार और विवेकहीन निर्णय को अस्वीकार कर अपने विवेक और पीड़ा से सत्य को तलाश करने वाली और उसके लिए मृत्यु तक को वरण करने वाली प्रबुद्ध नयी चेतना का प्रतीक है। 'आत्मजयी' मूलत: आधुनिक चेतना का काव्य है। इसमें कथा स्वल्प है और इस स्वल्प कथा में भी कोई घटनात्मक सूत्र नहीं है, केवल चिंतन है। ऐसा लगता है कि 'आत्मजयी' के भिन्न-भिन्न खंड आधुनिक चिंतना के भिन्न-भिन्न आयाम हैं,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अर्थात आधुनिक जीवन के कुछ संदर्भों को ले कर उन पर व्यक्त किये गये विचारों के अलग-अलग टुकड़े यहां से वहां तक बिखरे हैं। ये बातें नचिकेता की इस स्वल्प कथा के बिना भी हो सकती थीं। किंतु ऐसा लगता है कि कवि नये चिंतन से उद्दीप्त हो कर भी जीवन को एक लंबी परंपरा में देखना चाहता है। आज जिन प्रश्नों और उनसे संबद्ध विचारों को लोग पश्चिम से जोड़ कर चुप हो जाते हैं, उन्हें कवि भारतीय जीवन और उसके दर्शन से जोड़ना चाहता है। कवि के ही शब्दों में : " 'आत्मजयी' में ली गयी समस्या नयी नहीं, उतनी ही पुरानी है (या फिर उतनी ही नयी) जितना जीवन और मृत्यु संबंधी मनुष्य का अनुभव।" कवि ने आधुनिक व्यक्ति की मानसिक अवस्थाओं के संदर्भ में ही उपनिषद्, यम, नचिकेता, आत्मा, मृत्यु, ब्रह्मा आदि रूढ़-से लगने वाले शब्दों का प्रयोग करने का ख़तरा उठाया है और दूसरी ओर आधुनिक मानसिक अवस्थाओं को एक चिरंतन चिंतन-आकुलता से जोड़ना चाहा है। 'आत्मजयी' के बिंब मूलतः बौद्धिक हैं, वे जीवन से सीधे उठाये गये प्रतीत नहीं होते। जहां वे जीवन से लिये भी गये हैं, वहां वे किसी व्यापार या प्रसंग से विच्छिन्न होने के कारण और नचिकेता की एक विशेष प्रकार की वैचारिक अकुलाहट मात्र से जुड़े होने के कारण हमारे भीतर कोई जीवन नहीं उभारते, जीवन का एक बोध उभारते हैं।

नरेश मेहता कृत **संशय की एक रात** (1962) में राम के मन के संशय को चित्रित किया गया है। समुद्र में पुल बंध जाने पर राम का मन संशय से भर जाता है। वे सोचते हैं कि एक सीता के लिए इतना बड़ा नरसंहार क्यों किया जाये? फिर अपने सहयोगियों के साथ विचार-विमर्श करने पर इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि युद्ध किया जाये। युद्ध सीता के लिए नहीं, प्रजा के लिए हो।

प्रबंधकाव्यों की शृंखला में **एक पुरुष और** (1974) भी उल्लेखनीय है। इसके लेखक डॉ. विनय हैं। इस प्रबंधकाव्य में विश्वामित्र और उर्वशी से संबंधित पुरा कथा को एक नवीन अर्थ-संदर्भ दिया गया है। 'एक पुरुष और' वास्तव में एक ऐसी काव्यकृति है, जो आज के सामाजिक संदर्भों से टकराती हुई-सी मूलतः व्यक्ति के अस्तित्वमूलक संकट से जूझती है और किसी विकल्प की खोज करती है। इस प्रबंधकृति में विश्वामित्र को अस्तित्व की सार्थकता की खोज में नियोजित किया गया है। कवि के अनुसार जीवन से प्रतिबद्ध हो कर ही व्यक्ति जीवन से मुक्त होता है और सार्थकता प्राप्त करता है।

## कुछ विशिष्ट युद्ध प्रबंध

प्रस्तुत संदर्भ में विवेचनीय प्रबंधकाव्य हैं—कुरुक्षेत्र, उन्मुक्त और आर्यावर्त्त। युद्ध की समस्या को ले कर लिखे गये प्रबंधकाव्यों में **कुरुक्षेत्र** (दिनकर) का स्थान बहुत ऊंचा है। 'कुरुक्षेत्र' एक काव्यात्मक गीता है, जिसमें आध्यात्मिक चिंतन के स्थान पर आधुनिक जीवन के प्रश्नों का चिंतन है। कवि ने युद्ध को निंद्य बताते हुए भी आधुनिक परिवेश में उसके जटिल रूप को, उसके संक्रांत मूल्य को उभारा है। प्रश्न इतना ही नहीं है कि युद्ध निंद्य है—उससे बड़ा प्रश्न यह है कि निंद्य वस्तु बार-बार इतनी अनिवार्य क्यों हो उठती है और युद्ध के रूप में इतिहास की एक बहुत बड़ी चुनौती क्यों बार-बार शांतिप्रिय लोगों को स्वीकार करनी पड़ती है? क्यों उन्हें ऐसा लगता है कि एक विशेष सामाजिक या मानवीय संदर्भ में युद्ध शांति की अपेक्षा अधिक मूल्यवान हो जाता है? 'कुरुक्षेत्र' में भी वास्तव में कोई उत्तर नहीं है, जहां समाधान खोजने का प्रयास है, वहां कवि केवल स्वप्नद्रष्टा बन कर रह गया है। किंतु 'कुरुक्षेत्र' की शक्ति उत्तर के काल्पनिक नियोजन में नहीं है बल्कि वह द्वंद्वग्रस्त प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है, जो धर्मराज और भीष्म के माध्यम से उसके

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भीतर से गुज़रता है। शांति काम्य है, युद्ध निषिद्ध है, किंतु युद्ध के लिए अनिवार्य परिस्थितियां उत्तरदायी होती हैं। जब अनुनय हार जाता है, तब प्रतिरोध आवश्यक होता है। इस अवस्था में विनय, शांति और क्षमा मूल्य न रह कर पाप बन जाते हैं—सामाजिक पाप। किंतु, युद्ध की अनिवार्यता को स्वीकार कर लेने मात्र से प्रश्नों का अंत नहीं होता। युद्ध शुरू होने पर मूल्य ऐसे उलझ जाते हैं कि रावण और कौरवों के असंख्य अधर्म-प्रहारों के साथ राम और पांडवों को भी कुछ-न-कुछ अधर्म-प्रहार करने ही पड़ते हैं। धर्म जहां थोड़ा-सा स्खलित हुआ, वह सरकता और उलझता हुआ चला जाता है, और धर्मयुद्ध शुरू करने वाला इस अधार्मिकता के लिए कहीं-न-कहीं विवश हो जाता है। और अपनी इस विवशता और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न अधार्मिकता का बोध उसे निरंतर पीड़ित करता है, अर्थात वह एक ही साथ एक युद्ध बाहर लड़ता है एक भीतर। एक ओर भीषण नरसंहार करता है, दूसरी ओर उसे लगता है कि वही अनेक लोगों के रूप में अनेक बार मर रहा है। युयुत्सा और मानवीय करुणा का एक भयानक द्वंद्व उसे कसता चला जाता है और विजय के पश्चात भी वह उल्लास नहीं, पश्चात्ताप भोगता है, साम्राज्य नहीं, सामने बिछा हुआ श्मशान पाता है। 'कुरुक्षेत्र' के 'धर्मराज' इसी प्रकार के संवेदनशील योद्धा के मूर्त रूप हैं, जो आत्मग्लानि के अतिरेक में अपने को ही युद्ध का उत्तरदायी मान कर भीष्म के सामने विलाप करते हैं। दूसरी ओर, भीष्म सामाजिक चेतना के प्रतीक हैं। उनमें भावुकता के स्थान पर तटस्थ चिंतन है। इसलिए वे युद्ध की नियति के बारे में बात करते हैं और कहना चाहते हैं कि व्यक्ति के संदर्भ में जो मूल्य हैं, वे ही समाज के संदर्भ में दोष बन जाते हैं। भीष्म भी युद्ध के पक्षपाती नहीं हैं, किंतु वे युद्ध की नियति की परीक्षा करते हुए कहना चाहते हैं कि समाज में जब तक विषमताएं हैं, जब तक दो वर्गों के सुखों और सुविधाओं में आकाश-पाताल का अंतर है, तब तक युद्ध की संभावना मिटायी नहीं जा सकती। भीष्म के माध्यम से कवि ने आज के समाज के वैषम्य, विसंगति और भयानक विरूपता को उदघाटित किया है। 'कुरुक्षेत्र' केवल युद्ध-काव्य नहीं है, युद्ध के प्रश्न के बहाने भीष्म ने आज के सामाजिक जीवन के अनेक प्रश्नों को, अनेक सत्यों को छुआ है।

**उन्मुक्त** (सियारामशरण गुप्त) में अपने ढंग से युद्ध की अनिवार्यता, त्याग, बलिदान, यातना-विभीषिका और मानवीय करुणा का अद्‌भुत समन्वय हुआ है। 'उन्मुक्त' में कुसुमद्वीप एक शांतिप्रिय नगर है। वह शांत भाव से कला, सौंदर्य और शांति की उपासना करता है, किंतु अत्याचारी लौहद्वीप के लोग उसे युद्ध करने पर मजबूर करते हैं। कवि की दृष्टि में यथार्थ और स्वप्न का बड़ा सुंदर सामंजस्य है। यथार्थ यह कि कवि ने लौहद्वीप जैसे युद्धप्रिय शक्तिशाली नगर के आक्रमण के फलस्वरूप कुसुमद्वीप जैसे शांत कोमल नगर की होने वाली अनिवार्य परिणतियों को बड़ी सच्चाई से प्रस्तुत किया है, उसके शौर्य और पराजय को सही ढंग से आंका है, मानवीय घृणा और कुरूपता को उभारा है। किंतु इस सारे कठोर यथार्थ के भीतर से मानवीय यातना और करुणा को उभार कर मनुष्य और समाज के प्रेम तथा अहिंसा को बहुत प्रभावशाली ढंग से प्रतिष्ठित किया गया है। यथार्थ और स्वप्न—दोनों के निरूपण के लिए कवि ने बहुत समर्थ और जीवंत बिंबों की रचना की है।

मोहनलाल महतो 'वियोगी' का **आर्यावर्त्त** (1943) भी इस युग का श्रेष्ठ ऐतिहासिक प्रबंधकाव्य है, जिसकी रचना पृथ्वीराज चौहान और मुहम्मद गौरी संबंधी आख्यान के आधार पर हुई है। इसमें तेरह सर्ग हैं, जिनमें पृथ्वीराज और गौरी के युद्ध, पृथ्वीराज की बंदी अवस्था, जयचंद के परिताप, संयोगिता के पराक्रम और पृथ्वीराज द्वारा शब्दबेधी बाण से गौरी के वध की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कथा को अत्यंत प्रभावपूर्ण ढंग से नियोजित किया गया है। देशभक्ति की भावना इसमें सर्वोपरि रही है। वातावरण-चित्रण की सजगता, चरित्रांकन की यथार्थता, तत्सम शब्दों की प्रधानता और अतुकांत प्रवृत्ति इसकी अन्य उल्लेखनीय विशेषताएं हैं।

## नये गीत

गीत एक विधा है, और समसामयिक परिवर्तनों के साथ चिरंतन विधा है। युगीन संदर्भों में मानव-मन के संवेगों को नया-नया रूप प्राप्त होता रहता है, लेकिन संवेगों को गाने के लिए मानव-मन में बेचैनी रहा करती है। यह सत्य है कि आज के व्यक्ति के सुख-दुःख, राग-विराग की संवेदना आदिम काल के मानव की संवेदना की तरह प्रत्यक्ष, सीधी और आवेगात्मक नहीं है—उसमें बौद्धिक युग की बहुत-सी जटिलताएं आ गयी हैं। इसलिए आज की संवेदना आदिकालीन, मध्ययुगीन और आधुनिक काल के रूमानी गीतों की संवेदना की तरह एक लय में वेग से फूट नहीं चलती, बल्कि वह एक विशिष्ट मानसिक स्थिति में अपने अनुकूल बिखरे हुए संवेगों से जुड़ती है अर्थात एक संवेग दूसरे से संक्रांत होता है। ये संक्रांत संवेग एक आंतरिक एकता से अनुशासित होते हैं। देखने में ये संवेग अलग-अलग मालूम पड़ते हैं, परंतु मूलतः आंतरिक संगीत से जुड़े होते हैं। आज का यह भाव-सत्य नयी कविता और नये गीत दोनों में व्यक्त हो रहा है। इन संक्रांत संवेगों को रूपायित करने के लिए कवि को अनिवार्य रूप से बिंबों और प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है। उनके बिना संवेगों की संश्लिष्टता और सूक्ष्मता व्यंजित नहीं हो पाती।

जहां मानव-मन किसी सौंदर्य, राग, सत्य के किसी कोण से गहरे छू जाता है, वहां गीत की भूमि होती है। यह काव्य अपेक्षाकृत आत्मप्रधान होता है, यह विश्लेषणात्मक, बुद्धि-बोझिल, लंबा और जटिल नहीं होता। हिंदी में प्रायः हुआ यह है कि गीतों को मात्र एक आकार मान लिया गया है। उस आकार में जितनी सामग्री ठूंसी जा सकती है, ठूंसी गयी है। इसीलिए नया कवि गीतों से घृणा करने लगा है, आज के लिए अपर्याप्त और अनावश्यक मानने लगा है। किंतु गीत की इन व्यावहारिक सीमाओं के कारण उसकी मौलिक शक्तियों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और शायद इन्हीं शक्तियों के कारण बहुत-से अच्छे नये कवि अच्छे गीतकार भी हैं। उनके गीतों की तरलता, अनुभूति-सघनता और प्रभावान्विति का प्रभाव उनकी नयी कविताओं पर भी पड़ता रहा है। प्रचलित रंगमंचीय फूहड़ गीतों से अलग करने के लिए इन गीतों को 'नये गीत' कह सकते हैं।

समसामयिक **नये गीत** प्रमुखतः अज्ञेय के 'इत्यलम्', 'हरी घास पर क्षण भर', 'बावरा अहेरी', 'इंद्रधनु रौंदे हुए ये' आदि संग्रहों में, गिरिजाकुमार माथुर के 'नाश और निर्माण', 'धूप के धान' और 'शिलापंख चमकीले' में, धर्मवीर भारती के 'ठंडा लोहा' तथा 'सात गीत-वर्ष' में, नरेश मेहता के 'वनपांखी सुनो' में, शंभुनाथ सिंह की 'समय की शिला पर' में, जगदीश गुप्त के 'नाव के पांव' तथा 'हिमदंश' में, ठाकुरप्रसाद सिंह के 'वंशी और मादल' में, रामदरश मिश्र के 'बैरंग बेनाम चिट्ठियां' तथा 'पक गयी है धूप' काव्य-संग्रहों में, केदारनाथ सिंह के 'अभी, बिलकुल अभी' में, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के 'काठ की घंटियां' में, रवींद्र भ्रमर के 'रवींद्र भ्रमर के गीत' में, वीरेंद्र मिश्र के 'गीतम' में तथा राजेंद्रप्रसाद सिंह की 'आओ खुली बयार' में प्रकाशित हैं। इनके अतिरिक्त भवानीप्रसाद मिश्र, शमशेर और भारतभूषण अग्रवाल के नयी कविता वाले संग्रहों में भी कुछ बहुत अच्छे नये गीत मिलते हैं। चंद्रदेव सिंह द्वारा संपादित 'पांच जोड़ बांसुरी' नये गीतों का एक विशिष्ट सुंदर संकलन है। इसी गीतधारा में चंद्रदेव सिंह, राजेंद्रकिशोर, महेंद्र

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शंकर, रामनरेश पाठक, श्यामसुंदर घोष, उमाकांत मालवीय आदि के गीत भी आते हैं।

उपर्युक्त सभी गीतकारों के अपने अपने व्यक्तित्व हैं, किंतु इनके गीतों की एक सामान्य भूमि भी है। अनुभूति की सच्चाई, अतएव, अनुभूति की अपनी-अपनी विशिष्टता, नवीन सौंदर्य-बोध, आकार-लघुता, नवीन बिंब-प्रतीक-उपमान-योजना इनकी सामान्य विशिष्टता है। अतएव, ये गीत प्रभाव की अन्विति से अंतर्दीप्त मालूम पड़ते हैं। इन सभी गीतों में लोकजीवन का रस है, इस अर्थ में नहीं कि इन्होंने प्रचलित गीतों की तरह लोकभाषा से दूध-बताशा, पनघट, बंसवट चुनरिया, ओढ़नियां आदि अनेक शब्द लिये हैं, बल्कि इस अर्थ में है कि इन्होंने लोकजीवन की वस्तुचेतना को पकड़ा है, उसकी संवेदना को ग्रहण किया है। ये गीत जहां से उठे हैं, वहां की ज़मीन के रस को लिये हुए हैं। अत: इन गीतों में शहरी, गंवई व्यक्तित्व, सामाजिक, प्रेमपरक, प्रेमेतर प्रकार की संवेदनाओं के विभिन्न स्वरूप कवियों के व्यक्तित्वों और मानस-संस्कारों के अनुसार लक्षित होते हैं। दूसरी बात यह है कि नये गीत में बासी रस-पिच्छलता नहीं है, अंतर की दमक है। इन गीतों की उपलब्धि इनके तरल-सरल रसमय उच्छल प्रवाह और आवेगों में नहीं है, बल्कि इनकी बुद्धिसंयत हार्दिकता, संवेदना के अनुभूतिसूक्ष्म स्तरों के नियोजन, एक विशेष प्रभाव-भूमि के अंतर्गत आने वाले बिखरे किंतु एक-दूसरे से संक्रमित बोधों के संश्लेषण और अनुकूल बिंबों, प्रतीकों और लाक्षणिक प्रतीकों की खोज में है। कवि अपने-अपने संस्कार के अनुसार इस सामान्य भूमि पर नूतन बिंब-प्रतीकों का विधान करते चले हैं।

इधर गीत ने फिर एक नया मोड़ लिया है। इसे कुछ गीतकारों ने **नवगीत** नाम दिया है। इन गीतों में घरेलू जीवन का परिवेश है, प्रकृति के बहुत टटके अछूते बिंब हैं और आसपास के जीवन का रंग है। फिर भी लगता है कि अधिकांश गीतकारों ने नवीन बिंबों की खोज की झोंक में संवेदनात्मक गहराई की उपेक्षा कर दी है। इन गीतकारों में विशिष्ट हैं—ओम प्रभाकर, नईम, शलभ श्रीराम सिंह, चंद्रमौलि उपाध्याय, देवेंद्रकुमार, मणि मधुकर, माहेश्वर तिवारी, रमेश रंजक आदि। नये गीतकारों में **बालस्वरूप 'राही'** का अपना अलग स्थान है। राही गीतों के माध्यम से आज के जीवन के विसंगतिमय यथार्थ और व्यक्ति के आहत अनुभवों के वैसे ही चित्र उभारते हैं, जैसे नयी कविता में उभरे हैं। इस प्रकार वे गीत के वर्ण्य क्षेत्र का विस्तार करने वाले तथा गीत की संवेदना में विचार भरने वाले गीतकार हैं।

## आज की कविता

नामों का शोर—अकविता, अतिकविता, अस्वीकृत कविता, विद्रोही पीढ़ी, कबीर पीढ़ी, क्रुद्ध पीढ़ी, भूखी पीढ़ी—यहां से वहां तक नये-नये साइनबोर्ड। साइनबोर्डों से अलग हट कर विचार किया जाये तो इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि सन् साठ के आसपास नयी कविता की धारा अपने से कुछ अलग होती दीखती है। साठ के बाद जो नया मोड़ लक्षित होता है, वह एकाएक दीखने वाली कोई नवीन वस्तु नहीं, वरन् नयी कविता से ही फूटा हुआ है। अकविता वालों ने भले ही कविता से अलगाने के लिए अकविता नाम दे दिया, किंतु किसी मौलिक आधार पर वे अकविता को कविता से अलग नहीं कर सके। सत्य यह है कि सन् साठ के बाद कविता में जो स्वर उगे हैं, वे नयी कविता में बीज-रूप में वर्तमान रहे हैं और गौण भाव से प्रस्फुटित होते रहे हैं। ये स्वर नयी कविता के मूलाधार नहीं रहे हैं, किंतु नयी कविता से सर्वथा विच्छिन्न या विरोधी स्वर के रूप में इनकी व्याख्या नहीं हो सकती, जैसा कि अकविता वाले करते हैं।

साठ के बाद की कविता में असंतोष, अस्वीकृति और विद्रोह का स्वर बहुत साफ़ तौर पर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उभरा है। नयी कविता में भी असंतोष और स्वीकृति का स्वर विद्यमान है। मुक्तिबोध में तो यह है ही, अन्य कवियों में भी है। यह स्वर कहीं तो व्यंग्य-रूप में है, कहीं खुले रूप में। किंतु साठ के बाद इस स्वर ने और तीखे व्यंग्य तथा विद्रोह का रूप धारण कर लिया है। जीवन की टूटती मूर्तियों के बहुत क़रीब जा कर उनकी टूटने की तल्खी, व्यथा और उसमें से फूटती अस्वीकृति की उग्रता को पहचाना है। नयी कविता की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उसने समग्र जीवन की प्रामाणिक अनुभूतियों को उनके जीवंत परिवेश में व्यक्त किया। विषय या अनुभूति के आभिजात्य और भिन्न-भिन्न दृष्टियों या वादों से बने हुए उनके घेरों को तोड़ कर व्यक्ति द्वारा भोगे जाते हुए जीवन के हर छोटे-बड़े सत्य को प्रतीकों और बिंबों के माध्यम से उभारने में ही उसने कविता की सार्थकता समझी। किंतु कुल मिला कर कहना पड़ेगा कि नयी कविता संक्रातिजन्य संत्रास, यातना, टूटन, दुविधा की अनुभूति की कविता है, जिसमें रह-रह कर सुंदर अनागत के आने की आशा, स्वयं को अंधेरे में प्रकाश की तरह जला कर, फूल की तरह खिला कर, अपने को सार्थक तथा अपने द्वारा युग को मूल्यवान बनाने की आस्था कौंध की तरह लिपट-लिपट जाती है।

कहा जा सकता है कि नयी कविता जिस युग की उपज है, वह युग पीड़ाबोध अधिक दे सकता था, विद्रोह कम। स्वराज्य-प्राप्ति की आरंभिक बेला में जो यातना या दर्द उग आया था, वह अपने साथ भविष्य के प्रति विश्वास और आशा का स्वर भी अवश्य ही लिपटाये था। एक दुविधा थी पीड़ा और आशा की, टूटने की वास्तविकता और बनने के सपने की, जिसमें पीड़ा या टूटन अधिक़ थी, बनने की आशा और सपना कम। मोहभंग या डिसइल्यूज़नमेंट पूरे रूप में नहीं हुआ था, इसलिए नयी कविता में यातनाबोध है, अस्वीकृति का स्वर भी है, किंतु विद्रोह का उभार नहीं है। धीरे-धीरे 'इल्यूज़न' एकदम टूट गये, मोहभंग हो गया। व्यक्ति का सामाजिक परिवेश और भी कुरूप होता गया, भविष्य के सपने टूटते गये। साहित्य के सामने दो ही रास्ते थे या तो वह नयी कविता के प्रधान स्वर में स्वर मिला कर पीड़ा की मुक्त अनुभूति को और गहनता से व्यक्त करता अथवा ये सारी परिस्थितियां उसके संवेदनशील मन को झकझोरतीं और यातना के बीच से उभार कर उसे विद्रोही बनातीं, सब-कुछ अस्वीकार करने को प्रेरित करतीं। दोनों प्रतिक्रियाएं साहित्य में दिखायी पड़ीं। **अकविता** वाले कवि संवेग और संचेतना को, नव विकसित सत्य को, सहज तरीक़े से व्यक्त करने की घोषणा करते हैं। वे अव्यवस्था, विसंगति, मूल्यहीनता, विरोधाभास और आदर्शों के अकाल से आंदोलित नहीं होते। दूसरी प्रतिक्रिया **विद्रोह** की हुई। विद्रोह की दो प्रवृत्तियां होती हैं—अस्वीकृति या ध्वंस तथा रचना। आज की कविता में 'विद्रोह' नाम से जो कविताएं आ रही हैं, उनमें अधिकांश निर्लक्ष्य या यौन-विकृतिलक्षी हैं। निर्लक्ष्य होने से ये कविताएं सुविधा का विद्रोह करती हैं यानी जहां विद्रोह करने में ख़तरा अनुभव हो, वहां नहीं, बल्कि जहां सुविधा हो, वहां विद्रोह करती हैं। इन्हें इससे बड़ी विसंगति 'सेक्स' में दीखती है या शरीर की बीभत्सता में।

आज की कविता (आंदोलन नहीं) नयी कविता की इसी जीवनोन्मुख धारा का अगला विकास है, जिसमें सायास आंदोलन की योजनाबद्ध लकीरें नहीं, बल्कि आज के जीवन की अनुभवजन्य विषम संवेदनाएं और बोध हैं। ये अनुभव और बोध आंदोलन से नहीं, सत्य से प्रेरित हो कर आज की विषम स्थितियों की प्रतीति, अस्वीकृति और विद्रोह सबको आवश्यकतानुसार समेटते हैं। साठ के बाद की धारा में वे कवि भी हैं, जो 'नयी कविता' के विशिष्ट कवि रहे हैं, और जिनमें जीवनधारा की उर्जस्वलता ही प्रधान रही है या जो नयी कविता की बनती हुई सीमाओं को पहचान कर उन्हें तोड़ने के लिए पुनः आकुल हैं, और वे कवि भी हैं, जो साठ के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बाद की उपज हैं। इन कवियों ने एक ओर जीवन की विकसित चेतना और जटिलता का अनुभव किया, दूसरी ओर यह देखा कि नयी कविता के भी फार्मूले बनने लगे हैं, उसके प्रतीक और बिंब रूढ़ बनते जा रहे हैं, प्रतीकों की अंधी गुफ़ा में बंद हो कर कविता सर्वथा अंतर्मुखी और निस्पंद होती जा रही है। इस ठहराव को तोड़ना था, कविता को पुन: जीवन के क़रीब लाना था या नयी कविता की जीवनधारा को पहचान कर उसके साथ आगे चलना था।

मामूलियत की ओर झुकाव आज की मुख्य विशेषता है। चीन और पाकिस्तान के अतिक्रमणों के अवसर पर मामूली सिपाहियों का बलिदान, छोटे-छोटे दीखने वाले लोगों का त्याग, किसानों, मज़दूरों के श्रम की महत्ता का अहसास बहुत स्पष्टता से उभरा। आज की कविता नयी कविता के उस स्वर का विकास है, जो आज की रोज़मर्रा ज़िंदगी की अनुभूतियों को बड़ी सहजता से अभिव्यक्ति देता है, उन अनुभूतियों को वाणी देता है, जो पल-पल के अंतर्विरोध की उपज हैं। आज की कविता में एक ओर व्यक्तिगत पीड़ा को या स्थिति की विषमता को व्यक्त करने वाले कवि हैं, तो दूसरी ओर स्थिति की विषमता के विरुद्ध विद्रोह का आक्रोश व्यक्त करने वाले कवि भी हैं। क्रुद्ध और विद्रोही पीढ़ी की कविताएं इस संदर्भ में देखी जा सकती हैं। **विद्रोही पीढ़ी** की कविताएं अधिक तेज़, धक्कामार और आज के जीवन की सड़ांध को अधिक प्रत्यक्षता से उभारने वाली हैं। आज की कविता में वे कवयित्रियां भी आती हैं, जिनमें आज की व्यथा अनुभूति के बहुत महीन, सूक्ष्म और संयत स्तर पर उभरी है। नारी होने की अपनी कुछ विवशताएं होती हैं। यह विवशता कवियों की तरह कवयित्रियों को उच्छृंखल, यौन-संबंधों की अभिव्यक्ति में अधिक प्रत्यक्ष या सामाजिक विद्रोह के प्रति अधिक संवेदनशील एवं सक्रिय नहीं होने देती। वे अपने परिवेश के दबाव से महसूस होती हुई पीड़ा के बोध को या सौंदर्यबोध को अधिक तीव्रता और गहराई से व्यक्त कर सकती हैं।

आज की कविता के क्षेत्र में नयी कविता के कवि भी हैं और साठ के बाद उभरने वाले कवि भी। युवा कवियों में धूमिल, ऋतुराज, चंद्रकांत देवताले, लीलाधर जगूड़ी, विष्णुचंद्र शर्मा, प्रणवकुमार वन्द्योपाध्याय, विजेंद्र, डॉ. विनय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन कवियों में **धूमिल** सर्वाधिक चर्चित कवि रहे हैं। धूमिल (संसद से सड़क तक) ने कविता को एक नया मुहावरा दिया है और राजनीतिक चेतना को अपने काव्य में बड़ी कुशलता से अंतर्व्याप्त किया है।

## हास्य-व्यंग्यात्मक कविता

हास्य तो रस का भेद बन कर अत्यंत प्राचीनकाल से ही साहित्य में अपनी सत्ता जमाये चला आ रहा है, किंतु व्यंग्य का उन्मेष आधुनिक काल में ही हुआ। व्यंग्य का अस्तित्व पहले नहीं था, ऐसी बात नहीं। वह पहले भी था, किंतु वह हास्य के अंतर्गत ही था। हास्य अपनी मूल प्रकृति में बहुत निश्छल होता है, वह किसी का जी दुखाये बिना, आलंबन की विचित्रता का चित्रण कर एक आह्लाद प्रदान करता है। वह किसी को कचोटता नहीं, खुला सुख देता है, इसलिए व्यंग्य उसमें हो कर भी अपनी स्वतंत्र सत्ता उभार नहीं पाता। व्यंग्य कथ्य की असंगतियों का (उसके बाहरी-भीतरी रूप के, कथनी-करनी के आचरण और मूल्य के अंतर्विरोधों का) पर्दाफाश कर चोट करता है। यह चोट हलका-हलका हंसाती भी है और बेचैन भी करती है। व्यंग्य का संबंध समाज और व्यक्ति दोनों के जीवन से हो सकता है, किंतु मूलत: इसका संबंध सामाजिक जीवन से ही अधिक होता है। व्यंग्य का आलंबन व्यक्ति भी प्राय: सामाजिक अंतर्विरोधों का ही प्रतीक होता है। इसलिए यह देखने में आता है कि सामाजिक जीवन-अनुभव और सामाजिक दृष्टि वाले कवि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

व्यंग्यविधान में अधिक प्रवृत्त और सफल होते हैं। भारतेंदुकाल के सारे सर्जकों ने व्यंग्य का सहारा लिया, फिर प्रगतिवाद ने व्यंग्य की ओर भरपूर दृष्टिपात किया और नयी कविता तो प्रमुखतः व्यंग्य-कविता ही बन गयी, विशेषतया उसकी परवर्ती यात्रा।

छायावादोत्तर काल में छायावाद के कवि **निराला** व्यंग्य की ओर विशेष प्रवृत्त हुए। सामाजिक जीवन के अनुभवों और लोकदृष्टि से संपन्न होने के कारण निराला में शुरू से ही व्यंग्य का स्पर्श मिलता है, किंतु बाद में चल कर उन्होंने 'कुकुरमुत्ता', 'मॉस्को डायलाग्स', 'गर्म पकौड़ी', 'प्रेम संगीत' आदि उत्कृष्ट व्यंग्य-कविताएं लिखीं। ये व्यंग्य-कविताएं प्रगतिशील धारा में समाहित की जा सकती हैं। निराला की इन कविताओं की परंपरा में प्रगतिशील कवि नागार्जुन, त्रिलोचन और रामविलास शर्मा की बहुत-सी कविताएं देखी जा सकती हैं। इनमें **नागार्जुन** का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। नागार्जुन में सामाजिक जीवन के अनुभवों, प्रगतिशील दृष्टि और राजनीतिक चेतना का सुंदर समन्वय है। इसीलिए वे हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन के बीच व्याप्त भयंकर विसंगतियों और अंतर्विरोधों को पहचान लेते हैं और उन्हें अनावृत्त करने के लिए व्यंग्य का सहारा लेते हैं। उनकी प्रगतिशील दृष्टि इन विसंगतियों के उद्घाटन में एक ओर शोषक व्यक्ति और समाज के आचरण-मूल्य के अलगाव पर चोट करती है, तो दूसरी ओर शोषित के प्रति दर्द जगाती है। नागार्जुन ने सामान्य लोगों के बीच असर करने वाले चालू व्यंग्य भी बहुत लिखे हैं, किंतु उनकी ऐसी भी काफ़ी व्यंग्य-कविताएं हैं, जो साहित्यिक दृष्टि से उत्कृष्ट मानी जा सकती हैं। **त्रिलोचन** भी ऐसे प्रगतिशील कवि हैं, जो मार्क्सवादी दृष्टि के साथ-साथ सामाजिक जीवन अनुभवों से भी संपन्न हैं। इसलिए इनकी व्यंग्य-कविताओं में भी चोट और दर्द दोनों की सहस्थिति लक्षित होती है। इनके व्यंग्य विशेषतया इनके 'सॉनेट' में मिलते हैं। त्रिलोचन का कलात्मक संयम इनके व्यंग्य को बड़ा पैनापन प्रदान करता है।

कहा जा चुका है कि 'नयी कविता' और विशेषतया परवर्ती 'नयी कविता' की प्रकृति ही व्यंग्यात्मक है। कारण यह है कि स्वाधीनता-परवर्ती भारतीय समाज निरंतर विसंगतियों से ग्रस्त होता चला गया। कथनी और करनी, आचरण और मूल्य के बीच विरोध बढ़ता गया। अनुभव पर बल देने के कारण नयी कविता ने उन आदर्शों या मूल्यों की स्थापना करने से इनकार कर दिया, जो व्यवहार में न उतर कर केवल ऊपर-ऊपर टंगे हुए थे और जिन्हें पिछली कविता अपने-अपने ढंग से अपने ऊपर आरोपित करती आ रही थी। इसलिए कविता के सामने तब विसंगतिमयी स्थितियां थीं और कवि की यथार्थवादी दृष्टि थी। कवि की यथार्थवादी दृष्टि हमारे सामाजिक, राष्ट्रीय और व्यक्तिगत जीवन के जटिल अंतर्विरोधों के उद्घाटन के लिए व्यंग्य का सहारा ले कर चली, इसलिए व्यंग्य नयी कविता की मूल प्रकृति बन गया। अज्ञेय, मुक्तिबोध, भारती, भवानीप्रसाद मिश्र, रघुवीरसहाय, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, सर्वेश्वरदयाल, विजयदेवनारायण साही आदि सभी प्रमुख कवियों में व्यंग्य मिलता है। **अज्ञेय** की 'सांप' और **भवानीप्रसाद मिश्र** की 'गीतफ़रोश' इस धारा की दो बहुत प्रसिद्ध व्यंग्य कविताएं हैं। नयी कविता की गंभीर-सी लगने वाली कविताओं में भी व्यंग्य का स्वर उभरता रहता है और परोक्ष रूप से प्रायः हर कविता व्यंग्य या व्यंग्यगर्भित कविता बन जाती है।

प्रस्तुत कालावधि में हास्य-व्यंग्य की कविता की एक और धारा बहती हुई दिखायी पड़ती है, जिसे हास्य-कविताधारा या व्यंग्य-मिश्रित हास्य-कविताधारा कह सकते हैं। हिंदी में कविता का विभाजन मंच की दृष्टि से भी किया जा सकता है—अर्थात मंच की कविता और मंचेतर कविता। गंभीर साहित्य-सर्जना अपने को मंच से नहीं जोड़ती, किंतु मंच की कविता की रचना-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रक्रिया में जाने-अनजाने मंच हावी हो उठता है। यही वजह है कि कुछ अपवादों को छोड़ कर हिंदी का श्रेष्ठ कवि मंच का कवि नहीं रहा और दूसरी ओर मंच का कवि साहित्य की सीमा में प्रवेश नहीं पा सका। कविता चाहे युद्ध की हो, चाहे प्रेम की और चाहे हास्य की, इस दृष्टि से सबकी स्थिति समान ही है। इसी कारण हास्य और व्यंग्य में स्पष्ट रूप से दो अलग-अलग धाराएं बन गयीं, एक ओर कलात्मक ईमानदारी के साथ गंभीर व्यंग्य लिखने वालों की उपर्युक्त परंपरा रही, तो दूसरी ओर सामान्य भीड़ को हंसाने वाले मंचीय कवियों की परंपरा। इन मंचीय कवियों में न तो गहरी विसंगतियों की पकड़ है और न कलात्मक संयम के साथ उन्हें व्यंजकता दे पाने की शक्ति। एक तो ये सामान्य जनता को सहज ही हंसा सकने वाले विषय चुनते हैं, दूसरे, उन्हें फैला कर चपटे ढंग से पेश करते हैं ताकि लोग सहज ही ग्रहण कर सकें। व्यंग्य-कविताओं की-सी सामाजिक विसंगतियां इनमें भी (विशेषतया स्वातंत्र्योत्तर कविताओं में) होती हैं, किंतु बहुत ऊपरी स्तर पर उनकी पहचान होती है और कवि पाठकों को हंसाने के प्रयत्न में उन विसंगतियों को हलके-फुलके विषयों (जैसे—साली, सलवार, बीवी, साबुन, सिनेमा, गोरा-काला आदि) के धरातल पर ला छोड़ते हैं। यही वजह है कि हिंदी में हास्य-कविताएं लिखने वालों की एक अच्छी ख़ासी जमात तो है, किंतु उनकी उपलब्धियां साहित्यिक स्तर नहीं प्राप्त कर सकीं और वे साहित्य के हाशिये पर उठा कर रख दिये गये। इस धारा में लिखने वाले इस अवधि के उल्लेखनीय कवि हैं—हरिशंकर शर्मा, बेढब बनारसी, कांतानाथ पांडे 'चोंच', गोपालप्रसाद व्यास, बेधड़क बनारसी, काका हाथरसी, वंशीधर शुक्ल, रमई काका, बरसानेलाल चतुर्वेदी आदि। इन कवियों की अपनी-अपनी शैली और अपनी-अपनी पहचान है। लोकप्रियता प्राप्त करने की प्रवृत्ति के भीतर ही इन कवियों ने जहां महत्त्वपूर्ण विषयों को लिया है या जहां ये कथ्य की गहराई में उतरे हैं या जहां इनका 'ट्रीटमेंट' अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक है, वहां ये अच्छी रचनाएं भी दे गये हैं।

**बेढब बनारसी** का हास्य संयत, शिष्ट और सांकेतिक है। विषय की विविधता भी इसमें लक्षित होती है। **हरिशंकर शर्मा** बहुत पुराने कवि थे, तो भी उन्होंने इस अवधि में पर्याप्त लिखा। इनमें काफ़ी खुलापन है। फूहड़ विषयों और फूहड़ ढंग से मुक्त हो कर इन्होंने सामाजिक और राष्ट्रीय विसंगतियों पर साफ़-सुथरी तथा चोट करती हुई कविताएं लिखी हैं। **गोपालप्रसाद व्यास** की भी कविताएं पारिवारिक तथा सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों को स्पर्श करती हैं। **बेधड़क बनारसी** की कविताओं में वैविध्य है और उनमें रोज़मर्रा की ज़िंदगी के प्रति जागरूकता दिखायी पड़ती है। **वंशीधर शुक्ल** में राजनीतिक चेतना सबसे अधिक प्रखर है और इसलिए इनके व्यंग्य में अधिक गंभीरता है।

## ब्रजभाषा-काव्य

आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य हिंदी की अत्यंत समृद्ध काव्य-परंपरा का उत्तराधिकारी है। खड़ीबोली काव्य के उत्कर्ष-काल, अर्थात छायावाद-युग तक तमाम संघर्षों को झेलते हुए भी ब्रजभाषा गौरव के साथ परंपरा तथा नवीन युग-तनाव का प्रतिनिधित्व करती रही, किंतु छायावादोत्तर काल में खड़ीबोली के राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठा होने से ब्रजभाषा-काव्य-परंपरा को क्रमशः ह्रास का मुख देखना पड़ा। छायावाद-युग में समर्थ कवि-साहित्यकार ब्रजभाषा के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए प्राणपण से सचेष्ट रहे, वे भी आगे चल कर खड़ीबोली का शृंगार करने में जुट पड़े। जहां एक ओर प्रसाद, मैथिलीशरण, 'नवीन' आदि अनेक कवि ब्रजभाषा से आरंभ कर खड़ीबोली की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गोद में जा बैठे, वहीं 'बुद्धचरित' के कवि रामचंद्र शुक्ल के साथ ही राय कृष्णदास, किशोरीदास वाजपेयी, रामशंकर शुक्ल 'रसाल', अनूप शर्मा, उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' प्रभृति ब्रजभाषा-कवियों ने समय की मांग के अनुरूप कविता, साहित्यालोचन, भाषारचना आदि के क्षेत्र में खड़ीबोली को उत्कर्ष प्रदान किया। दूसरी ओर ब्रजभाषा में अद्यावधि अबाध गति से काव्य-सर्जन होते रहने पर भी उसके एक सहस्रांश को भी प्रकाशित होने का सौभाग्य नहीं मिल सका। प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में छायावाद-युग में ब्रजभाषा-कविताएं जिस धड़ल्ले से छपती रहीं, वह क्रम देश के स्वतंत्र होते-होते समाप्त हो गया। इतना ही नहीं, बड़े शहरी केंद्रों में रची जाने वाली खड़ीबोली कविता शिक्षा-प्रसार के साथ-साथ छोटे क़स्बों तक प्रवेश पा गयी और स्थान-स्थान पर राष्ट्रभाषा प्रचार के नाम पर साहित्यिक गोष्ठियों तथा छोटी-बड़ी पत्रिकाओं के प्रकाशन का क्रम आरंभ हुआ, जिसका प्रयोजन नये-से-नये विषयों की खोज और प्रतिष्ठा करना था। इससे ब्रजभाषा-काव्य परंपरा को आघात लगना स्वाभाविक ही था। नये युग की दौड़ में ब्रजभाषा-काव्य पिछड़ा हुआ माना जाने लगा तथा आज़ादी के बाद की पीढ़ी के साहित्यिक संस्कार एकदम भिन्न हो गये। फिर भी, छायावादयुगीन कतिपय समर्थ ब्रजभाषा-कवियों की अनेक श्रेष्ठ काव्यकृतियां आलोच्य काल में प्रकाशित हुईं तथा अनेक ऐसे कवि भी प्रकाश में आये, जो अंकुरित तो छायावादयुग में हुए, किंतु जिनकी प्रतिभा का पूर्ण प्रस्फुटन परवर्ती काल में हुआ। इन दोनों वर्गों के कवियों में सर्वश्री अमृतलाल चतुर्वेदी (1898), बलदेवप्रसाद मिश्र 'राजहंस' (1898), रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (1899), हृषीकेश चतुर्वेदी (1907-1970), बालमुकुंद चतुर्वेदी 'मुकुंद' (1907), सेवकेंद्र त्रिपाठी (1909) और लक्ष्मीनारायण सिंह 'ईश' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

ब्रजभाषा के वर्तमान कवियों में आगरा के कवि **अमृतलाल चतुर्वेदी** का विशेष स्थान है। उनकी रचनाओं में 'श्यामसंदेसौ' (1950) और 'ग़ालिब-अमृत' विशेष प्रसिद्ध हैं—प्रथम कृति जहां भ्रमरगीत-परंपरा के अंतर्गत रचित है, वहीं द्वितीय में ग़ालिब की रचनाओं का ब्रजभाषानुवाद किया गया है। **डॉ. बलदेवप्रसाद मिश्र** की 'शृंगारशतक' और 'वैराग्यशतक' (1928) शीर्षक रचनाएं छायावाद-युग में प्रकाशित हो चुकी थीं। इनकी छायावादोत्तर काल की कृतियों में 'श्यामशतक' (1958) अधिक प्रसिद्ध हैं।

छायावादोत्तर ब्रजभाषा-कवियों में **डॉ. रसाल** का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'अजसमोचन', 'रसालमंजरी' और 'उद्धवशतक' इनके ब्रजभाषा-काव्य हैं, जिनमें से अंतिम को विशेष ख़्याति प्राप्त है। इसी प्रकार की एक अन्य प्रसिद्ध रचना आगरा के कवि **हृषीकेश चतुर्वेदी** का 'रामकृष्णकाव्य' (1943) है। कलामक अभिव्यंजना की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है। यमक-श्लेषमयी इस रचना में शब्द-योजना इस ढंग से की गयी है कि एक ओर से पढ़ने पर पंक्ति का अर्थ रामपरक निकलता है, तो विलोम रूप में पढ़ने से कृष्णपरक। मथुरा के कवि **मुकुंद** ने लगभग 35 पुस्तकें लिख कर ब्रजभाषा-साहित्य को समृद्ध किया है। शृंगार, हास्य, वात्सल्य और शांत रस की टकसाली कविता होते हुए भी इनकी शैली में इनका व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से झलकता है। **सेवकेंद्र त्रिपाठी** भी ब्रजभाषा के सुकवि हैं। 'ब्रजवर्तिका' (1965) इनकी महत्त्वपूर्ण काव्यकृति है, जिसमें ब्रज-प्रदेश और ब्रज-संस्कृति के प्रति इनका अनन्य अनुराग परिलक्षित होता है। **लक्ष्मीनारायण सिंह 'ईश'** का 'लंकादहन' (रचना 1945, प्रकाशन 1950) ओजगुणयुक्त खंडकाव्य है, जिसमें हनुमान द्वारा लंकादहन की कथा नौ सर्गों में प्रौढ़ परिष्कृत ब्रजभाषा में वर्णित है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उपर्युक्त प्रमुख कवियों के अतिरिक्त वर्तमान युग में अनेक अन्य कवियों ने भी ब्रजभाषा-काव्यधारा के विकास में योग दिया है। उनके कृतित्व को सामान्यतः इन तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—भक्ति-भावना, राष्ट्रीय व सामाजिक चेतना और विविध विषयावली। आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य को हास्य-व्यंग्य की छटा से आलोकित कर देने वाले कवि **गोपालप्रसाद व्यास** का उल्लेख भी यहां आवश्यक है। ब्रज-साहित्य-मंडल से संबद्ध रह कर इन्होंने हिंदी-जगत की पर्याप्त सेवा की है। इनकी ब्रजभाषा की रचनाएं 'रंग, जंग और व्यंग्य' (1966) में संकलित हैं। व्यास जी की कविता की विशिष्ट भंगिमा होती है। यमुना-महिमा, ब्रजवानी, शक्ति-पंचामृत, विनोबा-स्तवन, नायिका-निरूपण, पावस-प्रसंग आदि फुट कर विषयों पर इनकी रचनाएं अत्यंत लोकप्रिय हुई हैं। सीतापुर के **अखिलेश त्रिवेदी** की ब्रजरचना 'गंगालहरी' (1947) में षड्ऋतु वर्णन, सूर्योदय, वैराग्य आदि परंपरागत विषयों के अतिरिक्त सामाजिक यथार्थ का भी चित्रण हुआ है तथा छंदों में नवीन प्रयोगों की झलक मिलती है। विविध विषयों पर फुटकर ब्रजभाषा-कविताएं लिखने वाले अन्य कवियों में डॉ. शरणबिहारी गोस्वामी (1928), रामनारायण अग्रवाल, गोविंद चतुर्वेदी, सोम ठाकुर आदि भी उल्लेखनीय हैं। डॉ. जगदीश गुप्त का नाम भी इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि उन्होंने विशेषतः शृंगार रस के ललित और मार्मिक कवित्त-सवैयों की रचना की है। उनकी ब्रजभाषा की श्रेष्ठ कविताओं का संग्रह 'छंदशती' (1980) है। अब ब्रजभाषा कविता साहित्यिक परिदृश्य से लगभग अदृश्य हो गयी है।

## मूल्यांकन

प्रस्तुत कालावधि की प्रवृत्तियों और तत्संबद्ध कृतियों को जब हम एक साथ देखते हैं तो पाते हैं कि वे विभिन्न स्तरों पर अपने को एक-दूसरे से जोड़ती-तोड़ती चलती हैं। यदि रचना समकालीन जीवन-चेतना से जुड़ी होगी तो निश्चित है कि वह अनुभूति, दृष्टि और शिल्प के स्तर पर अपने को पूर्ववर्ती धारा से अलगा देगी और यह सर्जन की एक अनिवार्य शर्त भी है। किंतु यह भी निश्चित है कि सामाजिक परिवेश में निर्मित व्यक्ति-मन की गहराइयों में यात्रा करने वाली रचनाएं किसी काल में निर्मित हो कर भी कालातीत बन जाती हैं। उनके कालातीत बनने के दो कारण होते हैं, एक तो मानवीय अनुभव अपनी अंतरंगता में अविच्छिन्न अनुभव-परंपरा के अंग बन जाते हैं। बाहरी आवर्तनों, नये कोणों और आयामों के साथ विकसित होने के बावजूद वे अपनी गहराई में कहीं पूर्ववर्ती अनुभवों से जुड़े होते हैं। दूसरे, इन कृतियों को पढ़ते समय साहित्य के पाठक का इतिहासबोध भी जाग्रत रहता है, अर्थात किसी रचना को पढ़ते समय हम मनसा अपने को उसके काल में रख लेते हैं और यह देखते हैं कि कृति विशेष अपने काल तक के विकसित मानवीय अनुभवों और अपने काल में उनमें जुड़े हुए नये आयामों की पहचान में कितने गहरे उतर सकी है। इसलिए कई कालों या प्रवृत्तियों की कृतियों का सापेक्षिक आकलन करते समय हमें यह बात देखनी होती है कि कृति विशेष या धारा विशेष समकालीन जीवन-चेतना को सर्जनात्मक रूप देने की बेचैनी अनुभव कर, सर्जन की सार्थकता अनुभव कर सकी है या पूर्व-कृतियों में बार-बार अभिव्यक्त जीवन-सत्यों को दुहरा कर या अधिक-से-अधिक उन्हें एक नयी कथन-भंगिमा के साथ सजीला बना कर रह गयी है। दूसरी बात यह है कि समकालीन जीवन-चेतना से जुड़ कर भी वह कृति चेतना के उन स्तरों को भी उद्घाटित कर सकी है कि नहीं जो अपनी आत्यंतिक अंतरंगता में कालातीत बन जाने की क्षमता रखती है। इस प्रकार अच्छी कृति में एक ही काल-चेतना और कालेतर चेतना बन जाने की संभावना निहित रहती है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

छायावाद 1938 के पश्चात न तो समकालीन जीवन-अनुभवों के प्रति सचेत दीखता है और न उन अनुभवों को कहीं और गहराता ही है, जिनसे वह पहले गुज़र चुका था। छायावाद के दो श्रेष्ठ कवि निराला और पंत प्रगतिवादी बन कर सामाजिक जीवन-यथार्थ की ओर मुड़ते हैं और अपनी छायावादी धारा की कविताओं में भी कुछ लोकोन्मुख होते हुए दीखते हैं। महादेवी की 'दीपशिखा' उनकी पूर्ववर्ती चेतना का ही अगला सोपान है। वह कोई नयी ज़मीन न दे कर भी, पूर्व की ज़मीन पर यात्रा करती हुई भी, एक उपलब्धि प्रदान करती है। कुल मिला कर इस अवधि का छायावादी काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से कोई वैशिष्ट्य स्थापित नहीं कर पाता।

वैयक्तिक गीति-कविता वास्तव में अनुभव के क्षेत्र में कोई नयी बात ले कर नहीं आयी। उसकी भावभूमि, उसकी दृष्टि, छायावाद से भिन्न नहीं है। वह केवल छायावाद के ऊपर लहराते हुए रहस्यवाद के आवरण को हटा देती है, जिससे प्रेम, सौंदर्य और तज्जन्य निराशा, विषाद, टूटन तथा उन्माद हर्ष के अनुभवों की लौकिकता अपने असली रूप में उजागर हो जाती है। निश्चय ही यह साहसपूर्ण क्रिया तत्कालीन नये संदर्भों में बदलते हुए युवा-मानस की पहचान कराती है और इन निर्व्याज लौकिक प्रेमानुभूतियों को सर्जना की एक नयी अकुलाहट से जोड़ती है। यह अकुलाहट युवा-मन की रूमानी अनुभूतियों को, अर्थात रूप के प्रति उत्कट प्यास और उसकी अतृप्ति से उत्पन्न विषाद और उदासी को, तीव्र, उद्दाम और सीधे गीतों की रचना में नियोजित कर देती है, किंतु तीव्र और सीधे रूमानी प्रभाव वाले ये गीत मानव-अनुभवों की न तो गहराई में उतर सके, न जटिलता में। इसलिए वे किसी बहुत समृद्ध काव्य की भूमिका निभाने में समर्थ नहीं हो सके। किंतु, यह भी निश्चित है कि ये इस अवधि के छायावाद की रहस्यात्मकता से ऊबे हुए पाठकों के मन को बड़ी ताज़गी और खुलेपन से स्पर्श करा सके और सौंदर्य की हलकी-हलकी दीप्ति से उसे जगमगाने में सफल हो सके।

प्रगतिवाद ने सामाजिक यथार्थ को सौंदर्य की बुनियाद माना। उसने छायावाद और व्यक्तिवादी गीतिकविता की व्यक्तिगत, रूमानी भाव-चेतना से आगे बढ़ कर सामाजिक जीवन के यथार्थ को मार्क्सवादी दृष्टि से पहचानने और रूपायित करने का प्रयत्न किया। इस धारा की कविता निश्चय ही दो दृष्टियों से बड़े महत्त्व की है—एक तो उसने एक ठोस जीवन-दृष्टि को स्वीकार किया, दूसरे समकालीन सामाजिक जीवन-चेतना की पहचान और उसकी अभिव्यक्ति की आकुलता से संपन्न हो कर नये सर्जन की सार्थकता को रेखांकित किया। इसलिए जहां तक साहित्य को सामाजिक जीवन की ऊर्जा से जोड़ने का प्रश्न है, जहां तक साहित्य को सामाजिक जीवन की विविध समस्याओं, प्रश्नों, संगतियों, विसंगतियों से जोड़ कर उसे रसात्मकता के साथ-साथ मूर्त जीवन की पहचान से जोड़ने का प्रश्न है, प्रगतिवाद हमारी समूची काव्य-यात्रा में एक बहुत बड़ी भूमिका अदा करता है। किंतु अनुभव और दृष्टि के अलगाव और उससे उत्पन्न ख़तरा यहां मौजूद है। प्रगतिवाद के पास एक मूर्त दृष्टि तो है, लेकिन वह अनुभव से उपजी हुई नहीं है, बल्कि किताब से ली गयी है। अनुभव के ऊपर दृष्टि के इस दबाव ने प्रगतिशील कविता को प्रायः प्रभावहीन प्रगति-नारा बना कर छोड़ दिया है। इस प्रकार साहित्य में इतनी बड़ी सामाजिक भूमिका निभाने के बावजूद प्रगतिवाद काव्य के स्तर पर अभिप्रेत उपलब्धि नहीं प्राप्त कर सका है। हां, उसने साहित्य को वह परिवेशमूलक शक्ति अवश्य प्रदान की है, जो आगे चल कर काव्यात्मक उपलब्धि भी बन सकी है।

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा एक क्रमागत धारा है, जो भारतेंदु-काल से शुरू हो कर द्विवेदी-काल, छायावाद-काल से होती हुई यहां तक पहुंची है, किंतु इसे अपने समय से कटी हुई या

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पिष्टपेषित धारा नहीं कह सकते, क्योंकि हमारी राष्ट्रीय समस्याएं निरंतर नये संदर्भों में जटिल और गहरी होती जा रही थीं। हमारी सांस्कृतिक चेतना क्रमशः बौद्धिक हो रही थी, वह अतीत की गरिमा से अभिभूत मात्र होने के स्थान पर उसके परीक्षण में भी लीन हो रही थी और अंतरराष्ट्रीय संदर्भों में भी अपना विकास कर रही थी। मार्क्सवाद प्रच्छन्न रूप से उसे भावात्मक स्तर से उबार कर जनजीवन से संपृक्त बौद्धिक धरातल प्रदान कर रहा था, इस नयेपन को व्यक्त करता था। इसलिए राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा एक परंपरा से जुड़ कर भी समकालीन परिवेश में अपना वैशिष्ट्य प्रकट करती है। किंतु काव्य के स्तर पर यह उपलब्धि कुछ ही कविताओं को प्राप्त हो सकी। अनेक फुटकल कविताएं राष्ट्रीय जीवन की जटिल गहराइयों में न उतर सकीं, वे ऊपर-ऊपर की घटनाओं को ले कर आवेश के साथ पहले की ही भांति चीखती रहीं। मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त और दिनकर जैसे समर्थ कवि कुछ प्रबधकाव्यों के रूप में अवश्य ही सशक्त काव्य दे सके। दिनकर की उपलब्धियों को विशेष रूप से रेखांकित किया जा सकता है। जहां धारा के रूप में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता ने सामूहिक रूप से बहुत सतही उत्तेजनात्मक अनुभूति की कविताएं दीं, वहीं उसी ने विशेष उपलब्धि के रूप में 'कुरुक्षेत्र' और 'उन्मुक्त' जैसी रचनाएं भी दीं।

प्रयोगवाद को यदि नयी कविता से अलग करके देखें तो उसका जीवनकाल बहुत अल्प होगा, उसे 1943 से 1950 तक मानना होगा। नयी कविता से जुड़ कर प्रयोगवाद कृतियों और काव्यात्मक उपलब्धि—दोनों दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण दिखायी पड़ेगा। यद्यपि प्रयोगवाद की बहुत सी मूलभूत बातें नयी कविता में हैं, किंतु दोनों को पर्याय नहीं माना जा सकता। रूमानी व्यक्तिमूलक कविता की भावाकुलता, रूमानी दृष्टि, आरोपित आदर्शवादिता, भावुक अभिव्यक्ति तथा प्रगतिवाद की यांत्रिक सामूहिकता, सपाट भावबोध तथा असंयत प्रचारात्मक अभिव्यक्ति के परिप्रेक्ष्य में प्रयोगवाद की अनुभूतिमूलक व्यक्तिवादिता अंतरस्थ अनुभवजन्य जटिल संवेदना, बौद्धिकता आदि को शक्ति के रूप में ही स्वीकार करना होगा। नयी कविता ने प्रयोगवाद की इन शक्तियों का विकास किया, किंतु प्रयोगवाद अपने आप में अपनी इन शक्तियों के बावजूद एक बहुत बड़ी सीमा लिये हुए आया था।

नयी कविता ने स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद के भारतीय समाज के यथार्थ को सही अर्थ में अनुभव के स्तर पर भोगा और अभिव्यक्त किया है। उसने सत्य का अनुभव ही नहीं किया, वरन् अपनी बौद्धिक दृष्टि से अनुभवों का मूल्यांकन भी किया है। उपर्युक्त विविध धाराओं का एक साथ विवेचन करें और उनकी उपलब्धियों का आकलन करें, तो प्रतीत होगा कि साहित्य में केवल समय की गतिविधियों या उसकी आकांक्षाओं, समस्याओं से संपृक्त होना ही पर्याप्त नहीं होता, वरन् उन्हें अनुभव में आत्मसात करना होता है। वास्तव में कविता की मूल चेतना सौंदर्य-चेतना है। यह चेतना अपने परिवेश से बनती और विकसित होती है, किंतु जब परिवेश प्रधान हो जाता है, तब कवि प्रगतिवाद की सतही रचनाओं की सृष्टि करता है। और जब सौंदर्य-चेतना परिवेश से कट जाती है, तब वह व्यक्तिवादी अहम् की सृष्टि करता है। यह व्यक्तिवादी अहम् छायावाद और प्रयोगवाद दोनों में अलग-अलग रूपों में देखा जा सकता है। जो रचनाएं परिवेश और कवि की सौंदर्य-चेतना के समन्वित रूप को ले कर फूटती हैं, वे अधिक स्वस्थ और सुंदर होती हैं। इस दृष्टिकोण से 'साकेत', 'कामायनी', 'तुलसीदास', 'राम की शक्तिपूजा', 'कुरुक्षेत्र', 'उर्वशी', 'उन्मुक्त', 'अंधा युग', 'आत्मजयी' आदि कृतियों को समय की छोटी-छोटी सीमाओं से मुक्त कर एक बृहत्तर समय के फलक पर रखा जा सकता है। दूसरी ओर, निराला, पंत, नवीन,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

माखनलाल चतुर्वेदी, बच्चन, नरेंद्र, अंचल, अज्ञेय, केदारनाथ अग्रवाल, भवानीप्रसाद मिश्र, गिरिजाकुमार माथुर, शमशेरबहादुर आदि के व्यक्ति-चेतना-स्पंदित गीतों या छोटी-छोटी सुंदर कविताओं को भी एक ही रचनालोक में देखा जा सकता है। फालतू कविताएं हर धारा में हुई हैं। जो कविताएं अनुभूति की आंच से ऊष्म रही होंगी, जिनमें गहरे जीवन-अनुभवों और सौंदर्य-दृष्टि के स्थान पर उत्तेजना होगी या नक़ली बौद्धिकता होगी, वे कविता की दृष्टि से असफल और निरर्थक होंगी, वे चाहे छायावाद की हों, चाहे प्रगतिवाद की और चाहे नयी कविता की। नयी कविता चूंकि सबसे निकट की धारा है, इसलिए उसकी उपलब्धियों के साथ-साथ उसकी रचनात्मक व्यर्थताओं का भी अनुभव सरलता से किया जा सकता है।

इसलिए जब हम काव्य-प्रवृत्तियों की सापेक्षिक शक्तियों का आकलन करते हैं, तब हमें यह देखना होता है कि वास्तव में कौन-सी धारा जीवन को अधिक समीप से ग्रहण करती है तथा किसकी प्रकृति अधिक साहित्यिक है। उस धारा के अधिक जीवंत और साहित्यिक होने के बावजूद हो सकता है कि उसमें महान कृतियां न सर्जित हो सकती हों। इसलिए महान प्रतिभाओं का प्रश्न भी इसके साथ जुड़ा होता है। महान प्रतिभाएं सदा उत्पन्न नहीं होतीं, किंतु धाराएं बदलती रहती हैं और महान व्यक्तियों के अभाव में भी उनका सामूहिक व्यक्तित्व महान कवियों वाली धाराओं के सामूहिक व्यक्तित्व से अधिक साहित्यिक, जीवन-संपृक्त और सुंदर हो सकता है। प्रस्तुत अवधि की हिंदी-काव्यधाराओं में नयी कविता का सामूहिक व्यक्तित्व निश्चय ही सामर्थ्यवान और जीवंत है। वैसे छायावाद को छोड़ दिया जाये तो अन्य धाराओं में कोई बड़ा व्यक्तित्व नहीं दिखायी पड़ता। 'दिनकर' ही एक ऐसे कवि हैं, जो एक बड़े काव्य-व्यक्तित्व से संपन्न कहे जा सकते हैं, किंतु इधर नयी कविता में भी अज्ञेय और मुक्तिबोध का काव्य-व्यक्तित्व हमें आकृष्ट करता है। जो भी हो, 'नयी कविता' एक धारा के रूप में, एक सामूहिक व्यक्तित्व के रूप में छायावाद के बाद की अत्यंत सशक्त और जीवंत काव्यधारा है। वह हिंदी-काव्यधारा की उपलब्धि है—भावबोध, चिंतन और शिल्प सभी दृष्टियों से। उसने जीवन को उसके गहरे और विविध रूपों में रूपायित किया है।

## अद्यतत हिंदी-कविता

(सन् 1975-1980 की हिंदी कविता)

सन् '75 से ले कर अब तक का दौर कविता-संग्रहों के प्रकाशन के दृष्टिकोण से बहुत समृद्ध कहा जा सकता है। इस दौर में नयी कविता तथा उससे पहले के दौर से कविता की यात्रा शुरू करने वाले अनेक प्रतिष्ठित कवियों के भी संग्रह आये, 1960 के बाद के दौर के कवियों के भी संग्रह आये तथा अनेक युवा कवियों के भी संग्रह आये। गुणवत्ता की दृष्टि से इनमें काफ़ी विषमता है। किंतु सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि यह कविता का दौर काफ़ी आश्वस्त करता है। अनेक अख्यात या कम ख़्यात कवियों के अनेक कविता-संग्रह भी इस बीच आये, जो अपनी पहचान बनाने की दिशा में प्रयत्नशील दिखायी पड़ते हैं और अपने प्रति आशा जगाते हैं। इस दौर के कविता-संग्रहों की संख्या इतनी बड़ी है कि सबको यहां सूचीबद्ध नहीं किया जा सकता है। नीचे कुछ नये-पुराने प्रतिष्ठित कवियों के विशिष्ट काव्य-संग्रहों की सूची दी जा रही है :

'महावृक्ष के नीचे', 'नदी की बांक पर छाया' (अज्ञेय), 'भूरी भूरी खाक धूल' (मुक्तिबोध), 'ऐसे भी हम क्या ऐसे भी तुम क्या', 'आख़िर ऐसा क्या कह दिया मैंने', 'पुरानी जूतियों का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कोरस', 'रत्नगर्भ', 'तालाब की मछलियां', 'तुमने कहा था', 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने', 'हज़ार-हज़ार बाहों वाली' (नागार्जुन), 'चुका भी नहीं हूं मैं', 'इतने पास अपने' (शमशेर), 'ताप के तापे हुए दिन', 'शब्द', 'उस जनपद का कवि हूं' (त्रिलोचन), 'गुलमेहंदी', 'पंख और पतवार' (केदारनाथ अग्रवाल), 'अनाम तुम आते हो', 'त्रिकाल संध्या', 'परिवर्तन जिये', 'मानसरोवर दिन' (भवानीप्रसाद मिश्र), 'छाया मत छूना मन', 'भीतरी नदी की यात्रा', 'साक्षी रहे वर्तमान', 'कल्पांतर' (गिरिजाकुमार माथुर), 'उतना वह सूरज है', (भारतभूषण अग्रवाल), 'कविताएं-1', 'कविताएं-2', 'जंगल का दर्द', 'खूंटियों पर टंगे लोग' (सर्वेश्वरदयाल सक्सेना), 'आमने-सामने' (कुंवरनारायण), 'साखी' (विजयदेवनारायण साही), 'कंधे पर सूरज', 'दिन एक नदी बन गया' (रामदरश मिश्र), 'ज़मीन पक रही है', 'यहां से देखो' (केदारनाथ सिंह), 'महास्वप्न का मध्यांतर' (कैलाश वाजपेयी), 'उत्सवा' (नरेश मेहता), 'अपनी केवल धार' (अरुण कमल), 'आंख से भी छोटी चिड़िया', 'हमसे पहले भी लोग यहां थे' (इंदु जैन), 'त्रिकोण पर सूर्योदय' (हरिनारायण व्यास), 'हारी हुई लड़ाई लड़ते हुए' (ठाकुरप्रसाद सिंह), 'सामना होने पर', 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' (नरेंद्र मोहन), 'कई अंतराल', 'दूसरा राग' (विनय), 'बची हुई पृथ्वी', 'रात अब भी मौजूद है' (लीलाधर जगूड़ी), 'कल सुनना मुझे', 'सुदामा पांडे का प्रजातंत्र' (धूमिल), 'सुनो कारीगर', 'क से कबूतर' (उदयप्रकाश), 'एक छोटी-सी लड़ाई' (कुमार विकल), 'छोटे बुतों का बयान' (अब्दुल बिस्मिल्लाह), 'अंधेरे के बावजूद', 'बच्चे की दुनिया', 'कोई आवाज़ नहीं' (बलदेव वंशी), 'बलराम के हज़ारों हाथ' (मणि मधुकर), 'एक मरणधर्मा और अन्य' (ऋतुराज), 'मुझे मालूम है' (कन्हैयालाल नंदन), 'इतिहास का संवाद' (कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह), 'लकड़बग्घा हंस रहा है', 'रोशनी के मैदान की तरफ़' (चंद्रकांत देवताले), 'रास्ते के बीच', 'खुली आंखों का आकाश' (दिविक रमेश), 'बहस ज़रूरी है' (देवेंद्र कुमार), 'साथ चलते हुए', 'बेहतर दुनिया के लिए' (विश्वनाथप्रसाद तिवारी), 'लुकमान अली और अन्य कविताएं' (सौमित्र मोहन), 'यह एक दिन है' (प्रयाग शुक्ल), 'एक दिन बोलेंगे पेड़' (राजेश जोशी), 'रेगिस्तान से महासागर तक' (रामदेव आचार्य), 'अंतर्गत' (ललित शुक्ल), 'ये आकृतियां तुम्हारी', 'चैत की लाल टहनी' (विजेंद्र), 'जलता मकान' (विनोद भारद्वाज), 'जैसा कह सका' (विश्वनाथ त्रिपाठी), 'जख़्म पर धूल' (मलयज), 'पहाड़ पर लालटेन' (मंगलेश डबराल), 'कबंध' (विश्वंभरनाथ उपाध्याय), 'हवाएं चुप नहीं रहतीं' (वेणु गोपाल), 'कालपात्र' (श्रीराम वर्मा), 'पूरा ग़लत पाठ', 'अपने ख़िलाफ़' (स्नेहमयी चौधरी), 'क़िस्से अरबों हैं' (सोमदत्त), 'हो जाने दो मुक्त' (सुनीता जैन), 'नींद टूटने से पहले' (ओमप्रकाश निर्मल), 'इतना जो मिला' (श्याम विमल), 'झुलसा हुआ रक्तकमल' (रणजीत), 'बाहर-भीतर' (गिरिधर राठी), 'अंतरंग' (विष्णुचंद्र शर्मा)।

*संपादित कविता-पुस्तकें :* 'आठवें दशक की कविता' (हरिवंशराय बच्चन और अजित कुमार), 'चौथा सप्तक', 'नवधा' (अज्ञेय), 'काला इतिहास', 'बच्चे की वापसी' (बलदेव वंशी), प्रगतिशील कविता के मील के पत्थर (रणजीत)।

*प्रबंधात्मक कृतियां :* 'आहत आत्माएं', 'इला और अमिताभ' (देवराज), 'प्रवादपर्व', 'महाप्रस्थान', 'शबरी' (नरेश मेहता), 'कालजयी' (भवानीप्रसाद मिश्र), 'अग्निलीक' (भारतभूषण अग्रवाल), 'पुनर्वास का दंड', 'एक मृत्यु प्रश्न' (विनय), 'सूर्यपुत्र' (जगदीश चतुर्वेदी), 'अपराधिता' (रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'), 'अब किसे वनवास दोगे' (शैलेश जैदी), विधुरा (पी.डी. निर्मल)।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*लंबी कविता के संग्रह :* 'कहीं भी ख़त्म कविता नहीं होती', 'विचार और लहू के बीच' (सं. नरेंद्र मोहन)।

*गीतिकाव्य :* 'झुलसा है छाया वट धूप में' (वीरेंद्र मिश्र), 'लौट आयेंगे सगुन पंछी' (अनूप अशेष), 'पुष्पचरित' (ओम प्रभाकर), 'पिन बहुत सारे', 'भीतर सांकल बाहर सांकल' (कुंवर बेचैन), 'पंखकटी मेहराबें', 'पथरीले शोर में' (देवेंद्र शर्मा 'इंद्र'), 'दर्द जहां नीला है' (शंभुनाथ सिंह), 'हरसिंगार कोई तो हो' (माहेश्वर तिवारी), 'सुबह रक्तपलाश की' (उमाकांत मालवीय), 'सुर्खियों के स्याह चेहरे' (रामकुमार कृषक), 'पथराई आंखें' (नईम), 'आदमक़द ख़बरें' (नचिकेता), 'बंद न करना द्वार' (रमानाथ अवस्थी), 'इतिहास दुबारा लिखो', 'दरिया का पानी', 'मिट्टी बोलती है', 'रमेश रंजक के लोकगीत' (रमेश रंजक), 'सोन मछरी मन बसी' (रवींद्र भ्रमर), 'मेरे प्रिय गीत' (रामदरश मिश्र), 'गीत पर्व क्या है' (राजेंद्र गौतम)।

*संपादित गीति काव्य :* 'नवगीत दशक—1, 2, 3' तथा 'नवगीत अर्धशती' (शंभुनाथ सिंह), 'यात्रा में साथ-साथ' (देवेंद्र शर्मा इंद्र)। इसके अतिरिक्त कई संग्रहों में भी गीत सम्मिलित हैं।

उपर्युक्त सूची को पीढ़ियों की दृष्टि से देखें तो ज्ञात होगा कि इस दौर में अज्ञेय से ले कर आज तक के कवियों की कई पीढ़ियां सक्रिय रही हैं। बल्कि यह भी द्रष्टव्य है कि अज्ञेय, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, भवानीप्रसाद मिश्र, त्रिलोचन, शमशेर आदि के कई महत्त्वपूर्ण संग्रह इस अवधि में आये। बीच की पीढ़ियों के कवियों के भी काफ़ी महत्त्वपूर्ण संग्रह प्रकाशित हुए और इस दौर को सार्थक बनाने में उनका बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। पीढ़ियों को चर्चा के केंद्र में डाल कर पिछली पीढ़ी को चुका हुआ घोषित करते चलने का जो रिवाज बन गया था, इस दौर की कविताएं इस रिवाज को चुनौती देती हैं; और यह प्रमाणित करती हैं कि रचना के क्षेत्र में प्रारंभ का समय तो बहुत-कुछ सीखने में लगता है। यह साधना का क्षेत्र है, इसमें प्रवेश करते ही सिद्धि नहीं मिल जाती।

प्रभाव की दृष्टि से आज की कविता के दो रूप हैं—एक, कविता वह है, जो स्वभाव से बोझिल है, दुरूह है, उलझी हुई है। इसमें वे कविताएं भी आती हैं, जिनके सरोकार सामाजिक वस्तु की अपेक्षा व्यक्तिगत वस्तु से अधिक हैं, और वे कविताएं भी हैं, जो सामाजिक चेतना, वस्तु और प्रगतिशील दृष्टि का दावा करती हैं। ये कविताएं दुरूह प्रतीकों, खंडित बिंबों से लदी-फदी, टूटती व दरकती चलती रहती हैं और पाठक के भीतर से सीधे गुज़रने के स्थान पर हर क़दम पर उसकी बौद्धिकता को इस तरह छेड़ती हैं कि वह इनकी उलझन को सुलझाती चले। इस प्रकार ये कविताएं कोई अन्विति नहीं दे पातीं, समग्र समन्वित प्रभाव की झनझनाहट नहीं उभार पातीं। इन्हें पढ़ने के पश्चात एक थकान-सी महसूस होती है और पाठक राहत की सांस लेता है, चलो छुट्टी मिली? ऐसी कविताएं कुछ आलोचकों के सहारे जीती हैं। जीती ही नहीं बल्कि गौरव प्राप्त कर लेती हैं। प्रयोगवाद, नयी कविता, अकविता और ठीक आज की कविता के कई कवि ऐसे हैं, बल्कि जिनका स्वभाव ही है उलझी कविता लिखना। दूसरी कविता वह है, जो पारदर्शी होती है, सहज होती है। इसकी गहनता अबूझ नहीं होती है। वह पाठक के अनुभव में उतरती रहती है, और उसकी पंखुड़ियां खोलती रहती है। इस कविता में अनुभव और विचार का एक क्रम से विकास होता है जो पाठक को साथ लिये चलता है। वह एक समग्र अन्वित प्रभाव उभारती है। ऐसा नहीं है कि इस कविता का सब-कुछ एक ही बार पढ़ने में खुल जाता है, यदि कविता गहन है तो बार-बार पढ़ने पर भी उसमें कुछ-न-कुछ पाठक को देने के लिए बचा रहता है, किंतु उस बचे हुए को पाने के लिए पाठक उत्सुक होता है, वह बार-बार प्रसन्न हो कर उस कविता के पास

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लौटता है और कुछ नया ले कर जाता है। समग्रतः वह कविता पाठक के भीतर हांट करती है। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध (ख़ासतौर पर उनकी कविता 'अंधेरे में'), धर्मवीर भारती, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, विजयदेवनारायण साही, भवानीप्रसाद मिश्र, धूमिल आदि की कविताएं प्रमुखतः इसी श्रेणी में आती हैं। इनकी चाहे सपाट कविताएं हों, चाहे गहन, सब में किसी-न-किसी रूप में पाठक को साथ लिये चलने की शक्ति होती है। कई बार कवि अपने दौर के मुहावरे से प्रभावित हो कर अपना स्वभाव छोड़ बैठता दीखता है किंतु समय थिराने पर वह अपने स्वभाव पर आ जाता है। विजयदेवनारायण साही का पृथक् काव्य-संग्रह 'मछलीघर' नयी कविता की दुरूह कविता-परंपरा से प्रभावित जान पड़ता है, किंतु 'साखी' में वे अपने स्वभाव पर आ गये हैं।

यह अच्छी बात हुई कि 1975 के बाद आने वाली कविताओं का स्वर मुख्यतः दूसरे प्रकार का है। ये कविताएं नयी कविता और अकविता से अलग हट कर सामाजिक सरोकारों से जुड़ी हैं। प्रचलित भाषा में इन्हें प्रगतिशील स्वर की कविताएं कह सकते हैं। इनका संसार आम आदमी के सुख-दुःख, आज की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक विसंगतियों से और यथास्थिति के विपरीत मूल्यों की अकुलाहट से बना है। यह दुनिया प्रगतिशील चेतना की होती हुई भी पिछली प्रगतिवादी कविताओं की दुनिया से अधिक जटिल और गहरी है, अधिक काव्यात्मक है। इसमें अभिव्यक्ति की सादगी भी है और काव्यात्मक सांकेतिकता भी। अतः ये कविताएं अभिव्यक्ति के क्षेत्र में एक ओर अपने को प्रगतिवादी कविताओं की अभिव्यक्ति की सपाटता से अलगाती हैं, दूसरी ओर नयी कविता की व्यक्तिवादी चेतना वाली कविताओं और अकविता की यौन-विकृतियों के प्रतीकों से भरी कविताओं के उलझाव और अहेतुक दुरूहता से। अन्य स्वरों वाली कविताओं के बावजूद इन सहज जीवन-यथार्थ और अभिव्यक्ति वाली कविताओं को ही आज की कविता कह सकते हैं। कविता से उदासीन होते हुए पाठकों को ये ही कविताएं कविता से जोड़ सकती हैं। आज की कविता की इस प्रकृति की पहचान इस बात से भी की जा सकती है कि जटिल और उलझन-भरी कविताएं लिखने वाले पिछले कई कवियों ने इस दौर में काफ़ी साफ़-सुथरा लिखा। कुंवर नारायण का 'आमने-सामने', विजयदेवनारायण साही की 'साखी' श्रीकांत वर्मा का 'मगध' आदि संग्रह इस संदर्भ में देखे जा सकते हैं।

इस दौर में कविता का एक और स्वर उठा। भोपाल में कविता की वापसी हुई। कविता कहीं गयी नहीं थी, लेकिन मान लिया गया कि वह चली गयी थी, ताकि उसे वापस लाने का श्रेय कुछ लोगों को प्राप्त हो जाये। यह श्रेय उन्हें प्राप्त हुआ, क्योंकि इसके लिए उनके पास थोक सरकारी ख़रीद का आधार प्राप्त था। यह सही है कि इस सरकारी ख़रीद के आधार पर बहुत-से प्रतिष्ठित और नये कवियों के कविता-संग्रह धड़ाधड़ प्रकाशित हुए और बाज़ार अथवा मध्यप्रदेश के सरकारी पुस्तकालय कविता-संग्रहों से भर गये, किंतु कविताएं तो पहले से वर्तमान थीं और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित थीं, वे केवल संग्रहों के रूप नहीं थीं या कम थीं। इससे कविता के ग़ायब होने और उनकी वापसी का सवाल कहां उठता है? हां, इस वापसी का एक साहित्यिक आयाम भी उभारा गया। मध्यप्रदेश के साहित्यिक नेताओं और उनसे जुड़े देश के अन्य आलोचकों ने यह बात उठाई थी कि कविता कुछ विषयों के दायरे में बंद हो गयी थी और जीवन के अनंत सत्य, संवेदनाएं और सौंदर्यचित्र उसकी दुनिया से बाहर हो गये थे, जैसे फूल-पत्ती, चिड़िया, धूप-पानी आदि। इन्होंने कहना चाहा कि इनसे कट कर कविता कविता नहीं रहती। इन्होंने अपनी कविताओं में इस दुनिया का उद्घाटन किया इसलिए इनकी दृष्टि में कविता की वापसी हुई। अशोक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वाजपेयी और उनके जैसे लिखने वालों की कविताएं इस संदर्भ में देखी जा सकती हैं। वास्तव में ये कविताएं पहले भी थीं और कई कवि इस नारे के बग़ैर जीवन के खुलेपन को ग्रहण कर रहे थे। वहां भी चिड़िया थी, फूल थे, मौसम था, धूप थी, पानी था और ये सब अपने प्राकृतिक बिंब-सौंदर्य के साथ-साथ मानवीय सौंदर्य में एक नया प्रतिकार्थ भी खोलते थे किंतु एक नारे के रूप में कविता की वापसी होनी थी, हुई।

विचार-कविता का आंदोलन भी इसी दौर की देन है। वास्तव में वह आंदोलन, आंदोलन के रूप में नहीं उठा था, एक पहचान के रूप में उठा था। यानी आज की कविता की केंद्रीय शक्ति या प्रेरणा क्या है, इसकी पहचान करने की कोशिश की गयी थी। इस प्रक्रिया में यह अनुभव किया गया था कि समकालीन कविता में अनुभववाद के स्थान पर विचार-तत्त्व अधिक प्रधान हो गया है, प्रेरणा और दृष्टि के रूप में भी और कथ्य के रूप में भी। इसी पहचान के तहत डॉ. नरेंद्र मोहन ने अपने साहित्यिक मित्रों के सहयोग से 'संचेतना' का विचार-कविता अंक निकाला था। उसमें कविता और विचार के संबंधों को विश्लेषित करने वाले कई निबंध थे और काफ़ी कविताएं थीं। पहचान के रूप में उठा हुआ यह नारा बाद में आंदोलन का रूप पकड़ने लगा और विचार कविता की एक धारा बहा दी गयी। विचार कविता का कोई ठोस रूप नहीं खड़ा किया जा सकता और अनुभव के स्थान पर विचार को कविता के केंद्र में भी नहीं लाया जा सकता। कौन-सा कवि ठीक-ठीक विचार-कविता के दायरे में आता है और कौन उसके बाहर हो जाता है, इसकी स्पष्ट पहचान करना बहुत कठिन है। विचार-कविता की सार्थकता इसी में है कि उसने समकालीन कविता में विचार के बढ़ते हुए दबाव को रेखांकित किया।

इस अवधि में जनवादी कविता का भी स्वर उठाया गया। कहा जा चुका है कि इस दौर की कविता की मुख्य चिंता आम आदमी की ज़िंदगी का सुख-दुःख, उसका संघर्ष ही रही है। जैसे बहुत-से कवि प्रगतिवादी खेमे में शरीक हुए बिना प्रगतिवादी कविताएं लिखते रहे, उसी प्रकार समकालीन दौर में किसी भी खेमे में भर्ती हुए बिना बहुत से कवि आम आदमी की ज़िंदगी का यथार्थ रूपायित कर रहे हैं। किंतु जैसे कल प्रगतिवाद ने अपना ठप्पा मार कर प्रगतिवादी लेखकों की एक जमात बना ली थी, उसी प्रकार प्रगतिवादी खेमे से निकला हुआ जनवाद ऐसा नहीं कर पायेगा, इसका क्या भरोसा? यद्यपि जनवाद की मूल प्रतिज्ञा यही रही कि वह प्रगतिवाद के संकीर्णतावाद से सबक ले कर अपना ठप्पा नहीं मारेगा और मानवीय प्रगतिशील चिंता वाले तमाम लेखकों को अपने साथ जोड़ेगा और कुछ दूर तक उसने यह करने की कोशिश भी की, किंतु उनके मूल स्तंभ वे ही लोग हैं, जो संकीर्णतावाद से उबरे नहीं हैं, और जो अभी भी प्रचार और नारे को महत्त्व दे रहे हैं। फिर भी अपने व्यापक और उदार रूप में जनवादी कविता आज की कविता है। यदि एक ओर उसमें प्रचारवादी और नारेवादी तमाम असमर्थ कवि और लेखक हैं, तो दूसरी ओर मुक्तिबोध की परंपरा के अनेक समर्थ कवि और लेखक भी हैं, जो आम आदमी की ज़िंदगी के खुले कथ्य और काव्य-शिल्प दोनों की समान चिंता करते हैं, और इसमें बिना ठप्पा वाले अच्छे कवि और लेखक भी काफ़ी दूर तक शरीक हैं। यह काफ़ी आश्वस्तिकारी बात है। वास्तव में प्रगतिवादी लेखक-संघ ने तो आज भी अपने लेखकों की एक अलग जमात बना रखी है, किंतु जनवादी लेखक-संघ इसे तोड़ने में लगा है और प्रगतिवाद के कवियों और लेखकों को भी साहित्य के स्तर पर अपनी ही जमात का मानता है। वास्तव में साहित्य के स्तर पर उन्हें अलगाने का कोई आधार भी नहीं बनता। प्रगतिवादी खेमे के केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन आदि को जनवादी होने से कैसे वंचित किया जा सकता है?

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

छोटी और मुक्तक कविताओं के अतिरिक्त इस अवधि में कुछ प्रबंधात्मक, गीत, नाट्यात्मक कृतियां आयीं, साथ ही कई लंबी कविताएं भी लिखी गयीं। प्रबंधात्मक कृतियों में ऐसी कोई कृति नहीं आयी, जिसे इस काल की उपलब्धि कहा जा सके। 'अपराधिता' (रामेश्वर शुक्ल अंचल) 'महाप्रस्थान' (नरेश मेहता), 'कालजयी' (भवानीप्रसाद मिश्र) और 'एक प्रश्न मृत्यु' (विनय) 'अब किसे बनवास दोगे' (शैलेश जैदी) उल्लेखनीय हैं। लंबी कविता एक विशेष काव्यरूप के रूप में उभर कर आयी। प्रसाद से ले कर अब तक कई महत्त्वपूर्ण लंबी कविताएं लिखी गयी थीं, किंतु अब तक उनके रूप पर अलग से विचार नहीं किया गया था। डॉ. नरेंद्र मोहन ने इस दौर में 'कहीं भी ख़त्म नहीं होती कविता' तथा 'विचार और लहू के बीच' लंबी कविताओं के ये दो संकलन निकाले, जिनकी भूमिका में लंबी कविता के रचना-विधान और संकलित कविताओं के काव्य-सौंदर्य का विश्लेषण किया। वैसे, उन्होंने 'लंबी कविता का रचना-विधान' पुस्तक का भी संपादन किया, जिसमें अनेक लंबी कविताओं के काव्यसौष्ठव का विश्लेषण करने वाले कई लेख संकलित हैं। निश्चय ही इस दौर की कुछ लंबी कविताएं आश्वस्तिकारी हैं।

नवगीत-आंदोलन ने भी इस अवधि में ज़ोर पकड़ा। इसकी शुरूआत तो सातवें दशक के प्रारंभ में ही हो गयी थी, किंतु इस दौर में उसे स्थापित करने के कुछ विशेष प्रयत्न हुए। नवगीतकारों के अपने-अपने संग्रह आते रहे हैं, इस अवधि में भी आये, किंतु डॉ. शंभुनाथ सिंह के प्रयत्नों से उन्हीं के संपादन में 'नवगीत दशक' नाम से तीन संकलन आये, जिनमें उनके अनुसार पुराने और नये तीस समर्थ गीतकारों के गीत संकलित हुए। इनके अतिरिक्त 'नवगीत-अर्धशती' नाम से उन्होंने नवगीतों का एक संकलन निकाला, जिसमें गत 50 वर्षों की अवधि में लिये गये 50 कवियों के तीन-तीन नवगीत संकलित हुए। इसके अतिरिक्त 'धर्मयुग' तथा अन्य कई पत्रिकाओं में नवगीत छपते रहे और उन पर खट्टी-मीठी बहसें भी चलती रहीं। राजेंद्रप्रसाद सिंह द्वारा संपादित 'आईना' पत्रिका में नवगीत भी छपे और नवगीत पर उत्तेजक बहसें भी हुईं। स्वातंत्र्योत्तर काल में गीत धीरे-धीरे हाशिये पर आता गया। नयी कविता और उसकी परंपरा में विकसित होने वाले अन्य काव्यांदोलनों ने गीत की उपेक्षा की। नयी कविता के दौर में नये कवियों ने काफ़ी अच्छे टटके गीत लिखे, किंतु केंद्र में रखा गीतेतर कविताओं को ही, जो एक संवेदना की एकतानता से गुज़रने के स्थान पर संवेदनाओं और विचारों की टकराहट से उत्पन्न व संकुल-संक्रांत सत्य की अभिव्यक्ति करना चाहती थीं। गीतों की उपेक्षा सघन होती गयी। दूसरी ओर अच्छे-बुरे, साहित्यिक और मंचीय गीत लिखे जाते रहे और नयी कविता की देखा-देखी गीतकारों ने गीत को युग-यथार्थ की कठोरता से जोड़ा और गीत को भी उसी प्रकार के कथ्य की अभिव्यक्ति का माध्यम बना दिया, जिस प्रकार का कथ्य नयी कविता या परवर्ती कविता में व्यक्त होता रहा। यह चेष्टा निरंतर सघन होती गयी। प्रकृतिपरक बहुत अच्छे गीतों के रचयिता रमेश रंजक जनवादी गीतकार हो गये। इस दौर के गीतों को प्रभाव की दृष्टि से दो भागों में बांट सकते हैं, एक गीत वे हैं, जिनमें कथ्य की प्रधानता होने के नाते प्रभावान्विति होती है। वह कथ्य चाहे जनवादी हो, चाहे प्रकृति या प्रेमपरक। दूसरे गीत वे हैं वो किसी सघन संवेदनामूलक कथ्य से न गुज़र कर कुछ अच्छे प्रतीकों, उपमानों और बिंबों को फूल-पत्तियों की तरह गूंथते चलते हैं। इन गीतों में ऊपर-ऊपर से बड़ा आकर्षण दीखता है किंतु वे भीतर से खोखले होते हैं, और उनमें प्रभाव की अन्विति तथा गति-सुलभ सहज संप्रेषणीयता नहीं होती। इधर के अधिकांश गीत इसी प्रकार के हैं। ऐसे गीतों से गीत की स्थापना की लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती।

इधर हिंदी-ग़ज़लों का दौर चला। वैसे हिंदी में छुपट्ट ग़ज़लें पहले भी लिखी जाती रहीं,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

किंतु दुष्यंत कुमार के ग़ज़ल-संग्रह 'साये में धूप' की लोकप्रियता ने बहुत से कवियों, विशेषतया छंदधर्मी कवियों को इधर उन्मुख कर दिया। कुछ ग़ज़लें निश्चय ही बहुत अच्छी आयीं, जिनमें चमत्कारिता की जगह सत्य की सहजता दिखायी पड़ती है और जिनमें हिंदीपन भी लक्षित होता है, किंतु काफ़ी ग़ज़लें ऐसी हैं, जो अभ्यास से लिखी जा रही हैं या तो उनमें जनवादी तेवर की सपाट चोट है या विरोधाभासी ढंग का चमत्कार है। कुछ ग़ज़लें (जैसे त्रिलोचन की) हिंदी में तत्सम शब्दों के प्रयोग से अपने में हिंदीपन लाना चाहती हैं, कुछ में फ़ारसी के कठिन और चालू शब्दों का खुल कर प्रयोग हो रहा है। वास्तव में यदि हिंदी ग़ज़ल को अपनी अस्मिता बनानी है तो उपर्युक्त दोनों पद्धतियां उचित नहीं जान पड़तीं। ग़ज़ल में जो चुटीलापन है वह तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव या चलते हुए तत्सम शब्दों के प्रयोग से आता है। भाषा का बहता हुआ रूप ही ग़ज़ल के लिए उपयुक्त होता है। हिंदी ग़ज़ल की रवानी को भी उर्दू ग़ज़ल की रवानी का पर्याय नहीं मानना चाहिए। हिंदी में शब्दों को तोड़-मरोड़ कर लिखने की परंपरा नहीं है। यहां शब्द अक्षत रूप में आते हैं। अतः हिंदी ग़ज़ल की रवानी हिंदी छंद की रवानी से भिन्न नहीं होगी। यदि उर्दू ग़ज़ल के चरण-चिह्नों पर ही चलना है तो उसे हिंदी ग़ज़ल नाम देने की क्या आवश्यकता है? इधर जो ग़ज़ल-संग्रह निकले हैं, उनमें कुछ उल्लेखनीय हैं : 'शामियानेकाकरे' (कुंवर बेचैन), 'नीम की पत्तियां' (रामकुमार कृषक), 'धूप के हस्ताक्षर' (ज्ञानप्रकाश विवेक), 'सूर्य का सवाल' (माधव मधुकर मिश्र), 'बाज़ार को निकले हैं लोग' (रामदरश मिश्र)।

## अद्यतन हिंदी कविता

(1981-2005 की हिंदी की कविता)

जब हम विगत् पच्चीस वर्षों (1981-2005) की हिंदी-कविता पर विचार करते हैं तो हमारे सामने इसका एक व्यापक अर्थ आता है, अर्थात इस कालावधि में कविता-पुस्तकों या पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित संपूर्ण कविता, चाहे वह किसी भी पीढ़ी के कवियों ने क्यों न लिखी हो। इसका दूसरा सीमित और विशिष्ट अर्थ हमारे सामने आता है, उन कवियों की कविता, जिन्होंने इसी कालावधि में लिखना प्रारंभ किया और कवि के रूप में अपनी पहचान बनायी। यहां हम दोनों अर्थों को क्रमशः ले कर अद्यतन हिंदी-कविता पर विचार करेंगे।

पहले व्यापक अर्थ को लें। इस अर्थ की दृष्टि से इस कालावधि में नवीनतम पीढ़ी के कवियों के अतिरिक्त कई पूर्व पीढ़ियों के कवि भी सक्रिय दिखायी देते हैं। इनमें छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता, साठोत्तर काल के अकविता आदि विभिन्न काव्यांदोलनों के कवियों की कविताएं सम्मिलित हैं। छायावादी कवियों में महादेवी वर्मा का एक कविता-संग्रह 'अग्निरेखा' (1990) प्रकाशित हुआ। इसमें उनकी वे कविताएं संगृहीत हैं, जो 'यामा' और 'दीपशिखा' में नहीं हैं, लेकिन उनकी ये कविताएं भी हैं छायावादी बोध की ही। इस संग्रह की कविताएं उनके काव्यबिंब में, कवि के रूप में बनी उनकी पहचान में नया कुछ नहीं जोड़तीं। इसलिए उनकी इन कविताओं का महत्त्व ऐतिहासिक ही है, उससे इतर नहीं। निराला की 'असंकलित कविताएं' (1981) भी इसी कालावधि में प्रकाशित हुईं।

उत्तरछायावादी कवियों में से कई कवियों की काव्यरचनाएं भी इस कालावधि में प्रकाशित हुई हैं। छायावादी कवियों के साथ काव्यरचना करने वाले, किंतु उनसे भिन्न प्रवृत्ति के कारण उत्तरछायावादी कवियों में गणनीय माखनलाल चतुर्वेदी का कविता-संग्रह 'धूम्रवलय' (1981)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उनके दिवंगत होने के बाद प्रकाशित हुआ। लगभग इसी प्रवृत्ति के कवि शिवमंगल सिंह 'सुमन' का कविता-संग्रह 'वाणी की व्यथा' (1980) प्रकाश में आया। इसी प्रकार उत्तरछायावादी कवियों में से हरिवंशराय बच्चन के 'सोऽहं हंस:' (1981); भगवतीचरण वर्मा के 'सविनय और एक नाराज कविता' (1984) संग्रह भी इस अवधि में प्रकाशित हुए। इनके विषय में यही कहा जा सकता है कि इन कविता-संग्रहों की कविताओं में इन्होंने कोई नयी ज़मीन नहीं तोड़ी। ये कविता लिखते रहे, क्योंकि इन्हें कविता लिखने की आदत पड़ गयी थी और पुस्तक-रूप में इनकी कविताएं प्रकाशित इसलिए हुई, क्योंकि ये प्रतिष्ठित कवि थे और इनका ऐतिहासिक महत्त्व था, अन्यथा इनमें से अधिकांश कवि उस मन:स्थिति में पहुंच गये थे, जिसकी बड़ी सटीक अभिव्यक्ति बच्चन जी के 'सोऽहं हंस:' से पहले प्रकाशित कविता-संग्रह 'जाल समेटा' (1973) के शीर्षक में हुई है। बहुत कम कवि ऐसे होते हैं, जो लगातार अपना नया चित्र निर्मित करते रहते हैं। छायावादी कवियों में निराला और उत्तरछायावादी कवियों में रामधारी सिंह 'दिनकर' (हारे को हरिनाम : 1970) ऐसे ही कवि थे।

छायावाद के अपनी पूर्ण चरितार्थता प्राप्त करते-करते, कवियों की एक ऐसी पीढ़ी सामने आ गयी, जिसके सरोकार छायावादी कवियों से सर्वथा भिन्न थे। ये कवि मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हुए और प्रगतिवादी कहलाये। यों, मार्क्सवादी विचारधारा से पंत जी भी प्रभावित हुए और सुमन जैसे उत्तरछायावादी कवि भी। पंत जी की 'युगांत', 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' की कविताओं ने हिंदी में प्रगतिवादी दौर का प्रारंभ कर दिया था, लेकिन उन्होंने मार्क्सवाद को बौद्धिक स्तर पर ही अपनाया था, वह उनकी संवेदना का अंश नहीं बन पाया। इसीलिए वे उससे जल्दी ही उपराम हो गये। यही स्थिति नरेंद्र शर्मा, शिवमंगल सिंह 'सुमन', रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' आदि की थी। लेकिन इनके बाद के प्रगतिवादी कवियों, जो वस्तुत: केंद्रीय प्रगतिवादी कवि थे, की मार्क्सवाद में गहरी निष्ठा थी। इन कवियों में रामविलास शर्मा, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन और इनके बाद की पीढ़ी के कवियों में केदारनाथ सिंह आदि सम्मिलित हैं। प्रगतिवाद का दौर समाप्त होने के बाद भी ये निरंतर काव्यरचना में रत रहे। इसका अपवाद रामविलास शर्मा हैं। उनके लिए काव्यरचना की अपेक्षा आलोचना अधिक वरेण्य बन गयी और उन्होंने कविता लिखना छोड़ दिया। लेकिन उनकी कविता का ऐतिहासिक महत्त्व होने के कारण उनकी पूर्व प्रकाशित कविताओं के संग्रह इस कालावधि में प्रकाशित हुए—'सदियों के सोये जाग उठे' (1988), 'इस अकाल वेला में' (1988) तथा 'बुद्ध-वैराग्य तथा प्रारंभिक कविताएं' (1997)। रामविलास शर्मा के विपरीत नागार्जुन के लिए कविता केंद्रीय विधा थी। इसलिए वे निरंतर कविता लिखते रहे, अपनी कविता को ताज़ा और प्रासंगिक बनाये रहे और उनके एक के बाद एक कविता-संग्रह प्रकाशित होते रहे—'हज़ार-हज़ार बांहों वाली' (1981), 'पुरानी जूतियों का कोरस' (1983), 'इस ग़ुब्बारे की छाया में' (1989) आदि। उनके दिवंगत होने के बाद सोमदेव तथा शोभाकांत के संपादन में उनकी एक लंबी कविता 'भूमिजा' भी प्रकाशित हुई। नागार्जुन की अंतिम दौर की कविता में उनकी मार्क्सवादी चेतना, उनका तीक्ष्ण व्यंग्य और उनकी भदेस परिहासप्रियता अक्षुण्ण बनी रही। उनके जैसी तीक्ष्ण व्यंग्यात्मकता शायद ही किसी अन्य प्रगतिवादी कवि में हो, इस व्यंग्यात्मकता की बानगी 'इस ग़ुब्बारे की छाया में' की 'नर्सरी राइम' कविता की इन पंक्तियों में देखी जा सकती है :

*"अन्दर बाहर धींगामुश्ती। परमारथ में भारी सुस्ती*
*स्वारथ में तो बेहद चुस्ती। एक-दूसरे की जड़ काटें—*

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

*तकरीरों से अग-जग पाटें। अँग्रेज़ी की धकापेल है*
*हिन्दी-उर्दू खतम खेल है। नौजवान के लिए जेल है*
*सेठों से ही दिली मेल है...''*

आज की राजनीति और अर्थनीति के संदर्भ में ये पंक्तियां कितनी सटीक हैं, यह बताने की आवश्यकता नहीं है।

नागार्जुन की तरह ही केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन और केदारनाथ सिंह भी निरंतर रचनारत रहे हैं। केदारनाथ अग्रवाल के 'हे मेरी तुम' (1981), 'मार प्यार की थापें' (1981), 'कहें केदार खरी-खरी' (1983), 'बंबई का रक्तस्नान' (1983), 'जमुन जल तुम' (1984), 'अपूर्वा' (1984), 'बोले बोल अबोल' (1985), 'जो शिलाएं तोड़ते हैं' (1985) आदि संग्रह इसी कालावधि में प्रकाशित हुए हैं। इन संग्रहों की कविताओं में शोषितों के प्रति उनकी अनुभूतिगत अभिन्नता और सघन प्रकृति-प्रेम उनकी पूर्ववर्ती कविता की तरह ही पूरी प्रामाणिकता और ताज़गी के साथ व्यक्त हुआ है। इधर के संग्रहों में, विशेषत: 'हे मेरी तुम' में, अपनी पत्नी के प्रति उनकी गहरी आसक्ति ने अभिव्यक्ति पायी है। हिंदी में अपनी पत्नी को ले कर इतनी अधिक, इतनी रागात्मक और इतनी सुंदर कविताएं किसी अन्य कवि ने नहीं लिखी हैं। केदारनाथ अग्रवाल की तरह ही त्रिलोचन के भी कई काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं—'उस जनपद का कवि हूं' (1981), 'तुम्हें सौंपता हूं' (1985), 'फूल नाम है एक' (1985), 'सबका अपना-अपना आकाश' (1987) आदि। इन संग्रहों में उनकी बहुत पहले की— 1953 तक की— कविताएं संगृहीत हैं। इतनी देर से कविता-संग्रह के रूप में प्रकाशित होने पर भी उनमें पुरानापन नहीं है। उनकी प्रगतिधर्मिता और प्रयोगशीलता उनमें अक्षुण्ण बनी हुई है।

इन प्रगतिवादी कवियों की बाद की पीढ़ी के केदारनाथ सिंह के 'यहां से देखो' (1983), 'बाघ' (1986), 'अकाल में सारस' (1988), 'उत्तर कबीर' (1995) तथा 'तालस्ताय और साइकिल' (2005) कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। अगर प्रारंभ से ले कर अब तक की उनकी कविताओं पर दृष्टिपात किया जाये तो स्पष्ट होगा कि वस्तु और शिल्प दोनों की दृष्टि से उनकी कविता में बहुत परिवर्तन हुआ है। उन्होंने आंचलिक और गहरी संवेदनशीलता वाले गीतकार के रूप में अपनी काव्ययात्रा प्रारंभ की, किंतु बाद में वे मार्क्सवाद से प्रभावित हुए और प्रगतिशील कवि बन गये। उनकी कविता पर इसका प्रभाव यह पड़ा कि उनकी कविता में से गीतात्मक संवेदना और संपन्न बिंबात्मकता लगभग समाप्त हो गयी और प्रतीकात्मकता प्रधान हो गयी। उनकी कविता में प्रतीकात्मकता इतनी प्रधान हुई और वे ऐसे निजी प्रतीकों का उपयोग करने लगे कि उनकी कविता में अत्यधिक अर्थश्लिष्टता आयी और कहीं-कहीं उनकी कविता पहेली जैसी बन गयी। 'बाघ' इसका अच्छा उदाहरण है। महानगर में बस जाने और आम जीवन से कट जाने के कारण, वे भी दैनंदिन जीवन के अत्यंत सामान्य अनुभवों और स्थितियों में कविता का अन्वेषण करने लगे और उनकी कविता किसी स्थायी भाव या विचार के स्थान पर संचारी भावों और विचारों की अभिव्यक्ति बन गयी। 'तालस्ताय और साइकिल' की कविताएं ऐसी ही हैं। इस संग्रह में कुछ कविताएं ऐसी भी हैं, जो कविताएं नहीं बन पायी हैं। यह दुर्घटना उनके साथ तो कम ही घटी है, नयी पीढ़ी तो इससे पूरी तरह ग्रस्त है।

इस कालावधि में प्रयोगवाद और नयी कविता से संबद्ध कवि भी ख़ूब सक्रिय रहे हैं। अज्ञेय के 'नदी की बांक पर छाया' (1981), 'ऐसा कोई घर आपने देखा है' (1986), गिरिजाकुमार माथुर के 'कल्पांतर' (1983), 'मैं वक़्त के हूं सामने' (1990), 'मुझे और अभी कहना है'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(1991), नेमिचंद्र जैन का 'अचानक हम फिर' (1999), भवानीप्रसाद मिश्र के 'नीली रेखा तक' (1984), 'तूस की आग' (1985), 'ये मेरे कोहरे हैं' (1993) आदि; शमशेरबहादुर सिंह के 'बात बोलेगी' (1981), 'टूटी हुई बिखरी हुई' (1990) आदि, नरेश मेहता के 'तुम मेरा मौन हो' (1983), 'अरण्या' (1985), 'प्रार्थनापुरुष' (1985), 'चैत्या' (1993) आदि, रघुवीर सहाय के 'लोग भूल गये हैं' (1982), 'कुछ पते कुछ चिट्ठियां' (1989), धर्मवीर भारती के 'सपना अभी भी' (1993), 'आद्यंत' (1999), कुंवरनारायण के 'कोई दूसरा नहीं' (1993), 'इन दिनों', विजयदेव नारायण साही के 'साखी' (1983), 'संवाद तुमसे' (1990), सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के 'खूंटियों पर टंगे लोग' (1982), 'कोई मेरे साथ चले' (1985) काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। ये वे कवि हैं, जो 'तारसप्तक', 'दूसरा सप्तक' और 'तीसरा सप्तक' के माध्यम से प्रकाश में आये थे। इसलिए इन सबका उल्लेख हमने एक साथ किया है और प्रयोगवादी कवि मान कर किया है। ये कवि न तो एक ही पीढ़ी के हैं और न ही एक ही काव्य-प्रकृति के। इनमें कम से कम दो पीढ़ियों के कवि सम्मिलित हैं और इनकी काव्य-प्रकृतियां तो अनेक हैं। अज्ञेय और गिरिजाकुमार माथुर, नेमिचंद्र जैन और भवानीप्रसाद मिश्र, शमशेर बहादुर सिंह और नरेश मेहता, रघुवीर सहाय और विजयदेवनारायण साही, कुंवरनारायण और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना आदि के काव्यानुभव और काव्याभिव्यक्ति में परस्पर इतना अधिक अंतर है कि उन्हें एक प्रवृत्ति के कवि कहना और मानना तर्कसम्मत नहीं लगता, लेकिन ऐसा पारस्परिक अंतर तो छायावादी और प्रगतिवादी कवियों में भी था। कुछ भी हो, ये वे कवि है, जो इस समय तो प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण कवि हैं, और भविष्य में भी वे प्रासंगिक बने रहेंगे। इनके महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक होने का एक प्रमाण यह भी है कि इनमें से कई कवियों के दिवंगत हो जाने के बाद उनकी अप्रकाशित और असंकलित या प्रतिनिधि कविताओं के संग्रह दूसरों के द्वारा संकलित एवं संपादित हो कर प्रकाशित हुए हैं, जैसे साही के जीवनकाल में तो उनकी कविताएं 'तीसरा सप्तक' (1959) में प्रकाशित होने के अतिरिक्त केवल 'मछलीघर' (1966) शीर्षक संग्रह में ही प्रकाशित हुईं। इतने भर से उनका कवि व्यक्तित्व पूरी तरह उभर कर सामने नहीं आता। उनके कवि व्यक्तित्व की पूर्ण छवि निर्मित करने के लिए 'साखी' और 'संवाद तुमसे' में संगृहीत कविताएं भी अनिवार्य हैं।

यहीं 'चौथा सप्तक' (1979) के कवियों की चर्चा कर लेना भी उचित होगा। 1979 में प्रकाशित इस सप्तक में अवधेश कुमार, राजकुमार कुम्भज, स्वदेश भारती, नंदकिशोर आचार्य, सुमन राजे, श्रीराम वर्मा और राजेंद्र किशोर की कविताएं संगृहीत हैं। इनमें से नंदकिशोर आचार्य को छोड़ कर अन्य कोई कवि श्रेष्ठ कवि के रूप में, अपने को प्रतिष्ठित नहीं कर पाया है, यद्यपि अन्य कवि भी बराबर कविता लिखते रहे हैं और उनके कविता-संग्रह भी प्रकाशित होते रहे हैं। इसका कारण इस सप्तक की भूमिका के ही इस कथन में खोजा जा सकता है, ''आज की कविता में वक्तव्य प्रधान हो गया है...आज की कविता का बहुत बड़ा और शायद सबसे बड़ा दोष यह है कि उस पर एक 'मैं' छा गया है, वह भी एक अपरीक्षित और अविसर्जित 'मैं'। आज की कविता बहुत बोलती है, जबकि कविता का काम बोलना है ही नहीं।'' ये दोष 'चौथा सप्तक' में संगृहीत नंदकिशोर आचार्य की कविताओं में भी हैं। इस सप्तक में संगृहीत उनकी अधिकांश कविताएं 'मैं' से 'तुम' तक की यात्राएं हैं। इस सप्तक की समीक्षा लिखते समय मैंने लिखा था कि ''यदि नंदकिशोर आचार्य 'नयी कविता' की सीमाओं का अतिक्रमण कर सके तो उनमें बड़ी संभावनाएं हैं'' (हिंदी कविता की प्रकृति, दिल्ली-इलाहाबाद, 1988, पृ. 123)। बाद में वे 'नयी कविता'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की सीमाओं का अतिक्रमण करने में सफल हुए और उनकी बड़ी संभावनाएं प्रतिफलित हुईं, जिसका प्रमाण 'जल है जहां' (1980), 'वह एक समुद्र था' (1982), 'शब्द भूले हुए' (1987), 'आती है जैसे मृत्यु' (1990), 'कविता में नहीं है जो' (1995) और 'रेत-राग' (2002) शीर्षक संग्रहों में प्रकाशित उनकी कविताएं हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में प्रेम आदि सूक्ष्म मनोभावों, राजस्थान की प्रकृति के संदर्भ में रेत और जल, सामाजिक सरोकारों और विभिन्न अनुभवों और प्रश्नों के दार्शनिक परिप्रेक्ष्य आदि को अत्यंत प्रामाणिक, संवेदनशील, बिंबात्मक एवं कलात्मक अभिव्यक्ति दी है। उनकी कविताओं में शब्दों की मितव्ययता भी हमारा ध्यान आकर्षित करती है।

सप्तकों में किसी कारणवश सम्मिलित न किये गये प्रयोगवादी-नयी कविता-पीढ़ी के कई कवियों ने अपनी अलग पहचान बनायी और इस कालावधि में सक्रिय रहे। ऐसे कवियों में केशव कालीधर ('समर्था रति' : 1988), विपिनकुमार अग्रवाल ('आदिहीन अनंत यात्रा' : 1987), अजित कुमार ('घरौंदा' : 1987), श्रीकांत वर्मा ('मगध' : 1984, गरुड़ किसने देखा है : 1987), जगदीश गुप्त ('आदिम एकांत' : 1980, 'मां के लिए' : 1990), लक्ष्मीकांत वर्मा ('दीप देहरी द्वार'), कुमार विमल ('सर्जना के स्वर' : 1986, 'युगमानव बापू' : 1987, 'कविताएं कुमार विमल की' : 1994), रामदरश मिश्र ('दिन एक नदी बन गया' : 1984, 'जुलूस कहां जा रहा है' : 1989, 'आग कुछ नहीं बोलती' : 1992, 'बारिश में भीगते बच्चे' : 1996, 'आम के पत्ते' : 2005, आदि) आदि उल्लेखनीय हैं। ये सब कवि हैं तो एक ही पीढ़ी के, लेकिन कविता की डगर पर एक जैसी गति से चले हों, यह नहीं कहा जा सकता। जैसे जगदीश गुप्त 'नयी कविता' के प्रमुख पैरोकार और प्रतिष्ठापक बन कर सामने आये, लेकिन वे इस अर्थ में नये कवियों से सर्वथा भिन्न थे कि उनमें परंपरा और नवीनता का सुंदर समन्वय था। वे ब्रजभाषा में भी कविता लिखते थे और उनके ब्रजभाषा में लिखे छंदों का संग्रह 'छंदशती' के नाम से प्रकाशित भी हुआ था। वे सफल चित्रकार भी थे, जिसके कारण उनकी कविता में जैसी बिंबात्मकता है, वैसी नयी कविता के अन्य कवियों की कविता में नहीं है। उनमें शिल्पगत चमत्कार की अपेक्षा प्रासादिकता अधिक है। इसके विपरीत लक्ष्मीकांत वर्मा या विपिन कुमार में शिल्पगत चमत्कार अधिक है। यह श्रीकांत वर्मा में भी था, लेकिन अपनी अंतिम दौर की कविताओं में ऐतिहासिक स्थानों, व्यक्तियों और घटनाओं को प्रतीक बना कर समकालीन राजनीतिक, प्रशासनिक व्यवस्था पर जैसी सटीक, व्यंग्यात्मक, फिर भी भरपूर काव्यात्मक टिप्पणियां कीं, उसने उनकी कविता को ऐसा रूप दिया, जैसा आधुनिक हिंदी-कवियों में और किसी की कविता में नहीं मिलता। इस पीढ़ी में अजित कुमार और रामदरश मिश्र ऐसे कवि हैं, जो अपनी सहजता से हमें प्रभावित करते हैं। उनकी कविताओं में कथ्य ज़्यादा महत्त्वपूर्ण होता है, कथन-भंगिमा कम। संभवतः इसीलिए उस दौर में ये या इनके जैसे अन्य कवि चर्चा के केंद्र में कभी नहीं रहे, किंतु अब समकालीन गहमागहमी के थिरा जाने पर उनकी कविता का महत्त्व दिन-प्रतिदिन स्पष्ट होता जा रहा है। साहित्य में ऐसी घटनाएं घटती ही रहती हैं। डॉ. देवराज भी कवि के रूप में बराबर सक्रिय रहने के बावजूद, किसी आंदोलन के केंद्र में कभी भी कवि-रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो पाये। उनका पहला कविता-संग्रह 'प्रणयगीत' 1939 में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद उनकी काव्य-रचनाएं निरंतर प्रकाशित होती रहीं—'जीवन-रश्मि' (1948), 'धरती और स्वर्ग' (1954), 'उर्वशी ने कहा' (1960), 'इतिहास-पुरुष' (1965), 'इला और अमिताभ' (1972), 'सुबह के बाद' (1975), 'आहत आत्माएं' (1978),

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'उपालंभ पत्रिका' आदि। प्रारंभ में प्रेम उनकी कविता की केंद्रीय वस्तु थी, लेकिन उस वस्तु का उनकी कविता में निरंतर विकास होता गया, वह वैयक्तिक भूमि से निकल कर विस्तृत रूप धारण करती गयी और उनकी मूल्य-चिंता का अंग बनती गयी। उनकी दृष्टि तात्कालिकता का अतिक्रमण कर सार्वभौमिकता और सार्वकालिकता पर केंद्रित रही। वे विचार और आवेग के बीच संतुलन और सामंजस्य बैठाते रहे। उनके अनुसार, ''विज़न (व्यापक दृष्टि) और पैशन (आवेग-आवेश) श्रेष्ठ काव्य के आवश्यक उपादान हैं। संभवत: तथाकथित पैशन का उच्चतर रूप चिंतनात्मक, गहन उदासी या पीड़ा का भाव है।'' ('आहत आत्माएं' की भूमिका) उनकी कविता में पैशन का यही उच्चतर रूप अभिव्यक्त हुआ है। ऐसी स्थिति में उनकी कविता किसी आंदोलन में कैसे फिट हो सकती थी!

बीसवीं शताब्दी ईसवी का छठा दशक बीतते न बीतते हिंदी में कवियों की एक नयी पीढ़ी सामने आ गयी। यह पीढ़ी उनकी थी, जिन्होंने स्वाधीनता के बाद होश संभाला था और स्वाधीनता से उन्होंने जो आशाएं बांधी थीं, वे खंडित हो चुकी थीं। अब भी इस पीढ़ी के कुछ सदस्यों को मार्क्सवाद आकर्षित कर रहा था, लेकिन इस पीढ़ी में ऐसे कवियों की संख्या अधिक थी, जिनका इससे मोहभंग हो चुका था। इस पीढ़ी के कवियों की केंद्रीय मनोवृत्ति निषेध की थी। इसीलिए लगभग तीन दर्जन प्रस्तावित या प्रचलित काव्यांदोलनों में से 'अकविता' प्रतिनिधि आंदोलन बन गयी। 1972 में जगदीश चतुर्वेदी के संपादन में ग्यारह कवियों : जगदीश चतुर्वेदी, चंद्रकांत देवताले, विनय, सौमित्र मोहन, श्याम परमार, रवींद्रनाथ त्यागी, परेश, मुद्राराक्षस, कुमार विकल, रमेश गौड़ और सकलदीप सिंह की चुनी हुई कविताओं का जो संग्रह प्रकाशित हुआ, उसका शीर्षक 'निषेध' रखा गया। शीर्षक का चयन सचेत था, जो इसकी भूमिका से स्पष्ट है। इस पीढ़ी के कवि एक ओर तो अपनी निजी विशिष्ट पहचान बनाने के लिए लालायित थे, दूसरी ओर स्थितियां ऐसी थीं कि व्यक्ति भीड़ की बेपहचान इकाई बनता जा रहा था। क्यों? इसका उत्तर हमें 'निषेध' की भूमिका की इन पंक्तियों में मिलता है :

''एक ओर देश का संकट है, दूसरी ओर राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय घटनाचक्रों के बीच पिसती मानव-नियति है। ऐसे में कवि की सजगता उसे इन घटनाचक्रों से जोड़ती है और एक प्रतिक्रियाजन्य विद्रोह उसकी धमनियों में कौंध उठता है। किंतु समाज नामक तंत्र में उसकी सत्ता अत्यंत नगण्य है, अत: वह विद्रोह के लिए प्रतिश्रुत हो उठता है। यह विद्रोह की भूमिका उसकी कृतियों में निषेधात्मक प्रवृत्तियों को रचनामूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करती है'' (निषेध, पृ. 9)।

'निषेध' और उससे पूर्व जगदीश चतुर्वेदी के संपादन में ही 1963 में प्रकाशित 'प्रारंभ' में संगृहीत प्राय: सभी कवियों—जगदीश चतुर्वेदी, कैलाश वाजपेयी, नरेंद्र धीर, राजकमल चौधरी, केशु, ममता अग्रवाल (बाद में कालिया), श्याम परमार, विष्णुचंद्र शर्मा, श्याममोहन श्रीवास्तव, मनमोहिनी, रमेश गौड़, राजीव सक्सेना, स्नेहमयी चौधरी और नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी ने कवि के रूप में अपनी ओर ध्यान आकर्षित किया और अधिकांश ने कवि के रूप में प्रतिष्ठा भी पायी।

विगत पच्चीस वर्षों की कालावधि में इनमें से अनेक कवि सक्रिय रहे हैं। जगदीश चतुर्वेदी इस कालावधि के ऐसे कवि रहे हैं, जिनकी उपेक्षा संभव नहीं हुई है। उनका पहला स्वतंत्र कविता-संग्रह 'इतिहासहंता' 1970 में प्रकाशित हुआ था और दूसरा संग्रह 'डूबते इतिहास का गवाह' 1980 में। इन दोनों संग्रहों की कविताओं में उनकी निषेधमूलक, विद्रोहात्मक अकवितावादी प्रवृत्तियां प्रधान हैं, जो चमत्कृत भी करती हैं और सोचने के लिए विवश भी करती हैं। इनके बाद 1988 में उनका तीसरा कविता-संग्रह 'नये मसीहा का जन्म' प्रकाशित हुआ, जिसमें उनकी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विद्रोह और निषेध की प्रवृत्ति का स्थान समझदारी और स्वीकार ने ले लिया है। यह बदले हुए समय और परिपक्व अवस्था का परिणाम हो सकता है। 'निषेध' में संगृहीत चंद्रकांत देवताले भी एक प्रमुख कवि के रूप में उभर कर सामने आये। 'लकड़बग्गा हंस रहा है' (1918), 'रोशनी के मैदान में' (1982), 'आग हर चीज़ में बतायी गयी थी' (1987), 'उजाड़ में संग्रहालय' (2003) आदि कविता-संग्रह एक महत्त्वपूर्ण कवि के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित करते हैं। प्रारंभ में उनका झुकाव अकवितावादी था, किंतु बाद में वे वामपंथी विचारों से प्रभावित हो गये। 'प्रारंभ' में संगृहीत कैलाश वाजपेयी ने भी इस कालावधि में अपनी काव्यात्मक सक्रियता का बराबर परिचय दिया और उनके कई कविता-संग्रह प्रकाशित हुए, जैसे—'महास्वप्न का मध्यांतर' (1980), 'भविष्य घट रहा है' (1999) 'हवा में हस्ताक्षर' (2005) आदि। उन्होंने पहले एक गीतकार के रूप में, फिर अकविता के युयुत्सु रूप में और अब बीसवीं शताब्दी के अंतिम और इक्कीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दिनों की हताशा और खंडित आस्था के कवि के रूप में अपनी काव्ययात्रा तय की है। स्नेहमयी चौधरी (अपने ख़िलाफ़ : 1982) की कविताएं स्वातंत्र्योत्तर काल की उस शिक्षित स्त्री के द्वंद्व की कविताएं हैं, जो एक ओर पारंपरिक सामाजिक बंधनों में जकड़ी है और दूसरी ओर वैचारिक एवं भावनात्मक उन्मुक्तता की आकांक्षी है। विभिन्न अकवितावादियों के साथ प्रारंभ में जुड़ने के बावजूद वामपंथी विचारधारा की ओर अपने झुकाव के कारण बाद में विष्णुचंद्र शर्मा उनसे अलग हो गये, लेकिन वे अभिव्यक्ति के चमत्कार के द्वारा चौंकाने की प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हो पाये।

सातवें-आठवें दशक के विभिन्न काव्यांदोलनों से संबद्ध या असंबद्ध रह कर अन्य अनेक कवि उभर कर सामने आये, जिनकी सक्रियता विगत पच्चीस वर्षों में अधिक रही है। इनमें अशोक वाजपेयी ('एक पतंग अनंत में' : 1984, 'अगर इतने से' : 1986, 'तत्पुरुष' : 1989, 'घास में दुबका आसमान : 1994, 'कहीं नहीं वहीं' : 1998, 'आविन्यो', 'अभी कुछ और', 'समय के पास समय है' : 2000 आदि), लीलाधर जगूड़ी ('घबराये हुए शब्द' : 1981, 'इस यात्रा में' : 1983, 'अनुभव के आकाश में चांद' : 1994, आदि), ऋतुराज ('पुल पर पानी' : 1981, 'सुरत निरत' : 1987), हरदयाल ('अख़बार में अंधेरा' : 1984, 'फूल-पत्थर' : 1989, 'कंकाल आग' : 1996), उदयप्रकाश ('अबूतर कबूतर' : 1984), विश्वनाथप्रसाद तिवारी ('बेहतर दुनिया के लिए' : 1985, 'आखर अनंत' : 1991 आदि), रमेशचंद्र शाह ('नदी भागती आयी' : 1998, 'देखते हैं शब्द भी अपना समय' : 2000, आदि), प्रयाग शुक्ल ('अधूरी चीज़ें तमाम' : 1987, 'यह जो हरा है' : 1990, आदि), नरेंद्र मोहन ('एक अग्निकांड जगहें बदलता' : 1983, 'हथेली पर अंगारों की तरह' : 1990, 'एक सुलगती ख़ामोशी' : 1997, 'एक खिड़की खुली है अभी' : 2005), रमेश कौशिक ('सुनहले पंख' : 1983, 'क्रमशः' : 1990, 'कहीं कुछ था' : 1996, 'कहां हैं वे शब्द' : 2006, 'मैं यहां हूं' : 2004), मंगलेश डबराल ('पहाड़ पर लालटेन' : 1981, 'घर का रास्ता' : 1988, 'हम जो देखते हैं' : 1995 आदि), विनोदचंद्र पांडेय ('वृद्ध पीपल', 1985, 'अकथ कहानी' : 1986), महेंद्र भटनागर ('जूझते हुए' : 1984, 'जीने के लिए' : 1990, 'आहत युग' : 1997, 'अनुभूत क्षण': 2000, 'मृत्युबोध : जीवनबोध' : 2002 आदि), बलदेव वंशी ('आत्मदान' : 1982, 'हवा में खिलखिलाती लौ' : 1989, 'इतिहास में आग' : 1998, 'पत्थर तक जाग रहे हैं' : 2000 आदि), दिविक रमेश ('खंड-खंड अग्नि' : 1994 आदि), परमानंद श्रीवास्तव ('अगली सुबह के बारे में' : 1981), विनय ('कई अंतराल' : 1980), वीरेंद्र सक्सेना ('ठोस होते हुए' :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

1988, 'ठोस परिपक्वता की ओर' : 1996, 'ठोस प्रीति की प्रतीति' : 2001), विनोद कुमार शुक्ल ('वह आदमी चला गया गरम कोट पहन कर विचार की तरह' : 1981, 'सब कुछ होना बचा रहेगा' : 1992, आदि), जयसिंह नीरज ('ढाणी का आदमी' : 1985, आदि), मनोज सोनकर ('शोषितनामा', 'घंटाघर' : 1981, 'स्नानागार' : 1988, 'चितकबरी' : 1992, 'चित्राधार' : 2003, आदि) आदि उल्लेखनीय हैं।

लगभग एक ही पीढ़ी के होते हुए भी इनकी वैचारिक प्रतिबद्धता, संवेदनशीलता और शिल्पगत सरोकारों में बड़ा अंतर है। इनके काव्य स्तर में भी बड़ी उच्चावचता है। इनमें से कुछ कवि घोषित रूप से वामपंथी हैं, जैसे मंगलेश डबराल, महेंद्र भटनागर या मनोज सोनकर, कुछ कवि कविता में विचार की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानते हैं, जैसे, नरेंद्रमोहन, बलदेव वंशी, किंतु वे विचार के किसी वाद में आस्था नहीं रखते, कुछ कवि घोषित रूप से दक्षिणपंथी हैं, जैसे, अशोक वाजपेयी, लीलाधर जगूड़ी, लेकिन वे किसी भी दृष्टि से प्रतिक्रियावादी नहीं हैं, कुछ कवि ऐसे हैं, जो दक्षिण या वाम की चिंता किये बिना अपनी कविता में अपने अनुभव सहज और सुबोध ढंग से अभिव्यक्त करते हैं, जैसे विश्वनाथप्रसाद तिवारी, रमेश कौशिक। कुछ कवि ऐसे हैं, जिन्होंने अपनी कविता में काम, प्रेम और विवाह के द्वंद्व को ही समझने-समझाने का प्रयत्न किया है, ऐसे कवि के रूप में केवल वीरेंद्र सक्सेना ही एकमात्र उल्लेखनीय और विशिष्ट कवि हैं। कुछ कवि ऐसे हैं, जो काव्यवस्तु की अपेक्षा चमत्कारिक काव्यशिल्प को ही सबकुछ मानते समझते हैं, जैसे, विनोदकुमार शुक्ल। इस पीढ़ी की कविता का यह वैविध्य इस बात का प्रमाण है कि हमारे समाज में व्यक्तिवादिता बहुत बढ़ रही है।

यहां उन कवियों की चर्चा भी करना आवश्यक है, जो अब भी यही मान कर चलते हैं कि कविता वही है जो छंदोबद्ध और गेय है। इन कवियों को जितना महत्त्व मंच पर मिलता है, उतना कविता के गंभीर सहृदयों और साहित्यिक संसार में नहीं। इसका कारण है। छंदोबद्ध और प्रगीतिकाव्य को जिस उत्कर्ष पर छायावादी कवियों ने पहुंचाया, उसकी तुलना में परवर्ती कवियों ने नहीं। क्या प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी वर्मा के प्रगीतों के सामने बच्चन, सुमन, नरेंद्र शर्मा, अंचल आदि के गीत कहीं ठहरते हैं? और बच्चन आदि के सामने वीरेंद्र मिश्र, नीरज आदि के गीतों को क्या कोई महत्त्व दिया जा सकता है? इधर के गीतकाव्य को व्यावसायिकता ने मारा है। जो व्यावसायिकता से अपना दामन बचा सके हैं, उन्हीं के प्रगीतों में कुछ साहित्यिक दमखम है। ऐसे अपवादस्वरूप गीतकारों में रमानाथ अवस्थी ('हंस अकेला' : 2002), ठाकुरप्रसाद सिंह ('हारी हुई लड़ाई लड़ते हुए' : 1986), देवेंद्र शर्मा 'इंद्र' ('चुप्पियों की पैंजनी' : 1988, 'दिन पाटलिपुत्र हुए' : 1988, 'आंखों में रेत-प्यास' : 1989, 'पहनी हैं चूड़ियां नदी ने' : 1998, 'अनंतिमा' : 2000, 'घाटी में उतरेगा कौन' : 2001, 'हम शहर में लापता हैं' : 2001, 'गंधमादन का अहेरी' : 2003) आदि गिने-चुने नाम ही उल्लेखनीय प्रतीत होते हैं। देवेंद्र शर्मा 'इंद्र' आदि अनेक लोगों ने ग़ज़ल पर हाथ आजमाया है। हिंदी में ग़ज़लें लिखने की कोशिश भारतेंदु-युग से ही अनेक कवियों ने की, (दृ. आधुनिक हिंदी कविता का अभिव्यंजनाशिल्प : डॉ. हरदयाल) यहां तक कि निराला ने भी ग़ज़लें लिखीं, लेकिन उन्हें ऐसी सफलता नहीं मिली कि वे ग़ज़लकार के रूप में अपनी हैसियत बना पाते या उर्दू के ग़ज़लकारों की तरह लोकप्रिय हो पाते। इस विधा में हिंदी में एकमात्र अपवादस्वरूप दुष्यंत कुमार हैं। पहले उनकी ग़ज़लों ने कवि सम्मेलनों के मंच पर धूम मचायी, फिर जब 1975 में उनका ग़ज़ल-संग्रह 'साये में धूप' प्रकाशित हुआ, तब तो वे हिंदी ग़ज़ल पर छा ही गये। वे पहले ऐसे ग़ज़लकार थे, जिन्होंने ग़ज़लें लिखते

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समय उर्दू का मुंह नहीं जोहा, वस्तु और अभिव्यंजना, दोनों की दृष्टि से ग़ज़ल की अपनी मौलिकता सुरक्षित रखते हुए उसे हिंदी की आत्मा प्रदान की। ग़ज़ल के क्षेत्र में उनकी सफलता और लोकप्रियता का परिणाम यह हुआ कि हिंदी में ग़ज़ल लिखने वालों की बाढ़-सी आ गयी, लेकिन वैसी सफलता किसी और को नहीं मिली। इधर कुलदीप सलिल की ग़ज़लें ('हवस के शहर में' : 1987, 'जो कह न सके' : 2000, आदि) यह आशा बंधाती है।

विगत् पच्चीस वर्षों की कविता पर विचार करते समय जो बात हमारा ध्यान आकर्षित करती है, वह यह कि कथा-साहित्य-सृजन के क्षेत्र में जितनी लेखिकाएं उभर कर सामने आयी हैं और उन्होंने जैसी सफलता प्राप्त की है, उतनी और वैसी सफलता प्राप्त करने वाली कवयित्रियां उभर कर सामने नहीं आयी हैं। क्यों? शायद इसलिए कि कविता कथा-साहित्य की अपेक्षा अधिक अमूर्तताओं, सूक्ष्मताओं और व्यंजनाओं की विधा है। 'तारसप्तक' में एक भी कवयित्री नहीं है। 'दूसरा सप्तक' में शकुंतला माथुर, तीसरा सप्तक में कीर्ति चौधरी और चौथा सप्तक में सुमन राजे के रूप में एक-एक कवयित्री को सम्मिलित किया गया है, लेकिन इन तीनों में से पहली दो तो बाद में काव्यरचना के क्षेत्र में सर्वथा निष्क्रिय रही हैं, बहुत सक्रिय सुमन राजे भी नहीं हैं। अकविता आदि के दौर की भी स्थिति यही है। फिर भी कई कवयित्रियां हैं, जिन्होंने काव्यरचना के क्षेत्र में अपनी सक्रियता का परिचय दिया है। इनमें इंदु जैन ('हमसे पहले भी लोग यहां थे' : 1980, 'कितनी अवधि' : 1986, 'बुनती आवाज़ें' : 1990, 'कोना तेरा कौन-सा' : 1991, 'यहां कुछ हुआ तो था' : 1994, 'सबूत क्यों चाहिए' : 1998, 'कुछ-न-कुछ टकरायेगा ज़रूर' : 2004), सुनीता जैन ('एक और दिन' : 1983, 'रंग-रति' : 1986, 'सूत्रधार सोते हैं' : 1995, 'युग क्या होते नहीं' : 1995, 'जाने लड़की पगली' : 1996, 'छाया कहीं बड़ी है' : 1998, 'उतना-भर समय' : 1998, 'हथेली पर चांद' : 1998, 'गंगातट देखा' : 1998, 'जो मैं जानती' : 2003, 'दूसरे दिन' : 2004 आदि), कमल कुमार ('बयान' : 1981, 'गवाह' : 1990, 'सूर्य देता है मंत्र' : 2005), स्नेहमयी चौधरी ('अपने ख़िलाफ़' : 1982), कुसुम अंसल ('धुएं का सच' : 1980, 'विरूपीकरण' : 1986, आदि), अमृता भारती ('सन्नाटे में दूर तक' : 1992, आदि) आदि गिनी-चुनी कवयित्रियां हैं, जो अपनी पहचान बनाने में सफल हुई हैं। सामूहिक रूप से कहा जा सकता है कि इनकी कविताओं में अपने-अपने वैशिष्ट्य के साथ वर्तमान काल का भारतीय नारी-मन अभिव्यक्त हुआ है। इसके बावजूद इनका निजी वैशिष्ट्य भी है। इसे स्पष्ट करने के लिए इंदु जैन और सुनीता जैन की कविता पर दृष्टिपात किया जा सकता है। इंदु जैन का पहला कविता-संग्रह 1964 में प्रकाशित हुआ था, यानी वे साठोत्तर पीढ़ी की कवयित्री हैं, लेकिन उन्होंने उस समय चलने वाले किसी निषेधात्मक, उग्र विद्रोहवादी या मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद की शपथ उठाने वाले आंदोलन का न तो मुहावरा उठाया और न ही रूढ़ हो रहे भावों या विचारों को अभिव्यक्ति दी। उन्होंने अपने जीवनानुभव को अपने मुहावरे में अभिव्यक्त किया। उनके जीवनानुभव में नितांत व्यक्तिगत जीवन, स्त्री-जीवन और अपने समय की राजनीति, व्यवस्था, अर्थतंत्र आदि के साथ-साथ जीवन के वे शाश्वत् प्रश्न भी शामिल हैं, जिन्हें संवेदनशील-चिंतनशील व्यक्ति न जाने कब से पूछता और उनके उत्तर खोजता रहा है। उनके कविता-संग्रहों को एक साथ पढ़ने पर स्पष्ट होगा कि उनकी काव्यवस्तु का विकास हुआ है और उसमें विविधता आयी है। उनकी कविताओं में शिल्प साध्य नहीं बना है, साधन ही रहा है, क्योंकि उनके पास कहने के लिए बहुत-कुछ है। उनके काव्यशिल्प की सबसे बड़ी विशेषता है—सुगठित संरचना। उनकी प्रायः प्रत्येक कविता ऐसी है, जिसमें न तो कुछ जोड़ा जा सकता है

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और न ही कुछ घटाया जा सकता है।

इंदु जैन की ही तरह सुनीता जैन ने भी लंबी काव्य-यात्रा तय की है। 'हो जाने दो मुक्त' (1978) से ले कर 'दूसरे दिन' (2004) तक उनकी काव्य-यात्रा का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि उनके भीतर प्रबल भावनाओं का ज्वार उमड़ता रहता है, जिसे व्यक्त करने के लिए वे विवश हैं। उनकी भावनाओं के मुख्य केंद्र हैं—प्रेम, परिवार, प्रकृति और परमात्मा। उनकी कविताओं में व्यक्त प्रेम बहुआयामी और बहुरूपी है। उनकी प्रेम-कविताओं की सबसे बड़ी विशेषता है—तीव्र और सघन इंद्रियबोध, जो उन्हें कालजयी बनाता है। उनकी कविताओं में शरीर और मन का द्वंद्व भी रहा है, जिसने उन्हें अध्यात्म और दर्शन की ओर मोड़ा है। वे अपनी कविताओं में जीवन के रहस्यों पर इसी प्रेरणा से विचार करती दिखायी देती हैं। उनकी कविताओं में पारिवारिकता कितनी है, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वे हिंदी की एकमात्र ऐसी कवयित्री हैं जिन्होंने मां को ले कर इतनी कविताएं लिखी हैं कि उनका एक पूरा का पूरा कविता-संग्रह 'जाने लड़की पगली' (1996) प्रकाशित हुआ है। उनके अन्य कविता-संग्रहों में भी मां को ले कर लिखी गयी कविताएं संगृहीत हैं। प्रकृति ने भी उन्हें बराबर आकर्षित किया है। उनकी कविताओं में प्रकृति के एक से एक अनूठे चित्र विद्यमान हैं, यों उन्होंने अपनी कविताओं में उन लोगों के प्रति भी अपनी सहज सहानुभूति व्यक्त की है, जो वंचित और शोषित हैं। तीव्र और सघन इंद्रियबोध के कारण बिंबात्मकता उनके काव्यशिल्प की प्रमुख विशेषता बन गयी है।

समकालीन हिंदी-कविता को सीमित और विशिष्ट अर्थ की दृष्टि से देखें तो पायेंगे कि 1980 के बाद प्रकाश में आये कवियों की संख्या कम नहीं है, लेकिन उनमें ऐसे कवि अधिक नहीं हैं, जिन्होंने कवि के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है या जिनमें उसकी संभावना अधिक है। इस पीढ़ी की कवयित्रियों में अनामिका ('ग़लत पते की चिट्ठी', 'बीजाक्षर', 'अनुष्टुप', 'कविता में औरत', 'खुरदुरी हथेलियां' : 2005), प्रभा खेतान ('अपरिचित उजाले' : 1981, 'सीढ़ियां चढ़ती हुई मैं' : 1982, 'एक और आकाश की खोज में' : 1985, 'कृष्णधर्मा मैं' : 1986, 'हुस्न बानो और अन्य कविताएं' : 1987, 'अहल्या' : 1988, 'सांकलों में क़ैद क्षितिज' : 1988, आदि), कात्यायनी ('सात भाइयों के बीच चंपा', 'इस पौरुषपूर्ण समय में' : 1999, आदि) और अजंता देव ('राख का क़िला' : 2002) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अनामिका तो स्त्री विशिष्ट अनुभूति और दृष्टि, अभिव्यक्ति में नितांत निजता, एक सीमा तक आंचलिकता और क्रीड़ाधर्मिता के कारण एक कवयित्री के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी हैं। प्रभा खेतान घोषित स्त्रीवादी हैं और उनकी स्त्रीवादिता खुल कर अभिव्यक्त हुई है, जिसके कारण उनकी कविताओं में अपने ढंग की प्रखरता आयी है। कात्यायनी सक्रिय अतिवादी वामपंथी हैं, जिसके कारण उनकी कविताओं में साहसिकता और लड़ाकूपन की प्रखर अभिव्यक्ति हुई है, जिससे अप्रभावित रह पाना असंभव है। अजंता देव के पहले ही कविता-संग्रह की कविताएं अपनी परिपक्वता से हमें आश्चर्यचकित करती हैं। उन्होंने अरोमांटिक प्रेम, वर्तमान की विविध समस्याओं, छोटे वर्ग के बड़े लोगों—नौकरशाहों, आम आदमी, राजस्थान की प्रकृति आदि को सामान्य वर्णनों और विवरणों के द्वारा इस प्रकार व्यंजित किया है कि सामान्य दैनंदिन अनुभवों और घटनाओं में कविता छलक पड़ी है।

इस पीढ़ी के कवियों में से अरुण कमल ('अपनी केवल धार' : 1980, 'सबूत' : 1985, 'नये इलाक़े में' : 1996), बद्रीनारायण ('सच सुने कई दिन हुए' : 1993, 'शब्दपदीयम्'), आलोकधन्वा ('दुनिया रोज़ बनती है' : 1998), मदन कश्यप ('लेकिन उदास है पृथ्वी' : 1993, 'नीम रोशनी' : 2000), निलय उपाध्याय ('अकेला घर हुसैन का' : 1993, 'कटौती' :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

2000), ज्ञानेंद्रपति ('गंगातट' आदि), राजेश जोशी ('एक दिन बोलेंगे पेड़' : 1980), कुमार अंबुज ('किबाड़', 'अनंतिमा' : 1998), गोबिंदप्रसाद ('कोई ऐसा शब्द दो' आदि), अश्वघोष ('जेबों में डर' : 2001, 'सपाट धरती की फ़सलें' : 2004), बोधिसत्व ('दुःख का तंत्र' : 2004), कुबेरदत्त ('कविता की रंगशाला' आदि), असद जैदी ('कविता का जीवन' : 1988), हेमंत कुकरेती ('चलने से पहले', 'नया बस्ता', 'चांद पर नाव'), हेमंत शेष ('नींद में मोहनजोदड़ो', 'वृक्षों के स्वप्न' : 1988), 'आपको यह जान कर प्रसन्नता होगी' : 2001), वीरेन डंगवाल ('इसी दुनिया में' : 1991, 'दुष्चक्र में स्रष्टा' : 2002), स्वप्निल श्रीवास्तव ('ईश्वर एक लाठी है', 'ताख पर दियासलाई', 'मुझे दूसरी पृथ्वी चाहिए' : 2005), सीतेश आलोक ('गाते-गुनगुनाते' : 1981, 'यथासंभव' : 2000) इत्यादि को उल्लेखनीय माना जा सकता है। 'इत्यादि को' इसलिए कि यह सूची पूर्ण नहीं है और न हो सकती है, क्योंकि नवीनतम पीढ़ी के कवियों में कई तारे कविताकाश में उदय होते हैं, जिनमें से कुछ देखते-देखते अस्त हो जाते हैं। इसीलिए किसी भी साहित्यिक विधा के नवीनतम रचनाकारों की सूची बनाना या उनमें से किसी पर व्यक्तिशः टिप्पणी करना ख़तरनाक है। फिर भी यह करना तो पड़ता ही है। इसलिए समकालीन हिंदी-कविता के कवियों पर व्यक्तिशः टिप्पणी न करके समकालीन कविता की प्रवृत्तियों पर टिप्पणी करना उचित होगा।

प्रवृत्तियों को ले कर जो सबसे पहली बात हमारे सामने आती है, वह यह है कि 1980 के बाद हिंदी-कविता के क्षेत्र में कोई आंदोलन नहीं चला। क्यों? क्योंकि इस कालावधि में सभी प्रकार की विचारधाराएं अपना प्रभाव खो बैठीं। जो कवि किसी विचारधारा, विशेषतः वामपंथी विचारधारा, के प्रति अपनी प्रतिबद्धता की बात करते हैं, वे भी बात ज़्यादा करते हैं, उस पर व्यवहार या तो बिलकुल नहीं करते हैं या बहुत कम करते हैं। आख़िर हैं तो वे भी मध्यवर्गीय प्राणी ही! विचारधाराओं के प्रभाव के लोप के अनेक कारण हैं। उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कारण उत्तरपूंजीवाद, उपभोगतावाद और बाज़ारवाद का एकछत्र राज है। सत्ता के प्रायः सभी घटक पूंजी के पक्षधर हो गये हैं और उसके हित-साधन में संलग्न हो गये हैं। विकास की दर के आंकड़े जब सगर्व प्रस्तुत किये जाते हैं तो वंचितों को सर्वथा भुला दिया जाता है। आम आदमी का नाम तो लिया जाता है, लेकिन वास्तव में उसके लिए किया कुछ नहीं जाता। हर मर्ज़ की दवा निजीकरण को मान लिया गया है, जो वस्तुतः पूंजी की पक्षधरता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसका असर रचनाकारों पर भी तरह-तरह से पड़ रहा है, जिसकी ओर संकेत करते हुए अपने जीवनकाल में प्रकाशित अंतिम कविता-संग्रह 'कुछ पते कुछ चिट्ठियां' (1989) के 'निवेदन' में रघुवीर सहाय ने लिखा है :

"भाषा के अनेक प्रकारों पर व्यावसायिक और राजनीतिक कब्ज़े ने भाषा की रचनात्मकता को अनेक प्रकार से विकृत और कुंठित किया है, नयी प्रतिभा को सामयिक चेतना के विषय में बलपूर्वक अशिक्षित करके मनुष्यों के बीच साझेदारी के संबंध तोड़े हैं और उनकी जगह बनावटी रागात्मकता के नये समझौते आरोपित किये हैं, जो उसके किसी पक्ष को कोई आत्मिक बल नहीं देते। वे प्रत्येक अनुभव को एक सनसनी और प्रत्येक मनुष्य को एक वस्तु बनाते चले जाते हैं। इस ध्वंस-व्यापार का प्रतिष्ठान नयी प्रतिभा को लगातार लुभाता और पथभ्रष्ट करता रहता है। रचनात्मकता के विरुद्ध इतना बड़ा अभियान आज़ादी के बाद पहली बार एकत्र शक्तियों ने चलाया है।"

इसका परिणाम यह हुआ कि रचनाकार सामूहिक सरोकारों से उदासीन हो कर आत्मकेंद्रित हो गये हैं और उनके बीच व्यक्तिवादी, और कभी-कभी व्यक्तिगत सरोकार, केंद्रीय महत्त्व प्राप्त कर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गये हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे वर्तमान यथार्थ के प्रति उदासीन हैं। वे उत्तरपूंजीवादी व्यवस्था में आम आदमी की दुर्दशा, पीड़ा, यातना और विवशता को अनुभव करते हैं। इसीलिए उनमें छटपटाहट और बेचैनी है। वे आशंकित हैं :

*''घर से बाहर निकलो तो बचो*
*घर में रहो तो बचो*
*क्योंकि जो कुछ बचा हुआ है*
*उसे नष्ट करने की कोशिशें जारी हैं।''*

**( स्वप्निल श्रीवास्तव : 'मुझे दूसरी पृथ्वी चाहिए' )**

वे इसका मूल कारण जानते हैं। इसीलिए बीसवीं शताब्दी के अंत तक पहुंचते-पहुंचते सभी राजनीतिक दल जहां उत्तरपूंजीवाद के भूमंडलीकरण, निजीकरण आदि के एजेंडे पर सहमत हो गये हैं, वहीं सभी महत्त्वपूर्ण रचनाकार जनसाधारण के पक्षधर और सत्ता के विरोधी हो गये हैं। आज राजनीति में कोई सच्चा प्रतिपक्ष नहीं है। वस्तुतः प्रतिपक्ष की भूमिका निभा रहा है साहित्य। जब निलय उपाध्याय केवल अनिवार्यताओं की पूर्ति की बात करते हैं, तब उसमें से आज की यथार्थ स्थिति पर अत्यंत तीक्ष्ण व्यंग्य उभरता है :

*''मुझे कल्पवृक्ष नहीं चाहिए*
*नहीं चाहिए कामधेनु*
*इस पृथ्वी पर ज़िन्दा रहने के लिए*
*मुझे इतना ही अन्न चाहिए*
*जितना चींटी अपनी चोंच में ले कर चलती है*
*उतनी ही ज़मीन चाहिए कि पसर सके लौकी की लतर*
*और उतनी ही कपास कि ढक जाये लाज।''*

**('कटौती')**

मध्यवर्गीय या आम आदमी की इस अभावग्रस्तता को इस कालावधि के अनेक कवियों ने रेखांकित किया है। कवियों के मन में सत्ता के प्रति कितनी कटुता व्याप्त है, इसका अनुमान अरुण कमल की इन पंक्तियों से लगाया जा सकता है :

*''माँ बहनों की इज़्ज़त लूटी जिन लोगों ने*
*उनकी जय हो*
*ख़ून बहाया मासूमों का जिन लोगों ने*
*उनकी जय हो*
*दाँत गड़ाने को जो व्याकुल उन कुत्तों की*
*जय हो जय हो*
*पैसा फेंको पैसा, जल्दी-जल्दी फेंको पैसा*
*फेंको!''*

**( सबूत, पृ. 64 )**

यह कटुता, यह हताशा, यह व्यंग्यात्मकता कहीं-न-कहीं सामूहिकता के नष्ट हो जाने और व्यक्ति के अकेले पड़ जाने से भी संबद्ध है। व्यक्ति के, कवि व्यक्ति के भी, अकेले पड़ जाने की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समकालीन कविता में अनेक परिणतियां हुई हैं। एक परिणति तो यही हुई है कि समकालीन कविता में मुक्तक कविता का अंबार लगा हुआ है, प्रबंधकाव्य नगण्य हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस काल में प्रबंधकविता लिखी ही नहीं गयी है। इस काल में अनेक प्रबंधकाव्य लिखे गये हैं और कुछ प्रबंधकाव्यकारों ने तो महाकाव्यों की रचना करने का भी दावा किया है, लेकिन वास्तविकता यह है कि प्रबंधकाव्य के नाम पर एक ओर विभिन्न आकारों की ऐसी पद्यबद्ध रचनाएं है, जिनमें सबकुछ है, बस कविता नहीं है। यहां इनकी सूची प्रस्तुत करना व्यर्थ होगा। दूसरी ओर ऐसे प्रबंधकाव्य हैं जिनमें कथातत्व नगण्य है, कोई भाव या विचार ही प्रधान है। ऐसे प्रबंधकाव्य इस काल में रचनारत महत्त्वपूर्ण कवियों ने लिखे हैं। उदाहरण के रूप में, बलदेव वंशी के 'आत्मदान' (1982), गिरिजाकुमार माथुर के 'कल्पांतर' (1983), रामकुमार वर्मा के 'ओ अहल्या' (1985), जगदीश गुप्त के 'बोधिवृक्ष' (1982), नरेश मेहता के 'प्रार्थनापुरुष' (1985), प्रभा खेतान के 'अहल्या' (1988), डॉ. देवराज के 'उपालंभ-पत्रिका' (1989), आरसीप्रसाद सिंह के 'वीर कुंवरसिंह' (1989), प्रभाकर माचवे के 'विश्वकर्मा' (1988) आदि का उल्लेख किया जा सकता है। इन कवियों ने और भी प्रबंधकाव्यों की रचना की है, लेकिन इन कवियों के अनेक प्रबंधकाव्य ऐसे हैं, जिनकी मूल प्रेरणा साहित्येतर है, व्यावसायिक है। फलतः इस कालावधि में न कोई 'साकेत' लिखा जा सका है, न 'कामायनी' और न ही 'तुलसीदास'।

प्रबंधकाव्य-रचना के ह्रास का एक और कारण यह बताया जाता है कि आधुनिक काल में प्रबंधकाव्यों का स्थान उपन्यासों ने ले लिया है। प्रबंधकाव्य की घटनात्मकता, वर्णनात्मकता और विवरणात्मकता जैसी गद्य में लिखे उपन्यास में फबती है, प्रभावशाली बनती है, वैसी पद्यबद्ध प्रबंधकाव्य में नहीं। इसीलिए प्रबंधकाव्य लिखते समय कवियों ने स्वयं को अपने भाव या विचार को अभिव्यक्ति देने पर केंद्रित किया, घटनाओं, वर्णनों और विवरणों को बैसाखी की तरह प्रयुक्त किया। 'कुरुक्षेत्र' के निवेदन में दिनकर के इस कथन की सार्थकता इसी संदर्भ में समझी जा सकती है, '' 'कुरुक्षेत्र' की रचना भगवान व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है और न महाभारत को दुहराना ही मेरा उद्देश्य था। मुझे जो कुछ कहना था, वह युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाये बिना भी कहा जा सकता था, किंतु तब यह रचना, शायद, प्रबंधकाव्य के रूप में नहीं उतर कर मुक्तक बन कर रह गयी होती।'' और तब, शायद, इसकी प्रभावशीलता बहुत कम हो गयी होती। इसी स्थिति का परिणाम आधुनिक काल में लिखी जाने वाली 'लंबी कविताएं' हैं। इस बीच प्रकाशित कुछ लंबी कविताएं हैं : नरेंद्र मोहन की 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' (1981), विनय की 'यात्रा के बीच' (1983), बलदेव वंशी की 'इतिहास में आग' (1998), गंगाप्रसाद विमल की 'स्मृति की खोह में' (1994), सुखबीर सिंह की 'बयान बाहर' (1995), मनोज सोनकर की 'डांगर' (1983), चंद्रकांत देवताले की 'भूखंड तप रहा है' (1986) इत्यादि। ये तथा इस काल के कवियों के द्वारा लिखी गयी अन्य लंबी कविताओं का विश्लेषण करें तो पायेंगे कि इनमें से कुछ कविताएं इतिहास या पुराण-प्रसंगों पर केंद्रित हैं; कुछ कविताएं आत्मकथात्मक प्रसंगों पर केंद्रित हैं और कुछ कविताएं विचार विशेष पर केंद्रित हैं। लेकिन इस काल में लिखी गयी कोई भी लंबी कविता 'प्रलय की छाया' (जयशंकर प्रसाद), 'राम की शक्तिपूजा' (निराला), 'परिवर्तन' (सुमित्रानंदन पंत) और 'असाध्य वीणा' (अज्ञेय) की टक्कर की नहीं बन पायी है।

इसका कारण भी इस काल के अपने कवियों की आत्मकेंद्रितता और सामूहिक बड़े सरोकारों का अभाव है। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि कवियों ने अपने बाहर कम देखा है और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उनकी कविता या तो शुद्ध वक्तव्य के रूप में सामने आयी है या दैनंदिन जीवन की विभिन्न स्थितियों के प्रति प्रतिक्रियाओं के रूप में सामने आयी है और वह स्थायी भावों की अपेक्षा संचारी भावों की कविता बन कर रह गयी है या वह कथ्य की महत्त्वहीनता के कारण शिल्पगत चमत्कार में उलझ कर रह गयी है। जगदीश चतुर्वेदी की कविता के इस अंश में वक्तव्य ही प्रधान है :

*''यों क्रान्ति का नाम इतिहास में काफ़ी कलंकित हुआ है।*
*विगत क्रान्तिकारी आज के धनाढ्य हैं। एक गुमनाम*
*समूह करेगा कुछ काम, तभी देश में होगा परिवर्तन।''*

**(नये मसीहा का जन्म)**

इस तरह के वक्तव्यों या विवरणों में काव्यात्मकता तब आती है, जब कवि वक्तव्य दे कर वर्णन या विवरण प्रस्तुत कर उन पर एक चुभती हुई चमत्कारपूर्ण टिप्पणी जड़ देता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि इस काल में संवेदना-इंद्रियानुभूति से भरपूर कविताएं नहीं लिखी गयी हैं। इस काल में ऐसी अनेक कविताएं हमें मिलेंगी, जो हमें बहुत गहरे छूती हैं, चाहे वे महान कविता की श्रेणी में न आती हों। असल में, राजनीति की तरह साहित्य में भी जनतंत्रीकरण हुआ है और आम आदमी की तरह आम अनुभव ही महत्त्वपूर्ण और निर्णायक बन गया है और अभिव्यक्ति का आम मुहावरा भी। इसीलिए समकालीन काव्य-परिदृश्य में इतनी विविधता और विस्तार है, चाहे उसमें संकेंद्रण और गुणवत्ता कम हो।

आधुनिक युग गद्य का युग है, लेकिन कविता मनुष्य के अंतस्तल की चीज़ है। गद्य-रचनाएं भी वही महत्त्वपूर्ण बनती हैं, जिनके अंतस्तल में काव्यात्मकता होती है। इसलिए तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद नये-नये कवि उभर कर सामने आ रहे हैं और नयी-नयी कविताएं अपना वर्चस्व स्थापित कर रही हैं।

## गद्य-साहित्य

छायावादोत्तर युग हिंदी-गद्य की सर्वांगीण उन्नति का युग है। इस युग में भारत ने पराधीनता की बेड़ियों को तोड़ कर स्वाधीनता की सुखद एवं स्फूर्तिदायक सांस ली। इसका एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि आलोच्य युग में विभिन्न गद्य-विधाओं ने अभूतपूर्व तथा बहुमुखी प्रगति की है। इस युग के लेखकों ने कहानी, उपन्यास, आलोचना आदि क्षेत्रों में नये आयामों का उद्घाटन करने के साथ-साथ अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए रिपोर्ताज और इंटरव्यू-सदृश सर्वथा नवीन साहित्यरूपों का भी प्रश्रय लिया। इसके साथ ही स्वाधीनता प्राप्त करने से पूर्व जहां साहित्यकारों ने राष्ट्रीय चेतना पर बल दिया, वहीं स्वातंत्र्योत्तर साहित्य में नवनिर्माण पर बल दिया गया। इस युग में गद्य ही जनजीवन की अभिव्यक्ति का सर्वप्रमुख साधन रहा। फलत गद्य-साहित्य का सीमातीत विस्तार हुआ। कथ्य की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए सर्वथा नये प्रतीक, उपमान अथवा बिंब ही प्रयुक्त नहीं हुए, अपितु फ्लैशबैक, चेतना-प्रवाह आदि शैलियों का भी प्रयोग किया गया। कथानक को गौण मानने तथा पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण करने की प्रवृत्तियों के फलस्वरूप वर्तमान लेखक मानव-मन के सूक्ष्म से सूक्ष्म संवेदनों को अभिव्यक्त करने में सफल हो सके हैं। समग्रत: इस युग का गद्य-साहित्य कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से पर्याप्त वैविध्यपूर्ण एवं समृद्ध है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## अद्यतन हिंदी-गद्य-साहित्य

हिंदी के अद्यतन गद्य-साहित्य में जटिल से जटिलतर होते हुए जीवन-वास्तव की प्रखर चेतनात्मक अभिव्यक्ति मिलती है। आज के प्रत्येक जागरूक रचनाकर्मी की चेतना पर परिवेश का प्रभाव दबाव इतना प्रबल है कि वह अनेक प्रश्नाकुलताओं, समस्याओं, स्थिति-परिस्थिति के घात-प्रतिघात से उत्पन्न चुनौतियों, वैचारिक दिग्भ्रमों और मूल्यों के संकट के इस दौर में यथार्थ की ज़मीन पर ही यथार्थ को देखने, झेलने और रचने को विवश है। हमारे नये इतिहास के काल प्रवाह के साथ-साथ साहित्य संबंधी अभिरुचि में बदलाव आया है। पाठक की अपेक्षाएं आज के रचनाकार से भिन्न प्रकार की हैं। परिणामतः प्रचलित साहित्यरूपों की अभ्यस्तता को तिरस्कृत करते हुए नये साहित्यरूप, नयी अभिव्यक्तियां तथा नयी शैलियां जन्मी हैं। वास्तव में, नया युग अपने साथ नया जीवनबोध ही नहीं लाता, जीवन की समस्त सर्जनात्मक गतिविधि के नये रूप और प्रतिमान भी लाता है। जीवन और समाज के बुनियादी ढांचे में परिवर्तन के साथ-साथ नये विचारों-मूल्यों की अभिव्यक्ति भी साहित्य में होने लगती है। अद्यतन निबंध, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना में आया यह परिवर्तन पूर्ववर्ती साहित्य को आमने-सामने रख कर दृष्टिगत किया जा सकता है। कुछ ही समय पूर्व हमारे साहित्य में आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ. देवराज के निबंधों का ज़ोर था, किंतु अब विद्यानिवास मिश्र, शरद जोशी और रमेशचंद्र शाह के निबंधों पर पाठकों का ध्यान अधिक केंद्रित हो रहा है। यही हालत कथा-साहित्य और आलोचना की है—अज्ञेय और कमलेश्वर को पीछे धकिया कर आज अनेक महत्त्वपूर्ण नाम नयी सृजनात्मकता के केंद्र में आ गये हैं। नवीन उद्भावनाओं और प्रेरणाओं से हिंदी-गद्य में सर्वथा नयी प्रवृत्तियां प्रकट हो रही हैं। नाटक और कथा की समीक्षा पहले शास्त्रीय अध्ययनों के घेरे में चक्कर काट रही थी, किंतु आज उस घेरे को तोड़ कर नयी कथा-समीक्षा और नाट्य-समीक्षा विकसित होती जा रही है। नया रचनाकार भी अनास्था, संत्रास, सड़ांध, आत्मनिर्वासन, विसंगति, विडंबना आदि की बात अब पहले की भांति नहीं करता। उसने अनास्था के अंधकार से जूझ कर जीवन की नवीन आस्था को तलाशने का संकल्पबद्ध क़दम उठाया है। स्पष्ट है कि जीवन के नये दबाव और सामाजिक रिश्तों में बदलाव के नये प्रतिफलन के कारण नये-नये भावलोक, नये-नये जीवनानुभवों और जीवनानुभूतियों की संश्लिष्टता के साथ साहित्य में अभिव्यक्त हुए हैं। गद्य का न केवल भीतरी कलेवर बदला है, बल्कि सच्चे अर्थों में उसकी पूरी संरचनात्मक रूपगति, कथागत संवेदन और दृष्टिकोण में मूलभूत परिवर्तन आ गया है। कथा और शिल्प की नवीन चिंताएं, विचार-बिंब की अर्थच्छायाएं, नयी समस्याएं, नयी परिकल्पनाएं—रचनाकार की अंतर्मानसिकता को घेर कर घुमड़ रही हैं। आज का गद्य और पद्य उदात्त, महान, आदर्श, उच्च भावनाओं तक ही परिसीमित नहीं रहा। वह अपनी परिधि में जनसाधारण की भाव-दशाओं, आकांक्षाओं, प्रेरणाओं और प्रश्नाकुल समस्याओं का चित्रण भी अनिवार्य मान कर करता है। 'गोदान' के 'होरी' और आज के 'होरी' में कितना भारी परिवर्तन आ गया है—यह व्यथा-कथा आज का गद्य नयी समझ-बूझ के सृजन में उजागर कर रहा है। विचार या भाव की नवीन आत्मा को पुराने शिल्प-शरीर में धारण किये रहना न छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता के युग में संभव था, न आज संभव रहा है। ध्यान देने की बात यह है कि अब हमारी रचनात्मक जिजीविषा का सृजनात्मक उत्साह पद्य की अपेक्षा गद्य में अधिक उमड़ रहा है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## नाटक

आलोच्यकाल में हिंदी-नाटक रंगमंच और जीवन के यथार्थ से जुड़ कर नयी दिशा की ओर उन्मुख हुआ। यद्यपि भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी यह प्रयास किया था, पर गद्य के उस प्रारंभिक विकासकाल में उनके नाटकों से बड़ी अपेक्षाएं नहीं की जानी चाहिए। भारतेंदु के बाद प्रसाद को दिशा-प्रवर्तक नाटककार स्वीकार किया जाता है, किंतु उनके नाटकों को मंच नहीं मिला। फिर भी अपनी सांस्कृतिक चेतना, काव्यात्मक परिवेश, नाटकीय संघर्ष की सूझ और चरित्र-सर्जन की अपूर्व क्षमता के कारण उनके नाटक अद्वितीय बन गये हैं। अपने रोमैंटिक दृष्टिकोण के कारण इतिहास के अतीत के साथ समसामयिक जीवन को आदर्श के साथ जोड़ कर उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया, किंतु रोमैंटिक दृष्टि की खामियां भी उनके साथ लिपटी रहीं। उनके समसामयिक नाटककार (लक्ष्मीनारायण मिश्र सहित) भी रूमानियत से छूट नहीं सके। वस्तुतः **उपेंद्रनाथ अश्क** पहले ऐसे नाटककार हैं, जिन्होंने हिंदी-नाटक को रोमांस के कठघरे से निकाल कर किसी सीमा तक आधुनिक भावबोध के साथ जोड़ा। यद्यपि उनका 'जय-पराजय' (1937) प्रसाद की प्रभाव-छाया से बहिर्गत नहीं होता, फिर भी 'छठा बेटा' (1940) उस प्रभाव से मुक्त है। इसमें पिता-पुत्र के परिवर्तित संबंधों को व्यंग्यात्मक ढंग से चित्रित किया गया है। अवकाश-प्राप्त पिता को छह बेटों में से कोई भी अपने पास रखने को तैयार नहीं है। जिन पुराने मूल्यों पर पिता-पुत्र का संबंध आधारित रहा करता था, वे यहां ग़ायब हैं। यदि कोई संबंध शेष है तो वह केवल आर्थिक संबंध। स्वप्न के माध्यम से जिस आर्थिक संबंध की स्थापना की जाती है, वह स्वयं में एक छलना है। हां, स्वप्न-नाटक होने के नाते छाया-सृजन का फ़िल्मी प्रयोग नाटकीय शिल्प की दृष्टि से श्लाघ्य है। उनके दो अन्य नाटक—'क़ैद' (1945) और 'उड़ान' (1946)—एक दूसरे के पूरक हैं। प्रतीक का संस्पर्श दोनों में है, पर पहले का प्रतीक अधिक सटीक और व्यापक है। 'क़ैद' में सामाजिक रूढ़ियों और यंत्रणाओं की क़ैद में घुटती हुई नारी का चित्र है, तो 'उड़ान' में रूढ़ियों से बाहर निकल कर मुक्त हवा से सांस लेती हुई नारी चित्रित है। 'अलग-अलग रास्ते' (1954) में भी एक नारी समझौतावादी है, तो दूसरी विद्रोहिणी। इसमें मध्यवर्गीय परिवार की स्थूल समस्याओं का चित्रण हुआ है। 'भंवर' (1950) की थीम नाटकीय संभावनाओं से युक्त है, किंतु लगता है कि अश्क संभावनाओं को छू सकते हैं, उनके भीतर घुसने में उन्हें भय लगता है। इसमें नायिका प्रतिभा को जिस मानसिक भंवर में डाला गया है, वह आधुनिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है, पर उस भंवर में न तो व्याकुलतापूर्ण आवर्त है और न गहराई।

'अंजो दीदी' (1954) कदाचित् अश्क की सर्वाधिक प्रौढ़ नाटकीय कृति है। इसकी केंद्रीय पात्र है—अंजो दीदी। वह बेहद अनुशासनप्रिय है, किंतु उसका अनुशासन यंत्रीकरण का पर्याय हो गया है। परिवार के प्रत्येक प्राणी के लिए उसके यांत्रिक ढांचे में ढलना अनिवार्य है। हर चीज़ का समय निर्धारित है—सुबह उठने का, नाश्ते का, भोजन का, आराम का, सोने का। हर चीज़ का एक सलीका है—उठने-बैठने का, नमस्कार-प्रणाम का, खेल-पढ़ाई का। कहीं पर भी उसे प्रमाद असह्य है। दीदी के सांचे में वकील साहब ढल नहीं पाते, अतः उन्हें आत्महत्या करनी पड़ती है। अंजो का भाई श्रीपत अंजो-विरोधी चरित्र है, यानी वह अंजो की यांत्रिकता का विरोध करता है। वस्तुतः मशीनीकरण के कारण टूटते हुए व्यक्तियों का चित्रण आधुनिक जीवन का अत्यंत ख़तरनाक रोग है, किंतु उसे तोड़ने के लिए किसी अन्य पात्र की सर्जना सरलीकरण की प्रवृत्ति की सूचक है जिसकी सराहना नहीं की जा सकती। 'अंधी गली' (1954) और 'पैंतरे' (1952) अश्क के अन्य नाटक हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि उन्होंने हिंदी-नाटक को मंच और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आधुनिक यथार्थ के साथ जोड़ा है। मंच के प्रति सतर्क होने के कारण उन्हें अपनी भाषा को रोमैंटिक अभिव्यक्तियों से बचा कर यथार्थ सापेक्ष और कार्यक्षम बनाने की आवश्यकता हुई है, पर उनकी भाषा गहन मानवीय स्थितियों को रूपायित नहीं कर पाती। वह स्थिति को स्थूल स्तर पर ही नाटकीय बना पाती है, तनावों के भीतर के तनावों को देख पाना उसकी शक्ति के बाहर है। इसी प्रकार कथातत्त्व की प्रमुखता भी अश्क को गहराई में नहीं पैठने देती।

**विष्णु प्रभाकर**-कृत 'डॉक्टर' भी इस अवधि का बहुचर्चित नाटक है, इसके पूर्व वे एक अन्य नाटक 'समाधि' की भी रचना कर चुके थे। 'डॉक्टर' मनोवैज्ञानिक सामाजिक नाटक है, जिसमें डॉ. अनीला के संदर्भ में भावना और नैतिक कर्तव्य का संघर्ष दिखाया गया है। उसका अंतर्द्वंद्व ऑपरेशन करते समय भी चलता रहता है, जो विश्वसनीय नहीं बन पाता। यद्यपि द्वंद्व और आंतरिक संघर्ष की संभावनाओं का पूरा इस्तेमाल लेखक नहीं कर सका है, पर अंत में चल कर तनाव अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच कर आधुनिकता से जुड़ जाता है और यही इस नाटक की उपलब्धि है।

मंचीय सार्थकता और नयी जटिल जीवनानुभूतियों की नाटकीय रचनात्मकता **जगदीशचंद्र माथुर** के 'कोणार्क' (1951) में लक्षित होती है। अश्क ने अपने नाटकों में सामान्यत: दो विरोधी प्रकृति वाले पात्रों की सृष्टि की है, जो पुराना परिचित नुस्खा है, पर 'कोणार्क' में इस तरह का कोई सरलीकरण नहीं है। विभिन्न प्रकार के पात्रों, घटनाओं आदि को इसमें इस प्रकार संयोजित किया गया है कि वे विशिष्ट नाटकीय स्थितियों में संश्लिष्ट हो उठते हैं। इसमें संघर्ष के कई आयाम उभरते हैं—प्रभुसत्ता और ग़रीब शिल्पी के बीच का संघर्ष! वस्तुत: कोणार्क का निर्माण एक गहरे अंतर्द्वंद्व का परिणाम है। मनोविज्ञान की शब्दावली में यह एक प्रकार का उदात्तीकरण है। शिल्पी विशु की रचना-प्रक्रिया अनेक तरह के अंत:संघर्षों से प्रेरित है—एक विशेष बिंदु पर पहुंच कर तो परिवेश का संघर्ष अंत:संघर्ष से मिल कर इतना उद्वेलनपूर्ण हो उठा है कि रचयिता विशु अपनी रचना का विध्वंस स्वयं कर देता है। इस ध्वंस की व्याख्या करते हुए नाटककार कहता है, ''मुझे तो लगा जैसे कलाकार का युग-युग से मौन पौरुष, जो सौंदर्य-सृजन के सम्मोहन में अपने को भूल जाता है, कोणार्क के खंडन के क्षण में फूट निकला हो।''

'शारदीया' (1959) उनका दूसरा ऐतिहासिक नाटक है, जिसका नायक नरसिंह राव अर्ध-ऐतिहासिक पात्र है। प्रेम और सर्जनात्मक प्रक्रिया का प्रश्न इसमें भी उठाया गया है। नाटककार ने एक ओर भारतीय कैशिकी वृत्ति को अपनाया है, तो दूसरी ओर पाश्चात्य नाटक की विशेषता 'संघर्ष' को भी इसमें स्थान दिया है। भाषा की सरलता में भी नाटकीय स्थितियों को तीव्रतापूर्वक प्रस्तुत करने की कोशिश इसे विशिष्ट बनाती है, किंतु नाटकीय संश्लिष्टता और जीवन के विविध आयामों को जिस स्तर पर 'कोणार्क' में रखा गया है, 'शारदीया' में उसकी कमी है। उनका तीसरा नाटक 'पहला राजा' (1969) ऐतिहासिक-पौराणिक पृष्ठभूमि पर आधारित होने पर भी युगीन संदर्भ से जुड़ा हुआ है, इसीलिए यह अर्थ के दुहरे स्तरों को उजागर कर समासोक्ति का सा रूप धारण कर लेता है। नट-नटी, सूत-मागध और सूत्रधार के कथोपकथनों के बीच नाट्य की काया का जैसा विस्तार हुआ है, वह अपने में नया प्रयोग है। नाटक में घटनाओं और पात्रों की प्रतीकात्मकता भी प्रभावित करती है किंतु इसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी इसकी भाषा में दिखायी देती है, जहां वह सर्जनात्मकता की ओर अभिमुख नहीं हो सकी। पौराणिक संदर्भ को ले कर लिखित उनकी चौथी रचना है—'दशरथनंदन', जिसमें कथ्य और शैली के बीच ऐसी खाई लक्षित नहीं होती।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आधुनिक भावबोध को रूपायित करने वाले नाटकों में **धर्मवीर भारती** का गीति नाट्य 'अंधा युग' (1955) विशेषत: उल्लेखनीय है। इसमें महाभारत के अठारहवें दिन की संध्या से प्रभास-तीर्थ में कृष्ण के देहावसान के क्षणों तक की कथा ली गयी है। इस कथा को चुनने का मूल प्रयोजन युद्धजन्य वर्तमान कालीनता को प्रासंगिकता देना है। किंतु इसकी उपलब्धि केवल वर्तमानता के कारण नहीं है, बल्कि जब-जब युद्ध होगा, ऐसी ही अवसादपूर्ण त्रासद स्थितियां उत्पन्न होंगी और विघटित मूल्यों के संदर्भ में मनुष्य को नये मूल्यों की तलाश करनी होगी। बाह्य संकट से आगे बढ़ने पर जिन आंतरिक संकटों का सामना करना पड़ता है, वे अत्यंत भयावह होते हैं, इस थीम के नियोजन के अतिरिक्त भारती ने प्रस्तुत गीतिनाट्य को जो अनेक आयामी धरातल दिया है, और जैसी नाटकीय बिंबात्मकता तथा रचनात्मकता प्रदान की है, वह पूर्ववर्ती नाटकों में सुलभ नहीं है। युद्ध के बाद पहले के सारे अर्थ बदल जाते हैं, आस्था अनास्था में बदलती है तथा मूल्य निर्मूल्यता में खो जाते हैं, इसीलिए 'अंधा युग' में बहिर्द्वंद्व के समाप्त होने पर अंतर्द्वंद्व की विकराल ज्वाला जग कर सभी को भस्मीभूत कर लेने के लिए उतावली हो जाती है। चारों ओर निर्जीव खंडित सत्य के शव दिखायी देते हैं। उनके स्थान पर उगते हैं—अंतरतम की चीख़, नैराश्य, पीड़ा, निरर्थकता और अकेलापन! लेकिन भारती का उद्देश्य केवल युद्ध की फलश्रुति प्रस्तुत करना नहीं है, उनका कहना है, "यह कथा ज्योति की है अंधों के माध्यम से।" फिर भी, 'अंधायुग' एक सशक्त आधुनिक त्रासदी है, और प्रभु की मृत्यु के बाद तो त्रासद परिवेश और भी गहरा हो जाता है। वस्तुत: यह तनावों का नाटक है, संघर्ष का नहीं और नाटकीयता तनावों में ही होती है। अश्वत्थामा का अंत:संघर्ष सहृदय को भी तनावपूर्ण स्थिति में डाल देता है। अश्वत्थामा के व्यथापूर्ण आक्रोश, युयुत्सु की यातना, गांधारी के आवेश, धृतराष्ट्र की आत्मभर्त्सना और संजय की अभिशप्त चीख़ से घिर कर 'अंधायुग' युद्धजन्य स्थितियों को पूर्णत: नाटकीय बना देता है। इसकी भाषा भी अपनी सरलता, टोन के उतार-चढ़ाव, लय, क्रियात्मकता आदि के कारण नाटकीय स्थितियों का जो बिंब प्रस्तुत करती है, उससे यथार्थ का नवीन पक्ष उद्घाटित होता है।

**डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल** ने कई नाटकों की रचना की है—अंधा कुआं (1955), मादा कैक्टस (1959), तीन आंखों वाली मछली (1960), सुंदर रस (1959), सूखा सरोवर (1960), रक्तकमल (1962), रातरानी (1962), दर्पन (1963), सूर्यमुख (1968), कलंकी (1969), मिस्टर अभिमन्यु (1971), करफ़्यू (1972) आदि। 'अंधा कुआं' में शराबी पति द्वारा पत्नी पर किये जाने वाले अत्याचार को वर्ण्य के रूप में लिया गया है। विषयवस्तु और नाटकीय विन्यास की दृष्टि से यह स्थूल नाटक है। 'मादा कैक्टस' में प्रेम और विवाह को कला-साधना के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया गया है। चित्रकार अरविंद विवाह को कला-साधना में बाधक पाकर अपनी पत्नी सुजाता से संबंध-विच्छेद कर लेता है। कला-प्रेरणा की दृष्टि से वह विश्वविद्यालय की एक प्रवक्ता आनंदा से घनिष्ठ मैत्री करता है। मादा कैक्टस नाटक का केंद्रवर्ती प्रतीक है। उसके संपर्क में आने पर नर कैक्टस सूख जाता है, किंतु वह नहीं सूखती। इसी भांति सुजाता के संपर्क से अरविंद सूख जाता है, उसे कोई रचनात्मक प्रेरणा नहीं मिलती। वह ऐसी मादा कैक्टस के पास रहना चाहता है जो उसकी विवाहिता न हो, शायद ऐसा करने पर दोनों न सूखें, पर मादा कैक्टस सूख जाती है, आनंदा के फेफड़े में कैंसर हो जाता है। इस संदर्भ में मुख्य प्रश्न यह है कि क्या विवाहित जीवन कला के लिए सचमुच अभिशाप है? फिर भी, इसमें शक नहीं कि इस नाटक के प्रतीक काफ़ी मौजूं हैं। वैसे, इनका प्रयोग गहरे आंतरिक संघर्ष को नहीं उभार पाता, यह कोरा सैद्धांतिक बन कर रह गया है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'सुंदर रस' और 'सूखा सरोवर' भी प्रतीकात्मक नाटक हैं। पहले में चर्म-सौंदर्य की जगह कर्म-सौंदर्य को प्रतिष्ठित किया गया है, जबकि दूसरे में व्यष्टि समष्टि के लिए आत्मबलिदान करता है। निश्चय ही दोनों परिणतियां आधुनिक नहीं बन पातीं, इनमें व्यवहृत प्रतीक आरोपित और अविश्वसनीय लगने लगते हैं। 'रक्तकमल' में भी लेखक स्थूलताओं की तह में पैठने का कोई प्रयास नहीं करता। 'रातरानी' अपेक्षाकृत बेहतर नाटक है। इसका नायक दोहरे व्यक्तित्व में विश्वास करता है—घर में एक व्यक्तित्व और बाहर दूसरा। वह परिवार को अलग-अलग व्यक्तियों का जमघट मानता है, सामंजस्यपूर्ण इकाई नहीं। नायिका का व्यक्तित्व इकहरा है और इसी आधार पर वह सारे संकटों को झेल लेती है। पर नायक का दुहरा व्यक्तित्व केवल बाहरी सुविधा के लिए है, किसी आंतरिक विवशता के फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व का विभाजन नहीं हुआ। इसलिए आधुनिक अर्थ में उसे खंडित व्यक्तित्व का पात्र नहीं माना जा सकता। उसके सामने न तो कोई नैतिक संघर्ष है और न ही आस्थाओं की टकराहट। ऐसी स्थिति में इसमें नाटकीय संघर्ष की वे स्थितियां नहीं उभर पातीं, जो आज नाटक के लिए अनिवार्य हैं। 'दर्पन' में नाटककार ने आधुनिक बोध को अधिक गहराई में पकड़ा है। इसमें यह प्रश्न उठाया गया है कि आज की मूल्यहीन और विघटनात्मक परिस्थितियों में मनुष्य अपनी सार्थकता कहां खोजे—धर्म में, ईश्वर में, आप्त सरणि में या स्वयं में? डॉ. लाल को मंचीय अनुभव है, नये-से-नये नाटकीय प्रयोगों का ज्ञान है और वे तकनीकी तंत्रों से भी वाक़िफ़ हैं, किंतु बाह्य क्रिया-व्यापारों या परिवेशमूलक संघर्षों में वे इतने उलझ जाते हैं कि आंतरिक तनावों तक पहुंचने की कोशिश नहीं करते। सपाटबयानी और सिद्धांत-कथन के कारण उनके नाटकों की भाषारचनात्मकता का स्तर नहीं प्राप्त करती, फिर भी उनके बाद के नाटकों में भावी संभावनाएं दिखायी पड़ती हैं। 'सूर्यमुख' महाभारत-युद्ध के बाद द्वारिका के वातावरण पर आधारित पौराणिक नाटक है, जो रचनाशिल्प की दृष्टि से भारती के 'अंधायुग' से सीधे प्रभावित है। 'कलंकी' में व्यक्तिस्वातंत्र्य के प्रश्न को उभारने के लिए एक कल्पित कथानक में कल्कि अवतार के मिथ का प्रयोग किया गया है। 'मिस्टर अभिमन्यु' और 'करफ़्यू' आधुनिक जीवन की संवेदना को ले कर लिखे गये विचारोत्तेजक नाटक हैं, जो रंगमंच पर अपनी सार्थकता प्रमाणित कर चुके हैं।

**मोहन राकेश**-कृत 'आषाढ़ का एक दिन' (1958), 'लहरों के राजहंस' (1963) और 'आधे-अधूरे' (1969) गहन मानवीय ट्रेजेडी को नाटकीय स्थितियों में रचनात्मक ढंग से आंकने वाले नाटक हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' महाकवि कालिदास के परिवेश, रचना-प्रक्रिया, प्रेरणा-स्रोत और उनके चुक जाने से संबद्ध है। यह दो प्रकार के संघर्षों पर आधारित है—परिवेशमूलक संघर्ष और आंतरिक संघर्ष। आषाढ़ के एक दिन इस संघर्ष का आरंभ हुआ और आषाढ़ के एक ही दिन वह समाप्त हुआ। इन दो दिनों के दीर्घ अंतराल को कालिदास और मल्लिका की पीड़ा ने भरा है—कालिदास में अहं की पीड़ा है, तो मल्लिका में रचनात्मक उत्सर्ग की! कालिदास को रचना की प्रेरणा अपने गांव के परिवेश और वहां की प्रकृति से मिली और सबसे अधिक प्रभावी स्रोत रही मल्लिका। राजाश्रय प्राप्त होने पर कालिदास की प्रतिभा सूखने लगी। किंतु प्रश्न यह है कि क्या यह वही कालिदास है, जिसका बिंब हमारे मन में विद्यमान है? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या रचना में उसी कालिदास का अवतरित होना ज़रूरी है? कालिदास के पूर्व-निश्चित बिंब और इस नवनिर्मित बिंब में जो विसादृश्य है, उसके फलस्वरूप उसके चरित्र में अंतर्विरोध दिखायी पड़ने लगता है। इतना महान साहित्यकार, जिसे भारतीय संस्कृति और दर्शन का चितेरा माना जाता है, व्यक्तिगत जीवन में कोरा रोमैंटिक, क़ायर और सेंटीमेंटल होगा, यह विश्वसनीय नहीं लगता।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कालिदास की रचनाओं से भी यह सिद्ध नहीं होता कि वह इस सीमा तक कायर रहा होगा। जो मल्लिका उसे निर्मित करने में स्वयं टूट गयी, उसी को छोड़ कर उसने उसकी भावना को व्यर्थ बना दिया। कालिदास और मल्लिका की भावनामयता के विरुद्ध विलोम और मल्लिका की मां रोमांस-विरोधी पात्र हैं। विलोम का व्यक्तित्व तो इतना ज़बरदस्त है कि वह कालिदास को विदूषकत्व की स्थिति में ला देता है और इसके बाद वह और भी अनपहचाना लगने लगता है। इसका दायित्व लेखक के अपने विज़न पर है। लेकिन जिस कालिदास को उसने अवतरित किया है, वह अनेक विरोधी संघर्षों और लयों के फलस्वरूप नाटकीय गत्यात्मकता से पूर्ण है। एक परिवेश से कट कर दूसरे से न जुड़ पाना गहन आंतरिक द्वंद्व का परिचायक है। स्वयं कालिदास के अपने परिवेश में, जिससे वह जुड़ा हुआ है, अंतर्मंथन का अवकाश कम नहीं है। विलोम और मल्लिका की मां ने कालिदास और मल्लिका के अंतर्द्वंद्वों को धार दी है। फलस्वरूप नाटक में गहन प्रवेगमयता और तीव्रता आ गयी है। ख़ेद है कि इस प्रवेग और तीव्रता को एक रोमानी दु:खात्मकता (एगोनी) तक पहुंचा कर समाप्त कर दिया गया है।

'लहरों के राजहंस' (1963) राकेश का दूसरा नाटक है। इसमें राग-विराग और श्रेय-प्रेय के द्वंद्व को उभार कर चिरंतन आध्यात्मिक प्रश्न को नये संदर्भ में उठाया गया है। इसका कथानक अश्वघोष के 'सौंदरानंद' पर आधारित है। गौतमबुद्ध का सौतेला भाई कपिलवस्तु का राजकुमार नंद अपनी अनिंद्य सुंदरी पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्त है। उसका समर्पण अतिशय अहं-विरहित और असाधारण रूप से विनीत है—इतना विनीत कि सुंदरी को सोचना पड़ता है कि काश वह किंचित् दुर्विनीत होता! पर बुद्ध के प्रति, यानी आध्यात्मिकता के प्रति भी उसका मन आकर्षित है। नाटकीय संघर्ष की स्थितियां इन दो व्यक्तित्वों और दो विरोधी जीवन-दर्शनों की टकराहट से उत्पन्न होती हैं। उसकी पत्नी सुंदरी नारी-सौंदर्य को आकर्षण का चरमबिंदु मानती है, किंतु जब एक दिन नंद ने भी बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली, तब उसका मुंडित मस्तक देख कर इस सौंदर्यगर्विता का अहं पूर्णत: खंडित हो गया। जहां 'आषाढ़ का एक दिन' अपनी भावुकतापूर्ण तीव्रता में समाप्त होता है, वहीं 'लहरों के राजहंस' में नंद आधुनिक भावबोध का प्रतिनिधित्व करता है। संशयशील, अकेली और अनिर्णीत स्थिति में पड़ा हुआ भी वह एक किरण की तलाश में है। 'आषाढ़ का एक दिन' की भावुकता से मुक्त होने का यह प्रयास निश्चय ही प्रशंसनीय है।

'आधे-अधूरे' राकेश का तीसरा नाटक है, जो उनकी विकास-यात्रा की अगली मंज़िल का सूचक है। इसमें इतिहास के आधार को छोड़ कर समाज की विसंगतियों से सीधे जूझने का प्रयास है। वैवाहिक जीवन की मध्यवर्गीय विडंबनाओं के कारण परिवार का प्रत्येक व्यक्ति आधा-अधूरा रह कर अपने-अपने ढंग का संत्रास भोगता है। नाटककार ने संत्रास के मूल कारणों की खोज की है। यह विडंबना आर्थिक-मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार की है। प्रत्येक पात्र की नियति वृत्तात्मक है, सभी लोग पारस्परिक आकर्षण-विकर्षण से निकट-दूर आते हुए बाहर जा कर भी वापस लौटने की नियति से बाध्य हैं। इस वृत्तात्मकता के फलस्वरूप नाटक आद्यंत तनावपूर्ण बना रहा है। यह तनाव राकेश के पिछले नाटकों के तनावों से भिन्न है। पिछले दोनों नाटक बहुत-कुछ रोमैंटिक हो गये हैं, किंतु इसमें रोमांस की छुअन भी नहीं है। फिर भी, अपने आंतरिक तनावों के कारण सहृदय इसके साथ एकतान बना रहता है। इसकी भाषा और कथोपकथन में अद्भुत संयम है, जो यथार्थ को नाटकीय ढंग से वहन करने में पूर्ण समर्थ है। संवादों की लयात्मकता में बहुत वैविध्य नहीं है, यद्यपि लड़के की वाणी में काट खाने वाला पैना व्यंग्य है। भाषा, लय और नाटकीय संयम तनाव को गहराते जाते हैं। अंत में अपने समापन के साथ, छाया-प्रकाश के माध्यम से, सारा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वातावरण संवेदना से आप्लावित हो उठता है।

छायावादोत्तर काल के प्रमुख नाटककारों की उपलब्धियों के उपर्युक्त सर्वेक्षण के अनंतर 'अंधा युग' के अतिरिक्त विरचित **गीतिनाट्यों** पर विचार कर लेना भी उचित होगा। सुमित्रानंदन पंत के गीतिनाट्य 'रजत शिखर', 'शिल्पी' और 'सौवर्ण' में संगृहीत हैं, जिनमें सांस्कृतिक और कलात्मक धरातल तो है, पर वे न गीति बन सके हैं और न नाट्य। सेठ गोविंददास-कृत 'स्नेह या स्वर्ग' (1946) यूनान के एक पौराणिक आख्यान पर आधारित गीतिनाटक है, जिसमें नारी के जागरूक व्यक्तित्व का भारतीय शैली में चित्रांकन हुआ है। गिरिजाकुमार माथुर का 'कल्पांतर' भी सैद्धांतिक और सूचनापरक होने के कारण रचनात्मक नहीं बन सका। 'सृष्टि की सांझ और अन्य काव्य नाटक' में सिद्धनाथ कुमार के पांच गीतिनाट्य संगृहीत हैं—सृष्टि की सांझ, लौह देवता, संघर्ष, विकलांगों का देश, और बादलों का शाप। इनमें समसामयिक समस्याएं गृहीत हैं, किंतु गहन आंतरिक उद्वेलन के अभाव के फलस्वरूप ये गीतिनाटक फार्मूलाबद्ध हो कर सरलीकरण की ओर उन्मुख रहे हैं। दुष्यंतकुमार के गीतिनाटक 'एक कंठ विषपायी' (1963) की कथा दक्ष-यज्ञ के समय पति के अपमान को देख कर सती के दग्ध होने पर आधारित है। सती-दाह के समाचार से शंकर देवताओं से युद्ध करने के लिए तैयार हो जाते हैं, किंतु विष्णु के बीच-बचाव, स्थूल गांधीवाद, नैतिकता आदि के कारण नाटकीय संघर्षों के लिए इसमें अवकाश नहीं रह पाया। भाषा की सपाटता न तो नाटकीय बिंबों की सृष्टि कर पायी है और न वर्णनात्मकता से आगे बढ़ कर क्रियात्मकता को उभार सकी है। कथानक का संयोजन इस ढंग से किया गया है कि मानवीय संघर्षशील स्थितियों के लिए अवकाश ही नहीं रह गया है।

**अन्य नाटककार :** छायावादोत्तर काल के अन्य नाटककारों में सेठ गोविंददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण 'प्रेमी', गोविंदवल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद' प्रभृति पुराने खेवे के नाटककारों का उल्लेख अपेक्षित है। **सेठ गोविंददास** ने 'कर्ण' (1942), 'शशिगुप्त' (1942) आदि पौराणिक-ऐतिहासिक नाटकों और 'हिंसा और अहिंसा' (1940), 'संतोष कहां' (1941) आदि सामाजिक नाटकों की रचना की है, जिनमें यथार्थ का तीखापन उतना नहीं है, जितना कि आदर्श का स्वारस्य है। **लक्ष्मीनारायण मिश्र** द्वारा रचित 'अपराजित' और 'चक्रव्यूह' पौराणिक नाटकों की परंपरा में महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें मनोविज्ञान के साथ ही भारतीय जीवनदृष्टि के प्रति अविचल श्रद्धा भी मिलती है। **हरिकृष्ण 'प्रेमी'** ने मुख्यतः मध्यकालीन ऐतिहासिक घटनाओं को ले कर नाट्यरचना की है, जिनमें 'आहुति' (1940), 'स्वप्नभंग' (1940), 'विषपान' (1945), 'सांपों की सृष्टि', 'उद्धार' आदि उल्लेखनीय हैं। 'अमृत पुत्री' (1972) उनका ऐतिहासिक नाटक है जिसमें राष्ट्रीय एकता पर बल देने के निमित्त सिकंदर के आक्रमण-काल के भारत का चित्रण हुआ है। 'बंधन' (1940) और 'छाया' (1941) प्रेमी जी के प्रमुख समस्यामूलक सामाजिक नाटक हैं, जिनमें जीवन की कटुता का चित्रण होने पर भी परंपरावादी ढंग से समाधान खोजने पर अधिक बल रहा है।

**गोविंदवल्लभ पंत** ने आलोच्य युग में दो उल्लेखनीय नाटकों की रचना की, 'सुहाग-बिंदी' (1940) उनका प्रसिद्ध सामाजिक नाटक है और 'ययाति' (1947) की रचना पौराणिक कथा-संदर्भ में हुई है। स्वच्छंदतावादी रचनाशिल्प के प्रभास्वरूप भावुकता, कल्पना और कवित्वपूर्ण शैली उनके नाटकों की मुख्य विशेषताएं रही हैं, किंतु इन्हीं के कारण जीवन की विसंगतियों की सही पकड़ भी उनके द्वारा संभव नहीं हो सकी है। **उदयशंकर भट्ट** के नाटकों में 'शक-विजय' (1953), 'क्रांतिकारी' (1954), 'नया समाज' (1955) और 'पार्वती' (1960) मुख्य हैं,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जिनमें बौद्धिकता, मनोविज्ञान और यथार्थमूलक व्यंग्य के साथ ही आदर्शवादी तथा स्वच्छंदतावादी नाट्यशैली को भी अनेकश: परिलक्षित किया जा सकता है। **जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद'** के नाटकों में भी लगभग इन्हीं प्रवृत्तियों का समावेश मिलता है, 'समर्पण' (1950) बुद्धिवाद से प्रेरित समस्यामूलक सामाजिक नाटक है, तो 'गौतम नंद' (1952) में ऐतिहासिक घटना-संदर्भ को रोमानी कल्पना से अलंकृत करके प्रस्तुत किया गया है, जिसके फलस्वरूप नाटकीय द्वंद्व की तीव्रता अपने सही रूप में नहीं उभर पायी है।

छायावादोत्तर काल की अन्य नाट्यकृतियों को स्थूल रूप से तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है : (1) स्वतंत्र भारत में व्याप्त भ्रष्टाचार से संबद्ध नाटक, (2) पीढ़ीगत संघर्षों का नैतिक मूल्यों से संबद्ध नाटक, (3) चीनी आक्रमण से संबद्ध नाटक। प्रथम वर्ग के अंतर्गत **चंद्रगुप्त विद्यालंकार** के 'न्याय की रात' और **विनोद रस्तोगी** के 'आज़ादी के बाद' तथा 'नया हाथ' नाटकों की गणना की जा सकती है। 'न्याय की रात' समाज को विघटित करने वाले भ्रष्टाचारियों और स्वयं समाज के द्वंद्व पर आधारित है, इसलिए इसमें संघर्ष की स्थितियां अधिक स्वाभाविक और विश्वसनीय बन पड़ी हैं, पर बाह्य व्यापारों की बहुलता इसके निर्माणपक्ष को दुर्बल बना देती है। 'आज़ादी के बाद' का नायक आर्थिक व सामाजिक वैषम्य को दूर करने और शोषण से मुक्ति पाने के लिए कटिबद्ध है। 'नया हाथ' का नायक भी रूढ़ नैतिकता और झूठी मर्यादा का विरोध करता है। दोनों नाटकों पर गांधीवादी जीवनदर्शन का प्रभाव है, किंतु बाह्य संघर्षों और विचारों की इतिवृत्तात्मक बहुलता के कारण न तो इनमें नाटकीय स्तर की गहनता मिलती है, और न ही ये आधुनिक बोध से संपृक्त हो पाये हैं। दूसरे वर्ग के नाटकों में **नरेश मेहता** के 'सुबह के घंटे' और 'खंडित यात्राएं' शीर्षक नाटकों तथा **मन्नू भंडारी** के 'बिना दीवार का घर' का उल्लेख किया जा सकता है। 'खंडित यात्राएं' में पुरानी पीढ़ी की यातना ज़रूर उभरती है, पर उसकी आंतरिक संघटना बेहद कमज़ोर है। मन्नू भंडारी का 'बिना दीवारों का घर' में पति-पत्नी के बीच जो तनाव पैदा हुआ है, उसका आधार पुष्ट और विश्वसनीय है, क्योंकि आज के युग में पढ़ी-लिखी पत्नी के प्रति पति का ईर्ष्यालु हो जाना स्वाभाविक है। तीसरे वर्ग की रचनाओं में **शिवप्रसाद सिंह** ने 'घाटियां गूंजती हैं' में चीन-भारत युद्ध का व्यापक फलक लिया है। इसमें भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर इस परिवेश के अलग-अलग ढंग से प्रभाव के साथ ही उनकी क्रियाशीलता भी चित्रित है, किंतु आदर्शवादी दृष्टिकोण और टिप्पणियों के कारण नाटककार की वैचारिकता आंतरिकता में नहीं बदल पायी। **ज्ञानदेव अग्निहोत्री** ने 'नेफा की एक शाम' में चीनी आक्रमण के प्रतिरोध में आदिवासियों के संघटन और गुरिल्ला युद्ध-पद्धति की सार्थकता सिद्ध की है, किंतु पिटे आदर्शों की बहुलता और परिवेश की मुखरता के कारण यह नाटक भी सामान्य स्तर से ऊपर नहीं उठ सका।

आधुनिकता की प्रक्रिया को महत्त्व देने वाले रंग-नाटकों में विपिन कुमार के 'तीन अपाहिज' (1963), ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग' (1968), गिरिराज किशोर के 'नरमेध', सुरेंद्र वर्मा के 'द्रौपदी' (1970) और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के 'बकरी' का उल्लेख भी आवश्यक है। इनमें वर्तमान जीवन में व्याप्त अनास्था, उद्देश्यहीनता और विसंगतियों को अत्यंत सशक्त अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है, जिसके लिए इन नाटककारों ने यथार्थबोध और व्यंग्य को बड़े ही सहज ढंग से अपनाया है।

हिंदी-साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक का विकास मंद गति से हुआ है, इसमें संदेह नहीं है। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं, एक तो मंच का अभाव और दूसरा, स्वयं इस विधा का अपना स्वरूप। दूसरे, तथ्य को अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। नाटक का सीधा संबंध

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समूह, जाति और देश से होता है। यदि आज की बहुत सी कहानियों, उपन्यासों और कविताओं का अनुवाद कर दिया जाये, तो वे कथ्य और रूप-विन्यास में विदेशी लगने लगेंगे। किंतु एक भी नाटक ऐसा नहीं मिलेगा, जिसके संबंध में यह कहा जा सके। अन्य विधाओं को पाठक की उतनी चिंता नहीं रहती, पर नाटककार के सामने सामाजिक बराबर बना रहता है। फलस्वरूप नाटक अपनी परंपरा से विच्छिन्न नहीं हो सका और हो भी नहीं सकता। इसलिए अपनी मंद प्रगति के बावजूद नाटक के विकास की काफ़ी संभावनाएं हैं। जगदीशचंद्र माथुर, धर्मवीर भारती और मोहन राकेश के नाटकों ने जहां हिंदी-नाट्य साहित्य को नयी दिशाएं दी हैं, वहीं अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं के नाटकों के अनुवादों का भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

## अद्यतन हिंदी-नाटक-I

(1975 से 1981 तक के हिंदी-नाटक)

हिंदी के समकालीन नाटक-साहित्य में यथार्थ-अन्वेषी सृजनात्मकता के मोड़ों और प्रवृत्तियों के सार्थक संकेत साफ़ तौर पर उभर कर सामने आये हैं। हालांकि यह सच है कि इस दौर में बहुत सारा नाट्यसृजन किसी बड़ी नाट्यसंभावना का बिंब प्रस्तुत नहीं कर पाया। उसमें स्तरीयता और गहन वैचारिक रचनात्मकता का अर्थवान स्तर अब तक नहीं आ सका है। इसका कारण यह रहा है कि काव्य, कहानी जैसी विधाओं की तुलना में नाटक पर अन्य कई तरह के दबाव-प्रभाव काम करते हैं। नाटक को अभिनय, संगीत, नृत्य तथा अन्य दृश्यकलाओं से समन्वित होना पड़ता है। इस अर्थ में नाटक एक जटिल रूपविधा है। साथ ही निरंतर जटिल से जटिलतर होते युग के भावबोध को दर्शक के सामने नाट्यप्रस्तुतिकरण में सहज संप्रेषणीयता से पहुंचाने की समस्या भी विकराल रूप धारण कर उठी है। एक ओर हिंदी का पिछड़ा रंगमंच और दूसरी ओर सहज जन-बोधगम्य भाषा का सवाल हिंदी के नाटककार को नाट्यसृजन में लगातार ललकार कर तोड़ता रहा है। चूंकि ऊंचे दर्ज़े का रंगमंच और निरंतर नाटक खेलने वाली मंडलियां नहीं आ सकी हैं। नतीजा यह हुआ कि ऊंचे दर्ज़े का नाट्यसृजन भी अपनी जड़ों से हरा-भरा रूप ले कर नहीं आ सका। फिर भी पिछले दो दशकों में हिंदी-नाटक में 'प्रयोग' की चर्चा सार्थक रूप में सामने आयी है। नाटक में 'नयेपन' या 'प्रयोगशीलता' ने नयी नाट्यभूमि को खोजने और रचने की ओर क़दम उठाया है। इस प्रयत्न से इस दौर में हिंदी-नाटक का जैसे नया जन्म हुआ है। नाटक का नयी रंग-चेतना के बहुस्तरीय कार्यकलाप से एक जीवंत संबंध तो बना ही है—वह रंगमंच की अपनी दुनिया को पूरी शक्ति से जीने और रचने की ओर भी प्रवृत्त हुआ है।

मोहन राकेश के बाद का हिंदी-नाटक निराशा और पराजयबोध के संसार से निकल कर संघर्ष में टूटते पर हिम्मत बांधते जीते आदमी की आस्था की ओर कदम उठाता है। यह नाट्यसृजन आज की ज़िंदगी को पहचानने, समझने और उसे ज्ञानात्मक संवेदना से रचना की दिशा अपनाता है। उसमें प्रयोगशीलता और नाटकपन दोनों की तलाश जारी है। दिलचस्प बात यह है कि विदेशी अंधानुकरण की निस्सारता को पहचान कर यह नया नाटक अपनी ज़मीन में जड़ें जमाता है और लोकसंवेदना और लोकभाषा में अपनी लोकनाट्यधर्मी परंपरा को फिर से दुहता है। नाटक के रचनातंत्र की बहुत-सी रूढ़ियों से मुक्ति पा लेता है और नये नाटक का रूप उसके कथ्य के भीतर से ही फूटता और बढ़ता है। कहना न होगा कि काव्य के क्षेत्र में 'प्रयोग' और 'प्रयोगवाद' कितना ही संदिग्ध रहा हो, पर नाटक के क्षेत्र में उसकी इज़्ज़त बरकरार है, बल्कि 'प्रयोग' में नयी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संभावनाएं निष्पत्ति पा रही हैं।

सृजनात्मक संभावनाओं के समर्थ नाटककार मोहन राकेश की मृत्यु ने अचानक हिंदी-नाटक में एक रिक्तता उत्पन्न कर दी। किंतु, उनके साथ और उनके बाद ऐसे अनेक नाटककार नाट्यक्षेत्र में आये, जिन्होंने नयी टेकनीक, नयी रंगसृष्टि और प्रयोगधर्मी साहसिकता से नाट्यसृजन की प्रासंगिक संभावनाओं को जीवंतता से उजागर किया। अधिकांश नये नाटकों ने सामाजिक-राजनीतिक संदर्भों को कथ्यानुभव के नये मुहावरे में ढाल कर सृजित किया। जीवन की असंगतियों, अंतर्विरोधों, तनावों, जटिल परिवेशगत स्थितियों को नये रूपतंत्र के कौशल से नाट्य रचनाप्रक्रिया में अभिव्यक्ति दी। इस दृष्टि से भीष्म साहनी के 'हानुश', 'कबिरा खड़ा बाज़ार में', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के 'बकरी', 'लड़ाई', 'कल भात आयेगा', ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग, मणि मधुकर के 'रसगंधर्व', लक्ष्मीनारायण लाल के 'मि. अभिमन्यु', 'अब्दुल्ला दीवाना', मुद्राराक्षस के 'मरजीवा', 'तेंदुआ', सुशीलकुमार सिंह के 'सिंहासन ख़ाली है', शंकर शेष के 'एक और द्रोणाचार्य', हमीदुल्ला के 'एक और युद्ध', 'समय संदर्भ', दयाप्रकाश सिन्हा के 'कथा एक कंस की', सुरेन्द्र वर्मा के 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'सेतुबंध', 'आठवां सर्ग', मृदुला गर्ग के 'एक और अजनबी', बृजमोहन शाह के 'त्रिशंकु', बलराज पंडित के 'पांचवां सवार' आदि उल्लेखनीय नाटक हैं। इन नाटकों ने सामाजिक व राजनीतिक जीवन के भ्रष्टाचार, पाखंड, क्रूरता, अमानवीयता, मध्यवर्ग के जीवन की अभावभरी कराह, व्यक्ति के विघटन और जीवन की यांत्रिकता पर प्रखर, आत्मसजग, विवेकवयस्क वैचारिकता से सवाल उठाये हैं। रमेश बक्षी के 'देवयानी का कहना है' में युवा मानस के आक्रोश और असंतोष को कई कोणों से अभिव्यक्ति मिली है। एक प्रकार से इन नाटककारों ने जीवन के नये संदर्भों, तनावों, दबावों और स्थितिक्रमों को नये सिरे से परिभाषित किया है।

सन् साठ के बाद उपजे मोहभंग और संबंधों की अर्थहीनता ने जीवन के पुराने गणित को ग़लत ठहराया है। इस दृष्टि को कथ्य के सृजनात्मक तनाव से जगदीशचंद्र माथुर ने 'शारदीया' लक्ष्मीनारायणलाल ने 'करफ़्यू', 'व्यक्तिगत', 'सगुन पंछी', सुरेन्द्र वर्मा ने 'द्रौपदी', गिरिराज किशोर ने 'नरमेध', मणि मधुकर ने 'दुलारीबाई', सुशील कुमार ने 'चार यारों की यार', मुद्राराक्षस ने 'तिलचट्टा', 'योर्स फेथफुली', 'गुफ़ाएं', 'संतोला', विष्णु प्रभाकर ने 'अब और नहीं', रामकुमार भ्रमर ने 'तमाशा', पृथ्वीनाथ शास्त्री ने 'क्रीड़नक', शोभना भूटानी ने 'शायद हां' में नयी व्यंग्य-वक्रोक्ति और अर्थापत्ति दी है। कमलेश्वर ने 'अधूरी आवाज़', विष्णु प्रभाकर ने 'युगे-युगे क्रांति', 'टूटते परिवेश', मन्नू भंडारी ने 'बिना दीवारों के घर', अमृत राय ने 'चिंदियों की एक झालर', शंकर शेष ने 'घरौंदा', रमेश बक्षी ने 'वामाचार', गोविंद चातक ने 'काला मुंह' में काम-संबंधों की घिनौनी हरकतों और पारिवारिक कलह की मूल रेखाओं को बिंबित किया है। इन सभी नाटकों में रहस्यमूलक कुहेलिका के स्थान पर मूर्त और इंद्रियगोचर संसार को स्थान मिला है। मानवीय सबंधों की अर्थहीनता और खोखलेपन ने इधर के जीवन को कई तरह से जकड़ कर तोड़ा है। इस ओर रमेश मेहता ने 'रोटी और बेटी', विनोद रस्तोगी ने 'बर्फ़ की मीनार' लक्ष्मीनारायण लाल ने 'रातरानी', नरेश मेहता ने 'खंडित यात्राएं', उपेन्द्रनाथ अश्क ने 'बड़े खिलाड़ी' आदि में प्रश्नाकुलताओं से भरे संकेत किये हैं। दांपत्य जीवन के तनाव, यौन विसंगतियों और अपनी आकांक्षाओं में मरते व्यक्ति इन नाटकों में पूरी विश्वसनीयता के साथ दृष्टिगत होते हैं। परिवार रूपी गाड़ी के पहिये ही नहीं टूटे हैं, अपितु परिवार की धुरी ही खंडित हो गयी है और यही बेचैनी 'द्रौपदी' जैसे नाटक में दुर्दिन के बादलों जैसी तनी हुई है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रत्येक जीवित जाति का यह स्वभाव रहा है कि वह अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को ऐतिहासक बोध से संपन्न बना कर उसमें ही नये-नये जीवन-अर्थ खोजती है। इतिहास और पुराण का नये सिरे से अर्थान्वेषण और अर्थरचना जीवित जाति को नयी शक्ति देती है। इस बात को इधर के नये नाटककारों ने पुराने नाटककारों की भांति ही ठीक से पहचाना है। यही कारण है कि इस काल में ऐतिहासिक व पौराणिक नाटकों की भरमार रही है और मिथकों में दृष्टि की आधुनिकता हीरे की भांति रगड़ खा कर चमक उठी है। एक प्रकार से इन नाटकों में हमारी पूरी परंपरा बोल उठती है। नाटककार और नाटक, परंरा के भीतर ही बड़ा होता है या कहिए परंपरा में ही उसकी सार्थकता निहित रहती है। इस दौर में इस दृष्टि से शंकर शेष का 'खजुराहो का शिल्पी' दयाप्रकाश सिन्हा का 'इतिहासचक्र', लक्ष्मीनारायण भारद्वाज का 'अश्वत्थामा', जयशंकर त्रिपाठी का 'कुरुक्षेत्र का सवेरा', लक्ष्मीनारायणलाल का 'राम की लड़ाई', 'नरसिंह कथा', 'एक सत्य हरिश्चंद्र', गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो', नरेन्द्र कोहली का 'शंबूक की हत्या', मणिमधुकर का 'इकतारे की आंख', ललित सहगल का 'हत्या एक आकार की', रेवतीशरण शर्मा का 'राजा बलि की नयी कथा', सुरेन्द्र वर्मा का 'छोटे सैयद बड़े सैयद', 'आठवां सर्ग', बृजमोहन शाह का 'त्रिशंकु', डॉ. विनय का 'एक प्रश्न और' आदि का नाम स्मरणीय है। मिथकों के नये उपयोग ने आधुनिक जीवन की विसंगतियों-विद्रूपताओं-विडंबनाओं को तीखे अर्थबोध से अभिव्यक्त किया है। व्यवस्था के भ्रष्ट और ढोंगी चरित्र पर इन नाटकों ने टिप्पणियां की हैं और नाटक का ध्वन्यर्थ दर्शक या पाठक को भीतर तक झकझोर देता है। 'आठवां सर्ग' सत्ता और साहित्यकार के बीच चलने वाले द्वंद्व-तनाव को नया अर्थ-संदर्भ प्रदान कर देता है। सुरेंद्र वर्मा 'छोटे सैयद बड़े सैयद' में मुग़लकालीन इतिहास के एक चरित्र से आधुनिक राजनीतिक त्रासदी सामने ला देते हैं। अतः अतीत की वर्तमानता को अर्थवत्ता देने वाले ये नाटक नाट्यसृजन को नयी धार से पैनापन देते रहे हैं।

सातवें-आठवें दशक में देश की विशिष्ट राजनीतिक स्थितियों का संघर्ष काफ़ी तीव्र हो गया। परिणामतः नाटककार परिवेश और अनुभव को नाट्यसृजन में परिभाषित और निर्धारित करने के लिए बाध्य होता गया। राजनीति की सिद्धांतहीनता, अवसरवादिता, सरलीकरण और बौद्धिक दिवालियेपन ने आदमी के भीतर के आदमी को हड़बड़ा दिया। राजनीति जीवन में इतने रूपों में घुस पड़ी है कि किसी भी विचारवान व्यक्ति का उससे दूर रह पाना असंभव हो गया। रचनाकार को राजनीति से दूर रहने का नारा काम नहीं आया और इधर रचना और राजनीति परस्पर एक-दूसरे में रचते-पचते गुंथ गये। सृजनप्रेरणा में राजनीति का प्रभाव-दबाव बढ़ गया। साथ ही राजनीति इतनी मानवद्रोही और टुच्ची हो गयी है कि व्यवस्था-तंत्रों के बीच आदमी एकदम अकेला पड़ गया। फिर भी रचनाकार ने अनुभव किया कि आज की ज़िंदगी का अर्थ खोजने वाला कोई भी व्यक्ति अंततः राजनीतिक प्रश्नों से बच कर जी नहीं सकता। इस ग़लतफहमी से इस दौर का रचनाकार मुक्त हो गया कि राजनीति के संसर्ग से कविता या नाटक भ्रष्ट हो जाता है। यथास्थिति बाक़ी राजनीतिक संस्थाओं मठों पर नज़र उठाते हुए डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने 'रक्तकमल', 'चतुर्भुज राक्षस', 'पंचपुरुष', 'गंगा माटी', संतोष कुमार नौटियाल ने 'चाय-पार्टियां', कणाद ऋषि भटनागर ने 'ज़हर', 'जनता का सेवक', ज्ञानदेव अग्निहोत्री ने 'शुतुरमुर्ग', सुशील कुमार ने 'नागपाश', शरद जोशी ने 'एक था गधा उर्फ़ अलादाद खां', 'अंधों का हाथी', शंकर शेष ने 'फंदी', 'बंधन अपने-अपने', बृजमोहन शाह ने 'शह ये मात', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने 'बकरी', 'अब गरीबी हटाओ', हमीदुल्ला ने 'दरिंदे', 'उत्तर उर्वशी', मणि मधुकर ने 'बुलबुल सराय',

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'खेला पोलमपुर', सुदर्शन चोपड़ा ने 'काला पहाड़', कुसुम कुमार ने 'रावण', 'ओम क्रांति-क्रांति', 'दिल्ली ऊंचा सुनती है', भीष्म साहनी ने 'कबिरा खड़ा बाज़ार में', रमेश उपाध्याय ने 'पेपरवेट' आदि नाटक लिखे हैं। इन नाटकों की रंगमंचीय सफलताओं ने हिंदी-दर्शक की चेतना को काफ़ी दूर तक बदलने का कार्य किया है। कथ्य की दृष्टि से हाल के इन नाटकों की गिनती से यह बात धूप की तरह साफ़ है कि इन नाटकों में राजनीतिक व सामाजिक और व्यक्तिगत अनुभव के कई स्तर एक साथ उभरे हैं। इनमें समकालीन यथार्थ में गहरे जा कर अपने समय के व्यापक प्रश्नों से जुड़ने व समझने की कोशिश है। अमृतराय ने 'चिंदियों की एक झालर' में भूतपूर्व क्रांतिकारी के मोहभंग को युवा पीढ़ी की टकराहट के साथ रख कर यह दर्शाया है कि मोहभंग कितनी दर्दनाक स्थिति से उपजा है।

समकालीन जीवन की विभीषिकाओं और क्रूर वास्तविकताओं से साक्षात्कार की जो शुरुआत 'अंधा युग', 'पहला राजा', 'सूर्यमुख' जैसे नाटकों से हुई थी, और जिनमें मिथकों का बड़ा सार्थक उपयोग किया था, उसी परंपरा को बढ़ाने का कार्य गिरिराज किशोर ने 'प्रजा ही रहने दो', शंकर शेष ने 'एक और द्रोणाचार्य', सुरेन्द्र वर्मा ने 'द्रौपदी' आदि नाटकों से किया है। पौराणिक प्रतीकों से अलग हट कर सर्वेश्वर ने 'बकरी' से बड़ी सृजनात्मक सफलता प्राप्त की है। नये नाट्यरूपों की खोज करते हुए नये नाटककार भारतीय रंग-संस्कार और पारंपरिक नाट्यरूपों की ओर ललक के साथ प्रवृत्त हुए। जयशंकर प्रसाद और राकेश के तीन अंकी नाट्यढांचे का भार भी इधर के नाट्यकर्मी को चुभने लगा। उसने इन सांचों की रूढ़ियों से विद्रोह करने के लिए नये नाट्यरूपों को अन्वेषित किया। उसने खोजते हुए नौटंकी, ख़्याल जैसे लोकनाट्यरूपों को मथा और पाया कि इनकी शक्ति आज भी भरोसे से भरी हुई है। कल्पनाशील हो कर सर्वेश्वर ने 'बकरी', मणि मधुकर ने 'रसगंधर्व', 'खेला पोलमपुर का', लक्ष्मीनारायण लाल ने 'एक सत्य हरिश्चंद्र' में लोक शैलियों का जीवंत उपयोग किया। लोकनाट्यपरंपरा की शक्ति को हबीब तनवीर ने 'आगरा बाज़ार', 'राजा चंबा और चार भाई', 'गांव के नांव ससुरार मोर नांव दामाद', 'ख़्याल ठाकुर पृथ्वीपालसिंह' और 'चरनदास चोर' में आजमाया और बेहद रंगमंचीय सफलता प्राप्त की। इस तरह के नाट्यप्रयोगों ने हिंदी-नाटक को नवीन उर्वर ज़मीन पर ला कर खड़ा कर दिया है।

पुरानी नाट्यरूढ़ियों और घिसे-पिटे ढांचों व सांचों को तोड़ने में विसंगतिवादी नाट्यरूप ने भी काफ़ी महत्त्वपूर्ण पहल की है। मुद्राराक्षस ने 'तिलचट्टा', विपिनकुमार अग्रवाल ने 'लोटन', बृजमोहन शाह ने 'त्रिशंकु' आदि में इस दृष्टि से नया प्रयोग किया है। आज के जीवन की संपूर्ण अराजकता का कोलाहल इन नाटकों की संरचना और भाषा में पाया जा सकता है। फिर ये सभी विसंगतिवादी प्रयोग हमारे सांस्कृतिक-वैचारिक दृष्टिकोण से आरोपित और झूठी बौद्धिक मुद्राओं के सैलाब हैं। हमारे देश की स्थिति अभी इतनी पतली और निचुड़ी हुई नहीं है कि हम सब इन अनुकरणात्मक प्रयोगों का साथ दे सकें। बहसों, तर्कों, प्रश्नाकुलताओं, तमाम समस्याओं के होने पर भी भारतीय नाटक में गहरी हताशा का अंधेरा हमारे जीवनदर्शन के अनुकूल नहीं है। भारतीय दृष्टि में निराशा-पराजय एक संचारी चेतना है, वह स्थायी भाव-संस्कार कभी नहीं रही। स्थायी संस्कार तो आस्था का पुनर्लाभ ही है। नदी की भांति प्रवाहित जीवनधारा में जीव के मरने से जीवन नहीं मर जाता। इसी भारतीय जीवनदृष्टि को अपनाने वाले हिंदी-नाटकों का स्वर अस्तित्ववादी न रह कर सामाजिक परिवर्तन और आस्थावाद का रहा है।

समसामयिक नाटककारों में एक प्रवृत्ति इस रूप में भी विकसित हुई है कि वे समकालीन विकृतियों-विद्रूपताओं का अंकन करते हुए जीवन के नये मानवीय मूल्यों की महत्त्व-प्रतिष्ठा करते

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हैं। इस प्रवृत्ति के दर्शन विनोद रस्तोगी के 'नये हाथ', ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'माटी जागी रे', शंकर शेष के 'बिन बाती के दीप', लक्ष्मीनारायणलाल के 'सुंदर रस', सत्यप्रकाश संगर के 'दीप से दीप जले' आदि नाटकों में दृष्टिगत होती है। मानववादी विचारधारा के बोध ने इन नाटकों में नया जीवनबोध पैदा किया है।

चीन और पाकिस्तान के आक्रमणों ने भारतीय जनमानस में देशप्रेम की भावना को पूरी शक्ति से निष्पादित किया है। इसी भावना से ज्ञानदेव अग्निहोत्री ने 'नेफा की एक शाम', 'वतन की आबरू', शिवप्रसाद सिंह ने 'घाटियां गूंजती हैं', चिरंजीत ने 'तस्वीर उसकी', रेवतीशरण शर्मा ने 'अपनी धरती', रामकुमार वर्मा ने 'जय बंगला' जैसे नाटकों का सृजन किया है। इन नाटकों में भारतीय सैनिकों और युवाओं के देशप्रेम का प्रभावी प्रतीकों से चित्रण है।

प्रयोगधर्मी नाटककारों ने काव्यनाटक या पद्यनाटक की ओर अपना ध्यान बराबर केंद्रित किया है। काव्यनाटकों में वीरेन्द्रनारायण का 'सूरदास', अज्ञेय का 'उत्तर प्रियदर्शी', रामेश्वरसिंह कश्यप का 'अपराजेय निराला', 'समाधान', डॉ. विनय का 'रंग ब्रह्म', विनोद रस्तोगी का 'सूतपुत्र', भारतभूषण अग्रवाल का 'अग्निलोक', चंद्रशेखर का 'शिवधनुष', कुंथा जैन का 'बाहुबली' आदि का नाम उल्लेखनीय है। इस दौर के अधिकांश काव्यनाटकों में अतिशय काव्यात्मकता को स्थान न दे कर नाटकीयता को कथ्य-भंगिमा से उत्पन्न किया गया है। साथ ही इनका मिजाज गैर रोमैंटिक कला का नमूना है। भाषा की प्रतीकात्मकता, बिंबात्मकता ने संप्रेषणीयता की वृद्धि की है।

शिक्षित-अशिक्षित जनता को जगाने-झकझोरने और सोचने-समझने के लिए इधर नुक्कड़ नाटकों की भूमिका काफ़ी सराहनीय रही है। जननाट्यमंच, दिल्ली ने 'हत्यारे', 'मशीन', 'गांव से शहर' जैसे नुक्कड़ नाटकों की सैकड़ों प्रस्तुतियां की हैं। इन नुक्कड़ नाटकों में जाति-पांति, ऊंच-नीच, सांप्रदायिकता, दहेज, भ्रष्टाचार और हर तरह के शोषण के ख़िलाफ़ स्वर ऊंचा किया गया है। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित और आंदोलित नाटककार, अभिनेता और नाट्यनिर्देशक नुक्कड़ नाटकों की ओर काफ़ी ध्यान दे रहे हैं। इन नाटकों को खेलने में सबसे बड़ी सुविधा यह है कि मंच की सजधज का तामझाम नहीं जुटाना पड़ता। किसी भी खुले चौराहे, पार्क, गली के भीतर इसे किया जा सकता है। वस्त्र-सज्जा लगभग नहीं के बराबर और न कोई मंच, न दृश्यबंधों की ज़रूरत। दर्शकों की सीधे भागेदारी से इस तरह के नाटकों में जनसंवाद को सीधे क़ायम करने की शक्ति रहती है। बोलचाल की भाषा में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक किसी भी तरह की समस्या को बिना किसी कृत्रिमता के प्रस्तुत किया जा सकता है। चूंकि नुक्कड़ नाटक समाज के ज्वलंत प्रश्नों पर जनता का ध्यान केंद्रित करते हैं—इसलिए इनकी प्रभावक्षमता अधिक बलवान होती है। ऐसी स्थिति में जनता तक नये विचारों की रोशनी ले जाने का नुक्कड़ नाटक सबसे कारगर अस्त्र सिद्ध हो सकता है।

अच्छे साहित्य को जनता तक पहुंचाने के लिए कल्पनाशील नाट्यकर्मियों और नाट्यमंडलियों ने कविता, कहानी, उपन्यास आदि के नाट्य रूपांतरों का सहारा लिया है। प्रेमचंद, यशपाल, श्रीकांत वर्मा की कहानियों, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर, भवानीप्रसाद मिश्र आदि ख्यातिलब्ध कवियों की कविताओं के नाट्यरूपांतर और पाठ बड़ी सफलता से किये गये हैं। मन्नू भंडारी के 'महाभोज' का नाट्यरूपांतर बेहद जनप्रिय हुआ। नाट्यरूपांतर की इस कला से देश-विदेश के किसी भी रचनाकार की कृतियों को दर्शकों तक पहुंचाया जा सकता है और इस टेकनीक से हम श्रेष्ठ साहित्य के प्रति संस्कारवान दर्शक भी तैयार कर सकते हैं। विष्णु प्रभाकर ने प्रभात कुमार मुखोपाध्याय की कहानी 'देवी' का 'बंदिनी' नाम से नाट्यरूपांतर किया है। मुद्राराक्षस ने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गोगोल के नाटक 'दि गवर्नमेंट अफसर' का नाट्यरूपांतर 'आला अफसर' शीर्षक से किया, जिसकी रंगमंचीय सफलता ने दर्शकों को मुग्ध किये रखा।

इसी काल में शेक्सपियर, वाइल्डर, ब्रेख्त, सैमुअलबैकेट, कैरेल, चैपक आदि पश्चिमी नाटककारों के प्रसिद्ध नाटकों का भारतीय रंग-परंपरा के अनुसार अनुवाद किया गया है। इस क्षेत्र का सबसे समर्थ उदाहरण रघुवीर सहाय द्वारा सेक्सपियर के नाटक 'मैकबेथ' का 'बरनम वन' शीर्षक से अनुवाद है। अनुवादक ने इस महान त्रासदी के अनुवाद को मुख्यतया कविता-छंद में ढाला है। 'बरनम वन' यानी मानव की उद्दाम आकांक्षाओं का एक ऐसा जंगल, जिसमें मानव को पीड़ा और अंधकार के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिलता। शेक्सपियर के नाटक का यह इतना रचनात्मक अनुवाद है कि नाटक के अनुवाद-क्षेत्र में नया कीर्तिमान स्थापित करता है। अनुवाद के लिए यह बहुत ज़रूरी शर्त है कि वह अपनी भाषा में भी उस मूल संयोजन, अन्विति, संवाद-शक्ति की गति आदि की तलाश करे जो मूल कृति के व्यंजनालोक को प्रतिध्वनित कर सके। रघुवीर सहाय ने शब्दों, वाक्यों, बिंबों, प्रतीकों और अन्य नाट्यगतियों के कोणों को बहुमुखी व्यंजनाओं और भावनात्मक ध्वनियों-प्रतिध्वनियों के साथ लोकसंवेदना की भावभूमि पर पकड़ कर अनुवाद किया है। विदेशी भाषाओं के नाटकों के साथ भारतीय भाषाओं के नाटकों के हिंदी-अनुवाद भी बहुत लोकप्रिय हुए हैं। बादल सरकार, उत्पलदत्त, गिरीश कर्नाड, विजय तेंदुलकर, वसंत कानेटकर, बी.पी. सूर्यराव, जयवंत दलवी आदि के नाटकों के अनुवाद तो हिंदी-रंगमंच पर छाये रहे हैं। इन सभी देशी-विदेशी नाटकों की प्रस्तुतियों ने हिंदी-रंगमंच और हिंदी-नाटक को नयी दिशा और दृष्टि दी है। संस्कृत के नाटकों में 'उरुभंग', 'मृच्छकटिक', 'अभिज्ञान शाकुंतलम्', 'मुद्राराक्षस' आदि को कारंत जैसे समर्थ नाट्यनिर्देशक ने हिंदी-रंगमंच पर प्रस्तुत किया है। जयशंकर प्रसाद के नाटक 'चंद्रगुप्त' और 'स्कंदगुप्त' की प्रस्तुतियों से यह मिथ खंडित कर दिया है कि प्रसाद के नाटक पाठ्यपुस्तकों में समाहित करने के लिए हैं। उनका अभिनय नहीं किया जा सकता है। कल्पनाशील प्रतीकात्मक रंगमंच पर प्रसाद के इन नाटकों की सफल प्रस्तुति दर्शकों का अविस्मरणीय अनुभव रहा है।

हिंदी-नाटक का सातवां-आठवां दशक प्रयोगधर्मी नाट्यपरंपरा की दृष्टि से पूरे हिंदी-नाटक के विकास में एक नया अध्याय जोड़ता है। नये-पुराने हिंदी-नाटकों को जो महत्त्व मिला है, उसके मूल में हिंदी-रंगमंच का सही दिशा में विकास है। अब हिंदी-रंगमंच विदेशी नाटकों, शैलियों का मुहताज नहीं है बल्कि उसकी एक अपनी रंगपरंपरा और रंगदृष्टि विकसित हुई है। इन वर्षों में हिंदी-नाटक और रंगमंच को ब. ब. कारंत, इब्राहिम अल्का जी, सत्यदेव दुबे, श्यामानंद जालान, राजिन्दरनाथ, बंसी कौल, बृजमोहन शाह, एम.के. रैना, भानु भारती, देवेन्द्र अंकुर जैसे निर्देशकों की प्रतिभा का सुयोग प्राप्त हुआ है। इन सभी ने अपनी रंगदृष्टि की सृजनात्मकता, कल्पनाशीलता और विचार-क्षमता से हिंदी-रंगमंच को संपन्न और समृद्ध बनाया है। आज के हिंदी-नाटक में देशभर के नाटकों की सृजनात्मक चेतना का स्पर्श समा रहा है। इस ढंग से हिंदी-नाटक का एक अखिल भारतीय नाट्यचक्र तैयार हुआ है और लक्ष्मीनारायण लाल, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, सुरेन्द्र वर्मा आदि के नाटक हिंदी से दूसरी भाषाओं में भी अनूदित हो कर खेले गये हैं। इस प्रकार हिंदी-नाटक अन्य भारतीय भाषाओं के नाटकों से लेन-देन बना कर संपूर्ण भारतीय अस्मिता को नाटक में उजागर कर रहा है। अपनी भारतीय अस्मिता को रक्षित रखने के कारण हिंदी-नाटक सीमित परिधि से निकल रहा है और नाट्यप्रयोग की दिशा में उसने नयी ज़मीन को तोड़ा है। नये नाटककार आज ऐसे नाटक लिख रहे हैं, जिनमें आज का समग्र जीवन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

धड़कता हुआ महसूस किया जा सकता है। अतः हिंदी-नाटक और रंगमंच से नवीन संभावनाओं के प्रति आश्वस्त हुआ जा सकता है। सबसे बड़ी बात यह है कि वह भारतीय रंग-परंपरा को खोज कर, उसमें ही नयी नाट्यसृष्टि और रंगदर्शन पा रहा है।

## अद्यतन हिंदी-नाटक-II

(1981 से 2005 तक)

समकालीन हिंदी-नाटक की स्थिति बहुत उत्साहजनक नहीं है। नाट्य रचना हो, चाहे रंगमंच, सब तरफ़ निराशा का वातावरण है। डॉ. गिरीश रस्तोगी के इस निष्कर्ष में यह उत्साहहीनता और निराशा स्पष्ट झलक रही है : ''चारों ओर रंगमंचीय गतिविधियां, ख़ास कर शौक़िया रंगमंच गतिहीन है। नाट्यलेखन और रंगमंच में लगातार जो संवाद टकराहट, उत्साह, प्रतिक्रियाएं अपेक्षित हैं, वह नितांत प्रसुप्त हैं।'' (बीसवीं सदी का हिंदी-साहित्य— सं. डॉ. विश्वनाथप्रसाद तिवारी, प्रथम संस्करण; पृ. 160) यह स्थिति एकदम नहीं आ गयी। एक तो हिंदी-भाषी क्षेत्र, जिसमें नृत्य, गायन,अभिनय आदि को सम्मानजनक दृष्टि से नहीं देखा जाता, दूसरे स्वाधीनता से कुछ पूर्व जननाट्य संघ (स्थापना 1943), पृथ्वी थियेटर्स (1944-1960) और स्वाधीनता के बाद केंद्रीय संगीत-नाटक अकादमी (स्थापना 1953), राष्ट्रीय नाट्यविद्यालय (स्थापना 1959), भारतीय नाट्य-संघ (बीसवीं सदी का छठा दशक), थियेटर यूनिट (1954, मुंबई), अनामिका (1955, कलकत्ता), नया थियेटर (1959, दिल्ली) तथा इसी प्रकार की अन्य सरकारी ग़ैर-सरकारी नाट्य-संस्थाओं की स्थापना और सक्रियता ने नाट्यलेखन और नाटकों की रंगमंच पर प्रस्तुति का जो अभूतपूर्व वातावरण निर्मित किया, रंगकर्मियों और नाटककारों को परस्पर जोड़ा और जिसने हिंदी में ऐसे श्रेष्ठ नाटकों की रचना को संभव बनाया, जो साहित्य और रंगमंच दोनों की अपेक्षाओं पर खरे उतरे, अधिक समय तक नहीं टिक पाया। नाट्यनिर्देशकों और अन्य रंगकर्मी यह समझने लगे कि उनके बिना नाटक संभव ही नहीं है। उनका अहं इतना बढ़ा कि वे नाटककारों की उपेक्षा करने लगे। इसका एक रोचक उदाहरण भीष्म साहनी की आत्मकथा 'आज के अतीत' में मिलता है। उन्होंने 'हानूश' नाटक लिखा। उसकी पांडुलिपि उन्होंने अपने अग़्ज बलराज साहनी को दिखायी। ''उन्होंने पढ़ा और ढेरों ठंडा पानी उनके सिर पर उंडेल दिया— 'नाटक लिखना तुम्हारे वश की बात नहीं है।' '' कुछ समय बाद उन्होंने यह नाटक फिर लिखा। उसकी एक और पांडुलिपि तैयार हुई। इसे उन्होंने देखने के लिए अलका जी को दिया। बहुत दिनों तक उसे पढ़ने के लिए और उनसे मिलने के लिए वे समय नहीं निकाल पाये और भीष्म जी अपने नाटक की पांडुलिपि वापस ले आये। क्षुब्ध भी हुए। घर लौट कर पांडुलिपि को मेज़ पर पटकते हुए सोचा, 'मारो गोली। यह काम सचमुच मेरे बस की बात नहीं है।' यदि बाद में राजेंद्रनाथ ने इसे मंचित न किया होता और उसे दर्शकों की प्रशंसा न मिली होती तो न केवल 'हानूश' की अकाल मृत्यु हो गयी होती, बल्कि न भीष्म साहनी नाटककार के रूप में सामने आ पाते और न ही उनके अन्य नाटकों की रचना हो पाती, (आज के अतीत, पृ. 232-36)। इस संदर्भ में डॉ. गिरीश रस्तोगी ने ठीक ही लिखा है कि हिंदी में ''नाटककार और रंगमंच, नाटककार और निर्देशक-दर्शक-समीक्षक का आपसी संबंध नहीं बन पाया। निर्देशक और नाटककार के बीच पारसी नाटक और रंगमंच, बंगाल-महाराष्ट्र की तरह निरंतर रचनात्मक सरोकार न बन पाना, हिंदी-नाटक की बहुत बड़ी ट्रेजेडी रही है जिससे या तो नाट्यलेखक क्षुब्ध हो कर मौन हो गया या अपनी मूल कथाविधा में रचना करने लगा।'' (बीसवीं सदी का हिंदी साहित्य, पृ. 157) नाटककार और रंगमंच का पारस्परिक संबंध न बन पाने का दुष्परिणाम केवल हिंदी-नाटक को ही नहीं भुगतना पड़ा, बल्कि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नाटकों के मंचन के प्रति समर्पित अनेक नाट्यसंस्थाओं को भी भुगतना पड़ा। वे या तो कालकवलित हो गयीं या उन्हें विदेशी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के नाटकों के हिंदी-रूपांतरों या कथाकृतियों के नाट्यरूपांतरों का सहारा लेना पड़ा। फिर भी, हिंदी में नाट्यरचना बंद नहीं हुई। हिंदी में समकालीन अवधि (1981-2005) में नाटक बराबर लिखे जाते रहे हैं।

समकालीन हिंदी-नाटक में नाटककारों की तीन पीढ़ियां सक्रिय रही हैं। एक पीढ़ी उन नाटककारों की है, जिन्होंने स्वाधीनता के पूर्व नाटक लिखने प्रारंभ किये थे। इस पीढ़ी के नाटककारों में से एकाध का कोई एकाध नाटक इस कालावधि में भी प्रकाशित हुआ है। जैसे, गोविंद बल्लभ पंत का 'काशी का जुलाहा' (1985), रामवृक्ष बेनीपुरी का 'अम्बपाली' (1985, यद्यपि इसकी रचना 1940 के आसपास हुई थी) आदि। स्पष्ट है कि इस कालावधि में इस पीढ़ी की सक्रियता का कोई विशेष अर्थ नहीं है और न ही यह पीढ़ी बहुत सक्रिय है।

इस कालावधि में दूसरी सक्रिय पीढ़ी उन नाटककारों की है, जिन्होंने स्वाधीनता के बाद नाट्य-रचना प्रारंभ की। इस पीढ़ी के नाटककारों में से जगदीशचंद्र माथुर का एक नाटक इस कालावधि में प्रकाशित हुआ—'रघुकुल रीति' (1985)। यह नाटक 1974 में प्रकाशित 'दशरथनंदन' की दूसरी कड़ी है। इन दोनों नाटकों में 'रामचरितमानस' का नाट्यरूपांतर प्रस्तुत किया गया है। इस रूपांतर में संवादों में 'मानस' के दोहों-चौपाइयों को वैसे ही प्रयुक्त किया गया है, जैसे रामलीलाओं में किया जाता है। उनके 'कोणार्क' (1951), 'शारदीया' (1959) और 'पहला राजा' (1969)की तुलना में उनके ये दोनों नाटक कहीं नहीं ठहरते हैं। विष्णु प्रभाकर भी इसी पीढ़ी के नाटककार हैं, जो इस कालावधि में बहुत सक्रिय रहे हैं। उन्हें अपने मनोसामाजिक नाटक 'डॉक्टर' (1958) की रचना से विशेष ख़्याति मिली। उसके बाद उनके एक के बाद एक अनेक नाटक प्रकाशित हुए। इस कालावधि में प्रकाशित होने वाले उनके नाटक हैं : 'अब और नहीं' (1981), 'सत्ता के आरपार' (1981), 'गांधार की भिक्षुणी' (1982), 'श्वेत कमल' (1984) आदि। उनके ये नाटक एक स्तर पर नारी की अस्मिता, स्वतंत्रता और उसके ऊपर लगे विभिन्न सामाजिक व नैतिक मूल्यों के द्वंद्व को चित्रित करते हैं तो दूसरे और अधिक सूक्ष्म स्तर पर ये दार्शनिक आयामों से भी जुड़ जाते हैं। उनकी मूल दृष्टि मानवतावादी है, जिसके कारण उन्होंने समकालीन जीवन में व्याप्त विभिन्न विभीषिकाओं का मार्मिक और सजीव चित्रण किया है।

नाटककारों की इसी पीढ़ी में लक्ष्मीनारायण लाल परिगणनीय हैं। उनका पहला नाटक 'अंधा कुआं' 1956 में प्रकाशित हुआ था। तब से ले कर अपने जीवन के अंतिम दिनों तक वे नाट्यरचना और रंगमंच दोनों में बराबर सक्रिय रहे। संख्या और शिल्पगत विविधता, दोनों की दृष्टि से सक्रियता में, उनकी समकक्षता हिंदी का शायद ही कोई नाटककार कर पाया हो। उनके 'नया तमाशा' (1982), 'शुरू हो गया नाटक' (1983), 'बलराम की तीर्थयात्रा' (1983), 'मन्नू' (1984) आदि नाटक इसी कालावधि में प्रकाशित हुए हैं। इन नाटकों में वस्तु और शिल्प दोनों के स्तर पर इतनी विविधता है कि उनके नाटकों की केंद्रीय विशेषता के रूप में प्रयोगशीलता को ही रेखांकित किया जा सकता है। मध्यवर्गीय जीवन के मूल्य-द्वंद्व, स्त्री-पुरुष-संबंधों की समस्याएं, आज के जीवन के आर्थिक व राजनीतिक प्रश्न और जीवन तथा जगत से संबद्ध दार्शनिक प्रश्न आदि को प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने अपने नाटकों के कथानक इतिहास, पुराण एवं समकालीन जीवन से उठाये हैं और उन्हें अपने नाटकों में मौलिक ढंग से प्रस्तुत किया है।

इसी कालावधि में इसी मध्यवर्ती पीढ़ी के अमृतलाल नागर का एक नाटक 'चढ़त न दूजो रंग' (1982) के नाम से प्रकाशित हुआ है। उनका यह नाटक सूरदास के जीवन पर आधारित है। यह

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नाटक रंगमंचीय नहीं है, बल्कि टेलीविज़न के लिए लिखा गया स्क्रीनप्ले है, जिसे स्वयं नागर जी ने 'फ़ोटो नाटक' कहा है। यह नाटक इस बात को प्रमाणित करता है कि नाट्यरचना को रंगमंच के अतिरिक्त अब दृश्य-श्रव्य माध्यम भी प्रभावित करने लगे हैं। इस नाटक में सूरदास के जीवन के प्रति नागर जी की वही दृष्टि है, जो उनके उपन्यास 'खंजन नयन' (1981) में व्यक्त हुई है।

इस पीढ़ी के बाद नाटककारों की तीसरी पीढ़ी सामने आती है, जिसने सातवें दशक के अंतिम वर्षों में और आठवें दशक में नाटक लिखना प्रारंभ किया। 1974 में सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का 'बकरी' नाटक आया। नौटंकी शिल्प को अपनाने वाला, भ्रष्टाचार पर चोट करने वाला यह नाटक बार-बार मंचित हुआ। इसके बाद उनके जो दो और नाटक— 'लड़ाई' (1979) तथा 'अब ग़रीबी हटाओ' (1981)— आये, लेकिन वे सामान्य स्तर से ऊपर नहीं उठ पाये। वे न तो साहित्यिक कृतियों के रूप में मान्य हो पाये और न ही रंगमंच पर लोकप्रियता प्राप्त कर पाये। इन नाटकों में भी उन्होंने राजनेताओं, पुलिस, न्यायधीश आदि की पोल खोली और इन क्षेत्रों में व्याप्त भ्रष्टाचार पर चोट की। अपने अंतिम नाटक में भी सर्वेश्वर ने लोकनाट्य की शैली को ही अपनाया।

जो स्थिति सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की है, नाटककार के रूप में वही स्थिति ज्ञानदेव अग्निहोत्री की है। 1968 में जब उनका नाटक 'शुतुरमुर्ग' प्रकाशित हुआ तो वे एकाएक नाटककार रूप में प्रतिष्ठित हो गये। इसका कारण संभवतः नेहरू-युग की राजनीति पर तीक्ष्ण व्यंग्य था, दूसरे, इसका प्रतीकात्मक शिल्प था, जो इसके अर्थ को बहुआयामी बनाता था। समकालीन राजनीति को ले कर जिस तरह जनता का मोहभंग हो रहा था, उसके कारण इस नाटक की वस्तु के साथ दर्शकों का सहज ही साधारणीकरण हो जाता था। इसके बाद उनके कई नाटक प्रकाशित हुए, जो समसामयिकता और देशभक्ति की भावना की अभिव्यक्ति के कारण लोकप्रिय तो ख़ूब हुए, लेकिन श्रेष्ठ नाट्यकृतियों के रूप में स्थापित नहीं हो सके। 1984 में उनका 'दंगा' शीर्षक नाटक प्रकाशित हुआ, जो अपनी प्रकृति में सामयिकताबद्ध है।

इस पीढ़ी के और इस कालावधि में भी ख़ूब सक्रिय रहने वाले नाटककार सुरेंद्र वर्मा हैं। 1972 में 'द्रौपदी' शीर्षक नाटक से नाट्यरचना में रत होने के बाद वे निरंतर नाट्यरचना करते रहे हैं और उनके नाटक बराबर मंचित भी होते रहे हैं। 1980 के बाद प्रकाशित होने वाले उनके मुख्य नाटक हैं : 'छोटे सैयद बड़े सैयद' (1982), 'एक दूनी दो' (1987), 'शकुंतला की अंगूठी' (1990), 'क़ैद ए हयात' (1993) आदि। उन्होंने अपने अधिकांश नाटकों में काम-संबंध के विभिन्न रूपों और अनुभवों को प्रस्तुत किया है। 'एक दूनी दो' की वस्तु भी काम-संबंधों से ही संबंधित है। इस नाटक का नायक काम-संबंधों के आधार पर दूसरों से जुड़ना तो चाहता है, लेकिन जुड़ नहीं पाता और अकेला रह जाता है। 'छोटे सैयद बड़े सैयद' का कथानक मुग़ल सम्राट मुहम्मदशाह के समय के सैयद बंधुओं की राजनीति पर आधारित होने के कारण ऐतिहासिक नाटक की श्रेणी में रखा जा सकता है। इस नाटक में उस समय की अस्थिर, टुच्ची, षड्यंत्रों से भरी कुटिल और स्वार्थपूर्ण राजनीति को इस तरह प्रस्तुत किया गया है कि उसमें हमारे अपने समय की राजनीति प्रतिबिंबित होती प्रतीत होती है। इसी में इसकी सार्थकता है। 'शकुंतला की अंगूठी' में कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' के रिहर्सल के दौरान दुष्यंत और शकुंतला की भूमिका निभाने वाले पात्रों के प्रेम, बिना किसी हायतौबा या मनमुटाव के अलग होने और अपनी-अपनी दुनिया में मग्न हो जाने को नाटक की अंतर्वस्तु बनाया गया है, जिससे संकेतित होता है कि आधुनिक काल में स्त्री-पुरुषों के संबंधों और उनसे संबद्ध मूल्यों में कितना परिवर्तन आ गया है। इस दोहरी नाट्यवस्तु के कारण नाटक के शिल्प में भी जटिलता आ गयी है। 'क़ैद ए हयात' का कथानक मिर्ज़ा ग़ालिब के जीवन पर आधारित

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है। इस नाटक में ग़ालिब की आर्थिक विपन्नता, नासमझ पत्नी और प्रेमिका को एक साथ निभाने के द्वंद्व, कर्ज देने वालों के द्वारा डिग्री करा लेने आदि को नाट्यवस्तु के रूप में रखा गया है। ग़ालिब के तनावपूर्ण और फाकामस्ती वाले जीवन को प्रस्तुत करने में नाटककार सफल रहा है। इस नाटक की भाषा में अरबी-फ़ारसी शब्दों की भरमार है, शायद पात्रानुकूलता के आग्रह के कारण, लेकिन इसी कारण यह हिंदी के सामान्य पाठकों और दर्शकों के लिए दुर्बोध हो गयी है। सुरेंद्र वर्मा अपने नाटकों में बराबर प्रयोग करते रहे हैं। एक तरह से इस नाटक की भाषा भी उनकी प्रयोगशीलता का ही उदाहरण है।

सुरेंद्र वर्मा के ही समकालीन नाटककार हमीदुल्ला हैं। वे बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक के प्रारंभ में अपने तीन नाटकों के संग्रह 'उलझी आकृतियां' (1973) से सामने आये। समकालीन कालावधि में भी वे नाटककार के रूप में सक्रिय हैं। इस कालावधि में उनके 'ख़्याल भारमली' (1981) और 'हर बार' (1986) आदि नाटक प्रकाशित हुए हैं। वे समकालीन जीवन की क्रूर विद्रूपताओं और विडंबनाओं पर तीक्ष्ण व्यंग्य करने और नाट्यशिल्प में तरह-तरह के प्रयोग करने के लिए जाने जाते हैं। 'ख़्याल भारमली' में उन्होंने राजस्थान की एक लोककथा को राजस्थान की ख़्याल नाट्यशैली में, आधुनिक नाट्यतत्त्वों का समावेश करते हुए प्रस्तुत किया है। इसमें उन्होंने नारी के उत्पीड़न और शोषण को नाट्यवस्तु के रूप में प्रस्तुत किया है। 'हर बार' नाटक की विषयवस्तु भी नारी-शोषण से संबद्ध है। उसकी कथा और वस्तु दोनों का संबंध आधुनिक काल से है। एक व्यक्ति अपने यहां एक युवती को इसलिए नौकरी पर रखता है कि वह उसके द्वारा अधिकारियों को संतुष्ट कर लाभ उठा सके। युवती विद्रोह करना चाहती है, लेकिन विवश है, और इसीलिए शोषित होती है। यह आज के व्यावसायिक जीवन का ऐसा कटु सत्य है, जिससे हम सभी परिचित हैं।

अन्य विधाओं की तरह नाट्यरचना में भी रचनाकार का उपचेतन सर्जक मन किस प्रकार महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, इसका उदाहरण दयाप्रकाश सिन्हा का 1990 में प्रकाशित नाटक 'सीढ़ियां' प्रस्तुत करता है। उन्होंने इस नाटक को कुदसिया बेग़म और जावेद की प्रेमकथा के रूप में परिकल्पित किया, लेकिन जब वे नाटक लिखने लगे तो प्रेमकथा तो गौण हो गयी और मुहम्मदशाह रंगीले का समय उभर कर सामने आ गया और व्यंजित हुआ कि समय की प्रवृत्ति किस प्रकार एक स्त्री की प्रेम जैसी भावना को अवमूल्यित करती है।

बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में ही शंकर शेष एक महत्त्वपूर्ण नाटककार के रूप में उभर कर सामने आये। उन्हें 'एक और द्रोणाचार्य' (1977) से विशेष ख़्याति मिली। संख्या की दृष्टि से उन्होंने जितने नाटक लिखे हैं, उतने बहुत कम नाटककारों ने लिखे हैं। वर्तमान कालावधि में उनके 'रक्तबीज' (1982), 'खजुराहो का शिल्पी' (1982), 'बाढ़ का पानी' (1983), 'आधी रात के बाद' (1983), 'पोस्टर' (1983), 'चेहरे' (1983) आदि नाटक प्रकाशित हुए। शंकर शेष के नाटकों में वस्तु और शिल्प दोनों की दृष्टि से प्रयोगशीलता विद्यमान है। इसीलिए उनके नाटक रंगमंच पर सफल रहे हैं और उनमें बड़ी विविधता है। उन्होंने नाटक का कथानक चाहे इतिहास से लिया हो, चाहे वर्तमान जीवन से, उसे आधुनिक जीवन के राजनीतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आदि विविध पक्षों से जोड़ा है। जैसे, 'खजुराहो का शिल्पी' में उन्होंने काम और अध्यात्म के द्वंद्व को आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समझा-समझाया है। 'पोस्टर' में आधुनिकाकाल की बहुविध विसंगतियों के बीच जीने के लिए विवश व्यक्ति की त्रासदी को प्रस्तुत किया है। 'चेहरे' में व्यक्ति के दोहरे आचरण का पर्दाफाश किया गया है।

नाट्यालोचक के रूप में अपनी पहचान बनाने वाले सिद्धनाथ कुमार नाट्यरचना में भी बराबर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रवृत्त रहे हैं। वर्तमान कालावधि में उनके कई नाटक प्रकाशित हुए हैं, 'रास्ता बंद हैं' (1981), 'मुर्दे जियेंगे' (1981), 'अशोक' (1994) आदि। उनके ये नाटक सिद्ध करते हैं कि एक आलोचक सिद्ध रचनाकार भी हो सकता है। यह अलग बात है कि उसे जितना महत्त्व आलोचक के रूप में मिलता है, उतना रचनाकार के रूप में नहीं।

इस कालावधि में एक नाटककार के रूप महत्त्वपूर्ण स्थान कथाकार गिरिराज किशोर ने बनाया है। उनका पहला नाटक 'नरमेध', 'नटरंग' के जुलाई, 1970 के अंक में प्रकाशित हुआ था। तब से ले कर अब तक वे निरंतर नाट्यरचना में प्रवृत्त हैं। इस कालावधि में उनके 'चेहरे-चेहरे किसके चेहरे' (1983), 'केवल मेरा नाम लो' (1984), 'जुर्म आयद' (1987), 'काठ की तोप' (2001) आदि कई नाटक प्रकाशित हुए हैं। वे मूलत: कथाकार हैं। इसलिए उनके नाटकों में भी उनके कथाकार व्यक्तित्व का प्रभाव देखा जा सकता है। एक सजग कथाकार की तरह वे इस बात के लिए प्रयत्नशील रहे हैं कि उनके नाटकों में किसी भी स्तर पर या किसी भी रूप में पुनरावृत्ति न हो। इसलिए वे बराबर प्रयोगशील रहे हैं। यदि उन्होंने 'चेहरे-चेहरे किसके चेहरे' में व्यवस्था की निरंकुशता और जनता की पीड़ा को व्यंजित किया है तो 'केवल मेरा नाम लो' में इडिपस कॉम्प्लैक्स (मातृ मनोग्रंथि) को, 'जुर्म आयद' में न्याय-व्यवस्था की जड़ता पर कटाक्ष है तो 'काठ की तोप' में बाज़ारवाद पर। कथाकार के नाटक होते हुए भी उनके नाटक रंगमंच पर भी सफल रहे हैं, क्योंकि अपने नाटकों में उन्होंने व्यावहारिक और आधुनिक रंगमंचीय प्रविधियों का उपयोग किया है।

कथाकार के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेने के बाद नाटक के क्षेत्र में पदार्पण करने वालों में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण नाम भीष्म साहनी का है। वे 'इप्टा' (जननाट्य संघ) से संबद्ध रहे हैं। लेकिन वे नाटककार के रूप में 'हानूश' (1977) से सामने आये। रंगकर्मियों से प्रारंभ में मिली उपेक्षा ने उन्हें मानसिक पीड़ा तो पहुंचायी, लेकिन वे हताश नहीं हुए और नाटककार के रूप में उन्होंने प्रतिष्ठा अर्जित कर ली। 'हानूश' के बाद 'कबिरा खड़ा बाज़ार में' (1981), 'माधवी' (1984) और 'मुआवजे' (1993) नाटक प्रकाशित हुए और इन्हें रंगकर्मियों की ओर से पूर्ण स्वीकृति मिली। इनके बाद उनके दो नाटक और प्रकाशित हुए, 'आलमगीर' और 'रंग दे बसंती चोला'। लेकिन इन नाटकों को उनके पहले नाटकों जैसी स्वीकृति नहीं मिली। इसके कारण की ओर अपनी आत्मकथा 'आज के अतीत' में उन्होंने स्वयं संकेत किया है। औरंगज़ेब के चरित्र पर आधरित 'आलमगीर' और जलियांवाला बाग़ के हत्याकांड पर केंद्रित 'रंग दे बसंती' लिखते समय वे बातें उनके ज़ेहन से बिलकुल उतर गयीं, जिनको ले कर वे 'हानूश' और 'कबीरा खड़ा बाज़ार में' लिखते समय सचेत थे। कारण, उन नाटकों को लिखते समय उनके पास ऐतिहासिक तथ्यात्मक सामग्री बहुत कम थी, कल्पना के लिए पूरी गुंजाइश थी, लेकिन अपने अंतिम दो नाटकों को लिखते समय उनके पास ऐतिहासिक सामग्री इतनी अधिक थी कि वे उसी में खो गये और भूल गये कि वे नाटक लिख रहे हैं, इतिहास नहीं दोहरा रहे हैं। इसके कारण उनके ये दोनों नाटक 'मात्र दस्तावेज़ी नाटक' बन कर रह गये (आज के अतीत, पृ. 237-38)। रंगकर्मियों के बीच 'कबीरा खड़ा बाज़ार में' तथा उनके व्यंग्यात्मक प्रहसन 'मुआवजे' को विशेष मान्यता मिली। उनके द्वारा दी गयी सूचना के अनुसार 'कबीरा खड़ा बाज़ार में' एम.के. रैना के निर्देशन में दस वर्ष तक खेला जाता रहा और 'मुआवजे' भी रैना के निर्देशन में लगभग पांच वर्ष तक खेला जाता रहा (वही, पृ. 237-239)। अंतत: भीष्म साहनी एक नाटककार के रूप में स्थापित हो गये।

एक गंभीर आलोचक और श्रेष्ठ कवि के रूप में पहचाने जाने वाले नंदकिशोर आचार्य ने एक श्रेष्ठ नाटककार के रूप में भी इसी कालावधि में अपनी पहचान बनायी। उनके सभी नाटक इसी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कालावधि में प्रकाशित हुए—'देहांतर' ('किमिदम् यक्षम्' सहित : 1987), 'पागलघर' ('जूते' सहित : 1988), 'गुलाम बादशाह' ('हस्तिनापुर' सहित : 1992), 'जिल्ले सुबहानी' (2003) और 'किसी और का सपना'। आचार्य ने अपने नाटकों के कथानक पुराणों, महाभारत, मध्यकालीन भारतीय इतिहास, सहस्ररजनीचरित्र और वर्तमान जीवन से चुने हैं और उनके माध्यम से मानवीय मनोविज्ञान, नैतिक मूल्य-द्वंद्व, पारंपरिक समाज-व्यवस्था की जड़ता, मानवीय गरिमा की रक्षा के लिए संघर्ष, भारतीय नारी की विडंबनापूर्ण स्थिति आदि को प्रस्तुत किया है। वर्तमान रंगमंचीय गतिविधियों से परिचय और संलग्नता के कारण उनके नाटक मात्र साहित्यिक कृतियां नहीं हैं, अपितु यथार्थ नाटक हैं। साथ ही, एक कवि के नाटक होने के कारण उनमें भरपूर साहित्यिकता भी है।

आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित प्रभाकर श्रोत्रिय ने भी इसी कालावधि में नाटकों की सफलतापूर्वक रचना की है। अब तक उनके तीन नाटक प्रकाशित हो चुके हैं : 'इला' (1989), 'सांच कहूं तो...' (1993) और 'फिर से जहांपनाह' (1997)। 'इला' का कथानक श्रीमद्भागवत में वर्णित सुद्युम्न की कथा और बुद्ध के जन्म की कथा पर आधारित है। 'सांच कहूं तो...' का कथानक 'बीसलदेव रासो' से लिया गया है और 'फिर से जहांपनाह' का पहले अंक का कथानक वर्तमान प्रजातांत्रिक राजसत्ता से संबद्ध है और दूसरे अंक का कथानक मध्यकालीन राजतंत्र से। ऊपरी तौर पर उनके तीनों नाटकों के कथानक एक-दूसरे से बहुत अलग हैं, लेकिन तीनों नाटकों का लक्ष्य एक ही हैं : राजसत्ता के चरित्र का उद्घाटन। 'इला' के मनु, 'सांच कहूं तो...' का बीसलदेव और 'फिर से जहांपनाह' के मंगलम् और अहमदशाह शासकों के प्रतीक हैं। शासन-व्यवस्थाएं अलग-अलग हैं, अलग-अलग काल की हैं, लेकिन शासकों का मूल चरित्र एक है : निरंकुश, अत्याचारी, अनाचारी। इन तीनों के नाटकों के स्त्री पात्र श्रद्धा और सुमति ('इला'), राजमती और इंद्रावती ('सांच कहूं तो...'), वसुंधरा और हाजरा, जुही और सईदा ('फिर से जहांपनाह'), स्त्री होने के साथ-साथ प्रजा और जनता भी हैं : शासित और अधिकारवंचित। शासक अत्याचार करेगा और इन्हें सहना होगा। प्रभाकर श्रोत्रिय के नाटक अपनी इस अंतर्वस्तु के कारण तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, साथ ही वे नाटकीयता, चरित्ररचना और संवादकौशल के कारण भी महत्त्वपूर्ण हैं। 'इला' के अनेक सफल मंचन इस बात का प्रमाण हैं कि उनके नाटक रंगमंच के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं।

इसी कालावधि में नाटककार के रूप में कृष्ण बलदेव वैद भी उभर कर सामने आये, हैं। उनके प्रकाशित नाटक हैं : 'भूख आग है' (1998), 'हमारी बुढ़िया' (2000), 'परिवार-अखाड़ा' (2002), 'मोनालिज़ा की मुसकान' (2003), 'कहते हैं जिसको प्यार' (2004) 'सवाल और स्वप्न'। वैद ने जैसे अपने उपन्यासों में तरह-तरह के प्रयोग किये हैं, वैसे ही अपने नाटकों में भी। 'भूख आग है' को उन्होंने 'विडंबनाप्रधान नाटक' कहा है। यही नहीं, उनके अन्य नाटक भी विडंबनाप्रधान हैं। उनमें आधुनिक जीवन की विडंबनाओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि उनके नाटकों की गणना ऊलजलूल (एब्सर्ड) नाटकों के रूप में की जा सकती है और उनके नाटकों को पढ़ते समय प्राय: सैमुअल बैकेट के नाटक याद आते हैं। उनके नाटकों की वस्तु भी असामान्य होती है। जैसे, 'मोनालिज़ा की मुसकान' में उच्च वर्ग के स्त्री-पुरुषों के मुक्त, नि:संकोच, निर्लज्ज, सामूहिक काम-संबंधों को प्रस्तुत किया गया है। बिना बात की बात, बात में से बात निकालने वाले संवाद लिखने में वैद को महारत हासिल है। कहीं-कहीं संवादों की भाषा ऐसी है, जो शिष्टाचार की सीमाओं का उल्लंघन करती है। हां, उनके नाटकों में बतरस अवश्य है, जो बांधे रखता है।

रामेश्वर प्रेम का पहला नाटक 'चारपाई' 1975 में पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुआ, यद्यपि यह 'नटरंग' के 26वें अंक में पहले ही प्रकाशित हो चुका था, किंतु वे नाटककार के रूप में चर्चित इसी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कालावधि में हुए। इस कालावधि में 'कैंप' (1983), 'अज्ञातघर' (1984), 'अंतरंग' (1985), 'शस्त्र-संतान' (1997) आदि कई नाटक प्रकाशित और मंचित हुए हैं। रामेश्वर प्रेम ने अपने नाटकों के कथानक या तो समकालीन जीवन से चुने हैं या इतिहास से। 'कैंप' में उन्होंने सीमा के उस क्षेत्र में से शरणार्थी परिवारों की कथा कही है, जो न इस देश में है न उस देश में। वे असहाय हैं, स्मृतियां जी रहे हैं, युद्ध का आतंक झेल रहे हैं और इस उम्मीद में कि अपने देश लौट सकेंगे, एक एक कर मर रहे हैं। 'अज्ञातघर' का कथानक दंगों पर आधारित है और 'शस्त्र-संतान' का महाभारत पर। अपने नाटकों में उन्होंने जीवन की विडंबनाओं को प्रस्तुत किया है, अनेक शिल्पगत प्रयोग किये हैं और प्रतीकों का भरपूर उपयोग किया है। 'कैंप' में फ़ौजी जवानों की कवायद, चाकू घिसना, सिल कूटना आदि, 'अज्ञातघर' में लड़की की चीख़ आदि प्रतीक ही हैं। इन प्रयोगात्मक नाट्यप्रविधियों ने उनकी रंगमंचीय सजगता का परिचय दिया है और उनके नाटकों को प्रभावशाली बनाया है।

नाट्यरचना की ओर नरेंद्र मोहन बहुत बाद में मुड़े। पहले वे आलोचना और काव्यरचना में प्रवृत्त रहे। उनका पहला नाटक 'कहत कबीर सुनो भाई साधो' 1987 में सामने आया। उसके बाद उनके पांच नाटक और प्रकाशित हुए, 'सींगधारी' (1988), 'कलंदर' (1991), 'नो मैंस लैंड' (1994), 'अभंगगाथा' (2000) और 'मिस्टर जिन्ना' (2005)। उनके इन नाटकों से स्पष्ट है कि उनकी रुचि या तो संतों का जीवन प्रस्तुत करने में है या विभाजन के इतिहास में। संतों के जीवन पर आधारित उनके नाटक उनकी सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति को सामने लाते हैं और विभाजन के इतिहास से संबंधित नाटक उनकी उस व्यथा को, जिसे पाकिस्तान से उखड़ कर भारत आने के रूप में लेखक ने स्वयं भोगा है।

लगभग नरेंद्र मोहन के साथ ही नाट्यरचना में स्वदेश दीपक प्रवृत्त हुए हैं। उनके 'बाल भगवान' (1989), 'कोर्ट मार्शल' (1991), 'जलता हुआ रथ' (1998), 'सबसे उदास कविता' (1998), 'काल कोठरी' (1999) आदि नाटक इसी कालावधि में प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने अपने नाटकों में अंधविश्वास, स्वार्थी राजनीति, धर्म के नाम पर की जाने वाली ठगाई, क्रूर अमानवीय और भयावह तंत्र में पिसते, छटपटाते आम आदमी की यातना, शोषण, वर्ग-संघर्ष, गुटबाज़ी, स्त्रियों की दुर्दशा, मज़दूरों की ग़रीबी आदि को नाट्यवस्तु बनाया है। स्पष्ट है कि वे प्रगतिशील चेतना के नाटककार हैं।

इस पीढ़ी के तथा इसके बाद वाली नयी पीढ़ी के अनेक नाटककारों के अनेक नाटक इस बीच प्रकाशित हुए हैं, जिनमें से कुछ उल्लेखनीय नाटककार और उनके प्रमुख नाटक इस प्रकार हैं : दूधनाथ सिंह : 'यमगाथा' (1990), सुदर्शन मजीठिया : 'चौराहा' (1986), इंद्रजीत भाटिया : 'अग्निकांड' (1981), 'कहां हो फकीरचंद' (1986), 'स्वर्ग से ऊंचा क्यों' (1980), विलास गुप्ते : 'आदमी का गोश्त' (1983), 'आपके कर कमलों से' (1987), विभु कुमार : 'ताले में बंद प्रजातंत्र' (1981), 'अपरिभाषित' (1982), 'कहे ईसा सुने मूसा' (1984), 'हवाओं का विद्रोह' (1986), सुरेंद्र तिवारी : 'शेष नहीं' (1984), जितेंद्र कपूर : 'आख़िरी मुग़ल' (1985), शिवमूरत सिंह : 'पूर्वार्द्ध' (1986), भानु भारती : 'चंद्रमा सिंह उर्फ़ चमकू' (1985), राजेंद्र मोहन भटनागर : 'महाप्रयाण' (1982), 'सारथिपुत्र' (1983), देवेंद्र दीपक : 'भूगोल का राजा खगोल का राजा' (1987), श्रवणकुमार गोस्वामी : 'सोमा' (1989), 'कल बिल्ली की बारी' (1989), 'समय' (1989), सुभाष पंत : 'चिड़िया की आंख' (1982), अज्ञात : 'धनुषयज्ञ' (1981), 'मैं नारी तुम पुरुष' (1983), 'इक्कीसवीं सदी' (1984), किरनचंद्र शर्मा : 'सावधान पुरुरवा' (1982), राजेश जैन : 'वायरस' (1994), 'विषवंश' (1999), विश्वेश्वर : 'बहिष्कार' (1981), राजेश जोशी : 'जादू का जंगल' (1982), असगर वजाहत : 'वीरगति' (1983), 'इन्ना

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की आवाज़' (1984), सुरेशचंद्र शुक्ल : 'समवेत' (1981), 'अक्षयवट' (1983), राजेंद्र कुमार शर्मा : 'एक राग दो स्वर' (1982), नाग बोडस : 'ख़ूबसूरत बहू' (1998), 'वसीयत' (1998), 'दलित' (1998), 'तोता झूठ नहीं बोलता' (1998), 'पढ़ो फ़ारसी बेचो तेल' (2002), अब्दुल बिस्मिल्लाह : 'दो पैसे की जन्नत' (1994), जि. जि. हरिजित : 'उत्तर मृच्छकटिकम्' (1982), 'महाराज नंदकुमार' (1983), 'एक नाटक : मूक नाटक' (1985), 'एक और विक्रमोर्वशीय' (1987), 'विद्रोही' (2002), अस्तानंद सदासिंह : 'थूक दिया भविष्य पर' (1981), प्रताप सहगल : 'अन्वेषक' (1992), 'और नहीं कोई अंत' (1999) आदि।

जैसे साहित्य की अन्य विधाओं में, वैसे ही नाटक के क्षेत्र में भी एक विशेष बात सामने आयी है। यह विशेष बात है कि नाट्यलेखन में लेखिकाओं का प्रवृत्त होना। यह हमारे समाज में चुपचाप होने वाला मौलिक परिवर्तन है। जिन लेखिकाओं ने नाटककार के रूप में अपनी पहचान बनायी है, उनमें प्रमुख लेखिकाओं और उनके नाटकों की नीचे चर्चा की जा रही है :

मन्नू भंडारी कथाकार के रूप में छठे दशक में उभर कर सामने आयीं और परिमाण की दृष्टि से कम लिख कर उन्होंने कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में अपनी विशिष्ट पहचान बनायी। उनका पहला नाटक 'बिना दीवारों के घर' 1965 में सामने आया, जिसमें आधुनिकों के विषम और तनावपूर्ण दांपत्य जीवन का सजीव और प्रामाणिक चित्र उपस्थित किया। यह नाटक साहित्यिक कृति के रूप में जितना स्वीकृत हुआ, उतना ही रंगमंच पर भी सफल हुआ। उनका दूसरा नाटक 'महाभोज' (1982) है, जो उनके इसी नाम के उपन्यास का नाट्यरूपांतर है। इसमें उन्होंने समकालीन राजनीति की मूल्यहीनता का नंगा चित्र उपस्थित किया है। यह नाटक भी अनेक बार सफलतापूर्वक मंचित हुआ है।

मन्नू भंडारी की तरह ही मृदुला गर्ग ने भी कथा-साहित्य के साथ-साथ नाट्यलेखन में भी अपनी विशिष्ट पहचान बनायी है। उनका पहला नाटक 'एक और अजनबी' 1978 में प्रकाशित हुआ। उसके बाद 'जादू का कालीन' (1993) और 'तीन क़ैदें' (1996) प्रकाशित हुए। उन्होंने अपने पहले नाटक में स्त्री-पुरुष संबंधों को आधुनिक दृष्टि से प्रस्तुत किया है। 'जादू की कालीन' में कालीन बुनने के लिए बंधुआ बनाये गये बाल मज़दूरों की विवशता, यातना और उनके त्रासद जीवन को नाट्यवस्तु बनाया है। 'तीन क़ैदें' में संगृहीत पहला नाटक 'कितनी क़ैदें' उनकी इसी शीर्षक की कहानी का नाट्यरूपांतर है, जिसमें एक स्त्री के साथ बचपन में हुए बलात्कार के कारण उत्पन्न ठंडेपन और असामान्य परिस्थितियों में उसकी कामभावना के जागृत होने की कहानी कही गयी है। 'तीन क़ैदें' में संगृहीत दूसरे नाटक 'दूसरा संस्करण' का कथानक आधुनिक अप्रतिबद्ध पति-पत्नी के संबंधों पर आधारित है। इस नाटक से स्पष्ट है कि आधुनिक काल में स्त्री-पुरुष-संबंधों में मौलिक परिवर्तन हो रहा है। इस संग्रह का तीसरा नाटक 'दुलहिन एक पहाड़ की' इजेवेलएंड्रस के एकांकी 'ब्राइड फ्राम द हिल्स' पर आधारित है। इस नाटक में पहाड़ के स्वच्छंद वातावरण से रूढ़िबद्ध परिवार में ब्याह कर आयी वधू के द्वारा उस परिवार की रूढ़िबद्धता को तोड़ने और परिवार के वृद्धों को भी बदल देने का चित्रण है। स्पष्ट है कि मृदुला गर्ग के सभी नाटकों में विभिन्न संदर्भों में स्त्री-पुरुष-संबंध ही केंद्रीय नाट्यवस्तु के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। यही उनका मुख्य सरोकार है।

इसी कालावधि में नाटककार के रूप में मृणाल पांडे भी उभर कर सामने आयी हैं। उनके प्रकाशित नाटक 'मौजूदा हालात देखते हुए' (1979), 'जो राम रचि राखा' (1981), 'आदमी जो मछुआरा नहीं था' (1985), 'काजर की कोठरी' (1985), 'चोर निकल कर भागा,' 'मुक्तिकथा'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आदि हैं। इनमें 'काजर की कोठरी' देवकीनंदन खत्री के इसी नाम के उपन्यास का नाटयरूपांतर है। उन्होंने अपने नाटकों में स्त्री-पुरुष-संबंधों के सीमित दायरे से स्वयं को मुक्त रखा है और आज के जीवन के यथार्थ के विभिन्न नकारात्मक पक्षों को भी अपने नाटकों में प्रस्तुत किया है।

रंगमंच से सक्रिय रूप से संबद्ध शांता गांधी का लोकनाट्य शैली का नाटक 'जसमा ओड़न' 1984 में प्रकाशित हुआ और बार-बार मंचित हुआ। कुंथा जैन का भी एक नाटक 'महाप्राण बाहुबली' (1981) सामने आया। नाटक की आलोचना और रंगमंच के क्षेत्र में सक्रिय गिरीश रस्तोगी ने श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास 'रागदरबारी' का नाट्यरूपांतर 'रंगनाथ की वापसी' (1982) शीर्षक से किया और ख़्याति पायी। उन्होंने हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का भी नाट्यरूपांतर किया है। इन रूपांतरों के अतिरिक्त उन्होंने मौलिक नाटकों की भी रचना की है। उनके मौलिक नाटक हैं—'असुरक्षित' (1982) और 'मुझे मत मारो'। इन नाटकों में उन्होंने अपने समय के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, प्रकाशन, लेखन आदि क्षेत्रों में व्याप्त विसंगतियों पर करारी टिप्पणी की है। नाट्यरचना में एक और लेखिका कुसुम कुमार बहुत सक्रिय हैं। संख्या की दृष्टि से उन्होंने सबसे अधिक नाटक लिखे हैं। 'ओम क्रांति-क्रांति' (1978), 'सुनो शेफाली' (1979), 'दिल्ली ऊंचा सुनती है' (1982), 'संस्कार को नमस्कार' (1982), 'रावणलीला' (1983), 'मादा मिटटी', 'पवन चतुर्वेदी की डायरी', 'सलामी मंच', 'लश्कर चौक' (1997) आदि उनके कई नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। उनके नाटकों में बड़ी वस्तुगत विविधता है। नाट्यवस्तु के स्तर पर सत्ताधीशों की विवेकहीनता और निष्क्रियता, प्रशासनतंत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार, आज के जीवन में धन की प्रधानता से उत्पन्न विसंगतियां और विडंबनाएं, सांप्रदायिकता की पाशविकता, शिक्षा-जगत की विकृतियां, स्त्रियों का शोषण आदि को उन्होंने अपने नाटकों में प्रस्तुत किया है। उनके कई नाटक व्यंग्यात्मक हैं। शिल्प के स्तर पर भी उन्होंने अपने नाटकों में प्रयोगशीलता का परिचय दिया है। उन्होंने पारंपरिक नाट्यशिल्प में भी प्रयोग किये हैं और 'रावणलीला' में पारसी नाट्यशैली, नौटंकी और लोकनाट्य रामलीला की शैलियों का मिश्रण कर दोहरे कथानक का प्रयोग किया है। इधर एक संभावनाशील नाटककार के रूप में मीराकांत उभर कर सामने आ रही हैं। उन्होंने अपने नाटक 'नेपथ्य राग' (2004) में दोहरे कथानक के शिल्प का उपयोग करते हुए स्त्री की, स्त्री होने के कारण होने वाली उपेक्षा और दुर्दशा का चित्र उपस्थित किया है। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर की शिष्या और पुत्रवधू तथा आधुनिक काल में दफ़्तर में अपने विभाग की प्रभारी आधुनिक स्त्री को आमने-सामने रख कर निष्कर्ष निकाला है कि स्त्री पहले भी अपनी सारी योग्यताओं और क्षमताओं के बावजूद स्त्री होने के नाते उपेक्षित थी और आज भी उपेक्षित है। अपनी वस्तु के स्तर पर यह नाटक स्त्री-विमर्श से संबद्ध है और शिल्प के स्तर पर प्रयोगशील।

विगत् पच्चीस वर्षों के हिंदी-नाटकों के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि हिंदी में नाटक बराबर लिखे जा रहे हैं और उनमें से कुछ मंचित भी होते हैं, लेकिन कभी-कभी। अब शायद ही कोई नाटककार हो, जो अपने नाटक रंगमंच की उपेक्षा करके लिखता हो, लेकिन रंगमंच नये लिखे जाने वाले हिंदी-नाटकों की उपेक्षा अवश्य कर रहा है। प्रसाद जी ने 1937 में नाटक और रंगमंच के संबंध में जो बातें कही थीं, वे आज भी बड़ी सार्थक लग रही हैं। 'हिंदी में (रंगमंचीय) नाटकों का अभाव' है, यह रोना तब भी रोया जाता था, आज भी रोया जाता है। उनका यह कहना हमें तो ठीक लगता है कि "रंगमंच के संबंध में भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जायें। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो, जो व्यावहारिक है" (काव्य और कला तथा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अन्य निबंध, पंचम संस्करण, सं. 2015 वि., पृ. 107-08)। असल में रंगमंचीय नाटकों के अभाव का रोना एक तो इसलिए रोया जाता है कि रंगकर्मी आलसी हो गये हैं। वे ऐसे नये नाटकों को मंचन के लिए चुनते हैं, जो पहले ही सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं। वे नये नाटक को चुन कर रंगमंच के अनुकूल उसमें थोड़े-बहुत परिवर्तन करके उसे प्रस्तुत करने का जोख़िम नहीं उठाना चाहते। इसके लिए अगर हिंदी का नाटक नहीं मिलेगा तो वे किसी और भाषा के सफलतापूर्वक अभिनीत नाटक का अनुवाद कर लेंगे। इसका दूसरा कारण रंगकर्मियों का अहंकार है। वे मानते हैं, नाटक रंगमंच के लिए है, नाटक के लिए रंगमंच नहीं है। भीष्म साहनी ने अनुभव के आधार पर ठीक ही लिखा है : ''नाटकगृह में नाटककार की स्थिति की यह विडंबना होती है कि यदि नाटक मंच पर सफल हुआ तो उसका सेहरा निर्देशक के सिर जाता है और यदि नाटक पिट जाये तो कहा जाता है, नाटक कमज़ोर था'' (आज के अतीत, पृ. 239)।

इस कालावधि के नाटककारों ने अपने नाटक के लिए कथानक का चयन वर्तमान जीवन के साथ-साथ इतिहास, पुराण, स्वदेशी-विदेशी मिथकों आदि से किया है। लेकिन किसी भी नाटककार ने अतीतजीविता का परिचय नहीं दिया है। कथानक चाहे अतीत से चुना हो, चाहे वर्तमान से, जोड़ा हमेशा उसे वर्तमान से है, वर्तमान की समस्याओं और सरोकारों से है। स्वाधीनता से पहले श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियां वही बनी थीं, जो सत्ता से टकराती थीं, वर्तमान का छिद्रान्वेषण करती थीं और वर्तमान को बदलना चाहती थीं। स्वाधीनता के बाद भी स्थिति यही रही है। इसीलिए इस कालावधि में लिखित तमाम नाटक वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था की तीखी आलोचना करते हैं। साथ ही वे प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार, उसकी संवेदनहीनता, आम आदमी की उपेक्षा, यातना आदि को बराबर रेखांकित करते हैं। कहा जा सकता है कि इस कालावधि के नाटकों की एक केंद्रीय वस्तु राजनीति और प्रशासन की आलोचना है। इस कालावधि के नाटकों की दूसरी केंद्रीय वस्तु स्त्री-पुरुष-संबंध हैं। परंपरागत स्त्री-पुरुष-संबंधों को अब शायद ही कोई नाटककार स्वीकार करता हो। परंपरागत नैतिक मूल्यों पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए स्त्री की स्वाधीनता और स्वायत्तता की पक्षधरता बराबर सामने आ रही है और स्त्री पर किये जाने वाले अत्याचारों का विरोध किया जा रहा है। जीवन का ऐसा कोई पक्ष नहीं है, जो समकालीन नाटक की विषयवस्तु न बना हो और नाटककार की दृष्टि प्रगतिशील न हो। इसीलिए समकालीन नाटक में व्यंग्यात्मकता भी ख़ूब मुखर है।

जहां तक नाट्यशिल्प का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि शिल्प के मामले में समकालीन हिंदी-नाटक की मुख्य प्रवृत्ति प्रयोगधर्मिता है। इस कालावधि में ऐसे अनेक नाटक लिखे गये हैं, जिनमें यथार्थवादी नाटक के पारंपरिक नाट्यशिल्प को अपनाया गया है, लेकिन अधिकता उन नाटकों की है, जिनमें शिल्प को ले कर तरह-तरह के प्रयोग किये गये हैं। कहीं लोकमंचीय शैलियों को अपनाया गया है, कहीं फंतासी को अपनाया गया है, कहीं प्रतीकात्मकता की प्रधानता है, कहीं विसंगत नाट्यशैली का उपयोग किया गया है और कहीं एकाधिक शैलियों का मिश्रण कर एक नयी शैली निर्मित की गयी है, आदि।

समकालीन हिंदी-नाटककार न नाट्यवस्तु की विविधता और सार्थकता के प्रति उदासीन है और न ही शिल्पगत विविधता और प्रयोगशीलता के प्रति। हां, रंगकर्मी उसके प्रति उदासीन अवश्य हैं। आवश्यकता इस बात की है कि नाटककार और रंगकर्मी परस्पर मिल कर उस उत्साह और उमंग की पुनःसृष्टि करें, जो छठे-सातवें दशक में देखने को मिली थी, जिससे हिंदी में एक बार फिर से क्लैसिक्स की रचना संभव हो सके।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## एकांकी नाटक : (1981-2005)

अब एकांकी नाटक के परंपरागत रूप का ह्रास हुआ है और उसके अर्थ का विस्तार हुआ है। स्वाधीनता के बाद जो सांस्कृतिक व साहित्यिक उत्साह और ऊर्जा का विस्फोट हुआ था, जिसके तहत प्राय: प्रत्येक महाविद्यालय और विश्वविद्यालय में वार्षिक सांस्कृतिक व साहित्यिक आयोजन होते थे, उनमें एकांकी नाटकों का मंचन भी अनिवार्य जैसा था। इसके लिए एकांकी नाटक लिखे भी जाते थे और मंचित भी होते थे। धीरे-धीरे इस प्रकार के आयोजन कम होते गये और एकांकी नाटक मंचन के बजाय पढ़ने-पढ़ाने की चीज़ बन गये। रंगकर्मियों के बीच भी पूर्णकालिक नाटकों की तुलना में एकांकियों को कम महत्त्व मिला। तब एकांकीकारों को रेडियो ने प्रश्रय दिया और छोटे-छोटे रेडियो नाटक लिखे जाने लगे। रेडियो नाटक मंचीय नाटकों से अनेक अर्थों में भिन्न हैं। रेडियो नाटककार के पास और उसे रेडियो पर प्रस्तुत करने वालों के पास ध्वनि और शब्द ही वे साधन हैं, जिनसे वे उसे श्रोताओं तक संप्रेषित करते हैं। इस दृष्टि से रेडियो नाटक दृश्यकाव्य न रह कर श्रव्यकाव्य बन गया है। रेडियो के लिए छोटे नाटक लिखने वालों ने थोड़ा फेरबदल करके उन्हें मंचीय एकांकियों के रूप में प्रकाशित किया है। इससे एकांकी नाटक और रेडियो नाटक पर्याय मान लिये गये हैं। उसका अर्थ विकास यहां तक किया गया कि उसमें झलकी, फैंटसी, संगीत-रूपक आदि को भी शामिल कर लिया गया।

वर्तमान कालावधि में एकांकीकार के रूप में उन्हीं के नाम गूंजते रहे हैं, जो पहले ही एकांकीकार रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं, चाहे वे सक्रिय हों या न हों। घूम फिर कर उन्हीं के नये-पुराने एकांकियों व रेडियो नाटकों आदि के संग्रह प्रकाशित होते रहते हैं और उन्हीं के एकांकी पाठ्यक्रमों में निर्धारित होते रहते हैं। इसीलिए वर्तमान कालावधि में एकांकी, रेडियो नाटकों के ज़्यादा संकलन प्रकाशित नहीं हुए हैं। इस कालावधि में इनके कुछ प्रमुख प्रकाशित संग्रह इस प्रकार हैं : विष्णु प्रभाकर : 'मैं तुम्हें क्षमा नहीं करूंगा' (1986), 'समकालीन लघु नाटक' (संपादित : 1986), कमलेश्वर : 'लहर लौट गयी' (1985), राधाकृष्ण सहाय : 'हे मातृभूमि' (1988), वीरेंद्र मिश्र : 'आवाज़ आ रही है' (1984),चिरंजीत : 'सात युवमंच नाटक' (1986), भारतभूषण अग्रवाल : 'पलायन' (1982), 'युग-युग या पांच मिनट' (1983), सिद्धनाथ कुमार : 'रोशनी शेष है' (1998), गिरीश बख़्शी : 'खिड़की बंद कर दो' (1986), शंकर पुणतांबेकर : 'भूख हड़ताल' (1986), तेजपाल चौधरी : 'वेटिंग रूम' (1985), आनंदम : 'आख़िरी पन्ने' (1981), अमरनाथ चौधरी 'अब्ज' : 'इंद्रधनुष' (1984), वसंतकुमार परिहार : 'इंडिया गेट का मुक़दमा' (2001) आदि। इस सूची से ही स्पष्ट है कि एकांकी अब 'अभावे शालिचूर्ण' का ही संतोष देते हैं। इस कालावधि के एकांकियां में वस्तुगत वैविध्य तो है, किंतु शिल्पगत वैविध्य नगण्य है।

दरअसल नयी स्थितियों ने नये नाट्यरूपों को जन्म दिया है। इन्हीं में से एक नाट्यरूप नुक्कड़ नाटक का है। इन नाटकों की प्रेरणा तात्कालिक होती है और प्राय: राजनीतिक। इनका कोई पूर्वनिर्धारित और अंतिम आलेख नहीं होता। इसीलिए वे हवा में उड़ जाते हैं। आपातकाल और उसके बाद नुक्कड़ नाटक के क्षेत्र में बड़ी गहमागहमी रही, किंतु जल्दी ही यह ठंडी पड़ गयी। चूंकि इन नाटकों के प्रदर्शन में राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा ख़ूब रहती है, इसीलिए कभी-कभी सफदर हाशमी की हत्या जैसी दुर्घटनाएं भी घट जाती हैं। 'सहमत' (सफदर हाशमी मैमोरियल ट्रस्ट) अब भी कभी-कभी नुक्कड़ नाटक करता रहता है। नुक्कड़ नाटकों में ज़्यादातर वामपंथी विचारधारा के लेखक और रंगमंच के कलाकार ही सक्रिय रहे हैं। बहुत कम नुक्कड़ नाटक पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए हैं। विभु कुमार की 'तालों में बंद प्रजातंत्र' मूलत: नुक्कड़ नाटक ही है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

एकांकी नाटक के प्रसंग में ही 'कहानी के रंगमंच' की भी चर्चा कर लेना उचित रहेगा। इसका प्रारंभ देवेंद्र राज अंकुर ने किया। लखनऊ से दिल्ली आने पर उन्होंने कहानियों का नाट्यरूपांतर किये बिना उन्हें ज्यों-का-त्यों मंच पर प्रस्तुत करना प्रारंभ किया और उन्हें सफलता भी मिली। वे अब तक साढ़े चार सौ से अधिक कहानियों को मंचित कर चुके हैं। यों कहानियों के नाट्यरूपांतर भी होते रहते हैं। कहानियों को आधार बना कर नाट्यालेख तैयार करने की प्रवृत्ति भी साथ-साथ चल रही है। उदाहरण के लिए, चित्रा मुद्गल ने प्रेमचंद की अनेक कहानियों के नाट्यरूपांतर किये हैं, जो 2005 में तीन खंडों में प्रकाशित हुए हैं : 'सद्गति तथा अन्य नाटक', 'बूढ़ी काकी तथा अन्य नाटक' और 'पंचपरमेश्वर तथा अन्य नाटक'। कहानी के साथ 'कहानी के रंगमंच' से जुड़े रंगकर्मियों ने उपन्यासों को भी उनका नाट्यरूपांतर किये बिना मंच पर प्रस्तुत किया है।

यहां प्रश्न उठता है कि कहानियों और उपन्यासों को उनका नाट्यरूपांतर किये बिना रंगमंच पर प्रस्तुत करने के पीछे कौन-सी प्रेरणा काम कर रही है। क्या नाटकों का इतना अभाव हो गया है कि रंगकर्मियों को कहानियों व उपन्यासों की शरण में जाना पड़ा है? शायद ऐसा हो। इसमें भी संदेह नहीं कि अनेक कहानियां और उपन्यास ऐसे होते हैं, जिनमें भरपूर नाटकीयता होती है। हो सकता है, कोई कहानीकार या उपन्यासकार उस नाटकीयता के प्रति सजग न हो या उसमें नाट्यरचना की क्षमता न हो। प्रेमचंद कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में जितने सफल हुए, उतने नाटककार के रूप में नहीं, जबकि उन्हीं के 'गोदान', 'रंगभूमि' और 'ग़बन' उपन्यासों के नाट्यरूपांतर सफल नाटक सिद्ध हुए। प्रेमचंद के विपरीत विष्णु प्रभाकर खड़े हैं, जिन्हें अपनी कहानियों की नाटकीयता और अपनी नाट्यरचना की क्षमता का बोध नहीं था। उन्हें यह बोध कैसे हुआ और किसने दिलाया, इसका उत्तर पाने के लिए उनकी आत्मकथा के प्रथम खंड 'पंखहीन' से एक अंश को उद्धृत करना आवश्यक है। यह अंश एकांकी नाटक के इतिहास की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है :

''इसी वर्ष (1938) घटने वाली एक घटना को मैं अवश्य रेखांकित करना चाहूंगा। उन दिनों हिंदी में एकांकी बहुत कम लिखे जाते थे। इस विधा के महत्व को रेखांकित करते हुए 'हंस' का एक विशेषांक तभी प्रकाशित हुआ था। उसमें डॉ. रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर और अश्क आदि सृजकों के एकांकी ही नहीं प्रकाशित हुए थे, बल्कि उसकी उपयोगिता और भविष्य पर एक लंबी परिचर्चा भी छपी थी। अश्क एकांकी के भविष्य के प्रति आश्वस्त थे, जबकि चंद्रगुप्त विद्यालंकार उसे विज्ञापन के लिए होने वाले चचा-भतीजे के मसालेदार संवाद से अधिक महत्त्व नहीं देते थे।

''संयोग से मेरे विवाह में कई साहित्यकार अग्रज और मित्र भी शामिल हुए थे।...सांध्य भोज के अवसर पर साहित्य-चर्चा में 'हंस' के एकांकी अंक का ज़िक्र होना स्वाभाविक था। तभी अचानक माचवे जी मेरी ओर मुड़े और बोले, 'विष्णु जी, आपकी कहानियों में संवाद अच्छे रहते हैं, आप भी एकांकी लिखिए न!'

''उस समय मैंने क्या उत्तर दिया था, आज याद नहीं आ रहा, पर यह निश्चित है कि यह संकेत मेरी उपचेतना में अंकित हो गया था, क्योंकि उस वर्ष मैंने दो एकांकी लिखे : 'हत्या के बाद' और 'मां-बाप'।'' (पृ. 164)

और विष्णु प्रभाकर एक सफल एकांकीकार के रूप में स्थापित हुए। 'कहानी के रंगमंच' ने कहानियों की नाटकीयता को पहचान कर उन्हें मंच पर प्रस्तुत किया, लेकिन वे नाटक नहीं बनीं; रहीं कहानियों ही। हो सकता है, कहानियों और उपन्यासों को उनका नाट्यरूपांतर किये बिना प्रस्तुत करना रंगकर्मियों की विवशता हो, लेकिन इसका नाटकों की रचना पर प्रतिकूल प्रभाव अवश्य पड़ रहा है। आज चंद्रगुप्त विद्यालंकार की तरह कोई यह तो नहीं मानता कि एकांकी 'विज्ञापन के लिए

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

होने वाले चाचा-भतीजे के मसालेदार संवाद से अधिक' और कुछ नहीं है, फिर भी यथार्थ यही है कि आजकल एकांकी रचना नगण्य हो रही है। क्या यह भी मांग और पूर्ति के बाज़ारवादी वातावरण का परिणाम है? कुछ भी हो, लेकिन यह चिंता का विषय है। अगर यही स्थिति रही तो एकांकी विधा भी व्यतीत विधाओं में परिगणनीय हो जायेगी।

## एकांकी नाटक

छायावादयुग तक हिंदी-एकांकी दो सीमांत पार कर चुका था। 1936 में दिल्ली में और 1938 में लखनऊ में आकाशवाणी के अस्तित्व में आने के फलस्वरूप पहले उर्दू-लेखकों और फिर 1940 के आसपास हिंदी-लेखकों को भी रेडियो पर एकांकियों के प्रसारण का अवसर प्राप्त हुआ। इसके पूर्व 'हंस' के एकांकी नाटक विशेषांक (मई, 1938) को ले कर एकांकी के संबंध में अच्छा-ख़ासा विवाद उठ खड़ा हुआ था। इसमें हिंदी के आठ एकांकी प्रकाशित हुए थे। इसी अंक में चंद्रगुप्त विद्यालंकार का एक विस्तृत पत्र प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने साहित्य में एकांकी का कोई स्थान स्वीकार नहीं किया : ''मेरी स्थापना यह है कि एकांकी नाटक की कोई निश्चित और निजी (जो और किसी की न हो) टेकनीक न तो अभी तक बन पायी है और न बन सकती है।'' इसी अंक में उपेंद्रनाथ अश्क ने एकांकी को नाटक, कहानी और संभाषण से पृथक् एक स्वतंत्र विधा के रूप में स्वीकृति दी। किंतु जैनेंद्र ने इसके विरुद्ध अपना मंतव्य व्यक्त करते हुए लिखा, ''भारत में एकांकी परिस्थितियों की सहज उपज नहीं है, विलायत वाले अपनी जानें। उनके हालात यहां से जुदा हैं। किसी बाह्य रूप को, जब तक वह अंत:प्रेरित न हो, खींच लाने का आग्रह ज़रूरी नहीं है।'' इसे उन्होंने अनुसरण के रूप में ओढ़ा हुआ बताया, जबकि 'हंस' के संपादक ने उनकी बातों का खंडन किया। 1940 में इस विवाद को 'वीणा' में पुन: उठाया गया, जिससे स्पष्ट है कि जब तक हिंदी-एकांकी अपने अस्तित्व के लिए ही संघर्ष करता रहा था। किंतु इसके बाद उसे स्वतंत्र साहित्यिक विधा के रूप में स्वीकार कर लिया गया। यह उल्लेखनीय है कि भुवनेश्वर, रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, अश्क, सेठ गोविंददास, जगदीशचंद्र माथुर आदि एकांकी-लेखन का समारंभ प्राय: 1935-36 के लगभग कर चुके थे, पर इनमें से अधिकांश के मुख्य एकांकी-संकलन 1940 के बाद ही प्रकाशित हुए।

छायावादोत्तर काल में **भुवनेश्वर** के कुछ ही एकांकी प्रकाशित हुए, जैसे तांबे के कीड़े, आज़ादी की नींद, सिकंदर आदि। किंतु **रामकुमार वर्मा** के अधिकांश एकांकी-संग्रह—रेशमी टाई, चारुमित्रा, विभूति, सप्तकिरण, रूपरंग, रजतरश्मि, दीपदान, ऋतुराज, रिमझिम, इंद्रधनुष, पांचजन्य, कौमुदी-महोत्सव, मयूरपंख, जुही के फूल आदि 1940 के बाद के प्रकाशन हैं। वर्मा जी के एकांकियों का मूल स्वर आदर्शवादी है। उनकी काव्यात्मक अलंकृत शैली के कारण आदर्शवाद और भी मुकम्मल हो गया है। मोटे तौर पर उनके एकांकियों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है, पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय दंपत्ति के बीच उठने वाली प्रेम व सेक्स की समस्याओं से संबद्ध एकांकी और ऐतिहासिक एकांकी। दोनों की विषयवस्तु दो हैं, पर परिणति एक ही है, आदर्श की स्थापना। इस आदर्शवाद को छायावादी प्रगीतों की टेक समझना चाहिए। छायावादी स्वातंत्र्य के और पीछे जा कर वर्मा जी नारी को मध्यकालीन आदर्शों की ज़ंजीरों में बांधने के पक्षपाती हैं। 'एक्ट्रेस' की प्रभात कुमारी, 'परीक्षा' की अल्पवयस्का पत्नी, '18 जुलाई की शाम' की शिक्षिता उषा, 'रेशमी टाई' की ललिता आदि पति के सम्मान तथा कथित भारतीय आदर्श की रक्षा करती दिखायी पड़ती हैं। नवीन शिक्षा और परिवेश के कारण नारी का अपना व्यक्तित्व बनता-बनता भी पुरातनता की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

केंचुल को न छोड़ पाने के कारण नहीं बन पाता। उनके ऐतिहासिक एकांकियों में भी त्याग, उदारता, क्षमा, बलिदान, सेवा आदि को स्थूल ढंग से उभारा गया है। इस आदर्शवाद पर गांधीवाद का प्रभाव भी माना जा सकता है, किंतु गांधी जी का आदर्श जिस राष्ट्रीय संदर्भ को समेटे हुए है, उससे वर्मा जी के एकांकी असंपृक्त हैं। स्पष्ट है कि सपाट आदर्शवादिता की टेकनीक भी सपाट होगी। आरंभ, कुतूहल, संकलनत्रय, चरमोत्कर्ष आदि को वर्मा जी ने अति सामान्य (ओवर सिम्प्लीफ़ाइड) ढंग से परिगृहीत किया है। आदर्शवादिता का विस्तार और सपाट विश्लेषण उनके एकांकियों की गत्वरता, सघनता, क्षिप्रता और नाटकीयता के आड़े आते हैं। एकांकी नाटकों के क्षेत्र में वर्मा जी का ऐतिहासिक महत्त्व है, स्थायी महत्त्व नहीं।

**उदयशंकर भट्ट** ने 1938 के लगभग एकांकी-लेखन आरंभ किया था, यों उनका प्रथम एकांकी-संग्रह 'अभिनव एकांकी' 1940 में प्रकाशित हुआ था। 'स्त्री का हृदय', 'चार एकांकी', 'समस्या का अंत', 'धूमशिखा', 'अंधकार और प्रकाश', 'आदिम युग', 'पर्दे के पीछे', 'आज का आदमी', 'सात प्रहसन' आदि उनके अन्य एकांकी संकलन हैं। भट्ट जी ने अपने एकांकियों को नवजीवन की ज्वलंत समस्याओं से जोड़ने की कोशिश की है। उनकी दृष्टि में, नाटकों में रस संचार के अतिरिक्त किसी सुनिश्चित सामाजिक उद्देश्य का रहना बहुत आवश्यक है। उच्च और मध्यवर्ग की विडंबनाओं पर गहरी चोट करना उनकी विशेषता है। 'नेता', 'उन्नीस और पैंतीस', 'वर-निर्वाचन' आदि एकांकियों में मध्यवर्ग के नक़ली चेहरे को उतार फेंकने में उन्होंने बड़े कौशल से काम लिया है। 'नेता' में नेतृवर्ग की पर-उपदेश-कुशलता, 'उन्नीस और पैंतीस' में आज की शिक्षा-पद्धति के खोखलेपन और 'बड़े आदमी की मृत्यु' में तथाकथित बड़े लोगों की हृदयहीनता, कठोरता तथा अमानवीयता को उघाड़ा गया है। 'पर्दे के पीछे' के अधिकांश एकांकियों की विषयवस्तु यह है कि स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात भी लोग पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से चिपके हुए हैं और भारतीय मूल्यों के प्रति उनकी अनास्था बनी हुई है। इसका अर्थ यह नहीं है कि भट्ट जी सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद में विश्वास रखते हैं। वस्तुतः उनकी आस्था नये-पुराने मूल्यों के संतुलन में है। 'आदिम युग', 'प्रथम विवाह', 'वैवस्वत मनु' आदि उनके पौराणिक एकांकी हैं। इन एकांकियों को उन्होंने सांस्कृतिक चित्रण माना है, पर 'चित्रण' पर ज़ोर देने के फलस्वरूप इनमें नाटकीय तंत्र कमज़ोर हो गया है।

हिंदी-एकांकीकारों में **उपेंद्रनाथ अश्क** का विशिष्ट स्थान है। 'देवताओं की छाया में', 'चरवाहे', 'पक्का गाना', 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ', 'अंधी गली', 'साहब को जुकाम है', 'पच्चीस श्रेष्ठ एकांकी' आदि उनके एकांकी-संग्रह हैं। अश्क ने अपने एकांकियों की विषयवस्तु का चुनाव जीवन के अनेक क्षेत्रों से किया है, किंतु उनका मुख्य क्षेत्र पारिवारिक जीवन है। उदाहरण के लिए, 'लक्ष्मी का स्वागत', 'पापी' और 'सूखी डाली' शीर्षक एकांकियों को लिया जा सकता है। पहले दो एकांकी तो सामान्य हैं, पर 'सूखी डाली' में आज की कौटुंबिक प्रणाली को नये दृष्टिकोण से देखा गया है। 'वस्तु' को नाटकीय बनाने और तनावों का सृजन करने में शैली-विन्यास और मंचीय विशेषताओं ने पूरा योग दिया है। किंतु जिन एकांकियों में उनकी प्रवृत्ति रोमानी भावुकता और स्थूल समाधान प्रस्तुत करने की ओर रही है, वहां वे प्रायः लड़खड़ा गये हैं। अश्क ने 'जोंक', 'आपस का समझौता', 'विवाह के दिन' आदि कुछ प्रहसन भी लिखे हैं। उनके प्रहसन दिलचस्प हैं, पर व्यंग्य की क्षमता का इनमें अभाव हैं। 'विवाह के दिन' को उन्होंने व्यंग्य की संज्ञा दी है, पर इसमें विदूषकत्व की प्रमुखता है। अभिनेयता के प्रति अश्क काफ़ी सजग रहे हैं, पर लंबे रंगनिर्देश अभिनेयता में कदाचित् ही कोई योग देते हों। कथोपकथन की सादगी,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्पष्टता और साफ़गोई उनकी निजी विशेषताएं हैं। एमेचर रंगमंच पर उनके एकांकी सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं।

**सेठ गोविंददास** कर्मठ राजनीतिक कार्यकर्ता और सरस्वती के आराधक थे। 'सप्तरश्मि', 'एकादशी', 'पंचभूत', 'चतुष्पथ' आदि उनके एकांकी-संग्रह हैं। यों उन्होंने कुछ ऐतिहासिक एकांकियों की भी रचना की है, किंतु उनके एकांकी मुख्यत: राजनीतिक व सामाजिक हैं। पर ये एकांकी नाटकीय स्थितियों, तनावों, मोड़ों आदि से संपृक्त नहीं हो पाये हैं। **हरिकृष्ण 'प्रेमी'** के एकांकी-संकलन हैं : 'मातृमंदिर', 'राष्ट्रमंदिर', 'मानमंदिर', 'न्यायमंदिर', 'वाणीमंदिर' आदि। किंतु इन 'मंदिरों' में जो मूर्तियां स्थापित की गयी हैं—उनमें प्राणप्रतिष्ठा नहीं की जा सकी है। **जगदीशचंद्र माथुर** के दो एकांकी-संग्रहों—'भोर का तारा' और 'ओ मेरे सपने'—में जीवन की नवीन समस्याओं को रूपायित किया गया है। पुराने खेमे के एकांकीकारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र (अशोकवन, 1950), गोविंदवल्लभ पंत (विषकन्या, 1959) और भगवतीचरण वर्मा ने भी कुछ प्रभावशाली एकांकियों की रचना की है।

इधर के एकांकीकारों में **विष्णु प्रभाकर** ने आदर्शवाद, सांस्कृतिक चेतना, नैतिक मूल्यों और मनोविज्ञान को दृष्टि में रख कर सामाजिक एकांकियों की रचना की है। उनके एकांकी-संग्रह हैं—प्रकाश और परछाईं, इंसान, बारह एकांकी, क्या वह दोषी था, दस बजे रात, ऊंचा पर्वत गहरा सागर, तथा ये रेखाएं ये दायरे। लक्ष्मीनारायण लाल, धर्मवीर भारती (नदी प्यासी थी), मोहन राकेश (अंडे के छिलके), भारतभूषण अग्रवाल, विनोद रस्तोगी, विमला लूथरा, रेवतीसरन शर्मा, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर (उमर क़ैद), चिरंजीत, सिद्धनाथ कुमार आदि ने एकांकियों और रेडियो एकांकियों की रचना की है। इनमें से लक्ष्मीनारायण लाल ही ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने इस विधा को गंभीरतापूर्वक लिया है। उनके एकांकी-संग्रह हैं—ताजमहल के आंसू, पर्वत के पीछे, नाटक बहुरंगी, और दूसरा दरवाज़ा। सामाजिक जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति, समस्याओं का सूक्ष्म समाधान और रंगमंचीय सार्थकता उनके एकांकी नाटकों की सहज उपलब्धियां हैं।

## अद्यतन हिंदी एकांकी नाटक

(1981 से 2005 तक)

अब एकांकी नाटक के परंपरागत रूप का ह्रास हुआ है और उसके अर्थ का विस्तार हुआ है। स्वाधीनता के बाद जो सांस्कृतिक व साहित्यिक उत्साह और ऊर्जा का विस्फोट हुआ था, जिसके तहत प्राय: प्रत्येक महाविद्यालय और विश्वविद्यालय में वार्षिक सांस्कृतिक व साहित्यिक आयोजन होते थे, उनमें एकांकी नाटकों का मंचन भी अनिवार्य जैसा था। इसके लिए एकांकी नाटक लिखे भी जाते थे और मंचित भी होते थे। धीरे-धीरे इस प्रकार के आयोजन कम होते गये और एकांकी नाटक मंचन के बजाय पढ़ने-पढ़ाने की चीज़ बन गये। रंगकर्मियों के बीच भी पूर्णकालिक नाटकों की तुलना में एकांकियों को कम महत्त्व मिला। तब एकांकीकारों को रेडियो ने प्रश्रय दिया और छोटे-छोटे रेडियोनाटक लिखे जाने लगे। रेडियोनाटक मंचीय नाटकों से अनेक अर्थों में भिन्न हैं। रेडियो-नाटककार के पास और उसे रेडियो पर प्रस्तुत करने वालों के पास ध्वनि और शब्द ही वे साधन हैं, जिनसे वे उसे श्रोताओं तक संप्रेषित करते हैं। इस दृष्टि से रेडियोनाटक दृश्यकाव्य न रह कर श्रव्यकाव्य बन गया है। रेडियो के लिए छोटे नाटक लिखने वालों ने थोड़ा फेरबदल करके उन्हें मंचीय एकांकियों के रूप में प्रकाशित किया है। इससे एकांकी नाटक और रेडियोनाटक पर्याय मान लिये गये हैं। उसका अर्थ विकास यहां तक किया गया कि उसमें झलकी, फैंटसी,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संगीतरूपक आदि को भी शामिल कर लिया गया।

वर्तमान कालावधि में एकांकीकार के रूप में उन्हीं के नाम गूंजते रहे हैं, जो पहले ही एकांकीकार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं, चाहे वे सक्रिय हों या न हों। घूम-फिर कर उन्हीं के नये-पुराने एकांकियों व रेडियोनाटकों आदि के संग्रह प्रकाशित होते रहते हैं और उन्हीं के एकांकी पाठ्यक्रमों में निर्धारित होते रहते हैं। इसीलिए वर्तमान कालावधि में एकांकी, रेडियोनाटकों के ज़्यादा संकलन प्रकाशित नहीं हुए हैं। इस कालावधि में इनके कुछ प्रमुख प्रकाशित संग्रह इस प्रकार हैं : विष्णु प्रभाकर : 'मैं तुम्हें क्षमा नहीं करूंगा' (1986), 'समकालीन लघु नाटक' (संपादित : 1986), कमलेश्वर : 'लहर लौट गयी' (1985), राधाकृष्ण सहाय : 'हे मातृभूमि' (1988), वीरेंद्र मिश्र : 'आवाज़ आ रही है' (1984), चिरंजीत : 'सात युवमंच नाटक' (1986), भारतभूषण अग्रवाल : 'पलायन' (1982), 'युग-युग या पांच मिनट' (1983), सिद्धनाथ कुमार : 'रोशनी शेष है' (1998), गिरीश बख़्शी : 'खिड़की बंद कर दो' (1986), शंकर पुणतांबेकर : 'भूख हड़ताल' (1986), तेजपाल चौधरी : 'वेटिंग रूम' (1985), आनंदम : 'आख़िरी पन्ने' (1981), अमरनाथ चौधरी 'अब्ज' : 'इंद्रधनुष' (1984), वसंतकुमार परिहार : 'इंडिया गेट का मुक़दमा' (2001) आदि। इस सूची से ही स्पष्ट है कि एकांकी अब 'अभावे शालिचूर्ण' का ही संतोष देते हैं। इस कालावधि के एकांकियां में वस्तुगत वैविध्य तो है, किंतु शिल्पगत वैविध्य नगण्य है।

दरअसल नयी स्थितियों ने नये नाट्यरूपों को जन्म दिया है। इन्हीं में से एक नाट्यरूप नुक्कड़-नाटक का है। इन नाटकों की प्रेरणा तात्कालिक होती है और प्रायः राजनीतिक। इनका कोई पूर्वनिर्धारित और अंतिम आलेख नहीं होता। इसीलिए वे हवा में उड़ जाते हैं। आपातकाल और उसके बाद नुक्कड़-नाटक के क्षेत्र में बड़ी गहमागहमी रही, किंतु जल्दी ही यह ठंडी पड़ गयी। चूंकि इन नाटकों के प्रदर्शन में राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा ख़ूब रहती है, इसीलिए कभी-कभी सफदर हाशमी की हत्या जैसी दुर्घटनाएं भी घट जाती हैं। 'सहमत' (सफदर हाशमी मैमोरियल ट्रस्ट) अब भी कभी-कभी नुक्कड़-नाटक करता रहता है। नुक्कड़-नाटकों में ज़्यादातर वामपंथी विचारधारा के लेखक और रंगमंच के कलाकार ही सक्रिय रहे हैं। बहुत कम नुक्कड़-नाटक पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुए हैं। विभु कुमार का 'तालों में बंद प्रजातंत्र' मूलतः नुक्कड़-नाटक ही है।

एकांकी नाटक के प्रसंग में ही 'कहानी के रंगमंच' की चर्चा कर लेना उचित रहेगा। इसका प्रारंभ देवेंद्र राज अंकुर ने किया। लखनऊ से दिल्ली आने पर उन्होंने कहानियों का नाट्यरूपांतर किये बिना उन्हें ज्यों-का-त्यों मंच पर प्रस्तुत करना प्रारंभ किया और उन्हें सफलता भी मिली। वे अब तक साढ़े चार सौ से अधिक कहानियों को मंचित कर चुके हैं। यों, कहानियों के नाट्यरूपांतर भी होते रहते हैं। कहानियों को आधार बना कर नाट्यालेख तैयार करने की प्रवृत्ति भी साथ-साथ चल रही है। उदाहरण के लिए, चित्रा मुद्गल ने प्रेमचंद की अनेक कहानियों के नाट्यरूपांतर किये हैं, जो 2005 में तीन खंडों में प्रकाशित हुए हैं : 'सद्गति तथा अन्य नाटक', 'बूढ़ी काकी तथा अन्य नाटक' और 'पंचपरमेश्वर तथा अन्य नाटक'। कहानी के साथ 'कहानी के रंगमंच' से जुड़े रंगकर्मियों ने उपन्यासों को भी उनका नाट्यरूपांतर किये बिना मंच पर प्रस्तुत किया है।

यहां प्रश्न उठता है कि कहानियों और उपन्यासों को उनका नाट्यरूपांतर किये बिना रंगमंच पर प्रस्तुत करने के पीछे कौन-सी प्रेरणा काम कर रही है। क्या नाटकों का इतना अभाव हो गया है कि रंगकर्मियों को कहानियों व उपन्यासों की शरण में जाना पड़ा है? शायद ऐसा हो। इसमें भी संदेह नहीं कि अनेक कहानियां और उपन्यास ऐसे होते हैं, जिनमें भरपूर नाटकीयता होती है। हो

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सकता है, कोई कहानीकार या उपन्यासकार उस नाटकीयता के प्रति सजग न हो या उसमें नाट्य रचना की क्षमता न हो। प्रेमचंद कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में जितने सफल हुए, उतने नाटककार के रूप में नहीं, जबकि उन्हीं के 'गोदान', 'रंगभूमि' और 'ग़बन' उपन्यासों के नाट्यरूपांतर सफल नाटक सिद्ध हुए। प्रेमचंद के विपरीत विष्णु प्रभाकर खड़े हैं, जिन्हें अपनी कहानियों की नाटकीयता और अपनी नाट्यरचना की क्षमता का बोध नहीं था। उन्हें यह बोध कैसे हुआ और किसने दिलाया, इसका उत्तर पाने के लिए उनकी आत्मकथा के प्रथम खंड 'पंखहीन' से एक अंश को उद्धृत करना आवश्यक है। यह अंश एकांकी नाटक के इतिहास की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है :

"इसी वर्ष (1938) घटने वाली एक घटना को मैं अवश्य रेखांकित करना चाहूंगा। उन दिनों हिंदी में एकांकी बहुत कम लिखे जाते थे। इस विधा के महत्त्व को रेखांकित करते हुए 'हंस' का एक विशेषांक तभी प्रकाशित हुआ था। उसमें डॉ. रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर और अश्क आदि सृजकों के एकांकी ही नहीं प्रकाशित हुए थे, बल्कि उसकी उपयोगिता और भविष्य पर एक लंबी परिचर्चा भी छपी थी। अश्क एकांकी के भविष्य के प्रति आश्वस्त थे, जबकि चंद्रगुप्त विद्यालंकार उसे विज्ञापन के लिए होने वाले चचा-भतीजे के मसालेदार संवाद से अधिक महत्त्व नहीं देते थे।

"संयोग से मेरे विवाह में कई साहित्यकार अग्रज और मित्र भी शामिल हुए थे।...सांध्य भोज के अवसर पर साहित्यचर्चा में 'हंस' के एकांकी अंक का ज़िक्र होना स्वाभाविक था। तभी अचानक माचवे जी मेरी ओर मुड़े और बोले, 'विष्णु जी, आपकी कहानियों में संवाद अच्छे रहते हैं, आप भी एकांकी लिखिए न!'

"उस समय मैंने क्या उत्तर दिया था, आज याद नहीं आ रहा, पर यह निश्चित है कि यह संकेत मेरी उपचेतना में अंकित हो गया था, क्योंकि उस वर्ष मैंने दो एकांकी लिखे : 'हत्या के बाद' और 'मां-बाप'।" (पृ. 164)

और विष्णु प्रभाकर एक सफल एकांकीकार के रूप में स्थापित हुए। 'कहानी के रंगमंच' ने कहानियों की नाटकीयता को पहचान कर उन्हें मंच पर प्रस्तुत किया, लेकिन वे नाटक नहीं बनीं; रहीं कहानियां ही। हो सकता है, कहानियों और उपन्यासों को उनका नाट्यरूपांतर किये बिना प्रस्तुत करना रंगकर्मियों की विवशता हो, लेकिन इसका नाटकों की रचना पर प्रतिकूल प्रभाव अवश्य पड़ रहा है। आज चंद्रगुप्त विद्यालंकार की तरह कोई यह तो नहीं मानता कि एकांकी 'विज्ञापन के लिए होने वाले चाचा-भतीजे के मसालेदार संवाद से अधिक' और कुछ नहीं है, फिर भी यथार्थ यही है कि आजकल एकांकी रचना नगण्य हो रही है। क्या यह भी मांग और पूर्ति के बाज़ारवादी वातावरण का परिणाम है? कुछ भी हो, लेकिन यह चिंता का विषय है। अगर यही स्थिति रही तो एकांकी विधा भी व्यतीत विधाओं में परिगणनीय हो जायेगी।

## उपन्यास

प्रेमचंद के उपरांत हिंदी-उपन्यास कई मोड़ों से गुज़रता हुआ दिखायी पड़ता है, जिन्हें स्थूल रूप से तीन दशकों में बांटा जा सकता है—1950 तक के उपन्यास, 1950 से 1960 तक के उपन्यास और साठोत्तरी उपन्यास। पहला दशक मुख्यतः फ्रायड और मार्क्स की विचारधारा से प्रभावित है, दूसरा, प्रयोगात्मक विशेषताओं से और तीसरा, आधुनिकतावादी विचारधारा से। पहले दशक में फ्रायड से प्रभावित हो कर जिस कथा-साहित्य की रचना की गयी, उसकी पृष्ठभूमि **जैनेंद्र** पहले ही प्रस्तुत कर चुके थे। जहां प्रेमचंद ने समाज के साथ व्यक्ति के एकीकृत (एडजस्ट) होने के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रश्न को अधिक महत्त्व दिया, वहीं जैनेंद्र ने व्यक्ति की गुम होती हुई पहचान को उभार कर सामने रखा। उनके उपन्यासों में अनमेल विवाह या दहेजप्रथा जैसी समस्याएं नहीं हैं, बल्कि विवाह स्वयं में एक समस्या है, क्योंकि सारी अनिश्चितताएं उसके बाद आरंभ होती हैं। किंतु जिस मुक्ति की समस्या पर उन्होंने बल दिया, उसके आड़े आते हैं रूढ़ संस्कार, और इस प्रकार जैनेंद्र का प्रत्येक उपन्यास अंतर्विरोधों का उपन्यास बन गया है। आलोच्य युग में प्रकाशित उनके उपन्यासों—कल्याणी, सुखदा, विवर्त, व्यतीत, जयवर्धन आदि—में यह प्रवृत्ति मनोविज्ञान, दार्शनिकता, वैयक्तिकता आदि के माध्यम से विविध रूपों में उभरी है। उनके नारीपात्र यदि एक ओर समाज की मर्यादाओं को बनाये रखना चाहते हैं, वहीं दूसरी ओर अपने अस्तित्व की पहचान भी करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में आत्मयातना के अतिरिक्त और कोई राह शेष नहीं रहती। उनके पात्र समाज को न तोड़ कर स्वयं टूटते हैं, किंतु अपने को तोड़ कर किसी को निर्मित नहीं करते। नियति, ईश्वर, धर्म आदि में अटूट आस्था उनके उपन्यासों को आधुनिक नहीं बनने देती, वे रोमैंटिक 'एगोनी' का रूप ले लेते हैं।

**अज्ञेय**-कृत 'शेखर : एक जीवनी' (1941-1944) के प्रकाशन के साथ हिंदी-उपन्यास की दिशा में एक नया मोड़ आया। इस उपन्यास को ले कर आलोचकों में भारी मतभेद रहा। किसी ने इसे प्रकाशमान पुच्छल तारा कह कर प्रशंसा की, तो किसी ने अतिशय आत्मकेंद्रित बता कर इसके कथानक को असंबद्ध, विशृंखलित माना। इन विरोधी सम्मतियों से सिद्ध होता है कि कथ्य, शिल्प और भाषा की दृष्टि से यह परंपरा से हट कर एक नया प्रयोग था। जिसे आज आधुनिकता की संज्ञा दी जाती है, उसका सर्वप्रथम समावेश इसी उपन्यास में दिखायी देता है। इसका मूल मंतव्य है—स्वतंत्रता की खोज। यह खोज अपने को सबसे काट कर नहीं की गयी है, बल्कि अन्य संदर्भों में, यानी मानवीय परिस्थितियों के बीच की गयी है। उसकी तलाश में शेखर अनेक प्रकार के आंतरिक संघर्षों से जूझता और भीतरी तनावों से गुज़रता है, किंतु अपने निषेधात्मक रोमैंटिक विद्रोह को ले कर वह बहिर्मुखी नहीं हो पाता। फलवरूप सारा संघर्ष मौखिक हो कर रह जाता है, क्रिया (ऐक्ट) में नहीं बदलता। वैसे शेखर के विद्रोह के पीछे आज की पीढ़ी का विद्रोही स्वर है। वह कान्वेंट से छुटकारा पा लेता है, घर पर आये ट्यूटर को भगा देता है, 'टाइप' न बन कर अपनी निजी संभावनाओं को अन्वेषित करना चाहता है और शादी में भी मां-बाप के ख़िलाफ़ अपने निजी चुनाव का पक्षधर है।

'शेखर : एक जीवनी' के दूसरे खंड में अधिक व्यवस्था है। पहले भाग का विद्रोह सृजन की भूमिका मालूम पड़ता है, क्योंकि इसमें उसका बिखरा व्यक्तित्व संघटित हो कर रचनात्मक बनता है। किंतु राष्ट्र, राष्ट्रीयता, भाषा आदि के संबंध में उसके विचार क्रियात्मकता से न जुड़ने के कारण सतही प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर शशि और शेखर के संबंध को ले कर जो आपत्तियां उठायी जाती हैं, वे नैतिक अधिक है, वास्तविक कम। स्मरण रखना चाहिए कि शेखर विद्रोही है और समाज द्वारा निर्मित प्रतिमान उसे सह्य नहीं हैं। जिस प्रामाणिक अनुभूति की चर्चा आज की रचनाओं के संदर्भ में की जाती है, वह इस उपन्यास में पहली बार मिलती है। शेखर अपनी अनुभूतियों को निश्छल अभिव्यक्ति देता है, जो परिदृश्य उसके अनुभव के भीतर नहीं आया, वह इस उपन्यास में भी नहीं आया है। यह शेखर की कमज़ोरी और उपन्यासकार की ईमानदारी है। काल की दृष्टि से भी यह उपन्यास प्रयोगधर्मी है। इसमें एक रात में देखे गये विज़न को शब्दबद्ध करने का प्रयास है, फलस्वरूप परंपराभुक्त कालक्रमिकता के स्थान पर इसमें अनुभूति के टुकड़ों को जहां-तहां से उठा लिया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि चेतना-प्रवाह, प्रतीकात्मकता और भाषा की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आंतरिकता के कारण यह उपन्यास अपने में अप्रतिम है, पर एक तो रोमैंटिक आवेग के कारण और दूसरे, अहंकेंद्रित होने के फलस्वरूप इसका विज़न रचनात्मक बनते-बनते रह गया है।

अज्ञेय के दूसरे उपन्यास 'नदी के द्वीप' (1951) को सामान्यतः शेखर की संवेदना का विकास माना जाता है। शेखर और भुवन तथा रेखा और शशि में एक तरह का सादृश्य लगता है, पर इस पर ज़ोर नहीं देना चाहिए, 'नदी के द्वीप' को स्वतंत्रता कृति के रूप में मूल्यांकित करना अधिक संगत है। शेखर की तुलना में भुवन की तेजस्विता कृत्रिम, आरोपित और अविश्वसनीय है। वह ठीक ढंग से स्थित (सिचुएट) नहीं हो पाता, फलस्वरूप आत्मकेंद्रित और दंभी बन जाता है। 'शेखर : एक जीवनी' की शशि भी 'सिचुएटेड' चरित्र है, पर रेखा कहीं भी संदर्भित नहीं है। इसलिए उसकी बौद्धिक ऊंचाई स्वयं नदी का द्वीप है, प्रवाह से अलग। 'नदी के द्वीप' का प्रतीक पूर्णतः अर्थवान नहीं बनता, क्योंकि प्रवाह उसे काटता-छांटता, उसकी रूपरेखा को बदलता चलता है, कभी-कभी तो उसके अस्तित्व को ही समाप्त कर देता है। इसके सभी पात्र रेखा पर—सीधी रेखा पर—चलने के कारण बदलाव से नहीं टकराते। इस उपन्यास की भाषा, शिल्प, रूपविन्यास आदि की काफ़ी प्रशंसा की गयी है, किंतु भाषा के प्रति अतिरिक्त सावधानी और रचाव का ही यह फल है कि जहां 'शेखर : एक जीवनी' की भाषा अपने अनगढ़पन के बावजूद सर्जनात्मक बन पड़ी है, उसका विन्यास बिखर कर भी संघटित हो जाता है, वहीं 'नदी के द्वीप' के संघटन में ही कुछ ऐसी रिक्तता है कि उसका शिल्प वांछित प्रभाव नहीं डाल पाता। 'अपने-अपने अजनबी' (1961) अज्ञेय का तीसरा उपन्यास है, जिसमें एक प्रकार की धार्मिक दृष्टिसंपन्नता दिखायी पड़ती है। पहले दोनों उपन्यासों में यौन-कल्ट की स्थापना के साथ-साथ उन्होंने मसीहाई दृष्टिकोण भी अपनाया है, 'अपने-अपने अजनबी' इसी की फलश्रुति है। इसमें मुख्य समस्या स्वतंत्रता के वरण की है, जो संत्रास, अकेलेपन, बेग़ानगी, मृत्युबोध, अजनबीपन आदि से सहज ही संयुक्त हो गयी है। स्वतंत्रता को अहंकार से जोड़ कर अज्ञेय ने इसमें अस्तित्ववादी स्वतंत्रता के मूल अर्थ को ही बदल दिया है।

जैनेंद्र और अज्ञेय फ्रायड के मनोविज्ञान से प्रभावित हैं, तो **इलाचंद्र जोशी** उसके मनोविश्लेषण से। यद्यपि उनका पहला उपन्यास 'घृणामयी' सन् 1929 में ही प्रकाशित हो चुका था, किंतु 'संन्यासी' (1941) के द्वारा ही उन्हें उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठा मिली। इस उपन्यास में ही पहली बार मनोविश्लेषणात्मक पद्धति की विवृत्ति देखी जाती है। संन्यासी के अतिरिक्त उनके 'पर्दे का रानी' (1941), 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित' (1946), 'मुक्तिपथ' (1950), 'जिप्सी', 'जहाज़ की पंछी' (1955), 'ऋतुचक्र', 'भूत का भविष्य' (1973) आदि उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। जोशी जी के उपन्यासों की विकास-यात्रा में 'मुक्तिपथ' एक मोड़ की सूचना देता है। इसके पूर्ववर्ती उपन्यास ग्रंथियों के विश्लेषण पर आधारित हैं, उनकी भावभूमियां एकांगी, संकुचित और छोटी हैं। 'मुक्तिपथ' और उसके बाद के उपन्यासों में परिदृश्य का विस्तार और सामाजिकता का समावेश दिखायी पड़ता है। फिर भी, वे कहीं भी मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति और छायावादी संस्कारों से उबर नहीं पाते। 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' और 'प्रेत और छाया' में एबनॉर्मल चरित्रों को लिया गया है। इनके मुख्य पात्र किसी-न-किसी मनोवैज्ञानिक ग्रंथि के शिकार हैं। जब तक उन्हें ग्रंथि का रहस्य नहीं मालूम होता तब तक वे अनेक प्रकार के असामाजिक कार्यों में संलग्न रहते हैं, किंतु जिस क्षण उनकी ग्रंथियों का मूलोद्घाटन हो जाता है, उसी क्षण वे सामान्य स्थिति में पहुंच जाते हैं। 'संन्यासी' में आत्महीनता की ग्रंथि है, तो 'प्रेत और छाया' में इडिपस ग्रंथि और 'पर्दे की रानी' के पात्र भी मानसिक कुंठाओं से ग्रस्त हैं। फ्रायड के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मनोविश्लेषण का मूलाधार काम- भावना है, उसी को केंद्र में रख कर तीनों उपन्यासों के ताने-बाने बुने गये हैं। किंतु क्योंकि सभी पात्र मनोविश्लेषण के किताबी ढांचे में ढाले गये हैं, फलस्वरूप वे अपने को स्वतंत्र रूप से विकसित नहीं कर पाते और इसीलिए ये उपन्यास सहज नहीं बन पड़े हैं।

'मुक्तिपथ', 'जिप्सी' और 'जहाज़ का पंछी' में जोशी जी ने सामाजिकता का भी सन्निवेश किया है। 'मुक्तिपथ' का नायक समाजवादी विचारधारा का व्यक्ति है और नायिका का दृष्टिकोण व्यावहारिक एवं व्यक्ति-सापेक्ष है। ठीक भी है, व्यक्ति की निजी भावनाओं को सर्वथा दबा कर सामाजिक कार्यों में पूरी सफलता नहीं मिल सकती। किंतु 'जहाज़ का पंक्षी' व्यक्ति और समाज की पारस्परिक असंबद्धता का उपन्यास है। इस उपन्यास का नायक ग्रंथि से बाहर निकल कर समाज की बदबूदार गलियों का चक्कर लगाता है और निस्सहायों की सहायता करता है, पर उसके कार्य परिस्थितिजन्य उतने नहीं हैं, जितने बौद्धिक हैं। उसका भटकाव उसी के द्वरा नियोजित है, परिस्थितियों द्वारा नहीं। 'ऋतुचक्र' में जोशी जी पुनः रोमानी प्रेम की ओर उन्मुख हो गये हैं, मानो उनका प्रतिपाद्य यह है कि जीवन के चरम सत्य की उपलब्धि सेक्स में ही होती है। इसमें प्रेम के तीन आयामों का चित्रण है, आदिम गंधों का प्रेम, अस्तित्ववादी प्रेम और इन दोनों की मध्यवर्ती स्थिति का प्रेम। कथा-संरचना और अभिव्यंजनाशिल्प, दोनों की ही दृष्टि से जोशी जी इसमें छायावादी संस्कारों से मुक्त नहीं हो सके हैं, और इसीलिए इसमें नये मूल्यों का सही ढंग से आकलन नहीं हो सका है।

प्रेमचंदोत्तर उपन्यासकारों में अपनी विशिष्ट विचारधारा और सर्जनात्मक शक्ति के कारण **यशपाल** ने स्वतंत्र व्यक्तित्व बना लिया है। 'गोदान' में प्रेमचंद ने आदर्शवाद से बहुत-कुछ मुक्त हो कर जिस यथार्थवादी दृष्टिकोण को ग्रहण किया था, उसकी परंपरा को आगे बढ़ाने का श्रेय यशपाल को है। उनका प्रारंभिक जीवन क्रांतिकारी दल से संबद्ध था, फलस्वरूप मार्क्सवादी विचारधारा का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। 'अमिता' और 'दिव्या' शीर्षक ऐतिहासिक उपन्यासों को छोड़ कर उनके शेष उपन्यास समाजवादी यथार्थ का चित्र प्रस्तुत करते हैं। ये हैं : दादा कामरेड (1941), देशद्रोही (1943), पार्टी कामरेड (1946), मनुष्य के रूप (1949), झूठा सच (दो भाग, 1958, 1960), मेरी तेरी उसकी बात (1973)। 'दादा कामरेड' में पूंजीवाद, गांधीवाद और क्रांतिकारियों के आतंकवाद का विरोध करते हुए समाजवाद का समर्थन किया गया है। स्त्री को वरण की स्वतंत्रता देने का प्रश्न भी लेखक ने उठाया है। इस संदर्भ में शैला और हरीश के संबंध को ले कर नैतिकतावादी आलोचकों ने आपत्ति की है, किंतु उपन्यास के लक्ष्य के अनुरूप नारी को यह स्वतंत्रता तो देनी ही होगी। किंतु इस उपन्यास में कलात्मकता के अपेक्षित स्तर का अभाव है। 'देशद्रोही' सन् 1941 की क्रांति से संबद्ध उपन्यास है। कलागत सतर्कता के बावजूद इसमें पात्रों को विभिन्न परिस्थितियों में फेंका गया है और फिर वहां से निकाला भी गया है, फलस्वरूप सारा आयोजन सहज न हो कर आयासजन्य लगने लगता है। इसकी अपेक्षा 'पार्टी कामरेड' साफ़-सुथरा उपन्यास है, इसमें न तो काम-संबंधी लिजलिजापन है और न सैद्धांतिक अस्पष्टता। 'मनुष्य के रूप' में परिवर्तनशील मानवीय रूप के मूल में आर्थिक समस्या की भूमिका स्वीकार की गयी है और 'झूठा सच' की रचना राजनीतिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में हुई है। अपने अंतिम उपन्यास 'मेरी तेरी उसकी बात' में सन् '42 की क्रांति की पृष्ठभूमि में उन्होंने जनचेतना का चित्रण किया है।

यशपाल में कथा कहने की अद्भुत क्षमता है, पर पूर्वनिर्मित विचारधारा को रूपायित करने की उत्कट प्रेरणा के फलस्वरूप उनके उपन्यासों की पात्र-स्थितियां और परिणतियां भी पूर्वनिर्मित हो

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गयी हैं। वस्तुतः वे प्रेम को कामेच्छा के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते; ऐसी स्थिति में वे अपने बाड़े के बाहर जीवन को बृहत्तर आयामों में देख पाने में असमर्थ रहे हैं। 'झूठा सच' के प्रकाशन ने सिद्ध कर दिया कि यशपाल बहुत विशाल फलक पर जीवन के विविध रूपों, आयामों, समस्याओं और जटिलताओं को अपने ढंग से प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। इसलिए इसे औपन्यासिक महाकाव्य की संज्ञा दी जा सकती है, यद्यपि इसमें जितनी व्याप्ति है, उतनी गहराई नहीं है। यह उपन्यास 'वतन और देश' तथा 'देश का भविष्य' शीर्षक दो भागों में प्रकाशित हुआ है। देश-विभाजन की पृष्ठभूमि में इतनी बड़ी कृति की परिकल्पना और सामयिक, सामाजिक, राजनीतिक वातावरण को यथासंभव ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में चित्रित करना यशपाल के ही वश की बात थी। उपन्यास का पहला भाग देश के यथार्थ विघटन को रूपायित करता है, तो दूसरा संघटन को। विघटन का दृश्य उपस्थित करने के लिए जिस यथार्थवादी दृष्टि की आवश्यकता होती है, वह यशपाल को प्राप्त है। इसलिए प्रथम खंड अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक, यथार्थ और मार्मिक बन पड़ा है। संघटन के लिए यथार्थ की अपेक्षा विधायक कल्पना की आवश्यकता होती है। कहना न होगा कि यशपाल में इसकी कमी दिखायी पड़ती है और इसीलिए दूसरे खंड में चित्रित पात्रों की सफलताएं सपाट हो गयी हैं। फिर भी, इस खंड में देशव्यापी भ्रष्टाचार को अत्यंत निपुणता से चित्रित करते हुए विश्वसनीय बनाया गया है। किंतु दोनों भागों में कम्युनिस्ट पार्टी को जो तरजीह दी गयी है, वह लेखक की पक्षधरता की सूचक है। यद्यपि इस उपन्यास में स्थान-स्थान पर भाषा विडंबनात्मक (आइरेनिकल) हो कर मार करने वाली धार को और पैना बना देती है, किंतु मार्क्सवाद को केंद्रीय विषयवस्तु मान लेने तथा जीवन और जगत को सीधी रेखा स्वीकार करने का फल यह हुआ है कि उन्हें सत्यान्वेषण में संलग्न होने और किसी जटिल मार्ग से गुज़रने की ज़रूरत नहीं पड़ी और न ही कलागत नवीन प्रविधियों का प्रयोग करना पड़ा। अपनी इन कमज़ोरियों के कारण 'झूठा सच' को अपेक्षित रचनात्मक ऊंचाई नहीं मिल सकी, फिर भी यह हिंदी का महाकाव्यात्मक उपन्यास माना जायेगा।

यशपाल की परंपरा के उपन्यासकारों में **रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'** का नाम उल्लेखनीय है। 'चढ़ती धूप' (1945), 'नयी इमारत' (1946), 'उल्का' (1947) और 'मरुप्रदीप' (1951) उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। समाज, संस्कृति और राजनीति के संदर्भ में समकालीन परिवेश के विविध पक्षों को रूपायित करना इन उपन्यासों की मुख्य उपलब्धि है। किंतु यथार्थ के प्रति रुझान होने पर भी उपन्यासकार ने कथा-विन्यास में कल्पना की अतिशयता रखी है। यही कारण है कि इनमें जीवन की द्वंद्वात्मक चेतना अपनी पूरी शक्ति से नहीं उभर पायी।

**भगवतीचरण वर्मा** के उपन्यासों को प्रेमचंद की परंपरा, जो 1950 तक चलती रही, के अंतर्गत रखा जा सकता है। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में जहां समसामयिक समस्याओं को चित्रित किया, वहां वर्मा जी भी परिवर्तमान ऐतिहासिक धारा को मध्यवर्ग के माध्यम से अंकित करते रहे हैं। आलोच्य अवधि में प्रकाशित उनके उपन्यासों में 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', 'आख़िरी दांव', 'भूले-बिसरे चित्र', 'सामर्थ्य और सीमा', 'रेखा' और 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' मुख्य हैं। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में दो पीढ़ियों के अंतराल का चित्र प्रस्तुत करते हुए लेखक ने एक ऐसे परिवार का नक़्शा खींचा है, जो समन्वय के अभाव में विघटित हो गया। पं. रामनाथ तिवारी का व्यक्तित्व टिपिकल सामंतीय है, किंतु उनके तीनों लड़के ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध हैं, फलस्वरूप पिता और पुत्रों के बीच भी अंतराल आ जाता है। तीनों लड़कों में से एक गांधीवादी है, दूसरा आतंकवादी और तीसरा साम्यवादी। ये तीनों रास्ते टेढ़े-मेढ़े हैं और यथार्थ से परे हैं। लेखक का दृष्टिकोण नयी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पीढ़ी के प्रति अनास्थावान मालूम पड़ता है। 'आख़िरी दांव' और 'अपने खिलौने' अपनी असंगतियों तथा बिखराव के कारण साधारण स्तर के उपन्यास बन कर रह गये हैं, किंतु 'भूले-बिसरे चित्र' (1959) से उन्हें यथेष्ट ख़्याति मिली है। इसमें चार पीढ़ियों की परिवर्तमान जीवन-दृष्टियों की कथा है—सन् 1885 से 1930 तक! अर्ज़ीनवीस मुंशी शिवलाल का पुत्र ज्वालाप्रसाद अंग्रेज़ कलक्टर की कृपा से नायब तहसीलदार हो जाता है, ज्वालाप्रसाद का पुत्र गंगाप्रसाद सीधे डिप्टी कलक्टर हो जाता है और गंगाप्रसाद का पुत्र अपनी योग्यताओं के बावजूद सत्याग्रह-संग्राम में जुट जाता है। उपन्यास के प्रथम दो खंडों में सामंतीय मनोवृत्ति और नौकरशाही का चित्र प्रस्तुत किया गया है, तृतीय खंड में दिल्ली दरबार का चित्र है और चौथे में गांधीवादी आंदोलन से संबद्ध राजनीतिक समस्याओं को अंकित करने का प्रयास किया गया है। इस तरह इसमें लंबे दिक्-काल को समेट कर इसे महाकाव्योचित बनाने की चेष्टा की गयी है। लेखक ने अनगिनत पात्रों, रोचक प्रसंगों और घटना-शृंखलाओं को इस तरह अंकित किया है कि अपेक्षित कालावधि को एक व्यापक परिदृश्य दिया जा सके। किंतु कुल मिला कर उपन्यास के विभिन्न खंडों में अन्वितियों की एकतानता नहीं मिलती। इसके मूल में ऐसी कोई गहरी दृष्टि और संवेदना नहीं है, जो इसे जीवन की गहन, जटिल समस्याओं से संपृक्त कर सके। इसके पात्र भी अपने-अपने समय के सांचे में ढल कर कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं बना पाते। वे सामान्यतः भावना की सतह पर तैरते रहते हैं, गहरे डूबने का साहस उनमें नहीं है। 'सामर्थ्य और सीमा', 'रेखा' और 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' वर्मा जी के अन्य उपन्यास हैं। यदि उनके उपन्यासों के मूल स्रोत की खोज की जाये तो वह 'मनुष्य परिस्थितियों का दास है' में मिलेगा। परिस्थितियों को उन्होंने ऐतिहासिक अनिवार्यताओं की संश्लिष्टता में नहीं लिया है, वे प्रायः इकहरी होती हैं और मनुष्य उनसे पराभूत हो जाता है। फलतः पात्र रूपाकारहीन हो जाते हैं। प्रेमचंद की भांति वर्मा जी तात्कालिकता को तीख़ेपन के साथ चित्रित नहीं कर पाते। उन्हें प्रेमचंद की परंपरा में इसी अर्थ में स्थान दिया जा सकता है कि उन्होंने अपने उपन्यासों में परवर्ती ऐतिहासिक परिस्थितियों का आकलन किया है। फिर भी, बहुत-सी समस्याएं वे ही हैं जिन्हें प्रेमचंद ने 'गोदान' के पूर्ववर्ती उपन्यासों में प्रस्तुत किया था। भगवतीचरण वर्मा को 'गोदान' की परंपरा का उपन्यासकार न मान कर 'सेवासदन', 'रगंभूमि' और 'ग़बन' की परंपरा का उपन्यासकार माना जायेगा।

वर्मा जी की भांति **उपेंद्रनाथ अश्क** को भी प्रेमचंद-परंपरा का उपन्यासकार कहा जाता है, पर समग्र अर्थ में वे इस परंपरा से जुड़ नहीं पाते। जहां तक मध्यवर्गीय परिवारों और व्यक्तियों की परिस्थितियों, समस्याओं और परिवेश का संबंध है, वहां तक वे प्रेमचंद परंपरा के उपन्यासकार हैं, बल्कि प्रेमचंद की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी और प्रामाणिक भी हैं। किंतु प्रेमचंद के वैविध्य और जीवन-चेतना का उनमें अभाव है। छायावादोत्तर काल में रचित उनके उपन्यासों में 'गिरती दीवारें' (1947) सर्वोत्तम है। यथार्थवादी परंपरा के उपन्यासों में यह अपना ऐतिहासिक स्थान रखता है। इसके पूर्व यथार्थवादी परंपरा का शायद ही कोई ऐसा उपन्यास हो, जो मध्यवर्ग की विवशता, हार, लाचारी और संघर्ष को वास्तविकता की भूमि पर प्रतिष्ठित कर सका हो। उपन्यास का मुख्य पात्र चेतन न केवल आर्थिक परिस्थितियों से जूझते हुए अपने आदर्शों को तोड़ने के लिए बाध्य होता है, अपितु वह काम-कुंठाओं से भी ग्रस्त है। उसकी समस्या आर्थिक उतनी नहीं मालूम पड़ती, जितनी की कामजन्य। फिर भी, यह उपन्यास मध्यवर्गीय नैतिक वर्जनाओं को तोड़ने की प्रेरणा देता है और यही इसकी सफलता का रहस्य है। 'शहर में घूमता आईना' और 'एक नन्ही कंदील' इस उपन्यास के अगले खंड हैं और अपने-आपमें पूर्ण हैं। दोनों ही उपन्यासों में चेतन के जीवन के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अनेकानेक संस्मरण संगृहीत हैं जिनमें तथ्यात्मकता तो दिखायी देती है, पर पाठक को इन फीके और बेस्वाद संस्मरणों से क्या लेना-देना है? स्मृति कौंधी नहीं कि पिछले जीवन का काफ़ी हिस्सा प्रकाश के वृत्त में आ गया और उपन्यास में कई पृष्ठ जुड़ गये। चेतन जहां कहीं ज्ञान की बातें करता है, वहां पूरा मिडियाकर लगता है। शिल्प के अनेकानेक उपकरणों का चुनाव इन उपन्यासों में प्राणप्रतिष्ठा नहीं कर सका। 'गिरती दीवारें' की भांति 'गर्म राख' (1952) भी अश्क का सफल यथार्थवादी उपन्यास है। 'बड़ी-बड़ी आंखें' (1954) देखने में रोमानी लगता है, पर इसका मुख्य स्वर संस्थाओं के खोखलेपन को उजागर करने से संबद्ध है। प्रेमचंद-युग में संस्थाएं महत्त्वपूर्ण थीं, पर कालांतर में वे अर्थहीन हो गयीं। 'पत्थर-अल-पत्थर' (1957) में यदि लेखक ट्रेवलॉग के चक्कर में न पड़ता, तो मानवीय आंतरिकता को उभार पाने की संभावनाएं उसमें थीं।

इधर के उपन्यासकारों में **अमृतलाल नागर** का विशेष स्थान है। उन्होंने अपने उपन्यासों में व्यक्ति और समाज के सापेक्षिक संबंधों को चित्रित किया है। 'नवाबी मसनद', 'सेठ बांकेमल', 'महाकाल', 'बूंद और समुद्र', 'अमृत और विष', 'शतरंज के मोहरे', 'सुहाग के नूपुर', 'एकदा नैमिषारण्ये' और 'मानस का हंस' उनके प्रकाशित उपन्यास हैं। अपने विस्तार और गहराई के कारण 'बूंद और समुद्र' इनमें विशेष महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। 'बूंद और समुद्र' क्रमशः व्यक्ति और समाज के प्रतीक हैं। लखनऊ के चौक के रूप में इसमें भारतीय समाज के विभिन्न रूपों, रीति-नीतियों, आचार-विचारों, जीवनदृष्टियों, मर्यादाओं, टूटती और निर्मित होती हुई व्यवस्थाओं के अनगिनत चित्र हैं। इस उफनते हुए समुद्र में व्यक्ति-बूंद की क्या स्थिति है, यह उपन्यास का मुख्य प्रतिपाद्य है। उपन्यास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पात्र ताई व्यक्ति और समाज के संघातों की अत्यंत प्रभावशाली ट्रेजेडी है, पर अन्य पात्र वैचारिक अधिक और जीवंत कम बन पड़े हैं। एक दूसरे स्तर पर इसमें आज के बुद्धिजीवी का संकट भी चित्रित किया गया है। हमारा समाज अनेक प्रकार के स्वार्थों और पाखंडों में लिप्त हो कर मूल्यहीन हो गया है, पर बुद्धिजीवी का संघर्ष मूल्यान्वेषण में सलंग्न दीख पड़ता है। लेकिन अंततोगत्वा उसे भी अपने आदर्श खोखले प्रतीत होते हैं। जो लोग इसमें आधुनिकताबोध को खोजना चाहेंगे, उन्हें निराश होना पड़ेगा। यह प्रेमचंद-परंपरा की—यथार्थ और आदर्श के समन्वय तथा व्यष्टि और समष्टि के पारस्परिक संबंधों की अत्यंत रोचक शैली में लिखी गयी विशिष्ट औपन्यासिक कृति है। 'अमृत और विष' उनका दूसरा बृहत्काय उपन्यास है। इसमें भी अनेक प्रकार की जीवन-स्थितियों, आंदोलनों और रीति-रिवाजों के ब्यौरों को अंकित किया गया है। किंतु अपने अतिरिक्त फैलाव के फलस्वरूप यह उपन्यास गहरे जीवन से रिक्त हो कर विवरणात्मक हो गया है। उनका एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपन्यास है, 'मानस का हंस' (1972)। इसमें गोस्वामी तुलसीदास के जीवनवृत्त को सफल औपन्यासिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया है। ऐतिहासिक संदर्भों के अनुरूप तथ्य-संपादन मात्र की शैली न अपना कर इसमें रोमानी कल्पना का भी सहज सन्निवेश किया गया है।

## ऐतिहासिक उपन्यास

हिंदी-उपन्यासों के विकास के इस दौर में इतिहास-संबंधी नया दृष्टिकोण सामने आया। इसके पूर्व किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में तथ्यों और कल्पना के रचनात्मक पक्ष की चिंता न कर उनमें कौतूहल, उत्सुकता, साहसिकता, मनोरंजन और रोमांस को प्रमुखता दी थी। वृंदावनलाल वर्मा के प्रारंभिक उपन्यासों में भी ये तत्त्व लक्षित होते हैं, पर रोमैंटिक आदर्श और आंचलिकता के पुट के कारण वे संयमित हो गये हैं या यों कहें कि उनमें इतिहास और कल्पना

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का समन्वय दिखायी पड़ता है। चतुरसेन शास्त्री मूलतः गोस्वामी जी की परंपरा के उपन्यासकार हैं, पर उन तत्त्वों के कारण उनके उपन्यासों में परिस्थितिपरक तीव्रता भी आयी है। नये ऐतिहासिक दृष्टिकोण को ग्रहण करने वालों में हजारीप्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, यशपाल और रांगेय राघव विशेष उल्लेखनीय हैं।

**वृंदावन लाल वर्मा** ने यों तो सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं, पर उनकी ख्याति विशेषतः 'विराटा की पद्मिनी', 'झांसी की रानी', 'कचनार', 'मृगनयनी', 'अहिल्याबाई', 'माधोजी सिंधिया', 'भुवनविक्रम' आदि ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए है। इनमें 'झांसी की रानी' और 'मृगनयनी' मुख्य हैं। 'झांसी की रानी' में किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों जैसा रोमांस नहीं है, किंतु अत्यधिक तथ्याश्रयी और विवरणात्मक हो जाने के कारण यह उपन्यास इतिवृत्तात्मक हो गया है। इसके विपरीत 'मृगनयनी' में तत्कालीन परिवेश को उसकी समग्रता में आकलित करने का प्रयास दिखायी पड़ता है। बीच-बीच में ऐसे प्रसंग भी आ गये हैं, जो आज की समस्याओं से भी जुड़ जाते हैं। किंतु, पूरे उपन्यास को इस धरातल पर नहीं उतारा गया है। उपन्यासकार ने ग्वालियर के महाराज मानसिंह और ग्रामीण मृगनयनी के प्रणय-रोमांस के ताने-बाने में उस समय के सांस्कृतिक वातावरण को उसके विभिन्न आयामों में चित्रित करके एक कालखंड को जीवंत बना दिया है। तत्कालीन धर्म, राजनीति, चित्रकला, संगीतकला और वास्तुकला को इनके ब्यौरों और अंतर्विरोधों सहित इस रूप में चित्रित किया गया है कि यह उपन्यास सांस्कृतिक उपलब्धि बन गया है। वस्तुतः स्कॉट की भांति वर्मा जी ने भी अपने उपन्यासों में अपनी जन्मभूमि की राजनीतिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक समग्रता का जो सजीव चित्र उभारा है वह अद्वितीय बन पड़ा है।

हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में दूसरा उल्लेखनीय नाम **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी** का है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारुचंद्रलेख' और 'पुनर्नवा' के अतिरिक्त उनका एक अन्य उपन्यास 'अनामदास का पोथा' प्रकाशित हुआ है। द्विवेदी जी के उपन्यास इतिहास के तथ्यों पर आधारित नहीं हैं, उनमें कल्पना के आधार पर ऐतिहासिक वातावरण की अर्थवान सृष्टि की गयी है। यह अर्थवत्ता उनके नये ऐतिहासिक दृष्टिकोण की देन है। वे किसी कालखंड को जीवंत रूप में प्रस्तुत करने के साथ-साथ उसे आज की ज्वलंत समस्याओं के साथ भी जोड़ते चलते हैं और इस संदर्भ में ही समग्रतः उनका गंभीर जीवनदर्शन भी प्रतिफलित हो जाता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में उन्होंने मध्यकालीन जड़ता पर प्रहार करते हुए उसे आधुनिक चैतन्य से संपृक्त किया है। अनेक प्रकार की विरोधी धर्म-साधनाओं के कारण समाज अनेकशः विभक्त और खंडित हो चुका था, राजनीतिक स्थिति अस्थिर और चंचल थी। उपन्यासकार ने इन अस्थिरताओं और विघटनों के बीच नये मूल्यों की खोज करने की कोशिश की है। सारा समाज एक प्रकार के अवरोध में है। भट्टिनी, महामाया, निपुणिका, सुचरिता, यहां तक कि बाणभट्ट भी अवरुद्ध है। संपूर्ण मध्यकाल की इस गतिशून्यता को लक्षित करके ही बाणभट्ट ने कहा है, ''न जाने क्यों मुझे लग रहा था कि नीचे से ऊपर तक सारी प्रकृति में एक अवश अवसाद की जड़िमा छायी हुई है।'' इसमें व्यष्टि और समष्टि का अद्भुत समन्वय मिलता है, प्रत्येक पात्र का अपना निजी वैशिष्ट्य है, जो समष्टि से संसिक्त हो कर चमक उठता है। यह एक क्लासिकल रोमैंटिक उपन्यास है। अपने बंध, चित्रण, वर्णन-शिल्प और शैली में यह क्लासिकल है और प्राणगत ऊष्मा में रोमैंटिक। बाणभट्ट की अलंकृत शैली में लिखा जाने पर भी यह गत्यात्मक है, काव्यात्मकता ही इसकी भाषा और वस्तु दोनों है। दूसरी ओर, इस उपन्यास की तुलना में 'चारुचंद्रलेख' अनाकर्षक और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

फीका मालूम पड़ता है। इसके विन्यास का बिखराव मूलवर्ती दृष्टि का ही बिखराव है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में लोककथा के तत्त्व विश्वनीय यथार्थ बन कर रचनात्मक हो गये हैं, पर 'चारुचंद्रलेख' में इन्होंने कुतूहल, विस्मय, रोमांस और रहस्य की सृष्टि की है। संरचना के स्तर पर इनका उपयोग नहीं हो सका है। 'बाणभट्ट की आत्ममथा' की भांति इसमें प्रतीक, बिंब, मिथक आदि का प्रयोग भी मिलता है, पर प्रथम में इनके द्वारा काव्यानुभूति की चेतना निबद्ध होती है, तो दूसरे में ये उपकरण अलंकरण बन कर रह जाते हैं।

**यशपाल**-कृत 'दिव्या' भी कल्पनाश्रित ऐतिहासिक उपन्यास है। लेखक ने इसे मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विन्यस्त किया है, पर कलात्मक सावधानी के कारण वह अवरुद्ध नहीं दिखायी पड़ता। अभिजातीय मान्यताओं और अवरोधों के कारण दिव्या को अनेक प्रकार के संघर्ष झेलने पड़ते हैं, जिनके संदर्भ में लेखक ने धर्माडंबर, वर्णभेद, दासप्रथा आदि से उत्पन्न परिस्थितियों का मार्मिक दृश्यांकन किया है। भगवतीचरण वर्मा-कृत 'चित्रलेखा' से तुलना करने पर इन उपन्यासों का अंतर और भी स्पष्ट हो जाता है। वर्मा जी के पास जीवनदृष्टि का अभाव है, जबकि यशपाल उससे विरहित हो कर कुछ भी नहीं लिखते। इसलिए जहां 'चित्रलेखा' का फलक परिस्थितियों के चौखटे में बंध कर संकीर्ण और एकांगी हो गया है और उसमें जीवन की कोई राह दिखायी नहीं देती, वहां 'दिव्या' में राह की खोज है। अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण यह एक हद तक रोमांस-विरोधी उपन्यास बन गया है। रोमांस-विरोधी स्थितियों ने इसके विन्यास को यथार्थवादी और नाटकीय रूप देने में मदद की है। 'अमिता' यशपाल का दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास है, किंतु इसमें बौद्धिकता और यथार्थ की वह ऊंचाई नहीं आ पायी है।

यशपाल की भांति **राहुल सांकृत्यायन** और **रांगेय राघव** के ऐतिहासिक उपन्यासों में भी मार्क्सवादी जीवनदृष्टि की स्थापना मिलती है। 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' राहुल जी के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास हैं जिनमें क्रमशः लिच्छवि गण और यौधेय गण के संघर्ष चित्रित हैं। इसी भांति रांगेय राघव ने 'मुर्दों का टीला' में मोहनजोदड़ो के गणतंत्र का चित्रण किया है। **चतुरसेन शास्त्री**-कृत 'वैशाली की नगरवधू' भी गणतंत्र से संबद्ध है। इन उपन्यासों की तुलना करने पर यह कहा जा सकता है कि जहां राहुल के उपन्यासों पर मार्क्सवादी जीवनदर्शन का लदाव उनके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को बहुत-कुछ धूमिल और असंगतिपूर्ण बना देता है और 'वैशाली की नगरवधू' पर आधुनिक जीवन को लाद कर तत्कालीन इतिहास की प्रामाणिकता को ही संदिग्ध बना दिया गया है, वहीं 'मुर्दों का टीला' में इतिहास और मार्क्सवादी जीवनदर्शन संबंधी उपर्युक्त असंगतियां नहीं मिलतीं।

सामान्यतः सन् 1950 के बाद के दशक को भ्रमवश आंचलिक उपन्यासों का दशक मान लिया जाता है और इन उपन्यासों को सद्यःस्वतंत्र भारत के उल्लास के साथ जोड़ कर ऐतिहासिक दृष्टि को सरलीकृत कर लिया जाता है, किंतु वस्तुतः ये उपन्यास एक नये प्रकार के मुक्ति-आंदोलन से जुड़े हुए हैं, जो एक ओर वैयक्तिक है तो दूसरी ओर सामाजिक। वैयक्तिक इसलिए कि वह पुराने नैतिक मूल्यों से मुक्त हो कर खुले वातावरण में सांस लेना चाहता है और सामाजिक इसलिए कि आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होने के लिए अभी समाज को लंबी मंज़िल तय करनी थी। देश-विभाजन के कारण जो नयी समस्याएं उत्पन्न हुईं, उन्हें भी औपन्यासिक रूप दिया गया, अतः यह स्वाभाविक था कि पूर्ववर्ती पैटर्न के साथ-साथ नये रूपाकारों की खोज की जाती। अज्ञेय-कृत 'नदी के द्वीप' (1951) को रोमैंटिक क़िस्म के व्यक्तिवादी उपन्यासों का चरम विकास समझना चाहिए, किंतु इस तरह के उपन्यासों की संभावनाएं क्रमशः समाप्त हो गयीं। इसी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समय के आसपास देवराज का 'पथ की खोज', नागार्जुन का 'बलचनमा', भारती का 'सूरज का सातवां घोड़ा', रुद्र का 'बहती गंगा' और रेणु का 'मैला आंचल' (1954) उपन्यास प्रकाशित हुए। इन सभी उपन्यासों में जूझते हुए व्यक्तियों और समाज की आस्थाओं को देखा जा सकता है। निश्चय ही ये आस्थाएं स्वतंत्र देश के उल्लास और मनोबल से अनुप्रेरित हैं। प्रवृत्ति की दृष्टि से सन् 1950 के बाद के उपन्यासों को इन वर्गों में बांटा जा सकता है : ग्रामांचल के उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास, सामाजिक चेतना के उपन्यास, प्रयोगशील उपन्यास और आधुनिकताबोध के उपन्यास।

**ग्रामांचल के उपन्यास :** इस श्रेणी में आने वाले उपन्यासों को आंचलिक कह कर उन्हें सीमित कर दिया जाता है। रेणु के 'मैला आंचल' के प्रकाशन के पूर्व नागार्जुन का 'बलचनमा' (1952) प्रकाशित हो चुका था, पर इसे आंचलिक नहीं कहा गया, यद्यपि इसमें आंचलिकता का कम रंग नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि प्रेमचंद ने भी ग्रामकथाएं ली हैं, उन्हें भी आंचलिक क्यों न कहा जाये? प्रेमचंद के उपन्यासों में गांव के निवासियों की कथाएं तो हैं, पर जिन उपन्यासों को ग्रामांचल के उपन्यास कहा जाता है, उनमें गांव की धरती, खेत-खलिहान, नदी-नाले, डबरे, पशु-पक्षी, हल-बैल, भाषा, गीत, त्योहार आदि इनके बीच रहने वाले व्यक्तियों के साथ समवेत रूप में वाणी पाते हैं। तात्पर्य यह है कि उपन्यास के पात्रों के साथ उनका परिवेश भी बोलता है। रेणु ने अपने उपन्यासों में ग्रामांचल को जो प्रधानता दी है, उसके आधार पर केवल उन्हीं की कृतियों को 'आंचलिक' कहा जाना चाहिए।

**नागार्जुन** के उपन्यासों में दरभंगा व पूर्णिया ज़िले का राजनीतिक व सांस्कृतिक साक्षात्कार होता है, राजनीतिक अधिक, सांस्कृतिक कम। जहां तक विषयवस्तु के चुनाव का संबंध है वे प्रेमचंद की परंपरा में आते हैं, पर दृष्टिबिंदु के हिसाब से वे यशपाल की परंपरा के लेखक हैं, किंतु इन दोनों को समन्वित करना कठिन हो गया है। यशपाल कथावस्तु का चुनाव अपने दृष्टि-बिंदु के अनुरूप करते हैं, इसलिए उनकी औपन्यासिकता क्षरित नहीं होती, जबकि नागार्जुन का मार्क्सवादी दृष्टिकोण गांव की थीम पर आरोपित प्रतीत होता है। उनके उपन्यासों के कथानक स्वयं विकसित न हो कर पूर्वनिर्धारित योजना के अनुसार चलते हैं, फलस्वरूप उपन्यासों की सर्जनात्मकता शिथिल और अवरुद्ध हो गयी है। 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'नयी पौध', 'बाबा बटेसरनाथ', 'दुखमोचन', 'वरुण के बेटे' आदि उनके प्रकाशित उपन्यास हैं।

**फणीश्वरनाथ रेणु** के उपन्यास ही सही अर्थों में 'आंचलिक' हैं। सत्य तो यह है कि 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' में ग्रामांचलों के जितने विशद और सवाक् चित्र देखने को मिलते हैं, उतने अन्य तथाकथित आंचलिक उपन्यासों में नहीं। इन दोनों उपन्यासों में ग्रामांचल की छोटी-छोटी घटनाओं, कथाओं, आचार-विचार, रीति-नीति, राजनीतिक व नैतिक अवधारणाओं, पारस्परिक संबंधों आदि के विश्लिष्ट चित्र मिलते हैं, तो पूरे अंचल के संदर्भ में संश्लिष्ट और गत्यात्मक हो गये हैं। आधुनिकतावादी उपकरणों के सन्निवेश से गांव का वातावरण अपने-आप बदलने लगता है। इस बदलाव में ही अवसरवादी कांग्रेसियों (स्वतंत्रता के बाद अधिकांश कांग्रेसी अवसरवादी हो चुके हैं) के नक़ाब उतार कर युवा पीढ़ी के संघर्षों को जिस ढंग से चित्रित किया गया है, वह रेणु की ऐतिहासिक धारा की पहचान का सूचक है। पर यह पहचान अपने रूपायन और परिणति में रोमैंटिक तथा आदर्शवादी है। फिर भी, रेणु के आंचलिक उपन्यासों में एक विशिष्ट संपूर्णता दिखायी देती है, जो आगे लिखे जाने वाले ग्रामांचलीय उपन्यासों के विकास में बाधक सिद्ध हुई।

**उदयशंकर भट्ट** का 'सागर, लहरें और मनुष्य' (1956) भी इस धारा की प्रसिद्ध कृति है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इसमें बंबई के पश्चिमी तट पर बसे हुए बरसोवा गांव के मछुआरों की जीवनकथा वर्णित है। नगर के संपर्क में आ कर गांव की एकांगिता में दरारें पड़ने लगती हैं और वह बदलाव की प्रक्रिया से गुज़रने लगता है। यह बदलाव नवीन परिस्थितियों की अनिवार्यता है। उपन्यास की रत्ना गांव की रूढ़ियों को तोड़ कर पूंजीवादी यातना में जा फंसती है। आधुनिकतावादी पूंजीवाद की मानवीय नियति यही है। **रांगेय राघव** ने 'कब तक पुकारूं' में जरायाम-पेशा नटों की ज़िंदगी को उजागर किया है, तो **भैरवप्रसाद गुप्त** का 'सत्ती मैया का चौरा' मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लिखा गया उपन्यास है। इन उपन्यासों की मुख्यतः दो विशेषताएं हैं—परिवर्तमान गांवों के प्रति आशावादी दृष्टिकोण तथा स्थानीय रंग। इन्हें रोमैंटिक यथार्थ के उपन्यास कहना अधिक समीचीन होगा।

ग्रामांचल को आधार बना कर राही मासूम रजा, शिवप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र, हिमांशु श्रीवास्तव आदि ने भी उपन्यास लिखे हैं। **राही** का 'आधा गांव' शिया मुसलमानों की ज़िंदगी पर लिखा गया पहला उपन्यास है। इसमें भारत-विभाजन के पहले और बाद की ज़िंदगी को उभारा गया है। तनहाई और टूटन इसमें एक विशेष ऐतिहासिक संदर्भ में चित्रित हैं, जिन्हें आधुनिकता-बोध के साथ नहीं जोड़ा जाना चाहिए। पर राष्ट्रीय आकांक्षाओं के संदर्भ में यह उपन्यास तीखा दर्द उभारता है। **शिवप्रसाद सिंह** ने अपने उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' में आधुनिकता-बोध का सन्निविष्ट करने की कोशिश की है। इसमें उस परिवेश का चित्रण है, जिसमें नये-पुराने मूल्यों, नयी-पुरानी पीढ़ी, भिन्न-भिन्न वर्गों और जातियों की टकराहट में सारे मूल्य गड्डमड्ड हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी वैतरणी में घिर जाता है, 'गा चह पार जतन बहु हेरा, पावत नाव न बोहित बेरा।' वैतरणी को पार न करने का मतलब है नरक। गांव नरक हो गये हैं, जहां अलगाव और टूटन कई स्तरों पर घटित होते हैं—वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा समूचे गांव के स्तर पर। इस उपन्यास में जिस गांव की परिकल्पना की गयी है, वह पिछली परिकल्पनाओं से भिन्न है। **रामदरश मिश्र**-कृत 'पानी की प्राचीर', 'जल टूटता हुआ' तथा 'सूखता हुआ तालाब' और **हिंमाशु श्रीवास्तव** का 'रथ के पहिये' भी अपने-अपने ढंग से प्रभावशाली ग्रामांचलीय उपन्यास हैं। रामदरश मिश्र का उपन्यास 'जल टूटता हुआ' उत्तरप्रदेश के कछार अंचल की दमघोंट समस्याओं, विसंगतियों, अभावों और आंतरिक संदर्भों को तीव्रता से अभिव्यक्त करने वाली एक सशक्त कृति है। आधुनिकीकरण और बाहरी सभ्यता के संक्रमण के बीच निरंतर बदल रहे गांवों के विभिन्न आयामों को इस उपन्यास में उद्घाटित किया गया है।

ग्रामांचल को महत्त्व देने वाले अन्य उपन्यासकारों में राजेन्द्र अवस्थी (जंगल के फूल, जाने कितनी आंखें), विवेकीराय (बबूल), उदयराज सिंह (अंधेरे के विरुद्ध) और सच्चिदानंद धूमकेतु (माटी की महक) भी उल्लेखनीय हैं।

**मनोवैज्ञानिक उपन्यास :** मनोविज्ञान को प्रमुखता देने वाले इधर के उपन्यासकारों में धर्मवीर भारती और देवराज मुख्य हैं। **धर्मवीर भारती** का 'गुनाहों का देवता' अपनी कैशोर्य भावुकता तथा रूमानियत के कारण काफ़ी लोकप्रिय हुआ। 'पथ की खोज', 'बाहर-भीतर', 'रोड़े और पत्थर', 'अजय की डायरी' और 'मैं, वे और आप' **देवराज** के उपन्यास हैं। इन सभी की मूलवर्तिनी धारा है—विवाह के बाहर का प्रेम। देवराज ने इसे विकासमान जीवन की अनिवार्यता माना है। लोकाचार और आंतरिकता की टकराहट उनके सभी उपन्यासों में है। 'पथ की खोज' और 'बाहर-भीतर' में इस टकराहट का स्वरूप बहुत-कुछ रोमानी ही है, पर 'अजय की डायरी' में दार्शनिकता का आधार लेते हुए लेखक ने धर्म और नैतिकता को आंतरिकता में अंतर्भुक्त कर दिया है। मनोविश्लेषण और व्यक्ति-चेतना पर बल देने वाले अन्य उपन्यासों में 'अंतराल' और 'बीच

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का समय' भी उल्लेखनीय हैं।

**सामाजिक चेतना के उपन्यास :** मन्मथनाथ गुप्त, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय, लक्ष्मीनारायण लाल, राजेंद्र यादव आदि नवीन सामाजिक चेतना के उपन्यासकार हैं। इनमें से पहले तीन मार्क्सवादी दृष्टिकोण के प्रतिबद्ध लेखक हैं। **मन्मथनाथ गुप्त** का 'बहता पानी' (1955), **भैरवप्रसाद गुप्त** के 'मशाल' और 'गंगा मैया' तथा **अमृतराय**-कृत 'बीज', 'नागफनी का देश' और 'हाथी के दांत' वर्ग-संघर्ष और प्रगति के मिथक के सूचक उपन्यास हैं। देश के शैक्षिक वातावरण से संबद्ध 'अपना मोर्चा' (काशीनाथ सिंह) भी इसी शैली का मार्क्सवादी उपन्यास है। **लक्ष्मीनारायण लाल** ने 'मन वृंदावन', 'धरती की आंखें', 'काले फूल का पौधा' और 'रूपाजीवा' में परले स्तर की सामाजिक चेतना को उभारने की कोशिश की है। 'धरती की आंखें' एकदम रोमानी है, अनेक विसंगतियों और घटनाओं से भरा हुआ, किंतु 'काले फूल का पौधा' चरित्र-चित्रण, संस्कृति-संघर्ष और नव्यतर तकनीक के कारण विशिष्ट बन पड़ा है। 'प्रेत बोलते हैं', 'उखड़े हुए लोग' और 'एक इंच मुसकान' (मन्नू भंडारी के साथ सहयोगी लेखन) **राजेंद्र यादव** के उपन्यास हैं। 'उखड़े हुए लोग' में कथा-विन्यास सुसंबद्ध है। आज की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था व्यक्ति के आदर्शवादी सपनों को नष्ट कर उसे समझौतावादी बनने के लिए किस प्रकार बाध्य करती है, यही इसका मुख्य प्रतिपाद्य है। यदि कथा के साथ वैचारिकता का अंतराल न होता तो इसकी औपन्यासिकता और अधिक सार्थक प्रतीत होती। 'एक इंच मुसकान' खंडित व्यक्तित्व वाले आधुनिक व्यक्तियों की प्रेम-ट्रेजेडी है, आत्मनिर्वासन से ग्रस्त अमर अैर अमला प्रेम के छलावे में पड़ कर निषेधात्मक मूल्यों तक ही पहुंचते हैं। यादव के अन्य उपन्यासों की अपेक्षा यह उपन्यास कहीं अधिक समकालीन और महत्त्वपूर्ण है। सामाजिक चेतना को सशक्त अभिव्यक्ति देने वाले कुछ अन्य उपन्यास हैं : 'गली आगे मुड़ती है' (शिवप्रसाद सिंह), 'धूपछांही रंग' (गिरीश अस्थाना) और 'उसका घर' (मेहरुन्निसा परवेज़)।

**प्रयोगशील उपन्यास :** कविता में नये प्रयोगों के साथ-साथ कहानी, उपन्यास आदि में भी नये प्रयोग हुए। पूर्ववर्ती लेखकों में जैनेंद्र और अज्ञेय ने प्रयोगों में कहानी और चरित्र का पूरा ध्यान रखा था, पर इस दौर में कहानी का तत्त्व क्षीण हो गया, जिससे कथानक का पुराना रूप विघटित हो गया तथा अपने क्रियाकलाप के प्रति सचेत एवं तराशे हुए पात्र नहीं रह गये। ज़िंदगी पूरे तौर पर विश्लेषित न हो कर चेतना-प्रवाह और स्वप्न-सृष्टि के साथ जुड़ गयी। प्रतीक, टाइम-शिफ्ट आदि के द्वारा उपन्यासों में नये शिल्प के दर्शन हुए। प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', गिरिधर गोपाल, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के उपन्यास इसी श्रेणी के हैं। इस संदर्भ में **माचवे** के 'परंतु', 'सांचा' और 'द्वाभा' का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें न तो व्यवस्थित कथानक है और न चरित्रनिर्माण। लेखक ने चेतनाप्रवाह-प्रणाली के पुराने नैतिक मूल्यों पर प्रहार करते हुए नये मूल्यों की तलाश की है, किंतु शिल्पगत अनेक प्रयोगों के बावजूद वैचारिकता की प्रधानता ने इनकी औपन्यासिकता को ढंक लिया है। **भारती** ने 'सूरज का सातवां घोड़ा' में जो प्रयोग किया है, वह सोद्देश्य है। छोटे फलक पर विस्तृत जीवनानुभूतियों को चित्रित करने की बाध्यता के कारण उन्हें यह ढंग अपनाना पड़ा। 'अलिफलैला' और 'पंचतंत्र' के ढंग पर लिखी गयी सात अलग-अलग कहानियां क़िस्सागो माणिक मुल्ला के व्यक्तित्व से जुड़ कर उपन्यास बन जाती हैं। इसकी रचना आर्थिक-सामाजिक पृष्ठभूमि में हुई है। बीच-बीच में आये हुए व्यंग्य ने उपन्यास की धारा को और तेज़ कर दिया है। पर सपने भेजने वाले सूरज के सातवें घोड़े से उपन्यास की यथार्थता क्षतिग्रस्त हो गयी है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इसमें बंबई के पश्चिमी तट पर बसे हुए बरसोवा गांव के मछुआरों की जीवनकथा वर्णित है। नगर के संपर्क में आ कर गांव की एकांगिता में दरारें पड़ने लगती हैं और वह बदलाव की प्रक्रिया से गुज़रने लगता है। यह बदलाव नवीन परिस्थितियों की अनिवार्यता है। उपन्यास की रत्ना गांव की रूढ़ियों को तोड़ कर पूंजीवादी यातना में जा फंसती है। आधुनिकतावादी पूंजीवाद की मानवीय नियति यही है। **रांगेय राघव** ने 'कब तक पुकारूं' में जरायाम-पेशा नटों की ज़िंदगी को उजागर किया है, तो **भैरवप्रसाद गुप्त** का 'सत्ती मैया का चौरा' मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लिखा गया उपन्यास है। इन उपन्यासों की मुख्यत: दो विशेषताएं हैं—परिवर्तमान गांवों के प्रति आशावादी दृष्टिकोण तथा स्थानीय रंग। इन्हें रोमैंटिक यथार्थ के उपन्यास कहना अधिक समीचीन होगा।

ग्रामांचल को आधार बना कर राही मासूम रजा, शिवप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र, हिमांशु श्रीवास्तव आदि ने भी उपन्यास लिखे हैं। **राही** का 'आधा गांव' शिया मुसलमानों की ज़िंदगी पर लिखा गया पहला उपन्यास है। इसमें भारत-विभाजन के पहले और बाद की ज़िंदगी को उभारा गया है। तनहाई और टूटन इसमें एक विशेष ऐतिहासिक संदर्भ में चित्रित हैं, जिन्हें आधुनिकता-बोध के साथ नहीं जोड़ा जाना चाहिए। पर राष्ट्रीय आकांक्षाओं के संदर्भ में यह उपन्यास तीखा दर्द उभारता है। **शिवप्रसाद सिंह** ने अपने उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' में आधुनिकता-बोध का सन्निविष्ट करने की कोशिश की है। इसमें उस परिवेश का चित्रण है, जिसमें नये-पुराने मूल्यों, नयी-पुरानी पीढ़ी, भिन्न-भिन्न वर्गों और जातियों की टकराहट में सारे मूल्य गड्डमड्ड हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी वैतरणी में घिर जाता है, 'गा चह पार जतन बहु हेरा, पावत नाव न बोहित बेरा।' वैतरणी को पार न करने का मतलब है नरक। गांव नरक हो गये हैं, जहां अलगाव और टूटन कई स्तरों पर घटित होते हैं—वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा समूचे गांव के स्तर पर। इस उपन्यास में जिस गांव की परिकल्पना की गयी है, वह पिछली परिकल्पनाओं से भिन्न है। **रामदरश मिश्र**-कृत 'पानी की प्राचीर', 'जल टूटता हुआ' तथा 'सूखता हुआ तालाब' और **हिंमाशु श्रीवास्तव** का 'रथ के पहिये' भी अपने-अपने ढंग से प्रभावशाली ग्रामांचलीय उपन्यास हैं। रामदरश मिश्र का उपन्यास 'जल टूटता हुआ' उत्तरप्रदेश के कछार अंचल की दमघोंट समस्याओं, विसंगतियों, अभावों और आंतरिक संदर्भों को तीव्रता से अभिव्यक्त करने वाली एक सशक्त कृति है। आधुनिकीकरण और बाहरी सभ्यता के संक्रमण के बीच निरंतर बदल रहे गांवों के विभिन्न आयामों को इस उपन्यास में उद्घाटित किया गया है।

ग्रामांचल को महत्त्व देने वाले अन्य उपन्यासकारों में राजेन्द्र अवस्थी (जंगल के फूल, जाने कितनी आंखें), विवेकीराय (बबूल), उदयराज सिंह (अंधेरे के विरुद्ध) और सच्चिदानंद धूमकेतु (माटी की महक) भी उल्लेखनीय हैं।

**मनोवैज्ञानिक उपन्यास :** मनोविज्ञान को प्रमुखता देने वाले इधर के उपन्यासकारों में धर्मवीर भारती और देवराज मुख्य हैं। **धर्मवीर भारती** का 'गुनाहों का देवता' अपनी कैशोर्य भावुकता तथा रूमानियत के कारण काफ़ी लोकप्रिय हुआ। 'पथ की खोज', 'बाहर-भीतर', 'रोड़े और पत्थर', 'अजय की डायरी' और 'मैं, वे और आप' **देवराज** के उपन्यास हैं। इन सभी की मूलवर्तिनी धारा है—विवाह के बाहर का प्रेम। देवराज ने इसे विकासमान जीवन की अनिवार्यता माना है। लोकाचार और आंतरिकता की टकराहट उनके सभी उपन्यासों में है। 'पथ की खोज' और 'बाहर-भीतर' में इस टकराहट का स्वरूप बहुत-कुछ रोमानी ही है, पर 'अजय की डायरी' में दार्शनिकता का आधार लेते हुए लेखक ने धर्म और नैतिकता को आंतरिकता में अंतर्भुक्त कर दिया है। मनोविश्लेषण और व्यक्ति-चेतना पर बल देने वाले अन्य उपन्यासों में 'अंतराल' और 'बीच

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का समय' भी उल्लेखनीय हैं।

**सामाजिक चेतना के उपन्यास :** मन्मथनाथ गुप्त, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय, लक्ष्मीनारायण लाल, राजेंद्र यादव आदि नवीन सामाजिक चेतना के उपन्यासकार हैं। इनमें से पहले तीन मार्क्सवादी दृष्टिकोण के प्रतिबद्ध लेखक हैं। **मन्मथनाथ गुप्त** का 'बहता पानी' (1955), **भैरवप्रसाद गुप्त** के 'मशाल' और 'गंगा मैया' तथा **अमृतराय**-कृत 'बीज', 'नागफनी का देश' और 'हाथी के दांत' वर्ग-संघर्ष और प्रगति के मिथक के सूचक उपन्यास हैं। देश के शैक्षिक वातावरण से संबद्ध 'अपना मोर्चा' (काशीनाथ सिंह) भी इसी शैली का मार्क्सवादी उपन्यास है। **लक्ष्मीनारायण लाल** ने 'मन वृंदावन', 'धरती की आंखें', 'काले फूल का पौधा' और 'रूपाजीवा' में परले स्तर की सामाजिक चेतना को उभारने की कोशिश की है। 'धरती की आंखें' एकदम रोमानी है, अनेक विसंगतियों और घटनाओं से भरा हुआ, किंतु 'काले फूल का पौधा' चरित्र-चित्रण, संस्कृति-संघर्ष और नव्यतर तकनीक के कारण विशिष्ट बन पड़ा है। 'प्रेत बोलते हैं', 'उखड़े हुए लोग' और 'एक इंच मुसकान' (मन्नू भंडारी के साथ सहयोगी लेखन) **राजेंद्र यादव** के उपन्यास हैं। 'उखड़े हुए लोग' में कथा-विन्यास सुसंबद्ध है। आज की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था व्यक्ति के आदर्शवादी सपनों को नष्ट कर उसे समझौतावादी बनने के लिए किस प्रकार बाध्य करती है, यही इसका मुख्य प्रतिपाद्य है। यदि कथा के साथ वैचारिकता का अंतराल न होता तो इसकी औपन्यासिकता और अधिक सार्थक प्रतीत होती। 'एक इंच मुसकान' खंडित व्यक्तित्व वाले आधुनिक व्यक्तियों की प्रेम-ट्रेजेडी है, आत्मनिर्वासन से ग्रस्त अमर और अमला प्रेम के छलावे में पड़ कर निषेधात्मक मूल्यों तक ही पहुंचते हैं। यादव के अन्य उपन्यासों की अपेक्षा यह उपन्यास कहीं अधिक समकालीन और महत्त्वपूर्ण है। सामाजिक चेतना को सशक्त अभिव्यक्ति देने वाले कुछ अन्य उपन्यास हैं : 'गली आगे मुड़ती है' (शिवप्रसाद सिंह), 'धूपछांही रंग' (गिरीश अस्थाना) और 'उसका घर' (मेहरुन्निसा परवेज़)।

**प्रयोगशील उपन्यास :** कविता में नये प्रयोगों के साथ-साथ कहानी, उपन्यास आदि में भी नये प्रयोग हुए। पूर्ववर्ती लेखकों में जैनेंद्र और अज्ञेय ने प्रयोगों में कहानी और चरित्र का पूरा ध्यान रखा था, पर इस दौर में कहानी का तत्त्व क्षीण हो गया, जिससे कथानक का पुराना रूप विघटित हो गया तथा अपने क्रियाकलाप के प्रति सचेत एवं तराशे हुए पात्र नहीं रह गये। ज़िंदगी पूरे तौर पर विश्लेषित न हो कर चेतना-प्रवाह और स्वप्न-सृष्टि के साथ जुड़ गयी। प्रतीक, टाइम-शिफ्ट आदि के द्वारा उपन्यासों में नये शिल्प के दर्शन हुए। प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', गिरिधर गोपाल, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के उपन्यास इसी श्रेणी के हैं। इस संदर्भ में **माचवे** के 'परंतु', 'सांचा' और 'द्वाभा' का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें न तो व्यवस्थित कथानक है और न चरित्रनिर्माण। लेखक ने चेतनाप्रवाह-प्रणाली के पुराने नैतिक मूल्यों पर प्रहार करते हुए नये मूल्यों की तलाश की है, किंतु शिल्पगत अनेक प्रयोगों के बावजूद वैचारिकता की प्रधानता ने इनकी औपन्यासिकता को ढंक लिया है। **भारती** ने 'सूरज का सातवां घोड़ा' में जो प्रयोग किया है, वह सोद्देश्य है। छोटे फलक पर विस्तृत जीवनानुभूतियों को चित्रित करने की बाध्यता के कारण उन्हें यह ढंग अपनाना पड़ा। 'अलिफलैला' और 'पंचतंत्र' के ढंग पर लिखी गयी सात अलग-अलग कहानियां क़िस्सागो माणिक मुल्ला के व्यक्तित्व से जुड़ कर उपन्यास बन जाती हैं। इसकी रचना आर्थिक-सामाजिक पृष्ठभूमि में हुई है। बीच-बीच में आये हुए व्यंग्य ने उपन्यास की धारा को और तेज़ कर दिया है। पर सपने भेजने वाले सूरज के सातवें घोड़े से उपन्यास की यथार्थता क्षतिग्रस्त हो गयी है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इसमें बंबई के पश्चिमी तट पर बसे हुए बरसोवा गांव के मछुआरों की जीवनकथा वर्णित है। नगर के संपर्क में आ कर गांव की एकांगिता में दरारें पड़ने लगती हैं और वह बदलाव की प्रक्रिया से गुज़रने लगता है। यह बदलाव नवीन परिस्थितियों की अनिवार्यता है। उपन्यास की रत्ना गांव की रूढ़ियों को तोड़ कर पूंजीवादी यातना में जा फंसती है। आधुनिकतावादी पूंजीवाद की मानवीय नियति यही है। **रांगेय राघव** ने 'कब तक पुकारूं' में जरायाम-पेशा नटों की ज़िंदगी को उजागर किया है, तो **भैरवप्रसाद गुप्त** का 'सत्ती मैया का चौरा' मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लिखा गया उपन्यास है। इन उपन्यासों की मुख्यत: दो विशेषताएं हैं—परिवर्तमान गांवों के प्रति आशावादी दृष्टिकोण तथा स्थानीय रंग। इन्हें रोमैंटिक यथार्थ के उपन्यास कहना अधिक समीचीन होगा।

ग्रामांचल को आधार बना कर राही मासूम रजा, शिवप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र, हिमांशु श्रीवास्तव आदि ने भी उपन्यास लिखे हैं। **राही** का 'आधा गांव' शिया मुसलमानों की ज़िंदगी पर लिखा गया पहला उपन्यास है। इसमें भारत-विभाजन के पहले और बाद की ज़िंदगी को उभारा गया है। तनहाई और टूटन इसमें एक विशेष ऐतिहासिक संदर्भ में चित्रित हैं, जिन्हें आधुनिकता-बोध के साथ नहीं जोड़ा जाना चाहिए। पर राष्ट्रीय आकांक्षाओं के संदर्भ में यह उपन्यास तीखा दर्द उभारता है। **शिवप्रसाद सिंह** ने अपने उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' में आधुनिकता-बोध का सन्निविष्ट करने की कोशिश की है। इसमें उस परिवेश का चित्रण है, जिसमें नये-पुराने मूल्यों, नयी-पुरानी पीढ़ी, भिन्न-भिन्न वर्गों और जातियों की टकराहट में सारे मूल्य गड्डमड्ड हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी वैतरणी में घिर जाता है, 'गा चह पार जतन बहु हेरा, पावत नाव न बोहित बेरा।' वैतरणी को पार न करने का मतलब है नरक। गांव नरक हो गये हैं, जहां अलगाव और टूटन कई स्तरों पर घटित होते हैं—वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा समूचे गांव के स्तर पर। इस उपन्यास में जिस गांव की परिकल्पना की गयी है, वह पिछली परिकल्पनाओं से भिन्न है। **रामदरश मिश्र**-कृत 'पानी की प्राचीर', 'जल टूटता हुआ' तथा 'सूखता हुआ तालाब' और **हिंमाशु श्रीवास्तव** का 'रथ के पहिये' भी अपने-अपने ढंग से प्रभावशाली ग्रामांचलीय उपन्यास हैं। रामदरश मिश्र का उपन्यास 'जल टूटता हुआ' उत्तरप्रदेश के कछार अंचल की दमघोंट समस्याओं, विसंगतियों, अभावों और आंतरिक संदर्भों को तीव्रता से अभिव्यक्त करने वाली एक सशक्त कृति है। आधुनिकीकरण और बाहरी सभ्यता के संक्रमण के बीच निरंतर बदल रहे गांवों के विभिन्न आयामों को इस उपन्यास में उद्घाटित किया गया है।

ग्रामांचल को महत्त्व देने वाले अन्य उपन्यासकारों में राजेन्द्र अवस्थी (जंगल के फूल, जाने कितनी आंखें), विवेकीराय (बबूल), उदयराज सिंह (अंधेरे के विरुद्ध) और सच्चिदानंद धूमकेतु (माटी की महक) भी उल्लेखनीय हैं।

**मनोवैज्ञानिक उपन्यास :** मनोविज्ञान को प्रमुखता देने वाले इधर के उपन्यासकारों में धर्मवीर भारती और देवराज मुख्य हैं। **धर्मवीर भारती** का 'गुनाहों का देवता' अपनी कैशोर्य भावुकता तथा रूमानियत के कारण काफ़ी लोकप्रिय हुआ। 'पथ की खोज', 'बाहर-भीतर', 'रोड़े और पत्थर', 'अजय की डायरी' और 'मैं, वे और आप' **देवराज** के उपन्यास हैं। इन सभी की मूलवर्तिनी धारा है—विवाह के बाहर का प्रेम। देवराज ने इसे विकासमान जीवन की अनिवार्यता माना है। लोकाचार और आंतरिकता की टकराहट उनके सभी उपन्यासों में है। 'पथ की खोज' और 'बाहर-भीतर' में इस टकराहट का स्वरूप बहुत-कुछ रोमानी ही है, पर 'अजय की डायरी' में दार्शनिकता का आधार लेते हुए लेखक ने धर्म और नैतिकता को आंतरिकता में अंतर्भुक्त कर दिया है। मनोविश्लेषण और व्यक्ति-चेतना पर बल देने वाले अन्य उपन्यासों में 'अंतराल' और 'बीच

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का समय' भी उल्लेखनीय हैं।

**सामाजिक चेतना के उपन्यास :** मन्मथनाथ गुप्त, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय, लक्ष्मीनारायण लाल, राजेंद्र यादव आदि नवीन सामाजिक चेतना के उपन्यासकार हैं। इनमें से पहले तीन मार्क्सवादी दृष्टिकोण के प्रतिबद्ध लेखक हैं। **मन्मथनाथ गुप्त** का 'बहता पानी' (1955), **भैरवप्रसाद गुप्त** के 'मशाल' और 'गंगा मैया' तथा **अमृतराय**-कृत 'बीज', 'नागफनी का देश' और 'हाथी के दांत' वर्ग-संघर्ष और प्रगति के मिथक के सूचक उपन्यास हैं। देश के शैक्षिक वातावरण से संबद्ध 'अपना मोर्चा' (काशीनाथ सिंह) भी इसी शैली का मार्क्सवादी उपन्यास है। **लक्ष्मीनारायण लाल** ने 'मन वृंदावन', 'धरती की आंखें', 'काले फूल का पौधा' और 'रूपाजीवा' में परले स्तर की सामाजिक चेतना को उभारने की कोशिश की है। 'धरती की आंखें' एकदम रोमानी है, अनेक विसंगतियों और घटनाओं से भरा हुआ, किंतु 'काले फूल का पौधा' चरित्र-चित्रण, संस्कृति-संघर्ष और नव्यतर तकनीक के कारण विशिष्ट बन पड़ा है। 'प्रेत बोलते हैं', 'उखड़े हुए लोग' और 'एक इंच मुसकान' (मन्नू भंडारी के साथ सहयोगी लेखन) **राजेंद्र यादव** के उपन्यास हैं। 'उखड़े हुए लोग' में कथा-विन्यास सुसंबद्ध है। आज की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था व्यक्ति के आदर्शवादी सपनों को नष्ट कर उसे समझौतावादी बनने के लिए किस प्रकार बाध्य करती है, यही इसका मुख्य प्रतिपाद्य है। यदि कथा के साथ वैचारिकता का अंतराल न होता तो इसकी औपन्यासिकता और अधिक सार्थक प्रतीत होती। 'एक इंच मुसकान' खंडित व्यक्तित्व वाले आधुनिक व्यक्तियों की प्रेम-ट्रेजेडी है, आत्मनिर्वासन से ग्रस्त अमर और अमला प्रेम के छलावे में पड़ कर निषेधात्मक मूल्यों तक ही पहुंचते हैं। यादव के अन्य उपन्यासों की अपेक्षा यह उपन्यास कहीं अधिक समकालीन और महत्त्वपूर्ण है। सामाजिक चेतना को सशक्त अभिव्यक्ति देने वाले कुछ अन्य उपन्यास हैं : 'गली आगे मुड़ती है' (शिवप्रसाद सिंह), 'धूपछांही रंग' (गिरीश अस्थाना) और 'उसका घर' (मेहरुन्निसा परवेज़)।

**प्रयोगशील उपन्यास :** कविता में नये प्रयोगों के साथ-साथ कहानी, उपन्यास आदि में भी नये प्रयोग हुए। पूर्ववर्ती लेखकों में जैनेंद्र और अज्ञेय ने प्रयोगों में कहानी और चरित्र का पूरा ध्यान रखा था, पर इस दौर में कहानी का तत्त्व क्षीण हो गया, जिससे कथानक का पुराना रूप विघटित हो गया तथा अपने क्रियाकलाप के प्रति सचेत एवं तराशे हुए पात्र नहीं रह गये। ज़िंदगी पूरे तौर पर विश्लेषित न हो कर चेतना-प्रवाह और स्वप्न-सृष्टि के साथ जुड़ गयी। प्रतीक, टाइम-शिफ्ट आदि के द्वारा उपन्यासों में नये शिल्प के दर्शन हुए। प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', गिरिधर गोपाल, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के उपन्यास इसी श्रेणी के हैं। इस संदर्भ में **माचवे** के 'परंतु', 'सांचा' और 'द्वाभा' का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें न तो व्यवस्थित कथानक है और न चरित्रनिर्माण। लेखक ने चेतनाप्रवाह-प्रणाली के पुराने नैतिक मूल्यों पर प्रहार करते हुए नये मूल्यों की तलाश की है, किंतु शिल्पगत अनेक प्रयोगों के बावजूद वैचारिकता की प्रधानता ने इनकी औपन्यासिकता को ढंक लिया है। **भारती** ने 'सूरज का सातवां घोड़ा' में जो प्रयोग किया है, वह सोद्देश्य है। छोटे फलक पर विस्तृत जीवनानुभूतियों को चित्रित करने की बाध्यता के कारण उन्हें यह ढंग अपनाना पड़ा। 'अलिफलैला' और 'पंचतंत्र' के ढंग पर लिखी गयी सात अलग-अलग कहानियां क़िस्सागो माणिक मुल्ला के व्यक्तित्व से जुड़ कर उपन्यास बन जाती हैं। इसकी रचना आर्थिक-सामाजिक पृष्ठभूमि में हुई है। बीच-बीच में आये हुए व्यंग्य ने उपन्यास की धारा को और तेज़ कर दिया है। पर सपने भेजने वाले सूरज के सातवें घोड़े से उपन्यास की यथार्थता क्षतिग्रस्त हो गयी है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**रुद्र** की 'बहती गंगा' में काशी के दो सौ वर्षों के अविच्छिन्न जीवनप्रवाह को सत्रह तरंगों में आकलित किया गया है, अर्थात इसमें कुल सत्रह कहानियां हैं, जो अपने में पूर्ण और स्वतंत्र होने पर भी धारा-तरंग न्यास से एक-दूसरे से संबद्ध हैं। काशी की मस्ती को बिंबित करने वाली जीवंत बोली-बानी में वहां का दो सौ वर्षों का गत्यात्मक इतिहास साकार हो उठा है। **गिरिधर गोपाल** ने 'चांदनी रात के खंडहर' में चौबीस घंटों की ज़िंदगी का विश्लेषण किया है। इसमें पांच वर्षों के बाद लंदन से शिक्षा ग्रहण करके लौटे हुए नायक के मध्यवर्गीय परिवार की खोखली आर्थिक स्थिति का मार्मिक चित्र खींचा गया है, जिसके लिए नायक वसंत ख़ुद ज़िम्मेदार है। चौबीस घंटे की कालावधि के कारण इसमें चुनी हुई परिस्थितियों, घटनाओं और मनोदशाओं पर तीव्र प्रकाश डाल कर उन्हें प्रभावशाली बनाने में सुविधा हुई है। **सर्वेश्वरदयाल सक्सेना**-कृत 'सोया हुआ जल' में एक यात्रीशाला में ठहरे हुए यात्रियों की एक रात की ज़िंदगी का वर्णन है। इसमें अंतश्चेतना की भूख, आकुलता और अतृप्ति का चित्रण है, जो व्यक्ति-मानस की अशांति और क्षोभ के कारण है। यह चेतनाप्रवाह-शैली और सिनेरियो टेकनीक में लिखा गया प्रतीकात्मक उपन्यास है। शैली-चमत्कार के कारण ही इसका महत्त्व है, कथ्य अथवा मूल्यों के कारण नहीं। **नरेश मेहता** का 'डूबते मस्तूल' और **ख़्वाजा बदीउज़्ज़मां** का 'एक चूहे की मौत' भी अनेक प्रकार की विसंगतियों से भरे हुए प्रयोगशील उपन्यास हैं।

**आधुनिकता-बोध के उपन्यास :** यंत्रीकरण, दो महायुद्धों और अस्तित्ववादी चिंतन के फलस्वरूप आधुनिकता की जो स्थिति उत्पन्न हुई है, उसे ले कर भी पिछले दशक में उपन्यासों की रचना हुई है। आस्थाविहीन समाज, अनिश्चय की स्थिति में लटके हुए इंसान और आत्मनिर्वासन की अभिव्यक्ति देने की पहल **मोहन राकेश** ने अपने उपन्यास 'अंधेरे बंद कमरे' (1961) में की। इसके अनुसार प्रेम कोई शाश्वत उदात्त मूल्य नहीं रह गया है, वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षाएं और आधुनिक जीवन की सफलताएं प्रेम की आंतरिक विवशता में दरारें पैदा कर देती हैं। उनका दूसरा उपन्यास 'न आने वाला कल' आधुनिकता से अधिक प्रभावित है। उसका नायक सब-कुछ को छोड़ कर या अस्वीकार करके एक निषेधात्मक स्थिति में जा पहुंचता है, पर यह अस्वीकार उसे कहीं भी ले जाने में असमर्थ है और जड़ जीवन को जीने की सड़ांध उसकी नियति हो जाती है। **निर्मल वर्मा** का 'वे दिन' आधुनिक संवेदना से संपन्न उपन्यास है। पश्चिम के अर्थहीन परिवेश में जिस छोटे सुख की तलाश इस उपन्यास में की गयी है, वह आज के संदर्भ में ग़ैरमौजूं नहीं लगती। इसे रोमैंटिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि तीन दिन के संपर्क में 'मैं' और 'रायना' का शरीरी सुख रोमैंटिक अर्थ में प्रेम नहीं, बल्कि रोमानी प्रेम से अलग प्रेम की आधुनिकतावादी परिकल्पना है। अंत में रायना के प्रति जो मोह उसमें उत्पन्न होता है, वह भावुकता न हो कर 'मैं' का बचा हुआ वह मनुष्य है, जिससे वह अलग हो गया है। **राजकमल चौधरी** का उपन्यास 'मछली मरी हुई' समलैंगिक यौनाचार में लिप्त स्त्रियों की कहानी है। विषयवस्तु के अनोखेपन तथा तटस्थतापरक लेखकीय दृष्टिकोण के कारण इस उपन्यास का अलग अस्तित्व है। इस प्रकार की विषयवस्तु को चुनने पर भी इसमें अश्लीलता नहीं मिलती। श्रीकांत वर्मा-कृत 'दूसरी बार', महेंद्र भल्ला-कृत 'एक पति के नोट्स', कमलेश्वर-कृत 'डाक बंगला' और 'काली आंधी', गंगाप्रसाद विमल-कृत 'अपने से अलग' आदि उपन्यास भी आधुनिकता की झोंके में लिखे गये हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे मार्क्सवादी झोंक में लिखी गयी रचनाएं। आज के जीवन-सत्य की आंशिक झलक देते हुए भी इन्हें चुकी हुई संभावनाओं के उपन्यास कहा जायेगा। आधुनिकता के कुछ चुनिंदा नुस्खों, अस्तित्ववादी दर्शन के कुछ मुहावरों, ज्यां जेने, सादे, कामू,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

काफ्का की भंगिमाओं के आधार पर लिखे गये इन उपन्यासों को देखने पर निराशा ही हाथ लगेगी। इनमें मोहन राकेश का 'अंधेरे बंद कमरे' ही ठीक-ठिकाने का उपन्यास माना जायेगा। अपनी विषयवस्तु और तटस्थता में 'मछली मरी हुई' भी विशिष्ट है।

**नरेश मेहता** का उपन्यास 'यह पथ बंधु था' तथा 'नदी यशस्वी है' रचनात्मक स्तर पर आधुनिक हैं, पर उनमें न तो आधुनिकतावादी नुकते हैं, न अकेलेपन की गुहार है और न ही आधुनिकता के भाषायी मुहावरे। 'यह पथ बंधु था' प्रेमचंद की परंपरा का ऐसा उपन्यास है, जिसमें मूल्यों के प्रति निष्ठावान व्यक्तियों का टूट जाना उनकी नियति है। टूटे मूल्यों के आधार पर ही नये मूल्यों की परिकल्पना संभव है, पर इस उपन्यास की त्रुटि यह है कि यह रोमांस से मुक्त नहीं हो सका है। **श्रीलाल शुक्ल**-कृत 'राग दरबारी' रिपोर्ताज शैली में लिखा गया उपन्यास है। यद्यपि इसकी कथा ग्रामांचल से संबद्ध है, फिर भी यह आंचलिक नहीं है। इसमें स्वतंत्र देश की नवीन व्यवस्थाओं का, जो नारों के रूप में ही जीवंत हैं, गहरा मखौल उड़ाया गया है। इसे ऐंठी हुई रोमैंटिकता या ऐंठी हुई आधुनिकता भी कहा जा सकता है। पुनरावृत्ति इस उपन्यास की कमज़ोरी है। इसमें उपलब्ध व्यंग्य को अच्छा मज़ाक़ तो कह सकते हैं, पर उससे गहरी व्यथा का आक्रोश उत्पन्न नहीं होता।

आधुनिकताबोध के उपन्यासों की उपर्युक्त परंपरा में 'लाल टीन की छत' (निर्मल वर्मा) और 'आपका बंटी' (मन्नू भंडारी) भी काफ़ी प्रसिद्ध हैं। इनमें कहीं वैयक्तिक, तो कहीं पारिवारिक-सामाजिक विषमताओं का मुखर विरोध मिलता है। इन उपन्यासकारों के अतिरिक्त भी उपन्यासकारों की एक लंबी कतार है, जिसमें भीष्म साहनी (तमस), रामकुमार भ्रमर, कृष्ण बलदेव वैद, गिरिराज किशोर (जुगलबंदी), शिवानी, कृष्णा सोबती (डार से बिछुड़ी, मित्रो मरजा), उषा प्रियंवदा (पचपन खंभे लाल दीवारें), रमेश बक्षी (अठारह सूरज के पौधे), लक्ष्मीकांत वर्मा, मधुकर गंगाधर, जगदम्बाप्रसाद दीक्षित (मुर्दाघर), आरिगपूड़ि बालशौरि रेड्डी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

## अद्यतन हिंदी-उपन्यास-I

(1975 से 1981 तक)

सातवें-आठवें दशक के हिंदी-उपन्यासों में कथ्यगत संवेदना, रूपबंध और दृष्टि को ले कर गुणात्मक परिवर्तन परिलक्षित होता है। आज का उपन्यास समग्र परिवेश में फैल कर देश और काल की प्रामाणिक चेतना से पाठकीय संवेदना को झकझोर देता है। समय और समाज की समस्याओं, प्रश्नाकुलताओं, चुनौतियों, अंतर्विरोधों, विसंगतियों, विद्रूपताओं और आधुनिक समाज की जटिलताओं, यंत्रणाओं को व्यक्त करने के लिए उपन्यास से उपयुक्त और समर्थ माध्यम आज दूसरा नहीं है। एक लंबे समय तक सभी विधाओं पर कविता अपना चक्रवर्तित्व स्थापित किये रही। लेकिन आज़ादी के बाद कविता धीरे-धीरे अपनी केंद्रीय स्थिति खोती गयी और अन्य सभी विधाओं को दायें-बायें कोने में खिसका कर कथा-साहित्य केंद्र में आ गया। जीवन के मोहभंग और जटिलता को व्यापक संदर्भों में प्रतिबिंबित करने का बड़ा हौसला आज उपन्यास में ही ठीक से दृष्टिगत होता है। फ्रॉयड और उनके बाद की मनोविश्लेषणात्मक उपलब्धियां, मार्क्स और उनके बाद विकसित मार्क्सवादी चिंतन तथा समाजशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, नृतृत्वशास्त्र आदि ज्ञान-विज्ञान की नवीन अवधारणाओं को धारण कर आज का कथाकार सृजन-क्षेत्र में प्रवृत्त होता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है। परिणामतः व्यक्ति समाज के अंतःप्रयाण, सांस्कृतिक अवमूल्यन और विघटन के कार्य-कारण संबंध, समाज के विराट राजनीतिकरण, देशकाल में अविराम संक्रमण और व्यक्ति के द्वंद्वों-तनावों की मूल मानसिकता और पीड़ाओं को गहन विश्लेषण से उद्घाटित करता है। उपन्यासों में आंचलिक उपन्यास, राजनीतिक उपन्यास, महानगरीय बोध के उपन्यास जैसे वर्गीकृत खाने ख़त्म होने की स्थिति में आ गये हैं और अब उपन्यास गांव और शहर की मानव-चेतना को समग्रता, एकाग्रता और बदलते सामाजिक संबंधों की गतिशीलता को प्रामाणिकता से व्यक्त करने वाला सर्वाधिक सशक्त साहित्य-माध्यम बनता जा रहा है। वैसे भी, अन्य गद्यविधाओं की तुलना में उपन्यास सदा से ही गतिशील, परिवर्तनशील, विकासशील और लचीली विधा रही है। आज इस विधा में रेखाचित्र, कहानी, संस्मरण, रिपोर्ताज, रूपक, फैंटेसी आदि विधाओं के प्रवेश से एक नयी रंगत और दमक पैदा हुई है। पत्र, डायरी, चेतनाप्रवाह शैली के नये प्रयोगों ने बारीक-से-बारीक बात और मनःस्थिति को कह पाने का कौशल विकसित कर लिया है। इस दृष्टि से उपन्यास के रूपबंध (स्ट्रक्चर) में तथा आवयविक संरचना में भारी परिवर्तन दिखायी देता है। प्रयोगगत नये मोड़ों ने सातवें-आठवें दशकों के उपन्यासों की पिछले उपन्यासों से अलग एक नयी पहचान बनायी है। पर अभी वदलाव की धार इतनी तेज़ है कि उसकी 'प्रवृत्तियों' को सिलसिलेवार ढंग से गिनाया नहीं जा सकता। क्योंकि बहुत-सी प्रवृत्तियां संश्लिष्ट रूप में एक साथ विकसित हो रही हैं और जिनकी अलग पहचान समय की दूरी ही बना सकेगी।

पिछले पंद्रह-बीस वर्षों से बल्कि उससे भी पहले के हमारे भारतीय समाज में राजनीतिक-सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक रूपांतरण की प्रक्रिया का बहाव-दबाव भिन्न-भिन्न प्रभावों और छवियों में उभरा है। सन् 1947 में राजनीतिक आज़ादी से जो संभावनाएं बनी थीं, वे बाद में दिशाहीन हो कर मरुस्थल में भटक गयीं। असंतोष, ग़ुस्सा, अलगाव, अजनबीपन, अस्थिरता, यंत्रणा आदि इसी भटकन के भीतर से उपजी स्थितियां हैं। इस भटकाव ने जवान होती हुई आज़ादी के बाद की पीढ़ी को मूल्यहीनता की स्थिति में खड़ा होने को विवश कर दिया। महंगाई और भुखमरी ने जनता का कचूमर निकाल दिया। यह पीढ़ी नौकरी की खोज में गांव छोड़ कर बहुत बड़ी संख्या शहरों की ओर भागी, पर शहर उसे अपना न सके। जीवन की नारकीय, त्रासद विडंबनाओं ने जीवन का एक नया सच पैदा किया। नया कथाकार इसी 'सच' को रचना में रोप रहा है। चूंकि उसकी अंतर्मानसिकता की बनावट पहले की पीढ़ियों से एकदम भिन्न प्रकार की है। नतीजा यह है कि नयी पीढ़ी के अनुभवों का सार-स्वरूप और मूल्य-चेतना पिछली पीढ़ियों से अलग है। स्वतंत्रता के लिए लड़ने वाली पीढ़ी को स्वतंत्रता से धन नोच ले जाने वाली पीढ़ी के रूप में नयी पीढ़ी ने पाया। अतः इधर पीढ़ियों का टकराव भी तेज़ हुआ। पुरानी पीढ़ी के उपन्यासकार जैनेन्द्र का 'मुक्तिबोध' और 'दशार्क', अज्ञेय जी का 'अपने-अपने अजनबी', भगवतीचरण वर्मा का 'रेखा', अमृतलाल नागर का 'मानस का हंस', 'खंजन नयन', 'करवट' (1985), नागार्जुन का 'उग्रतारा', यशपाल का 'बारह घंटे' जैसे उपन्यास नये पाठक की चेतना को तृप्ति नहीं दे सके। इसलिए नये उपन्यासकारों की एक पीढ़ी, इनके बाद नवीन सृजन संभावनाओं के साथ उभर कर सामने आयी।

सातवें-आठवें दशक की चेतना का प्रतिनिधित्व लक्ष्मीकांत वर्मा के 'एक कटी हुई ज़िंदगी : एक कटा हुआ काग़ज़' (1965); 'टेराकोटा' (1971); लक्ष्मीनारायण लाल के 'प्रेम अपवित्र नदी', कृष्णा सोबती के 'सूरजमुखी अंधेरे के' (1972), 'मित्रो मरजानी' (1967); उपेन्द्रनाथ अश्क के 'शहर में घूमता आईना' (1963); भारतभूषण अग्रवाल के 'लौटती लहरों की बांसुरी'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(1964); राजेन्द्र यादव के 'अनदेखे अनजान पुल' (1963); मन्मथगुप्त के 'शहीद और शोहदे' (1970); फणीश्वरनाथ रेणु के 'जुलूस' (1965) 'कितने चौराहे' (1966), 'कलंक-मुक्ति' (1976); हिंमांशु श्रीवास्तव के 'कथा सूर्य की नयी यात्रा'; शैलेश मटियानी के 'क़िस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई'; रमेशचंद्र शाह के 'गोबर गणेश'; 'क़िस्सा ग़ुलाम' (1986), रमाकांत के 'प्यादा फर्जी अर्दब'; डॉ. देवराज के 'न भेजे गये पत्र'; शिवप्रसाद सिंह के 'अलग-अलग वैतरणी' (1967) रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' (1969), 'सूखता हुआ तालाब' (1972); जगदीशचंद्र के 'धरती धन न अपना' (1972); मणि मधुकर के 'सफ़ेद मेमने' (1971); रामकुमार भ्रमर के 'कांचघर' (1971); भीष्म साहनी के 'कड़ियां' (1970), 'तमस' (1973); शमशेरसिंह नरूला के 'एक पंखड़ी की तेज़ धार' (1965); राजकमल चौधरी के 'मछली मरी हुई' (1966); रमेश बक्षी के 'बैसाखियों वाली इमारतें' (1966), 'एक घिसा हुआ चेहरा' (1964) 'अठारह सूरज के पौधे' (1965), 'चलता हुआ लावा'; उषा प्रियंवदा के 'पचपन खंभे लाल दीवारें' (1961), 'रुकोगी नहीं, राधिका' (1967); मन्नू भंडारी के 'आपका बंटी' (1971), 'महाभोज'; कमलेश्वर के 'डाक बंगला' (1962), 'तीसरा आदमी' (1964), 'समुद्र में खोया हुआ आदमी' (1965), 'आगामी अतीत' (1976), 'काली आंधी'; प्रयाग शुक्ल के 'गठरी' (1986); मोहन राकेश के 'अंधेरे बंद कमरे' (1961), 'अंतराल' (1972); निर्मल वर्मा के 'वे दिन' (1964), 'लाल टीन की छत'; गिरिराज किशोर के 'यात्राएं' (1971), 'जुगलबंदी', 'चिड़ियाघर'; हृदयेश के 'गांठ' (1970), 'हत्या' (1971); गंगाप्रसाद विमल के 'अपने से अलग'; मृदुला गर्ग के 'चितकोबरा'; मंजुल भगत, 'लेडी क्लब', 'अनारो', श्याम व्यास के 'एक प्यासा तालाब'; ओमप्रकाश दीपक के 'कुछ ज़िंदगियां बेमतलब'; गोविंद मिश्र के 'वह अपना चेहरा' (1971), 'लाल पीली ज़मीन', 'उतरती हुई धूप'; शिवानी के 'कृष्णाकली' (1969); मृणाल पांडे के 'पंडरपुर पुराण'; 'बदी उज़्ज़मा के 'एक चूहे की मौत', 'छठा ब्राह्मण'; जगदंबाप्रसाद दीक्षित के 'मुरदाघर' (1974); राही मासूम रजा के 'आधा गांव' (1966); टोपी शुक्ला, 'हिम्मत जौनपुरी', 'दिल एक सादा काग़ज़'; श्रीलाल शुक्ल के 'रागदरबारी' (1968), 'अज्ञातवास', 'आदमी का ज़हर'; कृष्णा अग्निहोत्री के 'टपरेवाले'; निरुपमा सेवती के 'बंटता हुआ आदमी'; मालती पलूकर के 'इन्नी'; रजनी पनिक्कर के 'महानगर की मीता', 'दूरियां', मेहरुन्निसा परवेज के 'आंखों की दहलीज', 'उसका घर'; मालती जोशी के 'पाषाण युग'; ममता कालिया के 'बेघर'; शशिप्रभा शास्त्री के 'सीढ़ियां'; नरेन्द्र कोहली के 'दीक्षा', 'अवसर'; हरिशंकर परसाई के 'रानी नागमती की कहानी'; सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के 'पागल कुत्तों का मसीहा' (1977), 'सोया हुआ जल' (1977), 'कच्ची सड़क' (1978), 'उड़ते हुए रंग' (1974), 'अंधेरे पर अंधेरा' (1980); मीनाक्षी पुरी के 'जाने-पहचाने अजनबी'; हरिप्रकाश त्यागी के 'दूसरा आदमी लाओ'; श्रीकांत वर्मा के 'दूसरी बार'; सुरेन्द्र तिवारी के 'फिर भी कुछ'; प्रभाकर माचवे के 'तीस-चालीस-पचास', 'दर्द के पैबंद', 'किसलिए', 'द्यूत'; विष्णु प्रभाकर के 'स्वप्नमयी'; रवीन्द्र कालिया के 'खुदा सही सलामत है'; नरेन्द्र कोहली के 'युद्ध' (दो भाग), 'जंगल की कहानी', 'अवसर', 'साथ सहा गया दु:ख', 'अभिज्ञान'; नासिरा शर्मा के 'सात नदियां एक समुंदर'; यादवेन्द्र शर्मा 'चंद्र' के 'हज़ार घोड़ों का सवार'; राजी सेठ के 'तत्सत'; सुदर्शन चोपड़ा के 'सम्मोहन'; विवेकी राय के 'सोना-माटी'; शिवसागर मिश्र के 'अजन्मा वह', 'अक्षत'; द्रोणवीर के 'टूटे हुए सूर्य' आदि उपन्यासों की एक लंबी सूची पर ध्यान जाता है। कोहली के 'टप्पर गाड़ी', पानू खोलियो के 'बिंब'; अनिरुद्ध पांडेय के 'पन्ना पुखराज'; 'मुद्राराक्षस' के 'हम सब

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मंसाराम' आदि उपन्यास भी इसी बीच प्रकाशित हुए हैं।

हिंदी के समकालीन-उपन्यास साहित्य ने पिछले दिनों अपरिचित और अमूर्त व्यापक से बच कर भोगे हुए जीवन-यथार्थ की निजी दुनिया के सीमित संसार को तात्कालिकता और आधुनिकता के मुहावरे में सृजित किया है। इस दौर का अधिकांश लेखन व्यक्तिकेंद्रित रहा और रचनाकार व्यक्ति के माध्यम से समय और समाज के हालात को सामने लाया। इस प्रवृत्ति का सर्वाधिक मुखर विस्फोट 'गोबर गणेश', 'क़िस्सा ग़ुलाम', 'आपका बंटी' जैसे उपन्यासों में हुआ है। व्यक्ति के माध्यम से कथाकार 'स्व' और उसके आसपास के परिवेश से उलझता है, उसका ध्यान राजनीतिक व आर्थिक स्थितियों पर जाता है, जिसने आज के ईमानदार व्यक्ति को भीतर से अकेला करके छील दिया है। उपन्यासों में सोचने-समझने बहस करने वाले नर-नारियों की बौद्धिक विवेक वयस्कता इधर काफ़ी बढ़ी-चढ़ी दृष्टिगत होती है। ये पात्र अपनी नियति भी पहचानते हैं और राजनीति के तोताचश्म की उधेड़बुन में भी प्रवृत्त रहते हैं। उनकी इच्छा-आकांक्षा, विचारधारा, राजनीति, मित्रता-शत्रुता, धर्म, साहित्य आदि सभी के प्रति निश्चित राय रहती है। 'क़िस्सा ग़ुलाम' का कुंदन आरंभ में एक विरोधी के रूप में उभरता है। देश से बाहर जा कर विदेश में आदिम जातियों का अध्ययन करता है और फिर विदेशी लड़की से ही विवाह कर लेता है। किंतु स्वदेश लौटने पर कुंदन धीरे-धीरे विद्रोही की छवि खो देता है। अंत में वह अपनी परंपराओं, इतिहास की अनिवार्य स्थितियों, संस्कारों की भारतीय गतियों का ग़ुलाम बन जाता है। एक बृहत्तर संदर्भ में 'क़िस्सा ग़ुलाम' का कुंदन उस युवा भारतीय मानस का प्रतीक है, जो बौद्धिक रूप से जागरूक होता हुआ भी देश, धर्म, जाति आदि के संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाता। संस्कारों की जड़ें हमारे आदिम अवचेतन मन में इतनी गहरी गड़ी होती है कि उससे चाह कर भी मुक्त हो पाना कठिन होता है और हम 'ग़ुलाम' बने रह जाते हैं।

'स्व' के संबंधों की प्रासंगिकता-अप्रासंगिकता दिखाने के लिए इन स्व-केंद्रित उपन्यासों में नर-नारी संबंधों की दैहिक-भौतिक संबंधों की छानबीन बहुत बारीकी से की जाती है। बदलते हुए सामाजिक-आर्थिक-नैतिक संबंधों ने स्त्री-पुरुष की आदिम राग-शक्ति, काम और प्रेम को भी दूषित कर दिया है। सेक्स और प्रेम के बीच मुक्त मिलन या नर-नारी मिलन में तृप्ति न रह कर एक बेढंगी अतृप्ति का जन्म हुआ है। स्त्री भोग्या बन कर केवल देह रह गयी है। उसके प्रति दैहिक आकर्षण और संभोग के अलावा जैसे अन्य कोई रिश्ता बन पाना कठिन हो। मृदुला गर्ग ने 'चित्तकोबरा' में यही स्थिति बड़े बोल्ड बिंबों में दर्शायी है। सेक्स-वर्णन में उनका मन बड़े चटखारे लेता है और यही हालत बहुत से उपन्यासों में दिखायी देती है। निर्मल वर्मा के 'वे दिन' में काम के आवेग की धारा का सूक्ष्म अंकन है। संभोग तक पहुंचने से पहले दो व्यक्तियों की मानसिकता का पूरा सूक्ष्म ब्यौरा दिया गया है। श्रीकांत वर्मा ने 'दूसरी बार' में स्त्री के सामने पुरुष की हीन भावना और नफरत को प्रतीकों की नयी गतियों-छवियों से उभारा है। राजकमल चौधरी की 'मछली मरी हुई' तो एक सेक्सगाथा ही है। महेन्द्र भल्ला के 'एक पति के नोट्स' में कोरा शारीरिक भोग है, जिसके ब्यौरे काफ़ी दिलचस्प ढंग से परोसे गये हैं। गोविंद मिश्र के 'वह अपना चेहरा' में पुरुष-उत्तेजना का धधकता ज्वालामुखी है। और तो और यशपाल जैसे बुढ़ाये कथाकार 'क्यों फंसे?' उपन्यास में स्त्री-स्वतंत्रता की पैरवी करते हुए गर्भ-निरोधक उपकरणों और सेक्स-ब्यौरे में गाफिल दिखायी देते हैं। मनोहरश्याम जोशी 'कुरु-कुरु स्वाहा' के बाद 'कसप' में प्रेम के लिए एक ही स्थान पाते हैं—'सेक्स'। सेक्स संबंधी विकृतियों-अतृप्तियों का एक अजीब-सा संसार इस काल के उपन्यासों में उभर रहा है। ऐसे भी उपन्यास हैं, जो पति-पत्नी के बीच के दैहिक संबंधों पर आंख गड़ाते हैं,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जैसे गिरिराज किशोर का 'यात्राएं'। 'यात्राएं' नवविवाहिता पति का पत्नी से संभोग न कर पाने की व्यथा-कथा है। पर इस विषयवस्तु का सबसे जीवंत उपन्यास कृष्णा सोबती का 'सूरजमुखी अंधेरे के' है, जिसमें कथा-लेखिका ने कुंठित, अतृप्त, ठंडी और एक पुरुष के साथ मुक्त काम-सुख भोगती स्त्री का चित्रण किया है। वह उपन्यास अन्य किसी दृष्टि से चाहे मूल्यवान न हो, पर अपनी काव्यात्मक गरमाई के कारण और खुले वर्णनों की ब्यौरेवार हरकतों के कारण स्थितियों व मन:स्थितियों का प्रामाणिक और दिलचस्प संसार अवश्य है।

पति-पत्नी के बीच तनाव आ जाने और आपसी संबंधों के टूट जाने की विषयवस्तु भी कई उपन्यासों के केंद्र में रही है। इस तरह की औपन्यासिक प्रवृत्ति की सबसे सशक्त रचना मन्नू भंडारी का उपन्यास 'आपका बंटी' है। कथ्यगत नवीनता, गहराई, विश्लेषण और रूपबंध के कलात्मक कसाव की दृष्टि से यह कलाकृति पिछले दस वर्षों के उपन्यास-सृजन की सबसे महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान उपलब्धि है। यद्यपि भीष्म साहनी के उपन्यास 'कड़ियां' की विषयवस्तु भी 'आपका बंटी' से काफ़ी मिलती है, तथापि बच्चे के मन की टूट और दहाड़ के अंकन में भीष्म साहनी को वैसी सफलता नहीं मिली, जैसी मन्नू भंडारी को मिली है। कहना न होगा कि इस दौर के हिंदी-उपन्यासों ने निम्न मध्यवर्ग, उच्च मध्यवर्ग और उच्च वर्ग के नर-नारी संबंधों को विश्लेषित व परिभाषित करने की ज़ोरदार कोशिश की है। इस कार्य में मनोविश्लेषणशास्त्र की नयी खोजों ने भी नयी दिशा-दृष्टि से भारी मदद की है।

इस कालखंड में हिंदी-उपन्यास में एक नयी प्रवृत्ति उभरी है—नौकरीपेशा मध्यवर्ग के लोगों की शहरी ज़िंदगी का केंद्र में आ जाना। सन् 50 से सन् 70 तक हिंदी-उपन्यास में आंचलिक उपन्यासों का अंबार लगने लगा था। शायद ही कोई जागरूक कथाकार हो, जो आंचलिकता की ओर पूरी शक्ति से न भागा हो। पर धीरे-धीरे आंचलिक उपन्यास लिखना मात्र फ़ैशन बनता गया और उसका मुहावरा इतना निस्तेज पड़ गया कि उनका लिखना लगभग बंद हो गया। आंचलिकता का भूत जितनी तेज़ी से हिंदी-कथाकार के ऊपर चढ़ा था, उतनी ही तेज़ी से उतर भी गया। सन् 70 के बाद आंचलिकता से मुक्ति पा कर कथाकार शहरी मध्यवर्ग की समस्याओं, चुनौतियों, स्थितियों की ओर मुड़े और उनके चित्रण में प्रवृत्त होते गये हैं। शहरी जीवन के चित्रण में सर्वाधिक चर्चा का केंद्र दफ्तर की ज़िंदगी रही है। गिरिराज किशोर का उपन्यास 'चिड़ियाघर' रोज़गार-दफ़्तर की भ्रष्ट स्थितियों को उभारता है, जिसमें एक अफसर के अपने से बड़ी अफसर स्त्री के राग-रंग संबंधों को उभारा है। गोविंद मिश्र ने 'वह अपना चेहरा' में स्त्री क्लर्क और पुरुष अफसर की कथा को रोचक दास्तानों से उठाया है। भीष्म साहनी के उपन्यास 'कड़ियां' में दफ्तर के नर-नारी की ही कथा है। बदी उज़्ज़मा के उपन्यास 'एक चूहे की मौत' में दफ्तरी जीवन की झल्लाहट, यंत्रणा, ऊब आदि का वर्णन है। यहां चूहे और काम लेने वाले आदमी में फ़र्क़ कर पाना कठिन है। पर वह उपन्यास कलात्मकहीनता के कारण वर्णनात्मक यांत्रिकता में डूब कर कमज़ोर रचना बन गया है। गिरिधर गोपाल के उपन्यास 'कंदील और कुहासे' में बेकार युवक की दर्दनाक मौत की कहानी है। 'एक प्यासा तालाब' एक अफ़सरी दिमाग़ की अज़ीबोग़रीब तस्वीर है। महानगरीय बंबई के जीवन की एक तस्वीर ममता कालिया ने 'बेघर' उपन्यास में बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत की है।

महानगरीय जीवन की यंत्रणा और खोखलेपन को उभारने वाला प्रमुख उपन्यास लक्ष्मीकांत वर्मा-रचित 'टैरीकोटा' है। इसमें दिल्ली के जीवन को सच्चे प्रतीकों से उजागर किया गया है। 'टैरीकोटा' इटालियन शब्द है, जिसका अर्थ है—मिट्टी की मूर्त्तियां या मिट्टी के खिलौने। इस

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उपन्यास की कथा का आरंभ हस्तिनापुर की खुदाई में प्राप्त कुछ मूर्त्तियों के संकेत और रोहित-मिति के संवादों से होता है। अपाहिज़ सेनापति कंबोज, उनकी अंधी पत्नी, तीन पुत्रियां, पांडव सेनापति कैशिकेय, सामंत रोहिताश्व की मूर्त्तियां अपने संकेतों, प्रतीकों में आधुनिक व्यथा-बोझिल आदमी की प्रतिकृतियां हैं। रोहित इसी अर्थ-संकेत को उभारते हुए कहता है—"आज भी दिल्ली में आदमी संत्रस्त है, टूटा हुआ है, क्षत-विक्षत है, पंगु है। फ़र्क़ केवल इतना है कि आज की पंगुता मानसिक है और आज से पहले हस्तिनापुर की पंगुता कायिक थी" (पृ. 8)। इस प्रकार यह कथा प्राचीन हो कर भी एकदम आधुनिक बोध से जुड़ी है। महाभारत-युद्धोत्तरकाल के पात्रों से महानगरीय जीवन की विडंबनाओं तथा विसंगतियों को नयी प्रयोग-कला से उभारा गया है। रोहित-मिति में भावना के स्तर पर अभिन्नता, पर वैचारिक स्तर पर पृथकता है। रोहित, मिति में गृहिणी को खोजता है, पर मिति आर्थिक, पारिवारिक संकट के कारण नौकरी की ओर खिंची चली जाती है। पूरा विचार-युद्ध परंपरागत तथा नवीन मूल्यदृष्टि से टकराहट के कारण है, जिसमें मिति एक विद्रोही साहसी नारी है, तो रोहित कायर प्रेमी। मिति अपने मनोवेगों का खुल कर, नैतिक बंधनों से मुक्त हो कर, जीने का अधिकार मांगती है—वह ढर्रेदार विवाह की परंपरागत ठिठुरन में जीने को असमर्थ नारी है।

गिरिराज किशोर का 'चिड़ियाघर' शहर के रोज़गार-दफ्तर और उसके अफसरों के आसपास फैला उपन्यास है। 'साहब' स्मिथ भारतीयों को निकम्मा समझता है और उन्हें गालियों से सीधा रखता है। अन्य सहयोगी रोज़गार-अफसर ईर्ष्या-द्वेषवश, एक-दूसरे को उखाड़ने-पछाड़ने में लगे रहते हैं। इन सभी के चर्चा-केंद्र में रहती है—महिला अफ़सर मिसेज़ रिज़वी। इस महिला अफ़सर पर मि. स्मिथ बड़े मेहरबान हैं। सभी अफ़सरों पर मिसेज़ रिज़वी की चलती है और वे सब मिसेज़ रिज़वी को हरामज़ादी भी समझते हैं। इस प्रकार इस छोटे से उपन्यास में दफ्तरी जीवन का कमीनापन, टुच्चापन व विसंगतियां आदि सभी को उभारा गया है।

इधर के उपन्यासों में एक नवीन प्रवृत्ति और उभरी है—विदेशों में रहने वाले भारतीय परिवारों, व्यक्तियों के अकेलेपन, ऊब आदि का चित्रण। अकसर वहां के बसे भारतीय परिवार विदेशी परंपराओं में ढल नहीं पाते। विदेशी जीवन में घुल-मिल न पाने की स्थितियों से उत्पन्न व्यथा का चित्रण रंगभेद, जातिभेद के तनावों की तस्वीर इन उपन्यासों में उभारी जाती है। मगर अभी इस तरह के उपन्यासों में विदेशों शहरों की भीड़भाड़, रीति-रिवाजों के फ़ैशन, भ्रष्टाचार की बारीक दृश्यावलियां नहीं मिल पाती हैं। प्रायः इस तरह के उपन्यासों में सेक्स-संबंधों की चाशनी मनमाने ढंग से डाली जाती है। हिंदी में इस ढंग के उपन्यास निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद, रामकुमार, उषा प्रियवंदा आदि ने पिछले दशकों में लिखे हैं।

जीवन के फैलाव, सामाजिक-आर्थिक विषमता, राजनीतिक जीवन की अराजकता, विद्रूपता, मूल्यहीनता, भ्रष्टाचार को ले कर भी इधर के वर्षों में भारी संख्या में उपन्यास लिखे गये हैं। हालांकि इस क्षेत्र की प्रतिनिधि रचना श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' है। इसमें एक बड़े गांव के माध्यम से पूरी भारतीय आधुनिक ज़िंदगी की मूल्यहीनता और संस्कारहीनता को उजागर किया है। मगर श्रीलाल शुक्ल 'राग दरबारी' के बाद न तो उस जैसा कोई उपन्यास लिख सके और न उपन्यासकला का किसी अन्य दिशा में कलात्मक-संवेदनात्मक रचनासंसार ला सके। फणीश्वरनाथ रेणु ने 'मैला आंचल' में उस प्रभाव-दबाव की काली छाया का चित्रण बहुत पहले किया था, जो गांव के जीवन को तबाह करती जा रही थी। गांव के जीवन की इस बदलती-टूटती रीढ़ को, उसकी विसंगतियों-विद्रूपताओं को इधर 'अलग-अलग वैतरणी', 'जल टूटता हुआ', 'सफ़ेद

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मेमने', 'आधा गांव', 'नदी फिर बह चली' जैसे उपन्यासों ने काफ़ी गहराई की पकड़ से चित्रित किया। लेकिन 'आधा गांव' को छोड़ कर 'राग दरबारी' जैसी प्रखर व्यंग्यात्मकता और सामाजिक संबंधों की भरपूर दरकन को नहीं दिखाया जा सका। 'आधा गांव' ग्रामीण जीवन की जीवंत धड़कनों, सामाजिक स्थितियों के बदलावों, संबंधों के खोखले दृश्यों को ज़िंदगी की धड़कती धुनों से जगाता हुआ आता है। शिया मुसलमानों की ज़िंदगी के सूक्ष्म गहन स्पंदनों को इसमें कहा-भर नहीं गया है, बल्कि अनुभवों की कलात्मक सघनता से महसूस कराया गया है। ऐसा इसलिए हुआ है कि रचनाकार ने उस जीवन को देखा-सुना-भर नहीं है, बल्कि जिया और भोगा है। इसलिए गांव के जीवन का दर्द उसका हाड़ फोड़ कर निकला है। पात्र ऐसे हैं कि काल्पनिक और वास्तविक का भेद मिट जाता है—पात्र इतने सहज दृश्यों, कांडों, परिस्थितियों में रचे-बसे हो कर उभरे हैं कि उनकी वास्तविकता पर भरोसा हो जाता है। फुन्नन मियां, अब्बू मियां, झंगटिया बा, मौलवी बीदार, कोमिला, बलराम चमार, हकीम अली कबीर, गया अहीर और अनवारुल हसन आदि पात्रों की भाषा का मिजाज़, व्यंग्य-वक्रोक्ति, मुंहफट करारापन, बेधड़क विचार की नरमी-गरमी भाषिक संवेदना से परिवेश का समा बांध देती है। गंगोली गांव की कहानी में कई कहानियां लिपट कर खुलती हैं। यहां मुहर्रम के दृश्य परंपरागत जीवनपद्धति के असली प्रतीक हैं और मुहर्रम की चमक-दमक का फीका होते जाना, मुस्लिम जीवन के निस्तेज होते जाने का संकेत है। परंपरावादी गांव के जीवन से अलग नये सामाजिक जीवन की पहचान कराने वाले प्रतीक हैं—सुखरमवा चमार का बेटा परसुरमवा, जो एम.एल.ए. हो गया है, जो जीप पर चलता है, पक्की हवेली में ठहरता है। इस प्रकार बदलते हुए गांव के जीवन का 'आधा गांव' पिछले दस-पंद्रह वर्षों के सभी उपन्यासों से ज़्यादा भरोसेमंद और कलात्मक दस्तावेज़ है। सरसरी निगाह से देहाती जीवन को देखने वाला रचनाकार न तो एक चौंकन्ने समाजशास्त्री का दिमाग़ पा सकता था, और न वह मिगदाद, सैफुनिया, फुन्नन मियां, कुलसूम और हकीम जयपाल सिंह जैसे ज़िंदा पात्रों की सृष्टि कर सकता था। बहुत अधिक जटिल कथात्मकता का यह कलात्मक निर्वाह हिंदी-उपन्यासों से एकदम एक ढंग से अलग है। इस दृष्टि से यह बेहद नया प्रयोग है। प्रयोग की यही चतुरता और कलात्मकता राही मासूम रजा 'टोपी शुक्ला' शीर्षक उपन्यास में भी लाये हैं। उनके 'टोपी शुक्ला', 'हिम्मत जौनपुरी' आदि उपन्यासों में सांप्रदायिक ज़हर के फैलने से व्यक्ति के अकेले पड़ जाने की बड़ी भयावह तस्वीर अंकित मिलती है। प्रथम बार राही मासूम रजा ने उत्तरप्रदेश के हिंदू-मुसलमानों की एक सम्मिलित तस्वीर इतने मुकम्मल ढंग से रचना में ढाली है। अतः राही के उपन्यास एक सर्वथा अछूते विषय को अपने अनुभवों से रचते और संप्रेषित करते हैं। 'अलग-अलग वैतरणी' गांव के जीवन को उठाता है, पर अनुभवों में वह गाढ़ापन नहीं आ पाता है जो राही में मिलता है। किंतु इन उपन्यासों को प्रचलित 'आंचलिक उपन्यास' शब्द के अर्थ में 'आंचलिक' नहीं कहा जा सकता। इनमें 'आंचलिकता' की घेराबंदी न हो कर एक बृहत्तर सामाजिकता का जीता-जागता रचनालोक है। बलभद्र नारायण शुक्ला उर्फ टोपी शुक्ला स्वयं हिंदू-मुसलमानों की साझा संस्कृति वाले परिवार में जन्मे कथानायक हैं। उनके पिता जी भृगुनारायण 'फ़ारसी के रसिया और मौलाना रूम के दीवाने थे।' पर टोपी शुक्ला की मां धार्मिक हिंदू औरत थी। टोपी शुक्ला की संयोगवश मुसलमान कलक्टर के बेटे इफ्फन से घनिष्टता हुई। बाद में दोनों अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में फिर मिले। हिंदी में एम.ए. किया और शुक्ला जी बेकार रहे। बदनामी और अकेलेपन का अंत आत्महत्या के साथ ही हुआ। मूल बात यह है कि आज देश में जगह-जगह टोपी शुक्ला बिछे हुए हैं, अकेले और टूटे हुए हैं। 'टोपी शुक्ला' में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्वाधीनता के बाद के भारतीय जीवन की राजनीतिक-सामाजिक गिरावट, मूल्यहीनता, सांप्रदायिकता, ईमानदार की खराब हालत के साथ सामूहिक रूप से सामाजिक जीवन की बढ़ती कुरूपता को प्रस्तुत किया गया है।

श्याम व्यास के उपन्यास 'एक प्यासा तालाब' में ज़िंदगी की एक अलग भयानक झांकी है। क़स्बाई परिवेश की संवेदना को रचनाकार ने बड़ी नजदीकी से मूर्त किया है। कथा मालवा के छोटे शहर धार की है और प्यासा तालाब है—रूपवाली चंदा। चंदा की प्यास की आग में कई पुरुष झुलस गये हैं। चंदा का पति नंदन क्षयग्रस्त क्लर्क है, जो उसे शारीरिक तृप्ति देने में असमर्थ है। यही इस कथा का त्रासद आधार है। चंदा अपने पति से साफ़ कहती है, ''मैं होलिका की तरह जलने लगी और जिसने चाहा, मेरी अग्नि से हाथ तपाये। अब मैं तृप्ति नहीं, प्रतिशोध चाहती हूं और लूंगी''। नारी-अतृप्ति का एक भयानक विस्फोट कथा में बार-बार सुनायी देता है।

एक नयी कथा-भूमि को ले कर ओमप्रकाश दीपक का उपन्यास 'कुछ ज़िंदगियां बेमतलब' लिखा गया है। इसमें निचले समुदाय के जीवन की कथा है। कथा का केंद्र है—घसीटा उर्फ धरमदास, जो दिल्ली की एक बस्ती में पला, किसी चपरासी का पुत्र है। वह गुंडों और अपराधी छोकरों के साथ मिल कर छोटे-मोटे अपराध करता है। कथाकार इस तरह की बस्तियों की बड़ी भारी जानकारी देता है और घसीटा को सताने वाली शक्तियों के बीच पिसते दिखाया गया है। 'घुन लगी बस्तियों' के परिचय की वास्तविकता में बड़ा पैनापन है।

स्त्री-पुरुष काम-संबंध को सौंदर्य-सृष्टि के साथ अंकित करना हर रचनाकार के वश की बात नहीं होती है। प्राय: रचनाकार इस तरह के नाजुक विषय को उठा कर भटक जाते हैं। पिछले दशक के बहुत से उपन्यासों में काम-संबंध का चित्रण बेहद उत्तेजक और अप्रासंगिक दृष्टि से हुआ है। किंतु कृष्णा सोबती ने 'सूरजमुखी अंधेरे के' में सृजनात्मक कल्पना और कलात्मक रचना-प्रक्रिया से इसे नया अर्थ दिया है। यह रक्तिका या रत्ती नामक लड़की की कथा है। बचपन में किसी लड़के से यौन-संपर्क हो जाने के कारण उसे उपहास मिलता है और वह कुंठाग्रस्त हो जाती है। परिणामत: वह प्रत्येक पुरुष से छिटक कर दूर रहती है—'वह जिसने कभी किसी को नहीं पाया और जिसको कभी किसी ने नहीं'। उसका जीवन एक भयानक युद्ध है, जो भीतर-बाहर चलता रहता है। अंत में वह दिवाकर से मिलती है और दोनों पार्क में रतिमग्न हो जाते हैं। ऐसा लगता है कि 'एक वेदिका पर साथ-साथ लेटे वे दोनों देवगण हों। देवता! अपने-अपने तन में छिपे स्रोतों से जिन्हें अमृत की बूंदें पानी हों, भागीरथी खींच लानी हो।' इस पूजा ने रत्ती को मुक्त किया है। यह प्रतीक-कथा बड़े ही कलात्मक शिल्प से तराशी गयी है। पूरा-का-पूरा उपन्यास काव्यात्मकता में तरंगभरा गीत है। 'मित्रो मरजानी' और 'यारों के यार' की लेखिका का यह नया भाषा-संसार है, शैली में हंसती हुई दूब की दमक है। हिंदी-अंग्रेज़ी, उर्दू-फ़ारसी के शब्दों का भाषा में रासायनिक घोल है। गोविंद ने 'वह अपना चेहरा' और 'उतरती धूप' में भी नारी-मन की संवेदनाओं का सूक्ष्म ब्यौरा दिया है। पर वे कृष्णा सोबती जितने सफल नहीं हो पाये। कृष्णा सोबती का 'ज़िंदगीनामा' एक बड़े फलक पर लिखी गयी जीवनगाथा है, जिसमें समाजशास्त्र, मनोविश्लेषणशास्त्र की नयी खोजों का फेंट कर उपयोग किया गया है।

बालक की ज़िंदगी को आधार बना कर लिखा गया हिंदी का सबसे सफल और कलात्मक उपन्यास है मन्नू भंडारी का—'आपका बंटी'। इसकी स्थूल कथा काफ़ी संक्षिप्त है। सुशिक्षित आधुनिक पति-पत्नी के अहं के टकराव से तनाव और फिर संबंध-विच्छेद। बंटी का स्थितियों में पिसते जाना और अकेले पड़ जाना इसी प्रक्रिया का अंग है। शिक्षित पति-पत्नी के अहं की मार

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बंटी को झेलनी पड़ती है। वह न तो डॉ. जोशी के परिवार में अपने को फिट पाता है और न अपने पिता के साथ ही। परिणामत: माता-पिता दोनों के होने पर भी उसे होस्टल में भर्ती किया जाता है। इस असमय की चोट ने उसे असाधारण बना दिया। प्रश्न उठा कि क्या वह अभाव में गुमराह न हो जायेगा? क्या बनेगा वह हिप्पी या बीटल या कुछ और? ऐसे तमाम प्रश्न यह उपन्यास अपने अंत में उठाता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में यह उपन्यास अपने ढंग का सर्वाधिक सार्थक प्रयोग है। इसी शैली का एक उपन्यास निर्मल वर्मा का 'लाल टीन की छत' है, जिसमें एक बच्ची की निश्छलता, छटपटाहट, यातना और अकेलेपन की मार्मिक कथा है। किंतु निर्मल के इस उपन्यास में मनोवैज्ञानिक पकड़ इतनी सशक्त नहीं है, जितनी 'आपका बंटी' में है। अज्ञेय जी ने 'शेखर : एक जीवनी' में काफ़ी पहले बचपन के बहुत-से पहलुओं को कलाकार के हाथों उठा कर साहित्य को नया अनुभव दिया था। अज्ञेय के वक्तव्य शेखर को अधिक समग्र, तीखा और बहुआयामी बना देते हैं। फिर शेखर बालपन पर ही नहीं रुकता। वह जीवन के अन्य संदर्भों को उठा कर उपन्यास को महाकाव्यात्मक विस्तार देता है।

अज्ञेय जी की दृष्टि परंपरा को बढ़ाने वाला इधर एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास रमेशचंद्र शाह का 'गोबर गणेश' सामने आया है। इस उपन्यास में जीवन- फलक वयस्कता तक विस्तार पाता है। शाह ने बचपन में ही मानसिकता के उन अंत:सूत्रों को पहचानने का यत्न किया है, जो वयस्क होने पर जीवन को पूरी तरह नियंत्रित व संचालित करते हैं। यह उपन्यास 'अन्नजल', 'त्रिपार्श्व' और 'अपने हिस्से का आसमान' तीन खंडों में बंटा हुआ है। प्रथम खंड में बालक विनायक का बचपन, शिक्षा तथा जीवन-आकांक्षा का चित्रण है। दूसरे 'त्रिपार्श्व और वर्णपट' में विश्वविद्यालय में विनायक की शिक्षा और प्रेम-प्रसंग है और तीसरे खंड में अध्यापकीय जीवन के घटना संदर्भ हैं। इस प्रकार बचपन से जवानी तक की जीवनयात्रा इस उपन्यास में चलती है। इस महाकाव्यात्मक फलक को शाह की सर्जनात्मक कल्पना, सृजनात्मक तनाव की ऊर्जा से उठा नहीं पाती। हालांकि इस उपन्यास का प्रथम खंड 'अन्नजल' अपनी सृजन-शक्ति से अपनी ओर खींच कर प्रभावित करता है, पर बाद के खंड यह सृजन तनाव क़ायम नहीं रख पाते। जीवन की अनुभव-संपदा में गहरी अन्विति न ला सकने के कारण अंतर्योजना बिखर गयी है। किंतु यह देख कर ख़ुशी होती है कि 'गोबर गणेश' की इन कमियों को शाह ने 'किस्सा ग़ुलाम' में भरसक नहीं आने दिया है। 'किस्सा ग़ुलाम' भी तीन खंडों में बंटा फ्लैशबैक की मदद से रचा गया उपन्यास है, जिसमें कुंदनलाल तामता की जीवनगाथा को विस्तार से कहा गया है। पिछड़ी अछूत जाति का कुंदन अंतत: भारतीय बौद्धिक पीढ़ी का प्रतीक है। एक ऐसा प्रतीक जो बौद्धिक वयस्कता के बावजूद अपने संस्कारों का ग़ुलाम है। शायद हम सब इस अर्थ में 'क़िस्सा ग़ुलाम' के कुंदन ही हैं, जो बौद्धिकता को पाने, ओढ़ने व ढोने पर भी अपनी संस्कारगत ग़ुलामी से मुक्त नहीं हो सके हैं। शाह का यह उपन्यास अपनी कलात्मक अन्विति-रूपगत गठन और धाकड़ चरित्रों की योजनाओं से काफ़ी प्रभावशाली बना है। हिंदी का उपन्यास-साहित्य वैचारिक व बौद्धिक और कलात्मक स्तर पर कितना समर्थ बनता जा रहा है, इसका प्रमाण भी पाठक को देता है।

यशपाल ने 'झूठा सच' से आगे का उपन्यास 'तेरी मेरी उसकी बात' में जीवन-यथार्थ के नये पक्षों का कलात्मक प्रस्तुतीकरण किया है। यह बृहत्काय उपन्यास एक साथ दो स्तरों पर चलता है। एक ओर तो सन् 1942 तथा उसके बाद के राजनीतिक परिवेश को गहराई से पकड़ा गया है, दूसरी ओर सामाजिक परिवेश में अमर, नरेन्द्र, रजा, उषा आदि पात्रों को रखते हुए उनके वैचारिक संघर्ष को नये कोणों से चित्रित किया गया है। स्त्री के शोषण के विरुद्ध यह हिंदी-कथा-साहित्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में सबसे ज़ोरदार आवाज़ उठाने वाला उपन्यास है।

जगदीशचंद्र का उपन्यास 'धरती धन न अपना' पंजाब के एक गांव की कथा को उठा कर अपढ़ चमार जाति के जीवन का ऐसा संश्लिष्ट चित्रण है कि पाठक की अनुभव-संपदा का विस्तार होता है। एक प्रकार से इसे करोड़ों हरिजनों की समस्याओं और व्यथा का समकालीन दस्तावेज़ कहा जा सकता है। हिंदी का यह प्रथम उपन्यास है, जो हरिजनों की व्यथा को इतने व्यापक और तीव्र संवेदनाघातों से साहित्य में उजागर करता है। ऐसे ही मणि मधुकर के उपन्यास 'सफ़ेद मेमने' में राजस्थान के नेगिया, बराऊ, गाबासी जैसे ढाणियों में बसे मानवों की कथा है। पूरी कथा विषाद रस में डूबी है, पर कथा की कलात्मक अंतर्योजना कथाकार उत्पन्न नहीं कर सका है।

किसी भी जाति का सामूहिक अवचेतन मन पुराणकथाओं, देवकथाओं में जीवित रहता है। सृजनात्मक साहित्य में इन कथाओं का उपयोग लगातार नये-नये संदर्भों, प्रसंगों, मूल्यों को उजागर करने के लिए रचनाकार करते हैं। रामकथा को ले कर नरेन्द्र कोहली ने 'दीक्षा' में आधुनिक अर्थ की निष्पत्ति में काफ़ी दूर तक सफलता प्राप्त की है। प्राचीन के भीतर से नवीन का यह पुनराविष्कार हिंदी-उपन्यास में यह भरोसा बंधाता है कि आधुनिक भावबोध को इन प्राचीन कथाओं को ले कर बेहतर ढंग से व्यक्त किया जा सकता है। कविता और नाटक ने तो इन कथाओं का एक लंबे समय से उपयोग किया है, किंतु उपन्यासों के क्षेत्र में इनका प्रयोग कम हुआ। हिंदी-उपन्यास में इस परंपरा से नये प्रयोग करने की ज़रूरत है। इस संभावना के प्रति नरेन्द्र कोहली के उपन्यास पाठक को और रचनाकार को भरोसा देते हैं।

समग्रतः इधर के कुछ वर्षों में हिंदी-उपन्यास-साहित्य में देश और काल की चेतना प्रखरता से अभिव्यक्त हुई है। उपन्यास के भाषाशिल्प में भी एक खुलापन आया है। नये-नये औपन्यासिक प्रयोगों ने जीवन की विविधता को कलात्मक सजगता से वैचारिक स्तरों पर अभिव्यक्ति दी है।

## अद्यतन हिंदी-उपन्यास-II

(1981 से 2005 तक)

इस समय हिंदी में गद्यविधाओं में सबसे अधिक लोकप्रिय विधा उपन्यास है। सबसे अधिक उपन्यास लिखे जाते हैं, प्रकाशित होते हैं और पढ़े जाते हैं। यह अलग बात है कि हर वर्ष प्रकाशित होने वाले उपन्यासों में से अधिकांश कालकवलित हो जाते हैं। बहुत कम उपन्यास ऐसे होते हैं जो दीर्घकाल तक जीवित रहते हैं। जो स्थिति उपन्यासों की है वही उपन्यासकारों की भी है। ऐसे अनेक उपन्यासकार मिल जायेंगे, जिन्होंने अनेकानेक उपन्यासों की रचना की है, फिर भी उपन्यासकार के रूप में उनकी कोई विशेष पहचान नहीं बन पायी है। ऐसे उपन्यासों और उपन्यासकारों में वे ही नहीं आते, जिनके साथ 'लोकप्रिय' विशेषण जोड़ा जाता है बल्कि वे उपन्यासकार और उपन्यास भी आते हैं, जो अपने को ख़ासा 'गंभीर' मानते हैं। ऐसी स्थिति में इस बात का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है कि विगत पचीस वर्षों में कितने उपन्यास प्रकाशित हुए होंगे, कितने नये उपन्यासकार सामने आये होंगे। उन सबकी चर्चा यहां न संभव है, न ही आवश्यक। यहां हम उन्हीं उपन्यासकारों और उनके उपन्यासों की चर्चा करेंगे, जिन्होंने श्रेष्ठ उपन्यासों की रचना की है या जिन्होंने उपन्यास के क्षेत्र में नयी ज़मीन तोड़ी है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वर्तमान कालावधि में कई पीढ़ियों के उपन्यासकार सक्रिय रहे हैं। समकालीन औपन्यासिक परिदृश्य में एक तो इस कारण बड़ी विविधता है। विविधता का दूसरा कारण यह है कि वर्तमान कालावधि में कोई विचारधारा केंद्रीय विचारधारा के रूप में उपस्थित नहीं रही है और न ही उपन्यासकारों के सामने ऐसा कोई बड़ा सरोकार रहा है जो उन्हें निरंतर मथता रहा हो। असल में हुआ यह है कि स्वाधीनता के साथ बुद्धिजीवियों और रचनाकारों ने नये स्वतंत्र भारत के, नये भारतीय समाज के जो सपने देखे थे, वे जल्दी ही टूटने लगे। जिनके हाथ में स्वतंत्र भारत की सत्ता आयी और उन्होंने जिस प्रकार स्वतंत्र भारत की जनता के साथ व्यवहार करना आरंभ किया, उसके प्रति पहले आक्रोश और विरोध उत्पन्न हुआ, लेकिन जनता में और भारत के उज्ज्वल भविष्य के प्रति आस्था बनी रही। लेकिन जल्दी ही यह विरोध और आक्रोश ठंडा पड़ने लगा, आस्था खंडित होने लगी और आशा निराशा में बदलने लगी। इसका रोचक प्रमाण यशपाल के दो उपन्यासों 'झूठा राच' ('वतन और देश' : 1958, 'देश का भविष्य' : 1960) तथा 'मेरी तेरी उसकी बात' (1974) में मिलता है। 'झूठा सच' के दूसरे खंड में कांग्रेसी राजनेता सूद सत्रह हज़ार वोटों से चुनाव हार जाते हैं और तारा एवं डॉक्टर प्राणनाथ दोषमुक्त हो जाते हैं। इन दोनों घटनाओं से राजनेता की हार और जनता की जीत प्रतीकित है। इस प्रसंग में उपन्यास के अंत में डॉक्टर प्राणनाथ की यह टिप्पणी राजनेताओं के प्रति अनास्था और जनता के प्रति अनास्था को व्यक्त करती है : ''गिल, अब तो विश्वास करोगे, जनता निर्जीव नहीं है। जनता सदा मूक भी नहीं रहती। देश का भविष्य नेताओं और मंत्रियों की मुट्ठी में नहीं है, देश की जनता के ही हाथ में है।'' डॉक्टर प्राणनाथ के ये शब्द वस्तुतः यशपाल के अपने शब्द हैं, जिनमें उनकी आशावादिता और जनता की शक्ति में आस्था व्यक्त हुई है। लेकिन अपने अगले और अंतिम उपन्यास 'मेरी तेरी उसकी बात' में मात्र चौदह वर्ष बाद वे इसे नहीं बनाये रख सके। उन्होंने अपने इस उपन्यास में भी जनसंघर्ष का बड़ा सजीव चित्रण किया है, लेकिन उपन्यास के केंद्रीय पात्र उषा का आत्मबलिदान उनके मोहभंग, उनकी हताशा को ही व्यक्त करता है। यह अलग बात है कि हिंदी के प्रगतिवादी आलोचकों ने इस मोहभंग और हताशा को स्वीकार करते हुए भी स्वीकार न करने की मुद्रा अपनायी है। डॉ. कुंवरपाल सिंह ने लिखा है कि ''यशपाल ने 'झूठा सच' से बहुत-कुछ सीखा है और शायद इसीलिए इस उपन्यास ('मेरी, तेरी, उसकी बात') में 'झूठा सच' के अंत वाली आशा और आस्था की बात भी नहीं करना चाहते, क्योंकि इन वर्षों में इन्हें स्वयं एक और मोहभंग की त्रासदी एवं यातनादायी स्थिति में साक्षात्कार के लिए तैयार कर दिया है।...(उषा की) यह बलि सिर्फ़ उसकी न हो कर उन सबकी है, जो एक चौतरफ़ा संघर्ष की असफलता की पीड़ा और यातना सह कर भी आज मोहभंग और उससे पैदा हुई जड़ता के शिकार हैं'' (हिंदी-उपन्यास के सौ वर्ष : सं. डॉ. रामदरश मिश्र, प्र. सं. 1984, पृ. 309)। यह मोहभंग और हताशा का स्वीकार है, किंतु उनका यह कहना इसे स्वीकार करते हुए अस्वीकार करना है : ''अवसरवादी और सत्ताधारी राजनीति ने स्वतंत्र भारत में किस प्रकार संघर्ष को विफल कर दिया है और विरोध को अर्थहीन बना दिया है, इसका प्रमाण 'मेरी तेरी उसकी बात' में मिलता है। परंतु ऐसा नही हैं कि संघर्ष के सारे रास्ते बंद हो चुके हैं'' (वही, पृ. 308 09)। इस उपन्यास के संबंध में लगभग ऐसी ही बात वामपंथी रुझान वाले आलोचक मधुरेश ने कही है, ''...यह मोहभंग एक तरह से पूरी स्वतंत्रताकामी शक्तियों का ही मोहभंग है। सत्ताकामी और अवसरवादी राजनीति ने जनता के इस संघर्ष को आज व्यर्थ कर दिया है। लेकिन हताशा के अस्थायी दौर के बावजूद संघर्ष का रास्ता कभी बंद नहीं होता। हताशा के इस दौर का भी अपना

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

महत्त्व है, क्योंकि इसी के बीच जनता अपनी भावी रणनीति तय करके संघर्ष का नया हौसला भी पैदा करती है'' (हिंदी-उपन्यास का विकास, प्र.सं. 1998, पृ. 123)।

डॉ. कुंवरपाल सिंह और मधुरेश तथा उन जैसे लोग कुछ भी कहें, कितने ही 'लेकिन' लगायें, किंतु विगत तीन-चार दशकों का यथार्थ मोहभंग और हताशा का है, जिससे मुक्ति का कोई रास्ता सूझ नहीं रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इन दशकों में रचनाकार 'व्यक्ति' बन कर रह गया है, वह आत्मग्रस्त और आत्मकेंद्रित हो गया है, उसके लिए निजी अनुभव और निजी सत्य ही प्रामाणिक रह गया है। इसीलिए समकालीन हिंदी-उपन्यास में वस्तु और शिल्प दोनों के स्तर पर बड़ी विविधता आयी है, अनुभव और अभिव्यक्ति के नये-नये क्षेत्र और आयाम उभर कर सामने आये हैं।

विगत् पच्चीस वर्षों में जैनेंद्र अपनी पीढ़ी के अकेले उपन्यासकार हैं, जिनका अंतिम उपन्यास प्रकाशित हुआ है 'दशार्क' (1983)। उनके इस उपन्यास में यथार्थ जीवन का अनुभव कम है, वैचारिकता ज़्यादा है। कहा जा सकता है कि यह कुछ वैचारिक निष्कर्षों को प्रस्तुत करने के लिए गढ़ा गया उपन्यास है। इन वैचारिक निष्कर्षों का विवाह, घर, परिवार, धन, वेश्यावृत्ति आदि से संबंध है, जिन्हें एक अत्यंत क्षीण कथा पर टांगा गया है तथा संवेदनाशून्य बहसों और वैचारिक टिप्पणियों से उपन्यास को भर दिया गया है। दुनिया भर की तमाम चीज़ों पर जैनेंद्र ने अपने वैचारिक निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। इस उपन्यास का केंद्रीय वैचारिक निष्कर्ष यह है कि ''प्रेम का सत्य ही अंतिम सत्य है।'' और प्रेम भी वह, जिसमें शरीर का अस्तित्व बाधा नहीं बनता। इसे सिद्ध करने के लिए इस उपन्यास की केंद्रीय पात्र रंजना गृहस्थ जीवन को छोड़ कर वेश्या बनती है और वेश्यावृत्ति को एक प्रयोग के रूप में लेती है। दरअसल इस उपन्यास में भी मूल समस्या वही है, जिसे जैनेंद्र अपने पहले ही उपन्यास से उठाते रहे हैं अर्थात प्रेम, विवाह और वासना तृप्ति को अलग-अलग रखना। यह समस्या कहीं-न-कहीं उनके अपने जीवन में प्रेम और विवाह के प्रसंग में घटित घटना की उपज है, जिससे वे कभी मुक्त नहीं हो पाये।

मार्क्सवाद में आस्था रखने वाले और प्रगतिवादी माने जाने वाले दो उपन्यासकार इस कालावधि में सक्रिय रहे हैं, जिनके कुछ उपन्यास इस काल में प्रकाशित हुए हैं। एक हैं भैरवप्रसाद गुप्त और दूसरे हैं भीष्म साहनी। इस कालावधि में भैरवप्रसाद गुप्त के प्रकाशित होने वाले उपन्यास हैं : 'काशी बाबू' (1987), 'भाग्यदेवता' (1990), 'अक्षरों के आगे मास्टर जी' (1993) और 'छोटी-सी शुरुआत' (1997, निधनोपरांत)। अपने इन उपन्यासों में उन्होंने सामाजिक परिवर्तन में मध्यवर्ग की भूमिका को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। अपनी वामपंथी प्रतिबद्धता और निष्ठा के बावजूद एक उपन्यासकार के रूप में वे सामान्य स्तर से ऊपर इन उपन्यासों में नहीं उठ पाये हैं। इस कालावधि में भीष्म साहनी के तीन उपन्यास प्रकाशित हुए हैं : 'मय्यादास की माड़ी' (1988), 'कुंतो' (1993) और 'नीलू, नीलिमा, नीलोफर' (2000)। 'मय्यादास की माड़ी' में पंजाब में 1840 में अंग्रेज़ों की अमलदारी के प्रारंभ, नये ज़मींदारों की अंग्रेज़ों के प्रति वफादारी, उनकी नीचता और ग़ुलामी, उनके द्वारा किसानों और मज़दूरों के शोषण, उनकी सहायता से ईस्ट इंडिया कंपनी की लूट-खसोट, इन ज़मींदारों के स्थान पर महाजनों, पूंजीपतियों के वर्चस्व की स्थापना, इनकी लूट-खसोट में अंग्रेज़ों का सहयोगी बनना और फिर युवा पीढ़ी का इस शोषण के विरुद्ध विरोध और विद्रोह का चित्रण किया गया है। इसे उपन्यास का केंद्र 'मय्यादास की माड़ी' नामक क़स्बा है और घटनाओं की अंतिम सीमा 1920 के आसपास है। स्पष्ट है कि भीष्म साहनी ने अपने इस उपन्यास में निकट अतीत का इतिहास प्रस्तुत किया है,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लेकिन एक इतिहासकार के रूप में नहीं, अपितु एक उपन्यासकार के रूप में। इसीलिए इस उपन्यास में सार्वभौमिकता और सार्वकालिकता का आभास स्पष्ट है। 'कुंतो' और 'नीलू, नीलिमा, नीलोफर' का संबंध नारी-जीवन की समस्याओं से है। 'कुंतो' में विभाजन से पूर्व के पंजाब के एक आर्यसमाजी परिवार की स्त्री कुंतो की कहानी के माध्यम से नारी की त्रासद नियति का चित्रण किया है। पुरुष-वर्चस्व वाले समाज में अपनी अशिक्षा, नारी-आचरण के परंपरागत मूल्यों, आर्थिक पराधीनता, अज्ञान आदि के कारण स्त्री को तरह-तरह की यातनाएं झेलनी पड़ती हैं, उसे चुपचाप अपने पति का परस्त्रीगमन स्वीकार करना पड़ता है। 'नीलू, नीलिमा, नीलोफर' में अंतर्धार्मिक विवाह की समस्या के माध्यम से स्त्री-नियति का चित्रण किया गया है। नीलू मुसलमान है और वह हिंदू युवक सुधीर से प्रेम करती है। नीलिमा हिंदू है और वह मुस्लिम युवक अल्ताफ से प्रेम करती है। दोनों को धार्मिक मर्यादाओं के कारण दमित, कुंठित और विडंबनापूर्ण जीवन जीना पड़ता है। क्रमशः बदल रहे भारतीय समाज में इस तरह की घटनाएं और उन पर कट्टर धार्मिक प्रतिक्रियाएं अब अपरिचित नहीं हैं, लेकिन उनका समाधान क्या है? भीष्म साहनी के ये दोनों अंतिम उपन्यास उपन्यासकला की दृष्टि से सामान्य कृतियां हैं।

भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यासकार के रूप में सामने आने के कुछ वर्ष बाद अमृतलाल नागर ने उपन्यास लिखना प्रारंभ किया। भैरवप्रसाद गुप्त का पहला उपन्यास 'शोले' 1941 में प्रकाशित हुआ और अमृतलाल नागर का पहला उपन्यास 'महाकाल' 1947 में प्रकाशित हुआ। उसके बाद ये दोनों उपन्यासकार वस्तुपरक दृष्टि से लगातार उपन्यास लिखते रहे। वर्तमान कालावधि में नागर जी के 'खंजन नयन' (1981), 'बिखरे तिनके' (1982), 'अग्निगर्भा' (1983), 'करवट' (1985) और 'पीढ़ियां' (1990) उपन्यास प्रकाशित हुए। 'खंजन नयन', 'मानस का हंस' की परंपरा का उपन्यास है। जहां 'मानस का हंस' में तुलसीदास का जीवन प्रस्तुत किया गया है, वहीं 'खंजन नयन' में सूरदास का। जन्मांध बालक किस प्रकार प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष करता हुआ महान भक्त और कवि सूरदास बनता है, यही 'खंजन नयन' की मूल वस्तु है। यह उपन्यास सर्जनात्मक दृष्टि से 'मानस का हंस' की ऊंचाई को नहीं छू सका है। 'बिखरे तिनके' और 'अग्निगर्भा' उपन्यासों का संबंध वर्तमान जीवन की समस्याओं से है। 'बिखरे तिनके' में राजनेताओं, छात्रनेताओं, पत्रकारों, व्यापारियों, नगरपालिका के अधिकारियों आदि के भ्रष्टाचार और चारित्रिक पतन का चित्रण है और 'अग्निगर्भा' में दहेज की समस्या और उसके दुष्परिणामों का। 'करवट' और 'पीढ़ियां' परस्पर संबद्ध उपन्यास हैं, जिनकी कथावस्तु का संबंध निकट अतीत (1805-1905 एवं 1905-1942 ई.) के इतिहास से है। इन उपन्यासों में एक ही परिवार की छह पीढ़ियों के माध्यम से लगभग डेढ़ सौ वर्षों के उत्तर भारत के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, शैक्षणिक आदि के क्षेत्र में हुए परिवर्तनों और मूल्यांतरण का चित्रण किया गया है। इन दोनों उपन्यासों की कथा का केंद्र लखनऊ है, यद्यपि उसका प्रसार कलकत्ता से बंबई तक भी होता है। अपनी प्रवृत्ति के अनुसार नागर जी ने इस काल के संबंध में तथ्यात्मक अनुसंधान करके ही कथा की कल्पना की है। इसीलिए इस उपन्यास-युग्म में ऐतिहासिक प्रामाणिकता अबाधित है और सर्जनात्मकता 'बूंद और समुद्र' के स्तर को छूती है।

इस कालावधि में सक्रिय अगली पीढ़ी उन उपन्यासकारों की है, जो बीसवीं शताब्दी के छठे दशक में 'नयी कहानी', 'आंचलिक कहानी', 'ग्रामकथा', 'नगरकथा' आदि कथांदोलनों से जुड़ कर या उनसे बिना जुड़े उपन्यास-लेखन के क्षेत्र में अवतरित हुए हैं। इस कालावधि में इनमें से सक्रिय रहने वाले उपन्यासकार हैं : **विष्णु प्रभाकर** : 'अर्धनारीश्वर' (1992), 'संकल्प'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(1993), **लक्ष्मीनारायण लाल** : 'पुरुषोत्तम' (1983), 'गली अनारकली' (1985), 'कनाट प्लेस' (1986), **प्रभाकर माचवे** : 'आंखें मेरी बाक़ी उनका' (1983), 'लापता' (1984), **नरेश मेहता** : 'उत्तरकथा' (भाग 2, 1982), **कमलेश्वर** : 'सुबह, दोपहर, शाम' (1982), 'रेगिस्तान' (1988), 'कितने पाकिस्तान' (2000), **कृष्ण बलदेव वैद** : 'गुज़रा हुआ ज़माना' (1981), 'काला कोलाज' (1989), 'नर-नारी' (1996), 'मायालोक' (1999), 'एक नौकरानी की डायरी' (2000), **लक्ष्मीकांत वर्मा** : 'मुंशी रायजादा', **श्रीलाल शुक्ल** : 'पहला पड़ाव' (1987), 'बिस्रामपुर का संत' (1998), 'राग-विराग' (2005), **शैलेश मटियानी** : 'गोपुली गफूरन' (1981), 'चंद औरतों का शहर' (1981), 'बावन नदियों का संगम' (1981), 'अर्द्धकुंभ की यात्रा' (1983), 'मुठभेड़' (1984), 'उत्तरकांड' (1995), **राजेंद्र अवस्थी** : 'एक रजनीगंधा की चोरी' (1985), **रामदरश मिश्र** : 'बिना दरवाज़े का मकान' (1984), 'दूसरा घर' (1986), 'थकी हुई सुबह' (1994), 'बीस बरस' (1996), **उषा प्रियंवदा** : 'शेष यात्रा' (1984), 'अंतर्वंशी' (2000), **निर्मल वर्मा** : 'रात का रिपोर्टर' (1989), 'अंतिम अरण्य' (2000), **गुलशेर ख़ां शानी** : 'सांप और सीढ़ी' (1983, पूर्व रूप 'कस्तूरी' : 1961), **राही मासूम रजा** : 'असंतोष के दिन' (1986), 'नीम का पेड़' (2003, उर्दू उपन्यास का प्रभात त्रिपाठी-कृत हिंदी रूपांतर), **गिरिराज किशोर** : 'तीसरी सत्ता' (1982), 'यथाप्रस्तावित' (1982), 'परिशिष्ट' (1984), 'असलाह' (1987), 'अंतर्ध्वंस' (1990), 'ढाई घर' (1991), 'यातनाघर' (1997), 'पहला गिरमिटिया' (1999), **शिवप्रसाद सिंह** : 'नीला चांद' (1988), 'शैलूष' (1989), 'मंजुशिमा' (1989), 'औरत' (1992), 'कुहरे में युद्ध' (1993), 'दिल्ली दूर है' (1993), 'वैश्वानर' (1996), **विवेकीराय** : 'सोना माटी' (1983), 'समर शेष है' (1988), 'मंगल भवन' (1994), 'अमंगलहारी' (2000), 'देहरी पार' (2003), **कृष्णा सोबती** : 'दिलोदानिश' (1993), 'समय सरगम' (2002), **महेंद्र भल्ला** : 'उड़ने से पेश्तर' (1987), 'दो देश और तीसरी उदासी' (1997), **विश्वम्भरनाथ उपाध्याय** : 'जाग मछंदर गोरख आया' (1983), 'दूसरा भूतनाथ' (1985), 'जोगी मत जा' (1989), 'विक्षुब्ध' (1990), 'विश्वबाहु परशुराम' (1997), 'प्रतिरोध' (1998), 'कठपुतली' (1992), **जगदीशचंद्र** : 'घासगोदाम' (1985), 'नरककुंड में बास' (1994), 'लाट की वापसी' (2000), 'ज़मीन अपनी तो थी' (2001), **अमरकांत** : 'बीच की दीवार' (1981), 'सुखजीवी' (1982) आदि।

इस कालावधि में सक्रिय जिस पीढ़ी के उपन्यासकारों और उनके उपन्यासों की हमने यह सूची प्रस्तुत की है, उसको ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि इसमें कुछ प्रमुख नाम ग़ायब हैं, जैसे, मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, मन्नू भंडारी आदि। इसका कारण यह है कि इनका कोई उपन्यास इस कालावधि में प्रकाशित नहीं हुआ है। मोहन राकेश का तो 1972 में स्वर्गवास हो गया। उसी वर्ष उनका तीसरा उपन्यास 'अंतराल' प्रकाशित हुआ था। राजेंद्र यादव और मन्नू भंडारी ने उपन्यास लिखना ही बंद कर दिया। कुछ ने कहानियां आदि तो लिखीं, लेकिन उपन्यास बहुत बाद में इससे अगली पीढ़ी के साथ लिखने प्रारंभ किये; जैसे, महीप सिंह, मनोहरश्याम जोशी आदि ने। एक चीज़ ध्यान देने की यह भी है कि इस पीढ़ी के कई उपन्यासकार उपन्यास लिखने के लिए उपन्यास लिखते रहे। इसीलिए वे गुणवत्ता की दृष्टि से वैसे श्रेष्ठ उपन्यास नहीं लिख सके, जैसे वे पहले लिख चुके थे। जैसे, इस काल में प्रकाशित अपने किसी भी उपन्यास में श्रीलाल शुक्ल 'रागदरबारी' के स्तर को नहीं छू सके। यही स्थिति राजेंद्र अवस्थी, रामदरश मिश्र, गुलशेर ख़ां

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शानी, राही मासूम रजा आदि की रही। असल में इस प्रकार के उपन्यासकारों में से अधिकांश आंचलिक उपन्यासकार हैं। प्राय: सभी आंचलिक उपन्यासकार पिछले ग्रामीण अंचलों से आये। उन्होंने शिक्षा प्राप्त की और शहरों में बस गये। उन्होंने अपने संस्कार ग्रामांचलों में ही अर्जित किये थे। जिन चीज़ों ने उनके मर्म को छुआ था, जो उनकी सघन अनुभूति का हिस्सा बन गयी थीं, जिनके साथ वे अपने को जुड़ा पाते थे और जिन्होंने उनके संस्कार बन कर उनके व्यक्तित्व का निर्माण किया था, वे ग्रामांचलों से संबद्ध थीं। इन्हें उन्होंने अपने आंचलिक उपन्यासों में बड़ी संवेदनशीलता, काव्यात्मकता और सूक्ष्म, विस्तृत विवरणों के माध्यम से चित्रित किया। इसीलिए प्राय: सभी आंचलिक उपन्यासों की प्रेरणा अतीतमोह (नस्ताल्जिमा) है। आंचलिक उपन्यासकारों का अंचल विशेष का संस्कारित अनुभव उनके गिनेचुने उपन्यासों में व्यक्त हो गया, उनकी मूल अनुभव-पूंजी चुक गयी। इसलिए उन्होंने या तो उपन्यास लिखना ही बंद कर दिया या वे पुनरावृत्ति करने लगे या शहरों की ओर मुड़ गये। ग्रामांचलों से संस्कार अर्जित करके आने वाले ये उपन्यासकार शहरी जीवन से वैसी अंतरंगता के साथ नहीं जुड़ सके, जैसे वे अपने ग्रामांचलों के जीवन से जुड़ सके थे। शहरों में वे बाहरी आदमी ही रहे। इसलिए शहरी जीवन को ले कर लिखे गये उनके उपन्यासों में वह बात नहीं आ सकी, जो उनके आंचलिक उपन्यासों में आ सकी थी। राजेंद्र अवस्थी 'सूरज किरन की छांव' और 'जंगल के फूल', रामदरश मिश्र 'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ' और 'अपने लोग', शानी 'काला जल', राही मासूम रजा 'आधा गांव' जैसे स्तर को अपने अन्य उपन्यासों में नहीं छू सके। यह दुर्घटना उन कुछ उपन्यासकारों के साथ भी घटी, जो आंचलिक उपन्यासकार नहीं थे। जैसे, निर्मल वर्मा का 'अंतिम अरण्य' और कृष्णा सोबती का 'समय सरगम' उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों की तुलना में हीनतर ही ठहरते हैं। इनके विपरीत, कमलेश्वर दस उपन्यास लिखने के बाद 'कितने पाकिस्तान' लिखते हैं, तो अपने पूर्ववर्ती उपन्यासों की तुलना में श्रेष्ठतर उपन्यास लिखते हैं। ऐसा क्यों हुआ है, आंचलिक उपन्यासकारों के संदर्भ में इसका उत्तर दिया जा चुका है। अन्य उपन्यासकारों के संबंध में कहा जा सकता है कि साहित्यिक प्रतिभाएं दो प्रकार की होती हैं : एक वे, जिनकी सृजनशीलता का प्रारंभ में ही विस्फोट होता है और बाद में क्रमश: ह्रास होता जाता है। यह बात आंचलिक उपन्यासकारों के संबंध में भी लागू होती दिखायी देती है। दूसरे वे, जिनकी प्रतिभा क्रमश: विकसित होती है और वे जैसे-जैसे प्रौढ़ होते जाते हैं, वैसे-वैसे उनकी सृजनशीलता और अभिव्यंजना में भी क्रमश: निखार और परिपक्वता आती जाती है।

इस पीढ़ी के उपन्यासकारों में कुछ ऐसे हैं, जिन्हें आत्मकेंद्रित कहा जा सकता है। ये प्राय: अंतर्मुखी प्रवृत्ति के उपन्यासकार हैं। इस पीढ़ी के उपन्यासकारों में कुछ उपन्यासकार ऐसे हैं, जो आत्मकेंद्रित नहीं हैं। ये प्राय: बहिर्मुखी प्रवृत्ति के उपन्यासकार हैं। 'नयी कहानी' आंदोलन के साथ संबद्ध अधिकांश उपन्यासकार आत्मकेंद्रित और अंतर्मुखी प्रवृत्ति के थे। इसीलिए उनके निजी जीवन में जैसे-जैसे मोड़ आते गये, उनके उपन्यासों में वे प्रतिबिंबित होते गये। उषा प्रियंवदा फुलब्राइट स्कॉलरशिप ले कर अमेरिका चली गयीं। फिर वहीं बस गयीं। वहां वे व्यक्तिगत रूप से जिन अनुभवों से गुज़रीं, उसी को उन्होंने 'रुकोगी नहीं, राधिका' (1967), 'शेष यात्रा' और 'अंतर्वंशी' उपन्यासों में अभिव्यक्त किया। इन उपन्यासों की मुख्य समस्या प्रवासी भारतीय महिला की अमेरिकी परिवेश और मूल्यों के बीच द्वंद्व और सामंजस्य की है। 'शेष यात्रा' की अनु का आंतरिक और बाह्य संघर्ष, प्रतिकूल परिस्थितियों में अपने लिए श्रेयस्कर का वरण, अमेरिकी समाज और जीवन के प्रति आकर्षण आदि का चित्रण स्वानुभव के आधार पर किया है, इसका

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रमाण उनकी पुस्तक 'शून्य तथा अन्य रचनाएं' में संकलित पत्र हैं। उनके उपन्यास 'अंतर्वंशी' में अमेरिका में प्रवासी भारतीय समाज के जीवन का ही चित्रण है। इस उपन्यास के केंद्र में भी एक प्रवासी भारतीय स्त्री है, बनारस से अमेरिका गयी वनश्री। निम्न मध्यवर्गीय परिवार की यह वनश्री अमेरिका जा कर 'वाना' वन जाती है। इस उपन्यास में यौन-संबंधों का जिस तरह मुक्त और स्थूल चित्रण किया है, भारत में रहते वे संभवतः ऐसा नहीं कर पातीं। कृष्णा सोबती के अभी तक के अंतिम दो उपन्यासों में से 'दिलोदानिश' में वे उस संस्कृति के चित्रण की ओर मुड़ती हैं, जो हिंदू-मुस्लिम-साहचर्य से जन्मी है, जिसमें दोहरापन विद्यमान है। इस संस्कृति के प्रतीक कृपानारायण पारिवारिक संहिता, पत्नी और प्रेमिका, हवेली और फराशख़ाने के बीच द्वंद्वग्रस्त हैं। उनकी परिणति बड़ी करुण है। परिवार और पत्नी के स्तर पर वे हिंदू-संस्कारों से ग्रस्त हैं और अपनी रईसी और प्रेमिका के स्तर पर मुस्लिम सामंती संस्कृति से ग्रस्त हैं। हवेली और फराशख़ाने की नैतिक संहिताएं और संस्कृतियां अलग-अलग हैं। इन दोनों संस्कृतियों में स्त्रियां पिसती हैं : हवेली में कुटुमप्यारी और फराशख़ाने में महक बानो। महक बानो के मनोद्वंद्व के माध्यम से उसके चरित्र को उभारने में लेखिका को अद्‌भुत सफलता मिली है। इसका कारण यह है कि कृष्णा सोबती के कथा-साहित्य में केंद्र में स्त्री है। कुटुमप्यारी की अपेक्षा महक बानो का चित्रण अधिक प्रभावशाली बन पड़ा है। शायद इसलिए कि लेखिका एक स्त्री के रूप में जितना महक बानो के साथ साधारणीकृत हो सकी है उतना कुटुमप्यारी के साथ नहीं। जैसे 'ज़िंदगीनामा' में भाषिक स्तर पर पंजाबी के शब्दों के प्रयोग की भरमार स्थानीयता के आग्रह से की गयी थी, वैसे ही 'दिलोदानिश' में दिल्ली की मुस्लिम प्रभावापन्न संस्कृति को साकार करने के आग्रह के वशीभूत अरबी-फ़ारसी मूल के शब्दों की भरमार है। यह सायास किया गया है। आत्मकेंद्रित रचनाकार जब अपने से बाहर झांकता है, तो इस प्रकार की सायासता स्वाभाविक हो जाती है। 'समय सरगम' में कृष्णा सोबती फिर निजी अनुभव की ओर लौटी हैं। इस उपन्यास में उन्होंने महानगरों के उच्च मध्यवर्गीय वृद्धों की जीवन-स्थितियों, समस्याओं और मानसिकताओं का चित्रण किया है। युवा पीढ़ी की उपेक्षा के पात्र, तरह-तरह की बीमारियों और आशंकाओं से ग्रस्त, अकेले, विवश वृद्ध-वृद्धाएं बहुत दयनीय हो गये हैं। आधुनिक इकाई परिवारों और नयी परिस्थितियों ने उन्हें बिलकुल लाचार बना दिया है। इस स्थिति से उबरने का उपाय एक वृद्ध और एक वृद्धा के साथ-साथ जीवन बिताने के निर्णय में निहित हैं। इस उपन्यास में कृष्णा सोबती की भाषा सहज संस्कृतनिष्ठ खड़ीबोली है, किसी भी प्रकार के चमत्कारिक प्रयोग से रहित। भाषा का यह रूप शायद इसलिए है कि इस उपन्यास में जीवन के जिस अनुभव को वे चित्रित कर रही हैं, वह स्वतः प्रमाणित और प्रभावशाली है, उसे किसी कृत्रिम बैसाखी की ज़रूरत नहीं है।

उषा प्रियंवदा और कृष्णा सोबती की तरह निर्मल वर्मा भी अपने अंतिम दोनों उपन्यासों में अपनी मूल प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए उन अनुभवों के चित्रण की ओर अग्रसर हुए हैं, जो उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों से सूक्ष्म स्तर पर तो नहीं, किंतु स्थूल स्तर पर भिन्न हैं। 'रात का रिपोर्टर' में आपातकाल के दौरान पत्रकार रिशि की पारिवारिक और परिवेशजन्य मनोयातना का चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस उपन्यास में जिन मनोभावों का चित्रण किया गया है, वे हैं आतंक, अविश्वास, आशंका, असुरक्षा, भटकाव आदि। इस उपन्यास में लेखक की दृष्टि नकारात्मक, निराशावादी और पराजयवादी है। उपन्यास में अंधेरी रात, हर ओर 'अंधेरे का साम्राज्य' आपातकाल का प्रतीक है। लेकिन उपन्यासकार ने जिन नकारात्मक मनोभावों का चित्रण किया है, उन्हें वह न तो आपातकाल से जोड़ पाया है और न ही उन्हें विश्वसनीय बना पाया है। हो सकता है, उन्होंने व्यक्तिगत स्तर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पर इन मनोभावों का अनुभव किया हो, लेकिन वे आपातकाल का मुखर विरोध करने वाले लेखकों में नहीं थे। निष्कर्म मनोभाव प्रायः दुर्बल, अमूर्त और अविश्वसनीय होते हैं। कृष्णा सोबती के 'समय सरगम' उपन्यास की तरह निर्मल वर्मा के अंतिम उपन्यास 'अंतिम अरण्य' की वस्तु भी वृद्धावस्था की अनुभूति है। यह स्वाभाविक भी है और आत्मकेंद्रित उपन्यासकार के लिए लगभग अनिवार्य भी। उनका यह उपन्यास जब प्रकाशित हुआ था, तब वे सत्तर पार कर चुके थे। इस उपन्यास में उन्होंने बहादुरगंज नामक किसी पर्वतीय स्थल पर निवास कर रहे संभ्रांत वृद्ध मि. मेहरा की वृद्धावस्था और मृत्यु से जुड़ी संवेदनाओं का चित्रण किया है। इस उपन्यास में चित्रित अनुभूतियां हैं—उदासी, अवसाद, निराशा, अकेलापन, विराग आदि। जीवन की विभिन्न स्थितियों और मृत्यु पर दार्शनिक चिंतन से भरा यह उपन्यास मुख्यतः स्मृतियों पर आधारित है, प्रत्यक्ष रूप से घटित घटनाएं नगण्य हैं। इसलिए ऊब पैदा करता है। आत्मकेंद्रित अंतर्मुखी प्रवृत्ति के लेखक का अंतिम सहारा चिंतन ही तो होता है।

इस पीढ़ी के जो उपन्यासकार आत्मग्रस्त अंतर्मुखी प्रवृत्ति के नहीं थे, उनके उपन्यासों में प्रत्यक्ष रूप से घटनाएं भी ख़ूब घटती हैं, तरह-तरह के पात्र भी सामने आते हैं, विविध मनोभावों और विचारों को यथार्थ जीवन-स्थितियों में प्रस्तुत किया जाता है, उनमें प्रत्यक्ष परिवेश होता है, इत्यादि। विष्णु प्रभाकर इसी प्रकार के उपन्यासकार हैं। इस कालावधि में उनके दो उपन्यास प्रकाशित हुए 'अर्धनारीश्वर' और 'संकल्प'। पुत्रवती युवा विधवा की समस्या उठाने वाला 'संकल्प' तो साधारण उपन्यास है, किंतु 'अर्धनारीश्वर' विष्णु प्रभाकर का अब तक का सर्वोत्तम उपन्यास है और हिंदी का श्रेष्ठ उपन्यास है। इस उपन्यास में केंद्रीय समस्या नारी-नियति की है, जिसे बलात्कार की घटनाओं को केंद्र में रख कर उठाया गया है। बलात्कार और उससे बलात्कृत नारी के जीवन में उत्पन्न होने वाली विडंबनाओं व समस्याओं को केंद्रीय वस्तु के रूप में 'कोई तो' (1980) में भी उन्होंने उठाया था, किंतु इस उपन्यास में उसे अधिक विस्तार के साथ उठाया गया है। 'कोई तो' की वर्तिका की कहानी को इस उपन्यास में अधिक विस्तार दिया गया है, साथ ही कई अन्य स्त्रियों के साथ घटित बलात्कार की घटनाओं को प्रस्तुत किया गया है। इन घटनाओं के कारण स्त्री के जीवन में सामाजिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक आदि स्तरों पर जो समस्याएं उत्पन्न होती हैं, एक तरह से उनका विश्लेषण किया गया है। लेखक पुरुष सत्तात्मक समाज की स्त्री-पुरुष-संबंध की पारस्परिक संहिता का विरोधी है। उसके अनुसार, "पुरुष अहेरी है, नारी शिकार, नारी आलोकमंडित दासी, पुरुष भू-स्वामी, नारी भूमि, इसी से उद्भूत हुई है व्यक्तिगत संपत्ति और स्वामित्व की भावना।" यदि स्त्री को इससे मुक्त करना है तो इसे पूर्णतः अस्वीकार करना होगा, "नर नारी को न तो एक-दूसरे की दासता करनी है, न एक-दूसरे में खो जाना है, न एक दूसरे पर आरोपित करना है। बस, अपना-अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखते हुए एक-दूसरे से जुड़ना है अर्धनारीश्वर की तरह।" स्पष्ट है कि यह स्त्री-विमर्श से संबद्ध है।

लक्ष्मीनारायण लाल भी बहिर्मुखी प्रवृत्ति के उपन्यासकार हैं। इसलिए उनके उपन्यासों में कथावस्तुगत बड़ी विविधता है। उन्होंने अपने उपन्यासों के कथानक जीवन के विविध क्षेत्रों से चुने हैं—गांव से भी, शहर से भी, लेकिन केंद्र मध्यवर्गीय जीवन है। उन्होंने पूंजीवाद और सामंतवाद दोनों के प्रति विरोध प्रकट किया है, लेकिन कुछ ही उपन्यासों में, सभी में नहीं। प्रेम की विभिन्न मनोदशाएं और उसकी शारीरिक अभिव्यक्ति उनके अनेक उपन्यासों की केंद्रीय वस्तु है। वे शिल्पसजग भी हैं। लेकिन अनुभूति की सघनता और तीव्रता के अभाव के कारण उनके उपन्यास साधरणता के स्तर से ऊपर प्रायः नहीं उठ पाये हैं। कमलेश्वर की गणना भी बहिर्मुखी प्रवृत्ति के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उपन्यासकारों में ही की जायेगी। उनके उपन्यास वस्तुतः एक कहानीकार के उपन्यास हैं लघ्वाकार और एकायामी। 'कितने पाकिस्तान' में भी उनका कहानीकार हावी है, किंतु यह उपन्यास आकार में भी बड़ा है और बहुआयामी भी है। इसलिए इसे स्वाभाविक रूप से उनके अन्य उपन्यासों की तुलना में अधिक स्वीकृति और मान मिला। इसी श्रेणी में गिरिराज किशोर और विवेकी राय की भी गणना की जायेगी। इसीलिए उनके उपन्यासों में भी वस्तुगत विविधता है। अंतर यह है कि गिरिराज किशोर नगरकेंद्रित हैं और विवेकीराय ग्रामकेंद्रित। गिरिराज किशोर की इस दौर की शिखर उपलब्धि 'पहला गिरमिटिया' है। उन्होंने इस उपन्यास के लिए गहरे अध्यवसाय और निष्ठा से सामग्री का शोध किया है और गांधी जी के द्वारा दक्षिण अफ्रीका में 1894-1914 के बीच चलाये गये सत्याग्रह आंदोलन का बहुत प्रामाणिक, सजीव, संवेदनापूर्ण और प्रभावशाली चित्रण किया है। गांधी जी एक साधारण वकील से कैसे 'महात्मा' बन गये, पूरे उपन्यास का केंद्रीय सूत्र यह है। वे इस अर्थ में 'पहले गिरमिटिया' थे कि उन्होंने निहत्थे ही औपनिवेशिक अत्याचार, शोषण और दमन का विरोध किया और उसे अस्वीकार किया। गांधी जी के मानव-इतिहास में अतुलनीय इस संघर्ष को प्रस्तुत करने में मार्मिक प्रसंगों की पहचान, चयन और प्रस्तुति में गिरिराज किशोर ने एक बड़ा उपन्यासकार होने का परिचय दिया। विवेकी राय के इस दौर में प्रकाशित उपन्यास : 'सोना माटी', 'समर शेष है,' 'मंगल भवन' और 'अमंगलहारी' उनके परिपक्व प्रौढ़ उपन्यास हैं। इन उपन्यासों में उन्होंने ग्रामीण जन और जीवन के प्रति अपने लगाव, ग्रामीण जीवन में आने वाले परिवर्तनों के प्रति विवेकपूर्ण स्वीकार-अस्वीकार, स्वातंत्र्योत्तर भारत की भ्रष्ट राजनीति और प्रशासन की कटु आलोचना इस संवेग के साथ प्रस्तुत की है कि उससे अप्रभावित रह पाना असंभव है। 'देहरी के पार' उपन्यास का प्रसंग व्यक्तिगत है। रेल-दुर्घटना में अपने पुत्र ज्ञानेश्वर राय की दुखद मृत्यु के प्रसंग पर उपन्यास लिख कर उन्होंने उससे उबरने का प्रयास किया है।

इस दौर में अतिवादी वामपंथी प्रतिबद्धता वाले उपन्यासकार के रूप में अकेले विश्वम्भरनाथ उपाध्याय आते हैं, लेकिन उनके साथ कठिनाई यह है कि उनकी संवेदना, कल्पनाशीलता और शिल्पगत चातुर्य उनकी प्रतिबद्धता का साथ नहीं निभा पाते, जिसके कारण उनके उपन्यास सामान्य कोटि के उपन्यास बन कर रह गये हैं। इन दूसरे प्रकार के उपन्यासकारों में ही शैलेश मटियानी, प्रभाकर माचवे, राही मासूम रजा, जगदीशचंद्र, अमरकांत आदि गणनीय हैं।

इस दौर के उपन्यासकारों में तीसरा वर्ग उन उपन्यासकारों का है, जिनका शिल्प-कौशल हमारा ध्यान सबसे पहले आकर्षित करता है। इस वर्ग के उपन्यासकारों के शिरोमणि कृष्ण बलदेव वैद हैं। उनके उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता प्रयोगशीलता है। यह प्रयोगशीलता कथावस्तु और कथाशिल्प दोनों के स्तर पर विद्यमान है और दोनों के लिए 'ऊलजलूल' विशेषण का प्रयोग किया जा सकता हैं। घटनाएं ऊलजलूल होती हैं, पात्रों का व्यक्तित्व और उनके क्रियाकलाप ऊलजलूल होते हैं, उनकी बातचीत ऊलजलूल होती है और उनके उपन्यासों में भरपूर और मनमानी शब्दक्रीड़ा होती है। इसीलिए उन्होंने स्वयं अपने एकाधिक उपन्यासों को 'अनुपन्यास' (ऐंटी नॉवेल) घोषित किया है। कुछ लोग उनके तथा उनके बाद के कुछ उपन्यासकारों के उपन्यासों को उत्तरआधुनिकता के साथ जोड़ते हैं। उनके जैसी तो नहीं, लेकिन सामान्य से किंचित् भिन्न प्रयोगशीलता हमें लक्ष्मीकांत वर्मा, नरेश मेहता आदि के उपन्यासों में भी देखने को मिलती है। दरअसल होता यह है कि जब किसी के पास कहने को सार्थक, ठोस और प्रभूत कथ्य नहीं होता, तो उसके पास एक मात्र सहारा प्रयोगशीलता का, शिल्पगत चमत्कार का होता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उपन्यासकारों की इस पीढ़ी के बाद वर्तमान कालावधि में सक्रिय वे उपन्यासकार आते हैं, जिन्होंने आठवें दशक में या उसके बाद उपन्यास लिखना प्रारंभ किया। इस कालावधि में इस पीढ़ी के जिन महत्त्वपूर्ण उपन्यासकारों के उपन्यास प्रकाशित हुए वे हैं : **गोविंद मिश्र** : 'हुजूर दरबार' (1981), 'तुम्हारी रोशनी में' (1985), 'धीर समीरे' (1988), 'पांच आंगनों वाला घर' (1995), 'फूल, इमारतें और बंदर' (2000), **रमेश उपाध्याय** : 'हरे फूल की ख़ुशबू' (1991), **सुनीता जैन** : 'तितिक्षा' (पूर्व प्रकाशित पांच उपन्यासों का संग्रह : 2000), **मेहरुन्निसा परवेज** : 'अकेला पलाश' (1981), **हृदयेश** : 'सांड' (1981), 'पुनर्जन्म' (1985), 'दंडनायक' (1990), 'पगली घंटी' (1995), 'क़िस्सा हवेली' (2005), **अभिमन्यु अनंत** : 'अपनी-अपनी सीमा' (1983), 'लहरों की बेटी' (1995), **ममता कालिया** : 'लड़कियां' (1987), 'एक पत्नी के नोट्स' (1997), 'दौड़' (2000), **रवींद्र कालिया** : 'ख़ुदा सही सलामत है' (1984), 'ए.बी.सी.डी.' (2004), **कुसुम अंसल** : 'अपनी-अपनी यात्रा' (1985), 'एक और पंचवटी' (1985), 'रेखाकृति' (1989), 'तापसी' (2003), **सुदर्शन नारंग** : 'अपने विरुद्ध' (1982), 'प्रस्थान' (1990), 'अभिलाषा' (1990), 'कालरात्रि' (1998), 'खेल खेल में' (2001), 'भूमध्य रेखा' (2003), **बदीउज़्ज़मां** : 'सभापर्व' (1994), **जगदंबाप्रसाद दीक्षित** : 'अकाल' (1997), **महीप सिंह** : 'अभी शेष है' (2004), **मनोहर श्याम जोशी** : 'कुरु-कुरु स्वाहा' (1980), 'कसप' (1982), 'हरिया हरक्यूलीज की हैरानी' (1994), 'हमजाद' (1996), 'टा टा प्रोफ़ेसर' (2001), 'क्याप' (2001), **कामतानाथ** : 'कालकथा' (1998), 'पिघलेगी बर्फ़' (2005), **नरेंद्र कोहली** : 'महासमर' (आठ खंड बंधन, अधिकार, कर्म, धर्म, अंतराल, प्रच्छन्न, प्रत्यक्ष और निबंध : 1988-2000), 'अभिज्ञान' (1981), 'निर्माण' (1993), 'साधना' (1993), 'न भूतो न भविष्यत' आदि, **हिमांशु जोशी** : 'समय साक्षी है' (1982), 'सुराज' (1982 : तीन लघु उपन्यासों : 'सुराज', 'अंधेरा और', 'कांछा' का संग्रह), **मंजुल भगत** : 'खातुल' (1983), 'तिरछी बौछार' (1984), 'गंजी' (1995), **मृदुला गर्ग** : 'मैं और मैं' (1984), 'कठगुलाब' (1996), **मंजूर एहतेशाम** : 'सूखा बरगद' (1986), 'दास्तान-ए-लापता' (1995), **योगेश गुप्त** : 'अनायास' (1982), **मृणाल पांडे** : 'पटरंगपुर पुराण' (1983), 'रास्तों पर भटकते हुए' (2000), **दिनेशनंदिनी डालमिया** : 'फूल का दर्द' (1986), 'आंखमिचौली' (1991), 'यह भी झूठ है' (1993), 'मरजीवा' (1996), 'व्यूहबद्ध' (2002), 'ज़हरमोहरा' (2003), **शशिप्रभा शास्त्री** : 'कर्करेखा' (1983), 'परसों के बाद' (1985), 'ये छोटे महायुद्ध' (1988), 'उम्र एक गलियारे की' (1989), 'सागर-पार का संसार' (1989), 'मीनारें' (1992), 'ख़ामोश होते सवाल' (1993), 'हर दिन का इतिहास' (1995), **राजी सेठ** : 'तत्सत' (1983), 'निष्कवच' (1995), **चंद्रकांता** : 'अंतिम साक्ष्य' (1981), 'बाक़ी सब ख़ैरियत है' (1983), 'ऐलान गली ज़िंदा है' (1984), 'यहां वितस्ता बहती है' (1992), 'अपने-अपने कोणार्क' (1995), 'कथासतीसर' (2001), **कुसुम कुमार** : 'हीरामन हाईस्कूल' (1989), **सूर्यबाला** : 'अग्निपंखी' (1984), 'दीक्षांत' (1992), **कमल कुमार** : 'अपार्थ' (1986), 'आवर्तन' (1992), 'हैमबर्गर' (1996), 'यह ख़बर नहीं' (2000), **नासिरा शर्मा** : 'सात नदियां : एक समंदर' (1984), 'शाल्मली' (1987), 'ठीकरे की मंगनी' (1989), 'ज़िंदा मुहावरे' (1993), 'अक्षयवट' (2003), 'कुइयांजान' (2005), **निरुपमा सेवती** : 'दहकन के पार' (1982), **प्रभा खेतान** : 'आओ पेपे घर चलें' (1990), 'तालाबंदी' (1991), 'छिन्नमस्ता' (1993), 'अपने-अपने चेहरे' (1994), 'पीली आंधी' (1996), **सिम्मी हर्षिता** : 'संबंधों के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

किनारे' (1984), 'यातना शिविर' (1990), 'रंगशाला' (2003), **मैत्रेयी पुष्पा** : 'सर्पदंश' (1990), 'बेतवा बहती रही' (1993), 'इदन्नमम' (1994), 'चाक' (1997), 'झूठा नट' (1999), 'अल्मा कबूतरी' (2000), 'कही ईश्वरी फाग' (2004), 'त्रियाहठ' (2005), **गौतांजलि श्री** : 'माई' (1993), 'हमारा शहर उस बरस' (1998), 'तिरोहित' (2001), 'ख़ाली जगह' (2005), **अलका सरावगी** : 'कलिकथा : वाया बाईपास' (1998), 'शेष कादंबरी' (2001), कोई बात नहीं, **चित्रा मुद्गल** : 'एक ज़मीन अपनी' (1990), 'आवां' (1999), 'गिलिगडु' (2002), **ऋता शुक्ल** : 'अग्निपर्व' (1990), 'कितने जनम वैदेही' (1995), 'अरुंधती' (2004), **भगवान सिंह** : 'अपने-अपने राम' (1992), 'उन्माद' (1999), **देवेश ठाकुर** : 'जनगाथा' (1985), 'गुरुकुल' (1989), **रमेशचंद्र शाह** : 'क़िस्सा गुलाम' (1986), 'पूर्वापर' (1990), **विनोदकुमार शुक्ल** : 'फिर खिलेगा तो देखेंगे' (1996), 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' (1997), **श्रवणकुमार गोस्वामी** : 'सेतु' (1981), 'भारत बनाम इंडिया' (1983), 'दर्पण झूठ न बोले' (1983), 'राहु-केतु' (1984), 'मेरे मरने के बाद' (1985), 'चक्रव्यूह' (1988), 'आदमखोर' (1992), 'एक टुकड़ा सच' (1992), 'हस्तक्षेप' (2002), **सुरेंद्र वर्मा** : 'मुझे चांद चाहिए' (1993), **द्रोणवीर कोहली** : 'चौखट' (1981), 'आंगन कोठा' (1985), 'कायास्पर्श' (1987), 'तकसीम' (1994), 'वाह कैंप' (1998), 'नानी' (2002), **धर्मेंद्र गुप्त** : 'नोन तेल लकड़ी' (1981), 'ख़ुशबू और पत्तियां' (1983), 'गवाह है शेखूपुरा' (1985), 'रिश्ते शहर के' (1986), 'सफ़र-दर-सफ़र' (1986), 'रंगी हुई चिड़िया' (1990), 'इसे विदा मत कहो' (1994), 'एक नाम : झीनी' (2001), **मिथिलेश्वर** : 'युद्धस्थल' (1981), 'प्रेम न बाड़ी उपजे' (1995), 'यह अंत नहीं' (2000), 'सुरंग में सुबह' (2003), **काशीनाथ सिंह** : 'काशी का अस्सी' (2002), **भीमसेन त्यागी** : 'काला गुलाब' (1981), 'ज़मीन' (2004), **संजीव** : 'किसनगढ़ के अहेरी' (1981), 'सर्कस' (1984), 'सावधान नीचे आग है' (1986), 'धार' (1990), 'पांव तले की दूब' (1990), 'जंगल जहां शुरू होता है' (2000), 'सूत्रधार' (2003), **पंकज बिष्ट** : 'लेकिन दरवाज़ा' (1982), 'उस चिड़िया का नाम' (1989), **रामदेव धुरंधर** : 'छोटी मछली बड़ी मछली' (1983), 'पूछो इस माटी से' (1986), **शत्रुघ्न** : 'सिद्धियों के खंडहर' (1983), 'शिप्रा साक्षी है' (1986), 'हेमचंद्र विक्रमादित्य' (1989), 'सुनो भाई साधो' (1999), 'तुंगभद्रा पर सूर्योदय' (2001), **अब्दुल बिस्मिल्लाह** : 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' (1986), 'ज़हरवाद' (1987), 'मुखड़ा क्या देखे' (1996), **युगेश्वर** : 'सीता : एक जीवन' (1985), 'राम : एक जीवन', 'रावण : एक जीवन' (1986), 'संत साहेब' (1988), **मनु शर्मा** : 'अभिशप्त कथा' (1981), **वीरेंद्र सक्सेना** : 'खंडित राग' (1989), 'ख़राब मौसम के बावजूद' (1991), 'जिन खोजा तिन पाइयां' (1995), 'सर्वोत्तम सच' (2003), **क्षितिज शर्मा** : 'उकाव' (1992), 'पगडंडियां' (2003), **वीरेंद्र जैन** : 'अनातीत' (1983), 'प्रतीक : एक जीवनी' (1983), 'शब्दवध' (1983), 'सबसे बड़ा सिपहिया' (1988), 'डूब' (1991), 'पार' (1994), 'पंचनामा' (1996), **प्रियंवद** : 'वे वहां क़ैद हैं' (1994), 'परछाईं नाच' (2000), **स्वयं प्रकाश** : 'बीच का समय' (1994), 'ईंधन' (2004), **असगर वजाहत** : 'सात आसमान' (1996), 'कैसी आग लगायी' (2004), **भगवानदास मोरवाल** : 'काला पहाड़' (1999), 'बावल तेरा देस में' (2004), **जगदीश चतुर्वेदी** : 'कनाटप्लेस' (1999), **दूधनाथ सिंह** : 'आख़िरी कलाम' (2003), **जितेंद्र भाटिया** : 'प्रत्यक्षदर्शी' (1987), 'जुस्तजूए निहां उर्फ़ रूढ़ियावास की अंतर्कथा' (2002) इत्यादि।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आठवें दशक में या उसके बाद लिखने वाले उपन्यासकारों और उनके उपन्यासों की यह सूची काफ़ी लंबी हो गयी, फिर भी यह पूर्ण नहीं है। पूर्ण हो भी नहीं सकती, क्योंकि हिंदी में नित नये उपन्यासकार जन्म ले रहे हैं और नित नये उपन्यास लिखे जा रहे हैं और प्रकाशित हो रहे हैं। वैसे भी समकालीन साहित्य की किसी भी विधा की कोई भी सूची किसी भी स्थिति में पूर्ण हो ही नहीं सकती। हमने इसे यथासंभव पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है, जिससे भविष्य में काम करने वालों को प्रेरणा मिले, उन्हें सुविधा हो।

वस्तुगत और शिल्पगत दृष्टि से उपर्युक्त सूची में उल्लिखित उपन्यासों में बड़ी विविधता है और अनेक दृष्टियों से विविधता के साथ विस्तार भी आ रहा है। इस सूची पर दृष्टि डालें तो कुछ चीज़ें हमारा ध्यान तुरंत आकर्षित करती हैं। छठे-सातवें दशक में उपन्यासकारों की जो पीढ़ी सामने आयी, उसमें मुसलमान उपन्यासकार मात्र दो थे—राही मासूम रज़ा और गुलेशर ख़ां शानी। इनमें से भी राही मासूम रज़ा उर्दू से हिंदी में आये थे। शानी अकेले ऐसे मुसलमान उपन्यासकार थे, जिन्होंने सीधे-सीधे हिंदी में उपन्यास-रचना की। लेकिन बीसवीं शताब्दी के आठवें-नवें दशक में हिंदी में उपन्यास लिखने वाले मुसलमान लेखकों की संख्या में काफ़ी बढ़ोतरी हुई। लेखक ही नहीं, लेखिकाएं भी सामने आयीं। इस संख्या-वृद्धि की व्यंजनाएं बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। इसकी एक व्यंजना तो यह है कि धर्म के आधार पर हिंदी-उर्दू का विभाजन मिथ्या है। यह कहना कि हिंदी हिंदुओं की भाषा है, उर्दू मुसलमानों की, ग़लत है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि धर्म के आधार पर जो दो राष्ट्रों का सिद्धांत गढ़ा गया और जिसके आधार पर भारत का विभाजन हुआ, वह ग़लत था। इसे रचनात्मक स्तर पर हिंदी के कई मुस्लिम उपन्यासकारों ने सिद्ध किया है। बदीउज़्ज़मां के मार्मिक उपन्यास 'छाको की वापसी' (1975) में इसे ग़लत सिद्ध किया गया है। अपने अंतिम उपन्यास 'सभापर्व' में भी उन्होंने यही सिद्ध किया है। 'सभापर्व' आकार की दृष्टि से उनका सबसे बड़ा उपन्यास है, जो उनके निधन के लगभग आठ वर्ष पश्चात प्रकाशित हुआ। आत्मकथात्मक शैली में लिखे इस उपन्यास में उन्होंने अपने छात्रजीवन से ले कर विभाजन की मनोभूमि तैयार होने तक का इतिहास प्रस्तुत करते हुए हिंदू-मुसलमानों के बीच अंग्रेज़ों के द्वारा नफ़रत पैदा करने की साजिश और उसकी सफलता को केंद्रीय वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया है। अंग्रेज़ सफल इसलिए हुए कि इन दोनों धर्मावलंबियों की अंतश्चेतना में इसके बीज विद्यमान थे। फिर स्वार्थवश दोनों धर्मों के कुछ लोग अंग्रेज़ों का साथ दे रहे थे। इसका अंग्रेज़ों ने ख़ूब लाभ उठाया और विभाजन के पूर्व देश की स्थिति महाभारत के सभापर्व जैसी हो गयी। देश का विभाजन हुआ, लेकिन विभाजन ने समस्याओं को हल नहीं किया, बल्कि ऐसी समस्याओं को जन्म दिया, जो पहले नहीं थीं। मंजूर एहतेशाम के उपन्यास 'सूखा बरगद' में स्वाधीनता के बाद आये मुस्लिम मनोवृत्ति के मौलिक परिवर्तन को केंद्रीय वस्तु बनाया गया है। मुसलमानों को वैयक्तिक और सामाजिक स्तर पर बदलते संबंधों और अविश्वास की स्थितियों से गुज़रना पड़ रहा है। कारण, भारत की स्वातंत्र्योत्तर राजनीति ने दोनों समुदायों के बीच बनी खाई को पाटने के बजाय और चौड़ा, और गहरा किया है। संभवतः इसलिए कि स्वतंत्र भारत में जोन की जगह मोहन ही तो कुर्सी पर बैठा है।

प्रेमचंद के बाद हिंदी में ऐसा कोई दूसरा उपन्यासकार पैदा नहीं हुआ, जिसके उपन्यासों में हिंदू-मुस्लिम दोनों का जीवन युगपत चित्रित हुआ हो। प्रायः सभी उपन्यासकार पूरा गांव चित्रित करने के स्थान पर आधा गांव ही चित्रित करते रहे। काफ़ी समय के लिए मुस्लिम समाज हिंदी-उपन्यास से ग़ायब ही हो गया। नयी पीढ़ी के मुस्लिम उपन्यासकारों ने अपने-अपने ढंग से इस

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कमी को पूरा किया। मेहरुन्निसा परवेज़ ने अपने उपन्यासों में मध्यप्रदेश के बस्तरक्षेत्र की पृष्ठभूमि में मुस्लिम और ईसाई समाजों का चित्रण किया है। उनके उपन्यासों की केंद्रीय वस्तु मुस्लिम समाज में स्त्री का शोषण है। यह समाज स्त्री के प्रति बहुत अनुदार है। इसके विपरीत ईसाई समाज में स्त्री अधिक स्वाधीन है। लेकिन चाहे मुस्लिम समाज हो, चाहे ईसाई समाज हो और चाहे हिंदू-समाज ही क्यों न हो, स्त्री सर्वत्र शोषित और व्यथित है : ''औरत तो जूठा खाने को आदी ही होती है, चाहे खाने के मामले में हो, चाहे शारीरिक संबंध (के मामले) में हो।'' ('उसका घर') अब्दुल बिस्मिल्लाह ने 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' में बनारस के निम्न मध्यवर्गीय बुनकर मुसलमानों की दयनीय आर्थिक स्थिति, शोषण और संघर्ष का प्रामाणिक चित्रण किया है। इन बुनकरों की जीवन-स्थितियां अत्यंत निराशाजनक हैं, लेकिन उपन्यासकार आशावादी है। उसका आशावाद इक़बाल के हृदय में उठने वाली विद्रोह-चेतना के रूप में व्यक्त हुआ है। ग़रीब बुनकर मुसलमानों का शोषण अमीर मुसलमान ही करते हैं। अब्दुल बिस्मिल्लाह समाज और समय को वर्गदृष्टि से देखते हैं। उच्चवर्ग का हिंदू हो या मुसलमान, वह शोषक है। जो शोषित हैं, वे शोषित हैं। वे न हिंदू हैं, न मुसलमान। स्वाधीनता-संघर्ष और उसके बाद जो सांप्रदायिक विष गांवों तक में फैला है, इसका चित्रण उन्होंने अपने उपन्यास 'मुखड़ा क्या देखे' में किया है। लेकिन इस सांप्रदायिक समस्या का समाधान पलायन नहीं है। इसका समाधान अपना गांव छोड़ कर भाग गये अली के गांव लौट कर दयाशंकर पांडे के पास पहुंच कर कहे गये इन शब्दों में है : ''लगता है, आप लोगों ने तय कर लिया है कि इस गांव में हम लोगों की अब कोई ज़रूरत नहीं...मगर ई सुन लीजिए महाराज कि आप लोगन को चाहे हमारी ज़रूरत हो अउर चाहे न हो, मुलां हमें ज़रूरत है। आप लोगन की नहीं, ई गांव की। ई धरती की। ई देस की। हम ग़लती पर थे महाराज कि आपके पिता जी की मार खा कर भाग गये थे। मुलां अब हम कहीं नहीं जायेंगे। ई धरती में हमारी नार गड़ी है...जहां हमारी नार गड़ी है, हुवंई हमारी लहास भी गड़ेगी'' (पृ. 221)। यह स्वाधीन भारत का यथार्थ है। इसे आम आदमी समझता है। इसे राजनेताओं और उनके पिछलगुओं को समझने की आवश्यकता है। असगर वज़ाहत ने अपने दोनों उपन्यासों 'सात आसमान' और 'कैसी आग लगायी' में मुस्लिम सामंतों के अतीत और वर्तमान की तुलना प्रस्तुत की है। उनको अतीत जितना भव्य था, उनका वर्तमान उतना ही दयनीय है। इससे मुक्ति का रास्ता अतीत मोह नहीं, वर्तमान की स्वीकृति है।

जैसे मेहरुन्निसा परवेज को मुसलमान और ईसाई दोनों समाजों का अंतरंग अनुभव है, वैसे ही नासिरा शर्मा को मुसलमान और हिंदू दोनों समाजों का और यह उनके उपन्यासों में प्रतिबिंबित हुआ है। उनके उपन्यासों में वस्तुगत विविधता है। यदि वे अपने पहले उपन्यास 'सात नदियां : एक समुंदर' में ईरानी जनता के रजाशाह पहलवी के विरुद्ध विद्रोह, उसके शासन से मुक्ति, अयातुल्ला खुमैनी के शासन की स्थापना, फिर तानाशाही शासन से जनता के मुक्त न हो पाने और तानाशाही के अत्याचारों को सहने के लिए विवशता का चित्रण करती है तो अपने दूसरे उपन्यास 'शाल्मली' में हिंदू-समाज में विषम दांपत्य जीवन में यातना भोगती स्त्री का चित्र उपस्थिति करती है। स्त्री हिंदू-समाज में ही यातनाग्रस्त नहीं है, मुस्लिम-समाज में उसकी स्थिति और भी ख़राब है, यह बात हमारे सामने 'ठीकरे की मंगनी' में आती है। 'ज़िंदा मुहावरे' में उन्होंने भारत के विभाजन का और इस विभाजन के कारण भारत और पाकिस्तान दोनों में मुसलमानों के पीड़ित होने के रूप में विभाजन का विरोध किया है। 'अक्षयवट' के केंद्र में इलाहाबाद का चित्रण है और 'कुइयां जान' में एक वृद्धा के जीवन के चित्रण के माध्यम से एक पुराने मुस्लिम परिवार का। इस

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वस्तुगत विविधता के बावजूद उनकी चिंता के केंद्र में स्त्री है। दांपत्य संबंधों में वे स्त्री की गौणता को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। वे उसकी मर्यादित स्वाधीनता की पक्षधर हैं।

नासिरा शर्मा ही नहीं, नयी पीढ़ी की तमाम हिंदी लेखिकाओं की चिंता के केंद्र में भी वर्तमान बदलते समाज में, समय में स्त्री की स्थिति का प्रश्न है। विवाह, प्रेम, यौनशुचिता, परिवार, बच्चे, आर्थिक आत्मनिर्भरता, निर्णय लेने की स्वाधीनता आदि से संबंधित समस्याओं का चित्रण लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों में किया है। सुनीता जैन ने प्राय: सभी उपन्यासों में असफल और विषम दांपत्य जीवन की कथा कही है। इसका कारण उनके अनुसार, वे रूढ़ियां और परंपराएं हैं, जो तमाम आधुनिकता के बावजूद हमारे समाज में विद्यमान हैं। जब कोई इन पर उंगली उठाता है तो पारंपरिक समाज का विरोध उसे झेलना पड़ता है। 'बोज्यू' उपन्यास लिखने पर सुनीता जैन को इसे झेलना पड़ा। उनके लेखन में विद्रोह का भाव प्राय: नहीं है, लेकिन ममता कालिया के उपन्यासों में यह विद्यमान है। वे स्त्री से यौनशुचिता की मांग का विरोध करती हैं और पुरुष की दकियानूस मानसिकता पर प्रहार करती हैं। कुसुम अंसल अपने उपन्यासों में स्त्री की उस व्यथा-कथा को प्रस्तुत करती हैं, जो इस तन औरं मन के विभाजन से उत्पन्न होती है। पुरुष के लिए स्त्री शरीर भोग्य है, उसे उसके मन से कुछ लेना-देना नहीं है। 'तापसी' उपन्यास में वे बाक़ायदा शोधकार्य करके वृंदावन में रह रही विधवाओं के शोषण और उनकी पीड़ा का प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत करती हैं। मृदुला गर्ग ने अपने उपन्यास 'चित्तकोबरा' (1979) में नारी के तन और मन, वासना और प्रेम के द्वैत को चित्रित करने के लिए जब संभोग के कुछ साहसिक चित्र प्रस्तुत किये थे, तो हंगामा मच गया था। बाद में उन्होंने विभिन्न नारियों की दृष्टि से तन और मन के द्वंद्व को 'कठगुलाब' में फिर उठाया। दरअसल हुआ यह है कि हिंदी की नयी उपन्यास-लेखिकाएं अपने तन को स्वीकार करती हैं और मन को भी, और वे दोनों स्तरों पर स्वाधीनता की पक्षधर हैं। इसीलिए वे स्त्री-पुरुष के शारीरिक संबंधों के खुले चित्र नि:संकोच प्रस्तुत करती हैं। इस दृष्टि से कमल कुमार के उपन्यास देखे जा सकते हैं। वे स्त्रीवादी हैं, लेकिन अतिवादी नहीं। अंतत: वे भारतीय जीवन-मूल्यों की ओर झुक रही हैं।

स्त्री-जीवन की समस्याओं की सामान्य भूमि का स्पर्श करते हुए भी, प्रत्येक उपन्यास-लेखिका का अपना विशिष्ट अनुभव-संसार है, जिसे उसने अपनी कृतियों में अभिव्यक्त किया है। मंजुल भगत ने मध्यवर्गीय परिवारों में चौका-बर्तन करने वाली या इसी प्रकार के अन्य छोटे-मोटे काम करके अपनी जीविका कमाने वाली स्त्रियों को अपनी सहानुभूति का पात्र बनाया है। इस दृष्टि से 'अनारो' (1977) उनका प्रतिनिधि उपन्यास है। राजनीतिक दुर्घटनाओं की त्रासदी झेलते अफगानों का चित्रण करने वाले उपन्यास 'खातुल' में उनकी सहानुभूति का पात्र स्त्री पात्र : खातुल, जरीखायम ही बने हैं। वे स्त्री के शोषण का भी चित्रण करती हैं और उसकी आत्मसम्मान की भावना का भी। मंजुल भगत के विपरीत मृणाल पांडे अपने उपन्यासों में नारी-केंद्रित न रह कर अपने समय की व्यवस्था के उन नकारात्मक पक्षों को प्रस्तुत करती हैं, जो आम आदमी के शोषण और यातना का कारण हैं। उनके उपन्यास 'पटरंग पुराण' में एक प्रकार की आंचलिकता है। आंचलिकता का तत्त्व अन्य कई लेखिकाओं के उपन्यासों में भी विद्यमान है। चंद्रकांता के कई उपन्यास कश्मीर के जीवन पर केंद्रित हैं, जिनमें कश्मीर का इतिहास भी है, भूगोल भी है, राजनीति भी है, आतंकवाद आदि भी है, लेकिन जो सबसे बड़ी चीज़ है, वह है कश्मीरियत, वहां की सभ्यता और संस्कृति, जिस पर आज सबसे अधिक आघात हो रहे हैं। ऋता शुक्ल के उपन्यासों में भी आंचलिकता विद्यमान है। उनके उपन्यासों में हमें बिहार के विशिष्ट आंचलिक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जीवन-चित्र मिलते हैं।

लेखिकाओं के उपन्यास विशिष्ट जीवन-दर्शन की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण बन पड़े हैं। राजी सेठ अपनी दार्शनिक चिंतनशीलता के कारण हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करती हैं। अपने पहले ही उपन्यास 'तत्सम' में एक छोटी-सी प्रेमकथा के माध्यम से उन्होंने नारी-जीवन की सार्थकता पर विचार किया है और भारतीय एवं पाश्चात्य जीवनदर्शन की तुलना प्रस्तुत की है। दिनेशनंदिनी डालमिया ने अपने उपन्यासों में अपने भोगे हुए यथार्थ के विविध चित्र प्रस्तुत किये हैं और उसके असामान्य मनोवैज्ञानिक कारणों को रेखांकित किया है। शशिप्रभा शास्त्री का झुकाव भारतीय जीवन-मूल्यों की ओर रहा है। वे नारी के विद्रोह और स्वाधीनता की खोज की अपेक्षा उसके त्याग, सेवा भाव, समर्पण आदि को अधिक महत्त्व देती हैं।

इधर की तीन उपन्यास-लेखिकाओं ने विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया है और विशेष चर्चा का विषय बनी हैं। ये हैं प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा और अलका सरावगी। प्रभा खेतान ने विभिन्न संदर्भों, विभिन्न पृष्ठभूमियों, विभिन्न परिवेशों और विभिन्न संस्कृतियों में नारी-नियति का चित्रण किया है, जिसका सारांश 'छिन्नमस्ता' की प्रिया के शब्दों में यह है : ''औरत कहां नहीं रोती? सड़क पर झाड़ू लगाते हुए, खेतों में काम करते हुए, एयरपोर्ट पर बाथरूम साफ़ करते हुए या फिर सारे भोग-ऐश्वर्य के बावजूद...पलंग पर रात-रात भर अकेले करवटें बदलते हुए...हज़ारों सालों से इनके ये आंसू बहते जा रहे हैं।'' इससे मुक्ति का रास्ता क्या है? प्रभा खेतान का उत्तर है स्त्री की आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भरता। आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो कर ही स्त्री विवाह, पति, परिवार, बच्चों और घर के दुष्चक्र से ऊपर उठ कर अपने स्वतंत्र अस्तित्व का अनुभव कर सकती है। इसलिए प्रभा खेतान के स्त्री पात्र प्रायः विद्रोह-भाव से भरे रहते हैं और विद्रोह करते हैं। विद्रोह मैत्रेयी पुष्पा के स्त्री पात्र भी करते हैं। उन्होंने बुंदेलखंड और ब्रज क्षेत्र के अहीरों, जाटों और कबूतरा जाति का यथार्थ आंचलिक जीवन चित्रित करते हुए इनके समाजों में स्त्री पर होने वाले अत्याचारों का प्रामाणिक और मार्मिक चित्रण किया है। इन समाजों की अधिकांश स्त्रियां इन अत्याचारों को चुपचाप सहन करती हैं, किंतु उनमें से कुछ ऐसी भी निकलती हैं, जो इन अत्याचारों का विरोध करती हैं और अत्याचारियों से जूझती हैं। 'इदन्नमम' की मंदाकिनी स्त्रियों के लिए निर्मित पारिवारिक व सामाजिक बंधनों को तोड़ती है और अत्याचारियों के विरुद्ध तन कर खड़ी हो जाती है। 'चाक' की सारंग, 'झूला नट' की शीलो, 'अल्मा कबूतरी' की अल्मा आदि भी विद्रोही और जुझारू स्त्री पात्र हैं। संभवतः काम-संबंधों का मुक्त चित्रण भी उनके उपन्यासों में इसी विद्रोह-भाव को व्यक्त करने के लिए किया गया है, जो लेखिका की साहसिकता (बोल्डनेस) का परिचायक है। अलका सरावगी के उपन्यासों ने सबसे अधिक ध्यान अपने चमत्कारिक शिल्प के कारण आकर्षित किया है। 'कलिकथा : वाया बाईपास' में यथार्थ और फंतासी का मिश्रण करके एक मारवाड़ी परिवार की पांच पीढ़ियों की कथा कह दी है, जिसमें प्लासी के युद्ध से ले कर बाबरी मस्जिद के ध्वंस तक की कथा समाहित है। इस उपन्यास में वस्तु के अनेक स्तर विद्यमान हैं, जिनमें से एक स्तर मारवाड़ी समाज में स्त्रियों की घुटनभरी विवश अंधेरी ज़िंदगी का है, जिसका केंद्र किशोर बाबू की विधवा भाभी है। रूबी दी की स्मृतियों, सपनों, कादंबरी से फ़ोन पर की गयी बातचीत, उसके पत्रों, रपटों आदि के माध्यम से कही गयी 'शेष कादंबरी' की कथा का केंद्र भी नारी-उत्पीड़न है। इसमें नारी-उत्पीड़न के विभिन्न रूप विभिन्न स्त्री पात्रों की कहानियों के माध्यम से प्रस्तुत किये गये हैं। अपने तीसरे उपन्यास 'कोई बात नहीं' में फिर कलकत्तावासी मध्यवर्गीय मारवाड़ी परिवार की कई पीढ़ियों की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कथा कही है। इस उपन्यास में स्त्री की व्यथा-कथा एक महत्त्वपूर्ण घटक के रूप में सामने आयी है। थोड़े-बहुत हेरफेर के साथ इस उपन्यास में भी पूर्ववर्ती दो उपन्यासों के शिल्प को ही अपनाया गया है।

स्पष्ट है कि इन तीनों लेखिकाओं के उपन्यासों की स्थानीयता और देशाचार अलग-अलग हैं, क्योंकि अब कथाकार कल्पना की अपेक्षा अपने अनुभव को अधिक महत्त्व देने लगे हैं। यदि चित्रा मुद्गल मुंबई में मज़दूर-आंदोलन से सक्रिय रूप से न जुड़ी रही होतीं, यदि वे बाइयों के उत्थान और अधिकारों के लिए लड़ने वाली संस्था 'जागरण' की सचिव न रही होतीं, तो श्रमिक-आंदोलन के विभिन्न आयामों का चित्रण करने वाले महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'आवां' की रचना कैसे कर पातीं? यह बात जितनी लेखिकाओं के संबंध में सच है, उतनी ही लेखकों के संबंध में भी सच है। यों तो घोर व्यक्तिवादिता और आत्मकेंद्रियता के इस समय में हर उपन्यासकार की अपनी एक अलग दुनिया है, फिर भी कुछ सामान्य प्रवृत्तियां परिलक्षित की जा सकती हैं। यदि गोविंद मिश्र अपने उपन्यासों में रियासतों के रजवाड़ों की जीवन-पद्धति और मानसिकता को पक्षधरता के साथ, दफ़्तरशाही और प्रेम, आस्था और आधुनिकता के द्वंद्व, उच्च मध्यवर्गीय परिवार की परंपरागत और आधुनिक स्थिति आदि के द्वारा अपने सामंतवादी और अफ़सरी अनुभव और मनोवृत्ति को प्रस्तुत कर रहे हैं तो उनके ठीक विपरीत रमेश उपाध्याय प्रतिबद्ध मार्क्सवादी मानसिकता को अभिव्यक्ति दे रहे हैं। यदि हृदयेश ने अपने उपन्यासों में क़स्बे या छोटे शहर की ज़िंदगी का प्रामाणिक चित्र उपस्थित किया है, तो अभिमन्यु अनत और रामदेव धुरंधर ने मॉरिशस के उन भारतीय मूल के लोगों के जीवन का प्रामाणिक चित्र उपस्थित किया है, जिनके पूर्वज कुछ पीढ़ी पहले वहां मज़दूरों के रूप में गये थे। यदि रवींद्र कालिया ने अपने उपन्यास 'ख़ुदा सही सलामत है' में उस गली के जीवन का यथार्थवादी प्रकृतिवादी चित्रण किया है, जिसमें बेरोज़गार वेश्याएं, उनकी भविष्यहीन संतानें, चाय की दुकान वाले, आटा चक्की वाले, छोटी-मोटी नौकरी करने वाले, ठेला चलाने वाले, टटपूंजिये नेता आदि रहते हैं, तो काशीनाथ सिंह ने अपने उपन्यास 'काशी का अस्सी' में काशी के अस्सी को मूर्त करने का प्रयत्न किया है और इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए लट्ठमार और गाली-गलौज-भरी भाषा का भी प्रयोग किया है। यह एक प्रकार की आंचलिकता है, जो इस काल के अनेक उपन्यासकारों में मिलती है।

यह आंचलिकता भौगोलिक भी है और मानसिक भी। इस कालावधि में लिखने वाले जो उपन्यासकार पर्वतीय अंचलों से उद्भूत हुए हैं, उनके उपन्यासों में पर्वतीय जीवन और जगत के प्रामाणिक चित्र हमें देखने को मिलते हैं। मनोहर श्याम जोशी, हिमांशु जोशी, पंकज बिष्ट, क्षितिज शर्मा आदि के उपन्यास इसके प्रमाणस्वरूप द्रष्टव्य हैं। जो उपन्यासकार बिहार से उद्भूत हुए हैं, उनके उपन्यासों में बिहार की झलक स्पष्टतः दिखायी देगी, जैसे मिथिलेश्वर के उपन्यासों में। जिन उपन्यासकारों का संबंध पंजाब से है, उनके उपन्यासों में पंजाबीयत मिलेगी। जैसी द्रोणवीर कोहली, महीप सिंह आदि के उपन्यासों में। नवीनतम पीढ़ी के उपन्यासकारों में भी इसके उदाहरण विद्यमान हैं। भगवानदास मोरवाल ने अपने दोनों उपन्यासों में क्षेत्र विशेष के विशेष जीवन को उसकी पूर्ण विशिष्टता के साथ चित्रित किया है और इसीलिए उन्होंने अपनी ओर सबका ध्यान आकर्षित किया है। उन्होंने 'काला पहाड़' में मेवात क्षेत्र के संघर्षशील, पराजय न स्वीकार करने वाले और मुक्त जीवन जीने वाले मेवातियों का जीवन साकार कर दिया है। उनके इस उपन्यास से स्पष्ट है कि मेवाती मेवाती पहले हैं, हिंदू या मुसलमान बाद में। अपने दूसरे उपन्यास 'बावल तेरा देस में' में मेवात क्षेत्र की मुस्लिम महिलाओं, विशेषतः ग्रामीण क्षेत्र की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

महिलाओं के जीवन, उनकी पराधीनता, विवशता, उनकी आकांक्षाओं और स्वप्नों के ध्वंस आदि के चित्रण के द्वारा उनकी त्रासदी को मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। यह आंचलिकता भीमसेन त्यागी के उपन्यास 'ज़मीन' में भी विद्यमान है। इस उपन्यास में उन्होंने मेरठ-मवाना क्षेत्र के गणेशपुर नामक गांव को केंद्र में रख कर इस क्षेत्र के ग्रामीणों के जीवन में चलने वाली पुश्तैनी दुश्मनी, जातिवादी राजनीति, भूदान-आंदोलन के यथार्थ, कांग्रेस के वर्गचरित्र, सामान्य जन के मोहभंग आदि के चित्रण के द्वारा एक अंचल के जीवन का भी सम्मूर्तन किया है और एक युग का भी। यह युग नेहरू-युग है। आंचलिकता के आग्रह के कारण इस उपन्यास में कोई नायक नहीं है, सब नायकेतर पात्र हैं और उनकी अच्छी-ख़ासी भीड़ है। यह आंचलिकता वीरेंद्र जैन के 'डूब' और 'पार' उपन्यासों में भी विद्यमान हैं। 'डूब' उपन्यास विकास-योजनाओं के नाम पर सामान्य ग्रामीणों को उजाड़े जाने की त्रासदी का चित्रण करता है। लड़ैया गांव के निवासियों को बेतिया नदी पर बांध बनाये जाने से पहले ही बिना मुआवजा दिये और उनके पुनर्वास की समुचित व्यवस्था किये बिना ही उजाड़ दिया जाता है। उन्हें उनकी उपलब्ध सुविधाओं से वंचित कर दिया जाता है और उन्हें विकास का लाभ भी नहीं मिलता, लेकिन उनको ले कर सरकार बड़े-बड़े दावे करती है। सरकार के दावों पर इस उपन्यास के एक महत्त्वपूर्ण पात्र की यह कितनी यथार्थ और बेबाक टिप्पणी है : ''लाबरी है जा सरकार, महा लाबरी! झूठी महा झूठी!'' 'पार' में 'डूब' की कथा का विस्तार किया गया है। इसमें लड़ैया गांव की कथा के साथ जीरोन में रहने वाले आदिवासी राउतों के दुख-दर्द की कथा और जोड़ दी गयी है।

इस कालावधि के उपन्यासों में भौगोलिक आंचलिकता के साथ ही मानसिक आंचलिकता की प्रवृत्ति भी मिलती है। मानसिक आंचलिकता से हमारा तात्पर्य उन अनुभवों से है, जो सामान्य अनुभव नहीं हैं, अपितु विशिष्ट और असाधारण हैं, जिनसे उपन्यासकारों के मन के अंचल ने अपनी विशिष्टता प्राप्त की है, उनके सोच और कल्पना की विशिष्ट दिशा बनी है, जिसने अभिव्यक्ति को भी विशिष्ट रंगत प्रदान की है। इस दृष्टि से जो उपन्यास हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, वे वे उपन्यास हैं, जिनमें कथा थोड़े ऊलजलूलपन के साथ कही गयी है, जिन्हें कुछ लोगों ने उत्तरआधुनिकता के साथ जोड़ा है। ऐसे उपन्यास लिखने वालों में मनोहर श्याम जोशी, विनोद कुमार शुक्ल, सुरेंद्र वर्मा, जितेंद्र भाटिया आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। जोशी जी के पहले ही उपन्यास 'कुरु-कुरु स्वाहा' ने अपने कथ्य और शिल्प की असाधारणता के कारण तुरंत ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने कथा कहने के लिए स्वयं को तीन व्यक्तियों में विभाजित कर लिया : 'मनोहर', 'जोशी' और 'मैं' में। इन तीनों को व्यक्तित्व भी अलग-अलग प्रदान कर दिया : मनोहर सहज सरल मन वाला है, जोशी बौद्धिक विद्वान साहित्यकार है और मैं, अर्थात वाचक मध्यवर्गीय पत्रकार, वृत्तचित्रकार और फ़िल्मी दुनिया में थोड़ी दखलंदाज़ी करने वाला। ये तीनों मुंबई महानगर के जीवन के विभिन्न क्षेत्रों—फ़िल्म, अपराध, यौन-व्यापार आदि की विसंगतियों, षड्यंत्रों, मूल्यों, अर्थतंत्र आदि को विभिन्न दृष्टिबिंदुओं से प्रस्तुत करते हैं। भूमिका में जोशी जी ने अपने इस उपन्यास को 'दृश्य और संवाद प्रधान गप्प बायस्कोप' कहा है। गप्प लड़ाने वाले की भूमिका वाचक ने निभायी है। उपन्यास में हर जगह, हर स्तर पर एक खिलंदड़ापन, एक अगंभीर गांभीर्य विद्यमान रहा है। कह सकते हैं कि यह उपन्यास मनोहर श्याम जोशी के मनोव्यक्तित्व की प्रतिनिधि अभिव्यक्ति है। यह वैचित्र्य और खिलंदड़ापन न केवल जोशी जी के अन्य उपन्यासों में विद्यमान है, बल्कि इस प्रवृत्ति के अन्य उपन्यासकारों के उपन्यासों में भी विद्यमान है।

यह मानसिक आंचलिकता कुछ अन्य उपन्यासकारों में कुछ अन्य रूपों में देखने को मिलती

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है। वीरेंद्र सक्सेना ने अपने सभी उपन्यासों में विभिन्न स्थितियों में विभिन्न पात्रों को रख कर एक विषय के विभिन्न पक्ष प्रस्तुत किये हैं। विषय है—काम-संबंधों का मनोशारीरिक यथार्थ। उनकी स्थापना है कि विवाह के पश्चात प्रेम अधिक समय तक जीवित नहीं रहता है। इसलिए वे वैवाहिक संबंध को बनाये रख कर विवाहेतर संबंध बनाने के पक्षधर हैं। यह विवाहेतर प्रेम-संबंध मानसिक के साथ-साथ शारीरिक भी हो। शारीरिक संबंध में वे आलिंगन व चुंबन तक जाने को तो तैयार हैं, लेकिन यथार्थ संभोग तक नहीं। उनकी ये स्थापनाएं उनके अनुभव पर कम, उनके शोधकार्य पर अधिक आधारित हैं। इसीलिए कई बार परिकल्पना जैसी लगती हैं।

उपन्यासकारों को इतिहास की औपन्यासिकता बराबर आकर्षित करती रही है। इसलिए ऐतिहासिक उपन्यास या ऐतिहासिक रोमांस बराबर लिखे जाते रहे हैं। वर्तमान काल में भी ये लिखे गये हैं। इनका संबंध निकट अतीत के इतिहास से भी है और सुदूर अतीत के इतिहास से भी। महीप सिंह ने अपने दूसरे उपन्यास 'अभी शेष है' में निकट अतीत का इतिहास प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में उन्होंने 1970 और 1975 के बीच घटित घटनाओं को आधार बना कर अपनी बात कही है। इन पांच-छह वर्षों की सुपरिचित घटनाओं से इस उपन्यास के बहिरंग का निर्माण हुआ है, अंतरंग का निर्माण तो पत्रकार निरवैर सिंह आनंद और उसके पत्र 'क्लैमर', भय्या जी और उनके परिवार—विशेषत: उनकी पोती मंजीत कौर, नसरीन, संत निरंजन सिंह और उनके डेरे तथा दिल्ली के अकालीदल-नेता सरदार सोहन सिंह से जुड़ी घटनाओं से हुआ है। इन घटनाओं के माध्यम से उन्होंने स्वातंत्र्योत्तर काल में राजनीति, व्यापार, धर्म आदि के क्षेत्र में व्याप्त स्वार्थपरता, भ्रष्टाचार, मूल्यहीनता, नैतिक पतन आदि का विश्वसनीय चित्रण किया है। कामतानाथ का बृहदाकार उपन्यास 'कालकथा' भी निकट अतीत के इतिहास पर ही आधारित है। इस उपन्यास में उन्होंने 1918 से ले कर 1929 तक की घटनाओं के माध्यम से उस काल के जनमानस और अवध की लोकसंस्कृति को ही स्वाधीनता-आंदोलन के साथ जोड़ कर देखा है। यह अवध की संश्लिष्ट लोकसंस्कृति का परिणाम था कि हिंदू और मुसलमान दोनों के हित परस्पर जुड़े हुए थे और स्वाधीनता के लिए संघर्ष में दोनों की भूमिका भी एक जैसी महत्त्वपूर्ण थी। उपन्यास घटनाओं के विस्तृत विवरण के कारण वृहदाकार बना है। शत्रुघ्न के ऐतिहासिक उपन्यास सुदूर अतीत से ले कर निकट अतीत तक के इतिहास को आधार बना कर चले हैं। उन्होंने यदि 'सिद्धियों के खंडहर' में बारहवीं शताब्दी के पालवंशी बौद्ध शासन की कथा कही है तो 'शिप्रा साक्षी है' में विक्रमादित्य के द्वारा शकों को पराजित करने की कथा कही है। 'कश्मीर की बेटी' में उन्होंने इतिहास को आतंकवाद के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। इतिहास को वर्तमान के संदर्भ में रखने और देखने में ही ऐतिहासिक उपन्यास सार्थकता प्राप्त करते हैं। इस काल में ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वालों ने इसका ध्यान रखा है।

हम कह सकते हैं कि ऐतिहासिक घटनाओं की तरह ही पौराणिक घटनाओं की औपन्यासिक पुनर्व्याख्या भी वर्तमान से जुड़ कर ही सार्थकता प्राप्त करती है। रामायण और महाभारत की कथाओं ने इस काल के उपन्यासकारों को विशेष रूप से आकर्षित किया है। इस काल के इन कथाओं के उपन्यासकारों में शीर्षस्थ स्थान नरेंद्र कोहली का है। यों युगेश्वर, मनु शर्मा, भगवान सिंह आदि के भी उपन्यास उपेक्षणीय नहीं हैं। पहले उन्होंने रामकथा को एक उपन्यास-शृंखला 'दीक्षा' (1975), 'अवसर' (1976), 'संघर्ष की ओर' (1978) और 'युद्ध' (1979), जो बाद में 'अभ्युदय' (दो खंड) के नाम से प्रकाशित हुई—के रूप में प्रस्तुत किया और इस शृंखला में राम को आधुनिक काल के सामंती व पूंजीवादी शोषण, अत्याचार, दमन आदि से त्रस्त मानवता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के उद्धारकर्त्ता के रूप में प्रस्तुत किया। उनकी यह उपन्यास शृंखला बहुत लोकप्रिय हुई। इसी से प्रेरित हो कर उन्होंने महाभारत की कथा को ले कर एक और उपन्यास-शृंखला प्रस्तुत की— 'बंधन' (1988), 'अधिकार' (1990), 'कर्म' (1991), 'धर्म' (1993), 'अंतराल' (1995), 'प्रच्छन्न' (1997), 'प्रत्यक्ष' (1998) और 'निर्बंध' (2000)। उनकी यह शृंखला भी उतनी ही पठनीय है, जितनी रामकथा से संबद्ध शृंखला थी, यद्यपि यह उसकी तरह वर्तमान संदर्भ से सटीक ढंग से जुड़ नहीं सकी है। इसका कारण संभवतः यह है कि इसमें उनका ज़ोर उसे मानव-जीवन के शाश्वत् सत्य से जोड़ने पर है। इसके बाद उन्होंने सुदामा और विवेकानंद के जीवन को आधार बना कर भी उपन्यास-शृंखलाएं लिखी हैं।

विगत् पच्चीस वर्ष की हिंदी-उपन्यास की प्रवृत्तियां इस बात का प्रमाण हैं कि हिंदी-उपन्यास में बड़ी सक्रियता रही है और वस्तु एवं शिल्प के स्तर पर बड़ी विविधता आयी है। इस विविधता का कारण कई पीढ़ियों की युगपत् सक्रियता है। जब पीढ़ी बदलती है तो उसकी संवेदना, उसकी जीवनदृष्टि में भी मौलिक और सूक्ष्म परिवर्तन होता है, क्योंकि संवेदना और दृष्टि के निर्माण में जहां व्यक्ति की अपनी निजी जैविक संरचना, पारंपरिक संस्कार अपनी भूमिका निभाते हैं, वहीं उसका परिवेश भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। हिंदी के उपन्यासकारों ने सामूहिक अनुभव और मूल्य-प्रणाली से वैयक्तिक अनुभव और मूल्य-प्रणाली की दिशा में यात्रा की है। पूंजीवादी, बाज़ारवादी और उपभोगवादी अर्थव्यवस्था, महानगरीय परिवेश और सामाजिक गतिशीलता ने अब उपन्यासकार को वर्गप्रतिनिधिकता से अलग करके स्वायत्त व्यक्ति इकाई बना दिया है। फलतः व्यक्तिशः उपन्यासकारों का अनुभव-क्षेत्र सीमित और विशिष्ट होता गया है। स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श जैसी चीज़ें इसी बदलाव का परिणाम हैं। फलतः विगत् पच्चीस वर्षों के हिंदी-उपन्यास में वस्तु और शिल्प, दोनों के स्तर पर अत्यधिक प्रयोगशीलता आयी है। इसीलिए कथा कहने के लिए ऐसे-ऐसे चमत्कारपूर्ण शिल्पगत प्रयोग इस कालावधि में उपन्यासकारों ने किये हैं, जिनकी पहले का उपन्यासकार स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकता था। नयी पीढ़ी के उपन्यासकारों के लिए मौलिकता बीजमंत्र हो गयी है।

## कहानी

कविता और कहानी छायावादोत्तरकाल की केंद्रीय विधाएं रही हैं, जिनको ले कर बहुत-से साहित्यिक आंदोलन हुए, गोष्ठियां हुईं और पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांक निकले। इसका मुख्य कारण यह है कि इन दोनों ने समकालीनता को गहरे अर्थ में रेखांकित करने का प्रयास किया और जीवन की जटिलताओं को उनकी समग्रता में आंकने की कोशिश की। नयी कविता के वज़न पर कहानी को भी 'नयी कहानी' कहा जाने लगा और फिर, सचेतन कहानी तथा 'अ-कहानी' आंदोलन भी चलाये गये। छायावाद-युग के अनंतर हिंदी-कहानी में आरंभ में प्रगतिवादी और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियां दिखायी दीं। इसी समय आधुनिकताबोध की प्रवृत्ति भी उभरी, जिसके प्रमाणस्वरूप भुवनेश्वर की 'सूर्यपूजा' और 'भेड़िए' शीर्षक कहानियों को जैनेंद्र, अज्ञेय और इलाचंद्र जोशी ने पल्लवित किया। 1950 के बाद की कहानियों में क्रमशः वैयक्तिकता का दबाव बढ़ता गया। कुछ देर के लिए स्वतंत्रताप्राप्ति का उल्लास आंचलिक कहानियों में अभिव्यक्त हुआ, पर वह कहानी की विकासयात्रा का अस्थायी पक्ष था। शीघ्र ही स्वतंत्रता से प्राप्त होने वाले सुख के प्रति रोमानी मोह टूट गया और व्यक्ति एक तरह के कटाव या अलगाव के कठघेरे में खड़ा हो गया। छठे दशक में जो तनाव या अलगाव आया, वह मूल्यों से पूर्णतः विच्छिन्न नहीं हुआ था,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

किंतु सन् 1962 में चीन-भारत-युद्ध के समय रोमैंटिक सरकार ने हमें अंतिम रूप से मोहमुक्त कर दिया। इसीलिए मार्क्स और फ्रायड के प्रभावों से आगे बढ़ कर अस्तित्ववादी दर्शन ने जीवन के बुनियादी सवालों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया, जिससे सातवें दशक में संत्रास, अलगाव, बेगानेपन और ऊब से संबद्ध कहानियां लिखी गयीं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, प्रारंभ में प्रगतिवादी विचारधारा प्रमुख हो कर आयी। इस धारा के प्रतिनिधि कहानीकार **यशपाल** हैं। उन्होंने जहां मार्क्सवाद के अनुरूप धन की विषमता पर प्रहार करते हुए भौतिकवादी नैतिक मूल्यों का समर्थन किया, वहीं उन पर फ्रायड का भी गहरा प्रभाव पड़ा। फलत: यौन-चेतना के खुले चित्र भी उनकी कहानियों में मिलते हैं। यशपाल के कहानी-संग्रहों में उल्लेखनीय हैं—पिंजड़े की उड़ान, वो दुनिया, ज्ञानदान, अभिशप्त, तर्क का तूफ़ान, भस्मावृत चिनगारी, फूलों का कुर्ता, उत्तमी की मां, सच बोलने की भूल, तुमने क्यों कहा कि मैं सुंदर हूं आदि। वे कहानी को दृष्टांत के रूप में ग्रहण करते हैं, इसलिए उनकी कहानियां बहुत-कुछ पूर्व-नियोजित (कांट्राइव्ड) होती हैं। इस नियोजन का मुख्य आधार विचार और कल्पना है। उनकी रचना-प्रक्रिया प्रेमचंद की रचना-प्रक्रिया से मिलती-जुलती हैं। दोनों के मन में पहले कोई विचार उठता है, फिर पात्र, स्थिति, घटना आदि को अन्वेषित कर लिया जाता है। पर यशपाल की कहानियों में कथा-रस सर्वत्र मिलता है। वर्ग-संघर्ष, मनोविश्लेषण और पैना व्यंग्य उनकी कहानियों की अनन्य विशेषताएं हैं। किसी सामाजिक अथवा नैतिक रूढ़ि पर प्रहार करते हुए वे पाठकों के रूढ़ संस्कारों पर गहरा आघात करते हैं। शॉक ट्रीटमेंट का यह तरीक़ा प्राय: उनकी प्रत्येक कहानी में मिलेगा।

**अज्ञेय** ने मुख्यत: व्यक्ति के आत्मसंघर्ष तथा व्यक्ति और परिवेश के संघर्ष का चित्रण किया है। यशपाल जहां समाज की विकृतियों के लिए अधिक असामंजस्य तथा वर्गीय दिखावे (हिपोक्रेसी) को उत्तरदायी मानते हैं, वहीं अज्ञेय ने व्यक्ति के अपने नैतिक संघर्ष और दायित्व को उसकी मुख्य समस्या माना है। उनकी प्रारंभिक कहानियों में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति उभरी हुई प्रतीत होती है, किंतु 'गैंग्रीन', 'पठार का धीरज' आदि कहानियां रोमांस से मुक्त नये यथार्थ पर आधारित हैं। अज्ञेय की भाषा में परिवेश-निर्माण की अद्भुत क्षमता है। बिंबों, प्रतीकों और नाटकीय स्थितियों के चित्रण द्वारा उन्होंने अपनी कहानियों को अर्थ के विभिन्न स्तर दिये हैं। 'विपथगा', 'परंपरा', 'कोठरी की बात', 'शरणार्थी', 'जयदोल', 'अमर वल्लरी' और 'ये तेरे प्रतिरूप' उनके प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं।

**इलाचंद्र जोशी** ने अपनी कहानियों में मनोवैज्ञानिक केस-हिस्ट्री पिरोयी है। इस दिशा में अग्रसर होने वाले वे अकेले कहानीकार हैं, पर उनकी कहानियों में अधिकतर किताबी सूरतें, किताबी स्थितियां और ग्रंथियां परिलक्षित होती हैं। इसीलिए उनकी कहानियां प्राय: नीरस, असंवेदनीय और अपठनीय हो गयी हैं। 'खंडहर की आत्माएं', 'डायरी के नीरस पृष्ठ', 'आहुति' और 'दीवाली' उनके प्रमुख कहानी-संग्रह हैं। जोशी जी के विपरीत **अश्क** की कहानियों में विविधता के दर्शन होते हैं। यह वैविध्य विषयवस्तु और शिल्प दोनों में है, पर मनोविश्लेषण, प्रतीक, सेक्स आदि के आधार पर लिखी गयी कहानियों में फार्मूलाबद्धता अधिक दिखायी देती है। इस तरह की कहानियों में जो गहन मनोवैज्ञानिक पकड़ अपेक्षित होती है, वह **अश्क** में नहीं है। यदि उन्होंने कहानी-लेखन की अपनी ख़ुद की धारा बनाने की चेष्टा की होती, जैसा कि प्रेमचंद, जैनेंद्र और अज्ञेय ने किया है, तो वे 'डाची' और 'कांगड़ा का तेली' जैसी स्वस्थ सामाजिक कहानियां लिख सकते थे। वैसे, इसमें संदेह नहीं कि क्रियात्मक सामाजिक दृष्टि के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कारण उनकी कहानियों में कलात्मक परिपक्वता भी मिलती है।

विष्णु प्रभाकर, कमल जोशी, निर्गुण, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय आदि अपेक्षाकृत नयी पीढ़ी के कहानीकार हैं। **विष्णु प्रभाकर** नये बनने के प्रयास में भी पुराने संस्कारों को छोड़ नहीं पाते, फिर भी 'धरती अब भी घूम रही है' संग्रह की इसी शीर्षक की कहानी नये बोध के निकट है। **कमल जोशी** की 'शीराजी' और 'पत्थर की आंखें' अपने समय में काफ़ी चर्चित हुई थीं, पर इधर नयी कहानी लिखने के प्रयास में उन्हें असफलता ही मिली है। **निर्गुण** अपनी कहानियों में भावुकता के चित्र उकेरते रहते हैं, तो **भैरवप्रसाद गुप्त** और **अमृतराय** की कहानियां मार्क्सवादी नुस्ख़ों से बनायी गयी हैं। चंद्रकिरण सौनरिक्सा ने इस दृष्टि से कुछ अच्छी कहानियां लिखी हैं। राधाकृष्ण की कुछ कहानियां भी थीम के अछूतेपन और पैने व्यंग्य के कारण स्मरण की जायेंगी। 'रामलीला' इसी तरह की कहानी है। उन पर वनफूल का विशेष प्रभाव लक्षित होता है।

**परंपरा का नया मोड़—रोमैंटिक यथार्थ :** सन् 1950 के बाद की हिंदी कहानियों में दो विरोधी स्वर सुनायी पड़ते हैं, मूल्यवादी स्वर और विघटित मूल्यों के परिवेश में चीख़, त्रास या बदले हुए रिश्तों का स्वर। छठे दशक में पहला स्वर मुख्य रहा और नये बदलाव का सूचक दूसरा स्वर सातवें दशक की विशेषता है। लंबे संघर्ष के बाद सन् 1947 में देश के स्वतंत्र होने पर हिंदी कहानियों में भी इस नये उल्लास और नवीन आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हुई। नये मूल्य वाले चरित्रों की सृष्टि की जाने लगी, जिनका महत्त्व इसलिए है कि वे किसी-न-किसी संघर्ष से संपृक्त हैं। इसे प्रेमचंद की परंपरा का नया मोड़ माना जा सकता है। साथ ही जैनेंद्र और अज्ञेय के प्रभाव को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किंतु जहां उनमें मनोविश्लेषण और अवसाद की मुख्यता है, वहीं छठे दशक की कहानियां आत्मसंघर्ष और नाटकीय तनाव के कारण उनसे अलग हो जाती हैं। इस दशक की कहानियों को ले कर बहसें और आंदोलन भी कम नहीं हुए। सन् 1955 में 'कहानी' पत्रिका के प्रकाशन ने इस दौर को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया और 1956-57 में तो नयी कविता के वज़न पर इसका नाम भी 'नयी कहानी' रख दिया गया।

छठे दशक में ग्रामांचल की कहानियों ने ही पहले ध्यान आकृष्ट किया। इसके साथ-साथ क़स्बों और नगरों की कहानियां भी लिखी गयीं, किंतु इन्हें एक दूसरे की प्रतिक्रिया में रचित मानना उचित नहीं है। फिर भी, जिन अंचलों से कहानी की विषयवस्तु ली जाती है, उनका प्रभाव उसके रूपायन (फार्मेशन) पर पड़ता ही है। ग्रामांचल के कहानीकारों में शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय और फणीश्वरनाथ रेणु के नाम मुख्य हैं। इनकी कहानियों में गांव की मिट्टी की जो सोंधी महक और गांव के लोगों का जो जीवन देखने को मिला, वह जैनेंद्र और अश्क की परंपरा की कहानियों से भिन्न था। इसके पहले गांव अपने परिपार्श्व की पूर्णता में चित्रित नहीं हो पाये थे, किंतु इन लेखकों ने गांव के जो चित्र या चरित्र प्रस्तुत किये, वे मूलतः रोमैंटिक थे। ये लेखक स्वयं अपने-अपने गांवों से शहरों में आ गये थे, इसलिए पीछे छूटे हुए गांव की यादों का रूमानियत से भर उठना स्वाभाविक था। शिवप्रसाद सिंह की प्रारंभिक कहानियां प्रायः अतीतोन्मुख हैं। दादा, दादी, भाई आदि के माध्यम से उन्होंने जिन ध्वंसोन्मुख मूल्यों को प्रतिष्ठित किया है, वे एक ओर जहां रोमैंटिक हैं, वहीं पूर्वजों के मूल्यगत प्रतिमानों ने उन्हें मोहग्रस्त भी बना दिया है। पर यह यथार्थ उनका भोगा हुआ न हो कर केवल देखा या सुना हुआ है। किंतु जहां वे अतीतोन्मुख नहीं हैं, वहां उनकी कहानियां अधिक यथार्थपरक रही हैं। उन्होंने प्रायः परिवार के भीतर पैठ कर अंतर्वैयक्तिक संबंधों का विश्लेषण किया है। 'आरपार की माला', 'मुर्दा सराय', 'इन्हें भी इंतज़ार है' आदि उनके कहानी-संग्रह हैं। मार्कण्डेय की ग्रामांचल की कथाओं में भी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शुरू में अतीतोन्मुखता ही दिखायी पड़ी। 'गुलरा के बाबा' और 'हंसा जाई अकेला' में अतीत के प्रति रोमानी दृष्टिकोण अख़्तियार किया गया है। बाद में उन्होंने गांवों में उगते हुए वर्ग-संघर्ष को पहचानने और चित्रित करने की भी कोशिश की। शहरी जीवन से संबद्ध कहानियां भी उन्होंने लिखी हैं, पर ऐसा लगता है कि यह विषयवस्तु उनके घेरे के बाहर है। 'महुए का पेड़', 'हंसा जाई अकेला', 'भूदान', 'माही' आदि उनके प्रकाशित कहानी-संग्रह हैं। रोमैंटिक यथार्थ का सर्वाधिक चटकीला, समग्र और आत्मीयतापूर्ण रंग रेणु की कहानियों में मिलता है। वे आदिम रस-गंधों के कथाकार हैं। गांव की धूल-माटी, आंगन की धूप, बैलों की घंटियां, धान की झुकी हुई बालियां, गमकता चावल, मेला-ठेला, हंसी-ठिठोली आदि के वर्णन में गांव ही नहीं, पूरा अंचल उभर आता है। इस दृष्टि से 'लाल पान की बेग़म' और 'तीसरी क़सम' विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

ग्रामांचल से हट कर भी परंपरा के इसी मोड़ पर रांगेय राघव, भीष्म साहनी, शेखर जोशी, अमरकांत, श्रीमती विजय चौहान, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, शैलेश मटियानी, मधुकर गंगाधर, शानी आदि आते हैं। इन्होंने प्रेमचंद की परंपरा को आगे बढ़ाया है। शेखर जोशी की कहानी 'कोसी का घटवार' रोमानी स्पर्श से रिक्त न होते हुए भी अधिक यथार्थ है। अमरकांत की 'ज़िंदगी और जोंक' आधुनिकताबोध के जीवंत आयाम को छूती है, पर रांगेय राघव की 'गदल' संघर्षशील मूल्यों के कारण श्लाघ्य होते हुए भी अतिनाटकीय हो गयी है।

**युगीन संक्रमण और तनावों की स्थितियां :** आलोच्य अवधि के कहानीकारों ने एक ओर पुराने मूल्यों के प्रति रोमानी दृष्टि की अभिव्यक्ति की, तो दूसरी ओर युगीन संक्रमण के अधिकाधिक दबाव का अनुभव भी किया। इस दबाव के फलस्वरूप तनाव, मूल्यों की तलाश और विविध संदर्भों की कहानियां लिखी गयीं। मोहन राकेश तनावों के कहानीकार हैं, राजेंद्र यादव की कहानियों में वैयक्तिकता पर सामाजिकता हावी रहती है और कमलेश्वर तनावों के बीच मूल्यान्वेषण के लिए सचेष्ट रहते हैं। **मोहन राकेश** की कहानियों में 'मलबे का मालिक' को विशेष ख़्याति मिली। यह सन् 1947 के भारत-विभाजन के फलस्वरूप पैदा हुई मन:स्थिति पर आधारित है। देश के विभाजन की परिणति व्यापक रक्तपात में ही नहीं हुई, बल्कि दो संप्रदायों के बीच दुराव, संदेह, त्रास, डर, घृणा आदि मानसिक अवधारणाओं में भी हुई। अज्ञेय, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, अश्क आदि ने भी इस विषय पर कहानियां लिखीं, किंतु जहां अज्ञेय की कहानियां फार्मूलों पर टिकी हैं, विद्यालंकार की कहानी 'एक और हिंदुस्तानी का जन्म हुआ' दर्द को उभारने में असफल रही है, और अश्क की 'टेबुल लैंड' रोमैंटिक भावुकता से पूर्ण आदर्शवादी कहानी बन कर रह गयी है, वहां 'मलबे का मालिक' के रचाव में अपेक्षित सांकेतिकता और तनाव है। पर राकेश की प्रतिनिधि कहानी 'एक और ज़िंदगी' है। यह आज के ट्रेजिक तनाव को पूरी गहराई में आंकती है, मनुष्य न तो छूटी हुई ज़िंदगी को छोड़ पाता है और न चुनी हुई ज़िंदगी को अपना पाता है, अपितु दोनों ओर खींचा जा कर क्षत-विक्षत हो जाता है। राकेश की जिन कहानियों में सामाजिकता-वैयक्तिकता का तनाव नहीं है, वहां ठहराव आ गया है। 'जख़्म' और 'ठहरा हुआ चाकू' ऐसी ही कहानियां हैं। उनके कहानी-संग्रह हैं—नये बादल, जानवर और जानवर, एक और ज़िंदगी आदि।

**राजेंद्र यादव** की कहानियों में आधुनिक भावबोध को व्यापक सामाजिकता से संदर्भित करने की कोशिश मिलती है। उन्होंने निर्वैयक्तिकता पर विशेष बल दिया है और 'एक समानांतर दुनिया' बनाने की चेष्टा की है, किंतु इस समानांतरता ने कहानियों को व्यक्तित्व भले ही दिया है,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पर इसी के कारण वे असंप्रेषित रह गयी हैं। यादव 'ह्वील विदिन ह्वील' के कहानीकार हैं, फलस्वरूप उनकी कहानियों में उलझाव आ जाता है, जिसका एक कारण यह भी है कि वे मूलतः औपन्यासिक चेतना के कथाकार हैं। 'जहां लक्ष्मी क़ैद है', 'अभिमन्यु की आत्मकथा', 'छोटे-छोटे ताजमहल', 'किनारे से किनारे तक', 'प्रतीक्षा', 'टूटना और अन्य कहानियां', 'अपने पार' आदि उनके प्रमुख कहानी-संग्रह हैं। **कमलेश्वर** की कहानियों में युगीन संक्रमण का मूल्यान्वेषी स्वर मिलता है। उनकी विकासयात्रा में बोध के विभिन्न संदर्भ और जीवन के विविध आयाम दिखायी देंगे। उदाहरणार्थ, 'देवी की मां' में पुरानी पीढ़ी के जीवन का सशक्त चित्रण हुआ है, तो 'नीली झील' में मानवीय संवेदना को उसकी विस्तृति में लिया गया है। 'खोयी हुई दिशाएं' आज के महानगरीयबोध, अकेलेपन और बेगानगी की ट्रेजेडी है, तो 'मांस का दरिया' में 'यामा द पिट' की झांकी मिल सकती है। कमलेश्वर इस कालखंड के अत्यंत सशक्त कहानीकार हैं। यह शक्ति रूमानियत से अलग होने और भाषा-संरचना के संयम में निहित है। संपूर्ण संरचना में इतनी निःसंगता किसी अन्य कहानीकार में नहीं आ पायी है।

**कवि-कहानीकार :** आलोच्य-काल में नरेश मेहता, रघुवीर सहाय (रास्ता इधर से भी है), सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, धर्मवीर भारती, कुंवर नारायण, रामदरश मिश्र (ख़ाली घर, एक वह) आदि ने अपने-अपने ढंग की कहानियां लिखी हैं। कविता का अभ्यासी साहित्यकार जब कहानी-लेखन की ओर उन्मुख होता है तो यह आशंका बराबर बनी रहती है कि कहीं कविता कहानी पर हावी न हो जाये। नरेश मेहता की 'तथापि', 'निशाजी' आदि पर काव्यगत रोमानियत की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। रघुवीर सहाय और सर्वेश्वर के संबंध में भी यह कम सच नहीं है। भारती ही ऐसे कवि-कथाकार हैं, जिन्होंने कविता से कहानी को अलग करने की चेष्टा की है। यह चेष्टा 'गुलकी बन्नो', 'सावित्री नं. 2' और 'बंद गली का आख़िरी मकान' में स्पष्टतः दिखायी पड़ती है। इन कहानियों में आत्मपरकता से वस्तुपरकता की ओर जाने के लिए कथातत्त्व की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। 'गुलकी बन्नो' पर रोमानियत का आरोप लगाया जाता है, पर इसमें जिस परिपार्श्व और परिवेश को लिया गया है, वह विश्वसनीय और यथार्थ है। एक विशेष स्थिति में समूचे टोले-मुहल्ले का दर्द उभारा गया है, गुल-गपाड़े, व्यंग्य-विनोद तथा विद्रूप-बौछारों की पृष्ठभूमि में यह दर्द उन मानवीय मूल्यों को चित्रित करता है, जो औद्योगिक सभ्यता में आज भी सुरक्षित हैं, दुर्लभ हैं।

**लेखिकाओं का संसार :** मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, शिवानी, उषा प्रियंवदा, रजनी पन्निकर, मेहरुन्निसा परवेज़, विजय चौहान आदि कहानी-लेखिकाओं का अपना संसार है, जो किसी सीमा तक पुरुषों के संसार से अलग है। सामान्यतः स्त्रियों का संसार पुरुष-संसार से किंचित् भिन्न होता है, किंतु इन लेखिकाओं ने इस भिन्नता को कुछ कम करने की चेष्टा की है। फिर भी, जहां मन्नू भंडारी (कृषक), सोबती और शिवानी (पुष्पहार) ने आधुनिक नारी की मनःस्थिति, पारिवारिक जीवन में पति-पत्नी के संबंध आदि विषयों को ले कर अनुभव के सीमित दायरे के अंतर्गत कहानी रचना की है, वहां उषा प्रियंवदा में वैविध्य और आधुनिक जीवन के अनेक आयाम दिखायी पड़ते हैं। इनकी कहानियों को सातवें दशक का पूर्ववर्ती रूप मानना चाहिए।

**मन्नू** ने बड़ी ही ईमानदारी के साथ नारी के मन में उठने वाले भावों, स्थिति विशेष में पुरुष के मन में जगने वाली शंकाओं, ईर्ष्याओं आदि को अपनी कहानियों में चित्रित किया है। 'मैं हार गयी', 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' और 'यही सच है' उनके कहानी-संग्रह हैं। **कृष्णा सोबती** सेक्सजन्य भावुकता को ही उभार कर रह जाती हैं। **शिवानी** की कहानियों में सेक्स भी है और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

किसी सीमा तक नारी-मनोविज्ञान को आधुनिक जीवन के नये आयामों में देखने की इच्छा भी है। वातावरण को उसकी संपूर्ण संवेदना के साथ उभारने में शिवानी को विशेष सफलता मिली है। **उषा प्रियंवदा** आधुनिकता-बोध की कहानीकार हैं। उनका बोध भी नया है और भाषा भी अपेक्षाकृत संयमित है। वे न कमज़ोर लड़की की कहानी कहती हैं और न भावाविष्ट क्षणों की सच्चाई को सच्चाई मानती हैं, अपितु उन्होंने विशेष परिस्थितियों में अकेलेपन, बेबसी, हार और लाचारी की मानवीय नियति को आकलित किया है। 'ज़िंदगी और गुलाब के फूल' तथा 'एक कोई दूसरा' उनके कहानी-संग्रह हैं।

**चीख़, क्षण, मूड और मिथक :** छठे दशक के अंत में उभरने वाली और सातवें दशक के आरंभ में पूरी तरह छा जाने वाली कहानी-लेखन की इन प्रेरक स्थितियों की गूंज अनेक कहानीकारों में मिलती है। **निर्मल वर्मा** ने इसके लिए हिंदी-कहानी की परंपरा को छोड़ कर अपने को पाश्चात्य परंपरा से जोड़ा है। फलस्वरूप उनकी कहनियां अपनी भूमि, अपने देश की परंपरा, यहां की ग़रीबी और जहालत से कट कर रोमानी रुचि से ओत-प्रोत हैं। 'परिंदे' कहानी-संग्रह की इसी शीर्षक की रचना और 'लवर्स' ऐसी ही कहानियां हैं। सूराखी परिवेश उनकी कहानियों में इतने विविध रूप-रंगों में उभरता है कि उनकी प्रारंभिक कहानियां छायावादी कविता के निकट पहुंच कर एक 'रोमैंटिक एगोनी' को अभिव्यक्ति करती हैं। पर 'लंदन की एक रात' और 'कुत्ते की मौत' उनकी कहानियों में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। इनमें जीवन की अनिश्चितता, घुटन, निरर्थकता, रंगभेद और बेगानगी को जिस संपृक्तता में उठाया गया है, वह किन्हीं स्वीकृतियों या प्रतिबद्धताओं की ओर भी संकेत करती है।

आधुनिकता-बोध को ले कर कहानी लिखने वालों में **रामकुमार, विजय चौहान** और **राजकमल चौधरी** का उल्लेख भी आवश्यक है। कथाओं, घटनाओं और चरित्रों द्वारा निर्मित होने वाली कहानियों के पिछले ढांचे को तोड़ते हुए इन्होंने ज़िंदगी के छोटे-छोटे टुकड़ों, तेज़ी से बदलते हुए दृश्यों, छोटी-छोटी घटनाओं और अर्थपूर्ण प्रतीकों द्वारा युगीन जीवन को रेखांकित किया है, जिसके लिए इन्होंने अपने को प्रतिबद्धताओं से मुक्त रखने की यथासंभव कोशिश की है। **श्रीकांत वर्मा** की कहानियों को ब्रेन ट्यूमर की कहानियां कहा जा सकता है, किंतु यह ट्यूमर प्रायः प्रेम के चारों और चक्कर लगाता है। उनकी कहानियों में स्थिति की अनिर्णयात्मकता, एकचित्तता का अभाव, बेहद बेचैनी आदि हैं, जिसका अर्थ यह भी है कि अभी वे रोमानियत को नहीं छोड़ पाये हैं और न उसे अस्वीकार करके यथार्थ को ग्रहण कर सके हैं।

सातवें दशक को मोहभंग का दशक कहना उचित होगा। इस दशक के कहानीकारों ने रोमांस-मुक्त हो कर नये यथार्थ का साक्षात्कार किया। मूल्यों के पूर्ण विघटन के साथ-साथ व्यक्तित्वों का खंडित होना स्वाभाविक था, जिसकी झलक सबसे अधिक नेतृत्व में दिखायी पड़ी। मूल्यहीनता की चरम परिणति कांग्रेस के विभाजन में हुई। यों सन् 1962 में चीन के हमले के समय ही मोहभंग हो चुका था। पुरानी पीढ़ी के प्रति क्षोभ-आक्रोश का समारंभ यहीं से हुआ। बुद्धिजीवी-वर्ग का संकट और भी गहरा था। उसकी आवाज़ सुनने वाला कोई भी नहीं था। पुरानी पीढ़ी से संवाद की कोई स्थिति ही नहीं रह गयी। अकेलेपन और निर्वासन का एहसास गहरा हो गया, किंतु इनकी अपेक्षा ऊब की स्थिति अधिक उभरी। वैसे, यह स्पष्ट ही है कि अकेलेपन और निर्वासन में, जहां गहन रचनात्मक दृष्टिकोण है, वहां ऊब में विघटनात्मक और सतही विद्रोहात्मक रवैया अधिक दिखायी पड़ता है। ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, गंगाप्रसाद विमल, गिरिराज किशोर, रवींद्र कालिया, महेंद्र भल्ला, ज्ञानप्रकाश, काशीनाथ सिंह आदि इस दशक के अन्य उल्लेखनीय

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कहानीकार हैं।

ज्ञानरंजन अपनी वस्तुनिष्ठता, संतुलन और संयम के कारण सबसे अलग और विशिष्ट हैं। 'फेंस के इधर और उधर' में संगृहीत कहानियां इसकी परिचायक हैं। दूधनाथ सिंह कृत 'रक्तपात' में कटाव, अलगाव और निर्वासन चरम सीमा पर पहुंच गया है। उनकी कहानियां अनायास ही इस विचार को जन्म देती हैं कि जहां एक समय ऐसा था, जब आदर्श चरित्र निर्मित होते थे, दूसरा समय ऐसा आया, जब प्रामाणिक चरित्र निर्मित किये जाने लगे, वहीं एक समय यह भी है, जब अभिशप्त चरित्रों की सृष्टि होने लगी है। गंगाप्रसाद विमल की कहानी 'एक और विदाई' में भी गुमशुदा पहचान की तलाश है, पर यह कहानी सिद्धांत के जाल में उलझ कर कहानीपन खो देती है। बदले हुए रिश्तों को ले कर जो कहानियां लिखी गयीं, उनमें से अधिकांश में दो पीढ़ियों की टकराहट दिखायी पड़ती है। विमल की 'प्रश्नचिह्न' और ज्ञानरंजन की 'पिता' ऐसी ही कहानियां हैं।

गिरिराज किशोर आज की परिस्थितियों में निर्णय न ले सकने वाले उन व्यक्तियों के कहानीकार हैं, जो तिलस्म में फंसे हुए हैं और बंद होने वाली दिशा में दरवाज़ा खोलते हैं। 'पेपरवेट' में संकलित कहानियों में उन्होंने बाबू तबके के अंतर्विरोध और विसंगतियों को चित्रित किया है, पर प्राय: वे अपने संदर्भों में ही ठिठक कर रह गये हैं। रवींद्र कालिया की कहानियों में स्पष्टत: रोमांस-विरोधी मुद्रा दिखायी पड़ती है। वे हर तरह की शिष्टता (डिसेंसी) और आभिजात्य का मज़ाक़ उड़ाते हैं। किसी अन्य लेखक ने विदूषकीय मुद्रा और विडंबना को इस मात्रा में अपनी रचना का आधार नहीं बनाया है। सब मिला कर उनकी कहानियों में ऊब (बोरडम) के चित्र ही अधिक मिलते हैं। अपने भाषायी सामर्थ्य को मूल्य चेतना से जोड़ पाने में भी वे विफल रहे हैं। महेंद्र भल्ला-कृत 'एक पति के नोट्स' में आत्मनिर्वासन का वह दर्द है, जिसे वह ख़ुद झेलता है। जिस ज़िंदगी को वह नहीं चाहता, वही जीनी पड़ती है। यह उसकी अपनी ही नियति नहीं है, बल्कि आधुनिकताबोध से संपृक्त प्रत्येक व्यक्ति की नियति है। इसमें नैतिक मूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं है। 'तीन-चार दिन' भी पति-पत्नी के संबंधों को ले कर लिखी गयी ऐसी ही कहानी है। ज्ञानप्रकाश की कहानियां 'अंधेरे के सिलसिले' में संगृहीत हैं, जिनमें जीवन की जड़ता और व्यर्थता को प्रभावी ढंग से चित्रित किया गया है। काशीनाथ सिंह की कहानियों में इधर एक नया बदलाव आया है, आधुनिकता से अभ्युदिष्टता की ओर। यह बदलाव उस महत्त्वपूर्ण मोड़ का सूचक है, जिसे आठवें दशक का आरंभ कह सकते हैं। इस प्रवृत्ति के कारण वे अस्वीकार से स्वीकार की ओर उन्मुख हुए हैं। 'चायघर में मृत्यु', 'चोट' और 'हस्तक्षेप' इसी प्रवृत्ति की कहानियां हैं। इनकी भाषा ऊपर से सपाट है, पर भीतर से जटिल अर्थों को व्यक्त करती है। अपने विनोदपूर्ण व्यंग्य के कारण वे कहानी के माहौल को ज़िंदादिल और धारदार बना देते हैं।

इधर के कहानीकारों में सिद्धेश, प्रकाश बाथम, हृषिकेश, सुदर्शन नारंग, महीपसिंह, पानू खेलिया, सुरेश सिन्हा, रमेश उपध्याय, जितेंद्र भाटिया, राजकुमार भ्रमर, नरेंद्र कोहली, गोविंद मिश्र, हर्षनाथ, वेद राही, श्रवणकुमार आदि अनेक नाम आते हैं। महिलाओं में ममता कालिया, सुधा अरोड़ा, निरुपमा सेवती, अनिता औलक, वर्तिका अग्रवाल, दीप्ति खंडेलवाल आदि ने भी आधुनिकताबोध की कहानियां लिखी हैं। इनकी कहानियों में सामान्यत: स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व के चित्र आंके गये हैं। यहां तक कि सेक्स के संबंध में भी इन्हें कोई झिझक और रोमानी संकोच नहीं है।

छठे दशक की कहानियों को पांचवें दशक की कहानियों की प्रतिक्रिया में रचित मानना ग़लत

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है, क्योंकि कोई भी लेखन ऐतिहासिक संदर्भ विशेष की देन होता है। पांचवें दशक के अंत में सामाजिक-राजनीतिक परिवेश में जो अराजकता की स्थिति और मूल्यहीनता आने लगी थी, उसकी प्रतिक्रिया तो छठे दशक में ही शुरू हो गयी थी, पर सातवें दशक में वह अपने चरमोत्कर्ष पर जा पहुंची। छठे दशक के आख़िरी वर्षों में आधुनिकतावादी कहानियां मिथ्या लगने लगीं, फलस्वरूप कुछ कथाकारों ने अस्वीकार, ऊब, अकेलेपन आदि को नकार दिया और कहानी को स्वीकारोन्मुख बनाया। दूधनाथ सिंह और गंगाप्रसाद विमल की कहानियों में केले के पर्त की तरह तह की हुई जिस भाषा का प्रयोग मिलता है, उसे अब भाषा का दुरुपयोग माना जाने लगा। सातवें दशक के मध्य में युवा-विद्रोह की जो लहर आयी, उसके फलस्वरूप बेलाग और दो-टूक बात कहने की प्रवृत्ति को और बल मिला। पुरानी व्यवस्था के विरोध में एक प्रकार का बौद्धिक-राजनीतिक आंदोलन ही चल पड़ा। इस आंदोलन ने भाषा को खुरदरापन और ताज़गी देने के साथ ही यथार्थ को बेलाग आंक पाने की क्षमता भी दी। किंतु ध्यान रखना चाहिए कि भाषा स्वयं में महत्त्वपूर्ण नहीं होती, सृजन की आंतरिक विवशता ही साहित्यिक भाषा को रचनात्मकता का स्तर दे सकती है।

विगत दो दशकों में कहानी का रूपबंध भी बदला है। पांचवें दशक तक कहानी का सूत्र बहुत-कुछ निश्चित रहता था, पर जैनेंद्र और अज्ञेय के कारण षट् तत्त्वों वाली कहानियों में बदलाव आया। यह बदलाव मुख्यत: कथानक और चरित्रों को ले कर था, पर उनमें कथा-लेखन की परंपरागत पद्धति नि:शेष नहीं हुई थी। इसके विपरीत पिछले दो दशकों में रूपबंध संबंधी पुरानी धारणाएं अपने आप टूट गयीं, कहानी में निबंध, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, संस्मरण, डायरी आदि विधाएं भी सम्मिलित हो गयीं जिसका फल यह हुआ है कि उसका रूपबंध अब अधिक अभिव्यंजनापूर्ण हो गया है।

## अद्यतन हिंदी-कहानी–I

(1975 से 1980 तक)

सन् 70 तक पहुंचते-पहुंचते हिंदी-कहानी ने साहित्य के अन्य रूपों की तुलना में केंद्रीय स्थान बना लिया है। कहानी की आंतरिक संरचना और बनावट में दस-पंद्रह वर्षों के भीतर ही इतनी तेज़ी से परिवर्तन की प्रक्रिया घटित हुई कि पिछली प्रवृत्तियों की रुझानें और अंदरूनी मुहावरेबाज़ी बेअसर दृष्टिगत होने लगी। राजनीतिक, सामाजिक रूपांतरण की प्रक्रिया ने भटकाव में एक नयी पीढ़ी को जवान किया। इसी जवान पीढ़ी ने सृजनात्मक क्षेत्र में उस मानसिकता को जन्म दिया, जो पिछली पीढ़ी की मानसिकता से मूल्यों और विचारों में एकदम भिन्न हैं। इन नये कहानीकारों की चेतना उन रचनाकार समूहों से एकदम भिन्न हैं, जो अब तक लिखते आ रहे थे। यही कारण है कि आठवें दशक के कहानीकारों ने जीवन के विविध, अंतरंग और तनावपूर्ण छवियों के जो चित्र 'यथार्थ' रूप में अंकित किये हैं। वे पहले वाले 'यथार्थ' का पर्याय नहीं कहे जा सकते। इन नये कहानीकारों ने अनुभव किया कि जीवन से, परिवेश से अपनी निजता जोड़े रहना सरल नहीं है। इसलिए नयी पीढ़ी के कथाकारों ने परंपरा को नये बोध से समझा, ऊपर से छीला और साफ़ किया तथा उसे अपनी रचनात्मक ज़रूरतों के अनुकूल ढाल कर ग्रहण किया। उसमें नये मानव-संघर्षों की नयी तड़प और सूझ पैदा की। परिणामत: इन कहानीकारों में कई तरह की स्थितियों के प्रति आक्रोश है, खीझ है, चीख़ है, प्रश्नाकुलता है, आत्ममंथन है, आत्मालोचन है, आत्मसाक्षात्कार का निर्भय भाव है और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जीवन को विद्रूपताओं, विसंगतियों, संत्रासों, यंत्रणाओं में भी डट कर जी पाने की साहसिकता का भाव है। पिछली पीढ़ी की तरह यह तकलीफों से भागते नहीं हैं, उन्हें काबू में ला कर भोगते हैं। अब इस कहानी का स्वर अस्तित्ववादी न रह कर मानववादी हो गया है।

कहानी में सन् 50 के बाद 'नयी कविता' की भांति चलने वाले 'नयी कहानी', 'सचेतन कहानी', 'अकहानी' आदि के आंदोलन दीर्घजीवी नहीं हुए। इनका प्रयोगधर्मी मुहावरा बड़ी जल्दी अपनी चमक और खनक खो बैठा। कारण, किसी बड़े जीवनबोध और सामाजिक दायित्वबोध के 'विज़न' की कमी में उनका जल्दी चुक जाना स्वाभाविक ही था। फिर इन आंदोलनों में तात्कालिक साहसिकता उखाड़-पछाड़ कर जमने की मानसिकता के साथ सच्ची सृजनात्मकता के कथा-बीज बोने का किसान-श्रम बहुत कम था। इस कमी ने इस कहानी को या नयी कहानी को अनुभव की हंडिया में धीरे-धीरे पकने नहीं दिया। 'नयी कहानी' आंदोलन की कहानियों पर कुछ अपवादों को छोड़ कर रचनाकार का व्यक्तित्व इतना अधिक छाया रहा कि उनकी फ़सल में कीड़े लग गये। इस दौर का कहानीकार यह बुनियादी बात भूल गया है कि खुली हवा, धूप, चांदनी में ही अच्छी फ़सल और अच्छी रचना सही प्रकार से उगती, पनपती, फैलती और पकती है। इस दृष्टि से सन् 70 के बाद के रचनाकारों ने पिछले रचनाकारों से सबक लिया और वे रचनाधर्मिता में अपने हल-बैलों से रतीली ज़मीन तोड़ने लगे। कहानी का जो पाश्चात्य सांचा और ढांचा 'नयी कहानी' के कहानीकारों ने ग्रहण किया था, उसे व्यर्थ और नक़लची मान कर तोड़ डाला। इस जर्जरित शिवधनुष के टूटने पर साहित्य के परशुरामों ने भारी कुहराम मचाया पर इनकी चली नहीं और कहानी की पुरानी सैद्धांतिकता को पछाड़ कर नयी राम-चेतना अपनी सृजनात्मकता के भरोसे डटी रही और स्थितियों पर विजय पायी। इस संघर्ष के बाद कहानी जीवन की जटिलताओं, क्रूरताओं, यातनाओं, समस्याओं, स्थितियों, चुनौतियों के सामने खुले कथ्य और सहज रूप में परिवेशगत गहन यथार्थ से साक्षात्कार कराती हुई सामने आयी।

रचनात्मक तनावों का यह दौर 'समानांतर कहानी', 'जन-कहानी', 'जनवादी कहानी', 'चोटधर्मी कहानी' में परस्पर टकराव से भरा रहा। अंत में 'समानांतर कहानी' के प्रवक्ता और रचनाकार कमलेश्वर ने अपना ज्ञान-कमंडल हार मान कर फेंक दिया। मुद्राराक्षस ने उखड़ते समानांतर कहानी के नंबरदारों को यह कह कर थोड़े समय तक धीरज बंधाया कि "नयी पीढ़ी की एक प्रवृत्ति समाज-विरोध और फासिज़्म की ओर झुकती है तो दूसरी प्रतिक्रांति के बीज पाल रही है।" इसलिए नयी पीढ़ी का ग़ुस्सा इन्हें कोई गंभीर विचारबोध से उपजा ग़ुस्सा नहीं प्रतीत हुआ। युवा पीढ़ी के क्रोध को यह कह कर झुठलाना चाहा कि "यह ग़ुस्सा कैशोर्य की मुख्य प्रवृत्ति होती है।" इस प्रकार कमलेश्वर और उनके साथियों से नयी पीढ़ी का ज़ोरदार संघर्ष चल पड़ा। वास्तव में, यह स्थापित पीढ़ी के साथ नयी सृजनात्मक युवा पीढ़ी का संघर्ष था, जिसमें अखाड़े में उतर कर नयी पीढ़ी ने बीड़ा दबा कर अपना लंगोट घुमाया। देखते-ही-देखते पुराने पके पत्ते झड़ने लगे, क्योंकि अपनी ताक़त से संसार में आने के लिए बेचैन नयी पत्तियां उन्हें पीछे से धकेल रही थीं। ध्यान देने की बात है कि वनस्पति-जगत की भांति यह क्रम साहित्य में भी लगातार चलता रहता है। बासी पत्ते-फूल न प्रकृति को पसंद हैं और साहित्य-देवता को। दोनों ही परिवर्तन और नवीनता को पा कर ही प्रसन्न रहते हैं।

इस दौर का नया कहानीकार 'देश' और 'काल' में फैलने के साथ 'गहराई' में उतर पड़ा। उसने अपनी जटाओं में नयी गंगा उतारने का शिव-साहस जुटाया। दिन-प्रतिदिन के अनुभव उसकी रचनात्मकता में इतने जीवंत और अर्थवान हो उठे कि ज्वलंत प्रश्नों और समस्याओं ने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बेचैनी के साथ उसके खुला रक्त को खौला दिया। इसी भीतरी तड़फड़ाहट, आक्रोश, छटपटाहट और आग ने आठवें दशक के रचनाकार को मात्र माध्यम बना कर दम लिया। नया कहानीकार अनुभवों को शब्दों के हजार-हजार प्रतीकों, मिथकों, बिंबों, अभिप्रायों और ध्वन्यर्थों में सहेज कर प्रस्तुत कर उठा। सीधी भाषा में उसने व्यंग्य-वक्रोक्ति के पैने दांत पैदा किये और उसे संवेदना की नोक से नाथ कर काबू में किया। जुआ तुड़ा कर भागते शब्दों का जो दौर नयी कहानी-आंदोलन में बल पकड़ रहा था, यहां समाप्त हो गया। अब भाषा पर सृजनात्मकता की दुहरी-तिहरी पर्त चढ़ गयी। अपने युग और अहम् के विसर्जन का, व्यक्तित्वबोध का जो रचनात्मक दंभ जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी, मोहन राकेश, कमलेश्वर आदि को कुंडली मारे सांप की तरह तोड़ रहा था, वह यहां शेखर जोशी, ज्ञानरंजन, भीष्म साहनी, विष्णु प्रभाकर, यादवेन्द्र शर्मा, 'चंद्र', राकेश वत्स, सुरेश सेठ, उदयप्रकाश, प्रयाग शुक्ल, राजी सेठ, मंजुल भगत, राजेश जोशी, दिनेश पालीवाल, मिथिलेश्वर, ब्रजेश्वर मदान, योगेश गुप्त आदि की कहानियों में एकदम ग़ायब हो गया।

इन युवा कहानीकारों और इनका साथ देते विष्णु प्रभाकर जैसे कथाकारों को यह भ्रम नहीं रहा कि सामाजिक शोषण, हिंसा, अन्याय, दहेज आदि पर कहानी लिखने मात्र से रचनाकार का सामाजिक दायित्व पूरा हो जाता है। उसने पहचान लिया कि यह एक घटिया नुस्ख़ा और टूटा घाट है। उसने ईमानदारी से यह सच भी महसूस किया है कि नागरिक दायित्व, सामाजिक दायित्व और रचना के दायित्व में ऊपर से भिन्नता दृष्टिगत होने पर भी कोई बुनियादी फ़र्क़ नहीं है। रचनाकार ऊपर से नहीं उतरा है। वह अन्य नागरिकों की भांति ही पत्नी से गाली खाता, परिवार के लिए नमक-तेल जुटाता, बस के पीछे भागता, भीगी पलकों से व्यवस्था के नरक को हेरता-जीता, नौकरों के लिए दफ्तरों की सीढ़ियां घिसता प्राणी है। वह न तो मानव-आत्मा का डॉक्टर है, न इंजीनियर है। हां, समाज को जगाने वाला, राह दिखाने वाला अवश्य है। आज के रचनाकार ने महसूस किया है कि पूरा विश्व एक वैचारिक-बौद्धिक संक्रांति से गुज़र रहा है। सिद्धांतों, मूल्यों, मान्यताओं की इतनी भारी टूट-फूट और सांस्कृतिक विघटन की हालत इतनी हाय-हत्या और हाहाकार के साथ शायद कभी नहीं आयी। पश्चिमी समाज की टेक्नालॉजी और विज्ञान ने अपने प्रभाव से विश्वभर की मूल मूल्यदृष्टि में शंका पैदा कर दी है। विज्ञान ने मानव को शक्ति दी, पर विनाश का एक रास्ता भी खोल दिया। बुद्धिजीवी असहाय, लाचार और बौना हो गया। तीसरी दुनिया के देश थरथराहट में हांफ उठ रहे हैं, इस दृष्टि से ज्ञान का नया समाजशास्त्र विकसित हुआ है। जिसमें न अब फ्रॉयड महत्त्वपूर्ण है न किर्केगार्द। जीवन की भांति साहित्य निरंतर बदलता, विकसित होता रहता है। जिसे चेतना नियंत्रित नहीं करती, परिस्थितियां निर्धारित करती हैं।

आठवें दशक की कहानियों का ढांचा पश्चिमी कहानियों की अनुकृति और प्रतिकृति नहीं है। कहानी का एक भारतीय सांचा उभर कर सामने आया है, जिसमें तीनों काल एक साथ प्रवाहित रहते हैं। जिसमें न अतीत मरता है और न भविष्य फूटता है अपितु केवल वर्तमान अपनी वर्तमानता, निरंतरता, विकासमयता के साथ मानव को मथता-उद्वेलित करता चलता है। काल का जो कृत्रिम विभाजन पश्चिम में हुआ और जिस पर अस्तित्ववादी दर्शन ने अपनी ज़ोरदार मुहर लगायी। उसका आदर भारतीय जीवन में कभी नहीं रहा। यही कारण है कि अनास्था व संत्रास, यंत्रणा, अकेलेपन, विवशता की बात करने पर भी सातवें-आठवें दशक की कहानियां आस्था बटोरते आदमी की कहानियां हैं। इस काल-धारा में कहानी ने फैलाव में नहीं, ज़मीन में धंस कर गहरायी पैदा की है। नया कहानीकार भारतीय अस्मिता को तलाशने और रचने में संकल्पबद्ध हो कर निकल पड़ा है। उसके लिए अपने समय और समाज की स्थितियों के यथार्थ की पहचान विशेष महत्त्व रखती है

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और यह पहचान उसे स्थिति के मूल स्रोत तक पहुंचाने में मदद करती है। 'नयी कहानी' वस्तु के प्रति पीड़ा व करुणा उभारने वाला एक रोमैंटिक रवैया अपनाती थी। स्वयं कमलेश्वर ने 'नीली झील' में करुणा का आदर्शीकरण किया। हालांकि बाद में कमलेश्वर, मोहन राकेश और निर्मल वर्मा ने अनुभव के अर्थों तक जाने की जहमत झेली है, पर वे नये-पुराने मूल्यों के द्वंद्व और टकराहट से उत्पन्न संवेदनाघातों में ही घूमते रह जाते हैं। इन कहानीकारों की 'नयी कहानी' का अनुभव-संसार घूम फिर कर अस्तित्ववादी ही है। मार्कंडेय, कामतानाथ, काशीनाथ सिंह, शिवप्रसाद सिंह जैसे कहानीकार समाजशास्त्रीय चिंतन की छाप छोड़ते हैं। किंतु इस तरह के न तो इस दौर के बहुत कहानीकार हैं, न बहुत कहानियां। ज़्यादातर कहानीकार निराश, पस्त और दिमाग़ी अंधेरे में गर्क हैं। अजीब बात है कि मुक्तिबोध जो अपनी कविताओं में एक व्यापक सांस्कृतिक व सामाजिक अनुभव के ऐतिहासिक बोध को धाकड़ कला की शांति से पकड़ने रचने में सफल रहते हैं, वे ही अपनी कहानियों में सामाजिक अनुभव का कोई बड़ा अर्थबिंब नहीं बना पाते। 'क्लाड ईथरली' और 'विपात्र' जैसी कहानियां मानव-अस्तित्व के संकट से आगे नहीं बढ़ पातीं।

'नयी कहानी' से आगे के समसामयिक कहानीकार जीवन के नये संदर्भों-संबंधों के बदलाव को वर्णनात्मकता के झाड़ू से बटोर कर नहीं दिखलाता, बल्कि संबंधों को प्रतीकों-बिंबों में सतर्कता से परिभाषित करता है। गोविंद मिश्र 'गिद्ध' कहानी में दफ्तरों के भ्रष्ट अधिकारियों की देहगाथा एक बिंब में कह देते हैं। इसराइल 'अर्थहीन' शीर्षक कहानी में शिक्षित युवक की शिक्षा और योग्यता का एक दारुण बिंब पैदा करते हैं, जो पढ़-लिख कर किसी मतलब का नहीं रहा। उसे हमेशा लगता रहा है कि एक 'भयावह डरावना ख़ालीपन उसको निगल जायेगा।' पूरी व्यवस्था की विसंगतियों पर कहानी घूंसा मार कर जगा देती है। महानगरों ने इच्छा जगा कर आदमी को कैसे तोड़ा है, यह इधर की तमाम कहानियों में एक साथ दिखायी देता है। योगेश गुप्त की कहानी 'एन्क्लोजर' यंत्रदानव की व्यथा का दारुण इतिहास है। मशीनमैन घनश्याम, 'उसका दम घुटने लगा। सामने आसमानों को छूती एक कतार। पीछे आसमान को छूती हुई इमारतों की कतार। बाहर निकलने का रास्ता नहीं है।' ऐसे ही वेद राही की कहानी 'हर रोज़' महानगर के अभिशाप का नमूना है। असगर वजाहत 'केक', अमितेश्वर 'हुक्कापानी', उदयप्रकाश 'टेपचू', बलराम 'पालनहारे', धीरेन्द्र अस्थाना 'अपनी दुनिया', राजकुमार गौतम 'रिश्ते', नरेन्द्र मौर्य 'बिखरते-बिखरते संदर्भ', रमेश उपाध्याय 'आत्मसमर्पण', श्रीकांत वर्मा 'टुकड़ों में बंटी ज़िंदगी' व 'ठंड', दिनेश पालीवाल 'तोता चश्म', 'स्वीकारोक्ति', अमितेश्वर 'तीलियां' आदि कहानियों में समकालीन यथार्थ के विभिन्न रूपों को उघाड़ते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यथार्थ यहां रचना का फार्मूला नहीं है बल्कि वह एक जटिल और संश्लिष्ट प्रक्रिया का अंग है। ये कहानियां यथार्थ का अतिक्रमण करती हैं और विसंगति-विद्रूपता को फैला कर रचती हैं। समाज की संघर्षशील और विद्रोही मानसिकता के विविध प्रतीक पत्तों में नसों की तरह नत्थी हैं। इसका कारण यह है कि इनमें उन ऐतिहासिक परिस्थितियों का दबाव है, जिन्हें रचे बिना कहानीकार भरोसे का नहीं बन पाता। फिर, यहां पिछली कहानियों की 'काव्यामकता' को ठेल कर वैचारिक गद्यात्मकता ने केंद्रीय स्थिति बना ली है। अब कहानीकार भाषा में 'लिखता' नहीं है, अपितु भाषा में बोलता है। हर हरकत भाषा की सतह पर नहीं होती, भाषा के भीतर से फूटती है। ऐसी स्थिति में अद्यतन कहानी कथ्य और रूप की अन्विति में बौद्धिक और भावनात्मक शोषण के खिलाफ सृजनात्मक गद्य में सबसे तेज़ कार्रवाई है। 'परिंदे' की काव्यात्मकता जहां संश्लेषणात्मक चरमता में वैचारिकता को घुला कर भावुकता में बदल देती थी—वहीं 'टेपचू' कहानी ठोस गद्य की संगठित अनुशासन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

क्षमता से, संश्लेषणात्मक चरमता से वैचारिकता को ठोस हीरे के क्रिस्टल में बदल देती है। विचार आलोचनात्मक विवेक चेतना से आगे बढ़ कर उसे उसकी मूल जड़ से ही गह लेता है। पाठक को स्थिति की बोधमयता के साथ विचार के वेग को संभाल कर चलना पड़ता है। संपूर्ण मोहभंग के बीच यह मानवीय अनुभव की ऐसी पकड़ है, जहां कोरी वैयक्तिक भावना और आदर्शीकरण की कोई गुंजाइश नहीं बचाती। कहानी के कथ्य का पूरा 'परिवेश' नाटकीयता में सक्रिय रहता है और अनेक दृश्य मिल कर एक मुकम्मल दृश्यबोध देते हैं। आज की कहानी का पूरा अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और मनोविश्लेषणशास्त्र मानवमुक्ति के रास्ते खोज रहा है। कहानी आभिजात्य को तोड़ कर लोकतत्त्व को स्थापित कर रही है। इसीलिए इसमें लोकतत्त्व और लोक-माध्यम खास ढंग से सर्जनात्मक उत्साह का रक्षक बना है।

आठवें दशक की कहानियों ने संवाद-तत्त्व में नाटकीयता, प्रतीकात्मकता और रूप की स्वच्छता उत्पन्न की, जिससे इनका 'कथ्य' काफ़ी दिलचस्प हो उठा। संवादों में परिवेश की व्यंजकता ने ध्वनि और भंगिमाओं का खुला विकास किया। मंजुल भगत ने 'सफ़ेद कौआ' में एक ढंग से प्रतीक साध कर व्यंग्य किया तो 'मृत्यु की ओर' में मरणासन्न व्यक्ति में मां और पत्नी के अवचेतन का खुलासा किया। रमेश बतरा ने 'थप्पड़' कहानी में शिक्षित मध्यवर्ग के आदमी की क़ायरता को तथा रिक्शा वाले व्यक्ति की निर्भयता और तड़प को व्यक्त किया तो 'लड़ाई' कहानी में प्राचीन कोरस के शिल्प का अच्छा उपयोग किया। मृदुला गर्ग ने 'दुनिया का क़ायदा' में पैसे के सामने मानवीयता की हत्या दिखायी तो सुरेन्द्र तिवारी ने 'वार्ड नंबर टू' में सरकारी अस्पतालों का कच्चा चिट्ठा खोल दिया। इस ढंग की कहानियों की संरचना अपनी बुनावट में काफ़ी नयी है। कहानीकार मार्क्सवादी रुझान के हों या ग़ैर-मार्क्सवादी प्रतिबद्धता के हों—सभी में किसान-कामगार के साथ एकाकार करने वाली संवेदना मौजूद है। यह संवेदना मधुकर सिंह की कहानी 'लहू पुकारे आदमी', धीरेन्द्र अस्थाना की 'सूरज लापता है' जैसी कहानियों में बड़ी शक्ति से उभरती है। इस संवेदना को गहरे यथार्थ की पकड़ देने के लिए रमेश उपाध्याय जैसी लंबी कहानियों के कहानीकार ने 'नदी के साथ एक रात' में प्रतीकात्मकता को फंतासी में उतार दिया है। यह बात साफ़ है कि दस-पंद्रह वर्षों से हिंदी के कहानीकार ने रूपवाद, संरचनावाद, भाववाद, कलावाद, अध्यात्मवाद जैसे वाहियात तत्त्वों से जम कर संघर्ष किया है और इन बुराइयों से कहानी को बचाने में उसकी अंतर्दृष्टि अधिक प्रदीप्त रही है।

रोज़-रोज़ बढ़ती महंगाई और आर्थिक तंगी ने आदमी को इस तरह पीस डाला है कि वह अनिश्चितता से हांफ उठा है। एक भीतरी संदर्भ में इधर के दो दशकों की कहानियां मामूली आदमी की लड़ाई और व्यथा का इतिहास उजागर करती हैं। इस मामूली आदमी का चेहरा टुच्ची और मानवद्रोही राजनीति ने विकृत कर दिया है। स्थितियों ने इस आदमी के पांवों को लहूलुहान कर डाला है, महानगरों की भीड़ ने जिसे धकेल कर सताया है और पूंजीवादी उपभोक्तावादी संस्कृति ने जिसका शिकार किया है। श्रवणकुमार की 'भीतर का आदमी', अजित पुश्कल की 'प्रतिरोध', कृष्णा अग्निहोत्री की 'एक और अश्वत्थामा', ओम गोस्वामी की 'दर्द की मछली' सुधा अरोड़ा की 'दमनचक्र', सुनील कौशिक की 'अस्पताल' आदि ऐसी ही महत्त्वपूर्ण कहानियां हैं। इन कहानियों में सेठ, साहूकार, ठेकेदार, पुलिस, डॉक्टर, मास्टर, वकील, प्रकाशक आदि का यथार्थ चित्रण है जो हमारी सामाजिक समझ को गहराता है। घिसता-टूटता आदमी यादवेन्द्र शर्मा 'चंद्र' की 'स्वयं को निगलते हुए', विनोद भारद्वाज की 'मेरी उम्र बीस साल है', मधुकर सिंह की 'कीर्त्तन', मधुसूदन आनंद की 'ककरौंदे का पेड़', सुभाष पंत की 'तपती हुई ज़मीन', धर्मेंद्र गुप्त

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की 'अपंग संज्ञा', ज्ञानरंजन की 'संबंध', 'पिता', 'शेष होते हुए', दिनेश पालीवाल की 'गिरता जटायु', मन्नू भंडारी की 'अलगाव' आदि कहानियों में देखते ही मन निचुड़ने लगता है। पर यह देख कर अच्छा लगता है कि इन दशकों का कहानीकार आत्मकेंद्रित लेखन से बाहर आना चाहता है और बृहत्तर सामाजिकता का अंग बन कर दुःख में पराजित होना नहीं जानता। इस कहानी में विचारधारा के स्तर पर पराजयबोध, अपराधबोध नहीं है।

ठीक से देखा जाये तो आठवें दशक की कहानियों ने यह मिथ खंडित कर दिया है कि सार्थक और प्रयोगधर्मी नवीनता की कलात्मक उपलब्धि के लिए इस या उस विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता अनिवार्य होती है, क्योंकि विचारधारा का उलथा सृजनात्मकता नहीं है। सृजनात्मकता को विचारधारा दृष्टि दे सकती है, पर सभी लेखकों को दिशा-दृष्टि दे सके, यह आवश्यक नहीं है। फिर समय से घिस कर हर विचारधारा सृजनात्मकता में अपने खाने स्वयं बना लेती है और उसका ज़रूरत से ज़्यादा कसाव-बढ़ाव रचनात्मकता की शक्ति को वैसे ही नष्ट कर देता है, जैसे ज़रूरत से ज़्यादा खाद-पानी पौधे को जला-सड़ा देता है। रचनात्मकता विचार और संवेदना के संतुलन से निखरती है। यह ठीक से जाने-पहचाने बिना रचनाकार की गति न थी, न हो सकती है। रचनाकार आपत् स्थिति की क्रूरताओं पर कहानी लिखे या सांस्कृतिक-नैतिक मूल्यों के अवमूल्यन पर या किसी अन्य समकालीन जीवन के पहलू पर, यदि वह मसीहा की दृष्टि अपनायेगा तो नष्ट हो जायेगा। कारण, रचना सामाजिक-राजनीतिक विचारधारा से नहीं बनती। वह तो रचनाकार की सांस्कृतिक-नैतिक भट्ठी में तप कर, निचुड़ कर नये रूप में 'निर्मित' होती है। केवल यथार्थ को पहचानना ही काफ़ी नहीं है बल्कि उस यथार्थ को 'रचने' की कला भी आनी चाहिए। रचने की इसी कला में हमारा सामूहिक और वैयक्तिक मन खुलता है। इसी अर्थ में कला-सृजनप्रक्रिया इतिहासबोध का अनिवार्य अंग होती है। यही भेदबुद्धि नष्ट कर अभेद और शिवत्व की ओर अनंत कला-यात्रा है। इस दृष्टि से 'कहानी' को 'जनवादी कहानी', 'सक्रिय कहानी' आदि नाम देना सही नहीं है। यह नाम और आंदोलन चौंका सकते हैं, प्रचारवादी जुमले फैला सकते हैं पर 'कहानी' को 'कहानी' बनाने वाली 'निर्मिति' कुछ और ही होती है। रचना केवल अर्थ नहीं है, रचनात्मक अर्थ है, यह बात इधर के अधिकांश कहानीकारों ने भुला दी है। परिणाम यह है कि सैकड़ों की संख्या में कहानियां छपने पर भी वैसी अविस्मरणीय कहानियां नहीं लिखी जा रही हैं, जैसी 'उसने कहा था', 'कफ़न', 'गदल' या 'ज़िंदगी और जोंक' कहानियां थीं। दरअसल, समसामयिक कहानीकार के पास बड़ा 'विज़न' नहीं है, वह अपने सीमित परिवेश के भीतर ही रचना को घुमाता-फिराता रहता है। यथार्थ-शिल्प के चक्कर में 'कला की तमीज़' सीखना नहीं चाहता। परिणामतः उसकी रचनाएं प्रभावान्विति के स्तर पर निराश कर देती हैं।

नयी कहानी का व्यक्तिवादी-पीड़ावादी रुझान सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष के आड़े आता था, और मज़ेदार बात यह है कि बदलते परिवेश में यह संघर्ष और तेज़ हो रहा था। राजनीतिक दलों के कार्यक्रमों की लाभभरी अवसरवादिता, मक्कारी, धोखेबाज़ी और फार्मूलाबद्ध तैयारी में सिद्धांतहीनता एवं सरलीकरण साफ़ दिखायी देता था। इन सभी पार्टियों का एकसूत्री कार्यक्रम रहा—सत्ता को हथियाना। इन्हें जनसेवा और त्याग-सुरक्षा से कोई सरोकार नहीं रहा। इन्हीं ने अपने राजनीतिक स्वार्थों को पूरा करने के लिए जातिवाद, सांप्रदायिकता, क्षेत्रीयता, कुलीनता, धर्म, संघ, संप्रदाय, सभा, लीग आदि को इधर फिर से जीवित किया। गांधी व लोहिया के साथ यह सबसे बड़ा दगा था और हमारे नये राजनीतिक चरित्र का सबसे बड़ा दोगलापन। इस स्थिति को

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ठीक से पहचान कर इधर के कहानीकारों में गोविंद मिश्र, सुरेश सेठ, ज्ञानरंजन, रवींद्र कालिया, राजेन्द्र यादव, जितेन्द्र भाटिया, मृणाल पांडे, राजी सेठ, जगदीश चतुर्वेदी, यादवेन्द्र शर्मा 'चंद्र', रमेशचंद्र शाह, अब्दुल बिस्मिल्लाह, प्रियवंदा, नर्मदेश्वर, विभांशु दिव्याल, नरेन्द्र मौर्य, बलराम, राजकुमार गौतम, ब्रजेश्वर मदान, पुन्नीसिंह, अनीता मनोचा आदि ने राजनीतक चरित्र के दोगलेपन को दिखाने वाली कहानियां लिखी हैं। 'शोक', 'लुटेरे', 'संवाद', 'जूतों का आत्मसमर्पण', 'थप्पड़', 'सफ़ेद कौआ' आदि कहानियों में उसने अभिव्यक्ति की क्षमता को पिछली कहानियों की तुलना में काफ़ी आगे बढ़ाया है। अपनी बात को कहने के लिए वह फंतासी से आगे बढ़ कर 'आयरनी', 'विट', 'सेटायर' की शक्तियों का पुनरांविष्कार करता है। कभी-कभी तो नयी अर्थ-ध्वनियों से धुन कर परिवेश को निढाल कर देता है और अपने पाठक को भी। इस कला का नतीजा यह है कि कहानियों को पहले जैसी कोरी कथात्मकता, वर्णनात्मकता, गतिहीन प्रतीकात्मकता, अतिनाटकीयता, अतियांत्रिकता और सरलीकरण से मुक्ति मिली है। परिवेश की कुरूपता और जटिलता को वह भाषा की उछल-कूद से नहीं तराशता बल्कि एक सहज आत्मीय पहचान और इतमीनान से परोसता है। कहानियां जीवन के अंतर्विरोधों, तनावों, विरोधाभासों को आमंत्रित करती हैं और इन विरोधाभासों का कला-स्पर्श-विलयन करके सृजन-शक्ति निष्पन्न करती हैं। यहां रचनाप्रक्रिया की आंच में विरोधाभास गल कर ढलते हैं। इस प्रकार सृजन और संप्रेषण का एक खुला रिश्ता बनता है। कहानी अब सृजन के वज्रहार पर सिर पटक कर नहीं रह जाती अपितु भीतर जा कर भीतर से पुकारती है। मृदुला गर्ग की 'उसका विद्रोह', सिम्मी हर्षिता की 'उसका मन', विष्णु प्रभाकर की 'पुल टूटने से पहले', मणिका मोहनी की 'हम बुरे नहीं थे', अभिमन्यु अनत की 'त्रिकोण', यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' की 'महापुरुष', राजी सेठ की 'तीसरी हथेली', राजेन्द्र अवस्थी की 'बंगला नंबर दस', इब्राहीम शरीफ की 'पूर्वाभास', 'दिग्भ्रमित', काशीनाथ सिंह की 'सूचना', सतीश जमाली की 'चुनौती' आदि इस दौर की ऐसी ही कहानियां हैं। इनमें 'देश' और 'काल' इस ढंग से मौजूद है कि वह ग़ायब नहीं होता बल्कि आंखों के सामने तन कर डटा रहता है। कहानी की यही समकालीनता एक जीवित वास्तविकता का लगाव है। यहां फैंटेसी और यथार्थ की दांतकाटी रोटी ने 'जीवन-वास्तव' को 'ज्ञानात्मक संवेदना' से पुनर्सृजित किया है।

भीतर-बाहर से टटोलने पर पता चल जाता है कि छठे-सातवें दशक का कहानीकार मोहभंग से उत्पन्न समस्याओं के नीचे दबा कहानीकार है। किंतु आठवें दशक का कहानीकार समस्याओं से टकराता है पर इनमें आदमी पीड़ित है, वह खंडित नहीं है। समस्याएं कितनी ही बड़ी, भयप्रद, जटिल, तनावपूर्ण क्यों न हों, वे उसे जीवन से बड़ी नहीं लगती हैं। वह समस्याओं को दिमाग में रमाये, कंधों पर बैठाये चला जा रहा है। व्यक्तिगत विकलता और निराशा की समस्याएं उसे छू कर निकल जाती हैं लेकिन उसका कुछ बिगाड़ नहीं पातीं। यहां चाहे ज्ञानरंजन की भारी अनुभव की कहानियां हों या असगर वजाहत की युवा मन की छटपटाहट हो, इनकी 'टोन' सहज संवाद से मुखर है। बिना किसी अतिरिक्त विचारक के वह अनुभवों को नये चित्रों में बांध कर अर्थांतरित करता है। सौंदर्यानुभूति एवं जीवनानुभूति की अंतरंगता से संवेदनाघात सीधे और नुकीले हैं। पुराना कहानीकार प्रसाद या गुलेरी बन कर एक 'आवेग' में कथा को झोंक देता था, किंतु आज का कहानीकार ऐसा कभी नहीं करता। यह नहीं कि वह ज़िंदादिली से शून्य है या उसकी संवेदना को लकवा मार गया है। वह आदर्श नैतिक मूल्यों के प्रति अनभिज्ञ नहीं है, बल्कि वह बौद्धिक अनुशासन से जीवन की जटिलता को रेशे-रेशे उधेड़ता-जानता रचनाकार है। यह ठीक है कि शब्दों में जटिल अनुभव अनुभूतियों को निचोड़ लाने वाले रचनाकार हर युग में बहुत कम होते हैं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और यह हालत इधर भी है। फिर 'आंतरिक समस्यात्मकता', 'जीवन विधि' में पहले से भारी बदलाव आया है। समसामयिक चिंतनधाराओं और इतिहास की नयी हलचलों ने अपनी रगड़ से जितना इधर के रचनाकार को बौखलाया है, उतना पहले कभी नहीं। परिवेश, परंपरा, जातीय इतिहास, प्रेम, गांव, पिता, घर, संस्कार, सपने, वर्गीय चारित्रिक मनःस्थितियां सब मिल कर रचनाकार को रौंदती दिखायी देती हैं तथा उसकी सज्जनता और मानवीयता उसे और उसके समाज को डबडबायी आंखों से घूर रही है। वह जानता है कि समाज के लिए कोई 'दधीचि' नहीं है, जिससे राक्षसों का संहार किया जा सके।

आज का कहानीकार कहानी में अपने 'परिवेश' को ही रच कर ख़ुश है। वह उन मिथकों को छूता तक नहीं है, जिनसे ज़िंदगी के बृहत्तर अर्थ-संदर्भों को उजागर किया जा सकता है। श्रम का परायापन, अवमानविकरण, आत्मनिर्वासन उसे अभी भी कसे है। इसलिए इन कहानियों का प्रमुख कमज़ोर पहलू यह है कि ये सतह पर बड़बड़ाते आदमी की नियति-भर है। ये जीभ लपाते सांपों को तो देखते हैं पर उन मगरमच्छों-घड़ियालों को नहीं देख पाते हैं, जो सब-कुछ निगल कर भी विहार कर रहे हैं। आज की पूंजीवादी व्यवस्था के नियामक यही घड़ियाल हैं, जिनको पहचानना होगा। यही सरकारें बनाते-गिराते हैं और यही सामाजिक-राजनीतिक नरक के ज़िम्मेदार हैं। सोचने की बात है कि क्यों 'कफ़न' और 'पूस की रात' जैसी कहानियां नहीं लिखी जा सकीं? क्यों हम प्रेमचंद की परंपरा को सही दिशा में विकसित नहीं कर पाये? क्यों प्रेमचंद जैसा पायेदार कहानीकार इस काल में नहीं आ सका? क्यों एक पूरी की पूरी पीढ़ी सांस्कृतिकीकरण-राजनीतिकीकरण, पश्चिमीकरण की अराजकतावादी स्थितियों में क़ैद हो गयी? इसका एक कारण तो यही है कि राजा राममोहन राय और विवेकानंद के चिंतन में भारतीय इतिहास की वे आंतरिक जड़ें नहीं थीं, जो विचार को काफ़ी समय तक हरा-भरा बना पातीं। चिंतात्मक इतिहास से धोखा खायी पीढ़ी गांधी में भी नयी शक्ति नहीं पा सकी। वह विवश हो कर गांव की जन-व्याकुलता, शहरीकरण की पीड़ा, दफ्तरी जीवन की कालौंच और भटकती प्रेमिकाओं पर कहानी लिखने को आमादा होती गयी। एक लक्ष्यहीन देश की एक लक्ष्यहीन पीढ़ी यही कर भी सकती थी। हिंदुस्तान के झंडे पर पड़ने वाले गाय के गोबर से गुबरैले ही पैदा हो सकते थे, आज वे ही पनप कर देशभर में फैल गये हैं। काली चट्टानों पर बैठा तेंदुआ बड़े सुरक्षित भाव से अपना शिकार पाता रहा है और पा रहा है।

अकसर ध्यान इस बात पर भी जाता है कि इस पूरे दौर में एक भी ऐसा कहानीकार क्यों नहीं उभरा, जो परिवर्तनशील सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनीतिक-आर्थिक, नैतिक-धार्मिक शक्तियों की समझ का गहरा प्रमाण देता? ज़्यादातर कहानियों में व्यवस्था-विरोध का ग़ुस्सा-भर है। पर ग़ुस्से का सृजनात्मक उपयोग किसी बड़ी तैयारी का प्रमाण नहीं देता। आज भी उपभोक्तावादी संस्कृति किस तरह और किस बेशरमी से मानवतावादी मूल्यों और भारतीय संस्कारों का सिलसिलेवार ढंग से संहार कर रही है, इसकी चिंता बहुत कम कहानीकारों को है। सामाजिक-सांस्कृतिक वेदनातंत्र के साथ घनिष्ठ संबंध की जो अवधारणा प्रेमचंद, यशपाल और विष्णु प्रभाकर ने विकसित की है, उसकी डोर ही हमारे हाथ से खिसकती जा रही है। इन सब कमियों के बावजूद अच्छी बात यह है कि प्रेमचंद से अज्ञेय और अज्ञेय से ब्रजेश्वर मदान तक की कहानियों में सामाजिक सजगता, शिल्पगत परिष्कार और रूपान्वेष में अन्विति और अंतर्योजना स्थापित करने वाली जो प्रक्रिया शुरू हुई थी, वह आज भी लोकभाषा और लोकचेतना की संवेदनात्मक गतियों में विकसित होती देखी जा सकती है। पिछले दौर की कहानी में बोध, संवेदन और अभिव्यक्ति के स्तर पर जो ठहराव आ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गया था, उसे इस दौर के कहानीकारों ने निर्ममता और निर्भयता से तोड़ कर नयी गति दी है। नये लोगों में आदमी की बुनियादी हालत को बयान करने की तड़प का अहसास तो बढ़ा है, पर अप्रासंगिक सवालों में उलझे रहने का ख़तरा भी कम दृष्टिगत नहीं होता। बहुत-से कहानीकार आज भी पुराने मुद्दों को ढोये जा रहे हैं, और इधर बहुत-सा लिखने पर भी प्रासंगिक नहीं लिख पा रहे हैं। इस स्थिति के कारण युवा कहानीकारों की सृजन-संभावनाएं ही भरोसा बंधाती हैं।

## अद्यतन हिंदी-कहानी-II

(1981 से 2005 तक )

जब कहानी कही जाती थी, तब उसका मुख्य प्रयोजन मनोरंजन था, जब कहानी लिखी जाने लगी, वह श्रव्य न रह कर पाठ्य हो गयी, तब उसका मुख्य प्रयोजन आत्माभिव्यक्ति और जीवन की आलोचना हो गया। मनोरंजन उसके साथ फिर भी लगा रहा, लेकिन गौण रूप में। इसलिए आधुनिक काल में जब कहानी पाठ्य हो गयी, तो वही कहानी सार्थक और महत्त्वपूर्ण मानी गयी, जो कहानीकार की आत्माभिव्यक्ति के साथ-साथ जीवन की गंभीर आलोचना भी प्रस्तुत करती है। आधुनिक काल में आकार की लघुता और मनोरंजकता की मांग होने के कारण कहानियां लिखी तो बहुत जाती हैं, छपती भी ख़ूब हैं, लेकिन अधिक समय तक टिकती कम हैं। यही कारण है कि एक समय विशेष में कहानी लिखने वालों की संख्या बहुत होती है, लेकिन उनमें से प्रतिष्ठा बहुत कम कहानीकारों को ही मिल पाती है। कहानियों की बहुलता पहले भी थी, आज तो वह अकूत हो गयी है। प्रेमचंद ने 1932 में विष्णु प्रभाकर को लिखे एक पत्र में लिखा था : ''कार्यालय में गल्पें बहुत आती हैं, इससे कितने ही मित्रों की रचनाएं पड़ी रह जाती हैं'' (पंखहीन, दिल्ली, 2004, पृ. 145)। आज भी कहानियां छापने वाले पत्र-पत्रिका के संपादक भी यही कहेंगे। इसीलिए इस समय (1981-2005) कहानीकारों और कहानियों की हमारे सामने भीड़ है और उस भीड़ में से सार्थक और महत्त्वपूर्ण को खोजना और उसे रेखांकित करना एक समस्या तो है ही।

इस समय हिंदी में कई पीढ़ियों के कहानीकार सक्रिय हैं। इनमें से सबसे पुरानी पीढ़ी के कहानीकार वे हैं, जिन्होंने प्रेमचंद के जीवनकाल में कहानियां लिखना प्रारंभ किया था। इस पीढ़ी के प्राय: सभी कहानीकार मौन हो गये हैं। इनमें से अधिकांश ने वर्तमान कालावधि से पूर्व ही कहानियां लिखना बंद कर दिया, कुछ उपन्यास लिखने में व्यस्त हो गये, कुछ को लगा कि कहानी उनकी बात कहने के लिए अपर्याप्त है : ''मैंने यह स्वीकार कर लिया है कि कहानी लिखना मैंने छोड़ दिया है, या कि कहानी मुझसे छूट गयी है। मेरे लिए रचनाकर्म हमेशा अर्थवत्ता की खोज से जुड़ा रहा है। और यही खोज मुझे कहानी से दूर ले गयी है, क्योंकि कहानी को मैंने उसके लिए नाकाफ़ी पाया है। मैं जानता हूं कि इतने संक्षिप्त रूप से कही हुई बात नहीं भी समझी जा सकती है और ग़लत भी समझी जा सकती है'' (अज्ञेय, छोड़ा हुआ रास्ता, दिल्ली, 1975, पृ. 5,6)। इसलिए इस पीढ़ी के कहानीकारों में विष्णु प्रभाकर एक मात्र अपवाद हैं, जिन्होंने 1932 से कहानियां लिखना प्रारंभ किया और आज तक, जीवन के दसवें दशक तक में कहानियां लिख रहे हैं। इस दीर्घावधि में कहानी की गंगा में बहुत पानी बह गया है, लेकिन विष्णु प्रभाकर की कहानियों की प्रासंगिकता अक्षुण्ण बनी रही है। 'नयी कहानी' के दौर में उनकी 'धरती अब भी घूम रही है' चर्चा में इतनी छायी रही, जितनी किसी 'नये' कहानीकार की कहानी भी नहीं छायी रही होगी। वर्तमान कालावधि में उनके कई कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं : 'खिलौने' (1981), 'एक और कुंती' (1985), 'ज़िंदगी : एक रिहर्सल' (1986) आदि। इस कालावधि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में लिखी गयी उनकी कहानियां भी उतनी ही सार्थक और महत्त्वपूर्ण हैं, जितनी इससे पहले लिखी गयी कहानियां। कारण, वे समकालीन जीवन-संदर्भों से निरंतर जुड़े रहे हैं और उनकी दृष्टि एवं संवेदना में सामयिकता के साथ-साथ शाश्वतता के तत्त्व भी बराबर विद्यमान रहे हैं।

इसके बाद इस कालावधि में जिस पीढ़ी के कहानीकार सक्रिय रहे हैं, उनमें वे हैं जिन्होंने बीसवीं शती के छठे दशक में कहानियां लिखना प्रारंभ किया, जब 'नयी कहानी', 'आंचलिक कहानी', 'ग्रामकथा', 'नगर कथा' आदि विभिन्न आंदोलन चले और कहानी-लेखन और कहानी-चर्चा के क्षेत्र में बड़ी गहमागहमी रही। इस पीढ़ी के भी सभी कहानीकार कहानी-रचना में सक्रिय रहे हों, ऐसा नहीं है। कुछ ने कहानियां लिखना बिलकुल बंद कर दिया। कुछ ने अगर कुछ कहानियां लिखीं भी तो खानापूर्ति के लिए। उदाहरण के लिए 1975 और 1990 के दौरान लिखी गयी राजेंद्र यादव की कहानियों का संग्रह 1991 में 'वहां तक पहुंचने की दौड़' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इसमें सभी कहानियां नहीं हैं। अपनी साठवीं वर्षगांठ पर मित्रों के बीच आगरा में दिया गया वक्तव्य, 'सारा आकाश' में इसके 1951 में प्रकाशित 'प्रेत बोलते हैं' का छोड़ा गया अंश या इसी तरह की कुछ और चीज़ें मिला कर संग्रह तैयार किया गया है। कहानियां भी ऐसी हैं, जिन्हें सामान्य ही कहा जा सकता है। संग्रह छप इसलिए गया कि राजेंद्र यादव एक प्रतिष्ठित नाम है और बाज़ार में नाम भी चलता है, बिकता है। उसी काल में सामने आने वाले भीष्म साहनी इस कालावधि में भी बराबर कहानियां लिखते रहे और उनके कहानी-संग्रह प्रकाशित होते रहे। इस कालावधि में प्रकाशित होने वाले उनके कहानी-संग्रह हैं 'शोभायात्रा' (1981), 'निशाचर' (1983), 'पाली' (1989) और 'डायन' (1998)। वे निरंतर सार्थक और कलात्मक कहानियां इसलिए लिखते रह सके, क्योंकि उन्होंने राजेंद्र यादव की तरह यह अनुभव नहीं किया कि ''हम एक रचना-विरोधी माहौल से गुज़र रहे हैं, जिसकी जड़ें बाहर भी हैं और भीतर भी'' ('वहां तक पहुंचने की दौड़', दिल्ली, 1991, पृ. 7)। मानव-जीवन की विडंबनाओं ने उन्हें अभिव्यक्ति के लिए चुनौती दी और उनकी अक्षुण्ण सृजनशीलता ने उसे स्वीकार किया। विडंबनापूर्ण मानव-स्थितियों को व्यक्त करने के कारण उनकी परवर्ती कहानियों में हास्य-व्यंग्य का परिमाण बढ़ता गया। भीष्म साहनी ने अपने साम्यवादी आग्रह को कभी अपनी कहानियों पर हावी नहीं होने दिया, किंतु भैरवप्रसाद गुप्त की कहानियों पर वह हावी रहा। इसलिए उनकी कहानियों कृत्रिम लगती हैं। यह बात उनके इधर प्रकाशित कहानी-संग्रहों : 'मंगली की टिकुली' (1982), 'आप क्या कर रहे हैं' (1983) और 'मेरी कहानियां' (1985) की कहानियों से स्पष्ट है। अपनी जनवादी दृष्टि से निम्न मध्यवर्ग के जीवन को सहजता से चित्रित करने वाले नये कहानीकार अमरकांत की सृजनशीलता भी चुकी नहीं है, इसका प्रमाण उनके इधर प्रकाशित कहानी-संग्रहों : 'एक धनी व्यक्ति का बयान' (1997) और 'सुख और दुःख का साथ' (2002) की कहानियां हैं। वे अत्यंत सहजता और प्रभावशीलता के साथ सांप्रदायिकता, राजनीतिक दुराचार और व्यक्तिवादी आत्मकेंद्रिकता आदि का अपनी कहानियों में विरोध कर रहे हैं। वे शोषकों की अमानवीयता और टुच्चेपन का और शोषितों की करुण निरीहता का चित्रण करते हुए एक पक्षधर कहानीकार के रूप में सामने आते हैं। ऊपर से बिलकुल सीधी और सादा दिखायी देने वाली उनकी कहानियों में सूक्ष्म व्यंग्यात्मकता निहित होती है।

'नयी कहानी' के पुरोधाओं में से एक कमलेश्वर भी इस कालावधि में कहानी-रचना में बराबर सक्रिय हैं। 2002 में उनकी 1946-1997 के बीच लिखी गयी 111 कहानियों का संग्रह 'समग्र कहानियां' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। इसमें आधा दर्जन से अधिक कहानियां 1981-97

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के बीच लिखी गयी हैं। इन कहानियों के अतिरिक्त उनकी कुछ और कहानियां भी पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। साथ ही 'देस-परदेस' (2004) जैसे कहानी-संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। अगर उनकी अब तक की समग्र कहानियों को ध्यान में रखें तो कह सकते हैं कि उनकी कथायात्रा क़स्बे से महानगर तक की कथायात्रा है। स्वाभाविक ही उनकी इधर की कहानियों का संबंध दिल्ली और मुंबई तथा महानगरों के जीवन से है, और यह जीवन सीधे-सीधे या तो मध्यवर्ग का है या मध्यवर्गीय दृष्टि से देखा गया है। बदलती हुई स्थितियों ने मध्यवर्गीय जीवन को उल्लासमय नहीं बनाया है, अपितु वह तनाव, त्रास और यातना से भरा है। उनकी कहानियां स्पष्टतः बहिर्मुखी प्रवृत्ति के स्वतंत्रतचेता रचनाकार की कहानियां हैं, जिनमें प्रतिबद्ध वैचारिक कट्टरता तो नहीं है, लेकिन प्रगतिशील चेतना अवश्य है। शिल्प के स्तर पर कमलेश्वर बराबर प्रयोगशील रहे हैं, लेकिन साग्रह प्रयोगवादी नहीं। इसीलिए उनके शिल्पगत प्रयोगों ने उनकी कहानियों को ऐसी पहेली नहीं बनाया है, जिसे बूझने में एड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़े।

'नयी कहानी' आंदोलन के दौरान एक वर्ग उन कहानीकारों का सामने आया, जो पूरी तरह से शहरी थे और शायद इसीलिए आत्मकेंद्रित व्यक्तिवादी। इन कहानीकारों के शिरोमणि निर्मल वर्मा हैं। इस कालावधि में उनके 'कव्वे और काला पानी' (1983), 'सूखा तथा अन्य कहानियां' (1995) तथा 'ग्यारह लंबी कहानियां' (2000) संग्रह प्रकाशित हुए हैं। 'ग्यारह लंबी कहानियां' को उनका प्रतिनिधि कहानी-संग्रह माना जा सकता है, जिसमें पहली कहानी 'परिंदे' 1955 की है और अंतिम कहानी 'बुखार' 1994 की। 'बुखार' के अतिरिक्त इस संग्रह में इस कालावधि में लिखी गयी तीन कहानियां और हैं : 'सुबह की सैर' (1981), 'कव्वे और काला पानी' (1982) तथा 'सूखा' (1988)। उनकी चाहे छोटे आकार की कहानियां हों चाहे लंबी, उनकी एक प्रमुख विशेषता है—उनमें स्थूल घटनात्मकता की नगण्यता। इसलिए उनकी किसी भी कहानी के घटनाक्रम को दो-चार वाक्यों में प्रस्तुत किया जा सकता है। यह घटनाक्रम होता भी नितांत सामान्य है। दरअसल उनकी कहानियां निर्मित होती हैं भावात्मक-वैचारिक द्वंद्व और इंद्रियबोधों से। उनकी कहानियां व्यक्ति के अंदर झांकती हैं, उसके अंतःकरण की परतों को खोलती हैं। उनकी कहानियां जिन भावों को व्यक्त करती हैं, वे प्रायः उदासी, चिंता, अकेलेपन, ऊब, खिन्नता, निरीहता, असहायता, मृत्यु-कामना आदि के नकारात्मक भाव हैं। इसीलिए प्रगतिवादी व जनवादी लोग उनकी कहानियों को पसंद नहीं करते, यद्यपि प्रारंभ में नामवर सिंह, भैरवप्रसाद गुप्त आदि प्रगतिवादियों ने उनकी ख़ूब प्रशंसा की थी। हम उनकी कहानियों में व्यक्त निषेधात्मक मनोभावों को स्वीकार करें या न करें, लेकिन उनसे अप्रभावित रह पाना असंभव है। उनकी अभिव्यक्ति में एक लिरिकल सौंदर्य होता है और उनकी कहानियों की संरचना ऐसी है कि उनके विवेचन के लिए नये मानदंडों और प्रविधि की आवश्यकता महसूस होती है। निर्मल वर्मा की परंपरा को ही अपने ढंग से आगे बढ़ाते हैं कृष्ण बलदेव वैद। उन्होंने 1951 से कहानियां लिखना प्रारंभ किया और अब तक निरंतर कहानियां लिख रहे हैं। 1999 में, तब तक की उनकी संपूर्ण कहानियां दो खंडों : 'मेरा दुश्मन' और 'रात की सैर' में प्रकाशित हुईं, जिनमें से कई कहानियां वर्तमान कालावधि की हैं, जैसे 'पवन कुमारी का पहला सांप' (1981), 'मुरारी फूलवाला और भीमसाब' (1991), 'कबरबिज्जू' (1987), 'रीडिंग रूम' (1989), 'अमित' (1996), 'अंधेरे में उपदेश' (1997), 'हमसफ़र' (1995) इत्यादि। संपूर्ण कहानियों के अतिरिक्त इस कालावधि में उनके 'ख़ामोशी' (1986), 'आलाप' (1986), 'लीला तथा अन्य कहानियां' (1993), 'बदचलन बीवियों का द्वीप' (2002) आदि कहानी-संग्रह भी प्रकाशित

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हुए हैं। 'बदचलन बीवियों का द्वीप' में 'कथासरितसागर' की कहानियों को कृष्ण बलदेवीय मौलिकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। कृष्ण बलदेव वैद की कहानियां कथ्य और शिल्प दोनों के स्तर पर विवादास्पद रही हैं। श्रीकांत वर्मा के इस कथन में आंशिक सच्चाई अवश्य है : ''कृष्ण बलदेव वैद की कहानियों की सबसे बड़ी ख़ूबी यह है कि उनके स्त्री-पुरुष नंगे हैं...उनकी मुख्य जिज्ञासा है शरीर, जो केवल नंगे ही देखा जा सकता है।'' उनकी कहानियों में जो मनोभाव व्यक्त होते हैं, वे आत्मरति, आत्मघात, आत्मसंशय, आत्मविडंबना आदि की उपज हैं। ऐसा क्यों है? ऐसा इसलिए है कि आत्मरति के अतिरिक्त ''मैं अभिव्यक्ति को ही प्राथमिकता देता हूं, संप्रेषण को नहीं, कि मैं अभिव्यक्ति की क़ीमत पर संप्रेषण नहीं चाहता, अभिव्यक्ति की ख़ातिर अगर संप्रेषण का जोख़िम भी उठाना पड़े तो मुझे मंजूर है'' (रात की सैर, पृ. 8, भूमिका)। इसका परिणाम यह हुआ है कि शिल्प के स्तर पर उनकी कहानियों में अत्यधिक प्रयोगशीलता है, जिसने उनकी कहानियों को दुरूह बनाया है।

'नयी कहानी' के दौर में ही तीन कहानी लेखिकाएं उभर कर सामने आयीं : कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी और उषा प्रियंवदा। कृष्णा सोबती ने दूसरे महायुद्ध के दौरान कहानियां लिखना प्रारंभ किया, लेकिन उनका कहानी-संग्रह 'बादलों के घेरे' (1980) बहुत बाद में आया। इसमें उनकी चौबीस कहानियां संगृहीत हैं, जिनमें से 'नफीसा' और 'लामा' (1944) की रचनाएं हैं। इसके बाद उनकी दो कहानियों का संग्रह आया, जिसमें 'यारों के यार' और 'तिन पहाड़' संगृहीत थीं। इसके बाद उनकी दो कहानियां और प्रकाशित हुई हैं 'ऐ लड़की' (1991) और 'नामपट्टिका' (1996)। उन्होंने अपनी कहानियों में मानव-जीवन के अंतर्विरोधों और सूक्ष्म मनोभावों का चित्रण किया है लेकिन साहसिकता ('बोल्डनेस') के साथ। इसीलिए वे अपनी साहसिकता के लिए ज़्यादा चर्चित हुई हैं। 'ऐ लड़की' में मरणासन्न मां के द्वारा अपनी अविवाहित बेटी को हर दृष्टि से भरपूर जीवन जीने की सलाह दी गयी है, जिसमें स्त्री के लिए पुरुष का संसर्ग भी सम्मिलित है। 'नामपट्टिका' में भी अविवाहित कृत्या और शिव के मित्र के रूप में साथ-साथ रहने का चित्रण कर उन्होंने स्थापित किया है कि स्त्री-पुरुष परस्पर पूरक हैं। वे एक-दूसरे के अकेलेपन को दूर करते हैं, उनकी पारस्परिकता से दोनों के बीच अपनत्व की ऊष्मा, संभाल और सुरक्षा संभव होती है। कृष्णा सोबती की कहानियों की संख्या अधिक नहीं है। यही स्थिति मन्नू भंडारी की भी है। उनके 'मैं हार गयी' (1957), 'यही सच है' (1966), 'एक प्लेट सैलाब' (1968), 'तीन निगाहों की एक तसवीर' (1968) और 'त्रिशंकु' के बाद 'नायक खलनायक विदूषक' (2002) शीर्षक संग्रह और प्रकाशित हुआ। उन्मेष के दौर के बाद उनकी कहानी-लेखन की गति शिथिल होती गयी है। कारण, अनुभव-क्षेत्र की सीमितता और प्रेरणाहीन परिवेश है। यद्यपि मन्नू भंडारी ने अपने वर्ग और स्त्री-जगत से बाहर के जीवन का भी चित्रण अपनी कहानियों में किया है, किंतु उनकी कहानियों का केंद्र नारी-मन का वह द्वंद्व है, जो परंपरा और आधुनिकता की टकराहट से उत्पन्न हुआ है। उषा प्रियंवदा की कहानियों की दुनिया और भी सीमित है। उनकी प्रायः सभी कहानियों का मूल विषय प्रेम है। वे भारत से ले कर अमेरिका तक जिस-जिस परिवेश और जिन-जिन स्थितियों से गुज़री हैं, अपनी कहानियों में उन्होंने उन्हीं में अनुभूत प्रेम के विभिन्न मनोशारीरिक पक्ष चित्रित किये हैं। प्रारंभ में प्रेम का केवल मानसिक पक्ष प्रधान है, बाद में शारीरिक पक्ष को भी स्वीकृति मिल गयी है। अपनी कहानियों की वस्तुगत सीमा और संकोच की पूर्ति उन्होंने अपनी शिल्पगत सजगता से की है। इसलिए उनकी कहानियां कहीं-कहीं रूपवादी होने का आभास देती हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बीसवीं शताब्दी के छठे दशक में कहानीकारों का एक ऐसा वर्ग भी सामने आया, जो गांवों और क़स्बों में जन्मा और शहरों में आ बसा। इनकी संवेदना और अनुभव शहरी कहानीकारों से अलग था। वर्तमान कालावधि में इनमें से कम ही कहानीकार सक्रिय रहे हैं। इनमें से जो कहानीकार सक्रिय रहे हैं, उनमें फणीश्वरनाथ 'रेणु' का निधन यद्यपि 1977 में ही हो गया, किंतु उनकी पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी कहानियों के संग्रह 'एक श्रावणी दोपहर की धूप' (1984) और 'अच्छे आदमी' (1986) इसी कालावधि में प्रकाशित हुए। यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं है कि वे हिंदी के सर्वोत्तम आंचलिक कहानीकार हैं। अंचल विशेष को मूर्त करने में जैसी सफलता उन्हें मिली है, वैसी हिंदी में शायद ही किसी अन्य कहानीकार को मिली हो। शेखर जोशी ने अपनी कहानियों में मुख्यत: पहाड़ी जीवन का चित्रण किया है। वे बराबर कहानियां लिखते रहे हैं। इस कालावधि में 'हलवाहा' (1981), 'मेरा पहाड़' (1989), 'नौरंगी बीमार है' (1990), 'डांगरी वाले' (1994) आदि उनके कई कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। उनकी कहानियों में पहाड़ों पर रहने वाले निम्नवर्गीय लोगों के जीवन की यातना के साथ-साथ मज़दूरों के जीवन की विपन्नता और त्रास का भी यथार्थवादी चित्रण हुआ है। इस दृष्टि से जोशी जी 'नयी कहानी' के दौर में लिखना प्रारंभ करने के बावजूद अपने ढंग से अलग रास्ते पर चले हैं। बीसवीं शताब्दी के छठे दशक में कहानीकार के रूप में सामने आने वाले और किसी आंदोलन या गुट में शामिल न होने वाले रामदरश मिश्र अनेक विधाओं की रचनाओं में अविराम रत रहे हैं। वर्तमान कालावधि में उनके 'सर्पदंश' (1982), 'वसंत का एक दिन' (1982), 'इकसठ कहानियां' (1984), 'अपने लिए' (1992), 'आज का दिन भी' (1996), 'एक कहानी लगातार' (1998), 'फिर कब आयेंगे' (1998), 'विदूषक' (2002), 'दिन के साथ' (2002) आदि कई कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इस सूची में कहानी-संग्रहों की शृंखला विशेष के अंतर्गत प्रकाशित उनके कहानी-संग्रह नहीं हैं। इन कहानी-संग्रहों की संख्या से उनकी साहित्य-सृजन की सक्रियता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। यह सक्रियता इसलिए संभव हुई है, क्योंकि एक तो जीवन के प्रति उनकी सकारात्मक दृष्टि है; दूसरे, इसलिए कि उनकी अपनी रचना-क्षमता में दृढ़ आस्था है; तीसरे, उनके सृजन-जीवाणु में अजस्र ऊर्जा है। उनकी कहानियां एक साथ ही उनकी स्वानुभूति और सामूहिक अनुभूति को अभिव्यक्त करती हैं। वे आत्मग्रस्त या वादग्रस्त नहीं हैं। वे अपने चतुर्दिक की दुनिया को खुली आंखों से देखते हैं, समझते हैं और अपने निष्कर्ष निकालते हैं तथा उन्हें अपनी कहानियों में सहज कलात्मकता के साथ व्यक्त करते हैं। चूंकि उनके पास कहने के लिए इतना अधिक और इतना प्रभावशाली है कि उन्हें रूपगत या भाषिक स्तर पर चमत्कृत करने वाले प्रयोग करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। प्रगतिशीलता उनकी कहानियों में है, जो प्राय: व्यंग्य के रूप में अभिव्यक्ति पाती है।

बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक (1964) में डॉ. महीप सिंह के नेतृत्व में 'सचेतन कहानी' का आंदोलन प्रवर्तित हुआ। इस आंदोलन में जो कहानीकार सम्मिलित हुए, उनमें वे कहानीकार थे जिन्होंने छठे दशक के आंदोलनों में सम्मिलित कहानीकारों से अलग अपनी पहचान बनायी। इस आंदोलन में सम्मिलित कुछ कहानीकार वर्तमान कालावधि में भी सक्रिय रहे हैं। वे हैं—महीप सिंह, गिरिराज किशोर, दूधनाथ सिंह, से.रा. यात्री, धर्मेंद्र गुप्त, हिमांशु जोशी, कामतानाथ, जगदीश चतुर्वेदी, गंगाप्रसाद विमल, मधुकर सिंह, योगेश गुप्त आदि। इनमें से कुछ कहानीकार इसके बाद चलने वाले आंदोलनों में भी सम्मिलित रहे हैं, जिसका सीधा-सा अर्थ यह है कि इन कहानीकारों में जीवनदृष्टि या विशेष विचारधारा के प्रति कोई सामूहिक कट्टर प्रतिबद्धता नहीं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

थी। इसीलिए इनका कहानीकार-व्यक्तित्व स्वतंत्र और विशिष्ट है।

महीप सिंह ने 'सचेतन कहानी' की व्याख्या में 'नयी कहानी' की निषेधात्मक प्रवृत्तियों का विरोध करते हुए जीवन को सकारात्मक सचेत भाव से जानने और जीने पर बल दिया। इस दृष्टि को हम उनकी कहानियों में परिलक्षित होते देख सकते हैं। वर्तमान कालावधि में प्रकाशित 'धूप की उंगलियों के निशान' (1993), 'सहमे हुए' (1998), 'दिल्ली कहां है' (2002), 'ऐसा ही है' (2002) कहानी-संग्रहों की कहानियों से उनकी सचेतन दृष्टि प्रमाणित होती है। वे सचेत भाव से अपनी कहानियों में अपना समय जी रहे हैं। उदाहरण के लिए जैसे-जैसे स्वाधीन भारत आगे बढ़ रहा है, वैसे-वैसे हमारे जीवन में सांप्रदायिकता और धार्मिक कट्टरता और विद्वेष बढ़ता जा रहा है। इसे उनकी 'एक मरता हुआ दिन' (1985), 'दिल्ली कहां है' (1985), 'आओ हंसे' (1986), 'पहले जैसे दिन' (1989), 'शहर' (1991) आदि कहानियां बड़ी संवेदनशीलता के साथ व्यक्त करती हैं, लेकिन ये कहानियां सामयिक मात्र नहीं हैं, इनमें शाश्वत मानवीय सरोकार भी हैं। उनकी कहानियों में शिल्पगत चमत्कार प्रायः नहीं है। उन्होंने सहजता की विशिष्टता को साधा है।

सहजता की विशिष्टता को साधने में गिरिराज कशोर भी सफल रहे हैं। उन्होंने अपने 'जगत्तारनी और अन्य कहानियां' (1981), 'वल्दरोजी' (1989), 'गाना बड़े ग़ुलाम अली ख़ां का' (1985), 'यह देह किसकी है' (1990), 'आंद्रे की प्रेमिका तथा अन्य कहानियां' (1990) आदि संग्रहों की कहानियों में अपने समय को इस तरह प्रतिबिंबित किया है कि वे अपने समय का दस्तावेज़ बन गयी हैं। समकालीन शहरी जीवन की विडंबनाएं, परंपरा की बेड़ियों में क़ैद स्त्रियों की छटपटाहट, निम्न मध्यवर्गीय लागों की आर्थिक विपन्नता, कार्यालयों की यातनादायक स्थितियां, बाज़ारी और उपभोगवादी संस्कृति आदि उनकी कहानियों में प्रामाणिक रूप से चित्रित हुई हैं। कई दृष्टियों से से.रा. यात्री गिरिराज किशोर के निकट पड़ते हैं। उन्होंने 'अकर्मक क्रिया' (1981) आदि संग्रहों की कहानियों में नितांत सरलता के साथ निम्नमध्यवर्गीय व्यक्ति के सरोकारों और दैनंदिन जीवन में घटने वाली सामान्य घटनाओं को प्रस्तुत किया है। यही स्थिति धर्मेंद्र गुप्त की कहानियों की भी है, इस अंतर के साथ कि उनकी कहानियों में कलात्मकता अधिक है। हिमांशु जोशी ('मेरी तेरह कहानियां' : 2004) इस अर्थ में इन्हीं कहानीकारों के साथ रखे जा सकते हैं कि वे बहिर्मुखी प्रवृत्ति के कहानीकार हैं और किसी भी अर्थ में अतिवादी नहीं हैं, किंतु उनकी कहानियों में वस्तुगत वैविध्य वैसा ही है, जैसा गिरिराज किशोर की कहानियों में है। उनकी कहानियों में पर्वतीय ग्राम-जीवन के साथ-साथ महानगरीय जीवन भी चित्रित हुआ है और निम्नवर्गीय जीवन के साथ-साथ मध्यवर्गीय जीवन का भी चित्रण हुआ है। कामतानाथ ने अपने 'सब ठीक हो जायेगा' (1983), 'शिकस्त' (1992), 'रिश्ते-नाते' (1998) आदि संग्रहों की कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन के विविध रूपों और उसकी विविध समस्याओं का चित्रण किया है। मधुकर सिंह के संग्रहों : 'पूरा सन्नाटा' (1971), 'अगनु कापड़' (1978), 'पहला पाठ' (1979), 'भाई का ज़ख़्म' आदि से स्पष्ट है कि वे हैं तो बहिर्मुखी प्रवृत्ति के कहानीकार ही, लेकिन वैचारिक स्तर पर दुविधाग्रस्त हैं। इसीलिए वर्णव्यवस्था और जातिवाद के कारण होने वाली दलितों की दुर्दशा और वर्गसंघर्ष की बात करते-करते अपनी कहानियों में वे ऐसी चीज़ें उठा लेते हैं, जिनका न दलितों की दुर्दशा से कोई संबंध होता है और न वर्गसंघर्ष से। फलतः उनकी कहानियों की धार कुंठित हो जाती है।

सचेतन कहानी-आंदोलन के साथ जुड़ने वाले कुछ कहानीकार वस्तुतः 'अकहानी' की प्रवृत्ति

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के कहानीकार हैं और वे अकहानी-आंदोलन में बाक़ायदा सम्मिलित भी हुए। जगदीश चतुर्वेदी अकहानी-आंदोलन में सम्मिलित ही नहीं हुए, बल्कि उसके एक पुरोधा भी रहे। उनकी कहानियों की मूल वस्तु स्त्री-पुरुष की संसर्गजनित लालसा, संभोग और प्रतारणा है। उनकी 'अंधेरे का आदमी' (1978), 'विवर्त' (1981), 'आदिम गंध' (1995), 'डेलिया के फूल' (1995) आदि संग्रहों की अधिकांश कहानियां इसका प्रमाण हैं। अनुभव की यथार्थता के कारण सरल कथाशिल्प के बावजूद उनकी कहानियां हमें प्रभावित करती हैं। गंगाप्रसाद विमल भी 'अकहानी' के पुरोधा रहे हैं, किंतु उनकी 'खोयी हुई बाती' (1995) आदि संग्रहों की कहानियां अस्तित्ववादीबोध के ज़्यादा निकट हैं। योगेश गुप्त की 'उन दो शहरों की तरह' (1982), 'कैमरे के गर्भ से' (1982), 'परास्वप्न' (1988), 'मेरे अंतरिक्ष' (1988), 'ओल्मा' (1992) आदि संग्रहों में संगृहीत कहानियां उनके व्यक्तित्व की तरह ही अनूठी हैं—लीक से एकदम हट कर। इसीलिए वे हिंदी-कहानीकारों की मुख्यधारा में कभी पूरी तरह सम्मिलित नहीं हो पाये। उनकी कहानियों में दलित-शोषित की पक्षधरता भी है और घोर व्यक्तिवादी अस्तित्ववादिता भी। दूधनाथ सिंह भी 'अकहानी' आंदोलन के पक्षधर के रूप में उभर कर सामने आये। इस कालावधि में उनके कई कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं : 'माई का शोकगीत' (1992), 'नमो अंधकार' (1998), 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' (2002), 'निष्कासन' (2002) आदि। इन संग्रहों की कहानियों में 'अकहानी' के प्रभाव से वे बहुत-कुछ मुक्त हो चुके हैं, लेकिन अपने समय के यथार्थ और व्यक्ति के अंतर्जगत का चित्रण करते समय वे शिल्पगत चमत्कारिक प्रयोगों का सहारा अब भी लेते हैं।

'अकहानी' आंदोलन के शिथिल पड़ते-पड़ते कमलेश्वर 'समांतर कहानी' (1972) का आंदोलन ले कर सामने आ गये। 1977 में 'जनवादी विचारमंच' की स्थापना हुई और जनवादी कहानी की चर्चा होने लगी। 1979 में राकेश वत्स ने 'सक्रिय कहानी' का आंदोलन अपनी पत्रिका 'मंच' के माध्यम से चलाया। इसके बाद हिंदी में कोई आंदोलन नहीं चला। इन आंदोलनों से पूर्ववर्ती आंदोलनों में सम्मिलित कहानीकारों के अतिरिक्त अनेक नये कहानीकार भी सामने आये, जिनमें से रमेश उपाध्याय 'पैदल अंधेरे में' (1981), 'बदलाव के पहले' (1981), 'राष्ट्रीय राजमार्ग' (1984), 'किसी देश के शहर में' (1987), 'कहां हो प्यारेलाल' (1991), 'अर्थतंत्र तथा अन्य कहानियां' (1996) आदि संग्रहों की कहानियों के माध्यम से विशेष रूप से सक्रिय रहे हैं। वे चाहे किसी भी आंदोलन में सम्मिलित रहे हों, लेकिन उनकी निष्ठा जनवादी ही रही है। उनके अतिरिक्त इन आंदोलनों के माध्यम से जितेंद्र भाटिया, दामोदर सदन, सुदीप, हेतु भारद्वाज, असगर वजाहत, धीरेंद्र अस्थान, उदयप्रकाश आदि अनेक कहानीकार उभर कर सामने आये और इनमें से कुछ वर्तमान कालावधि में कहानी रचना में रत रहे। इनमें से 'दरियाई घोड़ा' (1982), 'तिरिछ' (1990), 'और अंत में प्रार्थना' (1996), 'पॉल गोमरा का स्कूटर' (1997), 'पीली छतरी वाली लड़की' (2001), 'दत्तात्रेय का दुःख' (2002) आदि संग्रहों में संगृहीत कहानियों के कारण उदयप्रकाश सबसे अधिक चर्चित कहानीकार रहे। अत्यधिक चर्चा का कारण एक तो उनका जादुई यथार्थ का शिल्प रहा, जिसमें उन्होंने स्वप्न और यथार्थ का मिश्रण करके फंतासी की रचना की। उन्होंने अपने इस शिल्प के माध्यम से नवपूंजीवाद और भूमंडलीकरण से उत्पन्न विडंबनाओं और आधुनिक जीवन के अंतर्विरोधों को अभिव्यक्ति दी, जिसके लिए उन्होंने अपने आसपास के सुपरिचित व्यक्तियों को पात्र बनाया। साहित्य की उस दुनिया में इन व्यक्तियों को पहचाना भी गया, जिसका एक सदस्य स्वयं उदय प्रकाश हैं।

इसी पीढ़ी के कुछ ऐसे कहानीकारों ने भी अपनी पहचान बनायी, जो किसी आंदोलन के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सक्रिय अंग नहीं थे। इनमें से एक कहानीकार हृदयेश हैं। उनका पहला कहानी-संग्रह 'छोटे शहर के लोग' 1972 में प्रकाशित हुआ। तब से ले कर अब तक वे निरंतर कहानियां लिखते रहे हैं और उनके कहानी-संग्रह निरंतर प्रकाशित होते रहे हैं। पहले संग्रह के बाद उनके संग्रह हैं : 'अंधेरी गली का रास्ता' (1977), 'इतिहास' (1981), 'उत्तराधिकारी' (1981), 'अमरकथा' (1984), 'प्रतिनिधि कहानियां' (1988), 'नागरिक' (1992), 'रामलीला तथा अन्य कहानियां' (1993), 'सम्मान' (1996), 'जीवनराग' (1999), 'उन्नीस सौ बीस' (1999), 'उसी जंगल में' (2004) तथा 'मेरी प्रिय कहानियां' (2005)। हृदयेश की कहानियां छोटे शहर के छोटे लोगों के दैनंदिन जीवन की कहानियां हैं, जिनमें वे समकालीन भारतीय जीवन में व्याप्त सामाजिक व राजनीतिक विद्रूपताओं और विडंबनाओं को बड़ी सहजता से व्यंजित कर देते हैं। उनकी कहानियों में कहानीपन कभी समाप्त नहीं होता और वे अपनी बात कहने के लिए प्रतीकों, बिंबों आदि का उपयोग तो करते हैं, लेकिन शिल्पगत चमत्कार का सहारा कभी नहीं लेते। रमेशचंद्र शाह को इस दृष्टि से हृदयेश के साथ रखा जा सकता है कि वे आंदोलनधर्मी कभी नहीं रहे। लेकिन उनकी 'मुहल्ले के रावण' (1982), 'मानपत्र' (1992), 'थियेटर' (1998) आदि संग्रहों में संगृहीत कहानियां प्रकृत्या उनसे भिन्न हैं। वे अपनी कहानियों में आज की विषम परिस्थितियों में मनुष्य की मनुष्यता बचाये रखने के लिए मनुष्यता के आधारभूत तत्त्वों को रेखांकित करते हैं। उनकी कहानियां मूल्यान्वेषण की कहानियां हैं। इन्हीं के साथ कहानी-रचना में प्रवृत्त होने वाले गोविंद मिश्र ने संख्या की दृष्टि से इन कहानीकारों से कम कहानियां नहीं लिखी हैं। उनकी 'ख़ुद के ख़िलाफ़' (1981), 'खाक इतिहास' (1984), 'पगला बाबा' (1987), 'आसमान कितना नीला' (1992), 'हवाबाज' (1998) आदि संग्रहों में संगृहीत कहानियां अपने समय के मध्यवर्गीय जीवन का वस्तुपरक चित्रण करती हैं, लेकिन किसी प्रखर विचारदृष्टि के अभाव के कारण धारदार नहीं बन पाती हैं। इसी पीढ़ी के काशीनाथ सिंह वामपंथी प्रतिबद्धता वाले कहानीकार थे, लेकिन वे अपने को बराबर बदलते और संयत करते रहे। 'सदी का सबसे बड़ा आदमी' (1986) आदि परवर्ती संग्रहों की कहानियां इसका प्रमाण हैं। माहेश्वर ने भी वामपंथी विचारधारा से प्रतिबद्ध हो कर कहानियां लिखीं, लेकिन प्रगतिवादी या जनवादी आलोचकों ने उन्हें ज़्यादा महत्त्व नहीं दिया। इसका कारण संभवतः यह था कि वे मज़दूरों की पक्षधरता का दम भरने वाले विभिन्न साम्यवादी दलों में व्याप्त विकृतियों और छद्मों पर प्रहार करते रहे। उनके 'डी.पी. डिस्पेंसरी' (1986), 'मास्टर सेवाराम का सपना' (1992), 'हंसने वाली औरत' (1995) आदि संग्रहों की कहानियों को पढ़ने पर इसका एक और कारण समझ पड़ता है, और वह है विचारधारा के अतिरिक्त दबाव और कभी-कभी आरोप के कारण उनकी कहानियों की सपाटता, सामान्यता, शिल्पहीनता, कृत्रिमता और प्रभावहीनता। लगभग काशीनाथ सिंह के साथ ही कहानियां लिखना शुरू करने वाले विजयमोहन सिंह उनकी संगति में भी रहे हैं, लेकिन वे मार्क्सवाद से उस रूप में प्रभावित नहीं हुए, जिस रूप में काशीनाथ सिंह आदि हुए। उनका कहना है कि "अपनी पीढ़ी में सबसे ज़्यादा विचारधाराओं का अध्ययन किया है मैंने, मार्क्सवाद को गंभीरता से पढ़ा, पर कहानियां लिखते वक़्त वह सीधा सीधा नहीं आया। वह हमारी संवेदना और भावबोध का हिस्सा बन कर आया" (वैष्णवों से वार्ता—बलराम, दिल्ली 2001, पृ. 132)। इसका कारण संभवतः उनका 'सामंती परिवार' से निकलना है और इसीलिए उनकी 'ज़्यादातर कहानियां सामंती वातावरण की कहानियां हैं' (वही, पृ. 135)। उनके चार कहानी-संग्रहों : 'टट्टू सवार' (1970), 'एक बंगला बने न्यारा' (1982), 'शेरपुर पंद्रह मील' (1995) और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'गमे हस्ती का हो किससे' (2000)—में संगृहीत कहानियां सामंती परिवारों के टूटने-बिखरने, उनकी छद्म आधुनिकता, स्त्रियों की दशा-दुर्दशा आदि का अनुभूत चित्र उपस्थित करती हैं। उन्होंने गांव में आने वाले बदलाव और इस बदलाव के कारण शोषण के नये तौर-तरीक़ों का चित्रण भी किया है। उन्होंने अपनी कुछ कहानियां उन मुद्दों को ले कर भी लिखी हैं, जो 'नयी कहानी' के केंद्रीय मुद्दे थे। कुल मिला कर उनकी कहानियों में वस्तुगत विविधता है। इस कालावधि में सक्रिय रहने वाले राकेश वत्स भी इसी पीढ़ी के कहानीकार हैं। इस बीच उनके 'एक बुद्ध और' (1986), 'इस हालात में' (1992), 'महाकवि के वारिस' (2005) आदि कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। 'सक्रिय कहानी' के पुरस्कर्ता के रूप में स्वाभाविक रूप से उनकी सहानुभूति शोषितों के प्रति है और वे शोषण तथा दमन के सक्रिय प्रतिरोध के पक्षधर हैं। उनकी कहानियां उनकी इस पक्षधरता को स्पष्टत: अभिव्यक्त करती हैं।

कहानीकारों की इन पीढ़ियों के बाद इस कालावधि में कहानीकारों की एक नयी पीढ़ी उभर कर सामने आती है, जो ठेठ इसी काल की पीढ़ी है। इस पीढ़ी के जिन कहानीकारों ने अपने को समर्थ कहानीकार के रूप में स्थापित कर लिया है या जिनमें महती संभावनाएं दिखायी दे रही हैं, उनमें से कुछ प्रमुख कहानीकार ये हैं : **मिथिलेश्वर** : 'गांव के लोग' (1981), 'विग्रह बाबू' (1982), 'तिरिया जनम' (1982), 'हरिहर काका तथा अन्य कहानियां' (1983), 'माटी की महक धरती गांव की' (1987), 'एक में अनेक' (1987), 'एक थे प्रो. वी. लाल' (1993), 'भोर होने से पहले' (1994), 'चल खुसरो घर आपने' (2000), 'जमुनी' (2001) आदि; **संजीव** : 'तीस साल का सफ़रनामा' (1981), 'भूमिका तथा अन्य कहानियां' (1987), 'प्रेत-मुक्ति' (1991), 'दुनिया की सबसे हसीन औरत' (1993), 'प्रेरणास्रोत तथा अन्य कहानियां' (1995), 'ब्लैकहोल' (1997), 'खोज' (1999) आदि; **धीरेंद्र अस्थाना** : 'लोग हाशिये पर' (1980), 'आदमीखोर' (1982), 'मुहिम' (1984), 'खुल जा सिमसिम', 'विचित्र देश की प्रेमकथा' (1988) आदि; **अब्दुल बिस्मिल्लाह** : 'कितने-कितने सवाल' (1984), 'रैन बसेरा' (1989), 'अतिथि देवो भव' (1990), 'रफ रफ मेल' (2000) आदि; **विवेकानंद** : 'शिवलिंगम् तथा अन्य कहानियां' (1987); **बलराम** : 'क़लम हुए हाथ' (1980), 'मालिक के मित्र' (1984), 'अनचाहे सफ़र' (1988); **योगश कुमार** : 'परामर्श' (1986), 'मिथ्याचक्र' (1987); **स्वयं प्रकाश** : 'मात्रा और भार' (1974), 'सूरज कब निकलेगा' (1980); **शिवमूर्ति** : 'केसर कस्तूरी' (1991); **नवनीत मिश्र** : 'मणियां और जख़्म' (1987), 'मैंने कुछ नहीं देखा' (1992), 'किया जाता है बाइज़्ज़त बरी' (2002); **रामधारी सिंह दिवाकर** : 'अलग-अलग परिचय' (1981), 'धरातल' (1997), 'माटी पानी' (1999) आदि; **मंजूर एहतेशाम** : 'रमजान में एक मौत' (1982), 'तसबीह' (1988), 'तमाशा तथा अन्य कहानियां' (2001); **बटरोही** : 'सड़क का भूगोल' (1985), 'थोकदार किसी की नहीं सुनता' (1988), 'आगे-पीछे' (1989), 'अनाथ मुहल्ले के ठुल दा' (1990), 'हिडिंबा के गांव में' (2000); **प्रियंवद** : 'एक अपवित्र पेड़' (1995), 'ख़रगोश' (1999), 'फाल्गुन की एक उपकथा' (2003); **अखिलेश** : 'मुक्ति' (1989), 'शापग्रस्त' (1997); **सृंजय** : 'कामरेड का कोट' (1993), 'गंगा' (2001); **रूपसिंह चंदेल** : 'मेरी तेरह कहानियां' (2004); **पुन्नी सिंह** : 'नागफांस' (2002), 'जुगलबंदी' (2004); **सुरेंद्र तिवारी** : 'इसी शहर में' (1982), 'अनवरत तथा अन्य कहानियां' (2001); **पंकज विष्ट** : 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते' (1986); **स्वदेश दीपक** : 'बाल भगवान' (1986); **वीरेंद्र सक्सेना** : 'दिल्ली में पहला दिन'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(1987), 'ट्रैजिडी से पहले' (1988), 'घिसे हुए पुर्ज़े' (1993), 'दिखाने के दांत' (1994), 'कौन किसका गुरु' (1994), 'सत्य के प्रेमिल प्रयोग' (1998), 'इक्कीस कहानियां' (1999), 'आधी सदी की त्रासदी' (2000), 'इक दूजे के लिए नहीं' (2004); **द्रोणवीर कोहली** : 'बारह बरस बीते' (1981), 'जमापूंजी' (2002); **क्षितिज शर्मा** : 'ताला बंद है' (1988), 'समय कम है' (1994), 'उत्तरांचल की कहानियां' (1998); **अमर गोस्वामी** : 'कल का भरोसा' (2004); **ओमप्रकाश वाल्मीकि** : 'सलाम' (2000), 'घुसपैठिये' (2003); **मनोज सोनकर** : 'हलफ़नामा' (2002), 'पोस्टर्स' (2004); **अरुण प्रकाश** : 'विषम राग' (2003), इत्यादि। इन कहानीकारों के अतिरिक्त भी और अनेक कहानीकार हैं, जो इस कालावधि में रचनारत रहे हैं।

नयी पीढ़ी के इन समकालीन कहानीकारों की कहानियों से सबसे पहली बात यह उभर कर सामने आती है कि ये किसी विशेष आंदोलन से जुड़े हुए नहीं हैं। वैसे भी 1979 के 'सक्रिय कहानी' आंदोलन के बाद हिंदी-कहानी में न कोई आंदोलन प्रस्तावित हुआ और न चला। इसका अर्थ हुआ विचारधाराओं की अप्रासंगिकता, सामूहिक सरोकारों के प्रति उदासीनता और समाज या समूह (वर्ग) के स्थान पर व्यक्ति की प्रतिष्ठा। लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि कहानियां विचारशून्य हो गयी हैं। विचार हैं, लेकिन वे व्यक्ति-सापेक्ष हैं। इस नयी पीढ़ी में भी ऐसे अनेक कहानीकार हैं, जिनका झुकाव वामपंथी विचारों की ओर है। लेकिन वे किसी वामपंथी राजनीतिक दल के प्रति प्रतिबद्ध नहीं हैं। सृंजय ऐसे ही कहानीकार हैं। उनकी कहानी 'कामरेड का कोट' अत्यधिक विवादास्पद रही, क्योंकि अपनी इस कहानी में उन्होंने जन के सामंतवादी शोषण का तो विरोध किया, किंतु पार्टी-संगठन की कटु आलोचना की। पार्टी-संगठन हिंदी-क्षेत्र की उपेक्षा करता है, वह विदेशी प्रभाव से ग्रस्त है, वह ठोस समाधान और कार्यवाही के स्थान पर अर्थहीन वाग्जाल से काम लेता है, संगठन के प्रभावशाली सदस्य स्वार्थसिद्धि और व्यक्तिगत प्रतिशोध-भावना से ग्रस्त हैं, इत्यादि। विगत् पच्चीस वर्षों का यथार्थ भी यही है।

इस पीढ़ी के कहानीकारों में से अधिकांश गांव से शहर आये हैं, इसलिए उन्होंने अपनी कहानियों में ग्रामीण जन की समस्याओं को अंकित किया है, लेकिन उनकी कहानियों में आंचलिकता की स्थानीय रंगत नहीं है, क्योंकि न तो उनकी दृष्टि रूमानी है और न ही वे अतीत मोह (नस्ताल्जिया) से ग्रस्त हैं। वे ग्रामीण जीवन की समस्याओं को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करते हैं। मिथिलेश्वर, बलराम, शिवमूर्ति आदि की कहानियों में समकालीन भारतीय ग्रामीण-समाज का यथार्थ रूप और उसकी यथार्थ समस्याओं को चित्रित होते हुए देखा जा सकता है। इन सब कहानीकारों की सहानुभूति गांव के सामान्य शोषित जन के प्रति है और शोषणकर्ताओं के प्रति विरोध की भावना है।

उपर्युक्त कहानीकारों में से प्राय: सभी मध्यवर्गीय हैं। इसलिए उन्होंने मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं और सोच को अपनी कहानियों में प्रमुखता दी है। उदाहरण के लिए, धीरेंद्र अस्थाना की कहानियों में निम्न मध्यवर्ग का जीवन और उसकी समस्याएं चित्रित हुई हैं। इस वर्ग की सबसे बड़ी समस्या है आर्थिक संघर्ष। इस वर्ग का व्यक्ति नौकरी की तलाश में भटकता है और जो नौकरी मिलती है, उससे सुचारु रूप से जीवन-निर्वाह नहीं हो पाता। इसका असर उसके दांपत्य संबंधों पर पड़ता है, उसके बच्चों पर पड़ता है। महंगाई की मार उसे पागलपन की स्थिति तक पहुंचा देती है। लेकिन चूंकि इस वर्ग का व्यक्ति सुशिक्षित होता है, इसलिए वह परिवर्तन के लिए संघर्ष करने में आस्था रखता है। धीरेंद्र अस्थाना पत्रकारिता की वृत्ति से जुड़े हैं। इसलिए

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उनकी कहानियों में वर्तमान पत्रकारिता का चरित्र और पत्रकारों के संघर्ष का भी चित्रण है। जो कहानीकार आर्थिक दृष्टि से अपेक्षाकृत सुरक्षित हैं, उनके सामने दूसरी समस्याएं हैं। इनमें से एक समस्या स्त्री-पुरुष संबंधों की है। वीरेंद्र सक्सेना की कहानियों का तो केंद्रीय सरोकार ही यही है। उनकी अधिकांश कहानियां विवाह, प्रेम और काम-संबंधों की समस्याओं का चित्रण करती हैं। एक सीमित, किंतु विशिष्ट संसार में घटित होने वाली उनकी कहानियों की प्रमुख स्थापनाएं हैं : सबका प्रेम एक जैसा होता है, अंतर सिर्फ़ स्थितियों और सीमाओं का होता है। वैवाहिक जीवन में प्रेम अधिक समय तक जीवित नहीं रह पाता। इसलिए अविवाहित ही नहीं, विवाहित स्त्री-पुरुष भी विवाहेतर प्रेम और काम-संबंध स्थापित करने के लिए तत्पर रहते हैं। उन्हें जैसे ही अनुकूल स्थितियां और अवसर मिलते हैं, वे विवाहेतर संबंधों में आलिंगन व चुंबन की सीमा लांघ कर संभोग तक पहुंच जाते हैं, लेकिन सर्वत्र नहीं। संभवत: अपने मध्यवर्गीय संस्कारों के कारण मुक्त शारीरिक संबंधों को ले कर वीरेंद्र सक्सेना दुविधाग्रस्त हैं। इसीलिए उन्होंने 'आधी सदी की त्रासदी' जैसी अपनी कहानियों में 'संभोग' के विकल्प के रूप में 'सहभोग' की स्थापना की है। 'सहभोग' में यौन-संसर्ग के अतिरिक्त शेष सभी शारीरिक संबंधों का वे समर्थन करते हैं। सीमित कथा-संसार और सहज कथाशिल्प के बावजूद अपनी कथावस्तु के कारण उन्होंने इस कालावधि के विशिष्ट कहानीकार के रूप में अपनी पहचान बनायी है।

दरअसल विवाह, प्रेम और काम की समस्या आधुनिक मध्यवर्ग की समस्या है, क्योंकि वह मूल्य-द्वंद्व से ग्रस्त है। प्राय: नयी पीढ़ी के सभी कहानीकारों ने इस समस्या को स्पष्ट या संकेत रूप में उठाया है। प्रियंवद जब यह स्थापना सामने रखते हैं कि मां केवल मां ही नहीं होती, स्त्री भी होती है या पिता केवल पिता ही नहीं होता, पुरुष भी होता है, तब वे मनुष्य की शारीरिक और मानसिक दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति पर बल दे रहे होते हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में हमारे चतुर्दिक की दुनिया में घट रही कटु यथार्थ गतिविधियों, स्वतंत्र भारत में सत्ताकेंद्रों पर बहुरूपियों के क़ाबिज होने, विकास के नाम पर छलछंद के रचे जाने, न्याय-व्यवस्था में पाखंड की व्याप्ति होने, जीवन के प्राय: समानांतर माफिया-व्यवस्था की स्थापना, सांप्रदायिक सौहार्द को नष्ट किया जाना, पूंजीवाद के दबाव में सांस्कृतिक प्रतीकों के विनाश आदि का सफल चित्रण किया है। उनकी एक प्रवृत्ति सत्यान्वेषण की भी है। यह सच है कि समकालीन हिंदी-कहानीकार आत्मकेंद्रित हुआ है, लेकिन उसने अपनी आंखें खुली रखी हैं और मध्यवर्गीय दुनिया के बाहर की दुनिया को भी देखा है और उसकी सुध ली है। इसीलिए सुदूर ग्रामांचलों का बड़ा वैविध्यपूर्ण चित्रण उसने किया है। पुन्नी सिंह ने अपनी कहानियों में सहरिया तथा अन्य आदिवासियों, दलितों तथा स्त्रियों आदि पर होने वाले अत्याचारों, उनके शोषण तथा उनकी परास्त मानसिकता का चित्रण किया है। स्वतंत्र भारत में शिक्षा के प्रसार का एक सुखद परिणाम यह हुआ है कि दलितों-शोषितों, शताब्दियों से उत्पीड़ितों, स्त्रियों आदि में से ऐसे शिक्षित व्यक्ति सामने आ गये हैं, जिन्होंने अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठायी है और 'दलित-विमर्श' और 'स्त्री-विमर्श' जैसे विमर्शों को जन्म दिया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि आदि की कहानियों में दलितों के जीवन का यथार्थ और अपने दलन के प्रति आक्रोश-भाव का प्रभावशाली चित्रण हुआ है।

स्वतंत्र भारत में क्रमश: शिक्षित स्त्रियों की संख्या बड़ी तेज़ी से बढ़ी है, जिसे हिंदी में कवयित्रियों तथा कथा-लेखिकाओं की संख्या से प्रमाणित किया जा सकता है। 'नयी कहानी' आंदोलन के दौरान जो कहानी-लेखिकाएं उभर कर सामने आयीं, वे गिनी-चुनी हैं। किंतु उसके बाद की पीढ़ी की लेखिकाओं की संख्या अच्छी-ख़ासी है, जो इस कालावधि में सक्रिय

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लेखिकाओं की सूची से प्रमाणित हो जाती है। इस कालावधि में सक्रिय रही मुख्य कहानी-लेखिकाएं हैं—**ममता कालिया** : 'उसका यौवन' (1985), 'बोलने वाली औरत' (1988), 'प्रतिदिन' (1989), 'चर्चित कहानियां' (1991), 'जांच अभी जारी है' (1997), 'मुखौटा' (2003), 'निर्मोही' (2004), 'ममता कालिया की कहानियां' (2005), 'दस प्रतिनिधि कहानियां' (2005); **मृणाल पांडे** : 'एक नीच ट्रैजिडी' (1981), 'एक स्त्री का विदागीत' आदि; **मृदुला गर्ग** : 'उर्फ़ सैम' (1986), 'शहर के नाम' (1990), 'समागम' (1996), 'मेरे देश की मिट्टी, अहा' (2001), 'संगति-विसंगति' (दो खंडों में संपूर्ण कहानियां : 2004); **मंजुल भगत** : 'सफ़ेद कौआ' (1986), 'दूत' (1992), 'बूंद' (1998), 'अंतिम बयान' (2001); **चित्रा मुद्गल** : 'लाक्षागृह' (1982), 'अपनी वापसी' (1983), 'इस हमाम में' एवं 'ग्यारह लंबी कहानियां' (1987), 'जगदंबा बाबू गांव आ रहे हैं' (1992), 'जिनावर' (1996), 'भूख' (2001), 'लपटें' (2002), 'बयान' (2004); **राजी सेठ** : 'तीसरी हथेली' (1981), 'यात्रामुक्त' (1987), 'दूसरे देशकाल में' (1992), 'यह कहानी नहीं' (1998), 'किसका इतिहास' (2002) आदि; **मणिका मोहिनी** : 'अपना-अपना सच' (1982), 'ढाई आखर प्रेम का' (1983), 'अन्वेषी' (1986) आदि; **प्रतिमा वर्मा** : 'बंधे पांवों का सफ़र' (1984); **सुधा अरोड़ा** : 'महानगर की मैथिली' (1987), 'काला शुक्रवार' (2004), 'कांसे का गिलास' (2004), 'मेरी तेरह कहानियां' (2004); **सूर्यबाला** : 'प्याली-भर चांद' (1988), 'मुंडेर पर' (1990), 'यामिनी कथा' (1991), 'सांझ बाती' (1995), 'कात्यायनी संवाद' (1996), 'इक्कीस कहानियां' (2001), 'मानुष गंध' (2003); **मेहरुन्निसा परवेज** : 'अंतिम चढ़ाई' (1982), 'अम्मा' (1997), 'समर' (1999) आदि; **सुनीता जैन** : 'पालना' (2000), 'पांच दिन' (2003); **इंदु बानी** : 'टूटती-जुड़ती' (1981), 'बिना छत का मकान' (1983), 'अंधेरे की लहर' (1985), 'बिखरती आकृतियां' (1985), 'दूसरी औरत होने का सुख कौन दिलां दिया जाने' (1986), 'मेरी तीन मौतें' (1991), 'धरातल' (1992), 'चुभन' (1993), 'मैं ख़रगोश होना चाहती हूं' (1995), 'पांचवां युग' (1997) आदि; **मालती जोशी** : 'एक घर सपनों का' (1985), 'शापित शैशव तथा अन्य कहानियां' (1996), 'पिया पीर न जानी' (1999), 'औरत एक रात है' (2001) आदि; **कुसुम अंसल** : 'पते बदलते हैं' (1983), 'इकतीस कहानियां' (1983), 'धुएं की ईमानदारी' (1999); **सिम्मी हर्षिता** : 'तैंतीस कहानियां' (1996), 'बनजारन हवा' (2000); **उर्मिला शिरीष** : 'केंचुली' (1990), 'रंगमंच' (2001), 'निर्वासन' (2003), 'पुनरागमन' (2005); **कृष्णा अग्निहोत्री** : 'विरासत' (1982), 'याही बनारसी रंग ब्रा' (1983), 'ज़िंदा आदमी' (1986) आदि; **ऋता शुक्ल** : 'क्रौंचवध तथा अन्य कहानियां' (1996), 'दंश' (1985), 'शेषगाथा', 'श्रेष्ठ आंचलिक कहानियां' (1993), 'मानुष तन' (1999), 'कासों कहों मैं दरदिया' (2000), 'कायांतरण' (2003); **कमल कुमार** : 'पहचान' (1984), 'क्रमशः' (1996), 'वैलेंटाइन डे' (2002) आदि; **अरुणा सीतेश** : 'लक्ष्मणरेखा' (1981) आदि; **चंद्रकांता** : 'ग़लत लोगों के बीच' (1984), 'पोशनूल की वापसी और अन्य कहानियां' (1988), 'दहलीत पर न्याय' (1989), 'ओ सोन किनरी' (1991), 'कोठे पर कागा' (1993), 'सूरज उगने तक' (1994), 'काली बर्फ़' (1996) आदि; **मुक्ता** : 'पलाश के घुंघरू तथा अन्य कहानियां' (1991), 'आधा कोस' (1994), 'इस घर उस घर' (1999); **नासिरा शर्मा** : 'पत्थर गली' (1986), 'संगसार' (1993), 'इब्ने मरियम' (1994), 'सबीना के चालीस चोर' (1997), 'ख़ुदा की वापसी'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(1998), 'इनसानी नस्ल' (2001), 'दूसरा ताजमहल' (2002); **कुसुम चतुर्वेदी** : 'तीसरी यात्रा' (1997), 'आंगन में उगी पौध' (2000); **मैत्रेयी पुष्पा** : 'चिन्हार' (1991), 'ललमनियां' (1996), 'गोमा हंसती है' (1998); **नमिता सिंह** : 'राजा का चौक' (1982), 'नीलगाय की आंखें' (1990), 'जंगलगाथा' (1992), 'निकम्मा लड़का' आदि; **उषा किरण ख़ान** : 'गीली पांक' (1995), 'कासवन' (1998), 'जलधार' (2002); **सारा राय** : 'अबाबील की उड़ान' (1997); **गीतांजलिश्री** : 'अनुगूंज' (1995), 'वैराग्य' (1999); **लवलीन** : 'सलिल सागर कमीशन आया बनाम समाजसेवा जारी है' (1997), 'चक्रवात' (1999); **अलका सरावगी** : 'कहानी की तलाश में' (1995), 'दूसरी कहानी' (2002) आदि। इनके अतिरिक्त और भी अनेक कहानी-लेखिकाएं इस समय सक्रिय हैं।

इन लेखिकाओं की कहानियों में से कुछ सामान्य प्रवृत्तियां उभर कर सामने आती हैं। प्राय: सभी लेखिकाओं ने अपनी कहानियां में भारतीय परिवेश में अपनी मुक्ति के लिए छटपटाती नारी का चित्रण किया है। इस चित्रण में कुछ लेखिकाएं तो सचेत भाव से स्त्रीवादी हैं, जिसके कारण उनके स्त्री पात्र अकसर विद्रोह करते हैं। इस दृष्टि से मणिका मोहिनी की कहानियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनके स्त्री पात्र 'बोल्ड' हैं। वे परंपरागत भारतीय नारी की तरह पति को अपनी अंतिम नियति मान कर झेलती नहीं हैं, बल्कि उसके साथ बराबरी का रिश्ता बना कर रहना चाहती हैं, मित्रवत् रहना चाहती हैं। अगर यह संभव नहीं होता तो उन्हें पति का परित्याग करने और स्वतंत्र जीवन जीने से कोई रोक नहीं सकता। उनकी अधिकांश कहानियां इसी मूल कथ्य के विभिन्न रूप और विभिन्न आयाम प्रस्तुत करती हैं। उनका कहानियों का यह कथ्य उनका कोई वैचारिक निष्कर्ष नहीं है, अपितु स्वानुभूत सत्य है। इनके विपरीत कमल कुमार वैचारिक स्तर पर या सिद्धांतत: स्त्रीवादी हैं, लेकिन उनके अनुभव ने उन्हें स्थितियों के साथ सामंजस्य बैठाने का विवेक भी दिया है। इसीलिए उनकी कहानियों में मानवीय पारिवारिक संबंधों के प्रति आग्रह है। उनके स्त्री पात्र पुरुष-वर्चस्व का विरोध करते हैं, किंतु उसके साथ ही स्त्री के ममत्व को भी स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है कि सिंधु घाटी सभ्यता से ले कर आज तक की स्त्री पुरुष-वर्चस्व के नीचे दब कर 'फासिल' बन गयी है, लेकिन संवेदनाशून्य नहीं हुई है। उषाकिरण ख़ान की कहानियों के स्त्री पात्र भी पुरुष-वर्चस्व को प्राय: सभी वर्गों में झेलते चित्रित किये गये हैं, लेकिन वे संघर्षशील हैं, वे पराजित नहीं होते, अपनी अस्तित्वहीनता स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उनमें आत्मविश्वास है, प्रतिकूलताओं से जूझने की क्षमता है। इसका कारण लेखिका की मनुष्यता में दृढ़ आस्था है।

इन लेखिकाओं के विपरीत दूसरा वर्ग उन लेखिकाओं का है, जो सिद्धांतत: स्त्रीवादी नहीं हैं, लेकिन उनकी कहानियों में भी पुरुष-वर्चस्व को झेलते स्त्री पात्रों का चित्रण है। इसके बावजूद उनकी दृष्टि व्यापक है। उन्होंने स्त्री-पुरुष-संबंधों के संदर्भ में पारंपरिक नैतिक मूल्यों के विघटन, रिश्तों के खोखलेपन, काम अतृप्ति, बलात्कार और स्त्री पर होने वाले उसके मनोवैज्ञानिक प्रभाव आदि का चित्रण अपनी कहानियों में किया है। उन्होंने अपनी कुछ कहानियों में यौन-संबंधों का काफ़ी खुला और साहसिक चित्रण किया है। परंतु राजी सेठ ने अपनी कहानियों में स्त्री-पुरुष संबंधों के सूक्ष्म मनेवैज्ञानिक पक्षों पर ज़्यादा बल दिया है। यों, स्त्री-पुरुष-संबंधों को ले कर प्राय: वही प्रश्न उन्होंने भी उठाये हैं, जो अन्य लेखिकाओं ने उठाये हैं, अर्थात प्रेम-विवाह और उसकी असफलता, नारी की स्वातंत्र्य-कामना, पति का पत्नी के प्रति अमानवीय व्यवहार, पति का पुरुष अहं, पति-पत्नी के बीच मानसिक दूरी, पत्नी की पति से आत्मीयता की आकांक्षा, नयी स्थितियों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में जीने के लिए विवश स्त्रियों की मानसिक यातना, स्त्रियों की आर्थिक पराधीनता आदि।

हिंदी की प्राय: सभी लेखिकाएं मध्यवर्गीय परिवारों से संबद्ध हैं। इसीलिए उनकी कहानियों में प्रधानता इसी वर्ग के स्त्री पात्रों की है और उनकी समस्याएं भी प्राय: इसी वर्ग की हैं। लेकिन लेखिकाओं ने अपनी कहानियों में अन्य वर्गों की स्त्रियों के भी चित्र अंकित किये हैं। चित्रा मुद्गल ने अपनी कहानियों में वेश्याओं, मेहनत-मज़दूरी करने वाली स्त्रियों, तस्करी और लड़कियों से धंधा करवाने वाली स्त्रियों आदि का भी चित्रण किया है। मेहरुन्निसा परवेज ने अपनी कहानियों में आदिवासी स्त्रियों और महानगरों में झुग्गी-झोपड़ियों में रहने वाली स्त्रियों का चित्रण किया है। अलका सरावगी ने अपनी कहानियों में महानगर के सामंतीय मूल्यों वाले परिवारों की स्त्रियों का चित्रण किया है। उनकी कहानियों के कुछ स्त्री पात्र सामंती मूल्यों को स्वीकार करके उनके अनुसार जीने की कोशिश करते हैं, वे विद्रोह नहीं करते, अंदर-ही-अंदर घुटते रहते हैं। इनके विपरीत कुछ स्त्री पात्र साामंती मूल्यों को स्वीकार नहीं करते, उन्हें चुनौती देते हैं, लेकिन उन मूल्यों से पूर्णत: मुक्त नहीं हो पाते, क्योंकि हमारे जीवन का यथार्थ तो यही है।

नयी पीढ़ी की इन लेखिकाओं की दुनिया केवल स्त्री-पुरुष-संबंधों तक ही सीमित हो, ऐसा नहीं है। यह सच है कि कुछ लेखिकाओं की दुनिया बहुत सीमित है, लेकिन अधिकांश लेखिकाओं ने इस सीमा का अतिक्रमण किया है। नासिरा शर्मा की कहानियों की दुनिया बहुत विस्तृत है। उनकी कहानियों में हिंदू-मुसलमान, यहूदी आदि कई धर्मों से संबद्ध मनुष्यों के जीवन का चित्रण है। उन्होंने अपनी कहानियों में ईरान के जनसाधारण की पीड़ा और संघर्ष, तानाशाही के विरुद्ध ईरानी जनता के विरोध, फिलिस्तीनियों के गुरिल्ला युद्ध, दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान यहूदियों के तनावपूर्ण जीवन तथा हमारी सांप्रदायिकता आदि का चित्रण किया है। इनके चित्रण में दृष्टि की संकीर्णता नहीं है। नासिरा शर्मा की कहानियों की विषयवस्तु में यह विविधता और विस्तार इसलिए है कि वे स्वयं इन सबकी प्रत्यक्ष द्रष्टा रही हैं। लेखिकाओं की कहानियों में वस्तुगत विविधता और विस्तार का कारण उनका विभिन्न पृष्ठभूमियों से उद्भूत होना और व्यक्तिगत स्तर पर विविध अनुभवों से गुज़रना है। वैसे भी, हिंदी-क्षेत्र बड़ा विस्तृत और वैविध्यपूर्ण है। चंद्रकांता ने अपनी कुछ कहानियों में कश्मीरी संस्कृति और आतंकवाद के कारण उत्पन्न वहां की पीड़ा का मार्मिक चित्रण किया है। उषाकिरण ख़ान की कुछ कहानियों में मिथिलांचल के चित्र हमें देखने को मिलते हैं। ऋता शुक्ला की कहानियों में बिहार के संक्रमणशील गांवों की व्यथा-कथा कही गयी है। अलका सरावगी की कहानियों में मारवाड़ी समाज का यथार्थ उभर कर सामने आया है।

चूंकि अधिकांश लेखिकाएं गृहणियां भी हैं। इसलिए परिवार में, चाहे उसका आकार-प्रकार कैसा भी क्यों न हो, उनकी संसक्ति अवश्य रही है। वे पुरुष की तरह परिवार से आंशिक रूप में भी असंसक्त नहीं रह सकतीं। इसलिए उनकी कहानियों में परिवार, उसकी विभिन्न स्थितियों, परिवार में घटने वाली घटनाओं, परिवार के सदस्यों की मन:स्थितियों, उनकी सुदशा-दुर्दशा आदि के अंतरंग, मार्मिक और प्रामाणिक विवरण और चित्रण मिलते हैं। इनमें एक चीज़ तो प्राय: सभी लेखिकाओं की कहानियों में मिलती है, और वह है परिवार में स्त्री की स्थिति। दूसरी चीज़ है, पारिवार में वृद्ध माता-पिता की स्थिति। बदलते हुए आर्थिक-सामाजिक परिवेश में परिवार इकाई परिवार बन रहे हैं, जिनमें पारस्परिक सहिष्णुता क्षीण हो रही है। जब पति-पत्नी परस्पर सामंजस्य बैठाने और एक-दूसरे को सहने के लिए तैयार नहीं हैं, तब वृद्धों को कौन सहेगा, उनके साथ कौन सामंजस्य बैठायेगा? अनेक लेखिकाओं ने अपनी कहानियों में वृद्धों की दुर्दशा का चित्रण किया है। राजी सेठ, मंजुल भगत, सुधा अरोड़ा, सूर्यबाला, चद्रकांता, नमिता सिंह, अलका सरावगी आदि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की कहानियों में परिवार के अंतरंग चित्र और वृद्धों के अकेलेपन, उनकी आर्थिक परनिर्भरता और नयी पीढ़ी के द्वारा उनकी उपेक्षा के कारण होने वाली उनकी दुर्दशा के मार्मिक चित्र मिल जायेंगे। इस प्रकार लेखिकाओं की कहानियों में वस्तुगत विविधता है, यद्यपि उनकी कहानियों की धुरी स्त्री-पुरुष-संबंधों के द्वंद्व और विविध आयाम हैं। लेखकों की तुलना में लेखिकाओं ने अपनी कहानियों में शिल्पगत प्रयोग कम ही किये हैं। संभवत: इसलिए कि उनके पास कहने के लिए बहुत-कुछ है और उन्हें अपने कथ्य की प्रभावशीलता में आस्था है।

स्पष्ट है कि विगत् पच्चीस वर्षों में हिंदी-कहानी बहुत समृद्ध हुई है। उसमें वस्तु और शिल्प दोनों के स्तर पर बड़ी विविधता आयी है। कारण, इस कालावधि में कहानीकार की चेतना में उसका व्यक्तिगत अनुभव छाया रहा है और वह उसी व्यक्तिगत अनुभव को अभिव्यक्ति देता रहा है। व्यक्तिगत अनुभव की केंद्रीयता उस पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की देन है, जिसमें व्यक्ति केंद्रीय महत्त्व की चीज़ बन गया है और समाज हाशिये पर पड़ गया है। इसीलिए इस काल की कहानियों के पात्र, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, अपनी अस्मिता, स्वायत्तता और विशिष्टता के लिए अत्यधिक बेचैन दिखायी देते हैं—स्त्री पात्र, विशेष रूप से। इस काल के कहानीकारों के सरोकार भी क्रमश: छोटे होते जा रहे हैं।

## निबंध

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने वैचारिक निबंधों को उत्कर्ष की चरम ऊंचाई पर पहुंचा दिया था, मुख्यत: मनोविकार-संबंधी निबंधों को, इसलिए छायावादोत्तर काल में हिंदी-निबंध अन्य दिशाओं की ओर मुड़ा। जहां तक विचारात्मक निबंधों का संबंध है, समीक्षात्मक निबंध ही अधिक लिखे गये, यद्यपि व्यक्तित्वव्यंजक निबंधों की संख्या भी काफ़ी बड़ी है। शुक्ल जी के समीक्षात्मक निबंधों की परंपरा की अगली कड़ी के रूप में **नंददुलारे वाजपेयी** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'जयशंकर प्रसाद', 'आधुनिक साहित्य', 'नया साहित्य : नये प्रश्न' आदि में संकलित निबंधों में उनकी सूक्ष्म पकड़, संतुलित दृष्टि, गत्यात्मकता और रचनात्मकता का परिचय मिलता है। समसामयिक साहित्यिक आंदोलनों और विचार-सरणियों के बीच धंस कर भी वे ऐसे प्रश्नों की खोज में रहते थे, जो वादमुक्त मानवीय गत्यात्मकता से संबद्ध हों। वैयक्तिकता, व्यंग्य-विनोद आदि की झांकी भी उनके निबंधों में विद्यमान है। रत्नाकर, अज्ञेय आदि से संबद्ध निबंधों में व्यंग्य एक जगह अपना अर्थ दे कर ही ख़त्म नहीं हो पाता, अपितु वह पूरे निबंध के संबंध में लेखकीय दृष्टिकोण और अभिगम की सूचना देता है, अर्थात इससे संबद्ध निबंध की अर्थवत्ता को नयी सांकेतिकता मिलती है।

इस काल के सबसे महत्त्वपूर्ण निबंधकार **हजारीप्रसाद द्विवेदी** हैं। उनके ललित निबंधों में सांस्कृतिक विरासत के वर्चस्व के साथ नवीन जीवनबोध, उत्कट जिजीविषा और नयी सामाजिक समस्याओं के बीच राह पाने की ललक सर्वत्र दिखायी पड़ती है। द्विवेदी जी का व्यक्तित्व लचीला और निरंतर विकासमान है। देश की नयी-से-नयी गत्यात्मक विचारधारा से वे अपने को ही जोड़ लेते हैं और इस प्रकार अपनी ऐतिहासिक दृष्टि को नये सिरे से समंजित करते रहते हैं। विद्वत्ता और सहृदयता का जो संयोग उनके निबंधों में मिलता है, वह सामान्यत: विरल होता है। 'अशोक के फूल' (1948), 'विचार और वितर्क' (1949), 'कल्पलता' (1951), 'विचार-प्रवाह' (1959) 'कुटज' (1964) और 'आलोकपर्व' (1972) उनके निबंध-संग्रह हैं, जिनमें प्राय: समीक्षात्मक निबंधों के साथ ही ललित निबंध भी संगृहीत हैं। द्विवेदी जी के ललित निबंधों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की विकास-यात्रा का लेखा-जोखा, लेने पर कहना होगा कि संघर्षों के कारण उनके परवर्ती निबंधों में जीवनोन्मुखता अधिक निखर उठती है। 'कुटज' से एक उद्धरण द्रष्टव्य है :

> *"कुटज क्या केवल जी रहा है? वह दूसरों के द्वार पर भीख माँगने नहीं जाता—अपनी उन्नति के लिए अफ़सरों का जूता नहीं चाटता—आत्मोन्नति के हेतु नीलम नहीं धारण करता—दाँत नहीं निपोरता—जीता है और शान से जीता है। कहाँ से मिली है अकुतोभयावृत्ति, अपराजित स्वभाव, अविचल जीवनदृष्टि!"*

द्विवेदी जी ने पांडित्य अर्जित किया है, किंतु मनुष्यता भी उनमें कम नहीं है, फलस्वरूप पांडित्य को सहजता की ओर ले जाना उनका स्वभाव है। इतिहास, पुराण, साहित्य आदि से गंभीर-से-गंभीर तथ्य उठाते हुए, वे प्रायः उन्हें समसामयिकता से जोड़ देते हैं। अतः उनके निबंध न तो गंभीरता का तेवर छोड़ते हैं और न सजहता का बाना। उनकी रचनाप्रक्रिया में पांडित्य और सहजता का जो तनाव मिलता है, उसे पकड़ पाने के लिए पाठकों को भी संदर्भों की जानकारी होनी चाहिए, अन्यथा उनके निबंधों के सौंदर्यबोध को समग्रतः आयत्त नहीं किया जा सकता। भाषा की लय, गुंफित पदावली, विषयांतर, वस्तुओं के बिंबात्मक चित्रण आदि से द्विवेदी जी के निबंध एकतान, अन्वितिपूर्ण और संश्लिष्ट हो गये हैं। ललित निबंधों के अतिरिक्त उन्होंने विचारपरक, शोधपरक और समीक्षात्मक निबंध भी लिखे हैं। शोधपरक निबंधों से विद्वत्ता की गहरी तह में बैठ कर गहरी छानबीन की उनकी क्षमता का परिचय मिलता है। यह निर्विवाद है कि द्विवेदी जी इस काल के या संपूर्ण आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ निबंधकार हैं।

आलोच्यकाल के निबंधकारों में **जैनेंद्र** का स्थान भी काफ़ी ऊंचा है। अपनी कहानियों और उपन्यासों में उन्होंने जिस सोच-विचार और दार्शनिक मुद्राओं को अपनाया है, उन्हें मानो उनके निबंधों में सही भूमि मिल गयी है। जैनेंद्र की दार्शनिकता बहुत-कुछ निजी है, और इस निजीपन के कारण ही उनके निबंध ऊब पैदा नहीं करते। नयी अर्थवत्ता के प्रति जागरूक रहने के साथ ही उन्होंने निबंधों में सरसता का भी पूरा ध्यान रखा है। उनके विचारों की विस्तृत सीमा में अनेक प्रकार के विषय समाहित हो जाते हैं। धर्म, राजनीति, संस्कृति, साहित्य, सेक्स, काम, प्रेम, विवाह आदि विषयों पर व्यक्त किये गये उनके विचारों से यह प्रतीत होता है कि वे अपने चतुर्दिक फैली हुई समस्याओं से निरंतर जूझते रहे हैं। 'जड़ की बात', 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', 'सोच-विचार', 'मंथन', 'ये और वे', 'इतस्ततः' आदि उनके निबंध-संग्रह हैं। गांधीवादी होने के कारण वे 'सत्य, अहिंसा, आत्मसमर्पण और हृदय-परिवर्तन' में विश्वास करते हैं। इसलिए बदले हुए ज़माने में भी उनकी परिणतियां कहीं-कहीं युगानुरूप नहीं बन पातीं। उनके कुछ निबंध निर्बंध हैं और कुछ विचारप्रधान, किंतु भाषा की व्याकरणिकता की चिंता उन्होंने कहीं भी नहीं की, अभिव्यक्ति के सहज प्रवाह पर ही उनका बल रहा है। निर्बंध निबंधों में उनकी अंतरंगता दिखायी पड़ती है, तो विचारात्मक निबंधों में वस्तुनिष्ठता। वैसे, वस्तुनिष्ठता में भी निजीपन का रंग है।

हिंदी में प्रभाववादी समीक्षा के अग्रदूत **शांतिप्रिय द्विवेदी** ने समीक्षात्मक निबंधों के अतिरिक्त साहित्येतर विषयों पर निर्बंध निबंध भी लिखे हैं। उनके समीक्षात्मक निबंधों में भी निर्बंध निबंधों का स्वाद मिलता है। वे प्रकृति से तरल, आत्मनिष्ठ और भावुक साहित्यकार थे—छायावादी काव्य के मानवीकरण अलंकार। उनकी तरलता, सहृदयता और अंतरंगता के दर्शन उनके निबंधों में सर्वत्र होते हैं। 'संचारिणी' (1939), 'युग और साहित्य' (1941), 'सामयिकी' (1944), 'धरातल' (1948), 'प्रतिष्ठान' (1953), 'साकल्य' (1955), 'आधान' (1957),

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'वृंत और विकास' (1959) आदि उनके प्रमुख निबंध-संग्रह हैं। अपने जीवन में वे अभावग्रस्त और उपेक्षित रहे, फिर भी निरंतर साहित्य-साधना में जुटे रहना उनके जीवट का परिचायक है। वे सौंदर्य-संस्कारिता के उपासक थे। संस्कारिता के अभाव में बाह्य उपकरणों द्वारा न तो समाज का कल्याण हो सकता है न व्यक्ति का, ऐसा उनका विश्वास था। प्रगतिशीलता के विरोधी वे कभी भी नहीं रहे, पर ग़रीबी, अभाव और पीड़ा को वे सृजन के मार्ग में बाधक नहीं मानते थे। उनके समीक्षात्मक निबंधों में जगह-जगह सूक्ष्म पकड़ और अंतर्दृष्टि दिखायी पड़ती है। भावुकता और संवेदना के कारण विषय का आत्मीयतापूर्ण प्रतिपादन और भाषा की रागात्मकता उनके निबंधों की सहज विशेषताएं हैं।

**रामधारीसिंह 'दिनकर'** भी समय-समय पर महत्त्वपूर्ण निबंध लिखते रहे हैं। अधिकांश निबंधों में उनका विचारक पक्ष ही अधिक उभर कर आया है, पर कुछ ऐसे निर्बंध निबंध भी हैं, जो उनके अंतरंग को अधिक उद्घाटित करते हैं। 'अर्धनारीश्वर', 'मिट्टी की ओर', 'रेती के फूल', 'हमारी सांस्कृतिक एकता', 'प्रसाद, पंत और मैथिलीशरण', 'राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय साहित्य' आदि उनके अनेक निबंध-संग्रह हैं। उनके निबंधों में मानवीय आस्था का प्रतिफलन हुआ है, जिसका मूल आधार या तो मनोवैज्ञानिक है या सांस्कृतिक। पर ये दोनों आधार सहज में ही उनके अपने बन जाते हैं, फलस्वरूप वे अपनी बात को पूर्ण विश्वसनीयता के साथ पाठकों तक संप्रेषित करते हैं। किंतु प्रसाद, पंत और मैथिलीशरण की रचनाओं पर विचार करते समय उनका कवि अपनी व्यूह-रचना में फंस कर तटस्थ नहीं रह सका, फिर भी ये निबंध उनके स्वतंत्र काव्य-चिंतन और विचारणा के सूचक हैं।

समीक्षात्मक निबंधकारों में वैयक्तिकता का सर्वाधिक संस्पर्श **डॉ. नगेंद्र** के निबंधों में मिलता है। कवि-कल्पना और मनोवैज्ञानिक दृष्टि उनके व्यक्तित्व के अपरिहार्य अंग हैं। इसीलिए 'यौवन के द्वार पर' प्रभृति निबंधों में व्यक्तिव्यंजक निबंधों की निर्बंधता और आत्मीयता आ गयी है। 'चेतना के बिंब' के निबंधों में भी यह विशेषता समाविष्ट है, फलस्वरूप उनकी भाषा भी रागदीप्त हो उठी है। समीक्षात्मक निबंधों में भी उनका व्यक्तित्व सर्वत्र परिलक्षित होता है, पर इनमें वैयक्तिकता का रंग कुछ भिन्न है। विषय-प्रतिपादन में उनमें निःसंग आग्रह मिलता है, अथवा यों कहें कि वे अपने ही आग्रह के प्रति निःसंगता बरतते हैं। बार-बार अपने ही से सवाल पूछना और अपनी ही मान्यताओं के प्रति शंकालु हो उठना, निःसंगता के अभाव में संभव नहीं है। निःसंगता और आग्रह के बीच की तनावपूर्ण स्थितियां ही उनसे निबंधों का सृजन कराती हैं। कार्यकारण की विशिलष्ट शृंखला, पैने तर्कों और विश्लेषण की अद्भुत क्षमता ने उनके निबंधों को विश्वसनीय बनाने में पूरा योग दिया है। 'आस्था के चरण' उनके निबंधों का बृहत् संग्रह है।

**अज्ञेय** अपने निबंधों में अपना अनुभूत लिखते हैं : 'त्रिशंकु', 'आत्मनेपद' और 'हिंदी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' में संगृहीत निबंधों में अनुभूत का वैचारिक विश्लेषण मिलता है। 'आत्मनेपद' के निबंध वैयक्तिक संदर्भों में लिखे जा कर भी निर्वैयक्तिक आधुनिक संदर्भों की सृष्टि करते हैं। निजीपन उनकी विशेषता है, तो वही उनकी खामी भी है, क्योंकि उसी के कारण वे रह-रह कर उपमा और उत्प्रेक्षा के कोष लुटाते चलते हैं। इस प्रकार इसमें भाषायी अलंकरण विचारों का आवरण बन गया है। 'हिंदी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' के अधिकांश निबंधों को उनके चिंतन के अगले चरण के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। यहां उनकी भाषा में संश्लिष्टता आ गयी है, इसलिए विचार भी संश्लिष्ट हो सके हैं। अज्ञेय ने कुछ निबंध 'कुट्टिचातन' के नाम से भी लिखे हैं। कुट्टिचातन के नाम से उनके ललित निबंधों का एक संग्रह 'सब रंग' शीर्षक से भी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रकाशित हुआ है। अज्ञेय के नवीनतम प्रकाशित निबंध-संग्रह हैं : 'आलवाल' (1971), 'भवंति' तथा 'लिखि कागद कोरे' (1972)।

साहित्येतर विषयों पर ललित निबंध की रचना की ओर अनेक लेखक प्रवृत्त हुए हैं। **रामवृक्ष बेनीपुरी** के निबंध 'गेहूं और गुलाब' (1950) तथा 'वंदे वाणी विनायकौ' (1957) में संगृहीत हैं। 'गेहूं' भूख का प्रतीक है, तो गुलाब कला और संस्कृति का। मानवीय जीवन में भूख का जितना महत्त्व है, उतना ही महत्त्व कला और संस्कृति का भी है। बेनीपुरी जी की भाषा में या तो आवेगमयता है या प्रशांति, उसमें जटिलता कहीं भी नहीं है। **श्रीराम शर्मा** ने शिकार-संबंधी रोचक निबंधों की रचना की है, जिनमें साहसिक वृत्तांतों को ग्रामीण पृष्ठभूमि, प्रकृति के ब्योरेवार दृश्यचित्रण और अछूते मानवीय जीवन के मर्मस्पर्शी आयामों में चित्रित किया गया है। **देवेंद्र सत्यार्थी** के निबंधों में धरती की सोंधी गंध और लोकजीवन की ताज़गी मिलती है, जिसका श्रेय उनकी घुमक्कड़ ज़िंदगी को है। 'धरती गाती है', 'एक युग : एक प्रतीक' और 'रेखाएं बोल उठीं' उनके निबंध-संग्रह हैं। घुमक्कड़ी जीवन की निर्बंधता **भदंत आनंद कौसल्यायन** के निबंधों में भी मिलती है। दृष्टांत कथाओं द्वारा विषय का स्पष्टीकरण, गांधीवादी दृष्टिकोण और प्रगतिशील राजनीतिक चेतना का समावेश उनके निबंध-संग्रह 'जो भूल न सका' की विशेषताएं हैं।

**वासुदेवशरण अग्रवाल** ने जहां 'पृथिवीपुत्र' तथा 'कला और संस्कृति' के निबंधों में भारतीय संस्कृति के विविध आयामों को विद्वत्तापूर्ण ढंग से उद्घाटित किया है, वहीं **यशपाल** ने अपने कथा-साहित्य की भांति निबंधों में भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण को ग्रहण किया है। समानता और समाजवाद के विरोध में पड़ने वाले धर्म, संस्कृति, कला, साहित्य आदि की उन्होंने कड़ी भर्त्सना की है। 'चक्कर क्लब', 'देखा सोचा समझा', 'बात बात में बात', 'गांधीवाद की शवपरीक्षा', 'न्याय का संघर्ष' आदि में उनके शताधिक निबंध संगृहीत हैं। **गुलाबराय** के निबंध 'मन की बातें' (1954) और 'मेरे निबंध' (1955) में संगृहीत हैं, किंतु उनमें निर्बंध भावुकता के स्थान पर विचारात्मकता अधिक है। **बनारसीदास चतुर्वेदी** के निबंध-संग्रहों—'साहित्य और जीवन', 'हमारे आराध्य'—में भी यही प्रवृत्ति लक्षित होती है। किंतु **माखनलाल चतुर्वेदी**-कृत 'अमीर इरादे : ग़रीब इरादे' (1960) में भावुकता का प्राधान्य है। **कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर** के निबंधों—'ज़िंदगी मुस्कराई', 'बाजे पायलिया के घुंघरू', 'महके आंगन चहके द्वार' आदि में संकलित—में भी करुणा, व्यंग्य और भावुकता का लगभग ऐसा ही सन्निवेश मिलता है, किंतु चतुर्वेदी जी की तुलना में उनकी शैली में अधिक स्पष्टता है। **भगवतशरण उपाध्याय** ने 'ठूंठा आम' और 'सांस्कृतिक निबंध' में इतिहास और संस्कृति की पृष्ठभूमि में निबंध लिखे हैं और अश्क के 'मंटो : मेरा दुश्मन' में आत्मीयता और खरापन दोनों दिखायी पड़ते हैं।

इधर के लेखकों में प्रभाकर माचवे, विद्यानिवास मिश्र, धर्मवीर भारती, शिवप्रसाद सिंह, कुबेरनाथ राय, ठाकुरप्रसाद सिंह आदि के ललित निबंधों के संग्रह प्रकाशित हुए हैं। **माचवे** के 'ख़रगोश के सींग' में व्यंग्य की जगह विनोद अधिक है। **विद्यानिवास मिश्र** ने ललित निबंधों को गंभीरतापूर्वक लिया है। 'छितवन की छांह' (1953), 'तुम चंदन हम पानी' (1957), 'आंगन का पंछी और बनजारा मन', 'मैंने सिल पहुंचाई', 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' आदि में संगृहीत निबंधों में भारतीय साहित्य और संस्कृति को लोकजीवन के साथ जोड़ने का उन्मुक्त प्रयास किया गया है। **भारती** के निबंधों पर पांडित्य का लदाव नहीं है। वे आडंबरहीन भाषा में प्रकृति से गहन सान्निध्य स्थापित कर सकते हैं, दार्शनिक चिंतन कर सकते हैं और हलके-फुलके व्यंग्य-विनोद द्वारा हिपोक्रेसी का पर्दाफाश करते हुए भी लिख सकते हैं। 'ठेले पर हिमालय', 'कहनी-अनकहनी',

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'पश्यंती' आदि उनके निबंध-संग्रह हैं। शिवप्रसाद सिंह का 'शिखरों के सेतु' भावनात्मक ललित निबंधों का अच्छा संकलन है। विद्यानिवास मिश्र की तरह **कुबेरनाथ राय** भी हजारीप्रसाद द्विवेदी-संस्थान के निबंधकार हैं, फ़र्क़ यह है कि मिश्र जी द्विवेदी जी के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं, जबकि कुबेरनाथ राय उनसे मुक्त हो कर नयी भंगिमा अपनाने के लिए निरंतर प्रयत्नशील हैं। उनके निबंध-संग्रहों—'प्रिया नीलकंठी', 'रस आखेटक', 'गंधमादन' और 'विषाद योग' में सांस्कृतिक संदर्भों से फूटते हुए जीवन के आधुनिक आयामों तथा उनमें से झांकते जीवन को देखा जा सकता है। **ठाकुरप्रसाद सिंह** के निबंधों में व्यंग्य की बड़ी मारक शक्ति है। उन्होंने कड़वे तीखे भोग को सामाजिक समस्याओं से संदर्भित करते हुए शब्दबद्ध किया है। उनकी भाषा में लाक्षणिकता की जो धारा दिखायी देती है, वह उनके व्यंग्य को दूरगामी और पैना बना देती है। ललित निबंधों की परंपरा को समृद्ध करने वाले अन्य रचनाकार हैं, विवेकी राय (फिर बैतलवा डाल पर), लक्ष्मीकांत (मैंने कहा), केदारनाथ अग्रवाल (समय-समय पर), लक्ष्मीचंद्र जैन (काग़ज़ की किश्तियां) आदि।

हास्य-व्यंग्य लेखकों में **बेढव बनारसी** पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपने निबंधों द्वारा इस दिशा में पहल की। यद्यपि उनका उद्देश्य प्रकाश्य रूप से हंसी और विनोद का सृजन था, फिर भी परोक्ष रूप से राजनीति और समाज की विसंगतियों पर वे गहरा व्यंग्य करते थे। श्रीनारायण चतुर्वेदी ने भी विनोद शर्मा के छद्मनाम से 'राजभवन की सिगरेटदानी' में परिपक्व व्यंग्य-प्रतिभा का परिचय दिया है। वर्तमान व्यंग्यकारों में हरिशंकर परसाई, केशवचंद्र वर्मा, लक्ष्मीकांत वर्मा, भीमसेन त्यागी, रवींद्रनाथ त्यागी, शरद जोशी, नरेंद्र कोहली आदि ने भी काफ़ी संख्या में व्यंग्यात्मक निबंधों की सृष्टि की है। इनमें **हरिशंकर परसाई** का नाम प्रमुख है। उनके व्यंग्य सामान्यतः मूल्यगत विसंगतियों से संबद्ध होते हैं—मूल्य चाहे राजनीतिक हों, चाहे सांस्कृतिक या पीढ़ीगत। 'भूत के पांव', 'सदाचार का ताबीज' और 'निठल्ले की डायरी' में उनके व्यंग्य-लेख संगृहीत हैं। केशवचंद्र वर्मा, रवींद्रनाथ त्यागी प्रभृति लेखकों ने व्यंग्य-लेखन की यही पद्धति अपनायी है। सामाजिक व राजनीतिक विसंगतियों पर प्रहार करने के लिए इन्होंने कहीं नाटकीय ढंग अपनाया है और कहीं अपने विचारों को वैयक्तिक धरातल पर उन्मुक्त ढंग से प्रस्तुत किया है।

समीक्षात्मक निबंधों की रचना भी इधर बहुल परिमाण में हुई है, किंतु इस दिशा में निबंधकारों की उपलब्धियों का मूल्यांकन छायावादोत्तर हिंदी-आलोचना के संदर्भ में ही उचित होगा।

## अद्यतन हिंदी-निबंध-I

(1975 से 1981 तक)

समसामयिक हिंदी-निबंध में वैचारिक खुलापन आने के साथ-साथ युग की समस्याओं, जटिलताओं व चुनौतियों पर तार्किक बहस-केंद्रित विवेक-वयस्कता में पर्याप्त वृद्धि हुई है। अनेक प्रकार की गद्य-विधाओं के विकास ने हिंदीगद्य को जो प्रौढ़ता प्रदान की है, उसका पूरा लाभ इधर के वर्षों में समीक्षात्मक तथा ललित व्यक्तित्वव्यंजक निबंधों ने उठाया है। आज निबंध अधिक एकाग्र आत्मदानप्रेरित विधा के रूप में गतिशील है और निबंधकारों की वृत्तियां गहरी एकाग्रता से केंद्रित जान पड़ती हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी की निबंध-परंपरा का विकास यहां अवरुद्ध न हो कर, नयी चिंतन-पद्धतियों और अभिव्यक्ति की भंगिमाओं में प्रस्फुटित होता है। अज्ञेय, विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय, निर्मल वर्मा, रमेशचंद्र शाह, शरद जोशी, जानकीवल्लभ शास्त्री, रामेश्वर शुक्ल अंचल, नेमिचंद्र जैन, विष्णु प्रभाकर, जगदीश चतुर्वेदी, डॉ. देवराज,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

डॉ. नामवर सिंह, विवेकीराय आदि ने हिंदी-गद्य की निबंध-परंपरा को न केवल आगे बढ़ाया है, बल्कि उसमें कुछ ऐसे विशिष्ट प्रयोग किये हैं, जो हिंदी-निबंध की शक्ति एवं संभावनाओं के प्रति आश्वस्त करते हैं। निबंध की रचनावृत्ति रोमैंटिक भावावेग के बोध से बाहर निकल कर ग़ैर-रोमैंटिक बौद्धिक रुझानों की ओर झुकती प्रतीत होती है। ललित-निबंधों ने सर्जनात्मकता के लुभावने स्पर्श से नया आलोक पाया है। निबंधकार अपने युग और अपने निजी व्यक्तित्व का यहां प्रत्यक्ष रूप से सामना करता है और व्यक्तित्व की यह समृद्धि और शक्ति निबंधों की रचनात्मकता में उपयुक्त तत्त्व सिद्ध हुई है। रेखाचित्र, संस्मरण, आत्मकथा आदि सभी निबंध की नयी शैली में मथ कर नये रूपों-छवियों में आ रहे हैं। स्थिति यहां तक आ गयी है कि अब निबंधों को भावनात्मक व वैचारिक निबंधों में वर्गीकृत करने वाला पुराना सांचा अपर्याप्त हो गया है। आज जटिल राजनीतिक परिस्थिति पर भी व्यंग्यशैली में वैचारिक गहनता से निबंध लिखा जा रहा है और सांस्कृतिक विषयों पर निहायत अगंभीर ढंग से ललित निबंध भी। आज ऐसा कोई विषय नहीं है, जो निबंध की व्यापक परिधि के अंतर्गत समाहित न हो पाता हो। अत: निबंधों को साहित्यिक—ग़ैर-साहित्यिक की दो कोटियों में विभक्त करने से बात नहीं बनती। कारण, ज्ञान के सभी अनुशासन आज के निबंधों में समन्वित, समंजित दृष्टि से निथुर कर आ रहे हैं।

इस कालखंड में अज्ञेय जी के निबंधों ने पाठकों का ध्यान सर्वाधिक आकृष्ट किया है। अज्ञेय जी के समीक्षात्मक निबंध साहित्य के सवालों को साहित्य में उगा कर ही नहीं काट देते। उनके लिए ये सवाल मानव-संस्कृति से जुड़े महत्त्वपूर्ण सवाल हैं, और इन सवालों के लिए रचनाकार अज्ञेय की साहित्य-दृष्टि बहुत गहरे तक जाती है। उनका साहित्य-चिंतन इतिहास, संस्कृति और परंपरा का एक भरा वाद्ययंत्र है, इसमें सिर्फ़ कला या साहित्य की एकल तान नहीं है, अपितु साहित्य-विवेक और संस्कृति-मंथन इसकी एक गहन जटिल, किंतु अनिवार्य प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया अभी समाप्त नहीं हुई है। इसलिए इसमें से विचार-संवेदना की नयी ऐतिहासिक दृष्टि, मूल्यदृष्टि का विकास आधुनिक दृष्टि के भीतर से पक कर होता है। नये-पुराने साहित्य, संस्कृति या किसी अन्य विषय को निबंधों में तथ्य से तत्त्व में बदल डालने की सृजनात्मक वैचारिकता ने केंद्रीय स्थान बनाया है। इस चिंतन में आत्मान्वेषण और आत्मालोचन का आत्मसंघर्ष अपनी प्रबलता से झकझोरता है। अज्ञेय की चिंता जीवन के कुंठित और भ्रष्ट हो गये अर्थ को, खोये हुए अर्थ को, फिर से रचने और परोसने की चिंता है। सामूहिक चेतना की मूलभूत वास्तविकताओं के साथ साझेदारी, युग-यथार्थ के साथ बौद्धिक टकराहट, प्रयोग, परंपरा और संप्रेषणता के रिश्तों को फिर से क़ायम करने की बेचैनी, इन निबंधों में निरंतर कौंधती रहती है। 'आत्मपरक' (1983) के निबंध 'आत्मनेपद' और 'लिखि कागद कोरे' निबंध-संग्रहों के निबंधों को एक साथ लाते हैं। इनमें 'प्रयोग और प्रेषणीयता', 'प्रतीकों का महत्त्व', 'प्रतीक और सत्यान्वेषण', 'श्लील और अश्लील', 'भारतीयता', 'अर्थ और यथार्थ' जैसे निबंधों को स्थान मिला है। 'केंद्र और परिधि' (1984) संग्रह में पूर्व प्रकाशित निबंध-संग्रह 'अद्यतन', 'स्रोत और सेतु', 'युग-संधियों पर', 'घाट और किनारे' एकत्रित हैं। 'अद्यतन' में 'सांस्कृतिक समग्रता : भाषिक वैविध्य', 'इतिहास और सांस्कृतिक विकास', 'निरंतरता और स्वतंत्रता' जैसे निबंधों के साथ शिक्षा और भाषा पर विचारपरक निबंध हैं। 'स्रोत और सेतु' का चिंतक 'मेरी स्वाधीनता सबकी स्वाधीनता', 'गुण का आस्वाद', 'भाषा और समाज', 'व्यक्ति और समाज', 'व्यक्ति और व्यवस्था' के संदर्भों-प्रसंगों का विश्लेषण करता है। 'युग-संधियों पर' में 'संस्कृति : यहां, वहां या क़ब्र में?', 'देशीयता और मौलिकता', 'मानव होने का दर्द', 'राजनीतिक संस्कृति और सामाजिक संस्कृति' जैसी प्रश्नाकुलताओं-चिंताओं को तत्त्व से

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पकड़ा गया है और 'घाट के किनारे' में, 'संस्कृति की चेतना', 'भारतीय संस्कृति और विश्वसंस्कृति', 'आधुनिकता : संवेदन और संप्रेषण', 'मानव : प्रतीक स्रष्टा', 'विराट् का संस्पर्श' जैसे निबंध हैं, जो भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता के आलोक को उजागर करते हैं। 'सर्जना और संदर्भ' (1985) 'त्रिशंकु' 'हिंदी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य', 'आलवाल', 'जोग लिखी', 'धार और किनारे' निबंध-संग्रहों का एक बड़ा संग्रह है। 'भवंती', 'अंतरा', 'सब रंग और कुछ राग', 'संवत्सर' आदि अज्ञेय के अन्य निबंध-संग्रह है। देखा जाये तो 'संवत्सर' गंभीर सर्जनात्मक निबंधविधा की एक विशिष्ट उपलब्धि है। इसमें 'दिग्विहीन', 'वर्गवृत्त', 'संवत्सर', 'काल मृगया', 'शाश्वतकाल : इतिहास का अनुभव', 'मानवीय काल : अनुभव का क्रम', 'साहित्यिक काल : यथार्थ का क्रम', 'संप्रेषण का काल : भाषा का क्रम' जैसे निबंधों से नया कालचिंतन किया गया है। लेकिन इन निबंधों में निजीबोध का स्तर इस ढंग का है कि इन्हें व्यक्तिपूरक ललित निबंध कहा जा सकता है। यह कालचिंतन साहित्य के प्रति एक नयी दृष्टि और समझ से प्रेरित है।

संस्मरणात्मक निबंधों की पुस्तक 'स्मृतिलेखा' (1982) और व्यक्तिव्यंजक ललित निबंधों की रम्य रंगशाला 'कहां है द्वारका' (1982) हिंदी में निबंध विधा को एक नया सर्जनात्मक आयाम देती है। 'स्मृतिलेखा' एक प्रकार से हिंदी के विशिष्ट आधुनिक रचनाकारों का स्मृतिपरक इतिहास है, जिसमें भविष्य के हिंदी-साहित्य के इतिहास-लेखकों के लिए बहुत सामग्री है। भाव व विचार की गरिमा को सुरक्षित रखते हुए भी ललित निबंध कितना रम्य हो सकता है—यह उदाहरण 'कहां है द्वारका' के निबंध प्रस्तुत करते हैं। यहां वैचारिक चिंतनपरक निबंधों वाली कठिनाई नहीं है, बौद्धिकता से उत्पन्न ऊब नहीं है, ज्ञान की सीढ़ियों पर चढ़ने-उतरने की 'संवत्सर' के निबंधों वाली कसरत नहीं है। इन वैचारिक निबंधों को पढ़ने का साहस हर कोई नहीं कर सकता, क्योंकि विचार की स्तरीयता तक उठ पाना संस्कारी पाठक के ही वश की बात है, सबके वश की बात नहीं। फिर अज्ञेय हर समय यह याद रखते हैं कि वे नये रचनाकार हैं, विशिष्ट रचनाकार हैं, अद्वितीय अनुभव के कवि हैं, चिंतक और कलाकार हैं। इस बौद्धिक अंतर्मानसिकता ने अज्ञेय के निबंधों को विचार-गरिष्ठ बना दिया है। दूसरे, अज्ञेय जी के निबंध जयशंकर प्रसाद के निबंध-सग्रह 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' की याद दिलाते हैं। प्रसाद की भांति अज्ञेय के निबंधों की मूल चिंता भारतीय सांस्कृतिकबोध से निष्पन्न मूल्य-दृष्टि से जुड़ी रही है। प्रसाद जी संस्कृतिबोध को निबंधों में चिंतन से हिला-डुला कर पहचान करते हैं, और अज्ञेय संस्कृतिबोध, साहित्यबोध को चिंतन से कूट-फटक कर साफ़ करने के बाद परोसते हैं।

इधर आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक, सांस्कृतिकबोधपरक सृजनात्मक ललित विचारचेतना को पं. विद्यानिवास मिश्र के निबंधों ने आधुनिक विस्तार दिया है। आचार्य द्विवेदी के निबंधों की ललित शैली का विद्यानिवास के निबंध सच्चे अर्थों में लालित्यबोधीय आलोक फैलाते हैं। इनमें लोकसंवेदना और लोकहृदय की पकड़ बड़ी मर्मस्पर्शी है। मिश्र जी के निबंधों से एक ऐसे व्यक्ति का चित्र सामने आता है, जो भारतीय सारस्वत परंपरा को, उनके मूल्यबोध को बेहतरीन ढंग से व्यक्त करने में सर्वथा सक्षम है। इन ललित निबंधों के संवेगों की गंध प्राणों को जातीय स्मृति, देशाभिमान, संस्कृति का उज्ज्वल राग-रंग और ऐतिहासिक विवेक से तादात्म्य कराती हुई चेतना में रच-पच जाती है। पश्चिमी संस्कृति का नक़ली अनुकरण और आज के मानव का खोखलापन मिश्र जी के निबंधों में दर्द बन कर उभरता है। शिक्षा, संस्कृति और साहित्य इन ललित निबंधों के तीन नेत्र हैं, इन्हीं से हेरते हुए वे 'नया अर्थ' पाते हैं। मिश्र जी ने साफ़ कहा है, ''वैदिक सूत्रों के गरिमामय उद्गम से ले कर लोकगीतों के महासागर तक जिस अविच्छिन्न प्रवाह की उपलब्धि होती

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है उस भारतीय परंपरा का मैं स्नातक हूं'' (हिंदू धर्म : जीवन में सनातन की खोज—भूमिका)। इसी चिंतनधारा के प्रवाह से 'परंपरा बंधन नहीं', 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है', 'वसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं', 'कंटीले तारों के आर-पार', 'संचारिणी', 'कौन तू फुलवा बीनन हारी', 'अस्मिता के लिए', 'भ्रमरानंद के पत्र', 'अंगद की नियति', 'चितवन की छांव', 'क़दम की फूली डाल', 'तुम चंदन हम पानी', 'आंगन का पंछी और बंजारा मन', 'मैंने सिल पहुंचाई', 'साहित्य की चेतना', 'महाभारत का काव्यार्थ', 'लागौ रंग हरी' तथा 'अग्निरथ' जैसे निबंध-संग्रहों की एक लंबी परंपरा है। 'अग्निरथ' के व्यक्तिव्यंजक निबंध पूर्व निबंध-संग्रहों से अलग हैं। इनमें आधुनिकता की मार, देशकाल की विसंगतियों और मानव की यंत्रदासता से उत्पन्न पीड़ा घुमड़ रही है। ये निबंध 'आत्मा की गहरी काली रात' की छटपटाहट से फूटे हैं। इसलिए इनमें चुभन-भरे अनुभवों की बबूल पीड़ाएं तनी खड़ी मिलती हैं। युगबोध से यह एक निर्मम साक्षात्कार है, जिससे सजग लेखक बच नहीं सकता। और यदि बचता है, तो वह खुद को ही अप्रासंगिक बना लेता है। मिश्र जी ने इस दृष्टि से अपने को प्रासंगिक बनाये रखा है और चिंतन की मशाल से अंधेरे को ललकारा है। सभी निबंधों में मिश्र जी 'पुरातन से अद्यतन' और 'अद्यतन से पुरातन ' तक की बौद्धिक यात्रा करते हैं। वे केवल 'ललित निबंधों' में 'ललित' बात ही कह कर नहीं रह जाते; बल्कि चोट करने वाली, सोचने-समझने को विवश करने वाली, गहरी तीखी और चुनौती-भरी बात भी डट कर कहते हैं। पश्चिमी साहित्यों-संस्कृतियों के गहरे परिचय ने मिश्र जी को आतंकित नहीं किया है, बल्कि उनकी भारतीयता को पुष्ट करते हुए और प्रखर बनाया है। सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों की सामयिकता 'आज तो हिंदी अपनों ही से हारी है' या 'मेरा देश वापस लाओ' जैसे निबंधों के पोर-पोर से फूटती रहती है। मिश्र जी के निबंधों का संसार इतना बहुआयामी है कि प्रकृति, लोकतत्त्व, बौद्धिकता, सर्जनात्मक, कल्पनाशीलता, काव्यात्मकता, रम्यरचनात्मकता, भाषा की उर्वर सृजनात्मकता, संप्रेषणीयता आदि सभी इन निबंधों में एक साथ अंतर्ग्रथित मिलती हैं।

समीक्षात्मक निबंधों में अपनी प्रखर बौद्धिकता और विवेक वयस्क वैचारिकता के क्षेत्र के सबसे प्रबल निबंधकार हैं—गजानन माधव मुक्तिबोध। मुक्तिबोध ने 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध', 'नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र', 'समीक्षा की समस्याएं' तथा 'एक साहित्यिक की डायरी' नामक निबंध-संग्रहों से आधुनिक सृजन-समीक्षा को नयी दृष्टि से प्रतिमान दिये हैं। इधर 'मुक्तिबो-रचनावली' (सं. नेमिचंद्र जैन) के प्रकाशन से उनके सभी विचार पाठकों को उपलब्ध हो गये हैं। मुक्तिबोध के 'कला का तीसरा क्षण', 'कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी' (एक, दो, तीन) 'सौंदर्य-प्रतीति की प्रक्रिया', 'आधुनिक हिंदी-साहित्य और नवयुग की समस्याएं', 'नवीन समीक्षा का आधार', 'मार्क्सवादी साहित्य का सौंदर्यपथ', 'समीक्षा की समस्याएं', 'काव्य की रचना प्रक्रिया', 'काव्य : एक सांस्कृतिक प्रक्रिया', 'कलात्मक अनुभव', 'मध्ययुगीन भक्तिआंदोलन का एक पहलू', 'सुमित्रानंदन पंत', 'शमशेर : मेरी दृष्टि में', 'उर्वशी : मनोविज्ञान', 'उर्वशी : दर्शन और काव्य' जैसे निबंध हिंदी-निबंध की कलात्मक प्रौढ़ता के सूचक हैं।

नये साहित्य के सिद्धांतकारों-चिंतकों में विजयदेवनारायण साही की भूमिका उल्लेखनीय है। 'नयी कविता' के सन् 1960-61 के संयुक्तांक पांच-छह में प्रकाशित उनका प्रथम निबंध 'लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' ने सभी प्रबुद्ध रचनाकारों-पाठकों-आलोचकों व मठाधीशों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया। साही जी ने परंपरा की नयी व्याख्या करते हुए, अज्ञेय का संबंधसूत्र प्रसाद ने स्थापित किया। उनका कहना है कि ''यदि परंपरा हमेशा परिवर्तन और वैपरीत्य की दिशाओं में फूटती हुई चलती है, तो अज्ञेय आगे के इतिहासकार को प्रसाद की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'परंपरा' में ही दिखलाई पड़ेंगे।'' उनका चर्चा के केंद्र में रहने वाला दूसरा निबंध है 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट'। वैसे साही ने 'राजनीति और साहित्य', 'साहित्य में गतिरोध', 'साहित्यकार और उसका परिवेश', 'आजीविका और आश्रय', 'निंतान समसामयिकता का नैतिक दायित्व' (1, 2), 'हिंदी के सृजनात्मक लेखन में 'अंग्रेज़ी-शब्दों का प्रयोग', 'हिंदी-गीत-परंपरा का नया उत्थान', 'पाश्चात्य प्रभावों के संदर्भ में वर्तमान काव्यभाषा की समस्याएं', 'साहित्यिक अश्लीलता का प्रश्न', 'विदेशी सहायता और देश पर उसका प्रभाव', 'साहित्य क्यों', 'गोदान', 'इतिहास और परंपरा', 'पुनर्मूल्यांकन किस आधार पर', 'धर्म-सापेक्ष्य और धर्म-निरपेक्ष तत्त्वों की तलाश', 'हिंदी-साहित्य और उसके आसपास', 'राजनीति में साहित्यकार', 'सांस्कृतिक परिवर्तन में पश्चिमवाद की कसौटी', 'जायसी' और 'भाषा का अवमूल्यन' आदि वैचारिक आधुनिकता और प्रखर विश्लेषण-क्षमता से हिंदी-निबंध को नयी विचार-भूमि पर ला खड़ा कर देते हैं। वैचारिक निबंधों के साथ साही ललित निबंध भी लिखने का शौक़ रखते हैं, जैसे—'अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग', 'हस्ताक्षर', 'उनके साथ यात्रा में', 'समय का व्यापार', 'बिक्कू भाई मेरे पड़ोसी', 'ठलुआ बुद्धिजीवी', 'जब ऐसा पत्नी का मायका पड़ोस में बस गया', 'कटी उम्र होटलों में', 'प्रतिभा, पकौड़ी और शागिर्द', 'आखिरी अदालत का मुक़द्दमा', 'हंसना मना है' 'अतिथि की मूर्खता पर' आदि। समीक्षात्मक निबंधों में जो वैचारिक सवालों को उठा कर बहस करता हुआ साही का व्यक्तित्व है वह इन ललित निबंधों में एकदम दूसरी छवि ले लेता है। एक सहज हास्य-व्यंग्य की चमक से ये ललित निबंध फूल-से ऐसे महक उठते हैं, जैसे सब रगड़ा-झगड़ा ख़त्म करके वे आत्मीय संवाद करना चाह रहे हों।

इधर के वर्षों में कथाकार निर्मल वर्मा ने हिंदी-निबंध को नया रूपरंग दिया है। इन निबंधों में उनकी सृजनात्मक बौद्धिक यात्राओं का एक दिलचस्प संसार है। इस संसार से निर्मल वर्मा समकालीन कला, संस्कृति, साहित्य, भाषा, दर्शन आदि के प्रश्न उठा कर पूरी शक्ति से जूझते हैं। चीज़ों के आर-पार झांकने वाली पारदर्शिता निर्मल के निबंधकार का सबसे बड़ा गुण है। उनके दो विशिष्ट निबंध-संग्रह हैं—'शब्द और स्मृति' तथा 'कला का जोखिम'। सभी निबंधों में निर्मल वर्मा की बुनियादी चिंता यही है कि ''एक संपूर्ण समाज में सृजनात्मक कल्पना की भूमिका का पुनराविष्कार कैसे किया जाये।'' ऐसे ही विचार अज्ञेय जी अपने निबंधों में उठाते हैं। अत: निर्मल और अज्ञेय के चिंतन में निकटता के अंत:सूत्र काफ़ी मिलते हैं। निर्मल के मन में जहां तक 'स्मृति' का प्रश्न है, वहां 'जिसकी सामूहिकता के घेरे में हर कलाकार दूसरों से जुड़ा है।' निर्मल मानते हैं कि भारतीय चरित्र का निर्माण दो पाटों के मध्य हुआ—व्यावहारिक स्तर पर इतिहास का स्वीकार और चिंतन-स्तर पर उसके दबाव की उपेक्षा से। 'संस्कृति, समय और भारतीय उपन्यास' निबंध में एक नयी बहस उठी है, ''उपन्यास की अर्थवत्ता यथार्थ में नहीं, उसे समेटने की प्रक्रिया में, उसके संघटन की अंदरूनी चालक शक्ति में निहित है।'' निर्मल के 'कला का जोखिम' निबंध-संग्रह में दिनोंदिन पराधीन होती सभ्यता में कला की स्वायत्तता का प्रश्न ही कला का जोखिम है एवं यही मूल प्रश्न 'रचनात्मक क्रांति की मूल चिंता का विषय' है। निर्मल वर्मा 'कला, मिथक और यथार्थ', 'परंपरा और इतिहासबोध', 'रचना की ज़रूरत', 'साहित्य में प्रासंगिकता का प्रश्न', 'रेणु : समग्र मानवीय दृष्टि', 'अज्ञेय : आधुनिकबोध की पीड़ा', 'हमारे समय का नायक', 'सुलगती टहनी' आदि में यही प्रश्न बार-बार उठाते हैं, ''हमारे युग का विशिष्ट अभिशाप यह है कि जहां कला एक तरफ़ मनुष्य के कार्यकलाप से विगलित हो गयी है, वहीं दूसरी तरफ़ वह स्वायत्त सत्ता भी नहीं बन सकी है, जो स्वयं मनुष्य की खंडित अवस्था को अपनी स्वतंत्र गरिमा से अनुप्राणित कर सके।''

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

निर्मल वर्मा से अलग विचार-दृष्टि अपनाते हुए इस कालखंड में नेमिचंद्र जैन की निबंध-यात्रा का विकास हुआ है। उनके 'अधूरे साक्षात्कार', 'रंगदर्शन', 'बदलते परिप्रेक्ष्य' तथा 'जनांतिक' के समीक्षात्मक निबंधों ने एक अलग पहचान बनायी है। 'बदलते परिप्रेक्ष्य' निबंध-संग्रह के निबंध—'साहित्य के बदलते हुए मूल्य', 'आधार की खोज', 'अनुभूति की प्रामाणिकता', 'युगीन यथार्थ की चेतना', 'व्यक्ति, समाज और साहित्य', 'राष्ट्र-संकट और साहित्यकार', 'साहित्य और नवीनता', 'कवि और जीवनबोध', 'साहित्यकार और प्रचार' अपनी वैचारिक कसावट में निबंध का नया मॉडल उभारते हैं। 'जनांतिक' निबंध-संग्रह में 'कविता और राजनीति' नामक निबंध इस दौर के समग्र परिवेश और सृजन को सामने ला देता है। डॉ. नामवर सिंह के वैचारिक-सैद्धांतिक निबंध 'कविता के नये प्रतिमान' इधर काफ़ी चर्चा का केंद्र रहे हैं। इन निबंधों ने बड़ी ज़ोर का धमाका किया है, जिनसे पुराने प्रतिमानों की चूलें हिल गयी हैं। सृजनात्मक गद्य का मोहक नमूना इनकी पुस्तक 'दूसरी परंपरा की खोज' में मिलता है। वैचारिक गद्य कितना सृजनात्मक और ललित हो सकता है—यह प्रमाण नामवर सिंह ने इन निबंधों में कलात्मक ढंग से दिया है। मार्क्सवादी निबंधकार रमेश कुंतल मेघ ने 'क्योंकि समय एक शब्द है', 'अथातो सौंदर्य-जिज्ञासा', 'साक्षी है सौंदर्यप्राश्निक' जैसी पुस्तकों में समीक्षात्मक निबंध की स्तरीयता को ज्ञान-संग्रह से बढ़ाया है।

डॉ. रामविलास शर्मा की निबंध-शैली हिंदी-गद्य में स्वच्छता, प्रखरता और वैचारिक संपन्नता के लिए वरदान सिद्ध हुई है। उनके सभी महत्त्वपूर्ण निबंधों को एक साथ सामने लाने वाले 'विराम चिह्न', 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य', 'परंपरा का मूल्यांकन', 'मानव-सभ्यता का विकास', 'भाषा, युगबोध और कविता', 'कथा-विवेचना और गद्यशिल्प', 'भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद' (भाग 1-2), 'मार्क्स और पिछड़े हुए समाज' जैसे संग्रह प्रकाशित हुए हैं। 'विराम-चिह्न' की भूमिका में उन्होंने लिखा है, ''आपसदारी में कह दूं कि मेरे निबंधों का यह सबसे अच्छा संग्रह है। यह बात दूसरी है कि मेरा कोई भी निबंध-संग्रह अच्छा न बन पड़ा हो, किंतु उनमें अंधों में काने राजा के समान ही सही, यह 'विराम-चिह्न' सर्वोपरि है।'' इस संग्रह में—'श्री गणेश', 'लक्ष्मीपूजा', 'नामकरण', 'छोटी बहू', 'धूल', 'अतिथि' आदि ललित निबंध हैं, जिनसे शर्मा जी की व्यंग्य-कला का ज्ञान होता है। शर्मा जी साहित्य के विषयों पर ही निबंध नहीं लिखते हैं वे 'क्रिकेट और विचारधारा' जैसे विषय पर भी क़लम उठा कर पाठक को चकित कर देते हैं। ज्ञान तप से सिद्ध कैसे हो जाता है—रामविलास के निबंध इसके सर्वोत्तम उदाहरण के रूप में देखे जा सकते हैं।

हिंदी-निबंध में व्यंग्य का विकास ज़ोरों से प्रगति कर रहा है। इस क्षेत्र में कुबेरनाथ राय, विवेकी राय, शरद जोशी, रवीन्द्र कालिया आदि ने हिंदी-निबंध की एक समर्थ व्यंग्य-शैली विकसित की है। सामाजिक-राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, साहित्यिक-सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों पर इन व्यंग्यकारों का ध्यान है, हालांकि ज़्यादातर व्यंग्य राजनीतिक व्यंग्य के रूप में ही उभरे हैं। कुबेरनाथ राय 'निषाद बांसुरी' का संसार हटा कर यहां रवीन्द्र कालिया, रवीन्द्रनाथ त्यागी, ठाकुरप्रसाद सिंह तथा शरद जोशी आ जाते हैं। विवेकीराय ने 'बबूल', 'फिर वैतलवा डाल पर', 'जलूस रुका है', 'गंवई गांव की गंध' में ललित निबंधों के भीतर से व्यंग्य उत्पन्न किया है। कुबेरनाथ राय 'दृष्टि-अभिसार' में तीखा व्यंग्य करते हैं, पर वह उतना पैना और अर्थगर्भित नहीं है, जितना शरद जोशी का व्यंग्य। रवीन्द्रनाथ त्यागी के निबंध-संग्रह 'शोकसभा', 'देवदार के पेड़', 'अतिथि कक्ष' में आज की ज़िंदगी की विडंबनाओं को व्यंजनाधर्मी कला से उजागर किया है। शरद जोशी ने 'तिलिस्म', 'जीप पर सवार इल्लियां' तथा 'यथासंभव' (1985) में हिंदी-गद्य की सृजनात्मक से व्यंग्य का रंग बरसाया है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

व्यंग्य-निबंधों का प्रतिनिधि संकलन 'यथासंभव' को ही कहना चाहिए। इस संग्रह में जोशी के सौ व्यंग्य-लेख हैं, जिनमें वे व्यंग्यों का चौका-छक्का उड़ाते हैं और अंत तक 'नॉट आउट' दिखायी देते हैं। इन व्यंग्य निबंधों में 'श्री गणेशाय नमः', 'भैंसन्ह मांह रहता नित बकुला', 'हम भ्रष्टन के भ्रष्ट हमारे', 'सरकार का जादू', 'बिल्लियों का अर्थशास्त्र', 'जीप पर सवार इल्लियां', 'दूतावासों के चक्कर', 'हर फूल दिल्लीमुखी', 'बंसी वाले का पुजारी', 'साहित्य का महाबली', 'बुद्धिजीवी', 'अर्थब्रह्म', 'नदी में खड़ा कवि', 'प्रभु हमें डॉक्टरेट से बचा', 'अब मैं रीतिकाल की ओर लौट रहा हूं', 'मधुबाला से टी.वी. बाला तक' तथा 'नया मेघदूत' आदि अविस्मरणीय हैं। अज्ञेय जी पर 'नदी में खड़ा कवि' शीर्षक व्यंग्य-लेख में लिखा—''उसने कविता लिखी, कविता का स्तर उठा। उसने प्रेम किये, महिलाओं का स्तर उठा। उसने नौकरी की, संस्थानों का स्तर उठा। वह बोला—वार्त्ता का स्तर उठा। वह नहीं बोला—मौन का स्तर उठा'' (यथासंभव, पृ. 56)। साहित्य के अतिरिक्त शरद जोशी ने राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, व्यक्तिवाद-कलावाद आदि की ख़बर ली है।

भवानीप्रसाद मिश्र ने 'जिन्होंने मुझे रचा' (1988) तथा 'कुछ नीति कुछ राजनीति' (1984) में सहज गद्य लिखा है। इन निबंधों में आत्मीयता का रस भरा पड़ा है। लेकिन उन विचारों की ऊर्जा का तनाव भी है, जो किसी सोचने-समझने वाले कवि को बेचैन करते हैं। ऐसे ही रघुवीर सहाय ने निबंध को नये ढंगों में ढाला है। उनके निबंध-संग्रह 'लिखने का कारण' (1978) 'दिल्ली मेरा-परदेश' (1978), 'वे और होंगे जो मारे जायेंगे' (1983), 'ऊबे हुए सुखी', (1982) आदि अपने समय और समाज का यथार्थ ब्यौरा देते हैं। श्रीकांत वर्मा 'जिरह' के निबंधों में साहित्यिक बहसों को तानते हैं और जगदीश चतुर्वेदी 'दस्तावेज़' में अकविता-आंदोलन की पूरी स्थिति स्पष्ट करना चाहते हैं। अशोक वाजपेयी 'फिलहाल' में नये रचनाकारों पर निबंध लिखते हैं, किंतु भाषा की रचावट न होने से यह काफ़ी भुरभुर गद्य का नमूना है।

नये निबंधकारों में एक विशिष्ट नाम उभरा है रमेशचंद्र शाह का। शाह के निबंध-संग्रहों में 'समानांतर', 'वागर्थ', 'शैतान के बहाने' आदि का नाम उल्लेखनीय है। निबंधों में इतिहास, परंपरा और संस्कृति की चिंता अज्ञेय जी की भांति शाह को मथती रहती है। 'साहित्य में आज का गतिरोध', 'समकालीन रचना में स्वतंत्रता का अर्थ' आदि उनके ऐसे निबंध हैं, जो अपनी वैचारिक सघनता और ऐतिहासिक बोध की स्पष्टता के लिए याद किये जायेंगे। 'साहित्य में आज का गतिरोध' निबंध में लिखा है, ''गांधी जी को इस देश की नैतिक सामर्थ्य का सही अनुमान नहीं था और उन्होंने उस पर चाहे-अनचाहे ज़रूरत से ज़्यादा दबाव डाला। सशस्त्र क्रांति की चेष्टा से जुड़ी हुई युवा ऊर्जा अप्रासंगिक कर दी गयी। कालांतर में धीरे-धीरे वह राष्ट्रजीवन में अपनी असली हिस्सेदारी से वंचित होती गयी। क्रांतिकारी अकेला पड़ गया और राजनीति तथा अर्थनीति पर वही शक्तियां हावी होती गयीं, जो मूलतः क्रांतिविरोधी चरित्र की है'' (वागर्थ, पृ. 10)। वैचारिक-सांस्कृतिक निबंधों के साथ इधर शाह ने व्यक्तिव्यंजक व्यक्तिरंजक ललित निबंधों में नये प्रयोग किये हैं। उनके ऐसे प्रयोगों का निबंध-संग्रह है 'शैतान के बहाने'। यह निबंध-संग्रह गद्य की ताज़गी से भाषा और कथ्य की पुरानी उदासी को तोड़ कर नयी शैली लाता है।

हिंदी-साहित्य के प्रतिष्ठित निबंधकारों में डॉ. नगेन्द्र, डॉ. देवराज, महादेवी वर्मा, विजयेन्द्र स्नातक, केशव वर्मा, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर, रामेश्वर शुक्ल, 'अंचल' बराबर सक्रिय रहे हैं। इन निबंधकारों की चिंतनात्मक प्रौढ़ता ने हिंदी-निबंध की दिशा को भटकने से बचाया है। प्रसिद्ध कथाकार और आत्मकथालेखक विष्णु प्रभाकर ने 'हम जिनके ऋणी हैं' नामक निबंध-संग्रह में हमारे

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

राष्ट्रीय नेताओं पर ललित निबंध लिखे हैं। जानकीवल्लभ शास्त्री ने 'मन की बात' तथा 'जो न बिक सकी' निबंध-संग्रहों में क्लासिकल संवेदना का उदात्त रूप सामने रखा है। इधर 'माखनलाल चतुर्वेदी-रचनावली', 'रांगेय राघव-ग्रंथावली', 'राहुल सांकृत्यायन के श्रेष्ठ निबंध' तथा गुलेरी और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के श्रेष्ठ निबंधों ने भी हिंदी-निबंध की समृद्धि में योगदान किया है। डॉ. इंद्रनाथ चौधुरी ने 'तुलनात्मक साहित्य की भूमिका' में 'करुण रस का आस्वाद तथा पाश्चात्य ट्रेजेडी', 'भरत तथा ब्रेख्त की रंग-परिकल्पना मृच्छकटिक के संदर्भ में' जैसे महत्त्वपूर्ण तुलनात्मक निबंध लिखे हैं। तुलनात्मक निबंधों की शैली विकसित करने में इन निबंधों ने बड़ी संभावनाएं पैदा की हैं।

युवा निबंधकारों में प्रभाकर श्रोत्रिय, चंद्रकांत वांदिवडेकर, नंदकिशोर आचार्य, बनवारी, कृष्णदत्त पालीवाल, प्रदीप मांडव, कर्ण सिंह चौहान, चंचल चौहान, विजयमोहन सिंह, ज्ञानरंजन जैसे बहुत से महत्त्वपूर्ण निबंधकार इस दौर में उभरे हैं। बनवारी ने अपने निबंधों में वनस्पति जगत की संवेदना को पहचानने की गंभीर कोशिश की है। आधुनिक जीवन की विकृतियों को उजागर करने वाले उनके 'पश्चिमी सभ्यता की रीढ़', 'नये धर्मशास्त्र की भूमिका' जैसे निबंध प्रकाशित हुए है। बनवारी रीति-रिवाज और तीज-त्योहारों, उत्सवों पर भी निबंध लिखते रहे हैं और इन निबंधों की शैलीगत स्पष्टता पाठक को मोहती रही है। कृष्णदत्त पालीवाल ने 'नया सृजन नया बोध' के समीक्षात्मक निबंधों से अलग इधर ललित निबंधों की एक ताज़ी शैली बिकसित की है। इस तरह के ललित निबंधों में 'देसी ताले विदेशी कुंजी', 'धर्म, संस्कृति और नवजागरण', 'हमारी मान्यताओं के सांस्कृतिक उत्स', 'परंपरा में ही हैं नवजागरण की जड़ें' नये चिंतन को अंकुरित करते हैं। इस दौर के नये निबंधकार सांस्कृतिक व सामाजिक विषयों पर निबंध ज़्यादा लिखते हैं और इन निबंधों में भारतीय लोक-परंपराओं और मान्यताओं पर ध्यान केंद्रित किया जाता है।

समग्रतः में, राजनीतिक व सांस्कृतिक विषयों पर चिंतन की ताज़गी से निबंध लिखना इन नये निबंधों की विशिष्ट प्रवृत्ति है। हास्य, व्यंग्य, विनोद की दिशा में भी शरद जोशी, रवीन्द्र कालिया जैसे निबंधकार विशेष योगदान दे रहे हैं। हिंदी काव्यभाषा के रूप में तथा राष्ट्रभाषा के रूप में— जैसे विषयों पर भी अनगिनत निबंध लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं। हिंदी में 'आलोचना', 'दिनमान', 'जनसत्ता', 'रविवार', 'नवभारत टाइम्स', 'भाषा', 'साक्षात्कार', 'पूर्वग्रह', 'दस्तावेज़' आदि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से नया निबंध लगातार समृद्ध हो रहा है। सबसे बड़ी बात यह है कि समीक्षात्मक निबंधों के साथ-साथ इधर के दशकों में व्यक्तित्वरंजक, व्यक्तिव्यंजक ललित निबंधों का बड़ा प्रीतिकर विस्तार हुआ है। अतः हिंदी गद्य की सृजनात्मक संभावनाओं की दिशा में इन ललित निबंधों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

## अद्यतन हिंदी-निबंध-II

(1981 से 2005 तक)

गद्य-विधाओं में निबंध ऐसी विधा है, जिसका स्वरूप, लक्षण और सीमाएं इतनी अनिश्चित हैं कि उसको ले कर रचनाकारों और अध्येताओं के बीच अनेक भ्रांतियां व्याप्त हैं। इसलिए अन्य अनेक विधाओं की रचनाओं को भी निबंध के अंतर्गत परिगणित कर लिया जाता है। डॉ. रमेश कुंतलमेघ ने ठीक ही लिखा है कि "यह बड़ी विचित्र बात है कि साहित्य में 'निबंध' (Essay) बहुत कम लिखे गये हैं और उसके सिद्धांतों का प्रकाशन तो उससे भी कम हुआ है। इसके विपरीत 'लेख'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(Articles) असंख्य लिखे गये हैं, पर उनका भी सौंदर्यशास्त्रीय निरूपण कम ही हुआ है।'' इसका कारण 'निबंध' का अपना वैशिष्ट्य है।

प्रारंभ में निबंध के दो आदर्श रूप सामने आये। एक आदर्श रूप फ्रांसीसी रचनाकार मोन्तेन (1533-1592 ई.) ने प्रस्तुत किया। उसी को 'निबंध' का जन्मदाता माना जाता है। 'निबंध' के लिए उसी ने सर्वप्रथम Essay शब्द का प्रयोग किया, जिसका अर्थ होता है 'प्रयास'। उसने अपने निबंध-संग्रह का नाम भी यही रखा। उसने अपने निबंध-संग्रह के संबंध में कहा कि ''स्वयं ही अपनी पुस्तक का विषय हूं।'' जिन्हें हम व्यक्तिप्रधान, व्यक्तिव्यंजक, आत्मव्यंजक, विषयीप्रधान निबंध आदि नामों से पुकारते हैं, मोन्तेन के निबंध उन्हीं निबंधों का आदर्श हैं। ऐसे निबंध किसी भी विषय पर लिखे जा सकते हैं, क्योंकि ऐसे निबंधों में विषय केंद्रीय नहीं होता है, विषयी केंद्रीय होता है। ऐसे निबंध जॉनसन के शब्दों में 'मन की निर्बंध तरंग' (A loose sally of mind) होते हैं। निबंध का दूसरा आदर्श रूप लार्ड बेकन (1561-1626) के निबंधों के रूप में सामने आया। निबंधों के इस रूप में निबंधकार का व्यक्तित्व तो अभिव्यक्ति पाता है, लेकिन विषय की भी उपेक्षा नहीं होती। स्वयं बेकन ने इस प्रकार के निबंधों को 'प्रकीर्ण चिंतन' (dispersed meditation) कहा है। निबंध के इन दोनों रूपों की रचना करने के लिए आवश्यक है कि निबंधकार का व्यक्तित्व अत्यंत संपन्न हो। जिस निबंधकार का व्यक्तित्व जितना संपन्न होगा, उसके निबंध उतने ही श्रेष्ठ और प्रभावशाली होंगे।

पश्चिम के उपर्युक्त निबंधकारों के समानांतर यदि हम हिंदी के दो निबंधकारों को सामने रखना चाहें तो वे हैं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचंद्र शुक्ल। मोन्तेन की परंपरा की निबंध-शैली आचार्य द्विवेदी के निबंधों में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंची है। वे इस निबंध-परंपरा के शिखर पुरुष हैं। वे जब 'निबंध' के विषय में आगे उद्धृत बात कहते हैं तो अपने अनुभव और अपने निबंधों के आधार पर ही, ''नये युग में जिन नवीन ढंग के निबंधों का प्रचलन हुआ है, वे 'तर्कमूलक' की अपेक्षा 'व्यक्तिगत' अधिक होते हैं। साधारणत: जिन निबंधों में निस्संग विचार का प्राधान्य होता है, वे साहित्यिक आलोचना के प्रसंग में आलोचित नहीं होते'' (साहित्य-सहचर : 1988 का संस्करण; पृष्ठ 122)। आचार्य द्विवेदी के समानांतर बेकन की निबंध-शैली आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंधों में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंची है। वे इस दूसरी निबंध-परंपरा के चरम उत्कर्ष हैं। इसीलिए उन्होंने 'चिंतामणि' (भाग 1) के 'निवेदन' में लिखा था, ''इस पुस्तक में मेरी अंतर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ ले कर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहां कहीं मार्मिक स्थलों पर पहुंचती है, वहां हृदय थोड़ा-बहुत रमता हुआ, अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है।'' नि:संदेह शुक्ल जी के निबंधों में उनका व्यक्तित्व अभिव्यक्त हुआ है, लेकिन प्रधानता विचारों की है। असल में शुक्ल जी ऐसे 'विचारात्मक निबंधों' के पक्षधर थे, ''जिनमें बहुत ही चुस्त भाषा के भीतर एक पूरी अर्थ-परंपरा कसी हो'' (हिंदी-साहित्य का इतिहास; बारहवां संस्करण; पृष्ठ 482)। यदि शुक्ल जी के 'निवेदन' से संकेत ग्रहण करें तो कह सकते हैं कि आचार्य द्विवेदी की परंपरा के निबंधों में हृदय प्रधान होता है, बुद्धि गौण। उनमें यात्रा के लिए निकलता रहता है हृदय, लेकिन बुद्धि को भी साथ ले कर। शुक्ल जी की परंपरा के निबंधों में यात्रा के लिए निकलती रहती है बुद्धि, लेकिन हृदय को भी साथ ले कर।

ऐसी अनेक रचनाएं हमें मिल जायेंगी, जो न पूरी तरह निबंध हैं और न ही पूरी तरह लेख; जिनमें विभिन्न अनुपातों में निबंध और लेख दोनों की विशेषताएं मिश्रित हैं। ऐसी रचनाओं के लिए डॉ. रमेश कुंतलमेघ ने एक नया अभिधान प्रस्तावित किया 'निलेख'; यद्यपि उसे स्वीकृति नहीं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मिली। स्वयं रमेश कुंतलमेघ की 'क्योंकि समय एक शब्द है' की कुछ रचनाएं 'निलेख' की श्रेणी में परिगणित की जा सकती हैं, लेकिन उनकी रचनाओं में बुद्धि ऐसी प्रचंड और जटिल यात्रा पर निकलती है कि अच्छे अच्छों के छक्के छूट जाते हैं। लेकिन डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, डॉ. नामवरसिंह, रामधारी सिंह 'दिनकर', विष्णु प्रभाकर, गिरिराज किशोर, राजेन्द्र यादव, नासिरा शर्मा, प्रभा खेतान, डॉ. देवराज आदि साहित्यकारों के अनेक आलोचनात्मक लेख ऐसे हैं, जिन्हें 'निलेख' की श्रेणी में रखा जा सकता है और 'आलोचनात्मक निबंध' जैसे अभिधान से बचा जा सकता है।

इस किंचित् सैद्धांतिक चर्चा के बाद और 'निबंध' के उपर्युक्त दोनों आदर्श रूपों को ध्यान में रखते हुए समकालीन हिंदी-निबंध (1980-2005 ई.) पर विचार करना उचित होगा। समकालीनता की इस कालावधि में हिंदी-निबंधकारों की एकाधिक पीढ़ियां सक्रिय रही हैं। यह कहना ग़लत न होगा कि इस कालावधि में निबंध के क्षेत्र में पुरानी पीढ़ी का ही वर्चस्व छाया रहा है।

पुरानी पीढ़ी के निबंधकारों में जो सबसे पहला नाम हमारे सामने आता है, वह अज्ञेय का है। उनका पहला निबंध-संग्रह 'त्रिशंकु' 1945 में प्रकाशित हुआ था। उसके अगले ही वर्ष 'सबरंग' (1946) प्रकाशित हुआ। तब निबंधकार के रूप में वे 'कुट्टिचातन्' नाम का उपयोग करते थे। उसके बाद उनके निबंध-संग्रह निरंतर प्रकाशित होते रहे। वर्तमान कालावधि में 'शाश्वती' (1980) और 'आत्मपरक' (1983) प्रकाशित हुए। 'आत्मपरक' में वस्तुत: उनके दो पूर्व प्रकाशित निबंध-संग्रह 'आत्मनेपद' (1960) और 'लिखि कागद कोरे' (1972) संगृहीत हैं। संग्रह की 'भूमिका' में इसे स्पष्ट भी कर दिया गया है, ''यह पुस्तक वास्तव में दो पुस्तकों ('आत्मनेपद' और 'लिखि कागद कोरे') का पुनर्मुद्रण है, जो दोनों ही पुस्तकें कुछ वर्षों से अनुपलब्ध थीं।'' इन्हें एक साथ क्यों प्रकाशित किया गया, इसका उत्तर भी इस भूमिका में दिया गया है। इसी तर्ज पर उनका एक निबंध-संग्रह 'केंद्र और परिधि' (1984) प्रकाशित हुआ, जिसमें 'स्रोत और सेतु', 'आलवाल', 'अद्यतन', 'जोग लिखी', 'युग संधियों पर' तथा 'धार और किनारे' से लिये गये निबंध संगृहीत हैं। इन दोनों संग्रहों की रचनाएं असंदिग्ध रूप से 'निबंध' हैं—व्यक्तिव्यंजक निबंध। उनके साहित्यालोचन संबंधी निबंधों का संकलन—जिन्हें 'निबंध' नहीं तो 'निलेख' अवश्य कहा जा सकता है—'सर्जना और संदर्भ' (1985) के नाम से प्रकाशित हुआ। यह प्रक्रिया बराबर चलती रही। उनकी सभी गद्य रचनाओं का एक और संकलन 'कवि-निकष' (2002) प्रकाशित हुआ। इसका शीर्षक 'गद्यं कवीनां निकषं वदंति' की उक्ति से लिया गया। यह संकलन स्वयं अज्ञेय ने तैयार किया था, जिसकी सूचना 'उत्तरभूमिका' लेखक विद्यानिवास ने इस प्रकार दी है, '' 'कवि-निकष' स्वर्गीय भाई (अज्ञेय जी) द्वारा स्वयं संकलित है। अपने हाथ से उन्होंने पूरी मुद्रण के लिए साफ़-सुथरी टंकित प्रति करा ली थी।'' उनकी गद्य रचनाओं की एक और शृंखला 'भवंती' (1972); 'अंतरा' (1975) और 'शाश्वती' (1980) के रूप में प्रकाशित हुई। इसी शृंखला की अंतिम कड़ी 'शेषा' (1995) के नाम से उनके निधनोपरांत प्रकाशित हुई। इन चारों संकलनों की रचनाओं को 'अंत:प्रक्रियाएं' कहा गया। यदि हम मोन्तेन के निबंधों को निबंध का आदर्श रूप मानें तो इन अंत:प्रक्रियाओं में भी अनेक रचनाएं आसानी से 'निबंध' मानी जा सकती हैं। 'शेषा' में इस शृंखला की पूर्व प्रकाशित तीन रचनाओं की भूमिकाओं के जो अंश उद्धत किये गये हैं, उनसे न केवल इन अंत:प्रक्रियाओं, बल्कि अज्ञेय की निबंध-रचना की प्रक्रिया का भी पता चलता है। 'भवंती' की भूमिका में लिखा गया है :

''जिन छोटे-छोटे प्रकरणों को जोड़ कर यह पुस्तक बनी है, वे प्राय: सभी छोटे-छोटे युद्धों के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इतिहास हैं : प्रत्येक के पीछे एक 'यंत्रणा भरी प्रक्रिया' रही है। इतना ही है कि समूची पुस्तक में एक ही रचना की प्रक्रिया में पायी हुई यंत्रणा से मिलने वाली संहिति नहीं है, वह फुटकर प्रक्रियाओं का कलन है, जिनके पीछे उतनी ही फुटकर, विविध और वैचित्र्यमयी यंत्रणाएं रही हैं। संहिति उसमें है तो लेकिन, रचना के माध्यम से नहीं, अपितु रचयिता के जीवनानुभव के माध्यम से। संवेदनशील यंत्र के लिए भावानुभव का संग्रह, भोग और उससे उन्मोचन एक सतत प्रक्रिया है।'' यही सतत प्रक्रिया तो निबंध-रचना की प्रक्रिया है। उन्होंने इसी भूमिका में अपने अकेलेपन और मूल्यानुसंधान की बात कही है, ''लेखक के नाते मेरी यात्रा काफ़ी अकेली रही है।...कभी कोई कुछ दूर साथ चल लिये हैं तो मैं उनके लिए यात्रा के संयोगों का भी और उनका भी आभारी हूं।...मेरा पाठक-वर्ग बहुत बड़ा कभी नहीं होगा...पर जितने भी पाठक हों, वे मूल्यों के उस समूह के साझीदार हो सकें, जिनकी खोज ही मेरी यात्रा का लक्ष्य और प्रेरणास्रोत रहा है।''

इन उद्धरणों में अज्ञेय के निबंधों की रूपरचना, रचनाप्रक्रिया और अंतर्वस्तु के रहस्य अंतर्निहित हैं। रूप की दृष्टि से उसके निबंध बहुरूपी हैं, विविध शैलियों में निबद्ध हैं। व्यक्ति और परिवेश का द्वंद्व और इस द्वंद्व में से उत्पन्न मूल्य-मीमांसा, विविध प्रकार के अनुभव और प्रतिक्रियाएं उनके निबंधों की मूल अंतर्वस्तु है। उनके निबंधों में सर्वत्र उनके विशिष्ट व्यक्तित्व, रागानुभूति, चिंतन और सरोकारों ने अभिव्यक्ति पायी है, जिसके कारण लालित्य की सृष्टि हुई है। रागात्मकता के साथ ही व्यंग्य-विनोद, तर्कशीलता और ठंडी विचारोत्तेजना उनके निबंधों में सर्वत्र विद्यमान है और इसके लिए उन्होंने भाषा को ऐसा तराशा है, जैसा हिंदी का और कोई निबंधकार नहीं तराश पाया है। उनके निबंधों में ऐसा ठंडापन है, जिससे सामान्य पाठक बिदकता है, लेकिन गंभीर पाठक उनमें ऐसा मग्न होता है कि फिर उबरने का नाम नहीं लेता। उनकी वैचारिक स्थापनाएं ऐसी हैं कि उनसे या तो आप सहमत हो सकते हैं या असहमत, तटस्थ नहीं रह सकते।

अज्ञेय के बाद, उनसे व्यक्तिगत स्तर पर घनिष्ठ रूप से जुड़े जो दूसरे निबंधकार इस कालावधि में सबसे अधिक सक्रिय रहे हैं, वे हैं विद्यानिवास मिश्र। यदि यह कहा जाये कि उनके साहित्य-सृजन का केंद्र निबंध है तो यह अत्युक्ति न होगी। उनका पहला निबंध-संग्रह 'छितवन की छांह' 1953 में प्रकाशित हुआ था। तब से ले कर अपने जीवन के अंतिम क्षण तक वे निबंध-रचना में निरंतर संलग्न रहे और एक के बाद एक उनके निबंध-संग्रह निरंतर प्रकाशित होते रहे। संख्या की दृष्टि से उन्होंने सर्वाधिक निबंध लिखे हैं और उनके सर्वाधिक निबंध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। विगत् पच्चीस वर्षों में प्रकाशित उनके निबंध-संग्रह हैं, 'अस्मिता के लिए' (1981), 'निज मुख मुकुर' (1981), 'भ्रमरानंद के पत्र' (1981); 'तमाल के झरोखे से' (1981); 'संचारिणी' (1982); 'अंगद की नियति' (1984); 'लागो रंग हरी' (1985); 'गांव का मन' (1985); 'नैरंतर्य और चुनौती' (1988); 'भावपुरुष श्रीकृष्ण' (1990); 'सोऽहम्' (1991); 'जीवन अलभ्य है जीवन सौभाग्य है' (1991); 'देश, धर्म और साहित्य' (1992); 'नदी, नारी और संस्कृति' (1993); 'फागुन दुई रे दिना' (1994); 'बूंद मिले सागर में' (1994); 'पीपल के बहाने' (1994); 'शिरीष की याद आयी' (1995); 'गिर रहा है आज पानी' (2001); 'स्वरूप-विमर्श' (2001); 'गांधी का करुण रस' (2002) इत्यादि। विद्यानिवास मिश्र के निबंधों का वस्तु और शिल्प दोनों की दृष्टि से अपना वैशिष्ट्य है। अनेक दृष्टियों से निबंध-लेखन में वे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निकट पड़ते हैं, लेकिन अनेक दृष्टियों से वे उनसे बहुत भिन्न भी हैं। सबसे बड़ी भिन्नता तो यह है कि द्विवेदी जी जैसी मस्ती, फक्कड़ता और परिहासवृत्ति उनमें नहीं है। उनका स्वर गंभीरता से परिपूर्ण है। विद्वत्ता को ले कर जो सहजता द्विवेदी जी में है, वह विद्यानिवास मिश्र में नहीं है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वस्तु के स्तर पर उनके निबंधों की मूल प्रकृति को उनके पहले ही निबंध-संग्रह 'छितवन की छांह' की भूमिका के इस कथन से समझा जा सकता है, ''वैदिक सूक्तों के गरिमामय उद्गम से ले कर लोकगीतों के महासागर तक जिस अविच्छिन्न प्रवाह की उपलब्धि होती है, उस भारतीय भावधारा का मैं स्नातक हूं। मेरी मान्यताओं का वही शाश्वत् आधार है। मैं रेती में अपनी डोंगी नहीं चलाना चाहता और न ज़मीन के ऊपर बने रुंधे तालाबों में छपखोरी खेलना चाहता हूं।'' उपर्युक्त 'भारतीय भावधारा' ही उनके निबंधों की मूल वस्तु है, लेकिन न तो वह संकुचित है और न ही रूढ़। उनके निबंधों में उनकी सहृदयता, उनकी विद्वत्ता, उनकी चिंतनशीलता, संस्कृत-साहित्य और भारतीय सांस्कृतिक परंपरा, आधुनिक पाश्चात्य साहित्य और विचारधारा आदि सब चीज़ों का उपयोग हुआ है। साथ ही, ग्रामांचल और गांव के मन ने भी उनके निबंधों में अभिव्यक्त पायी है। परंपरा और आधुनिकता का जो सामंजस्य उनके व्यक्तित्व का सुपरिचित तथ्य था, वही उनके निबंधों का भी है। लेकिन उनके लिए परंपरा और आधुनिकता दोनों का अर्थ बहुत व्यापक और बहुआयामी है। परंपरा का व्यापक अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, ''परंपरा का अर्थ है, पर से भी परे जो हो, श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतर हो, जो न कभी भूत हो, न भविष्यत, जो सतत् वर्तमान हो, जो कभी सिद्ध न हो, निरंतर साध्य हो। परंपरा इसीलिए साधना का पर्याय है'' (परंपरा बंधन नहीं)। परंपरा की तरह आधुनिकता भी उनके लिए व्यापक मानवतावाद का पर्याय है। उनके निबंधों की भाषा सहज प्रवाहशील खड़ीबोली है, जिसमें संस्कृत के पारंपरिक पांडित्य की जटिलता नहीं है और शैली एक़दम प्रसन्न है।

इस कालावधि में इसी पीढ़ी के निबंधकार धर्मवीर भारती भी सक्रिय रहे हैं। उनका पहला निबंध-संग्रह 'ठेले पर हिमालय' 1958 में प्रकाशित हुआ था। बाद में 'पश्यंती' (1969); 'कहनी-अनकहनी' (1970); 'कुछ चेहरे कुछ चिंतन' (1995) और 'शब्दिता' (1997) प्रकाशित हुए। स्पष्ट है कि इस कालावधि में उनके दो ही निबंध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इनमें भी सब निबंध ही हों, ऐसा नहीं है। अन्य विधाओं, जैसे संस्मरण, रेखाचित्र आदि की रचनाएं भी इनमें संकलित हैं। धर्मवीर भारती के निबंधों में चित्रात्मकता, सांकेतिकता और चिंतन, तीनों हमें एक साथ मिलते हैं। उनके निबंधों में जहां चिंतन और विचार प्रधानता प्राप्त करने लगते हैं, वहीं लालित्य कुछ कम होने लगता है। ऐसा उनके अधिकांश निबंधों में हुआ है। वस्तुतः उन्होंने अधिकांश निबंध नवलेखन और आधुनिकावादी आंदोलन, सामयिक महत्त्व के प्रश्नों, छीजते हुए मानव-मूल्यों, समसामयिक विसंगतियों आदि से संबंधित अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए लिखे हैं। इसीलिए न्यूनाधिक मात्रा में उनके निबंधों में व्यंग्यात्मकता विद्यमान है। व्यंग्य के साथ-साथ जिन निबंधों में रूमानियत प्रधान हो गयी है, उनमें काव्यात्मकता भी ख़ूब है और लालित्य भी।

विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में गांव बराबर सक्रिय दिखायी देता है, लेकिन उन्हीं के साथ निबंधकार के रूप में सामने आये विवेकीराय के निबंधों पर तो गांव और गांव का मन पूरी तरह छाया हुआ है। इस कालावधि में प्रकाशित होने वाले उनके निबंध-संग्रह हैं : 'नया गांव' (1984), 'आम रास्ता नहीं है' (1988), 'आस्था और चिंतन' (1991); 'जगत तपोवन सो कियो' (1995), 'वनतुलसी की गंध' (2002), 'चली फगुनाहट बौरे आम' (2004) आदि। उनके इन संग्रहों में सभी ललित निबंध नहीं हैं, आलोचनात्मक लेख भी हैं; जैसे, 'चली फगुनाहट बौरे आम' संग्रह में 'रामचरितमानस में शक्ति-भक्ति का संगम' या 'राष्ट्रीय आकांक्षा और कवि निराला' आलोचनात्मक लेख हैं। इस संग्रह में तथा अन्य संग्रहों में संकलित जिन रचनाओं को निबंध की श्रेणी में रखा जा सकता है, उनमें गांवों की परंपरा, प्रकृति और संस्कृति के आधुनिकता और राजनीति

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के दबाव में भंग होने, उससे उत्पन्न हताशा, घुटन और उदासी आदि की अभिव्यक्ति हुई है; लेकिन पराजय की पूर्ण स्वीकृति कहीं नहीं है। लेखक ने गांव की अदम्य जिजीविषा, प्रतिकूल स्थिति में परिहास और व्यंग्य तथा अदम्य आशावादिता को भी अभिव्यक्त किया है, जिसके कारण उसके निबंध संक्रमणकालीन गांव और उसके जीवन के प्रामाणिक ललित दस्तावेज बन गये हैं।

नयी कहानी-आंदोलन के दौरान कथाकार के रूप में उभर कर सामने आये शिवप्रसाद सिंह ने निबंधकार के रूप में भी अपनी पहचान बनायी है। उनका पहला निबंध-संग्रह 'शिखरों के सेतु' है, जो 1962 ई. में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद उनके कई निबंध-संग्रह प्रकाशित हुए। विचार्य कालावधि में 'मानसी गंगा' (1986) 'किस-किस को नमन करूं' (1987), 'क्या कहूं, कुछ कहा न जाये' (1995) और 'खालिस मौज में' (1998) आदि निबंध-संग्रह प्रकाशित हुए। एक सच्चे ललित निबंधकार की तरह वे भी अपने निबंधों में मन की मौज के साथ इधर-उधर ख़ूब भटकते हैं और इस भटकने में उनकी बहुज्ञता, लोककथा-प्रेम, भावप्रवणता, फक्कड़पन और विचारशीलता आदि की प्रभावशाली अभिव्यक्ति होती है, किंतु यह भटकन प्रारंभ होती है मानव-मूल्यों की चिंता से और अंततः उसी में पर्यवसित होती है। मानव-मूल्यों की खोज करते समय वे मानव-जगत के इंद्रियग्राह्य, भौतिक अस्तित्व के साथ-साथ उस अस्तित्व को भी स्वीकार करते हैं, जो रहस्यमय और अज्ञेय है। फलतः उनके निबंधों में रहस्यात्मकता को स्थान मिला है। उन्होंने व्यक्तिव्यंजक निबंधों के रेखाचित्र, रिपोर्ताज, संस्मरण, यात्रावर्णन आदि अनेक भेद स्वीकार किये हैं (द्र. 'हिंदी निबंध'—1968; सं. शिवप्रसाद सिंह; 'निबंध पर निबंध' शीर्षक भूमिका); इसलिए उनके निबंधों-संग्रहों में इन सबके उदाहरण सुलभ हैं। निबंध का रूप की दृष्टि से इतना व्यापक अर्थ सामान्यतः स्वीकार्य नहीं है। इसे स्वीकार करने का अर्थ होगा, साहित्यालोचन में अविवेक को प्रश्रय देना और विभिन्न विधाओं के बीच घालमेल पैदा करना। इससे वे परिचित थे। इसीलिए उन्होंने अपने निबंधों की शैली के संबंध में सफ़ाई दी थी :

"अध्यापकीय आलोचना के दावेदार मेरे सहकर्मी अवश्य ही असंतुष्ट होंगे कि इनमें कहीं भी कहानी, गद्यकाव्य, स्केच, व्यक्तिव्यंजक निबंध, संस्मरण तथा यात्रावर्णनों में से किसी की भी तयशुदा पद्धति का कड़ाई से पालन नहीं किया गया है।...आख़िर यह सब है क्या? यह मेरी विवशता है कि मैं शैली को शरीर का चमड़ा या कोट नहीं मान पाता। शायद शॉपेनहार का यह कथन मेरी शैली के आदर्श का संकेत है कि शैली और कुछ नहीं, मन, बुद्धि अथवा सूक्ष्म मस्तिष्क की विचार-भावनाओं की बाह्य रूपाकृति मात्र है" (शिखरों के सेतु; पृ. 13)। रचनाकार प्रायः अपनी अराजकता और अविवेक को छिपाने के लिए 'अध्यापकीय आलोचना' का कवच ओढ़ लेते हैं। शिवप्रसाद सिंह ने भी अपनी 'विवशता' के रक्षाकवच के रूप में उसी का सहारा लिया है।

लगभग उन्हीं के साथ, उसी शहर काशी में और उन्हीं की तरह आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शिष्य रामदरश मिश्र कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना आदि के लेखक के रूप में सामने आये। उनके निबंध-संग्रहों के प्रकाशनकाल को प्रमाण मानें तो यह संकेत हैं कि उन्होंने निबंध-लेखन थोड़ा बाद में शुरू किया या कम-से-कम पुस्तक-रूप में उनका संग्रहण बाद में किया। अब तक उनके तीन निबंध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'कितने बजे हैं' (1982), 'बबूल और कैक्टस' (1998) तथा 'घर-परिवार' (2003)। उनके निबंध एक कवि-कथाकार के निबंध हैं। वर्णन, विवरण, काव्यात्मक एवं चित्रात्मक टिप्पणियों आदि से उनके निबंधों की संरचना का गठन हुआ है। उनके निबंधों में अतीत का नस्ताल्जिक स्मरण है, वर्तमान का द्वंद्व है और भविष्य की चिंता है। उन्हें अपने गांव की अकसर याद आती है और इस बात को ले कर पीड़ा होती है कि पुराना गांव

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

खंडित हो रहा है, संयुक्त परिवार विघटित हो रहे हैं, आर्थिक विषमता बढ़ रही है। गांव से शहर में आकर बसे बुद्धिजीवी का असामंजस्य और द्वंद्व उनके निबंधों में प्रायः मिलता है। शहर में बसा यह बुद्धिजीवी प्रायः छटपटाता है; लेकिन वह निराश नहीं है। लोकजीवन, ग्रामांचल की प्रकृति और संस्कृति उसे भावनात्मक आलंबन देते हैं। स्वाभाविक ही रामदरशजी के निबंधों में आत्मकथात्मक तत्त्व प्रचुर परिमाण में विद्यमान हैं।

नयी कहानी के अत्यंत सशक्त हस्ताक्षर माने जाने वाले निर्मल वर्मा ने भी प्रचुर मात्रा में व्यक्तिव्यंजक निबंधों की रचना की है। अगर यह कहा जाये कि कहानी और उपन्यास के समान ही निबंध भी उनकी आत्माभिव्यक्ति की एक प्रमुख विधा है, तो ग़लत न होगा। उनका पहला निबंध-संग्रह 'शब्द और स्मृति' 1976 में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद 'कला का ज़ोख़िम' (1981); 'ढलान से उतरते हुए' (1985); 'भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र' (1991); 'शताब्दी के ढलते वर्षों में' (1995), 'दूसरे शब्दों में' (1997), 'आदि, अंत और आरंभ' (2001); 'साहित्य का आत्मकथ्य' (2005) तथा 'सर्जनापथ के सहयात्री' (2006) प्रकाशित हुए। इन संग्रहों में सभी व्यक्तिव्यंजक निबंध हों, ऐसा नहीं है। इनमें ऐसी रचनाएं भी संगृहीत हैं, जो आलोचना के अंतर्गत परिगणनीय हैं, किंतु उनमें आत्मव्यंजना इतनी अधिक है कि उन्हें ठीक-ठीक आलोचना कहने में भी हिचकिचाहट होती है। उन्होंने 'सर्जना पथ के सहयात्री' की भूमिका में यह ठीक ही लिखा है कि "मैं समय-समय पर अपने प्रिय लेखकों-कलाकारों पर लिखता रहा हूं। आलोचना की लगी-बंधी खूंटी से अपने को छुड़ा कर इन लेखों में मैंने अपने को आत्मीय प्रतिक्रियाओं के प्रवाह में मुक्त बहने दिया है।" 'आत्मीय प्रतिक्रियाओं के मुक्त प्रवाह में मुक्त बहने देने' ने ही इन्हें 'निबंध' नहीं तो 'निलेख' अवश्य बना दिया है। यदि इनके विषय साहित्यकार, साहित्यिक कृतियां, कलाकार और कलाकृतियां न हो कर कोई सामान्य विषय होते तो यह निश्चय ही 'निबंध' होते। उन्होंने साहित्य और कला संबंधी विषयों पर बड़े मौलिक ढंग से विचार किया है। असल में उनका व्यक्तित्व अत्यंत निजी और प्रबल है, जिसमें पूर्व और पश्चिम का अद्भुत संश्लेष है। वे उस भारतीय बुद्धिजीवी के प्रतिनिधि हैं जो आम भारतीय जीवन से कटा हुआ और उसके यथार्थ से रागात्मक स्तर पर विच्छिन्न है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में भारतीय परंपरा और लोक के संदर्भ नगण्य हैं। उन्होंने अपने परवर्ती निबंधों में भारतीयता की बहुत बात की है, लेकिन उन्होंने जिस भारतीयता को रेखांकित किया है, वह उनकी व्यक्तिवादी सोच की उपज है। इसलिए कुछ लोगों ने उनकी सोच को प्रतिक्रियावादी और दक्षिणपंथी तक घोषित कर दिया है। वे सामान्यतः समाजनिरपेक्ष व्यक्ति की तरह सोचते हैं। वे 'व्यक्ति के द्वारा अर्जित उसके निजी सत्य' के पक्षधर हैं और यही 'निजी सत्य' उनके निबंधों में व्यक्त हुआ है। इसी निजी सत्य की अभिव्यक्ति ने उनके निबंधों की शैली को भी प्रभावित किया है, जो बहुत गंभीर और बोझिल बन गयी है।

इन निबंधकारों के बाद की पीढ़ी में विष्णुकांत शास्त्री, रमेशचंद्र शाह और कुबेरनाथ राय उभरकर सामने आये। इनके निबंध-संग्रह 1970 के आसपास प्रकाशित होने शुरू हुए। विष्णुकांत शास्त्री के प्रकाशित निबंध-संग्रह हैं, 'कुछ चंदन की कुछ कपूर की' (1971), 'चिंतन-मुद्रा' (1977) और 'अनुचिंतन' (1986)। इन निबंध-संग्रहों के शीर्षकों से इनके ललित निबंध-संग्रह होने का भ्रम होता है, किंतु वास्तव में ये आलोचनात्मक निबंध हैं। शायद इस बात को शास्त्री जी ने भी समझा था। इसीलिए उन्होंने अपने आगामी निबंध-संग्रह का शीर्षक 'आधुनिक हिंदी-साहित्य के कुछ विशिष्ट पक्ष' (2004) रखा। उनकी चुनी हुई रचनाओं के जो दो खंड 'विष्णुकांत शास्त्री : चुनी हुई रचनाएं' (2003) शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं, उनके पहले खंड में संगृहीत निबंधों को ठीक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ही 'आलोचनात्मक निबंध' कहा गया है। इन निबंधों में उनका बौद्धिक पक्ष ही प्रबल रहा है, अर्थात वे निबंध बुद्धिप्रधान है, लेकिन हृदय भी साथ लगा हुआ है। इसीलिए इन्हें हम 'निलेख' की श्रेणी में रख सकते हैं और शुक्ल जी के निबंधों के निकट पा सकते हैं।

रमेशचंद्र शाह के निबंध-संग्रह भी 1970 के आसपास प्रकाशित होने प्रारंभ हुए। वर्तमान कालावधि में प्रकाशित उनके निबंध-संग्रहों में 'आड़ू का पेड़' (1984), 'शब्द निरंतर' (1987); 'भूलने के विरुद्ध' (1990), 'स्वधर्म और कालगति' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शाह के निबंधों में उनका 'आत्म' उभर कर सामने आया है। इसलिए व्यक्तिव्यंजक निबंधों को 'उनका' 'आत्मनिबंध' कहना उचित ही है। वे निबंध को आत्मसाक्षात्कार की विधा मानते हैं। उन्होंने 1980 में प्रकाशित अपने निबंध-संग्रह 'शैतान के बहाने' में लिखा है कि आदर्श निबंध के लिए ''भावना काफ़ी नहीं है, व्यंग्य काफ़ी नहीं है, अतीत-स्मरण काफ़ी नहीं है, सांस्कृतिक संबंध काफ़ी नहीं है। इन सबके लिए जगह है, पर 'आत्मनिबंध' मनोरंजन की विधा नहीं है। यह आत्मसाक्षात्कार की विधा है।'' (पृ. 18) ये सब चीज़ें उनके निबंधों में हैं; साथ ही उनमें उनकी बहुज्ञता और बहुअधीतता भी है। फलतः उनके निबंधों में संदर्भबहुलता है। उनके निबंधों में उनकी विद्वत्ता भावसंवलित हो कर व्यक्त हुई है और उसने उनकी समकालीन जीवन के विविध क्षेत्रों में व्याप्त अराजकता, परोपजीविता, मूल्यहीनता आदि को ले कर उत्पन्न चिंता को धारदार बनाया है।

हम बिना किसी संकोच के कह सकते हैं कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और विद्यानिवास मिश्र के बाद सबसे अधिक प्रतिभाशाली निबंधकार कुबेरनाथ राय हैं। जब 1968 में उनका पहला निबंध-संग्रह 'प्रिया नीलकंठी' प्रकाशित हुआ, तो उसने न केवल उनकी ओर पाठकों व आलोचकों का ध्यान आकर्षित किया, बल्कि उन्हें एक ललित निबंधकार के रूप में प्रतिष्ठित भी कर दिया। ऐसा बहुत कम होता है कि किसी का पहला निबंध-संग्रह ही उसे ऐसी प्रतिष्ठा दिला दे, जैसी कुबेरनाथ राय को मिली। उसके बाद उनके एक के बाद एक निबंध-संग्रह नियमित रूप से प्रकाशित होते रहे। समकालीन कालावधि में 'मन पवन की नौका' (1982) 'किरात नदी में चंद्रमधु' (1983), 'दृष्टि अभिसार' (1984), 'त्रेता का बृहत्साम्' (1986), 'मराल' (1993), 'उत्तरकुरु' (1994) 'वाणी का क्षीरसागर' (1998), 'अंधकार में अग्निशिखा' (1998), 'आगम की नाव' (2005) आदि प्रकाशित हुए। यहां तक कि उनके निधनोपरांत प्रकाशित रामकथा से संबंधित निबंधों के संग्रह 'रामायण महातीर्थम्' (2002) में भी उनका ललित निबंधकार ही हावी है। उनके निबंधों के लालित्य और संपन्नता का कारण क्या है, इसे स्वयं उनके इस वक्तव्य से समझा जा सकता है, जो उन्होंने प्रारंभिक चार निबंध-संग्रहों—'प्रिया नीलकंठी' (1968), 'रस आखेटक' (1970), 'गंधमादन' (1972) और 'निषाद बांसुरी' (1974) के संदर्भ में लिखा है :

''तब मैं आधुनिक अंग्रेज़ी-साहित्य, शेक्सपीयर, लैंब, हैजलिट तथा रवींद्रनाथ के प्रभाव से परिपूर्ण था और असम-बंगाल का साहित्यिक वायुमंडल सुनील गांगुली के 'क्षुधित पीढ़ी' आंदोलन से आविष्ट था। मेरी गद्य-भंगिमा पर शेक्सपीयर के मनमौजी और उच्छृंखल गद्य का तथा रवींद्रनाथ के मनमौजी, परंतु शालीन गद्य का संयुक्त प्रभाव पड़ा है। संभवतः उन्मुक्त और शालीन दोनों का यह संयुक्त प्रभाव ही मेरी गद्य-भंगिमा को समकालीन ललित निबंधकारों से अलग करता है। मैंने अपने विशुद्ध देशी संस्कारों की भूमि पर खड़े हो कर दोनों के बीच 'रचनात्मक सामंजस्य' (Creative Balance) अर्जित करने की चेष्टा की है'' ('रामायण महातीर्थम्', पृ. 337)। स्पष्ट है कि उनके निबंधों की मूल भूमि भारतीय साहित्य की क्लासिकल परंपरा, शाक्त-वैष्णव मनोभूमि, आधुनिकताबोध, देशी लोकसंस्कृति, पाश्चात्य साहित्य आदि से मिल कर निर्मित हुई है। निबंध-रचना में उनका

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उद्देश्य रहा है हिंदी-पाठक के हिंदुस्तानी मन को 'विश्व-चित्त' से जोड़ना और उनको मानसिक ऋद्धि प्रदान करना। ''मेरे निबंध 'भारतीय मन' और 'विश्व मन' के बीच एक सामंजस्य उपस्थित करने की चेष्टा करते हैं'' (रामायण महातीर्थम् ; पृ. 338)। कहने की आवश्यकता नहीं कि वे अपने इस उद्देश्य को सिद्ध करने में सफल रहे हैं और इसीलिए एक विशिष्ट निबंधकार के रूप में उनकी पहचान बन सकी है।

नवीनतम पीढ़ी के विशिष्ट निबंधकारों की चर्चा करने से पहले यह कह देना उचित होगा कि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रघुवीरसहाय, मनोहरश्याम जोशी, राजेन्द्र यादव आदि साहित्यकार, जो पत्रकारिता करते समय सामयिक विषयों पर टिप्पणियां करते रहे हैं या संपादकीय लिखते रहे हैं, उनमें भी हमें निबंधों की किंचित् झलक मिलती है। संपादकीयों के संदर्भ में प्रभाकर श्रोत्रिय के उनके द्वारा संपादित साहित्यिक पत्रिकाओं के संपादकीयों में से अनेक निबंध की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। हिंदी में मुख्यतः हास्य-व्यंग्य लिखने वाले अनेक लेखकों की अनेक रचनाओं को भी ललित निबंधों की श्रेणी में परिगणित किया जा सकता है। इन हास्य-व्यंग्यकारों के शिरोमणि तो हरिशंकर परसाई और शरद जोशी हैं। परसाई में व्यंग्य प्रधान है शरद जोशी में हास्य। लेकिन हरिशंकर परसाई के 'तुलसीदास चंदन घिसैं' (1986) या 'प्रेमचंद के फटे जूते' (2003) या शरद जोशी के 'जादू की सरकार' (1993), 'तिलिस्म' (1999), 'यत्र-तत्र-सर्वत्र' (2000) या 'यथासमय' (2005) आदि संग्रहों की सभी रचनाएं 'निबंध' हों, यह मानना ग़लत होगा। हिंदी में यह भ्रम व्याप्त है कि व्यंग्य स्वतंत्र साहित्यिक विधा है, किंतु वास्तविकता यह है कि व्यंग्य साहित्यिक प्रवृत्ति है, जो कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि किसी भी विधा में व्याप्त हो सकती है। इन्हीं हास्य-व्यंग्य-श्रेणी के रचनाकारों में नयी-पुरानी पीढ़ी के श्रीनारायण चतुर्वेदी ('मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं' : 1988); रवींद्रनाथ त्यागी ('पराजित पीढ़ी के नाम' : 1988); मनोहरश्याम जोशी ('नेताजी कहिन' : 1982), श्रीलाल शुक्ल ('कुछ ज़मीन पर कुछ हवा में' : 1990), मनोज सोनकर ('डुग्गी' : 1996), प्रेम जनमेजय ('शर्म मुझको मगर क्यों नहीं आती' : 1998); नरेन्द्र कोहली ('मेरे मुहल्ले के फूल' : 2000, 'सबसे बड़ा सत्य : 2003'), हरीश नवल ('मेरी इक्यावन व्यंग्य रचनाएं' : 2004), हरि जोशी ('मेरी इक्यावन व्यंग्य रचनाएं' : 2004) आदि का उल्लेख किया जा सकता है, जिन्होंने श्रेष्ठ व्यंग्य-निबंधों की भी रचना की है।

इस कालावधि में ललित निबंधकारों की जो नयी पीढ़ी उभर कर सामने आयी है उसमें से कृष्णबिहारी मिश्र, रामअवध शास्त्री, श्रीराम परिहार और अष्टभुजाप्रसाद शुक्ल के नाम रेखांकित करने योग्य हैं। कृष्णबिहारी मिश्र के 'बेहया का जंगल' (1981), 'मकान उठ रहे हैं', (1990); 'संबुद्धि' (1997), 'आंगन की तलाश' (1999) आदि निबंध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। उनके निबंधों की अंतर्वस्तु नस्ताल्जिया, वर्तमान के प्रति विक्षोभ और भविष्य के प्रति आशावादिता से निर्मित हुई है। गांव के पुराने और पारंपरिक रूप को ले कर उनमें नस्ताल्जिया है। यह पुराना रूप नष्ट हो रहा है। अब गांवों के लोगों में भावनात्मक, मानसिक, सांस्कृतिक, भौतिक आदि क्षेत्रों में आधुनिकता और विकास के नाम पर जो परिवर्तन आ रहा है, वह उन्हें क्षुब्ध करता है। स्वातंत्र्योत्तर काल में भारत के गांवों में भाईचारा नष्ट हो रहा है, श्रम पर से आस्था उठ रही है; चारित्रिक दृढ़ता नष्ट हो रही है; उपभोग की लालसा और अवसरवादिता बढ़ रही है; सब तरफ़ बेहयाई और मूल्यहीनता दिखायी दे रही है; इत्यादि। ये परिवर्तन बाज़ारवाद और विजातीय संस्कृति के प्रभाव को परिणाम हैं। लेकिन मिश्र जी निराश नहीं हैं; क्योंकि उन्हें हज़ारों वर्ष से अविच्छिन्न रूप से चली आने वाली भारतीय लोकसंस्कृति में दृढ़ आस्था है और यह दृढ़ आस्था व्यर्थ नहीं है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रामअवध शास्त्री के भी कई निबंध-संग्रह अब तक प्रकाशित हो चुके हैं : 'डायरी के उड़ते पृष्ठ' (1982); 'बूझत श्याम कौन तू गोरी' (1991), 'कास फूल गये' (1999) आदि। उनके निबंधों में भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य-परंपरा, भारतीय प्रकृति, तीज-त्यौहार, पर्व-उत्सव आदि के संदर्भों एवं प्राचीन एवं नवीन सकारात्मक तत्त्वों एवं मूल्यों के बीच सामंजस्य देखने को मिलता है। वे बड़ी उन्मुक्तता, उल्लास और शिष्टता के साथ अपनी बात कहते हैं, विस्तृत ज्ञान-संदर्भों और शैलीगत वैशिष्ट्य के कारण उनके निबंधों में लालित्य की सृष्टि होती है। श्रीराम परिहार ने भी व्यक्तिव्यंजक निबंधों को अपनी सर्जना के केंद्र में रखा है। उनके प्रकाशित निबंध-संग्रहों में 'आंच अलाव की', 'अंधेरे से उम्मीद' (1994), 'धूप का अवसाद' (1998), 'बजे तो वंशी, गूंजे तो शंख' (1999), 'ठिठके पंख पंखुरी पर' (2002) उल्लेखनीय हैं। उनके निबंधों में उनकी प्रगतिशील सोच ने अभिव्यक्ति पायी है, लेकिन वे पश्चिम से आक्रांत होने की हमारी प्रवृत्ति के पक्षधर नहीं हैं। वे पश्चिमीकरण, बाज़ारवाद और उपयोगवाद आदि के कारण भारतीय जीवन-मूल्यों के ह्रास से चिंतित अवश्य हैं, किंतु निराश नहीं। उनकी निबंध-शैली विशिष्ट और लालित्यपूर्ण है। अष्टभुजाप्रसाद शुक्ल ने 'मिठउवा' (1999) में संगृहीत अपने ललित-निबंधों से ध्यान आकर्षित किया। उनके निबंधों की मुख्य विशेषता उनमें लोकरस की ललित अभिव्यक्ति है।

कवि के रूप में ख्यात केदारनाथ सिंह की चौथी गद्यपुस्तक 'क़ब्रिस्तान में पंचायत' (2003) उनका एकमात्र ललित-निबंधों या ललित-निबंधों की सीमा का स्पर्श करने वाली रचनाओं का संग्रह है। इसकी अधिकांश रचनाएं दैनिक 'हिंदुस्तान' में एक नियमित स्तंभ के रूप में प्रकाशित हुई थीं। पश्चिम में भी और हमारे यहां भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने पत्र-पत्रिकाओं में नियमित स्तंभों के लिए लिखी गयी सामग्री ने लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के कारण श्रेष्ठ निबंधों का रूप ले लिया। केदारनाथ सिंह की इस संग्रह की अधिकांश रचनाएं विषयवस्तुगत विविधता के बावजूद लेखक के संपन्न व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के कारण 'निबंध' बन गयी हैं। इस संग्रह की रचनाओं में विषय की उपेक्षा नहीं हुई है, लेकिन विषयी प्रधान हो गया है। प्रत्येक रचना का एक निश्चित विषय है, लेकिन उसकी वस्तु पूर्णतः विषयानुसार नहीं है। प्रायः हर रचना में विषयांतर हुआ है और ख़ूब हुआ है। यह विषयांतर रचनाकार की व्यक्तिगतता और वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। इसलिए कई बार रचना विशेष के शीर्षक के आधार पर यह बता पाना या अनुमान लगा पाना लगभग असंभव हो जाता है कि उसमें क्या कहा गया होगा। यही तो ललित निबंध की चारित्रिक विशेषताएं हैं और 'क़ब्रिस्तान में पंचायत' की रचनाओं में यह ख़ूब हैं।

व्यक्तिव्यंजक या ललित-निबंधों की समकालीन स्थिति पर हम विचार करते हैं तो बड़ी निराशा होती है। यदि पूर्ववर्ती पीढ़ियों के निबंधकारों को छोड़ दें तो 1980 के बाद कितने निबंधकार उभर कर सामने आये हैं? इस निराशाजनक स्थिति का कारण क्या है? हमारे विचार से इसका मुख्य कारण नयी पीढ़ी के रचनाकारों के व्यक्तित्व का दारिद्र्य है। अधिकांश रचनाकार एकायामी व्यक्तित्व के स्वामी हैं। ऐसे रचनाकार अपवादस्वरूप ही मिलेंगे, जो बहुअधीत हों; भारतीय परंपरा, संस्कृति और साहित्य के अधिकांश को आत्मसात किये हों; लोक और प्रकृति के प्रति संसक्त हों; जिनका अंतःकरण रागात्मकता से परिपूर्ण हो; जिनके सरोकार इतने प्रबल हों कि व्यवधान उपस्थित होने पर उनमें तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न हो; जो स्वभाव से ऐसे मस्तमौला हों कि अपने पर और दूसरों पर खुल कर हंस सकें, कटाक्ष कर सकें, इत्यादि। निबंध-रचना के लिए व्यक्तित्व की संपन्नता की तरह अभिव्यक्ति की संपन्नता भी आवश्यक है। निबंधकार की अभिव्यक्ति ऐसी होनी चाहिए कि पाठक निबंध पढ़ते ही उससे अभिभूत हो जाये। वह रसमग्न भी हो और विचारमग्न भी। ये चीज़ें दुष्कर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अवश्य हैं, लेकिन असंभव नहीं। इसलिए भविष्य में निबंधकार पैदा तो होंगे, लेकिन बहुत कम। वर्तमान की तरह भविष्य में भी 'निबंध' के नाम पर 'लेख' लिखने वालों की ('लेख' लिखने वाला ही 'लेखक' होता है!) भीड़ ज़रूर उमड़ेगी।

## समालोचना

छायावादयुगीन हिंदी-समीक्षकों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का अवदान संपूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र में अप्रतिम स्थान का अधिकारी है। इतने प्रौढ़ व सर्वांगीण आलोचक की विचार-सरणि से परवर्ती हिंदी-आलोचना का प्रभावित न होना आश्चर्यजनक होता। किंतु उनके प्रभाव को ग्रहण करते हुए आलोचकों ने अपनी मौलिकता और स्वतंत्र दृष्टि का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ, नंददुलारे वाजपेयी ने शुक्ल जी की त्रुटियों का उल्लेख करते हुए नवीन पद्धति के निर्माण की चेष्टा की, तो हजारीप्रसाद द्विवेदी और नगेंद्र ने भी शुक्ल जी से टकरा कर एक ओर उनकी श्रेष्ठता को स्वीकार किया और दूसरी ओर अपने लिए नया मार्ग ढूंढ़ कर हिंदी-आलोचना को आगे बढ़ाया। नवीन पद्धति का निर्माण करने पर भी इन्हें सामान्यत: शुक्ल-संस्थान के आलोचकों के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए।

**नंददुलारे वाजपेयी** ने न केवल शुक्ल जी की सीमाओं को उद्घाटित किया, अपितु छायावादी काव्य के संदर्भ में उनके दृष्टिकोण को भी नवीन साहित्यिक संवेदना के उपयुक्त नहीं माना। वाजपेयी जी की समीक्षादृष्टि के निर्माण में छायावादी काव्य का प्रमुख योग रहा है। उसकी नूतन कल्पना-छवियों, भावों और भाषा-रूपों की ओर वे विशेष आकृष्ट हुए। मध्यकालीन संस्कारों से प्रेरित रत्नाकर का काव्य तथा 'साकेत' की रुआंसी अभिव्यक्तियां उन्हें अनाकर्षक लगीं। महावीरप्रसाद द्विवेदी के भाषा-परिष्कार-संबंधी दृष्टिकोण तथा उनकी सुरुचिपूर्ण संपादनकला को महत्त्व देते हुए भी उनके साहित्य को उन्होंने अत्यंत साधारण कोटि का माना। प्रेमचंद के आदर्शवाद की भी वे अधिक प्रशंसा नहीं कर सके। किंतु सन् 1941 तक 'भारत' में प्रकाशित लेखों में उन्होंने जिस तेजस्विता, प्रखरता और पैनी दृष्टि का परिचय दिया, वह बाद में संतुलित लेखन में बदल गयी। छायावादोत्तर काल में उनके कई समीक्षा-ग्रंथ प्रकाशित हुए—आधुनिक साहित्य, नया साहित्य : नये प्रश्न, कवि निराला, प्रकीर्णिका, राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध इत्यादि। इन कृतियों में वाजपेयी जी ने आलोच्य ग्रंथों पर अपने पूर्वाग्रह को लादा नहीं है, बल्कि स्वयं इन्हीं को समीक्षा-सरणि के रूप में ग्रहण किया है और इनमें अनुस्यूत आधुनिकता तथा नवनिर्माण के प्रयास को निरंतर दृष्टि में रखा है।

काव्य में उन्होंने मुख्यत: सौंदर्यानुसंधान किया है और उसे जीवन-चेतना से संपृक्त रखा है, किंतु कथा-साहित्य और नाटक की आलोचना में वे मुख्य रूप से मूल जीवन-चेतना और सामाजिक प्रभाव तथा उनके परिदृश्य का आकलन करते हैं। जैनेंद्र और अज्ञेय के कथा-साहित्य और अश्क के नाटकों का विवेचन उन्होंने इसी दृष्टिबिंदु से किया है। प्रसाद के नाटकों को स्वच्छंदतावादी और लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों को पुनरुत्थानवादी कहना उनके मौलिक चिंतन और यथार्थ की पहचान का परिचायक है। आधुनिक समीक्षा के लिए वे रसवाद को बहुत उपयोगी नहीं मानते, क्योंकि रसवाद अपने संरक्षण में निम्न-से-निम्न कवियों को प्रश्रय देता रहा है, किंतु 'रस' का खंडन उन्होंने कहीं नहीं किया। निराला के संदर्भ में उन्होंने बुद्धितत्त्व और अभिधात्मक काव्यशैली को काव्यसीमा में समाविष्ट किया है। काव्य की संरचना के विषय में अमेरिकी नयी आलोचना से प्रभाव ले कर इधर हिंदी-समीक्षा में भाषा के विवेचन पर अधिक बल दिया जाने लगा है, जिस पर विचार करते हुए वाजपेयी जी ने यह मत प्रकट किया है : "काव्य के दोनों पक्षों का—कवि की संवेदना और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उसकी अभिव्यक्ति का—समन्वित विवेचन ही काव्यसमीक्षा के लिए उपादेय हो सकता है।'' काव्यसमीक्षा के मान के रूप में उनके सामने मुख्यतः दो ही वस्तुएं आती हैं—भावात्मक निष्पत्ति और रूपात्मक सौंदर्य। अंत में यह विचारणीय है कि वाजपेयी जी की समीक्षा-पद्धति को क्या कोई एक नाम दिया जा सकता है? जब वे रस-संप्रदाय की अकर्मण्यता पर प्रहार करते हुए कहते हैं कि वह कला के लिए कला के समांतर है, तो उन्हें शुक्ल जी की परंपरा में कैसे रखा जा सकता है? उन्हें प्रायः छायावादी, स्वच्छंदतावादी, सौष्ठववादी, रसवादी, अध्यात्मवादी समीक्षक कहा गया है और ये नाम ही इस बात के सूचक हैं कि उनकी समीक्षा पर किसी वाद का अधिकार नहीं रहा है। छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद आदि में ख़ासी दिलचस्पी लेते हुए भी वे वादाग्रही नहीं थे। किंतु शुक्ल जी की भांति उन्होंने वादों का एकतरफ़ा खंडन नहीं किया, उनके मन से वादी तत्त्व काव्य के लिए उपादेय भी है।

**हजारीप्रसाद द्विवेदी** दूसरे ऐसे आलोचक हैं, जिनकी आलोचनात्मक उपलब्धियां महत्त्वपूर्ण और संग्रहणीय हैं। 'हिंदी-साहित्य की भूमिका' (1940) में उन्होंने आलोचना की ऐतिहासिक पद्धति की प्रतिष्ठा करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि किसी ग्रंथकार का स्थान निर्धारित करने के लिए क्रमागत सामाजिक, सांस्कृतिक एवं जातीय सातत्य को देखना आवश्यक है, जिसके लिए आलोचक को अपनी जातीय परंपरा या सांस्कृतिक विरासत का पर्याप्त बोध होना चाहिए। द्विवेदी जी में बोध और पांडित्य का अद्‌भुत मिश्रण है। नवीन मानवतावाद और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के कारण उनका पांडित्य लचीला और बोध आधुनिक हो गया है। वे मुख्यतः शुक्ल-संस्थान के आलोचक हैं, पर अपने मानवतावादी दृष्टिकोण तथा ऐतिहासिक पद्धति के कारण शुक्ल जी से अलग हैं। मानवीय मूल्यों में इतनी गहन आस्था उनके पूर्व किसी आलोचक ने व्यक्त नहीं की थी। मनुष्य की महिमा की प्रतिष्ठा आधुनिक युग की चेतना का परिणाम है, जिसका प्रादुर्भाव छायावादी कविता के साथ हुआ था। इसीलिए द्विवेदी जी की पहली पुस्तक 'सूर-साहित्य' (1936) में छायावादी भावुकता का प्राधान्य था, किंतु 'कबीर' (1942) में उनके दृष्टिकोण का प्रायोगिक रूप स्पष्ट हुआ। उन्होंने कबीर को सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और साहित्यिक नैरंतर्य के व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा। कबीर के भाषागत वैशिष्ट्य पर भी पहले पहल उन्हीं की दृष्टि गयी, परंतु बीच-बीच में उनकी भावुकता उनका साथ नहीं छोड़ती।

द्विवेदी जी का आधुनिक दृष्टिकोण और नवीन मानवतावाद रावीन्द्रिक मानवतावाद से बहुत दूर तक प्रभावित है, परंतु वह उसकी प्रतिकृति नहीं है। रोमानियत से संपृक्त होते हुए भी वह एक हद तक उससे मुक्त है। दूसरे शब्दों में, वह यथार्थ के अधिक निकट है, यद्यपि उन्हें यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता। सीधे धर्म और ईश्वर पर आधारित न होने के कारण वह मध्यकालीन मानवतावाद से भी भिन्न है। अपने रोमैंटिक आदर्शों के कारण न तो वे आदर्शवादी हैं और न यथार्थवादी मूल्यों के कारण कोरे रोमैंटिक। वैज्ञानिक मानवतावाद की श्रेणी में भी वे नहीं आते, क्योंकि कोरी भौतिक प्रगति और सामाजिक सुख-सुविधा तक ही वे अपने को सीमित नहीं कर पाते। 'हिंदी-साहित्य' (1952) में तथा अन्यत्र भी, उन्होंने सूर, तुलसी आदि का मूल्यांकन मानवतावादी दृष्टि से ही किया है। प्रेमचंद का आकलन भी मानवतावादी दृष्टि से हुआ है और यह उनकी श्रेष्ठता का मेरुदंड है। उनके आलोचनात्मक विश्लेषण में आत्मसमर्पण, विनीत मनोभाव, त्याग, साधना, तपश्चर्या, संयम आदि शब्द बार-बार प्रयुक्त हुए हैं। स्पष्ट है कि जिन रचनाओं में इन मानवीय गुणों पर अधिक बल मिलता हो, उन्हें वे श्रेष्ठ कृतियों की संज्ञा देंगे। मनुष्यता को उन्होंने साहित्य और रस का पर्याय मान लिया है। इससे एक बड़ी बाधा यह उत्पन्न होती है कि साहित्य और असाहित्य के बीच कोई

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। वस्तुत: उनका मूल्यांकन व्यावहारिक समीक्षा के आधार पर किया ही नहीं जाना चाहिए। वे विचारों (क्रिटिकल आइडियाज़) के समीक्षक हैं, उनका महत्त्व साहित्य के मूल्यों को बदलने तथा उन्हें नवीन मानवतावादी मूल्यों से जोड़ने में है। 'हिंदी-साहित्य का आदिकाल' में सामग्री का पुनर्मूल्यांकन करना, कबीर के विवेचन में काव्य-संबंधी परंपराभुक्त स्थिर मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लगाना, 'मध्यकालीनबोध का स्वरूप' में साहित्य को सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से जोड़ना, बिहारी की रीतिबद्धता या रीतिसिद्धता को असिद्ध करना आदि ऐसी उपलब्धियां हैं जो उन्हें उन समीक्षकों की कोटि में रखती हैं, जो समय-समय पर युगानुरूप नये मूल्यांकन पर ज़ोर देते हैं।

**डॉ. नगेंद्र** ने हिंदी-आलोचना को व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक दोनों दृष्टियों से संवर्द्धित किया है। वे रसवादी आलोचक हैं। 'रस-सिद्धांत' में रस की सांगोपांग विवेचना करते हुए उन्होंने इसे पुन: प्रतिष्ठित करने का पांडित्यपूर्ण प्रयास किया है। रसवाद पर जितना एकांतिक आग्रह नगेंद्र जी का दिखायी पड़ता है, उतना अन्य किसी आलोचक का नहीं। यदि वाजपेयी जी, द्विवेदी जी और डॉ. नगेंद्र की आलोचनाओं के वृत्त बनाये जायें तो वाजपेयी जी की स्थिति मध्यवर्ती ठहरती है। उनकी वृत्तपरिधि एक ओर द्विवेदी जी की वृत्तपरिधि का स्पर्श करती है, तो दूसरी ओर नगेंद्र की। द्विवेदी जी और नगेंद्र की परिधियां एक दूसरे से अछूती रह जाती हैं। द्विवेदी जी की मानवतावादी समीक्षा में साहित्येतर तत्त्वों की बहुलता है, वाजपेयी जी साहित्यिक मूल्यों पर बल देते हुए भी यथास्थान साहित्येतर मूल्यों का प्रयोग भी करते हैं, किंतु नगेंद्र जी एकांतत: साहित्यिक समीक्षा-सिद्धांतों के पक्षपाती हैं, साहित्येतर मूल्यों से उनका संबंध प्राय: नहीं है।

सर्वप्रथम छायावादी आलोचक के रूप में ही उन्हें ख़्याति मिली। प्रीति और विस्मय से समन्वित छायावादी काव्य की अंतर्मुखी साधना, सौंदर्यचेतना और कलात्मक छवियों के प्रति वे विशेष आकृष्ट थे। 'सुमित्रानंदन पंत' (1938) इसी मनोदशा का परिणाम है। इसके विपरीत 'साकेत : एक अध्ययन' (1939) में उनकी शास्त्रीय अभिरुचि व्यक्त हुई। 'रीतिकाव्य की भूमिका' (1949) तथा 'देव और उनकी कविता' (1949) के लिए अध्ययन-लेखन-क्रम में उनकी रसवादी दृष्टि पूर्णत: पुष्ट हो गयी। किंतु संस्कृत-काव्यशास्त्र में विवेचित रस को उन्होंने ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं किया, अपितु उसके विवेचन में मनोविज्ञान की पूरी सहायता ली। 'आधुनिक हिंदी-नाटक' (1949), 'विचार और अनुभूति' (1944), 'आधुनिक हिंदी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियां' (1951) आदि ग्रंथों में उनकी तीख़ी मनोवैज्ञानिक दृष्टि को सहज ही पाया जा सकता है। इसीलिए कुछ लोगों ने उन्हें भ्रमवश फ्रायडवादी आलोचक कहा है। इसमें संदेह नहीं कि फ्रायडीय मनोविज्ञान का उन पर गहरा प्रभाव है, लेकिन यह स्वयं साध्य न हो कर रसवाद का साधन है।

रसवाद पर अपनी दृष्टि केंद्रित करके भी नगेंद्र जी आधुनिक साहित्य और समसामयिक आंदोलनों से बराबर संपृक्त रहे हैं। जहां उन्होंने 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएं' (1962) ग्रंथ की रचना की, वहीं वे नयी कविता, उपन्यासों और कहानियों को भी समय-समय पर मूल्यांकित करते रहे हैं। 'नयी समीक्षा : नये संदर्भ' (1970) में मूल्यों का विघटन, सांस्कृतिक संकट, आधुनिकता का प्रश्न आदि ज्वलंत विषयों पर भी उन्होंने विचार व्यक्त किये हैं। नये-से-नये विषयों से उलझते रहने के कारण उनकी रसवादी दृष्टि में एक नया संतुलन आया है, इसी कारण वे रससिद्धांत के आयामों के विस्तार का आग्रह करते हैं। रस या आनंद के प्रति उनके आग्रह से यह शंका हो सकती है कि क्या वे जीवन और जगत को साहित्य से अनिवार्यत: संपृक्त नहीं मानते? इस संबंध में उनका विचार है कि समाज का तिरस्कार करने से लेखक की आत्मा की क्षति होगी,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

किंतु जब तक वह निश्छल आत्माभिव्यक्ति करता रहेगा, उसकी कृति मूल्यहीन नहीं हो सकती। वस्तुतः उनका आग्रह परिष्कृत आनंद और निश्छल आत्माभिव्यक्ति के प्रति है। इसके साथ ही उन्होंने कवि के व्यक्तित्व पर भी ज़ोर दिया है, जिसका अर्थ है—छायावादी मान्यताओं की स्वीकृति। जिस काव्यांदोलन ने उनके आलोचक व्यक्तित्व के निर्माण में उल्लेखनीय योगदान किया हो, उससे प्रभावित न होना अस्वाभाविक होता। नगेंद्र जी परिष्कृत आनंदानुभूति में ही नैतिक मूल्यों का समावेश कर लेते हैं। उनका यह सिद्धांत रिचर्ड्स के मूल्य-सिद्धांत के समानांतर दिखायी पड़ता है, रिचर्ड्स के अनुसार भी काव्य का मूल्य नैतिकता से संबद्ध न हो कर अंतर्वृत्तियों के सामंजस्य पर निर्भर करता है। 'भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका' शीर्षक अपने नवीनतम ग्रंथ में उन्होंने हिंदी-समीक्षा के एक अन्य अभाव की पूर्ति की है।

नगेंद्र जी की व्यावहारिक आलोचना तथा सैद्धांतिक आलोचना में प्रीतिकर एकसूत्रता दिखायी पड़ती है। उन्होंने पूर्व और पश्चिम के महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रों का हिंदी-अनुवाद करने-कराने में सबसे अधिक योग दिया है। उनकी प्रेरणा से आचार्य विश्वेश्वर ने 'अभिनवभारती', 'वक्रोक्तिजीवित', 'ध्वन्यालोक', 'नाट्यदर्पण', 'काव्यप्रकाश' आदि को हिंदी में अनूदित किया। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के कुछ क्लासिक ग्रंथों के अनुवाद भी उनकी देखरेख में हुए हैं, 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', 'काव्य में उदात्त तत्त्व' (लौंगिनुस के 'द सब्लाइम' का अनुवाद) और 'काव्यकला' (होरेस की 'आर्स पोयतिका' का अनुवाद) का प्रकाशन हो चुका है। सेंट्सबरी के 'लोसाई क्रिटिकाई' की पद्धति पर उन्होंने 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा' शीर्षक ग्रंथ का संपादन किया है, जिसमें यूरोप के प्रतिनिधि आलोचकों के मुख्य सिद्धांतों का संकलन हुआ है। इन अनुवादों से दो लाभ हुए, एक तो यह कि अब हिंदी का समीक्षक अनूदित मूल ग्रंथों के सम्यक् अध्ययन-विश्लेषण द्वारा अपनी स्वतंत्र मान्यताएं बना सकता है और दूसरा यह कि इससे स्वयं नगेंद्र जी को अपने समीक्षा-सिद्धांतों को संतुलित और समन्वित बनाने के लिए बृहत् आयाम मिल गया।

शुक्ल-परंपरा के समीक्षकों में गुलाबराय और विश्वनाथप्रसाद मिश्र का उल्लेख आवश्यक है। **गुलाबराय** (1888-1963) ने एक ओर तो शुक्ल जी की भांति भारतीय और पाश्चात्य काव्य-सिद्धांतों के समंजन की पद्धति अपनायी और दूसरी ओर मुख्यतः व्याख्यात्मक पद्धति का अवलंबन ले कर व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में योगदान किया। 'सिद्धांत और अध्ययन' (1946) तथा 'काव्य के रूप' (1947) उनकी प्रमुख काव्यशास्त्रीय रचनाएं हैं और 'अध्ययन और आस्वाद' (1957) समीक्षात्मक निबंधों का संकलन है। उनकी समीक्षा-शैली में शुक्ल जी के समान गंभीरता और दृढ़ता नहीं मिलती, अपितु उन्होंने अधिकतर उदार एवं समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही अपनाया है। **विश्वनाथप्रसाद मिश्र** के आलोचनात्मक कृतित्व में 'वाङ्मय-विमर्श', 'बिहारी की वाग्विभूति', 'हिंदी-साहित्य का अतीत' (दो भाग) और 'हिंदी का सामयिक साहित्य' विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। 'वाङ्मय-विमर्श' भारतीय काव्यदृष्टि के अनुसार रचित सैद्धांतिक आलोचना का ग्रंथ है। 'बिहारी की वाग्विभूति' में व्याख्यात्मक समीक्षा की प्रमुखता रही है, तो 'हिंदी-साहित्य का अतीत' के दोनों भागों में आदिकाल से ले कर रीतिकाल तक की प्रवृत्तियों, प्रमुख कवियों की उपलब्धियों और भाषागत विशिष्टताओं का सुलझा हुआ आकलन किया गया है। 'हिंदी का सामयिक साहित्य' में आधुनिक साहित्य के प्रमुख लेखकों और उनकी प्रतिनिधि रचनाओं का विवेचन मिलता है। पाठालोचन के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियां स्थायी महत्त्व की हैं। 'रामचरितमानस' के काशिराज संस्करण के अतिरिक्त केशव, घनानंद, पद्माकर, भिखारीदास, भूषण आदि की काव्य-कृतियों का पाठ संपादन हिंदी-साहित्य को उनकी बहुमूल्य देन है। पर शुक्ल जी की आलोचना-परंपरा को वे

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विकसित नहीं कर सके, यद्यपि उनकी सरणि वही है।

**मार्क्सवादी आलोचना :** मार्क्सवादी समीक्षा के पक्षधरों में सर्वप्रथम **शिवदानसिंह चौहान** का नाम आता है। 'प्रगतिवाद' (1946), 'साहित्य की परख' (1948), 'आलोचना के मान' (1958), 'साहित्य की समस्याएं' (1959) और 'साहित्यानुशीलन' उनके प्रमुख समीक्षा-ग्रंथ हैं, जिनमें मार्क्सवादी आलोचना के सैद्धांतिक पक्ष को स्पष्ट करने के साथ ही हिंदी-साहित्य को उसकी कसौटी पर यथासंभव संतुलित ढंग से परखने का यत्न किया गया है। इस संदर्भ में दूसरे उल्लेखनीय समीक्षक हैं **प्रकाशचंद्र गुप्त**। 'नया हिंदी-साहित्य' (1946), 'आधुनिक हिंदी-साहित्य' (1950) और 'हिंदी-साहित्य की जनवादी परंपरा' (1953) उनकी प्रमुख कृतियां हैं, किंतु सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण उनका विवेचन सामान्य हो कर ही रह गया है। वस्तुतः मार्क्सवादी आलोचकों में **डॉ. रामविलास शर्मा** की दृष्टि सबसे अधिक पैनी, स्वच्छ और तलस्पर्शी है। 'प्रगति और परंपरा' (1948), 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं' (1954), 'आस्था और सौंदर्य' (1956) आदि उनके उल्लेखनीय निबंध-संग्रह हैं। विचारों के स्तर पर वे कहीं भी समझौतावादी नहीं बनते, अपितु अपनी बात को बहुत ही निर्भीक ढंग से कहते हैं। वर्ग-भेद पर आधारित समाज की पहचान को उन्होंने साहित्यकार के लिए आवश्यक माना है। उदाहरणार्थ, 'भाषा, साहित्य और संस्कृति' पुस्तक से यह उद्धरण देखिए : ''पार्टीज़न साहित्यकार बन कर ही हम ऐसे साहित्य का निर्माण कर सकेंगे, जो अगली पीढ़ियों के लिए मूल्यवान हो।'' यह वक्तव्य शर्मा जी की सीमाएं निर्धारित कर देता है, किंतु जहां विरोधियों को आकाश दिखाना उनका अभीष्ट नहीं रहा, वहां उनका विवेचन संतुलित और समस्यामूलक है। इस दृष्टि से 'मार्क्सवाद और प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन' उनका महत्त्वपूर्ण निबंध है। 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी-आलोचना' ग्रंथ को उनकी आलोचना पद्धति का केंद्र-बिंदु मानना चाहिए। इसमें शुक्ल जी के लोकहृदय में लीन होने की कसौटी पर ज़ोर देने के साथ ही उन्होंने उनके अंतर्विरोधों को भी उजागर किया है, किंतु जहां कहीं भी वर्गवाद आवश्यकता से अधिक उभर गया है, वहां उनकी समीक्षा-शैली विकृत हो गयी है। सूरदास के पदों का संबंध जुलाहों और किसानों की मुक्ति की आकांक्षा के साथ जोड़ना इसका उदाहरण है। इस वर्ग के अन्य उल्लेखनीय आलोचक हैं—अमृतराय (नयी समीक्षा), नामवरसिंह (इतिहास और आलोचना, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां) आदि। इनमें अमृतराय की निष्ठा अटूट है और वे साहित्य के समाजवादी आधार को दृढ़तापूर्वक पकड़े हुए हैं।

**दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक अनुशासन :** छायावादोत्तर काल के समीक्षकों में डॉ. देवराज और देवराज उपाध्याय ने क्रमशः दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान के संदर्भ में आलोचनाग्रंथों की रचना की है। **डॉ. देवराज** (छायावाद का पतन, साहित्यचिंता, आधुनिक समीक्षा, प्रतिक्रियाएं) दार्शनिक अनुशासन के आलोचक हैं। दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक होने के साथ ही वे स्वभाव तथा अभ्यास से भी दार्शनिक हैं, जिससे उनके साहित्यिक चिंतन को धार मिल गयी है। किंतु इस संदर्भ में यह नहीं भुलाया जा सकता कि जहां दार्शनिक चिंतन प्रमुख हो जाता है, वहां साहित्यिक चिंतन गौण हो जाता है। डॉ. देवराज साहित्य को व्यापक सर्वांगीण चेतना से संपृक्त देखना चाहते हैं। लेखक तथा आलोचक दोनों के लिए उन्होंने 'क्लासिक' ग्रंथों के परिशीलन को आवश्यक माना है, क्योंकि इससे उनकी रस-संवेदना पुष्ट होती है। इस विषय में वे टी.एस. इलियट से प्रभावित हैं। इलियट की भांति उन्हें भी रोमैंटिक कवि नापसंद हैं, यद्यपि वे स्वयं रोमैंटिक कवि हैं। लेखक और आलोचक को परंपरा तथा समसामयिक जीवनबोध के साथ गहरे अर्थ में संपृक्त देखने की आकांक्षा भी इलियट की मान्यता के अनुरूप है। वैसे, सब मिला कर वे रस-संस्थान या शुक्ल-परंपरा के आलोचक हैं, उनकी दृष्टि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में आलोचक का कार्य रसानुभूति की बौद्धिक व्याख्या करना है।

मनोविश्लेषणवादी समीक्षा के क्षेत्र में **अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी** और **देवराज उपाध्याय** उल्लेखनीय हैं। अज्ञेय-कृत 'त्रिशंकु' के निबंधों में फ्रायड, एडलर और युंग के सिद्धांतों का अत्यंत स्पष्ट है। इलाचंद्र जोशी ने भी 'साहित्य-सर्जना' (1940), 'विवेचना' (1 'साहित्य-संतरण' (1953), 'विश्लेषण' (1954) और 'साहित्य-चिंतन' (1955) में निबंधों में मनोविश्लेषण को प्रमुखता दी है। छायावाद और प्रगतिवाद के प्रति उनका आक्रो समीक्षादृष्टि की देन है। पर उनकी भाषा में काल्पनिक उड़ान अधिक है और शब्दों की फिजू के कारण उनके निबंधों में फैलाव भी अधिक आ गया है। डॉ. देवराज उपाध्याय ने अपने शो 'आधुनिक हिंदी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान' में मनोविश्लेषण के आधार पर कथा-साहि आलोचना की है। इस पद्धति की महत्ता प्रतिपादित करते हुए उन्होंने जोन्स द्वारा की गयी 'है की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का सादर उल्लेख किया है, जबकि पाश्चात्य आलोचकों ने उसे आ मानने से ही इनकार कर दिया है। वस्तुतः कथा-कृतियों में मनोवैज्ञानिक सूत्रों को ढूंढ़ निकालन की आलोचना नहीं मानी जा सकती, क्योंकि कोई भी रचना केवल मनोवैज्ञानिक सूत्रों का चय होती। प्रेमचंद में मनोवैज्ञानिक अर्थांतरन्यास, जैनेंद्र में गेस्टाल्ट, अज्ञेय में नियतिवाद और मनोविज्ञान आदि को ढूंढ़ना दिमाग़ी कसरत है।

**सैद्धांतिक आलोचना :** आलोच्य अवधि में सैद्धांतिक आलोचना की दिशा में भी समीक्षा-ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है। इस दिशा में सर्वाधिक उल्लेखनीय योगदान डॉ. नगेंद्र 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' में उन्होंने संस्कृत-काव्यशास्त्र की अभिनिवेशपूर्वक विवेच है, तो 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' और 'काव्य में उदात्ततत्त्व' की रचना पाश्चात्य काव्यशास्त्र के में की गयी है। वैसे, उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्री परंपराओं को परस्पर पूरक है और दोनों के मौलिक तत्त्वों को सूक्ष्मतापूर्वक विश्लेषित किया है। 'रस-सिद्धांत' उनका म बृहत् प्रयास है, जिसमें नवीन ज्ञान के प्रकाश में अनेक उद्भावनाएं की गयी हैं और रस को बनाते हुए नयी कविता को भी उसकी सीमा में अंतर्भुक्त कर लिया गया है। भारतीय और पा काव्यशास्त्र के समन्वय की दिशा में गुलाबराय (काव्य के रूप, सिद्धांत और अध विश्वनाथप्रसाद मिश्र (वाङ्मय-विमर्श), बलदेव उपाध्याय (भारतीय साहित्यशास्त्र—दो भाग नंददुलारे वाजपेयी ('आधुनिक साहित्य' के कुछ निबंध) का योगदान भी ऐतिहासिक महत्त्व है। अपनी यत्किंचित् सीमाओं के होने पर भी ये ग्रंथ कालविशेष में अत्यंत महत्त्वपूर्ण और प्रे रहे हैं। सैद्धांतिक आलोचना के संदर्भ में लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'-कृत 'काव्य में अभिव्यंज (1938) और 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत' (1942), रामदहिन मिश्र-कृत 'काव (1947), 'काव्य-विमर्श' (1951), डॉ. भगीरथ मिश्र कृत 'हिंदी काव्यशास्त्र का इ (1947), डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षित-कृत 'रस-सिद्धांत : स्वरूप और विश्लेषण', डॉ. तिवारी-कृत 'सत्यं शिवं सुंदरम्', डॉ. निर्मला जैन-कृत 'रस-सिद्धांत और सौंदर्य डॉ. सुरेशचंद्र गुप्त-कृत' आधुनिक हिंदी-कवियों के काव्यसिद्धांत (1960) आदि अन्य अने ग्रंथों का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें संदेह नहीं कि काव्यशास्त्र के विभिन्न अं साहित्यालोचन की समस्याओं पर जितने गहन अध्ययन और विस्तार के साथ आलोच्य विचार-विमर्श किया गया, उतना छायावाद युग या उसके पूर्व नहीं हुआ था।

छायावादोत्तरकालीन सैद्धांतिक आलोचना के स्वरूप-निर्माण में कवियों और अन्य साहि के विचारों का अलग महत्त्व है। छायावादी कवियों ने अपने काव्य की जटिलताओं और बा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

को स्पष्ट करने के लिए अपनी मान्यताओं को आग्रहपूर्वक प्रकट किया था। इसी प्रकार 'तार सप्तक', 'दूसरा सप्तक' और 'तीसरा सप्तक' के कवियों ने भी अपने वक्तव्यों में काव्य के बदले हुए तेवर को सामने रखने का प्रयास किया है। नकेनवादियों के प्रपद्यवाद में भी रस-सिद्धांत, साधारणीकरण आदि के विरोध में बुलंद आवाज़ मिलती है। **अज्ञेय** ने अपने काव्य-संबंधी विचारों को 'त्रिशंकु', 'आत्मनेपद' और 'हिंदी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' में व्यक्त किया है, तो **मुक्तिबोध** के समीक्षात्मक विचार 'एक साहित्यिक की डायरी', 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' और 'नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' में अभिव्यक्त हुए हैं। वे प्रगतिशील मानवतावाद के मार्मिक, सर्वांगपूर्ण चित्र उपस्थित करने के पक्षधर हैं। **गिरिजाकुमार माथुर** के नयी कविता संबंधी प्रौढ़ विचार 'नयी कविता: सीमाएं और संभावनाएं' में व्यक्त हैं। **धर्मवीर भारती** ने 'मानवमूल्य और साहित्य' में विपर्यस्त मानवीय मूल्यों की बात उठा कर साहित्य की परीक्षा की है। वस्तुत: कवियों ने अपनी मान्यताओं को प्राय: अपने निजी काव्य के संदर्भ में व्यक्त किया है और उनकी अधिकांश मान्यताएं रचनाप्रक्रिया या कविकर्म से संबद्ध हैं, जबकि आज का आलोचक रचनाप्रक्रिया अथवा कविकर्म के स्थान पर केवल रचना (फिनिश्ड प्रोडक्ट) से संबंध रखना चाहता है।

**कुछ अन्य समीक्षक :** उपाधिपरक और उपाधि-निरपेक्ष अनुसंधान की ओर बढ़ती हुई अभिरुचि के फलस्वरूप वर्तमान युग में हिंदी-आलोचना का बहुमुखी विस्तार हुआ है, किंतु उस सबका आकलन यहां संभव नहीं है, क्योंकि दिशा-निर्देशक आलोचक व्यक्तित्व बहुत कम समीक्षकों का रहा है। इस दृष्टि से डॉ. दीनदयालु गुप्त, डॉ. विनयमोहन शर्मा, डॉ. सत्येंद्र, डॉ. माताप्रसाद गुप्त आदि का उल्लेख किया जा सकता है। **विनयमोहन** जी ने विशेषत: समीक्षात्मक निबंधों की रचना की है, जिनमें विषय को स्पष्ट रूप से सीधी भाषा में प्रस्तुत किया गया है। **डॉ. सत्येंद्र** के निबंधों में भी व्याख्यात्मक पद्धति की यही विशेषता मिलती है, किंतु इसके साथ ही लोक-साहित्य का स्वरूप-निर्धारण और विवेचन उनकी निजी विशेषता है। पाठानुसंधान अथवा प्राचीन कृतियों के संपादन की दिशा में **डॉ. माताप्रसाद गुप्त** का योगदान अविस्मरणीय है। 'जायसी-ग्रंथावली', 'पृथ्वीराजरासो', 'बीसलदेवरासो', 'मधुमालती' प्रभृति काव्य-कृतियों का पाठ-संपादन कर उन्होंने प्राचीन हिंदी-काव्य के अध्ययन को सुलभ बनाया है।

हिंदी-साहित्य के विभिन्न युगों, प्रतिनिधि लेखकों और ग्रंथों की विवेचना इस युग में विस्तारपूर्वक हुई है। भक्तिकालीन काव्य की समीक्षा प्रमुख रूप से डॉ. दीनदयालु गुप्त, परशुराम चतुर्वेदी, सावित्री सिन्हा, हरवंशलाल शर्मा, मुंशीलाल शर्मा, विजयेंद्र स्नातक, उदयभानु सिंह, त्रिलोकीनारायण दीक्षित और प्रभुदयाल मित्तल ने की है। रीतिकाल के पुनर्मूल्यांकन की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है। भगीरथ मिश्र, विजयपाल सिंह, बच्चन सिंह, मनोहरलाल गौड़, सत्यदेव चौधरी आदि के शोधप्रबंध इस संदर्भ में पठनीय हैं। हिंदी-गद्य के विवेचन में लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, शिवनाथ, दशरथ ओझा, रामचंद्र तिवारी, रामदरश मिश्र, जयचंद राय और गोपाल राय की अधिक रुचि रही है। आधुनिक कविता को समालोचना का विषय बनाने वालों की संख्या सबसे अधिक है, जिनमें सुधींद्र, केसरीनारायण शुक्ल, कुमार विमल, रामेश्वरलाल खंडेलवाल, प्रेमशंकर, गणपतिचंद्र गुप्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। विभिन्न विषयों पर शोधपूर्ण समीक्षात्मक निबंध-लेखन में ललिताप्रसाद सुकुल, जानकीवल्लभ शास्त्री, कन्हैयालाल सहल आदि का योगदान ध्यान आकृष्ट करता है। भाषावैज्ञानिक शोध-समीक्षा भी इस काल की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। धीरेंद्र वर्मा, उदयनारायण तिवारी, भोलानाथ तिवारी और अंबाप्रसाद 'सुमन' इस क्षेत्र के प्रमुख समीक्षक हैं। इधर शैलीतात्त्विक अध्ययन के स्वरूप को ले कर भी कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है। डॉ. विद्यानिवास

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मिश्र-कृत 'रीतिविज्ञान', डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव-कृत 'शैलीविज्ञान और आलोचना की नयी भूमिका' तथा डॉ. भोलानाथ तिवारी-कृत 'अभिव्यक्तिविज्ञान' (मूल लेखक—देमेत्रियस, दूसरी शती ई.पू.), डॉ. नगेंद्र-कृत 'शैलीविज्ञान' इस विधा की विशिष्ट कृतियां हैं।

**आलोचना की नयी दिशा :** गद्य-साहित्य की अन्य विधाओं की भांति छठे दशक के अंत में हिंदी-आलोचना भी नयी संभावनाओं की ओर उन्मुख हुई। डॉ. देवीशंकर अवस्थी द्वारा संपादित निबंध-संग्रहों : 'विवेक के रंग', 'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति'—में संकलित सामग्री समीक्षा संबंधी नये संकेतों की सूचना देती है। डॉ. अवस्थी ने इन ग्रंथों की भूमिकाओं में ऐसे बहुतेरे समीक्षात्मक शब्दों का प्रयोग किया जो नये हैं और जिनसे समीक्षा-साहित्य संपन्न हुआ है। नेमिचंद्र जैन की 'अधूरे साक्षात्कार', डॉ. इंद्रनाथ मदान की 'आज का हिंदी-उपन्यास', डॉ. नामवर सिंह-कृत 'कहानी, नयी कहानी' तथा 'कविता के नये प्रतिमान', डॉ. रघुवंश की 'आधुनिक साहित्य का परिप्रेक्ष्य', डॉ. बच्चन सिंह की 'समकालीन साहित्य : आलोचना को चुनौती' तथा 'आलोचक और आलोचना', लक्ष्मीकांत वर्मा की 'नयी कविता के प्रतिमान' तथा 'नये प्रतिमान : पुराने निकष', डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी का 'नवलेखन' तथा 'भाषा और संवेदना', गंगाप्रसाद विमल की 'समकालीन कहानी का रचनाविधान' आदि पुस्तकें नयी समीक्षा के संकेतचिह्न हैं। इन सभी समीक्षकों ने संरचना को महत्त्व देने के साथ मूल्यों का ध्यान रखा है। नयी आलोचना किसी पूर्व निश्चित आलोचनात्मक मान को आलोच्य पर चस्पा नहीं करती, क्योंकि आलोच्य अपना मान स्वयं है। आलोच्य की निजी प्रतिमानता की ओर छायावाद-काल में भी ध्यान गया था, पर उस समय आलोचना के किसी वैज्ञानिक आधार की खोज नहीं की जा सकी थी। अमेरिका की नयी आलोचना (न्यू क्रिटिसिज़्म) ने समीक्षा को वैज्ञानिक आधार दिया। फलस्वरूप प्रचलित प्रतिमान—रसवादी, मार्क्सवादी, ऐतिहासिक, मनोविश्लेषणात्मक आदि मान्य नहीं रहे, क्योंकि वे साहित्य का आनुषंगिक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। रैनसम, रॉबर्ट पेन वारेन, क्लीन्थ ब्रुक्स, ब्लैकमर, टेट आदि नये आलोचना-संस्थान के लेखक हैं, जिनसे इधर की हिंदी-समीक्षा प्रभावित हुई है।

नयी आलोचना में रचना की आंतरिक संगति पर विशेष ध्यान दिया जाता है अर्थात यह देखा जाता है कि कृति का एक अंग दूसरे से, दूसरा तीसरे से और हर एक समग्र से कैसे और किन अर्थवत्ताओं को उकेरते हुए संबद्ध है? कुछ लोग रचना के अंगांगि संबंधों के विवेचन में ही आलोचना की इतिकर्त्तव्यता मानते हैं, पर कुछ इससे आगे बढ़ कर मूल्यांकन अर्थात जीवन के साथ प्रासंगिकता की तलाश भी करते हैं। यहां यह जिज्ञासा हो सकती है कि कृति का रचाव या भाषिक संघटना और रचना की प्रासंगिकता दो चीज़ें हैं या एक ही वस्तु के दो पहलू हैं? रचना का मूल स्रोत प्रासंगिकता ही है यानी यथार्थ के प्रति संपन्नतर अनुमूल्यात्मक प्रतिक्रिया। भाषिक संरचना इसी पर आधारित रहती है। आलोचक के सम्मुख केवल रचना की भाषिक संघटना होती है, इसलिए उसे भाषिक संरचना का विवेचन करते समय, उसकी छोटी-बड़ी, गूढ़-जटिल अर्थवत्ता को उद्घाटित करते समय उसकी मूल्यगत प्रासंगिकता को स्पष्ट करना होता है। किंतु नयी आलोचना तभी अर्थवती हो सकती है, जब पिछली चिंतन-परंपरा के साथ उसका तालमेल बैठाया जाये। जो समीक्षक इस ओर गतिशील हैं, उन्हें अपनी लंबी विरासत के आधार पर ही इस पद्धति को विकसित करने की चेष्टा करनी चाहिए।

आलोचना को आगे बढ़ाने में पुस्तक-समीक्षाओं (बुक रिव्यू) का भी उल्लेखनीय योगदान रहा है। 'प्रतीक', 'आलोचना', 'वार्षिकी', 'माध्यम', 'समीक्षा' आदि में समय-समय पर जो पुस्तक समीक्षाएं प्रकाशित हुईं, उनसे आलोचना के प्रतिमानीकरण में काफ़ी सहायता मिली है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यदि संक्षेप में शुक्लोत्तर आलोचना का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाये तो कहना न होगा कि यह सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में संपन्न हुई है, संपन्नता, प्रामाणिकता और गहराई दोनों को ले कर हुई है। पर काव्यालोचन की तरह हिंदी में कथालोचन तथा नाट्यालोचन की भूमियां प्रशस्त नहीं हो पायी हैं, क्योंकि वे अभी तक शास्त्रीय रूढ़ियों, संकीर्णताओं आदि से पूरी तरह उभर नहीं सकी हैं।

## अद्यतन हिंदी-समालोचना-II

(1975 से 1981 तक)

साठोत्तरी हिंदी-आलोचना का जन्म रचनाकर्म की भांति ही मोहभंग की स्थितियों से हुआ। साथ ही आधुनिक विचारधाराओं, साहित्य और कला के आंदोलनों, घटनाओं, सिद्धांतों, संघातों, समस्याओं ने बुनियादी तौर पर रचना और आलोचना दोनों में परिवर्तन किये। फ्रॉयड, युंग, एडलर, एजरा पाउंड, टी.एस. इलियट, एफ.आर. लीविस, सार्त्र आदि विचारकों से हिंदी के लेखक का संपर्क बढ़ा। मार्क्स और लूकाच उसकी चेतना में नये बोध से जागृत हुए। अस्तित्ववाद, मानववाद, क्यूबिज़्म, प्रभाववाद, यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, न्यू क्रिटिसिज़्म, नव्यअरस्तूवादी सिद्धांतों और आलोचना-पद्धतियों के परिचय ने हिंदी-आलोचना में एक नया बौद्धिक परिवेश तैयार किया। परिणामतः पुराने आलोचकों की तुलना में नया आलोचक और अधिक जागृत, चौकन्ना और चतुर दृष्टिगत हुआ। पुरानी सैद्धांतिक मान्यताओं को, विशेषकर संस्कृत-हिंदी-काव्यशास्त्र, नवीन सैद्धांतिकता और व्यावहारिकता ने पछाड़ कर नवीन मूल्य एवं मानदंडों को ग्रहण किया। प्रयोगवादी तथा नयी कविता की अभ्यस्त लीकें भी नवीन सृजनात्मक और आलोचना में चुभने लगीं। छायावादी पतनशील संस्कारों तथा प्रगतिवादी प्रचारधर्मी नारों से भी बचाव की कोशिशें बढ़ गयीं। मार्क्सवादी और मनोविश्लेषणवादी जैसी आलोचना की ऐतिहासिक पद्धतियों का निषेध कर 'नयी आलोचना' पनपने लगी। साहित्य में रूपवती आलोचना, शैलीविज्ञान, संरचनावादी, नयी समीक्षा से भाषावादी आलोचना का तुमुलनाद गूंज उठा। इस बीच अच्छी बात यह हुई कि अब आलोचना केवल कविता-केंद्रित आलोचना न रह कर उपन्यास, कहानी, नाटक, रंगमंच, निबंध, रेखाचित्र आदि सभी गद्यविधाओं को साथ ले कर बढ़ने व पनपने लगी। इस स्थिति ने हिंदी-आलोचना का सैद्धांतिक और व्यावहारिक स्तर पर क्षेत्र काफ़ी विस्तृत कर दिया है।

प्रयोगवादी सैद्धांतिक समीक्षा की पृष्ठभूमि पहले ही निर्मित होती चली आ रही थी। इन आलोचकों ने आधुनिकता, आधुनिक भावबोध और नवीन सांस्कृतिकीकरण, राजनीतिकीकरण-सामाजिकीकरण से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं की रचना और आलोचना में विवेक-वयस्कता से ग्रहण किया। लेकिन जब श्री रामधारी सिंह दिनकर की 'उर्वशी' पर समीक्षाएं लिखी गयीं, तो आलोचना के अराजक मानदंडों की पोल खुल गयी। एक ही विचारधारा के आलोचक रामविलास शर्मा और मुक्तिबोध के निर्णय एक-दूसरे से विरोधी दृष्टिगत हुए। यह स्पष्ट हो गया कि या तो हमारे मानदंड अपर्याप्त हो गये हैं और उनमें नयी सर्जना के साथ न्याय करने की ताक़त नहीं रही है या फिर आलोचना के मानदंडों में नये सिरे से सुधार-विचार की ज़रूरत है। नयी सृजनात्मक के साथ नयी समीक्षादृष्टि के निर्माण का कार्य भी अज्ञेय और मुक्तिबोध ने शुरू किया। दिलचस्प बात यह है कि इन दोनों कवि-आलोचकों की मूल्य, मान, दृष्टि को युग के नये आलोचकों का व्यापक समर्थन मिला। साहित्य में वस्तु और रूप, साधारणीकरण बनाम रसानुभूति, सहअनुभूति, प्रयोग,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परंपरा, आधुनिकता, समसामयिकता, रचना-प्रक्रिया, सामूहिक भावचेतना में परिवर्तन, अनुभूति की प्रामाणिकता, अर्थलय, छंद, संप्रेषण, काव्यभाषा, सर्जनात्मक कल्पना, काव्य की सामाजिकता, स्वायत्तता आदि पर विचार होने लगा। देखते-देखते आलोचना और आलोचनाशास्त्र में भारी परिवर्तन दृष्टिगत हुआ। सैकड़ों पश्चिमी आलोचना के शब्द, जैसे— तनाव, विचलन, विपथन, विरोधाभास, हेत्वाभास, विसंगति, विडंबना, आधुनिकता, परंपरा, ऐतिहासिकतावाद आदि हिंदी-आलोचना में खनखनाने लगा। इतना ही नहीं, इन्हीं शब्दों से हिंदी-आलोचना का पूरा समर लड़ा जाने लगा। बेचारे रस, वक्रोक्ति, ध्वनि, अलंकार, गुण, औचित्य जाति-बहिष्कृत हो कर ताकने लगे। कहना न होगा कि पश्चिमी आलोचना की पद्धतियों, प्रवृत्तियों और विचार-आंदोलनों ने हिंदी-समीक्षा पर हमला ही बोल दिया, जिससे उसके विकास की सहज धारा में भारी गतिरोध उत्पन्न हुआ। लेकिन इस गतिरोध को पहचान कर तोड़ने की कोशिश शुरू हुई है और एक नये काव्यशास्त्र को नयी मूल्य-चेतना से गढ़ने की तैयारी भी। सन् 60 के बाद आलोचकों ने यह अनुभव किया कि सृजनकार्य की शक्ति और कमज़ोरी, प्रासंगिकता-अप्रासंगिकता, कलात्मकता, मौलिकता आदि की पहचान केवल कला के स्वायत्त संसार के नियमों से नहीं हो सकती और न केवल रचना को बाहरी सामाजिक मानदंडों से ही परखा जा सकता है। बल्कि रचना के भीतरी-बाहरी तत्त्वों की समग्र परख के लिए दोनों में संतुलित मूल्यांकन-दृष्टि का तालमेल ज़रूरी है। समीक्षकों ने, जहां तक संभव हो सका, कृति के भीतरी नियमों, उसकी बनावट-बुनावट के कथ्य-रूपगत तत्त्वों के सहसंयोजन, सहअस्तित्व और सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, नैतिक परिवेशगत दबावों व प्रभावों को बुनावट में खोजने का प्रयत्न किया। इस कार्य ने आलोचना की प्रासंगिकता और ईमानदारी पर जो प्रश्नचिह्न लग गया था, उसे हटा दिया। इस सच्चाई का अनुभव किया जाने लगा कि आलोचनाकर्म दूसरे दर्ज़े की व्याख्या नहीं है, बल्कि आलोचना सृजन का पुनर्सृजन है। रचना के विवेचन-विश्लेषण के द्वारा यथार्थ, जीवंत अनुभवों का पुनः साक्षात्कार है। पर ध्यान देने की बात है कि जिस हद तक आलोचक में कृति से सौंदर्य-ग्रहण की शक्ति है, उसी हद तक उसका समीक्षा-धर्म जीवंत एवं विश्वसनीय बन पाया है।

अज्ञेय जी ने साहसिक तार्किकता के साथ युगबोध में परिवर्तन की प्रक्रिया को रेखांकित करते हुए बदलते हुए रागात्मक संबंधों की बात उठायी। यह बात स्वीकार कर ली गयी कि बदलती चेतना ने पुराने संस्कारगत राग-संबंधों को भीतर से बदल दिया है। परिणामतः वस्तुओं को देखने की दृष्टि बदली है और नयी वास्तविकता से साक्षात्कार नये रागबोध से ही संभव है। जटिल होते हुए युग की जटिल संवेदनाओं ने सृजनकर्म को जटिल बना दिया। परिणामतः रचना की भावनात्मक-ज्ञानात्मक वैचारिक संश्लिष्टता, बौद्धिकता, आधुनिकता, ऐतिहासिकता का अनुभव ही अर्थ-रचना को पकड़ना-समझना आलोचना में कठिन हो गया। पिछड़ती समझ के पाठक और आलोचक नये सृजन की नासमझ व्याख्याओं से ही चौपट हो गये। सृजन की मौलिकता को समझाने के लिए नये रचनाकारों ने सैद्धांतिक मान्यताओं और व्यावहारिक समीक्षाओं से नयी आलोचना-भूमि तैयार की। इनमें अज्ञेय, मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा, नेमिचंद्र जैन, धर्मवीर भारती, नलिनविलोचन शर्मा, गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, रघुवीर सहाय, विजयदेव नारायण साही, केदारनाथ सिंह, मलयज, जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकांत वर्मा, श्रीकांत वर्मा, कुंवर नारायण आदि रचनाकारों का चिंतन काफ़ी उपयोगी सिद्ध हुआ। सच्चे अर्थों में इन्हीं रचनाकारों के नये चिंतन ने सृजनात्मक आलोचना की शुरूआत की है। मूल्यवादी समीक्षा तथा नयी समीक्षा के टकराहट का यह दौर नवीन समीक्षा-कर्म की संभावनाओं का दौर भी बनता गया।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मुक्तिबोध के क्रांतिकारी आलोचनाकर्म का विस्फोट सन् 1961 में 'कामायनी : एक पुनर्विचार' के प्रकाशन से हुआ। मुक्तिबोध ने 'कामायनी' को इसलिए चुना, क्योंकि 'कामायनी' साहित्य के रसवादी छायावादी पुराणपंथियों के हाथ में, नवीन प्रगति-शक्तियों के विरुद्ध एक शस्त्र बन गयी (कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ. 151)। साथ ही ''भाववादी आलोचकों ने प्रसाद जी से भी आगे बढ़ कर 'कामायनी' का रहस्यवादी मनोवैज्ञानिक अर्थ लगाया और उसके उपयोगी तत्त्वों को प्रच्छन्न कर दिया (वही)।'' मुक्तिबोध ने 'कामायनी : एक पुनर्विचार' के द्वारा आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचनाधारा का नवसंस्कार व नवनिर्माण किया। शुक्ल जी की भांति ही मुक्तिबोध ने आलोचना के रहस्यवादी, सौंदर्यवादी, भाववादी, कलावादी, रूपवादी, अध्यात्मवादी, प्रतीकवादी, बिंबवादी, अस्तित्ववादी ख़तरों से जम कर लड़ाई लड़ी और इन घातक बीमारियों से हिंदी-समीक्षा को बचाने का भरपूर प्रयत्न किया। कला की व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ संघर्ष ने 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष और अन्य निबंध' तथा 'नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' जैसे तगड़े चिंतन की समीक्षात्मक पुस्तकों को जन्म दिया। मुक्तिबोध ने सामंतवादी, साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी ताक़तों के चरित्र को समझने के लिए 'कामायनी' पर मार्क्सवादी व मनोविश्लेषणवादी समीक्षा के मिले-जुले प्रतिमान लागू किये। 'एक साहित्यिक की डायरी' (1964) में अपने चिंतन की भिन्नता को पुराने प्रगतिवादी आलोचकों की दृष्टि से अलगाया और पुराने प्रगतिवादी आलोचकों की संकीर्णतावादी व अलगावादी दृष्टि की कमजोरियों पर प्रहार करते हुए उन्हें सलाह भी दी। नयी कविता की शक्ति-संभावनाओं की महत्त्वप्रतिष्ठा करते हुए मुक्तिबोध ने कला और साहित्य की 'जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचियों' का डट कर विरोध किया।

डॉ. रामविलास शर्मा ने हिंदी-भाषा और साहित्य की गौरवशाली परंपराओं का अनुसंधान करते हुए नवीन आलोचनादृष्टि का विकास किया। वे मार्क्सवाद की समझ का उपयोग अपने ढंग से करते हैं। मार्क्सवाद के प्रगतिशील तत्त्वों का उपयोग उन्होंने आलोचना में आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचनादृष्टि के समर्थन और ग्रहण के साथ किया। डॉ. शर्मा की आलोचना में भारतीय लोक-परंपराओं, क्लासिकल भारतीय साहित्य की उदात्त भावभूमि के साथ लोकचित्तवृत्ति की पकड़ रहती है। कवियों में निराला, कथाकारों में प्रेमचंद और आलोचकों में रामचंद्र शुक्ल उन्हें प्रिय हैं। उनकी व्यावहारिक समीक्षा का चरम उत्कर्ष 'निराला की साहित्य-साधना' (1969) में परिलक्षित होता है। हिंदी ही नहीं, समस्त भारतीय समीक्षा के इतिहास में किसी कवि की यह सबसे विशद और प्रामाणिक व्याख्या है। डॉ. शर्मा की दृष्टि में भारतीय साहित्य की समग्र परंपरा रही है और इसी दृष्टि से 'परंपरा का मूल्यांकन', 'आस्था और सौंदर्य' की दृष्टि-व्यापकता सामने आती है। ध्यातव्य है कि आधुनिक भारतीय राष्ट्रीय-सांस्कृतिक नवजागरण की आंतरिक शक्तियों का जितना गहन-गंभीर ज्ञान रामविलास शर्मा को है, उतना इधर के किसी भी आलोचक में नहीं मिलता। उन्होंने 'भारतेंदु-युग और हिंदी-भाषा की विकास-परंपरा', 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी-नवजागरण' (1977), 'लोकजागरण और हिंदी-साहित्य' (भूमिका, भाग 1985), 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य', 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' जैसी पुस्तकों से यह सिद्ध कर दिया है।

हिंदी-आलोचना में शुक्ल जी की चिंतनात्मक मान्यताओं को सबसे प्रबल समर्थन डॉ. रामविलास शर्मा ने ही दिया। आज लगता है कि यदि डॉ. शर्मा जैसा प्रबुद्ध और प्रखर आलोचक व्यक्तित्व न होता, तो आचार्य शुक्ल को उनके बाद 'ऊंच निवास नीच करतूती' वाले आलोचक 'एकांगी समाजशास्त्री', 'शुद्ध ब्राह्मणवादी आलोचक', 'प्रतिगामी आलोचक' आदि कह कर दबा-भुला चुके होते। और फिर, छायावाद के आलोचक तो शुक्ल जी का विरोध करते ही आ रहे थे।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रगतिवादी भी शुक्ल जी की प्रगतिशीलता को ठुकराने में शेखी समझते थे। इन शुक्ल-विरोधी आलोचकों को ललकारते हुए डॉ. शर्मा ने लिखा, ''शुक्ल जी ने न तो भारत के रूढ़िवाद को स्वीकार किया, न पश्चिमी के व्यक्तिवाद को। उन्होंने वाह्य जगत और मानव-जीवन की वास्तविकताओं के आधार पर नये साहित्य-सिद्धांतों की स्थापना की और उनके आधार पर सामंती साहित्य का विरोध किया। देशभक्ति और जनतंत्र की साहित्यिक परंपरा का समर्थन किया। उनका यह कार्य हर देशप्रेमी और जनवादी लेखक तथा पाठक के लिए दिलचस्प होना चाहिए'' (आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी-आलोचना, पृ. 7, भूमिका)। आचार्य शुक्ल के विरोध के चार मुद्दे थे—(1) इतिहास और इतिहासदर्शन (2) संत साहित्य (3) रीतिकाल का दरबारी साहित्य (4) छायावाद। आचार्य शुक्ल की बहुत-सी मान्यताओं का विरोध आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. नामवर सिंह आदि ने किया था। परिणामतः डॉ. रामविलास शर्मा ने सीधे इन्हें 'लोकजागरण और हिंदी-साहित्य' में ललकारा और 'दूसरी परंपरा की खोज' का शिवधनु तोड़ते हुए कहा : ''आचार्य द्विवेदी और आचार्य शुक्ल में मूल अंतर यह है कि 'सामंती संस्कृति की इस मायापुरी से शुक्ल जी हिंदी-जनमानस को बाहर निकाल रहे थे, द्विवेदी जी उसे उसके भीतर ठेल रहे थे। दोनों में यह अंतर था'' (पृ. 40-41)। डॉ. शर्मा ने अनेक तर्कों व प्रमाणों से सिद्ध किया कि आचार्य द्विवेदी ने अधिकांश सामग्री शुक्ल जी से उड़ायी है और इस कार्य के लिए कृतज्ञताज्ञापन तो दूर, उलटे शुक्ल जी को ही ललकार कर हर जगह रौंदना चाहा है। डॉ. नामवर सिंह की पुस्तकों में 'कविता के नये प्रतिमान' और 'दूसरी परंपरा की खोज' को टटोलने के बाद लिखा, ''हिंदी-आलोचना से शुक्ल जी को बाहर कर दीजिए—तंत्रमंत्रवाद और रीतिवाद के लिए रास्ता साफ़ होगा। राजनीति और साहित्य में साम्राज्य-विरोधी, सामंत-विरोधी परंपरा के तिरस्कार का नाम है—'कविता के नये प्रतिमान'। शुक्ल जी के ऐतिहासिक महत्त्व का अनुमान इसी से हो जायेगा कि जब उन पर आक्रमण होता है, तब अकेले उन पर नहीं होता, वह छायावाद और स्वाधीनता आंदोलन पर भी होता है और अक्सर मार्क्सवाद पर भी होता है। इस आक्रमण की नयी मंजिल है—'दूसरी परंपरा की खोज' '' (पृ. 65 की भूमिका)। कहना न होगा कि इधर की हिंदी-आलोचना में डॉ. शर्मा ने चक्रवर्तित्व स्थापित करते हुए नयी दिशा एवं दृष्टि से हिंदी-आलोचना को प्रगतिशील परंपराओं की आंतरिक समझ की ओर प्रवृत्त किया है। विरोधियों द्वारा कई कोणों से कोसे जाने पर भी आज हिंदी में उन जैसा प्रतिभावान आलोचक दूसरा नहीं है। शुभ शकुन यह है कि नये युवा आलोचक आचार्य शुक्ल और डॉ. रामविलास शर्मा की आलोचना-परंपरा को ही विशिष्ट ढंग से विकसित कर रहे हैं। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के समर्थक आलोचक अपने ढंग से हिंदी-आलोचना में शुक्ल जी को ध्वस्त करने की लड़ाई लड़ रहे हैं। पर ऐसा प्रतीत होता है कि भविष्य में जीत आचार्य शुक्ल और डॉ. रामविलास शर्मा की चिंतनपरंपरा की ही होगी। भारतीय काव्यशास्त्र और छायावाद के समर्थ आलोचक डॉ. नगेन्द्र की अभी हाल ही में एक पुस्तक प्रकाशित हुई है—'भारतीय समीक्षा और आचार्य शुक्ल को काव्यदृष्टि'। डॉ. नगेन्द्र ने आचार्य शुक्ल के योगदान की महत्त्वप्रतिष्ठा करते हुए लिखा, ''वे न कभी शास्त्रचिंतन में खोये, न मनोविज्ञान की गुत्थियों में उलझे और न प्राचीन और नवीन आलोचनाशास्त्र की तथाकथित मौलिक उद्भावनाओं से आतंकित हुए। स्वानुभूत मूल्यों के आधार पर विकसित यह आत्मविश्वास निरंतर उनकी आलोचना को दृढ़ता और गांभीर्य प्रदान करता रहा'' (पृ. 109)।

आचार्य शुक्ल के इतिहासदर्शन तथा आलोचनात्मक विवेक ने पुरानी तथा नयी पीढ़ी का ध्यान आकृष्ट किया। परिणामतः रामचंद्र तिवारी ने 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल', डॉ. रामविलास शर्मा ने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'आचार्य रामचंद्र शुक्ल : लोक-जागरण और हिंदी-साहित्य', अजित कुमार ने 'आचार्य शुक्ल : विचारकोश', कृष्णदत्त पालीवाल ने 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल का चिंतन-जगत', सं. सुरेश त्यागी, 'रामचंद्र शुक्ल', सं. विश्वनाथप्रसाद तिवारी ने 'रामचंद्र शुक्ल' तथा भोपाल से सं. सोमदत्त ने 'साक्षात्कार' पत्रिका का 'रामचंद्र शुक्ल' विशेषांक निकाला। डॉ. धनंजय वर्मा, नीलकांत, डॉ. शिवकुमार मिश्र आदि आलोचकों ने भी रामचंद्र शुक्ल पर पुस्तकें लिखीं। इस प्रकार आचार्य शुक्ल के माध्यम से हिंदी-आलोचना के मूल्य-मानों पर विचार हुआ और इस विचार-मंथन से हिंदी-आलोचना को नवीन दिशा मिली है।

हिंदी-आलोचना के इस दौर में सर्वाधिक चर्चा का केंद्र नामवर सिंह की पुस्तक 'कविता के नये प्रतिमान' रही है। कई दृष्टियों से यह पिछले दो दशकों की हिंदी में कविता संबंधी आलोचना की बहुत विचारोत्तेजक पुस्तक है। इसमें बदले हुए काव्यबोध और मूल्यबोध को भारी बहसों-तर्कों से परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। कविता की नयी कसौटियों को पाने के लिए पूरी पुस्तक विवाद-शैली में लिखी गयी है। हालांकि इस पुस्तक के विचारों पर मुक्तिबोध तथा विजयदेवनारायण साही के विचारों की भारी धमक है। नयी कविता की प्रकृति और संभावनाओं को नये प्रतिमानों के साथ समझाने का यह एक अच्छा प्रयास है। नामवर सिंह की 'दूसरी परंपरा की खोज' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की साहित्यदृष्टि को समझाने का गंभीर चिंतन है। हिंदी-गद्य की सृजनात्मकता और आलोचना के लालित्य में यह अपने ही ढंग की सृजनात्मक आलोचना का नमूना है।

शुद्ध आलोचक न होते हुए भी इन दशकों में अज्ञेय जी ने हिंदी-आलोचना को काफ़ी समृद्ध किया है। इस दृष्टि से 'आत्मनेपद', 'हिंदी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य', 'आलवाल', 'लिखि कागद कोरे', 'जोग लिखी', 'संवत्सर', 'अद्यतन', 'आत्मपरक', 'सर्जना और संदर्भ', 'स्मृति-लेखा', 'केंद्र और परिधि' आदि पुस्तकों का योगदान स्मरणीय है। 'चौथा सप्तक' और 'पुष्करिणी' की भूमिकाओं का आलोचनात्मक योगदान भी महत्त्वपूर्ण है। कहना न होगा कि अज्ञेय जी ने नयी कविता को प्रतिष्ठित करने के साथ ही उसके मूल्यांकन के प्रतिमानों का निरूपण किया है। ये नये प्रतिमान पुराने कवियों का पुनर्मूल्यांकन करने में भी काफ़ी मदद करते हैं।

नयी कविता और नयी सर्जना के सबसे प्रबल सिद्धांतकार हैं विजयदेवनारायण साही। साही ने 'लघुमानव के बहाने हिंदी-कविता पर एक बहस' तथा 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' शीर्षक दो निबंधों से ही हिंदी-आलोचना में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। शमशेर की 'काव्यानुभूति की बनावट' में उन्होंने नयी सर्जना के बदलाव को तत्त्व दृष्टि से पकड़ते हुए कहा, ''नयी कविता की बहसों में यह मान्यता अंतर्भूत रही है कि न सिर्फ़ कविता का ऊपरी कलेवर बदला है या नये बिंबों या प्रतीकों या शब्दावली की तलाश हुई है, बल्कि गहरे स्तर पर काव्यानुभूति की बनावट में ही परिवर्तन आ गया है। चेतना के जो तत्त्व काव्यानुभूति के आवश्यक अंग दिखते थे, उनमें से कुछ अनुपयोगी या असार्थक दिखने लगे, कुछ अन्य जो पहले अनावश्यक या विरोधी लगते थे, काव्यानुभूति के केंद्र में आ गये और कुल मिला कर काव्यानुभूति और जीवन की काव्येतर अनुभूतियों में जो रिश्ता दिखता था, वह रिश्ता भी बदल गया'' (नयी कविता, पृ. 5-6)। नये साहित्य के साथ साही का ध्यान मध्यकाल की हिंदी-कविता और जायसी पर भी गया। जायसी पर अनुसंधान करते हुए उन्होंने इतने नये निर्णय दिये कि आचार्य शुक्ल के बाद फिर से जायसी का पुनराविष्कार ही कर डाला। आचार्य शुक्ल की अनेक मान्यताओं का खंडन करते हुए उनकी पुस्तक 'जायसी' (1983) सामने आयी। यह पुस्तक आचार्य शुक्ल के जायसी संबंधी मूल्यांकन को आगे बढ़ाने वाली है। सूफ़ी सांप्रदायिक ढांचे में जायसी का मूल्यांकन हो रहा था, पर शुक्ल जी ने उसे

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तोड़ने की ज़रूरत नहीं समझी। साथ ही जायसी के 'पद्मावत' को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में बांट कर शुक्ल जी ने समग्रता में कृति के अर्थ का अन्वेषण नहीं किया। वे उसके रूपकतत्त्व में ही लिपट कर रह गये। साही ने कहा कि जायसी सूफी-संप्रदायवाद के कवि नहीं हैं—वे मूलतः कवि हैं और एक विशिष्ट अर्थ में हिंदी के पहले विधिवत कवि हैं। साही की दृष्टि में जायसी का व्यक्तित्व और कवि-स्वभाव एक बौद्धिक कवि का है—सूफी संत या वैरागी बाबा का नहीं। कारण, जायसी भौतिकवादियों में अध्यात्मवादी दिखते हैं और अध्यात्मवादियों में भौतिकवादी—"जायसी अपने समाज और उसमें प्रचलित सत्ता-संघर्ष को देख रहे थे। उनकी विशेषता यह थी कि उन्होंने इस समूचे परिदृश्य को नयी पूर्वग्रहहीन आंखों से देखा और उन्होंने इस विराट् ट्रेजेडी और साथ ही इस अभियान की व्यर्थता को देखा, जो उनके समाज को मथ रही थी" (पृ. 88)। 'नयी समीक्षा' (न्यू क्रिटिसिज्म) के सिद्धांतसूत्रों में किया गया यह वैचारिक मंथन समसामयिक हिंदी-आलोचना में बेजोड़ है। साही ने 'इतिहास और परंपरा', 'गोदान', 'राजनीति और साहित्य', 'जनवादी साहित्य', 'साहित्य क्यों?' 'धर्म-सापेक्ष और धर्मनिरपेक्ष तत्त्वों की तलाश हिंदी-साहित्य और उसके आसपास' आदि समीक्षात्मक निबंधों से भी इस काल की हिंदी-आलोचना को नयी दृष्टि दी है।

नवलेखन, नयी कविता और समसामयिक कविता के विशिष्ट आलोचकों में रामस्वरूप चतुर्वेदी, लक्ष्मीकांत वर्मा, शमशेरबहादुर सिंह, जगदीश गुप्त, मलयज, धर्मवीर भारती, गिरिजाकुमार माथुर आदि के नाम उभर कर सामने आये हैं। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'मध्ययुगीन हिंदी-काव्यभाषा' पर भाषावादी आलोचना की दृष्टि से गहन गंभीर कार्य किया है। किंतु वे 'नवलेखन' (1960) 'भाषा और संवेदना' (1964), 'अज्ञेय : आधुनिक रचना की समस्या', 'कामायनी : पुनर्मूल्यांकन' आदि आलोचनात्मक पुस्तकों से नये साहित्य में अपनी अलग पहचान बनाते हैं। उन्होंने काव्यभाषा की सृजनशीलता को अपनी आलोचना का केंद्रीय विषय बनाते हुए लिखा, "आज की कविता को जांचने के लिए, जो अब सचमुच 'प्रास के रजतपाश' से मुक्त हो चुकी है, अलंकारों की उपयोगिता अस्वीकार कर चुकी हैं और छंदों की पायलें उतार चुकी है, काव्यभाषा का प्रतिमान ही शेष रह गया है, क्योंकि कविता के संघटन में भाषा-प्रयोग की मूल और केंद्रीय स्थिति है" (भाषा और संवेदना)। लक्ष्मीकांत वर्मा ने आलोचनाकर्म में नयी कविता की ऊर्जा को पहचान दी। इस दृष्टि से 'नयी कविता के प्रतिमान' और 'नये प्रतिमान : पुराने निकष' (1966) की खूब चर्चा रही है। धर्मवीर भारती ने 'साहित्य और मानवमूल्य' तथा 'पश्यंती' में नयी कविता की मूल्य-दृष्टि पर विचार किया है। गिरिजाकुमार माथुर ने 'नयी कविता : सीमाएं और संभावनाएं', डॉ. जगदीश गुप्त ने 'नयी कविता : शक्ति और सीमा', डॉ. रघुवंश ने 'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य', डॉ. जगदीश कुमार ने 'नयी कविता की चेतना', 'नयी कविता विलायती संदर्भ', 'शमशेर का काव्यालोक', कृष्णदत्त पालीवाल ने 'भवानीप्रसाद मिश्र का काव्य-संसार', 'सर्वेश्वर और उनकी कविता', डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय ने 'संवाद', 'रचना एक यातना है', नंदकिशोर आचार्य ने 'अज्ञेय की काव्यतितीषी', डॉ. हरदयाल ने 'आधुनिक हिंदी कविता का अभिव्यंजनाशिल्प,', डॉ. नरेंद्र मोहन ने 'लंबी कविताओं का रचनाविधान' आदि आलोचनात्मक पुस्तकों से नयी कविता का मूल्यांकन व विवेचन किया है। इस दौर में डॉ. केदारनाथ सिंह ने 'आधुनिक हिंदी-कविता में बिंबविधान', मलयज ने 'कविता से साक्षात्कार', दूधनाथ सिंह ने 'निराला : आत्महंता आस्था' जैसी आलोचनात्मक पुस्तकों से नयी समीक्षा को प्रतिष्ठा दी है। विश्वनाथप्रसाद तिवारी ने 'समकालीन हिंदी-कविता', परमानंद श्रीवास्तव ने 'समकालीन कविता का व्याकरण' और अशोक वाजपेयी ने 'फिलहाल' के द्वारा कवियों और कृतियों की संवेदना, काव्यभाषा तथा अभिव्यंजना के अन्य उपकरणों को विश्लेषित करने में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'क्लोज रीडिंग' पद्धति को ग्रहण किया है। कुल मिला कर नयी कविता के इन आलोचकों ने हिंदी-आलोचना को नयी चिंतनात्मक अवधारणाओं से आगे बढ़ाया है।

रमेशचंद्र शाह का आलोचनाकर्म इतिहासचिंतन, परंपरा और संस्कृति का भरापूरा संसार है। शाह ने संस्कृति-मंथन की जटिल प्रक्रिया में से गुज़र कर अपना साहित्यविवेक अर्जित किया है। 'छायावाद की प्रासंगिकता' से स्पष्ट है कि शाह की समीक्षादृष्टि सृजनात्मक आलोचना की ओर प्रवृत्त है। भूल से इसे प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा नहीं मान लेना चाहिए, क्योंकि शाह के पास अपने ढंग का मूल्यविवेक है, जो अज्ञेय और देवराज के संस्कृति-चिंतन से समानता रखता है। प्रसाद पर शाह ने लिखा है कि ''प्रसाद जी गहरे अर्थों में संस्कृति के कवि हैं। उनके शब्दों का संसार पावनता, सरलता और गरिमा के एक अद्‌भुत रासायनिक यौगिक से रचा जान पड़ता है। व्यक्तिगत वैफल्य और निराशा की तीव्र संवेदनाएं उनके काव्य में अभिव्यक्त नहीं दिखतीं'' (छायावाद की प्रासंगिकता, पृ. 29)। शाह के इन्हीं विचारों का विकास 'भारतीय साहित्य के निर्माता' साहित्य अकादमी की योजना के अंतर्गत लिखे गये विनिबंध 'जयशंकर प्रसाद' में मिलता है। कहना न होगा कि शाह ने छायावाद के चारों कवियों पर बड़े ठौर-ठिकाने का पुनर्मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। 'समानांतर' (1973) में काव्य-समीक्षा के साथ कहनी-समीक्षा का विश्वसनीय स्तर मिलता है। 'वागर्थ' (1981) में प्रकाशित समीक्षात्मक निबंध शाह की बौद्धिक तेजस्विता के उदाहरण जान पड़ते हैं। प्रसाद एवं निराला से अज्ञेय का रिश्ता जोड़ते हुए लिखा कि अज्ञेय ''बहुत ही ज़िम्मेदार क़िस्म के कवि थे अपनी अनुभूति के प्रति, अपनी सांस्कृतिक परिस्थिति और परिवेश के प्रति, अपने अतीत और वर्तमान के प्रति। भारतीय संस्कृति के प्रति उनके मन में प्रसाद से कम आकर्षण नहीं था; पर उनमें नये युग के बुद्धिजीवी की आलोचनात्मक आत्मचेतना भी प्रखर थी'' (वागर्थ, पृ. 50)। यही प्रखर आत्मचेतना का तत्त्व अज्ञेय को अपने पूर्ववर्तियों से साफ़ अलगाता है। किंतु ''अज्ञेय ने अपनी रचनात्मकता ज़रूरतों के संदर्भ में हिंदी और संस्कृत की काव्यपरंपरा के पुन: परीक्षण का वैसा उद्यम नहीं किया, जैसा कि इलियट ने किया था'' (वही, पृ. 50)। निष्कर्ष यह कि शाह आख्यान-विवेचन की गहरी प्रक्रिया से गुज़र कर मूल्यांकन पर आते हैं।

मार्क्सवादी समीक्षा के प्रतिनिधि आलोचकों में आज दो नाम हैं—रमेश कुंतलमेघ और नेमिचंद्र जैन। आरंभ में रमेश कुंतलमेघ की जटिल शब्दावली में उलझाव रहा; किंतु वह अब धीरे-धीरे समाप्त हो गया है और उनमें एक नयी चमक पैदा हुई है। उनकी प्रतिनिधि आलोचनात्मक कृतियां हैं—'आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण', 'मध्ययुगीन रस-दर्शन', 'अथातो सौंदर्य-जिज्ञासा', 'क्योंकि समय एक शब्द है' और 'साक्षी है सौंदर्यप्राश्निक'। संस्कृत-हिंदी काव्यशास्त्र के सैद्धांतिक चिंतन को डॉ. मेघ ने मार्क्सवादी विचारधारा की धार से चमकाया है। 'अथातो सौंदर्य-जिज्ञासा' पुस्तक में 'कला और सौंदर्यबोधशास्त्र', 'कलाकृति', 'कलाओं का वर्गीकरण', 'आशंसक या सहृदय', 'कलाकार', 'सृजनप्रक्रिया और सर्जनात्मक कृत्य', 'अभिव्यंजना' (एक्सप्रेशन), 'संप्रेषणीयता' (कम्युनिकेशन), 'सौंदर्यतात्त्विक वृत्ति तथा सौंदर्यबोधानुभव', 'संस्कृति, मनुष्य और इतिहास' पर विचार करते हुए उन्होंने विश्वभर के काव्यशास्त्रीय चिंतन को निचोड़ने का यत्न किया है।

नेमिचंद्र जैन ने वैचारिक दृढ़ता से नवीन कृतियों पर विचार किया है। उन्होंने 'अधूरे साक्षात्कार', 'रंगदर्शन', 'बदलते परिप्रेक्ष्य' तथा 'जनांतिक' में कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास व आलोचना भी पर समग्रता में विचार किया है। 'कविता और राजनीति' के अंतर्संबंधों पर उन्होंने लिखा है, ''एक पूरे लंबे दौर में हम इस ग़लतफ़हमी में पड़े रहे कि राजनीति के संसर्ग से कविता भ्रष्ट हो जाती

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है। इस बहाने हम एक घटिया राजनीति के शिकार तो होते ही रहे, साथ ही इस प्रक्रिया में कविता से हमने उस जीवंत और सर्जनात्मक तत्त्व को निकाल दिया, जो कविता को इंसान का सबसे मूल्यवान और अनोखा दस्तावेज़ बनाता है'' (जनांतिक, पृ. 17)। उन्होंने सर्जनात्मक राजनीति का उपयोग मुक्तिबोध में पा कर जहां प्रसन्नता ज़ाहिर की है, वहीं अज्ञेय के सृजन की आलोचना कड़े शब्दों में की। कहना न होगा कि समकालीन सर्जना के पूरे दौर को नेमिचंद्र जैन ने अपने चिंतन से समझा-समझाया है।

आलोचना के इस दौर में डॉ. बच्चन सिंह ने 'आधुनिक हिंदी-आलोचना के बीजशब्द ' (1983), 'साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद' तथा 'आधुनिक हिंदी-साहित्य का इतिहास' लिख कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी ने 'भारतीय काव्यशास्त्र : नवमूल्यांकन' तथा डॉ. देवेन्दनाथ शर्मा ने 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र' के सिद्धांतों से हिंदी-समीक्षा को परिचित कराया है। डॉ. निर्मल जैन ने 'नयी समीक्षा के प्रतिमान' में पश्चिमी नयी समीक्षा के सिद्धांतकारों के विचार हिंदी में अनुवाद करा कर प्रस्तुत किये हैं। इन सभी कार्यों से हिंदी की सैद्धांतिक समीक्षा पुष्ट हुई है।

प्रतिष्ठित पुराने आलोचकों में डॉ. नगेन्द्र ने इधर कई दिशाओं में आलोचना की दृष्टिगत प्रखरता और चिंतन की परिपक्वता का परिचय दिया है। भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इस मेधावी आचार्य ने भारतीय सौंदर्यशास्त्र पर अपने ढंग का अकेला कार्य किया है। डॉ. नगेंद्र की पुस्तक 'भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका' इस क्षेत्र में आगे काम करने वालों के लिए प्रकाशस्तंभ सिद्ध होगी। इतना ही नहीं, 'मिथक और साहित्य', 'साहित्य का समाजशास्त्र', 'शैलीविज्ञान' आदि पुस्तकों में सर्वथा नये चिंतन सूत्रों को अवगाहन के साथ रखा है।

इधर हिंदी में शैलीवैज्ञानिक आलोचना का तेज़ी से विकास-प्रसार हुआ है। हालांकि यह आलोचना मूल्यदृष्टि के अभाव में समुचित रूप से समाहित नहीं है, क्योंकि मूल्यांकन आलोचना का अनिवार्य कर्तव्यकर्म है और इसके अभाव में वह ठौर-ठिकाने की नहीं रह जाती। वस्तुतः शैली-विज्ञान भाषाविज्ञान की ही एक शाखा है, जिसके माध्यम से साहित्य की सृजनात्मक कृतियों का भाषावादी वस्तुनिष्ठ अध्ययन किया जाता है। ठीक से देखा जाये तो शैलीविज्ञान की अधिकांश प्रविधियों का समावेश भारतीय काव्यशास्त्र में शुरू से ही रहा है। भामह, दंडी, वामन, कुंतक, आनंदवर्धन, क्षेमेंद्र आदि सभी आचार्यों ने काव्यपरिभाषा में 'शब्दार्थ' के वैशिष्ट्य पर ध्यान केंद्रित रखा है। इसी प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी इलियट, रिचर्ड्स, रैन्सम, ब्रुक्स आदि में इसके बीज-भाव मिल जाते हैं। पर अपनी विशिष्ट भाषावैज्ञानिकता के कारण शैलीविज्ञान इधर आलोचना की एक वैज्ञानिक प्रणाली के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है, पर इस आलोचना में साहित्य का सौंदर्यशास्त्री पथ ग़ायब है, मूल्यांकन का कहीं ठौर-ठिकाना नहीं मिलता। कथा-साहित्य के लिए इसके सिद्धांत अपर्याप्त पड़ जाते हैं। फिर काव्य-भाषा के विश्लेषण की प्रविधि व प्रक्रिया इतनी पेचीदा है कि हर कोई इसे नहीं सराह पाता। ऐसी स्थिति में यह थोड़े से विद्वानों की बौद्धिक जुगाली रह जाती है। हिंदी में शैलीविज्ञान पर सबसे अच्छा कार्य डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने किया है। उनकी दो पुस्तकें काफ़ी चर्चित हैं—'शैलीविज्ञान की भूमिका' तथा 'संरचनात्मक शैलीविज्ञान'। शैलीविज्ञान को पं. विद्यानिवास मिश्र ने 'रीतिविज्ञान' नाम दिया है। उनकी पुस्तक का नाम ही है, 'रीतिविज्ञान'। डॉ. नगेन्द्र ने 'शैलीविज्ञान', सुरेशकुमार ने 'शैलीविज्ञान', डॉ. सत्यदेव चौधरी ने 'शैलीविज्ञान और भारतीय काव्यशास्त्र' नामक पुस्तकों में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है।

हिंदी में कथा-समीक्षा का उदय समीक्षा के इतिहास की एक बड़ी घटना है। इस क्षेत्र में मोहन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

राकेश, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, नामवर सिंह, राजेन्द्र यादव, भीष्म साहनी, मार्कंडेय, बटरोही, ज्ञानरंजन, विजयमोहन सिंह, गंगाप्रसाद विमल, पुष्पपाल सिंह, कृष्णदत्त पालीवाल, अमरकांत, इंद्रनाथ मदान, कृष्णा सोबती आदि अनेक नाम उभर कर सामने आये हैं। पुराने कथा-प्रतिमानों की अपर्याप्तता घोषित करते हुए निर्मल वर्मा ने लिखा है, ''उपन्यास की अर्थवत्ता यथार्थ में नहीं, उसे समेटने की प्रक्रिया में, उसके संघटन की अंदरूनी चालक शक्ति में निहित है।'' इस प्रकार कथा-साहित्य के नये प्रतिमानों की खोज का सिलसिला जारी है। डॉ. नामवर सिंह ने कहानी-समीक्षा की पुरानी दृष्टि, जिसमें कथानक, चरित्र, वातावरण, प्रभाव, वस्तु आदि अवयवों की अलग-अलग 'अभ्यस्तता' रहती थी, का खुल कर विरोध किया है और 'रचनाधर्मी कहानी की संश्लिष्टता' को समझने-समझाने का सवाल उठाया है। कहानी-समीक्षा की दिशा में डॉ. देवीशंकर अवस्थी द्वारा संपादित 'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति', राजेन्द्र यादव की पुस्तक 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' आदि का योगदान उल्लेखनीय है। 'समानांतर कहानी', 'सचेतन कहानी', 'अ-कहानी' तथा 'जनवादी कहानी' पर इधर प्रखर समीक्षादृष्टि विकसित हो रही है और कहानी को उसकी समग्र अंतर्योजना अन्वितिप्रभाव में पहचानने का प्रयास किया जा रहा है। कहानी-समीक्षा की भांति ही उपन्यास-समीक्षा की पद्धति के विकास का भी प्रयत्न किया जा रहा है। इस क्षेत्र में नेमिचंद्र जैन का 'अधूरे साक्षात्कार' उपन्यास-समीक्षा को नयी दिशा-दृष्टि देने वाली पुस्तक है। फिर भी यह सच है कि उपन्यास-समीक्षा की किसी सुनिश्चित पद्धति का आविष्कार हिंदी में नहीं हो सका है। हां, उसकी संभावनाएं अवश्य बन रही हैं। सुरेन्द्र चौधरी और विजयमोहन सिंह, चंद्रकांत वांदिवडेकर तथा धनंजय वर्मा जैसे कथा-समीक्षक इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण प्रयत्न जारी रखे हैं।

समसामयिक हिंदी-आलोचना का एक महत्त्वपूर्ण पहलू नाटक की समीक्षा के विकास से जुड़ा है। समसामयिक रंगालोचन से पूर्व की नाट्यसमीक्षा या तो शास्त्रीय अध्ययनों की जड़ सैद्धांतिकता में बंध कर चक्कर काटती रही या वह 'नाट्यशास्त्र' और 'रूपकरहस्य' की परंपरारूढ़ लाठी से पीट-पीट कर ठेली जाती रही। व्यावहारिक रंगदृष्टि और रंगकर्म के अभाव में नाटक का रंगमंच से ठीक-ठीक तालमेल नहीं बैठ सका। नाट्यलोचन की यह परंपरा नाटक को अन्य विधाओं की फार्मूलाबद्ध आलोचना-पद्धति—कथानक, चरित्र-चित्रण, संवाद, देशकाल, उद्देश्य, भाषा-शैली में घेर कर समझाती रही। परिणामत: जीवंत रंगमंच से न तो नाटक का पाला ही पड़ा और न ही नाटक 'प्रयोगविज्ञान' की सार्थकता ही सिद्ध कर सका। नाटक के दृश्यत्व के उपेक्षित रहने का एक प्रधान कारण तो यही रहा कि हिंदी के पास अपना कोई रंगमंच ही नहीं था। भारतेंदु बाबू एक रंगमंच हिंदी में विकसित करना चाहते थे किंतु उनके असामयिक निधन से यह संभव न हो सका। स्वयं प्रसाद जी यह शिकायत करते रहे कि क्या करें, हिंदी के पास अपना रंगमंच नहीं है, और जो है वह भी भ्रष्ट पारसी-रंगमंच का रूप है, जिस पर श्रेष्ठ कलात्मक नाटकों को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। रंगमंच के अभाव में प्रसाद के नाटक उनके जीवनकाल में उपेक्षित ही पड़े रहे और उनकी रंगमंचीय सीमाओं और संभावनाओं को उजागर नहीं किया जा सका। आज हिंदी में रंगमंच के विकास के साथ यह सिद्ध हो गया कि प्रसाद के नाटक कल्पनाशील प्रतीकात्मक रंगमंच पर सफलता से प्रस्तुत किये जा सकते हैं और इन नाटकों की रंगमंचीय संभावनाएं असीम हैं। हम हिंदी वालों ने प्रसाद के नाटकों की ध्वंसात्मक आलोचनाओं में तो चटखारा लिया, किंतु इन नाटकों के साथ वह श्रम नहीं किया, जो पश्चिम के नाट्य-निर्देशकों, अभिनेताओं और नाट्यरंगमंडलियों ने शेक्सपियर के नाटकों के साथ समय समय पर किया है। अपने को अंग्रेज़ीदां समझने वाले निर्देशक और अधकचरे अशिक्षित अभिनेता हिंदी-नाटकों के नाम से ही बिदकते रहे। प्रसाद के बाद लक्ष्मीनारायण मिश्र पर पश्चिमी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बुद्धिवाद और इब्सनिज़्म का भूत सवार रहा, जिसने हिंदी-रंगमंच की गाड़ी को पटरी से ही उतार दिया। किंतु स्वाधीनता पाने के बाद देश में निर्माण की नयी आकांक्षाओं ने जन्म लिया और तभी से हिंदी-रंगमंच का सुनियोजित ढंग से विकास शुरू किया गया। व्यावसायिक और अव्यावसायिक रंगमंच उदित हुए और रंगकर्म की सृजनात्मकता को नया अर्थ भी मिला। छठे दशक के अंत में 'संगीत-नाटक अकादमी' के अंतर्गत नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा एंड एशियन थिएटर की स्थापना से रंगकर्मियों को नया क्षेत्र मिला। इब्राहिम अल्काजी के आने से हिंदी-रंगमंच को नया जीवन मिला और इन्हीं के प्रयासों से हिंदी में एक नया रंगमंच-युग आरंभ हुआ। रंगमंच की तकनीकों का विकास और अच्छे नाटककारों का उदय, नये अभिनेताओं का रंगमंच की ओर आकृष्ट होना जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य चल पड़े। इसी स्थिति के बीच से मोहन राकेश जैसे कुशल-रंगकर्मी और नाटककार का उदय हुआ।

सन् 1950 के बाद नाट्यरचना की दृष्टि में मूलभूत परिवर्तन आ गया। अब इस बात की प्रबल प्रवृत्ति का जन्म हुआ कि नाटक रंगमंच के लिए ही लिखे जाने चाहिए एवं रंगमंच की प्रयोगधर्मी कसौटी से ही उन्हें परखा जाना चाहिए। परिणामतः अब नाट्यरचना लोकनाट्य-परंपराओं, स्कूल कॉलेजों के शौक़िया मंचों से निकल कर हिंदी के नये रंगमंच पर आ गयी। नाट्यविषय की बदलती चेतना की प्रथम मुखर अभिव्यक्ति उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटकों में हुई। अश्क ने यथार्थवादी रंगमंच की चेतना को पहचान कर 'भंवर' (1950) जैसा नाट्यप्रयोग किया। 'अंजो दीदी' (1954) भी एकांकी से बढ़ा कर पूर्णकालिक नाटक बनाया गया। फिर 'अंधी गली' (1956) शीर्षक नाटक ने हिंदी-नाटकों को पाठ्यक्रम के संसार से निकाल कर यथार्थवादी रंगमंच पर इज़्ज़त से बैठाल दिया। जगदीशचंद्र माथुर के 'कोणार्क' नाटक ने हिंदी रंगमंच को बड़ा लोकप्रिय बनाया। कहना न होगा कि 'कोणार्क' हिंदी के आधुनिक रंगमंच का सर्वाधिक प्रदर्शित नाटक है। माथुर का 'शारदीया' भी संगीत और लय की थिरकन से हिंदी-रंगमंच को हरा-भरा बनाता रहा। इसी बीच धर्मवीर भारती के काव्यनाटक 'अंधा युग' (1955) का प्रकाशन हुआ। आरंभ में यह काव्य के रूप में ही पहचाना गया। लेकिन हिंदी-रंगमंच के लिए इसका जन्म एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण घटना है, क्योंकि 'अंधा युग' ने हिंदी-नाटक और रंगमंच को कलात्मक अर्थवत्ता दी और आगे के नाट्यप्रयोगों की नयी संभावनाएं पैदा कीं। खुले रंगमंच पर अल्काजी के निर्देशन में हुए प्रस्तुतीकरण की धूम मच गयी। आज के समर्थ नाट्यसमीक्षक नेमिचंद्र जैन ने 'कृति' में 'पार्श्व और प्रेक्ष्य' शीर्षक स्तंभ के अंतर्गत नाट्यसमीक्षाएं करना शुरू किया था और बाद में 'नटरंग' जैसी नाट्यकेंद्रित पत्रिका का आरंभ ही कर दिया। वे 'दिनमान' में नियमित नाट्य समीक्षा लिखते रहे। अतः हिंदी-नाट्यसमीक्षा को विकसित करने वालों में नेमिचंद्र जैन का नाम अग्रणी है। उन्होंने 'रंगदर्शन' नामक पुस्तक में नाट्य समीक्षा का सैद्धांतिक-व्यावहारिक रूप स्पष्ट किया। साथ ही 'हिंदी-नाटक और रंगमंच' पुस्तक का संपादन-दायित्व भी उठाया है। बाद में 'जनांतिक' में प्रकाशित उनके कुछ नाट्यलेख समसामयिक रंगचेतना के सार्थक संकेत बने।

सन् 1958 में संगीत-नाटक अकादमी द्वारा हिंदी-नाटक और प्रदर्शन-प्रतियोगिताओं में मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' को नाटक के लिए तथा 'अनामिका मंडली' को श्रेष्ठ अभिनय-प्रदर्शन के लिए पुरस्कार मिला। इस कार्य से नाटक और रंगमंच को बहुत प्रोत्साहन मिला। इसके बाद सन् 1959 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना और उसमें नाट्यप्रदर्शनों की भाषा के रूप में हिंदी की स्वीकृति ने हिंदी-नाटक को नयी सृजनात्मकता और रंग-चेतना से संपन्न बनाया। रंगशिल्पों का नया ज्ञान शिक्षित अभिनेताओं को मिला। इसी दौर में लक्ष्मीनारायण लाल न केवल नाटक लिखते

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रहे, बल्कि प्रयाग में नाट्यकेंद्र भी चलाते रहे। डॉ. लाल ने 'पारसी थियेटर' तथा 'नाटक और रंगमंच' नामक पुस्तकों से रंगालोचन की नयी भूमि तैयार कर दी। इसके पश्चात तो रंगमंच और नाट्य प्रयोगों की हिंदी में धूम ही मच गयी। ब. व. कारंत, राजिंदरनाथ, रैना, ब्रजमोहन शाह, भानुभारती जैसे कुशल निर्देशक तथा मनोहरसिंह जैसे समर्थ अभिनेता हिंदी -रंगकर्म को प्राप्त हुए। दिन-प्रतिदिन खेले जाने वाले नाटकों की नाट्य-समीक्षाएं नियमित ढंग से निकलने लगीं और हिंदी की सभी प्रतिष्ठित लघु पत्र-पत्रिकाओं ने नाट्य-समीक्षा देना अपना गौरव समझा। ज़ाहिर है कि हिंदी-समीक्षा ने नाटक के 'दृश्य काव्य' पक्ष को कलात्मकता से विकसित किया और नाटक से रंगमंच का सही रिश्ता क़ायम हो गया। भारतीय तथा विदेशी भाषाओं के सैकड़ों अनूदित नाटक हिंदी-रंगमंच पर सफलता से प्रस्तुत किये जाने लगे। इस प्रकार नाट्य-समीक्षा का हिंदी में स्वतंत्र विकास हुआ।

कुल मिला कर देखा जाये तो 1980 तक हिंदी-आलोचना सैद्धांतिक और व्यावहारिक दृष्टि से काफ़ी समृद्ध हुई है तथा नये चिंतन को आत्मसात् करते हुए प्रगतिपथ पर निरंतर अग्रसर रही है।

## अद्यतन हिंदी-समालोचना-II

(1981 से 2005 तक)

अन्य विधाओं की तरह आलोचना में भी वर्तमानकाल (1980-2005) में कई पीढ़ियों के आलोचक सक्रिय रहे हैं। बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में आलोचना लिखना प्रारंभ करने वाले डॉ. नगेन्द्र अपने जीवन के अंतिम क्षण तक (27 अक्तूबर, 1999) आलोचनाकर्म में निरंतर रत रहे। 1937 में 'हंस' में उनका पहला आलोचनात्मक लेख प्रकाशित हुआ, जो उनकी पहली आलोचनात्मक पुस्तक 'सुमित्रानंदन पंत' (1938) का 'छायावाद' शीर्षक पहला अध्याय बना। उसके बाद उनकी अपनी और उनके द्वारा संपादित पुस्तकें बराबर प्रकाशित होती रहीं। वर्तमान कालावधि में प्रकाशित उनकी आलोचनात्मक पुस्तकें हैं : 'साहित्य का समाजशास्त्र' (1982), 'भारतीय समीक्षा और आचार्य शुक्ल की काव्यदृष्टि' (1985), 'मैथिलीशरण गुप्त : पुनर्मूल्यांकन' (1987), 'प्रसाद और कामायनी' (1990), 'राम की शक्तिपूजा' (1993) आदि। आलोचना के क्षेत्र में जितना कार्य उन्होंने किया, उससे कहीं अधिक कार्य योजना बनाकर दूसरों से करवाया। उनकी अंतिम योजना 'बीसवीं शताब्दी का हिंदी-साहित्य' पर बृहदाकार पांच खंड प्रकाशित करने की थी। इस शृंखला के संपादक तो वे स्वयं और जगदीश चतुर्वेदी थे और प्रत्येक खंड के अलग-अलग संपादक बनाये गये थे। इन खंडों पर कुछ कार्य हुआ भी, किंतु उनके असामयिक निधन के कारण यह कार्य अधूरा रह गया। इसे बीसवीं शताब्दी के हिंदी-साहित्य का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा। एक तरह से डॉ. नगेन्द्र अपनी तरह के अकेले आलोचक थे। वे एक व्यक्ति ही नहीं, एक संस्थान भी थे।

डॉ. नगेन्द्र प्रारंभ में मनोविश्लेषणशास्त्र के सिद्धांतों से प्रभावित थे। इसीलिए वे प्रगतिशील लेखक-संघ की गहमागहमी के दिनों में भी मार्क्सवाद की सीमाओं को बराबर रेखांकित करते रहे। मनोविश्लेषणशास्त्र के सिद्धांतों से प्रभावित होने के कारण ही 'दीपशिखा' की समीक्षा करते हुए 1944 में उन्होंने लिखा था : " 'दीपशिखा' के गीतों की अनुभूति को पार्थिव माने बिना काम नहीं चल सकता।...और वास्तव में सभी ललित कलाओं के, विशेषतः काव्य के, और उससे भी अधिक प्रणय-काव्य के मूल में अतृप्त काम की प्रेरणा मानने में आपत्ति के लिए स्थान नहीं है" (विचार और अनुभूति, तीसरा संस्करण, पृ. 116)। इसीलिए प्रारंभ में उन्हें मनोवैज्ञानिक आलोचक माना गया; किंतु धीरे-धीरे फ्रायड के प्रभाव से वे बाहर निकल आये और रस-सिद्धांत की ओर आकर्षित होने लगे। यों, रस-सिद्धांत ने आकर्षित उन्हें प्रारंभ से ही किया था, जिसका प्रमाण 'विचार और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विवेचन' (1949) शीर्षक निबंध-संग्रह में संगृहीत 'रस का स्वरूप', 'साधारणीकरण' और 'शृंगार रस' शीर्षक तीन निबंध हैं। रस के प्रति उनके आकर्षण और उनके रस-चिंतन की परिणति 'रस-सिद्धांत' (1964) के रूप में हुई, जिसे आधुनिक सैद्धांतिक हिंदी-आलोचना में मील का पत्थर माना गया। फलत: रस उनकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना की धुरी रस बन गया। उन्होंने अपनी साहित्यिक मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए लिखा कि, ''रसात्मक मूल्यों के अतिरिक्त काव्य के मनीषियों ने नैतिक, सांस्कृतिक तथा कलात्मक मूल्यों का भी निर्वचन किया है। इन मूल्यों का निषेध कौन कर सकता है? वस्तुत: काव्य के महत्त्व का निर्णय करने में इनका योगदान असंदिग्ध है। किंतु ये मूल्य मौलिक तथा आत्यंतिक नहीं हैं—या तो आनुषंगिक हैं या माध्यमिक, अर्थात नैतिक और साहित्यिक मूल्यों का महत्त्व इसीलिए है कि उनके द्वारा रसात्मक बोध में स्थिरता एवं स्थायित्व आता है और कलात्मक मूल्य—सही शब्दों में शिल्पगत मूल्य ''रससिद्धि के माध्यम हैं; स्वतंत्र नहीं हैं; क्योंकि शिल्प या कला का मूल्य भी तो रस ही है'' (आलोचक की आस्था; प्रथम संस्करण, 1966; पृ. 6)। उनकी इस मूल मान्यता ने उन्हें भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का गहन अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया, जिसका सुफल उनकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचना में देखने को मिलता है। भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का उपयोग उन्होंने जड़ रूप में न करके मौलिकता के साथ किया है। अपनी व्यावहारिक आलोचना में वे मुख्यत: कविता-केंद्रित रहे हैं, जिसमें वे रसात्मक, मनोवैज्ञानिक और कलात्मक मूल्यों का तो विश्लेषण करते हैं, लेकिन उसके सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक पक्षों की ओर उनका ध्यान नहीं गया है। अपने जीवन के कुछ परवर्ती वर्षों में उन्होंने शैलीविज्ञान, मिथक, साहित्य के समाजशास्त्र आदि को ले कर जो कुछ लिखा, वह नवीनता के प्रति आकर्षण और जिज्ञासा की तृप्ति मात्र था। उन्होंने अपने अध्यवसाय के द्वारा स्वयं को बड़े आलोचक के रूप में स्थापित तो कर लिया, किंतु वे अपने समकालीन या परवर्ती साहित्य-सृजन को प्रभावित नहीं कर सके। हां, उनका प्रभाव विश्वविद्यालयों के हिंदी-विभागों पर ख़ूब पड़ा।

साहित्य-सृजन को लगभग उनके ही साथ आलोचना के क्षेत्र में अवतरित होने वाले दो प्रगतिवादी आलोचकों ने अवश्य प्रभावित किया। ये आलोचक हैं डॉ. रामविलास शर्मा और शिवदान सिंह चौहान। ये दोनों प्रगतिवादी आलोचक वर्तमान कालावधि में भी सक्रिय रहे हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा का पहला आलोचनात्मक लेख 'निराला जी की कविता' 1934 में प्रकाशित हुआ और उनकी पहली आलोचना-पुस्तक 'प्रेमचंद' 1941 में प्रकाशित हुई। तब से ले कर अपने जीवन के अंतिम समय तक वे डॉ. नगेन्द्र की तरह निरंतर लिखते रहे। नगेन्द्र जी के विपरीत जब उनकी कोई पुरानी पुस्तक दुबारा छपी तो उन्होंने उसमें बहुत-कुछ जोड़ा-घटाया। वर्तमान कालावधि में प्रकाशित होने वाली उनकी पुस्तकें हैं : 'भारत के प्राचीन भाषापरिवार और हिंदी' (तीन खंड, क्रमश: 1979, 1980, 1981), 'भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद' (दो खंड, 1982), 'परंपरा का मूल्यांकन' (1981), 'कथा-विवेचन और गद्यशिल्प' (1982), 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य' (1984), 'हिंदी-जाति का साहित्य' (1986), 'मार्क्स और पिछड़े हुए समाज' (1986), 'मार्क्स, त्रोत्स्की और एशियाई समाज' (1986), 'प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल' (1986), 'स्वाधीनता-संग्राम : बदलते परिप्रेक्ष्य' (1992), 'भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद' (1992), 'इतिहास-दर्शन' (1992), 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद' (1994), 'भारतीय नवजागरण और यूरोप' (1996), 'भारतीय संस्कृति और हिंदी-प्रदेश' (दो खंड; 1999) आदि। वे तुलसीदास पर एक पुस्तक लिख रहे थे, किंतु उसे पूरा नहीं कर पाये। वे इस पुस्तक का जितना अंश लिख पाये, उसमें उनके पूर्व-प्रकाशित तुलसीदास

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संबंधी तीन लेखों को मिला कर डॉ. रणजीत-कुमार साहा ने इसे 'भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास' (2001) शीर्षक से प्रस्तुत कर दिया। उनकी इस कालावधि में प्रकाशित पुस्तकों की इस सूची से स्पष्ट है कि वे कोरे साहित्यालोचक नहीं थे। साहित्य के अतिरिक्त उनकी रुचि भाषा, संस्कृति, राजनीति, इतिहास, समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र आदि में भी थी। इन विषयों में उनकी रुचि ही नहीं थी, उन्होंने इनका गहरा अध्ययन भी किया था और इनसे संबंधित अपने मौलिक सोच और निष्कर्षों को पुस्तकों के रूप में भी प्रस्तुत किया था। उनके निष्कर्षों से असहमति रखने वाले भी उनकी मेधा और बौद्धिकता का लोहा अवश्य मानते हैं। लेकिन हमें यहां उनकी आलोचना पर बात करनी है।

डॉ. रामविलास शर्मा की आलोचना के दो रूप हैं : एक, खंडनात्मक और दूसरा, मंडनात्मक। अपनी खंडनात्मक आलोचना में वे निरंतर एक लड़ाई लड़ते रहे। उन्होंने अपने, अपनों के और मार्क्सवाद के विरोधियों को कभी बख्शा नहीं। प्रारंभ से ले कर अंत तक उनकी यह खंडनात्मक आलोचना बराबर चलती रही। उनकी खंडनात्मक आलोचना में उनका शास्त्रार्थ, उनकी तर्कपटुता और उनका व्यंग्य-विनोद देखते ही बनता है। उनकी इस आलोचना का शिकार बहुत से साहित्यकार बने, घायल हुए और अपने घाव सहलाते रहे। उनके सामने तो नहीं, किंतु उनके दिवंगत होने के बाद कुछ ने उनसे बदला चुकाने की कोशिश की, लेकिन उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। कूड़ा-करकट साफ़ करने की दृष्टि से उनकी इस आलोचना का महत्त्व अवश्य है; लेकिन मंडनात्मक आलोचना ने ही उन्हें हिंदी के बड़े आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने अपनी मंडनात्मक आलोचना के द्वारा भारतेंदु हरिश्चंद्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद और निराला के महत्त्व की स्थापना वैसे ही की, जैसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जायसी, तुलसी और सूरदास तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर के महत्त्व की स्थापना की। मध्यकालीन कवियों में तुलसीदास के प्रति उनका विशेष आग्रह रहा है। उनकी मान्यता थी कि "तुलसी को निकाल कर हिंदी-साहित्य की परंपरा से संबंध जोड़ना असंभव है। इस परंपरा में जो-कुछ मूल्यवान है, जो-कुछ महत्त्वपूर्ण है, जो-कुछ सदा के लिए संग्रह करने योग्य है, वह तुलसी में सुरक्षित है और बहुत बड़ी मात्रा में सुरक्षित है। यह तथ्य तुलसी की अपराजेय प्रतिभा का द्योतक है, किंतु उन्हें त्याग कर कोई भी युग-प्रवर्तक कवि नहीं हो सकता" (भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास; प्रथम संस्करण, 2001; पृ. 425)। उनके तुलसीदास के प्रति इस आग्रह का विरोध भी हुआ और विरोध प्रगतिवादी आलोचकों ने ही किया। अपनी मंडनात्मक आलोचना में उन्होंने आलोच्य की विचारदृष्टि को जितना महत्त्व दिया, उतना उसकी भावना और कलात्मक अभिव्यक्ति को नहीं। कलात्मक अभिव्यक्ति की छानबीन तो उन्होंने केवल निराला के साहित्य की की, वह भी निराला पर लिखी 'निराला' शीर्षक अपनी पहली पुस्तक में नहीं, बल्कि निराला पर लिखी अपनी दूसरी पुस्तक 'निराला की साहित्य-साधना' (द्वितीय खंड) में। इसका कारण यह है कि वे बनाव-शृंगार को जीवन और साहित्य दोनों में ह्रास का द्योतक मानते थे। वे स्वतंत्रचेता थे; किसी के अंधानुयायी नहीं थे, मार्क्स के भी नहीं। उनमें अपने सोच और निष्कर्षों के प्रति ज़िद की हद तक दृढ़ता थी। इसी ने डॉ. रामविलास शर्मा को डॉ. रामविलास शर्मा बनाया।

उन्हीं के समकालीन प्रगतिवादी आलोचक शिवदान सिंह में अपनी मान्यताओं के प्रति दुराग्रह की हद तक दृढ़ता तो है, लेकिन सोच की वैसी स्पष्टता और प्रखरता नहीं है, जैसी रामविलास शर्मा में थी। संभवतः इसीलिए उनके आलोचनाकर्म में शर्मा जी जैसा नैरंतर्य भी नहीं है। उनकी पहली आलोचना-पुस्तक 'प्रगतिवाद' 1946 में प्रकाशित हुई, उसके बाद थोड़े-थोड़े अंतराल के बाद उनकी कई आलोचना पुस्तकें प्रकाशित हुईं। उसके बाद लंबा मौन। फिर 1999 में विश्वंभरनाथ उपाध्याय

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के संपादन में 'परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए' आयी, जिसमें अधिकांशतः सातवें दशक से ले कर बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के बीच लिखी गयी आलोचना-सामग्री संकलित है। चौहान साहब की प्रगतिवादी आलोचना की दृष्टि से इसका महत्त्व अवश्य है, लेकिन इसमें ऐसा कुछ नहीं है, जिसे नयी जमीन तोड़ना कहा जा सके। इसमें भी उनके पुराने पूर्वाग्रह बने हुए हैं। 1986 में भी उनकी मान्यता है कि तुलसीदास प्रतिक्रियावादी हैं और आचार्य रामचंद्र शुक्ल और रामविलास शर्मा ने उनका ग़लत और एकांगी मूल्यांकन किया है ('परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए' ; पृष्ठ 296-97)। उन्होंने विवेचन व विश्लेषण करके तर्कसम्मत और प्रमाणपुष्ट निष्कर्ष कम निकाले हैं, फतवे ज़्यादा दिये हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा प्रकाशचंद्र गुप्त और शिवदानसिंह चौहान के बाद की प्रगतिवादी आलोचकों की अगली पीढ़ी में सर्वाधिक प्रतिभावान आलोचक के रूप में उभर कर सामने आने वाले आलोचक डॉ. नामवर सिंह हैं। 1952 में प्रकाशित होने वाली उनकी पहली आलोचना-पुस्तक 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' वस्तुतः एक शोधग्रंथ है। वास्तविक आलोचना की उनकी पहली पुस्तक तो 'छायावाद' (1954) है। उसके बाद उनकी कई आलोचना पुस्तकें प्रकाशित हुईं। वर्तमान कालावधि में प्रकाशित होने वाली उनकी आलोचना-पुस्तकें हैं : 'दूसरी परंपरा की खोज' (1982), 'वाद-विवाद-संवाद' (1989) और 'आलोचक के मुख से' (2005)। इनमें से अंतिम पुस्तक 1980-84 में 'प्रगतिशील लेखक-संघ', पटना में दिये गये उनके भाषणों का खगेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा किया गया संपादन है। इसका अर्थ यह हुआ कि अभी तक उनकी आलोचना की अंतिम पुस्तक 'वाद-विवाद-संवाद' है अर्थात विगत् सत्रह वर्षों में उनकी आलोचना की कोई नयी पुस्तक नहीं आयी, लेकिन वे साहित्य पर भाषण तो पूरे देश में देते फिर रहे हैं। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि इस समय हिंदी में उनके जैसा विदग्ध, वाग्मी और श्रोताओं को मुग्ध करने वाला कोई दूसरा वक्ता नहीं है। उनकी लिखित आलोचना की निष्क्रियता का महिमा-मंडन यह कह कर किया जा रहा है कि वे हिंदी-आलोचना में 'वाचिक परंपरा के आचार्य' हैं और इस 'वाचिक परंपरा' की पक्षधरता वे स्वयं भी कर रहे हैं। अस्तु! उनकी आलोचना का विश्लेषण करने के बाद हमारा निष्कर्ष यह है कि वे बुद्धि से तो मार्क्सवादी हैं, किंतु मन से कलावादी हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद वे हिंदी के दूसरे आधुनिक आलोचक हैं, जिन्होंने साहित्य की कलात्मक विशिष्टताओं का अत्यंत सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है। इसीलए उन्हें कभी-कभी रूपवादी भी घोषित किया गया है; लेकिन वे रूपवादी हैं नहीं। वे जिस तन्मयता के साथ रचना के वस्तु पक्ष का विश्लेषण करते हैं, उसी तन्मयता के साथ उसके अभिव्यक्ति पक्ष का भी। डॉ. रामविलास शर्मा की तरह उनके व्यक्तित्व का शास्त्रार्थी पक्ष बड़ा प्रबल है, जिसके कारण वे किसी को कुछ भी सिद्ध कर सकते हैं, और करते हैं। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण वे अनेक बार अंतर्विरोधों का शिकार होते हैं। अपने आलोचनाकर्म के प्रति उनमें वैसी निष्ठा नहीं है, जैसी डॉ. नगेन्द्र और डॉ. रामविलास शर्मा में थी। इसीलिए वे अपनी स्पृहणीय प्रतिभा का पूरा-पूरा और सही-सही उपयोग नहीं कर सके हैं।

मार्क्सवाद के प्रति निष्ठा रखने वाले या उससे प्रेरणा लेने वाले नयी-पुरानी पीढ़ी के कई अन्य आलोचक भी इस कालावधि में सक्रिय रहे हैं। ये हैं : अमृतराय, विश्वंभरनाथ उपाध्याय, रमेश कुंतलमेघ, शिवकुमार मिश्र, विश्वनाथ त्रिपाठी, धनंजय वर्मा, नित्यानंद तिवारी, नंदकिशोर नवल, कर्णसिंह चौहान, खगेन्द्रनाथ ठाकुर, मैनेजर पांडेय, शंभुनाथ इत्यादि। इस कालावधि में अमृतराय की 'विचारधारा और साहित्य' (1984) शीर्षक पुस्तक प्रकाशित हुई। उनमें मार्क्सवादी कट्टरता नहीं है। अपनी उक्त पुस्तक में उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि "आज का साहित्य मानवतावादी है

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और वह रचनाकार के सामाजिक सरोकारों का लेखन है, वह केवल सद्भावनाओं के उद्घोष का साहित्य नहीं रह गया है। सामाजिक न्याय का स्वर उसका आवश्यक अंग है। उत्तरोत्तर यही स्वर तीव्र से तीव्रतर होता गया है। इस नये मानवतावादी साहित्य में अन्यायी-अत्याचारी शक्तियों के विरुद्ध क्रोध और घृणा पायी जाती है। इस कारण उसे घृणा का प्रचार करने वाला साहित्य कह कर मानवतावादी साहित्य से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता'' (पृ. 16)। उनके इस कथन से उनके आलोचकीय सरोकारों और उनकी आलोचकीय दृष्टि का अनुमान लगाया जा सकता है। विश्वंभरनाथ उपाध्याय लिक्खाड़ मार्क्सवादी आलोचक हैं। इस कालावधि में उनकी कई आलोचनात्मक कृतियां प्रकाशित हुई हैं—'भारतीय काव्यशास्त्र का द्वंद्वात्मक आलोक में अध्ययन' (1980), 'बिंदु-प्रतिबिंदु : समकालीन आलोचना' (1983), 'मीमांसा और पुनर्मूल्यांकन' (1986), 'समकालीन मार्क्सवाद' (1987), 'सरहपा' (1996) इत्यादि। उनकी आलोचना सैद्धांतिक स्तर पर विचारोत्तेजना और व्यावहारिक स्तर पर परिगणना से परिपूर्ण है। वे शास्त्रार्थ के लिए प्रायः सन्नद्ध दिखायी देते हैं। इसलिए प्रायः स्थापित मान्यताओं से भिन्न मान्यताएं स्थापित करने में संलग्न रहे हैं। रमेश कुंतलमेघ हिंदी के बहुअधीत प्रगतिवादी आलोचक हैं। वर्तमान कालावधि में 'साक्षी है सौंदर्यप्राश्निक' (1980), 'वाग्मी हो लौ' (1984), 'मन खंजन किनके' (1985), 'कामायनी पर नयी किताब', 'खिड़कियों पर आकाशदीप' (2002), 'शील और सौंदर्य' (2005) उनकी प्रकाशित रचनाएं हैं। मार्क्सवाद के अतिरिक्त उन्होंने समाजशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र, मिथकशास्त्र, नृतत्त्वशास्त्र, मनोविज्ञान आदि कितने ही शास्त्रों का अध्ययन और अपनी आलोचना में उपयोग किया है। उनकी आलोचना में उपर्युक्त विभिन्न अनुशासनों की परिभाषिक शब्दावली का अंबार लगा रहता है जिससे उनकी विद्वत्ता तो सामने आती है, लेकिन उनकी आलोचना इतनी बोझिल और जटिल हो जाती है कि उसे ठीक-ठीक समझना प्रकांड पंडितों के वश की ही बात रह जाती है। इसके बावजूद स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-आलोचना में उनके योगदान को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। शिवकुमार मिश्र अतिवादों से बच कर चलने वाले प्रगतिवादी आलोचक हैं। आपकी आलोचना प्रधानतः सैद्धांतिक आलोचना है। मार्क्सवादी आलोचना की सैद्धांतिक समस्याओं को सुलझाने में आपका विशेष योगदान रहा है। इस कालावधि में प्रकाशित होने वाली उनकी आलोचनात्मक कृतियां ये हैं—'प्रेमचंद : विरासत का सवाल' (1981), 'दर्शन, साहित्य और समाज' (1981), 'भक्तिकाव्य और लोकजीवन' (1983), 'हिंदी-आलोचना की परंपरा और आचार्य रामचंद्र शुक्ल' (1986), 'आलोचना के प्रगतिशील आयाम' (1987) आदि।

उपर्युक्त आलोचकों के बाद की पीढ़ी के प्रगतिवादी आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने अधिक नहीं लिखा है। 'देश के इस दौर में' (हरिशंकर परसाई के व्यंग्य निबंधों का विवेचन) और 'कुछ कहानियां : कुछ विचार' (1998) उनकी इधर की प्रकाशित आलोचना-पुस्तकें हैं। मार्क्सवाद के प्रति अपने झुकाव के बावजूद वे दुराग्रहग्रस्त नहीं हैं। इसीलिए वे रचना के मर्म को पकड़ने में समर्थ रहे हैं। यही स्थिति नित्यानंद तिवारी ('आधुनिक साहित्य और इतिहासबोध', 'साहित्य का स्वरूप' तथा 'सृजनशीलता का संकट' : 1991) की है। वे किसी दुराग्रह के बिना रचना की आत्मा को पकड़ते हैं और अपनी सूक्ष्म अंतर्दृष्टि का परिचय देते हैं। इन दोनों की तुलना में नंदकिशोर नवल ने कहीं अधिक आलोचना लिखी है। वर्तमान कालावधि में 'कविता की मुक्ति' (1980), 'हिंदी-आलोचना का विकास' (1981), 'प्रेमचंद का सौंदर्यशास्त्र' (1982), 'शब्द जहां सक्रिय हैं' (1986), 'यथाप्रसंग' (1992), 'मुक्तिबोध : ज्ञान और संवेदना' (1993), 'समकालीन काव्ययात्रा' (1994), 'दृश्यालेख' (1995), 'निराला : कृति से साक्षात्कार' (प्रथम भाग, 1997,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

द्वितीय भाग, 2000), 'रचना का पक्ष' (2000), 'शताब्दी की कविता' (2001), 'पार्श्वछवि' (2002), 'निराला-काव्य की छवियां' (2002), 'कविता के आरपार' (2003) इत्यादि। वे मुख्यतः काव्यालोचक हैं। सूक्ष्म विवेचन के द्वारा वे रचना के अंतरंग में प्रवेश करते हैं और ऐसे निष्कर्ष निकालते हैं, जो विचारोत्तेजक और विवादास्पद दोनों होते हैं। वे रचना की वस्तु और अभिव्यक्ति दोनों को समान महत्त्व देते हैं। कर्णसिंह चौहान ने अपनी 'आलोचना के मान' (1978) और 'प्रगतिवादी आंदोलन का आलेखात्मक इतिहास' (1985) के द्वारा प्रगतिवाद के सिद्धांत-पक्ष को तथ्यात्मक आधार पर स्पष्ट किया है। खगेन्द्रनाथ ठाकुर के लिए विचारधारा (वामपंथी) केंद्रीय महत्त्व की चीज़ है। उनके अनुसार साहित्य की श्रेष्ठता का आधार विचारधारा ही होती है। मैनेजर पांडेय इस पीढ़ी के अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय आलोचक हैं। उनकी पहली आलोचना-पुस्तक 'शब्द और कर्म' 1981 में प्रकाशित हुई। उसके बाद 'साहित्य और इतिहास दृष्टि' (1981), 'कृष्णकथा की परंपरा और सूरदास का काव्य' (1982), 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' (1989), 'संकट के बावजूद' (1998), 'अनभै सांचा' (2002), 'आलोचना की सामाजिकता' (2005) आदि कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं। उनका आलोचनात्मक लेखन द्वंद्वात्मक ऐतिहासिक व सामाजिक यथार्थवाद का पक्षधर है। इसलिए वे कलावाद, उत्तरआधुनिकतावाद, संरचनावाद इत्यादि का विरोध करते हैं। शंभुनाथ भी इनका विरोध करते हैं। उनका बल जनवादिता पर है। उनकी दृष्टि में हमारा वर्तमान समय ऐसा है, जिसमें साहित्य और कलाओं में जीवन की निरपेक्षता पर बल दिया जा रहा है। इसलिए हमें एक और नवजागरण की आवश्यकता है। वे अपनी बात बड़ी प्रखरता से प्रस्तुत करते हैं—इसका प्रमाण उनकी 'साहित्य और जनसंघर्ष' (1980), 'तीसरा यथार्थ' (1984), 'मिथक और आधुनिक कविता' (1985), 'बौद्धिक उपनिवेशवाद की चुनौती और रामचंद्र शुक्ल' (1988), 'प्रेमचंद का पुनर्मूल्यांकन' (1988), 'दूसरे नवजागरण की ओर' (1993), 'धर्म का दुखांत' (2000), 'संस्कृति की उत्तरकथा' (2000), 'दुस्समय में साहित्य' (2002) आदि आलोचना-कृतियां हैं। हिंदी की प्रगतिवादी आलोचना में विष्णुचंद्र शर्मा, मुरलीमनोहरप्रसाद सिंह, चंद्रबली सिंह, विजयबहादुर सिंह, अजय तिवारी, चंचल चौहान, कमला प्रसाद, ओमप्रकाश ग्रेवाल, कुंवरपाल सिंह, विजेन्द्रनारायण सिंह आदि का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है।

हिंदी में आधुनिक काल में आलोचना सृजनात्मक साहित्य के, विशेषतः कविता और कथा-साहित्य के, समानांतर चली है। इसीलिए प्रगतिवादी आलोचना के बाद वह आलोचना अस्तित्व में आयी, जिसे 'नयी आलोचना' कहा जा सकता है। 'नयी आलोचना' के आने का सीधा अर्थ था—साहित्य और समाज दोनों में व्यक्तिवाद और पूंजीवाद की प्रवृत्तियों का प्रबल होना। यह रोचक तथ्य है कि 1943 में 'तारसप्तक' के प्रकाशित होने पर प्रायः सभी कवियों ने मार्क्सवाद में अपनी आस्था व्यक्त की थी, किंतु उसका दूसरा संस्करण निकलने पर मुक्तिबोध और डॉ. रामविलास शर्मा को छोड़कर मार्क्सवाद में किसी अन्य कवि की आस्था नहीं रह गयी थी और हमें कवियों के परिचय में इस प्रकार के वाक्य पढ़ने को मिलने लगे थे, "अब (नेमिचंद्र जैन) न मार्क्सवादी हैं, न कम्युनिस्ट, क्योंकि शायद वयस्क हो गये हैं और हर प्रकार की वादिता के दमघोंटू प्रभाव को पहचानने लगे हैं।" इस आलोचना में भारतीय काव्यशास्त्र लगभग पूर्णतः उपेक्षित हो गया है और वह पश्चिमी चिंतन और आलोचना पर पूर्णतः निर्भर हो गयी है। 'नयी आलोचना' ही नहीं, स्वातंत्र्योत्तर काल की नयी लगभग संपूर्ण हिंदी-आलोचना एक ओर पश्चिमी आलोचकों, दूसरी ओर अस्तित्ववाद, मानववाद, यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, प्रभाववाद, आधुनिकतावाद, उत्तरआधुनिकतावाद, संरचनावाद इत्यादि वादों और तीसरी ओर 'नयी आलोचना', नवअरस्तूवादी आलोचना, शैलीविज्ञान, समाजशास्त्रीय

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आलोचना आदि पश्चिमी आलोचना-पद्धतियों का लगभग पूर्णतः अनुसरण करने लग गयी है। प्रमाण के लिए 'विवेक के रंग' (1965; सं. देवीशंकर अवस्थी) में संगृहीत समीक्षाओं को देखा जा सकता है, जिनमें आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली ही पूर्णतः बदली हुई नज़र आती है।

'नयी आलोचना' के साथ आलोचक के रूप में सामने आने वाले अनेक आलोचक वर्तमान कालावधि में भी सक्रिय रहे हैं। इनमें सबसे पहला नाम अज्ञेय का है। वर्तमान कालावधि में प्रकाशित 'युग संधियों पर' (1982), 'धार और किनारे' (1982), 'शेषा' (1995), 'कवि-निकष' (2002) आदि कृतियां उनकी आलोचनादृष्टि को उजागर करती हैं। इनमें से अंतिम दो कृतियां उनके स्वर्गवासी होने के दो वर्ष बाद प्रकाशित हुईं। अज्ञेय मार्क्सवाद या कम्युनिज्म से पूर्णतः अप्रभावित रहे। टी.एस. इलियट से वे प्रारंभ में प्रभावित रहे और उन्होंने निर्वैयक्तिकता के सिद्धांत को स्वीकार किया, भोक्ता और रचयिता के अलगाव को स्वीकार किया। बाद में वे अस्तित्ववाद से प्रभावित हुए, साथ ही उन्होंने अपने रचनात्मक अनुभव और चिंतन का उपयोग सिद्धांत गढ़ने में किया। उन्होंने मुख्यतः सैद्धांतिक आलोचना लिखी है। समकालीन साहित्य का शायद ही ऐसा कोई पक्ष होगा, जिसकी सैद्धांतिक चर्चा उन्होंने न की हो। उनकी सैद्धांतिक चर्चा और व्यावहारिक आलोचना दोनों में व्यक्तिवादी विशिष्टता और प्रयोगशीलता दोनों को बराबर महत्त्व दिया गया है।

'तारसप्तक' और 'दूसरा सप्तक' के एकाधिक कवियों ने आलोचना-क्षेत्र में भी दखलंदाज़ी की है, किंतु वर्तमान कालावधि के पूर्व। अज्ञेय के बाद 'तीसरा सप्तक' के कवि विजयदेवनारायण साही एक श्रेष्ठ आलोचक के रूप में सामने आये। 'साहित्य और साहित्यकार का दायित्व' (1983), 'जायसी' (1983) 'छठवां दशक' (1987), 'साहित्य क्यों?' (1988) तथा 'वर्धमान और पतनशील' (1991) उनकी आलोचनात्मक कृतियां हैं। ये सभी पुस्तकें उनके स्वर्गवासी होने के उपरांत प्रकाशित हुई हैं। इनमें व्यवस्थित रूप से लिखी हुई एक मात्र रचना 'जायसी' है। इसमें उन्होंने अनेकत्र आचार्य रामचंद्र शुक्ल से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए जायसी का नया और आधुनिक विवेचन और मूल्यांकन किया है और उन्हें आधुनिक संदर्भों से जोड़ा है। उनकी मान्यता है कि "जायसी अपने समाज और उसमें प्रचलित सत्तासंघर्ष को देख रहे थे। उनकी विशेषता यह थी कि इस समूचे परिदृश्य को नयी पूर्वाग्रहहीन आंखों से देखा और उन्होंने इस विराट ट्रैजेडी और साथ ही इस सारे अभियान की व्यर्थता को देखा, जो उनके समाज को मथ रही थी" (जयसी; पृ. 88)। अपनी आलोचना में उनकी दृष्टि रचना की अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों के विवेचन और मूल्यांकन के नये प्रतिमानों की खोज पर केंद्रित रहती थी। वे मानते थे कि कविता में जब परिवर्तन होता है, तब केवल उसके कलेवर में ही परिवर्तन नहीं होता, अपितु उसकी अनुभूति भी बदलती है। 'चौथा सप्तक' के कवियों में से आलोचना के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण लेखन करने वाले एक मात्र कवि नंदकिशोर आचार्य हैं। उनकी पहली आलोचना-पुस्तक 'अज्ञेय की काव्यतितीर्षा' 1970 में प्रकाशित हुई थी। उसके बाद 'रचना का सच' (1986), 'सर्जक का मन' (1989), 'अनुभव का भव' (1994), 'साहित्य का स्वभाव' (2001) तथा 'नाट्यानुभव' (2004) आयीं। उनकी सोच पर अज्ञेय का प्रभाव स्पष्ट है। उनकी मान्यता है कि "कविता 'आध्यात्मिक साधना' है और प्रत्येक कविता शब्द के अर्थ विस्तार का प्रयत्न है।" इसी सप्तक की कवयित्री सुमन राजे की कई आलोचना-पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं किंतु स्त्री-विमर्श के संदर्भ में महत्त्व उनकी पुस्तक 'हिंदी-साहित्य का आधा इतिहास' (2003) का है, जिसमें उन्होंने 'महिला-लेखन की अविच्छिन्न परंपरा' की खोज की है। स्वाभाविक ही उन्होंने 'फोकस के बाहर' रहने वाले महिला-लेखन को फोकस में लाने का प्रयत्न किया है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'सप्तकों' के बाहर के भी अनेक 'नये कवि' हैं, जिन्होंने आलोचना के क्षेत्र में भी अपनी विशिष्ट पहचान बनायी है। वर्तमान कालावधि में सक्रिय रहने वाले इन कवियों में से एक मात्र महत्त्वपूर्ण आलोचक डॉ. रामदरश मिश्र हैं। आलोचना उनका केंद्रीय सरोकार कभी नहीं रही। कारण, उन्हीं के शब्दों में, ''आलोचना मेरे मन से नहीं, पेशे से जुड़ी हुई विधा रही है। पत्र-पत्रिकाओं के आग्रह पर आलोचनात्मक निबंध और समीक्षाएं लिखता रहा''(छोटे-छोटे सुख; प्र. सं. 2006; पृ. 28)। फलतः अब तक उनकी एक दर्जन आलोचना-पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें से 'छायावाद का रचनालोक' (1981), 'आधुनिक हिंदी-कविता : सर्जनात्मक संदर्भ' (1981), 'हिंदी-गद्य-साहित्य : आधुनिक आयाम' (1994) और 'हिंदी-गद्य-साहित्य : उपलब्धि की दिशाएं' (2000) इसी कालावधि में प्रकाशित रचनाएं हैं। किसी 'वाद' विशेष से संबद्ध न होने के कारण आलोचक के रूप में उनकी ओर उनके समकालीनों का ध्यान कम ही गया है। इसका एक कारण अपने सोच और निष्कर्षों में उनका अतिवादी न होना है। वे संतुलन और समन्वय के पक्षधर हैं। यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं कि संतुलन और समन्वय में धार ज़रा कम होती है।

'नयी आलोचना' के संदर्भ में वर्तमान में सक्रिय रहने वाले दो और आलोचकों की चर्चा करना अनिवार्य है। ये हैं डॉ. रघुवंश और डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी। डॉ. रघुवंश ने यों तो उपन्यास भी लिखे हैं, लेकिन वे मुख्यतः आलोचक हैं। उनकी दो परवर्ती कृतियां—'आधुनिकता और सर्जनशीलता' (1980) तथा 'भारती का काव्य' (1980) इस कालावधि की रचनाएं मानी जा सकती हैं। उन्होंने 'नयी कविता' की मूल विशेषताओं को व्याख्यायित किया है और उसकी विद्रोहशीलता, मानव-व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा, वैयक्तिक स्वतंत्रता और सांस्कृतिक सरोकारों के प्रति चिंता को विशेष रूप से रेखांकित किया है। वामपंथी खेमे के कुछ आलोचकों ने उन पर रूपवादी होने का आरोप भी लगाया है, जो यथार्थ नहीं है। रामस्वरूप चतुर्वेदी शुद्ध आलोचक हैं। उनकी आलोचनात्मक कृतियों की संख्या भी काफ़ी है। वर्तमान कालावधि में उनकी 'सर्जन और भाविक संरचना' (1980), 'इतिहास और आलोचकदृष्टि' (1982), 'हिंदी-साहित्य और संवेदना का विकास' 1986, 'काव्यभाषा पर तीन निबंध' (1989), 'प्रसाद, निराला, अज्ञेय' (1989), 'कविता का पक्ष' (1994), 'हिंदी-गद्य : विन्यास और विकास' (1996), 'आधुनिक कविता-यात्रा' (1998), 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल : आलोचना का अर्थ और अर्थ की आलोचना' (2001), 'भक्तिकाव्य-यात्रा' (2002) आदि कई आलोचना-कृतियां प्रकाशित हुई हैं। वे साहित्य को संसार की पुनर्रचना मानते हैं। साहित्य-सृष्टि में उन्होंने विचारधारा की बजाय व्यक्ति की संवेदना और उसकी भाषिक अभिव्यक्ति को मुख्य चीज़ माना है। इसीलिए उनका स्पष्टतः कहना है कि ''भाषिक सर्जनात्मकता को समझना, रचना के अनुभव को निकटतम रूप में समझना है'' (हिंदी-साहित्य और संवेदना का विकास; प्र. सं., पृ. 307)। इसीलिए वे नयी दृष्टि से हिंदी-साहित्य का इतिहास लिख सके हैं, जिसमें महत्त्व 'इतिहास' का उतना नहीं है, जितना 'नयी दृष्टि' का है।

अब हम हिंदी-आलोचना के विकास के जिस बिंदु पर पहुंच चुके हैं, उस पर वर्तमान कालावधि में उभर कर सामने आने वाले आलोचकों की एक पूरी नयी पीढ़ी अपनी पहचान बनाती है। इनमें से एक श्रेणी उन कवि-आलोचकों की है, जो 'अकविता' आदि साठोत्तर काव्यांदोलनों के पक्षधर के रूप में सामने आये। इनमें तीन नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : जगदीश चतुर्वेदी, गंगाप्रसाद विमल और मुद्राराक्षस। जगदीश चतुर्वेदी और गंगाप्रसाद विमल ने 'अकविता' के स्वरूप को स्पष्ट करने में तो महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी, लेकिन उन्होंने आलोचनाकर्म को गंभीरता से नहीं लिया। उनकी तुलना में मुद्राराक्षस ने कम, किंतु गंभीरतापूर्वक आलोचना लिखी। उनकी पहली

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आलोचना-पुस्तक 'साहित्य-समीक्षा : परिभाषाएं और समस्याएं' 1963 में प्रकाशित हुईं। लंबे अंतराल के बाद उनकी दूसरी आलोचना-पुस्तक 'आलोचना का समाजशास्त्र' 2004 में आयी। इसमें कोई संदेह नहीं कि उनकी आलोचना अपनी गंभीरता और ताज़गी से आकर्षित करती है, लेकिन अपनी विचित्र और चमत्कारी स्थापनाओं से गंभीरता को चोट भी पहुंचाती है। उनकी एक चौंकाने वाली स्थापना है कि 'अंधेर नगरी' अंग्रेज़ी की पक्षधर रचना है और वह भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके परिवार की दास-मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति हैं (आलोचना का समाजशास्त्र; पृ. 14-15)। कोई माने या न माने, किंतु मुद्राराक्षस अपने समाजशास्त्रीय विवेचन के द्वारा इसे सिद्ध करते हैं।

जब 1973 में 'विचार कविता' सामने आयी तो उसके प्रवक्ता बन कर बलदेव वंशी और नरेन्द्र मोहन सामने आये। यों, बलदेव वंशी की कई आलोचना-पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं : 'आधुनिक हिंदी कविता में विचार' (1982), 'लंबी कविताएं : वैचारिक सरोकार' (1983), 'समकालीन कविता: वैचारिक आयाम' (1986), 'भवानीप्रसाद मिश्र' (1992) 'कहत कबीर कबीर' (1995), 'कबीर की चिंता' (2002) आदि, किंतु वे मूलत: कवि हैं और उनकी आलोचा में उनकी कविता ही बोलती है। उनकी तुलना में आलोचक रूप में नरेन्द्र मोहन ने अधिक प्रतिष्ठा अर्जित की है। प्रारंभ में उन्होंने आलोचना को बहुत गंभीरतापूर्वक लिया, किंतु बाद में उनका आलोचक शिथिल पड़ गया। इसलिए वर्तमान कालावधि में उनकी कम ही आलोचनात्मक कृतियां प्रकाशित हुईं— 'आधुनिकता के संदर्भ में हिंदी-कहानी' (1982), 'शास्त्रीय आलोचना से विदाई' (1991), 'समकालीन कविता के बारे में' (1994), 'बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध : हिंदी-कहानी' (1996) तथा 'रचना का सच' (2005)। वे इंद्रनाथ मदान की तरह 'रचना की राह से गुज़रने वाले आलोचक' हैं। इसीलिए वे आलोचना की शास्त्रीयता को या शास्त्रीय आलोचना को ज़्यादा महत्त्व नहीं देते। वे कविता में अनुभव और विचार दोनों को समान महत्त्व देते हैं। कथा-साहित्य की आलोचना में ब्यौरों और संरचना के विश्लेषण पर उनकी दृष्टि विशेष रूप से टिकी है। उन्होंने अपनी आलोचना में समकालीनता, आधुनिकता, विद्रोह, संघर्ष, यथार्थबोध, रूमानियत, प्रामाणिक अनुभव आदि अवधारणाओं का विशेष रूप से और बार-बार उपयोग किया है। उन्होंने अपनी आलोचना के औज़ार मुख्यत: पश्चिमी 'नयी आलोचना' से ग्रहण किये हैं। इस अर्थ में वे हिंदी के 'नये आलोचक' हैं।

जिस पीढ़ी के आलोचकों की चर्चा हम यहां कर रहे हैं, उनमें वीरेन्द्र सिंह, रामचंद्र तिवारी, प्रभाकर श्रोत्रिय, दूधनाथ सिंह, अशोक वाजपेयी, विष्णु खरे, रमेशचंद्र शाह, मलयज, निर्मला जैन, रत्नलाल शर्मा, विष्णुकांत शास्त्री, कल्याणमल लोढ़ा, कृष्णदत्त पालीवाल, चंद्रकांत बांदिवडेकर, परमानंद श्रीवास्तव, विश्वनाथप्रसाद तिवारी आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से कोई भी वामपंथी रुझान का नहीं है, फिर भी प्रगतिशीलता उनकी आलोचना की केंद्रीय विशेषता है। हां, मलयज ('कविता से साक्षात्कार' : 1979; 'संवाद और एकालाप' : 1984; 'रामचंद्र शुक्ल : 1987'; 'हंसता हुआ मेरा अकेलापन') को उनके दिवंगत होने के बाद वामपंथियों ने विशेष महत्त्व दिया। मलयज रचना और आलोचना की समानांतरता के कायल थे और इसी दृष्टि से वे रचना, विशेषत: कविता का विश्लेषण करके अपने निष्कर्ष निकालते थे। मलयज के अतिरिक्त अन्य उपर्युक्त आलोचकों ने विभिन्न आलोचना पद्धतियों को अपनाया है, जिनके कारण उनका आलोचकीय वैशिष्ट्य स्थापित हुआ है। वीरेंद्रसिंह ('बिंबों से झांकता कवि : शमशेर' : 1983; 'मिथक-दर्शन का विकास' : 1984; 'सृजन और अंतर-अनुशासनीय परिप्रेक्ष्य' : 1985; 'कविता का अत:अनुशासनीय विवेचन' : 1986; 'शब्दार्थों के गवाक्ष' : 1986, 'अस्मिता के संवेदन' : 1990; 'विचार-संवेदन : विविध आयाम' : 1990; 'वैचारिक संवेदनाओं का कवि बलदेव वंशी' :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

1990 आदि) अपनी अंतरानुशासनिक आलोचना के कारण अलग से पहचाने जा सकते हैं। प्रभाकर श्रोत्रिय ('कविता की तीसरी आंख' : 1980, 'संवाद : नयी कविता, आलोचना और प्रतिक्रिया' : 1982, 'कालयात्री है कविता' : 1983; 'रचना एक यातना है'; 1985, 'अतीत के हंस : मैथिलीशरण गुप्त' : 1988, 'जयशंकर प्रसाद की प्रासंगिकता' : 1990; 'मेघदूत : एक अंतर्यात्रा' : 1996; 'सौंदर्य का तात्पर्य' : 1998, 'प्रसाद-साहित्य में प्रेमतत्त्व' : 2000; 'सर्जना अग्निधर्म' : 2005, आदि) अपनी सूक्ष्म विवेचना और भारतीय कलावादी प्रतिमानों का विवेकपूर्ण उपयोग करने के साथ-साथ मनोविज्ञान की भी सहायता लेते हैं। उनकी आलोचना में सृजनात्मकता के तत्त्व भरपूर मात्रा में होते हैं। संभवतः इसीलिए उन्हें 'आलोचना की तीसरी परंपरा' का आलोचक कहा गया है। दूधनाथ सिंह भी लीक से हट कर चलने वाले आलोचक हैं। अशोक वाजपेयी ('कुछ पूर्वग्रह' : 1984, 'कविता का गल्प' : 1997, 'कवि कह गया है' : 2000 आदि) अपनी प्रगतिवाद-विरोधी दृष्टि, अपने पूर्वाग्रहों, अपने रूपवादी रुझान, नये-नये आलोचनात्मक शब्द गढ़ने और चौंकाने वाले फतवे देने के कारण अलग से पहचाने जाते हैं। रमेशचंद्र शाह ('वागर्थ' : 1981, 'सबद निरंतर' : 1987; 'भूलने के विरुद्ध' : 1990, 'अज्ञेय : वागर्थ का वैभव' : 1995, 'आलोचना का पक्ष' : 1998 आदि) अपनी आलोचना में अपनी अंतःप्रज्ञा पर अधिक निर्भर रहते हैं। विष्णुकांत शास्त्री ('कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबंध', 'कुछ चंदन की कुछ कपूर की' : 1991, 'चिंतन-मुद्रा', 'अनुचिंतन', 'विष्णुकांत शास्त्री की चुनी हुई रचनाएं', खंड I, 2003, 'आधुनिक हिंदी-साहित्य के कुछ विशिष्ट पक्ष' : 2004) ने संस्कृत-कवि कालिदास पर भी आलोचना लिखी और मध्यकालीन हिंदी-कवियों कबीर आदि से ले कर सर्वेश्वरदयाल सक्सेना आदि आधुनिक कवियों पर भी आलोचना लिखी हैं। उनकी आलोचनात्मक दृष्टि संतुलित, विवेकपूर्ण और अनतिवादी है। यद्यपि दक्षिणपंथी और वामपंथी दृष्टि के बीच वे सामंजस्य बैठाकर चलते हैं, लेकिन कभी-कभी उनकी राजनीतिक प्रतिबद्धता व्यक्त हो ही गयी है। उनकी दृष्टि मूलतः सांस्कृतिक राष्ट्रवादी दृष्टि है। कृष्णदत्त पालीवाल ('भवानीप्रसाद मिश्र का काव्य-संसार' : 1980, 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल का चिंतन-जगत' : 1984; 'मैथिलीशरण गुप्त : प्रासंगिकता के अंतःसूत्र' : 1987; 'हिंदी की सैद्धांतिक समीक्षा पर पाश्चात्य सैद्धांतिक समीक्षा का प्रभाव' : 1990; 'हिंदी-आलोचना के नये वैचारिक सरोकार' : 2002, 'गिरिजाकुमार माथुर' : 2003; 'माखनलाल चतुर्वेदी तथा अन्य निबंध' : 2004, 'उत्तरआधुनिकता की ओर' : 2005 आदि) की आलोचना में उनका विद्वान अध्यापकीय व्यक्तित्व बराबर झलकता रहता है। परमानंद श्रीवास्तव ('समकालीन कविता का व्याकरण' : 1980, 'शहर और मनुष्य' : 1988, 'समकालीन कविता का यथार्थ' : 1988, 'उपन्यास का पुनर्जन्म' : 1995 आदि) पहले रचना के वस्तुपक्ष को भाषा के स्तर पर पहचानते थे, किंतु बाद में वे रचना के अन्य पक्षों, विचारधारा, जीवन-मूल्य, वर्ग-संस्कार आदि को भी महत्त्व देने लगे। उनका झुकाव वामपंथी विचारधारा की ओर है, लेकिन उनमें कट्टरता और दुराग्रह नहीं है। विवेचन के स्तर पर उनकी आलोचना में कताई बहुत महीन होती है। विश्वनाथप्रसाद तिवारी ('समकालीन हिंदी-कविता' : 1982, 'रचना के सरोकार' : 1987, 'गद्य के प्रतिमान' : 1996, 'कविता क्या है?' 1999 आदि) विशिष्ट शब्दों के प्रयोगों के विवेचन के माध्यम से रचनाकार की मूल संवेदना, जीवन-दृष्टि और प्रवृत्ति को सफलतापूर्वक पकड़ते हैं और स्पष्टता से व्यक्त करते हैं। उनकी आलोचना में प्रखरता या धार का अभाव है, क्योंकि वे किसी रचना या रचनाकार पर निर्णय देने या उसके नकारात्मक पक्षों का उद्घाटन करने से बचते हैं। इनमें सबसे वरिष्ठ आलोचक रामचंद्र तिवारी ने गद्य-साहित्य को ले कर विशेष कार्य किया है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हिंदी-आलोचना मूलतः कविता-केंद्रित रही है; किंतु स्वातंत्र्योत्तरकाल में अन्य विधाओं—विशेषतः कहानी, उपन्यास और नाटक ने भी आलोचकों को चुनौती दी है। फलतः काव्येत्तर विधाओं की विशिष्ट आलोचना भी हमारे सामने आयी है।

बीसवीं शताब्दी के छठे-सातवें दशकों में जब हिंदी में विभिन्न कहानी-आंदोलन चले, तब कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, महीप सिंह, रामदरश मिश्र आदि कहानीकारों और नामवर सिंह, परमानंद श्रीवास्तव, सुरेंद्र चौधरी, देवीशंकर अवस्थी, धनंजय वर्मा, आदि आलोचकों ने कहानी-आलोचना को गति और नये आयाम प्रदान किये, किंतु शीघ्र ही ये लोग कहानी-आलोचना से विरत हो गये। इनके बाद कहानी-आलोचना को जिन्होंने आगे बढ़ाया, उनमें मधुरेश ('हिंदी कहानी का विकास' : 1996, 'नयी कहानी : पुनर्विचार' : 1999 आदि), नरेन्द्र मोहन ('बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध' : हिंदी-कहानी' 1996), विजयमोहन सिंह ('आज की कहानी' : 1983, 'कथा-समय' : 1993), हरदयाल ('कालजयी कथाकृति और अन्य निबंध' : 1981, 'हिंदी-कहानी : परंपरा और प्रगति' : 2005), विश्वनाथ त्रिपाठी ('कुछ कहानियां : कुछ विचार' : 1998), वेदप्रकाश अमिताभ ('हिंदी कहानी : एक अंतर्यात्रा' : 1981, 'हिंदी कहानी के सौ वर्ष' : 1988), पुष्पपाल सिंह ('समकालीन कहानी : युगबोध का संदर्भ' : 1986), विवेकी राय ('हिंदी कहानी : समीक्षा और संदर्भ : 1985, आनंद प्रकाश (हिंदी-कहानी की विकास प्रक्रया), रमेश उपाध्याय ('जनवादी कहानी : पृष्ठभूमि से पुनर्विचार तक') आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन आलोचकों ने कहानी की आलोचना को यांत्रिकता से मुक्त किया और कहानी-आलोचना की नयी पद्धति का विकास किया। इस नयी पद्धति में एक ओर कहानी में व्यक्त होने वाले जीवन की प्रामाणिकता और गहराई की माप की जाने लगी, दूसरी ओर अनुभव की दुर्निवारिता को रेखांकित किया जाने लगा, तीसरी ओर कहानीकार की चरित्र-निर्माण क्षमता और कथानक की संघटन -शक्ति की परीक्षा की जाने लगी; चौथी ओर काव्यभाषा की तरह कहानी की भाषा के वैशिष्ट्य को पकड़ा जाने लगा और अंततः प्रत्येक कहानी के व्यक्तिशः वैशिष्ट्य, सफलता-असफलता, नवीनता-पुरातनता आदि को महत्त्व दे कर मूल्यांकित किया जाने लगा। इस सबके लिए जो नये प्रतिमान निर्मित किये गये, उनकी निर्मिति में कविता की आलोचना के प्रतिमानों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

कहानी की नयी आलोचना के साथ ही उपन्यास की नयी आलोचना भी सामने आयी। कहानी की आलोचना में कहानीकारों ने जितना योगदान किया, उतना उपन्यास की आलोचना में उपन्यासकारों ने नहीं। उपन्यासकारों में से केवल राजेन्द्र यादव ने उपन्यासों पर गंभीरतापूर्वक लिखा है और पुस्तक-रूप में वर्तमान कालावधि में उन्हीं की पुस्तक 'अठारह उपन्यास' (1981) प्रकाशित हुई है। उनकी इस पुस्तक से स्पष्ट है कि वे हिंदी में लिखी गयी उपन्यासों की आलोचना से असंतुष्ट हैं। यह अस्वाभाविक नहीं है। वैसे, उन्होंने अपनी इस पुस्तक में हिंदी-उपन्यास-आलोचना की जिन कमज़ोरियों और कमियों को गिनाया है, उन सबके उदाहरण उनकी इस पुस्तक में सहज सुलभ हैं। उन्होंने इस पुस्तक की भूमिका 'औज़ारों की तलाश' में जिन लोगों की 'गहरी अंतर्दृष्टि और संवेदना से लिखी गयी समीक्षाओं' का उल्लेख किया है, वह भी उनकी निजी पसंद के द्योतक अधिक है। स्पष्टतः हिंदी-उपन्यास की आलोचना में उनका योगदान सीमित ही है।

केवल उपन्यास-आलोचना तक ही अपने को सीमित रखने वाले किसी आलोचक का स्मरण हम करना चाहते हैं, तो डॉ. गोपाल राय याद आते हैं। यदि उनके द्वारा संपादित और 'हिंदी भाषा का विकास' पुस्तक को छोड़ दें, तो अब तक प्रकाशित उनकी सभी पुस्तकों का संबंध उपन्यास आलोचना से ही है। 'हिंदी-कथा-साहित्य : उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(1965), 'गोदान : अध्ययन की समस्याएं' (1966), 'हिंदी-उपन्यास कोश' (भाग-I, 1968, भाग-II, 1969), 'उपन्यास का शिल्प' (1973), 'अज्ञेय और उनके उपन्यास' (1975), 'हिंदी-उपन्यास का इतिहास' (2002), 'उपन्यास की संरचना' (2006) तथा 'उपन्यास की पहचान' शृंखला के अंतर्गत 'शेखर : एक जीवनी' (1975), 'गोदान : नया परिप्रेक्ष्य' (1982), 'रंगभूमि : पुनर्मूल्यांकन' (1983), 'मैला आंचल' (2000), 'दिव्या' (2001), 'महाभोज' (2002) अब तक की उनकी उपन्यास-आलोचना से संबंधित प्रकाशित पुस्तकें हैं। हिंदी में शायद ही कोई दूसरा आलोचक होगा, जिसने उपन्यास-आलोचना पर इतनी पुस्तकें प्रकाशित की हों। इनके अतिरिक्त उपन्यास-आलोचना-संबंधी उनकी लिखी बहुत-सी महत्त्वपूर्ण सामग्री पत्रिकाओं की फाइलों में पड़ी है। उनकी उपन्यास-आलोचना की दो चीज़ें हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करती हैं—एक, उपन्यास की वस्तु का विवेचन करते समय उदार मार्क्सवादी दृष्टि से उसका मूल्यांकन; और दो, उपन्यास के शिल्प के विवेचन में 'दृष्टि-बिंदु' (प्वाइंट ऑफ व्यू) को महत्त्व देना। वे उपन्यासों का विवेचन व विश्लेषण बड़ी निर्ममता के साथ करते हैं और बड़ी निर्ममता के साथ ही उनका मूल्यांकन करते हैं। किसी के साथ कोई रियायत नहीं करते और न ही किसी की सहमति-असहमति की चिंता करते हैं।

गोपाल राय जैसी ही गंभीरता और निष्ठा से उपन्यास-आलोचना मधुरेश ने लिखी है। उनकी लिखी अधिकांश आलोचनाएं पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों में बंद हैं। पुस्तक रूप में वे इधर ही प्रकाशित हुई हैं : 'संप्रति' (1983), 'राहुल का कथाकर्म' (1996), 'हिंदी उपन्यास का विकास' (1988), 'अमृतलाल नागर : व्यक्तित्व और रचना-संसार' (2002), 'दिव्या का महत्त्व' (2000), 'हिंदी उपन्यास : सार्थक की पहचान' (2002) आदि उनकी कुछ पुस्तकें हैं, जो पूर्णतः या अंशतः उपन्यास-आलोचना से संबद्ध हैं। विचारधारा की दृष्टि से उनका झुकाव भी वामपंथ की ओर है। इसके साथ ही उनकी व्यक्तिगत रुचि-अरुचि ने भी उनकी आलोचना को प्रभावित किया है, लेकिन आंशिक रूप में ही। अधिकांशतः तो वे यथार्थवादी और वस्तुपरक दृष्टि से ही विवेचन-विश्लेषण करके अपने निष्कर्षों पर पहुंचते हैं। गोपाल राय की तरह चंद्रकांत बांदिबडेकर ने भी शोधकार्य उपन्यास पर ही किया है, 'हिंदी और मराठी के सामाजिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन' (1969)। बाद में उनकी 'उपन्यास : स्थिति और गति' (1978), 'जैनेन्द्र के उपन्यास : मर्म की तलाश' (1984), 'आधुनिक हिंदी-उपन्यास : सृजन और आलोचना' (1985), 'महाकाव्यीय प्रतिभा के धनी प्रेमचंद' (2003) आदि पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इन पुस्तकों ने उन्हें विशिष्ट उपन्यास-आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित किया। वे अपनी उपन्यास-आलोचना में 'अनुभव-विश्व' को केंद्र में रख कर उपन्यास के लक्ष्य या उद्देश्य, उपन्यास के लक्ष्य को प्राणवान बनाने वाले मांसल तत्त्व—अनुभव-विश्व और अनुभव विश्व की लक्ष्योन्मुख संरचना का विवेचन करते हैं। किसी विशेष विचारधारा के प्रति उनका कोई आग्रह नहीं है। नेमिचंद्र जैन ने 'अधूरे साक्षात्कार' (1966) से उपन्यास-आलोचना के नये प्रतिमान गढ़े, किंतु बाद में वे उपन्यास-आलोचना से विरत हो कर नाट्यालोचना में मग्न हो गये। वर्तमान कालावधि में उपन्यास की आलोचना में विवेकी राय ('हिंदी-उपन्यास : उत्तरशती की उपलब्धियां' : 1983, 'आधुनिक उपन्यास : विविध आयाम' : 1990), ज्ञानचंद्र जैन ('प्रेमचंद-पूर्व के हिंदी-उपन्यास' : 1998), शशिभूषण सिंहल (भारतीय स्वतंत्रता और हिंदी-उपन्यास, 2000), कमलकिशोर गोयनका (रंगभूमि : नये आयाम : 1981) आदि का भी योगदान स्वीकार किया जायेगा। उपन्यास-आलोचना की कुछ महत्त्वपूर्ण संपादित पुस्तकें भी इस बीच प्रकाशित हुई हैं—जैसे, 'हिंदी उपन्यास : 1950 के बाद' (1987, सं.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

डॉ. निर्मला जैन, डॉ. नित्यानंद तिवारी), 'हिंदी उपन्यास के सौ वर्ष' (1984; सं. डॉ. रामदरश मिश्र) इत्यादि।

इस कालावधि की नाट्यालोचना को बहुत समृद्ध नहीं कहा जा सकता। गिने-चुने कुछ ही आलोचक हैं, जो नाट्यालोचना के प्रति समर्पित हैं। इनमें सर्वोपरि तो नेमिचंद्र जैन हैं। उन्होंने जनवरी, 1965 में 'नटरंग' को निकाल कर नाट्यरचना और नाट्यालोचना को नयी दिशा और गति प्रदान की। 1967 में प्रकाशित होने वाली उनकी पुस्तक 'रंगदर्शन' ने उन्हें नाट्यालोचक के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। अधिकांश सामग्री 'नटरंग' से ले कर 1978 में उनके संपादन में निकलने वाली पुस्तक 'आधुनिक हिंदी-नाटक और रंगमंच' ने स्पष्ट कर दिया कि हिंदी में नाट्यालोचना का चरित्र बदल गया है। 'जनांतिक' (1981), 'तीसरा पाठ' (1988) और 'भारतीय नाट्यपरंपरा' (1989) से उनके नये नाट्य-चिंतन की पुष्टि हुई। उन्होंने नाट्यालोचना में नाटक की शास्त्रीय आलोचना की अपेक्षा उसके प्रदर्शित रूप को अधिक महत्त्व दिया। उन्होंने नाट्यालेख का विवेचन-मूल्यांकन रंगकर्म के संदर्भ में किया। आगे चल कर अन्य नाट्यालोचकों ने भी इसी मार्ग पर चलने में सार्थकता का अनुभव किया।

नेमिचंद्र जैन ने तो नाटक के अतिरिक्त अन्य विधाओं की आलोचना भी लिखी है, लेकिन सिद्धनाथ कुमार, गिरीश रस्तोगी, सत्येंद्र तनेजा, जयदेव तनेजा, नरनारायण राय आदि कुछ ऐसे आलोचक हैं जिनका ओढ़ना-बिछाना केवल नाटक और रंगमंच रहा है और वे नाट्यालोचना में नेमिचंद्र जैन के रास्ते पर ही चले हैं। सिद्धनाथ कुमार की पहली पुस्तक 'प्रसाद के नाटक' 1978 मे प्रकाशित हुई थी। उसके बाद 'हिंदी-पद्यनाटक : सिद्धांत और इतिहास' (1979), 'आधे-अधूरे : संवेदना और शिल्प' (1987), 'अंधेर नगरी : संवेदना और शिल्प' (1993), 'चंद्रगुप्त : संवेदना और शिल्प' (1997), 'स्कंदगुप्त : संवेदना और शिल्प' (2001), 'नाट्यालोचना के सिद्धांत' (2004) आदि कई आलोचना-पुस्तकें प्रकाशित हुईं। उन्होंने अपनी आलोचना में नाट्यालेख और रंगप्रदर्शन दोनों को समान महत्त्व दिया। उनकी नाट्यालोचना को उनकी अध्यापनवृत्ति ने भी प्रभावित किया है। गिरीश रस्तोगी रंगकर्मी भी रही हैं और नाट्यालोचक भी। अपने रंगकर्म के अनुभवों का उपयोग उन्होंने अपनी नाट्यालोचना में भी किया है, यह बात उनकी 'मोहन राकेश और उनके नाटक', 'समकालीन हिंदी-नाटक की संघर्ष-चेतना' (1990), 'बीसवीं सदी में हिंदी-नाटक और रंगमंच' (2005) आदि पुस्तकों से स्पष्ट है। रंगदृष्टि के परिप्रेक्ष्य में नाटकों पर विचार करते समय उन्होंने नाट्यभाषा को विशेष रूप से रेखांकित किया है। सत्येंद्र तनेजा ('नाटककार भारतेंदु की रंगपरिकल्पना', 'प्रसाद का नाट्यकर्म' : 1988, 'नाटककार जयशंकर प्रसाद' संपादित : 1997, आदि और जयदेव तनेजा ('हिंदी रंगांदोलन में राकेश के नाटकों का योगदान' आदि) नाटकों के मंचन में नियमित रूप से उपस्थित रहने वाले व्यक्ति हैं। इसने उनकी नाट्यालोचना को प्रभावित किया है। नरनारायण राय ने एक दर्जन से अधिक नाट्यालोचना संबंधी पुस्तकें प्रकाशित की हैं। उन्होंने पांच वर्षों तक (1974 से 1978 तक) 'हिंदी-नाटक और नाट्यसमीक्षा' की वार्षिक संपादित की। उनकी अंतिम पुस्तक 'नया नाटक : उद्भव और विकास' (2001) उनके दिवंगत (जुलाई, 2000) होने के बाद प्रकाशित हुई, जिसमें उन्होंने 'नये नाटक' की सैद्धांतिकी और उसकी विकास परंपरा प्रस्तुत की है। नाट्यालोचना में वे भी कमोवेश उसी रास्ते पर चले हैं, जिसकी दागवेल बीसवीं शताब्दी के छठे-सातवें दशक में पड़ी। इसी रास्ते पर चल कर मुद्राराक्षस, सुरेश अवस्थी, इंदुजा अवस्थी, गोविन्द चातक, देवेन्द्र राज अंकुर, वीरेन्द्र नारायण, विष्णुकांत शास्त्री, नरेन्द्र मोहन इत्यादि ने भी हिंदी-नाट्यालोचना में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समकालीन हिंदी-नाट्यालोचना में आलेख की तुलना में रंगमंच और नाटक के प्रदर्शन; रचनाकार की तुलना में रंगकर्मी को अत्यधिक महत्त्व दिये जाने का लाभ तो यह हुआ कि नाटककार नाटक लिखते समय रंगमंच को बराबर ध्यान में रखने लगे; लेकिन हानि यह हुई कि हिंदी में मौलिक नाटकों की रचना बहुत कम हो गयी। जो नाटक लिखे भी गये, उन्हें रंगकर्मियों ने मंचित नहीं किया। रंगकर्मी या तो पहले से ही रंगमंच पर सफल होने वाले नाटकों पर निर्भर रहने लगे या अनूदित नाटकों पर। इस स्थिति को स्पृहणीय नहीं कहा जा सकता।

विगत पचीस वर्षों की हिंदी-आलोचना की इस गतिविधि से स्पष्ट है कि इस कालावधि में पुरानी दो-तीन पीढ़ियों के आलोचक ही छाए रहे हैं। आलोचकों की कोई ऐसी नयी पीढ़ी उभर कर सामने नहीं आयी है, जिसने अपना वर्चस्व स्थापित किया हो।

## गद्य-साहित्य की अन्य विधाएं-I

छायावादोत्तर काल में जीवनी, आत्मकथा, यात्रावृत्त, संस्मरण, रेखाचित्र, गद्यकाव्य, रिपोर्ताज, इंटरव्यू, पत्र-लेखन, अभिनंदनग्रंथ, स्मृतिग्रंथ प्रभृति गौण समझी जाने वाली साहित्य-विधाओं का अभूतपूर्व विकास हुआ। रिपोर्ताज तथा इंटरव्यू-लेखन तो इसी युग की देन है। अन्य विधाओं में भी कथ्य की विविधता और शैलीगत नूतन प्रयोगों की दिशा में इस युग के साहित्यकार में जो जागरूकता लक्षित होती है, वह पूर्ववर्ती लेखकों में नहीं मिलती। कारण स्पष्ट है, जहां अब तक के लेखकों ने विधा-प्रवर्तन के दायित्व-निर्वाह से संतोष का अनुभव किया, वहीं छायावादोत्तर काल में इन विधाओं को परिपुष्ट करना भी आवश्यक था और इसके लिए कथ्य और शिल्प दोनों क्षेत्रों में नवीन संभावनाओं की खोज अपेक्षित होती है।

### जीवनी-साहित्य

आलोच्य युग में जीवनी-साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ। लोकप्रिय नेताओं, संत-महात्माओं, साहित्यकारों, विदेशी महापुरुषों, वैज्ञानिकों, खिलाड़ियों, उद्योगपतियों आदि से संबंधित जीवनियां प्रचुर परिमाण में लिखी गयीं। महात्मा गांधी इस युग के सर्वाधिक लोकप्रिय नेता थे, फलतः उनसे संबंधित जीवनियां सर्वाधिक संख्या में उपलब्ध होती हैं। घनश्यामदास बिड़ला, काका कालेलकर, सुमंगल प्रकाश, सुशीला नायर, डॉ. राजेंद्रप्रसाद तथा जैनेंद्र कुमार द्वारा क्रमशः लिखित 'बापू' (1940), 'बापू की झांकियां' (1948), 'बापू के क़दमों में' (1950) और 'अकाल पुरुष गांधी' (1968) इस दिशा में उल्लेखनीय कृतियां हैं। महात्मा गांधी विषयक जीवनियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति रोमां रोलां की है। हिंदी में उसका अनुवाद तीन भागों में 'महात्मा गांधी : विश्व के अद्वितीय पुरुष' (1947) शीर्षक से हुआ। महात्मा गांधी के अतिरिक्त भगतसिंह, सुभाषचंद्र बोस तथा जवाहरलाल नेहरू से संबंधित जीवनियां लिखने की ओर भी लेखकों की पर्याप्त अभिरुचि रही। भगतसिंह पर लिखी गयी जीवनियों में पहली महत्त्वपूर्ण कृति रतनलाल बंसल-विरचित 'सरदार भगतसिंह' (1949) है। इस कृति में भगतसिंह के बलिदान का मूल्यांकन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किया गया है। भगतसिंह पर लिखे गये अन्य जीवनी-ग्रंथों में वीरेंद्र सिंधु की शोधपूर्ण कृति 'युगद्रष्टा भगतसिंह और उनके मृत्युंजय पुरखे' (1968) तथा मन्मथनाथ गुप्त-विरचित 'क्रांतिदूत भगतसिंह और उनका युग' (1972) अलग-अलग दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। वीरेंद्र सिंधु ने भगतसिंह के बहुआयामी व्यक्तित्व का आकलन ऐतिहासिक तथ्यों के आलोक में किया है। इस कृति से भगतसिंह के क्रांतिकारी रूप के अतिरिक्त उनके विनोदी, उदार, सहृदय व्यक्तित्व तथा लेखक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

एवं पत्रकार का रूप भी उभर कर आता है। मन्मथनाथ गुप्त ने भगतसिंह के महत्त्व का मूल्यांकन समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता तथा निरीश्वरवाद के परिप्रेक्ष्य में किया है। उनकी इस कृति से भारतीय क्रांतिकारी-आंदोलन का इतिहास भी मुखर हो उठा है। सुभाषचंद्र बोस पर लिखे गए जीवनी-ग्रंथों में हरिकृष्ण त्रिवेदी, छविनाथ पांडेय, गिरीशचंद्र जोशी द्वारा क्रमशः रचित 'सुभाषचंद्र बोस' (1941), 'नेता जी सुभाष' (1946), 'नेताजी सुभाषचंद्र बोस' (1946) उल्लेखनीय हैं। इन कृतियों के माध्यम से सुभाषचंद्र बोस के निजी जीवन के साथ-साथ उनके नेतृत्व संबंधी गुणों का भी पता चलता है। मातासेवक पाठक, लक्ष्मणप्रसाद भारद्वाज, देवीप्रसाद धवन तथा अरुण ने क्रमशः 'राष्ट्रनायक जवाहरलाल नेहरू' (1948), 'हमारे जवाहरलाल नेहरू' (1948), 'पंडित नेहरू' (1948) और 'हमारा जवाहर' (1950) कृतियां लिख कर जवाहरलाल नेहरू के जीवन के विविध आयाम प्रस्तुत किये। चंद्रशेखर आज़ाद के क्रांतिकारी जीवन को आधार बना कर रतनलाल बंसल ने 'अमर शहीद चंद्रशेखर आज़ाद' (1946) तथा विश्वनाथ वैशंपायन ने 'चंद्रशेखर आज़ाद' (1965) नामक कृतियों की रचना की। वैशंपायन कई वर्षों तक अपने इस चरितनायक के साथ रहे थे और उनके निजी सचिव होने के साथ-साथ उनके अंतरंग मित्र भी थे। परिणामतः उनके द्वारा लिखित जीवनचरित में आज़ाद के संयमित, अनुशासित, ध्येयनिष्ठ व्यक्तित्व के साथ-साथ उनके विलक्षण संगठन-कौशल का रूप भी उभर कर आया है। राजनीति से जुड़ी जिन अन्य अनेक विभूतियों के जीवनचरित इस युग में प्रकाशित हुए, उनमें रामनाथ सुमन, चंद्रगुप्त वेदालंकर, जगदीश झा विकल, रामवृक्ष बेनीपुरी, वाल्मीकि चौधरी, बलराज मधोक, ओंकार शरद, शंभुप्रसाद शाह, वियोगी हरि, प्रो. धर्मवीर, लक्ष्मीनारायण लाल, हंसराज रहबर तथा चंद्रशेखर द्वारा क्रमशः रचित 'मोतीलाल नेहरू' (1939), 'स्वातंत्र्य वीर', 'मौलाना अबुल कलाम आज़ाद' (1940), 'सरदार वल्लभभाई पटेल' (1948), 'राजेंद्र बाबू का व्यक्तित्व' (1958), 'श्यामाप्रसाद मुकर्जी' (1958), 'लोहिया' (1971), 'गोविंदवल्लभ पंत : एक जीवनी' (1972), 'ठक्कर बापा', 'लाला हरदयाल' (1970), 'जयप्रकाश नारायण' (1975), 'योद्धा संन्यासी विवेकानंद' (1979) तथा 'जीवनयात्रा : राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह का जीवनचरित' (1987) उल्लेखनीय हैं।

भारतीय जनजीवन में संत-महात्मा सदा से पूज्य रहे हैं। उनका उज्ज्वल चरित्र तथा अमूल्य उपदेश इस देश के लोगों में नये जीवन का संचार करता रहा है। अतएव, यह स्वाभाविक ही है कि विभिन्न लेखकों ने महात्मा बुद्ध, हजरत मुहम्मद, शंकराचार्य आदि के जीवन को आधार बना कर अपनी कृतियों की रचना की। इस दृष्टि से भदंत आनंद कौशल्यायन, सुंदरलाल, भवानीदयाल संन्यासी, दीनदयाल उपाध्याय, बलदेव उपाध्याय, पंडित ललिताप्रसाद, ब्रह्मचारी शिवानंद आंजनेय तथा अमृतलाल नागर का नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने क्रमशः 'भगवान बुद्ध' (1940), 'हजरत मुहम्मद' (1940), 'स्वामी शंकरानंद' (1942), 'जगद्गुरु शंकराचार्य' (1947), 'श्री शंकराचार्य' (1950), 'श्री हरिबाबा' (1957), 'हमारे श्री महाराज जी' (1970) तथा 'चैतन्य महाप्रभु' नाम्नी कृतियों की रचना की। इनमें बलदेव उपाध्याय विरचित जीवनी में जहां शंकराचार्य के जीवनचरित, विचारधारा तथा व्यक्तित्व का प्रामाणिक एवं प्रभावी निरूपण है, वहीं दीनदयाल उपाध्याय ने शंकराचार्य में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के लिए उपयुक्त प्रेरक व्यक्तित्व के दर्शन किये हैं। 'श्री हरिबाबा' को आधुनिक युग का चैतन्यदेव माना जाता है। पंडित ललिताप्रसाद कई दशाब्दियों तक उनके साथ रहे थे। अतएव, लेखक को चरितनायक के आंतरिक व्यक्तित्व की प्रामाणिक झांकी प्रस्तुत करने में अनायास सफलता मिल गयी है। वह उनके रूप, शील, विद्या, तप तथा भगवत् प्रेम का प्रभावी प्रत्यंकन करने में समर्थ हो सका है। 'हमारे श्री महाराज' में आधुनिक भारत के आध्यात्मिक जगत

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के जाज्वल्यमान नक्षत्र उड़िया बाबा के अहंकारशून्य जीवन का चित्रण है। यह कृति पाठक को चरित-नायक की उस अंतर्भूमि से परिचित कराती है, जो देशसेवा, तप तथा अखंड ब्रह्मरस में निमज्जित थी। अमृतलाल नागर-विरचित 'चैतन्य महाप्रभु' एक अत्यंत साधारण कृति बन कर रह गयी है। इस कृति के अध्ययन से पाठक के मन पर न तो चैतन्य महाप्रभु के व्यक्तित्व का ही कोई प्रभावी चित्र निर्मित होता है और न तद्युगीन सांस्कृतिक परिवेश ही उजागर हो पाया है। इस वर्ग की रचनाओं का अनुशीलन समाप्त करने से पूर्व रंगनाथ रामचंद्र दिवाकर-कृत 'महायोगी' (1955) तथा शिवप्रसाद सिंह-विरचित 'उत्तरयोगी' (1972) पर विचार कर लेना भी आवश्यक प्रतीत होता है। दोनों ही रचनाओं में श्री अरविंद के जीवन को आधार बना कर उनके बहुआयामी व्यक्तित्व का समग्र विश्लेषण किया गया है। दिवाकर का लक्ष्य जहां श्री अरविंद के व्यक्तित्व, कृतित्व तथा उपदेशों का रोचक शैली में निरूपण करना रहा है, वहीं शिवप्रसाद सिंह ने श्री अरविंद के कवि, पत्रकार, शिक्षाशास्त्री व क्रांतिकारी आदि उन विविध रूपों को भी उकेरा है, जो चरित-नायक के अध्यात्म-द्रष्टा रूप को पूर्णता प्रदान करते हैं।

आलोच्य युग में भारतीय इतिहास से संबद्ध महापुरुषों की जीवनियां लिखने की भी प्रवृत्ति लक्षित होती है। इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि शिवाजी के जीवन को आधार बना कर सर्वाधिक जीवनियां लिखी गयीं। इनमें भी लाला लाजपतराय-विरचित 'छत्रपति शिवाजी' (1939) तथा भीमसेन विद्यालंकार-विरचित 'शिवाजी' (1951) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। लाला लाजपतराय ने जहां शिवाजी का मूल्यांकन राष्ट्रीयता के संदर्भ में किया है, वहीं भीमसेन विद्यालंकार ने इतिहास की सीमारेखाओं में रहते हुए शिवाजी के जीवन का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। शिवाजी के जीवन पर दो महत्त्वपूर्ण कृतियां यदुनाथ सरकार तथा डेविड किन्केड की हैं। दोनों ही कृतियां हिंदी में अनूदित हैं। यदुनाथ सरकार की रचना ऐतिहासिक जीवनी का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण मानी जाती है। उसमें तथ्यों की प्रामाणिकता के साथ-साथ कलात्मकता भी देखने को मिलती है। 'विद्रोह का महावीर' (1962) शीर्षक से अनूदित डेविड किन्केड-विरचित जीवनी में तथ्यात्मकता तथा औपन्यासिकता का कलात्मक सम्मिश्रण है। यह कृति यूरोपीय पाठकों के लिए लिखी गयी थी, परिणामतः इसमें शिवाजी के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को हृदयंगम कराने के लिए यूरोप के शासकों और उनके क्रियाकलापों से सटीक उपमाएं दी गयी हैं। इस प्रकार प्रस्तुत कृति यह मानदंड भी प्रस्तुत करती है कि विदेशी पाठकों के लिए जीवनियां लिखते समय किस शैली का आश्रय लेना चाहिए। इस युग में जो अन्य जीवनी-ग्रंथ लिखे गये, उनमें श्रीनिवास बाला जी हर्डीकर-विरचित 'नाना फड़नवीस' (1970), 'नाना साहब पेशवा', 'रानी लक्ष्मीबाई' तथा 'तात्या टोपे' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये जीवनी-ग्रंथ चरितनायक के तेजस्वी रूप को उभारने के लिए तत्कालीन मूलभूत सामग्री को आधार बना कर लिखे गये हैं। परिणामतः इनमें प्रतिपादित तथ्यों की प्रामाणिकता पर अंगुली नहीं उठायी जा सकती। पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इनमें तथ्यों का शुष्क संकलन-भर है। वस्तुतः इन कृतियों की संरचनात्मक बुनावट तथा ओजस्वी शैली पाठकों को साहित्यिक कृतियों के अध्ययन का आनंद देती है। सीताराम कोहल-विरचित, 'रंजीत सिंह' (1931), द्वारकाप्रसाद शर्मा-कृत 'भीष्म पितामह' (1940), जीवनलाल प्रेम-प्रणीत 'गुरु गोविंद सिंह' (1945), चंद्रबली त्रिपाठी-कृत 'धर्मराज युधिष्ठिर' (1951) इस वर्ग की अन्य उल्लेखनीय रचनाएं हैं।

इस कालखंड में विदेशी महापुरुषों की जीवनगाथा को आधार बना कर भी अनेक कृतियां लिखी गयीं। इस दृष्टि से राहुल सांकत्यायन तथा रामवृक्ष बेनीपुरी के नाम उल्लेखनीय हैं। राहुल

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सांकृत्यायन ने 'स्तालिन' (1953), 'कार्ल मार्क्स' (1954) 'लेनिन' (1954) तथा 'माओ चे तुंग' (1956) नामक ग्रंथों की रचना की। इतिहासकार की सी तटस्थ शैली में लिखी गयी इन जीवनियों में चरितनायकों के चिंतन-पक्ष को उजागर करने की विशेष प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। रामवृक्ष बेनीपुरी-विरचित प्रमुख जीवनियां हैं : 'रोजा लुक्जेम्बुर्ग' (1946) तथा 'कार्लमार्क्स' (1951)। बेनीपुरी की विशेषता ऐतिहासिक तथ्यों को जीवंत शैली में प्रस्तुत करना है। परिणामत: वे सहज रूप से सरस और प्रेरक बन पड़ी हैं। बनारसीदास चतुर्वेदी-विरचित 'अराजकतावादी लुई माइकेल' (1939), रामइक़बाल सिंह-कृत 'स्टालिन' (1939), लक्ष्मणप्रसाद भारद्वाज-विरचित 'इटली का तानाशाह मुसोलिनी' (1940), अनंतप्रसाद विद्यार्थी द्वारा-लिखित 'मि. चर्चिल' (1942) तथा रामनारायण यादवेंदु-कृत 'हिटलर' (1950) इस कालखंड की अन्य उल्लेखनीय कृतियां हैं।

जीवनी-लेखन के क्षेत्र में इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण देन साहित्यकारों के जीवनचरित्र हैं। कथासम्राट मुंशी प्रेमचंद के जीवन को आधार बना कर सबसे अधिक जीवनियां लिखी गयीं। प्रेमचंद की पत्नी शिवरानी प्रेमचंद ने 'प्रेमचंद घर में' (1956) में अट्ठासी उपशीर्षकों के अंतर्गत प्रेमचंद के बचपन से ले कर अंतिम दिन तक के संघर्षमय जीवन को पूरी ईमानदारी एवं सच्चाई के साथ प्रस्तुत किया है। ध्यातव्य है कि लेखिका ने उन प्रसंगों को भी छिपाया नहीं है, जिनसे प्रेमचंद के जीवन की कोई दुर्बलता व्यक्त होती है। इसके साथ ही उन्होंने पति से मतभेद के बिंदुओं तथा विवाद के क्षणों को भी बिना किसी हिचक के व्यक्त कर दिया है। लेकिन ठीक यही बात प्रेमचंद के पुत्र अमृतराय (1921-1996) द्वारा लिखी गयी प्रेमचंद की जीवनी 'क़लम का सिपाही' (1968) के बारे में नहीं कही जा सकती। इसके कई कारण हैं—एक तो यह कि लेखक ने अपनी कृति का ताना-बाना बुनने समय उनकी कृतियों तथा संस्मरणों का काफ़ी आश्रय लिया है। फिर वह अपनी सौतेली मां तथा प्रेमचंद विरोधी समकालीन आलोचकों से संबद्ध प्रकरणों में तटस्थ नहीं रह पाया है। सामग्री-संकलन के लिए जिस परिश्रम की अपेक्षा थी, उसकी कमी भी यथास्थान खटकती है। इन सीमाओं के रहते हुए भी यह कृति हिंदी-जीवनी-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। यह इसलिए कि इस कृति के विविध आयाम चित्रवत् साकार हो उठते हैं। प्रेमचंद के जीवन पर एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति मदनगोपाल-कृत 'क़लम का मज़दूर' (1965) है, जिसमें लेखक ने चरितनायक के संघर्षमय जीवन की तेजोदृप्त छवि अंकित की है। सामग्री संकलन की दृष्टि से यह कृति 'क़लम का सिपाही' की तुलना में अधिक प्रामाणिक है, यद्यपि इसकी रचना एवं प्रकाशन 'क़लम का सिपाही' से पहले का है। प्रेमचंद के जीवन से संबद्ध सभी प्रकार की सामग्री की निष्ठापूर्वक खोज और तदनंतर तटस्थतापूर्वक जीवनी-लेखन के कार्य का श्रेय कमलकिशोर गोयनका को हैं, जिन्होंने 'प्रेमचंद विश्वकोश, भाग 1' (1981) शीर्षक से कालक्रमानुसार प्रेमचंद का प्रामाणिक जीवनवृत्त प्रस्तुत किया है। इस कृति में प्रेमचंद विषयक समस्त विवरण सन्, मास तथा तिथि-क्रम से दिया गया है। लेकिन 'क़लम का सिपाही' जहां एक सर्जनात्मक उपलब्धि है, वहीं इस कृति में इस गुण का सर्वथा अभाव है। प्रेमचंद के अतिरिक्त सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ही ऐसे साहित्यकार हैं, जिनके जीवन पर एकाधिक कृतियां प्राप्त होती हैं। इनमें गंगाप्रसाद पांडेय द्वारा लिखित 'महाप्राण निराला' तथा रामविलास शर्मा (1912-2000) विरचित 'निराला की साहित्य-साधना' (प्रथम भाग, 1969) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दोनों ही लेखकों का चरितनायक के साथ घनिष्ठ संबंध रहा है। परिणामत: दोनों में संस्मरणात्मक अंश अनायास गुंथ गये हैं। लेकिन गंगाप्रसाद पांडेय की तुलना में रामविलास शर्मा ने तथ्यों तथा घटनाओं की खोज एवं छानबीन में कहीं अधिक श्रम किया है; अनेक किंवदंतियों तथा भ्रांतियों का निराकरण किया है। परिणामत: यह

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जीवनी निराला की उस आस्था को रूपायित करने में समर्थ रही है, जिसके लिए वह संघर्षरत रहे, जिये तथा मरे। निराला के समान प्रसिद्ध रूसी साहित्यकार अलेक्सेई मैक्सिमोविच पेश्कोव—जो अपने मूल नाम की अपेक्षा उपनाम गोर्की से अधिक पहचाने जाते हैं, के भी दो जीवनचरित लिखे गये। एक जीवनचरित बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'नीलकंठ गोर्की' शीर्षक से लिखा और दूसरा ओंकार शरद ने 'गोर्की' शीर्षक से प्रस्तुत किया। ओंकार शरद की रचना अपेक्षाकृत अधिक व्यापक आयाम लिये हैं। रचनाशिल्प की दृष्टि से वह तथ्यों के नीरस ढेर से बच पायी है तथा एक पठनीय कृति बन पड़ी है। लेकिन जीवनी के जिस सर्जनात्मक स्थापत्य के दर्शन अमृतराय तथा रामविलास शर्मा-प्रणीत कृतियों में होते हैं, उसका इसमें अभाव है। इस दृष्टि से तो आचार्य चंद्रशेखर शुक्ल-कृत 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल : जीवन और कृतित्व' (1963), शांति जोशी द्वारा लिखित 'सुमित्रानंदन पंत : जीवन और साहित्य' (1970), विष्णु प्रभाकर-विरचित 'आवारा मसीहा' (1974), विष्णुचंद्र शर्मा-विरचित 'अग्नि सेतु' (1976) तथा रामकमल राय-कृत 'शिखर से सागर तक' (1986) ही उल्लेखनीय कृतियां हैं। चंद्रशेखर शुक्ल रामचंद्र शुक्ल के भतीजे थे तथा काफ़ी समय तक उनके साथ रहे थे। परिणामत: उन्हें आचार्य शुक्ल के जीवन को निकट से देखने तथा उनकी अंत:प्रकृति को समझने का पर्याप्त अवसर मिला था। यही कारण है कि यह कृति आचार्य शुक्ल के निजी जीवन तथा रचनाप्रक्रिया के अनेक अछूते संदर्भों को उजागर करने में समर्थ हो सकी है। शांति जोशी-विरचित 'सुमित्रानंदन पंत : जीवन और साहित्य' में पंत के जीवन तथा काव्य-विकास के सन् 1900 से 1940 तक के कालखंड को समेटा गया है। चरितनायक की बहन होने के नाते लेखिका को पंत के जीवन के ऐसे अनेक प्रकरण उभारने का सुभीता रहा है, जिससे कवि के साहित्य तथा जीवन के पारस्परिक संबंधसूत्र स्थापित किये जा सकते हैं। यह कृति सुमित्रानंदन पंत के पारिवारिक, आंचलिक तथा आर्थिक परिवेश को भी प्रभावी रूप में उजागर करती है। बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार शरतचंद्र चट्टोपाध्याय के जीवन को रूपायित करने वाली विष्णु प्रभाकर की कालजयी कृति 'आवारा मसीहा' अद्यावधि प्रकाशित हिंदी जीवनी-साहित्य की अन्यतम उपलब्धि है। ध्यातव्य है कि विष्णु प्रभाकर न तो अमृतराय, चंद्रशेखर शुक्ल एवं शांति जोशी के समान चरितनायक के संबंधी हैं और न रामविलास शर्मा की तरह चरितनायक के निकट संपर्क में ही रहे हैं। फिर शरत के जीवन पर बंगला में भी कोई ऐसा उत्कृष्ट जीवनी-ग्रंथ नहीं है, जिसे आधार बना कर लेखक ने इस कृति की रचना कर डाली हो। वस्तुत: यह तो अबंगलाभाषी हिंदी-लेखक द्वारा चरितनायक के बिहार से बर्मा तक फैले परिचितों से व्यक्तिगत संपर्क स्थापित करते हुए सच्चाई को जानने तथा तथ्यों के संकलन के बाद पूरी आस्था के साथ लिखी गयी ऐसी कृति है, जो एक चुनौतीभरा जोख़िम का काम था। विष्णु प्रभाकर ने इस चुनौती को स्वीकार करके शरत् का एक ऐसा प्रामाणिक जीवनवृत्त प्रस्तुत कर दिया है कि चरितनायक के विषय में फैला किंवदंतियों का कुहासा एकदम साफ़ हो गया है। लेखक की ख़ूबी इस बात में है कि वह चरितनायक के भावलोक तक पहुंचने में पूरी तरह सफल रहा है। 'दिशाहारा', 'दिशा की खोज' तथा 'दिशांत' नामक तीन पर्वों में विभक्त इस कृति में एक अनुपम कलात्मक अन्विति है। विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सामग्री को लेखक ने इस तरह नियोजित किया है कि कहीं किसी तरह का पैबंद लगा हआ प्रतीत नहीं होता। पूरी कृति में नदी का-सा सहज सतत् प्रवाह है। वस्तुत: यह कृति जीवनी के वास्तविक स्थापत्य का व्यावहारिक आदर्श प्रस्तुत करती है। 'अग्निसेतु' बंगला के विप्लवी कवि काजी नज़रुल इस्लाम के जीवन पर हिंदी में लिखी गयी पहली तथा एकमात्र जीवनी है। लेखक ने चरितनायक के जीवन से संबद्ध सामग्री का पर्याप्त श्रमपूर्वक संकलन किया है, किंतु सबसे खटकने वाली बात यह है कि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चरितनायक के पारिवारिक जीवन का अंतरंग पक्ष अछूता रह गया है। 'शिखर से सागर तक' बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय की जीवनी है। इस जीवनी के पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने चरितनायक के जीवन से संबद्ध तथ्यों को खोजने तथा उपलब्ध तथ्यों की जांच-पड़ताल करने का कष्ट नहीं किया है। इतना ही नहीं, चरितनायक ने जो कुछ उसे बता दिया है, उसी को स्वीकार करके उसने अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली है, फिर वह चरितनायक के व्यक्तित्व से पर्याप्त आतंकित भी प्रतीत होता है। परिणामतः यह कृति पाठक को वैसा परितोष नहीं दे पाती, जिसकी अपेक्षा ले कर वह इस कृति का अध्ययन करता है।

विभिन्न क्षेत्रों के प्रमुख व्यक्तियों के जीवन पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखने के साथ-साथ एक ही कृति में अनेक महान आत्माओं के जीवनवृत्त संकलित कर देने की प्रवृत्ति भी इस काल में पर्याप्त बलवती रही। उदाहरणार्थ, श्याम जी पाराशर, रामनाथ 'सुमन', श्यामनारायण कपूर, राहुल सांकृत्यायन, हरिभाऊ उपाध्याय, ब्रह्मवती नारंग, शकुंतला देवी वर्मा, हरिमोहन शर्मा, योगराज थानी, डॉ. सुरेशचंद्र गुप्त, ओमप्रकाश सिंहल आदि ने क्रमशः 'संत-दर्शन' (1939), 'हमारे नेता और निर्माता' (1942), 'भारतीय वैज्ञानिक' (1942), 'नये भारत के नये निर्माता' (1943), 'विश्व की विभूतियां' (1945), 'महान भारतीय' (1949), 'राजस्थानी वीरांगनाएं' (1950), 'भारतीय क्रिकेट के नवरत्न' (1964), 'भारत की महान आत्माएं' (1965), 'भारत के प्रसिद्ध खिलाड़ी' (1969) तथा 'हमारे वैज्ञानिक' (1965) में इसी कोटि के जीवनीपरक निबंधों को स्थान दिया है। इस वर्ग में कितनी ही अन्य मौलिक और संपादित कृतियों का उल्लेख क़िया जा सकता है, किंतु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जीवनी-लेखन में शैली वैविध्य और लालित्य लाने में अमृतराय, रामविलास शर्मा तथा विष्णु प्रभाकर के अतिरिक्त कम लेखकों को ही सफलता प्राप्त हुई है।

इस युग के कुछ लेखकों ने दूसरी भाषाओं में लिखे गये उच्चकोटि के जीवनी-ग्रंथों का अनुवाद करके भी हिंदी-जीवनी-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। इनमें से कुछ का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। अन्य उल्लेखनीय कृतियों में बनारसीदास चतुर्वेदी, रामनाथ 'सुमन', लालबहादुर शास्त्री और रामनारायण चौधरी द्वारा क्रमशः अनूदित 'प्रिंस क्रोपाटकिन' (1939), 'महात्मा काउंट लियो टाल्सटाय' (1943), 'श्रीमती क्यूरी' (1947) और 'सरदार वल्लभभाई' (1951) महत्त्वपूर्ण हैं। जीवनी-साहित्य के संदर्भ में र.वि. धुलेकर, प्रेमनारायण टंडन, डी.आर. टोलीवाल तथा एस.पी. भट्टाचार्य द्वारा संपादित 'मातृभूमि-शब्दकोश', 'हिंदी-साहित्यकार-कोश', 'भारतवर्ष की विभूतियां' तथा 'स्वतंत्रता-संग्राम के सैनिक' का उल्लेख भी आवश्यक है। 'मातृभूमि-शब्दकोश' का प्रकाशन दो जिल्दों में सन् 1939 तथा 1940 में हुआ। इसमें देश के लोकप्रिय व्यक्तियों की संक्षिप्त जीवनियां दी गयी हैं। इसी प्रकार मूलतः 'हिंदी-सेवी-संसार' (1944) शीर्षक से प्रकाशित तथा बाद में 'हिंदी-साहित्यकार-कोश' के रूप में परिवर्द्धित एवं परिमार्जित ग्रंथ में डॉ. प्रेमनारायण टंडन का मुख्य उद्देश्य हिंदी-लेखकों का संक्षिप्त जीवनपरिचय प्रस्तुत करना रहा है। 'भारतवर्ष की विभूतियां' (1954) में राजनीति, शिक्षा आदि वर्गों के अंतर्गत अकारादि क्रम से विभिन्न क्षेत्रों के उल्लेखनीय व्यक्तियों का संक्षप्ति जीवनपरिचय दिया गया है, तो 'स्वतंत्रता-संग्राम के सैनिक' (1965) में भारतीय स्वाधीनता के लिए प्राणों का उत्सर्ग करने वाले सैनिकों का संक्षिप्त परिचय है।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि आलोच्ययुगीन जीवनी-साहित्य विषय तथा परिमाण की दृष्टि से ही संपन्न नहीं हैं, अपितु शैलीगत उपलब्धियों की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## आत्मकथा

जीवन-साहित्य के समान इस युग में आत्मकथा-लेखन की प्रवृत्ति भी पर्याप्त बलवती रही। साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि विभिन्न क्षेत्रों के व्यक्तियों ने अपनी आत्मकथाएं लिख कर इस विधा को समृद्ध किया। आधुनिक काल के पहले तीन कालखंडों की तुलना में इस कालखंड में साहित्यकारों की आत्मकथाएं अधिक संख्या में प्रकाशित हुईं। कवियों, कथाकारों, आलोचकों आदि सभी ने अपनी-अपनी आत्मकथाएं लिखीं। श्यामसुंदर दास, हरिभाऊ उपाध्याय, राहुल सांकृत्यायन, वियोगी हरि, यशपाल, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, शांतिप्रिय द्विवेदी, देवेंद्र सत्यार्थी, चतुरसेन शास्त्री, देवराज उपाध्याय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सेठ गोविंददास पांडेय, बेचन शर्मा 'उग्र', संतराम बी.ए., भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र माधव, हरिवंशराय बच्चन, वृंदावनलाल वर्मा, रामावतार अरुण पोद्दार, कृष्णचंद्र, रामविलास शर्मा, हंसराज रहबर, रामदरश मिश्र आदि कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं, जिनकी आत्मकथाओं का प्रकाशन इसी युग में हुआ। श्यामसुंदर दास ने 'मेरी आत्मकहानी' (1941) में अपने जन्म से ले कर सन् 1940 तक की घटनाओं का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। इस आत्मकथा का अधिकांश भाग नागरी प्रचारिणी सभा के वर्णनों से आपूर्ण है। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि लेखक के अपने जीवनकाल में सभा का तथा उसका अपना जीवन अविच्छिन्न हो गया था। हरिभाऊ उपाध्याय की आत्मकथा 'साधना के पथ पर' (1946) में लेखक ने सन् 1892 से 1945 तक के जीवनानुभवों को लिपिबद्ध किया है। यह कृति अनेक स्थलों पर उपदेशात्मक हो गयी है, लेकिन ऐसा सोद्देश्य हुआ है, क्योंकि लेखक ने भूमिका में यह स्पष्ट कर दिया है कि हो सकता है, ये अनुभव पाठकों के लिए उपयोगी हों। राहुल सांकृत्यायन की आत्मकथा पांच खंडों में 'मेरी जीवन-यात्रा' शीर्षक से प्रकाशित हुई। इनमें से पहले दो खंड उनके जीवनकाल में क्रमशः 1946 तथा 1947 में प्रकाशित हुए तथा शेष तीन खंडों का प्रकाशन उनकी मृत्यु के बाद सन् 1967 में हुआ था। इन विभिन्न खंडों में राहुल के जीवन के 63 वर्षों का प्रमाणिक ब्यौरा प्राप्त होता है। मुहावरेदार भाषा में लिखी गयी इस कृति में उनकी यायावरी, विद्याव्यसनी एवं विद्रोही वृत्ति साकार हो उठी है। वियोगी हरि न केवल लोकप्रिय साहित्यकार हैं, अपितु महात्मा गांधी के सिद्धांतों के अनुयायी एवं प्रचारक भी हैं। परिणामतः उनकी आत्मकथा 'मेरा जीवन-प्रवाह' (1948) में उनका समाजसेवी रूप अधिक प्रमुख हो उठा है। साम्यवादी विचारधारा में आस्था रखने वाले प्रसिद्ध कथाकार यशपाल की आत्मकथा 'सिंहावलोकन' तीन खंडों में प्रकाशित हुई। ये खंड क्रमशः 1951, 1952 तथा 1955 में प्रकाशित हुए। यशपाल साहित्यस्रष्टा होने के साथ-साथ भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानी भी रहे हैं। फलतः उनकी इस कृति में व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ क्रांतिकारी दल के कार्यों का लेखा-जोखा भी प्राप्त होता है। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की आत्मकथा 'स्वतंत्रता की खोज में' (1951) एक ऐसे निर्धन तथा नेत्रहीन व्यक्ति की कथा है, जिसने साधनहीन होने पर भी मानवीय स्वतंत्रता के प्रचार-प्रसार के निमित्त नाना प्रकार के कष्ट झेलते हुए देश-विदेश में यात्राएं कीं तथा विचार-स्वातंत्र्य का बिगुल बजाये रखा। संस्मरणात्मक शैली में रचित शांतिप्रिय द्विवेदी की आत्मकथा 'परिव्राजक की प्रजा' (1952) उनके करुणाप्लावित जीवन के विविध पक्षों को उजागर करती है। लोकगीतों के यशस्वी संग्रहकार देवेंद्र सत्यार्थी की आत्मकथा के दो भाग 'चांद सूरज के वीरन' (1952) तथ 'नीलयक्षिणी' (1985) शीर्षकों से प्रकाशित हुए हैं। तीन खंडों में विभक्त 'चांद सूरज के वीरन' में लेखन ने अपने बचपन, शिक्षा संबंधी यात्राओं तथा साहित्यिक जीवन के प्रस्फुटन तक के अंश को ही निबद्ध किया है। पढ़ाई के अधूरे छूट जाने के साथ ही लेखक ने आत्मकथा समाप्त कर दी है। 'नीलयक्षिणी' में लेखक ने अपने जीवन के सन् 1927 से 1984

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तक के कालखंड को समेटा है। शिल्प की दृष्टि से यह आत्मकथा हिंदी में एक अभिनव प्रयोग है। यह इस अर्थ में कि सर्वथा तटस्थ वर्णन करने के निमित्त-लेखक ने अनेक स्थलों पर पात्रों के वास्तविक नाम बदल दिये हैं। यहां तक कि उसने अपने लिए भी कहीं यायावर, कहीं अमृतयान और कहीं पाषाणयात्री नामों का प्रयोग किया है। मंगलाप्रसाद पुरस्कार के विजेता गंगाप्रसाद उपाध्याय ने अपनी आत्मकथा 'जीवनचक्र' (1954) में अपने आर्यसमाज संबंधी कार्यों को प्रमुखता प्रदान की है। चतुरसेन शास्त्री की दो आत्मकथाएं : 'यादों की परछाइयां' (1956) तथा 'मेरी आत्मकहानी' (1963) प्राप्त होती हैं। 'यादों की परछाइयां' में लेखक के निजी जीवन के क्रमिक ब्यौरे का अभाव है, जबकि मरणोपरांत प्रकाशित 'मेरी आत्मकहानी' में पहले दो अध्यायों को छोड़ कर शेष भाग अप्रामाणिकता का प्रश्नचिह्न लगाये हुए हैं। इसका कारण यह है कि पहले दो अध्याय तो लेखक ने स्वयं लिखे हैं तथा शेष अंश लेखक द्वारा छोड़े गये नोट्स के आधार पर उसके अनुज चंद्रसेन ने लिखा है। चूंकि इस बात का कहीं कोई संकेत नहीं है कि शेष अंश में से कितना चतुरसेन का है तथा कितना चंद्रसेन का। फलत: इस कृति को आत्मकथा की परिधि में रखना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता। हिंदी के प्रबल पक्षधर तथा समर्थ नाटककार सेठ गोविंददास ने अपनी जीवनकथा 'आत्मनिरीक्षण' (1957) शीर्षक से लिखी है। इस आत्मकथा की ख़ूबी यह है कि लेखक ने महात्मा गांधी तथा जवाहरलाल नेहरू तक के विचारों तक की आलोचना करने में झिझक नहीं दिखायी है। इस आत्मकथा से भारतीय स्वाधीनता-आंदोलन का इतिहास भी निबद्ध हो गया है। इसका कारण लेखक का साहित्यकार होने के साथ-साथ स्वतंत्रता-संग्राम का सक्रिय सेनानी होना भी है। देवराज उपाध्याय की आत्मकथा दो भागों में—'बचपन के दो दिन' (1958) तथा 'यौवन के द्वार पर' (1970) प्रकाशित हुई है। इस कृति की मुख्य विशेषता मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर लेखक ने अपने जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों के मूल चिह्न शैशव में खोजे हैं। हिंदी के प्रसिद्ध निबंधकार पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने 'मेरी अपनी कथा' (1958) में अपने जीवन पर कम तथा अपने समय के साहित्यकारों एवं साहित्यिक परिवेश पर अधिक प्रकाश डाला है। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'अपनी ख़बर' (1960) में अपने जीवन के प्रारंभिक इक्कीस वर्षों की घटनाओं को वाणी दी है। उग्र की लेखन-शैली की विशेषता ओजपूर्ण शैली में दो टूक बात कहना है और ये विशेषताएं उनकी आत्मकथा में भी परिलक्षित होती हैं। संतराम बी.ए. ने 'मेरे जीवन के अनुभव' (1963) में अपने सामाजिक तथा साहित्यिक कार्यों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। इस कृति से यह भी पता लगता है कि लेखक ने अंग्रेज़ी, मराठी तथा बंगला भाषाओं से हिंदी में अनुवाद का कार्य भी किया है। डॉ. भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र माधव ने अपने जीवन के प्रमुख मोड़ों को 'जीवन के चार अध्याय' (1967) में निबद्ध किया है। यह कृति लेखक के अपने संपर्क में आये व्यक्तियों के जीवंत संस्मरण भी पिरोये हुए है। हिंदी के लोकप्रिय कवि हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा 'क्या भूलूं क्या याद करूं' (1969), 'नीड़ का निर्माण फिर' (1970), 'बसेरे से दूर' (1977) तथा 'दशद्वार से सोपान तक' (1985) शीर्षकों से चार खंडों में प्रकाशित हुई है। इन चारों खंडों के अध्ययन से पाठक को लेखक की रचनाप्रक्रिया, भौतिक तथा मानसिक संघर्ष की तथ्यात्मक, किंतु कलात्मक जानकारी प्राप्त होती है। वृंदावनलाल वर्मा की 'अपनी कहानी' (1972) उनके जीवन-संघर्ष, साहसी स्वभाव, शिकारी प्रवृत्ति, साहित्य-जगत में प्रवेश, लेखन-प्रेरणा आदि को रूपायित करती है, तो रामावतार अरुण की 'अरुणायन' (1974) में उनके जीवन तथा लेखन का विवरणात्मक इतिहास है। कृष्णचंद्र की आत्मकथा 'आधे सफ़र की पूरी कहानी' (1979) न तो तिथिक्रम से लिखी गयी है और न उसे आत्मपरिचय का साधन बनाया

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गया है। इसमें तो लेखक ने अपने जीवन को देश के जीवन के साथ गूंथ कर प्रस्तुत किया है। कवि-कथाकार रामदरश मिश्र की तीन भागों में प्रकाश्य आत्मकथा का केवल एक खंड 'जहां मैं खड़ा हूं' (1984) ही प्रकाशित हुआ है, जिसमें लेखक ने अपने जन्म से ले कर सोलह वर्ष तक के जीवन का वर्णन किया है। इस आत्मकथा की ख़ूबी यह है कि इसमें पूर्वी उत्तर प्रदेश के ऊबड़-खाबड़ गांवों की ज़िंदगी ज्यों-की-त्यों साकार हो उठी है। हंसराज रहबर की चार भागों में प्रकाश्य आत्मकथा 'मेरे सात जन्म' (1986) के अब तक दो खंड प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी अन्य साहित्यिक रचनाओं के समान इस कृति में भी वैचारिक प्रखरता तथा परिवेश के साथ टकराहट को देखा जा सकता है। लेखक ने अपने जीवन के बहाने अपने समय के पंजाब के धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिवेश को भी पर्याप्त विस्तार के साथ अंकित कर दिया है।

इस कालखंड में राजनीतिक व सामाजिक क्षेत्र में काम करने वाले अनेक व्यक्तियों की आत्मकथाएं भी प्रकाशित हुईं। इनमें राजेंद्रप्रसाद, भवानीदयाल संन्यासी, गणेशप्रसाद वर्णी, अजितप्रसाद जैन, अलगूराय शास्त्री, जानकीदेवी बजाज, नरदेव शास्त्री, बलदेवराज धवन, पृथ्वीसिंह आज़ाद, आबिदअली, चतुर्भुज शर्मा, सुखदेवराज, मोरारजी देसाई तथा बलराज मधोक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें सर्वश्रेष्ठ कृति डॉ. राजेंद्रप्रसाद-कृत 'आत्मकथा' (1947) है। इस आत्मकथा के प्रारंभिक भाग में लेखक का पारिवारिक जीवन मुखरित हुआ है, तो उत्तरार्ध में राजनीतिक जीवन को वाणी मिली है। उत्तरी भारत के सामाजिक रीति-रिवाज, धार्मिक व्रत, मांगलिक उत्सव, स्वच्छंद ग्रामीण जीवन आदि की जैसी मनोरम झांकी इस कृति में मिलती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। यह आत्मकथा राजेंद्र बाबू के त्यागपूर्ण जीवन के साथ-साथ भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम की कहानी भी कहती है। भवानीदयाल संन्यासी ने 'प्रवासी की आत्मकथा' (1947) में दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की कष्ट-कथा का वर्णन किया है तो गणेशप्रसाद वर्णी ने 'मेरी जीवनगाथा' (1949) में लेखन-काल तक के अपने जीवन की घटनाओं के वर्णन के साथ-साथ धर्मप्रचार-हेतु किये गये अपने पर्यटनों का भी उल्लेख किया है। विचारों की प्रधानता के कारण कई बार कथासूत्र शिथिल हो गया है। वैसे, इस कृति का मूल उद्देश्य धार्मिक विचारों का प्रचार-प्रसार है। अजितप्रसाद जैन ने 'अज्ञात जीवन' (1951) में पारिवारिक घटनाओं की तुलना में सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण घटनाओं को ही वरीयता दी है। लेखक ने न तो कहीं व्यर्थ की दीनता व्यक्त की है और न मिथ्या अहंकार। अलगूराय शास्त्री-कृत 'मेरा जीवन' (1951) में साधारण स्थिति से ऊपर उठ कर राष्ट्र-निर्माण में भागीदार होने की आपबीती है, तो गंगाप्रसाद ने 'मेरी आत्मकथा' (1954) में प्रशासकीय पदों पर रहते हुए भी निर्भीकतापूर्ण आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए किये गये अपने कार्यों का विवरण दिया है। जानकीदेवी बजाज-कृत 'मेरी जीवनयात्रा' (1956) इस अर्थ में विशिष्ट है कि वे पहली महिला हैं, जिनकी आत्मकथा हिंदी में प्रकाशित हुई है। इसमें लेखिका ने अपने बचपन से लेकर पति की मृत्यु तक के जीवन की घटनाओं को निबद्ध किया है। इस आत्मकथा के संबंध में यह जानना भी ज़रूरी है कि लेखिका ने इसे अपने हाथ से न लिख कर रिषभदास रांका को बोल कर लिखाया है। फिर यह आत्मकथा स्वयं उनके पति, महात्मा गांधी एवं अन्य अनेक व्यक्तियों के हाथों सजी-संवरी है। लेखिका को भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के दौरान अनेक शीर्षस्थ नेताओं के संपर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ था। फलतः यह कृति भारतीय स्वाधीनता-आंदोलन के अनेक अछूते पहलुओं को संजोए हुए हैं। नरदेव शास्त्री-कृत 'आपबीती जगबीती' (1957) की ख़ूबी यह है कि लेखक ने दक्षिण भारतीय होने के बावजूद हिंदी में आत्मकथा लिखी है। आर्यसमाजी कार्यकर्ता होने के नाते यह कृति भारतीय जीवन पर आर्यसमाज

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के विभिन्न प्रभावों को यथास्थान रेखांकित करती चली गयी है। पृथ्वीसिंह आज़ाद की आत्मकथा 'क्रांतिपथ का पथिक' (1964) में भारत की आज़ादी के लिए क्रांतिकारियों द्वारा किये गये कार्यों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। अपने जीवन की घटनाओं का रोचक वृत्त प्रस्तुत करते समय लेखक ने जेल-जीवन, काले पानी की सज़ा, गुप्तवास, रूस तथा काबुल-प्रवास-विषयक जो विवरण दिये हैं, वे लोमहर्षक बन पड़े हैं। लेकिन इसे पढ़ते समय न तो कहीं किसी की निंदा करके अपनी बात को सही सिद्ध करने का दंभ है और न ही किसी प्रकार की कटुता ही आने पायी है। आबिदअली द्वारा हिंदुस्तानी में लिखी गयी आत्मकथा 'मज़दूर से मिनिस्टर' (1968) में निजी जीवनवृत्त प्रस्तुत करने के साथ-साथ श्रम की महत्ता को प्रतिष्ठित एवं रेखांकित किया है। चतुर्भुज शर्मा ने 'विद्रोही की आत्मकथा' (1970) तथा सुखदेवराज ने 'जब ज्योति जगी' (1971) में निजी जीवन को भारतीय स्वाधीनता-आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। सुखदेवराज की आत्मकथा क्रांतिकारियों के जीवन तथा गतिविधियों पर प्रकाश डालते हुए उनकी शक्ति तथा सीमाओं का अच्छा परिचय देती है। इसमें आत्मेतर पात्रों के चरित्र भी पर्याप्त मुखरित हुए हैं। मोरारजी देसाई की आत्मकथा तीन भागों में प्रकाशित हुई है। इनमें से दो 'मेरा जीवन-वृत्तांत' भाग एक (1972) तथा भाग दो (1974) हिंदी तथा अंग्रेज़ी में एक साथ प्रकाशित हुए तथा तीसरा भाग केवल अंग्रेज़ी में छपा है। चूंकि इस पर न तो अनुवादक का नाम ही है और न एतद्विषयक कोई संकेत है, फलतः इसे हिंदी की मौलिक कृति मानना ही ठीक लगता है। इस आत्मकथा में लेखक ने निजी जीवन की कथा भारतीय उपमहाद्वीप की राजनीतिक हलचल के परिपार्श्व में प्रस्तुत की है। भारतीय राजनीति के चर्चित व्यक्तित्व बलराज मधोक की चार खंडों में प्रकाश्य आत्मकथा का पहला खंड 'ज़िंदगी का सफ़र' (1986) में उनके जन्म से ले कर तीस वर्षों तक की कथा कहता है। एक निश्चित धार्मिक तथा राजनीतिक प्रतिबद्धता के बावजूद यह कृति भारतीय राजनीति को नागपाश की तरह बांधे सांप्रदायिकता के संदर्भ को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करती है।

आलोच्य युग में हिंदी के आत्मकथा-साहित्य को पत्रकारों, अध्यापकों, वकीलों, फ़िल्मी कलाकारों, पुलिसकर्मचारियों आदि ने भी समृद्ध किया। पत्रकारों में मूलचंद अग्रवाल तथा इंद्र विद्यावाचस्पति ने अपनी आत्मकथाएं लिखीं। कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले हिंदी-दैनिक 'विश्वमित्र' के संपादक मूलचंद अग्रवाल ने 'एक पत्रकार की आत्मकथा' (1944) में पत्रकार होने के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले अनुभवों को इतरजनसुखाय लिखा, तो इंद्र विद्यावाचस्पति ने 'पत्रकारिता के अनुभव' (1960) में निजी जीवन के प्रसंगों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि पत्र-स्वामियों द्वारा पत्रकारों के साथ किये जाने वाले व्यवहार का वास्तविक रूप उद्घाटित हो गया है। यह आत्मकथा पत्रों के संचालनकार्य का विवरण भी रोचक शैली में प्रस्तुत करती है। पत्रकारों के समान शिक्षकों द्वारा लिखी गयी आत्मकथाओं में दो का विशेष महत्त्व है। इनमें से एक, कालिदास कपूर की 'मुदर्रिस की आत्मकथा' (1953) तथा दूसरी, प्रिंसिपल दीवानचंद की 'मानसिक चित्रावली' (1960) है। कालिदास कपूर ने अपनी आत्मकथा में गांवों तथा क़स्बों के प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों की स्थिति तथा समस्याओं पर प्रकाश डालने के साथ-साथ उनके समाधान भी सुझाये हैं। प्रिंसिपल दीवानचंद ने अपनी आत्मकथा में शैक्षिक जगत में किये गये उन सुधारों को विशेष रूप से रेखांकित किया है, जो उन्होंने दयानंद कॉलेज, कानपुर के प्राचार्य पद पर रहते हुए किये थे। वकीलों द्वारा लिखी गयी आत्मकथाओं में गणेश वासुदेव मावलंकर-कृत 'मेरा वकालती जीवन' (1964) उल्लेखनीय है। इसमें लेखक ने उन मुक़दमों का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किया है, जिनमें वह गांधीवाद के दो मूल सिद्धांतों—सत्य और अहिंसा का पालन करते हुए मुक़दमे जीतने में सफल रहा।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

फ़िल्मी जीवन से संबंधित आत्मकथाओं में बलराज साहनी की आत्मकथा 'मेरी फ़िल्मी आत्मकथा' (1974) विशेष स्थान की अधिकारिणी है। इसमें लेखक ने फ़िल्मी जीवन में अपने प्रवेश की कथा, अभिनय-कुशलता के लिए अपेक्षित गुणों आदि का विस्तार से विवेचन किया है। विजया नरवणे की आत्मकथा 'सैनिक परिवेश और मैं' (1972) सैनिक जीवन से जुड़े कटु-मधुर अनुभवों को निबद्ध किये हुए है, तो विश्वनाथ लाहिरी द्वारा लिखित 'एक पुलिस अधिकारी की आत्मकथा' (1984) में इस बात को रेखांकित किया गया है कि ईमानदार तथा कर्मठ पुलिस अधिकारी को कितना-कुछ झेलना और करना पड़ता है। इसमें ब्रिटिश-कालीन पुलिस के रीति-रिवाजों का वर्णन भी है तथा इस प्रकार की जानकारी भी कि ईस्ट इंडिया कंपनी के समय पुलिस अधिकारी को वेतन के अतिरिक्त कमीशन भी दिया जाता था और इसीलिए वे कमिश्नर कहलाते थे।

आलोच्य युग में देश-विदेश के अनेक व्यक्तियों की आत्मकथाओं के भारत तथा विश्व की विभिन्न भाषाओं से अनुवाद भी प्रकाशित हुए। भारतीय लेखकों में के.एम. मुंशी, काका कालेलकर, विनायक दामोदर सावरकर, डॉ. राधाकृष्णन, अबुल कलाम आज़ाद, रवींद्रनाथ ठाकुर, वेद मेहता, जोश मलीहाबादी, अमृता प्रीतम, कमला दास, मिलखा सिंह, मुहम्मद यूनुस, बलवंत गार्गी तथा करतारसिंह दुग्गल, कर्ण सिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, तो विदेशी लेखकों में हिटलर, टॉल्सटाय, एंक्रमा, हैलेन केलर, ख़ान अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ां की आत्मकथाएं उल्लेखनीय हैं।

समग्रतः हिंदी का आत्मकथा-साहित्य पर्याप्त वैविध्यपूर्ण है। साहित्यकारों, राजनीतिज्ञों, पत्रकारों, शिक्षकों, वकीलों, समाजसेवकों, फ़िल्मी कलाकारों आदि ने अपनी-अपनी आत्मकथाएं लिख कर भारतीय समाज के विविध रूपों का अत्यंत सजीव एवं प्रामाणिक चित्र उभारा है। प्रायः सभी आत्मकथाकारों ने पारिवारिक जीवन की अपेक्षा अपने कार्यक्षेत्र संबंधी प्रकरणों को ही प्रमुखता प्रदान की है। लेकिन पारिवारिक प्रकरणों का सर्वथा अभाव भी नहीं है। समूचे आत्मकथा-साहित्य के पारिवारिक परिदृश्य को समवेत् रूप में देखने पर यह पता लगता है कि ये विविधरूपी हैं। इनमें परिवार के व्रत, उत्सव, अंधविश्वास, परंपराएं, जीवनमूल्य आदि सभी को स्थान मिला है। सच तो यह है कि भारत का सामाजिक इतिहास लिखने के लिए ये महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान करती हैं। शिल्प की दृष्टि से इनमें पत्र, डायरी, संस्मरण आदि सबका सम्मिलित रूप मिलता है। ये प्रेरणा की अक्षय स्रोत हैं तथा पढ़ने में उपन्यास का-सा आनंद देती हैं।

## यात्रावृत्त

विषय वैविध्य, रचनाशिल्प तथा परिमाण, इन तीनों दृष्टियों से छायावादोत्तर युग के यात्रावृत्त अपने सभी पूर्ववर्ती युगों से अधिक संपन्न हैं। यह स्वाभाविक भी था। यही वह युग है, जिसमें हमारा देश स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रताप्राप्ति के फलस्वरूप भारत के विश्वभर के देशों के साथ राजनयिक एवं सांस्कृतिक संबंध जुड़े। केवल पर्यटकों को ही नहीं, अपितु राजनीतिज्ञों एवं साहित्यकारों को भी विदेशयात्रा के पर्याप्त अवसर मिले। विभिन्न प्रकार की छात्रवृत्तियों के माध्यम से बहुत से लोग विदेशों में पढ़ने गये। ऐसे लोग भी बेहिसाब रहे, जिन्होंने विदेशों में उपलब्ध आजीविका के साधनों का लाभ उठाया। प्रगतिवादी आंदोलनों के फलस्वरूप बहुत-से लोगों का ध्यान साम्यवादी देशों की यात्रा की ओर भी गया। इन सबके परिणामस्वरूप यह युग यात्रा-साहित्य की समृद्धि का युग बना।

छायावादोत्तर काल के यात्रावृत्त-साहित्य में जिन लेखकों का मुख्य योगदान रहा, उनमें से कुछ ने छायावाद युग में भी यात्रावृत्त लिखे थे। इस दृष्टि से स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, कन्हैयालाल मिश्र, 'आर्योपदेशक', संतराम, राहुल सांकृत्यायन, सेठ गोविंददास, पं. जवाहरलाल नेहरू आदि उल्लेखनीय

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हैं। लेकिन इस युग में प्रकाशित स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की कृति 'मेरी पांचवीं जर्मन-यात्रा' (1955) के यात्रा-विवरण बहुत सजीव नहीं हैं। इसका कारण यह है कि यह यात्रा आंखों का इलाज़ कराने के लिए की गयी थी, फलस्वरूप वे अधिक भ्रमण नहीं कर सके। कन्हैयालाल मिश्र 'आर्योपदेशक' की जो एक कृति 'मेरी इराक यात्रा' (1940) इस युग में प्रकाशित हुई, उसमें यात्रा-मार्ग में पड़ने वाले स्थानों का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। संतराम-विरचित 'स्वदेश-विदेश यात्रा' (1940) में स्वदेश-यात्रा विषयक प्रकरण तो इनके लिखे हुए हैं, किंतु विदेश यात्रा-संबंधी अंश रामेश्वरी नेहरू द्वारा लिखा गया है। कांगड़ा उपत्यका की नदियों, चट्टानों, शैलशिखरों और वनों के चित्ताकर्षक वर्णनों के कारण यह पुस्तक पाठक के हृदय पर अपनी अमिट छाप छोड़ती है।

आलोच्य युग में यों तो सभी देशों से संबद्ध यात्रावृत्त प्रकाशित हुए हैं, किंतु रूस से संबद्ध यात्रावृत्तों की संख्या अन्य देशों की अपेक्षा कुछ अधिक ही है। इस बीच रूस से हमारे देश का संबंध भी अधिक सुदृढ़ रहा है। इस वर्ग की जिन रचनाओं ने पाठकों का मन अनायास अपनी ओर आकर्षित कर लिया है, उनमें डॉक्टर सत्यनारायण, महेशप्रसाद श्रीवास्तव, राहुल सांकृत्यायन, पं. जवाहरलाल नेहरू, यशपाल, रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर, बनारसीदास चतुर्वेदी, अक्षयकुमार जैन, डॉ. जगदीशचंद्र जैन, डॉ. नगेंद्र, यशपाल जैन, लक्ष्मीदेवी चूड़ावत तथा दुर्गावती सिंह द्वारा क्रमशः लिखी गयीं—'रोमांचक रूस' 'दिल्ली से मॉस्को', (1951), 'रूस में पच्चीस मास' (1952), 'आंखों देखा रूस' (1953), 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' (1953), 'बदलते रूस में' (1958), 'रूस की साहित्यिक यात्रा' (1962), 'दूसरी दुनिया' (1965), 'सोवियत रूस पिता के पत्रों में' (1966), 'तंत्रालोक से यंत्रालोक तक' (1968), 'रूस में छियालीस दिन' (1960), 'हिंदुकश के उस पार' (1966) तथा 'सीधी-सादी यादें' (1976) विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। डॉक्टर सत्यनारायण ने 'रोमांचक रूस' में रूस की बहुमुखी प्रगति का परिचय दिया है, तो महेशप्रसाद श्रीवास्तव-कृत 'दिल्ली से मॉस्को' पत्रात्मक शैली में लिखी गयी एक ऐसी रचना है, जिसमें रूस के जनजीवन तथा दर्शनीय स्थानों का रोचक वर्णन किया गया है। राहुल सांकृत्यायन के चरण जीवनपर्यंत गतिशील रहे और एक स्थान से दूसरे स्थान तक दौड़ते रहे। यात्रा करने में उन्हें उतना ही आनंद आता था, जितना किसी ज्ञानी-ध्यानी को ब्रह्म से साक्षात्कार करने में मिल सकता है। 'रूस में पच्चीस मास' में उनकी तीसरी रूस-यात्रा का वर्णन है। इस कृति में लेनिनग्राद आदि की यात्राओं का रोचक एवं ज्ञानवर्धक वर्णन किया गया है। 'आंखों देखा रूस' में पं. जवाहरलाल नेहरू ने रूस के बहुमुखी विकास का लेखा-जोखा दिया है, तो यशपाल ने 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' के माध्यम से पूंजीवादी तथा साम्यवादी शासन-व्यवस्था के पारंपरिक अंतर को अत्यंत सूक्ष्मतापूर्वक उद्घाटित किया है। रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर ने साम्यवादी शासन के अंतर्गत रूस में हुई प्रगति की रोचक कहानी प्रस्तुत की है। यशपाल जैन ने अपनी पुस्तक 'रूस में छियालीस दिन' में रूस के आर्थिक, राजनीतिक, साहित्यिक, सामाजिक, शैक्षिक तथा सांस्कृतिक जीवन के संबंध में रोचक तथा ज्ञानवर्धक तथ्य प्रस्तुत किये हैं, तो बनारसीदास चतुर्वेदी ने रूसियों के स्वाभाविक स्नेह, अकृत्रिम आतिथ्य तथा उल्लासमय मैत्री का धाराप्रवाह शैली में मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। 'तंत्रालोक से यंत्रालोक तक' में डॉ. नगेंद्र ने अपनी पैनी आलोचनात्मक दृष्टि से माध्यम के रूस के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिवेश का अध्ययन करते हुए उसे विश्लेषणात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। 'सीधी-सादी सादें' में लेखिका ने सोवियत संघ के पांच नगरों—मॉस्को, अल्माअता, ताशकंद, समरकंद तथा लेनिनग्राद के बहुकोणीय चित्र प्रस्तुत किये हैं। वहां के संग्रहालयों तथा दर्शनीय स्थलों का चित्रण प्रस्तुत करने की ओर लेखिका का अधिक ध्यान रहा है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चीन तथा जापान के यात्रावृत्तों से संबद्ध स्वतंत्र पुस्तकें भी आलोच्य युग में प्रकाशित हुई हैं, किंतु उनकी संख्या अल्यल्प ही है। चीन-यात्रा संबंधी कृतियों में रामआसरे-कृत 'माओ के देश में' (1952), भगवतशरण उपाध्याय-कृत 'कलकत्ता से पेकिंग' (1953), राहुल सांकृत्यायन-कृत 'चीन में कम्यून' (1959) तथा 'चीन में क्या देखा' (1960) तथा ओमप्रकाश मंत्री-कृत 'माओ के देश में पांच साल' (1968) विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। रामआसरे ने डायरी-शैली का आश्रय लेते हुए यथास्थान अपनी प्रतिक्रियाएं भी व्यक्त कर दी हैं, तो भगवतशरण उपाध्याय ने चीन-प्रवास के दिनों में लिखे गये पत्रों को संजो कर अपनी रचना का ताना-बाना बुना है। जापान-यात्रा संबंधी स्वतंत्र कृतियों में रामकृष्ण बजाज-कृत 'जापान की सैर' (1957) ही विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। इस यात्रावृत्त में जापान के दर्शनीय स्थानों के वर्णनों के साथ-साथ जापान की आर्थिक प्रगति का भी यथास्थान विवेचन-विश्लेषण कर दिया गया है।

आलोच्य युग में ऐसे यात्रावृत्त भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गये हैं, जिनमें किसी एक देश से संबद्ध यात्राओं का विवरण देने के स्थान पर एकाधिक देशों से संबद्ध यात्रावृत्तों को एक स्थान पर संकलित कर दिया गया है। इस दृष्टि से पं. सूर्यनारायण व्यास, डॉ. सत्यनारायण, राहुल सांकृत्यायन, रामवृक्ष बेनीपुरी, सेठ गोविंददास, धीरेंद्र वर्मा, भगवतशरण उपाध्याय, स्वामी सत्यभक्त, श्रीमती विमला कपूर, रामधारीसिंह दिनकर, ब्रजकिशोर नारायण, रामकुमार, भुवनेश्वरप्रसाद भुवन, अज्ञेय, गोपालप्रसाद व्यास, रामकृष्ण बजाज, प्रभाकर माचवे, निर्मल वर्मा, विष्णु प्रभाकर, रामेश्वर टांटिया, डॉ. नगेंद्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। पं. सूर्यनारायण व्यास ने 'सागर-प्रवास' (1940) में स्विट्जरलैंड, जर्मनी, फ्रांस, हालैंड, इटली आदि देशों के बारे में विविध प्रकार की जानकरी देने के साथ-साथ वहां के नैसर्गिक सौंदर्य का मनोहारी प्रत्यंकन किया है। डॉ. सत्यनारायण ने अपनी कृतियों—'आवारा की यूरोप-यात्रा' (1940), 'यूरोप के झरोखे में' तथा 'युद्ध-यात्रा' (1940) में द्वितीय विश्वयुद्ध के समय के यूरोप का चित्र उकेरा है। अबीसीनियां पर इटली के आक्रमण के समय वे वहां पत्रकार की हैसियत से उपस्थित थे, फलस्वरूप 'युद्ध-यात्रा' में युद्ध का अत्यंत रोमांचकारी वर्णन मिलता है। इस युग में प्रकाशित राहुल सांकृत्यायन की उल्लेखनीय रचनाएं हैं—'राहुल यात्रावलि' (1949), 'यात्रा के पन्ने', 'एशिया के दुर्गम भूखंडों में, (1956)। राहुल के इन यात्रावृत्तों में भौगोलिक पृष्ठभूमि, स्थानीय इतिवृत्तों आदि के विस्तृत विवरण तो दिये ही गये हैं, साथ ही उनके हिमालय-प्रेम को घोषित करने वाले प्रकरण भी प्रचुर परिमाण में हैं। अनेक स्थलों पर पत्रशैली का प्रश्रय लिया गया है। इस दृष्टि से 'यात्रा के पन्ने' (1952) विशेषत: उल्लेखनीय है। सेठ गोविंददास के महत्त्वपूर्ण यात्रावृत्त हैं—'सुदूर दक्षिण पूर्व' (1951) तथा 'पृथ्वी-परिक्रमा' (1954)। 'सुदूर दक्षिण पूर्व' में सिंगापुर, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और फ़ीजी देशों से संबद्ध यात्रावृत्त हैं, तो 'पृथ्वी-परिक्रमा' में मिस्र, यूनान, इटली, स्विट्जरलैंड, फ्रांस, कनाडा, अमेरिका, चीन, जापान आदि देशों के प्राकृतिक वैभव, ऐतिहासिक स्मारक व राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन के चित्र प्रस्तुत करने के साथ-साथ इन देशों के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के चित्र प्रस्तुत करने का भी प्रयत्न किया गया है। 'पैरों में पंख बांध कर' (1952) तथा 'उड़ते चलो, उड़ते चलो', (1954) नाम्नी रचनाओं में रामवृक्ष बेनीपुरी ने डायरी-शैली के माध्यम से इंग्लैंड, स्काटलैंड, स्विट्जरलैंड, फ्रांस, इटली आदि देशों के विदेशी दूतावासों, देहातों, दर्शनीय स्थानों के विस्तृत विवरण प्रस्तुत किये हैं। यशपाल-कृत 'राह बीती' (1956) में सोवियत संघ, वियना, लंदन, रोम, रूमानिया, काबुल आदि स्थानों से संबद्ध यात्रावृत्त संकलित हैं। इन यात्रावृत्तों में लेखक ने न केवल दर्शनीय स्थानों के विस्तृत विवरण प्रस्तुत किये हैं, अपितु इन देशों की सामाजिक एवं राजनीतिक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

व्यवस्था पर भी समुचित प्रकाश डाला है। यही कारण है कि ये यात्रावृत्त अनेक बार राजनीतिक निबंधों की श्रेणी का स्मरण करते हुए दिखलायी देते हैं। पूंजीवादी तथा समाजवादी देशों की तुलना से संबद्ध प्रकरण इन कृतियों में आरंभ से अंत तक अनेक स्थलों पर गुंथे पड़े हैं। भगवतशरण उपाध्याय ने 'वह दुनिया में' (1952) इज़राइल, कनाडा, अमेरिका, इंग्लैंड, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, हॉलैंड, बेल्जियम, फ्रांस, ग्रीस, मिस्र आदि देशों से संबद्ध यात्राओं का रेखाचित्रात्मक शैली में वर्णन किया है। पिरामिडों की छाया, नयी दुनिया की गगनचुंबी अट्टालिकाएं, यूरोप और अमेरिका की दुनिया के रात, दिन और संध्याएं आदि प्रकरणों की रोचकता तथा चित्रोपमता पाठक को अपनी ओर आकर्षित कर लेने में पूर्णतः समर्थ है। स्वामी सत्यभक्त-कृत 'मेरी अफ्रीका-यात्रा' (1955) में युगांडा, केन्या आदि देशों की यात्राओं का विवरण देने के साथ-साथ वहां पर दिये गये भाषणों के सारांश भी संकलित हैं। श्रीमती विमला कपूर-कृत 'अनजाने देशों में' (1955) में यूरोप, अमेरिका, जापान आदि देशों की जहाज़ द्वारा की गयी यात्रा का पत्रात्मक शैली में काव्यात्मक वर्णन किया गया है। रामधारीसिंह दिनकर ने 'देश-विदेश' (1957) तथा 'मेरी यात्राएं' (1970) में अपने यात्रावृत्तों को संकलित किया है, जिनमें कश्मीर, सौराष्ट्र आदि भारतीय प्रदेशों के अलावा यूरोप के विभिन्न देशों के रम्याद्भुत स्थानों तथा मनोरंजन के साधनों का विस्तृत विवरण दिया गया है। ब्रजकिशोर नारायण-कृत 'नंदन से लंदन' (1957) में जहाज़ द्वारा की गयी यूरोप-यात्रा के जो इतिवृत्त प्रस्तुत किये हैं, उनमें जहाज़ी जीवन के विविध पक्षों से ले कर दर्शनीय स्थलों तक का विस्तृत विवरण है। रामकुमार ने 'यूरोप के स्कैच' (1957) में अपनी यूरोप-यात्रा का रेखाचित्रात्मक शैली में वर्णन किया है। भुवनेश्वरप्रसाद भुवन ने 'आंखों देखा यूरोप' (1958) में इंग्लैंड के अस्थिर मौसम, कला तथा सौंदर्य से परिपूर्ण वेनिस नगरी आदि का सशक्त वर्णन किया है, तो अज्ञेय के 'एक बूंद सहसा उछली' (1960) में रोम, पेरिस, बर्लिन, फिरेंजे आदि स्थानों के वृत्त और संस्मरण हैं। इन यात्रावृत्तों के अध्ययन से पाठक को बहुत-सी नयी जानकारी प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ, लेखक ने वेल्से की काव्य-गायन-परंपरा, राष्ट्रीय नाट्योत्सव आदि का जो वर्णन प्रस्तुत किया है, वह पर्याप्त रोचक और ज्ञानवर्द्धक है। गोपालप्रसाद व्यास ने 'अरबों के देश में' (1960) में व्यंग्य-विनोद-मिश्रित शैली का प्रश्रय लेते हुए मार्च, 1958 में मिस्र, सीरिया, कुवैत आदि अरब देशों में की गयी अपनी यात्रा के जो विवरण प्रस्तुत किये हैं, उनमें अरब देशों की प्रगति के सरकारी आंकड़े या विज्ञप्तियां शामिल न हो कर मन पर पड़े प्रभावों का ही लेखा जोखा है। 'गोरी नज़रों में हम' (1969) प्रभाकर माचवे के यात्रावृत्तों का संकलन है, जिसमें उन्होंने दर्शनीय स्थानों के वर्णनों के साथ-साथ गोरे लोगों की चिंतन-पद्धति का विश्लेषण भारतीय चिंतन-पद्धति के संदर्भ में किया है। निर्मल वर्मा ने 'चीड़ों पर चांदनी' (1964) में अपने यूरोप-प्रवास की लंबी अवधि में समय-समय पर मन में संजोये गये जिन अनुभव-खंडों को अभिव्यक्ति प्रदान की है, उनसे आइसलैंड, स्कैंडेनेविया, पेरिस, वियना आदि स्थानों का ही नहीं, अपितु ब्रेख्त, काफ़्का, सार्त्र, लैक्सनेस आदि प्रतिष्ठित साहित्यकारों एवं चिंतकों की विचारधारा का भी परिचय प्राप्त हो जाता है। 'हंसते निर्झर : दहकती भट्टी' (1966) में विष्णु प्रभाकर ने देश-विदेश से संबंधित इक्कीस यात्रावृत्तों को संकलित किया है। विभिन्न देशों और स्थानों का वर्णन करते समय लेखक कहीं कवि हो उठा है, कहीं दार्शनिक, कहीं आलोचक और कहीं मात्र दर्शक। इस यात्रावृत्तों से गुज़रते हुए पाठक कभी वैशाली के खंडहरों में विचरण करता है तो कभी धरती के नीचे चलने वाली रेलगाड़ी, अर्थात मीत्रो में सवार हो कर सैर करता है, कभी वह हिमालय की सुरम्य घाटियों में पहुंच जाता है, तो कभी कश्मीर के मुसकराते हुए उद्यानों में। कभी वह विहंसते निर्झरों का मादक संगीत सुनता है तो कभी सोवियत संघ की स्वच्छ चकाचक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

धुली हुई विस्तृत सड़कों पर टहलने लगता है। यद्यपि लेखक ने भूमिका में यह लिखा है कि इन यात्रावृत्तों में जानकारी देने का प्रयत्न इतना नहीं है, जितना अपनी अनुभूति का चित्र प्रस्तुत करने का है, किंतु फिर भी यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि ये यात्रवृत्त पाठक को उपयोगी जानकारी देने की दृष्टि से भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। 'दक्षिणी पूर्वी देशों का सांस्कृतिक जीवन' शीर्षक प्रकरण में लेखक ने बर्मा, वियतनाम, मलाया, थाईलैंड, कंबोडिया आदि देशों की जीवन-व्यवस्था का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह पर्याप्त ज्ञानवर्धक है। रामेश्वर टांटिया ने 'विश्वयात्रा के संस्मरण' में अपनी यात्राओं के जो रोचक इतिवृत्त प्रस्तुत किये हैं, उनमें स्काटलैंड की मोटरयात्रा का प्रसंग, लंदन के नाइटक्लबों के मुहल्ले सोहो के अनुभव, न्यूयार्क की नीग्रो बस्ती, लेनिनग्राद का सांस्कृतिक वैभव तथा पाकिस्तान-यात्रा से संबद्ध अनेक प्रसंग पाठक के मन पर स्थायी छाप छोड़ने में समर्थ हैं। 'अप्रवासी की यात्राएं' (1972) में डॉ. नगेंद्र ने जापान, अमेरिका, यूरोप आदि देशों के सामाजिक और शैक्षिक जीवन का रोचक एवं ज्ञानप्रद विवरण प्रस्तुत किया है। 'अमेरिकी विश्वविद्यालयों में हिंदी' इस यात्रावृत्त का सर्वाधिक ज्ञानवर्धक प्रकरण है। राजेंद्र अवस्थी ने 'सैलानी की डायरी' (1977) में यूरोप, इंग्लैंड तथा अफ्रीका में बिताये गये दिनों के निजी अनुभवों को प्रस्तुत किया है। यह कृति पाठक को इन देशों के साहित्यिक तीर्थस्थानों से परिचित कराती है। इसका कारण लेखक का स्वयं साहित्यकार होने के नाते साहित्य तथा साहित्यकारों में अधिक रुचि लेना है। अनंत गोपाल शेवड़े ने 'दुनिया रंग-रंगीली' (1978) में सोवियत संघ, अमेरिका तथा जापान संबंधी यात्राओं को लिपिबद्ध किया है। सोवियत संघ संबंधी यात्रा-विवरण से पाठक को बहुत-सी नयी जानकारी प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ, रूस में वर-वधू को पारस्परिक वफ़ादारी के साथ राष्ट्रनिष्ठा की भी शपथ दिलायी जाती है। ताशकंद के एक स्कूल में हिंदी अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ायी जाती है। कथाकार गोविंद मिश्र ने 'धुंध भरी सुर्खी' (1979) में इंग्लैंड-यात्रा को प्रतिपाद्य विषय बनाते समय विभिन्न स्थितियों पर निजी प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं, तो शिवानी ने 'यात्रिक' (1980) में उन अनुभवों को संजोया है, जो उन्हें अपने पुत्र की बारात को इंग्लैंड में ले जा कर हुए थे।

आलोच्य अवधि में स्वदेश-यात्रा संबंधी यात्रावृत्त भी पर्याप्त संख्या में प्रकाशित हुए हैं। वस्तुतः किसी भी व्यक्ति के लिए स्वदेश-भ्रमण करना जितना सुविधाजनक होता है, उतना विदेश-भ्रमण नहीं होता। विदेशी मुद्रा की सतत विद्यमान रहने वाली कमी के कारण केवल सैर-सपाटे के लिए मूल्यवान विदेशी मुद्रा ख़र्च कर देना हमारे देशवासियों के लिए किसी विशेष गौरव की बात नहीं है। फिर, हमारा देश तो प्राकृतिक सुषमा, ऐतिहासिक स्थानों, स्मारकों एवं भग्नावशेषों की अत्यंत विशाल एवं वैविध्यपूर्ण संपदा संजोए हुए है। हमारे देश के विभिन्न अंचलों में निवास करने वाले व्यक्तियों के आचार-विचार, खानपान, वेशभूषा आदि में इतनी विभिन्नता है कि पर्यटक ऊब का अनुभव नहीं कर पाता। इस वैविध्य के फलस्वरूप स्वदेश-यात्रा संबंधी अनेक कृतियां समय-समय पर प्रकाशित होती रही हैं। आलोच्य युग में कश्मीर से कन्याकुमारी तक के वैविध्य-भरे स्थानों से संबंधित अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियां प्रकाशित हुई हैं। सर्वश्री गोपाल नेवटिया, देवदत्त शास्त्री, स्वामी प्रणवानंद, स्वामी रामानंद, लक्ष्मीनारायण टंडन, चक्रधर हंस, राहुल सांकृत्यायन, अज्ञेय, मोहन राकेश, मुनि कांतिसागर, विद्यानिधि सिद्धांतालंकार, महावीरप्रसाद पोद्दार, यशपाल जैन, विष्णु प्रभाकर, प्रभाकर द्विवेदी, डॉ. रघुवंश, पद्मा सुधि आदि इस वर्ग के कतिपय उल्लेखनीय कृतिकार हैं। गोपाल नेवटिया, देवदत्त शास्त्री तथा सत्यवती मलिक ने क्रमशः 'कश्मीर', 'मेरी कश्मीर-यात्रा' तथा 'कश्मीर की सैर' (1950) की रचना की है। इस प्रकार ये तीनों रचनाएं कश्मीर से संबद्ध हैं। कश्मीर-यात्रा पर लिखी गयी रचनाओं में इन तीनों का ही उल्लेखनीय स्थान है, क्योंकि इन तीनों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में ही कश्मीर के प्राकृतिक सौंदर्य का भावुकता एवं कवित्वपूर्ण वर्णन मिलता है। स्वामी प्रणवानंद तथा स्वामी रामानंद द्वारा क्रमशः रचित 'कैलाश-मानसरोवर' एवं 'कैलाश-दर्शन' में हिमालय की पर्वत-श्रृंखलाओं का सौंदर्य साकार हो उठा है। कतिपय स्थलों पर भावुकता एवं दार्शनिकता परिलक्षित होती है। विष्णु प्रभाकर ने 'ज्योतिपुंज हिमालय' (1982) में हिमालय पर्वत की अपनी तीन यात्राओं का तिथिक्रम से वर्णन किया है। इस कृति में हिमालय के प्राकृतिक सौंदर्य के निरूपण के अलावा धर्म, दर्शन, समाज, संस्कृति आदि से संबंधित विचार भी व्यक्त किये गये हैं। इस प्रकार यह कृति पाठक को हिमालय-यात्रा के साथ-साथ विष्णु प्रभाकर के आस्था भरे मन की यात्रा भी कराती है। लक्ष्मीनारायण टंडन की प्रमुख कृतियां हैं, 'संयुक्त प्रांत के तीर्थ-स्थान' एवं 'संयुक्त प्रांत की पहाड़ी यात्राएं' तो चक्रधर हंस की उल्लेखनीय कृति है, 'भारतवर्ष के कुछ दर्शनीय स्थान'। इन तीनों ही कृतियों में स्थान विशेष के समूचे सौंदर्य को उजागर करने का प्रयत्न किया गया है। आलेच्य युग में राहुल सांकृत्यायन की स्वदेश-यात्रा-विषयक प्रकाशित कृतियां हैं—'किन्नर देश में', 'राहुल यात्रावलि' तथा 'दार्जिलिंग परिचय'। राहुल सांकृत्यायन की रचनाओं में जहां एक ओर किसी स्थान विशेष की भौगोलिक स्थिति-ऐतिहासिक महत्ता आदि का विवरण दिया गया है, वहीं दूसरी ओर वहां के जनजीवन, प्राकृतिक सौंदर्य आदि के मनमोहक शब्दचित्र दिये गये हैं। लेखक यत्रा के मध्य समय-समय पर मिलने वाले व्यक्तियों का उल्लेख करना भी नहीं भूला है। विभिन्न स्थानों के नाम किस प्रकार परिवर्तित होते रहे हैं तथा वह अंचल विशेष किन-किन सामाजिक एवं सांस्कृतिक संदर्भों से जुड़ा है, इन सबका सहज तथा शोधपूर्ण निरूपण राहुल के यात्रावृत्तों की अपनी विशेषता है। सत्यवती मलिक तथा यशपाल जैन की रचनाओं में प्राकृतिक सौंदर्य के नयनाभिराम चित्र शब्दबद्ध किये गये हैं। इन लेखकों की कृतियों में हिममंडित पर्वतमालाओं, सर्पीले पहाड़ी मार्गों तथा कलकल नाद करती नदियों का ऐसा सशक्त चित्रण किया गया है कि पाठक अपने हृदय में वहां पहुंचने की इच्छा संजोये बिना नहीं रह पाता। 'अरे यायावर रहेगा याद' (1953) में अज्ञेय ने असम से ले कर पश्चिमी सीमा प्रांत तक की गयी यात्रा का वर्णन किया है। इस कृति में लेखक ने किसी स्थान का बाहरी वर्णन भर प्रस्तुत नहीं किया है, अपितु किसी स्थान विशेष को देख कर मन में उठने वाली प्रतिक्रियाओं को भी यथास्थान व्यक्त किया है। दूसरे शब्दों में, कविता, कहानी आदि के समान अज्ञेय के यात्रावृत्त भी बौद्धिक चिंतन से युक्त हैं। पहाड़ी क्षेत्रों में निवास करने वाले लोगों के जीवन की विडंबनाओं को सही संदर्भ तथा परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने की दृष्टि से भी 'अरे यायावर रहेगा याद' का निजी महत्त्व है।

यात्रावृत्तों को सृजनात्मक उपलब्धि का रूप देने वाली रचनाओं में मोहन राकेश-कृत 'आख़िरी चट्टान तक' (1953) का उल्लेखीय स्थान है। मूलतः कथाकार होने के कारण मोहन राकेश के इस यात्रावृत्त में कथा-साहित्य की-सी रोचकता का सहज समावेश हो गया है। लेकिन इस यात्रावृत्त की मुख्य विशेषता कथात्मकता न हो कर इस बात में है कि इसने भारतीय जनजीवन के अत्यंत यथार्थ और सशक्त चित्र प्रस्तुत किये हैं। 'पानी के मोड़' परिच्छेद के अंतर्गत अलेप्पी से क्वाइलोन पहुंचने पर बसस्टैंड के पास लेखक की भूख, बीमारी और बेरोजगारी विषय पर एक बुड्ढे से जो बातचीत होती है, वह उस बुड्ढे के मनोभावों को ही नहीं, अपितु भारत के प्रत्येक जनसाधारण के मनोभावों को अभिव्यक्त करती है। उस बुड्ढे का यह कहना कि 'जिस प्रकार बैल चारा मिले बिना हल नहीं जोतता, उसी प्रकार जनता भी बिना भोजन मिले अपने कर्तव्यों को किस प्रकार पूरा कर सकती है और इसीलिए केंद्रीय सरकार को कोई ऐसा क़ानून बना देना चाहिए, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को दो समय का भोजन मिल सके', निश्चय ही एक मार्मिक अभिव्यक्ति है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'खोज की पगडंडियां' (1953) और 'खंडहरों का वैभव' (1953) में मुनि कांतिसागर द्वारा मूर्तियों की खोज के लिए की गयी यात्राओं का वर्णन है। यही कारण है कि इनके यात्रावृत्तों में मंदिरों, देवमूर्तियों तथा पुरातत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थानों को ही मुख्यता प्रदान की गयी है। पुराने खंडहरों को देखने के बाद लेखक का मन अतीतलोक में विचरण करने लगता है और वह प्राचीन भारत के गौरव का स्मरण कर पुलकायमान हो उठता है। 'पार उतरि कहं जइहों' (1958) में प्रभाकर द्विवेदी ने स्थानीय बोली का पुट देते हुए गोंडा तथा बस्ती ज़िले के लोकजीवन का चित्र अंकित किया है, तो 'शिवालिक की घाटियों में' (1953) में विद्यानिधि सिद्धांतालंकार ने अपनी शिकारी यात्राओं का काव्यात्मक वर्णन किया है। अज्ञेय के समान डॉ. रघुवंश ने 'हरी घाटी' (1961) में सन् 1949 में की गयी अपनी हज़ारीबाग़-यात्रा का सपाट वर्णन करने के स्थान पर अपनी संवेदनाओं को एक ऐसा रूप दिया है कि प्रस्तुत कृति एक महत्त्वपूर्ण सृजनात्मक उपलब्धि बन गयी है। प्रस्तुत पुस्तक में ऐसे स्थल प्रचुर परिणाम में हैं, जहां लेखक ने विभिन्न अवसरों पर मन में उठने वाले विचारों को चिंतन को चाशनी में पाग पर अत्यंत सहज रूप से व्यक्त कर दिया है। 'आत्मसाक्षात् और आत्ममंथन' शीर्षक प्रकरण में तो लेखक का चिंतन-पक्ष पर्याप्त प्रबल हो गया है।

आलोच्य युग में अंगरेज़ी, मराठी, बंगला आदि भाषाओं में लिखे गये यात्रावृत्तों के अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। इस दृष्टि से काका कालेलकर-कृत 'हिमालय की यात्रा' (1948) तथा 'सूर्योदय का देश' (1955), कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी-कृत 'बद्रीनाथ की ओर' (1959) तथा शंकर-कृत 'ए पार बांगला ओ पार बांगला' (1982) विशेषरूपेण उल्लेखेनीय हैं। 'हिमालय की यात्रा' में लेखक ने भारतीय तीर्थों का वर्णन किया है, तो 'सूर्योदय का देश' में जापान-यात्रा का वर्णन है। 'बद्रीनाथ की ओर' में अलकनंदा, रुद्रप्रयाग, पाताल गंगा, पांडुकेश्वर, गंधमादन, बद्रीनाथ आदि से संबद्ध उन यात्राओं के विवरण संकलित हैं, जो मुंशी जी ने उत्तरप्रदेश के राज्यपाल के रूप में की थीं। शंकर द्वारा बंगला में लिखित 'ए पार बांगला ओ पार बांगला' का हिंदी-अनुवाद प्रबोधकुमार मजूमदार ने किया है। शंकर ने इस कृति में अपनी विश्वयात्रा का वर्णन करते हुए यह बताया है कि पाकिस्तान का कड़ा क़ानून तथा भारत-विरोधी प्रचार पूर्वी तथा पश्चिमी बंगाल के बंगालियों को अलग नहीं कर पाया। भारत तथा पाकिस्तान के बाहर विश्व के प्रत्येक राष्ट्र में पूर्वी तथा पश्चिमी बंगाल के लोग भाई-भाई की तरह रहे। अपने अटूट संघर्ष के फलस्वरूप आज पूर्वी बंगाल बांगलादेश के रूप में एक स्वतंत्र राष्ट्र है। शंकर की यह कृति पूर्वी बंगाल के लोगों के लिए संघर्ष के दिनों में प्रेरणा का अक्षय स्रोत रही है।

प्रवृत्यात्मक दृष्टि से हिंदी के यात्रावृत्त संबंधी साहित्य का मूल्यांकन करने पर यह ज्ञात होता है कि विदेश-भ्रमण संबंधी ग्रंथों की तुलना में भारत-भ्रमण संबंधी ग्रंथ कम प्रकाशित हुए हैं। वस्तुतः मनुष्य में विदेशों में भ्रमण कर वहां के अद्भुत दृश्यों, पदार्थों, प्रथाओं, जीवनमूल्यों आदि को देखने-समझने की जितनी तीव्र इच्छा होती है, उतनी अपने देश में भ्रमण करने की नहीं होती। पाठक भी भारत-भ्रमण संबंधी रचनाओं की अपेक्षा विदेश-भ्रमण संबंधी रचनाओं के अध्ययन में ही अधिक प्रवृत्त होता है। लेकिन इतना होते हुए भी हिंदी में भारत-भ्रमण संबंधी अनेक रचनाएं प्रकाशित एवं लोकप्रिय हुई हैं। इसका कारण यह है कि देश के विभिन्न भू-भागों में रहने वाले व्यक्तियों की वेशभूषा, रहन-सहन आदि में विभिन्नता, वन्य प्रदेशों एवं पर्वतमालाओं की चित्ताकर्षक प्राकृतिक सुषमा तथा विस्तृत भौगोलिक सीमाएं विदेशियों को ही नहीं, अपितु देशवासियों को भी सदैव अपनी ओर आकर्षित करती रही हैं।

प्राकृतिक सौंदर्य का निरूपण हिंदी के यात्रावृत्त-सहित्य की एक अन्य प्रमुख प्रवृत्ति है। वस्तुतः

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रकृति और मनुष्य का अनादि काल से अटूट संबंध है। हिमाच्छादित शृंगों, कलकल निनाद करते हुए झरनों अथवा शंखनाद करते हुए प्रपातों, प्रतिपल अपनी छटा बदलने वाले मेघों, चित्ताकर्षक रंगों वाले पुष्पों से लदी हुई क्यारियों आदि को अतृप्त नेत्रों से निहारते रहना तथा कंटकाकीर्ण दुर्गम पथों पर चलते हुए सहसा सुरम्य घाटियों में पहुंच जाना, मनुष्य का सहज स्वभाव है। चूंकि साहित्य मानव-जीवन की आशा-आकांक्षा, रुचि-अरुचि, हर्ष-विषाद आदि को रूपायित करता है, अतएव उसमें मनुष्य के प्रकृति-प्रेम का मूर्त हो उठना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि देश-विदेश की यात्राओं को समाकलित करने वाले यात्रावृत्त संबंधी सभी ग्रंथों में प्रकृति-सौंदर्य के मनोरम चित्र उकेरे गये हैं। यह बात दूसरी है कि इस दिशा में लेखकों का रुझान पार्वत्य प्रकृति की ओर ही अधिक रहा है। इसमें भी स्वदेश-यात्रा का वर्णन करने वाले लेखकों ने हिमालय, कश्मीर तथा बद्रीनाथ के सौंदर्य-निरूपण की ओर अधिक ध्यान दिया है तथा विदेश-यात्रा को शब्दांकित करते समय स्विटजरलैंड, नियागरा प्रपात आदि का वर्णन अधिक किया गया है।

शैली व शिल्प की दृष्टि से इस युग के लेखकों में नानाविध प्रयोगों की प्रवृत्ति लक्षित होती है। डॉ. भगवतशरण उपाध्याय, महावीरप्रसाद पोद्दार, श्रीमती विमला कपूर, डॉ. परमेश्वरीदीन शुक्ल, डॉ. जगदीशचंद्र जैन आदि ने क्रमशः 'कलकत्ता से पीकिंग', 'हिमालय की गोद में', 'अजाने देशों में', 'दुनिया की सैर 80 दिन में' तथा 'सोवियत रूस पिता के पत्रों में' आदि कृतियों में जहां पत्र-शैली का प्रयोग किया है, वहीं सेठ गोविंददास, महेशप्रसाद श्रीवास्तव, रामवृक्ष बेनीपुरी, राहुल सांकृत्यायन, राजवल्लभ ओझा, कर्नल सज्जन सिंह, स्वामी सत्यभक्त, रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर, ब्रजकिशोर नारायण, डॉ. रघुवंश आदि ने क्रमशः 'सुदूर दक्षिण-पूर्व', 'दिल्ली से मॉस्को', 'पैरों में पंख बांध कर', 'रूस में पच्चीस मास', 'बदलते दृश्य', 'लद्दाख यात्रा की डायरी', 'मेरी अफ्रीका यात्रा', 'हॉलैंड में पच्चीस दिन', 'नंदन से लंदन', 'हरी घाटी' आदि में डायरी-शैली का प्रयोग कर अपने यात्रावृत्तों को सहज विश्वसनीय रूप प्रदान किया है। अज्ञेय, विष्णु प्रभाकर तथा निर्मल वर्मा ने क्रमशः 'एक बूंद सहसा उछली', 'हंसती घाटी दहकते निर्झर' तथा 'चीड़ों पर चांदनी' में दर्शनीय स्थानों का विवरण देने के साथ-साथ कतिपय स्थलों पर विभिन्न व्यक्तियों से हुए अपने साक्षात्कारों को भी गूंथ कर यात्रावृत्तों में इंटरव्यू-शैली के गुंफन का स्तुत्य प्रयास किया है। वस्तुतः स्वतंत्रता के बाद प्रकाशित यात्रावृत्त संबंधी कृतियों में किसी स्थान विशेष का इतिवृत्तात्मक विवरण भर देने के स्थान पर उस स्थान विशेष के संबंध में अपने अंतर्मन पर पड़े प्रभावों और इसके फलस्वरूप होने वाली प्रतिक्रियाओं के प्रत्यंकन की प्रवृत्ति विशेषरूपेण बलवती रही है। अब यात्रावृत्त का लेखक नरेटर-भर नहीं है तथा किसी स्थान विशेष की भीड़ भाड़, चकाचौंध अथवा प्राकृतिक सौंदर्य से भौचक्का-सा नहीं हो जाता, अपितु वह उन सबकी तह में जाने का प्रयत्न करता है। वह यात्रावृत्तों के लेखन में प्रवृत्त होने से पूर्व उन सभी स्थितियों में जूझता तथा गुजरता हुआ चलता है, जिनसे किसी कवि कथाकार को गुज़रना पड़ता है। यही कारण है कि अब यात्रावृत्तों की बुनावट में पहले की अपेक्षा बहुत फ़र्क़ आ गया है। यह परिवर्तन कथ्य में ही नहीं, बल्कि अभिव्यक्ति की दिशा में भी आया है। अब लेखक ऐसे विश्लेषणों तथा उपमानों का प्रयोग नहीं करता, जो किसी भी देश के, किसी भी स्थान पर वर्णन करने के लिए प्रयुक्त किये जा सकते हैं। उसकी प्रवृत्ति ऐसे विशेषणों तथा बिंबों का प्रयोग करने की है, जो उसके अनुभव-संसार को साकार कर सकें। आज वह यात्रा के दौरान हुई अपनी अनुभूतियों को इस प्रकार प्रस्तुत करने के लिए प्रयत्नशील है कि उसे एक सर्जनात्मक उपलब्धि के रूप में स्वीकारा जा सके।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

## संस्मरण तथा रेखाचित्र

आलोच्य युग में संस्मरण तथा रेखाचित्र-साहित्य के विकास एवं उन्नयन की दिशा में 'हंस' का रेखाचित्र-विशेषांक (मार्च, 1939, संपादक : श्रीपतराय) सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। इसमें हिंदी ही नहीं, उर्दू, बंगला, मराठी, गुजरती, तमिल, कन्नड़ आदि भाषाओं के लेखकों के भी रेखाचित्र प्रकाशित किये गये। वैसे, इन विधाओं के हिंदी-लेखकों में बनारसीदास चतुर्वेदी (1892) का अन्यतम स्थान है। 'मधुकर' के रेखाचित्र-विशेषांक (1946) का संपादन करने के अनंतर उन्होंने 'हमारे आराध्य' (1952) और 'संस्मरण' (1953) शीर्षक संस्मरणात्मक रचनाओं तथा 'रेखाचित्र' (1952) एवं 'सेतुबंध' (1952) शीर्षक रेखाचित्र संग्रहों को प्रस्तुत किया। संस्मरणों में उन्होंने अपने संपर्क में आने वाले व्यक्तियों की कटु-मधुर स्मृतियों का प्रत्यंकन करते हुए उनकी विशेषताओं को उभारा है तथा रेखाचित्रों में देशप्रेम एवं राष्ट्रीयता को प्रमुखता प्राप्त हुई है। अपने ग्रंथों की भूमिकाओं में उन्होंने इन दोनों विधाओं के रचनाशिल्प पर भी महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। श्रीराम शर्मा के जो ग्रंथ आलोच्य युग में प्रकाशित हुए, उनमें 'प्राणों का सौदा' (1939), 'जंगल के जीव' (1949) और 'वे जीते कैसे हैं' (1957) उल्लेखनीय हैं। जनपदीय शब्दों का प्रयोग करते हुए कथात्मक शैली के माध्यम से रोचक और हृदयस्पर्शी वर्णन इनके लेखन की सर्वप्रमुख विशेषता है। रामवृक्ष बेनीपुरी (1902-1968) अपने अद्‌भुत शब्द-शिल्प के लिए प्रख्यात हैं। 'लाल तारा' (1938), 'माटी की मूरतें' (1946), 'गेहूं और गुलाब' (1950) तथा 'मील के पत्थर' (1957) इनकी प्रसिद्ध कृतियां हैं। यथार्थ के साथ कल्पना और भावुकता का समन्वय, विषय-वैविध्य तथा शब्दों एवं वाक्यांशों का संयत प्रयोग बेनीपुरी के लेखन की कतिपय ऐसी विशेषताएं हैं, जो पाठक की स्मृति में सदा-सदा के लिए अपना स्थान बना लेती हैं।

हिंदी के संस्मरणात्मक रेखाचित्र-साहित्य की श्रीवृद्धि में महादेवी वर्मा ने अत्यधिक महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। 'अतीत के चलचित्र' (1941), 'स्मृति की रेखाएं' (1947), 'पथ के साथी' (1956), 'स्मारिका' (1971) और 'मेरा परिवार' (1972) उनके उल्लेखनीय रेखाचित्र-संग्रह हैं। यद्यपि महादेवी की रचनाओं की विधा के संबंध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है। इन्हें निबंध, संस्मरण और कहानी में से कोई एक संज्ञा भी दी जाती रही है, किंतु अधिकांश विद्वान उन्हें संस्मरणात्मक रेखाचित्र ही मानते हैं। अपने संपर्क में आने वाले शोषित व्यक्तियों, दीन-हीन नारियों, साहित्यकारों, जीव-जंतुओं आदि का संवेदनात्मक चित्रण उन्होंने अत्यंत मार्मिक रूप में किया है। अपनी संवेदना को कवित्वपूर्ण शैली के माध्यम से मूर्त कर देने में उन्हें विशेष कौशल प्राप्त है। वे साहित्यकार होने के साथ-साथ चित्रकर्त्री भी हैं, फलस्वरूप उनके रेखाचित्रों में चित्रोपमता का गुण अनायास ही समाविष्ट हो गया है।

रेखाचित्र तथा संस्मरण के तत्त्वगत अंतर को ध्यान में रखते हुए इन दोनों विधाओं की श्रीवद्धि में योग देने वाले लेखकों में प्रकाशचंद्र गुप्त (1908-1970) का स्थान काफ़ी ऊंचा है। 'पुरानी स्मृतियां' (1947) में इनके स्मृतिचत्र संकलित हैं, तो 'रेखाचित्र' (1940) में निर्जीव वस्तुओं, स्थानों आदि पर लिखे गये रेखाचित्र हैं। इनके रेखाचित्रों पर विदेशी लेखकों—विशेषत: ए.जी. गार्डनर के रचनाशिल्प का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इस युग के अन्य संस्मरण लेखकों में राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह (1890-1971) का नाम भी उल्लेखनीय है। संस्मरणमूलक कहानियां लिखने में वे अप्रतिम हैं। ऐसे ही एक कहानी-संग्रह 'टूटा तारा' (1940) में संकलित 'मौलवी साहब' तथा 'देवी बाबा' शीर्षक संस्मरण विशेषत: पठनीय हैं। सार्थक विशेषणों, विशिष्ट उपमाओं एवं ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग उनकी शैलीगत विशेषताएं हैं। विनयमोहन शर्मा (1905-1993)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का रेखाचित्र-संग्रह 'रेखा और रंग' अपनी चुटीली शैली तथा मार्मिक परिस्थिति चित्रण के लिए प्रख्यात है। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'-कृत 'ज़िंदगी मुसकराई' (1953) में संकलित संस्मरण तथा 'माटी हो गयी सोना' एवं 'दीप जले शंख बजे' (1959) में संगृहीत रेखाचित्र भी उल्लेखनीय हैं। मामूली से मामूली व्यक्ति अथवा घटना पर प्रांजल भाषा तथा चुस्त शैली में संस्मरण लिख डालने की कला में वे निष्णात हैं। रोचक प्रारंभ, घटना ऐक्य, स्पष्ट विश्लेषण तथा आद्यंत सुनिश्चित प्रवाह उनके लेखन की कतिपय मुख्य विशेषताएं हैं।

शिवपूजन सहाय (1893-1962) के संस्मरण तथा रेखाचित्र 'वे दिन वे लोग' (1965) में संकलित हैं। व्यंग्य-विनोद से पुष्ट मुहावरेदार भाषा में लिखित उनके संस्मरणात्मक रेखाचित्रों में चित्रोपमता का गुण कूट-कूट कर भरा है। सत्यवती मल्लिक के संस्मरण और रेखाचित्र 'अमिट रेखाएं' (1951) में संकलित हैं। इसमें उन्होंने अपनी रचनाओं के साथ-साथ कुछ अन्य लेखकों की कतिपय प्रसिद्ध रचनाओं का भी संकलन किया है। मधुर भावनाओं का भावपूर्ण एवं रोचक चित्रण करते हुए प्रेरणाप्रद रेखाचित्रों का निर्माण इनकी निजी विशेषता है। देवेंद्र सत्यार्थी (1908-2003) भावात्मक संस्मरण तथा रेखाचित्र लिखने के लिए प्रख्यात हैं। 'रेखाएं बोल उठीं' (1949) उनका एतद्विषयक उल्लेखनीय संग्रह है। शांतिप्रिय द्विवेदी (1906-1967) की 'स्मृतियां और कृतियां' (1966) में उनके कवि-हृदय की अभिव्यक्ति मिलती है। लेखक ने उन परिस्थितियों का अत्यंत स्पष्ट अंकन किया है, जो उसके अपने व्यक्तित्व के विकास में बाधक रही हैं।

'रेखाएं और चित्र' (1955), 'मंटो मेरा दुश्मन' (1956) और 'ज़्यादा अपनी कम परायी' (1959) में हिंदी के प्रतिष्ठित कथाकार तथा नाटककार उपेंद्रनाथ अश्क के संस्मरण और रेखाचित्र संकलित हैं। यथास्थान चुटीले व्यंग्य, कथात्मक शैली तथा उर्दू-अंग्रेज़ी के प्रचलित शब्दों के प्रयोग द्वारा उन्होंने अपनी रचनाओं को सदैव प्रवाहपूर्ण बनाये रखा है। विष्णु प्रभाकर ने 'कुछ शब्द : कुछ रेखाएं' (1965) में सामाजिक स्थितियों तथा उनके मूल में छिपी विसंगतियों का सटीक विश्लेषण किया है। राहुल सांकृत्यायन (1893-1963) का संस्मरण साहित्य 'बचपन की स्मृतियां' (1955), 'जिनका मैं कृतज्ञ' (1957) तथा 'मेरे असहयोग के साथी' में संकलित हैं। बोलचाल की प्रवाहपूर्ण भाषा के द्वारा अपने हृदय की भावुकता को व्यक्त करते हुए तथा अपने संपर्क में आने वाले छोटे-बड़े तथा मामूली, महान, सभी व्यक्तियों को समान रूप से महत्त्व देते हुए मर्मस्पर्शी रचनाओं का प्रणयन इनके लेखन की विशेषता है।

हिंदी के प्रख्यात रसवादी आलोचक एवं निबंधकार डॉ. नगेंद्र ने भी कुछ भावभीने स्मृतिचित्र लिखे हैं। 'चेतना के बिंब' (1967) में संकलित ऐसी रचनाओं में विश्लेषण की गंभीरता तथा तटस्थता पर अधिक बल रहा है। जगदीशचंद्र माथुर की कृतियों—'दस तस्वीरें' तथा 'जिन्होंने जीना जाना' (1971) में मानव-मन के भीतरी भावों को प्रांजल भाषाशैली में अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। वैसे, 'दस तस्वीरें' की भूमिका में उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि उनकी रचनाओं को संस्मरण न कह कर 'चरितलेख' कहा जाना चाहिए, क्योंकि उनमें संस्मरण-शैली का हलका फुलकापन नहीं है। सेठ गोविंददास (1896) ने भी 'स्मृति-कण' (1959) में संस्मरण-शैली तथा 'चेहरे जाने-पहचाने' (1966) में रेखाचित्र-शैली को अपनाया है। युग की विषमताओं का सशक्त चित्रण उनकी प्रमुख विशेषता है।

संस्मरण-साहित्य को अलंकृत करने वाले कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी, रामधारीसिंह 'दिनकर' तथा हरिवंशराय 'बच्चन' भी उल्लेखनीय हैं। चतुर्वेदी ने 'समय के पांव' (1962) में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अनेक भावपूर्ण रेखाचित्र अंकित किये हैं। दिनकर की रचनाओं में 'लोकदेव नेहरू' (1965) तथा 'संस्मरण और श्रद्धांजलियां' (1969) उल्लेखनीय हैं, जिनमें सरल एवं भावपूर्ण भाषा के माध्यम से अपने युग के प्रमुख साहित्यकारों, राजनीतिक नेताओं आदि के निजी संबंधों का अंतरंग परिचय दिया गया है। हरिवंशराय 'बच्चन' की उल्लेखनीय कृति है 'नये पुराने झरोखे' (1962), जिसमें लेखक ने यथास्थान आधुनिक हिंदी-साहित्य पर टिप्पणियां देते हुए उसकी दुर्बलताओं और सबलताओं का सशक्त अंकन किया है।

आलोच्य युग में कतिपय अन्य लेखकों ने भी अपनी मूल्यवान रचनाओं द्वारा हिंदी के संस्मरणात्मक-रेखाचित्र-साहित्य को समृद्ध किया है। सत्यजीवन वर्मा 'भारतीय' की 'एलबम' (1949), ओंकार शरद की 'लंका महाराजिन' (1950), कैलाशनाथ काटजू की 'मैं भूल नहीं सकता' (1955), प्रेमनारायण टंडन की 'रेखाचित्र' (1959), इंद्र विद्यावाचस्पति की 'मैं इनका ऋणी हूं' (1959), विनोदशंकर व्यास की 'प्रसाद और उनके समकालीन'(1960), संपूर्णानंद की 'कुछ स्मृतियां और स्फुट विचार' (1962), हरिभाऊ उपाध्याय की 'मेरे हृदय-देव' (1965), राय कृष्णदास की 'जवाहर भाई : उनकी आत्मीयता और सहृदयता' (1965), महेंद्र भटनागर की 'विकृत रेखाएं : धुंधले चित्र' (1966), कुंतल गोयल की 'कुछ रेखाएं कुछ चित्र' (1967), डॉ. हरगुलाल की 'घेरे के भीतर और बाहर' (1968), पद्मिनी मेनन की 'चांद' (1969), लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' की 'व्यक्तित्व की झांकियां' (1970), अमृतलाल नागर की 'जिनके साथ जिया' (1973), परिपूर्णानंद की 'बीती बातें' (1976), प्रसिद्ध क्रांतिकारी भगतसिंह की 'मेरे क्रांतिकारी साथी' (1977), कृष्णा सोबती की 'हम हशमत' (1977), भारतभूषण अग्रवाल की 'लीक-अलीक' (1980), डॉ. रामकुमार वर्मा की 'संस्मरणों के सुमन' (1982), विष्णु प्रभाकर की 'मेरे अग्रज : मेरे मीत' (1983), फणीश्वरनाथ रेणु की 'वनतुलसी की गंध' (1984) तथा भगवतीशरण सिंह की 'रस गगन गुफ़ा में' (1986) इन विधाओं की अन्य उल्लेखनीय कृतियां हैं।

हिंदी-संस्मरण-साहित्य को बंगला, गुजराती, पंजाबी, उर्दू, अंग्रेज़ी आदि से अनूदित अनेक रचनाओं ने भी समृद्ध किया है। बंगला से अनूदित रचनाओं में हजारीप्रसाद द्विवेदी-अनूदित रवींद्रनाथ ठाकुर की रचना 'मेरा बचपन', गुजराती से अनूदित रचनाओं में मनु बहन गांधी की रचनाएं 'बा-मेरी मां' (अनुवादिका : कुरंगी बहन देसाई) तथा 'बा और बापू की शीतल छाया में' (1954, अनुवादक : रामनारायण चौधरी), पंजाबी से अनूदित रचनाओं में अमृता प्रीतम की रचना 'अतीत की परछाइयां' (1962), उर्दू से अनूदित रचनाओं में उपेंद्रनाथ अश्क द्वारा संपादित 'उर्दू के बेहतरीन संस्मरण' (1962) तथा नयनतारा सहगल द्वारा अंग्रेज़ी में लिखित पुस्तक 'प्रिज़न एंड चॉकलेट केक' का मुकुंदीलाल श्रीवास्तव द्वारा हिंदी में अनुवाद 'मेरा बचपन' कतिपय उल्लेखनीय कृतियां हैं। 'अतीत की परछाइयां' में जहां देश-विदेश के कृतिकारों से संबद्ध अछूते संस्मरण मिलते हैं, वहीं 'उर्दू के बेहतरीन संस्मरण' हिंदी के पाठकों को उर्दू में लिखे जा रहे संस्मरणों की शैली से परिचित कराते हैं। इन संस्मरणों में संस्मरणीय के गुण-दोषों के सम्यक् विश्लेषण के साथ-साथ जीवन-प्रसंगों एवं घटनाओं का यथार्थ चित्रण मिलता है। नयनतारा सहगल की रचना से नेहरू-परिवार की अंतरंग झांकी मिलने के साथ-साथ भारतीय स्वातंत्र्य आंदोलन की कहानी के अनेक महत्त्वपूर्ण पक्ष उजागर होते हैं। विदेशी साहित्य से अनूदित रचनाओं में इलाचंद्र जोशी-कृत 'गोर्की के संस्मरण' (1942) सर्वाधिक उल्लेखनीय कृति है।

संस्मरण-साहित्य की सबसे अनमोल निधि वे पत्र-पत्रिकाएं हैं, जिनमें ये नियमित रूप से प्रकाशित होते रहे हैं। सरस्वती में 'मनोरंजक संस्मरण', नयी धारा में 'मुझे याद है', धर्मयुग में 'एक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दिन की बात', 'अविस्मरणीय', 'जब मैं सोलह साल की थी' आदि शीर्षकों के अंतर्गत बेहिसाब संस्मरण प्रकाशित हुए हैं। सारिका ने तो पूरे के पूरे अंक ही संस्मरण पर निकाल दिये हैं। संस्मरणों का यह भंडार परिमाण की दृष्टि से ही नहीं, विषय वैविध्य की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ये जीवन के विविध क्षेत्रों यथा—चिकित्सा, क्रीड़ा, फ़िल्म-जगत, संगीत, नृत्य आदि से जुड़े लोगों के साथ संबद्ध हैं। इनमें डाकुओं के संस्मरण भी हैं तथा समाज-सुधारकों के भी। इनमें अहिंदी प्रदेशों में रहते हुए हिंदी-सेवियों के संस्मरण भी हैं तथा हिंदी-सेवा में जुटे विदेशी विद्वानों के संस्मरण भी। इस दृष्टि से रूस के प्रसिद्ध हिंदी-विद्वान डॉ. ये.पी. चेलीशेव का संस्मरण 'निराला : जीवन और संघर्ष के मूर्त्तिमान रूप' (प्रकाशन समाचार, जनवरी, 1983) विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः संस्मरणों का ऐसा संगम अन्यत्र अप्राप्य नहीं तो दुर्लभ अवश्य है।

पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त अभिनंदन तथा स्मृतिग्रंथों में भी शताधिक संस्मरण संकलित हैं। यद्यपि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इनमें से बहुत-से ऐसे हैं, जिनमें आत्मीयता के स्थान पर औपचारिकता तथा गुण-दोष-विश्लेषण के स्थान पर प्रशस्तिगान की अनुगूंज सुनायी देती है, किंतु संस्मरणीय की सूझबूझ, प्रशासन-क्षमता, अदम्य धैर्य एवं साहस तथा अन्यान्य सहज मानव-गुणों को उद्घाटित करने वाले संस्मरणों का भी सर्वथा अभाव नहीं है।

समग्रतः हिंदी-संस्मरण ने अपनी छोटी-सी विकासयात्रा में जिस बहुरंगी एवं विविध आयामी समृद्ध परंपरा का निर्माण किया है, वह स्पृहणीय है।

## गद्यकाव्य

यद्यपि यह सत्य है कि गद्यकाव्य आलोच्य युग की जीवंतधारा नहीं रही है, फिर भी इस युग में छायावाद-युग के अनेक प्रतिष्ठित लेखकों की महत्त्वपूर्ण कृतियां प्रकाशित हुईं। उदाहरणार्थ, वियोगी हरि ने महात्मा गांधी द्वारा किये गये कार्यों तथा सिद्धांतों का निरूपण करते हुए 'श्रद्धाकण' (1949) का प्रणयन किया, चतुरसेन शास्त्री ने राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत 'मरी खाल की हाय' (1939) तथा 'जवाहर' (1946) नाम्नी रचनाएं लिखीं और राजनारायण मेहरोत्रा 'रजनीश' ने 'आराधना' (1939) में प्रेमिका को प्रभु का पद दे कर उसकी आराधना की। दिनेशनंदिनी चौरड्या (डालमिया) की कृतियां सर्वाधिक संख्या में प्रकाशित हुईं, जिनमें 'शारदीया' (1939), 'दुपहरिया के फूल' (1942), 'वंशीरव' (1945), 'उन्मन' (1945) और 'स्पंदन' (1949) उल्लेखनीय हैं। मुख्यतः नारी-मन की संयोग एवं वियोगकालीन प्रेम-भावनाओं को ही वाणी प्रदान करने वाली इन रचनाओं में कहीं-कहीं आध्यात्मिकता का स्वर भी विद्यमान है। संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, उर्दू आदि भाषाओं से भावानुरूप शब्दचयन तथा दृष्टांतों एवं सूक्तियों का यथास्थान प्रयोग इनके लेखन की मुख्य विशेषताएं हैं। अज्ञेय की 'चिंता' (1941) की कुछ रचनाएं भी गद्यकाव्य-शैली में लिखित हैं। कभी नितांत नये शब्द गढ़ते हुए और कभी तत्सम शब्दावली का प्रयोग करते हुए स्त्री-पुरुष के पारस्परिक गतिशील संबंधों का बौद्धिक विश्लेषण उनके रचनाशिल्प की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। तेजनारायण काक-कृत 'निर्झर और पाषाण' (1943) में मिट्टी के ढेले, चींटे आदि सामान्य से विषयों का भी संक्षिप्त और संवेदनापूर्ण प्रतिपादन मिलता है। रामप्रसाद विद्यार्थी 'रावी' ने 'शुभ्रा' (1942) में नारी संबंधी अपने इस दृष्टिकोण को व्यक्त किया है कि प्रेम का संबंध शरीर से नहीं है तथा अनेक पुरुष एक स्त्री से और एक स्त्री अनेक पुरुषों से प्रेम कर सकती है।

गद्यकाव्य के प्रणयन की ओर उन्मुख हो कर आलोच्य युग में ही महत्त्वपूर्ण कृतियों की रचना करने वालों में माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीयता के स्वर में पगी अपनी कृति 'साहित्यदेवता' (1943)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के लिए प्रख्यात हैं तो डॉ. रघुवीर सिंह ने 'शेष स्मृतियां' (1936) में मुग़लकालीन खंडहरों के आधार बना कर जीवन के उतार-चढ़ाव का चित्रोपम वर्णन किया है। ब्रह्मदेव ने भारत भूमि शरणार्थी-समस्या आदि विविध विषयों का आत्मनिवेदनात्मक एवं संबोधनात्मक शैली में प्रतिपादन किया है। 'निशीथ' (1945), 'आंसू-भरी धरती' (1948) और 'उदीची' (1956) उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं। रंगनाथ दिवाकर ने 'अंतरात्मा से' (1951) में भक्तहृदय की भावनाओं को मौलिक ढंग से व्यक्त किया है। अन्य गद्यकाव्यकारों में ब्यौहार राजेंद्र सिंह ने खलील जिब्रान की शैली का अनुकरण करते हुए गंभीर जीवन-सत्यों को 'मौन के स्वर' (1951) के माध्यम से व्यक्त किया है, तो महावीरशरण अग्रवाल ने रवींद्रनाथ ठाकुर की शैली के अनुकरण पर 'गुरुदेव' (1953 में अरविंद की विचारधारा का भावपूर्ण निरूपण किया है।

प्रवृत्यात्मक दृष्टि से मूल्यांकन करने पर यह ज्ञात होता है कि पूर्ववर्ती युग के समान इस युग में भी गद्यकाव्य का मूल स्वर प्रेम तथा राष्ट्रीयता का ही है। इतिहास-प्रसिद्ध स्थलों को देख कर भावप्रधान रचनाओं का प्रणयन यद्यपि केवल डॉ. रघुवीरसिंह ने ही किया है, किंतु ये रचनाएं इतनी प्रभावोत्पादक हैं कि हिंदी-गद्यकाव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करते समय इन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता।

## रिपोर्ताज

'रिपोर्ताज' फ्रांसीसी भाषा का शब्द है तथा इसकी गणना नव्यतम साहित्यरूपों के अंतर्गत की जाती है। जिस रचना में वर्ण्य विषय का आंखों देखा तथा कानों सुना ऐसा विवरण प्रस्तुत किया जाये कि पाठक की हृत्तंत्री के तार झंकत हो उठें और वह उसे भूल न सके, उसे 'रिपोर्ताज' कहते हैं। 'रिपोर्ट' से यह इस अर्थ में भिन्न है कि उसमें जहां कलात्मक अभिव्यक्ति का अभाव होता है तथा तथ्यों का लेखा-जोखा मात्र रहता है, वहीं रिपोर्ताज में तथ्यों को कलात्मक एवं प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त किया जाता है। इस रचनाविधा का प्रादुर्भाव सन् 1939 के आसपास द्वितीय विश्वयुद्ध के समय हुआ था। रूसी साहित्यकारों ने इसका विशेष प्रचार-प्रसार किया तथा इलिया एहरेनबुर्ग ने रिपोर्ताज के कुशल लेखक के रूप में सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की। हिंदी में रिपोर्ताज-लेखन की परंपरा शिवदानसिंह चौहान की रचना 'लक्ष्मीपुरा' (रूपाभ, दिसंबर, 1938) से आरंभ हुई। 'हंस' के 'समाचार और विचार' तथा 'अपना देश' स्तंभों के अंतर्गत भी उनकी इस शैली की अनेक रचनाएं प्रकाशत हुईं, जिनमें 'मौत के ख़िलाफ़ ज़िंदगी की लड़ाई' विशेषरूपेण उल्लेखनीय है। बंगाल के दुर्भिक्ष तथा महामारी के संदर्भ में रांगेय राघव द्वारा 'विशाल भारत' के लिए लिखित रिपोर्ताज भी अपनी मार्मिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। अकालग्रस्त क्षेत्र में पहुंच कर उन्होंने पूंजीपतियों, व्यापारियों तथा मुनाफाखोरों के अमानवीय कृत्यों और भूख से बिलबिलाते नर-कंकालों पर जो मर्मस्पर्शी रिपोर्ताज लिखे, वे आगे चल कर 'तूफ़ानों के बीच' (1946) में संकलित व प्रकाशित हुए।

प्रकाशचंद्र गुप्त, उपेंद्रनाथ अश्क तथा रामनारायण उपाध्याय ने अपने रिपोर्ताजों के स्वतंत्र संग्रह प्रकाशित करने के स्थान पर उन्हें अपनी अन्य विषयक कृतियों में संकलित कर डाला है। प्रकाशचंद्र गुप्त ने घटनाप्रधान रिपोर्ताज लिखे हैं जो उनके रेखाचित्र-संग्रह 'रेखाचित्र' में संगृहीत हैं। 'स्वराज भवन', 'अल्मोड़े का बाज़ार' और 'बंगाल का अकाल' उनके उल्लेखनीय रिपोर्ताज हैं। उपेंद्रनाथ अश्क के रिपोर्ताज 'रेखाएं और चित्र' (1955) में संकलित हैं। 'पहाड़ों में प्रेममय संगीत' उनका उल्लेखनीय कथात्मक रिपोर्ताज है, जिसमें पहाड़ी गीतों के प्रतिपाद्य विषय 'प्रेम' पर अत्यंत ज्ञानवर्धक सामग्री जुटायी गयी है। रामनारायण उपाध्याय के रिपोर्ताज उनके व्यंग्यात्मक निबंधों के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संग्रह 'ग़रीब और अमीर पुस्तकें' (1958) में संगृहीत हैं। 'नववर्षांक समारोह में' उनका एक अत्यंत उत्कृष्ट रिपोर्ताज है, जिसमें जन्मदिन-समारोह, अभिनंदन-समारोह, ग्रंथ-विमोचन-समारोह आदि के पैटर्न पर आयोजित पत्रिकाओं के नववर्षांक-समारोह की अच्छी ख़बर ली गयी है।

रिपोर्ताज-लेखन की दिशा में कतिपय अन्य उल्लेखनीय हस्ताक्षर हैं : भदंत आनंद कौसल्यायन, शिवसागर मिश्र, डॉ. धर्मवीर भारती, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, शमशेरबहादुर सिंह, श्रीकांत वर्मा तथा फणीश्वरनाथ रेणु, जिन्होंने क्रमशः 'देश की मिट्टी बुलाती है', 'वे लड़ेंगे हज़ार साल' (1966), 'युद्ध-यात्रा' (1972), 'क्षण बोले कण मुस्काएं', 'प्लाट का मोर्चा', 'अपोलो का रथ' तथा 'ऋणजल धनजल' (1975) सदृश सशक्त रचनाओं के माध्यम से रिपोर्ताज-लेखन को नये आयाम दिये हैं। यह उल्लेखनीय है कि हिंदी का अधिकांश रिपोर्ताज-साहित्य पत्र-पत्रिकाओं में ही प्रकाशित हुआ है। नया पथ, ज्ञानोदय, कल्पना, माध्यम, साप्ताहिक हिंदुस्तान, धर्मयुग, दिनमान आदि पत्रिकाओं में समय-समय पर अनेक महत्त्वपूर्ण रिपोर्ताज प्रकाशित हुए हैं, जिनमें डॉ. भगवतशरण उपाध्याय, फणीश्वरनाथ रेणु, रामकुमार, विवेकीराय, कैलाश नारद, जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, निर्मल वर्मा, सतीकुमार, श्रीकांत वर्मा, कमलेश्वर आदि द्वारा लिखित 'ख़ून के छींटे', 'एकलव्य के नोट्स', 'पेरिस के नोट्स', 'बाढ़! बाढ़!! बाढ़!!!', 'धरती के लिए', 'चीनियों द्वारा निर्मित काठमांडू-ल्हासा सड़क', 'प्राग : एक स्वप्न', 'क्या हमने कोई षड्यंत्र रचा था', 'मुक्ति फ़ौज' और 'क्रांति करते हुए आदमी को देखना' विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं।

## इंटरव्यू (साक्षात्कार, भेंटवार्त्ता)

हिंदी-गद्य की नव्यतम विधाओं में आज इंटरव्यू सबसे अधिक लोकप्रिय विधा है। इसके लिए 'साक्षात्कार', 'भेंटवार्त्ता', 'अंतरंग वार्ता' तथा 'परिचर्चा' शब्द भी पर्याय रूप में प्रयुक्त होते हैं। 'इंटरव्यू' से अभिप्राय उस रचना से है, जिसमें लेखक व्यक्ति विशेष के साथ साक्षात्कार करने के बाद प्रायः किसी निश्चित प्रश्नमाला के आधार पर उसके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बारे में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करता है और फिर उसे लिपिबद्ध करके तथा समालाप्य को दिखा कर एवं सही करा कर पाठकों तक पहुंचा देता है। हिंदी में इस विधा का श्रीगणेश यों तो भारतेंदु-युग से ही माना जा सकता है, क्योंकि उस युग में पं. राधाचरण गोस्वामी ने भारतेंदु हरिश्चंद्र से साक्षात्कार करके उनसे साहित्यिक प्रश्न पूछे थे, और फिर पूछे गये प्रश्नों तथा प्राप्त उत्तरों को लिपिबद्ध करके प्रकाशित भी करवाया था। द्विवेदी-युग में हिंदी के प्रसिद्ध कहानीकार पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने प्रख्यात संगीतकार विष्णु दिगंबर पुलस्कर से भेंट करके संगीत विषयक प्रश्न पूछे थे और यह भेंटवार्त्ता 'समालोचना' पत्रिका के सितंबर, 1905 के अंक में 'संगीत की धुन' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी। तदनंतर बनारसीदास चतुर्वेदी के दो इंटरव्यू 'रत्नाकर जी से बातचीत' तथा 'प्रेमचंद के साथ दो, दिन', 'विशाल भारत' में क्रमशः सितंबर, 1931 तथा जनवरी, 1932 के अंकों में प्रकाशित हुए थे। अगस्त, 1933 में हिंदी के मूर्धन्य कथाकार मुंशी प्रेमचंद ने अपने समय की प्रमुख नवोदित कहानी-लेखिका उषादेवी मित्रा का इंटरव्यू पत्राचार के माध्यम से लिया था और उनके कहानी तथा साहित्य संबंधी विचारों को सामान्य पाठक तक पहुंचाया था। सन् 1938 तथा 1939 में प्रभाकर माचवे ने जैनेंद्रकुमार तथा आचार्य रामचुद्र शुक्ल से इंटरव्यू लिये थे, जो क्रमशः 'जैनेंद्र के विचार' नामक पुस्तक तथा 'वीणा' के अक्तूबर, 1939 के अंक में प्रकाशित हुए। शुक्ल संबंधी भेंटवार्त्ता में डॉ. माचवे ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की साहित्य-साधना का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करने के साथ-साथ उनके बाह्य रूपाकार का भी प्रभावी अंकन किया है। यह बात दूसरी है कि यहां पर भी माचवे की हास्य-व्यंग्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

से परिपूर्ण चुटीली शैली के दर्शन होते हैं, ''भूरी अधकटी मूंछों के छप्पर के नीचे एक स्थिर गंभीर मुस्कराहट, मोटे चश्मे के ऐनक और घनी भौहों के नीचे ज्ञान के गुरुत्व से भरी-सी आंखें, गदबदा बदन, ढीला-ढाला अंग्रेज़ी लिबास और सादा रहन-सहन, सिर पर रुपहले केशों का विरल अधिराज्य।'' डॉ. सत्येंद्र के संपादकत्व में सन् 1941 में मार्च-अप्रैल के संयुक्तांक के रूप में 'साधना' पत्रिका का परिचयांक भेंटवार्त्ता-विशेषांक के रूप में प्रकाशित हुआ। इस विशेषांक ने भेंटवार्त्ता को एक स्वतंत्र विधा के रूप में प्रतिष्ठित करने में मीलस्तंभ का कार्य किया। जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी तथा चिंरजीलाल 'एकाकी' द्वारा क्रमशः भदंत आनंद कौसल्यायन तथा महादेवी वर्मा से ली गयी भेंटवार्त्ताएं इस अंक की महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं। 'हंस' पत्रिका के दिसंबर, 1947 के अंक में श्री नरोत्तम नागर द्वारा पं. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला से ली गयी एक महत्त्वपूर्ण भेंटवार्त्ता प्रकाशित हुई, जिसका शीर्षक था—'अपने ही घर में सरस्वती का अपमान'। इस भेंटवार्त्ता में निराला ने दो टूक शब्दों में इस बात पर रोष व्यक्त किया था कि राजनेताओं के समक्ष साहित्यकारों को तुच्छ समझा जाता है। पांचवें दशक के भेंटवार्त्ता-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि बेनीमाधव शर्मा-विरचित 'कविदर्शन' नामक पुस्तक का प्रकाशन है। श्रीमती शकुंतला सिरोठिया के मतानुसार बेनीमाधव शर्मा का वास्तविक नाम मुकुंददेव शर्मा है और ये अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध के प्रपौत्र हैं। वैसे, यह इस विधा की प्रथम स्वंतत्र कृति है, जिसमें अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्यामसंदर दास, रामचंद्र शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त प्रभृति कृतिकारों से ली गयी भेंटवार्त्ताएं संकलित हैं।

हिंदी-भेंटवार्त्ता के इतिहास में सर्वाधिक चर्चित पुस्तक डॉ. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश-कृत'. 'मैं इनसे मिला' (1952) है, जिसमें कवि, कथाकार तथा आलोचकों से ली गयी अट्ठारह भेंटवार्त्ताएं संकलित हैं। भाग एक में सर्वश्री गुलाबराय, रामनरेश त्रिपाठी, सुदर्शन, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', लक्ष्मीनारायण मिश्र, महादेवी वर्मा, शांतिप्रिय द्विवेदी, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' से ली गयी भेंटवार्त्ताएं हैं तथा भाग दो में सर्वश्री इंद्रविद्यावाचस्पति, राय कृष्णदास, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', जैनेंद्रकुमार, यशपाल, दिनेशनंदिनी डालमिया, डॉ. नगेंद्र, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', प्रभाकर माचवे तथा विष्णु प्रभाकर से ली गयी भेंटवार्त्ताएं प्रस्तुत की गयी हैं। इनमें से अधिकांश भेंटवार्ताएं एक निश्चित प्रश्नमाला के आधार पर ली गयी हैं, लेकिन कुछ भेटवार्त्ताएं ऐसी हैं, जहां लेखक ने निश्चित प्रश्नमाला का आश्रय नहीं लिया है। महादेवी वर्मा से लिया गया इंटरव्यू इसी प्रकार का है। प्रस्तुत विधा की दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति देवेंद्र सत्यार्थी की 'कला के हस्ताक्षर' है। यद्यपि इसमें अनेक स्थलों पर संस्मरण, रेखाचित्र तथा निबंध की विशेषताएं समाविष्ट हो गयी हैं, किंतु इसकी पृष्ठभूमि में इंटरव्यू की विधा ही मुख्य हैं—लेखक ने साहित्य, संगीत, अभिनय, चित्रकला आदि से संबद्ध महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से हुए अपने वार्त्तालाप के बाद उपलब्ध जानकारी को लिपिबद्ध किया है। इस वर्ग की अन्य महत्त्वपूर्ण कृतियां रणवीर रांग्रा की 'सृजन की मनोभूमि' (1968) तथा 'साहित्यिक साक्षात्कार' (1978), वीरेंद्रकुमार गुप्त की 'समय और हम', रामावतार की 'समय, समस्या और सिद्धांत', सुरेश सिन्हा की 'हिंदी-कहानी और फ़ैशन', शरद देवड़ा की 'सात कथा-लेखिकाएं अैर कथा-नायिकाएं' तथा 'एक आलोचक की नोटबुक', माजदा असद की 'मेरी मुलाकातें' (1977), सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' की 'अपरोक्ष' (1979), अमृता प्रीतम की 'शौक़ सुराही' (1979), मनोहरश्याम जोशी की 'बातों-बातों में' (1983) तथा कमलकिशोर गोयनका की 'अभिमन्यु अनत : एक बातचीत' (1985) और 'जिज्ञासाएं मेरी : समाधान बच्चन के' (1985) उल्लेखनीय हैं। रणवीर रांग्रा ने अपनी भेंटवार्त्ताओं के माध्यम से पाठकों को साहित्यकारों के अवचेतन की अतल गहराइयों तथा रचनाप्रक्रिया से परिचित कराया है। वीरेंद्र कुमार

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गुप्त तथा रामावतार की पुस्तकों में जैनेंद्रकुमार से की गयी भेंटवार्त्ताओं के आधार पर साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों से संबद्ध प्रश्नों के उत्तर संजोये गये हैं। सुरेश सिन्हा ने हिंदी-कहानी की तत्कालीन स्थिति के बारे में उपेंद्रनाथ अश्क के विचारों को अपनी लंबी भेंटवार्त्ता में प्रस्तुत किया है, तो शरद देवड़ा ने कथा-आलोचना की नयी शैली अपनायी है। 'अपरोक्ष' में अज्ञेय से ली गयी आठ भेंटवार्त्ताएं संकलित हैं और इनके माध्यम से अज्ञेय का चिंतक एवं दार्शनिक रूप उभर कर आता है। अमृता प्रीतम ने 'शौक़-सुराही' में देश-विदेश के बाईस साहित्यकारों एवं कलाकारों से हुई बाचतीत को साहित्य तथा कला के विविध आयामों के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। मनोहरश्याम जोशी ने अपनी भेंटवार्त्ताओं में साहित्यिक हस्तियों के अलावा राजनेताओं, सेनानायकों तथा फ़िल्म-निर्देशकों से हुई बातचीत को संकलित किया है। कमलकिशोर गोयनका ने अभिमन्यु अनत से की गयी अपनी बातचीत में जहां लेखक तथा अभिव्यक्ति के पारस्परिक संबंधों के विविध संदर्भों को मुख्य मुद्दा बनाया है, वहीं बच्चन के साथ की गयी बातचीत में बच्चन के कृतित्व के साथ-साथ उनके निजी जीवन को भी कुरेदा गया है।

भेंटवार्त्ताओं के जहां एक ओर स्वतंत्र संग्रह प्रकाशित हुए हैं, वहीं दूसरी ओर अन्य विषयक रचनाओं के साथ-साथ भेंटवार्त्ताएं भी संकलित कर ली गयी हैं। रामधारीसिंह दिनकर की 'वट-पीपल' (1961), विष्णु प्रभाकर की 'कुछ शब्द : कुछ रेखाएं' (1965) तथा ओमप्रकाश सिंहल की 'गद्य के नये आयाम' (1981) में ऐसा ही हुआ है।

आज हिंदी की सभी पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रूप से भेंटवार्त्ताएं प्रकाशित होती हैं। 'नयी धारा' में तो 'हम इनसे मिले थे' शीर्षक से एक स्थायी स्तंभ ही है।

## पत्र-साहित्य

छायावादोत्तर काल में प्रकाशित पत्र-साहित्य को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है : *(क)* व्यक्तिगत पत्रों के स्वतंत्र संकलन, *(ख)* विविध विषयक ग्रंथों में परिशिष्ट आदि के अंतर्गत संकलित पत्र तथा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पत्र। प्रथम वर्ग की रचनाओं में भदंत आनंद कौसल्यायन-कृत 'भिक्षु के पत्र', भाग 1-2 (1940), डॉ. धीरेंद्र वर्मा-कृत 'यूरोप के पत्र' (1944), सत्यभक्त स्वामी कृत 'अनमोल पत्र' (1950), सूर्यबली सिंह-कृत 'मनोहर पत्र' (1952), ब्रजमोहनलाल वर्मा कृत 'लंदन के पत्र' (1954), बैजनाथसिंह 'विनोद' द्वारा संपादित 'द्विवेदी-पत्रावलि' (19 4), बनारसीदास चतुर्वेदी तथा हरिशंकर शर्मा द्वारा संपादित 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' (1956), डॉ. धीरेंद्र वर्मा तथा डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा संपादित 'प्राचीन हिंदी-पत्र-संग्रह' (1959), वियोगी हरि द्वारा संपादित 'बड़ों के प्रेरणादायक कुछ पत्र' (1960), कमलापति त्रिपाठी द्वारा लिखित 'बंदी की चेतना' (1962), डॉ. जगदीशचंद्र द्वारा लिखित 'सोवियत रूस पिता के पत्रों में' (1966), अमृतराय द्वारा संपादित प्रेमचंद के पत्रों का संग्रह 'चिट्ठी-पत्री' (दो भाग), काका कालेलकर द्वारा संगृहीत 'बापू के पत्र', डॉ. काशीनाथ शंकर केलकर द्वारा संपादित '18वीं शती के हिंदी-पत्र' (1970), पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' द्वारा संपादित 'फ़ाइल और प्रोफ़ाइल' (1970), जीवनप्रकाश जोशी द्वारा संपादित 'बच्चन : पत्रों में' (1970), वृंदावनलाल वर्मा द्वारा संपादित 'बनारसीदास चतुर्वेदी के पत्र' (1971), जानकीवल्लभ शास्त्री द्वारा संपादित 'निराला के पत्र' (1971), हरिवंशराय बच्चन द्वारा संपादित 'पंत के दो सौ पत्र बच्चन के नाम' (1971), मधुरेश द्वारा संपादित 'यशपाल के पत्र' (1977), रमण शांडिल्य द्वारा संपादित 'बाबू वृंदावनलाल दास के पत्र' (1978), डॉ. विजयेंद्र स्नातक के निजी पत्रों का संकलन 'अनुभूति के साथ' (1980), पद्मधर पाठक द्वारा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा श्रीधर पाठक को 1899 से 1903 के बीच लिखे गये दुर्लभ पत्रों का संग्रह 'द्विवेदी जी के पत्र पाठक जी के नाम' (1982), मुकुंद द्विवेदी द्वारा संपादित हजारीप्रसाद द्विवेदी के पत्रों का संग्रह 'पत्र' (1983), नेमिचंद्र जैन द्वारा उनके और मुक्तिबोध के बीच हुए पत्राचार का संकलन 'पाया पत्र तुम्हारा' (1984), चंद्रदेव सिंह द्वारा संपादित 'बच्चन के विशिष्ट पत्र' (1984), जगमोहन सिंह तथा चमनलाल द्वारा संपादित 'शहीद भगतसिंह और उनके साथियों के दस्तावेज़' (1986) आदि विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। 'प्राचीन हिंदी-पत्र-संग्रह' तथा 'अठारहवीं शती के हिंदी-पत्र' सदृश ग्रंथों से मराठा-इतिहास के संबंध में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है, तो डॉ. धीरेंद्र वर्मा, ब्रजमोहन लाल वर्मा तथा डॉ. जगदीशचंद्र के पत्रों में क्रमशः यूरोप, लंदन तथा रूस के दर्शनीय स्थानों का सजीव चित्रण हुआ है। पद्मसिंह शर्मा, महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, पुरुषोत्तमदास टंडन, बनारसीदास चतुर्वेदी, किशोरीदास वाजपेयी, बेचन शर्मा उग्र, सुमित्रानंदन पंत, हरिवंशराय बच्चन आदि द्वारा लिखित पत्रों से हिंदी-साहित्य की गतिविधियों और समस्याओं पर समुचित प्रकाश पड़ता है।

साहित्य, राजनीतिक आदि विभिन्न क्षेत्रों की महान विभूतियों से संबद्ध ग्रंथों में भी पत्र-साहित्य का अमूल्य भंडार संकलित है। उदाहरणार्थ, हरिवंशराय बच्चन द्वारा प्रणीत 'कवियों में सौम्य संत' (1960) के परिशिष्ट भाग में सुमित्रानंदन पंत के 126 मूल्यवान पत्र संकलित हैं। सन् 1940-1960 की अवधि में पंत जी द्वारा बच्चन को लिखे गये इन पत्रों के माध्यम से पंत के पारिवारिक जीवन तथा उनकी काव्य-चेतना के विभिन्न सोपानों का परिज्ञान होता है। डॉ. शिवप्रसाद सिंह द्वारा संपादित 'शांतिनिकेतन से शिवालक' (1967) में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा विभिन्न साहित्यकारों को लिखे गये जिन पत्रों का संकलन किया गया है, उनसे आचार्य द्विवेदी की अभिरुचियों और विचारधारा का पता तो लगता ही है, साथ ही वे उनकी साहित्ययात्रा के विभिन्न सोपानों को भी प्रकट करते हैं।

हिंदी-पत्र-साहित्य के विकास में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका', 'सरस्वती', 'माधुरी', 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 'ज्ञानोदय' आदि ने भी महत्त्वपूर्ण योग दिया है। 'चांद' का पत्रांक तो हिंदी-साहित्य की अमूल्य निधि है। 'हंस' के अक्तूबर, 1948 के अंक में प्रकाशचंद गुप्त ने प्रेमचंद जी के कुछ पत्र प्रकाशित किये थे। बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'सम्मेलन-पत्रिका' के भाग 52, संख्या 3-4 में 27 तथा भाग 53, संख्या 1-2 में 29 पत्र प्रकाशित किये थे, जिनसे वासुदेवशरण अग्रवाल के गंभीर चिंतन-मनन तथा भावुक हृदय का परिचय प्राप्त होता है। 'राष्ट्रवाणी' के 'मुक्तिबोध स्मृति-अंक' (1965) में गजानन माधव मुक्तिबोध संबंधी जिन पत्रों का संकलन संपादन किया गया है, वे मुक्तिबोध के काव्य की रचना-प्रक्रिया तथा उनकी अमानवीय जीवन-गाथा पर प्रकाश डालते हैं। सम्मेलन-पत्रिका (1982) के पत्र-विशेषांक में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के एक सौ उनसठ, प्रेमचंद के सात, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध के चौदह, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' के पंद्रह, राहुल सांकृत्यायन के चालीस, रामधारी सिंह दिनकर के छह, सियारामशरण गुप्त के तीन, भगवतीप्रसाद वाजपेयी के तेरह, शिवपूजन सहाय के छत्तीस तथा उदयशंकर भट्ट के छत्तीस पत्र संकलित हैं। इसी प्रकार लगभग सभी पत्रिकाओं में 'आपका पत्र मिला', 'चिट्ठी-पत्री', 'पत्र-प्रसंग' आदि स्तंभों के अंतर्गत पाठकों के पत्र प्रकाशित होते रहते हैं, जिनमें साहित्य, समाज, राजनीति, धर्म आदि से संबद्ध विभिन्न समस्याओं के विषय में जनता के विचारों की अभिव्यक्ति रहती है। इस सारी सामग्री के अध्ययन से पाठक को समाज, राजनीति, धर्म, दर्शन, इतिहास, भूगोल, समसामयिक साहित्य एवं जीवन से संबद्ध विभिन्न

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विषयों की अमूल्य जानकारी प्राप्त होती है। इसके साथ ही ये उसे जीवन-संघर्ष को झेलते हुए निरंतर कर्मरत रहने की प्रेरणा प्रदान करते हैं।

समग्रतः हिंदी का पत्र-साहित्य पाठक के लिए ज्ञान और अनुभव के एकदम अछूते संसार के द्वार खोलता है।

## अभिनंदन एवं स्मृतिग्रंथ

जीवन के विकास-पथ पर साहित्य, राजनीति आदि विभिन्न क्षेत्रों में जिन विशिष्ट व्यक्तियों ने अपने अमिट चरणचिह्न अंकित कर दिये हैं, उनके कृतित्व की सामाजिक स्वीकृति एवं अनुशंसा के लिए अभिनंदन तथा स्मृतिग्रंथों के संपादन-प्रकाशन की ओर भी इस युग में पर्याप्त ध्यान दिया गया है। अभिनंदन तथा स्मृतिग्रंथ वंदनीय व्यक्ति का गुण-स्तवन करने के साथ-साथ, जनमानस में सद्गुणों के संस्कार डालने तथा अपने युग के सामाजिक व राजनीतिक जीवन का सच्चा इतिहास प्रस्तुत करने में अमूल्य सहायता प्रदान करते हैं। आलोच्य युग में इस दिशा में जिन कृतियों का संपादन व प्रकाशन हुआ है, उन्हें चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : *(क)* साहित्यकारों से संबंधित अभिनंदन एवं स्मृतिग्रंथ, *(ख)* स्वाधीनता के कर्मठ सेनानियों तथा रष्ट्र के कर्णधारों से संबद्ध ग्रंथ, *(ग)* धर्म, दर्शन और संस्कृति के उन्नयन में योग देने वाले महानुभावों से संबंधित ग्रंथ, *(घ)* भारतीय स्वतंत्रता की वर्षगांठों, हिंदी-प्रचार संबंधी संस्थाओं, पत्रिकाओं आदि की जयंतियों पर प्रकाशित अभिनंदन-ग्रंथ।

प्रथम वर्ग के अंतर्गत जो अभिनंदन एवं स्मृतिग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, उनमें बालमुकुंद गुप्त स्मृतिग्रंथ (950), महाकवि निराला अभिनंदनग्रंथ (1953), कन्हैयालाल प्रभाकर अभिनंदनग्रंथ (1953), सेठ गोविंददास अभिनंदनग्रंथ (1956), राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनंदनग्रंथ (1959), राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन अभिनंदनग्रंथ (1959), किशोरीदास वाजपेयी अभिनंदनग्रंथ (1961), महादेवी वर्मा अभिनंदनग्रंथ (1964), डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी की षष्टिपूर्ति के अवसर पर समर्पित अभिनंदनग्रंथ 'शांतिनिकेतन से शिवालिक' (1967), रविशंकर शुक्ल अभिनंदनग्रंथ, सोहनलाल द्विवेदी अभिनंदनग्रंथ (1969), बाबू गुलाबराय स्मृतिग्रंथ (1970) तथा बनारसी चतुर्वेदी अभिनंदनग्रंथ (1971), डॉ. दशरथ ओझा द्वारा संपादित 'सावित्री सिन्हा स्मृतिलेख', डॉ. विजयपाल सिंह द्वारा संपादित डॉ. नगेंद्र अभिनंदनग्रंथ, डॉ. राजकमल बोरा द्वारा डॉ. विजयपाल सिंह के अभिनंदनार्थ संपादित 'तिरुपति से विश्वनाथ तक' (1982), भंवरमल सिंधी अभ्यर्थना समारोह द्वारा प्रकाशित 'भंवरमल सिंधी : सात दशकों की जीवनयात्रा' (1984), क्षेमचंद्र सुमन द्वारा यशपाल जैन के अभिनंदनार्थ संपादित 'निष्काम साधक' (1984), बनारसीदास चतुर्वेदी की मृत्यु के बाद प्रकाशित 'श्रद्धांजलि' (1987) विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त ग्रंथों में संबद्ध साहित्यकारों के व्यक्तित्व और कृतित्व के निरूपण तथा मूल्यांकन के साथ-साथ हिंदी भाषा तथा साहित्य की उपलब्धियों, सीमाओं एवं समस्याओं पर भी विचार किया गया है। साहित्यकारों की आर्थिक स्थिति तथा उनके जीवन-संघर्ष, लेखकों तथा प्रकाशकों के पारस्परिक संबंध, हिंदी-प्रचार, अंग्रेज़ी भाषा तथा अंगरेज़ियत की ग़ुलामी के कांटे को दूर करने के लिए किये गये प्रयत्नों, भारत में हिंदी की वर्तमान स्थिति और उसके उज्ज्वल भविष्य आदि विषयों पर भी इनमें से अधिकांश में महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित है।

दूसरे वर्ग के अंतर्गत प्रकाशित हुए अभिनंदन एवं स्मृतिग्रंथों में दीनबंधु को श्रद्धांजलियां (1941), नेहरू अभिनंदनग्रंथ (1949), गांधी श्रद्धांजलिग्रंथ (1955), प्यारेलाल स्मृतिग्रंथ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(1961), डॉ. आदित्यनाथ झा अभिनंदनग्रंथ (1962) आदि उल्लेखनीय हैं। स्वाधीनता के कर्मठ सेनानियों, राष्ट्र के कर्णधारों तथा कुशल प्रशासकों से संबद्ध इन अभिनंदन एवं स्मृतिग्रंथों का मूल स्वर है, देशप्रेम! ब्रिटिश शासन की शृंखलाओं को छिन्न-भिन्न करने के लिए जीवन की बाज़ी लगा देने वाले देशभक्तों द्वारा की गयी जेल-यात्राओं तथा तत्कालीन निरंकुश नौकरशाही द्वारा किये गये नृशंस अत्याचारों का चित्रण इन ग्रंथों की मुख्य विशेषता है। इनके माध्यम से भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम की इतिहासगाथा भी अनायास रूपायित हो उठती है।

तीसरे वर्ग के अंतर्गत प्रकाशित रचनाओं में स्वामी हरिदास अभिनंदनग्रंथ (1957), राजगोपाल मोहता अभिनंदनग्रंथ (1958), गोपीनाथ कविराज अभिनंदनग्रंथ (1967) आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें समाजसुधार, देशसुधार तथा मानवप्रेम के प्रचार-प्रसार में प्रयत्नशील रहने वाले व्यक्तियों की यशोगाथा अंकित की गयी है। समाजसुधार को सभी सुधारों का मूलमंत्र मान कर सामाजिक कुप्रथाओं तथा अंधविश्वासों को दूर करने के लिए महान आत्माओं द्वारा किये गये प्रयत्नों का लेखा-जोखा भी इन ग्रंथों में प्रस्तुत किया गया है। ये ग्रंथ इस तथ्य पर भी प्रकाश डालते हैं कि नयी तथा पुरानी विचारधारा के लोगों के बीच समन्वय स्थापित करके प्रगतिशील समाज का निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है।

चौथे वर्ग में प्रकाशित रचनाओं में सरस्वती हीरक जयंती समारोह द्वारा प्रकाशित 'सरस्वती हीरक जयंती अंक' (1971) तथा दिल्ली हिंदी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा प्रकाशित 'स्वतंत्रता रजत जयंती अभिनंदनग्रंथ' (1973) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सरस्वती हीरक जयंती अंक में 'सरस्वती पत्रिका' के हिंदी-भाषा तथा साहित्य के विकास में योगदान संबंधी लेखों के अतिरिक्त, विभिन्न अंकों से चुनी हुई कविताओं, कहानियों, निबंधों तथा लेखों का संकलन भी है। इसके अलावा हिंदी के क़रीब ढाई सौ प्रमुख लेखकों का जीवनपरिचय भी दिया गया है। 'स्वतंत्रता रजत जयंती अभिनंदनग्रंथ' में सन् 1947 से 1972 तक के पच्चीस वर्षों के हिंदी-वाङ्मय के शोधपूर्ण सर्वेक्षण से संबद्ध पचास लेखों के अतिरिक्त हिंदी-प्रचार का इतिहास, तत्संबंधी कठिनाइयों तथा उनके निराकरण के उपायों से संबद्ध साठ लेख हैं।

## गद्य-साहित्य की अन्य विधाएं-II

अन्य गद्य-विधाओं के अंतर्गत जीवनी, आत्मकथा, यात्रावृत्त, संस्मरण, रेखाचित्र, साक्षात्कार, पत्र, दैनंदिनी, गद्यकाव्य और रिपोर्ताज को सम्मिलित किया जाता है। अभिनंदनग्रंथों, स्मृतिग्रंथों और पत्र-पत्रिकाओं को साहित्यिक गद्य-विधाओं में सम्मिलित करना उचित और तर्कसम्मत नहीं है, क्योंकि अभिनंदनग्रंथों और स्मृतिग्रंथों में विभिन्न विधाएं एक साथ, किंतु अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व बनाये हुए सम्मिलित होती हैं और पत्र-पत्रिकाएं पत्रकारिता के अंतर्गत आती हैं, जो स्वतंत्र साहित्येतर अनुशासन है। पत्र-पत्रिकाओं में विभिन्न विधाओं की साहित्यिक रचनाएं प्रकाशित होती हैं, लेकिन उनके कारण पत्रकारिता साहित्य नहीं हो जाती। साहित्यकार और पत्रकार के बीच भी विवेकपूर्वक विभेद करना आवश्यक है। यदि यह विवेक नहीं किया जायेगा, तो साहित्य के क्षेत्र में अराजकता फैल जायेगी, जो एक सीमा तक आजकल फैली भी हुई है।

उपर्युक्त गद्य-विद्याओं को 'अन्य' या 'गौण' विधाएं इसलिए कहा जाता है कि वे अभी तक साहित्य की केंद्रीय विधाएं नहीं बन सकी हैं और न ही केंद्रीय विधाओं की तरह विकसित हो सकी हैं। मुख्यत: केंद्रीय विधाओं में रचना करने वाले इन विधाओं में से भी एकाध पर हाथ आजमा लेते हैं और कुछ तो ऐसी विधाएं हैं, जो अनायास रच जाती हैं; जैसे पत्र या दैनंदिनी।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वर्तमान कालावधि में इन विधाओं में से **गद्यकाव्य या गद्यगीत** और रिपोर्ताज की रचना नगण्य है। गद्यगीत या गद्यकाव्य की रचनाओं के रूप में माधवप्रसाद पांडेय की 'छितवन के फूल' (1974) और 'मधुनीर' (1985) आदि का ही उल्लेख किया जा सकता है। 'प्रिय', 'प्राण' आदि संबोधनों से मुक्त उनकी ये गद्य 'रचनाएं प्रणय' भावना को व्यक्त करती हैं, उसके उल्लास को कम, उसकी व्यथा को अधिक। यह अलग बात है कि उपन्यासों, कहानियों, निबंधों, आलोचना आदि में ऐसे गद्यांश मिल जायें, जो गद्यकाव्य या गद्यगीत की सीमा का स्पर्श करते हों, लेकिन उन्हें स्वतंत्र गद्यगीतों या गद्यकाव्यों के रूप में परिगणित नहीं किया जा सकता। गद्यगीतों या गद्यकाव्यों के इस अकाल के दो कारण हैं। एक तो अब छायावादकालीन भावुकता और रूमानियत नहीं रह गयी है, जिसने इस विधा को जन्म दिया था। भावुकता, विशेष रूप से गलदश्रुभावुकता (सेंटीमेंटैलिटी) और रुमानियत को न तो अब अच्छा समझा जाता है और न ही आज की स्थितियों में इन मनोभावों को ले कर जीवित रह पाना संभव है। दूसरे, अब भावुकता और रूमानियत को छंदमुक्त कविता में व्यक्त किया जा सकता है और उसे अब केवल 'कविता' कहा व माना जाता है।

जो स्थिति गद्यगीत या गद्यकाव्य की है, लगभग वही स्थिति रिपोर्ताज की है। वर्तमान कालावधि में उल्लेखनीय रिपोर्ताज नगण्य हैं। इस कालावधि में प्रकाशित रिपोर्ताज में रेणु के 'श्रुत-अश्रुत पूर्व' (1984) और विष्णुकांत शास्त्री के 'बांग्लादेश के संदर्भ में' का ही उल्लेख किया जा सकता है। रिपोर्ताज के इस दारिद्र्य का कारण यह है कि अब पत्रकारिता का चरित्र बदल गया है। पत्रकार शुद्ध पत्रकार बन गया है। वह असाधारण और सनसनीखेज घटनाओं की रिपोर्टिंग अवश्य करता है, लेकिन उसकी रपटों में साहित्यिकता का संस्पर्श नहीं होता। वे शुद्ध तथ्यात्मक होती हैं।

## जीवनी

वर्तमान कालावधि में साहित्यिक कलाकृति बन सकने वाली जीवनियां बहुत कम लिखी गयी हैं। प्रतिष्ठित व्यक्तियों के जीवन में घटने वाली घटनाओं का चलता हुआ विवरण प्रस्तुत कर देना, व्यावसायिक दृष्टि से तो सार्थक हो सकता है, लेकिन साहित्यिक दृष्टि से व्यर्थ होता है।

इस कालावधि में विभिन्न क्षेत्रों के व्यक्तियों की जो उल्लेखनीय जीवनियां प्रकाशित हुई हैं, उनमें से सबसे पहले धर्म से संबद्ध महापुरुषों की जीवनियों की चर्चा हम कर रहे हैं, क्योंकि पुरुषार्थ चतुष्ट्व में सबसे पहले 'धर्म' आता है। इस श्रेणी में सबसे पहले उल्लेखनीय है डॉ. रघुवंश-लिखित 'मानवपुत्र ईसा : जीवन और दर्शन' (1985) इसका महत्त्व एक तो इसलिए है कि इसे एक हिंदू ने लिखा है। शायद इसीलिए ईसा 'मानवपुत्र' के रूप में देखे गये हैं। महत्त्वपूर्ण यह इसलिए भी है कि इसमें साहित्यिकता भरपूर है। इसे लिखते समय डॉ. रघुवंश को तलवार की धार पर चलना पड़ा है, क्योंकि आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में 'सामी पैगंबरों मतों में अकल का दख़ल' नहीं होता। इसी श्रेणी की एक महत्त्वपूर्ण जीवनी 'रामकृष्ण परम हंस : कल्पतरु की उत्सव लीला ' (2004) है, जिसे कृष्णबिहारी मिश्र ने श्रद्धा और श्रम से प्रस्तुत किया है।

इस कालावधि में ऐतिहासिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र से जुड़े महापुरुषों की जीवनियां नहीं के बराबर लिखी गयी हैं। मुकुटबिहारी लाल-लिखित 'आचार्य नरेन्द्रदेव : युग और नेतृत्व' (1987), रामविलास शर्मा-लिखित 'मार्क्स, त्रोत्स्की और एशियाई समाज' (1986), ओमप्रकाश दीपक और अरविंद मोहन-कृत 'लोहिया : एक जीवनी' (2006), रामनिवास जाजू-कृत घनश्यामदास बिड़ला की जीवनी 'मरुभूमि का वह मेघ' (1986) आदि कुछ ही जीवनियां प्रकाशित हुई हैं, जिन्हें उल्लेखनीय माना जा सकता था। इसमें भी ध्यान देने की बात यह है कि इनमें से

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

एक भी नायक नयी पीढ़ी का नहीं है। शायद इसलिए कि वर्तमान समय में इन क्षेत्रों में सिद्धांतवादिता, औदात्य और महानता संभव नहीं रह गये हैं।

इन क्षेत्रों की अपेक्षा साहित्यिक क्षेत्र से जुड़े व्यक्तियों की जीवनियां अधिक संख्या में लिखी गयी हैं। डॉ. तेजबहादुर चौधरी-लिखित शमशेर बहादुर सिंह की जीवनी 'मेरे बड़े भाई शमशेर जी' (1995), विष्णुचंद्र शर्मा-लिखित राहुल सांकृत्यायन की जीवनी 'समय साम्यवादी' (1997), प्रतिभा अग्रवाल द्वारा लिखित भारतेंदु की जीवनी 'प्यारे हरिचंदजू' (1997), मनमोहन ठाकौर-लिखित राजेन्द्र यादव की जीवनी 'राजेन्द्र यादव : मार्फत मनमोहन ठाकौर' (1999), ज्ञानचंद्र जैन-लिखित अमृतलाल नागर की जीवनी 'शेष कथा' (1999), राजमल बोरा-लिखित आचार्य रामचंद्र शुक्ल की जीवनी 'चिंतामणि चिंतक : रामचंद्र शुक्ल' (2000) कुमुद नागर-लिखित अमृतलाल नागर की जीवनी 'वटवृक्ष की छाया में' (2004) आदि ऐसी जीवनियां हैं, जो पूरी आत्मीयता और श्रद्धाभाव से लिखी गयी हैं, इसीलिए इनमें संस्मरणात्मकता का तत्त्व भी है, जो इन व्यक्तियों की अंतरंगता को उजागर करता है। इन जीवनियों में लेखकों की स्थिति और दृष्टि के कारण कहीं श्रद्धा प्रधान है तो कहीं आत्मीयता। उदाहरण के लिए, प्रतिभा अग्रवाल ने भारतेंदु हरिश्चंद्र की जो जीवनी लिखी है, उसमें नये तथ्यों का उद्घाटन तो नहीं है, लेकिन वे उनकी वंशज हैं। इसलिए उन्होंने इस जीवनी में अपने परिवार के संबंध में और भारतेंदु के प्रेम-प्रसंगों के संबंध में अधिक प्रामाणिकता और आत्मीयता के साथ लिखा है।

इधर हिंदी में जीवनी-लेखन में एक नयी प्रवृत्ति उभर कर सामने आयी है; और वह है, साहित्यिकों की पत्नियों के द्वारा उनकी जीवनियां लिखना। कमला सांकृत्यायन-लिखित राहुल सांकृत्यायन की जीवनी 'महामानव महापंडित' (1995), सुलोचना रांगेय राघव-लिखित रांगेय राघव की जीवनी 'रांगेय राघव : एक अंतरंग परिचय' (1997), बिंदु अग्रवाल-लिखित भारतभूषण अग्रवाल की जीवनी 'स्मृति के झरोखे से' (1999), महिमा मेहता द्वारा लिखित 'उत्सवपुरुष : नरेश मेहता' (2003) और गायत्री कमलेश्वर द्वारा लिखित 'कमेश्वर : मेरे हमसफर' (2005) इसी प्रकार की जीवनियां हैं। स्वाभाविक ही इन जीवनियों में संस्मरणों की प्रधानता है। इन जीवनियों में इन लेखकों के जीवन के ऐसे पक्ष और तथ्य उभर कर सामने आये हैं, जो अन्यों के द्वारा इनकी जीवनियां लिखने पर उभर कर सामने नहीं आते, चाहे कोई कितनी ही शोध करके जीवनी क्यों न लिखता! इन जीवनियों में साहित्यिकों के सबल और दुर्बल दोनों पक्ष उभर कर सामने आये हैं। यशाकांक्षा किसी रचनाकार की कैसी और कितनी बड़ी दुर्बलता होती है और उसकी मनोवृत्ति कितनी जटिल होती है, इसको हम कैसे जान पाते, यदि हमने बिंदु अग्रवाल की 'स्मृति के झरोखे से' के इस प्रसंग को न जाना होता :

''कुछ दिन पहले दिल्ली और दिल्ली के बाहर दो कवि-सम्मेलन हुए थे, जिनमें भारत जी को नहीं बुलाया गया था। इसलिए उदास थे।

''सन् '66 की बात है। एक बार रघुवीर सहाय हमारे घर आये हुए थे। भारत जी ने बड़े ही सरल भाव से पूछा, 'क्यों, क्या बात है कि लोग मेरे साहित्य की तारीफ नहीं करते? यह मैं नहीं मानता कि वह इतना ख़राब है कि उसकी उपेक्षा कर दी जाये।''

रघुवीर सहाय बोले, ''असल बात यह है भारत जी, आप साहित्य अकादमी में असिस्टेंट सेक्रेटरी हैं; ठीक ठाक से रहते हैं—ये दोनों ही बातें लोगों को ईर्ष्या और उपेक्षा के लिए काफ़ी हैं।'' जब रघुवीर सहाय चले गये तब भारत जी मुझसे बोले, आज रघुवीर सहाय ने जो कहा है, वही सच बात है। कोई सच बात कह देता है, कोई मन में रखता है। रघुवीर सहाय ने आज मन की सच

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बात कह दी। पर कोई फ़िक्र नहीं। मेरा पारिवारिक जीवन सुखी है। जो चाहा, मिला। और साहित्य में भी ऐसा नहीं है कि लोग मेरा नाम न जानते हों। बस, एक अच्छा काव्य लिख लूं तो सब ठीक हो जायेगा; और होगा, ज़रूर होगा; मेरा मन कहता है—होगा'' (पृ. 248)।

ये जीवनियां नायकों के व्यक्तित्व ही नहीं, उनके कृतित्व को समझने में भी सहायक हैं।

## आत्मकथा

इस कालावधि में जीवनियों की तुलना में आत्मकथाएं ज़्यादा प्रकाशित हुई हैं। राजनेताओं में से एक आत्मकथा कमलापति त्रिपाठी की 'स्वतंत्रता-आंदोलन और उसके बाद' (1988) प्रकाशित हुई है। इसमें स्वाधीनता-आंदोलन का इतिहास भी है, लेखक की आत्मकथा भी है और संस्मरण भी हैं। इसमें लेखक के अपने जीवन से संबंधित उन प्रसंगों की चर्चा नहीं है, जिनकी चर्चा 'उग्र' ने 'अपनी ख़बर' (1960) में की है, क्योंकि उन प्रसंगों की चर्चा त्रिपाठी जी के वश की बात नहीं थी। सूचनाओं की दृष्टि से त्रिपाठी जी की इस आत्मकथा का विशेष महत्त्व है। इस आत्मकथा में से उनका जो व्यक्तित्व उभर कर सामने आता है, वह एक दुर्बल, संकोची, सहिष्णु, विनम्र, समझौतावादी और परानुयायी व्यक्ति का व्यक्तित्व है। शायद इसकी जड़ें उनके प्रारंभिक जीवन में निहित हैं। राजनेताओं में से दूसरी आत्मकथा बलराज मधोक की 'ज़िंदगी का सफ़र' (1986) प्रकाशित हुई है। यह उनकी आत्मकथा का पहला खंड है, जिसमें उन्होंने अपने जीवन के प्रारंभिक तीस वर्षों (1920-1950) की कथा कही है। लेखक ने अपने जीवन की घटनाओं के साथ-साथ उस समय का इतिहास भी प्रस्तुत किया है। बलराज मधोक के व्यक्तित्व-निर्माण की दृष्टि से इन तीस वर्षों की कथा का विशेष महत्त्व है। राजनेताओं की आत्मकथाओं के लगभग अभाव का कारण यह है कि आज उच्च बौद्धिकता और लेखकीय क्षमता वाले राजनेता नगण्य हैं। यही स्थिति अधिकारियों की भी है। अधिकारियों के द्वारा लिखी गयी आत्मकथाओं में विश्वनाथ लाहिड़ी की 'एक पुलिस अधिकारी की आत्मकथा' (1984) उल्लेखनीय है। इसमें उत्तर-प्रदेश पुलिस के प्रथम इंस्पेक्टर जनरल ने 1922 से 1953 तक के वर्षों का रोचक विवरण प्रस्तुत किया है, जिससे एक पुलिस-अधिकारी के जीवन और कार्यों का अंतरंग चित्र उभर कर सामने आता है। यह आत्मकथा मनोरंजक भी है और रोचक भी। प्रशासनिक सेवा में रहने वाले ब्रजमोहन व्यास की किंचित् आत्मकथा 'मेरा कच्चा चिट्ठा' (1995) भी उल्लेखनीय है। 'किंचित्' इसलिए कि इसमें उनकी आत्मकथा कम और इलाहाबाद के प्रसिद्ध संग्रहालय की कथा अधिक है। यहीं हाल ही में प्रकाशित 'सूबेदार सीताराम की आत्मकथा' की चर्चा कर देना भी उचित होगा। यह ईस्ट इंडिया कंपनी के सिपाही सीताराम की कंपनी के अधिकारियों को भाषा सिखाने के लिए मूलतः अवधी में लिखी गयी थी। मधुकर उपाध्याय को इसका अंग्रेज़ी अनुवाद इंडिया हाउस, लंदन में मिला और उन्होंने इसे पुनः अवधी में रूपांतरित कर प्रकाशित कराया है। निःसंदेह इस आत्मकथा का ऐतिहासिक महत्त्व है।

यहां मैं इसी कालावधि में प्रकाशित एक 'अधूरी आत्मकथा' की चर्चा विशेष रूप से करना चाहूंगा, जो अगर पूरी हो गयी होती तो हिंदी-आत्मकथा-साहित्य की एक क्लैसिक सिद्ध होती। यह हिंदी और संस्कृत के यशस्वी विद्वान और अध्यापक डॉ. नरेन्द्रदेव सिंह शास्त्री की आत्मकथा है। इस आत्मकथा की चर्चा डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी आत्मकथा 'अपनी धरती अपने लोग' (प्रथम खंड, 1996; पृष्ठ 190) में की है। इसके लेखन की प्रेरणा भी उन्होंने ही दी थी। शास्त्री जी ने अपनी इस आत्मकथा में अपने बचपन से ले कर मिशन स्कूल, मैनपुरी में अध्यापकी करने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तक (1901 से 1930 तक) की अपनी कहानी कही है। मिशन स्कूल से आगरा के बलवंत राजपूत कॉलेज (अब राजा बलवंत सिंह कॉलेज) में हिंदी-संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त होने, मैनपुरी में बसने और 11 मार्च, 1967 को स्वर्गवासी होने तक का संक्षिप्त विवरण उनके सुपुत्र कुंवर विश्वदेव सिंह चौहान ने प्रस्तुत किया है। शास्त्री जी ने अपनी आत्मकथा पूरी ईमानदारी से अत्यंत रोचक शैली में प्रस्तुत की है। प्रारंभिक जीवन के आर्थिक अभावों से उत्पन्न पीड़ा, विभिन्न व्यवधानों के बीच शिक्षा-प्राप्ति, प्राथमिक पाठशाला से ले कर इंटरमीडिएट कक्षाओं तक की सफल अध्यापकी, हिंदू-समाज के अंतर्विरोधों और अपनी दुर्बलताओं की चर्चा उन्होंने बड़े बेबाक तरीक़े से की है। उनकी इस आत्मकथा से स्पष्ट है कि वे हास-परिहासप्रिय व्यक्ति थे और उनमें अपने पर हंस सकने की अद्‌भुत क्षमता थी। अपने विवाह के प्रसंग में अपने द्वारा की गयी अपने रूप-रंग और भाग्य की यह चर्चा इसका प्रमाण है : ''रूपरंग की न पूछिए। विधाता ने इतनी लापरवाही शायद ही किसी के निर्माण में दिखायी थी। भाग्य ने जब क्रूर और कठोर भाग्य का विवरण तैयार करके अनुमति प्राप्त करने के लिए विधाता को दिया तो उसके भी कंपित हाथ से मानो मसिपात्र उलट पड़ा था। वही लेखा इस कलेवर पर अपनी आभा चमका कर मेरे विश्वास को दृढ़ करने में लगा हुआ था'' (पृ. 48)। यहां यह जानना आवश्यक है कि उनका क़द छोटा था और वर्ण गहरा श्यामल था। उनके उपर्युक्त कथन में उनके हास्य के साथ अपने रूप-रंग और भाग्य को ले कर उनकी व्यथा भी व्यंजित है। शास्त्री जी की इस अधूरी आत्मकथा से स्पष्ट है कि उन्हें कवि-हृदय मिला था, यद्यपि उन्होंने कवि बनने की दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया। उनकी इस आत्मकथा की गद्यशैली को सूक्तियों, उद्धरणों और संदर्भों ने आकर्षक और अर्थगर्भित बनाया है।

वर्तमान कालावधि में साहित्यकारों की अनेक आत्मकथाएं प्रकाशित हुई हैं। यशपाल जैन की आत्मकथा 'मेरी जीवनधारा' (1987), डॉ. नगेन्द्र की आत्मकथा 'अर्द्धकथा' (1988), फणीश्वरनाथ 'रेणु' की आत्मकथा 'आत्मपरिचय' (1988; सं. भारत यायावर), उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की आत्मकथा का पांचवां खंड 'चेहरे अनेक' (1988), कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की आत्मकथा 'तपती पगडंडियों पर पदयात्रा' (1989), राकेश गुप्त की आत्मकथा 'देखे सत्तर शरद वसंत' (1989), रामदरश मिश्र की आत्मकथा 'समय सहचर है' (1990), गोपालप्रसाद व्यास की आत्मकथा 'कहो व्यास, कैसी कही?' (1995), डॉ. रामविलास शर्मा की आत्मकथा 'अपनी धरती अपने लोग' (1996), भगवतीचरण वर्मा की आत्मकथा 'कहि न जाये का कहिए', 'स्मृति-शेष देवेश का दस्तावेज' (2004), नरेश मेहता की आत्मकथा 'हम अनिकेतन' (1995), कमलेश्वर की आत्मकथा 'जो मैंने जिया', 'यादों के चिराग' (1997), 'जलती हुई नदी' (1999), वीरेन्द्र सक्सेना की आत्मकथा 'क्रम और व्युत्क्रम' (1998), राजेन्द्र यादव की आत्मकथा 'मुड़-मुड़ के देखता हूं' (2001), अखिलेश की आत्मकथा 'और वह जो यथार्थ था' (2001), भीष्म साहनी की आत्मकथा 'आज के अतीत' (2003), स्वदेश दीपक की आत्मकथा 'मैंने माडू नहीं देखा' (2003), विष्णु प्रभाकर की आत्मकथा 'पंखहीन', 'मुक्त गगन में', और 'पंछी उड़ गया' (तीन खंड, 2004), रमानाथ अवस्थी की आत्मकथा 'वनफूल' (2005), गुरदयाल सिंह की आत्मकथा 'क्या जानूं मैं कौन', बलराम की आत्मकथा 'पीर-पर्वत' आदि आत्मकथाएं इसी कालावधि में प्रकाशित हुई हैं। इसी कालावधि में उभरते दलित लेखकों की आत्मकथाएं 'अपने-अपने पिंजरे' (मोहनदास नैमिषारण्य) 'जूठन' (1997 : ओमप्रकाश वाल्मीकि), 'तिरस्कृत' (सूरजपाल चौहान) आदि भी सामने आयी हैं।

इन आत्मकथाओं में व्यक्तियों ने अपना जीवनवृत्त स्वयं प्रस्तुत किया है, तभी तो वे आत्मकथाएं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हैं और स्वयं को देखा और मूल्यांकित किया है। इसलिए प्रत्येक आत्मकथा का अपना वैचित्र्य और अपना वैशिष्ट्य है। आत्मकथा लिखते समय कौन आत्मकथाकार अपने आत्म को ले कर कितना लिप्त और कितना तटस्थ रहा है, इसका अनुमान विवेकशील पाठक स्वयं लगा लेता है। रामदरश मिश्र, विष्णु प्रभाकर, डॉ. रामविलास शर्मा, वीरेन्द्र सक्सेना, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' आदि कई आत्म कथाकारों ने अपना जीवनवृत्त अधिकांशतः तटस्थ भाव से, तथ्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। वे भी पूर्णतः तटस्थ रह सके हैं, नहीं कहा जा सकता। उनकी भी कुछ दुखती हुई रगें रही हैं, जिन्हें उन्होंने कभी व्यथा के साथ और कभी व्यंग्य के साथ व्यक्त किया है। उदाहरण के लिए, भीष्म साहनी ने अपने नाटक 'हानूश' की पांडुलिपि पहले बलराज साहनी को और बाद में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के तत्कालीन निदेशक अल्का जी को दिखायी और उन्होंने उनके साथ, उनकी पांडुलिपि के साथ जिस तरह का व्यवहार किया, उससे उन्हें पीड़ा ही पहुंची ('आज के अतीत', पृष्ठ 232-35)। दलित लेखकों की आत्मकथाओं में भी पीड़ा का स्वर बराबर सुनायी पड़ता है, क्योंकि हमारे समाज में उन्होंने व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से इतनी अवमानना और यातना सही है, जितनी शायद ही किसी ने सही हो।

इन तटस्थ रहने वाले आत्मकथा-लेखकों के विपरीत कुछ आत्मकथा-लेखकों ने घोर आत्मलिप्तता और आत्ममोहग्रस्तता का परिचय दिया है। कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, स्वदेश दीपक आदि इसी श्रेणी में आते हैं। इसीलिए इनकी आत्मकथाएं विवादास्पद बनी हैं। कमलेश्वर ने अपनी आत्मकथा में कुछ लोगों—विशेषतः कुछ महिलाओं को ले कर जो कुछ लिखा है, उसकी सत्यता को उन व्यक्तियों ने चुनौती दी है। राजेन्द्र यादव भी इसी रास्ते पर चले हैं। उनको उनकी पत्नी मन्नू भंडारी ने ही चुनौती दी है (तद्भव, 6 अक्तूबर, 2001 में उनकी प्रतिक्रिया 'देखा तो इसे भी देखते')। स्वदेश दीपक की आत्मकथा में जिस अपसामान्य मानसिकता ने अभिव्यक्ति पायी है, वह भी घोर आत्मलिप्तता का ही परिणाम है।

रचनाकारों की उपर्युक्त आत्मकथाओं में उनकी शक्तियां भी सामने आयी हैं और उनकी दुर्बलताएं भी। डॉ. रामविलास शर्मा और विष्णु प्रभाकर इतना अधिक और इतना विविध लिख सके, इसका कारण हमें उनकी आत्मकथाओं से पता चल जाता है। डॉ. रामविलास शर्मा को झांसी के एक कॉलेज ने प्रिंसिपल बनाने की पहल की। उनके पिता जी भी चाहते थे कि वे वहां प्रिंसिपल बन कर आयें। झांसी शहर भी उन्हें पसंद था। लेकिन उन्होंने प्रिंसिपल बनना स्वीकार नहीं किया; क्योंकि उन्होंने सोचा कि "एक बार फंस गया तो लिखना-पढ़ना हाथ से गया। यहां (बलवंत राजपूत कॉलेज, आगरा में) विभाग का काम कर आये तो दिन-भर छुट्टी है, चाहे जो पढ़ें-लिखें। वहां प्रिंसिपल हो जाने के बाद बहुत तरह के बंधन होंगे; प्रबंध-समिति से निपटना होगा; छात्रों के अनुशासन की समस्या भी हो सकती है। सारा समय इसी में चला जायेगा, लिखना-पढ़ना रुक जायेगा। मैंने पिता जी को समझा कर लिख दिया—यह काम मेरे लिए उपयुक्त नहीं है; जहां मैं हूं, मज़े में हूं। यहां लिखाई-पढ़ाई ठीक चल रही है" (अपनी धरती अपने लोग, प्रथम खंड; पृ. 127)। उन्होंने नंददुलारे वाजपेयी को भी यही सलाह दी थी कि वे प्रशासनिक कार्यों से मुक्त हो कर लिखें-पढ़ें। प्रशासक वाजपेयी को कोई याद नहीं रखेगा; साहित्यिक वाजपेयी को सब याद करेंगे। विष्णु प्रभाकर ने भी लिखने के लिए नौकरियों का परित्याग किया। साहित्यकार के रूप में और एक व्यक्ति के रूप में भी, यही उनकी शक्ति बनी। इनके विपरीत गोपालप्रसाद व्यास ने नौकरी में भी ऊपर उठने की महत्त्वाकांक्षा पाली और राजनीति में भी जाने और कुछ पाने की। और जब सफल नहीं हुए तो जिन्हें बाधक समझा, उन पर अपनी आत्मकथा में कटु प्रहार किये। यह असल

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में आत्मकथा-लेखकों का व्यक्तित्व-भेद, दृष्टि-भेद और प्राथमिकता-भेद है।

आत्मकथाओं के इस प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय प्रवृत्ति लेखिकाओं की आत्मकथाओं का प्रकाश में आना है। वर्तमान कालावधि में अनेक लेखिकाओं की आत्मकथाएं प्रकाशित हुई हैं। इनमें से कुछ उल्लेखनीय आत्मकथाएं इस प्रकार हैं, 'जो कहा नहीं गया' (1996) : कुसुम अंसल; 'लगता नहीं है दिल मेरा' (1997) : कृष्णा अग्निहोत्री; 'बूंद बावड़ी' (1999) : पद्मा सचदेव; 'कस्तूरी कुंडल बसै' (2002) : मैत्रैयी पुष्पा; 'कुछ कही कुछ अनकही' : शीला झुनझुनवाला; 'दोहरा अभिशाप' : कौशल्या वैसंती; 'शब्दकाया' (2005) : सुनीता जैन; 'हादसे' (2005) : रमणिका गुप्ता आदि। लेखिकाओं की आत्मकथाओं से चुने हुए खंडों और लेखिकाओं के आत्मकथ्यों का एक संग्रह 'देहरि भई विदेस' (2005) राजेन्द्र यादव आदि के संपादन में प्रकाशित हुआ है। ये आत्मकथाएं, आत्मकथांश और आत्मकथ्य लेखिकाओं की आत्मसजगता के साथ-साथ उनकी 'असामान्यता' और 'असाधारणता' को सामने लाते हैं। सबका जीवन एक जैसा नहीं है, इसलिए सबके सुख-दुख, उल्लास-अवसाद, जीवन और जगत के प्रति दृष्टि एक जैसी नहीं है। किसी का जीवन अधिकांशतः दुख और अवसाद से भरा है; जैसे कृष्णा अग्निहोत्री का, तो किसी और लेखिका का जीवन सुख और उल्लास से भरा रहा है; जैसे सुनीता जैन का। कोई लेखिका एकदम आत्मकेंद्रित है, अर्थात उसने केवल अपने जीवन की घटनाओं और अपने से संबद्ध व्यक्तियों, अपने निजी सुख-दुख, आशा-आकांक्षाओं आदि को ही अपनी आत्मकथा में प्रस्तुत किया है; जैसे, कुसुम अंसल ने, तो किसी ने आत्मकेंद्रित न रह कर अपनी कथा के साथ-साथ अपने समय की कथा भी कही है; जैसे, शीला झुनझुनवाला ने। किसी लेखिका ने वर्तमान नैतिक मूल्यों को स्वीकार किया है तो किसी ने उन्हें तोड़ कर साहसिकता का परिचय दिया है। इन लेखिकाओं की आत्मकथाएं हमारे सामने अनेक जैविक, नैतिक, समाजशास्त्रीय और साहित्यिक प्रश्न खड़े करती हैं और इस बात को सिद्ध करती हैं कि हमारा समाज बदल रहा है; हमारे जीवन-मूल्य बदल रहे हैं। निःसंदेह ये आत्मकथाएं विचारोत्तेजक हैं और नारी-विमर्श के नये आयामों का उद्घाटन करती हैं, जो बुद्धि-प्रसूत न हो कर यथार्थ अनुभव-प्रसूत हैं। लेखिकाओं की रचनाओं के रहस्य भी इनसे उद्घाटित होते हैं, साहित्यिक कृतियां तो ये हैं ही।

## यात्रावृत्त

भारतेंदु-युग से ले कर अब तक हिंदी में यात्रावृत्तों के लेखन-प्रकाशन का क्रम निरंतर चलता रहा है। वर्तमान कालावधि में ख्यात, अल्पख्यात और अख्यात लोगों के द्वारा लिखे गये दो सौ से अधिक यात्रावृत्त सामने आये हैं। वे सभी यात्रावृत्त साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इस कालावधि के कुछ महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय यात्रावृत्त इस प्रकार हैं : **हरिकृष्ण देवसरे** : 'दुनिया की खोज' (1981), **विष्णु प्रभाकर** : 'ज्योतिपुंज हिमालय' (1982), 'राह चलते-चलते' (1985), 'हिमशिखरों की छाया में' (1988), 'हमसफ़र मिलते रहे' (1996), 'आकाश एक है' (1998), 'संपूर्ण यात्रावृत्त' (1999); **कन्हैयालाल नंदन** : धरती लाल गुलाबी चेहरे' (1982), 'घाट-घाट का पानी' (1988); **श्यामसिंह शशि** : इतिहास बनती यात्राएं' (1982), 'सूर्य मंदिर की खोज में' (1983), 'यायावरी' (1985); **कृष्णनाथ** : 'किन्नर धर्मलोक' (1983); 'लद्दाख में राग-विराग' (1983), 'पृथ्वी-परिक्रमा' (1990), 'स्पीति में बारिश' (1998), 'कुमायूं-यात्रा' (2001), 'हिमालय-यात्रा' (2001), 'किन्नौर-यात्रा' (2001), 'अरुणाचल-यात्रा'; **रामनारायण उपाध्याय** : 'यात्रा की पगडंडियां' (1983); **गोविंद मिश्र** : 'दरख्तों के पार शाम' (1983),

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'झूलती जड़ें' (1990), 'परतों के बीच' (1997); **विष्णुचंद्र शर्मा** : 'यात्री का देश' (1983); **अवधनारायण मुद्गल** : 'एक फर्लांग का सफ़रनामा' (1985); **मनोहरश्याम जोशी** : 'ये विचित्र जर्मन' (1985); **अजित कुमार** : 'सफरी झोले में' (1985); यहां से कहीं भी' (1997); **माजदा असद** : 'मेरी मारीशस-यात्रा' (1985), **रोकेश बेदी** : 'भूटान की घाटियों में' (1985); **आलोक मेहता** : 'स्मृतियां ही स्मृतियां' (1986); **शंकरदयाल सिंह** : 'आइए कुछ दूर साथ चलें' (1986), 'धार के इस पार से धार के उस पार' (1993), 'यायावरी : एक मादक गंध' (1993); **आबिद सुरती** : 'आवारा आबिद'(1986); **राजेन्द्र अवस्थी** : 'हवा में तैरते हुए' (1986), 'दुनिया के अजनबी दोस्त' (1996); '**शिवानंद नौटियाल** : 'केदार-बदरी यात्रा-दर्शन' (1986), 'तपोभूमि गढ़वाल' (1987), 'आओ, चलें केदार-बदरी की ओर' (1998); **निधि विद्यालंकार** : 'शिवालक की घाटियों में' (1987), **जगन सिंह** : 'हिमालय के साथ-साथ' (1987); **वीरेंद्र सिंह** : 'अमेरिका-अमेरिका' (1987); **इंदु जैन** : 'पत्तों की तरह चुप' (1987); **शिवानी** : 'यात्रिक' (1981), 'चरैवेति-चरैवेति' (1987); **शशिप्रभा शास्त्री** : थेम्स में बहती गंगा की (1997), 'सागर पार का संसार' (1988); **सत्येन्द्र श्रीवास्तव** : 'कंधों पर इंद्रधनुष' (1988); **हीरालाल बाछोतिया** : 'रुकती नहीं है नदी' (1988), 'भारत से बाहर भारत' (1999); **प्रदीप पंत** : 'सफ़र-हमसफ़र' (1988), 'लौटने से पहले' (1991), 'कुछ और सफ़र' (1991), 'महादेश की दुनिया' (1996); **कुमुद** : 'बदरी-केदार के पथ पर' (1989), 'आधी रात का सूरज' (1990), 'हिमाचल के आंगन में' (1992), 'बाल्टिक पार का देश' (1996); **रामदरश मिश्र** : 'तना हुआ इंद्रधनुष' (1989), 'भोर का सपना' (1993), 'पड़ोस की ख़ुशबू' (1999); **देवेन्द्र सत्यार्थी** : सफरनामा पाकिस्तान' (1989); **हिमांशु जोशी** : सूरज चमके आधी रात' (1989), 'यात्राएं' (1999), 'आत्मा की धरती' (1999); **प्रणवकुमार बंद्योपाध्याय** : 'बहुत दूर बहुत पास' (1990); **रामलाल वर्मा** : 'धरती, फूल और चंदन' (1991); **विवेकी राय** : 'जगत तपोवन सो कियो' (1991), यात्रा—एक और हिंदी-यात्रा' (1995), **नरेश मेहता** : 'साधु चले न जमात' (1991), 'कितना अकेला आकाश' (2003), **रामशरण जोशी** : 'अपनों के पास अपनों से दूर' (1991), **विश्वमोहन तिवारी** : 'जिंदगी फिर-फिर मेरे क़रीब है' (1991); **शैलेंद्र श्रीवास्तव** : 'अपना-अपना कुरुक्षेत्र' (1992); '**यशपाल जैन** : 'सागर के आरपार' (1992); **सुदर्शन वशिष्ट** : 'कैलास पर चांदनी' (1998), 'रंग बदलते पर्वत' (1996), 'पर्वत से पर्वत तक' (1996); **धर्मवीर भारती** : 'यात्राचक्र' (1994); **पुष्पा भारती** : 'सफर सुहाने' (1994); **शामा** : 'पीछा करते सफर' (1994); **कर्णसिंह चौहान** : 'यूरोप में अंतर्यात्राएं' (1995); **पद्मा सचदेव** : 'मैं कहती हूं आंखिन देखी' (1995); **कमलेश्वर** : 'कश्मीर रात के बाद' (1995); **मंगलेश डबराल** : 'एक बार आयोवा' (1996); **श्रीलाल शुक्ल** : 'अगली शताब्दी का शहर' (1996); **शिवप्रसाद सिंह** : 'सब्जापत्र कथा कहे' (1996); **रमानाथ त्रिपाठी** : 'हिमकिरीट से सागर' (1996); **विद्यानिवास मिश्र** : 'यात्राओं की यात्रा' (1996); **गिरिधर राठी** : 'नये चीन में दस दिन' (1997); **सीतेश आलोक** : 'लिबर्टी के देश में' (1997); **बल्लभ डोभाल** : 'आधी रात का सफर' (1997); **निर्मल वर्मा** : 'धुंध से उठती धुन' (1997), **कुसुम अंसल** : 'स्मृतियों का अतीत' (1998), **रमेशचंद्र शाह** : 'बहुवचन' (1998), 'एक लंबी छांह' (2000); **निर्मला भुराड़िया** : 'कठोर डग सधे क़दम' (1998); **हरिसुमन बिष्ट** : 'अंतर्यात्रा' (1999), **जयनारायण कौशिक** : 'मेरी कैलास-मानसरोवर-यात्रा' (1999), **राज बुद्धिराजा** : 'हाशिये पर' (1999), **स्वयंप्रकाश** : 'हमसफ़रनामा' (2000), **मरुधर मृदुल** : 'खुली आंखों का सपना' (1984),

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

**विश्वनाथप्रसाद तिवारी** : 'आत्मा की धरती' (1999), 'अंतहीन आकाश' (2005), **कीर्ति केसर** : 'प्रवास का प्रसंग' (2006), **सांवरमल सांगानेरिया** : 'ब्रह्मपुत्र के किनारे-किनारे' (2006), **अमृतलाल बेगड़** : 'सौंदर्य की नदी नर्मदा' (1992) इत्यादि।

हिंदी में इस कालावधि में प्रकाशित यात्रावृत्तों की यह सूची पूरी नहीं है। हमारा लक्ष्य पूरी सूची प्रस्तुत करना है भी नहीं। हमारा लक्ष्य इस कालावधि में प्रकाशित यात्रावृत्तों की प्रवृत्तियों को रेखांकित करना है। इन यात्रावृत्तों में भारत के प्राय: प्रत्येक स्थान की यात्राएं वर्णित हैं, लेकिन यात्रियों को सबसे अधिक आकर्षित किया है हिमालय पर्वत-शृंखला में स्थित विभिन्न स्थानों ने। एक तो इसलिए कि हिमालय प्राकृतिक सौंदर्य से भरपूर है। दूसरे, इसलिए कि उसमें तमाम तीर्थस्थल हैं। आदि शंकराचार्य को भी हिमालय ने आकर्षित किया था। तीसरे, हिंदी के अनेक साहित्यिक हिमालय-स्थित स्थान विशेष में जन्मे या उनके पूर्वज वहां के निवसी रहे हैं। उनकी मातृभूमि उन्हें आकर्षित करती है। निष्प्रयोजन भटकने के लिए हिमालय से अच्छा स्थान और कौन-सा हो सकता है? भारत के बाहर अमेरिका, यूरोप, चीन, जापान, मलेशिया, इंडोनेशिया आदि तमाम देशों की यात्राएं भी हिंदी में उपर्युक्त यात्रावृत्त लिखने वालों ने की हैं।

यात्रा करने वालों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है— एक वे, जो बिना किसी बहाने या प्रयोजन के यात्रा करने के लिए निकल पड़े हैं। इस वर्ग के यात्री ही सच्चे यायावर हैं। उनके पैरों में चक्कर होता है। इनमें कुछ ऐसे हैं, जो प्रकृत्या हैं तो कुछ यात्राभीरु, लेकिन यात्रा किये बिना रह भी नहीं सकते। विष्णु प्रभाकर की गिनती ऐसे ही यायावरों में की जा सकती है, यद्यपि वे न तो राहुल सांकृत्यायन हैं और न ही देवेंद्र सत्यार्थी। उन्होंने 'वैशाली के खंडहर' शीर्षक यात्रावृत्त में लिखा है कि "जब कभी मेरे स्वभाव और भाग्यरेखा में संघर्ष छिड़ जाता है तो मन की बात आती है। स्वभाव से तो मैं प्रवासभीरु हूं, और मन चाहता है कि घूमता रहूं और गाता रहूं। पैरों में गति और कंठ में संगीत—यही मन की पुकार है। संगीत की तो इस जीवन में कोई आशा नहीं, पर भाग्य की देवी पैरों में जब-तब गति भर देती है और मैं सोद्देश्य-निरुद्देश्य भाग खड़ा होता हूं, राजसी दिल्ली के फौलादी रूपजाल से जान बचा कर।" उपर्युक्त यात्रावृत्त-लेखकों में से इस श्रेणी में कम ही आते हैं। दूसरा वर्ग उन यात्रावृत्त लेखकों का है, जो किसी विशेष प्रयोजन से कहीं जाते हैं और लगे हाथों यायावरी भी कर लेते हैं। मंगलेश डबराल 1991 में अंतरराष्ट्रीय राइटिंग प्रोग्राम में निमंत्रित हो कर अमेरिका के आयोवा विश्वविद्यालय गये और अमेरिका की यात्रा भी कर ली। कन्हैयालाल नंदन एक पत्रकार के रूप में प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति के साथ देश-विदेश के विभिन्न स्थानों पर गये और उन यात्राओं में विभिन्न स्थानों पर जो कुछ देखा-भाला, उसे यात्रावृत्त के रूप में लिख डाला। कुछ यात्रावृत्त-लेखकों को विदेशों में हिंदी-अध्यापन के लिए आमंत्रित किया गया और वहां रह कर उन्होंने जो कुछ देखा, अनुभव किया, सोचा-विचारा, उसे अपने यात्रावृत्त में प्रस्तुत कर दिया। इंदु जैन इसी प्रयोजन से जापान गयी थीं और उन्होंने 'पत्तों की तरह चुप' में जापान के अनुभवों को अभिव्यक्त कर दिया। इन लेखकों में से अनेक लेखकों के सगे-संबंधी विदेशों में बस गये हैं। समय-समय पर उनके पास जाने के लिए ये उन देशों की यात्राएं करते हैं और रचनाकार होने के नाते अपने अनुभवों को यात्रावृत्तों में प्रस्तुत कर देते हैं।

यात्रा के लिए इन लेखकों ने हवाई जहाज़ से ले कर अपने पैरों तक को साधन के रूप में अपनाया है। प्रदीप पंत हवाई जहाज़ से यात्रा करते हैं और जब वे विमान से नीचे देखते हैं तो उन्हें अनुभव होता है : "कभी-कभी मकानों की छतें नज़र आ रही थीं, कभी अथाह जलराशि, पर कुल मिला कर अधिकांश दृश्य मटमैला-सा था— रामकुमार के बहुत पहले देखे कुछ चित्रों जैसा" (सफ़र

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हमसफ़र)। लेखक-चित्रकार अमृतलाल बागड़ ने दो हज़ार छह सौ चौबीस किलोमीटर लंबे नर्मदा तट की पैदल ही यात्रा की और नर्मदा के शांत और उग्र, मनोहर और भयावह, वरद और शापद दोनों रूपों को देखा और चित्रित किया। इन यात्रावृत्तों में लेखकों का व्यक्तित्व उभर कर सामने आया है और उनके एक-से-एक अनूठे अनुभव उभर कर सामने आये हैं। शशिप्रभा शास्त्री अमेरिका गयीं और वहां भारतीय और अमेरिकी संस्कारों की टकराहट का अनुभव किया। वहां उन्होंने परिवार में भी व्यक्तिस्वातंत्र्य की भावना इतनी प्रबल देखी कि उन्हें लगा कि वहां अपनी ही संतान के परिवार के साथ रह पाना असंभव है। बहू सास को चेताती है कि "मैं कोई ऐसी बात नहीं कहती, जिससे आपको बुरा लगे, अतएव, आपको भी कोई ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए, जिसका मुझे बुरा लगे।" इस लगभग संवादहीनता से दुखी हो कर सास वापस भारत लौट आती है। लेखकों के व्यक्तित्व, उनकी रुचि-अरुचि, उनके संस्कारों और प्राथमिकताओं के आधार पर इन यात्रावृत्तों में प्रकृति, मानव निर्माताओं, मानव-चरित्र, सभ्यता-संस्कृति, वाणिज्य, नैतिकता, विभिन्न स्थलों की समानता-असमानता आदि की अभिव्यक्ति हुई है और उन्हीं के अनुसार इनकी अभिव्यक्ति-शैलियां निर्मित हुई हैं। ये यात्रावृत्त हमारे समक्ष ऐसी वैविध्यपूर्ण और मोहक दुनिया लाते हैं, जिससे अभिभूत हुए बिना हम रह नहीं सकते।

## संस्मरण और रेखाचित्र

आधुनिक हिंदी-गद्य की कई विधाएं ऐसी हैं, जिनके तत्त्व परस्पर इतने घुलेमिले होते हैं कि उन्हें परस्पर अलग कर पाना दुष्कर होता है। इसीलिए संस्मरण और रेखाचित्र, एक साथ, इस स्पष्टीकरण-सहित कि वर्तमान कालावधि में संस्मरण अधिक लिखे गये हैं, रेखाचित्र कम।

वर्तमान कालावधि में प्रकाशित प्रमुख संस्मरणात्मक रचनाएं इस प्रकार हैं : **कुंवर सुरेश सिंह** : 'यादों के झरोखे' (1980), **विष्णु प्रभाकर** : 'यादों की तीर्थयात्रा' (1981), 'सृजन के सेतु' (1990), 'हमसफ़र मिलते रहे' (1996), **राजेंद्र यादव** : 'औरों के बहाने' (1981), 'वे देवता नहीं हैं' (2000), **अमृतलाल नागर** : 'जिनके साथ जिया' (1981), **प्रतिभा अग्रवाल** : 'सृजन का सुख-दुख' (1981), **रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'** : 'युगपुरुष' (1983), 'क्षितिज-बिंब' (1983); 'शिलालिपि' (1987); **पद्मा सचदेव** : 'दीवानखाना' (1984), 'अमराई' (2000), 'जम्मू जो कभी शहर था' (2003), **अज्ञेय** : 'स्मृतिलेखा' (1982), **बिंदु अग्रवाल** : 'कुछ यादें कुछ चर्चाएं' (1989), 'यादें और बातें' (1998), **भीमसेन त्यागी** : 'आदमी से आदमी तक' (1982), **काशीनाथ सिंह** : 'याद हो कि न याद हो' (1992), **अजित कुमार** : 'निकट मन में' (1992), **अमृतराय** : 'जिनकी याद हमेशा आती रहेगी' (1992), **शिवपूजन सहाय** : 'स्मृतिशेष' (1994), **प्रकाशवती पाल** : 'लाहौर से लखनऊ तक' (1994), **गोपालदास** : 'मोहे बिसरत नाहिं' (1987), **हरिशंकर परसाई** : 'हम इक उम्र से वाकिफ़ हैं' (1989), **अंबाप्रसाद सुमन** : 'मेरे मानस के श्रद्धेय चित्र' (1988), **बनारसीदास चतुर्वेदी** : 'महापुरुषों की खोज में' (1983), **चंद्रगुप्त विद्यालंकार** : 'छोटे-बड़े दायरे' (1984), **शिवसागर मिश्र** : 'दिनकर : एक सहज पुरुष' (1981), **गिरिराज किशोर** : 'सप्तपर्णी' (1994), **विष्णुकांत शास्त्री** : 'सुधियां उस चंदन के वन की' (1992), 'अनंत पथ के यात्री' (1999) '...पर साथ-साथ चल रही याद' (2004), **दूधनाथ सिंह** : 'लौट आओ धार' (1995), **रामदरश मिश्र** : 'स्मृतियों के छंद' (1995), 'पड़ोस की ख़ुशबू' (1999), 'अपने-अपने रास्ते' (2001), **मनमोहन ठाकोर** : 'पप्पू' (1991), 'अंतरंग' (1993), 'राजेंद्र यादव

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मार्फत मनमोहन ठाकोर' (1989), **प्रफुल्लचंद्र ओझा** : 'अतीतजीवी' (1995), **रवींद्र कालिया** : 'सृजन के सहयात्री' (1996), 'ग़ालिब घुटी शराब' (2000), **विष्णुचंद्र शर्मा** : 'अभिन्न' (1996), 'चुप है यों...' (2005), **कृष्णा सोबती** : 'हम हशमत' (दूसरा भाग), **रमानाथ अवस्थी** : 'याद आते हैं' (2000), **विश्वनाथप्रसाद तिवारी** : 'एक नाव के यात्री' (2001), **विद्यानिवास मिश्र** : 'चिड़िया रैन-बसेरा' (2002), **मनोहरश्याम जोशी** : 'लखनऊ, मेरा लखनऊ' (2002), **कांतिकुमार जैन** : 'लौट कर आना नहीं होगा' (2002), **कृष्ण बिहारी मिश्र** : 'नेह के नाते अनेक' (2002), **रामकमल राय** : 'स्मृतियों का शुक्ल पक्ष' (2002), **मधुरेश** : 'याद जो आईना है', **ज्ञानचंद्र जैन** : 'कथाशेष', 'भारतेंदु हरिश्चंद्र— एक व्यक्तित्व चित्र' (2004), **कुमुद नागरः** 'वटवृक्ष की छाया में' (2004), **विश्वनाथ त्रिपाठी** : 'नंगातलाई का गांव' (2004), **रमाशंकर श्रीवास्तव** : 'समय के सामने' (2004), **विवेकी राय** : 'मेरे सुहृद श्रद्धेय' (2005), **रवींद्रनाथ त्यागी** : 'वसंत से पतझर तक' (2005), **अमरकांत** : 'कुछ यादें कुछ बातें', **अखिलेश** : 'वह जो यथार्थ था' आदि। इनके अतिरिक्त इस कालावधि में संस्मरणों की कुछ संपादित पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं। रमादत्त शुक्ल द्वारा संपादित 'संपादक के संस्मरण' (1987), कमलेश्वर द्वारा संपादित 'अपनी निगाह में' (1982), रामजी पांडेय द्वारा संपादित 'परिचय इतना इतिहास यही' (1990), कमलकिशोर गोयनका द्वारा संपादित 'हज़ारी प्रसाद द्विवेदी— कुछ संस्मरण' (1988) तथा 'यशपाल— कुछ संस्मरण' (1990), मोहन कुमार दीवान द्वारा संपादित 'नेपथ्य नायक' (2000), पुरुषोत्तम मोदी द्वारा संपादित 'अंतरंग संस्मरणों में जयशंकर प्रसाद' (2001) आदि ऐसी ही पुस्तकें हैं।

पहले संस्मरणों की संपादित पुस्तकों की बात कर लें। उपर्युक्त पुस्तकों में देवीदत्त शुक्ल, महादेवी वर्मा, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, यशपाल, लक्ष्मीचंद्र जैन और जयशंकर प्रसाद से संबंधित संस्मरण हैं। कमलेश्वर द्वारा संपादित पुस्तक में विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा लिखे गये संस्मरणात्मक व्यक्तिचित्र हैं। निःसंदेह इन संस्मरणों से संस्मरणीयों का अंतरंग और आत्मीय व्यक्तिचित्र उभर कर सामने आ जाता है, लेकिन इन संस्मरणों में स्वाभाविक और लगभग अनिवार्य आकार-भेद और राग-भेद है। कुछ लोगों ने बहुत जम कर, बहुत मन से संस्मरण लिखे हैं, कुछ ने जैसे-तैसे औपचारिकता निभा दी है। इसका कारण यह है कि संस्मरण-लेखक का संस्मरणीय के साथ कितना और कैसा घनिष्ट संबंध रहा है और उसकी अपनी प्रकृति प्रवृत्ति क्या है, इसकी भिन्नता अनिवार्य है।

ऊपर वर्तमान कालावधि में प्रकाशित संस्मरणों की जो सूची प्रस्तुत की गयी है, उसका विश्लेषण करने पर कई प्रवृत्यात्मक निष्कर्ष निकलते हैं। सबसे पहला निष्कर्ष तो यही है कि उपर्युक्त संस्मरणों में केंद्रीय व्यक्ति संस्मरणीय साहित्यकार रहे हैं। पुरानी पीढ़ी के संस्मरण-लेखकों ने साहित्यकारों के अतिरिक्त राजनेताओं तथा अन्य साहित्येतर क्षेत्रों के प्रख्यात व्यक्तियों के संस्मरण भी प्रस्तुत किये हैं। उदाहरण के लिए, कुंवर सुरेश सिंह ने 'यादों के झरोखे' में जिन इकतालीस व्यक्तियों के संस्मरण प्रस्तुत किये हैं, उनमें लालबहादुर शास्त्री भी शामिल हैं। अज्ञेय के 'स्मृति-लेखा' में संगृहीत सरोजिनी नायडू से संबंधित संस्मरण भी हैं। बनारसीदास चतुर्वेदी के 'महापुरुषों की खोज में' में संगृहीत संस्मरणों में महात्मा गांधी और राजेंद्र प्रसाद से संबंधित संस्मरण भी हैं। लेकिन बाद की पीढ़ी के संस्मरण-लेखकों में से किसी का भी संस्मरण-संग्रह उठा लीजिए, उसमें केवल साहित्यकारों के संस्मरण मिलेंगे। उदाहरण के लिए, कृष्णबिहारी मिश्र के संस्मरण संग्रह 'नेह के नाते अनेक' में विश्वनाथप्रसाद मिश्र, नंददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, वाचस्पति पाठक, स.ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय', प्रभाकर माचवे, ठाकुरप्रसाद सिंह, धर्मवीर भारती, शिवप्रसाद सिंह और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह से संबंधित संस्मरण संगृहीत हैं। विष्णुचंद्र शर्मा ने अपने 'अभिन्न' संस्मरण-संग्रह में निराला, राहुल सांकृत्यायन, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नागार्जुन, त्रिलोचन, शमशेर, नरेंद्र शर्मा, हरिशंकर परसाई, ठाकुरप्रसाद सिंह, रमाकांत, जितेंद्र, जगत शंखधर आदि को याद किया है। यहां यह बात भी रेखांकित करने योग्य है कि अपनी पीढ़ी के साहित्यकारों में सबसे अधिक संस्मृत साहित्यकार हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं। इसका कारण उनका अनूठा व्यक्तित्व है। साहित्यकार के संस्मरणों में एक बात हमारा ध्यान और आकर्षित करती है, और वह यह कि सबसे अधिक संस्मृत साहित्यकारों का संबंध बनारस या इलाहाबाद से रहा है। शायद इसलिए कि दिल्ली में साहित्यकारों के केंद्रित होने से पहले यही दो नगर हिंदी-साहित्य के गढ़ थे। हमारे सामने प्रश्न यह भी है कि साहित्यकारों ने साहित्यकारों का ही स्मरण क्यों किया है? राजनीति, वाणिज्य, धर्म, नृत्य, संगीत, चित्रकला आदि के क्षेत्रों के व्यक्तियों का स्मरण क्यों नहीं किया है? इसका एक कारण तो यह है कि उपर्युक्त क्षेत्रों में स्मरणीय महापुरुष आज कितने हैं? इन क्षेत्रों के व्यक्तियों के अंतरंग संस्मरण यदि कोई प्रस्तुत भी करना चाहे तो उनकी 'लघुता' ही सामने आयेगी—'लघुता' शब्द के हर अर्थ में। इन क्षेत्रों में स्वाधीनता के बाद स्वार्थपरता और व्यावसायिकता ही शेष रह गयी है। इसका एक कारण यह भी है कि साहित्यकार अधिकांशतः साहित्य की दुनिया के ही प्राणी होते हैं।

उपर्युक्त संस्मरणकारों ने केवल ख्यात साहित्यकारों के ही संस्मरण लिखे हों, ऐसी बात नहीं है। उन्होंने अपने घर-परिवार और आसपास के छोटे माने जाने वाले व्यक्तियों को भी अपने संस्मरणों का पात्र बनाया है। रवींद्रनाथ त्यागी ने 'वसंत से पतझर तक' के पहले खंड में तो साहित्यकारों के संस्मरण प्रस्तुत किये हैं, लेकिन दूसरे खंड में सहकर्मियों और तीसरे खंड में अपने परिवारजनों और पड़ोसियों के संस्मरण भी प्रस्तुत किये हैं। ऐसे व्यक्तियों के संस्मरण रामदरश मिश्र के संस्मरणों में भी मिल जायेंगे। विश्वनाथ त्रिपाठी ने तो 'नंगातलाई का गांव' के संस्मरणों में अपने गांव पर ही अपने को केंद्रित कर लिया है।

वर्तमान कालावधि में जो संस्मरण लिखे गये हैं, उनमें शैलीगत भेद भी बहुत है। किसी ने देखे गये स्थानों का सीधा-सीधा और कई बार सपाट वर्णन कर दिया है। किसी के संस्मरणों में वर्णन और विवरण के साथ-साथ काव्यात्मक चित्रात्मकता है। शैली की यह विशेषता अजित कुमार के संस्मरणों में देखी जा सकती है। किसी के संस्मरणों में रेखाचित्रात्मकता प्रधान हो गयी है। कृष्णा सोबती के 'हम हशमत' के संस्मरण संस्मृत व्यक्तियों के अत्यंत जीवंत शब्दचित्र बन गये हैं। काशीनाथ सिंह ने तो अपने संस्मरणों में काशी के अस्सी चौराहे को ऐसा सजीव बना दिया है कि वह संस्मरणीयों के साथ, लेखक के साथ हंसता-बोलता है। उनके संस्मरणों में खिलंदड़ापन है, जो कभी-कभी भाषा की शिष्टता की सीमा भी लांघ जाता है। हरिशंकर परसाई और रवींद्रनाथ त्यागी के संस्मरणों में उनका व्यंग्यकार बराबर सजग और सक्रिय रहा है। किसी ने अपने संस्मरण दैनंदिनी की शैली में लिखे हैं, जैसे इंदु जैन ने, तो किसी ने रिपोर्ताज की शैली को अपनाया है, जैसे कन्हैयालाल नंदन ने। किसी के संस्मरणों में विविध शैलियों का मिश्रण है, जैसे दूधनाथ सिंह के संस्मरणों में। संस्मरण-लेखन में यह शैलीगत विविधता लेखकों के व्यक्तित्व-भेद की परिचायक है।

स्पष्ट है कि हिंदी का संस्मरण-साहित्य संपन्न हो रहा है। कारण, हिंदी-साहित्यकारों की एकाधिक पीढ़ियां इस समय जीवन के उस मोड़ पर पहुंच गयी हैं, जब व्यक्ति को अपना अतीत बड़ा आकर्षक लगने लगता है और वह उस अतीत को न केवल स्वयं याद करता है, अपितु दूसरों तक उसे संप्रेषित भी करना चाहता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

साक्षात्कार (इंटरव्यू)

पत्र-पत्रिकाओं में विभिन्न व्यक्तियों के साक्षात्कार छपते ही रहते हैं और दृश्य-श्रव्य संचार-माध्यमों से प्रसारित होते ही रहते हैं, लेकिन साहित्यिक दृष्टि से सभी साक्षात्कार महत्त्वपूर्ण नहीं होते हैं। इसीलिए वे पत्र-पत्रिकाओं की फ़ाइलों में बंद पड़े रहते हैं या हवा में उड़ जाते हैं। पुस्तक-रूप में वही साक्षात्कार प्रकाशित होते हैं, जिनका साहित्यिक व ऐतिहासिक महत्त्व होता है। वर्तमान कालावधि में इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय साक्षात्कार इस प्रकार हैं :

**अज्ञेय :** 'अपरोक्ष यथास्थितिवादी चिंतन' (1979), 'रचना क्यों और किसके बीच' (1988), 'अपने बारे में' (1992), **श्रीकांत वर्मा :** 'बीसवीं शताब्दी के अंधेरे में' (1982), **रामविलास शर्मा :** 'साक्षात्कार' (सं. कर्णसिंह चौहान : 1986), **रत्ना लाहिड़ी :** 'मूल्य, संस्कृति-साहित्य और समय' (1987), 'रेणु से भेंट' (सं. भारत यायावर : 1987), 'साहित्यकारों के संग' (सं. कैलाश कल्पित : 1987), **डॉ. रणवीर रांग्रा :** 'साहित्यकारों से भेंट' (1988), **गोविंद मिश्र :** 'लेखक की ज़मीन' (1990), **अमृतलाल नागर :** 'अमृत मंथन' (1991), **नामवर सिंह :** 'कहना न होगा' (सं. समीक्षा ठाकुर : 1994), 'धर्मवीर भारती से साक्षात्कार' (सं. पुष्पा भारती : 1988), **प्रकाश मनु :** 'मुलाकात' (1998), **बिंदु अग्रवाल :** 'यादें और बातें' (1988), **कमला प्रसाद :** 'वार्तालाप' (1998), **रामदरश मिश्र :** 'अंतरंग' (सं. स्मिता मिश्र : 1999), **विद्यानिवास मिश्र :** 'गांव के मन से रूबरू' (सं. कुमुद शर्मा : 2000), **रामविलास शर्मा :** 'आज के सवाल और मार्क्सवाद' (सं. अजय तिवारी : 2000), **बलराम :** 'वैष्णवों से वार्ता' (2001), **प्रकाश मनु :** 'रामविलास शर्मा : अंतरंग स्मृतियां और मुलाक़ातें' (2002), **कृष्ण बलदेव वैद :** 'जवाब नहीं' (2002)। इनके अतिरिक्त 'मेरे साक्षात्कार' शीर्षक शृंखला में देवेंद्र सत्यार्थी, रामविलास शर्मा, नेमिचंद्र जैन, त्रिलोचन शास्त्री, नागार्जुन, मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, निर्मल वर्मा, पूरनचंद्र जोशी, कुंवर नारायण, श्रीलाल शुक्ल, केदारनाथ सिंह, प्रभाकर श्रोत्रिय, मैनेजर पांडेय, परमानंद श्रीवास्तव, हिमांशु जोशी, अशोक वाजपेयी, लीलाधर जगूड़ी, रमेशचंद्र शाह आदि के विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा लिये गये साक्षात्कार प्रकाशित हुए हैं। साक्षात्कारों की यह शृंखला 1998-2006 के बीच प्रकाशित हुई है। दूधनाथ सिंह के चार साक्षात्कारों और चार निबंधों का संग्रह 'कहासुनी' (2006) शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।

इन साक्षात्कारों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक वर्ग उन साक्षात्कारों का है, जिनमें एक ही व्यक्ति से अनेक व्यक्तियों ने साक्षात्कार किया है। पुस्तक-रूप में प्रकाशित अधिकांश साक्षात्कार इसी वर्ग के हैं। दूसरा वर्ग उन साक्षात्कारों का है, जिसमें एक ही व्यक्ति ने अनेक व्यक्तियों से साक्षात्कार किया है। इस वर्ग में आने वाले साक्षात्कारों की संख्या कम है। इस वर्ग के साक्षात्कारकर्त्ताओं में डॉ. पदमसिंह शर्मा 'कमलेश' के बाद दूसरा नाम डॉ. रणवीर रांग्रा का है। साहित्यिकों के साक्षात्कारों को इन्हीं दो व्यक्तियों ने प्रतिष्ठित किया है। डॉ. रांग्रा ने इकतालीस शीर्षस्थ हिंदी-साहित्यकारों से साक्षात्कार किये और 'साहित्यिक साक्षात्कार' (1978) शीर्षक से उन्हें प्रकाशित किया। इससे पहले वे साक्षात्कारों का एक और संग्रह 'सृजन की मनोभूमि' (1968) प्रकाशित कर चुके थे। वर्तमान कालावधि में प्रकाशित उनके साक्षात्कार-संग्रह 'भारतीय साहित्यिकारों से साक्षात्कार' में हिंदी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेज़ी में लिखने वाले भारतीय साहित्यकारों के साक्षात्कार भी सम्मिलित हैं। उन्होंने निश्चित प्रश्नों के आधार पर साक्षात्कारों का विषय किसी साहित्यकार का समग्र लेखन भी बनाया है और किसी साहित्यकार की कृति विशेष को भी। वे मैथिलीशरण गुप्त से यदि यह जानना चाहते हैं कि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

''आपके कवित्व के स्फुरण में किन भीतरी और बाहरी प्रेरणाओं का हाथ रहा?'' तो वे दिनकर से यह भी जानना चाहते हैं कि ''उर्वशी की रचना करते समय क्या आपको कभी ऐसा भी लगा कि बाहर और भीतर की यथार्थताओं के पहले से लगाये गये अर्थों के स्थान पर नये और आत्मविस्मृतकारी अर्थ उभर रहे हैं और आपको सत्य के निकट पहुंचने का आभास मिल रहा है? यदि 'हां' तो कृपया बतायें, उसके किस स्थल में आपको इस प्रकार की अनुभूति सर्वाधिक हुई।'' इस प्रकार के प्रश्नों के जो उत्तर उन्हें मिले हैं, वे उपयोगी और साहित्यकार विशेष या साहित्यिक कृति विशेष को अधिक गहराई और अंतरंगता के साथ जानने में हमारी सहायता करते हैं। डॉ. रांग्रा वृत्ति से पत्रकार नहीं हैं। इसलिए उनके साक्षात्कारों का चरित्र वृत्ति से पत्रकारों के द्वारा किये गये साक्षात्कारों के चरित्र से भिन्न है। बलराम के द्वारा किये गये साक्षात्कारों 'वैष्णवों से वार्ता' से डॉ. रांग्रा के द्वारा किये गये साक्षात्कारों से तुलना करने पर अंतर स्पष्ट हो जायेगा। साक्षात्कारों में साक्षात्कार्य और साक्षात्कर्त्ता दोनों का व्यक्तित्व प्रतिबिंबित होता है।

पहले वर्ग अर्थात एक ही व्यक्ति से अनेक व्यक्तियों के द्वारा किये गये साक्षात्कारों में कुछ साहित्यकार विशेष रूप से लोकप्रिय रहे हैं। ऊपर दी गयी सूची से स्पष्ट है कि अज्ञेय और डॉ. रामविलास शर्मा इसी प्रकार के साहित्यकार हैं। आकाशवाणी के लिए अज्ञेय से रघुवीर सहाय और गोपालदास ने बातचीत की, और 'अज्ञेय अपने बारे में : एक साक्षात्कार' शीर्षक से उसे प्रकाशित भी किया गया। 'रचना क्या और किसके बीच' में अज्ञेय से शरत कुमार, गीति सेन, रमेशचंद्र शाह, राजी सेठ और नंदकिशोर आचार्य ने बातचीत की। 'साक्षात्कार : डॉ. रामविलास शर्मा से बातचीत' में उनसे विश्वनाथप्रसाद तिवारी, रमेश उपाध्याय, चंद्रभूषण तिवारी, कमला प्रसाद, अजय तिवारी, हरिनारायण मिश्र, पुरुषोत्तम अग्रवाल और कर्णसिंह चौहान ने बातचीत की है। इससे स्पष्ट है कि साक्षात्कारकर्त्ताओं का चयन चेतन-अचेतन रूप से साक्षात्कार्य के अनुसार होता है।

इन साक्षात्कारों में प्रश्नों के जो और जिस तरह के उत्तर साक्षात्कार्यों ने दिये हैं, उनमें उनकी प्रकृति, उनका अध्ययन, उनका अनुभव और उनका चिंतन-मनन प्रतिबिंबित हुआ है। मैथिलीशरण गुप्त के उत्तरों में उनकी सरलता और गंभीरता, डॉ. रामविलास शर्मा के उत्तरों में उनकी स्पष्टता और मार्क्सवादी आग्रह, अज्ञेय के उत्तरों में उनकी सूक्ष्म विवेचना और महीन कताई, नामवर सिंह के उत्तरों में उनकी वाग्मिता, कृष्ण बलदेव वैद के उत्तरों में उनका वैचित्र्य, दूधनाथ सिंह के उत्तरों में उनकी भड़ास आदि की अभिव्यक्त हुई है। पाठक-श्रोता-द्रष्टा साक्षात्कार्य की स्थापनाओं से सहमत हो, यह आवश्यक नहीं है, लेकिन साक्षात्कारों की उपयोगिता और रंजकता तो स्वीकार करनी ही होगी।

## पत्र-साहित्य

पत्र घुणाक्षार न्याय से साहित्यिक विधा बने हैं। औपचारिक सूचनाओं, व्यावसायिक प्रयोजनों, प्रशासनिक कार्यों तथा अवसर विशेष की औपचारिकताओं का निर्वाह करने के लिए जो पत्र लिखे, भेजे जाते हैं, उनका कोई साहित्यिक महत्त्व नहीं होता है। अतः वे साहित्य में कभी सम्मिलित नहीं किये जाते। साहित्य में वही पत्र सम्मिलित किये जाते हैं, जो वैयक्तिक और अनौपचारिक होते हैं। जिन पत्रों से क्षेत्र विशेष के महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के व्यक्तित्व और कृतित्व को समझने में सहायता मिलती है, जिन पत्रों में युग विशेष अपनी विविधता में प्रतिबिंबित होता है अथवा जिनमें अनायास आयी कलात्मकता होती है, उन्हीं का साहित्यिक महत्त्व होता है। जब वे पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते हैं अथवा पुस्तकों में संकलित हो कर सामने आते हैं, तो पत्र-साहित्य अस्तित्व में आता है। चूंकि पत्रों के संकलन की प्रक्रिया आधुनिककाल में प्रारंभ हुई है, इसलिए पत्र-साहित्य आधुनिक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

काल की एक नयी विधा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है।

साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पत्र कई रूपों में संकलित व संपादित हो कर हमारे सामने आये हैं। इनमें से एक रूप पत्रिकाओं के पत्र-विशेषांक या सामान्य अंकों में प्रकाशित होने वाले पत्र हैं। पत्रिकाओं के उल्लेखनीय पत्र-विशेषांक ये हैं : 'चांद' मई, 1928, 'ज्ञानोदय', नवंबर-दिसंबर, 1953 एवं नवंबर, 1963, सम्मेलन-पत्रिका, 1982, सारिका, पत्र-विशेषांक, 1989, 'विश्वभारती', द्विवेदी विशेषांक, 'भाषा', मार्च-अप्रैल, 2004 इत्यादि। इन पत्र-विशेषांकों के अतिरिक्त पत्रिकाएं अपने विभिन्न अंकों में पत्रों को छापती रहती हैं। उदाहरण के लिए, 'दस्तावेज़', अंक 30 में अमृतलाल नागर के, आलोचना-78 में श्रीकांत वर्मा के, 'कृति ओर' 18 (दिसंबर, 2000) में राजशेखर और रामविलास शर्मा के, 'प्रिय पाठक', दिसंबर, 2000 के अंक में अनेक लेखकों के, 'आर्यकल्प', दिसंबर, 2001 में नागार्जुन, रामविलास शर्मा, विद्यानिवास मिश्र, देवीशंकर अवस्थी और धूमिल के, 'हिंदुस्तानी', दिसंबर , 2001 में चंद्रधर शर्मा गुलेरी के पत्र प्रकाशित हुए हैं। यदि सभी पत्रिकाओं में पत्रों की सूची तैयार की जाये तो बहुत लंबी हो जायेगी। पत्रिकाओं की तरह ही विभिन्न साहित्यकारों की जो ग्रंथावलियां, स्मृतिग्रंथ, अभिनंदनग्रंथ, जीवनियां इत्यादि प्रकाशित हुई हैं, उनमें उन साहित्यकारों के पत्र भी अनिवार्य रूप से संकलित किये गये हैं। यहां तक कि लेखकों ने अपनी आत्मकथाओं में भी पत्र प्रकाशित किये हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी आत्मकथा 'अपनी धरती अपने लोग' के पहले और दूसरे खंड में तो कुछ पत्र दिये ही हैं, तीसरा खंड तो पूरा-का-पूरा पत्रों का ही संग्रह है। तीसरे खंड में दिये गये पत्रों के संबंध में उनका कहना है, ''इस खंड में मेरे जीवन से संबंधित पत्रों के रूप में दस्तावेज़ हैं'' (भूमिका)।

इन रूपों के अतिरिक्त वर्तमान कालावधि में पत्र संकलित हो कर पुस्तकों के रूप में बहुत बड़ी संख्या में प्रकाशित हुए हैं। इनमें कुछ महत्त्वपूर्ण संकलन इस प्रकार हैं : 'दिनकर के पत्र' (1981), सं. कन्हैयालाल फूलफगर, 'अंचल पत्रों में' (1983), सं. जीवन प्रकाश जोशी, 'पाती फिर आयी : बच्चन' (1984) सं. जीवनप्रकाश जोशी, 'नागार्जुन के पत्र' (1987) सं. नरेंद्र कोहली, 'मित्र संवाद' (1992) सं. रामविलास शर्मा, 'संवाद अनायास' (1983) सं. गोविंद मिश्र, 'हजारीप्रसाद द्विवेदी के पत्र' (प्रथम खंड, 1994) सं. मुकुंद द्विवेदी, 'राकेश और परिवेश : पत्रों में' (1995) सं. जयदेव तनेजा, 'आपस की बातें' (1996), रामविलास शर्मा, 'प्रतिनाद' (1996) सं. नरेंद्र कोहली, 'तीन महारथियों के पत्र' (1997) सं. रामविलास शर्मा, 'मैं पढ़ा जा चुका पत्र' (1997), सं. नंदकिशोर नवल, 'माधवप्रसाद मिश्र के पत्र और दस्तावेज़' (1997) सं. मुरारीलाल गोयल, 'चिट्ठिया हो तो हर कोई बांचे' (1999) सं. भारत यायावर, 'अक्षर-अक्षर यज्ञ' (1999) प्रस्तुति पुष्पा भारती, 'पुनश्च' सं. जयदेव तनेजा, 'कवियों के पत्र' (2000) सं. रामविलास शर्मा, 'हमकों लिख्यौ है कहा' (2001) सं. कमलेश अवस्थी, 'पत्राचार' (2001) सं. बिंदु अग्रवाल, 'प्रेमचंद के पत्र' (2002) सं. कमलकिशोर गोयनका; 'पत्रों के आईने में स्वामी दयानंद सरस्वती' (2003), सं. राज बुद्धिराजा, 'अंत्र कुशलं तत्रास्तु' (2004) सं. रामविलास शर्मा, 'विष्णुपद रोड गया' (2004) सं. रमाशंकर द्विवेदी, 'प्रेमचंद पत्रों में' (2005) सं. मंगलमूर्ति, 'प्रिय राम : निर्मल वर्मा' (2006), सं. गगन गिल, 'काशी के नाम' (2006) नामवर सिंह आदि।

पत्रों के इन संग्रहों में स्वामी दयानंद सरस्वती से ले कर नामवर सिंह तक के पत्र संकलित हैं। इन पत्रों के माध्यम से इतनी चीज़ें हमारे सामने आती हैं कि आश्चर्य होता है। 'पत्रों के आईने में स्वामी दयानंद सरस्वती' में संगृहीत स्वामी जी के पत्रों को जब हम पढ़ते हैं, तो उनमें उनकी सुधार-भावना, अंधविश्वासों और जादू-टोनों के खंडन, हिंदी और संस्कृत-प्रेम, फ़ारसी-विरोध, गोवंश की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रक्षा, कठोरतापूर्वक नियम-पालन, आर्थिक अनुशासन, आमों का शौक़, शास्त्रार्थ की प्रवृत्ति, प्रकृति-प्रेम आदि से परिचित होते हैं। हमें यह भी पता चलता है कि वे अंग्रेज़ों के विरोधी थे, अंग्रेज़ी के नहीं। उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा है कि "पाठशाला में संस्कृत का काम ठीक-ठीक होना चाहिए। इस पाठशाला में संस्कृत, जो मातृभाषा है, उसको ही वृद्धि देना चाहिए। फ़ारसी का होना कुछ आवश्यक नहीं। केवल संस्कृत और राजभाषा अंग्रेज़ी दो ही का पठन-पाठन होना आवश्यक है" (पृ. 93)। 'मैं जो पढ़ा जा चुका पत्र' में संगृहीत अपने एक पत्र में नागार्जुन ने नवल को सलाह दी कि "क़लम कभी मत छोड़ना, क्षेत्र तुम्हारे सामने काफ़ी विस्तृत पड़ा है। मगर बेटा, गद्य नहीं लिखोगे तो काल तुम्हें धकिया के मुख्यधारा से हटा कर दियारे पर फेंक देगा। पूरा साहित्यकार बनने की नीयत हो तो फिर गद्य की तरफ़ भी अपने को मोड़ो, हां!" 'हजारीप्रसाद द्विवेदी के पत्र' में 1934-1971 के बीच बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखित अत्यंत सरस 140 पत्रों से हमें द्विवेदी जी की हिंदी-भाषा, साहित्य, संस्कृति और समाज के प्रति चिंताएं, विपन्नता की कड़ी मार, एक अच्छे फाउंटेनपेन या बीमा की बकाया किस्त के जुगाड़ की चिंता, हास-परिहास, संस्मरण, साहित्य तथा अन्य विषयों से संबंधित विचार आदि का पता चलता है। अपने एक पत्र (11 सितंबर, 1945) में उन्होंने चतुर्वेदी जी को अपना 'साहित्य क्षेत्र में गुरु' स्वीकार किया है। उन्होंने 16 दिसंबर, 1947 के पत्र में स्वीकार किया है कि कबीर के साहित्य के अध्ययन की प्रेरणा उन्हें रवींद्रनाथ टैगोर और आचार्य क्षितिमोहन सेन से मिली। उनके साहित्य के मर्म को समझने के लिए उनके पत्र एक अपरिहार्य साधन हैं। उन्होंने अपने एक पत्र (26 अगस्त, 1940) में चतुर्वेदी जी को लिखा था कि "मैं मानता हूं कि मोरियों की सफ़ाई 'साहित्यिक' कहे जाने वाले कार्यों की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण है। यह भी मानता हूं कि जिसे अपने आसपास की दुनिया से परिचय नहीं, उसे साहित्य-सेवा का अधिकार नहीं। यदि कोई गुप्तकाल का इतिहास लिख रहा है, तो उसे यह जानने की तो ज़रूरत नहीं कि आलू की बुआई और सिंचाइ कब होनी चाहिए (जाने तो बुरा नहीं), पर उसे यह ज़रूर जानना चाहिए कि उसके आसपास जो मंदिर, तालाब हैं, उन पर उस युग का कोई चिह्न है या नहीं। उसके गांव में बसने वाली जातियों का उस युग से क्या संबंध है, उस गांव में बोली जाने वाली बोली में कोई उस युग का प्रभाव पाया जा सकता है या नहीं, इत्यादि।" इस उद्धृत पत्रांश को पढ़ कर द्विवेदी जी के 'मेरी जन्मभूमि' या इस तरह के अन्य निबंधों की वस्तु का सारांश समझ में आ जाता है। माधवप्रसाद मिश्र के पत्रों से उन्नीसवीं शती के अंतिम कुछ वर्षों और बीसवीं शती के प्रारंभिक सात वर्षों में सक्रिय 'सुदर्शन' संपादक और सनातन धर्म के प्रचारक मिश्र जी (1871-1907 ई.) की भावुकता, स्पष्टवादिता, वाक्पटुता तथा व्यंग्य-वक्रोक्तिमयता स्पष्ट हो जाती है। उनके पत्रों से साधनहीन 'सुदर्शन' और साधन-संपन्न 'सरस्वती' की प्रतिस्पर्द्धा भी हमारे सामने आ जाती है। वे अल्पकाल में ही कैसे हिंदी-साहित्य पर अपनी अमिट छाप छोड़ सके और 'सब मिट्टी हो गया' जैसे निबंध कैसे लिख सके, इसका रहस्य उनके इन पत्रों से स्पष्ट हो जाता है।

इन पत्र-संग्रहों में संगृहीत पत्रों से पत्र-लेखकों का समय, उनके व्यक्तित्व की विशिष्टता, उनके प्रेरणास्रोत, उनके सरोकार, उनकी रचनाप्रक्रिया आदि तो सामने आते ही हैं, उनके कृतित्व को ले कर हमारी अंतर्दृष्टि का विकास तो होता ही है, साथ ही उनके व्यक्तिगत जीवन के उल्लास और अवसाद, उनके सुख-दुख भी सामने आते हैं। बच्चन जी के एक पत्र से हमें पता चलता है कि दिनकर जी के जीवन के अंतिम दिन अत्यंत दुखमय रहे, "आजकल 'दिनकर' के देहावसान से बहुत विचलित हूं!...काश! वे इतने दुखी हो कर न मरते!...दिनकर अपने पारिवारिक कारणों से इतने दुखी थे कि साल भर से घर से भागे भागे फिरते थे—अनिकेतन हालत में" (भाषा, मार्च-अप्रैल, 2004,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पृ. 118)। उनके इस दुख की पुष्टि उनकी डायरी से भी होती है। देवीशंकर अवस्थी के नाम लिखे दो पत्रों (14 दिसंबर, 1963 और 19 जनवरी, 1964) से पता चलता है कि काशीनाथ सिंह दिल्ली आने के लिए बहुत उत्सुक थे। उन्होंने हिंदू-कॉलेज में प्राध्यापक पद के लिए आवेदनपत्र भेजा था और अपने दूसरे पत्र में लिखा था, "आपके सुझाव के अनुसार मैंने हिंदू-कॉलेज में अप्लाई कर दिया है, ज़रा ध्यान रखेंगे। हो जाये तो बड़ा अच्छा हो, नहीं तो फिर इस ग़रीबी में मौत ही समझिए" (हमकों लिख्यौ है कहा, पृ. 185)। अशोक वाजपेयी ने अपने एक पत्र में नामवर सिंह और श्रीकांत वर्मा की तुलना इस प्रकार की है : "2 मई वाली गोष्ठी 'काफ़ी घटिया' रही, यह जान कर दुख हुआ। नियोजन में क्या भूल हुई, समझ में नहीं आया, क्योंकि वह तो आप ही सबने बैठ कर बनायी थी। अलबत्ता जल्दबाज़ी कुछ हो गयी थी। जाने आपने नामवर जी की चतुराई के लिए उनकी भर्त्सना की या नहीं। मुझे इस बार नामवर जी की Displease none की नीति से बड़ा दुख हुआ, क्योंकि कहीं-न-कहीं वह नामवर जी में नैतिक साहस की कमी को सूचित करती है। मैं उनसे गंभीरतापूर्वक इसको ले कर बात करना चाहता था, पर मौका नहीं मिला : This will...श्रीकांत जी में हज़ार कमज़ोरियां हों, साहस की शक्ति तो है और नामवर जी में हज़ार गुण हों, साहसहीनता का बड़ा भारी दुर्गुण है" (वही, पृ. 83-84)।

स्पष्ट है कि पत्र उनके लिखने वालों के समय, उनके सार्वजनिक और व्यक्तिगत जीवन का ऐसा दर्पण है, जो कभी झूठ नहीं बोलता। वर्तमान कालावधि में प्रकाशित पत्रों की इस विवेचना से स्पष्ट है कि हिंदी का पत्र-साहित्य समृद्ध हो रहा है।

## दैनंदिनी (डायरी)

किसी व्यक्ति के जीवन में किसी विशेष दिन क्या-क्या घटता है, वह क्या-क्या करता है, क्या-क्या अनुभव करता है, क्या-क्या सोचता विचारता है, किस-किस से मिलता है, आदि का विवरण उसी दिन लिख डालता है, तो ऐसे दिनों की विवरण-शृंखला उसकी 'दैनंदिनी' बन जाती है। यह लिखना उसके अपने लिए होता है। इसलिए अपने मूल रूप में उसकी दैनंदिनी उसका निजी दस्तावेज़ होती है। इसलिए व्यक्ति विशेष की दैनंदिनी में कुछ ऐसी चीज़ें होती हैं, जिन्हें वह अपने तक ही रखना चाहता है, किसी को बताना नहीं चाहता और कुछ ऐसी चीज़ें होती हैं, जिन्हें सार्वजनिक करने में उसे कोई आपत्ति नहीं होती। इसीलिए अधिकांश दैनंदिनियां अपने मूल रूप में प्रकाशित न हो कर संपादित रूप में प्रकाशित होती हैं।

भारत में दैनंदिनी लिखने का प्रारंभ आधुनिक काल में हुआ। हिंदी में भी दैनंदिनियों के लेखन-प्रकाशन का प्रारंभ भारतेंदु-युग में ही हुआ, लेकिन अब तक इतनी कम दैनंदिनियां प्रकाशित हुई हैं कि अनायास और असजग रूप से निर्मित साहित्य की इस गद्य विधा को बहुत संपन्न नहीं कहा जा सकता।

दैनंदिनियां मुख्य रूप से दो रूपों में प्रकाशित हो कर सामने आयी हैं। एक रूप वह है, जो पत्रिकाओं या लेखकों के विभिन्न विधाओं के संग्रहों, अभिनंदन या स्मारकग्रंथों, ग्रंथावलियों आदि के अंशों के रूप में प्रकाशित हुआ है और दूसरा वह रूप है, जो स्वतंत्र पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हुआ है। यहां हमें इस बात को ले कर स्पष्ट रहना चाहिए कि वे रचनाएं दैनंदिनी नहीं होतीं, जिनमें इसे प्रविधि या शिल्प के रूप में अपनाया जाता है, जैसे डॉ. देवराज का उपन्यास 'अजय की डायरी', मुक्तिबोध की आलोचना-पुस्तक 'एक साहित्यिक की डायरी', वसंत पोतदार का निबंध-संग्रह 'यायावर की डायरी'।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हिंदी में दैनंदिनियां अधिकांशतः पहले रूप में प्रकाशित हुई हैं। 'हंस' के आत्मकथांक (जनवरी, 1932) एवं प्रेमचंद-अंक, 'परिषद्-पत्रिका' (जनवरी, 1979), 'इंडिया टुडे' (साहित्य वार्षिकी, 1993), 'समालोचक' (मई एवं अक्तूबर, 1958), 'ज्ञानोदय' (जनवरी, 1964), 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 'सारिका', 'दिनमान' आदि पत्रिकाओं में विभिन्न व्यक्तियों के डायरी-अंश प्रकाशित होते रहे हैं। डायरी-केंद्रित विशेषांक केवल एक पत्रिका ने प्रकाशित किया है। यह पत्रिका है 'लहर'। 1967 में दो भागों में इसका 'डायरी-विशेषांक' प्रकाशित हुआ, जिसमें सुरेंद्र चौधरी, कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह, अजित कुमार, राजेंद्र किशोर, जितेंद्रनाथ पाठक, सुरेंद्र अरोड़ा, सुदर्शन चोपड़ा, रघुवंश, गोपीकृष्ण गोपेश, राजीव सक्सेना, राजकमल चौधरी, स्वदेश दीपक, मधुरेश आदि की दैनंदिनियों के अंश प्रकाशित हुए हैं। इन अंशों को तीन खंडों : 'आत्मनिर्वासन और संघर्ष', 'यात्रा और उभरती आकृतियां' तथा 'कथा के सूत्र टटोलती डायरी' में विभाजित करके प्रकाशित किया गया है। निःसंदेह हिंदी-दैनंदिनी-लेखन के इतिहास में इस विशेषांक का विशेष महत्त्व है। 'बालमुकुंद गुप्त स्मारकग्रंथ' (सं. झाबरमल शर्मा एवं बनारसीदास चतुर्वेदी, 1950) में बालमुकुंद गुप्त को, 'श्रीधर पाठक ग्रंथावली' (खंड 3, जुलाई, 1996, सं. पद्मधर पाठक) में श्रीधर पाठक की, 'पं. रामनारायण मिश्र स्मृतिग्रंथ' (1984) में मिश्र जी की, 'रघुवीर सहाय-रचनावली' में रघुवीर सहाय की दैनंदिनियों के अंश संगृहीत हैं। ऐसा शायद ही कोई स्मारक या अभिनंदनग्रंथ होगा, जिसमें स्मृत या अभिनंदित व्यक्ति की दैनंदिनी के अंश प्रकाशित न हुए हों, बशर्ते उस व्यक्ति ने दैनंदिनी लिखी हो।

इसी प्रकार लेखकों के विविध रचना-संकलनों में उनकी दैनंदिनियों के अंश संकलित हैं। अजित कुमार की 'अंकित होने दो' (1954), धर्मवीर भारती की 'ठेले पर हिमालय' (1958), रघुवंश की 'हरी घाटी' (1961), रघुवीर सहाय की 'दिल्ली मेरा परदेश' (1976), रवींद्र कालिया की 'स्मृतियों की जन्मपत्री' (1979), रामविलास शर्मा की 'पंचरत्न' (1980), शमशेर की 'शमशेर' (सं. मलयज) एवं 'शमशेर की कुछ और गद्य-रचनाएं' (1989), रेणु की 'वनतुलसी की गंध' (1984), शिवपूज सहाय की 'वागीश्वरी' (1994) आदि में दैनंदिनियों के अंश संगृहीत हैं।

पुस्तक-रूप में भी अनेक दैनंदिनियां प्रकाशित हुई हैं। इनमें से उल्लेखनीय दैनंदियां इस प्रकार हैं : राधाचरण गोस्वामी की 'दैनंदिनी' (1885), सत्यदेव जी की 'मेरी डायरी' (1909), 'नरेंद्रदेव शास्त्री वेदतीर्थ की जेल-डायरी' (1930), घनश्यामदास बिड़ला की 'डायरी के कुछ पन्ने' (1940), इलाचंद्र जोशी की 'डायरी के कुछ नीरस पृष्ठ' (1952), धीरेंद्र वर्मा की 'मेरी कॉलेज डायरी' (1958), बाल्मीकि चौधरी की 'राष्ट्रपति भवन की डायरी' (1960), बच्चन की 'प्रवास की डायरी' (1971), पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी की 'मेरी डायरी', सीताराम सेकरिया की 'एक कार्यकर्ता की डायरी' (1972), दिनकर की 'दिनकर की डायरी' (1973), रामेश्वर टांटिया की 'डायरी के पृष्ठ : क्या खोया क्या पाया' (1977), जयप्रकाशनारायण की 'मेरी जेल-डायरी' (1977), चंद्रशेखर की 'मेरी जेल-डायरी' (1977), जानकीवल्लभ शास्त्री की 'एक असाहित्यिक की डायरी', 'मोहन राकेश की डायरी' (1985), 'मलयज की डायरी' (तीन खंड : 2000, सं. नामवर सिंह), 'आस्था (नवल) की डायरी' (2001), नरेंद्र मोहन की 'साथ-साथ मेरा साया' (2003), बिशन टंडन की 'आपातकाल की डायरी' (खंड 1, 2002, खंड 2, 2005), कृष्ण बलदेव वैद की 'ख़्वाब है दीवाने का' (2005) आदि।

इन दैनंदिनियों में सबसे कम आयु (जन्मतिथि : 5 अक्तूबर, 1980) में लिखी गयी और

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रकाशित हुई दैनंदिनी आस्था नवल की है। जब उनकी यह दैनंदिनी प्रकाशित हुई, तब वे दिल्ली विश्वविद्यालय की छात्रा ही थीं और यह उनकी पहली प्रकाशित पुस्तक भी है। साहित्यिकों के परिवार में जन्मी आस्था में साहित्य-सृजन की प्रवृत्ति बचपन से दिखायी देने लगी। उन्होंने अपनी अग्रजा अन्विता की देखादेखी बचपन से ही दैनंदिनी लिखनी प्रारंभ कर दी। इसलिए उनकी दैनंदिनी में उनकी आयु से अधिक परिपक्वता, शुद्ध, सशक्त और सुंदर भाषा तथा कलात्मक अभिव्यक्ति हमें विस्मित नहीं करती। उनकी इस दैनंदिनी से स्पष्ट है कि उन्हें प्रकृत्ति से प्रेम है और जीवन व जगत के मौलिक प्रश्नों पर चिंतन करने की उनमें जन्मजात प्रवृत्ति है। आस्था की तरह ही संभवत धीरेंद्र वर्मा की कॉलेज डायरी भी कम आयु में लिखी गयी दैनंदिनी है। उनमें भी ''डायरी रखने की आदत स्कूल के दिनों में ही आरंभ हो गयी थी।'' डायरी लिखने की प्रेरणा उन्हें उनके 'चुप्पे स्वभाव' ने दी। संवेदनशील, आदर्शवादी, किंतु संकोची स्वभाव के अठारह वर्ष से ले कर छब्बीस वर्ष की आयु तक के युवक के मन के द्वंद्वों ने उनकी दैनंदिनी में अभिव्यक्ति पायी है। चार खंड : संदेह, संसार, देश-दशा और मायाजाल में विभाजित उनकी यह दैनंदिनी उनकी उस समय की मनोदशाओं और उनके सोच एवं सरोकारों को व्यक्त करती है।

इन दैनंदिनियों में कहीं तो केवल सूचनाएं भर हैं और कहीं विस्तृत विवरण, ऊहापोह, मनोद्वंद्व, चिंतन-मनन आदि। श्रीधर पाठक की दैनंदिनी के जो अंश प्रकाशित हुए हैं, वे अधिकांशत: सूचनात्मक हैं, लेकिन उनमें अनेक महत्त्वपूर्ण चीज़ें अभिव्यक्ति पा गयी हैं। जैसे, 3 मार्च, 1893 को फ़ीरोजाबाद में लिखा गया यह विवरण, ''घुलंडी, प्रात: 10:05 के क़रीब फ़ीरोजाबाद पहुंचा। बहेली की तलाश में कोई एक घंटा बर्बाद हुआ। दोपहर 1:30 घर पहुंचा। कस के भूख लगी थी, धाप के भोजन किया। निरंतर बढ़ रही ग़रीबी एवं हाल ही में हुई अनेक मौतों के कारण होली पर कोई तमाशा नहीं हुआ। गांव में बड़ी मायूसी छायी हुई थी'' (श्रीधर पाठक-ग्रंथावली, खंड 3, पृ. 207)। इन गिने-चुने वाक्यों में 1893 का यथार्थ भी बिंबित हो गया है।

यद्यपि दैनंदिनी नितांत व्यक्तिगत चीज़ है, लेकिन वह अपने समय को भी बिंबित करती है। इसलिए वह लेखक का वैयक्तिक दस्तावेज़ होने के साथ-साथ उसके समय का भी दस्तावेज़ बन जाती है। पराधीन भारत की युवा पीढ़ी में किस प्रकार राजनीतिक चेतना जागी थी, इसका अनुमान धीरेंद्र वर्मा की 14:12.1921 की दैनंदिनी के इस अंश से लगाया जा सकता है, ''...अब बात बदल गयी है। राजनीति अब प्रत्येक देशवासी का धर्म हो गया है। समझ-बूझ कर भी जो देश के लिए काम करने से हिचकता है, विशेष व्यक्तिगत स्थिति की बात भिन्न है, तो वह बुजदिल और कमज़ोर हृदय का है। मैं समझता हूं कि देश को मेरी भी छोटी सी बलि की आज आवयकता है'' (पृ. 85)। नरेंद्र मोहन ने अपनी 2 जुलाई, 1972 की दैनंदिनी में इंदराज किया है, ''आज प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी और पाकिस्तान के राष्ट्रपति जैड.ए. भुट्टो ने शिमला समझौते पर हस्ताक्षर किये। देखते हैं, कितना टिकाऊ होता है यह समझौता'' (पृ. 59)। बिशन टंडन की 'आपातकाल की डायरी' से आपातकाल का आंतरिक पक्ष उजागर होता है।

जहां तक दैनंदिनी-लेखक के निजी जीवन से संबंधित जानकारियों का प्रश्न है, वहां तो ऐसी सूचनाओं का अंबार होता है, जो अन्यत्र शायद ही मिलें, उसकी आत्मकथा में भी नहीं। इसीलिए लेखक के जीवनकाल में प्रकाशित होने वाली दैनंदिननियां संपादित रूप में प्रकाशित होती हैं। 1951 से 1982 तक प्रसृत मलयज की दैनंदिनी से हम उनकी निम्नमध्यवर्गीय आर्थिक परेशानियों, उनकी बहनों के स्वच्छंद आचरण, उनकी बहन प्रेमा और शमशेर के प्रेम-संबंध, पत्नी के मनोनुकूल सुंदर न होने के असंतोष, उसकी 'जानवर मांग' से होने वाली परेशानी, उनके अवसाद, तनाव, अकेलेपन,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मानसिक भावनात्मक संघर्ष, उनकी मनोग्रंथियों और उनकी साहित्यिक महत्त्वाकांक्षाओं से परिचित होते हैं। प्राय: हर साहित्यकार की आकांक्षा होती है कि उसके समकालीन रचनाकार और आलोचक उसको महत्त्व दें, लेकिन इस मामले में पूर्णत: संतुष्ट शायद ही कोई लेखक होता है। इसलिए उनकी दैनंदिनियों में इस मामले में उनके असंतोष की अभिव्यक्ति होती है। कृष्ण बलदेव वैद, कृष्णा सोबती और निर्मल वर्मा से इसलिए नाराज़ हैं कि उन्होंने उनको वांछित महत्त्व नहीं दिया। निर्मल वर्मा को ले कर उन्होंने अपनी दैनंदिनी में लिखा हैं : ''निर्मल 'दूसरा न कोई' के बारे में शायद ही कुछ लिखे। वह अपनी तमाम नज़ाक़तों के साथ हिंदी-साहित्य की मुख्य धारा में बह रहा है। मैं उस धारा के ख़िलाफ़ जा रहा हूं। हमारा सबसे बड़ा अंतर शायद यही है'' (ख़्वाब है दीवाने का, पृ. 145)।

रचनाकारों की दैनंदिनियां यह सत्य हमारे सामने लाती हैं कि प्राय: हर रचनाकार अपने व्यक्तिगत जीवन में असंतोष, दुख और पीड़ा की स्थितियों में से गुज़रता है। उन स्थितियों के कारणों, सघनता और तीक्ष्णता में अंतर अवश्य होता है। दिनकर अपनी पारिवारिक स्थितियों से जीवन के अंतिम दिनों में बहुत दुखी थे। उनके सिर पर परिवार की अनेक लड़कियों के विवाह और उनके लिए दहेज जुटाने की चिंता सवार थी। वे मंदिरों में जा कर भगवान से उनके लिए सुयोग्य और निर्लोभी वर की याचना करते थे। उन्होंने 23.5.1963 की दैनंदिनी में अपनी बेचैनी के बारे लिखा था : ''मैं बहुत बेचैन हूं। चाहता हूं कि कोई कान में कह दे, तुम बेचैन क्यों हो? कुछ भी नहीं हुआ?'' नरेंद्र मोहन खालसा कॉलेज से दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग में जाकर दुखी हुए। उन्होंने 1991 की 20 सितंबर की दैनंदिनी में अपने सहयोगियों के विषय में लिखा : ''यह कैसा विभाग है, कैसे हैं यहां के लोग! बाहर से कुछ और अंदर से कुछ और! कितना मुश्किल है इन लोगों को भांप पाना। गिरिगट के रंग भी इनके सामने मात खा जायें। कभी पैरों पड़ते, कभी छाती पर चढ़ते, कभी चापलूसी करते, कभी आंखें दिखाते, कभी घिघियाते, कभी शंखनाद करते। नफ़ासत और गलाज़त, उच्चता और नीचता, विद्वत्ता और कमीनापन, समझदारी और मक्कारी, पुरकारी और होशियारी, अगर आपने एक साथ न देखे हों तो यहां देख सकते हैं। ऐसी प्रजाति आपने कहीं देखी हो या न देखी हो, मैंने कहीं नहीं देखी, हालांकि पूरी ज़िंदगी कॉलेजों में पढ़ाते हुए बितायी है'' (पृ. 205)।

यह तो मानी हुई बात है कि रचनाकार अपनी आत्मकथा, अपने संस्मरणों और अपनी दैनंदिनियों में अपनी रचनाओं की प्रेरणाओं और रचनाप्रक्रिया के अनेक रहस्य उद्घाटित कर देते हैं। अगर किसी को 'उर्वशी' या 'हारे को हरिनाम' की कविताओं की प्रेरणाएं जानती हों तो दिनकर की डायरी पढ़े। मोहन राकेश की कहानी 'एक और ज़िंदगी' पूर्णत: आत्मकथात्मक है, यह उनकी 1957 की विभिन्न तिथियों की दैनंदिनी पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है।

स्पष्ट है कि दैनंदिनियां लेखकों के समय, परिवेश, व्यक्तित्व और कृतित्व को जानने-समझने की दृष्टि से नितांत उपयोगी होती हैं। उनकी कलात्मकता-अकलात्मकता या उनकी प्रभावशीलता-अप्रभावशीलता तो दैनंदिनी-लेखकों की निजी क्षमताओं के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। हिंदी में दैनंदिनियों का प्रकाशन ज़ोर पकड़ रहा है। इसलिए हिंदी का दैनंदिनी-साहित्य क्रमश: संपन्न होता जा रहा है।

## ज्ञान का साहित्य

छायावादोत्तर काल के ज्ञानात्मक साहित्य के इतिहास को अध्ययन की सुविधा के लिए दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—पूर्व स्वातंत्र्य युग और स्वातंत्र्योत्तर युग। स्वतंत्रताप्राप्ति (1947) के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पूर्व जो ज्ञानात्मक साहित्य प्रकाशित हुआ, वह परंपरागत विषयों की परिधि में ही आता है। इसके पीछे एक ओर तो अतीतगौरव के पुनर्निर्माण का प्रयत्न निहित था और दूसरी ओर पश्चिम के इतिहास, शासनपद्धति आदि के समानांतर अध्ययन द्वारा उन तत्त्वों की तलाश थी, जिनके अभाव में स्वदेश पिछड़ गया था और जिनके प्रताप से विदेश की शासन-सत्ता का प्रसार होता चला गया था। फलतः इस अवधि में इतिहास, भरतीय सभ्यता और संस्कृति, भारतीय अर्थशास्त्र, भारतीय शासनविधान, विदेशी शासनव्यवस्था, व्याकरण एवं भाषादर्शन, समाजशास्त्र, राजनीतिक, दर्शनशास्त्र, तर्क, ललित कला, धर्म, शिक्षा, ज्योतिष आदि विषय ही लेखकों में अधिक लोकप्रिय रहे। इस विषय-सीमितता का जहां मनोवैज्ञानिक कारण था, वहीं कुछ अन्य कारण भी थे। एक तो इन पुस्तकों के लेखक मूलतः हिंदी-विद्वान थे अथवा परंपरागत विषयों के ऐसे विद्वान थे, जिनका हिंदी-अभिव्यंजना पर सहज अधिकार था। दूसरे, हिंदी-माध्यम के द्वारा इन विषयों की अभिव्यक्ति की एक परंपरा स्थापित हो चुकी थी और इनके संदर्भ में गहन एवं उच्चतर चिंतन की अभिव्यक्ति भी हिंदी के माध्यम से ही हो सकती थी। इसलिए इन कृतियों की भाषा प्रायः साफ़-सुथरी, प्रांजल परिनिष्ठित और व्याकरणसम्मत है। तीसरे, परंपरागत विषयों के विवेचन-विश्लेषण और समानांतर अध्ययन से यह तथ्य भी उभर कर आता था कि भारतीय चिंतन में भी बहुत-कुछ ऐसा है, जिसका आदान पश्चिम के लिए लाभकारी और उपादेय सिद्ध हो सकता है। इन्हीं कारणों की एक परिणति यह थी कि प्राकृतिक विज्ञानों में लेखन का प्रायः अभाव रहा। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से जिन आधुनिक विषयों का अध्ययन-अध्यापन आरंभ हुआ था, उनमें हिंदी के माध्यम से अभिव्यंजना की कोई परंपरा न थी। वैज्ञानिकों का समस्त अध्ययन अंग्रेज़ी के माध्यम से ही होता था। उच्चतर स्तर की पारिभाषिक शब्दावली का भी सर्वथा अभाव था। अतः भारतीय वैज्ञानिकों के लिए अपने आपको हिंदी में अभिव्यक्त करने की न तो कोई प्रेरणा थी, क्योंकि पाठक-वर्ग नगण्य था और न ही कोई साधन। किंतु यह स्थिति शनैः-शनैः सुधरती रही।

पांचवें दशक का अंत होते-होते स्थिति में एक गुणात्मक परिवर्तन आ गया। भारतीय संविधान के अनुसार हिंदी को केंद्र सरकार का प्रश्रय एवं संरक्षण प्राप्त हुआ, फलस्वरूप ज्ञानात्मक साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में एक मिश्रित व्यवस्था का जन्म हुआ। निजी प्रकाशक, प्रकाशन संस्थाएं तथा स्वैच्छिक संस्थाएं तो ज्ञानात्मक साहित्य के निर्माण में अपने-अपने ढंग से सक्रिय थीं ही, प्रस्तुत शताब्दी के छठे दशक के आरंभिक वर्षों में केंद्र सरकार ने भी पहले पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण और फिर ज्ञानात्मक साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में पदार्पण किया। यह प्रक्रिया धीरे-धीरे, किंतु निरंतर चलती गयी।

स्वातंत्र्योत्तर काल के ज्ञानात्मक साहित्य में भी विज्ञान के ग्रंथों का प्रायः अभाव रहा। परंतु सामाजिक विज्ञानों के धरातल पर स्थिति उतनी शोचनीय नहीं है। इसका कारण यह है कि इन विषयों के पठन-पाठन की एक परंपरा हमारे यहां रही है और स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों में वह और दृढ़ हो गयी थी। हिंदी-क्षेत्र के अनेक विश्वविद्यालयों में प्रायः उच्चतम स्तर तक हिंदी को शिक्षा का माध्यम बना दिया गया है, जिससे उच्चस्तरीय वैज्ञानिक ग्रंथों के लेखन व प्रकाशन को गति प्राप्त हुई हैं, किंतु विज्ञानों के संदर्भ में हो या सामाजिक विज्ञानों के, अधिकांश ग्रंथ अनूदित रहे, किंतु कुछ मौलिक भी लिखे गये।

प्राकृतिक विज्ञानों में मौलिक लेखन की दिशा में डॉ. निहालकरण सेठी (चुंबकत्व और विद्युतत्व, ध्वनि अथवा शब्दविज्ञान, प्रकाश-विज्ञान, तारा भौतिकी आदि), डॉ. सत्यप्रकाश (प्राचीन भारत में रयासन का विकास, वैज्ञानिक विकास की भारतीय परंपरा, सामान्य रसायनशास्त्र),

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

फूलदेवसहाय वर्मा (रबर, प्लास्टिक, कोयला, ईख और चीनी), डॉ. गोरखप्रसाद (भारतीय ज्योतिष का इतिहास, नीहारिकाएं) आदि का योगदान उल्लेखनीय है। अनुवादकों में डॉ. सेठी, डॉ. कैलाशचंद्र निगम (रासायनिक गणनाएं), डॉ. विजयेंद्र रामकृष्ण शास्त्री (पृष्ठ रसायन), ह.प्र. सिन्हा (शुद्ध धनज्यामिति प्रवेशिका), लज्जाराम सिंहल (गतिविज्ञान, समाकलन गणित), डॉ. झम्मनलाल शर्मा (गतिविज्ञान 2, अवकलन गणित), ओमप्रकाश वर्मा (चिरसम्मत यांत्रिकी), डॉ. ब्रजमोहन (शुद्ध गणित की पाठचर्या), डॉ. हरसरनसिंह विश्नोई (अकशेरुकी प्राणिजगत—भाग 1-2), डॉ. जगदीशचंद्र मूना (कशेरुक प्राणियों की संरचना तथा परिवर्धन—भाग 1-2; कीट-विज्ञान), डॉ. कृष्णकुमार गुप्त (प्राणिविज्ञान की रूपरेखा), रवींद्रनाथ वर्मा (आवृतबीजी भ्रूणविज्ञान-परिचय) आदि के नामों का उल्लेख किया जा सकता है।

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग राष्ट्रीय शब्दावली तथा भारतीय भाषाओं में ग्रंथ-निर्माण-कार्यक्रम के प्रति कृतसंकल्प रहा है। आयोग स्वयं तथा विभिन्न राज्यों की ग्रंथ-अकादमियों के सहयोग से पाठ्यपुस्तकों के अलावा डाइजेस्टों, पत्रिकाओं, पाठमालाओं तथा परिभाषा-कोशों के रूप में संपूरक साहित्य की प्रस्तुति में कर्मरत है। आयोग, ग्रंथ-अकादमियों, निजी संस्थाओं तथा प्राइवेट प्रकाशकों द्वारा विभिन्न विषयों की पुस्तकें भारी संख्या में प्रकाश में आयी हैं और आ रही हैं।

आयुर्विज्ञान एवं भेषजी, कृषि, पशु-चिकित्सा-विज्ञान एवं वानिकी, गणित, रसायन, भौतिकी, प्राणिविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, भूविज्ञान, भूगोल, गृहविज्ञान, इंजीनियरी आदि विषयों में मानक, मौलिक तथा अंग्रेज़ी से अनूदित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। सबका नामोल्लेख करना कैसे संभव हो सकता है।

इधर पहले की अपेक्षा पाठ्य पुस्तकों से इतर अनेक महत्त्वपूर्ण लोकप्रिय वैज्ञानिक पुस्तकें प्रकाश में आयी हैं। आये दिन हम देख रहे हैं कि हमारे पर्यावरण का विघटन तथा प्रदूषण हो रहा है और पर्यावरण बड़ा नाजुक तथा महत्त्वपूर्ण विषय बन गया है। इस क्रम में कुछ उल्लेखनीय पुस्तकें है : 'पर्यावरण और जीव' (प्रेमानंद चंदोला), 'पर्यावरण और हम' (सं. शुकदेव प्रसाद), 'भारत का पर्यावरण—एक रिपोर्ट' (अनिल अग्रवाल एवं अनुपम मिश्र), 'पर्यावरण-संरक्षण' (शुकदेव प्रसाद), 'वन, आदिवासी एवं पर्यावरण' (डॉ. डी.एन. तिवारी), 'हिमालय की संपदा' (डॉ. प्रेमस्वरूप सकलानी), 'परमाणुओं की छाया में' (शुकदेव प्रसाद)।

बालविज्ञान-साहित्य की ओर भी लेखकों की लेखनी उठी है और विभिन्न विधाओं में बच्चों तथा किशारों के लिए वैज्ञानिक नाटक, कहानी-संग्रह, उपन्यास, निबंध-संग्रह आदि रोचक शैली में लिखे गये हैं। विश्वकोशीय साहित्य भी सचित्र रूप तथा सरल प्रवाहमयी भाषा में प्रस्तुत हुआ है।

सामाजिक विज्ञानों में प्राचीनकालीन भारत और मध्यकालीन भारत के इतिहास पर अनेक अच्छे ग्रंथ उपलब्ध हैं, किंतु आधुनिक काल के इतिहास और यूरोपीय इतिहास पर जो भी ग्रंथ हैं, वे कुछ अपवादों को छोड़ कर पाठ्यपुस्तकीय स्तर के हैं। भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर भी खोजपूर्ण उच्चस्तरीय ग्रंथ निकले हैं। महाद्वीपों, देशों, नगरों, राजवंशों, व्यक्तियों एवं संस्थाओं के भी अनेक अच्छे इतिहास प्रकाशित हुए हैं। स्वतंत्रता के पश्चात नयी दृष्टि से इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता का अनुभव किया गया और लेखन में विस्तार और विशेषीकरण दोनों के ही दर्शन हो रहे हैं। इतिहास तथा संस्कृति विषयक लेखकों में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल (पाणिनिकालीन भारत), डॉ. भगवतशरण उपाध्याय (कालिदास का भारतवर्ष), डॉ. राजबली पांडेय (प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति, विक्रमादित्य, हिंदू-संस्कार), डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार (भारतीय

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संस्कृति और उसका इतिहास, भारत का प्राचीन इतिहास, मौर्य-साम्राज्य का इतिहास), डॉ. संपूर्णानंद (आर्यों का आदिदेश), राहुल सांकृत्यायन (बौद्ध संस्कृति, मध्य एशिया का इतिहास, अकबर), जयचंद्र विद्यालंकार (भारतीय इतिहास का उन्मीलन) और डॉ. रघुवीरसिंह (पूर्व आधुनिक राजस्थान) के नामों का उल्लेख किया जा सकता है। दिनकर जी की 'संस्कृति के चार अध्याय' तथा इंद्र विद्यावाचस्पति की 'ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त' आदि कृतियां भी उल्लेखनीय हैं। अनूदित ग्रंथों में डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी के 'प्राचीन भारत का इतिहास', डॉ. रमेशचंद्र मजूमदार के 'भारत का बृहत् इतिहास, भाग-3, डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी के 'चंद्रगुप्त मौर्य और उनका काल' तथा 'हिंदू-संस्कृति में राष्ट्रवाद', जदुनाथ सरकार के 'भारत का सैन्य इतिहास', 'औरंगज़ेब', 'मुग़ल-साम्राज्य का पतन'-4 भाग तथा 'युगयुगीन भारत', डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव के 'दिल्ली सल्तनत', डॉ. अशरफ के 'हिंदुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियां', सरदेसाई के 'मराठों का नवीन इतिहास', डॉ. यूसुफ हुसैन के 'मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति', प्रो. हुमायूं कबीर के 'भारतीय परंपरा' तथा डॉ. आबिद हुसैन के 'भारत की राष्ट्रीय संस्कृति' का उल्लेख किया जा सकता है।

राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों ही प्रकार के ग्रंथ लिखे गये हैं और अनूदित हुए हैं। विभिन्न देशों की शासनप्रणाली और संविधानों के अध्ययन व अनुशीलन हुए हैं और एतद्विषयक ग्रंथों के अनुवाद भी हुए हैं। भारत के सांविधानिक इतिहास एवं विविध राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन भी हुआ है। राजनीति-दर्शन के इतिहास पर अनेक पश्चिमी विद्वानों के आधारभूत ग्रंथों के हिंदी-अनुवाद हो चुके हैं। प्राचीन भारतीय शासन तथा संस्थाओं का परिचय कराने वाले कुछ अच्छे ग्रंथ भी प्रकाश में आये हैं, किंतु अंतरराष्ट्रीय राजनीति, अंतरराष्ट्रीय विधि तथा अंतरराष्ट्रीय संगठन और राजनय पर साहित्य का अभाव है। विश्व के प्रमुख संविधानों के अध्ययन भी मौलिक या अनूदित रूप में हिंदी में आ चुके हैं, जैसे : स्ट्रांग का 'आधुनिक राजनीतिक संविधान', लास्की का 'इंग्लैंड का संसदीय शायन', ह्विलर का 'आधुनिक संविधान', वारेन का 'इंग्लैंड में स्थानीय शासनप्रणाली' आदि। सैद्धांतिक पक्ष पर 'यूनानी राजनीति-सिद्धांत' (बार्कर), 'राजनय और राज्यशिल्प' (गूच) उल्लेखनीय हैं। राजनीतिशास्त्र के अन्य पक्षों पर जो साहित्य प्रकाशित हुआ है, उसके संदर्भ में 'भारत का राष्ट्रीय एवं सांविधानिक इतिहास' तथा 'महानगर और प्रशासन' (गुरुमुख निहाल सिंह); 'आदर्श नगर-व्यवस्था' (प्लेटो); 'अरस्तू की राजनीति', 'अंतरराष्ट्रीय राजनीति' (शुमां); 'अंतरराष्ट्रीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास' (गैथार्न-हार्डी); दो विश्वयुद्धों के बीच 'अंतरराष्ट्रीय संबंध' (कार); 'अंतरराष्ट्रीय विधान', 'अंतरराष्ट्रीय विधि' (सांवलिया बिहारी वर्मा); 'विश्वराजनीति का पर्यवेक्षण' (विश्वनाथप्रसाद वर्मा), 'अंतरराष्ट्रीय विधि' : 2 भाग (फेनविक); 'हिंदू राजतंत्र' (डॉ. जायसवाल); 'प्राचीन भारतीय शासनपद्धति' (डॉ. अल्तेकर); 'यूरोपीय राजनय का इतिहास' : भाग 1-2 (मोवेट) तथा इनके अतिरिक्त प्राचीन भारतीय मनीषियों के अध्ययन और भारत के प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं की आत्मकथाओं एवं संस्मरणात्मक ग्रंथों का उल्लेख किया जा सकता है।

अर्थशास्त्र और वाणिज्य का आज के अर्थयुग में जितना महत्त्व बढ़ गया है, उसको देखते हुए इन विषयों पर हमारे यहां जो साहित्य है, वह पर्याप्त नहीं है। दुर्भाग्यवश भारतीय अर्थशास्त्रीय सिद्धांत और चिंतन पर विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों का अभाव है। अर्थशास्त्र के विविध पक्षों पर प्रकाशित ग्रंथों में 'अर्थशास्त्र के सिद्धांत' (मार्शल अल्फ्रेड), 'एकाधिकारिक प्रतियोगिता का सिद्धांत', 'उद्योग नियंत्रण' (रॉबसन), 'आर्थिक विकास के सिद्धांत' (ल्युइस), 'विश्व-अर्थव्यवस्था : एक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिचय' (ब्राउन), 'अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धांत' (ड्युवेट), 'लोक-उद्योग' (डॉ. कुमार रामचंद्र प्रसाद सिंह) आदि का उल्लेख किया जा सकता है। पाठ्यग्रंथों में जथार एवं जथार के 'भारतीय अर्थशास्त्र' तथा परांजपे के 'भारत की वित्तीय अर्थव्यवस्था', भारत के आर्थिक विकास और तत्संबंधी समस्याओं पर सुरेंद्र कुमार दे के 'सामुदायिक विकास', आर्थिक विकास के इतिहास पर अलैक्जेंडर के 'अर्थशास्त्र-सिद्धांत का विकास', यूजीन ब्लैक के 'आर्थिक विकास की कूटनीति' तथा गैलब्रेथ के 'आर्थिक विकास का सापेक्ष चित्रण' की चर्चा की जा सकती है। वाणिज्य के विविध पक्षों पर साहित्य का एकांत अभाव है। केवल कुछ पाठ्यपुस्तकें उपलब्ध हैं, जैसे—'भारतीय उद्योगों का संगठन एवं प्रबंध', 'व्यापार-संघटन एवं व्यवस्था', 'सार्वजनिक हित', 'व्यावसायिक संगठन : सिद्धांत एवं कार्यप्रणाली' आदि।

दर्शन भारतीय मनीषा का प्रिय विषय रहा है और एक अविच्छिन्न दार्शनिक परंपरा हमें विरासत में मिली है। इस समृद्ध परंपरा का प्रवाह यथासमय हिंदी में भी आया और भारतीय दर्शन, दर्शन-प्रणालियों एवं संप्रदायों पर हिंदी में कुछ अच्छे ग्रंथ प्रकाशित हुए। इस वर्ग के लेखकों में राहुल जी (बौद्ध संस्कृति), डॉ. संपूर्णानंद (दर्शन और जीवन), आचार्य नरेंद्रदेव (बौद्ध धर्म-दर्शन) श्री बलदेव उपाध्याय (आर्य संस्कृति के आधार ग्रंथ, बौद्ध दर्शन, भागवत संप्रदाय, भारतीय वाङ्मय में श्री राधा), म. म. गोपीनाथ कविराज (भारतीय संस्कृति और साधना), डॉ. भरतसिंह उपाध्याय (बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन) डॉ. देवराज (संस्कृति का दार्शनिक विवेचन), नगेंद्रनाथ उपाध्याय (तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य), विश्व के प्रमुख धर्म (शब्दावली आयोग) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। अरविंद घोष तथा डॉ. राधाकृष्णन के अनेक दार्शनिक ग्रंथों के अनुवाद भी हिंदी में प्रकाशित हो चुके हैं। पाश्चात्य दर्शन और पश्चिम के प्रमुख दार्शनिकों पर भी अनेक अनूदित तथा मौलिक ग्रंथ हिंदी में आये हैं और आ रहे हैं।

अन्य विषयों—जैसे मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, शिक्षा, विधि आदि की ओर भी विद्वानों का ध्यान गया है और इन विषयों पर भी अच्छे ग्रंथों के प्रणयन का सूत्रपात हुआ है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में मौलिक लेखकों में लालजीराम शुक्ल (आधुनिक मनोविज्ञान आदि), डॉ. द्वारिकाप्रसाद (मानव-मनोविज्ञान) डॉ. पद्मा अग्रवाल (विकृत मनोविज्ञान) आदि का उल्लेख किया जा सकता है। अनुवादों में 'सामाजिक मनोविज्ञान' (यंगकिंवल), 'मनोविश्लेषण (फ्रॉयड), 'समाज का मनोविज्ञान' (गिंसबर्ग) आदि उल्लेखनीय हैं। समाजशास्त्र के अंतर्गत रामबिहारी सिंह तोमर-कृत 'हिंदू-विवाह एवं परिवार की समस्याएं', क्षितिमोहन सेन की 'भारतवर्ष में जातिभेद', रांगेय राघव की 'सामाजिक संस्थाएं और रीति-रिवाज' तथा 'अपराधशास्त्र', पूरनचंद जोशी की 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन', डॉ. एम.एन. श्रीनिवास की 'महाभारतकालीन समाज', के.एम. पणिक्कर की 'हिंदू समाज-निर्माण के द्वार पर', परिपूर्णानंद वर्मा की 'अपराध, अपराधी और अभियुक्त' आदि मौलिक एवं अनूदित कृतियों का उल्लेख किया जा सकता है। शिक्षाशास्त्रीय ग्रंथों की संख्या और स्तर दोनों साधारण हैं। विधि के अंतर्गत अनेक केंद्रीय विधियों के अनुवाद हुए हैं और कुछ नियम-पुस्तिकाएं भी अनूदित हुई हैं। यह कार्य विधिशास्त्र के एक पक्ष पर महत्त्वपूर्ण कार्य है, किंतु अन्य पक्षों पर अभी बहुत कार्य करना शेष है। भाषाविज्ञान, शब्दकोश और संदर्भ-ग्रंथों के प्रणयन और प्रकाशन में भी गति आ रही है और कुछ अच्छी कृतियां इधर प्रकाश में आयी हैं। भाषा एवं शब्द-संपदा के विविध रूपों और स्तरों तथा लेखक एवं कवि विशेष की शब्दावलियों के गहन अध्ययन भी इधर किये गये हैं, जिनसे भाषावैज्ञानिक वाङ्मय समुन्नत और समृद्ध हो रहा है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इधर पिछले दो-तीन वर्षों में शास्त्रीय एवं तकनीकी साहित्य के अंतर्गत जो मौलिक एवं अनूदित कृतियां प्रकाशित हुई हैं, उनमें कुछ विशेष रूप से उल्लेखनीय कृतियां ये हैं : 'शिक्षा और समाज' (लेखक के.सी. आटवे, अनु. ब्रजभूषण शर्मा), 'पाठ-योजनाएं' (सामूहिक लेखन), 'लोकतंत्र : स्वरूप एवं समस्याएं' (रघुकुल तिलक), 'लोक-संपर्क' (राजेंद्र), 'अफगानिस्तान में सोवियत-अमेरिकी प्रतिस्पर्धा' (डॉ. वेदप्रताप वैदिक), 'सामाजिक नृविज्ञान की भूमिका' (लेखक लूसी मेयर, अनु. डॉ. सच्चिदानंद), 'भारत में बंधुत्व-संगठन' (लेखक डॉ. इरावती कर्वे, अनु. राजेंद्र द्विवेदी), 'समाजकल्याण-प्रशासन' (डॉ. धर्मपाल चौधरी), 'मानव-व्यवहार तथा सामाजिक व्यवस्था' (डॉ. नर्मदेश्वर प्रसाद), 'नीतिविज्ञान के मूल सिद्धांत' (डॉ. लक्ष्मी सक्सेना), 'कृषि-अर्थशास्त्र एवं प्रबंध' (वारेन एच. विंसेंट द्वारा संपादित 'इकोनॉमिक्स एंड मैनेजमेंट इन एग्रीकल्चर' का भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल रूपांतर)। रघुकुल तिलक की उपर्युक्त कृति प्रतिपाद्य तथा भाषा-शैली दोनों की दृष्टि से हिंदी के शास्त्रीय साहित्य के लिए नये मानदंड स्थापित करती है और एक प्रखर चिंतक की निर्भीक वाणी का उसमें बख़ूबी परिचय मिलता है।

मानविकी तथा सामाजिक विज्ञानों के अंतर्गत दर्शन, शिक्षा, मनोविज्ञान, नृविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, वाणिज्य, इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व, राजनीतिविज्ञान, लोकप्रशासन, विधि, पुस्तकालयविज्ञान, सैन्यविज्ञान, पत्रकारिता एवं मुद्रणकला, कला तथा संगीत, साहित्य तथा भाषाविज्ञान आदि विषयों से संबंधित पुस्तकों की सूची भी बहुत लंबी है। कोई भी विषय अछूता नहीं रहा है और प्रत्येक विषय में पुस्तकें प्रचुर संख्या में बाज़ार में आयी हैं। डॉ. हरदेव बाहरी का 'प्राचीन भारतीय संस्कृति-कोश' (वैदिक काल से 12वीं शताब्दी तक) तथा केंद्रीय हिंदी निदेशालय के हिंदी तथा भारतीय भाषाकोश, हिंदी तथा विदेशी भाषाकोश और वार्त्तालाप पुस्तकों ने नये आयामों से हिंदी-साहित्य की समृद्धि की है।

निष्कर्षतः अब यह कहा जा सकता है कि परिणाम और गुण, दोनों की दृष्टि से हिंदी में ज्ञानात्मक साहित्य की स्थिति संतोषजनक है। शुरू में पारिभाषिक शब्दावली की अनेकरूपता और सदोष वाक्यरचना के फलस्वरूप, इस दिशा में लिखे गये अनेक ग्रंथ वांछित प्रभाव नहीं डाल पाये। ज्ञानात्मक साहित्य की कमी सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा विज्ञानों के क्षेत्र में अधिक है। जो साहित्य अब तक रचा गया है, उसमें से अधिकांश पाठ्यपुस्तकों के स्तर से ऊपर नहीं उठ सका। उपलब्ध ज्ञानात्मक साहित्य में प्रायः अनूदित कृतियों का स्तर मौलिक कृतियों से ऊंचा और अच्छा है। वस्तुतः जिस दिन शिक्षा-व्यवस्था में तथा राष्ट्रीय जीवन के अन्य स्तरों पर हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाएं अपना उचित स्थान ग्रहण कर लेंगी, उस दिन से ज्ञानात्मक साहित्य के निर्माण की प्रक्रिया अपूर्व गति धारण कर लेगी, इसमें संदेह नहीं। किंतु इधर शब्दावली की एकरूपता से ग्रंथ-निर्माण की दिशा में प्रगति हुई है और स्तरीय पुस्तकें अच्छी संख्या में प्रकाश में आ रही हैं।

## पत्र-पत्रिकाएं आदि

छायावादोत्तर पत्रकारिता को पिछले चार दशकों की विकासधारा के अविच्छिन्न अनुवर्ती प्रवाह के रूप में देखना होगा। इन चार दशकों में देश के राजनीतिक सामाजिक इतिहास-रथ के पहिये अपूर्व गति से घूमते रहे और घटनाचक्र की गति के साथ परिस्थितियां नित्य नये रूप ग्रहण करती रहीं। हिंदी की कुछ पत्र-पत्रिकाएं ऐसी हैं या थीं, जिनका प्रकाशन छायावाद के अवसान से पूर्व ही आरंभ हो गया था और वे युगानुरूप अपनी नीतियों को ढालते हुए स्वतंत्रता-संघर्ष में योगदान करती आ रही थीं। दैनिक 'आज' (बनारस) के संपादक यशस्वी पत्रकार बाबूराव विष्णु पराड़कर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ने राष्ट्रीय आंदोलन तथा समाजसुधार के प्रबल समर्थन के साथ ही पत्रकारिता के उच्चादर्शों एवं मानदंडों की स्थापना की। दिल्ली में उन दिनों उग्र राष्ट्रवादी पत्र 'वीर अर्जुन' की ख्याति थी। इंद्र विद्यावाचस्पति के अतिरिक्त कई अनुभवी एवं यशस्वी पत्रकारों का इसके साथ संसर्ग रहा। आगरा से श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने 'सैनिक' का प्रकाशन आरंभ किया था, जो अनेक उतार-चढ़ावों को पार करता हुआ आज भी जीवित है। पंजाब में भी उन दिनों अनेक कर्मठ पत्रकारों ने उर्दू के प्रभाव को संतुलित कर राष्ट्रीयता की ध्वजा फहरायी। 'हिंदी मिलाप', 'विश्वबंधु', 'शक्ति' आदि के माध्यम से पं. सुदर्शन, माधव जी, श्री सेंगर आदि पत्रकारिता के क्षितिज पर उभरे और उन्होंने राष्ट्रवादी क्रियाकलाप को गति और प्रेरणा दी। दिल्ली के दैनिक 'हिंदुस्तान' का प्रकाशन भी पहले ही आरंभ हो चुका था और हिंदी के पाठक-वर्ग में उसने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। बिहार के लोकप्रिय दैनिकों में 'आर्यावर्त्त' का विशेष मान रहा है और उसने लोकजागृति में अपना योग दिया है।

इस युग के साप्ताहिकों ने भी जनजागरण का शंख फूंका है। इनमें 'कर्मवीर' का प्रकाशन माधवराव सप्रे ने आरंभ किया था और बाद में माखनलाल चतुर्वेदी के कर्मठ व तेजस्वी व्यक्तित्व से संपृक्त हो कर वह अद्वितीय शक्तिपुंज बन गया। 'सारथी' साप्ताहिक भी उन दिनों बहुत लोकप्रिय था। पहले यह जबलपुर से प्रकाशित हुआ (1924) और बाद में (1942) नागपुर से प्रकाशित होने लगा। हिंदी-मासिकों में सबसे विशिष्ट एवं स्मरणीय नाम 'सरस्वती' का है जिसके साथ आधुनिक हिंदी-साहित्य के उद्भव के सूत्र अनुस्यूत हैं। 'वीणा' (इंदौर) का योगदान एक सुखद साहित्यिक परिवेश के निर्माण में स्तुत्य रहा है। अपने किशोरकाल में इसे श्री शांतिप्रिय द्विवेदी जैसे यशस्वी साहित्यकार की प्रतिभा की प्रेरणा प्राप्त हुई। 'विशाल भारत' (कलकत्ता) का भी इतिहास बड़ा प्रभावशाली रहा है और इसने समय-समय पर अपने ढंग से साहित्यिक गतिविधियों को नियंत्रित व संचालित किया है। बनारसीदास चतुर्वेदी, अज्ञेय, सेंगर जी जैसे अनुभवी पत्रकार-साहित्यकारों के प्रेरक व्यक्तित्त्व का योगदान इसे प्राप्त रहा है। यह पत्रिका अमित यशोपार्जन कर 1960 में अस्त हो गयी। 'विशाल भारत' छोड़ने के बाद सेंगर जी ने 'नया समाज' (1948) निकाला और अज्ञेय जी ने 'प्रतीक'। 'प्रतीक' हिंदी की उभरती हुई साहित्य चेतना का मुखपत्र रहा, किंतु बहुत दिन तक जीवित न रह सका। 'नया समाज' दस वर्ष तक जिया, किंतु अंततः अनेक साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की नियति इसे भी काल-कलवित कर गयी। 'माधुरी' भी अपनी तरह की विशिष्ट पत्रिका थी, जिसने हिंदी-कहानी की श्रीवृद्धि एवं प्रगति में विशिष्ट योग दिया। अच्छी पत्रिका 'त्रिपथगा' (लखनऊ) भी फिर से बंद हो गयी।

स्वतंत्रता के बाद नये हिंदी-पत्रों का ज्वार-सा आ गया। सभी को लगा कि हिंदी के उज्ज्वल भविष्य के साथ हिंदी-पत्रकारिता का भविष्य भी भासमान हो कर उभरेगा। भविष्य के इन सुनहरे सपनों से प्रभावित हो कर कुछ अंग्रेज़ी-पत्रों ने भी अपने हिंदी-संस्करण निकाले। ऐसे कुछ पत्र तो समय की गति पहचान कर पहले ही अस्तित्व में आ चुके थे (पटना के इंडियन नेशन से 'आर्यावर्त्त' और 'प्रदीप', दिल्ली के हिंदुस्तान टाइम्स से 'हिंदुस्तान' आदि); अब अन्यों ने भी इस धारा को विस्तार दिया—लखनऊ से 'स्वतंत्र भारत', 'नवजीवन'; दिल्ली से 'नवयुग' (बाद में 'नवभारत टाइम्स') तथा 'जनसत्ता' और इलाहाबाद से 'अमृत प्रभात' आदि। इन पत्रों ने अंग्रेज़ी पत्रों के अपने जमे-जमाये संगठन के लाभ तो उठाये, परंतु अपने स्वतंत्र विकास की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। दुर्भाग्य से न तो अपने किसी स्वतंत्र समाचार-संगठन या अभिकरण का विकास किया, और न इनकी पत्रकारिता भ्रष्ट व भ्रामक अनुवादों से आगे आज तक बढ़ सकी है। लक्ष्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और उद्देश्य तो बदल ही गये थे; समाचारपत्रों के औद्योगीकरण के साथ-साथ पूंजीवाद और व्यापारिक स्वार्थनिष्ठा की आंधी में राष्ट्रीय और आदर्शनिष्ठ पत्रों के पैर उखड़ गये। पराड़कर जी की भविष्यवाणी अक्षरशः चरितार्थ हुई : ''एक समय आयेगा, जब हिंदी-पत्र रोटरी पर छपेंगे, संपादकों को ऊंची तनख्वाहें मिलेंगी, सबकुछ होगा, किंतु उनकी आत्मा मर जायेगी; संपादक संपादक न हो कर मालिक का नौकर होगा।'' आज के हिंदी-दैनिकों में 'हिंदुस्तान', 'नवभारत टाइम्स', 'स्वतंत्र भारत', 'नयी दुनिया', 'अमर किरण', 'जागरण', 'नवजीवन', 'आज', 'विश्वमित्र', 'सन्मार्ग', 'जनसत्ता', 'पंजाब केसरी' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

हिंदी के साप्ताहिक पत्रों में 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' (दिल्ली), 'धर्मयुग' (बंबई) तथा 'दिनमान' (दिल्ली, रविवार) उल्लेखनीय हैं। संपादक डॉ. भारती ने 'धर्मयुग' को जिस सांचे में ढाला, वह कुछ हद तक प्रबुद्ध पाठक वर्ग की ओर बहुत हद तक जनसामान्य की अपेक्षाओं-आकांक्षाओं को प्रतिबिंबित करता रहा। इसी प्रकार का दूसरा प्रमुख एवं लोकप्रिय पत्र 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' था, जिसमें आरंभ में सुधारवादी नैतिक व सामाजिक दृष्टिकोण पर अधिक बल दिया गया था, किंतु बाद में वह भी लोकप्रियता की ओर उन्मुख हुआ। 'दिनमान' तथा 'रविवार' हिंदी के समाचार साप्ताहिक थे। इनके अतिरिक्त सर्वथा भिन्न स्वर के व्यंग्य साप्ताहिक—'हिंदी शंकर्स वीकली' का भी उल्लेख करना आवश्यक है। अब इन सभी का प्रकाशन बंद हो चुका है। 'इंडिया टुडे' तथा 'माया' लोकप्रिय पाक्षिक हैं।

मासिक पत्रों में 'कल्पना' और 'अजंता'—दो अच्छी पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं, जो अब प्रकाशित नहीं होतीं। बाल-साहित्य से संबंधित मासिक 'पराग' और 'नंदन', 'स्पूतनिक' (अंतरराष्ट्रीय मासिक) लोकप्रिय हैं। 'माध्यम' नाम से इलाहाबाद से एक अच्छी पत्रिका निकली थी, किंतु वह भी अधिक दिन नहीं जी सकी। व्यापक सामग्री प्रस्तुत करने वाली पत्रिकाओं में 'सर्वोत्तम' (डाइजेस्ट), 'यूनेस्को दूत' (हिंदी निदेशालय), 'नवनीत' (डाइजेस्ट) का विशेष स्थान है; उधर 'ज्ञानोदय' भी इसी प्रकार की पत्रिका थी। अब यह 'नया ज्ञानोदय' के नाम से निकलती है। 'कादंबिनी' (दिल्ली) भी अपने ढंग से स्वस्थ एवं विविध पाठ्यसामग्री प्रस्तुत करती है। सरकारी पत्रों में 'आजकल' पांचवें दशक के अंतिम वर्षों से प्रकाशित हो रहा है और अपने स्तर की संरक्षा का निरंतर प्रयत्न करता रहता है। राज्य सरकारों की ओर से भी कुछ अच्छी पत्रिकाएं—योजना, आंध्रप्रदेश, जनसाहित्य, सप्तसिंधु आदि निकल रही हैं। कहानी-पत्रिकाओं का अपना एक विशिष्ट वर्ग है और इसीलिए हिंदी में कई कहानी-पत्रिकाएं निकलीं, जैसे 'सारिका' (सं. अवधनारायण मुद्गल), 'कहानी' (सं. श्रीपतराय), 'कहानीकार', 'संचेतना', 'नीहारिका' आदि। अब इनमें से केवल 'संचेतना' निकलती है। आलोचनात्मक मासिक पत्रों में 'साहित्य-संदेश' और 'समीक्षा' का उल्लेख किया जा सकता है। 'साहित्य-संदेश' ने वर्तमान शती के तीसरे-चौथे दशक में समीक्षात्मक रुचि जगाने में काफ़ी योगदान दिया था। पटना से प्रकाशित 'समीक्षा' अपने ढंग की एक विशिष्ट पत्रिका है, जो समय-समय पर प्रकाशित श्रेष्ठ साहित्यिक व शास्त्रीय कृतियों की भरसक तटस्थ समीक्षाएं छाप कर हिंदी में एक बड़े अभाव की पूर्ति करती है। अब यह दिल्ली से निकलती है। इस बीच और भी कई पत्रिकाएं निकलीं, चलीं और बंद हो गयीं। वस्तुतः पत्र-पत्रिकाओं की सफलता आज के व्यावसायिक युग में जितनी सुपाठ्य सामग्री पर निर्भर है, उससे कहीं अधिक संपर्कों और उनसे प्राप्त होने वाले विज्ञापनों पर है। 'व्यवसाय' का प्रश्रय मिले बिना जीवन धारण किये रहना उनके लिए असंभव होता है। दिल्ली से 'हंस' (सं. राजेन्द्र यादव), 'गंगा' (सं. कमलेश्वर) मिश्रित प्रकार के मासिक हैं। अब 'गंगा' का प्रकाशन बंद

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हो गया है।

त्रैमासिक पत्रिकाओं में हिंदी संसदीय हिंदी परिषद् का मुखपत्र 'देवनागर' (1952) बहुभाषिकता के माध्यम से भारतीय भाषाओं एवं उनके साहित्यों को समन्वित समंजित करने का प्रयत्न करते-करते आर्थिक संकटों से ग्रस्त हो कर 1964 में अस्त हो गया। इसके अभाव को 'भाषा' (केंद्रीय हिंदी निदेशालय) तथा 'अनुवाद' ने कुछ हद तक पूरा किया है। शोध-पत्रिकाओं में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' (वाराणसी), 'हिंदी-अनुशीलन' (इलाहाबाद), 'हिंदुस्तानी' (इलाहाबाद), 'सम्मेलन-पत्रिका' (इलाहाबाद), 'आलोचना' (दिल्ली) आदि प्रमुख हैं। वैज्ञानिक क्षेत्र में 'विज्ञान' (प्रयाग), 'वैज्ञानिक' (बंबई), 'किसान भारती' (पंतनगर), 'खेती-फलफूल', 'कृषि-चयनिका', 'इंजीनियर' पत्रिका (कलकत्ता), 'विज्ञान-प्रगति' (दिल्ली), 'आविष्कार' (दिल्ली), विज्ञान परिषद् की 'अनुसंधान-पत्रिका' (प्रयाग), 'विज्ञान-भारती', 'पर्यावरण-दर्शन' (इलाहाबाद) आदि उल्लेखनीय रहे हैं।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि परिमाण की दृष्टि से तो स्वतंत्रता के बाद हमारी पत्र-पत्रिकाओं ने प्रगति की है, किंतु गुणात्मक दृष्टि से उनका ह्रास हुआ है। पराड़कर जी, सप्रे जी, गर्दे जी, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी आदि पत्रकारों का उत्कर्ष, लगन और सेवाभाव आज के संपादकों में कहां दृष्टिगोचर होता है? शब्दावली-आयोग से 'विज्ञान-गरिमा-सिंधु' तथा 'आयुर्विज्ञान एवं परिवार-नियोजन-पत्रिका' का प्रकाशन एक हर्षद आयाम है। विधि के प्रसंग में 'उच्चतम न्यायालय-पत्रिका' का उल्लेख किया जा सकता है।

## मूल्यांकन

छायावादेत्तर काल में अनगिनत परिवर्तन हुए—भौतिक और मानसिक दोनों स्तरों पर। द्वितीय महायुद्ध की ऐतिहासिक घटना से यूरोप का भूगोल ही नहीं बदला, बल्कि मानवीय मूल्यों में तेज़ी से विघटन शुरू हुआ। स्वतंत्रता के साथ ही देश के विभाजन से जो दुर्घटना घटी, उसके प्रभाव से हम अभी भी मुक्त नहीं हो पाये हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों की सुविधाओं को भोगते हुए भी हम परमाणविक युद्धों की छाया में जी रहे हैं। मानसिक स्तर पर मार्क्स, फ्रॉयड, अस्तित्ववादी दर्शन आदि के कारण परंपराभुक्त मूल्यों से हट कर मनुष्य बुद्धिगत मूल्यों की तलाश में लग गया। यांत्रिकता, भौतिकवाद और बौद्धिकता के फलस्वरूप आधुनिकीकरण की प्रक्रिया भी शुरू हुई। छायावादोत्तर साहित्य के वैविध्य, अभिरुचियों के विस्तार, संकटबोध आदि के लिए उपर्युक्त परिस्थितियां उत्तरदायी हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि नयी मानवीय स्थितियों और नये यथार्थ के फलस्वरूप छायावादोत्तर साहित्य क्रमशः रोमैंटिक प्रवृत्तियों से दूर हटता गया। आगे चल कर यह 'ऐंटी रोमैंटिक' हो गया। रोमैंटिक साहित्य और छायावादोत्तर साहित्य के बीच दूरी की माप स्वयं मूल्यांकन नहीं हैं, लेकिन इस दूरी को दृष्टि में रख कर ही इसका मूल्यांकन संभव है।

छायावाद के बाद हिंदी-गद्य में भी प्रगति और प्रयोग की प्रवृत्तियां उभर कर आयीं। प्रगतिवादी साहित्य पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। पर कथा-साहित्य को छोड़ कर हिंदी में प्रगतिवादी साहित्य अपना विशिष्ट स्थान नहीं बना सका। प्रगतिवादी लेखकों ने प्रायः अपनी रचनाओं में पूर्वनिर्मित सिद्धांत को आरोपित किया है, प्रगतिवादी जीवन-दर्शन को जीना उनके लिए दूभर था। पर छायावाद की कल्पना और अशेष संभावनाओं से हट कर जीवन के नये यथार्थ की ओर इनकी दृष्टि गयी। फिर भी, रचनात्मकता का स्तर न प्राप्त करने के कारण वह ऐतिहासिक महत्त्व का हो कर रह गया।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

थोड़े दिनों तक प्रगतिवाद और प्रयोगवाद समवाय रूप में चलते रहे। पर वैयक्तिक स्वतंत्रता, प्राइवेट विज़न आदि के लिए प्रगतिवाद में स्थान न पा कर प्रयोगवादियों ने अपने को अलग कर लिया। कविता की भांति कहानी, उपन्यास आदि सभी में समसामयिकता को छोड़ कर आधुनिकता का पल्ला पकड़ा गया। सभी क्षेत्रों में तकनीक संबंधी प्रयोग किये गये, भाषा में अभिव्यक्ति की अभिनव शक्ति आयी। यदि इस समय की साहित्यिक विधाओं की मूल प्रवृत्ति को अत्यंत संक्षेप में अभिव्यक्त करने के लिए कहा जाये तो उसे 'रिबेल विक्टिम' की प्रवृत्ति कह सकते हैं। कथा-साहित्य में नायक 'रिबेल विक्टिम' कहा जायेगा, तो कविता में स्वयं कवि।

आधुनिकता की ठेठ प्रवृत्ति का उदय सन् 1960 के बाद हुआ। सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों के अतिरिक्त अस्तित्ववादी दर्शन ने इसे और भी पुष्ट किया। पुराने आदर्शों, मूल्यों और आस्थाओं का विघटन यों तो छायावादोत्तर काल के आरंभ में ही शुरू हो गया था, पर सन् 1960 के बाद तो यह अपनी चरम सीमा पर जा पहुंचा। आधुनिकताबोध को सिरोकिन का संकट बोध मान लिया गया। ज़िंदगी में एक अजीब तरह की अजनबियत, अलगाव और व्यर्थता का अनुभव किया जाने लगा। साठोत्तरी हिंदी कविता की ही नहीं; कहानी, उपन्यास, नाटक सभी की सामान्य प्रवृत्ति यही रही है। यह सही है कि आज ज़िंदगी का अर्थ यही है कि इसका कोई अर्थ नहीं है, पर दुनिया के साहित्य पर दृष्टि डालने से लगेगा कि आधुनिकताबोध की वे ही कृतियां समादृत हो सकी हैं, जिनमें अर्थान्वेषण का प्रयास किया गया है। हिंदी की कुछ लंबी कविताएं, कुछ कहानियां और कुछ नाटक इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं। हर्ष का विषय है कि इधर आधुनिकताबोध के घुटनपूर्ण परिवेश से हट कर हमारे गद्यकार सोद्देश्य और अर्थवान साहित्यसृष्टि की ओर अग्रसर हुए हैं। अनेक उद्देश्यों में आज की जड़ व्यवस्था पर चोट करना, उनका एक मुख्य लक्ष्य है।

प्रयोगधर्मी रचनाकारों ने नये प्रतिमानों की अस्मिता की खोज में नयी कहानी, अकहानी, नयी कविता, अकविता, मिनी कविता, क्षणिकाओं आदि की पताकाओं से साहित्य को चिह्नित किया। अस्सी वाले दशक में विशेष बात यह रही कि छोटे परदे यानी टेलीविजन ने अपना वर्चस्व स्थापित किया। टी.वी. धारावाहिकों तथा टेलीफ़िल्मों से साहित्य की प्रस्तुति को नया आयाम मिला।

छायावादोत्तर साहित्य के बदलाव को उसके भाषागत परिवर्तनों में भी देखा जा सकता है क्योंकि नया परिवर्तन नयी भाषा, नये मुहावरों, नये संदर्भों, नये बिंबों और नवीन वक्रता की मांग करता है। छायावादी गद्य-पद्य की अलंकृति, कृत्रिमता, संस्कृतनिष्ठता आदि सामान्यतः प्रगति-प्रयोगकालीन रचनाओं में नहीं हैं, किंतु छायावादी प्रभाव से जो मुक्त नहीं हैं, उनमें अभी उपमा, उत्प्रेक्षा, घुमावबयानी आदि की विगतयुगीन छवियां दिखायी देती हैं। किंतु क्रमशः वक्र सपाटबयानी बढ़ती गयी है। अपने अंशों में तथा संपूर्णता में इस काल की गद्य-रचनाएं प्रायः विडंबनात्मक हो कर जीवन की जटिलताओं को (आज की राजनीति, जड़ व्यवस्था, असमानताओं आदि से जनित जटिलताओं को) अधिकाधिक संश्लिष्टता में अभिव्यक्त करने की कोशिश कर रही हैं।

इधर वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा सर्वविषयक शब्दावली-निर्माण के परिणामस्वरूप हिंदी में ही नहीं, वरन् अन्य भारतीय भाषाओं में भी पाठ्यपुस्तकीय तथा संपूरक साहित्य की प्रस्तुति हुई है, और ग्रंथों के प्रसंग में, अनेक आयामों से रिक्तियों की पूर्ति हो रही है। अनेक निजी, सरकारी, अर्ध-सरकारी तथा स्वायत्त संस्थाओं से हिंदी में स्तरीय पुस्तकें, संपूरक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

साहित्य तथा पत्रिकाएं निकल रही हैं। बाल साहित्य तथा प्रौढ़ साहित्य के संदर्भ में भी विविध प्रकार की सामग्री प्रकाशित हो रही है। राष्ट्रीय साक्षरता मिशन तथा 'ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड' परियोजना के तहत मानव-संसाधन-विकास मंत्रालय के प्रोत्साहन से अनुकूल प्रौढ़ साहित्य की संभावनाएं बढ़ रही हैं। अपने देश में हर प्रकार के साहित्य की श्रीवृद्धि हो रही है—यह निस्संदेह एक सुखद प्रकरण है। विश्वविद्यालयों में भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाये जाने पर ज्ञान-विज्ञान का वर्तमान पुस्तकीय साहित्य अपनी भूमिका निभा सकता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

# उपसंहार

देश के आधे से अधिक भूभाग में हज़ार-बारह सौ वर्षों तक उत्पादित विपुल साहित्यि-राशि का मूल्यांकन अपने आप में एक दुष्कर कार्य है। इस संदर्भ में इतिहासकार केवल इतना ही कर सकता है कि वह उन गुणों को उभार कर रख दे, जो हिंदी-साहित्य को अन्य भाषाओं के साहित्य से वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं और उन कीर्तिमानों को उजागर कर दे, जो काल के प्रवाह में स्थिर रहेंगे।

इस दृष्टि से पहला तथ्य जो हमारा ध्यान आकृष्ट करता है, वह यह है कि अपने जन्मकाल से ही हिंदी को जनभाषा और राष्ट्रभाषा होने का गौरव प्राप्त रहा है। वह मध्यदेश की भाषा है—और मध्यदेश की भाषा सदा से भारत की सार्वदेशिक भाषा रही है। जिन युगों में भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए संसदीय विधायकों की आवश्यकता नहीं होती थी, उनमें भी हिंदी भारतीय जनजीवन एवं संस्कृति की माध्यम भाषा थी। वह धर्म-संस्कृति की ही नहीं, व्यवसाय की भी भाषा थी और उसी के आधार पर उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम में प्राय: धर्मप्रचार और वाणिज्य-व्यापार चलता था या चल सकता था। कश्मीर से ले कर सुदूर दक्षिण और कच्छ से ले कर असम के अंतिम छोर तक फैली हुई देवगृहों की शृंखला इसकी जीवंत प्रमाण रही है, जहां आज भी हिंदी का प्रयोग होता है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों से आने वाले यात्रियों की संपर्क भाषा एक सीमा तक हिंदी थी। यही बात व्यवसाय के क्षेत्र में भी थी। साहित्य के क्षेत्र में हिंदी के सार्वभौम प्रसार का प्रमाण यह है कि सभी प्रदेशों में हिंदी के अनेक कवि लेखक होते रहे हैं और प्राय: सभी भाषाओं में हिंदी की एक-न-एक कालजयी कृति का अनुवाद उपलब्ध है। 'रामचरितमानस' अथवा उसके कुछ अंशों का अनुवाद भारत की प्राय: सभी भाषाओं में हुआ है—और इसके लिए न कोई राजकीय योजना बनी थी और न किसी प्रकार का प्रशासनिक प्रश्रय प्राप्त हुआ था। यह गौरव भारत की किसी भी अन्य भाषा को प्राप्त नहीं है—तमिल, मराठी, बंगला आदि कोई भी भाषा इस प्रकार का दावा नहीं कर सकती और यह संयोगमात्र नहीं है; हिंदी के स्वरूप की व्यापकता इसके लिए उत्तरदायी है।

अन्य भाषाओं की अपेक्षा हिंदी का स्वरूप अधिक व्यापक और नम्य है। अन्य भारतीय भाषाओं के प्राचीन और नवीन रूपों में काफ़ी अंतर मिलता है, परंतु उनमें से किसी में भी इतनी अधिक और विकसित उपभाषाओं का अंतर्भाव नहीं है। स्वरूप की व्यापकता और नम्यता आज हिंदी के एक दोष के रूप में पेश की जा रही है। तर्क यह है कि अपने बहुविध रूप के कारण हिंदी की वास्तविक प्रकृति का निर्धारण करना कठिन है और अहिंदी भाषी जनसमुदाय को उसके स्वरूप का निर्भ्रांत ज्ञान प्राप्त करने में कठिनाई होती है। यह वस्तुत: एक सामान्य तथ्य को राजनीतिक रंग में पेश करने का तरीका है। अत्यंत सरस वाङ्मय से समृद्ध अनेक उपभाषाओं की शक्ति और माधुर्य को अपने कलेवर में समेट कर हिंदी की क्षमता का अभूतपूर्व विकास हुआ है। उसका शब्द-भंडार, रचना-भंगिमाएं, प्रयोग-वैविध्य अपूर्व है और आज तो भारत की विभिन्न भाषाओं के संपर्क से उसकी क्षमता का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और भी अधिक विकास हो गया है।

प्राचीन और अर्वाचीन वाङ्मय को मिला कर देखें तो गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से हिंदी-कविता सर्वाधिक संपन्न है। कालजयी कृतियों का इतना बड़ा संग्रह और उच्च कोटि के कृतिकारों का ऐसा विपुल समारोह अन्यत्र दुर्लभ है। अन्य भाषाओं में जहां रामभक्ति तथा कृष्णभक्ति के एक-दो पक्षों का ही प्रामुख्य रहा, वहीं हिंदी-काव्य में प्रायः सभी संप्रदायों के कवि हुए हैं। तुलसी और सूर का गौरव तो स्वयंसिद्ध है ही; विद्यापति, कबीर, जायसी, नंददास, परमानंददास, हितहरिवंश, मीरा, रसखान, रहीम आदि कवि किसी भी भाषा के शृंगार हो सकते हैं। रीतिकाव्य हिंदी का अपना वैशिष्ट्य है। किसी अन्य भाषा में शास्त्रीय काव्य की इतनी विस्तृत और समृद्ध परंपरा नहीं मिलती। बिहारी, मतिराम, देव, घनानंद के नेतृत्व में इन कवियों ने पूरी दो शताब्दियों तक काव्यकला की जो साधना की, उससे काव्य के शिल्प और माध्यम-भाषा का अपूर्व विकास हुआ। अन्य भाषाओं में भी इस प्रकार के कलाकाव्य की रचना हुई है, किंतु गुण और परिमाण की दृष्टि से इतनी विपुल राशि अन्यत्र दुर्लभ है।

रीतिकाल के बाद आधुनिक काल आरंभ हुआ और पुनर्जागरण के अग्रदूत के रूप में भारतेंदु का आविर्भाव हुआ। भारतेंदु की सांस्कृतिक-साहित्यिक चेतना का धरातल व्यापक था। उन्होंने उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के संदर्भ में हिंदी का विकास किया और उसे प्रादेशिक स्तर से ऊपर उठा कर भारतीय धरातल पर प्रतिष्ठित किया। इसके बाद जागरण-सुधार की चेतना प्रबल हुई, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता का उदय हुआ। इस प्रवृत्ति का नेतृत्व किया मैथिलीशरण गुप्त ने। हिंदी की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता की प्रमुख विशेषता यह है कि उसका स्वर निरंतर भारतीय ही रहा—उसमें प्रादेशिक अथवा सांप्रदायिक भावना को प्रोत्साहन कभी नहीं मिला। बंगला में 'सोनार बांगाल' के प्रति अत्यधिक मोह है, मराठी में हिंदू-राष्ट्रीयता का भाव मुखर है, दक्षिण की भाषाओं में, विशेषकर तमिल में, दाक्षिणात्य संस्कृति के प्रति पक्षपात है, पंजाबी में सिख-भावना और उर्दू में मुस्लिम-भावना का प्राधान्य है। हिंदी की राष्ट्रीय कविता में न तो सांप्रदायिकता को और न प्रादेशिक भावना को कभी प्रश्रय मिला है। मैथिलीशरण गुप्त जैसे वैष्णव कवि ने हिंदू-भावना को कभी उभरने नहीं दिया। हिंदी के राष्ट्रीय कवि ने जिन प्रतीकों और प्रतिमानों का प्रयोग किया है, वे एकदेशीय नहीं हैं, अपितु अखिल भारतीय हैं। वह हिमालय का स्तवन करता है और हिंद-महासागर का भी, राजपूत योद्धाओं की प्रशस्ति लिखता है और सिख वीरों की भी, अशोक और चंद्रगुप्त का कीर्तिगान करता है और अकबर का भी। उसने कभी तिलक, गांधी और जवाहरलाल में भेद नहीं किया : रवींद्रनाथ की मृत्यु पर पंत और महादेवी की कविताएं ही सर्वश्रेष्ठ हैं। गांधी का प्रभाव भारत के संपूर्ण वाङ्मय पर पड़ा, परंतु गांधी-दर्शन की जितनी शुद्ध और प्रामाणिक अभिव्यक्ति सियारामशरण गुप्त के काव्य में मिलती है, उतनी गुजराती-काव्य में भी दुर्लभ है।

अंग्रेज़ी के रोमानी कविता के प्रभाव से सभी भारतीय भाषाओं में जिस रोमानी प्रवृत्ति का उदय हुआ, वह हिंदी में छायावाद के रूप में विकसित हुई। छायावाद का आविर्भाव वर्तमान युग की ही नहीं, हिंदी-साहित्य के इतिहास की भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना है। काव्यगत रूढ़ियों से मुक्ति का यह अपूर्व अभियान था। छायावाद पर निश्चय ही अंग्रेज़ी के स्वच्छंदतावादी काव्य का प्रभाव था, परंतु उसमें भारतीय काव्यचेतना के रमणीय तत्त्वों का समावेश हो गया था। रम्य और अद्भुत का जो सुंदर संयोग स्वच्छंदतावाद का आधार-तत्त्व है, वह प्राचीन भारतीय काव्य में पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान था। कालिदास की कविता में ऐसे अनेक गुणों का उत्कर्ष सहज सुलभ था, जो स्वच्छंतावादी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

काव्य के प्राणतत्त्व हैं। इधर मध्ययुग के मर्मी कवियों की रचनाओं में रहस्य-भावना का अपूर्व ऐश्वर्य विद्यमान था। रवींद्रनाथ इन दोनों के समन्वय का मार्ग प्रशस्त कर चुके थे। अतः द्विवेदी-युग के समाप्त होते-होते हिंदी-कविता में एक ऐसी प्रवृत्ति का आविर्भाव हुआ, जो काव्यवैभव की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। छायावाद की परिधि में चार प्रथम श्रेणी की कवि-प्रतिभाओं का समानांतर विकास हुआ : प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी। प्रसाद कालिदास और रवींद्रनाथ की परंपरा के कवि थे। मौलिकता और घनत्व की दृष्टि से उनकी प्रतिभा अद्वितीय थी, जिसका चरम परिपाक हुआ है 'कामायनी' में। मानव-चेतना का यह महाकाव्य अथवा मानव-सभ्यता के विकास का यह विराट् रूपक हिंदी-काव्य की अद्भुत उपलब्धि है। इस प्रकार की रचना भारतीय अथवा विश्वसाहित्य में नहीं है। निराला की प्रतिभा विलक्षण थी। उनका विराट और कोमल पर समान अधिकार था और इसका सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है 'राम की शक्तिपूजा', जो इस युग की कालजयी कृति है। उनकी सर्जनात्मक शक्ति दार्शनिक औदात्य और सामाजिक विद्रूप दोनों के प्रति समान रूप से सजग थी। इधर सूक्ष्मतम सौंदर्य-बोध की दृष्टि से पंत का कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं है। भावना की परिष्कृति और कल्पना की नफ़ासत जैसी पंत की रचनाओं में मिलती है, वैसी किसी अन्य कवि की कृतियों में उपलब्ध नहीं होती। विश्व के सौंदर्यचेता कवियों में पंत का अन्यतम स्थान है— इसमें संदेह नहीं। महादेवी ने गीत की कला का अपूर्व विकास किया है। महादेवी का वैशिष्ट्य यह है कि वे केवल हिंदी की ही नहीं, समस्त भारत की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री हैं और शायद विश्व की कवयित्रियों में भी उनका सर्वोच्च स्थान है। छायावादी कविता के बाद हिंदी में प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता, साठोत्तर कविता, समकालीन कविता आदि के जो दौर आये, वे इस बात का प्रमाण हैं कि आधुनिक हिंदी-कविता सतत गतिशील है। भारत की ही नहीं, विश्व की नवीनतम काव्यप्रवृत्तियां उसमें विद्यमान हैं। इसके साथ ही उसमें अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक स्थिरता एवं गांभीर्य है, जीवन और काव्य के मूल्यों की जैसी भयंकर अव्यवस्था अन्य भाषाओं में है, वैसी सौभाग्य से हिंदी में नहीं मिलती।

हिंदी में गद्य का विकास कुछ देर से हुआ। बंगला और मराठी के लेखक इस क्षेत्र में काफ़ी आगे बढ़ चुके थे। असमिया के बुरुंजी साहित्य का माध्यम गद्य मध्ययुग में विकसित हो चुका था। परंतु हिंदी में गद्य का वास्तविक विकास उन्नीसवीं शती के मध्य से ही मानना चाहिए। फिर भी, हिंदी ने अपनी इस कमी को बड़ी जल्दी पूरा कर लिया और आज रस के साहित्य तथा ज्ञान के साहित्य— दोनों क्षेत्रों में उसकी उपलब्धियां किसी से कम नहीं हैं। हिंदी में उपन्यास का उद्भव बंगला के प्रभाव में हुआ। बंकिम, रवींद्र और शरत् विकास के प्रथम चरण में उसके प्रेरणास्रोत थे। किंतु बीसवीं शती का पहला चरण पार करते ही हिंदी कथा-साहित्य, उपन्यास और कहानी ने अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण कर लिया और बंगला के प्रभाव से मुक्त प्रेमचंद ने स्वस्थ सामाजिक मूल्यों के आधार पर जिस उपन्यास कला का विकास किया, वह हिंदी की अपनी विभूति है। गांधीयुगीन भारत के सामाजिक-राजनीतिक जीवन का सबसे सशक्त एवं प्रामाणिक साहित्यिक दस्तावेज़ प्रस्तुत करने का श्रेय प्रेमचंद को ही है। उनके परवर्ती उपन्यासकार अपनी-अपनी दिशा में आगे बढ़े और जैनेंद्र, यशपाल, वृंदावनलाल वर्मा, अज्ञेय तथा रेणु, रांगेय राघव, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, मोहन राकेश, अमृतलाल नागर, निर्मल वर्मा, कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, महीपसिंह आदि दर्जनों उपन्यासकारों की कालजयी उपलब्धियां निश्चय ही प्रादेशिक अथवा भाषिक सीमाओं से मुक्त हैं। हिंदी-कहानी ने एक शती के भीतर ही इतनी द्रुत गति से विकास किया है कि आज वह विश्व की किसी भी भाषा की कहानी के साथ आत्मविश्वासपूर्वक खड़ी हो सकती

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है। हिंदी का रंगमंच और उसी के कारण हिंदी का नाटक बंगला तथा मराठी जैसी भाषाओं की तुलना में पिछड़ा हुआ है। किंतु इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि हिंदी ने प्रसाद जगदीशचंद्र माथुर, विष्णु प्रभाकर, धर्मवीर भारती, उपेंद्रनाथ अश्क, मोहन राकेश आदि जैसे मौलिक नाटककारों को जन्म दिया है, जिनकी प्रतिभा ने भारतीय रसतत्त्व और पाश्चात्य नाटक के अंत:संघर्ष के समन्वय द्वारा एक नवीन नाट्यकला का विकास किया, जो आधुनिक युग-चेतना के अनुरूप होने के साथ-साथ अपनी आत्मा में भारतीय है।

आलोचना, आलोचनाशास्त्र तथा शोध हिंदी-साहित्य के अत्यंत पुष्ट अंग हैं। संस्कृत-काव्यशास्त्र की परंपरा, जो अन्य भाषाओं में प्राय: लुप्त हो गयी थी, हिंदी के रीतिकाल में निरंतर जीवित रही। आधुनिक युग में गद्य का माध्यम प्राप्त होने पर भारतीय और पाश्चात्य काव्यसिद्धांतों के समन्वय से एक संश्लिष्ट काव्यशास्त्र का निर्माण आरंभ हुआ, जिसका आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा उनके परवर्ती आलोचकों ने सम्यक् विकास किया। आधुनिक भारतीय भाषाओं में हिंदी का आलोचना-साहित्य तथा आलोचनाशास्त्र निश्चय ही सर्वाधिक प्रौढ़ और समृद्ध है।

ज्ञान के क्षेत्र में भी हिंदी की अपेक्षा कुछ अन्य भाषाएं अग्रणी हैं, लेकिन यहां भी उसने बड़ी जल्दी अपने अभाव की पूर्ति कर ली है। स्वतंत्रता के बाद राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदी के ज्ञान-साहित्य का योजनाबद्ध विकास हुआ है। इस समय तक हिंदी में विश्वकोश, विशाल शब्दसागर, बृहद् अंगरेज़ी-हिंदीकोश आदि संदर्भ-ग्रंथों के अतिरिक्त विपुल तकनीकी साहित्य रचा जा चुका है और लगभग चार लाख पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हो चुका है। आजकल हिंदी में प्रतिवर्ष जितनी साहित्य-राशि का प्रकाशन होता है, उतनी भारत की सभी भाषाएं मिल कर नहीं कर पातीं। यदि उच्च शिक्षा में अंग्रेज़ी-माध्यम की अनिवार्यता खत्म कर दी जाये और हम पराधीनता की दास-मनोवृत्ति से मुक्त हो जायें तो हिंदी में ज्ञान-साहित्य का जो विकास होगा, वह विश्व की किसी भी भाषा के ज्ञान-साहित्य से प्रतिस्पर्द्धा कर सकेगा।

आधुनिक युग का एक वरदान यह है कि विश्व के विभिन्न देश और उनकी भाषाएं काफ़ी निकट आ गयी हैं। हिंदी को आज न केवल भारतीय, वरन् अंतरराष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में अपनी शक्ति और सीमा का आकलन करने का अवसर प्राप्त हुआ है। यह हिंदी के लिए अत्यंत शुभ अवसर है और हमारा साहित्यकार आज अभावों के प्रति सचेत हो कर अपनी क्षमता के प्रति सहज आश्वस्त हो सकता है। राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय मंच का निर्माण हो जाने पर अब इस भ्रांति का निवारण हो जाना चाहिए कि हिंदी के वर्तमान गौरव का आधार केवल सीमा-विस्तार अथवा संख्या-बल है, साहित्यिक समृद्धि नहीं।

❑❑❑

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

# हिंदी साहित्य का इतिहास

मयूर बुक्स
4226/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली 110002

ISBN 978-81-938718-1-2
9 788193 871812
मूल्य : ₹ 450